॥ श्रीहरिः ॥

भगवच्चर्चा

(ग्रन्थाकार)

(छहों भाग एक साथ)

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

हनुमानप्रसाद पोद्दार

॥ श्रीहरिः शरणम्॥

प्रार्थना

मृत्युशील संसारमें अमर कौन है? चर और अचर सभी तो जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिके चंगुलमें फँसे हैं। सुन्दर मकान बना, उसका जन्म हुआ; कुछ समय बाद वह टूटने-फूटने लगा, व्याधियोंसे घिरा; मरम्मत करायी गयी, इलाज हुआ; अच्छा हो गया। ऐसा होते-होते ही वह जीर्ण हो गया, बूढ़ा हो गया, अब मरम्मतसे काम नहीं चलता, दीवारें गिरने लगीं, छत जमीनमें बैठनेको तैयार हो गयी, एक दिन ऐसा आया कि मकान गिर पड़ा, उसकी मृत्यु हो गयी, बस, यही हाल सबका है। मनुष्य चाहता है मुझे अमुक काम पूरा कर लेना है, वह उसे पूरा करनेकी चेष्टामें लगता है। काम पूरा होता है, परंतु फिर उसमें कुछ कमी मालूम होती है, वह उस कमीको पूरा करनेका प्रयत्न करता है। कमी पूरी होती है, परंतु साथ ही दूसरी कमी आगे तैयार मिलती है। सारांश यह कि मनुष्य इस संसारमें चाहे जितनी ऊँची-से-ऊची सांसारिक स्थितिको प्राप्त कर ले, कुछ-न कुछ कमी तो रह ही जायगी। संसारमें ऐसी कोई वस्तु या स्थिति है ही नहीं जो पूर्ण हो, सभी कुछ अपूर्ण हैं, अपूर्णसे पूर्णता कैसे मिल सकती है? अपूर्णको पाकर मनुष्य पूर्णकाम कैसे हो सकता है? परंतु वह इस तत्त्वको समझता नहीं। अपूर्णसे ही पूर्णता प्राप्त करना चाहता है, इसीसे बार-बार कमीका—अभावका अनुभव करता है और दुःखी होता है।

विषयान्धकारमें, जरा-व्याधिके भयानक तूफानमें फँसी हुई जीवन-नौका बड़ी ही तेजीके साथ मृत्युरूपी चट्टानसे टकराकर डूबनेके लिये झकोरे खाती प्रबल धारके साथ ही बहती रहती है। यों किसी-न-किसी कमीको पूरी करनेकी चेष्टामें लगे हुए मनुष्यका अशान्त जीवन कमीकी हालतमें ही नष्ट हो जाता है। कमी तो पूरी होती ही नहीं, हाँ, उसे पूरी करनेके प्रयत्नमें जीवनभर अशान्तिरूपी अग्निकी भयावनी लपटोंमें जलना और कामनाकी परवशतामें भाँति-भाँतिके पापोंका भार संग्रह करना जरूर होता है, यहाँ जीवनभर जले और अगले जीवनमें जलनेके लिये पापका भारी ईंधन जमा कर लिया। बस, आजके हम मनुष्योंको जीवनधाराका यही स्वरूप है। पर क्या यही वाञ्छनीय है? क्या बार-बार मृत्युके मुखका ग्रास बनना ही हमें अभीष्ट है? यदि नहीं तो हमलोगोंको शीघ्र सावधान होकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिससे हम पूर्ण होकर मृत्युके पंजेसे छूट जायँ। हम अमर हो जायँ। इस अमर होनेका उपाय नित्य सत्य सर्वगत पूर्ण सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त कर लेना है। शास्त्रोंकी सम्मति और संतोंके अनुभवयुक्त वचनोंके अनुसार परमात्मा हमें नित्य प्राप्त है, परंतु इस नित्यप्राप्त वस्तुमें भी हमें जो अप्राप्तिका भ्रम हो रहा है, उसे तो दूर करना ही होगा। उसीको दूर करनेके लिये इस पुस्तकके भिन्न-भिन्न निबन्धोंमें कुछ बातें कही गयी हैं। यद्यपि जगत्‌के वर्तमान वायुमण्डलमें इस विषयका विशेष महत्त्व नहीं है, आजकलके उच्छृङ्खल प्रवाहमें बहे हुए अधिकांश मनुष्य तो ऐसे हैं, जो इसको मूर्खोंकी कल्पना समझकर इसकी कुछ भी परवा नहीं करते, कुछ विचारशील और उच्चशिक्षित कहानेवाले इनसे भी आगे बढ़े हुए महानुभाव हैं जो परमेश्वर, परलोक या धर्मसम्बन्धी चर्चामात्रको देशके लिये अत्यन्त हानिकर समझकर उसका नामतक मिटा देना चाहते हैं। तथापि ऐसे लोग भी अभी भारतवर्षमें शेष हैं जो इस विषयकी चर्चाको लाभदायक समझते हैं अथवा कम-से-कम हानिकर तो नहीं समझते। यदि ऐसे सज्जनोंमें किसी एककी भी इस पुस्तकके शब्दोंको पढ़कर परमात्माकी ओर प्रवृत्ति हुई तो मेरे लिये बड़े ही आनन्दका विषय होगा। अवश्य ही यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इस पुस्तकमें जो कुछ लिखा गया है उसमें वस्तुतः मेरा कुछ भी नहीं है। शास्त्र और संतोंके वाक्य ही प्रकारान्तरसे उद्धृत किये गये हैं। मेरा यह दृढ़ विश्वास अवश्य है कि इनके अनुसार चलनेसे सच्चे सुखके अभिलाषी परमार्थ-पथिकको कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य ही होगा, इसी विश्वासके आधारपर मैं यह प्रार्थना करता हूँ कि पाठकगण यदि उचित समझें तो कभी-कभी इसके किसी-किसी अंशको पढ़ लिया करें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

निवेदन

प्रस्तुत ग्रन्थ नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके उच्चकोटिके साधनोपयोगी अनुभवजन्य लेखोंका बृहत् संग्रह है। पूर्वमें इस ग्रन्थके सभी लेख समय-समयपर 'कल्याण' में प्रकाशित हो चुके हैं। तत्पश्चात्, इन्हीं लेखोंका संग्रह—'तुलसीदल','नैवेद्य', 'भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू-संस्कृति','साधकोंका सहारा','भगवच्चर्चा'और 'पूर्ण समर्पण' नामक शीर्षकोंसे अलग-अलग पुस्तकाकार छः भागोंमें भी प्रकाशित हुआ है। ये सभी भाग अलगसे वर्तमानमें भी उपलब्ध हैं।

जिज्ञासुओं और श्रद्धालुओंकी सुविधाके लिये पूर्व प्रकाशित उपर्युक्त पुस्तकोंकी सम्पूर्ण विषय-सामग्री एक ही जगह उपलब्ध हो सके—इस दृष्टिसे उसीका यह संकलित रूप—'भगवच्चर्चा' आप सबकी सेवामें प्रस्तुत है। आत्मकल्याणकामी सभी भाई-बहनोंको इसकी साधनोपयोगी मार्ग-दर्शक सामग्रीसे विशेष लाभ उठाना चाहिये।

आशा है सबके लिये परम उपादेय और विशेषरूपसे चयनित इस लेख-संग्रहसे सभी लोग भरपूर लाभ उठाकर जीवनको भगवदभिमुखी एवं धन्य बनानेकी चेष्टा करेंगे। हमारे प्रकाशनका यह प्रयास सच्चे अर्थोंमें तभी सार्थक होगा।

प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

(भगवच्चर्चा—भाग-१)

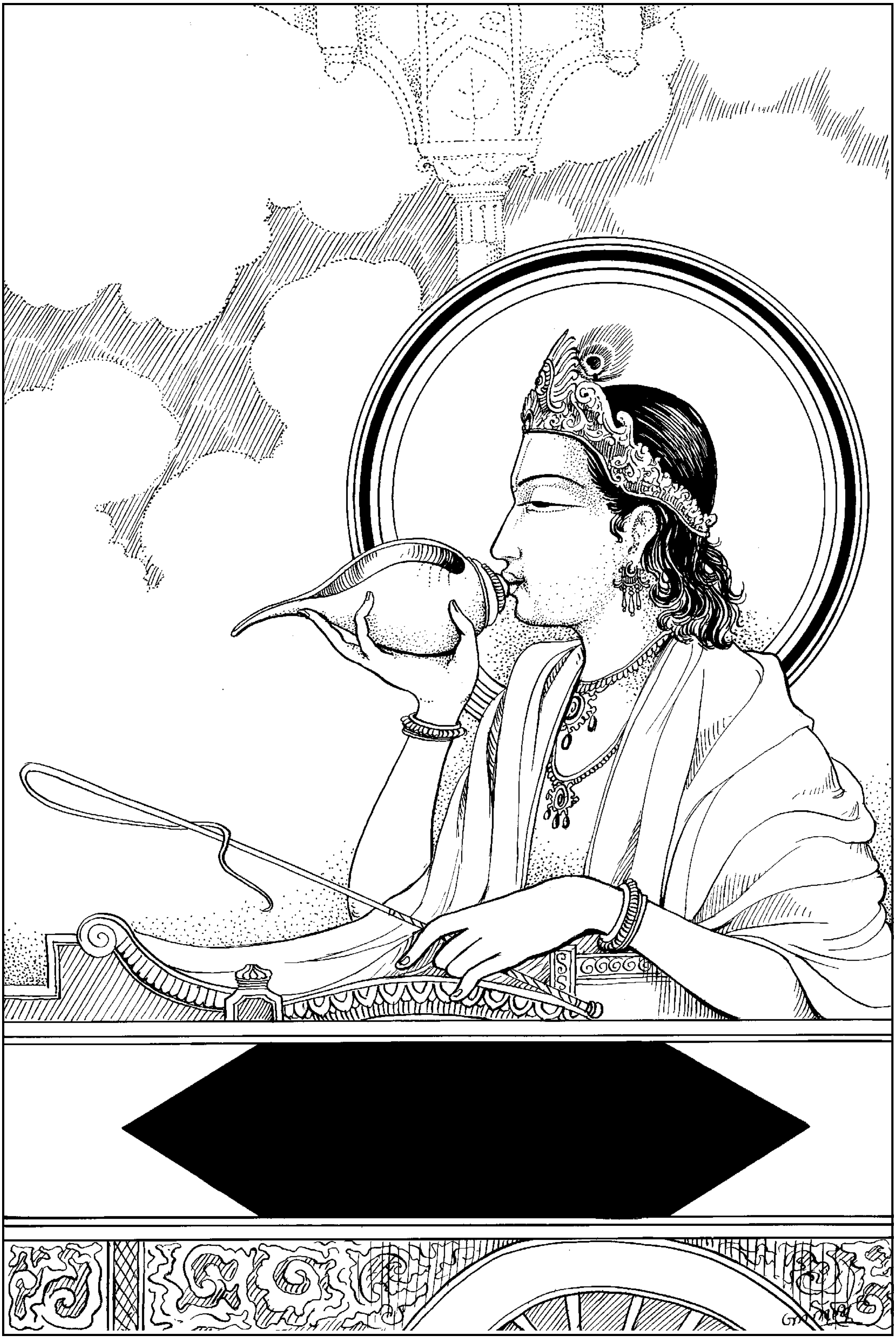
(भगवच्चर्चा—भाग-२)

(भगवच्चर्चा—भाग-३)

(भगवच्चर्चा—भाग-४)

(भगवच्चर्चा—भाग-५)

(भगवच्चर्चा—भाग-६)



॥ श्रीहरिः ॥

भगवच्चर्चा

(भगवच्चर्चा—भाग-१)

मधुर स्वर सुना दो!

प्यारे व्रजेन्द्रनन्दन! तुम्हारी विश्व-जन-मन-मोहिनी मुरलीके मधुरस्वरमें कितनी मादकता है, जिसके कर्णरन्ध्रमें एक बार भी वह स्वर प्रवेश कर जाता है, उसीको तुरंत पागल बना देता है। वह फिर संसारके विषयजन्य मन्द रसोंको विस्मृत कर एक दिव्य रसका आस्वाद पाता है। लज्जा-संकोच, धैर्य-गाम्भीर्य, कुल-मान, लोक-परलोक सभी कुछ भूल जाता है। उसके लिये तुच्छ पार्थिव विलास-रस सम्पूर्णरूपसे विनष्ट होकर एक अपूर्व स्वर्गीय अलौकिक रसका प्रादुर्भाव हो उठता है, उसकी चित्तवृत्तियोंकी सारी विभिन्न गतियाँ मिट जाती हैं और वे सब-की-सब एक भावसे, एक ही लक्ष्यकी ओर एक ही गतिसे प्रवाहित होने लगती हैं। एक ऐसा नशा शरीर-मनपर छा जाता है कि फिर जीवनभर वह कभी उतरता ही नहीं, जब कभी उतरता है तो 'अहम्' को लेकर ही उतरता है। ऐसे ही नशेमें चूर भाग्यवती व्रजबालाओंने कहा था—

दूध दुह्यो सीरो पर्‍यो तातो न जमायो बीर,
जामन दयो सो धर्‍यो धर्‍योई खटायगो।
आन हाथ आन पाय सबहीके तबहीते,
जबहीते 'रसखानि' ताननि सुनायगो॥
ज्यों ही नर त्यों ही नारी तैसी ये तरुनि बारी,
कहिये कहा री सब ब्रज बिललायगो।
जानिये आली! यह छोहरा जसोमतिको,
बाँसुरी बजायगो कि बिष बगरायगो॥

—रसखान

जिस शुभ क्षणमें व्रजमण्डलमें तुम्हारी वंशी बजी, उस क्षण व्रजके प्रेमी जीवोंकी क्या दशा हुई थी, इस बातका मधुरातिमधुर अनुभव उन्हीं सौभाग्यशाली भक्तोंको होता है। हमलोग तो उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। पर सुनते हैं कि तुम्हारी उस वंशीध्वनिने जडको चैतन्य और चैतन्यको जड बना दिया था। सारे कामियोंको विशुद्ध प्रेमी बना दिया था। तुम्हारे मुरली-निनादको सुनकर सांसारिक भोगोंकी सबकी सारी कामनाएँ क्षणभरमें नष्ट हो गयी थीं और संसारके प्रिय-से-प्रिय पदार्थोंको तृणवत् त्यागकर सबका चित्त केवल एक तुम्हारी ओर ही लग गया था। यही तो सच्चा प्रेम है। जब तुम्हारे लिये—तुम्हारे प्रेमके लिये अपने सारे सुख, सारे भोग, सारे आनन्द—यहाँतक कि मुक्तितकका त्याग करनेकी तैयारी होती है, तभी तो तुम्हारा प्रेम प्रस्फुटित होता है। फिर संसारमें रहने या उसे त्याग करनेसे कोई मतलब नहीं रह जाता, फिर तो तुम जहाँ जिस तरह रखना और जो कुछ करवाना भी चाहते हो, उसीमें परम सुख मिलता है; क्योंकि फिर जीवनका ध्येय केवल तुम्हारी रुचि और इच्छाका अनुसरण करनामात्र ही रह जाता है। यही तो दशा प्रेमकी है। भोगमें रहकर भोगोंको अपना भोग्य न समझना, संसारमें रहकर संसारको भूल जाना, जगत्में रहकर अपने-आपको सारे जगत्-सहित तुम्हारे चरणोंमें अर्पण कर देना, केवल तुम्हारा होकर तुम्हारे लिये ही जीवन धारण करना और सँपेरेकी पूँगी-ध्वनिपर नाचनेवाले साँपके समान निरन्तर प्रमत्त होकर वंशी-ध्वनिके पीछे-पीछे अप्रमत्तरूपसे नाचना जिसके जीवनका स्वभाव बन जाता है, वही तो तुम्हारा प्रेमी है। कहते हैं फिर उसको तुम्हारी वंशी-ध्वनि नित्य सुनायी देती है, क्षण-क्षणमें तुम्हारा मनमोहन मुरली-स्वर उसे पथ-प्रदर्शककी मसालके समान मार्ग दिखलाया करता है। वे प्रेमी महात्मा धन्य हैं, जो तुम्हारे इस प्रकारके प्रेमको प्राप्तकर त्रैलोक्यपावन पदवीपर पहुँच चुके हैं।

हम तो नाथ! इस प्रेमपाठके अधिकारी नहीं हैं। सुना है कि परम वैराग्यवान् पुरुष ही इस प्रेम-पाठशालामें प्रवेश कर सकते हैं। नहीं तो, यह प्रेमका पारा फूट निकलता है और सारे शरीर-मनको क्षत-विक्षत कर डालता है। प्रेमका पारा वैराग्यसे ही शुद्ध होता है। वैराग्यके अभावमें तो नीच काम प्रेमके सिंहासनपर बैठकर सारी साधनाओंको नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है। अतएव प्रभो! भोगोंमें फँसे हुए हम संसारी जीव इस दिव्य-प्रेम-लीलाकी बात करनेका दुःसाहस कैसे कर सकते हैं। हम तो दीन-हीन-पतित-पामर प्राणी हैं। तुम्हारे पतित-पावन स्वरूपपर भरोसा किये दरवाजेपर पड़े हैं; परंतु नाथ! हममें न प्रेम है, न भक्ति

है और न श्रद्धा है। फिर किस मुँहसे तुमसे कहें कि प्रभो! तुम हमारी रक्षा करो। तुम भक्तोंके परम सखा हो, जो जगत्‌का सारा भरोसा छोड़कर केवल तुम्हारी दयापर ही निर्भर करते हैं, उनकी तुम रक्षा करते हो। हम तो संसारासक्त भक्तिविहीन दीन प्राणी हैं। किस साहससे तुमसे उद्धारके लिये प्रार्थना करें? परंतु नाथ! तुम दीनबन्धु हो, तुम अनाथ-नाथ हो, तुम अकारण ही कृपा करते हो। सुना है कि तुम केवल दुःखियों और दुराचारियोंका दया या दमनके द्वारा परित्राण करनेके लिये ही जगत्‌में बार-बार अवतार लेते हो। प्रभो! हम-सा दुःखी और दुराचारी और कौन होगा? दुःखियोंके दुःख और पतितोंके पातक तुम्हारे सिवा कौन नाश करेगा? तुम्हीं तो अशरणके शरण और अनाथके नाथ हो। तुम्हीं तो अगतिके गति और निर्बलके बल हो। तुम्हीं तो स्नेहमयी जननीकी भाँति अपनी दुर्गुण संतानसे प्यार करनेवाले हो। प्रभो! बताओ, तुम्हें छोड़कर इस विपत्तिपंकसे निकलनेके लिये किसको पुकारें? ऐसा कौन है जो तुम्हारी तरह बिना ही हेतु दया करता है। प्रभो! हमें इस दुःख-सागरसे पार करो, बचाओ! नाथ! तुम्हींने पापानलसे संतप्त पतित अजामिलको एक ही नामसे प्रसन्न होकर पावन कर दिया था, तुम्हींने जलमें अनाथकी भाँति डूबते हुए गजेन्द्रकी दौड़कर रक्षा की थी और तुम्हींने भरी सभामें विपद्‌ग्रस्त द्रौपदीकी लाजको बचाया था। इसीसे तो गोसाईंजी कातर-स्वरसे पुकार उठे—

जो पै दूसरो कोउ होइ।
तौ हौं बारहि बार प्रभु कत दुःख सुनावौं रोइ॥
काहि ममता दीनपर, काको पतितपावन नाम।
पापमूल अजामिलहि केहि दियो अपनो धाम॥
रहे संभु बिरंचि सुरपति लोकपाल अनेक।
सोक-सरि बूड़त करीसहि दई काहु न टेक॥
बिपुल भूपति सदसि महँ नर-नारि कह्यो 'प्रभु पाहि'।
सकल समरथ रहे, काहु न बसन दीन्हों ताहि॥
एक मुख क्यों कहौं करुनासिंधुके गुन-गाथ।
भक्तहित धरि देह काह न कियो कोसलनाथ॥
आपसे कहुँ सौंपिये मोहि जो पै अतिहि घिनात।
दास तुलसी और बिधि क्यों चरन परिहरि जात॥

इसलिये हे दीनबन्धु! अब तुम अपनी ओर देखकर ही हमें अपनाओ और हे नाथ! दयाकर एक बार तुम्हारी उस मोहिनी मुरलीका वह उन्मादकारी मधुर स्वर सुना दो जिसने व्रजवनिताओंको श्रीकृष्ण-गत-प्राणा बना दिया था।

तेरी हँसी

हे मेरे प्राणाराम राम! तू बड़ा ही लीलामय है, खूब खेल खेलता है। मनमाना नाच भी नचाता है और अलग बैठा टुक-टुक देखता हुआ हँसा भी करता है। यह सृष्टि तेरे हास्यका ही तो विलास है, परंतु तेरा हँसना नित नये-नये रंग लाता है; तेरी एक हँसीमें सृष्टिका उदय होता है, दूसरीमें उसकी स्थिति होती है और तीसरीमें वह तेरे अंदर पुनः विलीन हो जाती है। पर तू तीनों ही अवस्थाओंमें हँसता है। इतनी उधेड़-बुन हो जाती है, परन्तु तेरी एकरसी हँसीमें कहीं अन्तर नहीं पड़ता। लोग तेरी हँसीके नाना अर्थ करते हैं; उनका वैसा करना अनुचित भी नहीं है; क्योंकि लोगोंको भिन्न-भिन्न रूप भासते ही हैं। यही तो तेरी हँसीकी विलक्षणता है, इसीमें तो तेरी मौजका अजब नजारा है। किसीका जन्म होता है, तू हँसता है; वह खाता-खेलता और रंग-रागमें मस्त रहता है, तू हँसता है; फिर हाथ फैलाकर जब वह सदाके लिये सो जाता है—क्रन्दनकी करुण-ध्वनिसे दिशाएँ रो उठती हैं, तू तब भी हँसता ही है। तेरी हास्यलीला अनादि और अनन्त है!

लोग तेरे इस हास्यकी थाह लेना चाहते हैं, अपने परिमित और विलास-विभ्रमग्रस्त विमोहयुक्त बुद्धिबलसे तेरी हँसीका रहस्य जानना चाहते हैं, यह बुद्धिका सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर होते-होते सर्वथा विलुप्त हो जाना नहीं तो क्या है? जलका जरा-सा नगण्य कण सब ओरसे परिपूर्ण पारावारहीन जल-निधिका अन्त जानना चाहता है, यह असम्भव भावना नहीं तो क्या है? जबतक वह अलग खड़ा देखेगा तबतक तो पता लगेगा कैसे? और कहीं पता लगानेकी लगनमें अंदर चला गया तब तो उसकी अलग सत्ता ही नष्ट हो जायगी, फिर पता लगायेगा ही कौन? जो ढूँढ़ने गया था, वही खो गया! अतः हे महामहिम मुनि-मन-मोहन मायिक-मुकुटमणि राम! मेरी समझसे तो तेरे इस हास्यका मर्म जाननेकी सामर्थ्य जगत्‌के किसी भी प्राणीमें नहीं है। हाँ, कोई तेरा खास प्रेमी तेरी कृपासे रहस्य समझ पाता होगा; परन्तु उसका समझना-न-समझना हमारे लिये एक-सा है, क्योंकि वह फिर तुझसे अलग रहता ही नहीं—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

जो तेरी मधुर मुसकानपर मोहित होकर तेरी ओर दौड़ता है और तेरे समीप पहुँच जाता है, उसे तो तू अपने गोदसे कभी नीचे उतारता नहीं और जो विषय-विमोहित हैं, उनको तेरे रहस्यका पता नहीं।

आश्चर्य है कि इसपर भी हम तेरी लीलाओंके रहस्योद्घाटनका दम भरते हैं और जो बात हमारी स्थूल बुद्धिमें नहीं जँचती, उसे तेरे लिये भी असम्भव मान बैठते हैं। हमारी इस बुद्धिपर—हमारे इस बाल-चापल्यपर तुझे दया तो आती ही होगी दयामय!

महर्षि वाल्मीकि, महर्षि वेदव्यास और गोसाईं तुलसीदासजी प्रभृति संतोंको धन्य है, जिनकी वाणीसे तूने दयाकर अपनी कुछ लीलाएँ जगत्को सुनायीं। तेरी इन लीलाओंके दिव्यालोकसे असंख्य प्राणियोंका तमोमय मार्ग प्रकाशित हो उठा, जिसके सहारे वे अनायास ही अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचकर सदाके लिये सुखी हो गये। परन्तु तेरी ये लीलाएँ हैं बड़ी ही विचित्र, अद्भुत और मोहिनी, बड़े-बड़े तार्किक विद्वानोंकी बुद्धि इनकी मोहकतामें पड़कर चकरा जाती है। अवश्य ही जो लोग श्रद्धा-भक्तिपूर्वक बुद्धिका व्यर्थाभिमान छोड़कर तेरी शरण हो जाते हैं, उनके विवेकचक्षुओंके सामने तेरी दुस्तर मायाका आवरण हट जाता है।

नाथ! अब तो ऐसा कर दे, जिससे प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक समय, प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक चेष्टामें तेरी नित्य अनन्त कृपाकी पूर्ण अखण्ड माधुरी मूरतिके दर्शन होते रहें और फिर वह पूर्ण कृपाविग्रह कभी आँखोंसे ओझल हो ही नहीं। सुना है, तेरी हँसीका रहस्य तभी जाना जा सकता है।

प्यारे कन्हैया!

प्यारे कन्हैया! तेरी ही पलकोंके इशारेपर मुनिमन-मोहिनी महामाया-नटी थिरक-थिरककर नाच रही है। तेरे ही संकेतसे महान् देव रुद्र अखण्ड ताण्डव-नृत्य करते हैं। तुझे ही रिझानेके लिये हाथमें वीणा लिये सदानन्दी नारद मतवाला नाच नाच रहे हैं। तेरी ही प्रसन्नताके लिये व्यास-वाल्मीकि और शुक-सनकादि घूम-घूमकर और झूम-झूमकर तेरा गुणगान करते हैं। तेरा रूप तो बड़ा ही अनोखा है, जब तेरी वह रूपमाधुरी खुद तुझीको दीवाना बनाये डालती है, तब ज्ञानी-महात्मा, संत-साधु और प्रेमी भक्तोंके उसपर लोक-परलोक निछावर कर देनेमें तो आश्चर्य ही क्या है? आनन्दका तो तू अनन्त असीम सागर है, तेरे आनन्दके किसी एक क्षुद्र कणको पाकर ही बड़े-बड़े विद्वान् और तपस्वी लोग अपने जीवनको सार्थक समझते हैं। अहा! अनिर्वचनीय प्रेमका तो तू अचिन्त्य स्वरूप है। तुझ प्रेम-स्वरूपके एक छोटे-से परमाणुने ही संसारके समस्त जननी-हृदयोंमें, समग्र शुद्ध प्रेमी-प्रेमिकाओंके अन्तरमें सम्पूर्ण मित्र-अन्तस्तलोंमें और विश्वके अखिल प्रिय पदार्थोंमें प्रविष्ट होकर जगत्को रसमय बना रखा है। ज्ञानका अनन्त स्रोत तो तेरे उन चरणकमलोंके रजकणोंसे प्रवाहित होता है, इसीसे बड़े-बड़े संत-महात्मा तेरी चरणधूलिके लिये तरसते रहते हैं।

किसमें सामर्थ्य है जो तुझ सर्वथा निर्गुणके अनन्त दिव्य गुणोंकी थाह पावे? ऐसा कौन शक्तिसम्पन्न है जो तुझ ज्ञानस्वरूप प्रकृतिपर परमात्माके अप्राकृत ज्ञानकी शेष सीमातक पहुँचे? किसमें ऐसी ताकत है, जो तुझ अरूपकी विश्व-विमोहिनी नित्य रूप-छटाका सर्वथा साक्षात्कार करके उसका यथार्थ वर्णन कर सके; कौन ऐसा सच्चा प्रेमी है, जो तुझ अपार अलौकिक प्रेमार्णवमें प्रवेश कर उसके अतल-तलमें सदाके लिये डूबे बिना रह जाय? फिर बता, तेरा वर्णन—तेरे रूप, गुण, ज्ञान और प्रेमका विवेचन कौन करे और कैसे करे? प्यारे कृष्ण! बस, तू तू ही है! तेरे लिये जो कुछ कहा जाय, वही थोड़ा है। तेरे रूप, गुण, ज्ञान और प्रेमका दिव्य ध्यान-ज्ञानजनित अनुभव भी तेरी कृपा बिना तुझ देश-काल-कल्पनातीत अकल कल्याण-निधिके वास्तविक स्वरूपके कल्पित चित्रतक भी पहुँचकर उसका सच्चा वर्णन नहीं कर सकता। फिर अनुभवशून्य कोरी कल्पनाओंकी तो कीमत ही क्या है? वस्तुतः तेरे स्वरूप और गुणोंका मनुष्यकृत महान्-से-महान् वर्णन भी यथार्थ तत्त्वको बतलानेवाला न होनेके कारण, महामहिमान्वित चक्रवर्ती सम्राट्को तुच्छ ताल्लुकेदार बतलानेके सदृश एक प्रकारसे तेरा अपमान ही है। परन्तु तू दयामय है। तेरे प्रेमी कहा करते हैं कि तू प्यारे दुलारे नन्हें बच्चोंकी हरकतोंपर कभी नाराज न होकर स्नेहवश सदा प्यार करनेवाली जननीकी भाँति, किसी तरह भी अपना चिन्तन या नाम-गुण ग्रहण करनेवाले लोगोंके प्रति प्रसन्न ही होता है। तू उनपर कभी नाराज होता ही नहीं। बस, इसी तेरे विरदके भरोसेपर मैं भी मनमानी कर रहा हूँ। पर भूला! मेरी मनमानी कैसी? नचानेवाला सूत्रधार तो तू है, मैं मनमानी

करनेवाला पामर कौन? तू जो उचित समझे, वही कर! तेरी लीलामें आनाकानी कौन कर सकता है; पर मेरे प्यारे साँवलिया! तुझसे एक प्रार्थना जरूर है। कभी-कभी अपनी मोहिनी मुरलीका मीठा सुर सुना दिया कर और जँचे तो कभी अपनी भुवन-मोहिनी सौन्दर्य-सुधाकी दो-एक बूँद पिलानेकी दया भी·····।

दिव्य सन्देश

इस समय मनुष्य-जातिकी बुरी दशा हो रही है। पार्थिव प्रलोभनोंकी अधिकतासे अभाव और अशान्तिकी आग धधक उठी है। इसी जड़ भोग-विलासकी प्रबलतासे धार्मिक जगत्‌में भी अंदर-ही-अंदर बड़ा अनर्थ होने लगा है। धर्मके नामपर आज जगत्‌में दानवी लीलाका जो ताण्डव-नृत्य हो रहा है, उसे देखकर कलेजा काँप उठता है। परमात्मापर विश्वास रखकर संसारमें लोकहितार्थ अपना कर्तव्य कर्म करनेवालोंकी संख्या कम हो रही है। परस्पर एक-दूसरेका सर्वस्वान्त करनेके लिये जातियाँ और राष्ट्र अपना-अपना दृढ़ संगठन कर रहे हैं तथा वे अपने सुसंगठित साधनोंद्वारा दूसरोंकी स्वाभाविक उन्नतिके मार्गमें रोड़े अटकाकर उन्हें गिराने और पद-दलित करनेकी घृणित चेष्टा कर रहे हैं। दम्भपूर्ण आसुरी सम्पत्तिका विकास हो चला है। विषयासक्ति और कामनाने मनुष्यके ज्ञानको ढककर उसे अपने मनुष्यत्वके पदसे गिरानेका प्रयत्न आरम्भ कर दिया है। सभ्यताकी बाह्य सुन्दरतासे दम्भ, व्यभिचार, मिथ्या अभिमान और हिंसा-प्रतिहिंसा आदि दुर्गुण उत्पन्न और क्रमशः उन्नत होकर जगत्‌की मनुष्य-जातिको आध्यात्मिक आत्महत्या करनेके लिये प्रोत्साहित कर रहे हैं। सर्वव्यापी सर्वप्रिय सर्वमय और सर्वधन परमात्माका आसन छोटा करके उसे एक छोटी-सी संकुचित सीमाके अंदर रखनेकी व्यर्थ चेष्टा करके, एक धर्मनामधारी दूसरे प्रतिपक्षी धर्मनामधारीके उस धर्मके नामका नाश कर अपने धर्मके नामकी निरर्थक उन्नति करना चाहता है।

धर्मके नामपर आज ढोंग और दम्भका पार नहीं रहा है। परमात्माको, उसके नामको और उसके दिव्य धर्मको भुलाकर जगत् आज ऊपरकी बातोंमें ही लड़ रहा है। इसीलिये न तो आज धर्मकी उन्नति होती है और न कोई सुखका साधन ही दीखता है। लोग समझते हैं कि ईश्वर केवल उनके निर्देश किये हुए स्थान और नियमोंमें ही आबद्ध है, अन्य सब जगह तो उसका अभाव ही है!

ऐसी स्थितिमें मनुष्य-जातिके कल्याणके लिये कुछ ऐसी बातें होनी चाहिये, जिनपर अमल करनेसे सबका कल्याण हो सकता हो। इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये निम्नलिखित सात बातें निवेदनके रूपमें सब लोगोंके सम्मुख रखी जाती हैं। इनका पालन ईश्वरवादीमात्र कर सकते हैं और यह जोरके साथ कहा जा सकता है कि इनका पालन करनेसे उनका परम कल्याण होनेमें कोई सन्देह नहीं है।

१—ईश्वरके नामका जप-स्मरण और कीर्तन करना चाहिये।

२—ईश्वरके नामका सहारा लेकर पाप नहीं करना चाहिये। जो लोग ईश्वरके नामकी ओटमें पाप करते हैं, वे बड़ा अपराध करते हैं।

३—(क) ईश्वरके नामका साधन कर उसके बदलेमें संसारके भोगोंकी कामना नहीं करनी चाहिये।

(ख) ईश्वरके नामरूपी धनका उपयोग पापनाशके कार्यमें भी नहीं करना चाहिये।

४—ईश्वरके नामको परम प्रिय मानकर उसका उपयोग उसीके लिये करना चाहिये।

५—दम्भ नहीं करना चाहिये। दम्भसे भगवान् अप्रसन्न होते हैं। दाम्भिककी बुरी गति होती है।

६—सच्चे ईश्वरभक्त, सदाचारपरायण, कर्तव्यशील होनेके लिये गीता-धर्मका आश्रय लेना चाहिये।

७—दूसरेके धर्मकी निन्दा या तिरस्कार नहीं करना चाहिये। ऐसे झगड़ोंसे सच्चे सुखके साधकको बड़ा नुकसान होता है।

अब इन सातों बातोंका अलग-अलग विवेचन किया जाता है—

(१) जगत्‌के ईश्वरवादीमात्र ईश्वरके नामको मानते हैं। भगवान्‌के नामसे उसके स्वरूप, गुणसमूह, महिमा, दया और प्रेमकी स्मृति होती है। जैसे सूर्यके उदयमात्रसे जगत्‌के सारे अन्धकारका नाश हो जाता है, वैसे ही भगवन्नामके स्मरण और कीर्तनमात्रसे ही समस्त दुर्गुण और पापोंका समूह तत्काल नष्ट हो जाता है। जिनके यहाँ परमात्मा जिस नामसे पुकारा जाता है, वे उसी नामको ग्रहण करें, इसमें कोई आपत्ति नहीं।

(२) परन्तु परमात्माका नाम लेनेमें लोग कई जगह बड़ी भूल कर बैठते हैं। भोगासक्ति और अज्ञानसे उनकी ऐसी समझ हो जाती है कि हम भगवन्नामका साधन करते ही हैं और नामसे पाप-नाश होता ही है, इसीलिये पाप करनेमें कोई आपत्ति नहीं है; यों समझकर वे पापोंको

छोड़ना तो दूर रहा, भगवान्‌के नामकी ओट या उसका सहारा लेकर पाप करने लगते हैं। एक मुकद्दमेबाज एक नाम-प्रेमी भक्तको गवाह बनाकर अदालतमें ले गया, उससे कहा—'देखो, मैं जो कुछ तुमसे कहूँ, न्यायाधीशके पूछनेपर वही बात कह देना।' गवाहने समझा कि यह मुझसे सच्ची ही बात कहनेको कहेगा। पर उसकी बात सुननेपर पता लगा कि वह झूठ कहलवाना चाहता है। इससे उसने कहा— 'भाई! मैं झूठी गवाही नहीं दूँगा।' मुकद्दमेबाजने कहा—'इसमें आपत्ति ही कौन-सी है? क्या तुम नहीं जानते कि भगवान्‌के नामसे पापोंका नाश होता है। तुम तो नित्य भगवान्‌का नाम लेते ही हो, भक्त हो, जरा-सी झूठसे क्या बिगड़ेगा? एक ईश्वरके नाममें पापनाशकी जितनी शक्ति है, उतनी मनुष्यमें पाप करनेकी नहीं है। मैं तो काम पड़नेपर यों ही कर लिया करता हूँ।' उसने कहा—'भाई! मुझसे यह काम नहीं होगा, तुम करते हो तो तुम्हारी मर्जी।' मतलब यह कि इस प्रकार परमात्माके नाम या उसकी प्रार्थनाके भरोसे जो लोग पापको आश्रय देते हैं वे बड़ा अपराध करते हैं। वे तो पाप करनेमें भगवान्‌के नामको साधन बनाते हैं, नाम लेकर बदलेमें पाप खरीदना चाहते हैं। ऐसे लोगोंकी दुर्गति नहीं होगी तो और किसकी होगी?

(३) (क) कुछ लोग जो संसारके पदार्थोंकी कामनावाले हैं वे भी बड़ी भूल करते हैं। वे भगवान्‌का नाम लेकर उसके बदलेमें भगवान्‌से धन-सम्पत्ति, पुत्र-परिवार, मान-बड़ाई आदि चाहते हैं। वास्तवमें वे भी भगवन्नामका माहात्म्य नहीं जानते। जिस भगवन्नामके प्रबल प्रतापसे राजराजेश्वरके अखण्ड राज्यका एकाधिपत्य मिलता हो, उस नामको क्षणभंगुर और अनित्य तुच्छ भोगोंकी प्राप्तिके कार्यमें खो देना मूर्खता नहीं तो क्या है? संसारके भोग आने और जानेवाले हैं, सदा ठहरते नहीं। प्रत्येक भोग दु:खमिश्रित हैं। ऐसे भोगोंके आने-जानेमें वास्तवमें हानि ही क्या है?

(ख) जो लोग यह समझकर नाम लेते हैं कि इसके लेनेसे हमारे पाप नाश हो जायँगे वे भी विशेष बुद्धिमान् नहीं हैं। क्योंकि पापोंका नाश तो पापोंके फल-भोगसे भी हो सकता है। जिस ईश्वरके नामसे स्वयं प्रियतम परमात्मा प्रसन्न होता है, जो नाम प्रियतमकी प्रीतिका निदर्शन है, उसे पापनाश करनेमें लगाना क्या भूल नहीं है? वास्तवमें ऐसा करनेवाले भगवन्नामका पूरा माहात्म्य नहीं जानते, क्या सूर्यको कहना पड़ता है कि तुम अँधेरेका नाश कर दो। उसके उदय होनेपर तो अन्धकारके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

(४) भगवान्‌का नाम भगवत्प्रेमके लिये ही लेना चाहिये। भगवान् मिलें या न मिलें, परंतु उनके नामकी विस्मृति न हो। प्रेमी अपने प्रेमीके मिलनेसे इतना प्रसन्न नहीं होता जितना उसकी नित्य स्मृतिसे होता है। यदि उसके मिलनसे कहीं उसकी स्मृति छूट जाती हो तो वह यही चाहेगा कि ईश्वर भले ही न मिले, परन्तु उसकी स्मृति उत्तरोत्तर बढ़े; स्मृतिका नाश न हो। यही विशुद्ध प्रेम है!

(५) नामसाधनमें कहीं कृत्रिमता न आ जाय। वास्तवमें आजकल जगत्‌में दिखावटी धर्म 'दम्भ' बहुत बढ़ गया है। बड़े-बड़े धर्मके उपदेशक न मालूम किस सांसारिक स्वार्थको लेकर कौन-सी बात कहते हैं; इस बातका पता लगाना कठिन हो जाता है। इस दम्भके दोषसे सबको बचना चाहिये। दम्भ कहते हैं बगुला-भक्तिको! अंदर जो बात न हो और ऊपरसे मान-बड़ाई प्राप्त करने या किसी कार्य-विशेषकी सिद्धिके लिये दिखलायी जाय वही दम्भ है। दम्भी मनुष्य भगवान्‌को धोखा देनेका व्यर्थ प्रयत्न कर स्वयं बड़ा धोखा खाता है। भगवान् तो सर्वदर्शी होनेसे धोखा खाते नहीं, वह धूर्त जो जगत्‌को भुलावेमें डालकर अपना मतलब सिद्ध करना चाहता है स्वयं गिर जाता है। पाप उसके चिरसंगी बन जाते हैं। पापोंसे उसकी घृणा निकल जाती है। ऐसे मनुष्यको धर्मका परमतत्त्व, जिसे परमात्माका मिलन कहते हैं, कैसे प्राप्त हो सकता है? अतएव इस भयंकर दोषसे सर्वथा बचना चाहिये।

(६) इन सब बातोंको जानकर ईश्वरका तत्त्व समझने और तदनुसार जगत्‌में कर्म करनेके लिये राह बतलानेवाला कोई सार्वभौम ग्रन्थ चाहिये या ऐसा कोई उपादेय सिद्ध मार्ग चाहिये, जिसपर आरूढ़ होते ही ठीक-ठिकानेसे अपने लक्ष्यतक पहुँचा जा सके। हिंदुओंकी दृष्टिसे ऐसे चार ग्रन्थोंके नाम बतलाये जा सकते हैं, जो कल्याणके मार्ग-दर्शकका बड़ा अच्छा काम दे सकते हैं। (१) उपनिषद्, (२) श्रीमद्भगवद्गीता, (३) श्रीमद्भागवत और (४) तुलसीदासजीका रामचरितमानस। (उपनिषदोंमें प्रधानत: ईश, केन आदि दस उपनिषदोंको समझना चाहिये।) ये ऐसे ग्रन्थ हैं कि जो मनुष्यमात्रको असली लक्ष्यतक पहुँचा सकते हैं। उपनिषदोंकी और गीताकी प्रशंसा आज जगत् कर रहा है। पाश्चात्य जगत्‌के भी बड़े-बड़े तत्त्वज्ञ विद्वानोंने उपनिषद् और गीताधर्मको सार्वभौम धर्म माना है। यदि इन चारोंका अध्ययन न हो सके तो इन चारोंमें एक छोटा-सा किंतु बड़ा ही उपादेय ग्रन्थ गीता है, जिसे हम सबके कामकी चीज कह सकते

हैं; उसीका अध्ययन करना चाहिये। गीताका अनुवाद अनेक भाषाओंमें हो चुका है। यह सार्वभौम ग्रन्थ है। जिसको किसी ग्रन्थविशेषका अध्ययन न करना हो, वह गीताधर्मको ही अपना मार्ग-दर्शक बना सकता है। गीताधर्मका अर्थ संक्षेपमें इन शब्दोंमें किया जा सकता है—

(क) 'सब कुछ भगवान्‌का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए आसक्ति और फलकी इच्छाका त्यागकर भगवत्-आज्ञानुसार केवल भगवान्‌के लिये ही समस्त कर्मोंका आचरण करना तथा श्रद्धाभक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे सब प्रकार भगवान्‌के शरण होकर, उसके नाम, गुण और प्रभावयुक्त स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना।' अथवा—

(ख) 'सम्पूर्ण पदार्थ मृगतृष्णाके जलकी तरह अथवा स्वप्नके संसारकी तरह मायामय होनेके कारण मायाके कार्यरूप सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर, सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे नित्य स्थित रहना। जिसमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीके भी अस्तित्वका भाव न रह जाय।'

यही गीताका निष्काम कर्मयोग और सांख्ययोग है, यही सार्वभौम धर्म है। इसके पालनमें सभी वर्ण और सभी जातियोंका समान अधिकार है।

(७) किसी दूसरेके धर्मपर किसी प्रकारका आक्षेप न कर ईर्ष्या, वैमनस्य और प्रतिहिंसा आदि कुभावोंको परित्याग कर संसारमें सबको सुख पहुँचाते हुए विचरना चाहिये। जो लोग अपने धर्मको पूर्ण बताकर दूसरेके धर्मकी अपूर्णता सिद्ध करते हैं, वे वास्तवमें परमात्माके तत्त्वको नहीं जानते। यदि मैं एक धर्मका विरोध करता हूँ, उस धर्मको भला-बुरा कहता हूँ तो दूसरेके द्वारा मुझे अपने धर्मके लिये भी वैसे ही अपशब्द सुनने पड़ते हैं। इससे मैं उसके साथ ही अपने धर्मका भी अपमान करता हूँ। क्योंकि ऐसा करनेमें मुझे अपने ईश्वरको और धर्मको सर्वव्यापी और सार्वभौम पदकी सीमासे संकुचित करना पड़ता है। किसी-न-किसी अंशमें सभी धर्मोंमें परमात्माका भाव विद्यमान है, अतएव किसी भी धर्मका तिरस्कार या अपमान करना अपने परमात्माका अपमान करना है।

अतएव जो मनुष्य धर्मके नामपर कलह और अशान्तिमूलक परस्परके कटु-विवादोंमें न पड़कर गीताधर्मके अनुसार आचरण करता हुआ दम्भरहित होकर ईश्वरका पवित्र नाम लेता है और उस नामसे पाप करने, भोग प्राप्त करने एवं पाप-नाश होनेकी भी कामना नहीं करता, वह बहुत ही शीघ्र काम, क्रोध, असत्य, व्यभिचार और कपट आदि सब दुर्गुणोंसे छूटकर अहिंसा, सत्य आदि सात्त्विक गुणोंसे सम्पन्न हो जाता है, सांसारिक जड़ भोगोंसे उसका मन हटकर सर्वदा ईश्वरके चिन्तनमें लग जाता है और इससे वह अपनी भावनाके अनुसार परमात्माके परमतत्त्वका और उसके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान और प्रत्यक्ष दर्शन लाभकर कृतार्थ हो जाता है। परमात्माका नाम ऐसा विलक्षण है कि उसके स्मरण, उच्चारण और श्रवणमात्रसे ही पापोंका नाश होता है। जो लोग स्वयं परमात्माका नाम-जप करते हैं, दूसरोंको सुनाते हैं, कहींपर बैठकर परमात्माके नामका गान करते हैं, वे अपने कल्याणके साथ-ही-साथ संसारके अनेक जीवोंका बड़ा उपकार करते हैं। इसलिये सबको परमात्माके शुभ नामकी शरण लेकर स्वयं उसका स्मरण, जप और कीर्तन करना चाहिये और दूसरे लोगोंको प्रेमपूर्वक इस महान् कार्यमें लगाना चाहिये।

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे॥

(भागवत)

शीघ्र चेतो!

जल्दी दौड़ो। इस मायाके धधकते हुए दावानलसे फौरन बाहर निकलो। देखो, अग्निकी प्रलयंकरी लाल-लाल लपटें लपक-लपककर जगत्‌को धड़ाधड़ ग्रस रही हैं। प्रचण्ड धुएँसे सभी दिशाएँ छा गयी हैं। वह गया, दूसरा भी चला, अरे, तीसरेको भी लपटोंने ले लिया। परन्तु हाय! तुम मूर्खकी तरह 'किंकर्तव्यविमूढ़' होकर पड़े हो। अरे, अबकी तुम्हारी बारी आती है। यदि बचना चाहते हो तो तुरंत सबका मोह छोड़कर बाहर निकल पड़ो। देखो! वह देखो! उस छलकते हुए अमृतसमुद्रके किनारे विशाल जहाज ठहराये उसका कृपालु कप्तान बार-बार सीटी बजा-बजाकर सबको बुला रहा है। जिसने उसकी पुकार सुनकर उसकी ओर ध्यान दिया वह विश्वव्यापी अग्निसे बचकर दुःख-सागरसे तुरंत तर गया। इसी तरह तुम भी तर जाओगे! अरे, निर्भय हो जाओगे—अमर हो जाओगे!! जाओ, जाओ! शीघ्रता करो, अन्यथा जलते हो, बार-बार जलोगे। चेतो! शीघ्र चेतो!!

श्रीभगवन्नाम

पापानलस्य दीप्तस्य मा कुर्वन्तु भयं नराः।
गोविन्दनाममेघौघैर्नश्यते नीरविन्दुभिः॥

(गरुडपुराण)

'हे मनुष्यो! प्रदीप्त पापाग्निको देखकर भय न करो, गोविन्दनामरूप मेघोंके जलबिन्दुओंसे इसका नाश हो जायगा।'

पापोंसे छूटकर परमात्माके परमपदको प्राप्त करनेके लिये शास्त्रोंमें अनेक उपाय बतलाये गये हैं। दयामय महर्षियोंने दुःख-कातर जीवोंके कल्याणार्थ वेदोंके आधारपर अनेक प्रकारकी ऐसी विधियाँ बतलायी हैं, जिनका यथाधिकार आचरण करनेसे जीव पापमुक्त होकर सदाके लिये निरतिशयानन्द परमात्मसुखको प्राप्त कर सकता है। परन्तु इस समय कलियुग है। जीवनकी अवधि बहुत थोड़ी है। मनुष्योंकी आयु प्रतिदिन घट रही है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापोंकी वृद्धि हो रही है। भोगोंकी प्रबल लालसाने प्रायः सभीको विवश और उन्मत्त बना रखा है। कामनाओंके अशेष कलंकसे बुद्धिपर कालिमा छा गयी है। परिवार, कुटुम्ब, जाति या देशके नामपर होनेवाली विविध भाँतिकी मोहमयी क्रियाओंके तीव्र धार-प्रवाहमें जगत् बह रहा है। देश और उन्नतिके नामपर धर्म, अहिंसा, सत्य और मनुष्यत्वतकका विसर्जन किया जा रहा है, सारे जगत्‌में कुवासनामय कुप्रवृत्तियोंका ताण्डव-नृत्य हो रहा है। शास्त्रोंके कथनानुसार युगप्रभावसे या हमारे दुर्भाग्यदोषसे धर्मका एक पाद भी इस समय केवल नाममात्रको रहा है। आजकलके जीव धर्मानुमोदित सुखसे सुखी होना नहीं चाहते।

सुख चाहते हैं—अटल, अखण्ड और आत्यन्तिक सुख चाहते हैं, परन्तु सुखकी मूल भित्ति धर्मका सर्वनाश करनेपर तुले हुए हैं। ऐसी स्थितिमें सुखके स्वप्नसे भी जगत्‌को केवल निराश ही रहना पड़ता है। हमारी इस दुर्दशाको महापुरुषोंने और भगवद्भक्तोंने पहलेसे ही जान लिया था। इसीसे उन्होंने दयापरवश हो हमारे लिये एक ऐसा उपाय बतलाया जो इच्छा करनेपर सहजहीमें काममें लाया जा सकता है। परन्तु जिसका वह महान् फल होता है जो पूर्वकालमें बड़े-बड़े यज्ञ, तप और दानसे भी नहीं होता था! वह है श्रीहरिनामका जप-कीर्तन और स्मरण। वेदान्तदर्शनके निर्माता भगवान् व्यासदेवरचित भागवतमें ज्ञानी-श्रेष्ठ शुकदेवजी महाराज शीघ्र ही मृत्युको आलिंगन करनेके लिये तैयार बैठे हुए राजा परीक्षित्‌से पुकारकर कहते हैं—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(१२।३।५१-५२)

'हे राजन्! इन दोषोंसे भरे हुए कलियुगमें एक महान् गुण यह है कि केवल श्रीकृष्णके नाम-कीर्तनसे ही मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त कर लेता है। सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञोंसे और द्वापरमें परिचर्यासे जो पद प्राप्त होता था वही कलियुगमें केवल श्रीहरिनाम-कीर्तनसे प्राप्त होता है।'

इसलिये चार सौ वर्ष पूर्व बंगालके नवद्वीप नामक स्थानमें प्रेमावतार श्रीश्रीचैतन्यदेवने अवतीर्ण होकर मुक्तकण्ठसे इसी बातकी घोषणा की थी कि, 'भय न करो, सबसे बड़ा प्रायश्चित्त और परमात्माके प्रेम-सम्पादनका परमोत्तम साधन 'श्रीहरिनाम' है, संसारवासनाका परित्याग कर दृढ़ विश्वासके साथ इसीमें लग जाओ और अपना उद्धार कर लो। उन्होंने केवल ऐसा कहा ही नहीं, बल्कि स्वयं लोगोंके घरोंपर जा-जाकर और अपने परम भागवत साथियोंको भेज-भेजकर येन-केन-प्रकारेण लोगोंको हरिनाममें लगाया। जगाई-मधाई-सरीखे प्रसिद्ध पातकी हरिनामपरायण हो गये। लोगोंको इस सन्मार्गमें लगानेके कार्यमें उन्होंने गालियाँ सुनीं, कटूक्तियाँ सहीं, बल्कि श्रीनित्यानन्द और हरिदास आदि भक्तवरोंने तो भीषण प्रहार सहन करके पात्रापात्रका विचार छोड़कर जनतामें हरिनाम वितरण किया।

इसी प्रकार भक्तश्रेष्ठ कबीर, नानक, तुकाराम, रामदास, ज्ञानदेव, सोपानदेव, मीरा, तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, चरणदास, दादूदयाल, सुन्दरदास, सहजोबाई, दयाबाई, सखूबाई आदि भागवतोंने भी हरिनामको ही जीवोंके कल्याणका प्रधान उपाय समझा और अपनी दिव्य वाणीसे इसीका प्रचार किया। आधुनिक कालमें भी भारतवर्षमें जितने महात्मा संत हो गये हैं, सभीने एक स्वरसे मुक्तकण्ठ होकर नाममहिमाका गान किया और कर रहे हैं।

जिस नामका इतना प्रभाव, महत्त्व और विस्तार है, उसपर मुझ-जैसा रसानभिज्ञ मनुष्य क्या लिख सकता है? मेरा तो यह केवल एक तरहका दुःसाहस है, जो संतोंकी कृपा और प्रेमियोंके प्रेमके भरोसेपर ही किया जा रहा है। मैं भगवन्नामकी महिमा क्या लिखूँ? मैं तो नामका ही जिलाया जी रहा हूँ।

शास्त्रोंमें नाममहिमाके इतने अधिक प्रसंग हैं कि उनकी गणना करना भी बड़ा कठिन कार्य है। इतना होते हुए भी जगत्के सब लोग नामपर विश्वास क्यों नहीं करते? नामका साधन तो कठिन नहीं प्रतीत होता। पूजा, होम, यज्ञ आदिमें जितना अधिक प्रयास और सामग्रियोंका संग्रह करना पड़ता है, इसमें वह सब कुछ भी नहीं करना पड़ता। तो भी—

सब लोग नामपरायण क्यों नहीं होते?

इसका उत्तर यह है कि नामपरायण होना जितना मुखसे सहज कहा जाता है, वास्तवमें उतना सहज नहीं है। बड़े पुण्यबलसे नाममें रुचि होती है। शास्त्र पढ़ना, उपदेश देना, बड़े-बड़े शास्त्रार्थ करना सहज है; परंतु निश्चिन्त मनसे विश्वासपूर्वक भगवान्का नाम लेना बड़ा कठिन है।

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥

कुछ लोग तो इसकी ओर ध्यान ही नहीं देते, जो कुछ ध्यान देते हैं उन्हें इसका सुकरत्व (सहजपन) देखकर अश्रद्धा हो जाती है। वे समझते हैं कि जब बड़े-बड़े यज्ञ, तप, दानादि सत्कर्मोंसे भी पाप-वासनाका नाश होकर मनकी वृत्तियाँ शुद्ध और सात्त्विक नहीं बनतीं, तब केवल शब्दोच्चारण या शब्दस्मरणमात्रसे क्या हो सकता है? वे लोग इसे मामूली शब्द समझकर छोड़ देते हैं। कुछ लोग पण्डिताईके अभिमानसे, शास्त्रोंके बाह्य अवलोकनसे केवल वाग्-वितण्डार्थ शास्त्रार्थपटु होकर नामका आदर नहीं करते। पाश्चात्त्य शिक्षाप्राप्त पुरुष तो प्रायः आधुनिक पाश्चात्त्य सभ्यताकी माया-मरीचिकामें पड़कर ऐसी बातोंको केवल गपोड़ा ही समझते हैं। कुछ सुधारका दम भरनेवाले लोग (संसारका सुधार केवल हमारे बलपर होगा, ईश्वर-वस्तु ही क्या है? उसकी आवश्यकता तो घर-बाररहित संन्यासियोंको है, हमें उससे क्या मतलब है? अच्छा काम करेंगे, अच्छा फल आप ही होगा, ऐसी भावनासे) नामका तिरस्कार करते हैं!

भगवन्नामका स्मरण प्रायः विपत्तिकालमें ही हुआ करता है। जब मनुष्यके सब सहारे छूट जाते हैं, कहींसे कोई आशा नहीं रहती, किसीसे कोई आश्वासन नहीं मिलता, जगत्के लोग मुखसे नहीं बोलना चाहते; निर्धनता, निर्जनता, आरोग्यहीनता और अपमानसे मन घबड़ा उठता है, दुःखोंकी विषमयी ज्वालासे हृदय दग्ध होने लगता है; मित्र, स्नेही, सुहृद् और घरवालोंका एकान्त अभाव हो जाता है, तब प्राण रो उठते हैं। हृदय खोजता है किसी ऐसी शीतल-सुरम्य वस्तुको जिसे पाकर उसे कुछ शीतलता, कुछ शान्ति प्राप्त हो सके। ऐसे दुःसमयमें छटपटाते हुए व्याकुल प्राण स्वाभाविक ही उस अनजाने और अनदेखे हुए प्रियतमकी गोदका आश्रय ढूँढ़ते हैं, ऐसे अवसरपर बड़े-बड़े शास्त्राभिमानी, शास्त्रार्थमें तर्कयुक्तियोंसे ईश्वरका खण्डन करनेवाले, धन और पदके मदमें ईश्वरको तुच्छ समझनेवाले, विषयोंकी प्रमादमदिराके अविरत पानसे उन्मत्त होकर विचरनेवाले मनुष्योंके मुँहसे भी सहसा ऐसे उद्‌गार निकल पड़ते हैं कि 'हे राम! हे ईश्वर! तू ही बचा! तेरे बिना अब और कोई सहारा नहीं है।' ऐसे ही विपद्संकुल समयमें जिह्वा स्वच्छन्दतासे भगवन्नामका उच्चारण करने लगती है और ऐसे ही शोक-मोहपूर्ण समयमें मन और प्राण भी उसका स्मरण करने लग जाते हैं। इसी लोभसे तो माता कुन्तीने भगवान् श्रीकृष्णसे विपत्तिका वरदान माँगा था। उसने कहा था कि 'हे कृष्ण! तेरा स्मरण विपत्तिमें ही होता है, इसलिये मुझे बार-बार विपत्तिके जालमें डालता रह।'

तात्पर्य यह कि भगवन्नामका स्मरण प्रायः दुःखकालमें होता है। दुःखी, अनाश्रित और दीन जन ही प्रायः उसका नाम लिया करते हैं, इसलिये कुछ लोग जो विषयोंके बाहुल्यसे मोहवश अपनेको बड़ा, बुद्धिमान्, धन-जनवान् और सुखी मानते हैं, भगवन्नाम लेकर अपनी समझसे दीन-दुःखी और अनाश्रितोंकी श्रेणीमें सम्मिलित होना नहीं चाहते!

कुछ ज्ञानाभिमानी लोग ज्ञानके अभिमानमें हरिनामको गौण या मन्द साधन समझकर त्याग देते हैं। जनता अधिकतर संसारमें बड़े लोग कहलानेवालोंके पीछे ही चला करती है। यही सब कारण है कि सब लोग हरिनामके परायण नहीं होते।

एक कारण और है जिससे नामके विस्तारमें बड़ी बाधा पड़ती है, वह है नामको पापका साधन बना लेना। ऐसे लोग संसारमें बहुत हैं जो पाप करनेमें जरा-सा भी संकोच नहीं करते और समझ बैठते हैं कि नाम लेते ही पापका नाश हो जायगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हरिनाम पापरूपी घासके बड़े ढेरको जलानेके लिये साक्षात् अग्नि है। बड़े-से-बड़े पाप नामके उच्चारणमात्रसे नष्ट हो जाते हैं।

वैशम्पायन-संहितामें कहा है—

सर्वधर्मबहिर्भूतः सर्वपापरतस्तथा।
मुच्यते नात्र सन्देहो विष्णोर्नामानुकीर्तनात्॥

सर्वधर्मत्यागी और सर्वपापनिरत पुरुष भी यदि हरि-नामकीर्तन करता है तो वह पापोंसे छूट जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूर्वके पापोंका नाश करनेके लिये हरि-नाम सबसे बड़ा और शीघ्र फलदायक

प्रायश्चित्त है। नामके प्रतापसे पापी-से-पापी मनुष्य भी भगवान्‌के परमपदको प्राप्त हो जाता है, परंतु जो मनुष्य जान-बूझकर हरि-नामकी दुहाई देकर मनमें दृढ़ संकल्प करके पापोंमें प्रवृत्त होता है उसका कहीं निस्तार नहीं होता। रोगनिवृत्तिके लिये ही औषधका सेवन किया जाता है; परन्तु जो लोग बीमारी बढ़ानेके लिये दवा लेते हैं उनको सिवा मरनेके और क्या फल मिल सकता है? पद्मपुराणका वचन है—

नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः।

'जो नामका सहारा लेकर पापोंमें प्रवृत्त होता है वह अनेक प्रकारकी यम-यातना भोग करनेपर भी शुद्ध नहीं होता है।'

जे नर नामप्रताप बल, करत पाप नित आप।
बज्रलेप ह्वै जायँ ते, अमित सुदुष्कर पाप॥

इसमें कोई संदेह नहीं कि—

परदाररतो वापि परापकृतिकारकः।
संशुद्धो मुक्तिमाप्नोति हरेर्नामानुकीर्तनात्॥

(मत्स्यपुराण)

'परस्त्रीगामी और परपीडनकारी मनुष्य भी हरि-नाम-कीर्तनसे शुद्ध होकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है।' इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि भागवतके कथनानुसार चोर, शराबी, मित्रद्रोही, स्त्री, राजा, पिता, गौ तथा ब्राह्मणकी हत्या करनेवाला, गुरुपत्नीगामी और अन्यान्य बड़े-बड़े पापोंमें रत रहनेवाला पुरुष भी भगवान्‌के नाम-ग्रहणमात्रसे तत्काल मुक्त हो जाता है—

पातक उप-पातक महा, जेते पातक और।
नाम लेत तत्काल सब, जरत खरत तेहि ठौर॥

पहलेके कितने भी बड़े-बड़े पाप संचित क्यों न हों, सच्चे मनसे भगवन्नाम लेते ही वे सब अग्निमें ईंधनकी तरह जल जाते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भगवन्नाम लेनेवालोंको पाप करनेके लिये छूट मिल जाती है। भगवान्‌का नाम भी लेंगे और साथ-ही-साथ मनमाने पाप भी करते रहेंगे, इस प्रकारकी जिनकी कुवासना है, उनके लिये तो फल उलटा ही होता है। नाम-महिमाकी दुहाई देकर पाप करनेवालेको नरकमें भी जगह नहीं मिलती। जो लोग जान-बूझकर धनके लोभसे चोरी करके, परस्त्री-गमन करके, क्रोध या लोभवश हिंसा करके, गुरु-शास्त्रोंका अपमान करके, मद्यपान-म्लेच्छ-भोजनादि करके, स्त्री-हत्या, भ्रूण-हत्या करके और झूठी गवाही देकर या झूठा मामला सजा करके 'राम-राम' कह देते हैं और अपना छुटकारा मान लेते हैं, उनके पापोंका नाश नहीं होता। उनके पाप तो वज्रलेप हो जाते हैं। ऐसे ही लोगोंको देखकर अच्छे लोग भी नाम-महिमाको अर्थवाद (स्तुतिमात्र) समझकर नामपरायण नहीं होते। परन्तु यह उनकी भूल है—

नाममहिमा केवल रोचक वाक्य नहीं—

यह सर्वथा यथार्थ तत्त्व है। बड़े-बड़े ऋषियों और संत-महात्माओंने नाम-महिमाका प्रत्यक्ष अनुभव करके ही उसके गुण गाये हैं। अब भी ऐसे लोग मिल सकते हैं जिन्हें नामकी प्रबल शक्तिका अनेक बार अनेक तरहसे अनुभव हो चुका है। परन्तु वे लोग उन सब रहस्योंको अश्रद्धालु और नामापमानकारी लोगोंके सामने कहना नहीं चाहते, क्योंकि यह भी एक नामका अपराध है—

अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यशृण्वति
यश्चोपदेशः शिवनामापराधः॥

'अश्रद्धालु, नाम-विमुख और सुनना न चाहनेवालेको नामका उपदेश करना कल्याणरूप नामका एक अपराध है।'

जो नामके रसिक हैं, जिन्हें इसमें असली रसास्वादका कभी अवसर प्राप्त हो गया है वे तो फिर दूसरी ओर भूलकर भी नहीं ताकते! न उन्हें शरीरकी कुछ परवा रहती है और न जगत्‌की। मतवाले शराबीकी तरह नामप्रेममें मस्त हुए वे कभी हँसते हैं, कभी रोते हैं, कभी गाते हैं, कभी नाचते हैं। उनके लिये फिर कोई अपना-पराया नहीं रह जाता। ऐसे ही प्रेमियोंके सम्बन्धमें महात्मा सुन्दरदासजी लिखते हैं—

प्रेम लग्यो परमेश्वरसों तब भूलि गयो सिगरो घरबारा।
ज्यों उन्मत्त फिरे जित ही तित नेकु रही न शरीर सँभारा॥
स्वास उस्वास उठै सब रोम चलै दृग-नीर अखंडित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधा बिधि छाकि पर्‌यों रस पी मतवारा॥

वास्तवमें ऐसे ही पुरुष नामके यथार्थ भक्त हैं और इन्हीं लोगोंद्वारा किया हुआ नामोच्चारण जगत्‌को पावन कर देता है, जहाँतक ऐसी प्रेमकी मस्ती न प्राप्त हो, वहाँतक प्रेममार्गमें भी शास्त्रोंकी मर्यादाका पूरा रक्षण करना चाहिये। भगवान् नारद कहते हैं—

'अन्यथा पातित्याशङ्कया' (भक्तिसूत्र १३)

'नहीं तो पतित होनेकी आशंका है', अतएव आरम्भमें अपने-अपने वर्णाश्रमानुमोदित सन्ध्या-वन्दन, पिता-माता आदिकी सेवा, परिवार-संरक्षण आदि वैदिक और लौकिक कार्योंको करते हुए श्रीभगवन्नामका आश्रय ग्रहण करना चाहिये। स्मृतिविहित कर्मोंके त्यागकी आवश्यकता नहीं है, यथासमय और यथास्थान उनका आचरण अवश्य करना चाहिये। रामनाम ऐसा धन नहीं है जो ऐसे-वैसे कामोंमें खर्च किया जाय! जो मनुष्य मामूली-सा काँचका

टुकड़ा खरीदने जाकर बदलेमें बहुमूल्य हीरा दे आता है, वह कभी बुद्धिमान् नहीं कहलाता। इसी प्रकार जो कार्य लौकिक या स्मृतिविहित कर्मोंके आचरणसे सिद्ध हो सकता है, उसमें नामका प्रयोग करना राजाधिराजसे झाड़ू दिलवानेके समान है—सोनेको मिट्टीके भाव बेचनेके समान है; अतएव नाम-जपमें स्मृतिविहित कर्मोंके त्यागकी कोई आवश्यकता नहीं।

कुछ लोगोंकी यह शंका है कि आजकल नाम लेनेवाले तो बहुत लोग देखे जाते हैं, परन्तु उनकी दशा देखते हैं तो मालूम होता है कि उनको कोई लाभ नहीं हुआ! जिस नामके एक बार उच्चारण करनेमात्रसे सम्पूर्ण पापोंका नाश होना बतलाया जाता है, उस नामकी लाखों बार आवृत्ति करनेपर भी लोग पापोंमें प्रवृत्त और दुःखी देखे जाते हैं, इसका क्या कारण है? इसके उत्तरमें, पहली बात तो यह है कि लाखों बार नामकी आवृत्ति उनके द्वारा वस्तुतः होती नहीं, धोखेसे समझ ली जाती है। दूसरा कारण यह है कि उनकी नाममें यथार्थ श्रद्धा नहीं है। नामके इस माहात्म्यमें उन्हें स्वयं ही संशय है। भगवान्ने गीतामें कहा है—'**संशयात्मा विनश्यति**' इसीलिये उन्हें पूरा लाभ नहीं होता। भजनमें श्रद्धा ही फलसिद्धिका मुख्य साधन है। अवश्य ही भजन करनेवालेमें श्रद्धाका कुछ अंश तो रहता ही है। यदि श्रद्धाका सर्वथा अभाव हो तो भजनमें प्रवृत्त ही न हो। बिना किंचित् श्रद्धा हुए किसी कार्यविशेषमें प्रवृत्त होना बड़ा कठिन है। अतएव जो नामग्रहण करते हैं उनमें श्रद्धाका कुछ अंश तो अवश्य है, परन्तु श्रद्धाके उस क्षुद्र अंशकी अपेक्षा संशयकी मात्रा कहीं अधिक है, इसीलिये उन्हें वास्तविक फलसे वंचित रहना पड़ता है। गंगास्नानसे पापोंका अशेष नाश होना बतलाया गया है; परन्तु नित्य गंगास्नान करनेवाले लोग भी पापमें प्रवृत्त होते देखे जाते हैं (यद्यपि एक बारका भी भगवन्नाम हजारों बारके गंगा-स्नानसे बढ़कर है)।

श्रद्धापर एक दृष्टान्त

एक समय शिवजी महाराज पार्वतीके साथ हरिद्वारमें घूम रहे थे। पार्वतीने देखा कि सहस्रों मनुष्य गंगामें नहा-नहाकर हर-हर करते चले जा रहे हैं; परन्तु प्रायः सभी दुःखी और पापपरायण हैं। पार्वतीने बड़े आश्चर्यके साथ शिवजीसे पूछा कि 'हे देवदेव! गंगामें इतनी बार स्नान करनेपर भी इनके पाप और दुःखोंका नाश क्यों नहीं हुआ? क्या गंगामें सामर्थ्य नहीं रही?' शिवजीने कहा—'प्रिये! गंगामें तो वही सामर्थ्य है; परन्तु इन लोगोंने पापनाशिनी गंगामें स्नान ही नहीं किया है तब इन्हें लाभ कैसे हो?' पार्वतीने साश्चर्य कहा कि 'स्नान कैसे नहीं किया? सभी तो नहा-नहाकर आ रहे हैं? अभीतक इनके शरीर भी नहीं सूखे हैं।' शिवजीने कहा—'ये केवल जलमें डुबकी लगाकर आ रहे हैं। तुम्हें कल इसका रहस्य समझाऊँगा।' दूसरे दिन बड़े जोरकी बरसात होने लगी। गलियाँ कीचड़से भर गयीं। एक चौड़े रास्तेमें एक गहरा गड्ढा था, चारों ओर लपटीला कीचड़ भर रहा था। शिवजीने लीलासे ही वृद्ध-रूप धारण कर लिया और दीन-विवशकी तरह गड्ढेमें जाकर ऐसे पड़ गये जैसे कोई मनुष्य चलता-चलता गड्ढेमें गिर पड़ा हो और निकलनेकी चेष्टा करनेपर भी न निकल सकता हो।

पार्वतीको यह समझाकर गड्ढेके पास बैठा दिया कि 'देखो! तुम, लोगोंको सुना-सुनाकर यों पुकारती रहो कि मेरे वृद्ध पति अकस्मात् गड्ढेमें गिर पड़े हैं, कोई पुण्यात्मा इन्हें निकालकर इनके प्राण बचावे और मुझ असहायकी सहायता करे।' शिवजीने यह और समझा दिया कि जब कोई गड्ढेमेंसे मुझे निकालनेको तैयार हो तब इतना और कह देना कि 'भाई! मेरे पति सर्वथा निष्पाप हैं, इन्हें वही छुए जो स्वयं निष्पाप हो, यदि आप निष्पाप हैं तो इनके हाथ लगाइये, नहीं तो हाथ लगाते ही आप भस्म हो जायँगे।' पार्वती 'तथास्तु' कहकर गड्ढेके किनारे बैठ गयीं और आने-जानेवालोंको सुना-सुनाकर शिवजीकी सिखायी हुई बात कहने लगीं। गंगामें नहाकर लोगोंके दल-के-दल आ रहे हैं। सुन्दरी युवतीको यों बैठी देखकर कइयोंके मनमें पाप आया, कई लोक-लज्जासे डरे तो कइयोंको कुछ धर्मका भय हुआ, कई कानूनसे डरे। कुछ लोगोंने तो पार्वतीको यह भी सुना दिया कि मरने दे बुड्ढेको। क्यों उसके लिये रोती है? आगे और कुछ भी कहा, मर्यादा भंग होनेके भयसे वे शब्द लिखे नहीं जाते। कुछ दयालु सच्चरित्र पुरुष थे, उन्होंने करुणावश हो युवतीके पतिको निकालना चाहा; परंतु पार्वतीके वचन सुनकर वे भी रुक गये। उन्होंने सोचा कि हम गंगामें नहाकर आये हैं तो क्या हुआ, पापी तो हैं ही, कहीं होम करते हाथ न जल जायँ। बूढ़ेको निकालने जाकर इस स्त्रीके कथनानुसार हम स्वयं भस्म न हो जायँ। सुतरां किसीका साहस नहीं हुआ। सैकड़ों आये, सैकड़ोंने पूछा और चले गये। संध्या हो चली। शिवजीने कहा—'पार्वती! देखा, आया कोई गंगामें नहानेवाला?'

थोड़ी देर बाद एक जवान हाथमें लोटा लिये हर-हर करता हुआ निकला, पार्वतीने उससे भी वही बात कही। युवकका हृदय करुणासे भर आया। उसने

शिवजीको निकालनेकी तैयारी की। पार्वतीने रोककर कहा कि 'भाई! यदि तुम सर्वथा निष्पाप नहीं होओगे तो मेरे पतिको छूते ही जल जाओगे।' उसने उसी समय बिना किसी संकोचके दृढ़ निश्चयके साथ पार्वतीसे कहा कि 'माता! मेरे निष्पाप होनेमें तुझे सन्देह क्यों होता है? देखती नहीं मैं अभी गंगा नहाकर आया हूँ। भला गंगामें गोता लगानेके बाद भी कभी पाप रहते हैं? तेरे पतिको निकालता हूँ।' युवकने लपककर बूढ़ेको ऊपर उठा लिया। शिव-पार्वतीने उसे अधिकारी समझकर अपना असली स्वरूप प्रकटकर उसे दर्शन देकर कृतार्थ किया! शिवजीने पार्वतीसे कहा कि 'इतने लोगोंमेंसे इस एकने ही गंगास्नान किया है।' इसी दृष्टान्तके अनुसार जो लोग बिना श्रद्धा और विश्वासके केवल दम्भके लिये नामग्रहण करते हैं, उन्हें वास्तविक फल नहीं मिलता; परंतु इसका यह मतलब नहीं कि नामग्रहण व्यर्थ जाता है।

नामका फल अवश्य होता है—

परंतु जैसा चाहिये वैसा नहीं होता। दम्भार्थ नाम लेनेवाले भी संसारमें पूजे जाते हैं। उनके पापोंका नाश भी होता ही है; परंतु अनन्त जन्मोंके संचित और इस समय भी लगातार होनेवाले अनन्त पाप श्रद्धारहित नामसे पूरे नष्ट नहीं हो पाते। नामसे पूरा फल प्राप्त न होनेमें श्रद्धाके अतिरिक्त एक और प्रधान कारण है—

साधकका सकामभाव!

हम बहुत बड़ी मूल्यवान् वस्तुको बहुत सस्ते दामोंपर बेच देते हैं। सिरमें मामूली दर्द होता है तो उसे मिटानेके लिये 'राम-राम' कहते हैं! सौ-पचास रुपयोंकी कमाईके लिये राम-नाम लेते हैं। स्त्री, बच्चोंकी आरोग्यताके लिये राम-नाम लेते हैं। मान-बड़ाई पानेके लिये राम-नाम कहते हैं। सन्तान-सुखके लिये राम-नाम कहते हैं। फल यह होता है कि हम राम-नाम लेनेपर भी कमानेके साथ ही लुटानेवाले मूर्खके समान जैसे-के-तैसे ही रह जाते हैं। चलनीमें जितना भी पानी भरते रहो, सभी निकल जायगा। हमारा अन्त:करण भी कामनाओंके अनन्त छेदोंसे चलनी हो रहा है। इसमें कुछ भी ठहरता नहीं। राम-नामका फल कैसे हो? प्यास लगी हुई है, जगत्में सुखकी पिपासा किसको नहीं है? पवित्र जलका भी झरना झर रहा है, राम-नामके झरनेका प्रवाह सदा ही अबाधितरूपसे बहता है, परंतु हम अभागे उस झरनेके आगे अंजलि बाँधकर जल ग्रहण नहीं करते। हम उसके आगे रखते हैं हजारों छेदोंवाली चलनी; जिसमें न तो कभी पानी ठहरता है और न हमारी प्यास ही बुझती है! सकामभावसे लिये हुए नामसे भी, नामके असली फल—आत्यन्तिक सुखसे हम इसी प्रकार वंचित रह जाते हैं। प्रथम तो कोई भगवन्नाम लेता ही नहीं और यदि कोई लेता है तो वह सकामभावसे, धन-सन्तान, मान-बड़ाईकी वृद्धिके लिये लेता है। नियमानुसार फलमें जहाँ-का-तहाँ ही रहना पड़ता है। परंतु नामकी महिमा अपार है। इस प्रकार लिये हुए नामसे भी फल तो होता ही है। सकाम कर्मकी सिद्धि भी होती है और आगे चलकर भगवद्-भक्ति भी प्राप्त होती है। जब इन पंक्तियोंका क्षुद्र लेखक सकामभावसे नाम-जप किया करता था तब कई बार उसकी ऐसी विपत्तियाँ टली हैं जिनके टलनेकी कोई भी आशा नहीं थी। केवल वह विपत्तियाँ ही नहीं टलीं, उसका और फल भी हुआ। नाममें रुचि बढ़ी और आगे चलकर निष्कामभाव भी हो गया! भगवन्नाम लेनेका अन्तिम परिणाम है भगवान्में एकान्त प्रेम हो जाना। एकान्त प्रेम होनेके बाद भी प्रेममयके मिलनेमें जरा-सा भी विलम्ब नहीं होता, जैसे ध्रुवको और विभीषणको राज्यकी भी प्राप्ति हुई और भगवत्प्रेमकी भी। इसीलिये शास्त्रोंमें चाहे जैसे भगवन्नाम लेनेवालेको भी बड़ा उत्तम बतलाया है! भगवान्ने गीतामें इसीलिये अर्थार्थी भक्तको भी उदार और पुण्यात्मा बतलाया है और अन्तमें '**मद्भक्ता यान्ति मामपि**' कहकर चाहे जिस प्रकार भी भगवद्-भक्ति करनेवालेको अपनी प्राप्ति कही है; क्योंकि सकामभावसे अन्य सबकी आशा छोड़कर, अन्य सबका आश्रय त्यागकर केवल भगवान्की भक्तिके परायण होना भी बड़े भारी पुण्योंका फल है। अतएव सकामभावसे भगवान्के नाम ग्रहण करनेवाले लोग भी बड़े पूज्य और मान्य हैं; परंतु उनको सकामभावकी प्रतिबन्धकताके कारण नामके वास्तविक फल नामीके प्रेमकी या स्वयं नामीकी प्राप्तिमें विलम्ब अवश्य हो जाता है! इससे यह सिद्ध हो गया कि नामसे फल तो अवश्य होता है परंतु अश्रद्धा, अविश्वास और कामनाके कारण उसके असली फलकी प्राप्तिमें देर हो जाती है। यदि साधक इस अपने दोषसे होनेवाली देरीका दोष नामपर लगाकर उसे अर्थवाद कहता है तो यह भी उसका अपराध है।

नामके दस अपराध—

—बतलाये गये हैं—(१) सत्पुरुषोंकी निन्दा, (२) नामोंमें भेदभाव, (३) गुरुका अपमान, (४) शास्त्रनिन्दा, (५) हरिनाममें अर्थवाद (केवल स्तुतिमात्र है ऐसी) कल्पना, (६) नामका सहारा लेकर पाप करना, (७) धर्म, व्रत, दान और यज्ञादिके साथ नामकी तुलना,

(८) अश्रद्धालु, हरिविमुख और सुनना न चाहनेवालेको नामका उपदेश करना, (९) नामका माहात्म्य सुनकर भी उसमें प्रेम न करना और (१०) 'मैं', 'मेरे' तथा भोगादि विषयोंमें लगे रहना।

यदि प्रमादवश इनमेंसे किसी तरहका नामापराध हो जाय तो उससे छूटकर शुद्ध होनेका उपाय भी पुनः नाम-कीर्तन ही है। भूलके लिये पश्चात्ताप करते हुए नाम-कीर्तन करनेसे नामापराध छूट जाता है। पद्मपुराणका वचन है—

नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।
अविश्रान्तप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च॥

नामापराधी लोगोंके पापोंको नाम ही हरण करता है। निरन्तर नाम-कीर्तनसे सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं। नामके यथार्थ माहात्म्यको समझकर जहाँतक हो सके, नाम लेनेमें कदापि इस लोक और परलोकके भोगोंकी जरा-सी भी कामना नहीं करनी चाहिये। यद्यपि ऊपर लिखे अनुसार नाम-जपसे कामना-सिद्धिके सिवा अन्तःकरणकी शुद्धि होकर भगवद्भक्तिरूप विशेष फल भी मिलता है, परन्तु नियम यही है कि जैसी कामना हो—सांगोपांग कर्म होनेपर—वैसा ही फल मिल जाय। जो लोग भगवन्नामका साधारण बातोंमें प्रयोग करते हैं, वे वास्तवमें भगवन्नामकी अपार महिमासे सर्वथा अनभिज्ञ हैं या उसपर उनका विश्वास नहीं है। जो रत्नके मूल्यसे अनभिज्ञ होगा वही उसे काँचके मोलपर बेचेगा।

भगवन्नामके मूल्यपर एक दृष्टान्त

एक श्रद्धालु भक्त प्रतिदिन गाँवके बाहर एक महात्माके पास जाया करता था। जब महात्माकी सेवा करते-करते उसे बहुत दिन बीत गये, तब महात्माने उसे अधिकारी समझकर कहा कि 'वत्स! तेरी मति भगवान्‌में है, तू श्रद्धालु है, गुरुसेवापरायण है, कुतार्किक नहीं है, साधनमें आलसी नहीं है, शास्त्रके वचनोंमें विश्वासी है, किसीका बुरा नहीं चाहता, किसीसे घृणा और द्वेष नहीं करता, सरल-चित्त है, काम, क्रोध, लोभसे डरता है, संतोंका उपासक है और जिज्ञासु है; इसलिये तुझे एक ऐसा गोपनीय मन्त्र देता हूँ जिसका पता बहुत ही थोड़े लोगोंको है। यह मन्त्र परम गुप्त और अमूल्य है, किसीसे कहना नहीं!' यों कहकर महात्माने उसके कानमें धीरेसे कह दिया, 'राम'। श्रद्धालु भक्त मन्त्रराज 'राम' का जप करने लगा। वह एक दिन गंगा नहाकर लौट रहा था तो उसका ध्यान उन लोगोंकी तरफ गया जो हजारोंकी संख्यामें उसीकी तरह गंगा नहाकर जोर-जोरसे 'राम-राम' पुकारते चले आ रहे थे। सुनता तो रोज ही था परन्तु कभी इस ओर उसका ध्यान नहीं गया था। आज ध्यान जाते ही उसके मनमें यह विचार आया कि महात्मा तो राममन्त्रको बड़ा गुप्त बतलाते थे, मुझसे कह भी दिया था कि किसीसे कहना नहीं, परन्तु इसको तो सभी जानते हैं; हजारों मनुष्य 'राम-राम' पुकारते हुए चलते हैं। उसके मनमें कुछ संशय उत्पन्न हो गया। वह अपने घर न जाकर सीधा गुरुके समीप गया। महात्माने कहा कि 'वत्स! आज इस समय कैसे आया?' उसने अपना संशय सुनाकर कहा कि 'प्रभो! मेरे समझनेमें भ्रम हुआ है या इसका और कोई मतलब है? अपनी दिव्यवाणीसे मेरा सन्देह दूर करनेकी कृपा कीजिये!' महात्माने उसके मनकी बात जान ली और कहा कि 'भाई! तेरे प्रश्नका उत्तर पीछे दिया जायगा। पहले तू मेरा एक काम कर!' महात्माने झोलीमेंसे एक चमकती हुई काँचकी-सी गोली निकाली और उसे भक्तके हाथमें देकर कहा—'बाजारमें जाकर इसकी कीमत करवाकर लौट आ। बेचना नहीं है, सिर्फ कीमत जाननी है। सावधान! कीमत अँकानेमें कहीं भूल न हो जाय। भक्त श्रद्धालु था, आजकल-सा कोई होता तो पहले ही गुरु महाराजको आड़े हाथों लेता और कहता कि 'मैं तुम्हारे काँचके टुकड़ेकी कीमत जँचवाने नहीं आया हूँ, तुम्हारा कोई गुलाम नहीं हूँ। पहले मेरे प्रश्नका उत्तर दो, नहीं तो मेरे साथ छल करनेके अपराधमें तुमपर कोर्टमें नालिश की जायगी।' वह समय दूसरा था। भक्त अपना प्रश्न वहीं छोड़कर गुरुका काम करनेके लिये बाजारमें गया। सबसे पहले एक शाक बेचनेवाली मिली। भक्तने गुरुकी चीज उसे दिखलाकर कहा कि 'इसकी क्या कीमत देगी?' शाक बेचनेवालीने पत्थरकी चमक और सुन्दरता देखकर सोचा कि बच्चोंके खेलनेके लिये काँचकी बड़ी सुन्दर गोली है। बाजारमें कहीं ऐसी नहीं मिलती! उसने कहा—'सेर-दो-सेर आलू या बैगन ले लो।' वह आगे बढ़ा, एक सुनारकी दूकान थी, वहाँ ठहरा। सुनारको गोली दिखलाकर पूछा—'भाई! इसकी क्या कीमत दोगे?' सुनारने हाथमें लेकर देखा और उसे अच्छा पुखराज (नकली हीरा) समझकर सौ रुपये देनेको कहा। भक्तकी दिलचस्पी बढ़ी, वह और आगे बढ़ा, एक महाजनके यहाँ गया। महाजनने गोली देखकर मनमें विचार किया कि इतना बड़ा और ऐसा अच्छा हीरा तो जगत्‌में कहाँसे होगा? है तो पुखराज ही, परन्तु हीरा-सा लगता है। बड़े घरमें नकली भी असली ही समझा जाता है, उसने हजार रुपयोंमें माँगा। भक्तने सोचा कि हो-न-हो, है तो कोई बड़ी मूल्यवान् वस्तु। वह और आगे बढ़ा और

एक जौहरीकी दूकानपर गया। जौहरीने परीक्षा की तो उसे हीरा ही मालूम दिया, परंतु इतना बड़ा और ऐसा हीरा कभी उसने देखा ही न था। इसलिये उसे कुछ सन्देह रहा तथापि उसने एक लाख रुपयोंमें उसे माँगा। भक्त 'बेचना नहीं है' कहकर एक सबसे बड़े जौहरीकी दूकानपर गया। जब गुरुके पाससे आया था तब तो उसे जौहरियोंके पास जानेका साहस ही नहीं था, वह स्वयं उसे मामूली काँच समझता था, परन्तु ज्यों-ज्यों कीमत बढ़ती गयी त्यों-त्यों उसका भी साहस बढ़ता गया। बड़े जौहरीने हीरा देखकर कहा कि 'भाई! यह तो अमूल्य है। इस देशकी सारी जवाहरात इसके मूल्यमें दे दी जाय तब भी इसका मूल्य पूरा नहीं होता। इसे बेचना नहीं। यह सुनकर भक्तने विचार किया कि अब तो सीमा हो चुकी।

वह लौटकर महात्माके पास गया और बोला कि 'महाराज! इसकी कीमत कोई कर ही नहीं सकता, यह तो अमूल्य वस्तु है। गुरुने पूछा कि 'तुमको यह किसने बताया?' भक्तने कहा कि 'प्रभो! मैंने यहाँसे बाजारमें जाकर पहले शाकवालीसे पूछा तो सेर-दो-सेर शाक देना स्वीकार किया, सुनारने सौ रुपये कहे, महाजनने हजार, जौहरीने लाख और अन्तमें सबसे बड़े जौहरीने इसे अमूल्य बतलाते हुए कहा कि यदि देशकी सारी जवाहरात इसके बदलेमें दे दी जाय तब भी इसका मूल्य पूरा नहीं होता।' महात्माने उससे रत्न लेकर अपनी झोलीमें रख लिया। भक्तने कहा कि 'महाराज! अब मेरी शंका-निवारण कीजिये। महात्माने कहा—'भाई! मैं तो तुझे शंका-निवारणके लिये दृष्टान्तसहित उपदेश दे चुका। तू अभी नहीं समझा, इसलिये फिर समझाता हूँ। इस रत्नकी कीमत करानेमें ही तेरी शंका दूर होनी चाहिये थी। रत्न अमूल्य था, परंतु उसकी असली पहचान केवल सबसे बड़े जौहरीको ही हुई, दूसरे नहीं पहचान सके। यदि मैंने तुझे बेचनेके लिये आज्ञा दे दी होती तो तू दो सेरके बदले पाँच-सात सेर शाकके मूल्यपर इसे बेच ही देता, आगे बढ़ता ही नहीं। अमूल्य वस्तु कौड़ीके मूल्य चली जाती! कितना बड़ा नुकसान होता। इसी प्रकार श्रीराम-नाम भी गुप्त और अमूल्य पदार्थ है, इसकी पहचान सबको नहीं है और न इसका मूल्य ही सब कोई जानते हैं। चीज हाथमें होनेपर भी जबतक उसकी पहचान नहीं होती, तबतक उसका असलीपन गुप्त ही रहता है। इसी तरह राम-नामके असली महत्त्वको भी बहुत कम लोग जानते हैं। जो राम-नामका व्यवसाय करते हैं वे बेचारे बड़े दयाके पात्र हैं; क्योंकि वे इस अमूल्य धन राम-नामको कौड़ीके मूल्यपर बेच देते हैं। इसीसे परम मूल्यवान् रत्नको दो सेर शाकके बदलेमें बेच देनेवाले मूर्खके समान वे सदा ही भक्ति और प्रेममें दरिद्री ही रहते हैं। भक्ति और प्रेमके हुए बिना परमात्मा नहीं मिलते और परमात्माको प्राप्त किये बिना दुःखोंसे कभी छुटकारा नहीं हो सकता। दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति परमात्माको प्राप्त करनेमें ही है और उस—

—परमात्माकी प्राप्तिका परम साधन श्रीभगवन्नाम है—

इसलिये भगवन्नामका किसी भी दूसरे काममें प्रयोग नहीं करना चाहिये। भगवन्नाम लेना चाहिये केवल भगवान्के लिये। भगवान्के लिये भी नहीं, उसके प्रेमके लिये—प्रेमके लिये भी नहीं, परंतु इसलिये कि लिये बिना रहा नहीं जाता। मनकी वृत्तियाँ ऐसी बन जानी चाहिये कि जिससे भजन हुए बिना एक क्षण भी चैन नहीं पड़े। जैसे श्वास रुकते ही गला घुट जाता है—प्राण अत्यन्त व्याकुल होकर छटपटाने लगते हैं, इसी प्रकार भजनमें जरा-सी भी भूल होनेसे, क्षणभरके लिये भी भजन छूटनेमें प्राण छटपटाने लगें। इसीलिये भगवान् नारद कहते हैं—

'अव्यावृतभजनात्'

तैलधारावत् निरन्तर भजन करनेसे ही प्रेमकी प्राप्ति होती है। भजनमें सबसे पहले नामकी आवश्यकता है। जिसका भजन करना होता है, सर्वप्रथम उसका नाम जानना पड़ता है इसलिये नाम ही भजनका मूल है। इस—

—नाम-भजनके कई प्रकार—

हैं, जप, स्मरण और कीर्तन। इनमें सबसे पहले जपकी बात कही जाती है। परमात्माके जिस नाममें रुचि हो, जो अपने मनको रुचिकर हो उसी नामकी परमात्माकी भावनासे बारम्बार आवृत्ति करनेका नाम जप है। जपकी शास्त्रोंमें बड़ी महिमा है। जपको यज्ञ माना है और श्रीगीताजीमें भगवान्के इस कथनसे कि **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** (यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं हूँ) जपका महत्त्व बहुत ही बढ़ गया है। जपके तीन प्रकार हैं—साधारण, उपांशु और मानस। इनमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तर दस गुण अधिक फलदायक है। भगवान् मनु कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

दर्श-पौर्णमासादि विधियज्ञोंसे (यहाँ मनु महाराजने भी विधियज्ञोंसे जपयज्ञको ऊँचा मान लिया है) साधारण जप दस गुण श्रेष्ठ है, उपांशु जप सौ गुण श्रेष्ठ है और मानस-जप हजार गुण श्रेष्ठ है।

जो फल साधारण जपके हजार मन्त्रोंसे होता है,

वही फल उपांशु-जपके सौ मन्त्रोंसे और मानस-जपके एक मन्त्रसे हो जाता है। उच्चस्वरसे होनेवाले जपको साधारण जप कहते हैं (परंतु यह कीर्तन नहीं है)। जिसमें जिह्वा और ओष्ठ तो हिलते हैं, परंतु शब्द अंदर ही रहता है वह उपांशु-जप है और जिसमें न जीभके हिलानेकी आवश्यकता होती है और न ओष्ठके, वह मानसिक जप कहलाता है। उच्चस्वरसे उपांशु उत्तम और उपांशुसे मानसिक उत्तम है। यह जपकी विधि है, किसी भी देवताका कैसा ही मन्त्र क्यों न हो, यह विधि सबके लिये एक-सी है। परंतु भगवन्नामजपका तो कुछ विलक्षण ही फल होता है। यह नामकी अलौकिक महिमा है। दूसरे जपोंमें अनेक प्रकारके विधि-निषेध होते हैं, शुद्धि-अशुद्धिका बड़ा विचार करना पड़ता है, परंतु भगवन्नाममें ऐसी कोई बात नहीं।

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

'अपवित्र हो, पवित्र हो, किसी भी अवस्थामें क्यों न हो, भगवान् पुण्डरीकाक्षका स्मरण करते ही बाहर और भीतरकी शुद्धि हो जाती है।' जल-मृत्तिकासे केवल बाहरकी ही शुद्धि होती है, परंतु भगवन्नाम अन्तरके मलोंको भी अशेषरूपसे धो डालता है, इसका किसीके लिये किसी अवस्थामें भी कोई निषेध नहीं है।

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

कलिसन्तरणोपनिषद्—

—में नाम-जपकी विधि और उसके फलका बड़ा सुन्दर वर्णन है, पाठकोंके लाभार्थ उसे यहाँ उद्धृत किया जाता है।

हरिः ॐ। द्वापरान्ते नारदो ब्रह्माणं जगाम कथं भगवन् गां पर्यटन् कलिं सन्तरेयमिति॥ १॥

द्वापरके समाप्त होनेके समय श्रीनारदजीने ब्रह्माजीके पास जाकर पूछा कि हे भगवन्! मैं पृथ्वीकी यात्रा करनेवाला कलियुगको कैसे पार करूँ।

स होवाच ब्रह्मा साधु पृष्टोऽस्मि सर्वश्रुतिरहस्यं गोप्यं तच्छृणु येन कलिसंसारं तरिष्यसि। भगवत आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवति॥ २॥

ब्रह्माजी बोले कि तुमने बड़ा उत्तम प्रश्न किया है। सम्पूर्ण श्रुतियोंका जो गूढ़ रहस्य है, जिससे कलि-संसारसे तर जाओगे, उसे सुनो। उस आदिपुरुष भगवान् नारायणके नामोच्चारणमात्रसे ही कलिके पातकोंसे मनुष्य मुक्त हो सकता है।

नारदः पुनः पप्रच्छ। तन्नाम किमिति। स होवाच हिरण्यगर्भः।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम्। नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते॥ इति षोडशकलावृतस्य पुरुषस्य आवरणविनाशनम्। ततः प्रकाशते परं ब्रह्म मेघापाये रविरश्मिमण्डलीवेति॥ ३॥

श्रीनारदजीने फिर पूछा कि 'वह भगवान्का नाम कौन-सा है?' ब्रह्माजीने कहा, वह नाम है—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥*

इन सोलह नामोंके उच्चारण करनेसे कलिके सम्पूर्ण पातक नष्ट हो जाते हैं। सम्पूर्ण वेदोंमें इससे श्रेष्ठ और कोई उपाय नहीं देखनेमें आता! इन सोलह कलाओंसे युक्त पुरुषका आवरण (अज्ञानका परदा) नष्ट हो जाता है और मेघोंके नाश होनेसे जैसे सूर्य-किरणसमूह प्रकाशित होता है, वैसे ही आवरणके नाशसे ब्रह्मका प्रकाश हो जाता है।

पुनर्नारदः पप्रच्छ भगवन् कोऽस्य विधिरिति। तं होवाच नास्य विधिरिति। सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन् ब्राह्मणः सलोकतां समीपतां सरूपतां सायुज्यतामेति॥ ४॥

नारदजीने फिर पूछा कि 'हे भगवन्! इसकी क्या विधि है?' ब्रह्माजीने कहा कि 'कोई विधि नहीं है। सर्वदा शुद्ध हो या अशुद्ध, नामोच्चारणमात्रसे ही सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य-मुक्ति मिल जाती है।'

यदास्य षोडशकस्य सार्धत्रिकोटिर्जपति तदा ब्रह्महत्यां तरति। स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति। वृषलीगमनात् पूतो भवति। सर्वधर्मपरित्यागपापात्सद्यः शुचितामाप्नुयात्। सद्यो मुच्यते

* इस मन्त्रमें भगवान्के तीन नाम हैं 'हरि, राम और कृष्ण।' इनमें हरि शब्दका अर्थ है—'हरति योगिचेतांसीति हरिः' जो योगियोंके चित्तोंको हरण करता है, वह हरि है अथवा 'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः। अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥' जैसे अनिच्छासे स्पर्श कर लेनेपर भी अग्नि जला देती है, इसी प्रकार दुष्टचित्तसे भी स्मरण किया हुआ जो हरि पापोंको हर लेता है उसे हरि कहते हैं। 'राम' शब्दका अर्थ है—'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः' जिसमें योगिगण रमण करते हैं, उसका नाम राम है अथवा 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥' जिस अनन्त चिदात्मा परब्रह्ममें योगिगण रमण करते हैं वह राम है। 'कृष्ण' शब्दका अर्थ है 'कर्षति योगिनां मनांसीति कृष्णः' जो योगियोंके चित्तको आकर्षण करता है वह कृष्ण है अथवा 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥' कृषि भू याने सत्तावाचक है और ण निर्वृत्तिवाचक है, इन दोनोंकी एकता होनेपर परब्रह्म कृष्ण कहलाता है।

सद्यो मुच्यते। इत्युपनिषत्॥ ५॥

ब्रह्माजी फिर कहने लगे कि 'यदि कोई पुरुष इन सोलह नामोंके साढ़े तीन करोड़ जप कर ले तो वह ब्रह्महत्या, स्वर्णकी चोरी, शूद्र-स्त्री-गमन और सर्व-धर्मत्यागरूपी पापोंसे मुक्त हो जाता है। वह तत्काल मुक्तिको प्राप्त होता है। तत्काल ही मुक्तिको प्राप्त होता है।

जपकी विधि

इससे यह सिद्ध हो गया कि स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-अन्त्यज, गृही-वनवासी, शुद्ध-अशुद्ध, विद्वान्-मूर्ख, कोई भी किसी भी प्रकारसे इस षोडश नामके साढ़े तीन करोड़ मन्त्रोंका जप कर लेता है, वह समस्त महापातकों, उनके फलस्वरूप नरकों और स्वर्गादि मोक्षमार्गके प्रति-बन्धकोंसे छूटकर परमात्माके सच्चिदानन्दघन-स्वरूपको अनायास ही प्राप्त हो जाता है, कितना सहज और सस्ता उपाय है? यदि मनुष्य प्रतिदिन लगभग ६,५०० मन्त्रोंका जप करे (जो सोलह नामके मन्त्रकी लगभग ६१ मालाओंमें हो जाता है) तो केवल १५ वर्षमें साढ़े तीन कोटि जप-संख्या पूरी हो जाती है। यह तो साधारण जप-विधिकी बात है। उपांशु या मनसे जप हो तो बहुत ही शीघ्र सफलता मिल सकती है।

जिस परमात्माको प्राप्त करनेके लिये लाखों-करोड़ों जन्मोंतक प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जिस परमात्मसुखको पानेके लिये अनन्त जन्मोंकी साधनाकी आवश्यकता होती है, वही परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धि यदि पंद्रह वर्षोंमें, घरमें रहते हुए, संसारका काम करते हुए, शास्त्रसे अविरुद्ध भोगोंको भोगते हुए मिल जाय तो फिर और क्या चाहिये? इससे सस्ता सौदा और क्या हो सकता है? हम सारी उम्र बिता देते हैं थोड़े-से धन-संग्रह करनेके लोभमें। जिसका संग्रह होना-न-होना भी अनिश्चित रहता है। परंतु समस्त धनोंका मूल, समग्र धनपतियोंका एकमात्र स्वामी, समस्त देव, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, पितृ, मनुष्य और राक्षस आदिके कुल धनकी, जिस अतुल धन-राशिके एक अंशके कोट्यंशके साथ भी तुलना नहीं की जा सकती, ऐसा वह परमधन स्वयं यदि पंद्रह वर्षकी श्रद्धायुक्त सहजसाधनासे अपने अस्तित्वके साथ तुम्हारे अस्तित्वको मिला लेता है तो बताओ फिर तुम्हें और किस वस्तुकी आवश्यकता रह जाती है? जब स्वयं सम्राट्का ही पद मिल जाय, तब छोटे-छोटे खेत तो उसमें आप ही आ जाते हैं। तुम संसारका मामूली धन चाहते हो। वह सारे खजानेका स्वामित्व ही तुम्हें सौंप देता है। फिर मामूली धनकी प्राप्तिके लिये तो कोई गारंटी भी नहीं करता। सब समझदार लोग यों ही कहते हैं, भाई! उद्योग करो, तुम्हारे भाग्यमें होगा तो मिल जायगा, परंतु इस परमधनकी प्राप्तिके लिये तो शास्त्र जिम्मा लेते हैं। ब्रह्मा स्वयं कहते हैं। इतिहास इस बातकी सत्यताका प्रमाण दे रहे हैं। भक्तोंकी गाथाएँ उच्चस्वरसे इस ध्रुव सत्यकी घोषणा कर रही हैं। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण भी मिल सकते हैं। ऐसी स्थितिमें अविश्वासकी तो कोई बात ही नहीं रह जाती।

लोग कह सकते हैं कि 'हम घरका काम करते हुए प्रतिदिन इतने मन्त्रोंका जप कैसे करें। इतने जपमें कम-से-कम छः घंटेका समय चाहिये।' परन्तु उनका ऐसा कहना भूलसे होता है, यदि हमलोग समयका उपयोग सावधानीके साथ करें तो घर और आजीविकाके काममें किसी प्रकारकी बाधा नहीं पड़कर भी इतना जप प्रतिदिन हो सकता है। उस देवमन्त्रके जपमें बाधा आती है जो स्नानकर शुद्ध हो एक समय एक जगह बैठकर किया जाता है। वैसे जपमें लगातार इतना समय लगाना कठिन होता है, परंतु इस नाम-मन्त्रके जपमें तो उस तरहकी कोई अड़चन नहीं है। चलते, फिरते, बैठते, उठते, सोते, आजीविकाका काम करते, सब समय, सभी अवस्थामें यह जप हो सकता है। यदि हमलोग हिसाब लगाकर देखें तो दिन-रातके चौबीस घंटेके समयमेंसे छः घंटे निद्राके बाद देकर बाकीके अठारह घंटे केवल शरीर और आजीविकाके कार्योंमें ही नहीं व्यतीत होते। हमारा बहुत-सा समय तो असावधानीसे व्यर्थकी बातोंमें जाता है। यदि हमलोग वाणीका संयम करना सीख जायँ, बिना मतलब, बिना कार्यके बोलना छोड़ दें तो मेरी समझसे राजासे लेकर मजदूरतक सबको इतना नाम-जप प्रतिदिन करनेके लिये पूरा समय अनायास ही मिल सकता है। हम चेष्टा नहीं करते, केवल बहाना कर देते हैं। यदि चेष्टा करें, समयका मूल्य समझें तो एक क्षणको भी हरिके नाम बिना व्यर्थ नहीं जाने दें। कामके लिये जितने बोलनेकी आवश्यकता हुई, उतने शब्द बोल दिये, फिर वाणीको उसी नाम-जपमें लगा दिया। इस प्रकार अभ्यास करते रहनेपर तो ऐसी आदत पड़ जाती है कि फिर नाम-जप छूटना कठिन हो जाता है, फिर तो साधकको ऐसी प्रबल इच्छा होने लगती है कि चौबीसों घंटे नाम-जप ही किया करूँ। उसे थोड़े जपमें संतोष नहीं होता! जैसे बड़े जोरकी भूख या प्यास लगनेपर मनुष्यका एक-एक क्षण कष्टसे बीतता है, इसी प्रकार नाम-प्रेमीका भी जो क्षण नामके बिना जाता है वह बड़े कष्टसे बीतता है।

जप उसीका नाम है जो संख्यासे किया जाता है।

जपके तीन प्रकार पहले बतलाये जा चुके हैं। उनके सिवा साधकोंके सुभीतेके लिये और भी कई प्रकार बतलाये जाते हैं। जैसे—

(१) श्वासके द्वारा जप करना।

(२) नाड़ीसे जप करना।

(३) मानस-मूर्ति-पूजाकी भाँति नामाक्षरोंकी मनमें कल्पना कर उनको बारम्बार पढ़ना।

(४) भगवान्‌की मूर्तिकी कल्पना कर उसपर नामाक्षरोंकी गहनोंकी तरह कल्पना कर उनकी आवृत्ति करना।

अन्य भी कई प्रकार तथा भेद हैं, विस्तारभयसे यहाँ नहीं लिखे जाते। उपर्युक्त चारों प्रकारके जपका कुछ खुलासा कर देना आवश्यक है।

(१) प्रत्येक श्वासकी गतिकी ओर लक्ष्य रखना और श्वासके आने तथा जानेमें श्वासके शब्दके साथ ही मन्त्रकी कल्पना करना, साथ ही जिह्वासे भी उपांशुरूपसे उच्चारण करते रहना। आरम्भमें माला रखना और श्वासके साथ होनेवाले प्रत्येक जपकी गिनती रखना। यदि इस प्रकार दो-चार मालाएँ भी प्रतिदिन जपनेका अभ्यास किया जाय तो मन बहुत शीघ्र स्थिर होकर नाममें लग सकता है। श्वासका जप बिना मनके नहीं होता। साधारण और उपांशु जप तो अभ्यास होनेपर मनके अन्यत्र रहनेपर भी हो सकते हैं, परंतु श्वासका जप मन बिना नहीं होता, मन नहीं रहता है तो श्वासकी गतिका ध्यान छूट जाता है; केवल जीभसे जप होता रहता है। इसलिये श्वाससे जप करनेवालेको श्वासकी गतिकी ओर ध्यान रखना ही पड़ता है। जहाँ मन अन्यत्र गया कि जप छूटा! कबीरने कहा है—

साँसौ साँसा नाम जप, अरु उपाय कछु नाहिं।

(२) इसी प्रकार नाड़ीका जप है। नाड़ीकी गति श्वाससे भी सूक्ष्म है। हाथ, गले, मस्तक आदिकी नाड़ियाँ अँगुली लगानेपर चलती हुई मालूम होती हैं, अतएव पहले-पहले नाड़ीद्वारा जप करनेवालेको अँगुलियोंसे नाड़ीकी गतिका निरीक्षण करते हुए मनको उस गतिकी ओर लगाकर नाड़ीकी गतिके साथ ही उसके प्रत्येक ठपकेपर मन्त्रकी कल्पना करनी चाहिये। जीभ और मालाका प्रयोग श्वाससे जपके समान ही करना चाहिये।

(३) आँखें मूँदकर मन्त्रके पूरे अक्षरोंकी अपने सामने आकाशमें या हृदयमें कल्पना कर उन्हें बारम्बार मनसे पढ़ता रहे, साथ ही जीभका प्रयोग भी करता रहे। गिनतीके लिये हाथमें माला रखे। मन्त्रके अक्षर, हो सके तो बराबर मनमें बनाये रखे। प्रत्येक मन्त्रके जपका आरम्भ करनेके समय कल्पना कर ले और मन्त्र पूरा होते ही मिटा दे। जिस तरीकेमें सुभीता मालूम हो वही करे।

(४) मनकी रुचिके अनुसार भगवान्‌की किसी मूर्तिकी मनमें कल्पना कर मूर्तिके चरणोंमें, गलेकी मालामें या मस्तकमें, मुकुटमें या हस्त-पादादि अंगोंपर जड़े हुए नगीनोंके गहनोंके रूपमें मन्त्रके चमकते हुए सुन्दर अक्षरोंकी कल्पना कर आँखें मूँदे हुए उनका बारम्बार मनसे जप करता रहे। और सब बातें तीसरेके समान ही करे।

योगदर्शनकार कहते हैं—**'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** उसके वाचक प्रणवका जप करता हुआ उसके वाच्य नामीकी—ईश्वरकी भावना करे। वाणीसे जप और मनमें ध्यान-दोनोंका एक साथ होना बहुत ही उत्तम साधन है। भगवान्‌ने भी यही कहा है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

(गीता ८। १३)

'जो इस ॐरूप एकाक्षर नाम-ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और नामी मुझ परमात्माको स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह पुरुष परमगतिको प्राप्त होता है।'

मनमें भगवान्‌की मूर्तिका, भगवद्भावका या भगवन्नामका ध्यान-स्मरण करते हुए जीभसे जप करना सर्वोत्तम जप है, इसीके अन्तर्गत उपर्युक्त चारों प्रकार भी हैं। इससे उतरकर उपांशु और उससे उतरकर साधारण (जोर-जोरसे उच्चारण करते हुए जप करना) है, जिसको जो सुलभ, सुविधाजनक और रुचिकर प्रतीत हो, वह उसीका अभ्यास करे! भगवन्नाम ऐसी वस्तु है जो किसी भी प्रकारसे ग्रहण करनेपर भी मंगलप्रद ही है। भगवन्नाम-जपमें रुचि और विश्वास होना चाहिये, फिर बेड़ा पार है। इतना स्मरण रखना चाहिये कि जो जप निष्कामभावसे, नामीके ध्यानसे युक्त, प्रेमसहित, निरन्तर और गुप्त होता है वही उत्तम-से-उत्तम समझा जाता है, अतएव यथासाध्य कुछ मालाएँ (कम-से-कम १४ मालाएँ) प्रतिदिन जपनी चाहिये। नियमसे जो काम होता है वह अनियमसे नहीं होता।

यदि निष्कामभाव न आ सके तो विश्वास रखकर सकामभावसे ही जप करना चाहिये। भगवन्नाम-जपकी महिमासे आगे चलकर सकाम भी निष्काम हो सकता है। प्रातःस्मरणीय भक्तराज ध्रुवजीने राज्यकी इच्छासे वनमें जाकर ध्यानसहित मन्त्र-जप किया। उन्हें राज्य भी मिला और भगवान्‌का परमधाम भी। उन्हें सिद्धि भी बहुत शीघ्र मिली। थोड़े-से ही समयमें काम बन

गया, इतना सब क्यों हो गया? इसीलिये कि ध्रुव दृढ़ विश्वासी था। जिस समय मातासे उसे उपदेश मिला उसी समय बालक ध्रुव घरसे निकल पड़ा। रास्तेमें भगवान् नारद मिले। उन्होंने सहजमें राज्य दिलवानेका लोभ और वनके भीषण कष्टोंका भय दिखलाकर ध्रुवकी परीक्षा की, जब उसे पक्का पाया तब नारदजीने दया कर उसे भगवन्नामका मन्त्र दे दिया। ध्रुव दृढ़ निश्चयके साथ तन-मनकी सारी सुधि भुलाकर मन्त्रका जप करने लगा। भगवद्भावसे उसके हृदयमें आनन्दका समुद्र उमड़ा। साक्षात् नारायणको उसके सामने मूर्तिमान् होकर प्रत्यक्ष दर्शन देना पड़ा। आज हमलोगोंको भगवद्दर्शनमें जो देरी हो रही है इसका कारण यही है कि हमें नामपर पूरा विश्वास नहीं है। जितने अंशमें विश्वास है उतने अंशमें सिद्धि भी होती ही है।

भक्तराज श्रीहरिदासजी बड़े जोर-जोरसे उच्चारण करके नाम-जप किया करते थे। तीन लाख नाम-जपका उनका नियम था। रामचन्द्रखाँकी भेजी हुई वेश्या उन्हें डिगाने आयी। परन्तु तीन रात्रितक हरिदासजीके पवित्र मुखारविन्दसे निकली हुई परम पुनीत हरिध्वनिको सुनकर स्वयं पाप-पथसे डिग गयी और उसी क्षण दुराचार छोड़कर परम वैष्णवी बन गयी। तात्पर्य यह कि विश्वास और प्रेमके साथ नाम-जप होना चाहिये। किसी प्रकार हो! नामका फल अमोघ है।

स्मरण

स्मरण जपके साथ भी रहता है और अलग भी। यों तो पहले स्मृति हुए बिना न जप होता है और न कीर्तन होता है, परंतु बीचमें स्मरण छूट जानेपर भी जप और कीर्तन होते रहते हैं। जीभका अभ्यास हो जानेपर जप होता रहता है। ठीक मन्त्रोंके अनुसार ही मालाकी मणियोंपर भी हाथ चलता रहता है, परंतु स्मरण नहीं रहता। स्मृति मनकी वृत्ति है। वाणी अभ्यासवश एक काम करती है, मन उस समय किसी दूसरी स्मृतियोंमें रमता रहता है। इसीलिये भगवान्ने मनसहित वाणीके जपको उत्तम बतलाया। जिस जपमें नामीकी मूर्ति, उसके गुण, उसके भाव या नामकी स्मृति रहती है वह जप स्मरणयुक्त कहलाता है। जो जप केवल जिह्वासे होता है, वह जप स्मरणरहित कहा जाता है। स्मरणरहितकी अपेक्षा स्मरणयुक्तका माहात्म्य अधिक है। क्योंकि उसमें मन-वाणी दोनों एक काम करते हैं। महात्मा पुरुषोंके वचन हैं कि जिसकी जबान और मन दोनों एक-से होते हैं, वही सच्चा साधु है। स्मरणयुक्त जपमें जबान और मन दोनोंकी एकतानता हो जाती है। इसीलिये उसका फल इतना विशेष है; परन्तु स्मरण ऐसा भी होता है जो केवल स्मरण ही कहलाता है, जप नहीं। जप वही होता है जिसकी संख्या होती है। स्मरणकी कोई संख्या नहीं होती। जहाँतक स्मरणका पूरा अभ्यास न हो वहाँतक तो स्मरणयुक्त जप ही करनेकी चेष्टा करनी चाहिये, परन्तु जब स्मरणका पूरा अभ्यास हो जाय तब फिर जपकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसे अनन्य स्मरणकी विधि और उसका फल श्रीभगवान् बतलाते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'जो पुरुष अनन्यचित्त होकर सदा-सर्वदा मुझे स्मरण करता है, उस मुझे निरन्तर स्मरण करनेवाले योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।' चित्तमें दूसरे विषयको कभी स्थान न हो, प्रतिदिन और प्रतिक्षण उसीकी स्मृति बनी रहे। इस प्रकार नित्य लगे रहनेवालेके लिये भगवान् सहज (सस्ते) हो जाते हैं; परन्तु इस स्मरणका रूप कैसा होता है? भक्तराज कबीरजी कहते हैं—

सुमिरनकी सुधि यों करो, जैसे कामी काम।
एक पलक ना बीसरै, निसिदिन आठों याम॥
सुमिरनकी सुधि यों करो, ज्यों सुरभी सुत माँहि।
कह कबीर चारो चरत, बिसरत कबहूँ नाँहि॥
सुमिरनकी सुधि यों करो, जैसे दाम कँगाल।
कह कबीर बिसरे नहीं, पल-पल लेत सम्हाल॥
सुमिरनसों मन लाइये, जैसे नाद कुरंग।
कह कबीर बिसरे नहीं, प्रान तजै तेंहि संग॥
सुमिरनसों मन लाइये, जैसे दीप पतंग।
प्रान तजै छिन एकमें, जरत न मोड़ै अंग॥
सुमिरनसों मन लाइये, जैसे कीट भिरंग।
कबीर बिसारे आपको, होय जाय तेहि रंग॥
सुमिरनसों मन लाइये, जैसे पानी मीन।
प्रान तजै पल बीछुड़े, संत कबीर कह दीन॥

'जैसे कामी आठ पहरमें एक क्षणके लिये भी स्त्रीको नहीं भूलता, जैसे गौ वनमें घास चरती हुई भी बछड़ेको सदा याद रखती है, जैसे कंगाल अपने टेंटके पैसेको पल-पलमें सँभाला करता है, जैसे हरिण प्राण दे देता है परन्तु वीणाके स्वरको नहीं भूलना चाहता, जैसे बिना संकोचके पतंग दीपशिखामें जल मरता है परन्तु उसके रूपको भूलता नहीं, जैसे कीड़ा अपने-आपको भुलाकर भ्रमरके स्मरणमें उसीके रंगका बन जाता है और जैसे मछली जलसे बिछुड़नेपर प्राण त्याग कर देती है परन्तु उसे भूलती नहीं!' गोसाईंजी महाराजने भी कहा है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

स्मरणका यह स्वरूप है।

इस प्रकार जिनका मन उस परमात्माके नाम-चिन्तनमें रम जाता है, वे तृप्त, पूर्णकाम और अकाम हो जाते हैं। उन्हें किसी भी वस्तुकी इच्छा अवशेष नहीं रह जाती।

भगवान्‌ने कहा है—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

'जिसने अपना चित्त मुझमें अर्पित कर दिया है, वह मुझे छोड़कर ब्रह्माजीका पद, स्वर्गका राज्य, समस्त भूमण्डलका चक्रवर्तित्व, पातालादि देशोंका आधिपत्य, अणिमादि योगकी सिद्धियाँ तथा मोक्ष, कुछ भी नहीं चाहता।'

यहाँपर कोई कह सकते हैं कि यह तो नामीके स्मरणकी कथा है। यहाँ नामकी कौन-सी बात है? इसका उत्तर यह है कि नामसे ही नामीका पता लगता है, हम यदि अपने पिताके स्वरूपका स्मरण करते हैं तो 'पिता' इस सम्बन्ध-नामका स्मरण पहले होता है, नाम बिना नामीकी कल्पना ही नहीं हो सकती। नाम ही नामीका परिचय कराता है। गोसाईंजीने बहुत ही सुन्दर कहा है—

देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहिचानें॥

रूप नामके अधीन ही देखा जाता है। किसीके हाथमें हीरा है; परन्तु जबतक उस हीरेको वह हीरा नहीं समझता तबतक उसे रूपका ज्ञान नहीं होता। रूपका ज्ञान हुए बिना वह उसका मूल्य नहीं जानता। जब किसी जौहरीसे उसका नाम 'हीरा' जान लेता है तभी उसे उसकी बहुमूल्यताका ज्ञान होता है। इससे यह सिद्ध हो गया कि नामका स्मरण हुए बिना नामीका ज्ञान नहीं होता। नामका कुछ दिनोंतक स्मरण करनेपर, साधकके अन्तरमें जो एक आनन्दका सरोवर बँधा पड़ा है उसका बाँध टूट जाता है, वह सुखकी प्रबल धारामें बह जाता है। उस समय उस रामरसके सामने उसे सब रस फीके मालूम होने लगते हैं। वह जोरसे पुकार उठता है कि—

पायो नाम चारु चिन्तामनि उर करतें न खसैहौं॥

नामकी सुन्दर चिन्तामणि मुझे मिल गयी। अब मैं इसे हृदय और हाथोंसे कभी न जाने दूँगा। वह ऐसा क्यों कहता है? इसीलिये कि उसे इसमें वह सुख मिलता है जो बड़े-बड़े विषयी सम्राटोंको भी नसीब नहीं होता। भगवान् कहते हैं—

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १२)

'मुझमें चित्त लगानेवाला और समस्त विषयोंकी अपेक्षा छोड़नेवाले भक्तको मुझसे जो परम सुख मिलता है, वह सुख विषयासक्तचित्त लोगोंको कहाँसे मिल सकता है?'

मन जितना ही विषयोंका चिन्तन करता है, उतना ही संसारमें बँधता है; क्योंकि विषय-चिन्तनसे ही क्रमशः संग, काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश और अन्तमें सर्वनाश होता है। मनमें पहले-पहल जब स्फुरणा उठती है तो वह तरंगके सदृश होती है, परन्तु वही आगे जाकर समुद्र बन जाती है। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले लोगोंको चाहिये कि वे मनमें विषयोंके बदले धीरे-धीरे भगवान्‌को स्थान दें। उपर्युक्त युक्तियोंके द्वारा नाम-स्मरण करें। एक दृढ़ अभ्यासका नाश करनेके लिये उसके विरोधी दूसरे अभ्यासकी ही आवश्यकता होती है। अनभ्यस्त विषयके चिन्तनमें पहले-पहल मन ऊबता, अकुलाता और झल्लाता है; परंतु दृढ़ताके साथ अभ्यास करते रहनेपर अन्तमें वह तदाकार बन ही जाता है। इसलिये हठसे भी मनको परमात्माके नाम-स्मरणमें लगाना चाहिये। नियम कर लेना चाहिये कि मनसे इतने नाम-जप प्रतिदिन अवश्य करेंगे। कम-से-कम उतना जप तो प्रतिदिन हो ही जाना चाहिये। स्मरणसे ही मनमें प्रेमकी उत्पत्ति होती है। एक स्त्री अपने नैहरमें है, उसका पति वहाँ नहीं है। पतिका रूप उसके सामने नहीं है परंतु पतिका नाम-स्मरण होते ही उसका मन प्रेमसे भर जाता है।

नाम-स्मरण करते-करते जब स्मरणकी बान पड़ जाती है तब तो मन कभी उसे छोड़ता ही नहीं। स्मरणसे क्या नहीं होता? यदि अन्तकालमें परमात्माके नामका स्मरण हो जाय तो उसके मोक्षमें जरा-सा भी सन्देह नहीं रह जाता। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ५)

'जो पुरुष मृत्युकालमें मुझे स्मरण करता हुआ शरीर त्याग कर जाता है वह मुझे ही प्राप्त होता है, इसमें कोई संदेह नहीं।' परंतु अन्तकालमें परमात्माकी स्मृति किसे होती है जो '**सदा तद्भावभावितः**' होता है, अर्थात् सदा जिस भावका चिन्तन करता है अन्तकालमें भी प्रायः उसीका स्मरण हुआ करता है। इसीलिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि हे पार्थ!—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८। ७)

'तू सदा-सर्वदा मेरा स्मरण करता हुआ युद्ध कर, इस प्रकार मुझमें मन-बुद्धि अर्पित हो जानेसे तू निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होगा।'

ब्राह्मण हो तो वेदाध्ययन करे, क्षत्रिय हो तो रणमें जाय, वैश्य हो तो व्यापार करे, शूद्र हो तो सेवा करे। सब अपना-अपना काम करें; परंतु करें उसे याद रखते हुए। वैसे ही जैसे कि दुराचारिणी उपपतिको, सती पतिको, कृपण धनको और विषयी विषयको निरन्तर याद रखता है। पनिहारी सिरपर दो घड़े उठाकर चलती है, रास्तेमें दूसरोंसे बात भी करती है; परंतु उसकी स्मृति रहती है सिरपर उठाये हुए उन दोनों घड़ोंमें। इस प्रकार क्षणमात्रके स्मरणसे ही बड़ा काम होता है। आजकल लोग माला फेरते हैं, हाथ रहता है गोमुखीमें, परंतु मन डोला करता है विषयोंमें। मन्त्र-जपमें गौणता होती है और विषयोंमें मुख्यता, इसीसे जप करते-करते बीच-बीचमें वे बोल उठते हैं।

एक सेठजी जप कर रहे थे, माला हाथमें थी, मुँहसे भी मन्त्रका उच्चारण करते थे; परंतु उनका मन और ही अनेक बातोंके चिन्तनमें लगा हुआ था। पुत्र भी पास बैठा संध्या कर रहा था। सेठजी माला फेरते-फेरते ही बीचमें बोल उठे—'अरे! कल सब ग्राहकोंके रुपये आ गये? राम राम राम राम। देख! तू बड़ा मूर्ख है, कहीं व्यापारमें भी सचाईसे कमाई होती है? राम राम राम राम। हाथीके दाँत दिखानेके दूसरे और खानेके दूसरे होते हैं—राम राम राम राम। नहीं तो व्यापारमें रस-कस कैसे बैठे? राम राम राम राम। माप-तौलमें जरा कस बैठना चाहिये—राम राम राम राम। मैं तो मर जाऊँगा फिर तेरा काम कैसे चलेगा? राम राम राम राम।'

इस तरह रामनाम करनेवाले ढोंगी लोगोंके कारण ही नामपर लोगोंकी रुचि घटती है। परंतु नामप्रेमियोंको इस ओर ध्यान नहीं देना चाहिये। यदि कोई मूर्ख रत्नका दुरुपयोग भी करता है तो इससे रत्नका रत्नपना और उसकी बहुमूल्यता थोड़े ही घट जाती है? कहनेका तात्पर्य केवल इतना ही है कि स्मरण सच्चा होनेसे ही शीघ्र फलप्रद होता है।

स्मरणके बाद आता है—

कीर्तन

कीर्तन जोर-जोरसे होता है और इसमें संख्याका कोई हिसाब नहीं रखा जाता। यही जप और कीर्तनमें भेद है। जप जितना गुप्त होता है उतना ही उसका अधिक महत्त्व है; परंतु कीर्तन जितना ही गगनभेदी स्वरमें होता है उतना ही उसका महत्त्व बढ़ता है। कीर्तनके साथ संगीतका सम्बन्ध है। कीर्तनमें पहले-पहल स्वरोंकी एकतानता करनी पड़ती है। कीर्तनके कई प्रकार हैं—

(१) अकेले ही भगवान्‌के किसी नामको आर्तभावसे पुकार उठना! जैसे द्रौपदी और गजराज आदिने पुकारा था।

(२) अकेले ही भगवान्‌के गुणनाम, कर्मनाम, जन्मनाम और सम्बन्धनामोंका विस्तारपूर्वक या संक्षेपमें जोर-जोरसे उच्चारण करना।

(३) भगवान्‌के किसी चरित्र या भक्तचरित्रके किसी कथाभागका गान करना और बीच-बीचमें नामकीर्तन करना।

(४) कुछ लोगोंका एक साथ मिलकर प्रेमसे भगवन्नाम-गान करना।

(५) अधिक लोगोंका एक साथ मिलकर एक स्वरसे नामकीर्तन करना।

इसके सिवा और भी अनेक भेद हैं। जब मनुष्य किसी दु:खसे घबराकर जगत्‌के सहायकोंसे निराश होकर भगवान्‌से आश्रय-याचना करता हुआ जोरसे उसका नाम लेकर पुकारता है तब भगवान् उसी समय भक्तकी इच्छाके अनुकूल स्वरूप धारणकर उसे दर्शन देते और उसका दु:ख दूर करते हैं। श्रीभगवान्‌के रामावतार और कृष्णावतारमें असुरोंके द्वारा पीड़ित सुर-मुनियोंने मिलकर पहले आर्तस्वरसे कीर्तन ही किया था।

जिस समय एक वस्त्रा देवी द्रौपदी कौरवोंके दरबारमें केश पकड़कर लायी जाती है, दुर्योधन उसके वस्त्र-हरणके लिये अमित बलशाली दु:शासनको आज्ञा देता है, उस समय द्रौपदीको यह कल्पना ही नहीं होती कि इस बड़े-बूढ़े धर्मज्ञ विद्वान् और वीरोंकी सभामें ऐसा अन्याय होगा। परंतु जब दु:शासन सचमुच वस्त्र खींचने लगता है तब द्रौपदी घबड़ाकर राजा धृतराष्ट्र, पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य आदि तथा अपने वीर पाँच पतियोंकी सहायता चाहती है; परंतु भिन्न-भिन्न कारणोंसे जब कोई भी उस समय द्रौपदीको छुड़ानेके लिये तैयार नहीं होता तब वह सबसे निराश हो जाती है। सबसे निराश होनेके बाद ही भगवान्‌की अनन्य स्मृति हुआ करती है। दु:शासन बड़े जोरसे साड़ी खींचता है। एक झटका और लगते ही द्रौपदीकी लज्जा जा सकती है। द्रौपदीकी उस समयकी दीन अवस्था हमलोगोंकी कल्पनामें भी पूरी नहीं आ सकती। महलोंके अंदर रहनेवाली एक राजरानी, पृथ्वीके

सबसे बड़े पाँच वीरोंद्वारा रक्षिता कुलरमणी रजस्वला-अवस्थामें बड़े-बूढ़े तथा वीर पतियोंके सामने नंगी की जाती हो, उस समय उसको कितनी मर्मवेदना होती है इस बातको वही जानती है। कवियोंकी कलम शायद कुछ कल्पना करे। खैर, द्रौपदीने निराश होकर भगवान्‌का स्मरण किया और वह व्याकुल होकर पुकार उठी—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥

(महा०, सभा० ६८। ४१—४३)

'हे द्वारकावासी गोविन्द! हे गोपीजनप्रिय कृष्ण! क्या मुझ कौरवोंसे घिरी हुईको तू नहीं जानता? हे नाथ, रमानाथ, व्रजनाथ, दुःखनाशक जनार्दन! मुझ कौरवरूपी समुद्रमें डूबी हुईका उद्धार कर। हे विश्वात्मा विश्वभावन कृष्ण! हे महायोगी कृष्ण! कौरवोंके बीचमें हताश होकर तेरे शरण आनेवाली मुझको तू बचा।'

व्याकुलतापूर्ण नामकीर्तनका फल तत्काल होता है, जब सबकी आशा छोड़कर केवलमात्र परमात्मापर भरोसा कर उसे एक मनसे कोई पुकारता है तब वह करुणासिन्धु भगवान् एक क्षण भी निश्चिन्त और स्थिर नहीं रह सकता। उसे भक्तके कामके लिये दौड़ना ही पड़ता है। नामकी पुकार होते ही द्रौपदीके वस्त्रोंमें भगवान् आ घुसे, वस्त्रावतार हो गया। वस्त्रका ढेर लग गया। दस हजार हाथियोंका बल रखनेवाली वीर दुःशासनकी भुजाएँ फटने लगीं—'**दस हजार गज बल घट्यो, घट्यो न दस गज चीर!**' भक्त सूरदास कहते हैं—

दुःसासनकी भुजा थकित भई बसनरूप भये स्याम।

साड़ीका छोर न आया! एक कवि कहते हैं—

पाय अनुसासन दुसासन कै कोप धायो,
द्रुपदसुताको चीर गहे भीर भारी है।
भीषम, करन, द्रोन बैठे ब्रतधारी तहाँ,
कामिनीकी ओर काहू नेक ना निहारी है॥
सुनिके पुकार धाये द्वारकाते जदुराई,
बाढ़त दुकूल खैंचे भुजबल भारी है।
सारी बीच नारी है कि नारी बीच सारी है, कि
सारी ही कि नारी है कि नारी ही कि सारी है॥

दुःशासन थककर मुँह नीचा करके बैठ गया, द्रौपदीकी लाज और उसका मान रह गया। भगवन्नाम-कीर्तनका फल प्रत्यक्ष हो गया।

जय भगवान्‌के पावन नामकी जय!

इसी प्रकार गजराजकी कथा प्रसिद्ध है। वहाँ भी इसी तरहकी व्याकुलतापूर्ण नामकी पुकार थी। यदि आज भी कोई यों ही सच्चे मनसे व्याकुल होकर पुकारे तो यह निश्चय है कि उसके लोक-परलोक दोनोंकी सिद्धि निश्चितरूपेण हो सकती है। इस बातका कई लोगोंको कई तरहका प्रत्यक्ष अनुभव है। अतएव प्रातःकाल, सायंकाल, रातको सोते समय भगवन्नामका कीर्तन अवश्य करना चाहिये। जहाँतक हो सके कीर्तन निष्काम एवं केवल प्रेमभावसे ही करना उचित है।

यह तो व्यक्तिगत नामकीर्तनकी बात हुई। इसके बाद समुदायमें नामकीर्तनका तरीका बतलाया जाता है। महाराष्ट्र और गुजरात-प्रान्तमें कीर्तनकारोंके अलग समुदाय हैं जो हरिदास कहलाते हैं। ये लोग समय-समयपर मन्दिरों, धर्मसभाओं और उत्सवोंके अवसरपर बुलाये जाते हैं, इनका कीर्तन बड़ा सुन्दर होता है। भगवान्‌की किसी लीला-कथाको या भक्तोंके किसी चरित्रको लेकर ये लोग कीर्तन करते हैं। आरम्भमें किसी भक्तका कोई एक श्लोक या पद गाते हैं और उसीपर उनका सारा कीर्तन चलता है, अन्तमें उसी श्लोक या पदके साथ कीर्तन समाप्त किया जाता है। आरम्भमें, अन्तमें और बीच-बीचमें हरिनामकी धुन लगायी जाती है जिसमें श्रोतागण भी साथ देते हैं। ये लोग गाना-बजाना भी जानते हैं और कम-से-कम हारमोनियम तथा तबलोंके साथ इनका कीर्तन होता है। बीच-बीचमें सुन्दर पद भी गाते हैं। इसमें दोष यही है कि इस प्रकारके अधिकांश कीर्तनकारोंका ध्यान भगवन्नामकी अपेक्षा सुर-अलापकी तरफ अधिक रहता है। गुजरातमें विवाहके अवसरपर एक दिन हरिकीर्तन करानेकी प्रथा है जो बड़ी सुन्दर मालूम होती है। अन्य अनेक प्रमादोंमें धनका नाश किया जाता है, वहाँ यदि इस प्रथाका प्रचार किया जाय तो लोगोंके मनोरंजनके साथ-ही-साथ बड़ा पारमार्थिक लाभ भी हो सकता है। यह भी एक तरहका संघकीर्तन है।

इसके बाद वह कीर्तन आता है जो सर्वश्रेष्ठ है। जिसका इस युगमें विशेष प्रचार महाप्रभु श्रीश्रीगौरांगदेवजीकी कृपासे हुआ। इस कीर्तनका प्रकार यह है। बहुत-से लोग एक स्थानपर एकत्रित होते हैं। एक आदमी एक बार पहले बोलता है, उसके पीछे-पीछे और सब बोलते हैं, पर आगे चलकर सभी एक साथ बोलने लगते हैं। किसी एक नामकी धुनको सब एक स्वरसे बोलते हैं। ढोल, करताल, झाँझ और तालियाँ बजाते हुए गला खोलकर, लज्जा छोड़कर बोलते हैं। जब धुन जम जाती है तब

स्वरका ध्यान आप ही छूट जाता है। कीर्तन करनेवाला दल धुनमें मस्त हो जाता है। फिर कीर्तनकी मस्तीमें नृत्य आरम्भ होता है। रग-रग नाचने लगती है, आँखोंसे अश्रुओंकी धारा बहने लगती है, शरीर-ज्ञान नष्ट हो जाता है। नवद्वीप, वृन्दावन, अयोध्या और पण्ढरपुरमें ऐसे कीर्तन बहुत हुआ करते हैं। यह कीर्तन किसी एक स्थानमें भी होता है और घूमते हुए भी होता है। लेखकका विश्वास है कि ऐसे प्रेमभरे कीर्तनमें कीर्तनके नायक भगवान् स्वयं उपस्थित रहते हैं। उनका यह प्रण है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

(आदिपु० १९। ३५)

'मैं वैकुण्ठमें या योगियोंके हृदयमें नहीं रमता। मेरे भक्त जहाँ मिलकर मेरा गान करते हैं, मैं वहीं जाता हूँ।'

इस प्रकारके कीर्तनमें प्रेमका सागर उमड़ता है, जगत्-भरको पावन कर देता है। इस कीर्तनमें ब्राह्मण-चाण्डाल सभी शामिल हो सकते हैं। जिसको प्रेम उपजा, वही सम्मिलित हो गया, कोई रुकावट नहीं। '**जाति पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरिका होई॥**' वही बड़ा है, वही श्रेष्ठ है जो प्रेमसे नामकीर्तनमें मतवाला होकर स्वयं पावन होता है और दूसरोंको पावन करता है। इस कीर्तनसे एक बड़ा लाभ और होता है। हरिनामकी तुमुल ध्वनि पापी, पतित, पशु, पक्षीतकके कानोंमें जाकर सबको पवित्र और पापमुक्त करती है। जिसके श्रवण-रन्ध्रसे भगवन्नाम उसके हृदयके अंदर चला जाता है उसीके पापमलको वह धो डालता है—

वामनपुराणका वचन है—

नारायणो नाम नरो नराणां
प्रसिद्धचौरः कथितः पृथिव्याम्।
अनेकजन्मार्जितपापसञ्चयं
हरत्यशेषं श्रुतमात्र एव॥

'पृथ्वीमें नारायण-नामरूपी नर प्रसिद्ध चोर कहा जाता है, क्योंकि वह कानोंमें प्रवेश करते ही मनुष्योंके अनेक जन्मार्जित पापोंके सारे संचयको एकदम चुरा लेता है।'

जिस हरिनाम-कीर्तनका ऐसा प्रताप है, जो पुरुष जीभ पाकर भी उसका कीर्तन नहीं करते वे निश्चय ही मन्दभागी हैं—

जिह्वां लब्ध्वापि यो विष्णुं कीर्तनीयं न कीर्तयेत्।
लब्ध्वापि मोक्षनिःश्रेणीं स नारोहति दुर्मतिः॥

'जो जिह्वाको पाकर भी कीर्तनीय भगवन्नामका कीर्तन नहीं करते, वे दुर्मति मोक्षकी सीढ़ियोंको पाकर भी उनपर चढ़नेसे वंचित रह जाते हैं।'

कुछ लोग कहा करते हैं कि हमें जोर-जोरसे भगवन्नाम लेनेमें संकोच होता है। मैंने ऐसे बहुत-से अच्छे-अच्छे लोगोंको देखा है कि जिन्हें पाँच आदमियोंके सामने या रास्तेमें हरिनामकी पुकार करनेमें लज्जा आती है। झूठ बोलनेमें, कठोर वाणीके प्रयोगमें, परनिन्दा-परचर्चामें, अनाचार-व्यभिचारकी बातें करनेमें लज्जा नहीं आती, परन्तु भगवन्नाममें लज्जा आती है। यह बड़ा ही दुर्भाग्य है! यदि भगवन्नामसे सभ्यतामें बट्टा लगता हो तो ऐसी विषमयी शुष्क सभ्यताको दूरसे ही नमस्कार करना चाहिये। धन्य वही है जिसके भगवन्नामके कीर्तनमात्रसे, श्रवण और स्मरणमात्रसे रोमांच हो जाता है, नेत्रोंमें आँसू भर आते हैं, कण्ठ रुक जाता है। वास्तवमें वही पुरुष मनुष्य-नामके योग्य है। ऐसे पुरुष ही जगत्को पावन करते हैं। भगवान् कहते हैं—

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २४)

'जिसकी वाणी गद्गद हो जाती है, हृदय द्रवित हो जाता है, जो बारम्बार ऊँचे स्वरसे नाम ले-लेकर मुझे पुकारता है, कभी रोता है, कभी हँसता है और कभी लज्जा छोड़कर नाचता है, ऊँचे स्वरसे मेरा गुणगान करता है, ऐसा भक्तिमान् पुरुष अपनेको पवित्र करे इसमें तो बात ही क्या है; परन्तु वह अपने दर्शन और भाषणादिसे जगत्को पवित्र कर देता है।'

यही कारण था कि कीर्तनपरायण भक्तराज नारदजी और श्रीगौरांगदेव आदिके दर्शन और भाषण आदिसे ही अनेकों जीवोंका उद्धार हो गया।

महाप्रभुके कीर्तनको सुनकर वनमें रहनेवाले भीषण सिंह, भालू आदि हिंस्र पशु भी प्रेममें निमग्न होकर नामकीर्तन करते हुए नाचने लगे थे। भगवान् कहते हैं, हे अर्जुन—

गीत्वा तु मम नामानि नर्तयेन्मम सन्निधौ।
इदं ब्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तेन चार्जुन॥

'जो मेरे नामोंका गान करता हुआ मुझे अपने समीप मानकर मेरे सामने नाचता है, मैं सत्य कहता हूँ कि मैं उनके द्वारा खरीदा जाता हूँ।'

कीर्तनकी महिमा क्या कही जाय? जो कभी कीर्तन करता है उसी भाग्यवान्को इसके आनन्दका पता है। जिसको यह आनन्द प्राप्त करना हो वह स्वयं करके देख ले। वाणी इस आनन्दके रूपका वर्णन नहीं

कर सकती। क्योंकि यह '**मूकास्वादनवत्**' गूँगेके गुड़के समान केवल अनुभवकी वस्तु है।

यहाँतक बहुत संक्षेपसे नाम, जप, स्मरण और कीर्तनसम्बन्धी कुछ बातें कही गयीं। साधकोंके सुभीतेके लिये यह भेद-कल्पना है। नहीं तो जप, स्मरण या कीर्तन सब एक ही वस्तु है। श्रीभगवान्‌के परम पावन नामका किसी तरहसे भी ग्रहण हो, वह कल्याणकारी है। नामके ही प्रतापसे प्रह्लादने जडमेंसे चेतनरूप होकर भगवान्‌को अवतार लेनेके लिये बाध्य कर दिया। नामके प्रतापसे ही वह अग्नि, साँप आदिसे बच गया, जहर पीकर भी नहीं मरा। नामके ही प्रतापसे मीराके लिये जहर हरि-चरणामृत हो गया। नामके ही प्रतापसे नारद, व्यास, शुकदेवादि जगत्-पूज्य हैं। नामके ही प्रतापसे ब्रह्माजी सृष्टि रचनेमें समर्थ हुए। नामके प्रतापसे ही पानीपर पत्थर तैर गये। नामके ही प्रतापसे हनुमान्‌जी चार सौ योजनका सागर अल्पायाससे लाँघ गये। नामके ही प्रतापसे श्रीशंकर, रामानुज, वल्लभ, मध्व, निम्बार्क, चैतन्य आदि आचार्योंने भगवद्भावको प्राप्त किया और उसीके प्रतापसे आज उनके शिष्य और वंशज पूजित हो रहे हैं। नामकी महिमा कहाँतक कही जाय! शेष, महेश, गणेश, शारदा भी जिसका वर्णन नहीं कर सकते, उसका वर्णन मैं क्षुद्रमति क्या करूँ? जो एक बार नामका मजा चख लेता है, वह पागल हो जाता है, उसके सारे पाप-ताप मिट जाते हैं। वह स्वयं मुक्त होकर दूसरोंके लिये मुक्तिका मार्ग प्रशस्त कर देता है। संतोंने इसीके बलसे जनताको मुक्तिकी राह बतलानेमें सफलता प्राप्त की थी। नाम ही जीवन है, नाम ही धन है, नाम ही परिवार है, नाम ही इज्जत है, नाम ही कीर्ति है, नाम ही स्वर्ग है, नाम ही अमृत है।

न नामसदृशं ज्ञानं न नामसदृशं व्रतम्।
न नामसदृशं ध्यानं न नामसदृशं फलम्॥
न नामसदृशस्त्यागो न नामसदृशः शमः।
न नामसदृशं पुण्यं न नामसदृशी गतिः॥
नामैव परमा मुक्तिर्नामैव परमा गतिः।
नामैव परमा शान्तिर्नामैव परमा स्थितिः॥
नामैव परमा भक्तिर्नामैव परमा मतिः।
नामैव परमा प्रीतिर्नामैव परमा स्मृतिः॥
नामैव कारणं जन्तोर्नामैव प्रभुरेव च।
नामैव परमाराध्यो नामैव परमो गुरुः॥

'नामके समान न ज्ञान है, न व्रत है, न ध्यान है, न फल है, न दान है, न शम है, न पुण्य है और न कोई आश्रय है। नाम ही परम मुक्ति है, नाम ही परम गति है, नाम ही परम शान्ति है, नाम ही परम निष्ठा है, नाम ही परम भक्ति है, नाम ही परम बुद्धि है, नाम ही परम प्रीति है, नाम ही परम स्मृति है, नाम ही जीवका कारण है, नाम ही प्रभु है, नाम ही परम आराध्य है और नाम ही परम गुरु है।' भगवान् कहते हैं, हे अर्जुन—

नामयुक्ताञ्जनान्दृष्ट्वा स्निग्धो भवति यो नरः।
स याति परमं स्थानं विष्णुना सह मोदते॥
तस्मान्नामानि कौन्तेय भजस्व दृढमानसः।
नामयुक्तः प्रियोऽस्माकं नामयुक्तो भवार्जुन॥

'नामयुक्त पुरुषोंको देखकर जो मनुष्य प्रसन्न होता है वह परम धामको प्राप्त होकर मुझ विष्णुके साथ आनन्द करता है। अतएव हे कौन्तेय! दृढ़ चित्तसे नामभजन करो। नामयुक्त व्यक्ति मुझे बड़ा प्रिय है। हे अर्जुन! तुम नामयुक्त होओ।'

यदि भारतीय हिंदू-जातिमें कभी एकता हो सकती है, यदि जगत्‌का सारा आस्तिक-समाज कभी प्रेमके एक सूत्रमें बँध सकता है, यदि कभी जगत्‌में विश्वप्रेमका पूरा प्रसार हो सकता है तो मेरी समझसे वह भगवन्नामसे ही सम्भव है। आज भगवान्‌को भूलकर लोग कार्य करते हैं, इसीलिये तो उन्हें सफलता नहीं मिलती। मैं तो सबसे यही प्रार्थना करता हूँ कि वैर-विरोध, हिंसा-मत्सर, काम-क्रोध, असत्य-स्तेयका यथासाध्य परित्याग कर, सब श्रीभगवन्नामके साधनमें लग जायँ। मेरी समझसे इसीसे लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। (१) नामप्रेमियोंका संग, (२) प्रतिदिन नाम-जपका कुछ नियम, (३) भोगोंमें वैराग्यकी भावना और (४) संतोंके जीवनचरित्रका अध्ययन—ये नाम-साधनमें बड़े सहायक होते हैं। इन चारोंकी सहायतासे नाम-साधनमें सभीको लगना चाहिये। मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि नामसे असम्भव भी सम्भव हो सकता है और इसके साधनमें किसीके लिये कोई रुकावट नहीं है। ऊँचे वर्णका हो, नीचेका हो, पण्डित हो, मूर्ख हो, सभी इसके अधिकारी हैं, बल्कि ऊँचा वही है, बड़ा वही है जो भगवन्नामपरायण है, जिसके मुख और मनसे निरन्तर विशुद्ध प्रेमपूर्वक श्रीभगवन्नामकी ध्वनि निकलती है।

गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

धन्य धन्य माता पिता, धन्य पुत्रवर सोइ।
तुलसी जो रामहिं भजें, जैसेहु कैसेहु होइ॥
तुलसी जाके बदनते, धोखेहु निकसत राम।

ताके पगकी पगतरी, मोरे तनुको चाम॥
तुलसी भक्त श्वपच भलो भजै रैन दिन राम।
ऊँचो कुल केहि कामको, जहाँ न हरिको नाम॥

अति ऊँचे भूधरनपर, भुजगनके अस्थान।
तुलसी अति नीचे सुखद, ऊख अन्न अरु पान॥

सब मिलकर बोलो श्रीभगवन्नामकी जय!

प्रेम-तत्त्व

१—वह प्रेम प्रेम नहीं है जिसका आधार किसी इन्द्रियका विषय है।

२—नियमोंके सारे बन्धनोंका अनायास आप-से-आप टूट जाना ही प्रेमका एकमात्र नियम है।

३—जबतक नियम जान-बूझकर तोड़े जाते हैं, तबतक प्रेम नहीं है, कोई-न-कोई आसक्ति तुमसे वैसा करवा रही है। प्रेममें नियम तोड़ने नहीं पड़ते, परन्तु उनका बन्धन आप-से-आप टूट जाता है।

४—प्रेममें एक विलक्षण मत्तता होती है, जो नियमोंकी ओर देखना नहीं जानती।

५—प्रेममें भी सुखकी खोज होती है, परंतु उसमें विशेषता यही है कि वहाँ प्रेमास्पदका सुख ही अपना सुख माना जाता है।

६—प्रेमास्पदके सुखी होनेमें यदि प्रेमीको भयानक नरक-यन्त्रणा भोगनी पड़े तो उसमें भी उसे सुख ही मिलता है, क्योंकि वह अपने अस्तित्वको प्रेमास्पदके अस्तित्वमें विलीन कर चुका है।

७—अपना सुख चाहनेवाली तो वेश्या हुआ करती है, जिसके प्रेमका कोई मूल्य नहीं। पतिव्रता तो अपना सर्वस्व देकर भी पतिके सुखमें ही सुखी रहती है, क्योंकि वह वास्तवमें एक पतिके सिवा अन्य किसी पदार्थको 'अपना' नहीं जानती।

८—प्रेमास्पद यदि प्रेमीके सामने ही उसकी सर्वथा अवज्ञा कर किसी नवीन आगन्तुकसे प्रेमालाप करे तो इससे प्रेमीको क्षोभ नहीं होता, उसे तो सुख ही होता है; क्योंकि इस समय उसके प्रेमास्पदको सुख हो रहा है।

९—जो वियोग-वेदना, अपमान-अत्याचार और भय-भर्त्सना आदि सबको सहन करनेपर भी सुखी रह सकता है, वही प्रेमके पाठका अधिकारी है।

१०—प्रेम जबानकी चीज नहीं, जहाँ लोक-परलोकके अर्पणकी तैयारी होती है वहीं प्रेमका दर्शन हो सकता है।

११—प्रेमके दर्शन बड़े दुर्लभ हैं, सारा जीवन केवल प्रतीक्षामें बिताना पड़े, तब भी क्षोभ करनेका अधिकार नहीं।

१२—प्रेम खिलौना नहीं है, परन्तु धधकती हुई आग है। जो सब कुछ भुलाकर उसमें कूद पड़ता है, वही उसे पाकर कृतार्थ होता है।

१३—प्रेमका आकार असीम है, जहाँ संकोच या सीमा है वहाँ प्रेमको स्थान नहीं।

१४—प्रेम प्रेमके लिये ही किया जाता है और इसकी साधनामें बिना विरामके नित्य नया उत्साह बढ़ता है।

१५—प्रेम अनिर्वचनीय है, प्रेमका स्वरूप केवल प्रेमियोंकी हृदय-गुफाओंमें ही छिपा रहता है। जो बाहर आता है सो तो उसका कृत्रिम स्वरूप होता है।

१६—भगवान् श्रीरामने देवी सीताजीको सन्देश कहलवाया था—

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

१७—कबीरने कहा है—

प्रेम न बाड़ी नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देहि लै जाय॥
जब 'मैं' था तब 'हरि' नहीं, अब 'हरि' हैं 'मैं' नाहिं।
प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं॥

भक्ति-सुधा-सागर-तरंग

भक्ति भक्त भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक।
इनके पद बन्दन कियें नासत बिघन अनेक॥

१—प्राणी-मात्र पूर्ण और नित्य सुख चाहते हैं।

२—पूर्ण और नित्य सुख अपूर्ण और अनित्य वस्तुसे कभी नहीं मिल सकता।

३—ब्रह्मलोकतकके समस्त भोग अपूर्ण और अनित्य हैं, उनकी प्राप्तिसे नित्य तृप्ति नहीं होती; वहाँसे भी वापस लौटना पड़ता है, पूर्ण और नित्य तो केवल एक परमात्मा है, जिसके मिल जानेपर फिर कभी लौटना नहीं पड़ता (गीता ८। १६)। इसीलिये मनुष्य किसी भी स्थितिमें तृप्त और संतुष्ट नहीं है, इसीसे ऋषिकुमार नचिकेताने भोगोंका सर्वथा तिरस्कार

कर कल्याणकी इच्छा की थी (कठोपनिषद्)।

४—उस परम कल्याणकी प्राप्तिके कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति आदि अनेक उपाय हैं, परंतु उन सबमें भक्ति मुख्य है (शाण्डिल्य-सूत्र २२; नारद-सूत्र २५)।

५—भक्तिमें साधकको भगवान्का बड़ा सहारा रहता है, अपनेमें चित्त लगानेवाले भक्तको भगवान् ऐसी निश्चयात्मिका विमल बुद्धि दे देते हैं जिससे वह अनायास ही परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है (गीता १०। १०)। भगवान् बहुत शीघ्र उसका संसार-सागरसे उद्धार कर देते हैं (गीता १२। ७)।

६—भक्तिरहित योग, सांख्य, स्वाध्याय, तप या त्यागसे भगवान् उतने प्रसन्न नहीं होते जितने भक्तिसे होते हैं (भागवत ११। १४। २०), क्योंकि भक्तिमें इन सबका स्वाभाविक समावेश है और भगवान्के परम तत्त्वको जाननेके साथ ही भगवान्के दर्शन करना तथा भगवान्में मिल जाना तो केवल अनन्य भक्तिसे ही सम्भव है (गीता ११। ५४)।

७—अखिल विश्वके आत्मारूप एक परमात्माको सर्वतोभावसे आत्मसमर्पण कर देना—उस भूमाकी असीम सत्तामें अपनी आत्मसत्ताको सर्वथा विलीन कर देना ही वास्तविक भक्ति है। इसी भक्तिका तत्त्वज्ञ और रसज्ञ भक्तोंने 'परमप्रेमरूपा' और 'परानुरागरूपा' के नामसे वर्णन किया है (शाण्डिल्य-सूत्र २, नारद-सूत्र २)। असलमें तत्त्वज्ञान और पराभक्ति एक ही स्थितिके दो नाम हैं।

८—जगत्के वन्दनीय जनों तथा देवताओंकी भी भक्ति की जाती है, परंतु मनुष्यके अनादिकालीन ध्येय नित्य और पूर्ण सुखरूप परमात्माको प्राप्त करानेवाली तो ईश्वरभक्ति ही है। अतएव भक्तिशब्दसे 'ईश्वरभक्ति' ही समझना चाहिये।

९—साकार-निराकार दोनों ही ईश्वरके रूप हैं, परमात्मा अव्यक्तरूपसे सबमें व्याप्त हैं, (गीता ९। ४) और वही भक्तके भावनानुसार व्यक्त साकार अग्निकी तरह चाहे जब चाहे जहाँ प्रकट हो सकता है। असलमें जल तथा बर्फकी तरह निराकार और साकार एक ही है।

१०—भगवान्के किसी भी साकार स्वरूपकी या निराकारकी भक्ति की जा सकती है। यह भक्तकी प्रकृति, रुचि, अधिकार और अवस्थापर निर्भर है।

११—मुख्यके अतिरिक्त उसीके साधनस्वरूप गौणी भक्ति तीन प्रकारकी है, साधकके स्वभावभेदसे ही भक्तिमें इस भेदकी कल्पना है (भागवत ३। २९। ७)।

१२—जो भक्ति हिंसा, दम्भ, मत्सरता, क्रोध और अहंकारसे कामनापूर्तिके लिये की जाती है वह तामस है (भागवत ३। २९। ८)।

१३—जो भक्ति विषय, यश या ऐश्वर्यकी कामनासे भेददृष्टिपूर्वक केवल प्रतिमा आदिकी पूजाके रूपमें की जाती है, वह राजस है (भागवत ३। २९। ९)।

१४—जो भक्ति पापनाशकी इच्छासे समस्त कर्मफल परमात्मामें अर्पण करके, परमात्माकी प्रीतिके लिये यज्ञ करना कर्तव्य है यह समझकर भेददृष्टिसे की जाती है, वह सात्त्विक है (भागवत ३। २९। १०)।

१५—इन तीनोंमें कामना और भेददृष्टि रहनेसे इनको गौणी भक्ति कहते हैं। इनमें तामससे राजस और राजससे सात्त्विक श्रेष्ठ है (नारद-सूत्र ५७)। इनके साधनसे साक्षात् मुक्ति नहीं मिलती, परंतु सर्वथा न करनेकी अपेक्षा इनको करना भी उत्तम है। मनुष्यको चाहिये कि यदि सात्त्विक न हो सके तो कम-से-कम राजससे ही भक्तिका साधन अवश्य आरम्भ कर दे।

१६—गीतामें आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकारके पुण्यात्मा और उदार भक्त बतलाये गये हैं, इनमेंसे पहले तीन गौण और चौथा मुख्य भगवान्का आत्मा ही है (गीता ७। १६-१७; नारद-सूत्र ५६-५७)।

१७—रोग-शोक-भयसे पीड़ित होकर उससे छूटनेकी इच्छासे जो पुरुष भक्ति करता है वह आर्त भक्त है, जैसे गजराज, द्रौपदी आदि।

१८—इस लोक या परलोकके किसी भोगके लिये जो भक्ति करता है, वह अर्थार्थी भक्त है, जैसे ध्रुव, विभीषण आदि।

१९—ये दोनों प्रकारकी भक्ति राजसीके अन्तर्गत आ जाती हैं। वास्तवमें भगवान्की भक्तिमें किसी प्रकारकी कामना नहीं करनी चाहिये (नारद-सूत्र ७)। पर किसी तरहसे भी की हुई भगवान्की भक्ति अन्तमें साधकके हृदयमें प्रेम पैदा करके उसका परम कल्याण कर देती है (गीता ७। २३)। ध्रुव, विभीषण, गजराज, द्रौपदी आदिके उदाहरण प्रत्यक्ष हैं।

२०—विषयोंकी कामना भगवान्का यथार्थ महत्त्व न जाननेके कारणसे ही होती है, इससे जो पुरुष भगवान्के रहस्यको यथार्थरूपसे जाननेके लिये भक्ति करता है वह जिज्ञासु कहलाता है, उसे अन्य कोई कामना नहीं रहती, इसीलिये वह पूर्वोक्त दोनोंसे उत्तम माना गया है। वास्तवमें स्वरूप जाने बिना भक्ति किसकी और कैसे हो?

२१—भगवान्को यथार्थ जानकर जो अभेदभावसे निष्काम और अनन्यचित्त होकर भक्ति करता है, वह ज्ञानी भक्त है। ऐसे तन्मय एकान्त भक्तको ही श्रीनारदने

'मुख्य' बतलाया है (नारद-सूत्र ६७, ७०)। वास्तवमें जो अपनेमें भगवान्‌की भावना करके सब प्राणियोंमें अपनेको और भगवत्स्वरूप आत्मामें सबको देखता है, वही श्रेष्ठ भागवत है (भागवत ११। २। ४५)। परन्तु इस प्रकारके सर्वत्र वासुदेवको देखनेवाले भक्त जगत्‌में अत्यन्त दुर्लभ हैं (गीता ७। १९)।

२२—भगवान्‌के सम्यक् ज्ञान बिना भजनका परम आनन्द स्थायी और एक-सा नहीं होता। भजनकी एकतानतामें श्रीनारदजीने गोपियोंका दृष्टान्त देकर (नारद-सूत्र २१) यह बतलाया है कि गोपियोंकी भक्ति अन्धी नहीं थी, वे भगवान्‌को यथार्थ रूपसे जानती थीं (नारद-सूत्र २२, भागवत १०। २९। ३२; १०। ३१। ४)। गोपियोंकी परमोच्च भक्तिमें व्यभिचार देखनेवालोंकी आँखें और बुद्धि दूषित हैं।

२३—ज्ञानी भक्त भगवान्‌को आत्मवत् प्रिय होते हैं (गीता ७। १८), यह नहीं समझना चाहिये कि आत्माराम ज्ञानी पुरुष नित्य बोधरूपमें अभिन्न स्थित होनेके कारण भक्ति नहीं करते, सच्ची अहैतुकी भक्ति तो वे ही करते हैं। भगवान्‌के गुण ही ऐसे विलक्षण हैं कि शुकदेव-सरीखे आत्माराम मुनियोंको भी उनकी अहैतुकी भक्ति करनी पड़ती है (भागवत)।

२४—भगवान् ही सब भूतोंके भीतर-बाहर और सर्वभूतरूपसे स्थित हैं (गीता १३। १५), यह जानकर भक्तगण उस सर्वव्यापी भगवान्‌के गुण सुनते ही सब प्रकारकी फलाकांक्षासे रहित होकर गंगाका जल जैसे स्वाभाविक ही बहकर समुद्रके जलमें अभिन्नभावसे मिल जाता है वैसे ही अपनी कर्मगतिको अविच्छिन्नभावसे भगवान्‌में समर्पण कर देते हैं, इसीका नाम निर्गुण या निष्काम भक्ति है। इसीको अहैतुकी भक्ति कहते हैं (भागवत ३। २९। ११-१२)।

२५—ऐसे अहैतुक भक्त आप्तकाम, पूर्णकाम और अकाम होनेके कारण भगवत्सेवाके स्वाभाविक आचरणको छोड़कर अन्य किसी भी वस्तुकी इच्छा नहीं करते। संसारके भोग और स्वर्गसुखकी तो गिनती ही क्या है, वे मुक्ति भी नहीं ग्रहण करते। *'मुक्ति निरादर भगति लुभाने'* भगवान् स्वयं उन्हें सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—यह पाँच प्रकारकी मुक्ति देना चाहते हैं, पर वे नहीं लेते, यही आत्यन्तिक एकान्तभक्ति है (भागवत ३। २९। १३-१४)।

२६—ऐसे भक्त श्रद्धायुक्त होकर, अनिमित्त माया-भोगको त्यागकर, हिंसा-द्वेषसे रहित हो विधिवत् कर्मयोगका निष्काम आचरण करते हैं। भगवान्‌का दर्शन, सेवन, अर्चन, स्तवन और भजन करते हैं। धैर्य और वैराग्यसे युक्त होकर प्राणी-मात्रमें भगवान्‌को देखते हैं। महात्माओंका मान, दीनोंपर दया और समान अवस्थाके लोगोंसे मैत्री करते हैं। यम-नियमका पालन, भगवत्-कथाओंका श्रवण, भगवन्नामकीर्तन और अहंकार तथा कपट छोड़कर विनीतभावसे सदा-सर्वदा सत्संग करते हैं (भागवत ३। २९। १५—१८)।

२७—इसी भक्तिको पराभक्ति कहते हैं, पराभक्तिको प्राप्त करनेका क्रम यह है—विशुद्धबुद्धि, एकान्तसेवी और मिताहारी होकर मन-वाणी-शरीरको वशमें कर, दृढ़-वैराग्य धारणकर, नित्य ध्यानपरायण रहकर, सात्त्विकी धारणासे चित्तको वशमें कर, विषयोंका त्यागकर, राग-द्वेषको छोड़कर, अहंकार-बल-दर्प-काम-क्रोध-परिग्रहसे रहित होकर, ममता-मोहको त्यागकर जब साधक शान्तचित्त हो जाता है तब वह ब्रह्मज्ञानके योग्य होता है, तदनन्तर ब्रह्मीभूत होकर, किसी वस्तुके जानेमें शोक एवं किसी वस्तुके प्राप्त करनेकी आकांक्षाका सर्वथा त्यागकर जब प्रसन्नचित्तसे समस्त प्राणियोंमें समभावसे परमात्माको देखता है तब उसे पराभक्ति मिलती है। इस पराभक्तिसे वह भगवान्‌को यथार्थ जानकर उसी क्षण भगवान्‌में मिल जाता है (गीता १८। ५१—५५)।

२८—इसी भक्तिका एक नाम 'प्रेमाभक्ति' है। इसमें भी भक्त सब प्रकारके परिग्रहको त्यागकर, सब कुछ परमात्मामें अर्पण कर उसके प्रेममें मतवाला हो जाता है, एक क्षणकी भगवान्‌की विस्मृति उसे परम व्याकुल कर डालती है (नारद-सूत्र १९)। 'प्रेमाभक्ति' का साधक इतना उच्च वैराग्यसम्पन्न होता है कि जिसकी किसीसे तुलना नहीं की जा सकती। वह अपने प्रेमास्पद भगवान्‌के लिये इहलोक और परलोकके समस्त भोगोंको सदाके लिये तिलांजलि देकर अपने आचरणोंसे केवल हरिको ही प्रसन्न करना चाहता है, वह उसी कर्मका अनुष्ठान करता है जिससे हरिभगवान्‌को आनन्द हो **'तत्सुखे सुखित्वम्'** ही उसके जीवनका लक्ष्य रहता है (नारद-सूत्र २४)। वह अपना सिर तो हथेलीपर रखे घूमता है। तदनन्तर प्रेमकी बाढ़से उस भक्तिकी गुणरहित मादकतासे वह उन्मत्त, स्तब्ध और आत्माराम हो (नारद-सूत्र ६) कभी द्रवितचित्त होकर गद्‌गदवाणीसे गुणगान करता है, कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी चुप हो रहता है, कभी निर्लज्ज होकर गाता और कभी प्रेमविह्वल होकर नाचता है। ऐसे भक्तिसम्पन्न सच्चे प्रेमी पुरुषके संसर्गसे त्रिभुवन पवित्र होता है (भागवत ११। १४। २४)। ऐसे प्रेमियोंके कण्ठ रुक जाते हैं, वे आँसुओंकी

धारा बहाते हुए कुल और पृथ्वीको पवित्र करते हैं। तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मको सत्कर्म और शास्त्रको सत्-शास्त्र बनाते हैं, क्योंकि वे भगवान्में तन्मय हैं, उनको देखकर पितृगण आनन्दमें भर जाते हैं, देवता नाच उठते हैं और पृथ्वी सनाथा होती है (नारद-सूत्र ६८—७१)।

२९—प्रेमी भक्त सब प्रकारके विधि-निषेधोंसे स्वाभाविक ही परे रहते हैं (नारद-सूत्र ८)। आगे चलकर वे भक्त तद्रूप हो जाते हैं और समस्त जड-चेतन जगत्में केवल हरिका स्वरूप ही देखते हैं। उनका 'मैं' पन भगवान्में सर्वथा विलीन हो जाता है। यही प्रेमाभक्तिका परिणाम है।

३०—इसीका एक नाम अनन्य भक्ति है। जो साधक अनन्यभावसे भगवान्के लिये ही सब कर्म करता है, भगवान्के ही परायण रहता है, भगवान्का ही भक्त है, स्त्री-पुत्र-स्वर्ग-मोक्षादिमें आसक्तिसे रहित है और सम्पूर्ण प्राणियोंमें सर्वथा निर्वैर होता है, वह भगवान्को ही पाता है (गीता ११। ५५), ऐसे भक्तके पूर्वकृत समस्त पाप बहुत शीघ्र नाश हो जाते हैं (गीता ९। ३०-३१) और उसके योगक्षेमका वहन स्वयं भगवान् करते हैं (गीता ९। २२)।

३१—इस प्रकार अहैतुकी, परा, एकान्त, विशुद्ध, निष्काम, प्रेमा, अनन्य आदि सब एक ही उच्चतम भक्तिके कुछ रूपान्तर-भेद हैं। इस परम भक्तिको प्राप्त करना ही भगवत्-प्राप्तिका प्रधान उपाय है। गौणी भक्ति भी इसी फलको देती है। इस परम भक्तिका परिणाम या इसीका दूसरा नाम 'भगवत्-प्राप्ति' है। भावुक भक्त तो इसे मोक्षसे भी बढ़कर समझते हैं।

३२—प्रसिद्ध महाराष्ट्र-भक्त एकनाथ महाराजने आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानीकी व्याख्या दूसरी तरहसे की है। उनका भाव है कि मूल श्लोकमें जब भक्तोंका आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी यह क्रम है तब हमें अर्थ करनेमें यह क्रम क्यों बदलना चाहिये? ज्ञानी तो भगवद्रूप है ही। बाकी तीनोंके लौकिक और पारमार्थिक दोनों अर्थ करके वे पारमार्थिक अर्थ ग्रहण करनेको कहते हैं—

आर्त—रोगी (लौकिक अर्थ), भगवत्-प्राप्तिके लिये व्यथित (पारमार्थिक अर्थ)।

जिज्ञासु—वेद-शास्त्रके जाननेका इच्छुक (लौकिक अर्थ), भगवत्-तत्त्व जाननेके लिये उद्योग करनेवाला (पारमार्थिक अर्थ)।

अर्थार्थी—धनकी कामनावाला (लौकिक अर्थ), सब अर्थोंमें एक भगवान् ही परम अर्थ है ऐसी दृढ़ भावनावाला भगवान्का अर्थी (पारमार्थिक अर्थ)।

इस अर्थका क्रम देखनेसे उत्तरोत्तर उत्तमता समझमें आती है। भगवान्के लिये जिसके हृदयमें व्यथा उत्पन्न होती है वह आर्त, तदनन्तर जो वेद, शास्त्र, पुराणादि और साधु-महात्माओंके सेवनद्वारा भगवान्का अनुसन्धान करता है, वह जिज्ञासु और भगवान्के सिवा अन्यान्य सभी अर्थ अनर्थरूप है, यों जानकर सभी अर्थोंमें उस एक अर्थको देखनेवाला अर्थार्थी एवं उस अर्थके प्राप्त कर लेनेपर 'सब कुछ हरिमय है' इस निश्चयपर सदा आरूढ़ रहनेवाला ज्ञानी भक्त है।

३३—इस भक्तिसाधनकी नौ सीढ़ियाँ हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, पूजन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन (भागवत ७। ५। २३)।

इस नौके तीन विभाग हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरणसे भगवान्के नामकी सेवा; पादसेवन, पूजन और वन्दनसे रूपकी सेवा और दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदनसे भावद्वारा होनेवाली सेवा है। इन नौ साधनोंको इस तरह समझना चाहिये—

श्रवण—भगवान्की महिमा, कीर्ति, शक्ति, लीला-कथा और उनके चरित्र, नाम, गुण, ज्ञान, महत्त्व आदिको श्रद्धापूर्वक अतृप्त मनसे सदा सुनते रहना और अपनेको तदनुसार बनानेकी चेष्टा करना। राजा परीक्षित्, पृथु, उद्धव आदि इसी श्रेणीके भक्त हैं।

कीर्तन—भगवान्के यश, पराक्रम, गुण, माहात्म्य, चरित और नामोंका प्रेमपूर्वक कीर्तन करना।

(क) कीर्तन स्वाभाविक होना चाहिये, उसमें कृत्रिमता न हो।

(ख) कीर्तन केवल भगवान्को रिझानेकी शुभ भावनासे हो, लोगोंको दिखलानेके लिये न हो।

(ग) कीर्तन नियमितरूपसे हो।

(घ) यथासम्भव कीर्तनमें बाजे और करतालका भी प्रबन्ध रहे।

(ङ) कीर्तनके साथ स्वाभाविक नृत्य भी हो।

(च) समय-समयपर मण्डली बनाकर नगर-कीर्तन भी किया जाय। स्वाभाविक कीर्तन वह है जो अपने मनकी मौजसे अपने सुखके लिये बिना प्रयास होता है, उसमें एक अनोखी मस्ती रहती है जिसका अनुभव उस साधकको ही होता है, दूसरे लोग उसका अनुमान भी नहीं कर सकते।

मानवीय, गुणज्ञ, सारग्राही सत्पुरुष इसीलिये कलियुगकी प्रशंसा करते हैं कि इसमें कीर्तनसे ही साधक संसारके संगका त्यागी होकर परम धामको पाता है (भागवत ११। ५। ३६)। महाप्रभु चैतन्य, भक्त तुकाराम

और नरसीजी आदि इसके उदाहरण हैं। इस दोषपूर्ण कलियुगमें यही एक भारी गुण है कि इसमें भगवान्‌के कीर्तनसे ही मनुष्य समस्त बन्धनोंसे छूटकर परम धामको प्राप्त करता है। सत्ययुगमें भगवान्‌के ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे, द्वापरमें सेवासे जो फल होता था, वही कलियुगमें केवल श्रीहरि-कीर्तनसे होता है (भागवत)। अतएव जो अहर्निश प्रेमपूर्वक हरिकीर्तन करते हुए घरका सारा काम करते हैं वे भक्तजन धन्य हैं (भागवत)।

भगवान्‌के नामके समान मंगलकारी और कुछ भी नहीं है, भक्तिरूपी इमारतकी नींव श्रीभगवन्नाम ही है। पूर्वकृत महान् पापोंका नाश करनेमें भगवान्‌का नाम प्रचण्ड दावानल है, भक्त अजामिल और जीवन्ती वेश्याका इतिहास प्रसिद्ध है। परंतु जो लोग दम्भसे या पाप करनेके लिये भगवान्‌का नाम लेते हैं, वे पातकी हैं। जो लोग नामकी आड़में पाप करते हैं उनके वे पाप वज्रलेप हो जाते हैं, उन पापोंकी शुद्धि करनेमें यमराज भी समर्थ नहीं हैं (पद्मपुराण, ब्रह्मखण्ड)। नारद, व्यास, वाल्मीकि, शुकदेव, चैतन्य, सूर, तुलसी, नानक, तुकाराम आदि कीर्तनश्रेणीके भक्त समझे जाते हैं।

स्मरण—जैसे लोभी धनको और कामी कामिनीको स्मरण करता है, उसी प्रकार नित्य-निरन्तर अनन्यभावसे भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये। भगवान्‌के गुण और माहात्म्यको बार-बार स्मरणकर उसपर मुग्ध होना और उस गुणावलीके अनुकरण करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

जो मनुष्य अनन्यचित्तसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करता है, उसके लिये भगवान् बड़े सुलभ हैं (गीता ८। १४)। जो मृत्यु-समय भगवान्‌का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह निस्सन्देह भगवान्‌को प्राप्त होता है; परंतु अन्तकालमें स्मरण वही कर सकता है जिसने जीवनभर भगवत्-स्मरणका अभ्यास किया हो (गीता ८। ५—७)। स्मरणके अन्तर्गत ही ध्यान समझना चाहिये। स्मरणभक्तिमें प्रह्लाद, भीष्म, हनुमान्, व्रजबालाएँ, विदुर, अर्जुन आदि समझने चाहिये।

पादसेवन—श्रवण, कीर्तन और स्मरण तो निराकार और निर्गुण भगवान्‌का भी हो सकता है; परंतु पादसेवनसे लेकर आत्मनिवेदनतकमें साकारकी आवश्यकता रहती है। भक्त श्रीभगवान्‌के जिस रूपका उपासक हो उसीका चरणसेवन करना चाहिये। भगवत्पदारविन्द-सेवन भक्तिमें प्रधान साधन है। महादेवी श्रीलक्ष्मीजी सदा भगवान्‌के पादसेवनमें प्रवृत्त रहती हैं। जबतक यह जीव श्रीभगवान्‌के चरणोंका आश्रय नहीं लेता तभीतक वह धन, घर और परिवारके लिये शोक, भय, इच्छा, तिरस्कार और अतिलोभ आदिके द्वारा सताया जाता है (भागवत ३। ९। ६)। ज्ञान-वैराग्ययुक्त होकर योगीलोग भक्तियोगसे भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेकर निर्भय हो जाते हैं (भागवत ३। २५। ४३)। श्रीलक्ष्मीजी, रुक्मिणीजी आदि इसमें प्रधान हैं।

जगत्‌में प्राणी-मात्रको भगवद्रूप समझकर आवश्यकतानुसार सबकी चरण-सेवा करनी चाहिये। स्त्री पतिको, पुत्र माता-पिताको और शिष्य गुरुको परमात्मा मानकर उनकी चरण-सेवा करे।

पूजन—अपनी रुचिके अनुसार मनसा-वाचा-कर्मणा भगवान्‌की पूजा करना अर्चन या पूजन कहलाता है। पूजनके लिये आकारकी आवश्यकता होती है, इसीलिये सुविज्ञ शास्त्रकारोंने मूर्तिकी व्यवस्था की है।

(क) पत्थरकी, काठकी, धातुकी, मिट्टीकी, चित्रकी, बालूकी, मणियोंकी और मनकी यह आठ प्रकारकी प्रतिमाएँ होती हैं (भागवत ११। २७। १२)। बाह्य पूजा करनेवाले साधकको मनकी मूर्ति छोड़कर बाकी सात प्रकारमेंसे अपनी रुचि और अवस्थाके अनुसार कोई-सी मूर्ति निर्माण करनी या करानी चाहिये।

(ख) पूजामें सोलह उपचार होते हैं।

(ग) पूजाकी सामग्री सर्वथा पवित्र होनी चाहिये।

(घ) केवल बाहरी पवित्रता ही नहीं, परंतु भगवान्‌की पूजा-सामग्री न्यायोपार्जित द्रव्यकी होनी चाहिये, अन्याय या चोरीसे उपार्जित द्रव्यद्वारा भगवान्‌की पूजा करनेसे वह पूजा कल्याण देनेवाली नहीं हो सकती (पद्मपुराण, पातालखण्ड)। शुद्ध वृत्तिद्वारा उपार्जित द्रव्यसे ही नारायणभगवान्‌का यज्ञ करना चाहिये (भागवत १०)। भगवान्‌की पूजा करनेवालेको द्रव्य-शुद्धिके लिये धन कमानेमें अन्याय-असत्यका त्याग करना चाहिये।

(ङ) इसके सिवा भगवान्‌को वही वस्तु अर्पण करनी चाहिये जो अपनेको अत्यन्त प्रिय और अभिलषित हो (भागवत ११। ११। ४१)। जो लोग निकम्मी चीजें भगवान्‌के अर्पण कर अभिलषित वस्तुकी रक्षा करते हैं वे यथार्थमें भक्त नहीं हैं।

(च) इसलिये पूजाके साथ-साथ हृदयमें भक्ति भी चाहिये। भक्तिरहित पुरुष पुष्प, चन्दन, धूप, दीप, नैवेद्य आदि अनेक सामग्रियोंद्वारा भगवान्‌की बड़ी पूजा करता है तब भी भगवान् उसपर प्रसन्न नहीं होते।

भगवान् प्रेम या भावके भूखे हैं, उन्हें पूजा करवानेकी अभिलाषा नहीं है, केवल भक्तोंका मान बढ़ाने और उन्हें आनन्द देनेके लिये ही भगवान् पूजा स्वीकार करते हैं, असलमें जो लोग भगवान्‌का सम्मान

करते हैं वह उन्हींको मिलता है, जैसे दर्पणमें अपने ही मुखकी शोभा दीख पड़ती है (भागवत ७। ९। ११)।

भगवान्‌के किसी रूपविशेषकी मानसिक पूजा भी होती है, भगवान्‌के एक-एक अवयवकी कल्पना करते हुए दृढ़तासे सम्पूर्ण मूर्तिको मनमें स्थिर करके उसकी पूजा करनी चाहिये। तदनन्तर मूर्तिको चित्तसे हटाकर, चित्तको सर्वथा चिन्तनशून्य—निर्विषय करके अचिन्त्य परमात्मामें स्थित हो रहना चाहिये। यह अचिन्त्य ही विष्णुका परमपद है।

भगवान्‌के अवतारोंके दिव्य शरीरोंका वर्णन पुराणोंमें पढ़कर तदनुसार मूर्तिनिर्माण या मनमें कल्पना की जा सकती है। इस रूपमय जगत्‌की उत्पत्ति अरूपसे ही हुई है, इसलिये रूपसे ही वापस अरूपमें पहुँचा जा सकता है। जब चतुर चित्रकार अपने मनोमय रूपको चित्रांकित करके दिखला देता है, तब यह भी मानना चाहिये कि भक्तके हृदयपटपर भगवान्‌के जिस असाधारण सौन्दर्यकी छाया पड़ती है, भक्त भी उसे बाहर अंकित करके उसकी पूजा कर सकता है। बाहर-भीतर दोनों जगह पूजा होनेसे ही तो पूजाकी पूर्णता है।

मूर्तिपूजासे भक्तिकी वृद्धिमें बड़ा लाभ हुआ है और उसकी बड़ी भारी आवश्यकता है। अतएव भक्तोंको मूर्तिपूजाका विरोध करनेवाले लोगोंके फेरमें भूलकर भी नहीं पड़ना चाहिये।

भगवान्‌के पूजनमें इन सात पुष्पोंकी बड़ी आवश्यकता है— (१) अहिंसा, (२) इन्द्रियसंयम, (३) दया, (४) क्षमा, (५) मनोनिग्रह, (६) ध्यान, (७) सत्य। इन पुष्पोंद्वारा की जानेवाली पूजासे भगवान् जितने प्रसन्न होते हैं, उतने प्राकृत पुष्पोंसे नहीं होते; क्योंकि उन्हें उपकरणोंकी अपेक्षा भक्ति विशेष प्यारी है। भक्तके सिवा और किसीमें इन फूलोंसे भगवान्‌को पूजनेकी सामर्थ्य नहीं है (पद्मपुराण, पातालखण्ड)।

भगवान्‌की प्रतिमाओंके अतिरिक्त सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव, अनन्त आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और सम्पूर्ण प्राणी—इन ग्यारहको भगवान् मानकर इनकी पूजा करनी चाहिये (भागवत ११। ११। ४२)।

जो लोग सब प्राणियोंमें सदा निवास करनेवाले, सबके आत्मा और ईश्वर परमात्माको भुलाकर प्राणियोंसे तो हिंसा और द्वेष करते हैं पर भेदभावसहित प्रतिमापूजन बड़ी विधिसे किया करते हैं, उनकी वह पूजा विफल होती है। वे भगवान्‌की अवज्ञा करते हैं, उनपर भगवान् सन्तुष्ट नहीं होते। सब प्राणियोंके अन्दर रहनेवाले, भगवान्‌से वैर रखनेवाले और उसका अनादर करनेवाले लोगोंको कभी शान्ति-सुख नहीं मिल सकता (भागवत ३। २९। २१—२४)। परंतु कोई किसी भी तरह भगवान्‌की पूजा करे, उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये।

अतएव प्राणी-मात्रमें भगवान्‌की भावना कर तन, मन, धनसे उनकी पूजा करना प्रत्येक भक्तका कर्तव्य है। भगवान् सर्वत्र हैं इससे भजनका अच्छे-से-अच्छा और समझमें आनेयोग्य स्थल प्राणी-मात्र हैं। प्राणियोंमें जो दु:खी हैं, अपंग हैं, निराधार हैं उनकी सेवा ही भगवत्सेवा है। भूखेको अन्न, प्यासेको पानी, रोगीको सेवा, गृहहीनको आश्रय, भयातुरको अभय और वस्त्रहीनको वस्त्र—श्रद्धा और सत्कारपूर्वक कर्तव्य समझकर देना सर्वभूतस्थित भगवान्‌की पूजा करना है। आवश्यकतानुसार मन्दिर, धर्मशाला, पाठशाला, अनाथाश्रम, विधवाश्रम, औषधालय, कुआँ, तालाब आदिका भगवत्प्रीत्यर्थ निर्माण, स्थापन और सत्यतापूर्वक संचालन करना भी भगवत्-पूजन ही है।

पूजन-भक्तिमें राजा पृथु, अम्बरीष, अक्रूर, शबरी, मीरा और धन्ना आदि माने जाते हैं।

वन्दन— भगवान्‌की मूर्ति, संत-महात्मा, भगवद्भक्त, माता-पिता, आचार्य, पति, ब्राह्मण, गुरुजन और प्राणी-मात्रके प्रति भगवान्‌की भावनासे नमस्कार करना, नम्रतापूर्वक बर्ताव करना वन्दन-भक्ति है। भक्तकी बुद्धिमें जगत् हरिमय हो जाता है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, जीव-जन्तु, वृक्षादि, नदी, समुद्र—इन सबको भगवान्‌का शरीर समझकर अनन्यभावसे प्रणाम करना चाहिये (भागवत १२। २। ४१)।

श्रीअक्रूर, अर्जुन आदि वन्दन-भक्त गिने जाते हैं।

दास्य— भगवान्‌को एकमात्र स्वामी और अपनेको नित्य सेवक मानकर भक्ति करना। केवल सेवक मानना ही नहीं, परन्तु प्रतिक्षण बड़ी सावधानी, नित्य नये उत्साह और बढ़ती हुई प्रसन्नतामें मन, बुद्धि, शरीरद्वारा निष्कामभावसे बाह्याभ्यन्तर सेवा करते रहना कर्तव्य है। जितनी अधिक सेवा हो उतना ही हर्ष बढ़ना दास्य-भक्तिका लक्षण है। सच्चा भगवत्-सेवक सदा सेवा मिलती रहनेके अतिरिक्त और कोई फल नहीं चाहता। जिन भाग्यवानोंका चित्त भगवान्‌की सेवामें संलग्न है, उनको मोक्ष भी तुच्छ प्रतीत होता है (भागवत)। जो सेवाके बदलेमें भगवान्‌से कुछ चाहता है वह भृत्य नहीं, व्यापारी है। निष्काम सेवकको किसी भी फलकी अभिसन्धि नहीं होती (भागवत ७। १०। ४)।

निष्काम सेवकका धर्म स्वामीके इशारेपर चलना ही होता है। कोई कैसा ही मनके प्रतिकूल कार्य हो,

प्रभुका इशारा मिलते ही वह उसके अनुकूल बन जाता है, जैसे आदर्श सेवक श्रीभरतजीका श्रीरामके संकेतानुसार वनसे पुन: अयोध्यामें लौट आना।

सेवक कभी मन मारकर या बेगार समझकर सेवा नहीं करता। सेवामें प्रतिक्षण उसकी प्रसन्नता बढ़ती रहती है और वह किसी तरहका शुल्क लेकर सेवा नहीं करना चाहता। इसीसे गोपियोंने अपनेको 'नि:शुल्क सेविका' और प्रह्लादजीने 'निष्काम दास' बतलाया था। अपूर्व दासभक्त हनुमान्‌जी महाराजने कभी कुछ नहीं माँगा, बिना माँगे उन्हें अमूल्य हार दिया गया तो उसको भी रामसे रहित जानकर नष्ट कर दिया। कभी माँगा तो केवल नित्य-सेवाका सुअवसर माँगा और कहा कि 'हे नाथ! मुझे वह भव-बन्धनको काटनेवाली मुक्ति मत दीजिये, जिससे आपका और मेरा स्वामी-सेवकका सम्बन्ध छूटता है, मैं ऐसी मुक्ति नहीं चाहता।' भक्तको चाहिये कि वह सारे विश्वको परमात्माका स्वरूप मानकर उसकी निष्काम सेवा करे। विश्वका सेवक ही परमात्माका सेवक है, विष्णुसहस्रनाममें 'विश्व' नामसे ही परमात्माका निर्देश किया गया है। श्रीहनुमान्‌जी, प्रह्लादजी और गोपियाँ इस श्रेणीके भक्तोंमें माने जाते हैं।

सख्य—भगवान्‌को ही अपना परम मित्र मानकर उसपर सब कुछ न्योछावर कर देना। मित्रके दु:खमें दु:खी होना, मित्रके संकटको बहुत बड़ा और उसके सामने अपने बहुत बड़े संकटको तुच्छ समझना, मित्रको बुरे पथसे हटाकर अच्छेमें लगाना, उसके दोषोंको न देखकर गुण प्रकट करना, देन-लेनमें शंका न करना, शक्तिभर सदा हित करना, विपत्तिमें सौगुना प्रेम करना—ये मित्रके लक्षण गोसाईं तुलसीदासजी महाराजने बतलाये हैं। अकारण सुहृद् भगवान् इन गुणोंसे स्वाभाविक ही विभूषित हैं। मनुष्योंमें इन गुणोंकी पूर्णता नहीं मिल सकती, इसीलिये सख्य करनेयोग्य केवल परमात्मा ही हैं। भक्तको चाहिये कि वह इन गुणोंको अपने अंदर उत्पन्न करनेका प्रयत्न करे। सच्चे भक्तमें तो इन गुणोंका विकास होता ही है। वह समस्त चराचर जगत्‌को भगवान्‌का रूप समझकर सबसे प्रेम और मित्रताका व्यवहार करता है। इसीसे भगवान्‌ने भक्तको जगत्‌का मित्र बतलाया है (गीता १२। १३)।

भगवान्‌का सखा-भक्त अपना हृदय खोलकर भगवान्‌के सामने रख देता है यानी छल-कपटका वह सर्वथा त्यागी होता है, सुख-दु:खमें वह भगवान्‌की ही सत्-सम्मति चाहता है, भगवान्‌को ही अपना समझता है और अपने घर-द्वार, धन-दौलत सबपर उस सखारूप भगवान्‌का ही निरंकुश अधिकार समझता है। उससे उसका प्रेम स्वाभाविक ही होता है, उसमें स्वार्थ या कामनाका कलंक नहीं रहता। ऐसे मित्रोंमें अर्जुन, उद्धव, सुदामा, श्रीदाम आदिके नाम लिये जाते हैं।

आत्मनिवेदन—यह नवधा भक्तिका अन्तिम सोपान है। भक्त अपने-आपको अहंकारसहित सर्वथा सदाके लिये परमात्माके समर्पण कर देता है। ऐसा भक्त ही निष्किंचन कहलाता है। यह अवस्था बहुत ही ऊँची होती है। राजा बलिने साकार भगवान्‌के चरणोंमें अपनेको अर्पण करके और याज्ञवल्क्य, शुकदेव, जनकादिने नित्य निर्विकार निर्गुण निराकार भगवान्‌में अपना अहंकार सर्वतोभावेन विलीन करके आत्मनिवेदन-भक्तिको सिद्ध किया था।

यही भागवतोक्त नवधा भक्तिके भेद हैं।

३४—रामचरितमानसमें गोसाईंजी महाराजने नवधा भक्तिका क्रम यों बतलाया है—(१) सत्संग, (२) भगवत्-कथामें अनुराग, (३) मानरहित होकर गुरुसेवा करना, (४) कपट छोड़कर भगवान्‌के गुण गाना, (५) दृढ़ विश्वाससे रामनाम-जप करना, (६) इन्द्रियदमन, शील, वैराग्य आदि सत्पुरुषोंद्वारा सेवनीय धर्मका आचरण करना, (७) जगत्‌को हरिमय और संतको हरिसे भी अधिक समझना, (८) सबसे छल छोड़कर सरल बर्ताव करना, (९) भगवान्‌पर दृढ़ भरोसा रखकर हर्ष-विषाद न करना। श्रीअध्यात्मरामायणमें भी कुछ रूपान्तरसे नवधा भक्तिका ऐसा ही वर्णन है, सम्भव है गोसाईंजीने यह प्रसंग वहींसे लिया हो।

३५—देवर्षि नारदजीने भक्तिके ग्यारह भेद बतलाये हैं। गुण-माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परम विरहासक्ति (नारद-सूत्र ८२)।

३६—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—ये पाँच रस भक्तिके माने जाते हैं। वेदान्ती भक्तोंने शान्त, सख्य, श्रीगोसाईंजी महाराजने दास्य, श्रीपुष्टिमार्गीय वैष्णव आचार्योंने वात्सल्य और श्रीचैतन्य महाप्रभुने माधुर्यको प्रधान माना है।

३७—कतिपय भक्ताग्रगण्य महानुभावोंने शरणागतको ही प्रधान माना है। बात भी ऐसी ही है।

अवश्य ही शरण सच्ची होनी चाहिये, फिर भगवान् उसका सारा जिम्मा ले लेते हैं। भगवान्‌ने कहा है—सब धर्मोंको छोड़कर तू मुझ एककी शरण हो जा, मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता न कर (गीता

१८। ६६)। इससे अधिक आश्वासन और कैसे दिलाया जा सकता है? शरणागत भक्त सर्वथा भगवान्के अनुकूल होता है। शरणागति त्रिविध है, 'मैं भगवान्का', 'भगवान् मेरे' और 'मैं-वे एक ही हैं' इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। बस, शरणागतिमें ही भक्तिसाधनका उपसंहार है। शरणागत भक्त भगवान्का अनन्य चिन्तन करनेवाला, भगवान्के आज्ञानुसार चलनेवाला, भगवान्के प्रत्येक कठोर-से-कठोर विधानमें सन्तुष्ट तथा भगवान्का ही अनुसरण करनेवाला होता है।

३८—जो मनुष्य भक्त बनना चाहता है, परंतु भगवान्के सद्गुणोंका अनुकरण नहीं करना चाहता, उसकी भक्तिमें सन्देह है। भक्तको चाहिये कि भगवान् श्रीरामजीकी पितृ-मातृभक्ति, भ्रातृस्नेह, एकपत्नीव्रत, मर्यादापालन, शूरवीरता, नम्रता, प्रजावत्सलता, राग-द्वेष-शून्यता, समता, तेज, क्षमा, मैत्री और भगवान् श्रीकृष्णके सखा-प्रेम, गीताज्ञान, सेवा, दुष्टदलन, शिष्टसंरक्षण, निष्काम कर्म, न्याययुक्त मर्यादा-रक्षण, अनासक्ति, समता, शौर्य, प्रेम आदि गुणोंका अनुकरण करे।

३९—भक्तिका साधन केवल प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही किया जाता है, लोगोंको दिखलानेके लिये नहीं; अतएव भक्त बनना चाहिये, भक्ति दिखलानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। भक्ति हृदयका परम गुह्य धन है, तमाशा या खिलौना नहीं।

४०—भक्त किसी प्रकारकी भी कामनाके वश नहीं होता, जो किसी कामनाके लिये भक्ति करते हैं, वे असलमें भगवान् और भक्तिका मूल्य घटाते हैं। स्वार्थ और प्रेममें बड़ा विरोध है।

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकै, रबि रजनी इक ठाम॥

४१—इन्द्रियसुखके लिये भक्ति करनेवालोंकी बुद्धिमें भगवान् या भक्ति साधन है और विषयसुख साध्य वस्तु है, वे विषयको भगवान्से बड़ा समझते हैं। जो लोग विषयसुखके साथ-ही-साथ भगवत्-प्राप्तिका सुख चाहते हैं, वे या तो मूर्ख हैं, नहीं तो पाखंडी। एक म्यानमें दो तलवारें नहीं रह सकतीं। भगवान्की चाह हो तो विषयोंकी प्रीति छोड़ो!

४२—भक्त अकिंचन कहलाता है, क्योंकि वह अपना सर्वस्व 'मैं', 'मेरे' सहित शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार सब कुछ भगवान्के अर्पण कर देता है, उसके पास अपनी कहलानेवाली कोई वस्तु रह ही नहीं जाती। जिसके पास कुछ न हो वही तो अकिंचन है। ऐसे अकिंचन भक्त भगवान्को बड़े प्यारे होते हैं। भगवान् उनकी चरणरज पानेके लिये उनके पीछे-पीछे घूमा करते हैं (भागवत ११। १४। १६)। क्योंकि वे भक्त ब्रह्मा, इन्द्रका पद, चक्रवर्ती राज्य, पातालका राज्य, योगकी आठों सिद्धियाँ और मोक्षको भी नहीं चाहते (मुक्ति तो उनके पीछे-पीछे डोला करती है)। भगवान्को ऐसे भक्त ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी और अपने आत्मासे भी बढ़कर प्रिय होते हैं। वास्तवमें ऐसे ही अकिंचन, शान्त, दान्त, ईश्वरार्पितचित्त, अखिल-जीव-वत्सल, विषयवांछारहित भक्त उस परमानन्दरूप परमात्माके आनन्दका रस जानते हैं (भागवत ११। १४। १७)।

४३—ऐसे भक्तोंके ममत्वकी चीज अगर कोई रहती है तो वह केवल भगवान्के चरणकमल रहते हैं, इसीसे वे भगवान्के हृदयमें निरन्तर बसते हैं।

४४—भक्त शरीर, वाणी और मनसे तीन प्रकारके व्रतोंका आचरण किया करते हैं। शरीरसे हिंसा, व्यभिचार, स्तेयका सर्वथा त्यागकर सबकी सेवा किया करते हैं। वाणीसे किसीकी चुगली-निन्दा न कर सत्य, मधुर और हितकर भाषण तथा वेदाध्ययन और नाम-संकीर्तन किया करते हैं और मनसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अकपटता, निरभिमानता, निर्वैरताका पालन करते हुए सबका कल्याण चाहा करते हैं। जो मनुष्य मन, वाणी, शरीरसे छिपकर पाप करता है, वह सर्वान्तर्यामी भगवान्को वास्तवमें मानता ही नहीं, वह तो एक प्रकारका नास्तिक है।

४५—भक्तिमें श्रद्धा मुख्य है। भगवान्को कोई व्यक्ति श्रद्धासे एक बूँद जल अर्पण करता है तो भगवान् उससे भी तृप्त होते हैं (वाराहपुराण)। श्रद्धावान् ही ज्ञान पाते हैं (गीता ४। ३९)। भगवान्को श्रद्धावान् अत्यन्त प्रिय हैं (गीता १२। २०)। भगवान्के मतके अनुसार बर्तनेवाले श्रद्धायुक्त पुरुष कर्मोंसे छूट जाते हैं (गीता ३। ३१)। जो श्रद्धावान् योगी भगवान्में मन लगाकर उन्हें भजता है वह सबसे श्रेष्ठ है (गीता ६। ४७)।

४६—कुछ लोगोंका कहना है कि वर्णाश्रम-धर्म भक्तिमें बाधक है, इसको छोड़ देना चाहिये। बस केवल भक्ति करो, सन्ध्या-तर्पण, बलिवैश्वदेव आदि किसी कर्मकी कोई आवश्यकता नहीं, ये सब वर्ण-धर्मके झंझट त्याग देने चाहिये। परंतु यह कथन ठीक नहीं। जो लोग हरि-रसपानमें मत्त होकर वर्णाश्रमकी सीमाको लाँघ गये हैं अथवा जिनका वर्णाश्रममें अधिकार ही नहीं है, उनकी बात दूसरी है, परंतु वर्णाश्रमके माननेवाले साधकोंको यह धर्म-व्यवस्था अवश्य माननी चाहिये। वर्णाश्रम भक्तिमें बाधक नहीं,

पर पूरा साधक है। नारद कहते हैं जबतक परमात्मामें ऐकान्तिक निष्ठा न हो जाय तबतक शास्त्रका रक्षण करना चाहिये, नहीं तो गिरनेका भय है (नारदभक्ति-सूत्र १२-१३)। जो वर्णाश्रम-धर्मके विरुद्ध कार्य करते हैं वे नरकोंमें पड़ते हैं (विष्णुपुराण २। ६। २८)। अतएव वर्णाश्रम-धर्मी सज्जनोंको वर्णाश्रमके कर्म भगवदर्थ निष्कामभावसे अवश्य करने चाहिये, इससे उन्हें भक्तिमें सहायता मिल सकेगी।

४७—पर इस बातको अवश्य याद रखना चाहिये कि मायाके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये तो केवल भक्ति ही सर्वोत्तम उपाय है (गीता ७। १४, भागवत १०। ८७। ३२)।

४८—जो मनुष्य भक्त कहलाकर धन, मान, बड़ाई, स्त्री, पुत्र आदिकी प्राप्तिमें प्रसन्न और दरिद्रता, अपमान, निन्दा, स्त्री-पुत्रादिके नाशमें दुःखी होता है और भगवान्‌को कोसता है वह वास्तवमें भक्त नहीं है। सच्चा भक्त इन आने-जानेवाले विषयोंकी कभी कोई परवा नहीं करता। उसके लिये जीवन-मरण समान है। अमावस्याकी कालरात्रि और पूर्णिमाकी निर्मल ज्योत्स्ना दोनोंमें ही वह अपने प्रियतम भगवान्‌का मनोहर वदन निरखकर निरतिशय आनन्द लाभ करता है। उसे न सुखकी स्पृहा होती है, न दुःखमें उद्विग्नता।

४९—भक्तकी तो अग्नि-परीक्षाएँ हुआ करती हैं। प्रह्लादका अग्निमें पड़ना, हरिश्चन्द्रका रानीको बेचकर डोमका दासत्व करना, शिबिका अपना मांस काटकर देना, दधीचिका अपनी हड्डियाँ देना, मयूरध्वजका पुत्रको चीरना, पाण्डवोंका वन-वन भटकना, हरिदासका कोड़ोंकी मारसे व्याकुल न होकर भी हरिनाम पुकारना, ईसाका शूलीपर चढ़ जाना आदि। जो इन सब परीक्षाओंमें उत्तीर्ण होता है वही यथार्थ भक्त है।

५०—पीड़न-प्रहार, निर्यातन-निष्कासन, अत्याचार-अपमान आदि तो भक्तके अंग-आभूषण होते हैं। भक्तको अपने जीवनमें इनका सदा ही स्वागत करना पड़ता है। संसारके लोग उसके जीवनकालमें प्रायः इन्हीं पुरस्कारोंसे उसकी पूजा किया करते हैं। श्रीहरिदास, नित्यानन्द, कबीर, नरसी, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, मीरा आदि सब इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

५१—हजार अत्याचार सहन करनेपर भी सर्वत्र भगवान्‌का दर्शन करनेवाला क्षमास्वरूप प्रेमी भक्त किसीका भूलकर भी बुरा नहीं चाहता, बल्कि प्रह्लाद और हरिदासकी तरह वह उन सबके कल्याणके लिये ही परमात्मासे प्रार्थना करता है।

५२—भक्त नित्य निर्भय होता है। जो सबमें सब समय अपने प्राणाराम प्रभुको देखता है, वह किससे और कैसे डरे। बात-बातमें डरनेवाले भक्त नहीं हैं। हाँ, पाप करनेमें ईश्वरसे अवश्य डरना चाहिये।

५३—भक्तिके मार्गमें निम्नलिखित प्रतिबन्धक हैं—इनसे बचनेका उपाय करना चाहिये। दम्भ, काम, क्रोध, लोभ, असत्य, अहंकार, द्वेष, द्रोह, हिंसा, सिद्धियाँ, भक्तिका अभिमान, अपवित्रता, मान-बड़ाईकी इच्छा, निन्दा-अपमानकी परवा, ब्रह्मचर्यकी हानि, स्त्री और स्त्रीसंगियोंका संग, विलासिता, घृणा, नेतागिरी, आचार्य बनना, उपदेशक बनना, धनकी आसक्ति, ममता, कुसंगति, लोकसमूहमें नित्य निवास, तर्क-वितर्क, माननाशकी चिन्ता, सभासमितियोंका अधिक संसर्ग, समाचारपत्र तथा गंदे शृंगारके और व्यर्थ ग्रन्थ पढ़ना और स्त्री-धन-नास्तिक-वैरीका चरित्र याद करना आदि।

५४—भक्ति-मार्गमें निम्नलिखित सहायक हैं—इनका संग्रह करना चाहिये। सत्संग, श्रद्धा, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, भगवत्-शरणागति, शास्त्र-श्रवण, पठन, नामजप, नामकीर्तन, दया, क्षमा, वैराग्य, सादगी, प्रेम, साधुसेवा, मैत्री, उपेक्षा, तर्क न करना, एकान्तसेवन, योगक्षेमकी वासनाका त्याग, कर्मफलका त्याग, दीनता, सहनशीलता, निरभिमान, निष्कामभाव, इन्द्रियनिग्रह, मनका वशमें करना, मूर्तिपूजा, मन्दिरसेवा, लोकसेवा, रोगीकी शुश्रूषा और पात्रको दान आदि।

५५—चैतन्य महाप्रभुके मतसे भक्तके लक्षण—अपनेको एक तिनकेसे भी नीचा समझना, वृक्षसे अधिक सहनशील होना, अमानी होकर दूसरोंको मान देना और सदा हरिकीर्तन करना।

५६—गीतोक्त भक्तके सच्चे लक्षण—सब प्राणियोंमें द्वेषभावसे रहित, निःस्वार्थी मित्र, अकारण दयालु, ममतारहित, अहंकाररहित, सुख-दुःखको समान समझनेवाला, अपराधीपर भी क्षमा करनेवाला, सर्वदा सन्तुष्ट, निरन्तर भक्तियोगमें रत, संयतात्मा, दृढ़निश्चयी, भगवान्‌में अर्पित मन-बुद्धिवाला, किसीको उद्वेग न पहुँचानेवाला, किसीसे उद्वेग न पानेवाला, हर्ष-विषाद-भय-उद्वेगसे रहित, इच्छारहित, बाहर-भीतरसे पवित्र, चतुर, पक्षपातहीन, निन्दा-तिरस्कार आदिमें व्यथारहित, कामनामुक्त, सर्वारम्भका परित्यागी, प्रिय वस्तुकी प्राप्तिमें हर्ष, अप्रियकी प्राप्तिमें द्वेष, प्रियके वियोगमें शोक और इच्छित वस्तुकी आकांक्षासे रहित, शुभाशुभ फलकी परवा न करनेवाला, शत्रु-मित्रमें समान, मान-अपमानमें समान,

शीत-उष्णादि सुख-दु:खोंमें समान, ईश्वरके सिवा अन्य किसी भी सांसारिक वस्तुकी रमणीयतापर आसक्त न होनेवाला, निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील, किसी प्रकारसे भी जीवन-निर्वाहमें सन्तुष्ट, घर-द्वारकी ममतासे रहित, स्थिरबुद्धि, भगवत्परायण और श्रद्धाशील (गीता १२। १३—२०)।

५७—भागवतके मतके अनुसार भक्तके लक्षण—भगवान्‌में मन लगाकर (राग-द्वेषरहित हो) इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका भोग करता हुआ भी सारे विश्वको भगवान्‌की माया समझकर किसी भी वस्तुसे द्वेष या किसीकी आकांक्षा नहीं करनेवाला, हरिस्मरणमें संलग्न रहकर शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रियके सांसारिक धर्म, जन्म-मरण, भूख-प्यास, भय, तृष्णा, कामना आदिसे मोहित न होनेवाला, कर्मके बीजरूप कामनासे रहित चित्तवाला, एकमात्र वासुदेवपर निर्भर करनेवाला, जन्म-कर्म-वर्ण-आश्रम और जातिसे शरीरमें अहंभाव न करनेवाला, धन और शरीरके लिये अपने-परायेका भेदभाव न रखनेवाला, सब प्राणियोंमें एक आत्मदृष्टिवाला, शान्त, त्रिभुवनका राज्य मिलनेपर भी आधे पलके लिये हरि-चरण-सेवाका त्याग न करनेवाला और जिस हरिका नाम विवश-अवस्थामें अचानक मुखसे निकल जानेके कारण सब पाप नष्ट हो जाते हैं, उस हरिको प्रेमपाशमें बाँधकर निरन्तर अपने हृदयमें रखनेवाला (भागवत ११। २। ४८—५५)।

५८—सनत्कुमार, व्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान् और विभीषणादि भक्तिके आचार्य माने गये हैं (नारद-भक्ति-सूत्र ८३)।

५९—इस भक्तिसाधनमें सबका अधिकार है, ब्राह्मण-चाण्डाल, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सभीको भक्तिके द्वारा भगवान्‌के परमधामकी प्राप्ति सम्भव है। भगवान्‌का आश्रय देनेवाले अन्त्यज, स्त्री, वैश्य, शूद्र—सभी उत्तम गतिके अधिकारी हैं (गीता ९। ३२)। भक्तिमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियाका भेद नहीं है (नारद-सूत्र ७२)। निन्दित योनितक सबका भक्तिमें अधिकार है (शाण्डिल्य-सूत्र ७८)। सभी देश और सभी जातिके मनुष्य भक्ति कर सकते हैं, क्योंकि भगवान् सबके हैं। चाण्डाल, पुक्कस आदि यदि हरि-चरण-सेवी हैं तो वे भी पूजनीय हैं (पद्मपुराण, स्वर्ग० २४। १०)।

६०—भक्तिसे ही जीवन सफल हो सकता है, जो भगवान्‌से विमुख हैं वे लोहारकी धौंकनीके समान व्यर्थ साँस लेकर जीते हैं (भागवत १०। ८७। १७)। ऐसे लोगोंको घर-सन्तान, धन और सम्बन्धियोंको अनिच्छासे त्यागकर नीच योनियोंमें जाना पड़ता है (भागवत ११। ५। १८)।

६१—भक्तका कभी नाश नहीं होता (गीता ९। ३१)। सब प्राणियोंका निवासस्थान समझकर भगवान्‌की भक्ति करनेवाला भक्त मृत्युको तुच्छातितुच्छ समझकर उसके सिरपर पैर रखकर (वैकुण्ठमें) चला जाता है (भागवत १०। ८७। २७)।

६२—भक्ति परमशान्ति और परमानन्दरूपा है। इसके साधनमें भी आनन्द है। परमात्माका सहारा होनेसे गिरनेका भी भय नहीं है। सच्चे सुखको पानेके लिये आजतक भक्तिके समान कोई भी साधन दुनियामें और नहीं मिला। अतएव भक्ति ही करनी चाहिये। यही एकमात्र अवलम्बन है।

भक्त ही संसारसे तरता है और सब लोगोंको तारता है (नारद-भक्ति-सूत्र ५०)।

भक्त

आजकल कुछ लोगोंकी ऐसी धारणा हो गयी है कि भक्तिका साधन अत्यन्त सहज है। पाप-ताप, दुराचार-अनाचारमें फँसे रहते हुए भी हम पूर्ण भक्त बन सकते हैं। इसीसे आज भारतमें भक्तोंकी भरमार है। लोग काम, क्रोध, लोभ या दम्भवश भगवान्‌के दो-चार नाम लेकर भक्तोंकी-सी पोशाक पहनकर अपनेको भक्त प्रसिद्ध कर देते हैं। यह नहीं सोचते कि भक्तको अग्नि-परीक्षा देनी पड़ती है, जहरकी घूँटको प्रसाद समझकर आदरपूर्वक पी जाना पड़ता है, सारे भोग-विलास और धन-जनकी आसक्ति छोड़कर प्रभुके प्रति सर्वात्मरूपसे आत्मसमर्पण करना पड़ता है। ज्ञानसे भगवत्-स्वरूपको समझकर स्वकर्मके द्वारा भगवान्‌की शुद्ध उपासना करनेसे ही भक्ति सिद्ध होती है। भक्त तो भगवान्‌का निज-जन होता है। उसके योगक्षेमका, उसके रक्षणावेक्षणका सारा भार भगवान् उठा लेते हैं; अतएव भक्त सब प्रकारसे पाप-तापसे मुक्त होता है। वह संसारका सर्वोच्च आदर्श होता है; क्योंकि भगवान्‌के दिव्यगुणोंका उसीके अंदर विकास हुआ करता है। ऐसा भक्त ही भगवान्‌को प्यारा होता है और ऐसे ही भक्तका उद्धार करनेके लिये भगवान् जिम्मेवारी लेते हैं। भक्त

तो अपना हृदय, मन-बुद्धि, शरीर-परिवार, धन-ऐश्वर्य, वासना-कामना आदि सब कुछ भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर निश्चिन्त हो जाता है। वह सारे संसारमें अपने स्वामीको व्याप्त देखता है, इसीलिये वह अखिल विश्वके सकल चराचर जीवोंके साथ प्रेम करता और उनकी सेवा करनेके लिये पागल हुआ-सा घूमता है।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

ऐसे अनन्य भक्तका जीवन प्रभुमय होता है, उसके समस्त कार्य प्रभुके कार्य होते हैं, वह प्रभुके ही परायण होता है, एकमात्र प्रभुका ही भजन करता है, संसारकी किसी वस्तुमें आसक्त नहीं होता और सर्वभूतोंके प्रति अपने साथ वैर रखनेवालोंके प्रति भी—निर्वैर रहता है। वह पहचानता है केवल अपने एक प्रभुको और संसारमें सर्वथा एवं सर्वदा केवल उसीकी लीलाका विस्तार देखता है। जीवन-मरण दोनों ही उसके लिये समान सुखप्रद होते हैं।

'जीवन-मरण चरणके चाकर, चिन्तारहित चित्त है नित्य'

वह जीवनसे कभी ऊबता नहीं और मृत्युके भयसे कभी काँपता नहीं; प्रभुकी प्रसन्नताके लिये यदि कभी उसके सामने मरणकी वह मूर्ति आती है जिसको लोग अत्यन्त भीषण मानते हैं, तो भक्तकी दृष्टिमें वह बड़ी मोहिनी होती है और वह बड़े प्रेम तथा उत्साहसे उसका आलिंगन करनेको सामने दौड़ता है। वह समझता है कि इस मृत्युके रूपमें मेरे प्रभु ही मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करने और अपनी गोदमें उठा लेनेको पधारे हैं। '**मृत्युः सर्वहरश्चाहम्**' इस गीताकथित भगवान्‌के वाक्यका स्मरण करके वह हर्षोत्फुल्ल हृदयसे मृत्युका स्वागत करता है। यही कारण है कि भक्तगण अपने प्रभुकी सेवाके लिये धर्मकी वेदीपर हँसते-हँसते अपनी बलि चढ़ा देते हैं, अपने प्रभुके लिये प्राणोंको न्योछावर कर देना उनकी बुद्धिमें बड़े गौरवका काम होता है। जहाँ, जिस समय, जिस प्रकारसे प्राण-दानके लिये वे अपने भगवान्‌का आह्वान सुनते हैं, वहाँ उसी समय, उसी प्रकारसे प्राणोंकी आहुति देनेको वे वैसे ही दौड़े जाते हैं, जैसे कंगाल धनकी लूटके लिये दौड़ता है—

जो सिर साँटे हरि मिलै तो हरि लीजै दौर।
'नारायण' या देरमें गाँहक आवै और॥

मस्तकको तो वे हाथोंमें लिये घूमते हैं, अवसर ढूँढ़ते रहते हैं उसे प्रभुके चरणोंपर चढ़ा देनेका। जहाँ वह प्रभुके काम आ जाता है, वहाँ वे अपनेको परम धन्य और कृतकृत्य मानते हैं। यही कारण है कि बड़े-से-बड़ा भय भी उन्हें सन्मार्गसे विचलित नहीं कर सकता। महान्-से-महान् दुःख भी उन्हें प्रभुके पथसे डिगा नहीं सकता—

'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते'

(गीता ६। २२)

प्रह्लादपर मत्त गजराज छोड़े गये, बड़े-बड़े विषधारी सर्पोंसे उसे डसवानेका प्रयत्न किया गया, जादू-टोने किये गये, पर्वतके ऊँचे शिखरोंसे उसे गिराया गया, मायाके द्वारा मारनेकी चेष्टा की गयी, काल-कोठरीमें बंद करके उसमें जहरीली गैस भर दी गयी और वह पर्वतोंके नीचे दबाया गया, परंतु वह टेकका पक्का अटल विश्वासी भक्त न डरा, न मरा और न उसने अपनी टेक ही छोड़ी। हिरण्यकशिपुको हैरान होकर यह कहना पड़ा कि 'यह बालक होकर भी मेरे समीप किस निर्भयतासे बैठा है, मालूम होता है कि यह अत्यन्त सामर्थ्यवान् है।' 'प्रह्लादमें क्या शक्ति थी? उसमें ऐसा कौन-सा अलौकिक बल था कि जिससे वह ऐसा कर सका? उसमें भगवद्भक्ति थी, उसका हृदय भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण था, वह अपनेको सब प्रकारसे परमात्माके हाथोंमें सौंपकर सदाके लिये सब ओरसे निर्भय और निश्चिन्त बन चुका था एवं उसका यह अटल विश्वास था—उसे वास्तवमें ऐसा ही दीखता था कि सारा संसार प्रभुमय है—जगत्‌की प्रत्येक वस्तु मेरे स्वामीका रूप है। इसलिये हिरण्यकशिपुने उसे मारनेके लिये जिन-जिन वस्तुओंका प्रयोग किया, वे सभी उसको ईश्वररूप दिखायी दीं।' इस अवस्थामें ईश्वर अपने भक्तको क्यों मारने लगे, प्रत्युत प्रह्लादके वचनको सत्य करनेके लिये—अपनी सर्वव्यापकता प्रत्यक्ष करा देनेके लिये—निराकार अव्यक्तरूपसे सर्वत्र व्याप्त परमात्मा स्तम्भको चीरकर अद्भुत रूपमें प्रकट हो गये—

प्रेम बड़ो प्रहलादहिको जिन पाहनतें परमेसुर काढ़े।

मीराने हँसते-हँसते जहरका प्याला पी लिया, भक्त हरिदासने हरिनाम पुकारते-पुकारते बेतोंकी मार सहर्ष सह ली और मारनेवालोंके लिये भगवान्‌से क्षमा-प्रार्थना की। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भक्त कायर होते हैं, वे कायरताके कारण सब कुछ सह लेते हैं। कायर मनुष्य कभी सहनशील नहीं हो सकता, वह प्राणोंके भयसे भागता है, परंतु मन-ही-मन बुरा मानता और शाप देता रहता है। भक्तोंका हृदय क्षमा, दया, अहिंसा और प्रेमादि सद्‌गुणोंसे भरा रहता है, इसीसे वे किसीका अनिष्ट नहीं करते, स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरोंका कल्याण चाहते हैं, बुरा करनेवालोंके प्रति भी

भला बर्ताव करते हैं। इसी कारण न समझनेवाले लोग उन्हें दीन और कायर मान बैठते हैं। परंतु वास्तवमें वे बड़े वीर होते हैं। क्षमा, अहिंसा और दया आदि वीरोंके धर्म हैं, कापुरुषोंके नहीं।

आजकल लोग भक्तिका स्वाँग धारण कर लेते हैं, परंतु उनका हृदय नाना प्रकारके भयोंसे व्याकुल रहा करता है। वे भूत-प्रेतोंकी कल्पना कर राह चलते काँप उठते हैं, छूतकी बीमारीके भयसे आत्मीय स्वजनोंकी भी सेवा छोड़कर निष्ठुरताका परिचय देते हैं, समाजके और झूठी इज्जतके भयसे प्रत्यक्ष पापयुक्त प्रथाओंको भी छोड़ना नहीं चाहते, दोष समझकर भी दूषित कार्यके परित्यागमें हिचकते हैं, जेल-जुर्मानेके भयसे अन्याय और अधर्मपूर्ण शासनका समर्थन करते हैं, धन-ऐश्वर्यकी हानिके डरसे सत्य, अस्तेय और अहिंसा आदि दैवी गुणोंका त्याग कर देते हैं और बात-बातमें अत्याचारियों और पापियोंकी चापलूसी करते एवं जान-बूझकर स्वार्थवश उनका पक्ष समर्थन करते हैं, यह सब भक्तिके लक्षण नहीं। भक्त डरकर कभी अपने कर्तव्यसे च्युत नहीं होता, न वह लोभ या भयवश पाप करता है, न किसी अधर्मके त्यागमें हिचकता है, न रोग या प्राणके भयसे सेवा छोड़ता है और न कभी अन्यायका समर्थन करता है। वह तो परमात्माके अभय चरणोंका आश्रय पाकर भयको सदाके लिये भगा देता है, वह नित्य निर्भय होता है, सबके साथ विनयका बर्ताव करना एवं मधुर तथा हितकर वचन बोलना तो उसका स्वभाव बन जाता है; परंतु सत्य कहनेमें वह कभी कालसे भी नहीं डरता। जब मनुष्य मामूली पुलिस अफसर या मजिस्ट्रेटकी शरण लेकर अपनेको निर्भय मान लेता है, तब जिसने कालके भी महाकाल, यमराजके भी भयदाता भगवान्‌के अभय चरणोंकी शरण ग्रहण कर ली है, वह किसीसे क्यों डरेगा? माताकी सुखद गोदमें स्थित बालकको किसका भय और किस बातकी चिन्ता रहती है? जो अपनेको सर्वोपरि 'माता-धाता-पितामह' भगवान्‌का भक्त समझकर भी भयभीत रहते हैं, वे न तो भगवान्‌का प्रभाव जानते हैं और न वे यथार्थमें भगवान्‌के सम्मुख ही हो सकते हैं। भगवान्‌की शरण हो जानेपर तो भयके लिये कहीं जरा-सा भी स्थान नहीं रह जाता। एक बार भी शरण आ जानेवाले भक्तको अभय कर देना तो भगवान्‌का व्रत है—

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० ६। १८। ३३)

सच्चा भक्त अपने किसी अनिष्टकी आशंकासे सन्मार्गका—ईश्वर-सेवाका कदापि त्याग नहीं करता। तन, मन, धन सभी कुछ प्रभुकी ही तो सम्पत्ति है, फिर उन्हें प्रभुके काममें लगा देनेमें अनिष्ट कैसा? यह तो बड़े ही गौरव और आनन्दका विषय है। इसीसे यदि असहाय रोगीकी सेवा करते-करते भक्तके प्राण चले जाते हैं या भूखे-गरीबोंका पेट भरनेमें भक्तकी सारी सम्पत्ति स्वाहा हो जाती है तो वह अपनेको बड़ा भाग्यवान् समझता है।

भगवत्-चिन्तन और भगवन्नाम-स्मरण तो उसके प्राणोंकी क्रियाके सदृश स्वाभाविक बन जाते हैं। भगवत्सेवाके सिवा संसारमें उसका और कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। उसका सोना-जागना, खाना-पीना, उठना-बैठना, कहना-सुनना और जीना-मरना सब भगवान्‌के लिये होता है। वह संसारमें इसीलिये जीवन धारण करता है कि उसके स्वामी भगवान् उसको इस नाम-रूपमें जीवित देखना चाहते हैं। उसको न तो संसारकी कुछ परवा होती है और न वह संसारको छोड़ना ही चाहता है; न उसका भोगोंमें राग होता है और न वह संन्यासका विरोध ही करता है। वह तो अपने स्वामीके इच्छानुसार बर्तता है, प्रभुके नचाये नाचता है, यन्त्रीके हाथका यन्त्र बना रहता है। वह मानापमान या सुख-दु:खकी ओर ध्यान नहीं देता, उसके अपमान या दु:खमें स्वामीका खेल—स्वामीकी लीला ठीक होती है तो उसको उन्हींमें आनन्द आता है। उसके मान या सुखसे प्रभुकी लीलाका अभिनय पूर्ण होता है तो वह मान, सुखको धारण कर लेता है। न तो वह भोगियोंकी भाँति मान या सुखके लिये स्पृहा करता है और न वह संन्यासियोंकी भाँति मान या सुखका विरोध ही करता है। जिस बातसे, जिस खेलसे प्रभु प्रसन्न होते हैं, जिस आचरणसे प्रभुकी लीलामें पूर्णता आती है, प्रभुके गुप्त संकेतसे वह लज्जा-भय या हानि-लाभका विचार छोड़कर उसीमें लग जाता है। वह उसीमें अपूर्व आनन्दका अनुभव करता है, इस आनन्दके सामने संसारके भोगोंकी तो बात ही कौन-सी है, वह मोक्षसुखको भी तुच्छ समझता है। मुक्ति देनेपर भी वह उसे ग्रहण नहीं करता, उसे तो स्वामीके इच्छानुसार उसकी सेवामें ही परम सुख मिलता है—'**दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।**' ऐसा भक्त प्राणिमात्रका सहज मित्र होता है, वह अपने स्वार्थवश भोग, सुख, साम्राज्य या स्वर्गके लिये किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करता, किसीको किंचित् भी कष्ट नहीं पहुँचाता। परंतु प्रभुके लिये, प्रभुकी लीलाके लिये, प्रभुके इंगितसे धर्मयुद्धमें वह विपक्षियोंसे लोहा

लेनेको, मरने-मारनेको भी सहर्ष प्रस्तुत रहता है।

काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, भय, मान, स्वार्थ, वैर, हिंसा, प्रमाद, आलस्य आदि दुर्गुण उसके हृदयसे समूल नष्ट हो जाते हैं और दया, अहिंसा, क्षमा, शूरता, नम्रता, सेवा, पवित्रता, निःस्वार्थता, प्रेम, सत्य, ब्रह्मचर्य, शम, दम, भोगोंमें अनासक्ति, वैराग्य, प्रभुभावसे सबमें आसक्ति, अमानिता, प्रभुका अभिमान, सन्तोष एवं समता आदि धर्म उसमें भक्तिके आनुषंगिक गुणोंके रूपमें स्वभावसे ही प्रकट हो जाते हैं। उत्साह, तत्परता, श्रद्धा, विश्वास, शान्ति और आनन्द आदि उसके नित्य सहचर रहते हैं। वह न किसीको दबाता है, न किसीसे दबता है, न किसीको डराता है, न किसीसे डरता है और न किसीको उद्विग्न करता है, न किसीमें उद्वेगको प्राप्त होता है।

वह सबका सुहृद्, सबका आत्मीय, सबका बन्धु और सबका सच्चा सेवक होता है। वह सत्यका स्वरूप, धैर्यका सागर, क्षमाका धाम, तेजका पुंज, निर्भयताकी मूर्ति और प्रेमका भण्डार होता है। उसके पवित्र और आदर्श व्यवहारसे प्रभावान्वित होकर जगत्के मनुष्योंका हृदय स्वभावसे ही भगवान्की ओर झुक जाता है। ऐसा भक्त ही यथार्थमें भगवान्का अत्यन्त प्रिय और विश्वासी सन्देशवाहक होता है। वह नित्य भगवान्में निवास करता है और भगवान् सदा उसके हृदय-मन्दिरमें विराजते हैं—

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

भगवत्कृपा और भक्त

बहुत-से लोगोंकी ऐसी धारणा है कि जब भगवान्की कृपा होती है तब धन-ऐश्वर्य, स्त्री-पुत्र, मान-कीर्ति और शरीरसम्बन्धी अनेकानेक भोगोंकी प्राप्ति होती है। जिन लोगोंके पास भोगोंका बाहुल्य है—बस, केवल उन्हींपर भगवान्की कृपा है या भगवत्कृपा उनपर है कि जिनकी विपत्तिको भगवान् टाल देते हैं। भगवत्कृपाका इस प्रकार क्षुद्र अर्थ करनेवाले लोग बड़े ही दयाके पात्र हैं, ऐसे लोगोंको भगवत्कृपाका यथार्थ अनुभव नहीं है।

वास्तवमें सम्पत्ति या विपत्तिसे भगवान्की कृपाका पता नहीं लग सकता, भगवत्कृपा नित्य है, अपार है और संसारके समस्त प्राणियोंपर उस कृपा-सुधाकी अनवरत वर्षा हो रही है। जो लोग उसका यथार्थ अनुभव न कर केवल विषयोंकी प्राप्तिको ही भगवत्कृपा समझते हैं, वे ही लोग विषयोंके नाश या अभावमें भगवान्पर पक्षपात, अन्याय और कृपालु न होनेका कलंक मँढ़ा करते हैं। सच्ची बात तो यह है कि भगवान्का कोई भी विधान कृपासे शून्य नहीं होता, कृपा करना तो उसका साधारण स्वभाव है। पापी प्राणीके दण्ड-विधानमें भी वह अपनी कृपाका समावेश कर देता है। यह दूसरा प्रश्न है कि उसकी कृपाका स्वरूप कैसा होता है? इसमें कोई सन्देह नहीं कि कृपाका भीतरी स्वरूप तो सदा ही सरस, मनोहर और मधुर होता है; परंतु बाहरसे वह कभी '**सुन्दरं सुन्दराणाम्**' (सुन्दर-से-सुन्दर) स्वरूपमें दर्शन देती है तो कभी '**भीषणं भीषणानाम्**' (भयानक-से- भयानक) रूपमें प्रकट होती है। किसी समय उसका रूप '**मृदूनि कुसुमादपि**' (पुष्पसे भी अधिक कोमल होता है) तो किसी समय '**वज्रादपि कठोराणि**' (वज्रसे भी अधिक कठोर होता है।) जिन विवेकी और कल्याणकामी पुरुषोंने विषयोंकी प्राप्तिके लिये भगवान्को साधन नहीं बना रखा है, जो सच्चे त्यागी और प्रेमी हैं वे तो इन दोनों रूपोंमें उस 'अनूप-रूप' की अनोखी अनुकम्पाका दर्शन कर कृतार्थ होते हैं। परंतु जो अल्पबुद्धि प्राणी केवल आपात-रमणीय विषयोंको ही एकमात्र सुखका साधन मानते हैं, वे अपरिणामदर्शी और अविवेकी मनुष्य भगवत्कृपाके मनोहर रूपको देखकर तो अत्यन्त आह्लादित होते हैं और उस भीषण रूपको देखकर भयसे काँप उठते हैं।

किसी अबोध बालकके एक जहरीला फोड़ा हो गया, असहनीय वेदना है, बालककी माताने डॉक्टरको बुलाया, डॉक्टरने चीरा लगवानेका परामर्श देते हुए कहा कि यदि बहुत शीघ्र शल्यक्रिया (ऑपरेशन) नहीं की जायगी तो फोड़ेका विष समस्त शरीरमें फैल जायगा और ऐसा होनेसे बालकके मर जानेकी सम्भावना है। माताने बालकका हित समझकर चीरा लगवाना स्वीकार किया, डॉक्टर साहेब चीरा देने लगे। उस समय उस अपरिणामदर्शी अबोध बालकने शल्यक्रियाकी क्षणिक वेदनासे व्यथित होकर बड़े जोर-जोरसे रोना आरम्भ कर दिया और चीरा दिलानेवाली माताको प्रत्यक्ष शत्रु समझकर बुरी-भली कहने लगा।

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥

माताने बालकके रोने और बकनेकी कोई परवा

नहीं की, उसे और भी जोरसे पकड़ लिया, शल्यक्रिया हो गयी, चीरा लगाते ही अंदरका सारा विष बाहर निकल पड़ा, बालककी समस्त पीड़ा मिट गयी और वह सुखपूर्वक सो गया।

बालक अज्ञानसे चीरा लगवानेमें रोता है और समझदार लोग जान-बूझकर चीरा लगवाते हैं। बस, इसी दृष्टान्तके अनुसार—

तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि॥

भगवान् भी अपने प्यारे भक्तके समस्त आन्तरिक दोषोंको निकालकर बाहर फेंक देनेके लिये समय-समयपर शल्यक्रिया (ऑपरेशन) किया करते हैं, उस समय सांसारिक संकटोंका पार नहीं रहता, परंतु इस सारी रुद्र-लीलामें कारण होता है केवल एक 'भक्तकी आत्यन्तिक हित-कामना!' जिस प्रकार दयामयी जननी अपने प्यारे बच्चेके अंगका सड़ा हुआ अंश कटवाकर फेंक देती है, उसी प्रकार भगवान् भी अपने प्यारे बच्चोंकी हितकामनासे उनके अंदरके विषय-विषको निकालकर फेंक दिया करते हैं। ऐसी अवस्थामें परिणामदर्शी विश्वासी भक्तोंको तो आनन्द होता है और विषयासक्त अज्ञानी मनुष्य रोया-चिल्लाया करते हैं।

जिस समय भगवान् वामनदेवने अनुग्रहपूर्वक विराट्-स्वरूप धारणकर भक्त बलिको बाँध लिया और इन बन्धनोंको बलिने भगवान्का परम अनुग्रह माना, उस समय बलिके पितामह परम भक्त प्रह्लादजी वहाँ आये। भगवत्कृपाका मर्म जाननेवाले प्रह्लादजीने आते ही भगवान्से कहा कि—

'हे भगवन्! आपने ही इसको यह समृद्धिसम्पन्न इन्द्रपद दिया था और इस समय आपने ही इसको हर लिया, मेरी समझसे आपने इसे राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट करके इसपर बड़ा अनुग्रह किया। लक्ष्मीको पाकर मनुष्य अपनेको भूल जाता है। जिस लक्ष्मीसे विद्वान् और संयमी पुरुष भी मोहित हो जाते हैं, उस लक्ष्मीके रहते हुए कौन पुरुष आत्मतत्त्वको यथार्थरूपसे जान सकता है? अतएव आपने हमपर बड़ी दया की।' यह है भक्तके विश्वासकी वाणी, यह है अशुभमें भी शुभका दर्शन और यह है भक्तोंका भगवान्पर दृढ़ भरोसा!

भगवान्ने भी प्रह्लादके इस कथनका समर्थन करते हुए कहा कि 'मैं जिसपर कृपा करता हूँ उसका धन-वैभव पहले हर लेता हूँ; क्योंकि मनुष्य धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्यके मदसे मतवाला होकर समस्त जीवोंका और मेरा निरादर करता है।'

जिस धन-सम्पत्तिसे इतना अनर्थ होता है, केवल उसीकी प्राप्तिमें परमात्माकी कृपा मानना कितनी बड़ी भूल है! परंतु उपर्युक्त भगवान्के वचनोंसे कोई यह समझकर न काँप उठे कि भगवान् तो अपने भक्तोंके धन-ऐश्वर्यका नाश ही किया करते हैं। यह बात नहीं है! विभीषणको लंकाका अटल राज्य, ध्रुवको अचल सम्पत्ति और दरिद्र सुदामाको अतुल ऐश्वर्य भगवान्ने ही तो दिया था। जैसी अवस्था होती है वैसी ही व्यवस्था की जाती है!

एक सद्वैद्य रोगीके रोगका निदान कर उसे वही औषध देता है जो उसके रोगका नाश करनेवाली होती है, वह इस बातको नहीं देखता कि दवा कड़वी है या मीठी; रोगीके मनके अनुकूल है या प्रतिकूल, रोगीकी इच्छाकी वह कोई परवा नहीं करता। रोगी कुपथ्य चाहता है तो वैद्य उसे डाँट देता है, उसके बकने-झकनेकी ओर कोई खयाल नहीं करता और उसके मनके सर्वथा विपरीत उसके लिये कड़वे क्वाथकी व्यवस्था करता है, वह दूसरे दवा बेचनेवालोंकी भाँति मूल्य प्राप्त होते ही मुँहमाँगी दवा नहीं दे देता, उसे चिन्ता रहती है रोगीके हिताहितकी। उसका उद्देश्य होता है केवल 'रोगका समूल नाश कर देना!' इसी प्रकार भगवान् भी अपने भक्तोंमेंसे जिसके जैसा रोग देखते हैं उसके लिये वैसी ही औषधकी व्यवस्था करते हैं। अन्यान्य देवताओंकी भाँति मुँहमाँगा वरदान नहीं दे देते! उसकी इच्छा क्या है, इसका कोई खयाल नहीं करते, बल्कि कोई-कोई समय तो उसके मनके सर्वथा विपरीत कर देते हैं। एक बार भक्तराज नारदने मायासे मोहित होकर विवाह करना चाहा, भगवान्से प्रार्थना भी की, परंतु भगवान् जानते थे कि इससे इसका अहित होगा, यह भव-रोगीके लिये कुपथ्य है, इसलिये विवाह नहीं होने दिया। नारदको क्रोध आ गया, उन्होंने झुँझलाकर भगवान्को बहुत बुरा-भला कहा, शाप दे दिया। भगवान्ने भक्तके शापको सहर्ष ग्रहण किया, परंतु उसे कर्तव्यच्युत नहीं होने दिया!

रोगमुक्त होकर मनुष्य जब बलको प्राप्त कर लेता है तब उसे सभी कुछ खाने-पीनेका अधिकार मिल जाता है, इसी प्रकार भवरोगसे मुक्त होकर भगवत्-प्राप्ति कर लेनेपर उसको जब भगवान्के सर्वस्वका स्वामित्व प्राप्त हो जाता है तब फिर उसे किस बातकी कमी रहती है और कौन-सी बातमें बाधा रहती है! मनुष्य भूलकर सांसारिक धन-ऐश्वर्यके लिये लालायित रहता है। यदि चेष्टा करके वह उस अतुल ऐश्वर्यशाली

परमात्माको—जिसके एक अंशमें यह सारे ऐश्वर्योंसे भरा हुआ संसार महान् समुद्रमें एक बालूके कणके समान स्थित है—प्राप्त कर ले तो फिर उसे समस्त पदार्थ आप-से-आप प्राप्त हो जायँ!

राजा बलिने भगवत्कृपाके विकट स्वरूपसे न घबड़ाकर उसका सादर स्वागत किया। बलिका समस्त धन-ऐश्वर्य हरण कर लिया गया। अग्नि-परीक्षा हुई, परंतु उस परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके बाद भक्त बलिको उस रमणीय और समृद्धिसम्पन्न सुतललोकका राज्य दिया गया कि जिसकी देवता भी अभिलाषा करते हैं, जहाँपर भगवत्कृपासे कभी आधि-व्याधि, भ्रान्ति, तन्द्रा, पराभव और किसी प्रकारका भी भौतिक उपद्रव नहीं होता। इतना ऐश्वर्य देकर ही भगवान् चुप नहीं हो गये, उन्होंने बलिको सावर्णि-मन्वन्तरमें इन्द्र होनेके लिये वर दिया और प्रह्लादसे बोले कि 'वत्स प्रह्लाद! तुम अपने पौत्रसहित सुतललोकमें जाकर जातिके लोगोंको सुख पहुँचाते हुए आनन्दसे रहो, वहाँ तुम मुझको सदा गदा हाथमें लिये हुए बलिके द्वारपर सब समय देखोगे।' यों बलिके द्वारपर द्वारपाल होना स्वीकार किया और अन्तमें उसको अपना परमधाम प्रदान किया, क्या यह परम अनुग्रह नहीं है? भगवान्ने हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु, रावण-कुम्भकर्ण और शिशुपाल-दन्तवक्त्रका क्रमश: चार बार अवतार धारण करके वध किया। किसलिये? उनपर प्रेम था, उनपर कृपा करनी थी इसलिये! ऋषिके शापसे भ्रष्ट अपने द्वारपाल जय-विजयको शापसे मुक्त करनेके लिये! मृत्युसे अधिक भयानक बात और क्या हो सकती है। परंतु भगवान्के द्वारा होनेवाली मृत्युमें भी उनकी कृपा भरी हुई होती है। दुष्टोंका नाश भगवान् क्यों करते हैं? उनके उद्धारके लिये—उनको पापोंसे मुक्तकर अपने सुख-शान्तिमय परमधाममें पहुँचानेके लिये, भक्तगण दिव्य-दृष्टिसे इसको देख पाते हैं।

यह कोई नियम नहीं है कि भगवान्के भक्तपर कोई सांसारिक कष्ट न आवे या उसे सांसारिक सुख सर्वथा ही न प्राप्त हो। समय-समयपर दोनोंकी ही कर्मानुसार प्राप्ति होती है, परंतु दोनोंमें ही भगवत्कृपाका विलक्षण समावेश रहता है। इस कृपाका यथार्थ दर्शन उन्हीं भाग्यवानोंको होता है जो सुख-दु:खमें समचित्त होते हैं और जो परमात्मासे कुछ भी सांसारिक वस्तु चाहकर उसकी अपार महिमा और अपनी भक्तिमें दोष नहीं आने देते। भक्त अपनी भक्ति और प्रेमिक अपने प्रेमसे क्या चाहते हैं? वही भक्ति और प्रेम! वास्तवमें ऐसे भक्तोंके हृदयमें भगवत्प्रेमके प्रति ऐसा प्रबल आकर्षण होता है कि वे उसको पानेके लिये किसी भी विपत्तिको विपत्ति नहीं समझते!

जो कभी संसारकी ओर ताकता है और कभी परमात्माकी ओर, वह पूरा प्रेमी नहीं है। उसको अभी भगवत्-प्रेमकी प्रबल उत्कण्ठा नहीं हुई। संसार रहे या जाय, घर उजड़े या बसे, किसी बातकी भी परवा नहीं, परंतु प्रेममें कोई बाधा न आवे। यही सच्ची लगन है।

माता यदि छोटे शिशुको मारती है तो भी वह उसीकी गोदमें घुसता है और यदि वह पुचकारती है तब भी वह उसीके पास रहता है, माताकी गोदको छोड़कर शिशुको और कहीं चैन नहीं पड़ता। इसी प्रकार भक्तको भी अपने भगवान्को छोड़कर और कहीं विश्राम नहीं मिलता। वह मारे, चाहे प्यार करे। भक्त एक क्षण भी उसके बिना रहना नहीं चाहता। सम्भव है कि भक्तपर विपत्तियोंके बादल चारों ओरसे मँडराने लगें—यह भी सम्भव है कि उसका समस्त जीवन केवल सांसारिक विपत्तियोंमें ही बीते और एक क्षणभरके लिये भी विपत्तिका अभाव न हो तथापि उसका मन उस प्रेमानन्दमें इतना मग्न रहता है कि उसको भूलकर भी भगवत्कृपाके सम्बन्धमें कभी किंचित् भी सन्देह नहीं होता!

चातकपर यदि उसका प्रियतम मेघ पत्थरोंकी वर्षा करे तो क्या वह मेघसे प्रेम करना छोड़ देता है? क्या उसके प्रेममें कुछ भी अन्तर पड़ता है? गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥

भयानक वज्रपातसे उसके प्राण भले ही चले जायँ, परंतु प्रेमी चातक दूसरी तरफ नहीं ताकता। इसी प्रकार भक्त भी नित्य निश्चिन्त होकर रहता है 'उसे न तो दु:खोंमें उद्वेग होता है और न उसको सुखोंकी स्पृहा रहती है।' भगवान् कहते हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १७)

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है और न किसी प्रकारकी आकांक्षा करता है, जो शुभाशुभ दोनोंका त्यागी है वह भक्तिमान् (पुरुष) मुझको प्रिय है।'

इस प्रकार भक्त, जैसे सम्पत्तिमें उसीकी मूर्ति देखकर सन्देहशून्य रहता है वैसे ही विपत्तिमें भी उसीकी मनमोहिनी मधुर छबिका दर्शन कर नि:संशय रहता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि लौकिक दृष्टिसे समय-समयपर भगवत्कृपाका स्वरूप बड़ा ही भीषण होता है। प्रह्लाद अग्निमें डाला जाता है, मीराको विषका प्याला दिया जाता है, सजनके हाथ काटे जाते हैं और हरिदासकी पीठसे बेतोंकी मारसे खून बहने लगता है, परंतु धन्य है उन प्रेमी और प्रेमके उपासक भक्तोंको, कि जो प्रत्येक अवस्थामें शान्त और निश्चिन्त देखे जाते हैं। उनकी स्थिरतामें तिलभर भी अन्तर नहीं पड़ता। कितने प्रगाढ़ विश्वास और भरोसेकी बात है! एक जरा-सा काँटा गड़ जानेपर चिल्लाहट मच जाती है—अग्निकी जरा-सी चिनगारीका स्पर्श होते ही मन तलमला उठता है, परंतु वे भक्तगण, जो परमात्माके प्रेमके लिये अपने-आपको खो चुके हैं— बड़े चावसे सारी यातनाओं और क्लेशोंको सहते हैं! उन ईश्वरगतप्राण भक्तोंको प्रेमके लिये न शूलीपर चढ़नेमें भय लगता है और न धधकती हुई अग्निमें कूदनेमें ही। प्रेमके लिये मस्तकको तो वे हाथोंमें लिये फिरा करते हैं।

प्रेम न बाड़ी नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, शीश देइ लै जाय॥

लोग कहते हैं 'देखो बेचारेको कितना कष्ट हो रहा है, बेचारेने सारे जीवन रामका नाम लिया, परंतु कभी सुखकी नींद नहीं सोया! आजकल भगवान्‌के यहाँ न्याय नहीं रहा। यह तो बेचारा चौबीसों घंटे भजन करता है और इसीपर दुःखोंके पहाड़ टूटकर पड़ते हैं!'

लोगोंकी ऐसी भोली बातोंको सुनकर वे भक्त— विपत्ति-सम्पत्तिको लात मारकर ऊँचे उठे हुए भक्त— मन-ही-मन हँसते हैं और उनपर दया करते हैं।

वे सांसारिक लोग इस बातको नहीं जानते कि भगवान् कभी किसीको कष्ट पहुँचाना नहीं चाहते। भक्तके सामने भगवान् जो दुःखोंका रूप प्रकट करते हैं सो केवल उनके कल्याणके लिये ही करते हैं। यदि केवल सुखमें ही भगवान्‌का रूप दीख पड़ता हो तो क्या दुःखमें उनका अभाव है? यदि सुखमें उनकी व्यापकता है तो दुःखमें भी है! कोई भी ऐसी अवस्था या कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं कि जिसमें वह नहीं हों। इसी बातको पूर्णरूपसे प्रकट करनेके लिये भगवान् अपने भक्तोंके सामने दोनों स्वरूप प्रकट करते हैं। जब भक्त इस पहेलीको समझ लेता है तब वह सब तरहसे और सब ओरसे भगवान्‌को पहचान लेता है। साधारण लोग एक तरफसे देखते हैं, इसीसे वे सुखकी मूर्तिको देखकर हँस उठते हैं और दुःखकी मूर्तिको देखकर काँप उठते हैं। परंतु जो भक्त हैं वे दोनोंमें ही उनको देख पाते हैं। इसीसे उनको न तो दुःखसे द्वेष है और न सुखसे अधिक अनुराग! दाहिना और बायाँ दोनों उसीके तो हाथ हैं, भक्त किसी भी अवस्थामें इस ध्रुवसे अपनी दृष्टि नहीं हटाते, बल्कि वे तो दूसरे लोगोंको दुःखोंसे घबड़ाया हुआ जानकर भगवान्‌से उलटे यह प्रार्थना करते हैं—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

(श्रीमद्भा० ९। २१। १२)

'हे नाथ! मैं (आप) परमेश्वरसे अणिमादि आठ सिद्धियोंसे युक्त गति या मुक्तिको नहीं चाहता, मेरी यही प्रार्थना है कि मैं ही सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर दुःख भोग करूँ, जिससे उन सबका दुःख दूर हो जाय।'

परम भक्त प्रह्लादने कातरकण्ठसे कहा था कि 'हे प्रभो! मेरा चित्त तो आपके चरित्रगानरूपी सुधा-समुद्रमें निमग्न है, मुझे संसारसे कोई भय नहीं, परंतु मैं इन इन्द्रियोंके सुखोंमें लिप्त और भगवत्-विमुख दीन असुर बालकोंको छोड़कर अकेला मुक्त होना नहीं चाहता!'

यह है भक्तोंकी वाणी! संसारभरका दुःख वे अपने मस्तकपर उठानेको प्रस्तुत हैं। दीन-दुःखियोंका उद्धार हुए बिना अकेले अपना उद्धार नहीं चाहते, कष्ट देनेवालेके लिये भी भगवान्‌से क्षमा चाहते हैं, अपने कष्टोंकी कोई परवा नहीं! परवा क्यों हो? उन्हें तो कष्टोंकी भीषण मूर्तिके अंदर उस सलोने श्यामसुन्दरकी नव घनश्याममूर्तिका प्रत्यक्ष दर्शन होता है न! वे तो सब ओरसे अपना सारा अपनापन उसे सौंपकर उसकी कृपासुधाकी अनन्त और शीतल धारामें अवगाहन कर कृतार्थ हो चुके हैं और क्षण-क्षणमें उन्हें भगवत्कृपाके दिव्य दर्शन होते हैं। इसीसे वे समस्त सुख और दुःखभारको केवल भगवत्प्रसाद समझकर सानन्द ग्रहण करते हैं! कोई स्थिति उन्हें विचलित नहीं कर सकती, वे उस परम लाभको पाकर नित्य उसीमें रमण करते हुए प्रेमके परमानन्दमें निमग्न रहते हैं! भगवान्‌ने कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २२)

'(भक्त) परमात्माकी प्राप्तिरूप लाभको पाकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और भगवत्प्राप्तिरूप अवस्थामें स्थित (वह) भक्त बड़े-से-बड़े दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।'

ईश्वरभक्त

ईश्वरभक्त निर्भय होता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण जगत्में अपने सच्चे प्रेमी सखाकी मनोहर मूर्तिका दर्शन करता हुआ सर्वदा उसे गले लगानेको तैयार रहता है!

ईश्वरभक्त अदम्भी होता है, क्योंकि वह ईश्वरको घट-घटव्यापी देखता है। इससे उसके अंदर-बाहर भेद नहीं रह सकता!

ईश्वरभक्त अक्रोधी होता है, क्योंकि वह सारे जगत्में अपने एक प्राणारामको देखता है, फिर किसपर कैसे क्रोध करे?

ईश्वरभक्त निरभिमानी होता है, क्योंकि वह अपना सारा अभिमान अपने प्रभुके चरणोंमें समर्पण कर चुकता है; उसके पास अभिमान बचता ही नहीं।

ईश्वरभक्त अकामी होता है, क्योंकि पूर्णकाम परमेश्वरकी प्राप्तिसे उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं!

ईश्वरभक्त निर्लोभी होता है, क्योंकि उसकी दृष्टिमें अपने एक श्यामसुन्दर सलोने साँवरेके अतिरिक्त अन्य कोई लोभनीय वस्तु रहती ही नहीं!

ईश्वरभक्त सदा परम सुखी रहता है, क्योंकि वह परमसुखरूप परमात्मामें अपना अस्तित्व मिलाकर वैसा ही बन जाता है!

ईश्वरभक्त निर्मोही होता है; क्योंकि परम मायावीकी शरणागतिसे उसकी विद्याका मर्म समझनेके कारण मायाका कोई कार्य उसे मोहित नहीं कर सकता।

ईश्वरभक्त निरहंकारी होता है, क्योंकि वह अपने ईश्वरके 'अहम्' में अपने 'अहम्' को सर्वथा मिटा देता है!

ईश्वरभक्त परम प्रेमी होता है, क्योंकि वह परमात्माके परम प्रेमी स्वभावको पा चुकता है!

भगवत्प्रेम

जो लोग भगवान्की खोजमें निकलते हैं, जिन्हें भगवान्से मिलनेकी अत्यन्त उत्कण्ठा होती है, वे राहमें बड़े भारी इन्द्रिय-सुखोंको देखकर रुकते नहीं और महान् दुःखोंको देखकर घबड़ाते नहीं। वे तो अटल धैर्यके साथ बिना दूसरी ओर ताके चुपचाप अपनी राह चले ही जाते हैं।

जो सुख पाकर उनमें रम जाते हैं और दुःखोंसे घबड़ाकर आगे बढ़ना छोड़ देते हैं, वे भगवान्के लिये वास्तवमें आतुर नहीं हैं। सच्ची बात यह है कि सांसारिक दुःखोंसे बचने और सांसारिक सुखोंकी खोजके लिये ही वे निकले हैं, भगवान्के लिये नहीं।

जिनको भगवान्की लगन लग जाती है, वे तो उसीके लिये मतवाले हो जाते हैं, उन्हें दूसरी चर्चा सुहाती ही नहीं, दूसरी बात मन भाती ही नहीं, विषय-सुखकी तो बात ही क्या है, वे ब्रह्माके पदको भी नहीं चाहते।

जिनको भगवान्से प्रेम हो गया है और जो अपने उस परम प्रेमीके चिन्तनमें ही सदा चित्तको लगाये रखते हैं वे सारे त्रैलोक्यका वैभव मिलनेपर भी आधे क्षणके लिये भी चित्तको प्रियतमके चिन्तनसे नहीं हटाते। ऐसा भागवतकार कहते हैं।

जो भगवान्के प्रेमी हैं, उन्हें यदि भगवत्प्रेमके लिये नरकयन्त्रणा भी भोगनी पड़े तो उसमें भी उन्हें भगवत्-इच्छा जानकर आनन्द ही होता है। उन्हें नरक-स्वर्ग या दुःख-सुखके साथ कोई सरोकार नहीं। वे तो जहाँ, जिस अवस्थामें अपने प्रियतम भगवान्की स्मृति रहती है, उसीमें परम सुखी रहते हैं, इसीसे देवी कुन्तीने दुःखका वरदान माँगा था।

भगवान्के प्रेमियोंकी दृष्टिमें यह दुनिया इस रूपमें नहीं रहती। उनके लिये सारी दुनिया ही बदल जाती है, उन्हें दीखता है सब कुछ भगवान्का, सब कुछ भगवान् और सब कुछ भगवान्की लीला। फिर वे किसमें, कहाँ और क्योंकर सुख-दुःख समझें?

गीतामें भगवान् कहते हैं 'जो सर्वत्र मुझको देखता है और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं अलग नहीं होता और वह मुझसे अलग नहीं होता।'

बुद्धिवाद और भक्ति

इस स्थूल बुद्धिवादके अतिशय विस्तारकालमें बुद्धिवादके विरुद्ध कुछ कहना अवश्य ही बुद्धिकी मन्दता समझी जायगी, परंतु अपने विचार—अपनी मन्दातिमन्द बुद्धिके अनुभूत विचार, जिनका भक्तिमार्गसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, केवल भक्ति प्रेमी पाठक-पाठिकाओंके सम्मुख उपस्थित कर देना कर्तव्य समझकर ही यह साहस किया गया है। बुद्धिवादके विरोधका अर्थ बुद्धिका सर्वथा विरोध नहीं समझना चाहिये। भगवद्भक्तिमें जिस बुद्धिकी आवश्यकता है, उस बुद्धिका व्यवहार करना ही बुद्धिमानी है, परंतु जहाँ बुद्धिके अनर्थक विस्तारसे अन्त:करणमें विपरीत भाव प्रादुर्भूत होकर सत्त्वमुखी श्रद्धाके स्रोतको सुखाने लगें, वहाँ बुद्धिमान् भक्तोंके लिये वैसी बुद्धिको नतमस्तक होकर नमस्कार करके श्रद्धादेवीका आश्रय ग्रहण करना ही सर्वथा श्रेयस्कर होता है। स्थूल बुद्धिवादसे मेरा मतलब यहाँ तर्कसे है। भक्तिमें तर्क एक बहुत बड़ी बाधा है। जितना अन्धश्रद्धासे गिरनेका भय है, परमार्थके मार्गमें उससे कहीं अधिक भय अतिरिक्त तर्कशीलतासे है। तार्किक मनुष्य बालकी खाल खींचनेमें ही जीवनका अमूल्य समय पूरा कर देते हैं, वह परमार्थके किसी भी पथपर आरूढ़ नहीं रह सकते। परंतु श्रद्धालु यात्री उतने ही समयमें अपने लक्ष्यस्थानका बहुत-सा रास्ता तय कर लेते हैं।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि एक आमके बगीचेमें दो मनुष्य गये, वहाँ पहुँचनेपर एक तो बगीचेकी जमीन नापकर और पेड़ गिनकर उसके मूल्यका अनुमान लगाने लगा और दूसरा मालीकी आज्ञासे एक जगह बैठकर चुपचाप चुने हुए आम खाने लगा। बतलाइये, इन दोनोंमें बुद्धिमान् कौन है, पेड़ गिननेवाला या आम खानेवाला? उत्तर मिलता है कि आम खानेवाला ही बुद्धिमान् है; क्योंकि वही सारग्राही है और तृप्ति भी उसीकी होती है। इसी प्रकार श्रद्धापूर्वक भगवान्का भजन करनेसे ही मनुष्यको यथार्थ आनन्द-लाभ होता है। शास्त्रोंके अनवरत अध्ययन करनेसे, शास्त्रोंकी शाब्दिक परीक्षाओंमें स्थूल बुद्धिबलके द्वारा उत्तीर्ण होनेसे या तर्कजालमें फँसाकर सीधे-सादे भले आदमियोंको बादमें परास्त करनेसे यथार्थ सत्यकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। सत्यका अनुसन्धान जिस सूक्ष्मबुद्धिसे होता है, वह तर्कसे कदापि नहीं मिलती, उसकी प्राप्ति तो निर्मल हृदयकी सात्त्विकी श्रद्धा और भगवत्-शरणागतिसे ही होती है; क्योंकि वह ईश्वरीय बुद्धि ईश्वर-कृपासे ही मिलती है। भगवान्के द्वारा यह बुद्धि किसीको मिलती है, सो भगवान्के ही शब्दोंमें सुनिये—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। ९-१०)

'जो लोग मुझमें ही अपना चित्त लगाये रखते हैं, मुझको ही अपना जीवन अर्पण कर देते हैं, नित्य परस्पर समझते और समझाते हुए मेरी ही चर्चा करते हैं, उसीमें संतुष्ट रहते हैं और मेरे ही प्रेममें रमते हैं, उन निरन्तर मुझमें लगे हुए प्रेमपूर्ण हृदयसे मुझे भजनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिसके बलसे वे मुझे अनायास ही प्राप्त होते हैं।'

हमलोगोंको वास्तवमें इसी बुद्धियोगकी प्राप्ति करनी चाहिये। यही सर्वोच्च कला और सर्वश्रेष्ठ विज्ञान है; क्योंकि इसके बिना हम यथार्थ सत्यको कभी उपलब्ध नहीं कर सकते। यथार्थ सत्यकी उपलब्धिके बिना परम सुख कदापि नहीं मिल सकता। संसारके कला-कौशल और जड-वैज्ञानिक आविष्कारोंके विस्तारसे हम अपनी इहलौकिक सुख-समृद्धिकी कितनी ही वृद्धि क्यों न समझ लें, परंतु मरणशील जीवनमें उस सुखका मूल्य ही क्या है? मृत्यु निश्चित है और मृत्युके साथ ही यहाँकी सारी सुख-समृद्धि तत्काल स्वप्नवत् विलीन हो जाती है। उस समय जो भयानक मर्मवेदना होती है, उस मृत्युयन्त्रणासे हमें यहाँका कोई भी कला-कौशल या विज्ञान कभी नहीं बचा सकता। एक महात्माने एक दृष्टान्त कहा था कि—

एक समय कई कलाओंमें कुशल एक नवशिक्षित बाबू नावमें बैठकर नदी पार कर रहे थे। उन्होंने सुनील आकाशकी ओर देखकर केवटसे कहा, 'भाई! तुम ज्योतिष पढ़े हो?' उसने कहा, 'नहीं, मैंने तो कभी नाम भी नहीं सुना।' बाबूने कहा, 'तब तो तुम्हारे जीवनका एक चौथाई भाग यों ही गया।' कुछ देर बाद नदीतटके सुन्दर सुहावने हरे-भरे खेतों और वृक्षोंको देखकर प्रफुल्लित मनसे बाबूने फिर पूछा, 'क्यों भाई केवट! तुमने वनस्पति-विद्या पढ़ी या नहीं?' उसने कहा, 'नहीं!' बाबूने कहा, 'तब तो तुम्हारा आधा जीवन व्यर्थ गया।' कुछ समय पश्चात् नदीकी वेगवती धाराओंको देखकर बाबू फिर कहने लगे, 'अच्छा, तुम गणितशास्त्र

तो पढ़े ही होगे?' केवटने कहा, 'बाबूजी! मैं तो कोई शास्त्र नहीं पढ़ा, नदीमें नाव चलाकर अपना पेट भरता हूँ।' बाबूने उसे नितान्त मूर्ख समझकर घृणासे कहा, 'तुम मूर्खोंको इन विद्याओंका क्या पता? तुम्हारे जीवनके तीन भाग यों ही नष्ट हो चुके।' इस तरह बातचीत हो रही थी कि अकस्मात् तूफान आ गया, नदीकी तरंगें उछल-उछलकर आसमानसे बातें करने लगीं, नैया डगमगाने लगी, देखते-देखते नावमें पानी भर आया, केवट तुरंत जलमें कूद पड़ा और तैरने लगा। बाबू घबड़ाये, इच्छा न होनेपर भी उनके मुखसे 'भगवान्! बचाओ' ये शब्द निकल ही गये! केवटने तैरते हुए पूछा, 'बाबूजी! क्या आप तैरना नहीं जानते?' बाबूने कहा, 'नहीं!' केवटने सहानुभूतिके साथ कहा, 'बाबू! तब तो गजब हो गया, आपका सारा ही जीवन नष्ट हुआ, भगवान्‌को याद कीजिये।'

सारांश यह कि सब विद्याओंमें निपुण होनेपर भी जैसे तैरना न जाननेसे मनुष्यको नदीगर्भमें डूबना पड़ता है वैसे ही संसारकी कोई भी कला या शिक्षा हमें इस दुःखसागरसे यथार्थमें कभी नहीं बचा सकती। अतएव उनका अभिमान करना व्यर्थ और मूर्खतामात्र है। जिस कलाके अभ्याससे हम इस अगाध भवसागरसे तरकर पाप-ताप, शोक-सन्देह और रोग-मृत्युके प्रबल बन्धनसे सदाके लिये छुटकारा पा सकते हैं, उसी कलाको सीखना मनुष्य-जीवनका ध्येय है और वह कला तर्कसे कभी मिल नहीं सकती। इसी कलाका नाम सात्त्विकी बुद्धि या श्रद्धा-भक्ति है। इसीसे मनुष्य सत्यके यथार्थ स्वरूपको या परमात्माके तत्त्वको भलीभाँति जानकर दुःखोंसे छूट सकता है।

केवल तर्क या कोरे बुद्धिबलसे परमात्माकी भक्तिमें मन नहीं लग सकता। वास्तवमें तर्ककी कसौटीपर कसी जानेलायक यह वस्तु भी नहीं है। पूज्यवर महात्मा गाँधीजीने 'कल्याण' में श्रीराम-नामके प्रभावपर लिखते समय लिखा था कि......'नाम-महिमा बुद्धिवादसे सिद्ध नहीं हो सकती, श्रद्धासे अनुभवसाध्य है।' बात भी यही है। विचार करना चाहिये कि जब नाम-महिमा भी बुद्धिके द्वारा अतर्क्य है, तब उस परमात्माको, जिसकी मायासे सारा जगत् कुछ-का-कुछ दीखता है, बुद्धि या तर्कके बलपर जान लेनेकी इच्छा करना या ऐसा सम्भव समझना केवल हास्यास्पद ही है। किसीके तर्कसे ईश्वरकी सिद्धि न होनेपर ईश्वरके अस्तित्वमें कोई बाधा नहीं आ सकती। विलास-विभ्रमरत, मोह-आवृत जीव चाहे जितना ही परमात्माका खण्डन किया करे, अपने बुद्धिबलका अभिमान कर कितना ही बकवाद किया करे, परमात्माकी सत्ता और स्थितिमें कभी कोई अन्तर नहीं आता—अवश्य ही वह बुद्धिबलका अभिमानी माया-विलास-मोहित मनुष्य परम सत्यकी प्राप्तिसे बहुत दूर चला जाता है। परमात्माकी सिद्धि करने जाना तो एक प्रकारका पागलपन है। परंतु पद-पदपर प्रत्यक्ष सिद्ध परमात्माको असिद्ध समझनेवाले मनुष्यको समझानेकी चेष्टा करनेसे भी कोई लाभ नहीं होता। ऐसे मनुष्यके सामने यदि परमात्मा स्वयं व्यक्तरूपसे भी प्रकट हो जायँ तो भी वह विश्वास नहीं करेगा। धृतराष्ट्रकी राजसभामें भगवान् श्रीकृष्णने जब आश्चर्यमय विराट्स्वरूप दिखलाकर सबको मन्त्रमुग्धकी भाँति चकित कर दिया था, तब भी दुर्योधनने असूयावश उनपर अविश्वास ही किया। इसके सिवा परमात्माको तार्किकोंके सामने प्रकट होकर उनसे अपनी सिद्धि करानेकी आवश्यकता भी नहीं है। जो श्रद्धापूर्वक सरल विश्वासके साथ परमात्माके भजनमें संलग्न रहता है, उसीको परमात्माकी कृपासे उनके तत्त्वका साक्षात्कार होता है— ***'सो जानइ जेहि देहु जनाई।'***

आजकलके तार्किक और अविश्वासी पुरुष भक्तराज प्रह्लाद, ध्रुव आदिसे लेकर गोस्वामी तुलसीदासजी, सूरदासजी, मीरा आदि भक्तोंके भगवत्-साक्षात्कार होनेकी घटनाओंको कल्पित बतलाते हैं। उन लोगोंकी दृष्टिमें यह सब कवियोंकी अस्वाभाविक कल्पना या भक्तोंके अनुगामी पुरुषोंकी रचनामात्र है। उन लोगोंके लिये है भी ऐसी ही बात। ईश्वरकी सत्ता बड़े-बड़े संत-महात्माओंकी दीर्घकाल तपस्याके बलसे सर्वथा अनुभूत और सिद्ध है, पर ईश्वर अविश्वासी पुरुषोंके सम्मुख अपनी सिद्धिके लिये नहीं आते। इसलिये जो लोग उन्हें नहीं मानते, उनके लिये उनको प्राप्त करना भी असम्भव ही है। परंतु इससे यह नहीं मानना चाहिये कि ईश्वरके अविश्वासी लोग ईश्वरीय नियमोंके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। ईश्वरकी आज्ञासे प्रकृति उन्हें कर्मोंका अच्छा-बुरा फल अवश्य भुगताती है, जो उन्हें हजार अनिच्छा होनेपर भी बाध्य होकर भोगना पड़ता है। हाँ, ईश्वरकी सत्ता न माननेसे ईश्वरका भय अवश्य ही जाता रहता है, जो मनुष्यको पापमें लगानेके लिये प्रधान हेतु होता है। जिनको ईश्वरके दण्डका भय नहीं होता, वे किसी प्रकारके पापकर्मसे भी नहीं हिचकते।

मनुष्य प्रधानतः पाँच भयके हेतुओंसे पापसे बचता है—(१) ईश्वरका भय, (२) धर्मका भय, (३) समाजका भय, (४) शासनका भय और (५) शरीरका भय। व्यभिचार करनेसे ईश्वर नाराज होंगे, धर्मका नाश होगा,

समाजमें बदनामी होगी या समाज च्युत कर देगा, राजदण्ड मिलेगा और स्वास्थ्य नष्ट हो जायगा। इसीसे मनुष्य व्यभिचारसे बचता है। इन पाँचोंमेंसे प्रथमोक्त दो हेतु सर्वप्रधान हैं; क्योंकि मानसिक घोर पापोंसे बचना इन्हींके कारणसे होता है। किसी कार्यके करनेमें जब मनुष्य यह समझता है कि मेरे इस कार्यको सर्वव्यापी अन्तर्यामी ईश्वर देखता है या इस कार्यसे मेरे धर्मका नाश हो जायगा, तो वह उससे अवश्य बचता है। परंतु जब ये दोनों हेतु मनसे हट जाते हैं, तब उसे मानसिक पापके लिये तो कोई रुकावट रह ही नहीं जाती। शारीरिक या वाणीके पाप करनेमें भी, उपर्युक्त दोनों हेतुओंके मिट जानेसे सहायता मिलती है। ईश्वर और धर्मका भय करनेवाला मनुष्य शासकोंके और समाजके सामने निर्दोष सिद्ध होनेपर भी मनमें अपनेको अपराधी ही मानता है। ऐसी बहुत घटनाएँ होती हैं, जिनका यथार्थ स्वरूप राज्य या समाजके सामने नहीं आता, यदि राज्य या समाजको किसीपर सन्देह भी हो जाता है तो भी वह पूरे प्रत्यक्ष प्रमाण न मिलनेके कारण दण्डका पात्र नहीं समझा जाता, इसीसे ईश्वर और धर्मसे न डरनेवाले पापात्मा मनुष्य अपनेको कानूनसे बचाकर या प्रमाणोंके आधारको नष्ट कर पापकर्म किया करते हैं। राज्य या समाजका भय उनके पापोंको पूर्णरूपसे रोकनेमें समर्थ नहीं होता। यही कारण है कि वर्तमान संसारमें—जहाँ अपराधोंको रोकनेके लिये नित्य नये-नये कानून बनाये जाते हैं, कानूनोंसे बचकर अपराध करनेकी प्रवृत्ति और अपराधोंकी संख्या भी बड़े वेगसे बढ़ती जा रही है। इसका प्रधान कारण यही है कि ईश्वर और धर्मका भय बहुत कुछ नष्ट हो गया, इसीसे हमारा जीवन उच्छृंखल, स्वेच्छाचारी और पातकमय बन गया है। कानूनोंके नये-नये विधानोंसे आज सिद्धहस्त अपराधी तो अपने कौशलसे बच जाते हैं और अपना पक्ष समर्थन करनेमें असमर्थ, निर्दोषता प्रमाणित करनेमें अशक्य, दाँव-पेचको न जाननेवाले सीधे-सादे निरपराध नर-नारी कष्ट भोगते हैं। जिससे आगे चलकर परिस्थितिकी परवशतासे उन्हें भी अपराध-प्रवृत्तिका शिकार होना पड़ता है। खेद है कि वर्तमान संसारकी गति इसी ओर हो रही है। ईश्वर और धर्मका भय न रहनेसे ही आज अपनेको आस्तिक और ईश्वरको माननेवाला प्रसिद्ध करनेवाले लोग भी मन्दिरोंमें भगवान्‌की मूर्तिके सामने स्त्रियोंकी ओर बुरी दृष्टिसे देखकर पापवृत्तिका पोषण करते हैं। आचार्य, उपदेशक और धर्मनेताका स्वाँग धारणकर पाखंडी लोग ईश्वरके नामपर लोगोंको ठगते हैं, देश या समाज-सेवकका बाना धारणकर व्यक्तिगत लाभके लिये छिपकर देश या समाजके हितपर कुठार चलाते हैं। यह सारा व्यापार ईश्वर और धर्मका भय क्रमशः नष्ट होते रहनेसे विस्तारको प्राप्त हो रहा है। स्वास्थ्यके भयसे अलबत्ता कुछ लोग पापोंसे बचते हैं। परंतु प्रथम तो सभी पाप ऐसे नहीं होते, जिनमें स्वास्थ्यनाशका पूरा भय हो, दूसरे मनुष्य इस भयसे अपनेको किसी अंशमें बचानेका प्रयास भी कर सकता है।

यह सच्ची बात है कि ईश्वर और धर्मके नामपर पाखंड बहुत बढ़ जाने तथा यथार्थ ईश्वरप्रेमी और धर्मात्माओंकी संख्या घट जानेसे भी ईश्वरविहीन शुष्क बुद्धिवादकी उत्पत्ति और उसके विस्तारमें बड़ा सहारा मिला है, तथापि यह अवश्य मानना चाहिये कि इस बुद्धिवादसे संसार यथार्थ सत्यको कभी नहीं पा सकता। इससे सच्चे मनुष्योंके मनसे रहा-सहा श्रद्धाका भाव भी क्रमशः नष्ट होता जायगा, जिससे चारों ओर उच्छृंखलता और भी बढ़ जायगी।

यह भी सच्ची बात है कि केवल अन्धश्रद्धाके बलपर स्थित रहनेवाला धर्म सदा स्थायी नहीं होता, परंतु यहाँ यह बात नहीं है, भारतीय ऋषियोंका यह अनादि ईश्वरीय धर्म जिसमें जगत्‌के समस्त धर्मोंका बड़े सहजमें समन्वय हो सकता है—वैसा खोखला या निराधार नहीं है। परमशुद्ध बुद्धिसे ही इस धर्मका परम तत्त्व पहचाननेमें आता है; परंतु वह परम शुद्ध बुद्धि केवल तर्कसे नहीं मिल सकती। वह मिलती है दीर्घकालीन ईश्वरोपासनासे। यथार्थ ईश्वरोपासना श्रद्धाके अभावमें कभी सम्भव नहीं होती। शास्त्रोंका अध्ययन न हो, शास्त्रज्ञान न हो, केवल सात्त्विकी श्रद्धासे ही ईश्वरकी पूजा हो सकती है। इसीलिये ईश्वरकी भक्तिके वे सभी स्त्री-पुरुष अधिकारी माने गये हैं, जो जाति, वर्ण, विद्या, धन, बल, रूप, यश और पुण्य आदिमें नितान्त नीच होनेपर भी परम श्रद्धासे केवल परमात्माको ही अपना हृदय-सर्वस्व समझकर उसकी एकान्त भक्ति करते हों। इसीलिये प्रह्लादने कहा है—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥

(श्रीमद्भा० ७। ९। १०)

'बारह प्रकारके गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी भगवान् पद्मनाभके चरणकमलसे विमुख है तो उसकी अपेक्षा वह चाण्डाल श्रेष्ठ है जिसके मन, धन, वचन, कर्म

और प्राण परमात्माको अर्पित हैं, क्योंकि वह भक्त चाण्डाल अपनी भक्तिके प्रतापसे अपने सारे कुलको पवित्र कर सकता है, परंतु वह बहुत मानवाला भक्तिहीन ब्राह्मण ऐसा नहीं कर सकता।'

जो ऊँची श्रद्धासे भगवान्‌को भजता है, उसीको भगवान् मिलते हैं—भगवद्वाक्योंसे भी यही प्रमाणित होता है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२। २)

'जो भक्तजन मुझ (भगवान्)-में मनको एकाग्र करके नित्य भजनमें लगे रहकर, परम श्रद्धाके साथ मुझे भजते हैं, मैं उन्हें सर्वोत्तम योगी मानता हूँ' भक्तियोगके इसी अध्यायका अन्तिम मन्त्र है। भगवान् कहते हैं—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(गीता १२। २०)

'जो श्रद्धासम्पन्न पुरुष मुझ (भगवान्)-में परायण होकर इस उपर्युक्त धर्म्यामृतका भलीभाँति सेवन करते हैं अर्थात् भक्तिके बतलाये हुए लक्षणोंद्वारा श्रद्धासे मेरी उपासना करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि श्रद्धाके बिना उपासना नहीं होती, उपासना बिना भगवत्-कृपाका अनुभव नहीं होता, भगवत्कृपा बिना यथार्थ सत्य या परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती और परमात्माकी प्राप्ति बिना दुःखोंसे सदाके लिये छुटकारा नहीं मिलता।

अतएव हम सबको चाहिये कि तर्क-जालसे सर्वथा बचकर भक्ति-शास्त्रके अनुसार आचरणोंसे श्रद्धा अर्जन करें और उस श्रद्धाको बढ़ाते हुए परमोच्च श्रद्धाके रूपमें परिणत कर उसके द्वारा परमात्माकी सच्ची उपासना करें, जिससे हमलोगोंको मनुष्य-जीवनके परम ध्येय परमात्माकी शीघ्र प्राप्ति हो।

जीवन बहुत थोड़ा है, गया हुआ समय फिर नहीं आता, अतः शीघ्र सावधान होना चाहिये।

भगवत्प्रेम ही विश्वप्रेम है

यह प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ रहा है कि जितनी-जितनी वर्तमान भोग-सुख-लिप्सापूर्ण सभ्यताकी वृद्धि हो रही है, सुधार या उन्नतिके नामपर जातियाँ जितनी-जितनी इस माया-मोहिनी सभ्यताकी ओर अग्रसर हो रही हैं, उतना-उतना ही छल-कपट, दुःख, दम्भ और द्रोह अधिक बढ़ रहा है। अशान्तिकी प्रज्वलित अग्निमें घृताहुतियाँ पड़ रही हैं। रक्तपानकी हिंस्र लालसा बढ़ रही है। आजका जगत् मानो भस्म होनेके लिये पतंगकी भाँति मोहवश अग्निशिखाकी ओर प्रबल वेगसे दौड़ रहा है। इसीसे आज मानव-रक्तसे अपनी सुख-पिपासा शान्त करने मानवीय अस्थिचूर्णसे धरणीके पवित्र क्षेत्रको उपजाऊ बनाने और भाँति-भाँतिके वैज्ञानिक आविष्कारोंकी सहायतासे गरीब पड़ोसियोंके सर्वस्व-विनाशमें आत्मगौरव समझनेकी घृणित धारणा बद्धमूल होती जा रही है। जबतक इसका यथार्थ प्रतीकार नहीं होगा तबतक बड़े-बड़े शान्तिकामी राष्ट्रविधायकोंके प्रयत्नोंसे कोई भी सुफल होनेकी आशा नहीं करनी चाहिये। ऊपरसे शस्त्र-संन्यास, शान्तिस्थापन और विश्वप्रेमकी बातें होती रहेंगी तथा अंदर-ही-अंदर परस्वापहरण-लोलुपता और पर-सुखकातरताके कारण विद्वेषाग्नि भस्माच्छादित अग्निकी तरह सुलगती रहेगी जो अवसर पाते ही ज्वालामुखीकी तरह फटकर सारे विश्वके सुखनाशका प्रधान कारण बन जायगी।

विश्वप्रेम जबानकी चीज नहीं है, इसमें बड़ा भारी त्याग चाहिये। त्याग ही प्रेमका बीज है। त्यागकी सुधाधाराके सिंचनसे ही प्रेमबेलि अंकुरित और पल्लवित होती है। जबतक हमारा हृदय तुच्छ स्वार्थोंसे भरा है तबतक प्रेमकी बातें करना हास्यास्पद व्यापारके सिवा और कुछ भी नहीं है। ममताके हेतुसे त्याग होता है, माताकी अपने बच्चेमें ममता है इसलिये वह उसको सुखी बनानेके हेतु अपने सुखका त्याग कर देती है और उसीमें अपनेको सुखी समझती है। जिसकी जिसमें जितनी अधिक ममता होती है, उतना ही उसमें अधिक राग होता है, जिसमें अधिक राग होता है, उसीमें मुख्यबुद्धि रहती है। मुख्यबुद्धिके सामने दूसरी सब वस्तुएँ गौण हो जाती हैं।

इसी मुख्यबुद्धिका दूसरा नाम अनन्यानुराग है। जिसकी मुख्यवृत्ति स्त्रीमें होती है वह स्त्रीके लिये अन्य समस्त विषयोंका त्याग कर सकता है—सारे विषय उस स्त्रीके चरणोंमें सुखपूर्वक अर्पण कर सकता है। पतिव्रता स्त्री पतिमें मुख्यबुद्धि रहनेके कारण ही अपना सर्वस्व पतिके चरणोंमें समर्पण कर उसके सुखमें ही

अपनेको सुखी मानती है। इसी प्रकार माता, पिता, पुत्र, स्वामी, गुरु, सेवक, कीर्ति, परोपकार, सेवा आदि जिस वस्तुमें जिसकी मुख्यबुद्धि होती है, उसीके लिये वह दूसरी सब वस्तुओंका, जो दूसरोंकी दृष्टिमें बड़ी प्रिय हैं, अनायास त्याग कर देता है।

हरिश्चन्द्रने सत्यके लिये राज्य त्याग दिया, कर्णने दानके लिये कवच-कुण्डल देकर मृत्युको आलिंगन करनेमें भी आनाकानी नहीं की, प्रह्लादने रामके नामके लिये हँसते हुए अग्नि-प्रवेश किया। भरतने भ्रातृप्रेमके लिये राज्य त्यागकर माताकी आज्ञा नहीं मानी, युधिष्ठिरने भक्त कुत्तेके लिये स्वर्ग जाना अस्वीकार किया, शिबिने कबूतरके लिये अपना मांस दे डाला, रन्तिदेवने गरीबोंके लिये भूखों मरना स्वीकार किया, दधीचिने परोपकारके लिये अपनी हड्डियाँ दे दीं, परशुरामने पिताके लिये माताका वध कर डाला, भीष्मने पिताके लिये कामिनी-कंचनका त्याग कर दिया। ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं। सारांश यह कि जिस विषयमें मनुष्यकी मुख्यबुद्धि होती है, उसके लिये वह अन्य सब पदार्थोंका त्याग सुखपूर्वक कर सकता है। उस एककी रक्षाके लिये वह उन सबके नाशमें भी अपनी कोई हानि नहीं समझता, वरं आवश्यकता पड़नेपर उस एकके लिये स्वयं सबका प्रसन्नतापूर्वक त्याग कर देता है।

भक्त इसीलिये भगवान्‌को अधिक प्यारा होता है कि वह अपनी ममता सब जगहसे हटाकर केवल भगवान्‌में कर लेता है, इसीसे उसका अनन्यानुराग और मुख्यबुद्धि भी भगवान्‌में ही हो जाती है। वह भगवान्‌के लिये सब कुछ त्याग देता है। तुलसीदासजीने इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीरामके शब्द इस प्रकार गाये हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

देवर्षि नारद भी भक्तिका लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।

(नारदभक्तिसूत्र १९)

'अपना सर्वस्व उसके चरणोंमें अर्पण करके निरन्तर उसे स्मरण करता रहे, कदाचित् किसी कारणसे स्मरणमें भूल हो जाय, उस समय हृदयमें ऐसी व्याकुलता हो जैसे मछलीको जलसे निकालनेपर होती है।' यही भक्ति है जिसमें मुख्यवृत्ति रहती है, उसका निरन्तर चिन्तन होना और चिन्तनकी विस्मृतिमें व्याकुलताका होना अनिवार्य है। ऐसे भक्तोंको भगवान् अपने हृदयमें कैसे रखते हैं, जैसे लोभी धनको रखता है; क्योंकि उसकी मुख्यवृत्ति धनमें ही रहती है। इस प्रकारके भक्तका भगवान् कभी त्याग नहीं करते। भगवान्‌के वचन हैं—

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६५)

'जो भक्त स्त्री, घर, पुत्र, परिवार, प्राण, धन, लोक और परलोक सबको त्यागकर मेरा आश्रय ले लेते हैं, उनको भला मैं कैसे त्याग सकता हूँ?'

जिसने इतना त्याग किया हो, उसका अत्यन्त प्रिय लगना स्वाभाविक ही है। भक्तोंका भगवान्‌पर अनन्य ममत्व है, इसीलिये तो भक्तोंपर भगवान्‌की ममता अधिक है। भगवान् कहते हैं—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६८)

'वे साधु मेरा हृदय हैं, मैं उनका हृदय हूँ, वे मेरे सिवा किसीको नहीं जानते तो मैं उनके सिवा किसीको नहीं जानता।' यह भगवान्‌में मुख्यबुद्धि होनेका ही परिणाम है।

एक सम्मिलित कुटुम्बका तभीतक प्रेमपूर्वक निर्वाह हो सकता है, जबतक सबमें परस्पर ममता (मेरापन) बनी रहे। जहाँ 'पर' (पराया) भाव आया वहीं कलह आरम्भ हो जाता है। एक कुटुम्बमें कुल मिलाकर दस मनुष्य हैं। जिनमें कमानेवाले दो भाई हैं। वे दोनों जबतक यह समझते हैं कि घरके सब लोग हमारे अपने हैं; तबतक रात-दिन कठिन परिश्रम करके भी उन सबका भरण-पोषण करनेमें उन्हें सुख मिलता है। पर जब किसी कारणसे एकके मनमें यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि मैं अपने स्त्री-पुत्रोंके सिवा दूसरे लोगोंके लिये क्यों इतने बखेड़ेमें पड़ूँ, तब फिर एक दिनके लिये भी उनका भरण-पोषण करना उसके लिये भारी और दुःखद होने लगता है। कारण यही कि उसका ममत्व उन सबमेंसे निकलकर केवल स्त्री-पुत्रोंमें ही रह जाता है। ममताके साथ ही राग और मुख्यबुद्धि भी चली जाती है। ऐसी अवस्थामें यदि माता-पिता जीवित होते हैं तो उन बेचारोंपर बड़ी विपत्ति आ पड़ती है।

एक मनुष्य स्वयं कष्ट सहकर देशकी सेवा क्यों

करता है? इसीलिये कि देशमें उसका ममत्व है, देशके हानि-लाभमें वह सचमुच अपना हानि-लाभ समझता है। इसीका नाम देशात्मबोध है और यही यथार्थ देशभक्ति है। एक-दूसरे मनुष्यको देशजातिका नाम भी नहीं सुहाता, वह अपने परिवारपालनमें ही मस्त है। उसे देशकी कुछ भी परवा नहीं, यह इसीलिये कि देशमें उसकी ममता नहीं है।

ममता ही आगे चलकर 'मेरा-मेरा' करते-करते 'अहंता' में परिणत हो जाती है। अनन्तकालसे इस नश्वर शरीरको हम मेरा-मेरा करते आये हैं, इसीलिये इसमें 'मैं' बुद्धि हो गयी है। शरीरमें रोग होता है, हम कहते हैं, 'मैं बीमार हूँ' जन्म-मृत्यु, क्षय-वृद्धि रूपान्तर आदि शरीरके होते हैं। 'मैं' (आत्मा) जो सदा निर्विकार, शुद्ध, एकरस है, वह ज्यों-का-त्यों रहता है। वह पहले लड़कपन और खेल-कूदका द्रष्टा था, फिर युवावस्था और काम-मदादिका द्रष्टा हुआ, अब वही वृद्धावस्था और इन्द्रियोंकी शिथिलताका द्रष्टा है, तीनों अवस्थाओंमें वह नित्य एकरूप है; परन्तु भ्रमवश शरीरसे अहंभाव हो जानेके कारण कहता है, 'पहले बालक था तब तो मैंने सारी उम्र खेल-कूदमें खो दी, जवानीमें काम-मदमें समय बिता दिया, अब मैं बूढ़ा हो गया, कमजोर हो गया, भजन कैसे करूँ? मैं तो व्यर्थ ही मर जाऊँगा।' अजन्मा और अविनाशी होनेपर भी वह इस प्रकार क्यों समझता है? इसलिये कि उसने शरीरको 'मैं' (आत्मा) समझ लिया है। इसीका नाम 'देहात्मबोध' है। यही मायाका बन्धन है। एक बालक दर्पणमें मुख देख रहा था, दर्पण था लाल, उसे अपना शरीर भी लाल दिखायी दिया, 'मेरा शरीर लाल हो गया', 'मेरा शरीर लाल हो गया', 'मैं लाल हो गया' इस प्रकार कहते-कहते वह अपने मूल सत्य स्वरूपको भूलकर दर्पणकी उपाधिसे दीखनेवाले प्रतिबिम्बको अपना रूप मानकर दर्पणके विकार ललाईका अपनेमें आरोप कर व्यर्थ ही अपनेको लाल मानकर दुःखी हो गया। यही अनात्मवादियोंका 'देहात्मबोध' है।

देहात्मबोध जब जोर पकड़ता है तभी भेदको ठहरनेके लिये जगह मिल जाती है। 'एक ही परमात्मा अनेक प्रकारसे विभक्त हुआ-सा जान पड़ता है। मैं अमुक हूँ, दूसरा अमुक है, मुझे सुख मिलना चाहिये, मुझे सुखी होनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। इस अवस्थामें मनुष्य कभी-कभी तो सोचता है कि सभी मेरे सरीखे ही मनुष्य हैं। उनको भी सुख मिले, मुझको भी मिले।' कभी-कभी वह स्वयं दुःख सहन करके भी दूसरोंको सुख पहुँचाता है; परंतु भेद-बुद्धिकी जड़ जमने और भोग-सुख-स्पृहा बढ़नेके साथ ही उसका प्रेम संकुचित होने लगता है। तब वह सोचता है; 'दूसरेको सुख मिले तो अच्छी बात है; परंतु उसके लिये मैं दुःख क्यों भोगूँ? मैं अपने प्राप्त सुखका परित्याग क्यों करूँ?' फिर सोचता है, 'मुझे सुख मिलना चाहिये, दूसरोंको मिले या न मिले, इससे मुझको क्या।' फिर सोचता है, 'मेरे सुखमें यदि दूसरोंका सुख बाधक है तो उसका नाश क्यों न कर दिया जाय।' इस स्थितिमें वह अपने सुखके लिये दूसरोंके सुखका नाश करने लगता है। फिर सोचता है, 'बस, मुझे सुख मिले, दूसरे चाहे दुःखसागरमें डूब जायँ।' इस अवस्थामें उसकी बुद्धि सर्वथा तमसाच्छन्न हो जाती है, उसके मनसे दया, करुणा, प्रेम, सहानुभूति आदि गुण लुप्त हो जाते हैं और वह अपनेको सुखी बनानेके लिये क्रूरताके साथ दूसरोंको दुःख पहुँचाने लगता है। अन्तमें उसका स्वभाव ही ऐसा बन जाता है कि वह दूसरोंके दुःखमें ही अपनेको सुखी मानता है, दूसरोंकी विपत्तिके आँसुओंको देखकर ही उसका चित्त प्रफुल्लित होता है; यहाँतक कि वह अपनी हानि करके भी दूसरोंको दुःखी करता है। ऐसा मनुष्य राक्षससे भी अधम बताया गया है। कहना नहीं होगा कि दूसरोंके साथ-ही-साथ उसके भी दुःखोंकी मात्रा बढ़ती जाती है।

एक मनुष्यने भगवान् शिवकी आराधना की, शिवजी प्रसन्न हुए, उसका पड़ोसी भी बड़े भक्तिभावसे शिवजीके लिये तप कर रहा था। शिवजीने दोनोंके भक्तिका विचार कर आकाशवाणीमें उससे कहा कि 'मैं तुझपर प्रसन्न हूँ, इच्छित वर माँग, पर तुझे जो मिलेगा उससे दूना तेरे पड़ोसीको मिलेगा, क्योंकि उसके तपका महत्त्व तेरे तपसे दूना है।' यह सुनते ही वह बड़ा दुःखी हो गया। उसने सोचा 'क्या माँगूँ? पुत्र, धन और कीर्तिकी बड़ी इच्छा थी; परंतु अब यह सब कैसे माँगूँ? जो एक पुत्र माँगता हूँ तो उसके दो होते हैं, लाख रुपये माँगता हूँ तो उस नालायकको दो लाख मिलते हैं, कीर्ति चाहता हूँ तो उसकी मुझसे दूनी होती है।' अन्तमें उसने खूब सोच-विचारकर शिवजीसे कहा, 'प्रभो! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मेरी एक आँख फोड़ डालिये।' उसने सोचा, 'मेरा तो काम एक आँखसे भी चल जायगा, परंतु वह तो दोनों फूटनेसे बिलकुल निकम्मा हो जायगा। इससे अधिक सुखकी

बात मेरे लिये और क्या होगी? मित्रो! इस दृष्टान्तको पढ़कर हँसियेगा नहीं, हमें चाहिये कि हम अपने हृदयको टटोलें। क्या कभी उसमें इस प्रकारके भाव नहीं पैदा होते? चाहे पचास हजार रुपये मेरे लग जायँ पर तुझको तो नीचा दिखाकर छोड़ूँगा, मेरा चाहे जितना नुकसान हो जाय पर उसको तो सुखसे नहीं रहने दूँगा, 'इस मामलेमें चाहे मेरा घर तबाह हो जाय लेकिन उसको तो भिखमंगा बनाकर छोड़ूँगा।' इस प्रकारके विचार और उद्‌गार हमलोगोंके हृदयमें ही तो पैदा होते और निकलते हैं। इसका कारण यही है कि हमलोगोंने देहात्मबोधके कारण अपनी ममताकी सीमा बहुत ही संकुचित कर ली है, छोटे गड़हेका पानी गँदला हुआ ही करता है। इसी प्रकार संकुचित ममता भी बड़ी गंदी हो जाती है। हमारे प्रेमका संकोच हो गया है, तभी यह दशा है! इसीसे आज लौकिक और पारलौकिक सभी क्षेत्रोंमें हमारा पतन हो रहा है!

इसके विपरीत भगवत्कृपासे ज्यों-ज्यों ममताका क्षेत्र बढ़ता है त्यों-ही-त्यों उसमें पवित्रता और सात्त्विकता आती है, हृदय विशाल होने लगता है, प्रेमका विकास होता है। इस अवस्थामें स्वार्थकी सीमा बढ़ने लगती है, वह व्यक्तिसे कुटुम्बमें, कुटुम्बसे जातिमें, जातिसे देशमें और फिर सारे विश्वमें फैल जाता है। तभी मनुष्य वास्तविक उदार होता है। '**उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्**' से ऐसे ही महानुभावोंका निर्देश किया गया है। उपर्युक्त भावोंमें जो जितना-जितना अग्रसर होता है उतना-उतना ही उसके प्रेमका विस्तार और सीमाबद्ध-स्वार्थका नाश हो जाता है। फिर वह भगवान् बुद्धकी भाँति प्राणिमात्रका दुःख दूर करनेके लिये अपना जीवन अर्पण कर देता है। इस अवस्थामें उसे जिस सुखका अनुभव होता है, उसे वही जानता है।

जब समस्त विश्वमें मेरापन छा जाता है तब उसका प्रेम भी विश्वव्यापी हो जाता है। फिर उसके द्वारा किसी भी हालतमें किसीकी बुराई नहीं हो सकती। अमृतसे किसीकी मृत्यु चाहे सम्भव हो पर उसके द्वारा किसीका बुरा होना सम्भव नहीं। वह विश्वके हितमें ही अपना हित समझता है, सारे विश्वका स्वार्थ ही उसका स्वार्थ बन जाता है। यही ममताका व्यापक और विशाल रूप है और यही वांछनीय है। यथार्थ विश्वप्रेम इसीसे सम्भव है।

यही ममता जब मेरा-मेरा करते-करते शुद्ध 'मैं' बन जाती है तब सारा विश्व ही उसका अपना स्वरूप बन जाता है, विश्वकी व्यापक सत्तामें उसकी भिन्न सत्ता सर्वथा मिल जाती है। तब केवल एक 'मैं' ही रह जाता है। यही सच्चा 'मैं' है। इस 'मैं' की उपलब्धि कर लेनेपर कौन किससे वैर करे, अपने-आपसे कोई वैर नहीं करता है, अपने-आपको कोई नहीं मारता।

यह विश्वव्यापक 'मैं' ही परमात्माका स्वरूप है, इस व्यापक रूपका नाम ही विष्णु है, इसीको विश्व कहते हैं। हमारे विष्णुसहस्रनाममें भगवान्‌को 'विश्व' नामसे ही बतलाया गया है। इन्हींका नाम श्रीकृष्ण है, जो व्रजमण्डलमें अपनी प्रेम-माधुरीका विस्तार कर मधुर वंशी-ध्वनिसे विश्वको निरन्तर प्रेमका मोहन सुर सुना रहे हैं। ममता, आसक्ति या स्वार्थ, जो संसारके पदार्थोंमें रहनेपर बन्धनका कारण होते हैं, वही जब श्रीकृष्णके प्रति हो जाते हैं तब सारे बन्धनोंकी गाँठें आप-से-आप खुल जाती हैं। इसीसे भक्त कहते हैं कि 'भगवन्! हमारी आसक्तिका नाश न करो, परंतु उसको जगत्‌से हटाकर अपनी ओर खींच लो।' इस अवस्थामें भक्तको समस्त संसार वासुदेवमय दिखायी पड़ता है, तब वह मस्त होकर प्रेममें झूमता हुआ मुरलीके मोहन सुरमें सुर मिलाकर मीठे स्वरसे गाता है—

अब हौं कासों बैर करौं।
कहत पुकारत प्रभु निज मुखते घट घट हौं बिहरौं॥

इसलिये यदि हम सुख-शान्ति चाहते हैं तो हमें सबसे पहले उसका असली उपाय ढूँढ़ना चाहिये, हमें उस स्थानका पता लगाना चाहिये जहाँ सुख-शान्तिके स्रोतका उद्‌गम है। यदि हम प्रमादसे उसे भुलाकर—उसका सर्वथा तिरस्कार कर—मृगमरीचिकाके जलसे अपनी सुख-तृष्णा शान्त करना चाहेंगे तो वह कभी नहीं होगी।

जो सारे संसारमें व्याप्त है, जो सबमें ओत-प्रोत है, जो सबका सृष्टिकर्ता और नियामक है, उसे हृदयसे निकालकर कृत्रिम उपायोंसे सुख-शान्तिकी स्थापना कभी नहीं हो सकती। यदि सुख-शान्ति और विश्वप्रेमकी आकांक्षा है तो हमें इस सिद्धान्तका संसारमें प्रचार करना चाहिये कि 'समस्त जगत् परमात्माका रूप है, हम उसीके अंश हैं अतएव सब एक हैं, एक ही जगहसे हमारी उत्पत्ति हुई है, एक ही जगह जा रहे हैं और इस समय भी उस एकहीमें स्थित हैं, पराया कोई नहीं है, सब अपने हैं, सब आत्मरूप हैं, सब अभिन्न हैं। जो मेरा आत्मा है वही जगदात्मा है; जो परमात्मा तुममें है वही मुझमें है और वही अखिल विश्व-चराचरमें है।' जब लोग इस बातको समझेंगे तभी वास्तविक विश्वप्रेम

और शान्तिकी स्थापना होगी। जबतक हमारे हृदयमें तुच्छ स्वार्थ भरा है, जबतक हम एक-दूसरेको अलग समझते हैं, जबतक सबके साथ आत्माका एक संयोग नहीं मानते, तबतक वास्तविक प्रेम और शान्ति असम्भव है। अल्प तामस ज्ञानसे कभी सुख नहीं मिल सकता '**नाल्पे सुखमस्ति।**' सुखका उपाय सात्त्विक ज्ञान है। सात्त्विक ज्ञानका रूप है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

(गीता १८। २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य भिन्न-भिन्न समस्त प्राणियोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समानभावसे एकरस स्थित देखता है, उसी ज्ञानका नाम सात्त्विक ज्ञान है।'

इस ज्ञानकी उपलब्धि करना ही 'विश्वप्रेम' को प्राप्त करनेकी यथार्थ साधना है।

अतएव कृत्रिम बाह्य साधनोंका भरोसा छोड़कर इसीके लिये सबको प्रयत्नशील होना चाहिये। जब यह ज्ञान प्राप्त होगा, तब हृदयमें ईश्वरकी विमल छटा दिखायी देगी, फिर सारे जगत्में—अखिल विश्वमें उसी छटाका विस्तार दीख पड़ेगा। तब भक्ति-प्रणत चित्तसे विश्वरूप भगवान्के सामने हमारा मस्तक आप-से-आप झुक जायगा। सुख-शान्तिकी बंद सरिताका बाँध टूट जायगा। प्रेम-मन्दाकिनीकी त्रिधारा वेगसे बहकर स्वर्ग, भूमि और पाताल—तीनोंको प्रेमके मधुर सुखद प्रवाहमें बहा देगी। फिर सब तरफ देखेंगे केवल प्रेम, आनन्द और शान्ति। यही भगवत्-प्रेम है और इसीका नाम 'विश्वप्रेम' है।

भगवद्दर्शन

एक गुजराती सज्जन निम्नलिखित प्रश्नोंका उत्तर बड़ी उत्कण्ठाके साथ चाहते हैं। नाम प्रकाश न करनेके लिये उन्होंने लिख दिया है, इसलिये उनका नाम प्रकाशित नहीं किया गया है, प्रश्नोंके भावोंकी रक्षा करते हुए कुछ शब्द बदले गये हैं।

१—कई महात्मा पुरुष कहते हैं कि इस समय ईश्वरका दर्शन नहीं हो सकता। क्या यह बात माननेयोग्य है? यदि थोड़ी देरके लिये मान लें तो फिर भक्त तुलसीदास और नरसी मेहता आदिको इस कलियुगमें उस श्यामसुन्दरकी मनमोहिनी मूर्तिका दर्शन हुआ था, यह बात क्या असत्य है?

२—जैसे आप मेरे सामने बैठे हों और मैं आपसे बातें कर रहा हूँ। क्या प्यारे कृष्णचन्द्रका इस प्रकार दर्शन होना सम्भव है? यदि सम्भव है तो हमें क्या करना चाहिये कि जिससे हम उस मोहिनी मूर्तिको शीघ्र देख सकें?

३—जहाँतक ये चर्म-चक्षु उस प्यारेको तृप्त होनेतक नहीं देख सकेंगे वहाँतक ये किसी कामके नहीं हैं। नेत्रोंको सार्थक करनेका 'सिद्ध-मार्ग' कौन-सा है? सो बतलाइये।

४—कृष्णदर्शनकी तीव्रतम विरहाग्नि हृदयमें जल रही है, न मालूम वह बाहर क्यों नहीं निकलती! इसीसे मैं और भी घबरा रहा हूँ।

इन प्रश्नोंके साथ उक्त सज्जनने और भी बहुत-सी बातें लिखी हैं, जिनसे विदित होता है कि उनके हृदयमें भगवद्दर्शनकी अभिलाषा जाग्रत् हुई है। इन प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर तो उन पूज्य महापुरुषसे मिलना सम्भव है, जो उस श्यामसुन्दरकी मनोहर और दिव्य रूप-माधुरीका दर्शन कर धन्य हो चुके हैं। परंतु महापुरुषोंकी अनुभवयुक्त वाणीसे जो कुछ सुननेमें आया है, उसीके आधारपर इन प्रश्नोंका उत्तर देनेकी कुछ चेष्टा की जाती है। प्रश्नकर्ता सज्जनने ये प्रश्न करके मुझको जो भगवत्-चर्चाका शुभ अवसर प्रदान किया है, इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। चारों प्रश्नोंका उत्तर पृथक्-पृथक् न लिखकर एक ही साथ लिखा जाता है।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि इस युगमें भगवान्के दर्शन अवश्य हो सकते हैं, बल्कि अन्यान्य युगोंकी अपेक्षा थोड़े समयमें और थोड़े प्रयाससे ही हो सकते हैं। भक्त-शिरोमणि तुलसीदासजी और नरसी मेहता आदि प्रेमियोंको भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन हुए हैं, इस बातको मैं सर्वथा सत्य मानता हूँ। यदि भक्त चाहे तो वह दो मित्रोंकी भाँति एक स्थानपर मिलकर भगवान्से परस्पर वार्तालाप कर सकता है। अवश्य ही भक्तमें वैसी योग्यता होनी चाहिये। भक्तोंके ऐसे अनेक पुनीत चरित इस बातके प्रमाण हैं। भगवान्के शीघ्र दर्शनका सबसे उत्तम उपाय दर्शनकी तीव्र और उत्कट अभिलाषा ही है। जिस प्रकार जलमें डूबता हुआ मनुष्य ऊपर आनेके लिये परम व्याकुल होता है, उसी प्रकारकी परम व्याकुलता यदि भगवद्दर्शनके लिये हो तो भगवान्के

दर्शन होना कोई बड़ी बात नहीं। व्याकुलता बनावटी न होकर असली होनी चाहिये। किसीका इकलौता पुत्र मर रहा हो या किसीकी सैकड़ों वर्षोंसे बनी हुई इज्जत जाती हो उस समय मनमें जैसी स्वाभाविक और निष्कपट व्याकुलता होती है वैसी ही व्याकुलता परमात्माके दर्शनके लिये जिस परम भाग्यवान् भक्तके अन्तरमें उत्पन्न होती है, उसको दर्शन दिये बिना भगवान् कभी नहीं रह सकते। ऐसी व्याकुलता तभी होती है, जब कि वह भक्त संसारके समस्त पदार्थोंसे परमात्माको बड़ा समझता है; इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंको अत्यन्त तुच्छ और नगण्य समझकर केवल एक परम प्यारे श्यामसुन्दरके लिये अपने जीवन, धन, ऐश्वर्य, मान, लोकलज्जा, लोकधर्म और वेदधर्म सबको समर्पण कर चुकता है। देवर्षि नारदजीने भक्तिका स्वरूप वर्णन करते हुए कहा है—

तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।

(नारदभक्तिसूत्र १९)

'अपने समस्त कर्म भगवान्‌को अर्पण कर देना और उन्हें भूलते ही परम व्याकुल होना भक्ति है।' जबतक जगत्‌के भोगोंकी इच्छा है, जबतक जगत्‌के अनित्य पदार्थ सुन्दर, सुखरूप और तृप्तिकर मालूम होते हैं और जबतक उनमें रस आता है, तबतक हमारे हृदयका पूरा स्थान भगवान्‌के लिये खाली नहीं। गोसाईं तुलसीदासजीने कहा है—

जो मोहि राम लागते मीठे।
तौ नवरस षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे॥

यदि मुझे भगवान् राम प्यारे लगते तो शृंगारादि नवों रस और अम्ल आदि छओं रस नीरस होकर सीठे (सारहीन—फीके) हो जाते। हम अपने अन्तरमें भगवान्‌को जितना-सा स्थान देते हैं उतना-सा उसका फल भी हमें प्राप्त होता है, परन्तु जबतक हम अपने हृदयका पूरा आसन उस हृदयेश्वरके लिये सजाकर तैयार नहीं करते, जबतक हमारे अन्त:करणमें अनवरत और निरन्तर अटूट तैल-धाराकी भाँति भगवद्भावका स्रोत नहीं बहता तबतक उसके लिये व्याकुलता नहीं हो सकती और जबतक हम व्याकुल नहीं होते तबतक भगवान् भी हमारे लिये व्याकुल नहीं होते; क्योंकि भगवान्‌की यह एक शर्त है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥

(गीता ४। ११)

'जो मुझको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।' जब भक्त प्रेममें तन्मय होकर मतवालेकी तरह घर-बार, स्त्री-पुत्र, लोक-परलोक, हर्ष-शोक, मान-अपमान आदि सबका विसर्जन कर उस परमात्माके लिये परम व्याकुल होता है, एक क्षणभरके विछोहसे भी जो जलसे अलग की हुई मछलीके समान छटपटाने लगता है, भक्तिमती गोपियोंकी भाँति जिसके प्राण विरह-वेदनासे व्याकुल हो उठते हैं, उसको भगवान्‌के दर्शन अत्यन्त शीघ्र हो सकते हैं, परन्तु हमलोगोंमें वैसी अनन्य व्याकुलता प्राय: नहीं है। इसीलिये दर्शनमें भी विलम्ब हो रहा है। हमलोग धन-सन्तान और मान-कीर्तिके लिये जितना जी-तोड़ परिश्रम और सच्चे मनसे प्रयत्न करते हैं, जितना छटपटाते हैं, उतना परमात्माके लिये क्या अपने जीवनभरमें कभी किसी दिन भी हमने प्रयत्न किया है या हम छटपटाते हैं? तुच्छ धन-मानके लिये भटकते और रोते फिरते हैं। क्या परमात्माके लिये व्याकुल होकर सच्चे मनसे हमने कभी एक भी आँसू गिराया है? इस अवस्थामें हम कैसे कह सकते हैं कि परमात्माके दर्शन नहीं होते। हमारे मनमें परमात्माके दर्शनकी लालसा ही कहाँ है? हमने तो अपना सारा समय इन अनित्य सांसारिक विषयोंके कूड़े-कर्कटसे भर रखा है। जोरकी भूख या प्यास लगनेपर क्या कभी कोई स्थिर रह सकता है? परन्तु हमारी भोग-लिप्सा और भगवान्‌के प्रति उदासीनता इस बातको सिद्ध करती है कि हमलोगोंको भगवान्‌के लिये जोरकी भूख या प्यास नहीं लगी। जिस दिन वह भूख लगेगी उस दिन भगवान्‌को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु हमें नहीं सुहावेगी। उस दिन हमारा चित्त सब ओरसे हटकर केवल उसीके चिन्तनमें तल्लीन हो जायगा। जिस प्रकार विशाल साम्राज्यके प्राप्त हो जानेपर साधारण कौड़ियोंके तुच्छ व्यापारसे स्वाभाविक ही मन हट जाता है, उसी प्रकार जगत्‌के बड़े-से-बड़े भोग हमें तुच्छ और नीरस मालूम होने लगेंगे। उस समय हम अनायास ही कहने लगेंगे—

इस जगकी कोई बस्तु न हमें सुहाती।
पल-पलमें श्यामल मूर्ति स्मरण है आती॥

भगवान् परम मधुर और परम आनन्दस्वरूप होनेपर भी हमें उनकी ओर पूरा आकर्षण नहीं है, इसका कारण यही है कि हमने उनके महत्त्वको भलीभाँति समझा नहीं, इसीलिये अमृतको छोड़कर हम रमणीय विषयोंके विषभरे लड्डुओंके लिये दिन-रात भटकते हैं और उन्हें खा-खाकर बारम्बार मृत्युको प्राप्त

होते हैं! भगवान्‌के दर्शन दुर्लभ नहीं, दुर्लभ है उनके दर्शनकी दम्भशून्य और एकान्तमें लालसा। वे भगवान् जो नित्य और सत्य हैं, हर समय हर स्थानमें व्यापक हैं; किसी एक युगविशेषमें उनके दर्शन न हों यह बात कैसे मानी जा सकती है? ऐसा कहनेवाले लोग या तो श्रद्धासे रहित हैं या भगवान्‌की महिमाका भाव समझनेके लिये उन्हें कभी अवसर नहीं मिला।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन नेत्रोंकी सफलता नित्य अतृप्तरूपसे उस नवीननीलनीरज श्यामसुन्दरकी विश्व-विमोहिनी रूपमाधुरीका दर्शन करनेमें ही है। परन्तु जहाँतक भगवत्-कृपासे इन नेत्रोंको दिव्यभाव नहीं प्राप्त होता वहाँतक ये नेत्र उस रूपछटाके दर्शनसे वंचित ही रहते हैं। नेत्रोंको दिव्य बनाकर उन्हें सार्थक करनेका 'सिद्धमार्ग' उपर्युक्त 'परम व्याकुलता' ही है। जिस महानुभावके हृदयमें श्रीकृष्णदर्शनकी तीव्रतम विरहाग्नि जल रही है वह तो सर्वथा स्तुतिका पात्र है। विरहाग्नि प्राय: बाहर नहीं निकला करती और जब कभी वियोग-वेदना सर्वथा असह्य होकर बाहर फूट निकलती है, तब वह उसके सारे पाप-तापोंको तुरंत जलाकर उसे प्रेममें पागल बना देती है। उस समय वह भक्त अनन्य प्रेममें मतवाला भक्त-व्रजगोपियोंकी भाँति सब कुछ भूलकर उस प्राणाधिक मनमोहनके दर्शनके लिये दौड़ता है और अपनी सारी शक्ति और सारा उत्साह लगाकर उसको पुकारता है। बस, इसी अवस्थामें उसे भगवान्‌के दर्शन प्राप्त होते हैं। दर्शन उसी रूपमें होते हैं कि जिस रूपमें वह दर्शन करना चाहता है एवं व्यवहार, बर्ताव या वार्तालाप भी प्राय: उसी प्रकारका होता है कि जिस प्रकार उसने पहले चाहा है।

ऐसी स्थितिको प्राप्त होनेके लिये साधकको चाहिये कि पहले वह सत्संगके द्वारा भगवान्‌के अतुलनीय महत्त्वको कुछ समझे और उसके निरन्तर नामजप तथा ध्यानके द्वारा अपने अन्तरमें उसके प्रति कुछ प्रेम उत्पन्न करे। ज्यों-ज्यों भगवत्-प्रेमसे हृदय भरता जायगा त्यों-ही-त्यों वहाँसे विषय हटते चले जायँगे। यों करते-करते जिस दिन वह अपना हृदयासन केवल परमात्माके लिये सजा सकेगा, उसी दिन और उसी क्षणमें उसके हृदयमें परम व्याकुलता उत्पन्न होगी और वह व्याकुलता अत्यन्त तीव्र होकर भगवान्‌के हृदयमें भी भक्तको दर्शन देनेके लिये वैसी ही व्याकुलता उत्पन्न कर देगी। इसके बाद तत्काल ही वह शुभ समय प्राप्त होगा, जिसमें कि भक्त और भगवान्‌का परस्पर प्रत्यक्ष मिलन होगा और उससे भूमि पावन हो जायगी।

क्या दूसरे भी देख-सुन सकते हैं?

एक सज्जन लिखते हैं—'कल्याण' में 'क्या भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन हो सकते हैं?' शीर्षक लेख पढ़कर चित्त अति आनन्दित हुआ और विश्वास होता है कि दयामय प्रभुका दर्शन इस चर्मचक्षुसे महानुभाव भक्तोंको निश्चय हो सकता है, पर अब यह जाननेकी इच्छा होती है कि यदि कोई भगवद्भक्त इस चर्मचक्षुसे स्थूल शरीरमें प्रभुका एकान्तमें दर्शन करता हो और कुछ वार्तालाप भी करता हो, जैसे स्त्री अपने पतिसे या पिता अपने पुत्रसे, तो उस समय यदि दूसरा भक्त वहाँ चला जाय या छिपकर देखे तो उस भक्तको भी प्रभुके दर्शन चर्मचक्षुसे वैसे ही हो सकते हैं और वह उनका वार्तालाप सुन सकता है या नहीं? कहनेका तात्पर्य यह है कि यदि किसी कोठरीमें किवाड़ बंद करके स्त्री अपने पतिसे वार्तालाप करती हो, उस समय कोई तीसरा व्यक्ति उनके वार्तालाप सुननेकी इच्छासे दरवाजेपर जाकर किवाड़की सूराखसे सुनना चाहता है, तो वह देख या सुन सकता है। उसी तरह एक भक्तको प्रभुसे वार्तालाप करते दूसरा भक्त चर्मचक्षुसे प्रभुको उसी स्वरूपमें देख सकता है या नहीं? यदि इसके उत्तरमें यह कहा जाय कि उस भक्तको भी ईश्वरमें उतना ही प्रेम होना चाहिये तो हम कहेंगे कि पूर्व उदाहरणमें तीसरे व्यक्तिको स्त्री-पतिके समान प्रेम नहीं होते हुए भी वह वार्तालाप सुन सकता है; तो यहाँ भी वैसा ही क्यों नहीं होना चाहिये?

इस प्रश्नका उत्तर यह है कि वास्तवमें इस विषयमें कोई खास नियम नहीं देखनेमें आता। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, वे चाहें तो पात्रापात्रका भेद छोड़कर सबके सामने प्रकट हो सकते हैं। वे चाहें तो बहुत-से लोगोंके सामने अपने भक्तसे चुपचाप बातचीत करके चले जा सकते हैं, दूसरोंको पता भी नहीं लगता। वे चाहें तो दूसरोंको पता लगनेपर भी उनको अपना दर्शन नहीं देते या अपनी वाणी नहीं सुनाते। वे चाहते हैं तो उस एक भक्तके

अतिरिक्त अन्यान्य अनेकमें किसी एक या दोको अथवा अधिकको दर्शन देकर बातें कर-कर या केवल बातें सुनाकर अन्तर्धान हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि वे सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। अघटनघटनापटीयसी माया देवी जिनकी चेरी है, उनके लिये कौन-सा कार्य असम्भव है? उनकी इच्छापर और किसीकी भी इच्छा नहीं चलती! हाँ, यदि कोई प्यारा भक्त माता-पिताके अड़ियल बच्चेकी तरह किसी बातका जिद्द कर बैठता है तो वह भगवान्‌को अपनी इच्छाके अनुकूल कार्य करनेमें भी बाध्य कर सकता है। क्योंकि भगवान् सर्वशक्तिमान् होते हुए भी भक्तोंकी प्रेमडोरीमें बँधे हुए उनके इशारेपर नाचनेको तैयार रहते हैं, वे भक्तोंकी उपासना किया करते हैं। त्रिभुवनको नचानेवाले ब्रह्म श्यामरूपसे यशोदाकी डोरीमें ऊखलसे बँध जाते हैं, समस्त विश्वका भरण-पोषण करनेवाले विश्वम्भर छछियाभर छाछके लिये व्रजकी ग्वालिनोंके इशारेपर नाचने लगते हैं। भक्त रसखानने क्या ही सुन्दर कहा है—

सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥
जाहि हिये लखि आनँद ह्वै जड़ मूढ़ हिये रसखान कहावैं।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

भक्तिके बलसे भक्त सब कुछ करनेमें समर्थ रहता है। भगवान् कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः॥
वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
यथाग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २०—२५)

'हे उद्धव! मेरी दृढ़ भक्तिके समान योग, विज्ञान, वेदाध्ययन, तप और दान आदि साधनोंसे मैं नहीं मिल सकता। साधुजनोंका प्यारा आत्मा मैं श्रद्धासम्पन्न भक्तिसे ही सुलभतासे मिलता हूँ। मेरी भक्ति चाण्डाल आदिको भी पवित्र बना देती है, यह निश्चय समझो कि सत्य और दयासे युक्त धर्म तथा तपयुक्त ज्ञान मेरी भक्तिसे रहित जीवको पूर्णरूपसे पवित्र नहीं कर सकते। बिना रोमांच हुए, बिना आनन्दके आँसू बहाये भक्तिका ज्ञान क्योंकर हो सकता है? बिना भक्तिके हृदय शुद्ध कैसे हो सकता है? मेरी भक्तिसे जिसकी वाणी गद्गद हो जाती है, हृदय पिघल जाता है, जो बारम्बार उच्चस्वरसे नाम लेकर मुझे पुकारता है, कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोड़कर नाचता है, ऊँचे स्वरसे मेरे गुण गाता है वह मेरा पूर्ण भक्त तीनों लोकोंको पवित्र करता है। जैसे अग्निमें तपनेसे सुवर्ण मैल छोड़कर अपने रूपको प्राप्त होता है, वैसे ही मेरे भक्तियोगसे आत्मा भी कर्मवासना त्यागकर मुझ (परमात्मा)-को प्राप्त होता है।' भगवान्‌ने श्रीगीतामें भी कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११। ५४)

'हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिसे ही मैं इस (चतुर्भुज) रूपमें प्रत्यक्ष देखा, तत्त्वसे जाना और ऐक्यभावसे प्राप्त किया जा सकता हूँ।'

ऐसे परमात्मामें अभिन्नरूपसे स्थित पूर्ण भक्त यदि चाहें तो सब कुछ कर सकते हैं, परंतु वे ऐसा करते नहीं। वे अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा ही नहीं रखते, वे तो अपने मनको और अपनी इच्छाओंको भगवान्‌के मन और उसकी इच्छामें एकमेक कर देते हैं, अतएव भगवान् और भक्तकी इच्छाओंमें परस्पर विरोध होना बड़ा ही कठिन है। वे तो दोनों एक-दूसरेके हृदयमें अभिन्नरूपमें स्थित रहते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६८)

'साधुजन मेरा हृदय हैं और मैं साधुजनोंका हृदय हूँ, वे लोग मेरे सिवा और किसीको नहीं जानते और मैं उनके सिवा अन्य किसीको नहीं जानता।'

इससे अब सारी बातें भगवान्‌की इच्छापर रह जाती हैं। इसमें स्त्री-पुरुषका उदाहरण नहीं दिया जा सकता। वे साधारण मनुष्य होते हैं, उनके गुप्त रहस्यको छिपकर कोई भी देख या सुन सकता है, परंतु

सर्वतश्चक्षु सर्वान्तर्यामी सर्वसमर्थ भगवान्के लिये ऐसी बात नहीं है और न इसमें कोई आश्चर्यकी या अप्राकृत बात ही है। योगी अपने योगबलसे सबके सामने अदृश्य रह सकता है, अपनी वाणीका उपयोग अपने इच्छानुसार जनसमूहमें किसी एकके साथ ही कर सकता है। पूर्वकालके ऐसे अनेक सिद्धि-प्राप्त राक्षसोंके भी इतिहास मिलते हैं जो एकसे अदृश्य रहकर सबके सामने प्रकट हो सकते थे या सबसे अदृश्य रहकर एकके सामने प्रकट होते थे। मयदानवकी कारीगरीमें जलका स्थल और स्थलका जल दीखता था। न दीखना, एकको दीखना, छोटा-बड़ा या भिन्न-भिन्न आकारमें दीखना—ये सब सिद्धियोंके कार्य हैं। जब आसुरी सम्पत्तिवाले लोग भी सिद्धि प्राप्तकर ऐसा आचरण कर सकते हैं तब पूर्ण-योगेश्वर, समस्त सिद्धियोंके आधार, करने, न करने और अन्यथा करनेमें सर्वथा समर्थ भगवान् जो चाहें सो करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? भगवान् श्रीकृष्ण कंसराजकी सभामें प्रवेश करते समय एक ही अनेक रूपोंमें दीख पड़े थे—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४३। १७)

‘रंगभूमिमें बलदेवजीसहित भगवान् श्रीकृष्ण मल्लोंको वज्रके रूपमें, मनुष्योंको मनुष्य श्रेष्ठरूपमें, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेवके रूपमें, सुदामा, श्रीदामा आदि गोपोंको स्वजनरूपमें, दुष्ट राजाओंको शासकके रूपमें, माता और पिताको बालकरूपमें, कंसको साक्षात् मृत्युरूपमें, अज्ञानियोंको जडरूपमें, योगियोंको परमतत्त्व परब्रह्मरूपमें और यादवोंको परमदेवताके रूपमें दीख पड़े।’ अतएव यह कोई नियम नहीं है कि भगवान् एकको एक ही रूपमें दीखें या सभीको दीखें अथवा उनकी बातें एकको ही सुनें या सबको सुनें। वे चाहे सो कर सकते हैं। भक्तको दर्शन देने और उससे बातें करनेमें प्रेम तो प्रधान है ही परंतु, वे कब, कैसा, क्यों और क्या कार्य करना चाहते हैं, इस बातको वही जानते हैं, हमलोग अपनी संसारी बुद्धिसे उसका निर्णय करनेमें असमर्थ हैं।

हमें तो इसी बातपर विश्वास करना चाहिये कि भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन हो सकते हैं, एकान्तमें हो सकते हैं और जनसमूहमें भी। भगवान्की अनूप रूप-माधुरी और उनकी अमृतको लजानेवाली मधुर वाणी उनके इच्छानुसार एक या दो भक्तोंके दृष्टि और श्रुतिगोचर हो सकती है और सबके भी!

इस विश्वासके साथ अपने माने हुए समस्त भोग्यपदार्थोंको उस परम प्रियतमके चरणकमलोंमें समर्पण कर उसीके परायण हो उसके विश्व-मोहन-दर्शन करनेके लिये उसीकी भक्तिका आश्रय ग्रहण करना चाहिये, इसीमें कल्याण है।

भगवान् कहाँ रहते हैं?

एक समय बहुत-से ब्राह्मणोंने भगवान् व्यासजीसे किसी ऐसे यज्ञकी विधि पूछी, जिसका अनुष्ठान सभी वर्णोंके छोटे-बड़े सब लोग कर सकते हों और जिसके करनेसे मनुष्य देवताओंका भी पूज्य बन सकता हो। व्यासजीने जवाब देते हुए कहा—मैं आपलोगोंको पाँच आख्यान सुनाता हूँ। इन आख्यानोंके अनुसार व्यवहार करनेसे स्वर्ग, यश और मोक्षकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है। (१) माता-पिताकी सेवा (२) पतिसेवा, (३) सर्वभूतोंमें समदृष्टि, (४) मित्र-द्रोह न करना और (५) भगवान् विष्णुकी भक्ति करना—ये पाँच महायज्ञ हैं।

हे ब्राह्मणो! मनुष्य माता-पिताकी सेवासे जिस पुण्यको प्राप्त होता है वह पुण्य सैकड़ों यज्ञ और तीर्थयात्रादिसे भी नहीं मिलता।

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥

‘पिता ही धर्म है, पिता ही स्वर्ग है, पिता ही परम तप है, पिताके प्रसन्न होनेसे सारे देवता प्रसन्न होते हैं। जिस मनुष्यकी सेवासे और गुणोंसे माता-पिता प्रसन्न होते हैं, वह गंगास्नानका फल पाता है। माता सर्वतीर्थमयी और पिता सर्वदेवमय है। ऐसे माता-पिताकी जो पुत्र प्रदक्षिणा करता है, वह पृथ्वीभरकी प्रदक्षिणा कर चुका। माता-पिताको प्रणाम करते समय जिसके दोनों घुटने, दोनों हाथ और मस्तक पृथ्वीपर टिकते हैं वह अक्षय स्वर्ग प्राप्त करता है। जो पुत्र माता-पिताके चरण धोकर चरणामृत लेता है उसके पाप नष्ट हो जाते हैं।

जो नीच मनुष्य कड़ी जबानसे माता-पिताका अपमान करता है वह अनेक कालतक नरकमें रहता है। जो अधम मनुष्य माता-पिताकी सेवा किये बिना ही भोजन करता है वह मरनेपर कृमिकूप नामक नरकमें जाता है। जो मनुष्य रोगी, वृद्ध, वृत्तिहीन, अन्धे या बहरे पिताका त्याग कर देता है वह रौरव-नरकमें जाता है। माता-पिताका पालन न करनेसे मनुष्यके समस्त पुण्य नष्ट हो जाते हैं और उसे म्लेच्छ-चाण्डालादि योनिमें जन्म लेना पड़ता है। माता-पिताकी सेवा न करके तीर्थसेवा या देवाराधना करनेसे उनका फल नहीं मिलता। हे ब्राह्मणो! इस सम्बन्धमें एक पुराना इतिहास कहता हूँ, मन लगाकर सुनो।

प्राचीन कालमें नरोत्तम नामक एक ब्राह्मण था, वह माता-पिताकी सेवा छोड़कर तीर्थयात्राके लिये घरसे निकला। तीर्थसेवाके बलसे उसकी नहाकर धोयी हुई धोती प्रतिदिन बिना ही आधार आकाशमें उड़कर सूखने लगी। इस प्रकार कुछ समय बीतनेपर उस ब्राह्मणको अहंकार हो गया और वह कहने लगा कि मेरे समान पुण्यवान् और यशस्वी मनुष्य संसारमें दूसरा नहीं है। उसी समय एक बगुलेने उसके मुँहपर बीट कर दी। इससे उसको बड़ा क्रोध हुआ और उसने बगुलेको शाप दे डाला। शाप देते ही बगुला पृथ्वीपर पड़कर भस्म हो गया। इस जीवहिंसाके फलसे ब्राह्मणके मनमें मोह हो गया। उसकी गीली धोती जो अबतक बिना ही आधार आकाशमें सूखती हुई उसके साथ चलती थी, अब नहीं चली। जीवहिंसाके पापसे उसकी यह सिद्धि जाती रही। इस घटनासे ब्राह्मणको बड़ा दुःख हुआ। तब यह आकाशवाणी हुई कि 'हे ब्राह्मण! तुम परम धार्मिक मूक चाण्डालके पास जाओ। वहाँ जानेपर तुम्हें धर्मके असली मर्मका पता लगेगा और उसके उपदेशसे तुम्हारा मंगल होगा।'

इस आकाशवाणीको सुनकर ब्राह्मण मूक चाण्डालके घर गया। वहाँ जाकर ब्राह्मणने देखा कि वह चाण्डाल सबेरेसे माता-पिताकी सेवामें लगा हुआ है। जाड़ेके दिनोंमें वह गर्म जल, तेल, अग्निताप, ताम्बूल और बहुत-सी रूईके बिछौने आदिसे उनकी सेवा करता। वह चाण्डाल रोज उनको खानेके लिये मधुर अन्न और दूध देता। वसन्त-ऋतुमें मधु, सुगन्धित माला और अन्यान्य रुचिकर पदार्थोंसे तथा गर्मीके दिनोंमें पंखेसे हवा करके उनकी सेवा करता। नित्य उनकी सेवा करनेके बाद वह भोजन करता। इस प्रकार वह चाण्डाल सर्वदा माता-पिताकी थकावट मिटाने और उनको सुख पहुँचानेके काममें लगा रहता। उसके इस पुण्यबलसे विष्णुभगवान् उसके घरमें बहुत दिनोंसे निवास करने लगे थे। ब्राह्मणने उस चाण्डालके घरमें एक ऐसे कमरेमें, जो बिना ही खम्भोंके खड़ा था, त्रिभुवनेश्वर परमपुरुष अन्य प्राणियोंसे अतुलनीय तेजोमय महासत्त्व विष्णुभगवान्को सुन्दर ब्राह्मण-शरीरसे चाण्डालके घरकी शोभा बढ़ाते हुए देखा। तदनन्तर उसने आश्चर्यमें भरकर मूक चाण्डालसे कहा कि 'चाण्डाल! तू मेरे पास आ। मैं तेरी सहायतासे परमपद पानेकी इच्छा करता हूँ। सब लोगोंके लिये खासकर मेरे लिये जो हितकर हो, मुझको तू वही उपदेश कर।' मूकने कहा, 'मैं इस समय अपने माता-पिताकी सेवामें लगा हूँ, आपके पास कैसे आऊँ? इनकी सेवा कर चुकनेपर आपका काम करूँगा। आप दरवाजेपर ठहरिये, मैं आपका आतिथ्य करूँगा।'

चाण्डालकी यह बात सुनकर ब्राह्मणने क्रोधित होकर कहा—'मैं ब्राह्मण हूँ, मुझको छोड़कर ऐसा कौन-सा श्रेष्ठ कार्य है जिसे तू करना चाहता है?' मूकने कहा—'हे ब्राह्मण! आप व्यर्थ ही क्यों क्रोध करते हैं? मैं बगुला नहीं हूँ जो आपके क्रोधसे जल जाऊँ। आकाशमें अब आपकी धोती नहीं सूखती, आप आकाशवाणी सुनकर यहाँ आये हैं, इस बातको मैं जानता हूँ। आप जरा ठहरिये मैं उपदेश दूँगा। जल्दी हो तो आप पतिव्रताके पास जाइये, वहाँ जानेसे आपका कार्य सफल होगा।'

इसके बाद ब्राह्मणरूपी भगवान् विष्णुने मूकके घरसे निकलकर नरोत्तमसे कहा कि 'चलो, मुझे भी उसी पतिव्रताके घर जाना है।' नरोत्तम कुछ सोचता हुआ उनके साथ हो लिया। रास्तेमें आश्चर्य प्रकट करते हुए नरोत्तमने ब्राह्मण-वेषधारी विष्णुसे पूछा कि 'विप्रवर! आप स्त्रियोंसे युक्त चाण्डालके घरमें सदा क्यों रहते हैं?' हरिने कहा, 'अभी तुम्हारा चित्त शुद्ध नहीं हुआ है। पतिव्रता आदिसे मिलनेके बाद तुम मुझे पहचान सकोगे।' नरोत्तमने कहा, 'हे द्विज! वह पतिव्रता कौन है? उसमें ऐसी कौन-सी महान् बात है जिसके लिये मैं वहाँ जा रहा हूँ?' हरिने कहा, 'जैसे नदियोंमें गंगा, मनुष्योंमें राजा और देवताओंमें जनार्दन श्रेष्ठ हैं, वैसे ही स्त्रियोंमें पतिव्रता प्रधान है। जो पतिव्रता स्त्री नित्य पतिके प्रिय हित-कार्यमें रत है वह दोनों कुलोंका उद्धार करती है और प्रलयकालपर्यन्त स्वर्गमें रहती है।

उसका पति अगर स्वर्गसे गिरता है तो वह सार्वभौम राजा होकर पृथ्वीपर जन्म लेता है और पतिव्रता उसकी रानी होकर सुख भोग करती है। इस प्रकार बारम्बार स्वर्ग-राज्यका उपभोग करनेके अनन्तर वे दोनों मुक्त हो जाते हैं।' नरोत्तमने फिर पूछा कि 'वह पतिव्रता कौन है ? उसके क्या लक्षण हैं ? मुझे यथार्थरूपसे समझाइये!' हरिने कहा, 'जो स्त्री पुत्रकी अपेक्षा सौ गुने स्नेहसे पतिकी सेवा करती है और शासनमें उसे राजाके समान मानती है, वही स्त्री पतिव्रता है'—

कार्ये दासी रतौ रम्भा भोजने जननीसमा।
विपत्सु मन्त्रिणी भर्तुः सा तु भार्या पतिव्रता॥

'जो स्त्री काम-काजमें दासी, रतिकालमें रम्भा, भोजन करानेमें जननी और विपत्तिकालमें सत् परामर्श देनेवाली होती है वही पतिव्रता है। जो स्त्री मन, वाणी, शरीर या कर्मसे कभी पतिके विरुद्ध आचरण नहीं करती, वही पतिव्रता है, जो केवल अपने पतिकी सेजपर ही सोती है, नित्य पतिकी सेवा करती है, कभी मत्सरता, कृपणता या अभिमान नहीं करती, मान-अपमानमें पतिको समानभावसे ही देखती है, वही साक्षात् पतिव्रता है। जो सती स्त्री सुन्दर वस्त्राभूषणधारी, भ्राता और पुत्रको देखकर भी उन्हें परपुरुष समझती है वही यथार्थ पतिव्रता है। हे द्विजवर! तुम उस पतिव्रताके पास जाकर अपनी मनोकामना उससे कहो। तुम जिसके घर जा रहे हो, उस ब्राह्मणके आठ स्त्रियाँ हैं, उनमें जो रूप-यौवनसम्पन्ना, यशस्विनी और दयावती है उसीका नाम शुभा है, वह प्रसिद्ध पतिव्रता है। तुम उसके पास जाकर अपने हितकी बातें उससे पूछो।' इतना कहकर भगवान् हरि अन्तर्धान हो गये। नरोत्तमको उनके अन्तर्धान होते देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। नरोत्तमने उस पतिव्रताके घर पहुँचकर उससे अपने हितकी बात पूछी। पतिव्रता सती अतिथिकी बात सुनकर घरके बाहर आयी और ब्राह्मणको देखकर दरवाजेपर खड़ी रह गयी। ब्राह्मणने पतिव्रताको देखकर हर्षके साथ कहा—'साध्वी! आपको जो कुछ मालूम है सो मेरे हितके लिये कहिये।' पतिव्रताने कहा, 'इस समय तो मुझे पतिकी सेवा करनी है, मुझे अभी फुरसत नहीं है, पीछे आपका काम करूँगी, आज आप यहीं आतिथ्य ग्रहण करें।' ब्राह्मणने कहा, 'कल्याणी! मुझे आज भूख, प्यास या थकावट कुछ भी नहीं है। मैं जिस विषयको जानना चाहता हूँ वह मुझे बतला दो, नहीं तो तुम्हें शाप दूँगा।' इसपर पतिव्रताने कहा कि 'हे द्विजोत्तम! मुझे आप वह बगुला न समझें। आप धर्म तुलाधारके पास जाकर उससे अपने हितकी बात पूछें, वे आपको हितोपदेश करेंगे।'

महाभागा शुभा इतना कहकर घरके अंदर चली गयी, इसके बाद नरोत्तमने उसके घरमें जाकर देखा कि वही ब्राह्मण जो मूक चाण्डालके घरमें था और बहुत दूरतक साथ-साथ आया था, यहाँ भी बैठा हुआ है। नरोत्तमको इससे बड़ा अचम्भा हुआ, उसने ब्राह्मणरूपी विष्णुके पास जाकर कहा कि 'देशान्तरमें मेरे सम्बन्धमें जो घटना हुई थी, मालूम होता है आपने ही इन लोगोंसे उसे कह दिया है, नहीं तो चाण्डाल और इस पतिव्रताको मेरी उस घटनाका हाल कैसे मालूम होता ?' हरिने कहा, 'भूतभावन महात्मागण अपने पुण्य और सदाचारके बलसे सभी बातें जान सकते हैं। पतिव्रताने तुमसे क्या कहा है सो मुझे बतलाओ।' नरोत्तमने कहा, 'मुझे पतिव्रताने धर्म तुलाधारके पास जाकर प्रश्न करनेका आदेश किया है।' हरिने कहा, 'अच्छी बात है, तुम मेरे साथ चलो, मैं भी वहीं जाऊँगा।' इतना कहकर हरि चलनेको तैयार हो गये। नरोत्तमने पूछा, 'उस धर्म तुलाधारका मकान कहाँ है ?' हरि बोले, 'जहाँपर लोग बहुत-सी चीजें खरीदते-बेचते हैं उसी बाजारमें तुलाधार रहते हैं। लोग धान, रस, तैल, अन्न आदि वस्तुएँ उसके धर्मकाँटेपर तौलाकर देते-लेते हैं। वह नरश्रेष्ठ प्राण जानेपर भी कभी झूठ नहीं बोलता। उसके इसी कामसे उसका नाम धर्म तुलाधार पड़ गया है। हरिके इतना कहते-कहते ही नरोत्तम तुलाधारके पास पहुँच गया। देखा तुलाधार बहुत-सा रस बेच रहा है। उसका शरीर मैला-कुचैला हो रहा है। वह लेन-देन-सम्बन्धी अनेक प्रकारकी बातें कर रहा है। अनेक प्रकारके नर-नारियोंने उसे चारों ओरसे घेर रखा है। तुलाधारने ब्राह्मणको देखते ही कहा, क्यों-क्यों ? क्या काम है ?' यों उसकी बात सुनकर ब्राह्मणने मधुर वाणीसे कहा, 'भाई! मैं तुम्हारे पास धर्मोपदेश ग्रहण करने आया हूँ, तुम मुझे उपदेश करो।' तुलाधारने कहा, 'महाराज! अभी तो मेरे ग्राहकोंकी भीड़ लग रही है, एक पहर राततक मुझे फुरसत नहीं मिलेगी। आप मेरे कहनेसे धर्माकरके पास जाइये। बगुलेकी हिंसाका दोष और आकाशमें धोती न सूखनेका कारण आदि सभी बातें वे आपको बतला सकते हैं। उनका नाम अद्रोहक है, वे बड़े ही सज्जन हैं, उनके उपदेशसे आपके सम्पूर्ण काम सफल हो सकेंगे।' तुलाधार

ब्राह्मणसे इतना कहकर फिर अपने लेन-देनमें लग गया। तब नरोत्तमने ब्राह्मण-वेषधारी हरिसे कहा, 'महाराज! मैं तुलाधारके उपदेशसे अद्रोहकके पास जाऊँगा, परंतु मैं उनका घर नहीं जानता, क्या आप बतला देंगे?' हरिने कहा, 'आओ-आओ! मैं अभी तुम्हारे साथ उनके घर चलूँगा।' रास्तेमें नरोत्तमने हरिसे पूछा, 'महाराज! यह तुलाधार समयपर स्नान या देव-पितृ-तर्पण कुछ भी नहीं करता। इसका सारा शरीर मैला हो रहा है, कपड़ोंमें गन्ध आ रही है, यह मेरी देशान्तरमें होनेवाली घटनाओंको कैसे जान गया? यह सब देखकर मुझे बड़ा ही ताज्जुब हो रहा है, आप इसका कारण बतलाइये।' हरिने कहा, 'सत्य और समदर्शनके प्रतापसे तुलाधारने तीनों लोकोंको जीत लिया है, इसीसे देव-पितर और मुनिगण भी इससे तृप्त हो गये हैं और इसी कारणसे यह भूत, भविष्यत् और वर्तमानकी सब कुछ जानता है—

नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकः परम्।
विशेषे समभावस्य पुरुषस्यानघस्य च॥
अरौ मित्रेऽप्युदासीने मनो यस्य समं व्रजेत्।
सर्वपापक्षयस्तस्य विष्णुसायुज्यतां व्रजेत्॥

'सत्यसे बढ़कर परम धर्म नहीं है और झूठसे बढ़कर बड़ा पाप नहीं है। जो निष्पाप समदर्शी पुरुष हैं, शत्रु, मित्र और उदासीन सभी जिनके मन समान हैं, उनके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और वे विष्णुभगवान्‌के सायुज्य (मोक्ष)-को प्राप्त होते हैं। जो मनुष्य सदा ही ऐसा व्यवहार करते हैं, वे अपने कुलोंका उद्धार करनेवाले होते हैं। सत्य, दम, शम, धैर्य, स्थिरता, अलोभ और अनालस्य सभी उनमें रहते हैं। वह धर्मज्ञ देव और नरलोकके सभी विषयोंको जानते हैं, उनके देहमें साक्षात् श्रीहरि निवास करते हैं, जगत्‌में उनके समान कोई नहीं होता। जो सत्य, सरल और समदर्शी हैं वह साक्षात् धर्ममय हैं। वास्तवमें इस जगत्‌को वही धारण करते हैं। इसपर नरोत्तमने कहा, 'आपकी कृपासे मैंने तुलाधारका रहस्य तो जाना, अब यदि आप उचित समझें तो अद्रोहकका भी इतिहास बतला दें।' हरिने कहा, 'किसी एक राजकुमारके सुन्दरी नामकी एक परम सुन्दरी नवयुवती भार्या थी। वह अपने पतिको बड़ी ही प्यारी थी। राजकुमारको किसी खास कामसे अकस्मात् बाहर जानेकी आवश्यकता पड़ी, वह अपने मनमें चिन्ता करने लगा कि 'इस प्राणोंकी पुतली प्रियाको किसके पास छोड़कर जाऊँ, कहाँ इसकी रक्षा हो सकेगी? अन्तमें उसने अद्रोहकके पास जाकर कहा कि 'मैं बाहर जाता हूँ, जबतक लौटकर न आऊँ तबतक मेरी इस नवयुवती सुन्दरी स्त्रीकी रक्षाका भार तुम ग्रहण करो।' राजकुमारके इस प्रस्तावसे अद्रोहकने आश्चर्यमें पड़कर कहा कि 'मैं तो आपका पिता, भाई या मित्र नहीं हूँ, न आपके माता-पिताके कुलसे ही मेरा सम्बन्ध है। आपकी पत्नीसे भी मेरा कोई कौटुम्बिक सम्बन्ध नहीं है, इस अवस्थामें मेरे घर अपनी स्त्रीको रखकर आप कैसे स्वस्थ रह सकेंगे?' राजकुमारने कहा, 'संसारमें आपके समान धर्मज्ञ और जितेन्द्रिय पुरुष दूसरा कोई नहीं है।' अद्रोहकने कहा, आप बुरा न मानें, देखिये, त्रैलोक्यमोहिनी भार्याकी कौन पुरुष रक्षा कर सकता है?' राजकुमार बोले, 'मैं अच्छी तरह सोच-समझकर ही आपके पास आया हूँ। मेरी स्त्रीको आप ही रखिये, मैं अपने घर जाता हूँ।' राजपुत्रके ऐसा कहनेपर अद्रोहकने फिर कहा, 'इस शोभायुक्त नगरीमें कामी पुरुषोंकी भरमार है, मैं कैसे तुम्हारी स्त्रीकी रक्षा कर सकूँगा?' राजकुमारने कहा, 'आप जैसे ठीक समझें वैसे ही रक्षा करें, मैं चलता हूँ।' गृहस्थ अद्रोहकने धर्म-संकटमें पड़कर राजकुमारसे कहा, 'हे पिता! मैं इस अरक्षिता स्त्रीकी रक्षा-निमित्त जो देखनेमें अनुचित होगा, ऐसा कर्म भी उचित और हितकर समझकर करूँगा। मैं इसे रातको अकेली नहीं रख सकता, अतएव मैं अपनी भार्याके साथ जिस शय्यापर सोता हूँ उसीपर इसे भी सोना पड़ेगा। आपको इसमें आपत्ति हो तो अपनी स्त्रीको वापस ले जाइये, नहीं तो छोड़ जाइये।' राजकुमारने कुछ देरतक सोचकर कहा, 'अच्छी बात है, आप जैसा उचित समझें वैसा ही करें।' तदनन्तर राजकुमारने अपनी पत्नीसे कहा, 'सुन्दरि! इनके आज्ञानुसार सब काम करना, इसमें तुम्हें कोई दोष नहीं लगेगा।' राजपुत्र इतना कहकर अपने पिता नरेशके आज्ञानुसार वहाँसे चला गया। अद्रोहकने रातको वही किया। वह धार्मिक पुरुष रातको अपनी स्त्री और राजपुत्र-पत्नीके बीचमें एक शय्यापर सोने लगा, परंतु धर्मपथसे कभी नहीं डिगा। राजकुमार-पत्नीका नींदमें कभी अंग-स्पर्श होता तो उसे अपनी जननीके अंगके समान प्रतीत होता। वह इस प्रकार मन-इन्द्रियोंको जीतकर रहा कि उसकी स्त्री-संग-प्रवृत्ति ही जाती रही! इस प्रकार छः महीने बीतनेपर राजकुमार विदेशसे लौटकर घर आया। बराबरीवालोंने पूछा, तुम्हारी स्त्री पीछेसे कहाँ रही?' उसने कहा, 'अद्रोहकके घर।' कुछ युवकोंने

व्यंग्यसे कहा, 'अच्छा किया जो अपनी स्त्री अद्रोहकको दान कर गये, वह रातको उसके साथ सोता था। स्त्री-पुरुषके एक साथ सोनेपर भी क्या कभी संयम रह सकता है?' इस तरह लोग तरह-तरहके दोष लगाने लगे। अद्रोहकको इस बातका पता लगा, तब उसने इस जनापवादकी निवृत्तिके लिये काठकी एक चिता बनाकर उसमें आग लगा दी। इतनेमें ही राजपुत्र वहाँ आ पहुँचा, राजकुमारने अपनी स्त्रीको प्रसन्नमुख और अद्रोहकको विषादयुक्त देखकर अद्रोहकसे कहा, 'भाई! मैं आपका मित्र बहुत दिनों बाद विदेशसे लौटकर आया हूँ, आप मुझसे बोलते क्यों नहीं हैं?'

अद्रोहकने कहा, 'मैंने आपकी स्त्रीको घर रखकर बदनामी मोल ले ली, उसे दूर करनेके लिये मैं आज अग्निमें प्रवेश करूँगा, सम्पूर्ण देवता मेरे कृत्यको देखें।' इतना कहकर अद्रोहक धधकती हुई अग्निमें कूद पड़ा, परंतु आश्चर्य कि उसका एक बाल भी नहीं जला। देवतागण आकाशसे साधु-साधु कहने लगे। चारों ओरसे पुष्पवृष्टि होने लगी। जिन लोगोंने अद्रोहकपर दोष लगाया था, उनके मुखोंपर कुष्ठ रोग हो गया। देवताओंने आकर उसको अग्निसे निकाला। मुनियोंने विस्मित होकर सुन्दर पुष्पोंसे उसकी पूजा की। फिर महातेजस्वी अद्रोहकने भी उन सबकी पूजा की। सुर-असुर और मनुष्योंने मिलकर अद्रोहकका नाम सज्जनाद्रोहक रखा। उसकी चरण-रजसे पृथ्वी हरी-भरी हो गयी। तब देवताओंने राजकुमारसे कहा कि 'तुम अपनी स्त्रीको ग्रहण करो, अद्रोहकके समान जगत्में दूसरा कोई नहीं है। जगत्में सभी लोग कामके वश हैं। काम, क्रोध, लोभ सभी प्राणियोंमें हैं, कामसे संसारमें बन्धन होता है, यह जानकर भी लोग अकामी नहीं होते। इस अद्रोहकने कर्तव्य-पालनके लिये कामको जीतकर मानो चौदह भुवनोंको जीत लिया है, इसके हृदयमें नित्य वासुदेव विराजमान हैं।' यों कहकर सबलोग और राजपुत्र अपनी पत्नीसहित अपने-अपने घर चले गये। उस समय अद्रोहकको कामजयके प्रतापसे दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गयी, वह तीनों लोकोंकी सभी बातोंको अनायास देखने और जाननेमें समर्थ हो गया।

इस प्रकार बातें होते-होते ही नरोत्तम ब्राह्मण अद्रोहकके घर आ पहुँचा। नरोत्तमने अद्रोहकसे धर्मका तत्त्व पूछा। अद्रोहकने कहा, 'हे धर्मज्ञ विप्र! आप पुरुषोत्तम वैष्णवके घर जाइये, उनके दर्शनसे ही आपकी मनोकामना पूर्ण हो जायगी। बगुलेकी मृत्यु और धोती सूखने आदिके सभी भेद वे आपको बता सकते हैं।' नरोत्तम यह सुनकर ब्राह्मण-वेषधारी विष्णुके साथ पुरुषोत्तम वैष्णवके घर आया। नरोत्तमने देखा कि वैष्णव परम शुद्ध, शान्त, समस्त उत्तम लक्षणोंसे युक्त और अपने तेजसे देदीप्यमान हो रहे हैं। धर्मात्मा नरोत्तमने उस ध्यानस्थ भगवद्भक्तसे कहा, 'मैं बहुत दूरसे आपके पास आया हूँ, आप मुझे उपदेश कीजिये।' पुरुषोत्तम बोले, 'देवश्रेष्ठ! भगवान् हरि सदा ही तुमपर प्रसन्न हैं, हे ब्राह्मण! आज तुम्हें देखकर मेरे मनमें बड़ा आह्लाद हो रहा है, मेरे घरमें भगवान्के दर्शनसे तुम्हारा अतुलनीय कल्याण होगा। तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।' नरोत्तमने कहा, 'आपके घरमें विष्णुभगवान् कहाँ विराजमान हैं, कृपाकर मुझे दिखला दें।' वैष्णवने कहा, 'इस रमणीय देवमन्दिरमें प्रवेश करते ही तुम भगवान्के दर्शन कर घोर पाप और जन्म-कर्मके बन्धनोंसे छूट जाओगे।' वैष्णवके इन वचनोंको सुनकर नरोत्तमने मन्दिरमें प्रवेश करके देखा कि भगवान्की मूर्तिकी जगह वही ब्राह्मण-वेषधारी विष्णु उसी रूपमें पद्मासनसे बैठे हुए हैं। नरोत्तमने उनको देखते ही मस्तकद्वारा प्रणामकर उनके चरण पकड़ लिये और कहा, 'हे देवेश! मैं आपको पहले पहचान न सका। अब आप मुझपर प्रसन्न होइये, हे प्रभो! मैं इस लोक और परलोकमें आपका दास बना रहूँ। हे मधुसूदन! मुझपर कृपादृष्टि कीजिये। यदि वास्तवमें आपकी मुझपर कृपा है तो अपने स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये।' भगवान्ने कहा, 'हे भूदेव! तुम्हारे प्रति सर्वदा ही मेरा स्नेह है। स्नेहके वश होकर ही मैं भक्तोंको दर्शन दिया करता हूँ। पुण्यात्मा पुरुषोंके एक बारके दर्शन, स्पर्श, ध्यान, कीर्तन और सम्भाषणसे ही पुण्य-लोककी प्राप्ति होती है। उनके नित्य-संगसे तो सारे पाप छूट जाते हैं और अन्तमें वह उनका संग करनेवाला मुझमें मिल जाता है। तुम मेरे भक्त हो, वक-वधसे तुम्हें जो पाप हुआ है उसकी निवृत्तिके लिये तुम फिर उसी मूकके पास जाओ। मूक चाण्डाल पुण्यात्माओंमें प्रधान तीर्थरूप है। उसके दर्शन और मेरे साथ सम्भाषण होनेके कारण ही तुम मेरे मन्दिरमें आ सके हो। जो करोड़ों जन्मोंतक निष्पाप रहते हैं, वही धर्मात्मा पुरुष मेरा दर्शन करनेमें समर्थ हो सकते हैं, अतएव अब तुम अपना इच्छित वर माँगो।'

ब्राह्मणने कहा, 'हे सर्वलोकेश्वर! मैं यही चाहता हूँ कि मेरा मन सर्वथा आपमें लगा रहे, आपके सिवा

और किन्हीं भी पदार्थोंमें मेरा प्रेम न हो। भगवान्ने कहा, 'जब तुम्हारी बुद्धिका ऐसा विकास हो गया है, तब तुम्हारी इच्छा जरूर पूर्ण होगी; परंतु तुम्हारे माता-पिता अबतक तुम्हारी सेवासे वंचित हैं। तुम अपने माता-पिताकी सेवा कर चुकनेके बाद मुझमें विलीन हो सकोगे। तुम्हारे माता-पिताके दुःखभरे लम्बे-लम्बे श्वासोंकी वायुसे तुम्हारा तप नष्ट होता रहता है। अतएव तुम पहले उनकी पूजा करो। जिस पुत्रपर माता-पिताका कोप पड़ता है उसको नरकगामी होनेसे मैं, शिव या ब्रह्मा—कोई नहीं बचा सकते। इसलिये तुम अपने माँ-बापके पास जाकर बड़े यत्नसे उनकी पूजा करो, तदनन्तर उनके प्रसादसे तुम मुझे प्राप्त कर सकोगे।' भगवान्के ये वचन सुनकर ब्राह्मणने फिर हाथ जोड़कर कहा, 'हे नाथ! हे अच्युत! आप यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो एक बार अपने दिव्यरूपका दर्शन कराइये।' तदनन्तर प्रसन्नहृदय भगवान्ने प्रेमवश ब्राह्मणको अपने स्वरूपका दर्शन कराया। ब्राह्मणने देखा, 'पुरुषोत्तम हरि शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए हैं। उनके तेजसे समस्त जगत् परिपूर्ण हो रहा है; वे ही सम्पूर्ण लोकोंके कारण हैं।' उसने दण्डवत्-प्रणाम करके गद्‌गदवाणीसे कहा, 'हे अच्युत! आज मेरा जन्म सफल हो गया। मेरे नेत्र प्रसन्न और दोनों हाथ श्लाघ्य हो गये। मैं आज धन्य हो गया। आज मेरे कुलके लोग सनातन ब्रह्मलोकको चले गये। मेरा समस्त मनोरथ आज पूर्ण हो गया। परंतु नाथ! मेरा एक आश्चर्य अभी दूर नहीं हुआ है, मूकादि सज्जनोंने मेरा पूर्व वृत्तान्त क्योंकर जाना और आप सुन्दर विप्ररूप धरकर मूक, पतिव्रता, तुलाधार, अद्रोहक और इस वैष्णवके घरमें क्यों नित्य निवास करते हैं?'

भगवान्ने कहा, 'हे ब्राह्मण! मूक चाण्डाल सर्वदा अपने माता-पिताकी सेवामें रत है, शुभा नामकी स्त्री अनन्य पतिव्रता है, तुलाधार सत्यवादी और सर्वत्र समदर्शी है, अद्रोहक काम, लोभको जय कर चुका है तथा यह वैष्णव मेरा अनन्य भक्त है। इनके इन गुणोंसे प्रसन्न होकर ही मैं आनन्दपूर्वक इनके घर सदा लक्ष्मी और सरस्वतीसहित निवास करता हूँ और इन्हीं गुणोंके प्रतापसे यह लोग सब बातें जाननेमें समर्थ हैं।' यदि हमलोग भगवान्का अपने घरमें निवास चाहते हैं तो हमें भी ऐसा बनना चाहिये (यह आख्यायिका पद्मपुराणके आधारपर लिखी गयी है)।

स्वागतकी तैयारी करो

मनमन्दिरमें मनमोहनको बुलाना चाहते हो तो पहले काम, तृष्णा, लोभ, क्रोध, वैर, हिंसा, अभिमान, आसक्ति, विषाद और मोहके दुर्गन्धभरे कूड़ेको कोने-कोनेसे झाड़-बुहारकर बाहर दूर फेंक दो और संयम, सन्तोष, दया, क्षमा, मैत्री, अहिंसा, नम्रता, वैराग्य, प्रसन्नता, विवेक, भक्ति और प्रेम आदि सुन्दर-सुन्दर फूलोंको चुन-चुनकर उनसे मन्दिरको भीतर-बाहर खूब सजा लो। जब सजावटमें कुछ भी कसर न रह जाय, तब उस प्यारेको जोरसे पुकारो, तुरंत उत्तर मिलेगा और उसकी मोहिनी रूप-छटासे तुम्हारा मनमन्दिर उसी क्षण जगमगा उठेगा।'

'सरकारी नौकर अपने अफसरके, सेवक मालिकके, प्रजा राजाके, जनता नेताके, शिष्य आचार्यके, बन्धु अपने माननीय बन्धुके और पत्नी अपने प्राणाधार पतिके स्वागतके लिये अपने-अपने भावोंके अनुसार कैसी-कैसी तैयारियाँ करते हैं। फिर जो यम, वायु, अग्नि, आदि अफसरोंके भी अफसर, ब्रह्मा आदि मालिकोंके भी मालिक, नारद, सनत्कुमार आदि नेताओंके भी नेता, देवराज इन्द्र आदि सम्राटोंके भी सम्राट्, व्यास-वाल्मीकि आदि आचार्योंके भी आचार्य, बन्धुओंमें भी परम बान्धव और पतियोंके भी परमपति हैं। जिस एक ही सब गुणोंके अथाह सागरकी ये सब बूँदें हैं, उस सर्वगुणाधारके स्वागतके लिये भी तो कुछ तैयारी करनी चाहिये। तुम्हारी तैयारीका तभी पता चलेगा जब तुम्हारे मनमें और कुछ भी न रहकर केवल उसका मोहन मुखड़ा देखने और कोमल चरण स्पर्श करनेकी ही एकमात्र तीव्र लालसा रह जायगी।'

मोक्ष-संन्यासिनी गोपियाँ

काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं किंचित्फलं स्वेप्सितं
केचित् स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः।
अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम्॥

—श्रीशंकराचार्य

'कुछ लोग प्रतिदिन सकामोपासना कर मनोवांछित फल चाहते हैं, दूसरे कुछ लोग यज्ञादिके द्वारा स्वर्गकी तथा (कर्म और ज्ञान) योग आदिके द्वारा मुक्तिके लिये प्रार्थना करते हैं, परंतु हमें तो यदुनन्दन श्रीकृष्णके चरणयुगलोंके ध्यानमें ही सावधानीके साथ लगे रहनेकी इच्छा है। हमें उत्तम लोकसे, दमसे, राजासे, स्वर्गसे और मोक्षसे क्या प्रयोजन है?'

सच्चिदानन्दघन परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी वृन्दावनलीला अति मधुर है, आकर्षक है, अद्भुत है और अनिर्वचनीय है। वहाँ सभी कुछ विचित्र है, चराचर सभी प्राणी श्रीकृष्णप्रेममें निमग्न हैं, इनमें भी गोपी-प्रेम तो सर्वथा अलौकिक और अचिन्त्य है। वहाँ वाणीकी गति ही नहीं है, मन भी उस प्रेमकी कल्पना नहीं कर सकता। करे भी कैसे, उसकी वहाँतक पहुँच ही नहीं है। मनुष्य प्रेमकी कितनी ही ऊँची-से-ऊँची कल्पना क्यों न करे, वह उस कल्पनातीत भगवत्-प्रेमके एक कणके बराबर भी नहीं है। उस गुणातीत अप्राकृत 'केवल प्रेमकी' कल्पना गुणोंसे निर्मित प्राकृत मन कर ही कैसे सकता है? इस अवस्थामें सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णका सच्चिदानन्दमयी गोपिका-नाम-धारिणी अपनी ही छाया मूर्तियोंसे जो दिव्य अप्राकृत प्रेम था, उसका वर्णन कौन कर सकता है? अबतक जितना वर्णन हुआ है, वह प्रायः अपनी-अपनी विभिन्न भावनाओंके अनुसार ही हुआ है। इस प्रेमका असली स्वरूप तो यत्किंचित् उसीकी समझमें आ सकता है जिसको प्रेमधन श्रीकृष्ण समझाना चाहते हैं पर जो उसे समझ लेता है, वह तत्क्षण गोपी बन जाता है, इसलिये वह फिर उसका वर्णन कर नहीं सकता। वास्तवमें वह वर्णनकी वस्तु भी नहीं है। वे दोनों एक-दूसरेका रहस्य समझते हैं और मनमानी लीला करते हैं। गोपियोंके प्राण और श्रीकृष्णमें तथा श्रीकृष्णके प्राण और गोपियोंमें कोई अन्तर नहीं रह जाता—वे परस्पर अपने-आप ही अपनी छायाको देखकर विमुग्ध होते हैं और सबको मोहित करते हैं। श्रीकृष्ण और गोपी दो स्वरूपोंमें वस्तुतः एक ही तत्त्व हैं। कवि कहता है—

कान्ह भये प्रानमय प्रान भये कान्हमय,
हियमें न जानि परै कान्ह है कि प्रान है।

भगवान् अपने इस तरहके भक्तके लिये कहते हैं कि वह तो मेरा आत्मा ही है **'आत्मैव मे मतम्।'** आत्मा क्या है, वह उससे भी अधिक प्यारा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १५)

'हे उद्धव! मुझे ब्रह्मा, संकर्षण, लक्ष्मी एवं अपना आत्मा भी उतने प्रिय नहीं हैं, जितने तुम-जैसे भक्त प्रिय हैं। क्योंकि मेरा ऐसा भक्त मुझमें ही संतुष्ट है। उसे मेरे सिवा और कुछ भी नहीं चाहिये—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १४, १६)

इस प्रकारका मेरा प्रिय भक्त अपने आत्माको मुझमें अर्पित कर देता है, वह मुझको छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, चक्रवर्तीका पद, पाताल आदिका राज्य और योगकी सिद्धियाँ आदिकी तो बात ही क्या है, मोक्ष भी नहीं चाहता। ऐसे मोक्ष-संन्यासी भक्तोंको जो सुख मिलता है, उसे वही जानते हैं। ऐसे इच्छारहित, मद्गतचित्त, शान्त, निर्वैर और समदर्शी भक्तोंकी चरण-रजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं सदा उनके पीछे-पीछे घूमा करता हूँ।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि उद्धवजीको यह दुर्लभ पद गोपियोंका शिष्यत्व ग्रहण करनेके बाद ही मिला था। जब उद्धवको भगवान् ऐसा कहते हैं फिर गोपियोंका तो कहना ही क्या? श्रीकृष्ण और गोपियोंके सम्बन्धमें जो कुछ भी ऊँची-से-ऊँची स्थिति अनुभवमें आती है, वही आगे चलकर बहुत नीची मालूम होने लगती है।

जो भगवद्गीता आज संसारका सर्वमान्य ग्रन्थ है,

भगवान्‌की दिव्य वाणीमें परमोपयोगी उपदेश होनेके कारण जो सबका पूज्य है, उसमें जो कुछ करनेके लिये कहा गया है, गोपियोंके जीवनमें वे सब बातें स्वाभाविक वर्तमान थीं।

भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रिय सखा भक्त अर्जुनको जो परम रहस्यमय सार उपदेश दिया है कि—

'जो सर्वत्र मुझको व्यापक देखता है और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं कभी अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे कभी अदृश्य नहीं होता।' (गीता ६। ३०) '[मेरे] दृढ़निश्चयी भक्त निरन्तर मेरे नाम-गुणका कीर्तन करते हुए, मेरे ही लिये चेष्टा करते हुए तथा बारम्बार मुझको ही प्रणाम करते हुए, नित्य मुझमें मन लगाकर अनन्य भक्तिसे मेरी उपासना करते हैं।' (गीता ९। १४) 'वे निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले, मुझमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले मेरे भक्त परस्पर मेरी ही चर्चा करते हैं, मेरी ही लीला गा-गाकर संतुष्ट होते हैं और मुझमें ही रमण करते हैं। इस प्रकार प्रेमपूर्वक नित्ययुक्त होकर मुझे भजनेवाले भक्तोंको अपनी ईश्वरीय बुद्धिका योग मैं करा देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।' (गीता १०। ९-१०)

इसके बाद गीताका परम तत्त्व परम गोप्य रहस्य बतलाते हुए भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८। ६५-६६)

'तू केवल मुझमें ही मन अर्पण कर दे, मेरा ही भक्त हो, मेरी ही पूजा कर, मुझको ही नमस्कार कर, फिर तू मुझको ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, क्योंकि तू मेरा अति प्रिय सखा है। सब धर्मोंको छोड़कर तू केवल एक मेरे ही शरण हो जा, मैं तुझे सब पापोंसे छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर।'

गोपियोंके आचरणोंसे ये सारी बातें ओत-प्रोत ही नहीं बल्कि बढ़ी हुई थीं। कारण, उपदेशोंमें उतनी बातें आ ही नहीं सकतीं, जितनी आचरणमें आती हैं। फिर अर्जुनको तो ऐसा बननेके लिये उपदेश दिया जा रहा था, परंतु गोपियाँ भगवान्‌की बनी-बनायी भक्त थीं। भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे उनकी बड़ाई करते हुए कहा है—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्॥
सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्या बान्धवाः स्त्रियः।
सत्यं वदामि ते पार्थ गोप्यः किं मे भवन्ति न॥
मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

'हे अर्जुन! गोपियाँ अपने अंगोंकी सँभाल इसलिये करती हैं कि उनसे मेरी सेवा होती है, गोपियोंको छोड़कर मेरा निगूढ़ प्रेमपात्र और कोई नहीं है। वे मेरी सहायिका हैं, गुरु हैं, शिष्या हैं, दासी हैं, बन्धु हैं, प्रेयसी हैं, कुछ भी कहो, सभी हैं। मैं सच कहता हूँ कि गोपियाँ मेरी क्या नहीं हैं। हे पार्थ! मेरा माहात्म्य, मेरी पूजा, मेरी श्रद्धा और मेरे मनोरथको तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं और कोई नहीं जानता।'

गोपियोंके मनमें इहलोक और परलोकके किसी भी भोगकी कामना नहीं थी, इन्द्रियका कोई विषय उनके मनको आकर्षित नहीं कर सकता था; उन्होंने अपने मनोंको श्रीकृष्णके मनमें और अपने प्राणोंको श्रीकृष्णके प्राणोंमें विलीन कर दिया था। वे इसीलिये जीवन धारण करती थीं कि श्रीकृष्ण वैसा चाहते थे। उनका जीवन-मरण, लोक-परलोक सब श्रीकृष्णकी इच्छाके अधीन था, उन्होंने अपनी सारी इच्छाओंको श्रीकृष्णकी इच्छामें मिला दिया था। भगवान् श्रीकृष्णने एक दिन एकान्तमें प्यारे उद्धवजीसे कहा—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः॥
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन।
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ४—६)

'हे उद्धव! गोपियोंने अपने मन और प्राण मेरे अर्पण कर दिये हैं, मेरे लिये अपने सारे शारीरिक सम्बन्धोंको और लोकसुखके साधनोंको त्यागकर वे मुझमें ही अनुरक्त हो रही हैं, मैं ही उनके सुख और जीवनका कारण हूँ; गोकुलकी उन स्त्रियोंको मैं प्रिय-से-प्रिय हूँ, मेरे दूर रहनेके कारण वे मेरा स्मरण करती हुई मेरे विरहमें अत्यन्त ही विह्वल और विमोहित हो रही हैं। मेरे शीघ्र गोकुल लौटनेके सन्देशके भरोसे ही अपने आत्माको मुझमें समर्पण कर देनेवाली वे गोपियाँ बड़ी कठिनतासे किसी प्रकार जीवन धारण कर रही हैं।'

गोपियोंका हृदय श्रीकृष्णमय हो गया, वे खाते-

पीते, सोते-जागते, चलते-फिरते, घरका काम-काज करते, सब समय एक श्रीकृष्णको ही देखतीं और उन्हींके गुणोंका स्मरण कर-करके आँसू बहाया करती थीं। भागवतमें कहा है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

(१०। ४४। १५)

'जो गोपियाँ गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें झाड़ू देते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं, उन श्रीकृष्णमें चित्त निवेशित करनेवाली वे गोपरमणियाँ धन्य हैं।'

यह गोपी-प्रेम बड़ा ही पवित्र है, इसमें अपना सर्वस्व प्रियतमके चरणोंमें न्योछावर कर देना पड़ता है। मोक्षकी इच्छा और नरकका भय—दोनोंसे ही मुख मोड़ लेना पड़ता है। प्रियतम श्रीकृष्णका प्रिय कार्य करना ही जीवनका एकमात्र उद्देश्य बन जाता है। दूसरेके द्वारा मुझे सुख मिले, मेरी इन्द्रियोंकी और मनकी तृप्ति हो, इसका नाम 'काम' है चाहे वह भाव भगवान्‌के प्रति ही क्यों न हो और 'मेरे द्वारा मेरा प्रियतम सुखी हो, इसीमें मैं सुखी होऊँ' इसका नाम 'प्रेम' है; काम भोगके लिये और प्रेम परमात्माके लिये हुआ करता है। विषयानुराग ही काम है और भगवत्-अनुराग ही प्रेम है। यह प्रेम बढ़ते-बढ़ते जब प्रेमीको प्रेमास्पद भगवान्‌का प्रतिबिम्ब बना देता है तभी प्रेम पूर्णताके समीप पहुँचता है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें 'काम' और 'प्रेम' का भेद बतलाते हुए कहा है—

कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल।
कृष्ण-सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल॥
लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म कर्म।
लज्जा, धैर्य, देह-सुख, आत्म-सुख मर्म॥
सर्वत्याग करये, करे कृष्णेर भजन।
कृष्ण-सुख हेतु करे प्रेमेर सेवन॥
अतएव काम प्रेमें बहुत अन्तर।
काम अन्धतम, प्रेम निर्मल भास्कर॥

प्रेमीको तो प्रेमास्पद भगवान्‌के इंगितानुसार लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म और सारे कर्म तथा लज्जा, धैर्य, शरीर-सुख, आत्म-सुख आदि सबका त्याग कर देना पड़ता है। जो लोग कहते हैं कि श्रीकृष्णप्रेममें त्याग और वैराग्यकी आवश्यकता नहीं, वे बहुत ही भूलते हैं। श्रीकृष्णप्रेमकी प्राप्तिका आधार तो श्रीकृष्णार्थ सर्वस्व-त्याग ही है—तभी श्रीकृष्णरूप परमशान्ति प्राप्त होती है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।**' (गीता १२। १२)

जबतक विषयोंमें मन रहता है तबतक तो भगवान्‌का प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन ही नहीं हो सकता, फिर समर्पणकी तो बात ही कहाँ है? यह भ्रम है कि लोग विषयासक्त चित्तसे विषयोंका सेवन करते हुए अपनेको भगवान्‌का प्रेमी और गोपीप्रेमके कहने-सुनने और तदनुसार आचरण करनेका अधिकारी मान बैठते हैं इसीसे उनका पतन होता है। परमवैराग्यवती श्रीकृष्णगतप्राणा श्रीगोपियोंके सम्बन्धमें श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा है—

निजेन्द्रिय-सुख-हेतु कामेर तात्पर्य।
कृष्ण-सुखेर तात्पर्य गोपीभाव वर्य॥
निजेन्द्रिय-सुखवाञ्छा नहे गोपीकार।
कृष्ण-सुख-हेतु करे संगम विहार॥
आत्म-सुख-दुःख गोपी ना करे विचार।
कृष्ण-सुख-हेतु करे सब व्यवहार॥
कृष्ण बिना आर सब करि परित्याग।
कृष्ण-सुख-हेतु करे शुद्ध अनुराग॥

श्रीकृष्ण-सुखके लिये शुद्ध अनुराग करना ही पवित्र गोपीभाव है। ऊपर कहा गया है कि श्रीकृष्णप्रेमी नरकके भयकी भी परवा न कर प्रियतम भगवान्‌का प्रिय कार्य करता है। इससे कोई यह न समझे कि 'वह ऐसा दुष्कर्म भी करता है जिससे उसको नरकका भागी होना पड़े।' बात यह है कि वह मोक्ष-भोग या स्वर्ग-नरककी बातको स्मरण ही नहीं करता, वह तो श्रीकृष्णगतचित्त रहता है। उसके मन, प्राण और बुद्धि तो श्रीकृष्णमें तल्लीन हो जाते हैं। ऐसे भक्तसे किसी भी दुष्कर्मकी सम्भावना ही कैसे हो सकती है? श्रीभगवान्‌से पाप या दुष्कर्म हो तो उससे भी हो; क्योंकि उसने तो सारी विषयासक्तिको छोड़कर अपने मनको भगवान्‌का मन बना दिया है। इस दशामें भगवान्‌के मनमें आसक्तिवश पापका भाव आवे तो उसके भी आवे। भगवान्‌के द्वारा पाप-पुण्य होते नहीं, इसलिये भक्त भी पाप-पुण्यसे अलग ही रहता है।

अमृत चाहे विषका काम कर दे, शीतल जल चाहे जगत्‌को भस्म कर दे, परंतु श्रीकृष्णप्रेमी भक्तसे दुष्ट कर्म कदापि नहीं हो सकता। अतएव गोपियोंके कार्योंमें

पाप देखना हमारे चित्तकी पापमयी वृत्तिका ही फल है। थोड़ी दूरपर बातें करते हुए जवान बहिन-भाईकी निर्दोष हँसी और बातचीतमें भी कामीको कामके दर्शन होते हैं। इसी प्रकार हम भी गोपीप्रेममें काम देखते हैं। वास्तवमें वहाँ तो काम था नहीं; गोपीप्रेमके सच्चे अनुयायियोंमें भी काम-गन्धका नाश हो जाता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। वहाँ तो केवल कृष्ण-ही-कृष्ण रह जाते हैं। उनके मन या नेत्रोंके सामने दूसरी चीज न तो ठहरती है और न आती ही है। कविने क्या सुन्दर कहा है—

कानन दूसरो नाम सुनै नहिं एकहि रंग रँगो यह डोरो।
धोखेहु दूसरो नाम कढै रसना मुख बाँधि हलाहल बोरो॥
ठाकुर चित्तकी वृत्ति यही हम कैसेहु टेक तजें नहिं भोरो।
बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाड़ि निहारति गोरो॥

उन्हें त्रिभुवन श्याममय दीखता है। उनकी सारी इन्द्रियाँ केवल श्रीकृष्णको ही विषय करती हैं।

भगवान्‌के आदेशसे उद्धवजी व्रजमें आकर गोपियोंको समझाने लगे। उन्होंने अनेक उपदेश दिये, परंतु गोपिकाओंके प्रेमको देखकर उनकी सारी ज्ञानगरिमा गल गयी। वे प्रेमके निर्मल प्रवाहमें बह गये।

गोपियोंने कहा—

स्याम तन, स्याम मन, स्याम है हमारो धन,
आठों जाम ऊधो हमें स्यामहीसों काम है।
स्याम हिये, स्याम जिये, स्याम बिनु नाहिं तिये,
आँधेकी-सी लाकरी अधार स्यामनाम है॥
स्याम गति, स्याम मति, स्याम ही है प्रानपति,
स्याम सुखदाई सों भलाई सोभाधाम है।
ऊधो तुम भये बौरे, पाती लैके आये दौरे,
जोग कहाँ राखें, यहाँ रोम-रोम स्याम है॥

अरे, यहाँ तो श्यामके सिवा और कुछ है ही नहीं, सारा हृदय तो उससे भरा है, रोम-रोममें तो वह छाया है। सोते-बैठते कभी साथ तो छोड़ता ही नहीं, फिर बताओ तुम्हारे ज्ञान और योगको रखें कहाँ?—

नाहिन रह्यो हियमें ठौर।
नंदनंदन अछत कैंसे आनिये उर और॥
चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात।
हृदयते वह स्याम मूरति छिन न इत-उत जात॥
कहत कथा अनेक ऊधो लोक-लाज दिखात।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिंधु समात॥

तुम्हीं बताओ, क्या किया जाय! वह तो हृदयमें गड़ गया है और रोम-रोममें ऐसा अड़ गया है कि किसी तरह निकल ही नहीं सकता; भीतर भी वही और बाहर भी सर्वत्र वही।

उरमें माखनचोर गड़े।
अब कैसे निकसें वे ऊधो तिरछे आन अड़े॥

उद्धव चकित हो गये। सबसे अधिक आश्चर्य तो उन्हें तब हुआ जब गोपी-कृपासे उन्होंने श्रीगोपीनाथको गोपियोंके बीच सर्वत्र अपनी आँखोंके सामने देखा।

महात्मा सूरदासजी कहते हैं—

लखि गोपिनको प्रेम नेम ऊधोको भूल्यो।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजनमें फूल्यो॥
खिन गोपिनके पग परै धन्य तुम्हारी नेम।
धाइ-धाइ द्रुम भेंटहीं ऊधो छाके प्रेम॥

उद्धवजीकी विचित्र दशा हो गयी, आये थे ज्ञान देकर उनका विरहानल बुझाने—गुरु बनकर उन्हें योगकी दीक्षा देने, पर अब तो चेले बनकर पुकार उठे—

उपदेसन आयो हुतो, मोहिं भयो उपदेस।

चेला बनते ही उन्होंने मथुराका राजवेष त्यागकर गोपी-पद-पंकज-पराग गोपका वेष धारण कर लिया और उसी वेषमें वे भगवान्‌के पास पहुँचे, उस समय उन्हें यह होश नहीं था कि मैं यदुवंशी उद्धव हूँ; वे अपनेको गोपियोंके चरणोंका चाकर समझते थे, जगत्‌को भी इसी रूपमें देखते थे, अतएव भगवान् श्रीकृष्णको भी वे यदुनाथ कहना भूल गये और गोपीनाथके नामसे ही पुकारने लगे—

ऊधो जदुपति पै गये, किये गोपको भेस॥
भूले जदुपति नाम, कह्यो 'गोपाल गुसाईं'।
एक बार ब्रज जाहु देहु गोपिन दिखराई॥

उद्धव कहने लगे—हे गोपाल, हे गोपीनाथ! एक बार चलो न व्रजको? उस प्रेमलोकको छोड़कर यहाँ इस रूखी-सूखी मथुरामें कहाँ आ बसे?

बृंदाबन सुख छाड़िकै, कहाँ बसे हो आय?
प्रेमसिंधु हरि जानिकै ऊधो पकरे पाय॥
सुमिरत ब्रजको प्रेम, नेम कछु नाहिंन भावे।
उमग्यो नैनन नीर बात कछु कहत न आवे॥

उद्धव भगवान्‌के पैर पकड़कर फुफकार मारकर रोने लगे, भगवान् भी प्रेमविह्वल हो जमीनपर गिर पड़े और फिर अपने पीताम्बरसे आँसू पोंछते हुए बोले—'वाह, तुम तो खूब योग सिखाकर आये उद्धव!'

सूर स्याम भूतल गिरे रहे नैन जल छाइ।
पोंछि पीट-पटसों, कह्यो—'भल आये जोग सिखाइ'॥

भगवान्‌ने कहा—'उद्धव! देखा, तुमने गोपबालाओंका

निर्मल विशुद्ध, अहैतुक और अनन्यप्रेम! इसीलिये मैं उन्हें क्षणभर नहीं भूल सकता।' धन्य! इसी प्रसंगमें व्रज-रस-रसीले श्रीनन्ददासजी कहते हैं—

उद्धवजीने कहा—

करुनामयी रसिकता है तुम्हरी सब झूठी।
जबहीलौं नहिं लख्यो तबहिलौं बाँधी मूठी॥
मैं जान्यो ब्रज जायके तुम्हरो निरदय रूप।
जो तुमको अवलंबही वाको मेलो कूप॥
कौन यह धर्म है?

पुनि-पुनि कहै, अहो चलो जाय बृंदाबन रहिये।
प्रेम-पुंजको प्रेम जाय गोपिन सँग लहिये॥
और काम सब छाड़िके उन लोगन सुख देहु।
नातरु टूट्यो जात है अब ही नेह-सनेहु॥
करोगे फिर कहा?

उद्धवजीके शब्द सुनकर भगवान्‌की क्या दशा हुई? सुनिये श्रीनन्ददासजीके ही मुखारविन्दसे—

सुनत सखाके बैन नैन भरि आये दोऊ।
बिबस प्रेम-आवेस रही नाहीं सुधि कोऊ॥
रोम-रोम प्रति गोपिका ह्वै रहि साँवर गात।
कलप-सरोरुह, साँवरो, ब्रजबनिता भई पात॥
उरझि अँग-अँग ते।

फिर किसी तरह सचेत होकर भगवान्‌ने कहा—

हो सचेत कहि भलो सखा पठयो सुधि लावन।
अवगुन हमरे आनि तहाँते लगे बतावन॥
मोमें तिनमें अंतरो एकौ छिन भर नाहिं।
ज्यों देखी मो माहिं ते त्यों मैं तिनहीं माहिं॥
तरंगन वारि ज्यों।

इसके बाद भगवान्‌ने अपना गोपीरूप दिखलाकर उद्धवका भ्रम दूर किया—

गोपीरूप दिखाइ तबै मोहन बनवारी।
ऊधो भ्रमहि निवारि डारि मुख मोहकी जारी॥
अपनो रूप दिखाइकै लीन्हों बहुरि दुराय।
नन्ददास पावन भयो जो यह लीला गाय॥
प्रेमरस-पुंजनी।

यह तो शब्दोंसे किया जा सकनेवाला वर्णन है। वास्तविक गोपीप्रेम तो इससे बहुत ऊँचा है। कुछ महानुभावोंकी धारणा है कि गोपियोंका भगवान्‌के प्रति वही प्रेम था जो कान्ता—स्त्रीका अपने स्वामीके प्रति होता है। कुछ सज्जन कहते हैं कि यह बात नहीं है, जैसा परकीया—परायी स्त्रीका प्रेम अपने जारके प्रति होता है वैसा प्रेम गोपियोंका था। मेरी समझसे ये दोनों ही उदाहरण गोपीप्रेमके लिये पूरे लागू नहीं होते। यह सत्य है कि कान्ताभावमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्यका समावेश हो जाता है। पतिव्रता स्त्री अपना नाम, गोत्र, जीवन, धन-धर्म सभी कुछ पतिके अर्पणकर प्रत्येक चेष्टा पतिके लिये ही करती है और पतिके सम्बन्धियोंकी सेवामें शान्तभाव, पतिकी सेवामें दास्यभाव, पतिके साथ परामर्श करनेमें सख्यभाव और भोजनादि करानेमें वात्सल्यभाव रखती है तथा अपना शरीर और मन सब भाँति निःसंकोचरूपसे पतिके अर्पण कर देती है, परंतु भगवान्‌के प्रति गोपियोंके समान केवल प्रेममूर्ति शुद्ध भागवत जीवोंका जो प्रेम होता है वह तो कुछ विलक्षण ही होता है। ऐसे ही परकीयाका भाव भी सर्वांगपूर्ण नहीं है। परकीयाके प्रेमकी इतनी ही बात उदाहरणस्वरूपमें ली जा सकती है कि जैसे परकीयाकी चित्तवृत्ति घरका काम-काज करते हुए भी आठों पहर जारमें लगी रहती है, इसी प्रकार भक्तकी भी भगवान्‌में लगी रहती है; परंतु परकीयाके मनमें तो अंग-संगरूप कामवासना रहती है। गोपियोंमें कामवासनाका लेश भी नहीं था। परकीयाका प्रेमास्पद जार होता है। भगवान् परमात्मामें जारभाव कभी नहीं हो सकता। परमात्मा सर्वथा शुद्ध और निर्विकार हैं, इसलिये यही कहा जाता है कि गोपी-प्रेममें दिव्य परकीयाभाव है जो परम विशुद्ध सर्वथा अनन्य तो है ही, परंतु इससे भी परे उस कोटिका है जहाँतक हमारी कल्पना पहुँचती ही नहीं, इसीसे वह अनिर्वचनीय और अचिन्त्य है।

गोपी-प्रेम विलक्षण है। उसमें 'श्रृंगार' है पर 'राग' नहीं है; 'भोग' है पर 'अंगसंयोग' नहीं है; 'आसक्ति' है पर 'अज्ञान' नहीं है; 'वियोग' है पर 'बिछोह' नहीं है; 'क्रन्दन' है पर 'दुःख' नहीं है; 'विरह' है पर 'वेदना' नहीं है; 'सेवा' है पर 'अभिमान' नहीं है; 'मान' है पर 'धैर्य' नहीं है; 'त्याग' है पर 'संन्यास' नहीं है; 'प्रलाप' है पर 'बेहोशी' नहीं है; 'ममता' है पर 'मोह' नहीं है; 'अनुराग' है पर 'कामना' नहीं है; 'तृप्ति' है पर 'अनिच्छा' नहीं है; 'सुख' है पर 'स्पृहा' नहीं है; 'देह' है पर 'अहम्' नहीं है; 'जगत्' है पर 'माया' नहीं है; 'ज्ञान' है पर 'ज्ञानी' नहीं है; 'ब्रह्म' है पर 'निर्गुण' नहीं है; 'मुक्ति' है पर 'लय' नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्ण और गोपियोंकी यह परम भावकी रासलीला नित्य है, प्रत्येक युगमें है, आज भी होती है; प्रत्येक युगके अधिकारी संतोंने इसे देखा है, अब भी अधिकारी देखते हैं, देख सकते हैं।

यदि इस प्रकारके प्रेमकी तनिक भी झाँकी देखकर धन्य होना चाहते हो, यदि इस अचिन्त्य प्रेमार्णवका कोई एक बिन्दु प्राप्त करना चाहते हो तो भोग और मोक्षकी अभिलाषाको छोड़ दो। श्रीकृष्णमें अपना चित्त जोड़ दो; प्राण खोलकर रोओ, उनके नाम और रूपपर आसक्त हो जाओ। बेच डालो अपना सब कुछ उनके एक रूपबिन्दुके लिये, सर्वस्व निछावर कर दो उनके चरणोंपर, लगा दो अपना तन, मन, धन उनकी सेवामें सदाके लिये अपना सम्पूर्ण आत्मसमर्पण कर दो।

तुम पुरुष हो या स्त्री, ब्राह्मण हो या चाण्डाल, पुण्यात्मा हो या पापी, जो कुछ भी हो, दृढ़ताके साथ भगवान् श्रीकृष्णके निज-जन बननेकी प्रतिज्ञा कर लो। सारे जीवोंमें श्रीकृष्णके दर्शन करो, सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति और जीवन-मरण सभीमें उस प्रेमास्पदको पहचानकर आनन्दानुभव करो। दिल खोलकर मुक्तकण्ठसे श्रीकृष्ण-नामका संकीर्तन करो, श्रीकृष्णके लिये सच्चे हृदयसे हृदयविदीर्णकारी क्रन्दन करो, सब जगह श्रीकृष्ण रसिकशेखरकी त्रिभंग माधुरी देखो। उनकी कृपा होगी और तुम्हें प्रेम मिलेगा, तुम कृतार्थ हो जाओगे। सबको कृतार्थ कर दोगे। यह निश्चय रखो!

जदपि जसोदा नंद ग्वालबाल सब धन्य।
पै या जगमें प्रेमको गोपी भईं अनन्य॥

—रसखानजी

गोपी-प्रेम

कहा 'रसखान' सुख-संपत्ति सुमार महँ,
कहा महाजोगी ह्वै लगाए अंग छारको।
कहा साधे पंचानल, कहा सोए बीच जल,
कहा जीत लीन्हें राज सिंधु वारापारको॥
जप बार-बार, तप-संजम, अपार ब्रत,
तीरथ हजार अरे! बूझत लबार को?
सोइ है गवाँर जिहि कीन्हों नाहिं प्यार, नाहिं
सेयो दरबार यार नंदके कुमारको॥
कंचनके मंदिरन पै दीठि ठहरात नायँ,
सदा दीपमाल लाल रतन उजारेसों।
और प्रभुताई सब कहाँ लौं बखानौं, प्रति-
हारिनकी भीर भूप टरत न द्वारेसों॥
गंगाजूमें न्हाय मुकताहल लुटाय, बेद—
बीस बार गाय ध्यान कीजै सकारेसों।
ऐसे ही भये तो कहा कीन्हों 'रसखान' जुपै,
चित्त दै न कीन्ही प्रीति पीत पटबारेसों॥

'गोपी-प्रेम' पर कुछ भी लिखना वस्तुतः मुझ-सरीखे मनुष्यके लिये अनधिकार चर्चा है। गोपी-प्रेमका तत्त्व वही प्रेमी भक्त कुछ जान सकता है जिसको भगवान्की ह्लादिनी शक्ति श्रीमती राधिकाजी और आनन्द तथा प्रेमके दिव्य समुद्र भगवान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा श्रीकृष्ण स्वयं कृपापूर्वक जना दें। जाननेवाला भी उसे कह वा लिख नहीं सकता, क्योंकि 'गोपी-प्रेम' का प्रकाश करनेवाली भगवान्की वृन्दावनलीला सर्वथा अनिर्वचनीय है। वह कल्पनातीत, अलौकिक और अप्राकृत है। समस्त व्रजवासी भगवान्के मायामुक्त परिकर हैं और भगवान्की निज आनन्दशक्ति, योगमाया श्रीराधिकाजीकी अध्यक्षतामें भगवान् श्रीकृष्णकी मधुरलीलामें योग देनेके लिये व्रजमें प्रकट हुए हैं। व्रजमें प्रकट इन महात्माओंकी चरण-रजकी चाह करते हुए सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी स्वयं कहते हैं—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥
अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३०, ३२, ३४)

'हे प्रभो! मुझे ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि मैं इस जन्ममें अथवा किसी तिर्यक्-योनिमें ही जन्म लेकर आपके दासोंमेंसे एक होऊँ, जिससे आपके चरणकमलोंकी सेवा कर सकूँ। अहो! नन्दादि व्रजवासी धन्य हैं, इनके धन्य भाग्य हैं, जिनके सुहृद् परमानन्दरूप सनातन पूर्णब्रह्म स्वयं आप हैं। इस धरातलपर व्रजमें और उसमें भी गोकुलमें किसी कीड़े-मकोड़ेकी योनि पाना ही परम सौभाग्य है जिससे कभी किसी व्रजवासीकी चरण-रजसे मस्तकको अभिषिक्त होनेका सौभाग्य मिले।'

जिन व्रजवासियोंकी चरण-धूलिको ब्रह्मा चाहते हैं, उनका कितना बड़ा महत्त्व है। ये व्रजवासीगण मुक्तिके अधिकारको ठुकराकर उससे बहुत आगे बढ़ गये हैं। इस बातको स्वयं ब्रह्माजीने कहा है कि 'भगवन्! मुक्ति तो कुचोंमें विष लगाकर मारनेको आनेवाली पूतनाको ही आपने दे दी। इन प्रेमियोंको क्या वही देंगे—इनका तो आपको ऋणी बनकर ही रहना होगा।' और भगवान्ने स्वयं अपने श्रीमुखसे यह स्वीकार भी किया है। आप गोपियोंसे कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। २२)

'हे प्रियाओ! तुमने घरकी बड़ी कठिन बेड़ियोंको तोड़कर मेरी सेवा की है, तुम्हारे इस साधुकार्यका मैं देवताओंके समान आयुमें भी बदला नहीं चुका सकता। तुम ही अपनी उदारतासे मुझे उऋण करना।'

महात्मा नन्ददासजीकी रचनामें भगवान् कहते हैं—

तब बोले ब्रजराज-कुँवर हौं रिनी तुम्हारो।
अपने मनते दूरि करौ किन दोष हमारो॥
कोटि कलप लगि तुम प्रति प्रति उपकार करौं जौ।
हे मनहरनी तरुनी, उरिनी नाहिं तबौं तौ॥
सकल बिस्व अपबस करि मो माया सोहति है।
प्रेममयी तुम्हरी माया सो मोहि मोहति है॥
तुम जु करी सो कोउ न करै सुनि नवल किसोरी।
लोक-वेदकी सुदृढ़ सृंखला तृन-सम तोरी॥

सारे संसारके देव, मनुष्य, गन्धर्व, असुर आदि जीवोंको कर्मोंकी बेड़ीसे निरन्तर बाँध रखनेवाले सच्चिदानन्द, जगन्नियन्ता प्रभु गोपी यशोदाके द्वारा ऊखलसे बँध जाते हैं। सारे जगत्को मायाके खेलमें सदा रमानेवाले मायापति हरि गोपबालकोंसे खेलमें हारकर स्वयं घोड़े बनकर उन्हें अपनी पीठपर चढ़ाते हैं! उन व्रजवासी नर-नारियोंको धन्य है! एक दिनकी बात है—यशोदाजी घरके आवश्यक काममें लग रही थीं, बालकृष्ण मचल गये और बोले, मैं गोद चढ़ूँगा। माताने कुछ ध्यान नहीं दिया। इसपर खीझकर आप लगे रोने और आँगनमें लोटने। इतनेहीमें देवर्षि नारद भगवान्की बाल-लीलाओंको देखनेकी लालसासे वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने देखा, सचराचर विश्वके स्वामी परम आनन्दमय भगवान् माताकी गोद चढ़नेके लिये जमीनपर पड़े रो रहे हैं। इस दृश्यको देखकर देवर्षि गद्गद हो गये और यशोदाको पुकारकर कहने लगे—

किं ब्रूमस्त्वां यशोदे कति कति सुकृतक्षेत्रवृन्दानि पूर्वं
गत्वा कीदृग्विधानैः कति कति सुकृतान्यर्जितानि त्वयैव।
नो शक्रो न स्वयम्भूर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसादं
तत्पूर्णब्रह्म भूमौ विलुठति विलपन् क्रोडमारोढुकामः॥

'यशोदे! तेरा सौभाग्य महान् है। क्या कहें, न जाने तूने पिछले जन्मोंमें तीर्थोंमें जा-जाकर कितने महान् पुण्य किये हैं? अरी! जिस विश्वपति, विश्वस्रष्टा, विश्वरूप, विश्वाधार भगवान्की कृपाको इन्द्र, ब्रह्मा और शिव भी नहीं प्राप्त कर सकते वही पूर्णब्रह्म आज तेरी गोदमें चढ़नेके लिये जमीनपर पड़ा लोट रहा है।'

जो विश्वनायक भगवान् मायाके दृढ़ सूत्रमें बाँध-बाँधकर अखिल विश्वको निरन्तर नाच नचाते हैं, वही विज्ञानानन्दघन भगवान् गोपियोंकी प्रेम-मायासे मोहित होकर सदा उनके आँगनमें नाचते हैं। उनके भाग्यकी सराहना और उनके प्रेमका महत्त्व कौन बतला सकता है? रसखान कहते हैं—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर ध्यावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुबेद बतावैं॥
नारदसे सुक ब्यास रटैं, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछिया भरि छाछपै नाच नचावैं॥

गोपियोंके भाग्यकी सराहना करते हुए परम विरागी, सदा ब्रह्मस्वरूप मुनि शुकदेवजी कहते हैं—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात्॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। २०)

'ब्रह्मा, शिव और सदा हृदयमें रहनेवाली लक्ष्मीजीने भी मुक्तिदाता भगवान्का वह दुर्लभ प्रसाद नहीं पाया जो प्रेमिकाश्रेष्ठ गोपियोंको मिला।'

इसी प्रकार ज्ञानिश्रेष्ठ उद्धवजी कहते हैं—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६०)

'रासोत्सवके समय भगवान्के भुजदण्डोंको गलेमें धारणकर पूर्णकामा व्रज-सुन्दरियोंको श्रीहरिका जो दुर्लभ प्रसाद प्राप्त हुआ था, वह निरन्तर भगवान्के वक्षःस्थलमें निवास करनेवाली लक्ष्मीजीको और कमलकी-सी कान्ति और सुगन्धसे युक्त सुरसुन्दरियोंको

भी नहीं मिला, फिर दूसरेकी तो बात ही क्या है?'

सूरदासजी कहते हैं—

बनी सहज यह लूट हरिकेलि गोपिनकें
सुपनें यह कृपा कमला न पावे।
निगम निरधार त्रिपुरारहू विचार रह्यो,
पचि रह्यो सेस नहि पार पावें॥ १॥
किंनरी बहुर अरु बहुर गंधरवनी,
पंनगनी चितवन नहिं माझ पावें।
देत करताल वे लाल गोपालसों,
पकर ब्रजबाल कपि ज्यों नचावें॥ २॥

× × × ×

बैन कहि लौने पुनि चाहि रहत बदन हँसि,
स्वभुज बीच ले ले कलोलें।
धामके काम ब्रजबाम सब भूल रहीं,
कान्ह बलरामके संग डोलें॥ ७॥
सूर गिरधरन मधु चरितमधु पानके,
और अमरित कछु आन लागे।
और सुख रंककी कौन इच्छा करे,
मुक्तिहू लौन-सी खारी लागे॥ ८॥

गोपियोंकी चरण-रज पानेके लिये व्रजमें लतागुल्मौषधि बननेके इच्छुक और गोपियोंका शिष्यत्व ग्रहण करके गोपीभावको प्राप्त हुए भक्त उद्धवसे स्वयं भगवान्ने कहा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १५)

'हे उद्धव! मुझे ब्रह्मा, संकर्षण, लक्ष्मी और अपना आत्मा—ये भी उतने प्रियतम नहीं हैं जितने तुझ-जैसे भक्त प्रियतम हैं।'

इससे गोपियोंके महत्त्वकी किंचित् कल्पना हुई होगी। भगवान्की ऐसी प्रियतमा गोपियोंके प्रेमका वर्णन मुझ-जैसा मनुष्य कैसे कर सकता है। परम वैराग्यकी प्राप्ति होनेपर कहाँ प्रेमका अधिकार मिलता है और उस दिव्य प्रेम-राज्यमें प्रवेश कर चुकनेवाले महात्माओंके प्रसादसे ही दुर्गम प्रेमपथपर अग्रसर होकर भक्त उस प्रेमामृतका कुछ आस्वाद प्राप्त कर सकता है। यह साधनसापेक्ष है। केवल अध्ययन या ग्रन्थ-पाठसे वहाँतक पहुँच नहीं हो सकती। तथापि भगवत्कृपासे इधर-उधरसे जो कुछ बातें मालूम हुई हैं उन्हींका कुछ थोड़ा-सा भाव संक्षेपमें लिखनेकी चेष्टा यहाँ की जाती है। भाग्यवान् पूज्यपाद प्रेमीजन कृपापूर्वक अपराध और धृष्टता क्षमा करेंगे।

प्रेमका स्वरूप

गोपी-प्रेमका रहस्य जाननेसे पहले प्रेमतत्त्वपर कुछ विचार करना आवश्यक है। प्रेम वस्तुतः वाणीकी वस्तु नहीं है; जिसका वर्णन वाणीसे हो सकता है, वह तो प्रेमका अत्यन्त स्थूल बाहरी स्वरूप है। प्रेम हृदयमें रहता है और प्रेमीको प्रेममय बना डालता है।

भगवान् श्रीरामने श्रीजानकीजीके पास यह प्रेमसन्देश भेजा था—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

'तुम्हारे और मेरे प्रेमका तत्त्व केवल एक मेरा मन ही जानता है और वह मन सदा तेरे पास रहता है।' प्रेममें स्वार्थके लिये जरा-सी भी जगह नहीं है। जहाँ कुछ भी पानेकी वासना है वहाँ प्रेमके पवित्र आसनको काम कलंकित कर रहा है। प्रेममें देना-ही-देना है, लेने वा पानेकी कल्पना भी नहीं है। प्रेम सदा बढ़ता ही रहता है। प्रेमी कभी यह मान ही नहीं सकता कि मुझमें पूरा प्रेम है। वह सदा अपनेमें त्रुटि ही देखा करता है और अनन्यभावसे प्रेमास्पदके प्रति सदा हृदयको आकृष्ट रखता है। गुण देखकर अथवा किसी आशासे जो प्रेम होता है वह गुणोंका ह्रास देखते ही अथवा आशाभंगकी आशंका होते ही घट जाता है या नष्ट हो जाता है। वह वास्तवमें प्रेम नहीं है। वहाँ काम ही प्रेमके नामपर राज्य कर रहा है।

छिनहि चढ़ै, छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै प्रेम कहावै सोय॥

अन्यत्र कहा गया है—

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः॥

'ध्वंसका कारण वर्तमान होनेपर भी जो सर्वथा ध्वंसरहित है, इस प्रकारके परस्परके भावको प्रेम कहते हैं।' अर्थात् प्रेमास्पदका धन नष्ट हो गया, रूप जाता रहा, उसके सद्गुण दुर्गुणोंमें परिणत हो गये, उसने आदर-सत्कार या प्रेम करना छोड़ दिया, वह पद-पदपर तिरस्कार करता है, हमारा अपमान करके हमारे ही सामने दूसरेको आदर देता है, उसमें हजारों दोषोंका उदय हो गया है, ऐसी अवस्थामें प्रेम नष्ट होना ही चाहिये।

संसारमें ऐसी अवस्था हो ही जाती है; परंतु इस स्थितिमें जो प्रेम कभी घटता नहीं, बल्कि दिनोंदिन बढ़ता ही रहता है, उसीका नाम यथार्थ प्रेम है।

रसखान कहते हैं—

बिनु जोबन गुन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि।
सुद्ध कामनाते रहित, प्रेम सकल 'रसखानि'॥
अति सूच्छम, कोमल अतिहि, अति पतरो, अति दूर।
प्रेम कठिन सबते सदा नित इकरस भरभूर॥
रसमय, स्वाभाविक, बिना स्वारथ, अचल महान।
सदा एकरस बढ़त नित, सुद्ध प्रेम 'रसखान'॥

प्रेमकी बाढ़ कभी रुकती ही नहीं—इस चन्द्रकलाके लिये कभी पूर्णिमा नहीं होती।

प्रेम सदा बढिबौ करै ज्यों ससिकला सुबेष।
पै पूनों यामें नहीं, तातें कबहुँ न सेष॥

और ऐसा प्रेम वस्तुतः केवल भगवान्‌में उनके प्रेमी भक्तका ही हो सकता है। देवर्षि नारदजी ऐसे प्रेमका लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्। प्रकाश्यते क्वापि पात्रे। गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमान-मविच्छिन्नसूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति तदेव चिन्तयति॥ (नारदभक्तिसूत्र—५१—५५)

अर्थात् 'प्रेमके स्वरूपका उसी प्रकार वर्णन नहीं किया जा सकता, जैसे गूँगा स्वादका वर्णन नहीं कर सकता। ऐसा प्रेम किसी विरले भाग्यवान् अधिकारी (परम विषय-विरागी भगवदनुरागी) भक्तमें ही प्रकट होता है। यह प्रेम गुणोंसे रहित है, इसमें कामनाकी गन्ध नहीं है, हर क्षण बढ़ता ही रहता है, इसका प्रवाह सदा अटूट रहता है, यह अति सूक्ष्म है, केवल अनुभवसे जाना जा सकता है। इस प्रेमको पाकर भक्त केवल प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है और प्रेमका ही चिन्तन करता है।' वहाँ प्रेम और प्रेमास्पदमें कोई अन्तर नहीं रह जाता, क्योंकि—

प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेमसरूप।
एक होइ द्वैमें लसै, ज्यों सूरज अरु धूप॥

इसी प्रेमभावको प्राप्त गोपियोंकी दशाका वर्णन करते हुए भक्त कविगण क्या कहते हैं, कुछ नमूने देखिये—

(१)

जित देखों तित स्याममई है।
स्याम कुंज बन जमुना स्यामा, स्याम गगन घनघटा छई है॥
सब रंगनमें स्याम भरो है, लोक कहत यह बात नई है।
मैं बौरी, की लोगनहीकी स्याम पुतरिया बदल गई है॥
चंद्रसार रबिसार स्याम है, मृगमद स्याम काम बिजई है।
नीलकंठको कंठ स्याम है, मनो स्यामता बेल बई है॥
श्रुतिको अच्छर स्याम देखियत, दीपसिखापर स्यामतई है।
नर-देवनकी कौन कथा है, अलख-ब्रह्म-छबि स्याममई है॥

(२)

कानन दूसरो नाम सुनै नहि, एकहि रंग रँगो यह डोरो।
धोखेहु दूसरो नाम कढ़ै रसना मुख बाँधि हलाहल बोरो॥
ठाकुर चित्तकी वृत्ति यहै हम कैसेहु टेक तजै नहिं भोरो।
बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाड़ि निहारति गोरो॥

(३)

पहले ही जाय मिले गुनमें स्त्रवन, फेरि
रूपसुधा मधि कीनो नैनहू पयान है।
हँसनि, नटनि, चितवनि, मुसुकानि,
सुघराई, रसिकाई मिली मति पय-पान है॥
मोहि-मोहि मोहनमयी री मन मेरो भयो,
'हरीचंद' भेद न परत पहचान है।
कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय,
हियमें न जानि परै कान्ह है कि प्रान है॥

(४)

बाटनमें घाटनमें बीथिनमें बागनमें,
बृच्छनमें बेलिनमें बाटिकामें बनमें।
दरनमें दिवारनमें देहरी दरीचनमें,
हीरनमें हारनमें भूषनमें तनमें॥
काननमें कुंजनमें गोपिनमें गायनमें,
गोकुलमें गोधनमें दामिनीमें घनमें।
जहाँ-जहाँ देखौं तहाँ स्याम ही दिखाई देत,
सालिगराम छाइ रह्यो नैननमें मनमें॥

(५)

कहि न जाय मुखसौं कछू स्याम-प्रेमकी बात।
नभ जल थल चर अचर सब स्यामहि स्याम लखात॥
ब्रह्म नहीं, माया नहीं, नहीं जीव, नहिं काल।
अपनीहू सुधि ना रही, रह्यौ एक नँदलाल॥
को कासों, केहि बिधि, कहा कहै हृदै की बात।
हरि हेरत हिय हरि गयो, हरि सरबत्र लखात॥

(६)

'नारायण' जाके हृदय सुंदर स्याम समाय।
फूल पात फल डारमें ताको वही लखाय॥
दर दिवार दरपन भये, जित देखों तित तोहि।
काँकर पाथर ठीकरी भये आरसी मोहि॥

इस तरह कृष्णमय जगत् देखनेवाली गोपियोंकी एक गाथा इस प्रकार है—दिन-रात श्रीकृष्ण-चर्चामें लगी हुई गोपियोंसे एक दिन एक गोपीने पूछा—'बहिन! क्या कहूँ, नन्दबाबा गोरे, यशोदाजी गोरी, दाऊजी गोरे, घरभरमें सभी गोरे, हमारे श्यामसुन्दर ही साँवरे कैसे हो

गये?' इसपर एक कृष्णदर्शनमयी गोपीने कहा—'बहिन! क्या तू इतना भी नहीं जानती—अरी!

कजरारो अँखियानमें बस्यो रहत दिन-रात।
पीतम प्यारो हे सखी, तातें साँवर गात॥

कितने रहस्यकी बात है, गोपीकी कजरारी आँखोंमें केवल श्रीकृष्ण ही बसते हैं; जगत्‌में उसकी आँखें और किसीको देखती ही नहीं। कुछ लोग कहा करते हैं कि गोपियाँ भगवान्‌को सर्वव्यापक नहीं मानती थीं। उनका यह कहना ठीक ही है, क्योंकि गोपियाँ एकमात्र भगवान्‌को ही देखती थीं। जब दूसरी कोई वस्तु ही नहीं रही तब कौन किसमें व्यापक हो?

इस प्रकार श्रीकृष्णके दिव्य प्रेममें डूबी हुई गोपियोंके चरण-पंकज-परागको बार-बार नमस्कार करके अब आगे बढ़ना है।

गोपी-प्रेम

गोपी-प्रेममें रागका अभाव नहीं है, परंतु वह राग सब जगहसे सिमटकर, मुक्ति और मुक्तिके दुर्गम प्रलोभन पर्वतोंको लाँघकर केवल श्रीकृष्णमें अर्पण हो गया है। गोपियोंके मन-प्राण सब कुछ श्रीकृष्णके हैं। इहलोक और परलोकमें गोपियाँ श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसीको भी नहीं जानतीं। उनका जीवन केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये है; उनका जागना-सोना, खाना-पीना, चलना-फिरना, श्रृंगार-सज्जा करना, कबरी बाँधना, गीत गाना, बातचीत करना, सब श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये है। श्रीकृष्णको सुखी देखकर ही सम्पूर्ण कामनाओंसे सर्वथा शून्य उन गोपियोंको अपार सुख होता है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासत।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्॥

'हे अर्जुन! गोपियाँ अपने शरीरकी रक्षा मेरी सेवाके लिये ही करती हैं। गोपियोंको छोड़कर मेरा निगूढ़ प्रेमपात्र और कोई नहीं है।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि सुखसमुद्र, विज्ञानानन्दघन भगवान्‌को सुख पहुँचाना कैसा; क्या गोपियोंके द्वारा ही भगवान्‌को सुख मिलता है? भगवान् क्या स्वयं सुख-संदोह नहीं हैं? हैं क्यों नहीं। शक्तिमान् भगवान्‌की ही ह्लादिनी शक्ति तो श्रीराधिकाजी हैं; वे इस शक्तिको अपनी वंशीध्वनिद्वारा सदा अपनी ओर खींचते रहते हैं। भगवान्‌की यह शक्ति स्वाभाविक ही अपनी सारी अनुगामिनी अंगशक्तियोंसहित सदा-सर्वदा भगवान्‌की ओर खिंचती रहती है और भगवान् उस आह्लादको पाकर पुनः उसे उन्हीं शक्तियोंको—प्रेमी भक्तोंको बाँट देते हैं। भक्त भगवान्‌की बाँसुरीकी ध्वनि—भगवान्‌का आवाहन सुनकर, घर-द्वारकी सुधि भुलाकर , प्रमत्त होकर अपना सर्वस्व न्योछावर कर भगवान्‌को सुखी करनेके लिये दौड़ता है। भगवान् उसकी दी हुई सुखकी भेंटको स्वीकार करते हैं और फिर उसीको लौटा देते हैं। दर्पणमें अपनी शोभा भरकर दर्पणको शोभायुक्त बनानेवाला पुरुष उस शोभाको स्वयं ही वापस पा जाता है और वह सुख लौटकर उसीको मिल जाता है। इसी प्रकार परम सुखसागर भगवान् गोपियोंके सुखकी भेंटको स्वीकार कर उनकी इस कामनाको कि 'श्रीकृष्ण हमें देखकर हमारी सेवा स्वीकार कर हमारे साथ खेलकर सुखी हों' पूरी कर देते हैं। भगवान् सुखी होते हैं और वह सुख अपरिमितरूपमें बढ़ा करके उन्हींको दे देते हैं। गोपियोंके प्रेमकी यही विशेषता है कि गोपियोंको निज सुखकी कामना रत्तीभर भी नहीं है। उनके मनमें अपने सुखके लिये कल्पना ही नहीं होती। वे तो अपने द्वारा श्रीकृष्णको सुखी हुए देखकर ही दिन-रात सुख-समुद्रमें डूबी रहती हैं। गोपियोंका प्रेम काम-कालिमा-शून्य है, वह निर्मल भास्कर है, सर्वथा दिव्य है, अलौकिक है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें 'काम' और 'प्रेम' का भेद बतलाते हुए कहा है—

कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल
कृष्ण-सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल।
लोक-धर्म, वेद-धर्म, देह-धर्म, कर्म,
लज्जा-धैर्य, देह-सुख, आत्म-सुख मर्म॥
सर्व त्याग करये, करे कृष्णेर भजन,
कृष्ण-सुख-हेतु करे प्रेमेर सेवन।
अतएव काम-प्रेमे बहुत अन्तर,
काम अन्धतम, प्रेम निर्मल भास्कर॥

काम और प्रेममें बड़ा ही अन्तर है, हम विषयविमोहित जीव कामको ही प्रेम मानकर पाप-पंकमें फँस जाते हैं। काम जहर मिला हुआ मधु है, प्रेम दिव्य स्वर्गीय सुधा है। काम थोड़ी ही देरमें दु:खके रूपमें बदल जाता है, प्रेमकी प्रत्येक कसममें ही सुखसुधाका स्वाद मिलता है। काममें इन्द्रिय-तृप्ति, इन्द्रिय-चरितार्थता है, प्रेममें तन्मयता, प्रियतम-सुखकी नित्य प्रबल आकांक्षा है। काममें इन्द्रिय-तृप्ति सुखरूप दीखनेपर भी परिणाममें दु:खरूप है; प्रेम सदा अतृप्त होनेपर भी नित्य परम सुखरूप है। काम खण्ड है, प्रेम अखण्ड है। काम क्षयशील है, प्रेम नित्य वर्धनशील है। काममें विषयतृष्णा

है, प्रेममें विषयविस्मरण है। कामका लक्ष्य विषय है। आत्मतृप्ति है, प्रेमका विषय पूर्ण त्याग है और चरम आत्मविस्मृति है।

यथार्थ प्रेमसे ही कामका नाश हो जाता है, यद्यपि प्रेमी अपने प्रेमास्पदको सुख पहुँचानेकी इच्छाको कामना ही मानता है और समस्त इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि एकमात्र प्रेममुखी होनेसे उसे कामना ही कहते हैं; परंतु वह शुद्ध प्रेम यथार्थमें काम नहीं है। गौतमीय तन्त्रमें कहा है—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः॥

'गोपियोंके प्रेमका नाम काम होनेपर भी वह असलमें काम नहीं, किंतु शुद्ध प्रेम है। महान् भगवद्भक्त उद्धव-सरीखे महात्मा इसी 'काम' नामक प्रेमकी अभिलाषा करते हैं।' क्योंकि गोपियोंमें निजेन्द्रियसुखकी इच्छा है ही नहीं। वे तो श्रीभगवान्‌को भगवान् समझकर ही अपने सकल अंगोंको अर्पण कर उन्हें सुखी करना चाहती हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें इन विषयासक्तिशून्य श्रीकृष्णगतप्राणा गोपियोंके सम्बन्धमें कहा है—

निजेन्द्रिय-सुख-हेतु कामेर तात्पर्य।
कृष्णसुखेर तात्पर्य गोपीभाव वर्य॥
निजेन्द्रिय-सुखवाञ्छा नहे गोपीकार।
कृष्णसुखहेतु करे संगम विहार॥
आत्म-सुख-दुःख गोपी ना करे विचार।
कृष्ण-सुख-हेतु करे सब व्यवहार॥
कृष्ण बिना आर सब करि परित्याग ।
कृष्ण-सुख-हेतु करे शुद्ध अनुराग॥

अपना तन, मन, धन, रूप, यौवन, लोक-परलोक—सबको श्रीकृष्णकी सुखसामग्री समझकर श्रीकृष्ण-सुखके लिये शुद्ध अनुराग करना ही पवित्र गोपीभाव है। इस गोपीभावमें मधुररसकी प्रधानता है। रस पाँच हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। लौकिक और ईश्वरीय—दिव्य-भेदसे ये पाँचों रस दो प्रकारके हैं, अर्थात् लौकिक प्रेम भी उपर्युक्त पाँच प्रकारका है और दिव्य प्रेम भी पाँच प्रकारका है। परंतु इन पाँचोंमें मधुररस—कान्ताप्रेम सबसे ऊँचा है। क्योंकि इसमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य—ये चारों ही रस विद्यमान हैं। यह अधिक गुणसम्पन्न होनेसे अधिक स्वादिष्ट है, इसीलिये इसका नाम 'मधुर' है। इसी प्रकार दिव्य प्रेममें भी कान्ता-प्रेम—मधुररस ही सर्वप्रधान है। शान्त और दास्यरसमें 'भगवान् ऐश्वर्यशाली हैं, मैं दीन हूँ, भगवान् स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ'—ऐसा भाव रहता है। इसमें कुछ अलगाव-सा है, भय है और संकोच है; परंतु सख्यवात्सल्य और माधुर्यमें क्रमशः भगवान् अधिकाधिक निजजन हैं, अपने प्यारे हैं, प्रियतम हैं; इनमें भगवान् ऐश्वर्यको भुलाकर, विभूतिको छिपाकर, सखा, पुत्र या कान्तरूपसे भक्तके सामने सदा प्रकट रहते हैं। इन रसोंमें प्रार्थना-कामना है ही नहीं। अपने निज-जनसे प्रार्थना कैसी? उसका सब कुछ अपना ही तो है! इनमें भी कान्ताभाव सर्वप्रधान है। कान्ताभावमें पिछले दोनों रसोंका—सख्य और वात्सल्यका पूर्ण समावेश है। यहाँ भगवान्‌की सेवा खूब होती है, इतनी होती है कि सेवा करनेवाला भक्त कभी थकता ही नहीं, क्योंकि यह मालिककी सेवा नहीं है, प्रियतमकी सेवा है। प्रियतमके सुखी होनेमें ही अपार सुख है; जितना सुख पहुँचे, उतना ही थोड़ा, क्योंकि प्रियतमको जितना अधिक सुख पहुँचता है, उतने ही अपार सुखका अनुभव प्रियतमाको होता है।

यह कान्ताभाव दो प्रकारका है—स्वकीया और परकीया। लौकिक कान्ताभावमें परकीयाभाव त्याज्य है, घृणित है; क्योंकि उसमें अंगसंगरूप कामवासना रहती है और प्रेमास्पद 'जार मनुष्य' होता है। परंतु दिव्य कान्ताभावमें—परमेश्वरके प्रति होनेवाले कान्ताभावमें परकीयाभाव ग्राह्य है, वह स्वकीयासे श्रेष्ठ है। क्योंकि इसमें कहीं अंगसंग या इन्द्रियतृप्तिकी आकांक्षा नहीं है। प्रेमास्पद पुरुष जार नहीं है, स्वयं 'विश्वात्मा भगवान्' हैं—पति-पुत्रोंके और अपने सबके आत्मा, परमात्मा हैं। इसीलिये गोपीप्रेममें परकीयाभाव माना जाता है। यद्यपि स्वकीया पतिव्रता स्त्री अपना नाम-गोत्र, जीवन, धन, धर्म सभी पतिके अर्पण कर प्रत्येक चेष्टा पतिके लिये ही करती है, तथापि परकीयाभावमें तीन बातें विशेष होती हैं। प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, उससे मिलनेकी अतृप्त उत्कण्ठा और प्रियतममें दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव। स्वकीयामें सदा एक ही घरमें एक साथ निवास होनेके कारण ये तीनों ही बातें नहीं होतीं। गोपियाँ भगवान्‌को नित्य देखती थीं; परंतु परकीयाभावकी प्रधानतासे क्षणभरका वियोग भी उनके लिये असह्य हो जाता था, आँखोंपर पलक बनानेके लिये वे विधाताको कोसती थीं; क्योंकि पलक न होते तो आँखें सदा खुली ही रहतीं। गोपियाँ कहती हैं—

अटति यद् भवानह्नि काननं
त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। १५)

'जब आप दिनके समय वनमें विचरते हैं तब आपको न देख सकनेके कारण हमारे लिये एक-एक पल युगके समान बीतता है। फिर सन्ध्याके समय जब वनसे लौटते समय घुँघराली अलकावलियोंसे युक्त आपके श्रीमुखको देखती हैं तब हमें आँखोंकी पलक बनानेवाले ब्रह्मा मूर्ख प्रतीत होने लगते हैं अर्थात् एक पलक भी आपको देखे बिना हमें कल नहीं पड़ती।'

भगवान्‌का नित्य चिन्तन करना, पलभरके अदर्शनमें भी महान् विरह-वेदनाका अनुभव करना और सर्वतोभावसे दोषदर्शनरहित होकर आत्मसमर्पण कर चुकना गोपियोंका स्वभाव था। इसीसे वे उस प्रियतमसेवाके सामने किसी बातको कुछ भी नहीं समझती थीं। लोक-वेद सबकी मर्यादाको छोड़कर वे कृष्णानुरागिणी बन गयी थीं। भोग और मोक्ष दोनों ही उनके लिये सर्वथा तुच्छ और त्याज्य थे। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ४)

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यम्
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

'हे उद्धव! गोपियोंने अपने मन और प्राण मुझमें अर्पण कर दिये हैं। मेरे लिये अपने सारे शारीरिक सम्बन्धोंको और लोकसुखके साधनोंको त्यागकर वे मुझमें ही अनुरक्त हो रही हैं। मैं ही उनके सुख और जीवनका आधार हूँ। इस प्रकार अपने आत्माको मुझमें अर्पित करनेवाला भक्त मुझको छोड़कर ब्रह्माके पद, इन्द्रके पद, चक्रवर्तीके पद, पाताल आदिके राज्य और योगके आठों ऐश्वर्य आदिकी तो बात ही क्या है, अपुनरावर्ती मोक्ष भी नहीं चाहता।' ऐसे भक्तोंके लिये भगवान् क्या कहते हैं, सुनिये—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

'उनकी चरण-रजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं सदा उनके पीछे-पीछे घूमा करता हूँ।' इसी कारण गीतगोविन्दकारने '**देहि मे पदपल्लवमुदारम्**' कहकर भगवान्‌के द्वारा श्रीराधाजीके पद-कमलकी चाह करायी है। और इसी आधारपर रसिक रसखानजीने कहा है—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन गानन, बेद-रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितै, वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्‌यो, रसखानि बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो, दुर्‌यो वह कुंज-कुटीर में बैठ्यो पलोटत राधिका पायन॥

यद्यपि भक्त कभी यह चाहता नहीं कि भगवान् प्रियतम मेरे पैर दाबें, परंतु वहाँ तो सर्वथा ऐक्य होता है। कोई छोटा-बड़ा रहता ही नहीं। महाभारतमें सखा-भक्त अर्जुनके साथ भगवान् श्रीकृष्णके व्यवहारका वर्णन संजयने कौरवोंकी राजसभामें किया है। अर्जुनसे ही जब वैसा व्यवहार था, तब गोपियोंके समान भक्तोंकी तो बात ही निराली है। गोपियोंका परकीयाभाव दिव्य है। लौकिक विषय-विमोहित मनवाले मनुष्य इसका यथार्थभाव नहीं समझकर अपने वृत्तिदोषसे दोषारोपण कर बैठते हैं। असलमें व्रजगोपिकाओंका प्रेम अत्यन्त उच्चतम अवस्थापर स्थित है। उसीमें सभी रसोंका विकास है, परंतु मधुररस प्रधान है। यह मधुररस उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्रेम, स्नेह, मान, राग, अनुराग और भावपर्यन्त पहुँच जाता है। भावकी पराकाष्ठा ही महाभाव है। यह महाभाव केवल प्रातःस्मरणीया व्रजदेवियोंमें ही था। श्रीभगवान्‌ने प्रेमिक भक्तोंकी प्रेमकामना पूर्ण करनेके लिये व्रजमण्डलमें इस सच्चिदानन्दमयी दिव्य लीलाको प्रकट किया था। गोपी-प्रेमकी यह पवित्र लीला भगवान्‌ने रमणाभिलाषासे अथवा गोपियोंकी काम-वासना-तृप्तिके लिये नहीं की थी; न तो भगवान्‌में रमणाभिलाषा थी और न गोपियोंमें काम-वासना ही। यह तो की गयी थी जगत्‌के जीवोंके कामनाशके लिये। रासलीला-प्रकरणको समाप्त करते हुए मुनिवर श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३३। ४०)

'जो धीर पुरुष व्रज-बालाओंके साथ भगवान् विष्णुके (श्रीकृष्णके) इस रासविहारकी कथाको श्रद्धापूर्वक सुनेगा या पढ़ेगा, वह शीघ्र ही भगवान्‌की पराभक्तिको प्राप्तकर हृदयके रोगरूप काम-विकारसे छूट जायगा।'

जिस लीलाके भलीभाँति समझकर श्रद्धापूर्वक सुनने-पढ़नेसे ही हृद्रोग-काम-विकार नष्ट होकर पराभक्ति प्राप्त होती है, उस लीलाके करनेवाले नायक श्रीभगवान् और उनकी प्रेयसी नायिका गोपिकाओंमें काम-विकार देखना या कलुषित मानवी व्यभिचारकी कल्पना करना काम-विमोहित विषयासक्त मनुष्योंके बुद्धि-दोषका ही परिणाम है। व्रजलीला परम पवित्र है, इस बातको प्रेमीजन भलीभाँति जानते हैं और इसीसे नारद-सदृश देवर्षि और शिव-सदृश महान् देव उसमें सम्मिलित होनेकी वाञ्छासे गोपीभावमें दीक्षित होते हैं। मृत्युकी बाट देखनेवाले राजा परीक्षित्को महाज्ञानी शुकदेवजी इसीलिये व्रजलीला सुनाते हैं, जिससे सहज ही पराभक्तिको प्राप्तकर परीक्षित् भगवान्के असली तत्त्वको जान लें और भगवान्को प्राप्त हो जायँ। भगवान् श्रीकृष्णने ज्ञाननिष्ठाके सामनेसे पराभक्ति-प्राप्तिका क्रम (और उसका फल) बतलाते हुए कहा है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८। ५१—५५)

अर्थात् 'जब मनुष्य विशुद्ध बुद्धिसे युक्त, एकान्तसेवी, मिताहारी, मन-वाणी-शरीरको जीता हुआ, सदा वैराग्यको धारण करनेवाला, निरन्तर ध्यानपरायण, दृढ़ धारणासे अन्तःकरणको वशमें करके शब्द-स्पर्शादि विषयोंको त्यागकर, राग-द्वेषको नष्ट करके, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहको छोड़कर ममतारहित शान्त हो जाता है, तभी वह ब्रह्मप्राप्तिके योग्य होता है; फिर ब्रह्मभूत होकर सदा प्रसन्नचित्त रहनेवाला वह न किसी वस्तुके लिये शोक करता है और न किसी वस्तुकी आकांक्षा ही करता है और सब प्राणियोंमें समभावसे भगवान्को देखता है तब उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है। उस पराभक्तिके द्वारा मेरे तत्त्वको भलीभाँति जानता है कि मैं किस प्रभाववाला हूँ। इसी पराभक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर भक्त तदनन्तर ही मुझमें मिल जाता है।'

ध्यानपूर्वक देखा जाय तो गोपियोंमें उपर्युक्त सभी बातें पूर्णरूपसे थीं। विशुद्ध बुद्धिका इससे बढ़कर क्या सबूत हो सकता है कि वह सदा भगवान् श्रीकृष्णमें ही लगी रहे। श्रीकृष्णमिलनके लिये एकान्त-सेवन शरीरसे ही नहीं, मनसे भी एकान्त रहना, खान-पान भूल जाना, मन-वाणी-शरीरको विषयोंसे खींचकर एकमात्र प्रियतम श्रीकृष्णमें लगाये रखना, घर-परिवार आदि किसी भी भोग-पदार्थमें राग न रखना, निरन्तर प्रियतम श्रीकृष्णके ध्यानमें संलग्न रहना, मनमें श्रीकृष्णकी दृढ़ धारणासे अन्तःकरणको श्रीकृष्णमय बनाये रखना, श्रीकृष्णविषयक पदार्थोंके सिवा अन्य सभी शब्द-स्पर्शादि विषयोंको त्याग देना, जगत्की दृष्टिसे किसी भी पदार्थमें राग-द्वेष न रखना, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह सबका श्रीकृष्णमें उत्सर्ग कर देना; घर-द्वार ही नहीं, स्वर्ग और मोक्षमें भी ममत्व न रखना; चित्तको सदा श्रीकृष्णके स्वरूपमें समाहित रखकर जगत्के विषयोंसे शान्त रखना और श्रीकृष्णको ब्रह्मरूपसे पहचानकर उनसे मिलनेके लिये व्याकुल होना गोपियोंके चरित्रमें पद-पदपर प्राप्त होता है। इसके सिवा उनका नित्यानन्दमयी होकर सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हर्ष-शोकसे रहित होना और सर्वत्र श्रीकृष्णको सब प्राणियोंमें देखना भी प्रसिद्ध ही है। साधकोंको दीर्घकालके महान् साधनसे प्राप्त होनेवाली ये बातें गोपियोंमें स्वाभाविक थीं, इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें अपना रहस्य खोलकर बतला दिया और अपने स्वरूपका साक्षात् दर्शन कराकर उनके साथ दिव्य क्रीड़ा करके उन्हें श्रीकृष्णरूप बना लिया। ज्ञानियोंसे विशेषता यह रही कि इसमें सारी बातें केवल विचारके आधारपर न रहकर प्रत्यक्ष इन्द्रियगम्य हो गयीं। साक्षात् परब्रह्म महान् सुन्दर द्विभुज मुरलीमनोहररूपधारी बनकर स्वयं भक्तोंके साथ नाचे। अपनी रूपमाधुरीसे भक्तोंके चित्तको चुराकर, अपनी मुरली-ध्वनिसे प्रेमी भक्तोंको खींचकर अपने पास बुला लिया और उन्हें सब प्रकार कृतार्थ किया। एक महात्माने दिव्यदृष्टिसे देखकर सखीभावमें प्रविष्ट होकर कहा था—

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गने मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥

'हे सखि! एक कौतुककी बात सुन। मैंने आज बाबा नन्दके आँगनमें वेदान्तके चरम सिद्धान्त ब्रह्मको

गोधूलिधूसरितांग हुए नाचते देखा।'

ग्यानी बोध सुरूप ह्वै होहिं ब्रह्ममें लीन।
निरखत पै लीला मधुर प्रेमी प्रेम प्रबीन॥
ग्यानी ढिग गंभीर हरि सच्चिद ब्रह्मानंद।
प्रेमी संग खेलत सदा चंचल प्रेमानंद॥
ग्यानी ब्रह्मानंद सों रहत सदा भरपूर।
पै प्रेमी निरखत सुखद दुरलभ हरिको नूर॥
प्रेमी भाग्य सराहि मुनि, ग्यानी बिमल बिबेक।
चहैं सुदुरलभ प्रेमपद तजि निजपदकी टेक॥

रूपमाधुरी

भगवान्‌की उस रूपमाधुरीका वर्णन कौन कर सकता है? वे एक बार जिसकी ओर प्रेमकी नजरसे देख लेते, उसपर प्रेम-सुधा बरसाकर उसे अमर कर देते, उसकी सारी विषयासक्तिको नष्ट कर अपना प्रेमी बना लेते। पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं—

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया।
सौन्दर्यामृतमुद्‌गिरद्भिरभितः सम्मोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति॥

'रे चित्त! तेरे हितके लिये तुझे सावधान किये देता हूँ। कहीं तू उस वृन्दावनमें गाय चरानेवाले, नवीन नील मेघके समान कान्तिवाले छैलको अपना बन्धु न बना लेना; वह सौन्दर्यरूप अमृत बरसानेवाली अपनी मन्द मुसकानसे तुझे मोहित करके तेरे प्रिय समस्त विषयोंको तुरंत नष्ट कर देगा।' अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन-स्वामीजीको भी उसकी रूपछटाके फंदेमें पड़कर स्वाराज्यसिंहासनसे च्युत होना पड़ा। वे कहते हैं—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः
स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः ।
शठेन केनापि वयं हठेन
दासीकृता गोपवधूविटेन॥

'अद्वैतमार्गके अनुयायियोंद्वारा पूज्य तथा स्वाराज्यरूपी सिंहासनपर प्रतिष्ठित होनेका अधिकार प्राप्त किये हुए हमको गोपियोंके पीछे-पीछे फिरनेवाले किसी धूर्तने हठपूर्वक (जबरदस्ती इच्छा न रहनेपर भी) अपने चरणोंका गुलाम बना लिया।' भक्त लीलाशुकजी उस बालकृष्णकी छबिके जादूसे डरकर सबको सावधान करते हुए कहते हैं—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या
दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे
धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम्॥

'अरे पथिको! उस रास्ते न जाना। वह गली बड़ी भयावनी है। वहाँ अपने नितम्बबिम्बपर हाथ रखे जो तमालके तुल्य नीले रंगका एक नंग-धड़ंग बालक खड़ा है वह केवल देखनेमात्रका अवधूत है, असलमें तो वह अपने पास होकर निकलनेवाले किसी भी मुसाफिरके मनरूपी धनको लूटे बिना नहीं रहता।'

व्रजरसरसीले साह कुन्दनलालजी श्रीललितकिशोरीजी बने हुए कहते हैं—

नैनचकोर मुख-चंदहूपै वारि डारौं,
वारि डारौं चित्तहि मनमोहन चितचोरपै।
प्रानहूकों वारि डारौं हँसन दसन लाल,
हेरन कुटिलता औ लोचनकी कोरपै॥
वारि डारौं मनहिं सुअंग-अंग स्यामा-स्याम,
महल मिलाप रसरासकी झकोरपै।
अतिहि सुघर बर सोहत त्रिभंगीलाल
सरबस वारौं वा ग्रीवाकी मरोरपै॥

सर्वस्व वार देनेपर भी वह फिर अपनी तिरछी चितवनकी बरछीसे प्रेमी भक्तको घायल करता है और बार-बार उसकी ओर झाँक-झाँककर, हँस-हँसकर घावपर नमक बुरकाता रहता है—

देखो री! यह नंदका छोरा बरछी मारे जाता है।
बरछी-सी तिरछी चितवनकी पैनी छुरी चलाता है॥
हमको घायल देख बेदरदी मंद-मंद मुसकाता है।
ललितकिसोरी जखम जिगर पर नौनपुरी बुरकाता है॥

श्यामकी तिरछी नजरसे घायल प्रेमीका यह जख्मेजिगर कभी सूख ही नहीं सकता, वह सदा हरा रहता है और उसकी पल-पलकी कसक ब्रह्मानन्दसे भी बढ़कर आनन्द दिया करती है। गोपियोंके हृदयमें यह घाव बहुत गहरा था। बड़े भाग्यसे यह दिनोंदिन बढ़नेवाला घाव होता है और स्वयं साँवरेके वैद्य बनकर आनेपर भी यह अच्छा नहीं होता। श्यामसुन्दरके दर्शनसे ही यह बढ़ जाता है और अदर्शन कभी सुहाता नहीं। एकमात्र वही वैद्य है; परंतु वैद्य घाव बढ़ाते हैं, घटाते नहीं। इस घावके बढ़नेमें ही सुख है, इसीलिये घावसे कराहना और बार-बार घाव बढ़ानेका कार्य करना, यही बस, प्रेमियोंके जीवनका नित्य परम सुखदायी दु:ख हो जाता है।

मुरली और रास

यही हाल उसकी मुरलीका है। जब वह बजती है

तब औरोंकी तो बात ही क्या है, निर्बीज-समाधिमें स्थित योगियोंकी समाधि भी टूट जाती है।

वह वंशीध्वनि निकलते ही जडको चेतन और चेतनको जड बना देती है। इसीसे एक बार एक गोपीने व्यंग्यसे मुरलीकी महिमा गाते हुए कहा था—

मुरहर रन्धनसमये मा कुरु मुरलीरवं मधुरम्।
नीरसमेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतरताम्॥

'हे मुरारे! अरे, मेरे रसोई बनाते समय तो तुम कृपाकर अपनी मुरलीकी मधुर तान न छेड़ा करो, क्योंकि उस ध्वनिके आते ही मेरी सूखी लकड़ियाँ हरी हो रस टपकाने लगती हैं और आग बुझ जाती है, जिससे रसोई भी नहीं हो पाती है।' दूरसे मुरलीकी टेर सुनकर एक सखी दूसरीसे कहती है—

सुनती हौ कहा, भजि जाहु घरै, बिंध जाओगी नैनके बाननमें।
यह वंशी 'निवाज' भरी विषसों बगरावति है विष प्राननमें॥
अब ही सुधि भूलिहौ भोरी भटू, भँवरो जब मीठी-सी ताननमें।
कुलकानि जो आपनि राखि चहौ दे रहौ अँगुरी दोउ काननमें॥

इस वंशीकी और रासकी कुछ आलोचना किये बिना गोपी-प्रेमकी चर्चा अधूरी रह जाती है। इसलिये कुछ इन विषयोंपर भी विचार करना है।

श्रीकृष्णमिलनके लिये कात्यायनीकी पूजा करनेवाली गोपियोंको वर देनेके दिन भगवान्ने उनके वस्त्र हरणकर उनके निर्मल और अनन्य प्रेमकी परीक्षा की। उनका सारा भेद-ज्ञान हरण करके उन्हें निर्मल प्रेमपथकी अधिकारिणी समझकर मिलनका वरदान दिया। वस्त्रहरणलीलामें पाप देखना पापबुद्धिका परिणाम है। जीवात्माका परमात्माके सामने कोई पर्दा नहीं रह सकता। पर्दा मायामें ही है। सबके अन्तरात्मा भगवान्से कौन जीवात्मा अपने अंगोंको छिपानेका भाव रख सकता है? वह जबतक छिपाता है तबतक परमात्माको परमात्मा न समझकर अपने पृथक्त्वका अभिमान बनाये रखता है। चीरहरणसे गोपियोंका यह मोह भंग हुआ। उन्होंने श्रीकृष्णको परमात्मा समझा और जीवभावसे वे अभिमानके पर्देको तोड़कर भेदमूलक मायाके वस्त्रोंसे सर्वथा रहित होकर सर्वात्मरूप प्रभुके सामने आ गयीं।

इसके कुछ दिनों बाद शरत्पूर्णिमा आयी। भगवान्के मिलनका दिन आया। शारदीया रजनी, प्रफुल्ल मल्लिका, पूर्ण सुधांशुकी सुधामयी मधुर किरणों आदि उद्दीपन-भावोंसे गोपियोंके हृदयमें एक अलक्ष्य आकांक्षा जाग उठी, मानो उनका हृदय किसी वस्तुको चाहने लगा। यह थी श्रीकृष्णमिलनकी कामना।

बस, इसी समय श्रीकृष्णकी मोहन मुरली बज उठी। शारद सुधाकरकी ज्योत्स्नामें, नील यमुनाके निर्मल सैकतमें, मन्दानिलसे आन्दोलित माधवी-कुंजमें आत्माराम, पूर्णकाम, योगेश्वरेश्वर, नित्यनवनटवर मोहनकी मधुर मुरलीसे विश्व-विमोहन प्रेमके आवाहनका अनंगवर्धक, आनन्ददायक संगीत प्रारम्भ हो गया। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।४)

'उस अनंगवर्धन (श्रीकृष्ण-मिलन-कामनाको बढ़ानेवाले) गानके कानोंमें पड़ते ही समस्त व्रज-वनिताओंका मन श्रीकृष्णमय हो गया। वे उसी समय तुरंत सब कुछ छोड़कर अपने प्रियतम श्रीकृष्णके पास चली गयीं। उतावलीके कारण किसीने किसीको साथ लेनेका भी कोई प्रयत्न नहीं किया। (सब अलग-अलग ही जो जिस अवस्थामें थी उसी अवस्थामें, सब कुछ भूलकर दौड़ पड़ीं।) उस समय वे इतने वेगसे चलीं कि सारे रास्ते उनके कानोंके कमनीय कुण्डल हिलते रहे।'

अनंगके बढ़ जानेपर वे अपने-अपने पतियोंके पास न जाकर श्रीकृष्णके पास क्यों गयीं? इसमें कारण है। उनका अनंग लौकिक काम नहीं था। श्रीकृष्णमिलनकी योगिजनदुर्लभ प्रबल कामना थी, जो किसी अंगवाली न होनेपर भी बड़ी प्रबल थी और जिसने उनको बरबस श्रीकृष्णकी ओर दौड़नेको बाध्य कर दिया था। वंशीध्वनि अखण्डानन्द प्रदान करनेके लिये भगवान्का निमन्त्रण था, उसे वे कैसे टाल सकती थीं? वह वंशी कैसे बजी, उसकी ध्वनि कहाँतक गयी?

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन् मुहुस्तुम्बुरुं
ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन् वेधसम्।
औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः॥

'वंशीका वह पवित्र संगीत अपनी सुधामयी स्वरलहरीसे समस्त वृन्दावनको आप्लावित करता हुआ, आकाशमें पहुँचकर जलद-समूहको स्तम्भित करता हुआ, स्वर्गमें देवगायक तुम्बुरुको पुनः-पुनः चकित करता हुआ, ब्रह्मलोकमें सनन्दनादि महामुनियोंकी निर्गुण ब्रह्मकी निर्बीज समाधिको भंग करता हुआ, स्वयं प्रजापति ब्रह्माको विस्मित

करता हुआ, यों ऊर्ध्वलोकमें अपनी विजयपताका फहराकर नीचे पातालकी ओर चला और वहाँ राजा बलिको चौंकाकर, नागराज अनन्त शेषनागके सहस्र फणोंको कँपाकर, अखिल ब्रह्माण्डकटाहको भेदकर श्रीकृष्णका वह वंशीसंगीत सब ओर फैल गया।'

परंतु इतनेपर भी इस आवाहन-संगीतको सुना भक्तोंने ही और वे उसी समय दौड़ चले। अब भी श्यामकी वह वंशी वैसे ही बजती है और प्रेमी भक्त अब भी उसे सुनते हैं। अस्तु, भक्तप्रवर श्रीनन्ददासजी कहते हैं—

सुनत चलीं ब्रज-बधू गीत-धुनिको मारग गहि।
भवन भीत द्रुम कुंज पुंज कितहूँ अटकी नहिं॥
नाद अमृतको पंथ रँगीलो सुच्छम भारी।
तेहि मग ब्रजतिय चलैं आन कोउ नहिं अधिकारी॥

वे मुरलीकी ध्वनिको लक्ष्य करके उन्मत्तकी भाँति चलीं और भगवान् श्रीकृष्णके चरण-प्रान्तोंमें जा पहुँचीं। यहाँ फिर प्रेम-परीक्षा होती है। खास करके दो बातें देखनी हैं—(१) गोपियोंका किसी सांसारिक विषयमें मन आसक्त है या नहीं और (२) वे श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान् समझती हैं या नहीं। इसीलिये पहले-पहल भगवान्ने उनसे कहा—

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १८)

हे महाभागाओ! तुम्हारा स्वागत है। कहो, मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूँ? व्रजमें सब कुशल तो है, इस समय अपने यहाँ आनेका कारण तो बताओ?'

गोपियाँ भगवान्की ऐसी वाणी सुनकर मुसकरा दीं, कुछ बोली नहीं। भगवान् फिर बोले—

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥

(१०। २९। १९)

'हे सुन्दरियो! देखो, रात्रि बड़ी घोर है। इस समय बहुत-से भयानक जीव इधर-उधर फिर रहे हैं। इसलिये तुमलोग तुरंत व्रजको लौट जाओ। यहाँ स्त्रियोंका अधिक देर ठहरना ठीक नहीं है।'

गोपियोंने कुछ उत्तर नहीं दिया। भगवान् फिर बोले—

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्॥

(१०। २९। २०)

'तुम्हें घरमें न देखकर तुम्हारे माता-पिता, पुत्र, भाई और पति आदि तुम्हें ढूँढ़ते होंगे? तुम यहाँ ठहरकर अपने घरवालोंको व्यर्थ घबराहटमें न डालो।'

यहाँ भगवान्ने सांसारिक अति निकटके सम्बन्धियोंकी बात याद दिलाकर यह जानना चाहा कि देखें गोपियोंके मनमें उनके प्रति मोह या उनसे भय है या नहीं। ये मायिक जगत्में हैं या ईश्वराभिमुखी हैं? परन्तु गोपियाँ इस परीक्षामें पास हो गयीं। ऋषिपत्नियाँ यहीं, इसी प्रसंगपर घर लौट गयी थीं। गोपियाँ कुछ नहीं बोलीं। उनके चित्तमें संसारकी आत्मीयताका कुछ मोह नहीं जाग्रत् हुआ। वे भगवान् परमात्मा श्रीकृष्णके प्रेममें डूब रही थीं।

चाँदनी रातकी सुन्दर शोभा देखकर गोपियोंके मनोंमें श्रीकृष्णप्रेम जागा था, यह जागृति लौकिक थी या दिव्य? इसीको जाँचनेके लिये भगवान्ने फिर कहा—

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम्॥
तद् यात माचिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत॥

(१०। २९। २१-२२)

'तुम रजनीशकी रश्मियोंसे रंजित और यमुनाजलके स्पर्शसे शीतल मन्द-मन्द पवनकी गतिसे हिलते हुए नवपल्लवोंसे सुशोभित एवं कुमुदकुसुम-मण्डित, मनोहर इस वृन्दावनकी शोभा देख चुकीं। अब हे सतियो! देर न करो, तुरंत ही व्रज लौट जाओ और अपने-अपने पतियोंकी सेवा करो। देखो, बालक और तुम्हारी गायोंके बछड़े रो रहे होंगे, जाकर उन्हें दूध पिलाओ और गायें दुहो।'

सती स्त्रीके लिये पति-सेवासे बढ़कर और कौन-सा महत्त्वका कार्य हो सकता है? भगवान्ने 'सती' सम्बोधन करके पतियोंकी याद दिलायी। माताको पुत्र और ग्वालिनोंको गौ-बछड़े बड़े प्रिय होते हैं, उनका भी करुण शब्दोंमें स्मरण कराया। इनका मन पति-पुत्रोंमें है या सबसे विरक्त होकर केवल मुझ भगवान्में है—यह जाननेके लिये भगवान्ने इतनी बातें कहीं। गोपियाँ अब भी कुछ नहीं बोलीं। अबकी बार भगवान्ने अपने बाह्य सौन्दर्यकी महिमा दिखलाकर—यह जाननेके लिये ये केवल सौन्दर्यपर ही मोहित हैं या मुझे ईश्वर समझकर आयी हैं, भगवान् बोले—

अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥

(१०। २९। २३)

'अथवा यदि तुम मेरे स्नेहके कारण आसक्तचित्त होकर मुझे देखने आयी हो तो कोई दोषकी बात नहीं, क्योंकि मुझको देखकर सभी प्राणी प्रसन्न होते हैं।' परंतु—

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम्॥
दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥
अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः॥

(१०। २९। २४—२६)

'हे कल्याणियो! पति और उसके बन्धुओंकी निष्कपट भावसे सेवा करना तथा सन्तानका पालन-पोषण करना ही स्त्रियोंका परम धर्म है। जिन स्त्रियोंको शुभ गति पानेकी इच्छा हो वे अपने अपातकी पतिका किसी प्रकार भी त्याग न करें, चाहे वह बुरे स्वभाववाला, अभागा, वृद्ध, मूर्ख, रोगी या निर्धन ही क्यों न हो। कुलीन स्त्रियोंके लिये उपपति (जार)-की सेवा करना सर्वथा निन्दनीय है; इससे स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती, संसारमें अपकीर्ति होती है। यह अत्यन्त ही निन्दनीय और भयदायक कार्य है।'

भगवान्‌ने सब बातें खोलकर कह दीं। यदि मुझको मनुष्य मानकर कामाभिलाषासे आयी हो तो नरकगामिनी होओगी, संसारमें अयश होगा; क्योंकि यही वेदधर्म है।

इस उपदेशसे भी गोपियाँ नहीं हिलीं, तब भगवान्‌ने उन्हें जाँचनेके लिये फिर कहा—

श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात्।
न तथा संनिकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥

(१०। २९। २७)

(अच्छा, मुझमें कुछ महत्त्व समझकर आयी हो तो भी) 'मेरे गुण-श्रवण, दर्शन, ध्यान और कीर्तनसे मुझमें जैसा प्रेम होता है वैसा पास रहनेसे नहीं होता, इसलिये तुम अपने घरोंको लौट जाओ।' ऋषिपत्नियाँ इसी प्रकारकी बात सुनकर लौट गयी थीं, परंतु गोपियाँ नहीं लौटीं। ऋषिपत्नियोंने भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् तो जान लिया था, परंतु उनकी घरोंमें ममता थी। गोपियाँ संसारसे सर्वथा वैराग्यवती और भगवान्‌की महिमासे पूर्ण परिचित थीं। गोपियाँ इस बातको जानती थीं कि भगवान् समस्त जगत्‌के आत्मा हैं। हमारे, हमारे पतियोंके, हमारे पुत्रोंके—सबके एकमात्र आत्मा हैं। जगदात्मा भगवान्‌में औपपत्य (जारपने)-की कभी कल्पना ही नहीं हो सकती; बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, तपस्वी, योगी संसारके सारे बन्धनोंको तोड़कर सबसे उपराम होकर जिन सच्चिदानन्दघन प्रभुकी प्राप्ति चाहते हैं, वही साक्षात् परमात्मा सुन्दर प्रियतमके रूपमें हमारे सामने खड़े हैं, उन्हींके चरणोंमें हम उपस्थित हैं। अब इन्हें छोड़कर जाना मूर्खता नहीं तो क्या है? अतः प्रेममयी गोपियाँ आँखोंमें आँसू भरकर प्रणयकोपके कारण गद्‌गद हुई वाणीसे बोलीं—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ३१-३२)

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। ४)

'हे सर्वव्यापक! आपको ऐसे कठोर शब्द नहीं कहने चाहिये। हम अन्य समस्त विषयोंको छोड़कर एकमात्र आपके चरणकमलोंमें ही अनुरक्त हैं। अतः जिस प्रकार आदिपुरुष श्रीनारायण मुमुक्षुओंको अपनाते हैं, आप भी हमलोगोंको इसी प्रकार ग्रहण कीजिये, कभी त्यागिये नहीं। हे कृष्ण! आप स्वयं धर्मको जाननेवाले हैं, (सबसे बढ़कर धर्म तो आपके चरणोंका आश्रय है, फिर आप धर्मविद् होकर कैसे हमें लौट जानेको कहते हैं?) आपने जो कहा कि पति, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका धर्म है, सो वह उपदेश आप ईश्वरमें ही रहे। क्योंकि इस उपदेशके आश्रय आप ही हैं। आप ही धर्मकी अन्तिम गति हैं। पति, पुत्र आदि समस्त देहधारियोंके आप ही प्रिय बन्धु और आत्मा हैं। निश्चय ही आप केवल यशोदाके पुत्र नहीं हैं, बल्कि आप समस्त देहधारियोंके अन्तःकरणके साक्षी हैं। हे सखे! ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे आप अपने सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षाके लिये यदुकुलमें अवतार लिया है।'

हमें छलिये नहीं। आप साक्षात् परमेश्वर हैं। आपके बिना पति, पुत्रादि किसीकी भी सम्भावना नहीं है।

सबके आश्रय, सबकी गति, समस्त धर्मोंके अधिष्ठान, ईश्वरोंके ईश्वर आपको छोड़कर हम कहाँ जायँ और क्यों जायँ?

गोपियाँ इस बातको जानती थीं कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम, विज्ञानानन्दघन, विश्वात्मा परमेश्वर हैं। परमेश्वर ही सबके आत्मा और चरम गति हैं, अब उन परमात्माको पाकर गोपियाँ वहाँसे क्यों हटने लगीं? उन्होंने कहा—

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥
चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये॥
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमयो करवाम किं वा॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ३३-३४)

'शास्त्रज्ञ पुरुष अपने नित्यप्रिय आत्मारूप आपहीमें प्रेम करते हैं। इस लोकमें संसार-दुःख देनेवाले, पति-पुत्रादिसे उन्हें क्या प्रयोजन है? अतः हे परमेश्वर! आप हमपर प्रसन्न होइये। हमारी चिरकालकी आशालताको काटिये नहीं। अब हम किसी प्रकार घर नहीं जा सकतीं। हमारा जो चित्त सुखपूर्वक घरमें आसक्त था, उसको आपने चुरा लिया, हमारे हाथ घरके कामोंमें लगे थे वे भी चेष्टाहीन हो गये और हमारे पैर भी आपके चरणकमलोंसे एक पग भी नहीं हटना चाहते। हम किस प्रकार घर जायँ और वहाँ जाकर अब करें भी क्या?'

भगवान्ने भक्तकी परीक्षा की, परीक्षामें भक्त उत्तीर्ण हो गया, तब उसे मनोवांछित फल दिया। योगेश्वरेश्वर भगवान्ने आत्माराम होकर गोपियोंके साथ आत्मरमण किया। इसके बाद भगवान् एक बार अन्तर्धान हो गये। पीछेसे गोपियाँ भगवान्के अदर्शनसे व्याकुल होकर भगवान्को ढूँढ़ती और विविध विलाप करती रहीं।

दोहा

कुंज पुंज ढूँढ़त फिरी, खोजत दीनदयाल।
प्राननाथ पाये नहीं, बिकल भईं ब्रजबाल॥

रोला

बिरहाकुल ह्वै गईं सबै पूछत बेली-बन।
को जड़, को चैतन्य, न कछु जानत बिरही जन॥
हे मालति, हे जाति, जूथके सुनि हित दे चित।
मान-हरन मन-हरन लाल गिरधरन लखे इत॥
हे केतकि इतते कितहूँ चितए पिय रूसे।
कै नँदनंदन मंद मुसुकि तुमरे मन मूसे॥
हे मुक्ताफल बेल, धरे मुक्ताफल-माला।
देखे नैन बिसाल मोहना नँदके लाला॥
हे मंदार उदार, बीर करबीर महामति।
देखे कहुँ बलबीर धीर मन-हरन धीर-गति॥
हे चंदन, दुखदंदन, सबकी जड़न जुड़ावहु।
नँदनंदन जगबंदन चंदन हमहिं बतावहु॥
पूछो री इन लतनि फूल रहिं फूलनि जोई।
सुंदर पियके परस बिना अस फूल न होई॥
हे सखि, हे मृगबधू! इन्हें किन पूछहु अनसरि।
डहडहे इनके नैन अबहिं कहुँ देखे हैं हरि॥
अहो सुभग वनगंध पवन-सँग थिर जु रही चलि।
सुखके भवन दुख-दवन रवन इतते चितए बलि॥
हे चंपक, हे कुसुम, तुम्हें छबि सबसों न्यारी।
नैक बताय जु देउ जहाँ हरि कुंज-बिहारी॥
हे कदंब, हे निंब, अंब क्यों रहे मौन गहि।
हे बट, उतँग सुरंग बीर कहु तुम इत उत लहि॥
हे असोक, हरि सोक, लोकमनि पियहि बतावहु।
अहो पनस सुभ सरस, मरततिय अमिय पियावहु॥
जमुन निकटके बिटप पूछि भईं निपट उदासी।
क्यों कहिहैं सखि, अति कठोर ये तीरथबासी॥
हे जमुना, सब जानि-बूझि तुम हठहि गहत हो।
जो जल जग उद्धार, ताहि तुम प्रगट बहत हो॥
हे अवनी, नवनीत-चोर चित-चोर हमारे।
राखे कतहुँ दुराय बता देउ प्रान पियारे॥
हे तुलसी कल्यानि, सदा गोबिंद-पद-प्यारी।
क्यों न कहौ तुम नंदसुवनसों बिथा हमारी॥
जहँ आवत तुम कुंज पुंज गहबर तरु छाईं।
अपने मुख चाँदने चलत सुंदर बन माईं॥

(नन्ददासजी)

वे बोलीं—

धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः।
यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये॥

(श्रीमद्भा० १०। ३०। २९)

'भगवान् श्रीगोविन्दकी चरणरज अत्यन्त पवित्र है। ब्रह्मा, शिव, रमा आदि भी इसको मस्तकपर धारण करते हैं, हमलोग भी इसे मस्तकपर धारण करें।' यों कहते-कहते वे श्रीकृष्णमें तन्मय होकर श्रीकृष्णकी-सी लीलाएँ करने लगीं।

इहि बिधि बन-बन ढूँढ़ि बूझि उनमत की नाईं।
करन लगीं मनहरन लाल-लीला मन भाईं॥
मोहन लाल रसालकी लीला इनहीं सोहैं।
केवल तन्मय भईं कछु न जानें हम को हैं॥

(नन्ददासजी)

तदनन्तर पुनः भगवान्‌ने प्रकट होकर प्रत्येकके साथ एक-एक अलग-अलग बनकर रास किया।

रासका पहला श्लोक है—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

'भगवान्‌ने योगमायाको आश्रित करके रमणकी इच्छा की।' इसके बाद '**आत्मारामोऽप्यरीरमत्**' (आत्माराम होकर रमण किया)' '**साक्षान्मन्मथमन्मथः**' (कामदेवको भी मोहनेवाले), '**आत्मन्यवरुद्धसौरतः**' (अस्खलितवीर्य), आत्मकाम, सत्यकाम, पूर्णकाम, योगेश्वरेश्वर आदि शब्द आते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌की यह लीला परम दिव्य थी। इसमें लौकिक कामगन्धको जरा-सा भी स्थान नहीं है। 'भगवान्' शब्दसे ही सिद्ध होता है कि भगवान्‌में औपपत्य नहीं हो सकता; क्योंकि वे सबके अन्तरात्मा हैं। जिनमें अणिमादि आठों ऐश्वर्य विद्यमान हों, जो धर्म, यश, श्री, वैराग्य और ज्ञानके अपार और अटूट भण्डार हों उन्हींको भगवान् कहते हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

(विष्णुपु० ६। ५। ७४)

इस प्रकार षडैश्वर्यपूर्ण भगवान्‌में कामवासना या औपपत्य घट ही नहीं सकता। भगवान्‌ने यह सारी लीला अपनी योगमायाके द्वारा की। जिसकी जैसी इच्छा थी, भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान्‌की योगमायासे उसे वैसा ही होता प्रतीत हुआ। योगमाया-(भगवान्‌की अपनी दिव्य नित्य शक्ति)-के प्रभावसे ही निःसंग भगवान् सृष्टि, स्थिति और प्रलयकी लीला किया करते हैं। ऐन्द्रजालिक जिस प्रकार अपने इच्छानुसार दर्शकोंको मोहित करके मनमानी घटनाएँ उन्हें दिखाता है, इसी प्रकार भगवान्‌ने योगमायासे लीलाएँ कीं। राधिकाजी योगमायाका स्वरूप थीं। योगमायाके दूसरे एक स्वरूपको पहले भेजकर कंसको सन्देश दिलाया था और उसी योगमायाके द्वारा व्रजमें भगवान्‌ने दिव्य लीलाविलास किया। ब्रह्माके द्वारा गोप-बालकोंके और गोवत्सोंके हरण किये जानेपर पाँच वर्षके शिशु श्रीकृष्ण अपनी योगमायाके प्रभावसे स्वयं गोप-बालक, बछड़े और उनके सारे सामान—कपड़े, सींग, लाठी आदि बन गये। छः वर्षके बालक श्रीकृष्णने योगमायाके प्रभावसे कालियदमन और दावाग्निपान किया। इसी अवस्थामें भगवान्‌ने पतिरूपसे चाहनेवाली व्रजबालाओंका माया-भ्रम दूर करके सम्पूर्ण आत्मसमर्पणकी योग्यता प्रदान करनेके लिये उनके वस्त्र-हरणकी लीला की। इसी योगमायाके प्रभावसे सात वर्षके बालक श्रीकृष्णको व्रजयुवतियोंने नवयौवनसम्पन्न देखा। इसी अपनी योगमायाके प्रभावसे रासमण्डलमें भगवान् क्रीड़ा (रमण) करते हुए प्रतीत हुए। इसी योगमायाके बलसे प्रत्येक गोपीने गोपीनाथको अपने साथ देखा। बालक जैसे दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बके साथ स्वच्छन्द खेलता है, इसी प्रकार योगमायाके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णने अपनी छायास्वरूपा गोपियोंसे विलास किया—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३३। १७)

और योगमायाके प्रभावसे ही व्रजवासियोंने रासमें गयी हुई अपनी-अपनी पत्नियोंको अपने पास ही सोये हुए देखा—

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३३। ३८)

योगमायाके प्रभावसे ही कंसके दरबारमें प्रवेश करते समय एकादशवर्षीय बालक श्रीकृष्णको मल्लोंने वज्रके समान, नागरिकोंने विलक्षण नरश्रेष्ठरूपमें, स्त्रियोंने मूर्तिमान् कामदेवके तुल्य, गोपोंने निजजनके सदृश, दुष्ट राजाओंने शासकके समान, वसुदेव और देवकीने पुत्ररूपमें, कंसने साक्षात् मृत्युरूपमें, विद्वानोंने विराट्पुरुषके रूपमें, योगियोंने परमतत्त्वके रूपमें और यादवोंने परम देवताके रूपमें देखा।

यह पूर्णकाम, सत्यकाम, योगेश्वरेश्वर, षडैश्वर्यपूर्ण अघटनघटनापटीयसी योगमायाके संचालक, ह्लादिनी शक्तिके शक्तिमान्, भक्तवांछाकल्पतरु साक्षात् भगवान् और उन्हींके प्रतिबिम्बरूप भक्तोंकी दिव्य प्रेमलीला थी।

वास्तवमें श्रीकृष्णके साथ राधाका सर्वथा अभेद है। श्रीकृष्णके सौन्दर्य और माधुर्यका आस्वादन करनेवाली श्रीकृष्णकी अपनी ही ह्लादिनी शक्तिका नाम श्रीराधा है और श्रीकृष्णकी असंख्य शक्तियोंमेंसे जो शक्तियाँ इस ह्लादिनी शक्तिकी पुष्टिकारिणी हैं वे ही श्रीराधाकी सहचरी सखियाँ श्रीगोपियाँ हैं। उनमें भी सखी, सहेली,

सहचरी, दूतिका, दासी आदि कई भेद हैं। श्रीकृष्ण सुन्दरतम और मधुरतम हैं; इसीलिये वे रसराज, साक्षात् मन्मथमन्मथ, कोटिमनोजलजावनहारे, कन्दर्पके मूल बीज, दिव्य, नित्य, नवीन मदन, विज्ञानानन्दघन परम पुरुषोत्तम हैं और श्रीराधा श्रीकृष्णके सौन्दर्य-माधुर्यसे मुग्ध, कृष्णानुरागमयी, कृष्णभावमयी परा प्रकृति हैं। श्रीकृष्ण इस अपनी ही शक्तिद्वारा अपने सौन्दर्य-माधुर्यका रसास्वादन करते हैं। यही रसराज श्रीकृष्ण और रसरंगिणी श्रीराधाकी पारस्परिक प्रेम-सम्पत्ति हैं। यह प्रेम मानवीय नहीं है, यह नरलोकमें नहीं होता। इसीलिये श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

परकीया भावे अतिरसेर उल्लास।
ब्रजबिना इहार अन्यत्र नाहिं बास॥

इस अतिरसके उल्लासरूप दिव्य परकीयाभावका व्रजके (दिव्य श्रीकृष्णप्रेममय गोलोकके) अतिरिक्त अन्यत्र कहीं निवास नहीं है और इसीलिये ये व्रजराज रसराज श्रीकृष्ण इस वृन्दावनको छोड़कर एक पैंड भी कहीं नहीं जाते—

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

भगवान् श्रीकृष्ण शुद्ध चिन्मय, शुद्ध आनन्दमय, शुद्ध प्रेममय, शुद्ध रसमय हैं और ये श्रीकृष्णकान्ता गोपियाँ (श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति राधा और श्रीराधा-कृष्णका सदा मिलन-संयोग करानेमें ही नित्य संलग्न रहनेवाली, श्रीराधासे भी बढ़कर सुखानुभव करनेवाली सखियाँ) शुद्ध चिन्मयी, शुद्ध आनन्दमयी, शुद्ध प्रेममयी और शुद्ध भावमयी हैं। ये और इनके देहादि वस्तुत: हमलोगोंकी भाँति रस-मांसमय नहीं हैं, प्रापंचिक या कल्पित नहीं हैं, कर्मजन्य सुख-दु:ख-भोगनिमित्त नहीं हैं; ये नित्य हैं, प्रपंचमय मायिक जगत्‌में प्रकट होनेपर भी, मृत्युलोकमें लीला करनेपर भी मरण-धर्मसे सर्वथा अतीत हैं। प्रेमसे झलकते हुए दिव्य नेत्रोंसे ही इनकी दिव्य मूर्तियोंके और नित्यरासके दर्शन हो सकते हैं।

पद्मपुराणमें श्रीमहादेवजीके प्रति स्वयं भगवान्‌के वचन हैं—

इमां तु मत्प्रियां विद्धि राधिकां परदेवताम्।
अस्याश्च परित: पश्चात् सख्य: शतसहस्रश:॥
नित्या: सर्वा इमां रुद्र यथाहं नित्यविग्रह:।
सखाय: पितरो गोपा गावो वृन्दावनं मम॥
सर्वमेतन्नित्यमेव चिदानन्दरसात्मकम्।
इदमानन्दकन्दाख्यं विद्धि वृन्दावनं मम॥

(पाताल० ३१। ७३—७५)

"ये श्रीराधिकाजी मेरी प्रिया हैं—इन्हें परमदेवता समझिये। इनके चारों ओर और पीछे लाखों सहेलियाँ हैं। जैसे मैं नित्य-विग्रह हूँ, इसी प्रकार ये सब भी नित्य हैं। मेरे पिता, माता, सखा, गोप, गौ और यह मेरा वृन्दावन सभी नित्य और चिदानन्दरसमय है। इस वृन्दावनको मेरा आनन्दकन्द जानो।"

रसोल्लासतन्त्रमें श्रीशिवजी देवी पार्वतीको रासके सम्बन्धमें कहते हैं—

अस्मिन् शरीरे देहानि स्थूलं सूक्ष्मं च कारणम्।
तथैवान्यद् देहं ज्ञेयं भावदेहं प्रकीर्तितम्॥
कृपालब्धमिदं देहं सहजं जन्मजन्मनि।
अथवा साधनालब्धं कदापि वा महेश्वरि॥
न सगुणं निर्गुणं वा देहमिदं परात्मकम्।
कुत्रापि न हि द्रष्टव्यं लोके वृन्दावनं विना॥
सङ्गतं सह कृष्णेन गोपीनां चरितं च यत्।
तन्न कामदकामाद्वा भावदेहेन तत्कृतम्॥

अर्थात् जैसे शरीरके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—देह हैं, ऐसे ही एक भावदेह और होता है; यह देह भगवत्कृपासे प्राप्त होता है और उन्हींकी कृपासे जन्म-जन्मान्तरमें सहज ही मिल जाता है। (प्राय: ऐसा देह भगवान्‌के मुक्त परिकरोंका या कारक पुरुषोंका होता है) अथवा हे महेश्वरि! कभी-कभी साधनाके द्वारा भी इस देहकी प्राप्ति हो सकती है। यह भाव-देह न (कर्मजन्य) सगुण है और न निर्गुण है, यह परात्मक देह है जो वृन्दावनके सिवा और कहीं नहीं देखा जाता। श्रीकृष्णके साथ मिलकर गोपियाँ कृतार्थ हुई थीं। उनका यह मिलन न कामजन्य था और न अकाम। वह भावदेहकृत था। शिवजीके इन वाक्योंसे श्रीकृष्ण और गोपियोंके प्रेमकी दिव्यता स्पष्ट है। गोपियोंका श्रीकृष्णके साथ रमण प्राकृत शारीरिक नहीं था, उसमें इन्द्रियोंका विषय तनिक भी नहीं था; अतएव इस दिव्य प्रेमलीलामें दोष देखना महापाप है।

अधिकार और कर्तव्य

परंतु एक बात ध्यानमें रखनेकी है कि ऐसी लीलाका नायक सिवा भगवान्‌के और कोई भी नहीं हो सकता। गोपी-भावसे भगवान्‌की उपासना करनेका अधिकार सभी वैराग्य और प्रेमसम्पन्न जीवोंको है। गोपी-भाव न तो केवल स्त्रियोंके ही लिये है, न स्त्रीके-जैसी पोशाक पहनकर स्त्री सजनेकी ही जरूरत है। जरूरत है गोपियोंको आदर्श मानकर उनके-जैसा प्रेमभाव हृदयमें उत्पन्न करनेकी। यह उपासना भावनासिद्ध

है, वेषसिद्ध नहीं है। जिसमें ऐसा अपार्थिव निष्काम अनन्य प्रेम होगा, वही गोपी-भावसे उपासना कर सकेगा। परंतु उपास्य केवल परमात्मा ही होंगे।

गोपी-भावके उपासकोंकी धारणामें सभी लोग भावदेहसे प्रकृति हैं और पुरुषप्रधान अप्राकृत नवीनमदन व्रजेन्द्रनन्दन ही सबके एकमात्र पति—परम पति हैं। एक श्रीनन्दनन्दनको छोड़कर वे दूसरे पुरुषकी कल्पना ही नहीं कर सकते। *'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।'* इस दिव्य प्रेमराज्यमें श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसी भी पुरुषका और श्रीकृष्ण प्रेमरसभावितमति भक्तरूप रमणीके सिवा अन्य किसी नारीका प्रवेशाधिकार या प्रवेश-सामर्थ्य नहीं है। भगवान्‌की आनन्दमयी शक्तिके इस दिव्य प्रेम-सदनमें दूसरे साधारण नर-नारियोंका प्रवेश सर्वथा निषिद्ध है। इस महामन्दिरमें प्रवेश करनेवालेको दरवाजेपर पहरा देनेवाली सखीको प्रवेशपत्र दिखलाना पड़ता है और श्रीकृष्ण-प्रेमरसमें डूबी हुई बुद्धिरूपी उस प्रवेशपत्रीको वही प्राप्त कर सकता है जो अपना तन-मन-धन प्रियतम प्रभुके अर्पण कर सर्वथा कामनाशून्य होकर, काम-क्रोध-लोभादि विकारोंसे रहित होकर, वैराग्यरूप परम सुन्दर वस्त्रोंको धारणकर दैवी गुणोंके अलंकारोंसे सुसज्जित होकर प्रेमकी वेदीपर अपनी बलि चढ़ा देता है।

प्रथम सीस अरपन करे, पाछे करै प्रबेस।
ऐसे प्रेमी सुजनको है प्रबेस यहि देस॥

अतएव इसमें कोई भी मनुष्य कदापि श्रीकृष्ण नहीं बन सकता, चाहे वह महान् आचार्य, उपदेशक, प्रेमी, जीवन्मुक्त या दिव्य भाववाला ही क्यों न समझा जाता हो; अतएव यदि कोई मनुष्य श्रीकृष्ण बनकर गोपी-भावसे उपासना करानेका दावा करे तो उससे सदा दूर रहना चाहिये। खास करके स्त्रियोंके द्वारा गोपी-भावसे अपनी उपासनाकी बात कहनेवाले मनुष्यको तो दुराचारी ही मानना चाहिये। साधक पुरुषके लिये तो स्त्रीकी बात तो दूर रही, स्त्रियोंके संग करनेवालेका संग भी त्याज्य है।

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
(श्रीमद्भागवत)

यह प्रेम अत्यन्त ही दुर्लभ है। इसमें देवताओंका भी अधिकार नहीं है। जो भगवान्‌के व्रजरसके रसिक हैं, व्रजभावके भावुक हैं, व्रजप्रेमके प्रेमी हैं, वे भक्त ही इस अत्यन्त उच्च प्रेमरसका पान किया करते हैं। गोपीपदाश्रय करके गोपीभावका अवलम्बन करनेसे ही यह दुर्लभ, कामगन्धहीन, विषयाभिलाषाशून्य, दिव्य प्रेम और प्रेमस्वरूप प्रेमाधार श्यामसुन्दरकी प्राप्ति हो सकती है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा है—

सेइ गोपीभावामृते जाँर लोभ हय,
वेदधर्म सर्व त्यजि सेइ कृष्णेरे भजय।
रागानुरागमार्गे भजे जेइ जन,
सेइ जन पाय व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥

परंतु प्रेमी वेद-धर्म छोड़ना नहीं चाहता, प्रेमके प्रकट होनेपर वह आप ही छूट जाता है। जो जान-बूझकर छोड़ता है उसका तो पतन ही होता है—

एक नेम यह प्रेमको नेम सबै छुटि जाहिं।
पै जो छाड़े जानिकै तहाँ प्रेम कछु नाहिं॥

यह पथ विषयकामियोंका नहीं है, यह मार्ग बाह्य वेषधारियोंका नहीं है। यह तो उन सच्चे त्यागियोंका पावन पथ है जो सारे जगत्‌का मोह और सारी कामनाएँ त्यागकर एकमात्र भगवान्‌को ही भजना चाहते हैं। जिनके हृदयमें भोग-लालसा है उनका इस मार्गपर पैर रखना धधकती हुई अग्निमें कूदना या कालसर्पके मुँहमें हाथ देना है—

प्रेम-अमिय पीयौ चहै, करै बिषय सों नेह।
बिष ब्यापै, जारै हियो, करै जरजरित देह॥

इसलिये शुकदेवजी सबको सावधान करते हुए कहते हैं—

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥
अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥
(श्रीमद्भा० १०। ३३। ३१, ३६-३७)

शिवजी हलाहल पी गये, हर एक आदमी नहीं पी सकता; इसी प्रकार भगवान्‌ने यह लीला की, मनुष्य नहीं कर सकता। अतः असमर्थ मनुष्योंको भगवान्‌की इस लीलाका अनुकरण कभी मनसे भी नहीं करना चाहिये। यदि कोई मूर्खतावश करेगा तो वह नष्ट हो जायगा। भगवान् तो गोपियोंके, उनके पतियोंके और सम्पूर्ण देहधारियोंके आत्मा हैं, साक्षीरूपसे सबके हृदयमें विराजमान हैं, उन्होंने लीलासे ही शरीर धारणकर अवतार लिया था और जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही उस दिव्य देहसे ऐसी अलौकिक लीलाएँ की थीं जिन्हें सुन करके लोग भगवत्परायण हो जायँ।

अतएव भगवान्‌की अलौकिक लीलाओंका अनुकरण न कर, पवित्र गोपीभावको आदर्श मानकर, अपना सब कुछ भगवान्‌के अर्पण करके बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके द्वारा सब प्रकारसे भगवान्‌की सेवा करनी चाहिये और उसका नित्य-निरन्तर प्रेमपूर्वक चिन्तन करना चाहिये; भक्त बनना चाहिये, भगवान् नहीं!

जीव भगवान्‌का अंश है, इसलिये इसमें भी आनन्दांश है— ह्लादिनी शक्तिका अंश है। यदि मनुष्य शक्तिके इस अंशको भ्रमसे सुखरूप भासनेवाले अनित्य क्षणभंगुर दुःखमय भोगोंसे हटाकर भगवान्‌के सौन्दर्य-माधुर्य सुखकी ओर लगा दे तो उस अनित्य और भ्रमपूर्ण तुच्छ विषयानन्दके बदले उसे शाश्वत भूमानन्द-प्रेमानन्द मिल सकता है। मनुष्यकी यह आनन्दग्राहिणी शक्ति उन्नत और परिष्कृत होनेपर कैतवशून्य और कामगन्धशून्य होकर केवल श्रीकृष्ण-सौन्दर्य-माधुर्य-रसास्वादनके लिये लालायित हो उठती है, परंतु जबतक जीवनकी यह आनन्दग्राहिणी शक्ति विषयभोगोंमें डूबी रहती है तबतक इसकी कृष्णाभिमुखी गति नहीं होती। इसलिये विषयानुरागको विषवेलिके समान त्यागकर सदा-सर्वदा परम श्रद्धाके साथ श्रीराधा-श्रीकृष्णकी लीलाका श्रवण, कीर्तन करते-करते और श्रीकृष्णकी किसी प्रेममयी सखीको गुरु बनाकर उसके आज्ञानुसार श्रीकृष्णलीलाका ध्यान करते-करते तन-मनकी सुधि भुलाकर प्रेममें तन्मय हो जाना चाहिये!

गोपी-प्रेमका यह इधर-उधरसे संग्रह किया हुआ वर्णन सर्वथा रसहीन हुआ है। गोपी-प्रेम दिव्य रसपूर्ण है। उस रसको साधारण मनुष्य कहाँसे प्राप्त करे और वाणी या लेखनी कैसे उसका वर्णन करे? हमलोगोंको उचित है कि परम प्रेममयी गोपिकाओंके चरण-वन्दन कर उनसे प्रेमकी भिक्षा माँगें और उनके प्यारे श्यामसुन्दरके नाम-गुणोंका पानकर जन्म-जीवनको सफल करें। श्रीललितकिशोरीजी कहती हैं—

रुचिकर सँवारे नाहिं अंग-अंग स्यामा-स्याम,
ऐरी धिक्कार और नाना कर्म कीबेपै।
पायनको धोइ निज करन ना पान कियो,
आली अंगार परै सीतल जल पीबेपै॥
बिचरे न वृन्दाबन कुंजन लतान तरे,
गाज गिरै अन्य फुलबारी-सुख लीबेपै।
ललितकिसोरी बीते बरष अनेक दृग,
देखे ना प्रानप्यारे, छार ऐसे जीबेपै॥

श्यामसुन्दर आज भी हैं, उनकी लीला भी नित्य है। परंतु हमें वे श्यामसुन्दर कैसे दीखें और हमें उनके चरण धोनेका सौभाग्य कैसे प्राप्त हो? नित्य-निरन्तर निष्काम प्रेमभावसे उनका नाम जपना, उनके गुणोंका कीर्तन करना, उनके प्रेमी भक्तोंका संग करना, उनके अनुकूल कार्य करना, उनके आज्ञानुसार चलना, उनके प्रत्येक विधानमें संतुष्ट रहना, जगत्‌का मोह छोड़कर उनकी रूपमाधुरीपर न्योछावर होनेकी साधना करना, उनकी लीलाओंका मनन करना और प्राण खोलकर हृदयके अन्तस्तलसे उनको पानेके लिये रोना—यही सब उपाय हैं। यदि चाहते हैं तो विषयासक्ति छोड़कर इन उपायोंका अवलम्बन कीजिये। करते-करते आप ही भावोंका विकास होगा और श्रीकृष्ण हमें सर्वस्वरूपमें मिल जायँगे। बोलो गोपी और गोपीनाथके पदपद्मपरागकी जय!

चार प्रश्न

मेरे एक मित्रने चार प्रश्न किये हैं। प्रश्न बड़े मार्मिक हैं। ऐसे प्रश्नोंका उत्तर वास्तवमें अनुभवी पुरुष ही दे सकते हैं, मुझ-जैसा प्राणी क्या कह सकता है; परंतु मित्र महोदयने मुझसे ही उत्तर चाहा है, इसलिये बड़ी ही नम्रताके साथ मैं संक्षेपमें इन विषयोंपर कुछ लिख रहा हूँ। अनुभवी और विद्वान् महानुभाव इस धृष्टताके लिये क्षमा करें और भूल-चूक सुधारकर अनुगृहीत करें। प्रश्न ये हैं—

१—भगवान्‌की शरण प्राप्त होनेके लिये प्रतिदिन जो नियमित प्रार्थना की जानी चाहिये, उस प्रार्थनाका स्वरूप क्या है तथा वह किस विधिसे करनी चाहिये?

२—भगवान्‌की अपरिमित शक्ति और प्रभावका स्पष्ट सुविस्तृत वर्णन कीजिये?

३—भगवान्‌का सर्वव्यापी भाव किस प्रकार हृद्‌गत हो सकता है? मनुष्य चराचर विश्वमें विश्वात्माकी भावना कैसे करे? नयनाभिराम प्यारे रामको आरामके प्रत्येक पत्र, पुष्प और कलियोंमें किस साधनसे देखने लगे?

४—ऐसा एक भी क्षण न बीतना चाहिये, जिसमें प्रियतमका स्मरण न हो, इस प्रकारकी स्थितिका साधन क्या है?

क्रमसे इनके उत्तर निम्नलिखित हैं—

(१) शरण-प्राप्तिके लिये प्रार्थना

भक्तोंके लिये भगवान्‌की शरण प्राप्त कर लेना ही परम ध्येय है, प्रभुके चरणोंमें सब प्रकारसे अपनेको समर्पण कर भक्त नित्य निर्भय और सर्वथा निश्चिन्त हो जाते हैं; इससे परे वे अपना कोई भी कर्तव्य नहीं समझते। वे भगवान्‌के हाथका यन्त्र बनकर संसारमें निःस्पृह और निर्द्वन्द्व होकर विचरा करते हैं; उन्हें गति-अगति, स्वर्ग-नरक, लाभ-हानि, जीवन-मृत्यु, लोक-परलोक, त्याग-भोग आदिकी कुछ भी परवा नहीं होती; वे किसी बातकी चिन्ता और किसी अन्य विषयका मुख्यरूपसे कभी चिन्तन नहीं करते; उनका चित्त परमात्माके चिन्तनमें संलग्न रहता है, वे परमात्माके प्रत्येक विधानमें संतुष्ट रहते हैं, उनकी प्रत्येक चेष्टा परमात्माके इच्छानुकूल होती है, वे कामनाशून्य हो जाते हैं, उनका मन परमात्माके मनमें और उनकी बुद्धि परमात्माकी बुद्धिमें विलीन हो जाती है। इस स्थितिको मनुष्य अपने पुरुषार्थ या साधनके बलसे कभी नहीं पा सकता। मन-वाणीकी समस्त क्रियाएँ परमात्माकी इच्छासे अनुकूल करनेकी चेष्टा प्राणपणसे करते रहनेपर भी शरणागतिका साधक उन क्रियाओंका आश्रय नहीं लेता। कारण, किसी भी क्रिया या साधनसे भगवत्-शरणकी प्राप्ति नहीं होती, भगवान्‌की शरण तो केवल भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है। यद्यपि भगवत्कृपा सब जीवोंपर सदा-सर्वदा समानरूपसे है, उसमें विषमता नहीं है, परंतु उससे पूरा लाभ उठानेके लिये उसको पहचाननेकी आवश्यकता होती है। भगवत्कृपाकी पहचान—सच्ची पहचान—भगवान्‌की आर्त प्रार्थनासे होती है। इसलिये प्रार्थना मनुष्यके जीवनका एक परम आवश्यक कर्तव्य होना चाहिये। प्रार्थनासे बड़े-बड़े असाध्य कार्य साध्य बन जाते हैं, सारी कठिनाइयाँ आसानीसे दूर हो जाती हैं। भगवान्‌ने स्वयं घोषणा की है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(गीता १८। ५८)

'मुझमें चित्त लगानेपर मेरी कृपासे सारी कठिनाइयोंसे तू आप ही तर जायगा, अतएव प्रार्थनाका अर्थ है भगवान्‌में चित्त जोड़ना, प्रतिदिन नियत समयपर भगवान्‌के गुणगान करना, अपने दिलको खोलकर भगवान्‌के सामने रखना, अपनी टूटी-फूटी भाषामें या केवल मूक रहकर ही उनकी कृपा-भिक्षा चाहना। प्रार्थनामें सबसे अधिक आवश्यकता है सच्चे और साफ दिलकी, इसमें दम्भको बिलकुल ही स्थान नहीं है, दम्भहीन चित्तसे की हुई आर्त प्रार्थनाका उत्तर बहुत ही शीघ्र मिलता है। जिन्हें सुन्दर श्लोक या पद न आते हों उन्हें प्रार्थनाके लिये उनकी आवश्यकता नहीं है। परमात्माके सामने मनुष्यमात्र अपनी भाषामें अपना भाव प्रकट कर सकते हैं। संत-भक्तोंके या सत्-शास्त्रोंके करुणोत्पादक श्लोक और भजन याद हों तथा सुरीले स्वरोंसे तच्चित्त होकर गाये जायँ तो उनसे भी बहुत लाभ होता है। एक घंटेकी प्रार्थनामें साधारणतः चार भाग किये जा सकते हैं—

१५ मिनट—स्तुति-गान (श्लोक-पद आदि)।

१५ मिनट—ध्यान।

१५ मिनट—अपनी भाषामें अपने मनकी बात भगवान्‌के प्रति कहना और उनकी कृपाभिक्षा चाहना या केवल मूक रहकर मन-ही-मन प्रार्थना करना।

१५ मिनट—नामकीर्तन करना या गीता, भागवत, रामायण आदिके किसी करुणोत्पादक प्रसंगको पढ़ना।

प्रार्थनाका समय और स्थान जहाँतक हो, एक नियत होना चाहिये। स्थान एकान्त हो और समय भी ऐसा हो जिसमें दूसरे कामके लिये कुछ भी सोचने या बीचमें उठनेका प्रयोजन न रहे। सुभीता हो तो एकान्तमें आधी रातके बादका समय अच्छा रहता है। प्रार्थनाके समय चित्तमें सरलता और आर्तता अवश्य रहनी चाहिये। ऊपर लिखी चारों बातोंका क्रम ठीक-ठीक न रहे तो भी कोई आपत्ति नहीं; प्रार्थनाके समय ऐसा निश्चय अवश्य होना चाहिये कि 'भगवान् साक्षात् यहाँपर मौजूद हैं और मैं अपनी प्रत्येक क्रिया उनके सामने कर रहा हूँ। उन परम दयालुकी मुझपर बड़ी भारी दया है। वे शीघ्र ही मुझे अपनी शरणमें अवश्य ले लेंगे। उनकी शरण प्राप्त होते ही मैं सदाके लिये पूर्ण निर्भय और निश्चिन्त होऊँगा।' मेरे विश्वासके अनुसार ऐसी नियमित प्रार्थनासे बहुत ही थोड़े कालमें भगवत्-शरण प्राप्त करके मनुष्य कृतार्थ हो सकता है।

(२) भगवान्‌की अपरिमित शक्ति और प्रभाव

भगवान्‌के स्वरूप, उनकी अपरिमित शक्ति और उनके प्रभावका यथार्थ वर्णन न कोई आजतक कर सका है, न कर सकता है और न कर सकेगा। भगवान्‌के स्वरूप, प्रभाव और उनकी शक्तिको वे आप ही जानते हैं। जगत्‌में वेद, शास्त्र और संतोंद्वारा अबतक भगवान्‌का जितना वर्णन हुआ है, वह सारा-का-सारा एक जगह मिला लिया जाय तो भी उससे भगवान्‌के स्वरूपका यथार्थ और पूरा वर्णन नहीं हो सकता,

क्योंकि उनका पूरा ज्ञान बुद्धिके बलपर किसीको हो ही नहीं सकता, जो संत-महात्मा भगवान्‌की कृपासे, श्रद्धाबलसे भगवान्‌के रहस्यको कुछ जानते हैं, वे भी वाणीसे उसका वर्णन नहीं कर सकते। जब वेद 'नेति-नेति' कहकर हार मान जाते हैं, तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है? पुष्पदन्ताचार्यने क्या ही सुन्दर कहा है—

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

'समुद्रकी दावात हो, उसमें कज्जलगिरिकी स्याही बनाकर भरी जाय, कल्पवृक्षकी शाखा कलम बने, पृथ्वीका कागज बनाया जाय और सरस्वती निरन्तर लिखती रहें, तो भी हे प्रभो! आपके गुणोंका पार नहीं आता।'

समुद्रके जलकण गिने जा सकते हैं, आकाशका विस्तार नापा जा सकता है; परंतु परमात्माके प्रभाव, रहस्य और स्वरूपका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह समस्त जगत् परमात्माकी मायाके एक अंशमें स्थित है—'**एकांशेन स्थितो जगत्।**' फिर इस जगत्‌में उत्पन्न एक साधारण प्राणी जगत्‌के अधिष्ठान परमात्माका पूरा और यथार्थ वर्णन कैसे कर सकता है? तथापि अपने-अपने जीवन और अपनी-अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये संत-महात्मा भगवान्‌का गुणगान गाते ही जीवन बिताया करते हैं, क्योंकि उनके गुण ऐसे ही हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, आकाश, वायु, समुद्र, अग्नि, जल आदि निरन्तर परमात्माकी महिमाका ही तो गान कर रहे हैं। यह सृष्टि-वैचित्र्य उन्हींका तो प्रभाव बतला रहा है। यह भीषण संहारलीला परमात्माकी शक्तिका ही तो परिचय दे रही है। चराचर प्राणियोंकी प्रत्येक चेष्टा सतत उस परमात्माका ही तो गुण गा रही है। सारे ब्रह्माण्डमें उन्हींका तो स्वरूप प्रस्फुटित हो रहा है। अनादिकालसे अबतकका इतिहास उन्हींकी शक्तिके एक परमाणुका ही तो इतिहास है। फिर उनकी महिमा कौन बतावे? उनके प्रभावका वर्णन कैसे हो? स्वयं अपना प्रभाव बतलाते हुए गीतामें अर्जुनके प्रति श्रीभगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

(गीता ९।४—६, ८-९, १७-१८)

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

(गीता ४।१३)

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

(गीता ५।१४)

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७।७, १४)

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०।२, ४२)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४।२७)

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५।१५, १९)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६५-६६)

'हे अर्जुन! मेरे अव्यक्तस्वरूपसे यह सारा जगत् (जलसे बर्फकी भाँति) परिपूर्ण है, समस्त भूत मेरे अंदर (मेरे संकल्पके आधारपर) स्थित हैं, (अतएव

वस्तुतः) मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ और (असलमें) वे सब भूत भी मेरे अंदर स्थित नहीं हैं, (यह तो मेरा प्रभाव है) तू मेरे इस योगके प्रभावको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला मेरा आत्मा (वस्तुतः) भूतोंमें स्थित नहीं है। जैसे (आकाशसे उत्पन्न) सर्वत्र विचरण करनेवाला महान् वायु नित्य ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही (मेरे संकल्पसे उत्पन्न होनेके कारण ये) समस्त भूत भी मुझमें स्थित हैं, ऐसा जानना चाहिये। (मैं ही) अपनी त्रिगुणमयी मायाको लेकर बलात् प्रकृतिके अधीन हुए इन समस्त भूतोंको पुनः-पुनः (इनके कर्मानुसार) रचता हूँ। (यह सारा रचना-कार्य करनेपर भी) हे अर्जुन! कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनवत् स्थित मुझ परमात्माको कर्म बाँध नहीं सकते। इस सम्पूर्ण जगत्का अधिष्ठाता और कर्म-फल-दाता एवं पिता-माता-पितामह (सब कुछ) तथा जाननेयोग्य पवित्र ओंकार, ऋक्, साम और यजुर्वेद, सबकी गति, सबका भरण-पोषण करनेवाला, सबका प्रभु, सबका (नित्य) साक्षी, सबका निवासस्थान, सबका शरण्य, सबका सुहृद्, सबका उत्पादक, सबका संहारक, सबको अपने अंदर समा लेनेवाला खजाना और सबका अविनाशी बीज मैं ही हूँ। गुण-कर्मोंके विभागसे चारों वर्ण मैंने ही रचे हैं, तो भी उनके रचयिता मुझ अव्यय परमात्माको तू अकर्ता ही समझ, (क्योंकि वास्तवमें मैं) प्रभु न तो लोगोंको रचता हूँ और न कर्तापन, कर्म और उनके फल-संयोगको ही रचता हूँ, (मुझ परमात्माकी सत्तासे) प्रकृति ही प्रवृत्त होती है, यानी गुण ही गुणोंमें प्रवृत्त हो रहे हैं। (वास्तवमें तो) हे धनंजय! मेरे अतिरिक्त दूसरी चीज कुछ है ही नहीं, यह सारा जगत् सूतमें (सूतके) मणियोंकी भाँति (एक) मुझमें ही गुँथा हुआ है। (मेरी मायाके वशमें होनेके कारण लोग इस तत्त्वको जानते नहीं) क्योंकि मेरी यह त्रिगुणमयी अलौकिक माया बड़ी ही दुस्तर है, जो पुरुष (केवल) मुझको ही भजते हैं, वे ही इस मायासे पार जाते हैं। मेरे प्राकट्यको न तो देवता जानते हैं और न महर्षिगण ही जानते हैं; क्योंकि मैं सम्पूर्ण देवों और महर्षियोंका आदिकारण हूँ। (कारणको कार्य कैसे जान सकता है?) अथवा हे अर्जुन! तुझे अधिक जाननेसे प्रयोजन ही क्या है? (तू इतनेहीमें समझ ले कि) मैं ही इस सारे जगत्को (अपनी मायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ, मतलब यह कि जगत् मेरी मायाके एक अंशमें स्थित है। अविनाशी ब्रह्म, अमृत, शाश्वत धर्म और केवल अखण्ड आनन्दका आश्रय मैं ही हूँ। सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी और संचालकरूपसे मैं ही स्थित हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है, समस्त वेदोंद्वारा जाननेयोग्य (परम तत्त्व) मैं ही हूँ और मैं ही वेदान्तका कर्ता तथा वेदोंका जाननेवाला भी हूँ। हे भारत! इस प्रकार जो मुझको विद्वान् पुरुषोत्तम जानता है, वही समस्त रहस्यका यथार्थ जाननेवाला पुरुष सर्वभावसे मुझे भजता है। (अतएव) तू मुझमें ही दृढ़ताके साथ मनको लगा ले, केवल मेरा ही भक्त हो जा, मेरी ही पूजा करनेवाला हो, मुझको ही नमस्कार कर, फिर तू मुझको ही प्राप्त होगा। यह मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ; क्योंकि तू मुझे (अत्यन्त) प्रिय है। (बस) सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मेरी ही शरण हो जा, मैं तुझे समस्त पापोंसे—बन्धनोंसे आप ही छुड़ा दूँगा। तू शोक न कर।'

ये भगवान्के प्रभावको बतलानेवाले श्रीमद्भगवद्गीताके कुछ श्लोक हैं। इनके सिवा अन्यान्य असंख्य ग्रन्थोंमें ऐसे अनेक वचन हैं। परन्तु केवल इन भगवद्वाक्योंसे भी उनके यथार्थ स्वरूपका और प्रभावका पता नहीं लगता। गीता बहुत लोग पढ़ते हैं, परन्तु ऐसे कितने हैं जो उनका यथार्थ मर्म समझते हैं, यदि सभी समानभावसे उनका रहस्य समझ जाते तो इतने भाष्य और टीकाएँ लिखी ही नहीं जातीं। भगवान्के प्रभावका यत्किंचित् पता उन्हींको लग सकता है जो भगवत्कृपाका आश्रय ग्रहण कर चुके हैं। जिनकी मायिक सृष्टिके एक-एक पदार्थके चमत्कारका तथा जिनकी सृष्टिमें उत्पन्न एक-एक मनुष्यके अद्भुत कर्मोंके रहस्यका भी जब पूरा पता सबको नहीं लगता और कोई उनका यथार्थ वर्णन नहीं कर सकता तब मायानटीके अधीश्वर मायातीत सच्चिदानन्दघन परमात्माका प्रभाव और रहस्य कौन जान सकता है? जो वस्तु हमारी बुद्धिद्वारा जाननेमें ही नहीं आती, उसका वर्णन वाणी कैसे करे? अचिन्त्य परमात्माकी अपरिमित शक्ति और प्रभावका वर्णन इतनेसे ही समझ लेना चाहिये कि उनका वर्णन कोई कर नहीं सकता। उन्हींकी कृपासे कभी किसीके कुछ समझमें आता है और जिसकी समझमें आता है, वह फिर कुछ भी कह नहीं सकता। उसका कहना-सुनना सदाके लिये बंद हो जाता है—

(३) भगवान्की सर्वव्यापकता

भगवत्कृपासे भगवान्के प्रभावका किंचित् पता लगनेपर उनका सर्वव्यापी भाव आप ही हृद्गत हो सकता है। भगवान्का सर्वव्यापक भाव वाणीसे नहीं कहा जाता,

उसके लिये जितने दृष्टान्त दिये जाते हैं उनमें कोई भी ऐसा नहीं है जो पूर्णरूपसे समानता रखता हो। रखे भी कैसे? उस सर्वव्यापी सत्-चित्-आनन्दघन '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' की तुलनाका कोई पदार्थ है ही नहीं। पाँच भूतोंमें चारका आधार आकाश है, अत: व्यापकताके लिये उसीका दृष्टान्त दिया जाता है, कहा जाता है कि जैसे जगत्के सब नगर-घर-मकान आकाशमें हैं और सबके ही अंदर आकाश है, इसी प्रकार परमात्मा सर्वव्यापक हैं, परंतु यह दृष्टान्त सर्वथा अपर्याप्त है, क्योंकि आकाश अनित्य है, शून्य है, विनाशी है, इसके विपरीत परमात्मा नित्य हैं, घन हैं और अव्यय हैं। आकाश समष्टि-अहंकारके एक अंशमें है, परंतु परमात्मा उस मायाके भी आधार हैं, जिस मायाके एक अंशमें महत्तत्त्व है और उस महत्तत्त्वके एक अंशमें समष्टि-अहंकार है। स्वप्नके दृष्टान्तसे भी परमात्माका सर्वव्यापक भाव पूरा नहीं घटता। कहा जाता है कि जैसे स्वप्नमें द्रष्टा पुरुष ही अपने संकल्पसे अनेक दृश्य उत्पन्न कर उनके दर्शन करता है; द्रष्टा, दृश्य, दर्शन—तीनोंमें वह एक ही व्याप्त रहता है, इसी प्रकार परमात्मा भी सर्वव्यापक हैं, परंतु यह दृष्टान्त भी अधूरा है। कारण, स्वप्नद्रष्टा पुरुष स्वप्नमें स्वप्नकी सृष्टिको कल्पित नहीं जानता, वह चेतन होनेपर भी वहाँ अज्ञानी है, वह उसे देखकर मोहित होता है, डरता है, हर्षित होता है, नाना प्रकारके भाव-विकारोंमें ग्रस्त होता है; परंतु इसके विपरीत परमात्मा किसी कालमें विकारी नहीं होते; वास्तवमें परमात्मामें कालकी कल्पना भी नहीं है, वे शुद्ध और कालातीत हैं। काल तो मायामें है।

इसी प्रकार अन्यान्य जितने दृष्टान्त हैं वे सभी केवल परमात्माका लक्ष्य करानेवाले हैं। वास्तवमें तो परमात्माको छोड़कर जब अन्य वस्तु ही नहीं, तब उनका सर्वव्यापक भाव भी कहनेको ही है। 'सर्व' कोई पृथक् वस्तु हों तो वे 'सर्व' में व्यापक हों। वह तो एक ज्ञानस्वरूप, सत्स्वरूप, परम आनन्दस्वरूप पूर्ण ब्रह्म परमात्मा-ही-परमात्मा है। इन परमात्माका ज्ञान भी परमात्मामें ही है। इन परमात्माके आनन्दका बोध भी आनन्दस्वरूपमें ही है। वे परम सत्य, परम नित्य, सनातन, एक, असीम, अनन्त, अपार, अखण्ड और केवल हैं। बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रियाँ, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि समस्त उनमें आरोपित हैं, एक चेतन ब्रह्म-ही-ब्रह्म है। जिसे संसार कहा जाता है, वह भी वस्तुत: चिन्मय—आनन्दमय परमात्मा ही हैं। सत्-असत् वही परमात्मा हैं। देश, काल भी वही चेतन हैं। ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान भी वही विज्ञानानन्दघन चेतन ही हैं। इस स्थितिमें तो कुछ कहना-सुनना बनता ही नहीं, यह तो अनुभव है। अनुभव भी नहीं कहा जा सकता। कारण, अनुभव भी तो किसी वस्तुका किसीको होता है, यहाँ तो एकके अतिरिक्त दूसरा है ही नहीं,तब किसीका अनुभव किसको हो; इसीसे कहा जाता है, ब्रह्म अनिर्वचनीय और अनिर्देश्य है! जहाँ ब्रह्म हैं, वहाँ वचन और निर्देश नहीं है एवं जिसके लिये वचन और निर्देश हैं, वह ब्रह्म नहीं है। वहाँ नाम-रूपकी कोई भी उपाधि नहीं है। सर्वव्यापक भावका निर्देश वहीं है, जहाँ परमात्मा और विश्वकी अलग-अलग कल्पना है, फिर चाहे वह विश्व परमात्माकी ही अभिव्यक्ति हो और वास्तवमें है भी ऐसा ही। हम विश्वमें जिन सब वस्तुओंको देखते-सुनते हैं, वे सभी भिन्न-भिन्न रूपोंमें एक ही परमात्माका दर्शन कराती हैं। एक ही अविनाशी परमात्मा अनेक रूपोंसे अपना दर्शन देते हैं। हमारी आँखोंपर अज्ञानका पर्दा पड़ा हुआ है, इसीलिये हम उन्हें देखते हुए भी नहीं देखते। सोनेके भाँति-भाँतिके हजारों गहनोंमें एक ही सोना है। गहना सामने आते ही सोना पहले दीखता है, गहना पीछे, परंतु हमें सोना याद नहीं रहता, हम उसे गहना ही समझते हैं, इसी प्रकार जगत्की प्रत्येक वस्तुमें परमात्मा ही अधिष्ठानरूपसे विराजित हैं, परमात्माकी सत्तासे ही जगत्की सत्ता है, परमात्माके सर्वप्रथम दर्शनसे ही जगत्के पदार्थोंके दर्शन होते हैं। परमात्माके सदृश प्रत्यक्ष वस्तु तो और कोई वास्तवमें है ही नहीं। आँखोंमें वे हैं, देखते वे हैं, देखनेकी वस्तु वे हैं। उनका सर्वव्यापक भाव तो अत्यन्त सुस्पष्ट है। हम उपाधिको देखते हैं, नाम-रूपको टटोलते हैं। आधारस्वरूप परमात्माकी सत्ताको नहीं देखते, जिनकी सत्तासे नाम-रूपकी सत्ता है। यथार्थमें तो नाम-रूप भी परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। परंतु जबतक उनकी पृथक् कल्पना है तबतक उन्हें उपाधि मानकर ऐसा ही कहा जाता है। भागवतमें कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(११।२।४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी (सूर्य-चन्द्र आदि) नक्षत्रगण, पशु-पक्षी आदि प्राणी, दिशाएँ,

लता-वृक्षादि, नदियाँ तथा समुद्र आदि जो कुछ (स्थावर-जंगम) जगत् है, वह सब श्रीहरिका ही शरीर है, इस प्रकार सबमें परमात्मा समझकर अनन्यभावसे सबको प्रणाम करे।'

इस प्रकारका निश्चय दृढ़ हो जानेपर हम सारे चराचर विश्वमें विश्वात्माके दर्शन कर सकते हैं। यह भावना नहीं, सत्य तत्त्व है। जब मायाके कारण परमात्मासे भिन्न भासनेवाले जगत्की आरोपित वस्तुओंमें सत्यता प्रतीत होती है, तब सत्यमें सत्यका आरोप तो सत्य दीखना ही चाहिये। अवश्य ही इसके लिये शुद्ध अन्त:करणसे अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। अभ्यास दृढ़ हो जानेपर सबमें रमण करनेवाले रामकी सर्वव्यापक एकरस दिव्य छबि आरामके प्रत्येक पत्र, पुष्प और कलिकाओंमें प्रत्यक्ष दीखने लगेगी। पत्र, पुष्प और कलियोंमें ही नहीं, वाटिकाकी सुहावनी भूमिके प्रत्येक कणमें, चन्द्रकी निर्मल ज्योत्स्नाके प्रत्येक परमाणुमें, सूर्यकिरणोंके एक-एक अणुमें, वायुके प्रत्येक हिलोरेमें, सभी जगह, सभी समय, सर्वथा एक रामकी ही आराम देनेवाली रम्य झाँकी होगी। उपाय यही है कि पहले रामको देखो, फिर आरामको; पहले कारणको देखो, फिर कार्यको; पहले भगवान्‌को देखो, फिर जगत्‌को। ऐसा करते-करते आराम राम बन जायगा, कार्य कारण बन जायगा और जगत् भगवान् बन जायगा। बन नहीं जायगा, यथार्थमें ऐसा ही है। भ्रमका पर्दा फट जायगा, जिससे यथार्थ दर्शन सुलभ हो जायँगे।

(४) प्रियतमका नित्य-स्मरण

परमात्माको 'प्रियतम' जान लेनेपर वास्तवमें एक भी क्षण ऐसा नहीं बीतेगा, जिसमें उनका स्मरण न हो। भूल इसीलिये होती है कि हम उन्हें प्रियतम नहीं मानते। उन्हें प्रियतम माना था गोप-रमणियोंने, जो आधे क्षणके लिये भी श्यामसुन्दरको हृदय-मन्दिरसे दूर नहीं कर सकती थीं। श्यामसुन्दरको बाध्य होकर गोपियोंकी नजरोंके सामने ही सदा थिरक-थिरककर नाचना पड़ता था; इसी सत्य तथ्यके आधारपर यह कहा गया है कि—'**वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति**' श्यामसुन्दर वृन्दावनको छोड़कर एक पग भी कहीं नहीं जाते। जाते हों, गये हों, परंतु गोपियोंकी दृष्टिमें तो नहीं गये, उनके श्यामसुन्दर तो नित्य उनके साथ हैं, चौबीसों घंटोंके उनके सहचर हैं। इसका कारण क्या था, यही कि गोपियोंने उन्हें 'परम प्रियतम' मान लिया था, उनके लिये वे इहलोक-परलोक सबका सारा सम्बन्ध त्याग कर चुकी थीं। अपनी प्यारी-से-प्यारी सभी वस्तुएँ वे श्रीकृष्णके चरणोंमें सदाके लिये समर्पण कर चुकी थीं, फिर वे उन्हें कैसे भुलातीं? 'प्रियतम' अहा! कितना प्रिय शब्द है! प्रियतम तो कभी चित्तसे बिसारा ही नहीं जा सकता। कहा है कि तीनों लोकोंके वैभवकी प्राप्तिका लालच मिलनेपर भी प्रभुको 'प्रियतम' माननेवाले उनके प्रियजन आधे निमेषके लिये प्रभुके चरणकमलोंको नहीं भूल सकते।

प्रियतम प्यारे जन सब जगह उसीकी झाँकी देखते हैं, उसीके शब्द सुनते हैं, उसीसे बातें करते हैं और उसीका चिन्तन करते हैं। उसके सामने जगत्‌की या जगत्‌के किसी पदार्थकी याद उन्हें कभी भूलकर भी नहीं आती।

भगवान्‌को 'प्रियतम' बनानेभरकी देर है, फिर तो जगत्‌की कीमत कुछ रह ही नहीं जायगी। राज-पाट, धन-दौलत, स्त्री-पुत्र, मान-इज्जत, जीवन-मरण, लोक-परलोक, स्वर्ग-मोक्ष सभी कुछ उस प्रियतमके प्रेम-प्रवाहमें बह जायँगे। फिर वह श्रीश्रीचैतन्यके शब्दोंमें गा उठेगा—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

जिसमें प्रेम होता है, उसमें चाहे एक भी सद्‌गुण न हो, चाहे वह दुर्गुणोंकी खानि हो, प्रेमीका हृदय उसके गुणोंको नहीं देखता, वहाँ माप-तौल नहीं होता, वहाँ तो हृदय सदाके लिये निछावर किया हुआ रहता है। जब सद्‌गुणहीन और दुर्गुणीके प्रति भी सच्चे प्रेमीका प्रेम अटूट और सतत वर्धमान ही रहता है, तब परमात्माको, जो सर्वसद्‌गुणोंके आधार हैं; ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेम आदिकी अशेष खानि हैं, प्रेमास्पद बना लेनेपर उनका निरन्तर चिन्तन हुए बिना कैसे रह सकता है। बुरे विचारसे पर-पुरुषका पर-स्त्रीमें या पर-स्त्रीका पर-पुरुषमें प्रेम हो जाता है, (जो वास्तवमें प्रेम नहीं है) तो उसमें भी एक-दूसरेका स्मरण कभी नहीं छूटता; उठते-बैठते, सोते-जागते स्मृति बनी ही रहती है; जब लोभी आदमी भगवान्‌के मन्दिरमें बैठकर गीता सुनता हुआ भी मन-ही-मन धनकी टोहमें रहता है, तब भला, परम प्रेमार्णव, परम लोभनीय परमात्माको प्रियतम बना लेनेपर वे कैसे भुलाये जा सकते हैं?

परमात्माके स्मरणका तार कभी न टूटे, इसके लिये हमें परमात्माको प्रियतम बनाना चाहिये। जबतक जगत्‌की वस्तु प्यारी लगती है, जगत्‌के पदार्थोंके लिये हम परमात्माको भूलते हैं, तबतक हमारे मन परमात्मा

'प्रियतम' नहीं हैं। उन्हें प्रियतम बनानेके साधन हैं—उनके प्रभावको सुनना-जानना, उनकी दिव्य सगुण लीलाओंका निरन्तर श्रवण, मनन और गान करना, उनके परम पावन नामका जप करना, उनके सर्वोपरि सर्वाधार दिव्य स्वरूप, गुण, धाम, ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, कारुण्य, सख्य, वात्सल्य, स्वामित्व, प्रेम आदि महान् गुणोंका बारंबार चिन्तन करना और उनकी कृपापर परम और अटल विश्वास रखना!

भगवत्-शरणागति

इहलौकिक और पारलौकिक दु:खोंसे छुटकारा पाकर नित्य अखण्ड परमानन्दकी प्राप्तिके लिये भगवान्की शरणागति ही मुख्य उपाय है! जिसने एक बार सर्वभावसे अपनेको परमात्माके चरणोंमें अर्पण कर दिया, वह सदाके लिये निर्भय, निश्चिन्त और परमसुखी हो जाता है। उसके योगक्षेमका समस्त भार भगवान् वहन करते हैं। स्वयं केवट बनकर उनकी जीवन-तरणीको भीषण संसार-सागरकी उत्ताल तरंगोंसे बचाकर सुरक्षितरूपसे परमानन्दमय धाममें पहुँचा देते हैं, उसे किसी प्रकारकी चिन्ता या चाह करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती, परन्तु यह शरणागति क्या वस्तु है और कैसे होती है इसपर विचार करना है। शरणागति केवल शब्दोंसे नहीं होती अथवा यों समझकर चुपचाप निकम्मा ही बैठनेका नाम भी शरणागति नहीं है कि 'मैं तो उसकी शरण हो गया, मुझे अब किसी कामके लिये हाथ-पैर हिलाने या समझने-सोचनेसे क्या प्रयोजन है। वह आप ही सब ठीक कर देगा, मेरा तो कोई कर्तव्य नहीं है, यदि यही शरणागति होती तो प्रत्येक आलसी और तमोऽभिभूत प्रमादी मनुष्य ऐसा कह सकता था, शरणागतिमें क्रियाके त्याग करनेका तो प्रश्न ही नहीं है। शरणागत भक्त तो अपने 'अहम्' को और उस 'अहम्' से सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावको परमात्माके अर्पण कर देता है, फिर उसका जीवन परमात्माकी रुचिका जीवन, उसका मन परमात्माकी रुचिका मन, उसकी बुद्धि परमात्माकी बुद्धि बन जाती है और उसकी सारी क्रियाएँ परमात्माके मनोऽनुकूल होने लगती हैं। अबतक तो वह समझता था कि यह संसार मेरा है और इसमें काम करनेवाला मैं हूँ, शरणागत होनेके बाद वह समझने लगता है, सारा संसार परमात्माका है, स्थूल-से-स्थूल, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थ सभी उसके हैं और उसमें जो कुछ क्रिया होती हुई दृष्टिगोचर होती है सो सभी परमात्माकी दिव्य लीला है, मैं तो निमित्तमात्र हूँ—जो वास्तवमें उन्हींका हूँ और वह परमात्मा अपने ही एक पदार्थको निमित्त बनाकर अपने इच्छानुसार अपने-आपमें ही अपने विनोदके लिये अपने-आप ही अपनी लीला कर रहे हैं। प्रत्येक पदार्थ उन्हींकी सामग्री है। उनकी सामग्री भी कोई उनसे भिन्न वस्तु नहीं है; वह इन सामग्रियोंके रूपमें अपने-आपको प्रकाशित कर रहे हैं। खेल, खिलाड़ी और खिलौने—तीनों ही मूलमें और क्रियामें भी एक ही हैं, व्यावहारिक स्थूलदृष्टिसे भेद प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार '**अहम्**' और '**मम**' का मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर तथा समस्त प्रपंचसहित सर्वभावसे समर्पण ही यथार्थ शरणागतिका स्वरूप है।

इस शरणागतिकी स्थिति प्राप्त करनेके लिये क्रमशः शरीर, वाणी, मन और बुद्धिमें अपनेको परमात्माके अर्पण करना पड़ता है। शरणागतिकी पहचान यही है कि साधक ज्यों-ज्यों शरणागतिके सुख-शान्तिमय, सर्वतापहर, शीतल प्रदेशमें प्रवेश करता, त्यों-ही-त्यों उसमें निर्भयता और निश्चिन्तताकी वृद्धि होती है। स्नेहमयी जननीकी गोदमें आकर शिशु निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है, इसी तरह सर्व सच्चिदानन्दरूपा इस स्नेह-सुधा-समुद्रमयी जगज्जननीकी महिमामयी क्रोडमें आश्रय पाकर साधक निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है। उसे फिर कहीं कोई भय नहीं रहता और किसी भी वस्तुकी या किसी भी गतिविशेषकी चाह नहीं रहती। प्रभुके हाथोंमें अपनेको सौंप देनेके बाद भय, चिन्ता और चाह कैसी?

इस शरणागतिके साधनमें साधकको चार बातोंपर विशेष ध्यान रखना पड़ता है, आगे चलकर तो ये चारों उसके स्वाभाविक ही हो जाती हैं।

१—जिस परमात्माकी शरण ग्रहण की है उस परमात्माका निरन्तर स्मरण रखना।

२—उसके इच्छा या आज्ञानुसार जीवन बना लेना।

३—वह जो कुछ भी विधान करे उसीमें परम संतुष्ट रहना यानी उसकी कृपासे प्राप्त होनेवाली

प्रतिकूल-से-प्रतिकूल स्थितिमें भी उसकी मंगलमयी इच्छा समझते ही अनुकूलताका प्रतीत होना।

४—किसी भी पदार्थकी चाह न रखना।

ये भाव जितने-जितने बढ़ें, साधक उतना ही परमात्माकी शरणमें अग्रसर हो रहा है, ऐसा समझना चाहिये।

रामायण हमें क्या सिखाती है ?

१—शुद्ध सच्चिदानन्दघन एक परमात्मा ही सर्वत्र व्याप्त है और अखिल विश्व एवं विश्वकी घटनाएँ उसीका स्वरूप और लीला हैं।

२—परमात्मा समय-समयपर अवतार धारणकर प्रेमद्वारा साधुओंका और दण्डद्वारा दुष्टोंका उद्धार करनेके लिये लोक-कल्याणार्थ आदर्श लीला करते हैं।

३—भगवान्‌की शरणागति ही उद्धारका सर्वोत्तम उपाय है। उदाहरण—विभीषण।

४—सत्य ही परम धर्म है, सत्यके लिये धन, प्राण, ऐश्वर्य सभीका सुखपूर्वक त्याग कर देना चाहिये। उदाहरण—श्रीराम।

५—मनुष्य-जीवनका परम ध्येय परमात्माकी प्राप्ति करना है और वह भगवत्-शरणागतिपूर्वक संसारके समस्त कर्म ईश्वरार्थ त्याग-वृत्तिसे फलासक्तिशून्य होकर करनेसे सफल हो सकता है।

६—वर्णाश्रम-धर्मका पालन करना परम कर्तव्य है।

७—माता-पिताकी सेवा पुत्रका प्रधान धर्म है। उदाहरण—श्रीराम, श्रीश्रवणकुमार।

८—स्त्रियोंके लिये पातिव्रत्य परम धर्म है। उदाहरण—श्रीसीताजी।

९—पुरुषके लिये एकपत्नी-व्रतका पालन अति आवश्यक है। उदाहरण—श्रीराम।

१०—भाइयोंके लिये सर्वस्व त्यागकर उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना परम कर्तव्य है। उदाहरण—श्रीराम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न।

११—धर्मात्मा राजाके लिये प्राण देकर भी उसकी सेवा करना प्रजाका प्रधान कर्तव्य है। उदाहरण—(१) वनगमनके समय अयोध्याकी प्रजा। (२) लंकाके युद्धमें वानरी प्रजाका आत्मबलिदान।

१२—अन्यायी-अधर्मी राजाके अन्यायका कभी समर्थन नहीं करना चाहिये। सगे भाई होनेपर भी उसके विरुद्ध खड़े होना धर्म है। उदाहरण—विभीषण।

१३—प्रजारंजनके लिये प्राणप्रिय वस्तुका भी विसर्जन कर देना राजाका प्रधान धर्म है। उदाहरण—श्रीरामजीद्वारा सीता-त्याग।

१४—प्रजाहितके लिये यज्ञादि कर्मोंमें सर्वस्व दान दे डालना। उदाहरण—दशरथ और श्रीराम।

१५—धर्मपर अत्याचार और स्त्रीजातिपर जुल्म करनेसे बड़े-से-बड़े शक्तिशाली सम्राट्‌का विनाश हो जाता है। उदाहरण—रावण।

१६—मित्रके लिये प्राणतक देनेको तैयार रहना तथा उसके सभी कार्य करना। उदाहरण—श्रीराम-सुग्रीव और श्रीराम-विभीषण।

१७—निष्काम सेवा-भावसे सदा-सर्वदा भगवान्‌के दासत्वमें लगे रहना। उदाहरण—श्रीहनुमान्‌जी।

१८—सौतके पुत्रोंपर भी प्रेम करना। उदाहरण—कौसल्या, सुमित्रा।

१९—प्रतिज्ञा-पालनके लिये सगे भाईतकका उसके प्रति हृदयमें पूर्ण प्रेम रखते हुए भी त्याग कर देना। उदाहरण—श्रीरामके द्वारा लक्ष्मण-त्याग।

२०—ब्राह्मण-साधुओंका सदा दान-मानसे सत्कार करना। उदाहरण—श्रीराम।

२१—अवकाशके समय भगवत्-चर्चा या सच्चिन्तन करना। उदाहरण—श्रीराम आदि भाइयोंकी बातचीत।

२२—गुरु, माता, पिता, बड़े भाई आदिके चरणोंमें नित्य प्रणाम करना।

२३—पितरोंका श्रद्धापूर्वक तर्पण-श्राद्ध करना।

२४—अन्यायका सर्वदा और सर्वथा प्रतिवाद करना। उदाहरण—लक्ष्मण।

२५—धर्मपालनके लिये बड़े-से-बड़ा कष्ट सहन करना। उदाहरण—श्रीराम, लक्ष्मण, सीता, भरत।

२६—द्विजमात्रको नित्य ठीक समयपर सन्ध्या करनी चाहिये।

२७—सदा निर्भय रहना चाहिये। उदाहरण—श्रीराम-लक्ष्मण।

२८—बहुविवाह कभी नहीं करना चाहिये। उदाहरण—श्रीराम।

२९—साधु-संत-महात्माओंके धर्म-कार्यकी रक्षाके लिये सदा तैयार रहना चाहिये। उदाहरण—श्रीराम-लक्ष्मण।

३०—अपना बुरा करनेवालेके प्रति भी अच्छा ही

बर्ताव करना। उदाहरण—श्रीरामका बर्ताव कैकेयीके प्रति, श्रीवसिष्ठका बर्ताव विश्वामित्रके प्रति।

३१—स्त्रीके लिये पर-पुरुषका किसी भी अवस्थामें जान-बूझकर स्पर्श नहीं करना। उदाहरण—लंकामें श्रीसीताने हनुमान्‌की पीठपर चढ़कर जाना भी अस्वीकार कर दिया।

३२—पुरुषोंको पर-स्त्रीके अंग नहीं देखने चाहिये। उदाहरण—लक्ष्मणने बरसों साथ रहनेपर भी सीताके अंग नहीं देखे, इससे वे उनके गहनेतक नहीं पहचान सके।

३३—साधारण-से-साधारण जीवके साथ भी प्रेम करना चाहिये। उदाहरण—श्रीराम।

३४—भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेकर प्रेमसे उनकी चरण-रज मस्तकपर धारण करनेसे जड भी चैतन्य हो सकता है। उदाहरण— अहल्या।

३५—बड़ोंके बीचमें अनधिकार नहीं बोलना। उदाहरण—शत्रुघ्न।

३६—नास्तिकवाद किसीका भी नहीं मानना। उदाहरण—श्रीरामने जाबालि-सरीखे ऋषि और पिताके मन्त्रीकी बात नहीं मानी।

हे राम!

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

हे शरणागतवत्सल राम! हे दीनों और पतितोंके आश्रयदाता लोकाभिराम! हे अपने आचरणोंसे लोकमर्यादाकी स्थापना करनेवाले सर्वाधार राम! हम तुम्हारी शरण हैं! प्रभो! रक्षा करो, रक्षा करो! हम अज्ञानी हैं, तुम्हारी 'शिव-विरंचि-मोहिनी' मायामें फँस रहे हैं, हमें कर्तव्य-अकर्तव्यका पता नहीं है, इसीसे तुम्हें छोड़कर विषयोंके अनुरागी बन रहे हैं। नाथ! अपनी सहज दयासे हमारी रक्षा करो। एक बार जो शरण होकर यह कह देता है कि मैं तुम्हारी शरण हूँ, तुम उसको अभय कर देते हो यह तुम्हारा प्रण है, सच है प्रभो! हम तुम्हारी शरण नहीं हुए! नहीं तो तुम्हारे प्रणके अनुसार अबतक अभय पद पा चुके होते। परंतु नाथ! यह भी तो तुम्हारे ही हाथ है। अब हम दीन, पतित, मार्गभ्रष्ट और निर्बल हैं और तुम दीनबन्धु, पतित-पावन, पथप्रदर्शक और निर्बलके बल हो! अब हम कहाँ जायँ, तुम्हारे सिवा हम-सरीखे पामर गरीब दीनोंको कौन आश्रय देगा? अपनी ओर देखकर ही अब तो हमें खींचकर अपने चारु चरणोंमें डाल दो। प्रभो! हमें मोक्ष नहीं चाहिये, तुम्हारा कोई धाम नहीं चाहिये, स्वर्ग या मर्त्यलोकमें कोई नाम नहीं चाहिये। हमें तो बस, तुम अपनी चरण-रजमें लोट-लोटकर बेसुध होनेवाले पागल बना दो, अपने प्रेममें ऐसे मतवाले कर दो कि लोक-परलोकको कोई सुधि ही न रहे, आँखोंपर सदा 'पावस-ऋतु' ही छायी रहे और तुम उस जल-धारासे सदा अपने चरण-कमल पखरवाते रहो। प्रभो! वह दिन कब होगा जब—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्‌गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

(श्रीश्रीचैतन्य)

'तुम्हारा नाम लेते ही नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी धारा बहने लगेगी, गद्‌गद होकर वाणी रुक जायगी और समस्त शरीर रोमांचित हो जायगा।'

विनय

हे दयासागर! हे दीनसर्वस्व! हे हमारे हृदयके परमधन! हम दीन अब कहाँ जायँ? तुम्हारे इन अभय चरणोंके सिवा और कहीं भी तो ठौर नहीं है! बहुत भटके, बहुत धक्के खाये, बहुत देखा; पर कहीं ठौर-ठिकाना नहीं लगा! कहीं टिककर नहीं रह सके, कहीं भी शान्ति नहीं मिली। हे पतितपावन! अब तो तुम्हारी शरण आ पड़े हैं। शरणागतवत्सल तुम्हारा विरद है। प्रभो! हमें अब और कुछ भी नहीं चाहिये। विद्या, बुद्धि, धन, मान, परिवार, पुत्र, पाताल, स्वर्ग किसीकी भी इच्छा नहीं है। हम योगी, ज्ञानी, तपस्वी और महात्मा नहीं बनना चाहते। तुम्हारा वैकुण्ठ, तुम्हारी मुक्ति और तुम्हारा परमधाम हमें नहीं चाहिये। हमको तो नाथ! दयाकर अपना वह प्रेम दो जिससे अश्रुपूर्ण-लोचन और गद्‌गदकण्ठ होकर निरन्तर तुम्हारा नाम-गुणगान करते रहें; वह शक्ति दो, जिससे जन्म-जन्मान्तरमें कभी तुम्हारे चरणकमलोंकी विस्मृति एक

क्षणके लिये स्वप्नमें भी न हो, तुम्हारा नाम लेते हुए आनन्दसे मरें और तुम्हारी इच्छासे जहाँ जिस योनिमें जन्में तुम्हारी ही छत्र-छायामें रहें। चित्तकी वृत्तियाँ सदा बिना ही कारण तुम्हारी तरफ दौड़ती रहें और यह मस्तक तुम्हारे दासानुदासोंकी पद-पद्मपरागसे सदा ही अभिषिक्त रहे!

भगवत्-कृपा

पुत्र-शोक संतप्त कभी कर दारुण दुख है देती।
कभी अयश अपमान दानकर मान सभी हर लेती॥
कभी जगतके सुन्दर सुख सब छीन, दीन-मन करती।
पथभ्रांत कर कभी, कठिन व्यवहार विषम आचरती॥
पुत्र, कलत्र, राज, वैभव, बहु मान कभी है देती।
दारुण दुख, दारिद्र्य, दीनता क्षणभरमें हर लेती॥
पल-पलमें प्रत्येक दिशामें सतत कार्य है करती।
कड़वी-मीठी औषध देकर व्यथा हृदयकी हरती॥
पर वह नहीं कदापि सहज ही परिचय अपना देती।
चमक तुरत चंचल चपला-सी दृग-अंचल ढक लेती॥
जबतक इस घूँघटवालीका वदन न देखा जाता।
नाना भाँति जीव तबतक अकुलाता, कष्ट उठाता॥
जिस दिन वह आवरण दूर कर दिव्य-द्युति दिखलाती।
परिचय दे, पहचान बताकर शीतल करती छाती॥
उस दिनसे फिर सभी वस्तु परिपूर्ण दीखतीं उससे।
संसृति-हारिणि सुधावृष्टि हो रही निरंतर जिससे॥
सहज दयाकी मूर्ति देवि! तूने जबसे अपनाया।
महिमान्वित मुख-मंडल अपनेकी दिखला दी छाया॥
तबसे अभय हुआ, आकुलता मिटी प्रेमरस छलका।
मनका उतरा भार सभी, अब हृदय हो गया हलका॥
जिन विभीषिकाओंसे डरकर पहले था थर्राता।
उनमें भव्य दिव्य दर्शन कर अब प्रमुदित मुसुकाता॥
भगवत्कृपा! अकिंचन, तेरे ज्यों-ज्यों दर्शन पाता।
त्यों-ही-त्यों आनंद-सिन्धुमें गहरा डूबा जाता॥

कामना

बना दो बुद्धिहीन भगवान!
तर्क-शक्ति सारी ही हर लो, हरो ज्ञानका मान।
हरो सभ्यता-शिक्षा-संस्कृति नव्य जगतकी शान॥
विद्या-धन-मद हरो, हरो हे हरे! सभी अभिमान।
नीति-भीतिसे पिंड छुड़ाकर करो सरलता-दान॥
नहीं चाहिये भोग योग कुछ, नहीं मान-सम्मान।
ग्राम्य गँवार बना दो, तृण सम दीन निपट निर्मान॥
भर दो हृदय भक्ति-श्रद्धासे करो प्रेमका दान।
प्रेमसिंधु! निज मध्य डुबोकर मेटो नाम निशान॥

ग्वालिनीका प्रेम

ग्वालिनी प्रगट्यो पूरन नेहु।
दधि भाजन सिर पै धर्‌यो री, कहत गोपालहिं लेहु॥
कौन सुनै कासौं कहूँ री, काकें सुरत सँकोच।
काकों डर पथ अपथ को री, को उत्तम, को पोच॥
बाट घाट निज पुर गली, जहाँ तहाँ हरि नाम।
समझायें समझै नहीं, वाहि सिख दै बिथक्यो गाम॥
दीपक ज्यों मंदिर बरै बाहिर लखै न कोय।
तृन परसत प्रज्वलित भयो, गुप्त कौन बिधि होय॥
पान कियें जस बारुनी मुख भलकत, तन न सँभार।
पग डगमग जित-तित धरै, बिथुरी अलक लिलार॥
सरिता निकट तड़ाग कें, दीनों फूल बिदारि।
नाम मिट्यो, सरिता भई, कौन निबेरै बारि॥
लज्जा तरल तरंगिनी, गुरुजन गहरी धार।
दोउ कुल कूल, परमित नहीं ताहि तरत न लागी बार॥
बिधि भाजन ओछो रच्यो, लीला सिंधु अपार।
उलटि मगन तामें भयो, कौन निकासनहार॥
चित आकरष्यो नंद कें, मुरली मधुर बजाय।
जिहिं लज्जा जग लाजयो, सो लज्जा गई लजाय॥
प्रेम मगन ग्वालिन भई सूरदास प्रभु संग।
नयन श्रवन मुख नासिका ज्यों कंचुकि तजत भुजंग॥

॥ श्रीहरिः॥

(भगवच्चर्चा—भाग-२)

चेतावनी!

बहुत गयी थोड़ी रही, नारायण अब चेत।
काल चिरैया चुगि रही, निसिदिन आयू खेत॥
काल्हि करै सो आज कर, आज करै सो अब।
पलमहँ परलै होयगी, फेर करैगा कब॥
रामनामकी लूट है, लूटि सकै तो लूट।
फिरि पाछे पछितायगा प्रान जाहिंगे छूट॥
तेरे भावैं जो करो, भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठकर, अपनो भवन बुहार॥

उम्र बीत रही है, रोज-रोज हम मौतके नजदीक पहुँच रहे हैं। वह दिन दूर नहीं है जब हमारे इस लोकसे कूच कर जानेकी खबर अड़ोसी-पड़ोसी और सगे-सम्बन्धियोंमें फैल जायगी। उस दिन सारा गुड़ गोबर हो जायगा। सारी शान धूलमें मिल जायगी। सबसे नाता टूट जायगा। जिनको 'मेरा-मेरा' कहते जीभ सूखती है, जिनके लिये आज लड़ाई उधार लेनेमें भी इनकार नहीं है, उन सबसे सम्बन्ध छूट जायगा, सब कुछ पराया हो जायगा। मनका सारा हवाई महल पलभरमें ढह जायगा। जिस शरीरको रोज धो-पोंछकर सजाया जाता है—सर्दी-गर्मीसे बचाया जाता है, जरा-सी हवासे परहेज किया जाता है—सजावटमें तनिक-सी कसर मनमें संकोच पैदा कर देती है, वह सोने-सा शरीर राखका ढेर होकर मिट्टीमें मिल जायगा। जानवर खायँगे तो विष्ठा बन जायगा, सड़ेगा तो कीड़े पड़ जायँगे। यह सब बातें सत्य—परम सत्य होनेपर भी हम उस दिनकी दयनीय दशाको भूलकर याद नहीं करते। यही बड़ा अचरज है। इसीलिये युधिष्ठिरने कहा था—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

प्रतिदिन जीव मृत्युके मुखमें जा रहे हैं, पर बचे हुए लोग अमर रहना चाहते हैं इससे बढ़कर आश्चर्य क्या होगा? अतएव भाई! बेखबर मत रहो। उस दिनको याद रखो; सारी शेखी चूर हो जायगी। ये राजमहल, सिंहासन, ऊँची-ऊँची इमारतें, किसी काममें न आयेंगी। बड़े शौकसे मकान बनाया था, सजावटमें धनकी नदी बहा दी थी, पर उस दिन उस प्यारे महलमें दो घड़ीके लिये भी इस देहको स्थान न मिलेगा। घरकी सारी मालिकी छिनमें छिन जायगी। सारी पद-मर्यादा मटियामेट हो जायगी।

इस जीवनमें किसीकी कुछ भलाई की होगी तो लोग अपने स्वार्थके लिये दो-चार दिन तुम्हें याद करके रो लेंगे। सभाओंमें शोकके प्रस्ताव पास कर रस्म पूरी कर दी जायगी! दुःख देकर मरोगे तो लोग तुम्हारी लाशपर थूकेंगे, वश न चलेगा तो नामपर तो चुपचाप जरूर ही थूकेंगे। बस, इस शरीरका इतना-सा नाता यहाँ रह जायगा!

अभी कोई भगवान्का नाम लेनेको कहता है तो जवाब दिया जाता है—'मरनेकी भी फुरसत नहीं है, कामसे वक्त ही नहीं मिलता।' पर याद रखो, उस दिन अपने-आप फुरसत मिल जायगी। कोई बहाना बचेगा ही नहीं। सारी उछल-कूद मिट जायगी, तब पछताओगे, रोओगे पर ***'फिर पछताये का बनै जब चिड़िया चुग गयी खेत'*** मनुष्य-जीवन जो भगवान्को प्राप्त करनेका एकमात्र साधन था, उसे तो यों ही खो दिया, अब बस, रोओ! तुम्हारी गफलतका यह नतीजा ठीक ही तो है।

पर अब भी चेतो! विद्या, बुद्धि, वर्ण, धन, मान, पदका अभिमान छोड़कर सरलतासे परमात्माकी शरण लो। भगवान्की शरणके सामने ये सभी कुछ तुच्छ हैं, नगण्य हैं!

विद्या-बुद्धिके अभिमानमें रहोगे, फल क्या होगा? तर्क-वितर्क करोगे, हार गये तो रोओगे—पश्चात्ताप होगा। जीत गये तो अभिमान बढ़ेगा। अपने सामने दूसरेको मूर्ख समझोगे। 'हम शिक्षित हैं' इसी अभिमानसे तो आज हमारे मनने बड़े-बड़े पुरखाओंको मूर्खताकी उपाधि प्रदान कर दी है। इस बुद्धिके अभिमानने श्रद्धाका सत्यानाश कर दिया। आज परमेश्वर भी कसौटीपर कसे जाने लगे! जो बात हमारे तुच्छ तर्कसे कभी सिद्ध

नहीं होती, उसे हम किसीके भी कहनेपर कभी माननेको तैयार नहीं! इसी दुरभिमानने सच्छास्त्र और संतोंके अनुभवसिद्ध वचनोंमें तुच्छ भाव पैदा कर दिया। हम उन्हें कविकी कल्पनामात्र समझने लगे। धनके अभिमानने तो हमें गरीब भाइयोंसे—अपनेही-जैसे हाथ-पैरवाले भाइयोंसे सर्वथा अलग कर दिया। ऊँची जातिके घमण्डने मनुष्योंमें परस्पर घृणा उत्पन्न कर एक-दूसरेको वैरी बना दिया। व्यभिचार, अत्याचार, अनाचार आज हमारे चिरसंगी बन गये। बड़े-से-बड़े पुरुष आज हमारी तुली-नपी अक्लके सामने परीक्षामें फेल हो गये!

पद-मर्यादाकी तो बात ही निराली है, जहाँ कुर्सीपर बैठे कि आँखें फिर गयीं, आसमान उलटा दिखायी पड़ने लगा! दो दिनकी परतन्त्रतामूलक हुकूमतपर इतना घमण्ड, चार दिनकी चाँदनीपर इतना इतराना! अरे, रावण-हिरण्यकशिपु-सरीखे धरती तौलनेवालोंका पता नहीं लगा, फिर हम तो किस बागकी मूली हैं। सावधान हो जाओ। छोड़ दो इस विद्या, बुद्धि, वर्ण, धन, परिवार, पदके झूठे मदको, तोड़ दो अपने-आप बाँधी हुई इन सारी फाँसियोंको, फोड़ दो भण्डा जगत्‌के मायिक रूपका, जोड़ दो मन उस अनादिकालसे नित्य बजनेवाली मोहनकी महामायाविनी किन्तु मायानाशिनी मधुर मुरली-ध्वनिमें और मोड़ दो निश्चयात्मिका बुद्धिकी गतिको निज नित्य-निकेतन नित्य सत्य आनन्दके द्वारकी ओर!

हम चाहते नहीं

इस स्थूलवादप्रधान इन्द्रियसुखान्वेषी संसारमें स्वाभाविक ही ईश्वरपर श्रद्धा कम होती चली जा रही है। विषयवारुणीकी मादकतासे जगत् उन्मत्त होता चला जा रहा है। जो लोग अपनेको ईश्वरवादी मानते हैं और ईश्वरको सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी कहते हैं, वे भी जब छिपकर पाप करते हैं, मनमें पाप-वासनाओंको स्थान देते नहीं सकुचाते, तब यही प्रतीत होता है कि उनका ईश्वरको सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी भी कहना विडम्बनामात्र है।

ऐसी स्थितिमें ईश्वर और ईश्वरभक्तिके लिये कुछ अधिक कहना-सुनना अरण्य-रोदनके समान ही होता है, परन्तु इस त्रितापतप्त संसारके लिये ईश्वरभक्तिकी सुधा-धाराके सिवा अन्य कोई साधन भी नहीं है, जो हमें प्रतिदिन बढ़ते हुए दु:ख-दावानलसे बचाकर शीतल कर सके। इसलिये जगत्‌के मनोऽनुकूल न रहनेपर भी समय-समयपर संतोंने इस ओर लोगोंका ध्यान खींचनेकी चेष्टा की है।

ईश्वर स्वयंसिद्ध है और प्रत्यक्ष है। उसे किसीके द्वारा अपनी सिद्धि करानेकी अपेक्षा नहीं है। जीव जबतक मायामुग्ध रहता है तबतक उसे नहीं दीखता, जिस दिन उसका भाग्योदय होता है उस दिन संत-महात्माओंकी कृपासे उसकी आँखें खुलती हैं, तब वह अपने सामने ही उस विश्वविमोहन मोहनको देखकर मुग्ध हो जाता है। उस समय उसका जो मायाका आवरण हटता है वह फिर कभी सामने नहीं आ सकता, वह कृतकृत्य हो जाता है; परन्तु मायामुग्ध प्राणीके लिये ऐसा अवसर कठिनतासे आता है, जब भगवान् कृपाकर उसे सांसारिक विपत्तियोंमें डालते हैं, जब जगत्‌से हृदयमें निराशा उत्पन्न होती है उस समय संतोंका संग प्राप्त होनेपर भगवान्‌की ओर जीवकी रुचि होती है। भगवान्‌का स्मरण दु:खमें अनायास हुआ करता है। इसीसे देवी कुन्तीने भगवान् श्रीकृष्णसे विपत्तिका वरदान माँगा था।

जब चारों ओरसे विपत्तिके बादल मँडराने लगते हैं, कहींसे भी कोई सहारा नहीं मिलता, उस समय मनुष्यका हृदय स्वाभाविक ही उस अनजाने-अनदेखे निराश्रयके परम आश्रय किसी अचिन्त्य शक्तिकी गोदमें आश्रय चाहता है। उस समय उसके मुखसे सहसा यह शब्द निकल पड़ते हैं कि 'प्रभो! अब तो तू ही बचा', उधरसे तुरंत उत्तर मिलता है **'मा शुचः'** और उसे तत्काल आश्रय मिल जाता है; क्योंकि यह भगवान्‌का विरद है।

जो इस प्रकार निराश्रयका आश्रय है, विपत्कालका परम बन्धु है, सबके द्वारा त्याग दिये जानेपर भी जो सदा साथ रहता है, दलित-अपमानित होनेपर भी जो हृदयसे लगानेको तैयार है, पुकारते ही उत्तर देता है, सदा सब तरहसे अभय-दान देनेको प्रस्तुत रहता है और विशाल भुजा फैलाये तुम्हें आलिंगन करनेको आगे बढ़ता रहता है। रे अभागे जीव! ऐसे परम हितैषी जीवन-सखाकी भी तू उपेक्षा करता है। अरे, उसे हृदयसे चाहने और एक बार पुकारनेमें भी तुझे संकोच मालूम होता है।

हम धनके लिये खून-पानी एक कर देते हैं, स्त्री-पुत्रादिके लिये धर्म-कर्मतकको तिलांजलि दे डालते हैं, मान-बड़ाईके लिये भाँति-भाँतिके ढोंग रचते हैं, उनकी प्राप्तिके लिये चित्त सतत व्याकुल रहता है, खाना-पीना भूल जाते हैं, मान-अपमान सहते हैं, रातों रोते हैं; खुशामदें और मिन्नतें करते हैं, निष्कपट चित्तसे उन्हें पानेका प्रयत्न करते हैं, परन्तु उस परमात्माके लिये क्या करते हैं? जो हमारा परम धन है, परम आत्मीय है, क्या कभी उसके लिये हमने सच्चे मनसे एक भी आँसू बहाया? क्या कोई अपने हृदयको भलीभाँति टटोलकर छातीपर हाथ रखकर यह कह सकता है कि मैं परमात्माके लिये बहुत रोया, बहुत व्याकुल हुआ, परन्तु उधरसे कोई उत्तर आश्वासनका नहीं मिला। मेरा हृदय उसके लिये तलमला उठा, परन्तु उसने मुझे दर्शन नहीं दिये। सच्ची बात तो यह है कि हमारे अनन्त शरीरोंमें आजतक कभी ऐसा सौभाग्य नहीं हुआ, यदि होता तो फिर इस कष्टमय स्थितिमें हम रहते ही क्यों? हमारी आँखोंमें आँसू बहुत बार बहते हैं पर वह बहते हैं विषयोंके लिये, परमात्माके लिये नहीं। इसीलिये परमात्मा सदा हमारे साथ रहकर भी हमारी आँखोंसे ओझल रहता है। इसीसे उस नित्यके संगीको हम कभी नहीं देख पाते। उसको पानेके लिये धर्म-कर्म छोड़कर छल, कपट, पाप करनेकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवल छल छोड़कर उसे चाहनेकी। जिस दिन उसके लिये हमारा चित्त व्याकुल हो उठेगा, जिस दिन उसका वियोग क्षणभरके लिये भी सहन नहीं होगा, जिस दिन कृष्णविरहके दावानलसे हृदय दग्ध होने लगेगा, जिस दिन उन पापोंसे भी बढ़कर प्यारे श्यामसुन्दरके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सुहावेगा, उस दिन उसी क्षणमें उसे बाध्य होकर दर्शन देने पड़ेंगे। उस समय उसको भी हमारा क्षणभरका वियोग सहन नहीं होगा। उसकी तो प्रतिज्ञा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

भगवान्‌का मिलना कठिन नहीं है, कठिन है विषय-व्यामोहसे विमुक्त होकर उसे हृदयसे चाहना और अन्तरकी आवाजसे उसे पुकारना। यह सदा स्मरण रखो कि वह हमसे मिलनेके लिये सदा ही आतुर है, पर हम अभागे उसे चाहते नहीं।

गीता और भगवान् श्रीकृष्ण

ब्रह्माण्डानि बहूनि पंकजभवान् प्रत्यण्डमत्यद्भुतान्
गोपान्वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात्
कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा॥
कृपापात्रं यस्य त्रिपुररिपुरम्भोजवसतिः
सुता जह्नोः पूता चरणनखनिर्णेजनजलम्।
प्रदानं वा यस्य त्रिभुवनपतित्वं विभुरपि
निदानं सोऽस्माकं जयति कुलदेवो यदुपतिः॥

(शंकराचार्य)

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेतांगने मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसरांगो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥

शुद्ध सच्चिदानन्दघन नित्य निर्विकार अज अविनाशी घट-घटवासी पूर्णब्रह्म परमात्मा लीलामय भगवान् श्रीकृष्णके चारु चरणारविन्दोंकी परमपावनी भवभयहारिणी ऋषि-मुनिसेविता सुरासुर-दुर्लभ भक्तजन-दिव्यनेत्रांजन-स्वरूपा चरणधूलिको असंख्य नमस्कार है, जिसके एक कणप्रसादसे अनादिकालीन त्रितापतप्त मायामोहित जीव समस्त बन्धनोंसे अनायास ही मुक्त होकर लीलामयकी नित्य नूतन मधुर लीलामें सदैव सम्मिलित रहनेका प्रत्यक्ष अनुभव कर अपार आनन्दाम्बुधिमें सदाके लिये निमग्न हो जाता है। साथ ही पूर्ण ब्रह्मकी उस पूर्ण ज्ञानमयी वाङ्मयी मूर्ति श्रीमद्भगवद्गीताके प्रति अनेक नमस्कार है, जिसके किंचित् अध्ययनमात्रसे ही मनुष्य सुदुर्लभ परमपदका अधिकारी हो जाता है। गीता भगवान्‌की दिव्य वाणी है, वेद तो भगवान्‌का निःश्वासमात्र हैं; परन्तु गीता तो स्वयं आपके मुखारविन्दसे निकली हुई त्रितापहारिणी दिव्य सुधा-धारा है। गीतानायक भगवान् श्रीकृष्ण, गीताके श्रोता अधिकारी भक्त-शिरोमणि महात्मा अर्जुन और भगवती भागवती गीता तीनोंके प्रति पुनः-पुनः नमस्कार है।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व॥

भगवान्‌का तत्त्व भक्तिसे जाना जाता है बुद्धिवादसे नहीं

विश्वके जीवोंका परम सौभाग्य है कि उन्हें श्रीकृष्ण-नाम-कीर्तन, श्रीकृष्ण-लीला-श्रवण और श्रीकृष्णोपदेश-अध्ययनका परम लाभ मिल रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण जीवोंपर दया करके ही पूर्णरूपसे द्वापरके अन्तमें अवतीर्ण

हुए थे। मनुष्य-बुद्धिका मिथ्या गर्व आजकल बहुत ही बढ़ गया है, इसीसे भगवान् श्रीकृष्णकी पूर्ण ईश्वरता और उनके पूर्ण अवतारपर लोग शंका कर रहे हैं, यह जीवोंका परम दुर्भाग्य समझना चाहिये कि आज स्वयं भगवान्के अवतार और उनकी लीलाओंपर मनमानी टीका-टिप्पणियाँ करनेका दु:साहस किया जाता है और इसीमें ज्ञानका विकास माना जाता है। कुछ लोग तो यहाँतक मानते और कहते हैं कि भगवान्का अवतार कभी हो नहीं सकता। क्यों नहीं हो सकता? इसीलिये कि हमारी बुद्धि भगवान्का मनुष्यरूपमें अवतार होना स्वीकार नहीं करती। वाह री बुद्धि! जो बुद्धि क्षण-क्षणमें बदल सकती है, जिस बुद्धिका निश्चय तनिकसे भय या उद्वेगका कारण उपस्थित होते ही परिवर्तित हो जाता है, जो बुद्धि आज जिस वस्तुमें सुख मानती है, कल उसीमें दु:खका अनुभव करती है, जो बुद्धि भविष्य और भूतका यथार्थ निर्णय ही नहीं कर सकती और जो बुद्धि निरन्तर मायाभ्रममें पड़ी हुई है, वह बुद्धि प्रकृतिके प्रकृत स्वामी परमात्माके कर्तव्य, उनकी अपरिमित शक्ति-सामर्थ्यका निर्णय करे और उनको अपने मनोऽनुकूल नियमोंकी सीमामें आबद्ध रखना चाहे, इससे अधिक उपहासास्पद विचार और क्या हो सकता है? अनादिकालसे जीव परमानन्दरूप परमात्माकी खोजमें लगा है, परमात्माकी प्राप्तिके लिये वह मनुष्य-जीवन धारण करता है, परमात्माकी प्राप्ति परमात्माको जाननेसे होती है, इसके लिये और कोई भी साधन नहीं है—**'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'** परन्तु उनका जानना अत्यन्त ही कठिन है। कारण, उनका स्वरूप अचिन्त्य है, मनुष्य अपने बुद्धिबलसे भगवान्को कभी नहीं जान सकता, वह अपने विद्या, बुद्धिके बलसे जड संसारके तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त कर सकता है, परन्तु परमात्माका ज्ञान बुद्धिके सहारे सर्वथा असम्भव है।

'न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो न विद्मो न विजानीमो', **'यन्मनसा न मनुते'** (केन०) **'नैषा तर्केण मतिरापनेया नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन'** (कठ०)।

श्रुतियाँ इस प्रकार पुकार रही हैं, फिर क्षणजीवन-स्थायी अस्थिरमति मनुष्य अपने बुद्धिवादके भरोसे परमात्माके परम तत्त्वका पता लगाना चाहता है **'किमाश्चर्यमतः परम्!'**

भगवान्को जाननेके बाद फिर कुछ जानना शेष नहीं रह जाता, गीतामें भगवान्ने कहा है, 'मैं जैसा हूँ वैसा तत्त्वसे मुझे जानते ही मनुष्य मुझमें प्रवेश कर जाता है यानी मद्रूपताको प्राप्त हो जाता है।' **(माम् तत्त्वतः अभिजानाति यः च यावान् अस्मि) ततः माम् तत्त्वतः ज्ञात्वा तदनन्तरम् विशते।** (गीता १८। ५५) परन्तु इस प्रकार जाननेका उपाय है केवल उनकी परम कृपा। भगवत्कृपाद्वारा ही भक्त उन्हें तत्त्वतः जान सकता है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूंःस्वाम्।
(कठ०)

भगवान् जिसपर कृपा करते हैं वही उन्हें पाता है, उसीके समीप वे अपना स्वरूप प्रकट करते हैं।

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

इस कृपाका अनुभव उनकी 'परा' (अनन्य) भक्तिसे होता है, जिसके साधन भगवान्ने अपने श्रीमुखसे ये बतलाये हैं—

बुद्‌ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
(गीता १८। ५१—५४)

(१) जिसकी बुद्धि तर्कजालसे छूटकर, परम श्रद्धासे ईश्वर-प्रेमके समुद्रमें अवगाहन कर विशुद्ध हो जाती है।

(२) जिसकी धारणामें एक भगवान्के सिवा अन्य किसीका भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता।

(३) जो अन्त:करणको वशमें कर लेता है।

(४) जो पाँचों इन्द्रियोंके शब्दादि पाँचों विषयोंमें आसक्त नहीं होता।

(५) जो राग-द्वेषको नष्ट कर डालता है।

(६) जो ईश्वरीय साधनके लिये एकान्तवास करता है।

(७) जो केवल शरीर-रक्षणार्थ सदा अल्प भोजन करता है।

(८) जिसने मन, वाणी और शरीरको जीत लिया है।

(९) जिसको इस लोक और परलोकके सभी भोगोंसे नित्य अचल वैराग्य है।

(१०) जो सदा-सर्वदा परमात्माके ध्यानमें मस्त रहता है।

(११) जिसने अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोधरूप दुर्गुणोंका सर्वथा त्याग कर दिया है।

(१२) जो भोगके लिये आसक्तिवश किसी भी वस्तुका संग्रह नहीं करता।

(१३) जिसको सांसारिक वस्तुओंमें पृथक्-रूपसे 'मेरापन' नहीं रह गया है।

(१४) जिसके अन्त:करणकी चंचलता नष्ट हो गयी है।

(१५) जो सच्चिदानन्दघन परब्रह्ममें लीन होनेकी योग्यता प्राप्त कर चुका है।

(१६) जो ब्रह्मके अन्दर ही अपनेको अभिन्नरूपसे स्थित समझता है।

(१७) जो सदा प्रसन्नहृदय रहता है।

(१८) जो किसी भी वस्तुके लिये शोक नहीं करता।

(१९) जिसके मनमें किसी भी पदार्थकी आकांक्षा नहीं है।

(२०) जो सब भूतोंमें सर्वत्र समभावसे आत्मारूप परमात्माको देखता है।

इन लक्षणोंसे युक्त होनेपर साधक मेरी (भगवान्‌की) पराभक्तिको प्राप्त होता है, '**मद्भक्तिं लभते पराम्**' जिससे वह भगवान्‌का यथार्थ तत्त्व जान सकता है।

ईश्वरका अवतार

आजके हम क्षीणश्रद्धा, क्षीणबुद्धि, क्षीणबल, क्षीणपुण्य, साधनहीन, विषय-विलासमोहित, रागद्वेषविजड़ित, काम-क्रोध-मद-लोभपरायण, अजितेन्द्रिय, मानसिक संकल्पोंके गुलाम, अनिश्चितमति, दुर्बलहृदय मनुष्य तर्कके बलसे ईश्वरको तत्त्वसे जाननेका दावा करते हैं और यह कहनेका दु:साहस कर बैठते हैं कि बस, ईश्वर ऐसा ही है। यह अभिमानपूर्ण दुराग्रहके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ईश्वरकी दिव्य क्रियाओं और उनकी अप्राकृत लीलाओंके सम्बन्धमें युक्तियाँ उपस्थित करके उन्हें सिद्ध या असिद्ध करते जाना नितान्त हास्यजनक बालकोचित कार्य है और इसीलिये यह किया भी जाता है। परमात्माके वे बालक, जैसे अपनी ससीम बुद्धिकी सीमामें परम पिताकी असीम क्रियाशीलता और अपरिमित सामर्थ्यको बाँधनेका ईश्वरकी दृष्टिमें एक विनोदमय खेल करते हैं, इसी प्रकार मैं भी, जो अपने उन बड़े भाइयोंसे सब तरह छोटा हूँ—अपने उन भाइयोंके खेलका प्रतिद्वन्द्वी बनकर परम पिताको और अपने बड़े भाइयोंको अपनी मूर्खतापर हँसाकर प्रसन्न करनेके लिये कुछ खेल रहा हूँ, अन्यथा न तो मैं ईश्वरावतारको सिद्ध करनेकी आवश्यकता समझता हूँ, न उसे सिद्ध करनेका अपना अधिकार ही मानता हूँ, न वैसी योग्यता समझता हूँ, न साधक और सदाचारी होनेका ही दावा करता हूँ और न सांसारिक विद्या-बुद्धि एवं तर्कशीलतामें ही अपनेको दूसरे पक्षके समकक्ष पाता हूँ, ऐसी स्थितिमें मेरा यह प्रयत्न इसीलिये समझना चाहिये कि इसी बहाने भगवान्‌के कुछ नाम आ जायँगे, उनकी दो-चार लीलाओंका स्मरण होगा, जिनके प्रभावसे महापापी मनुष्य भी परमात्माके प्रेमका अधिकारी बन जाता है।

अवतारके विरोधियोंकी प्रधान दलीलें हैं—

(१) पूर्ण परब्रह्मका अवतार धारण करना सम्भव नहीं।

(२) यदि अखण्ड ब्रह्म अवतार धारण करता है तो उसकी अखण्डता नहीं रह सकती जो ईश्वरमें अवश्य रहनी चाहिये।

(३) ब्रह्मके एक ही निर्दिष्ट देश, काल, पात्रमें रहनेपर शेष सृष्टिका काम कैसे चलेगा?

(४) किसी देश, काल, पात्रविशेषमें ही ईश्वरको माननेसे ईश्वरकी महत्ताको संकुचित किया जाता है।

(५) ईश्वर सर्वशक्तिमान् होनेके कारण बिना ही अवतार धारण किये दुष्ट-संहार, शिष्टपालन और धर्मसंस्थापनादि कार्य कर सकता है, फिर उसको अवतारधारण करनेकी क्या आवश्यकता है।

(६) ईश्वरके मनुष्यरूपमें अवतार लेनेकी कल्पना उसका अपमान करना है।

इसी प्रकार और भी कई दलीलें हैं, इन सबका एकमात्र उत्तर तो यह है और यही मेरी समझसे सबसे उपयुक्त है कि 'सर्वशक्तिमान् ईश्वरमें सब कुछ सम्भव है, छोटे-बड़े होनेमें उनका कोई संकोच-विस्तार नहीं होता; क्योंकि उनका रूप ही '**अणोरणीयान् महतो महीयान्**' है, उनकी इच्छाका मूल उन्हींके ज्ञानमें है, अत: वे कब, क्यों, कैसे, क्या करते हैं? इन प्रश्नोंका उत्तर वे ही दे सकते हैं। परन्तु उन भगवान्‌को हम-जैसे अतपस्क, अभक्त, जिज्ञासाशून्य, ईश्वरनिन्दक जीवोंके सामने अपनी गोपनीय लीला प्रकाश करनेकी गरज ही क्या है? अस्तु।

अतएव विनोदके भावसे ही उपर्युक्त दलीलोंका कुछ उत्तर दिया जाता है।

दलीलोंका उत्तर

(१) सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्मके लिये ऐसी कोई बात नहीं जो सम्भव न हो। जब नाना प्रकार विचित्र सृष्टिकी रचना, उसका पालन, विधिवत् समस्त व्यवहारोंका संचालन तथा चराचर छोटे-बड़े समस्त भूतोंमें विकसित एवं अविकसित आत्मसत्तारूपमें निवास आदि अद्‌भुत कार्य सम्भव हैं, तब अपनी इच्छासे अवतार धारण करना उनके लिये असम्भव कैसे हो सकता है।

(२) अखण्ड ब्रह्मके अवतार धारण करनेसे उनकी अखण्डतामें कोई बाधा नहीं पहुँचती। परमात्माका स्वरूप जगत्‌के औपाधिक पदार्थोंकी तरह ससीम नहीं है, जगत्‌के पदार्थ एक समय दो जगह नहीं रह सकते, परन्तु परमात्माके लिये ऐसी बात नहीं कही जा सकती। क्या परमात्मा असंख्य जीवोंमें आत्मरूपसे वर्तमान नहीं है? यदि है तो क्या वह खण्ड-खण्ड है? यदि उन्हें खण्ड मानते हैं तो अनेक ब्रह्म मानने पड़ते हैं। परन्तु ऐसी बात नहीं है। वे एक जगह मनुष्य-शरीरमें अवतीर्ण होनेपर भी अनन्तरूपसे अपनी सत्तामें स्थिर रहते हैं। यह सारा संसार ब्रह्मसे उत्पन्न है, सभी जीवोंमें ब्रह्मकी आत्मसत्ता है जो 'निरंश' भगवान्‌का सनातन अंश है। '**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' इतना होनेपर उनकी अखण्डतामें कोई अन्तर नहीं पड़ता, वे सृष्टिके पूर्व जैसे थे वैसे ही अब हैं, उनकी पूर्णता नित्य और अनन्त है। क्योंकि—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

—वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्णसे ही पूर्णकी वृद्धि होती है, पूर्णके पूर्णको ले लेनेपर भी पूर्ण ही बच रहता है।

आकाशमें लाखों नगर बस जानेपर भी आकाशकी अखण्डतामें कोई बाधा नहीं पड़ती, यद्यपि दीवारोंसे घिरे हुए अंशविशेषमें छोटे-बड़ेकी कल्पना होती है। आकाशका उदाहरण भी भगवान्‌की अखण्डताको बतलानेके लिये पर्याप्त नहीं है; क्योंकि यह अनन्त और असीम नहीं है, सान्त और ससीम है; परन्तु भगवान् तो नित्य अनन्त और असीम हैं।

यही भगवान्‌की महिमा है, इसीसे वेद उन्हें 'नेति-नेति' कहते हैं। ऐसे महामहिम भगवान्‌के सगुण-निर्गुण दोनों ही रूपोंकी कल्पना की जाती है। भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपको तो भगवान् ही जानते हैं। अतएव अवतार लेनेपर भी वे अखण्ड ही रहते हैं।

(३) जब भगवान् अपनी सत्तामें सदैव समानभावसे पूर्ण रहते हैं, तब उनके एक जगह अवतार धारण करनेपर उनके द्वारा शेष सृष्टिके कार्य-संचालन होनेमें कोई बाधा आ ही कैसे सकती है?

(४) ईश्वरको संकोच नहीं होता, वे '**आत्ममायया**' अपनी लीलासे नरदेह धारण करते हैं। किसी निर्दिष्ट देश, काल, पात्रमें प्रकट होनेपर भी वे व्यापक अव्यक्त अग्निकी भाँति समस्त ब्रह्माण्डमें व्याप्त रहते हैं और जिस सत्ताके द्वारा सृष्टि-क्रमका संचालन किया जाता है, उसमें भी स्थित रहते हैं। यही उनकी अलौकिकता है। अवतारवादी लोग ईश्वरको केवल देहदृष्टिसे नहीं पूजते, वे उन्हें पूर्ण परात्पर भगवत्-भावसे ही पूजते हैं। इसलिये वे उनको छोटा नहीं बनाते, वरं कृपावश अपनी महिमासे अपने नित्य स्वरूपमें पूर्णरूपसे स्थित रहते हुए ही हमारे उद्धारके लिये प्रकट हुए हैं, ऐसा समझकर वे उनकी महिमाको और भी बढ़ाते हैं। यहाँपर यह कहा जा सकता है कि आत्मरूपसे तो सभी जीव ईश्वरके अवतार हैं, फिर किसी खास अवतारको ही भगवान् क्यों मानना चाहिये? यद्यपि भगवान्‌की आत्मसत्ता सबमें व्याप्त होनेसे सभी ईश्वरके अवतार हैं; परन्तु वे जीवभावको प्राप्त रहनेके कारण कर्मवश मनुष्यादि शरीरमें प्रकट हुए हैं, वे कर्मफल भोगनेमें परतन्त्र हैं, परन्तु भगवान् तो यह कहते हैं कि—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥

—मैं अविनाशी, अजन्मा और सर्व भूतोंका ईश्वर रहते हुए ही अपनी प्रकृतिको साथ लेकर लीलासे देह धारण करता हूँ।

इससे पता चलता है, वे जीवोंका उद्धार करनेके लिये स्वतन्त्रतासे दिव्य देह धारण करते हैं। अतएव उनमें कोई संकोच नहीं होता।

(५) ईश्वर सर्वशक्तिमान् हैं, वे संकल्पसे ही सम्भवको असम्भव और असम्भवको सम्भव कर सकते हैं, इस स्थितिमें उनके लिये अवतार धारण किये बिना ही दुष्टोंका संहार, शिष्टोंका पालन और धर्म-संस्थापन करना सर्वथा सम्भव है, परन्तु तो भी सुना जाता है कि वे भक्तोंके प्रेमवश अवतार लेकर जगत्‌में एक महान् आदर्शकी स्थापना करते हैं। वे संसारमें न आवें तो जगत्‌के लोगोंको ऐसा महान् आदर्श कहाँसे मिले? लोकमें आदर्श स्थापन करनेके लिये ही वे अपने पार्षद और मुक्त भक्तोंको साथ लेकर धराधाममें अवतीर्ण होते हैं। उन्होंने स्वयं कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।

(गीता ३। २२ से २४ का पूर्वार्धतक)

हे अर्जुन! यद्यपि तीनों लोकोंमें न तो मुझे कुछ कर्तव्य है और न मुझे कोई वस्तु अप्राप्त ही है, (क्योंकि मैं ही सबका आत्मा, अधिष्ठान, सूत्रधार, संचालक और भर्ता हूँ) तथापि मैं कर्म करता हूँ, यदि मैं सावधानीसे कर्म न करूँ तो दूसरे लोग भी सब प्रकारसे मेरा ही अनुसरण करके आदर्श शुभ कर्मोंका करना त्याग दें (क्योंकि कर्मोंका स्वरूपसे सर्वथा त्याग तो होता नहीं, केवल शुभ कर्म ही त्यागे जाते हैं), अतएव मेरे कर्म करके आदर्श स्थापित न करनेसे लोक साधनमार्गसे भ्रष्ट हो जायँ।

इसके अतिरिक्त उनके अवतारके निगूढ़ रहस्यको वास्तवमें स्वयं वे ही जानते हैं या वे महात्मा पुरुष यत्किञ्चित् अनुमान कर सकते हैं जो भगवान्‌की प्रकृतिसे उनकी कृपाके द्वारा किसी अंशमें परिचित हो चुके हैं। परन्तु जो अपनी बुद्धिके बलपर तर्कयुक्तियोंकी सहायतासे तर्कातीत परमात्माकी प्रकृतिका निरूपण करना चाहते हैं, उन्हें तो औंधे मुँह गिरना ही पड़ता है। पर अवतारवादी तो यह कभी कहते भी नहीं कि बिना अवतारके दुष्ट-संहार, शिष्ट-पालन और धर्म-संस्थापन कार्य कभी नहीं होता। न गीतामें ही कहीं भगवान्‌ने ऐसा कहा है। भगवान् किसी दूसरेको भेजकर या दूसरेको शक्ति प्रदान करके भी ये काम करवा सकते हैं, इसीसे कला और अंशभेदसे अनेक अवतार माने जाते हैं। अधर्मके कितने परिमाणमें बढ़ जानेपर और भक्तोंके प्रेमकी धारा कहाँतक बह जानेपर भगवान् स्वयं अवतार लेते हैं, इस बातका निर्णय हमारी बुद्धि नहीं कर सकती; क्योंकि वह अपने बलसे आध्यात्मिक पथपर बहुत दूरतक जा ही नहीं सकती।

भगवान् दुष्टोंका विनाश करके भी उनका उद्धार ही करने आते हैं। महाभारत और श्रीमद्भागवतके इतिहाससे यह भलीभाँति सिद्ध है। पर इस कार्यके लिये अवतार धारण करनेकी यह आवश्यकता कब होती है, इस बातका पता भी उन्हींको है, जिनकी एक सत्ताके अधीन सब जीवोंके कर्मोंका यन्त्र है।

(६) उनके मनुष्यरूपमें अवतार लेनेकी कल्पना उनका अपमान नहीं है, अपितु उनकी शक्तिको सीमाबद्ध कर देना और यह मान लेना कि वे ऐसा नहीं कर सकते, यही उनका अपमान है। जो अनवकाशमें अवकाश और अवकाशमें अनवकाश कर सकते हैं, वे मनुष्यरूपमें अवतीर्ण नहीं हो सकते, ऐसा निर्णय कर उनकी शक्तिका सीमानिर्देश करना कदापि उचित नहीं है।

श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म भगवान् हैं

उपर्युक्त विवेचनसे गीताके अनुसार यह सिद्ध है कि ईश्वर अपनी इच्छासे प्रकृतिको अपने अधीन कर जब चाहें तभी लीलासे अवतार धारण कर सकते हैं। संसारमें भगवान्‌के अनेक अवतार हो चुके हैं, अनेक रूपोंमें प्रकट होकर मेरे उन लीलामय नाथने अनेक लीलाएँ की हैं, **'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि।'** कला और अंशावतारोंमें कई क्षीरसागरशायी भगवान् विष्णुके होते हैं, कुछ भगवान् शिवके होते हैं, कुछ सच्चिदानन्दमयी योगशक्ति देवीके होते हैं, किसीमें कम अंश रहते हैं, किसीमें अधिक, अर्थात् किसीमें भगवान्‌की शक्ति-सत्ता न्यून प्रकट होती है, किसीमें अधिक। इसीलिये सूतजी महाराजने मुनियोंसे कहा है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

(श्रीमद्भा० १। ३। २८)

मीन, कूर्मादि अवतार सब भगवान्‌के अंश हैं, कोई कला है, कोई आवेश है, परन्तु श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं!

वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्ण सब प्रकारसे पूर्ण हैं। उनमें सभी पूर्व और आगामी अवतारोंका पूर्ण समावेश है। भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण बल, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और समस्त वैराग्यकी जीवन्त मूर्ति हैं। प्रारम्भसे लेकर लीलावसानपर्यन्त उनके सम्पूर्ण कार्य ही अलौकिक-चमत्कारपूर्ण हैं। उनमें सभी शक्तियाँ प्रकट हैं। बाबू बंकिमचन्द्र चटर्जीने भगवान् श्रीकृष्णको अवतार माना है और लाला लाजपतराय आदि विद्वानोंने महान् योगेश्वर। परन्तु इन महानुभावोंने भगवान् श्रीकृष्णको जगत्‌के सामने भगवान्‌की जगह पूर्ण मानवके रूपमें रखना चाहा है। मानव कितना भी पूर्ण क्यों न हो, वह है मानव ही, पर भगवान् भगवान् ही हैं, वे अचिन्त्य और अतर्क्य शक्ति हैं। महामना बंकिम बाबूने अपने भगवान् श्रीकृष्णको सर्वगुणान्वित, सर्वपापसंस्पर्शशून्य, आदर्श चरित्र, पूर्ण मानवके रूपमें विश्वके सामने उपस्थित करनेके अभिप्रायसे उनके अलौकिक ऐश्वरिक, मानवातीत, मानव-कल्पनातीत, शास्त्रातीत और नित्य मधुर चरित्रोंको उपन्यास बतलाकर

उड़ा देनेका प्रयास किया है, उन्होंने भगवान्के ऐश्वर्यभावके कुछ अंशको, जो उनके मनमें निर्दोष जँचा है, मानकर, शेष रस और ऐश्वर्यभावको प्रायः छोड़ दिया है। इसका कारण यही है कि वे भगवान् श्रीकृष्णको पूर्ण मानव आदर्शके नाते भगवान्का अवतार मानते थे, न कि भगवान्की हैसियतसे अलौकिक शक्तिके नाते। यह बात खेदके साथ स्वीकार करनी पड़ती है कि विद्या-बुद्धिके अत्यधिक अभिमानने भगवान्को तर्ककी कसौटीपर कसनेमें प्रवृत्त कराकर आज मनुष्य-हृदयको श्रद्धाशून्य, शुष्क, रसहीन बनाना आरम्भ कर दिया है। इसीलिये आज हम अपनेको भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंका माननेवाला कहते हैं, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् माननेमें और उनके शब्दोंका सीधा अर्थ करनेमें हमारी बुद्धि सकुचाती है और ऐसा करनेमें हमें आज अपनी तर्कशीलता और बुद्धिमत्तापर आघात लगता हुआ-सा प्रतीत होता है। भगवान्का सारा जीवन ही दिव्य लीलामय है, परन्तु उनकी लीलाओंको समझना आजके हम-सरीखे अश्रद्धालु मनुष्योंके लिये बहुत कठिन है—इसीसे उनकी चमत्कारपूर्ण लीलाओंपर मनुष्यको शंका होती है और इसीलिये आजकलके लोग उनके दिव्यरूपावतारसे पूतनावध, शकटासुर-अघासुरवध, अग्निपान, गोवर्धनधारण, दधिमाखनभक्षण, कालियदमन, चीरहरण, रासलीला, यशोदाको मुखमें विराट्रूप दिखलाने, सालभरतक बछड़े और बालकरूप बने रहने, पांचालीका चीर बढ़ाने, अर्जुनको विराट्स्वरूप दिखलाने और कौरवोंकी राजसभामें विलक्षण चमत्कार दिखलाने आदि लीलाओंपर सन्देह करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि जिन परमात्माकी मायाने जगत्को मनुष्यकी बुद्धिसे अतीत नाना प्रकारके अद्भुत वैचित्र्यसे भर रखा है, उन मायापति भगवान्के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, बल्कि इन ईश्वरीय लीलाओंमें ही उनका ईश्वरत्व है, परन्तु यह लीला मनुष्यबुद्धिसे अतर्क्य है। इन लीलाओंका रहस्य समझ लेना साधारण बात नहीं है। जो भगवान्के दिव्य जन्म और कर्मके रहस्यको तत्त्वतः समझ लेता है, वह तो उनके चरणोंमें सदाके लिये स्थान ही पा जाता है। भगवान्ने कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

'मेरे दिव्य जन्म और दिव्य कर्मको जो तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीर छोड़कर पुनः जन्म नहीं लेता, वह तो मुझको ही प्राप्त होता है।' जिसने भगवान्के दिव्य अवतार और दिव्य लीलाकर्मोंका रहस्य जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। वह तो फिर भगवान्की लीलामें उनके हाथका एक यन्त्र बन जाता है। लोकमान्य लिखते हैं कि 'भगवत्प्राप्ति होनेके लिये (इसके सिवा) दूसरा कोई साधन अपेक्षित नहीं है; भगवत्की यही सच्ची उपासना है।' परन्तु तत्त्व जानना श्रद्धापूर्वक भगवद्भक्ति करनेसे ही सम्भव होता है। जिन महात्माओंने इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थरूपसे जान लिया था, उन्हींमेंसे श्रीसूतजी महाराज थे, जो हजारों ऋषियोंके सामने यह घोषणा करते हैं कि '**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**' और भगवान् वेदव्यासजी तथा ज्ञानिप्रवर शुकदेवजी महाराज इसी पदको ग्रन्थित कर और गानकर इस सिद्धान्तका सानन्द समर्थन करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णको नारायण ऋषिका अवतार कहा गया है, नर-नारायण ऋषियोंने धर्मके औरस और दक्षकन्या मूर्तिके गर्भसे उत्पन्न होकर महान् तप किया था। कामदेव अपनी सारी सेनासमेत बड़ी चेष्टा करके भी इनके व्रतको भंग नहीं कर सका (भागवत २। ७। ८)। ये दोनों भगवान् श्रीविष्णुके अवतार थे। देवीभागवतमें इन दोनोंको हरिका अंश (**हरेरंशौ**) कहा है (दे० भा० ४। ५। १५) और भागवतमें कहा है कि भगवान्ने चौथी बार धर्मकी कलासे नर-नारायण ऋषिके रूपमें आविर्भूत होकर घोर तप किया था। भागवत और देवीभागवतमें इनकी कथाका विस्तार है। महाभारत और भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनको कई जगह नर-नारायणका अवतार बतलाया गया है। (वनपर्व ४०। १२; भीष्मपर्व ६६। ११; उद्योगपर्व ९६। ४६ आदि; श्रीमद्भागवत ११। ७। १८; १०। ८९। ३२-३३ आदि)

दूसरे प्रमाण मिलते हैं कि वे क्षीरसागरनिवासी भगवान् विष्णुके अवतार हैं। कारागारमें जब भगवान् प्रकट होते हैं तब शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी श्रीविष्णुरूपसे ही पहले प्रकट होते हैं तथा भागवतमें गोपियोंके प्रसंगमें तथा अन्य स्थलोंमें उन्हें 'लक्ष्मीसेवितचरण' कहा गया है, जिससे श्रीविष्णुका बोध होता है। भीष्मपर्वमें ब्रह्माजीके वाक्य हैं—हे देवतागणो! सारे जगत्का प्रभु मैं इनका ज्येष्ठ पुत्र हूँ अतएव—

वासुदेवोऽर्चनीयो वः सर्वलोकमहेश्वरः॥
तथा मनुष्योऽयमिति कदाचित् सुरसत्तमाः।
नावज्ञेयो महावीर्यः शङ्खचक्रगदाधरः॥

(महा० भीष्म० ६६। १३-१४)

'सर्वलोकके महेश्वर इन वासुदेवकी पूजा करनी चाहिये। हे श्रेष्ठ देवताओ! साधारण मनुष्य समझकर उनकी कभी अवज्ञा न करना। कारण, वे शंख, चक्र, गदाधारी महावीर्य (विष्णु) भगवान् हैं।' जय-विजयकी कथासे भी उनका विष्णु अवतार होना सिद्ध है। इस विषयके और भी अनेक प्रमाण हैं।

तीसरे इस बातके भी अनेक प्रमाण मिलते हैं, भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म पुरुषोत्तम सच्चिदानन्दघन थे। भगवान्ने गीता और अनुगीतामें स्वयं स्पष्ट शब्दोंमें अनेक बार ऐसा कहा है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते॥

(गीता १०। ८)

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७। ७)

..................................सर्वलोकमहेश्वरम् ॥

(गीता ५। २९)

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०। ४२)

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४। २७)

गीतामें ऐसे श्लोक बहुत हैं, उदाहरणार्थ थोड़ेसे लिखे हैं। इनके सिवा महाभारतमें पितामह भीष्म, संजय, भगवान् व्यास, नारद, श्रीमद्भागवतमें नारद, ब्रह्मा, इन्द्र, गोपियाँ, ऋषिगण आदिके ऐसे अनेक वाक्य हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म सनातन परमात्मा थे। अग्रपूजाके समय भीष्मजी कहते हैं—

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाव्ययः।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम्॥
एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः॥

(महा० सभा० ३८। २३-२४)

'श्रीकृष्ण ही लोकोंके अविनाशी उत्पत्तिस्थान हैं, इस चराचर विश्वकी उत्पत्ति इन्हींसे हुई है। यही अव्यक्त प्रकृति और सनातन कर्ता हैं, यही अच्युत सर्वभूतोंसे श्रेष्ठतम और पूज्यतम हैं।' जो ईश्वरोंके ईश्वर होते हैं, वही महेश्वर या परब्रह्म कहलाते हैं—**तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्।** (श्वेताश्वतर उ० ६। ७)

मनुष्यरूप असुरोंके अत्याचारों और पापोंके भारसे घबराकर पृथ्वी देवी गौका रूप धारणकर ब्रह्माजीके साथ जगन्नाथ भगवान् विष्णुके समीप क्षीरसागरमें जाती हैं। (भगवान् विष्णु व्यष्टि पृथ्वीके अधीश्वर हैं; पालनकर्ता हैं। इसीसे पृथ्वी उन्हींके पास गयी।) तब भगवान् कहते हैं, 'मुझे पृथ्वीके दुःखोंका पता है, ईश्वरोंके ईश्वर कालशक्तिको साथ लेकर पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये पृथ्वीपर विचरण करेंगे। देवगण उनके आविर्भावसे पहले ही वहाँ जाकर यदुवंशमें जन्म ग्रहण करें।

वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥

'साक्षात् परम पुरुष भगवान् वसुदेवके घरमें अवतीर्ण होंगे, अतः देवांगनागण उनकी सेवाके लिये वहाँ जाकर जन्म ग्रहण करें।' फिर कहा कि 'वासुदेवके कलास्वरूप सहस्रमुख अनन्तदेव श्रीहरिके प्रियसाधनके लिये पहले जाकर अवतीर्ण होंगे और भगवती विश्वमोहिनी माया भी प्रभुकी आज्ञासे उनके कार्यके लिये अवतार धारण करेंगी।' इससे भी यह सिद्ध होता है, भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म थे। अब यह शंका होती है कि यदि वे पूर्ण ब्रह्मके अवतार थे तो नर-नारायण और श्रीविष्णुके अवतार कैसे हुए और भगवान् विष्णुके अवतार तथा नर-नारायण ऋषिके अवतार थे तो पूर्ण ब्रह्मके अवतार कैसे हैं? इसका उत्तर यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण वास्तवमें पूर्ण ब्रह्म ही हैं। वे साक्षात् स्वयं भगवान् हैं, उनमें सारे भूत, भविष्य, वर्तमानके अवतारोंका समावेश है। वे कभी विष्णुरूपसे लीला करते हैं, कभी नर-नारायणरूपसे और कभी पूर्ण ब्रह्म सनातन ब्रह्मरूपसे। मतलब यह कि वे सब कुछ हैं, वे पूर्ण पुरुषोत्तम हैं, वे सनातन ब्रह्म हैं, वे गोलोकविहारी महेश्वर हैं, वे क्षीरसागरशायी परमात्मा हैं, वे वैकुण्ठनिवासी विष्णु हैं, वे सर्वव्यापी आत्मा हैं, वे बदरिकाश्रमसेवी नर-नारायण ऋषि हैं, वे प्रकृतिमें गर्भ स्थापन करनेवाले विश्वात्मा हैं और वे विश्वातीत भगवान् हैं। भूत, भविष्यत्, वर्तमानमें जो कुछ है, वे वह सब कुछ हैं और जो उनमें नहीं है, वह कभी कुछ भी कहीं नहीं था, न है और न होगा। बस, जो कुछ हैं सो वही हैं, इसके सिवा वे क्या हैं सो केवल वही जानते हैं, हमारा कर्तव्य तो उनकी चरणधूलिकी भक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करनामात्र है, इसके

सिवा हमारा और किसी बातमें न तो अधिकार है और न इस परम साधनका परित्याग कर अन्य प्रपंचमें पड़नेसे लाभ ही है।

साधकोंका कर्तव्य

जो लोग विद्वान् हैं, बुद्धिमान् हैं, तर्कशील हैं, वे अपने इच्छानुसार भगवान् श्रीकृष्णके जीवनकी समालोचना करें। उन्हें महापुरुष मानें, योगेश्वर मानें, परम पुरुष मानें, पूर्ण मानव मानें, अपूर्ण मानें, राजनीतिक नेता मानें, कुटिल नीतिज्ञ मानें, संगीतविद्याविशारद मानें या कविकल्पित पात्र मानें, जो कुछ मनमें आवे सो मानें। साधकोंके लिये साँवरे मनमोहनके चरणकमल-चंचरीक दीन जनोंके लिये तो वे अन्धेकी लकड़ी हैं, कंगालके धन हैं, प्यासेके पानी हैं, भूखेकी रोटी हैं, निराश्रयके आश्रय हैं, निर्बलके बल हैं, प्राणोंके प्राण हैं, जीवनके जीवन हैं, देवोंके देव हैं, ईश्वरोंके ईश्वर हैं और ब्रह्मोंके ब्रह्म हैं, सर्वस्व वही हैं—बस,

मोहन बसि गयो मेरे मनमें।
लोकलाज कुलकानि छूटि गयी, याकी नेह लगनमें॥
जित देखो तित वह ही दीखै, घर बाहर आँगनमें।
अंग-अंग प्रति रोम-रोममें, छाइ रह्यो तन-मनमें॥
कुण्डल झलक कपोलन सोहै, बाजूबन्द भुजनमें।
कंकन कलित ललित बनमाला, नूपुर-धुनि चरननमें॥
चपल नैन भ्रुकुटी वर बाँकी, ठाढ़ो सघन लतनमें।
नारायन बिन मोल बिकी हौं, याकी नेक हसनमें॥

अतएव साधकोंको बड़ी सावधानीसे अपने साधन-पथकी रक्षा करनी चाहिये। मार्गमें अनेक बाधाएँ हैं। विद्या, बुद्धि, तप, दान, यज्ञ आदिके अभिमानकी बड़ी-बड़ी घाटियाँ हैं, भोगोंकी अनेक मनहरण वाटिकाएँ हैं, पद-पदपर प्रलोभनकी सामग्रियाँ बिखरी हैं, कुतर्कका जाल तो सब ओर बिछा हुआ है, दम्भ-पाखण्डरूपी मार्गके ठग चारों ओर फैल रहे हैं, मान-बड़ाईके दुर्गम पर्वतोंको लाँघनेमें बड़ी वीरतासे काम लेना पड़ता है; परन्तु श्रद्धाका पाथेय, भक्तिका कवच और प्रेमका अंगरक्षक सरदार साथ होनेपर कोई भय नहीं है। उनको जानने, पहचानने, देखने और मिलनेके लिये इन्हींकी आवश्यकता है, कोरे सदाचारके साधनोंसे और बुद्धिवादसे काम नहीं चलता। भगवान्‌के ये वचन स्मरण रखने चाहिये—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

'हे अर्जुन! हे परंतप! जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है इस प्रकार वेदाध्ययन, तप, दान और यज्ञसे मैं नहीं देखा जा सकता। केवल अनन्य भक्तिसे ही मेरा देखा जाना, तत्त्वसे समझा जाना और मुझमें प्रवेश होना सम्भव है।'

गीताका सदुपयोग और दुरुपयोग

भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशामृत गीतासे हमें वही यथार्थ तत्त्व ग्रहण करना चाहिये, जिससे भगवत्प्राप्ति शीघ्रातिशीघ्र हो। वास्तवमें भगवद्गीताका यही उद्देश्य समझना चाहिये और इसी काममें इसका प्रयोग करना गीताके उपदेशोंका सदुपयोग करना है। भगवान् श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीबलदेव आदि महान् आचार्योंसे लेकर आधुनिक कालके महान् आत्मा लोकमान्य तिलक महोदयतकने भिन्न-भिन्न उपायोंका प्रतिपादन करते हुए भगवत्प्राप्तिमें ही गीताका उपयोग करना बतलाया है। इन लोगोंमें भगवान् और भगवत्प्राप्तिके स्वरूपमें पार्थक्य रहा है; परन्तु भगवत्प्राप्तिरूप साध्यमें कोई अन्तर नहीं है। अवश्य ही आजकल गीताका प्रचार पहलेकी अपेक्षा अधिक है; परन्तु उससे जितना आध्यात्मिक लाभ होना चाहिये, उतना नहीं हो रहा है; इसका कारण यही है कि गीताका अध्ययन करनेके लिये जैसा अन्तःकरण चाहिये, वैसा आजकलके हमलोगोंका नहीं है। नहीं तो गीताके इतने प्रचारकालमें देश-देशान्तरोंमें पवित्र भगवद्भावोंकी बाढ़ आ जानी चाहिये थी। गीताके महान् सदुपदेशोंके साथ हमारे आजके आचरणोंकी तुलना की जाती है तो मालूम होता है कि हमारा आजका गीताप्रचार केवल बाहरी शोभामात्र है। कई क्षेत्रोंमें तो गीता स्वार्थसाधन या स्वमतपोषणकी सामग्री बन गयी है, यही गीताका दुरुपयोग है। यहाँ इसके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) कुछ लोग, जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, नाना प्रकारसे पापाचरणोंमें प्रवृत्त हैं; चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि करते हैं; परन्तु अपनेको गीताके अनुसार चलनेवाला प्रसिद्ध करते हैं। वे पूछनेपर कह देते हैं कि 'यह सब तो प्रारब्ध-कर्म हैं; क्योंकि गीतामें कहा है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
(३। ३३)

'सभी जीव अपने पूर्वजन्मके कर्मानुसार बनी हुई प्रकृतिके वश होते हैं, ज्ञानीको भी अपनी अच्छी-बुरी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करनी पड़ती है इसमें कोई क्या

कर सकता है? जब ज्ञानीको भी पाप करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है तब हमारी तो बात ही क्या है?' यों अर्थका अनर्थ कर अपने पापोंका समर्थन करनेवाले लोग इसीके अगले श्लोकपर और आगे चलकर ३७वेंसे ४३वें श्लोकतकके विवेचनपर ध्यान नहीं देते, जिनमें स्पष्ट कहा गया है कि पाप आसक्तिमूलक कामनासे होते हैं जिसपर विजय प्राप्त करना यानी पापोंसे बचना मनुष्यके हाथमें है और उसे उनसे बचना चाहिये। परन्तु वे इन बातोंकी ओर क्यों ध्यान देने लगे? उन्हें तो गीताके श्लोकोंसे अपना मतलब सिद्ध करना है। यह गीताका एक दुरुपयोग है।

(२) कुछ पाखण्डी और पापाचारी लोग—जो अपनेको ज्ञानी या अवतार बतलाया करते हैं, अपने पाखण्ड और पापके समर्थनमें गीताके ये श्लोक उपस्थित करते हैं कि—

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

'अपने राम तो अपने स्वरूपमें ही मस्त हैं, कुछ करते-कराते नहीं; यह सुनना, स्पर्श करना, सूँघना, खाना, जाना, सोना, श्वास लेना, बोलना, त्यागना, ग्रहण करना, आँखें खोलना, बंद करना आदि कार्य तो इन्द्रियोंका अपने-अपने अर्थोंमें बर्तनामात्र है। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें बर्तती हैं, अपने राम तो आकाशवत् निर्लेप हैं।' कहाँ तो आत्मज्ञानीकी स्थिति और कहाँ उसके द्वारा पापीका पाप-समर्थन! यह गीताका दूसरा दुरुपयोग है।

(३) कुछ लोग जो भक्तिका स्वाँग धारण कर पाप बटोरना और इन्द्रियोंको अन्यायाचरणसे तृप्त करना चाहते हैं—यह श्लोक कहते हैं।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'अपना तो भगवान्के जन्म या लीलास्थानमें उनकी शरणमें पड़े रहनामात्र कर्तव्य है। उन्होंने स्पष्ट ही आज्ञा दे रखी है कि सब धर्मों (सत्कर्मों) को छोड़कर मेरी शरण हो जाओ। पाप करते हो उनके लिये कोई परवा नहीं, पापोंसे मैं आप ही छुड़ा दूँगा। तुम तो निश्चिन्त होकर मेरे दरवाजेपर चाहे जैसे भी पड़े रहो। इसलिये अपने तो यहाँ पड़े हैं, पाप छूटना तो हमारे हाथकी बात नहीं और भगवान्के वचनानुसार छोड़नेकी जरूरत ही क्या है? दान-पुण्य, जप-तपका बखेड़ा जरूर छोड़ दिया है। भगवान् आप ही सँभालेगा।

यह अर्थका अनर्थ और गीताका महान् दुरुपयोग है।

(४) कुछ लोग जिनका हृदय राग-द्वेषसे भरा है। अन्तःकरण विषमताकी आगसे जल रहा है, पर अभक्ष्यभक्षण और व्यभिचार आदिके समर्थनके लिये सारे भेदोंको मिटाकर परस्पर प्रेम स्थापन करना अपना सिद्धान्त बतलाते हुए गीताका श्लोक कहते हैं—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५। १८)

'जो पण्डित या ज्ञानी होते हैं, वे विद्या और विनयशील ब्राह्मण, चाण्डाल, गौ, हाथी, कुत्तेमें कोई भेद नहीं समझते, सबसे एक-सा व्यवहार करते हैं। भगवान्के कथनानुसार जब कुत्ते और ब्राह्मणमें भी भेद नहीं करना चाहिये तब मनुष्य-मनुष्यमें भेद कैसा?' परन्तु यह इस श्लोकके अर्थका सर्वथा विपरीतार्थ है। भगवान्ने इस श्लोकमें व्यावहारिक भेदको विशेषरूपसे मानकर ही आत्मरूपमें सबमें समता देखनेकी बात कही है। इसमें 'समान व्यवहार' की बात कहीं नहीं है, बात है 'समान दर्शन' की। हमें आत्मरूपसे सबमें परमात्माको देखकर किसीसे भी घृणा नहीं करनी चाहिये, परन्तु सबके साथ एक-सा व्यवहार होना असम्भव है। इसीसे भगवान्ने कुत्ते, गौ और हाथीके दृष्टान्तसे पशुओंका और विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण तथा चाण्डालके दृष्टान्तसे मनुष्योंके व्यवहारका भेद सिद्ध किया है। राजा कुत्तेपर सवारी नहीं कर सकता। गौकी जगह कुतियाका दूध कोई काममें नहीं आता। परन्तु स्वार्थसे विपरीत अर्थ किया जाता है। यह गीताका दुरुपयोग है।

(५) कुछ लोग '**किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा**' का प्रमाण देकर केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय-जातिमें जन्म होनेके कारण ही अपनेको बड़ा और इतर वर्णोंको छोटा समझकर उनसे घृणा करते हैं, परन्तु वे यह नहीं सोचते कि भगवद्भक्तिमें सबका समान अधिकार है और भगवान्की प्राप्ति भी उसीको पहले होती है जो सच्चे मनसे भगवान्का अनन्य भक्त होता है। इसमें जाति-पाँतिकी कोई विशेषता नहीं है। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।

मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥
(७।९।१०)

पद्मपुराणका वाक्य है—

हरेरभक्तो विप्रोऽपि विज्ञेयः श्वपचाधिकः।
हरेर्भक्तः श्वपाकोऽपि विज्ञेयो ब्राह्मणाधिकः॥

ऐसी स्थितिमें केवल ऊँची जातिमें पैदा होनेमात्रसे ही अपनेको ऊँचा मानकर गीताके श्लोकके सहारे दूसरोंसे घृणा करना-कराना गीताका दुरुपयोग करना है।

(६) कुछ लोग जो गेरुआ कपड़ा पहनकर आलस्य या प्रमादवश कोई भी अच्छा कार्य न करके कर्तव्यहीन होकर मानव-जीवन व्यर्थ खो देते हैं, पूछनेपर कहते हैं 'हमारे लिये कोई कर्तव्य नहीं है। भगवान्ने गीतामें साफ कह दिया है—'**तस्य कार्यं न विद्यते।**' इससे हमारे लिये कोई कर्तव्य नहीं रह गया है, जबतक कोई कर्तव्य रहता है तबतक मनुष्य मुक्त नहीं माना जाता। कर्तव्योंका त्याग ही मुक्ति है। इस प्रकार जीवन्मुक्त त्यागी विरक्त महात्माके लिये प्रयुक्त गीताके शब्दोंका तामस कर्तव्यशून्यतामें प्रयोग करना अवश्य ही गीताका दुरुपयोग है।

(७) कुछ लोग जो आसक्ति और भोग-सुखोंकी कामनावश रात-दिन प्रापंचिक कार्योंमें लगे रहते हैं, कभी भूलकर भी भगवान्का भजन नहीं करते, परन्तु भगवदीय साधनके लिये गृहस्थ त्याग कर संन्यास ग्रहण करनेवाले संतोंकी निन्दा करते हुए कहते हैं—भगवान्ने गीतामें '**कर्मयोगो विशिष्यते**' कहकर कर्म ही करनेकी आज्ञा दी है। ये संन्यासी सब ढोंगी हैं, हम तो दिन-रात कर्म करके भगवान्की आज्ञा पालन करते हैं।' इस प्रकार आसक्तिवश पाप-पुण्यके विचारसे रहित सांसारिक कर्मोंका समर्थन करनेमें गीताका सहारा लेकर त्यागियोंकी निन्दा करना और अपने विषय-वासनायुक्त कर्मोंको उचित बतलाना गीताका दुरुपयोग है।

(८) कुछ लोग '**एवं प्रवर्तितं चक्रम्**' श्लोकसे चरखा और '**ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्**' श्लोकसे शरीर-रचनाका अर्थ लगाकर मूल यथार्थ भावके सम्बन्धमें जनताकी बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न करते हैं। यह बुद्धिकी विलक्षणता और समयानुकूल अच्छे कार्यके लिये समर्थन होनेपर भी अर्थका अनर्थ करनेके कारण गीताका दुरुपयोग ही है।

गीता परमधामकी कुंजी है

और भी अनेक प्रकारसे गीताका दुरुपयोग हो रहा है। यहाँ थोड़ा-सा दिग्दर्शनमात्र करा दिया गया है। सो भी साधकोंको सावधान करनेके लिये ही। भगवत्प्राप्तिके साधकोंके लिये उपर्युक्त अर्थ कदापि माननीय नहीं है। उन्हें तो भगवान् शंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि आचार्य और लोकमान्य तिलक आदिके बतलाये हुए अर्थके अनुसार अपने अधिकार और रुचिके अनुकूल मार्ग चुनकर भगवत्प्राप्तिके लिये ही सतत प्रयत्न करना चाहिये। गीता वास्तवमें भगवान्के परम मन्दिरकी सिद्ध कुंजी है, इसका जो कोई उचित उपयोग करता है, वही अबाधितरूपसे उस दरबारमें प्रवेश करनेका अधिकारी हो जाता है; किसी देश, वर्ण या जाति-पाँतिके लिये वहाँ कोई रुकावट नहीं है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९।३२)

'साधकोंको एक बातसे और भी सावधान रहना चाहिये। आजकलके बुद्धिवादी लोगोंमें कुछ सज्जन श्रीकृष्णको ही नहीं मानते, उनके विचारमें महाभारत रूपक ग्रन्थ है और भागवत कपोल कल्पनामात्र। महाभारत काव्यके अन्तर्गत व्यासरचित गीता एक उत्तम लोकोपकारी रचना है।' यह वास्तवमें गीताका अपमान है। भगवान् श्रीकृष्णको न मानकर गीताको मानना, उससे आध्यात्मिक लाभ उठानेकी आशा रखना, प्राणहीन शरीरसे लाभ उठानेकी इच्छाके सदृश दुराशामात्र है। इस प्रकारके विचारोंसे साधकोंको सावधान रहना चाहिये। यह मानना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्ण गीताके हृदय हैं और भगवान् श्रीकृष्णको प्राप्त करनेके उपाय बतलाना ही गीताका उद्देश्य है। इसी उद्देश्यसे प्रेरित होकर जो लोग गीताका अध्ययन करते हैं, उन्हींको गीतासे यथार्थ लाभ पहुँचता है।

कुछ लोग गीताके श्रीकृष्णको निपुण तत्त्ववेत्ता, महायोगेश्वर, निर्भय योद्धा और अतुलनीय राजनीति-विशारद मानते हैं, परन्तु भागवतके श्रीकृष्णको इसके विपरीत नचैया, भोगविलासपरायण, गाने-बजानेवाला और खिलाड़ी समझते हैं; इसीसे वे भागवतके श्रीकृष्णको नीची दृष्टिसे देखते हैं या उनको अस्वीकार करते हैं और गीताके या महाभारतके श्रीकृष्णको ऊँचा या आदर्श मानते हैं। वास्तवमें यह बात ठीक नहीं है। श्रीकृष्ण जो भागवतके हैं, वही महाभारत या गीताके हैं। एक ही भगवान्की भिन्न-भिन्न स्थलों और भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें भिन्न-भिन्न लीलाएँ हैं। भागवतके

श्रीकृष्णको भोगविलासपरायण और साधारण नचैया-गवैया समझना भारी भ्रम है। अवश्य ही भागवतकी लीलामें पवित्र और महान् दिव्य प्रेमकी लीला अधिक थी, परन्तु वहाँ भी ऐश्वर्य-लीलाकी कमी नहीं थी। असुर-वध, गोवर्धन-धारण, अग्नि-पान, वत्स-बालरूप-धारण आदि भगवान्‌की ईश्वरीय लीलाएँ ही तो हैं। नवनीत-भक्षण, सखासह-विहार, गोपी-प्रेम आदि तो गोलोककी दिव्य लीलाएँ हैं। इसीसे कुछ भक्त भी वृन्दावनविहारी मुरलीधर रसराज प्रेममय भगवान् श्रीकृष्णकी ही उपासना करते हैं, उनकी मधुर भावनामें—

कृष्णोऽन्यो यदुसम्भूतो यः पूर्णः सोऽस्त्यतः परः।
वृन्दावनं परित्यज्य स क्वचिन्नैव गच्छति॥

—'यदुनन्दन श्रीकृष्ण दूसरे हैं और वृन्दावनविहारी पूर्ण श्रीकृष्ण दूसरे हैं। पूर्ण श्रीकृष्ण वृन्दावन छोड़कर कभी अन्यत्र गमन नहीं करते।' बात ठीक है—'*जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥*' इसी प्रकार कुछ भक्त गीताके '**तोत्त्रवेत्रैकपाणि**' योगेश्वर श्रीकृष्णके ही उपासक हैं। रुचिके अनुसार उपास्यदेवके स्वरूपभेदमें कोई आपत्ति नहीं, परन्तु जो लोग भागवत या महाभारतके श्रीकृष्णको वास्तवमें भिन्न-भिन्न मानते हैं या किसी एकको अस्वीकार करते हैं; उनकी बात कभी नहीं माननी चाहिये। महाभारतमें भागवतके और भागवतमें महाभारतके श्रीकृष्णके एक होनेके अनेक प्रमाण मिलते हैं। एक ही ग्रन्थकी एक बात मानना और दूसरीको मनके प्रतिकूल होनेके कारण न मानना वास्तवमें यथेच्छाचारके सिवा और कुछ भी नहीं है।

अतएव साधकोंको इन सारे बखेड़ोंसे अलग रहकर भगवान्‌को पहचानने और अपनेको 'सर्वभावेन' उनके चरणोंमें समर्पण कर शरणागत होकर उन्हें प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

गीता और प्रेम-तत्त्व

श्रीमद्भगवद्गीताका प्रारम्भ और पर्यवसान भगवान्‌की शरणागतिमें ही है। यही गीताका प्रेम-तत्त्व है। गीताकी भगवत्-शरणागतिका ही दूसरा नाम प्रेम है। प्रेममय भगवान् अपने प्रियतम सखा अर्जुनको प्रेमके वश होकर वह मार्ग बतलाते हैं, जिसमें उसके लिये एक प्रेमके सिवा और कुछ करना बाकी रह ही नहीं जाता।

कुछ लोगोंका कथन है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रेमका विषय नहीं है। परन्तु विचारकर देखनेपर मालूम होता है कि 'प्रेम' शब्दकी बाहरी पोशाक न रहनेपर भी गीताके अंदर प्रेम ओत-प्रोत है। गीता भगवत्प्रेमरसका समुद्र है। प्रेम वास्तवमें बाहरकी चीज होती भी नहीं। वह तो हृदयका गुप्त धन है जो हृदयके लिये हृदयसे हृदयको ही मिलता है और हृदयसे ही किया जाता है। जो बाहर आता है वह तो प्रेमका बाहरी ढाँचा होता है। श्रीहनुमान्‌जी महाराज भगवान् श्रीरामका सन्देश श्रीसीताजीको इस प्रकार सुनाते हैं—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

प्रेम हृदयकी वस्तु है, इसीलिये वह गोपनीय है। गीतामें भी प्रेम गुप्त है। वीरवर अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णका सख्यप्रेम विश्वविख्यात है। आहार-विहार, शय्या-क्रीडा, अन्तःपुर-दरबार, वन-प्रान्त-रणभूमि सभीमें दोनोंको हम एक साथ पाते हैं। जिस समय अग्निदेव अर्जुनके समीप खाण्डव-दाहके लिये अनुरोध करने आते हैं, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन जलविहार करनेके बाद प्रमुदित मनसे एक ही आसनपर बैठे हुए थे। जब संजय भगवान् श्रीकृष्णके पास जाते हैं, तब उन्हें अर्जुनके साथ एक ही आसनपर अन्तःपुरमें द्रौपदी-सत्यभामासहित विराजित पाते हैं। अर्जुन '**विहारशय्यासनभोजनेषु**' कहकर स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं।

अधिक क्या, खाण्डववनका दाह कर चुकनेपर जब इन्द्र प्रसन्न होकर अर्जुनको दिव्यास्त्र प्रदान करनेका वचन देते हैं, तब भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं कि 'देवराज! मुझे भी एक चीज दो और वह यह कि अर्जुनके साथ मेरा प्रेम सदा बना रहे'—

'वसुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम्।'

अर्जुनके लिये भगवान् प्रेमकी भीख माँगते हैं। यही कारण था कि भगवान् अर्जुनका रथ हाँकनेतकको तैयार हो गये। अर्जुनके प्रेमसे ही गीताशास्त्रकी अमृतधारा भगवान्‌के मुखसे बह निकली। अर्जुनरूपी चन्द्रको पाकर ही चन्द्रकान्तमणिरूप श्रीकृष्ण द्रवित होकर बह निकले, जो गीताके रूपमें आज त्रिभुवनको पावन कर रहे हैं। इतना होनेपर भी गीतामें प्रेम न मानना दुराग्रहमात्र है। प्रेमका स्वरूप है—'प्रेमीके साथ अभिन्नता हो जाना, जो भगवान्‌में पूर्णरूपसे थी; इसीसे अर्जुनका प्रत्येक काम करनेके लिये भगवान् सदा तैयार थे। प्रेमका दूसरा स्वरूप है—प्रेमीके सामने बिना संकोच अपना हृदय खोलकर रख देना।' वीरवर अर्जुन प्रेमके कारण ही निःसंकोच होकर भगवान्‌के सामने रो पड़े और स्पष्ट शब्दोंमें उन्होंने अपने हृदयकी बातें कह दीं। भगवान्‌की

जगह दूसरा होता तो ऐसे शब्दोंमें, जिनमें वीरतापर धब्बा लग सकता था, अपने मनका भाव कभी नहीं प्रकट कर सकते। प्रेममें लल्लो-चप्पो नहीं होता, इसीसे भगवान्‌ने अर्जुनके पाण्डित्यपूर्ण परन्तु मोहजनित विवेचनके लिये उन्हें फटकार दिया और युद्धस्थलमें, दोनों ओरकी सेनाओंके युद्धारम्भकी तैयारीके समय वह अमर ज्ञान गा डाला जो लाखों-करोड़ों वर्ष तपस्या करनेपर भी सुननेको नहीं मिलता। प्रेमके कारण ही भगवान् श्रीकृष्णने अपने महत्त्वकी बातें निःसंकोचरूपसे अर्जुनके सामने कह डालीं। प्रेमके कारण ही उन्हें विभूतियोग बतलाकर अपना विश्वरूप दिखला दिया। नवम अध्यायके 'राजविद्याराजगुह्य' की प्रस्तावनाके अनुसार अन्तके श्लोकमें अपना महत्त्व बतला देने, दशम और एकादशमें विभूति और विश्वरूपका प्रत्यक्ष ज्ञान करा देने और पंद्रहवें अध्यायमें 'मैं पुरुषोत्तम हूँ' ऐसा स्पष्ट कह देनेपर भी जब अर्जुन भगवान्‌के मायावश भलीभाँति उन्हें नहीं समझे, तब प्रेमके कारण ही अपना परम गुह्य रहस्य जो नवम अध्यायके अन्तमें इशारेसे कहा था, भगवान् स्पष्ट शब्दोंमें सुना देते हैं। भगवान् कहते हैं 'मेरे प्यारे! तू मेरा बड़ा प्यारा है, इसीसे भाई! मैं अपना हृदय खोलकर तेरे सामने रखता हूँ, बड़े संकोचकी बात है, हर एकके सामने नहीं कही जा सकती, सब प्रकारके गोपनीयोंमें भी परम गोपनीय (**सर्वगुह्यतमम्**) विषय है, ये मेरे अत्यन्त गुप्त रहस्यमय शब्द (**मे परमं वचः**) हैं, कई बार पहले कुछ संकेत कर चुका हूँ, अब फिर सुन (**भूयः शृणु**), बस, तेरे हितके लिये ही कहता हूँ (**ते हितं वक्ष्यामि**); क्योंकि इसीमें मेरा भी हित है। क्या कहूँ? अपने मुँह ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, इससे आदर्श बिगड़ता है, लोकसंग्रह बिगड़ता है; परन्तु भाई! तू मेरा अत्यन्त प्रिय है (**मे प्रियः असि**), तुझे क्या आवश्यकता है इतने झगड़े-बखेड़ेकी? तू तो केवल प्रेम कर। प्रेमके अन्तर्गत मन लगाना, भक्ति करना, पूजा और नमस्कार करना आप-से-आप आ जाता है, मैं भी यही कह रहा हूँ। अतएव भाई! तू भी मुझे अपना प्रेममय जीवनसखा मानकर मेरे ही मनवाला बन जा, मेरी ही भक्ति कर, मेरी ही पूजा कर, मुझे ही नमस्कार कर, मैं सत्य कहता हूँ, अरे भाई! शपथ खाता हूँ, ऐसा करनेसे तू और मैं एक ही हो जायँगे; (गीता १८। ६५) क्योंकि एकता ही प्रेमका फल है। प्रेमी अपने प्रेमास्पदके सिवा और कुछ भी नहीं जानता; किसीको नहीं पहचानता, उसका तो जीवन, प्राण, धर्म, कर्म, ईश्वर जो कुछ भी होता है सो सब प्रेमास्पद ही होता है, वह तो अपने-आपको उसीपर न्योछावर कर देता है, तू सारी चिन्ता छोड़ दे (**मा शुचः**), धर्म-कर्मकी कुछ भी परवा न कर (**सर्वधर्मान् परित्यज्य**), केवल एक मुझ प्रेमस्वरूपके प्रेमका ही आश्रय ले ले। (**माम् एकं शरणं व्रज**), प्रेमकी ज्वालामें तेरे सारे पाप-ताप भस्म हो जायँगे। तू मस्त हो जायगा।' यह प्रेमकी तन-मन-लोक-परलोक भुलावनी मस्ती ही तो प्रेमका स्वरूप है—

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति। यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति। यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति।

(नारदभक्तिसूत्र ४—६)

जिसे पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमृतत्वको पा जाता है, सब तरहसे तृप्त हो जाता है, जिसे पाकर फिर वह न अप्राप्त वस्तुको चाहता है, न '**गतासून् अगतासून्**' के लिये चिन्ता करता है, न मनके विपरीत घटना या सिद्धान्तसे द्वेष करता है, न मनोऽनुकूल विषयोंमें आसक्त होता है और न प्यारेकी सुख-सेवाके सिवा अन्य कार्यमें उसका उत्साह होता है। वह तो बस, प्रेममें सदा मतवाला बना रहता है, वह स्तब्ध और आत्माराम हो जाता है। इस सुखके सामने उसको ब्रह्मानन्द भी गोष्पदके समान तुच्छ प्रतीत होता है (**सुखानि गोष्पदायन्ते ब्रह्मण्यपि**)।

इस स्थितिमें उसका जीवन केवल प्रेमास्पदको सुख पहुँचानेके निमित्त उसकी रुचिके अनुसार कार्य करनेके लिये ही होता है। हजार मनके प्रतिकूल काम हो, प्रेमास्पदकी उसमें रुचि है, ऐसा जानते ही सारी प्रतिकूलता तत्काल सुखमय अनुकूलताके रूपमें परिणत हो जाती है। प्रेमास्पदकी रुचि ही उसके जीवनका स्वरूप बन जाता है। उसका जीवनव्रत ही होता है केवल 'प्रेमास्पदके सुखसे सुखी रहना' (**तत्सुखसुखित्वम्**) वह इसीलिये जीवन धारण करता है। मेरा अवतारधारण भी इन अपने प्रेमास्पदोंके लिये ही है, इसीलिये—

भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः।
प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम्॥

—तो 'मैं सर्वभूतोंका अन्तर्यामी प्रकृतिसे परे ज्ञानमय सच्चिदानन्दघन ब्रह्म प्रेममय दिव्य देह धारण कर यदुकुलमें अवतीर्ण हुआ हूँ।'

भगवान्‌ने गीताके १८वें अध्यायके ६४वेंसे ६६वेंतक तीन श्लोकोंमें जो कुछ कहा, उसीका उपर्युक्त तात्पर्यार्थ

है। प्रेमका यह मूर्तिमान् स्वरूप प्रकट तो कर दिया, परन्तु फिर भगवान् अर्जुनको सावधान करते हैं कि 'यह गुह्य रहस्य तपरहित, भक्तिरहित, सुननेकी इच्छा न रखनेवाले और मुझमें दोष देखनेवालेके सामने कभी न कहना।' (गीता १८। ६७) इस कथनमें भी प्रेम भरा है, तभी तो अपना गुह्य रहस्य कहकर फिर उसकी गुह्यताका महत्त्व अपने ही मुखसे बढ़ाते हुए भगवान् अर्जुनके सामने संकोच छोड़कर ऐसा कह देते हैं। इस अधिकारी-निरूपणका एक अभिप्राय यह है कि इस परम तत्त्वको ग्रहण करनेवाले लोग संसारमें सदासे ही बहुत थोड़े होते हैं (**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित्**)। जिसका मन तपश्चर्यासे शुद्ध हो गया हो, जिसका अन्त:करण भक्तिरूपी सूर्यकिरणोंसे नित्य प्रकाशित हो, जिसको इस प्रेमतत्त्वके जाननेकी सच्चे मनसे तीव्र उत्कण्ठा हो एवं जो भगवान्‌की महिमामें भूलकर भी सन्देह नहीं करता हो, वही इसका अधिकारी है। भगवान्‌की मधुर बाललीलामें भाग्यवती प्रात:स्मरणीया गोपियाँ इसकी अधिकारिणी थीं। इस रणलीलामें अर्जुन अधिकारी हैं। अनधिकारियोंके कारण ही आज गोपी-माधवकी पवित्र आध्यात्मिक प्रेमलीलाका आदर्श दूषित हो गया और उसका अनधिकार अनुकरण कर मनुष्य कठिन पापपंकमें फँस गये हैं। गोपियोंका जीवन भी '**तत्सुखसुखित्वम्**' के भावमें रँगा हुआ था और इस प्रेम-रहस्यका उद्घाटन होते ही अर्जुन भी इसी रंगमें रँगकर अपनी सारी प्रतिकूलताओंको भूल गये, भूल ही नहीं गये, सारी प्रतिकूलताएँ तुरंत अनुकूलताके रूपमें परिवर्तित हो गयीं और वह आनन्दसे कह उठे—

'**करिष्ये वचनं तव**'

—'तुम जो कुछ चाहोगे, जो कुछ कहोगे, बस मैं वही करूँगा; वही मेरे जीवनका व्रत होगा।' इसीको अर्जुनने जीवनभर निबाहा। यही प्रेमतत्त्व है, यही शरणागति है। भगवान्‌की इच्छामें अपनी सारी इच्छाओंको मिला देना, भगवान्‌के भावोंमें अपने सारे भावोंको भुला देना, भगवान्‌के अस्तित्वमें अपने अस्तित्वको सर्वथा मिटा देना, यही '**मामेकं शरणम्**' है, यही प्रेमतत्त्व है, यही गीताका रहस्य है। इसीसे गीताका पर्यवसान साकार भगवान्‌की शरणागतिमें समझा जाता है। इसी परमपावन परमानन्दमय लक्ष्यको सामने रखकर प्रेमपथपर अग्रसर होना गीताके साधककी साधना है। इसीसे कविके शब्दोंमें साधक पुकारकर कहता है—

एकै अभिलाख लाख लाख भाँति लेखियत,
देखियत दूसरो न देव चराचरमें।
जासों मनु राँचै, तासों तनु मनु राँचै, रूचि—
भरिकै उघरि जाँचै, साँचै करि करमें॥
पाँचनके आगे आँच लगे ते न लौटि जाय,
साँच देइ प्यारेकी सती लौं बैठे सरमें।
प्रेमसों कहत कोऊ, ठाकुर, न ऐंठों सुनि,
बैठो गड़ि गहरे, तो पैठो प्रेम-घरमें॥ १॥
कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो नरलोक परलोक बरलोकनमें,
लीन्ही मैं अलीक, लोक-लोकनिते न्यारी हौं॥
तन जाउ, मन जाउ, देव गुरु-जन जाउ,
प्रान किन जाउ, टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावन-वारी बनवारीकी मुकुटवारी,
पीतपटवारी वहि मूरति पै वारी हौं॥ २॥
तौक पहिरावौ, पाँव बेड़ी लै भरावौ, गाढ़े—
बन्धन बँधावौ औ खिंचावौ काची खालसों।
विष लै पिलावौ, तापै मूठ भी चलावौ,
माँझधारमें डुबावौ बाँधि पत्थर 'कमाल' सों॥
बिच्छू लै बिछाऔ, तापै मोहि लै सुलावौ, फेरि
आग भी लगावौ बाँधि कापड़-दुसाल सों।
गिरिते गिरावौ, काले नागते डसावौ,! हा!
प्रीति न छुड़ावौ गिरिधारी नंदलालसों॥ ३॥

जीवकी तृप्ति कैसे हो?

जीव सदा ही अतृप्त है। साधारण कीट-पतंगसे लेकर बड़े-बड़े सम्राट्‌तक सभी किसी-न-किसी अभावका अनुभव कर सदा दु:खी रहते हैं। कोई कितनी भी सांसारिक सम्पत्तिका या कितने ही उच्च पदका अधिकारी क्यों न हो, अपनी स्थितिसे सन्तुष्ट नहीं है, उसके हृदयमें किसी वस्तुकी कमी सदा खटकती है—वह कुछ और चाहता है। बड़े-बड़े देवताओंकी भी यही दशा सुनी जाती है।

जहाँ अतृप्ति है, अभावकी वेदना है, वहीं चित्त चंचल और अशान्त है, जिसका चित्त अशान्त है, वही दु:खी है '**अशान्तस्य कुत: सुखम्**।'

यह अतृप्ति तबतक नहीं मिट सकती, जबतक कि

जीव किसी ऐसी परम वस्तुको न प्राप्त कर ले, जिसकी सत्तासे समस्त अभावोंका सर्वथा अभाव हो जाता हो—जो पूर्ण हो। विवेकबुद्धि बतलाती है कि ऐसी परम वस्तु एक परमात्मा ही है, जो सदा एकरस रहता है, उसके सिवा अन्य सभी वस्तुएँ किसी-न-किसी अभावसे युक्त—परिणामविनाशी हैं और प्रतिक्षण विनाशकी ओर अग्रसर हो रही हैं। ऐसी विनाशशील अपूर्ण वस्तुओंसे जीवका पूर्णकाम होना कभी सम्भव नहीं। इसीलिये जीव नित्य अतृप्त है और वह संसारकी सभी वस्तुओंको 'यह भी वह नहीं है' 'इसमें भी वह नहीं है' यों 'नेति-नेति' कहता हुआ उनमें अपनी इच्छित वस्तु न पाकर स्वभावसे ही उस अभावरहित नित्य वस्तुकी ओर अग्रसर हो रहा है।

इतना होनेपर भी कभी-कभी भ्रमवश जीव संसारी पदार्थोंमें सुखकी कल्पना कर अपने लक्ष्यको भूल जाता है। ऐसे मनुष्य बहुत ही थोड़े हैं जो नचिकेता और प्रह्लादकी भाँति जगत्के समस्त प्रलोभनोंको पददलित कर पूर्णकी प्राप्तिके लिये बद्धपरिकर हो चुके हों। हजारोंमेंसे कोई एक इस प्रकार प्रयत्न करना चाहता है, वैसे हजारोंमें कोई एक प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवाले लोगोंमें भी कोई विरला ही शेषतक अपने लक्ष्यपर स्थिर रह सकता है। अधिकांश लोग तो अपने मतको ही सर्वश्रेष्ठ मानकर दूसरोंकी निन्दा करने लगते हैं और दलबंदीमें पड़कर लक्ष्यभ्रष्ट हो अपने ईश्वरका आप ही अपमान कर बैठते हैं। अपने साधनपथको सर्वश्रेष्ठ समझना बुरा नहीं है? साधकके लिये तो यह आवश्यक भी है, परन्तु दूसरेको हीन समझना बहुत बुरा है। आज दुनियामें जो इतने अधिक मत-मतान्तर और उनमें परस्पर विवाद, द्वेष, द्रोह वर्तमान हैं, इसका प्रधान कारण यही है। नहीं तो, जब ईश्वर एक है, वह एक ही सृष्टिका रचयिता है, सम्पूर्ण जगत् उसीसे उत्पन्न है, वही एक सबका पालन करता है, फिर आपसमें लड़नेका क्या कारण? एक ही पिताकी सन्तान होकर एक-दूसरेको हीन बतलानेका क्या कारण? कारण यही कि हमने अपने अज्ञानसे उस एककी जगह अनेक ईश्वरोंकी सृष्टि कर अपने ईश्वरको छोटा बना लिया है।

हिदुओंमें शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य, सौर, वेदान्ती, बौद्ध, जैन, सिख आदि अनेक मत हैं। इनमें भी भिन्न-भिन्न आचार्योंके अनुसार भिन्न-भिन्न अनेक सम्प्रदाय हैं। हिंदुओंके सिवा मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी आदि अनेक मत हैं। प्रत्यक्ष या परोक्ष भावसे प्रायः सभी ईश्वरको मानते हैं। देश, काल, प्रकृति, रुचि और अधिकार आदिके भेदसे मतोंमें, उनके बाहरी व्यवहारोंमें तथा उनकी उपासना-पद्धतिमें भेद रहना आश्चर्यकी बात नहीं है। यहाँ हमें किसी मतसे विरोध नहीं है, सभी मत रहें, अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार चलते रहें; परन्तु यह विवेक सबमें सर्वदा जाग्रत् रहना चाहिये कि हम सब भिन्न-भिन्न साधनोंसे उस एक ही परम साध्यकी ओर बढ़ रहे हैं, जिसको वैष्णव श्रीविष्णु या श्रीराम, श्रीकृष्ण कहते हैं, शैव शिव, शाक्त दुर्गा, गाणपत्य गणेश, सौर सूर्य, वेदान्ती ब्रह्म, मुसलमान अल्लाह और ईसाई अंग्रेजीमें गॉड कहते हैं। उस एक ही चरम लक्ष्य स्थानतक पहुँचनेके भिन्न-भिन्न अनेक मार्ग हैं, जो रास्तेकी सुगमता, दुर्गमता और अपनी-अपनी गतिके अनुसार आगे-पीछे एक ही जगह पहुँचा देते हैं।

ऐसा न मानकर अपने-अपने ईश्वरको अलग माननेसे एककी जगह ईश्वर अनेक हो जाते हैं जिससे प्रत्येक ईश्वरकी सीमा परिमित हो जाती है। मान लीजिये, एक साधक धनुर्बाणधारी भगवान् श्रीरामको ईश्वर मानता है, दूसरा वैष्णव बालरूप मुरलीमनोहर श्यामसुन्दरको ईश्वर मानता है, तीसरे मुसलमानके मतसे ईश्वरका रूप मुसलमानके सदृश दाढ़ी-वदनाधारी है, चौथे यूरोपीय सज्जन ईश्वरको हैट-कोट-बूटधारी समझते हैं। ये चारों ही ईश्वरको मानते हैं, उसकी भक्ति करते हैं और उसे सर्वश्रेष्ठ समझकर उपासना करते हैं। क्या ये चारों ही वास्तवमें एक ही ईश्वरकी भक्ति नहीं करते? जब ईश्वर एक है तो भक्ति उस एकहीकी होती है; परन्तु दूसरोंके ईश्वरको अपने ही ईश्वरका एक और रूप न माननेके कारण वह तत्त्वज्ञानशून्य पूजा सर्वव्यापी ईश्वरकी न होकर सीमाबद्ध अल्प-स्थलव्यापीकी होती है। दूसरोंके ईश्वरको अपने ही ईश्वरका स्वरूप न माननेसे अपना ईश्वर अपनी ही मान्यतातक परिमित रह जाता है; क्योंकि दूसरे तो हमारे ईश्वरको मानते नहीं। परिणाममें हमारी ही अल्पज्ञतासे हम अपने ईश्वरको छोटे-से घेरेमें बंदकर क्षुद्र बना देते हैं, जो एक तामसी कार्य ही होता है। धनुर्बाणधारी श्रीरामके सच्चे उपासकको अपने भावसे अपने इष्ट रूपकी उपासना करते हुए भी दूसरोंके द्वारा दूसरे रूपकी उपासना होते देखकर यह समझकर प्रसन्न होना चाहिये कि मेरे भगवान् श्रीरामकी कैसी अपार महिमा है कि जो भक्तकी भावनाके अनुसार कहीं श्यामसुन्दर गोपाल बन जाते हैं तो कहीं जटाजूटधारी शिव बन जाते

हैं, कहीं आकाशवत् सर्वव्यापी निरवयव बन जाते हैं तो कहीं दाढ़ी या हैट-कोटधारी बन जाते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य नाम-रूपोंके उपासकोंको भी मानना चाहिये। वास्तवमें बात भी यही है।

एक साध्वी पतिव्रता ब्राह्मणीके स्वामी बड़े विद्वान् और गुणी पुरुष थे। विद्वान्, शुद्ध और सदाचारी होनेके कारण नगरके अनेक श्रद्धालु लोगोंने उनसे दीक्षा ग्रहण की थी। उनकी नेकचलनी और न्याय-परायणतासे सन्तुष्ट होकर सरकारने उन्हें मजिस्ट्रेटके अधिकार दे दिये थे। वे बड़े अच्छे कथावाचक थे, प्रतिदिन रातको उनकी कथा होती थी, जिसमें हजारों नर-नारी सुनने आया करते थे। गरीब किसानों और दीन-दुःखियोंके साथ वे सच्ची सहानुभूति रखते थे, इससे हजारों गरीब उन्हें अपना रक्षक और पिता-सदृश समझने लगे थे। गाँव, घर, परिवार सबसे अच्छा बर्ताव होनेके कारण सभी अपने-अपने सम्बन्धके अनुसार उनको सम्बोधन कर उनका सम्मान करते थे। साध्वी स्त्री पतिकी एकान्तभावसे सदा सेवा किया करती थी और शिष्योंके द्वारा गुरुभावसे, सरकारी कर्मचारियोंके द्वारा उच्च अधिकारीभावसे, श्रोताओंके द्वारा पण्डितभावसे, गरीबोंके द्वारा रक्षकभावसे और घर-परिवारके लोगोंद्वारा सम्बन्धानुसार आत्मीय भावसे, यों भिन्न-भिन्न लोगोंद्वारा अपनी-अपनी भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न भावोंसे अपने ही प्रियतम पतिको पूजित होते देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ करती और पतिकी गुणावलीपर मुग्ध होकर उसमें अपना गौरव समझती। किसी भी भावसे पतिका सम्मान करनेवालेको वह अपने पतिका प्रेमी समझकर सबसे प्रेम किया करती। इसी प्रकार साधकको भी ईश्वरके सभी रूपोंको केवल अपने ही आराध्य इष्टदेवकी सच्ची प्रतिमूर्ति समझकर अपने इष्ट रूपकी अपनी भावनाके अनुसार ही उपासना करते हुए भी सबका सम्मान और सबसे प्रेम करना चाहिये।

जबतक यह समझ नहीं होती, तभीतक भ्रम है, झगड़ा है, द्वेष-द्रोह और वैर-विषाद है। इस ज्ञानकी उपलब्धि होते ही सारे झगड़े आप-से-आप निपट जाते हैं। सारे गहनोंका अधिष्ठान सोना एक है, केवल गहनोंके नाम, रूप और व्यवहारमें भेद है। बर्तनोंका अधिष्ठान मिट्टी एक है। नाम-रूपकी उपाधिसे व्यवहारमें भेद है। इसी प्रकार ईश्वर एक है, नाम-रूपके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सभी एक तत्त्व है। वाष्प ही जलकी बूँद बनती है, फिर वह जल ही वाष्प बनकर निराकार आकाशमें रम जाता है।

जैसे एक ही व्यापक निराकार अग्नि वस्तुभेदसे भिन्न-भिन्न आकारोंमें व्यक्त होती है, उसी प्रकार एक ही अव्यक्तमूर्ति सच्चिदानन्दघन परमात्मासे समस्त जगत् परिपूर्ण होनेपर भी अपनी-अपनी भावनाके अनुसार वह सबको भिन्न-भिन्न रूपोंमें दीखता है। भगवान्का कोई भी रूप मिथ्या नहीं है। नाम-रूपसे अतीत परमात्मा सभी नाम-रूपोंमें नित्य सुप्रतिष्ठित है। सूत्रमें सूत्रकी मणियोंकी भाँति सबमें वही एक ओत-प्रोत है, उसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। भक्त उसके जिस रूपमें श्रद्धा करता है, वह उसे अपने उसी रूपमें पूर्णता प्राप्त करानेके लिये—अपना पूर्ण, सर्वथा अभावरहित, निरावरण मुखकमल-दर्शन करानेके लिये उसी रूपमें उसकी श्रद्धा अचल कर देता है। भक्तके लाभके लिये ही ऐसा होता है।

खेदकी बात तो यही है कि हमलोग केवल बाहरी बातोंको ही तत्त्व समझकर उन्हींमें लगे रहते हैं, अंदर प्रवेश ही नहीं करना चाहते। इसीसे ईश्वरके नामपर जगत्में लड़ाइयाँ होती हैं। किसी एक सम्प्रदाय-विशेषके नाम-रूपको ही सब कुछ मानकर अन्य समस्त सम्प्रदायोंके साधनोंके नाम-रूपमें तुच्छ बुद्धिकर, सम्पूर्ण साधनोंके परम तत्त्व, प्रायः सभी सम्प्रदायोंके आदि आचार्योंके चरमलक्ष्य एक शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माको भुलाकर, हम 'धनमानमदान्वित' और 'मोहजालसमावृत' हो, अहंकार, बल, दर्प, काम-क्रोधादिका आश्रय लेकर सर्वभूतस्थित अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष करने लगते हैं, इसीलिये हम उस अभावरहित सच्चे सुखसे वंचित रहकर बारम्बार दुःख-दावानलमें दग्ध होते हुए मृत्युका शिकार बनते रहते हैं। यदि हम इस तत्त्वको समझ लें कि 'सबके अंदर एक ही ईश्वर है, सब उस एकसे ही उत्पन्न हैं और उस एककी ओर ही अविच्छिन्न गतिसे अग्रसर हो रहे हैं तो फिर किसीका किसीसे कोई विरोध न रहे और अपने साधनमें सब सुखी हो रहें।

एक ही ईश्वरकी संतान होकर एक-दूसरेको नष्ट-भ्रष्ट करनेकी चेष्टा हमारे अज्ञानको ही प्रकट करती है। भारतवर्षके अध्यात्मवादमें एकत्वका परम तत्त्व निहित है। 'समस्त अनेकतामें एकताका अनुभव करना ही भारतीय धर्मका ध्येय है।' भारतवासियोंको

स्वयं अपने ध्येयकी ओर अग्रसर होकर जगत्‌के सामने क्रियारूपमें यह आदर्श रखना चाहिये, जिससे जगत् उस परम शान्ति और सुखके पथपर आरूढ़ हो, उस नित्य तृप्तिकर सुधाका आस्वादन कर सुखी हो सके!

अभिमान!

ओ अन्यायी अभिमान! तैंने मुझे खूब छकाया, तेरे ही कारण मुझे बारम्बार नाना प्रकारके दु:ख सहने पड़ते हैं। विद्याके रूपमें तैंने मुझे अनेक सत्पुरुषोंका तिरस्कार करनेके लिये बाध्य किया। फँसानेवाली विद्यासे रहित, लोगोंकी बाह्यदृष्टिमें अशिक्षित सच्चे तत्त्वज्ञानियोंकी शरणमें जाकर उनकी व्याकरणरहित विवेकमयी सद्वाणी सुननेसे तैंने ही मुझे रोका। तैंने ही धनके रूपमें मुझसे बड़े-बड़े अनर्थ कराये। सरल अकिंचन भक्तजनोंकी सत्संगतिमें जानेसे मेरा अपमान होगा, इस भावनासे तैंने ही मुझे वहाँ नहीं जाने दिया। पद और उपाधिके रूपमें तैंने ही मेरी आँखें लाल रखीं। तैंने ही सौजन्यता, दया और नम्रताका हरण कर लिया। तैंने ही संत-समागमसे मुझे वंचित किया। मालिकीके रूपमें तैंने ही मुझे अपने सरलहृदय नौकरोंसे और गरीबोंसे दिल खोलकर नि:संकोच बातें नहीं करने दीं। जाति और वर्णके रूपमें तैंने ही मुझे अपनेसे छोटी कहलानेवाली जातिके अपनेही-सरीखे मनुष्योंको पददलित कराया। राजा या शासकके रूपमें तैंने ही मुझसे रोती और बिलखती हुई भूखी प्रजापर अत्याचार करनेको बाध्य किया। जमींदारके रूपमें तैंने ही गरीब किसानोंपर मुझसे अमानुषिक अत्याचार करवाये। तैंने ही विलास-सामग्रियोंके संग्रहके लिये मुझे गरीबोंकी झोपड़ियाँ जलाने और उनका घर तहस-नहस करनेके लिये उत्साहित किया। पाण्डित्यके रूपमें तैंने ही मुझसे ईश्वरका खण्डन करवाकर महापापमें प्रवृत्त किया। तैंने ही शुष्क शास्त्रवितण्डामें भक्तिके अमीरससे मुझे अलग कर रखा। तैंने ही अक्खड़पनसे मुझे सबका द्रोही बनाया। माता, पिता, गुरुका अपमान तैंने ही करवाया। तेरे ही कारण मैंने सबको तुच्छ समझा। तुझीने मुझे लड़ाई उधार लेनेकी आदत सिखायी। तेरे ही कारण मैं दूसरोंकी सच्ची और हितकर बातें सुननेसे वंचित रहा। तेरी ही गुलामी स्वीकार करके मैंने झूठ, कपट और चोरीका आश्रय लिया। तेरे ही कारण मैंने लोगोंके सामने साधु और भक्त बनकर उन्हें धोखा दिया। तेरे ही कारण प्रेमका मिथ्या परिचय देकर मैंने सर्वान्तर्यामी परमात्माको ठगना चाहा। तेरे ही कारण मैंने भाँति-भाँतिके पाप कमाये। तैंने ही मुझे धर्मके पवित्र मार्गसे नीचे ढकेल दिया। तेरे ही कारण मुझे हरि-नाम-कीर्तनमें शरम आती है और हरि-कथा-श्रवणमें संकोच होता है। अरे! अभिन्न होनेपर भी तैंने ही मुझे परमात्मासे अलग कर रखा है। पापी! दूर हो यहाँसे। बहुत दिन हो गये, अब तो मेरा पिण्ड छोड़, जिससे हृदयमें अनन्त कालसे जलती हुई आगको परमात्मरसकी अमृत-वृष्टिसे बुझाकर सुखी हो सकूँ!

सत्संग

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(भागवत १। १८। १३)

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

(रामचरितमानस)

परमात्माका नाम 'सत्' है और उसीके साथ नित्य संग करना 'सत्संग' कहलाता है, परन्तु परमात्माका संग सर्वदा अभिन्नरूपसे होते हुए भी जबतक हमारे अन्तरमें भ्रमका अस्तित्व है तबतक उसका प्रत्यक्ष होना बड़ा कठिन है। अथवा, तबतक हमें उसका संग नहीं प्राप्त होता जबतक कि हम अपने अनन्य प्रेमसे उस नित्य निरंजन परमात्माको इतना प्रसन्न न कर लें कि जिसके प्रभावसे हमारे इच्छानुकूल उसे साकार बनकर अपने दुर्लभ संगसे हमें कृतार्थ करनेके लिये हमारे बीचमें आना पड़े। इस वास्तविक फलस्वरूप सत्संगको प्राप्त करनेके लिये जो सर्वप्रथम और सुन्दर साधन है, उसको भी सत्संग ही कहते हैं। इस सत्संगका अर्थ सत्पुरुषोंके साथ संग करना है। सत्पुरुष उनको कहते हैं जो उस सर्वव्यापी परमात्माके नित्य अस्तित्वमें अपने भिन्न माने हुए अनित्य अस्तित्वको सर्वथा विलीन कर चुके हैं अथवा जो उस 'सत्' परमात्माकी

प्राप्तिके लिये अपने समस्त स्वजन-बान्धव और धन-सम्पत्तिका मोह त्यागकर और देह तथा कर्मोंका अभिमान छोड़कर निरन्तर उसीके गुण गाने और सुननेमें लगे रहते हैं, जिनका चित्त उस परमात्माके चिन्तनमें ही लगा रहता है, जो सबके सुहृद्, सन्तोषी और सहनशील हैं, जो समस्त चराचरमें अपने एकमात्र इष्टदेवका ही दर्शन करते हैं, जो *'सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥'* —समस्त जगत्को श्रीसीताराममय समझकर सबको प्रणाम करते हैं, जो एक आज्ञाकारी अनुगत सेवककी तरह सदा अपने स्वामी परमात्माकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सचेष्ट रहते हैं और जिनके विकसित मुखमण्डलमें, जिनके दिव्य हास्यमें और जिनकी सरल, स्पष्ट और तेजपूर्ण वाणीमें परमात्माकी एक विशेष विभूतिका दर्शन होता है, ऐसे संतोंका संग करना ही सत्संग कहलाता है।

जब साधक परमात्माकी नित्य कृपाका अनुभव कर उसके द्वारा सत्संगकी स्पृहा करता है और जब वह संत-मिलनके लिये व्याकुल हो उठता है, तब परमात्मा उसकी उत्कण्ठाको देखकर अपने किसी प्रिय भक्तको प्रेरित कर उसके समीप भेज देते हैं। परन्तु इस अवस्थामें भी साधक प्रायः सत्पुरुषको पहचाननेमें भूल कर बैठता है। अपनी सांसारिक दृष्टिके मोहमय तराजूपर वह उसे तौलना चाहता है और ऐसे तराजूमें उस बाह्याडम्बरशून्य संतका पलड़ा अवश्य ही हलका रह जाता है। साधक उसके पलड़ेको हलका देखकर प्रायः अश्रद्धा करने लगता है, जिससे उसको तत्काल ही पूर्ण लाभ नहीं होता। पहले तो साधुका मिलना कठिन और दूसरे उसको पहचानना बड़ा कठिन है, परन्तु बिना पहचानके भी किया हुआ साधु-संग कदापि निष्फल नहीं जाता। संतके चिन्तन, दर्शन, स्पर्श और उसके साथ भाषणमात्रसे साधकका यथाधिकार कल्याण होता है! उस तेजःपुंजसे निकले हुए पवित्र ज्योतिर्मय परमाणु जहाँपर पड़ते हैं, वहींपर प्रकाश कर देते हैं। भगवान् नारद कहते हैं—

'महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।'

(नारद-भक्ति-सूत्र ३९)

'महापुरुषोंका संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

ऐसे महापुरुष ही परमात्माके अप्रतिम प्रभावको तत्त्वसे जानते हैं और इसीसे वे दिन-रात उसीके स्मरण-चिन्तनमें संलग्न रहते हैं। साधक भी ऐसे पुरुषोंके संगसे परमात्माके प्रभावको जान लेता है और प्रभाव जाननेपर उसमें प्रीति उत्पन्न होती है!

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥

श्रीभगवान् कहते हैं—

सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

(भागवत ३। २५। २५)

'महात्माओंके संगसे मेरे पराक्रमकी सूचक, हृदय और कानोंको तृप्त करनेवाली कथाएँ सुननेको मिलती हैं और उनके सुननेसे मोक्ष-मार्गमें शीघ्र ही श्रद्धा, भक्ति और प्रीति उत्पन्न होती है।' गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदायके आचार्य पूज्यपाद श्रीचैतन्य महाप्रभुके एक शिष्यका नाम श्रीहरिदास था। श्रीहरिदास सच्चे 'हरि-दास' थे, चौबीसों घंटे परमात्माका नाम-कीर्तन किया करते थे। कहते हैं, उनके नाम-कीर्तनकी प्रतिदिनकी संख्या तीन लाखसे अधिक हो जाती थी। एक समय श्रीहरिदासजी घूमते-फिरते एक गाँवमें पहुँचे, वहाँके थानेदार साहेबने हरिनाम-ध्वनिसे घबड़ाकर उन्हें भ्रष्ट करनेके लिये एक परमरूपवती वेश्याको नियुक्त किया। वेश्या भलीभाँति सज-धजकर श्रीहरिदासजीकी कुटियापर गयी। हरिदासजी नाम-कीर्तनमें मग्न थे। वेश्याने स्वाभाविक चेष्टा की; परन्तु उनका नाम-कीर्तन बंद नहीं हुआ। प्रातःकालसे कुछ पूर्व श्रीहरिदासजी उठे और वेश्याको देखकर बोले कि 'आज तो मुझे नाम-कीर्तनमें विलम्ब हो गया। यदि तुम रातको फिर आओ तो सम्भवतः मैं तुमसे बातें कर सकूँ।' इतना कहकर वे फिर अपने उसी काममें लग गये। वेश्याको बड़ा आश्चर्य हुआ, उसने सोचा कि 'यह कैसा मनुष्य है जो मेरे इस 'जगलुभावने' रूपको देखकर भी स्थिर रह सकता है? इसके चेहरेपर कोई विकार दिखायी नहीं देता; खैर, आज न सही, कहाँ जायगा?' वेश्या लौट गयी और रातको फिर दूने उत्साहसे सुसज्जित होकर आयी, आज उसने विशेषरूपसे प्रयत्न किया, परन्तु हरिदासजीका वही ढंग रहा। अनेक प्रकारकी चेष्टा करते-करते रात बीत गयी, वेश्याके उत्साहमें बड़ा धक्का लगा, उसके चेहरेपर निराशा-सी छा गयी। हरिदासजी उठे और उन्होंने फिर वही कलवाले शब्द सुना दिये। वेश्या दुःख, आश्चर्य और झुँझलाहटमें भरी हुई घर लौट गयी, परन्तु लोगोंके उत्साह दिलानेपर

तीसरी रातको वह फिर हरिदासजीकी कुटियापर पहुँची। आज उसने अपनी सारी शक्ति लगाकर हरिदासजीको डिगानेका निश्चय कर लिया। बड़ी-बड़ी चेष्टाएँ कीं, विविध प्रकारसे हाव-भाव दिखलाकर हार गयी, परन्तु वहाँ तो वही ***'सूरदासकी कारी कमरिया चढ़े न दूजो रंग'***वाली बात थी। हरिदासजी टस-से-मस नहीं हुए। नाम-कीर्तन ज्यों-का-त्यों जारी रहा। वेश्या बड़े ही आश्चर्यसे विचार करने लगी कि 'हो-न-हो इस साधुको कोई ऐसा अनोखा परम सुन्दर पदार्थ प्राप्त है जिसके सामने मेरा यह रूप सर्वथा तुच्छ है, नहीं तो इसकी क्या मजाल थी कि मेरी इस जोरसे जलती हुई रूपकी अग्निमें यह पतंग होकर न पड़ जाता? मैंने भी आजतक अनेक एक-से-एक बढ़कर सुन्दर रूप देखे हैं, परन्तु ऐसा कोई रूप आजतक नहीं देखा जिसने इस फकीरकी तरह मुझको पागल बना दिया हो?'

संतके एक क्षणके संगसे ही विवेककी विमल ज्योति उत्पन्न हो जाती है, यहाँ तो तीन रात बीत चुकी थी, संतका अमोघ संग तथा साथ-साथ श्रीहरिनाम-श्रवणका फल भी था। वेश्याके हृदयमें विवेक जाग्रत् हुआ, पाप-तापका नाश हो गया, साधुके मूक-संगसे उसने परमात्माका प्रभाव जाना और अपने मनमें सोचने लगी कि ऐसा परम मनोहर रूप भला किसका होगा? सुना है श्रीकृष्णका रूप अत्यन्त सुन्दर है, वह अपनी जोड़ी नहीं रखता। सम्भवतः इस फकीरको भी उसका रूप दिखलायी पड़ता हो। बात ठीक थी! श्रीहरिदासजी उसी जन-मन-मोहिनी 'साँवली सूरति' पर मस्त थे। सत्य है, जो एक बार उस अनुपम रूपको एक क्षणभरके लिये भी देख लेता है, वह अपने मनको सदाके लिये खो बैठता है। संसारके एक-एक साधारण रूपपर लोग मोहित हो जाते हैं, परन्तु जो इन सारे रूपोंका मूल है, जगत्के समस्त रूप जिस महान् रूप-राशिका एक क्षुद्र अंश हैं, उस रूप-राशिको निरखकर कौन ऐसा है जो पागल न हो जाय? महाराज विदेह भी जिस ***'कोटि मनोज लजावनिहारे'*** रूपको देखकर चकित हो गये थे—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥

और वे विश्वामित्रजीसे कहने लगे थे कि—

सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

आज परम भाग्यवती वेश्याके मनमें भी उसी 'मधुर' मनोहर मूरतिको देखनेकी लालसा उत्पन्न हुई, उसने दौड़कर सरल भावसे श्रीहरिदासजीके चरण पकड़ लिये और कहा कि 'प्रभो! मैं आपका सर्वनाश करनेके लिये आयी थी, परन्तु आपकी इस 'अनोखी मस्ती' ने तो मुझे भी 'सर्वनाशसे बचा लिया।' अब आप दया करके मुझे आपके उस 'परम सुन्दर' का दर्शन कराइये कि जिसको देखकर आपने इस प्रकार जगत्की सारी सुन्दरताकी उपेक्षा कर अपनेको मस्त बना लिया है।' सत्संगका अमोघ फल हुआ। श्रीहरिदासजीने अपना आसन और अपनी पवित्र माला उसे दे दी और कहा कि 'गाँवमें जाकर अपनी सारी सम्पत्ति गरीबोंको लुटा दो और आकर यहींपर बैठ जाओ तथा इसी प्रकार हरिनाम-कीर्तनकी धुन लगा दो! स्वयं पावन होओ और जगत्को पावन करो। इसीसे तुम उस मेरे 'परम सुन्दर' का अतुल सौन्दर्य देखकर कृतार्थ हो सकोगी।' इस तरह वेश्याको—अपना तप नाश करनेके लिये आनेवाली दुराचारिणी वेश्याको—'भक्ति और भक्तिका बाना' देकर संत हरिदासजी वहाँसे चल दिये। वेश्या उस 'परम सुन्दर' के दर्शन पाकर धन्य हुई और उसने अपनी भक्तिके प्रतापसे अनेक पामर पुरुषोंका परित्राण किया।

यह है सत्संगका अव्यर्थ प्रताप, यह है बिना जाने और बुरी नीयतसे किये हुए सत्संगका एक अमोघ फल और यह है भगवद्भक्तोंकी महिमाका एक ज्वलन्त उदाहरण!

भगवान् नारदने कहा है—

'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।'

(नारद-भक्ति-सूत्र ४१)

उस (भगवान्)-में और उसके भक्तोंमें कुछ भी भेद नहीं है, वरं कई बातोंमें तो भक्त अपने भगवान्से बढ़े हुए हैं। भगवान्की महिमाका विस्तार भक्त ही तो किया करते हैं।

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

इसीलिये श्रीनारदजीने पुकारकर कहा है कि—

'तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम्।'

(नारद-भक्ति-सूत्र ४२)

'उसी (साधुसंग) की साधना करो, उसीकी साधना करो!'

उपर्युक्त विवेचनसे यह पता लगा होगा कि सत्संग ही परमात्माका दर्शन करवा देनेमें एक प्रधान साधन है। एक क्षणभरका सत्संग भी बड़े भारी भयसे उबारकर भगवान्की प्राप्तिके कल्याणमय मार्गपर ला पहुँचाता है। जिन लोगोंने सत्संगका आश्रय ग्रहण कर

लिया है, वे धन्य हैं। सत्संगकी शरण लेनेवाले भक्तोंका भार उस 'सत्' परमात्मापर पड़ जाता है। अतएव दुःसंगसे सर्वथा बचकर यथासाध्य सत्संगका सेवन करना चाहिये। यदि खोज करनेपर भी साधु-महात्माओंके दर्शन न हों तो उपनिषद्, श्रीगीताजी, योगदर्शन और गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायण आदि सद्ग्रन्थोंका पठन-पाठन करना चाहिये। यह भी सत्संग है। किसी धार्मिक स्थानमें बैठकर परस्पर हरि-चर्चा करना, हरि-गुण-गान और श्रवण करना तथा श्रीहरिनाम-संकीर्तन करना भी सत्संग ही है। जनता सत्संगकी ओर जितनी अधिक झुकेगी उतना ही जगत्‌का मंगल है। अतएव हम सबको सत्संगमें लगने और दूसरोंको लगानेके लिये चेष्टा करनी चाहिये। भगवत्प्राप्ति चाहनेवालोंके लिये तो यही सबसे पहला और उत्तम साधन है।

गीतामें व्यक्तोपासना

श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्मा प्रभु श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है। जगत्‌में इसकी जोड़ीका कोई भी शास्त्र नहीं। सभी श्रेणीके लोग इसमेंसे अपने-अपने अधिकारानुसार भगवत्प्राप्तिके सुगम साधन प्राप्त कर सकते हैं। इसमें सभी मुख्य-मुख्य साधनोंका विशद वर्णन है, परन्तु कोई भी एक-दूसरेका विरोधी नहीं है। सभी परस्पर सहायक हैं। ऐसा सामंजस्यपूर्ण ग्रन्थ केवल गीता ही है। कर्म, भक्ति और ज्ञान—इन तीन प्रधान सिद्धान्तोंकी जैसी उदार, पूर्ण, निर्मल, उज्ज्वल सरल एवं अन्तर और बाह्य लक्षणोंसे युक्त हृदयस्पर्शी सुन्दर व्यावहारिक व्याख्या इस ग्रन्थमें मिलती है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं। प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार किसी एक मार्गपर आरूढ़ होकर अनायास ही अपने चरम लक्ष्यतक पहुँच सकता है। श्रीमद्भगवद्गीताको हम 'निष्काम कर्मयोगयुक्त भक्तिप्रधान ज्ञानपूर्ण अध्यात्मशास्त्र' कह सकते हैं। यह सभी प्रकारके मार्गोंमें संरक्षक, सहायक, मार्गदर्शक, प्रकाशदाता और पवित्र पाथेयका प्रत्यक्ष व्यावहारिक काम दे सकता है। गीताके प्रत्येक साधनमें कुछ ऐसे दोषनाशक प्रयोग बतलाये गये हैं, जिनका उपयोग करनेसे दोष समूल नष्ट होकर साधन सर्वथा शुद्ध और उपादेय बन जाता है। इसीलिये गीताका कर्म, गीताका ज्ञान, गीताका ध्यान और गीताकी भक्ति सभी सर्वथा पापशून्य, दोषरहित, पवित्र और पूर्ण हैं। किसीमें भी तनिक पोलको गुंजाइश नहीं।

गीताके बारहवें अध्यायका नाम भक्तियोग है, इसमें कुल बीस श्लोक हैं। पहले श्लोकमें भक्तवर अर्जुनका प्रश्न है और शेष उन्नीस श्लोकोंमें भगवान् उसका उत्तर देते हैं। इनमें प्रथम ग्यारह श्लोकोंमें तो भगवान्‌के व्यक्त (साकार) और अव्यक्त (निराकार) स्वरूपके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय किया गया है एवं भगवत्प्राप्तिके कुछ उपाय बतलाये गये हैं। अगले आठ श्लोकोंमें परमात्माके परम प्रिय भक्तोंके स्वाभाविक लक्षणोंका वर्णन है।

भगवान्‌ने कृपापूर्वक अर्जुनको दिव्य चक्षु प्रदानकर अपना विराट्स्वरूप दिखलाया, उस विकराल कालस्वरूपको देखकर अर्जुनके घबड़ाकर प्रार्थना करनेपर अपने चतुर्भुजरूपके दर्शन कराये, तदनन्तर मनुष्य-देहधारी सौम्य रसिकशेखर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णरूप दिखाकर उनके चित्तमें प्रादुर्भूत हुए। भय और अशान्तिका नाश कर उन्हें सुखी किया। इस प्रसंगमें भगवान्‌ने अपने विराट् और चतुर्भुजरूपकी महिमा गाते हुए इनके दर्शन प्राप्त करनेवाले अर्जुनके प्रेमकी प्रशंसा की और कहा कि 'मेरे इन स्वरूपोंको प्रत्यक्ष नेत्रोंद्वारा देखना, इसके तत्त्वको समझना और इनमें प्रवेश करना केवल 'अनन्यभक्ति' से ही सम्भव है।' इसके बाद अनन्यभक्तिका स्वरूप और उसका फल अपनी प्राप्ति बतलाकर भगवान्‌ने अपना वक्तव्य समाप्त किया। एकादश अध्याय यहीं पूरा हो गया। अर्जुन अबतक भगवान्‌के अव्यक्त और व्यक्त दोनों ही स्वरूपोंकी और दोनोंके ही उपासकोंकी प्रशंसा और दोनोंसे ही परमधामकी प्राप्ति होनेकी बात सुन चुके हैं। अब वे इस सम्बन्धमें एक स्थिर निश्चयात्मक सिद्धान्त-वाक्य सुनना चाहते हैं, अतएव उन्होंने विनम्र शब्दोंमें भगवान्‌से प्रार्थना करते हुए पूछा—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

(गीता १२। १)

'हे नाथ! जो अनन्यभक्त आपके द्वारा कथित विधिके अनुसार निरन्तर मन लगाकर आप व्यक्त—साकाररूप मनमोहन श्यामसुन्दरकी उपासना करते हैं एवं जो अविनाशी सच्चिदानन्दघन अव्यक्त-निराकाररूपकी उपासना करते हैं, इन दोनोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन

हैं?' प्रश्न स्पष्ट है—अर्जुन कहते हैं, आपने अपने व्यक्तरूपकी दुर्लभता बताकर केवल अनन्यभक्तिसे ही उस रूपके प्रत्यक्ष दर्शन, उसका तत्त्वज्ञान और उसमें एकत्व प्राप्त करना सम्भव बतलाया तथा फिर उस अनन्यताके लक्षण बतलाये। परन्तु इससे पहले आप कई बार अपने अव्यक्तोपासकोंकी भी प्रशंसा कर चुके हैं, अब आप निर्णयपूर्वक एक निश्चित मत बतलाइये कि इन दोनों प्रकारकी उपासना करनेवालोंमें श्रेष्ठ कौन हैं? भगवान्‌ने उत्तरमें कहा—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२। २)

'हे अर्जुन! जो मुझ साकाररूप परमेश्वरमें मन लगाकर निश्चल परम श्रद्धासे युक्त हो निरन्तर मेरी ही उपासनामें लगे रहते हैं, 'मेरे मतसे वे ही परम उत्तम योगी हैं।' उत्तर भी स्पष्ट है—भगवान् कहते हैं—'मेरे द्वारा बतलायी हुई विधिके अनुसार मुझमें निरन्तर चित्त एकाग्र करके जो परम श्रद्धासे मेरी उपासना करते हैं, मेरे मतमें वे ही श्रेष्ठ हैं।'

यहाँ प्रथम श्लोकके '**त्वाम्**' और इस श्लोकके '**माम्**' शब्द अव्यक्त-निराकारवाचक न होकर साकारवाचक ही हैं; क्योंकि अगले श्लोकोंमें अव्यक्तोपासनाका स्पष्ट वर्णन है, जो 'तु' शब्दसे इससे सर्वथा पृथक् कर दिया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान्‌के मतमें उनके साकाररूपके उपासक ही अति श्रेष्ठ योगी हैं एवं एकादश अध्यायके अन्तिम श्लोकके अनुसार उनको भगवत्प्राप्ति होना निश्चित है। परन्तु इससे कोई यह न समझे कि अव्यक्तोपासना निम्न-श्रेणीकी है या उन्हें भगवत्प्राप्ति नहीं होती। इसी भ्रमकी सम्भावनाको सर्वथा मिटा देनेके लिये भगवान् स्वयमेव कहते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२। ३-४)

'समस्त इन्द्रियोंको वशमें करके, सर्वत्र समबुद्धिसम्पन्न हो, जीवमात्रके हितमें रत हुए, जो पुरुष अचिन्त्य (मन-बुद्धिसे परे), सर्वत्रग (सर्वव्यापी), अनिर्देश्य (अकथनीय), कूटस्थ (नित्य एकरस), ध्रुव (नित्य), अचल, अव्यक्त (निराकार), अक्षर ब्रह्मस्वरूपकी निरन्तर उपासना करते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इस कथनसे यह निश्चय हो गया कि दोनों ही उपासनाओंका फल एक है, तो फिर अव्यक्तोपासकसे व्यक्तोपासकको उत्तम क्यों बतलाया? क्या बिना ही कारण भगवान्‌ने ऐसी बात कह दी? क्या मन्दबुद्धि मुमुक्षुओंको उनकी सगुणोपासनाकी प्रवृत्तिकी सिद्धिके लिये उन्हें युक्ततम बतला दिया या उन्हें उत्साही बनाये रखनेके लिये व्यक्तोपासनाकी रोचक स्तुति कर दी अथवा अर्जुनको साकारका मन्द अधिकारी समझकर उसीके लिये व्यक्तोपासनाको श्रेष्ठ करार दे दिया? भगवान्‌का क्या अभिप्राय था यह तो भगवान् ही जानें परन्तु मेरा मन तो यही कहता है कि भगवान्‌ने जहाँपर जो कुछ कहा है सो सभी यथार्थ है, उनके शब्दोंमें रोचक-भयानककी कल्पना करना कदापि उचित नहीं, भगवान्‌ने न तो किसीकी अयथार्थ स्तुति की है और न अयथार्थ किसीको कोसा ही है। यहाँ भगवान्‌ने जो साकारोपासककी श्रेष्ठता बतलायी है, उसका कारण भी भगवान्‌ने अगले तीन श्लोकोंमें स्पष्ट कर दिया है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(गीता १२। ५)

'जिनका मन तो अव्यक्तकी ओर आसक्त है; परन्तु जिनके हृदयमें देहाभिमान बना हुआ है ऐसे लोगोंके लिये अव्यक्त ब्रह्मकी उपासनामें चित्त टिकाना विशेष क्लेशसाध्य है, वास्तवमें निराकारकी गति दुःखपूर्वक ही प्राप्त होती है।'

भगवान्‌के साकार—व्यक्तस्वरूपमें एक आधार रहता है, जिसका सहारा लेकर ही कोई साधन-मार्गपर आरूढ़ हो सकता है, परन्तु निराकारका साधक तो बिना केवटकी नावकी भाँति निराधार अपने ही बलपर चलता है। अपार संसार-सागरमें विषय-वासनाकी भीषण तरंगोंसे तरीको बचाना, भोगोंके प्रचण्ड तूफानसे नावकी रक्षा करना और बिना किसी मददगारके लक्ष्यपर स्थिर रहते हुए आप ही डाँड़ चलाते जाना बड़ा ही कठिन कार्य है। परन्तु इसके विपरीत भगवान् कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ६-७)

—'जो लोग मेरे (भगवान्‌के) परायण होकर, मुझको ही अपनी परम गति, परम आश्रय, परम शक्ति

और परम लक्ष्य मानते हुए सम्पूर्ण कर्म मुझमें अर्पण करके मुझ साकार ईश्वरकी अनन्ययोगसे निरन्तर उपासना करते हैं, उन मुझमें चित्त लगानेवाले भक्तोंको मृत्युशील संसार-सागरसे बहुत ही शीघ्र सुखपूर्वक मैं पार कर देता हूँ।' उनको न तो अनन्त अम्बुधिकी क्षुब्ध उत्ताल तरंगोंका भय है और न भीषण झंझावातके आघातसे नौकाके ध्वंस होने या डूबनेका ही डर है। वे तो बस, मेरी कृपासे आच्छादित सुन्दर सुसज्जित दृढ़ 'बजरेमें' बैठकर केवल सर्वात्मभावसे मेरी ओर निर्निमेष दृष्टिसे ताकते रहें, मेरी लीलाएँ देख-देखकर प्रफुल्लित होते रहें, मेरी वंशीध्वनि सुन-सुनकर आनन्दमें डूबते रहें, उनकी नावका खेवनहार केवट बनकर मैं उन्हें '**नचिरात्**' इसी जन्ममें अपने हाथों डाँड़ चलाकर संसार-सागरके उस पार परम धाममें पहुँचा दूँगा।

जो भाग्यवान् भक्त भगवान्‌के इन वचनोंपर विश्वास कर समस्त शक्तियोंके आधार, सम्पूर्ण ज्ञानके भण्डार, अखिल ऐश्वर्यके आकर, सौन्दर्य, प्रभुत्व, बल और प्रेमके अनन्त निधि उस परमात्माको अपनी जीवन-नौकाका खेवनहार बना लेता है, जो अपनी बाँह उसे पकड़ा देता है, उससे अनायास ही पार उतरनेमें कोई खटका कैसे रह सकता है? उसको न तो नावके टकराने, टूटने और डूबनेका भय है, न चलानेका कष्ट है और न पार पहुँचनेमें तनिक-सा सन्देह ही है।

पार तो अव्यक्तोपासक भी पहुँचता है, परन्तु उसका मार्ग कठिन है। इस प्रकार दोनोंका फल एक ही होनेके कारण सुगमताकी वजहसे यदि भगवान्‌ने अव्यक्तोपासककी अपेक्षा व्यक्तोपासकको श्रेष्ठ या योगवित्तम बतलाया तो उनका ऐसा कहना सर्वथा उचित ही है, परन्तु बात इतनी ही नहीं है। सरलता-कठिनता तो उपासनाकी है, इससे उपासकमें उत्तम-मध्यमका भेद क्यों होने लगा? फिर व्यक्तोपासक केवल उत्तम ही नहीं, 'योगवित्तम' है, योग जाननेवालोंमें श्रेष्ठ है। उपासनाकी सुगमताके कारण आरामकी इच्छासे कठिन मार्गको त्यागकर सरलका ग्रहण करनेवाला श्रेष्ठ योगवेत्ता कैसे हो गया? अवश्य ही इसमें कोई रहस्य छिपा हुआ होना चाहिये और वह यह है—

अव्यक्तोपासक उपासनाके फलस्वरूप अन्तमें भगवान्‌को प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु व्यक्तोपासकके तो त्रिभुवनमोहन साकार-रूपधारी भगवान् आरम्भसे ही साथ रहते हैं। अव्यक्तोपासक अपनी '**अहं ब्रह्मास्मि**' की ज्ञाननौकापर सवार होकर यदि मार्गके अहंकार, मान, लोकैषणा आदि विघ्नोंसे बचकर आगे बढ़ पाता है तो अन्तमें संसार-सागरके पार पहुँच जाता है। परन्तु व्यक्तोपासक तो पहलेसे ही भगवान्‌की कृपारूपी नौकापर सवार होता है और भगवान् स्वयं उसे खेकर पार करते हैं। नौकापर सवार होते ही उसे केवट कृष्णका साथ मिल जाता है। पार पहुँचनेके बाद तो (अव्यक्तोपासक और व्यक्तोपासक) दोनोंके आनन्दकी स्थिति समान है ही; परन्तु व्यक्तोपासक तो मार्गमें भी पल-पलमें परम कारुणिक मोहनकी माधुरी मूरतिके देवदुर्लभ दर्शनकर पुलकित होता है, उसे उनकी मधुर वाणी, विश्वविमोहिनी वंशीकी ध्वनि सुननेको एवं उनकी सुन्दर और शक्तिमयी क्रियाएँ देखनेको मिलती हैं। वह निश्चिन्त बैठा हुआ उनके दिव्य स्वरूप और उनकी लीलाका मजा लूटता है। इसके सिवा एक महत्त्वकी बात और होती है। भगवान् किस मार्गसे क्योंकर नौका चलाते हैं, वह इस बातको भी ध्यानपूर्वक देखता है, जिससे वह भी परम धामके इस सुगम मार्गको और भव-तारण-कलाको सीख जाता है। ऐसे तारण-कलामें निपुण विश्वासपात्र भक्तको यदि भगवान् कृपापूर्वक अपने परम धामका अधिकारी स्वीकार कर और जगत्‌के लोगोंको तारनेका अधिकार देकर अपने कार्यमें सहायक बनने या अपनी लोक-कल्याणकारिणी लीलामें सम्मिलित रखनेके लिये नौका देकर वापस संसारमें भेज देते हैं तो वह मुक्त हुआ भी भगवान्‌की ही भाँति जगत्‌के यथार्थ हितका कार्य करता है और एक चतुर विश्वासपात्र सेवककी भाँति भगवान्‌के लीला-कार्यमें भी साथ रहता है। ऐसी ही स्थितिके महापुरुष कारक बनकर जगत्‌में आविर्भूत हुआ करते हैं। अव्यक्तोपासक परम धाममें पहुँचकर मुक्त हो वहीं रह जाते हैं, वे परमात्मामें घुल-मिलकर एक हो जाते हैं, वे वहाँसे वापस लौट ही नहीं सकते। इससे न तो उन्हें परम धाम जानेके मार्गमें साकार भगवान्‌का संग, उनके दर्शन, उनके साथ वार्तालाप और उनकी लीला देखनेका आनन्द मिलता है और न वे परम धामके पट्टेदार होकर सगुण भगवान्‌की लीलामें सम्मिलित हो उन्हींकी भाँति निपुण नाविक बनकर वापस ही आते हैं। '**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**' के अनुसार उनके बुद्धि आदि करण जो उनको दिव्य धाममें छोड़कर वहाँसे वापस लौटते हैं, वे भी साधकोंके सामने अव्यक्तोपासना-पथके उन्हीं नाना प्रकारके क्लेशोंके दृश्य रखकर परम धामकी प्राप्तिको ऐसी कष्टसाध्य और दु:खलब्ध बता देते हैं कि लोग उसे

सुनकर ही काँप जाते हैं। उनका वैसे दृश्य सामने रखना ठीक ही है; क्योंकि उन्होंने अव्यक्तोपासनाके कण्टकाकीर्ण मार्गमें वही देखे हैं। उन्हें प्रेममय श्यामसुन्दरके सलोने मुखड़ेका तो कभी दर्शन हुआ ही नहीं, उन्हें वह सौन्दर्य-सुधा कभी नसीब ही नहीं हुई, तब वे उस दिव्य रसका स्वाद लोगोंको कैसे चखाते? इसके विपरीत व्यक्तोपासक अपनी मुक्तिको भगवान्के खजानेमें धरोहरके रूपमें रखकर उनकी मंगलमयी आज्ञासे पुन: संसारमें आते हैं और भगवत्प्रेमके परम आनन्द-रस-समुद्रमें निमग्न हुए देहाभिमानी होनेपर भी भगवान्के मंगलमय मनोहर साकाररूपमें एकान्तभावसे मनको एकाग्र करके उन्हींके लिये सर्व कर्म करनेवाले असंख्य लोगोंको दृढ़ और सुखपूर्ण नौकाओंपर चढ़ा-चढ़ाकर संसारसे पार उतार देते हैं। यहाँ कोई यह कहे कि 'जैसे निराकारोपासक साकारके दर्शन और उनकी लीलाके आनन्दसे वंचित रहते हैं, वैसे ही साकारके उपासक ब्रह्मानन्दसे वंचित रहते होंगे। उन्हें परमात्माका तत्त्वज्ञान नहीं होता होगा।' परन्तु यह बात नहीं है। निरे निराकारोपासक अपने बलसे जिस तत्त्वज्ञानको प्राप्त करते हैं, भगवान्के प्रेमी साकारोपासकोंको वही तत्त्वज्ञान भगवत्कृपासे मिल जाता है। भक्तराज ध्रुवजीका इतिहास प्रसिद्ध है। ध्रुव व्यक्तोपासक थे, 'पद्म पलाश-लोचन' नारायणको आँखोंसे देखना चाहते थे। उनके प्रेमके प्रभावसे परमात्मा श्रीनारायण प्रकट हुए और अपना दिव्य शंख कपोलोंसे स्पर्श कराकर उन्हें उसी क्षण परम तत्त्वज्ञ बना दिया। इससे सिद्ध है कि व्यक्तोपासकको अव्यक्तोपासकोंका ध्येय तत्त्वज्ञान तो भगवत्कृपासे मिल ही जाता है, वे भगवान्की सगुण लीलाओंका आनन्द विशेष पाते हैं और उसे त्रितापतप्त लोगोंमें बाँटकर उनका उद्धार करते हैं। व्यक्तोपासक अव्यक्त-तत्त्वज्ञानके साथ ही व्यक्ततत्त्वको भी जानते हैं, व्यक्तोपासनाका मार्ग जानते हैं, उसके आनन्दको उपलब्ध करते हैं और लोगोंको दे सकते हैं। वे दोनों प्रकारके तत्त्व जानते, उनका आनन्द लेते और लोगोंको बतला सकते हैं, इसलिये भगवान्के मतमें वे 'योगवित्तम' हैं, योगियोंमें उत्तम हैं।

वास्तवमें बात भी यही है। प्रेमके बिना रहस्यकी गुह्य बातें नहीं जानी जा सकतीं। किसी राजाके एक तो दीवान हैं और दूसरा राजाका परम विश्वासपात्र व्यक्तिगत प्रेमी सेवक है। दीवानको राज्यव्यवस्थाके सभी अधिकार प्राप्त हैं। वह राज्यसम्बन्धी सभी कार्योंकी देख-रेख और सुव्यवस्था करता है, इतना होनेपर भी राजाके मनकी गुप्त बातोंको नहीं जानता और न वह राजाके साथ अन्त:पुर आदि सभी स्थानोंमें अबाधरूपसे जा ही सकता है, 'विहार-शय्यासन-भोजनादि' में एकान्त देशमें उसको राजाके साथ रहनेका कोई अधिकार नहीं है, यद्यपि राज्यसम्बन्धी सारे काम उसीकी सलाहसे होते हैं। इधर वह राजाका व्यक्तिगत प्रेमी मित्र यद्यपि राज्यसम्बन्धी कार्यमें प्रकाश्यरूपसे कुछ भी दखल नहीं रखता, परन्तु राजाके इच्छानुसार प्रत्येक कार्यमें वह राजाको प्राइवेटमें अपनी सम्मति देता है और राजा भी उसीकी सम्मतिके अनुसार कार्य करता है। राजा अपने मनकी गोपनीय-से-गोपनीय भी सारी बातें उसके सामने नि:शंकभावसे कह देता है। राजाका यह निश्चय रहता है कि 'यह मेरा प्रेमी सखा दीवानसे किसी हालतमें कम नहीं है। दीवानीका पद तो यह चाहे तो इसको अभी दिया जा सकता है, जब मैं ही इसका हूँ, तब दीवानीका पद कौन बड़ी बात है?' परन्तु उस मन्त्रीके पदको न तो वह प्रेमी चाहता है और न राजा उसे देनेमें ही सुभीता समझता है; क्योंकि दीवानीका पद दे देनेपर मर्यादाके अनुसार वह राज्यकार्यके सिवा राजाके निजी कार्योंमें साथ नहीं रह सकता, जिनमें उसकी परम आवश्यकता है, क्योंकि वह मन्त्रित्वपदका त्यागी प्रेमी सेवक राजाका अत्यन्त प्रियपात्र है, उसका सखा है और इष्ट है।

यहाँ राजाके स्थानमें परमात्मा, दीवानके स्थानमें अव्यक्तोपासक ज्ञानी और प्रेमी सखाके स्थानमें व्यक्तोपासक प्यारा भक्त है। अव्यक्तोपासक पूर्ण अधिकारी है, परन्तु वह राजा (परमात्मा)- का अन्तरंग सखा नहीं, उसकी निजी लीलाओंसे न तो परिचित है और न उसके आनन्दमें सम्मिलित है। वह राज्यका सेवक है, राजाका नहीं। परन्तु वह प्यारा भक्त तो राजाका निजी सेवक है, राजाका विश्वासपात्र होनेके नाते राज्यका सेवक तो हो ही गया। इसीलिये व्यक्तोपासक मुक्ति न लेकर भगवच्चरणोंकी नित्य सेवा माँगा करते हैं, भगवान्की लीलामें शामिल रहनेमें ही उन्हें आनन्द मिलता है। वास्तवमें वे धन्य हैं जिनके लिये निराकार ईश्वर साकार बनकर प्रकट होते हैं; क्योंकि वे निराकार-साकार दोनों स्वरूपोंके तत्त्वोंको जानते हैं, इसीसे निराकाररूपसे अपने रामको सबमें रमा हुआ जानकर भी, अव्यक्तरूपसे अपने श्रीकृष्णको सबमें व्याप्त समझकर भी धनुर्धारी मर्यादापुरुषोत्तम दाशरथी श्रीरामरूपमें और चित्तको आकर्षण करनेवाले मुरलीमनोहर श्रीकृष्णरूपमें उनकी उपासना करते हैं और उनकी लीला देख-देखकर परम आनन्दमें मग्न रहते हैं। गोसाईंजी

महाराजने इसीलिये कहा है—'*निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।*' अतएव जो 'सगुण' सहित निर्गुणको जानते हैं वे ही भगवान्‌के मतमें 'योगवित्तम' हैं।

अब यह देखना है कि गीताके व्यक्तभगवान्‌का क्या स्वरूप है, उनके उपासककी कैसी स्थिति और कैसे आचरण हैं और इस उपासनाकी प्रधान पद्धति क्या है? क्रमसे तीनोंपर विचार कीजिये—

गीतोक्त साकार उपास्यदेव एकदेशीय या सीमाबद्ध भगवान् नहीं हैं। वे निराकार भी हैं और साकार भी हैं। जो साकारोपासक अपने भगवान्‌की सीमा बाँधते हैं वे अपने ही भगवान्‌को छोटा बनाते हैं। गीताके साकार भगवान् किसी एक मूर्ति, नाम या धामविशेषमें ही सीमित नहीं हैं। वे सत्, चेतन, आनन्दघन, विज्ञानानन्दस्वरूप, पूर्ण सनातन, अनादि, अनन्त, अज, अव्यय, शान्त, सर्वव्यापी होते हुए ही सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी सृष्टिकर्ता, परम दयालु, परम सुहृद्, परम उदार, परम प्रेमी, परम मनोहर, परम रसिक, परम प्रभु और परम शूरशिरोमणि हैं। वे जन्म लेते हुए दीखनेपर भी अजन्मा हैं, वे साकार-व्यक्तरूपमें रहनेपर भी निराकार हैं और निराकार होकर भी साकार हैं। वे एक या एक ही साथ अनेक स्थानोंमें व्यक्तरूपसे अवतीर्ण होकर भी अपने अव्यक्तरूपसे, अपनी अनन्त सत्तासे सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा स्थित हैं। मन्दिरमें, मन्दिरकी मूर्तिमें, उसकी दीवारमें, पूजामें, पूजाकी सामग्रीमें और पुजारीमें, बाहर-भीतर सभी जगह वे विद्यमान हैं। वे सगुण-साकाररूपसे भक्तोंके साथ लीला करते हैं और निर्गुण-निराकाररूपसे बर्फमें जलकी भाँति सर्वत्र व्याप्त हैं '**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।**' उन परम दयालु प्रभुको हम किसी भी रूप और किसी भी नामसे देख और पुकार सकते हैं। इस रहस्यको समझते हुए हम ब्रह्म, परमात्मा, आनन्द, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, राम, कृष्ण, शक्ति, सूर्य, गणेश, अरिहन्त, बुद्ध, अल्लाह, गॉड, जिहोवा आदि किसी भी नाम-रूपसे उनकी उपासना कर सकते हैं। उपासनाके फलस्वरूप जब उनकी कृपासे उनके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होगा तब सारे संशय आप ही मिट जायँगे। इस रहस्यसे वंचित होनेके कारण ही मनुष्य मोहवश भगवान्‌की सीमा-निर्देश करने लगता है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

(गीता ७। २४)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(गीता ९। ११)

'मैं अव्ययात्मा, अजन्मा और सर्वभूतप्राणियोंका ईश्वर रहता हुआ ही अपनी प्रकृतिको अधीन करके (प्रकृतिके अधीन होकर नहीं) योगमायासे—लीलासे साकाररूपमें प्रकट होता हूँ।' 'अज, अविनाशी रहता हुआ ही मैं अपनी लीलासे प्रकट होता हूँ। मेरे इस परमोत्तम अविनाशी परम रहस्यमय भावको—तत्त्वको न जाननेके कारण ही बुद्धिहीन मनुष्य मुझ मन-इन्द्रियोंसे परे सच्चिदानन्द परमात्माको साधारण मनुष्यकी भाँति व्यक्तभावको प्राप्त हुआ मानते हैं।' 'ऐसे परमभावसे अपरिचित मूढ़ लोग मुझ 'मनुष्य-'रूपधारी' सर्वभूतमहेश्वर परमात्माको यथार्थतः नहीं पहचानते।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि गीताके सगुण-साकार-व्यक्त भगवान्, निराकार-अव्यक्त, अज और अविनाशी रहते हुए ही साकार मनुष्यादि-रूपमें प्रकट हो लोकोद्धारके लिये विविध लीलाएँ किया करते हैं। संक्षेपमें यही गीतोक्त व्यक्त उपास्य भगवान्‌का स्वरूप है।

अब व्यक्तोपासककी स्थिति देखिये। गीताका साकारोपासक भक्त अव्यवस्थितचित्त, मूर्ख, अभिमानी, दूसरेका अनिष्ट करनेवाला, धूर्त, शोकग्रस्त, आलसी, दीर्घसूत्री, अकर्मण्य, हर्ष-शोकादिसे अभिभूत, अशुद्ध आचरण करनेवाला, हिंसक स्वभाववाला, लोभी, कर्मफलका इच्छुक और विषयासक्त नहीं होता, पापके लिये तो उसके अंदर तनिक भी गुंजाइश नहीं रहती। यह अपनी अहंता-ममता अपने प्रियतम परमात्माके अर्पण कर निर्भय, निश्चिन्त, सिद्धि-असिद्धिमें सम, निर्विकार, विषयविरागी, अनहंवादी, सदा प्रसन्न, सेवापरायण, धीरज और उत्साहका पुतला, कर्तव्यनिष्ठ और अनासक्त होता है। भगवान्‌ने यहाँ साकारोपासनाका फल और उपासककी महत्ता प्रकट करते हुए संक्षेपमें उसके ये लक्षण बताये हैं—'वह केवल भगवान्‌के लिये ही सब कर्म करनेवाला, भगवान्‌को ही परम गति समझकर उन्हींके परायण रहनेवाला, भगवान्‌का ही अनन्य और परम भक्त, सम्पूर्ण सांसारिक विषयोंमें आसक्तिरहित, सब भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित, मनको परमात्मामें एकाग्र करके नित्य भगवान्‌के

भजन-ध्यानमें रत, परम श्रद्धासम्पन्न, सर्वकर्मोंका भगवान्‌में भलीभाँति उत्सर्ग करनेवाला और अनन्यभावसे तैलधारावत् परमात्माके ध्यानमें रहकर भजन-चिन्तन करनेवाला होता है (गीता ११। ५५; १२। २,६,७)। गीतोक्त व्यक्तोपासककी संक्षेपमें यही स्थिति है। भगवान्‌ने इसी अध्यायके अन्तके आठ श्लोकोंमें व्यक्तोपासक सिद्ध भक्तके लक्षण विस्तारसे बतलाये हैं।

अब रही उपासनाकी पद्धति। सो व्यक्तोपासना भक्तिप्रधान होती है। अव्यक्त और व्यक्तकी उपासनामें प्रधान भेद दो हैं—उपास्यके स्वरूपका और उपासकके भावका। अव्यक्तोपासनामें उपास्य निराकार है और व्यक्तोपासनामें साकार। अव्यक्तोपासनाका साधक अपनेको ब्रह्मसे अभिन्न समझकर '**अहं ब्रह्मास्मि**' कहता है तो व्यक्तोपासनाका साधक भगवान्‌को ही सर्वरूपोंमें अभिव्यक्त हुआ समझकर '**वासुदेवः सर्वमिति**' कहता है। उसकी पूजामें कोई आधार नहीं है और इसकी पूजामें भगवान्‌के साकार मनमोहन विग्रहका आधार है। वह सब कुछ स्वप्नवत् मायिक मानता है तो यह सब कुछ भगवान्‌की आनन्दमयी लीला समझता है। वह अपने बलपर अग्रसर होता है तो यह भगवान्‌की कृपाके बलपर चलता है। उसमें ज्ञानकी प्रधानता है तो इसमें प्रेमकी। अवश्य ही परस्पर प्रेम और ज्ञान दोनोंमें ही रहते हैं। अव्यक्तोपासक समझता है कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ, गुण ही गुणोंमें वर्त रहे हैं, वास्तवमें कुछ है ही नहीं। व्यक्तोपासक समझता है कि मुझे अपने हाथकी कठपुतली बनाकर भगवान् ही सब कुछ करा रहे हैं, कर्ता, भोक्ता सब वे ही हैं, मेरे द्वारा जो कुछ होता है सब उनकी प्रेरणासे और उन्हींकी शक्तिसे होता है, मेरा अस्तित्व ही उनकी इच्छापर अवलम्बित है। यों समझकर वह अपना परम कर्तव्य केवल भगवान्‌का नित्य चिन्तन करना ही मानता है। भगवान् क्या कराते हैं या करायेंगे—इस बातकी वह चिन्ता नहीं करता, वह तो अपने मन-बुद्धि उन्हें सौंपकर निश्चिन्त हो रहता है। भगवान्‌के इन वचनोंके अनुसार ही उसके आचरण होते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८। ७)

इस उपासनामें दम्भ, दर्प, काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, असत्य और मोहको तनिक-सा भी स्थान नहीं है, उपासक इन दुर्गुणोंसे रहित होकर सारे चराचरमें सर्वत्र अपने उपास्यदेवको देखता हुआ उनके नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्तन, मनन और ध्यानमें निरत रहता है। भजन-साधनको परम मुख्य माननेपर भी वह कर्तव्यकर्मोंसे कभी मुख नहीं मोड़ता; वरं न्यायसे प्राप्त सभी योग्य कर्मोंको निर्भयतापूर्वक धैर्य-बुद्धिसे भगवान्‌के निमित्त करता है। उसके मनमें एक ही सकाम भाव रहता है, वह यह कि अपने प्यारे भगवान्‌की इच्छाके विपरीत कोई भी कार्य मुझसे कभी न बनना चाहिये। उसका यह भाव भी रहता है कि मैं परमात्माका ही प्यारा सेवक हूँ और परमात्मा ही मेरे एकमात्र सेव्य हैं, वे मुझपर दया करके मेरी सेवा स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करनेके लिये ही अपने अव्यक्त अनन्तस्वरूपमें स्थित रहते हुए ही साकार-व्यक्तरूपमें मेरे सामने प्रकट हो रहे हैं। इसलिये वह निरन्तर श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का स्मरण करता हुआ ही समस्त कर्म करता है। भगवान्‌ने छठे अध्यायके अन्तमें ऐसे ही भजनपरायण योगीको सर्वश्रेष्ठ योगी माना है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'समस्त योगियोंमें भी जो श्रद्धालु योगी मुझमें लगाये हुए अन्तरात्मासे निरन्तर मुझे भजता है वही मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ है। इस श्लोकमें आये हुए '**श्रद्धावान्**' और '**मद्गतेनान्तरात्मना**' के भाव ही द्वादश अध्यायके दूसरे श्लोकमें '**श्रद्धया परयोपेताः**' और '**मय्यावेश्य मनः**' में व्यक्त हुए हैं। '**युक्ततमाः**' शब्द तो दोनोंमें एक ही है। व्यक्तोपासनामें भजनका अभ्यास, भगवान्‌के साकार-निराकारतत्त्वका ज्ञान, उपास्य इष्टका ध्यान और उसीके लिये सर्वकर्मोंका आचरण और उसीमें सर्वकर्मफलका संन्यास रहता है। व्यक्तोपासक अपने उपास्यकी सेवाको छोड़कर मोक्ष भी नहीं चाहता। इसीसे अभ्यास, ज्ञान और ध्यानसे युक्त रहकर सर्वकर्मफलका—मोक्षका परमात्माके लिये त्याग करते ही उसे परम शान्ति, परमात्माके परम पदका अधिकार मिल जाता है। यही भाव १२ वें श्लोकमें व्यक्त किया गया है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

'रहस्यज्ञानरहित अभ्याससे परोक्ष ज्ञान श्रेष्ठ है, उससे परमात्माका ध्यान श्रेष्ठ है और जिस सर्वकर्मफलत्यागमें अभ्यास, ज्ञान और ध्यान तीनों रहते हैं वह सर्वश्रेष्ठ है, उस त्यागके अनन्तर ही परम शान्ति मिल जाती है।'

इसके बीच ८ से ११ तकके चार श्लोकोंमें—ध्यान, अभ्यास, भगवदर्थ कर्म और भगवत्प्राप्तिरूप योगका आश्रय लेकर कर्मफल-त्याग—ये चार साधन बतलाये गये हैं; जो जिसका अधिकारी हो वह उसीको ग्रहण करे। इनमें छोटा-बड़ा समझनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, जिसमें चारों हों वह सर्वोत्तम है, वही परम भक्त है। ऐसे भक्तको जब परम सिद्धि मिल जाती है तब उसमें जिन सब लक्षणोंका प्रादुर्भाव होता है, उन्हींका वर्णन अध्यायकी समाप्तितकके अगले आठ श्लोकोंमें है। वे लक्षण सिद्ध भक्तमें स्वाभाविक होते हैं और साधकके लिये आदर्श हैं। यही गीतोक्त व्यक्तोपासनाका रहस्य है।

इससे यह सिद्धान्त नहीं निकालना चाहिये कि अव्यक्तोपासनाका दर्जा नीचा है या उसकी उपासनामें आचरणोंकी कोई खास भिन्नता है। अव्यक्तोपासनाका अधिकार बहुत ही ऊँचा है। विरक्त, धीर, वीर और सर्वथा संयमी पुरुषपुंगव ही इस कण्टकाकीर्ण मार्गपर पैर रख सकते हैं। उपासनामें भी दो-एक बातोंको छोड़कर प्राय: सादृश्यता ही है। व्यक्तोपासकके लिये '**सर्वभूतेषु निर्वैर:**' की और '**मैत्र: करुण:**' की शर्त है तो अव्यक्तोपासकके लिये '**सर्वभूतहिते रता:**' की है। उसके लिये भगवान्में मनको एकाग्र करना आवश्यक है तो इसके लिये भी समस्त 'इन्द्रियग्राम' को भलीभाँति वशमें करना जरूरी है। वह अपने उपास्यमें 'परम श्रद्धावान्' है तो यह भी सर्वत्र ब्रह्मदर्शनमें 'समबुद्धि' है।

वास्तवमें भगवान्का क्या स्वरूप है और उनकी दिव्यवाणी श्रीगीताके श्लोकोंका क्या मर्म है, इस बातको यथार्थत: भगवान् ही जानते हैं अथवा जो महात्मा भगवत्कृपाका अनुभव कर चुके हैं वे कुछ जान सकते हैं। मुझ-सरीखा विषयरत प्राणी इन विषयोंमें क्या जाने? मैंने यहाँपर जो कुछ लिखा है सो असलमें पूज्य महात्मा पुरुषोंका जूठन-प्रसाद ही है। जिन प्राचीन या अर्वाचीन महात्माओंका मत इस मतसे भिन्न है, वे सभी मेरे लिये तो उसी भावसे पूज्य और आदरणीय हैं। मैंने उनकी वाणीका अनादर करनेके अभिप्रायसे एक अक्षर भी नहीं लिखा है। अवश्य ही मुझे यह मत प्यारा लगता है, सम्भव है इसमें मेरी रुचि और इस ओरकी आसक्ति ही खास कारण हो। मैं तो सब संतोंका दासानुदास और उनकी चरणरजका भिखारी हूँ!

उन्नतिका स्वरूप

वर्तमान जगत्में कोने-कोनेसे उन्नतिकी आवाज आ रही है। चारों ओर उन्नतिकी चर्चा है। सभी क्षेत्रोंमें लोग उन्नति करना चाहते हैं। कहा जाता है कि इस बीसवीं शताब्दीके उन्नतिके युगमें जो देश, जाति, सम्प्रदाय, समाज या व्यक्ति उन्नतिकी दौड़में पीछे रह जायगा, वह नितान्त ही पुरुषार्थहीन समझा जायगा। इसीलिये आज सभी मुट्ठी बाँधकर उन्नतिके मैदानमें मानो बाजी रखकर दौड़ लगा रहे हैं और उन्नति-उन्नतिकी पुकार मचा रहे हैं।

लोगोंके कथनानुसार उन्नति हो भी रही है, जगह-जगह उन्नति या उत्थानके विविध उदाहरण भी उपस्थित किये जाते हैं। 'यूरोप जंगली था, आज सुसभ्य और परम उन्नत है, उसकी धाक सारे संसारपर जमी हुई है। जापान कुछ समय पूर्व अवनतिके गर्तमें गड़ रहा था, आज धन-जन-सम्मानसे परिपूर्ण है। अमेरिकाकी उन्नतिका तो कहना ही क्या है! संसारके सभी राष्ट्र आज धनके लिये उसीकी ओर सतृष्ण दृष्टिसे ताक रहे हैं। टर्कीने मस्जिदोंकी नीलामी इस्तहार निकालकर, अरबी-लिपिका बहिष्कार कर, औरतोंके चेहरोंसे बुर्का हटाकर और खलीफाके पदको पददलित कर बड़ी भारी उन्नति कर ली है। अफगानिस्तान तो उन्नतिके लिये अपना बलिदान ही दे रहा था।' भारत भी उन्नतिमें किसीसे पीछे क्यों रहेगा? मिल-महल, टेलीफोन-रेडियो, मोटर-विमान, कॉलेज-बोर्डिंग, होटल-उपहारगृह, प्रेस-पत्र और नाटक-सिनेमा आदि सभी उन्नत सभ्य-समाजके सामान मौजूद हैं। सब तरहकी आजादी पानेके लिये सर्वत्र 'क्रान्ति' शुरू हो ही गयी है। सभा-समाज और वक्ता-उपदेशक अपना-अपना काम कर रहे हैं। पूरी उन्नति अभी नहीं हुई तो क्या हुआ, कार्यक्रम जारी रहा तो वह दिन भी दूर नहीं समझना चाहिये। बस, दौड़ते रहो, बढ़ते रहो, खबरदार! कोई पिछड़ न जाय। सारांश यह कि आज अखिल विश्वका आकाश उन्नतिके घने मेघोंसे आच्छादित है।

मनमें कई बार प्रश्न उठता है, क्या यही यथार्थ उन्नति है? क्या धन-जन, शारीरिक शक्ति, अस्त्रबल, मान-प्रतिष्ठा, पद-गौरव, रेल-विमान, मोटर आदि

भोग-सामग्रियोंके प्राप्त कर लेनेसे ही हम उन्नत हो जाते हैं? क्या जागतिक मोहमयी विद्याका अनुशीलन कर यथेच्छाचरण करनेसे ही हमारी उन्नति हो जाती है? देखा जाता है, विषयसंग्रहके साधनोंमें और उनके संग्रह हो जानेपर भोगोंमें राग-द्वेष बढ़ जाते हैं,हृदय अभिमानसे भर जाता है। काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और मदका विस्तार हो जाता है। मन, इन्द्रियाँ काबूसे बाहर हो जाती हैं। चौबीसों घंटे उन्मत्तकी भाँति धन, पुत्र, स्त्री, मान, यशादिके भोगनेमें और उनके संग्रह करनेकी चिन्तामें चित्त संलग्न रहता है। क्या यही उन्नतिके चिह्न हैं? क्या आत्मिक उन्नतिको भुलाकर केवल धन, मान, मदके संग्रहमें लगे रहनेसे उन्नतिके नामपर हमारा मन मोहसे अभिभूत नहीं हो जाता और क्या वह अवनतिके समुद्रमें हमें डुबो नहीं देता? एक बार विचार कीजिये, शान्त चित्तसे सोचिये।

एक मनुष्यने बहुत-सी मिलें बनायीं, जिनसे बहुत धन कमाया, आज वह अरबोंकी सम्पत्तिका स्वामी है। उसके भोग-सुखोंके साधनका पार नहीं है। परंतु उसके इतने धनी होनेमें लाखों गरीब तबाह हो गये। हिंसा, असत्य और धोखेबाजीके साधनोंसे उसका हृदय मलिन हो गया, दया जाती रही! आज भी उसका मन मलिन है, उसमें राग-द्वेष भरा है, वह दूसरोंकी उन्नति देखकर जलता और अवनतिसे खिल उठता है। सत्य, शौच, सन्तोष और परमात्माकी उसे कुछ भी परवा नहीं है। धनके मदसे मतवाला होकर वह आठों पहर भोग-विलास, मान-सम्भ्रम या नाम पैदा करनेमें रत है। दूसरी ओर एक मनुष्यने परोपकारमें या प्रारब्धवश व्यापारके नुकसानमें अपना सारा धन खो दिया या वह जन्मसे ही दरिद्री है। आज उसे पेट भरनेके लिये अन्न और सर्दी-गरमीसे बचनेके लिये पूरा कपड़ा नहीं मिलता, परन्तु इस संकटमें भी उसने सद्विचार और सत्संगसे अपने हृदयको शुद्ध कर रखा है। उसमें दयालुता, सरलता, सहानुभूति और शान्ति आदि गुणोंका प्रादुर्भाव हो गया है, वह सदा दूसरोंका भला चाहता है और यथासाध्य करता भी है, समयपर परमात्माको यादकर दु:खमें भी उसकी दयाका अनुभव करता हुआ प्रसन्नचित्त रहता है। बतलाइये, इन दोनोंमें किसकी यथार्थ उन्नति हुई और हो रही है?

एक मनुष्य बड़ा ईश्वरभक्त या देशभक्त कहलाता है, स्थान-स्थानमें उपदेश देता फिरता है, आचार्य या नेताकी हैसियतसे सर्वत्र पूजा जाता है, जगह-जगह मान या मानपत्र प्राप्त करता है, हजारों-लाखों नर-नारी उसके दर्शन करने और भाषण सुननेको लालायित रहते हैं, पर यह सब कुछ वह राग-द्वेषसे प्रेरित होकर मान प्राप्त करने या धन कमानेके लिये कर रहा है। अपनी भड़कीली वक्तृताओंसे अल्पबुद्धि और अनुभवरहित लोगोंको उत्तेजित और पथभ्रष्ट कर उनको इस लोक और परलोकमें दु:खी बना देता है। दूसरी ओर एक सीधा-सादा ईश्वरभक्त व्यक्ति है, जिसको कोई पूछता-जानता भी नहीं, जो चुपचाप अपने भगवान्‌के सामने रोता है। जो अपने सामर्थ्यके अनुसार चुपचाप शरीर, मन, वाणीसे, रोटीके एक सूखे टुकड़ेसे, चुल्लूभर पानीसे, बीमारीकी हालतमें सेवासे, सद्व्यवहारसे और सच्चे सन्मार्गकी शिक्षासे जनताकी सेवा करता है या एकान्तमें बैठकर, जनताकी आँखोंसे ओझल होकर चुपचाप भगवद्भजन ही करता है। बतलाइये, इन दोनोंमें कौन उन्नत है?

एक तंदुरुस्त आदमी रोज अखाड़ेमें जाकर कुश्ती लड़ता है। बात-की-बातमें चाहे जिसे पछाड़ देता है, इसीलिये बल-संग्रह करता है कि वह राग-द्वेषवश जिनको अपना शत्रु समझता है, उन्हें पछाड़ सके। अपने शरीर-बलके अभिमानसे किसीको कुछ समझता ही नहीं, शक्तिके बलपर दूसरोंके मनमें भय उत्पन्न करने और भोग-भोगनेमें ही लगा रहता है। दूसरी ओर एक कोढ़ी मनुष्य है, शरीर अत्यन्त अशक्त हो रहा है, लोग उससे घृणा करते हैं, परन्तु उसका अन्त:करण प्रेमसे पूर्ण है, वह सदा-सर्वदा सबका हित चाहता है, किसीसे द्वेष नहीं करता, जो कुछ मिलता है, उसे ही खाकर एक कोनेमें पड़ा ईश्वरका स्मरण करता है। बतलाइये, इन दोनोंमें आप किसको उन्नतिके पथपर आरूढ़ समझते हैं?

एक बड़े उच्च वर्णका मनुष्य है, रोज घंटों नहाता है, शरीरको खूब मल-मलकर धोता है, तिलक और दिखावटी पूजामें घंटों बिता देता है, किसीको कभी स्पर्श नहीं करता, बड़ा नामी धर्मात्मा कहलाता है, परन्तु अपने वर्ण या जातिके अभिमानवश राग-द्वेषसे प्रेरित होकर दूसरे अपने-ही-जैसे मनुष्योंसे घृणा करता है, उन्हें बुरा-भला कहता है, सबको अपनेसे नीचा समझता है। परम पिता परमात्माकी दूसरी सन्तानसे द्रोह कर परमात्माकी आज्ञाका उल्लंघन करता है और जिसके मनमें ढोंग समाया हुआ है। दूसरी ओर एक नीच वर्णका मनुष्य है, परन्तु उसका हृदय भगवद्भक्तिसे भरा है, वह बड़े प्रेमसे रामनाम लेता है। अपना सब कुछ भगवान्‌का समझता है, कभी किसीकी बुराई नहीं करता

और अपनेको सबसे नीचा समझकर सबकी सेवा करना ही अपना धर्म समझता है। बतलाइये, इनमें कौन यथार्थ उन्नति कर रहा है?

एक मनुष्य जिसे कोई बड़ा अधिकार प्राप्त है, सैकड़ों मनुष्य जिससे सलामी भरते हैं, हजारों जिससे काँपते हैं और 'जी हुजूर' 'जी सरकार' के नामसे सम्बोधन करते हैं; पर जो राग-द्वेषवश अपने अधिकारका दुरुपयोग करता है, स्वार्थवश अन्याय करता है, न्यायान्यायका विचार त्यागकर मनमानी करता है और पद-गौरवमें पागल होकर हर किसीका अपमान कर बैठता है। दूसरी ओर एक मनुष्य जिसको कोई अधिकार प्राप्त नहीं है, जो बात-बातमें दुत्कारा जाता है पर जिसका मन स्वच्छ सलिलकी भाँति निर्मल है, जिसके हृदयमें हिंसा-द्वेषको स्थान नहीं है, जो ईश्वरकी भक्ति करता है और उससे सबका भला मनाता है। बतलाइये, इनमें कौन-सा उन्नतिका पथिक है?

एक मनुष्य दिन-रात मनमाने धर्मके प्रचार-कार्यमें लगा है। प्रसिद्ध व्याख्यानदाता है, राग-द्वेषवश जगह-जगह विधर्मियोंकी निन्दा कर, उनके ईश्वरको अपूर्ण और नीच बतलाकर लोगोंके मनमें घृणा उत्पन्न करता है। अपने धर्मके दोषोंको छिपाकर दूसरोंके थोड़े दोषोंको भी विस्तारसे वर्णन करता है। दूसरी ओर एक मनुष्य चुपचाप धर्मपालन करता है, कहीं भी उसकी प्रसिद्धि नहीं है, परन्तु जो अपने जीवनको धर्ममय बनाकर किसीकी भी व्यर्थ निन्दा-स्तुतिमें समय न लगाकर अपने आदर्श जीवनसे दूसरोंपर अनायास प्रभाव डालता है, पर वह प्रभाव डालनेकी कामनासे धर्म-पालन नहीं करता, केवल कर्तव्यवश ही करता है। बतलाइये, इनमें किसकी उन्नति हो रही है?

एक सज्जनने बहुत विद्याध्ययन किया, शास्त्रोंकी खूब आलोचना की, धड़ाधड़ परीक्षाएँ पास कीं, नामके साथ उपाधियोंके बहुत-से अक्षर जुड़ गये, शास्त्रार्थमें बड़े-बड़े प्रसिद्ध पण्डितोंको परास्त किया, व्याख्यानोंसे आकाश गुँजा दिया, परन्तु विद्याका और विद्वान् होनेपर प्रतिष्ठाका अभिमान बढ़ गया, अनेक प्रकारके तर्कजालोंमें फँसकर उसका मन श्रद्धा और विश्वाससे हीन हो गया। परमात्माकी कोई परवा नहीं, तर्क और पाण्डित्यसे परमात्माकी सिद्धि-असिद्धि करने लगा। शास्त्र उसके मनोविनोदकी सामग्री बन गये। ईश्वरकी दिल्लगियाँ उड़ाने लगा और पूरा यथेच्छाचारी बन गया। दूसरी ओर एक अशिक्षित ग्रामीण है, उसने एक भी परीक्षा पास नहीं की है, उसके नामसे भी लोग अपरिचित हैं, अच्छी तरह बोलना भी नहीं जानता, परन्तु जिसका सरल हृदय विश्वास और श्रद्धासे भरा है, जो नम्रतासे सबका सत्कार करता है, प्रेमपूर्वक परमात्माका नाम-स्मरण करता है, ईश्वरको जगत्‌का नियन्ता समझकर पाप करनेमें डरता है और परम सहृद् तथा परम पिता समझकर प्रेम तथा भक्ति करता है, परम दयालु स्वामी समझकर अपनेको उसका दासानुदास समझता है। प्रेममें कभी हँसता है, कभी रोता है और आनन्दसे चुपचाप अपना शान्त जीवन बिताता है। बतलाइये, इन दोनोंमें किसकी उन्नति हो रही है?

जो लोग अपनी राग-द्वेषयुक्त क्षुद्र अनिश्चयात्मिका बुद्धिकी कसौटीपर ईश्वरके स्वरूपको कसना चाहते हैं, उन्हें ईश्वरमें कभी विश्वास नहीं हो सकता। जो बुद्धि राग-द्वेषसे दूषित है, काम-क्रोधका आगार बनी हुई है, शरीरको ही आत्मा समझती है, उस बुद्धिसे ईश्वरके दिव्य कर्मोंकी जाँच-पड़ताल करना, उसी बुद्धिके निर्णयके अनुसार ईश्वरको चलानेकी कामना करना और उसी निर्णयसे ईश्वरका ईश्वरत्व या अनीश्वरत्व सिद्ध करने जाना कितना बड़ा अज्ञान है? यह स्मरण रखना चाहिये कि सरल विश्वास और श्रद्धा बिना ईश्वरीय ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

कुछ समय पूर्व डॉ० जान माट नामक एक अमेरिकन सज्जन मैसूरमें होनेवाले 'विश्व-छात्र-फेडरेशन' के सभापति बनकर अमेरिकासे भारत आये थे। उन्होंने महात्मा गाँधीजीसे विभिन्न विषयोंपर बातें कीं। बातचीतके प्रसंगमें ही महात्माजीने कहा कि 'मैं युवकोंसे ईश्वरप्रार्थना करनेको कहूँगा।' इसपर डॉ० माटने पूछा—

'यदि इससे उनको लाभ नहीं पहुँचा अर्थात् उनकी प्रार्थना नहीं सुनी गयी तो?'

म०—तब वह उनकी प्रार्थना ही नहीं कही जायगी। वह तो उनकी मौखिक प्रार्थना हुई, प्रार्थना तो वह है जिसका असर हो।

डॉ०—हमारे युवकोंके साथ यही तो कठिनाई है, विज्ञान और दर्शनशास्त्रकी शिक्षाओंने उनकी इन सारी धारणाओंको नष्ट कर दिया है।

म०—यह तो इसी कारण है कि वे विश्वासको बुद्धिकी चेष्टा समझते हैं, आत्माका अनुभव नहीं। बुद्धि हमलोगोंको जीवनक्षेत्रमें कुछ दूरतक ले जा सकती है, परन्तु अन्तमें वह मौकेपर धोखा दे देती है। विश्वाससे कारणोंकी उत्पत्ति होती है। जिस समय हमें चारों ओर

अन्धकार-ही-अन्धकार दिखायी पड़ता है एवं हमारी बुद्धि बेकाम हो जाती है, उस समय विश्वास ही हमारी रक्षाको आता है। यही वह विश्वास है, जिसकी हमारे नवयुवकोंमें आवश्यकता है और यह तभी प्राप्त होता है जब कि बुद्धिके गर्वको बिलकुल चूरकर ईश्वरकी इच्छाओंपर अपनेको पूर्णतया समर्पित कर दिया जाय।

पूज्य महात्माजीका यह कथन अक्षरशः सत्य और सदा स्मरण रखनेयोग्य है। मौके-बेमौके बुद्धिके बेकाम हो जानेपर ईश्वरीय विश्वास ही रक्षक होता है। ईश्वरीय विश्वासके बलसे रक्षित पुरुष ही ऐसी बात कह सकता है। परन्तु आजके इस उन्नतिशील जगत्‌की स्थिति क्या है? जो लोग आज अपनेको उन्नत या उन्नति-पथारूढ़ समझते हैं, उनके हृदयमें यथार्थमें क्या बात है? अपने-अपने हृदयोंको टटोलकर देखिये। खेद है कि ईश्वरको मानना तो दूर रहा, आजके उन्नत मानवोंका हृदय तो मोहसे इतना अभिभूत हो गया है कि अपनी उन्नति-अवनतिके यथार्थ स्वरूपको समझनेकी भी शक्ति प्रायः जाती रही है। बुद्धि सूक्ष्म होते-होते इतनी सूक्ष्म हो गयी कि अब कहीं उसका पता ही नहीं लगता। इसीसे राग-द्वेषके विषैले भावोंसे प्रेरित होकर आजका मनुष्य-समाज परस्पर ध्वंसात्मक चेष्टा और क्रिया कर रहा है तथा उसीमें अपनी उन्नति मान रहा है।

जिस यूरोपकी उन्नतिपर हम मोहित हैं, उसकी उन्नतिके परिणाममें एक तो धन-जन और शान्ति-सुखका ध्वंसकारी महायुद्ध हो गया और दूसरेकी अंदर-ही-अंदर तैयारी हो रही है। पता नहीं, यह अंदरका भयानक विस्फोटक कब फूट उठे। विज्ञानमें उन्नत जगत्‌का वैज्ञानिक आविष्कार गरीबोंका सर्वस्व नाश करने और अल्पकालमें ही बहुसंख्यक मनुष्योंकी हत्या करनेका प्रधान साधन बन रहा है। पेट्रियोटिज्म और देशप्रेम पर-देशदलनका नामान्तरमात्र रह गया है। राष्ट्रसेवा पर-राष्ट्रके अहितचिन्तन और संहारके रूपमें बदल गयी है, उन्नतिके मिथ्या मोह-पाशमें आबद्ध मनुष्य आज रक्तपिपासु हिंसक पशुकी भाँति एक-दूसरेको खा डालनेके लिये कमर कसे तैयार है! एक पाश्चात्य सज्जनने बड़े मार्मिक शब्दोंमें आजकी उन्नत सभ्यताका दिग्दर्शन कराया है। वह कहते हैं—

"To be dignified is the glory of civilizaition, to suppress natural laughter, and smile instead, is grand; to "Put the best side out" and to conceal the natural; to pretend to be greater or better than we are; to think more of our looks, walk, manners, clothing and the wealth. We have robbed the poor of—this is civilization.

To turn away from one poorly clad, not deigning an answer to a civil question; to look coldly in the eye of a stranger, without speaking when accosted because you have not been introduced, this is dignity, this is fashionable; to murder each other without enmity—this is to be civilized.

The earth is drenched with human gore and her fair fields are rich with the bone dust of humanity. The glory of one nation is the destruction of another."

"आभिजात्य प्रदर्शन सभ्यताकी गरिमा है, स्वाभाविक हास्यको दबाकर केवल मुसकरा देना गौरवकी बात है; अपने स्वाभाविक स्वरूपको छिपाकर व्यक्तित्वके सर्वोत्तम पक्षको प्रस्तुत करना; हम जैसे हैं, उससे अपनेको श्रेष्ठ प्रदर्शित करना; अपने रूप, चाल-ढाल, तौर-तरीकों और अपने धनको जिसे हमने गरीबोंसे छीना है, अच्छा समझना—यही सभ्यता है।

किसी गरीब अधनंगे व्यक्तिकी ओरसे मुँह फिरा लेना और नम्रतापूर्वक पूछे गये उसके प्रश्नका उत्तर न देना; यदि कोई अपरिचित व्यक्ति कुछ पूछ बैठे तो चूँकि कायदेसे उसका परिचय नहीं कराया जा सका है, इसलिये बिना बोले उसकी आँखोंमें उदासीन भावसे देखना—यही आभिजात्य है, यही चलन (फैशन) है; बिना किसी शत्रुताके एक-दूसरेकी हत्या कर देना—यही सभ्यता है।

आज पृथ्वी मनुष्यके रक्तसे सन गयी है और उसके सुन्दर खेत मानवके अस्थिचूर्णसे भर उठे हैं। एक राष्ट्रकी समृद्धिके लिये दूसरे राष्ट्रका विनाश आवश्यक है।"

जिस उन्नतिका यह स्वरूप है, वह क्या यथार्थ उन्नति है? एक ही देशमें रहनेवाले मुसलमान हिन्दुओंको और हिन्दू मुसलमानोंको फुसला-धमकाकर अपने धर्म (?) में शामिल करने और एक-दूसरेको नाश करनेकी चेष्टामें लगे हुए हैं। क्या यही उन्नतिका मार्ग है?

राग-द्वेषके विषवृक्षको सींचते रहकर छोटे-छोटे समूहोंको ही अपना स्वरूप मानना तथा एक-दूसरेको

अपना प्रतिद्वन्द्वी और शत्रु समझकर सदाके लिये लड़ाई ठान लेना और मान-मर्यादा, धन-जनादिके संग्रहमें ही अल्पकालस्थायी अमूल्य मानव-जीवनको खो देना वास्तवमें उन्नति नहीं है!

आत्माका उत्थान ही उन्नति है और आत्माका पतन ही अवनति है। जिस साधन या क्रियासे आत्माकी उन्नति होती है, वही कार्य या साधन उन्नतिका उपाय है और जिनसे आत्माका पतन हो, वही अवनतिके कारण हैं। दैवी सम्पत्तिके सुरभित पुष्प जब हृदयमें खिल उठते हैं, तभी मनुष्यकी यथार्थ उन्नति होती है, तभी उसके अन्तस्तलसे उठी हुई वह सुन्दर सुगन्ध बाहर भी चारों ओर फैलकर सबको सुखी बनाती है। इसके विपरीत जब आसुरी सम्पत्तिके कूड़े-कचरे और मलसे हृदय भर जाता है, तभी मनुष्यकी अवनति समझी जाती है। ऐसे मनुष्यके हृदयमें पापोंकी सड़न पैदा होकर चारों ओर फैल जाती है और फिर वही बाहर निकलकर संक्रामक व्याधिकी भाँति सबको आक्रान्त कर दु:खी कर डालती है!

भौतिक पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिसे आत्माकी अवनति-उन्नतिका कोई खास-सम्बन्ध नहीं है। यह सम्बन्ध तो अंदरके भावोंसे है। एक मनुष्य झूठ बोलकर धन कमाता है और दूसरा असत्यका आश्रय लेकर धन कमानेकी अपेक्षा दरिद्र रहना ही उत्तम समझता है। एक मनुष्य दम्भ रचकर मान-बड़ाई प्राप्त करता है और दूसरा सरलतासे अपमान सहता हुआ अपना जीवन बिताता है। इनमें पहले दोनों उन्नतिके मोहमें आत्माका पतन करते हैं और दूसरे आत्माकी यथार्थ उन्नति करते हैं। संसारके भोग्य पदार्थोंके लिये अन्त:करणके सद्गुणोंको नष्ट कर उनके स्थानमें दुर्गुणोंको भर लेना 'घर फूँक तमाशा देखने' से भी बढ़कर मूर्खता है। जिस घरमें मनुष्य सुखपूर्वक निवास करता है, सर्दी-गरमीसे बचता है, उसी घरको यदि वह थोड़ी-सी देरके मनोरंजनके लिये मूर्खतावश जलाकर भस्म कर दे और सदाके लिये निराश्रय हो जाय तो उससे बड़ा मूढ़ और कौन होगा; परन्तु जो लोग केवल थोड़े-से जीवन-कालमें साथ रहनेवाले भौतिक पदार्थोंके संग्रहके लिये हृदयके परम आश्रयरूप दैवी गुणोंको वहाँसे निकाल देते हैं, उनकी मूर्खताके सामने तो उपर्युक्त मूढ़ भी बुद्धिमान् ही समझा जाता है। जो मनुष्य अपने जलते हुए घरकी अग्निके प्रकाशमें काम करनेकी इच्छासे घर जलाता है, उससे वह मनुष्य कहीं अधिक मूर्ख है, जो भोगोंको बटोरनेके लिये अपने सद्गुणोंको त्यागकर सुखी होना चाहता है। प्रथम तो भोगोंका प्राप्त होना भी निश्चित नहीं, सारी उम्र जी-तोड़ परिश्रम और सच्चे मनसे छल छोड़कर प्रयत्न करनेपर भी बहुतोंको वे नहीं मिलते। मिल भी जाते हैं तो उनका किसी भी क्षणमें नाश हो सकता है। पहले नाश न भी हुए तो मरनेके समय तो अवश्य ही वे छूट जाते हैं। ऐसे पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये दुर्लभ मनुष्य-जीवनके सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम, आस्तिकता, शौच, सन्तोष, सदाचार और ब्रह्मचर्य आदि रत्नोंको लुटा देना बड़ा ही मारक मोह है। यदि यह कहा जाय कि 'हमारी तो और कोई इच्छा नहीं है, हमें तो भौतिक पदार्थोंका संग्रह करके केवल लोकोपकार करना है' तो यह कोई बुरी बात नहीं है। भौतिक पदार्थोंकी प्राप्ति करके या दिन-रात उन्हींकी प्राप्तिके साधनोंमें संलग्न रहकर यदि कोई पापोंसे बचा रह सके, अपने सद्गुणोंको बचाये रख सके और ईश्वरके लिये हृदयमें सदाके लिये स्थान सुरक्षित रख सके तो बहुत ही अच्छी बात है। परन्तु ऐसा होना है बहुत कठिन! भोग और भगवान्का एक मनमें एक साथ रहना तो असम्भव ही है। हाँ, यदि सारे भोग ईश्वरार्थ समर्पित कर दिये जायँ और भोगोंका संग्रह भी उसीके लिये होता रहे तो दूसरी बात है। यही निष्काम कर्मयोग है। परन्तु यह बात कहनेमें जितनी सहज है, समझने और कार्यरूपमें परिणत करनेमें वस्तुत: उतनी ही कठिन है!

आज कितने ऐसे हैं जो इस भावसे संसारमें कार्य करते हैं? कितने ऐसे हैं जो यथार्थ आभ्यन्तरिक उन्नतिका खयाल कर रहे हैं? संसारके सुखोंकी इच्छा आभ्यन्तरिक उन्नतिकी भावनाको दबा देती है। कामनासे ज्ञान हरा जाता है। मोहसे बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। इसीसे मनुष्य उन भोग्य पदार्थोंकी प्राप्तिमें ही अपनी उन्नति समझ रहे हैं, जिनका सम्बन्ध केवल इस शरीरतक ही है—और उन्हींकी प्राप्तिके लिये अपना तन-मन लगा रहे हैं। इसीलिये आज हम सब एक ही परम पिता ईश्वरकी सन्तान होनेपर भी अभिमानवश एक-दूसरेको भिन्न समझ रहे हैं। इसीसे हमने अपने प्रेमकी सीमा इतनी संकुचित कर ली है कि आज जरा-जरा-से स्वार्थके लिये एक-दूसरेका नाश करनेमें नहीं सकुचाते तथा मोहवश इसीको धर्मके नामसे पुकारते हैं और इसीको उन्नति मानते हैं। भगवान्ने गीताके सोलहवें अध्यायमें आत्माका पतन करनेवाली आसुरी सम्पदाके लक्षणोंका विस्तारसे वर्णन किया है—

आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्य जगत्को आश्रयहीन, असत्य, ईश्वरहीन स्त्री-पुरुषके संयोगसे ही उत्पन्न और भोगोंके लिये ही बना हुआ बतलाते हैं। इस प्रकारके दृष्टिकोणको लेकर वे दुष्ट-स्वभावके, मन्दबुद्धि, पराया अहित करनेवाले, क्रूरकर्मी मनुष्य जगत्का नाश करनेके लिये उत्पन्न होते हैं। ढोंग, मान और घमंडसे भरे हुए वे लोग कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर मोहसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहणकर संसारमें भ्रष्टाचरण करने लगते हैं। विषय-भोगोंमें लगे हुए वे लोग बस, इतना ही आनन्द मानकर मृत्युकालपर्यन्त अनन्त प्रकारके विषयोंकी चिन्तामें लगे रहते हैं। सैकड़ों प्रकारकी आशाकी फाँसियोंमें बँधे हुए, काम-क्रोधसे ही जीवनका उद्देश्य सिद्ध होना समझनेवाले वे लोग विषय-भोगोंकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारसे अन्यायपूर्वक धनसंग्रह करनेकी चेष्टामें लगे रहते हैं। आज यह पैदा किया, कल उस मनोरथकी सिद्धि होगी। इतना धन तो मेरे पास हो गया, इतना और हो जायगा। एकको तो आज मार ही डाला, शेष शत्रुओंको भी मारे बिना नहीं छोड़ूँगा। मैं ही तो ईश्वर हूँ, मैं ही धन-ऐश्वर्यके भोगका अधिकारी हूँ। सारी सिद्धियाँ, शक्तियाँ और सुख मुझमें ही तो हैं। मैं बड़ा धनवान् हूँ, मेरा बड़ा परिवार है, मेरी समता करनेवाला दूसरा कौन है? मैं धन कमाकर नामके लिये दान करूँगा, यज्ञ करूँगा और मौज उड़ाऊँगा (गीता १६। ८—१५)।

इस तरह अपने-आपको ही सबसे श्रेष्ठ समझनेवाले ऐसे अभिमानी मनुष्य धन और मानके मदसे मत्त होकर दम्भसे मनमाने तौरपर नाममात्रके लिये यज्ञ करते हैं। अहंकार, शरीर-बल, मानसिक दर्प, कामना, क्रोध आदि दुर्गुणोंके परायण होकर वे परनिन्दा करनेवाले दुष्टलोग अपने और पराये सभी शरीरोंमें स्थित भगवान्से द्वेष करते हैं (गीता १६। १७-१८)।

छातीपर हाथ रखकर कहिये। इस बीसवीं शताब्दीके उन्नत मानव-समाजके हमलोगोंके हृदयमें उपर्युक्त आसुरी सम्पदाके कौन-से धनकी कमी है? जहाँ भोगोंकी लालसा होगी, वहाँ इस धनकी कमी रहेगी भी नहीं। इसीलिये महात्माओंने भोगोंकी निन्दा कर त्यागकी महिमा गायी है। इसीलिये भारतके त्यागी महर्षियोंने हिन्दुओंके चार आश्रमोंमें तीन प्रधान आश्रमों (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास)-को त्यागपूर्ण बनाया है।

इस त्यागकी भावनाको तिलांजलि देकर भोगोंमें ही उन्नतिकी इतिश्री समझनेवाले आसुरी सम्पत्तिके मनुष्योंका पतन हो जाता है, वे अनेक प्रकारसे भ्रमित-चित्त हो मायाजालमें फँसकर विषय-भोगोंमें ही आसक्त हो रहते हैं, जिसके परिणाममें उन्हें अति अपवित्र नरकोंमें गिरना पड़ता है (गीता १६। १६)। भगवान् कहते हैं कि सबके हृदयमें स्थित अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष करनेवाले उन पापी क्रूर नराधमोंको मैं बारम्बार आसुरी-योनियोंमें पटकता हूँ, वे जन्म-जन्ममें आसुरी-योनियोंको प्राप्त होकर फिर उससे भी अति नीच गतिको प्राप्त होते हैं, परन्तु मुझको नहीं पा सकते। '**मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्**' (गीता १६। १९-२०)।

अतएव हमलोगोंको चाहिये कि भौतिक उन्नतिके यथार्थ आसुरी-स्वरूपको भलीभाँति पहचानकर इसके मोहसे शीघ्र अपनेको मुक्त कर लें और यथार्थ उन्नतिके प्रयत्नमें लगें। संसारमें वह मनुष्य धन्य है जिसके धन, जन, परिवार, कुटुम्ब, मान-प्रतिष्ठा, पद-गौरव आदि कुछ भी नहीं है, जो सब तरहसे दीन, हीन, घृणित और उपेक्षित है; परन्तु जिसका अन्त:करण दैवी सम्पदाके दिव्य गुणोंसे विभूषित है, जिसका मन परमात्माके प्रेममें संलग्न है और जिसकी आत्मा परमात्माके मिलनेको छटपटा रही है, ऐसी आत्मा एक ग्रामीण, राजनीतिशून्य, मूर्ख, चाण्डाल, जंगली या कोढ़ी मनुष्यमें भी रह सकती है, अतएव किसीके भी नाम-रूपको देखकर घृणा न करो, पता नहीं उसके अंदर तुमसे और तुम्हारी ऊँची-से-ऊँची कल्पनासे भी बहुत ऊँची आत्मा हो!

तुम्हारा स्वराज्य

स्वराज्य, स्वदेश, स्वजाति आदि शब्द इस समय बहुत ज्यादा प्रचलित हैं। ऐसा कोई समाचार-पत्र नहीं, जिसके अंकोंमें इन शब्दोंको स्थान न मिलता हो और वास्तवमें ये शब्द हमारे लिये हैं भी बहुत आवश्यक। स्वजाति और स्वदेशका प्रेम न होनेके कारण ही हम स्वराज्यसे वंचित हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। इसलिये प्रत्येक मनुष्यका यह परम कर्तव्य है कि स्वराज्यकी प्राप्तिके लिये स्वदेश और स्वजातिकी सेवामें तन-मन-धन सब कुछ अर्पण कर दे; क्योंकि स्वराज्य हमारा अनादिसिद्ध अधिकार है। जो भाई स्वदेश, स्वजातिकी

सेवामें लगे हुए हैं, वे सर्वथा स्तुत्य और धन्यवादके पात्र हैं, परन्तु समझना चाहिये कि इन शब्दोंका यथार्थ अर्थ क्या है और वास्तवमें इनका हमसे क्या सम्बन्ध है? किसी कार्यविशेषसे या बलात् मनुष्यको जब किसी अन्य देशमें रहना पड़ता है, तब उसे वह स्वदेश मानकर वहाँ नहीं रहता। आज भारतके जो विद्यार्थी शिक्षालाभके लिये यूरोपमें रहते हैं या सरकारके अनुचित प्रतिबन्धके कारण जिनको विदेशोंमें रहनेके लिये बाध्य होना पड़ रहा है, वे स्वदेश भारतको ही समझते हैं; वे जहाँ रहते हैं वहाँ उन्हें कोई कष्ट न होनेपर भी उनको उस देशकी अपेक्षा भारत विशेष प्रिय लगता है, वे वहाँ रहते हुए भी भारतका स्मरण करते, भारतकी भलाई चाहते—यथासाध्य भलाई करते और भारतवासियोंसे मिलनेमें प्रसन्न होते हैं। कारण यही है कि वे अपने स्वदेशको भूले नहीं हैं, परन्तु उनमेंसे जो परदेशके भोगविलासोंमें अपना मन रमाकर देशको भूल गये हैं, परदेशको ही स्वदेश मानने लगे हैं, उन्होंने अपने धर्म और अपनी सभ्यतासे गिरकर अपने-आपको सर्वथा विदेशी बना लिया है, ऐसे लोगोंके कारण देशप्रेमी भारतवासी दुःखी रहते हैं। वे चाहते हैं कि हमारे ये भूले हुए भाई—जो ऊपरी चमक-दमकके चकमेमें फँसकर विदेशको स्वदेश और विजातीयको स्वजातीय समझने लगे हैं—किसी तरहसे अपने स्वरूपका स्मरणकर, अपने देश और जातिके गुणोंको जानकर पुनः स्वदेशी बन जायँ तो बड़ा अच्छा हो। स्वदेशी बन जानेका यह अर्थ नहीं कि इस समय वे विदेशी या विजातीय हैं, उन्होंने अपनेको भूल जानेके कारण भ्रमसे विदेशी या विजातीय मानकर विदेशी धर्मको धारण कर लिया है। यदि वे घर लौट आवें तो उनके लिये घरका दरवाजा सदा ही खुला है और रहना चाहिये, इसीसे जाति और देशहितैषी सज्जन भ्रमसे विधर्मी बने हुए भाइयोंको पुनः स्वधर्ममें दीक्षित करना चाहते हैं।

परंतु यदि एक ही देशके रहनेवाले दो गाँवोंके लोग या एक ही गाँवमें रहनेवाले दो मुहल्लोंके सजातीय भाई अपनेको अलग-अलग मान लें; गाँव और मुहल्लोंके भेदसे परस्पर पर भाव कर लें; अपने गाँवको या मुहल्लेको ही देश और दूसरे भाइयोंके निवासस्थान गाँव और मुहल्लेको परदेश मान लें तो बड़ी गड़बड़ी मच जाती है। देश और जातिके शरीरका सारा संगठन विशृंखल हो जाता है। उसके सब अवयवोंमें दुर्बलता आ जाती है, जिसका परिणाम सिवा मृत्युके और कुछ नहीं होता। सच पूछिये तो इन क्षुद्र भावोंके कारण ही आज भारत पर-पददलित और परतन्त्र है। यदि भारतवासी अपने-अपने प्रान्त, छोटे राज्य, गाँव या मुहल्लोंको ही देश न मानकर सबकी समष्टिको स्वदेश मानते तो भारतका इतिहास और इसका मानचित्र आज दूसरे ही प्रकारका होता। अब भी इस देशके सभी निवासी अपनी-अपनी डफली अलग बजाना छोड़कर एक सूत्रमें बँध जायँ और प्रान्तीयता तथा जातिगत झगड़ोंको छोड़कर एक राष्ट्रीयता स्वीकार कर लें तो भारतको स्वराज्यकी प्राप्ति होनेमें विलम्ब नहीं हो सकता। पर क्या भारत ही हमारा देश है, भारतवासियोंकी जाति ही हमारी स्वजाति है और भारतको मिलनेवाला राजनैतिक अधिकार ही हमारा स्वराज्य है?

आध्यात्मिकताका आदिगुरु, परमार्थ-सन्देशका नित्यवाहक, परमात्मतत्त्वका विवेचक, परमात्माके साकार अवतारोंकी लीलाभूमि, जगत्के धर्माचार्य और पैगम्बरोंकी जन्मभूमि, मुक्तिपथके पथिकोंको पाथेय वितरण करनेवाला भारत इस प्रश्नका क्या उत्तर देता है?

इहलौकिक उन्नतिको ही जीवनका चरम लक्ष्य माननेवाले स्थूलवाद-प्रधान जगत्का तो भूमिखण्डके किसी एक क्षुद्र खण्डको देश मानना, जिस कल्पित जातिमें स्थूल शरीर जन्मा हो उसीमें जन्म लेनेवालोंको स्वजाति बतलाना और उस देश या जातिको अपनी मनमानी करनेके अधिकारको ही स्वराज्य मानना सम्भव है। परन्तु भारतवासी—अखिल ब्रह्माण्डको ब्रह्मके एक अंशमें स्थित और ब्रह्माण्डमें ब्रह्मको नित्य स्थित या चराचर ब्रह्माण्डको ब्रह्मका ही विवर्त माननेवाले भारतवासी यदि अपने असली ब्रह्मस्वरूपको भूलकर मायाकल्पित आपातरमणीय मायिक सुन्दरतायुक्त स्थलविशेषको ही अपना स्वदेश मान लें तो क्या यह ब्रह्मकी राष्ट्रीयताका विघातक नहीं है? मायासे बने हुए जगत्को अपना देश मानकर उसीमें मोहित रहना क्या विदेशको स्वदेश मान लेना नहीं है?

अपनी सच्चिदानन्दरूप नित्य अखण्ड स्वाभाविक सत्ताको भूलकर मायिक सत्ताको ही अपनी सत्ता मान लेना क्या सजातीयताको छोड़कर विजातीय बन जाना नहीं है? अपने **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** स्वरूपको विस्मृत कर अपने मूल स्वभाव—धर्मको छोड़कर जगत्के मायिक धर्मको अपना धर्म मान लेना क्या विधर्मी बन जाना नहीं है?

विचार करो तुम कौन हो? तुम अमर हो, तुम सुखरूप हो, तुम नित्य हो, तुम सर्वव्यापी हो, तुम अखण्ड

हो, तुम पूर्ण हो, तुम अजर हो, तुम सबमें व्याप्त हो, तुम मायासे अतीत हो, तुम्हारी ही सत्तासे जगत्का अस्तित्व है, तुम्हारे ही सौन्दर्यसे जगत् सुन्दर है, तुम्हारी ही महिमासे विश्व महिमान्वित है, तुम्हारे ही प्रकाशसे जगत् प्रकाशित है, तीनों लोक तुम्हारे ही अंदर तुम्हारी मायासे प्रतिभासित हैं, अरे! अपने इस गौरवका स्मरण करो, स्वरूपका अनुसंधान करो, उसे प्राप्त करो, फिर देखोगे, जगत्भरमें तुम्हीं भरे हो, सभी देश, सभी जाति तुम्हारे ही अन्दर कल्पित हैं, तुम्हारे ही अखण्ड राज्यमें सबका निवास है। तुम्हारा स्वराज्य नित्य प्रतिष्ठित है।

इस असली स्वरूपको भूलकर छोटे मत बनो, अपनी विशाल सत्ताको क्षुद्र सीमासे मर्यादित न करो, अपने सत्, चित्, आनन्दस्वरूप स्वधर्मसे च्युत मत होओ, मायाके विजातीय आवरणसे अपनेको कभी आच्छादित न होने दो। तुम्हारा स्वदेश, तुम्हारी स्वजाति और तुम्हारा स्वराज्य तो तुम स्वयं हो और तुम्हारी ही सत्ता सम्पूर्ण दिशाओंमें विकीर्ण हो रही है, जगत्के सारे देश, सारी जातियाँ और सारे राज्यकल्पनाकी समस्त सामग्रियाँ तुम्हारे ही अन्दर प्रतिष्ठित हैं। फिर अपने विशाल समष्टिसे निकलकर क्षुद्र व्यष्टिके अहंकारसे राग-द्वेषके वशीभूत क्यों होते हो?

तुम अमृत हो—सत्य हो, ज्ञानस्वरूप हो, अनन्त हो, ब्रह्म हो, सच्चिदानन्दघन हो। अपनी ओर देखो और तृप्त हो रहो। तुम हो '**सत्यं शिवं सुन्दरम्।**'

दीवानोंकी दुनिया

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(गीता २। ६९)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'जो सब भूतप्राणियोंके लिये रात्रि है, संयमी पुरुष उसमें जागता है और सब भूतप्राणी जिसमें जागते हैं, तत्त्वदर्शी मुनिके लिये वह रात्रि है।' अर्थात् साधारण भूतप्राणी और यथार्थ तत्त्वके जाननेवाले अन्तर्मुखी योगियोंके ज्ञानमें रात-दिनका अन्तर है। साधारण संसारी लोगोंकी स्थिति क्षणभंगुर, विनाशशील सांसारिक भोगोंमें होती है, उल्लूके लिये रात्रिकी भाँति उनकी दृष्टिमें वही परम सुखकर है, परन्तु इसके विपरीत तत्त्वदर्शियोंकी स्थिति नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमानन्द परमात्मामें होती है; उनके विचारमें सांसारिक विषयोंकी सत्ता ही नहीं है, तब उनमें सुखकी प्रतीति तो होती ही कहाँसे? इसीलिये सांसारिक मनुष्य जहाँ विषयोंमें संग्रह और भोगोंमें लगे रहते हैं—उनका जीवन भोगपरायण रहता है, वहाँ तत्त्वज्ञ पुरुष न तो विषयोंकी कोई परवा करते हैं और न भोगोंको कोई वस्तु ही समझते हैं। साधारण लोगोंकी दृष्टिमें ऐसे महात्मा मूर्ख और पागल जँचते हैं, परन्तु महात्माओंकी दृष्टिमें तो एक ब्रह्मकी अखण्ड सत्ताके सिवा मूर्ख-विद्वान्की कोई पहेली ही नहीं रह जाती। इसीलिये वे जगत्को सत्य और सुखरूप समझनेवाले अविद्याके फंदेमें फँसकर राग-द्वेषके आश्रयसे भोगोंमें रचे-पचे हुए लोगोंको समय-समयपर सावधान करके उन्हें जीवनका यथार्थ पथ दिखलाया करते हैं। ऐसे पुरुष जीवन-मृत्यु दोनोंसे ऊपर उठे हुए होते हैं। अन्तर्जगत्में प्रविष्ट होकर दिव्य दृष्टि प्राप्त कर लेनेके कारण इनकी दृष्टिमें बहिर्जगत्का स्वरूप कुछ विलक्षण ही हो जाता है। ऐसे ही महात्माओंके लिये भगवान्ने कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

(गीता ७। १९)

'सब कुछ एक वासुदेव ही है, ऐसा मानने-जाननेवाला महात्मा अति दुर्लभ है।' ऐसे महात्मा देखते हैं कि 'सारा जगत् केवल एक परमात्माका ही विस्तार है, वही अनेक रूपोंसे इस संसारमें व्यक्त हो रहे हैं। प्रत्येक व्यक्त वस्तुके अन्दर परमात्मा व्याप्त हैं। असलमें व्यक्त वस्तु भी उस अव्यक्तसे भिन्न नहीं है। परम रहस्यमय वह एक परमात्मा ही अपनी लीलासे भिन्न-भिन्न व्यक्तरूपोंमें प्रतिभासित हो रहे हैं, जिनको प्रतिभासित होते हैं, उनकी सत्ता भी उन परमात्मासे पृथक् नहीं है। ऐसे महात्मा ही परमात्माकी इस अद्भुत रहस्यमय पवित्र गीतोक्त घोषणाका पद-पदपर प्रत्यक्ष करते हैं कि—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

(९। ४-५)

'मुझ सच्चिदानन्दघन अव्यक्त परमात्मासे यह समस्त विश्व परिपूर्ण है और ये समस्त भूत मुझमें

स्थित हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ, ये समस्त भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं, मेरी योगमाया और प्रभावको देख कि समस्त भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला मेरा आत्मा उन भूतोंमें स्थित नहीं है।' अजब पहेली है, पहले आप कहते हैं कि 'मेरे अव्यक्त स्वरूपसे सारा जगत् भरा है, फिर कहते हैं, जगत् मुझमें है, मैं उसमें नहीं हूँ, इसके बाद ही कह देते हैं कि न तो यह जगत् ही मुझमें है और न मैं ही इसमें हूँ। यह सब मेरी मायाका अप्रतिम प्रभाव है—मेरी लीला है।' यह अजब उलझन उन महात्माओंकी बुद्धिमें सुलझी हुई होती है, वे इसका यथार्थ मर्म समझते हैं। वे जानते हैं कि जगत्में परमात्मा उसी तरह सत्यरूपसे परिपूर्ण है, जैसे जलसे बर्फ ओत-प्रोत रहती है यानी जल ही बर्फके रूपमें भास रहा है। यह सारा विश्व कोई भिन्न वस्तु नहीं है; परमात्माके संकल्पसे, बाजीगरके खेलकी भाँति उस संकल्पके ही आधारपर स्थित है। जब कोई भिन्न वस्तु ही नहीं है तब उसमें किसीकी स्थिति कैसी? इसीलिये परमात्माके संकल्पमें ही विश्वकी स्थिति होनेके कारण वास्तवमें परमात्मा उसमें स्थित नहीं है, परन्तु विश्वकी यह स्थिति भी परमात्मामें वास्तविक नहीं है, यह तो उनका एक संकल्पमात्र है। वास्तवमें केवल परमात्मा ही अपने-आपमें लीला कर रहे हैं, यही उनका रहस्य है। इस रहस्यको तत्त्वसे समझनेके कारण ही महात्माओंकी दृष्टि दूसरी हो जाती है। इसलिये वे प्रत्येक शुभ-अशुभ घटनामें सम रहते हैं—जगत्का बड़े-से-बड़ा लाभ उनको आकर्षित नहीं कर सकता; क्योंकि वे जिस परम वस्तुको पहचानकर प्राप्त कर चुके हैं उसके सामने कोई लाभ लाभ ही नहीं है। इसी प्रकार लोकदृष्टिसे भासनेवाले महान्-से-महान् दुःखमें भी वे विचलित नहीं होते; क्योंकि उनकी दृष्टिमें दुःख-सुख कोई (ईश्वरसे भिन्न) वस्तु ही नहीं रह गये हैं। ऐसे महापुरुष ही ब्रह्ममें नित्य स्थित समझे जाते हैं। भगवान्ने गीतामें कहा है—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

(५। २०)

ऐसे स्थिरबुद्धि संशयशून्य ब्रह्मवित् महात्मा लोकदृष्टिसे प्रिय प्रतीत होनेवाली वस्तुको पाकर हर्षित नहीं होते और लोकदृष्टिसे अप्रिय पदार्थको पाकर उद्विग्न नहीं होते; क्योंकि वे सच्चिदानन्दघन सर्वरूप परब्रह्म परमात्मामें नित्य अभिन्नभावसे स्थित हैं। जगत्के लोगोंको जिस घटनामें अमंगल दीखता है, महात्माओंकी दृष्टिमें वही घटना ब्रह्मसे ओत-प्रोत होती है, इसलिये वे न तो ऐसी किसी घटनाका विरोध करते हैं और न उससे विपरीत घटनाके लिये आकांक्षा करते हैं; क्योंकि वे सांसारिक शुभ-अशुभके परित्यागी हैं।

ऐसे महापुरुषोंद्वारा जो कुछ क्रियाएँ होती हैं, उनसे कभी जगत्का अमंगल नहीं हो सकता, चाहे वे क्रियाएँ लोकदृष्टिमें प्रतिकूल ही प्रतीत होती हों। सत्यपर स्थित और केवल सत्यके ही लक्ष्यपर चलनेवाले लोगोंकी चाल, विपरीतगति असत्यपरायण लोगोंको प्रतिकूल प्रतीत हो सकती है और वे सब उनको दोषी भी बतला सकते हैं, परन्तु सत्यपर स्थित महात्मा उन लोगोंकी कोई परवा नहीं करते। वे अपने लक्ष्यपर सदा अटलरूपसे स्थित रहते हैं। लोगोंकी दृष्टिमें महाभारत-युद्धसे भारतवर्षकी बहुत हानि हुई, पर जिन परमात्माके संकेतसे यह संहार-लीला सम्पन्न हुई उनकी और उनके रहस्यको समझनेवाले दिव्यकर्मी पुरुषोंकी दृष्टिमें उससे देश और विश्वका बड़ा भारी मंगल हुआ। इसीलिये दिव्यकर्मी अर्जुन भगवान्के संकेतानुसार सब प्रकारके धर्मोंका आश्रय छोड़कर केवल भगवान्के वचनके अनुसार ही महासंग्रामके लिये सहर्ष प्रस्तुत हो गये थे। जगत्में ऐसी बहुत-सी बातें होती हैं जो बहुसंख्यक लोगोंके मतसे बुरी होनेपर भी उनके तत्त्वज्ञके मतमें अच्छी होती हैं और यथार्थमें अच्छी ही होती हैं, जिनका अच्छापन समयपर बहुसंख्यक लोगोंके सामने प्रकट और प्रसिद्ध होनेपर वे उसे मान भी लेते हैं अथवा ऐसा भी होता है कि उनका अच्छापन कभी प्रसिद्ध ही नहीं हो पाता। परन्तु इससे उनके अच्छे होनेमें कोई आपत्ति नहीं होती। सत्य कभी असत्य नहीं हो सकता, चाहे उसे सारा संसार सदा असत्य ही समझता रहे। अतएव जो भगवत्तत्त्व और भगवान्की दिव्य लीलाका रहस्य समझते हैं, उनके दृष्टिकोणमें जो कुछ यथार्थ प्रतीत होता है वही यथार्थ है। परन्तु उनकी यथार्थ प्रतीति साधारण बहुसंख्यक लोगोंकी समझसे प्रायः प्रतिकूल ही हुआ करती है; क्योंकि दोनोंके ध्येय और साधनमें पूरी प्रतिकूलता रहती है।

सांसारिक लोग धन, मान, ऐश्वर्य, प्रभुता, बल, कीर्ति आदिकी प्राप्तिके लिये परमात्माकी कुछ भी परवा न कर अपना सारा जीवन इन्हीं पदार्थोंके प्राप्त करनेमें लगा देते हैं और इसीको परम पुरुषार्थ मानते हैं। इसके विपरीत परमात्माकी प्राप्तिके अभिलाषी पुरुष

परमात्माके लिये इन सारी लोभनीय वस्तुओंका तृणवत्, नहीं-नहीं, विषवत् परित्याग कर देते हैं और उसीमें उनको बड़ा आनन्द मिलता है। पहलेको मान प्राण-समान प्रिय है तो दूसरा मान-प्रतिष्ठाको शूकरी-विष्ठा समझता है। पहला धनको जीवनका आधार समझता है तो दूसरा लौकिक धनको परमधनकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक मानकर उसका त्याग कर देता है। पहला प्रभुता प्राप्तकर जगत्पर शासन करना चाहता है तो दूसरा '**तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना**' बनकर महापुरुषोंके चरणकी रजका अभिषेक करनेमें ही अपना मंगल मानता है। दोनोंके भिन्न-भिन्न ध्येय और मार्ग हैं। ऐसी स्थितिमें एक-दूसरेको पथभ्रान्त समझना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यह तो विषयी और मुमुक्षुका अन्तर है। परन्तु इससे पहले किये हुए विवेचनके अनुसार मुक्त अथवा भगवदीय लीलामें सम्मिलित भक्तके लिये तो जगत्का स्वरूप ही बदल जाता है। इसीसे वह इस खेलसे मोहित नहीं होता। जब छोटे लड़के काँचके या मिट्टीके खिलौनोंसे खेलते और उनके लेन-देन, ब्याह-शादीमें लगे रहते हैं, तब बड़े लोग उनके खेलको देखकर हँसा करते हैं, परन्तु छोटे बच्चोंकी दृष्टिमें वह बड़ोंकी भाँति कल्पित वस्तुओंका खेल नहीं होता। वे उसे सत्य समझते हैं और जरा-जरा-सी वस्तुके लिये लड़ते हैं, किसी खिलौनेके टूट जाने या छिन जानेपर वे रोते हैं! वास्तवमें उनके मनमें बड़ा कष्ट होता है। नया खिलौना मिल जानेपर वे बहुत हर्षित होते हैं। जब माता-पिता किसी ऐसे बच्चेको, जिसके मिट्टीके खिलौने टूट गये हैं या छिन गये हैं, रोते देखते हैं तो उसे प्रसन्न करनेके लिये कुछ खिलौने और दे देते हैं जिससे वह बच्चा चुप हो जाता है और अपने मनमें बहुत हर्षित होता है, परन्तु सच्चे हितैषी माता-पिता बालकको केवल खिलौना देकर ही हर्षित नहीं करना चाहते; क्योंकि इससे तो इस खिलौनेके टूटनेपर भी उन्हें फिर रोना पड़ेगा। अतएव वे समझाकर उनका यह भ्रम भी दूर कर देना चाहते हैं कि खिलौने वास्तवमें सच्ची वस्तु नहीं हैं। मिट्टीकी मामूली चीज हैं, उनके जाने-आने या बनने-बिगड़नेमें कोई विशेष लाभ-हानि नहीं है। इसी प्रकारकी दशा संसारके मनुष्योंकी हो रही है। संसारके लोग जिन सब वस्तुओंके नाश हो जानेपर रोते और पुनः मिलनेकी आकांक्षा करते हैं या जिनकी अप्राप्तिमें अभावका अनुभव कर दुःखी होते हैं और प्राप्त होनेपर हर्षसे फूल जाते हैं, तत्त्वदर्शी पुरुष इस तरह नहीं करते, वे इस रहस्यको समझते हैं, इसलिये वे समय-समयपर बच्चोंके साथ बच्चे-से बनकर खेलते हैं, बच्चोंके खेलमें शामिल हो जाते हैं, परन्तु होते हैं उन बच्चोंको खेलका असली तत्त्व समझाकर सदाको शोकमुक्त कर देनेके लिये ही!

ऐसे भगवान्‌के प्यारे भक्त विश्वकी प्रत्येक क्रियामें परमात्माकी लीलाका अनुभव करते हैं। वे सभी अनुकूल और प्रतिकूल घटनाओंमें परमात्माको ओत-प्रोत समझकर, लीलारूपमें उनको अवतरित समझकर, उनके नित्य नये-नये खेलोंको देखकर प्रसन्न होते हैं और सब समय सब तरहसे और सब ओरसे सन्तुष्ट रहते हैं। ऐसे लोगोंको जगत्‌के लोग—जिनका मन भोगोंमें उन्हें सुखरूप समझकर फँसा हुआ है—स्वार्थी, अकर्मण्य, आलसी, पागल, दीवाने और भ्रान्त समझते हैं, परन्तु वे क्या होते हैं, इस बातका पता वास्तवमें उन्हींको रहता है। ऐसे दीवानोंकी दुनिया दूसरी ही होती है, उस दुनियामें कभी राग-द्वेष, रोग-शोक, सुख-दुःख नहीं होते, वह दुनिया सूर्य-चन्द्रसे प्रकाशित नहीं होती, स्वतः प्रकाशित रहती है, इतना ही नहीं, उसी दुनियाके परम प्रकाशसे सारे विश्वको प्रकाश मिलता है।

गीताका पर्यवसान साकार ईश्वरकी शरणागतिमें है

श्रीमद्भगवद्‌गीता भगवान् सच्चिदानन्दकी दिव्य वाणी है, इसका यथार्थ अर्थ भगवान् ही जानते हैं, हमलोग अपनी-अपनी भावना और दृष्टिकोणके अनुसार गीताका अर्थ निकालते हैं, यही स्वाभाविक भी है। परन्तु स्वयं भगवान्‌की वाणी होनेसे गीता ऐसा आशीर्वादात्मक ग्रन्थ है कि किसी तरह भी इसकी शरण ग्रहण करनेसे शेषमें परमात्मप्रेमका पथ मिल जाता है। गीतापर अबतक अनेक टीकाएँ बनी हैं और भिन्न-भिन्न महानुभावोंने गीताका प्रतिपाद्य विषय भी भिन्न-भिन्न बतलाया है, उन विद्वानों और पूज्य पुरुषोंके चरणोंमें ससम्मान नमस्कार करता हुआ, उनके विचारोंका कुछ भी खण्डन करनेकी तनिक-सी भी इच्छा न रखता हुआ मैं पाठकोंके सामने अपने मनकी बात रखना चाहता हूँ। शास्त्र-प्रतिपादित ज्ञानयोग, ध्यानयोग, समाधियोग, कर्मयोग आदि सर्वथा उपादेय हैं और प्रसंगवश गीतामें इनका उल्लेख भी पूर्णरूपसे है, परन्तु मेरी समझसे

गीताका पर्यवसान 'साकार भगवान्की शरणागति' में है और यही गीताका प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। गीताके प्रधान श्रोता अर्जुनके जीवनसे यही सिद्ध होता है।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके बड़े प्रेमी सखा थे, उनके चुने हुए मित्र थे। आहार, विहार, भोजन, शयन—सभीमें साथ रहते थे, अर्जुनने भगवान्को अपने जीवनका आधार बना लिया था, इसीलिये उनके ऐश्वर्यकी तनिक-सी भी परवा न कर मधुररूप प्रियतम उन्हींको अपना एकमात्र सहायक और संगी बनाकर अपने रथकी या जीवनकी बागडोर उन्हींके हाथमें सौंप दी थी। दुर्योधन उनकी करोड़ों सेनाको ले गया, परन्तु इस बातका अर्जुनके मनमें कुछ भी असन्तोष नहीं था। उसके हृदयमें सेनाबल—जडबलकी अपेक्षा प्यारे श्रीकृष्णके प्रेम-बलपर कहीं अधिक विश्वास था। इसीलिये भगवान्की आज्ञासे अर्जुन युद्धमें प्रवृत्त हुए थे। परन्तु युद्धक्षेत्रमें पहुँचते ही वे इस भगवत्-निर्भरताको भूल गये। भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे युद्धमें प्रवृत्त होनेपर उन्हें बीचमें अपनी बुद्धि लगाकर युद्धको बुरा बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी, किन्तु बड़े समझदार अर्जुनके मनमें यहाँ अपनी समझदारीका अभिमान जागृत हो उठा और इसीसे वे लीलामय प्रियतम भगवान्की प्रेरणाके विरुद्ध 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' कहकर चुप हो बैठे। यही अर्जुनका मोह था। एक ओर निर्भरता छूटनेसे चित्त अनाधार होकर अस्थिर हो रहा था, जिसके चेहरेपर विषादकी रेखाएँ स्पष्टरूपसे प्रस्फुटित हो उठी थीं, परन्तु दूसरी ओर ज्ञानाभिमान जोर दे रहा था, इसीपर भगवान्ने अर्जुनको प्रज्ञावादियोंकी-सी बातें कहनेवाला कहकर चेतावनी दी। उनको स्मरण दिलाया कि 'तुझे इस ज्ञान-विवेकसे क्या मतलब है, तू तो मेरी लीलाका यन्त्र है, मेरे इच्छानुसार लीलाक्षेत्रमें खेलका साधन बना रह।' परन्तु अपने ज्ञानके अभिमानसे मोहित अर्जुनको इस तत्त्वकी स्मृति नहीं हुई, इसीलिये भगवान्ने आत्मज्ञान, कर्म, ध्यान, समाधि, भक्ति आदि अनेक विषयोंका उपदेश दिया, बीच-बीचमें कई तरहसे सावधान करनेका प्रयत्न भी चालू रखा, अपना प्रभाव, ऐश्वर्य, सत्ता, व्यापकता, विभुत्व आदि स्पष्टरूपसे दिखलानेके साथ ही लीलाका संकेत भी किया, बीच-बीचमें चुटकियाँ लीं। भय दिखलाया अर्जुन उनके ऐश्वर्यमय कालरूपको देखकर काँपने लगे, स्तुति की, परन्तु उन्हें वास्तविक लीलाकार्यकी पूर्वस्मृति नहीं हुई। इससे अन्तमें परम प्रेमी भगवान्ने १८ वें अध्यायके ६४वें श्लोकमें अपने पूर्वकृत उपदेशकी गौणता बतलाते हुए अगले उपदेशको 'सर्वगुह्यतम' कहकर अपना हृदय खोलकर रख दिया। यहाँका प्रसंग भगवान्की दयालुता और उनके प्रेमानन्त-समुद्रका बड़ा सुन्दर उदाहरण है। अपना प्रिय सखा, अपनी लीलाका यन्त्र, निज ज्ञानके व्यामोहमें लीलाकार्यको विस्मृत हो गया, अतएव उससे कहने लगे—'प्रियवर, मेरे परम प्यारे! इन पूर्वोक्त उपदेशोंसे तुझे कोई मतलब नहीं है, तू अपने स्वरूपको पहचान, तू मेरा प्यारा है—अपना है, इस बातका स्मरण कर, इसीमें तेरा हित है, मेरे ही कार्यके लिये मेरे अंशसे तेरा अवतार है। अतएव तू मुझीमें मन लगा ले, मेरी ही भक्ति कर, मेरी ही पूजा कर, मुझे ही नमस्कार कर, मैं शपथपूर्वक कहता हूँ, तू मेरा प्यारा अंग है, मुझीको प्राप्त होगा, पूर्वोक्त सारे धर्मका आश्रय या उनमें अपना कर्तव्यज्ञान छोड़कर केवल मेरी लीलाका यन्त्र बना रह, एक मेरी ही शरणमें पड़ा रह, तुझे पाप-पुण्यसे क्या मतलब, तुझे चिन्ता भी कैसी, मैं आप ही सब सँभालूँगा। मेरा काम मैं आप करूँगा, तू तो अपने स्वरूपको स्मरण कर, अपने अवतारके हेतुको सिद्ध कर, मुझ लीलामयकी विश्वलीलामें लीलाका साधन बना रह।'

बस, इस उपदेशसे अर्जुनकी आँखें खुल गयीं, उन्हें अपने स्वरूपकी स्मृति हो गयी। 'मैं लीलाका साधन हूँ, भगवान्के हाथका खिलौना हूँ, इनकी शरणमें पड़ा हुआ किंकर हूँ, यह बात स्मरण हो आयी, तुरंत मोह नष्ट हो गया और तत्काल अर्जुन लीलामें सम्मिलित हो गये, लीला आरम्भ हो गयी।

अर्जुनने भगवान्के उपर्युक्त गीतोक्त अन्तिम वचनोंको सुनते ही पिछले ज्ञानोपदेशसे मन हटा लिया। अपने-आपको भगवान्की लीलामें समर्पित करके अर्जुन निश्चिन्त हो गये और लीलामयकी इच्छा तथा संकेतानुसार प्रत्येक कार्य करते रहे।

महाभारतकी संहारलीला समाप्त हुई, अश्वमेधलीला हुई, अब अर्जुनको शान्तिके समय भगवान्की ज्ञानलीलामें सम्मिलित होनेकी आवश्यकता जान पड़ी, परन्तु गीतोक्त ज्ञानकी तो उन्होंने कोई परवा ही नहीं की थी। उन्हें कोई आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि वे तो 'सर्वोत्तम, सर्वगुह्यतम' शरणागतिका परम मन्त्र ग्रहणकर भगवान्के यन्त्र बन चुके थे। भगवान् दूसरी लीलाके लिये द्वारका जानेकी तैयारी करने लगे। अर्जुनको इधर ज्ञानलीलाके प्रसारमें साधन बनना था, इससे एक दिन उन्होंने एकान्तमें भगवान्से पूछा कि 'हे प्रियतम! हे लीलामय! संग्रामके समय मैं आपके '**माहात्म्यम्**' और '**रूपमैश्वरम्**'

को जान चुका हूँ, उस समय आपने मुझे जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, उसे मैं भूल गया हूँ, आप शीघ्र द्वारका जाते हैं, मुझे वह ज्ञान एक बार फिर सुना दीजिये। मेरे मनमें उसे फिरसे सुननेके लिये बार-बार कौतूहल होता है।' भगवान्‌ने अर्जुनको उलाहना देते हुए कहा कि 'तैंने बड़ी भूल की, जो ध्यान देकर उस ज्ञानको याद नहीं रखा, उस समय मैंने योगमें स्थित होकर ही तुझे 'गुह्य' सनातन ज्ञान सुनाया था, (**श्रावितस्त्वं मया 'गुह्यं' ज्ञापितश्च सनातनम्।** महा० अ० १६। ९) अब मैं उसे उसी रूपमें दुबारा नहीं सुना सकता, तथापि तुझे दूसरी तरहसे वह ज्ञान सुनाता हूँ।' (इसका यह अर्थ नहीं कि भगवान् वह ज्ञान पुनः सुनानेमें असमर्थ थे, अचिन्त्यशक्ति सच्चिदानन्दके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है।) भगवान्‌का उलाहना देना युक्तियुक्त ही है; क्योंकि शरणागतिके 'सर्वगुह्यतम' भावमें स्थित होनेपर भी सब तरहकी लीलाविस्तारमें सम्मिलित होनेके लिये ज्ञानयोगादिके भी स्मरण रखनेकी आवश्यकता थी, लीला-कार्यमें पूर्ण योग देनेके लिये इसका प्रयोजन था, इसीलिये भगवान्‌ने फटकार बतायी, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अर्जुन भगवत्-शरणागतिरूप गीताके प्रतिपाद्यको भूल गये थे। श्रीकृष्ण-शरणागतिमें तो उनका जीवन रँगा हुआ था, दूसरे शब्दोंमें श्रीकृष्ण-शरणागतिके तो वे मूर्तिमान् जीते-जागते स्वरूप थे। प्रेम और निर्भरताके नशेमें ज्ञानकी वे विशेष बातें, जो जगत्‌के लोगोंके लिये आवश्यक थीं, अर्जुन भूल गये थे, जो भगवान्‌ने 'अनुगीता' के स्वरूपमें प्रकारान्तरसे उन्हें फिर समझा दी। अनुगीताके आरम्भमें भगवान्‌के द्वारा कथित 'गुह्य' शब्द विशेष ध्यान देनेयोग्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने उसी ज्ञानके भूल जानेके कारण अर्जुनको फटकारा है, जो 'गुह्य' था। न कि 'सर्वगुह्यतम'। अनुगीताके प्रसंगसे अर्जुनको ज्ञानभ्रष्ट समझना, गीतोक्त उपदेशको विस्मृत हो जानेवाला जानना और भगवान्‌की वक्तृत्व और स्मृतिशक्तिमें मर्यादितपन मानना हमारी भूलके सिवा और कुछ नहीं है। गीताके प्राण, गीताका हृदय, गीताका उद्देश्य, गीताका ज्ञान, गीताकी गति, गीताका उपक्रम-उपसंहार और गीताका तात्पर्यार्थ 'साकार भगवान्‌की शरणागति' है, उसके सम्बन्धमें अर्जुनको कभी व्यामोह नहीं हुआ। इस लोकमें तो क्या इससे पहले और पीछेके सभी लोकों और अवस्थाओंमें वह इसी शरणागत सेवककी स्थितिमें रहे। इसीलिये महाभारतकारने अर्जुनकी सायुज्यमुक्ति नहीं बतलायी जो सत्य तत्त्व है, क्योंकि लीलामयकी लीलामें सम्मिलित रहनेवाले परम ज्ञानी नित्यमुक्त अनुचर निजजनोंके लिये मुक्ति अनावश्यक है।

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

'जिन भक्तोंने मेरे प्रति अपना आत्मसमर्पण कर दिया है वे मुझे छोड़कर ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती-राज्य, पातालका साम्राज्य, योगकी सिद्धियाँ, यहाँतक कि अपुनरावर्ती (सायुज्य मोक्ष) भी नहीं चाहते।' वास्तवमें भगवान्‌की लीलामें लगे हुए शरणागत भक्तको मुक्तिकी परवा ही क्यों होने लगी? सच्ची बात तो यह है कि जबतक (**भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते**) भोग-मोक्षकी पिशाचिनी इच्छा हृदयमें रहती है, तबतक लीलामें सम्मिलित होनेका भाव ही नहीं उत्पन्न होता या तो वह जगत्‌के भोगोंमें रहना चाहता है या जगत्‌से भागकर छूटना चाहता है। लीलामें योग देना नहीं चाहता। अर्जुन तो लीलामें सम्मिलित थे, बीचमें अपने ज्ञानाभिमानका मोह हुआ, भगवान्‌की ओरसे सौंपे हुए पार्टको छोड़कर दूसरा मनमाना पार्ट खेलनेकी इच्छा हुई, यह मोह भगवान्‌ने गीतोक्त 'सर्वगुह्यतम' उपदेशसे नष्ट कर दिया, अर्जुन स्वस्थ हो गये। इसीलिये इस लोककी लीलाके बाद परम धाममें भी अर्जुन भगवान्‌की सेवामें ही संलग्न देखे जाते हैं। धर्मराज युधिष्ठिर दिव्य देह धारण कर देवताओं, महर्षियों और मरुद्गणोंसे स्तुति किये हुए उन स्थानोंमें गये, जहाँ कुरुकुलके उत्तम पुरुष पहुँचे थे। इसके बाद वे परम धाममें भगवान् गोविन्द श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं—

ददर्श तत्र गोविन्दं ब्राह्मेण वपुषान्वितम्।

× × ×

दीप्यमानं स्ववपुषा दिव्यैरस्त्रैरुपस्थितम्।
चक्रप्रभृतिभिर्घोरैर्दिव्यैः पुरुषविग्रहैः॥
उपास्यमानं वीरेण फाल्गुनेन सुवर्चसा।
तथास्वरूपं कौन्तेयो ददर्श मधुसूदनम्॥

(महा० स्वर्गा० ४। २—४)

'धर्मराजने वहाँ अपने ब्राह्म शरीरसे युक्त गोविन्द श्रीकृष्णको देखा, वे अपने शरीरसे देदीप्यमान थे। उनके पास चक्र आदि दिव्य और घोर अस्त्र दिव्य पुरुषका शरीर धारण किये हुए उनकी सेवा कर रहे थे। महान् तेजस्वी वीर अर्जुन (फाल्गुन) उनकी सेवा

कर रहे थे। ऐसे स्वरूपमें युधिष्ठिरने भगवान् मधुसूदनको देखा।' इस विवेचनसे यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि गीताका पर्यवसान या प्रतिपाद्य विषय 'साकार ईश्वरकी शरणागति' है। यही परम गुह्यतम तत्त्व भगवान्ने अर्जुनको समझाया, यही उन्होंने समझा और उनके इस लोक तथा दिव्य भागवतधामका दिव्य जीवन इसीका ज्वलन्त प्रमाण है। इससे कोई यह न समझे कि भगवान् और अर्जुन दिव्य परम धाममें साकाररूपमें रहनेके कारण उसीमें सीमाबद्ध हैं, वे लीलासे दिव्य साकार-विग्रहमें रहनेपर भी अनन्त और असीम हैं।

गुरु-शिष्य-संवाद

'प्यास लगी है? जल चाहते हो? तो जाओ। पीछे लौट जाओ! तुम्हारे गाँवमें ही सरोवर भरा है, बड़ा मधुर जल है, अमृत है, उसे पीकर तृप्त होओ! क्या तुम्हें वह सरोवर नहीं दीख पड़ा? तभी तो यहाँ दौड़े आये हो और दौड़ रहे हो। ठहरो! आगे मत बढ़ो। अरे! अब भी नहीं सुनते? कहाँ जाते हो आगे? क्या वहाँ जल धरा है? देखो! गाँवके सरोवरको छोड़कर इधर आनेवाले तुम-जैसे कितने गँवार प्यासोंकी लाशें पड़ी सड़ रही हैं। ढेर लगा है! तुम्हारी भी यही दशा होगी! छटपटाकर मर जाओगे! यहाँ जलका नाम-निशान भी नहीं है। दुपहरके सूर्यकी किरणोंसे तुम्हें इस जगह जलका भ्रम हो रहा है। कितनी दूर आ गये? क्या तुम्हें राहमें कहीं जलकी बूँद भी मिली? जल तो पहलेसे ही दीखता था। यह दीखना बंद भी नहीं होगा। जितना आगे दौड़ोगे, उतना ही आगे दीखेगा, मिलेगा कभी नहीं। मिले कहाँसे? हो तब न! जब थक जाओगे, दौड़ते-दौड़ते दम भर जायगा तब गिर पड़ोगे। एक तो भयानक प्यास, दूसरे धूपकी गरमी और तीसरे थकावट! बेहोश हो जाओगे, मर जाओगे! इससे भाई! लौट जाओ। चलो, तुम्हें जल्दी ही तुम्हारे गाँव पहुँचा देता हूँ। देखो, इस राहसे जाओ, तुम जिस राहसे आये थे, वह बड़ी लंबी है। मैं बताता हूँ। इस राहसे जाओगे तो अभी तुरंत पहुँच जाओगे। अपने अमृत-सरोवरमें सुधा पानकर तृप्त हो जाओगे। प्यास बुझ जायगी—सदाके लिये बुझ जायगी! फिरो—वापस फिरो।'

एक महात्मा किसी पथभ्रान्त श्रान्त पथिकसे ऐसा उपदेश कर रहे थे। दूसरे एक साधुने इस उपदेशको सुनकर अपने शिष्यसे कहा कि देख, जो संसारमें सुख चाहता है वह अनेक योनियोंमें भटकनेपर भी सुखको नहीं प्राप्त होता। इन्द्रका पद मिल जानेपर भी तृप्त नहीं होता। माया-मरीचिकाकी भाँति सुख आगे ही दीखता है। आगे जाता है तब भी उसे उसी अशान्ति और दुःखके दर्शन होते हैं। सुख तो अपने आत्मामें—अपने ही अन्दर भरा पड़ा है। जो उसे पहचानकर उस अमृतका पान करता है, वही सुखी और तृप्त होता है।

× × × ×

'अरे पागल कुत्ते! हड्डी क्यों चबाता है? किसी गृहस्थके द्वारपर जा। सूखी रोटी मिल जायगी जिससे पेट भरेगा, तृप्ति होगी, पर तू क्यों मानने लगा? तुझे तो खून चाहिये। अरे मूर्ख! यह तो सोच, तू जिस खूनके स्वादसे सुखी हो रहा है, वह किसका है? कहाँसे आया? क्या इस हड्डीमें खून है? यह तो सूखी है, खून तो तेरे ही मसूड़ोंका है, जो हड्डीकी चोटसे बाहर निकल रहा है और तू भ्रमसे उसमें स्वाद ले रहा है। अरे! यह खून तो तेरे ही अन्दर भरा है। मूर्ख! अपना ही खून निकालकर तू आप क्यों पीता है? हड्डी छोड़ दे। देख, मसूड़ोंमें घाव हो जायगा, बड़ी वेदना होगी। खून तो तेरे अन्दर है ही!'

साधुने यह सुनकर अपने शिष्यसे कहा कि 'वत्स! विषयके साथ इन्द्रियका संयोग होनेपर जो कुछ सुखकी प्रतीति होती है वह सुख वास्तवमें उस विषयमें नहीं है। विषय तो हड्डीकी भाँति दुःखरूप और आघात ही पहुँचानेवाले हैं, सुख तो अपने आत्मामें है और वह तुमसे कभी भिन्न नहीं! इच्छित वस्तुके प्राप्त होनेपर जब कुछ समयके लिये मन निश्चल होता है, तब उसमें सुखरूप आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है। वही आत्मसुख, विषयसुखके रूपमें दीखता है, जैसे कुत्तेको अपने मसूड़ोंका खून भ्रमसे हड्डीमें प्रतीत हो रहा है। अतएव विषयोंसे सुखकी प्राप्तिको भ्रम समझकर तू उस आत्मानन्दका अनुभव कर।'

× × × ×

सेठजीने कहा—हरिकी माँ! तिजूरीमेंसे थोड़ा सोना तो निकाल ला। वह बोली—सोना कहाँ है, क्या लाकर दिया था? तिजोरीमें तो रत्तीभर भी सोना नहीं है।

सेठजी—अरी पगली! नहीं कैसे है? सेरों सोना भरा है, मुझे तो एक अँगूठी बनवानेके लिये थोड़ा-सा ही चाहिये।

हरिकी माँ—अजब बात है! मैं कहती हूँ सोना है ही नहीं, अँगूठी बनवानी है तो बाजारसे ले आइये। घरमें है ही नहीं तब मैं दूँ कहाँसे?

सेठजी—अच्छा! जरा चाभी तो दो, मैं निकालता हूँ। हरिकी माँने झुँझलाकर चाभी दे दी और कौतूहलसे देखने लगी कि देखें ये बिना हुए सोना कहाँसे निकालते हैं। सेठजीने तिजोरी खोली और गहनोंके ढेरमेंसे एक टूटी हुई पुराने ढंगकी अँगूठी निकाल ली। ताला बंद करके चाभी हरिकी माँको दे दी। उसने कहा, निकाल लिया सोना? मैं तो पहले ही कहती थी कि नहीं है। सेठजीने अँगूठी दिखाकर कहा यह सोना नहीं तो क्या है?

हरिकी माँ—यह तो अँगूठी है।

सेठजी—अरी, अँगूठी तो इसका नाम है। गोलाकार बनी हुई है, यह इसका रूप है। है तो सोना ही।

हरिकी माँ—सोना कैसे है? अँगूठी प्रत्यक्ष दीखती है, आप सोना कहते हैं।

सेठजी—अच्छा, जब यह अँगूठी नहीं बनी थी तब यह क्या था?

हरिकी माँ—सोना।

सेठजी—गलानेके बाद क्या होगा?

हरिकी माँ—सोना।

सेठजी—ठीक! जरा विचार करो तो क्या इस समय यह सोना नहीं है?

हरिकी माँ—है तो सोना ही? परन्तु इसे कहते तो अँगूठी हैं न?

सेठजी—गोलाकार रूप हो गया इसीसे अँगूठी कहने लगे। मान लो, इसे कोई गलाकर नाकका गहना बनवा लें तो उसे क्या कहोगी?

हरिकी माँ—नथ!

सेठजी—उस समय क्या यह सोना नहीं रहेगा?

हरिकी माँ—रहेगा क्यों नहीं, नाम-रूप बदल जायगा!

सेठजी—तो बस, नाम-रूपसे ही गहने अलग-अलग माने जाते हैं और अलग-अलग व्यवहारमें आते हैं। है सब सोना ही।

हरिकी माँ—ठीक है, अब आपकी बात समझमें आ गयी।

साधुने पति-पत्नीकी इन बातोंको सुनकर शिष्यसे कहा—'देख, इसी तरहसे नाम-रूपात्मक जगत् परमात्मामें कल्पित है और परमात्मा सबके एकमात्र अधिष्ठान और सबमें व्यापकरूपसे नित्य स्थित हैं। यही ब्रह्मज्ञान है।'

भगवान्‌के विभिन्न स्वरूपोंकी एकता

भगवान्‌का वास्तविक स्वरूप कैसा है, इस बातको तो भगवान् ही जानते हैं, परन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भगवान् अनेक रूपों और नामोंसे प्रसिद्ध होनेपर भी यथार्थमें एक ही हैं, भगवान् या सत्य कदापि दो नहीं हो सकते। भगवान्‌के अनन्त रूप, अनन्त नाम और अनन्त लीलाएँ हैं, वे भिन्न-भिन्न स्थलों और अवसरोंपर भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंमें अपनेको प्रकाश करते हैं। भक्त अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भगवान्‌के भिन्न-भिन्न स्वरूपोंकी उपासना करते हैं और अपने इष्टरूपमें ही उनके दर्शन प्राप्तकर कृतार्थ होते हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि एक भक्तका उपास्यस्वरूप दूसरे भक्तके उपास्यस्वरूपसे पृथक् होनेके कारण दोनों स्वरूपोंकी मूल एकतामें कोई भेद है। वही ब्रह्म हैं, वही राम हैं, वही कृष्ण हैं, वही शिव हैं, वही विष्णु हैं, वही सच्चिदानन्द हैं, वही माँ जगज्जननी हैं, वही सूर्य हैं और वही गणेश हैं। जो भक्त इस तत्त्वको जानता है वह अपने इष्टरूपकी उपासनामें अनन्य संलग्न रहता हुआ भी अन्यान्य सभी भगवत्-स्वरूपोंको अपने ही इष्टदेवके रूपमें मानता है, इसलिये वह किसीका भी विरोध नहीं करता। वह अनन्य श्रीकृष्णोपासक होकर भी मानता है कि मेरे ही मुरलीधर श्यामसुन्दर भगवान् कहीं श्रीराम-स्वरूपमें, कहीं शिव-स्वरूपमें, कहीं माँ कालीके रूपमें और कहीं निर्लेप निराकार ब्रह्मरूपमें उपासित होते हैं; मेरे ही श्यामसुन्दर अव्यक्तरूपसे समस्त विश्व-ब्रह्माण्डमें नित्य एकरस व्याप्त हैं, वही मेरे नन्दनन्दन त्रिकालातीत भूमा सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हैं, वही मेरे पुरुषोत्तम आत्मरूपसे समस्त जीवशरीरोंमें स्थित रहकर उनका जीवत्व सिद्ध कर रहे हैं, वही समय-समयपर भिन्न-भिन्न रूपोंमें अवतीर्ण होकर संत-भक्तोंको सुखी करते और धर्मकी संस्थापना करते हैं और वही जगत्‌के पृथक्-पृथक् उपासक-समुदायोंके द्वारा पृथक्-पृथक् रूप-गुण-भावसम्पन्न होकर उनकी पूजा ग्रहण करते हैं। प्रत्येक परमाणुमें उन्हींका नित्य निवास है। इसी प्रकार अनन्य श्रीरामोपासक और अनन्य श्रीशिवोपासक भक्तोंको भी

सबको अपने ही प्रभुका स्वरूप, विस्तार और ऐश्वर्य समझना चाहिये। जो मनुष्य दूसरेके उपास्य इष्टदेवको अपने प्रभुसे भिन्न मानता है, वह प्रकारान्तरसे अपने ही भगवान्‌को छोटा बनाकर उनका अपमान करता है। वह असीमको ससीम, अनन्तको स्वल्प, व्यापकको एकदेशी और विश्वपूज्यको क्षुद्रसम्प्रदाय-पूज्य बनाता है। केवल हिन्दुओंके ही नहीं, समस्त विश्वकी विभिन्न जातियोंके पूज्य परमात्मदेव यथार्थमें एक ही सत्य तत्त्व हैं। यह सारे भेद तो देश, काल, पात्र, रुचि, परिस्थिति आदिके भेदसे हैं, जो भगवत्कृपासे भगवान्‌की प्राप्ति होनेके बाद आप ही मिट जाते हैं—अतएव अपने इष्टस्वरूपका अनन्य उपासक रहते हुए ही वस्तुगत भेदको भुलाकर सबमें सर्वत्र सब समय परमात्माके दर्शन करने चाहिये। यह समस्त चराचर विश्व उन्हीं भगवान्‌का शरीर है, उन्हींका स्वरूप है, यह मानकर कर्तव्य-बोधसे जीवमात्रकी सेवा करके भगवान्‌को प्रसन्न करना चाहिये। सम्प्रदाय-भेदके कारण एक-दूसरेके उपास्यदेवकी निन्दा करना अपराध है। कुछ शताब्दियों-पूर्व शैव, शाक्त और वैष्णवोंके परस्पर झगड़े हुआ करते थे, कहीं-कहीं अब भी होते हैं, परन्तु इसमें अधिकतर मोह और दुराग्रह ही प्रधान कारण है। शास्त्रोंमें ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनसे शिव, विष्णु आदि समस्त स्वरूपोंकी एकता सिद्ध है। भगवान् शिव, भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं और भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण भगवान् शिवकी; वे परस्पर एक-दूसरेके भक्त और भगवान् हैं, आप ही अपनी पूजा करते-करवाते हैं। भगवान्‌की यह लीलाएँ भक्तोंके लिये सुखदायिनी और तार्किक तथा दुराग्रही लोगोंके लिये भ्रममें डालनेवाली होती हैं। श्रीराम सेतुबन्धपर श्रीरामेश्वर महादेवकी स्थापना करके उनकी पूजा करते हैं और श्रीशंकर कई बार सेवामें आकर श्रीरामका स्तवन करते हैं। भगवान् शंकर श्रीकृष्णके दर्शनार्थ आते हैं और भगवान् श्रीकृष्ण भगवान् शंकरकी प्रसन्नताके लिये तप करते हैं। पद्मपुराणके एक प्रसंगमें भगवान् शंकर भगवान् श्रीरामकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

एकस्त्वं पुरुषः साक्षात्प्रकृतेः पर ईर्यसे।
यः स्वांशकलया विश्वं सृजत्यवति हन्ति च॥
अरूपस्त्वमशेषस्य जगतः कारणं परम्।
एक एव त्रिधा रूपं गृह्णासि कुहकान्वितः॥
सृष्टौ विधातृरूपस्त्वं पालने स्वप्रभामयः।
प्रलये जगतः साक्षादहं शर्वाख्यतां गतः॥

(पद्म०, पाताल० २८। ६—८)

'हे श्रीराम! जो अपनी अंशकलाद्वारा समस्त विश्वकी सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं, वह प्रकृतिसे परे एकमात्र साक्षात् परमपुरुष आप ही हैं। हे प्रभो! आपका कोई रूप नहीं है, आप ही इस सम्पूर्ण जगत्‌के कारण हैं, आप एक ही अपनी मायासे (ब्रह्मा, विष्णु, शिव) तीन रूपोंको धारण करते हैं। आप सृष्टि करनेमें ब्रह्मारूप हैं, पालनमें स्वप्रभामय विष्णुरूप हैं और संसारके संहारके समय साक्षात् आपका स्वरूप मैं (रुद्र) महेश्वरके नामसे प्रसिद्ध हूँ।' इसके उत्तरमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—

ममास्ति हृदये शर्वो भवतो हृदये त्वहम्।
आवयोरन्तरं नास्ति मूढाः पश्यन्ति दुर्धियः॥
ये भेदं विदधत्यद्धा आवयोरेकरूपयोः।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते नराः कल्पसहस्रकम्॥
ये त्वद्भक्ताः सदासंस्ते मद्भक्ता धर्मसंयुताः।
मद्भक्ता अपि भूयस्या भक्त्या तव नतिंकराः॥

(पद्म०, पाताल० २८। २०—२२)

'हे शंकर! आप सदा मेरे हृदयमें और मैं सर्वदा आपके हृदयमें रहता हूँ, हम दोनोंमें कुछ भी अन्तर नहीं है, दुर्बुद्धि मूर्ख ही हम दोनोंमें भेद देखते हैं। हम दोनों अभेदरूप हैं, जो मनुष्य हम दोनोंमें भेदकी कल्पना करते हैं, वे हजार कल्पतक कुम्भीपाक नरकमें पड़े कष्ट भोगते हैं। जो धर्मपरायण मनुष्य आपके भक्त हैं वे मेरे भक्त हैं और जो मेरे भक्त हैं वे मेरे प्रति महान् भक्ति होनेके कारण आपके किंकर हैं।' श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामने स्पष्ट कहा है—

सिव द्रोही मम भगत कहावा।
सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी।
सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥
संकरप्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥
औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

इससे अधिक एकताका स्पष्ट वर्णन और क्या होगा? इतनेपर भी जो लोग भ्रमवश एक ही भगवान्‌के विभिन्न रूपोंमें भेद मानकर उनका अपमान करते हैं, भगवान् उनपर दया करें।

यह स्मरण रखना चाहिये कि एक ही भगवान् नाना रूपोंमें भास रहे हैं। भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट घोषणा की है कि—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(७।७)

'हे अर्जुन! मेरे सिवा किंचित् भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह समस्त विश्व सूत्रमें सूत्रकी मणियोंकी भाँति मुझमें गुँथा हुआ है।'

इस प्रकारके सर्वगत, सर्वरूप, सर्वव्यापी परमात्माको अपनी-अपनी स्थिति और भावनाके अनुसार पूजकर ही मनुष्य उन्हें प्राप्त करता है। यह बात भी भगवान्ने कह दी है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

'जिस परमात्मासे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् (जलसे बर्फकी भाँति) व्याप्त है, उस परमात्माको अपने-अपने कर्मोंद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको पाता है।'

कहाँ तो भूतमात्रमें भगवान्को देखकर सबकी सेवा करनेका पवित्र उपदेश और कहाँ भगवान्की अपनी ही विविध मूर्तियोंमें उन्हींके भक्तोंद्वारा भेदकी कल्पना! यह बड़ी ही लज्जा और दु:खकी बात है।

मेरा तो यही निवेदन है कि हम सबको इन सारे भेदमूलक विरोधी द्वेषभावोंको त्यागकर अपनी-अपनी भावना और मान्यताके अनुसार भगवान्की भक्ति करनी चाहिये। उपासना करते-करते जब भगवान्की कृपाका अनुभव होगा, तब उनके यथार्थ स्वरूपका अनुभव आप ही हो जायगा। भगवान्का वह रूप कल्पनातीत है। मनुष्यकी बुद्धि वहाँतक पहुँच ही नहीं पाती। निराकार या साकार भगवान्के जिन-जिन स्वरूपोंका वाणीसे वर्णन या मनसे मनन किया जाता है, वे सब शाखाचन्द्र-न्यायसे भगवान्का लक्ष्य करानेवाले हैं; यथार्थ नहीं। वह तो सर्वथा अनिर्वचनीय है। इन स्वरूपोंकी वास्तविक निष्काम उपासनासे एक दिन अवश्य ही भगवत्कृपासे यथार्थ स्वरूपकी उपलब्धिकर भक्त-जीवन धन्य और कृतार्थ हो जायगा। फिर भेदकी सारी गाँठें आप ही पटापट टूट जायँगी। परन्तु इस लक्ष्यके साधकको पहलेसे ही सावधान रहना चाहिये। कहीं विश्वव्यापी भगवान्को अल्प बनाकर हम उनकी तामसी पूजा करनेवाले न बन जायँ, कहीं असीमको सीमाबद्ध कर हम उनका तिरस्कार न कर बैठें। भगवान् महान्-से-महान् और अणु-से-अणु हैं, त्रिकालमें नित्य-स्थित और त्रिकालातीत हैं, तीनों लोकोंमें व्याप्त और तीनोंसे परे हैं; सब कुछ उनमें है, वे सबमें हैं, बस, वे-ही-वे हैं, उनकी महिमा उन्हींको ज्ञात है, उनका ज्ञान उन्हींको है, उनका स्वरूप-भेद उन्हींमें है। हमारा कर्तव्य तो विनम्रभावसे सदा-सर्वदा उनके चरणोंमें पड़े रहकर उनके कृपा-कटाक्षकी ओर सतृष्ण दृष्टिसे ताकते रहना ही है। जब वे कृपा करके अपना स्वरूप प्रकट करेंगे, तभी हम उन्हें जान सकेंगे। इसके सिवा उन्हें जाननेका हमारे लिये और कोई भी सहज उपाय नहीं है; परन्तु इसके लिये हमें कुछ तैयारी करनी होगी; मनका मैल दूर करना होगा, सारे जगत्में उनका दीदार देखना होगा, सभी धर्मों और सम्प्रदायोंमें उनकी छायाका प्रत्यक्ष करना पड़ेगा, जगत्में कौन ऐसा है जिसका किसी प्रकारसे भी उन्हें स्वीकार किये बिना छुटकारा हो सके। भिन्न-भिन्न दिशाओंसे आनेवाली नाना नदियाँ एक ही समुद्रकी ओर दौड़ती हैं, इसी तरह सभीको सुखस्वरूप भगवान्की ओर दौड़ना पड़ता है। नास्तिकको भी किसी-न-किसी प्रकारसे उनकी सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ती है, फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या है? इसलिये सबमें उन्हें देखनेकी कोशिश करनी चाहिये। नित्य नतमस्तक होकर इन सुन्दर शब्दोंमें भगवान्की स्तुति कीजिये—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

श्रद्धाकी कमीका कारण

एक सज्जनका पत्र मिला है, पत्र गोपनीय है, इससे उसे अविकल प्रकाशित न कर उसके एक अंशका सार यहाँ छापा जाता है और पत्र-लेखकके साथ ही अन्यान्य पाठक-पाठिकाओंके लाभके लिये पत्रका उत्तर भी प्रकाशित कर दिया जाता है। आप लिखते हैं—

मेरे एक सम्बन्धीको परोपकारका कार्य करते एक फौजदारी मुकद्दमेमें फँसना पड़ा। निरपराधको बचाना कर्तव्य समझकर मैं 'अच्छे-अच्छे वाक्‌सिद्ध संतों' के पास गया और उनसे मैंने अपने सम्बन्धीके छूटनेका वचन पाया। कई तरहके सम्पुटयुक्त पाठ, अनुष्ठान

और अनेक यन्त्र-मन्त्र-हवन आदि करवाये। बनारसके 'राम-नाम-बैंक' से सवा लाख श्रीराम-नाम कर्ज लेकर उनको मेरे सम्बन्धीसे लिखवाया। स्वयं कई बार रो-रोकर ईश्वरसे प्रार्थना करता रहा। इतना सब करनेपर भी मेरे सम्बन्धीको एक साल सख्त कैदकी सजा हो ही गयी। अन्तमें अपील करनेपर छ: महीनेकी सजा बहाल रही। जिन संतोंका वचन कभी मिथ्या नहीं हुआ था, वह मिथ्या हो गया। मेरी प्रार्थना असफल हुई, मेरी श्रद्धाको बड़ा धक्का लगा और धनका नाश तो हुआ ही। अब तो यही ठीक जान पड़ता है कि भव-भय-नाशके लिये ही श्रीराम-नामका आधार लेना चाहिये और शुभ कर्म करने चाहिये, जिससे दु:खमें न पड़ना पड़े। भगवान् कोई अपराध क्षमा नहीं करता, उसके नाममें पापका पहाड़ भस्म करनेकी शक्ति बतलायी जाती है, उसके साथ इतना और जोड़ देना चाहिये कि 'भावीको भगवान्‌का नाम भी नहीं मिटा सकता।' अब मुझे ईश्वरका भय तो पैदा हो गया है, मगर आशा नहीं रही और जब आशा नहीं रही, तब प्रीति कहाँ? इसलिये आप ऐसी बात बताइये जिससे ईश्वर, संत और सद्ग्रन्थोंमें मेरी श्रद्धा बढ़ जाय।' यही पत्रके एक भागका सारांश है, दूसरे भागमें साधन-सम्बन्धी बातें हैं, उनको यहाँ लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

ये भाई श्रद्धालु होनेके साथ ही बहुत सरलहृदयके जान पड़ते हैं। इस घटनासे पूर्व इनकी विशेष श्रद्धा जिस सरलताको लिये हुए थी, अब श्रद्धाके कम होनेमें भी इनकी वही सरलता कारण है। जरा गहरे जाकर विवेकपूर्वक सोचनेसे 'ईश्वर, संत और सद्ग्रन्थोंमें' श्रद्धा कम होनेका तनिक-सा भी कारण नहीं दीखता। मिथ्या आडम्बरों और बनावटी चमत्कारोंमें श्रद्धा रखनेसे मनुष्यको असफलताके कारण समय-समयपर यथार्थ सच्चे सिद्धान्तोंमें भी भ्रमवश अश्रद्धा हो जाया करती है। कुछ-कुछ इस प्रसंगमें भी ऐसा ही हुआ जान पड़ता है। मिथ्या आडम्बरोंमें अश्रद्धा होना तो उत्तम और आवश्यक ही है। अपनी 'वाक्‌सिद्धिका ढिंढोरा पीटनेवाले संत' नामधारी व्यक्तियोंमें, 'जन्तर, मन्तर, टोना, जादू' बतलाने और करनेवालोंमें एवं अपनी सिद्धियों तथा चमत्कारोंके बलसे सारे संकटोंसे छुड़ानेका ठेका लेनेवालोंमें अधिकांश लोग पाखण्डी होते हैं और भोले-भाले विपत्तिग्रस्त मनुष्योंको चिकनी-चुपड़ी बातोंसे मिथ्या विश्वास दिलाकर अपना उल्लू सिद्ध किया करते हैं। कहीं काकतालीय-न्यायसे किसी कारणवश कार्य सिद्ध हो गया तब तो पूछना ही क्या है, फिर तो 'वाक्‌सिद्धि' की अवस्थासे ऊँचे उठकर ये तत्काल ईश्वरके अवतार ही बन बैठते हैं एवं लोगोंको ठग-ठगकर मनमानी मौज करते हैं। काम सिद्ध नहीं हुआ तो भी इनका कुछ नहीं बिगड़ता। धनका और धर्ममें श्रद्धाका नाश होता है तो पूछनेवालेका होता है, बाबाजी तो सिद्ध-के-सिद्ध ही रहे; एक नहीं तो दूसरा ग्राहक सही। ऐसे ही पाखण्डियोंकी कपटभरी करतूतोंसे सीधे-सादे भले स्त्री-पुरुष ईश्वर और धर्ममें अविश्वासी हो जाते हैं। हिन्दू-धर्मके सारे शरीरमें धर्मके नामपर पाखण्डका प्रचार करनेवाला यह एक घुन लग गया है, जो उसे खाये डालता है। भारतमें शायद ही ऐसा कोई स्थान होगा, जहाँ इन पाखण्डियोंकी सृष्टि न हो गयी हो। ऐसे लोगोंसे सदा बचनेकी कोशिश करनी चाहिये। जो धन लेकर उसके बदलेमें अपनी सिद्धि, चमत्कार और 'जन्तर-मन्तर' से दु:ख छुड़ानेकी डींग हाँकता हो, उससे सदा सावधान ही रहना उचित है।

यह बात सदा स्मरण रखनेकी है कि सत्यको प्राप्त, सत्यपर आरूढ़, सत्यभाषी और सत्यके हिमायती ईश्वरके परम प्यारे सिद्ध भक्त स्वाभाविक ही प्राणिमात्रका भला चाहते हैं; परन्तु सिद्ध कहलानेके लिये वे किसीको आशीर्वाद नहीं देते और कहीं उनके मुखसे कभी ऐसा कुछ निकल जाता है तो सत्यके प्रतापसे वह कभी व्यर्थ नहीं होता। हाँ, कुछ ऐसे दयालु, परदु:ख-दु:खी सरल प्रकृतिके उपासक या साधक संत भी होते हैं जो किसीको दु:खमें देखकर उसे धीरज बँधानेके लिये आशीर्वाद दे दिया करते हैं या निश्चयात्मक शब्दोंमें कह दिया करते हैं कि 'तुम्हारा काम सिद्ध हो जायगा, चिन्ता न करो।' ऐसे साधकोंकी वाणी सफल होती है तो उनके तपका नाश होता है, तपके अभावमें सफल होनेमें भी संदेह रहता है। ऐसी स्थितिमें इस प्रकारके साधकोंके लिये आशीर्वाद या वरदान देनेमें सावधानी रखनी चाहिये; क्योंकि वाणी सफल होनेसे तपका नाश होगा और तपके नाशसे सफलता नहीं होगी; जिससे लोगोंमें ईश्वर और धर्मके प्रति अविश्वास उत्पन्न होगा। सफल होनेसे पूजा-प्रतिष्ठा बढ़ जायगी और प्रतिष्ठाका लोभ हो जानेपर पतन निश्चित है, इधर तंग करनेवालोंके बढ़ जानेसे बराबर आशीर्वाद देते-देते जीवन असत्यमय हो जायगा और सारे साधन छूट जायँगे। मुझे मालूम नहीं कि पत्र-लेखक भाई इनमेंसे किस ढंगके 'वाक्‌सिद्ध' संतोंके पास गये थे, परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ता है कि वे जिनके पास गये

थे, वे लोग वाक्‌सिद्ध नहीं थे, होते तो उनके वचन झूठे ही क्यों पड़ते?

मैं इस बातको मानता हूँ कि शास्त्रोक्त अनुष्ठानादि प्रायश्चित्तोंसे पापका नाश अवश्य होता है। यह सच है कि कर्मफलका नाश भोगे बिना नहीं होता, परन्तु प्रायश्चित्त भी एक प्रकारका भोग ही है। अवश्य ही, प्रायश्चित्त-कर्म होना चाहिये श्रद्धाके साथ और मन्त्र तथा विधिसे सर्वथा पूर्ण। जिस कर्ममें श्रद्धा नहीं होती, उसका तो कोई फल ही नहीं होता। भगवान् कहते हैं—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

(गीता १७। २८)

'हे अर्जुन! श्रद्धा बिना किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और कोई-सा भी किया हुआ कर्म असत् कहलाता है, उससे इस लोक या परलोकमें कोई भी लाभ नहीं होता।'

विधिहीनता या विधिके विपरीत करनेपर तो कर्मवैगुण्य हो जानेसे कर्मका सफल होना सम्भव ही नहीं, प्रत्युत विपरीत फलतक हो जाता है। एक मनुष्यकी स्त्री बीमार थी। उसने स्त्रीकी रक्षाके लिये देवीजीका अनुष्ठान कराया। पाठ करनेवाले पण्डितजी कुछ भाँग खाया करते थे। नशेमें वे '**भार्यां रक्षतु भैरवी**' 'हे भैरवी! भार्याकी रक्षा करो' की जगह '**भार्यां भक्षतु भैरवी**' 'हे भैरवी! भार्याको खा डालो' पढ़ने लगे। फल यह हुआ कि पाठ करानेवालेकी पत्नी मर गयी। आर्षग्रन्थोंमें भी उच्चारण-दोष और विधिहीनतासे विपरीत फल होनेके अनेक प्रमाण मिलते हैं। इसके सिवा यह भी नहीं कहा जा सकता कि हमारे वर्तमान अनुष्ठानका फल पापके नाश करनेमें कितना समर्थ है? क्योंकि यह कोई निश्चित बात नहीं है कि मनुष्यको इस समय जो कष्ट प्राप्त हो रहा है वह उसके कौन-से पूर्वकृत कर्मका फल है। पाप-पुण्यके संचितसे प्रारब्ध बनता है और उसीके अनुसार दुःख-सुखका भोग करना पड़ता है, परन्तु त्रिकालज्ञ योगीके अतिरिक्त शायद कोई भी ऐसा पुरुष नहीं, जो इस बातका निर्भ्रान्त निर्णय कर सके कि कौन-सा फलभोग किस कर्मका फल है? हम वर्तमानमें किसी फलभोगके नाश करनेके लिये जो प्रायश्चित्तरूप कर्म करते हैं, सम्भव है कि वह हमें इस समय फल देनेवाले प्रारब्धके नाश करनेलायक न हो, इससे प्रारब्धका फल तो हमें अभी भोगना ही पड़े और यह प्रायश्चित्त-कर्म नवीन कर्मके रूपमें संचितमें जमा हो जाय, जिसका फल हमें भविष्यमें कभी प्राप्त हो। मान लीजिये कि एक मनुष्य पुत्र या धनकी प्राप्तिके लिये अथवा किसी आनेवाली या आयी हुई विपत्तिके विनाशके लिये किसी यज्ञका विधिवत् अनुष्ठान करता है और तदनन्तर ही उसको पुत्र या धनकी प्राप्ति हो जाती है अथवा विपत्ति दूर हो जाती है। इस पुत्र-धनकी प्राप्ति या विपत्तिनाशरूपी फलमें उसका इस समय किया हुआ अनुष्ठान कारण है या पूर्वजन्ममें किया हुआ कोई अन्य कर्म कारण है, इस बातका निर्णय करना बहुत ही कठिन है। सम्भव है, पुत्र-धनकी प्राप्ति या विपत्तिका नाश किसी पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मके फलरूपमें हो गया हो और वर्तमान कर्मका फल आगे मिले। इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि मनुष्यके इस समयका अनुष्ठान गलती रह जानेसे पूरा ही न हुआ हो, जिसके कारण उसका कुछ भी फल न मिले अथवा विधिकी विपरीततासे यह कर्म किसी बुरे फलका कारण बन गया हो जिससे मनुष्यकी विपत्ति और भी बढ़ जाय या भविष्यमें उसे दुःखभोग करना पड़े। इसके सिवा यह भी सम्भव है कि इस अनुष्ठानका फल तो जरूर हुआ हो; परन्तु वर्तमानमें फल देनेवाला प्रारब्ध विकट होनेके कारण इस अनुष्ठानसे उसका पूरा प्रायश्चित्त न हो पाया हो, जिससे जितने अंशमें फलभोग शेष रहा हो, उतना भोग करना ही पड़े, जैसे फाँसीके बदलेमें काँटा गड़कर रह जाय अथवा दस सालकी कैदके बदलेमें दस ही महीनेकी हो जाय। इसलिये शास्त्रोक्त अनुष्ठानोंमें अविश्वास कदापि नहीं करना चाहिये! अच्छे पुरुषोंद्वारा विधिसंगत सांगोपांग अनुष्ठान होगा तो उसका फल अवश्य ही शुभ होगा। अनुष्ठान करनेवाले लोग अवश्य ही विधिके ज्ञाता, संयमी, निःस्वार्थी और यजमानके पूरे हितैषी होने चाहिये।

अब रही श्रीराम-नामके द्वारा होनेवाले फलकी बात। सो मेरे विश्वासके अनुसार तो प्रेमपूर्वक श्रीराम-नामका जप-कीर्तन करनेसे स्वयं श्रीभगवान् वशमें हो जाते हैं, तब सांसारिक फल-सिद्धिकी तो बात ही कौन-सी है? परन्तु श्रीराम-नामका प्रयोग सांसारिक कार्योंकी सिद्धिके लिये करना उसका अपमान करना है। उगते हुए सूर्यकी लालिमाके द्वारा अमावास्याके घोर अन्धकारके नाश होनेके समान ही जिस श्रीराम-नामके आभासमात्रसे ही दुःखोंके समूह समूल नष्ट हो जाते हैं, उस श्रीराम-नामको संसारके कार्योंमें लगाना वनराज सिंहको मामूली कुत्तेपर छोड़नेके समान ही निन्दनीय है। भगवत्प्रेम और भगवन्नाम भगवत्प्राप्तिके लिये हैं, न कि तुच्छ सांसारिक कार्योंकी

सिद्धिके लिये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रद्धापूर्वक भगवन्नाम-जप करनेसे सांसारिक कार्योंमें अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है। इस बातका मुझे अपने जीवनमें उस समय कई बार प्रत्यक्ष अद्‌भुत अनुभव हो चुका है, जिस समय कि मैं श्रीराम-नामके महत्त्वको न समझकर उसका सांसारिक कार्योंकी सिद्धिके लिये प्रयोग करता था; परन्तु यह भी श्रीराम-नामका श्रद्धापूर्वक जप करनेसे ही होता है। मेरी समझसे तो यदि उक्त सज्जन कहींसे भी कर्ज न लेकर श्रीराम-नाममें भरोसा करके स्वयं प्रेमपूर्वक जप करते तो कदाचित् भगवत्कृपाके किसी अकथनीय कारणसे उनका यह संकट न भी टलता तो उन्हें सच्ची शान्ति तो अवश्य ही मिल जाती और श्रीराम-नाममें उनकी श्रद्धा निश्चय बढ़ती।

रही प्रार्थनाकी बात, सो प्रार्थनासे तो सब कुछ होता है। प्रार्थनासे कष्ट-सहनकी शक्ति तो बढ़ती ही है, साथ ही यदि आर्तभावकी सच्ची प्रार्थना हो तो उससे दु:ख भी टल जाते हैं। टल क्या जाते हैं, उनका समूल नाश हो जाता है। दु:खके नामसे पुकारी जानेवाली सांसारिक घटनाओंका स्वरूपसे भी नाश हो सकता है, परन्तु भगवत्कृपासे अज्ञान मिट जानेपर किसी भी सुख-दु:खसंज्ञक घटनाकी स्वरूपसे प्राप्ति या विनाशके लिये आकांक्षा ही नहीं रह जाती। ऐसा पुरुष लोकदृष्टिमें ही सुख-दु:खको प्राप्त होता है, वास्तवमें तो वह सुख-दु:खसे सर्वथा मुक्त है, घटना जो कुछ भी हो। भगवान् कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २२)

परमात्माकी प्राप्तिरूपी परमलाभको पाकर वह उससे अधिक कोई भी दूसरा लाभ नहीं मानता और इस प्रकारकी अनिर्वचनीय अवस्थामें स्थित पुरुष बड़े-से-बड़े दु:खसे भी विचलित नहीं होता। जैसे सूर्योदयके पश्चात् बिजलीकी रोशनी अनावश्यक, शोभाहीन और फीकी पड़ जाती है, फिर दस-बीस बत्तियोंके अधिक जल जाने या सबके एक साथ ही बुझ जानेपर जैसे किसीको कोई सुख-दु:ख नहीं होता, इसी प्रकारकी स्थिति परमात्माको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे की गयी प्रभुविरहकी सच्ची आर्तप्रार्थनाके फलरूपमें हो जाती है। इस दशाको प्राप्त पुरुष ही परमात्माका प्यारा भक्त है। (भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे कहा है—)

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्‌क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १७)

'जो न कभी (सांसारिक प्रिय वस्तुको प्राप्तकर) हर्षित होता है, न (उसके नाश होनेसे) द्वेष करता है, न (नाश होनेपर) शोक करता है, न (उसको पुनः पानेके लिये) इच्छा करता है और जो सभी शुभाशुभ कर्मोंके फलका त्यागी है, वह भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।' अँधेरेमें ही रोशनीके मिलनेपर हर्ष, उसके बुझनेमें द्वेष, बुझ जानेपर चिन्ता और उसे फिरसे जलानेकी इच्छा होती है; यह शुभाशुभ अन्धकारकी अवस्थामें ही है। सूर्यके प्रखर प्रकाशमें इनमेंसे कोई-सी बात नहीं रह जाती। इसी प्रकार अज्ञानरूपी अन्धकारमें ही सांसारिक विषयोंकी प्राप्तिको शुभ और अशुभ समझा जाता है और उन्हींका नाम सुख-दु:ख है। ज्ञानके प्रकाशमें तो इन सारे मायिक प्रपंचोंकी सत्ता एक अखण्ड परमात्मसत्ताके रूपमें बदल जाती है, फिर उनके होने, न होनेमें कोई सुख-दु:ख रह ही कैसे सकता है? सुख-दु:ख वास्तवमें मनकी कल्पनामात्र हैं, वे किसी वस्तु या घटनामें नहीं हैं। तपस्वी साधु कष्ट सहकर तप करनेमें और परोपकारी पुरुष परार्थ प्राणत्याग करनेमें सुख मानते हैं। आज भी हम देखते हैं कि अनेक लोग अपने ध्येयके लिये जेल जानेमें सुख समझते हैं। मानसिक सन्तोष और सुखके कारण किसी-किसीकी फाँसीकी सजा सुननेके बाद भी वजन बढ़ जाता है। जब सांसारिक भावनाओंसे इस प्रकारकी कठिन दु:खसंज्ञक स्थितिमें सुखका बोध हो सकता है, तब परमात्माकी सच्ची प्रार्थनासे उपलब्ध परमात्माके अभेद प्रेमकी स्थितिमें सभी विषयोंका परम सुखरूप बन जाना कौन आश्चर्यकी बात है।

यह कभी नहीं मानना चाहिये कि 'भगवान् कोई अपराध क्षमा नहीं करता।' भगवान्‌का सृष्टिसंचालन-सूत्र ही उनकी दया और क्षमासे भरा है। भगवान् कितने दयालु और क्षमाशील हैं हमारा हृदय तो इस बातकी कल्पना ही नहीं कर सकता। जगत् अबतक दया और क्षमाकी जिस सीमातक पहुँचा है वह तो परमात्माकी दया और क्षमाके एक साधारण अणुके समान भी नहीं है। भगवान्‌का प्रत्येक विधान दया और क्षमासे पूर्ण है। अवश्य ही कहीं-कहीं हम अल्पज्ञ जीव भगवान्‌की दया और क्षमाका असली स्वरूप न समझकर मनचाहा आत्मविनाशी कार्य सफल न होनेके कारण उसकी अनन्त दयालुता और क्षमाशीलतापर सन्देह करने लगते हैं। क्या कहा जाय? जिस भाग्यवान्‌को भगवान्‌की

अनन्त दया और क्षमाकी तनिक-सी भी झाँकी देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वह तो सदाके लिये उनके हाथों बिक गया है। गद्गदकण्ठसे अस्फुट स्वरोंसे, अश्रुविगलित नेत्रोंसे उनके गुण गाता हुआ वह जिस परमानन्दका आस्वादन करता है, उसे वही जानता है।

इसी प्रकार 'भगवान्का नाम भावीको नहीं मिटा सकता' यह बात भी ठीक नहीं। जब भगवन्नामके आश्रयसे सारी भावियोंके आधार संसारका अस्तित्व ही परमात्माके रूपमें पलट सकता है तब तुच्छ भावी मिटनेकी कौन-सी बात है? अवश्य ही यह विषय अनुभवसाध्य है। तर्क और प्रमाणोंसे न तो इसकी सिद्धि की जा सकती है और न करना उचित ही है।

आप भव-भय-नाशके लिये श्रीराम-नामका आश्रय लिया चाहते हैं और दु:खोंकी निवृत्तिके लिये शुभ कर्म करना चाहते हैं सो बहुत ही अच्छी बात है। भव-भय नाशके लिये श्रीराम-नामका आश्रय लेना सर्वथा उचित ही है, परन्तु शुभ कर्मोंका अनुष्ठान भी भगवदर्थ ही करना चाहिये। फिर दु:खोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति तो आप ही हो जायगी। आपके मनमें 'ईश्वरका भय पैदा हो गया है' यह भी अच्छी बात है, ईश्वरके भयसे मनुष्य पापोंसे बचता है। परन्तु मेरा तो निवेदन है कि आप उस सर्वभयहारी भगवान्के शरण होकर श्रद्धा और प्रेमसे अपनेको सर्वस्वसहित उसके चरणोंपर न्योछावर कर दीजिये। यही मनुष्य-जीवनका सर्वोच्च साधन है। यही ईश्वर, संत और सद्ग्रन्थोंकी आज्ञा है।

अपने सम्बन्धी महोदयको समझाइये कि ईश्वर परम दयालु, न्यायकारी और क्षमाशील है। उसके नामका आश्रय लेनेसे सब दु:खोंका नाश हो सकता है। आपको न तो किसी शुभ कार्यके करनेसे ही जेल जाना पड़ा है और न जेलकी निवृत्तिके लिये किये गये यथार्थ शुभ कार्य ही व्यर्थ गये हैं। जेल होनेमें आपको यदि कष्ट हुआ है तो वह आपके किसी पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्मका फल है। यदि आपका वर्तमान कर्म शुभ था तो वह तो केवल जेलकष्टका प्रारब्ध भुगतानेमें निमित्तभर बन गया है, उसका शुभ फल आपको आगे मिलेगा। इसी प्रकार इस कष्टनिवारणार्थ आपने जो अनुष्ठानादि कर्म किये हैं यदि वे पाखण्ड-दम्भयुक्त नहीं हैं और पाखण्डियोंद्वारा नहीं हुए हैं तो उनका फल अवश्य शुभ हुआ है या अवश्य होगा—इसमें तनिक भी सन्देह न करें। परम दयालु, परम न्यायकारी परमेश्वरके राज्यमें उत्तम कर्मका उत्तम फल न होना या उसका निष्फल होकर नष्ट हो जाना अथवा उससे बुरा फल होना कदापि सम्भव नहीं!

क्या ईश्वरके घर न्याय नहीं है?

एक भाई पूछते हैं कि 'जो लोग प्रत्यक्षमें पाप करते हैं, गरीबोंको सताते हैं, छल-कपटसे दूसरोंका धन हरण करते हैं, व्यभिचार करते हैं, वे तो धन, पुत्र, मान आदिसे बड़े सुखी देखे जाते हैं और जो बेचारे धर्मके मार्गपर रहते हुए भगवान्का भजन करते हैं वे बड़े दु:खी रहते हैं। ऐसा क्यों होता है, क्या ईश्वरके घरमें न्याय नहीं है?'

इन भाई साहेबको सबसे पहले यह बात सदाके लिये मनमें दृढ़तासे धारण कर लेनी चाहिये कि 'ईश्वरके घरमें कभी अन्याय नहीं होता। वहाँ तो सदा ही न्याय है, केवल न्याय ही नहीं, दया भी पूर्ण है। ईश्वर न्यायकारी होनेके साथ ही परम दयालु भी है, उसकी प्रत्येक क्रियामें दया भरी है, हमें प्रमादवश वह दया दिखलायी नहीं पड़ती।' इस विषयपर आगे चलकर कुछ लिखा जायगा।

यह बात भी सर्वथा निश्चित नहीं है कि प्रत्यक्ष पाप करनेवाले, गरीबोंको सतानेवाले, छल-कपटसे दूसरोंका धन हरण करनेवाले और व्यभिचार करनेवाले सभी लोग धन, पुत्र, मान आदिसे सुखी हैं और धर्मके मार्गपर चलने तथा भजन करनेवाले सभी बड़े दु:खी हैं। हमने इसके विरुद्ध कई उदाहरण प्रत्यक्ष देखे हैं। हाँ, यह अवश्य है कि जिन लोगोंके पास भोग-सामग्रीका अभाव होता है, जिनपर सांसारिक संकट अधिक आते हैं, वे प्राय: भगवान्का भजन अधिक करते हैं; क्योंकि दु:खमें ही परमात्माकी स्मृति हुआ करती है। जब मनुष्य सब तरफसे निराश और निराश्रय हो जाता है, तभी वह एकान्तचित्तसे भगवान्को पुकारता है, इसीसे कुन्तीने भगवान्से दु:खका वरदान माँगा था। इसके विपरीत धन, पुत्र, मान, बड़ाईसे छके हुए लोग ईश्वरस्मरण बहुत ही कम करते हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे सुखी हैं। मतलब यह है कि जैसे शराबखोर जबतक नशेमें पागल रहता है तबतक वह अपनी असली स्थितिको भूला रहता है। वैसे ही ये लोग भी कुछ कालके लिये विषयमदसे उन्मत्त होकर भूले रहते हैं,

इसीसे भर्तृहरिने पुकारकर कहा था कि 'मोहमयी प्रमाद-मदिराको पीकर जगत् उन्मत्त हो रहा है।'

थोड़ी देरके लिये यह मान भी लिया जाय कि पाप करनेवालोंके धन, सन्तान आदिकी वृद्धि होकर वे सुखी होते हैं एवं सत्कार्य करनेवाले दु:खी रहते हैं तो इसका मतलब यह नहीं है कि उन दोनोंके इसी जन्मके कर्मोंका ही यह फल उन्हें मिल रहा है। अनन्त जन्मोंके संचित कर्मोंमेंसे जिन कर्मोंके द्वारा यह शरीर प्राप्त हुआ है, वे कर्म प्रारब्धरूपसे इस समय उन्हें फल भुगता रहे हैं। जिस प्रारब्ध-कर्मका फल इस समय मनुष्य भुगत रहा है, दूसरा वर्तमान कर्म उससे बहुत प्रबल हुए बिना फलदानोन्मुख प्रारब्धको रोक नहीं सकता। अच्छे-बुरे जो कुछ भी कर्म मनुष्य अभी कर रहा है वे सब उसके संचित बन रहे हैं। हाँ, यदि कोई ऐसा प्रबल कर्म बन जाय तो हाथोंहाथ प्रारब्ध बनकर फलदानोन्मुख प्रारब्धको रोककर पहले अपना फल भुगता दे, तो दूसरी बात है—जैसे किसीके प्रारब्धमें पुत्र नहीं है, उसने विधिवत् सांगोपांग पुत्रेष्टि-यज्ञ किया, उस यज्ञरूप कर्मका प्रारब्ध अभी बन गया और उसके पुत्र हो गया। इसी प्रकार अच्छे-बुरे कर्म जो अति बलवान् होते हैं, वे प्रारब्ध बनकर अपना फल पहले भुगता देते हैं। परंतु ऐसे प्रसंग बहुत कम होते हैं और जो होते हैं उनका भी हमें पूरा पता नहीं लगता; क्योंकि हमारे प्रारब्ध और वर्तमान सभी कर्मोंके बलाबलका पूरा निर्णय हमारी स्थूल बुद्धि नहीं कर सकती।

एक शहरके किसी स्कूलमें एक मुहल्लेके दो लड़के एक क्लासमें साथ पढ़ते थे, दोनोंमें मित्रता थी। स्कूलकी मित्रता प्राय: निष्कपट हुआ करती है। स्कूलसे निकलकर भिन्न-भिन्न मार्गोंका अवलम्बन करने तथा स्थितिमें छोटे-बड़े होनेपर मित्रता रहना, न रहना दूसरी बात है। अच्छे लोग तो श्रीकृष्ण-सुदामाकी तरह हैसियतमें बड़ा भारी अन्तर पड़ जानेपर भी लड़कपनकी मित्रता निबाहा करते हैं; परंतु ऐसे लोग बिरले ही होते हैं। अधिकांश तो राजा द्रुपदकी भाँति धन या उच्चपद मिलनेपर लड़कपनके प्यारे मित्रका उसकी गरीब हैसियत होनेके कारण प्राय: तिरस्कार ही किया करते हैं। धन या पदके मदसे अंधे हुए उन लोगोंको एक गरीब कंगालको मित्र मानने या कहने-कहलानेमें बड़ी लज्जा मालूम होती है। आजकल तो कुछ पढ़े-लिखे सभ्य बाबू और धनवान् पुत्रोंके लिये अपने सीधे-सादे गरीब ग्रामीण पिताको भी अपने पाँच मित्रोंमें पितारूपसे परिचय देना संकोचका विषय हो गया है! अस्तु।

दोनों मित्र पढ़कर स्कूलसे निकले, एक सदाचारी धर्मपरायण भक्त ब्राह्मणका लड़का था, दूसरा एक घूसखोर और दुराचारी धनी राजपूतका! घरकी संगतिका असर बालकोंपर सबसे ज्यादा हुआ करता है। ब्राह्मणका बालक स्कूलसे निकलकर पिताकी भाँति पाठ-पूजा तथा भक्तिभावमें लग गया और राजपूतका लड़का दुराचारमें प्रवृत्त हो गया! अच्छे-बुरे गुण सभीमें होते हैं, किसीमें ज्यादा, किसीमें कम। राजपूत-बालक धनी और दुराचारी होनेपर भी गरीब ब्राह्मण-बालकसे मित्रताका सम्बन्ध कभी नहीं भूला। दोनों मित्र समय-समयपर मिलते, एकान्तमें एक-दूसरेके सुख-दु:खकी बातें कहते-सुनते। जो जिस काममें रहता है उसमें उसे स्वाभाविक ही सुखकी प्रतीति होने लगती है। इसीसे वे दोनों अपने-अपने मार्गमें आनन्दकी अधिकता बतलाकर परस्पर अपनी-अपनी तरफ खींचनेकी चेष्टा करते, परन्तु दोनोंका एक मत कभी नहीं होता। प्रेममें कमी न होनेपर भी मतभेदके कारण दोनोंका मिलना-जुलना स्वाभाविक ही कम हुआ करता। ब्राह्मणकुमार भक्त-मण्डलीमें रहना अधिक पसंद करता तो राजपूतको शौकीन-मण्डलीमें ज्यादा आनन्द मिलता!

ब्राह्मण बेचारा भीख माँगकर बड़े कष्टसे घरका काम चलाता, उधर राजपूतके यहाँ रोज गुलछर्रे उड़ते। कई बार वह राजपूत अपने मित्र ब्राह्मणसे कहता भी कि 'तू हमारी मण्डलीमें क्यों नहीं आ जाता?' कई बार वह धन भी देना चाहता, पर सन्तोषी ब्राह्मण अन्यायोपार्जित धनको अन्त:करण अपवित्र हो जानेके भयसे कभी लेता नहीं। तब वह कहता, 'भाई! तेरे भाग्यमें ही दु:ख लिखा है तब मैं क्या करूँ?' ब्राह्मणको अपनी निर्धनतापर असन्तोष नहीं था, वह अपनी स्थितिमें सन्तुष्ट था, परन्तु इधर उस राजपूतको पिताकी ओरसे काफी धन मिलनेपर भी रात-दिन हाय-हाय ही लगी रहती थी; क्योंकि हर तरहसे बाबूगिरीमें उड़ानेके लिये तथा खुशामदी गुण्डोंकी जेब भरनेके लिये उसको धनकी सदा जरूरत बनी ही रहती थी।

निर्जला एकादशीका दिन था। ब्राह्मणने एकादशीका निर्जल उपवास किया, रातको जागरणके लिये वह मन्दिरमें गया। रातभर जागकर उसने हरि-नाम-कीर्तन किया। प्रात:काल मन्दिरसे निकलकर वह नंगे पाँव घर लौट रहा था, रास्तेमें एक काँचका टुकड़ा पड़ा था, अचानक पैरमें गड़ गया, खूनकी धारा बह निकली।

गर्मीका मौसम, छत्तीस घंटेका भूखा-प्यासा, रातभरकी नींद, तिसपर यह वेदना! ब्राह्मण घबरा-सा गया!

नगरमें एक नयी वेश्या हालमें ही आयी थी, रातको उसका गाना था, शौकीन बाबुओंका जमघट वहींपर था, बिजलीके पंखे चल रहे थे, शराब-कबाबकी कोई कमी नहीं थी। जागे जितनी देर सुरीले सुरोंका आनन्द लूटा और जब मनमें आया तब सो गये तो नींदका सुख; बाबुओंने बड़े सुखसे रात बितायी। कहना नहीं होगा कि ब्राह्मणका मित्र भी वहाँ जरूर पहुँचा था। प्रात:काल वेश्याके यहाँसे निकलकर सब अपने-अपने घर जाने लगे। सभी नशेमें चूर झूम रहे थे। एकको पाकेटसे 'मनीबैग' गिर गया, उसमें पाँच हजारके नोट थे। उसको नशेमें क्या पता था कि मेरा मनीबैग कहीं गिर गया है। राजपूतकुमार पीछेसे आ रहा था, उसने भाग्यवश कुछ शराब कम चढ़ायी थी, इससे वह कुछ होशमें था। चलते-चलते मनीबैगपर उसकी नजर पड़ी; उठाकर देखा तो पूरे पाँच हजारके पाँच नोट; वह आनन्दके मारे उछल पड़ा! सोचा, पिताजीने इधर कुछ हाथ सिकोड़ लिया था, चलो कई दिनोंके लिये मौज-शौकका सामान सहज ही मिल गया! बैग जेबमें रखकर वह चलता बना।

जिस रास्तेसे वह जा रहा था, उसी रास्तेमें उस ब्राह्मणके पैरमें काँच लगा था, वह बेचारा खून पोंछकर जलकी पट्टी बाँध रहा था। मित्रको देखकर उसे कुछ हिम्मत हुई, पूछनेपर उसने सारी कथा सुना दी। रातपूतने कहा—'भाई! तुम तो किसीकी बात मानते नहीं। दिन-रात पाठ-पूजा और राम-नामके व्यर्थके बखेड़ेमें लगे रहकर जीवन बरबाद कर रहे हो! भला, क्या होता है राम-नाम बड़बड़ाने और मंदिरोंमें जानेसे? खानेको पूरा अन्न मिलता नहीं, कमाई करना तुम जानते नहीं, बात-बातमें तुम्हें पापका डर लगता है, बाल-बच्चे दु:खी हो रहे हैं, तुम्हारी तो हड्डियाँ ही चमक रही हैं, तिसपर कहते हो धर्म और राम-नाम संसार-सागरसे तार देगा। मरनेपर वैकुण्ठ मिलेगा! कोई देखकर आया है कि मरनेपर आगे क्या होता है? भाई! आगे-पीछे कुछ नहीं होता, व्यर्थ शरीरको कष्ट मत दो, खाओ-पीओ, मौज करो, जबतक जीओ सुखसे जीओ, इन्द्रियोंसे आराम भोगो। मर जानेपर तो सिवा खाकके और कुछ होता नहीं। मुझे देखो, कितनी मौजमें हूँ! रात-दिन चैनकी वंशी बजती है। रातको गया था परी गुलशनका गाना सुनने, बड़े आनन्दसे रात कटी, सुबह वहाँसे निकला तो पूरे पाँच हजारके नोट मिले।' यह कहकर उसने मनीबैगमेंसे नोट निकालकर दिखलाये और फिर बोला—'छोड़ो इन बखेड़ोंको, मेरे साथ चलो और आरामसे रहो।

ब्राह्मण घबराया हुआ था, विपत्तिके समय सहानुभूतिभरे हृदयसे जो बातें कही जाती हैं उनका असर विपद्ग्रस्त मनुष्यपर अवश्य होता है, अतएव ब्राह्मणके हृदयपर भी मित्रकी बातोंका कुछ असर हुआ, थोड़े समयके लिये उसे अपने धर्ममार्गपर सन्देह हो गया, वह सोचने लगा—'ठीक ही तो है, मैं जिन कामोंको महापातक समझता हूँ उन्हींमें यह दिन-रात रत रहता है, तब भी इसे कितना सुख है और मैं दिन-रात भजन-पूजनमें रहता हूँ, भला, कल तो मेरे चौबीसों घंटे केवल भजनमें ही बीते थे, जिसपर मुझे तो यह संकट मिला और इसे पाँच हजार रुपये मिल गये!' इन विचारोंके पैदा होते ही अभ्यस्त शुभ संस्कारोंने जोर दिया, मन-ही-मन ब्राह्मण पहले विचारोंका खण्डन करने लगा। उसने सोचा 'यह तो सर्वथा पाप है, क्या हुआ जो इसे रुपये मिल गये, पराया धन लेना क्या अच्छी बात है? जिस बेचारेके रुपये खोये हैं उसको इस समय कितना क्लेश हो रहा होगा? मुझे ऐसा सुख नहीं चाहिये।' इस तरह मनमें अनेक संकल्प-विकल्प हुए। अन्तमें ब्राह्मणको उस महात्माकी बात याद आयी जो उस समय नगरमें आये हुए थे, बड़े सिद्ध योगी थे; भूत-भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालकी बातें जानते थे। राजा-प्रजा सबपर उनका प्रभाव फैला हुआ था। वे कई लोगोंको कई प्रकारके चमत्कार दिखला चुके थे। ब्राह्मणने सोचा, इसका निर्णय भी उन्हींसे कराना चाहिये। उसने अपने मित्रसे यह प्रस्ताव किया। राजपूतने कहा—'भाई! निर्णय तो कुछ कराना है नहीं; प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। परन्तु तुम कहते हो तो चलो उन्हींके पास।' राजाकी श्रद्धा होनेकी वजहसे राजकुमारीके इस पुत्रके मनमें भी उस महात्मापर कुछ श्रद्धा थी। दोनों वहाँ पहुँचे, हाथ जोड़ प्रणाम किया और अपनी सारी कहानी उन्हें सुना दी।

तदनन्तर योगीने ध्यानसे सब बातें जानकर कहा कि जिसको रुपये मिले हैं, वह बड़ा पापी है और जिसके पैरमें चोट लगी है, वह बड़ा पुण्यात्मा है! क्योंकि प्रारब्धके अनुसार पहलेको आज सम्राट्का पद मिलना चाहिये था और दूसरेको सूली होनी चाहिये थी; परन्तु पहलेके प्रबल पापने सम्राट्का पद केवल पाँच हजार रुपयोंमें बदल दिया और ये पाँच हजार भी, इसके अमुक साथीने जो पहले इसीके घरसे चुरा लिये

थे, हैं; नहीं तो पराया धन ले लेनेका भारी पाप इसे और होता तथापि इसने 'पर-धन' जानकर भी मन चलाया, इसका पाप तो इसे अवश्य होगा। परन्तु दूसरेके प्रबल पुण्यसे सूली टलकर केवल काँचमात्रकी चोटमें ही फल भुगत गया।' इतना कहकर महात्माने योगबलसे दोनोंको उनके पूर्वकृत कर्मोंका दृश्य दिखलाया, जिससे उन लोगोंको स्पष्ट विदित हो गया कि ब्राह्मणके पूर्वकृत अच्छे नहीं थे जिससे वह दरिद्र था तथा आज उसे सूली होनी चाहिये थी। रातपूतके कर्म अच्छे थे जिससे वह धनी था और आज उसे सम्राट्का पद मिलनेवाला था। यह दृश्य देखकर ब्राह्मण और रातपूत दोनों मित्रोंको बड़ा दु:ख हुआ। राजपूतको तो अपने वर्तमान कर्मोंके लिये बड़ा भारी पश्चात्ताप था और ब्राह्मण अपने मित्रके दु:खसे दु:खी था।

महात्मा कहने लगे—'ब्राह्मण! तू अच्छे संगसे बड़े ही सन्मार्गमें चल रहा है। पूर्वके कर्म बुरे भी हों पर यदि मनुष्य इस जन्ममें अच्छे कर्मोंमें लगा रहे तो पूर्वके कर्म उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते। कर्म करनेकी स्फुरणा संचितसे होती है। सबसे पहले स्फुरणा प्राय: उस संचितकी होती है जो अत्यन्त नवीन होता है। जैसे, एक व्यापारीने किसी बड़े गोदाममें बहुत-सा माल भर रखा है और नित्य नया माल भरता चला जा रहा है, अब यदि उसे उसमेंसे माल निकालना होता है तो सबसे पहले वही माल निकालता है जो सबसे पीछे रखा गया है; क्योंकि वही पहलेके मालसे आगे रखा हुआ है। मनुष्यने पिछले जन्मोंमें जो कुछ कर्म किये हैं वे सब संचित हैं और अब जो कुछ कर्म कर्तृत्वभावसे कर रहा है वह सब भी संचित बन रहे हैं। स्फुरणा संचित होती है इसलिये सबसे पहले वैसी ही स्फुरणा होगी जैसा नया संचित होगा। नये संचितके अनुसार स्फुरणा होनेमें सन्देह हो तो दो-चार दिन लगातार किसी काममें लगकर देखिये, मनमें उसी विषयकी स्मृति रहती है या नहीं! रोज नाटकमें जाइये, नाटकोंकी बातें स्मरण आयेंगी। साधुओंके पास जाइये, उनका स्मरण होगा। यह स्मृति ही स्फुरणा है जो नये संचितसे होती है। नये संचितका आधार है कर्म। अतएव वर्तमान कर्म अच्छा होगा तो उसका संचित भी अच्छा होगा। संचित अच्छा होगा तो स्फुरणा भी अच्छी होगी। कर्म होनेमें स्फुरणा प्रधान है। स्फुरणा अच्छी होगी तो पुन: कर्म अच्छा होगा। अच्छे कर्मसे पुन: अच्छा संचित और अच्छे संचितसे पुन: अच्छी स्फुरणा, फिर उससे पुन: अच्छा कर्म होगा। इस प्रकार लगातार शुभ कर्म बनते रहेंगे, जिससे अन्त:करण शुद्ध होकर कभी भगवत्कृपासे तत्त्वज्ञानकी उपलब्धि हो जायगी तो समस्त संचित जलकर भस्म हो जायँगे। इसलिये सबको वर्तमानमें अच्छा कर्म करना चाहिये। दुष्ट संचितवश मनमें बुरी स्फुरणा भी हो तो मनुष्यको उसे सत्संगसे—विचारसे दबाकर अच्छे ही कर्ममें लगे रहना चाहिये।

'मनुष्य अधिक समयतक जिस विषयका स्मरण करता है क्रमश: उसीमें उसकी समीचीन बुद्धि होकर राग हो जाता है। जिसमें राग होता है उसीकी कामना होती है। जैसी कामना होती है वैसी ही चेष्टा होती है। वह चेष्टा ही कर्म है। फिर लगातार जैसे कर्म होते हैं, वैसी ही स्मृति होती है। यह ताँता चला ही जाता है। इस विषयमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं, यह तो प्रतिदिनका सबका प्रत्यक्ष अनुभव है।

'हे ब्राह्मण! तेरे पूर्वसंचित अच्छे न होनेपर भी तू इस जीवनके सत्संगसे अच्छे कर्म करने लगा, जिससे तेरे हृदयकी पूर्वजन्मार्जित कर्मजन्य बुरी स्फुरणाएँ दब गयीं। इस राजपूतके पूर्वसंचित शुभ होनेपर भी इसने कुसंगसे बुरे कर्म करने आरम्भ कर दिये, जिनसे लगातार बुरी स्फुरणाएँ हुईं और उनसे फिर लगातार बुरे कर्म होते गये। अच्छी स्फुरणाओंको प्रकट होनेका अवसर ही नहीं मिला। तेरे सत्कर्म बढ़ते रहे और इसके दुष्कर्म। फल यह हुआ कि फलदानोन्मुख प्रारब्धकर्ममें रुकावट पड़ गयी। रुकावट ही नहीं पड़ी, तेरी सूलीकी वेदना काँचकी चोटमें और इसका सम्राट्पद पाँच हजार रुपयोंके लाभमें बदल गया।'

ब्राह्मणने कहा—'स्वामिन्! मैंने यह सुन रखा है कि कर्मोंको भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं मिलता **'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'** संचितका नाश तो सम्भव है परन्तु प्रारब्धका नाश नहीं होता। वह तो छूटे हुए तीरकी भाँति भोगना ही पड़ता है। फिर क्या कारण है कि हमलोगोंके प्रारब्धकर्मके फलमें इतना परिवर्तन हो गया?

संत बोले—'तेरा कहना ठीक है, प्रारब्धका फल भोगे बिना नाश नहीं होता, परन्तु पहले यह समझो कि प्रारब्ध क्या वस्तु है? अपने पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूपमें ही तो प्रारब्ध बना है, परन्तु अबसे एक क्षण पहले तुम जो कर्म कर चुके वह क्या पूर्वकृत नहीं है? भाई! कुछ कर्म ऐसे प्रबल होते हैं जो तुरंत संचित बनकर प्रारब्धके रूपमें परिणत हो अपना फल दे डालते हैं। ऐसा न होता

तो 'पुत्रेष्टि'-यज्ञमें पुत्रहीन-प्रारब्धवाले व्यक्तिको पुत्रकी प्राप्ति कैसे होती? यज्ञरूप क्रियमाणसे संचित होकर तुरंत प्रारब्ध बन जाता है और वह पुत्र न होनेके प्रारब्धको पलट देता है। या यों कहो कि वह भी एक दूसरा प्रारब्ध ही बन जाता है। दूसरे, प्रायश्चित्तादिसे जो कर्मोंकी निवृत्ति लिखी है, उसमें भी तो रहस्य है। प्रायश्चित्त वास्तवमें कर्मोंका भोग ही तो है। किसीके ऋणको कोई रुपये देकर चुका दे या उसकी चाकरी करके भर दे, दोनों ही मार्गोंसे मनुष्य ऋणमुक्त हो सकता है। इसी प्रकार नवीन प्रारब्धका निर्माण या परिवर्तन होता है।

'अवश्य ही ऐसे हाथोंहाथ प्रारब्ध बननेवाले प्रबल क्रियमाण कर्म बहुत थोड़े होते हैं। तुम दोनोंके हो गये, इससे तुमलोगोंके भाग्यने भी पलटा खाया। हरिभक्ति और हरिनामसे बड़े-से-बड़े पापोंका प्रायश्चित्त अनायास ही हो जाता है। अतएव हे ब्राह्मणकुमार! इस कुसंगमें पड़े हुए अपने मित्र राजपूतको अपने साथ ले जाओ और दोनों हरिसेवारूपी सत्कर्ममें लगे रहो।' तदनन्तर संत राजपूतको सम्बोधन कर कहने लगे—'हे राजपूत! तेरा भी बड़ा सौभाग्य है जो तुझे ऐसा सदाचारी मित्र मिला है, अब इसके साथ रह। कुसंगतिका त्याग कर दे और भगवान्‌का भजन कर। तुमलोगोंका मंगल होगा।' साधु इतना कहकर चुप हो गये। दोनों मित्र दण्डवत्-प्रणाम करके घर लौट आये और भगवद्भजनमें लग गये।

इस दृष्टान्तसे यह सिद्ध हो गया कि ईश्वरके घर अन्याय नहीं है। अपनी-अपनी करनीका फल यथार्थरूपसे ही सबको मिलता है। जिन पापकर्म करनेवालोंकी सांसारिक उन्नति देखनेमें आती है उनके लिये यह समझना चाहिये कि या तो उनका शुभ प्रारब्ध इस समय फल भुगता रहा है, वर्तमान पापकर्मोंका फल उन्हें आगे चलकर मिलेगा; या उनकी जो उन्नति देखी जाती है उससे बहुत ही अधिक होनेवाली थी जो वर्तमानके प्रबल पापकर्मोंके फलसे नष्ट हो गयी। यह कभी नहीं समझना चाहिये कि पाप करनेसे उन्नति होती है। लाखों-करोड़ों रुपयेकी आमद-रफ्त होनेपर भी शेषमें बचता उतना ही है जितना प्रारब्धवश बचनेको होता है। रात-दिनका कठिन परिश्रम, परिश्रमजन्य बीमारियाँ और लोभवश किये हुए पापोंका संचित और बुरे संचितसे होनेवाली कुवासनारूपी हृदयकी बीमारियाँ आदि अवश्य बढ़ जाती हैं जो उसे चिरकालके लिये दुःख देनेवाली होती हैं।

अतएव पापकर्मोंसे सर्वदा बचे रहकर श्रीभगवान्‌का भजन-स्मरण करना चाहिये। भगवान् न्यायकारी होनेके साथ ही दयालु भी हैं, यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये। जो उनकी ओर एक कदम आगे बढ़ता है, भगवान् उसकी ओर पाँच कदम आगे बढ़ते हैं। वे जीवोंको सतत अपनी ओर खींच रहे हैं। उनकी कृपाका प्रवाह निरन्तर बह रहा है, जो उसमें डुबकी लगा लेता है, वही कृतार्थ हो जाता है।

सच्ची साधना

हम बहुत ऊँची-ऊँची बातें करते हैं; ब्रह्मज्ञानका निरूपण करते हैं, बात-बातमें संसारके मिथ्या होनेकी सूचना देते हैं, लोगोंको उनके दोष दिखाकर बुरा कहते और भाँति-भाँतिके उपदेश देते हैं, परन्तु अपनी ओर बहुत कम देखते हैं। ऊँची-ऊँची बातें बनाते और ब्रह्मज्ञानका निरूपण करते समय भी हमारे हृदयके किसी कोनेमें सम्मान या कीर्तिकी कामना छिपी रहती है, जरा गहरे जाकर देखनेसे हम उसे तत्काल पकड़ सकते हैं। सच बात तो यह है कि जहाँ हमारा मन होता है, हम वहीं होते हैं और हमारी यथार्थ स्थितिका अंदाजा भी उसीसे लग जाता है। यदि हमारे मनमें बार-बार काम, क्रोध, लोभकी वृत्तियाँ जाग्रत् होती हैं और ऊपरसे हम सत्संगकी बातें कर रहे हैं तो समझना चाहिये कि अभीतक हम असली सत्संगी नहीं बन सके हैं। असली सत्संगी तब होंगे, जब हमारा हृदय 'सत्' रूप परमात्माके स्वरूपसे भर जायगा। काम, क्रोध और लोभकी वृत्तियाँ कभी धर्मानुकूल आवश्यक समझी जाकर जगानेपर भी नहीं जगेंगी। विषयोंके समीप रहनेपर भी विषयोंपर भोग-दृष्टिसे मन नहीं जायगा। खेदकी बात तो यह है कि आजकल हम सभी गुरु और उपदेशक बनना चाहते हैं, श्रद्धालु शिष्य बनकर साधनमें प्रवृत्त नहीं होना चाहते, अपने भीतर रहे हुए मलकी कुछ भी परवा न कर दूसरेका मल धोना चाहते हैं, परिणाम यह होता है कि हृदयमें मल और भी बढ़ जाता है, जिससे चित्त अशान्त होकर नाना प्रकारके अन्यान्य दोषोंको भी जन्म दे देता है। अनेक प्रकारके मत-मतान्तर, अभिमान, राग-द्वेष, क्रोध, हिंसा आदिके उत्पन्न होनेमें इससे बड़ी सहायता मिलती है।

अतएव उचित यह है कि हम अपनी ओर देखें, अपने हृदयके मलको धोयें, नम्रताके साथ दूसरोंसे कुछ सीखना चाहें और जो कुछ अच्छी बात मालूम हो, उसमें मन लगाकर चुपचाप उसका सेवन करें। एक आदमी यथार्थमें धनी हो और संसार उसे धनी न समझता हो तो उसकी कोई भी हानि नहीं होती, संसारके न माननेसे उसका धन कहीं चला नहीं जाता, परन्तु जो धन न होनेपर भी धनी कहलाता या कहलाना चाहता है, उसकी बुरी दशा होती है, वह स्वयं भी अनेक दु:ख भोगता है और जगत्‌को भी धोखा देता है। इसी प्रकार सत्पुरुष कहलानेकी इच्छा नहीं रखकर सत्पुरुष बननेकी इच्छा रखनी चाहिये और उसके लिये श्रद्धाके साथ चुपचाप सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये। जबतक अपना ध्येय न मिल जाय, तबतक दूसरी ओर ताकनेकी भी फुरसत नहीं मिलनी चाहिये, यही सच्ची साधना है।

तृष्णा

तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।

बुढ़ापा आ गया, इन्द्रियोंकी शक्ति जाती रही, सब तरहसे दूसरोंके मुँहकी ओर ताकना पड़ता है, परन्तु तृष्णा नहीं मिटी। 'कुछ और जी लूँ, बच्चोंके लिये कुछ और कर जाऊँ, दवा लेकर जरा ताजा होऊँ तो संसारका कुछ सुख और भोग लूँ। मरना तो है ही, परन्तु मेरे हाथसे लड़केका विवाह हो जाय तो अच्छी बात है, दुकानका काम बच्चे ठीकसे सँभाल लें, इतना-सा उन्हें और ज्ञान हो जाय, बहुत-से वृद्ध पुरुष ऐसी बातें करते देखे जाते हैं। मेरे एक परिचित वृद्ध सज्जन जो लगभग करोड़पति माने जाते हैं और जिनके जवान पौत्रकी भी सन्तान मौजूद है, एक बार बहुत बीमार पड़े। बचनेकी आशा नहीं थी। बड़ी दौड़-धूप की गयी, भाग्यवश उस समय उनके प्राण बच गये। मैं उनसे मिलने गया, मैंने शरीरका हाल पूछकर उनसे कहा कि 'अब आपको संसारकी चिन्ता छोड़कर भगवद्भजनमें मन लगाना चाहिये। इस बीमारीमें आपकी मरनेकी नौबत आ गयी थी, भगवत्कृपासे आप बच गये हैं, अब तो जितने दिन आपका शरीर रहे, आपको केवल भगवान्‌का भजन ही करना चाहिये।' उन्होंने कहा—'आपका कहना तो ठीक ही है, परन्तु लड़का इतना होशियार नहीं है, पाँच साल मैं और जिंदा रहूँ तो घरको कुछ ठीक कर जाऊँ, लड़का भी कुछ और समझने लगे। मरना तो है ही। क्या करूँ? भजन तो होता नहीं।' मैंने फिर कहा—'अब आपको घर क्या ठीक करना है? परमात्माकी कृपासे आपके घरमें काफी धन है। आपके लड़के भी बुड्ढे हो चले हैं। मान लीजिये, अभी आप मर जाते तो पीछेसे घरको ठीक कौन करता?' उन्होंने सरलतासे कहा—'यह तो मैं भी जानता हूँ, परन्तु तृष्णा नहीं छूटती।'

इस सच्ची घटनासे पता लगता है कि तृष्णा किस तरहसे मनुष्यको घेरे रहती है। ज्यों-ज्यों कामनाकी पूर्ति होती है त्यों-ही-त्यों तृष्णाकी जलन बढ़ती चली जाती है।

निस्स्वो वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो
लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेश्वरत्वं पुनः।
चक्रेशः पुनिरिन्द्रतां सुरपतिर्ब्रह्मास्पदं वाञ्छति
ब्रह्मा विष्णुपदं पुनः पुनरहो आशावधिं को गतः॥

'जिसके पास कुछ भी नहीं होता वह चाहता है कि मेरे सौ रुपये हो जायँ, सौ होनेपर हजारके लिये इच्छा होती है, हजारसे लाख, लाखसे राजाका पद, राजासे इन्द्रका पद, इन्द्र होनेपर ब्रह्माका पद पानेकी इच्छा होती है और ब्रह्मा होनेपर विष्णुपदकी कामना होती है। इस तरह तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है, इसकी कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती।'

मेरे एक मित्र मुझसे कहा करते हैं कि जब हम निर्धन थे तब यह इच्छा होती थी कि बीस हजार रुपये हमारे पास हो जायँगे तो हम केवल भगवान्‌का भजन ही करेंगे, परन्तु इस समय हमारे पास लाखों रुपये हैं, वृद्धावस्था हो चली है, परन्तु धनकी तृष्णा किसी-न-किसी रूपमें बनी ही रहती है। यही तो तृष्णाका स्वरूप है।

जगत्‌के सुखभोगोंकी तृष्णाने ही लोगोंको भगवान्‌से विमुख कर रखा है। यह पिशाचिनी किसी भी कालमें भगवच्चिन्तनके लिये मनका पिण्ड नहीं छोड़ती। सदा-सर्वदा सिरपर सवार ही रहती है। रेलमें, मोटरमें, गाड़ीमें, जहाजमें, मन्दिरमें, मस्जिदमें, दुकानमें, घरमें, बाजारमें, वनमें, सभामें और समारोहमें सभी जगह यह साथ रहती है। इसीसे मनुष्य दु:खोंसे छुटकारा नहीं पा

सकता। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सर्वसंसारदुःखानां तृष्णैका दीर्घदुःखदा।
अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे॥

'संसारमें जितने दुःख हैं उन सबमें तृष्णा ही सबसे अधिक दुःखदायिनी है। जो कभी घरसे बाहर भी नहीं निकलता, तृष्णा उसे भी बड़े संकटमें डाल देती है।'

भीषयत्यपि धीरं मामन्धयत्यपि सेक्षणम्।
खेदयत्यपि सानन्दं तृष्णा कृष्णेव शर्वरी॥

'तृष्णा महती अन्धकारमयी कालरात्रिकी तरह धीर पुरुषको भी डरा देती है, चक्षुयुक्तको भी अंधा बना देती है और शान्तको भी खेदयुक्त कर देती है।'

विषय-तृष्णामें मतवाले मनुष्योंकी असफलताका दिग्दर्शन कराते हुए महाराज भर्तृहरि पुकारते हैं—

उत्खातं निधिशंकया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो
निस्तीर्णः सरिताम्पतिर्नृपतयो यत्नेन सन्तोषिताः।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीता श्मशाने निशा
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुंच माम्॥

धनकी तृष्णाने क्या-क्या काम नहीं कराये।

खोदत डोल्यो भूमि, गड़ीहु न पाई सम्पति।
धौंकत रह्यो पखान, कनकके लोभ लगी मति॥
गयो सिन्धुके पास, तहाँ मुक्ताहु न पायो।
कौड़ी कर नहिं लगी, नृपनको शीश नवायो॥
साधे प्रयोग श्मशानमें, भूत प्रेत वैताल सजि।
कितहूँ भयो न वांछित कछू अब तो तृष्णा मोहि तजि॥

'गड़े धनके लिये जमीनका तला खोद डाला; रसायनके लिये धातुएँ फूँकीं; मोतियोंके लिये समुद्रकी थाह ली; राजाओंको सन्तुष्ट रखनेमें बड़ा यत्न किया; मन्त्रसिद्धिके लिये रातों श्मशान जगाया और एकाग्र होकर बैठा हुआ जप करता रहा, पर खेद है कि कहींपर भी एक फूटी कौड़ी हाथ न लगी। इसलिये हे तृष्णे! अब तो तू मेरा पिण्ड छोड़। फिर कहते हैं—

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न कंचत्फलं
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृतानिष्फला।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहेष्वाशंकया काकवत्
तृष्णे दुर्मति पापकर्मनिरते नाद्यापि सन्तुष्यसि॥
भटक्यो देश-विदेश, तहाँ कछु फलहु न पायो।
निज कुलको अभिमान छोड़ सेवा चित लायो॥
सही गारि अरु खीझ हाथ झारत घर आयो।
दूर करतहूँ दौरि, स्वान जिमि परघर खायो॥
इहि भाँति नचायो मोहि तैं, बहकायो दै लोभतल।
अबहूँ न तोहि सन्तोष कहु, तृष्णा! तू पापिनि प्रबल॥

तृष्णासे ही इतनी लांछना, निर्लज्जता और इतना अपमान, दुःख सहन करना पड़ता है।

एक दुःखके बाद नया दुःख आनेमें तृष्णा ही प्रधान कारण होती है। मनुष्य किसी भी अवस्थामें सन्तोष नहीं करता, इसीलिये बारम्बार उसकी स्थिति बदलती रहती है। तृष्णाके मारे भटकते-भटकते सारी उम्र बीत जाती है; अन्तमें वह जैसे-का-तैसा रह जाता है; पीछे हाथ मल-मलकर पछतानेसे भी कोई लाभ नहीं होता।

यदि भाग्यवश धन प्राप्त भी हो जाता है तब भी वह तृष्णा उसका कुछ विशेष सदुपयोग नहीं होने देती, सारी उम्र बातोंमें ही बीत जाती है।

अतएव बुद्धिमान् मनुष्योंको भोगोंकी तृष्णासे मुँह मोड़कर परमात्माके लिये तृषित होना चाहिये। भोगोंसे कभी तृप्ति नहीं होती ***'बुझै न काम-अगिनि तुलसी बहु बिषय-भोग अरु घी ते।'*** अग्निमें घी डालते जाइये, वह और भी धधकेगी। यही दशा कामनाकी है। उसे बुझाना हो तो सन्तोषरूपी शीतल जल डालिये। धन तो वही असली है जिससे मनुष्यको सुख मिलता है। ऐसा धन सन्तोष है '**सन्तोषः परमं धनम्।**' ऐसे अनेक करोड़पति देखे जाते हैं जो तृष्णाके फेरमें पड़े हुए असन्तोष और अतृप्तिकी तीव्र आगसे जल रहे हैं। उनके अन्तःकरणमें क्षणभरके लिये भी शान्ति पैदा नहीं होती। इसीलिये तो वे महान् दुःखी रहते हैं—

—अशान्तस्य कुतः सुखम्

न्यायसे धन कमाने और उसका सदुपयोग करनेकी मनाही नहीं है, परन्तु धनकी तृष्णासे मतवाले होनेकी आवश्यकता नहीं। इसीलिये शास्त्रोंमें इसके लिये एक मर्यादा बतायी है; क्योंकि धनमें बड़ी मादकता होती है, धनमद सबसे बड़ा मद होता है। यह मद मनुष्यपर जब चढ़ जाता है तब उसे अंधा बना देता है। फिर वह अपने सामने जगत्‌में किसीको भी बुद्धिमान् नहीं समझता। वे पुरुष धन्य हैं जो धन होते हुए भी मदहीन और विनम्र हैं, परन्तु ऐसे पुरुष संसारमें विरले ही होते हैं, धनकी स्वाभाविक मादकता आये बिना प्रायः रहती नहीं। अतएव साधक पुरुषोंको चाहिये कि वे आजीविकाके लिये उतना ही कार्य करें जिससे उनका गृहस्थ बड़ी

सादगीके साथ साधारणरूपसे ठीक चलता रहे। धन बटोरकर भोग भोगने या पुण्य कमानेकी इच्छा रखकर धनके लिये तृष्णा न करें इससे परमार्थके साधनमें बड़ा विघ्न होता है।

धन कमाना बुरी बात नहीं है। धनकी तृष्णा ही बुरी है। जगत्‌के किसी भी भोग्यपदार्थकी तृष्णा मनुष्यको बन्धनमें डाल देती है। तृष्णा हो तो एक प्यारे मनमोहनके मुखकमल-दर्शनकी हो, जिससे त्रिविध तापोंका सदाके लिये नाश हो जाता है; परन्तु वह तृष्णा उन्हीं भाग्यवानोंको नसीब होती है जो भोगोंकी तृष्णाको विषवत् त्याग देते हैं। जो जगत्‌के केवल देखनेमें रमणीय पदार्थोंके असली जहरीले रूपको पहचानकर उनसे मुँह मोड़ लेते हैं, उन्हींके अन्त:करणमें भगवच्चरण-दर्शनकी तीव्र पिपासा उत्पन्न होती है। फिर वे पागल हो उठते हैं उस रूपमाधुरीका दर्शन करनेके लिये। उन्हें दूसरी बात सुहाती नहीं। जगत्‌के विषयी लोग कोई उन्हें पागल समझते हैं, कोई मूर्ख समझते हैं, कोई निकम्मा समझते हैं, कोई अशक्त समझते हैं और कोई अविवेकी समझते हैं; परन्तु वे अपनी उसी धुनमें इतने मस्त रहते हैं कि निन्दकोंकी ओर ताकनेकी भी उनको फुरसत नहीं मिलती। प्यासके मारे जिसके प्राण छटपटाते हों, वह जलको छोड़कर दूसरी ओर कैसे ताकेगा? उसे जबतक जल नहीं मिल जायगा तबतक जगत्‌की गप्पें कैसे सुहावेंगी? वह तो दौड़ेगा वहींपर जहाँ उसे जल दीखेगा। वह क्यों परवा करेगा लोगोंकी जबानकी? जिसके मनमें जो आवे सो कहे, उसे तो अपने कामसे काम। जो जगत्‌की ओर ताकते हैं, उनकी बात सुनते और उन्हें जवाब देनेके लिये ठहरते हैं उन्हें पूरी प्यास नहीं होती, वे प्यासकी अधिकतासे छटपटाने नहीं लगते। इसीलिये उन्हें सुनना, ठहरना और जवाब देना सूझता है। जिसके तृष्णा बढ़ जाती है वह तो उन्मत्त हो जाता है।

लगी है प्यास जोरोंसे ढूँढ़ता हूँ सरोवर को।
सुहाता है नहीं कोई मुझे अब दूसरा कुछ भी॥

जब इतनी तृष्णा बढ़ती है तब भगवान्‌का आसन डोल जाता है, उन्हें आना पड़ता है वैकुण्ठ छोड़कर, उस रूपके प्यासे मतवाले भक्तको अतुल सौन्दर्यसुधा पिलाकर सदाके लिये तृप्त और सन्तुष्ट कर देनेके लिये! भगवान्‌के इस मनोहर मिलनसे संसारकी समस्त ज्वालाएँ शान्त हो जाती हैं, उसकी जन-मनहर अनोखी वाणी सुनते ही अविद्याकी बेड़ियाँ पटापट टूट जाती हैं, कर्मोंका बन्धन खुल पड़ता है। अमावस्याकी घोर निशा शरद्-पूर्णिमाके अमृतभरे प्रकाशके रूपमें परिणत हो जाती है। धन, मान, कुल, विद्या और वर्णका सारा अभिमान उस प्रियतमके प्रेमकी बाढ़में बह जाता है—मायाका लेन-देन चुक जाता है। उसके लिये दरवाजा खुल जाता है उस सर्वत्र अबाधित परमात्माके परम धामका। उसके कोई भी अपना-पराया नहीं रह जाता, सर्वत्र ही मोहनकी मधुर मुरलीका सुरीला स्वर सुनायी पड़ने लगता है और दीखने लगता है सर्वत्र केवल उस एकका अपार विस्तार। ऐसी स्थितिमें वह उसीमें अनुरक्त, उसीमें तृप्त और उसीमें सन्तुष्ट हो रहता है। उसके लिये फिर कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता—

तस्य कार्यं न विद्यते।

भक्तिके साधन

भक्तिके साधकोंके लिये यहाँ कुछ नियम लिखे जाते हैं। इनमेंसे जो साधक जितने अधिक नियमोंका पालन कर सकेंगे उन्हें उतना ही अधिक लाभ होगा।

१-असत्य, चोरी, हिंसा, व्यभिचार, अभक्ष्य-भक्षण बिलकुल छोड़ दे।

२-दम्भ कभी न करें, भक्त बननेकी चेष्टा करें—दिखलानेकी नहीं।

३-कामनाका सब तरह त्याग करें, भजनके बदलेमें भगवान्‌से कुछ भी माँगे नहीं।

४-अष्टमैथुनका त्याग करें, पुरुष अपनी विवाहिता पत्नीसे और स्त्री अपने विवाहित पतिसे जहाँतक हो सके बहुत ही कम सहवास करे। दोनोंकी सम्मतिसे बिलकुल छोड़ दें तो सबसे अच्छी बात है।

५-स्त्री परपुरुष और पुरुष परस्त्रीका बिलकुल त्याग करे। जहाँतक हो एकान्तमें मिलना-बोलना कभी न करे।

६-मानकी इच्छा न करे, अपमानसे घबरावे नहीं, दीनता और नम्रता रखे, कड़वा न बोले, किसीका भी बुरा न चाहे, परचर्चा-परनिन्दा न करे और किसीसे भी घृणा न करे।

७-रोगी, अपाहिज, अनाथकी तन-मन-धनसे स्वयं सेवा करे, अपनी किसी प्रकारकी सेवा भरसक किसीसे न करावे।

८-भरसक सभा-समितियोंसे अलग रहे, समाचारपत्र अधिक न पढ़े, बिलकुल न पढ़े तो और भी अच्छी बात है।

९-सबका सम्मान करे, सबसे प्रेम करे, सबकी सेवाके लिये सदा तैयार रहे।

१०-तर्क न करे, वाद-विवाद या शास्त्रार्थ न करे।

११-भगवान्, भगवन्नाम, भक्त और भक्तिके शास्त्रोंमें दृढ़ विश्वास और परम श्रद्धा रखे।

१२-दूसरेके धर्म या उपासनाकी विधिका विरोध न करे।

१३-दूसरोंके दोष न देखे, अपने देखे और उन्हें प्रकाश कर दे।

१४-माता, पिता, स्वामी, गुरुजनोंकी सेवा करे।

१५-नित्य सुबह-शाम दोनों वक्त ध्यान या मानसिक पूजा करे और विनयके पद गावे।

१६-प्रतिदिन भगवान्‌के नामका कम-से-कम पचीस हजार जप जरूर करे। नाम वही ले, जिसमें रुचि हो। *'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'* मन्त्रकी १६ मालामें इतना जप हो सकता है।

१७-कम-से-कम पंद्रह मिनट रोज सब घरके लोग (स्त्री-पुरुष-बालक) मिलकर नियमितरूपसे तन्मय होकर भगवन्नाम-कीर्तन करें।

१८-भगवद्गीताके एक अध्यायका अर्थसहित नित्य पाठ करे।

१९-भगवान्‌की मूर्तिके प्रतिदिन दर्शन करे, पास ही मन्दिर हो और उसमें जानेका अधिकार हो तो वहाँ जाकर दर्शन करे, नहीं तो घरमें मूर्ति या चित्रपट रखकर उसीका दर्शन करे।

२०-जहाँतक हो सके मूर्तिपूजा करे, स्त्रियोंको मन्दिरोंमें जानेकी जरूरत नहीं, वे अपने घरमें ठाकुरजीकी मूर्ति रखकर सोलह उपचारोंसे रोज पूजा कर लिया करें।

२१-संसारके पदार्थोंमें भोगदृष्टिसे वैराग्य और सबमें ईश्वरदृष्टिसे प्रेम करनेका अभ्यास करे।

२२-ईश्वर, अवतार, संत-महात्माओंपर कभी शंका न करे।

२३-यथासाध्य और यथाधिकार उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत (कम-से-कम ११वाँ स्कन्ध), महाभारत (कम-से-कम शान्ति और अनुशासनपर्व), वाल्मीकीय रामायण, तुलसीदासजीका रामचरितमानस, सुन्दरदासजीका सुन्दरविलास, समर्थ रामदासजीका दासबोध, भक्तमाल, भक्तोंके जीवनचरित आदि ग्रन्थोंको पढ़ना, सुनना और विचार करना चाहिये।

२४-भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीनरसिंह आदि अवतारोंके समयनिर्णय और उनके जीवनपर विचार आदि न करके उनका भक्तिभावसे भजन करना चाहिये। पेड़ गिननेवालेकी अपेक्षा आम खानेवाला लाभमें रहता है। थोड़े जीवनको असली काममें ही व्यय करना चाहिये।

ईश्वर-विरोधी हलचल

कुछ समय पूर्व सोवियतरूसके मास्को नगरमें 'ईश्वर-विरोधी सम्मेलन' का एक अधिवेशन हुआ था, जिसमें रूसके भिन्न-भिन्न प्रान्तोंके अनुमान सात सौ व्यक्ति प्रतिनिधिके रूपमें और अन्य देशोंके अनेक स्त्री-पुरुष दर्शकके रूपमें सम्मिलित हुए थे। पता नहीं, उसमें कौन-कौन-से प्रस्ताव स्वीकृत हुए, परन्तु सम्मेलनके नामसे ही प्रस्तावोंके स्वरूपका अनुमान किया जा सकता है। सम्भव है जीवोंके दुर्भाग्यवश वर्तमान संसारकी पतित सभ्यता और मरणोन्मुखी शिक्षा-दीक्षाके इस प्रभावसे इस प्रकार आन्दोलनका जगत्‌में और भी विस्तार हो, परन्तु यह निश्चित बात है कि इससे बढ़कर बुरा आन्दोलन और महापातक दूसरा नहीं हो सकता। जो भाई सुख-शान्तिकी भ्रमपूर्ण दुराशासे इस प्रकारके घृणित आन्दोलनसे प्रेम या सहानुभूति रखते हैं, वे बड़ी भारी भूल कर रहे हैं। धर्मका बाह्य रूप कुछ भी क्यों न रहे, उसमें यथावश्यक कितने ही सुधारोंकी गुंजाइश क्यों न समझी जाय, परन्तु ईश्वरकी सत्ताका विरोधकर धर्मके मूल तत्त्वपर कुठाराघात करना पिशाचावेशित प्रमत्त पुरुषोंकी पातकमयी क्रियाके सिवा और कुछ भी नहीं है। जिस साम्य और विश्वसुखके परिणामपर पहुँचनेके लिये ईश्वरका विरोध किया जा रहा है, वह साम्य और विश्वसुख माया-मरीचिकाकी भाँति एक भ्रमपूर्ण अध्यासमात्र होगा और परिणाममें भीषण अशान्ति, दु:ख और उपद्रवके दारुणार्णवमें डूब जाना पड़ेगा।

जबतक सारे विश्वमें परमात्माकी अखण्ड सत्ताका

अनुभव नहीं होता, तबतक प्रकृत साम्य और तज्जनित आत्यन्तिक सुखकी कभी सम्भावना नहीं है। ईश्वर-विरोधी विचार परमात्माकी सत्ताका खण्डन करते हैं, दुर्बल मनुष्य-प्राणीकी यह अविवेकपूर्ण अहंमन्यता उसके समस्त सुखोंके नाशका कारण होगी। साम्यके नामपर विषमय विषमताका विस्तार हो जायगा।

इससे पूर्व भी जगत्‌में ईश्वरकी सत्तामें अविश्वास करनेवाले मनुष्य पैदा होते रहे हैं, उन लोगोंने भी मोहवश उस समयकी स्थितिके अनुसार अपने विचारोंका प्रचार किया है। श्रीमद्भगवद्गीताके आसुरी सम्पदाके प्रकरणमें इसी तरहके लोगोंकी ओर संकेत कर उनकी भावी दुर्गतिका वर्णन किया गया है। यह निश्चित है कि ईश्वरकी सत्ताको न माननेवाला समाज आरम्भमें सदाचारकी भित्तिपर प्रतिष्ठित होनेपर भी आगे चलकर भयानक असदाचारी हो जाता है। भगवान्‌का भय और भगवान्‌का भरोसा ही मनुष्यको पापसे बचानेका एकमात्र सर्वोत्तम साधन है, ये दोनों बातें भगवान्‌की सत्ता स्वीकार किये बिना हो नहीं सकतीं। जहाँ ये दोनों नहीं होतीं, वहीं मनुष्य उच्छृंखल और निराधार हो जाता है। फिर वह सुखस्वप्नकी कल्पना कर उसके साधनस्वरूप नाना प्रकारके मनमाने आचरण करता है और बात-बातमें भय तथा वेदनासे बचनेके लिये दुष्कर्मोंका आश्रय लेना चाहता है। इससे आगे चलकर अभ्यास-क्रमसे वह महान् दुराचारी, क्रूर और नराधम बन जाता है। ऐसे ही मायामुग्ध मूढ़ मनुष्योंके लिये भगवान् श्रीकृष्णने यह घोषणा की है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

ऐसे मनुष्य दम्भ, मान और मदसे युक्त होकर कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंके शिकार बन नाना प्रकारके भ्रष्ट आचरणोंमें पड़कर स्वयं कष्ट भोगते हैं और दूसरोंके कष्टका कारण बनते हैं। अनेक प्रकारकी चिन्ताओं और सैकड़ों आशाओंकी कठिन फाँसियोंमें जकड़े हुए ये लोग काम-क्रोधको ही उद्देश्य-सिद्धिका प्रधान साधन समझकर अन्यायपूर्वक अर्थसंचयकी चेष्टामें लगे रहते हैं। 'कामोपभोग' ही इनके जीवनका उद्देश्य होता है और इसीके लिये ये पशु और पिशाचवत् जीवन बिताते हुए ही एक दिन मर जाते हैं! ईश्वरकी सत्ताके विरोधियोंका यह परिणाम अवश्यम्भावी है।

स्थूलभोगवादकी शिक्षा, भोगोंमें महत्त्व-बुद्धि, ऐहिक उन्नतिका माहात्म्य और उससे सुखी होनेकी आशा, भोगियोंके भोगोंको देखकर मनमें उत्पन्न हुई कामना, ईर्ष्या, जलन और प्रतिहिंसा, गरीबोंके प्रति शासक और धनवानोंका दारुण विषम व्यवहार, शास्त्रोंकी अवहेलना, रेल, तार, समाचारपत्रोंका अधिक प्रचार और ईश्वरको माननेका दम भरनेवाले लोगोंके अक्षम्य दम्भ-दुराचारका विस्तार आदि अनेक कारणोंसे 'ईश्वर-विरोधी' वायुमण्डल तैयार हुआ है और इस समयके लक्षण इसकी वृद्धिके अनुकूल हैं, जो बढ़नेपर विश्वव्यापी महान् अशान्ति और क्लेशका निश्चित कारण होगा।

अनेक कारणोंसे छिन्न-भिन्न और कलुषित हुए भारतके आकाशमें भी इस दूषित वायुका प्रवेश हो गया है। एक दिन जिस देशमें आबालवृद्ध-वनिता परमात्माकी सत्ताके अटल विश्वासी थे, ईश्वरकी सत्ताका प्रत्यक्ष दर्शन जिस देशमें सबसे पहले हुआ था, उसी पवित्र देशमें आज जगह-जगह ईश्वरकी दिल्लगियाँ उड़ायी जाती हैं और वह अपनेको शिक्षित, संस्कृत और प्रगतिके पथपर आरूढ़ माननेवाले लोगोंके मनोविनोदका कारण होता है। ईश्वरकी अनावश्यकता और ईश्वरकी सत्ताके विरोधमें लेख और व्याख्यान होते हैं। ईश्वर दया करके इन भूले हुए भाइयोंको सद्‌बुद्धि प्रदान करे!

अब मुझे सर्वसाधारणकी सेवामें, जो ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार करते हैं, नम्रतापूर्वक कुछ निवेदन करना है। नारदभक्तिसूत्रमें कहा है—'ईश्वरको न माननेवाले नास्तिकका कभी स्मरण भी नहीं करना चाहिये।' क्योंकि उससे मनुष्यकी दुर्बल और सन्देहयुक्त बुद्धिमें भ्रम होनेकी विशेष सम्भावना है। इसीसे संतोंने कहा है—'***हरि हर निंदा सुनै जो काना। होइ पाप गोघात समाना॥***' परमात्माकी निंदा करना और सुनना बड़ा भारी पातक है। इसलिये यथासाध्य इन दोनों ही कार्योंसे बचना चाहिये। ऐसा साहित्य, ऐसा संग, ऐसा दृश्य यथासाध्य कभी नहीं पढ़ना, सुनना, करना और देखना चाहिये, जिसमें ईश्वरके विरोधकी तनिक-सी भी बात हो।

लोग कहेंगे—'यों डरनेसे कबतक बचे रहेंगे? जिस तरहके वायुमण्डलमें रहेंगे वैसा ही तो असर होगा, इसलिये इस तरहका कोई उपाय होना चाहिये जो ऐसे वायुमण्डलका हमपर कोई असर ही न हो।' बात बहुत ठीक है। हमें अपनेको ऐसे ही दिव्य कवचसे संरक्षित होना पड़ेगा जो किसी भी वातावरणमें, कैसे भी भयानक आघातमें सर्वथा सर्वदा सुरक्षित रह सके। परन्तु सब आदमी ऐसे नहीं बन सकते। इसके लिये कुछ साधना करनी पड़ेगी। भगवान्‌की शरणागति ही यह दुर्भेद्य कवच

है, जिसके प्राप्त करनेमें साधनाकी अपेक्षा है। जो लोग इस कवचको प्राप्त करना चाहें, उन्हें अपनेको विशुद्ध बनाकर साधनामें लग जाना चाहिये। जो पुरुष इस प्रकारकी साधनामें संलग्न हैं, उन्हें ढूँढ़कर उनसे मिलना और साधनाकी परम गोपनीय बातोंको यथाधिकार जानकर तदनुकूल आचरण करना चाहिये। पर सर्वसाधारणके लिये, जो बहुत बड़ी-बड़ी समताकी बातें सुनकर भ्रममें पड़ जाते हैं, यह उपाय लागू नहीं हो सकता, उन लोगोंको तो धधकती हुई अग्नि समझकर 'ईश्वरविरोधी' हलचलसे बचना चाहिये।

आवश्यकतासे अधिक बुद्धिवादके इस जमानेमें—शुष्क तर्कजालके मोहमय विस्तारमें यह खूब सम्भव है कि इस तरहकी बातें मूर्खताकी, अंध श्रद्धाकी और गिरानेवाली समझी जायँ, परन्तु मेरी समझमें ईश्वरमें विश्वासी बने रहकर मूर्ख, अंध श्रद्धालु और भ्रमित हुई लोकदृष्टिमें गिरा हुआ समझा जाना उससे बहुत अच्छा है, जो बड़ा विद्वान्, तार्किक और आगे बढ़ा हुआ कहलानेपर भी ईश्वरकी सत्ताका अविश्वासी होकर यथेच्छाचार करता है। ईश्वरको माननेवाला मूर्ख तर सकता है; परन्तु ईश्वरका विरोधी तार्किक कोई भी सहारा न पाकर मँझधारमें डूब जाता है।

यह कहा जा सकता है कि जो लोग अपनेको ईश्वरका माननेवाला बताते हैं, वे क्या वास्तवमें ईश्वरको मानते हैं? यदि वे ईश्वरको मानते हैं तो सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी ईश्वरके सब जगह सामने रहनेपर भी छिपकर पाप क्यों करते हैं, अपने मनोंमें पापोंको स्थान क्यों देते हैं? और यदि वे ऐसा करते हैं तो फिर उनका ईश्वरको मानना क्या निरा ढोंग नहीं है? यदि उनका यह ढोंग है तो फिर मन और मुखको एक करके सत्यके आधारपर मनकी बात स्पष्ट कहनेवाले क्या अपराध करते हैं? इसका उत्तर यह है कि ईश्वरको सर्वव्यापी माननेवालोंका छिपकर पाप करना या मनमें भी पापको स्थान देना अवश्य ही अस्वाभाविक एवं ईश्वरकी मान्यतामें कलंक है और दुःख है कि ऐसी बातें आजकल बहुत ज्यादा हो गयी हैं, परन्तु सच पूछा जाय तो यह उन लोगोंका अज्ञान है, न कि ईश्वरमें अविश्वास। अज्ञानपूर्वक विपरीत काम करनेवाला ढोंगी नहीं होता, अविवेकी मूर्ख या पथभ्रष्ट होता है। (अवश्य ही ऐसे कुछ ढोंगी भी मिल जायँगे, जो सभी क्षेत्रोंमें मिलते हैं।) पथभ्रष्ट मनुष्य मार्गपर आ सकता है, परन्तु जो उस पथको पथ और उस लक्ष्यको लक्ष्य ही नहीं मानता, उसका उस लक्ष्यके लिये उस पथपर आना और चलना बहुत ही कठिन है। इसी प्रकार ईश्वरकी सत्ताको मानकर भी अज्ञानवश पापोंमें प्रवृत्त होनेवाले जो अज्ञानी या पथभ्रष्ट हैं, वे किसी समय अपनी भूल समझकर पथपर आ सकते हैं, परन्तु जिसने यह निश्चय कर लिया कि ईश्वर है ही नहीं, उसके लिये क्या उपाय है? इससे कोई यह न समझे कि मैं पापका समर्थन करता हूँ। पापका समर्थन तो किसी अंशमें नहीं किया जाना चाहिये, परन्तु पाप क्यों होता है, किस परिस्थितिमें होता है, इसे विचारकर उसकी तारतम्यता अवश्य देखनी चाहिये। प्रायः सभी लोग भोगोंमें आसक्त हैं। आसक्तिवश पाप होते हैं, परन्तु ईश्वरकी सत्ताको माननेवाले अधिकांश लोग बहुत बार पाप करते समय न्यायकारी ईश्वरसे डरकर पापसे हट जाते हैं। बहुत-से लोगोंको तो पापका विचार आते ही मनमें डर हो जाता है कि न मालूम ईश्वर इस अपराधका मुझे क्या दण्ड देंगे। कुछ लोग जो आसक्तिवश पाप कर बैठते हैं वे ईश्वरके भयसे उसके बाद पश्चात्ताप करते हैं, ईश्वरसे क्षमा माँगते हैं और भविष्यमें पाप न करनेका संकल्प करते हैं। कुछ लोग पापमें प्रवृत्त होनेपर दूसरोंके द्वारा ईश्वरकी आज्ञाका स्मरण दिलाते ही पापोंसे बच जाते हैं। परन्तु जो ईश्वरकी सत्ताको न मानकर परलोकके भयसे मुक्त हो गया है उसका पापोंसे बचना बहुत कठिन होता है, वह तो बेधड़क अनाचार-अत्याचार करता है और किसी तरह भी छल-बल-कौशलसे अपने जीवनको कल्पित सुखोंमें—जो अशान्ति और प्रमादसे पूर्ण तथा परिणाममें महान् कष्टकर होते हैं—बिता देता है।

ईश्वरको माननेवालेके द्वारा आसक्तिके कारण कभी-कभी पाप बन जानेपर भी वह उनसे छूटनेके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करता है, ईश्वरके बलपर अपनेको पवित्र करना चाहता है। ईश्वरके आधार और भरोसेपर वह महान्-से-महान् संकटके समय भी पापका आश्रय नहीं लेना चाहता, वह समझता है कि ईश्वर संकटमें मेरी सहायता करेंगे, मुझे तो उनका प्रिय कार्य करना चाहिये, फिर उनकी कृपासे मेरे सारे संकट आप ही दूर हो जायँगे। यह समझकर वह ईश्वरकी दयाके भरोसे पापोंमें प्रवृत्त नहीं होता, परन्तु ईश्वरको न माननेवालेको तो संकटसे बचनेके लिये छल और हिंसा आदि पापोंके सिवा और कोई सहारा नहीं सूझता। वह जानता है कि यहाँ किसी तरहसे दुःखसे बच जाना ही बुद्धिमानी और बहादुरी है, आगे तो कुछ है ही नहीं।

ईश्वरकी सत्ता न माननेसे इस प्रकार पापोंकी वृद्धि होकर संसार क्रमशः केवल पापका क्रीडा-क्षेत्र बन जा सकता है। अतएव ईश्वर-विरोधी प्रत्येक लेख, ग्रन्थ, व्याख्यान, गल्प बातें, दृश्य आदिसे सावधानीके साथ सदा बचना चाहिये।

दो-चार शब्द उन भूले हुए भाइयोंसे कहना आवश्यक है, जो ईश्वरके नामपर वास्तवमें किसी दुरभिसन्धिसे, दम्भसे या स्वार्थ-साधनके लिये पापका आचरण करते हैं, वे स्वयं डूबते हैं और दूसरोंको डुबाते हैं। मन्दिरोंमें बैठकर परधन और परस्त्रीकी ओर बुरी नजरसे देखना, हाथमें और गलेमें माला धारण करके मनमाने पाप करना, बात-बातमें ईश्वरका नाम लेकर ईश्वरकी आज्ञाओंका बुरी तरहसे उल्लंघन करना, ईश्वरके नामपर धन बटोरकर उसे अपने शरीरकी सजावट और भोग-विलासमें व्यय करना वास्तवमें ईश्वरको धोखा देनेका काम है, जो स्वयं बड़ा भारी धोखा खानेका कारण होता है! ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी हैं, घट-घटकी जानते हैं, कोई भी घटना चाहे वह कितनी ही गुप्त क्यों न हो, उनसे छिपी नहीं है। ऐसी अवस्थामें उनके नामपर पाप करना बहुत बड़ा अपराध है। शीघ्र ही सावधान हो जाना चाहिये। सच पूछिये तो ईश्वरविरोधी वातावरणके बननेमें इस तरहके आचरण भी एक मुख्य कारण हैं।

मित्रो! यह निश्चय समझिये—परम सत्य समझिये कि ईश्वर है, अवश्य है, कण-कणमें व्याप्त है, चराचरमें भरा हुआ है, वही सृष्टिको उत्पन्न करता है, उसीमें सबका निवास है और उसीमें सृष्टि लय हो जाती है। वह करुणामय है, न्यायकारी है, दयालु है, प्रेमका समुद्र है, सर्वशक्तिमान् है, विश्वात्मा है। उसकी सत्तामें विश्वास कीजिये, उसकी शक्तिका भरोसा रखिये और उसीकी अहैतुकी दयालुताका आश्रय ग्रहण कीजिये।

ईश्वरकी ओर झुकें

एक बहिन लिखती है कि माताएँ मोह छोड़कर बालकोंको पढ़नेके लिये गुरुकुलोंमें भेजें, गहने तथा विलायती वस्त्रोंसे घृणा करें और शौकीनी छोड़कर ईश्वरकी ओर झुकें—इन विषयोंपर कुछ अवश्य लिखना चाहिये। एक दूसरी सुशिक्षिता बहिनने वर्तमान स्कूल-कॉलेजोंकी बुराइयाँ, बढ़ती हुई फैशन और कर्तव्यविमुखता, धर्महीनता, ईश्वरभक्तिका ह्रास, विलासिता और विदेशी सभ्यताकी तरफ शिक्षिता बहिनोंकी बढ़ती हुई रुचिकी ओर ध्यान खींचते हुए इन बुराइयोंसे बचकर सब परमात्माकी ओर झुकें इस विषयपर कुछ लिखनेके लिये विशेषरूपसे आग्रह किया है।

यद्यपि साधारणतः अध्यात्मविद्याके प्रचार और विलासिता त्यागकर ईश्वरकी ओर झुकनेके विषयमें प्रायः लिखा ही जाता है और हमारा विचार ईश्वरभक्ति, वैराग्य और सदाचारके सिवा अन्य बहिरंग विषयोंपर कुछ लिखनेका था भी नहीं, तथापि इन बहिनोंके विशेष अनुरोधसे आज प्रसंगवश इन विषयोंपर कुछ लिखना पड़ा है। किसी बहिन या भाईको कोई शब्द अप्रिय लगे तो वे क्षमा करें। हमारा विचार किसीके चित्तपर आघात पहुँचानेका नहीं है, अपना मत जो कुछ हृदयसे ठीक जँचा वही लिख दिया है। यह आग्रह भी नहीं है कि कोई इसे मानें। यदि किसीको अपनी बुराइयाँ दीखें तो उन्हें सुधारनेका अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। पहली बहिनने तीन विषय बतलाये हैं। इन तीनोंपर विवेचन करनेमें दूसरी बहिनकी बातोंका उत्तर भी शायद आ जायगा।

(१) माताएँ मोह छोड़कर अपने बालकोंको ऋषिकुल-गुरुकुलोंमें भेजें।

(२) गहने और विलायती वस्त्रोंका व्यवहार तथा शौकीनी छोड़ें।

(३) ईश्वरकी ओर झुकें।

इन तीनोंमें तीसरी बात सबसे पहले आवश्यक है। मनुष्य-जीवन ईश्वरको प्राप्त करनेके लिये ही है। समस्त सांसारिक कार्य इसी महान् उद्देश्यको सतत सामने रखकर करने चाहिये। इसीको भूल जानेके कारण आज हम लक्ष्यभ्रष्ट होकर अनेक प्रकारके कष्ट भोग रहे हैं, इसीसे आज हमारा जीवन अशान्त और त्रितापतप्त है, इसीसे तरह-तरहके दुःख-दावानलसे जगत् दग्ध हो रहा है, इसीसे हमारा कोई कार्य शुद्ध सात्त्विकताको लिये हुए प्रायः नहीं होता। यदि मनुष्य अपने इस महान् लक्ष्यपर स्थिर होकर समस्त कर्म भगवान्‌की **'कुरुष्व मदर्पणम्'** आज्ञाके अनुसार उनके अर्पण-बुद्धिसे करने लगे तो सारे दुःख-कष्टोंका अनायास ही अन्त हो सकता है। अतएव ईश्वरकी ओर

झुकना तो सबसे पहली और सबसे अधिक आवश्यक बात है। इसमें स्त्री-पुरुषका कोई भेद नहीं है। ईश्वर प्राप्तिके सब समान अधिकारी हैं। सरलहृदया स्त्रियाँ तो तर्क-जालग्रस्त पुरुषोंकी अपेक्षा सच्ची भक्ति होनेपर सम्भवत: परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र कर सकती हैं।

आवश्यकता लक्ष्य बदलनेकी है, कर्मोंका स्वरूप बदलनेकी नहीं। घरका प्रत्येक कार्य ईश्वरकी सेवा समझकर नि:स्वार्थबुद्धिसे करना ईश्वरभक्ति ही है। जो स्त्री-पुरुष परमात्माका नित्य स्मरण रखते हुए सब कार्य उसीके आज्ञानुसार उसीके लिये करते हैं, वे भी सच्चे भक्त हैं, ऐसे भक्तोंसे पापकर्म कभी नहीं हो सकते। शरीरसुखकी स्पृहा ही पाप करानेमें प्रधान कारण होती है, जब साधककी बुद्धि ईश्वरकी सेवाके महत्त्वको जान जाती है तब उसमें शरीरसुखस्पृहा नहीं ठहर सकती। जैसे सूर्यके उदय होनेपर अन्धकारको कहीं जगह नहीं मिलती, इसी प्रकार ईश्वरप्रेमकी जागृति होनेपर विषयप्रेमका नाश हो जाता है। जब विषयप्रेम ही नहीं रहता तब विषयोंकी प्राप्तिके लिये पाप क्यों होने लगे? अतएव हमारी माँ-बहिनोंको चाहिये कि वे अपने जीवनकी गति ईश्वरकी ओर कर दें। यह हो जानेपर सारा मोह आप-से-आप छूट जायगा, ईश्वरप्रेमसे सात्त्विक भावोंके विकासके साथ-ही-साथ बुद्धि इस बातका अचूक निर्णय करनेमें आप ही समर्थ हो जायगी कि कौन-सा काम करना और कौन-सा नहीं करना चाहिये।

आज जो माताएँ बालकोंको मोहवश या मिथ्या प्यार-दुलारके कारण पाठशालाओंमें भेजनेसे हिचकती हैं, विद्यालाभकी अवधिसे पूर्व ही प्रमादवश बालकोंका विवाह कर वधूका मुख देखना चाहती हैं, कर्तव्यका ज्ञान होनेपर वे स्वयं हानि-लाभ समझकर उचित व्यवस्था करने लगेंगी। वही माता-पिता बालकके वास्तविक हितैषी हैं जो उसे सद्विद्या सिखाकर इस लोक और परलोकमें सुखी बनानेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु जो मोह या स्वार्थवश उन्हें पढ़ाना नहीं चाहते या ऐसी विद्या पढ़ाते हैं जिससे वे किसी भी भले-बुरे उपायसे केवल धन कमाना ही सीख जायँ, अथवा उन्हें बाल्यावस्थामें ही विवाह-बन्धनमें बाँधकर उनके ब्रह्मचर्यका नाश कर डालते हैं, वे वास्तवमें बालकोंके सच्चे हितैषी माँ-बाप नहीं हैं।

परलोकवाद और परमात्माको माननेवाले प्रत्येक व्यक्तिको यह मानना पड़ेगा कि अपने किये हुए अच्छे-बुरे कर्मोंके अनुसार परमात्माके विधानसे अच्छी-बुरी योनियाँ और सुख-दु:ख प्राप्त होते हैं। अच्छे-बुरे कर्मोंका होना सत्संग-कुसंग और सद्विद्या-कुविद्यापर विशेष निर्भर करता है, अत: जो माता-पिता बालकोंको कुसंगमें रखकर या उन्हें कुविद्या-दान करवाकर उनके भविष्य जीवनको—परलोकको बिगाड़ देते हैं, वे वास्तवमें उनके साथ भ्रमवश शत्रुताका ही कार्य करते हैं।

प्राचीन कालकी शिक्षापद्धति और शिक्षालयोंमें जो बात थी, सो आज नहीं है। चक्रवर्ती राजाका पुत्र और दरिद्र कंगालका बालक दोनों ही अरण्यवासी, दयामय, ब्रह्मज्ञाननिष्ठ, विजितेन्द्रिय, सर्वविद्या-निधान, ईश्वरभक्त, सन्तोषी, समदर्शी आचार्यके यज्ञधूम-धूसरित नदीतीरस्थ प्राकृतिक शोभासम्पन्न पवित्र आश्रममें सहोदर भाइयोंकी भाँति एक साथ रहकर युवावस्था प्राप्त न होनेतक बड़ी सावधानीसे ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए संयम, विनय और निष्कपट सेवाके बलसे शुद्ध विद्याध्ययन करते थे। आज न वैसे गुरु हैं, न गुरुकुल हैं और न वैसे शिष्य ही हैं।

इस समय जिस स्थूलवादप्रधान जड शिक्षाका प्रचार हो रहा है, वह तो भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका नाश करनेवाली ही सिद्ध हो रही है। स्कूल, कॉलेज और उनके छात्रावासोंका दृश्य देखिये। विद्यासे विनयसम्पन्न होनेकी बात तो दूर रही, आज कॉलेजोंके छात्र प्राय: गर्वमें भरे हुए मिलते हैं, जहाँ विद्यार्थी-जीवनमें महान् संयमकी आवश्यकता है, वहाँ आज उच्छृंखलता, इन्द्रियपरायणता, विलासिता और फैशनका प्राधान्य हो रहा है। सजावट-बनावटकी भरमार है। छात्रावासोंमें यज्ञसामग्रियोंकी जगह आज चश्मा, नेकटाई, रिष्टवाच, दर्पण, कंघी, सेफ्टीरेजर, साबुन, सेंट और तरह-तरहके जूते मिलते हैं। दिल्लगियाँ उड़ाना, भद्दी जबानें बोलना, परस्पर अनुचित प्रेमपत्र भुगताना, प्रोफेसरोंके मजाक उड़ाना, बड़ोंका असम्मान करना और हर किसीकी निरंकुश आलोचना करना उनके लिये मामूली बात है। चरित्र-बल तो बुरी तरह नाश हो रहा है, छात्र-जीवनमें ही तरह-तरहकी बीमारियाँ घेर लेती हैं। स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, आँखोंकी ज्योतिका घट जाना तो आजकलके शिक्षित नवयुवकोंकी आँखोंपर चश्मोंकी संख्या देखनेसे ही सिद्ध है। जो छात्र बहुत संयमी समझे जाते हैं, वे प्राय: नवीन सभ्यता, उन्नति या क्रान्तिके नामपर घरकी बातोंसे घृणा करने और पुरानी नामधारी वस्तुमात्रको अनावश्यक और अवनतिका कारण समझ बैठते हैं।

धर्मको अनावश्यक समझना, धर्म-कर्मसे घृणा होना तो इस शिक्षा और शिक्षालयोंके वातावरणका सहज परिणाम है। दु:खकी बात है, पर सत्य है कि आजकल हमारे स्कूल-कॉलेजोंमें छात्रोंके चरित्र-बलका बुरी तरह नाश होने लगा है। छात्रोंपर असर पड़ता है अध्यापकोंके जीवनका, परन्तु अधिकांश अध्यापक प्राय: उन्हीं कॉलेजोंसे निकले हुए परिमित अनुभवसम्पन्न जवान छात्र ही होते हैं। उनसे हम इन्द्रियजयी साधनसम्पन्न ऋषि-मुनियोंके चरित्रकी आशा भी नहीं कर सकते।

इसके सिवा आजकलकी शिक्षामें खर्चके मारे तो गृहस्थ तबाह हो जाता है! पुत्रको ग्रेजुएट बनानेमें गरीब पिताको कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, इस बातकी उस बेपरवा मनचले छैले पुत्रको खबर भी नहीं होती। पिता बड़ी उमंगसे बुढ़ापेमें सुख मिलनेकी आशासे ऋण करके पुत्रको पढ़ाता है, परन्तु आजकलका पढ़ा-लिखा पुत्र अपने पिता-पितामहोंको अपने मनमें मूर्ख मानने लगता है, घरका काम करनेमें उसे लज्जा मालूम होती है। किसानका लड़का पढ़-लिखकर खेती करनेमें या दूकानदारका लड़का दूकानदारी करनेमें अपनी शानमें बट्टा लगना समझता है। घरका स्वाभाविक काम छूट जाता है, नौकरी मिलती नहीं, दुर्गति जरूर होती है। आजकल भारतमें जिस बेकारीसे लोग हैरान हैं, उसका एक कारण यह शिक्षा भी है। मेहनत-मजदूरी या कारीगरीसे काम चलानेवालोंकी अपेक्षा सभ्य पढ़े-लिखे बाबुओंकी अधिक दुर्दशा है।

कॉलेजोंसे निकले हुए छात्रोंमेंसे कुछको छोड़कर अधिकांश प्राय: तीन श्रेणियोंमें बँटते हैं—वकील, डॉक्टर और क्लर्क। यह बात निर्विवाद है कि जितने वकील, डॉक्टर बढ़े हैं, उतने ही मुकदमे और बीमारोंकी संख्या बढ़ी है। क्लर्कोंकी वृद्धिसे चरित्र-बल नष्ट हो रहा है। नौकरी चाहिये, उम्मेदवारोंकी भरमार है, सस्ते-से-सस्तेमें रहनेको तैयार हैं। इधर महँगी बढ़ी हुई है, कम नौकरीमें पेट भरता नहीं, मजबूरन चोरियाँ करनी पड़ती हैं—'**बुभुक्षित: किं न करोति पापम्**' यह इस शिक्षाका परिणाम है। खेद तो इसी बातका है कि इस प्रकारकी धर्म-संयमहीन शिक्षाका भयानक दुष्परिणाम देखते हुए भी हमलोग व्यामोहसे उसीके प्रचारमें अपना पूरा लाभ समझ रहे हैं। यही हमारी विपरीत बुद्धिके लक्षण हैं। मनीषियोंको चाहिये कि वे इस दूषित शिक्षाप्रणालीमें शीघ्र आवश्यक परिवर्तन करानेका प्रयत्न करें।

ऋषिकुल-गुरुकुलोंकी स्थापना प्राय: इसी उद्देश्यसे हुई थी कि वे संस्थाएँ इन दोषोंसे बची रहें, परन्तु अभीतक उन सबकी स्थिति भी सन्तोषजनक नहीं है; क्योंकि वातावरण और अध्यापक सभी जगह प्राय: एक-से ही हैं। तथापि स्कूल-कॉलेजोंकी अपेक्षा इनमें कहीं-कहीं कुछ संयम और धर्मशिक्षाकी ओर भी ध्यान दिया जाता है। कई जगह कम-से-कम अठारह सालकी उम्रतक बालकको अविवाहित रखनेका अनिवार्य नियम है। यदि प्रबन्धकर्ता अच्छे हों तो अन्तत: इन संस्थाओंमें एक सीमातक ब्रह्मचर्यरक्षाकी स्कूल-कॉलेजोंकी अपेक्षा कुछ अधिक सम्भावना की जा सकती है। कम-से-कम इसी लाभकी दृष्टिसे माताओंको मोह छोड़कर अपने बालकोंको ऐसी चुनी हुई संस्थाओंमें अवश्य भेजना चाहिये, जहाँ कम-से-कम अठारह सालकी उम्रतक उनके ब्रह्मचर्यकी वास्तविक रक्षाके साथ ही धार्मिक शिक्षाका समुचित प्रबन्ध हो। माता वही है जो अपने बालकका परलोक सुधारना चाहती है। देवी मदालसाने लोरीमें ही पुत्रोंको ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया था। बच्चोंका ऐहलौकिक और पारलौकिक सच्चा हित उनको ब्रह्मचारी, वीर, धीर, संयमी, सत्यवादी और अनन्य ईश्वरभक्त बनानेमें ही है। माताओंको इस ओर पूरा ध्यान देना चाहिये। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥

'गहनोंका अधिक व्यवहार भी बड़ा हानिकर है। गहनोंकी प्रथाके कारण ही भले घरके गरीब लड़कोंको प्राय: लड़कियाँ नहीं मिलतीं। ऋण करके भी गहने चढ़ाने पड़ते हैं। माताएँ गहनोंका मोह छोड़ दें तो उनका और समाजका दोनोंका भला है। गहनोंके कारण ही घरोंमें प्राय: लड़ाइयाँ हुआ करती हैं। गहना पहननेवाली बहिनोंको यह समझ रखना चाहिये कि शोभा गहने-कपड़ोंमें नहीं है। सच्ची शोभा शील, सदाचार और सादगीमें है, जिससे लोक-परलोक दोनों सुधरते हैं। इसी प्रकार विदेशी वस्त्रोंमें देशकी और धर्मकी बड़ी हानि हो रही है। आर्थिक हानि तो है ही, परन्तु लाखों मन जानवरोंकी चर्बी इन कपड़ोंमें लगती है, यही हाल यहाँकी मिलोंके बने कपड़ेका है, इसलिये जहाँतक हो सके, बहिनोंको चरखेसे कते हुए सूतके हाथसे बुने कपड़े ही पहनने चाहिये। इनमें चर्बी नहीं लगती, गरीब भाई बहिनोंका कताई-बुनाईसे पेट भरता है। उन्हें पेटके

लिये पाप नहीं करना पड़ता, जीवहिंसा नहीं होती, पवित्रता बनी रहती है, लज्जा नहीं जाती और धर्म बचता है।

अब दो शब्द शिक्षिता बहिनोंकी सेवामें निवेदित हैं, इस शर्तपर कि वे इस अप्रिय सत्यके लिये कृपा कर नाराज न हों। आजकल पढ़ी-लिखी बहिनोंमें फैशनकी बीमारी बहुत जोरसे बढ़ रही है, वे ज्यादा गहना पहनना तो पसन्द नहीं करतीं, परन्तु जो एक दो अँगूठियाँ, चूड़ियाँ या कर्णफूल आदि रखना चाहती हैं, वे जरूर बहुमूल्य चमकदार रत्नोंके चाहती हैं। विलायतीकी जगह देशी वस्त्र या खादी पहनती हैं, परन्तु फैशनकी भावना बढ़ती जाती है। पढ़ी-लिखी बहिनें घरके काम-काजमें, रसोई बनाने आदिमें, पति या सास-ससुरकी सेवा करनेमें प्रायः उपेक्षा करती हैं, इन कामोंको वह हीन और नौकर-नौकरानियोंके करनेलायक समझती हैं और लेख लिखने, नाटक, उपन्यास, गल्प आदि पढ़नेमें विशेष रुचि रखती हैं। कई बहिनोंको सन्तानके पालन-पोषणमें भी कष्ट मालूम होने लगा है। यों देशी पोशाकके अंदर धीरे-धीरे विदेशी सभ्यताकी संक्रामक व्याधिका विस्तार हो रहा है। यह बात धीरे-धीरे बहिनोंके लेखों, कविताओं, उद्गारों और उनके चरित्रोंसे सिद्ध होने लगी है। बहिनोंको सावधान रहना चाहिये। यूरोपका दाम्पत्य-जीवन हमारा आदर्श कदापि नहीं है। वहाँकी ऊपरी चमक-दमक और स्त्री-स्वातन्त्र्यकी मधुर मोहनीमें कभी नहीं भूलना चाहिये। यूरोपकी स्त्रियाँ आजकल सन्तानोत्पादन और सन्तानके लालन-पालनतकको भाररूप समझकर मातृत्वका नाश करनेपर भी उतारू हो चली हैं। किसी वैराग्यसे नहीं, बेहद आरामतलबी और अनुचित विलासप्रियतासे! यूरोपका आदर्श हिन्दू-ललनाओंके लिये बड़ा ही घातक है। सुधार, संस्कृति, शिक्षा, सभ्यता, उन्नति, प्रगति या क्रान्ति आदिके नामपर कहीं सर्वस्व नाशकारी—'**विषकुम्भं पयोमुखम्**' का प्रयोग न हो जाय! सावधान!

वास्तवमें नश्वर शरीरको सजाकर सुन्दर बननेकी लालसा तो हास्यास्पद ही है। इसमें कौन-सी वस्तु ऐसी है जो सुन्दर हो? घृणित वस्तुओंसे बने हुए इस ढाँचेको सजाना प्रमादके सिवा और कुछ भी नहीं है। शरीरकी सजावटकी भावना इसी वासनाके कारण होती है कि दूसरोंमें 'मैं अच्छा दीखूँ।' इस भावनासे सुन्दर गहने-कपड़े पहनने-न-पहननेका उतना सम्बन्ध नहीं है, जितना मनका। सुन्दरता किसी वस्तुमें नहीं है, वह है अपने मनकी भावनामें, कोई बहिन खूब गहनोंसे लदकर बाहर निकलनेमें अपनी शोभा समझती है, तो कोई दूसरी तरहकी बाहरी टीप-टॉपमें समझती है। अतएव बहिनोंको मनसे विलासिता, फैशनका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

इसके सिवा जिस देशमें करोड़ों अपने ही जैसे शरीरधारी भाई-बहिनोंको पेटभर अनाज और लाज रखनेके लिये चार हाथ कपड़ा नहीं मिलता, उस देशके लोगोंको वास्तवमें गहने-कपड़ोंसे सज्जित होनेका धर्मतः अधिकार ही क्या है? शरीरको सुन्दर बनाने और दिखानेकी भावनाको हटाकर जगत्‌की परिमित और जहाँ-तहाँ बिखरी हुई अल्प सुन्दरताका मोह छोड़कर उस सुन्दरताकी खान, सर्वव्यापी, सबके अधिष्ठान, अतुलित सुन्दर परमात्माके प्रति मन लगाना चाहिये, जिसकी सुन्दरताका एक परमाणु पाकर जगत्‌के असंख्य नर-नारी सौन्दर्यके मदमें मतवाले हो रहे हैं—जिस प्रेमसिन्धुकी एक बूँदसे जगत्‌में माता-पिताका सन्तानमें, गुरुका शिष्यमें, स्त्रीका स्वामीमें, स्वामीका स्त्रीमें, मित्रका मित्रमें, भ्रमरका गन्धमें, चकोरका चन्द्रमामें, चातकका मेघमें, कमलका सूर्यमें—इन नाना रूपों और नामोंमें बँटकर भी जो प्रेम नित्य नया बन रहा है, अनादिकालसे अबतक चला आ रहा है, तथापि यह प्रेम कभी पुराना नहीं होता।

हम सबको उस परमात्माकी ओर लगनेकी ही चेष्टा करनी चाहिये। एक दिन इस शरीरको अवश्य छोड़ना होगा, उस समय सब नाते छूट जायँगे। सबसे सम्बन्ध टूट जायगा। जगत्‌का सम्बन्ध अल्प और अनित्य है, वास्तवमें नाटकवत् है। यहाँ तो बड़ी सावधानीसे रहना चाहिये। जैसे नाटकका पात्र नाटककी किसी भी वस्तुको, यहाँतक कि पोशाकको भी अपनी न समझकर रंगमंचपर अपने स्वाँगके अनुसार सावधानीसे अभिनय करता है, जैसे चतुर नमकहलाल और ईमानदार नौकर सचेत और धर्मपर डटा रहकर मालिकका काम करता है, उसी प्रकार परमात्माके नाट्यमंच इस जगत्‌में हमलोगोंको इस जगन्नाटकके उस एकमात्र स्वामी और सूत्रधार प्रभुके आज्ञानुसार उसीके लिये, उसीकी शक्तिके सहारे, उसीके गुणोंका स्मरण करते हुए, अपना-अपना कर्तव्यकर्म बड़ी सावधानीसे निर्लेप रहकर करना चाहिये। जिसके जिम्मे जो काम हो वह वही करे, पर करे प्रभुके लिये और प्रभुका समझकर, किसी भी वस्तुपर अपनी सत्ता न समझे, यहाँतक कि अपनेपर भी अपनी सत्ता नहीं!

भगवान्‌की इस आज्ञाको सदा स्मरण रखना चाहिये—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

श्रीरुक्मिणीका अनन्य प्रेम

श्रीमद्भागवतमें अनिर्वचनीय प्रेमके दो चरित्र बड़े ही पुनीत और अलौकिक हैं। प्रथम प्रेमकी जीवित प्रतिमा प्रातःस्मरणीया गोपबालाओंका और दूसरा भगवती श्रीरुक्मिणीजीका। विदर्भदेशके राजा भीष्मकके रुक्मी, रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और रुक्ममाली नामक पाँच पुत्र और रुक्मिणी नामक सबसे छोटी एक कन्या थी। रुक्मिणीजी साक्षात् रमा थीं, भगवान्‌में उनका चित्त तो स्वाभाविक ही अनुरक्त था; परन्तु लीलासे नारदादि तत्त्वज्ञानियोंके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णके माहात्म्य, रूप, वीर्य, गुण, शोभा और वैभवका अनुपम वर्णन सुनकर अपने मनमें दृढ़ निश्चय कर लिया कि श्रीकृष्ण ही मेरे पति हैं। आरम्भमें साधकको अपना ध्येय निश्चित करनेकी ही आवश्यकता होती है। ध्येय निश्चित होनेके पश्चात् उसकी प्राप्तिके लिये साधन किये जाते हैं। जिसका लक्ष्य ही स्थिर नहीं, वह निशाना क्या मारेगा? भगवती रुक्मिणीने दृढ़ निश्चय कर लिया कि जो कुछ भी हो, चाहे जितना लोभ या भय आवे, मुझे तो श्रीकृष्णको ही अपने जीवनाधाररूपमें प्राप्त करना है। भक्त भगवान्‌को जैसे भजता है भगवान् भी भक्तको वैसे ही भजते हैं। श्रीरुक्मिणीने जब श्रीकृष्णका माहात्म्य सुनकर उनको पतिरूपसे वरण किया तो उधर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने भी रुक्मिणीको बुद्धि, लक्षण, उदारता, रूप, शील और गुणोंकी खान समझकर—योग्य अधिकारी मानकर—पत्नीरूपसे ग्रहण करनेका निश्चय कर लिया। श्रीरुक्मिणीके बड़े भाई रुक्मी भगवान् श्रीकृष्णसे द्वेष रखते थे; उन्होंने अपने पिता, माता और भाइयोंकी इच्छाके विपरीत रुक्मिणीजीका विवाह श्रीकृष्णसे न कर शिशुपालसे करना चाहा और उन्हींके इच्छानुसार सम्बन्ध पक्का भी हो गया। जब यह समाचार श्रीरुक्मिणीजीको मिला तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ, उन्होंने अपना जीवन पहलेसे ही भगवान्‌पर न्योछावर कर दिया था। अब इस विपत्तिमें पड़कर उन्होंने अपने मनकी दशा श्रीकृष्णके प्रति निवेदन करनेके अभिप्रायसे एक छोटा-सा पत्र लिखा और उसे एक विश्वासी वृद्ध ब्राह्मणके हाथ द्वारका भेज दिया। पत्र क्या था, प्रेम-समुद्रके कुछ अमूल्य और अनुपम रत्नोंकी एक मंजूषा थी। थोड़े-से शब्दोंमें अपना हृदय खोलकर रख दिया गया था। नवधा भक्तिके अन्तिम सोपान आत्मनिवेदनका सुन्दर स्वरूप उसके अंदर था। ब्राह्मण देवता द्वारका पहुँचकर श्रीकृष्णचन्द्रके द्वारपर उपस्थित हुए। द्वारपाल उन्हें अंदर ले गया। भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्मण देवताको देखते ही सिंहासनसे उतरकर उनकी अभ्यर्थना की। अपने हाथों आसन दिया और आदरपूर्वक बैठाकर भलीभाँति उनकी पूजा की। ब्राह्मणके भोजन-विश्रामादि कर चुकनेपर भगवान् श्रीकृष्ण उनके पास जाकर बैठ गये और अपने कोमल करकमलोंसे उनके पैर दबाते-दबाते धीरभावसे कुशल-समाचार पूछनेके बाद ब्राह्मणसे बोले—'महाराज! मैं उन सब ब्राह्मणोंको बारम्बार मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ जो सदा सन्तुष्ट रहते हैं, जो दरिद्र होनेपर भी अपना जीवन सुखसे बिताते हैं, जो साधु हैं, प्राणिमात्रके परम बन्धु हैं और जो निरभिमानी तथा शान्त हैं। ब्रह्मन्! आप अपने राजाके राज्यमें सुखसे तो रहते हैं? जिस राजाके राज्यमें प्रजा सुखी है, वही राजा मुझको प्रिय है।' इस प्रकार कुशल-प्रश्नके बहानेसे भगवान्‌ने ब्राह्मण और क्षत्रियोंके उस धर्मको बतला दिया जिससे वे भगवान्‌के प्रियपात्र बन सकते हैं। ब्राह्मणने सारी कथा संक्षेपमें सुनाकर वह प्रेम-पत्रिका भगवान्‌को दिखलायी जिसपर श्रीरुक्मिणीके द्वारा अपनी प्रेम-मुद्रिकाकी मुहर लगायी हुई थी। भगवान्‌की आज्ञा पाकर ब्राह्मणने पत्र पढ़ सुनाया। पत्रमें लिखा था—

'हे त्रिभुवनकी सुन्दरताके समुद्र! हे अच्युत! जो कानोंके छिद्रोंद्वारा हृदयमें प्रवेश करके (तीनों प्रकारके) तापोंको शान्त करते हैं, आपके वे सब अनुपम गुण और नेत्रधारियोंकी दृष्टिका जो परम लाभ है ऐसे आपके मनमोहन स्वरूपकी महिमा सुनकर मेरा चित्त आपपर आसक्त हो गया है, लोकलज्जाका बन्धन भी उस (प्रेमके प्रवाह)-को नहीं रोक सकता। हे मुकुन्द! ऐसी कौन कुलवती, गुणवती और बुद्धिमती कामिनी है जो आप-जैसे अतुलनीय कुल, शील, स्वरूप, विद्या, अवस्था, सम्पत्ति और प्रभावसम्पन्न पुरुषको विवाह-समय उपस्थित होनेपर पतिरूपसे वरनेकी अभिलाषा नहीं करेगी? हे नरश्रेष्ठ! आप ही तो मनुष्योंके मनको रमानेवाले हैं।

अतएव हे विभो! मैंने आपको पति मानकर आत्मसमर्पण कर दिया है, अतएव आप यहाँ अवश्य पधारकर मुझे अपनी धर्मपत्नी बनाइये। हे कमलनयन! मैं अब आपकी हो चुकी। क्या सियार कभी सिंहके भागको हर ले जा सकता है? मैं चाहती हूँ, आप वीरश्रेष्ठके भाग—मुझको सियार—शिशुपाल यहाँ आकर स्पर्श भी न कर सके। यदि मैंने पूर्त (कुँआ, बावड़ी आदि बनवाना), इष्ट (अग्निहोत्रादि), दान, नियम, व्रत एवं देवता, ब्राह्मण और गुरुओंके पूजनद्वारा भगवान्‌की कुछ भी आराधना की है तो भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आकर मेरा पाणिग्रहण करें और दमघोषनन्दन (शिशुपाल) आदि दूसरे राजा मेरे हाथ भी न लगा सकें। हे अजित! परसों विवाहकी तिथि है, अतएव आप एक दिन पहले ही गुप्तरूपसे पधारिये, फिर पीछेसे आये हुए अपने सेनापतियोंको साथ लेकर शिशुपाल, जरासन्धादिकी सेनाको नष्ट-भ्रष्ट कर बलपूर्वक मुझे ग्रहण कीजिये, यही मेरी विनय है। यदि आप यह कहें कि तुम तो अन्तःपुरमें रहती हो तुम्हारे बन्धुओंको मारे बिना मैं किस तरह तुम्हारे साथ विवाह कर सकता हूँ या तुम्हें हरकर ले जा सकता हूँ? तो मैं आपको उसका उपाय बताती हूँ, हमारे कुलकी सनातन रीतिके अनुसार कन्या पहले दिन कुलदेवी भवानीकी पूजा करनेके लिये बाहर मन्दिरमें जाया करती है वहाँ मुझे हरण करना सुलभ है। इतना लिखनेके पश्चात् अन्तमें देवी रुक्मिणी लिखती हैं—

यस्याङ्घ्रिपंकजरजःस्नपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै ।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छतजन्मभिः स्यात्॥

(श्रीमद्भा० १०। ५२। ४३)

'हे कमललोचन! उमापति महादेव तथा उनके समान दूसरे ब्रह्मादि महान् लोग अपने अन्तःकरणका अज्ञान मिटानेके लिये आपके जिस चरण-रजके कणोंसे स्नान करनेकी प्रार्थना करते रहते हैं, यदि मैं उस प्रसादको नहीं पा सकी तो निश्चय समझियेगा कि मैं व्रत-उपवासादिके द्वारा शरीरको सुखाकर इन व्याकुल प्राणोंको त्याग दूँगी। (यों बारम्बार करते रहनेपर अगले) सौ जन्मोंमें तो आपका प्रसाद प्राप्त होगा ही।'

कुछ लोग कहते हैं कि इस पत्रमें कौन-सी बड़ी बात है? किसी पुरुषके रूप-गुणपर मुग्ध होकर घरवालोंकी इच्छाके विरुद्ध उसे प्रेम-पत्र लिखना कौन-सी आदर्श बात है? परंतु ऐसा कहनेवाले सज्जन भूलते हैं। श्रीरुक्मिणीजीने किसी पार्थिव रूप-गुणपर मुग्ध होकर यह पत्र नहीं लिखा, पत्रके अन्तिम श्लोकसे स्पष्ट सिद्ध है कि रुक्मिणी किसी राजा या बलवान् कृष्णको नहीं जानती और चाहती थी। रुक्मिणी जानती थी देवदेव महादेवादिद्वारा वन्दितचरण कमललोचन साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णको! रुक्मिणीका त्याग और निश्चय देखिये। इष्ट, पूर्त, दान, नियम, व्रत और देवता, गुरु-ब्राह्मणोंकी पूजा आदि सबका फल रुक्मिणी केवल एक ही चाहती है। यही तो भक्तका निष्काम कर्म है। भक्तके द्वारा दान, यज्ञ, तप आदि सभी कर्म किये जाते हैं, परन्तु किसलिये? धन, जन, भोग, स्वर्गादिके लिये नहीं केवल भगवान्‌को पानेके लिये। घर, द्वार, परिवार और भाई-बन्धुका ममत्व त्यागकर इसी प्रकार तो भगवत्प्राप्तिके लिये भक्तको लोकलज्जा और मर्यादाका बाँध तोड़कर आत्मसमर्पण करना पड़ता है। इतनेपर भी यदि भगवान् नहीं मिलते तो भक्त ऊबता नहीं। उसका निश्चय है कि 'आज नहीं तो क्या है, कभी सौ जन्मोंमें तो उनका प्रसाद प्राप्त होगा ही।' जहाँ इतना विशुद्ध और अनन्य प्रेम होता है वहाँ भगवान् आये बिना कभी रह नहीं सकते। अतएव रुक्मिणीजीका पत्र सुनते ही भगवान्‌ने 'भक्तकी भीर' हरनेके लिये निश्चय कर लिया और आप ब्राह्मणसे कहने लगे—'भगवन्! जैसे रुक्मिणीका चित्त मुझमें आसक्त है वैसे ही मेरा भी मन उसीमें लग रहा है। मुझे तो रातको नींद भी नहीं आती.....मैंने निश्चय कर लिया है कि युद्धमें अधम क्षत्रियोंकी सेनाका मन्थनकर उसके बीचसे, काष्ठके भीतरसे अग्निशिखाके समान, मुझको एकान्तभावसे भजनेवाली अनिन्दितांगी राजकुमारी रुक्मिणीको ले आऊँगा।' वही भक्त सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है जो अपने अन्तरके प्रेमकी प्रबल टानसे भगवान्‌के चित्तमें उससे मिलनेके लिये अत्यन्त व्याकुलता उत्पन्न कर दे। इस प्रकारकी अवस्थामें भगवान् भक्तसे मिले बिना एक क्षण भी सुखकी नींद नहीं सो सकते। जैसे भक्त अपने प्रियतम भगवान्‌के विरहमें तारे गिनता हुआ रात बिताता है वैसे ही भगवान् भी उसीके ध्यानमें जागा करते हैं। ऐसी स्थिति हो जानेपर प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता। भगवान् दौड़ते हैं इस प्रकारके भक्तको सादर ग्रहण करनेके लिये!

भगवान्‌का रुख देखकर चतुर सारथि दारुक उसी क्षण शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामक चारों घोड़े जोतकर रथ ले आया और भगवान्‌ने उसपर सवार हो रथ बहुत शीघ्र हाँकनेकी आज्ञा देकर विदर्भ-

देशके कुण्डिनपुरको प्रस्थान किया। ब्राह्मण देवता तो साथ थे ही।

श्रीरुक्मिणीजीने सारी रात जागते बितायी। सूर्योदय होनेपर आया, ब्राह्मण नहीं लौटे, रुक्मिणीकी विरह-व्यथा उत्तरोत्तर बढ़ रही थी, वह मनमें इस प्रकार चिन्ता करने लगी कि 'अहो! रात बीत गयी, सबेरे मुझ अभागिनीके विवाहका दिन है। कमललोचन भगवान् श्रीकृष्ण अबतक नहीं आये, न ब्राह्मण देवता ही लौटे। क्या उन अनिन्दितात्मा श्रीकृष्णने मुझमें कहीं कोई निन्दनीय बात देखी है? क्या इसीलिये वे मेरे पाणिग्रहणका उद्योग करके नहीं पधारते? क्या भगवान् विधाता और महादेव मुझ अभागिनीके प्रतिकूल हैं? क्या भगवती गिरिजा, रुद्राणी गौरी भी मेरे अनुकूल नहीं हैं?' इस प्रकार चिन्ता करती हुई श्रीरुक्मिणीजी, जिनका चित्त केवल गोविन्दकी चिन्तासे ही भरा हुआ है, जिनके नेत्रोंसे आँसू बह रहे हैं, अपने उन नेत्रोंको मूँदकर भगवान् हरिका ध्यान करने लगीं।

प्रेमके उदय होनेपर एक क्षणका वियोग भी भक्तके लिये असह्य हो उठता है। परन्तु उस वियोगकी विकट दशामें वह अपने प्रियतम भगवान्पर कभी नाराज नहीं होता। उस समय वह अपना अन्तर टटोलता है, वह सोचता है कि प्रियतमके पधारनेमें क्यों विलम्ब हो रहा है? क्या मेरे हृदय-सिंहासनके सजानेमें कोई त्रुटि रह गयी है? क्या स्वागतकी तैयारीमें कोई कसर है? इस अवस्थामें भक्त बड़ी सावधानीसे अपने हृदयके गम्भीरतम प्रदेशमें घुसकर चोरकी तरह उसमें छिपे हुए संसार-संस्कारके लेशको भी निकाल देना चाहता है; उसे यह दृढ़ विश्वास रहता है कि मेरी पूरी तैयारी होनेपर तो प्रियतम आये बिना कभी रह नहीं सकते; कहीं-न-कहीं मेरी तैयारीमें ही दोष है। रुक्मिणीजी इसीलिये चिन्ता करती हैं कि श्रीकृष्णने क्या मुझमें कोई निन्दनीय बात देखी है जो प्रेममार्गके प्रतिकूल हो? जब व्याकुलता और बढ़ती है, धैर्य छूटने लगता है, तब वह भक्त सभी उपायोंको काममें लाता है। ऐसे समय ही उसे देवी-देवताओंका स्मरण होता है। जब उनसे भी आश्वासन नहीं मिलता तब हृदय भर आता है, आँखें छल-छल करने लगती हैं, रोमांच हो आता है, चित्त सर्वथा निर्विषय होकर अपने प्रियतमकी एकान्त और अनन्यचिन्ताके विस्तृत सागरमें तरंगकी भाँति तल्लीन और एकरस बन जाता है। बस, यही भक्त और भगवान्के मिलनका शुभ समय होता है और इसी क्षणमें भक्त अपने भगवान्को पाकर सन्तुष्ट, तृप्त, पूर्णकाम और अकाम बनकर तद्रूप हो जाता है।

रुक्मिणीजीके भगवान् श्रीकृष्णके ध्यानमें मग्न होते ही उनकी बाँह, ऊरु, भुजा और नेत्र आदि अंग भावी प्रियकी सूचना देते हुए फड़क उठे और उसी क्षण भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनका प्रिय समाचार लेकर वही वृद्ध ब्राह्मण आ पहुँचे। भगवान्की आगमनवार्ता सुनकर रुक्मिणीजीको जो आनन्द हुआ वह वर्णनातीत है। श्रीकृष्ण और बलदेवका आगमन सुनकर रुक्मिणीके पिता राजा भीष्मकने उनके स्वागत और अतिथि-सत्कारका पूरा प्रबन्ध किया। भगवान्की भुवनमोहिनी रूपराशिको निरखकर नगरके नर-नारियोंका चित्त उसीमें रम गया और सभी प्रेमके आँसू बहाते हुए कहने लगे कि यदि हमने कभी कुछ भी सुकृत किया हो तो त्रिलोकीके विधाता अच्युतभगवान् कुछ ऐसा करें कि ये मनमोहन अनूपरूप-शिरोमणि श्रीकृष्ण ही रुक्मिणीका पाणिग्रहण करें। श्रीरुक्मिणीजी अम्बिकाकी पूजाके लिये गयीं, वहाँ देवीका पूजनकर बड़ी-बूढ़ियोंसे आशीर्वाद प्राप्तकर बाहर आकर अपने रथपर चढ़ना ही चाहती थीं कि इतनेहीमें माधव श्रीकृष्णचन्द्रने आकर शत्रुओंकी सेनाके सामने ही गरुड़चिह्नयुक्त अपने रथपर तुरंत ही रुक्मिणीको चढ़ा ली और चल दिये। लोगोंने पीछा किया, परन्तु किसीकी कुछ भी नहीं चली, भगवान् और बलदेवजी शत्रुओंका दर्प दलनकर देवी रुक्मिणीसहित द्वारकामें आ पहुँचे और वहाँ विधिपूर्वक उनका विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। श्रीकृष्णको रुक्मिणीसे (जो श्रीलक्ष्मीजीका अवतार हैं) मिलते देखकर पुरवासियोंको परम आह्लाद हुआ। भक्त और भगवान्के मिलन-प्रसंगमें किसे आनन्द नहीं होता?

अनन्यगति श्रीरुक्मिणीजी निरन्तर भगवान्की सेवामें रत रहतीं। एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण महाराजने प्रसन्नतापूर्वक मन्द-मन्द मुसकराते हुए रुक्मिणीसे कुछ ऐसी रहस्ययुक्त बातें कहीं, जिनको सुनकर रुक्मिणीजी थोड़ी देरके लिये व्याकुल हो गयीं। अपना समस्त ऐश्वर्य सौंपकर भी भगवान् समय-समयपर भक्तकी यों परीक्षा किया करते हैं, वह इसीलिये कि भक्त कहीं ऐश्वर्यके मदमें मत्त होकर प्रेमकी अनिर्वचनीय स्थितिसे च्युत न हो जाय। यद्यपि श्रीरुक्मिणीजीके लिये ऐसी कोई आशंका नहीं थी, परन्तु भगवान्ने अपने भक्तोंका महत्त्व बढ़ाने और जगत्को सच्चे प्रेमकी अनुपम शिक्षा देनेके लिये रुक्मिणीजीकी वाणीसे भगवत्प्रेमका तत्त्व

कहलाना चाहा और इसीलिये उनसे रहस्ययुक्त वचन कहे। भगवान् बोले—'हे राजकुमारी! लोकपालोंके समान धनसम्पन्न, महानुभाव, श्रीमान् तथा रूप और उदारतासे युक्त महान् बली नरपति तुमसे विवाह करना चाहते थे। कामोन्मत्त शिशुपाल तुम्हें ब्याहनेके लिये बारात लेकर आ पहुँचा था; तुम्हारे भ्राता और पिता भी तुम्हारा विवाह शिशुपालके साथ करनेका निश्चय कर चुके थे, तो भी तुमने सब प्रकारसे अपने योग्य उन राजकुमारोंको छोड़कर, जो किसी बातमें तुम्हारे समान नहीं हैं ऐसे मुझ-जैसेको अपना पति क्यों बनाया? हे सुभ्रु! तुम जानती हो, हम राजाओंके भयसे समुद्र-किनारे आ बसे हैं; क्योंकि हमने बलवानोंसे वैर बाँध रखा है, फिर हम राज्यासनके अधिकारी भी नहीं हैं। जिनका आचरण स्पष्ट समझमें नहीं आ सकता, जो स्त्रियोंके वशमें नहीं रहते, ऐसे हम-सरीखे पुरुषोंकी पदवीका अनुसरण करनेवाली स्त्रियाँ प्राय: कष्ट और दु:ख ही उठाया करती हैं। हे सुमध्यमे! हमलोग स्वयं निष्किंचन (धन-सम्पत्तिरहित) हैं और धन-सम्पत्तिरहित दरिद्र ही हमसे प्रेम करते हैं। धनवान् लोग प्राय: हमको नहीं भजते। जो लोग धन, जाति, ऐश्वर्य, आकार और अवस्थामें परस्पर समान हों, उन्हींसे मित्रता और विवाह करना शोभा देता है। उत्तम और अधमोंमें विवाह या मित्रता कभी उचित नहीं होती। हे रुक्मिणी! तुम दूरदर्शिनी नहीं हो, इसीसे बिना जाने तुमने मुझ-जैसे गुणहीनको नारदादिके मुखसे प्रशंसा सुनकर वर लिया, वास्तवमें तुमको धोखा हुआ। यदि तुम चाहो तो अब भी जिसके संगसे तुम इस लोक और परलोकमें सुख प्राप्त कर सको, ऐसे किसी अन्य योग्य क्षत्रियको ढूँढ़ सकती हो। तुम्हारा हरण तो हमने शिशुपाल, दन्तवक्त्र आदि घमण्डी राजा और हमसे वैरभाव रखनेवाले तुम्हारे भाई रुक्मीका दर्प-दलन करनेके लिये किया था; क्योंकि बुरे लोगोंका तेज नाश करना ही हमारा कर्तव्य है।' इतना कहकर अन्तमें भगवान् बोले—

उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुका:।
आत्मलब्ध्याऽऽस्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रिया:॥

(श्रीमद्भा० १०। ६०। २०)

'हे राजकुमारी! हम आत्मलाभसे ही पूर्ण होनेके कारण स्त्री, पुत्र और धनादिकी कामना नहीं रखते। हम उदासीन हैं, देह और गृहमें हमारी आसक्ति नहीं है। जैसे दीपककी ज्योति केवल प्रकाश करके साक्षीमात्र रहती है वैसे ही हम समस्त क्रियाओंके केवल साक्षीमात्र हैं।'

भगवान्‌के इस रहस्यपूर्ण कथनपर हम क्या कहें; भगवान्‌ने इस बहाने भक्तको अपना वास्तविक स्वरूप और भक्तका कर्तव्य तथा उसके लक्षण बतला दिये। भगवती रुक्मिणीको (तुम ऐसे किसी अन्य योग्य क्षत्रियको ढूँढ़ सकती हो) इन शब्दोंसे बड़ी मर्मवेदना हुई, वे मस्तक अवनत करके रोने लगीं, अश्रुधारासे उनका शरीर भीग गया। दारुण मनोवेदनासे कण्ठ रुक गया और अन्तमें वे अचेत होकर गिर पड़ीं। भगवान् रुक्मिणीकी इस प्रेम-दशाको देख मुग्ध होकर तुरन्त पलंगसे उठे और चतुर्भुज होकर दो हाथोंसे रुक्मिणीको उठा लिया और दो करकमलोंसे उनके बिखरे हुए केशोंको सँवारकर आँसू पोंछने लगे। रुक्मिणीजीको चेत हुआ तब भगवान् बोले—'राजकुमारी! मैं तो हँसी करता था, तुम्हारे चरित्रको मैं भलीभाँति जानता हूँ, तुम्हारे मुखसे प्रणयकोपके प्रकट करनेवाली बातें सुननेके लिये ही मैंने इतनी बातें कही थीं।'

भगवान् भक्तकी परीक्षा तो बड़ी कठिन लिया करते हैं, परन्तु फिर तुरन्त सँभाल भी लेते हैं। भगवान्‌ने रुक्मिणीको बहुत समझाकर धैर्य बँधाया, तब भगवान्‌के चरणकमलोंकी नित्य अनुरागिणी देवी रुक्मिणी बड़े मधुर शब्दोंमें भगवान्‌से कहने लगीं—'हे कमलनयन! आपने जो ऐसा कहा कि 'मैं तुम्हारे समान नहीं था, तुमने क्यों मेरे साथ विवाह किया?' सो आपका कथन सर्व-सत्य है, मैं अवश्य ही आपके योग्य नहीं हूँ। कहाँ ब्रह्मादि तीनों देवोंके या तीनों गुणोंके नियन्ता दिव्य शक्तिसम्पन्न आप साक्षात् भगवान् और कहाँ मैं अज्ञानी तथा सकाम पुरुषोंके द्वारा पूजी जानेवाली गुणमयी प्रकृति! हे प्रभो! आपका यह कहना कि 'हम राजाओंसे डरकर समुद्रकी शरणमें आकर बसे हैं' सर्वथा सत्य है; क्योंकि शब्दादि गुण ही राजमान (प्रकाश पानेवाले) होनेके कारण 'राजा' हैं, उनके भयसे ही मानो समुद्रके सदृश अगाध विषयशून्य भक्तोंके हृदयदेशमें आप चैतन्यघन आत्मारूपसे प्रकाशित हैं। आपका यह कहना भी ठीक है कि 'हमने बलवानोंसे वैर बाँध रखा है और हम राज्यासनके अधिकारी नहीं हैं।' बहिर्मुख हुई प्रबल इन्द्रियोंके साथ अथवा जिनकी प्रबल इन्द्रियाँ विषयोंमें आसक्त हैं उनसे कभी आपको प्रीति नहीं है। हे नाथ! राज्यासन तो घोर अविवेकरूप है, मनुष्य राज्यपदको पाकर ज्ञानशून्य कर्तव्यविमूढ़ होकर अंधा-सा बन जाता है, ऐसे राजपदको तो आपके सेवकोंने ही त्याग दिया है फिर आपकी तो बात ही क्या है? हे भगवन्! 'आपने कहा कि हमारे आचरण स्पष्ट समझमें

नहीं आ सकते' सो सत्य है, आपके चरणकमलके मकरन्दका सेवन करनेवाले मुनियोंके ही आचरण स्पष्ट समझमें नहीं आते, पशु-समान अज्ञानी मनुष्य उनकी तर्कना भी नहीं कर सकते। जब आपके अनुगामी भक्तोंका चरित्र ही इतना अचिन्त्य और अलौकिक है तब आप—जो साक्षात् ईश्वर हैं, उनके चरित्रका दुर्बोध या अलौकिक होना कोई आश्चर्य नहीं। आपने कहा कि 'हम निष्किञ्चन हैं, निष्किञ्चन ही हमसे प्रेम करते हैं' सो हे स्वामी! जिन ब्रह्मादि देवताओंकी सभी पूजा करते हैं वे भी जब सादर आपको पूजते हैं, तब आप निष्किञ्चन तो नहीं हैं, परन्तु एक तरहसे आप निष्किञ्चन ही हैं, क्योंकि आपसे भिन्न कुछ है ही नहीं। जो लोग धन-सम्पत्तिके मदसे अंधे हो रहे हैं और केवल अपने शरीरके पालन-पोषणमें ही रत हैं वे आप कालरूपको नहीं जानते। आप पूजनीयोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं, जगत्-पूज्य ब्रह्मादि आपको इष्टदेव मानकर पूजते हैं। उनके आप प्रिय हैं और वे आपके प्रिय हैं। आप सम्पूर्ण पुरुषार्थ और परमानन्दरूप हैं, आपको प्राप्त करनेकी अभिलाषासे श्रेष्ठ बुद्धिवाले लोग सब वस्तुओंका त्याग कर देते हैं। हे विभो! ऐसे श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुषोंसे ही आपका सेव्य-सेवक-सम्बन्ध उचित है; स्त्री-पुरुषरूप सम्बन्ध योग्य नहीं है। कारण, इस सम्बन्धमें आसक्तिके कारण प्राप्त हुए सुख-दुःखोंसे व्याकुल होना पड़ता है, इसलिये आपका यह कहना कि 'समान लोगोंमें ही मित्रता और विवाह होना चाहिये' सो ठीक ही है। आपने कहा कि 'नारदादिके मुखसे प्रशंसा सुनकर मुझे वर लिया' सो भगवन्! ऐसे सर्वत्यागी मुनिगण ही आपके प्रभावको जानते और कहते हैं, आप जगत्के आत्मा हैं और भक्तोंको आत्मस्वरूप प्रदान करते हैं, यह समझकर ही मैंने आपको वरा है। आपने कहा कि 'तुम दूरदर्शिनी नहीं हो' सो प्रभो! आपकी भ्रुकुटियोंके बीचसे उत्पन्न कालके वेगसे जिनके समस्त विषय-भोग नाश हो जाते हैं, ऐसे ब्रह्मादि देवताओंको भी मैंने पति बनाना उचित और श्रेष्ठ नहीं समझा तो फिर शिशुपालादि तुच्छ लोगोंकी बात ही क्या है? हे गदाग्रज! हे प्रभो! सिंह जैसे अपनी गर्जनासे पशुपालकोंको भगाकर अपना आहार ले आता है, वैसे ही आप शार्ङ्गधनुषके शब्दसे राजाओंको भगाकर अपना भाग, जो मैं हूँ, उसे हर लाये हैं, ऐसे आप उन राजाओंके भयसे समुद्रकी शरणमें आकर बसे हैं—यह कहना ठीक नहीं है। आपने कहा कि 'ऐसे पुरुषोंकी पदवीका अनुसरण करनेवाली स्त्रियाँ दुःख उठाया करती हैं' सो हे कमललोचन! अंग, पृथु, भरत, ययाति और गय आदि राजाओंके सिरमौर महाराजाओंने आपके भजनकी इच्छासे चक्रवर्ती राज त्याग दिया और आपकी पदवी पानेके लिये वनोंमें जाकर तपमें लग गये। क्या उनको कोई कष्ट मिला? क्या वे आपको नहीं प्राप्त हुए? वे तो सब कष्टोंसे पार होकर आपकी चरण-पदवी प्राप्तकर आपके परमानन्दस्वरूपमें लीन हो गये हैं। भगवन्! आप सब गुणोंकी खान हैं। आपके चरणकमलोंकी मकरन्द-सुगन्धका वर्णन साधुगणोंद्वारा किया गया है, लक्ष्मी सदा उसका सेवन करती हैं, भक्तजन उससे मोक्ष पाते हैं, ऐसे चरणकमलोंके मकरन्दकी सुगन्ध पाकर अपने प्रयोजनको विवेकबुद्धिसे देखनेवाली कौन ऐसी स्त्री होगी जो आपको छोड़कर किसी मरणशील और कालके भयसे सदा शंकित दूसरे पार्थिव पुरुषका आश्रय लेगी? अतएव आपने जो यह कहा कि 'दूसरा पुरुष ढूँढ़ सकती हो' सो ठीक नहीं है। आप जगत्के अधिपति और सबके आत्मा हैं। इस लोक और परलोकमें सब अभिलाषाएँ पूरी करनेवाले हैं, मैंने योग्य समझकर ही आपको पति बनाया है। मेरी यही प्रार्थना है कि मैं देवता, पशु, पक्षी आदिकी किसी भी योनिमें भ्रमण करूँ परन्तु सर्वत्र आपहीके चरणोंकी शरणमें रहूँ। नाथ! जो लोग आपको भजते हैं, आप समदर्शी और निःस्पृह होते हुए भी उनको भजते हैं और आपके भजनसे ही इस असार संसारसे मुक्ति मिलती है। हे अच्युत! हे शत्रुनाशन! जो स्त्रियोंके घरोंमें गधेके समान बोझा ढोते हैं, बैलकी तरह नित्य गृहस्थीके कामोंमें जुते रहकर क्लेश भोगते हैं, कुत्तेके समान जिनका तिरस्कार होता है, बिलावकी तरह जो दीन बने हुए गुलामोंकी भाँति स्त्री आदिकी सेवामें लगे रहते हैं ऐसे शिशुपालादि राजा उसी (अभागिनी) स्त्रीके पति हों जिसके कानोंमें शिव-ब्रह्मादिकी सभाओंमें आदर पानेवाली आपकी पवित्र कथाओंने प्रवेश नहीं किया हो। हे स्वामी! जिसने आपके चरणारविन्दकी मकरन्द-सुगन्धको कभी नहीं पाया अर्थात् जिसने आपके चरणोंमें मन लगानेका आनन्द कभी नहीं पाया, वही मूढ़ स्त्री बाहर त्वचा, दाढ़ी, मूँछ, रोम, नख और केशोंसे ढके हुए तथा भीतर मांस, हड्डी, रुधिर, कृमि, विष्ठा, कफ, पित्त और वातसे भरे हुए जीवन्मृत (जीते ही मुर्देके समान) पुरुषको पतिभावसे भजेगी। हे कमलनयन! आपने कहा कि 'हम उदासीन हैं, आत्मत्यागसे पूर्ण हैं' सो सत्य है। आप निजानन्दस्वरूपमें रमण करनेके कारण मुझपर अत्यन्त अधिक दृष्टि नहीं रखते तथापि मेरी

यही प्रार्थना है कि आपके चरणोंमें मेरा चित्त सदा लगा रहे। आप इस जगत्‌की वृद्धिके लिये उत्कृष्ट रजोगुणको स्वीकार करते हुए मुझ (प्रकृति)-पर दृष्टि डालते हैं, उसीको मैं परम अनुग्रह मानती हूँ। प्रभो! मैं आपके कथनको मिथ्या नहीं मानती; जगत्‌में कई स्त्रियाँ ऐसी हैं जो स्वामीके रहते भी अन्य पुरुषपर आसक्त हो जाती हैं। पुंश्चली स्त्रियोंका मन विवाह हो जानेपर भी नये-नये पुरुषोंपर आसक्त होता रहता है; किन्तु चतुर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वे ऐसी असती स्त्रियोंसे विवाह कभी न करें; क्योंकि ऐसी स्त्रियाँ दोनों कुलोंको कलंकित करती हैं जिससे स्त्रीके साथ ही पुरुषकी भी इस लोकमें अकीर्ति और परलोकमें बुरी गति होती है।'

इस प्रकार भगवान्‌को तत्त्वसे जाननेवाली प्रेमकी प्रत्यक्ष मूर्ति देवी रुक्मिणीजीने अपने भाषणमें भगवान्‌का स्वरूप, माहात्म्य, भगवत्प्राप्तिके उपाय, भक्तोंकी निष्ठा, भक्तोंके कर्तव्य और भगवान्‌से विमुख अधम जीवोंकी दशा तथा उनकी गतिका वर्णन किया। देवी रुक्मिणीके इस भाषणसे भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और सकामभावकी निन्दा, निष्कामकी प्रशंसा तथा सब कुछ छोड़कर प्रेमसे भगवत्प्राप्तिके लिये व्याकुल रहनेवाले भक्तोंका महत्त्व बतलाते हुए उन्होंने कहा—

दूतस्त्वयाऽऽत्मलभने सुविविक्तमन्त्रः
प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत्।
मत्वा जिहास इदमंगमनन्ययोग्यं
तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः॥

(श्रीमद्भा० १०। ६०। ५७)

'तुमने मुझको ही वरनेका दृढ़ निश्चय करके अपने प्रणकी सूचना देनेके लिये मेरे पास दूत भेजा और जब मेरे आनेमें कुछ विलम्ब हुआ तब तुमने सब जगत्‌को शून्य देखकर यह विचार किया कि यह शरीर और किसीके भी योग्य नहीं है। इसका न रहना ही उत्तम है, अतएव मैं तुम्हारे प्रेमका बदला चुकानेमें असमर्थ हूँ। तुमने जो किया सो तुम्हारे ही योग्य है, हम तुम्हारे इस सर्वोच्च प्रेम-भावका अभिनन्दन करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण और भगवती रुक्मिणीके इस संवादपर टीका करनेकी हममें कोई योग्यता नहीं और न हम अपना अधिकार ही समझते हैं। भक्त साधक बारम्बार इस संवादको मन लगाकर पढ़ें, मनन करें और अपना कर्तव्य निश्चित करें।

सद्‌गुणवती कैकेयी

रामायणमें महारानी कैकेयीका चरित्र सबसे अधिक बदनाम है। जिसने सारे विश्वके परम प्रिय प्राणाराम रामको बिना अपराध वनमें भिजवानेका अपराध किया, उसका पापिनी, कलंकिनी, राक्षसी, कुलविनाशिनी कहलाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं। समस्त सद्‌गुणोंके आधार, जगदाधार राम जिसकी आँखोंके काँटे हो गये, उसपर गालियोंकी बौछार न हो तो किसपर हो? इसीसे लाखों वर्ष बीत जानेपर भी आज जगत्‌के नर-नारी कैकेयीका नाम सुनते ही नाक-भौं सिकोड़ लेते हैं और मौका पानेपर उसे दो-चार ऊँचे-नीचे शब्द सुनानेसे बाज नहीं आते। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि कैकेयी सर्वथा दुर्गुणोंकी ही खान थी, उसमें कोई सद्‌गुण था ही नहीं। सच्ची बात तो यह है कि यदि श्रीराम वनवासमें कैकेयीके कारण होनेका प्रसंग निकाल लिया जाय तो शायद कैकेयीका चरित्र रामायणके प्रायः सभी स्त्रीचरित्रोंसे बढ़कर समझा जाय। कैकेयीके राम-वनवासके कारण होनेमें भी एक बड़ा भारी रहस्य छिपा हुआ है, जिसका उद्‌घाटन होनेपर यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीरामके अनन्य और अनुकूल भक्तोंमें कैकेयीजीका स्थान सर्वोच्च है। इस विषयपर आगे चलकर यथामति विचार प्रकट किये जायँगे। पहले कैकेयीके अन्य गुणोंकी ओर दृष्टि डालिये।

कैकेयी महाराज केकयकी पुत्री और दशरथजीकी छोटी रानी थी। यह केवल अप्रतिम सुन्दरी ही नहीं थी, प्रथम श्रेणीकी पतिव्रता और वीरांगना भी थी। बुद्धिमत्ता, सरलता, निर्भयता, दयालुता आदि सद्‌गुणोंका कैकेयीके जीवनमें पूर्ण विकास था। इसने अपने प्रेम और सेवाभावसे महाराजके हृदयपर इतना अधिकार कर लिया था कि महाराज तीनों पटरानियोंमें कैकेयीको ही सबसे अधिक मानते थे। कैकेयी पति-सेवाके लिये सभी कुछ कर सकती थी। एक समय महाराज दशरथ देवताओंकी सहायताके लिये शम्बरासुर नामक राक्षससे युद्ध करने गये। उस समय कैकेयीजी भी पतिके साथ रणांगणमें गयी थीं, आराम या भोग भोगनेके लिये नहीं, सेवा और शूरतासे पतिदेवको सुख पहुँचानेके लिये। कैकेयीका पातिव्रत और वीरत्व इसीसे प्रकट है कि उसने एक

समय महाराज दशरथके सारथिके मर जानेपर स्वयं बड़ी ही कुशलतासे सारथिका कार्य करके महाराजको संकटसे बचाया था। उसी युद्धमें दूसरी बार एक घटना यह हुई कि महाराज घोर युद्ध कर रहे थे, इतनेमें उनके रथके पहियेकी धुरी निकलकर गिर पड़ी। राजाको इस बातका पता नहीं लगा। कैकेयीने इस घटनाको देख लिया और पतिकी विजय कामनासे महाराजसे बिना कुछ कहे-सुने तुरन्त धुरीकी जगह अपना हाथ डाल दिया और बड़ी धीरतासे बैठी रही। उस समय वेदनाके मारे कैकेयीकी आँखोंके कोये काले पड़ गये, परंतु उसने अपना हाथ नहीं हटाया। इस विकट समयमें यदि कैकेयीने बुद्धिमत्ता और सहनशीलतासे काम न लिया होता तो महाराजके प्राण बचने कठिन थे।

शत्रुओंका संहार करनेके बाद जब महाराजको इस घटनाका पता लगा तो उनके आश्चर्यका पार नहीं रहा। उनका हृदय कृतज्ञता तथा आनन्दसे भर गया। ऐसी वीरता और त्यागपूर्ण क्रिया करनेपर भी कैकेयीके मनमें कोई अभिमान नहीं, वह पतिपर कोई एहसान नहीं करती। महाराज वरदान देना चाहते हैं तो वह कह देती है कि मुझे तो आपके प्रेमके सिवा अन्य कुछ भी नहीं चाहिये। जब महाराज किसी तरह नहीं मानते और दो वर देनेके लिये हठ करने लगते हैं तब दैवी प्रेरणावश 'आवश्यक होनेपर माँग लूँगी' कहकर अपना पिण्ड छुड़ा लेती है। उसका यह अपूर्व त्याग सर्वथा सराहनीय है।

भरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये हैं। पीछेसे महाराजने चैत्रमासमें श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी की, किसी भी कारणसे हो, उस समय महाराज दशरथने इस महान् उत्सवमें भरत और शत्रुघ्नको बुलानेकी भी आवश्यकता नहीं समझी, न केकयराजको ही निमन्त्रण दिया गया। कहा जाता है कि कैकेयीके विवाहके समय महाराज दशरथने इसीके द्वारा उत्पन्न होनेवाले पुत्रको राज्यका अधिकारी मान लिया था। परन्तु रघुवंशकी प्रथा और श्रीरामके प्रति अधिक अनुराग होनेके कारण चुपचाप रामको युवराजपद प्रदान करनेकी तैयारी कर ली गयी। यही कारण था कि रानी कैकेयीके महलोंमें भी इस उत्सवके समाचार पहलेसे नहीं पहुँचे थे। रानी कैकेयी अपना स्वत्व जानती थी, उसे पता था कि भरतको मेरे पुत्रके नाते राज्याधिकार मिलना चाहिये, परन्तु कैकेयी इस बातकी कुछ भी परवा न कर रामराज्याभिषेककी बात सुनते ही प्रसन्न हो गयी। देवप्रेरित कुबड़ी मन्थराने आकर जब उसे यह समाचार सुनाया तब वह आनन्दमें डूब गयी। वह मन्थराको पुरस्कारमें एक दिव्य उत्तम गहना देकर '**दिव्यमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम्**' कहती है—

इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यातं परमं प्रियम्।
एतन्मे प्रियमाख्यातं किं वा भूयः करोमि ते॥
रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये।
तस्मात्तुष्टास्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति॥
न मे परं किंचिदितो वरं पुनः
प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचोऽमृतम्।
तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं
वरं परं ते प्रददामि तं वृणु॥

(वा० रा० २।७।३४—३६)

'मन्थरे! तूने मुझको यह बड़ा ही प्रिय संवाद सुनाया है, इसके बदलेमें मैं तेरा और क्या उपकार करूँ? (यद्यपि भरतको राज्य देनेकी बात हुई थी; परन्तु) राम और भरतमें मैं कोई भेद नहीं देखती, मैं इस बातसे बहुत प्रसन्न हूँ कि महाराज कल रामका राज्याभिषेक करेंगे। हे प्रियवादिनी! रामके राज्याभिषेकका संवाद सुननेसे बढ़कर मुझे अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है। ऐसा अमृतके समान सुखप्रद वचन सब नहीं सुना सकते। तूने यह वचन सुनाया है, इसके लिये तू जो चाहे सो पुरस्कार माँग ले, मैं तुझे देती हूँ।'

इसपर मन्थरा गहनेको फेंककर कैकेयीको बहुत कुछ उलटा-सीधा समझाती है, परन्तु फिर भी कैकेयी तो श्रीरामके गुणोंकी प्रशंसा करती हुई यही कहती है कि श्रीरामचन्द्र धर्मज्ञ, गुणवान्, संयतेन्द्रिय, सत्यव्रती और पवित्र हैं, वह राजाके ज्येष्ठ पुत्र हैं, अतएव (हमारी कुलप्रथाके अनुसार) उन्हें युवराज-पदका अधिकार है। दीर्घायु राम अपने भाइयों और सेवकोंको पिताकी तरह पालन करेंगे। मन्थरे! तू ऐसे रामचन्द्रके अभिषेककी बात सुनकर क्यों दुःखी हो रही है? यह तो अभ्युदयका समय है, ऐसे समयमें तू जल क्यों रही है? इस भावी कल्याणमें तू क्यों दुःख कर रही है?

यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु॥
राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत्तदा।
मन्यते हि यथात्मानं यथा भ्रातॄंस्तु राघवः॥

(वा० रा० २।८।१८-१९)

'मुझे भरत जितना प्यारा है, राम उससे कहीं अधिक प्यारे हैं; क्योंकि राम मेरी सेवा कौसल्यासे भी अधिक करते हैं, रामको यदि राज्य मिलता है तो वह

भरतको ही मिलता है, ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि राम सब भाइयोंको अपने ही समान समझते हैं।'

इसपर जब मन्थरा महाराज दशरथकी निन्दा कर कैकेयीको फिर उभाड़ने लगी, तब तो कैकेयीने उसको बड़ी बुरी तरह फटकार दिया—

ईदृशी यदि रामे च बुद्धिस्तव समागता।
जिह्वायाश्छेदनं चैव कर्तव्यं तव पापिनि॥
पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी॥

इस प्रसंगसे पता लगता है कि कैकेयी श्रीरामको कितना अधिक प्यार करती थी और उसे रामके राज्याभिषेकमें कितना बड़ा सुख था! इसके बाद मन्थराके पुनः कहा-सुनी करनेपर कैकेयीके द्वारा जो कुछ कार्य हुआ, उसे यहाँ लिखनेकी आवश्यकता नहीं। उसी कुकार्यके लिये तो कैकेयी आजतक पापिनी और अनर्थकी मूलकारणरूपा कहलाती है। परन्तु विचार करनेकी बात है कि रामको इतना चाहनेवाली, कुलप्रथा और कुलकी रक्षाका हमेशा फिक्र रखनेवाली, परम सुशीला कैकेयीने राज्यलोभसे ऐसा अनर्थ क्यों किया? जो थोड़ी देर पहले रामको भरतसे अधिक प्रिय बतलाकर उनके राज्याभिषेकके सुसंवादपर दिव्याभरण पुरस्कार देती थी और राम तथा दशरथकी निन्दा करनेपर, भरतको राज्य देनेकी प्रतिज्ञा जाननेपर भी मन्थराको *'घरफोरी'* कहकर उसकी जीभ निकलवाना चाहती थी, वही जरा-सी देरमें इतनी कैसे बदल जाती है कि वह रामको चौदह सालके लिये वनके दुःख सहन करनेको भेज देती है और भरतके शील-स्वभावको जानती हुई भी उसके लिये राज्यका वरदान चाहती है?

इसमें रहस्य है। वह रहस्य यह है कि कैकेयीका जन्म भगवान् श्रीरामकी लीलामें प्रधान कार्य करनेके लिये ही हुआ था। कैकेयी भगवान् श्रीरामको परब्रह्म परमात्मा समझती थी और श्रीरामके लीलाकार्यमें सहायक बननेके लिये उसने श्रीरामकी रुचिके अनुसार यह जहरकी घूँट पीयी थी। यदि कैकेयी श्रीरामको वन भिजवानेमें कारण न होती तो श्रीरामका लीलाकार्य सम्पन्न ही न होता। न सीताका हरण होता और न राक्षसराज रावण अपनी सेनासहित मरता। रामने अवतार धारण किया था 'दुष्कृतोंका विनाश करके साधुओंका परित्राण करनेके लिये।' दुष्टोंके विनाशके लिये हेतुकी आवश्यकता थी। बिना अपराध मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम किसीपर आक्रमण करने क्यों जाते? आजकलके राज्यलोभी लोगोंकी भाँति वे जबरदस्ती परस्वापहरण करना तो चाहते ही नहीं थे। मर्यादाकी रक्षा करके ही सारा काम करना था। रावणको मारनेका कार्य भी दयाको लिये हुए था, मारकर ही उसका उद्धार करना था। दुष्ट कार्य करनेवालोंका वध करके ही साधु और दुष्टोंका—दोनोंका परित्राण करना था। साधुओंका दुष्टोंसे बचाकर सदुपदेशसे और दुष्टोंका कालमूर्ति होकर मृत्युरूपसे—एक ही वारसे दो शिकार करने थे। पर इस कार्यके लिये भी कारण चाहिये, वह कारण था—सीताहरण। इसके सिवा अनेक शाप-वरदानोंको भी सच्चा करना था, पहलेके हेतुओंकी मर्यादा रखनी थी, परन्तु वन गये बिना सीताहरण होता कैसे? राज्याभिषेक हो जाता तो वन जानेका कोई कारण नहीं रह जाता। महाराज दशरथकी मृत्युका समय समीप आ पहुँचा था। उसके लिये भी किसी निमित्तकी रचना करनी थी। अतएव इस निमित्तके लिये देवी कैकेयीका चुनाव किया गया और महाराज दशरथकी मृत्यु एवं रावणका वध—इन दोनों कार्योंके लिये कैकेयीके द्वारा राम-वनवासकी व्यवस्था करायी गयी!

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

'भगवान् सबके हृदयमें स्थित हुए समस्त भूतोंको मायासे यन्त्रारूढकी तरह घुमाते हैं।' इसी गीतावाक्यके अनुसार सबके नियन्ता भगवान् श्रीरामकी ही प्रेरणासे देवताओंके द्वारा प्रेरित होकर जब सरस्वती देवी कैकेयीकी बुद्धि फेर गयी[१] और जब उसका पूरा असर हो गया, ***(भावी बस प्रतीति उर आई)*** तब भगवदिच्छानुसार बरतनेवाली कैकेयी भगवान्की मायावश ऐसा कार्य कर बैठी,[२] जो अत्यन्त क्रूर होनेपर भी भगवान्की लीलाकी सम्पूर्णताके लिये अत्यन्त आवश्यक था।

१-देवताओंने सरस्वतीको यह कहकर भेजा था कि—
मंथरां प्रविशस्वादौ कैकेयीं च ततः परम्॥
ततो विघ्ने समुत्पन्ने पुनरेहि दिवं शुभे।
(अ० रा० २।२।४५-४६)

'पहले मन्थरामें प्रवेश करके फिर कैकेयीकी बुद्धिमें प्रवेश करना और रामके अभिषेकमें विघ्न करके वापस लौट आना।'

२-कैकेयीके ऐसा करनेका एक कारण यह भी बतलाया जाता है कि कैकेयी जब लड़कपनमें अपने पिताके घर थी, तब वहाँ एक दिन एक कुरूप ब्राह्मणको आया देखकर कैकेयीने उसकी 'दिल्लगी' उड़ायी थी और निन्दा की थी। इससे क्रुद्ध होकर उस तपस्वी

अब प्रश्न यह है कि 'जब कैकेयी भगवान्‌की परम भक्त थी, प्रभुकी इस आभ्यन्तरिक गुह्य लीलाके अतिरिक्त प्रकाश्यमें भी श्रीरामसे अत्यन्त प्यार करती थी, राज्यमें और परिवारमें उसकी बड़ी सुख्याति थी, सारा कुटुम्ब कैकेयीसे खुश था, फिर भगवान्‌ने उसीके द्वारा यह भीषण कार्य कराकर उसे कुटुम्बियों और अवधवासियोंके द्वारा तिरस्कृत, पुत्रद्वारा अपमानित और इतिहासमें सदाके लिये लोकनिन्दित क्यों बनाया? जब भगवान् ही सबके प्रेरक हैं, तो साध्वी सरला कैकेयीके मनमें सरस्वतीके द्वारा ऐसी प्रेरणा ही क्यों करवायी, जिससे उसका जीवन सदाके लिये दु:खी और नाम सदाके लिये बदनाम हो गया?' इसीमें तो रहस्य है। भगवान् श्रीराम साक्षात् सच्चिदानन्द परमात्मा थे, कैकेयी उनकी परम अनुरागिणी सेविका थी। जो सबसे गुह्य और कठिन कार्य होता है उसको सबके सामने न तो प्रकाशित ही किया जा सकता है और न हर कोई उसे करनेमें ही समर्थ होता है। वह कार्य तो किसी अत्यन्त कठोरकर्मी घनिष्ठ और परम प्रेमीके द्वारा ही करवाया जाता है। खास करके जिस कार्यमें कर्ताकी बदनामी हो, ऐसे कार्यके लिये तो उसीको चुना जाता है, जो अत्यन्त ही अन्तरंग हो। रामका लोकापवाद मिटानेके लिये श्रीसीताजी वनवास स्वीकार करती हुई सन्देशा कहलाती हैं—'मैं जानती हूँ कि मेरी शुद्धतामें आपको सन्देह नहीं है, केवल आप लोकापवादके भयसे मुझे त्याग रहे हैं। तथापि मेरे तो आप ही परमगति हैं। आपका लोकापवाद दूर हो, मुझे अपने शरीरके लिये कुछ भी शोक नहीं है।' सीताजी यहाँ 'रामकाज' के लिये कष्ट सहती हैं; परन्तु उनकी बदनामी नहीं होती, प्रशंसा होती है। उनके पातिव्रतकी आजतक पूजा होती है; परन्तु कैकेयीका कार्य इससे अत्यन्त महान् है। उसे तो 'रामकाज' के लिये रामविरोधी मशहूर होना पड़ेगा। **'यावच्चन्द्रदिवाकरौ'** गालियाँ सहनी पड़ेंगी। पापिनी, कलंकिनी, कुलघातिनीकी उपाधियाँ ग्रहण करनी पड़ेंगी, वैधव्यका दु:ख स्वीकारकर पुत्र और नगरनिवासियोंद्वारा तिरस्कृत होना पड़ेगा। तथापि 'रामकाज' जरूर करना पड़ेगा। यही रामकी इच्छा है और इस 'रामकाज' के लिये रामने कैकेयीको ही प्रधान पात्र चुना है। इसीसे यह कलंकका चिर टीका उसीके सिर पोता गया है। यह इसीलिये कि वह परब्रह्म श्रीरामकी परम अन्तरंग प्रेमपात्री है, वह श्रीरामकी लीलामें सहायिका है, उसे बदनामी-खुशनामीसे कोई काम नहीं, उसे तो सब कुछ सहकर भी 'रामकाज' करना है। रामरूपी सूत्रधार जो कुछ भी पार्ट दें, उनके नाटककी सांगताके लिये उनके आज्ञानुसार इसे तो वही खेल खेलना है, चाहे वह कितना ही क्रूर क्यों न हो। कैकेयी अपना पार्ट बड़ा अच्छा खेलती है। 'राम' अपने काजके लिये सीता और लक्ष्मणको लेकर खुशी-खुशी वनके लिये विदा होते हैं। कैकेयी इस समय पार्ट खेल रही थी, इसलिये उसको उस सूत्रधारसे—नाटकके स्वामीसे—जिसके इंगितसे जगन्नाटकका प्रत्येक परदा पड़ रहा है और उसमें प्रत्येक क्रिया सुचारुरूपसे हो रही है—एकान्तमें मिलनेका अवसर नहीं मिलता। इसीलिये वह भरतके साथ वन जाती है और वहाँ श्रीरामसे—नाटकके स्वामीसे एकान्तमें मिलकर अपने पार्टके लिये पूछती है और साधारण स्त्रीकी भाँति लीलासे ही लीलामयसे उनको दु:ख पहुँचानेके लिये क्षमा चाहती है, परन्तु लीलामय भेद खोलकर साफ कह देते हैं कि 'यह तो मेरा ही कार्य था, मेरी ही इच्छासे, मेरी मायासे हुआ था, तुम तो निमित्तमात्र थी, सुखसे भजन करो और मुक्त हो जाओ।' वहाँका प्रसंग इस प्रकार है—जब भरत श्रीरामको लौटा ले जानेका बहुत आग्रह करते हैं, किसी प्रकार नहीं मानते, तब भगवान् श्रीरामका रहस्य जाननेवाले मुनि वसिष्ठ श्रीरामके संकेतसे भरतको अलग ले जाकर एकान्तमें समझाते हैं—'पुत्र! आज मैं तुझे एक गुप्त रहस्य सुना रहा हूँ। श्रीराम साक्षात् नारायण हैं, पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इनसे रावण-वधके लिये प्रार्थना की थी, इसीसे इन्होंने दशरथके यहाँ पुत्ररूपसे अवतार लिया है। श्रीसीताजी साक्षात् योगमाया हैं। श्रीलक्ष्मण शेषके अवतार हैं, जो सदा श्रीरामके साथ उनकी सेवामें लगे रहते हैं। श्रीरामको रावणका वध करना है, इससे वे जरूर वनमें रहेंगे। तेरी माताका कोई दोष नहीं है—

कैकेय्या वरदानादि यद्यन्निष्ठुरभाषणम्॥
सर्वं देवकृतं नोचेदेवं सा भाषयेत्कथम्।
तस्मात्त्यजाग्रहं तात रामस्य विनिवर्तने॥

(अ० रा० २। ९। ४५-४६)

'कैकेयीने जो वरदान माँगे और निष्ठुर वचन कहे थे, सो सब देवका कार्य था ('रामकाज' था); नहीं तो

ब्राह्मणने कैकेयीको यह शाप दिया था कि 'तू अपने रूपके अभिमानसे अंधी होकर मेरे कुरूप वदनकी निन्दा करती है, इसलिये तू भी कुरूपा स्त्रीकी बातोंमें आकर ऐसा कर्म कर बैठेगी जिससे जगत्‌में तेरी बड़ी भारी नीच निन्दा होगी!'

भला, कैकेयी कभी ऐसा कह सकती? अतएव तुम रामको अयोध्या लौटा ले चलनेका आग्रह छोड़ दो।'

रास्तेमें भरद्वाजमुनिने भी संकेतसे कहा था—

न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया।
रामप्रव्राजनं ह्येतत्सुखोदर्कं भविष्यति॥
देवानां दानवानां च ऋषीणां भावितात्मनाम्।
हितमेव भविष्यद्धि रामप्रव्राजनादिह॥

(वा० रा० २। ९२। ३०-३१)

'हे भरत! तू माता कैकेयीपर दोषारोपण मत कर। रामका वनवास समस्त देव, दानव और ऋषियोंके परम हित और परम सुखका कारण होगा।' अब श्रीवसिष्ठजीसे स्पष्ट परिचय प्राप्तकर भरत समझ जाते हैं और श्रीरामकी चरण-पादुका सादर लेकर अयोध्या लौटनेकी तैयारी करते हैं। इधर कैकेयीजी एकान्तमें श्रीरामके समीप जाकर आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहाती हुई व्याकुल हृदयसे—

प्राञ्जलिः प्राह हे राम तव राज्यविघातनम्॥
कृतं मया दुष्टधिया मायामोहितचेतसा।
क्षमस्व मम दौरात्म्यं क्षमासारा हि साधवः॥
त्वं साक्षाद्विष्णुरव्यक्तः परमात्मा सनातनः।
मायामानुषरूपेण मोहयस्यखिलं जगत्।
त्वयैव प्रेरितो लोकः कुरुते साध्वसाधु वा॥
त्वदधीनमिदं विश्वमस्वतन्त्रं करोति किम्।
यथा कृत्रिमनर्तक्यो नृत्यन्ति कुहकेच्छया॥
त्वदधीना तथा माया नर्तकी बहुरूपिणी।
त्वयैव प्रेरिताहं च देवकार्यं करिष्यता॥
पाहि विश्वेश्वरानन्त जगन्नाथ नमोऽस्तु ते।
छिन्धि स्नेहमयं पाशं पुत्रवित्तादिगोचरम्॥
त्वज्ज्ञानानलखड्गेन त्वामहं शरणं गता।

(अ० रा० २। ९। ५५—५९, ६१-६२)

—हाथ जोड़कर बोली—'हे श्रीराम! तुम्हारे राज्याभिषेकमें मैंने विघ्न किया था। उस समय मेरी बुद्धि देवताओंने बिगाड़ दी थी और मेरा चित्त तुम्हारी मायासे मोहित हो गया था। अतएव मेरी इस दुष्टताको तुम क्षमा करो; क्योंकि साधु क्षमाशील हुआ करते हैं। फिर तुम तो साक्षात् विष्णु हो। इन्द्रियोंसे अव्यक्त सनातन परमात्मा हो, मायासे मनुष्यरूपधारी होकर समस्त विश्वको मोहित कर रहे हो। तुम्हींसे प्रेरित होकर लोग साधु-असाधु कर्म करते हैं। यह सारा विश्व तुम्हारे अधीन है, अस्वतन्त्र है, अपनी इच्छासे कुछ भी नहीं कर सकता। जैसे कठपुतलियाँ नचानेवालेके इच्छानुसार ही नाचती हैं, वैसे ही यह बहुरूपधारिणी नर्तकी माया तुम्हारे ही अधीन है। तुम्हें देवताओंका कार्य करना था, अतएव तुमने ही ऐसा करनेके लिये मुझे प्रेरणा की। हे विश्वेश्वर! हे अनन्त! हे जगन्नाथ! मेरी रक्षा करो। मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ। तुम अपनी तत्त्वज्ञानरूपी निर्मल तीक्ष्ण धार-तलवारसे मेरी पुत्र-वित्तादि विषयोंमें स्नेहरूपी फाँसीको काट दो। मैं तुम्हारे शरण हूँ।'

कैकेयीके स्पष्ट और सरल वचन सुनकर भगवान्‌ने हँसते हुए कहा—

यदाह मां महाभागे नानृतं सत्यमेव तत्।
मयैव प्रेरिता वाणी तव वक्त्राद्विनिर्गता॥
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थमत्र दोषः कुतस्तव।
गच्छ त्वं हृदि मां नित्यं भावयन्ती दिवानिशम्॥
सर्वत्र विगतस्नेहा मद्भक्त्या मोक्ष्यसेऽचिरात्।
अहं सर्वत्र समदृग् द्वेष्यो वा प्रिय एव वा॥
नास्ति मे कल्पकस्येव भजतोऽनुभजाम्यहम्।
मन्मायामोहितधियो मामम्ब मनुजाकृतिम्॥
सुखदुःखाद्यनुगतं जानन्ति न तु तत्त्वतः।
दिष्ट्या मद्गोचरं ज्ञानमुत्पन्नं ते भवापहम्॥
स्मरन्ती तिष्ठ भवने लिप्यसे न च कर्मभिः।

(अ० रा० २। ९। ६३—६८)

'हे महाभागे! तुम जो कुछ कहती हो सो सत्य है, इसमें किंचित् भी मिथ्या नहीं। देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये मेरी ही प्रेरणासे उस समय तुम्हारे मुखसे वैसे वचन निकले थे। इसमें तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं। (तुमने तो मेरा ही काम किया है।) अब तुम जाओ और हृदयमें सदा मेरा ध्यान करती रहो। तुम्हारा स्नेहपाश सब ओरसे छूट जायगा और मेरी इस भक्तिके कारण तुम शीघ्र ही मुक्त हो जाओगी। मैं सर्वत्र समदृष्टि हूँ। मेरे न तो कोई द्वेष्य है और न प्रिय। मुझे जो भजता है, मैं भी उसको भजता हूँ। परन्तु हे माता! जिनकी बुद्धि मेरी मायासे मोहित है, वे मुझको तत्त्वसे न जानकर सुख-दु:खोंका भोक्ता साधारण मनुष्य मानते हैं। यह बड़े सौभाग्यका विषय है कि तुम्हारे हृदयमें मेरा यह भव-नाशक तत्त्वज्ञान हो गया है। अपने घरमें रहकर मेरा स्मरण करती रहो। तुम कभी कर्मोंसे लिप्त नहीं होओगी।'

भगवान्‌के इन वचनोंसे कैकेयीकी स्थितिका पता लगता है। भगवान्‌के कथनका सार यही है कि तुम 'महाभाग्यवती' हो, लोग चाहे तुम्हें अभागिनी मानते रहें, तुम निर्दोष हो, लोग चाहे तुम्हें दोषी समझें। तुम्हारे

द्वारा तो यह कार्य मैंने ही करवाया था। जिन लोगोंकी बुद्धि मायामोहित है, वही मुझको मामूली आदमी समझते हैं, तुम्हारे हृदयमें तो मेरा तत्त्वज्ञान है, तुम धन्य हो!

भगवान् श्रीरामके इन वचनोंको सुनकर कैकेयी आनन्द और आश्चर्यपूर्ण हृदयसे सैकड़ों बार साष्टांग प्रणाम और प्रदक्षिणा करके सानन्द भरतके साथ अयोध्या लौट गयी।

उपर्युक्त स्पष्ट वर्णनसे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि कैकेयीने जान-बूझकर स्वार्थबुद्धिसे कोई अनर्थ नहीं किया था। उसने जो कुछ किया सो श्रीरामकी प्रेरणासे 'रामकाज' के लिये! इस विवेचनसे यह प्रमाणित हो जाता है कि कैकेयी बहुत ही उच्च कोटिकी महिला थी। वह सरल, स्वार्थहीन, प्रेममय, स्नेहवात्सल्ययुक्त, धर्मपरायणा, बुद्धिमती, आदर्श पतिव्रता, निर्भय, वीरांगना होनेके साथ ही भगवान् श्रीरामकी अनन्यभक्त थी। उसकी जो कुछ बदनामी हुई और हो रही है, सो सब श्रीरामकी अन्तरंग प्रीतिके निदर्शनरूप ही है। जिस देवीने जगत्के आधार, प्रेमके समुद्र, अनन्य रामभक्त भरतको जन्म दिया, वह देवी कदापि तिरस्कारके योग्य नहीं हो सकती, ऐसी प्रातःस्मरणीया देवीके चरणोंमें बारम्बार अनन्त प्रणाम है।

सती-महिमा

यथा गंगावगाहेन शरीरं पावनं भवेत्।
तथा पतिव्रतादृष्ट्या शुभया पावनं भवेत्॥

(का० ख० अ० ३।७०)

एक बार देवताओंने काशीनिवासी अगस्त्य मुनिके पास जानेका निश्चय किया और तदनुसार खास-खास देवताओंका एक दल देवगुरु बृहस्पतिकी अध्यक्षतामें चला। देवताओंने ऋषि अगस्त्यकी पर्णकुटीके पास पहुँचकर देखा कि हवनके धूएँकी मीठी सुगन्धसे सब दिशाएँ भर रही हैं। वेदाध्यायी विद्यार्थी बैठे वेदके सस्वर गानसे वन-प्रदेशको मुखरित कर रहे हैं, छोटे-छोटे हरिणोंके बच्चे ऋषि-कन्याओंके साथ निडर होकर खेल रहे हैं। देवताओंने अगस्त्यजीकी कुटियाके आगे पतिव्राताशिरोमणि अगस्त्यपत्नी सती लोपामुद्राके चरण-चिह्न देखकर उनको प्रणाम किया। फिर तपोमूर्ति अगस्त्यको देखकर सबने जय-जयकारकी ध्वनि की। अगस्त्यने उठकर यथोचित आदर-सत्कार कर सबको यथायोग्य आसन दिये और उनसे आनेका कारण पूछा। देवताओंकी ओरसे बृहस्पतिजी कहने लगे—

हे महाभाग अगस्त्य! देवताओंके आनेका कारण मैं सुनाता हूँ। मुनिवर! आप धन्य हैं, आप कृतकृत्य हैं। आप तपकी श्री और ब्रह्मके तेजसे सम्पन्न हैं, आप उदार और मनस्वी हैं और सबसे अधिक महत्त्वकी बात यह है कि आपके घरमें कल्याणी पतिव्रता लोपामुद्रा-सरीखी सती देवी हैं। यह लोपामुद्रा अरुन्धती, सावित्री, अनसूया, शाण्डिल्या, सती, लक्ष्मी, शतरूपा, मेनका, सुनीति, संज्ञा और स्वाहा आदि पतिव्रताओंमें सबसे श्रेष्ठ समझी जाती हैं। यह आपके भोजन करनेके बाद भोजन करती हैं, आपके सोनेपर सोती हैं और आपसे पहले उठती हैं। आप जब किसी कामसे बाहर जाते हैं तब लोपामुद्रा कोई भी गहना नहीं पहनतीं। किसी पर-पुरुषका तो वह नाम भी नहीं लेतीं। आप कभी दो बात कह देते हैं तो भी वह सामने नहीं बोलतीं, आपके तकलीफ देनेपर भी उनकी प्रसन्नतामें कोई बाधा नहीं आ सकती, आप किसी कामके लिये उनसे कहनेमें चाहे देर कर दें, पर वह उसे करनेमें तनिक भी देर नहीं करतीं, आपके पुकारते ही सारे कामोंको छोड़कर दौड़ी आती हैं और पूछती हैं—'नाथ! क्या आज्ञा है? सुनाकर कृतार्थ कीजिये।' लोपामुद्रा दरवाजेपर बहुत देरतक खड़ी नहीं रहतीं। न दरवाजेमें वह बैठती हैं, आपकी आज्ञा बिना किसीको कुछ भी नहीं देतीं। आपके बिना कहे ही पूजाकी सारी सामग्री इकट्ठी कर देती हैं।

जल, कुश, पत्र, पुष्प और चावल आदि जब जिस चीजकी आपको आवश्यकता होती है, वह बड़ी प्रसन्नताके साथ पहलेसे उसे तैयार रखती हैं। आपके जूठे अन्न-फलोंका सेवन करती हैं। आपकी दी हुई चीजको महाप्रसाद समझकर ग्रहण करती हैं। देवता, पितर, अतिथि, सेवक, गौ और भिखारियोंको दिये बिना वह भोजन नहीं करतीं। घरके सारे सामानको अच्छी तरह साफ-सुथरा और सजाकर रखती हैं। काम-काजमें बड़ी चतुर और बहुत कम खर्च लगानेवाली हैं। आपकी आज्ञा बिना कभी व्रत-उपवासादि नहीं करतीं। सभा और उत्सवोंसे दूर रहती हैं। न आपके बिना तीर्थ-यात्रा करती हैं और न किसीकी विवाह-शादी देखने जाती हैं। जब आप सुखसे सोते या अपनी मौजमें बैठे होते हैं अथवा अपने मनोऽनुकूल काममें लगे रहते हैं, उस समय वह अपने जरूरी कामकी बात

भी आपके सामने नहीं छेड़तीं। रजस्वला होनेपर तीन दिनतक वह आपसे इतनी अलग रहती हैं कि न तो आप उनका चेहरा देख पाते हैं और न उनके मुँहका कोई शब्द ही सुन सकते हैं। तीन दिनोंके बाद स्नान करके वह और किसीका मुँह न देखकर पहले आपका मुख दर्शन करती हैं। यदि कभी आप घरमें नहीं होते तो वह मन-ही-मन आपका ध्यान करती हुई सूर्यभगवान्‌का दर्शन कर लेती हैं। पतिव्रता लोपामुद्रा पतिकी दीर्घायुके लिये हल्दी, रोली, काजल, पान, सुपारी, मांगलिक गहने, केशोंका कबरी-बन्धन और हाथ-कानके गहने यानी चूड़ी और कर्णफूलका त्याग नहीं करतीं। लोपामुद्रा धोबिन, बकवाद करनेवाली, संन्यासिनी और बुरे लक्षणवाली स्त्रियोंको कभी धर्मबहिन नहीं बनातीं। पतिसे द्वेष रखनेवाली स्त्रियोंसे तो कभी बाततक नहीं करतीं। अकेली नहीं रहतीं और नंगी होकर कभी नहातीं नहीं। ऊखल, मूसल, झाड़ू चक्की और देहलीपर कभी बैठतीं नहीं। जिन-जिन भले कामोंमें आपकी रुचि होती है वह भी उन्हींको सदा अच्छा समझती हैं।

पतिके वचनोंको न टालना ही स्त्रियोंका व्रत, परमधर्म और देवपूजा है। कैसे भी पतिकी प्रतिकूलता स्त्रीको नहीं करनी चाहिये। स्त्रीको स्वामीकी प्रसन्नतामें प्रसन्न और उदासीमें उदास होना चाहिये। सती स्त्री सम्पद्-विपद् दोनोंमें स्वामीका बराबर साथ देती है। पतिव्रता स्त्रीको चाहिये कि वह घी, तेल, नमक आदि चुक जानेपर भी पतिसे उनके लिये तकाजा नहीं करे और विशेष परिश्रमके काममें पतिको नहीं लगावे। तीर्थ नहानेकी इच्छा होनेपर पतिका चरणोदक पी ले। पतिको शिव और विष्णुकी अपेक्षा भी ऊँचा मानना चाहिये। जो स्त्री पतिकी आज्ञा बिना व्रत-उपवासादि करती है वह पतिकी आयु घटाती है और मरनेपर नरकमें जाती है। जो स्त्री क्रोधमें आकर पतिको बदलेमें जवाब देती है वह दूसरे जन्ममें गाँवकी कुतिया और वनकी सियारी होती है। स्त्रीको दृढ़ संकल्पके साथ सदा पतिके चरणोंकी सेवा करके भोजन करना चाहिये। ऊँचे आसनपर बैठना और बिना मतलब पराये घरोंमें जाना नहीं चाहिये। शरमके शब्द कभी नहीं बोलने चाहिये। किसीकी निन्दा या भूलकर भी किसीसे कलह नहीं करना चाहिये। बड़ोंके सामने ऊँची आवाजसे बोलना और हँसना उचित नहीं। जो दुष्ट बुद्धिवाली स्त्री स्वामीको त्यागकर पशुवृत्ति अवलम्बन करती है वह दूसरे जन्ममें वृक्षोंमें रहनेवाली उलूकी होती है। जो स्त्री स्वामीको बदलेमें कष्ट देना चाहती है वह दूसरे जन्ममें बाघिनी या बिल्ली होती है। जो स्त्री पर-पुरुषको बुरी नजरसे देखती है वह चील होती है और जो चटोरपनके कारण स्वामीसे छिपाकर स्वयं मिष्टान्न खाती है वह शूकरी या बागल होती है। जो स्त्री वचनोंसे पतिका तिरस्कार करती है वह गूँगी होती है और जो सौतोंसे डाह करती है वह बार-बार अभागिनी होती है। जो पतिसे नजर छिपाकर पर-पुरुषको देखती है वह जन्मान्तरमें कानी, कुरूपा और कुमुखी होती है। (यही व्यवस्था पुरुषोंको स्त्रियोंके साथ दुर्व्यवहार करनेपर अपने लिये समझनी चाहिये।) जो स्त्री पतिको बाहरसे आया हुआ देखकर शीघ्र ही जल, आसनादि देती है और गर्मीसे व्याकुल पतिको हवा करके मीठी वाणी और चरण-सेवासे उसे प्रसन्न करती है वह तीनों लोकोंको प्रिय होती है। पिता, भाई, पुत्र आदि परिमित सुख देनेवाले हैं; परन्तु स्वामी तो अपार सुखका दाता है। स्त्रीको चाहिये कि वह सदा पतिकी पूजा किया करे। स्त्रियोंके लिये केवल पति ही देवता, गुरु, धर्म, तीर्थ और व्रत है। सती स्त्रीकी बड़ी महिमा है। यमदूत सतीको देखते ही उसके पापी पतिको भी छोड़कर भाग जाते हैं। यमदूत कहते हैं कि 'हम पतिव्रताको आते देखकर जितने डरते हैं उतने अग्नि और बिजलीसे भी नहीं डरते।' पतिव्रताके तेजसे सूर्य भी तपने लगता है, अग्नि भी जलने लगता है, उसके तेजके सामने सब काँपने लगते हैं। मनुष्यके शरीरमें जितने रोम हैं, उतने दस हजार करोड़ वर्षतक पतिव्रता स्त्री अपने पतिके साथ देवलोकमें सुख भोगती है।

धन्या सा जननी लोके धन्योऽसौ जनकः पुनः।
धन्यः स च पतिः श्रीमान् येषां गेहे पतिव्रता॥
पितृवंश्या मातृवंश्याः पतिवंश्यास्त्रयस्त्रयः।
पतिव्रतायाः पुण्येन स्वर्गसौख्यानि भुंजते॥

'वे माता-पिता धन्य हैं जिनके घरमें पतिव्रता कन्या उत्पन्न हुई है और वह श्रीमान् पति भी धन्य है जिसके घरमें पतिव्रता पत्नी है। पतिव्रताके पुण्यसे उसके नैहर (पीहर), ननिहाल और अपने पतिके वंशकी तीन-तीन पीढ़ियाँ स्वर्गसुखको भोगती हैं।'

इसके विपरीत दुराचारिणी स्त्री अपने चरित्रदोषसे पितृकुल, मातृकुल और पतिकुल तीनोंको नीचे गिरा देती है और स्वयं भी इस लोक और परलोकमें दुःख भोगती है। जिस-जिस जगह पतिव्रताका चरण टिकता है वहींकी भूमि यह समझती है कि 'आज मैं परम पवित्र हो गयी। मुझे अब कोई भय नहीं रहा।' सूर्य,

चन्द्रमा और वायु डरते-डरते केवल अपनेको पवित्र करनेके लिये पतिव्रताका स्पर्श करते हैं। जल तो सदा ही पतिव्रताका स्पर्श करना चाहता है। जल समझता है कि 'पतिव्रताके स्पर्शसे आज मेरी जडता दूर हो गयी, आज मैं दूसरोंको पवित्र करनेमें समर्थ हो गया।' सुन्दरताका घमंड रखनेवाली स्त्रियाँ घर-घरमें मिल सकती हैं; परन्तु पतिव्रता स्त्री तो भगवान्‌की भक्तिसे ही मिलती है। गृहस्थ, सुख, धर्म और वंशवृद्धिका मूल भार्या ही है। भार्याकी सहायतासे ही लोक-परलोक सुधरता है। भार्याहीन पुरुष देव और पितृकार्य तथा अतिथि-सत्कारका भी अधिकारी नहीं होता। जिसके घरमें पतिव्रता स्त्री विद्यमान है वही यथार्थ गृहस्थ है। अपतिव्रता तो राक्षसी जराकी तरह पल-पलमें पतिको जीर्ण करती है। जैसे गंगास्नानसे शरीर पवित्र हो जाता है वैसे ही पतिव्रता स्त्रीकी शुभदृष्टिसे भी होता है।

जो स्त्री किसी कारणसे पतिके मरनेपर उसके साथ अपने प्राण त्याग न कर सके, उसे पवित्र भावसे अपने शीलकी रक्षा करनी चाहिये। आचरणभ्रष्ट होनेसे उसकी तो नीची गति होती ही है; परन्तु उसके पापसे स्वर्गमें रहनेवाले उसके माता-पिता और भाइयोंको भी नीचे गिरना पड़ता है। जो स्त्री पतिके मरनेपर विधवाव्रतका पालन करती है वह परलोकमें पुन: अपने स्वामीको पाकर सुख भोगती है। विधवाको बाल नहीं बाँधने चाहिये। बाल बाँधनेसे पतिका परलोकमें बन्धन होता है। विधवाको सिर मुँडवा लेना चाहिये, सादा भोजन करना चाहिये, पलंगपर कभी न सोकर जमीनपर सोना चाहिये, पलंगपर सोनेवाली स्त्री पतिको नीचे गिराती है। शरीरपर कभी उबटन या तैल, अतर-फुलेल नहीं लगाना चाहिये। प्रतिदिन पति, ससुर और दादाससुरके नाम-गोत्रका उच्चारणकर कुश और तिलोंके साथ जलसे तर्पण करना चाहिये, विधवा स्त्रीको पति समझकर विष्णुभगवान्‌का नित्य पूजन करना चाहिये और विष्णुरूप पतिका ही सदा ध्यान करना चाहिये। अपने और अपने पतिके मन भानेवाली चीजें भगवान्‌के नामसे दान करनी चाहिये। घरमें हो तो दान देना चाहिये। बैलकी सवारीपर कभी चढ़ना नहीं चाहिये। आँगी, चोली या रंगीन कपड़ा नहीं पहनना चाहिये, आँगी, चोलीके बदलेमें ऐसा कपड़ा पहनना चाहिये जिससे सारा बदन ढका रहे। ऐसे आचरणवाली विधवा स्त्री सदा ही मंगलमयी है। इस प्रकार धर्ममें तत्पर विधवाओंको कभी दु:ख भोगना नहीं पड़ता और अन्तमें वे पतिलोकको जाती हैं। पतिव्रता स्त्री गंगाके समान है, वह साक्षात् हरगौरीके तुल्य है। पण्डितोंको चाहिये कि वे सदा ऐसी स्त्रियोंकी पूजा किया करें।

इतना कहकर महामति बृहस्पतिजी लोपामुद्राके प्रति प्रणाम करके बोले—'हे पति-चरणकमलोंमें नेत्र रखनेवाली महाभागे! तुम्हारे दर्शन पाकर हम कृतार्थ हुए, आज हमें गंगास्नानका फल मिला।' इस प्रकार पतिव्रता राजकन्या महाभाग्यवती लोपामुद्राको प्रणाम करके वेदके ज्ञाता देवगुरु बृहस्पति अगस्त्य मुनिसे बोले—'हे मुने! आप प्रणव हैं तो लोपामुद्रा श्रुति हैं, ये क्षमा हैं तो आप साक्षात् तप हैं। ये सत् क्रिया हैं तो आप उसके फल हैं, ये साक्षात् पतिव्रत-तेज हैं तो आप ब्रह्मतेज हैं।'

(स्कन्दपुराणसे)

उपर्युक्त वर्णनमें देवगुरु बृहस्पतिजीने स्त्री-धर्मका जो महान् उपदेश किया है, उसीके अनुसार हिंदू-स्त्रीको अपना जीवन बनाना चाहिये।

वशीकरण

द्रौपदी-सत्यभामा-संवाद

भगवान् श्रीकृष्णकी पटरानी सत्यभामा एक समय वनमें पाण्डवोंके यहाँ अपने पतिके साथ सखी द्रौपदीसे मिलने गयीं। बहुत दिनों बाद परस्पर मिलन हुआ था। इससे दोनोंको बड़ी खुशी हुई। दोनों एक जगह बैठकर आनन्दसे अपने-अपने घरोंकी बातें करने लगीं। वनमें भी द्रौपदीको बड़ी प्रसन्न और पाँचों पतियोंद्वारा सम्मानित देखकर सत्यभामाको आश्चर्य हुआ। सत्यभामाने सोचा कि भिन्न-भिन्न प्रकृतिके पाँच पति होनेपर भी द्रौपदी सबको समानभावसे खुश किस तरह रखती है। द्रौपदीने कोई वशीकरण तो नहीं सीख रखा है। यह सोचकर उसने द्रौपदीसे कहा—'सखी! तुम लोकपालोंके समान दृढ़ शरीर महावीर पाण्डवोंके साथ कैसे बर्तती हो? वे तुमपर किसी दिन भी क्रोध नहीं करते, तुम्हारे कहनेके अनुसार ही चलते हैं और तुम्हारे मुँहकी ओर

ताका करते हैं, तुम्हारे सिवा और किसीका स्मरण भी नहीं करते। इसका वास्तविक कारण क्या है? क्या किसी व्रत, उपवास, तप, स्नान, औषध और कामशास्त्रमें कही हुई वशीकरण-विद्यासे अथवा तुम्हारी स्थिर जवानी या किसी प्रकारका जप, होम और अंजन आदि ओषधियोंसे ऐसा हो गया है? हे पांचाली! तुम मुझे ऐसा कोई सौभाग्य और यश देनेवाला प्रयोग बताओ—

'जिससे मैं रख सकूँ श्यामको अपने वशमें।'

—जिससे मैं अपने आराध्यदेव प्राणप्रिय श्रीकृष्णको निरन्तर वशमें रख सकूँ।

यशस्विनी सत्यभामाकी बात सुनकर परम पतिव्रता द्रौपदी बोली—'हे सत्यभामा! तुमने मुझे (जप, तप, मन्त्र, औषध, वशीकरण-विद्या, जवानी और अंजनादिसे पतिको वशमें करनेकी) दुराचारिणी स्त्रियोंके बर्तावकी बातें कैसे पूछीं? तुम स्वयं बुद्धिमती हो, महाराज श्रीकृष्णकी प्यारी पटरानी हो, तुम्हें ऐसी बातें पूछना उचित नहीं। मैं तुम्हारी बातोंका क्या उत्तर दूँ?

देखो, यदि कभी पति इस बातको जान लेता है कि स्त्री मुझपर मन्त्र-तन्त्र आदि चलाती है तो वह साँपवाले घरके समान उससे सदा बचता और उद्विग्न रहता है। जिसके मनमें उद्वेग होता है उसको कभी शान्ति नहीं मिलती और अशान्तको कभी सुख नहीं मिलता। हे कल्याणी! मन्त्र आदिसे पति कभी वशमें नहीं होता। शत्रुलोग ही उपायद्वारा शत्रुके नाशके लिये विष आदि दिया करते हैं। वे ही ऐसे चूर्ण दे देते हैं जिनके जीभपर रखते ही या शरीरपर लगाते ही प्राण चले जाते हैं।

कितनी ही पापिनी स्त्रियोंने पतियोंको वशमें करनेके लोभसे दवाइयाँ देकर किसीको जलोदरका रोगी, किसीको कोढ़ी, किसीको बूढ़ा, किसीको नपुंसक, किसीको जड, किसीको अंधा और किसीको बहरा बना दिया है। इस प्रकार पापियोंकी बात माननेवाली पापाचारिणी स्त्रियाँ अपने पतियोंको वश करनेमें दु:खित कर डालती हैं। स्त्रियोंको किसी प्रकारसे किसी दिन भी पतियोंका अनहित करना उचित नहीं है।

हे यशस्विनी! मैं महात्मा पाण्डवोंसे जैसा बर्ताव करती हूँ सो सब कहती हूँ। ध्यान देकर सुनो। मैं अहंकार, काम और क्रोधको त्यागकर नित्य बहुत सावधानीसे पाँचों पाण्डवों और उनकी दूसरी-दूसरी स्त्रियोंकी (मेरी सौतोंकी) सेवा करती हूँ। मैं मनको रोककर अभिमान-शून्य रहती हुई पतियोंके मनके अनुसार चलकर उन्हें प्रसन्न करती हूँ। मैं कभी बुरे वचन नहीं बोलती। देखने, चलने, बैठने और खड़ी होनेमें सदा सावधान रहती हूँ, कभी असभ्यता नहीं करती और सूर्यके समान तेजस्वी तथा चन्द्रमाके समान महारथी शत्रुनाशकारी पाण्डवोंके इशारोंको समझकर निरन्तर उनकी सेवा करती हूँ। देवता, मनुष्य, गन्धर्व, खूब सज-धजसे रहनेवाले युवा पुरुष, बड़े धनी और रूपवान् चाहे जैसा भी कोई क्यों न हो, मेरा मन किसी भी पर-पुरुषकी ओर नहीं जाता। मेरे पति जबतक स्नान, भोजन करके बैठ नहीं जाते, तबतक मैं न कभी भोजन करती हूँ और न बैठती ही हूँ। मेरे पति क्षेत्र, वन अथवा नगरमेंसे जब घर पधारते हैं, तब मैं खड़ी होकर उनका स्वागत-सम्मान करती हूँ और आसन तथा जल देकर उनका आदर करती हूँ।

मैं रोज घरके सब बर्तनोंको माँजती हूँ, सब घर भलीभाँति झाड़ू-बुहारकर साफ रखती हूँ, मधुर अन्न बनाती हूँ, ठीक समयपर सबको जिमाती हूँ, सावधानीसे घरमें सदा आगे-पीछे अन्न जमा कर रखती हूँ। बुरी स्त्रियोंके पास कभी नहीं बैठती। बोलनेमें किसीका तिरस्कार नहीं करती। किसीको झिड़ककर कड़ुए शब्द नहीं कहती। नित्य आलस्य छोड़कर पतियोंके अनुकूल रहती हूँ। मैं दिल्लगीके वक्तको छोड़कर कभी हँसती नहीं। दरवाजेपर खड़ी नहीं रहती। खुली जगह, कूड़ा फेंकनेकी जगह और बगीचोंमें जाकर अधिक कालतक नहीं ठहरती। ज्यादा हँसना और ज्यादा क्रोध करना छोड़कर मैं सदा सच बोलती हुई पतियोंकी सेवा किया करती हूँ। मुझे पतियोंको छोड़कर अकेली रहना नहीं सुहाता। जब मेरे पति कुटुम्बके किसी कामसे बाहर जाते हैं तो मैं चन्दन-पुष्पतकको त्यागकर ब्रह्मचर्यव्रत पालती हूँ।

मेरे पति जिस पदार्थको नहीं खाते, नहीं पीते और नहीं सेवन करते, उन सब पदार्थोंको मैं भी त्याग देती हूँ, उनके उपदेशके अनुसार ही चलती हूँ और उनकी इच्छानुकूल ही गहने-कपड़े पहनकर सावधानीसे उनका प्रिय और हित करनेमें लगी रहती हूँ। मेरी भली सासने कुटुम्बके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इस विषयमें मुझको जिस धर्मका उपदेश दिया था, उसको तथा भिक्षा, बलिवैश्व, श्राद्ध, पर्वके समय बननेवाले स्थालीपाक, मान्य पुरुषोंकी पूजा और सत्कार आदि जो धर्म मेरे जाननेमें आये हैं, उन सबको मैं रात-दिन सावधानीके साथ पालती हूँ और एकाग्रचित्तसे सदा विनय और नियमोंका पालन करती हुई अपने कोमल-चित्त,

सरलस्वभाव, सत्यवादी, धर्मपालक पतियोंकी सेवा करनेमें उसी प्रकार सावधान रहती हूँ जैसे क्रोधयुक्त साँपोंसे मनुष्य सावधान रहते हैं। हे कल्याणी! मेरे मतसे पतिके आश्रित रहना ही स्त्रियोंका सनातनधर्म है। पति ही स्त्रीका देवता और उसकी एकमात्र गति है। अतएव पतिका अप्रिय करना बहुत ही अनुचित है। मैं पतियोंसे पहले न कभी सोती हूँ, न भोजन करती हूँ और न उनकी इच्छाके विरुद्ध गहना-कपड़ा ही पहनती हूँ। कभी भूलकर भी अपनी सासकी निन्दा नहीं करती। सदा नियमानुसार चलती हूँ। हे सौभाग्यवती! मैं सदा प्रमादको छोड़कर चतुरतासे काममें लगी रहती और बड़ोंकी सच्चे मनसे सेवा किया करती हूँ। इसी कारण मेरे पति मेरे वशमें हो गये हैं।

हे सत्यभामा! वीरमाता, सत्य बोलनेवाली मेरी श्रेष्ठ सास कुन्तीदेवीको मैं खुद रोज अन्न, जल और वस्त्र देकर उनकी सेवा करती हूँ। मैं गहने, कपड़े और भोजनादिके सम्बन्धमें कभी सासके विरुद्ध नहीं चलती। इन सब बातोंमें उनकी सलाह लिया करती हूँ और उस पृथ्वीके समान माननीय अपनी सास पृथादेवीसे मैं कभी ऐंठकर नहीं बोलती।

मेरे पति महाराज युधिष्ठिरके महलमें पहले प्रतिदिन हजारों ब्राह्मण और हजारों स्नातक सोनेके पात्रोंमें भोजन किया करते और रहते। हजारों दासियाँ उनकी सेवामें रहतीं। दूसरे दस हजार आजन्म ब्रह्मचारियोंको सोनेके थालोंमें उत्तम-उत्तम भोजन परोसे जाते थे। वैश्वदेव होनेके अनन्तर मैं उन सब ब्राह्मणोंका नित्य अन्न, जल और वस्त्रोंसे यथायोग्य सत्कार करती थी।

महात्मा युधिष्ठिरके एक लाख नृत्य-गीतविशारदा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृता दासियाँ थीं। उन सब दासियोंके नाम, रूप और प्रत्येक कामके करने-न-करनेका मुझे सब पता रहता था और मैं ही उनके खाने-पीने और कपड़े-लत्तेकी व्यवस्था किया करती थी। महान् बुद्धिमान् महाराज युधिष्ठिरकी वे सब दासियाँ दिन-रात सोनेके थाल लिये अतिथियोंको भोजन करानेके काममें लगी रहती थीं। जब महाराज नगरमें रहते थे तब एक लाख हाथी और एक लाख घोड़े उनके साथ चलते थे, यह सब विषय धर्मराज युधिष्ठिरके राज्य करनेके समय था। मैं सबकी गिनती और व्यवस्था करती थी और सबकी बातें सुनती थी। महलोंके और बाहरके नौकर, गौ और भेड़ोंके चरानेवाले ग्वाले क्या काम करते हैं, क्या नहीं करते हैं, इसका ध्यान रखती थी। पाण्डवोंकी कितनी आमदनी और कितना खर्च है तथा कितनी बचत होती है, इसका सारा हिसाब मुझे मालूम था। हे कल्याणी! हे यशस्विनी सत्यभामा! जब भरतकुलमें श्रेष्ठ पाण्डव घर-परिवारका सारा भार मुझपर छोड़कर उपासनामें लगे रहते थे तब मैं सब तरहके आरामको छोड़कर रात-दिन दुष्ट-मनकी स्त्रियोंके न उठा सकने लायक कठिन कार्यके सारे भारको उठाये रखती। जिस समय मेरे पति उपासनादि कार्यमें तत्पर रहते उस समय वरुणदेवताके खजाने महासागरके समान असंख्य धनके खजानोंकी देखभाल मैं अकेली ही करती। इस प्रकार भूख-प्यास भुलाकर लगातार काममें लगी रहनेके कारण मुझे रात-दिनकी सुधि भी न रहती थी। मैं सबके सोनेके बाद सोती और सबके उठनेके पहले जाग उठती थी और निरन्तर सत्य व्यवहारमें लगी रहती। यही मेरा वशीकरण है। हे सत्यभामा! पतिको वशमें करनेका सबसे अच्छा महान् वशीकरण-मन्त्र मैं जानती हूँ। दुराचारिणी स्त्रियोंके दुराचारोंको मैं न तो ग्रहण ही करती हूँ और न कभी उसकी मेरे इच्छा ही होती है।'

द्रौपदीके द्वारा श्रेष्ठ धर्मकी बातें सुनकर सत्यभामा बोली—'हे द्रौपदी, मैंने तुमसे इस तरहकी बातें पूछकर जो अपराध किया है, उसे क्षमा करो। सखियोंमें परस्पर हँसीमें स्वाभाविक ही ऐसी बातें निकल जाती हैं।'

द्रौपदी फिर कहने लगी—'हे सखि! पतिका चित्त खींचनेका एक कभी खाली न जानेवाला उपाय बतलाती हूँ। इस उपायको काममें लानेसे तुम्हारे स्वामीका चित्त सब तरफसे हटकर केवल तुम्हारेमें ही लग जायगा। हे सत्यभामा! स्त्रियोंके लिये पति ही परम देवता है, पतिके समान और कोई भी देवता नहीं है। जिसके प्रसन्न होनेसे स्त्रियोंके सब मनोरथ सफल होते हैं और जिसके नाराज होनेसे सब सुख नष्ट हो जाते हैं। पतिको प्रसन्न करके ही स्त्री पुत्र, नाना प्रकारके सुख-भोग, उत्तम शय्या, सुन्दर आसन, वस्त्र, पुष्प, गन्ध, माला, स्वर्ग, पुण्यलोक और महान् कीर्तिको प्राप्त करती हैं। सुख सहजमें नहीं मिलता, पतिव्रता स्त्री पहले दुःख झेलती है तब उसे सुख मिलता है। अतएव तुम भी प्रतिदिन सच्चे प्रेमसे सुन्दर वस्त्राभूषण, भोजन, गन्ध, पुष्प आदि प्रदान कर श्रीकृष्णकी आराधना करो। जब वे यह समझ जायँगे कि मैं सत्यभामाके लिये परम प्रिय हूँ, तब वे तुम्हारे वशमें हो जायँगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतएव तुम मेरे कथनानुसार उनकी सेवा करो!

तुम्हारे स्वामी घरके दरवाजेपर आवें और उनका शब्द तुम्हें सुनायी पड़े तो तुम तुरन्त सावधान होकर घरमें खड़ी रहो और ज्यों ही वे घरमें प्रवेश करें त्यों ही पाद्य, आसन यानी पैर धोनेके लिये जल और बैठनेके लिये आसन देकर उनकी सेवा करो। हे सत्यभामा! तुम्हारे पति जब किसी कामके लिये दासीको आज्ञा दें तो तुम दासीको रोककर तुरन्त दौड़कर उस कामको अपने-आप कर दो। तुम्हारा ऐसा सद्व्यवहार देखकर श्रीकृष्ण समझेंगे कि सत्यभामा सचमुच सब प्रकारसे मेरी सेवा करती है। तुम्हारे पति तुमसे जो कुछ कहें वह गुप्त रखने लायक न हो तो भी तुम किसीसे मत कहो, क्योंकि यदि तुमसे सुनकर तुम्हारी सौत कभी उनसे वह बात कह देगी तो वह तुमसे नाराज हो जायँगे।

जो लोग तुम्हारे स्वामीके प्रेमी हैं, हितैषी हैं और सदा अनुराग रखते हैं उनको विविध प्रकारसे भोजन कराना चाहिये और जो तुम्हारे पतिके शत्रु हों, विपक्षी हों, बुराई करनेवाले हों और कपटी हों उनसे सदा बची रहो। परपुरुषोंके सामने मद और प्रमादको छोड़कर सावधान और मौन रहना चाहिये और एकान्तमें अपने कुमार साम्ब और प्रद्युम्नके साथ भी कभी न बैठना चाहिये। सत्कुलमें उत्पन्न होनेवाली पुण्यवती पतिव्रता सती स्त्रियोंके साथ मित्रता करना, परन्तु क्रूर स्वभाववाली, दूसरोंका अपमान करनेवाली, बहुत खानेवाली, चटोरी, चोरी करनेवाली, दुष्ट स्वभाववाली और चंचल चित्तवाली स्त्रियोंके साथ मित्रता (बहनेपा) कभी न करनी चाहिये।

एतद्यशस्यं भगदैवतं च स्वर्ग्यं तथा शत्रुनिबर्हणं च।
महार्हमाल्याभरणांगरागा भर्तारमाराधय पुण्यगन्धा॥

(महाभारत, वनपर्व अ० २३४)

'तुम बहुमूल्य उत्तम माला और गहनोंको धारण करके सदा स्वामीकी सेवामें लगी रहो। इस प्रकारके उत्तम आचरणोंमें लगी रहनेसे तुम्हारे शत्रुओंका नाश होगा, परम सौभाग्यकी वृद्धि होगी, स्वर्गकी प्राप्ति होगी और संसार तुम्हारे पुण्य यशकी सुगन्धसे भर जायगा।'

(महाभारतसे)

होली और उसपर हमारा कर्तव्य

इसमें कोई सन्देह नहीं कि होली हिंदुओंका बहुत पुराना त्यौहार है; परन्तु इसके प्रचलित होनेका प्रधान कारण और काल कौन-सा है इसका एकमतसे अबतक कोई निर्णय नहीं हो सका है। इसके बारेमें कई तरहकी बातें सुननेमें आती हैं, सम्भव है, सभीका कुछ-कुछ अंश मिलकर यह त्यौहार बना हो। पर आजकल जिस रूपमें यह मनाया जाता है उससे तो धर्म, देश और मनुष्यजातिको बड़ा ही नुकसान पहुँच रहा है। इस समय क्या होता है और हमें क्या करना चाहिये, यह बतलानेके पहले, होली क्या है? इसपर कुछ विचार किया जाता है। संस्कृतमें 'होलका' अधपके अन्नको कहते हैं। वैद्यकके अनुसार 'होला' स्वल्प वात है और मेद, कफ तथा थकावटको मिटाता है। होलीपर जो अधपके चने या गन्ने लाठीमें बाँधकर जलती हुई होलीकी लपटमें सेंककर खाये जाते हैं, उन्हें 'होला' कहते हैं। कहीं-कहीं अधपके नये जौकी बालें भी इसी प्रकार सेंकी जाती हैं। सम्भव है वसन्त-ऋतुमें शरीरके किसी प्राकृतिक विकारको दूर करनेके लिये होलीके अवसरपर होला चबानेकी चाल चली हो और उसीके सम्बन्धमें इसका नाम 'होलिका', 'होलाका' या 'होली' पड़ गया हो।

होलीका एक नाम है '**वासन्ती नवशस्येष्टि**।' इसका अर्थ 'वसन्तमें पैदा होनेवाले नये धानका 'यज्ञ' होता है, यह यज्ञ फाल्गुन शुक्ल १५ को किया जाता है। इसका प्रचार भी शायद इसीलिये हुआ हो कि ऋतु-परिवर्तनके प्राकृतिक विकार यज्ञके धूएँसे नष्ट होकर गाँव-गाँव और नगर-नगरमें एक साथ ही वायुकी शुद्धि हो जाय। यज्ञसे बहुत-से लाभ होते हैं। पर यज्ञधूमसे वायुकी शुद्धि होना तो प्राय: सभीको मान्य है अथवा नया धान किसी देवताको अर्पण किये बिना नहीं खाना चाहिये, इस शास्त्रोक्त हेतुको प्रत्यक्ष दिखलानेके लिये सारी जातिने एक दिन ऐसा रखा हो जिस दिन देवताओंके लिये देशभरमें नये धानसे यज्ञ किया जाय। आजकल भी होलीके दिन जिस जगह काठ-कंडे इकट्ठे करके उसमें आग लगायी जाती है, उस जगहको पहले साफ करते और पूजते हैं और सभी ग्रामवासी उसमें कुछ-न-कुछ होमते हैं, यह शायद उसी '**नवशस्येष्टि**' का बिगड़ा हुआ रूप हो। सामुदायिक यज्ञ होनेसे अब भी सभी लोग उसके लिये पहलेसे होमनेकी सामग्री घर-घरमें बनाने और आसानीसे वहाँतक ले जानेके लिये उसकी मालाएँ गूँथकर रखते हैं।

इसके अतिरिक्त इस त्यौहारके साथ ऐतिहासिक, पारमार्थिक और राष्ट्रीय तत्त्वोंका भी सम्बन्ध मालूम होता है। कहा जाता है कि भक्तराज प्रह्लादकी अग्निपरीक्षा इसी दिन हुई थी। प्रह्लादके पिता दैत्यराज हिरण्यकशिपुने अपनी बहिन 'होलका' से (जिसको भगवद्भक्तके न सतानेतक अग्निमें न जलनेका वरदान मिला हुआ था।) प्रह्लादको जला देनेके लिये कहा, होलका राक्षसी उसे गोदमें लेकर बैठ गयी, चारों तरफ आग लगा दी गयी। प्रह्लाद भगवान्‌के अनन्य भक्त थे, वे भगवान्‌का नाम रटने लगे। भगवत्कृपासे प्रह्लादके लिये अग्नि शीतल हो गयी और वरदानकी शर्तके अनुसार 'होलका' उसमें जल मरी। भक्तराज प्रह्लाद इस कठिन परीक्षामें उत्तीर्ण हुए और आकर पितासे कहने लगे—

राम नामके जापक जन हैं तीनों लोकोंमें निर्भय।
मिटते सारे ताप नामकी औषधसे पक्का निश्चय॥
नहीं मानते हो तो मेरे तनकी ओर निहारो तात।
पानी पानी हुई आग है जला नहीं किंचित् भी गात॥*

इन्हीं भक्तराज और इनकी विशुद्ध भक्तिका स्मारकरूप यह होलीका त्यौहार है। आज भी 'होलिका-दहन' के समय प्रायः सब मिलकर एक स्वरमें 'भक्तवर प्रह्लादकी जय' बोलते हैं। हिरण्यकशिपुके राजत्वकालमें अत्याचारिणी होलकाका दहन हुआ और भक्ति तथा भगवन्नामके अटल प्रतापसे दृढ़व्रत भक्त प्रह्लादकी रक्षा हुई और उन्हें भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन हुए।

इसके सिवा इस दिन सभी वर्णके लोग भेद छोड़कर परस्पर मिलते-जुलते हैं। शायद किसी जमानेमें इसी विचारसे यह त्यौहार बना हो कि सालभरके विधि-निषेधमय जीवनको अलग-अलग अपने-अपने कामोंमें बिताकर इस एक दिन सब भाई परस्पर गले लगकर प्रेम बढ़ावें। कभी भूलसे या किसी कारणसे किसीका मनोमालिन्य हो गया हो तो उसे इस आनन्दके त्यौहारमें सब एक साथ मिल-जुलकर हटा दें। असलमें एक ऐसा राष्ट्रीय उत्सव होना भी चाहिये कि जिसमें सभी लोग छोटे-बड़े और राजा-रंकका भेद भूले बिना किसी भी रुकावटके शामिल होकर परस्पर प्रेमालिंगन कर सकें। यही होलीका ऐतिहासिक, पारमार्थिक और राष्ट्रीय तत्त्व मालूम होता है।

जो कुछ भी हो, इन सारी बातोंपर विचार करनेसे यही अनुमान होता है कि यह त्यौहार असलमें मनुष्यजातिकी भलाईके लिये ही चलाया गया था, परन्तु आजकल इसका रूप बहुत ही बिगड़ गया है। इस समय अधिकांश लोग इसको जिस रूपमें मनाते हैं उससे तो सिवा पाप बढ़ने और अधोगति होनेके और कोई अच्छा फल होता नहीं दीखता। आजकल क्या होता है?

कई दिनों पहलेसे स्त्रियाँ गंदे गीत गाने लगती हैं, पुरुष बेशरम होकर गंदे अश्लील कबीर, धमाल, रसिया और फाग गाते हैं। स्त्रियोंको देखकर बुरे-बुरे इशारे करते और आवाजें लगाते हैं। डफ बजाकर बुरी तरहसे नाचते और बड़ी गंदी-गंदी चेष्टाएँ करते हैं। भाँग, गाँजा, सुल्फा और माँजू आदि पीते तथा खाते हैं। कहीं-कहीं शराब और वेश्याओंतककी धूम मचती है। भाभी, चाची, साली, सालेकी स्त्री, मित्रकी स्त्री, पड़ोसिन और पत्नी आदिके साथ निर्लज्जतासे फाग खेलते और गंदे-गंदे शब्दोंकी बौछार करते हैं। राख, मिट्टी और कीचड़ उछाले जाते हैं, मुँहपर स्याही, कारिख या नीला रंग पोत दिया जाता है। कपड़ोंपर और दीवारोंपर गंदे शब्द लिख दिये जाते हैं, टोपियाँ और पगड़ियाँ उछाल दी जाती हैं, कहीं-कहींपर जूतोंके हार बनाकर पहने और पहनाये जाते हैं, लोगोंके घरोंपर जाकर गंदी आवाजें लगायी जाती हैं। फल क्या होता है। गंदी और अश्लील बोलचाल और गंदे व्यवहारसे ब्रह्मचर्यका नाश होकर स्त्री-पुरुष व्यभिचारके दोषसे दोषी बनते हैं। शास्त्रमें कहा है—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः॥

(१) किसी भी स्त्रीको किसी अवस्थामें भी याद करना, (२) उसके रूप-गुणोंका वर्णन करना, स्त्रीसम्बन्धी चर्चा करना या गीत गाना, (३) स्त्रियोंके साथ तास, चौपड़, फाग आदि खेलना, (४) स्त्रियोंको देखना, (५) स्त्रीसे एकान्तमें बातें करना, (६) स्त्रीको पानेके लिये मनमें संकल्प करना, (७) पानेके लिये प्रयत्न करना और (८) सहवास करना—ये आठ प्रकारके मैथुन विद्वानोंने बतलाये हैं, कल्याण चाहनेवालेको इन आठोंसे बचना चाहिये। इसके सिवा ऐसे आचरणोंसे निर्लज्जता बढ़ती है, जबान बिगड़ जाती है, मनपर बुरे संस्कार जम जाते हैं, क्रोध बढ़ता है, परस्परमें लोग लड़ पड़ते हैं, असभ्यता और पाशविकता भी बढ़ती है। अतएव सभी स्त्री-पुरुषोंको चाहिये कि वे इन गंदे

* रामनाम जपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम्। पश्य तात मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥

कामोंको बिलकुल ही न करें। इनसे लौकिक और पारमार्थिक दोनों तरहके नुकसान होते हैं। फिर क्या करना चाहिये। फागुन सुदी ११ से चैत बदी १ तक नीचे लिखे काम करने चाहिये।

(१) फागुन सुदी ११ को या और किसी दिन भगवान्‌की सवारी निकालनी चाहिये, जिनमें सुन्दर-सुन्दर भजन और नाम-कीर्तन हो।

(२) सत्संगका खूब प्रचार किया जाय। स्थान-स्थानमें इसका आयोजन हो। सत्संगमें ब्रह्मचर्य, अक्रोध, क्षमा, प्रमादके त्याग, नाम-माहात्म्य और भक्तिकी विशेष चर्चा हो।

(३) भक्ति और भक्तकी महिमाके तथा सदाचारके गीत गाये जायँ।

(४) फागुन सुदी १५ को हवन किया जाय।

(५) श्रीमद्भागवत और श्रीविष्णुपुराण आदिसे प्रह्लादकी कथा सुनी और सुनायी जाय।*

(६) साधकगण एकान्तमें भजन-ध्यान करें।

(७) श्रीश्रीचैतन्यदेवकी जन्मतिथिका उत्सव मनाया जाय। महाप्रभुका जन्म होलीके दिन ही हुआ था। इसी उपलक्ष्यमें मुहल्ले-मुहल्ले घूम-घूमकर नामकीर्तन किया जाय। घर-घरमें हरिनाम सुनाया जाय।

(८) धुरेण्डीके दिन ताल, मृदंग और झाँझ आदिके साथ बड़े जोरसे नगरकीर्तन निकाला जाय जिसमें सब जाति और सभी वर्णोंके लोग बड़े प्रेमसे शामिल हों।

दीवाली

दीवालीपर हमारे यहाँ प्रधानतः चार काम हुआ करते हैं—घरका कूड़ा-कचरा निकालकर घरको साफ करना और सजाना, कोई नयी चीज खरीदना, खूब रोशनी करना और श्रीलक्ष्मीजीका आह्वान तथा पूजन करना। काम चारों ही आवश्यक हैं; किंतु प्रणालीमें कुछ परिवर्तन करनेकी आवश्यकता है। यदि वह परिवर्तन कर दिया जाय तो दीवालीका महोत्सव बारहवें महीने न आकर नित्य ही बना रहे और कभी उससे जी ऊबे भी नहीं! पाठक कहेंगे कि यह है तो बड़े मजेकी बात परन्तु रोज-रोज इतना खर्च कहाँसे आवेगा? इसका उत्तर यह है कि फिर बिना ही रुपये-पैसेके खर्चके यह महोत्सव बना रहेगा और उनकी रौनक भी इससे खूब बढ़ी-चढ़ी रहेगी। अब तो उस बातके जाननेकी उत्कण्ठा सभीके मनमें होनी चाहिये। उत्कण्ठा हो या न हो, मुझे तो सुना ही देनी है—ध्यानसे सुनिये—

दीवालीपर हम कूड़ा निकालते हैं, परन्तु निकालते हैं केवल बाहरका ही। भीतरका कूड़ा ज्यों-का-त्यों भरा रहता है, जिसकी गंदगी दिनोंदिन बढ़ती ही रहती है। वह कूड़ा रहता है—भीतर घरमें, शरीरके अन्दर मनमें। कूड़ेके कई नाम हैं—काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, मद, वैर, हिंसा, ईर्ष्या, द्रोह, घृणा और मत्सर आदि—ये प्रधान-प्रधान नाम हैं। इनके साथी और चेले-चाँटे बहुत हैं। इन सबमें प्रधान तीन हैं—काम, क्रोध और लोभ। इनको साथियोंसहित झाड़ूसे झाड़-बुहार बाहर निकालकर जला देना चाहिये। कूड़े-कचरेमें आग लगा देना अच्छा हुआ करता है। जहाँ यह कूड़ा निकला कि घर सदाके लिये साफ हो गया। इसके बाद घर सजानेकी बात रही। हमलोग केवल ऊपरी सजावट करते हैं जिसके बिगड़ने और नाश होनेमें देर नहीं लगती। सच्ची सजावट है। अंदरके घरको दैवी सम्पदाके सुन्दर-सुन्दर पदार्थोंसे सजानेमें। इनमें अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, दया, शौच, मैत्री, प्रेम, सन्तोष, स्वाध्याय, अपरिग्रह, निरभिमानिता, नम्रता, सरलता आदि मुख्य हैं।

हमारी धारणा है कि साफ सजे हुए घरमें लक्ष्मीदेवी आती हैं, बात ठीक है परन्तु लक्ष्मीजी सदा ठहरती क्यों नहीं? इसीलिये कि हमारी सफाई और सजावट केवल बाहरी होती है और फिर वे ठहरीं भी चंचला, उन्हें बाँध रखनेका कोई साधन हमारे पास नहीं है।

हाँ, एक उपाय है, जिससे वह सदा ठहर सकती हैं। केवल ठहर ही नहीं सकतीं, हमारे मना करनेपर भी हमारे पीछे-पीछे डोल सकती हैं। वह उपाय है उनके पति श्रीनारायणदेवको वशमें कर भीतर-से-भीतरके गुप्त मन्दिरमें बंद कर रखना। फिर तो अपने पतिदेवके चारु चरण-चुम्बन करनेके लिये उन्हें नित्य आना ही पड़ेगा। हम द्वार बंद करेंगे तब भी वह आना चाहेंगी, जबरदस्ती घरमें घुसेंगी। किसी प्रकार भी पिण्ड नहीं छोड़ेंगी। इतनी माया फैलावेंगी कि जिससे

* प्रह्लादकी सुन्दर जीवनी गीताप्रेससे मँगवाकर पढ़िये।

शायद हमें तंग आकर उनके स्वामीसे शिकायत करनी पड़ेगी। जब वे कहेंगे तब मायाका विस्तार बंद होगा। तब भी देवीजी जायँगी नहीं, छिपकर रहेंगी। पतिको छोड़कर जायँ भी कहाँ? चंचला तो बहुत हैं परन्तु हैं परम पतिव्रता-शिरोमणि! स्वामीके चरणोंमें तो अचल होकर ही रहती हैं।' अवश्य ही फिर ये हमें तंग नहीं करेंगी। श्रीके रूपमें सदा निवास करेंगी।

अच्छा तो अब इन लक्ष्मीदेवीजीके स्वामी श्रीनारायणदेवको वशमें करनेका क्या उपाय है? उपाय है किसी नयी वस्तुका संग्रह करना। दीवालीपर लक्ष्मीमाताकी प्रसन्नताके लिये हम नयी चीजें तो खरीदते हैं परन्तु खरीदते ऐसी हैं जो कुछ काल बाद ही पुरानी हो जाती हैं। श्रीनारायणदेव ऐसी क्षणभंगुर वस्तुओंसे वशमें नहीं होते। उनके लिये तो वह अपार्थिव पदार्थ चाहिये जो कभी पुराना न हो, नित्य नूतन ही बना रहे। वह पदार्थ है 'विशुद्ध और अनन्य प्रेम।' इस प्रेमसे परमात्मा नारायण तुरन्त वशमें हो जाते हैं। जहाँ नारायण वशमें होकर पधारे कि फिर हमारे सारे घरमें परम प्रकाश आप-से-आप छा जायगा; क्योंकि सम्पूर्ण दिव्यातिदिव्य प्रकाशका अगाध समुद्र उनके अंदर भरा हुआ है। हम टिमटिमाते हुए दीपकोंकी ज्योतिके प्रकाशमें लक्ष्मीदेवीको बुलाते हैं, बहुत करते हैं तो आजकलकी बिजलीकी रोशनी कर देते हैं, परन्तु यह प्रकाश कितनी देरका है? और है भी सूर्यके सामने जुगनूकी तरह दो कौड़ीका। श्रीनारायणदेव तो प्रकाशके अधिष्ठान हैं। सूर्य उन्हींसे प्रकाश पाते हैं। चन्द्रमामें चाँदनी उन्हींसे आती है, अग्निको प्रभा उन्हींसे मिलती है। यह बात मैं नहीं कहता, शास्त्र कहते हैं और भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे भी पुकारकर कहते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

(गीता १५। १२)

जब समस्त जगत्‌की घोर अमावस्याका नाश करनेवाले भगवान् भास्कर, सुधावृष्टिसे संसारका पोषण करनेवाले चन्द्रदेव और जगत्‌के आधार अग्निदेवता उन्हींके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं—इन तीनोंका त्रिविध प्रकाश उन्हींके प्रकाशाम्बुधिका एक क्षुद्र कण है, तब जहाँ वह स्वयं आ जायँ, वहाँके प्रकाशका तो ठिकाना ही क्या! उनका वह प्रकाश केवल यहींतक परिमित नहीं है। ब्रह्माकी जगत्-उत्पादनी बुद्धिमें उन्हींके प्रकाशकी झलक है। शिवकी संहार-मूर्तिमें भी उन्हींके प्रकाशका प्रचण्ड रूप है। ज्ञानी मुनियोंके हृदय भी उसी आलोक-कणसे आलोकित हैं। जगत्‌के समस्त कार्य, मन-बुद्धिकी समस्त क्रियाएँ उसी नित्य प्रकाशके सहारे चल रही हैं।

अतएव पहले काम, क्रोध, लोभरूप कूड़ेको निकालकर घर साफ कीजिये, फिर दैवी सम्पत्तिकी सुन्दर सामग्रियोंसे उसे सजाइये। तदनन्तर प्रेमरूपी नित्य नवीन वस्तुका संग्रह कीजिये और उससे लक्ष्मीपति श्रीनारायणदेवको वश कर हृदयके गम्भीर अन्तस्तलमें विराजित कीजिये, फिर देखिये—महालक्ष्मीदेवी और अखण्ड अपार आलोकराशि स्वयमेव चली आवेंगी! देवीका अलग आवाहन करनेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी।

हाँ, एक यह बात आप और पूछ सकते हैं कि श्रीनारायणको वशमें कर देनेवाला वह प्रेम कहाँ, किस बाजारमें मिलता है? इसका उत्तर यह है कि वह किसी बाजारमें नहीं मिलता—***'प्रेम न वाणी नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय।'*** उसका भण्डार तो आपके अन्दर ही है। ताला लगा है तो उसे खोल लीजिये, खोलनेका उपाय—चाभी श्रीभगवन्नाम-चिन्तन है। प्रेमका कुछ अंश बाहर भी है परन्तु वह जगत्‌के जड-पदार्थोंमें लगा रहनेसे मलिन हो रहा है। उसका मुख श्रीनारायणकी ओर घुमा दीजिये। वह भी दिव्य हो जायगा। उसी प्रेमसे भगवान् वशमें होंगे। फिर लक्ष्मी-नारायण दोनोंका एक साथ पूजन कीजियेगा। इस तरह नित्य ही दीवाली बनी रहेगी। टका लगेगा न पैसा, पर काम ऐसा दिव्य बनेगा कि हम सदाके लिये सुखी—परम सुखी हो जायँगे। इसीको कहते हैं—

'सदा दिवाली संतके आठों पहर अनन्द'

फुरसत निकालो
अपना मन साफ करो

जाड़ेका मौसम है, दर्जी दालानकी धूपमें बैठा कपड़े सी रहा है। घरके अन्दरसे लड़केने आकर कहा—'बाबा! जाड़ा लगता है, एक मिरजई तो सी दो।' दर्जीने कहा—'बेटा! अभी तो धूप निकली है। थोड़ा गरमा ले—आज फुरसत मिली तो सी दूँगा।' लड़का कुछ देर वहाँ बैठा, फिर उसने कहा—'बाबा! आज जरूर सी देना।' दर्जी दो नये गाँहकोंसे बात कर रहा था, उसने कुछ उत्तर नहीं दिया, लड़का घरके अन्दर चला गया। दूसरे दिन सबेरे ही लड़केकी माँने कहा—'रामूके बाबा! लड़का कितने दिनोंसे जाड़ेमें मरता और रोता है। तुम्हें इसके लिये एक मिरजई सी देनेतककी फुरसत नहीं मिली। मुझे कपड़ा ला दो तो मैं ही सी दूँ।' दर्जीने कहा—'तू कहती है सो तो ठीक है, पर बता, मैं कब सीऊँ? जाड़ा शुरू हुआ है, गाँहक दिन-रात तकाजा करते हैं, मुझे तो उनके कपड़े सीनेमें ही फुरसत नहीं मिलती। देखती नहीं, मैं खुद दिन-रात नंगे बदन रहता हूँ। क्या मुझे सर्दी नहीं लगती? फुरसत मिले तब न बाजार जाकर कपड़ा लाऊँ।' 'कपड़ा किसीसे मँगवा लो, इतने गाँहक आते हैं उनमेंसे किसीसे कह दो, ला देगा' रामूकी माँने ऐसा कहा।

दर्जी बोला—'कपड़ा कोई ला देगा तब भी क्या होगा? अभी मेरे पास गाँहकोंके इतने कपड़े सीने पड़े हैं कि तुम और मैं दोनों लगातार कई दिनोंतक बैठेंगे तब कहीं काम सपरेगा। बीचमें और काम आ गया तो वह भी नहीं। दर्जिन बोली—'तुम्हारा काम तो पूरा होनेका नहीं, दूसरोंके कपड़े सीते-सीते जाड़ा निकल जायगा, भगवान् न करे कहीं जाड़ेसे लड़केको या तुमको जड़ैया-बुखार हो गयी तो बड़ी मुसीबत होगी, फिर मेरी क्या गति होगी?' दर्जीने रुखाईसे कहा, 'क्या किया जाय अभी तो फुरसत नहीं है।'

जगत्‌में यही हाल परोपदेशकोंका है, उन्हें परोपदेशमें ही फुरसत नहीं मिलती। (दर्जी दूसरोंके कपड़े तो सीता है परन्तु ये तो प्राय: अपना सारा वक्त यों ही बरबाद करते हैं।) परन्तु एक दिन ऐसी फुरसत मिलेगी कि फिर कोई भी रुकावट काम नहीं आवेगी। इन बेचारोंकी तो बात ही कौन-सी है? No Time का बोर्ड लटकाकर रखनेवाले और 'क्या करें मरनेकी भी फुरसत नहीं मिलती' रटनेवाले, सबको उसी श्मशानकी धूलमें जाकर लोटनेके लिये पूरी फुरसत आप ही मिल जायगी।

इसलिये पहलेसे ही फुरसत निकाल लो तो बुद्धिमानी है। फुरसत कहींसे बुलायी नहीं जाती; निकालनी पड़ती है। कोरे रह जाओगे तो बड़ी मुसीबत होगी। दूसरेका उद्धार करनेके कामसे जरा फुरसत निकालकर, देशसेवासे जरा समय बचाकर पहले अपना उद्धार और अपनी सेवा करो, पहले अपने पापोंको धो लो तभी देशसेवाके और विश्वसेवाके लायक बनोगे। सावधान!

तेरे भावें जो करो भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठिकै अपनो भवन बुहार॥
जग अघ-धोवत जुग गये धुल्यो न मनके मैल।
मन मल पहले धोइले नतरु मैलको मैल॥

पहिले अपनी ओर देखो!

'जो राग-द्वेषरहित होता है, उसे गुण-दोष दोनों दीखते हैं, यदि ऐसा पुरुष किसीके दोषोंकी आलोचना करे और उसको दोषमुक्त करनेके लिये आवश्यकतानुसार कर्तव्यवश कड़े-से-कड़ा व्यवहार करे तो भी कोई आपत्ति नहीं; क्योंकि अन्त:करण शुद्ध होनेके कारण उसका ज्ञान घृणा, द्वेष, क्रोध या हिंसासे ढक नहीं जाता, वह यदि एक दोषकी बहुत कड़ी समालोचना करता है तो दूसरे गुणकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा भी करता है। केवल दूसरेके दोषोंको ही देखनेवाले द्वेषी लोग ऐसा नहीं कर सकते।'

'किसीके भी पापकी आलोचना करनेके साथ अपने हृदयको बड़ी सावधानीके साथ देखते रहो। उसमें कहीं द्वेष, क्रोध या हिंसाको तो स्थान नहीं मिल गया है, कहीं दूसरेको पापमुक्त करने जाकर स्वयं तो पापोंको आश्रय न दे चुके हो। यदि इस प्रकार पद-पदपर आत्म-निरीक्षण करते हुए दूसरेके पापोंकी आलोचना कर उसे पापोंसे छुड़ाना चाहो तो अवश्य तुम वैसा कर सकते हो।'

'किसीके साथ घृणा, द्वेष, क्रोध या हिंसा न करके

तुम उसपर कोई एहसान नहीं कर रहे हो। इसमें तुम केवल अपना ही भला करते हो। यदि ये दोष तुम्हारे हृदयमें आ जाते तो न मालूम उसका तो बिगाड़ होता या नहीं, पर तुम्हारा बिगाड़ तो अवश्य ही हो जाता।'

पाप आसक्तिसे होते हैं, आसक्ति विषयोंकी रमणीयताके ज्ञानसे होती है, यह ज्ञान ही अज्ञान है, इसीके द्वारा बुद्धि ढकी रहनेसे मनमें बुरे संस्कारोंको स्थान मिलता है। यह अज्ञान कुछ थोड़े-से महापुरुषोंको छोड़कर प्रायः सबमें रहता है। किसीमें अधिक तो किसीमें थोड़ा, इसलिये किसीसे भी घृणा न करो। अपनी ओर देखो कि तुम भी उसीके समान अज्ञानसे कभी पाप करते हो या नहीं।

जहाँतक हो सके, पापीको प्रेमके साथ अच्छी राहपर लाओ। पापीसे मनमें घृणा न करो, वह बेचारा भूला हुआ है। भूला हुआ सदा दयाका पात्र होता है। अतएव उसपर दया करो और सच्चे मनसे आर्त होकर परमात्मासे प्रार्थना करो कि वह पतितपावन उसकी पापबुद्धिका सर्वथा नाश कर दें।

संत और बिच्छू

(१)

विश्वपावनी वाराणसिमें संत एक थे करते वास।
रामचरण-तल्लीन-चित्त थे, नाम-निरत नय-निपुण निरास॥
नित सुरसरिमें अवगाहन कर, विश्वेश्वर-अर्चन करते।
क्षमाशील, पर-दुख-कातर थे, नहीं किसीसे थे डरते॥

(२)

एक दिवस श्रीभागीरथिमें ब्राह्मण विदथ नहाते थे।
दयासिंधु देवकिनन्दनके गोप्य गुणोंको गाते थे॥
देखा, एक बहा जाता है वृश्चिक जल-धाराके साथ।
दीन समझकर उसे उठाया संत बिप्रने हाथों-हाथ॥

(३)

रखकर उसे हथेलीपर फिर, संत पोंछने लगे निशंक।
खल, कृतघ्न, पापी वृश्चिकने मारा उनके भीषण डंक॥
काँप उठा तत्काल हाथ, गिर पड़ा अधम वह जलके बीच।
लगा डूबने अथाह जलमें, निज करनी वश निष्ठुर नीच॥

(४)

देखा मरणासन्न, संतका चित करुणासे भर आया।
प्रबल वेदना भूल उसे फिर उठा हाथपर अपनाया॥
ज्यों ही सँभला, चेत हुआ, फिर उसने वही डंक मारा।
हिला हाथ, गिर पड़ा, बहाने लगी उसे जलकी धारा॥

(५)

देखा पुनः संतने उसको जलमें बहते दीन मलीन।
लगे उठाने फिर भी ब्राह्मण क्षमा-मूर्ति प्रतिहिंसा-हीन॥
नहा रहे थे लोग निकट सब, बोले, 'क्या करते हैं आप?
हिंसक जीव बचाना कोई धर्म नहीं है पूरा पाप॥

(६)

चक्खा हाथों-हाथ विषम फल तब भी करते हैं फिर भूल।
धर्म-कर्मको डुबा चुका भारत इस कायरताके कूल॥'
'भाई! क्षमा, नहीं कायरता यह तो वीरोंका बाना।
स्वल्प महापुरुषोंने इसका है सच्चा स्वरूप जाना॥

(७)

कभी न डूबा क्षमा-धर्मसे, भारतका वह सच्चा धर्म।
डूबा, जब भ्रमसे था इसने पहना कायरताका वर्म॥
भक्तराज प्रह्लाद क्षमाके परम मनोहर थे आदर्श।
जिनसे धर्म बचा था, जो खुद जीत चुके थे हर्षामर्ष॥'

(८)

बोले जब हँसकर यों ब्राह्मण, कहने लगे दूसरे लोग—।
'आप जानते हैं तो करिये, हमें बुरा लगता यह योग॥'
कहा संतने, 'भाई! मैंने नहीं बड़ा कुछ काम किया।
निज स्वभाव ही बरता, मैंने इसने, भी तो वही किया॥

(९)

मेरी प्रकृति बचानेकी है, इसकी डंक मारनेकी।
मेरी इसे हरानेकी है, इसकी सदा हारनेकी॥
क्या इस हिंसकके बदलेमें मैं भी हिंसक बन जाऊँ!
क्या अपना कर्तव्य भूलकर प्रतिहिंसामें सन जाऊँ॥

(१०)

जितनी बार डंक मारेगा, उतनी बार बचाऊँगा।
आखिर अपने क्षमा-धर्मसे निश्चय इसे हराऊँगा॥
संतोंके दर्शन-स्पर्शन-भाषण दुर्लभ जगतीतलमें।
वृश्चिक छूट गया पापोंसे संत-मिलनसे उस पलमें॥

(११)

खुले ज्ञानके नेत्र, जन्म-जन्मान्तरकी स्मृति हो आई।
छूटा दुष्टस्वभाव, सरलता शुचिता सब ही तो आई॥
संत-चरणमें लिपट गया वह, करनेको निज पावन तन।
छूट गया भव-व्याधि-विषमसे, हुआ रुचिर वह भी हरिजन॥

(१२)

जब हिंसक जड़ जन्तु क्षमासे हो सकते हैं साधु-सुजान।
हो सकते क्यों नहीं मनुज तब, माने जाते जो सज्ञान॥

पढ़कर वृश्चिक और संतका यह नितान्त सुखकर संवाद। अच्छा लगे मानिये, तज प्रतिहिंसा-बैर-विवाद-विषाद॥

संसार-नाटक

अनोखा अभिनव यह संसार!
रंगमंचपर होता नित नटवर-इच्छित व्यापार॥ १॥
कोई है सुत सजा किसीने धरा पिताका साज।
कोई स्नेहमयी जननी बन करता नटका काज॥ २॥
कोई सज पत्नी, पति कोई, करैं प्रेमकी बात।
कोई सुहृद बना वैरी बन कोई करता घात॥ ३॥
कोई राजा, रंक बना, कोई कायर अति शूर।
कोई अति दयालु बनता कोई हिंसक अति क्रूर॥ ४॥
कोई ब्राह्मण, शुद्र श्वपच है कोई सजता मूढ़।
पण्डित परम स्वांग धर कोई करता बातें गूढ़॥ ५॥
कोई रोता, हँसता कोई, कोई हो गम्भीर।
कोई कातर बन कराहता, कोई धरता धीर॥ ६॥
रहते सभी स्वांग अपनेके सभी भाँति अनुकूल।
होती नाश पात्रता जो किञ्चित् करता प्रतिकूल॥ ७॥
मनमें सभी समझते हैं अपना सच्चा सम्बन्ध।
इसीलिये आसक्ति नहीं कर सकती उनको अन्ध॥ ८॥
किसी वस्तुमें नहीं मानते कुछ भी अपना भाव।
रंगमंचपर किन्तु दिखाते तत्परतासे दाव॥ ९॥
इसी तरह जगमें सब खेलें, खेल सभी अविकार।
मायापति नटवरके शुभ अद्भुत इङ्गित अनुसार॥ १०॥

तुम आगे आते

ज्यों-ज्यों मैं पीछे हटता हूँ त्यों-त्यों तुम आगे आते।
छिपे हुए परदोंमें अपना मोहन मुखड़ा दिखलाते॥
पर मैं अन्धा! नहीं देखता परदोंके अंदरकी चीज।
मोहमुग्ध! मैं देखा करता परदे बहुरंगे नाचीज॥
परदोंके अंदरसे तुम हँसते प्यारी मधुरी हाँसी।
चित्त खींचनेको तुम तुरत बजा देते मीठी बाँसी॥
सुनता हूँ, मोहित होता, दर्शनकी भी इच्छा करता।
पाता नहीं देख पर, जडमति! इधर-उधर मारा फिरता॥
तरह-तरहसे ध्यान खींचते करते विविध भाँति संकेत।
चौकन्ना-सा रह जाता हूँ, नहीं समझता मूर्ख अचेत॥
तो भी नहीं ऊबते हो तुम, परदा जरा उठाते हो।
धीरेसे सम्बोधन करके अपने निकट बुलाते हो॥
इतने पर भी नहीं देखता, सिंह-गर्जना तब करते।
तन-मन-प्राण काँप उठते हैं, नहीं धीर कोई धरते॥
डरता, भाग छूटता, तब आश्वासन देकर समझाते।
ज्यों-ज्यों मैं पीछे हटता हूँ त्यों-त्यों तुम आगे आते॥

प्रार्थना

हे नाथ! तुम्हीं सबके मालिक तुम ही सबके रखवारे हो।
तुम ही सब जगमें व्याप रहे, विभु! रूप अनेकों धारे हो॥
तुम ही नभ, जल, थल, अग्नि तुम्हीं, तुम सूरज चाँद सितारे हो।
यह सभी चराचर है तुममें, तुम ही सबके ध्रुव-तारे हो॥
हम महामूढ़ अज्ञानीजन, प्रभु! भवसागरमें डूब रहे।
नहिं नेक तुम्हारी भक्ति करें, मन मलिन विषयमें खूब रहे॥
सत्संगतिमें नहिं जायँ कभी, खल-संगतिमें भरपूर रहे।
सहते दारुण दुख दिवस, रैन, हम सच्चे सुखसे दूर रहे॥
तुम दीनबन्धु, जगपावन हो, हम दीन, पतित अति भारी हैं।
है नहीं जगत्में ठौर कहीं, हम आये शरण तुम्हारी हैं॥
हम पड़े तुम्हारे हैं दरपर, तुमपर तन-मन-धन वारे हैं।
अब कष्ट हरो हरि, हे हमरे, हम निंदित निपट दुखारे हैं॥
इस टूटी-फूटी नैयाको, भवसागरसे खेना होगा।
फिर निज हाथोंसे नाथ! उठाकर, पास बिठा लेना होगा॥
हे अशरण-शरण-अनाथ-नाथ, अब तो आश्रय देना होगा।
हमको निज चरणोंका निश्चित, नित दास बना लेना होगा॥

कामना

बना दो बिमल बुद्धि भगवान।
तर्क-जाल सारा ही हर लो, हरो कुमति-अभिमान।
हरो मोह, माया, ममता, मद मत्सर मिथ्या-मान॥
कलुष काम-मति कुमति हरो, हे हरे! हरो अज्ञान।
दम्भ, दोष, दुर्नीति हरणकर करो सरलता दान॥
भोग-योग अपवर्ग-स्वर्गकी हरो स्पृहा बलवान।
चाकर करो चारु चरणोंका नित ही निज-जन जान॥
भर दो हृदय भक्ति-श्रद्धासे, करो प्रेमका दान।
कभी न करो दूर सेवासे मेटो भवका भान॥

प्रार्थना

हे निर्गुण, हे सर्वगुणाश्रय, हे निरुपम, हे उपमामय!
हे अरूप, हे सर्वरूपमय, हे शाश्वत, हे शान्तिनिलय!!
हे अज, आदि, अनादि, अनामय, हे अनन्त, हे अविनाशी!
हे सच्चित-आनन्द, ज्ञानघन, द्वैतहीन, घट-घट-वासी!!
हे शिव, साक्षी, शुद्ध, सनातन, सर्वरहित, हे सर्वाधार!
हे शुभमन्दिर, सुन्दर, हे शुचि, सौम्य, साम्यमति, रहितविकार!!
हे अन्तर्यामी, अन्तरतम, अमल, अचल, हे अकल, अपार!
हे निरीह, हे नर-नारायण, नित्य-निरञ्जन, नव, सुकुमार!!
हे नव नीरद-नील, नराकृति, निराकार, हे नीराकार!
हे समदर्शी, संत-सुखाकर, हे लीलामय प्रभु साकार!!
हे भूमा, हे विभु, त्रिभुवनपति, सुरपति, मायापति, भगवान्!
हे अनाथपति, पतित-उधारन, जन-तारन, हे दयानिधान!!
हे दुर्बलकी शक्ति, निराश्रयके आश्रय, हे दीनदयाल!
हे दानी, हे प्रणतपाल, हे शरणागतवत्सल, जनपाल!!
हे केशव, हे करुणासागर, हे कोमल, अति सुहृद् महान्!
करुणा कर अब उभय-अभय चरणोंमें हमें दीजिये स्थान!!
सुर-मुनि-वन्दित कमलानन्दित, चरण-धूलि तव मस्तक धार!
परम सुखी हम हो जायेंगे, होंगे सहज भवार्णव पार!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

(भगवच्चर्चा—भाग-३)

ध्यानयोग

'भगवत्प्राप्तिके साधन' और 'भगवत्प्राप्ति' दोनोंका ही नाम 'योग' है। पहलेमें प्रभुसे मिलनेके उपाय होते हैं और दूसरेमें प्राप्ति—मिलन हो जाता है। उपाय वे ही लोग करते हैं, जो भगवान्‌को मानते हैं और जीव-जीवनकी चरम सिद्धिके लिये उनको प्राप्त करना परम आवश्यक समझते हैं। भगवान्‌को न माननेवाले लोग तो ऐसे योगको अनावश्यक और माननेवालोंको मूर्ख ही बतलाते हैं। अतएव भगवत्प्राप्तिके जितने साधन हैं; वे सब भगवान्‌के माननेवालोंके लिये ही हैं; परंतु माननेवालोंमें भी लाभ वे ही उठा सकते हैं, जो श्रद्धालु, सतत प्रयत्नशील और संयतेन्द्रिय होते हैं—जो सच्ची लगनसे बिना उकताये सदा सावधान और आलस्यरहित रहकर नियमपूर्वक साधन करते हैं। आज किसीकी बात सुनकर उत्साह हुआ, कुछ करने लगे, दो-चार दिनोंके बाद जी ऊब गया, नियमोंको ढीला कर दिया और कुछ दिनों बाद साधन छोड़ बैठे, ऐसे लोगोंको लाभ नहीं होता, और इस प्रकार बिना कुछ किये ही सब कुछ चाहनेवाले ऐसे लोग ही निष्फल होकर विद्रोही भी बन जाते हैं। अतएव साधकोंको चाहिये कि वे जिस ध्येयको प्राप्त करना चाहते हैं, उसीमें सच्ची लगनसे लग जायँ। दूसरी ओर ताकने-झाँकनेकी आवश्यकता ही न समझें। तभी उनको पद-पदपर सफलता होगी और ज्यों-ज्यों सफलता होगी, त्यों-ही-त्यों उनका उत्साह भी अधिक-से-अधिक बढ़ता जायगा। शीघ्रता करनी चाहिये; क्योंकि जीवन बहुत ही थोड़ा है।

सबसे पहली बात है मन लगनेकी। जो जिस वस्तुको परम आवश्यक मानकर उसे प्राप्त करना चाहता है, उसके चित्तसे उस वस्तुका चिन्तन स्वाभाविक ही बार-बार होता है। उसके चित्तमें अपने ध्येय पदार्थकी धारणा दृढ़ हो जाती है और आगे चलकर वही धारणा—चित्तवृत्तियोंके सर्वथा ध्येयाकार बन जानेपर 'ध्यान' के रूपमें परिणत हो जाती है। जितने कालतक वृत्तियाँ ध्येयाकार रहती हैं, उतने कालकी स्थितिको ध्यान कहा जाता है। ध्यानकी बड़ी महिमा है। भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतमें कहा है कि 'जो पुरुष निरन्तर विषयोंका ध्यान करता है, उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है और जो मेरा ध्यान करता है, वह मुझमें लीन हो जाता है।' भक्तियोग, ज्ञानयोग, राजयोग, लययोग, मन्त्रयोग, हठयोग और निष्काम कर्मयोग, किसी-न-किसी रूपमें सभी योगोंमें ध्यानकी आवश्यकता और उपयोगिता है। इस ध्यानसे ही भगवान्‌के स्वरूपमें समाधि और ध्यानसे ही भगवान्‌की प्राप्ति भी होती है।

योगदर्शनमें ध्यान अष्टांगयोगमें सातवाँ है। पहले छहों साधन ध्यानमें सहायक हैं, बल्कि उनके करते-करते ही ध्यानकी योग्यता साधकको प्राप्त होती है, ऐसा भी कहा जा सकता है। अतएव सहायक साधनोंका अवश्य ही सम्पादन करना चाहिये। यहाँ संक्षेपमें ध्यानके सहायक कुछ भावों और कार्योंको लिखा जाता है।

गुरु और शास्त्रवचनोंमें प्रत्यक्षवत् विश्वास, साधनमें तत्परता, इन्द्रियों तथा मनको उनके इच्छित सांसारिक विषयोंसे हटाना, तन-मनसे अहिंसा, सत्य, चोरीका अभाव, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, भगवत्स्तुति-प्रार्थना, एकान्तवास, विषयोंसे विरक्ति, अनावश्यक वस्तुओंका सर्वथा त्याग,अन्न-वस्त्र-स्थान आदि आवश्यक वस्तुओंका भी यथासाध्य कम-से-कम संग्रह, अपने ध्येय-सम्बन्धी ग्रन्थोंके सिवा अन्य ग्रन्थोंका न सुनना, न पढ़ना; ध्येयके गुण, प्रभाव और रहस्यकी बातें सुनना; ध्येयके विरुद्ध कुछ भी न सुनना, न देखना और न करना; घर-परिवारमें ममताका त्याग करना, दुराग्रह न करना; अखबार न पढ़ना, सभा-समितियोंसे अलग रहना, प्रसिद्धिसे बचनेकी प्राणपणसे निर्दोष चेष्टा करना, परचर्चा न करना, परदोष न देखना, न चिन्तन करना, न कहना, मधुर-प्रिय बोलना, अनावश्यक न बोलना, यथासाध्य मौन रहना, चित्तको विषाद, अहंकार, ईर्ष्या-द्वेष, आसक्ति, वैर, अभिमान, व्यर्थ चिन्तन आदि दुष्ट भावोंसे बचाना, मान-सम्मान तथा बड़ाई न चाहना, धन और स्त्रीके संगसे और इनके संगियोंसे भी यथासाध्य अलग रहना (इसी प्रकार

स्त्री साधकोंको पुरुष-संसर्गसे अलग रहना चाहिये); ध्येयमें प्रीति उत्पन्न करनेवाले सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना, अपने इष्टके नाम और मन्त्रका निरन्तर विधिपूर्वक सप्रेम जप करना, बार-बार इष्टके गुण, प्रभाव और रहस्यका चिन्तन करना, उनकी दयालुतापर विश्वास रखना, ध्येयकी प्राप्तिमें दृढ़ निश्चय रखना; साधनके स्थान, वस्त्र, आसन, माला, मूर्ति आदि सामग्रियोंको बिना नहाये न स्वयं स्पर्श करना और न दूसरेको—अपने घरके लोगोंतकको किसी भी हालतमें—नहानेपर—भी स्पर्श करने देना, अपनेको किसीसे ऊँचा न समझना, अभिमान या क्रोधका कभी अंकुर भी न आने देना, किसीके स्पर्शसे वे सामग्रियाँ अपवित्र होंगी, ऐसा न मानकर, साधनके वातावरणमें विकृति होगी ऐसा मानना और दूसरोंको नम्रता, प्रेम-आदर और विनयके साथ अपनी कमजोरी तथा साधनके नियम समझाकर साधनसम्बन्धी स्थान और सामग्री आदिसे उनको पृथक् रखना;* न अधिक जागना, न ज्यादा सोना, न अधिक खाना, न निराहार रहना, नशीली चीजें बिलकुल न खाना, मांस-मद्यका सर्वथा त्याग करना, तम्बाकू-गाँजा आदि न पीना, उत्तेजक तथा गरम चीजें न खाना, खट्टी चीजें और अधिक मीठा न खाना, उड़द, लाल मिर्च, सरसों, राई, लहसुन, प्याज और गरम मसाले नहीं खाना, कटहल, गाजर आदि फल न खाना, बेल, संतरा, हर्रे आदिका नियमित सेवन करना, हर किसीके हाथका और हर किसीका अन्न भी न खाना चाहिये। उपर्युक्त बातोंके सिवा नियत स्थानपर, नियत समय, नियत कालतक, नियत आसनपर, नियत आसनसे बैठकर, नियत संख्यामें, नियत इष्ट मन्त्रका जप करते हुए, नियत इष्ट स्वरूपके ध्यानका प्रयत्न करना साधकके लिये परम आवश्यक है।

अवस्थाविशेषमें इन सब बातोंमें कुछ परिवर्तन या न्यूनाधिक करनेमें भी आपत्ति नहीं है, परंतु इनकी ओर खयाल जरूर रहे। ऐसा करनेसे ध्यान सुगमतासे और फलप्रद होता है।

ध्यानके अनेक प्रकार हैं, साधकको अपने-अपने अधिकार, रुचि और अभ्यासकी सुगमता देखकर किसी भी एक प्रकारसे अभ्यास करना चाहिये, परंतु मनमें इतना निश्चय रखना चाहिये कि सत्य तत्त्व परमात्मा एक ही हैं। वह एक ही अनेक रूपोंसे अपनेको धृत करवाते हैं। भक्त जिस रूपमें उन्हें पकड़ना चाहे, वह उसी रूपमें पकड़में आ जाते हैं। निर्गुण, निराकार, सगुण, साकार सभी उन्हींके रूप हैं। श्रीविष्णु, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, गणेश, शक्ति, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि सभी वे एक ही हैं। मार्गके अनुभव भिन्न-भिन्न होते हुए भी सबके अन्तमें प्राप्त होनेवाला सत्य एक ही है। इसी सत्यके कोटिशः विविध प्रकाश हैं, हम किसी भी प्रकाशका अवलम्बन करके उस मूल प्रकाशको पा सकते हैं; क्योंकि ये सभी प्रकाश न्यूनाधिक शक्तिवाले दीखनेपर भी वस्तुतः उस मूल सत्यसे सर्वथा अभिन्न और सर्वथा पूर्ण ही हैं। वे स्वयं ही विभिन्न प्रकाशोंमें अवतीर्ण होकर अपनेको अपने ही सामने प्रकाशित कर रहे हैं। अतएव विभिन्न साधक उन एक अचिन्त्यशक्ति, अनन्तमहिम, अनन्तकल्याण-गुणगणसमन्वित सच्चिदानन्दघन, सर्वव्यापी, सर्वरूप, स्वप्रकाश, सर्वात्मा, सर्वद्रष्टा, अज, अविनाशी, सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, देशकालातीत, गुणातीत, सर्वसद्लक्षणसम्पन्न, सदसत्सर्वगुणसम्पन्न, सर्वातीत, सर्वलोकमय और सर्वलोकमहेश्वर भगवान्के इस समग्र रूपको या परमभावको समझकर किसी भी भावसे उनका ध्यान करें, अन्तमें सबको वह एक ही नारायण प्राप्त होंगे, जिनकी प्राप्तिका और स्वरूपका वर्णन बुद्धि और मन-वाणीसे सर्वथा अगम्य है। अतएव साधकोंको न तो अपना इष्टरूप छोड़ना चाहिये और न दूसरेके इष्टको नीचा या अल्प मानना चाहिये। इस प्रकारकी एकत्वबुद्धिसे ध्यानका अभ्यास करनेपर बहुत-से विघ्न सहज ही टल जाते हैं और शीघ्र ही परम सफलता प्राप्त हो सकती है।

ध्यान अभेद या भेद, अथवा अद्वैत या द्वैत इन दोनों भावोंसे किया जाता है। अभेदमें भगवान्के ध्यानके निर्गुण निराकार, सगुण निराकार, निर्गुण साकार और सगुण साकार—ये चार भेद हैं। इसी प्रकार भेदमें भी भगवान्के ध्यानके निर्गुण निराकार, सगुण निराकार, निर्गुण साकार और सगुण साकार—ये चार भेद हैं।

अद्वैत या अभेद

निर्गुण निराकार—अनिर्वचनीय अचिन्त्य अवाङ्मनसगोचर निष्क्रिय शुद्ध ब्रह्म या शुद्ध आत्मा।

सगुण निराकार—अज अविनाशी सर्वलोकमहेश्वर मायापति सृष्टिकर्ता।

* वैदिक और तान्त्रिक साधनामें ही इसकी विशेष आवश्यकता है।

निर्गुण साकार—अज अविनाशी गुणातीत मायातीत दिव्य-विग्रह भगवान्।

सगुण साकार—अज अविनाशी लीलाविहारी अपनी दिव्य प्रकृतिके साथ खेल करते हुए दिव्य-विग्रह भगवान् या विराट् विश्वरूप परमात्मा।

द्वैत या भेद

निर्गुण निराकार—जीवोंपर दया करनेवाले सर्वशक्तिमान् न्यायकारी निर्गुण परमात्मा।

सगुण निराकार—जीवजगत्का संचालन करनेवाले सर्वलोकमहेश्वर, विश्वरूप, विश्वकर्ता, विश्वभर्ता और विश्वसंचालक प्रभु।

निर्गुण साकार—भक्तोंकी सुधि लेनेके लिये मायामनुष्यरूपधारी वस्तुत: स्वस्वरूपसे सर्वदा निर्गुण ईश्वर।

सगुण साकार—भक्तोंके साथ लीला करनेवाले समस्त गुणनिधि लीलामय स्वयं भगवान्।

इनके फिर एक-एकके अनेक रूप हैं। इन सब रूपोंमें एक ही सत्य तत्त्व अनुस्यूत है और वह सबमें सब जगह सब ओरसे सब ही भाँति परिपूर्ण है। बुद्धिमान् भगवत्कृपापात्र साधक अपने-अपने भावोंके अनुसार सब रूपोंको किसी एक रूपमें पर्यवसित कर उसका ध्यान करता है। कोई-कोई अल्पमेधस् साधक अपने इष्टको भिन्न मानकर भी ध्यान करते हैं, परन्तु उनका वह ध्येयतत्त्व अल्प और सीमित होनेके कारण उन्हें तात्कालिक फल भी अल्प और सीमित ही मिलता है। जो अल्प और सीमित है वही नाशवान् है, अतएव ऐसे साधक अविनाशी नित्यतत्त्वकी प्राप्तिसे दीर्घकालतक प्राय: वंचित ही रह जाते हैं। अवश्य ही यदि उनका इष्ट सात्त्विक हुआ तो उसकी कृपासे कालान्तरमें पुन: साधनमें प्रवृत्त होकर वे चरमतत्त्वकी प्राप्तिके अधिकारी हो जाते हैं, अतएव न करनेवालोंसे तो वे अल्पकी उपासना करनेवाले भी अच्छे ही हैं।

वास्तवमें भगवान्के स्वरूपके सम्बन्धमें कुछ भी लिखना अपनी अल्पज्ञताका परिचय देनामात्र ही है। भगवान्के तत्त्वको स्वयं भगवान् ही जानते हैं। यह कोई भी नहीं कह सकता कि भगवान् ऐसे ही हैं। बहुत दूरकी बात कहनेवाले महान् दार्शनिक भी बहुत इधरकी ही कहते हैं। अतएव किसीकी भी निन्दा न कर भगवान्के शास्त्रवर्णित और संतजनसेवित सभी स्वरूपोंको सम्मानकी दृष्टिसे देखना चाहिये। साधकका भाव ऊँचा होगा तो सर्वान्तर्यामी सर्वद्रष्टा सर्वेश्वर परिपूर्णतम भगवान् उसे अपना ही ध्यान समझेंगे और उसके फलस्वरूप अपने स्वरूपकी प्राप्ति ही उसे करा देंगे। अस्तु।

अब ध्यानके कुछ प्रकार या विधियाँ जाननेके पहले यह जान लेना आवश्यक है कि ध्यानयोगी साधकके लिये उपयुक्त स्थान, काल और आसन कौन-सा उत्तम है एवं उसे किस आसनसे बैठकर कितने समयतक ध्यानका अभ्यास करना चाहिये।

स्थान—एकान्त हो, पवित्र हो (जहाँ हिंसा, चोरी, मैथुन, छल आदि न होते हों और जहाँ यज्ञ, जप, पूजन, भजन, स्वाध्याय, भगवच्चर्चा आदि होते हों, परंतु ध्यानके समय जहाँ कोई न हो, एकान्त नदी-तट, देवमन्दिर हो, जहाँ शब्दादि न होते हों या उत्तम और सूक्ष्म शब्द होते हों, जो मनोरम और सुन्दर वायुसे सेवित हो, गीला या गरम न हो, जहाँ कंकड़ और गरम बालू न हो, सुपुष्प और धूपादिसे सुगन्धित हो, जहाँ भगवान्के सुन्दर चित्र लगे हों)। ऐसा निर्जन स्थान न मिले तो अपने घरमें ही अलग स्वच्छ एकान्त-सा स्थान चुन लेना चाहिये।

काल—ध्यानके लिये सर्वोत्तम समय उषाकाल अथवा रात्रिका अन्तिम प्रहर है, उस समय स्वाभाविक ही बुद्धि सात्त्विक और संस्कारशून्य-सी रहती है। परंतु अन्य समय भी ध्यान किया जा सकता है। हाँ, भोजनके बाद तुरंत ही ध्यान करनेसे प्राय: ध्यान नहीं होता। भूखे पेट ध्यान अच्छा होता है।

आसन—आसन न अधिक ऊँचा हो, न अधिक नीचा हो, पहले कुशासन, उसपर मृगाजिन और उसपर शुद्ध वस्त्र बिछाना चाहिये। ऊनका या केवल नरम कुशोंका आसन भी बिछाया जा सकता है। ऐसे आसनपर पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके बैठना चाहिये।

आसन—स्वस्तिक और पद्मासन सबसे उत्तम हैं। इन आसनोंमें कष्ट भी नहीं है और चित्त भी जल्दी समाहित होता है। बार-बार आसन बदलना ठीक नहीं, एक ही आसनसे निश्चल होकर बैठना चाहिये।

समय—प्रतिदिन तीन घंटे ध्यान किया जा सके तो बहुत उत्तम है, नहीं तो, कम-से-कम एक घंटे तो ध्यानका अभ्यास जरूर करना चाहिये। हो सके तो तीन बारमें तीन घंटे कर ले—प्रात:काल, सन्ध्यासमय और रातको।

ध्यानके समय शरीर, मस्तक और गलेको सीधा रखना चाहिये, रीढ़की हड्डी सीधी रहे। कुबड़ाकर न बैठे। जबतक वृत्ति सर्वथा ध्येयके आकारकी न बने, शरीरका बोध बना रहे और सांसारिक स्फुरणाएँ मनमें उठती रहें, तबतक इष्टमन्त्रका जप करता रहे और बारंबार चित्तको ध्येयमें लगानेकी चेष्टा करता रहे। लय (नींद), विक्षेप, कषाय, रसास्वाद, आलस्य, प्रमाद, दम्भ आदि दोषोंसे बचे रहनेके लिये भी प्रयत्नशील रहे। यह विधि नियमित ध्यानके लिये है। यों साधकको तो सभी समय, सभी क्रियाओंमें खाते-पीते-सोते, उठते-बैठते, सुनते-बोलते, चलते-फिरते चित्तको संसारकी व्यर्थ स्फुरणाओंसे रहित करके अपने इष्टका चिन्तन और ध्यान करना चाहिये। ध्यानके समय आँखें मूँद लेनी चाहिये अथवा नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर रखनी चाहिये।

अब अद्वैत-द्वैत दोनों प्रकारके ध्यानोंके कुछ प्रकारोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया जाता है। विशेष बातें अपने-अपने पथप्रदर्शकसे सीखनी और जाननी चाहिये।

अभेद-ध्यान

१—आँखें मूँदकर या नासिकाके अग्रभागपर दृष्टिको स्थिररूपसे जमाकर साधक चित्तकी ओर देखे और उसमें जो कुछ भी वस्तु प्रतीत हो, उसीको कल्पनामात्र जानकर उसका त्याग कर दे। इस प्रकार चित्तमें स्फुरित प्रत्येक वस्तुका त्याग करते-करते शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी भी सत्ता न रहने दे। सबका अभाव करते-करते कुछ कालमें जब सारे दृश्य पदार्थ चित्तवृत्तिसे निकल जाते हैं, तब सबके अभावका निश्चय करनेवाली वह एकमात्र वृत्ति रह जाती है, यही शुभ और शुद्ध वृत्ति है। और सब दृश्य-प्रपंचका अभाव करनेके बाद यह स्वयं भी शान्त हो जाती है। फिर त्याग, त्यागी या त्याज्य वस्तु कुछ भी नहीं रह जाता। इसके बाद जो कुछ बच रहता है, वही चेतनघन परमात्मा है। वह असीम है, अनन्त है और उसीने सब द्रष्टा और भोक्तावृत्तियोंको ग्रस लिया है। और अब वह उपाधिहीन अकेला ही सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है। यह 'सर्वत्र' भाव भी उसीमें कल्पित है। वह तो वही है, उसका न कोई वर्णन कर सकता है और न चिन्तन! इस प्रकार विचारपूर्वक दृश्यप्रपंचका अभाव करके अभाव करनेवाली वृत्तिका भी परमात्मामें लय कर देना चाहिये।

२—आँखें मूँदकर दसों इन्द्रियोंके कार्योंको रोककर साधक मनके द्वारा पुन:-पुनः परमात्माके स्वरूपका मनन करे। जो कुछ भी स्फुरणा मनमें आवे, उसीमें परमात्माका भाव करे, यों करते-करते स्फुरणाएँ बंद हो जायँगी; परंतु सावधान, एक भी स्फुरणा परमात्माके भावसे अछूती न रह जाय। फिर केवल एक परमात्मा ही बच रहेंगे, तब उन परमात्माके साथ अपनी एकता कर दे। यदि चित्तमें यह वृत्ति जाग्रत् रहे कि मैं परमात्माका ध्यान कर रहा हूँ तो इस वृत्तिको भी छोड़ दे। यह वृत्ति जब एक परमात्माकी सर्वव्यापक सत्तामें मिल जायगी, तब केवल एक परमात्माका ही बोध रह जायगा।

३—आँखें मूँदकर या नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर ऐसा विचार करे कि जैसे कमरेमें रखे हुए घड़ेका आकाश कमरेसे भिन्न नहीं है और कमरेका आकाश जिस खुले महान् आकाशमें मकान बना है उससे अलग नहीं है, उस खुले आकाशमें ही सब कमरे बने हैं, उन्हींमेंके एक कमरेमें घड़ा है। अतएव सब जगह केवल वही एक महान् आकाश है, कमरे और घड़ेकी उपाधिसे छोटे-बड़े अनेक आकाश दिखायी देते हैं। घड़ेका आकाश अपनी अल्प सीमाको त्यागकर महान् आकाशमें स्थित होकर, जो उसका वास्तविक नित्य स्वरूप है, यदि उस महान्‌की दृष्टिसे देखे तो उसको पता लगेगा कि सब कुछ उसीमें ही कल्पित है और सब कुछमें सत्यस्वरूपसे वही स्थित है। साथ ही कमरे या घड़ेका निर्माण जिस उपादान और निमित्त कारणसे हुआ है, उस उपादान और निमित्त कारणका भी कारण वही आकाश है; क्योंकि पंचभूतोंमें सबसे पहला आकाश ही है। इसी प्रकार व्यष्टि शरीरमेंसे अपने मैंपनको निकालकर विश्वरूप भगवान्‌की समष्टिमें स्थिर करे और समष्टिके नेत्रोंसे समस्त विश्वको अपने

शरीरसहित उसीमें कल्पित देखे। जैसे यशोदाजीने भगवान्‌के मुखके अंदर विश्व और उस विश्वमें व्रजके एक ग्राममें नन्दजीका घर और उसमें श्रीबालकृष्णको और हाथमें लकुटिया लिये अपनेको देखा था। इस प्रकार व्यष्टि अहंकारको समष्टिमें लय करके फिर उस समष्टिको भी अचिन्त्य परमात्मामें लय कर दे।

वस्तुतः जड, अनित्य, परिणामी, शून्य, विकारी और सीमित आकाशके साथ चेतन, नित्य, सदा एकरस सच्चिदानन्दघन निर्विकार और असीम पूर्ण परमात्माकी तुलना नहीं हो सकती। यह दृष्टान्त तो केवल समझनेके लिये ही है।

४—आँखें मूँदकर इस प्रकार विचार करे कि इस पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गादि समस्त भुवनोंमें जो कुछ देखने-सुनने या जाननेमें आता है, वह सब एकमात्र परमात्मा ही हैं। वही विश्वरूपमें प्रकाशित हो रहे हैं। यह समस्त जगत् उन्हींसे निकला है, उन्हींमें स्थित है और उन्हींमें लय हो जायगा। यह सृष्टि, स्थिति और संहारकी लीला उनके अपने ही अंदर उन्हींके द्वारा हो रही है। मैं भी उसी लीलाका एक खिलौनामात्र हूँ और जैसे सारी लीला वही हैं, वैसे ही यह खिलौना भी उनसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार विचार करते-करते अपनेसहित संसार और संसारके पदार्थोंको एकमात्र परमात्माके स्वरूपमें लीन करके फिर ऐसा निश्चय करनेवाली बुद्धिको भी परमात्मामें विलीन कर दे।

५—आँखें मूँदकर या नासिकाग्रपर स्थिर दृष्टि रखकर ऐसा निश्चय करे कि सत्, चित् और आनन्दसे परिपूर्ण एक महान् समुद्र लहराता हुआ चला आ रहा है और मैं बैठा देख रहा हूँ। इतनेमें ही उसने आकर मुझको अपने अंदर ले लिया और मैं उसकी गहराईमें डूब गया और डूबते ही गलकर उसमें घुल-मिल गया। अब मेरा अलग अस्तित्व ही नहीं रहा। बस, अब केवल वह चेतन आनन्दका अथाह समुद्र ही रह गया। इस प्रकार अपनेको परमात्मामें विलीन करे।

६—आँखें मूँदकर या नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर ऐसा निश्चय करे कि मैं जो कुछ भी देख, सुन और जान रहा था यह सब स्वप्न है। यह चन्द्र, सूर्य, दिशा, काल, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, दिन-रात, देश-वेश—सब कुछ स्वप्नमें मेरे ही अंदर, मेरे ही संकल्पके आधारपर स्थित थे। सब केवल मेरी ही कल्पना थी। अब मैं जग गया हूँ तब वे सब कुछ नहीं रहे, मैं-ही-मैं बच रहा हूँ। वह मैं परमात्मासे भिन्न नहीं हूँ, परमात्मा ही अपने संकल्पसे यह 'मैं' बन रहे हैं। उनके सिवा मैं और मेरा स्वप्न यह कुछ भी नहीं है। इस प्रकार विचारद्वारा परमात्मामें चित्तको विलीन कर दे।

७—एकमात्र विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा ब्रह्म ही हैं। उनके सिवा न कोई वस्तु है और न कोई स्थान ही है, जिसमें कोई वस्तु रह सके। केवल एक वही परिपूर्ण हैं। उनका यह ज्ञान भी उन्हींको है, क्योंकि वे ज्ञानस्वरूप ही हैं। वे सनातन, निर्विकार, असीम, अपार, अनन्त, अकल और अनवेद्य हैं। सब कुछ उन्हींमें कल्पित है या वही सब कुछ हैं। वे ही सत् हैं, वे ही असत् हैं, वे सत् भी नहीं हैं, असत् भी नहीं हैं। वे आनन्दमय हैं, अवर्णनीय हैं, अचिन्त्य हैं, उनका यह अवर्णनीय आनन्दमय स्वरूप भी आनन्दमय है। यह आनन्दस्वरूप पूर्ण है, नित्य है, सनातन है, अज है, अविनाशी है, परम है, चरम है, सत् है, चेतन है, ज्ञानमय है, कूटस्थ है, अचल है, अमल है, अकल है, अनामय है, अनन्त है, शान्त है और आनन्दमय है। बस, वह आनन्द-ही-आनन्द है। आनन्दके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, है सो आनन्द ही है। इस प्रकार ब्रह्मके आनन्दमयत्वकी मूर्ति चित्तमें प्रकट करके अपनेको उसमें विलीन कर दे।

८—शरीरके सभी मर्मस्थानोंकी भिन्न-भिन्न नाड़ियोंके पृथक्-पृथक् स्थान और कौन-सा वायु कहाँ रहता है तथा क्या करता है, इस शरीरविज्ञानको क्रियारूपमें भलीभाँति जानकर तब आँखें मूँदकर ध्यानके लिये बैठे और ज्योतिर्मय, निर्मल, आकाशवत् सर्वव्यापी, दृढ़, अत्यन्त अचल, नित्य, आदि-मध्य और अन्तरहित, स्थूल होते हुए ही सूक्ष्म, अवकाशरहित, स्पर्शरहित, चक्षुसे अगोचर, रस और गन्धहीन, अप्रमेय, अनुपम, आनन्दरूप, अजर, सत्य, सदसद्रूप, सर्वकारण, सर्वाधार, विश्वमूर्ति, अमूर्त, अज, अविनाशी, अप्रत्यक्ष और नित्य प्रत्यक्ष, अन्तःस्थ और बहिःस्थ, सब ओर मुख, सब ओर आँखें, सब ओर पैर, सब ओर सिर, सब ओर स्पर्शवाले, सर्वव्यापी ब्रह्मका ध्यान करे और वह ब्रह्म मुझसे अभिन्न है, ऐसा अनुभव करे।

९—आँखें मूँदकर अपने अंदर इस प्रकार देखे कि

कन्दसे निकले हुए बारह अंगुल नलीवाले चार अंगुल चौड़े, ऊर्ध्वमुख, केशरयुक्त, कर्णिकासमन्वित, प्राणायामद्वारा विकसित आठ दलवाले हृदयकमलपर सब प्राणियोंके हृदयमें रहनेवाले पुरुषोत्तम, देवपति, अच्युत, अजन्मा, अविनाशी, सृष्टिकर्ता, विभु लक्ष्मीपति भगवान् विराजमान हैं। उनकी चारों भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं, भगवान्‌के अंग केयूर और कुण्डल तथा अन्य आभूषणोंसे सुशोभित हैं, उनके वक्ष:स्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है। पद्मोदर-सदृश ओष्ठ हैं, प्रसन्नवदन हैं, मन्द-मन्द निर्मल हँसी हँस रहे हैं, विशुद्ध स्फटिकके समान वर्ण है, पीताम्बर पहने हुए हैं और अपने दिव्य प्रकाशसे प्रकाशित हो रहे हैं। इस प्रकार ध्यान करके यह देखे कि मैं उन्हींमें विलीन हो गया। वह परमात्मा मुझसे भिन्न नहीं रहे।

१०—आँखें मूँदकर भीतर इस प्रकार देखे कि प्रकृतिरूपी कर्णिकासे युक्त, अष्ट ऐश्वर्यरूपी दलोंसे शोभित, विद्यारूपी केशर और ज्ञानरूपी नलिकासे समन्वित, बृहत् कन्दसे संलग्न और प्राणायामद्वारा खिला हुआ हृदयमें एक कमल है। उस कमलमें सर्वत्र तेजोमय, सर्वतोमुखी शिखाओंसे सुशोभित, जगत्‌के कारण ईश्वररूपी हव्यवाहन वैश्वानर महा-अग्नि देहको चरणोंसे लेकर मस्तकतक तप्त करते हुए निर्वात दीपकी तरह निश्चल ज्योतिरूपसे विराजित हैं, उनकी उन ज्योतिर्मय लपटोंमें नीलपद्मके अंदर विद्युत्‌की लताकी भाँति दीप्तिमान् पीतवर्ण, विश्वचराचरके कारणरूप वैश्वानररूपी अक्षर देवता परमात्मा स्थित हैं। वह परमात्मा ही मैं हूँ। इस प्रकार निश्चय करे और अपनेको उनमें विलीन कर दे।

११—आँखें मूँदकर अथवा अभ्यास हो जानेपर प्रत्यक्ष सूर्यमण्डलमें देखे कि दिव्य रथके अंदर पद्मासनपर विश्वात्मा चतुर्मुख परम सुन्दर प्रफुल्ल कमलसदृश मुखमण्डलवाले हिरण्यवर्ण पुरुष विराजित हैं, उनके केश, मूँछें और नख भी हिरण्यमय हैं। उनका दर्शन पापोंको नाश करनेवाला है, वे सब लोगोंको अभय देनेवाले हैं। उनके ललाटकी आभा पद्मके गर्भपत्रके समान लाल है। वे समस्त जगत्‌के प्रकाशक और सब लोगोंके अद्वितीय साक्षी हैं। मुनिजन उनका दर्शन और स्तवन कर रहे हैं। ऐसे भगवान् आदित्यका दर्शन करके यह निश्चय करे कि वह आदित्य मुझसे अभिन्न है और इस निश्चयके साथ ही अपनेको उनमें चित्तवृत्तिके द्वारा विलीन कर दे।

१२—कर्णिका और केशरसे युक्त अष्टदल हृदयकमलमें चन्द्रमण्डलके मध्य विराजित गर्भाकार भोक्तारूप अक्षर आत्माको देखे और ऐसा निश्चय करे कि उस आत्मामें मैं ही हूँ और वह आत्मारूप मैं अमृतवर्षा करनेवाली चन्द्रकिरणोंसे घिरा हुआ हूँ, सिरमें स्थित अधोमुखी षोडशदल कमलसे गल-गलकर अमृतकी धाराएँ हजारों प्रकारसे मेरे चारों ओर बह रही हैं। वह अव्यय परमात्मा परब्रह्म मैं ही हूँ।

भेद-ध्यान

१३—योगीश्वर शिवका ध्यान

हिमालयके गौरीशंकर शिखरपर एकान्तमें भगवान् शिव ध्यानस्थ पद्मासनसे विराजित हैं। उनके शरीरके ऊपरका भाग निश्चल, सीधा और समुन्नत है। दोनों कंधे बराबर हैं। वे दोनों हाथ अपनी गोदमें रखे हुए हैं, जान पड़ता है मानो कमल खिल गया है। जटाजूट चूड़ाके समान ऊँचा करके सर्पके द्वारा बाँधा हुआ है, दोनों कानोंमें रुद्राक्षमाला है, ओढ़ी हुई काली मृगछालाकी श्यामता नीलकण्ठकी प्रभासे और भी घनीभूत हो रही है। उनके तीनों नेत्र नासिकाके अग्रभागपर स्थिर हैं। नासिकाग्रपर स्थित नीचेकी ओर झुके हुए स्थिर और नि:स्पन्द उनके नेत्रोंसे उज्ज्वल ज्योति निकलकर इधर-उधर छिटक रही है। उन्होंने समाधि-अवस्थामें देहके अंदर रहनेवाले वायुसमूहको निरुद्ध कर रखा है, जिसे देखकर जान पड़ता है मानो वे जलपूर्ण और आडम्बररहित बरसनेवाले बादल हैं अथवा तरंगहीन प्रशान्त महासागर हैं या निर्वातदेशमें स्थित निष्कल ज्योतिर्मय दीपक हैं। ऐसे समाधिस्थित योगीश्वर भगवान् शंकरका ध्यान करे।

१४—पंचमुख महेश्वरका ध्यान

आँखें मूँदकर देखे कि सामने एक सुन्दर कमल है, उस कमलपर भगवान् महेश्वर विराजमान हैं। उनके शरीरकी कान्ति चाँदीके पहाड़के समान श्वेत और सुन्दर है; मस्तकपर चन्द्रमा विराजमान है, रत्नोंके समान उज्ज्वल सब अंग हैं, एक हाथमें कुठार है और शेष तीन हाथोंमें मृगमुद्रा, वरमुद्रा और अभयमुद्रा

धारण किये हैं। प्रसन्न पाँच मुख हैं और तीन नेत्र हैं। व्याघ्रका चर्म पहने हुए हैं, चारों ओर देवता स्तुति कर रहे हैं। यही भगवान् महेश जगत्‌के आदि, बीजस्वरूप और सब भयोंका नाश करनेवाले हैं।

१५—श्रीभुवनेश्वरी देवीका ध्यान

जिनकी प्रात:कालीन सूर्यकिरणके सदृश देहकान्ति है, जिनके ललाटपर अर्धचन्द्र-मुकुट सुशोभित है, जिनका विशाल वक्ष:स्थल है, जिनके तीन नेत्र हैं और जो मन्द-मन्द मुसकरा रही हैं, जिनके चारों हाथ वरमुद्रा, अंकुश, पाश और अभयमुद्रासे शोभित हो रहे हैं, उन श्रीभुवनेश्वरी देवीका ध्यान करना चाहिये।

१६—श्रीजगज्जननी उमाका ध्यान

जिनकी देहकान्ति स्वर्णके समान सुन्दर है, जिनके बायें हाथमें नीलपद्म है और दाहिने हाथमें अत्यन्त श्वेतवर्ण चामर है, उन उमा देवीका ध्यान करना चाहिये।

१७—श्रीविष्णुभगवान्‌का ध्यान

आँखें मूँदकर देखे कि हृदयकमलपर या अपने सामने जमीनसे कुछ ऊँचेपर स्थित एक सहस्रदल कमलपर भगवान् श्रीविष्णु सुशोभित हैं। आप सब अनुरूप अंगोंसे समन्वित हैं, अति शान्त, सुन्दर मुखारविन्द है, आपके विशाल और मनोहर चार लंबी भुजाएँ हैं, ग्रीवा अत्यन्त रमणीय और सुन्दर है, परम सुन्दर कपोल हैं, मुखमण्डल मनोहर मन्द मुसकानसे सुशोभित है। लाल-लाल होंठ और मनोहर नुकीली नासिका है। दोनों कानोंमें मकराकृति कुण्डल चमक रहे हैं। मनोहर सुन्दर चिबुक है। नेत्र कमलके समान विशाल और प्रफुल्लित हैं। मेघश्याम शरीरपर सुवर्णवर्ण पीताम्बर शोभायमान है। लक्ष्मीजीके निवासस्थान वक्ष:स्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है। हाथोंमें शंख, चक्र, गदा, पद्म, हृदयमें सुन्दर तुलसीयुक्त वनमाला, रत्नहार, वैजयन्तीमाला और कौस्तुभमणि विभूषित हैं। चरणोंमें रत्नजटित बजनेवाले नूपुर हैं और मस्तकपर किरीट-मुकुट देदीप्यमान है। ललाटपर मनोहर तिलक है। हाथोंमें रत्नोंके कड़े, कमरमें रत्नजटित करधनी, भुजाओंमें बाजूबंद और हाथकी अंगुलियोंमें रत्नकी अँगूठियाँ सुशोभित हैं। आपके घुँघराले केश बड़े ही मनोहर हैं। चारों ओर प्रकाश छा रहा है और उसमेंसे आनन्दका अपार सागर उमड़ रहा है।

१८—शेषशायी विष्णुभगवान्‌का ध्यान

आँखें मूँदकर देखे कि हृदयदेशमें मानो क्षीरसमुद्र है और उसमें भगवान् अनन्त शेषजीकी कोमल शय्यापर शान्तस्वरूप भगवान् श्रीविष्णु लेटे हुए हैं। अत्यन्त सौम्य और प्रसन्न मुखमण्डल है। नीले मेघके समान मनोहर नीलवर्ण है। सभी अंग परम सुन्दर हैं और विविध आभूषणोंसे विभूषित हैं। श्रीअंगसे दिव्य गन्ध निकल रही है, नाभिमेंसे कमल निकला है, उस कमलपर चतुर्मुख ब्रह्माजी विराजमान हैं। जगज्जननी लक्ष्मीजी बैठी हुई भगवान्‌की चरणसेवा कर रही हैं। ऐसे सम्पूर्ण लोकोंके स्वामीके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ और भगवान् प्रसन्न होकर मेरे मस्तकपर अपना वरद हस्त रखते हैं। असंख्य सूर्योंसे बढ़कर आपका प्रकाश, असंख्य चन्द्रमाओंसे बढ़कर शीतलता, असंख्य कामदेवोंको मोहित करनेवाला आपका सौन्दर्य, असंख्य अग्नियोंसे बढ़कर आपका तेज, असंख्य इन्द्र और कुबेरोंसे बढ़कर आपका ऐश्वर्य, असंख्य समुद्रोंसे बढ़कर आपका गाम्भीर्य, असंख्य हरिश्चन्द्र और कर्णसे बढ़कर आपका औदार्य, असंख्य पृथ्वीमण्डलोंसे बढ़कर आपकी क्षमाशीलता, असंख्य जननियोंसे बढ़कर आपका वात्सल्य और असंख्य प्रियतमोंसे बढ़कर आपका माधुर्य है।

१९—श्रीसीतारामका ध्यान

कालाम्भोधरकान्तिकान्तमनिशं वीरासनाध्यासिनं।
मुद्रां ज्ञानमयीं दधानमपरं हस्ताम्बुजं जानुनि॥
सीतां पार्श्वगतां सरोरुहकरां विद्युन्निभां राघवं।
पश्यन्तं मुकुटांगदादिविविधाकल्पोज्ज्वलांगं भजे॥

भगवान् श्रीरामकी देहकान्ति मेघके समान श्याम वर्ण है, वे बड़े ही कोमलांग हैं और वीरासनसे बैठे हुए हैं, उनके एक हाथमें ज्ञानमुद्रा है और दूसरा हाथ जानुपर रखा हुआ है, उनके वाम पार्श्वमें पद्महस्ता विद्युत्‌की भाँति तेजोमयी सीता देवी विराजित हैं और श्रीराम उनकी ओर देख रहे हैं। श्रीरामचन्द्रके मस्तकपर रत्नमुकुट है और बाजूबंद आदि विविध रत्नमण्डित आभूषणोंसे शरीर प्रकाशित हो रहा है; ऐसे श्रीराघवका हम ध्यान करते हैं।

२०—श्रीरामके बालरूपका ध्यान

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा॥
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती॥

रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गभीर जान जेहिं देखा॥
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी। हियँ हरि नख अति सोभा रूरी॥
उर मनिहार पदिक की सोभा। बिप्र चरन देखत मन लोभा॥
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई। आनन अमित मदन छबि छाई॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे। नासा तिलक को बरनै पारे॥
सुंदर श्रवन सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला॥
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे॥
पीत झगुलिआ तनु पहिराई। जानु पानि बिचरनि मोहि भाई॥

(श्रीरामचरितमानस)

उनके नील कमल और गम्भीर (जलसे भरे हुए) मेघके समान श्यामशरीरमें करोड़ों कामदेवोंकी शोभा है। लाल-लाल चरण-कमलोंके नखोंकी [शुभ्र] ज्योति ऐसी मालूम होती है जैसे [लाल] कमलके पत्तोंपर मोती स्थिर हो गये हों। [चरणतलोंमें] वज्र, ध्वजा और अंकुशके चिह्न शोभित हैं। (नूपुर पैंजनी)-की ध्वनि सुनकर मुनियोंका भी मन मोहित हो जाता है। कमरमें करधनी और पेटपर तीन रेखाएँ (त्रिवली) हैं। नाभिकी गम्भीरताको तो वही जानते हैं जिन्होंने उसे देखा है। बहुत-से आभूषणोंसे सुशोभित विशाल भुजाएँ हैं। हृदयपर बाघके नखकी बहुत ही निराली छटा है। छातीपर रत्नोंसे युक्त मणियोंके हारकी शोभा और ब्राह्मण (भृगु)-के चरण-चिह्नको देखते ही मन लुभा जाता है। कण्ठ शंखके समान (उतार-चढ़ाववाला, तीन रेखाओंसे सुशोभित) है और ठोड़ी बहुत ही सुन्दर है। मुखपर असंख्य कामदेवोंकी छटा छा रही है। दो-दो सुन्दर दँतुलियाँ हैं, लाल-लाल होठ हैं। नासिका और तिलक [के सौन्दर्य]-का तो वर्णन ही कौन कर सकता है। सुन्दर कान और बहुत ही सुन्दर गाल हैं, मधुर तोतले शब्द बहुत ही प्यारे लगते हैं। जन्मके समयसे रखे हुए चिकने और घुँघराले बाल हैं, जिनको माताने बहुत प्रकारसे बनाकर सँवार दिया है। शरीरपर पीली झँगुली पहनायी हुई है। उनका घुटना और हाथोंके बल चलना मुझे बहुत ही प्यारा लगता है।

२१—श्रीराम-लक्ष्मणके किशोररूपका ध्यान

पीत बसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा॥
तन अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी॥
केहरि कंधर बाहु बिसाला। उर अति रुचिर नागमनि माला॥
सुभग सोन सरसीरुह लोचन। बदन मयंक तापत्रय मोचन॥
कानन्हि कनक फूल छबि देहीं। चितवत चितहि चोरि जनु लेहीं॥
चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी। तिलक रेख सोभा जनु चाँकी॥
रुचिर चौतनीं सुभग सिर मेचक कुंचित केस।
नख सिख सुंदर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस॥

(श्रीरामचरितमानस)

[दोनों भाइयोंके] पीले रंगके वस्त्र हैं, कमरके [पीले] दुपट्टोंमें तरकस बँधे हैं। हाथोंमें सुन्दर धनुष-बाण सुशोभित हैं। [श्याम और गौर वर्णके] शरीरोंके अनुकूल (अर्थात् जिसपर जिस रंगका चन्दन अधिक फबे उसपर उसी रंगके) सुन्दर चन्दनकी खौर लगी है। साँवरे और गोरे [रंग]-की मनोहर जोड़ी है। सिंहके समान (पुष्ट) गर्दन (गलेका पिछला भाग) है; विशाल भुजाएँ हैं। [चौड़ी] छातीपर अत्यन्त सुन्दर गजमुक्ताकी माला है। सुन्दर लाल कमलके समान नेत्र हैं। तीनों पापोंसे छुड़ानेवाला चन्द्रमाके समान मुख है। कानोंमें सोनेके कर्णफूल [अत्यन्त] शोभा दे रहे हैं और देखते ही [देखनेवालेके] चित्तको मानो चुरा लेते हैं। उनकी चितवन (दृष्टि) बड़ी मनोहर है और भौंहें तिरछी एवं सुन्दर हैं। [माथेपर] तिलककी रेखाएँ ऐसी सुन्दर हैं मानो [मूर्तिमती] शोभापर मुहर लगा दी गयी है। सिरपर सुन्दर चौकोनी टोपियाँ [दिये] हैं, काले और घुँघराले बाल हैं। दोनों भाई नखसे लेकर शिखातक (एड़ीसे चोटीतक) सुन्दर हैं और सारी शोभा जहाँ जैसी चाहिये, वैसी ही है।

२२—जनकपुरकी फुलवारीमें श्रीराम-लक्ष्मणका ध्यान

सोभा सीवँ सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा॥
मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के॥
भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए। श्रवन सुभग भूषन छबि छाए॥
बिकट भृकुटि कच घूघरवारे। नव सरोज लोचन रतनारे॥
चारु चिबुक नासिका कपोला। हास बिलास लेत मनु मोला॥
मुखछबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥
उर मनि माल कंबु कल गीवा। काम कलभ कर भुज बलसींवा॥
सुमन समेत बाम कर दोना। सावँर कुअँर सखी सुठि लोना॥
केहरि कटि पट पीत धर सुषमा सील निधान।
देखि भानुकुलभूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान॥

(श्रीरामचरितमानस)

दोनों सुन्दर भाई शोभाकी सीमा हैं। उनके शरीरकी आभा नीले और पीले कमलकी-सी है। सिरपर सुन्दर मोरपंख सुशोभित हैं। उनके बीच-बीचमें फूलोंकी कलियोंके गुच्छे लगे हैं। माथेपर तिलक और पसीनेकी बूँदें शोभायमान हैं। कानोंमें सुन्दर भूषणोंकी छबि छायी है। टेढ़ी भौंहें और घुँघराले बाल हैं। नये लाल कमलके समान रतनारे (लाल) नेत्र हैं। ठोड़ी, नाक और गाल बड़े सुन्दर हैं और हँसीकी शोभा मनको मोल लिये लेती है। मुखकी छबि तो मुझसे कही ही नहीं जाती, जिसे देखकर बहुत-से कामदेव लजा जाते हैं। वक्ष:स्थलपर मणियोंकी माला है, शंखके सदृश सुन्दर गला है। कामदेवके हाथीके बच्चेकी सूँड़के समान (उतार-चढ़ाववाली एवं कोमल) भुजाएँ हैं, जो बलकी सीमा हैं। जिसके बायें हाथमें फूलोंसहित दोना है, हे सखि! वह साँवला कुँवर तो बहुत ही सलोना है। सिंहकी-सी (पतली-लचीली) कमरवाले, पीताम्बर धारण किये हुए, शोभा और शीलके भण्डार, सूर्यकुलके भूषण श्रीरामचन्द्रजीको देखकर सखियाँ अपने-आपको भूल गयीं।

२३—धनुषयज्ञमें श्रीराम-लक्ष्मणका ध्यान

राजत राज समाज महुँ कोसलराज किसोर।
सुंदर स्यामल गौर तन बिस्व बिलोचन चोर॥
सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ॥
सरद चंद निंदक मुख नीके। नीरज नयन भावते जी के॥
चितवनि चारु मार मनु हरनी। भावति हृदय जाति नहीं बरनी॥
कल कपोल श्रुति कुंडल लोला। चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला॥
कुमुदबंधु कर निंदक हाँसा। भृकुटी बिकट मनोहर नासा॥
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं। कच बिलोकि अलिअवलि लजाहीं॥
पीत चौतनीं सिरन्हि सुहाईं। कुसुम कलीं बिच बीच बनाईं॥
रेखें रुचिर कंबु कल गीवाँ। जनु त्रिभुवन सुषमा की सीवाँ॥
कुंजर मनि कंठा कलित उरन्हि तुलसिका माल।
बृषभ कंध केहरि ठवनि बल निधि बाहु बिसाल॥
कटि तूनीर पीत पट बाँधें। कर सर धनुष बाम बर काँधें॥
पीत जग्य उपबीत सुहाए। नख सिख मंजु महाछबि छाए॥

(श्रीरामचरितमानस)

सुन्दर, साँवले और गौर शरीरवाले तथा विश्वभरके नेत्रोंको चुरानेवाले कोसलाधीशके कुमार राजसमाजमें [इस प्रकार] सुशोभित हो रहे हैं। दोनों मूर्तियाँ स्वभावसे ही (बिना किसी बनाव-शृंगारके) मनको हरनेवाली हैं। करोड़ों कामदेवोंकी उपमा भी उनके लिये तुच्छ है। उनके सुन्दर मुख शरद् [पूर्णिमा]-के चन्द्रमाकी भी निन्दा करनेवाले (उसे नीचा दिखानेवाले) हैं और कमलके समान नेत्र मनको बहुत ही भाते हैं। सुन्दर चितवन [सारे संसारके मनको हरनेवाले] कामदेवके मनको भी हरनेवाली है। वह हृदयको बहुत ही प्यारी लगती है। पर उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। सुन्दर गाल हैं, कानोंमें चंचल (झूमते हुए) कुण्डल हैं। ठोड़ी और अधर (ओठ) सुन्दर हैं, कोमल वाणी है। हँसी चन्द्रमाकी किरणोंका तिरस्कार करनेवाली है। भौंहें टेढ़ी और नासिका मनोहर है। [ऊँचे] चौड़े ललाटपर तिलक झलक रहे हैं (दीप्तिमान् हो रहे हैं)। [काले घुँघराले] बालोंको देखकर भौंरोंकी पंक्तियाँ भी लजा जाती हैं। पीली चौकोनी टोपियाँ सिरोंपर सुशोभित हैं, जिनके बीच-बीचमें फूलोंकी कलियाँ बनायी (काढ़ी) हुई हैं। शंखके समान सुन्दर (गोल) गलेमें मनोहर तीन रेखाएँ हैं, जो मानो तीनों लोकोंकी सुन्दरताकी सीमा [को बता रही] हैं। हृदयोंपर गजमुक्ताओंके सुन्दर कंठे और तुलसीकी मालाएँ सुशोभित हैं। उनके कंधे बैलोंके कंधेकी तरह [ऊँचे तथा पुष्ट] हैं, ऐंड (खड़े होनेकी शान) सिंहकी-सी है और भुजाएँ विशाल एवं बलकी भण्डार हैं। कमरमें तरकस और पीताम्बर बाँधे हैं। [दाहिने] हाथोंमें बाण और बायें सुन्दर कंधोंपर धनुष तथा पीले यज्ञोपवीत (जनेऊ) सुशोभित हैं। नखसे लेकर शिखातक सब अंग सुन्दर हैं, उनपर महान् शोभा छायी हुई है।

२४—श्रीरामका वरवेशमें ध्यान

स्याम सरीरु सुभायँ सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन॥
जावक जुत पद कमल सुहाए। मुनि मन मधुप रहत जिन्ह छाए॥
पीत पुनीत मनोहर धोती। हरति बाल रबि दामिनि जोती॥
कल किंकिनि कटि सूत्र मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर॥
पीत जनेउ महाछबि देई। कर मुद्रिका चोरि चितु लेई॥
सोहत ब्याह साज सब साजे। उर आयत उरभूषन राजे॥
पिअर उपरना काखासोती। दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती॥
नयन कमल कल कुंडल काना। बदनु सकल सौंदर्ज निधाना॥
सुंदर भृकुटि मनोहर नासा। भाल तिलकु रुचिरता निवासा॥
सोहत मौरु मनोहर माथे। मंगलमय मुकुता मनि गाथे॥

(श्रीरामचरितमानस)

श्रीरामचन्द्रजीका साँवला शरीर स्वभावसे ही सुन्दर है। उसकी शोभा करोड़ों कामदेवोंको लजानेवाली है। महावरसे युक्त चरणकमल बड़े सुहावने लगते हैं। जिनपर मुनियोंके मनरूपी भौंरे सदा छाये रहते हैं। पवित्र और मनोहर पीली धोती प्रात:कालके सूर्य और बिजलीकी ज्योतिको हरे लेती है। कमरमें सुन्दर किंकिणी और कटिसूत्र हैं। विशाल भुजाओंमें सुन्दर आभूषण सुशोभित हैं। पीला जनेऊ महान् शोभा दे रहा है। हाथकी अँगूठी चित्तको चुरा लेती है। ब्याहके सब साज सजे हुए वे शोभा पा रहे हैं। चौड़ी छातीपर—हृदयपर पहननेके सुन्दर आभूषण सुशोभित हैं। पीला दुपट्टा काँखासोती (जनेऊकी तरह) शोभित है, जिसके दोनों छोरोंपर मणि और मोती लगे हैं। कमलके समान सुन्दर नेत्र हैं। कानोंमें सुन्दर कुण्डल हैं और मुख तो सारी सुन्दरताका खजाना ही है। सुन्दर भौंहें और मनोहर नासिका है। ललाटपर तिलक तो सुन्दरताका घर ही है। जिसमें मंगलमय मोती और मणि गूँथे हुए हैं, ऐसा मनोहर मौर माथेपर सोह रहा है।

२५—वनवेशमें श्रीराम-लक्ष्मणका ध्यान

मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा॥
एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुख चंद चकोरा॥
तरुन तमाल बरन तनु सोहा। देखत कोटि मदन मनु मोहा॥
दामिनि बरन लखन सुठि नीके। नख सिख सुभग भावते जी के॥
मुनिपट कटिन्ह कसें तूनीरा। सोहहिं कर कमलनि धनु तीरा॥
जटा मुकुट सीसनि सुभग उर भुज नयन बिसाल।
सरद परब बिधु बदन बर लसत स्वेद कन जाल॥

(श्रीरामचरितमानस)

स्त्री-पुरुष आनन्दित होकर शोभा देखते हैं। अनुपम रूपने उनके नेत्र और मनोंको लुभा लिया है। सब लोग टकटकी लगाये श्रीरामचन्द्रजीके मुखचन्द्रको चकोरकी तरह (तन्मय होकर) देखते हुए चारों ओर सुशोभित हो रहे हैं। श्रीरामचन्द्रजीका नवीन तमालके वृक्षके रंगका (श्याम) शरीर अत्यन्त शोभा दे रहा है, जिसे देखते ही करोड़ों कामदेवोंके मन मोहित हो जाते हैं। बिजलीके-से रंगके लक्ष्मणजी बहुत ही भले मालूम होते हैं। वे नखसे शिखातक सुन्दर हैं और मनको बहुत भाते हैं। दोनों मुनियोंके (वल्कल आदि) वस्त्र पहने हैं और कमरमें तरकस कसे हुए हैं। कमलके समान हाथोंमें धनुष-बाण शोभित हो रहे हैं। उनके सिरोंपर सुन्दर जटाओंके मुकुट हैं; वक्ष:स्थल, भुजा और नेत्र विशाल हैं और शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखोंपर पसीनेकी बूँदोंका समूह शोभित हो रहा है।

२६—वनवेशमें श्रीसीता-राम-लक्ष्मणका ध्यान

सजनी! हैं कोउ राजकुमार।
पंथ चलत मृदु पद-कमलनि दोउ सील-रूप आगार॥ १॥
आगे राजिवनैन स्याम-तनु, सोभा अमित अपार।
डारौं वारि अंग-अंगनि पर, कोटि कोटि सत मार॥ २॥
पाछें गौर किसोर मनोहर, लोचन-बदन उदार।
कटि तूनीर कसे, कर सर धनु, चले हरन छिति-भार॥ ३॥
जुगुल बीच सुकुमारि नारि इक राजति बिनहि सिंगार।
इन्द्रनील, हाटक, मुकुतामनि जनु पहिरे महि हार॥ ४॥
अवलोकहु भरि नैन, बिकल जनि होहु, करहु सुबिचार।
पुनि कहँ यह सोभा, कहँ लोचन देह-गेह संसार?॥ ५॥
सुनि प्रिय-बचन चितै हित कै रघुनाथ कृपा-सुखसार।
तुलसिदास प्रभु हरे सबन्हिके मन, तन रही न सँभार॥ ६॥

(गीतावली)

'अरी सजनी! ये कोई राजकुमार हैं। ये दोनों ही शील और रूपके भण्डार हैं तथा मार्गमें अपने मृदुल चरणकमलोंसे पैदल ही चल रहे हैं। आगे तो कमलनयन और श्याम शरीरवाले कुँवर हैं, जिनकी शोभा अतुलित और अपार है। उनके एक-एक अंगपर मैं सैकड़ों करोड़ कामदेव निछावर करती हूँ और पीछे गौर वर्ण, मनोहर किशोरावस्थावाले लाल हैं। उनके नेत्र और मुख भी बड़े ही सुन्दर हैं। वे कमरमें तरकस कसकर और हाथोंमें धनुष-बाण लेकर मानो पृथ्वीका भार उतारनेके लिये ही जा रहे हैं। दोनोंके बीचमें एक सुकुमारी नारी बिना ही शृंगार किये सुशोभित हो रही है। ये तीनों मिलकर ऐसे जान पड़ते हैं मानो पृथ्वी इन्द्रनील, सुवर्ण और मुक्तामणिका हार पहने हुए हो। इन्हें तनिक नेत्र भरकर देख लो, व्याकुल मत होओ, तनिक विचार लो, फिर कहाँ यह शोभा मिलेगी? कहाँ हमारे नेत्र होंगे और कहाँ इस संसारमें ये घर और शरीर रहेंगे। ये प्रिय वचन सुनकर कृपा और सुखके सारस्वरूप भगवान् रामने उनकी ओर प्रीतिपूर्वक देखा। तुलसीदास कहते हैं, ऐसा करके प्रभुने उन

सबके चित्त चुरा लिये और उन्हें अपने शरीरकी भी सुधि न रही।

२७—सुबेल पर्वतपर श्रीरामका ध्यान

सिखर एक उतंग अति देखी। परम रम्य सम सुभ्र बिसेषी॥
तहँ तरु किसलय सुमन सुहाए। लछिमन रचि निज हाथ डसाए॥
ता पर रुचिर मृदुल मृगछाला। तेहिं आसन आसीन कृपाला॥
प्रभु कृत सीस कपीस उछंगा। बाम दहिन दिसि चाप निषंगा॥
दुहुँ कर कमल सुधारत बाना। कह लंकेस मंत्र लगि काना॥
बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चापत बिधि नाना॥
प्रभु पाछें लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान सरासन॥

(श्रीरामचरितमानस)

पर्वतका एक बहुत ऊँचा, परम रमणीय, समतल और विशेषरूपसे उज्ज्वल शिखर देखकर—वहाँ लक्ष्मणजीने वृक्षोंके कोमल पत्ते और सुन्दर फूल अपने हाथोंसे सजाकर बिछा दिये। उसपर सुन्दर और कोमल मृगछाला बिछा दी। उसी आसनपर कृपालु श्रीरामजी विराजमान थे। प्रभु श्रीरामजी वानरराज सुग्रीवकी गोदमें अपना सिर रखे हैं। उनके बायीं ओर धनुष तथा दाहिनी ओर तरकस [रखा] है। वे अपने दोनों कर-कमलोंसे बाण सुधार रहे हैं। विभीषणजी कानोंसे लगकर सलाह कर रहे हैं। परम भाग्यशाली अंगद और हनुमान् अनेकों प्रकारसे प्रभुके चरणकमलोंको दबा रहे हैं। लक्ष्मणजी कमरमें तरकस कसे और हाथोंमें धनुष-बाण लिये वीरासनसे प्रभुके पीछे सुशोभित हैं।

२८—रणविजयी श्रीरामका ध्यान

राजत राम काम-सत-सुंदर।
रिपु रन जीति अनुज सँग सोभित,
फेरत चाप-बिसिष बनरुह-कर॥ १॥
स्याम सरीर रुचिर श्रम-सीकर,
सोनित-कन बिच बीच मनोहर।
जनु खद्योत-निकर, हरिहित-गन,
भ्राजत मरकत-सैल-सिखरपर॥ २॥
घायल बीर बिराजत चहुँ दिसि,
हरषित सकल रिच्छ अरु बनचर।
कुसुमित किंसुक-तरु-समूह महँ,
तरुन तमाल बिसाल बिटप बर॥ ३॥
राजिव-नयन बिलोकि कृपा करि,
किए अभय मुनि-नाग, बिबुध-नर।
'तुलसिदास' यह रूप अनूपम
हिय-सरोज बसि दुसह बिपतिहर॥ ४॥

(गीतावली)

अपने शत्रु रावणको युद्धस्थलमें जीतकर भगवान् राम भाईके साथ विराजमान हैं। इस समय वे सैकड़ों कामदेवोंसे भी सुन्दर जान पड़ते हैं और अपना करकमल धनुष और बाणपर फेर रहे हैं। उनके श्याम शरीरपर पसीनेकी सुन्दर बूँदें और बीच-बीचमें मनोहर रुधिरकण शोभायमान हैं; मानो किसी मरकतमणिके पर्वतशिखरपर पटबीजनोंके समूहमें वीर बहूटियाँ शोभा पा रही हों। उनके चारों ओर घायल वीर बैठे हुए हैं। वे सम्पूर्ण रीछ-वानर बड़े ही प्रसन्न हैं। उस समय प्रभु ऐसे जान पड़ते हैं मानो फूले हुए किंशुक-वृक्षोंके बीचमें एक अति विशाल और तरुण तमाल-वृक्ष हो। उस समय कमलनयन भगवान् रामने कृपादृष्टिसे देखकर सब मुनि, नाग, देवता और मनुष्योंको निर्भय कर दिया। तुलसीदासजी कहते हैं, यह दु:सह विपत्तिको दूर करनेवाला अनुपम रूप हमारे हृदय-कमलमें विराजमान रहे।

२९—सिंहासनारूढ श्रीरामका ध्यान

नवदूर्वादलश्यामं पद्मपत्रायतेक्षणम्॥
रविकोटिप्रभायुक्तं किरीटेन विराजितम्।
कोटिकन्दर्पलावण्यं पीताम्बरसमावृतम्॥
दिव्याभरणसम्पन्नं दिव्यचन्दनलेपनम्।
अयुतादित्यसंकाशं द्विभुजं रघुनन्दनम्॥
वामभागे समासीनां सीतां कांचनसन्निभाम्।
सर्वाभरणसम्पन्नां वामांके समुपस्थिताम्॥
रक्तोत्पलकराम्भोजां वामेनालिङ्ग्य संस्थितम्।
सर्वातिशयशोभाढ्यं दृष्ट्वा भक्तिसमन्वितः॥

(अ० रामायण)

पार्वतीसहित श्रीशिवजीने देखा कि 'नवीन दूर्वादलके समान श्यामवर्ण, कमलदलके समान विशाल नेत्र, करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशयुक्त मुकुटसे सुशोभित, करोड़ों कामदेवोंके समान लावण्ययुक्त पीताम्बरसे समावृत, दिव्याभूषणोंसे समन्वित, दिव्य चन्दनचर्चित, हजारों सूर्योंके समान तेजसम्पन्न, सबसे अधिक शोभायमान द्विभुज भगवान् श्रीरघुनाथजी अपनी बायीं ओर करकमलमें रक्तकमल धारण किये विराजिता सब

प्रकारके आभूषणोंसे विभूषिता सुवर्णवर्णा श्रीसीताजीके गलेमें अपनी बायीं भुजा रखे हुए सुशोभित हो रहे हैं।'

३०—सिंहासनासीन श्रीरामका ध्यान

आजु रघुबीर-छबि जात नहिं कछु कही।
सुभग-सिंहासनासीन सीतारवन,
भुवन-अभिराम बहु काम सोभा सही॥ १॥
चारु चामर-ब्यजन, छत्र-मनिगन बिपुल,
दाम-मुकुतावली-जोति जगमगि रही।
मनहुँ राकेस सँग हंस-उडुगन-बरहि,
मिलन आए हृदय जानि निज नाथ ही॥ २॥
मुकुट सुंदर सिरसि, भालबर, तिलक-भ्रू,
कुटिल कच, कुंडलनि परम आभा लही।
मनहुँ हरडर जुगल मारध्वजके मकर,
लागि स्त्रवननि करत मेरुकी बतकही॥ ३॥
अरुन-राजीव-दल-नयन करुना-अयन,
बदन सुषमा-सदन, हासत्रय-ताप ही।
बिबिध कंकन, हार, उरसि गजमनि-माल,
मनहुँ बग-पाँतिजुग मिलि चली जलदही॥ ४॥
पीत निरमल चैल, मनहुँ मरकत सैल,
पृथुल दामिनि रही छाइ तजि सहज ही।
ललित सायक-चाप, पीन भुज बल अतुल,
मनुज तनु दनुज बन-दहन, मंडन-मही॥ ५॥
जासु गुन-रूप नहि कलित, निरगुन सगुन,
संभु, सनकादि, सुक भगति दृढ़ करि गही।
'दास तुलसी' राम-चरन-पंकज सदा,
बचन मन करम चहैं प्रीति नित निरबही॥ ६॥

(गीतावली)

आज रघुनाथजीकी छबिका कुछ वर्णन नहीं किया जाता। आज त्रिभुवन-सुन्दर सीतारमण भगवान् राम सुन्दर सिंहासनपर विराजमान हैं। वे सचमुच अनेकों कामदेवोंके समान शोभासम्पन्न हैं। सुन्दर चँवर, व्यजन, छत्र, अनेकों मणिगण तथा मुक्ता-मालाओंकी लड़ियोंकी ज्योति जगमगा रही है, मानो अपने प्रभुको हृदयमें पहचानकर [छत्ररूप] चन्द्रमाके सहित [चँवररूप] हंस, [मणिगणरूप] तारे और [व्यजनरूप] मोर श्रीरघुनाथजीसे मिलनेके लिये आये हैं। प्रभुके सिरपर सुन्दर मुकुट है, ललित ललाटपर तिलक और भृकुटियाँ शोभायमान हैं तथा घुँघराली अलकोंके पास कुण्डलोंकी बड़ी शोभा हो रही है। वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो कामदेवकी भुजाके दो मकर भगवान् शंकरके भयसे [प्रभुको उनके स्वामी जान] कानोंसे लगकर मेलकी बातचीत कर रहे हैं। भगवान्‌के अरुण कमलदलके समान नेत्र करुणाके भण्डार हैं। उनका मुख सुषमाका आश्रय तथा हास तीनों तापोंको नष्ट करनेवाला है। वे हाथोंमें तरह-तरहके कंकण तथा हृदयमें हार तथा गजमुक्ताओंकी माला धारण किये हैं। मानो दो बगुलोंकी पंक्तियाँ मिलकर मेघकी ओर जा रही हों। वे अति स्वच्छ पीताम्बर धारण किये हैं, मानो मरकतमणिके पर्वतपर बहुत-सी बिजली अपने स्वभावको छोड़कर छायी हुई हों। उनके हाथोंमें सुन्दर धनुष-बाण हैं तथा पुष्ट भुजाओंमें अतुलित बल है। उनका यह मनुष्य-शरीर दैत्यवनको जलानेवाला तथा पृथ्वीका आभूषण है। जो निर्गुण होते हुए भी सगुण हैं तथा जिनके गुण और रूपोंकी कोई गणना नहीं कर सकता, अत: शिव, सनकादि तथा शुकदेवजीने भी जिनके भक्ति-भावको ही दृढ़ करके पकड़ा है, उन भगवान् रामके चरणकमलोंमें तुलसीदास मन, वचन और कर्मसे सदा प्रीतिका ही निर्वाह चाहता है।

३१—श्रीकृष्णके शिशुरूपका ध्यान

किलकत कान्ह घुटुरुअनि आवत।
मनिमय कनक नंदके आँगन मुख प्रतिबिम्ब पकरिबै धावत॥
कबहूँ निरखि आप छाहींको करसों पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दँतुली पुनि पुनि तेहि अवगाहत॥
कनकभूमिपर कर-पग-छाया यह उपमा इक राजत।
कर कर प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा कमल बैठकी साजत॥
बालदसा सुख निरखि जसोदा पुनि पुनि नंद बुलावत।
अँचरातर लै ढाँकि सूरके प्रभुको दूध पिआवत॥

(श्रीसूरदासजी)

कन्हैया किलकारियाँ भरता हुआ घुटनोंके बल आ रहा है। वह नन्दरायजीके मणिमय तथा सुवर्णमय आँगनमें अपना प्रतिबिम्ब पकड़नेके लिये दौड़ रहा है। कभी अपनी छायाको देखकर उसे हाथसे पकड़ना चाहता है। किलककर हँसता है। दो दँतुलियाँ चमक रही हैं और वह बार-बार उन्हींकी परछाईं पकड़नेकी चेष्टा करता है। स्वर्णमयी भूमिपर हाथ और पैरोंकी छाया देखकर यह एक उपमा (उत्प्रेक्षा) स्फुरित हो रही

है। मानो पृथ्वी प्रत्येक मणिपर, जहाँ-जहाँ कन्हैयाका एक-एक हाथ और पैर पड़ता है, कमलका आसन सजा देती है! (जिससे उन कोमल हाथों और चरणोंको कठोरताका स्पर्श न हो।) बालकृष्णकी यह सुखदायिनी अवस्था देखकर यशोदामैया बार-बार नन्दरायजीको बुलाती हैं और सूरदासके प्रभुको गोदमें ले अंचलके नीचे छिपाकर दूध पिलाती हैं।

३२—श्रीकृष्णके बालरूपका ध्यान

(१)

धूरि भरे अति सोभित स्याम जू, तैसी बनी सिर सुंदर चोटी।
खेलत-खात फिरैं अँगना, पग पैजनियाँ, कटि पीरि कछोटी॥
वा छबिको 'रसखानि' बिलोकत, वारत काम-कलानिधि कोटी।
कागको भाग कहा कहिये हरि-हाथसों लै गयो माखन रोटी॥

(२)

पायन नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिनकी धुनिकी मधुराई।
साँवरे अंग लसै पटपीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई॥
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुखचंद जुन्हाई।
जै जग-मंदिर दीपक सुंदर, श्री-ब्रज-दूलह 'देव' सहाई॥

श्यामसुन्दर धूलभरे अंगोंसे बड़ी शोभा पा रहे हैं; वैसी ही शोभामयी उनके सिरपर सुन्दर चोटी बनी है। वे आँगनमें खेलते-खाते फिर रहे हैं। उनके पाँवोंमें पैंजनी और कटिभागमें पीली काछनी है। 'रसखानि' उस छबिको निहारता है और उसपर कोटि-कोटि काम तथा कलानिधि—चन्द्रमाको भी न्योछावर करता है। अहा! उस कौएके भाग्यको क्या कहा जाय, वह श्यामसुन्दरके हाथसे रोटी लेकर उड़ गया!

पैरोंमें मधुर स्वरसे नूपुर बज रहे हैं। कमरमें पहनी हुई क्षुद्र घण्टिकाओंकी ध्वनिका माधुर्य सब ओर फैल रहा है। श्याम अंगमें पीताम्बर सुशोभित है। वक्षःस्थलमें सुन्दर वनमाला कितनी भली मालूम होती है। माथेपर मोरमुकुट है, नेत्र बड़े-बड़े और चंचल हैं, मुखचन्द्रसे मन्द-मन्द हँसीकी चाँदनी-सी छिटक रही है। विश्वरूपी मन्दिरके सुन्दर दीपक तथा देवके सहायक व्रजवल्लभ श्रीकृष्णकी जय हो।

३३—बालगोपाल श्रीकृष्णका ध्यान

अव्याद्व्याकोशनीलाम्बुजरुचिररुणा-
म्भोजनेत्रोऽम्बुजस्थो
बालो जङ्घाकटीरस्थलकलितरणत्-
किंकिणीको मुकुन्दः।
दोर्भ्यां हैयंगवीनं दधदतिविमलं
पायसं विश्ववन्द्यो
गोगोपीगोपवीतो रुरुनखविलसत्-
कण्ठभूषश्चिरं वः॥

विकसित नीलकमलके समान देहकान्ति है, रक्तकमलके समान नयनयुगल हैं, पद्मपर विराजित हैं, चरणोंमें नूपुर और कटिमें किंकिणी बज रही है। जिसके एक हाथमें मक्खन और दूसरेमें खीर है। जिसके कण्ठमें बाघके नख शोभित हैं ऐसा जगद्वन्द्य बालकरूपी गोपाल, जो गौ, गोपी और गोपोंसे घिरा है, भक्तोंकी रक्षा करे।

३४—वन-भोजनमें श्रीकृष्णका ध्यान

भगवान् श्रीकृष्ण अपने साथी बालकोंको हँसाते-हँसाते उनके साथ वनमें भोजन कर रहे हैं—

बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृंगवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यंगुलीषु।
तिष्ठन्मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन्नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग्बालकेलिः॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ११)

कमरमें बँधे हुए वस्त्रमें बाँसुरीको खोंसे, बायीं बगलमें सींग और दाहिनी बगलमें बेंत दबाये, बायें हाथमें माखन-भातका ग्रास लिये और अंगुलियोंकी सन्धियोंमें खेलनेकी गोलियाँ दबाये श्याम-सुन्दर अपने सखा बालकोंके बीच कर्णिकाकी भाँति स्थित हुए उनसे मजाक करके स्वयं हँसते और उन्हें हँसाते हुए भोग लगा रहे हैं। इस लीलाको स्वर्गके देवता बड़े ही आश्चर्यके साथ देख रहे हैं।

३५—विश्व-विमोहन श्रीकृष्णका ध्यान

अंसालम्बितवामकुण्डलधरं मन्दोन्नतभ्रूलतं
किंचित्कुंचितकोमलाधरपुटं साचिप्रसारीक्षणम्।
आलोलांगुलिपल्लवैर्मुरलिकामापूरयन्तं मुदा
मूले कल्पतरोस्त्रिभंगललितं ध्यायेज्जगन्मोहनम्॥

जो कंधेतक लटकते हुए मनोहर कुण्डल धारण किये हैं, जिनकी भ्रूलता धनुषकी भाँति खिंची हुई है, जिनके अधरपल्लव अति कोमल, सुन्दर और किंचित् कुंचित हैं, जिनके नेत्र बाँके और विशाल हैं और जो कल्पतरु (या कदम्ब) के नीचे मनहरण त्रिभंगरूपसे

खड़े आनन्दके साथ चंचल कोमल अंगुलियोंको वंशीके छिद्रोंपर फिराते हुए उसे बजा रहे हैं, ऐसे जगन्मोहन मनमोहन श्यामसुन्दरका ध्यान करना चाहिये।

३६—नटनागर श्रीगोपाललालका ध्यान

सुमिरौ नटनागर बर सुंदर गोपाललाल।
सब दुख मिट जैहैं वे चिंतत लोचन बिसाल॥ १॥
अलकनकी झलकन लखि पलकन गति भूल जात।
भ्रूबिलास मंद हास रदनछदन अति रसाल॥ १॥
निंदत रबि कुंडल छबि गंड मुकुर झलमलात।
पिच्छ गुच्छ कृतवतंस इंदु बिमल बिन्दुभाल॥ २॥
अंग अंग जित अनंग माधुरी तरंग रंग।
बिमद मद गयंद होत देखत लटकीली चाल॥ १॥
हसन लसन पीत बसन चारु हार बर सिंगार।
तुलसिरचित कुसुमखचित पीन उर नवीन माल॥ ३॥
ब्रजनरेस बंसदीप बृंदाबन बर महीप।
वृषभान मानपात्र सहज दीनजन दयाल॥ ३॥
रसिकभूप रूपरास गुननिधान जानराय।
गदाधर प्रभु जुवतीजन मुनिजन-मानस-मराल॥ ४॥

श्रेष्ठ, सुन्दर नटवर नागर गोपाललालका स्मरण करो। उनके उन विशाल नेत्रोंका चिन्तन करते ही सारे दु:ख मिट जायँगे। उनके केशोंकी झलक देखकर पलकोंकी गति भूल जाती है—नेत्र उनकी ओर एकटक देखते रह जाते हैं। भौंहोंकी विलासपूर्ण भंगिमा, मन्द-मन्द हास्य तथा अत्यन्त रसीले लाल-लाल होठ, सभी अनुपम हैं। कानोंके कुण्डल सूर्यकी प्रभाको भी तिरस्कृत कर रहे हैं, वे कपोलरूपी दर्पणमें झिलमिला रहे हैं। उन्होंने अपने मस्तकको मोर-पंख तथा फूलोंके गुच्छोंसे सजा रखा है। स्वच्छ ललाटमें तिलक सुशोभित है। उनका एक-एक अंग कामदेवको पराजित करनेवाला है। उसमें माधुर्य-रसकी तरंगोंका रंग है। उनकी लटकीली चाल देखकर गजराजका भी मद चूर-चूर हो जाता है। हँसनेसे उनकी शोभा और बढ़ जाती है। पीताम्बर तथा सुन्दर हारसे उनका सुन्दर शृंगार किया गया है। श्यामसुन्दरके विशाल वक्षपर नूतन माला सुशोभित है, जो तुलसीदलसे बनायी गयी है और उसमें सुन्दर-सुन्दर फूल भी गुँथे हुए हैं। वे व्रजराजके वंशको प्रकाशित करनेवाले दीपक हैं। वृन्दावनके सर्वश्रेष्ठ भूपति हैं। श्रीवृषभानु गोपके सम्मानके पात्र हैं। दीनजनोंपर स्वभावत: दया करनेवाले हैं। गदाधर कहते हैं, वे रसिकोंके सम्राट्, रूपकी राशि, गुणोंके भण्डार, ज्ञानके अधीश्वर, व्रजांगनाओंके प्राणवल्लभ तथा मुनिजनोंके मानस-सरोवरमें विहार करनेवाले राजहंस हैं।

३७—श्रीकृष्णके किशोररूपका ध्यान

गुच्छनिके अवतंस लसैं सिखि पच्छनि अच्छ किरीट बनायो।
पल्लव लाल समेत छरी करपल्लवमें 'मतिराम' सुहायो॥
गुंजनिके उर मंजुल हार निकुंजनिते कढ़ि बाहर आयो।
आजको रूप लखे ब्रजराजको आज ही आँखिनको फल पायो॥

श्यामसुन्दर वृन्दावनके निकुंजोंसे निकलकर बाहर आये हैं। उनके कानोंमें फूलके गुच्छोंका आभूषण शोभा पाता है। उन्होंने मस्तकपर मोरके पंखोंका बना हुआ सुन्दर किरीट धारण कर रखा है। 'मतिराम' कहते हैं, उनके पल्लवके सदृश कोमल हाथोंमें लाल पल्लव और लकुटी सुशोभित है। वक्षपर गुंजाकी मंजुल माला लहरा रही है। व्रजराज श्रीकृष्णका यह आजका रूप देखकर आज ही आँखोंका फल प्राप्त हुआ है।

३८—श्रीवेणुधर श्रीकृष्णका ध्यान

करि मन नंदनंदन ध्यान।
सेइ चरन-सरोज सीतल तजि विषय रस पान॥
जानु जंघ त्रिभंग सुंदर कलित कंचन दंड।
काछनी कटि पीतपट द्युति कमल केसर खंड॥
मनु मराल प्रबाल छौना किंकिनी कलराव।
नाभिह्रद रोमावली अलि चले ऐन सुभाव॥
कंठ मुक्तामाल मलयज अंग उर बनमाल।
सुरसरी ससि नीर मानहु लता स्याम तमाल॥
बाहु पानि सरोज पल्लव गहे मुख मृदु बेनु।
अति बिराजत बदन बिधुपुर सुरभि मंडित रेनु॥
अरुन अधर कपोल नासा परम सुंदर नयन।
चलत कुंडल गंडमंडल मनहुँ निर्त्तत मयन॥
कुटिल कच भ्रुव तिलक रेखा सीस सिखी सिखंड।
मनो मदन द्वै सर सँधाने देखि वन कोदंड॥
'सूर' श्रीगोपालकी छबि दृष्टि भरि भरि लेत।
प्रानपतिकी निरखि सोभा पलक परन न देत॥

(सूरदासजी)

हे मन! नन्दनन्दन श्रीकृष्णका ध्यान कर। विषयरसका पीना छोड़कर उनके शीतल चरणारविन्दोंका सेवन

कर। उनकी सुन्दर त्रिभंगी झाँकी है। घुटने और जंघा ऐसे जान पड़ते हैं, मानो उस चरण-कमलके सुन्दर स्वर्णमय दण्ड (मृणाल) हों। कटिमें पीताम्बरकी काछनी है, जिसकी पीली-पीली कान्ति उस कमलके केसरखण्ड-सी जान पड़ती है। कमरमें जो मधुर स्वरसे किंकिनी (क्षुद्रघण्टिका) बज रही है, वही मानो उस कमलपर बैठा हुआ हंसका छोटा शिशु है, जो कलरव कर रहा है। नाभि ही सरोवर है। रोमपंक्तियाँ मानो भ्रमरावलियाँ हैं, जो स्वभावसे ही अपने आश्रयको चली हैं। कण्ठमें मोतियोंकी माला है, अंगोंमें मलयज चन्दनका लेप लगा है और वक्षःस्थलमें वनमाला सुशोभित है। ये तीनों क्रमशः गंगा, चन्द्रमा तथा नीरका भ्रम उत्पन्न करते हैं। भुजाएँ मानो श्याम-तमाल लताएँ हैं। कमलसदृश हाथ ही उनके पल्लव हैं। उन हाथोंमें मधुर मुरली लेकर श्रीहरिने उसे अपने मुखपर लगा रखा है। उनके चन्द्रवदनपर सुगन्धित गोरजकी बड़ी शोभा हो रही है। होंठ लाल है। कपोल, नासिका तथा नेत्र अतिशय सुन्दर हैं। कपोल-मण्डलपर कुण्डल हिल रहे हैं, मानो दो कामदेव नृत्य कर रहे हों। उनके बाल घुँघराले और भौंहें तिरछी हैं। ललाटमें तिलककी दो रेखाएँ हैं। शीशपर मोरका पंख शोभा पा रहा है। मानो कामदेवने सुदृढ़ धनुष उपस्थित देख उसपर दो बाणोंका संधान कर दिया है। सूरदास श्रीगोपालकी शोभाको दृष्टिमें भर-भर लेता है। प्राणपति श्रीकृष्णकी वह छबि निहारकर अपनी पलकें नहीं गिरने देता है।

३९—गोविन्द श्रीकृष्णका ध्यान

फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं बर्हावतंसप्रियं
श्रीवत्सांकमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम्।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोगोपसंघावृतं
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्यांगभूषं भजे॥

प्रफुल्ल इन्दीवरके समान जिनकी देहकी कान्ति है, चन्द्रमाके समान जिनका शोभामय मुखमण्डल है, जो मस्तकपर मयूरपुच्छका मुकुट धारण किये हैं। जिनके वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न, गलेमें कौस्तुभमणि है, जो पीतपट पहने हैं, जिनका दिव्य तनु गोपियोंके नयनोत्पलद्वारा चर्चित है, जो गौ और गोपोंके समूहसे घिरे हैं और हाथमें वंशी लेकर उसे बजा रहे हैं, जिनका समस्त दिव्य शरीर दिव्य अलंकारोंसे विभूषित है। हम ऐसे श्रीकृष्णको भजते हैं।

४०—श्रीकृष्णके नटवेशका ध्यान

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥

(श्रीमद्भा० १०। २३। २२)

श्रीयमुनाके तीरपर अशोक वृक्षोंके नये-नये पत्तोंसे सुशोभित कालिन्दीकुंजमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखाओंके साथ विराज रहे हैं। उनका नवीन मेघके समान श्याम वर्ण है, श्याम शरीरपर सुवर्णवर्ण पीतपट ऐसा जान पड़ता है मानो श्याम घनघटामें इन्द्रका धनुषमण्डल शोभित हो। गलेमें मनोहर वनमाला है। मयूरके पंख, धातुओंके अद्भुत-अद्भुत रंग और नये-नये चित्र-विचित्र पल्लवोंसे शरीरको सजाये हुए भगवान्‌का नटवर रूप देखने ही योग्य है। आप अपने एक सखाके कंधेपर दाहिना हाथ रखे बायें हाथसे कमलका फूल घुमा रहे हैं। कानोंमें कमलके फूल हैं और कपोलोंपर काली-काली अलकें शोभा पा रही हैं। प्रफुल्ल मुखकमलमें हँसीकी शोभा अवर्णनीय है।

४१—मुरलीमनोहर श्रीकृष्णका ध्यान

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥

(श्रीमद्भा० १०। २१। ५)

भगवान् श्रीकृष्णकी वंशी-ध्वनि सुनते ही गोपबालाएँ ध्यानस्थ हो गयीं, उन्होंने देखा—मोरकी पाँखोंका मुकुट पहने, कानोंमें कनेरके फूल धारण किये, स्वर्णके समान सुन्दर पीतपट और वैजयन्ती मालासे सुशोभित गोपगणोंके द्वारा गायी हुई अपनी कीर्तिको सुनते हुए उनके साथ श्यामसुन्दर नटवर-वेषमें अपने चरणोंकी विहारभूमि वृन्दावनमें प्रवेश कर रहे हैं। आप बाँसुरीमें अपने अधरकी सुधा भरते हुए उसके छिद्रोंपर अंगुली धरकर विविध स्वर निकाल रहे हैं।

४२—व्रजनवयुवराज श्रीकृष्णका ध्यान

मुदिरमदमुदारं मर्दयन्नंगकान्त्या
वसनरुचिनिरस्ताम्भोजकिंजल्कशोभः ।

तरुणिमतरणीक्षाविक्लवद्बाल्यचन्द्रो
व्रजनवयुवराजः काङ्क्षितं मे कृषीष्ट॥

(स्तवपुष्पांजलि)

जो अपनी अंगशोभाके द्वारा नवीन मेघका मदगर्व खर्व कर रहे हैं, जो अपने वस्त्रकी कान्तिद्वारा किंजल्कशोभाका तिरस्कार कर रहे हैं और जिनके नवयौवनरूपी सूर्यके दर्शनसे बाल्यावस्थारूपी चन्द्रमा क्षीणकान्ति हो रहा है, वे व्रजनवयुवराज श्रीकृष्ण हमारी आकांक्षा पूर्ण करें।

४३—वृन्दावनविहारी श्रीराधा-कृष्णका ध्यान

अंगश्यामलिमच्छटाभिरभितो कन्दीकृतेन्दीवरं
जाड्यं जागुडरोचिषां विदधतं पट्टाम्बरस्य श्रिया।
वृन्दारण्यविलासिनं हृदिलसद्दामाभिरामोदरं
राधास्कन्धनिवेशितोज्ज्वलभुजं ध्यायेम दामोदरम्॥

(स्तवपुष्पांजलि)

जिनके श्रीअंगकी श्यामकान्तिके द्वारा इन्दीवरकी कान्ति क्षीण हो गयी है, जिनके पीतपटकी शोभासे कुंकुमकी कान्ति तिरस्कृत हो गयी है, जिनके हृदयपर विराजमान वैजयन्ती मालासे शरीरका मध्यभाग सुशोभित हो रहा है, जो श्रीराधिकाजीके कंधेपर अपना बायाँ हाथ रखे हुए हैं, मैं उन वृन्दावनविहारी श्रीदामोदरका ध्यान करता हूँ।

४४—श्रीराधा-कृष्णका ध्यान

पीताम्बरं घनश्यामं द्विभुजं वनमालिनम्।
बर्हिबर्हकृतापीडं शशिकोटिनिभाननम्॥
घूर्णायमाननयनं कर्णिकारावतंसितम्।
अभितश्चन्दनेनाथ मध्ये कुंकुमबिन्दुना॥
रचितं तिलकं भाले बिभ्रतं मण्डलाकृतिम्।
तरुणादित्यसंकाशकुण्डलाभ्यां विराजितम्॥
घर्माम्बुकणिकाराजद्दर्पणाभकपोलकम्।
प्रियास्यन्यस्तनयनं लीलया चोन्नतभ्रुवम्॥
अग्रभागन्यस्तमुक्ताविस्फुरत्प्रोच्चनासिकम्।
दशनज्योत्स्नया राजत्पक्वबिम्बफलाधरम्॥
केयूरांगदसद्रत्नमुद्रिकाभिर्लसत्करम्॥
बिभ्रतं मुरलीं वामे पाणौ पद्मं तथैव च।
कांचीदामस्फुरन्मध्यं नूपुराभ्यां लसत्पदम्॥
रतिकेलिरसावेशचपलं चपलेक्षणम्।
हसन्तं प्रियया सार्द्धं हासयन्तं च तां मुहुः॥
इत्थं कल्पतरोर्मूले रत्नसिंहासनोपरि।
वृन्दारण्ये स्मरेत् कृष्णं संस्थितं प्रियया सह॥
वामपार्श्वे स्थितां तस्य राधिकां च स्मरेत्ततः।
नीलचोलकसंवीतां तप्तहेमसमप्रभाम्॥
पटांचलेनावृतार्द्धसुस्मेराननपंकजाम्।
कान्तवक्त्रे न्यस्तनेत्रां चकोरीचपलेक्षणाम्॥
अंगुष्ठतर्जनीभ्यां च निजप्रियमुखाम्बुजे।
अर्पयन्तीं पूगफलीं पर्णचूर्णसमन्विताम्॥
मुक्ताहारस्फुरच्चारुपीनोन्नतपयोधराम्।
क्षीणमध्यां पृथुश्रोणीं किंकिणीजालमण्डिताम्।
रत्नताटंककेयूरमुद्रावलयधारिणीम्।
लसत्कटकमंजीररत्नपादांगुलीयकाम्॥
लावण्यसारमुग्धांगीं सर्वावयवसुन्दरीम्।
आनन्दरससंमग्नां प्रसन्नां नवयौवनाम्॥
सख्यश्च तस्या विप्रेन्द्र तत्समानवयोगुणाः।
तत्सेवनपरा भाव्याश्चामरव्यजनादिभिः॥

भगवान् श्रीकृष्ण पीताम्बर पहने हैं, सुन्दर द्विभुज हैं, वनमालासे विभूषित हैं, उनका वर्ण नवजलधरके समान श्याम है, मस्तकपर मयूरपिच्छ शोभा पा रहा है, मुखमण्डल करोड़ों चन्द्रमाओंके समान मनोहर है, वे नेत्रोंको घुमा रहे हैं, कानोंमें कनेरके पुष्प खोंसे हुए हैं, भालमें गोल-गोल चन्दनका तिलक लगाये हैं, जिसके बीचमें केसरका बिन्दु सुशोभित है। दोनों कानोंमें बालसूर्यके समान कान्तिवाले कुण्डल विराजमान हैं। दर्पणके समान आभायुक्त कपोलोंपर स्वेदकण अत्यन्त शोभा पा रहे हैं। भगवान्‌की दृष्टि श्रीप्रियाजीके वदनकमलकी ओर लगी हुई है, भौंहें लीलासे ऊपरकी ओर उठी हुई हैं। उनकी नासिकाके अग्रभागमें मोती लटक रहा है। उनके पके हुए बिम्बफलके समान लाल-लाल होठ दाँतोंकी कान्तिसे प्रकाशित हो रहे हैं। भगवान् अपनी भुजाओंमें केयूर और अंगद आदि आभूषण धारण किये हुए हैं और उनके करकमल मुद्रिकाओंसे अलंकृत हैं। वे दाहिने हाथमें मुरली और बायेंमें नीलकमल धारण किये हुए हैं। उनकी कमरमें करधनी सुशोभित है और चरणोंमें नूपुर विराजमान है। वे प्रेमके आवेशसे चंचल हो रहे हैं और उनके नेत्रयुगल भी चलायमान हैं। वे श्रीप्रियाजीके साथ हँस रहे हैं और उन्हें भी बार-बार हँसा रहे हैं। इस प्रकार

वृन्दावनमें कल्पवृक्षके नीचे रत्नसिंहासनके ऊपर श्रीप्रियाजीके साथ विराजमान भगवान् नन्दनन्दनका ध्यान करे। उसके अनन्तर उनके वामभागमें अवस्थित श्रीराधिकाजीका इस प्रकार ध्यान करे। श्रीप्रियाजी नीला अंगा धारण किये हुए हैं, उनके श्रीअंगोंकी कान्ति तपाये हुए सोनेके समान है। उनके मन्दहास्ययुक्त मुखारविन्दका आधा भाग उनका रेशमी साड़ीके अंचलसे ढका हुआ है। वे चंचल नेत्रोंसे चकोरीकी भाँति अपने प्रियतमके मुखचन्द्रकी ओर निहार रही हैं और अपने अँगूठे और तर्जनीसे उनके मुखमें कटे हुए पानके सहित सुपारीका चूर्ण अर्पण कर रही हैं। उनके सुन्दर पीन और उन्नत वक्ष:स्थलपर मोतियोंका हार लहरा रहा है, उनका कटिप्रदेश अत्यन्त कृश है और स्थूल नितम्बपर करधनी विराजमान है। वे रत्नजटित ताटंक (कर्णफूल), केयूर (बाजूबंद), अँगूठी और कंकण धारण किये हुए हैं। उनके चरणोंमें कड़े, नूपुर और रत्नजटित छल्ले सुशोभित हैं। उनके समस्त अंग इतने सुन्दर हैं मानो वे लावण्यके सार ही हैं। वे आनन्दरसमें डूबी हुई हैं, अत्यन्त प्रसन्न हैं और उनके अंगोंमें नवयौवन झलक रहा है। हे ब्राह्मणदेव! उनकी सखियाँ उन्हींके समान गुण और अवस्थावाली हैं और उनपर चँवर डुला रही हैं तथा पंखा झल रही हैं।

४५—गीतावक्ता श्रीकृष्णका ध्यान

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः॥

(गीताध्यान)

जो शरणागतके लिये कल्पवृक्षरूप हैं, जिनके एक हाथमें घोड़ोंकी लगाम और चाबुक है, दूसरा हाथ ज्ञानमुद्रासे सुशोभित है, ऐसे गीतामृतको दूहनेवाले श्रीकृष्णको प्रणाम है।

४६—भक्तवत्सल वीरशिरोमणि श्रीकृष्णका ध्यान

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं
रविकरगौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलककुलावृताननाब्जं
विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥
युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्-
कचलुलितश्रमवार्यलंकृतास्ये।
मम निशितशरैर्विभिद्यमान-
त्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा॥
स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा-
मृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गु-
र्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः॥
शितविशिखहतो विशीर्णदंशः
क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं
स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः॥

(श्रीमद्भा० १।९।३३-३४, ३७-३८)

जो तीनों लोकोंमें अनुपम सौन्दर्ययुक्त, तमालके वृक्षके समान श्यामवर्ण, सूर्यकी किरणोंके समान चमकते हुए जरीके पीताम्बरको धारण किये हैं, घुँघराली अलकावलियोंसे जिनका मुखकमल सुशोभित हो रहा है, ऐसे दिव्य-विग्रह अर्जुनके सखा श्रीकृष्णमें मेरी निष्काम प्रीति हो। युद्धक्षेत्रमें घोड़ोंकी रज पड़नेसे जिनका वर्ण धूसर हो गया है, जिनके सुन्दर घुँघराले बाल इधर-उधर बिखर रहे हैं, जिनका मुखमण्डल श्रमजनित पसीनेकी बूँदोंसे अलंकृत है, मेरे तीखे बाणोंसे कवच कट जानेपर जिनकी त्वचा बिंध गयी है, ऐसे श्रीकृष्णमें मेरा मन रम जाय। महाभारतमें 'मैं शस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा' अपनी इस प्रतिज्ञाको त्यागकर 'मैं श्रीकृष्णको शस्त्र ग्रहण करवा दूँगा।' मेरी इस प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये रथसे कूदकर हाथमें रथका चक्र लेकर, जैसे हाथीको मारनेके लिये सिंह दौड़ता है, वैसे ही मुझे मारनेके लिये इस प्रकारके वेगसे दौड़े कि कंधेसे दुपट्टा गिर गया और पग-पगपर पृथ्वी डगमगाने लगी, मुझ आततायीके पैने बाणोंके प्रहारसे जिन श्यामसुन्दरका कवच टूट गया है और शरीर रुधिरसे लाल हो गया है, अर्जुनके रोकनेपर भी मुझको मारनेके लिये बड़े वेगसे दौड़नेवाले वे भक्तवत्सल भगवान् मेरी गति हों (ये भीष्मपितामहके वचन हैं)।

ये ध्यानके कुछ ही प्रकार लिखे गये हैं। भगवान्‌के अनन्त रूप हैं, अतएव अनन्त प्रकारसे ही ध्यान किया जा सकता है। इन सब ध्यानोंमें मन्त्रजप भी आवश्यक है। सभी स्वरूपोंके सबीज और बीजरहित मन्त्र हैं। मन्त्रके सम्बन्धमें लेखविस्तार होनेके कारण यहाँ कुछ नहीं लिखा जाता। अपने-अपने पथप्रदर्शकसे पूछना

चाहिये। मन्त्रका पता सहजमें न लगे तो इष्टके नामके साथ 'नमः' जोड़कर जप किया जा सकता है, जैसे **'ब्रह्मणे नमः', 'परमात्मने नमः', 'विष्णवे नमः', 'शिवाय नमः', 'रामाय नमः', 'कृष्णाय नमः'** आदि। ध्यानके बाद रुचि हो तो अपने ध्येय भगवान्‌की मानसपूजा भी अवश्य करनी चाहिये।*

साधकोंको एक बात जरूर स्मरण रखनी चाहिये कि जिस स्वरूपका ध्यान किया जाय, मन्त्र भी अवश्य उसीका होना चाहिये। परंतु कहीं-कहीं इसका व्यतिक्रम भी देखा जाता है। एक साधक पहले चतुर्भुज श्रीविष्णुभगवान्‌का ध्यान करता था, फिर कुछ समयतक उसने अभेदभावसे परमात्माका ध्यान करना आरम्भ किया। इस ध्यानमें भी उसे अच्छी सफलता हुई; वर्षों यह ध्यान चला। अन्तमें एक दिन वह नियमितरूपसे ध्यान करनेको बैठा कि अकस्मात् वही पहलेवाली श्रीविष्णुभगवान्‌की मूर्ति उसके सामने आ गयी। मूर्ति मानो हँस रही थी। वह कुछ देरतक तो आनन्दमें रहा, फिर उसने श्रीविष्णुकी मूर्तिसे चित्तको हटाकर अभेदभावसे निर्गुण परमात्माके ध्यानकी चेष्टा की; परंतु उसकी चेष्टा व्यर्थ हुई। दूसरे दिन, तीसरे दिन, चौथे दिन, यों लगातार उसने कई दिनोंतक प्रयत्न किया; परंतु अचिन्त्य अनिर्वचनीय ब्रह्मका ध्यान, जो वर्षोंसे सफलतापूर्वक हो रहा था, नहीं हुआ और श्रीविष्णुभगवान्‌का होता रहा। मानो भगवान्‌ने यह बतलाया कि सगुण-निर्गुण सब मैं ही हूँ। इसके बाद कई वर्षोंके बाद एक दिन अकस्मात् विष्णुभगवान्‌की जगह नन्दनन्दन आ गये। किसी तरह भी हटाये नहीं हटे! अनेकों बार चेष्टा की, परंतु वह तो मानो अड़ ही गये! ऐसी ही और भी बहुत-सी बातें हुईं, जिनका उल्लेख यहाँ अनावश्यक है। मन्त्रजप वह साधक सभी ध्यानोंमें **'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'** इस षोडश नामके मन्त्रका करता था। कहा जाता है कि श्रीरामकृष्णपरमहंसको भगवान्‌ने विविध रूपोंमें प्रत्यक्ष दर्शन दिये थे। अतएव यदि दूसरी मूर्ति अपने-आप ध्यानमें आती हो तो घबराना नहीं चाहिये। उसे मंगलमय भगवान्‌की कल्याणमयी इच्छा समझकर प्रसन्न होना चाहिये। हाँ, जान-बूझकर आज एक मन्त्रका जाप, कल दूसरेका; इसी प्रकार आज एक स्वरूपका ध्यान और कल दूसरे स्वरूपका अथवा श्रीरामस्वरूपके साथ श्रीकृष्ण-मन्त्रका और श्रीकृष्णस्वरूपके साथ राम-मन्त्रका जाप नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार निर्गुण, सगुण, साकार, निराकार तथा शिव, विष्णु, शक्ति आदि भगवत्स्वरूपोंके ध्यानमें भी पंचमेला नहीं करना चाहिये। जहाँतक हो अपनी ओरसे एक ही इष्टका अनन्यभावसे मन्त्र-जपसहित ध्यान करना चाहिये। दूसरे समस्त रूपोंका उसीमें पर्यवसान कर लेना चाहिये। अवश्य ही भिन्नता और न्यूनाधिकताकी बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। अपने इष्टके स्वरूपकी अपेक्षा अन्य स्वरूपोंको किसी अंशमें न्यून बतलानेवाले या तो विनोदसे—या किसी रूपमें भी अपने इष्टका गुण गानेकी इच्छासे अथवा रामके नामसे या कृष्णके नामसे चिढ़नेके बहाने लोगोंसे भगवान्‌का नाम उच्चारण करानेकी शुभ भावनासे—ऐसा करते हैं या वे अज्ञानपूर्वक दुराग्रह करते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीकृष्णके मुक्तकण्ठसे गुण गाये, परंतु श्यामसुन्दरकी मूर्तिके सामने जाकर विनोद करने लगे। वे बोले—'भगवन्! आज तो आपने खूब नटवर वेश बनाया। यह आपकी त्रिभंग मुरलीधारी बाँकी छवि बड़ी सुन्दर बनी। मैं आपको पहचान तो गया, आप हैं वही मेरे राम—परंतु मैं हठीला तो तभी आपके चरणोंमें माथा टेकूँगा जब आप मुरली और मोरमुकुट छिपाकर धनुषधारी बनेंगे।

कहा कहौं छवि आपकी, भले बने हो नाथ।
'तुलसी' मस्तक जब नवै, धनुष-बान लो हाथ॥

भगवान्‌ने भी भक्तके विनोदका उत्तर विनोदमें दिया, वे 'मुरली मुकुट दुरायकै' रघुनाथ बन गये।

श्रीकृष्णप्रेमरसके मतवाले व्रज-भक्त तो श्रीकृष्णको वृन्दावनसे बाहर जाने ही नहीं देते, उन्होंने तो उन्हें बाँध ही लिया—

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

कोई तो ऐसे आगे बढ़े कि उन्होंने श्यामसुन्दरको समेटकर नेत्रोंकी काली कोठरीमें बंद कर लिया और कहने लगे कि अब किसकी मजाल जो तुमको कोई

* भगवान्‌की मानसिक पूजाके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश' नामक पुस्तिका मँगवाकर देखनी चाहिये।

देख भी ले। दूसरेकी तनिक भी परवा न करनेवाले, उस व्रजके काले ठाकुरकी मोहिनीपर मचले हुए उन मतवालोंकी दो-एक वाणियाँ तो सुनिये—

(१)

मुक्ति कहत गोपालसों, मेरी मुक्ति कराय।
ब्रजरज उड़ि मस्तक चढ़ै, मुक्ति मुक्त ह्वै जाय॥
धनि गोपी औ ग्वाल धनि, धनि जसुदा धनि नंद।
जिनके आगे फिरत है, धायो परमानंद॥
ब्रजलोचन, ब्रजरमन, मनोहर, ब्रजजीवन, ब्रजनाथ।
ब्रजउत्सव, ब्रजबल्लभ सबके ब्रजकिसोर सुभ गाथ॥
ब्रजमोहन, ब्रजभूषन, सोहन, ब्रजनायक, ब्रजचन्द।
ब्रजनागर, ब्रजछैल, छबीले, ब्रजबर, श्रीनँदनंद॥
ब्रजआनँद, ब्रजदूलह, नितही अति सुंदर ब्रजलाल।
ब्रजगौवनके पाछे आछे सोहत ब्रज-गोपाल॥
ब्रजसम्बन्धी नाम लेत ये ब्रजकी लीला गावै।
नागरिदासहि मुरलीवारो ब्रजको ठाकुर भावै॥

(२)

हमारो मुरलीवारो स्याम।
बिन बंसी, बनमाल, चंद्रिका आन न जानौं नाम॥ १॥
गोपरूप बृंदाबनचारी, पूरन जन-मन-काम।
नन्दगाँव, बरसाना, गोकुल, कुंजगली, गिरि-धाम॥ २॥
याही सों हित चित्त बढ़ौ नित, दिन दिन पल छिन जाम।
'नागरिदास' द्वारिका मथुरा रजधानीसों न काम॥ ३॥

(३)

चाहे तू जोग कर भृकुटि मध्य ध्यान धर,
चाहे नामरूप मिथ्या जानिके निहारि ले।
निरगुन निरंजन निराकार ज्योति ब्याप रही,
ऐसो तत्त्वग्यान निज मनमें तू धारि ले॥
'नारायन' अपनेको आप ही बखान कर,
मो तें वह भिन्न नहीं या बिधि पुकारि ले।
जौलों तोहि नंदको कुमार नाहिं दृष्टि पर्‍यो,
तौलों तू बैठि भले ब्रह्मको बिचारि ले॥

अस्तु, सगुण साकार भगवान्‌का ध्यान करनेवाले साधकोंको अपने इष्टकी मूर्ति या चित्र सामने रखकर अथवा वर्णनको भलीभाँति स्मरण करके आँखें मूँदकर एक-एक अंगका ध्यान करना चाहिये। सब अंगोंका ध्यान न जमे तो मुख-मण्डल या चरणकमलोंका ही ध्यान करना चाहिये। अभ्यास दृढ़ताके साथ होगा तो ध्यान अवश्य ही हो सकता है। विश्वास, श्रद्धा, निश्चय और भगवान्‌की कृपाके आश्रय आदिका अवलम्बन लेकर अभ्यास किया जाय तो अपने इष्टकी सर्वांगपूर्ण मूर्तिका ध्यान शीघ्र ही हो सकता है। लगन होनी चाहिये। अधिक प्रयत्न करनेपर तो आगे चलकर इष्टकी कृपासे खुली आँखों ध्यान होने लगता है और वह चाहे जब, चाहे जहाँ हो सकता है। लेखक एक साधकको जानता है, जिसको छः महीने लगातार दिनमें तीन समय नियतरूपसे आँखें मूँदकर श्रीविष्णुभगवान्‌के ध्यानका अभ्यास करनेपर खुली आँखों ध्यान होने लगा था, वह जब स्मरण करता तभी भगवान् श्रीविष्णु उसे अपने सामने मुसकराते हुए खड़े दिखायी देते। यह ध्यान उसको ऊपर-नीचे, सब दिशाओंमें, सब समय हो सकता था। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उसको कोई अलौकिक शक्ति प्राप्त हो गयी थी; चित्तकी वृत्तियोंको किसी एक वस्तुके आकारका बना देनेका अभ्यास सिद्ध होनेपर जब उसके चित्तमें उस वस्तुका स्मरण होता है, तभी वह चित्त उसी रूपमें परिणत होकर उसके ध्यानमें आ जाता है; परंतु यह है बहुत ही अच्छा साधन। इसीसे समाधि होती है और समाधिकी सिद्धि होनेपर भगवान्‌का साक्षात्कार हो जाता है।

सगुण साकारका ध्यान करनेवाले पुरुषको एक बात और ध्यानमें रखनी चाहिये कि उसके इष्ट भगवान् ही सर्वशक्तिमान् सर्वोपरि हैं, वही निर्गुण, सगुण, साकार, निराकार सब कुछ हैं, अन्य सब रूप केवल उन्हींके हैं, उनसे बढ़कर और उनसे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यदि साधकने भूलसे अपने इष्टकी अपेक्षा किसी दूसरेको ऊँचा मान लिया तो उसको ऊँचा फल नहीं मिलेगा। दूसरे एक सत्य तत्त्व यह भी है कि परमात्माका सगुण साकाररूप उस मायासे निर्मित नहीं है, जो जगत्‌का प्रसव करती है और जीवोंको मोहसे आच्छादित करती है। उनका प्रत्येक अंग और प्रत्येक आयुध, आभूषण सभी कुछ दिव्य, नित्य, शुद्ध, चिन्मय और भगवत्स्वरूप है। इसीसे उस दिव्य आनन्दरसमय निखिलसौन्दर्य-माधुर्यनिधि भगवान्‌के सामने आते ही निर्ग्रन्थ मुनिगण भी मोहित हो जाते हैं। भगवान्‌के स्वरूपको मायिक मानना तो उसका प्रत्यक्ष

तिरस्कार करना है। जो उसे मायिक मानता है, उसे मायिक ही मिलता भी है।*

इष्टमें सर्वोपरि परमात्मबुद्धि और ध्यानके समय दीखनेवाली भगवान्‌की मूर्तिमें दिव्य और सत्य साक्षात्कारबुद्धि रखनेसे शीघ्र सफलता मिलती है। चित्त ज्यों-ज्यों ध्येयाकार होता है, त्यों-त्यों ध्यानकी प्रगाढ़ता होती है और त्यों-ही-त्यों कार्य करते समय भी इष्टकी मूर्ति सामने दीखा करती है। श्रीगोपियोंकी तो यह योगधारणा इतनी बढ़ी हुई थी कि उन्हें हर समय, हर जगह श्रीकृष्ण ही दीखते थे। एक गोपी सुबह उठकर घरमें झाड़ू दे रही थी कि उसे अपने सामने श्रीकृष्ण दिखायी दिये। वह झाड़ू देना भूल गयी। उसके नेत्र मानो उसी क्षण भगवान्‌के मुखकमल-मकरन्दका पान करनेके लिये भ्रमर बनकर उसमें गड़ गये। एक दूसरी दही मथ रही थी, देखती है प्राणधन श्यामसुन्दर सामने खड़े हैं। मन्थन बंद हो गया, वह उस अनूप रूपराशिपर मुग्ध हुई स्तम्भित-सी रह गयी। एक गोपी अपने बच्चेको पालनेमें झुला रही थी, लोरी दे रही थी, इतनेमें ही प्रियतम श्रीकृष्ण दिखायी दिये। माँ अपने बच्चेको भूल गयी और अतृप्त नेत्रोंसे भगवान्‌का रूपरस पान करने लगी। चौथी एक गोपी बैठी थी भोजन करने। मदनमोहन बालकृष्ण हँसते हुए उसकी थालीके समीप आ बैठे, वह अपना खाना भूल गयी और आनन्दमें भरकर श्रीकृष्णको ही भोजन कराने लगी। कैसी अनुपम आनन्दमयी स्थिति है।

श्रीसीताजी अशोकवाटिकामें सदा अपने सामने श्रीरामकी मनोहर मूर्तिको देखती थीं। नन्दिग्राममें श्रीरामपद-पद्म-मकरन्दके भ्रमर बड़भागी भरतजी नित्य श्रीचरणपादुकाके ऊपर श्रीसीतारामजीकी मनोहर झाँकी देखा करते थे। पतिव्रताशिरोमणि शंकरप्रिया भगवती सतीने योगाग्निसे शरीर जलाते समय ध्याननेत्रोंसे अपने चारों ओर भगवान् शिवके दर्शन किये थे।

ध्यानकी अमित महिमा है। पतंजलि महर्षिने अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच महान् क्लेश बताये हैं। संयमादि क्रियायोगसे ये क्षीण होते हैं, इनका दमन होता है, परंतु समूल नाश नहीं होता। बीजरूपसे ये छिपे रह जाते हैं और अनुकूल अवसर और संग पाकर पुनः अंकुरित और फुल्लित-फलित हो जाते हैं, परंतु ध्यानयोग तो क्रमशः पूर्ण समाधिमें परिणत होकर उनके बीजतकको नष्ट कर देता है। ध्यानका आनन्द कोई लिखकर नहीं बता सकता। इसके महत्त्व और आनन्दका पता तो साधना करनेपर ही लगता है।

इस लेखमें ध्यानके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा गया है, उसमें लेखकका स्वानुभव बहुत थोड़ा और संकलन ही अधिक है। सुधी पाठक भूल-चूकके लिये क्षमा करेंगे।

अवतार-तत्त्व

प्रश्न—अवतारका क्या अर्थ है? मैंने सुना है कि जो महात्मा पुरुष दैवी सम्पत्तिको प्राप्तकर उच्च स्थितिपर पहुँच जाते हैं, वही आगे चलकर भगवान्‌के अवतार माने जाते हैं, क्या यह ठीक है?

उत्तर—नहीं, उच्च स्थितिपर पहुँचना तो आरोहण कहाता है, वह तो ऊपर चढ़ना है। अवतारका अर्थ तो है उच्च स्थानसे नीचेकी ओर उतरना—अवतरण। जो लोग चढ़नेको उतरना कहते हैं, वे तो अवतारका अर्थ ही नहीं समझते।

प्र०—अच्छा, इस उच्च और नीचका क्या अर्थ है, जबकि यह कहा जाता है कि सभी लोक उस एकमात्र जगत्प्रसविनी प्रकृति माताकी गोदके बच्चे हैं, तब उनमें ऊर्ध्व और अधः यानी उच्च और नीच लोकका मानना क्या अर्थ रखता है?

उ०—अवश्य ही सभी लोक प्रकृति माताकी गोदके बच्चे हैं, परंतु उसमें जबतक विषमता नहीं होती, जबतक परमात्माके संकल्पसे चेतनका संयोग प्राप्तकर वह गर्भधारिणी नहीं होती, तबतक एक भी बच्चा नहीं हो सकता। प्रकृतिके परम साम्यभावमें ऊँच-नीचका कोई भी विभाग नहीं है, परंतु जैसे माताके बहुत-से बच्चोंमें छोटे-बड़े, बुद्धिमान्-मूर्ख, धनी-निर्धन होते हैं, इसी प्रकार प्रकृतिकी गोदमें

* श्रीभगवान्‌के सगुण साकार स्वरूपकी दिव्यताका विशेष विवरण गीताप्रेससे प्रकाशित 'प्रेमदर्शन' नामक (देवर्षि श्रीनारदरचित भक्तिसूत्रोंकी टीका) पुस्तकमें देखना चाहिये।

खेलनेवाले इन लोकोंमें भी उच्च-नीचका विभाग स्वाभाविक है। अवश्य ही यह परमार्थदृष्टिसे ऐसा ही नहीं है '**न रूपमस्येह तथोपलभ्यते।**' पर सृष्टि होती ही है विषमतामें। विषमतामें उच्च-नीच है ही। अतएव कारणजगत्‌के अन्तर्गत जो सत्त्वप्रधान लोक हैं, साधारणतया उन्हीं लोकोंसे नीचेकी ओर अवतरण होता है।

प्र०—क्या इस मर्त्यलोकमें ही अवतार होता है और किसीमें नहीं होता?

उ०—होता क्यों नहीं! स्वर्गादि लोकोंमें भी अवतार होता है, परंतु इतना याद रखना चाहिये कि वह होगा अपने लोककी अपेक्षा निम्नस्तरके लोकमें ही। तभी उसका 'अवतार' नाम सार्थक है।

प्र०—अवतार भगवान्‌का होता है या अन्य किसी देवताका भी होता है?

उ०—कारणजगत्‌के सत्त्वमय लोकोंमें निवास करनेवाली किसी भी शक्तिका अवतार हो सकता है। महापुरुषगण भी, जो कारणजगत्‌में पहुँचे हुए हैं, भगवदिच्छासे समय-समयपर अवतरण करते हैं।

प्र०—यह तो सब मायिक लोकोंसे होनेवाले अवतार हुए; क्योंकि कारणजगत् भी तो मायामें ही है। क्या कोई नित्य मायातीत भगवद्धाम भी है और क्या वहाँसे भी अवतार होते हैं?

उ०—भगवान्‌के दिव्यधाम भी हैं, जिनमें मायिक सूर्य-चन्द्रमाका प्रकाश नहीं है। वहाँ सब कुछ भगवत्स्वरूप है, भगवत्प्रकाशसे ही वे प्रकाशित हैं, वहाँसे भी भगवान्‌का और भगवत्स्वरूप कारक पुरुषोंके अवतार होते हैं।

प्र०—भगवान् तो नित्य-शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव हैं, वे विज्ञानानन्दघन नित्य-निर्विकार निराकार हैं, उनमें धाम और देहकी कल्पना क्यों कर हो सकती है?

उ०—ऐसी बात नहीं है। नित्य-शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव विज्ञानानन्दघन नित्य-निर्विकार निराकार ब्रह्म भी भगवान्‌का स्वरूप ही है। उसमें धाम या देहकी कोई कल्पना नहीं हो सकती। उस आलोचनातीत अव्यक्त निरंजन निर्विकारका अवतार नहीं होता। अवतार होता है उस आनन्दमय विज्ञानानन्दघन निर्विकार समग्र भगवान्‌का, जिसका एक स्वरूप निराकार ब्रह्म है। इसीसे गीतामें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको ब्रह्मकी प्रतिष्ठा बतलाया है। '**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्।**' (१४। २७) ये सर्वमय और सर्वातीत समग्ररूप भगवान् सगुण साकार भी हैं और सगुण निराकार भी हैं तथा दोनोंसे अतीत भी।

प्र०—जो अवतार होता है, उसे तो जन्म लेना पड़ता है, उसका देहपात भी होता है, उसे सुख-दुःख भी होते हैं तथा कर्म भी करने ही पड़ते हैं, उनका फल भी उसे भोगना ही पड़ता है। भगवान्‌में यदि ये सारी बातें होती हैं तो हम अविद्याग्रस्त जीवोंमें और उन सच्चिदानन्दघन भगवान्‌में अन्तर ही क्या रह गया?

उ०—यदि ऐसी ही बात होती तो जीवोंमें और भगवान्‌में कोई अन्तर नहीं रहता। आत्मदृष्टि या भगवद्दृष्टिसे कोई अन्तर है भी नहीं, परंतु वह विषय दूसरा है, इसलिये यहाँ उसकी आलोचना नहीं की जाती। बात यह है कि हमारे जन्ममें हमारे पूर्वकृत कर्म कारण हैं, अदृष्टकी प्रेरणासे जगन्नियन्ताके नियमानुसार हमें बाध्य होकर निश्चित योनिमें जन्म धारण करना पड़ता है। हम अदृष्टके अनुसार कर्मफलरूप सुख-दुःख भोगते हैं, आसक्ति और अहंकारसे युक्त हुए नवीन कर्म करते हैं, पांचभौतिक देह छोड़कर—मरकर सूक्ष्म शरीरके साथ अन्य गतिमें चले जाते हैं, परंतु भगवान्‌के अवतारमें ऐसी बात एक भी नहीं है। उनके अदृष्ट नहीं हैं, वे किसी अदृष्टकी प्रेरणासे बाध्य होकर जन्म नहीं लेते। कर्तृत्वाभिमान न होनेसे वे कोई नया कर्म नहीं करते। हमलोगोंकी तरह उनके जन्म और मृत्यु भी नहीं होते। जीवोंके कल्याणार्थ वे संसारमें उसी भाँति अवतीर्ण होते हैं, जैसे कोई चक्रवर्ती सम्राट् अपने सम्राट्-पदपर प्रतिष्ठित रहता हुआ ही छोटे बच्चोंके साथ खेलने और खेल-ही-खेलमें उनके दुःखोंको मिटाकर उन्हें सुख पहुँचाने तथा सन्मार्ग बतलानेके लिये उन बच्चोंके साथ जमीनपर आकर बैठ जाता है और उन्हींकी भाषामें उनसे बातचीत, हास्य-विनोद, खेल-कूद करता है। बच्चोंकी भाँति सब कुछ कहते हुए भी वह जैसे अपने महान् सम्राट्-पदपर कायम रहता है, इसी प्रकार भगवान् भी अपनी स्व-महिमामें पूर्णतया प्रतिष्ठित रहते हुए ही हमलोगोंमें अवतीर्ण होते हैं। स्वयं उनका कथन है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४।६)

'अज, अविनाशी और समस्त प्राणियोंका ईश्वर रहता हुआ ही मैं अपनी प्रकृतिको अधीन करके, 'अपनी माया' (योगमाया—ह्लादिनीशक्ति) के साथ प्रकट होता हूँ।' इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् जन्म-मृत्युरहित हैं, कर्मरहित हैं और वे अपनी महिमामें सुप्रतिष्ठित रहते हुए ही प्रकट होते हैं, इसीसे उन्होंने अपने जन्म-कर्मको दिव्य कहा है—'**जन्म कर्म च मे दिव्यम्।**' वास्तवमें भगवान्‌में जन्म-कर्म है ही नहीं, यह तो उनकी लीला है और बात भी ठीक ही है; जब मुक्त पुरुष भी जन्म-कर्म-रहित होते हैं, तब भगवान्‌के जन्म-कर्म-रहित होनेमें क्या आश्चर्य है? परंतु प्राकृत लोगोंको उनके जन्म-कर्म प्रतीत होते हैं, इसलिये उन्हें 'दिव्य' कहते हैं। उनका प्राकट्य और तिरोधान होता है तथा कर्मके रूपमें उनकी अनिर्वचनीय दिव्य लीलाएँ होती हैं। भगवान्‌के इस दिव्य जन्म-कर्मको जो तत्त्वतः जान लेता है, उसके लिये भगवान् स्वयं कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४।९)

हे अर्जुन! मेरा जन्म-कर्म दिव्य है, इस बातको जो पुरुष तत्त्वतः जान लेता है, वह शरीर छोड़नेके बाद फिर जन्म ग्रहण नहीं करता, वह मुझको प्राप्त हो जाता है।

भगवान्‌में न आसक्ति है, न फलकामना है, न अहंकार है, न इनके आवासस्थान प्राकृत मन-बुद्धि ही है। वे सर्वात्मरूपमें सच्चिदानन्दमय भगवान् हैं।

उनका जन्म भी साधारण जीवोंकी भाँति नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण कंसके कारागारमें परम भक्त देवकी और वसुदेवके सामने चतुर्भुज विष्णुके रूपमें सहसा प्रकट हुए। उनके कमलके समान सुन्दर नेत्र थे, वे चारों हाथोंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए थे। उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न तथा कण्ठमें शोभायमान कौस्तुभमणि थी। वे पीताम्बर पहने हुए थे, नवनील नीरदके समान उनका मनोहर श्यामवर्ण था। उनके मस्तकपर वैदूर्य मणियोंसे जड़ा हुआ किरीट और कानोंमें मकराकृत कुण्डल शोभा पा रहे थे। अंगोंपर सुन्दर करधनी, बाजूबंद और कंकणादिकी शोभा अपूर्व थी।[1] ऐसे अद्भुत विष्णुरूप बालकको देखकर वसुदेव-देवकी चकित हो गये और वसुदेवजीने स्तुति करना शुरू कर दिया। उन्होंने पहले ही कहा—

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्॥

(श्रीमद्भा० १०।३।१३)

हे परमात्मन्! मैंने आपको जान लिया, आप प्रकृतिसे पर साक्षात् परम पुरुष हैं, केवल अनुभवानन्दस्वरूप हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंके बुद्धिके साक्षी हैं।

इसके बाद देवकीके स्तुति करनेपर वे लोकनयनाभिराम द्विभुज बालरूपमें बदल गये। इसी प्रकार श्रीरामावतारमें भी श्रीकौसल्याजीके यहाँ भी उन सनातन परमात्मा जगन्नाथका आविर्भाव हुआ।

आविरासीज्जगन्नाथः परमात्मा सनातनः।

उन्होंने देखा 'भगवान् नील कमलके समान श्यामवर्ण हैं, पीताम्बर पहने हुए हैं, चार भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हैं, नेत्रोंके भीतरका भाग सुन्दर अरुण कमलके समान शोभायमान है, कानोंमें कान्तिमान् कुण्डल शोभित हैं, हजारों सूर्योंके समान प्रकाश है, मस्तकपर प्रकाशमान मुकुट और गलेमें वैजयन्ती माला है। मुखकमलपर हृदयस्थ अनुग्रहरूप चन्द्रमाकी सूचक मुसकानरूपी चाँदनी छिटक रही है, करुणारसपूर्ण नेत्र कमलदलके समान विशाल हैं एवं श्रीवत्स, हार, केयूर और नूपुर आदि आभूषणोंसे विभूषित हैं।'[2]

फिर कौसल्याजीके स्तुति करनेपर आप बालकरूप बन गये। इसी प्रकार श्रीकृष्ण और श्रीरामके अन्तर्धानकी कथाएँ भी हैं। भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें आता है—

---

१. तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शंखगदार्युदायुधम्। श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्॥
महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम्। उद्दामकाञ्च्यंगदकंकणादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत॥
(श्रीमद्भा० १०।३।९-१०)

२. नीलोत्पलदलश्यामः पीतवासाश्चतुर्भुजः। जलजारुणनेत्रान्तः स्फुरत्कुण्डलमण्डितः॥
सहस्रार्कप्रतीकाशः किरीटी कुञ्चितालकः। शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविराजितः॥
अनुग्रहाख्यहृत्स्थेन्दुसूचकस्मितचन्द्रिकः।
करुणारससम्पूर्णविशालोत्पललोचनः। श्रीवत्सहारकेयूरनूपुरादिविभूषणः॥ (अ० रा० १।३।१६—१८)

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमंगलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥

(श्रीमद्भा० ११। ३१। ६)

भगवान् श्रीकृष्ण योगधारणाजनित अग्निके द्वारा धारणाध्यानमें मंगलकारक लोकाभिराम मनोहर स्वतनु (दिव्य भगवद्देह)-को दग्ध किये बिना ही उसी भगवद्देहसे अपने परमधाम पधार गये। भगवान् श्रीरामके सम्बन्धमें भी ऐसी कथा आती है कि वे विष्णुरूप होकर स्वधामको पधार गये।

हमलोगोंकी भाँति उनका देहपात नहीं हुआ, न हो सकता है। जब एक योगी भी चाहे जहाँ चाहे जब चाहे जिस रूपमें प्रकट और अन्तर्धान हो सकता है, तब भगवान्के स्वरूपभूत अप्राकृत भगवद्देहके प्रकट और अन्तर्धान होनेमें क्या आश्चर्य है? परंतु वास्तवमें उनका यह प्राकट्य और अन्तर्धान देहधारण और देहत्याग नहीं है। लीलाभूमिमें प्रकट होना 'जन्म' और अन्तर्धान करना ही 'देहत्याग' कहलाता है। भगवान्को सुख-दुःख भी नहीं होते और न उन्हें हमलोगोंकी भाँति कर्म करना और उसका फल ही भोगना पड़ता है। स्वमहिमामें स्थित भगवान् लोककल्याणार्थ लीला करते हैं; जैसे बालकोंके साथ उनके कल्याणार्थ खेलनेवाला वृद्ध पितामह सम्राट् उनके खेलमें हारता-जीतता और बच्चोंकी दृष्टिमें अपने ही सदृश शोक-विषादको प्राप्त होता हुआ-सा दीखता है, इसी प्रकार हम अज्ञोंकी दृष्टिमें भगवान्में सुख-दुःख भासते हैं, हम अज्ञानियोंकी दृष्टिमें ही वे कर्म करते और कर्मोंका फल भोगते हैं। और अज्ञानियोंकी दृष्टिमें ही वे जन्म और मृत्युको प्राप्त होते प्रतीत होते हैं। वस्तुतः वे सदा ही अज, अविनाशी, निष्क्रिय, स्वमहिमामें स्थित और आनन्दमय हैं। और लीलावश अपनी इच्छासे ही अवतीर्ण होते हैं। कोई भी बाहरी कारण उन्हें अवतीर्ण होनेके लिये बाध्य नहीं कर सकता।

प्र०—फिर भगवान्के अवतारमें प्रयोजन क्या है? वे किस उद्देश्यसे अवतार लेते हैं?

उ०—भगवान्ने स्वयं ही इसका उत्तर दिया है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ८)

साधुओंके परित्राण, दुष्कृतोंके विनाश और धर्मकी स्थापनाके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ।

प्र०—साधुओंका परित्राण, पापियोंका विनाश और धर्मकी स्थापना तो भगवान् अपने साधारण-से संकल्पसे ही कर सकते हैं, अधिक करें तो अपनी संनिधिमें रहनेवाले किसी मुक्त कारक पुरुषको भी भेज सकते हैं। भला, जिन भगवान्के भ्रूसंकेतमात्रसे अखिल ब्रह्माण्डोंका सृजन और प्रलय हो सकता है, वे स्वयं इस मामूली कार्यके लिये अवतीर्ण क्यों होंगे?

उ०—भगवान्की कौन-सी लीला क्यों होती है, इस बातको हमलोग नहीं समझ सकते। भगवान्को जानना, पहचानना और उनकी लीलाका रहस्य समझना केवल उनकी कृपासे ही सम्भव है। कोई भी निश्चितरूपसे नहीं कह सकता कि यह बात यों ही है। तथापि इस श्लोकका रहस्यार्थ महात्मालोग इस प्रकार करते हैं कि यहाँ 'साधु' शब्दसे 'गोपांगना'-जैसे साधु समझने चाहिये, जिनका परित्राण साक्षात् भगवान्के दर्शन बिना हो ही नहीं सकता था तथा दुष्कृति भी भगवान्के परम अन्तरंग भक्त 'जय-विजय'-जैसे समझने चाहिये, जिनका दुष्कृत भगवान्की लीलाविशेषके विकासके लिये ही था, अन्य दुष्कृतियोंको तो उनका दुष्कर्म ही नष्ट कर देगा; और धर्म-संस्थापनसे यहाँ 'भक्ति-प्रेम-योगरूप धर्म' की स्थापना समझनी चाहिये, जो ऐसे कोटि-कोटि कामकमनीय मधुर-मनोहर भजनीय भगवान्के बिना हो नहीं सकती। यही अर्थ युक्तियुक्त भी मालूम होता है। हाँ, अवान्तर प्रयोजन सन्मार्गस्थ साधुओंकी रक्षा, भाग्यवान् दुष्कृतियोंका शरीर-विनाशरूपसे उद्धार और पवित्र सनातन धर्मकी स्थापना भी है ही। कुन्तीदेवी स्तुति करती हुई भगवान्के अवतारका हेतु बतलाती हैं—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥

(श्रीमद्भा० १। ८। २०)

जिनके अन्तःकरण सर्वथा मलरहित—पवित्र हैं, उन परमहंस मुनियोंकी भक्तियोगमें प्रवृत्ति करानेके लिये अवतार धारण करनेवाले आपको हम अबलाएँ कैसे देख (जान) सकती हैं?

इससे मालूम होता है कि परमहंस मुनियोंको प्रेमदान देनेके लिये भगवान् स्वयं अवतीर्ण होते हैं।

आगे चलकर कुन्तीदेवी श्रीकृष्णावतारके प्रयोजनमें मतभेद दिखलाती हुई कहती हैं—

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये।
यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम्॥
अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात्।
अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम्॥
भारावतारणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ।
सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः॥
भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन॥
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥

(श्रीमद्भा० १।८।३२—३६)

कोई कहते हैं कि आपने पुण्यश्लोक राजा युधिष्ठिरका यश बढ़ानेके लिये ही यदुवंशमें अवतार लिया है अथवा चन्दन जिस प्रकार मलयाचलमें पैदा होकर उसकी कीर्ति बढ़ाता है, उसी प्रकार आपने महाराज यदुका यश बढ़ानेके लिये यदुवंशमें अवतार लिया है। किसीका कथन है कि श्रीवसुदेव-देवकीने अपने पूर्वजन्ममें आपसे पुत्ररूपसे प्रकट होनेकी प्रार्थना की थी, उनकी प्रार्थनासे अजन्मा होते हुए भी आप जगत्के कल्याण और देवद्रोही दानवोंका वध करनेके लिये ही उनके पुत्ररूपसे अवतीर्ण हुए हैं। कोई कहता है कि समुद्रमें डूबती हुई नौकाके समान पृथ्वी भारी भारसे डूबी जा रही थी, उसके भारको उतारनेके लिये आपने ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे अवतार धारण किया है। अब कुन्तीजी अपना मत प्रकट करती हैं कि इस संसारमें अज्ञान, कामना और कामनायुक्त कर्मोंके कुचक्रमें पड़े हुए जो जीव विभिन्न प्रकारके क्लेश भोग रहे हैं, उन संतप्त जीवोंको क्लेशसे मुक्त करनेके लिये उनके सुनने और मनन करनेयोग्य सुन्दर दिव्य लीलाओंको करनेके लिये आपने अवतार लिया है। जो लोग आपकी प्रेमभरी दिव्य लीलाओंको सुनते हैं, गाते हैं, कीर्तन करते हैं, बार-बार स्मरण करके आनन्दित होते हैं, वे शीघ्र ही जन्म-मरणरूपी संसार-प्रवाहको शान्त करनेवाले आपके मंगलमय चरणकमलोंके दर्शन पा जाते हैं।

उपर्युक्त सभी प्रयोजन उचित और सत्य हैं, परंतु कुन्तीजीका बतलाया हुआ अन्तिम प्रयोजन बहुत ही हृदयग्राही है। भगवच्चरित्र ही वस्तुतः भवसागरसे तरनेके लिये दृढ़ नौका है। कलियुगी जीवोंका तो यही आधार है। इसीसे गोसाईं तुलसीदासजीने कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

अमलात्मा मुनियोंको भक्तियोग प्रदान करनेवाला प्रयोजन भी बहुत ही युक्तियुक्त है। इसीसे तो पवित्र भागवतधर्मकी स्थापना होती है। इन्हीं हेतुओंसे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र इच्छाशून्य भगवान् अवतीर्ण होनेकी इच्छा करते हैं।

प्र०—जय-विजयादि-सरीखे दुष्कृतियोंकी और प्रेमधर्म-स्थापनकी बात तो समझमें आ गयी, परंतु गोपांगनाओंके परित्राणकी बात कुछ समझमें नहीं आयी। उनको क्या दुःख था, जिससे भगवान्के साक्षात् अवतीर्ण हुए बिना वे उससे नहीं छूट सकती थीं?

उ०—सौन्दर्यमाधुर्यसुधासागर नटनागर भगवान्के दिव्यातिदिव्य मंगल-स्वरूपके दर्शनकी लालसा ही उनका महान् दुःख था। वे इसी घोर विरहतापसे संतप्त थीं, उनका यह ताप बिना श्रीभगवान्के साक्षात् मिलनके मिट ही नहीं सकता था। इस दुःखसे परित्राण करनेके लिये ही भगवान् स्वयं प्रकट हुए।

परंतु यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि प्रयोजनका यही एकमात्र स्वरूप है। विभिन्न युगोंमें प्रयोजनोंके विभिन्न स्वरूप होते हैं, परंतु उनमें वह बातें तीन ही होती हैं—साधुपरित्राण, दुष्टविनाश और धर्मसंस्थापन।

प्र०—अच्छी बात है, यह बतलाइये कि भगवान्के अवतारोंमें क्या छोटे-बड़े भी होते हैं? अंशावतार, कलावतार, आवेशावतार और पूर्णावतार आदि अनेकों नाम मिलते हैं, इनका क्या रहस्य है?

उ०—भगवान्का पूर्णावतार भी होता है और अंश-कलावतारादि भी होते हैं। यद्यपि भगवत्तत्त्व एक ही है और किसी भी समय उनकी शक्तिमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती; क्योंकि उनकी शक्ति भी साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। अतएव वह सदा ही समरस है तथापि उनके प्राकट्यके अनेक भेद माने गये हैं। जहाँ जिस प्रयोजनसे उनका अवतार होता है, वहाँ उसीके अनुसार

उनकी शक्तिका प्रकाश होता है। जैसे सम्पूर्ण वेदका कण्ठस्थ पाठ करनेवाला वेदज्ञ पुरुष जहाँ जिस मन्त्रके उच्चारणकी और जितने वेदार्थप्रकाशकी आवश्यकता होती है, उतना ही करता है, इसी प्रकार नित्य-पूर्ण असीम शक्तिसे सम्पन्न भगवान् भी लीला-प्रयोजनके अनुसार ही शक्तिका प्रकाश करते हैं। अग्निके जरा-से कणमें भी जैसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको दाह करनेकी शक्ति है, क्योंकि वह साक्षात् अग्नि ही है, इसी प्रकार भगवान्‌का किसी भी प्रयोजनसे अवतीर्ण लोकदृष्टिमें अत्यन्त छोटा-सा स्वरूप भी पूर्ण-शक्तिसम्पन्न ही है। भगवान्‌की पूर्णतामें कभी विकार नहीं होता। श्रुतिका यह सिद्धान्त सदा सत्य है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

विशाल अग्निमेंसे चाहे जितनी अग्नि चाहे जितने स्थानोंमें प्रकट हो जाय, सबमें सब जगह समान ही दाहिका शक्ति होती है। इसी प्रकार भगवान्‌के चाहे एक ही समय कितने ही विभिन्न अवतार हो जायँ, सबमें शक्ति समान रहती है। यद्यपि अग्निका उदाहरण भगवत्-शक्तिकी पूर्णताके लिये लागू नहीं होता। अग्नि मायाका कार्य है, ससीम है, देशकालावच्छिन्न और सान्त है। भगवान्‌की शक्ति भगवत्स्वरूप है, असीम है, देशकालातीत है, सर्वमय है और नित्य है, तथापि शाखाचन्द्रन्यायकी भाँति केवल समझनेके लिये यह बात कही जाती है।

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार पूर्ण शक्ति होते हुए ही भगवान् नाना रूपोंमें प्रकाशित होते हैं। भगवान्‌के स्वयंरूप और व्यूहरूप आदि अनेकों रूप हैं। इसी प्रकार विभवावतार, कलावतार, अंशावतार, आवेशावतार, अर्चावतार आदि अनेकों अवतार हैं। इनमें स्वयंरूपके दर्शन तो मुक्त पुरुषोंको ही होते हैं। या तो नित्य नित्य धाममें रहनेवाले अनादिकालीन मुक्त पुरुष ही उनके दर्शन करते हैं या भगवान् अनुग्रह करके जिन्हें दर्शन देते हैं, वे कर सकते हैं। स्वरूपावतार अथवा भगवान्‌के स्वयं अवतीर्ण होनेके समय वे जिनको दर्शन देनेके लिये योगमायाका परदा हटाकर दिव्य दृष्टि दे देते हैं, वे भी दर्शन कर सकते हैं। अन्य लोगोंको इस परम रूपके दर्शन नहीं हो सकते। योगमायाका आवरण हटाते ही वहाँ भगवान्‌की दिव्यताके संस्पर्शसे तमाम प्रकृति दिव्य बन जाती है। इसीसे जिस पुरुषके सामने आवरण हटता है, वही दिव्यदृष्टिसम्पन्न हो जाता है। अवश्य ही आवरणमुक्तिकी क्षेत्रसीमा भगवान्‌के इच्छानुसार होती है। इसके सिवा अन्य प्रकारसे भी दिव्यदृष्टि प्राप्त की जा सकती है। दिव्यदृष्टिके भी अनेकों उच्च-नीच स्तर हैं, अर्जुन और संजय दोनोंको दिव्यदृष्टि प्राप्त थी, परंतु दोनों एक ही प्रकारकी नहीं थीं। एकमें प्रत्यक्ष दर्शन था, दूसरेमें छाया-दर्शन! परंतु यह यहाँका आलोच्य विषय नहीं है, इसलिये इसपर आलोचना नहीं की जाती।

भगवान्‌का व्यूहरूप नित्य विभूतिके बाहर लीला-विभूतिमें है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये चार व्यूह हैं। असलमें तो संकर्षणादि तीन ही व्यूह हैं। वासुदेव तो व्यूहमण्डलमें आनेसे व्यूहरूप माने जाते हैं। भगवान्‌के जिस लीलास्वरूपमें ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज पूर्णरूपसे सदा ही प्रकाशित हैं, उस षडैश्वर्यसम्पन्न स्वरूपका नाम वासुदेव है। संकर्षणमें प्रधानतासे ज्ञान और बल, प्रद्युम्नमें ऐश्वर्य और वीर्य तथा अनिरुद्धमें शक्ति और तेज रहता है। एक वासुदेवरूप ही इस त्रिविध रूपमें व्यूहमय बन रहा है। इसलिये तत्त्वतः संकर्षणादि प्रत्येक स्वरूप ही षडैश्वर्य-सम्पन्न है, परंतु उनके लीलाप्रयोजनके लिये उनमें प्रधानतासे दो-दो गुणोंका आधिक्य भासता है। संकर्षण जीवके अधिष्ठाता हैं, प्रद्युम्न मनके और अनिरुद्ध अनन्त जगत्‌के रक्षक, पोषक और विधाता हैं।

अब अवतारोंके सम्बन्धमें कुछ जानना है। यद्यपि अवतार अनेकविध हैं और उनका प्रकृत रहस्य संसारमें कोई भी नहीं जान सकता, तथापि महात्मा पुरुषोंके सुने और पढ़े हुए वचनोंके आधारपर किंचित् वर्णन करनेकी चेष्टा की जाती है। स्वयं भगवान्‌के प्रादुर्भावको विम्बावतार कहते हैं। इसके दो भेद हैं—मुख्य और गौण। मुख्य विभव साक्षात् अवतार है और गौण विभव आवेशावतार। आवेशावतारके भी दो भेद हैं। शक्त्यावेश और स्वरूपावेश। शक्त्यावेशमें आवेशकालमें केवल शक्तिका विकास होता है और स्वरूपावेशमें भगवान् अपने अप्राकृत विग्रहसमेत किसी चेतन शरीरमें आविष्ट होते हैं। मुख्य या साक्षात् अवतारका विग्रह नित्य दिव्य

और अप्राकृत होता है और गौणका विग्रह केवल आवेशकालमें दिव्य होता है। मुख्य या साक्षात् अवतारका प्रयोजन ऊपर बतलाया जा चुका है। गौणका प्रकाश सृष्टिरचना या रक्षा आदि प्रयोजनोंके लिये होता है। गौणावतारोंमें भी अनेकों भेद हैं।

जो अवतार कलारूपसे होता है, उसे कलावतार कहते हैं। जो भगवत्-शक्ति हमारे जगत्की केन्द्रस्था है, वह षोडश कलाकी समष्टि है। इस कलारूपा शक्तिमेंसे जितनी कलाओंके विकासको लेकर अवतार होता है, उसे कलावतार कहते हैं। एक या अनेक कलाओंके विभिन्न अवतार हो सकते हैं।

कलाकी अपेक्षा अर्थात् सोलह कलायुक्त शक्तिके सोलहवें हिस्सेसे भी जो न्यून शक्तिका आविर्भाव होता है, उसे अंशावतार कहते हैं। अंशकी अपेक्षा न्यून शक्तिके अवतारको विभूत्यवतार कहते हैं। यह याद रखना चाहिये कि परमब्रह्म परमेश्वर नपी-तुली सोलह कलावाले ही नहीं हैं। हमारे इस जगत्में सोलह कलायुक्त शक्तिके विकाससे ही काम चल जाता है। इससे हम भगवान्को षोडशकला कहते हैं, वस्तुत: भगवान् अनन्त कलायुक्त हैं। उन नित्य निष्कलकी अनन्त अकल कलाओंका पार नहीं है। करोड़ों कलाओंकी विविधमुखी अनन्त धाराएँ निरन्तर उनकी समष्टि-कलासे बह रही हैं। सारी कलाओंका मूल कारण वह समष्टि-कलारूप भगवान्की निज शक्ति ही है। उस शक्तिका अवतार भी साक्षात् भगवान्के आविर्भावके समय भगवान्के साथ ही होता है, परंतु यह आवश्यक नहीं कि सब कलाओंका विकास हो ही। ऐसा होना न तो आवश्यक है और न सहज ही सम्भव है।

इसके अतिरिक्त जिस कल्प, युग या मन्वन्तरमें जैसे अवतारका प्रयोजन होता है तदनुसार अनेकों अवतार हुआ करते हैं। वे ही कल्पावतार, युगावतार या मन्वन्तरावतार कहलाते हैं।

इसी तरह भगवान्का अर्चावतार भी है। जिस अर्चामूर्तिमें विश्वासी श्रद्धासम्पन्न भक्त भगवान्का आविर्भाव चाहता है, उसी अर्चा-विग्रहमें दयामय भगवान् अपने भक्तकी प्रसन्नताके लिये उसपर अनुग्रह करके आविर्भूत हो जाते हैं, इसमें देश, कालका कोई नियम नहीं है। न अधिकारीका नियम है। अधिकारी वही है, जो पूर्ण श्रद्धासम्पन्न प्रेमी हो और अर्चामूर्तिमें भगवान्का पूर्ण स्वरूप समझता हो। इसमें अवतारका स्वरूप वही होता है, जैसा भक्त चाहता है। यहाँ भगवान् अपने भक्तके अधीन होते हैं, वह जिस विधिसे जिस समय उनके स्नान, भोजन, शयन, पूजन, शृंगार आदिकी व्यवस्था करता है, उसी रूपमें भगवान् स्वीकार करते हैं।

प्र०—क्या साक्षात् भगवान्का ही अवतार होता है और किसीका नहीं होता? यदि होता है तो क्या उन सब अवतारोंमें भी शक्तिका तारतम्य नहीं रहता?

उ०—यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि कारणजगत्की किसी भी शक्तिका अवतार हो सकता है। वस्तुतः साक्षात् समग्र भगवान्के अवतार बहुत कम होते हैं। अन्य शक्तियोंके अवतार ही अधिक होते हैं। अंश और गौणावतारोंके भी समय-समयपर अवतार होते हैं। आयुध और आभूषणोंके भी अवतार होते हैं। नित्य भगवत्-कैंकर्यको प्राप्त महाभाग मुक्त पुरुषोंके भी भगवदिच्छासे अवतार होते हैं। कभी-कभी वे भगवत्-सेवाके लिये भी अवतार धारण करते हैं। यही भगवान्के भक्तों और परिकरोंके अवतार होते हैं—श्रीमच्छंकराचार्य नृसिंहतापनीय-उपनिषद्के भाष्यमें कहते हैं—‘**मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा त्वां भजन्ते।**’ मुक्त पुरुष भी लीलासे देह धारण करके आपका भजन किया करते हैं।

कारणजगत्में ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, प्रेमशक्ति, दयाशक्ति, निरोधशक्ति, ऐश्वर्यशक्ति आदि जो अनन्त प्रकारकी शक्तियाँ हैं, उन सभीके प्रयोजनानुसार विविध अवतार होते हैं; इन्हीं शक्तियोंके नामानुसार उनके ज्ञानावतार, क्रियावतार, प्रेमावतार आदि विभिन्न नाम और कार्य होते हैं। इनकी शक्तिमें बहुत तारतम्यता रहती है। अतएव इन सबमें न एक-सी शक्ति होती है और न इनकी एक-सी क्रिया ही होती है। इनमें बहुतेरे अवतार शक्त्यवतार, गौणावतारोंकी श्रेणीमें भी आ जाते हैं। अवतार मनुष्यरूपमें ही नहीं, पशु-पक्षी आदि रूपोंमें भी होते हैं।

दुष्ट शक्तियोंके भी अवतार होते हैं, परंतु उनका अवतीर्ण होना जगत्के अमंगलके लिये होता है,

अतएव जगत्‌के कल्याणार्थ उनके विनाशके लिये भी समय-समयपर शक्त्यवतार होते हैं। अवश्य ही इन सभीमें भगवत्-शक्तिके द्वारा संचालित एक अखण्ड नियम सतत काम करता है।

भगवान्‌का एक अन्तर्यामी अवतार भी है, जो जीवके हृदयमें रहकर उसकी प्रवृत्ति और चेष्टाओंका नियमन करता है। इस अन्तर्यामी स्वरूपके दो भेद हैं। एक, जो अपने श्रद्धामय भक्त जीवके हृदय-कमलमें सुहृद्‌रूपसे उसके योगक्षेमके वहन करनेके लिये निवास करता है। यह भक्तकी इष्टमूर्तिके रूपमें ही भक्तको हृदयमें दर्शन देता है। दूसरा स्वरूप अन्तरात्मारूपसे है, जो सभी जीवोंके हृदयमें भली-बुरी सभी अवस्थाओंमें सदा निवास करता है। जीवके हृदयमें जबतक इस अन्तर्यामीका निवास है, तभीतक वह जीव है।

इसके सिवा प्रत्येक युगमें अनन्त अवसरोंपर अनन्त भक्तोंके सम्मुख एकान्तमें उन्हें कृतार्थ करनेके लिये भगवान्‌का जो प्राकट्य होता है, वह भी अवतार ही है। उसमें भी साक्षात् भगवान् और गौण शक्तिका भेद भक्तकी साधनाके अनुसार रहता है।

प्र०—साक्षात् भगवान्‌के अवतारका शरीर क्या भौतिक नहीं होता? और भौतिक नहीं होता तो वह कैसा होता है?

उ०—भगवान् चाहें तो मायिक शरीर भी धारण कर सकते हैं, क्योंकि वे सर्वभवनसमर्थ हैं और समय-समयपर लोककल्याणार्थ करते भी हैं। परंतु उनका साक्षात् अवतार-शरीर भगवत्स्वरूप ही होता है। वह भौतिक न होकर चिदानन्दमय होता है। स्थूल पांचभौतिक शरीरकी तो बात ही दूर रही, उनका सूक्ष्म तथा कारणशरीर भी नहीं होता, वे इन त्रिविध मायिक शरीरोंसे परे हैं। मायिक शरीर तो उनका भी नहीं होता, जो कारणमण्डलको लाँघकर भगवान्‌के नित्य परम धाममें पहुँच जाते हैं। फिर स्वयं भगवान्‌की तो बात ही क्या है? भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।२)

हे देव! भक्तोंके इच्छानुसार प्रकट हुए मुझपर अनुग्रह करनेवाले आपके इस अवतारविग्रहकी, जो पांचभौतिक नहीं, अपितु अचिन्त्य शुद्ध सत्त्वमय है, महिमाको मनसे भी जाननेके लिये मैं ब्रह्मा समर्थ नहीं हूँ अथवा कोई भी समर्थ नहीं है, तब आपके साक्षात् स्वरूपकी महिमाको तो एकाग्र किये हुए मनसे भी कौन जान सकता है?

भगवान् श्रीरामको महर्षि वाल्मीकिजी कहते हैं—

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥

इसीसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌के दिव्य स्वरूपका दर्शन पाते ही मुग्ध हो जाते हैं। जनक-से राजर्षि, व्यास-से महर्षि और भीष्म-से ज्ञानवृद्ध भगवान्‌को देखते ही पलकें मारना भूलकर एकटक दृष्टिसे उनकी ओर देखते ही रह जाते हैं। तभी उनके भक्तोंकी चरणरजको मस्तक चढ़ानेके लिये ब्रह्मा-सरीखे देवता और उद्धव-सरीखे ज्ञानी लालायित होते हैं। वस्तुतः भगवान्‌का देह 'दिव्य देह' भी नहीं है, वह भगवत्स्वरूपसे सर्वथा अभिन्न है। वह देहातीत साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। वह दिव्यातिदिव्य आनन्दका आनन्दमय आनन्दनिर्झर है; क्योंकि वह आह्लादिनी शक्तिके निमित्तसे ही नित्य प्रकट रहता है। वह सर्वत्र मधुर-ही-मधुर है, सब कुछ मधुर-ही-मधुर है, वह मधुरिमामय है। इसीसे उसको '**आनन्दमात्रपादमुखोदरादि**' या '**आनन्दैकरसमूर्तयः**' कहते हैं। जिनके पादारविन्द-मकरन्दसे निकली हुई तुलसीमिश्रित सुगन्ध जन्मसे ही ब्रह्मविद्-शिरोमणि सनकादिकोंके मनमें क्षोभ उत्पन्न कर देती है, उन भगवान्‌के स्वरूपभूत भगवद्देहकी महिमा कौन गा सकता है?

प्र०—अच्छा, अब भगवान्‌के सौन्दर्यका कुछ वर्णन कीजिये।

उ०—विश्वब्रह्माण्डमें ऐसा कौन है, जो भगवान्‌के दिव्य भगवद्देहके सौन्दर्यके करोड़वें भागका भी वर्णन कर सके। वह अनिर्वचनीय तत्त्व है। जिस किसी परम सौभाग्यशाली महानुभावने भगवान्‌के उस योगमायासे अनावृत सौन्दर्य-माधुर्य-सागर महान् सुन्दर स्वरूपके दर्शन किये हैं, वही उनके सौन्दर्यका किंचित् रहस्य जानता है। परंतु वह जो कुछ जानता है, उसके वर्णनकी सामर्थ्य उसमें कदापि नहीं है।

भगवान्‌के सौन्दर्यकी तो बात ही क्या है, विशुद्ध

लिंगशरीरके सौन्दर्यका भी वर्णन नहीं हो सकता। वह भी बहुत ही ज्योतिर्मय, मनमोहन, नयनाभिराम, माधुर्यमय और लावण्ययुक्त होता है, उसकी भी कोई तुलना नहीं होती। सारी देवभूमिकाएँ उस विशुद्ध लिंगकी ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं। फिर जब वही लिंग 'कारणरूप' में जा पहुँचता है, तब तो उसका सौन्दर्य सर्वथा वर्णनातीत हो जाता है। कामदेवके मनोहर स्वरूपकी उपमा इस कारणशरीरसे ही दी जाती है, परंतु यह कारणदेह भी जड़ भौतिक ही होता है; क्योंकि कारण, सूक्ष्म और स्थूल जगत् सब मायामें ही है। इनकी स्थितिका कारण जीवोंका अनादि कर्मप्रवाह है। अस्तु! जब परमोत्कृष्ट भौतिक देहकी ऐसी महिमा है, तब भगवद्देहका सौन्दर्य कौन कह सकता है? भक्त कवि इतना कहकर चुप हो जाते हैं—

अंग अंगपर वारिये कोटि कोटि सत काम।

—न उसकी कोई उपमा है, न उसका कोई नमूना है। जो देखता है, वही जानता है, परंतु कह कोई भी नहीं सकता!

प्र०—जब भगवान्‌का ऐसा मधुर आनन्दमय स्वरूप है, तब तो अवतारकालमें उसको देखकर सभी लोगोंको मोहित होना चाहिये। उनके स्वरूपका दर्शन करनेवाले सभी लोगोंको उनकी पहचान भी होनी चाहिये, परंतु श्रीराम, श्रीकृष्णादि साक्षात् भगवत्स्वरूपोंके जीवनको पढ़नेसे ऐसा पता लगता है कि ऐसा नहीं हुआ। बहुत-से लोगोंने तो उन्हें पहचाना ही नहीं।

उ०—भगवान्‌के दिव्यातिदिव्य भगवद्देहके दर्शनके लिये दिव्य-दृष्टि चाहिये। प्राकृत जगत् तो उनके उस रूपके तेजको भी सहन नहीं कर सकता। इसीसे अवतारकालमें भगवान् अपने स्वरूपको योगमायासे समावृत रखते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

(गीता ७। २५)

और इसीसे सब लोग उन्हें नहीं पहचान सकते। वे कृपा करके जिनको अपना परिचय प्रदान करना चाहते हैं, उन्हींके लिये योगमायाका आवरण हटाते हैं, इस आवरणके हटानेमें भी अधिकारी-भेदसे बड़ी भारी तारतम्यता रहती है। इसका हटाना पूर्णरूपसे तो वहीं होता है, जहाँ भगवान्‌की केवल अन्तरंगा ही नहीं, स्वरूपा शक्तियोंका आकर्षण रहता है। वहीं भगवदिच्छासे वह योगमाया अपने आवरणरूपको त्यागकर—भगवान्‌को आवरणमुक्त कर स्वरूपभूता आनन्द-शक्तिके रूपमें बदलकर भगवान्‌के रमणका आधार बन जाती है; क्योंकि वस्तुतः वह आह्लादिनी शक्तिसे अभिन्न ही है। इसीसे श्रीशुकदेव मुनिने कहा है—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १)

याद रखना चाहिये भगवान्‌की यह योगमाया वह माया नहीं है जो सृष्टिकर्ता ईश्वरके साथ रहती है, न वह अविद्या है जो समस्त जगत्‌को मोहित किये हुए है। वे तो निम्नस्तरकी शक्तियाँ हैं, यह योगमाया तो भगवान्‌की साक्षात् स्वरूपाशक्ति ही है। इसी शक्तिको साथ लेकर भगवान् अवतीर्ण होते हैं—'**सम्भवामि आत्ममायया!**'

इस योगमायासे समावृत होनेके कारण ही लोगोंको भगवान्‌का देह मायिक या भौतिक-सा प्रतीत होता है और ऐसा होना ठीक ही है; क्योंकि उनकी मायामयी दृष्टि अमायिकका प्रत्यक्ष कर ही नहीं सकती। हमारी इन्द्रियाँ तो अतीन्द्रिय मायिक पदार्थको भी ग्रहण नहीं कर सकतीं, फिर मन-वचन-बुद्धिसे और इनकी मूल प्रकृतिसे परेके परमात्मस्वरूपको तो कैसे ग्रहण कर सकती हैं। अतएव भगवान्‌का स्वरूप न्यूनाधिकरूपमें उन्हींके सामने प्रकट होता है, जिनको न्यूनाधिकरूपमें दिव्यदृष्टि मिल जाती है। भगवान्‌की बात तो दूर रही, मोहदृष्टिसे तो हम भौतिक देहधारी महात्मा पुरुषको भी नहीं पहचान सकते। उसके लिये भी अन्तर्दृष्टि तो चाहिये ही; परंतु यह दिव्यदृष्टि कोई ज्ञानदृष्टि या अन्तर्दृष्टि नहीं है, यह भगवद्दत्त एक भगवदीय शक्ति है। ज्ञानदृष्टिसम्पन्न पुरुष उन्हें ब्रह्म देखते थे; शत्रु-भाववाले उन्हें साक्षात् कालरूपमें देखते थे; वसुदेव-देवकी, नन्द-यशोदा या दशरथ-कौसल्या उन्हें पुत्ररूपमें देखते थे। यह सब भगवान्‌की इच्छापर ही निर्भर था। इतना होनेपर भी भगवान्‌के स्वरूपको जो कोई भी देखता था, वह कुछ क्षणोंके लिये तो मुग्ध हो ही जाता था। हाँ, उनकी बात दूसरी है जिनको जान-बूझकर ही भगवान्‌ने अपना भयंकररूप ही दिखलाया। मोहनरूप दिखलाया ही नहीं।

अन्तर्दृष्टिसम्पन्न ऋषि-मुनि, महात्मा और प्रेममना आत्मीय स्वजनोंकी तो बात ही निराली है, सेनासहित खर-दूषण जो शत्रुरूपमें भगवान्‌से युद्ध करनेको आये थे—उनके दिव्य स्वरूपको देखकर क्षणभरके लिये मुग्ध हो गये और अपने मन्त्रीसे कहने लगे—

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥

यह उन राक्षसोंकी दशा है जो बहिनके नाक-कान कट जानेपर मारनेके लिये आते हैं और जिनके सामनेसे योगमायाका पर्दा नहीं हटा है।

प्र०—भगवान् श्रीरामचन्द्र और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र इन दोनोंमें किनका रूप अधिक सुन्दर था?

उ०—दोनों एक-दूसरेसे बढ़कर सुन्दर हैं। इनके सौन्दर्यमें न्यूनाधिकताकी कल्पना करना ही अपराध है। हाँ, वर्णमें कुछ भेद अवश्य है। भगवान् श्रीरामचन्द्रके श्रीअंगका वर्ण नील-हरिताभ है और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका नील-कृष्णाभ। दोनोंमें ही सीमाके परेका सौन्दर्य है। एक सज्जनका कथन है—

कोमल, सरस, सु-ज्योतिमय, अलख अचिन्त्य अनूप।
नीलकमल, घन, मनि सदृश, चिदानन्दमय रूप॥

उनका श्रीअंग नील कमलके समान कोमल है, नील श्याम मेघके समान सरस है और नीलमणिके समान सुचिक्कण तथा ज्योतिर्मय है, वह है इन नेत्रोंसे अलक्ष्य, इस चित्तसे अचिन्त्य, किसी भी लोककी किसी भी वस्तुसे उपमाके अतीत और चिन्मय तथा आनन्दमय।

उसमें प्रधानतया पाँच विशेषताएँ हैं—

(१) वह पांचभौतिक नहीं है, बनने-बिगड़नेवाला नहीं है, भगवत्स्वरूप, नित्य है।

(२) जिसको देखते-देखते कभी अरुचि तो होती ही नहीं, कभी तृप्ति भी नहीं होती। जितना देखा जाय, उतना ही देखनेकी लालसा बढ़ती है, चाहे युगोंतक देखा जाय।

(३) जिसको देखकर मनमें किसी प्रकारका विकार तो उत्पन्न होता ही नहीं, वरं जिसे देखते ही चित्त सर्वथा पवित्र हो जाता है, वह दिव्य प्रकाशसे भर जाता है; जिसकी स्मृति होते ही, धारणा या भावना होते ही चित्तमें विकारशून्यता आ जाती है।

(४) जिसकी तुलनामें त्रिलोक और त्रिकालमें भी अन्य कोई वस्तु कभी नहीं आ सकती।

(५) जिसकी स्मृति सब कुछको भुला देनेवाली होती है, जिसके सामने आते ही भोग-मोक्ष—सबसे सहज विराग हो जाता है; जिसके देखते ही बरबस प्रेमानन्दका प्राकट्य हो जाता है; जिसके सामने आते ही समस्त वस्तुओंकी सत्ता उसकी सत्तामें समा जाती है।

जब अन्य वस्तु ही नहीं हो, तब किसी भी वस्तुमें आकर्षण तो रहता ही कहाँसे।

जिनका मन किसी भी सांसारिक सौन्दर्यकी ओर आकर्षित होता है, उनको भगवान्‌के सौन्दर्यकी कल्पना ही नहीं है। ऐसा मानना चाहिये।

जो कुछ भी हो, हमें तो बस आकुल हृदयसे, उत्कण्ठित नेत्रोंसे लीलाशुकके शब्दोंमें उनकी रूपमाधुरीके दर्शनार्थ यह प्रार्थना ही करते रहना चाहिये—

कारुण्यकर्बुरकटाक्षनिरीक्षणेन
तारुण्यसंवलितशैशववैभवेन।
आपुष्णता भुवनमद्भुतविभ्रमेण
श्रीकृष्णचन्द्र शिशिरीकुरु लोचनं मे॥
हे देव! हे दयित! हे भुवनैकबन्धो!
हे कृष्ण! हे चपल! हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ! हे रमण! हे नयनाभिराम!
हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे॥
अमून्यधन्यानि दिनान्तराणि
हरे त्वदालोकनमन्तरेण।
अनाथबन्धो! करुणैकसिन्धो!
हा हन्त हा हन्त कथं नयामि॥

भगवान् सगुण हैं या निर्गुण?

एक सज्जनने पूछा है कि 'भगवान् या ब्रह्मका स्वरूप सगुण है या निर्गुण अथवा दोनों ही?' इसके उत्तरमें निवेदन है कि भगवान् या ब्रह्मका वस्तुतः क्या स्वरूप है, इसको तो भगवान् या ब्रह्म ही जानते हैं। कोई भी मनुष्य यह नहीं कह सकता कि भगवान् ऐसे ही हैं, तथापि भगवान्‌को जो जैसा मानते हैं, जिन्होंने जिस प्रणालीसे या जिस स्वरूपकी सेवा करके उनकी उपलब्धि की है, वे उनको जैसा बतलाते हैं; वह भी ठीक ही है; क्योंकि वह स्वरूप भी भगवान्‌में और भगवान्‌का ही है। वे निर्गुण भी हैं, सगुण भी हैं, निराकार भी हैं, साकार भी हैं, निर्गुण-सगुण और निराकार-साकार दोनों साथ हैं, निर्गुण-सगुण और निराकार-साकार दोनोंसे परे भी हैं, वे अनिर्वचनीय हैं—अचिन्त्य हैं। इसीसे उपनिषदोंमें तथा शास्त्रोंमें उनके सभी तरहके वर्णन मिलते हैं। उपनिषदोंके कुछ अवतरण देखिये—

निर्गुण—

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूल-मनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽ-वाय्वनाकाशमसंगमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽ-तेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्।

(बृह० ३।८।८)

'याज्ञवल्क्यजीने कहा—हे गार्गि! इस अक्षरको ब्रह्मवादीजन स्थूलसे भिन्न, अणुसे भिन्न, ह्रस्वसे भिन्न, दीर्घसे भिन्न, लाल रंग (किसी रंगविशेष)-से भिन्न, चिकनेपनसे भिन्न, छायासे भिन्न, अन्धकारसे भिन्न, वायुसे भिन्न, आकाशसे भिन्न, असंग, रससे भिन्न, गन्धसे भिन्न, नेत्रसे भिन्न, श्रोत्रसे भिन्न, वाणीसे भिन्न, मनसे भिन्न, तेजसे भिन्न, प्राणसे भिन्न, मुखसे भिन्न, मात्रासे भिन्न, अन्तरसे भिन्न और बाहरसे भिन्न कहते हैं।'

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्य-मेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्।

(माण्डूक्य० ७)

'वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अनिर्वचनीय, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपंचसे रहित, शान्त, शिव और अद्वैत है।'

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।

(कठ० १।३।१५)

'जो शब्दरहित है, स्पर्शरहित है, रूपरहित है, अव्यय है, रसरहित है, नित्य है और गन्धरहित है।'

स एष नेति नेत्यात्मागृह्यः

(बृह० ४।२।४)

'वह यह आत्मा 'यह भी नहीं, यह भी नहीं' इस प्रकार अग्राह्य है।'

सगुण—

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।

(माण्डूक्य० ६)

'वह सबका ईश्वर है, वह सर्वज्ञ है, वह अन्तर्यामी है, वह सबका कारण है, उसीसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है।'

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तः।

(छान्दोग्य० ३।१४।४)

'वह सब कर्म करनेवाला है, सब कामनावाला है, सब गन्धवाला है, सब रसवाला है, इससे सबमें व्याप्त है।'

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।

(प्रश्न० ४।९)

'वही देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, चखनेवाला, मनन करनेवाला, जाननेवाला, करनेवाला, विज्ञानात्मा पुरुष है।'

निर्गुण-सगुण—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

(श्वेताश्वतर० ६।११)

'एक देव सब भूतोंमें छिपा है, सबमें व्यापक है, सब भूतोंका अन्तरात्मा है, कर्मोंका अध्यक्ष—फलदाता है, सब भूतोंका वासस्थान है, साक्षी है, चेतन है, केवल है और निर्गुण है।'

निराकार—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।

(मुण्डक० १।१।६)

'वह जो अदृश्य है, अग्राह्य है, अगोत्र है, अवर्ण है, चक्षु और श्रोत्ररहित है और हाथ तथा पैरसे रहित है।'

साकार—

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्॥
गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम्।
दिव्यालंकरणोपेतं रत्नपंकजमध्यगम्॥
कालिन्दीजलकल्लोलसंगिमारुतसेवितम्।
चिन्तयन् चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः॥
एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य
एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति।
तं पीठं येऽनुभजन्ति धीरा-
स्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

(गोपालपूर्वतापिनी-उपनिषद्)

'श्रेष्ठ कमलनेत्र, मेघद्युति, विद्युत्-सदृश पीत अम्बरधारी, द्विभुज, ज्ञानमुद्रायुक्त, वनमाली, ईश्वर, गोप-गोपी और गौओंके रक्षक, कल्पवृक्षके नीचे स्थित, दिव्य अलंकारोंसे विभूषित, रत्नकमलके बीचमें विराजित, कालिन्दीके जलकी लहरोंसहित पवनसे सुसेवित श्रीकृष्णका जो चिन्तन करता है, वह संसारसे मुक्त हो जाता है।'

'वह एक, वश करनेवाला, सर्वव्यापी पूज्य श्रीकृष्ण, जो एक होकर भी बहुत प्रकारसे दिखायी देता है, उस आश्रयको जो भजते हैं, उन्हींको सनातन सिद्धि प्राप्त होती है, दूसरोंको नहीं होती।'

और भी अनेकों श्रुतियाँ भगवान्‌का विविध प्रकारसे वर्णन करती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् सगुण भी हैं और निर्गुण भी हैं। उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। दो प्रकारके परस्परविरोधी गुण, भाव और स्वरूप जिनमें एक ही साथ एक ही समय रह सकते हों, वही तो भगवान् हैं। श्रुति उन्हें निर्गुण भी बतलाती है और सगुण भी। अतएव हमें दोनों ही बातें माननी चाहिये। भगवान्‌के सम्बन्धमें यह आपत्ति कभी नहीं ठहरती कि वे सगुण-निर्गुण दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं।

कुछ लोग एक और आपत्ति करते हैं—वे कहते हैं कि ब्रह्म तो निष्कल (कला या अंशरहित) हैं। और हम यदि सगुण तथा निर्गुण दोनों मानते हैं तो उनका कुछ अंश सगुण होगा और कुछ निर्गुण। और यदि ऐसी बात है तब तो वह निष्कल—निरंश नहीं ठहरते हैं और यदि निरंश नहीं हैं तब वे ब्रह्म कैसे? श्रुतिमें स्पष्ट ही ब्रह्मको निरंश बतलाया गया है—

निष्कलं निष्क्रियꣳ शान्तं निरवद्यं निरंजनम्।

(श्वेताश्वतर० ६।१९)

'ब्रह्म कला (अंश) रहित, क्रियारहित, शान्त, निर्दोष और मायारहित है।' इसका उत्तर यह है कि ब्रह्मका कुछ अंश निर्गुण है और कुछ सगुण है, ऐसी बात नहीं है। ब्रह्ममें अंशकी कल्पना नहीं हो सकती। वह स्वरूपतः ही युगपत् निर्गुण भी है और सगुण भी। परस्परविरोधी गुणोंका उनमें नित्य निवास है; परंतु यदि ऐसा मानें कि 'निर्गुण ब्रह्मके जितने अंशमें मायाके कारण सगुणता आती है उतना अंश सगुण है, शेष निर्गुण है', तो यह ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा माननेपर तो ब्रह्म स्वरूपतः निर्गुण ही सिद्ध होता है। सगुण तो मायाके कारण भासता है, वस्तुतः है नहीं। केवल निर्गुणवादी महानुभावोंका यही तो कथन है कि 'मायाकी उपाधिसे ब्रह्ममें सगुणताकी प्रतीति होती है। स्वरूपतः ब्रह्म निर्गुण ही है और वही उसका यथार्थ स्वरूप है। ऐसा निर्गुण ब्रह्म कभी सगुण हो नहीं सकता।' पर श्रुतियोंके उपर्युक्त वचनोंसे तथा महात्माओंके अनुभवसे यह सिद्ध है कि ब्रह्म या भगवान् सगुण-निर्गुण दोनों हैं। ऐसी अवस्थामें ब्रह्मके स्वरूपतः निरंश होनेपर भी उनमें अंशकी कल्पना करनी पड़ती है। अंश-कल्पनामें आपत्ति यही है कि उसमें न्यूनाधिक होना सम्भव है। परंतु ब्रह्ममें अंश-कल्पना इस प्रकार नहीं होती। जैसे ब्रह्म अनन्त और असीम है, वैसे ही उसका अंश भी अनन्त और असीम है। श्रुतिने इसी सिद्धान्तका समर्थन करते हुए स्पष्ट कहा है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

(ईश०)

'वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्णसे पूर्ण निकलता है और पूर्णका पूर्ण लेकर पूर्ण ही बच रहता है।'

गणितके अनुसार भी यह सिद्ध है कि अनन्तमेंसे अनन्त निकालनेपर अनन्त ही बचता है।

हमारे इस दृश्य-जगत्‌में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसके बारेमें यह कहा जा सके कि उसमें एक ही साथ दो परस्परविरोधी गुण रहते हैं और जो अनेक रूपोंमें विभक्त होनेपर भी एक और परिपूर्ण रहती है।

जो लोग कहते हैं कि मायाकी उपाधिसे ब्रह्ममें सगुणभावकी प्रतीति होती है—उनके इस कथनपर विचार करनेसे भी पता लगता है कि वस्तुतः इसमें भी सगुण स्वरूप ब्रह्मका ही सिद्ध होता है। माया ब्रह्मकी शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान् अग्नि और उसकी दाहिका शक्तिके समान अभिन्न हैं। इसलिये, ब्रह्म सगुण है या ब्रह्म अपनी शक्तिकी सहायतासे सगुणरूपमें रहता है। इसमें वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि किसी भी कर्मकी सम्पन्नता शक्तिसे ही होती है। पर वह कार्य है तो शक्तिमान्‌का ही। अतएव ब्रह्म मायाके सहयोगसे सगुण होता है, इससे यही सिद्ध होता है कि सगुण भी उसका स्वरूप ही है।

शास्त्रोंमें एक ही साथ भगवान्‌के सगुण-निर्गुणकी व्याख्या और तरहसे भी की गयी है, जो वस्तुतः बहुत समीचीन और युक्तियुक्त प्रतीत होती है। भगवान् प्रकृतिके गुणोंसे सर्वथा अतीत हैं। इसलिये वे निर्गुण हैं और उनमें उनके स्वरूपभूत अचिन्त्यानन्त दिव्यगुण नित्य निवास करते हैं, इसलिये वे सगुण भी हैं। यों वे 'नित्य निर्गुण' रहते हुए ही 'नित्य सगुण' हैं और 'नित्य सगुण' होते हुए ही 'नित्य निर्गुण' हैं। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं भगवान् श्रीशंकरजीसे कहा है—

यद्यद्य मे त्वया दृष्टमिदं रूपमलौकिकम्।
घनीभूतामलप्रेम सच्चिदानन्दविग्रहम्॥
नीरूपं निर्गुणं व्यापि क्रियाहीनं परात्परम्।
वदन्त्युपनिषत्सङ्घा इदमेव ममानघ॥
प्रकृत्युत्थगुणाभावादनन्तत्वात्तथेश्वरम् ।
असिद्धत्वान्मद्‌गुणानां निर्गुणं मां वदन्ति हि॥
अदृश्यत्वान्ममैतस्य रूपस्य चर्मचक्षुषा।
अरूपं मां वदन्त्येते वेदाः सर्वे महेश्वर॥
व्यापकत्वाच्चिदंशेन ब्रह्मेति च विदुर्बुधाः।
अकर्तृत्वात्प्रपंचस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि॥
मायागुणैर्यतो मेंऽशाः कुर्वन्ति सर्जनादिकम्।
न करोमि स्वयं किंचित् सृष्ट्यादिकमहं शिव॥

(पद्मपु०, पा० ५१। ६६—७१)

'हे शंकरजी! मेरे जिस अलौकिक (हानोपादानरहित, देह-देहिभेदहीन स्वरूपभूत दिव्य भगवद्‌देह) रूपको आज आपने देखा है, वह विशुद्ध प्रेमकी घनमूर्ति है और सच्चिदानन्दस्वरूप है। उपनिषत्समुदाय मेरे इसी रूपको 'निराकार', 'निर्गुण', 'सर्वव्यापी', 'निष्क्रिय' और 'परात्पर ब्रह्म' कहते हैं। मुझमें प्रकृतिजन्य गुणोंका (सत्त्व-रज-तमका) अभाव होनेसे और मेरे अंदर गुणोंकी सत्ताको असिद्ध मानकर वे मुझको 'निर्गुण' कहते हैं और 'अनन्त' होनेसे मुझको 'ईश्वर' कहते हैं। मेरा यह रूप चर्मचक्षुओंसे देखा नहीं जाता, इसलिये हे महेश्वर! ये समस्त वेद मुझको रूपरहित—'निराकार' कहते हैं। अपने चैतन्यांशसे सर्वव्यापक होनेके कारण पण्डितगण मुझे 'ब्रह्म' कहते हैं और इस विश्वप्रपंचका कर्ता न होनेसे वे मुझको 'निष्क्रिय' कहते हैं; क्योंकि हे शिवजी! मैं स्वयं सृष्टि आदि कुछ भी कार्य नहीं करता। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप मेरे अंश ही मायाके गुणोंके द्वारा सृष्टि आदि कार्य करते हैं।'

इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि भगवान्‌का स्वरूप 'नित्य निर्गुण' और 'नित्य सगुण' किस प्रकार है। इसी बातको बतलानेके लिये तत्त्व-निर्णय करते हुए भागवतकारने बतलाया कि 'तत्त्व' का ही एक नाम 'ब्रह्म' है। तत्त्वविद् लोग इस तत्त्वको 'अद्वयज्ञान' कहते हैं और तीन श्रेणीके साधक इस 'अद्वयज्ञान' को ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन भावोंके द्वारा उपलब्ध करते हैं—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

तत्त्व एक ही है, उसकी अनुभूति तीन प्रकारसे होती है। वैष्णव महानुभाव इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि औपनिषद सम्प्रदाय उसे 'ब्रह्म' कहते हैं, हिरण्यगर्भ-सम्प्रदायके योगीगण 'परमात्मा' और वैष्णव उसे 'भगवान्' कहते हैं। जगत्तत्त्व ब्रह्मज्ञान है, आत्मतत्त्व परमात्मज्ञान या योग है एवं ईश्वरतत्त्व भगवत्-स्वरूप या भक्ति है। लीलाभेदसे ही भगवान् या ब्रह्मके ये तीन स्वरूप हैं, भगवान् सर्वथा-सर्वदा एक ही तत्त्व हैं और

वे सगुण, निर्गुण, साकार-निराकार सब कुछ हैं तथा सब कुछसे परे हैं। यह भी केवल समझनेके लिये संकेतभर है। वस्तुतः भगवान्‌का स्वरूप भगवान् ही जानते हैं और किसी भी तर्कसे या पुरुषार्थसे नहीं, उनके कृपापूर्वक जनानेपर ही किसी भाग्यवान् साधकके द्वारा उनका स्वरूप किसी अंशमें जाना जा सकता है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम्॥

(कठ० १।२।२३)

'यह आत्मा न प्रवचनसे प्राप्त होता है, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही। यह स्वयं जिसपर कृपा करता है उसीके सामने अपने आनन्दात्मक स्वरूपका प्रकाश करता है।'

'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई'

भक्तके लक्षण

भगवान्‌के भक्तोंका बड़ा महत्त्व है। वे जगत्‌के लिये आदर्श होते हैं; क्योंकि भगवद्भक्तिके प्रतापसे उनमें दुर्लभ दैवी गुण अनिवार्यरूपसे प्रकट हो जाते हैं, जो उनके स्वाभाविक लक्षण होते हैं। भक्तका स्वरूप जाननेके लिये उन लक्षणोंका जानना आवश्यक है। उनमेंसे कुछ ये हैं—

१—भक्त अज्ञानी नहीं होता, वह भगवान्‌के प्रभाव, गुण और रहस्यको तत्त्वसे जाननेवाला होता है। प्रेमके लिये ज्ञानकी बड़ी आवश्यकता है। किसीको किसी अंशमें भी जाने बिना उससे प्रेम नहीं हो सकता और प्रेम होनेपर ही उसका गुह्यतम यथार्थ रहस्य जाना जाता है। भक्त भगवान्‌के गुह्यतम रहस्यको जानता है, इसीलिये भगवान्‌के प्रति उसका प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। भगवान् रससार हैं। उपनिषद् भगवान्‌को '**रसो वै सः**' कहते हैं। इस प्रेममें भी द्वैत नहीं भासता! प्रेमकी प्रबलतासे ही राधाजी श्रीकृष्ण बन जाती हैं और श्रीकृष्ण श्रीराधाजी। कबीर साहब कहते हैं—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नायँ।
प्रेम-गली अति साँकरी, यामें दो न समायँ॥

वस्तुतः ज्ञानी और भक्तकी स्थितिमें कोई अन्तर नहीं होता। भेद इतना ही है, ज्ञानी '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' कहता है और भक्त '**वासुदेवः सर्वमिति**' अथवा गोसाईंजीकी भाषामें वह कहता है—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

२—भगवान्‌का भक्त निर्भय होता है। वह जानता है कि समस्त विश्वके स्वामी, यमराजका भी शासन करनेवाले भगवान् श्यामसुन्दर हर घड़ी मेरे साथ हैं, मेरे रक्षक हैं। फिर उसे डर किस बातका हो? भगवान्‌की शरण जिसने ले ली, वही निर्भय हो गया। लंकामें रावणके द्वारा अपमानित होकर जब विभीषण नाना प्रकारके मनोरथ करते हुए भगवान्‌की शरणमें आये, तब उन्हें द्वारपर खड़े रखकर सुग्रीव इस बातकी सूचना देने भगवान् श्रीरामके पास गये। श्रीरामने सेनापति सुग्रीवसे पूछा—'क्या करना चाहिये?' राजनीतिकुशल सुग्रीवने उत्तर दिया—

जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥

समीप ही बैठे हुए भक्तराज हनूमान्‌ने मन-ही-मन सोचा, 'सुग्रीव क्या कह गये। अरे, जिसका नाम भूलसे निकल जानेपर मनुष्य संसारके बन्धनसे छूट जाता है, उस मेरे रामके चरणोंमें आनेवालेके लिये बन्धनकी बात कैसी!' परंतु स्वामी और सेनापतिके बीचमें बोलना अनुचित समझकर हनूमान् चुप रहे।

शरणागतवत्सल भगवान् श्रीरामने सुग्रीवकी प्रशंसा करते हुए अपना व्रत बतलाया—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भय हारी॥

हनूमान्‌का मन खिल उठा। वाल्मीकिरामायणमें भी भगवान् श्रीरामने ऐसी ही बात कही है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(६।१८।३३)

'जो एक बार भी मेरी शरण होकर यह कह देता है कि 'मैं तेरा हूँ' मैं उसको सम्पूर्ण भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।' भला ऐसी हालतमें भगवान्‌का सच्चा भक्त निर्भय क्यों न होगा?

३—भक्तका किसी विषयमें ममत्व नहीं होता। उसका

सारा ममत्व एकमात्र अपने प्राणाराध्य भगवान्में हो जाता है। फिर जगत्के पदार्थोंमें कहीं उसका ममत्व यदि रहता है तो उनको भगवान्के पूजनकी सामग्री या भगवान्की वस्तु समझकर ही रहता है। अपने या अपने भोगके सम्बन्धसे नहीं। रामचरितमानसमें भगवान्ने कहा है—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

संसारमें मनुष्य चारों ओर ममताके बन्धनसे जकड़ा हुआ है। उसका एक-एक रोम ममत्वके धागेसे बँधा है। भगवान् कहते हैं—'मनुष्य माता-पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, मकान, सुहृद्, परिवार आदि सबमेंसे ममताके सूत्रोंको अलग करके उनकी एक ही मजबूत डोरी बट ले और उस डोरीके द्वारा अपने मनको मेरे चरणोंसे बाँध दे, तो वह सज्जन मेरे मन-मन्दिरमें उसी प्रकार निवास करता है जिस प्रकार लोभीके मनमें धन।' यह ममताका बन्धन इसीलिये कच्चे धागेका बतलाया गया है कि इसके टूटते देर नहीं लगती। जहाँ कहीं स्वार्थमें बाधा आयी कि ममताका धागा टूटा, विषयजनित सारा प्रेम अपने लिये होता है न कि प्रेमास्पदके लिये। इसीलिये वह टूटता भी बहुत शीघ्र है; परंतु जैसे धागोंकी मजबूत रस्सी बट लेनेपर वह नहीं टूटती, इसी प्रकार जगत्की सारी ममता सब जगहसे बटोरकर एक भगवान्के चरणोंमें लगा दी जाय तो फिर उसके नष्ट होनेकी कोई सम्भावना नहीं रहती। इसीलिये यह कहा गया है कि भगवान्के प्रति होनेवाला सच्चा प्रेम सदा बढ़ता ही रहता है, कभी हटता नहीं।

संसारमें दु:खोंका एक प्रधान कारण ममता है, न मालूम कितने लोग रोज मरते हैं और कितने लोगोंके धनका नित्य नाश होता है, पर हम किसीके लिये नहीं रोते! लेकिन यदि हमारे घरका कोई आदमी मर जाय तो या कुछ धन नष्ट हो जाय तो शोक होता है। इसका कारण ममता ही है। मान लीजिये, हमारा एक मकान है, अगर कोई आदमी उसकी एक ईंट निकाल देता है तो हमें बहुत बुरा मालूम होता है। हमने उस मकानको बेच दिया और उसकी कीमतका चेक ले लिया। अब उस मकानकी एक-एक ईंटसे ममता निकलकर हमारी जेबमें रखे हुए कागजके टुकड़ेमें आ गयी। अब चाहे मकानमें आग लग जाय, हमें कोई चिन्ता नहीं। चिन्ता है उस कागजके चेककी। बैंकमें गये, चेकके रुपये हमारे खातेमें जमा हो गये। अब भले ही बैंकका क्लर्क उस कागजके टुकड़ेको फाड़ डाले, हमें कोई चिन्ता नहीं। अब उस बैंककी चिन्ता है कि वह कहीं फेल न हो जाय; क्योंकि उसमें हमारे रुपये जमा हैं। इस प्रकार जहाँ ममता है, वहीं शोक है। यदि हमारी सारी ममता भगवान्में अर्पित हो जाय, फिर शोकका जरा-सा भी कारण न रहे। भक्त तो सर्वस्व अपने प्रभुके अर्पण कर उनको अपना बना लेता है और आप उनका बन जाता है। उसमें कहीं दूसरेके लिये ममता रहती ही नहीं, इसीलिये शोकरहित होकर सर्वदा आनन्दमें मग्न रहता है।

४—भक्तमें अभिमान नहीं होता, वह तो सारे जगत्में अपने स्वामीको व्याप्त देखता है और अपनेको उनका सेवक समझता है। सेवकके लिये अभिमानको स्थान कहाँ? उसके द्वारा जो कुछ होता है सो सब उसके भगवान्की शक्ति और प्रेरणासे होता है। ऐसा विनम्र भक्त सदा सावधानीसे इस बातको देखता रहता है कि कहीं मेरे किसी कार्यद्वारा या चेष्टाद्वारा मेरे विश्वव्याप्त स्वामीका तिरस्कार न हो जाय। मेरे द्वारा सदा-सर्वदा उनकी आज्ञाका पालन होता रहे, मैं सदा उनकी रुचिके अनुकूल चलता रहूँ। वह अपनेको उस सूत्रधारके हाथकी कठपुतली समझता है। सूत्रधार जैसे नचाता है, पुतली वैसे ही नाचती है, वह इसमें अभिमान क्या करे? अथवा यों समझिये कि यह सारा संसार स्वामीका नाट्यमंच है, इसमें हम सभी लोग नट हैं, जिसको स्वामीने जो स्वाँग दिया है, उसीके अनुसार सांगोपांग खेल खेलना, अपना पार्ट करना हमारा कर्तव्य है। जो आदमी मालिककी रुचिके अनुसार उसका काम नहीं करता वह नमकहराम है और जो मालिककी सम्पत्तिको अपनी मान लेता है वह बेईमान है। नट पार्ट करता है, स्टेजपर किसीके साथ पुत्रका-सा, किसीके साथ पिताका-सा, किसीके साथ मित्रका-सा यथायोग्य बर्ताव करता है, परंतु वस्तुत: किसी भी वस्तुको—अपनी पोशाकतकको भी वह अपनी नहीं समझता। इसी प्रकार भगवान्का भक्त उनकी नाट्यशाला इस दुनियामें उनके संकेतानुसार उन्हींके दिये हुए स्वाँगको लेकर आलस्यरहित हो उन्हींकी शक्तिसे कर्म किया

करता है। इसमें वह अभिमान किस बातका करे? वह मालिकका विधान किया हुआ—बताया हुआ अभिनय करता है, न कि अपनी ओरसे कुछ। पार्ट करनेमें चूकता नहीं, क्योंकि इसमें मालिकका खेल बिगड़ता है; और अपना कुछ मानता नहीं, क्योंकि वह जानता है कि सब मालिकका है, मेरा कुछ भी नहीं। वह मालिकको ही सबका नियन्त्रण करनेवाला और सर्वत्र व्याप्त देखता है और अपनेको उनका अनन्य सेवक समझता है।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

५—भक्त किसीसे द्वेष नहीं करता या किसीपर क्रोध नहीं करता। किससे करे? किसपर करे? सारा जगत् तो उसे स्वामीका स्वरूप दीखता है। शिवजी महाराज कहते हैं—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

भक्त विनय, नम्रता और प्रेमकी मूर्ति होता है।

६—भक्त किसी वस्तुकी कामना नहीं करता, उसे वह वस्तु प्राप्त है जिसके सामने सब कुछ तुच्छ है, तब वह किसकी कामना करे और क्यों करे? वस्तुत: प्रेममें कोई कामना रहती ही नहीं। प्रेममें देना है, वहाँ लेनेका तो कोई नाम ही नहीं है। यही काम और प्रेमका बड़ा भारी भेद है। काममें प्रेमास्पदके द्वारा अपने सुखकी चाह है और प्रेममें अपने द्वारा प्रेमास्पदको सुखी बनानेकी उत्कट इच्छा है। उसके लिये वही सबसे बड़ा सुख है, जिससे उसके प्रेमास्पदको सुख मिले, चाहे वह अपने लिये कितने ही भयानक कष्टका कारण हो। प्रेमास्पदके सुखको देखकर प्रेमीकी भयानक पीड़ा तुरंत महान् सुखके रूपमें परिणत हो जाती है। अतएव भगवान्का प्रेमी भक्त कभी कामी नहीं होता, वह तो चातककी भाँति मेघरूप भगवान्की ओर सदा एकटक दृष्टिसे निहारा करता है। बादल यदि न बरसे या जलके बदले ओले बरसावे, तो भी वह प्रेमके नेमका पक्का पपीहा उधरसे मुँह नहीं मोड़ता।

रटत रटत रसना लटी तृषा सूखि गए अंग।
'तुलसी' चातक प्रेमको, नित नूतन रुचि रंग॥
बरषि परुष पाहन पयद, पंख करै टुक टूक।
'तुलसी' परी न चाहिये, चतुर चातकहि चूक॥

यही दशा भक्तकी है।

फिर वह चाहे भी क्या? जगत्का सारा ऐश्वर्य जिसके ऐश्वर्यका एक कण भी नहीं है, वह सर्वलोकमहेश्वर श्यामसुन्दर उसका प्रियतम स्वामी है, उसकी सेवाको छोड़कर वह क्या चाहे? इसीलिये ललितकिशोरीजीने गाया है—

अष्टसिद्धि नवनिद्धि हमारी मुट्ठीमें हरदम रहतीं।
नहीं जवाहिर सोना चाँदी त्रिभुवनकी संपति चहतीं॥
भावैं ना दुनियाँकी बातें दिलवरकी चरचा सहती।
'ललितकिसोरी' पार लगावैं मायाकी सरिता बहती॥

भक्त तो केवल अपने प्रियतम स्वामीकी सेवामें ही रहना चाहता है, वह सेवाको छोड़कर मुक्ति भी नहीं ग्रहण करता। करे भी कैसे? भगवान्के उस अनन्य सेवकके लिये मायाका बन्धन तो है नहीं, जिससे वह मुक्त होना चाहे। उसके तो केवल भगवत्-सेवाका बन्धन है, भक्त इस प्यारे बन्धनसे मुक्ति क्यों चाहेगा? श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(३। २९। १३)

'मेरी सेवाको छोड़कर मेरे भक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य, एकत्व—इन मुक्तियोंको देनेपर भी नहीं लेते हैं।'

भक्त जानता है, मेरे प्रभु समस्त ब्रह्माण्डोंके एकमात्र स्वामी हैं, मुक्ति उनके चरणोंकी दासी है। वह कहता है—

अब तो बंध मोक्षकी इच्छा ब्याकुल कभी न करती है।
मुखड़ा ही नित नव बंधन है मुक्ति चरणसे झरती है॥

मुक्तिदायिनी गंगाजी श्रीभगवान्के चरणोंका ही तो धोवन हैं।

एक समय ब्रह्माजी भगवान्के द्वारपर पहुँचे, भगवान्ने द्वारपालके द्वारा उन्हें पुछवाया कि 'आप कौनसे ब्रह्मा हैं?' ब्रह्माको इस बातपर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे कि 'कहीं ब्रह्मा भी दस-बीस थोड़े ही हैं।' उन्होंने कहा, 'जाओ, कह दो चतुर्मुख ब्रह्मा आये हैं।' भगवान्ने उनको अंदर बुलवाया। ब्रह्माजीका कौतूहल शान्त नहीं हुआ, उन्होंने पूछा 'भगवन्! आपने यह कैसे पूछा कि कौन-से ब्रह्मा हैं? क्या मेरे अतिरिक्त और

भी कोई ब्रह्मा हैं?' भगवान् हँसे, उन्होंने विभिन्न ब्रह्माण्डके ब्रह्माओंका आवाहन किया। तत्काल वहाँपर चारसे लेकर हजार मुखतकके अनेकों ब्रह्मा आ पहुँचे। भगवान्ने कहा, 'देखो, ये सभी ब्रह्मा हैं, अपने-अपने ब्रह्माण्डके ब्रह्मा हैं।' तब ब्रह्माजीका संदेह दूर हुआ। ऐसे ब्रह्माओंके एकमात्र स्वामी जिसके प्राणप्रिय हों, वह भक्त किस वस्तुकी कामना करे।

पाँच सखियाँ थीं, पाँचों श्रीकृष्णकी भक्त थीं। एक समय वे वनमें बैठी फूलोंकी माला गूँथ रही थीं। उधरसे एक साधु आ निकले। साधुको रोककर बालाओंने कहा—'महात्मन्! हमारे प्राणनाथ श्रीकृष्ण वनमें कहीं खो गये हैं, उन्हें आपने देखा हो तो बतलाइये।' इसपर साधुने कहा—'अरी पगलियो! कहीं श्रीकृष्ण यों मिलते हैं। उनके लिये घोर तप करना चाहिये। वे राजराजेश्वर हैं, नाराज होते हैं तो दण्ड देते हैं और प्रसन्न होते हैं तो पुरस्कार।' सखियोंने कहा—'महात्मन्! आपके वे श्रीकृष्ण दूसरे होंगे, हमारे श्रीकृष्ण तो राजराजेश्वर नहीं हैं, वे तो हमारे प्राणपति हैं, वे हमें पुरस्कार क्या देते? उनके खजानेकी कुंजी तो हमारे ही पास रहती है। दण्ड तो वे कभी देते ही नहीं, यदि हम कभी कुपथ्य कर लें और वे हमें कड़वी दवा पिलावें तो यह तो दण्ड नहीं है, प्रेम है।' साधु उनकी बात सुनकर मस्त हो गये। वे अपने श्रीकृष्णको याद करके नाचने लगीं और साथ ही साधु भी तन्मय होकर नाचने लगे। यह कथा बहुत लंबी है, मैंने बहुत संक्षेपमें कही है। सारांश यह है कि ऐसा भक्त प्रभुसे क्या माँगे? ऐसा भक्त तो निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर अति प्रेमके साथ उनका चिन्तन ही करता रहता है। तुलसीदासजीने कहा है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

भक्त निरन्तर अपने भगवान्के लिये कामी और लोभीकी इस दशाको प्राप्त रहता है। वह कैसे उनको भुलावे? और कैसे दूसरे विषयके लिये कामना या लोभ करे?

अतएव भक्त सदा-सर्वदा भगवान्के चिन्तनमें ही चित्तको लगाये रखता है। भगवान्ने भी गीतामें स्थान-स्थानपर नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेकी आज्ञा दी है। आठवें अध्यायमें कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५॥

'जो मनुष्य मृत्युके समय मुझको स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको ही प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं।' इसपर लोग सोचते हैं कि फिर जीवनभर भगवान्का स्मरण करनेकी क्या जरूरत है। मरनेके समय भगवान्को याद कर लेंगे। याद करके मरनेपर भगवत्प्राप्तिका वचन भगवान्ने दे ही दिया। इसी भ्रान्त धारणाको दूर करनेके लिये भगवान्ने फिर कहा—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥

यह नियम है कि 'मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भावको स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, उसी-उसीको प्राप्त होता है; परंतु अन्तकालमें भाव वही याद आता है, जिसका जीवनभर चिन्तन किया गया हो।'

यह नहीं कि जीवनभर तो मनसे धन, मानकी रटन लगाते रहें और अन्तकालमें भगवान्की स्मृति अपने-आप ही हो जाय। इसीलिये श्रीभगवान्ने फिर आज्ञा की—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ ७॥

'अतएव हे अर्जुन! तू सब समय (निरन्तर) मेरा स्मरण करता हुआ ही युद्ध कर। इस प्रकार मुझमें अर्पित मन-बुद्धि होनेसे तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।' निरन्तर स्मरणका महत्त्व तो देखिये, भगवान्ने यही कहकर संतोष नहीं कर लिया कि 'मुझको प्राप्त होगा' 'निःसंदेह' (**असंशयम्**) और 'ही' (एव) ये दो निश्चय दृढ़ करानेवाले शब्द और जोड़े। इतनेपर भी हम भगवान्का स्मरण न करें तो हमारे समान मूर्ख और कौन होगा! अन्तमें भगवान् सर्वगुह्यतम आज्ञा देते हैं—'तू चिन्ता न कर, एकमात्र मेरी शरण आ जा, मैं तुझे सारे पापोंसे बचा लूँगा।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६५-६६)

'तू मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर,

मुझे नमस्कार कर, तू मेरा प्रिय है, इससे मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि ऐसा करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा। सारे धर्मोंके आश्रयोंको छोड़कर तू केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा। मैं तुझको सब पापोंसे छुड़ा दूँगा। तू चिन्ता न कर।' इसलिये हमलोगोंको नित्य-निरन्तर श्रीभगवान्का चिन्तन करना चाहिये। भक्तोंके और भी अनेकों गुण हैं, कहाँतक बखाने जायँ।

अन्तमें दो-एक बातें कीर्तनके सम्बन्धमें निवेदन करता हूँ। याद रखें, 'कीर्तन बाजारी वस्तु नहीं है।' यह भक्तकी परम आदरणीय प्राण-प्रिय वस्तु है। इसलिये कीर्तन करनेवाले इतना ध्यान रखें कि यह कहीं बाजारू लोकरंजनकी चीज न बन जाय। इसमें कहीं दिखलानेका भाव न आ जाय। कीर्तन करनेवाला भक्त यह समझे कि 'बस, मैं केवल अपने भगवान्के सामने ही कीर्तन कर रहा हूँ, यहाँ और कोई दूसरा है, इस बातकी स्मृति भी उसे न रहे। दो बातें कभी नहीं भूलनी चाहिये। मनमें भगवान्के स्वरूपका ध्यान और प्रेमभरी वाणीके द्वारा मुखसे अपने प्रभुके पवित्र नामकी ध्वनि। ऐसा करते-करते वास्तविक प्रेमकी दशाएँ प्रकट होंगी और भगवान् कहते हैं कि फिर मेरा वह भक्त त्रिभुवनको तार देगा।

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २४)

'प्रेमसे उसकी वाणी गद्गद हो जाती है, चित्त द्रवीभूत हो जाता है, वह कभी जोर-जोरसे रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोड़कर गाता है, कभी नाचने लगता है, ऐसा मेरा परम भक्त त्रिभुवनको पवित्र कर देता है।'

भजनकी आवश्यकता

जो सबसे बढ़कर प्रियतम हो, जो प्राणोंका आधार हो, जो जीवनका एकमात्र अवलम्बन हो, जिसकी स्मृति और मिलनकी आशा ही जीवनमें प्रतिपल चेतना प्रदान करती हो, उसे क्षणभरके लिये भी कैसे भुलाया जा सकता है? कोई कहे कि 'दिन-रातमें दो घंटे भले ही उसे स्मरण कर लिया करो, शेष बाईस घंटे घरके दूसरे आवश्यक कामोंमें खर्च किया करो' पर ऐसा करना उस प्रेमीके लिये कैसे सम्भव हो सकता है? उसे कितने ही घंटे कुछ भी काम क्यों न करना पड़े, वह करेगा अपने प्रियतमका स्मरण करते हुए ही। उसे वह क्षणभरके लिये भी अपने हृदय-मन्दिरसे अलग नहीं कर सकता। हृदयमें उसकी झाँकी सदा खुली रहेगी, वह उसके दर्शन करता हुआ ही यन्त्रकी भाँति शरीरसे कार्य करता रहेगा। ऐसे अनन्यचेता सतत और नित्य चिन्तनमें लगे रहनेवाले प्रेमीको भगवान् नित्यप्राप्त ही रहते हैं, वे उसकी अन्तर्दृष्टिसे कभी ओझल हो ही नहीं सकते। इसी स्थितिको प्राप्त भक्त सूरदासने कहा था—

हाथ छुड़ाये जात हौ निबल जानिकै मोहिं।
हिरदै तें जब जाहुगे सबल बदौंगो तोहिं॥

इसी तन्मयतामें लीन गोपियाँ प्रतिक्षण प्रत्येक कार्य करते समय प्रियतम श्यामसुन्दरके गुणगान करती हुई आँसू बहाया करती थीं। भाग्यशालिनी व्रजांगनाओंकी बड़ाई करते हुए भागवतकार भगवान् व्यास कहते हैं—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेंखेंखनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४४। १५)

'उन श्रीकृष्णमें चित्तको अनुरक्त रखनेवाली व्रजवनिताओंको धन्य है, जो गौ दूहते, दही मथन करते, घर लीपते, झूला झूलते, रोते हुए बालकोंको लोरी देते, झाड़ू देते, चौका लगाते तथा विश्राम करते सब समय सर्वदा पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णको अपने सामने देखकर नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बहाती हुई गद्गद स्वरसे उनका गुण गाया करती हैं।'

भगवान्को याद रखनेका उपदेश, घंटे-दो-घंटे या अधिक नियमित कालके लिये नाम-जपकी आज्ञा,

इतनी संख्या पूरी करनेपर सिद्धि हो जायगी, इस लोभसे संख्यायुक्त जप या संख्याकी गणनासे जप हो जाता है, यों भूल रह जाना सम्भव है, इसलिये संख्याकी अवधि बाँधकर जप करना चाहिये, यह आदेश तो उन आरम्भिक साधकोंके लिये है, जो भगवान्‌के प्रेमी नहीं हैं। न करनेकी अपेक्षा ऐसा करना बहुत उत्तम है। प्रेम प्राप्त होनेपर यह कहना नहीं पड़ता कि अमुक समयतक अमुक संख्यासे उन्हें याद किया करो। संख्या या समयका हिसाब कौन रखे? जब एक क्षणभरके लिये स्मृति चित्तसे नहीं हटती, तब हिसाब-किताबकी बात ही कहाँ रह जाती है? श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामको सीताका संदेश सुनाते हुए श्रीहनूमान्‌जी कहते हैं कि 'प्रभो! सीता प्राण-त्याग करना चाहती हैं; परंतु प्राण निकल नहीं पाते, सीताजीने कहा है—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
× × × × × जाहिं प्रान केहिं बाट॥

प्राण कैद हो गये। आठों पहर आपके ध्यानके किंवाड़ लगे रहते हैं। आपका ध्यान कभी छूटता नहीं, आपकी श्याम-तमाल माधुरी मूर्ति कभी मनके नेत्रोंसे परे होती ही नहीं। यदि कभी किंवाड़ खोले भी जायँ तो बाहर रात-दिन पहरा लगता है। पहरेदार कौन है? राम-नाम, क्षणभरके लिये राम-नाम लेनेसे जिह्वा विराम नहीं लेती। प्राण कैसे निकलें? ऐसी स्थितिमें क्या सीताको इस उपदेशकी अपेक्षा थी कि तुम अशोकवाटिकामें अकेली रहती हो, समय बहुत मिलता है, इसके सिवा राक्षसियोंका डर रहता है, इसलिये कुछ देर रामको याद कर लिया करो। यह उपदेश या तो अभक्तोंके लिये है या प्रेमहीन रँगरूटोंके लिये।

प्रेमीजनोंको तो अपने प्रेमास्पदका नाम इतना प्यारा होता है कि स्वयं तो वे उसे कभी भूल ही नहीं सकते; दूसरेको कभी भूले-भटके उच्चारण करते सुन लेते हैं, तो उसकी चरण-धूलि लेने दौड़ते हैं। प्रियतमका नाम लेनेवाला, प्रियतमका गुण गानेवाला, प्रियतमका प्रेमी हृदयसे आदरका पात्र—प्रेमका पात्र न हो तो कौन होगा? प्रियतमका चिह्न ही हृदयमें हर्ष पैदा कर देता है। गोपियाँ श्याम मेघोंको देखकर श्रीकृष्णका स्मरण करती हुई मेघोंका दीर्घजीवन मनाती हैं।[१] भरतजी श्रीरामके पदचिह्न और कुशशय्याके तृणोंको देखकर वहाँकी धूलिको और तृणोंको सिर-माथेपर चढ़ाने लगते हैं,[२] श्रीराम सीताके वस्त्रको हृदयसे लगाते हैं,[३] महामुनि वसिष्ठ[४] और भरतजी[५] गुहको अपने रामका प्रिय सखा समझकर उसपर रामके सदृश स्नेह और प्रेम दिखलाते हैं। सीता-संदेश सुनानेवाले हनूमान्‌के प्रति श्रीभरत ऐसी कृतज्ञता प्रकट करते हैं कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। दोनों ही अपनेको हनूमान्‌का चिरऋणी घोषित करते हैं—

श्रीरामके वचन—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

श्रीभरतके वचन—

एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥

भगवान् श्रीकृष्णका संदेश लेकर जब उद्धवजी व्रजको पधारे, तब श्रीकृष्णके-से वेषमें देखकर गोपियोंने उन्हें घेर लिया और यह जानकर कि यह भगवान् श्रीकृष्णका संदेश लेकर आये हैं, गोपियोंके हर्षका पार न रहा—

तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं
सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने
विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ३)

---

१. स्यामघन जीवत रहौ सदाय।
तुम्ह देखत घनस्याम हमारे मनमंदिर प्रगटाय॥
२. कुस साँथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई॥
चरन रेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥
३. पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।
४. रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं॥
५. भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥

—और उन्होंने विनयावनत होकर प्रेमभरी लज्जा-पूर्ण दृष्टिसे और मधुर वचनोंसे उनका सत्कार किया।

जबतक भगवान् हमारे परम प्रेमास्पद नहीं हैं, तभीतक उनके स्मरण-चिन्तनका अभ्यास करना है। जिस शुभ घड़ीमें हम अपने-आपको उनके चरणोंपर न्योछावर कर देंगे, मन उनके मनमें मिला देंगे, फिर तो हर घड़ी हमें उन्हींकी प्राणाधिक प्रिय छबि दिखलायी देगी; फिर गोपियोंकी भाँति कविवर 'देव' की भाषामें हम भी यह कह सकेंगे—

जौ न जीमें प्रेम तो कीजै ब्रत नेम, जब
कंजमुख भूलै तब संजम बिसेखिये।
आस नहीं पीकी, तब आसन ही बाँधियत,
सासनकै साँसनको मूँदि पति पेखिये॥
नखतें सिखालौं सब स्याममयी बाम भई
बाहर औ भीतर न दूजो देव लेखिये।
जोग करि मिलैं जो बियोग ह्वेइ ब्रजपतिकौ,
जो न हरि होय, तौ ध्यान धरि देखिये॥

योग कहते हैं अप्राप्तकी प्राप्तिको और प्राप्तिके अभावको कहते हैं वियोग। यहाँ प्राणप्यारे नन्दनन्दनका नित्य संयोग है, फिर योग किसलिये साधें? वियोग ही नहीं, तब योग कैसा?

परंतु यह शुभ स्थिति हर एकको नसीब नहीं होती। भगवान्के प्रेमको प्राप्त करना सहज बात नहीं। प्रेम मुँहकी चीज नहीं; प्रेमकी बातें बनानेवाले बहुत मिल सकते हैं, पर प्रेमके पथपर कोई बिरला वीर ही चल सकता है। जबतक जगत्के भोगोंमें आसक्ति है, शरीरके आरामकी चिन्ता है, यश-कीर्तिका मोह है, तबतक प्रेमके पंथकी ओर निहारना भी मना है। प्रेमके मार्गपर वही वीर चल सकता है, जिसने वैराग्यके दावानलमें विषयासक्तिको सदाके लिये जला डाला हो। प्रेमिका मीराँ कहती है—

चुनरीके किये टूक ओढ़ लई लोई। मोती मूँगे उतार बनमाला पोई॥

प्रेमके पथपर वही पग रख सकता है, जो प्रेम-मार्गके काँटोंको फूलोंकी शय्या, प्रेमास्पदके किये हुए तिरस्कारको पुरस्कार, महान् विपत्तिको सुख-सम्पत्ति, अपमानको सम्मान और अयशको यश समझता है। उसका पथ ही उलटा होता है। वह कोई ऐसा घृणित कार्य नहीं करता, जिससे उसका अपमान, तिरस्कार हो या विपत्ति आवे, तथापि वह अपमान, तिरस्कार और विपत्तिको प्रेमास्पदके मिलनका मार्ग समझकर उनका स्वागत करता है, उनसे चिपटे रहता है। प्रेम-पंथियोंको प्रेमियोंके निम्नलिखित शब्द याद रखने चाहिये—

नारायण घाटी कठिन जहाँ प्रेमको धाम।
विकल मूर्छा सिसकिबो, ये मगके विश्राम॥
सीस काटिकै भुइँ धरै, ऊपर राखे पाव।
इश्कचमनके बीचमें, ऐसा हो तो आव॥
सिर काटौ छेदौ हिया टूक-टूक करि देहु।
पै याके बदले बिहँसि वाह वाहकी लेहु॥
पीया चाहै प्रेमरस राखा चाहै मान।
एक म्यानमें दो खडग देखी सुनी न कान॥
प्रेमपंथ अति ही कठिन सबपै निबहत नाहिं।
चढ़के मोम-तुरंग पै चलिबो पावक माहिं॥
नारायण प्रीतम निकट सोई पहुँचनहार।
गेंद बनावे सीसकी खेलै बीच बजार॥
ब्रह्मादिकके भोग सब विषसम लागत ताहि।
नारायण ब्रजचंदकी लगन लगी है जाहि॥

ऐसे प्रेमी भक्त शीश उतारकर मरते नहीं। शीश उतारे फिरते हैं, परंतु प्यारेके लिये जीवन रखते हैं। मर जाय तो प्यारेको दुःख हो। इसलिये जीते हुए ही मर जाते हैं अथवा मरकर भी जीते हैं। जिनकी ऐसी स्थिति हो गयी है, उनको धन्य है, उनके पिता-माताको धन्य है, उनके देशको धन्य है। उन्हींका जन्म सफल होता है। ऐसा करनेपर जब उन्हें प्रियतम मिल जाता है, जब प्रियतमके साथ घुल-मिलकर वे अपने-आपको खो देते हैं, तब तो वे प्रियतमका स्वरूप ही बन जाते हैं—

'तू तू करते तू भयो मुझमें रही न हूँ'।

× × × ×

जब 'मैं' था तब 'हरि' नहीं, अब 'हरि' है 'मैं' नाहिं।
प्रेमगली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं॥

इसी स्थितिको प्राप्त करना मनुष्य-जीवनका ध्येय है। इसीके लिये भगवान्ने गीतामें आज्ञा दी है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

इस सुखरहित और अनित्य मनुष्य-शरीरको पाकर तू निरन्तर मेरा भजन कर। भजनसे ही उपर्युक्त स्थिति प्राप्त हो सकती है। जबतक प्रेम न हो, तबतक श्रद्धाके साथ कुछ नियम बनाकर ही भगवान्का भजन अवश्य

करना चाहिये। भजन करते-करते ज्यों-ज्यों अन्त:करणका मल नष्ट होगा, त्यों-ही-त्यों अन्त:करण शुद्ध होगा और भगवान्‌के प्रति प्रेम बढ़ता रहेगा। परंतु यह 'अटल सिद्धान्त' सदा स्मरण रखना चाहिये—

बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

भगवत्प्राप्तिके उपाय

जीवके बन्धन और मोक्षका कारण मन ही माना गया है। जो मन विषयोंमें आसक्त होता है, वह बन्धनका हेतु होता है और जो परमात्मामें लगा रहता है, वह मोक्षप्रद होता है। जिस समय मन मैं और मेरेपनके कारण होनेवाले काम-लोभ आदि मलोंसे मुक्त हो जाता है, उस समय वह दु:ख-सुखसे छूटकर शुद्ध और सम हो जाता है। तब जीव अपने ज्ञान, वैराग्य और भक्ति-सम्पन्न अन्त:करणसे आत्माको प्रकृतिसे परे, एकमात्र, भेदरहित, स्वयंप्रकाश, सूक्ष्म, अखण्डित और उदासीन (सुख-दु:खरहित) देखता है तथा प्रकृतिको शक्तिहीना हुई अनुभव करता है। योगियोंको ब्रह्मप्राप्तिके लिये सर्वात्मा श्रीहरिके प्रति की हुई भक्तिके समान और कोई मंगलमय मार्ग नहीं है। विवेकीजन संगको ही आत्माका अच्छेद्य बन्धन मानते हैं, किंतु वही साधुपुरुषोंके साथ किया जानेपर मोक्षका खुला द्वार हो जाता है। जो लोग सहनशील, करुणामय, समस्त देहधारियोंके हित-चिन्तक, शत्रुहीन, शान्त, शास्त्रानुसार चलनेवाले और सद्‌गुणसम्पन्न होते हैं, जो भगवान्‌में अनन्यभावसे सुदृढ़ प्रेम करते हैं, भगवान्‌के लिये सम्पूर्ण कर्म तथा अपने सगे-सम्बन्धियोंको त्याग देते हैं और भगवान्‌की पवित्र कथाओंका परस्पर कीर्तन-श्रवण करते हैं, उन भगवान्‌हीमें चित्त लगानेवाले भक्तोंको संसारके विविध ताप कोई कष्ट नहीं पहुँचा सकते। ऐसे सर्वसंगपरित्यागी महापुरुष ही साधु होते हैं। उन्हींका संग करनेका प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि वे आसक्तिमूलक सम्पूर्ण दोषोंको दूर कर देनेवाले होते हैं। सत्पुरुषोंके समागमसे भगवान्‌के पराक्रमोंका यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली कथाएँ होती हैं। उनका सेवन करनेसे शीघ्र ही मोक्षमार्गमें श्रद्धा, रति और भक्तिका क्रमश: प्रादुर्भाव हो जाता है। फिर सृष्टि आदि भगवान्‌की लीलाओंका चिन्तन करनेसे प्राप्त हुई भक्तिके द्वारा लौकिक और पारलौकिक सुखोंमें वैराग्य हो जानेसे मनुष्य सावधानतापूर्वक योगके भक्तिप्रधान सरल मार्गोंसे मनोनिग्रह करनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार प्रकृति-[के गुणों-] से उत्पन्न हुए शब्दादि विषयोंका सेवन न करनेसे, वैराग्ययुक्त ज्ञानसे, योगसे और भगवान्‌के प्रति की हुई दृढ़ भक्तिसे मनुष्य सर्वान्तर्यामी श्रीभगवान्‌को इस देहमें ही प्राप्त कर लेता है।

(श्रीमद्भागवतके आधारपर)

धारण करनेयोग्य ५१ बातें

१—रोज प्रात:काल सूर्योदयसे पहले उठो। उठते ही भगवान्‌को प्रणाम करो, फिर हाथ-मुँह धोकर उषापान करो। ठंढे जलसे आँखें धोओ।

२—पेशाब-पाखानेकी हाजतको कभी न रोको। पेटमें मल जमा न होने दो।

३—रोज दतुअन करो; भोजन करके हाथ, मुँह, दाँत अवश्य धोओ।

४—प्रतिदिन प्रात:काल स्नान करके सूर्यको अर्घ्य दो।

५—दोनों समय (प्रात: और सायं) नियमपूर्वक श्रद्धाके साथ भगवत्प्रार्थना या संध्या करो।

६—हो सके तो प्रात:काल शुद्ध वायुका सेवन अवश्य करो।

७—भूखसे अधिक न खाओ, जीभके स्वादके वशमें न होओ; पवित्रतासे बना हुआ—पवित्र कमाईका अन्न खाओ; किसीका भी जूठा कभी न खाओ, न किसीको अपना जूठा खिलाओ, मांस-मद्यका सेवन कभी न करो।

८—भोजनके समय जल न पीओ, या बहुत थोड़ा पीओ।

९—पान, तम्बाकू, सिगरेट, बीड़ी, चाय, काफी, भाँग, अफीम, गाँजा, चरस, ताश, चौपड़, शतरंज आदिका

व्यसन न डालो; दवा अधिक सेवन न करो। पथ्य, परहेज, संयम, युक्ताहार-विहारका अधिक ध्यान रखो।

१०—दिनमें न सोओ, रातमें अधिक न जागो, छः घंटेसे अधिक न सोओ।

११—नियमितरूपसे धर्मग्रन्थोंका कुछ स्वाध्याय अवश्य करो।

१२—रोज नियमितरूपसे कम-से-कम २५,००० भगवान्के नामोंका जप अवश्य करो।

१३—संतोंके चरित्र और उनकी दिव्य वाणीका अध्ययन करो।

१४—जूआ कभी न खेलो, बाजी न लगाओ, होड़ न बदो।

१५—सिनेमा, स्त्रियोंका नाच आदि न देखो।

१६—कपड़े सादे पहनो और साफ रखो, मैले न होने दो; परंतु फैशनका खयाल बिलकुल न रखो। कपड़े बिगाड़कर भी न पहनो, बहुत कीमती कपड़े न पहनो।

१७—हजामत और नख न बढ़ने दो, परंतु शौकसे दिनमें दो बार बनाओ भी नहीं।

१८—अपने शरीरको सुन्दर दिखलानेका प्रयत्न न करो।

१९—किसी भी हालतमें यथासाध्य उधार न लो, उधार लेकर खर्च करनेसे आदत बिगड़ जाती है; जबतक उधार मिलता है, खर्च बढ़ता ही जाता है; पीछे बड़ी कठिनाई और बेइज्जती होती है।

२०—तकलीफ सहकर भी आमदनीसे कम खर्च करो, अधिक खर्च करनेवालों या अमीरोंको आदर्श न मानकर मितव्ययी पुरुषों और गरीबोंकी ओर ध्यान दो। मितव्ययी पुरुष आमदनीमेंसे कुछ बचाकर अपनी ताकतके अनुसार दुःखियोंकी सेवा कर सकता है, चाहे एक पैसेसे ही हो; खरी कमाईसे बचे हुए एक पैसेके द्वारा भी की हुई दीन-सेवा बहुत महत्त्वकी होती है। मितव्ययी पुरुषके बचाये हुए पैसे उसके गाढ़े वक्तपर काम आते हैं। जो अधिक खर्च करता है, उसकी आदत इतनी बिगड़ जाती है कि वह बहुत अधिक आमदनी होनेपर भी एक पैसा बचाकर दीनोंकी सेवा नहीं कर सकता। वह अपने खर्चसे ही परेशान रहता है और आमदनी न होने या कम होनेकी सूरतमें उसपर कष्टोंके पहाड़ टूट पड़ते हैं। मितव्ययी और अच्छी आदतवाले पुरुष ऐसी अवस्थामें दुःखी नहीं हुआ करते।

२१—नौकरोंसे दुर्व्यवहार न करो, दुःखमें उनकी सेवा-सहायता करो। उनका तिरस्कार-अपमान कभी न करो। उनकी आवश्यकताओंका खयाल रखो और अपनी परिस्थितिके अनुसार उन्हें पूरा करनेकी चेष्टा करो।

२२—अपरिचित मनुष्यसे दवा न लो, जादू-टोना किसीसे भी न करवाओ।

२३—नोट दूना बनानेवाले, आँकड़ा बतानेवाले, सोना बनानेवाले, सट्टा बतलानेवाले लोगोंसे सावधान रहो; ऐसा करनेवाले लोग प्रायः ठग होते हैं।

२४—किसी अनजानको पेटकी बात न कहो, जाने हुए भी सबसे न कहो; परंतु अपने सच्चे हितैषी बन्धुसे छिपाओ भी नहीं।

२५—जहाँ भी रहो किसी वयोवृद्ध अनुभवी पुरुषको अपना हितैषी जरूर बना लो। विपत्तिके समय उसकी सलाह बहुत काम देगी।

२६—प्रेम सबसे रखो, परंतु बहुत ज्यादा सम्बन्ध स्थापित न करो। अनावश्यक दावतोंमें न जाओ और न दावत देनेकी ही आदत डालो।

२७—जो कुछ काम करो, अच्छी तरहसे करो। बिगाड़कर जल्दी और ज्यादा करनेकी अपेक्षा सुधारकर थोड़ा करना भी अच्छा है, परंतु आलस्य-प्रमादको समीप न आने दो।

२८—जोशमें आकर कोई काम न करो।

२९—किसीसे विवाद या तर्क न करो, शास्त्रार्थ न करो। अपनेको सदा विद्यार्थी ही समझो। समझदारीका अभिमान न करो। सीखनेकी धुन रखो।

३०—मीठा बोलो, ताना न मारो, कड़वी जबान न कहो; बीचमें न बोलो, बिना पूछे सलाह न दो; सच बोलो, अधिक न बोलो, बिलकुल मौन भी न रहो; हँसी-मजाक न करो; निन्दा-चुगली न करो, न सुनो; गाली न दो, शाप-वरदान न दो।

३१—नम्र और विनयशील रहो, झूठी चापलूसी न करो, ऐंठो नहीं, मान दो, पर मान न चाहो।

३२—दूसरेके द्वारा अच्छा बर्ताव होनेपर ही मैं उसके साथ अच्छा करूँगा, ऐसी कल्पना न करो। अपनी ओरसे पहलेसे ही सबसे अच्छा बर्ताव करो, जो अपनी बुराई करे उसके साथ भी।

३३—गरीबोंके साथ सहानुभूति रखो।

३४—किसी फार्ममें, संस्थामें या किसी व्यक्तिके लिये काम करो—नौकरी करो तो पूरी वफादारीसे करो। सदा तन-मन-वचनसे उसका हित-चिन्तन ही करते रहो।

३५—जहाँ रहो अपनी ईमानदारी, वफादारी, होशियारी, कार्य-कुशलता, मीठे वचन, परिश्रम और सचाईसे अपनी जरूरत पैदा कर दो। अपना स्थान स्वयं बना लो।

३६—प्रत्यक्ष लाभ दीखनेपर भी अनुचित लोभ न करो। अपनी ईमानदारीको हर हालतमें बचाये रखो। दूसरेका हक किसी तरह भी स्वीकार न करो। ईमान न बिगाड़ो।

३७—आचरणोंको—चरित्रको सदा पवित्र बनाये रखनेकी कोशिश करो।

३८—बिना ही कारण मान-बड़ाईके लिये न तरसो। गरीबीसे न डरो, बेईमानी और बुरी आदतोंसे अवश्य भय करो।

३९—परायी स्त्रीको जलती हुई आग या सिंहसे भी अधिक भयानक समझो। स्त्री-सम्बन्धी चर्चा न करो, स्त्री-चिन्तन न करो, स्त्रियोंके चित्र न देखो, स्त्रियोंके सम्बन्धकी पुस्तकें न पढ़ो। यथासाध्य स्त्री-सहवास अपनी स्त्रीसे भी कम करो। यही बात स्त्रीके लिये पर-पुरुषके सम्बन्धमें है।

४०—सदा अशुभ भावनाओंसे अपनेको न घिरा रहने दो। उनको दूर भगाये रखो।

४१—विपत्तिमें धीरज और सत्य न छोड़ो, दूसरेपर दोष न दो।

४२—जहाँतक हो क्रोध न आने दो। क्रोध आ जाय तो उसका कुछ प्रायश्चित्त करो।

४३—दूसरोंके दोष न देखो, अपने देखो। किसीको छोटा न समझो। अपना दोष स्वीकार करनेको सदा तैयार रहो।

४४—अपने दोषोंकी एक डायरी रखो; रातको उसे रोज देखो और कल ये दोष नहीं होंगे, ऐसा दृढ़ निश्चय करो।

४५—वासना-कामनाओंको जीतनेकी चेष्टा करो। कामनापूर्तिकी अपेक्षा कामनाओंको जीतनेमें ही सुख है।

४६—अहिंसा, सत्य और दयाको विशेष बढ़ाओ।

४७—जीवनका प्रधान लक्ष्य एक ही है, यह दृढ़ निश्चय कर लो। वह लक्ष्य है—'भगवान्‌की उपलब्धि।'

४८—विषयचिन्तन, अशुभचिन्तनका त्याग करके यथासाध्य भगवच्चिन्तनका अभ्यास करो।

४९—भगवान् जो कुछ दें, उसीको आनन्दके साथ ग्रहण करनेका अभ्यास करो।

५०—इज्जत, मान और नामका मोह न करो।

५१—भगवान्‌की कृपामें विश्वास करो।

महाभारतमें अधर्म और धर्मका युद्ध

महाभारतके आदिपर्वमें दो श्लोक मिलते हैं—

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी॥
युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च॥

(अनु० १।११०-१११)

महाभारत ग्रन्थके मुख्य कथानकका केन्द्र महाभारत-युद्ध ही है। उसमें दो विरोधी शक्तियोंका प्रबल संघर्ष दृष्टिगोचर होता है। एक ओर तो अधर्म अपने पूरे दल-बलके साथ मुँह बाये खड़ा है और धर्म एवं उसके परिवारको निगल जाना चाहता है। दूसरी ओर धर्म अपनी सारी शक्ति लगाकर अधर्मको दबा देना चाहता है। इन्हीं दोनों शक्तियोंको यहाँ दो वृक्षोंके रूपमें व्यक्त किया गया है। एकके प्रतीक क्रोध एवं अभिमानकी मूर्ति, साक्षात् कलियुगके अवतार राजा दुर्योधन हैं। दुर्योधन न होते तो महाभारतका संहारकारी युद्ध कदापि न होता और भरतवंशका इतिहास दूसरी ही तरह लिखा जाता। दुर्योधनके प्रधान सहायक महारथी कर्ण थे। इन्हींके बलपर दुर्योधन नाचते थे। ये ही न्याय-अन्याय सबमें उनका समर्थन करते थे और उनके प्रत्येक पापपूर्ण प्रस्तावका अनुमोदन करते थे। ये ही उनके प्रधान सलाहकार थे। इन्हींके पराक्रम एवं अस्त्र-कौशलका उन्हें भरोसा था। महाबली अर्जुनको वे इन्हींसे लड़ाकर जीतनेकी आशा रखते थे। भीष्म और द्रोणाचार्यको तो वे पाण्डवोंका पक्षपाती समझते थे। इसीलिये कर्णको इस अधर्ममय वृक्षका स्कन्ध (तना) बताया गया।

वृक्षका विस्तार उसकी शाखाओंद्वारा होता है। दुर्योधनकी पापपूर्ण नीतिको कार्यरूपमें परिणत कर उसका विस्तार करना शकुनिका ही काम था। उन्हींने दुर्योधनको द्यूत आदि पाप-कर्मके लिये प्रेरित एवं उत्साहितकर युधिष्ठिरको कपटसे जीतनेका सफल आयोजन किया था। इसीसे उन्हें दुर्योधनरूप वृक्षकी शाखा कहा गया है। वृक्षका परिपाक पुष्प-फलके रूपमें ही होता है। दुर्योधनकी नीतिका परिपाक भी द्रौपदी-चीरहरण आदिके रूपमें दु:शासनके द्वारा ही हुआ था, इसीसे उन्हें पुष्प-फल बताया गया। अधर्मका मूल अज्ञान है। धृतराष्ट्र अज्ञान एवं मोहकी साक्षात् मूर्ति थे। वे दुर्योधनकी काली करतूतोंका भयंकर परिणाम जानते हुए भी उन्हें कमजोरीके कारण रोक नहीं सकते थे और उनके प्रत्येक कार्यमें अनुमति दे दिया करते थे। दुर्योधनके पिता होनेके नाते भी इन्हें अधर्मरूपी वृक्षका मूल कहना सर्वथा संगत ही है। दुर्योधन जन्मते ही गधेकी भाँति रेंकने लगे थे और उनके जन्मके समय कई अनिष्टसूचक उत्पात भी हुए। इससे उनके द्वारा कुरुकुलके नाशकी सूचना मिली थी। उस समय विदुरने धृतराष्ट्रको इन्हें परित्याग करके कुलको सर्वनाशसे बचानेकी सलाह दी थी। उस समय धृतराष्ट्र इनका परित्याग कर देते तो इतने खून-खराबेकी नौबत ही नहीं आती। वृक्षकी जड़को काट देनेपर उसका अस्तित्व ही नहीं रहता। इस दृष्टिसे भी धृतराष्ट्रको मूल कहना उपयुक्त ही है।

इधर धर्मके प्रतीक महाराज युधिष्ठिर थे। वे साक्षात् धर्मकी मूर्ति ही थे। उनके प्रधान बल वीरवर अर्जुन थे। भीमके द्वारा इनकी धर्मपूर्ण नीतिका विस्तार होता था। नकुल-सहदेवके द्वारा उसका परिपाक होता था; और इस धर्मरूपी वृक्षकी जड़ भगवान् श्रीकृष्ण, वेद और ब्राह्मण थे। इन्हींके आधारपर यह धर्म-वृक्ष टिका रहा। इस प्रकार इन दो श्लोकोंमें महाभारत-युद्धके तात्पर्यका दिग्दर्शन कराया गया है।

गृहस्थोंके लिये साधारण नियम

१—प्रात:काल सूर्योदयसे पहले उठो।

२—उठते ही भगवान्का स्मरण करो।

३—शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर भगवान्की उपासना, संध्या, तर्पण आदि करो।

४—बलिवैश्वदेव करके समयपर सात्त्विक भोजन करो।

५—रोज प्रात:काल माता, पिता, गुरु आदि बड़ोंको प्रणाम करो।

६—इन्द्रियोंके वश न होकर, उनको वशमें करके उनसे यथायोग्य काम लो।

७—धन कमानेमें छल, कपट, चोरी, असत्य और बेईमानीका त्याग करो। अपनी कमाईके धनमें यथायोग्य सभीका हक समझो।

८—माता-पिता, भाई-भौजाई, बहिन-फूआ, स्त्री-पुत्र आदि परिवारका आदर और प्रेमसे पालन करो।

९—अतिथिका सच्चे मनसे सत्कार करो।

१०—अपनी हैसियतके अनुसार दान करो। पड़ोसियों तथा ग्रामवासियोंकी सत्कारपूर्ण सेवा सदा करो।

११—सब कर्मोंको बड़ी सुन्दरता, सफाई और नेकनीयतीसे करो।

१२—किसीका अपमान, तिरस्कार और अहित न करो।

१३—अपने किसी कर्मसे समाजमें विश्रृंखलता और प्रमाद न पैदा करो।

१४—मन, वचन और शरीरसे पवित्र, विनयशील और परोपकारी बनो।

१५—सब कर्म नाटकके पात्रकी भाँति अपने न मानकर करो, परंतु करो ठीक सावधानीके साथ।

१६—विलासितासे बचे रहो—अपने लिये खर्च कम लगाओ। बचतके पैसे गरीबोंकी सेवामें खर्च करो।

१७—स्वावलम्बी बनकर रहो—दूसरेपर अपने जीवनका भार न डालो।

१८—निकम्मे कभी मत रहो।

१९—इस बातका पूरा खयाल करो—अन्यायका पैसा, दूसरेके हकका पैसा घरमें न आने पावे।

२०—सब कर्मोंको भगवान्की सेवाके भावसे—निष्कामभावसे करनेकी चेष्टा करो।

२१—जीवनका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है, भोग नहीं—इस निश्चयसे कभी न टलो और सारे काम इसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये करो।

ग्यारह पालनीय नियम

१—गीताके अनुसार सात्त्विक जीवन बनाना।

२—भगवान्‌को हर समय याद रखते हुए निष्कामभावसे भगवत्प्रीत्यर्थ उत्साहपूर्वक काम करनेकी चेष्टा करना।

३—सबमें भगवान्‌को देखनेकी चेष्टा करना।

४—काम, क्रोध, लोभ, भय, विषाद, ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, वैर, हिंसा, असत्य, असूया, परनिन्दा, परदोषदर्शन—इन चौदह दोषोंसे बचना।

५—गरीबोंके साथ सहानुभूति रखना।

६—आपसमें खूब प्रेम बढ़ाना। जैसे अपने मनके प्रतिकूल होनेपर हमें दुःख होता है, उसी प्रकार दूसरोंके प्रतिकूल होनेपर उनको होता है; अतएव अपने प्रतिकूल भले ही हो जाय, दूसरेके प्रतिकूलसे बचाना चाहिये। ऐसा होगा, मनसे खयाल रखा जायगा, तो प्रेम बढ़ेगा।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'धर्मके सर्वस्वको सुनो और सुनकर धारण करो; वह यह है कि जो अपने मनके प्रतिकूल हों, वैसी बातें दूसरोंके लिये न करो।' जैसे अपनेको अपमान, तिरस्कार, अहित, बात न मानना, शरीर-मनके आराममें बाधा पहुँचना आदि बुरा लगता है, वैसे ही दूसरोंको भी लगता है—यह समझकर किसीके साथ भी उन्हें प्रतिकूल लगे, ऐसा व्यवहार नहीं करना।

७—प्रेम बढ़ानेका एक उपाय है—सबको मान देना, स्वयं अमानी होना। सच्चे मनसे सदा सबका हित चाहना और करना।

८—दूसरेके द्वारा अच्छे बर्तावकी बाट न देखकर पहलेसे ही अपने अच्छा बर्ताव करना।

९—भगवान्‌के नामकी कम-से-कम २५ माला—(होनी तो चाहिये कम-से-कम ६४) रोज जरूर जपना नियमपूर्वक।

१०—अपनी भूलोंके लिये डायरी रखना।

११—रोज भगवान्‌की प्रार्थना करना।

श्रीकृष्ण और अर्जुनकी मैत्री

आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनंजयः।
यद् ब्रूयादर्जुनः कृष्णं सर्वं कुर्यादसंशयम्॥
कृष्णो धनंजयस्यार्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत्।
तथैव पार्थः कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत्॥

(महा०, सभा० ५२। ३१,३३)

'श्रीकृष्ण अर्जुनके आत्मा हैं और अर्जुन श्रीकृष्णके आत्मा हैं। अर्जुन श्रीकृष्णको जो कुछ करनेको कहते हैं श्रीकृष्ण निस्सन्देह वही सब करते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुनके लिये दिव्य लोकका त्याग कर सकते हैं और अर्जुन भी श्रीकृष्णके लिये प्राण परित्याग कर सकते हैं।'

ये उद्‌गार कुरुराज दुर्योधनके हैं, जो उन्होंने पाण्डवोंके राजसूयका वर्णन करते समय अपने पिता महाराजा धृतराष्ट्रके सामने प्रकट किये थे। मित्रताके शास्त्रवर्णित लक्षणोंका मूर्तिमान् स्वरूप श्रीकृष्णार्जुनकी मैत्री है। आहार-विहारमें साथ रहना, प्राणपणसे हित करना, सुख-दुःखमें समानरूपसे साथी होना, मित्रके हितमें ही अपना हित समझना, मित्रको विपत्तिसे बचानेके लिये पहलेसे ही सावधान रहना, लेन-देनमें किसी प्रकारका संकोच न करना, मित्रका मान बढ़ाना, मित्रकी छोटी-से-छोटी सेवा करनेमें भी आनन्द मानना, मित्रके दोष छिपाकर उसके गुण प्रकट करना, मित्रको दोषसे मुक्त करना, अपनी उत्तम-से-उत्तम वस्तु उसे देना और उसे उत्तम-से-उत्तम स्थितिपर पहुँचा देना आदि समस्त बातें श्रीकृष्णके सख्य-प्रेममें पायी जाती हैं। वृन्दावनके बालमित्र, गुरुकुलके दरिद्र सुदामा और ज्ञानी उद्धव आदिके साथ भी भगवान्‌ने सख्य-भावका विलक्षण बर्ताव किया है, परंतु वह थोड़े कालके लिये और सब बातोंमें पूर्ण नहीं था। मित्रताका पूर्ण परिचय तो अर्जुनके साथ किये जानेवाले सुदीर्घ सख्य-व्यवहारमें ही मिलता है। यहाँ उसीका अति संक्षेपमें कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन आहार-विहारमें प्रायः साथ रहते थे। उनका वनविहार, जलविहार, घूमना-फिरना साथ हुआ करता था। स्वयंवरयात्रामें श्रीकृष्ण मित्र अर्जुनको प्रायः साथ रखा करते थे। खाण्डव-वनका दाह कर चुकनेके बाद इन्द्रने स्वर्गसे आकर जब

अर्जुनसे वर माँगनेको कहा, तब अर्जुनने अनेक शस्त्रास्त्र माँग लिये। तदनन्तर इन्द्रने भगवान्‌से भी कुछ माँगनेको कहा, तब भगवान्‌ने कहा—'मेरा अर्जुनके साथ शाश्वत प्रेम बना रहे।' भगवान् अर्जुनके प्रेमके लिये वर माँगते हैं, इसीसे उनके प्रेमका कुछ अनुमान किया जा सकता है।

(१)

द्वारिकामें एक ब्राह्मण रहता था, उसकी स्त्रीके पुत्र हुआ और होते ही मर गया। ब्राह्मण मृतपुत्रकी लाशको लेकर राजद्वारपर आया और उसे वहाँ रखकर कातरस्वरसे रोता हुआ कहने लगा—'ब्राह्मणद्रोही, शठबुद्धि, लोभी, विषयी, क्षत्रियाधम राजाके कर्मदोषसे ही मेरा बालक मर गया है।' क्योंकि—

हिंसाविहारं नृपतिं दुःशीलमजितेन्द्रियम्।
प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति दरिद्रा नित्यदुःखिताः॥

(श्रीमद्भा० १०।८९।२५)

'जब राजा हिंसामें रत, दुश्चरित्र और अजितेन्द्रिय होता है, तभी प्रजाको दरिद्रता और अनेक प्रकारके दुःखोंसे नित्य पीड़ित रहना पड़ता है।' यों कहकर लाशको वहीं छोड़ वह ब्राह्मण चला गया। कहना नहीं होगा, ब्राह्मणपर राजद्रोहका मामला नहीं चलाया गया था। इस प्रकार उस ब्राह्मणके आठ बालक मर गये और वह उनकी लाशोंको राजद्वारपर छोड़ गया। यादवोंने अनेक उपाय भी किये, परंतु कोई भी उपाय नहीं चला। नवें पुत्रकी लाशको लेकर जिस दिन ब्राह्मण राजसभामें पहुँचा, उस दिन वहाँ दैवात् अर्जुन आये हुए थे। अर्जुनने कहा—'देव आप क्यों रो रहे हैं? क्या यहाँ कोई भी क्षत्रिय वीर नहीं है, जो आप ब्राह्मणोंको पुत्रशोकसे बचाये? जिन राजाओंके जीवित रहते राज्यमें यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण धन, स्त्री, पुत्र आदिके वियोगमें दुःखी रहते हैं वे राजा नहीं, वे तो पेट पालने और विषय भोगनेवाले राजवेषी भाँड़ हैं। आपके पुत्रोंकी रक्षा मैं करूँगा और यदि न कर सकूँगा तो स्वयं अग्निमें जल जाऊँगा।' ब्राह्मणने कहा—'भगवान् संकर्षण, भगवान् वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नहीं बचा सके, तब तुम क्योंकर बचाओगे?' अर्जुनने अभिमानसे कहा—'मैं संकर्षण, कृष्ण, प्रद्युम्न या अनिरुद्ध नहीं हूँ।* मैं गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हूँ। मृत्युको जीतकर बालकको ले आऊँगा।' भगवान् कुछ नहीं बोले, उन्होंने मुसकरा दिया और मन-ही-मन भविष्यकी लीलाका कार्यक्रम भी निश्चित कर लिया। ब्राह्मणीके बालक-प्रसवका समय आया। समाचार मिलते ही अर्जुनने हाथ-पैर धो, गाण्डीव-धनुषको चढ़ाकर दिव्य अस्त्रोंका स्मरण किया और बाणोंसे सूतिका-भवनको ढँक दिया। ऐसा पिंजर-सा बना दिया कि उसके अंदर किसीका भी प्रवेश नहीं हो सकता था। हरिकी लीला विचित्र है, ब्राह्मणीके बालक हुआ और बारंबार रोता हुआ वह उसी क्षण अदृश्य हो गया। ब्राह्मण दुःखित हुआ श्रीकृष्णके पास जाकर कहने लगा—'मेरी मूर्खताका भी कोई ठिकाना है, जो मैंने उस कायर अर्जुनकी आत्मप्रशंसापूर्ण बातका विश्वास कर लिया। मिथ्यावादी और अपने ही मुखसे अपना पराक्रम और धनुषकी झूठी प्रशंसा करनेवाले अर्जुनको धिक्कार है।' अर्जुन पास ही बैठे थे। अब भी उनमें अहंकार था। वे भगवान्‌से कुछ न बोले और तुरंत अपनी योगविद्यासे यमपुरी गये। वहाँ ब्राह्मणपुत्रको न देखकर इन्द्र, अग्नि, निर्ऋति, चन्द्र, वायु, वरुण आदि लोकपालोंके लोकोंमें तथा अतल, रसातल और स्वर्गके ऊपरके सब लोकोंमें तथा और अनेक स्थानोंमें घूमे, परंतु कहीं बालकका पता नहीं लगा, तब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार वे चिता बनाकर उसमें जलनेको तैयार हो गये। अब भगवान्‌से नहीं रहा गया। उन्होंने जाकर अर्जुनको रोक लिया और कहने लगे—

दर्शये द्विजसूनूंस्ते मावज्ञात्मानमात्मना।
ये ते नः कीर्तिं विमलां मनुष्याः स्थापयिष्यन्ति॥

(श्रीमद्भा० १०।८९।४६)

'मित्र! यों अपनेको अशक्त समझकर अपना अनादर न करो, (तुमने अभी अपनी पूरी शक्तिका उपयोग ही कहाँ किया है? मैं तुम्हारा दूसरा रूप—तुम्हारा अन्तरंग सखा तो अभी मौजूद हूँ।) चलो, मैं तुम्हें ब्राह्मणके मरे हुए दसों पुत्रोंको दिखलाऊँ। इससे समस्त विश्वमें हमारी कीर्ति छा जायगी।'

* मैं तो कृष्णका भक्त हूँ। जो काम कृष्ण नहीं कर सकते, वह मैं उन्हींके बलपर कर सकता हूँ; क्योंकि मेरे लिये उन्हें अपनी मर्यादासे परे भी काम करने पड़ते हैं।

अर्जुनका दर्प चूर्ण करना उसके हितके लिये आवश्यक था, सो कर दिया, परंतु उसे मरने कैसे देते? भगवान्‌ने उसको साथ लिया और दिव्य रथपर सवार हो पश्चिमकी ओर चले। पर्वतोंसे युक्त सातों द्वीप और समुद्रोंको लाँघकर लोकालोक पहाड़के परली तरफ अन्धकारमय प्रदेशमें जा पहुँचे। वहाँ उनके रथके शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामक घोड़े भटकने लगे, तब 'महायोगेश्वर' भगवान्‌ने अपने सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशमय सुदर्शन चक्रको आगे कर दिया। उसके प्रकाशमें रथ आगे बढ़ा। अन्धकारके उस पार पहुँचकर अर्जुनने देखा कि अपार सूर्योंकी-सी महान् ज्योति चारों ओर फैल रही है। उस श्रेष्ठ परमज्योतिकी ओर अर्जुनकी दृष्टि नहीं ठहर सकी और उन्होंने दोनों आँखें मूँद लीं। इसके बाद वे एक अनन्त जलके समुद्रमें घुसे, वहाँ देखा कि एक अत्यन्त प्रकाशयुक्त मन्दिर है, उसमें अत्यन्त प्रकाशमयी मणियाँ जड़ी हैं और सोनेके हजारों खंभे हैं। मन्दिरके अंदर श्वेत पर्वतके समान अत्यन्त अद्भुत शेषनागजी हैं। उनके मस्तकोंपर स्थित महामणियोंकी प्रभासे प्रकाशित हुए हजारों फण फैले हुए हैं। उनके दो हजार नेत्र हैं और गले तथा जीभोंका वर्ण नीला है। उन शेषजीकी शय्यापर विभु महानुभाव पुरुषोत्तमोत्तम सुखसे लेट रहे हैं। उनके नव-नील-नीरद शरीरपर पीताम्बर बिजलीके सदृश शोभित हो रहा है। उनका मुख-मण्डल प्रसन्न, अरुण-नेत्र कमल-सदृश विशाल और दर्शनीय है। महामणियोंके गुच्छोंसे सुशोभित किरीट-मुकुट और कुण्डलोंकी शोभा छा रही है। भगवान्‌के सुन्दर आठ भुजाएँ हैं और वक्षःस्थलमें श्रीवत्स लक्ष्मीके चिह्न हैं तथा गलेमें कौस्तुभमणि एवं मनोहर वनमाला सुशोभित है। सुनन्द, नन्द आदि पार्षद तथा चक्र आदि आयुध और पुष्टि, श्री, कीर्ति, माया और आठों सिद्धियाँ शरीर धारणकर भगवान्‌की सेवामें तत्पर हैं। श्रीकृष्ण-अर्जुनने वहाँ पहुँचकर सिर झुकाकर आदरसे आत्मरूप अच्युतको प्रणाम किया। तब विभुभगवान्‌ने कहा—'हे नारायण और नर! मैंने अपने ही स्वरूप तुम लोगोंको देखनेके लिये इन ब्राह्मणोंको यहाँ मँगवा लिया था। तुम्हारा कार्य हो गया। अब तुम शीघ्र यहाँ आ जाओ। तुम पूर्णकाम हो, मर्यादा-पालनके लिये लोक-संग्रहार्थ ही धर्मका आचरण करते हो।' तदनन्तर श्रीकृष्ण-अर्जुन ब्राह्मण-बालकोंको लेकर लौट आये। द्वारिकामें पहुँचकर अर्जुनने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार ब्राह्मणको उसके सब बालक दे दिये। अपने पुत्रोंको पाकर ब्राह्मण अत्यन्त ही प्रसन्न और विस्मित हो गया। इस प्रकार भगवान्‌ने अपने मित्र अर्जुनकी प्रतिज्ञा पूर्ण की।

(२)

लाक्षागृहमें पाण्डवोंके जलनेका समाचार पाकर भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें ढूँढ़ते हुए अन्तमें द्रौपदीके स्वयंवरमें पहुँचे। वहाँ जाते ही उन्होंने ब्राह्मण-वेशधारी अर्जुनको पहचानकर बलरामजीसे कह दिया। आवश्यक सहायता कर विरोधी राजाओंको परास्त कराया और दरिद्रतासे पूर्ण पाण्डवोंको मित्रताके उपहारके नाते अपार धन देकर उन्हें महाधनी बना दिया। महाभारतकार लिखते हैं—

श्रीकृष्णने भेंटमें वैदूर्यमणियोंसे जड़े सोनेके गहने, देशी-विदेशी बहुमूल्य वस्त्र, उपवस्त्र, शाल-दुशाले, मृगछाला, चद्दरें, सुन्दर बिछौने, अनेक प्रकारके रत्न, नाना प्रकारकी बड़ी-बड़ी चौकियाँ, भाँति-भाँतिके विशाल शामियाने, पालकी आदि सवारियाँ, वैदूर्यमणियों तथा हीरेसे जड़े हुए विचित्र बरतन, सुन्दर गहनोंसे सजी हुई रूप-यौवन और चतुरतासम्पन्न दासियाँ, सुशिक्षित सुन्दर हाथी, गहनोंसे लदे हुए बढ़िया घोड़ोंसे जुते हुए ध्वजावाले सुवर्ण रथ, सोनेकी करोड़ों मोहरें और सुवर्णके ढेर-के-ढेर—इस प्रकार अनेक वस्तुएँ प्रदान कीं।

तदनन्तर राजसूय-यज्ञमें विविध प्रकारसे सहायता कर उसे सफलतापूर्वक सम्पन्न कराया। इस प्रसंगमें भगवान्‌ने हर तरहकी सेवा की। अतिथियोंके पैर धोये और किसी-किसीके मतमें तो जूठी पत्तलें उठाकर फेंकनेका काम भी आपने किया। यद्यपि सारा ही कार्य भगवान्‌की सहायता और बलसे सम्पन्न हुआ था, परंतु अपने मित्र अर्जुनकी प्रसन्नताके लिये दूसरे राजाओंकी भाँति भेंटस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने भी युधिष्ठिरको चौदह हजार बढ़िया हाथी दिये—

वासुदेवोऽपि वार्ष्णेयो मानं कुर्वन् किरीटिनः॥
अददद् गजमुख्यानां सहस्राणि चतुर्दश।

(सभापर्व ५२। ३०। ३१)

(३)

पाण्डवोंके पाससे लौटकर आये हुए संजयसे

धृतराष्ट्रने जब वहाँके समाचार पूछे, तब अन्तःपुरके पवित्र और विशुद्ध प्रेमके संकोचरहित दृश्यके देखनेका सौभाग्य पाये हुए संजयने मुग्धचित्तसे वहाँका सारा हाल बतलाते हुए कहा—'श्रीकृष्ण-अर्जुनका मैंने विलक्षण प्रेम-भाव देखा है। मैं उन दोनोंसे बात करनेके लिये बड़े ही विनीतभावसे उनके अन्तःपुरमें गया। मैंने जाकर देखा कि वे दोनों महात्मा उत्तम वस्त्राभूषणोंसे भूषित होकर रत्नजटित सोनेके महामूल्यवान् आसनपर बैठे थे। अर्जुनकी गोदमें श्रीकृष्णके पैर थे और द्रौपदी तथा सत्यभामाकी गोदमें अर्जुनके दोनों पैर थे। अर्जुनने अपने पैरके नीचेका सोनेका पीढ़ा सरकाकर मुझे बैठनेको कहा, मैं उसे छूकर अदबके साथ नीचे बैठ गया। तब श्रीकृष्णने अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए और उन्हें अपने ही समान बतलाते हुए मुझसे कहा—

देवासुरमनुष्येषु यक्षगन्धर्वभोगिषु।
न तं पश्याम्यहं युद्धे पाण्डवं योऽभ्ययाद् रणे॥
बलं वीर्यं च तेजश्च शीघ्रता लघुहस्तता।
अविषादश्च धैर्यं च पार्थान्नान्यत्र विद्यते॥

(उद्योगपर्व ५९। २६, २९)

'देवता, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, मनुष्यों और नागोंमें कोई ऐसा नहीं है, जो युद्धमें अर्जुनका सामना कर सके। बल, वीर्य, तेज, शीघ्रता, लघुहस्तता, विषादहीनता और धैर्य—ये सारे गुण अर्जुनके सिवा किसी भी दूसरे मनुष्यमें एक साथ विद्यमान नहीं हैं।' इस प्रकार अपने मित्रकी सच्ची प्रशंसासे उसे आनन्दित करते हुए श्रीकृष्णने मुझे आपलोगोंको समझा देनेके लिये कहा है।'

अर्जुन और श्रीकृष्णकी एकताका वर्णन करते हुए पितामह भीष्मने भी कहा है—

एष नारायणः कृष्णः फाल्गुनश्च नरः स्मृतः।
नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधाकृतम्॥

(उद्योग० ४९। २०)

'श्रीकृष्ण नारायण हैं और अर्जुन नर हैं। एक ही आत्मा दो रूपोंमें प्रकट हुए हैं।'

(४)

युद्धकी सम्भावनासे जब दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही श्रीकृष्णकी सहायता प्राप्त करनेके लिये एक ही दिन द्वारिका पहुँचे, तब वहाँ भी भगवान्ने कौशलसे दुर्योधनको सेना देकर मित्र अर्जुनका सारथि बनना स्वीकार कर लिया। अर्जुनकी विजय तो तभी हो चुकी, जब भगवान् उसका रथ हाँकनेको तैयार हो गये। द्रोणाचार्यने धर्मराजसे कहा था—

यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः।

(भीष्म० ४३। ५९)

'जहाँ कृष्ण हैं, वहीं धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है।' मित्रको विजय प्राप्त करानेके लिये सारे धर्मोंके आधार श्रीकृष्णने अर्जुनका सारथ्य स्वीकार किया।

(५)

वनमें भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंसे मिलने गये और वहाँ बातचीतके सिलसिलेमें उन्होंने अर्जुनसे कहा—

ममैव त्वं तवैवाहं ये मदीयास्तवैव ते।
यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु॥

(महा०, वन० १२। ४५)

'हे अर्जुन! तुम मेरे हो और मैं तुम्हारा हूँ। जो मेरे हैं, वे तुम्हारे ही हैं। अर्थात् जो कुछ मेरा है, उसपर तुम्हारा अधिकार है। जो तुमसे शत्रुता रखता है, वह मेरा शत्रु है और जो तुम्हारा अनुवर्ती (साथ देनेवाला) है, वह मेरा भी है।'

(६)

भीष्मको पाण्डवसेनाका संहार करते जब नौ दिन बीत गये, तब रात्रिके समय युधिष्ठिरने बहुत ही चिन्तित होकर भगवान्से कहा—'श्रीकृष्ण! भीष्मसे हमारा लड़ना वैसा ही है जैसा जलती हुई आगकी ज्योतिपर पतंगोंका मरनेके लिये टूट पड़ना। आप कहिये अब क्या करें। इसपर भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरको आश्वासन देते हुए कहा—'आप चिन्ता न करें, मुझे आज्ञा दें तो मैं भीष्मको मार डालूँ। आप निश्चय मानिये कि अर्जुन भीष्मको मार देंगे।' फिर अर्जुनके साथ अपने प्रेमका सम्बन्ध जताते हुए भगवान्ने कहा—

तव भ्राता मम सखा सम्बन्धी शिष्य एव च।
मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनार्थे महीपते॥
एष चापि नरव्याघ्रो मत्कृते जीवितं त्यजेत्।
एष नः समयस्तात तारयेम परस्परम्॥

(महा०, भीष्म० १०७। ३३-३४)

'हे राजन्! आपके भाई अर्जुन मेरे मित्र हैं, सम्बन्धी हैं और शिष्य हैं। मैं अर्जुनके लिये अपने शरीरका मांसतक काटकर दे सकता हूँ। पुरुषसिंह अर्जुन भी मेरे

लिये प्राण दे सकते हैं। हे तात! हम दोनों मित्रोंकी यह प्रतिज्ञा है कि परस्पर एक-दूसरेको संकटसे उबारें।'

(७)

चक्रव्यूहमें वीर अभिमन्युको महारथियोंकी सहायतासे जयद्रथने मिलकर मार डाला, तब पाण्डवोंके शिविरमें गहरा शोक छा गया। सुभद्रा और उत्तराका विलाप सुनना सबके लिये असह्य हो गया। मित्र अर्जुनके अनुरोधसे भगवान् श्रीकृष्ण बहिन सुभद्राको समझाने आये। अनेक प्रकारके उपदेश देते हुए उन्होंने कहा—

दिष्ट्या महारथो धीरः पितुस्तुल्यपराक्रमः।
क्षात्रेण विधिना प्राप्तो वीराभिलषितां गतिम्॥
जित्वा सुबहुशः शत्रून् प्रेषयित्वा च मृत्यवे।
गतः पुण्यकृतां लोकान् सर्वकामदुहोऽक्षयान्॥
तपसा ब्रह्मचर्येण श्रुतेन प्रज्ञयापि च।
संतो यां गतिमिच्छन्ति तां प्राप्तस्तव पुत्रकः॥
वीरसूर्वीरपत्नी त्वं वीरजा वीरबान्धवा।
मा शुचस्तनयं भद्रे गतः स परमां गतिम्॥

(द्रोणपर्व ७७। १४—१७)

ये चान्येऽपि कुले सन्ति पुरुषा नो वरानने।
सर्वे ते तां गतिं यान्तु ह्यभिमन्योर्यशस्विनः॥

(द्रोणपर्व ७८। ४१)

'बहिन सुभद्रे! तेरा पुत्र धीर, वीर, महारथी, अपने पिताके समान बलवान् था। उसने तो वीर क्षत्रियोंकी चिरवांछित उत्तम गति प्राप्त की है। बहुत-से शत्रुओंको पराजितकर उन्हें मृत्युके मुँहमें भेजकर सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाले अक्षय पदको प्राप्त किया है। जिस परम गतिको संत लोग तप, ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन और ज्ञानके द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं, तेरे पुत्रको वही गति मिली है। बहिन! तू वीरजननी, वीरपत्नी, वीरपुत्री और वीरकी बहिन है, शोक न कर। तेरा पुत्र रणमें मरकर परम गतिको प्राप्त हुआ है। मैं तो चाहता हूँ कि हमारे कुलमें जितने पुरुष हैं, सभी यशस्वी अभिमन्युकी-सी शुभ गतिको प्राप्त हों। तू निश्चय रख, अर्जुन कल जयद्रथको जरूर मार डालेगा।' भगवान् समझाकर चले गये।

सुभद्रा बोली, 'कालकी गति बड़ी विचित्र है, जिसके ऊपर श्रीकृष्ण सहायक थे, वही अभिमन्यु आज अनाथकी भाँति मारा गया। परंतु हे पुत्र! तुझे वही गति मिले जो यज्ञ करनेवाले, दानी, ज्ञानी, ब्राह्मण, ब्रह्मचर्यका आचरण करनेवाले, पुण्य तीर्थोंमें स्नान करनेवाले, उपकार माननेवाले, उदार, गुरुसेवक, हजारोंकी गुरु-दक्षिणा देनेवाले, संग्रामसे न मुड़कर वीर शत्रुओंको मारकर मरनेवाले, सहस्रों गौओंका दान करनेवाले, सामानसहित घर दान करनेवाले, ब्राह्मणोंको और शरणागतोंको धनकी निधि दे देनेवाले, सर्वत्यागी, संन्यासी, व्रतधारी मुनि, पतिव्रता स्त्रियाँ; सदाचारी राजा, चारों आश्रमोंके नियमोंको पालनेवाले, दीनोंपर दया करनेवाले, समान भाग बाँटनेवाले, चुगली न करनेवाले, धर्मशील अतिथिको निराश न लौटानेवाले, आपत्ति और संकटके समय धैर्य रखनेवाले, माता-पिताके सेवक, अपनी ही स्त्रीसे प्रेम करनेवाले, पर-स्त्रीसे बचे रहनेवाले, अपनी स्त्रीसे भी ऋतुकालमें ही समागम करनेवाले, मत्सरता न करनेवाले, क्षमाशील, दूसरोंको चुभनेवाली बात न कहनेवाले, मद्य, मांस, मद, झूठ, दम्भ और अहंकारसे दूर रहनेवाले, दूसरोंका किसी भाँति भी अनिष्ट न करनेवाले, पाप-कार्य करनेमें लज्जित होनेवाले, शास्त्रज्ञ और परमात्मज्ञानसे ही तृप्त रहनेवाले जितेन्द्रिय साधुओंको मिलती है।' धन्य माता!

× × × ×

अर्जुनने भगवान्के बलपर जयद्रथको मारनेका प्रण करते हुए कहा कि 'जयद्रथ यदि मेरी या महाराज युधिष्ठिरकी और भगवान् पुरुषोत्तमकी शरण न आया तो कल सूर्यास्तसे पूर्व मैं उसे मार डालूँगा। ऐसा न करूँ तो मुझे वीर तथा पुण्यात्माओंको प्राप्त होनेवाले लोक न मिलें। साथ ही मातृ-हत्यारे, पितृ-हत्यारे, गुरुस्त्रीगामी, चुगलखोर, साधु-निन्दा और पर-निन्दा करनेवाले, धरोहर हड़पनेवाले, विश्वासघाती, भुक्तपूर्वा स्त्रीको स्वीकार करनेवाले, ब्रह्महत्यारे, गोहत्यारे, इन पापियोंकी गति मुझे मिले। वेदाध्ययनकारी तथा पवित्र व्रतधारी पुरुषोंका अपमान करनेवाले, वृद्ध, साधु और गुरुका तिरस्कार करनेवाले, ब्राह्मण, गौ और अग्निको पैरसे छूनेवाले, जलमें थूकने और मल-मूत्र त्याग करनेवाले, नंगे नहानेवाले, अतिथिको निराश लौटानेवाले, घूसखोर, झूठ बोलनेवाले, ठग, दम्भी, दूसरोंपर दोष लगानेवाले, नौकर, स्त्री, पुत्र और आश्रितको न देकर अकेले ही मीठा खानेवाले, अपने हितकारी आश्रित साधुका पालन न करनेवाले, उपकारीकी निन्दा करनेवाले, निर्दयी,

शराबखोर, मर्यादा तोड़नेवाले, कृतघ्न, भरण-पोषण करनेवालेकी निन्दा करनेवाले, बायें हाथसे गोदमें रखकर खानेवाले, धर्मत्यागी, उषाकालमें सोनेवाले, जाड़ेसे डरकर स्नान न करनेवाले, रणसे डरकर भागनेवाले क्षत्रिय, वेदध्वनिसे रहित और एक कुएँके ग्राममें छः मासतक रहनेवाले, शास्त्रकी निन्दा करनेवाले, दिनमें मैथुन करनेवाले, दिनमें सोनेवाले, मकानमें आग लगानेवाले, विष देनेवाले, अग्नि तथा अतिथिसे रहित, गौको जल पीनेसे रोकनेवाले, रजस्वलासे मैथुन करनेवाले, कन्या बेचनेवाले और दान देनेकी प्रतिज्ञा करके लोभवश न देनेवाले आदि लोगोंको जिन नरकोंकी प्राप्ति होती है वही मुझे भी मिले।* इसके सिवा मैं यह भी प्रण करता हूँ कि यदि जयद्रथको मारे बिना ही कल सूर्यास्त हो जायगा तो मैं जलती हुई अग्निमें कूदकर जल मरूँगा।' अर्जुनकी प्रतिज्ञा सुनकर भगवान्ने अपना पांचजन्य शंख बजाया। भगवान्के श्रीमुखकी वायुसे भरे शंखकी ध्वनि प्रलयकालके समान हुई, जिससे आकाश, पाताल—सभी दिशाएँ काँप गयीं।

× × × ×

भगवान्ने एकान्तमें अर्जुनसे कहा—'भाई! मैंने गुप्तचर भेजकर कौरवोंके यहाँसे समाचार मँगवा लिये हैं, तुम्हारी प्रतिज्ञा सुनकर पहले तो जयद्रथ आदि सभी घबरा गये थे, परंतु अब तो उन्होंने निश्चय कर लिया है कि आचार्य द्रोणसहित छहों महारथी जयद्रथकी रक्षा करेंगे, उन छहोंको जीते बिना जयद्रथको पाना कठिन होगा, परंतु तुमने मेरी सम्मति लिये बिना ही ऐसी विकट प्रतिज्ञा कैसे कर ली?' अर्जुनने उत्तरमें कहा, 'भगवन्! मुझे महारथियोंकी कोई चिन्ता नहीं है। मैं सबको जीत सकूँगा—

तव प्रसादाद् भगवन् किन्नावाप्तं रणे मम।

(द्रोणपर्व ७६।२१)

'हे भगवन्! आपकी कृपासे मुझे रणमें कौन-सी वस्तु अप्राप्त है?' स्वयं जयद्रथने भी दुर्योधनसे ऐसी ही बात कही थी—

वासुदेवसहायस्य गाण्डीवं धुन्वतो धनुः।
कोऽर्जुनस्याग्रतस्तिष्ठेत् साक्षादपि शतक्रतुः॥

(द्रोणपर्व ७५।२०)

'वासुदेव श्रीकृष्णकी सहायताप्राप्त गाण्डीवधारी अर्जुनके सामने दूसरेकी तो बात ही क्या है, साक्षात् इन्द्र भी नहीं ठहर सकता।'

बात भी यही थी। भगवान्के कारण ही पाण्डव विजयी हुए थे। वे सारी बातें पहलेसे ही सोच रखते थे। कहाँ, कैसे, क्या करनेसे उसके प्रण, प्राण तथा प्रतिष्ठाकी रक्षा होगी, इस बातकी दूरदर्शितापूर्ण जितनी चिन्ता श्रीकृष्णको रहती थी, उतनी चिन्ता अर्जुनको नहीं थी और होती भी क्यों, जब वह अपने रथकी लगाम उन्हें सौंप चुका और उनके द्वारा '**मा शुचः**' का आश्वासन पा चुका, तब फिर उसकी चिन्ता भी वही करते। दूसरे दिन घोर युद्ध हुआ, वीरोंको मारते और सेनाके समुद्रको चीरकर छः महारथी वीरोंसे सुरक्षित सबके बीचमें स्थित जयद्रथके पास पहुँचनेमें बहुत समय लग गया। भगवान्ने कहा, 'भाई अर्जुन! इन सबको जीतकर संध्यासे पूर्व जयद्रथको मारना बड़ा कठिन है। देख, मैं दूसरा ही उपाय रचता हूँ।' इतना कहकर—

योगी योगेन संयुक्तो योगिनामीश्वरो हरिः।
सृष्टे तमसि कृष्णेन गतोऽस्तमिति भास्करः॥

(द्रोणपर्व १४६।६८)

योगयुक्त योगेश्वर भगवान् श्रीहरिने सूर्यको ढकनेके लिये अन्धकारको उत्पन्न किया। उस अन्धकारके फैलते ही सूर्य अस्त हो गया। सूर्यास्त हुआ देखकर कौरवपक्षीय लोग हर्षसे भर गये। जयद्रथ समीप आकर हर्षसे आकाशकी ओर ताकने लगा। भगवान्ने कहा, 'अर्जुन! बस, यही अवसर है, जयद्रथका मस्तक अपने तीक्ष्ण बाणसे काटकर अपनी प्रतिज्ञा सफल कर।' अर्जुनने बाण-सन्धान किया। जयद्रथ और उसके संरक्षकोंकी बुद्धि चकरा गयी। अर्जुनने अपनी बाणधाराओंसे सभीको स्नान करा दिया। इतनेमें भगवान्ने अन्धकारको दूर कर दिया। सूर्य अस्ताचलकी ओर जाते हुए दिखायी दिये। भगवान्ने कहा, 'अर्जुन! अब जल्दी कर, परंतु खबरदार, जयद्रथका मस्तक जमीनपर न गिरने पावे। इसको पिताका वरदान है कि जो कोई इसके सिरको काटकर जमीनपर गिरायेगा, उसके सिरके सौ टुकड़े हो जायँगे।

धरण्यां मम पुत्रस्य पातयिष्यति यः शिरः।
तस्यापि शतधा मूर्द्धा फलिष्यति न संशयः॥

(द्रोणपर्व १४६।११२)

* सुभद्रा और अर्जुनके प्रसंगवश पुण्यात्मा और पापियोंके वर्णनको ध्यानपूर्वक पढ़कर सुभद्रा-कथित सत्कर्मोंका ग्रहण और अर्जुन-कथित पाप-कर्मोंका त्याग करनेके लिये सभीको पूरी चेष्टा करनी चाहिये।—सम्पादक

इसलिये तू अपने दिव्य बाणोंसे इसके सिरको काटकर बाणोंके द्वारा ऊपर-का-ऊपर उड़ाकर इसका बूढ़ा बाप जहाँ बैठा संध्यावन्दन कर रहा है, उसकी गोदीमें डाल दे।' अर्जुनने वैसा ही किया। जयद्रथका मस्तक काटकर अर्जुनने दिव्य बाणोंद्वारा आकाशमार्गसे प्रेरितकर उसके पिताकी गोदीमें गिरा दिया। पिता झिझककर उठा तो उसके द्वारा वह सिर सहसा जमीनपर गिर पड़ा, जिससे उसी समय उसके सिरके सौ टुकड़े हो गये। भगवान्‌की दूरदर्शिता और सावधानीसे अर्जुनकी दोनों विपत्तियोंसे अद्भुत रूपमें प्राणरक्षा हो गयी।

(८)

इन्द्रसे वरदानमें प्राप्त एक अमोघ शक्ति कर्णके पास थी, इन्द्रका कहा हुआ था कि 'इस शक्तिको तू प्राणसंकटमें पड़कर एक बार जिसपर भी छोड़ेगा, उसीकी मृत्यु हो जायगी, परंतु एक बारसे अधिक इसका प्रयोग नहीं हो सकेगा।' कर्णने वह शक्ति अर्जुनको मारनेके लिये रख छोड़ी थी। उसे रोज दुर्योधनादि कहते कि तुम उस शक्तिका प्रयोग कर अर्जुनको मार क्यों नहीं देते। वह कहता कि आज अर्जुनके सामने आते ही उसे जरूर मारूँगा, पर रणमें अर्जुनके सामने आनेपर कर्ण इस बातको भूल जाता और उसका प्रयोग न करता। कारण यही था कि अर्जुनके रथमें सारथिके रूपमें भगवान् निरन्तर रहते। अर्जुनका रथ सामने आते ही कर्णको पहले भगवान्‌के दर्शन होते। भगवान् उसे मोहित कर लेते जिससे वह शक्ति छोड़ना भूल जाता। अर्जुनको इस शक्तिके सम्बन्धमें कोई पता नहीं था, परंतु भगवान् सारी बातें जानते थे और वे हर तरहसे अर्जुनको बचाने और जितानेके लिये सचेष्ट थे। उन्होंने स्वयं ही सात्यकिसे कहा था—

अहमेव तु राधेयं मोहयामि युधांवर।
ततो नावासृजच्छक्तिं पाण्डवे श्वेतवाहने॥
फाल्गुनस्य हि सा मृत्युरिति चिन्तयतोऽनिशम्।
न निद्रा न च मे हर्षो मनसोऽस्ति युधांवर॥
न पिता न च मे माता न यूयं भ्रातरस्तथा।
न च प्राणस्तथा रक्ष्या यथा बीभत्सुराहवे॥
त्रैलोक्यराज्याद् यत्किंचिद् भवेदन्यत्सुदुर्लभम्।
नेच्छेयं सात्वताहं तद् विना पार्थं धनंजयम्॥
अतः प्रहर्षः सुमहान् युयुधानाद्य मेऽभवत्।
मृतं प्रत्यागतमिव दृष्ट्वा पार्थं धनंजयम्॥

(द्रोणपर्व १८२ । ४०-४१, ४३—४५)

'सात्यकि! मैंने ही कर्णको मोहित कर रखा था, जिससे वह श्वेत घोड़ोंवाले अर्जुनको इन्द्रकी दी हुई शक्तिसे नहीं मार सका था। इस शक्तिके निमित्त कर्णको अर्जुनका काल समझनेके कारण मुझे रातको नींद नहीं आती थी और कभी मन प्रसन्न नहीं रहता था। मैं अपने माता-पिताकी, तुमलोगोंकी, भाइयोंकी और अपने प्राणोंकी रक्षा करना भी उतना आवश्यक नहीं समझता, जितना रणमें अर्जुनकी रक्षा करना समझता हूँ। सात्यकि! तीनों लोकोंके राज्योंकी अपेक्षा भी कोई वस्तु अधिक दुर्लभ हो तो मैं उसे अर्जुनको छोड़कर नहीं चाहता। अतः युयुधान! आज अर्जुन मानो मरकर लौट आये हों, इस प्रकार इन्हें जीता-जागता देख मुझे बड़ा भारी हर्ष हो रहा है।' धन्य है।

इसीलिये भगवान्‌ने भीमपुत्र घटोत्कचको रातके समय युद्धार्थ भेजा। घटोत्कचने अपनी राक्षसी मायासे कौरवसेनाका संहार करते-करते कर्णका नाकों दम कर दिया, दुर्योधन आदि सभी घबरा गये। सभीने खिन्न मनसे कर्णको पुकारकर कहा कि बस आधी रातके समय यह राक्षस हम सबको मार ही डालेगा, फिर भीम-अर्जुन हमारा क्या करेंगे। अतएव तुम इन्द्रकी शक्तिका प्रयोग कर इसे पहले मारो, जिससे हम सबके प्राण बचें। आखिर कर्णको वह शक्ति घटोत्कचपर छोड़नी पड़ी। शक्ति लगते ही घटोत्कच मर गया। वीर-पुत्र घटोत्कचकी मृत्यु देखकर सभी पाण्डवोंकी आँखोंमें आँसू भर आये, परंतु श्रीकृष्णको बड़ी प्रसन्नता हुई, वे हर्षसे प्रमत्त-से होकर बार-बार अर्जुनको हृदयसे लगाने लगे। अर्जुनने कहा—'भगवन्! यह क्या रहस्य है? हम सबका तो धीरज छूटा जा रहा है और आप हँस रहे हैं?' तब श्रीकृष्णने सारा भेद बताकर कहा कि 'प्रिय पार्थ! इन्द्रने तेरे हितके लिये कर्णसे कवच-कुण्डल ले लिये थे। बदलेमें उसे एक शक्ति दी थी, वह शक्ति कर्णने तेरे मारनेके लिये रख छोड़ी थी। उस शक्तिके कर्णके पास रहते मैं सदा तुझे मरा ही समझता था। मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि आज भी, शक्ति न रहनेपर भी, कर्णको तेरे सिवा दूसरा कोई नहीं मार सकता। वह ब्राह्मणोंका भक्त, सत्यवादी, तपस्वी, व्रताचारी

और शत्रुओंपर भी दया करनेवाला है। मैंने घटोत्कचको इसी उद्देश्यसे भेजा था। अर्जुन! तेरे हितके लिये ही मैं यह सब किया करता हूँ। चेदिराज शिशुपाल, भील एकलव्य, जरासन्ध आदिको विविध कौशलोंसे मैंने इसीलिये मारा था, मरवाया था, जिससे वे महाभारत-समरमें कौरवका पक्ष न ले सकें। वे आज जीवित होते तो तेरी विजय बहुत ही कठिन होती। फिर यह घटोत्कच तो ब्राह्मणोंका द्वेषी, यज्ञद्वेषी, धर्मका लोप करनेवाला और पापी था। इसे तो मैं ही मार डालता, परंतु तुमलोगोंको बुरा लगेगा, इसी आशंकासे नहीं मारा। आज मैंने ही इसका नाश करवाया है—

ये हि धर्मस्य लोप्तारो वध्यास्ते मम पाण्डव।
धर्मसंस्थापनार्थं हि प्रतिज्ञैषा मया कृता॥
ब्रह्म सत्यं दमः शौचं धर्मो ह्रीः श्रीर्धृतिः क्षमा।
यत्र तत्र रमे नित्यमहं सत्येन ते शपे॥

(द्रोणपर्व १८१। २८, २९, ३०)

'जो पुरुष धर्मका नाश करता है, मैं उसका वध कर डालता हूँ। धर्मकी स्थापना करना ही मेरी प्रतिज्ञा है। मैं यह शपथ खाकर कहता हूँ कि जहाँ ब्रह्मभाव, सत्य, इन्द्रियदमन, शौच, धर्म, (बुरे कर्मोंमें) लज्जा, श्री, धैर्य और क्षमा हैं, वहाँ मैं नित्य निवास करता हूँ।'

अभिप्राय यह है कि तुम्हारे अंदर ये सब गुण हैं, इसीलिये मैं तुम्हारे साथ हूँ और इसीलिये मैंने कौरवोंका पक्ष त्याग रखा है, नहीं तो मेरे लिये सभी एक-से हैं। फिर तुम घटोत्कचके लिये शोक क्यों करते हो? अपना पुत्र भी हो तो क्या हुआ, जो पापी है, वह सर्वथा त्याज्य है।

इस प्रकार मित्र अर्जुनके प्राण और धर्मकी भगवान्ने रक्षा की।

(९)

जयद्रथ-वधके दिन अर्जुनके रथके घोड़ोंको बहुत ही परिश्रम करना पड़ा। घोड़े घायल हो गये। प्यासके मारे उनके प्राण घबरा उठे। जयद्रथ अभी बहुत दूर था, इससे यह निश्चय हुआ कि घोड़े खोल दिये जायँ। भगवान्ने घोड़े खोल दिये। अर्जुन रथसे उतरकर गाण्डीव धनुषको तानकर पर्वतके समान अचल हो खड़े हो गये। अर्जुनने तुरंत ही बाणोंसे पृथ्वी फोड़कर वहाँ एक सुन्दर सरोवर तैयार कर दिया। वहाँ अर्जुनने बाणोंसे ही खम्भे और सुन्दर भवन तथा परकोटा बना दिया। भगवान् घोड़ोंके बाण निकालकर उन्हें अच्छी तरह धोने लगे, नहलाने और पानी पिलाने लगे। जब घोड़े नहाकर, पानी पीकर और घास खाकर ताजे हो गये, तब श्रीकृष्णने प्रसन्न हो, उन्हें रथमें जोड़ दिया। इस तरह भगवान्ने मित्रकी किसी प्रकारकी सेवा करनेमें भी आनाकानी नहीं की।

(१०)

कर्ण और अर्जुनका घमासान युद्ध हो रहा है। कर्ण और शल्यकी बातें सुनकर अर्जुनने श्रीकृष्णसे पूछा कि 'यदि कर्ण मुझे मार डाले तो आप क्या करेंगे?' भगवान्ने हँसकर अर्जुनसे कहा—

पतेद् दिवाकरः स्थानाच्छुष्येदपि महोदधिः।
शैत्यमग्निरियान्न त्वां कर्णो हन्याद् धनंजय॥
यदि चैतत् कथंचित् स्याल्लोकपर्यासनं भवेत्।
हन्यां कर्णं तथा शल्यं बाहुभ्यामेव संयुगे॥

(कर्णपर्व ८७। १०५-१०६)

'चाहे सूर्य टूटकर गिर पड़े, समुद्र सूख जाय, अग्नि शीतल हो जाय, परंतु कर्ण तुझे नहीं मार सकता और यदि किसी प्रकार ऐसा हो ही जाय तो संसार उलट जायगा और मैं अपने बाहुओंसे कर्ण और शल्यको मार डालूँगा।'

कर्णने अर्जुनको मारनेके लिये एक सर्पमुख बाण बहुत दिनोंसे सँभालकर रख छोड़ा था, वह बाण महाभयानक, अति तीक्ष्ण, जलता हुआ तथा बड़ा ही प्रभावशाली था। कर्णके उस बाणको चढ़ाते ही दिशाओंमें और आकाशमें आग-सी लग गयी। सैकड़ों तारे दिनमें ही टूट-टूटकर गिरने लगे। इन्द्रसहित लोकपालगण हाहाकार करने लगे। खाण्डव-वन-दाहके समयका अर्जुनका वैरी अश्वसेन नामक एक महाविषधर सर्प भी वैर निकालनेके लिये उस बाणमें घुस बैठा। कर्णने अर्जुनके मस्तकको ताककर बड़ी ही फुर्तीसे बाण छोड़ दिया; परंतु भगवान्ने उससे भी अधिक फुर्तीसे बाणके अर्जुनके रथतक पहुँचनेके पहले ही अर्जुनके बड़े भारी रथको एकदम पैरसे दबाकर पृथ्वीमें धँसा दिया। चारों घोड़े घुटने टेककर जमीनपर बैठ गये। बाण आया, परंतु अर्जुनके मस्तकमें नहीं लग सका। कर्णने बड़े उत्साह और उद्योगसे अव्यर्थ सर्पबाण मारा था, परंतु रथ नीचा

हो जानेसे वह व्यर्थ हो गया। बाण इन्द्रके दिये हुए अर्जुनके दिव्य मुकुटमें लगा, जिससे वह मुकुट पृथ्वीपर गिरकर जल गया। भगवान्ने अर्जुनको सचेत करके उड़ते हुए अश्वसेन नागको भी मरवा डाला। यों बड़े भारी मृत्यु-प्रसंगमें अर्जुनकी रक्षा हुई।

(११)

महाभारतमें पाण्डव विजयी हुए। छावनीके पास पहुँचनेपर श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि 'भरतश्रेष्ठ! तू अपने गाण्डीव धनुष और दोनों अक्षय भाथोंको लेकर पहले रथसे नीचे उतर जा। मैं पीछे उतरूँगा, इसीमें तेरा कल्याण है।' यह आज नयी बात थी, परंतु अर्जुन भगवान्के आज्ञानुसार नीचे उतर गया। तब बुद्धिके आधार जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण घोड़ोंकी लगाम छोड़कर रथसे उतरे, उनके उतरते ही रथकी ध्वजापर बैठा हुआ दिव्य वानर तत्काल अन्तर्धान हो गया! तदनन्तर अर्जुनका वह विशाल रथ पहिये, धुरी, डोरी और घोड़ोंसमेत बिना ही अग्निके जलने लगा और देखते-ही-देखते भस्म हो गया। इस घटनाको देखकर सभी चकित हो गये। अर्जुनने हाथ जोड़कर इसका कारण पूछा, तब भगवान् बोले—

अस्त्रैर्बहुविधैर्दग्धः पूर्वमेवायमर्जुनः।
मदधिष्ठितत्वात् समरे न विशीर्णः परन्तप॥
इदानीं तु विशीर्णोऽयं दग्धो ब्रह्मास्त्रतेजसा।
मया विमुक्तः कौन्तेय त्वय्यद्य कृतकर्मणि॥

(शल्यपर्व ६२। १८-१९)

'परन्तप अर्जुन! विविध शस्त्रोंसे यह रथ तो पहले ही जल चुका था, मैं इसपर बैठा हुआ इसे रोके हुए था, इसीसे यह अबसे पूर्व रणमें भस्म नहीं हो सका। कौन्तेय! तेरा कार्य सफल करके मैंने इसे छोड़ दिया, इसीसे ब्रह्मास्त्रके तेजसे जला हुआ यह रथ इस समय खाक हो गया है। मैं पहले न रोके रखता या आज तू पहले न उतरता तो तू भी जलकर खाक हो जाता!'

भगवान्की इस लीलाको देख-सुनकर सभी पाण्डव आनन्दसे गद्गद हो गये।

(१२)

महाभारत तथा अन्य पुराणोंमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनसे अर्जुनके साथ भगवान्की अपूर्व मैत्रीका परिचय मिलता है। यहाँ तो संक्षेपमें बहुत ही थोड़ेसे उदाहरण दिये गये हैं। इस लीलाका आनन्द लेनेकी इच्छा रखनेवालोंको उपर्युक्त ग्रन्थ अवश्य पढ़ने-सुनने चाहिये।

जिस समय उत्तराके गर्भस्थ परीक्षित्को अश्वत्थामाने मार दिया था और उत्तरा भगवान्के सामने रोने लगी थी, उस समय विशुद्धात्मा भगवान्ने सारे जगत्को सुनाते हुए कहा था—

न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या सत्यमेतद् भविष्यति।
एष संजीवयाम्येनं पश्यतां सर्वदेहिनाम्॥
नोक्तपूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन।
न च युद्धात् परावृत्तस्तथा संजीवतामयम्॥
यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणश्च विशेषतः।
अभिमन्योः सुतो जातो मृतो जीवत्वयं तथा॥
यथाहं नाभिजानामि विजयेन कदाचन।
विरोधं तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः॥
यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतादभिमन्युजः॥
यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहतौ मया।
तेन सत्येन बालोऽयं पुनः संजीवतामयम्॥

(अश्वमेधपर्व ६९। १८—२३)

'उत्तरा! मैं कभी झूठ नहीं बोलता, मेरा कहना सत्य ही होगा। सब देहधारी देखें, मैं अभी इस बालकको जीवित करता हूँ। जैसे मैंने कभी हँसी-मजाकमें भी झूठ नहीं बोला है, जैसे युद्धमें कभी पीछे नहीं लौटा हूँ, वैसे ही इस बालकको जिलानेमें भी पीछे नहीं हटूँगा। मुझे यदि धर्म और विशेषकर ब्राह्मण प्यारे हैं तो जन्मते ही मरा हुआ अभिमन्युका बालक जीवित हो जाय। यदि कभी भी मैंने जानसे अर्जुनका विरोध नहीं किया है, यदि यह सत्य है तो यह मृत बालक जी उठे। सत्य और धर्म मेरे अंदर नित्य ही प्रतिष्ठित रहते हैं, इनके बलसे यह अभिमन्युका मरा बालक जीवित हो जाय। यदि कंस और केशीको मैंने धर्मानुसार मारा है (द्वेषसे नहीं) तो यह बालक जी उठे।' भगवान्के ऐसा कहते ही बालक जी उठा।

इस प्रसंगमें भगवान्के सत्य, वीरत्व, धर्म, ब्रह्मण्यता, राग-द्वेषहीनता आदिकी घोषणा तो महत्त्वकी है ही, परंतु अर्जुनके अविरोधकी बात भगवान्का अर्जुनके प्रति कितना असीम प्रेम था, इसको सूचित करती है।

(१३)

अर्जुनके इस प्रेमका ही प्रभाव है कि जिसके कारण सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे जगतारिणी, भव-भयहारिणी, ज्ञान-विस्तारिणी, यम-सदननिवारिणी, सर्वनिस्तारिणी गीताका अभूतपूर्व गान गाया, जो संसारके घोर अन्धकारमय अरण्यमें भटके हुए प्राणियोंके लिये दिव्य प्रकाशमय नित्य चेतन पथ-प्रदर्शक है एवं अर्जुनके इस विलक्षण प्रेमकी ही महिमा है कि जिससे भगवान्का हृदय खुल गया और उन्होंने अपने गुह्याद्गुह्यतर ज्ञानकी अपेक्षा भी अत्यन्त गुह्य—सर्वगुह्यतम अपने पुरुषोत्तमस्वरूपका रहस्य अर्जुनके सामने व्यक्त करा दिया तथा इस प्रेमका ही प्रताप है कि परम धाममें भी अर्जुनको भगवान्की अत्यन्त दुर्लभ सेवाका ही सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसके लिये बड़े-बड़े ब्रह्मवादी महापुरुष भी ललचाते रहते हैं। स्वर्गारोहणके अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने दिव्य देह धारणकर परम धाममें देखा—

ददर्श तत्र गोविन्दं ब्राह्मेण वपुषान्वितम्।
दीप्यमानं स्ववपुषा दिव्यैरस्त्रैरुपस्थितम्॥
चक्रप्रभृतिभिर्घोरैर्दिव्यैः पुरुषविग्रहैः।
उपास्यमानं वीरेण फाल्गुनेन सुवर्चसा॥

(महा०, स्वर्गा० ४। २—४)

'भगवान् श्रीगोविन्द वहाँ अपने ब्राह्मशरीरसे युक्त हैं। उनका शरीर देदीप्यमान है। उनके समीप चक्र आदि दिव्य शस्त्र और अन्यान्य घोर अस्त्र दिव्य पुरुष-शरीर धारणकर उनकी सेवा कर रहे हैं। महान् तेजस्वी वीर अर्जुनके द्वारा भी भगवान् सेवित हो रहे हैं।' इसीलिये भगवान् नारायणके साथ ही **'नरं चैव नरोत्तमम्'** कहकर श्रीकृष्ण-सखा अर्जुनको नित्य प्रणाम करनेकी चिरन्तन प्रणाली है।

श्रीकृष्ण और द्रौपदी

पाण्डव-महिषी सती द्रौपदी भगवान् श्रीकृष्णको परम बन्धुभावसे पूजती थी। भगवान् भी द्रौपदीके साथ असाधारण स्नेह रखते और उसकी प्रत्येक पुकारका तुरंत उत्तर देते थे। भगवान्के अन्तःपुरमें द्रौपदीका और द्रौपदीके महलोंमें भगवान्का जाना-आना अबाध था। जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनकी मैत्री बहुत ही गहरी और विलक्षण थी, उसी प्रकार द्रौपदी और भगवान्का दिव्य प्रेम भी अलौकिक था। द्रौपदी श्रीकृष्णको पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्दघन ईश्वर समझती थी और भगवान् भी उसके सामने अपनी किसी भी अन्तरंग लीलाको छिपाकर नहीं रखते थे। जिस वृन्दावनके पवित्र गोपी-प्रेमकी दिव्य बातें गोप-रमणियोंके पति-पुत्रोंतकको मालूम नहीं थीं, उन सारी ईश्वरीय लीलाओंका द्रौपदीको पता था, इसीलिये चीर-हरणके समय द्रौपदीने भगवान्को 'गोपीजन-प्रिय' कहकर पुकारा था।

द्रौपदीके चीर-हरणका प्रसंग बड़ा ही मार्मिक है, जब दुष्ट दुःशासन दुर्योधनकी आज्ञासे एकवस्त्रा द्रौपदीको सभामें लाकर बलपूर्वक उसकी साड़ी खींचने लगा और किसीसे भी रक्षा पानेका कोई भी लक्षण न देख द्रौपदीने अपनेको सर्वथा असहाय समझकर अपने परम सहायक, परम बन्धु परमात्मा श्रीकृष्णका स्मरण किया। उसे यह दृढ़ विश्वास था कि मेरे स्मरण करते ही भगवान् अवश्य आवेंगे। वे द्वारकामें हैं तो क्या हुआ, अव्यक्तरूपसे सर्वव्यापी भी तो हैं। मेरी कातर पुकार सुननेपर उनसे कभी रहा नहीं जायगा। द्रौपदीने भगवान्का स्मरण करके कहा—

गोविन्द! द्वारिकावासिन्! कृष्ण गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव?॥
हे नाथ! हे रमानाथ! व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण! कृष्ण! महायोगिन्! विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द! कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥

(महा०, सभा० ६७। ४१—४४)

'हे गोविन्द! हे द्वारिकावासिन्! हे गोपीजनप्रिय! हे केशव! क्या तुम नहीं जान रहे हो कि कौरव मेरा तिरस्कार कर रहे हैं? हे नाथ! हे लक्ष्मीनाथ! हे व्रजनाथ! हे दुःखनाशन! हे जनार्दन! कौरव-समुद्रमें डूबती हुई इस द्रौपदीको बचाओ। हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे महायोगिन्! हे विश्वात्मन्! हे गोविन्द! हे विश्वभावन्! कौरवोंके हाथमें पड़ी हुई इस दुःखिनीकी रक्षा करो।'

द्रौपदीकी पुकार सुनते ही जगदीश्वर भगवान्का

हृदय द्रवित हो गया और वे—

'त्यक्त्वा शय्यासनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाभ्यगात्'

—कृपालु शय्या छोड़कर पैदल ही दौड़ पड़े। कौरवोंकी दानवी सभामें भगवान्‌का वस्त्रावतार हो गया। द्रौपदीके एक वस्त्रसे दूसरा और दूसरेसे तीसरा इस प्रकार भिन्न-भिन्न रंगोंके वस्त्र निकलने लगे, वस्त्रोंका वहाँ ढेर लग गया। ठीक समयपर प्रियबन्धुने पहुँचकर अपनी सखी द्रौपदीकी लाज बचा ली; दुःशासन थककर जमीनपर बैठ गया, वह धरती कुचरने लगा—

'दस हजार गज-बल थक्यो, घट्यो न दस गज चीर।'

(२)

जूएमें हारकर जब द्रौपदीसहित पाण्डव वनमें जाकर रहने लगे, तब कुछ दिनों बाद भगवान् श्रीकृष्ण उनसे मिलनेके लिये वहाँ गये। पाण्डवोंके कपट-द्यूतके सारे समाचार सुनकर श्रीकृष्ण उन्हें आश्वासन देते हुए भाँति-भाँतिसे समझाने लगे। द्रौपदीको अपने अपमानित किये जानेका बड़ा ही दुःख था। आज भगवान् श्रीकृष्णको—परम सखा श्रीकृष्णको अपने पास बैठे देखकर उसका दुःख-सागर उमड़ पड़ा। द्रौपदी आँसुओंकी धारा बहाती हुई कहने लगी—'प्यारे कृष्ण! मुझको देवल ऋषिने कहा है कि तुम ही समस्त लोकोंके रचनेवाले हो, तुम ही विष्णु हो और तुम ही यज्ञस्वरूप हो। इसी प्रकार जमदग्नि, कश्यप और नारदने भी तुम्हारा महत्त्व मुझे बतलाया है। उनका कहना है कि 'जिस प्रकार बालक खिलौने बनाकर खेला करते हैं, उसी प्रकार तुम भी बार-बार ब्रह्मा, शिव और इन्द्रादिको रचकर उनके साथ खेला करते हो, तुम्हारे सिरसे आकाश और चरणोंसे पृथ्वी व्याप्त है। यह समस्त लोक तुम्हारे पेटमें व्याप्त है। तुम्हीं सनातन पुरुष हो, तुम विभु हो, सब प्राणियोंके स्वामी हो, लोकपाल, नक्षत्र, दसों दिशाएँ, आकाश, सूर्य और चन्द्रमा—ये सब तुम्हींमें प्रतिष्ठित हैं। तुम देवता और मनुष्य सबके एकमात्र ईश्वर हो, इतना होनेपर भी मेरी आज यह दुर्दशा है। हे कृष्ण! मैं पाण्डवोंकी स्त्री और धृष्टद्युम्नकी बहिन हूँ और तुम साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमेश्वर मुझको अपनी 'प्यारी सखी' कहते हो, वही मैं एकवस्त्रा, रजस्वला काँपती हुई दुःशासनके द्वारा खींची जाकर राजसभामें लायी गयी और मुझे रुधिरसे भीगी देखकर धृतराष्ट्रके पुत्र हँसने लगे।

मधुसूदन! आज मैं अपनी साससे अलग वनवासिनी होकर रहती हूँ। केशव! आज मेरा कौन है? मेरे न पति हैं, न पुत्र हैं, न बान्धव हैं, न भाई हैं, न पिता हैं। और श्रीकृष्ण! आज तुम भी मेरे नहीं रहे, जो मेरे दुःखकी उपेक्षा कर रहे हो। पाण्डवोंकी स्त्री और तुम्हारी सखीका इतना अपमान हो, कर्ण और शकुनि मनमानी दिल्लगी उड़ावें और तुम उसका कुछ भी प्रतीकार न करो, इससे अधिक दुःख क्या मेरे लिये होगा?

चतुर्भिः कारणैः कृष्ण त्वया रक्ष्यास्मि नित्यशः।
सम्बन्धाद् गौरवात् सख्यात् प्रभुत्वेन च केशवः॥

(महा०, वन० १२। १२७)

'श्रीकृष्ण! मैं तो चारों हेतुओंसे तुम्हारे द्वारा रक्षा करनेयोग्य हूँ। प्रथम तो तुम्हारा-हमारा सम्बन्ध है, दूसरे मैं यज्ञ-कुण्डसे उत्पन्न होनेके कारण गौरवशालिनी हूँ, तीसरे तुम मेरे सखा हो और चौथे तुम प्रभु हो—मेरी रक्षा करनेमें समर्थ हो।

दुःखिनी द्रौपदीके तप्त अश्रुबिन्दुओंने भगवान् श्रीकृष्णके हृदयको हिला दिया। सखीका दुःख श्रीकृष्णके लिये असह्य हो गया। यहाँपर श्रीकृष्णके मुखसे जो शब्द निकले, उन्हींसे कौरवोंका विनाश निश्चित हो गया। भगवान्‌ने कहा—

रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धासि भाविनि।
बीभत्सुशरसञ्छन्नाञ्छोणितौघपरिप्लुतान्॥
निहतान् वल्लभान् वीक्ष्य शयानान् वसुधातले।
यत्समर्थं पाण्डवानां तत्करिष्यामि मा शुचः॥
सत्यं ते प्रति जानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यसि।
पतेद् द्यौर्हिमवाञ्छीर्येत् पृथ्वी शकलीभवेत्॥
शुष्येत् तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत्।

(महा०, वन० १२। १२८—१३०)

'हे कृष्णे! हे कल्याणि! तू चिन्ता न कर। जिन राजाओंपर तू कुपित हुई है, उनकी रानियाँ भी अर्जुनके बाणोंसे छिदकर और मरकर जमीनपर पड़े हुए अपने पतियोंको देखकर ऐसे ही रोयेंगी। पाण्डवोंको जो काम करना चाहिये, वह मैं करूँगा। मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू पाण्डवोंकी राजरानी होगी। चाहे आकाश टूटकर जमीनपर गिर पड़े, भूमिके टुकड़े-टुकड़े हो जायँ, हिमालय फट जाय और समुद्र सूख जाय, परंतु

मेरे वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकते।' अर्जुनने भी भगवान्‌के इन वाक्योंका समर्थन किया, द्रौपदीके सख्य-प्रेमने कौरव-कुल-ध्वंसके लिये भगवान्‌के श्रीमुखसे भीष्म-प्रतिज्ञा करवा ली!

(३)

पाण्डव वनमें रहकर अपने दुःखके दिन काट रहे थे, परंतु दुर्योधनकी खल-मण्डली अपनी दुष्टताके कारण उनके विनाशकी ही बात सोच रही थी। दुर्योधनने एक बार दुर्वासा मुनिको प्रसन्न करके उनसे यह वर माँगा कि—'हमारे धर्मात्मा बड़े भाई महात्मा युधिष्ठिर अपने भाइयोंसहित वनमें रहते हैं। एक दिन आप अपने दस हजार शिष्योंसहित उनके यहाँ भी जाकर अतिथि होइये; परंतु इतनी प्रार्थना है कि वहाँ सब लोगोंके भोजन कर चुकनेपर जब यशस्विनी द्रौपदी खा-पीकर सुखसे आराम कर रही हो, उसी समय जाइयेगा। दुर्योधनने कुचक्रियोंकी सलाहसे यह सोचा था कि द्रौपदीके खा चुकनेपर उस दिनके लिये सूर्यके दिये हुए पात्रसे अन्न मिलेगा नहीं, इससे कोपन-स्वभाव दुर्वासा पाण्डवोंको शाप देकर भस्म कर डालेंगे और इस प्रकार अपना काम सहज ही बन जायगा। सरलहृदय दुर्वासा दुर्योधनके इस कपटको नहीं समझे, इसलिये वे उसकी बात मानकर पाण्डवोंके यहाँ काम्यक-वनमें जा पहुँचे। पाण्डव द्रौपदीसहित भोजनादि कार्योंसे निवृत्त होकर सुखसे बैठे वार्तालाप कर रहे थे। इतनेमें ही दस हजार शिष्योंसहित दुर्वासाजी वहाँ जा पहुँचे। युधिष्ठिरने भाइयोंसहित उठकर ऋषिका स्वागत-सत्कार किया और भोजनके लिये प्रार्थना की। दुर्वासाजीने प्रार्थना स्वीकार की और वे नहानेके लिये नदी-तीरपर चले गये। इधर द्रौपदीको बड़ी चिन्ता हुई, परंतु इस विपत्तिसे प्रिय बन्धु श्रीकृष्णके सिवा उनकी सखी कृष्णाको और कौन बचाता? उसने भगवान्‌का स्मरण करते हुए कहा—'हे कृष्ण! हे गोपाल! हे अशरणशरण! हे शरणागतवत्सल! अब इस विपत्तिसे तुम्हीं बचाओ—

दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि॥

(महा०, वन० २६३। १६)

'तुमने कौरवोंकी राजसभामें जैसे दुष्ट दुःशासनके हाथसे मुझे बचाया था, वैसे ही इस विपत्तिसे भी बचाओ।' इस समय भगवान् द्वारिकामें रुक्मिणीजीके पास महलमें थे। द्रौपदीकी स्तुति सुनते ही उसे संकटमें जान भक्तवत्सल भगवान् रुक्मिणीको त्यागकर बड़ी ही तीव्रतासे द्रौपदीकी ओर दौड़े। अचिन्त्यगति ईश्वरको आते क्या देर लगती? वे द्रौपदीके पास आ पहुँचे। द्रौपदीके मानो प्राण आ गये! उसने प्रणाम करके सारी विपत्ति भगवान्‌को कह सुनायी। भगवान्‌ने कहा—'यह सब बात पीछे करना, मुझे बड़ी भूख लगी है, मैं घबरा रहा हूँ, मुझे कुछ खानेको दो।' द्रौपदीने कहा—'भगवन्! खानेके फेरमें पड़कर तो मैंने तुम्हें याद ही किया है। मैं भोजन कर चुकी हूँ, अब उस पात्रमें कुछ भी नहीं है।' भगवान् बड़े विनोदी हैं, कहने लगे—'अरी कृष्णे! मैं तो भूखों मर रहा हूँ और तू दिल्लगी कर रही है? दौड़कर स्थाली तो इधर ला, मैं देखूँ उसमें कुछ है या नहीं'—

कृष्णे न नर्मकालोऽयं क्षुच्छ्रेमेणातुरे मयि।
शीघ्रं गच्छ मम स्थालीमानयित्वा प्रदर्शय॥

(महा०, वन० २६३। २३)

बेचारी द्रौपदी क्या करती! पात्र लाकर सामने रख दिया। भगवान्‌ने तीक्ष्ण दृष्टिसे देखा और एक शाकका पत्ता ढूँढ़ निकाला। भगवान् बोले—'तू कह रही थी न कि कुछ भी नहीं है, इस पत्तेसे तो त्रिभुवन तृप्त हो जायगा।' यज्ञभोक्ता भगवान्‌ने पत्ता उठाया और मुँहमें डालकर कहा—

'विश्वात्मा प्रीयतां देवस्तुष्टश्चास्त्विति यज्ञभुक्॥'

(महा०, वन० २६३। २५)

'इस पत्तेसे सारे विश्वके आत्मा यज्ञभोक्ता भगवान् तृप्त हो जायँ।' साथ ही सहदेवसे कहा कि 'जाओ, ऋषियोंको भोजनके लिये बुला लाओ।' उधर नदी-तटपर दूसरा ही गुल खिल रहा था, संध्या करते-करते ही ऋषियोंके पेट फूल गये और डकारें आने लगी थीं। शिष्योंने दुर्वासासे कहा—'महाराज! हमारा तो गलेतक पेट भर गया है, वहाँ जाकर हम खायेंगे क्या?' दुर्वासाकी भी यही दशा थी। वे बोले—'भैया! भगो यहाँसे जल्दी! ये पाण्डव बड़े ही धर्मात्मा, विद्वान् और सदाचारी हैं तथा भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त हैं। वे चाहें तो हमें वैसे ही भस्म कर सकते हैं, जैसे रूईके ढेरको आग! मैं अभी अम्बरीषवाली घटना भूला नहीं

हूँ, श्रीकृष्णके शरणागतोंसे मुझे बड़ा भारी डर लगता है।' दुर्वासाके यह वचन सुन शिष्य-मण्डली यत्र-तत्र भाग गयी। सहदेवको कहीं कोई न मिला।

अब भगवान्ने पाण्डवोंसे और द्रौपदीसे कहा, 'लो, अब तो मुझे द्वारिका जाने दो। तुमलोग धर्मात्मा हो, धर्म करनेवालेको कभी दुःख नहीं होता।'

'धर्मनित्यास्तु ये केचिन्न ते सीदन्ति कर्हिचित्।'

(महा०, वन० २६३। ४४)

(४)

भगवान् श्रीकृष्ण दूत बनकर हस्तिनापुरको जाने लगे। द्रौपदीने एकान्तमें जाकर श्रीकृष्णसे कहा— 'श्रीकृष्ण! मैं तुम्हारी सखी हूँ, तुम मेरे दुःख और क्लेशोंको भलीभाँति जानते हो, सन्धि कराने जा रहे हो? जाओ, किंतु—

अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धृतः।
स्मर्तव्यः सर्वकार्येषु परेषां सन्धिमिच्छता॥

(महा०, उद्योग० ८२। ३६)

'दुःशासनके हाथोंसे खींचे हुए इन खुले केशोंकी बातको याद रखना।' विशाललोचना द्रौपदीको काँपती हुई और रोती हुई देखकर भगवान्का हृदय भर आया। उन्होंने फिर उसी प्रतिज्ञाको दोहराकर कहा—द्रौपदी! धृतराष्ट्रके पुत्र यदि मेरी बात न मानेंगे तो उन सबको मरकर जमीनपर लुढ़कना पड़ेगा और कुत्ते तथा सियार उनके शरीरको खायेंगे—

चलेद्धि हिमवाञ्छैलो मेदिनी शतधा फलेत्।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत्॥
सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे वाष्पो निगृह्यताम्।
हतामित्राञ्छ्रिया युक्तान्न चिराद् द्रक्ष्यसे पतीन्॥

(महा०, उद्योग० ८२। ४८-४९)

'कृष्णे! हिमालय चलायमान हो जाय, पृथ्वीके सैकड़ों टुकड़े हो जायँ, नक्षत्रोंसहित आकाश गिर पड़े, परंतु मेरा वचन कभी झूठा नहीं हो सकता। मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तू शीघ्र अपने पतियोंको शत्रुओंसे रहित और लक्ष्मीके सहित देखोगी, तू रो मत।'

भगवान्ने दूतत्वका अभिनय किया, परंतु बात सखीकी ही रही।

इस प्रकार महाभारत, जैमिनीय अश्वमेधपुराण और बहुत जगह द्रौपदी और श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ऐसी अनेक घटनाओंका वर्णन है, जिनसे श्रीकृष्णका द्रौपदीके पवित्र प्रेमसे आकर्षित होकर उसके कथनानुसार लीला करनेका उल्लेख है। लेख बढ़ जानेके भयसे विशेष नहीं लिखा गया।

शिव-पूजाका फल

'ॐ नमः शिवाय' मन्त्रकी महिमा (दाशार्ह राजाकी कथा)

मथुरा नगरमें दाशार्ह नामक एक यदुवंशी राजा राज्य करता था। वह बड़ा ही गुणवान्, उदार और शूर था। उसके राज्यमें प्रजा और ब्राह्मण बहुत ही सुख-शान्तिसे रहते थे। पड़ोसके राजा उसका लोहा मानते थे। राजाकी स्त्री भी अत्यन्त रूपवती और परम पतिव्रता थी। उसका नाम कलावती था। एक दिन राजा कामातुर हो अपनी रानीके पास रंगमहलमें गया। रानी उस दिन व्रत करके शिवकी उपासनामें रत थी। उसने राजाको अपने पास आनेसे मना किया, क्योंकि शास्त्रका आदेश है कि व्रतस्थ स्त्रीके साथ पुरुषका समागम नहीं होना चाहिये। परंतु राजाने न माना, वह जबरदस्ती रानीका आलिंगन करनेके लिये आगे बढ़ा; किंतु जैसे ही रानीके समीप पहुँचा उसके शरीरके तापसे वह जलने लगा। तब उसने चकित होकर इस तापका कारण पूछा। रानीने उत्तर दिया—'महाराज! मैंने शिव-मन्त्रकी दीक्षा ली है, उसीके जपकी यह महिमा है कि कोई भी मनुष्य मुझे व्रतसे च्युत नहीं कर सकता। आप भी चाहें तो गर्गमुनिसे इस मन्त्रकी दीक्षा ले अपनेको निष्पाप और सुरक्षित बना सकते हैं।' कलावतीके मुखसे इस बातको सुनते ही राजा बहुत प्रसन्न हुआ और गर्गमुनिके आश्रममें पहुँचा। मुनिको साष्टांग प्रणाम कर राजाने शिवषडक्षरी-मन्त्रके उपदेशके लिये उनसे प्रार्थना की। मुनिने राजाको यमुनामें स्नान करवाकर शिवकी षोडशोपचार पूजा करवायी। तत्पश्चात् राजाने मुनिका दिव्य रत्नोंसे अभिषेक किया। इससे प्रसन्न हो मुनिने अपना वरद हस्त राजाके मस्तकपर रखा और उसे षडक्षरी-मन्त्रका उपदेश दिया। मन्त्रके कानमें पड़ते ही राजाके हृदयाकाशमें ज्ञान-सूर्यका उदय हुआ और उसका अज्ञानान्धकार

नष्ट हो गया। उस मन्त्रका ऐसा विलक्षण प्रभाव दिखलायी दिया कि क्षणभरमें राजाके सारे पाप उसके शरीरसे कौओंके रूपमें बाहर निकल पड़े। उनमेंसे कितनोंके पंख जले हुए थे और कितने तड़फड़ाकर जमीनपर गिरते जाते थे। जिस प्रकार दावाग्निसे कंटक-वन दग्ध हो जाता है, वैसे ही पापरूप कौओंके भस्मीभूत होनेसे राजाको महान् आश्चर्य हुआ। उसने गर्गमुनिसे पूछा कि 'एकाएक मेरा शरीर ऐसा दिव्य कैसे हो गया?' मुनि बोले, 'ये जो कौए तुम्हारे देहसे निकले हैं सो जन्म-जन्मान्तरके पाप हैं।' राजाने शिवमन्त्रके उपदेशके द्वारा निष्पाप बनानेवाले उन परमगुरु गर्गमुनिको बारम्बार प्रणामकर उनसे विदा माँग अपने घरको प्रस्थान किया।

सोमवार-व्रत-महिमा
(सीमन्तिनीकी कथा)

प्राचीन कालमें आर्यावर्त देशमें चित्रवर्मा नामके प्रसिद्ध राजा हो गये हैं। उनके एक परम रूप, गुण, शीलसे युक्त सीमन्तिनी नाम्नी कन्या थी। एक दिन उस कन्यासे किसी सखीने आकर कहा कि 'ज्योतिषीने यह भविष्य बतलाया है कि चौदह वर्षकी उम्रमें ही सीमन्तिनी विधवा हो जायगी।' यह सुनकर सीमन्तिनीको बड़ा दुःख हुआ और उसने याज्ञवल्क्यकी परम साध्वी भार्या मैत्रेयीकी शरण ली। मैत्रेयीने उसे धीरज देकर सोमवार-व्रत और शिव-पंचाक्षरीके जपका उपदेश दिया। उसके आज्ञानुसार सीमन्तिनी व्रत करने लगी। कुछ ही दिनोंमें नल राजाके नाती चित्रांगदके साथ उसका ब्याह हुआ।

एक दिन चित्रांगद एक बड़ी सेना साथ ले शिकार खेलने निकला। यमुनाके किनारे पहुँच उसने एक नौका ली और अकेला जलक्रीड़ा करने लगा। अचानक एक भयंकर तूफान आया और उस नौकाको मझधारमें ले जाकर डुबो दिया। सीमन्तिनीके शोकका पारावार न रहा। इस दुःखद समाचारके सुनते ही वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। दैव-दुर्विपाकसे शत्रुओंने चित्रांगदके राज्यको हरण कर लिया। सीमन्तिनीको उन्होंने कैदकर कारागारमें डाल दिया; परंतु सीमन्तिनीने अपना व्रत न छोड़ा, वह दिन-रात शिवस्मरण करती रही। इस प्रकार तीन वर्ष बीत गये।

उधर यमुनामें डूबा हुआ चित्रांगद नाग-कन्याओंके द्वारा पाताललोक पहुँचा। वहाँके राजा तक्षकको जब मालूम हुआ कि परम शिवभक्त चित्रांगद यही है, तब वह उसपर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने चित्रांगदसे कहा कि 'परम कृपालु शिवकी भक्ति करनेसे कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रह जाती। मैं तुझसे बहुत प्रसन्न हूँ, तू जो चाहे माँग ले।' चित्रांगदने कहा, 'मैं अपने माता-पिताका एक ही पुत्र हूँ, मुझे उनके चरणोंके दर्शन करनेकी बहुत ही प्रबल इच्छा है। मेरी भक्तिमती रानी सीमन्तिनी मेरे बिना प्राणत्याग कर देगी, इसलिये आप कृपाकर शीघ्र-से-शीघ्र मुझे घर पहुँचा दीजिये।' नागराजने प्रसन्न होकर उसे वर दिया कि 'जाओ, तुम्हें बारह हजार हस्तीका बल प्राप्त हो जायगा' और एक घोड़ा तथा चिन्तामणि प्रदान कर एक सर्पके द्वारा उसे यमुनाके किनारे पहुँचा दिया।

यमुनाके किनारे शिवपूजामें रत सीमन्तिनीको शिवकी कृपासे सौभाग्यकी प्राप्ति हुई। उसने अपने सामने पूर्वापेक्षा अधिक तेजस्वी और रूपवान् चित्रांगदको देखा और विस्मयके कारण हक्की-बक्कीसी रह गयी! सोमवार-व्रतकी महिमा धन्य है! चित्रांगदको शिवकी कृपासे खोया हुआ राज्य भी प्राप्त हो गया और सीमन्तिनीके साथ अनेकों बरसोंतक वह राज्य करता रहा।

मृत्युंजय-मन्त्रकी महिमा
(भद्रायु और कीर्तिमालिनीकी कथा)

दशार्ण देशके राजा वज्रबाहुकी सुमति नामकी एक रानी थी। उसकी गर्भावस्थामें ही सौतोंने उसे विष दे दिया। भगवत्-प्रेरणासे उसका गर्भपात तो नहीं हुआ, परंतु उसके शरीरमें व्रण रह आये। उसको जो बच्चा पैदा हुआ उसका शरीर भी व्रणसे भरा था। दोनों माँ-बेटेके शरीर घावोंसे भर गये। राजाने अनेकों प्रकारके उपचार किये, परंतु कुछ भी लाभ होते न देख निराश हो अपनी अन्यान्य स्त्रियोंकी सलाहसे, जो सुमतिसे द्वेष रखती थीं, रानीको उसके बच्चेके साथ वनमें छुड़वा दिया। वह वहाँ छोटी-सी कुटिया बनाकर रहने लगी। वनमें सुमतिको दुःसह कष्ट होने लगे, शरीरकी पीड़ासे उसे बारम्बार मूर्च्छा आने लगी, उसका बच्चा तो पहले ही स्वर्ग सिधार गया।

उसे जब होश आया, तब वह बहुत ही कातरभावसे

भगवान् शंकरसे प्रार्थना करने लगी, 'प्रभो! आप सर्वव्यापक हैं, सर्वज्ञ हैं, दीन-दु:खहारी हैं, मैं आपकी शरण आयी हूँ, अब मुझे केवल आपका ही भरोसा है।' उसकी इस कातर वाणीको सुनते ही करुणामय आशुतोषका सिंहासन डोल उठा। शीघ्र ही शिवयोगी वहाँ प्रकट हुए और उन्होंने सुमतिको मृत्युंजय-मन्त्रका जप करनेको कहा और अभिमन्त्रित भस्मको उसकी तथा उसके बच्चेकी देहमें लगा दिया। लगाते ही उसकी सारी व्यथा दूर हो गयी और बच्चा भी प्रसन्नमुख हो जी उठा। सुमतिने शिवयोगीकी शरण ली। शिवयोगीने बच्चेका नाम भद्रायु रखा। सुमति और भद्रायु दोनों मृत्युंजय-मन्त्रका जप करने लगे और इधर राजा वज्रबाहुको अपनी निर्दोष पत्नी और अनाथ बच्चेको व्यर्थ कष्ट पहुँचानेका फल मिला। उसके राज्यको शत्रुओंने हड़प कर लिया और उसे बंदीगृहमें डाल दिया।

एक दिन भद्रायुके मन्त्र-जपसे प्रसन्न हो शिवयोगी प्रकट हुए। उन्होंने उसे एक खड्ग और एक शंख दिया और बारह हजार हस्तीका बल देकर वे अन्तर्धान हो गये। भद्रायुने चढ़ाई करके अपने पिताके शत्रुओंको मार भगाया और पैतृक राज्यको अधिकृत कर पिताको बंदी-गृहसे छुड़ाया। उसका यश चारों ओर फैल गया। चित्रांगद और सीमन्तिनीने अपनी कन्या कीर्तिमालिनीका ब्याह भद्रायुके साथ कर दिया।

भद्रायुने शिवपूजा करते हुए सहस्त्रों वर्षोंतक सुखपूर्वक प्रजाको सुख-शान्ति पहुँचाते हुए राज्य किया और अन्तमें वह शिव-सायुज्यको प्राप्त हुआ। यह मृत्युंजय-मन्त्रके जपकी महान् महिमा है।

रुद्राभिषेक और रुद्राक्षकी महिमा

काश्मीर देशके भद्रसेन राजाका पुत्र सुधर्मा और मन्त्रिपुत्र तारक दोनों ही महान् शिवभक्त और पितृभक्त थे। दोनों ही नित्य सर्वांगमें विभूति धारण करते, गलेमें रुद्राक्षकी माला पहनते और सदा शिवपूजनमें लगे रहते। एक बार महामुनि पराशरजी राजाके यहाँ पधारे। उनसे राजाको यह विदित हुआ कि सुधर्माकी आजसे सातवें दिन अकाल मृत्यु होनेवाली है। इससे बड़ा शोक हुआ। राजाके पूछनेपर पराशरजीने बतलाया कि 'यदि दस हजार रुद्रावर्तनसे शंकरपर अभिषेकधारा चढ़ायी जाय तो तुम्हारे पुत्रकी अपमृत्यु टल सकती है। श्रीशिवजीकी कृपासे कुछ भी असम्भव नहीं है।' मुनिके वचनोंसे राजाको कुछ आश्वासन मिला। राजाने हजारों ब्राह्मणोंको निमन्त्रण देकर उनके द्वारा रुद्राभिषेक प्रारम्भ करवा दिया। सातवें दिन दोपहरके समय सुधर्माकी मृत्यु हो गयी। पराशरमुनिने रुद्राभिषेकके तीर्थ-जलसे सुधर्माके मृत शरीरको सींचा और पवित्र-मन्त्रीकृत रुद्राक्षके द्वारा कुछ तीर्थ-जल उसके मुँहमें डाला। शंकरजीकी कृपासे राजकुमारके प्राण लौट आये। पूछनेपर राजकुमारने बतलाया कि 'मुझे यमराज ले जा रहे थे, इतनेमें ही अकस्मात् एक तेजोमयी श्वेतकाय जटाजूटधारी मूर्तिने प्रकट होकर यमराजको फटकारा और मुझे उनसे छुड़ा लिया। यमराज मुझे छोड़कर उनकी स्तुति करने लगे।' राजपरिवारमें आनन्द छा गया। सब लोग शिवभक्तिमें लग गये। राजपुत्र सुधर्मा और मन्त्रिपुत्र तारकने शिवभक्तिका खूब प्रचार किया।

प्रदोष-व्रतकी महिमा
(धर्मगुप्तकी कथा)

विदर्भ देशमें सत्यरथ नामके एक परम शिवभक्त, पराक्रमी और तेजस्वी राजा हो गये हैं। उन्होंने अनेकों वर्ष राज्य किया, परंतु किसी दिन भी शिवपूजनमें अन्तर न आने दिया।

एक बार शाल्व देशके राजाने कई राजाओंको साथ ले विदर्भपर चढ़ाई की। सात दिनतक घनघोर युद्ध होता रहा, आखिर दैवगतिसे सत्यरथको हारना पड़ा। वे कहीं निकल गये। शत्रु नगरमें घुस पड़े। रानीको जब यह समाचार मालूम हुआ, तब वह भी चुपकेसे महलसे निकल पड़ी और उसने जंगलका रास्ता लिया। राजमहलमें रहनेवाली रानी नाना प्रकारके कष्टोंको सहती हुई वनमें बढ़ी चली जा रही थी। उसको नौ मासका गर्भ था। अचानक एक दिन अरण्यमें ही उसे एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। बच्चेको वहाँ ही अकेला छोड़कर वह प्यासके मारे पानीके लिये वनमें एक सरोवरके पास गयी और वहाँ एक मगर उसे निगल गया।

उसी समय उमा नामकी एक ब्राह्मणी विधवा अपने एक वर्षके बालकको गोदमें लिये उसी रास्तेसे होकर निकली। उसे बिना नाल कटे हुए उस बच्चेको देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगी कि यदि इस बच्चेको मैं अपने घर ले जाऊँ तो लोग मुझे

नावँ धरेंगे और न ले जाऊँ तो इसे यहीं बाघ-शेर खा जायँगे। इसी समय भगवान् शंकर वहाँ प्रकट हुए और उस विधवासे कहने लगे, 'इस बच्चेको तू अपने घर ले जा, यह राजपुत्र है। अपने पुत्रके समान ही इसकी रक्षा करना और लोगोंमें इस बातको प्रकट न करना, इससे तेरे भाग्यका उदय होगा।' इतना कहकर शिवजी अन्तर्धान हो गये। ब्राह्मणीने अपने पुत्रका नाम शुचिव्रत और राजपुत्रका नाम धर्मगुप्त रखा।

यह विधवा दोनोंको साथ ले उस बच्चेके माता-पिताको ढूँढ़ने लगी। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वह शाण्डिल्य ऋषिके आश्रममें पहुँची। ऋषिने बतलाया कि 'राजा सत्यरथका देहान्त हो गया है। पूर्वजन्ममें प्रदोष-व्रतको अधूरा छोड़नेके कारण ही उसकी ऐसी गति हुई है। रानीने पूर्वजन्ममें अपनी सौतको मारा था, उसीने इस जन्ममें मगरके रूपमें इससे बदला लिया।'

ब्राह्मणीने दोनों बच्चोंको ऋषिके पैरोंपर डाल दिया। ऋषिने उन्हें शिवपंचाक्षरी मन्त्र देकर प्रदोष-व्रत करनेका उपदेश दिया। इसके बाद उन्होंने ऋषिका आश्रम छोड़कर एकचक्रा नगरीमें निवास किया और वहाँ वे चार महीनेतक शिवाराधन करते रहे। दैवात् एक दिन शुचिव्रतको नदीके तीरपर खेलते समय एक अशर्फियोंसे भरा स्वर्ण-कलश मिला, उसे लेकर वह घर आया। माताको यह देखकर अत्यन्त ही आनन्द हुआ और इसमें उसने प्रदोषकी महिमा देखी।

इसके बाद एक दिन वे दोनों लड़के वनविहारके लिये एक साथ निकले, वहाँ अंशुमती नामकी एक गन्धर्व-कन्या क्रीड़ा करती हुई उन्हें दीख पड़ी। उसने धर्मगुप्तसे कहा कि मैं कोद्रविण नामक गन्धर्वराजकी कन्या हूँ। श्रीशिवजीने मेरे पितासे कहा है कि अपनी कन्याको सत्यरथ राजाके पुत्र धर्मगुप्तको प्रदान कर। इसलिये तुम मुझसे ब्याह करो।

उसने आकर मातासे यह बात कही। ब्राह्मणीने इसे शिव-पूजाका फल और शाण्डिल्य मुनिका आशीर्वाद समझा। बड़े ही आनन्दसे अंशुमतीके साथ धर्मगुप्तका ब्याह हो गया। गन्धर्वराजने बहुत धन और अनेकों दास-दासी उन्हें प्रदान किये। इसके पश्चात् धर्मगुप्तने चढ़ाई करके पुनः अपने विदर्भराज्यको प्राप्त किया और सदा प्रदोष-व्रतमें शिव-आराधन करते हुए वह ब्राह्मणी और उसके पुत्र शुचिव्रतके साथ सैकड़ों वर्ष सुखसे राज्य करता रहा और अन्तमें शिवलोकको पधार गया।

भस्म-महिमा
(ब्रह्मराक्षसकी मुक्ति)

एक बार दुर्जय नामक महापापी ब्रह्मराक्षस क्रौंच-वनमें जा पहुँचा। वहाँ एक शिवभक्त योगी तप करते थे, वह राक्षस योगी महाराजको खानेके लिये दौड़ा। योगी ध्यानमग्न थे। हृदयमें भगवान् शिवके मंगलमय स्वरूपका ध्यान कर रहे थे। वे उसी भाँति निश्चल बैठे रहे। विकरालवदन निर्दय राक्षसने महात्माको पकड़ लिया। परंतु आश्चर्य! उनके अंगका स्पर्श होते ही राक्षस सर्वथा निष्पाप हो गया। उसकी बुद्धि परम निर्मल हो गयी। सच्चे महात्माओंके साथ भाषण और उनके दर्शन-स्पर्शका ऐसा ही शुभ फल हुआ करता है। राक्षसने विनय करके योगीजीको अपने पूर्वजन्मोंका और पापोंका हाल सुनाकर अकस्मात् विमल बुद्धि होनेका कारण पूछा। तब योगिराजने कहा कि हे भाई! यह भगवान् शिवजीकी विभूतिका फल है। शिवजी हमारे परम आराध्यदेव हैं। उनके भस्मस्पर्शसे ही तुम दिव्य बुद्धिको प्राप्त हुए हो। इसी भस्मके प्रतापसे अब तुम शिवधामके अधिकारी हो गये। यह सब भस्म-धारणका ही माहात्म्य है।

शिवभक्ति-महिमा
(श्रियाल राजाकी कथा)

एक बार नारदमुनि हाथमें वीणा लिये, हरिगुणगान करते श्रीशंकरजीके पास पहुँचे और बोले—'भगवन्! मैंने इतने लोक देखे हैं, परंतु कान्ति नगरीके श्रियाल राजाके समान अतिथिवत्सल शिवभक्त किसीको नहीं देखा।' इस बातको सुनकर शंकरजीने कुरूप अघोरी-वेष बना उस राजाके पास जाकर आँखें लाल करके खानेको माँगा और इसी सिलसिलेमें किसी बहाने उनके लड़केको मरवा दिया। रानी और राजाको इससे कुछ भी शोक नहीं हुआ। उन्होंने अतिथि-सेवामें कोई त्रुटि न आने दी।

भगवान् शंकर यह सब लीला देख-देखकर मन-ही-मन प्रसन्न हो उनके अतिथि-सत्कारकी प्रशंसा कर रहे थे। जब रसोई तैयार हो गयी तो वह यह कहते हुए लौटने लगे कि 'तुम पुत्रहीनोंके यहाँ मैं भोजन नहीं

करूँगा।' अब तो अतिथिको रूठे देख राजा और रानी बहुत घबराये, उन्होंने इस संकटसे बचानेके लिये भगवान् शिवसे प्रार्थना की। कुरूप मनुष्य तुरंत शिवजीके रूपमें बदल गया और बोला, 'तुम अपने पुत्रको जोरसे पुकारो।' उन्होंने वैसा ही किया और शिवकी दयासे वह मृत पुत्र और भी तेजयुक्त होकर हँसता हुआ उनके सामने उपस्थित हो गया। कान्ति नगरीमें चारों ओर आनन्दकी धारा बह निकली। शिवलोकसे तत्काल ही एक दिव्य विमान उतरा और राजा, रानी तथा बच्चेको लेकर कैलासको चला गया। शिवभक्तिकी ऐसी ही महामहिमा है।

शिवके प्रति कृतघ्नताका फल

एक राक्षस बड़ा स्वार्थी था, वह स्वार्थ साधनेके लिये शिवकी उपासना करने लगा। वह रोज चिता-भस्म लाता और शिवजीको चढ़ाकर उनकी पूजा करता। इसीसे उसका नाम भस्मासुर पड़ गया। औढरदानी आशुतोष सर्वान्तर्यामी होनेपर भी राक्षसके मनकी बुरी नीयतका कुछ भी खयाल न कर उसके सामने प्रकट हो गये और बोले कि 'मनमाना वर माँग ले। राक्षसने कहा—'महाराज! मैं जिसके सिरपर हाथ रखूँ, वही भस्म हो जाय! बस, मुझे तो यही चाहिये।' भगवान् भोलेनाथने 'तथास्तु' कह दिया। राक्षस मनमाना दुर्लभ वर पाकर उन्मत्त हो उठा। देवता घबराये। इधर भस्मासुरने भगवान् शिवजीके पास जाकर कहा कि 'मैं तो पहले तुम्हारे ही सिरपर हाथ रखकर वरकी परीक्षा करूँगा।' शिवजीने बहुत समझाया-बुझाया, परंतु दुष्ट राक्षसने उनकी एक न सुनी। उसके मनमें भगवती पार्वतीजीपर पाप आ गया और वह शिवजीको भस्म करके अपना मतलब साधनेकी चेष्टा करने लगा। भगवान् शंकर चाहते तो उसे भस्म कर सकते थे अथवा शक्तिका ही हरण कर सकते थे, परंतु उन्होंने यह सब कुछ भी नहीं किया और अपने दिये हुए वरदानकी सत्यता सिद्ध कर दिखानेके लिये डरकर भागनेका-सा स्वाँग रचा। श्रीशिवजीके साथ इस प्रकार औद्धत्य और कृतघ्नता करना शिवजीके ही अभिन्नस्वरूप भगवान् विष्णुको असह्य हो गया, परंतु उन्हें भी शिवजीके वरदानका खयाल था। इसलिये वे अन्य उपायोंसे काम न लेकर मोहिनीरूप बनकर राक्षसके सामने प्रकट हो गये। राक्षस तो उन्हें देखते ही मोहित हो गया। मोहिनीरूप भगवान् उसके सामने नाचने लगे और वह भी मोहित हुआ उन्हींका अनुसरण करने लगा। नाचते-नाचते मोहिनीने अपना हाथ सिरपर रखा, उसीकी देखा-देखी मोहित असुरने भी अपना हाथ सिरपर रख लिया। हाथ रखना था कि तत्काल उसके अंगसे आगकी लपटें निकलने लगीं और बात-की-बातमें वह जलकर भस्म हो गया। भस्मासुर नामकी सार्थकता सिद्ध हुई और शिवके प्रति कृतघ्नताका फल प्रकट हो गया।

बोलो भगवान् भोलानाथकी जय!

दक्ष-यज्ञ-विध्वंस

एक बार पूर्वकालमें प्रयागराजमें मुनियोंका एक महान् सत्र हुआ, जिसमें देवतालोग भी सम्मिलित हुए। पीछेसे प्रजापतियोंके पति महान् तेजस्वी दक्षप्रजापति भी वहाँ आये। उन्हें देखकर सारी सभा उनके सम्मानार्थ उठ खड़ी हुई। केवल आत्माराम शंकरजी अपने आसनपर ज्यों-के-त्यों बैठे रहे। दामादको अभिवादन न करते देख दक्षको बड़ा क्रोध आया। उन्होंने शंकरजीको सबके सामने अनेक दुर्वचन कहे और यह शाप दिया कि भविष्यमें उन्हें यज्ञमें भाग नहीं मिलेगा। शिवजीने अपने श्वशुरके वाग्बाणोंपर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और थोड़ी देरके बाद वे चुपचाप वहाँसे उठकर चल दिये। दक्ष भी क्रोधमें भरकर उनके साथ ही उठ खड़े हुए और अपनी नगरी कनखलमें आकर शिवके अपमानका बदला लेनेके उद्देश्यसे एक महान् यज्ञका आयोजन किया, जिसमें उन्होंने शिवजीको छोड़कर अन्य सभी देवताओं तथा मुनियोंको निमन्त्रित किया।

शिवपत्नी दाक्षायणीने जब इस यज्ञका वृत्तान्त सुना, तब उन्होंने बिना बुलाये ही अपने पिताके घर जानेके लिये भगवान् शिवसे अनुमति चाही और शिवके समझानेपर भी अपना हठ न छोड़ा। तब शंकरने लाचार हो उन्हें राजोचित ठाट-बाटके साथ उनके नैहर भिजवा दिया। इस प्रकार सती अपने पिताके यहाँ पहुँच तो गयीं, किंतु वहाँ जाकर उन्होंने जो कुछ देखा उससे उन्हें बड़ी मर्मवेदना हुई। वहाँ वे क्या देखती हैं कि यज्ञमें

सारे देवताओंका भाग मौजूद है; किंतु शंकरजीका भाग जान-बूझकर नहीं रखा गया है। केवल इतना ही नहीं, उनके पिता दक्षने उनसे प्रेमपूर्वक सम्भाषणतक नहीं किया, उन्हें न बुलानेपर खेद प्रकट करना तो दूर रहा। उन्हें इस दुर्व्यवहारपर इतना दुःख हुआ कि उन्होंने क्रोधमें भरकर अपने पिताको बहुत कुछ खोटी-खरी सुनायी और यज्ञमें उपस्थित सभी लोगोंकी भर्त्सना की। यही नहीं, उन्होंने अपने शिवद्रोही पिताके अंशसे उत्पन्न हुए शरीरको रखना भी पाप समझा और वहीं सबके देखते-देखते शंकरका स्मरण करते हुए योगानलसे अपना शरीर भस्म कर दिया। यह करुणाजनक दृश्य देखकर सब लोग सन्न रह गये और दक्षको बुरा-भला कहने लगे।

इधर जब शंकरजीको यह दुःखपूर्ण संवाद मिला, तब उन्हें बड़ा क्रोध आया। उन्होंने तत्काल अपनी एक जटा उखाड़कर पत्थरपर दे मारी, जिससे उसके दो टुकड़े हो गये। एक टुकड़ेसे प्रलयाग्निके समान महाबली वीरभद्र उत्पन्न हुआ और दूसरेसे महाकाली। ये दोनों अपने स्वामीकी आज्ञा पाकर अपने-अपने परिकरोंके साथ दक्षके यज्ञमण्डपमें पहुँचे। वहाँ जाते ही इन्होंने बड़ी निर्दयतापूर्वक यज्ञका विध्वंस प्रारम्भ कर दिया और बात-की-बातमें सब कुछ तहस-नहस कर डाला। इनके सामने देवता-मुनि कोई भी नहीं ठहर सके। कुछको अंग-भंगकर छोड़ दिया और शेष अपने प्राण बचाकर भागे। दक्षका सिर इन्होंने धड़से अलग कर दिया और उसे महाकालीको सौंप दिया। महाकाली उसे हाथमें लेकर गेंदके समान उससे खेलने लगीं और पीछे उसे अग्निकुण्डमें डाल दिया। इस प्रकार सब कुछ नष्ट-भ्रष्टकर ये लोग वापस शिवजीके पास चले आये। शिवजी इनके इस कार्यपर बड़े प्रसन्न हुए और इन्हें साधुवाद देकर विदा किया। पीछेसे देवतालोग शंकरजीका क्रोध शान्त करने तथा उनसे अपने तथा दक्षके अपराधोंके लिये क्षमा माँगने ब्रह्माजीको साथ लेकर कैलासपर गये और शंकरजीकी स्तुति करने लगे। शंकरजीने उन सबका बड़ा आदर-सत्कार किया और आगमनका कारण पूछा। सारा हाल मालूम होनेपर वे बोले—'मैं किसीके अपराधका चिन्तन नहीं करता, केवल दक्षको शिक्षा देनेके हेतु मैंने यह सब लीला की है। अतः आपलोग जाइये और यज्ञको सम्पूर्ण कीजिये, मैं भी पीछे-पीछे आकर दक्षको जिलाता हूँ।'

देवतालोग उनके इन अनुग्रहपूर्ण वचनोंको सुनकर मनमें फूले न समाये और शंकरकी अनेक प्रकार स्तुति करते हुए दक्षपुरी जा पहुँचे। पीछेसे शंकरजीने आकर दक्षकी धड़में यज्ञीय पशु (बकरे)-का सिर जोड़ दिया और उन्हें फिरसे जीवित कर दिया। दक्ष अत्यन्त कृतज्ञतापूर्ण शब्दोंसे उनकी स्तुति करने लगे और अन्य देवतालोग भी उनकी स्तुतिमें शामिल हो गये। शिवजी बोले—'मैं, ब्रह्मा और विष्णु तीनों एक ही हैं। हममें जो भेदबुद्धि करता है वह निश्चय ही घोर नरकमें गिरता है। बिना ब्रह्माजीको प्रसन्न किये विष्णुकी भक्ति नहीं मिलती और विष्णुकी भक्ति किये बिना मेरी भक्ति किसी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकती। हरिभक्त होकर जो मेरी निन्दा करता है और शैव होकर जो विष्णुकी निन्दा करता है, उन दोनोंको ही हमारे शापके कारण तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती।' यह कहकर शिवजी अन्तर्धान हो गये और अन्य सब देवतालोग भी उनका गुणगान करते हुए अपने-अपने लोकको चले गये। इस प्रकार शंकरजीकी कृपासे दक्षका यज्ञ समाप्त हुआ। (शिवपुराण)

भगवान् शिव

सच्चिदानन्दघन, सर्वान्तर्यामी, सर्वाधार, सर्वगुणसम्पन्न, गुणातीत, अनादि, अनन्त भगवान् शिवके सम्बन्धमें क्या लिखा जाय। कोई शिवतत्त्वके ज्ञाता और शिवके परम भक्त ही शिवतत्त्व और शिव-स्वरूपपर भगवान् शिवकी कृपासे कुछ लिख सकते हैं। तथापि अपनी लेखनी तथा वाणीको पवित्र करनेके लिये दो-चार शब्द यहाँ लिखे जा रहे हैं। गुरुजन क्षमा करेंगे।

१—भगवान् शिव कल्याणस्वरूप, विज्ञानानन्दघन परमात्मा हैं, वे स्वयं ही अपने ज्ञाता हैं, अनिर्वचनीय हैं, अकल हैं, मन और बुद्धिके अतीत हैं।

२—वही अपनी शक्तिद्वारा जगत्का सूत्रपात करते हैं, वही ब्रह्मारूपसे रचते, विष्णुरूपसे पालन करते और रुद्ररूपसे संहार करते हैं और अनन्त रुद्रोंके रूपमें जगत्में फैले हुए हैं। वे सब रूपोंमें भासते हैं, सब

रूपोंमें प्रकट हैं। उन्हींसे सबकी उत्पत्ति है, उन्हींमें निवास है और उन्हींमें सब लय होते हैं। यह उत्पत्ति, पालन और विनाश भी उनकी लीलामात्र है। वही सब कुछ हैं और साथ ही सब कुछसे विलक्षण भी हैं।

३—शिव सर्वव्यापी, सर्वेश्वर, सर्वोपरि, सर्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वतश्चक्षु, सर्वान्तर्यामी, सर्वमय, सर्वसमर्थ, सर्वाश्रय, शक्तिपति, नित्य, शुद्ध-बुद्ध-ज्ञानस्वरूप, '**सत्यं शिवं सुन्दरम्**' हैं। वे निर्गुण-सगुण, निराकार, साकार हैं, उभयातीत हैं।

४—वे माता-पिता, सुहृद्, स्वामी, सखा, न्यायकारी, पतित-पावन दीनबन्धु, परमदयामय, भक्तवत्सल, अशरण-शरण, अति उदार, सर्वस्वदानी, आशुतोष, सम, उदासीन, पक्षपातहीन, भक्त-जनाश्रय, भक्तपक्षपाती, शुभप्रेरक, अशुभनिवारक, योगक्षेमवाहक, प्रेममय, भूतवत्सल, श्मशानविहारी, कैलासनिवासी, हिमालयवासी, योगीश्वर और महामायावी हैं।

५—वे बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं। '**नमः शिवाय**' उनका प्रधान मन्त्र है। आबाल-वृद्ध-वनिता, ब्राह्मण, शूद्र, सभी इसका श्रद्धापूर्वक जप करके अपना मनोरथ सिद्ध कर सकते हैं।

६—शिवलिंग-पूजा अश्लील नहीं है, यह परम रहस्यमय तत्त्व है। शिवकृपासे रहस्यका ज्ञान हो सकता है। भक्ति-श्रद्धापूर्वक पूजा करनी चाहिये।

७—शिवनिन्दा करना और सुनना महापाप है, अतएव उससे सर्वथा बचना चाहिये।

८—शिवको परात्पर ब्रह्म मानते हुए भी शिव, विष्णु, ब्रह्मामें भेद मानना अमंगलका सूचक है। तीनों ही एकरूप हैं, तीनोंकी उपासना एककी ही उपासना है।

९—शिवतत्त्व जाननेके लिये पक्षपात छोड़कर शिवपुराण आदिका अध्ययन, मनन करना चाहिये।

१०—'शिव' नामका जप प्रेमसहित निष्कामभावसे सदा करना चाहिये।

देवीका विराट् स्वरूप

एक बार गिरिराज हिमालयकी प्रार्थनासे श्रीभगवतीजीने अपना विराट् रूप उन्हें दिखाया। उस समय विष्णु आदि सभी देवता वहाँ उपस्थित थे। उस विराट् रूपका स्वर्गलोक मस्तक और चन्द्रमा तथा सूर्य नेत्र थे। दिशाएँ कान, वेद वाणी और पवन प्राण थे। हृदय विश्व था और जंघा पृथिवी। व्योममण्डल उसकी नाभि तथा नक्षत्र-वृन्द वक्ष:स्थल थे। महर्लोक कण्ठ और जनलोक मुख था। इन्द्र आदि देवता उस महेश्वरीके बाहु थे और शब्द ही श्रवण। दोनों अश्विनीकुमार उसकी नासिका थे, गन्ध घ्राणेन्द्रियाँ थीं। मुख अग्नि और पलकें दिवारात्रि थीं। ब्रह्मधाम भ्रूविलास था और जल तालु। रस ही रसना तथा यम ही द्रंष्ट्रा थे। स्नेहकला दाँत थी और माया थी हँसी। सृष्टि ही कटाक्ष-विक्षेप तथा लज्जा ही होठ थी। लोभ अधर थे और धर्मपथ था पीठ। इस जगतीतलमें जो सृष्टिकर्ताके रूपसे विख्यात हैं, वे प्रजापति ही उस देवीके मेढ्र थे। समुद्र उदर, पर्वत अस्थि, नदी नाड़ी तथा वृक्ष ही उसके केश थे। कौमार, यौवन और जरावस्था उसकी उत्तम गति थी। मेघ ही केश और दोनों संध्याएँ वस्त्र थीं। चन्द्रमा ही जगदम्बाके मन थे, विज्ञानशक्ति विष्णु और अन्त:करण रुद्र थे। अश्व आदि जातियाँ उस व्यापक परमेश्वरीके नितम्बके निम्न भागमें स्थित थीं। अतल आदि महीलोक उसकी कटिके अधोभाग थे। देवताओंने देवीके ऐसे महान् रूपका दर्शन किया, जो सहस्रों ज्वाला-मालाओंसे पूर्ण था और लपलपाती हुई जीभसे अपना ही बदन चाट रहा था। उसकी दाढ़ोंसे कट-कट शब्द होते थे और आँखें आग उगल रही थीं। नाना शस्त्रोंको धारण करनेवाला वीर-वेष था; उसके सहस्रों मस्तक, नेत्र तथा चरण थे। करोड़ों सूर्य और कोटि विद्युन्मालाओंके समान उसकी देदीप्यमान कान्ति थी। वह महाघोर भीषण रूप हृदय तथा नेत्रोंको आतंक पहुँचानेवाला था।

उसे देखते ही सभी देवता हाहाकार मचाने लगे, सबके हृदय कम्पित हो गये और बेसुध हो गये। उन्हें इतना भी स्मरण न रहा कि ये जगज्जननी देवी हैं।

महेश्वरीके चारों ओर जो वेद मूर्तिमान् होकर खड़े थे, उन्होंने ही देवताओंको मूर्च्छासे जगाया। होशमें आनेपर वे नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भरकर गद्गद कण्ठसे स्तवन करने लगे।

स्तुति समाप्त होनेपर उन्हें भयभीत जानकर देवीने परम सुन्दर रूप धारण करके सान्त्वना दी।

(देवीभागवतके आधारपर)

भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान् शिव

प्रलयकालमें सारी सृष्टि परमात्माके अंदर लीन हो जाती है और कोटि सूर्यतुल्य प्रभाशाली, समस्त विश्वब्रह्माण्डका आदि कारण, एक अविनश्वर ज्योति:पुंज ही अवशेष रहता है। स्वेच्छामय परमात्माके उस ज्योति:स्वरूपके मध्यमें त्रिलोकी अन्तर्हित रहती है। उस त्रिलोकीके ऊपर ईश्वरके ही समान अविनश्वर 'गोलोकधाम' अवस्थित है। उस गोलोकके अभ्यन्तरमें एक परम आनन्दजनक एवं परम आनन्दस्वरूप ज्योति विकसित रहती है। योगिजन योगमार्गमें आरूढ़ होकर ज्ञानचक्षुके द्वारा उसी ज्योतिका ध्यान करते हैं। उस निराकार, परात्पर ज्योतिके अन्तरालमें अत्यन्त रमणीय, नवजलधर-श्याम-कलेवर, कमललोचन, शरदिन्दुसुन्दर मुखारविन्दयुक्त, कोटिकन्दर्पलावण्य, मुरलीमनोहर, पीतवसनधारी, मन्दस्मितवदन, भक्तवत्सल, रत्नाभरणभूषित, केसर-कस्तूरी एवं चन्दनादिका लेप किये हुए श्रीवत्सांकित-वक्ष:स्थल, कौस्तुभमणिरंजित, किरीटमुकुटशोभित, वनमालाविभूषित, साक्षात् परब्रह्मस्वरूप भगवान् श्यामसुन्दर नित्य विराजमान रहते हैं। वे सर्वाधार, निरीह, निर्विकार, मंगलमय, सिद्धिप्रद, सिद्धीश्वर, सत्य, अक्षय, अव्यय एवं निर्गुण हैं। उन्होंने अखिल विश्व एवं गोलोकको प्राणिशून्य निर्जन, निर्वात, वृक्ष, शैल, सरित्, समुद्रादिविहीन, सस्य-तृण-विवर्जित, शून्यमय देखकर मानसिक संकल्पके द्वारा स्वेच्छापूर्वक सृष्टिरचना प्रारम्भ की। उसी समय उनके दक्षिण पार्श्वमें श्यामकलेवर, तरुणवयस्क, पीतवसन, वनमालाधारी, चतुर्भुज, शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये साक्षात् नारायण आविर्भूत हुए। उनका मुखारविन्द मन्दस्मितयुक्त था, वे अनेक प्रकारके आभूषणों तथा कौस्तुभमणिसे विभूषित थे, शार्ङ्गधनुष कंधेपर लटकाये हुए थे, उनका मुख चन्द्रमाके समान देदीप्यमान था और वक्ष:स्थल श्रीवत्सके चिह्नसे अलंकृत था, उनका रूप-लावण्य कामदेवके तुल्य था। वे प्रकट होते ही भगवान् श्यामसुन्दरकी स्तुति करने लगे और स्तुति समाप्त होनेपर उन्हींके इशारेसे उनकी बगलमें एक रत्नजटित सिंहासनपर विराजमान हो गये।

इसके अनन्तर भगवान्के वामपार्श्वसे शुद्ध स्फटिकके समान शुभ्रवर्ण, पंचवदन, दिगम्बर महेश्वर आविर्भूत हुए। उनकी कान्ति तप्त कांचनके समान उज्ज्वल थी और मस्तकमें कपिशवर्ण जटाकलाप फहरा रहा था, उनके सुप्रसन्न वदनारविन्द मन्दहास्ययुक्त थे, प्रत्येक मुखमें तीन-तीन नेत्र थे और ललाटमें बालचन्द्र सुशोभित था। वे योगियोंके भी परम गुरु, त्रिशूल-पट्टिश आदि अस्त्र-शस्त्र एवं जपमाला धारण किये हुए थे। उनका मनोहररूप चन्द्रमाका भी तिरस्कार करता था। उन्होंने पुलकित गात्र, साश्रु नयन एवं गद्‌गद स्वरसे भगवान्की स्तुति की और उनके बताये आसनपर बैठ गये। उनके बैठ जानेपर भगवान्के नाभिकमलसे एक महातपस्वी कमण्डलु हाथमें लिये वृद्ध पुरुष प्रादुर्भूत हुए। उनके चारों दिशाओंमें चार मुख थे, वे शुक्ल वसन पहने हुए थे, उनकी मनोहर दन्तावली तथा केशकलाप भी शुभ्रवर्ण थे। इनका नाम ब्रह्मा था। ये भी भगवान्की स्तुति कर अपने स्थानपर बैठ गये।

इसी प्रकार परमात्मा श्रीकृष्णके वक्ष:स्थलसे धर्म और धर्मके वामपार्श्वसे एक अत्यन्त रूपवती कन्या प्रादुर्भूत हुई। मुखारविन्दसे वीणा-पुस्तकधारिणी, शुक्लवर्णा, अत्यन्त सौन्दर्यशालिनी, सकल विद्याओं तथा कलाओंकी जननी, शुद्ध सत्त्वस्वरूपा, वागधिष्ठात्री, कवियोंकी एवं विद्वानोंकी आराध्य देवी भगवती सरस्वती प्रकट हुईं। भगवान्के मन:प्रदेशसे रत्नालंकारभूषिता, गौरवर्णा, स्मेरमुखी, नवयौवना, पीतवसना, सकल ऐश्वर्यकी अधिष्ठात्री देवी महालक्ष्मी प्रकट हुईं और बुद्धिसे सकल जगत्की अधिष्ठात्री, परमेश्वरी, मूल प्रकृति प्रादुर्भूत हुईं। उनका वर्ण तप्त कांचनके सदृश एवं कान्ति कोटि सूर्यके समान थी। उनके सौ भुजाएँ थीं, वे रक्तवर्णके वस्त्र पहने हुई थीं। वे क्षुधा, तृषा, निद्रा, तृष्णा, दया, श्रद्धा, एवं क्षमा आदि सारे गुणोंकी अधिष्ठात्री थीं और दुर्गा नामसे प्रसिद्ध हुईं। यही परमात्माकी शक्ति एवं जगज्जननी हैं। हाथमें त्रिशूल, शक्ति, शार्ङ्गधनुष, खड्ग, शंख, चक्र, गदा, पद्म, अक्षमाला, कमण्डलु, वज्र, अंकुश, पाश, भुशुण्ड, दण्ड, तोमर, नारायणास्त्र, ब्रह्मास्त्र, रौद्रास्त्र, पाशुपतास्त्र, पार्जन्यास्त्र, गान्धर्वास्त्र एवं वारुणास्त्र धारण किये रहती

हैं। भगवान्‌की रसनाके अग्रभागसे विशुद्ध स्फटिकके समान उज्ज्वलकान्ति, श्वेतवसना, सर्वालंकारभूषिता, जपमालाधारिणी सावित्री देवी प्रकट हुईं।

इसके अनन्तर भगवान्‌के मनसे मन्मथकी उत्पत्ति हुई और मन्मथके वामपार्श्वसे अनुपम रूप-लावण्यमयी रति प्रकट हुई, इसी प्रकार अग्नि, जल, वायु आदि देवता तथा उनकी स्त्रियाँ प्रकट हुईं। फिर अखिल विश्वके आधार, विराट् पुरुष उत्पन्न हुए, जिनके एक-एक रोमकूपमें एक-एक ब्रह्माण्ड अवस्थित है। उन्हींकी 'महाविष्णु' संज्ञा है, वे महार्णवमें पद्मपत्रकी भाँति शयन करते रहते हैं। उनके कानके मैलसे मधु-कैटभ नामक दो दैत्य उत्पन्न हुए। वे ब्रह्माजीको मारने दौड़े। भगवान् नारायणने उनका वध करके ब्रह्माजीकी रक्षा की, उन दैत्योंके मेदसे पृथिवी उत्पन्न हुई। इसीलिये उसे 'मेदिनी' कहते हैं। फिर भगवान्‌के वामपार्श्वसे श्रीराधा उत्पन्न हुईं, जो भगवान्‌की प्राणाधिष्ठात्री तथा उन्हें प्राणोंसे अधिक प्यारी हैं। श्रीराधाके रोम-विवरोंसे कई करोड़ स्थिरयौवना गोपांगनाएँ उत्पन्न हुईं और भगवान्‌के रोमकूपोंसे तीस करोड़ गोप एवं नाना वर्णकी गौएँ, बैल तथा बछड़े उत्पन्न हुए, जिनमें कई कामधेनु थीं; उनमेंसे एक मनोहर बैल, जो बलमें करोड़ सिंहोंके समान था, भगवान्‌ने श्रीशंकरको वाहनरूपमें प्रदान किया, इसी प्रकार भगवान्‌के चरणोंके नखरन्ध्रोंसे मनोहर हंसोंकी पंक्तियाँ उत्पन्न हुईं। उनमेंसे एक महान् बलशाली राजहंस भगवान्‌ने ब्रह्माजीको दिया, जिसपर वे सवारी करने लगे। भगवान्‌के बायें कर्ण-विवरसे श्वेत तुरंगोंकी एक कतार उत्पन्न हुई, जिसमेंसे एक सुन्दर घोड़ा भगवान्‌ने धर्मको दिया। दक्षिण कर्ण-कुहरसे अत्यन्त बलशाली मृगेन्द्रोंकी अवलि उत्पन्न हुई। उसमेंसे एक सिंह भगवान्‌ने श्रीदुर्गाको दिया। भगवान्‌के गुह्य प्रदेशसे गुह्यक यक्ष तथा उनके नेता कुबेर तथा भूत, प्रेत, पिशाच, कूष्माण्ड, ब्रह्मराक्षस एवं वेताल आदि उत्पन्न हुए और कुबेरके वामपार्श्वसे कुबेरकी पत्नी कुबेरी उत्पन्न हुई। इसी प्रकार भगवान्‌के मुखकमलसे चतुर्भुज, शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी, वनमाला, पीतवसन, श्यामवर्ण, किरीट-कुण्डलविराजित, रत्नाभरणभूषित पार्षद उत्पन्न हुए। भगवान्‌ने नारायणको पार्षद, कुबेरको गुह्यक एवं शंकरको भूत-प्रेतादि प्रदान किये। भगवान्‌के दक्षिण नेत्रसे भयंकर त्रिशूल, पट्टिश, गदा आदि धारण किये, त्रिनेत्र, विशालकाय, दिगम्बर, चन्द्रशेखर, अग्निशिखाके समान तेजस्वी, शिवतुल्य रुरु, संहार, काल, असित, क्रोध, भीषण, महाभैरव एवं खट्वांग नामके अष्टभैरव उत्पन्न हुए। उनके वामनेत्रसे दिक्पालोंके अधीश्वर ईशानदेव उत्पन्न हुए। नासिकारन्ध्रसे सहस्रों डाकिनी, योगिनी एवं क्षेत्रपाल उत्पन्न हुए और पृष्ठदेशसे तीन करोड़ दिव्यमूर्तिधारी देवता उत्पन्न हुए।

इसके अनन्तर भगवान्‌ने महालक्ष्मी और सरस्वती नारायणको प्रदान कीं, सावित्री ब्रह्माजीको, मूर्ति कर्मको, रति कामको, मनोरमा कुबेरको और इसी प्रकार अन्य कन्याएँ अपने-अपने योग्य वरोंको प्रदान कीं। फिर शंकरजीको बुलाकर कहा कि आप श्रीदुर्गाजीको ग्रहण कीजिये। इसपर शंकरजी बोले, 'इस समय मैं इन्हें अंगीकार करना नहीं चाहता, क्योंकि इनके परिग्रहसे आपकी भक्तिमें बाधा पहुँचेगी। आप अपने भक्तोंको इच्छित वर देनेवाले हैं और मुझे तो आपकी भक्तिके अतिरिक्त और कोई वस्तु सुहाती ही नहीं। इसलिये आप कृपा करके मुझे अपनी नवधा भक्ति प्रदान कीजिये। आपके नाम, जप और पाद-सेवनसे मेरी तृप्ति ही नहीं होती। मैं तो सोते और जागते सदा आपके नामकी ही रटन लगाये रहता हूँ। भोगकी ओर मेरी वृत्ति ही नहीं जाती। मैं तो समझता हूँ कि अणिमादि अष्टादश सिद्धियाँ; सालोक्य, सार्ष्टि, सायुज्य, सामीप्य, साम्य एवं सारूप्य—ये छः प्रकारकी मुक्तियाँ; योग, तप, दान, व्रत, यश, कीर्ति, ब्रह्मवर्चस्, सत्य, धर्म, उपवास, तीर्थयात्रा, पुण्यशालावगाहन, अन्य देवताओंका पूजन, देवालयोंका दर्शन, सप्तद्वीपा मेदिनीकी प्रदक्षिणा, समुद्रस्नान, स्वर्गसुख, यहाँतक कि ब्रह्मा, रुद्र एवं विष्णुका परम पद अथवा इससे भी परे जो कोई अनिर्वचनीय सुख हो, वे सब आपकी भक्तिकी सोलहवीं कलाके तुल्य भी नहीं हैं।' शंकरके इन भक्तिभावसे भरे हुए वचनोंको सुनकर भगवान् परम प्रसन्न हुए और कहने लगे—'हे सर्वेश! आप सौ करोड़ कल्पपर्यन्त मेरी अहर्निश सेवा कीजिये। आप तपस्वियों, सिद्धों, योगियों, ज्ञानियों, देवताओं तथा वैष्णवोंमें श्रेष्ठ हैं, आपको मैं अमर, मृत्युंजय एवं सर्वज्ञ बनाता हूँ। आप असंख्य ब्रह्माओंका पतन देखेंगे। आजसे आप अपनेको ज्ञान, तेज, वय, पराक्रम, यश

एवं प्रतापमें मेरे ही तुल्य समझिये। आप मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे एवं मेरे परम भक्त हैं। आपसे बढ़कर मुझे और कोई प्रिय नहीं है, अधिक क्या, आप मेरे आत्मस्वरूप हैं। जो अज्ञानी मूर्ख आपकी निन्दा करते हैं, वे पापी, जबतक चन्द्र और सूर्य हैं, तबतक कालपाशमें बँधे हुए घोर दु:ख भोगते रहेंगे। सौ करोड़ वर्ष बीत जानेपर आप शिवाको अंगीकार कर लेना, जिससे मेरे वचनका उल्लंघन न हो और आपके वचनका भी पालन हो जाय, क्योंकि आपने यही कहा है कि मैं इन्हें अभी ग्रहण नहीं करूँगा। आप केवल तपस्वी ही नहीं हैं, आप तो मेरे ही समान महान् ईश्वर हैं। इसलिये आपको मेरे अनुरोधसे इस साध्वीको अवश्य अंगीकार करना होगा। जो पुरुष किसी तीर्थस्थानमें संयमपूर्वक पवित्र एवं जितेन्द्रिय रहकर तीर्थकी मृत्तिकासे आपका लिंग बनाकर पंचोपचारसे उसका सहस्र बार पूजन करेगा, वह अनेकों कल्पपर्यन्त मेरे साथ गोलोकमें आनन्दोपभोग करेगा और जो विधिपूर्वक लाख बार पूजा करेगा, वह कभी गोलोकसे भ्रष्ट नहीं होगा तथा मेरे और आपके समान हो जायगा। जो मिट्टी, भस्म, गोबर अथवा बालुकाका लिंग बनाकर एक बार भी किसी तीर्थमें उसकी पूजा करेगा, वह दस हजार कल्पतक स्वर्गमें वास करेगा। शिवलिंगका अर्चन करनेसे मनुष्यको संतान, पृथिवी, विद्या, पुत्र, धन, ज्ञान एवं मुक्तितककी प्राप्ति होती है और वह साधु बन जाता है। जिस स्थानपर शिवलिंगका पूजन होता है, वह लोकदृष्टिमें तीर्थ न होनेपर भी वास्तवमें तीर्थ ही है। उस स्थानपर मरा हुआ पुरुष, चाहे वह पापी ही क्यों न हो, शिवलोकको प्राप्त होता है। जो पुरुष 'महादेव, महादेव, महादेव' इस प्रकार कहता है, मैं उस नामश्रवणके लोभसे व्यग्र होकर उस पुरुषके पीछे चला करता हूँ। वह करोड़ जन्मोंके पापोंसे मुक्त होकर मुक्तिको प्राप्त होता है। जो 'शिव' इस शब्दका उच्चारण करके प्राणत्याग करता है, वह करोड़ जन्मोंके पापोंसे मुक्त होकर मुक्तिको प्राप्त होता है। 'शिव' शब्दका अर्थ कल्याण है और 'कल्याण' शब्द मुक्तिका वाचक है। मुक्ति शंकरसे प्राप्त होती है, इसीलिये उन्हें शिव कहते हैं। धन और बान्धवोंसे वियोग होनेके कारण जो शोकसागरमें डूब जाता है, 'शिव' शब्दके उच्चारणमात्रसे उसे सारे मंगलोंकी प्राप्ति होती है। 'शि' का अर्थ है पापनाशक और 'व' कहते हैं मुक्तिदाताको। पापनाशक एवं मुक्तिप्रद होनेके कारण ही महादेव 'शिव' कहलाते हैं। जिसकी जिह्वापर 'शिव' यह मंगलमय नाम रहता है, उसके करोड़ जन्मोंके पाप निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं।'

इसके अनन्तर भगवान् दुर्गासे बोले कि 'तुम अभी कुछ समयतक मेरे पास गोलोकमें रहो। समय आनेपर तुम्हें कल्याणदायक एवं कल्याणरूप शिव अंगीकार करेंगे। तुम समस्त देवताओंके तेज:पुंजसे आविर्भूत होकर सारे दैत्योंका संहार करोगी और सर्वपूज्य बनोगी। किसी खास कल्पके सत्ययुगमें तुम दक्षप्रजापतिके यहाँ प्रकट होकर शिवको वरण करोगी और फिर पार्वतीरूपमें पर्वतराज हिमालयके यहाँ प्रकट होकर हजार दिव्य वर्षपर्यन्त शिवपत्नी होकर रहोगी। इसके अनन्तर तुम शिवके अंदर लीन होकर उनके साथ अभेदको प्राप्त होगी। तुम्हारी सब कालमें तथा गाँव-गाँव और नगर-नगरमें पूजा होगी। जो तुम्हारा भजन करेंगे उनके यश, कीर्ति, धर्म एवं ऐश्वर्यकी वृद्धि होगी।' (ब्रह्मवैवर्तपुराणसे)

भगवान् विष्णुका स्वप्न

एक बार भगवान् नारायण अपने वैकुण्ठलोकमें सोये हुए थे। स्वप्नमें वे क्या देखते हैं कि करोड़ों चन्द्रमाओंकी कान्तिवाले, त्रिशूल-डमरूधारी, स्वर्णाभरण-भूषित, सुरेन्द्रवन्दित, अणिमादिसिद्धिसेवित, त्रिलोचन भगवान् शिव प्रेम और आनन्दातिरेकसे उन्मत्त होकर उनके सामने नृत्य कर रहे हैं। उन्हें देखकर भगवान् विष्णु हर्षगद्गद हो सहसा शय्यापर उठकर बैठ गये और कुछ देरतक ध्यानस्थ बैठे रहे। उन्हें इस प्रकार बैठे देखकर श्रीलक्ष्मीजी उनसे पूछने लगीं कि 'भगवन्! आपके इस प्रकार उठ बैठनेका क्या कारण है?' भगवान्ने कुछ देरतक उनके इस प्रश्नका कोई उत्तर नहीं दिया और आनन्दमें निमग्न हुए चुपचाप बैठे रहे। अन्तमें कुछ स्वस्थ होनेपर वे गद्गद कण्ठसे इस प्रकार बोले, 'देवि! मैंने अभी स्वप्नमें भगवान् श्रीमहेश्वरका दर्शन किया है। उनकी छबि ऐसी अपूर्व, आनन्दमय एवं मनोहर थी कि देखते ही बनती थी। मालूम होता

है, शंकरने स्मरण किया है। अहोभाग्य! चलो, कैलासमें चलकर हमलोग महादेवके दर्शन करें।'

यह कहकर दोनों कैलासकी ओर चल दिये। मुश्किलसे आधी दूर गये होंगे कि देखते हैं भगवान् शंकर स्वयं गिरिजाके साथ उनकी ओर चले आ रहे हैं। अब भगवान्के आनन्दका क्या ठिकाना? मानो घर बैठे निधि मिल गयी। पास आते ही दोनों परस्पर बड़े प्रेमसे मिले। मानो प्रेम और आनन्दका समुद्र उमड़ पड़ा। एक-दूसरेको देखकर दोनोंके नेत्रोंसे आनन्दाश्रु बहने लगे और शरीर पुलकायमान हो गया। दोनों ही एक-दूसरेसे लिपटे हुए कुछ देर मूकवत् खड़े रहे। प्रश्नोत्तर होनेपर मालूम हुआ कि शंकरजीको भी रात्रिमें इसी प्रकारका स्वप्न हुआ कि मानो विष्णुभगवान्को वे उसी रूपमें देख रहे हैं जिस रूपमें वे अब उनके सामने खड़े थे। दोनोंके स्वप्नका वृत्तान्त अवगत होनेपर दोनों ही लगे एक-दूसरेसे अपने यहाँ लिवा ले जानेका आग्रह करने। नारायण कहे वैकुण्ठ चलिये और शम्भु कहे कैलासकी ओर प्रस्थान कीजिये। दोनोंके आग्रहमें इतना अलौकिक प्रेम था कि यह निर्णय करना कठिन हो गया कि कहाँ चला जाय? इतनेमें ही क्या देखते हैं कि वीणा बजाते, हरिगुण गाते नारदजी कहींसे आ निकले। बस, फिर क्या था? लगे दोनों उनसे निर्णय कराने कि कहाँ चला जाय? बेचारे नारदजी तो स्वयं परेशान थे। उस अलौकिक मिलनको देखकर वे तो स्वयं अपनी सुध-बुध भूल गये और लगे मस्त होकर दोनोंका गुणगान करने। अब निर्णय कौन करे? अन्तमें यह तय हुआ कि भगवती उमा जो कह दें वही ठीक है। भगवती उमा पहले कुछ देर चुप रहीं। अन्तमें वे दोनोंको लक्ष्य करके बोलीं—'हे नाथ! हे नारायण! आपलोगोंके निश्चल, अनन्य एवं अलौकिक प्रेमको देखकर तो यही समझमें आता है कि आपके निवासस्थान अलग-अलग नहीं हैं; जो कैलास है वही वैकुण्ठ है और जो वैकुण्ठ है वही कैलास है; केवल नामका ही भेद है। यही नहीं, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आपकी आत्मा भी एक ही है, केवल रूप देखनेमें दो हैं और तो और, मुझे तो अब यह स्पष्ट दीखने लगा कि आपकी भार्याएँ भी एक ही हैं, दो नहीं। जो मैं हूँ, वही श्रीलक्ष्मी हैं और जो श्रीलक्ष्मी हैं, वही मैं हूँ। केवल यही नहीं, मेरी तो अब यह दृढ़ धारणा हो गयी है कि आपलोगोंमेंसे एकके प्रति जो द्वेष करता है, वह मानो दूसरेके प्रति ही करता है। एककी जो पूजा करता है, वह स्वाभाविक ही दूसरेकी भी करता है और जो एकको अपूज्य मानता है, वह दूसरेकी भी पूजा नहीं करता। मैं तो यह समझती हूँ कि जो आप दोनोंमें भेद मानता है, उसका चिरकालतक घोर पतन होता है। मैं देखती हूँ कि आप मुझे इस प्रसंगमें अपना मध्यस्थ बनाकर मानो मेरी प्रवंचना कर रहे हैं, मुझे चक्करमें डाल रहे हैं, मुझे भुलवा रहे हैं। अब मेरी यह प्रार्थना है कि आपलोग दोनों ही अपने-अपने लोकको पधारिये। श्रीविष्णु यह समझें कि हम शिवरूपसे वैकुण्ठ जा रहे हैं और श्रीशिव यह मानें कि हम विष्णुरूपसे कैलास गमन कर रहे हैं।'

इस उत्तरको सुनकर दोनों परम प्रसन्न हुए और भगवती उमाकी प्रशंसा करते हुए दोनों प्रणामालिंगनके अनन्तर हर्षित हो अपने-अपने लोकको चले गये।

लौटकर जब श्रीविष्णु वैकुण्ठ पहुँचे, तब श्रीलक्ष्मीजी उनसे पूछने लगीं कि 'प्रभो! सबसे अधिक प्रिय आपको कौन हैं?' इसपर भगवान् बोले—'प्रिये! प्रियतम केवल श्रीशंकर हैं। देहधारियोंको अपने देहकी भाँति वे मुझे अकारण ही प्रिय हैं।[१] एक बार मैं और शंकर दोनों ही पृथिवीपर घूमने निकले। मैं अपने प्रियतमकी खोजमें इस आशयसे निकला कि मेरी ही तरह जो अपने प्रियतमकी खोजमें देश-देशान्तरोंमें भटक रहा होगा, वही मुझे अकारण प्रिय होगा। थोड़ी देरके बाद मेरी श्रीशंकरजीसे भेंट हो गयी। ज्यों ही हमलोगोंकी आँखें चार हुईं कि हमलोग पूर्वजन्मार्जित विद्याकी भाँति एक-दूसरेके प्रति आकृष्ट हो गये। वास्तवमें मैं ही जनार्दन हूँ और मैं ही महादेव हूँ। अलग-अलग दो घड़ोंमें रखे हुए जलकी भाँति मुझमें और उनमें कोई अन्तर नहीं है। शंकरजीके अतिरिक्त शिवकी अर्चा करनेवाला शिवभक्त भी मुझे अत्यन्त प्रिय है। इसके विपरीत जो शिवकी पूजा नहीं करते, वे मुझे कदापि प्रिय नहीं हो सकते।'[२]

शिवद्रोही वैष्णवोंको और विष्णुद्वेषी शैवोंको इस

१-न मे प्रियतमा: सन्ति शिव एक: प्रियो मम। अहैतुक: प्रियोऽसौ मे स्वकाय: प्राणिनामिव॥

२-स एवाहं महादेव: स एवाहं जनार्दन:। उभयोरन्तरं नास्ति घटस्थजलयोरिव॥
शिवादन्य: प्रियो मेऽस्ति भक्तो य: शिवपूजक:। शिवस्यापूजको लक्ष्मि न कदापि प्रियो मम॥

प्रसंगपर ध्यान देना चाहिये—

यादृशी दर्शिता प्रीतिर्युवाभ्यां नाथ केशव।
मन्ये तया प्रमाणेन न भिन्नवसती युवाम्॥
यादृशी दर्शिता प्रीतिर्युवाभ्यां नाथ केशव।
मन्ये तया प्रमाणेन आत्मैकोऽन्यतनुर्मिथः॥
या प्रीतिर्दर्शिता देव युवाभ्यां नाथ केशव।
मन्ये तया प्रमाणेन भार्ये आवां पृथङ्‌ न वाम्॥
यादृशी दर्शिता प्रीतिर्युवाभ्यां नाथ केशव।
मन्ये तया प्रमाणेन द्वेष एकस्य स द्वयोः॥
यादृशी दर्शिता प्रीतिर्युवाभ्यां नाथ केशव।
मन्ये तया प्रमाणेन अपूजैकस्य च द्वयोः॥

(बृहद्धर्मपुराण, पूर्वखण्ड, अध्याय ९)

शिव-विष्णुका अलौकिक प्रेम

प्राचीन कालमें सुर-मुनिसेवित कैलास-शिखरपर महर्षि गौतमका एक आश्रम था। वहाँ एक बार पाताललोकसे जगद्‌विजयी बाणासुर अपने कुलगुरु शुक्राचार्य तथा अपने पूर्वज भक्तशिरोमणि प्रह्लाद, दानवीर बलि एवं दैत्यराज वृषपर्वाके साथ आया और महर्षि गौतमके सम्मान्य अतिथिके रूपमें रहने लगा। एक दिन प्रातःकाल वृषपर्वा शौच-स्नानादि नित्य कर्मसे निवृत्त होकर भगवान् शंकरकी पूजा कर रहा था। इतनेमें ही महर्षि गौतमका एक प्रिय शिष्य जिसका अन्वर्थ नाम शंकरात्मा था और जो अवधूतके वेशमें उन्मत्तकी भाँति विचरता था, विकराल रूप बनाये वहाँ आ पहुँचा और वृषपर्वा तथा उनके सामने रखी हुई शंकरकी मूर्तिके बीचमें आकर खड़ा हो गया। वृषपर्वाको उसका इस प्रकारका उद्धत-सा व्यवहार देखकर बड़ा क्रोध आया। उसने जब देखा कि वह किसी प्रकार नहीं मानता, तब चुपकेसे तलवार निकालकर उसका सिर धड़से अलग कर दिया। जब महर्षि गौतमको यह संवाद मिला, तब उनको बड़ा दुःख हुआ; क्योंकि शंकरात्मा उन्हें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय था। उन्होंने उसके बिना जीवन व्यर्थ समझा और देखते-देखते वृषपर्वाकी आँखोंके सामने योगबलसे अपने प्राण त्याग दिये। उन्हें इस प्रकार देहत्याग करते देखकर शुक्राचार्यसे भी नहीं रहा गया, उन्होंने भी उसी प्रकार अपने प्राणोंका उत्सर्ग कर दिया और उनकी देखादेखी प्रह्लादादि अन्य दैत्योंने भी वैसा ही किया। बात-की-बातमें ऋषिके आश्रममें शिव-भक्तोंकी लाशोंका ढेर लग गया। यह करुणापूर्ण दृश्य देखकर ऋषिपत्नी अहल्या हृदयभेदी स्वरसे आर्तनाद करने लगीं। उनकी क्रन्दनध्वनि भक्तभयहारी भगवान् भूत-भावनके कानोंतक पहुँची और उनकी समाधि टूट गयी। वे वायुवेगसे महर्षि गौतमके आश्रमपर पहुँचे। इसी प्रकार गजकी करुण पुकार सुनकर एक बार भगवान् चक्रपाणि भी वैकुण्ठसे पाँव-पियादे आतुर होकर दौड़े आये थे। धन्य भक्तवत्सलता! दैवयोगसे ब्रह्माजी तथा विष्णुभगवान् भी उस समय कैलासमें ही उपस्थित थे। उन्हें भी कौतूहलवश शंकरजी अपने साथ लिवा लाये।

भगवान् त्रिलोचनने आश्रममें पहुँचकर अपने कृपाकटाक्षसे ही सबको बात-की-बातमें जिला दिया। तब वे सब खड़े होकर भगवान् मृत्युंजयकी स्तुति करने लगे। भगवान् शंकरने महर्षि गौतमसे कहा—'हम तुम्हारे इस अलौकिक साहस एवं आदर्श त्यागपर अत्यन्त प्रसन्न हैं, वर माँगो।' महर्षि बोले—'प्रभो! आपने यहाँ पधारकर मुझे सदाके लिये कृतार्थ कर दिया। इससे बढ़कर मेरे लिये और कौन-सी वस्तु प्रार्थनीय हो सकती है? मैंने आज सब कुछ पा लिया। मेरे भाग्यकी आज देवतालोग भी सराहना करते हैं। यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मेरी एक प्रार्थना स्वीकार कीजिये। मैं चाहता हूँ आज आप मेरे यहाँ प्रसाद ग्रहण करें।'

भगवान् तो भावके भूखे हैं। उनकी प्रतिज्ञा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ९।२६)

इसी भावके वशीभूत होकर उन्होंने एक दिन श्रीरामरूपमें शबरीके बेर और श्रीकृष्णरूपमें सुदामाके तन्दुलोंका भोग लगाया था। उन्होंने महर्षिकी अविचल एवं निश्छल प्रीति देखकर उनका निमन्त्रण तुरंत स्वीकार कर लिया और साथ ही ब्रह्मा, विष्णुको भी महर्षिका आतिथ्य स्वीकार करनेको राजी कर लिया। जबतक

इधर भोजनकी तैयारी हो रही थी, तबतक शंकर विष्णुके साथ चलकर आश्रमके एक सुन्दर भवनमें गये और वहाँ एक सुकोमल शय्यापर लेटकर बहुत देरतक प्रेमालाप करते रहे। इसके अनन्तर वे आश्रम-भूमिमें स्थित एक सुरम्य तड़ागपर जाकर वहाँ जलक्रीड़ा करने लगे। रँगीले भोलेबाबा भगवान् श्रीहरिके पद्मदलायत लोचनोंपर कमल-किंजल्कमिश्रित जल अंजलिके द्वारा फेंकने लगे। भगवान्ने उनके प्रहारको न सह सकनेके कारण अपने दोनों नेत्र मूँद लिये। इतनेमें ही भोलेबाबा मौका पाकर तुरंत उछलकर भगवान्के वृष-सदृश गोल-गोल सुडौल मांसल कंधोंपर आरूढ़ हो गये। वृषभारोहणका तो उन्हें अभ्यास ही ठहरा, ऊपरसे जोरसे दबाकर उन्हें कभी तो पानीके अंदर ले जायँ और कभी फिर ऊपर ले आवें। इस प्रकार जब उन्हें बहुत तंग किया, तब विष्णुभगवान्ने भी एक चाल खेली। उन्होंने तुरंत शिवजीको पानीमें दे मारा। शिवजीने भी नीचेसे ही भगवान्की दोनों टाँगें पकड़कर उन्हें गिरा दिया। इस प्रकार कुछ देरतक दोनोंमें पैंतरेबाजी और दाँव-पेंच चलते रहे। विमानस्थित देवगण अन्तरिक्षसे इस अपूर्व आनन्दको लूटने लगे। धन्य हैं वे आँखें जिन्होंने उस अद्भुत छटाका निरीक्षण किया।

दैवयोगसे नारदजी उधर आ निकले। वे इस अलौकिक दृश्यको देखकर मस्त हो गये और लगे वीणाके स्वरके साथ गाने। शंकर उनके सुमधुर संगीतको सुनकर, खेल छोड़ जलसे बाहर निकल आये और भींगे वस्त्र पहने ही नारदके सुर-में-सुर मिलाकर स्वयं राग अलापने लगे। अब तो भगवान् विष्णुसे भी नहीं रहा गया। वे भी बाहर आकर मृदंग बजाने लगे। उस समय वह समा बँधा जो देखते ही बनता था। सहस्रों शेष और शारदा भी उस समयके आनन्दका वर्णन नहीं कर सकतीं। बूढ़े ब्रह्माजी भी उस अनोखी मस्तीमें शामिल हो गये। उस अपूर्व समाजमें यदि किसी बातकी कमी थी तो वह प्रसिद्ध संगीतकोविद पवनसुत हनुमान्जीके आनेसे पूरी हो गयी। उन्होंने जहाँ अपनी हृदयहारिणी तान छेड़ी वहाँ सबको बरबस चुप हो जाना पड़ा। अब तो सब-के-सब निस्तब्ध होकर लगे हनुमान्जीके गायनको सुनने। सब-के-सब ऐसे मस्त हुए कि खान-पानतककी सुधि भूल गये। उन्हें यह भी होश नहीं रहा कि हमलोग महर्षि गौतमके यहाँ निमन्त्रित हैं।

उधर जब महर्षिने देखा कि उनका पूज्य अतिथिवर्ग स्नान करके सरोवरसे नहीं लौटा और मध्याह्न बीता जा रहा है, तब वे बेचारे दौड़े आये और किसी प्रकार अनुनय-विनय करके बड़ी मुश्किलसे सबको अपने यहाँ लिवा लाये। तुरंत भोजन परोसा गया और लोग लगे आनन्दपूर्वक गौतमजीकी मेहमानी खाने! इसके अनन्तर हनुमान्जीका गायन प्रारम्भ हुआ। भोलेबाबा उनके मनोहर संगीतको सुनकर ऐसे मस्त हो गये कि उन्हें तन-मनकी सुधि न रही। उन्होंने धीरे-धीरे एक चरण हनुमान्जीकी अंजलिमें रख दिया और दूसरे चरणको उनके कंधे, मुख, कण्ठ, वक्ष:स्थल, हृदयके मध्यभाग, उदरदेश तथा नाभि-मण्डलसे स्पर्श कराते हुए मौजसे लेट गये। यह लीला देखकर विष्णु कहने लगे—'आज हनुमान्के समान सुकृती विश्वमें कोई नहीं है। जो चरण देवताओंको भी दुर्लभ हैं तथा वेदोंके द्वारा अगम्य हैं, उपनिषद् भी जिन्हें प्रकाश नहीं कर सकते, जिन्हें योगिजन चिरकालतक विविध प्रकारके साधन करके तथा व्रत-उपवासादिसे शरीरको सुखाकर क्षणभरके लिये भी अपने हृदयदेशमें स्थापित नहीं कर सकते, प्रधान-प्रधान मुनीश्वर सहस्रकोटि संवत्सरपर्यन्त तप करके भी जिन्हें प्राप्त नहीं कर सकते, उन चरणोंको अपने समस्त अंगोंपर धारण करनेका अनुपम सौभाग्य आज हनुमान्को अनायास ही प्राप्त हो रहा है। मैंने भी हजार वर्षतक प्रतिदिन सहस्र पद्मोंसे आपका भक्तिभावपूर्वक अर्चन किया, परंतु यह सौभाग्य आपने कभी प्रदान नहीं किया।

मया वर्षसहस्रं तु सहस्राब्जैस्तथान्वहम्।
भक्त्या सम्पूजितोऽपीश पादो नो दर्शितस्त्वया॥
लोके वादो हि सुमहान् शम्भुर्नारायणप्रियः।
हरिः प्रियस्तथा शम्भोर्न तादृग् भाग्यमस्ति मे॥

(पद्म०, पा० ६९। २४७-२४८)

'लोकमें यह वार्ता प्रसिद्ध है कि नारायण शंकरके परम प्रीतिभाजन हैं, परंतु आज हनुमान्को देखकर मुझे इस बातपर संदेह-सा होने लगा है और हनुमान्के प्रति ईर्ष्या-सी हो रही है।'

भगवान् विष्णुके इन प्रेम-लपेटे अटपटे वचन सुनकर शंकर मन-ही-मन मुसकराने लगे और बोले—

नारायण! यह आप क्या कह रहे हैं! आपसे बढ़कर मुझे और कोई प्रिय हो सकता है? औरोंकी तो बात ही क्या, पार्वती भी मुझे आपके समान प्रिय नहीं है।

न त्वया सदृशो मह्यं प्रियोऽस्ति भगवन् हरे।
पार्वती वा त्वया तुल्या न चान्या विद्यते मम॥

(पद्म०, पा० ६९। २४९)

इतनेमें ही माता पार्वती भी वहाँ आ पहुँचीं। शंकरको बहुत देरतक लौटते न देखकर उनके मनमें स्त्रीसुलभ शंका हुई कि कहीं स्वामी नाराज तो नहीं हो गये। वे दौड़ी हुई गौतमके आश्रममें पहुँचीं। गौतमकी मेहमानीमें जो कमी थी वह उनके आगमनसे पूरी हो गयी। उन्होंने भी अपने पतिकी अनुमति लेकर महर्षिका आतिथ्य स्वीकार किया और फिर शंकरजीके समीप आकर उनकी और विष्णुभगवान्‌की प्रणयगोष्ठीमें सम्मिलित हो गयीं। बातों-ही-बातोंमें उन्होंने विनोद तथा प्रणयकोपमें शंकरजीके प्रति कुछ अवज्ञात्मक शब्द कहे और उनकी मुण्डमाला, पन्नगभूषण, दिग्वस्त्रधारण, भस्मांगलेपन और वृषभारोहण आदिका परिहास किया। तब तो विष्णुभगवान्‌से नहीं रहा गया। आप शंकरकी अवज्ञाको नहीं सह सके और बोल उठे—'देवी! आप जगत्पति शंकरके प्रति यह क्या कह रही हैं? मुझसे आपके ये शब्द सहे नहीं जाते। जहाँ शिवनिन्दा होती हो वहाँ हम प्राण धारण नहीं कर सकते, यह हमारा व्रत है।' यह कहकर वे शिव-गिरिजाके सम्मुख ही नखके द्वारा अपना शिरश्छेदन करनेको उद्यत हो गये। शंकरजीने बड़ी कठिनतासे उन्हें इस कार्यसे रोका—

किमर्थं निन्दसे देवि देवदेवं जगत्पतिम्।
.. ..।
यत्रेशनिन्दनं भद्रे तत्र नो मरणं व्रतम्।
इत्युक्त्वाथ नखाभ्यां हि हरिश्छेत्तुं शिरो गतः॥
महेशस्तु करं गृह्य प्राह मा साहसं कृथाः।

(पद्म०, पा० ७९। ३३१—३३३)

अहा! कैसी अद्‌भुत लीला है! एक बार रामावतारके समय शंकरने अपनी स्वामिनीका वेश धारण करनेके अपराधमें सतीशिरोमणि सतीका परित्याग कर दिया था। शिवकी निन्दा करनेवाले वैष्णवो और विष्णुकी अवज्ञा करनेवाले शैवो! इन प्रसंगोंको ध्यानपूर्वक पढ़ो और व्यर्थ दुराग्रह छोड़ शिव-विष्णुकी एकताके रहस्यको समझनेकी चेष्टा करो।

(पद्मपुराण, पातालखण्डसे)

भगवान् श्रीशिव और भगवान् श्रीराम

परात्पर, परब्रह्म लीलामय भगवान् श्रीरामने लंका-विजयके अनन्तर अयोध्याको लौटकर राज्याभिषेक हो जानेपर मुनि अगस्त्यके आदेशसे मानवलीलाकी मर्यादारक्षाके लिये रावणादिवधजनित ब्रह्महत्यादोषकी निवृत्तिके उद्देश्यसे अश्वमेधयज्ञका समारम्भ किया। यज्ञका घोड़ा देश-देशान्तरोंमें घूमता हुआ देवपुर नामक नगरमें पहुँचा। वहाँके राजा वीरमणिने घोड़ेको पकड़ लिया और दोनों सेनाओंमें युद्ध छिड़ गया। राजा वीरमणि शिवके अनन्य भक्त थे और परम दयालु शंकर अपने भक्तकी रक्षाके लिये सदा उसके नगरमें निवास करते थे। जब उन्होंने देखा कि वीरमणिकी सेना राघवी सेनाके चमूपति शत्रुघ्नके द्वारा पराभूत हो रही है और सैनिकोंका क्रमशः ह्रास हो रहा है, तब उन्होंने स्वयं रणांगणमें उपस्थित होकर शत्रुघ्नकी सेनाके साथ युद्ध प्रारम्भ कर दिया। जब संहार-मूर्ति भगवान् रुद्र क्रुद्ध होकर समरमें आ डटे, तब भला किसकी मजाल जो उनके अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारको सह सके। बात-की-बातमें राघवी सेना छिन्न-भिन्न हो गयी और सैनिकोंमें हाहाकार मच गया। जब शत्रुघ्नने देखा कि भगवान् शंकरके बाणोंसे किसी प्रकार रक्षा नहीं है, तब उन्होंने कातर होकर श्रीकोशलाधीशका स्मरण किया और भगवान् उसी क्षण भक्तकी पुकार सुनकर यज्ञ-दीक्षाके वेषमें ही युद्धभूमिमें उपस्थित हो गये। भगवान्‌के भक्तभयहारी, सस्मित, वदनारविन्दका दर्शन कर राघवी सेनामें प्राण आ गये और सैनिकोंने जयघोषपूर्वक भगवान्‌का अभिनन्दन किया।

शंकरजीने अपने इष्टदेवको जब सामने आते देखा, तब तुरंत युद्ध बंद करके सम्मुख आये और प्रेमविह्वल होकर चरणोंमें गिर पड़े। भगवान्‌ने उन्हें उठाकर छातीसे लगा लिया। भक्त और भगवान्‌के इस

अपूर्व प्रेम-मिलनको देखकर सारी सेना मुग्ध हो गयी और लगी जय-जयकार करने। शंकरजी कुछ स्वस्थ होनेपर बोले—'प्रभो! आप प्रकृतिसे पर, साक्षात् परमेश्वर हैं, आप ही अपनी अंश-कलासे अखिल विश्वका सृजन, पालन और संहार करते हैं और स्वयं अरूप होते हुए भी मायासंवलित होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर—इन तीन रूपोंको धारण करते हैं। आपके लिये ब्रह्महत्यादोषके परिमार्जनके लिये अश्वमेध-यज्ञका उपक्रम करना विडम्बनामात्र है। जिनके चरणोंसे निकली हुई श्रीगंगाजी लोकमें पतितपावनी नामसे प्रसिद्ध हैं और मेरे सिरका भूषण हो रही हैं, जिनके नामके उच्चारणमात्रसे अजामिल-जैसे अनेकों महापातकी तर गये, उन्हें कभी ब्रह्महत्याका पाप लग सकता है? आपकी सारी क्रियाएँ संसारमें मर्यादा-स्थापनके लिये ही हैं, इसीलिये तो आपको 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' कहते हैं। नाथ! आपके कार्यमें विघ्न डालकर मैंने वास्तवमें महान् अपराध किया है, उसके लिये क्षमा चाहता हूँ। बात यह है कि मुझे सत्यके पाशमें बँधकर इच्छा न रहते हुए भी यह सब कुछ करना पड़ा। इसीलिये आपके प्रभावको जानते हुए भी आपकी सेनाके विरुद्ध खड़े होनेका अनुचित कार्य मैंने किया। इस राजाने प्राचीन कालमें उज्जयिनीमें महाकालके स्थानपर बड़ी उग्र तपस्या की थी, जिससे प्रसन्न होकर मैंने उसे एक वरदान दिया था। वह यह था कि जबतक अश्वमेधके प्रसंगमें मेरे इष्टदेव यहाँ न पधारें, तबतक मैं तुम्हारे नगरकी रक्षा करूँगा। बस, आज मेरा व्रत समाप्त हुआ। मैं वास्तवमें अपनी कृतिपर लज्जित हूँ। अब आप कृपया मेरे इस भक्तको अपना दासानुदास समझकर अपनाइये और घोड़ेसहित इसके राज्य एवं सर्वस्वको अपनी सेवामें अंगीकार कीजिये।' यह कहकर भगवान् त्रिलोचनने राजा वीरमणिको पुत्र-पौत्रोंके सहित भगवान्‌के सम्मुख ला उपस्थित किया, उनके भवभयहारी चरणोंमें डाल दिया। देवतालोग जो विमानोंमें बैठे हुए यह अपूर्व दृश्य देख रहे थे, धन्य-धन्य कहकर राजा वीरमणिके भाग्यकी सराहना करने और पुष्प बरसाने लगे।

भगवान् हँसकर बोले—'प्राणाधिक शंकर! भक्तकी रक्षा करके आपने भक्तकी मर्यादाकी ही रक्षा की है, इसमें अनुचित कौन-सी बात हुई जिसके लिये आप इस प्रकार दीनभावसे क्षमा-याचना करते हैं? फिर आपसे तो अपराधकी शंका ही नहीं हो सकती, आप तो सदा मेरे हृदय-मन्दिरमें निवास करते हैं और मैं आपके हृदयमें रहता हूँ। वास्तवमें हम दोनोंमें कोई अन्तर ही नहीं है। जो मैं हूँ सो आप हैं और जो आप हैं सो मैं हूँ। हम दोनोंमें जो भेद समझता है वह मूर्ख और जडबुद्धि है। वह हजार कल्पपर्यन्त कुम्भीपाक नरकमें घोर यातनाओंको सहता है। जो आपके भक्त हैं उन्हें सदासे ही मैं अपना भक्त समझता रहा हूँ और जो मेरे भक्त हैं वे अवश्य ही आपके भी दास हैं।'*

इस प्रकार दोनों सेनाओंके विरोधको शान्तकर और शंकरके साथ अपना अभेद बताकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और श्रीशंकर भी अपने भक्तका कल्याण कर कैलासको चले गये (पद्मपुराण, पातालखण्डसे)।

'भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान् शिव', 'भगवान् विष्णुका स्वप्न', 'शिव-विष्णुका अलौकिक प्रेम' और 'भगवान् शिव और भगवान् श्रीराम'—इन लेखोंको पढ़नेसे यह निश्चय हो जाना चाहिये कि एक ही परम तत्त्वके ये सब लीलाभेदसे विभिन्न नाम-रूप हैं। इनमें स्वरूपतः भेद-कल्पना कभी नहीं करनी चाहिये।

भगवान्‌की लीला

अबतक जो कुछ भी हुआ, अब हो रहा है और आगे होगा, सभी श्रीभगवान्‌का रचा हुआ है। सृजन और संहार आदि सभी उन नित्य-लीलामयकी लीलाके ही अंग हैं। यह लीला अनादि है, अनन्त है, नित्य है, नियमित है और अनिवार्य है। सृजनका मधुर रूप और संहारका कराल रूप दोनों ही उन्हींके स्वरूप हैं। वही वृन्दावनके माखनप्रेमी मुरलीधर हैं और वही कुरुक्षेत्र-समरानलके प्रारम्भमें अर्जुनको भयसे कँपा देनेवाले

* ममास्ति हृदये शर्वो भवतो हृदये त्वहम्। आवयोरन्तरं नास्ति मूढाः पश्यन्ति दुर्धियः॥
ये भेदं विदधत्यद्धा आवयोरेकरूपयोः। कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते नराः कल्पसहस्रकम्॥
ये त्वद्भक्ताः सदासंस्ते मद्भक्ता धर्मसंयुताः। मद्भक्ता अपि भूयस्या भक्त्या तव नतिंकराः॥ (पद्म०, पा० २८।२०—२२)

भयंकर मूर्ति साक्षात् काल हैं। वस्तुतः लीलामें किसी भी रसका प्राकट्य हो, लीला नित्यानन्दमयी ही है। भयानक-से-भयानक लीलाके अंदर उनका नित्य-सुन्दर मनोहर मुसकराता हुआ मुखारविन्द छिपा है। लीलासे लीलाविहारीका बिलगाव कैसे हो? भगवत्कृपासे जिन भक्तोंको लीलादर्शनके योग्य नेत्र प्राप्त हो गये हैं, वे एकमात्र श्रीभगवान्‌को ही विविध रूपोंमें चित्र-विचित्र लीला करते देखते हैं और प्रत्येक लीलामें ही उनके मधुर दर्शन और उनके सुकोमल कर-कमलका स्पर्श पाकर अपार्थिव आनन्दलाभ करते हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि भगवान्‌की इस लीलामें कुछ भी अनहोनी बात नहीं होती। जो कुछ होता है, वही होता है जो होना है; और जो होना है वही ठीक है, वही मंगलमय है। भगवान्‌का कोई भी विधान मंगलसे रहित नहीं हो सकता। इसीलिये महात्मा पुरुष प्रत्येक घटनाको भगवान्‌का अवश्यम्भावी मंगलमय विधान मानकर संतुष्ट रहते हैं और विधानमें स्वयं विधाताका साक्षात्कार कर कृतकृत्य होते रहते हैं। ऐसे कृतकृत्य महात्मा इस सत्यका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि उनके अन्तःकरण और इन्द्रियोंसे होनेवाली प्रत्येक चेष्टा श्रीभगवान्‌की शक्तिद्वारा ही निर्दिष्ट और संचालित होती है। वे स्वयं कुछ भी नहीं करते-कराते, जो कुछ होता है, सब भगवान्‌की प्रकृति (शक्ति) ही करती है। कार्य तो सभी जगह भगवान्‌का प्रकृतिके द्वारा ही होते हैं; परंतु दूसरे लोग इस सत्यका अनुभव न करके स्वयं अपनेको कर्ता मानते हैं और महात्मालोग भगवत्प्रकृतिका कर्तृत्व प्रत्यक्ष ही देख पाते हैं, इसीलिये वे ऐसा अहंकार नहीं करते। अवश्य ही, वास्तवरूपमें महात्माओंका यह अकर्तृत्व और साधारण जीवोंका कर्तृत्व भी भगवान्‌की लीलाके ही अंग हैं; परंतु यह तत्त्व जबतक प्रत्यक्ष न हो जाय, तबतक न तो कोई इसको इस प्रकार मान सकता है और न मानना ही चाहिये। इसीलिये साधारण लोगोंकी दृष्टिमें महात्मालोग लोकहितार्थ सत्कर्म करते हुए देखे जाते हैं और उनके आदर्शके अनुसार साधारण लोग अपना कर्तव्य निश्चय करके कर्ममें लगते हैं।

यहाँ साधकोंको ऐसी धारणा करनी चाहिये कि यह जगत् भगवान्‌का नाट्यमंच है और हम सभी इसमें अभिनय करनेवाले अभिनेता हैं। जगन्नाटकके सूत्रधारने हमारे लिये जो खेल नियत कर दिया, उसीको ईमानदारीसे खेलना हमारा कर्तव्य है। असलमें अभिनेताके मनमें कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं हुआ करती। नाटकके स्वामीकी आज्ञाके अनुसार अपना पार्ट करना ही उसकी एकमात्र इच्छा और चेष्टा होती है। इसके अनुसार अपनी सारी कामनाओंका त्याग कर भगवान्‌के इस संसाररूपी नाट्यमंचपर भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये भगवान्‌के संकेतानुसार कर्म करना ही अपना परम धर्म है, यही उनकी उपासना है और यही भक्ति है। स्वामीके आज्ञानुसार कर्म न करना 'नमकहरामी' है और स्वामीकी सम्पत्तिको अपना मानना 'बेईमानी'। नमकहरामी और बेईमानी दोनोंसे बचकर स्वकर्मके द्वारा स्वामीकी पूजा करनी चाहिये। चतुर ऐक्टरकी न तो किसी स्वाँगविशेषमें आसक्ति होती है, न किसी कर्मविशेषमें। उसे जब जो स्वाँग मिलता है, वह उसीके अनुरूप दक्षताके साथ अभिनय करता है। इसीसे भगवान्‌ने कहा है—'अर्जुन! तुम आसक्ति छोड़कर भगवान्‌के लिये कर्मोंका भलीभाँति सम्पादन करो।' (**'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर'**) जिस साधककी प्रत्येक कर्ममें यह दृष्टि रहती है तथा बिना किसी आसक्ति और कामनाके इस प्रकार कर्तव्य-कर्म करता है, वह आगे चलकर भगवान्‌के हाथका सच्चा यन्त्र बन जाता है। उसकी कर्तव्य-बुद्धि भी भगवान्‌की विशुद्ध और स्पष्ट संचालन-क्रियाके अंदर विलुप्त हो जाती है। फिर उसमें कोई अहंकार भी नहीं रहता। वह जड कठपुतलीकी भाँति भगवान् जैसे नचाते हैं वैसे ही नाचता है। वे जो कुछ कराते हैं वही करता है। वस्तुतः तात्त्विक दृष्टिसे भगवान्‌से भिन्न उसका पृथक् अस्तित्व ही नहीं रह जाता। वह भगवान्‌में रहता है, भगवान् उसमें—**'मयि ते तेषु चाप्यहम्।'** वह इसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है। यह तो हुई संक्षेपमें सिद्धान्तकी और साधकके भाव तथा कर्तव्यकी बात। अब संहारलीलाके सम्बन्धमें कुछ विचार करना है—

ऊपरके विवेचनसे यह तो समझमें आ ही गया होगा कि जगत्‌में होनेवाला संहार भी भगवान्‌की एक आवश्यक और अनिवार्य लीला या उनका मंगलविधान ही है। विश्वशरीरमें जब सड़न पैदा हो जाती है, तब स्वाभाविक ही उस सड़नको मिटानेके लिये विश्वस्रष्टाको

एक बड़ा ऑपरेशन करना पड़ता है। ऐसे ऑपरेशन अनादि कालसे अनेक युगोंमें होते आये हैं और होते रहेंगे। ये आवश्यक हैं और अनिवार्य हैं तथा इनका परिणाम कल्याणमय ही होता है। सारी सड़ी मवाद निकलकर जब शरीर बिलकुल विषमुक्त हो जाता है, तब स्वाभाविक ही सुन्दर स्वस्थता प्राप्त होती है। हाँ, ऑपरेशन हो जानेपर जैसे घाव सूखनेमें कई दिन लग जाते हैं और इस बीचमें रोगीको घावकी वेदना सहनी पड़ती है। इसी प्रकार समष्टि-शरीरको भी संहारके बाद कुछ समयतक विषाद, निराशा, अवसन्नता और विश्रृंखलताकी यातना सहन करनी पड़ती है।

यूरोपका पिछला समरानल भी एक प्रकारका ऑपरेशन था, जिसका होना अनिवार्य था। अनिवार्य न होता तो वह होता ही नहीं। यूरोपके अनेकों विद्वान्, बुद्धिमान् और प्रभावशाली पुरुष बहुत समयसे लगातार युद्धविरोधी चेष्टा कर रहे हैं, परंतु किसीकी भी बुद्धि और चेष्टा सफल न हो पायी। यह जानते-मानते और कहते हुए ही कि 'युद्धसे बड़ी हानि है, यह राक्षसीपन है और हम कदापि युद्ध नहीं चाहते'—बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोग बड़ी तत्परताके साथ भीषण समराग्निमें सब कुछ होम देनेकी तैयारी करके रणांगणमें उतर आये और प्रतिदिन महान् विनाशका सामना करते हुए भी युद्धसे विरत नहीं होना चाहते। बल्कि अपनी सारी शक्ति लगाकर विनाशके विस्तारमें दत्तचित्त हैं, इससे सम्भव है युद्धकी यह आग अभी और भी फैले तथा पार्थिव धन और शरीरोंका और भी भीषण परिणाममें विनाश हो। जबतक पूरा मवाद निकल नहीं जायगा—शरीर बिलकुल निरामय नहीं हो सकता। अतएव किसी कारणवश अभी यदि कुछ समयतक युद्ध रुक भी गया तो वह अगले भयानक महाविनाशके नये उद्योगके लिये ही रुकेगा। युद्धके अतिरिक्त भूकम्प, रोग, बाढ़, अकाल आदि साधनोंसे भी विनाश होता रहेगा। हमारी दृष्टिमें आनेवाले इस जगत्के प्राणियोंको इसके लिये तैयार हो जाना चाहिये। युद्ध वस्तुतः तभी मिटेगा जब लोगोंका हृदय बदलेगा, जब हमारा मन शुद्ध होगा। पाप तो हमारे मनोंमें है। भ्रम, बुरे विचार, राग-द्वेष, वैर-ईर्ष्या, काम-क्रोध, लोभ-लालच, हिंसा-प्रतिहिंसा आदि दोष तो हमारे अंदर हैं, यह अंदरका रोग है। बिजलीकी तोपों, हवाई जहाजों, बमों, टैंकों और अणुबमों आदिसे इस रोगका नाश सहसा नहीं होता। इसके शीघ्र नाश होनेकी दवा तो है धर्माचरण, शुद्ध दैवी सम्पदा, सात्त्विक वृत्ति, दैवी बल और एकमात्र भगवान्के भजनसे ही प्राप्त होनेवाली श्रीभगवान्की दिव्य अमोघ कृपाशक्ति। इन दिव्य साधनोंपरसे आजके जगत्का विश्वास उठ गया है। इस प्रकारके साधन बतलानेवालोंको लोग आज पागल या मूर्ख मानते हैं। सभीके मन भौतिक साधनों, बाह्य आचारों और द्वेषभरी कुचेष्टाओंकी ओर खिंचते हैं। बात करनेमें सभी विश्वहित, लोकहित, स्वार्थहीनता और धर्मपरायणताकी ही डुग्गी पीटते हैं, परंतु कार्य सभी उलटे करते हैं। किसी भी पक्षमें वस्तुतः सच्चे दिलसे विश्वहित, स्वार्थहीनता और धर्मपरायणताके भाव नहीं हैं। सभी लोग एक-दूसरेको राक्षस बतलाकर अपनी न्यायपरायणता और स्वार्थहीनताकी घोषणा करते हैं, परंतु सभी करते हैं, वही राक्षसी कार्य। कारण स्पष्ट है, अंदर सड़न भरी है। गोदाममें जो चीज भरी होगी उसीकी गंध आयेगी। अंदर सड़ा मांस या प्याज भरा है तो केसर-गुलाबकी मीठी महक कहाँसे आयेगी। संस्कारके अनुसार वृत्ति बनती है और वृत्तियोंके अनुसार कर्म होते हैं। विश्वभरमें यही सड़न भर गयी है। इस सड़नके नाशमें ही विश्वका मंगल है। आत्मा तो अमर है—कभी मरता नहीं। शरीर विनाशी तथा नश्वर है, यह पैदा ही होता है नष्ट होनेके लिये। इसी प्रकार जगत्के पदार्थ भी सभी क्षणभंगुर और विनाशी हैं। 'आद्यन्तवन्त' इनका स्वभाव ही है। इस ऑपरेशनसे जब इन शरीरोंका और क्षणभंगुर पदार्थोंका भीषण विनाश होकर सारी सड़न निकल जायगी तब मन बदलेगा—वैराग्य और प्रेमकी भावना उत्पन्न होगी। जैसे घरमें अधिक लोगोंके एक साथ मर जानेपर बचे हुए लोगोंके मनमें क्षणिक वैराग्य होता है—वे ऐसा सोचते हैं जब इस प्रकार सभीको मरना है तब वैर-विरोध, पाप-प्रपंच क्यों किये जायँ। इसी प्रकार विश्वरूपी घरमें जब यादव-संहारकी भाँति परस्पर लड़कर बहुत-से आदमी मर जायँगे, भोगसामग्रियोंका प्रचुरतासे विनाश हो जायगा, तब बचे हुए लोगोंमें स्वाभाविक ही वैराग्यका भाव उत्पन्न होगा और वे बुराई छोड़कर परस्पर प्रेम करेंगे। परिणामतः जबतक नयी बुराई पैदा नहीं होगी, तबतक जगत्में

अबकी अपेक्षा बहुत अधिक सुख-शान्ति रहेगी। आजकल लोग जो शीघ्र ही सत्ययुगके आनेकी बात सुनते, कहते हैं उसका इतना ही तात्पर्य है—यह क्रूर ग्रहकी विंशोत्तरीदशामें शुभ ग्रहकी अन्तर्दशाकी भाँति कुछ नियमित कालके लिये कलियुगमें सत्ययुगका अन्तर्भाव-सा होगा।

प्रकृति स्वभावत: अधोगामिनी है। यदि निरन्तर ऊँचे उठने-उठानेका प्रयत्न न किया जाय तो स्वाभाविक ही प्रकृति पतनकी ओर बढ़ती है। उसे पतनसे बचानेके लिये सदा जाग्रत् रहने और प्रयत्न करनेकी आवश्यकता होती है। समष्टि-जगत्में भी जीवोंके कर्मवश परमात्माकी प्रेरणासे ऐसा नियमित महाप्रयत्न भगवान्की प्रकृतिके द्वारा ही होता है, उसे कोई रोक नहीं सकता। अतएव संहार-कार्य इसी प्रकारका परमात्मप्रेरित प्रकृतिका एक महान् प्रयत्न है, जो समष्टिकी शुद्धिके लिये अत्यावश्यक है।

इसमें सभी लोगोंको अपने-अपने जिम्मेका कार्य स्वभावत: करना ही पड़ेगा। जो नहीं करेगा वही दण्डका भागी होगा। भगवान्ने अर्जुनसे कहा था—'तू यदि अहंकारवश मेरी बात न सुनेगा तो तेरा पतन हो जायगा।'

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

(गीता १८। ५९)

'यदि तू अहंकारवश ऐसा समझता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है। प्रकृति तुझे बलपूर्वक युद्धमें लगा देगी।'

अब यह प्रश्न होता है कि अपनी ओरसे हमलोगोंको ऐसे समयमें क्या करना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि ऐसे समयमें साधारणतया हमारा कर्तव्य यह है कि हम अपने हृदयसे किसी भी पक्षविशेषसे राग-द्वेष न करके भगवान्से यही प्रार्थना करें कि—**'भगवन्! जगत्में सभी सुख-शान्तिको प्राप्त हों, सभी दैवी सम्पत्तिका सेवन करें और सभी तुम्हारे भक्त बनें।'** हमें अपनी ओरसे यही प्रार्थना करनी चाहिये और सच्चे दिलसे यही प्रयत्न करना चाहिये, जिसमें व्यक्तिगत और समष्टिगत कलह और युद्ध न बढ़ें। ऐसे युद्धोंका शीघ्र अभाव हो जाय। अधर्मकी भावना सर्वथा नष्ट हो। परस्वापहरणकी कल्पना भी किसीके मनमें न उठे, सारे संसारमें प्रेमका विस्तार हो और सभी आत्मभावसे एक-दूसरेकी सेवा-सहायता करें। इसके लिये सात बातें प्रधानरूपसे करनी चाहिये—

(१) श्रद्धा-विश्वासके साथ भगवान्की प्रार्थना।
(२) दैवी-सम्पत्तियुक्त जीवन बनानेका प्रयत्न।
(३) भगवान्के भजनमें तत्परता।
(४) गीता और रामचरितमानस-जैसे आशीर्वादात्मक कल्याणप्रद ग्रन्थोंका पारायण एवं प्रचार-प्रसार।
(५) गो-सेवा, दीन-सेवा और सर्वजीव-सेवा।
(६) सर्वत्र आत्मभावका प्रचार।
(७) जगत्की नश्वरताका विचार।

वैष्णवोंकी द्वादशशुद्धि

भगवान्के मन्दिरकी यात्रा करनेसे, उनकी उत्सवमूर्तिका अनुगमन करनेसे तथा प्रेमपूर्वक प्रदक्षिणा करनेसे दोनों चरणोंकी शुद्धि होती है। भगवान्की पूजाके लिये पत्र, पुष्प, गन्ध आदिका संग्रह करना दोनों हाथोंकी सर्वश्रेष्ठ शुद्धि है। भगवान्के नाम और गुणोंका प्रेमपूर्वक कीर्तन करना वाणीकी शुद्धि है। भगवान्की लीला-कथा आदिका श्रवण दोनों कानोंकी शुद्धि है और उनके उत्सवका दर्शन नेत्रोंकी शुद्धि है। भगवान्के सामने झुकना तथा उनके चरणोदक, निर्माल्य आदिका धारण करना सिरकी शुद्धि है। भगवान्के प्रसादस्वरूप निर्माल्य, पुष्प, गन्ध आदिको सूँघना दोनों नाकोंकी शुद्धि है। भगवान्के प्रसादस्वरूप जो कुछ होता है, वह तीनों लोकोंको शुद्ध कर सकता है। ललाटमें गदा, सिरमें धनुष और बाण, हृदयमें नन्दक, दोनों हाथोंमें शंख-चक्रका चिह्न करके जो निवास करता है वह कभी अशुद्ध नहीं होता, उसकी कभी दुर्गति नहीं होती। इस द्वादशशुद्धिको जानकर जो इसका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त होती है।

सदाचार

धर्मराज युधिष्ठिरके पूछनेपर पितामह भीष्मने सदाचारका वर्णन इस प्रकार किया—

दुराचारी, दुष्ट चेष्टावाला, दुष्टबुद्धि और घोर दुष्ट कामोंके करनेमें साहसी मनुष्य 'असत् पुरुष' कहलाता है। इसके विपरीत सदाचारमें लगे हुए पुरुषको 'सत्पुरुष' कहते हैं। जो पुरुष राजमार्गमें (आम रास्तोंपर), गोशालामें और अन्नके ढेरके पास या अन्नसे भरे खेतमें मल-मूत्रका त्याग नहीं करते, नित्य प्रातःकाल शौचादि क्रियाके बाद मिट्टी-जलसे भलीभाँति हाथ-पैर आदि धोकर नदीमें स्नान-आचमन कर शुद्ध जलसे पितरोंका तर्पण करते हैं, वे सत्पुरुष कहलाते हैं। जहाँ नदी न हो, वहाँ सरोवर, बावड़ी या कूएँपर स्नान करके तर्पण आदि नित्य-कर्म करने चाहिये। नित्य सूर्यका उपस्थान, सूर्योदय होनेपर न सोना, प्रातःकाल पूर्वाभिमुख होकर और सायंकाल पश्चिमकी ओर मुख करके दोनों समय नियमसे संध्या-वन्दन करना, भोजनके समय दोनों हाथ, दोनों पैर और मुख धोकर पूर्वकी ओर मुख करके मौन धारणकर भोजनकी निन्दा न करते हुए सात्त्विक और रुचिकर पदार्थ खाना, भोजनके बाद हाथ धोकर उठना, रात्रिमें भीगे पैर न सोना—ये सभी सदाचार हैं। कल्याण चाहनेवाले पुरुषको मार्गमें आये हुए यज्ञशालादि पवित्र स्थान, बैल, देवता और गायोंके बैठनेके स्थान, चौरास्ते, ब्राह्मण, धर्मनिष्ठ मनुष्य और पवित्र वृक्षादिकी प्रदक्षिणा करनी चाहिये और अतिथि, अपने नौकर और पोष्य वर्गके लिये भोजनमें कदापि पंक्तिभेद न करना चाहिये (अर्थात् अपने लिये अच्छा और इन सबको उससे हीन भोजन न देना चाहिये)। मनुष्यको उचित है कि प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय सन्धिकालमें भोजन न करे। हवनके समय अग्निमें हवन करनेवाला और केवल ऋतुकालमें ही स्त्री-समागम करनेवाला पुरुष ब्रह्मचारी ही माननेयोग्य होता है। ब्राह्मणोंके भोजनके बाद अवशिष्ट—बचा भोजन माताके दूधके समान हितकारी होता है, इसलिये कल्याणकामी पुरुषोंको ऐसा ही भोजन करना चाहिये। वृथा मिट्टीको खुरचनेवाले, दाँतोंसे नख काटनेवाले, तिनका तोड़नेवाले और सर्वदा हाथ जूठे रखनेवालेकी आयु कम हो जाती है। मांसत्यागी पुरुषको कोई-सा भी मांस कभी नहीं खाना चाहिये और ऐसे हिंसायुक्त कोई भी कर्म नहीं करने चाहिये। अपने देशमें या परदेशमें कहीं भी अपने स्थानपर आये हुए अतिथिको भूखा नहीं रहने देना चाहिये। जीविकाके लिये उपार्जन किया हुआ हर-एक प्रकारका द्रव्य पिता आदि बड़ोंको समर्पण कर देना चाहिये। गुरुजन जब अपने पास आवें, तब खड़े होकर उन्हें उत्तम आसन देकर प्रणाम-पूजादिद्वारा उनका यथायोग्य सत्कार करना चाहिये। ऐसा आचरण करनेवाले मनुष्य दीर्घायु, यशस्वी और लक्ष्मीवान् होते हैं। उदय होते हुए सूर्यको और नंगी पर-स्त्रीको किसी भी कालमें नहीं देखना चाहिये। अपनी स्त्रीसे भी केवल ऋतुकालमें एकान्तमें समागम करना चाहिये। इसके सिवा न तो अपनी नग्न स्त्रीको देखना चाहिये और न उसके साथ एक शय्यापर सोना चाहिये और न स्त्रीके साथ एक थालीमें भोजन ही करना चाहिये। गुरु ही सब तीर्थोंका सार है और अग्नि सब पवित्र पदार्थोंका निचोड़ है। शिष्ट पुरुषोंके आचरण पवित्र हैं और गायकी पूँछके बालोंका स्पर्श किये हुए पदार्थ पवित्र माने जाते हैं। अपने परिचितोंसे मिलनेपर उनसे कुशल-समाचार पूछना और प्रातः-सायं ब्राह्मणोंको प्रणाम करना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है। देव-मन्दिरमें, गायोंके बीचमें, ब्राह्मणोंके कर्मोंमें, वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यायमें और भोजन करते समय द्विजोंको दाहिना हाथ ऊपर रखना चाहिये। सबेरे-शाम नित्य ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजन करनेसे व्यापारियोंकी व्यापारमें उन्नति होती है, किसानोंकी खेती उत्तम होती है, धन-धान्यकी वृद्धि होती है और इन्द्रिय-तृप्तिकारक उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं। ब्राह्मणको भोजन कराते समय यजमान अन्न परोसकर पूछे कि 'ठीक है न?' तब भोजन करनेवाला उत्तर दे कि 'बहुत ठीक है' जल देकर कहे 'तृप्तिकारक है न?' तब पीनेवाला कहे कि **'सुतर्पणम्'** (बड़ा तृप्तिकारक है)। पायस आदि देकर कहे कि 'अच्छी बनी है?' तब ब्राह्मण कहे कि **'सश्रृतम्'** (अच्छी बनी

नोट—इस लेखमें एक ही साथ कई सिद्धान्तोंका उल्लेख हो गया है। पाठक विचारपूर्वक देखेंगे तो सबका समन्वय भी इसीमें पायेंगे।

है)। हर एक रोगी मनुष्य हजामत बनवानेपर, छींक आनेपर, स्नान और भोजन करनेपर (सब पुरुष) ब्राह्मणोंको प्रणाम करें, यह प्रणाम आयु देनेवाला होता है। सूर्यके सामने बैठकर लघुशंका नहीं करनी चाहिये और अपने मलको नहीं देखना चाहिये। अपनेसे बड़ोंको न तो 'तू' कहना चाहिये और न उनका नाम लेकर ही पुकारना चाहिये। अपनेसे छोटे या समान अवस्थावालोंका नाम लेनेमें अथवा उन्हें 'तू' कहनेमें दोष नहीं है। पापी मनुष्योंका हृदय ही उनके पाप-कर्मोंको बता देता है, जो अपने किये हुए पापोंको जान-बूझकर महापुरुषोंके सामने छिपाते हैं वे निस्सन्देह पतित हो जाते हैं। अपने किये हुए पापोंको मनुष्य नहीं बतलाते तो क्या है, (अन्तरिक्षचारी) देवता तो उन्हें देखते ही हैं। अपने पापोंको गुप्त रखनेसे किया हुआ पाप-कर्म उलटा पापमें और प्रवृत्त करके मनुष्यके पापोंको बढ़ाता है और धर्मको गुप्त रखनेसे धर्मकी वृद्धि होती है। इसलिये धर्मको सदा गुप्त रखनेका प्रयत्न करना चाहिये और पापको कभी नहीं छिपाना चाहिये। किये हुए पापोंको मनुष्य भूल जाता है, परंतु वह धर्मविरुद्ध पाप करनेवाला यह नहीं जानता कि उसका वह पाप उसे वैसे ही ग्रस लेगा जैसे चन्द्रमाको राहु ग्रसे बिना नहीं छोड़ता। आशासे एकत्र किया हुआ धन बड़े ही दुःखसे भोगनेमें आता है। विद्वान् ऐसे धनसंग्रहके कार्यकी प्रशंसा नहीं करते और मृत्यु भी उसकी यह राह नहीं देखती कि उसने आशापूर्वक एकत्रित किये हुए धनका उपभोग किया है या नहीं। धर्मका आचरण शुद्ध मनसे होता है इसलिये मनसे सदा सबका भला मनाना चाहिये। धर्माचरण करनेमें दूसरेकी सहायता या साथकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये। धर्म ही मनुष्योंकी जड़ है, धर्म ही स्वर्गमें देवताओंको अमर बनाता है। जो धर्माचरण करते हैं, वे मृत्युके अनन्तर भी नित्य सुख भोगते हैं।

श्रीकृष्णके विराट् स्वरूप

भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्दघन परमात्मा हैं, इसमें किसी प्रकारका भी सन्देह नहीं है। जिन भाग्यवानोंने श्रीमद्भागवत, महाभारत, हरिवंश आदि ग्रन्थोंका अध्ययन किया है, उन्हें इस तत्त्वपर शंका करनेका कोई कारण नहीं है। भगवान्की विविध लीलाओंमें विराट् स्वरूप-दर्शन भी अलौकिक लीला है। आपने प्रधानरूपसे चार बार अपना विराट् स्वरूप दिखलाया—१—व्रजमें माता यशोदाको, २—कौरवोंकी राजसभामें, ३—युद्धक्षेत्रमें अर्जुनको और ४—द्वारिकाके मार्गमें महर्षि उत्तंकको। चारों ही स्थलोंपर भगवान्की लीलाका रहस्य बड़ा ही विलक्षण है। यहाँ संक्षेपमें चारों प्रसंगोंका वर्णन किया जाता है। जो विस्तारसे देखकर आनन्द लूटना चाहते हैं, उन्हें तो श्रीमद्भागवत, श्रीगीता और श्रीमहाभारतमें ही ये कथाएँ पढ़नी चाहिये।

(१)

भगवान् श्रीकृष्ण अपने बालसखाओंके साथ खेल रहे थे, खेलते-खेलते मिट्टी खा गये। श्रीदाऊजी आदि बालकोंने माता यशोदाके पास जाकर कहा कि 'देख, कृष्ण मिट्टी खा गया है।' यशोदाजीने आकर श्यामसुन्दरका हाथ पकड़ लिया और डाँटकर कहा कि 'क्यों रे ढीठ! तूने छिपकर क्यों मिट्टी खायी?' श्रीकृष्णने रोते हुए-से कहा—'मैया! मैंने मिट्टी नहीं खायी, ये लोग झूठ-मूठ मेरा नाम लगाते हैं, विश्वास नहीं है तो मेरा मुँह देख ले।' इतना कहकर भगवान्ने ज्यों ही मुख फैलाया कि यशोदा तो बेचारी हक्की-बक्की रह गयी। उसने देखा श्रीकृष्णके मुखमें सभी चराचर जीव, आकाश, दसों दिशाएँ, पहाड़, द्वीप, समुद्र, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारा, इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवगण आदि सारा विश्व भरा है। यशोदाजी सोचने लगी कि 'मैं यह स्वप्न तो नहीं देख रही हूँ या यह श्रीहरिकी माया है।' यशोदाका भ्रम दूर हुआ, उसने समझा कि 'मैं जिसे अपना बालक समझती थी, वह बालक नहीं, वह अचिन्त्य परमात्मा है जो चित्त, मन, कर्म और वाणीसे परे है, जो तर्कसे जाननेमें नहीं आता, यह सारा संसार जिसके आश्रित है, जो इन्द्रियोंका अधिष्ठाता और बुद्धिका स्फुरण करनेवाला है, जिसके अधिष्ठानके कारण ही इस जगत्-रूप कार्यकी प्रतीति हो रही है।' यशोदाने प्रणाम किया और कहा कि 'हे जगन्नाथ! मैं तुम्हारे शरणागत हूँ।' भगवान्ने यह सोचकर कि 'ऐसा होनेसे तो माताका पुत्र-वात्सल्यजनित आनन्द नाश हो जायगा और मेरी मधुर लीलामें भी

बाधा आयेगी, अपना वह स्वरूप छिपा लिया और मातापर पुनः अपनी माया फैला दी। पुत्रस्नेहसे माताका हृदय उमड़ आया, उसने श्रीकृष्णको गोदमें उठा लिया और मुख चूमने लगी।

(श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय ८)

(२)

भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंके दूत बनकर कौरवोंको समझानेके लिये हस्तिनापुरको चले। मार्गमें उन्होंने ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान ऋषियोंको खड़े देखा, भगवान् तुरंत रथसे उतर पड़े और सब ऋषियोंको यथायोग्य प्रणाम करके उनसे कुशल पूछने लगे कि 'आप इस समय कहाँ पधार रहे हैं, मेरे योग्य सेवा हो तो कहिये।' ऋषियोंने श्रीकृष्णके ऐसे वचन सुनकर कहा कि 'महामते श्रीकृष्ण! जहाँ आप सत्यमूर्ति पधार रहे हैं वहीं हमलोग जा रहे हैं। हमने सुना है कि कौरवोंकी राजसभामें आपका धर्म और अर्थसे पूर्ण व्याख्यान होगा। द्रोणाचार्य, विदुर आदि अन्य महात्मा भी बोलेंगे।

तव वाक्यानि दिव्यानि तथा तेषां च माधव।
श्रोतुमिच्छामि गोविन्द सत्यानि च हितानि च॥

(महा०, उद्योगपर्व ८३)

'हे गोविन्द! हे माधव! हमारी इच्छा है कि हम वहाँ आपके सत्य, हितकारी, दिव्य शब्दोंको तथा उन लोगोंके भाषणको सुनें।' 'आप चलिये, हम भी शीघ्र ही वहाँ पहुँचते हैं।' इस प्रकार ऋषियोंसे बात करके श्रीकृष्ण रथपर सवार होकर हस्तिनापुरकी ओर चले। हस्तिनापुरमें स्वागतकी बड़ी तैयारी की गयी थी, परंतु आपने कौरवोंका दिखौआ स्वागत और भोजन स्वीकार न कर गरीब विदुरकी झोपड़ीमें पधारकर वहीं साग-पातका भोजन किया। तदनन्तर कौरवोंकी राजसभामें जाकर विविध भाँतिसे दुर्योधनको समझाया, परंतु दुर्योधनके मनपर कुछ भी असर न हुआ। उलटे उसने अपने कुचक्री साथियोंसे परामर्शकर श्रीकृष्णको कैद करना चाहा। उसकी इस दुरभिसन्धिका पता लगनेपर धृतराष्ट्रने उसे रोका, परंतु वह नहीं माना, तब महात्मा विदुरजी उससे बोले—

'रे दुर्योधन! तू किसको कैद करना चाहता है? अरे! जिन्होंने द्विविद, नरकासुर आदि महाबली पशु और राक्षसोंको मार डाला, जिन्होंने बचपनमें ही पूतना, बकासुर, वृषभासुर आदिको मारकर तथा अंगुलीपर गोवर्द्धन पहाड़ उठाकर व्रजकी रक्षा की, जिन्होंने महाबली चाणूर, केशी, कंस, जरासंध, दन्तवक्र, शिशुपाल आदिका वध कर डाला, जो वरुण और अग्निको जीतनेवाले हैं, जिन्होंने इन्द्रपर विजय प्राप्त कर ली, महासागरमें शयन करते समय मधु-कैटभ नामक असुरोंको मारा तथा दूसरे अवतारमें वेदोंका हरण करनेवाले हयग्रीवका वध किया था, वे श्रीकृष्ण क्या तेरे बन्धनमें आ सकते हैं? तूने अभी गोविन्दको पहचाना नहीं है। याद रख, यदि तू महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णका अपमान करेगा तो जैसे पतंग अग्निमें पड़कर जल जाते हैं, वैसे ही तू भी अपने साथियोंसहित संसारसे उठ जायगा।'* भगवान् श्रीकृष्ण चुपचाप सब सुन रहे थे, अब उन्होंने गम्भीर स्वरसे दुर्योधनसे कहा—

अरे दुर्बुद्धि दुर्योधन! तू मूर्खतासे मान रहा है कि मैं यहाँ अकेला हूँ, इसीसे तू मुझे कैद करना चाहता है? तुझे मालूम नहीं है कि समस्त पाण्डव, सारे यदुवंशी और सूर्य, रुद्र, ब्रह्मा, वसु, देवता, महर्षि आदि सब यहीं हैं। इतना कहकर वे हँसे, इतनेमें ही उनके समस्त अंगोंमें बिजलीके समान चमकते हुए ब्रह्मादि देवता छोटे-छोटे आकारमें दीखने लगे। उनका शरीर बड़ा विशाल हो गया। उनके ललाटमेंसे ब्रह्मा, वक्षःस्थलमेंसे रुद्र, भुजाओंमेंसे एकमें बलदेवजी, दूसरीमेंसे अर्जुन प्रकट हो गये। मुखसे अग्नि निकलने लगी। अनन्त भुजाओंमें आदित्य, साध्य, वसु, अश्विनीकुमार, अनन्त देवता और इन्द्रसहित उनचासों वायु, विश्वेदेवता, यक्ष और राक्षस आदि अपना-अपना रूप धरकर श्रीकृष्णके अंगोंमें दीखने लगे। पाण्डव और यदुवंशी वीर उनकी पीठमेंसे उत्पन्न हो गये। चारों ओर सब छा गये। श्रीकृष्णके दोनों नेत्र, नासिका, कर्ण आदिमेंसे अग्निकी लपटें निकलने लगीं और रोमकूपोंसे सूर्यकी किरणें निकलने लगीं। भगवान्के इस रूपको देखते ही सब चौंधिया गये। द्रोण, भीष्म, विदुर, संजय तथा तपोधन ऋषियोंने भगवत्कृपासे भगवान्का यह स्वरूप देखा।

* जो लोग वृन्दावनके और द्वारिकाके श्रीकृष्णको दो समझते हैं और इन्हें भगवान् नहीं मानते, उन्हें श्रीविदुरजीके इन शब्दोंपर ध्यान देना चाहिये। इनमें स्पष्टरूपसे वृन्दावनलीला और पहलेके अवतारोंकी लीलाका वर्णन है।

अंधे राजा धृतराष्ट्रके हाथ जोड़कर स्तुति करनेपर भगवान्ने उन्हें भी दृष्टि प्रदान की, जिससे वे भी भगवान्के इस स्वरूपका दर्शन कर सके। इस प्रकार भक्तोंको आनन्द देकर और कुचक्रियोंको भय तथा आश्चर्यके सागरमें डालकर भगवान् वहाँसे विदा हो गये। (महाभारत-उद्योगपर्व अध्याय १३०-१३१ देखिये)

(३)

तीसरी बार भगवान् श्रीकृष्णने अपना कालरूप विकराल विराट् स्वरूप रणक्षेत्रमें गीताका उपदेश करते समय दिव्य दृष्टि-सम्पन्न अपने सखा भक्त अर्जुनको दिखाया था, उस रूपका वर्णन गीताके एकादश अध्यायमें बड़ा सुन्दर है, वहीं देखना चाहिये। प्रसिद्ध होनेसे विशेष नहीं लिखा गया।

(४)

महाभारत-युद्धके बाद पाण्डवोंने श्रीकृष्णकी सहायतासे अश्वमेधयज्ञ किया। तदनन्तर श्रीकृष्ण पाण्डवोंसे विदा लेकर द्वारिकाको लौट गये। रास्तेमें मरुभूमिमें उन्हें महातेजस्वी गुरुभक्त उत्तंक मुनि मिले। श्रीकृष्णने मुनिकी पूजा की, बदलेमें मुनिने भी श्रीकृष्णका सत्कार कर उनसे कुशल पूछते हुए कहा कि 'हे श्रीकृष्ण! आप कौरवोंको समझाने गये थे, वह कार्य सफल हो गया होगा! वे दोनों अब सुखपूर्वक होंगे!' इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा—'मैंने समझानेकी बहुत चेष्टा की, भीष्म और विदुरने भी दुर्योधनको बहुत समझाया, परंतु वह नहीं माना, इससे महान् युद्ध छिड़ गया और दोनों पक्षोंके प्रायः सब लोग मारे गये। केवल पाँच पाण्डव ही शेष रहे हैं—'**पंचैव पाण्डवाः शिष्टाः।**'

श्रीकृष्णकी इस बातको सुनकर मुनि क्रोधमें भर गये और बोले—'मधुसूदन! तुम चाहते तो कुरुकुलको ध्वंस होनेसे बचा सकते थे। तुमने उपेक्षा की, इसीसे सब मारे गये, मुझे क्रोध आ रहा है, अब मैं तुम्हें शाप दूँगा—'**त्वां शप्स्यामि मधुसूदन।**' मुनिकी बात सुनकर भगवान् बोले—'मुनिवर! शान्तिसे मेरे अध्यात्म-तत्त्वकी बातें सुनिये, यों उखड़िये मत। मैं जानता हूँ आप तपस्वी हैं, परंतु जरा-सा तप करके मेरा तिरस्कार कोई नहीं कर सकता—'**न च मां तपसाल्पे न शक्तोऽभिभवितुं पुमान्।**' आप मुझे शाप देंगे तो आपका तप नष्ट हो जायगा! आपने गुरुकी सेवा करके उन्हें प्रसन्न किया था, अतएव मैं आपका तप नष्ट करना नहीं चाहता।'

मुनि बोले, 'जनार्दन! तुम मुझे अपने अध्यात्म-तत्त्वकी बातें सुनाओ, उन्हें सुनकर मैं या तो तुम्हें वरदान दूँगा या शाप दे दूँगा।' इसके उत्तरमें श्रीकृष्णने अपने परमात्मस्वरूपका प्रभाव और रहस्य उन्हें समझाया और कहा—

सदसच्चैव यत् प्राहुरव्यक्तं व्यक्तमेव च।
अक्षरं च क्षरं चैव सर्वमेतन्मदात्मकम्॥
असच्च सदसच्चैव यद्विश्वं सदसत्परम्।
मत्तः परतरं नास्ति देवदेवात् सनातनात्॥

(महाभारत, अ० ५४। ५—७)

'जिसको लोग सत्-असत्, अव्यक्त-व्यक्त और अक्षर-क्षर कहते हैं, वह सब मेरा ही रूप है। सत् तथा असत् और सत् एवं असत्से भी परे जो विश्व है, वह सब मुझ सनातन देवदेवके सिवा और कुछ भी नहीं है।'

भगवान्की दिव्य वाणीको सुनकर ऋषिकी आँखें खुलीं। उनका शाप देनेका विचार नष्ट हो गया, उन्होंने स्तुति करते हुए कहा—

यदि त्वनुग्रहं किञ्चित्त्वत्तोऽर्हामि जनार्दन।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं तन्निदर्शय॥

(महाभारत, अ० ५५। ३)

'जनार्दन! यदि मुझे किंचित् भी अपना अनुग्रह पानेयोग्य समझते हैं तो मुझे अपना ईश्वरीय रूप दिखलाइये, मैं आपके उस परम रूपको देखना चाहता हूँ।' भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्होंने ऋषिको अपना विराट्रूप दिखलाया। विश्वम्भरके इस विश्वरूपमें सारा विश्व दीख पड़ता था, बड़ी-बड़ी भुजाएँ थीं, हजारों सूर्योंके और अग्निके समान उनका प्रकाश था। वह आकाशमें छाया था, सब दिशाओंमें उसके अनन्त मुख थे, ऐसे श्रेष्ठ अद्भुत रूपको देखकर ऋषि आश्चर्यमें डूब गये और भगवान्की स्तुति करते हुए उन्होंने प्रार्थना की—

पुनस्त्वां स्वेन रूपेण द्रष्टुमिच्छामि शाश्वतम्।

भगवन्! इस महान् अद्भुत रूपको समेटकर मुझे अपना वही श्यामसुन्दर मनोहर शाश्वत रूप फिर दिखलाइये। भगवान्ने फिर श्रीकृष्णरूपसे उन्हें दर्शन दिये।

(महाभारत, अश्वमेधपर्व, अ० ५३ से ५५)

कुछ लोगोंकी धारणा है कि भगवान्ने वास्तवमें

कोई ऐसा रूप नहीं दिखाया था, ज्ञान दे दिया था, जिससे उन लोगोंने विवेकसे ऐसा समझा था, परंतु यह बात ठीक नहीं है। भगवान्‌ने वास्तवमें अपने ये रूप दिव्य दृष्टि देकर प्रत्यक्ष ही दिखाये थे।

भाव-राज्यकी महिमा

प्रश्न—भाव-जगत्‌में मनुष्य बहुत-सी बातोंका अनुभव करता है, क्या वे वास्तविक सत्य हैं या कल्पनासे उत्पन्न होती हैं?

उत्तर—दोनों ही बातें हो सकती हैं। भावका अर्थ केवल कल्पना ही नहीं है। गीताके '**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' में भावका अर्थ है सत्—सदा रहनेवाला। 'सत्‌का कभी अभाव नहीं होता और असत्‌का कभी भाव नहीं होता।' वैष्णव साहित्यमें भावका अर्थ है उच्चाति-उच्च प्रेम। भगवान् श्यामसुन्दर सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्णको 'रसराज' और रासेश्वरी नित्यनिकुंजेश्वरी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाजीको 'महाभाव' कहा गया है।

आजकल 'भाव' का प्रयोग बहुत हलके अर्थमें होता है। भाव और भावनामें कोई अन्तर नहीं माना जाता। बंगालमें तो भावनाका प्रचलित अर्थ है—'चिन्ता'। भावना करते-करते जिस वस्तुका जो रूप बन जाय उसका नाम भी 'भाव' कहा जाता है। भावसे भावित पुरुषमें होनेवाली मनोवृत्तिको भावुकता कहते हैं। भावुकका चलतू अर्थ है भावप्रवण—कल्पनाराज्यमें विचरण करनेवाला व्यक्ति, जो विचारशील नहीं है या विवेकहीन—मूढ है। प्रेम तथा अनुरागको भी भाव कहते हैं। प्रेम, अनुराग आदिके भाव जो अन्तस्तलमें उठते हैं, उनको भी भावुकता कहते हैं। ऐसे प्रेमी व्यक्तियोंका हृदय भावना करते-करते द्रवीभूत हो जाता है। श्रद्धालुओंको भी भावुक कहते हैं। भावुक व्यक्ति भावनाके अनुसार अनेक प्रकारकी कल्पना करके उसके राज्यमें विचरते रहते हैं। वैष्णवोंने भावको सर्वथा 'पवित्र प्रेम' के अर्थमें लिया है। भगवान्‌का जो आनन्दस्वरूप है, उनकी जो स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्ति है, अन्तरंगा शक्ति है, वही आनन्द-शक्ति है, वही भाव है; वही मूर्तिमान् होकर महाभाव-स्वरूपा श्रीराधिकाजीके दिव्य विग्रहके रूपमें प्रकट है।

जहाँ-जहाँ भक्त अपनी दृष्टिसे भाव-राज्यकी बात कहता है, वहाँ वह भगवान्‌के यथार्थ प्रभावकी ही बात कहता है, कल्पना-प्रसूत भावनासे नहीं। वह सर्वथा यथार्थ है न कि कल्पना। भक्तकी दृष्टि ऐसी ही होनी भी चाहिये। भावनासे जिस प्रकार भगवान्‌के रूपका ध्यान होता है, उसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध आदिका भी ध्यान हो सकता है और होता है। ध्यानमें हम भगवान्‌की वंशीकी मधुर ध्वनि सुन सकते हैं, उनके रूपको निरख सकते हैं, उनके अधरामृतका पान कर सकते हैं, उनके स्पर्शकी पुलकमें पुलकित हो सकते हैं, यहाँतक कि उनके अंगकी गन्ध भी सूँघ सकते हैं। ध्यानमें मनुष्य यह देख सकता है कि हमने भगवान्‌के चरण पकड़ लिये, उन्होंने हमारे मस्तकपर हाथ रख दिया। साधक भक्तकी दृष्टिमें ये सारी बातें सत्य हैं, पर जबतक ये सब मनकी कल्पनासे बने हुए स्वरूप हैं, तबतक वे भावनाजनित ही हैं। जैसे स्वप्नके मनोराज्यमें किसी औरके न होते भी हम स्पर्शका अनुभव करते हैं, शब्द सुनते हैं, रूप देखते हैं, गन्ध सूँघते हैं, रसका आस्वादन करते हैं। इसी प्रकार भाव-जगत्‌में भी दृढ़ भावनाके द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिका भलीभाँति अनुभव कर सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यह भी ध्यानकी बहुत ऊँची और अत्यन्त कल्याणप्रद स्थिति होती है, पर इससे परे सच्चे प्रेमराज्यमें रसराज श्रीभगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन भी हो सकते हैं। भगवद्दर्शनकी भावनाको किसी प्रकारके भी तर्कसे प्रमाणित करना कठिन है। अविश्वासीको भगवद्दर्शनकी बात समझा देना असम्भव-सा है। श्रद्धा और विश्वास ही तो साधनाका मूलमन्त्र है। भक्त जिस रूपमें भगवान्‌को देख रहा है, हो सकता है वह शास्त्रोंमें प्रकट न हो। साथ ही यह भी सम्भव है कि शास्त्रोंमें भगवान्‌के जिस रूपका वर्णन है उस रूपमें भगवान् किसी भक्तको दर्शन न दें और एक साधारण वेषमें ही प्रकट हो जायँ। भगवान्‌का रूप कैसा? जैसा भक्त चाहे वैसा। भक्तकी जैसी इच्छा होती है वैसा ही रूप लेकर भगवान् उपस्थित हो जाते हैं। इसके सिवा दिव्यधामोंमें लीलाविहार

करनेवाले भगवान्‌के नित्यरूप भी हैं, जो हमारी कल्पनामें आवें या न आवें। इन स्वरूपोंके दर्शन भी कृपापात्र प्रेमी भक्तोंको हुए हैं और हो सकते हैं।

कभी-कभी किन्हीं-किन्हीं अभिमानी दर्शनोत्सुक भक्तोंको मार्गच्युत करनेके लिये या उनकी परीक्षा करके उनमें और भी दृढ़ता लानेके लिये उपदेवता भी विभिन्न रूपोंमें उनके सामने आ सकते हैं और अपनेको भगवान् बताकर उनको भ्रममें डालनेकी चेष्टा कर सकते हैं। ऐसे अनुभव भी सुननेमें आये हैं कि कोई-कोई खेचर उपदेवता सकामभावसे किसी इष्टविशेषके उपासकोंको उस रूपमें आकर ठगनेकी चेष्टा करते हैं। हमने भूतलपर जो तेज देखा है, उससे कई गुना अधिक तेज उन उपदेवताओंका ही होता है। वे आकर हमारे इष्टदेवकी मूर्तिमें उपस्थित होकर हमें ठग लेते हैं। भयके रूपमें जिस प्रकार देवताओंका विघ्न आता है, उसी प्रकार लोभके रूपमें भी आता है। ध्रुवके सामने उपदेवता उसकी माताके लोभनीय रूपमें आये—'बेटा! मैं बहुत दुःखी हूँ—मैं जल रही हूँ, मुझे बचाओ।' पर ध्रुव अपनी साधनासे टले नहीं। जो भगवान्‌का शरणागत भक्त होता है, उसके सारे विघ्नोंका तो नाश स्वयं प्रभु अपने अनुग्रहसे ही कर डालते हैं—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

भगवान्‌में जिसका चित्त अर्पित हो गया है, ऐसे अर्पितात्मा भक्तका सारा दायित्व भगवान्‌पर आ जाता है। भगवान्‌की आज्ञा है कि 'मेरा भक्त आँख मूँदकर मेरे राजमार्गपर चले, उसे कोई विघ्न नहीं रोक सकता।' भगवान्‌के सम्मुख आते ही जीवका सदाके लिये उद्धार हो जाता है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

अनन्य और निष्कामभावसे भगवान्‌की शरणमें आते ही भक्तके समस्त योग-क्षेमका भार भगवान् स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि भक्त भगवत्पथमें चलना बंद कर देता है। वह तो बड़े वेगसे भगवान्‌की ओर दौड़ता है। सोचता तब, जब सोचने चला होता। मन तो दस-बीस हैं नहीं कि एकसे सोचेगा और दूसरेसे अर्पण करेगा। मन तो एक था जिसे श्यामसुन्दरको दे दिया। उस मनको अब कहाँ दिया जाय? अर्पितात्मा व्यक्ति प्रभुके सिवा किसीकी इच्छा ही नहीं करता। गोपियोंका अर्पण सर्वतोभावेन सम्पूर्ण था, इसीलिये भगवान् कहते हैं—'**ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।**' उन्होंने मुझमें अपने मन मिला दिये हैं, प्राणोंको विलय कर दिया है और मेरे लिये ही अपने शारीरिक कर्मोंका भी उत्सर्ग कर दिया है।

भगवान् कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

(श्रीरामचरितमानस)

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६५)

'जो भक्त स्त्री, पुत्र, घर, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आ गये हैं, उन्हें छोड़नेका विचार ही मैं कैसे कर सकता हूँ।'

सब पदार्थोंमेंसे ममत्व निकालकर तन, मन, धन सभी, सब कुछ सर्वभावेन भगवान्‌के चरणोंमें अर्पित कर भक्त निःस्पृह और निरीह हो जाता है। मोक्षकी इच्छा रखनेवाला मन ही जब श्रीहरिके चरणोंमें समर्पित हो गया, तब मोक्षकी इच्छाका उदय ही कैसे हो? ऐसे सर्वथा निष्काम अर्पितात्माको उपदेवता आदिका भय ही नहीं होता कि वे आकर तंग करेंगे। उसके पथमें कोई भी बाधा नहीं डाल सकता।

साधनाका प्रारम्भ ही भावनासे होता है। भावनाके मूलमें है श्रद्धा। श्रद्धाहीन भाव मिथ्या है। भाव करते-करते भगवत्कृपासे सच्चे भावराज्यमें प्रवेश होता है, साधक स्थूलसे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतममें प्रवेश करता है। वहाँ उस दिव्य भावनालोकमें प्रवेश करके भगवान्‌की पूजा करता है। देहके पाँच भेद माने जाते हैं—स्थूल, सूक्ष्म, कारण, भाव और चिन्मय। चिन्मय और भावदेह कुछ विलक्षण हैं। भगवान्‌का जो नित्यविग्रह है, वह चिन्मय है। वह देह देह नहीं, भगवत्स्वरूप ही है। वहाँ देह-देहीका भेद नहीं है। वहाँ योगमायाका भी पर्दा नहीं है। भगवान् दो तरहसे ही प्रकट होते हैं—योगमायाको लेकर और योगमायाको हटाकर। जहाँ

योगमाया साथ है वहाँ आवरण है। बहिरंग प्रकृतिका नाम 'माया' है; भगवान्‌की अन्तरंगा शक्तिका नाम है 'योगमाया'। मलिना माया, जिससे जगत् आच्छादित है, भगवान्‌को नहीं ठग सकती। भगवान् स्वयं योगमायाकी चादर ओढ़कर, उस आवरणको स्वयं धारणकर सामने आते हैं। जहाँ भगवान्‌का योगमायासे रहित चिन्मय स्वरूप है, वहाँ योगमाया आह्लादिनी शक्तिका रूपान्तर है। भगवान् जहाँ योगमायासे आच्छादित होकर बोलते हैं वहाँ सबके सामने प्रकट होते हैं। जहाँ योगमायाका पर्दा हटा रहता है वहाँकी अन्तरंगा लीलामें जो प्रेमीजन भगवान्‌के साथ होते हैं—वहाँ प्रेममें ज्ञान अन्तर्हित होता है—उनके देहका नाम भावदेह है। श्रीराधिकाजीका भावदेह नहीं है, वे तो चिन्मय दिव्य विग्रह हैं और सभी गोपियाँ राधाकी कायव्यूहरूपा हैं।

गोपियोंका काम है श्रीराधा-कृष्ण प्रिया-प्रियतमके मिलन-आनन्दकी व्यवस्था करना और उसे पूर्ण करके पूर्णरूपमें देखना। इसीमें उनकी चरम तृप्ति है। यह रहस्य तभी खुलता है जब भक्त इस दिव्य लीलाराज्यमें प्रवेश करते हैं। इस लीलामें प्रवेश किये बिना भी मुक्ति तो हो सकती है। भगवान्‌की प्राप्तिके अनेकों निश्चित मार्ग हैं और वे सभी मोक्षप्रद हैं। मोक्ष भी तो भगवान्‌का ही स्वरूप है। परंतु इस लीला-सन्दोहमें प्रवेश करनेके लिये तो गोपी-भावापन्न ही होना पड़ेगा। नारदको, अर्जुनको, भगवान् शिवजीतकको इस लीलाके आस्वादनके लिये गोपी बनना पड़ा। रासोल्लासतन्त्रमें भावदेहका वर्णन आया है। भगवान्‌के नित्यधाममें नित्यपरिकरोंके चिन्मय देहमें लीलाके लिये एक शक्ति दी गयी है। उसका नाम है 'भाव'। भगवान्‌के नित्यपरिकर भावदेहमें होते हैं। भावदेहकी प्राप्तिसे ही उनका रासलीलामें प्रवेश होता है। इसीलिये यह परमगुह्य रहस्य है। यह रहस्य तर्कोंके द्वारा सिद्ध हो नहीं सकता। भावलीलामें योगमायाका पर्दा हटा रहता है। वहाँ लोकसंग्रह नहीं है। लोकसंग्रह वहीं है जहाँ लोक है। जहाँ जगत्‌के प्राणी हैं, जहाँ प्रजा है, लोक है, मनुष्य हैं, वहीं लोकसंग्रहकी आवश्यकता है। जहाँ लोक है ही नहीं, वहाँ लोकसंग्रह कैसा? जहाँ लोकालय नहीं है, कर्मयोग करनेवाले जीव नहीं हैं—जहाँ केवल भगवान्-ही-भगवान् हैं, जहाँ—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।

(श्रीमद्भा० १०। ३३। १७)

—जिस प्रकार बालक अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलते हैं, उसी प्रकार श्रीहरि गोपियोंके साथ रमण करते हैं, जहाँ एकसे भिन्न कोई लोक नहीं, कोई जगत् नहीं, कोई प्राणी नहीं, जहाँ यहाँके इन सूर्य-चन्द्रमाकी गति नहीं, न यहाँका शरीर ही है, वहाँ लोकका ध्यान ही कैसे आता? नित्य-दिव्य रासलीलाका रहस्य हम माया-मुग्ध मानव कैसे समझें? हृदयमें वासनाका जो अन्धकार है वह हमें रासके ज्ञानसे आलोकित होने नहीं देता। जगत्‌के विषयोंसे परम उपरतिके अनन्तर ही रासका रहस्य प्रेमी महानुभावोंके निश्छल संग और प्रेमास्पद परम प्रियतम श्यामसुन्दरकी कृपासे यत्किंचित् समझमें आ सकता है।

हमारे इस लोकमें और भगवान्‌के दिव्य रासलोकमें महान् अन्तर है। हमारा हृदय वासनासे इतना ग्रस्त है कि दिव्यलोककी लोकोत्तर लीलाओंमें भी हम अपने मनके पापोंकी छाया देखा करते हैं। वहाँ इस मायिक जगत्‌की कोई वस्तु नहीं है। वहाँ योगमायाका आवरण भी नहीं है। योगमायाका आवरण हटाकर, रासमें राधा और श्रीकृष्णका व्यवधानरहित मिलन होता है। आवरण हटे बिना पूर्ण मिलन कैसे होगा? वहाँ न ये वस्त्र हैं न ये स्त्रियाँ ही। वहाँ वासनाका लेश भी नहीं है। सर्वथा व्यवधानराहित्य है। मायाका कोई व्यवधान है ही नहीं।

भगवान् ग्यारह वर्षके बाद व्रजमें नहीं रहे। यह तो हम मानवोंके समझनेभरके लिये है। अपने परिकरोंके लिये तो वे नित्यकिशोर हैं। कालकी कल्पना मायाके राज्यमें है। जहाँ आवरणमुक्त दिव्य जगत् है, जहाँ कालके भी महाकाल, नित्य कालातीत प्रभुकी नित्यलीलाका ही साम्राज्य है, वहाँपर किसी कालकी कैद नहीं है। वहाँ सब कुछ भगवान्‌का खेल है। हम मायामें बैठकर अमायिककी बात कैसे समझें? रास हुआ, गोपियोंका आलिंगन आदि सब कुछ हुआ, पर उस आलिंगनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। कामपर पूर्ण विजय कर लेनेपर महान् वैराग्यके अनन्तर इस राज्यमें जरा-सा प्रवेश करना सम्भव है। उसको हम मायालोकमें लेकर यहाँके मलिनभावसे मिलाकर

प्रकट करें, यह ठीक नहीं है। मानवलोकमें उस लोककी कल्पना भी नहीं हो सकती। साधारण मानवसमाजमें भगवान्‌के प्राकट्यके लिये वर्णाश्रम-धर्मके संस्थापनका जो हेतु है, वही ठीक है; पर भक्तोंके संसारमें वह नहीं है। संकल्पमात्रसे भगवान् धर्मका अभ्युत्थान और संस्थापन तथा पापियोंका विनाश कर सकते हैं। जिनकी एक मुसकानसे सृष्टिका प्रसार हो जाता है और उस मुसकानके रुकते ही सृष्टि विलय हो जाती है, उनके लिये अवतारकी क्या आवश्यकता? भगवान्‌को तो भक्तके प्रेम-धर्मसे बाध्य होकर प्रकट होना पड़ता है। जहाँ भक्त भगवान्‌के लिये मचल उठते हैं, वहाँ उन्हें स्वयं आना ही पड़ता है। वे अपनेको रोक नहीं सकते। माता नाना प्रकारके खिलौने और मिठाइयाँ देती है, पर उन्हें फेंककर बच्चा जब माताके लिये तड़प उठता है, तब वहाँ माताको बच्चेकी व्यथा मिटानेके लिये स्वयं आना ही पड़ता है। भक्तके हृदयमें दुःख है एकमात्र विरहतापका, उसे मिटाकर दिव्य प्रेम-धर्मकी संस्थापनाके लिये ही स्वयं भगवान्‌को आना पड़ता है।

भावलीलामें मानवी कर्मचेष्टा नहीं होती। मानवजगत्‌के आदर्शके शिखरतक भगवान्‌के कर्म हैं। वहाँ तो लोकका भाव है ही नहीं। जहाँ यह भावलीला है वहीं भावदेह भी है। गोपोंने देखा कि सभी गोपियाँ अपने-अपने पतियोंके पास सोयी हुई हैं। मानवताको मानवोंके पास छोड़कर वे भावदेहसे, चिन्मयरूपसे, आत्मारूपसे वहाँ आ गयीं और रासमें शामिल हुईं। सूक्ष्म और कारण-देहमें ये कर-चरणादि अंग नहीं होते। पर चिन्मय और भावदेहमें ये सब होते हैं। पर वे सब होते हैं दिव्य-अलौकिक। जैसे स्वयं भगवान् ही गोपबालक, गोवत्स और सारे सामान बन गये। उसी प्रकार उस रासलीलामें भी स्वयं भगवान् ही अपनी नित्य-लीलामें 'महाभाव' और 'रसराज' दोनों रूपोंमें प्रकट होते हैं। रासमण्डल तो सर्वथा इस मायासे परे है। वहाँ न इस मायाकी देह, न इस मायाके मनुष्य और न इस मायामें रमण है। मायासे विरहित योगमायाके पर्देको भी हटाकर आत्माराम श्रीकृष्णने आत्मरूपा श्रीगोपांगनाओंके साथ रमण किया—'**आत्मारामोऽप्यरीरमत्।**' वहाँ शरीररूपसे स्वयं भगवान् ही हैं। गोपियाँ भी वही हैं—सब कुछ स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं। यह कोई कल्पना नहीं है। रास सत्य है, रास नित्य है और रास चिन्मय है।

वह है क्या—यह कौन कहे? कैसे कहे? इस भावराज्यमें जो भावुक है—जिनका इसमें प्रवेश है वे ही इसका आनन्द जानते हैं, पर इस आनन्दको मायिक वाणी कैसे व्यक्त कर सकेगी? जो इस पर-आनन्दमें मग्न हैं वे फिर इसके परे क्या है उस ओर ताकतेतक नहीं। यही तो वेदान्तशिरोमणि श्रीमधुसूदन स्वामीने कहा है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

'जिनके दोनों हाथ बाँसुरीसे शोभा पा रहे हैं, श्रीअंगोंकी कान्ति नूतन मेघके समान श्याम है, साँवले अंगपर पीताम्बर सुशोभित हो रहा है, लाल-लाल ओठ बिम्बफलकी सुषमा छीने लेते हैं, सुन्दर मुख पूर्णिमाके चन्द्रमाको भी लज्जित कर रहा है और नेत्र प्रफुल्ल कमलके समान मनोहर प्रतीत होते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णके सिवा दूसरा कोई भी परम तत्त्व है, यह मैं नहीं जानता।'

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत् किमपि तन्नीलं महो धावति॥

'यदि योगीलोग ध्यानके अभ्याससे वशमें किये हुए मनके द्वारा किसी निर्गुण और निष्क्रिय परम ज्योतिका साक्षात्कार करते हैं तो करते रहें; हम तो चाहते हैं, वह जो यमुनाके किनारे कोई अनिर्वचनीय साँवला-सलोना तेज दौड़ता फिरता है, वही हमारे नेत्रोंमें चिरकालतक चमत्कार (विस्मयपूर्ण उल्लास) उत्पन्न करता रहे।'

यह कल्पनाका लोक नहीं है—परात्पर सत्यका दिव्यलोक है। कोई आवश्यकता नहीं कि इसे किसीको समझाया जाय, भगवान्‌को इसकी आवश्यकता नहीं कि लोग उनके इस राज्यको मानें ही। पर तो भी इस भावराज्यमें प्रवेश होता है भगवत्कृपासे ही। इस भावराज्यमें प्रवेश करनेपर भक्त प्रभुके सिवा अन्य किसीको मानता, जानता, समझता नहीं। सारा संसार विरोध करे, लाख करे, पर उसको तो संसारकी कोई परवा ही नहीं। जगत्‌की समालोचनाका विषय यह है ही नहीं।

तीन प्रकारके यात्री

संसारमें असंख्य जीव हैं, जिनमें अधिकांश तो ऐसे हैं जो अपने कर्मोंका फल भोगनेमात्रके लिये नाना प्रकारकी पशु-पक्षी तिर्यक् आदि योनियोंमें पड़े हुए हैं। कुछ ऐसे हैं जो भगवत्कृपासे पुण्यबलके कारण देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीरको प्राप्त हुए हैं। इन मनुष्योंमें भी अधिक संख्या उन लोगोंकी है जो इस मिथ्या दु:खदायी अनित्य, अपवित्र संसारको अविद्यासे सत्य, सुखरूप, नित्य पवित्र मानकर परम पुरुषार्थ भगवत्प्राप्तिके साधनोंसे सर्वथा विमुख हो केवल भोगविषयोंके संग्रहमें ही अपने अमूल्य जीवनका व्यय करते हुए निरन्तर भवसागरमें ही गोते खाते रहते हैं।

कुछ लोग ऐसे हैं जो स्वर्गादि लोकोंके भोगोंको ही मोक्ष मानकर दिन-रात शास्त्रीय सकाम कर्मोंमें ही लगे रहते हैं, यदि उनके कर्म सर्वांगपूर्ण होते हैं तो किसी तरहसे डूबते-तैरते हुए भवसागरमें पड़ी हुई कर्मोंके फलरूपी वायुकी सहायतासे चलनेवाली नावको पकड़ लेते हैं और उसकी सहायतासे अपनी-अपनी भावनाके अनुसार देवताओंके लोक स्वर्गादिको प्राप्त होते हैं। यही दशा सकामभावसे भिन्न-भिन्न प्रकारके देवोपासकोंकी होती है। वे लोग स्वर्गादि लोकोंमें जाकर अपने पुण्योंके अनुसार निश्चित समयतक वहाँके भोगोंको भोगते हैं; परंतु पुण्यका क्षय होते ही वे जबरदस्ती पुन: उसी मृत्युलोककी विविध योनियोंमें ढकेल दिये जाते हैं। (गीता ७। २०—२३; ८। १६; ९। २०-२१)

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो सत्संगके प्रभाव और साक्षात् नारायणस्वरूप सद्गुरुकी कृपासे इहलोक, परलोकके भोगोंकी इच्छाको काकविष्ठावत् त्यागकर केवल परमात्मप्राप्तिकी शुभेच्छाको धारणकर, साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न हो, भवसागरसे निकलकर विचार अर्थात् शुद्ध निर्मल विवेक-सागरमें जाकर अपने साधनकी दृढ़ता और एकलक्ष्यताके कारण अति शीघ्र भगवान्के परमपदको पहुँचा देनेवाले अत्यन्त वेगवान् विशुद्ध ज्ञान या पराभक्तिके अभेद्य और अच्छेद्य जहाजपर चढ़ जाते हैं और वे शीघ्र ही परमात्माके उस परमपदको प्राप्त होते हैं कि जहाँ एक बार पहुँच जानेपर फिर दु:खपूर्ण भवसागरमें कभी लौटकर नहीं आना पड़ता।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

× × ×

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस जहाजमें बैठकर जानेवाले परम भाग्यवान् सत्पुरुष बहुत थोड़े ही होते हैं।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

परंतु स्मरण रखना चाहिये कि यदि किसीको दु:खोंसे सदाके लिये सर्वथा छूटकर परमात्मस्वरूपमें मिलनेकी इच्छा हो तो उसके लिये एकमात्र यही उपाय है कि वह सद्गुरुकी शरण होकर विचार-(विवेक)-के द्वारा विशुद्ध ज्ञानके जहाजपर सवार होनेका प्रयत्न करे। इसके सिवा—

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

'लंगर मोरि गागर फोरि गयो'

सखी! जाने कहाँ सों अचक आय मोरी गागर फोरि गयो॥ लं०॥
नई चुनरिया चीर चीर कर निपट निडर पुनि आँखि दिखावे
देख बीर! अति कोमल बैयाँ दोउ कर पकर मरोरि गयो॥ लं०॥
मो सों कहे सुन एरी सुंदरी तो समान व्रज सुघर न कोऊ
नख-सिख लों छबि परख निरख मुख सघन कुंजकी ओरि गयो॥ लं०॥
कहँ लग कहौं कुचाल ढीठकी नाम लेत मेरो जीया काँपै
नारायन मैं घनों बरज रहि मोतियनकी लर तोरि गयो॥ लं०॥

श्यामसुन्दर अचानक आकर गोपीकी गागर फोड़ चले। उसकी नयी चुनरीको चीर-चीरकर बाँह मरोड़ गये, उसे व्रजमें सबसे अधिक सुन्दरी बताकर उसका नख-शिख निरख-परखकर सघन कुंजकी ओर चले गये और जाते समय उसके हजार रोकते-रोकते मोतियोंका हार भी तोड़ गये। गोपी प्रणयकोपसे श्यामसुन्दरको 'लंगर' कहकर अपनी सखीको सब हाल सुना रही है।

धन्य हो तुम व्रजकी गोपियो! जो तुम्हारे लिये श्यामसुन्दर स्वयं पधारते हैं और अपने हाथों तुम्हारी गागर फोड़ जाते हैं। क्यों न हो? तुमने जो इसका

अधिकार प्राप्त कर लिया है! इस लोक और परलोककी सारी भोग-वासनाओंके और जागतिक मोह-ममता, अभिमान-अहंकार, राग-रंग और नीति-रीति आदि समस्त विकारोंके विषभरे कु-रससे अपनी गागरको बिलकुल खाली करके और कठिन नियम-संयमकी पवित्र सुधाधारासे उसे अच्छी तरह धोकर तुमने उसमें मधुर गोरस—दिव्य प्रेम-रस भर लिया है और वह मधुर रस भरा भी है तुमने केवल श्रीश्यामसुन्दरको आप्यायित करनेके लिये ही! तभी तो प्रेमसुधाके प्यासे तुम्हारे परम प्रियतम श्यामसुन्दर नटवर-वेषमें बड़ी साधनासे संचित तुम्हारे मधुरातिमधुर प्रेमरसका पान करनेके लिये तुम्हारे समीप दौड़े आये हैं। तमाम विश्वको आनन्दित करनेवाले उस मधुर दिव्य प्रेमरसको भला वे तुम्हारी नन्ही-सी संकुचित गगरियामें कैसे रहने दें? वे तुम्हारी गागर फोड़ डालते हैं और अपनी अनन्त महिमासे तुम्हारे प्रेमरसको (परिणाम और माधुर्य—दोनोंमें) अनन्त गुना बनाकर अनन्त मुखोंसे स्वयं उसे पान करते हैं और अनन्त हाथोंसे जगत्के अनन्त जीवोंको बाँट देते हैं।* सारे जगत्को पवित्र प्रेमका दान करनेवाली गोपी! तुम धन्य हो!

अहा! श्रीकृष्ण निपट नि:शंक होकर तुम्हारी नयी चुनरी चीर-चीर कर डालते हैं। गोपी! तुम इससे नाराज क्यों होती हो? सच बताओ क्या तुमने यह चुनरी इसी कामनासे नहीं ओढ़ी थी कि श्यामसुन्दर आवें और तुम्हारी इस दुनियावी चुनरीके टुकड़े-टुकड़े कर डालें। तुम तो सच्चिदानन्दघन नित्य-नवकिशोर श्रीकृष्णकी प्रिया सदासुहागिन हो न? फिर तुम इस अनित्य सुहागका परिचय देनेवाली दुनियावी चुनरीको कैसे ओढ़े रहती? तुम्हें तो उस दिव्य चुनरीकी चाह है, जो कभी किसी भी कालमें न पुरानी होती है और न उतरती ही है। हाँ, तुम्हारा यह अनोखा नाज जरूर है कि तुम इस दुनियावी चुनरीको अपने हाथों नहीं फाड़ती। तुम्हारे प्रेमबलसे यह काम भी श्रीकृष्णको ही करना पड़ता है। तुम्हारे मार्गका अनुसरण करती हुई गिरधरगोपालकी मतवाली मीराने तो अपने ही हाथों दुनियावी चुनरीके टूक-टूक कर डाले थे। ***'चुनरीके किये टूक ओढ़ लीन्ही लोई।'***

गोपीके दिलके खुले दरवाजेपर—एकमात्र श्रीकृष्णके लिये ही खुले द्वारपर श्रीकृष्णको संकोच या डर किस बातका हो? हाँ, वहाँ तो श्रीकृष्ण अवश्य सकुचा जाते हैं—बल्कि जाकर भी वापस लौट आते हैं, जहाँ भीतरी दिलका दरवाजा बंद होता है या उसमें दूसरोंको भी जानेकी इजाजत होती है, पर तुम्हारा तो सभी कुछ श्रीकृष्णका है न? तुम तो अपना तन-मन-धन, लोक-परलोक सर्वस्व श्रीकृष्णके चरणोंपर ही न्योछावर कर चुकी हो न? तुम्हारे सब कुछके एकमात्र स्वामी आत्माके भी आत्मा केवल श्रीकृष्ण ही तो हैं। फिर वे अपनी निजकी सम्पत्तिपर अधिकार करनेमें निपट निडर क्यों न हों? और क्यों न तुम्हारी प्रेमभरी विपरीत चेष्टापर प्रणयकोप करके आँखें दिखावें?

ओहो! श्रीकृष्णने अपने दोनों करकमलोंसे पकड़कर तुम्हारी अति कोमल बाँहोंको मरोड़ दिया! अरे—विषयोंकी गुलामीमें लगे हुए हम पामर प्राणियोंकी भुजाएँ न मालूम किन-किन पातकी चरणोंकी सेवामें लगी हैं! न मालूम अबतक इन हमारी भुजाओंने कैसे-कैसे दूषित हृदयोंका आलिंगन कराया है! हमारी ये असती भुजाएँ कभी प्यारे श्रीकृष्णकी सेवाके लिये नहीं ललचायीं! प्रियतम श्यामसुन्दरको अँकवारमें भरनेके लिये आकुल होकर ये कभी नहीं फैलीं। गोपी! तुम्हारी भुजाएँ तो सती हैं, वे विषयोंसे सर्वथा विमुख हैं। वे एक श्रीकृष्णको छोड़कर और किसीके लिये कभी नहीं फैलतीं। इसीसे श्रीकृष्ण आते हैं और तुम्हारी उन बाँहोंको पकड़कर, अहाहा! अपने दोनों हाथोंसे पकड़कर तुम्हें अपने हृदयके एकान्त मन्दिरमें विराजित कर लेना चाहते हैं! अनादिकालसे जीवकी जीवनधारा जिस अचिन्त्यके हृदयमें प्रवेश करनेके लिये, जिस अनन्त आनन्दसागरमें अपनेको मिलाकर अनन्तरूप बन जानेके लिये ही बह रही है, क्या उस अचिन्त्य हृदयमें प्रवेश

* परमपदपर पहुँचे हुए प्रेमस्वरूप प्रेमी भक्तोंका मधुर प्रेमरस ही भगवान्के द्वारा जगत्में वितरित और विस्तृत होकर मातृप्रेम, पितृप्रेम, मातृ-पितृभक्ति, धर्मप्रेम, विश्वप्रेम, देशप्रेम, पति-पत्निप्रेम, मैत्रीप्रेम आदि नाना भावोंमें पात्रानुसार परिणत होता हुआ क्रमशः शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्यभावमें पहुँचकर फिर अपने उद्गमस्थानकी ओर अग्रसर होता है और अन्तमें मधुर प्रेमके रूपमें परिणत हो जाता है। इस प्रकारके गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षणवर्धमान, सूक्ष्मतर, अनुभवरूप, अविच्छिन्न भगवत्प्रेमकी नित्य-निर्मल और दिव्य धाराका जिसमें पर्यवसान होता है, वही प्रेमका अनिर्वचनीय स्वरूप है और वह भगवान्से सर्वथा अभिन्न है।

करना तुम्हें अवांछनीय है? नहीं, नहीं अवांछनीय क्यों होता? पर तुम सकुचाती हो!—यद्यपि तुम परमशुद्धा हो, इतनी पवित्र हो कि तुम्हारी चरणधूलि बड़े-से-बड़े महापातकीको पलभरमें पतितपावन बना सकती है। बड़े-बड़े देवता और ज्ञानी देवर्षि, महर्षि तुम्हारी दुर्लभ चरणरजकी कामना करते हैं; परंतु तुम इस सन्देहसे कि 'कहीं मेरे हृदयमें अपने सुखकी वासनाका तो कोई कण छिपकर नहीं रह गया है'—सकुचा जाती हो। निज-सुखकी वासना तो प्रेममें कलंक है न? सच्चे भक्तका यही तो आदर्श है। वह सोचता है कि जरा-सी विषय-वासना हृदयमें रहते यदि भगवान् मिल गये तो भगवान्‌के मिलनका मूल्य ही घट जायगा। इसीलिये वह कहता है—'ठहरो प्रभु! अभी मैं तुम्हारे दर्शन पानेके योग्य नहीं हूँ। जब मैं अपना सारा हृदय पूर्णरूपसे तुम्हारे लिये खाली कर दूँ, उसमें कुछ रहे तो बस सिर्फ तुम्हें सुख पहुँचानेवाली सामग्री ही रहे, मेरे लिये तुम्हारे सुखके सिवा और कुछ भी न रहे, तभी तुम मुझे दर्शन देना।' गोपी! तुम प्रेमरूपा हो, प्रेमकी अधिष्ठात्री देवी हो, प्रेमकी संस्थापिका हो, शायद इसी आदर्शकी रक्षाके लिये तुम श्यामसुन्दरकी बाँहोंमें अपनेको नहीं देना चाहती, पर वस्तुतः ऐसी बात है नहीं। तुम्हारे हृदयमें भला विषय-वासनाके लेशका कलंक क्यों रहने पावेगा? तुम तो कृष्णगत-प्राणा हो, कृष्णरसभावभाविता हो। हाँ, तुम बड़ी मानिनी हो, प्रेमकी हठीली हो। भला, इसी तरह श्रीकृष्णके साथ क्यों मिलने लगी? परंतु तुम्हारे प्रेममें बड़ा आकर्षण है। सबको बरबस अपनी ओर खींचनेवाले श्रीकृष्णको भी तुम्हारा प्रेम खींच लाता है! श्रीकृष्ण आते हैं और तुम्हारी बाँहोंको पकड़कर तुम्हें अपने हृदयमें बिठा लेना चाहते हैं। तुम मान करके पीछे हटती हो, बाँहें मरोड़ खा जाती हैं और छूट जाती हैं। धन्य-धन्य! गोपी! प्रेमकी ध्वजा गोपी! तुम्हारी जय हो, जय हो!

अहा! तुम प्रेमी भक्तोंमें सर्वशिरोमणि हो। तुम्हारे प्रेममें कितना सामर्थ्य है जो सर्वशक्तिमान् अचिन्त्यबल भगवान् भी अपनी शक्ति भूलकर तुम्हारे दिव्य प्रेमसे खिंचे हुए स्वयं आतुर होकर तुमसे मिलनेको चले आते हैं। सचमुच तुम अप्रतिम सुन्दरी हो! तुम्हारी जिस सुन्दरताने मुनिमनमोहन मदनमोहन मोहनके चिन्मय मनको भी मोह लिया, उस तुम्हारी सुन्दरताका बखान सच्चे सौन्दर्यके पूरे पारखी श्रीकृष्ण क्यों न करें? वे लोग भूले हुए हैं, जो तुम्हारे इस दिव्य सौन्दर्यको पार्थिव शरीरकी बाहरी बनावट समझते हैं। तुम तो दिव्य सुन्दरतामयी ही हो। सबसे सुन्दर तो तुम्हारा वह हृदय है, जिसमें प्रकृतिजन्य अहंता-ममता, राग-द्वेष, मद-अभिमान, लोभ-मोह, ईर्ष्या-मत्सरता, काम-क्रोध, चिन्ता-विषाद और सुख-दुःख आदिका संस्कार भी नहीं है और जो समस्त दैवी सम्पदाके परम सार एकमात्र श्रीकृष्ण-प्रेमकी महिमामयी माधुरीसे ही सुसज्जित है! तुम्हारे इस परम सुन्दर अन्तस्तलका ही आभास तुम्हारे मोहन-मोहन मुखड़ेपर, तुम्हारे नचीले-नुकीले नेत्रोंपर, तुम्हारी घुँघराली काली अलकावलीपर और तुम्हारे अंग-अंगपर छाया है। इसीसे तुम विश्वमोहन-मोहिनी हो। इसीसे श्रीकृष्ण तुम्हारी नख-शिख छबि निहारनेको नित्य लालायित रहते हैं। वे बड़े पारखी हैं, इसीसे वे किसीकी बाहरी सुन्दरतापर मुग्ध नहीं होते। उन्हें तो निर्मल हृदयकी परम निर्मल माधुरी चाहिये। ऐसी सुन्दरता हो जो केवल सुन्दरतासे ही बनी हो तभी वे उसपर मोहित होते हैं। बड़े रिझवार न ठहरे, गोपी! इसीसे वे तुम्हारी मोहिनी माधुरीपर मुग्ध हैं!

सघन कुंज ही तो उनकी नित्यविहार-स्थली है। जिस कुंजमें घनता नहीं है—जहाँकी बातें बाहर दीखती-सुनती हैं और जिसमें बाहरवालोंका प्रवेश सम्भव है, वे सच्चिदानन्दघन कूटस्थ वहाँ कैसे रह सकते हैं? घनता और अनन्यतामें ही उनका निवास होता है, इसीसे तो भक्तलोग अपने हृदयको भी सघन कुंज ही बनाया करते हैं!

अहाहा! तुम जब उन्हें 'लंगर' और 'ढीठ' कहती हो, तब तुम्हारी रसनासे कैसा मधुर रस बरसता है। बलिहारी तुम्हारे प्रेमपर! तभी तो वे कुचाल करके तुम्हारे बरजते-बरजते तुम्हारी 'मोतियनकी लर तोड़कर' झट सघन कुञ्जमें जा छिपते हैं। मीराने तो अपने हाथों 'मोती-मूँगे उतार वनमाला पोयी' थी। हाँ, तुम्हारा गौरव इतना बढ़ा हुआ है कि तुम्हारी मोतीकी लड़ तोड़ने भी उन्हें स्वयं आना पड़ा। वह मोतीकी लड़ ही कैसी जिसके लिये श्यामसुन्दरको अपनी मनमानी करते रुकना पड़े, और फिर ऐसी प्रतिबन्धकरूप मोतीकी

लड़को श्यामसुन्दर क्यों न तोड़ डालें! गोपी! तुम्हारा मोतीका हार क्या तुम्हारे श्रृंगारके लिये है? नहीं, तुम्हारा तो भोग-त्याग, जीवन-मरण सभी कुछ श्रीकृष्णसुखके लिये है। तब श्रीकृष्ण यदि उस मुक्ताहारको तोड़कर सुखी होना चाहते हैं तो तुम उन्हें बरजती क्यों हो? अरी, तुम बरजती नहीं, यह तो तुम्हारी नखरेबाजी है। तुम इसलिये नहीं बरजती कि मोतीके हारपर तुम्हें मोह है, तुम तो बार-बार उन्हें बरजकर अधिकाधिक रसानुभव करना-कराना चाहती हो? उनका नाम लेते तुम्हारा हृदय इसलिये नहीं काँपता कि वे तुम्हारे साथ बरजोरी करते हैं। श्यामकी बरजोरी तो तुम्हारे मनकी नित्यकी साध है। पूर्ण समर्पण कोई कर नहीं सकता, वह तो बरजोरीसे ही करा लिया जाता है। बस, समर्पणकी तैयारी भर होनी चाहिये। तुम्हारा तो हृदय सदा समर्पणकी ही माला जपता है। उसका प्रकम्पन बस वह जाप ही है, जो सघन कुंजसे उन्हें लौटानेके लिये या वहाँ स्वयं पहुँच जानेके लिये तुम कर रही हो। उनकी विरह-वेदनासे उत्पन्न होनेवाली चित्तकी विकलताभरी चंचलता—तुम्हारे हृदयका छटपटाहटभरा प्रतिपलका वह प्रेम-स्पन्दन ही तुम्हारे जीका काँपना है!

गोपी! घबराओ नहीं, श्यामसुन्दर तुम्हें अवश्य मिलेंगे। नहीं-नहीं, वे तो तुम्हें मिले ही हुए हैं। वे तुममें हैं, तुम उनमें हो! तुम्हारा-उनका बिलगाव कभी होता ही नहीं। तुमसे मिले रहनेमें ही उनकी 'श्यामसुन्दरता' है और उनसे मिली रहती हो, इसीसे तुम 'गोपी' हो। यह तो तुम्हारी लीला है जो जीवोंके कल्याणार्थ तुम अनायास ही करती हो। देवी आनन्दचिन्मय-रस-भाविता भगवती! श्रीकृष्णकी ही आनन्द-लीलामयी श्रीमूर्ति मेरी माँ! ऐसी अमोघ कृपा करो, जिससे इस पामर प्राणीको भी तुम्हारे गोपी-प्रेम-प्रासादके रासमण्डपमें एक झाड़ू देनेवाली अनुचरीका काम मिल जाय और फिर कभी श्रीकृष्णदर्शनके लिये तरसता हुआ यह भी तुम्हारी ही तरह गा उठे—

कारुण्यकर्बुरकटाक्षनिरीक्षणेन
तारुण्यसंवलितशैशववैभवेन ।
आपुष्णता भुवनमद्भुतविभ्रमेण
श्रीकृष्णचन्द्र शिशिरीकुरु लोचनं मे ॥

प्रेमयोग

(१)

श्रीकृष्ण द्वारिकामें थे। व्रजगोपियोंकी बात छिड़ते ही विह्वल हो उठते थे। पटरानियोंको इससे बहुत ईर्षा होती थी। इनकी ईर्षा भंग करनेके लिये भगवान्‌ने एक लीलाका अभिनय किया। नित्य निरामय भगवान् बीमार हो गये। बीमारी भी कठिन थी। वैद्यजीने ओषधिकी व्यवस्था की, अनुपान बतलाया 'चरणरज।' यह अनुपान कौन देता? चरणरजके लिये सभीसे पूछा गया। रुक्मिणी, सत्यभामा आदि सभी महिषियोंने नरकके डरसे चरणरज देनेकी बातपर मुँह मोड़ लिया। श्रीकृष्णको चरणरज देनेका दुःसाहस कौन करता। देवर्षि नारदजीको भेजा गया विश्वके सभी देवी-देवताओंके पास। परंतु किसकी हिम्मत थी जो ऐसा दुःसाहस करे। नारदजी म्लानमुख खाली हाथ लौट आये। भगवान्‌ने कहा, 'एक बार व्रज जाकर तो शेष चेष्टा कर देखो।' नारदजीको बात बहुत नहीं भायी। परंतु भगवान्‌का कहना था, व्रज जाना ही पड़ा। नारदजी हमारे श्यामसुन्दरके पाससे आये हैं, सुनकर पगली श्रीराधाजीके साथ व्रजांगनाएँ बासी मुँह ही दौड़ीं प्राणनाथकी कुशल पूछनेके लिये। नारदजीने श्रीकृष्णकी बीमारीकी बात सुनायी। गोपियोंके प्राण सूख गये। उन्होंने कहा—

'क्यों, क्या वहाँ कोई वैद्य नहीं है?'

'वैद्य भी हैं, दवा भी तैयार है; परंतु अनुपान नहीं मिलता', नारदजीने कहा।

'ऐसा क्या अनुपान है?'

'अनुपान बहुत ही दुर्लभ है, तमाम जगत्‌में चक्कर लगा आया। है सभीके पास, पर कोई भी देना नहीं चाहता या दे नहीं सकता।'

'कहिये, कहिये भगवन्! क्या वह अनुपान हमलोगोंके पास भी है? होगा तो हम जरूर ही देंगी,' व्रजगोपियोंने व्याकुल होकर ऐसा कहा।

'तुम नहीं दे सकोगी।'

'उनको नहीं दे सकेंगी, ऐसी हमारे पास कोई वस्तु कैसे रह सकती है?'

'अच्छा! क्या श्रीकृष्णको अपने चरणोंकी धूल दे

सकोगी? इसी अनुपानके साथ दवा देनेसे उनका रोग नाश होगा।'

'यह कौन-सी बड़ी कठिन बात हुई? लो, हम पैर बढ़ाये देती हैं, जितनी चाहिये चरणधूलि अभी ले जाओ,' गोपियोंने सरलहृदय और उत्साहसे कहा। 'अरी, करती क्या हो? क्या तुम यह नहीं जानती कि श्रीकृष्ण 'भगवान्' हैं, भगवान्को चरणधूलि दे रही हो? वे जगत्पति हैं, क्या तुम्हें नरकका भय नहीं है?' नारदने आश्चर्यचकित होकर कहा।

'नारदजी! हमारे मुक्ति-भुक्ति, स्वर्ग-नरक, जीवन-मरण, सुख-दु:ख, हँसी-रुलायी सब एक श्रीकृष्ण ही हैं। अनन्त नरकोंमें जाकर भी यदि हम श्यामसुन्दरकी देहको पुन: स्वस्थ और सबल पा सकें, तो हम ऐसे मनचाहे नरकका तो नित्य ही भजन करें। जानते नहीं नारदजी! हमारे लिये श्यामसुन्दरने अघासुर (अघ-असुर), नरकासुर (नरक-असुर) आदिको तो पहलेसे ही मार रखा है। हम न पाप जानती हैं और न नरक मानती हैं। हम तो जानती हैं सिर्फ हमारे श्यामसुन्दरके सुखको—लीलाविलासको। तुम्हारे सारे पापों और नरकोंको हमलोगोंने इस लीलाविलासके अंदर बदनमें मल लिया है। इसीसे तो हम जल-मर रही हैं। यह मरना ही हमारा जीवन है।'

नारदका वक्ष:स्थल पवित्र प्रेमधारासे धुल गया। नारदजीने गोपांगनाओंसहित श्रीश्रीराधारानीके चरणोंकी रज लेकर थोड़ी-सी तो अपने सब अंगोंमें लगायी और शेष बची हुईकी पोटली बाँध ली, विश्वेश्वरकी ऐश्वर्य-व्याधिके विनाशके लिये। गोपीपदरजके स्पर्शसे परमोज्ज्वल-तनु होकर जब नारदजी चरणधूलिकी पोटलीको मस्तकपर रखे द्वारिकामें पधारे, तब द्वारिकामें आनन्दकी लहर बह चली। चरणरजके अनुपानसे श्रीकृष्णने औषध ली और सहज ही निरामय हो गये। महिषियोंका मान भंग हो गया, उन्होंने आज प्रत्यक्ष प्रमाणसे गोपीप्रेमकी अपार अतलस्पर्शी गम्भीरता और मधुरिमाको देख लिया। और श्रीकृष्ण गोपियोंकी बात छिड़ते ही क्यों तन-मनकी सुधि भूल जाते हैं, इसका रहस्य भी उनकी समझमें आ गया! धन्य प्रेमयोग! (उज्ज्वलभारत)

(२)

एक समय श्रीधाम द्वारिकामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी रात्रिकालमें श्रीरुक्मिणी, सत्यभामा प्रभृति प्रधान अष्ट राजमहिषियोंके मध्य शयन कर रहे थे। स्वप्नावस्थामें आप अकस्मात् 'हा राधे! हा राधे!' उच्चारण करते हुए क्रन्दन करने लगे। जब अन्य किसी प्रकार प्रभुका क्रन्दन नहीं रुका तो बाध्य होकर महारानी श्रीरुक्मिणीदेवीने अपने प्राणवल्लभको चरणसंवाहनपूर्वक जाग्रत् किया। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र निद्राभंग होनेपर किंचित् लज्जित हुए और उन्होंने अति चतुराईसे अपना भाव गोपन कर लिया और पुन: निद्रित हो गये; परंतु इसका रहस्य जाननेके लिये महारानियोंके हृदयमें अत्यन्त व्यग्रता उत्पन्न हुई। सब परस्पर कहने लगीं, 'देखो, हम सब सोलह सहस्र एक सौ आठ महिषी हैं और कुल, शील, रूप एवं गुणमें कोई भी अन्य किसी रमणीसे न्यून नहीं हैं; तथापि हमारे प्राणवल्लभ किसी अन्य रमणीके लिये इतने व्याकुल हैं, यह तो बड़े ही विस्मयकी बात है! रात्रिमें स्वप्नावस्थामें भी जिस रमणीके लिये प्रभु इतने व्याकुल होते हैं वह रमणी भी न मालूम, कितनी रूप-गुणवती होगी?' इसपर श्रीरुक्मिणीदेवी कहने लगीं, 'हमने सुना है कि वृन्दावनमें राधानाम्नी एक गोपकुमारी है, उसके प्रति हमारे प्राणेश्वर अत्यन्त आकृष्ट हैं; इसीलिये रूपलावण्यवैदग्ध्यपुंज नयनाभिराम श्रीप्राणनाथ हम सबके द्वारा परिसेवित होकर भी उस सर्वचित्ताकर्षक-चित्ताकर्षिणीके अलौकिक गुणग्राम भूल नहीं सके हैं।' श्रीसत्यभामादेवी कहने लगीं, 'सब ठीक ही है, तो भी वह एक गोप-कन्याके सिवा तो कुछ नहीं; फिर उसके प्रति हमारे प्राणकान्त इतने आसक्त क्यों हैं? अस्तु, जो कुछ भी क्यों न हो, हमारी सम्मतिमें तो इस सम्बन्धमें रोहिणीमाताको पूछनेपर ही इसका ठीक-ठीक पता लग सकेगा, क्योंकि उन्होंने स्वयं वृन्दावनमें वास किया है और उस समयकी सम्पूर्ण घटनाओंको वे भलीभाँति जानती हैं।' यह प्रस्ताव सबको रुचा। रात्रि बीती, प्रात:काल हुआ। श्रीकृष्णचन्द्र प्रात:कृत्य समापन करके राजसभाको पधारे और यथासमय पुन: अन्त:पुर पधारकर स्नानादि करके समाधानपूर्वक भोजन करने बैठे। राजभोग सम्मुख आकर उपस्थित हुए, उद्धवादि सखावृन्दसहित प्रभुने भोजन किया और आचमन करके किंचित् विश्रामपूर्वक पुन: राजसभाको गमन किया। इस अवसरको पाकर महारानियोंने श्रीरोहिणीदेवीको पूर्वरात्रिकी घटना सुनाकर उनसे व्रज-वृत्तान्त पूछा। माताजी कहने लगीं, 'प्यारी पुत्रियो! यद्यपि मैं व्रजलीलाकी सम्पूर्ण घटनाएँ

जानती हूँ, किंतु माता होकर पुत्रकी गुप्त लीलाओंका रहस्य किस प्रकार कह सकती हूँ? यदि राम-कृष्ण यह कथा सुन लें तो फिर लज्जाकी सीमा न रहेगी।' इसपर महिषीगण कहने लगीं, 'माताजी! जिस किसी प्रकारसे भी हो सके, हमें व्रजलीलाकी कथा तो आपको अवश्य ही सुनानी होगी।' माताजीने कहा—'तब एक उपाय करो, सुभद्राको द्वारपर पहरेके लिये बैठा दो; कह दो, किसीको अंदर न आने दे; फिर मैं नि:संकोच तुम्हारे निकट व्रजलीलाका वर्णन करूँगी।' माताजीने यह कहकर सुभद्राकी ओर देखा और कहा, 'सुभद्रे! यदि राम-कृष्ण भी आयें तो उन्हें भी कदापि भीतर मत आने देना।' माताजीका आदेश पालन किया गया। सुभद्रा 'जो आज्ञा' कहकर द्वार-रक्षा करने लगीं। महिषीवृन्द माताजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गयीं और माताजीने सुमधुर व्रजलीला वर्णन करना आरम्भ किया।

इधर राजसभामें राम-कृष्ण दोनों भाई चंचल हो उठे। जब किसी प्रकार भी राजसभामें नहीं ठहर सके, तब उत्कण्ठितचित्त होकर अन्त:पुरकी ओर चल पड़े। आकर देखते हैं कि सुभद्रादेवी द्वारपर खड़ी हैं। उन्होंने सुभद्रादेवीसे पूछा, 'तुम आज यहाँ क्यों खड़ी हो? द्वार छोड़ दो, हमलोग भीतर जायँ।' श्रीमती सुभद्रादेवीने कहा, 'रोहिणी माँने इस समय तुम्हारा अन्त:पुरमें प्रवेश करना निषेध कर रखा है, अत: तुमलोग अभी भीतर नहीं जा सकोगे।' यह सुनकर जब दोनों भाई आश्चर्यान्वित होकर इस निषेधका कारण ढूँढ़ने लगे, तब माताजीकी वह रहस्यपूर्ण व्रजलीलात्मक वार्ता उन्हें सुनायी दी। यह वार्ता श्रीवृन्दावनचन्द्रकी परमकल्याणमय, परमपावन, अद्‌भुत, मंगलरासविहारात्मक थी। सुनते-सुनते दोनों भाइयोंके मंगल श्रीअंगमें अद्‌भुत प्रेम-विकारके लक्षण दिखायी देने लगे। क्रमश: दोनों ही प्रेमानन्दमें विह्वल हो गये। अविश्रान्त प्रेमाश्रुकी मन्दाकिनीधारा प्रवाहित होकर दोनोंके गण्डस्थल एवं वक्ष:स्थलको प्लावित करने लगी। यह देखकर श्रीमती सुभद्रादेवी भी एक अनिर्वचनीय महाभावावस्थाको प्राप्त हो गयीं। जिस समय माताजी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीजीकी अद्‌भुत प्रेमवैचित्र्यावस्था वर्णन करने लगीं, उस समय श्रीबलरामजी किसी प्रकार भी धैर्य धारण न कर सके। उनके धैर्यका बाँध टूट गया, श्रीअंगमें इस प्रकार महाभावका प्रकाश हुआ कि उनके श्रीहस्त-पद संकुचित होने लगे और जब माताजी निभृत निगूढ़ विलास वर्णन करने लगीं तब तो श्रीकृष्णचन्द्रजीकी भी यही अवस्था हुई। दोनों भाइयोंकी यह अद्‌भुत अवस्था देखकर श्रीमती सुभद्रादेवीकी भी यही अवस्था हुई। तीनों मंगलस्वरूप ही महाभावस्वरूपिणी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीजीके अपार महाभावसिन्धुमें निमज्जित होकर ऐसी स्वसंवेद्यावस्थाको प्राप्त हो गये कि वे लोगोंके देखनेमें निश्चल स्थावर प्रतिमूर्तिस्वरूप परिलक्षित होने लगे। निश्चल, निर्वाक्, स्पन्दरहित महाभावावस्था! अतिशय मनोऽभिनिवेशपूर्वक दर्शन करनेपर भी श्रीहस्त-पदावयव किंचित् भी परिलक्षित नहीं हो सकते थे। आयुधराज श्रीसुदर्शनजीने भी विगलित होकर लम्बिताकार धारण कर लिया। पाठक! महाभावमयी, अशेषनायिकाशिरोमणि श्रीमती नित्य-निकुंजेश्वरी श्रीवृन्दावनेश्वरीजीके महाभावगौरवका तनिक विचार करें। कुछ कहनेको नहीं है, वाणी विराम-प्राप्त होती है, सर्वात्मा गम्भीरतम महाभाव-जलधिमें डूब जाता है।

इसी समय स्वच्छन्दगति देवर्षि नारदजी भगवद्दर्शनके अभिप्रायसे श्रीधाम द्वारिकामें आ उपस्थित हुए। उन्होंने राजसभामें जाकर सुना कि राम, कृष्ण दोनों भाई अन्त:पुर पधारे हैं। देवर्षिजीकी सर्वत्र अबाधगति तो है ही; अन्त:पुरके द्वारपर जाकर उन्हें जो अद्‌भुत दर्शन हुए, उससे देवर्षिजी स्तम्भित हो गये। इस प्रकारका दर्शन उन्होंने पूर्वमें कभी नहीं किया था। निज प्राणनाथकी ऐसी अद्‌भुत अवस्थाके कारणका विचार करते हुए प्रेमविवश स्तम्भ-भावको प्राप्त होकर देवर्षिजी भी वहीं चुपचाप खड़े रह गये। कुछ ही क्षण पश्चात् जब माताजीने पुनर्बार किसी एक रसान्तरका प्रसंग उठाया तब उन सबको पूर्ववत् स्वास्थ्य-लाभ हुआ। सिद्धान्तत: रसान्तरद्वारा रसापत्तिका विदूरित होना संगत ही है। इसी अवसरपर महाभावविस्मित देवर्षि नारदजीने बहुविध स्तवस्तुति करना आरम्भ कर दिया। करुणावरुणालय श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने देवर्षिद्वारा स्तुत होकर प्रसन्नतापूर्वक कहा— 'देवर्षे! आज बड़े ही आनन्दका अवसर है, कहिये मैं आपका क्या प्रीति-सम्पादन करूँ?' देवर्षिजीने कर जोड़ प्रार्थना की—'प्रभो! वर्तमानमें यहाँपर उपस्थित होकर आप सबका जो एक अदृष्टाश्रुतपूर्व महाभावावेश परिलक्षित हुआ है, स्वरूपत: वह क्या पदार्थ है और

किस प्रकार उस महावस्थाका प्राकट्य हुआ? कृपया सविशेष उल्लेख करके दासको कृतार्थ कीजिये। सर्वप्रथम तो सेवामें यही एकान्त निवेदन है।' भक्तवत्सल श्रीभगवान् अमन्दहास्यचन्द्रिकापरिशोभित सुन्दर श्रीवदनचन्द्रमासे देवर्षि नारदजीके सर्वात्माको आप्यायित करते हुए इस प्रकार वचनामृतवर्षण करने लगे—'देवर्षे! प्रात: तथा मध्याह्नकृत्यसमापनपूर्वक जिस समय हम दोनों भाई राजसभामें समासीन थे, उसी समय महिषीगणके द्वारा पूछे जानेपर माता रोहिणीदेवीने महाचित्ताकर्षिणी अपार माधुर्यमयी व्रजलीला-कथाकी अवतारणा की। महामाधुर्यशिखरिणी व्रजलीलावार्ताका ऐसा प्रभाव है कि हम जहाँ और जिस अवस्थामें भी हों, हमें वहींसे और उसी अवस्थामें ही आकर्षण करके वह कथास्थलपर खींच लाता है। हम दोनों भाई ऐसे ही आकर्षित होकर यहाँ उपस्थित हुए और देखा कि सुभद्राजी द्वारपालिकारूपमें द्वारपर खड़ी हैं। उत्कण्ठावश अन्त:प्रवेशकाम हम दोनों श्रीसुभद्राद्वारा रोके जानेपर प्रवेश-निषेधका कारण ढूँढ़ते रहे, उसी समय श्रीमाताजीके मुखारविन्दविगलित अत्यद्भुत व्रजलीलामाधुरीने कर्णगत होकर हमारे हृदय विगलित कर दिये। तत्पश्चात् जो अवस्था हुई उसका तो आपने प्रत्यक्ष दर्शन किया ही है। मेरी प्राणेश्वरी महाभावरूपिणी श्रीस्वामिनीजीके महाभावकर्तृक सम्पूर्ण भावसे ग्रसित होनेके कारण हम आपका पधारना भी नहीं जान सके।' इतना कहकर भगवान्ने जब देवर्षिजीसे पुन: वरग्रहणका अनुरोध किया, तब देवर्षिजी प्रार्थना करने लगे—'भगवन्! मैं और किसी वरका प्रार्थी नहीं हूँ, निजजनोंके सर्वाभीष्टप्रदाता-चरणयुगलमें केवल यही प्रार्थना है कि आप चारोंकी जो एक अत्यद्भुत महाभावावेशमूर्ति मैंने प्रत्यक्ष दर्शन की है, वही भुवनमंगल चारों स्वरूप जनसाधारणके नयनगोचरीभूत होकर सर्वदा इस पृथिवीतलपर विराजमान रहें। माया-सन्निपातमें ग्रस्त जीवसमूह एवं तद्दर्शनविरहकातर भक्तजनके लिये वह महासंजीवनीरसायन स्वरूपचतुष्टय सर्वोत्कर्षतासहित जययुक्त होवें।' करुणायतन भक्तवांछापूर्णकारी श्रीभगवान्ने कहा—'देवर्षे! इस विषयमें मैं पूर्वसे ही अपने दो अन्य परम भक्तोंके प्रति भी आपके प्रार्थनानुरूप ही वचनबद्ध हूँ—एक भक्तचूड़ामणि महाराज इन्द्रद्युम्न और द्वितीय परमभक्तिस्वरूपिणी श्रीविमलादेवी। निखिलप्राणिकल्याणहित भक्तचूड़ामणि महाराज इन्द्रद्युम्नकी घोरतर तपस्यासे प्रसन्न होकर मैं नीलाचल क्षेत्रमें दारुब्रह्मस्वरूपमें अवतीर्ण होकर जनसाधारणको दर्शन देनेका वर प्रदान कर चुका हूँ तथा महाविद्यास्वरूपिणी श्रीविमलादेवीद्वारा अनुष्ठित महातपस्यासे प्रसन्न होकर उनकी प्राणिमात्रको बिना विचार किये महाप्रसाद वितरण करनेकी प्रतिज्ञाको उक्त स्वरूपसे ही पूर्ण करनेकी स्वीकृति दे चुका हूँ। अतएव इन तीनों उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये हम चारों इसी स्वरूपमें आगामी कलियुगमें लवणसमुद्रतटवर्ती नीलाचलक्षेत्रमें अवतीर्ण होकर प्रकाशमान रहेंगे।' सर्वजीवकल्याणव्रत देवर्षि श्रीनारदजीने मनोवांछित वर प्राप्त करके प्रभुचरणारविन्दमें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और मधुर वीणासे करुणावारिधि श्रीप्रभुके अमृतमय नामगुणमाधुरीका गान करते-करते यदृच्छागमन किया। श्रीराम-कृष्णने भी माताजीके कथांचित् संकोचकी आशंका करके उस स्थानसे प्रस्थान किया। ये ही मूर्तिचतुष्टय श्रीकृष्ण, बलराम, सुभद्रा एवं सुदर्शनरूपसे श्रीनीलाचलक्षेत्रको विभूषित करके अद्यापि विराजमान हैं।

(व्रजके एक महात्मा)

(३)

एक बार श्रीराधाजी अपनी सखियोंसहित सिद्धाश्रम नामक तीर्थमें स्नान करनेको गयीं। उसी तीर्थमें भगवान् श्रीकृष्ण भी अपनी सोलह हजार रानियों और रुक्मिणी, सत्यभामा आदि आठों पटरानियोंसहित पधारे। भगवान्की रानियाँ और पटरानियाँ भगवान्के श्रीमुखसे सदा ही श्रीराधाजी एवं श्रीगोपियोंके प्रेमकी प्रशंसा सुनती थीं। आज शुभ अवसर जानकर भगवान्की महिषियोंने श्रीराधाजीसे मिलनेकी इच्छा की और भगवान्की आज्ञा लेकर उनके साथ सब श्रीराधाजीसे मिलने गयीं। श्रीराधाजीको समस्त सखियोंसमेत भगवान्के दर्शनसे बड़ा ही सुख मिला। पश्चात् श्रीराधाजीने भगवान्की समस्त पटरानियोंका बड़ा ही सत्कार किया। बातचीतमें उन्होंने कहा, 'बहिनो! चन्द्रमा एक होता है परंतु चकोर अनेक होते हैं, सूर्य एक होता है परंतु नेत्र अनेक होते हैं। इसी प्रकार हमारे प्रियतम भगवान् श्रीकृष्ण एक हैं और हम उनकी भक्त अनेक हैं।'

चन्द्रो यथैको बहवश्चकोरा:
सूर्यो यथैको बहवो दृश: स्यु:।
श्रीकृष्णचन्द्रो भगवांस्तथैको
भक्ता भगिन्यो बहवो वयं च॥

श्रीराधाजीके शील, स्वरूप, सौन्दर्य, गुण और व्यवहारका महिषियोंपर बड़ा ही प्रभाव पड़ा। वे आग्रह करके श्रीराधाजीको अपने डेरेपर लायीं और उनका यथासाध्य सबोंने बड़ा ही सत्कार किया। भोजनादिके उपरान्त रातको श्रीराधाजीको भगवान्‌की आज्ञासे श्रीरुक्मिणीजीने स्वयं दूध पिलाया। अनेक प्रकार प्रेमसंलाप होनेके अनन्तर श्रीराधाजी अपने डेरेपर पधार गयीं। भगवान् अपने शयनागारमें लेटे हुए थे। श्रीरुक्मिणीजी नित्यनियमानुसार वहाँ जाकर भगवान्‌के चरण दबाने बैठीं। चरणोंके दर्शन करते ही वे आश्चर्यमें डूब गयीं। उन्होंने देखा, भगवान्‌की तमाम चरणस्थलीपर फफोले पड़ रहे हैं। श्रीरुक्मिणीजीने अपनी संगिनी सब रानियोंको बुलाकर भगवान्‌के चरण दिखाये। सभी चकित और स्तम्भित हो गयीं। भगवान्‌से पूछनेकी हिम्मत किसीकी नहीं। तब श्रीभगवान्‌ने आँखें खोलकर सब रानियोंके वहाँ जमा होने और यों चकित रह जानेका कारण पूछा। श्रीरुक्मिणीजीने बड़ी ही नम्रताके साथ पैरके तलुओंमें फलोलोंकी बात कहकर भगवान्‌से ऐसा होनेका कारण पूछा। भगवान्‌ने पहले तो बातको टाल दिया, परंतु बहुत आग्रह करनेपर उन्होंने कहा—'देखो— तुमलोगोंने श्रीराधाजीको जो दूध पिलाया था, वह गरम अधिक था। इसीलिये मेरे पैरमें फफोले पड़ गये।' रानियोंकी समझमें बात नहीं आयी। उन्होंने पूछा, 'दूध गरम था तो उससे श्रीमतीजीका मुँह जलता, आपके पैरके फफोलोंसे उसका क्या सम्बन्ध?' भगवान्‌ने मुसकराते हुए कहा, 'श्रीराधाजीके हृदयकी बात ही निराली है'—

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे
पादारविन्दं हि विराजते मे।
अहर्निशं प्रश्रयपाशबद्धं
लवं लवार्धं न चलत्यतीव॥
अद्योष्णदुग्धप्रतिपानतोऽङ्घ्रा-
वुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति।
मन्दोष्णमेवं हि न दत्तमस्यै
युष्माभिरुष्णं तु पयः प्रदत्तम्॥

'श्रीराधिकाके हृदयकमलमें मेरे चरणकमल दिन-रात प्रेमपाशमें बँधे विराजते हैं, एक क्षण या अर्ध क्षणको भी उस बन्धनसे छूटकर वे वहाँसे नहीं हट सकते। तुमने दूध जरा ठंडा करके नहीं दिया, बहुत गरम दे दिया और श्रीराधाजी उसे तुम्हारा दिया हुआ जानकर पी गयीं। दूध हृदयमें गया और मेरे चरण उससे जल गये, इसीसे फफोले पड़ गये।'

भगवान्‌के वचन सुनकर श्रीरुक्मिणीजी, सत्यभामाजी आदि सभी महारानियोंको बड़ा ही आश्चर्य हुआ और वे श्रीराधाजीके प्रेमके सामने अपने प्रेमको बहुत ही तुच्छ मानने लगीं।

परम धर्म तथा मोक्ष-मार्ग

मुनिगण बोले—जिस धर्मसे बड़ा संसारमें और कोई धर्म नहीं है, प्राणियोंके लिये जो सर्वश्रेष्ठ धर्म है, कृपया उसीको आप हमारे प्रति कहिये।

श्रीव्यासजीने कहा—मुनिश्रेष्ठगण! सुनो, मैं तुम्हारे प्रति उस प्राचीन धर्मको कहता हूँ जो ऋषियोंद्वारा प्रशंसित है और सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है। जिस प्रकार पिता अपने बालकोंको एकत्रित कर लेता है, उसी प्रकार तत्त्वबुद्धिके द्वारा स्वच्छन्द इन्द्रियोंका संयम करके उन्हें एकाग्र करो। मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परम तप है, यही सब धर्मोंमें श्रेष्ठ धर्म है। मन जिस समय बुद्धिके द्वारा इन्द्रियोंका निग्रह करके उनके विषयोंका चिन्तन नहीं करेगा, तब वह आत्मतृप्त हो जायगा। इन्द्रियाँ विषयोंसे निवृत्त होकर जब अपने-अपने गोलकोंमें स्थिर हो जायँगी, तभी तुम स्वयं अपने आत्मामें शाश्वत परमात्माको देख लोगे। महात्मा मनीषी ब्राह्मणगण उस सर्वात्मा परमात्माको धूम्ररहित अग्निवत् देखते हैं। जिस प्रकार पुष्प-फल-सम्पन्न बहु-शाखाशाली महावृक्ष यह नहीं जानता कि मेरे पुष्प कहाँ हैं और फल कहाँ हैं? उसी प्रकार आत्मा भी यह नहीं जानता कि मुझे कहाँ जाना है और मैं कहाँसे आया हूँ? इसका एक और अन्तरात्मा है जो यह सब कुछ अनुभव करता है। अति प्रदीप्त ज्ञान-दीपकके द्वारा वह स्वयं अपने-आपको देखता है। द्विजगण! तुम भी उस आत्माका दर्शन करके वैराग्यलाभ करो और जिस प्रकार सर्प अपनी काँचुलीको छोड़ देता है, उसी प्रकार तुम भी समस्त पापोंसे मुक्त हो जाओ तथा परा बुद्धिको प्राप्त करके निश्चिन्त और

दु:खरहित हो जाओ। जिसका सब ओर प्रवाह है, जो समस्त लोकोंको बहा ले जानेवाली है, पाँचों इन्द्रियाँ ही जिसमें ग्राह हैं, मनके संकल्प ही किनारे हैं, लोभ और मोहरूपी तृणोंसे जो आच्छादित है, काम और क्रोध ही जिसमें सरीसृपादि हैं, असत्य ही तीर्थ है, मिथ्या जल क्षोभ है, क्रोध कीचड़ है, अव्यक्त उद्गम स्थान है तथा जो अजितेन्द्रियोंके लिये अति दुस्तर है, उस अति वेगवती घोर नदीको तुम बुद्धिद्वारा पार करो। उस संसार-सागर-गामिनी, पातालान्त गम्भीरा, जन्मके साथ ही उत्पन्न हुई तथा जिह्वारूपी आवर्तों (भँवरों)-के कारण दुस्तरा सरिताको बुद्धिमान्, धैर्यवान् और मनस्वी महात्मागण ही तरते हैं। उसको पार करके सर्वथा मुक्त हुए निर्मलात्मा और शुद्धचेता जन उत्तम प्रज्ञामें प्रतिष्ठित होकर सम्पूर्ण क्लेशोंसे पार हुए तथा प्रसन्नात्मा और निष्पाप हुए ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं। उस स्थितिको प्राप्त कर लेनेपर तुम क्रोध, कृपा तथा क्रूरतासे भी रहित होकर समस्त प्राणियोंको इस प्रकारकी स्थितिमें देखोगे जिस प्रकार पर्वतारूढ़ पुरुष पृथ्वीपरके प्राणियोंको देखता है। तब तुम तटस्थ वृत्तिसे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति और उनके विनाशको देखोगे। धार्मिक प्रधान, सत्यदर्शी बुधजन इस विभु आत्माके ज्ञानको ही समस्त धर्मोंमें विशिष्ट धर्म मानते हैं। विप्रगण! अपने संयमी, हितकारी और अनुगत शिष्योंको तुम इसी गुह्यतम आत्मज्ञानका उपदेश करो। मैंने जिस आत्मशान्तिप्रद परमात्माके विषयमें कहा है वह न पुरुष है, न स्त्री है और न नपुंसक है, वह सुख-दु:खादिसे रहित और भूत, भविष्य, वर्तमानात्मक है। उसको जान लेनेपर पुरुष हो अथवा स्त्री, फिर वह पुनर्जन्मके चक्रमें नहीं पड़ता।

× × × ×

मुनिगण बोले—पितामह श्रीब्रह्माजीने कहा है कि मोक्ष उपायसे ही होता है। बिना उपाय नहीं होता, अत: मुने! हम उस उपायको यथोचित सुनना चाहते हैं।

श्रीव्यासजी बोले—हे महाप्राज्ञ मुनिजन! तुमलोगोंने जिस उपायका आश्रय लिया है वह ठीक ही है। अनघ! उसीके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंको प्राप्त कर सकते हो। घटकी सामग्रीमें जो बुद्धि होती है घटोत्पत्तिमें वह नहीं होती; उसी प्रकार धर्मादिके कारणोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये। जो मार्ग पूर्वसमुद्रके लिये होता है वह पश्चिमको कभी नहीं जाता। मोक्षका भी एक ही मार्ग है, उसे अनघगण! मुझसे सुनो। धीर पुरुष क्षमासे क्रोधका उच्छेद करे, नि:संकल्पतासे कामका ध्वंस करे और सत्यसेवनके द्वारा निद्राको जय करे, अप्रमादके द्वारा भयका उच्छेद करके बुद्धि तथा चित्तकी रक्षा करे और धैर्यके द्वारा इच्छा, द्वेष और कामका वर्जन करे। निद्रा तथा चंचलताको तत्त्ववित् पुरुष ज्ञानाभ्यासके द्वारा निरस्त करे तथा योगी हित-मित और सुपाच्य भोजनके द्वारा सम्पूर्ण विघ्नोंको हटावे। लोभ और मोहको संतोषसे, विषयोंको तत्त्वदर्शनसे, अधर्मको दयासे और धर्मको उपेक्षाके द्वारा जीते। विद्वान् पुरुष अनागत भावनाके त्यागद्वारा आशाको, संगत्यागके द्वारा सामर्थ्यको, संसारके अनित्य चिन्तनके द्वारा स्नेहको और योगसिद्धिके द्वारा क्षुधाको जीते। करुणाके द्वारा स्वभावको, संतोषके द्वारा तृष्णाको, मौनके द्वारा बहु-भाषणको और शौर्यके द्वारा भयको विजय करे। वाणी और मनका बुद्धिमें; बुद्धिका ज्ञानात्मामें, ज्ञानात्माका महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्वका शान्तात्मामें लय करे। इस प्रकार शान्तात्मासे संयुक्त होकर वह शुचिकर्मा योगी शान्तिलाभ करता है। विद्वानोंके बतलाये हुए काम, क्रोध, लोभ, भय और स्वप्न योगके इन पाँच विघ्नोंका परित्याग करके यथावत् योगसाधनके द्वारा ध्यान, स्वाध्याय, दान, सत्य, लज्जा, कोमलता, क्षमा, शौच, आचारशुद्धि और इन्द्रियसंयमका सेवन करे। इनके द्वारा तेजकी वृद्धि और पापकी क्षति होती है, संकल्प सिद्ध हो जाते हैं और विज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार निष्पाप हुआ वह तेजस्वी, लघ्वाहारी और जितेन्द्रिय पुरुष काम-क्रोधादिको जीतकर परमपदकी प्राप्ति करता है। अमूढ़त्व, असंगित्व, काम-क्रोधराहित्य, अदीनत्व, उद्वेगराहित्य तथा वाक्, काया और मनका यथायोग्य संयम—यही मोक्षका प्रसादजनक विमल और विशुद्ध मार्ग है। (ब्रह्मपुराणके आधारपर)

गुरु-तत्त्व

संसारका कोई भी कार्य अनुभवी गुरु या जानकार पथप्रदर्शकके बिना सहज ही सफल नहीं होता। केवल पुस्तकें पढ़नेसे काम नहीं चलता; जो मनुष्य उस कार्यको करके सफल हो चुका हो, उसकी सलाह आवश्यक होती है और कठिन कार्य हो तो कुछ दिन उसके पास रहकर विनय और सेवासे उसे प्रसन्न रखते हुए उससे सीखना पड़ता है। जब लौकिक कार्योंका यह हाल है तब आध्यात्मिक साधनमें तो गुरुकी बड़ी ही आवश्यकता है। वहाँ तो पद-पदपर गिरनेका डर है। इसलिये प्रत्येक साधकको अनुभवी गुरुके शरण होकर अध्यात्मसाधना करनी चाहिये। भारतीय साधनामें गुरु-परम्परा और गुरुकुलोंका बहुत ऊँचा स्थान है; क्योंकि गुरुके बिना ज्ञान नहीं होता। गुरु ही आँखें खोलकर, हाथमें मसाल लेकर, विघ्नोंसे बचाकर शिष्यको लक्ष्यस्थानतक सुखसे पहुँचाता है। गुरु और ईश्वरमें कोई भेद नहीं, प्रत्युत शिष्यके लिये तो गुरु ईश्वरसे भी बढ़कर है। यही गुरु-तत्त्व है।

परंतु आजकल सच्चे गुरु प्रायः नहीं मिलते। यथार्थ गुरु सदा ही कठिनतासे मिलते थे। फिर आजकल तो बहुत-से लोभी लालची और कामी-कपटी लोग गुरु बन गये हैं, इसलिये गुरुवेश कलंकित-सा हो गया है। इसलिये बहुत ही सावधानीसे गुरु बनाना चाहिये। गुरुमें इतने गुण अवश्य होने चाहिये—

'स्वभाव शुद्ध हो, जितेन्द्रिय हो, धनका लालच जिसे हो ही नहीं, वेद-शास्त्रोंका ज्ञाता हो, सत्य-तत्त्वको पा चुका हो, परोपकारी हो, दयालु हो, नित्य जप-तपादि साधनोंको स्वयं (चाहे लोक-संग्रहार्थ ही) करता हो, सत्यवादी हो, शान्तिप्रिय हो, योगविद्यामें निपुण हो, जिसमें शिष्यके पापनाश करनेकी शक्ति हो, जो भगवान्का भक्त हो, स्त्रियोंमें अनासक्त हो, क्षमावान् हो, धैर्यशाली हो, चतुर हो, अव्यसनी हो, प्रियभाषी हो, निष्कपट हो, निर्भय हो, पापोंसे बिलकुल परे हो, सदाचारी हो, सादगीसे रहता हो, धर्मप्रेमी हो, जीवमात्रका सुहृद् हो और शिष्यको पुत्रसे बढ़कर प्यार करता हो।'

जिनमें ये गुण न हों और निम्नलिखित अवगुण हों, उन्हें गुरु नहीं बनाना चाहिये—

'जो संस्कारहीन हो, वेद-शास्त्रको जानता-मानता न हो, कामिनी-कांचनमें आसक्त हो, लोभी हो, मान, यश और पूजा चाहता हो, वैदिक और स्मार्त कर्मोंको न करता हो, क्रोधी हो, शुष्क या कटुभाषण करता हो, असत्य बोलता हो, निर्दयी हो, पढ़ाकर पैसा लेता हो, कपटी हो, शिष्यके धनकी ओर दृष्टि रखता हो, मत्सर करता हो, नशेबाज, जुआरी या अन्य किसी प्रकारका व्यसनी हो, कृपण हो, दुष्टबुद्धि हो, बाहरी चमत्कार दिखलाकर लोगोंके चित्त हरता हो, नास्तिक हो, ईश्वर और गुरुकी निन्दा करता हो, अभिमानी हो, बुरी संगतिमें रहता हो, भीरु हो, पातकी हो, देवता, अग्नि और गुरुमें श्रद्धा न रखता हो, संध्या-तर्पण, पूजा और मन्त्र आदिके ज्ञानसे रहित हो, आलसी हो, विलासी हो, धर्महीन हो, संन्यासी होकर त्यागी न हो और गृहस्थ होकर गृहिणीरहित हो, शक्तिहीन हो और वृषलीपति हो।'

स्त्रियोंको किसी भी अन्य पुरुषसे दीक्षित होनेकी या किसी पर-पुरुषको गुरु बनानेकी आवश्यकता नहीं है। सिद्धमन्त्र स्वामी अपनी पत्नीको दीक्षा दे सकता है। दीक्षा न दे तो भी पति उसका परम गुरु ही है। विधवा स्त्री केवल श्रीपरमात्माको ही गुरु समझकर उन्हींका सेवन करे। जो धन और कामिनीका लोभी मालूम हो, ऐसे गुरुसे तो सदा दूर ही रहना चाहिये।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आजकल सद्गुरु हैं ही नहीं, उत्कट इच्छा और सच्ची चाह होनेपर संसारसागरसे तारनेवाले सद्गुरु अवश्य ही मिलते हैं।

सद्गुरु

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

भारतीय साधनामें गुरु-शरणागति सर्वप्रथम है। सद्गुरुकी कृपा-बिना साधनाका यथार्थ रहस्य समझमें नहीं आ सकता। केवल शास्त्रों और तर्कोंसे लक्ष्यतक नहीं पहुँचा जा सकता। अनुभवी सद्गुरु साधन-पथके अन्तराय, उनसे बचनेके उपाय और साधनमार्गका उपादेय पाथेय बतलाकर शिष्यको लक्ष्यतक अनायास ही पहुँचा

देते हैं। इसलिये श्रुतियोंसे लेकर वर्तमान समयके संतोंकी वाणीतक सभीमें एक स्वरसे सद्गुरुकी शरणमें उपस्थित होकर अपने अधिकारके अनुसार उनसे उपदेश प्राप्तकर तदनुकूल आचरण करनेका आदेश दिया है। सभी संतोंने मुक्तकण्ठसे गुरु-महिमाका गान किया है। यहाँतक कि गुरु और गोविन्द दोनोंके एक साथ मिलनेपर पहले गुरुको ही प्रणाम करनेकी विधि बतलायी गयी है; क्योंकि गुरुकी कृपासे ही गोविन्दके दर्शन प्राप्त करनेका सौभाग्य मिलता है। गुरुकी महिमा अवर्णनीय है। वे पुरुष धन्य हैं—बड़े ही सौभाग्यवान् हैं जिन्हें सद्गुरु मिले हैं और जिन्होंने अपना जीवन उनके आज्ञापालनके लिये सहर्ष उत्सर्ग कर दिया है।

वास्तवमें यथार्थ पारमार्थिक साधन सद्गुरुकी सन्निधिमें ही सम्भव है। कृपालु गुरुके कर्णधार हुए बिना साधन-तरुणीका विषय-समुद्रकी नभोव्यापिनी उत्ताल-तरंगोंसे बचकर उस पारतक पहुँच जाना नितान्त असम्भव है। इसलिये प्रत्येक साधकको सद्गुरुकी खोज करनी चाहिये और ईश्वरसे आर्तभावसे प्रार्थना करनी चाहिये कि जिसमें ईश्वरानुग्रहसे सद्गुरुकी प्राप्ति हो जाय; क्योंकि वास्तविक संत-महात्मा भगवत्कृपासे ही प्राप्त होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यदि सद्गुरुप्राप्तिकी अति तीव्र इच्छा हो तो स्वयं परमात्मा सद्गुरुरूपसे प्रकट होकर मुमुक्षु साधकको साधनपथ प्रदर्शितकर कृतार्थ कर सकते हैं। खोज मनसे होनी चाहिये और होनी चाहिये केवल तत्त्वज्ञ पुरुषको प्राप्तकर स्वयं तत्त्व समझनेके पवित्र उद्देश्यसे; परीक्षा या कौतूहलके लिये नहीं; क्योंकि सच्चे संत न तो परीक्षा दिया करते हैं, न परीक्षामें उत्तीर्ण होकर जगत्में मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने या प्रतिभाशाली व्यक्तियोंपर प्रभाव डालकर उन्हें शिष्य बनानेकी ही इच्छा रखते हैं। जो श्रद्धासे उनकी शरण होता है, उसीके सामने वे उसके अधिकारानुसार रहस्य प्रकट किया करते हैं। गोपनीय रहस्य अतपस्क, अश्रद्धालु, तार्किक, दोषान्वेषणकारी, नास्तिक और कौतूहलप्रिय मनुष्यके सम्मुख प्रकट करनेमें न तो कोई लाभ है और न संत-सुधीजन प्रकट किया ही करते हैं। भगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे अधिकारकी मीमांसा कर दी है—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

'यह जो परम गुप्त रहस्य तुझ अत्यन्त प्रिय मित्रको मैंने बतलाया है इसे तपरहित, भक्तिरहित, सुनना न चाहनेवाले और मेरी (भगवान्)-की निन्दा करनेवाले लोगोंको भूलकर भी न बतलाना।' इससे यह सिद्ध होता है कि यथार्थ संत-महात्मा पुरुष अधिकारीकी परीक्षा किये बिना गुह्य रहस्य प्रकट नहीं करते। अपनेको साधारण मनुष्य बतलाकर ही पिण्ड छुड़ा लिया करते हैं। लोग उन्हें असाधारण मानें, यह तो उनकी चाह होती नहीं और असली बात बतलानेका वे अधिकारी पाते नहीं, इसलिये स्वयं अनजान-से बन जाते हैं और वास्तवमें यह सत्य ही है कि ईश्वरका यथार्थ तथ्य ईश्वरके अतिरिक्त दूसरा जानता भी कौन है? अतएव तीव्र मुमुक्षा और श्रद्धाको साथ रखकर सद्गुरुका अन्वेषण करनेसे सद्गुरुकी प्राप्ति अवश्य हो सकती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। संन्यासियों और गृहस्थोंमें आज भी अनेक सच्चे साधक और महात्मा हैं। सच्चे ऋषियोंका आज भी अभाव नहीं है, परंतु वे प्रायः अप्रकट रहते हैं। प्रकट रहनेवालोंको पहचानना भी बड़ा कठिन होता है; क्योंकि उनका बाहरी वेष तो कोई विलक्षण होता नहीं, जिससे लोग कुछ अनुमान कर सकें।

यह सब होते हुए भी श्रद्धाको मनमें पूरा स्थान देते हुए भी, आजकलके समयमें बहुत ही सावधानीकी आवश्यकता है। आज अवतारों, जगत्-गुरुओं, विश्वोपदेशकों (World-teachers), सद्गुरुओं, ज्ञानियों, योगिराजों और भक्तोंकी देशमें हाट लग रही है। ये सब दुर्लभ पद मोहवश आज बहुत ही सस्ते हो रहे हैं। ऐसे कई व्यक्तियोंके नाम तो यह लेखक ही जानता है, जिनकी खुल्लमखुल्ला अवतार कहकर पूजा की जाती है और वे उसको स्वीकार करते हैं। पता नहीं, ईश्वरके इतने अवतार एक ही साथ देशमें कैसे हो गये? आश्चर्य तो यह कि एक अवतार दूसरे अवतारको माननेके लिये तैयार नहीं है। ऐसी स्थितिमें ये अवतार वास्तवमें क्या वस्तु हैं? इस बातको प्रत्येक विचारशील पुरुष सोच सकते हैं। गुरु तो गाँव-गाँव और गली-गलीमें मिल सकते हैं, सब कुछ गुरुचरणोंमें अर्पण करनेमात्रसे ही ईश्वर-प्राप्तिकी गैरंटी देनेवाले गुरुओंकी कमी नहीं है; ऐसे हजारों नहीं, लाखों गुरु होंगे; परंतु दुःख है कि इन गुरुओंकी जमातसे उद्धार शायद ही

किसीका होता है। सद्‌गुरु तो वह है जो शिष्यके मनका अनन्त कोटिजन्म-संचित अज्ञान हरण करता है, जो शिष्यको सन्मार्गपर लगाता है, जो उसके हृदयमें परमात्माके प्रति सच्चे प्रेमके भावोंका विकास करवा देता है। जो अपनी नहीं, परंतु परमात्माकी—सर्वव्यापी सर्वभूतस्थित परमात्माकी पूजाका पाठ पढ़ाता है, जो शिष्यको यथार्थमें दैवी सम्पत्तिके गुणोंसे विभूषित देखना चाहता है, जो निरन्तर इस प्रयत्नमें लगा रहता है कि शिष्य किसी प्रकारसे भी कुमार्गमें न जाने पावे, जो पद-पदपर उसे सावधान करता है और कुपथसे बचाता है, जो त्याग और सदाचार सिखाता है, जो निर्भय होकर विश्वरूप भगवान्‌की सेवा करना बतलाता है, जो स्वयं अमानी होकर शिष्यको मानरहित होना और स्वयं काम, क्रोध, लोभसे छूटकर शिष्यको उनसे बचना सिखाता है एवं जो अपने बाहर और भीतरके सभी आचरणोंको ऐसा स्वाभाविक पवित्र रखता है, जिसका अनुकरणकर शिष्यका हृदय पवित्रतम बन जाता है। वास्तवमें ऐसा ही पुरुष परमात्माको पा सकता है और दूसरोंको भी परमात्माकी प्राप्तिके पथपर आरूढ़ करवा सकता है। भगवान्‌ने कहा है—

निर्मानमोहा जितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

(गीता १५।५)

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

(गीता ५।१७)

'जिनके हृदयमें मान-मोह नहीं है, जिन्होंने आसक्तिके दोषपर विजय प्राप्त कर ली है, जो नित्य परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहते हैं, जिनकी लौकिक-पारलौकिक कामनाएँ भलीभाँति नष्ट हो गयी हैं, जो सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे सर्वथा छूट गये हैं, ऐसे बुद्धिमान् पुरुष ही उस अव्यय परमपदको प्राप्त होते हैं।'

'जिनकी बुद्धि परमात्मरूप हो गयी है, जिनका मन परमात्मरूप है, जिनकी निष्ठा केवल परमात्मामें ही है, जो केवल परमात्माके ही परायण हैं, ऐसे ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए पुरुष ही अपुनरावृत्तिरूप परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

भगवान्‌ने इसी प्रकारके तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंकी शरणमें जाकर प्रणिपात, सेवा और निष्कपट प्रश्नोंद्वारा ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उपदेश दिया है।

इसके विपरीत जो कुछ भी नहीं जाननेपर भी 'सब जाननेवाले' बननेका दम भरते हैं, जो 'सोनेकी चिड़िया' फाँसनेके लिये सदा-सर्वदा ही मिथ्या मधुर भाषण और व्यवहारका जाल बिछाये रखते हैं, जो पूजा करानेके लिये पैर फैलाते तनिक भी संकुचित नहीं होते, जो धन लेकर कानमें मन्त्र फूँकते और ईश्वर-प्राप्तिकी गैरंटी देते हैं, 'बहुत ऊँचे आकाशमें उड़नेपर भी बाजकी दृष्टि सड़े मांसपर होती है' इसी तरह जो बहुत ऊँची-ऊँची वेदान्त और भक्तिकी बातें बनाते रहनेपर भी अपनी पैनी नजर भक्तोंके धनपर रखते हैं, जो पापदृष्टिसे शिष्यकी माता, बहिन या स्त्रीकी ओर घूरते हैं, जो युवती शिष्याओंके कानोंमें मन्त्र देते, उनसे एकान्तमें मिलते और उनसे पूजा करवाते हैं, जो मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण बतलाते हैं, जो चमत्कार दिखलाते हैं, जो अपने विरुद्ध मतवादियों और स्वार्थमें बाधा पहुँचानेवालोंको धमकाने, मारने या उनका अनिष्ट करनेका उपदेश करते हैं और जो सत्ताके लिये आचार्यका पद ग्रहण किये रहते हैं; ऐसे गुरुओंसे तो यथासाध्य बचना ही चाहिये। ऐसे लोग गुरुके वेषमें शिष्य और संसारको धोखा देनेवाले प्रायः पाखण्डी ही होते हैं, स्वयं नरकगामी होते और अनुयायियोंके लिये नरकका पथ साफ करते हैं। यों तो बाहरसे अच्छे बने हुए दम्भी मनुष्यकी भी सहजमें कोई पहचान नहीं हो सकती, दम्भी चालाक आदमी जीवनभर दम्भ रचकर लोगोंको धोखेमें डाले रख सकता है; परंतु यदि उसके पास रहने और उसकी बात मानने, सुननेसे अपने अंदर कोई बुरा भाव नहीं पैदा हो तो उससे इतना अनिष्ट नहीं हो सकता; यद्यपि उसके संगसे भी गिरनेका भय रहता है। सन्मार्ग मिलना तो असम्भव-सा ही है, परंतु यदि कोई मनुष्य सच्ची ईश्वर-प्राप्तिकी लालसासे ऐसे मनुष्यके फंदेमें फँस जाय, जो दम्भी हो और जिसके आचरण बाहरसे पवित्र हों और जिसके संगसे प्रकाश्यमें कोई बुराई न उत्पन्न होती हो तो परमात्मा उस सच्चे मनुष्यकी तबतक रक्षा

करता है, जबतक कि वह आसक्तिके वश होकर दम्भमें सम्मिलित नहीं हो जाता।

जो लोग अपनी पूजा करवाते हैं, पूजा करनेको कहते हैं, पूजा करनेवालोंको अच्छा और न करनेवालोंको बुरा समझते हैं, अपनी पूजाके लिये उपदेश करते हैं, 'गोविन्दसे गुरु' 'रामसे रामके दास' बड़ेका उदाहरण देकर अपनेको भगवान्‌से बड़ा बतलाकर शिष्योंकी भक्ति खरीदना चाहते हैं, उनसे अवश्य सावधान रहना उचित है। सद्‌गुरु वास्तवमें अपनी पूजा नहीं चाहते। अवश्य ही उनके उच्च चरित्र, महान् त्याग और विलक्षण सद्‌गुणोंको देखकर लोगोंके मनमें उनके प्रति स्वयमेव पूज्यभाव उत्पन्न होता है, उनकी पूजा या भक्ति साधनमें सहायक होती है, शिष्य उनसे उपकृत होकर, उनके उपदेशोंसे और चरित्रानुकरणसे विशुद्ध-हृदय होकर कृतज्ञतासे उनके चरणोंमें लुट पड़नेकी इच्छा करता है, उन्हें भगवान् कहकर पुकारता है, परंतु वास्तवमें सद्‌गुरुकी यथार्थ पूजा बाहरी उपकरणोंसे कभी नहीं हो सकती, उनकी सच्ची पूजा उनके आज्ञापालन और उनके त्याग, प्रेम, भक्ति, ज्ञान, सद्‌गुण आदिके अनुकरणसे होती है। सद्‌गुरु शिष्यके द्वारा यदि कोई पूजन चाहता है तो वह यही चाहता है। इसके विपरीत शिष्यकी आत्मिक उन्नतिका कुछ भी खयाल न रख जो मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके भूखे रहते हैं, केवल अपने पैर पुजवाने और आरती उतरवानेमें ही जिनको प्रसन्नता होती है, वे कदापि सद्‌गुरु नहीं हैं। विशेषकर जो गुरुके आसनपर बैठकर धन और स्त्रीकी इच्छा करते हैं उनसे तो बहुत ही सावधान रहना चाहिये। भागवतमें कहा है कि सत्पुरुष धन और स्त्रियोंके संगियोंका संग भी दूरसे ही त्याग दें। इसके विपरीत, जो अपनेको सत्पुरुष मानते और कहलाते हुए भी कामिनी-कांचनमें आसक्त रहते हैं, उनको साधु मानना बहुत ही जोखिमका काम है। कुछ वर्षों पूर्व गोरखपुरमें एक विद्वान् संन्यासी आये थे, वे आठ सालसे सद्‌गुरुकी खोजमें थे। खेदकी बात है कि भाग्यवश उन्हें आरम्भसे ही बहुत कटु अनुभव होते गये, जिससे वे उस समय बहुत ही शंकाशील बन गये थे और 'दूधका जला छाछ भी फूँक-फूँककर पीता है' इस कहावतके अनुसार वे हर जगह केवल सन्देह करते और श्रद्धा छोड़कर केवल परीक्षाके लिये ही जाते थे जिससे उनको यथार्थ सत्पुरुषका मिलना एक प्रकारसे कठिन-सा हो गया था, यहाँतक कि दैवी सम्पत्तिके गुणोंको भी वे कुछ-कुछ अव्यावहारिक मानने लगे थे। तथापि वे यथार्थमें बहुत ही सच्चे, सद्‌गुणी साधु प्रतीत होते थे। उन्होंने अपना कुछ अनुभव इस प्रकार सुनाया था—

पहले उन्हें एक त्यागी संन्यासी मिले, संन्यासीजी बड़े विद्वान् थे, बहुत-सी भाषाओंके जानकार थे, भारतवर्षमें भी उनकी जोड़ीके विद्वान् अँगुलियोंपर गिनने लायक होंगे। पढ़े-लिखे समुदायपर उनका बड़ा भारी प्रभाव था, संन्यासीजी बड़े भक्त मालूम होते थे, नारद-भक्तिसूत्र या श्रीभागवतका श्लोक पढ़ते-पढ़ते उनकी आँखोंसे आँसुओंकी अजस्र धारा बहने लगती थी और सचमुच उनकी भाव-समाधि हो जाया करती थी; परंतु यह सब कुछ होनेपर भी अन्तमें वे व्यभिचारी सिद्ध हुए। सम्भव है, वे पहले अच्छे साधक रहे हों, परंतु पीछेसे पूजा आरम्भ हुई, खानेको खूब माल-मलीदे मिलने लगे, स्त्रियोंका अबाधित संग हुआ, जिससे उनका पतन हो गया।

एक दूसरी जगह एक साधु, जो बाहरसे बड़े ही त्यागी मालूम होते थे, बड़े-बड़े लोग उनके पास जाया करते। वे अपनी झोलीमेंसे भस्मकी चुटकी सबको दिया करते। एक दिन चाय बनी। शिष्यने कहा, 'महाराज! चीनी नहीं है।' गुरुजी बोले, 'नहीं सही, यह भस्मकी चुटकी ही डाल दो।' झोलीमेंसे चुटकी भरकर चायमें डाल दी, चाय वास्तवमें मीठी हो गयी। स्वामीजीका चमत्कार देखकर सब मुग्ध हो गये। पीछेसे पता लगा—वे अपनी झोलीके एक भागमें भस्म और दूसरे भागमें 'सैकेरिन' (जिसमें चीनीसे कई सौ गुना मिठास होता है) रखते थे और राखकी जगह उसको डाल चमत्कार बतलाकर लोगोंको ठगा करते थे।

एक आश्रममें एक बड़े त्यागीके रूपमें रहनेवाले संन्यासी उपदंशके रोगसे पीड़ित मिले, ऊपरसे उनका व्यवहार देखकर उन्हें सभी लोग महात्मा समझते थे।

बंबईके एक प्रसिद्ध ज्ञानी भक्त कहलानेवाले महाराज, जो अपनेको एक बहुत बड़े आदमीका गुरु बतलाते थे, श्रद्धाके साथ अपने घर ले जानेवाले भक्तकी पत्नीका सतीत्व नाश करते पकड़े गये।

ऐसे अनेक उदाहरण उन्होंने दिये। बात भी यही

है, आज कहीं ज्ञान और कहीं भक्तिके नामपर धन लूटा जाता है, तो कहीं सतीत्व हरण होता है; कहीं पूजा-प्रतिष्ठा करवायी जाती है, तो कहीं भोग-विलासकी सामग्री इकट्ठी की जाती है; सारांश यह कि आजके इन ज्ञानी भक्त कहलानेवाले रँगे सियार गुरुओंने धर्म-कर्मको चौपट कर दिया है। ऐसे पाखण्डी गुरुओं, भक्तों और ज्ञानियोंसे बचकर ही रहना चाहिये। एक ज्ञानी बने हुए व्यक्तिने मुझसे एक दिन कहा था, 'भाई! काम-क्रोध तो इन्द्रियोंके धर्म हैं, जैसे मूत्र-त्यागका वेग आता है ऐसे ही शुक्र-त्यागका भी नैसर्गिक वेग आता है। जब वह वेग आवे, तब किसी भी स्त्रीके प्रति उस वेगको निवारण कर ले, इससे ज्ञानमें क्या हानि होती है? इन्द्रियोंका धर्म तो इन्द्रियोंमें रहेगा ही।' एक भक्तने एक सज्जनसे कहा था, 'भाई! चलो वृन्दावनमें रहो, वहाँ रहकर चोरी, व्यभिचार भले ही करो, कोई हर्ज नहीं, वहाँ रहनेमात्रसे ही उद्धार हो जायगा।' सम्भव है, यह उनकी शुद्ध भावना हो, परंतु ऐसे विचार और भावनाओंने ज्ञान और भक्तिको कलंकित अवश्य ही कर दिया! विचारसागरके दो-चार दोहे याद करने या श्रीराम-कृष्णके नामपर दम्भसे दो-चार बूँद आँसू बहा देनेसे ही ज्ञानी या भक्त नहीं हुआ जाता। ज्ञानी और भक्त बनना बहुत ही टेढ़ी खीर है। ब्रह्मज्ञानकी तीक्ष्णधार तलवारसे जो आसक्ति और वासनाका समूलोच्छेदन कर डालता है, वह ज्ञानी हो सकता है और जो भगवत्-प्रेमकी धधकती हुई अग्निमें कूदकर अहंकारसहित अपना सर्वस्व फूँक डालता है, वह भक्त बन सकता है। ज्ञानी और भक्तमें दैवी सम्पत्तिके गुण स्वाभाविक ही प्रकट हो जाते हैं। ज्ञानी और भक्त होकर दैवी सम्पत्तिके गुणोंसे शून्य रहना वैसे ही असम्भव है जैसे मध्याह्नसूर्यके प्रचण्ड प्रकाशमें खुले मैदानमें अन्धकारका रहना। भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानके बीस साधन इस प्रकार बतलाते हैं—

अपनेमें श्रेष्ठताका अभिमान न रखना, दम्भका सर्वथा त्याग करना; अहिंसाका पालन करना; अपना अनिष्ट करनेवालेका भी दोष क्षमा कर देना; मन, वाणी, शरीरसे सरल रहना; श्रद्धा-भक्तिसहित आचार्यकी सेवा करना, बाहर-भीतरसे शुद्ध रहना, मनको स्थिर रखना; बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीरको वशमें रखना; इस लोक और परलोकके सभी भोगोंसे वैराग्य हो जाना, अहंकार न रहना, जन्म-जरा-रोग-मृत्यु आदि दुःख तथा दोषोंको ध्यानमें रखना; स्त्री, पुत्र, धन, भवन आदिमें मनका न फँसना; किसी भी वस्तुमें 'मेरापन' न रहना, प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें चित्तका सदा सम रहना, परमात्माकी अनन्य भक्ति करना, शुद्ध एकान्त देशमें साधनके लिये रहना, सांसारिक जनसमुदायसे रागरहित होना, परमात्मा-सम्बन्धी ज्ञानमें नित्य संलग्न रहना, तत्त्व-ज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सदा-सर्वत्र देखना। (गीता अ० १३। ७—११)

ये तो ज्ञानके साधन हैं, इन साधनोंमें लगे रहनेसे तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्ति होती है। जब साधनोंमें ही पापका विनाश और दैवी सम्पत्तिका विकास है, तब सिद्ध ज्ञानीमें तो पाप, दुराचार या कामिनी-कांचनके प्रलोभनकी सम्भावना ही कहाँ है? ज्ञानके साधकके सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२। ३-४)

'जो ज्ञानके साधक इन्द्रियोंके समुदायको भलीभाँति वशमें करके अचिन्त्य, सर्वव्यापी, अनिर्देश्य, कूटस्थ, ध्रुव, अचल, अव्यक्त, अक्षर ब्रह्मकी भलीभाँति उपासना करते हैं और सबमें सर्वत्र सम-भावयुक्त होकर प्राणिमात्रका हित करते रहते हैं, वे मुझको (ब्रह्मको) प्राप्त होते हैं।'

ज्ञानके साधकके लिये ही जब इन्द्रियसमुदायको वशमें कर लेना, हानि-लाभ, जय-पराजय, मान-अपमान, जीवन-मृत्यु, देवता-मनुष्य, सबमें सर्वत्र समबुद्धि होना और सर्वभूतोंके हितमें रत रहना अनिवार्य है, तब ज्ञानस्वरूप सिद्धकी तो बात ही क्या है? उसमें वे सद्‌गुण स्वाभाविक ही होने चाहिये। इसी प्रकार साधक भक्तके उद्धारका जिम्मा लेते हुए भगवान् कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ६-७)

'जो साधक मुझ भगवान्‌के परायण होकर सारे कर्म मुझमें अर्पण करके अनन्ययोगसे केवल मेरा ही ध्यान-भजन करते हैं, हे अर्जुन! उन मुझमें भलीभाँति चित्त लगानेवाले भक्तोंका मैं इस मृत्युरूप संसार-सागरसे शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ।'

यह भक्तिके साधककी बात है, प्रेमी भक्तके लक्षण तो भगवान् इस प्रकार बतलाते हैं—

जो किसी भी प्राणीसे द्वेष नहीं करता, जो सबके साथ मित्रताका व्यवहार करता है, जो बिना किसी भेदभावके दुःखी जीवोंपर सदा दया करता है, जो परमात्माके सिवा किसी भी वस्तुमें 'मेरापन' नहीं रखता, जो 'मैं' पनको त्याग देता है, जो सुख-दुःख दोनोंमें परमात्माको समभावसे देखता है, जो अपना बुरा करनेवालेका भी भगवान्‌से भला मनाता है, जो लाभ-हानि, जय-पराजय, सफलता-विफलतामें सदा संतुष्ट रहता है, जो अपने मनको परमात्मामें लगाये रखता है, जो मन-इन्द्रियोंको जीत चुका है, जो परमात्मामें या अपने ध्येयमें दृढ़ निश्चय रखता है, जो अपने मन-बुद्धिको परमात्माके अर्पण कर देता है, जो किसीके भी उद्वेगका कारण नहीं बनता, जो किसीसे भी उद्वेगको प्राप्त नहीं होता, जो सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें कोई आनन्द नहीं मानता, जो दूसरेकी उन्नति देखकर नहीं जलता, जो सदा सर्वत्र निर्भय रहता है, जो किसी भी स्थितिमें उद्विग्न नहीं होता, जो किसी भी वस्तुकी आकांक्षा नहीं करता, जो बाहर-भीतरसे सदा पवित्र रहता है, जो भगवान्‌की भक्ति करने और अपने दोषोंका त्याग करनेमें दक्ष है, जो पक्षपातरहित है, जो किसी भी अवस्थामें व्यथित नहीं होता, जो सब कर्मोंका आरम्भ परमात्माकी लीलासे ही होता है—ऐसा मानता है, जो भोगोंको पाकर फूलता नहीं, जो भोगोंके नाश हो जानेपर रोता नहीं, जो अप्राप्त या नष्ट भोगोंको पुनः प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं करता, जो शुभाशुभ कर्मोंका फल नहीं चाहता, जो शत्रु-मित्रमें समभाव रखता है, जो मानापमानको एक-सा समझता है, जो सर्दी-गरमीमें सम रहता है, जो सुख-दुःखको समान समझता है, जो किसी भी वस्तुमें आसक्ति नहीं रखता, जो निन्दा-स्तुतिको समान समझता है, जो परमात्माकी चर्चाके सिवा दूसरी बात नहीं करना चाहता, जो परमात्माके प्रेममें मस्त होकर अपनी स्थितिमें संतुष्ट रहता है, जो घर-द्वारमें ममता नहीं रखता, जो अपनी बुद्धिको परमात्मामें स्थिर कर देता है, जो भागवत-धर्मरूपी अमृतका सदा सेवन करता है, जो परमात्मामें पूर्ण श्रद्धा-सम्पन्न है और जो केवल परमात्माके ही परायण है (गीता अ० १२। १३ से २०) ऐसा पुरुष ही वास्तवमें भक्त है।

उपर्युक्त कसौटीमें जो खरे उतरते हैं, वे ही पूर्णज्ञानी या भक्त हैं, जो अधूरे हैं, पर आगे बढ़नेका प्रयत्न कर रहे हैं और इन लक्षणोंका विकास अपने अंदर बढ़ा रहे हैं, वे ही सच्चे साधक हैं। अन्यथा '**अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः**' इस श्रुतिके अनुसार अन्धे गुरु अन्धे चेलोंकी जमातको साथ लेकर पापोंके गड़हेमें गिरते हैं।

यद्यपि इन सारे लक्षणोंसे युक्त पुरुषका मिलना परम दुर्लभ है और ऊपरके भावोंसे किसीको पहचानना भी अत्यन्त कठिन है, तथापि अपनी बुद्धिके अनुसार इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि जहाँ मान-बड़ाई और कामिनी-कांचनका लोभ नहीं है, वहाँ रहने और वैसे पुरुषका उपदेश माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। हर किसीको गुरु कभी नहीं बनाना चाहिये। गुरुको तो एक प्रकारसे अपना जीवन अर्पण कर दिया जाता है। जीवन-अर्पण बहुत ही सोच-समझकर करना कर्तव्य है। नाममात्रके गुरु-चेलोंसे कोई लाभ नहीं, हानि तो प्रत्यक्ष ही है।

इस बातसे निराश कभी नहीं होना चाहिये कि इस युगमें सद्गुरु हैं ही नहीं, सद्गुरुकी वास्तविक खोज ही कहाँ होती है? हमारे हृदयोंमें तीव्रतम पिपासा ही कहाँ है? तीव्र पिपासा हो तो लेखकका विश्वास है कि प्यास बुझानेवाले अमृत-समुद्र सद्गुरुकी प्राप्ति अवश्य ही हो सकती है।

सुहृद् समझते ही मुक्ति

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं 'जो मुझको समस्त प्राणियोंका सुहृद् (स्वार्थरहित अहैतुक प्रेमी) जान लेता है, वह शान्तिको—मोक्षको प्राप्त हो जाता है।' भगवान् जीवोंके परम सुहृद् हैं, स्वभावसे ही सबका हित करते हैं—इस बातको वास्तवमें हमलोग जानते नहीं। कहते हैं, सुनते हैं, पढ़ते हैं, कभी-कभी बुद्धिमें भी यह बात आती है, परंतु मनने वस्तुतः इस तत्त्वको जाना और माना नहीं। यदि दुःखोंकी ज्वालासे जलता हुआ जीव

परम सुखराशि सच्चिदानन्दघन परमात्माको अपना सुहृद् जान ले तो फिर वह अपने दुःखोंकी निवृत्तिके लिये जगत्के अन्यान्य उपायोंका अवलम्बन ही क्यों करे? एक मनुष्यको किसी वस्तुका अभाव है और उसे उस अभावको मिटानेकी बड़ी आवश्यकता है तथा वह उसे मिटानेके लिये व्याकुल है, ऐसी स्थितिमें उसे यदि किसी ऐसे पुरुषका पता लग जाय जिसके पास उसके अभावको दूर करनेवाली वस्तु हो, जो उसको हृदयसे चाहता भी हो और साथ ही उसके अभावको भी उतना ही जानता और अनुभव करता हो, जितना कि वह अभाववाला पुरुष करता है, तो फिर उसका अभाव दूर होनेमें देर क्यों होनी चाहिये? उस पुरुषके पास जाते ही उसका अभाव मिट जायगा। यही स्थिति जीवकी और भगवान्की है। जीव भगवान्का सनातन अभिन्न अंश होनेपर भी आनन्द और शान्तिके अभावसे दुःखी है, इसीलिये वह अनादिकालसे आनन्द और शान्तिकी खोजमें ही भटक रहा है; परंतु आनन्द और शान्तिके यथार्थ स्वरूप और उनके निवास स्थानको न जाननेके कारण बार-बार उसे निरानन्द और अशान्तिकी आगमें ही जलना पड़ता है एवं जबतक उसे आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति न होगी, तबतक उसकी यही दशा रहेगी। भगवान् आनन्द और शान्तिके अपार सागर हैं एवं जीवके परम प्रेमी हैं; क्योंकि वह उन्हींका अंश है तथा वे उसके अभावजन्य दुःखोंको भी जानते हैं, इसीलिये वे बारंबार जीवको सावधान करते, प्रबोध देते और सन्मार्गपर लानेका प्रयत्न करते हैं। सब जीवोंके प्रति समान प्रेम होनेपर भी, उनका यह नियम है कि जो उन्हें भजता है, उनकी शरण होता है, वे उसीकी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लेते हैं; इसीलिये वे कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

मैं समस्त प्राणियोंमें समान भावसे व्याप्त हूँ, मेरा न कोई अप्रिय है और न प्रिय, परंतु जो लोग मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे (अपनेको) मुझमें (देखते) हैं और मैं (उन्हें) उनमें (दीखता) हूँ। भगवान्की कितनी अपार दयालुता है कि जो वे भूले हुए दुःखग्रस्त जीवोंको अपने मुँहसे अपना नियम और प्रभाव बतलाकर अपनी शरणमें बुलाते हैं। जिस समय मनुष्य उनके आवाहनको यथार्थमें सुन लेता है, उसी दिन—उसी क्षण वह अभिसारिकाकी भाँति छूट निकलता है, फिर वह संसारके धन-जन-परिवारकी तनिक भी परवा नहीं करता, वह ऐसे परम धन, परम प्रियतम, समस्त सुख-शान्तिके सनातन और पूर्ण भण्डारकी ओर दौड़ता है कि उसे फिर पीछे फिरकर देखनेकी स्मृति ही नहीं हुआ करती। वह तो जल्दी-से-जल्दी उस परम प्रियतमको पानेके लिये तन-मन और लोक-परलोककी बाजी लगाकर सारी विघ्न-बाधाओंको लाँघता हुआ हवाके वेगसे चलता है, फिर कोई भी बाधा उसे रोक नहीं सकती। सारी प्रतिकूलताएँ उसके अनुकूल बन जाती हैं—वह भगवत्-मार्गका पथिक न कभी थकता है, न विराम लेता है, न घबराता है, न निराश होता है; ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों नये-नये उत्साह और प्रकाशको प्राप्त होता हुआ दूर-से-दूर स्थानको भी नजदीक-से-नजदीक समझकर चला ही जाता है। वास्तवमें उसे भगवान्की दयासे सुविधाएँ प्राप्त होती हैं और वह उनका प्रत्यक्ष अनुभव भी करता है, भगवान्ने कहा है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(गीता १८। ५८)

'मुझमें मन लगा देनेपर तू मेरी कृपासे समस्त बाधाओंके समुद्रोंसे अनायास ही तर जायगा।' हमलोग जो पद-पदपर बाधा-विघ्नों और कराल क्लेशोंका सामना करते हैं—इसका कारण यही है कि हम भगवान्को परम समर्थ सुहृद् समझकर उनमें मन नहीं लगाते, उनके शरण नहीं होते। पूर्णरूपसे मन सौंप देने या शरणागत हो जानेवालोंके लिये तो भगवान्की आश्वासन वाणी है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ७)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

'अर्जुन! मुझमें चित्तको प्रविष्ट करा देनेवाले उन

भक्तोंको मृत्युरूप संसार-सागरसे बहुत ही शीघ्र मैं पार कर देता हूँ। (इसलिये) सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मेरी शरणमें आ जा, मैं (स्वयं ही) तुझे सारे पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता न कर।'

ये सारी बातें होते हुए भी हम उनकी शरण नहीं होते, इसका प्रधान कारण यही है कि हमें उनकी सर्वज्ञता, दयालुता, सर्वशक्तिमत्तापर विश्वास नहीं है। हम वस्तुतः उन्हें अपना परम सुहृद् नहीं जानते—इसी विश्वासकी कमीसे हम उन्हें न भजकर अन्य उपायोंसे सुख-शान्तिकी प्राप्ति चाहते हैं और इसीलिये बारम्बार एक दुःखके राज्यसे दूसरे महान् दुःखके राज्यमें प्रवेश करते हुए दुःखमय बन रहे हैं।

एक उपाय

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

श्रीभगवान् कहते हैं—'अर्जुन! बहुत जन्मोंके अन्तके जन्मोंमें ज्ञानवान् भक्त 'यह सब कुछ वासुदेव ही है' इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा बहुत दुर्लभ है।'

भगवान्के इन वचनोंसे यह सिद्ध है कि जो पुरुष सबको भगवान् समझकर भगवान्का भजन करता है, उसका फिर जन्म नहीं होता; क्योंकि ऐसा साधन जिस जन्ममें होता है, वही बहुत-से जन्मोंके अन्तका जन्म है। गीताका अध्ययन करनेवाले इस सिद्धान्तसे भलीभाँति परिचित हैं कि भगवान् ही इस विश्वके रूपमें प्रकट हो रहे हैं। सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देवताओंसहित समस्त विश्वप्रपंच ही उनका स्वरूप है। वे ही जगत्के भिन्न-भिन्न रूपोंमें अपनेको प्रकट कर रहे हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७। ७)

'अर्जुन! मेरे अतिरिक्त किंचित् भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सारा जगत् सूतमें सूतके मणियोंकी भाँति केवल मुझमें ही गुँथा हुआ है।' इसी परम तत्त्वको जाननेकी और जाननेवालेकी महिमा गीतामें स्थान-स्थानपर गायी गयी है। कुछ स्थल देखिये—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

(४। २४)

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(५। १८-१९)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६। २९—३२)

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि × × × ×॥

(७। १२)

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

(९। ४)

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

(१०। ८)

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

(१८। २०)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'अर्पण ब्रह्म है, हवि (हवन-सामग्री) ब्रह्म है, अग्निरूप ब्रह्ममें कर्तारूप ब्रह्मके द्वारा जो हवन किया गया है वह भी ब्रह्म ही है। अतः कर्मरूप ब्रह्ममें समाधिस्थ पुरुषरूप ब्रह्मको प्राप्त होनेयोग्य वस्तु भी ब्रह्म ही है। विद्या और विनयसे युक्त (पूजनीय)

ब्राह्मणमें, (पवित्र दूध देनेवाली मातारूप) गौमें, (राजाओंके वाहन) हाथीमें, (न छूनेलायक तामसी पशु) कुत्तेमें और (पापदेह) चाण्डालमें (इतने व्यावहारिक भेद होनेपर भी) जो (आत्मरूपसे) समभावसे देखनेवाले हैं, वे ही पण्डित हैं। जिनका मन (इस प्रकार) समत्वमें स्थित है, वे जीते हुए ही सम्पूर्ण संसारको जीत लेते हैं (वे ही जीवन्मुक्त हैं); क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है और वे ब्रह्ममें स्थित हैं। परमात्मारूपी योगमें युक्त सर्वत्र समभावसे देखनेवाला योगी पुरुष आत्माको (बर्फमें जलकी भाँति) समस्त भूतोंमें व्यापक और सम्पूर्ण भूतोंको (स्वप्नसे जागे हुए पुरुषकी दृष्टिमें स्वप्नके संसारकी भाँति अपने संकल्पके आधारपर) आत्मामें देखता है। (आत्मा परमात्मा ही है अतएव) जो पुरुष सर्वत्र मुझको (आत्मरूप भगवान्‌को व्यापक) देखता है और सब भूतोंको मुझ भगवान्‌में (आकाशमें वायुकी भाँति) देखता है, उससे मैं कभी अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे कभी अदृश्य नहीं होता। इस प्रकार जो पुरुष एक परमात्माके भावमें स्थित होकर सर्व भूतोंमें स्थित मुझ भगवान्‌को भजता है, वह योगी सब कुछ करता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है। अर्जुन! ऐसा जो योगी अपनी ही सदृश्यतासे सब भूतोंमें (आत्मरूप भगवान्‌को) सम देखता है और सुख-दु:खको भी (सम देखता है) वही योगी परमोत्तम माना गया है। (अधिक क्या) सात्त्विक, राजस और तामस सभी भाव मुझसे ही होते हैं, तू ऐसा जान। (यह सारा जगत्) मुझ निराकार परमात्मासे परिपूर्ण है। मैं ही सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सारे जगत्‌में प्रवृत्तिचेष्टा हो रही है, इस प्रकार समझकर ही बुद्धिमान् पुरुष प्रेमसे मुझ परमात्माको भजते हैं। अतएव तू उसी ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान समझ कि जिससे (यह मनुष्य) अलग-अलग दीखनेवाले सब भूतोंमें एक ही अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे देखता है। जिस परमात्मासे सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उस (सर्वत्र स्थित एक) परमात्माको अपने कर्तव्य-कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धि (मोक्ष)-को प्राप्त होता है।'

गीताके उपर्युक्त थोड़े-से अवतरणोंसे यह सिद्ध हो जाता है, भगवान् ही विश्वरूपसे प्रकट हैं और इस बातको समझकर उनकी सेवा-पूजा करनेसे बहुत ही शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति होती है। विभिन्नतामें एकता देखना, नाना प्रकारके रंग-रूपवाले जगत्‌में एक ही परमात्माके स्वरूपको देखना—यही तो आर्य-ऋषियोंका परम आदर्श है। श्रीगोसाईंजी महाराज इसी आदर्शको लक्ष्य करके सब जगत्‌को ***'सीय राममय'*** जानकर ***'जुग पानी'*** जोड़कर प्रणाम करते हैं। यही परमोच्च साधना है। परंतु पद-पदपर विविधताका खेल देखनेवाले हमलोग इस साधनाको कैसे करें? सिद्धान्तसे यह बात मान ली जाती है, बुद्धि स्वीकार भी कर लेती है, परंतु जबतक वस्तुत: ऐसी स्थिति नहीं हो जाती, तबतक कुछ भी नहीं है। व्यवहारमें हजार भेद होनेपर भी यह स्थिति हो सकती है और सारा बाहरी व्यवहार समान करनेकी चेष्टा करनेपर भी यह स्थिति नहीं होती। इसका सम्बन्ध तो मनसे है। जबतक चित्तकी वृत्तिमें परमात्मासे भिन्न जगत्‌की सत्ता बनी है, तबतक ऊपरसे कितना ही समताका ढकोसला क्यों न किया जाय, सब व्यर्थ होता है। जगत्‌की भिन्न सत्ताको भगवान्‌की एक अखण्ड सत्तामें मिला देना होगा, जो यथार्थ सत्य है। इसके लिये उपाय है बार-बार चित्तवृत्तिसे इस दृश्य जगत्‌की सत्ताको हटाना और उसके स्थानपर परमात्माकी सत्ताको स्थापित करना। यह अभ्यास इसमें बड़ा सहायक होगा। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—यह अस्थिर और चंचल चित्त ज्यों-ज्यों संसारकी ओर जाय त्यों-ही-त्यों इसे रोककर परमात्मामें लगावे* (६। २६)। जिस दिन चित्तसे जगत् उठ जायगा, उस दिन जगत् रहेगा नहीं। हमलोगोंका सबका यह अनुभव है कि जिस समय हम किसी महान् दु:खप्रद घटनाको चित्तसे भूल जाते हैं, उस समय वह घटना हमारे लिये नहीं रहती, इसीलिये उस समय उस दु:खका हमें कुछ भी अनुभव नहीं होता। इस प्रकार जब हम कुछ देरके लिये चित्तसे किसी बातको दूर कर सकते हैं, तब अभ्याससे सदाके लिये भी इस सारे प्रपंचको हटा सकते हैं। दृढ़तासे लगकर अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। अभ्यास न होनेके कारण ही बुद्धिमें युक्तिसे सर्वथा ठीक जँचनेवाला यह सिद्धान्त वस्तुत: कार्यरूपमें परिणत नहीं हो पाता।

* यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

यह सिद्धान्त केवल युक्तिसंगत ही नहीं है, वास्तवमें सर्वथा सत्य है। कोई यह न समझे कि 'बुद्धिमें युक्तिसे ऐसे जँचता है या हमारे दीर्घकालके अभ्याससे वृत्तियाँ ही परमात्माके स्वरूपमें हमें दिखायी देती हैं, इसके अतिरिक्त परमात्मा और कुछ नहीं है।' यह समझकर परमात्माको सबमें देखनेका अभ्यास करना तो फलमें व्यर्थ ही होगा; क्योंकि इसमें परमात्मा असलमें हैं नहीं, परमात्माका आधार हमारी युक्तियाँ, भावनाएँ और वृत्तियाँ ही हैं। तब ऐसे परमात्माका गहरा अस्तित्व ही क्या है। हमारी युक्तियों, भावनाओं और वृत्तियोंके बदलते ही या उनके मिटते ही उनके आधारपर टिका हुआ परमात्मा भी बदल जायगा या नहीं रहेगा; परंतु यह बात नहीं है, हम मानें या न मानें, परमात्मा हैं ही, हमारे न माननेसे उनके अस्तित्वमें कोई बाधा नहीं पहुँचती। हमें यही समझकर अभ्यास करना चाहिये कि आज जो अज्ञानवश हम परमात्माको नहीं देख पाते, अभ्याससे—सब परमात्मा हैं, इस भावसे सर्वत्र भगवद्दर्शनके अभ्याससे, हमें यथार्थ ही सर्वत्र व्याप्त सभी रूपोंमें व्यक्त एक परमात्माका साक्षात्कार हो जायगा। जबतक ऐसा दृढ़ और व्यापक अभ्यास न हो जाय, तबतक शिथिलता न आने देकर लगातार अभ्यास करते ही रहना चाहिये। बार-बार चित्तकी वृत्तियोंसे प्रपंचको, दृश्य जगत्के बाह्यरूपको हटाकर परमात्माकी भावना करनी चाहिये। पुन:-पुन: यह दृढ़ निश्चय करना चाहिये कि श्रीपरमात्मदेव ही अनेक रूपोंमें प्रकट होकर अनेक प्रकारकी लीलाएँ कर रहे हैं। प्रात:काल नींद खुलनेसे लेकर रातको सोनेतक हमें जिनसे बोलना पड़े, व्यवहार करना पड़े, उन सबमें यही भावना करनी चाहिये कि इन सारे वेषोंमें श्रीपरमात्मा ही हमारे साथ खेल रहे हैं। जो कोई सामने आवे, जिससे भी बोलने या मिलनेका काम पड़े, सबसे पहले इस रहस्यको स्मरण कर लिया जाय कि इस स्वाँगको धारण किये श्रीपरमात्मा ही हमारे सामने खड़े हैं—यह स्मरणकर और समझकर, इस बातको याद रखते हुए ही उसके साथ मिलना, बोलना और उसके तथा अपने स्वाँगके अनुसार यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये। नौकरके साथ मालिकका-सा, स्त्रीके साथ पतिका-सा, पिता-माताके साथ पुत्रका-सा, गुरुके साथ शिष्यका-सा, शिष्यके साथ गुरुका-सा, प्रजाके साथ राजाका-सा, राजाके साथ प्रजाका-सा, मित्रके साथ मित्रका-सा, यहाँतक कि वैरीके साथ कर्तव्यवश वैरीका-सा व्यवहार भी सब प्रकारसे दोषरहित, कल्याणका कारण और परम शुद्ध हो सकता है—यदि वह परमात्माको पहचानकर उनके आज्ञानुसार राग-द्वेषरहित होकर लीलावत् किया जाय। कम-से-कम बुरा भाव तो उसी समय मिट जायगा, जब कि हम परमात्मा समझकर किसीसे बर्ताव करेंगे। वेष बदले हुए प्रिय बन्धुको पहचान लेनेपर उसके साथ बुरा बर्ताव कैसे किया जा सकता है। परमात्मा भी वेष बदलकर नाना रूपोंमें प्रतिक्षण हमारे सामने आते हैं, हम उन्हें पहचानते नहीं, इसीलिये धोखा खाते और पाप करते हैं, पहचान लें तो फिर व्यवहारमें दोष नहीं आ सकता।

व्यवहारमें चाहे लाख भेद रहे, मनमें राग-द्वेष और अपना-पराया नहीं रहनेसे दोष या पापकी सम्भावना नहीं है, परंतु यह सिद्धान्त केवल कहने-सुनने या लिखने-पढ़नेका ही नहीं रहना चाहिये। जीवनमें यह कार्यरूपमें परिणत होना चाहिये, तभी हम इससे वास्तविक लाभ उठा सकते हैं। इसमें पहले-पहले तो केवल स्मरण ही रखनेकी बात है। कम-से-कम जिस किसीसे भी मिलने-बोलनेका काम पड़े, उसी क्षण पहले उस रूपमें भगवान् समझकर मन-ही-मन भक्ति-भावसे उसे प्रणाम कर ले और फिर इस बातको याद रखते हुए ही उससे यथायोग्य व्यवहार करे। ऐसा प्रयोग घर और बाहरमें सबके साथ किया जा सकता है। कुछ दिन करके देखिये, कितना आनन्द मिलता है, पाप-ताप कैसे हमसे दूर भागने लगते हैं, आसुरी सम्पत्ति छिपने लगती है और स्वयमेव ही दैवी सम्पत्तिका प्रादुर्भाव होकर शान्ति हमारे समीप कितनी तेजीसे आना चाहती है।

जब हमारा अपने घरके लोगोंमें और व्यवहारसे सम्बन्ध रखनेवाले मनुष्योंमें भगवद्भाव हो जायगा, तब आगे बढ़ते देर नहीं लगेगी। फिर सभी चराचर उसीका स्वरूप दीखेगा, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति और जीवन-मरण उसी नाटकके परदे होंगे। उस प्यारेके सिवा कुछ रह ही नहीं जायगा। फिर न द्रष्टा रहेगा न दृश्य। जो कुछ रहेगा, सो अनिर्वचनीय ही है।

अतएव परमानन्दकी प्राप्तिके इस एक ही महान् साधनमें सबको लगनेका प्रयत्न करना चाहिये। इस एक ही उपायसे मनुष्य-जीवन सफल हो सकता है।

अल्पमें सुख नहीं है

'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति'

(छा० उ० ७। २३। १)

श्रुति कहती है 'अल्पमें सुख नहीं है, जो भूमा—महान् निरतिशय है, वही सुख है।' इसीलिये जीव चिरकालसे सुखकी खोजमें भटकता है, परंतु कहीं तृप्त नहीं होता। हो भी कैसे? उसने अभीतक अल्पमें ही चक्कर काटे हैं, पूर्णके दरवाजेपर पहुँचे तब न उसको सुखकी झाँकी नसीब हो, अबतक तो उसने जिस-जिस चीजको सुखका साधन समझकर अपनाया, वह अन्तमें दुःखदायी ही साबित हुई, इसीसे यह अशान्त हुआ जहाँ-तहाँ कराहता, कलपता, बिलखता दौड़ रहा है और बार-बार ठोकरें खा-खाकर गिरता और क्लेश सहता है।

यह बात नहीं कि जीव पूर्णके दरवाजेतक पहुँचनेका अधिकारी नहीं है, वह सच्चा अधिकारी है, परंतु उसने भ्रमसे पूर्णको भूलकर—अपूर्णको और अनित्यको पूर्ण और नित्य, तथा असत् और दुःखमयको ही सत् और सुखरूप मान लिया है, इसीसे वह इन्हींमें प्रीतिकर, इन्हींमें रमकर, बार-बार मृत्युकी क्लेशकारिणी कराल मूर्तिको देख-देखकर काँपता और रोता है, तो भी इन्हें छोड़ना नहीं चाहता; यही उसका अज्ञान है, यही अविद्याका जाल है जिसमें फँसकर उसने अपने स्वरूप और अधिकारको भुला ही दिया है।

इसी अविद्याके जालको काटनेकी आवश्यकता है। वेद-शास्त्र, संत-महात्मा इसीके लिये कठोर साधन करना बतलाते हैं, इसीके लिये साधक शास्त्र और संतोंका संग किया करते हैं। पर शास्त्र और संतोंके संगको तभी सफल समझना चाहिये, जब यह अविद्याका जाल कट जाय, अज्ञानका अन्धकार नष्ट हो जाय। यह अज्ञान ही हमारा परम शत्रु है, जिसने हमें एक होते हुए भी अपने स्वरूप परमात्मासे विलग कर रखा है, मिथ्यामें सत्ता और मोह उत्पन्न कराके हमें संसृतिके प्रवाहमें डाल रखा है। जैसे अन्धकारका नाश प्रकाशसे होता है, अमावास्याकी घोर काली निशा अरुणोदयकी लालिमाको देखते ही सकुचाकर दुबक जाती है, अपनेको छिपाने लगती है और सूर्यका प्रकाश होते-होते सर्वथा नष्ट ही हो जाती है। वैसे ही यह अज्ञान तम भी ज्ञानकी विमल और प्रखर ज्योतिसे ही नष्ट होता है। ज्ञानके बिना अज्ञानका नाश कभी सम्भव नहीं, इसीलिये मनुष्य-जीवनका सर्वप्रथम और सर्वोपरि कर्तव्य ज्ञानको—तत्त्व-ज्ञानको प्राप्त करना है, जिसके मिलते ही सारे दुःख—क्लेश सदाके लिये शान्त हो जाते हैं, यह ज्ञान ही भगवत्कृपासे प्रेमके रूपमें परिणत होकर बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, तनमें-मनमें, वाणीमें-बुद्धिमें, बैठनेमें-चलनेमें, सोनेमें-जागनेमें, दृष्टिमें-अदृष्टिमें, केवल एक दिव्य सत्य-चेतन आनन्द भर देता है। फिर सब ओर, सर्वदा, सबमें एक दिव्य परमात्म-सत्ता ही छा जाती है; छायी तो वह अब भी है, परंतु अब अज्ञानावृत जीव उसे प्रत्यक्ष नहीं करता, उसका अनुभव नहीं करता, पर जब ज्ञानालोकसे अज्ञानान्धकार मिट जाता है, जब जीव और शिवकी एकता हो जाती है, तब फिर जो कुछ रह जाता है, वही बस पूर्ण '**सत्यं शिवं सुन्दरम्**' है। वह दिशा, काल, मान आदिमें सर्वत्र व्याप्त है। यही नहीं, दिशा, काल, मान आदि सब उसीमें कल्पित हैं। वह एक है, अनुपम है, अपरिमेय है, अनादि है, आदि है, अनन्त है, नित्य है, सत्य है, ज्ञान है, प्रेम है, परमानन्द है, परम-रसरूप है, अटल है, असीम है, अज है, अकल है, अगम्य है, अनिर्देश्य है, अव्यक्त है और अनिर्वचनीय है। इसीलिये श्रुतियोंने '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**', '**प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म**' आदि कहकर भी उसे 'नेति-नेति' कहा है; क्योंकि किसी भी शब्दसे, किसी भी बुद्धि-वृत्तिसे उसको व्यक्त नहीं किया जा सकता, उसको बतलानेके लिये जितने नाम, भाव और उदाहरण हैं, वे सभी अपूर्ण हैं और वस्तुतः उसका स्वरूप प्रकाशित नहीं कर सकते। परंतु उसका कुछ बाहरी भाव, उसकी छाया समझमें आ जाय, इसीलिये 'शाखा-चन्द्र-न्याय' से इन शब्दोंकी कल्पना की गयी है। शब्द भी तो वही है, आरम्भमें वह शब्द ही बनकर सृष्टिका सूत्रपात करता है। इसलिये शब्दमेंसे होकर ही हम उसके स्वरूपतक पहुँच सकते हैं, इसीसे 'शब्द-ब्रह्म' की इतनी महिमा है।

उस चरम स्थितिकी प्राप्ति जिस तत्त्वज्ञानसे होती है, जो इस चरम स्थितिका पर्याय ही है, वह हमें कैसे

मिल सकता है? इसके लिये अल्पसे वृत्ति हटाकर उसको अनन्त और असीममें लगाना होगा—मनमें महदाकांक्षा उत्पन्न करनी पड़ेगी, यह महदाकांक्षा ही वेदान्तकी 'मुमुक्षुता' है, बिना अनन्य मुमुक्षुत्वके मुक्ति नहीं मिलती, यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये।

जबतक हम प्राणाधार मनमोहनको सर्वोपरि सुख, प्रेम और कल्याणका अथाह असीम समुद्र मानकर उसको प्राप्त करनेकी एकमात्र इच्छापर लोक-परलोककी सारी सुखेच्छाओंको न्योछावर नहीं कर सकते, जबतक हम उस प्यारे-दुलारे साँवरेके प्यारे अरुणारे चरणोंपर इस लोक और परलोकका सारा सुख और ऐश्वर्य लुटा नहीं देते, जबतक हम उस प्राण-प्रियतमकी चरण-धूलि लाभ करनेके लिये सबका मोह छोड़कर विरहकातर प्राणोंसे आँसुओंकी धारा बहाते हुए यमुनाकूलमें कदम्ब-वृक्षकी ओर पागल होकर नहीं दौड़ते, जबतक हमारे मनकी एक-एक वृत्ति—हमारी चित्त-सरिताकी एक-एक तरंग उछलती-कूदती सब प्रकारके बन्धन-प्रतिबन्धनोंके पहाड़ों और पर्वतोंको पददलित करती, तोड़ती और लाँघती हुई उस असीम आनन्द-समुद्र श्यामसुन्दरमें मिलकर एकत्वको प्राप्त करनेके लिये एक तारसे, एक चालसे, अनन्यभावसे और तीव्र गतिसे बहना शुरू नहीं करती तबतक हमें वह मोहन कैसे मिल सकता है? तबतक कैसे हम दावेके साथ कह सकते हैं कि हम पुकारते हैं पर वह बोलता नहीं? हम बुलाते हैं पर वह आता नहीं? हम चाहते हैं पर वह चाहता नहीं? जिस दिन उसकी प्यारी चाह जगत्‌की और सारी चाहोंको खो बैठेगी, जिस दिन हमारे प्राण व्याकुलतासे उसे पुकार उठेंगे—उस दिन हमसे बोले बिना, मिले बिना, हमें हृदयसे लगाये बिना उससे नहीं रहा जायगा। सच बात तो यह है कि वह तो हमसे मिलना चाहता है, परंतु हमें उसकी परवा नहीं है। उस प्यारे दिलदार मोहनकी माधुरी छबिके सामने जगत्‌की कौन-सी चीज है जो हमें अभिसारसे अटकाकर रख सकती है, उस रूपकी छटाका भान हो जानेपर तो तन-मन-धन और लोक-परलोक सब आप ही उसपर लुट पड़ता है, ऐसी कोई चीज ही नहीं रह जाती जो उसके चरण-रज-कणकी कीमतमें न दी जा सके, सब कुछ देकर भी वह मिल जाय तो भी उसे सस्तेमें ही मिला समझो—प्रियतमके दीदार-दीवाने कबीरजी पुकारते हैं—

इस तनका दिवला करौं बाती मेलौं जीव।
लोहू सींचौं तेल ज्यौं, कब मुख देखौं पीव॥

फिर उसे दूसरी चीज भाती ही नहीं, उसके मन और कोई बात समाती ही नहीं, उसके नेत्रोंमें और कोई छबि आती ही नहीं—

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर-छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि पथिक आप फिर जाय॥

दूसरा कहता है—

तुझे देखें तो फिर औरोंको किन आँखोंसे हम देखें।
ये आँखें फूट जायें गर्चे इन आँखोंसे हम देखें॥

संत श्रीदादूजी महाराज ऐसे विरहीकी दशाका वर्णन करते हैं—

जिस घट इश्क अलाहका तिस घट लोहि न माँस।
दादू जियमें जक नहीं, सिसकै साँसों-साँस॥
दादू इश्क अलाहका जो प्रगटै मन आय।
तो तन-मन-दिल अरवाहका सब परदा जलि जाय॥
जहँ बिरहा तहँ और क्या जप-तप साधन योग।
दादू बिरहा ले रहै, छाड़ि सकल रस-भोग॥
दादू तड़फै पीड़ सों बिरही जन तेरा।
सिसकै साँई कारणै मिलु साहेब मेरा॥
जिस घट बिरहा रामका उस नींद न आवै।
दादू तड़फै बिरहनी, उस पीड़ जगावै॥
बिरह-बियोग न सहि सकौं मोपैं सह्यो न जाय।
कोई कहो मेरे पीवकौं दरस दिखावै आय॥
बिरह-बियोग न सहि सकौं, निसदिन सालै मोहिं।
कोई कहौ मेरे पीवकौं कब मुख देखौं तोहिं॥
बिरह-बियोग न सहि सकौं तन-मन धरैं न धीर।
कोई कहौ मेरे पीवकौं मेटै मेरी पीर॥

इस विरहकी दशामें जब प्राण-प्रिय तान-तानकर हृदयमें बाण मारता है, तब तो कुछ विचित्र ही अवस्था हो जाती है। अन्तमें होता यह है कि बाण मारनेवाला ही रह जाता है, जिसके बाण लगता है उसकी पृथक् सत्ता ही मिट जाती है—इसी दृश्यकी चाहना करते हुए महात्मा दादू पुकारते हैं—

दादू मारै प्रेम सौं बेधै साध सुजाण।
मारणहारे कौं मिलै, दादू बिरही-बाण॥
मारणहारा रहि गया, जेहि लागे सो नाहिं।

कबहूँ सो दिन होयगो, यह मेरे मन माहिं॥

विरह-बाण लगनेपर 'वह दिन' आते देर नहीं लगती, जब भक्त उस प्राणाधार विश्वाधार विश्वात्मा मुरलीमनोहरको जानकर, देखकर और उसके हृदयमें छिपकर कृतार्थ हो जाता है। बस, यह विरह-ताप—यह अनन्य प्रेम ही उस पूर्ण प्रियतमके मिलनेका सर्वोत्तम साधन है—स्वयं श्यामसुन्दर कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११।५४)

'परम तपस्वी अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा ही मैं तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ, प्रत्यक्ष दर्शन दे सकता हूँ और भक्तका मुझमें प्रवेश हो सकता है।'

बस, यह प्रभु-मिलन ही पूर्णकी प्राप्ति है, यही सुखकी पराकाष्ठा है। अल्पको छोड़कर इसी महान्—पूर्णके लिये, पूर्ण प्रयत्न करना मनुष्यका परम धर्म है।

पुरुषोत्तम-तत्त्व

विचार करनेपर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीमद्भगवद्गीताका प्रधान प्रतिपाद्य साध्यतत्त्व 'पुरुषोत्तम' है और उसके प्राप्त करनेका प्रधान साधन भगवान्‌की 'अनन्य शरणागति' या 'पूर्ण समर्पण' है। इसी परमतत्त्वके विवेचनमें प्रसंगानुसार गीतामें विविध अवान्तर तत्त्वोंकी और साधनोंकी आलोचना हुई है। जिस प्रकृति और पुरुषके संयोगसे भगवान् अपनेको अनन्त ब्रह्माण्डरूपमें प्रकाशित किये हुए हैं, वे 'प्रकृति-पुरुष' तत्त्व गीताके अनुसार भगवान्‌की अपनी ही 'अपरा' और 'परा' नामक दो प्रकृतियाँ हैं (गीता ७। ४-५)। 'अपरा' जड है और 'परा' चेतन है। इस चेतन परा प्रकृतिके द्वारा ही समस्त जगत् विधृत है। भगवान्‌की यह चेतन प्रकृति उनकी स्वरूपभूता महाशक्तिका ही अंश है।

तेरहवें अध्यायमें जिन प्रकृति-पुरुषका विवेचन है, वे प्रकृति-पुरुष यह अपरा और परा प्रकृति ही हैं; परंतु यह गीतोक्त पुरुष सांख्यका 'नाना पुरुष' नहीं है। यह भगवान्‌की जीवभूता चेतन प्रकृति है, जो लीलासे अनन्त जीवोंके रूपमें प्रतिभात होती है।

सांख्य इन दोनों तत्त्वोंको मूलतः पूर्णरूपसे पृथक् और उनके अविवेककृत संयोगके परिणामस्वरूप अनन्त विचित्र गुण-क्रियादियुक्त व्यक्त जगत्‌का उदय मानता है। सांख्यका सिद्धान्त है—पुरुष निर्विकार, निष्क्रिय, गुणातीत और चित्स्वरूप है; प्रकृति विकारशील, परिणामिनी, क्रियावती और त्रिगुणमयी है। पुरुष और प्रकृति दोनों सर्वथा विपरीत धर्मवाले दो पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। इनमें गुणमयी प्रकृति मूलउपादान कारण है। उसीके परिणामसे जगत्‌के समस्त पदार्थोंकी अभिव्यक्ति हुई है, परंतु पुरुषके संयोग बिना प्रकृतिमें परिणाम नहीं होता और परिणाम हुए बिना जगत्‌की उत्पत्ति नहीं होती। व्यक्त जगत्‌में प्रकृतिका धर्म पुरुषपर और पुरुषका धर्म प्रकृतिपर आरोपित होता है। मूलतः दोनों पूर्णरूपसे पृथक् हैं। उनका संयोग अविवेकमूलक है और अनादिकालसे है। तत्त्व-विमर्शके द्वारा इनके पार्थक्यका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर यह संयोग टूट जाता है, परंतु इससे जगत् मिट नहीं जाता। जिस पुरुषविशेषकी बुद्धिमें इस पार्थक्यकी यथार्थ अनुभूति होती है, उसके लिये जगत् नहीं रहता। वह पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्धरहित होकर अपने नित्य शुद्धस्वरूपमें स्थित हो जाता है; यही मुक्ति है। अवशेष समस्त पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्धयुक्त ही बने रहते हैं। इस प्रकार सांख्यदर्शन पुरुषोंकी अनन्तताका प्रतिपादन करता है।

वेदान्तका प्रचलित सिद्धान्त सांख्यकी इस तत्त्वविवेचनाको स्वीकार करता है, परंतु परमार्थतः नहीं। परमार्थकी स्थितिमें वह ब्रह्मके अतिरिक्त किसीका अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। रज्जुमें सर्पकी भाँति समस्त विश्वको और विश्वकी सारी कर्मधाराको वह मिथ्या, अविद्या-सम्भूत और बिना हुए ही प्रतिभास होनेवाली बतलाता है। वेदान्त तीन सत्ता मानता है—१—पारमार्थिक, २—व्यावहारिक और ३—प्रातिभासिक। पारमार्थिक सत्तामें अर्थात् वास्तवमें एक ब्रह्म ही है। अन्य सबका अत्यन्ताभाव है। ब्रह्म मन-वाणीसे अतीत है। मायासे ब्रह्ममें स्पन्दन माना जाता है, इस स्पन्दनके उत्पन्न होनेपर व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताका आविर्भाव होता है। जाग्रत्‌में व्यावहारिक सत्ता और स्वप्नमें प्रातिभासिक सत्ता मानी जाती है। व्यावहारिक सत्तामें छः पदार्थ हैं—ब्रह्म, ईश्वर, जीव, तीनोंका

परस्पर भेद—अविद्या और अविद्याके साथ जीवका सम्बन्ध। व्यावहारिक सत्तामें ये सभी अनादि हैं। इनमें पाँच अनादि-सान्त हैं। एक ब्रह्म ही अनादि-अनन्त है। जीव और ब्रह्ममें स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। सारा भेद उपाधिकृत है। अविद्याकी उपाधिवाला जीव, मायाकी उपाधिवाला ईश्वर और इन दोनोंसे सर्वथारहित ब्रह्म है। उपाधि अज्ञानमें है। व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ता भी अज्ञानमें ही हैं।

परंतु गीता इन दोनोंसे विलक्षण कुछ नयी बात कहती है। गीताके सिद्धान्तके अनुसार जगत्की उत्पत्ति पुरुष-प्रकृतिके संयोगसे हुई है, यह सत्य है, परंतु गीताका वह पुरुष भगवान्की ही एक प्रकृति है और वह एक ही है। साथ ही ये ही (दोनों प्रकृति और पुरुष ही) परम तत्त्व भी नहीं हैं। इन दोनोंसे परे एक मूल तत्त्व और है और ये दोनों उसी तत्त्वके द्विविध प्रकाशमात्र हैं। इसीके साथ-साथ गीता स्पष्टरूपसे कहीं यह भी नहीं कहती कि 'यह जगत् रज्जुमें सर्पकी भाँति सर्वथा अविद्याकृत है और बिना हुए ही भास रहा है। और अविद्या तथा मायाकी उपाधिसे जीव, ईश्वर तथा ब्रह्ममें व्यावहारिक भेद है।' भगवान् विश्वको अपने सकाशसे अपनी अध्यक्षतामें अपनी ही प्रकृतिके द्वारा प्रादुर्भूत बतलाते हैं और अपने उसमें नित्य व्याप्त रहनेकी घोषणा करते हैं। यह नित्य परिवर्तनशील, अनन्त विचित्र शक्तियों और पदार्थोंसे तथा उनके संयोग-वियोग एवं प्रकाश-तिरोधानसे युक्त समस्त जगत् लीलामय भगवान्की ही अभिव्यक्ति है। जड अपरा प्रकृतिमें भगवान्का अक्षर और चिद्भाव पूर्णतः आवृत है और परा चेतन प्रकृतिमें वह निर्विकार, अक्षर, असंग और प्रकाशशील चित्स्वभाव पूर्णतया सुरक्षित है तथा भगवान्की स्वरूपभूता शक्तिके अंशरूप इसी चेतन परा प्रकृतिकी सत्ता और शक्तिद्वारा यह समस्त जगत् विधृत है। अर्थात् जगत् नहीं है ऐसा नहीं, जगत् है और वह भगवान्से भरा हुआ है। लीलासे अभिन्न लीलामय भगवान्का नित्य लीलाक्षेत्र है। अवश्य ही जो भगवान्को भूलकर, भगवान्को न मानकर केवल जगत्को देखते हैं, उनके लिये यह जगत् अत्यन्त भयंकर और दुःखमय है।

परंतु गीतोक्त 'पुरुषोत्तम-तत्त्व' केवल इस विश्वमें व्याप्त है, इतनी ही बात नहीं है, वह विश्वसे परे भी है। विश्व तो उसके ऐश्वर्ययोगके एक अंशमात्रमें है। वह अनन्त है, असीम है, अनिर्वचनीय है, अचिन्त्य है और नित्य अपनी महिमामें स्थित है। इस समस्त जगत्के अंदर और जगत्से परे जो सब तत्त्व हैं, वे समस्त तत्त्व इस पुरुषोत्तमकी ही अभिव्यक्ति हैं। सम्पूर्ण तत्त्वोंमें सर्वापेक्षा श्रेष्ठ, निर्लेप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चरम तत्त्व है—अक्षर ब्रह्म। गीतामें भगवान् पुरुषोत्तम स्पष्ट घोषणा करते हैं कि उस 'ब्रह्म' की प्रतिष्ठा भी मैं ही हूँ (१४। २७)। आठवें अध्यायमें जिन छः तत्त्वोंका भगवान्ने विवेचन किया है और सातवें अध्यायके अन्तमें अपने समग्ररूपका प्रतिपादन करते हुए जिन तत्त्वोंके सहित अपनेको जाननेकी बात कही है, उन तत्त्वोंमें भी स्पष्टतः 'अक्षर ब्रह्म' का नाम आया है। भगवान्ने बतलाया है कि १—परम अक्षर 'ब्रह्म' है, २—मेरी अपरा प्रकृतिके साथ संलग्न निर्विकार परा प्रकृतिरूप जो मेरा भाव है वह 'अध्यात्म' है, ३—अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न समस्त भूतरूप मेरा क्षरभाव ही 'अधिभूत' है, ४—भूतोंका उद्भव और अभ्युदय—पुरुषद्वारा प्रकृतिके ईक्षणरूप अथवा संकल्परूप जिस विसर्गसे होता है, वही 'कर्म' है, ५—विराट् ब्रह्माण्डाभिमानी हिरण्यमय पुरुष ही 'अधिदैव' है, इसीको ब्रह्मा कहते हैं और ६—शरीरमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित विष्णुरूप मैं ही 'अधियज्ञ' हूँ। तथा अन्तकालमें भी जो पुरुष मेरे इस समग्र-स्वरूपका स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है, वह मेरे ही भावको प्राप्त होता है (गीता ८। ३—५)।

गीताके '**अहम्**', '**मम**', '**माम्**', '**मे**', '**मयि**' आदि अस्मत् पदोंसे और पूर्वापरका सारा विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही गीताके पुरुषोत्तम तत्त्वके दिव्य मूर्तस्वरूप हैं। गीताकी सारी आलोचना इन्हींको लेकर हुई है और स्थान-स्थानपर नाना प्रकारसे इन्होंने अपनेको जगद्व्यापी, जगत्स्रष्टा, जगन्मय और जगत्से अत्यन्त अतीत परम तत्त्व घोषित किया है।

ये श्रीकृष्ण निर्गुण हैं या सगुण, निराकार हैं या साकार, ज्ञेयतत्त्व हैं या ज्ञाता, मायामय हैं या मायासे अतीत आदि प्रश्नोंका उत्तर युक्तियोंसे और प्रमाणोंसे देना तथा समझना सम्भव नहीं है। भगवान्की कृपासे ही भगवान्का कोई तत्त्व समझमें आ सकता है। गीताके

अठारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने स्पष्ट ही कहा है कि 'ब्रह्मकी प्राप्तिके अनन्तर मेरी 'परा भक्ति' मिलती है और उस परा भक्तिके द्वारा मेरे यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है' (१८। ५४-५५)।

इतना होते हुए भी शास्त्रोंके और भगवान्‌के श्रीमुखसे निकले हुए वचनोंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि वे प्रकृतिके गुणोंसे सर्वथा अतीत होनेपर भी अपने अचिन्त्यानन्त दिव्य गुणोंसे नित्य विभूषित हैं, प्राकृत क्रियाओंसे सर्वथा अतीत होनेपर भी नित्यलीलामय हैं और जड पांचभौतिक आकारसे सर्वथारहित होनेपर भी सच्चिदानन्दस्वरूप, हानोपादानरहित, देह-देहिभेदहीन, दिव्य देहसे नित्य युक्त हैं। भगवान् श्रीकृष्णने भगवान् शंकरजीसे स्वयं कहा है—

यदद्य मे त्वया दृष्टमिदं रूपमलौकिकम्।
घनीभूतामलप्रेम सच्चिदानन्दविग्रहम्॥
नीरूपं निर्गुणं व्यापि क्रियाहीनं परात्परम्।
वदन्त्युपनिषत्सङ्घा इदमेव ममानघ॥
प्रकृत्युत्थगुणाभावादनन्तत्वात् तथेश्वरम्।
असिद्धत्वान्मद्गुणानां निर्गुणं मां वदन्ति हि॥
अदृश्यत्वान्ममैतस्य रूपस्य चर्मचक्षुषा।
अरूपं मां वदन्त्येते वेदाः सर्वे महेश्वर॥
व्यापकत्वाच्चिदंशेन ब्रह्मेति च विदुर्बुधाः।
अकर्तृत्वात् प्रपंचस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि॥
मायागुणैर्यतो मेंऽशाः कुर्वन्ति सर्जनादिकम्।
न करोमि स्वयं किंचित् सृष्ट्यादिकमहं शिव॥

(पद्म०, पा० ५१। ६६—७१)

'शंकर! मेरे जिस अलौकिक रूपको आज आपने देखा है, वह विशुद्ध प्रेमकी घनमूर्ति है और सच्चिदानन्दस्वरूप है। उपनिषदोंके समुदाय मेरे इसी रूपको निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापी, निष्क्रिय, परात्पर ब्रह्म कहते हैं। मुझमें प्रकृतिजन्य गुणोंका अभाव होनेसे और मेरे अंदर गुणोंकी सत्ताको असिद्ध मानकर वे मुझे 'निर्गुण' कहते हैं और अनन्त होनेसे मुझे 'ईश्वर' कहते हैं। और मेरा यह रूप प्राकृतिक नेत्रोंसे देखनेमें नहीं आता, इसलिये महेश्वर! ये समस्त वेद मुझे रूपरहित अर्थात् 'निराकार' कहते हैं। अपने चैतन्यांशसे सर्वव्यापक होनेके कारण पण्डितगण मुझे 'ब्रह्म' कहते हैं और इस विश्वप्रपंचका कर्ता न होनेसे वे मुझे 'निष्क्रिय' कहते हैं; क्योंकि शिव! स्वयं मैं सृष्टि आदि कुछ भी कार्य नहीं करता; ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप मेरे अंश ही मायाके गुणोंसे सृष्टि आदि कार्य करते हैं।'

यह भगवान्‌का निर्गुण, निराकार और सच्चिदानन्द स्वरूप है। इसी स्वरूपमें जो भगवान्‌की अभिन्नस्वरूपभूता महाशक्ति हैं, जिनका एक अंश परा प्रकृति है और जिनके न्यूनाधिक शक्तिसम्पन्न अनेकों छोटे-बड़े रूप हैं, जो सृष्टिके सृजन, पालन और संहारमें भगवान्‌के अंशावतार वस्तुतः अभिन्नस्वरूप त्रिदेवोंकी सहायता करती रहती हैं, वे मूलशक्ति श्रीराधाजी हैं। ये भगवान् श्रीकृष्णसे सर्वथा अभिन्न हैं, केवल लीलाके लिये ही एक ही भगवान्‌के इन दो रूपोंका प्रकाश है। देवर्षि नारदने श्रीराधाजीका स्तवन करते हुए कहा है—

तत्त्वं विशुद्धसत्त्वासु शक्तिर्विद्यात्मिका परा।
परमानन्दसन्दोहं दधती वैष्णवं परम्॥
कलयाश्चर्यविभवे ब्रह्मरुद्रादिदुर्गमे।
योगीन्द्राणां ध्यानपथं न त्वं स्पृशसि कर्हिचित्॥
इच्छाशक्तिर्ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिस्तवेशितुः।
तवांशमात्रमित्येवं मनीषा मे प्रवर्तते॥
माया विभूतयोऽचिन्त्यास्तन्मायार्भकमायिनः।
परेशस्य महाविष्णोस्ताः सर्वास्ते कलाः कलाः॥
आनन्दरूपिणी शक्तिस्त्वमीश्वरी न संशयः।

(पद्म०, पा० ४०। ५३—५७)

'आप ही तत्त्वात्मिका, विशुद्धसत्त्वमयी, भगवान्‌की स्वरूपाशक्ति एवं परा विद्या हैं। आप ही विष्णुके परमानन्दपुंजको धारण करती हैं (अर्थात् उनका आनन्दांश हैं)। आपकी एक-एक कलामें अत्याश्चर्यमय ऐश्वर्य भरा हुआ है; ब्रह्मा, रुद्र आदि महान् देवगण भी आपके स्वरूपको कठिनतासे जान सकते हैं। देवि! बड़े-बड़े योगीश्वरोंके ध्यानमें भी आप नहीं आतीं। मेरी बुद्धिमें तो यह आता है कि आप ही अखिल जगत्‌की अधीश्वरी हैं और इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति आपके ही अंश हैं। मायासे बालक बने हुए मायेश्वर भगवान् महाविष्णुकी जितनी भी अचिन्त्य मायाविभूतियाँ हैं, वे सब आपकी ही अंशांशरूपिणी हैं। आप ही आनन्दरूपिणी शक्ति हैं और आप ही परमेश्वरी हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।'

इस वर्णनसे यह बात भलीभाँति सिद्ध हो जाती है

कि भगवान्‌की यह स्वरूपभूता शक्ति जगत्‌को अज्ञानसे ढक रखनेवाली जड 'माया' कदापि नहीं है। यह भगवान्‌की आनन्दस्वरूपा ह्लादिनी शक्ति है, इसीको लेकर भगवान् अवतरित हुआ करते हैं। यह अभिन्नशक्ति-शक्तिमान् स्वरूप ही 'पुरुषोत्तम-तत्त्व' है। इसी पुरुषोत्तम-तत्त्वके सम्बन्धमें देवी पार्वतीके प्रति भगवान् शंकरके ये वचन हैं—

यदङ्घ्रिनखचन्द्रांशुमहिमान्तो न विद्यते।
तन्माहात्म्यं कियद्देवि प्रोच्यते त्वं मुदा शृणु॥
अनन्तकोटिब्रह्माण्डे अनन्तत्रिगुणोच्छ्रये।
तत्कलाकोटिकोट्यंशा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥
सृष्टिस्थित्यादिना युक्तास्तिष्ठन्ति तस्य वैभवाः।
तद्रूपकोटिकोट्यंशाः कलाः कन्दर्पविग्रहाः॥
जगन्मोहं प्रकुर्वन्ति तदण्डान्तरसंस्थिताः।
तद्देहविलसत्कान्तिकोटिकोट्यंशको विभुः॥
तत्प्रकाशस्य कोट्यंशरश्मयो रविविग्रहाः।
तस्य स्वदेहकिरणैः परानन्दरसामृतैः॥
परमामोदचिद्रूपैर्निर्गुणस्यैककारणैः।
तदंशकोटिकोट्यंशा जीवन्ति किरणात्मकाः॥
तदङ्घ्रिपंकजद्वन्द्वनखचन्द्रमणिप्रभाः।
आहुः पूर्णब्रह्मणोऽपि कारणं वेददुर्गमम्॥
तदंशसौरभानन्तकोट्यंशो विश्वमोहनः।
तत्स्पर्शपुष्पगन्धादिनानासौरभसम्भवः॥
तत्प्रिया प्रकृतिस्त्वाद्या राधिका कृष्णवल्लभा।
तत्कलाकोटिकोट्यंशा दुर्गाद्यास्त्रिगुणात्मिकाः॥

(पद्म०, पा० ३८। ११२—१२०)

'देवि! जिनके चरण-नखरूपी चन्द्रमाकी किरणोंकी भी अनन्त महिमा है, उन श्रीकृष्णकी अपार महिमाका कुछ अंश मैं वर्णन करता हूँ, उसे तुम प्रसन्न होकर सुनो। जिनमें त्रिगुणोंका ही अनन्त विस्तार है, ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंमें अनन्त कोटि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर हैं; वे सब उन्हीं परम महेश्वरकी कलाके करोड़वें अंश हैं। वे उन्हींके ऐश्वर्यांश हैं और सृष्टि, स्थिति आदि अधिकारोंसे युक्त होकर उन-उन ब्रह्माण्डोंमें स्थित हैं। उनके सौन्दर्यके करोड़ों अंश कामदेवके रूपमें उन-उन ब्रह्माण्डोंमें स्थित होकर जगत्‌को मोहित कर रहे हैं। सर्वव्यापी विभु उनके दिव्य मंगल-विग्रहकी दिव्य कान्तिका करोड़वाँ अंश है और उस ब्रह्मके प्रकाशके करोड़ों अंश उन-उन ब्रह्माण्डोंमें सूर्यमण्डलोंके रूपमें स्थित हैं, भगवान्‌के उस दिव्य प्रकाशके अंशांशरूप ये किरणमय रविमण्डल उन परम प्रकाशमय भगवान्‌के दिव्य विग्रहकी परमानन्दरूप, रसमय एवं अमृतमय, अलौकिक गन्धयुक्त, चिद्रूप एवं निर्गुण ब्रह्मके कारणभूत किरणोंसे ही जीवन धारण करते हैं और भगवान्‌के युगलचरणारविन्दके नखरूपी चन्द्रकान्तमणिकी प्रभाके समान प्रकाशवाले हैं। इन भगवान् श्रीकृष्णको पण्डितगण शुद्ध पूर्णब्रह्मका भी कारण और वेदोंके द्वारा भी दुष्प्राप्य कहते हैं। विश्वको मोहित करनेवाला नाना प्रकारके पुष्पोंका गन्ध तथा अन्य प्रकारके उत्तम गन्ध इन्हींके दिव्य अंगगन्धका करोड़वाँ अंश है। उनकी वल्लभा कृष्णकान्ता श्रीराधिका आद्या प्रकृति हैं। त्रिगुणमयी दुर्गादि देवियाँ उन्हीं श्रीराधाकी कलाके करोड़वें अंश हैं।'

यही परम 'पुरुषोत्तम-तत्त्व' है और सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर एकमात्र इसीकी शरण ग्रहण करनी चाहिये।

ईश्वर-प्राप्तिके उपाय

१—ईश्वरके प्रभाव और महत्त्वको यथार्थ जाननेवाले महापुरुषोंका संग एवं उनके आदेशानुकूल आचरण।

२—ईश्वरके प्रभाव और महत्त्वसे पूर्ण शास्त्रोंका अध्ययन।

३—ईश्वरके नामका जप और गुणोंका श्रवण-कीर्तन।

४—ईश्वरका ध्यान।

५—विश्वरूप भगवान्‌की निष्कामभावसे सेवा।

६—ईश्वर-प्रार्थना।

७—ईश्वरके अनुकूल आचरण यानी सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, विनय, तप, स्वाध्याय, आस्तिकता और श्रद्धा आदिको बढ़ाना।

८—लोक-परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्य।

९—सद्गुरुमें परम श्रद्धा और गुरु-सेवा।

१०—ईश्वरमें अखण्ड विश्वास।

११—घर-बाहर सर्वत्र ईश्वर-चर्चा।

१२—अभिमान, दम्भ और कठोरताका सर्वथा त्याग।
१३—काम, क्रोध, लोभसे बचना।
१४—नास्तिक-संगका सर्वथा त्याग।
१५—परधर्म-सहिष्णुता।
१६—सबमें ईश्वरबुद्धि रखते हुए ही बर्ताव करनेकी चेष्टा।

दैवी विपत्तियाँ और उनसे बचनेका उपाय

समाचारपत्रोंको देखनेसे पता लगता है कि इस समय प्राय: सभी देशोंमें दैवी विपत्ति आयी हुई है। सर्वत्र नाना प्रकारके दैवी कष्ट आ रहे हैं। अकाल, बाढ़, तूफान आदि न मालूम कितने उत्पात हो रहे हैं। भारतमें उत्तर प्रदेशके कई जिलोंमें, बंबईमें, सौराष्ट्रमें अकाल पड़ा हुआ है। आसाम, बंगाल, बिहार, पंजाब, काश्मीर और राजपूतानामें कई नयी-नयी बीमारियाँ फैल रही हैं। इनके अतिरिक्त बिजली गिरना,नावें डूबना आदि छोटी-छोटी घटनाएँ तो प्राय: नित्य होती हैं, बेकारी तो दिनोदिन बढ़ रही है ही। सारांश यह कि चारों ओर प्राणी दु:खी हो रहे हैं। यह सब क्या है और क्यों हो रहा है? इसका यथार्थ उत्तर तो अन्तर्जगत्की स्थितिको जाननेवाले कर्मरहस्यज्ञ पुरुष ही दे सकते हैं, तथापि शास्त्र और संतोंके अनुभवके आधारपर इतना कहा जा सकता है कि यह सब हमारे अपने ही दुष्कर्मोंका फल है और हमें शुद्ध करनेके लिये भगवान्की कृपासे प्राप्त हो रहा है। भगवत्कृपाका प्रकाश विविध रूपोंमें हुआ करता है; कभी वह बड़े सौम्य स्वरूपमें अपने दर्शन देती है तो कभी बहुत ही भीषण रूपमें! जो उसे पहचानता है वह उस भीषण मूर्तिके अंदर भी उसकी त्रितापका नाश करनेवाली शान्ति-सुधामयी छविको देख पाता है, वह सभी अवस्थाओंमें भगवान्की कृपाका अनुभव करता है। प्रत्येक आघातमें वह अपने एकमात्र प्रियतमका कोमल करस्पर्श पाकर पुलकित हो उठता है और अपनेको परम सौभाग्यवान् और सुखी समझता है; परंतु जो नहीं पहचानते, वे रोते और दु:खी होते है; परंतु वे भी विपत्तिमें सम्पत्ति पाते हैं, दु:खमें भगवान्को कहीं अधिक सच्चे हृदयसे पुकारते हैं!

संसारमें कुछ भी अनियमित नहीं होता। सभी कुछ सत्य, न्याय और दयासे सनी हुई भागवती शक्तिके नियमाधीन होता है जो जीवोंके कर्मवश विविध भाँतिसे उनके शरीरोंका सृजन, पालन और संहार करती हुई उन्हें सतत कल्याणके मार्गपर अग्रसर करना चाहती है और करती रहती है। जैसे सृजन और पालनका कार्य सर्वत्र सतत नियमित चल रहा है, इसी प्रकार संहारका भी चल रहा है; परंतु किसी अज्ञात नियमके अनुसार जब एक ही जगह एक ही समयमें अधिक संहार होने लगता है, तब हम उसे कोई असाधारण घटना समझकर सिहर उठते हैं और समझते हैं मानो सर्वनाश हो गया; परंतु ऐसी बात नहीं है। जब बार-बार बिजली कौंधती है, बादल गरजते हैं, आँधी आती है और साथ ही मूसलधार वर्षा होने लगती है, तब भीगा हुआ राहका मुसाफिर जाड़ेसे काँपता हुआ सोचता है, न मालूम यह प्रलयवृष्टि बंद होगी या नहीं; परंतु थोड़ी ही देरमें बादल हट जाते हैं, आकाश निर्मल हो जाता है, सूर्यकी किरणें सब ओर अपना प्रकाश फैला देती हैं और पथिक सुखी होकर अपने गन्तव्य स्थानकी ओर चल देता है। यही तो संसारका स्वरूप है। इसमें उतराव-चढ़ाव होता ही रहता है; प्रतिक्षण परिवर्तन, रूपान्तर, मरण और सृजन हो रहा है। इस सारी लीलामें वस्तुत: एक लीलामय ही खेलता है, वह विधाता ही विधानका स्वाँग धारण करता है! उसकी कृपा उससे अभिन्न है। हम उसे पहचानते नहीं, यही हमारा मोह है। भक्त और ज्ञानी उसे पहचानते हैं; इसीलिये वे सदा सुखी रहते हैं, महान्-से-महान् दारुण दु:ख भी उनको उस सुखमयी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकता—

यस्मिन् स्थितो न दु:खेन गुरुणापि विचाल्यते।

तथापि जहाँपर जैसी लीला होती है, उसीके अनुसार सब पात्रोंको अभिनय करना पड़ता है और करना चाहिये भी। इसीसे ज्ञानी और भक्तगण भी दु:खियोंके दु:खको देखकर रोते हैं और उनके दु:खनाशके लिये तन-मन-धनसे जतन करते हैं। वस्तुत: ज्ञानी और भक्त ही सबका दु:ख दूर करना चाहते हैं, क्योंकि उनके अन्त:करणका स्वभाव ही 'सर्वभूतोंके हितमें रत रहना' और 'सबके प्रति द्वेषरहित

होकर सबके अकृत्रिम मित्र और दयालु होना' है।

'सर्वभूतहिते रताः।'

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।'

जिनका हृदय दुःखियोंके दुःखको देखकर द्रवित नहीं होता, जिनको पीड़ितोंकी करुण पुकार पीड़ित नहीं करती, उन मनुष्योंका ज्ञानी और भक्त बनना तो दूर रहा, मनुष्यत्वतक पहुँचना भी अभी नहीं हो सका है। जो लोग पापका फल बतलाकर किसी दुःखी जीवसे उदासीन रहते हैं, जिनको अपने धन और पदके अभिमानमें दुःखियोंके दुःखसे द्रवित होनेका अवकाश ही नहीं मिलता, वे मनुष्य अभागे हैं और उनके द्वारा प्रायः पापका ही संचय होता है। अतएव सबको यथासाध्य दुःखी प्राणियोंकी तन-मन-धनसे सेवा करनेके लिये सदा तैयार रहना चाहिये। जिसकी जैसी शक्ति है, वह अपनी शक्तिके अनुसार ही सेवा करे। सेवा करके कभी अभिमान न करे और न यह समझे कि मैंने जिनकी सेवा की है, उनपर कोई कृपा की है; वे मुझसे नीचे हैं, मैंने उनका उपकार किया है; उनको मेरा कृतज्ञ होना चाहिये या अहसान मानना चाहिये। बल्कि यह समझे कि 'सेवाका सौभाग्य और बल प्रदान करके भगवान्ने मुझपर बड़ी कृपा की; मेरे द्वारा किसीको कुछ सुख मिला है, इसमें उसका भाग्य ही कारण है, उसीके लिये वह वस्तु आयी है और भगवान्ने मेरे द्वारा उसे वह चीज दिलवायी है; मेरा अपना कुछ भी नहीं है, मैं तो निमित्तमात्र हूँ। मेरे लिये अभिमान करनेका कोई भी कारण नहीं है।' बात भी यही है कि हमारे पास विद्या, बुद्धि, तन, मन, धन, जो कुछ है, सब भगवान्की धरोहर है, उनकी चीज है। उनको जहाँ जिस वस्तुकी आवश्यकता हो वहाँ उस वस्तुको आदरपूर्वक प्रसन्न मनसे उनके समर्पण कर देना ही हमारा धर्म है। जहाँ अकाल है, वहाँ वे अन्न माँगते हैं; जहाँ सूखा है, वहाँ जल चाहते हैं; जहाँ बाढ़में सब कुछ बह गया, वहाँ वे अन्न-वस्त्र और आश्रय चाहते हैं। ऐसी अवस्थामें हमारे पास उनका जो कुछ भी हो, तुरंत देकर उनकी प्रसन्नता प्राप्त करनी चाहिये। उन्हींकी चीजसे उनकी पूजा करनी चाहिये। इस प्रकार जो भगवान्की पूजाके भावसे दुःखी जीवोंकी सेवा करता है, उसे मुनिजनदुर्लभ साक्षात् भगवान्की या भगवान्के प्रेमकी प्राप्ति होती है और बुद्धिमानोंको इसी भावसे सेवा करनी चाहिये। जो अपनी क्रियाका ऊँचे-से-ऊँचा फल प्राप्त कर सके, वही तो बुद्धिमान् है।

यहाँपर एक प्रश्न होता है कि तब क्या संसारमें दैवी संकटोंका आना किसी प्रकार रुक नहीं सकता? इसका उत्तर यह है कि जबतक संसार है, तबतक इनका सर्वथा नष्ट होना तो असम्भव है, परंतु ये कम जरूर हो सकते हैं। जिस कालमें दैवी संकट कम होते हैं, उसीको सत्ययुग कहते हैं और उसका कारण है हमारे अपने कर्म। महर्षियोंने कहा है कि 'जब देश, नगर और ग्रामोंके शासक तथा उनकी देखा-देखी प्रजाजन अधर्ममें रत हो जाते हैं, काम, क्रोध, लोभ और अभिमानके वश होकर असत्य, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, शिष्टोंका अपमान और शास्त्रकी अवहेलना करने लगते हैं, तब देवता उनकी रक्षा न करके उन्हें त्याग देते हैं। इसीसे ठीक समयपर वर्षा नहीं होती, होती है तो कहीं अनावृष्टि और कहीं अतिवृष्टि। वायु ठीक नहीं बहता, भूमि विकारयुक्त हो जाती है, जल सूख जाता है, औषध अपना स्वभाव छोड़ देती है। लोभ और क्रोधकी वृद्धिके कारण परस्पर भयानक युद्ध छिड़ जाते हैं, लोगोंकी आजीविका नष्ट हो जाती है, भूकम्प, वज्रपात और जलप्रलय आरम्भ हो जाते हैं। धर्मविहीन मनुष्य धर्मभ्रष्ट होकर गुरु, वृद्ध, सिद्ध, ऋषि और पूज्योंका अपमान करके अहित साधन करते हैं और अन्तमें उन गुरुओंके अभिशापसे भस्म हो जाते हैं।' सच पूछिये तो आजकल यही हो रहा है। ऐसे संकटसे बचनेके लिये शास्त्रोंमें जो उपाय बतलाये गये हैं, उनका साररूप निम्नलिखित दस बातें हैं—

१—सत्यका पालन।

२—दुःखी प्राणियोंपर दया।

३—तन, मन, धनसे सात्त्विक दान।

४—देवताओंकी यथाविधि पूजा।

५—सदाचरण।

६—ब्रह्मचर्यपालन।

७—शास्त्र और जितात्मा महर्षियोंकी आज्ञाका पालन।

८—धर्मात्मा और सात्त्विक पुरुषोंका संग।

९—गोसेवा, गायोंके लिये गोचरभूमिकी व्यवस्था करना।

१०—भगवान्के नामरूपी मन्त्रोंके द्वारा आत्मरक्षा।

दूसरोंसे वैसा ही व्यवहार करो जैसा उनसे अपने लिये चाहते हो

१—कोई तुम्हें कड़ी जबान कहता है, गाली देता है, शाप देता है, बेहूदी दिल्लगी करता है या चिढ़ाता है तो तुम्हें अवश्य दु:ख होता है और उसपर क्रोध आता है।

२—कोई तुम्हारा अपमान या तिरस्कार करता है, तुम्हें नीचा दिखाता है तो तुम्हें अवश्य दु:ख होता है और उसपर क्रोध आता है।

३—कोई तुम्हारी निन्दा, बदनामी या चुगली करता है तो तुम्हें अवश्य दु:ख होता है और उसपर क्रोध आता है।

४—कोई तुम्हारी बातको बार-बार काटता है तो तुम्हें अवश्य दु:ख होता है और उसपर क्रोध आता है।

५—कोई तुम्हारी चोरी करता या छल करके तुम्हें ठगता है तो तुम्हें अवश्य दु:ख होता है और उसपर क्रोध आता है।

६—कोई तुम्हारे निर्दोष होनेपर भी तुम्हें सताता है तो तुम्हें अवश्य दु:ख होता है और उसपर क्रोध आता है।

७—कोई धन, जन, अधिकार आदिके बलपर तुम्हें क्लेश पहुँचाता है तो तुम्हें अवश्य दु:ख होता है और उसपर क्रोध आता है।

८—कोई तुम्हारा अहित करता है तो तुम्हें अवश्य दु:ख होता है और उसपर क्रोध आता है।

९—कोई तुम्हारा घर-द्वार नीलाम करके तुम्हें घरसे निकलवा देता है तो तुम्हें अवश्य दु:ख होता है और उसपर क्रोध आता है।

१०—कोई तुम्हारे न्यायप्राप्त स्वत्वपर या तुम्हारे धनपर मन चलाता है अथवा उसे छीनने-हड़पनेका प्रयत्न करता है तो तुम्हें अवश्य दु:ख होता है और उसपर क्रोध आता है।

११—कोई तुम्हारी रखी हुई धरोहर या जमा करायी हुई रकमको वापस देनेमें इनकार करता है तो तुम्हें अवश्य दु:ख होता है और उसपर क्रोध आता है।

१२—कोई तुम्हारी उन्नति या प्रगतिमें बाधक होता है तो तुम्हें अवश्य दु:ख होता है और उसपर क्रोध आता है।

१३—कोई तुम्हारी माँ-बहिन, पत्नी या पुत्री आदिको बुरी नजरसे देखता है तो तुम्हें अवश्य दु:ख होता है और उसपर क्रोध आता है।

१४—कोई तुम्हारे धर्मपर, धार्मिक पुरुषोंपर, पूर्वपुरुषोंपर, शास्त्रोंपर और भगवान्पर किसी तरहका दोषारोपण या आक्रमण करता है तो तुम्हें अवश्य दु:ख होता है और उसपर क्रोध आता है।

बस, इसी प्रकार तुम किसीके साथ वैसा व्यवहार करते हो तो उसे भी वैसा ही दु:ख होता है, उसके मनमें भी तुमपर क्रोध आता है, वह भी तुम्हें शाप देता है। फलत: दोनों ही मन-वाणी तथा शरीरसे बुरे कर्ममें लग जाते हैं और दोनोंका ही पतन होता है। इसलिये किसीके साथ भी व्यवहार करते समय पहले अपनेको उसकी स्थितिमें ले जाकर विचार करो, तब व्यवहार करो। सदा वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम दूसरोंसे अपने लिये चाहते हो।

प्राच्य और पाश्चात्त्य संस्कृति

प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृतिके ध्येयमें और ध्येयकी प्राप्तिके साधनोंमें बड़े महत्त्वके मौलिक अन्तर हैं। जिन्होंने इस विषयपर गम्भीरतासे सोचा है वे ही इस बातको समझ सकते हैं कि भौतिकवादकी इतनी उन्नतिमें भी आजका जगत् दु:खी और अशान्त क्यों है? और भौतिक सुखोंकी परवा न करनेवाले लोगोंके प्राचीन आध्यात्मिक युगमें जगत् सुखी और शान्त क्यों था? आज पाश्चात्य संस्कृतिका प्राधान्य है, इसीसे जगत् दु:खी और अशान्त है। उस युगमें प्राच्य संस्कृतिकी प्रधानता थी, इसीसे वह सुखी और शान्त था। पाश्चात्य संस्कृतिका ध्येय है 'भोग' एवं प्राच्य संस्कृतिका ध्येय है 'त्याग'। भोगका अनिवार्य परिणाम है—'द्वेष', द्वेषका 'दु:ख' और दु:खका 'अशान्ति'! उधर त्यागका अनिवार्य परिणाम है 'प्रेम', प्रेमका 'सुख' और सुखका 'शान्ति'। भोगी मनुष्य भोगासक्त होता है, आसक्तिकी विरोधी वस्तुओंमें द्वेष होगा, जहाँ द्वेष है वहाँ दु:ख अनिवार्य है और जहाँ दु:ख है वहाँ अशान्ति रहती है! इसी प्रकार पक्षान्तरमें जहाँ त्याग होता है, वहीं प्रेम होता है।

प्रेमकी अधिष्ठान भूमि है त्याग और प्रेमकी विनाशक भूमि है स्वार्थ! यह सबका अनुभूत तथ्य है कि जहाँ प्रेम है वहीं सुख है। प्रेमीके स्मरणमात्रसे आनन्द मिलता है और जहाँ सुख है, वहीं शान्ति है।

जहाँ ध्येय 'त्याग' होता है वहाँ जीवनमें केवल 'कर्तव्य' पालनकी प्रधानता होती है और जहाँ ध्येय 'भोग' होता है, वहाँ भोगप्राप्तिके 'अधिकार' की, यही प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृतिकी जीवन-पद्धतिका मौलिक भेद है। जहाँ एक मनुष्य अपने कर्तव्यका पालन करता है, वहाँ दूसरोंके 'अधिकार' की अपने-आप ही रक्षा होती है और परस्पर सौहार्द तथा प्रेम भी बना रहता है।

पिताका 'कर्तव्य' है पुत्रका पालन-पोषण करना, उसे शिक्षा-दीक्षा देकर सुयोग्य बनाना; उसको सुन्दर, सदाचारी और आदर्श गृहस्थ बनाना और अपनी सारी सम्पत्ति उत्तराधिकारमें उसे दे देना। पुत्रका कर्तव्य है पिताके सुखके लिये अपना तन-मन अर्पण करना, उसकी सेवामें ही अपना सौभाग्य समझना और इसीको अपनी परम सम्पत्ति मानना एवं पितृकुलके यश-गौरवको अपने आदर्श आचरणोंके द्वारा बढ़ाना। यदि पिता और पुत्र दोनों अपने-अपने कर्तव्यका पालन करते हैं तो दोनोंके अधिकार अपने-आप सुरक्षित रहते हैं।

राजाका कर्तव्य है 'प्रजाका हित' करना; और प्रजारंजनके लिये बड़े-से-बड़े व्यक्तिगत सुखका त्याग करना। भगवान् रामके सर्वथा दोषरहित पवित्रहृदया सीताके त्यागमें यही रहस्य छिपा है। रामको सीताके त्यागसे कम मर्मवेदना नहीं थी, परंतु दूसरी ओर उन्हें प्रजारंजनरूपी 'कर्तव्य' के पालनसे संतोष था। वे सीताके वियोगमें स्वयं कारण बने, जीवनभर रोते रहे, पर इस मार्मिक दु:खको वरण किया केवल प्रजारंजनके कर्तव्यके लिये!

राजा अपना 'अधिकार' जतानेके लिये राज्य नहीं करता; वह राज्य करता है एक ट्रस्टीकी हैसियतसे, एक निपुण व्यवस्थापक और बलवान् रक्षककी हैसियतसे। वह प्रजासे न्यायसंगत 'कर' वसूल करता है और उसका अधिकांश भाग प्रजाहितके कार्यमें व्यवस्थापूर्वक वितरण कर देता है और प्रजाके चुने हुए लोगोंकी सलाहसे प्रजाहितका प्रत्येक कार्य करता है। अपनी सेवाके बदलेमें उसे सुखपूर्वक जीवननिर्वाहका—परिवार-पालनका साधन प्राप्त होता है, प्रजाके दिये हुए 'कर' से; परंतु प्रजा इसीमें राजाके ऋणसे उऋण नहीं होती। राजा अपनी प्रजाको अपनी संतान समझकर अपना समस्त जीवन देकर उसकी जैसी अनिर्वचनीय सेवा करता है, उससे प्रजा कृतज्ञ होकर उसकी भक्त बन जाती है और उसके 'राज्याधिकार' के लिये उसको राज्यारूढ़ करने तथा रखनेके लिये अपना बड़े-से-बड़ा त्याग करनेको तैयार रहती है। रामके साथ प्रजाका जो व्यवहार था उससे यह सिद्ध है। प्रजाका कर्तव्य यही होता है कि वह राजाको—वस्तुत: राम-सरीखे प्रजारंजक राजाको ही—वेणु या कंस-सरीखे राजा-नामधारी राक्षस-हृदय, प्रजाशोषक हत्यारोंको नहीं—भगवान् माने और उसकी सेवा करे। यदि राजा-प्रजा दोनों अपने-अपने कर्तव्यका पालन करें तो दोनोंके अधिकार सुरक्षित रहते हैं। राजा और राजवंश अकण्टक राज्यका 'अधिकारी' होता है और प्रजाको अपने सुखमय जीवनयापन तथा राज्यशासनमें सलाह देनेका ही नहीं, राजाको गद्दीसे उतारनेतकका अधिकार रहता है।

इसी प्रकार 'स्वामी-सेवक' 'पूँजीपति मालिक और कार्यकर्ता मजदूर' 'जमीदार-किसान' 'गुरु-शिष्य' 'पति-पत्नी' 'सास-बहू' 'भाई-भाई' 'पड़ोसी-पड़ोसी' और विभिन्न धर्मावलम्बी अपने-अपने 'कर्तव्य' का पालन करें, तो सबके 'अधिकार' अपने-आप ही सुरक्षित रह सकते हैं। 'कर्तव्य' का ज्ञान शास्त्रके द्वारा होता है। वेदके आधारपर त्रिकालज्ञ ऋषि-निर्मित शास्त्रोंमें प्रत्येक वर्ण, जाति और व्यक्तिके कर्तव्य और आचारका विशद वर्णन है। प्राच्य आर्यसंस्कृतिके अनुसार किसीके भी 'कर्तव्य'—निश्चयमें प्रधान बातें ये हैं—

(१) उस 'कर्तव्य'-पालनसे किसी दूसरे राष्ट्र, जाति या व्यक्तिका परिणाममें कोई भी अहित नहीं होना चाहिये।

(२) किसीके भी न्यायप्राप्त अधिकार, स्वत्व या पदार्थको प्राप्त करनेकी जरा भी मनमें कामना नहीं होनी चाहिये।

(३) समाजकी सुशृंखल व्यवस्थामें कोई अड़चन नहीं आनी चाहिये।

(४) उसमें मनुष्यकी ही नहीं, जीवमात्रके हितकी भावना होनी चाहिये।

(५) संयम, प्रेम, सत्य, दया और हितकी भावना होनी चाहिये।

(६) मनुष्य-जीवनमें भावी संततिके लिये परम आदर्शकी स्थापना होनी चाहिये।

(७) व्यक्तिगत जीवन (Private life) शास्त्रानुकूल अत्यन्त पवित्र, सबके लिये आदर्श और सर्वथा स्पष्ट होना चाहिये और उसपर टीका-टिप्पणी करनेका सबको अधिकार होना चाहिये, परंतु अपनी ओरसे किसीकी निन्दा करके उसे गिरानेका भाव नहीं होना चाहिये।

(८) कर्तव्यपालन दूसरेके सुख, सुमति, उत्थान, अभ्युदय और लौकिक कल्याणकी प्राप्तिके साथ ही भगवत्प्राप्तिरूप परम कल्याणके मार्गमें प्रवृत्त करनेके लिये होना चाहिये।

(९) उसका निश्चित फल अभ्युदय (लौकिक परम सुख-शान्ति) और निःश्रेयस् (भगवत्प्राप्ति) होना चाहिये।

इन नौ सिद्धान्तोंकी मूल भित्तिपर राग-द्वेषशून्य ऋषियोंके द्वारा रचित विभिन्न व्यक्तियोंके विभिन्न 'कर्तव्य' ही धर्म हैं। इसीलिये प्राच्य संस्कृतिके अनुसार पुरुषार्थ-चतुष्टयमें अर्थ और काम (भोग)-के साथ धर्मका नित्य और अनिवार्य संयोग है। 'अर्थ' धर्मयुक्त हो और 'भोग' भी धर्मयुक्त हो तो उसका निश्चित फल है 'मोक्ष'—क्लेश, कर्म और कर्मबन्धनसे आत्यन्तिक मुक्ति।

कर्तव्य प्रत्येक व्यक्तिके लिये अलग-अलग परंतु फल सबके लिये एक ही—'अभ्युदय और निःश्रेयस्'।

आज पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षाकी प्रधानतासे भारतीय नर-नारी 'कर्तव्य' से 'अधिकार' के लिये लड़ रहे हैं। इसीलिये राजा-प्रजा, शासक-शासित, धनी-गरीब, पूँजीपति-मजदूर, जमींदार-किसान आदि वर्ग बने हैं और इनमें परस्पर संघर्ष हो रहे हैं। इन वर्गोंमें ही नहीं—गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदिमें भी कलह है। सबके अलग-अलग संघ और यूनियन बन रहे हैं और सभी अपने-अपने 'अधिकार' के लिये लड़ रहे हैं। आजके 'अधिकार' की व्याख्या यही है कि 'सर्वथा हमारा अधिकार हो, प्रतिपक्षीका कुछ भी न हो। हमारा ही हित हो, प्रतिपक्षीका चाहे अहित ही हो जाय।' इसी 'अधिकार-लिप्सासे आज समष्टि-समष्टि और व्यष्टि-व्यष्टिमें भीषण विनाशकारी संग्राम छिड़ा है। सभी लेना चाहते हैं, देना कोई नहीं चाहता और इसीको उन्नति, जागृति तथा 'कर्तव्य' भी मान बैठे हैं। जबतक यह 'अधिकार' की दूषित वृत्ति रहेगी, तबतक जगत्में कभी कहीं शान्ति न होगी। शान्ति तभी होगी, जब सभी राष्ट्र, सभी जाति और सभी व्यक्ति 'अधिकार' के लिये उद्विग्न न होकर विश्वहित अथवा पर-हितमें ही अपना हित मानकर 'कर्तव्य'-परायण हो जायँगे; तब सभीको अपने-अपने अधिकार भी आप ही मिल जायँगे और तब जीवनका लक्ष्य 'याग' होनेसे सर्वत्र प्रेम, सुख और शान्तिकी भी चिरप्रतिष्ठा होगी। और इस प्रकारके आचरणोंसे भगवत्कृपाके दर्शन होंगे एवं उसके परिणाममें परम कल्याण भी प्राप्त होगा। भारतीयोंको अपनी संस्कृतिके इस मुख्य सिद्धान्तपर शीघ्र ध्यान देना चाहिये।

संस्कृतिके रक्षण और प्रसारमें बाधक तीन महाभ्रम

पाश्चात्य विद्वानोंने अज्ञानसे, मतिभ्रमसे, किसी कुटिल अभिसन्धिसे या अन्य किसी भी कारणसे हो—इन तीन महाभ्रमोंका प्रतिपादन, प्रचार और प्रसार किया—

(१) भारतमें आर्यजाति बाहरसे आयी है। भारतवर्ष उसका मूल निवास-स्थान नहीं है।

(२) चार हजार वर्षसे पहलेका कोई इतिहास नहीं है।

(३) जगत्में उत्तरोत्तर विकास—उन्नति हो रही है और भारतीय विद्वानोंके मस्तिष्कमें भी अधिकांशमें ये तीनों बातें प्रवेश कर गयीं। काल-प्रभावसे या दैवसंयोगसे उन्हीं विद्वानोंका सभी क्षेत्रोंमें प्रभाव बढ़ा, जिसका परिणाम यह हुआ कि जनतामें उत्तरोत्तर इन तीनों महाभ्रमोंका विस्तार होने लगा। इसीका यह फल है कि आज भारतीय लोगोंकी अपनी संस्कृति, अपने धर्म, अपने पूर्वज, अपने महाभारत-रामायणादि प्राचीन इतिहास, अपने धर्मग्रन्थों—श्रुति-स्मृति और पुराण-ग्रन्थोंपर अवहेलना, अश्रद्धा और अनास्था बढ़ रही है!

हमलोग जब बाहरसे आये हुए हैं, तब यहाँकी भूमिपर हमारा कोई ममत्व क्यों होना चाहिये। यद्यपि आजके जगत्की देशभक्तिके प्रचारसे भारतवर्षको इस समय लोग अपनी जन्मभूमि मानते हैं और इसके साथ अपनत्व भी है; परंतु जबतक इसे पूर्वजोंकी पवित्र

पितृ-भूमि नहीं मानते, तबतक भावमें उतनी उच्चता नहीं आ सकती।

चार हजार वर्ष पहलेका कोई इतिहास नहीं, इसका परिणाम हुआ कि हमारे वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण—सभी चार हजार वर्षके अंदर-अंदर बने हुए माने जाने लगे और इनमें केवल कवि-कल्पनाकी भावना होने लगी। पूर्वजोंके सच्चे गुण-गौरव कल्पनाकी आँधीमें उड़ गये। काल छोटी-सी संकुचित सीमामें आबद्ध हो गया और फलतः हमारा विशाल ज्ञानभण्डार और गौरवपूर्ण अतीत सर्वथा निष्प्रभ और व्यर्थ हो गया।

तीसरे भ्रमने तो बहुत बड़ा अनर्थ किया। सृष्टिके आदिकालसे जगत्‌में उत्तरोत्तर विकास हो रहा है—इस मान्यताने अतीतके ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, सदाचार, आचार-विचार, बुद्धि-विवेक, शौर्य-वीर्य, त्याग-तपस्या, वैभव-ऐश्वर्य और भाव-प्रभाव—सभीपर पानी फेर दिया। आज जितनी उन्नति है, उतनी दस हजार वर्ष पहले नहीं थी; दस हजार वर्ष पहले जितनी थी, उतनी लाख वर्ष पहले नहीं थी। लाख वर्ष पहले जितनी थी, उतनी करोड़ वर्ष पहले नहीं थी। भ्रम तो यहाँतक फैलाया जा रहा था कि सृष्टिकी उम्र ही केवल चार-पाँच हजार वर्षकी है; परंतु वह भ्रम तो अब टिक नहीं सका। इसलिये उसको तो लोग छोड़ रहे हैं, पर इस विकासवादका महाभ्रम अभी बड़े-बड़े मस्तिष्कोंमें भरा है।

इन तीन भ्रमोंने हम भारतवासियोंको सहज परमुखापेक्षी और परानुकरणपरायण बना दिया है। इसीका एक ताजा उदाहरण हमारा 'नव-संविधान' है। इसमें आदिसे अन्ततक केवल विदेशीय विधानोंका आश्रय लिया गया है, अपने प्राचीन ग्रन्थोंमें शासन और राजनीतिपर जो विशद विचार किया गया है, उसकी ओर देखा भी नहीं गया। इन्हीं भ्रमोंके कारण बाहरसे स्वराज्य मिल जानेपर भी हमारा मस्तिष्क अब भी परतन्त्र है। नीयत बुरी न होनेपर भी और अपने प्राचीन गौरवकी बातें प्रिय लगनेपर भी हमें यह विश्वास नहीं होता कि आजके जगत्‌की अपेक्षा हमारा प्राचीन जीवन बहुत उन्नत था और हमारा ज्ञानभण्डार बहुमूल्य रत्नोंसे भरा था। आज भी खोज करनेपर उसमें ऐसे-ऐसे रत्न मिल सकते हैं, जिनकी अन्यान्य उन्नत कहानेवाले देशोंको कल्पना भी नहीं है। यह अविश्वास इसीलिये है कि हमारे मनमें यह बात दृढ़ताके साथ जँच गयी है कि जगत्‌में उत्तरोत्तर उन्नति हो रही है। आज जितनी उन्नति है, उतनी उन्नति पहले कभी थी ही नहीं। इसीलिये हम प्रत्येक विषयमें आजकी उन्नतिकी नकल करना चाहते हैं। यह घोर आत्म-विस्मृति बड़ी ही बुरी है और इसीके कारण हमारे मस्तिष्कमें परतन्त्रताके विचारोंने अपना एक सुरक्षित स्थान बना लिया है।

भारतवासियोंको गम्भीर विचार करके अपने ज्ञानके प्रकाशसे इन तीनों भ्रमोंके अन्धकारका नाश कर देना चाहिये—नहीं तो उन्नतिके नामपर अवनतिकी प्रबल धारामें बहते जाना रुकेगा ही नहीं।

हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप

प्रधान लक्ष्य भगवत्प्राप्ति

जीवनके सभी क्षेत्रोंमें व्याप्त सनातन परम्परासे चली आती हुई अध्यात्मप्रधान धर्ममय सुसंस्कृत 'विचार और आचारप्रणाली' का नाम ही हिंदू-संस्कृति है। हिंदू-संस्कृतिकी यह निर्मल धारा अत्यन्त प्राचीन कालसे अविच्छिन्नरूपमें प्रवाहित है। अतएव हिंदू-संस्कृति सबसे प्राचीन और अपरिवर्तनीय सनातन भारतीय आर्य-संस्कृति है, यही वास्तवमें मानव-संस्कृति है। इस संस्कृतिमें मनुष्य-जीवनका प्रधान और एकमात्र लक्ष्य है—मोक्ष, ज्ञान अथवा भगवत्प्राप्ति। इसीसे इसमें जीवनकी प्रत्येक क्रिया और चेष्टा इसी लक्ष्यपर ध्यान रखकर की जाती है। इसीलिये हमारे पुरुषार्थ-चतुष्टयमें अन्तिम स्थान 'मोक्ष' को दिया गया है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। सारांश यह कि हमारा अर्थ और काम (उपभोग) धर्मके द्वारा संयमित—नियन्त्रित होता है। धर्मरहित अर्थ और धर्मरहित उपभोग (काम) महान् अनर्थ उत्पन्न करके मनुष्यका विनाश कर देते हैं। रावण, वेन, कंस, दुर्योधन आदि इसके उदाहरण हैं। केवल 'अर्थ' और 'काम' से युक्त जीवन तो पशु-जीवन है। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि 'जब धर्म लुप्त हो जाता है, तब अर्थ और काममें फँसे हुए लोग कुत्तों और बंदरोंके समान वर्णसंकर हो जाते

हैं।[१] हिंदू-संस्कृतिमें अर्थ तथा कामका त्याग नहीं है। उनकी भी उपादेयता है, पर वे होने चाहिये धर्मके आश्रित। वाल्मीकीय रामायणमें भगवान् श्रीरामजी लक्ष्मणजीसे कहते हैं—

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा॥
यस्मिंतु सर्वे स्युरसंनिविष्टा
धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वति न प्रशस्ता॥

(अयोध्या० २१। ५७-५८)

'धर्मके फलस्वरूप सुख-सौभाग्यादिकी प्राप्तिमें जो धर्म, अर्थ, काम उपाय माने गये हैं, वे तीनों एक धर्ममें वर्तमान हैं। धर्मके अनुष्ठानसे इन तीनोंकी सिद्धि होती है, इसमें मुझे सन्देह नहीं है—जैसे पतिके अधीन रहनेवाली भार्या अतिथि-पूजनादि धर्ममें, मनोऽनुकूल होनेसे काममें और सुपुत्रवती होकर अर्थमें सहायिका होती है। जिस कर्ममें धर्म, अर्थ, काम—तीनों संनिविष्ट न हों, पर जिससे धर्म बनता हो, वही कर्म करना चाहिये। धर्मको छोड़कर अर्थ-परायण रहनेवालेसे लोग द्वेष करने लगते हैं और ऐसे ही कामात्मता भी प्रशंसाकी बात नहीं है।'

मनु महाराज कहते हैं कि जो अर्थ और काम धर्मके विरोधी हों, उन अर्थ और कामका त्याग कर देना चाहिये—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।

(४। १७६)

और धर्म—परम धर्म वस्तुतः वही है, जो मनुष्यकी जीवनधाराका मुख श्रीभगवान्‌की ओर मोड़ दे तथा जिससे अविराम गतिसे बिना किंचित् भी इधर-उधर भटके जीवनप्रवाह निरन्तर समुद्रकी ओर बहनेवाली गंगाजीकी धाराके सदृश उसी दिशामें बहता रहे[२]—

मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ।

इसी प्रकार भगवान्‌के निमित्त किये जानेवाले आसक्तिशून्य धर्मयुक्त कर्मोंका फल बन्धनमुक्ति, दिव्यलोकोंकी प्राप्ति, परमात्मरूप परम स्वातन्त्र्य (मोक्ष)-की प्राप्ति एवं शाश्वत शान्तिकी उपलब्धि होती है[३]। वेदमें कहा गया है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(शुक्लयजुर्वेद ४०। १-२)

'अखिल विश्वमें जो कुछ भी जड-चेतन जगत् है, यह सब ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरको साथ रखते हुए, त्यागपूर्वक भोगते रहो। इसमें आसक्त मत होओ। किसीके भी धनकी इच्छा मत करो। इस जगत्‌में इस प्रकार ईश्वरप्रीत्यर्थ कर्म करते हुए सौ वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करो। यों त्याग-भावसे किये गये कर्म तुम मनुष्यमें लिप्त नहीं होंगे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।'

श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥

(३। ९)

'यज्ञ (भगवान्)-के निमित्त किये जानेवाले कर्मोंके अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य कर्मोंसे बन्धनको प्राप्त होता है। अतएव अर्जुन! तुम आसक्तिरहित होकर उस यज्ञ (भगवान्)-के लिये ही भलीभाँति कर्म करो।'

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

१-तदाऽऽर्यधर्मश्च विलीयते नृणां वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः। ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां शुनां कपीनामिव वर्णसंकरः॥

(श्रीमद्भा० १। १८। ४५)

२-स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥ (श्रीमद्भा० १। २। ६)

'मनुष्यके लिये सबसे बढ़कर परम धर्म वही है, जिससे श्रीभगवान्‌में अहैतुकी और कभी न टूटनेवाली भक्ति हो। ऐसी भक्तिसे सच्चिदानन्द परमात्माकी उपलब्धि करके वह कृतकृत्य हो जाता है।'

२-धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायबुद्धिभिः। लोकान् विशोकान् वितरत्यथानन्त्यमसंगिनाम्॥ (श्रीमद्भा० ४। १४। १५)

'मनुष्य यदि मन, वाणी, शरीर और बुद्धिसे धर्मका आचरण करे तो वह धर्म उन्हें शोकरहित दिव्यलोक प्रदान करता है तथा यदि धर्म करनेवाले पुरुष स्वर्गादि लोकोंके भोगोंमें आसक्त न हों तो वही धर्म उन्हें मोक्षकी प्राप्ति करवा देता है।'

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत् तत्॥

(११। २। ३६)

'शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहंकारसे अनेक जन्मों अथवा एक जन्मके स्वभाववश जो कुछ भी करे, सब परम पुरुष भगवान् श्रीनारायणके लिये ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण कर दे।'

भगवान्ने स्वयं गीतामें समर्पणकी आज्ञा की है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(९। २७)

'अर्जुन! तुम जो कर्म करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान देते हो और जो तप करते हो, वह सब मेरे अर्पण करो।'

इस अर्पणका फल भी भगवान् वहीं बतलाते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(९। २८)

'इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्में अर्पण हो जाते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाले तुम शुभाशुभरूप कर्मबन्धनसे छूट जाओगे और उनसे छूटकर मुझको प्राप्त होओगे।'

हिंदू-संस्कृतिका प्रधान और मूल स्वरूप यही है। यह संस्कृति जीवको विषयासक्तिके नीचे स्तरसे उठाकर अध्यात्मके उच्च स्तरपर ले जाती है। इसका प्रत्येक साधन, विचार और कर्म आत्माको परमात्मातक पहुँचानेमें सहायक होता है।

धर्म और समवितरण

मोक्ष जीवनका ध्येय है। इसीलिये हिंदू-संस्कृतिमें धर्मके साथ जीवनका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। छोटे-से-छोटे कर्मसे लेकर बड़े-से-बड़े कर्ममें धर्म सदा संलग्न है। परम धर्म तो भगवान्की भक्ति ही है। पर उसके साथ कुछ ऐसे लक्षण धर्मके बतलाये गये हैं, जो सभीके लिये परम उपादेय हैं। श्रीमनु महाराज कहते हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(२। १२)

'जो वेद और स्मृतिके द्वारा प्रतिपादित, सत्पुरुषोंके द्वारा आचरित और अपनेको प्रिय लगनेवाला हो*—ऐसा चार प्रकारके धर्मका साक्षात् लक्षण बतलाया गया है।'

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६। ९२)

'धृति, क्षमा, दम (मनका संयम), अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी (विज्ञान), विद्या (अध्यात्मविद्या), सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं।'

श्रीमद्भागवतमें इस मानवधर्मको तीस लक्षणोंसे बतलाया गया है—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥

(७। ११। ८—१२)

'सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका संयम, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, निष्कपटता, संतोष, समदृष्टि, महापुरुषोंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंकी चेष्टासे निवृत्ति, मनुष्यके अभिमानपूर्ण प्रयत्नोंका फल विपरीत होता है—ऐसा विचार, मौन, आत्मचिन्तन, अन्न आदि पदार्थोंका प्राणियोंमें यथायोग्य विभाजन, उन सभी प्राणियोंको—विशेष करके मनुष्योंको अपना आत्मा और इष्टदेव ही समझना, संतोंकी परमगति, भगवान्के

* अपनेको प्रिय लगे, वैसा ही आचरण दूसरोंके प्रति करे। अपनेको सम्मान, प्रेम, हित, द्वेष-दम्भरहित सद्व्यवहार प्रिय लगता है, तो दूसरोंके साथ भी वैसा ही करना चाहिये। विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें कहा है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥ (३। २५३। ४४)

'धर्मका सर्वस्व—सार सुनना और उसे धारण करना चाहिये। जो-जो कुछ अपनेसे प्रतिकूल हो, दूसरोंके साथ वह-वह व्यवहार न करे।'

गुण-माहात्म्यादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्म-समर्पण—यह सभी मनुष्योंके लिये परम धर्म है। इस तीस लक्षणवाले धर्मके पालनसे सबके आत्मारूप भगवान् प्रसन्न होते हैं।'

इन लक्षणोंपर विचार करके देखिये। जिस संस्कृतिमें धर्मके ये लक्षण हों, उससे जगत्का कोई भी प्राणी कैसे दु:खी हो सकता है। मनुष्यमें ही नहीं, प्राणिमात्रमें आत्मबुद्धि या इष्टदेवबुद्धि रखना और अन्नादि पदार्थोंका सबमें समान भावसे यथायोग्य विभाग कर देना—इससे बढ़कर समवितरण और क्या हो सकता है?

श्रीभगवान्ने गीतामें तो यहाँतक कह दिया है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३। १३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष समस्त पापोंसे छूट जाते हैं; पर जो पापी मनुष्य अपने शरीर-पोषणके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो (अन्नकी जगह) पाप ही खाते हैं।'

इसीसे हिंदू-घरमें नित्य पंचमहायज्ञ होता है। संसारमें पाँच प्रकारके प्राणी हैं और उनके परस्पर सहयोगसे सबकी पुष्टि-तुष्टि और संरक्षण-संवर्धन होता है। ये पाँच हैं—देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और इतर समस्त प्राणी। देवताओंसे (भूमि, जल, वायु, सूर्य, चन्द्रमा आदिके द्वारा) संसारको इष्टभोग प्राप्त होते हैं। ऋषि-महर्षियोंसे ज्ञान मिलता है, पितरोंसे भरण-पोषण और परम हितकी सद्भावना प्राप्त होती है। मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके द्वारा एक-दूसरेकी सेवा करते हैं एवं पशु-पक्षी, वृक्ष-लतादि सबके सुखके लिये सदा अपनेको अर्पण किये रहते हैं। इन पाँचोंमें मनुष्य विशेषरूपसे योग्य और साधनसम्पन्न है। इसीलिये मनुष्यपर सबकी पुष्टिका दायित्व है। कर्मका उसीको अधिकार है, अत: मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जो कुछ उपार्जन करे, उसमें सबका भाग समझे; क्योंकि वह सभीके सहयोगसे कमाता-खाता है—जीवन-यापन करता है। इसीसे यज्ञसे बचे हुए अन्नको अर्थात् इन पाँचोंके अपने-अपने भागोंको देनेके बाद जो बच रहता है, उस अन्नको जो खाता है, वह 'अमृत' खाता है। पर जो कमाईमेंसे दूसरोंका उचित भाग उन्हें न देकर सब अकेला हड़प जाता है, वह पाप खाता है।

आजकल कुछ लोग कहा करते हैं कि 'हम तो इसीलिये 'साम्यवाद' चाहते हैं कि लोगोंको रोटी-कपड़ा मिले। हिंदू-संस्कृतिमें इस रोटी-कपड़ेकी कोई व्यवस्था नहीं है।' पर ऐसा कहनेवाले हिंदू-संस्कृतिके स्वरूपसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। असल बात तो यह है कि रोटी-कपड़ेकी जैसी व्यवस्था हिंदू-संस्कृतिमें है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं है। अन्य स्थानोंमें कहीं कुछ अधूरी व्यवस्था है तो वह किसी देश-विशेषकी सीमामें ही अवरुद्ध है। वह भी केवल मनुष्योंके लिये और उन मनुष्योंके लिये है, जो अपने मतके हैं; परंतु हिंदू-संस्कृतिमें यह व्यवस्था प्राणिमात्रके लिये है। यहाँ तो प्रत्येक जीवको भगवान् मानकर उसकी सेवा करनेका आदेश है।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

व्यवहारमें सबसे अधिक ममत्वका व्यवहार संतानके प्रति होता है। देवर्षि नारदजी धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत्॥

(श्रीमद्भा० ७। १४। ९)

'हरिन, ऊँट, गधा, बंदर, चूहा, साँप, पक्षी और मक्खी आदिको अपने निज पुत्रके समान समझे। उनमें और पुत्रोंमें अन्तर ही कितना है।'

कितनी उदार संस्कृति है यह, जिसमें प्राणिमात्रको अभयदान ही नहीं सच्चा स्नेहदान है और सबके लिये यथायोग्य वितरणकी सुव्यवस्था है। आजकल तो 'अधिक अन्न उपजाओ' की तरंगमें बंदर, हरिण और नीलगाय-जैसे पशुओंके सामूहिक संहारकी राक्षसी व्यवस्था हो रही है। आजका स्वार्थी मनुष्य किस स्तरपर आ गया है। आश्चर्य यह कि इन बंदरमार लोगोंको प्राणिमात्रको आश्रय देनेवाली समतासम्पन्न उदार हिंदू-संस्कृतिमें साम्प्रदायिकताकी बू आती है और इसकी निन्दा करनेमें उन्हें सुख मिलता है!

समता

यह अवश्य है कि हिंदू-संस्कृतिमें समता विवेकपूर्ण है। हिंदू इस बातको जानते हैं कि समता आत्मामें होती है; शरीरके व्यवहारमें नहीं होती। हिंदू दार्शनिकोंका यह

अनुभव है कि सृष्टिकी स्थिति प्रकृतिकी विषमतामें ही है। जहाँ प्रकृतिका वैषम्य मिट जाता है, वहाँ जगत्का अस्तित्व ही लोप हो जाता है। वह तो महाप्रलयकी अवस्था है, जिसमें प्रकृतिदेवी परमात्माके अंदर प्रविष्ट होकर सो जाती है।

इसीलिये हिंदू विद्वान् जिन जीवोंके आकार-प्रकार, खान-पान, व्यवहार-बर्तावमें कभी समता हो ही नहीं सकती, उनमें भी ब्रह्म—परमात्माको समभावसे विराजित देखते हैं। भगवान् कहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५।१८)

'वे पण्डितजन विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मणमें, चाण्डालमें तथा गौ, हाथी और कुत्तेमें भी समदर्शी होते हैं।'

यहाँ कोई कह सकते हैं—'ब्राह्मण और चाण्डाल—दोनों ही मनुष्य हैं। इनमें समदर्शन ही क्यों, समान व्यवहार भी हो सकता है।' (यद्यपि यह सम्भव नहीं) उनसे यह कहना है कि मनुष्यकी बात तो ठीक है—पर गाय, हाथी, कुत्तेके साथ भी क्या समव्यवहारकी बात कभी सोची जा सकती है? गौका दूध लोग चावसे पीते हैं, कुतियाका कोई नहीं पीता; हाथीकी सवारीमें गौरव माना जाता है, कुत्तेकी सवारी कोई नहीं करना चाहता। हाथी एक दिनमें जितना खाता है, कुत्ता उतनेसे दबकर मर जा सकता है। हाथी, कुत्ते और गायके आकार-प्रकारमें भी बड़ा भेद है। इस अवस्थामें इनमें सम-व्यवहारकी बात कहना पागलपनमात्र है। पर व्यवहारमें विषमता होते हुए भी प्राणिमात्रमें एक ही आत्मा—एक ही भगवान् सदा विराज रहे हैं, इस बातको हिंदू देखता है। वह ब्राह्मणके साथ ब्राह्मणोचित, चाण्डालके साथ चाण्डालोचित तथा गौ, हाथी और कुत्तेके साथ उनके योग्य व्यवहार करता है; परंतु उनमें नित्य एक ही परमात्माको देखनेके कारण किसीके साथ असद्व्यवहार नहीं करता और न व्यवहारकी विषमतासे उसके प्रेम और परमात्मभावमें ही न्यूनता आती है।

जिस प्रकार अपने मस्तक, हाथ, पैर आदि अंगोंमें आत्मभाव समान होनेपर भी मनुष्य उनके व्यवहारमें भेद रखता है—मस्तिष्कसे विचार करता है, मुँहसे खाता और बोलता है, हाथोंसे आदान-प्रदान करता, लिखता-पढ़ता है और पैरोंसे चलता है। एक अंगसे दूसरे अंगका काम नहीं लेता; क्योंकि वह जानता है कि यह सम्भव ही नहीं है। परंतु सबके सुख-दुःखका समानरूपसे अनुभव करता है और समस्त शरीरमें समान प्रेम करता है। उसी प्रकार व्यवहारमें भेद रखता हुआ भी हिंदू प्रत्येक प्राणीके साथ आत्माके नाते सदा समभावापन्न रहता है, और वह जैसे अपने योगक्षेम तथा कल्याणके लिये प्रयत्न करता है, वैसे ही अन्यान्य जीवोंके लिये भी करता है।

भगवान् गीतामें कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३२)

'अर्जुन! जो योगी अपनी ही तरह समस्त भूतोंमें सम (आत्माको) देखता है और सुख या दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह परम श्रेष्ठ योगी माना गया है।'

यदि कहीं किसीके साथ कभी व्यवहारमें युद्धादि-जैसी क्रूर क्रिया करनी पड़ती है तो वैसे ही जैसे मनुष्य अपने किसी सड़े अंगका विकार निकालनेके लिये शल्यक्रिया (ऑपरेशन) कराता है। गीतामें भगवान्ने अर्जुनको स्थान-स्थानपर युद्धके लिये आज्ञा दी है। पर साथ ही यह कहा है कि राज्यकी आशासे, कामनासे, आसक्तिसे और अहंकारके वशमें होकर युद्ध न करो। युद्ध करो मेरी आज्ञा मानकर, मेरे लिये, मेरी प्रसन्नताके लिये, मेरा कर्म मानकर। ऐसे विकट कर्ममें भी न आसक्ति रहे, न किसीके साथ वैर रहे—रहे केवल भगवत्परायणता, भगवद्भक्ति और भगवत्कर्म। इसीका नाम अनन्य भक्ति है। इसीसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है।*

यह हिंदू-संस्कृतिकी ही विशेषता है कि इसमें विषमतामें समता देखनेका तथा क्रूर कर्मोंमें भी अनासक्त और निर्वैर रहकर उन्हें भगवत्कर्म बनाने एवं उनमें भक्ति और परायणताका संयोग करनेका कौशल प्राप्त है।

व्यावहारिक अनेकतामें तात्त्विक एकता और प्रकृतिजनित जगत्की विषमतामें परमात्माकी नित्य समता देखना हिंदू-संस्कृतिकी विशेषता है। इसी

* मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ (गीता ११।५५)

'अर्जुन! जो पुरुष मेरे ही लिये कर्म करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है, समस्त प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह (अनन्य भक्तियुक्त पुरुष) मुझ (भगवान्)-को ही प्राप्त होता है।'

संस्कृतिमें यह अनुभव करके बतलाया गया है कि यह सारा जगत् एक ही भगवान्‌से निकला है; उन्हींमें स्थित है और उन्हींमें समाता है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि। जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् ब्रह्म। (तैत्तिरीय० ३।१।१)

एवं इस सर्वगत परमात्माकी अपने-अपने कर्मोंके द्वारा पूजा करके मनुष्य-जीवनकी परम और चरम सफलताको प्राप्त कर सकता है।*

वर्णधर्म

अपने-अपने कर्मोंके अनुसार भगवान्‌के विधानसे जीवको जिस वर्णमें (या जिस योनिमें) जन्म ग्रहण करना पड़ता है, उसके जो स्वाभाविक कर्म हैं, वही उसके 'अपने कर्म' (स्वकर्म) हैं। यही वर्णधर्म है। वर्णधर्ममें सबके लिये पृथक्-पृथक् रूपसे कर्म नियत हैं। वर्णधर्मके अनुसार जिस वर्ण या जातिकी जो पैतृक आजीविका है, उसीको अपनाकर उसीमें संतुष्ट रहना और उससे जो कुछ उपार्जन हो, उसको यथायोग्य रीतिसे समाजमें वितरण कर देना उसका कर्तव्य है। जन्मसे ही वृत्ति नियत होनेसे न तो किसीमें कभी प्रतिस्पर्धाका भाव आता है, न कोई किसीकी वृत्ति छीननेका प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त, वंशपरम्परासे आजीविकाके जो साधन चले आते हैं, स्वाभाविक ही उनमें उस वंशके लोग निपुण हो जाते हैं। उनके रक्त-मांसमें उसके भाव भरे रहते हैं। इससे उनका कार्य बहुत सुन्दर और सुचारुरूपसे सम्पन्न होता है।

वर्णोंमें न तो आत्माकी दृष्टिसे कोई भेद है और न कर्मभेदसे उनमें कोई छोटा-बड़ा है। अपने-अपने स्थानपर सभीका समान महत्त्व है। सभी अन्योन्याश्रित हैं, एक-दूसरेके पूरक और सहायक हैं तथा सभीकी अपने-अपने स्थानपर विशिष्ट उपयोगिता है। ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबल तथा श्रमबलसे गौरवशाली है। यही इनका स्वधर्म है। इनकी उत्पत्ति भी एक ही भगवान्‌के दिव्य शरीरसे हुई है। ब्राह्मणकी भगवान्‌के श्रीमुखसे, क्षत्रियकी बाहुसे, वैश्यकी ऊरुसे और शूद्रकी चरणोंसे हुई है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
(ऋग्वेद १०।९०।१२)

ये सब अपने-अपने कर्मका सुचारुरूपसे सम्पादन करते रहें तो जन्मान्तरमें वे उच्च वर्णके होते हैं। जैसे नाटक-मण्डलीमें किसी अभिनेताके द्वारा अपने जिम्मेका अभिनय सफलताके साथ सम्पन्न किये जानेपर उसे दूसरे श्रेष्ठ पात्रका अभिनय मिल जाता है, वैसे ही इस जगन्नाटकमें सफल अभिनेताको जन्मान्तरमें उच्च वर्णकी प्राप्ति होती है।

कर्म और पुनर्जन्म

हिंदू-संस्कृतिमें 'कर्म' और 'पुनर्जन्म' का सिद्धान्त अनुभव-सिद्धरूपसे मान्य है। कर्मका फल अवश्य भोगना पड़ता है और कर्मानुसार जन्मान्तरकी प्राप्ति होती रहती है एवं जबतक भगवत्प्राप्ति या मुक्ति नहीं हो जाती, तबतक यह जन्म-मरणका प्रवाह चलता ही रहता है। मरनेपर कर्मानुसार जीव आतिवाहिक देह प्राप्त करके तेज:प्रधान देव-देहसे स्वर्गादि लोकोंमें अथवा वायुप्रधान पितृ-प्रेतादि-देहसे पितृ-प्रेत-लोकोंमें जाता है; परंतु इसके सिद्धान्तमें अनन्तकालीन स्वर्ग या नरक नहीं है। स्वर्ग या नरकादिके सुख-दुःख भोगकर जीव पुनः अपने कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेता है।

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है और फलमें परतन्त्र है। निषिद्ध कर्माचरणसे अन्धकारमय दुःखप्रद नरकादि लोक और नीच पशु-पक्षी आदि योनियाँ प्राप्त होती हैं और पवित्र वैध कर्मोंके फलस्वरूप सुखमय स्वर्गादि लोक और उत्तम श्रेष्ठ वर्णकी मानव-योनि प्राप्त होती है। छान्दोग्योपनिषद्‌में कहा है—

रमणीयचरणा''''रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा''''कपूयचरणा''''कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा। (५।१०।७)

'उन जीवोंमें जो अच्छे आचरणवाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं। वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त करते हैं तथा जो

* यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ (गीता १८।४६)

'जिस (परमेश्वर)-से सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जो इस समस्त जगत्‌में व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है।'

अशुभ आचरणवाले होते हैं, वे तत्काल अशुभ योनिको प्राप्त होते हैं। वे कुत्तेकी योनि, शूकरयोनि या चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं।'

आश्रम-धर्म

वर्णव्यवस्थाकी भाँति ही हिंदू-संस्कृतिमें आश्रम-व्यवस्था है। हिंदू-संस्कृतिका लक्ष्य त्याग है, भोग नहीं। संसारके तुच्छ, अल्प, सीमित और दु:खमिश्रित भोगोंमें आसक्ति न रखकर जीवनको त्यागमय बनाना इसमें महत्त्वकी बात मानी जाती है। हिंदू-संस्कृतिमें स्वाभाविक ही भोगीकी अपेक्षा त्यागीका स्थान ऊँचा है। महान् सम्राट् भी त्यागी महात्माओंकी चरणधूलि सिरपर चढ़ानेमें अपना सौभाग्य समझता है। किसके पास कितना अधिक धन-ऐश्वर्य है, इसका कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व है इस बातका कि कौन कितना बड़ा त्यागी है। पाश्चात्योंके संगसे जबसे भारतने इस त्यागके महत्त्वको भुलाया और अपनी संस्कृतिके सिद्धान्तोंके विरुद्ध भोगैश्वर्यके पीछे पागल हुआ, तभीसे जीवनका लक्ष्य मानकर उसकी दृष्टि केवल अर्थ और अधिकारपर टिकने लगी और तभीसे अनाचार, दुराचार, चोरी, छल, कपट, चोरबाजारी, रिश्वतखोरी आदि दोष आ गये और ये तबतक नहीं मिट सकेंगे, जबतक कि त्यागकी महत्ताका यथार्थ अनुभव न हो जायगा।

हमारे आश्रम-धर्ममें आरम्भसे ही त्यागकी शिक्षा दी जाती है। 'ब्रह्मचर्याश्रम' में राजकुमार भी गुरुकुलमें उसी रूपमें रहता है, जिस रूपमें एक निर्धनका बालक। और नियमत: ही वहाँ समस्त विलास-सामग्रियोंका—ऐन्द्रिय सुखोपभोगोंका त्याग और मन-इन्द्रियका संयम रखना पड़ता है। त्यागकी इस प्रथम घाटीको पार करके वह 'गृहस्थाश्रम' में आता है, यहाँ उसे भोगोंमें रहकर त्यागी बनना पड़ता है। धन कमाता है, पर अपने लिये नहीं, सारे समाजके लिये, विश्वके लिये—भगवान्‌के लिये। पुत्रोत्पादन करता है; पर अपने लिये नहीं; समाजके लिये, धर्मके लिये, भगवान्‌के लिये। वह संयमी और जितेन्द्रिय होता है। वह सारे समाजका सेवक होता है। तीनों आश्रमोंका और प्राणिमात्रका आश्रय होता है।* सबकी सेवा करके प्रसादरूपसे जो प्राप्त होता है, उसीको अमृतरूप जानकर वह अपना काम चलाता है। इस आश्रममें जीवनका एक महान् उत्तरदायित्वयुक्त कर्मपूर्ण अंश बिताकर और अपने सुयोग्य त्यागभावापन्न उत्तराधिकारीको घरका भार सौंपकर त्यागके पथमें और भी आगे बढ़नेके लिये वह 'वानप्रस्थ-आश्रम' में पहुँचता है और अन्तमें चतुर्थाश्रम—संन्यासमें सम्यक् प्रकारसे सम्पूर्ण त्याग करके परमात्माके साथ एकात्मता प्राप्त करता है। चारों आश्रम उत्तरोत्तर अधिकाधिक त्यागकी स्थितिमें ले जानेवाले हैं और अपने-अपने पूर्वाश्रमकी सुदृढ़ भित्तिके आधारपर स्थित हैं।

विवाह

हिंदू-संस्कृतिमें विवाह कभी न टूटनेवाला एक परम पवित्र धार्मिक संस्कार है; यज्ञ है। वह इन्द्रियसुखभोगके लिये नहीं, बल्कि पुत्रोत्पादनके द्वारा परलोकगत पितरोंको सुख पहुँचाने और देवताओंको तुष्ट करनेके लिये है। इसमें विवाह-विच्छेदकी बात तो दूर रही, जन्म-जन्मान्तरतक पति-पत्नीका पवित्र सम्बन्ध बना रहता है। इसीसे हिंदू-स्त्रियाँ पतिके शवके साथ हँसते-हँसते सती हो जाती हैं। इस गये-गुजरे जमानेमें भी सतियोंके चमत्कार होते ही रहते हैं।

बड़ोंकी सेवा

हिंदू-संस्कृतिमें माता-पिता, गुरु और श्रेष्ठ पुरुषोंकी वन्दना तथा सेवाका बड़ा महत्त्व है। मनु महाराज कहते हैं—

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥
यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

---

* यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥
स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता। सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥ (मनु० ३। ७७—७९)

'जैसे सब प्राणी प्राणवायुका आश्रय लेकर जीते हैं, वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थाश्रमीका आश्रय लेकर जीते हैं, क्योंकि गृहस्थ ही नित्य विद्या और अन्नका दान देकर तीनों आश्रमवालोंको टिकाये रखता है, अत: गृहस्थाश्रमी पुरुष तीनों आश्रमोंसे श्रेष्ठ है। जिसको स्वर्गके अक्षय सुखकी तथा इस लोकमें सुखकी इच्छा हो, उसको प्रयत्नपूर्वक गृहस्थाश्रम धारण करना चाहिये, जो अजितेन्द्रिय पुरुषोंके द्वारा धारण नहीं किया जा सकता।'

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद् गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद् दिवि मोदते॥

(मनु० २। २२५—२२७, २३२)

'आचार्य, पिता, माता और बड़े भाई—इनका, इनसे सताये जानेपर भी, अपमान न करे। ब्राह्मणको तो विशेषरूपसे इनका अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि आचार्य ब्रह्माकी मूर्ति, पिता प्रजापतिकी मूर्ति, माता पृथ्वीकी मूर्ति और बड़ा भाई अपनी ही दूसरी मूर्ति है (इनका अपमान करनेसे उन-उन देवताओंका अपमान करना माना जाता है)। बालकोंको जन्म देकर उनका पालन-पोषण करनेमें माता-पिताको जो दुःख सहना पड़ता है, उसका बदला सैकड़ों वर्ष सेवा करनेपर भी नहीं चुकाया जा सकता।'

'जो गृहस्थी (माता, पिता और गुरु) इन तीनोंकी सेवामें तत्पर रहता है, वह तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त करता है और स्वर्गमें सूर्यके सदृश अपने तेजस्वी शरीरके द्वारा प्रकाश करता हुआ आनन्दमें रहता है।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(मनु० २। १२१)

'जो मनुष्य नित्य बड़ोंको प्रणाम करता है और उनकी सेवा करता है, उसके आयु, विद्या, यश और बल चारों बढ़ते हैं।'

भारतवर्षकी महिमा

हिंदू-संस्कृतिके कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षणोंका यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है। वस्तुतः हिंदू-संस्कृति अध्यात्मप्रधान है। व्यावहारिक लोकहितका पूरा ध्यान रखते हुए सत्य और न्यायपूर्ण साधनसे अनासक्त होकर लौकिक उन्नति करना और उसमें भी जीवनके चरम लक्ष्य भगवान्‌को कभी न भूलते हुए क्रमशः भगवान्‌की ओर बढ़ते रहना इसका प्रधान स्वरूप है। पवित्र भारतवर्षमें इस महान् संस्कृतिका उदय हुआ, इसीसे भारत धन्य है और धन्य रहेगा।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

(विष्णुपुराण २। ३। २४)

'देवतालोग भी निरन्तर यही गाया करते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और मोक्षके मार्गभूत भारतवर्षमें जन्म लिया है, वे पुरुष हम देवताओंकी अपेक्षा भी अधिक सौभाग्यशाली हैं।'

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥
किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतै-
र्दानादिभिर्वा द्युजयेन फल्गुना।
न यत्र नारायणपादपंकज-
स्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात्॥
कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात्
क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः
संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः॥

(श्रीमद्भा० ५। १९। २१—२३)

देवता भारतवर्षमें उत्पन्न हुए मनुष्योंकी इस प्रकार महिमा गाते हैं—अहा! जिन जीवोंने भारतवर्षमें भगवान्‌की सेवाके योग्य मनुष्य-जन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है? अथवा इनपर स्वयं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये हैं? इस परम सौभाग्यके लिये तो निरन्तर हम भी तरसते रहते हैं। हमें बड़े कठोर यज्ञ, तप, व्रत और दानादि करके जो यह तुच्छ स्वर्गका अधिकार प्राप्त हुआ है—इससे क्या लाभ है? यहाँ तो इन्द्रियोंके भोगोंकी इतनी बहुलता है कि उससे दबे रहनेके कारण कभी श्रीनारायणके चरण-कमलोंकी स्मृति होती ही नहीं। यह स्वर्ग तो क्या—जहाँके निवासियोंकी एक-एक कल्पकी आयु होती है, किंतु जहाँसे फिर संसार-चक्रमें लौटना पड़ता है, उन ब्रह्मलोकादिकी अपेक्षा भी भारत-भूमिमें थोड़ी आयुवाले होकर जन्म लेना अच्छा है; क्योंकि यहाँ धीर पुरुष एक क्षणमें ही अपने इस मर्त्यशरीरसे किये हुए सम्पूर्ण कर्म श्रीभगवान्‌को अर्पण करके उनका अभयपद प्राप्त कर सकता है।'

जगत्‌के लोग निष्पक्षभावसे इस संस्कृतिके भव्य और दिव्य स्वरूपको समझें तो उन्हें बड़ा भारी आश्वासन मिलेगा और यहाँके निवासियोंका तो यह परम कर्तव्य ही है कि ये—जो आज अपने घरकी महान् संस्कृति और उसके पावन सिद्धान्तोंसे अनभिज्ञ रहकर परमुखापेक्षी बन रहे हैं, अपनी पवित्र आर्य-

संस्कृतिकी अवहेलना करके केवल 'अर्थ' और 'अधिकार' के पीछे प्रमत्त होकर 'सनातनधर्म' के विनाशमें ही कल्याणकी भावना कर रहे हैं एवं फलस्वरूप उत्तरोत्तर पाप-तापके मलिन और दुःखप्रद पंकमें फँसे जा रहे हैं—शीघ्र चेतें, अपनी संस्कृतिको जानें, समझें और अपनायें। भारतवर्षका सिर ऊँचा करनेके लिये उसके पास कोई वस्तु थी तो वह उसकी अध्यात्मप्रधान संस्कृति ही थी। इस अध्यात्मको अपनाकर अपना और इसे आजके अशान्त जगत्को देकर उसका क्लेश दूर करके ही भारत अपने पुण्य-कर्तव्यका पालन कर सकता है। भगवान् हमारी बुद्धिमें प्रकाश दें और अखिल विश्वका मंगल करें।

पिंजरापोल और गोशाला

परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा सदा।
आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्तिता॥

(अत्रिसंहिता ४१)

'अपना, पराया, मित्र, द्वेषी और वैरी कोई भी हो, विपत्तिमें पड़े हुएकी सदा रक्षा करनेको ही दया कहा जाता है।'

दया उपयोगिताकी अपेक्षा नहीं करती। वह तो मानवस्वभावका एक सात्त्विक गुण है, जो बिना किसी भेदभावके पीड़ित प्राणिमात्रकी पीड़ा दूर करनेके लिये मानव-हृदयमें सहानुभूति, परदुःखकातरता, सात्त्विक उत्साह और उत्तेजन तथा उत्कृष्ट उत्सर्गकी भावना उत्पन्न करता है और मनुष्यको दुःखियोंके दुःख दूर करनेके पवित्र कार्यमें बरबस लगा देता है। फिर, असहाय और अशक्त गायका पालन-पोषण करने और उसे सुख पहुँचानेकी चेष्टा करनेमें तो दयाका प्रश्न ही नहीं है। इसमें तो कृतज्ञताजनित विशुद्ध कर्तव्यपालन है। जिस गोमाताने अपनी अच्छी हालतमें हमारी अपार सेवा की, जिसका जन्म ही हमारी भलाईके लिये हुआ और जिसकी उदारतापर ही हमारा जीवन निर्भर रहता है। जिसने हमें अमृत-सा दूध दिया, खेतीके लिये बैल दिये, खेतके लिये खाद दी और अब भी दे रही है, उसका दूध सूख जानेपर या उसके लूली-लँगड़ी, बीमार और असहाय हो जानेपर उसका पालन-पोषण करनेसे मुँह मोड़ लेना तो एक प्रकारकी घोर कृतघ्नता और कर्तव्यसे विच्युति है। आजकल उपयोगितावादकी लहर बह रही है, इस कारण महत्त्वपूर्ण दयावृत्ति और कर्तव्यपालनके प्रति लोगोंकी उपेक्षा होने लगी है। वे कहते हैं—'जो प्राणी हमारे किसी उपयोगमें नहीं आते, जो न दूध दे सकते हैं और न खेती-बारीके ही काम आते हैं ऐसे निकम्मे पशुओंके पेटका गड्ढा भरते रहना मूर्खता नहीं तो और क्या है। प्रकृति स्वयं निरुपयोगी बनाकर जिनका अन्त कर देना चाहती है, उनको बचानेमें अपनी शक्ति, समय और धनका उपयोग करना उनका दुरुपयोग ही तो है।' मतलब यह कि आजके इस जडयुगमें मनुष्यकी दृष्टि सब ओरसे हटकर केवल अर्थपर ही आकर टिक गयी है। इसीसे प्रत्येक काममें उसके सामने केवल उपयोगिताका प्रश्न रहता है और इसीसे वह आज अपने वृद्ध और बीमार सगे माता-पिता एवं आत्मीय स्वजनोंकी भी उपेक्षा—उनसे घृणा करने लगा है और उनके भरण-पोषणमें समय, शक्ति और अर्थका अपव्यय मानकर उससे अपनेको बचाने लगा है। अर्थपरायणताने उपयोगिताके नामपर आज मनुष्यको केवल देवत्वकी ओर जानेसे ही नहीं रोक दिया है, वरं मानवतासे भी उतारकर उसे दया-मयाशून्य असुर बना दिया है। इसीसे आज वह सहानुभूति, सेवा और दूसरोंकी सुख-शान्तिकी कुछ भी परवा न करके अपनी पवित्र सात्त्विकी वृत्तियोंको मारकर केवल अर्थके पीछे उन्मत्त हो रहा है और उन्नतिके नामपर दिनोदिन पतनके गहरे गड्ढेमें गिरता जा रहा है। मनुष्यके जीवनका ध्येय जब एकमात्र धन ही बन जाता है, तब उसमें एक ऐसा मोह पैदा होता है जो उसे अपने सुख-शान्तिके साधनोंसे भी विमुख कर देता है; यहाँतक कि उससे वह ऐसे कर्म करवाता है जिनसे उसके अपने ही इहलौकिक और पारलौकिक जीवनकी सुख-शान्तिका स्रोत भी चिरकालके लिये सूख जाता है और जब मनुष्य अपनी सुख-शान्तिको ही नहीं देखता, तब दूसरेकी सुख-शान्तिकी चिन्ता तो उसे क्यों होने लगी?

यही कारण है कि आजके धनकामी लोग 'व्यर्थ अर्थनाश' बताकर असहाय पशुओंका भरण-पोषण

करनेवाली उपयोगी संस्थाओंकी ओरसे उदासीन होते चले जा रहे हैं और उनका विरोध करनेमें ही अपने कर्तव्यका पालन समझते हैं। दु:ख तो इस बातका है कि केवल आर्थिक दृष्टिकोणसे गो-पालन करनेवाले पाश्चात्य देशोंकी पद्धतिपर मुग्ध होकर हमारे सम्मान्य अर्थशास्त्री विद्वान् भी आज वृद्ध और अपंग पशुओंको पृथ्वीका भार बताकर उन्हें न पालनेकी सलाह देने और प्रकारान्तरसे उनको कत्ल कर डालनेके लिये प्रोत्साहित करने लगे हैं। ऐसी हालतमें इस प्रकारके विचारवाले लोगोंके द्वारा पिंजरापोल और गोशालाओंकी अनुपयोगिता दिखलाया जाना कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है। अवश्य ही ऐसी संस्थाओंका विरोध मनुष्यकी एक पवित्र, कोमल और मधुर वृत्तिको मारना ही है!

पिंजरापोलोंकी स्थापना वस्तुत: उन सहृदय पुरुषोंकी विशुद्ध धार्मिक भावनासे हुई थी जिनके हृदयमें बड़ी सुकोमल—सुमधुर दयाकी वृत्ति थी और जो वृद्ध माँ-बापकी सेवा करनेकी भाँति ही बूढ़ी गो-माताकी सेवाको भी अपना परम कर्तव्य मानते थे। पिंजरापोल नयी संस्था नहीं है। जैन और बौद्धोंके समयमें भी ऐसी संस्थाएँ थीं। मुसलमानी कालमें भी थीं और उनमें केवल गायोंका ही नहीं, बीमार और असहाय अन्यान्य पशु-पक्षियोंका भी इलाज और भरण-पोषण किया जाता था। यह एक ऐसा पवित्र धर्म समझा जाता रहा है कि सारा समाज इसमें हाथ बँटाता है और व्यापारी लोग अपने व्यापारपर 'लाग' लगाकर इस कार्यमें सहायता करते हैं। अपंग प्राणीकी सेवामें एक परम पुण्यकी और पवित्र कर्तव्य-पालनकी श्रद्धा थी और वह सच्ची थी। इसीसे लोग अपने-अपने घरोंमें भी अशक्त प्राणियोंकी सेवा अपने हाथों करते थे। जब कोई गृहस्थ ऐसी परिस्थितिमें पड़ जाता कि खुद तन और धनसे सेवा नहीं कर सकता था, तब उसके पशुको सँभालना पिंजरापोलका काम था। इस प्रकार पिंजरापोल न केवल पशु-पीड़ाका निवारण करता था वरं धार्मिक-भावसम्पन्न असमर्थ गृहस्थका बोझ भी हलका करके उसे इस योग्य बना देता था कि वह नया उपयोगी पशु लाकर उससे लाभ उठा सके। आज भी प्राय: ऐसा ही होता है। पिंजरापोलोंमें इस समय सरकारी अनुमानसे लगभग तीन करोड़ रुपये वार्षिक खर्च होते हैं। हिंदुओंकी संख्या २४ करोड़ मानी जाय तो प्रत्येक हिंदूके हिस्सेमें महीनेभरमें सिर्फ दो पाई (एक पैसेका भी दो तिहाई भाग) आती है। बूढ़ी और असहाय गो-माताके लिये हिंदुओंका यह नन्हा-सा दान क्या अनुपयोगी है? क्या हेय और घृणित है?

इसमें कोई संदेह नहीं कि विभिन्न कारणोंसे आज सभी पिंजरापोलोंकी दशा संतोषजनक नहीं है और यह भी सत्य है कि युग-परिवर्तनके साथ-साथ पिंजरापोलोंकी कार्य-पद्धतिमें भी उचित परिवर्तनकी आवश्यकता हो गयी है। पर यह कहना सर्वथा असंगत है कि पिंजरापोल और गोशालाएँ सर्वथा व्यर्थ और हानिकारक संस्थाएँ हैं। हाँ, मूल उद्देश्यकी रक्षा करते हुए उनको आर्थिक दृष्टिसे भी जितना उपयोगी और जितना स्वावलम्बी बनाया जा सके, उतना बनाना चाहिये। सुधारके लिये सदा ही तैयार रहना चाहिये; परंतु सुधारके नामपर संहार न हो जाय, इसकी सावधानी रखनी चाहिये। अवश्य ही नवीनताके मोह-मदमें अंधे होकर प्राचीनतामात्रकी जड़ उखाड़ने जाना जैसे बड़ी भूल है, वैसे ही प्राचीनताके नामपर अड़कर, धर्मसे अविरुद्ध नवीन उपयोगी पद्धतिको स्वीकार न करना भी कम भूल नहीं है।

कहते हैं भारतवर्षमें छोटे-बड़े सब मिलाकर लगभग २,५०० या ३,००० पिंजरापोल और गोशालाएँ हैं। इनको मुख्यत: तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है। १—जिनके पास पर्याप्त संगृहीत धन और काफी आमदनी है, जिनका संचालन नियमितरूपसे सम्भ्रान्त सज्जनोंकी कमेटीद्वारा होता है और जिनमें कुछका रेजिस्ट्रेशन भी हो चुका है। २—जो आरम्भमें कुछ लोगोंके उत्साहसे स्थापित हो चुकी हैं; पर जिनके पास न तो धन है, न काफी आय है और न उत्तरदायी कार्यकर्ता ही हैं और ३—जिनकी पेशेवर लोगोंके द्वारा, पैसा कमानेके साधनके रूपमें स्थापना हुई है और इसी उद्देश्यसे जिनका येन-केन प्रकारेण संचालन भी हो रहा है।

इनमें तीसरी श्रेणीकी संस्थाएँ तो सभी दृष्टियोंसे सर्वथा अनुपयोगी और हानिकारक हैं। दूसरी श्रेणीकी संस्थाओंके लिये कहा जा सकता है कि सुयोग्य कार्यकर्ता मिलें और आमदनी हो तो उनका सुधार हो सकता है। वर्तमान स्थितिमें तो वे बहुत उपयोगी नहीं हैं। ऐसी संस्थाओंमें इस प्रकारकी हालत देखी जाती है कि जिस समय किसी अच्छे कार्यकर्ताके हाथमें

काम हो और व्यापारीवर्गकी स्थिति अच्छी हो, उस समय तो काम ठीक-ठीक चलता है, पर जिन दिनों अच्छे कार्यकर्ता नहीं होते या व्यापार मंदा होता है और आवश्यक चंदा नहीं हो पाता, उन दिनों इनके पशु या तो भूखों मरते हैं या आधे पेट रहते हैं। पिछले अकालके समय कितनी ही गोशालाओंकी ऐसी दशा देखनेमें आयी थीं। परंतु पहली श्रेणीकी संस्थाओंके लिये भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें सभीका काम सुचारुरूपसे संचालित होता है। लोग पैसा तो दे देते हैं, पर समय नहीं दे पाते। जो सभापति, मन्त्री और कार्यकारिणीके सदस्य होते हैं, वे प्रायः केवल नामके ही होते हैं। समयके अभाव, दिलचस्पी न होने तथा गोपालनकी पद्धतिके अज्ञानसे वे कुछ भी नहीं कर पाते। बहुत-से तो जाते ही नहीं। जिनके जिम्मे प्रबन्धका भार रहता है, वे भी न तो अनुभवी होते हैं न क्रियाशील। इससे प्रबन्धमें त्रुटियाँ बनी ही रहती हैं। नयी उन्नतिकी बात तो सोचे ही कौन। पर्याप्त वेतन देकर सुयोग्य अनुभवी पुरुषोंको प्रायः नियुक्त किया नहीं जाता। कहीं कोई अनुभवी पुरुष रखे भी जाते हैं तो एक संस्थामें बीसों मालिक होनेसे उन्हें कार्य करनेका उचित अवसर या पर्याप्त सुभीता नहीं मिलता। नियम तथा प्रणालीमें भी समय तथा पशुपालन-विज्ञानकी जानकारीके अभावसे कोई खास सुधार नहीं किया जाता। ऐसी और भी कई बातें होती हैं, जिनके कारण व्यवस्था ठीक नहीं हो पाती और जितना लाभ होना चाहिये, उतना नहीं होता।

कसाइयोंके हाथोंसे गाय बचाना, अपंग और असहाय गायोंके जीवन-निर्वाहकी सुन्दर व्यवस्था करना और दूधवाली गायोंकी हत्या रोकनेके लिये सब प्रकारके उचित प्रयास करना आदि सभी आवश्यक कार्य हैं और धर्म हैं। परंतु सार्वजनिकरूपसे सच्ची गोरक्षा तो तभी सम्भव है, जब गौका दूध पर्याप्त मात्रामें बढ़ जायगा और गौमें बहुत मजबूत और बलवान् बछड़ा पैदा करनेकी शक्ति आ जायगी। पिंजरापोल और गोशालाएँ—इस दिशामें भी बहुत कुछ कार्य कर सकती हैं। मेरी समझसे पिंजरापोलों और गोशालाओंको अपनी-अपनी परिस्थितिके अनुसार नीचे लिखे कार्य करनेका प्रयत्न करना चाहिये—

(१) वृद्ध, अपंग, बीमार, दुर्बल और ठाँठ गाय, असहाय बैल और ऐसे ही बछड़े-बछड़ी आदिके पालन-पोषणकी पूरी व्यवस्था हो, जिसमें वे जीवनके अन्तिम श्वासतक सुखपूर्वक खा-पीकर रह सकें। गोजातिका ऋण तो उतर ही नहीं सकता, परंतु सच्ची कृतज्ञता प्रकट करने और मानव-हृदयकी बड़ी कोमल दयावृत्तिकी रक्षा करनेके लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है।

(२) अच्छी जातिकी ऐसी गायोंको, जो चारे-दानेकी कमी और देख-रेखके अभावसे कमजोर होकर बिसुक गयी हों, चुनकर और उन्हें अलग रखकर अच्छी तरह खिलाया-पिलाया जाय और उनकी पूरी-पूरी देखभाल की जाय, जिससे वे बहुत उपयोगी और बड़े परिमाणमें दूध देनेवाली बन सकें। (राजस्थानके पिछले अकालके समय पाँच-पाँच रुपयोंमें अच्छी जातिकी बिसुकी हुई मरणासन्न गायें बिकी थीं, जो अच्छी तरह खिलाने-पिलानेपर प्रतिदिन १२ से १५ सेर दूध देने लगी थीं। ऐसी कुछ घटनाएँ मैंने स्वयं देखी-सुनी हैं।)

(३) एक अलग दुग्धालय-विभाग हो, जिसमें अच्छी जातिकी दुधार गायोंका—अपनी गायोंमें चुनकर, खरीदकर, बछड़ियोंको उत्तम गाय बनाकर—संग्रह किया जाय। घास-चारे और हवा-पानीके उचित उपयोग तथा अच्छे बलवान् साँड़ोंके संयोगसे उनमें और उनकी संततिमें दूध बढ़ानेका प्रयत्न किया जाय। वैज्ञानिक रीतिसे दूधके दुहनेसे लेकर उसके रूपान्तर करनेतक सावधानी रखी जाय। इन गायोंका दूध जनताको—खास करके बीमारों और बच्चोंके लिये उचित मूल्यपर बेचा जाय। जब गौओंकी संख्या अधिक हो जाय, तब उन्हें विश्वासी सद्गृहस्थोंको पालन करनेके लिये उचित मूल्यपर बेचा जाय; पर शर्त यह रहे कि जब गाय दूध देना बंद कर देगी, तब वे उसका पालन करेंगे और असमर्थताकी हालतमें हर किसीके हाथ न बेचकर पिंजरापोलको वापस दे देंगे।

(४) विश्वासी सद्गृहस्थोंको बैल बनानेके लिये बछड़े देकर बदलेमें बछड़ियाँ ले ली जायँ और उन्हें अच्छी दुधार गायें बनाया जाय।

(५) पिंजरापोलों और गोशालाओंमें अच्छी-बुरी सभी जातियोंके मजबूत और कमजोर गाय, बछड़े और साँड़ आदि प्रायः साथ-साथ रहा करते हैं। इससे बिलकुल कमजोर और अनुपयोगी गायें भी बरधायी जाती हैं और बहुत कमजोर निकम्मे साँड़ बरधानेका

काम करते हैं। इसका फल यह होता है कि उनके बछड़े और बछड़ी बहुत ही कमजोर पैदा होते हैं। जो अच्छा चारा-दाना मिलनेपर भी रज-वीर्यके दोषके कारण अपनी हालत नहीं सुधार सकते, ऐसी बछड़ियाँ बहुत देरसे गाभिन होती हैं और ब्यानेपर थोड़े-से दिनोंतक बहुत थोड़ा दूध देती हैं और बछड़े इतने दुर्बल होते हैं कि वे साँड़ बननेयोग्य तो रहते ही नहीं—अच्छे बैल भी नहीं बन सकते। इस प्रकार, दोनों गृहस्थके लिये भाररूप होकर जीते हैं और दुःख भोगते हैं। ऐसे कमजोर गाय-बैलोंसे दूधके उत्पादनकी शक्ति घटती है और तमाम संतति खराब हो जाती है। इसलिये ऐसी गायोंका और साँड़ोंका संयोग कभी हो ही नहीं—इस बातका पूरा खयाल रखना चाहिये।

(६) देशमें अच्छे साँड़ोंकी बहुत कमी हो गयी है। सरकारी अनुमान है कि जहाँ अच्छे ढाई सौ साँड़ चाहिये, वहाँ एक साँड़ है। इसलिये अच्छे-से-अच्छे साँड़ बनाये जायँ और पाले जायँ। उनमेंसे कुछको अपने इलाकेकी अच्छी गायोंके बरधानेके लिये सुरक्षित रखा जाय, जिससे उनकी नस्लमें सुधार हो। यदि प्रत्येक पिंजरापोल दस-बीस अच्छे-से-अच्छे साँड़ बनाकर जनताके उपयोगके लिये उन्हें समर्पित कर दे तो गो-जातिकी बहुत बड़ी सेवा हो सकती है।

(७) ऐसे असमर्थ सद्गृहस्थोंकी अच्छी जातिकी गाभिन गायोंको, जिन्होंने दूध देना बंद कर दिया है, पालन करनेके लिये कम खर्चपर पिंजरापोलोंमें ले लिया जाय और ब्यानेके बाद उन्हें वापस दे दिया जाय। इसी प्रकार असमर्थ गृहस्थोंके छोटे बछड़े-बछड़ियोंका भी पालन किया जाय। ऐसे गाय-बछड़ोंको कोई मालिक बेचना चाहें तो उन्हें पिंजरापोल अच्छी दुधार गाय और मजबूत बैल बनानेके लिये खरीद ले।

(८) पिंजरापोलोंके पास प्रायः जमीन होती ही है। नहीं तो, जमीनका प्रबन्ध किया जाय और उसमें उपयोगी घास-चारेकी खेती की जाय और प्रचुरमात्रामें घास-चारा उपजाया जाय।

(९) प्रतिवर्ष हरे घास-चारेको ठीक पद्धतिके अनुसार गड्ढोंमें दबाकर या कुप्पोंमें भरकर रखा जाय—Silage बनाये जायँ जिनसे सूखी मौसममें पशुओंको पुष्टिकर चीज खानेको मिल सके।

(१०) सूखे और हरे चारेका स्टाक किया जाय और काफी स्टाक होनेपर कम-से-कम दो वर्षके लिये अपनी आवश्यकताका सामान रखकर शेष उचित मूल्यपर गृहस्थोंको बेचा जाय।

(११) पर्याप्त गोचरभूमि हो, जिसमें संस्थाकी गायें तो चरें ही, उचित कीमतपर दूसरे लोगोंकी भी बिसुकी हुई गायें और बछड़ी-बछड़े वहाँ चर सकें।

(१२) गोबरको जलानेके काममें न लेकर वैज्ञानिक रीतिसे उसकी खाद बनायी जाय। इसी प्रकार गोमूत्रका भी खादके काममें उपयोग किया जाय। पिंजरापोलकी परती जमीनमें इस खादसे बहुमूल्य घास-चारा पैदा हो सकता है।

(१३) कृषि-सुधारके आवश्यक और सुविधासे काममें लेने लायक तरीकोंसे फल-फूल और साग भी उपजाया जाय और उसे बेचा जाय। गोबर-गोमूत्रकी खादसे इस खेतीमें भी बहुत लाभ हो सकता है।

(१४) पशुओंकी सफाई तथा स्वास्थ्यका, उनके शरीरपर किलनी—जूँ आदि कीड़े घर न कर सकें, इसका पूरा ध्यान रखा जाय। अंगहीन, बीमार, निर्बल, बलवान् पशुओंके लिये रहने और चरनेके अलग-अलग स्थान हों। ताकि न तो परस्पर रोग संक्रमण कर सके, न बलवान् पशुकी मारके डरसे निर्बल पशु भूखा रहकर मृत्युकी ओर अग्रसर हो। उन्हें धोने, नहलाने, पोंछने, उनमें जानवर न पैदा होने देने इत्यादिकी पूरी व्यवस्था रहनी चाहिये। इमारतें, मकान इस ढंगके बनाने चाहिये, जिनमें हवा और प्रकाश आता हो तथा जिनकी अच्छी तरह सफाई की जा सकती हो। कुएँ तथा सिंचाई आदिकी व्यवस्था लाभप्रद वैज्ञानिक ढंगसे हो।

(१५) अच्छे गोचिकित्सक (Veterinary Doctor)-को रखा जाय और साथ ही एक अस्पताल या दवाखाना रहे। बीमार पशुओंका सावधानीसे इलाज हो, जिस समय पशुओंमें कोई संक्रामक रोग फैलने लगे, उस समय यदि उन्हें दवाके जलसे नहलाने, प्रतिषेधक दवा या इंजेक्शन देनेकी पूरी व्यवस्था हो तो रोगका विस्तार सहज ही रुक जाय और बहुत-से पशुओंके प्राण अनायास ही बच जायँ।

कोई खास संक्रामक रोगसे पीड़ित गाय पिंजरापोलमें आवे तो उसे अलग रखकर इलाज कराना चाहिये, जिससे दूसरी गायोंपर उसका असर न हो। गायोंको

भर्ती करते समय यदि गोशालाके डॉक्टर गायकी परीक्षा कर लिया करें तो सर्वोत्तम है।

(१६) प्रत्येक संस्थामें एक पशु-पालन-विज्ञानमें पारंगत जिम्मेवार वैतनिक पुरुष रहने चाहिये। पशुओंकी पहचान, उनके रखने और खिलाने-पिलानेकी व्यवस्था, सफल खेतीका प्रबन्ध, घास-चारेका संग्रह, हरे चारेके Silage बनानेकी व्यवस्था, स्वच्छता और सफाईका प्रबन्ध, सब चीजोंका अलग-अलग हिसाब और रजिस्टर रखने आदि सारे काम उन्हींके नियन्त्रण और देख-रेखमें होने चाहिये। वे पशु-चिकित्सामें भी दक्ष हों तो सबसे अच्छी बात है। वैसी हालतमें पशु-चिकित्साके लिये अलग डॉक्टर न रखकर एक सुयोग्य सहकारी रखनेसे भी काम चल सकता है।

(१७) पशु, घास-चारा, दुग्धालय, पशुओंकी जाति और उनके माता-पिता, पशुओंके जन्मपत्र और संस्थाके आय-व्यय आदिका ब्योरेवार विवरण रखना चाहिये।

(१८) नये पिंजरापोल, गोशालाएँ बनाये जायँ तो उनको शहरोंमें न बनाकर ऐसे स्थानोंमें बनाना चाहिये जहाँ खुली जगह हो। चारों ओर विस्तृत खेत हों। नदी-तट हो तो बहुत अच्छा है। नहीं तो, जलका पूरा प्रबन्ध तो अवश्य हो।

गोरक्षापर कुछ स्फुट विचार

'कल्याण' के 'गो-अंक' में बड़े-बड़े अनुभवी विद्वानोंके लेख प्रकाशित हुए थे। मेरा कोई अधिकार नहीं कि मैं इस विषयमें अपनी ओरसे कुछ लिखूँ, परंतु कुछ विषय ऐसे हैं, जिनपर मत प्रकट करनेके लिये मुझे बाध्य होना पड़ा है। इसीलिये मैं नम्रताके साथ निम्नलिखित विषयोंपर अपने विचार प्रकट करनेका साहस करता हूँ। इन विषयोंमें मेरा निजी विशेष अनुभव नहीं है। मित्रोंके अनुरोध तथा कर्तव्यकी प्रेरणासे ही अपनी समझमें जो बात उचित जँची वह लिखी जा रही है। आशा है, विज्ञ पाठकगण विचार करेंगे और अनुचित विचारोंके लिये सावधान करनेकी कृपा भी करेंगे।

यूरोपका गोप्रेम

यूरोपमें गोपालन और गो-संवर्धनका जो महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है, वह बहुत ही सराहनीय है एवं उसकी ओर हमारे सुशिक्षित तथा देशकी उन्नतिके सच्चे प्रयासी पुरुषोंका आकर्षित होना स्वाभाविक ही है और उससे हमें यथायोग्य लाभ अवश्य उठाना चाहिये, परंतु एक बातपर विचार करनेकी बड़ी आवश्यकता है; वह है—गौके सम्बन्धमें पाश्चात्यों और भारतीयोंके दृष्टिकोणका भेद। पाश्चात्य जगत्‌में गोपालन होता है, विशुद्ध आर्थिक दृष्टिसे। इसमें वहाँ उन गायोंकी संख्या बढ़ ही नहीं सकती। जो दूध न देती हों या जो कम देती हों, ऐसी गायें तुरंत मार दी जाती हैं और उनका मांस लोगोंकी उदर-दरी भरनेमें लग जाता है। इसलिये वहाँ निकम्मी तथा दूध न देनेवाली गायोंका प्रश्न ही नहीं उठता। भारतमें गोपालनका उद्देश्य अर्थसम्मत होनेके साथ ही मुख्यतः धार्मिक है। हमारे गोपालन और गोसेवनका उद्देश्य केवल इहलौकिक ही नहीं, उससे परलोकका भी सम्बन्ध है। गौ अर्थकरी हो तो सर्वथा उत्तम है ही, परंतु अर्थकरी न होनेकी दशामें भी वह हमारे लिये पूजनीया माता ही है और उसका भरण-पोषण और सेवन-संरक्षण करना हमारा परम कर्तव्य है। पाश्चात्य जगत्‌की गोसेवा वस्तुतः अर्थ-सेवा है और उनका गौमें प्रेम नहीं है, अर्थमें प्रेम है। असलमें वह प्रेम है ही नहीं, काम है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे गौसे प्यार नहीं करते—बहुत करते हैं, अज्ञान और दरिद्र भारतीय पशुपालकोंसे कहीं अधिक करते हैं; परंतु करते हैं—शुद्ध अर्थ-दृष्टिसे। यदि अर्थ-दृष्टिसे गोपालन हानिकर हो तो वे उसे छोड़ देंगे। यह सर्वजनविदित है कि जो गौ वहाँ आर्थिक दृष्टिसे उपयोगी नहीं होती, उसको कोई भी गोशाला (Dairy) नहीं रखती। और इसी आर्थिक दृष्टिको सामने रखकर वहाँ सारे कार्य—गौ खरीदनेसे लेकर गौके मरनेपर उसके मृतावशेष शरीरके पदार्थोंके बेचने तथा काममें लानेतक—किये जाते हैं। यह दृष्टिकोणका महान् अन्तर है। भारतीय जिस पवित्र दृष्टिसे गौको देखता है, वह उसका अनादिकालीन सांस्कृतिक स्वभाव है और उसकी रक्षा होनी ही चाहिये। तभी हिंदू-संस्कृति बचेगी। गाय हर हालतमें भारतीयके लिये पूजनीय और सेवनीय है तथा रहेगी।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि गौकी आर्थिक दृष्टिसे उपेक्षा की जानी उचित है। वर्तमान अर्थ प्रधान जड युगमें अर्थकी अवहेलनासे काम नहीं चलेगा। अतएव अपनी संस्कृतिके अनुरूप गोरक्षा और गोपालनकी दृष्टिको सुरक्षित रखते हुए ही आर्थिक दृष्टिसे भी गौको उपयोगी बनाना चाहिये। सफाई, स्वच्छता, संक्रामक रोगोंके आक्रमणसे बचाना, रोगपीड़ित गायोंकी उचित चिकित्सा करना, उनकी नस्लको न बिगड़ने देकर उत्तरोत्तर सुधारना, अच्छा पूरा चारा-दाना देकर तथा प्रेमका बर्ताव करके उनका दूध बढ़ाना, चमड़ेका उपयोग करनेवालोंके लिये केवल उनके मृतावशेष चमड़ेका ही उपयोग करना, उनके गोबर-गोमूत्रका एक भी कण व्यर्थ न जाने देकर उसकी खाद बनाना, उनके जन्मपत्र रखना; वे जल्दी-जल्दी ब्यायें, अपने ब्यानमें अधिक-से-अधिक दिनोंतक अधिक-से-अधिक दूध दे सकें, दूधमें मक्खन अधिक हो, उनका स्वास्थ्य न बिगड़े और वे दीर्घजीवी हों—इन सब बातोंकी आवश्यकतानुसार वर्तमान वैज्ञानिक सहायतासे व्यवस्था करना; चारे-दानेकी सस्ती व्यवस्था हो, दाबघास (Silage) तैयार हों, गोचरभूमियाँ अधिक हों, इन सबके लिये सब प्रकारसे पूरा प्रयत्न करना; और अपनी मौतसे मरनेतक गौ ऐसी दशामें आवे ही नहीं, जबकि वह अपना खर्च अपने द्वारा किसी रूपमें न दे दे—इसका प्रयत्न करना, तथा ऐसे ही अन्यान्य साधनोंका भी उपयोग करना जिससे आर्थिक दृष्टिसे गौका महत्त्व बढ़े, अत्यन्त आवश्यक है और इस ओर प्रत्येक भारतीयका ध्यान अवश्य ही आकर्षित होना चाहिये।

विशेषज्ञोंका मत है कि यदि हमारी गौओंको पर्याप्त तथा अच्छा चारा-दाना नियमित मिले, नस्लमें सुधार हो, सुव्यवस्था हो, उन्हें अवनत होनेसे और रोगोंके आक्रमणसे बचाया जाय तो आज जो दूध होता है, उससे दूना दूध हो सकता है और फिर गायें दीर्घकालतक स्वस्थ और दुधारू होकर जी सकती हैं। हमारी गायोंमें यूरोपकी गायोंकी अपेक्षा विकास-शक्ति अधिक है।

परंतु गौकी वर्तमान स्थितिमें प्रधान कारण है भारतकी बढ़ती हुई गरीबी। गरीब भूखे गृहस्थकी गाय भरी-पूरी कहाँसे होगी? गरीबी न हो, भरपूर अनाज और चरागाह हों तो पशुपालनमें भारतीय कभी पीछे न रहें। आज जो बातें वैज्ञानिक दृष्टिसे कही जाती हैं, पशुपालनकी हमारी पुरानी रीतिमें प्रायः वे ही बातें स्वाभाविक थीं। हमारी परिस्थितिने हमें मजबूर कर दिया कि हमको अपना स्वभाव छोड़ना पड़ा और परिणामस्वरूप हमारी गायके साथ ही हम भी दुःखी हो गये!

एक बात और है। विदेशी चालाक शासकोंने विभिन्न आकर्षक हेतुओंसे हमारे अंदर एक 'मानसिक दासता' उत्पन्न कर दी है और उसके फलस्वरूप हम आज विदेशी शासनके फंदेसे मुक्त होकर भी विदेशी भावोंकी गुलामीसे छूटना पसंद नहीं करते। दशा यहाँतक हो गयी है कि शारीरिक या आर्थिक स्वतन्त्रता मिल जानेपर भी हमारे मनोंपर तो उन्हींका अखण्ड राज्य बना हुआ है। मनकी परतन्त्रतासे हम नहीं छूट पाये हैं। हमारी इस 'मानसिक गुलामी' के कारण ही हम अपनी सभी बातोंको हेय, नगण्य और उनकी प्रत्येक बातको उपादेय और आदर्श मानते हैं और सभी बातोंमें उनके मुँहकी ओर ताकते हैं। इसीसे हम उनकी अर्थप्रधान डेयरी-पद्धतिपर मुग्ध होकर उसे सीखनेके लिये प्रचुर धन, समय, शक्ति और बुद्धिका व्यय करके अपने शिक्षार्थियोंको अमेरिका और इंग्लैंड भेजते हैं। ऐसा न करके यदि हम अपनी शक्तिको घरकी भूली-बिसरी पद्धतियोंकी खोजमें लगावें और उनका समुचित प्रयोग करें तो बड़ी सुगमताके साथ बहुत कम खर्चमें आश्चर्यजनक आदर्शरूपमें अपनी गायोंकी दशा सुधार सकते हैं। पर इस माया-जालसे मुक्ति हो तब न! अभी तो मुक्तिके नामपर बन्धन ही मजबूत होता जा रहा है!

गोवध बंद होना ही चाहिये

गायको कसाईके हाथसे बचानेकी बड़ी आवश्यकता है। कहना न होगा कि गोवध महान् पाप और भारतके लिये तो बड़ा भारी कलंक है। इसमें प्रधान कारण हैं—चमड़े, हड्डी, सूखे मांस और रक्त तथा आँत-ताँत आदिका व्यापार, खास करके चमड़ेकी बेहद माँग! चमड़ेकी रफ्तनी बढ़ती जा रही है। सन् १९१३-१४ में जहाँ २९ लाख खालें गयी थीं, वहाँ सन् ३८-३९ में ४८ लाख खालें गयीं (मार्केटिंग आफ हाइड्स रिपोर्ट पृष्ठ ४०)। इसी रिपोर्टमें आगरा, बंगलोर, बरेली, बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, जबलपुर, मद्रास और पूना—इन बड़े शहरोंके कसाईखानोंमें काटी जानेवाली गाय-भैंसोंकी संख्याका विवरण देते हुए लिखा है कि सन् १९३२-३३ में जितने पशु मारे गये थे, सन् १९३७-

३८ में उनकी संख्यामें २१.२ प्रतिशतकी वृद्धि हो गयी। यह युद्धपूर्वका वर्णन है। सन् १९४२ में ६६ लाख गाय-भैंसें सरकारी रिपोर्टके अनुसार काटी गयी थीं। युद्धकालमें जहाँ जहाजोंकी कमीके कारण चमड़े आदिकी रफ्तनी घटी, वहाँ फौजोंके लिये गोमांसकी आवश्यकता अत्यधिक बढ़ गयी थी और उसके लिये दूध देनेवाली, गाभिन गायों और बछड़ियोंका भी अबाध वध हुआ, जो करोड़से भी ऊपर पहुँच गया था; ऐसा विशेषज्ञोंका अनुमान है। इस अबाध गोवधको बंद करानेके लिये लोकमतको जाग्रत् करके प्रबल आन्दोलन करनेकी आवश्यकता है। यह आन्दोलन केवल हिंदुओंका ही नहीं रहना चाहिये। मुसलमान, ईसाई तथा अन्य मतावलम्बी सज्जनोंमें भी सहृदयता तथा प्रेमसे इस बातका प्रचार करना चाहिये कि गौ देशके प्रत्येक मनुष्यके लिये आवश्यक है और गौके न रहनेसे हिंदू-मुसलमान सभीको समानरूपसे कष्ट होगा, जिससे वे भी इस आन्दोलनमें शामिल हों तथा सरकारको कानून बनाकर गोवध रोकनेके लिये बाध्य कर दें।

हिंदुओंमें इस बातका खूब प्रचार हो जाना चाहिये कि एक भी गाय कसाईके हाथ जाय नहीं। गाय न मिलेगी, तो कसाईखाने आप ही बंद हो जायँगे। जबतक हिंदू गाय बेचते-बिकाते हैं, तभीतक कसाईखाने चलते हैं!

जिन पशु-मेलोंमें कसाइयोंको गायें मिलती हैं, उन मेलोंको या उनमें गो-विक्रयको कानूनन चेष्टा करके बंद कराना चाहिये। लोकमत जाग्रत् करने, जनताको प्रभावपूर्ण रीतिसे समझाने तथा सरकारको बार-बार सुझानेसे ऐसा होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

उत्तरप्रदेशके बलिया जिलेमें गंगातटपर एक मेला होता है, उसमें हजारों गायें प्रतिवर्ष कसाइयोंके हाथ जाती थीं। श्रीराघवप्रसादजी नामक एक गो-भक्त सज्जनके विशेष उद्योग और उसीमें लग जानेसे वहाँ गौका बिकना कतई बंद हो गया। ऐसा और जगह भी हो सकता है। यह प्रयत्न भी होना चाहिये कि मेलोंमें बिकनेके लिये गौएँ आवें ही नहीं।

सरकारने पिछले दिनों भारत-रक्षा-कानूनके अनुसार उपयोगी गायोंके मारनेपर कुछ प्रतिबन्ध लगाये थे; परंतु वे अस्थायी थे। भरपूर चेष्टा करके धारासभाओंमें नये बिल लाकर उन्हें उचित और आवश्यक संशोधनके साथ स्थायी कानून बनवा लेना चाहिये और प्रत्येक प्रान्तमें उनपर ठीक-ठीक अमल होता है या नहीं, इसकी ओर गो-सेवकों तथा गोरक्षिणी संस्थाओंको एवं म्युनिसिपलिटीके सदस्योंको विशेषरूपसे नजर रखनी चाहिये। खेदकी बात है कि प्रतिबन्धोंके रहते हुए भी प्रतिबन्धके विरुद्ध गायोंकी हत्या होती है। इसमें हमारी अवहेलना और गो-हत्यारोंका स्वार्थ ही प्रधान कारण है।

जबतक स्थायी कानून न बनें, तबतक भारतके सभी प्रान्तोंमें वर्तमान कानूनके लागू करानेकी और उसपर पूरा-पूरा अमल हो—इसकी सार्वजनिक समितियों, गो-रक्षासंस्थाओं तथा जिम्मेवार पुरुषोंको व्यवस्था करनी चाहिये। पिछले भारत-रक्षा-कानूनकी धारा ८१ के अनुसार—बम्बई, मद्रास, बिहार, युक्तप्रान्त, उड़ीसा, आसाम और बंगालमें एक वर्षसे तीन वर्षतकके बछड़े-बछड़ी, पाड़े-पाड़ी, तीनसे दस वर्षतकके काममें आने लायक बैल, गाभिन होने तथा काम देने लायक गाय और सभी आयुकी दुधारू और गाभिन गाय (कुछ प्रान्तोंमें दो वर्षतककी मादा भेड़-बकरी भी) वध करनेकी आज्ञा नहीं थी। इनका वध करना, वधमें सहायता पहुँचाना और वधके लिये ले जाना अपराध माना जाता था और इस अपराधके लिये तीन सालतककी सख्त कैद और पशु जब्त करनेकी सजा नियत की गयी थी तथापि गो-वध होता ही रहा और वह अबतक भी चालू है। इसके लिये—

(क) जहाँ किसी कसाईखानेमें कानूनके विरुद्ध पशु मारे जाते हों, वहाँके इससे सम्बन्धित महकमेके स्थानीय अधिकारियोंको सूचना देनी चाहिये और समाचारपत्रोंमें घटना ठीक सत्यरूपमें जरूर प्रकाशित करानी चाहिये।

(ख) सभा करके इसका शान्तिपूर्ण विरोध करना चाहिये और सरकारके ऊँचे अधिकारियोंका भी इसकी तरफ ध्यान आकर्षित करना चाहिये।

भारतके वर्तमान संविधानकी ४८ वीं धारामें गायों और बछड़े-बछड़ियोंका वध निषेध किया गया है। भारत सरकारके द्वारा बनायी हुई 'गोरक्षण-संवर्धन-कमेटी' ने भी सन् १९४८ में दो वर्षके अंदर-अंदर सम्पूर्ण गोवध बंद करनेकी सिफारिश की थी। तदनुसार अबतक गोवध सम्पूर्णरूपसे बंद हो जाना चाहिये था,

परंतु नहीं हुआ, यह दुःखकी बात है। यद्यपि फौजको मांस देनेके लिये अब गायें नहीं काटी जातीं; परंतु चमड़ेके निर्यातके लिये काटी जाती हैं और जबतक गोवध पूर्णरूपसे कानूनके द्वारा बंद न कर दिया जाय, तबतक केवल उपयोगी पशुवध न करनेके कानूनसे कोई लाभ नहीं होता। पशु कटते ही रहते हैं। कसाईखानेमें वधके लिये स्वीकृति देनेवाले अफसरों और वहाँके चपरासियोंका अवश्य लाभ होता है। संतोषका विषय है कि इस समय देशभरमें गोवध सम्पूर्णरूपसे बंद करानेके लिये आन्दोलन हो रहे हैं। जगह-जगह देवाराधन-अनुष्ठानादि हो रहे हैं। उच्च अधिकारियोंने भी गोवध कानूनी तौरपर बंद करनेकी सम्मति दी है। इससे आशा है गोवधबंदीका कानून बन जाना चाहिये; परंतु गोवध बंद हो भी गया और आर्थिक दृष्टिसे गौका महत्त्व नहीं बढ़ा तो दूर ले जाकर गायोंको छोड़ देंगे और वे भूखके मारे तड़प-तड़पकर मरेंगी। इसलिये हमें चाहिये कि गायोंकी नस्ल सुधारकर उनका दूध बढ़ावें, गो-घृतका ही व्यवहार करें, चमड़ेका व्यवहार बिलकुल त्याग दें। वनस्पतिका बहिष्कार करें, मल-मूत्रकी खाद बनावें तथा जगह-जगह गो-सदनोंकी स्थापना करें, जिनमें बिना कामके अपंग पशु रखे जायँ, उन्हें खिलाया-पिलाया जाय। उनसे संतान उत्पन्न न करायी जाय और उनके मल-मूत्र, चमड़े इत्यादिसे व्यवस्थित आमदनी की जाय तथा गाँव-गाँव गोचरभूमि छुड़वायी जाय। ऐसा होनेपर ही गोहत्या बंद होगी, जिसका बंद होना परम आवश्यक है।

पिंजरापोल-पद्धति भी रहे और नयी गोशालाएँ भी बनें

पाश्चात्य जगत्‌की गोशाला (Dairy) आदर्श है और उसकी बड़ी प्रशंसा है, जो उनकी व्यवस्था, उत्पादन-क्षमता और अर्थोपार्जनकी दृष्टिसे सर्वथा उचित है और हमें उससे अवश्य बहुत कुछ सीखकर तदनुसार करना भी चाहिये। उन गोशालाओंमें पलनेवाली गौएँ सुखपूर्वक रहती हैं—उनके स्वास्थ्य, सफाई, खान-पान-आराम और पोषणका बहुत अधिक तथा उपयुक्त खयाल रखा जाता है—यह भी सत्य है और हमें भी अपनी गायोंको यथासम्भव उसी प्रकारसे सुखी रखना चाहिये; परंतु वे गोशालाएँ वस्तुतः हैं कपड़े तथा चीनी बनानेवाली मिलों—कारखानोंके सदृश दुग्धोत्पादनके कारखाने! उनमें गौके प्रति पूज्यभाव नहीं है—अर्थ तथा स्वास्थ्यकी दृष्टिसे उनका पालन-पोषण होता है। हमारे पिंजरापोल-गोशालाओंके संस्थापकोंकी दृष्टिमें तथा इस प्रकारकी संस्थाओंके निर्माणके मूलमें एक पवित्र निःस्वार्थ प्रेम तथा दयाका भाव है। वहाँ आपको प्रत्येक गोशालामें हट्टी-कट्टी मजबूत दुधारू सुन्दर सुहावनी गायें दीख पड़ेंगी और उनको देखकर चित्त प्रसन्न हो जायगा। पर बीमार, लूली-लँगड़ी गायोंको खिलाने-पिलानेवाली संस्था और उनमें ऐसी अपंग गायोंकी सेवा होती हुई आप कम देख पायेंगे। वास्तवमें हमारी संस्थाएँ दुग्धोत्पादनके उद्देश्यसे खोली जानेवाली गोशाला (Dairy Farms)-की दृष्टिसे बनी ही नहीं हैं। इनका तो पवित्र उद्देश्य ही है—अपंग गायोंकी रक्षा करना, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना और उनके मरनेके कालतक उनके पर्याप्त खान-पान तथा आरामयुक्त निवासकी पूरी व्यवस्था कर देना। आजकी कुछ गोशाला और पिंजरापोलोंमें यदि व्यवस्था ठीक नहीं है तो उनमें व्यवस्थाका सुधार करना चाहिये, न कि उन्हें 'विकलांग पशुओंके कारखाने', 'मूर्खतापूर्ण दानके निदर्शन', 'देशका भार बढ़ानेवाले जानवरोंके गोलघर' कहकर उनके प्रति दुर्भाव पैदा करना, अपंग पशुओंके प्रति उपेक्षा उत्पन्न करना और उन्हें असहाय मरने देने अथवा उनकी देख-रेख किये बिना ही उन्हें अकाल-मृत्युके मुखमें ढकेलनेकी चेष्टा करना! बड़े दुःखके साथ बड़ी गम्भीर मुखमुद्रा बनाकर कहा जाता है कि 'इन पिंजरापोलोंके पशुओंको पालनेमें देशके करोड़ों रुपयोंका कितना बुरी तरहसे अपव्यय हो रहा है।' ऐसा कहनेवाले पुरुषोंको जानना चाहिये कि लोग शौकीनीमें तथा पतनके गहरे गड्ढोंमें गिरानेवाले पदार्थोंके उपयोगमें, सिनेमामें कितना खर्च कर देते हैं; फिर यदि अंधे, काने, लूले, लँगड़े और बूढ़े माता-पिता तथा अपंग बच्चोंके-जैसे बूढ़े गाय-बैल तथा बछड़े-बछड़ियोंके पीछे कुछ पैसे खर्च हो जाते हैं तो इसमें इतना दुःख क्यों होना चाहिये। यह तो वस्तुतः धनका सद्व्यय है। फिर खर्च ही कितना होता है। श्रीयुत राइट महोदयने अपनी रिपोर्टको ४४ वीं टेबलमें भारतवर्षके प्रधान सात शहरोंकी जनसंख्या देते हुए वहाँके पिंजरापोलोंके वार्षिक व्ययका हिसाब लगाकर बताया है कि प्रति मनुष्य वार्षिक लगभग पौने चार आने (लगभग २३ पैसा) अर्थात् मासिक पौने चार पाई

(लगभग २ पैसा) पड़ती है। (देखिये Wright's Report पृष्ठ १८२) यदि इनमें छोटे गाँवोंकी कम खर्चवाली शेष गोशालाओंको जोड़ दिया जाय तो प्रति मनुष्य मासिक दो पाई भी नहीं पड़ेगी!

अतएव धर्मादे तथा लागपर चलनेवाली ऐसी गोशालाओंको भूतदयाके पवित्र उद्देश्यसे अपने गोरक्षण-कार्यसे कभी हटना नहीं चाहिये। उन्हें घाटा सहकर ही अपना सेवा-कार्य चलाना चाहिये। हाँ, वे एक सूत्रमें बँधकर संगठित हो जायँ तो बड़ा अच्छा है। अवश्य ही इनमें जो समर्थ संस्थाएँ हैं, उन्हें अपना डेयरी-विभाग अलग खोलना और उसमें पर्याप्त पूँजी लगाकर गोसंवर्धन-कार्य भी करना चाहिये। डेयरीके ढंगकी अलग गोशालाएँ बनें, उनके लिये तो कोई बात ही नहीं है। पर यह नहीं होना चाहिये कि केवल डेयरी-ढंगकी गोशालाओंकी ओर ही हमारी पूरी दृष्टि और पूरी शक्ति लग जाय और बूढ़ी अपंग गोमाताको निराधार छोड़नेका पाप होने लगे! 'गो-सदन' बनानेकी वर्तमान योजना भी तो वास्तवमें अपंग, असहाय पशुओंके पालनेके लिये ही तो है। हमें पश्चिमके गुण लेने चाहिये, पर उनके गुणोंकी चकाचौंधमें पड़कर अपने पैतृक गुणोंका मूलोच्छेद नहीं कर डालना चाहिये। आजकल पिंजरापोलोंके प्रति बुद्धिमान् तथा नेता माने जानेवाले पुरुषोंकी कुछ ऐसी ही दुर्भावना होने लगी है और प्रकारान्तरसे वे अपंग गायोंको भाररूप समझकर उनका हट जाना अच्छा मानने लगे हैं! इसीलिये इतना लिखा गया है। (हम तो यहाँ पशुओंके पिंजरापोल उठाना चाहते हैं और पाश्चात्य देशोंमें मनुष्योंके पिंजरापोल बनानेकी बात सोची जा रही है! कुछ ही दिनों पूर्व सुसभ्य अमेरिकामें ऐसा प्रस्ताव आया था कि कामकाजमें अशक्त बेकार मनुष्योंकी जिम्मेवारी पार्लामेंटको ले लेनी चाहिये। अर्थात् उनकी संतानपर उनके पालनका भार कतई नहीं रहना चाहिये।)

मेरी समझसे पिंजरापोल-पद्धतिकी, उसमें उनके उद्देश्यके अनुकूल आवश्यक सुधार करके रक्षा करनी चाहिये। इनकी रक्षा और सुव्यवस्था हो गयी तो ये बने-बनाये गो-सदन हैं। साथ ही ऐसी गोशालाएँ (Dairy farm) अलग या सुविधा हो तो इनके स्वतन्त्र विभागके रूपमें खोलनी चाहिये, जिनमें हट्टी-कट्टी, सुन्दर सुहावनी मजबूत दुधारू गायें हों और जो उत्तरोत्तर गायोंकी सर्वांगीण उन्नतिमें सहायक हों।

निर्घृत (Skimmed) और सघृत (Whole) दूध

निर्घृत (Skimmed) दूधके पक्ष और विपक्षमें विशेषज्ञोंके भिन्न-भिन्न मत हैं। मेरी धारणामें दोनों ही पक्षोंके लोग ईमानदार तथा सच्चे हैं तथा दोनोंने ही अपनी-अपनी समझके अनुसार मनुष्य तथा गोजातिके कल्याणके लिये ही मत बनाये हैं। निर्घृत दूधके समर्थकोंने भी यह कहीं नहीं कहा है कि जहाँ पूरा असली दूध मिलता हो, वहाँ निर्घृत दूध पीना चाहिये। वहाँ तो उन्होंने पशुओंको तथा जो घृतयुक्त दूध नहीं पचा सकते, ऐसे बच्चों और बीमारोंको निर्घृत दूध पिलानेकी सलाह दी है। निर्घृत दूधके विरोधियोंने भी यह नहीं कहा है कि निर्घृत दूधमें प्रोटीन आदि देह-निर्माण करनेवाले तत्त्व नहीं होते। विवादास्पद प्रश्न दो हैं—१.निर्घृत दूधमें स्नेहभाग निकाल दिये जानेके कारण वह विटामिनशून्य हो जाता है; इसलिये वह स्वास्थ्यके लिये हानिकर है या नहीं? २. इसके द्वारा मनुष्यका और गोजातिका लाभ होता है या नहीं?

इस विषयमें अपनी परिमित बुद्धिसे जो कुछ समझमें आता है, वह यह है—

१. सघृत पूरा दूध मिलनेकी अवस्थामें तो निर्घृत दूध नहीं ही पीना चाहिये।

२. निर्घृत दूधमें प्रोटीन तथा क्षार पदार्थ अधिक होनेके कारण वह स्वास्थ्यके लिये हानिकर कदापि नहीं है। हाँ, स्नेहभाग न होनेपर विटामिनोंसे जो लाभ होता, वह इससे नहीं हो सकता। इसलिये जिनको असली दूध नहीं मिलता, उनके लिये निर्घृत दूध पीना लाभदायक है और आवश्यक भी है। पूरा विटामिन न मिलनेपर भी वे लोग स्नेहभागका कुछ अंश तेल खाकर प्राप्त कर सकते हैं और प्रोटीन आदि तो उन्हें निर्घृत दूधमें पूरे मिल ही जाते हैं।

३.यह भी ठीक हो सकता है कि सेपरेटर मशीनकी अपेक्षा दही मथकर मक्खन निकालनेकी क्रियामें मक्खनका अंश छाछमें कुछ अधिक रह जाता हो और इससे घीके मूल्यमें कुछ पैसे कम मिलते हों। ऐसी हालतमें यदि गोपालन करनेवाले लोग दही न बिलोकर मशीनके द्वारा मलाई निकालकर घी बनावें तो उन्हें कुछ घी अधिक मिल सकता है और उसके फलस्वरूप कुछ पैसे भी; परंतु इसमें उन्हें छाछके बदले निर्घृत दूध

मिलेगा। वह दूध यदि सारा-का-सारा छाछकी जगह घरमें या अड़ोस-पड़ोसमें बरत लिया जाय, तब तो ठीक ही है, परंतु निर्घृत दूध बननेपर क्या ऐसा हो सकेगा?

यह सिद्ध हो चुका है कि निर्घृत दूध असली दूधकी अपेक्षा गाढ़ा होता है, क्योंकि मलाईके साथ पानीका अंश भी निकल जाता है। और यह भी होता ही है कि ग्वालेलोग निर्घृत गाढ़े दूधमें पानी मिलाकर उसे असली दूध-सा पतला बनाकर बेचते हैं; इससे उनको पैसे ज्यादा मिलते हैं। लोग धोखेमें पड़कर उसे असलीके भरोसे ले लेते हैं। छाछ न तो बिकती है और छाछ बेचनेमें ग्वालेको शरम भी मालूम होती है। छाछके बदले निर्घृत दूध बनेगा तो उसका परिणाम यह होगा कि गरीबीके कारण लोभवश ग्वाला—जैसे आजतक घरमें अपने और बच्चोंके लिये घी नहीं रखता, सब बेच डालता है—वैसे ही निर्घृत दूध भी सम्भव हुआ तो जल मिलाकर, नहीं तो ऐसे ही बेचनेकी चेष्टा करेगा। आप कहेंगे कि वह बिकेगा कैसे, तो इसका उत्तर यह है कि दूधकी बुकनी बनानेके व्यापारी लोग गाँवोंमें केन्द्र बनाकर अपना व्यापार खोल लेंगे और उनका निर्घृत दूध खरीद लेंगे। छाछ यों नहीं बिकती। परिणाम यह होगा कि ग्वालेके घरमें कुछ पैसे तो ज्यादा आयेंगे, जो किसी-न-किसी शहरी शौकमें उड़ जायँगे और घरके बच्चोंको तथा गाँवके गरीबोंको, हरिजनोंको जो छाछ मिलती, उससे वे वंचित हो जायँगे! गरीबोंके घरोंमें छाछ ही एक ऐसी वस्तु है, जिससे साग-तरकारीका, कढ़ी-राबड़ी बनाकर व्यंजनका काम चलता है और छाछ गाँवभरमें बाँटी जाती है। छाछ गाँवका और गरीबका बहुत बड़ा सहारा है। माना, छाछमें मक्खनका अंश अधिक रहता है; पर वह जाता तो है घरवालोंके, बच्चोंके तथा गरीब भाई-बहनोंके पेटमें ही न? फिर उसका अपव्यय कैसे हुआ? असलमें यही तो सद्व्यय है।

स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी छाछमें निर्घृत दूधकी अपेक्षा पौष्टिक तत्त्व कम नहीं है। कहा जाता है छाछमें पानी अधिक मिला देनेसे उसके वे तत्त्व मारे जाते हैं। माना, ऐसा ही होता है; परंतु पानी मिली हुई छाछ भी लोगोंको मिल तो जाती है न। निर्घृत दूध तो पैसेके लोभसे मिलेगा ही नहीं! फिर निर्घृत दूधमें भी पानी मिलानेसे कौन रोकेगा। इसलिये मेरी समझसे सेपरेटरसे मलाई निकालकर घी बनानेकी अपेक्षा गरीब भारतवासियोंके शरीरपोषणके लिये मथकर घी निकालना ही अच्छा है।

फिर विशेषज्ञ लोगोंका यह भी कहना है कि सेपरेटरसे निकाले हुए घीकी अपेक्षा दही बिलोकर निकाला हुआ घी क्वालिटीमें भी बढ़िया होता है। खानेपर भी ऐसा ही अनुभव होता है। इसलिये भी वही प्रणाली अच्छी मालूम होती है।

४. तथापि यह सत्य है कि इस समय ऐसा सहज सम्भव नहीं है कि मलाई निकालकर घी बनाना बिलकुल बंद हो जाय। बल्कि इसका प्रचार बढ़ रहा है। गुजरात तथा बिहारमें तो यह काम खूब ही चल रहा है। इसलिये जो निर्घृत दूध पीना चाहें, वे पीवें; पर सघृत असली दूध पीना चाहनेवालोंके साथ धोखा न हो। कानूनसे निर्घृत दूधमें पानी मिलाना बंद हो जाय और निर्घृत दूध निर्घृत दूधके रूपमें ही बेचा जाय। जिनको दूध नहीं मिलता, वे निर्घृत दूध पीवें तो उनको न पीनेकी अपेक्षा लाभ ही है। एक अच्छे निष्पक्ष विशेषज्ञ सज्जनका मत है कि निर्घृत दूधमें ५० प्रतिशत तो दूधके गुण रहते ही हैं, परंतु इसको प्रोत्साहन देकर दही बिलोकर घी निकालनेकी पुरानी घरकी पारिवारिक पद्धतिको मिटानेकी कोशिश कभी नहीं करनी चाहिये। उसमें कहीं सफाई-सँभाल न रखने आदिका दोष आ गया हो तो उसे निकाल देना चाहिये और वह दोष तो उस प्रणालीका नहीं है, वह तो हमारी आदत या भूल है, जो सेपरेटरवाली पद्धतिमें भी रह सकती है। यह मानी हुई बात है कि सेपरेटर मशीनका भी यथायोग्य उपयोग न होनेपर उसमें भी घीका अधिक अपव्यय होता है और वह बीस-तीस प्रतिशततक हो जाता है।

हाँ, विदेशी निर्घृत चूर्णका उपयोग किसी भी तरह नहीं करना चाहिये।

वनस्पति घी

जमाये हुए तेल (वनस्पति घी)-के विरोधमें देशमें बड़ा आन्दोलन हुआ है और हमलोगोंका भी यह मत है कि इससे देशकी तथा गोवंशकी हानि हो रही है। हमारे अपने कई मित्रों और सम्बन्धियोंके इसके कारखाने हैं, परंतु सत्यके अनुरोधसे अपना मत प्रकट करना ही पड़ता है और ऐसा ही होना भी चाहिये। यह कहा जाता है कि देशमें घीका अभाव है, अत: लोगोंकी आवश्यकतापूर्तिके लिये ये कारखाने खोले जा रहे हैं;

परंतु यह कथन वैसा ही है, जैसे अंग्रेज कहते थे कि हम हिंदुस्थानकी भलाईके लिये यहाँ राज्य कर रहे हैं या कोई ठग यह कहे कि हम किसीके धनकी अच्छी सँभाल करनेके लिये उसे फुसलाकर उसके पाससे ले रहे हैं। छातीपर हाथ रखकर सोचनेसे यह प्रत्यक्ष दीखेगा कि वनस्पतिके कारखाने धन कमाने—केवल धन कमानेके लिये ही बने हैं। धन कमाना बुरी बात नहीं है, बशर्ते कि वह दूसरोंके लिये हानिकर न हो, उसमें अन्याय न हो। सभी जानते हैं और सरकारी रिपोर्ट भी है कि वनस्पति (जमा हुआ तेल) अधिकांश मिलावटमें बरता जाता है और शुद्ध घीके रूपमें बिकता है। इसी कारण उससे पैसे अधिक मिलते हैं। पैसा कमानेकी इच्छा मिलावटको प्रोत्साहन देती या मिलावट चाहती ही है। इसीलिये तो तेलको जमाकर दानेदार बनाया जाता और उसे गाय और भैंसके घीके-से रंगका बनानेकी कोशिश की जाती है। बस, यही बुरी बात है।

यह सच है कि भारतवर्षमें इस समय घी नहीं है। इसका एक बड़ा कारण तो भारतकी गरीबी है, जिसके कारण हम गायोंकी रक्षा और उन्नति नहीं कर सके और हमारी गायें कम दूध देने लगीं। दूसरा कारण गोवध है। पिछली लड़ाईमें हजारों अच्छी गायें-भैंसें मिलिटरी डेयरियोंमें चली गयीं। लाखों गायें गोरोंके पापी पेटोंमें समा गयीं और जहाँ जो शुद्ध घी मिला, सेनाके लिये संग्रह करनेकी चेष्टा की गयी! तब अच्छा घी कैसे मिले।

अंग्रेजी साम्राज्यके पहले तो यह सवाल ही नहीं था। पर्याप्त गोचर-भूमि थी। चारे-दानेकी कोई कमी नहीं थी। खेतीमें इतना अन्न और चारा होता था कि गृहस्थ स्वयं खाकर अपने पशुओंको भी खूब खिला सकता था। खेतोंमें पशु रहते थे, इससे उनकी खाद खेतोंको स्वाभाविक मिलती थी। हाथसे काम करनेकी आदत थी, इससे सभी कुछ सस्ता पड़ता था। गायपर कोई भी खर्च नहीं था। गाय भार नहीं, आशीर्वाद थी। नस्ल गाँवोंमें अपने-आप ठीक रहती थी। गोधन ही परम धन होनेसे उनकी सार-सँभाल पूरी होती थी। चिकित्साके घरू नुस्खे याद थे, जिनसे गायें बीमार नहीं रह पाती थीं। गायोंका अच्छे खाद्यसे पोषण होता था और सेवा-शुश्रूषासे वे रोगसे नित्य निर्मुक्त रहती थीं। संतान अच्छी होती थी, दूध बेशुमार होता था। इससे सारा परिवार दूध-दही पी-खा सकता था। वरं दूध-दही बाँटा जाता था। बढ़िया छाछके लिये खुला दरवाजा था, कोई भी ले जाय। यह सब मुफ्तमें होता था। नफेमें बच जाता था—गौका घी। उसे आवश्यकतानुसार गृहस्थ बेचते थे, पर बाध्य नहीं थे। घीकी इतनी बहुतायत थी कि घी दुहारोंसे परसा जाता था, चमचियोंसे नहीं।

यह दशा बदली, तभी आज यह कहना पड़ता है कि गृहस्थोंको ५७-५८ प्रतिशत घी बनाना पड़ता है और इस काममें वे घाटेमें रहते हैं। दूधसे जितनी कीमत आती है, उतनी घीसे नहीं आती। उस जमानेमें दूधकी तो कोई कीमत ही नहीं थी, दूध बेचना तो पाप समझा जाता था। 'दूध-पूत' कौन बेचे? 'दूध-पूत' की शपथ दिलवायी जाती थी। पानी माँगनेपर दूध मिलता था, पर आज तो वह स्थिति स्वप्न हो गयी है। इसीसे वनस्पति घीके कारखानेवालोंको और उनकी पोषक सरकारको यह कहनेका मौका मिला है कि देशकी घीकी आवश्यकताको पूरी करनेके लिये ऐसा किया जा रहा है!

इस दशामें जहाँतक मेरा खयाल है—ये कारखाने बंद होने तो बहुत कठिन हैं—देशवासी आन्दोलन करके सरकारसे इतना करा दें, या कारखानेवाले धर्मके विचारसे जितना कर सकते हों, स्वयं ही कर लें तो बहुत अच्छा है।

१. शरीरकी गरमीसे अधिक गरमी देकर जमाना पड़ता हो और उससे लोगोंके स्वास्थ्यपर बुरा प्रभाव पड़ता हो—जैसा कि डॉ० एन० एन० गोडबोले महोदयने एक लेखमें दिखाया था—तो उसमें अवश्य सुधार होना चाहिये।

२. इसमें ऐसा रंग दे देना चाहिये जो हानिकर तो न हो, परंतु जिसके कारण घीमें मिलावट न हो सके।

३. विटामिनके लिये यदि (Shark-oil) मछलीके तेल-जैसी चीज दी जाती हो तो वह कदापि नहीं दी जानी चाहिये।

४. मिलावट करनेवालोंको कड़ी सजा होनी चाहिये।

५. इसका नाम 'घी' न रखकर जमा हुआ तेल रखना चाहिये।

मेरी तो देशवासियोंसे यह प्रार्थना है कि जबतक स्वास्थ्यहानि, अपवित्रता और हिंसाका तथा इससे होनेवाली गोवंशकी हानिका कुछ भी संदेह है, तबतक

इसे कोई खावे ही नहीं। घी न मिले तो शुद्ध तेल खाना अच्छा है, घीके नामपर बिगाड़ा हुआ तेल खानेमें (और यदि उसमें विटामिनके नामपर मछलीका तेल मिलाया हो तो) धर्म, अर्थ, स्वास्थ्य सभीकी हानि है!

बधिया-प्रथा

एक प्रश्न आया है कि बछड़ोंको बधिया किया जाय या नहीं। मेरे पास काठियावाड़, गुजरात तथा उत्तरप्रदेशके कुछ सम्भ्रान्त सज्जनोंके कई पत्र आये हैं, जिनमें इस विषयपर उन्होंने सम्मति चाही है। उनका कहना है कि भारतमें खेतीके बैलोंकी जरूरत है ही और खेती आजकल बधिया बैलोंसे ही होती है, फिर घरके बछड़ोंको उन्हें दूसरोंसे बधिया करवानेके लिये बेचें और बधिया किये बैलोंको अधिक पैसे देकर खरीदें; यह कहाँतक उचित है? प्रश्न विचारणीय है। शास्त्रानुसार नपुंसक बनाना सर्वथा पाप है! और पाप पाप ही रहेगा। कम-ज्यादाका विचार किया जा सकता है। हिंसा कृत, कारित, अनुमोदित—तीन प्रकारसे होती है। लोग बधिया नहीं करते, परंतु बधिया करानेकी आवश्यकता समझते हैं और बधिया करनेके लिये जान-बूझकर भी बछड़ेको बेचते हैं तो प्रकारान्तरसे दूसरोंसे करवाते या अनुमोदन तो करते ही हैं। ऐसी अवस्थामें उनपर भी पापकी जिम्मेवारी तो आती ही है। अवश्य ही यह सत्य है कि वे ऐसा मजबूर होकर ही करते हैं। ऐसी अवस्थामें या तो शास्त्रज्ञ और विशेषज्ञोंके द्वारा निर्णय कराकर, यदि सम्भव हो तो, बधिया-प्रथा बिलकुल उठाकर बिना बधिया कराये ही खेती करनी चाहिये। पुराने ग्रन्थोंमें, जहाँतक देखा गया है, कहीं बधिया करानेकी बात नहीं मिली। यदि ऐसा सम्भव न हो तो बड़े पापसे छोटा पाप अच्छा, इस नीतिसे पाप होते हुए भी जिनको बधिया बैलकी जरूरत है, उन्हें पुरानी क्रूर पद्धतिसे बधिया न कराकर बोर्डिजो साहेबकी सहज पद्धतिसे बधिया कराना चाहिये।

गोरक्षाके चौबीस साधन

१—एक-एक गाय घरमें अवश्य-अवश्य रखो।

२—भैंसकी जगह गाय पालो।

३—नये अच्छी नन्दी (साँड़) बनाओ और साँड़का ही दान करो।

४—गोदानकी जगह पहले चारे-दानेका दान करो।

५—गोचर-भूमि अधिक-से-अधिक छुड़वाओ, खरीदकर गाँवोंको कृष्णार्पण कर दो। यह बड़े पुण्यका कार्य है।

६—मारी हुई गायके चमड़ेकी कोई चीज व्यवहार न करनेकी प्रतिज्ञा कर लो। मरी हुई गायके चमड़ेका सामान व्यवहार करो।

७—नये-नये ढंगका चारा बर्तना आरम्भ करो।

८—दाबघास (साइलेज) बनाओ, चारा कुटाई तथा चारा काटनेके लिये यन्त्रोंसे काम लो।

९—गायोंकी खूब सेवा करो। उन्हें रोज मालिस करो, धोओ, नहलाओ और बीच-बीचमें डुबकी लगवाकर नहलवाते रहो।

१०—गाय और उसके परिवारकी जन्मपत्री और उनकी उन्नतिका हिसाब रखो।

११—गायके दूध-घीकी पैदायशको देखकर उसी अनुपातसे चारा-दाना दो।

१२—गोबरको जलाना छोड़ दो। उसके बदलेमें लकड़ी पैदा करो और उसे जलाओ।

१३—गोबर-गोमूत्र, कूड़े-कचरे और घास-चारेकी बची रद्दीसे वैज्ञानिक ढंगपर खाद बनाओ।

१४—मिश्र खेती करो।

१५—पिंजरापोलोंके विविध अंगोंका विकास करके उन्हें आदर्श गो-सदन या गोलोक बना लो।

१६—गोपरीक्षण और निरीक्षणके लिये संघ कायम करो।

१७—सहकारीपद्धतिसे दुग्ध-व्यवसाय और उसकी रक्षाका कार्य करो।

१८—दुग्धालयकी सहकारिता और बुद्धिमत्ताके साथ वैज्ञानिक ढंगसे व्यवस्था करो।

१९—पूँजीकी सुव्यवस्था करो।

२०—तेलहनको कभी विदेश जाने न दो। तेल भले ही जाय। इससे व्यापारकी तो उन्नति होगी ही, खास करके खलसे पशुओंकी और पृथ्वीकी बड़ी पुष्टि होगी।

२१—गायोंको रोगग्रस्त मत होने दो। सफाई,

चिकित्सा तथा अन्य उपायोंसे उन्हें सदा नीरोग रखो।

२२—बछड़ोंको बधिया करनेकी क्रूर चाल बंद कर दो। जिनको बधिया करना हो, उन्हें पहले ही वर्ष डॉक्टर बोर्डिजोके निकाले हुए चिमटेसे करा लो। इसमें उन्हें कष्ट कम होगा।

२३—बैलोंके प्रति भार ढोने और हल जोतनेमें जुल्म न हो, इसका पूरा-पूरा खयाल रखो। बैलोंके स्थानपर ट्रकोंको और ट्रैक्टरोंको स्थान मत दो।

२४—भगवान्‌की कृपा-शक्तिपर विश्वास रखकर विज्ञान, विवेक और श्रद्धाके साथ गोवंशकी उन्नतिके इन कामोंको शुरू करो। इनको चलाते रहो और समुज्ज्वल सफलता प्राप्त करो।

गोरक्षाका सर्वोत्तम साधन—भगवत्प्रार्थना

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल॥

गोसाधुदेवताविप्रवेदानां रक्षणाय वै।
तनुं धत्ते हरिः साक्षाद् भगवानात्मलीलया॥

गौकी दुर्दशा और इस दुर्दशासे गौको उबारनेके साधनोंपर विशिष्ट विद्वानों और सूक्ष्मदर्शी विशेषज्ञोंके द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणसे बहुत विचार किया गया है और अपने-अपने स्थानमें वे सभी विचार महत्त्वपूर्ण हैं और उनसे यथायोग्य लाभ उठानेकी बड़ी आवश्यकता है। यहाँ एक और साधन भी बतलाया जाता है और वह लेखककी अल्पमतिमें सर्वशिरोमणि है। वह है—**भगवान्‌से कातर प्रार्थना। जब-जब पृथ्वीपर संकट आया (पृथ्वीपर संकट आनेका अर्थ ही है—गो-ब्राह्मणपर संकट आना) तभी तब ऋषि-देवताओंने गोरूपधारिणी या गोरूपा पृथ्वीके पीछे-पीछे जाकर भगवान्‌से करुण प्रार्थना की, भगवान्‌को पुकारा और फलतः उनका संकट टला। भगवान् अवतीर्ण हुए। *'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।'***

भगवान्‌की कृपा और भगवान्‌के बलसे असम्भव भी सम्भव हो जाता है। जर्मनीके वीर हिटलरने एक योजना बनायी थी कि सन् १९३९ में ही इंग्लैंडको जीत लिया जायगा। जापानकी भी तैयारी कम नहीं थी, परंतु भगवान्‌को उनका विजयी होना स्वीकार नहीं था। लाखों सुसज्जित सैन्य तथा अपार सामग्री तैयार रहते भी वे दोनों हार गये और ऐसे हारे कि जीतनेवाले देशोंने भी उनकी ऐसी हारकी कल्पना नहीं की थी। वैसे ही विजयीलोग भी अब विजयगर्वमें मतवाले होकर यह समझते हैं कि हमने अपने बल-कौशलसे विजय पायी है और वर्तमान राक्षसी आणविक बमने तो उनके इस गर्वको हजारों गुना बढ़ा दिया है एवं इस गर्वमें भरकर ही वे आज पराजित राष्ट्रोंका बहुत बुरी तरहसे सर्वनाश करनेपर तुले हुए हैं, पर कौन कह सकता है कि भगवान्‌के विधानसे अगले बीस-पचीस वर्षोंमें क्या होगा। भगवान् गर्वहारी हैं। हिटलर वीर होते हुए भी हार गये, खास करके इसीलिये कि उनमें अत्यन्त गर्व बढ़ गया था। जापानमें भी गर्वकी कमी नहीं थी। अब इन विजयी राष्ट्रोंमें तो उन सबका सारा गर्व इकट्ठा होकर आ गया है। पता नहीं इनके लिये भगवान्‌के विधानने क्या रच रखा है। यह तो भविष्य ही बतायेगा। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पराजितोंके प्रति सद्व्यवहार करनेसे ही वैरका नाश होता है और जगत्‌में सुख-शान्ति सुप्रतिष्ठित होती है। असहाय परिस्थितिमें पड़ा हुआ मनुष्य बुरे बर्तावसे दब जाता है, पर उसके मनका परिवर्तन नहीं होता; वरं उसमें और भी जोरसे आग लगती है और वह अंदर-ही-अंदर फैलती है एवं मौका पाते ही जन्म-जन्मान्तरतक भयानकरूपमें भड़कती रहती है; पर यह बात कौन समझावे और कौन समझे? भगवान्‌के अनिवार्य विधानकी व्यवस्था ही समय आनेपर इस तत्त्वको समझाती है और फिर बाध्य होकर समझना भी पड़ता है।

मनुष्यके हृदयकी कालिमाने विज्ञानका दुरुपयोग कराया और आणविक बमकी सृष्टि की। एक हीरोशिमा नगरके ढाई लाख नर-नारियोंमेंसे दो लाख चौवालीस हजार एक ही घंटेमें जल-भुनकर खाक हो गये! इसपर सुसभ्य अमेरिकाको बड़ा गर्व है। जहरीली गैस तैयार करनेवाले राष्ट्र तो बर्बर थे, पर सुसंस्कृत अमेरिका आणविक बम बरसाकर भी सुसंस्कृत और निर्दोष है! सफलताका समय है न? इस सम्बन्धमें डॉ० महेन्द्रनाथ सरकारने बहुत ही ठीक लिखा था कि 'विज्ञानकी शक्तिका अपव्यवहार करके सभ्यताकी गति इतनी तेज हो चली

है कि उसकी यह क्रम-वर्धमान शक्ति उसे कहाँ ले जायगी, इसपर विचार करनेसे भी क्लेश होता है। मनुष्यको इस यान्त्रिक सभ्यताने पिष्ट किया है—पीसा है, पुष्ट नहीं किया! अभी जो पुष्टि दीखती है, वह भी यथार्थमें पुष्टि नहीं है। यह मनुष्यकी नीच सत्ताकी शक्तिको जगाकर, उसे क्रमशः उसकी तेजोमय स्वच्छ दृष्टिसे उतारकर तमिस्राके गम्भीर गहनमें ले जा रही है····। मनुष्य मानो क्रमशः अपनी चेतनाके दीप्त और उद्बुद्ध प्रकाशसे स्तिमित अचेतनमें उतरकर प्राणशक्तिकी उद्दाम तथा कुटिल शक्तिकी ओर दौड़ रहा है। आणविक बमकी प्रस्तुत प्रणालीके अंदर, अणुके तनु-त्यागके भीतर चाहे जितना गोपनीय तथ्य भरा हो, उसमें जो प्रेरणा है, उसकी उत्पत्ति तमसाच्छन्न हृदयसे है और उसकी गति है ध्वंसकी ओर····' इसपर टीका-टिप्पणी व्यर्थ है।

असलमें इन देशोंकी विजय हुई है भगवान्के विधानसे और वह विधान ही सर्वशक्तिमान् है। विधान बनता है—भगवदिच्छासे, परंतु उस इच्छाके मूलमें रहते हैं हमारे कर्म। सम्भव है इन देशोंमें ऐसे पुण्यकर्मा पुरुष हों, जिनका पुण्यबल बढ़ा हुआ था और उन देशोंमें पुण्यके बलसे बलवान् इतने पुरुष न हों! रूस-जैसे अनीश्वरवादी देशमें भी छिपे पुण्यात्मा हो सकते हैं। कौन जानता है कहाँ कैसे कर्मवाले पुरुषोंकी अधिकता है। हमारा तो ऐसा विश्वास है कि भारतपर आता हुआ संकट टला, इसके मूलमें भी भगवान्का मंगल-विधान ही काम करता रहा है। **अतएव सबसे अधिक आवश्यक है—'भगवान्के मंगलमय विधानकी मंगलमय व्यवस्थाके नीचे आना, अपनेको भगवान्के कल्याणमय चरणोंमें पूर्णतया समर्पित कर देना। इसमें प्रधान साधन है हृदयकी सच्ची, अनन्य, करुण प्रार्थना। गौकी रक्षाके लिये भी सबसे बढ़कर यही साधन है। जिनका इसमें विश्वास है, उनको चाहिये, वे श्रद्धापूर्वक नित्य भगवान्से कातर प्रार्थना किया करें। यदि प्रार्थना सत्य होगी और हृदयसे होगी तो ऐसे संयोग अपने-आप बनेंगे जिनसे गोरक्षाका मार्ग सुगम हो जायगा।**

गो-महिमा

गौएँ प्राणियोंका आधार तथा कल्याणकी निधि हैं। भूत और भविष्य गौओंके ही हाथमें है। वे ही सदा रहनेवाली पुष्टिका कारण तथा लक्ष्मीकी जड़ हैं। गौओंकी सेवामें जो कुछ दिया जाता है, उसका फल अक्षय होता है। अन्न गौओंसे उत्पन्न होता है, देवताओंको उत्तम हविष्य (घृत) गौएँ देती हैं तथा स्वाहाकार (देवयज्ञ) और वषट्कार (इन्द्रयाग) भी सदा गौओंपर ही अवलम्बित हैं। गौएँ ही यज्ञका फल देनेवाली हैं। उन्हींमें यज्ञोंकी प्रतिष्ठा है। ऋषियोंको प्रातःकाल और सायंकालमें होमके समय गौएँ ही हवनके योग्य घृत आदि पदार्थ देती हैं। जो लोग दूध देनेवाली गौका दान करते हैं, वे अपने समस्त संकटों और पापोंसे पार हो जाते हैं। जिसके पास दस गौएँ हों वह एक गौ दान करे, जो सौ गायें रखता हो, वह दस गायें दान करे और जिसके पास हजार गौएँ मौजूद हों, वह सौ गायें दान करे तो इन सबको बराबर ही फल मिलता है। जो सौ गौओंका स्वामी होकर भी अग्निहोत्र नहीं करता, जो हजार गौएँ रखकर भी यज्ञ नहीं करता तथा जो धनी होकर भी कंजूसी नहीं छोड़ता—ये तीनों मनुष्य अर्घ्य (सम्मान) पानेके अधिकारी नहीं हैं।

प्रातःकाल और सायंकालमें प्रतिदिन गौओंको प्रणाम करना चाहिये। इससे मनुष्यके शरीर और बलकी पुष्टि होती है। गोमूत्र और गोबर देखकर कभी घृणा न करे। गौओंके गुणोंका कीर्तन करे। कभी उनका अपमान न करे। यदि बुरे स्वप्न दिखायी दें तो गोमाताका नाम ले। प्रतिदिन शरीरमें गोबर लगाकर स्नान करे। सूखे हुए गोबरपर बैठे। उसपर थूक न फेंके। मल-मूत्र न त्यागे। गौओंके तिरस्कारसे बचता रहे। अग्निमें गायके घृतका हवन करे, उसीसे स्वस्तिवाचन करावे। गो-घृतका दान और स्वयं भी उसका भक्षण करे तो गौओंकी वृद्धि होती है।

(महा०, अनु० ७८। ५—२१)

× × × ×

गौओंको यज्ञका अंग और साक्षात् यज्ञरूप बतलाया गया है। इनके बिना यज्ञ किसी तरह नहीं हो सकता। ये अपने दूध और घीसे प्रजाका पालन-पोषण करती हैं तथा इनके पुत्र (बैल) खेतीके काम आते और

तरह-तरहके अन्न एवं बीज पैदा करते हैं, जिनसे यज्ञ सम्पन्न होते हैं और हव्य-कव्यका भी काम चलता है। इन्हींसे दूध, दही और घी प्राप्त होते हैं। ये गौएँ बड़ी पवित्र होती हैं और बैल भूख-प्यासका कष्ट सहकर अनेकों प्रकारके बोझ ढोते रहते हैं। इस प्रकार गो-जाति अपने कामसे ऋषियों तथा प्रजाओंका पालन करती रहती है। उसके व्यवहारमें शठता या माया नहीं होती। वह सदा पवित्र कर्ममें लगी रहती है। इसीसे ये गौएँ हम सब लोगोंके ऊपर स्थानमें निवास करती हैं। इसके सिवा गौएँ वरदान भी प्राप्त कर चुकी हैं तथा प्रसन्न होनेपर वे दूसरोंको भी वरदान देती हैं।

(महा०, अनु० ८३। १७—२१)

गौएँ सम्पूर्ण तपस्वियोंसे बढ़कर हैं। इसलिये भगवान् शंकरने गौओंके साथ रहकर तप किया था। जिस ब्रह्मलोकमें सिद्ध ब्रह्मर्षि भी जानेकी इच्छा करते हैं, वहीं ये गौएँ चन्द्रमाके साथ निवास करती हैं। ये अपने दूध, दही, घी, गोबर, चमड़ा, हड्डी, सींग और बालोंसे भी जगत्का उपकार करती रहती हैं। इन्हें सर्दी, गरमी और वर्षाका कष्ट विचलित नहीं करता। ये गौएँ सदा ही अपना काम किया करती हैं। इसलिये ये ब्राह्मणोंके साथ ब्रह्मलोकमें जाकर निवास करती हैं। इसीसे गौ और ब्राह्मणको विद्वान् पुरुष एक बताते हैं।

(महा०, अनु० ६६। ३७—४२)

गौएँ परम पावन और पुण्यस्वरूपा हैं। इन्हें ब्राह्मणोंको दान करनेसे मनुष्य स्वर्गका सुख भोगता है। पवित्र जलसे आचमन करके पवित्र गौओंके बीचमें गोमती-मन्त्र '**गोमा अग्ने विमाँ अश्वी**' का जप करनेसे मनुष्य अत्यन्त शुद्ध एवं निर्मल (पापमुक्त) हो जाता है। विद्या और वेदव्रतमें निष्णात पुण्यात्मा ब्राह्मणोंको चाहिये कि वे अग्नि, गौ और ब्राह्मणोंके बीच अपने शिष्योंको यज्ञतुल्य गोमती-मन्त्रकी शिक्षा दें। जो तीन राततक उपवास करके गोमती-मन्त्रका जप करता है उसे गौओंका वरदान प्राप्त होता है। पुत्रकी इच्छावालेको पुत्र, धन चाहनेवालेको धन और पतिकी इच्छा रखनेवाली स्त्रीको पति मिलता है। इस प्रकार गौएँ मनुष्यकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण करती हैं। वे यज्ञका प्रधान अंग हैं, उनसे बढ़कर दूसरा कुछ नहीं है। (महा०, अनु० ८१)

गो-मन्त्र-जापसे पापनाश

घृतक्षीरप्रदा गावो घृतयोन्यो घृतोद्भवाः।
घृतनद्यो घृतावर्तास्ता मे सन्तु सदा गृहे॥
घृतं मे हृदये नित्यं घृतं नाभ्यां प्रतिष्ठितम्।
घृतं सर्वेषु गात्रेषु घृतं मे मनसि स्थितम्॥
गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च।
गावो मे सर्वतश्चैव गवां मध्ये वसाम्यहम्॥
इत्याचम्य जपेत् सायं प्रातश्च पुरुषः सदा।
यदह्ना कुरुते पापं तस्मात् स परिमुच्यते॥

(महा०, अनु० ८०। १—४)

'गाय घृत और दूध देनेवाली हैं, घृतका उत्पत्तिस्थान, घृतको प्रकट करनेवाली, घृतकी नदी और घृतकी भँवररूप हैं, वे सदा मेरे घरमें निवास करें। घृत सदा मेरे हृदयमें रहे, मेरी नाभिमें रहे, मेरे सारे अंगोंमें रहे और मेरे मनमें स्थित रहे। गाय सदा मेरे आगे रहें, गाय सदा मेरे पीछे रहें, गाय मेरे चारों ओर रहें और मैं गायोंके बीचमें ही निवास करूँ।'

'जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल आचमन करके उपर्युक्त मन्त्रका जप करता है, उसके दिनभरके पाप नष्ट हो जाते हैं।'

गोबरमें लक्ष्मीजीका निवास

एक बार मनोहर रूपधारिणी लक्ष्मीजीने गौओंके समूहमें प्रवेश किया। उनके सौन्दर्यको देखकर गौओंको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उनका परिचय पूछा। लक्ष्मीजीने कहा—'गौओ! तुम्हारा कल्याण हो। इस जगत्में सब लोग मुझे लक्ष्मी कहते हैं, सारा जगत् मुझे चाहता है। मैंने दैत्योंको छोड़ दिया, इससे वे नष्ट हो गये। इन्द्र आदि देवताओंको आश्रय दिया, तो वे सुख भोग रहे हैं। देवताओं और ऋषियोंको मेरी ही शरणमें

आनेसे सिद्धि मिलती है। जिसके शरीरमें मैं प्रवेश नहीं करती, उसका नाश हो जाता है। धर्म, अर्थ और काम मेरे ही सहयोगसे सुख देनेवाले हो सकते हैं। मेरा ऐसा प्रभाव है। अब मैं तुम्हारे शरीरमें सदा निवास करना चाहती हूँ। इसके लिये स्वयं तुम्हारे पास आकर प्रार्थना करती हूँ। तुमलोग मेरा आश्रय ग्रहण करो और श्रीसम्पन्न हो जाओ।'

गौओंने कहा—'देवि! बात तो ठीक है, पर तुम बड़ी चंचला हो। कहीं भी जमकर रहती नहीं। फिर तुम्हारा सम्बन्ध भी बहुतोंके साथ है। इसलिये हमको तुम्हारी इच्छा नहीं है। तुम्हारा कल्याण हो। हमारा शरीर तो स्वभावसे ही हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर है। हमें तुमसे कोई काम नहीं है। तुम जहाँ इच्छा हो, जा सकती हो। तुमने हमसे बातचीत की, इसीसे हम अपनेको कृतार्थ मानती हैं।'

लक्ष्मीजीने कहा—'गौओ! तुम यह कह क्या रही हो? मैं बड़ी दुर्लभ हूँ और परम सती हूँ, पर तुम मुझे स्वीकार नहीं करतीं! आज मुझे यह पता लगा कि बिना बुलाये किसीके पास जानेसे अनादर होता है—यह कहावत सत्य है। उत्तम व्रतचारिणी धेनुओ! देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग, मनुष्य और राक्षस बड़ी उग्र तपस्या करनेपर कहीं मेरी सेवाका सौभाग्य प्राप्त करते हैं। तुम मेरे इस प्रभावपर ध्यान दो और मुझे स्वीकार करो। देखो, इस चराचर जगत्‌में मेरा अपमान कोई भी नहीं करता।'

गौओंने कहा—'देवि! हम तुम्हारा अपमान नहीं करतीं। हम तो केवल त्याग कर रही हैं, सो भी इसलिये कि तुम्हारा चित्त चंचल है। तुम कहीं स्थिर होकर रहती नहीं। फिर हमलोगोंका शरीर तो स्वभावसे सुन्दर है। अतएव तुम जहाँ जाना चाहो, चली जाओ।'

लक्ष्मीजीने कहा—'गौओ! तुम दूसरोंको आदर देनेवाली हो। मुझको यों त्याग दोगी, तो फिर संसारमें सर्वत्र मेरा अनादर होने लगेगा। मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूँ, निर्दोष हूँ और तुम्हारी सेविका हूँ। यह जानकर मेरी रक्षा करो। मुझे अपनाओ। तुम महान् सौभाग्यशालिनी, सदा सबका कल्याण करनेवाली, सबको शरण देनेवाली, पुण्यमयी, पवित्र और सौभाग्यवती हो। मुझे बतलाओ मैं तुम्हारे शरीरके किस भागमें रहूँ?'

गौओंने कहा—'यशस्विनी! हमें तुम्हारा सम्मान अवश्य करना चाहिये। अच्छा, तुम हमारे गोबर और मूत्रमें निवास करो। हमारी ये दोनों चीजें बड़ी पवित्र हैं।'

लक्ष्मीजीने कहा—'सुखदायिनी गौओ! तुमलोगोंने मुझपर बड़ा अनुग्रह किया। मेरा मान रख लिया। तुम्हारा कल्याण हो। मैं ऐसा ही करूँगी।' गौओंके साथ इस प्रकार प्रतिज्ञा करके देखते-ही-देखते लक्ष्मीजी वहाँसे अन्तर्धान हो गयीं। (महा०, अनु०, अध्याय ८२)

बारह निर्दयताएँ

भारतवर्षमें गो-जातिके साथ अनेकों प्रकारसे निर्दयताका व्यवहार हो रहा है। इनमें ये बारह मुख्य हैं—

१—लोभवश कसाईके हाथ गाय बेचना। यह बड़ा ही नीच कर्म है और इसमें निर्दयता भरी है।

२—गायोंके अंगपर अंग जोड़कर उन्हें अधिक अंगवाली बनाकर लोगोंको ठगना और गायोंको कष्ट देना।

कुछ नीच प्रकृतिके स्वार्थीलोग बड़े-बड़े शहरोंमें, तीर्थोंमें, मेलोंके अवसरपर ऐसी गाय या बैलको लिये फिरते हैं, जिसके पुट्ठे वा कमरमें पाँचवाँ पैर लटका करता है या जीभकी शकलकी कोई चीज होती है। ये लोग मुसलमान होते हैं और हिंदू-साधुओंके वेशमें घूमा करते हैं। गायको खूब सजाकर रखते हैं और घंटी बजा-बजाकर भोले-भाले नर-नारियोंको 'पाँच पैरकी गोमाताकी पूजा कीजिये,' 'महादेवजीके नन्दियोंके दर्शन कीजिये' आदि कह-कहकर ठगते हैं। गाय या बैल जब छोटी उम्रके होते हैं, तभी किसी मरे जानवरकी या दूसरे जानवरको मारकर उसकी टाँग या अन्य कोई अंग काट लेते हैं और उसे उस गाय या बैलके शरीरपर केश काटकर सी देते हैं। कुछ दिनोंमें मांस बढ़ जाता है और नये केश जम जाते हैं, तब वह सिलाई नहीं दीखती। जिस पशुकी टाँग काटकर मारते हैं, उसको तो महान् कष्ट होता ही है; पर जिसके शरीरपर नया अंग जोड़कर सीते हैं, उसको भी कम कष्ट नहीं होता। पर बेचारे मूक पशु किससे कहें? ये लोग वस्तुतः पेशेवर ठग होते हैं और होते हैं बड़े ही निर्दयी। इन लोगोंको पैसा देना बहुत बड़ी भूल है!

३—बछड़े-बछड़ियोंको उनके पोषणके लायक उचित मात्रामें दूध न देना।

४—गाड़ियोंमें इतना बोझ लादना कि बैल चल ही न सकें। फिर ऊपरसे उनको बुरी तरहसे मारना। यह दर्दनाक नजारा शहरोंकी बड़ी-बड़ी सड़कोंपर आप नित्य ही देख सकते हैं।

५—बैलोंको हाँकते समय उन्हें बुरी तरह मारना। किसी-किसी प्रान्तमें तो इतनी निर्दयता होती है कि रथ या गाड़ीके बैलोंको जिस डंडेसे हाँकते हैं, उसकी अगली नोकपर तीखी धारवाली लोहेकी नुकीली अरी लगी रहती है, जिसकी चोटसे उनके खून बहने लगता है। मर्मस्थलमें चोट लग जाती है तो पशु मर भी जाते हैं।

६—तीर्थोंमें पण्डे लोग पौष-माघके भयानक जाड़ेमें भी छोटी-छोटी नाताकत गरीब बछड़ियोंको जलमें खड़ी रखते हैं और यात्रीलोगोंको उनकी पूँछ पकड़ाकर कुछ पैसे लेकर गो-दानका संकल्प करा देते हैं। न यात्रियोंके पास गौ होती है और न गो-दान। पण्डे पैसोंके लालचसे ऐसा निर्दय काण्ड करते हैं। बछड़ी घंटोंतक सरदीसे काँपती हुई जलमें खड़ी रहती है। अबोध यात्री वैतरणी तरनेके धोखे इस निर्दय कार्यमें सहायता करते हैं।

७—गायोंको कसाइयोंके हाथ बिकवानेके लिये दलाली करना। गाय, बैल, बछड़े आदिको कसाईखाने पहुँचानेके लिये बहुत-से दलाल होते हैं। आजकल तो इनकी संख्या बहुत बढ़ गयी है। इनमें मुसलमान होते ही हैं, निम्न जातिके हिंदू भी लोभवश ऐसा घृणित काम करनेमें नहीं हिचकते। ये लोग तरह-तरहसे गायोंका नाश करवाते हैं—कस्टमवालोंसे, पुलिससे तथा चरवाहोंसे मिलकर पशुओंकी चोरी करवाते हैं। 'बड़े ही धर्मनिष्ठ जमींदारके घर पशु जायँगे' ऐसा विश्वास दिलाकर तथा पैसोंका अधिक लालच देकर मालिकोंसे अथवा गोशालाओंसे पशुओंको खरीद लेते हैं। इसके अतिरिक्त ये लोग चमड़ेके व्यापारियोंसे ऊँचे दामपर निश्चित समयके अंदर निश्चित संख्यामें गौओंका चमड़ा देनेका कंट्राक्ट करके उनसे पेशगी रुपये ले लेते हैं। फिर कसाई और चमारोंसे मिलकर उनके द्वारा घासमें और चारे-दानेमें जहर मिलाकर चुपचाप मौकेसे गौओंको खिला देते हैं, या उन जहरीली चीजोंको ऐसी जगह बिखेर देते हैं, जहाँ गौएँ चरती हैं। गौओंके शरीरपर घाव होता है तो उसमें विष लगा देते हैं। चरवाहोंसे मिलकर छूरी, तेज भाले आदिमें जहर लगाकर गायोंके शरीरमें चुभो देते हैं। ऐसी चीजें खिला देते हैं, जिनसे पशुओंमें छूतकी बीमारी फैल जाती है। छूतकी बीमारीसे मरे हुए पशुओंकी अँतड़ी, मांस आदिको गायोंके चरनेके स्थानोंमें डाल देते हैं। इस प्रकार कई तरहसे गायोंका नाश करते हैं। इसीसे पुलिस-विभागमें यह शिक्षा दी जाया करती है कि जहाँ गौओंमें छूतकी बीमारी फैली हो या गौएँ अधिक संख्यामें मर रही हों, वहाँ देखना चाहिये कि आस-पासमें कौन लोग ठहरे हुए हैं। ये लोग तरह-तरहके वेशोंमें आया करते हैं। ये बड़े ही क्रूर-हृदय और घोर स्वार्थी लोग होते हैं। गोवंश-नाशके कारणोंमें इनका अस्तित्व भी एक प्रधान कारण है।

८—गायको भरपेट चारा-दाना खानेको न देना।

९—हलमें कमजोर या बेमेल बैलोंको जोतकर उनपर डंडे चलाना। शास्त्रोंमें तो दो बैलोंसे हल जोतना ही पाप बतलाया गया है, फिर यदि वे कमजोर या बेमेल हों और ऊपरसे मारे जाते हों, तब तो ऐसा करनेवाले प्रत्यक्ष ही निर्दयताका भयानक पाप करते हैं।

१०—कुछ भी व्यवस्था किये बिना बछड़ेको दागकर असहाय छोड़ देना और ऐसे वृषोत्सर्गसे स्वर्ग-प्राप्तिकी कामना करना।

११—अपनी और परायी गायोंको बुरी तरहसे मारना। परायी गायके खेतके पास आते ही किसान और सरकारी काँजी हाउसोंमें सरकारकी सुव्यवस्थासे भूखों मरती हुई गायोंको वहाँके रक्षक जिस निर्दयतासे मारते हैं, उसे देखा नहीं जाता।

१२—निकम्मी और कमजोर गौका दान करना। निकम्मी गौ जिसको दान की जाती है, वह उसे जो कुछ पैसे मिलते हैं, उन्हींपर बेच देता है और निकम्मी होनेके कारण वह किसी रूपमें कसाईके हाथ पहुँच जाती है। कई जगह तो लोग गोशालाओंको रुपये-दो-रुपये देकर भाड़ेपर गौ ले आते हैं और दानका तमाशा पूरा हो जाता है।

शुभ-संग्रह

(१)

पाप और उसका फल

मनुष्य जब रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—इन्द्रियोंके इन पाँच विषयोंमें किसी एकमें भी आसक्त हो जाता है, तब उसे राग-द्वेषके पंजेमें फँस जाना पड़ता है। फिर वह जिसमें राग होता है उसको पाना और जिसमें द्वेष होता है उसका नाश करना चाहता है। यों करते-करते वह बड़े-बड़े भयानक काम कर बैठता है और निरन्तर इन्द्रियोंके भोगोंमें ही लगा रहता है। इससे उसके हृदयमें लोभ-मोह, राग-द्वेष छा जाते हैं। इनके प्रभावसे उसकी धर्म-बुद्धि, जो समय-समयपर उसे चेतावनी देकर पापसे बचाया करती थी, नष्ट हो जाती है। तब वह छल-कपट और अन्यायसे धन कमानेमें लगता है। जब दूसरोंको धोखा देकर, अन्याय और अधर्मसे कुछ कमा लेता है, तब फिर इसी रीतिसे धन कमानेमें उसे रस आने लगता है। उसके सुहृद् और बुद्धिमान् लोग उसके इस कामको बुरा बतलाते और उसे रोकते हैं, तब वह भाँति-भाँतिकी बहानेबाजियाँ करने लगता है। इस प्रकार उसका मन सदा पापमें ही लगा रहता है, उसके शरीर और वाणीसे भी पाप ही होते हैं। वह पापजीवन होकर फिर पापियोंके साथ ही मित्रता करता है और इसके फलस्वरूप न तो इस लोकमें सुख पाता है और न परलोकमें ही उसे सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है। (महाभारत, शान्तिपर्व)

(२)

धर्म और उसका फल

धर्मपरायण मनुष्य दूसरोंका हित मनाते हुए ही अपना हित चाहते हैं। उन्हें दूसरोंके अहितमें अपना हित कभी दीखता ही नहीं। पर-हितसे ही परम गति प्राप्त होती है। धर्मशील पुरुष हिताहितका विचार करके सत्पुरुषोंका संग करता है, सत्संगसे धर्मबुद्धि बढ़ती है और उसके प्रभावसे उसका जीवन धर्ममय बन जाता है। वह धर्मसे ही धनका उपार्जन करता है। वही काम करता है, जिससे सद्गुणोंकी वृद्धि हो। धार्मिक पुरुषोंसे ही उसकी मित्रता होती है। वह अपने उन धर्मशील मित्रोंके तथा धर्मसे कमाये हुए धनके द्वारा इस लोक और परलोकमें सुख भोगता है। धर्मात्मा मनुष्य धर्मसम्मत इन्द्रियसुखको भी प्राप्त करता है, परंतु वह धर्मका फल सुख पाकर ही संतुष्ट नहीं हो जाता। वह सत्-असत्का विचार करके वैराग्यका अवलम्बन करता है। वैराग्यके प्रभावसे उसका चित्त विषयोंसे हट जाता है। फिर वह जगत्को विनाशी समझकर निष्काम कर्मके द्वारा मोक्षके लिये प्रयत्न करता है। असलमें जो मनुष्य पापोंको त्यागकर क्रमशः वैराग्यको धारण करता है, वही धर्मात्मा है और उसीको मोक्षपदकी प्राप्ति होती है। (महाभारत, शान्तिपर्व)

(३)

अहिंसा-धर्म

जो पुरुष काम, क्रोध और लोभको पापोंकी खान समझकर उनका त्याग करके अहिंसा-धर्मका पालन करता है, वह मोक्षरूप सिद्धिको प्राप्त होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। जो मनुष्य अपने आरामके लिये दीन प्राणियोंका वध करता है, वह मृत्युके बाद कभी सुखी नहीं हो सकता। मरनेके बाद परम सुख उसीको मिलता है, जो सभी प्राणियोंको अपने ही समान समझकर किसीपर भी क्रोध नहीं करता और किसीको भी चोट नहीं पहुँचाता। जो मनुष्य प्राणिमात्रको अपने ही समान सुखकी कामना और दुःखकी अनिच्छा करनेवाले जानकर सबको समान दृष्टिसे देखता है, वह महापुरुष देव-दुर्लभ ऊँची गतिको प्राप्त होता है। जिस कामको मनुष्य अपने लिये प्रतिकूल समझता है, वह काम दूसरे किसी भी प्राणीके लिये नहीं करना चाहिये। जो मनुष्य इसके विरुद्ध व्यवहार करता है वह पापका भागी होता है। मान-अपमान, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय इनमें जैसे अपनेको संतोष और असंतोष होता है, वैसे ही दूसरोंको भी होता होगा, यही समझकर व्यवहार करे। जो मनुष्य हिंसा करता है, उसकी हिंसा होती है और जो रक्षण करता है, उसकी दूसरोंके द्वारा रक्षा होती है। अतएव हिंसा न करके सबकी रक्षा करनी चाहिये। जो मनुष्य किसी भी प्राणीकी किसी प्रकार भी हिंसा नहीं करता, वह सत्पुरुषोंके बतलाये हुए धर्मके समान संसारमें प्रमाणरूप होता है। (महाभारत)

(४)
संतोष

संतोष ही परम कल्याण है। संतोष ही परम सुख है। संतोषीको ही परम शान्ति प्राप्त होती है। संतोषके धनी कभी अशान्त नहीं होते। संसारका बड़े-से-बड़ा साम्राज्य-सुख भी उनके लिये एक तुच्छ तिनकेके समान है। विषम-से-विषम परिस्थितिमें भी संतोषी पुरुष क्षुब्ध नहीं होता। सांसारिक भोग-सामग्री उसे विषके समान जान पड़ती है। संतोषामृतकी मिठासके सामने स्वर्गीय अमृतका उमड़ता हुआ समुद्र भी फीका पड़ जाता है। जिसे अप्राप्तकी इच्छा नहीं है, जो कुछ प्राप्त है उसीमें जो समभावसे संतुष्ट है, जगत्के सुख-दु:ख उसका स्पर्श नहीं कर सकते। जबतक अन्त:करण संतोषकी सुधा-धारासे परिपूर्ण नहीं होता, तभीतक संसारकी सभी विपत्तियाँ हैं। संतोषी चित्त निरन्तर प्रफुल्लित रहता है, इसलिये उसीमें ज्ञानका उदय होता है। संतोषी पुरुषके मुखपर एक अलौकिक ज्योति जगमगाती रहती है, इससे उसको देखकर दु:खी पुरुषके मुखपर भी प्रसन्नता आ जाती है। संतोषी पुरुषकी सेवासे स्वर्गीय सम्पत्तियाँ, विभूतियाँ, देवता, पितर और ऋषि-मुनि अपनेको धन्य मानते हैं। भक्तिसे, ज्ञानसे, वैराग्यसे अथवा किसी भी प्रकारसे संतोषका सम्पादन अवश्य करना चाहिये। (योगवासिष्ठ)

(५)
विचार

शास्त्रोंका अनुगमन करनेवाली शुद्ध बुद्धिसे अपने सम्बन्धमें सर्वदा विचार करना चाहिये। विचारसे तीक्ष्ण होकर बुद्धि परमात्माका अनुभव करती है। इस संसाररूपी दीर्घ रोगका सबसे श्रेष्ठ औषध विचार ही है। विचारसे विपत्तियोंका मूल अज्ञान ही नष्ट हो जाता है। यह संसार मृत्यु, संकट और भ्रमसे भरपूर है, इसपर विजय प्राप्त करनेका उपाय एकमात्र विचार है। बुरेको छोड़कर अच्छेका ग्रहण, पापको छोड़कर पुण्यका अनुष्ठान विचारके द्वारा ही होता है। विचारके द्वारा ही बल, बुद्धि, सामर्थ्य, स्फूर्ति और प्रयत्न सफल होते हैं। राज्य, सम्पत्ति और मोक्ष भी विचारसे प्राप्त होता है। विचारवान् पुरुष विपत्तिमें घबराते नहीं, सम्पत्तिमें फूल नहीं उठते। विचारहीनके लिये सम्पत्ति भी विपत्ति बन जाती है। संसारके सारे दु:ख अविवेकके कारण हैं। विवेक धधकती हुई अन्तर्ज्वालाको भी शीतल बना देता है। विचार ही दिव्य-दृष्टि है, इसीसे परमात्माका साक्षात्कार और परमानन्दकी अनुभूति होती है। यह संसार क्या है? मैं कौन हूँ? इससे मेरा क्या सम्बन्ध है? यह विचार करते ही संसारसे सम्बन्ध छूटकर परमात्माका साक्षात्कार होने लगता है। इसलिये शास्त्रानुगामिनी शान्त, शुद्ध बुद्धिसे विचार करते रहना चाहिये। (योगवासिष्ठ)

सनातन-(विश्वमानव-) धर्मके ज्ञान, ग्रहण और प्रसारकी आवश्यकता

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

(मुण्डकोपनिषद् २। २। ११)

'यह अमृतस्वरूप (मृत्यु, विकार, दु:ख, शोक आदिसे रहित नित्य सत्य पूर्ण परमानन्दघन) ब्रह्म ही इस विश्वके रूपमें लीला करता हुआ हमारे सामने, पीछे, दाहिने, बायें, नीचे, ऊपर—सर्वत्र प्रसरित हो रहा है। यह ब्रह्म ही सम्पूर्ण विश्वका सर्वश्रेष्ठ वरणीय सत्य स्वरूप है।'

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृध: कस्य स्विद् धनम्॥

(शुक्लयजुर्वेद ४०। १—ईशावास्योपनिषद्)

'इस अखिल विश्वजगत्में इन्द्रिय-मन-बुद्धि-गोचर और इसका अंगीभूत जो कुछ भी जड-चेतन जगत् है, वह सब एकमात्र ईश्वरसे व्याप्त है—उसका यथार्थ स्वरूप ईश्वर ही है। उस ईश्वरको साथ रखते हुए त्यागपूर्वक भोगते रहो, कहीं भी आसक्त मत होओ; धन—भोगपदार्थ किसका है?'

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन:॥

(गीता ६। २९)

'सर्वत्र समदृष्टि रखनेवाला योगयुक्त पुरुष सब (चराचर) भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखता है।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(गीता १०। ३९)

(भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—) 'अर्जुन! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ। ऐसा चराचर कोई भी भूत नहीं है, जो मुझसे रहित (पृथक्) हो। यह सब मेरा ही (भगवान्का ही) स्वरूप है।'

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भागवत ११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, जीव, दिशा, वृक्ष, नदी, समुद्र और जो कुछ भी चराचर भूत है, सब हरिका शरीर है—ऐसा मानकर अनन्य भावसे सबको प्रणाम करे।'

इस प्रकारके असंख्य वचन हमारे वेद, उपनिषद्, पुराण, शास्त्रोंमें भरे हैं। और यह है हमारे पूतप्राण ऋषियोंका 'अनुभूत सत्य'—उनकी 'प्रत्यक्ष उपलब्धिका स्वरूप'। यही 'सनातनधर्म' है। यही 'आर्य (हिंदू) संस्कृति' है। भारतवर्ष इस पुण्य 'सत्यदर्शन' का आदिक्षेत्र है। इसीसे भारतका दर्शन-विज्ञान; साहित्य-कला; उसकी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय, व्यावहारिक और शारीरिक आदि सारी नीति-पद्धतियाँ; उसके राष्ट्रका, जातिका, समाजका, कुलका और व्यक्तिका धर्म आदि सब कुछ इस 'सनातनधर्म' से ही अनुप्राणित है। इस धर्मको ही जीवनका परम आदर्श मानकर सारे सिद्धान्तों, मतों तथा नीति-नियमोंका निर्माण हुआ है। यही पवित्र 'सनातनधर्म' या 'हिंदू-संस्कृति' का स्वरूप है। एक ही शरीरके विभिन्न अंग-उपांगोंमें नाम, रूप तथा व्यवहारका भेद होते हुए भी जैसे सबमें एक ही आत्माकी नित्य निश्चित प्रत्यक्ष अनुभूति है, अतः सबका हित-साधन सहज स्वाभाविक है; वैसे ही विश्वके चराचर भूतमात्रमें राग-द्वेषरहित, हिंसा-घृणा-भय-शून्य, देहेन्द्रिय-मनकी अधीनतासे मुक्त, जाति-वर्ग-सम्प्रदायके भेदाभिमानजनित संकीर्णताओंसे सहज ही अतीत, शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि तथा चित्तके सरल भावसे एकमात्र दिव्य सत्य आत्माकी या भगवान्की अनुभूति और उसी अनुभूतिके आधारपर नित्य भ्रमप्रमादादिसे रहित समाहित-चित्तसे सहज ही सर्वकल्याणकर विचार-चिन्तन, व्यवहार-बर्ताव तथा आचार-क्रियाका होना—'भारतीय हिंदू-संस्कृति' या 'सनातनधर्म' का जीवन-दर्शन है।

हमारे इस अनादि नित्य सनातनधर्ममें, जिसे आत्मधर्म या 'विश्वधर्म' कह सकते हैं—जडमें चेतन, ससीममें असीम, सादिमें अनादि, सान्तमें अनन्त, अनेकमें एक, विभक्तमें अविभक्त, भेदमें अभेद तथा परायेमें अपना—'पर' में 'स्व' का प्रत्यक्ष बोध तथा दर्शन करानेकी शक्ति है। यही विश्वजनीन विश्वमानवधर्म—सनातनधर्म सारे संसारके प्राणिमात्रका लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक कल्याण-साधन करनेमें समर्थ है।

इसी सनातनधर्मके परलोक, पुनर्जन्म तथा जन्म-जन्मान्तरमें कर्म-फल-भोगका सिद्धान्त ऋषियोंद्वारा प्रत्यक्ष अनुभूत तथा मान्य है, जिसके कारण मनुष्य दुष्कर्म करनेमें डरता है।

बड़े ही दुःखका विषय है कि आज इसी 'सनातनधर्म' 'भारतीय आर्य (हिंदू-) संस्कृति' की शिक्षाका अभाव ही नहीं हो रहा है, इसकी अवांछनीय अवहेलना और घोर तिरस्कार हो रहा है! इसीसे आज सर्वत्र मानवका 'स्व' अत्यन्त सीमित क्षेत्रमें संकुचित हुआ जा रहा है और क्षुद्र 'स्व' के हितकी भ्रमपूर्ण मिथ्या धारणासे राग-द्वेषका आश्रय लेकर मनुष्य एक-दूसरेका विनाश करनेपर तुल गया है! इसीसे मोहावृत और विलास-विभ्रमरत मानव आज क्षुद्र स्वार्थके पीछे—स्वहितकी मिथ्या धारणासे पर-हित-नाशका मानो व्रत लेकर स्वयमेव 'आत्महत्या' कर रहा है। और इसीसे वह अनर्गल अवैध यथेच्छाचारको कर्तव्य-सा मानकर मनमाना दुराचार कर रहा है। अध्यात्मरहित भौतिक विकासने, जो घोर विनाशका पूर्वरूप है, आज विश्वमानवके ज्ञाननेत्रोंपर मोहका आवरण डालकर उसे प्रायः दृष्टिहीन या विपरीतदर्शी बना दिया है। 'अध्यात्म' की लीलाभूमि भारत भी आज इस मोहसे आच्छन्न है। इसीसे 'धर्मनिरपेक्ष' (सेक्युलर) के नामपर 'धर्मशून्य'-सिद्धान्तका पोषण करके वह मानवको पशु, पिशाच या राक्षस बनानेके अधम कार्य करनेमें प्रवृत्त है। शिक्षालयोंमें 'धर्म-शिक्षा' बंद है; छोटी उम्रसे लड़कियाँ तथा लड़के शिक्षाके नामपर उन शिक्षाक्षेत्रोंमें, शिक्षामन्दिरोंमें, विद्यालयोंमें भेजे जाने लगे हैं, जहाँ धर्मका नाम नहीं है, आचार-

हीनताको गौरव दिया जाता है, प्रकारान्तरसे यथेच्छाचार, उच्छृंखलता एवं उद्दण्डताको उन्नतिका चिह्न बतलाया जाता है, गुरुजनोंका अपमान तथा बिना ही समझे-सोचे अपने धर्म, अपनी संस्कृति-सभ्यताके प्रति घृणा—कम-से-कम अवहेलना या उदासीनता करना सिखलाया जाता है। जहाँके दूषित वातावरणसे और सच्ची धार्मिक शिक्षाके अभावसे 'सफाई' के नामपर 'शुद्धि' का, 'स्वतन्त्रता' के नामपर 'नियमानुवर्तिता', अनुशासन' और 'संयमशीलता' का, 'सुधार' के नामपर कुलपरम्परागत 'सदाचार' का, 'प्रगति' के नामपर 'भोजनकी शुद्धि' आदि सद्‌गुणोंका अबाध विनाश किया जा रहा है और 'अभक्ष्य आहार' तथा 'असदाचार' में उत्साह तथा उल्लासयुक्त प्रवृत्ति करवायी जा रही है और इसे 'विकास' माना जाता है! यही विकासका (विनाशका) क्रम विश्वविद्यालयोंकी उच्च शिक्षातक उत्तरोत्तर उन्नत होता चलता है। धर्म तथा आचारकी शिक्षा न घरमें मिलती है, न बाहर!

इसीके साथ-साथ उन्नतिके नामपर 'सह-भोजन', 'सह-शिक्षा', होटलोंमें सब कुछ तथा सब तरहसे बने हुए पदार्थोंका 'अनर्गल आहार', 'उच्छिष्ट भोजन', 'निर्लज्ज' तथा 'अमर्यादापूर्ण डान्स' आदि चलते हैं। 'सिनेमा' तथा इन्द्रियोंमें 'अनुचित उत्तेजना पैदा करनेवाला साहित्य' अपना अलग प्रभाव डालते हैं। परिणाम यह होता है कि आज कोई 'धर्म' के नामसे डरता है, कोई घृणा करता है, कोई सम्प्रदाय कहकर मखौल उड़ाता है, कोई धर्मकी बात सोचकर व्यर्थ समय नष्ट करना समझता है और कोई-कोई तो धर्मको उन्नतिका सर्वथा विघातक समझते हैं। धर्महीन विचार, धर्महीन शिक्षा, धर्महीन बाहरी छोटे-बड़े आचार-व्यवहार—सब मिलकर आज मनुष्यको मानवतासे गिराकर उसे पशुता और असुरतामें परिणत कर रहे हैं! इस प्रकार द्रुतगतिसे जो 'धर्महीन समाज' का निर्माण हो रहा है, इसका परिणाम कितना भयानक होगा, इसपर गम्भीरतासे विचार करनेकी आवश्यकता है।

भारतवर्षका यह सनातनधर्म ही था, जो विश्व-चराचरमें एक भगवान् या एक आत्माके दर्शन कराकर सबमें सहज प्रेमका विस्तार कर सकता था। प्रेम त्यागसे होता है और अपने हितके लिये मनुष्य सहज ही त्याग करता है। जब सर्वत्र आत्मदृष्टि हो जाती है तो सबका हित ही अपना हित हो जाता है; फिर कैसे कोई किसीका अहित-चिन्तन या अहित-साधन कर सकता है? इसीसे मनीषियोंका यह मत है कि "जगत्‌के सब मत नष्ट हो जायँ, तो हर्ज नहीं है; सबमें एक आत्माके दर्शन करनेवाला यह विश्वमानवका 'सनातनधर्म' जीवित रहेगा तो, सब जीवित रहेंगे—सबका कल्याण होगा। पर यही धर्म यदि नहीं रहेगा, (यद्यपि इसकी सम्भावना नहीं है; क्योंकि यह 'सत्य' है और 'सत्य' कभी मरता नहीं, वह किसी-न-किसी अंशमें रहता ही है) तो समस्त विश्वका विध्वंस हो जायगा और वर्तमानमें इसी सनातनधर्मका ह्रास हो रहा है। इस 'सनातनधर्म' और 'हिंदू-संस्कृति' के स्वरूपको जानने-माननेवालोंकी संख्या दिनो-दिन घटी जा रही है, इसकी शिक्षाका अभाव हुआ जा रहा है। सनातनधर्म तथा सनातन-हिंदू-इतिहासका अज्ञान बढ़ा जा रहा है। यह विश्वके भविष्यके लिये बड़े भारी खतरेकी चीज है। अतः यदि विश्वकल्याणके साथ ही भारतको तथा मनुष्य-मात्रको राष्ट्रका, देशका, समाजका तथा व्यक्तिगत अपना कल्याण इच्छित है, तो इस सनातनधर्मको समझना, समस्त शिक्षालयोंके शिक्षाक्रममें सनातनधर्मकी शिक्षाकी व्यवस्था करना; सनातनधर्मकी महत्ता, उदारता, सर्वजीव-हितैषिताकी सत्-शिक्षाका प्रचार-प्रसार करना, इसकी शिक्षाका ग्रहण करना, इसे जीवनमें क्रियारूपमें उतारना और समस्त विश्वको इसका मंगल-संदेश देना परम आवश्यक और अविलम्ब अनिवार्य कर्तव्य है!"

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

(भगवच्चर्चा—भाग-४)

सन्त-महिमा

प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः।
पुरो वा पश्चाद् वा तदिदमविपर्यासितरसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते॥

(भवभूति)

भगवान्‌के भक्त, भगवान्‌के प्यारे, भगवान्‌के तत्त्वको यथार्थतः जाननेवाले और भगवान्‌के ही स्वरूपभूत प्रातःस्मरणीय पूज्यचरण सन्त-महात्माओंकी महिमा कौन गा सकता है। उनके अनन्त कल्याण-गुणोंका बखान कौन कर सकता है। परन्तु उनकी स्मृति अन्तःकरणको पवित्र करती है, उनके आदर्श चरित्रोंका मनन हृदयको विशुद्ध भगवद्भावसे भर देता है और उनका गुणगान जिह्वाको पवित्र करके उसमें भगवद्‌गुणगानकी योग्यता प्रदान करता है—इन्हीं परम लाभोंकी ओर दृष्टि जानेसे सन्तोंकी कुछ चर्चा करनेका साहस हुआ है। सन्तजन ऐसी कृपा करें, जिसके प्रभावसे इन पंक्तियोंके लेखकका चित्त उनके प्रियतम श्रीभगवान्‌के चरणोंमें कुछ अनुराग करना सीखे।

सन्त कौन हैं?

श्रीमद्भगवद्‌गीतामें भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तोंके निम्नलिखित चालीस लक्षण बतलाये हैं। ये लक्षण जिन पुरुषोंमें हों, वे ही सन्त हैं; इन्हींका कुछ न्यूनाधिकरूपसे 'गुणातीत' और 'स्थितप्रज्ञ' आदि नामोंसे गीतामें वर्णन है।

१—किसी भी जीवसे द्वेष न होना।

२—सबके साथ मैत्रीभाव रखना।

३—बिना किसी भेदभावके दुःखी जीवोंपर दया करना।

४—भगवान्‌के सिवा किसी वस्तुमें 'मेरापन' न रहना।

५—शरीर-मन-वाणीमें कहीं 'मैंपन' न होना।

६—सुख-दुःखमें समबुद्धि रहना।

७—अपना बुरा करनेवालेके प्रति, उसे दण्ड देनेकी सामर्थ्य होनेपर भी, चित्तमें क्रोध न करना और भगवान्‌से उसका भला चाहना।

८—अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु या स्थितिकी प्राप्तिमें सन्तुष्ट रहना।

९—चित्तका निरन्तर परमात्माके साथ योगयुक्त रहना।

१०—मन-इन्द्रियोंको जीत लेना।

११—परमात्मामें दृढ़ निश्चय होना।

१२—मन और बुद्धिको सर्वभावसे भगवान्‌के अर्पण कर देना।

१३—अपने किसी भी आचरणसे किसी भी जीवको उद्विग्न न करना।

१४—किसीके द्वारा कैसा भी व्यवहार होनेपर कभी उद्विग्न न होना।

१५—सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें हर्ष न मानना।

१६—दूसरेकी उन्नतिमें डाह न होना।

१७—परमात्माको नित्य अपने साथ समझकर सदा निर्भय रहना।

१८—किसी भी अवस्थामें अशान्त न होना।

१९—किसी भी वस्तुकी अपेक्षा न होना।

२०—मन-वाणी-शरीरसे पवित्र रहना।

२१—अहितके त्याग और हितके ग्रहणमें चतुर होना।

२२—सबसे उदासीन—निरपेक्ष रहना।

२३—मानसिक व्यथाका सर्वथा अभाव।

२४—आसक्ति और कर्तापनके अभिमानसे कोई भी कर्म आरम्भ न करना। सब कर्मोंका आरम्भ परमात्माकी लीलासे होता है, ऐसा मानना।

२५—अनुकूलकी प्राप्ति और प्रतिकूलके विनाशमें हर्ष न होना।

२६—प्रतिकूलकी प्राप्ति और अनुकूलके विनाशमें द्वेष न होना।

२७—किसी भी स्थितिमें शोक न होना।

२८—किसी भी वस्तुकी कामना न होना।

२९—शुभ और अशुभ कर्मोंका फल त्याग कर देना।

३०—शत्रु-मित्रमें समभाव रखना।

३१—मानापमानमें समानभाव रखना।

३२—सर्दी-गरमीमें समबुद्धि रहना।

३३—सुख-दु:खको समान समझना।

३४—किसी भी पदार्थमें आसक्ति न रहना।

३५—निन्दा-स्तुतिको समान मानना।

३६—वाणीसे सत्-चर्चाके सिवा और कोई बात न करना, मनसे सदा भगवान्‌के स्वरूपका मनन करते रहना।

३७—शरीरनिर्वाहके लिये जो कुछ भी मिल जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहना।

३८—घर-द्वारको अपना न मानना।

३९—सदा परमात्मामें स्थिरबुद्धि रहना।

४०—श्रद्धापूर्वक और मेरे परायण होकर भागवत-धर्मरूपी अमृतका सदा सेवन करना।

ये सब गुण सिद्ध सन्तमें स्वाभावित होते हैं और साधक इनको प्राप्त करनेके प्रयत्नमें लगा रहता है; परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि सन्तमें इतने ही परिमितसंख्यक गुण हैं। सत्यस्वरूप परमात्मामें नित्य स्थित होनेके कारण सन्तकी अन्दर-बाहरकी चेष्टा और क्रिया एक-एक सद्‌गुण और सदाचार ही है; वस्तुत: सन्त सद्‌गुणोंके भण्डार होते हैं, उपर्युक्त चालीस गुण तो उन अनन्त सद्‌गुणोंके साररूप बतलाये गये हैं और भी संक्षेपमें कहें तो यों कह सकते हैं, जिनमें निम्नलिखित छ: लक्षण हों, वे पुरुष निश्चय ही सन्त हैं—१-नित्य सत्य परमात्म-स्वरूपमें या भगवत्प्रेममें अचल स्थिति, २-सर्वत्र समदृष्टि, जीवमात्रमें आत्मोपम प्रेम, ३-राग-द्वेष, काम-क्रोध और लोभ-अभिमानादि मानसिक दोषोंका और मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छाका सर्वथा अभाव, ४-स्वाभाविक ही समस्त प्राणियोंके हितमें रति, ५-शान्ति, सरलता, शम, दम, शीतलता, त्याग, सन्तोष, दया, अहिंसा, सत्य, निर्भयता, अनासक्ति, निष्कामता, निरहंकारता, निर्ममता, स्वाधीनता, निर्मलता, क्षमा, सेवा, तप आदि सद्‌गुण और सदाचारोंका पूर्ण विकास और ६-हर एक स्थितिमें अखण्ड असीम आनन्द!

सन्तोंके हृदयमें पाप-तापके लिये स्थान नहीं है, उनके आचरणोंमें किसी प्रकारका भी दोष नहीं आ सकता। अज्ञान, असत्य, दम्भ, कपट, स्तेय, व्यभिचार आदि दुराचार उनके समीप भी नहीं रह पाते। उनका सरल जीवन सर्वथा सदाचारमय, दिव्य आदर्श गुणोंसे युक्त, सबको सुख पहुँचानेवाला तथा सबका हित करनेवाला होता है; वे जहाँ रहते हैं, जहाँ विचरते हैं, वहीं मंगल-सन्देश देते हैं, मंगलमय वायुमण्डल तैयार करते हैं और सबको मंगलमय बना देते हैं।

सन्तोंकी पहचान

यद्यपि सन्तके लिये शास्त्रोंमें इस प्रकारके अनेक लक्षणोंका निर्देश मिलता है, तथापि वस्तुत: सन्त समस्त लक्षणोंसे ऊपर उठे हुए होते हैं। किसी भी लक्षणके द्वारा कोई भी विषयी पुरुष सन्तको कभी नहीं पहचान सकता। प्रथम तो जिसने जिस वस्तुकी उपलब्धि ही नहीं की, वह केवल उसका नाम सुनकर ही कैसे उसके असली-नकली होनेका निर्णय कर सकता है। जिसने हीरा देखा ही नहीं, वह हीरे और काँचके अन्तरको कैसे समझ सकता है। सन्तोंके लक्षणोंमें कई तो ऐसे हैं, जो स्वसंवेद्य हैं और कई ऐसे हैं जिनके स्वरूपका यथार्थ निर्णय स्वयं उनका आचरण करनेवाले केवल अनुभवी पुरुष ही कर सकते हैं, विषयी पुरुष अपनी विविध दोषमयी, विषयासक्तिसे भ्रमित और मोहसे आवृत मलिन बुद्धिके तराजूपर उनको नहीं तौल सकता। वह जिस बातको अपनी विपरीत और अज्ञानभरी दृष्टिसे दोष समझेगा, सम्भव है, वही सन्तका आदर्श गुण हो। ऑपरेशन करते हुए डॉक्टरकी क्रियामें, बच्चों और शिष्योंको वत्सलतापूर्ण हृदयसे धमकाते हुए माता-पिता और सद्‌गुरुकी शिक्षामें और कराहते हुए रोगीको कुपथ्य न देनेमें अज्ञ पुरुष निर्दयताका आरोप कर सकते हैं; परन्तु क्या यह वास्तविक दया नहीं है? इसी प्रकार अन्यान्य गुणोंकी बातें हैं। मूर्ख मनुष्य यदि अनाज तौलनेके एक बड़े काँटेके एक पलड़ेपर बहुमूल्य हीरा रखकर और उसे सेर-दो-सेरके वजनका भी न पाकर उसको किसी भी कामका न समझे तो इससे जैसे हीरेकी कीमत कुछ भी कम नहीं हो जाती, इसी प्रकार असन्तकी मलिन बुद्धि न तो सन्तको पहचान सकती है और न उसके किसी निर्णयसे सन्तका यथार्थ स्वरूपनिर्देश ही होता है। दूसरी बात एक यह भी है कि भोले-भाले नर-नारियोंको ठगनेके लिये दम्भी मनुष्य भी सन्तोंका-सा स्वाँग रचकर लोगोंको धोखा दे सकता है, बाहरी आचरणकी नकल करना कोई बड़ी बात नहीं। यद्यपि सत्य, चेतन और ज्ञानस्वरूप परमात्मामें नित्यस्थित लोक-हित-निरत सन्तके बाहरी आचरणोंमें और दम्भीके सन्तों-जैसे बनावटी आचरणोंमें बहुत बड़ा भेद रहता है,

तथापि उस भेदको पहचानना हर एक मनुष्यका कार्य नहीं है। योग-सिद्धिप्राप्त या भगवत्प्रेरित सन्त पुरुष ही उस महत्त्वपूर्ण भेदको जानते हैं। अतएव किसी भी बाहरी लक्षणसे सन्त-असन्तका निर्णय करना असम्भव नहीं तो कम-से-कम महान् कठिन तो अवश्य ही है। विषयी पुरुषोंके लिये तो असम्भव ही है।

सन्तोंका यथार्थ परिचय सन्तकृपासे ही मिल सकता है। किन्तु पहलेसे ही किसी-न-किसी दोषको खोज निकालनेकी बुरी इच्छासे—जिनपर दोषारोपण हो सके, ऐसे छिद्रोंको ढूँढ़नेकी नीयतसे ही जो सन्तके पास जाता है या सन्तका सेवन करता है, उसको सन्तका यथार्थ परिचय मिलना और सन्तकृपाको प्राप्त करना बहुत ही कठिन है। श्रद्धा, सेवा और जिज्ञासासे ही मनुष्यको सन्तकृपाकी प्राप्ति हो सकती है। इतना होनेपर भी अकारणकृपालु सन्तोंका अज्ञात संग भी कभी व्यर्थ नहीं जाता; उस अज्ञात सत्संगसे, जिस महान् कल्याण-कल्पतरुका भगवत्प्रेमरूपी अमल फल है, उसका अक्षय बीज तो हृदयक्षेत्रमें पड़ ही जाता है, जो अनुकूल वातावरण पाकर उगता है और फूलता-फलता है।

सन्त भगवान्के किस गुप्त संकेतको पाकर कब किस प्रकारका आचरण करते हैं, इस बातको साधारण लोग नहीं समझ सकते; लोकोत्तर पुरुषोंके कार्य भी लोकोत्तर ही हुआ करते हैं, साधारण बुद्धिसे उनका समझना और अनुकरण करना सम्भव नहीं होता। इसीलिये श्रुति-वाक्योंमें गुरु शिष्यसे कहते हैं—

यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकँ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।

(तैत्तिरीयोपनिषद् १। ११। २)

'शास्त्रोक्त निर्दोष कर्मोंका ही आचरण करना चाहिये, शास्त्रविरुद्धका नहीं। हमलोगोंमें भी जो सुन्दर आचरण हैं, तुम्हें उन्हींका अनुकरण करना चाहिये, अन्य निन्दित आचरणोंका नहीं।'

वस्तुत: सन्तोंका एक भी आचरण किंचित् भी दोषयुक्त नहीं होता, वह स्वाभाविक ही सत्य ज्ञानसे ओतप्रोत और लोकहितके उद्देश्यसे आचरित होता है, हम उसे अपनी अदूरगामिनी विपरीत दृष्टिके कारण ही दूषित या निन्दित मान लेते हैं! एक महात्माने मुझको एक कहानी सुनायी थी—

सन्तकी आश्चर्य-कहानी

किसी एक नगरमें राजकन्याका विवाह था, मंगलके बाजे बज रहे थे। उसी नगरमें एक सिद्ध महात्मा रहते थे। महात्मा बाजोंकी आवाज सुनकर राजदरबारमें गये। राजासे यह मालूम होनेपर कि राजकन्याका विवाह है, उन्होंने कन्याको देखना चाहा। राजाने कन्याको बुलाया। राजकन्याने आकर महात्माके चरणोंमें प्रणाम किया। महात्माने न मालूम किस अभिप्रायसे उसको नखशिख देखकर राजासे कहा—'इस लड़कीका हमसे विवाह कर दो।' राजा तो सुनते ही सहम गया; बुद्धिमान् था, महलमें जाकर एक जोड़ी बहुमूल्य मोती लाया। मोतीका आकार मुर्गीके अण्डे-जितना था और उनसे शारदीय पूर्णिमाके चन्द्रमाकी-सी ज्योति छिटक रही थी। राजाने नम्रतासे कहा—'भगवन्! हमारे कुलकी रीति है—जो इस तरहके १०८ मोतियोंका हार कन्याको देता है, उसीसे हम कन्याका विवाह करते हैं।' महात्माने निर्विकार चित्तसे, पर उत्साहसे कहा—'हाँ, हाँ, तुम्हारी कुलकी प्रथा तो पूरी होनी ही चाहिये। ये दोनों मोतीके दाने मुझे दे दो, इसी नमूनेके एक सौ आठ मोती मैं ला देता हूँ। परन्तु खबरदार! तबतक लड़कीको किसी दूसरेसे ब्याह न देना।' राजाने सोचा था, महात्मा मोतीकी बात सुनकर निराश हो लौट जायँगे; परन्तु यहाँ तो दूसरी ही बात हो गयी। राजा जानता था—महात्मा ऊँचे दर्जेके सिद्ध पुरुष हैं, उनकी आज्ञा न माननेसे अमंगल हो सकता है; अतएव राजाने दोनों मोती उनको दे दिये और कहा—'भगवन्! आगे लग्न नहीं है, आप जल्दी लौटियेगा।' राजाने सोचा, 'ऐसे मोती कहीं मिलेंगे नहीं; महात्मा सच्चे पुरुष हैं, लौट ही आयेंगे। तब लड़कीका विवाह निर्दिष्ट राजकुमारके साथ कर दिया जायगा।' राजाने विवाह स्थगित कर दिया। महात्मा मोतीके दाने झोलीमें डालकर चल दिये!

तीन दिन हो गये। महात्मा समुद्रके किनारे बैठे कमण्डलु भर-भर समुद्रका जल बाहर उलीच रहे हैं। उन्हें खाना-पीना-सोना कुछ भी स्मरण नहीं है। न थकावट है न विषाद है; न निराशा है न विराम है। एक लगनसे कार्य चल रहा है। महात्माकी अमोघ क्रियासे प्रकृतिमें हलचल मची। अन्तर्जगत्में क्षोभ उत्पन्न हो गया। समुद्रदेव ब्राह्मणका रूप धरकर बाहर आये।

पूछा, 'भगवन्! यह क्या कर रहे हैं?' समाधिसे जगे हुएकी भाँति उनकी ओर देखकर सहज सरलतासे महात्मा बोले—'एक सौ आठ मोतीके दाने चाहिये। समुद्रमें पानी नहीं रहेगा, तब मोती मिल जायँगे।' ब्राह्मणने कहा—'समुद्र क्या इसी तरहसे और इतना जल्दी बिना पानीका हो जायगा?'

'हाँ, हाँ, हो क्यों नहीं जायगा। पानी तो उलीच ही रहे हैं, दो दिन आगे-पीछे होगा। अपनेको कौन-सी जल्दी पड़ी है।'

'अगर समुद्र आपको मोती दे दे तो?'

'तो फिर क्या हमारा समुद्रसे कोई वैर है जो हम उसे बिना पानीका बनायेंगे?'

'अच्छा, तो लीजिये।'

समुद्रकी एक तरंग आयी और मोतियोंका ढेर लग गया। महात्माने झोलीसे दोनों मोती निकाले। उनसे ठीक मिला-मिलाकर १०८ मोती चुनकर झोलीमें डाल लिये और चलनेके लिये उठ खड़े हुए! ब्राह्मणवेशधारी समुद्रने कहा, 'भगवन्! कुछ मोती और ले जाइये न?' महात्मा बोले—'हमें संग्रह थोड़े ही करने हैं। जरूरत थी, उतने ले लिये। अब हम व्यर्थ बोझ क्यों ढोयें।'

महात्माने आकर राजाको बुलाया और पहलेके दो दानेसमेत ११० मुर्गीके अण्डे-जैसे पूनमके चाँद-से चमकते मोतीके दाने राजाके सामने रख दिये। राजा आश्चर्यचकित हो गया। महात्माके परम सिद्ध होनेका उसे पूर्ण विश्वास हो गया। उसने सोचा, 'ऐसे विलक्षण शक्तिशाली पुरुषसे लड़कीका विवाह करनेमें लड़कीको तो किसी दुःखकी सम्भावना है नहीं, परन्तु इनसे कुछ काम और क्यों न ले लिया जाय।' राजाकी एक दूसरे बड़े राजासे शत्रुता थी; वह राजा तो मर गया था, उसका छोटा कुमार था। इसने सोचा, 'शत्रुका बीज भी अच्छा नहीं; महात्माके हाथों यह कण्टक दूर हो जाय तो अच्छा।' यह सोचकर राजाने कहा—'भगवन्! मोती तो बड़े अच्छे आप ले आये। एक काम और है, अमुक राज्यके राजकुमारका सिर आनेपर लड़कीका ब्याह होगा, ऐसा प्रण है। अतएव यदि हो सके तो आप इसके लिये चेष्टा करें।' महात्माने कहा—'अरे, इसमें कौन बड़ी बात है, अभी जाता हूँ।' महात्माजी उस राज्यमें गये। राजमातासे मिले। राजमाताने महात्माका नाम सुन रखा था, इससे उसने बड़ी अच्छी आवभगत की। इन्होंने कहा—'माई! हम तो एक कामसे आये हैं, तुम्हारे कुमारका हमें सिर चाहिये। हमने एक राजासे कहा था—अपनी कन्याका ब्याह हमसे कर दो; उसने कहा है कि अमुक राजकुमारका सिर ला देंगे, तब विवाह होगा। अतः तुम हमें अपने लड़केका सिर दे दो।' एकलौता लड़का था और वही राज्यका अधिकारी था। महात्माके वचन सुनकर राजमाताके प्राण सूख गये। परन्तु हृदयमें श्रद्धा थी; उसको विश्वास था कि सच्चे महात्मासे किसीका कोई अकल्याण नहीं हो सकता। उसने कहा—'भगवन्! लड़केका सिर मैं कैसे उतारूँ। आप इस लड़केको ही ले जाइये।' महात्मा बोले—'यह और अच्छी बात है; उसने तो सिर ही माँगा था, हम तो पूरा ले जाते हैं। फिर सिर उतारकर हमें क्या करना है।'

'भगवन्! इसे मैं आपके हाथोंमें सौंप रही हूँ।'

'हाँ, हाँ, भगवान् सब मंगल करेंगे।'

राजकुमारको लेकर महात्मा अपनी नगरीमें लौटे और राजमहलमें जाकर बोले—'लो, यह समूचा राजकुमार! अब पहले विवाह करो; खबरदार! जबतक विवाह न हो, लड़केको छूना मत।' राजाने आनन्दमग्न होकर कहा—'ठीक है, भगवन्! ऐसा ही होगा।' महात्माने कहा—'तो बस, अब देर न करो!'

विवाहमण्डप रचा हुआ था ही। चौकी बिछायी गयी। महात्माजी दूल्हा बने। कन्या आयी। कन्याको महात्माने एक बार फिर नखशिख देखा। अकस्मात् बोल उठे—'अरे! उस राजकुमारको तो यहाँ बुलाओ!' राजकुमार बुलाया गया। महात्माने उसे कन्याके बगलमें खड़ा कर दिया। फिर दोनोंको एक बार नखशिख देखकर बोले—'भई! जोड़ी तो यही सुन्दर है। राजा! बस, अभी इस राजकुमारसे राजकुमारीका ब्याह कर दो। खबरदार, जो जरा भी चीं-चपट की।' राजा नहीं न कर सका। राजकुमारीका विवाह शत्रु राजकुमारसे हो गया। महात्माके विचित्र आचरणका रहस्य अब राजाकी समझमें आया, राजाका मन पलट गया। शत्रु मित्र हो गया! महात्मा अपनी कुटियापर जाकर पूर्ववत् धूनी तपने लगे।

इस कहानीसे यह मालूम हो गया होगा कि सन्त पुरुषकी क्रियाएँ किसी अज्ञात उद्देश्यसे बड़ी विलक्षण हुआ करती हैं, उनकी क्रियाओंसे उनकी स्थितिका पता लगाना बहुत ही कठिन होता है। तथापि आजकलके

जमानेमें—जहाँ लोग नाना प्रकारसे ठगे जा रहे हैं—विशेष सावधानी रखना ही उत्तम है। श्रद्धा और सेवा करके सत्संग करना चाहिये और जिन सन्त पुरुषके संगसे अपनेमें दैवी सम्पदाकी वृद्धि, भगवान्‌की ओर चित्तवृत्तियोंका प्रवाह, शान्ति और आनन्दकी वृद्धि प्रतीत हो, उन्हींको सन्त मानकर उनसे विशेष लाभ उठाना चाहिये। अपनी बुद्धि जिनको सन्त स्वीकार न करे, उनकी निन्दा तो नहीं करनी चाहिये; परन्तु अपने उनसे कोई गुरु-शिष्यका सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। निन्दा तो इसलिये नहीं कि प्रथम तो किसीकी भी निन्दा करना ही बहुत बुरा है; दूसरे, हम सन्तका बाहरी आचरणसे निर्णय भी नहीं कर सकते और गुरु-शिष्यका सम्बन्ध इसलिये नहीं कि श्रद्धारहित और दोषबुद्धियुक्त ऐसे सम्बन्धसे कोई लाभ नहीं होता।

सन्त और चमत्कार

अहिंसा-सत्यादि यम-नियमोंकी पूर्ण प्रतिष्ठाके साथ ही परमात्माके स्वरूपमें सम्पूर्णतया स्थित होनेके कारण सन्तोंके जीवनमें अलौकिक योगविभूतियोंका प्रकट होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। भगवान् स्वयं शुद्ध सत्त्वमयी और कल्याणमयी नित्य अनन्त दिव्य विभूतियोंसे सम्पन्न हैं। उनका 'ऐश्वर-योग' प्रसिद्ध है और ऐसी सिद्धियाँ हेय भी नहीं हैं। संसारके प्राचीन और अर्वाचीन सभी धर्मोंके सन्त पुरुषोंके जीवनमें योगविभूतियोंका होना न्यूनाधिक रूपमें पाया जाता है। अवश्य ही सत्यके साथ-साथ संसारमें मिथ्या, दम्भ, धूर्तता भी रहती ही है और पाखण्डीलोग अपने स्वार्थसाधनके लिये नकली सिद्धियाँ दिखलाकर अथवा लोगोंकी आँखोंमें धूल झोंककर अपना निकृष्ट व्यवसाय भी चलाते ही हैं। पर इससे योगविभूतियोंको दूषित नहीं कहा जा सकता। तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अणिमादि सिद्धियाँ और ऐसी ही अन्यान्य योगविभूतियोंका प्राप्त करना सन्तजीवनका उद्देश्य कदापि नहीं है। सन्तकी महाविभूति तो भगवान्‌के साथ पूर्णतया एकात्मभाव है। इसीके लिये साधकदशामें सन्त अपने जीवनको महान् त्याग, वैराग्य और प्रचण्ड तपस्याकी आगमें तपाता रहता है और इस परम सत्यको उपलब्ध करनेके बाद इसीमें रमकर तदाकार हो जाता है। सिद्धियाँ आनुषंगिक रूपमें आती हैं तो वह न तो इनको कोई महत्त्व देता है, न इनकी प्राप्तिकी इच्छा करता है, न इनका प्रदर्शन करके देहपिण्डकी और मिथ्या नामकी पूजा ही करवाना चाहता है; क्योंकि वह जानता है सिद्धियोंमें सन्तभाव नहीं है, बल्कि सिद्धियाँ तो साधनमें महान् विघ्नरूप हैं और परमार्थपथसे गिरा देती हैं और ये सिद्धियाँ राक्षसोंमें भी हो सकती हैं।

जो लोग सिद्धियोंका प्रदर्शन करके नाम-रूपकी पूजा कराना चाहते हैं, वे तो सन्त हैं ही नहीं। बल्कि आजकल तो बहुत लोग ऐसे भी मिल सकते हैं, जिनको यथार्थ योगविभूतियाँ भी प्राप्त नहीं हैं, जो केवल धोखा देनेकी कलामात्र जानते हैं और उसीके सहारे भोले लोगोंको ठगते हैं। सन्तका महान् चमत्कार तो उसका नित्य सत्य अखण्ड ईश्वरमय जीवन है, जिस जीवनके दर्शन, कथन, श्रवण और परिचय—सभी आश्चर्यमय हैं।

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

सन्तोंके स्वभावमें विभिन्नता

सिद्ध सन्तोंकी स्वरूपस्थिति एक-सी होनेपर भी व्यावहारिक जगत्‌में उनके स्वभावमें बहुत ही विभिन्नता रहती है। जो सन्त जिस देशमें, जिस परिस्थितिमें, जिस शिक्षा-दीक्षामें, जिस वातावरणमें प्रकट हुए हैं और पले हैं, प्रायः उसीके अनुसार उनका स्वभाव भी होता है। कोई अत्यन्त एकान्त-सेवी, निवृत्तिपरक होकर लोकालयसे सर्वथा अपनेको अलग रखना चाहते हैं, कोई दिन-रात विभिन्न प्रकारके लोगोंमें रहकर उनकी सहायता करते, उन्हें मार्ग बतलाते, अन्याय-अत्याचारका सामना करते और सत्य-धर्मकी प्रतिष्ठा करनेमें लगे रहते हैं। एकान्तवासी सन्त भी कम लोक-सेवा नहीं करते। एकान्त स्थानमें उनका दिन-रात भगवान्‌के साथ आत्मासे ही नहीं—शरीर-मन-वाणीसे भी संयोग रहना जगत्‌के लिये बहुत ही कल्याणकारी होता है। उनका अस्तित्व ही जगत्‌के लिये बहुत बड़ा आश्वासन और महान् लाभ है। लोकालयमें रहनेवाले सन्तोंमें गृहस्थ, संन्यासी दोनों ही होते हैं और गृहस्थोंमें भी स्वभाव तथा रुचिभेदके अनुसार कोई त्यागमार्गी और कोई अत्यागमार्गी होते हैं—कोई विषयोंके स्वरूपतः त्यागकी शिक्षा देते हैं तो कोई राग-द्वेष-त्यागपूर्वक वशमें किये हुए मन-इन्द्रियोंसे भगवत्प्रीत्यर्थ विषय-सेवनकी

सम्मति देते हैं और तदनुसार ही दोनोंकी अपनी रहनी-करनीमें भी अन्तर होता है। ऐसे सन्त सभी देशों, सभी जातियों, सभी धर्मों और सभी सम्प्रदायोंमें प्राय: सभी युगोंमें होते आये हैं।

सन्त-जगत्‌में उपर्युक्त निवृत्ति और प्रवृत्तिपरक सन्तोंके सिवा कुछ ऐसे सन्त भी होते हैं, जिनके बाह्य आचरण बाल, जड, उन्मत्त या पिशाचवत् होते हैं। इन्हीं लोगोंको अवधूत आदि नामोंसे कहा जाता है। ऐसे लोग प्राय: शिक्षा नहीं देते, अपनी मौजमें रहकर ही जगत्‌की अनुपम सेवा करते रहते हैं। इनमेंसे कई देखनेमें बहुत ही घृणित आचरणवाले होनेपर भी अपनी सन्निधिमात्रसे लोगोंका अपार कल्याण कर देनेकी शक्ति रखते हैं। अवश्य ही बहुत-से पाखण्डी लोग भी बाहरसे इन लोगों-जैसा वेष बनाकर जगत्‌को ठगा करते हैं, परन्तु इससे उन विधि-निषेधके परे पहुँचे हुए महात्माओंके निर्मल साधुचरित्रपर कोई कलंक नहीं आ सकता। जो लोग धन, स्त्री और पूजा-प्रतिष्ठाके लिये इन लोकोत्तर पुरुषोंकी नकल करके, अपने वर्णाश्रमविहित सन्ध्या-पूजन, माता-पिताका सेवन, परिवार-पालन, यज्ञ-दान, देश और धर्मकी सेवा, खान-पानकी शुद्धि एवं शास्त्रीय आचार-विचार आदिको छोड़कर म्लेच्छवत् मनमाना आचरण करते हैं, वे तो नरकगामी ही होते हैं।

अवश्य ही विधि-निषेधके ऊपर ऐसे उच्च स्तरमें पहुँच जानेपर परमात्माके सत्यस्वरूपमें इतनी प्रगाढ़ तल्लीनता हो जाती है कि समस्त नियमोंके बन्धन अपने-आप टूट जाते हैं; वहाँका नियम ही स्वाभाविक स्वच्छन्दता है। परन्तु उस स्थितिके पहले जान-बूझकर शास्त्र और सदाचारके आवश्यक बन्धनोंको तोड़नेवालेकी तो वही दशा होती है, जो नदीके उस पार भूमिपर उतरे हुए पथिककी देखा-देखी नदीकी बीच धारामें नौकाको छोड़ देनेवालेकी होती है। सन्तशिरोमणि प्रेममयी गोपियोंके सम्बन्धमें उद्धवजी कहते हैं—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६१)

'अहो! इन गोपियोंकी चरणरजको सेवन करनेवाली वृन्दावनमें उत्पन्न हुई गुल्म, लता और ओषधियोंमेंसे मैं कुछ भी हो जाऊँ (जिससे इन महाभागाओंकी चरणरज मुझे भी प्राप्त हो)। क्योंकि इन गोपियोंने बहुत ही कठिनतासे त्याग किये जानेवाले स्वजनोंको और आर्यपथको त्यागकर भगवान् मुकुन्दके मार्गको पाया है, जिनको श्रुतियाँ अनादिकालसे खोज रही हैं (परन्तु पाती नहीं)।'

यह 'आर्यपथत्याग' उन कृष्णमयी गोपिकाओंके द्वारा ही हो सकता है, जो घर-संसारकी दुस्त्यज ममताको सर्वथा छोड़कर, समस्त मोहके परदोंको फाड़कर अनन्यरूपसे सर्वथा-सर्वदा और सर्वत्र मुरलीमनोहर श्रीकृष्णमें ही रमण करती थीं। जिनके जीवनका प्रत्येक क्षण भगवान्‌में रमण करनेके लिये ही सुरक्षित था, उन नित्य परमात्मयोगमें अखण्डरूपसे स्थित श्रीगोपीजनोंकी दिव्य लीलाओंकी नकल करनेवाले विषयी मनुष्य तो गहरे पतनके समुद्रमें गिरकर डूबते ही हैं!

गुप्त सन्त और उनके कार्य

अधिकांश सच्चे सन्त प्राय: अपनेको लोगोंमें प्रकट न करके ही जगत्‌में विचरण किया करते हैं। सन्तपरम्पराके परम प्रसिद्ध चिरंजीवी सन्त आज भी हैं और वे हमलोगोंके बीचमें आते भी हैं; पर हम उन्हें पहचान नहीं सकते। भिन्न-भिन्न स्तरोंमें भगवान्‌का कार्य करनेवाले ऐसे हजारों सन्त पृथ्वीपर हैं, जो लोकचक्षुसे परे रहकर अपना महत् कार्य कर रहे हैं। कहते हैं कि सन्तजगत्‌में सब कार्य नियमपूर्वक होते हैं। नये सन्तोंकी दीक्षा, पुरानोंके द्वारा विभिन्न कार्योंका सम्पादन, सन्तजगत्‌में शासन, नवीन कार्योंकी सूचना, जगत्‌के विपत्तिनिवारणकी व्यवस्था, प्रकृतिकी क्रियाओंद्वारा यथायोग्य दण्डविधान आदि महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध सन्तोंके एक सुसंगठित मण्डल और उनकी विभिन्न अनेक शाखाओंद्वारा सदा संचालित होते रहते हैं। ऐसे सन्तोंके सर्वोपरि संचालक परम सद्गुरु भगवान् शंकर हैं, जो रुद्ररूपसे जगत्‌का संहार और सुन्दर शिवरूपसे सदा कल्याण करते रहते हैं और उनकी अधीनतामें अनेक सिद्ध-महात्मा सन्त-पुरुष निरन्तर भगवल्लीलामें सहायक होकर भगवदाज्ञानुसार कार्य कर रहे हैं। इन सन्तोंको कुछ लेना है नहीं, पूजा करवानी नहीं, ख्याति और प्रशंसासे कोई सरोकार नहीं और लोगोंका प्रशंसापात्र न होनेसे इनका कोई नुकसान होता नहीं; फिर ये क्यों किसी बहिर्वेषमें जगत्‌के लोगोंके सामने प्रकट होकर अपना परिचय दें। हाँ, अधिकारी पुरुषको

इनमेंसे किन्हीं-किन्हींके दर्शन आज भी होते हैं, हो सकते हैं। कहा जाता है कि देवर्षि नारद, सनकादि, भगवान् दत्तात्रेय, शुकदेव, मैत्रेय आदि प्राचीन और शंकराचार्य, रामानुजाचार्य तथा गोरखनाथ, भर्तृहरि, गोपीचन्द, कबीर, नानक, तुलसीदास, ज्ञानदेव, समर्थ गुरु रामदास आदिसे लेकर रामकृष्ण परमहंस, विजयकृष्ण गोस्वामी प्रभृति अर्वाचीन अनेक सन्तोंके दर्शन आज भी उनके अन्तरंग भक्तोंको होते हैं। इसमें कोई आश्चर्यकी बात भी नहीं है। यह तो सिद्ध सन्तमण्डलकी बात रही। अस्तु,

इन सन्तोंके सिवा छिपे हुए ऐसे अनेक सन्त हैं—जो विविध स्थानोंमें कार्य करते हुए हमलोगोंमें रह रहे हैं—जो अज्ञातरूपसे इस मण्डलकी दृष्टि और शासनसूत्रमें बँधे रहनेपर भी विभिन्न स्थानोंमें अप्रकटरूपसे साधन कर रहे हैं। अतएव यह नहीं समझना चाहिये कि जितने और जो हमलोगोंकी जानकारीमें हैं, वे और उतने ही सन्त हैं। सन्तोंके लिये यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि वे संसारमें प्रसिद्ध हों ही। वरं प्रसिद्ध उनमेंसे बहुत थोड़े ही होते हैं और साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि सन्तकी प्रसिद्धि पाये हुए अनेक पुरुष वस्तुतः सन्त होते भी नहीं। उनका केवल सन्तका ऊपरी बानामात्र होता है। मन असन्त तथा विषयी ही होता है। ऐसे लोगोंसे संसारकी बहुत बुराई होती है। ये धर्मसंचालनके कार्यमें अयोग्य होते हुए भी जब उसमें अनधिकार प्रवेश कर बैठते हैं, तब अपने हृदयके विकारों और व्याधियोंको ही जगत्में फैलाते हैं और अपने सम्पर्कमें आनेवाले नर-नारियोंके जीवनोंको पापमय, फलतः दुःख और अशान्तिपूर्ण बनानेमें सहायक होते हैं। सच्चे सन्त अधिकांश अप्रकट ही रहते हैं, उनकी कोई ख्याति या प्रसिद्धि नहीं होती। ऐसे सच्चे सन्तोंको पाने और उन्हें पहचाननेके लिये सन्त-साधनाका आश्रय करना परम आवश्यक है। सन्तोचित साधनोंका—उपर्युक्त गीतोक्त चालीस साधनोंका अभ्यास करनेसे—ज्यों-ज्यों हमारे अन्दर उन गुणोंका विकास होगा, त्यों-ही-त्यों हम सन्त और सन्तकृपाके अधिकारी होंगे। कठिनता तो यह है कि हम सन्तोंके चमत्कारोंको ही पूजते हैं, उनकी साधनाको नहीं—जिसके बिना हम यथार्थ लाभसे वंचित ही रह जाते हैं।

सन्तभावकी प्राप्तिके साधन

भगवान् या भगवान्के प्रेमकी प्राप्ति ही मनुष्यजीवनका उद्देश्य है और जो इस उद्देश्यमें सफल हो चुके हैं, वे ही सन्त हैं। अतएव इस सन्तभावकी प्राप्तिमें ही मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है। इसकी प्राप्तिके अनेक उपाय शास्त्रों और सन्तोंने बतलाये हैं, परन्तु इनमें प्रधान दो ही हैं।—१—भगवान्की नित्य असीम कृपाका आश्रय और २—लक्ष्य-प्राप्तिके लिये दृढ़ निश्चय और अटल विश्वासके साथ किया जानेवाला पुरुषार्थ!

भक्तिमार्गी साधक दोनोंमेंसे एकका अथवा दोनोंका साधन कर सकते हैं। परन्तु ज्ञानमार्गी प्रायः दूसरेका ही करते हैं। योग तो दोनोंमें ही आवश्यक है। जबतक चित्तवृत्तिका अपने इष्टमें योग नहीं होता, तबतक साधनमें सफलता मिल ही नहीं सकती। उपर्युक्त दोनों उपायोंमें भक्तिमार्गीको पहला अधिक प्रिय होता है; वह अपने पुरुषार्थका भरोसा नहीं करता और वैसा करनेमें वह अपनेमें एक अभिमानका दोष आता देखकर सिहर उठता है। साथ ही उसकी यह भी धारणा होती है कि जीवके पुरुषार्थसे भगवान्का मिलना असम्भव है; वे तो स्वयं कृपा करके जब अपना दर्शन देकर कृतार्थ करना चाहते हैं, तभी जीव उनके दर्शन पा सकता है। इसीलिये वह उनकी कृपापर विश्वास करके तन-मन-धनसे उनके शरणापन्न हो जाता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह सब क्रियाओंको त्यागकर चुपचाप हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ जाता है या आलसीकी भाँति तानकर सोता है। वह पुरुषार्थ नहीं करता—इसका अर्थ यही है कि वह पुरुषार्थका अभिमान अपने अन्दर नहीं उत्पन्न होने देता, परन्तु अपने तन-मन-धन—सबको भगवान्का समझकर अनवरत उनकी सेवामें तो लगा ही रहता है, क्षणभर भी स्वच्छन्द विश्राम नहीं लेता। वस्तुतः वही परम पुरुषार्थी होता है, जो अपनेको भगवान्के परतन्त्र मानकर यन्त्रवत् उनकी सेवामें लगा रहता है। जो मनुष्य यह कहता है कि मैं भगवान्के शरणापन्न हूँ, मुझे तो उन्हींकी कृपाका भरोसा है, परन्तु जो भगवान्के आज्ञानुसार सेवा नहीं करता, वह या तो स्वयं धोखेमें है या दूसरोंको धोखा दे रहा है। शरणागतिमें साधनका या पुरुषार्थका अथवा यों कहें कि

अभिमानयुक्त कर्मका सर्वथा अभाव है; क्योंकि शरणागतिके साधकको साधन या पुरुषार्थका आश्रय नहीं होता, परन्तु उसमें भगवत्सेवारूप कर्मका कभी अभाव नहीं होता। भगवत्सेवाके लिये तो उसका सब कुछ समर्पित ही है। परन्तु ऐसे भक्तको भी ज्ञानकी आवश्यकता है, ज्ञानकी सुदृढ़ नींवपर ही भक्तिकी विशाल और मनोहर अट्टालिका खड़ी हो सकती है और ज्ञानमें प्रेम तो है ही। अतएव यद्यपि इन दोनोंका समन्वय है, तथापि एककी प्रधानतामें दूसरा छिपा-सा रहता है। इससे वह स्पष्ट व्यक्त नहीं होता।

गीतोक्त निष्कामकर्मयोग तो अहैतुकी सक्रिय भक्तिका ही एक रूपान्तरमात्र है। निष्कामकर्मयोगी कर्ममें आसक्ति और फलकी चाह न रखकर सब कुछ भगवान्‌के लिये ही करता है। वह समझता है कि कर्ममें ही मेरा अधिकार है, फलमें कदापि नहीं। सब साधनोंके एकमात्र परमफल तो भगवान् ही होने चाहिये, फिर मैं भगवदर्थ कर्म करनेसे वंचित क्यों रहूँ। यह समझकर वह ममता, आसक्ति और आशा-निराशाको छोड़कर मन-बुद्धि आदिको भगवान्‌के अर्पण कर नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करता हुआ भगवान्‌की पूजाके लिये ही अपने जिम्मे आये हुए कर्मोंका सुचारुरूपसे नि:संग होकर उत्साहपूर्वक सम्पादन करता रहता है।

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानात्मक पतंजल्युक्त क्रियायोगका भी भक्तियोगमें समावेश हो जाता है। भक्ति-साधनामें होनेवाले नाना प्रकारके कष्टोंको भक्त सत्कारपूर्वक सहन करता है, भगवान्‌की सेवामें प्राणतक देनेमें वह आनन्दका अनुभव करता है और प्रारब्धवश प्राप्त हुए प्रत्येक भीषण-से-भीषण संकटको वह भगवत्प्रसाद समझकर उसका सुखपूर्वक स्वागत करता है—यह उसका परम तप है। वह सदा-सर्वदा भगवद्‌गुणानुवादके पढ़ने-सुननेमें तथा भगवान्‌के नाम-जपमें अपनेको लगाये रखता है—यह उसका स्वाध्याय है और ईश्वरके अनन्य शरण तो वह है ही। अवश्य ही पतंजल्युक्त क्रियायोगका पृथक् साधन भी सन्तभावकी प्राप्तिमें प्रधान उपाय हो सकता है, परन्तु उसमें भी ज्ञान और भक्तिका सम्मिश्रण है ही। बहुत-से साधक अष्टांगयोग और षडंग हठयोगका साधन करते हैं और वह है भी बहुत ठीक; परन्तु ये सारे साधन उपर्युक्त दूसरे साधनमें आ जाते हैं।

यद्यपि सबके लिये एक-से ही साधन समानरूपसे उपयोगी नहीं हो सकते, तथापि नीचे कुछ ऐसे उपाय लिखे जाते हैं, जिनके साधन करनेसे सन्तभावकी प्राप्तिमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

१—शुद्ध सत्य कमाईका परिमित और नियमित लघु भोजन करना।

२—मीठी सत्य वाणी बोलना।

३—सबकी यथायोग्य सेवा करना, परन्तु मनमें ममत्व और अभिमान न आने देना।

४—शिष्य न बनाना।

५—पूजा-प्रतिष्ठा और ख्यातिसे यथासाध्य बचना।

६—तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, खण्डन-मण्डन और कलह न करना।

७—अपने इष्ट और साधनको ही सर्वोपरि मानना, परन्तु दूसरेके इष्ट और साधनको न नीचा समझना, न उनकी निन्दा करना।

८—शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिको सदा शुद्ध आध्यात्मिक वायुमण्डलमें रखनेकी चेष्टा करना। यथासाध्य इनको भगवत्सम्बन्धी कार्योंमें ही लगाये रखना।

९—भगवान्‌को सर्वत्र, सर्वदा विराजित देखना।

१०—प्रतिदिन कम-से-कम दो घण्टे एकान्तमें भगवान्‌का ध्यान करना, भगवान्‌से भगवद्भावको पानेकी सच्ची प्रार्थना करना और ऐसा अनुभव करना मानो भगवान्‌की पवित्र शक्ति मेरे अन्दर प्रवेश कर रही है और मेरा हृदय पवित्रसे और पवित्रतम होता जा रहा है और अज्ञान, अहंता, ममता, राग-द्वेषादि दोषोंका नाश होकर उनके स्थानपर दैवी गुणोंका विकास बड़ी तेजीसे हो रहा है।

११—काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, दर्प, वैर, ईर्ष्या आदि मानसिक दोषोंको अपने अन्दर जगह देनेसे इनकार कर देना, इनको जरा भी आदर न देना और पद-पदपर इनका तिरस्कार करना। याद रखना चाहिये कि ये सब दोष हमारी लापरवाही अथवा अज्ञात वा ज्ञात अनुमतिसे ही हमारे अन्दर रह रहे हैं। जिस दिन हमारा आत्मा बलपूर्वक इनको अन्दर रहनेसे रोक देगा, उस दिनसे इनका अन्दर रहना कठिन हो जायगा। बार-बार तिरस्कारपूर्ण धक्के खा-खाकर आखिर ये हमारे अन्दरसे सदाके लिये चले जायँगे।

१२—मन जहाँ-जहाँ दौड़ता है और मनमानी करता

है, इसमें प्रधान कारण हमारी कमजोरी ही है। वस्तुतः आत्माकी दृष्टिसे या अनन्तशक्ति परमात्माका सनातन अंश होनेके कारण—जीवमें अपार शक्ति है; उस आत्मिक या ईश्वरीय शक्तिके सामने मन-इन्द्रिय आदिकी शक्ति तुच्छ और नगण्य है। बल्कि मन-इन्द्रियादिमें जो शक्ति है, वह आत्माकी ही दी हुई है। शक्तिका मूल उत्स और एकमात्र भण्डार तो आत्मा ही है। वह आत्मा यदि अपने स्वरूपको सँभालकर, उसमें प्रतिष्ठित होकर बलपूर्वक मन-इन्द्रियादिको आज्ञा दे दे कि 'खबरदार, अब तुम असत् विषयोंको अपने अन्दर नहीं रख सकते' तो फिर इनकी ताकत नहीं कि ये इन विषयोंको अपनेमें स्थान दे सकें। इसलिये मन-इन्द्रियोंको सदा आत्माका अनिवार्य आदेश देते रहना चाहिये। पूर्वाभ्यासवश आत्मासे अनुमति पानेकी इनकी चेष्टा एक-ही-दो बारके आदेशसे नष्ट नहीं हो जायगी। परन्तु जब-जब ये अनुमति माँगें, तभी तब इनसे स्पष्टतया कह देना चाहिये कि 'तुम हमारे अधीन हो—तुम्हें हमारे आज्ञानुसार चलना ही होगा' और इन्हें बड़ी सावधानीसे निरन्तर भगवान्में लगाये रखना चाहिये।

१३—अपने इष्ट-मन्त्रका या भगवन्नामका स्मरण-चिन्तन जितना अधिक-से-अधिक हो सके, श्रद्धा और विश्वासपूर्वक करना चाहिये।

१४—जहाँतक हो सके, स्त्रियोंसे मिलना-जुलना बन्द कर देना चाहिये। सन्तभावको चाहनेवाली स्त्रियाँ भी पुरुषोंसे अनावश्यक और अधिक न मिलें।

१५—यथासाध्य सांसारिक वस्तुओंका संग्रह कम-से-कम करना चाहिये और संगृहीत वस्तुओंपर एकमात्र परमात्माका ही अधिकार मानना चाहिये।

सन्तभावकी प्राप्तिमें विघ्न

सन्तभावकी प्राप्तिमें प्रधान विघ्न है—कीर्तिकी कामना। स्त्री-पुत्र, घर-द्वार, धन-ऐश्वर्य और मान-सम्मानका त्याग कर चुकनेवाला पुरुष भी कीर्तिकी मोहिनीमें फँस जाता है। कीर्तिकी कामनाका त्याग तो दूर रहा, स्थूल मान-प्रतिष्ठाका त्याग भी बहुत कठिन होता है। जिस मनुष्यकी साधनधारा चुपचाप चलती है, उसको इतना डर नहीं है; परन्तु जिसके साधक होनेका लोगोंको पता चल जाता है, उसकी क्रमशः ख्याति होने लगती है, फिर उसकी पूजा-प्रतिष्ठा आरम्भ होती है, स्थान-स्थानपर उसका मान-सम्मान होता है और इस पूजा-प्रतिष्ठा तथा मान-सम्मानमें जहाँ उसका तनिक भी फँसाव हुआ कि पतन आरम्भ हो जाता है। इन्द्रियाँ प्रबल हैं ही—मान-सम्मान तथा पूजा-प्रतिष्ठामें जहाँ इन्द्रियोंको आराम पहुँचानेवाले भोग भक्तोंद्वारा समर्पित होकर इन्द्रियोंको उपभोगार्थ मिलने लगे, वहीं उनकी भोग-वासना और भी विशेष जाग्रत् होकर प्रबल हो उठती है, इन्द्रियाँ मनको खींचती हैं, मन बुद्धिको—और जहाँ बुद्धि अपने परम लक्ष्य परमात्माको छोड़कर विषय-सेवन-परायण इन्द्रियोंके अधीन हो जाती है, वहीं सर्वनाश हो जाता है। अतएव सन्तभावकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेवाले साधकोंको बड़ी ही सावधानीके साथ ख्याति, मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा आदिसे अपनेको बचाये रखना चाहिये। इन सबको अपने साधनमार्गमें प्रधान विघ्न समझकर इनका विषवत् त्याग करना चाहिये। यह बात याद रखनी चाहिये कि विषयी पुरुषोंकी मनोवृत्तिसे साधककी मनोवृत्ति सर्वथा विपरीत होती है। विषयी धन-ऐश्वर्य, मान-यश आदिके प्रलोभनमें पड़ा रहता है तो साधक इनके त्याग या इनसे अलिप्त रहनेमें ही अपना कल्याण समझता है।

ऐसे साधकोंके भक्तों और अनुयायियोंको भी चाहिये कि वे सन्त-सेवा—गुरुभक्तिके नामपर भ्रमवश इन्द्रियोंकी भूख बढ़ानेवाले मोहक भोग उनके चरणोंपर चढ़ाकर उनके लिये विलास-सामग्रियोंका संग्रह करके उन्हें पवित्र मर्यादित सन्त-जीवनसे गिरानेकी चेष्टा न करें। सन्त और गुरुका सम्मान और उनकी पूजा करना शिष्यका परम कर्तव्य है और उसके लिये लाभदायक भी है; परन्तु उनकी सच्ची पूजा उसी कार्यमें है जो उनके लिये हानिकर नहीं है और जो आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायक होनेके कारण हृदयसे उनका इच्छित है। जो मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठाके लिये ही सन्तका बाना धारण करता है, वह तो सन्त ही नहीं है। इसलिये सच्चे साधक सन्त मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठाकी इच्छा क्यों करने लगे। यदि भ्रमवश करते हैं तो वह उनके साधनमें विघ्नरूप होनेके कारण उनके लिये महान् हानिकर है। अतएव भक्त और शिष्योंको सन्त और गुरुके लिये विलास-सामग्री जुटानेमें आत्मसंयमसे काम लेना चाहिये; क्योंकि विलास-सामग्रीसे सन्तका यथार्थ सम्मान कभी नहीं होता। बल्कि त्यागी महात्माको भोगपदार्थ देना या भोगपदार्थके लिये उनके मनमें

लालच उत्पन्न करनेकी चेष्टा करना तो उनका अपमान या तिरस्कार ही करना है। शरशय्यापर पड़े हुए वीर-शिरोमणि भीष्मके लटकते हुए मस्तकके लिये रूईका तकिया नहीं शोभा देता, उसके लिये तो अर्जुनके तीक्ष्ण बाणोंका तकिया ही प्रशस्त और योग्य है। इसी प्रकार सन्त-महात्माओंका यथार्थ सम्मान उनके आज्ञापालनमें, उनके आदर्श चरित्रके अनुकरणमें और उनके वेषके अनुरूप ही उनकी सेवा करनेमें है। पहुँचे हुए सन्त-महात्मा पुरुष कभी भक्तोंका अत्यन्त आग्रह देखकर उनकी प्रसन्नताके लिये किसी वैध भोग-सामग्रीको स्वीकार कर लेते हैं, जो निषिद्ध न होनेपर भी उनके स्वरूपके अनुरूप शोभा देनेवाली नहीं है, तो इससे उनका अवश्य ही कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं; वे तो अपने स्वरूपके विपरीत वस्तुको स्वीकार करके अपने सन्त-स्वभावका ही सुन्दर परिचय देते हैं। परन्तु उनकी देखा-देखी साधक सन्त यदि वैसा करने लगते हैं तो उनकी बड़ी हानि हो सकती है। अतएव साधक सन्तोंको इस विघ्नसे बचे रहना चाहिये।

विलास-सामग्री, मान-सम्मान और पूजा-प्रतिष्ठाका त्याग करनेपर भी इनके त्यागसे होनेवाली कीर्तिकी कामना तो किसी-न-किसी अंशमें साधकके मनमें प्राय: रह ही जाती है। इसीलिये सच्चे सन्तलोग त्यागका भी त्याग कर देना चाहते हैं, उनके लिये त्यागकी स्मृति भी रसहीन हो जाती है। इस प्रकार जिन सन्त-महात्माओंने मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठाके साथ ही कीर्ति-कामनाका भी कतई त्याग कर दिया है, वे ही यथार्थ सन्त हैं। साधक-सन्तोंके लिये इस कीर्ति-कामनारूपी प्रधान विघ्नके त्यागकी तो आवश्यकता है ही, छोटे-छोटे निम्नलिखित विघ्नोंसे भी उन्हें बचे रहना चाहिये। ये छोटे विघ्न भी आश्रय पानेसे आगे चलकर बड़े हो जाते हैं और साधकको लक्ष्यच्युत करके उसका सर्वनाश कर देते हैं—

१—सभा-समितियोंमें शामिल होना और अनावश्यक अखबार पढ़ना।

२—किसी भी मनुष्यविशेष, स्थानविशेष या वस्तुविशेषमें विशेषरूपसे ममता होना।

३—मठ या आश्रमादिकी स्थापना करना।

४—साधनमें आलस्य, दीर्घसूत्रता, प्रमाद, अश्रद्धा, अविश्वास और निश्चयकी कमी।

५—शास्त्रार्थ करना।

६—अपनेको सन्त समझना और दूसरोंको असन्त।

७—दूसरोंके दोष देखना और उन्हें प्रकट करना।

८—किसी भी मनुष्यका अपमान करना और किसीकी निन्दा करना।

९—परचर्चा।

१०—नाटक-सिनेमा आदि देखना—असत् साहित्य पढ़ना।

११—अशास्त्रीय कार्यमें रुचि।

१२—बड़ोंका असम्मान।

१३—किसी भी जीवसे घृणा करना।

१४—विपत्तिमें घबराकर और सम्पत्तिमें हर्षसे फूलकर कर्तव्यको भूल जाना।

१५—जगत्के विषयोंकी प्राप्तिमें जीवनकी सफलता समझना और इस सफलतामें भगवान्की कृपाका या किसी साधन-सिद्धिका अनुभव करना।

१६—किसी कारणवश किसी कार्यके अकस्मात् सिद्ध हो जानेपर या किसी बातके सत्य हो जानेपर अपनेको सिद्ध मानना और लोगोंको चमत्कार दिखलानेकी इच्छा करना।

सन्तसे जगत्का उपकार और सन्त-महिमा

सन्तका जीवन ही जगत्के कल्याणके लिये होता है; अतएव उनका जगत्पर जितना उपकार है, उतना और किसीका भी नहीं है। उनका लोकसेवाव्रत और उनका यथार्थ विश्वप्रेम जगत्में जिस कल्याणकी सुधाधारा बहाता रहता है, वह धारा यदि कभी सूख गयी होती तो अबतक सारा जगत् सर्वथा राक्षसोंका भयानक नरकागार बन गया होता। देवासुरयुद्ध चलता है, कभी-कभी असुरोंकी विजय होती है, राक्षसोंका अभ्युदय भी होता है; परन्तु सन्तोंका अस्तित्व और उनका अनवरत कल्याण-वितरण राक्षसोंको स्थायी नहीं होने देता। सन्त जब निरुपाय-से हो जाते हैं या स्वयं अपनी तप:शक्तिसे कार्य न लेकर भगवान्से काम लेना चाहते हैं, तब सन्तोंके रक्षणार्थ स्वयं भगवान्को अवतीर्ण होना पड़ता है; वस्तुत: भगवान्के अवतारमें प्रधान हेतु 'साधु-परित्राण' ही है। सन्त जगत्में जिन विशुद्ध सात्त्विक परमाणुओंको फैलाते रहते हैं, उसीसे सत्त्वगुण और सदाचारकी रक्षा होती है। सन्त प्रत्यक्ष भगवान्के विग्रह हैं। भगवान्से मिलना बहुत कठिन है, परन्तु सन्त हमसे मिलनेके लिये ही संसारमें—हमलोगोंके बीचमें रहते हैं—इससे ये

हमारे लिये भगवान्से बढ़कर उपादेय हैं; क्योंकि ये संसारसे सर्वथा पृथक् रहकर भी—प्रपंचसे सर्वथा उदासीन होनेपर भी हमारे बहुत ही निकट रहते हैं और हमें हाथ पकड़कर वैकुण्ठधाममें पहुँचा देते हैं। यही तो इनका सबसे बड़ा चमत्कार है। सन्तोंकी वेषभूषा, उनकी भाषा-भंगी, उनकी शिक्षा-दीक्षाकी ओर न देखकर उनकी नित्य समता, बुद्धिमत्तापूर्ण असाधारण सरलता और प्रभुमय जीवनसे सबको लाभ उठाना चाहिये। सन्त विश्वके सूर्य हैं, उसके प्राण हैं, उसके आकाश हैं, उसके हृदय हैं, उसके अवलम्बन हैं, उसके आत्मीय हैं और उसके आत्मा हैं। वे स्वयं सब समय परमात्मामें स्थित रहते हुए ही, प्रत्येक प्रतिकूलतामें साक्षात् आत्मस्वरूप अनुकूलताका स्वाभाविक अनुभव करते हुए ही, जगत्के प्राणियोंकी दुःखदायिनी प्रतिकूलताको अनुकूलतामें परिणत करनेके लिये प्रयत्नवान् रहते हैं, उनकी वाणीसे अमर ज्ञानामृत झरता है, उनके नेत्रोंसे प्रेमकी शीतल सुखद ज्योति निकलती है, उनके मस्तिष्कसे जगत्का कल्याण प्रसूत होता है, उनके हृदयसे आनन्दकी धारा बहती है। जो उनके सम्पर्कमें आ जाता है, वह पाप-तापसे मुक्त होकर महात्मा बन जाता है। वे जिस देशमें रहते हैं, वह देश पुण्यतीर्थ बन जाता है; वे जो उपदेश करते हैं, वह पावन शास्त्र हो जाता है; वे जिन कर्मोंको करते हैं, वे ही कर्म सत्कर्म समझे जाते हैं।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि, सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि, सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि। (नारदभक्तिसूत्र ६९)

वह देश धन्य है, जहाँ ये रहते हैं; वह माता धन्य है, जिसकी कोखसे ये प्रकट होते हैं; वह मनुष्य धन्य है, जो इनके सम्पर्कमें आता है; वह वाणी धन्य है, जो इनका स्तवन करती है और वे कान धन्य हैं; जिनको इनके उपदेशामृत पान करनेका अवसर मिलता है।

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँ-
ल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्कन्दपुराण)

सन्तोंकी महिमा गाते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं कि 'जो अकिंचन, जितेन्द्रिय, शान्त, समबुद्धि सन्तपुरुष मुझको लेकर ही सन्तुष्ट है, उसके लिये सब ओर आनन्द-ही-आनन्द है। मुझमें ही चित्तको सदा लगाये रखनेवाला ऐसा पुरुष मुझको छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, पातालादिका राज्य, योगकी सिद्धियाँ और मोक्ष भी नहीं चाहता। इसीलिये हे उद्धव! तुम-जैसे सन्त भक्त मुझको जितने प्यारे हैं, उतने मेरे आत्मस्वरूप साक्षात् ब्रह्मा, शंकर, बलभद्रजी, लक्ष्मी और अपना आत्मा भी प्यारे नहीं हैं। मैं ऐसे निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर और समदर्शी सन्तकी चरणरजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये सदा ही उसके पीछे-पीछे फिरा करता हूँ—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

निर्भरा भक्ति

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

(रामचरितमानस)

भक्तिके अनेक प्रकार हैं, उनमेंसे एकका नाम है निर्भरा भक्ति। प्रपत्ति, शरणागति, आत्मनिवेदन, समर्पण आदिके साथ इसका प्रायः सादृश्य है। इस भक्तिमें भक्त स्वाभाविक ही केवल भगवच्चिन्तन-परायण रहता है, शेष सारा काम भगवान् करते हैं। इसके कई स्तर हैं और अधिकारिभेदसे उनके पृथक्-पृथक् स्वरूप और उपयोग हैं।

निर्भरा भक्तिमें सबसे पहली आवश्यक चीज है 'विश्वास'। भगवान्में जिसका यह दृढ़ विश्वास होगा कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वेश्वर हैं, मेरे परम आत्मीय हैं वही अपने किसी कामके लिये भगवान्पर निर्भर करेगा। संसारमें भी हम देखते हैं कि किसी भी क्षेत्रमें और किसी भी कामके लिये जिसमें विश्वास होता है, उसीपर मनुष्य भरोसा करता है। जिसके सम्बन्धमें मनुष्यकी यह धारणा होती है कि 'इससे मेरा काम नहीं सधेगा अथवा सधेगा—इसमें सन्देह है या मेरा काम साधनेकी इसमें योग्यता तो है परन्तु मेरा

काम यह क्यों करेगा अथवा यह मेरा हित तो करना चाहता है परन्तु इसमें योग्यता एवं शक्तिका अभाव है, उसपर मनुष्य कभी अपने कामके लिये निर्भर नहीं कर सकता, चाहे वह कितना ही शक्तिमान् हो अथवा कितना ही सुहृद् हो।' जिसमें दोनों बातें हों, उसीपर मनुष्य भरोसा करता है और यही भरोसा बढ़ते-बढ़ते निर्भरताके स्वरूपमें परिणत हो जाता है। इसीसे भगवान्ने गीतामें कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(५। २९)

'मुझको समस्त यज्ञ-तपोंका भोक्ता, सब लोकोंका महान् ईश्वर और सब प्राणियोंका अहैतुक मित्र जान लेनेपर मनुष्य शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

मनुष्यके मनमें नाना प्रकारके मनोरथ हैं। संसारमें वह सदा ही अपनेको किसी-न-किसी अभावसे ग्रस्त पाता है। किसी भी अवस्थामें वह यह अनुभव नहीं करता कि मुझको सब कुछ मिल गया, अब और कुछ भी नहीं चाहिये। बड़ी-से-बड़ी दुर्लभ वस्तुके पानेपर भी वह उसमें किसी कमीका अनुभव करता है और यह सोचता है कि जब मेरी यह कमी पूरी होगी, तब मुझे शान्ति मिलेगी। यह अभावका अनुभव कभी मनुष्यके चित्तको शान्त नहीं होने देता। शान्तिकी दो ही स्थितियाँ हैं। एक तो वह, जिसमें पहुँचनेपर वह स्वयं शान्तिस्वरूप हो जाता है। फिर उसे किसी वस्तुकी कमीका कभी बोध होता ही नहीं। वह सभीमें सर्वत्र, सर्वथा और सर्वदा एकमात्र परमात्माको देखता है और अपनेको उनसे अभिन्न पाता है। उसकी यह पूर्णता उसकी स्वरूपभूता होती है, इसीका नाम मुक्ति है। दूसरी वह स्थिति है, जिसमें वह अपनेको सदा-सर्वदा भगवान्के संरक्षणमें पाता है, जहाँ भगवान् अनन्त हाथों और अनन्त शक्तियोंसे उसकी कमीको पूरा करनेके लिये सदा प्रस्तुत रहते हैं परन्तु उसे भगवान्को पाकर किसी कमीका अनुभव होता ही नहीं, वह कृतार्थ हो जाता है—यहाँतक कि मुक्तिकी ओर भी उसकी दृष्टि भूलकर भी कभी नहीं जाती। वह इस बातको पहले ही जान चुकता है कि जगत्में जितने भी यज्ञ-तप किये जाते हैं, विभिन्न देवताओंके रूपमें एकमात्र भगवान् ही उन सबके भोक्ता हैं; अतएव देवोपासनारूप कर्मसे जिनको जो कुछ भी फल मिलता है, सब भगवान्के अपरिमित भण्डारसे ही आता है। भगवान् ही सब लोकोंके विभिन्न ईश्वरोंके एकमात्र महान् ईश्वर हैं और वे भगवान् जीवमात्रके परम सुहृद् होनेके कारण मेरे भी परम सुहृद् हैं। यह जानते ही उसे शान्ति मिल जाती है। उसे निश्चय हो जाता है कि अब मैं सब प्रकारसे सुरक्षित और पूर्णकाम हो गया; क्योंकि जिनमें समस्त सत्कर्मोंका फल निहित है, वे सब ईश्वरोंके ईश्वर सर्वशक्तिमान् भगवान् जब मेरे परम सुहृद् हैं, तब मुझे किसका डर और किस बातका अभाव रह गया। ऐसी अवस्थामें वह सब प्रकारसे भगवान्पर निर्भर करके निश्चिन्त और शान्तचित्त हो जाता है।

सकाम भक्तोंमें तीन तरहके भक्त माने गये हैं—अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु (**'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी'**)। इनमें एक तो वह है, जो किसी भी अर्थकी सिद्धिके लिये—धन, जन, मान, यश, भोग, स्वर्ग आदिकी प्राप्तिके लिये भगवान्को भजता है; दूसरा वह है, जो प्रारब्ध-वश किसी संकटमें पड़कर उससे त्राण पानेके लिये भगवान्की भक्ति करता है और तीसरा वह है, जो भगवान्की प्राप्तिका सरल और सहज पथ जाननेके लिये भगवान्को याद करता है। इन तीनों सकाम भक्तोंकी सकाम भक्तिको भी तभी पूर्ण समझना चाहिये जब कि वे भगवान्को ही एकमात्र आश्रय मानकर उन्हींपर निर्भर करें और तभी उन्हें अनायास फल भी मिलता है। ध्रुव अर्थार्थी भक्त थे; वे ज्यों ही भगवान्पर निर्भर हुए, त्यों ही उन्हें इनका इच्छित फल मिल गया। द्रौपदी और गजराज आर्त भक्त थे और जबतक वे दूसरोंसे त्राणकी जरा भी आशा करते रहे, तबतक उनके संकट दूर नहीं हुए; जब एकमात्र भगवान्पर निर्भर करके उनको पुकारा, तब उसी क्षण भगवान्ने स्वयं प्रकट होकर उनके दुःख दूर कर दिये। जिज्ञासु भक्त तो ऐसे बहुत हुए हैं, जो भगवान्पर निर्भर करके भगवत्प्रेरणासे भगवान्के पथपर सहज ही आरूढ़ हो गये हैं। सकाम-भावकी इस निर्भरताके लिये बन्दरके बच्चेसे तुलना करके सन्तलोग बिल्लीके बच्चेका दृष्टान्त दिया करते हैं। बन्दरका बच्चा स्वयं कूदकर माँको पकड़कर उसका स्तन-पान करने लगता है। परन्तु भूखा बिल्लीका बच्चा माँकी प्रतीक्षा करता हुआ अपने स्थानमें बैठा रहता है; स्वयं माँ उसकी चिन्ता

करती है और उसके पास आकर जहाँ ले जाना होता है, अपने मुँहसे उठाकर उसे वहाँ ले जाती है और अपना दूध पिलाकर सन्तुष्ट करती है। इसी प्रकार जो मनुष्य किसी भी कामकी सिद्धिके लिये श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा करते हुए भगवान्पर निर्भर करते हैं, उनके कामको भगवान् स्वयं पधारकर पूरा कर देते हैं। नरसी मेहता आदि अनेक भक्तोंके उदाहरण इसमें प्रमाण हैं। परन्तु जहाँतक ऐसा सकामभाव है, वहाँतक भगवान्पर निर्भरता आंशिक ही है।

इसके बाद यह होता है कि मनुष्य कुछ चाहता तो है, उसे अभावका अनुभव तो होता है; परन्तु उस अभावकी पूर्ति किस वस्तुसे होगी, इसको वह नहीं जानता। उसे विश्वास होता है कि जिस वस्तुसे मेरे अभावकी पूर्ति होगी, उसको भगवान् जानते हैं और इसलिये वह उस अज्ञात वस्तुके लिये भगवान्पर निर्भर करता है। जैसे छोटा शिशु बिस्तरपर पड़ा रोता है, उसे कोई कष्ट है—जाड़ा लग रहा है, मच्छर काट रहे हैं या और कोई पीड़ा है। वह यह नहीं जानता कि किस वस्तुकी प्राप्ति होनेपर मेरा संकट दूर होगा—वह केवल माँको जानता है और रोकर माँको बुलाता है। माँ आकर स्वयं पता लगाती है कि बच्चा क्यों रो रहा है और पता लगाकर स्वयं उसके कष्ट निवारणका उपाय करती है। इसी प्रकार इस अवस्थामें भक्त अपने लिये उपयोगी अज्ञात फलके लिये भगवान्पर निर्भर करता है और उन्हींकी कृपासे कल्याणकारी फलको प्राप्त करके सन्तुष्ट होता है। इसमें फलरूप वस्तुका निर्णय भगवान् करते हैं, इस दृष्टिसे निर्भरताका यह स्तर पहलेसे ऊँचा होनेपर भी सकामभाव होनेके कारण यह भी वस्तुतः आंशिक ही है।

इसके बाद उन भक्तोंकी बात है, जो केवल भगवान्को ही प्राप्त करना चाहते हैं और उसके लिये भगवान्पर ही निर्भर करते हैं। इनके लिये भी बिल्लीके बच्चे और छोटे शिशुके उदाहरण लागू पड़ सकते हैं। ये केवल चिन्तनपरायण रहते हैं, उसका फल भगवान्की प्राप्ति कब होगी, क्योंकर होगी—इस बातको भगवान्पर ही छोड़ देते हैं और वास्तवमें यों सब कुछ भगवान्पर छोड़नेवाले बड़े लाभमें ही रहते हैं। क्योंकि प्रथम तो कोई शर्त न होनेसे इनके भजनमें निष्काम और अनन्यभाव रहता है; दूसरे, जिनको पाना है, वे ही भगवान् जब स्वयं मिलना चाहें, तब उनके मिलनेमें विलम्ब भी नहीं होता। भक्तको कहीं चलकर नहीं जाना पड़ता, बिल्लीकी भाँति या छोटे शिशुकी स्नेहमयी जननीकी भाँति स्वयं भगवान् ही उसके समीप आ जाते हैं। ऐसे ही भक्तोंके लिये भगवान्की यह प्रतिज्ञा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

'केवल मुझपर ही निर्भर करनेवाले जो भक्त नित्य मेरा चिन्तन करते हुए मुझे भलीभाँति भजते हैं, उन नित्य मुझमें लगे हुए भक्तोंका 'योगक्षेम' मैं स्वयं वहन करता हूँ।'

अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और प्राप्त वस्तुके संरक्षणका नाम 'क्षेम' है। इस 'योग' और 'क्षेम' के वहनका सारा भार स्वयं भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। संसारमें हम देखते हैं कि अल्पज्ञ और अल्पशक्तिवाले होनेपर भी जिनपर हमारा विश्वास होता है, वे वैद्य-डॉक्टर जब हमारे इलाजका भार ले लेते हैं, तब हम निश्चिन्त होकर उनपर निर्भर करने लगते हैं। अपना जीवन उन्हें सौंप देते हैं, विश्वासपूर्वक उनकी दी हुई दवा लेते हैं—चाहे वह जहर ही क्यों न हो—और उनके आज्ञानुसार पथ्य भी करते हैं। हमारी असमर्थतामें कोई श्रेष्ठ पुरुष जिनकी शक्ति और हितैषितापर हमारा विश्वास होता है, हमारे जीवन-निर्वाहका भार ले लेते हैं, तब हम निश्चिन्त होकर उनपर अपनेको छोड़ देते हैं। केवटके विश्वासपर नौकामें बैठ जाते हैं, चलानेवालेपर निर्भर करके मोटर और हवाई-जहाजमें बैठ जाते हैं और मनमें कोई चिन्ता नहीं करते। तब स्वयं अपने मुँहसे हमारे सुहृद् होनेकी घोषणा करनेवाले सर्वसमर्थ सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ सर्वलोकमहेश्वर भगवान्पर निर्भर करनेमें तो हमारा कल्याण-ही-कल्याण है। वे हमारे परम सुहृद् हैं, इसलिये कभी अकल्याण नहीं कर सकते; सर्वज्ञ हैं, इसलिये हमारा कल्याण किस बातमें है, इसको अच्छी तरह जानते हैं, वे कभी भूल नहीं कर सकते और सर्वशक्तिमान् हैं, इसलिये हमारा कल्याण अनायास ही कर सकते हैं। और वे यहाँतक जिम्मा लेनेको तैयार हैं कि तुम्हारे लिये जो आवश्यक अप्राप्त वस्तु है, उसकी प्राप्ति मैं करा दूँगा और जो आवश्यक वस्तु प्राप्त है, उसकी

रक्षा मैं करूँगा। इतनेपर भी हम यदि उनपर निर्भर करके उनके चिन्तनपरायण नहीं होते तो फिर हमारे समान मन्दबुद्धि और मन्दभाग्य और कौन होगा।

यहाँ इस 'योगक्षेम' से यह अर्थ भी लिया जाता है कि भक्तके देह-परिवारादिकी रक्षा और उसके लिये आवश्यक लौकिक पदार्थोंकी व्यवस्था भी भगवान् करते हैं। और ऐसा अर्थ लेना अनुचित भी नहीं है; क्योंकि अनन्यभक्तकी तो अपने भगवान्को छोड़कर न किसी अन्य वस्तुमें आसक्ति है, न किसी वस्तुकी ओर उसका लक्ष्य है, न देह-परिवारादिके देख-रेखकी उसे चिन्ता है और न उसे दूसरेके अस्तित्वकी कल्पना करनेके लिये अवकाश ही है। ऐसी अवस्थामें भक्तवत्सल भगवान् उसके देह-परिवारादिके लिये आवश्यक प्राप्त सामग्रियोंकी रक्षा करें और अप्राप्तकी प्राप्ति करवा दें तो इसमें क्या अनहोनी बात है? बल्कि भगवान्पर निर्भर करनेवाले भक्तका 'योगक्षेम' और भी अच्छा होना चाहिये। वह अपनी परिमित शक्तिसे उतनी रक्षा नहीं कर सकता, जितनी भगवान्की शक्तिसे हो सकती है और इसी प्रकार वह अपने लिये आवश्यक वस्तुओंका भी संग्रह इच्छानुसार नहीं कर सकता; क्योंकि उसके पास उनके संग्रह करनेके लिये उतना मूल्य देनेकी भी सामर्थ्य नहीं है। परन्तु समस्त ऐश्वर्यके महान् ईश्वर भगवान् जो चाहे वही वस्तु—चाहे वह वस्तु मनुष्यकी ताकतसे कितनी भी दुर्लभ हो—उसे अनायास दे सकते हैं। ऐसी अवस्थामें अपने बलपर निर्भर करनेवालेकी अपेक्षा भगवान्पर निर्भर करनेवाला स्वाभाविक ही उत्तम-से-उत्तम 'योगक्षेम' को प्राप्त होता है। परन्तु जो भक्त अपने मनमें यह सोचकर भगवान्पर निर्भर होना चाहता है कि 'भगवान्पर निर्भर करके उनका चिन्तन करनेसे मेरा योगक्षेम उत्तम-से-उत्तम होगा' वह वास्तवमें न तो अनन्य है और न अनन्यचित्तसे चिन्तन ही करता है। बात तो यथार्थमें यह है कि ऐसे निर्भर और अनन्यभक्तके मनमें भगवान्के सिवा और कुछ होता ही नहीं; वह भगवान्पर निर्भर रहकर भगवान्का चिन्तन करनेके लिये ही भगवान्पर निर्भर करके भगवान्का चिन्तन करता है। उसके मनमें लौकिककी तो बात ही क्या, पारमार्थिक 'योगक्षेम' की चिन्ताके लिये भी गुंजाइश नहीं होती। वह इस बातको भी नहीं जानता कि 'मुझे किस साधनपथसे चलना चाहिये और मैं कब अपने लक्ष्यको प्राप्त करूँगा।' उसके लिये कौन-सा साधन उत्तम है, किस बातमें उसका कल्याण है—इस बातको भगवान् ही सोचते हैं। उसके कल्याणका स्वयं अपने (भगवान्के) मनसे निश्चित किया हुआ साधन भगवान् ही उससे करवाते हैं, भगवान् ही उसके द्वारा प्राप्त साधन-सम्पत्तिकी रक्षा करते हैं और भगवान् ही उसके साधनके लक्ष्यको स्वयं वहन करके उसके समीप पहुँचा देते हैं। साधन और सिद्धि दोनोंका भार भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। इसीसे ऐसा कहा जाता है कि भगवान्पर निर्भर करनेवाला भक्त जिस प्रकार अनायास अतिशीघ्र भगवान्को प्राप्त करता है, उस प्रकार दूसरा कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता। इसमें एक विशेषता और है—वह यह कि ऐसा निर्भर भक्त सच्चिदानन्दघन, निष्कल, निष्क्रिय, निर्विकार, निरंजन, निर्गुण, सनातन, अव्यक्त और सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वैश्वर्यशाली भगवान्को अपने परम प्रेमास्पद नित्य जीवन-सहचर और परम आत्मीय सुहृद्के रूपमें प्राप्त करता है। परन्तु इस प्रकार निर्भर करनेसे भगवत्प्राप्ति शीघ्र होगी, ऐसी शुभ भावना उसके मनमें नहीं होती। वह तो इससे भी ऊँचा उठकर केवल भगवान्पर ही निर्भर रहता है; क्योंकि यह निर्भरतापूर्ण भगवच्चिन्तन ही ऐसे भक्तके अस्तित्वका आधार होता है। फिर उसे किसी अन्य वस्तुके योगक्षेमकी चिन्ता कैसे हो सकती है। यह निर्भरा भक्तिकी ऊँची अवस्था है। परन्तु इसमें भी भगवत्प्राप्तिकी शुभ वासना छिपी है, जो सर्वथा कल्याणकारिणी और परम वांछनीय होनेपर भी निर्भर भक्तकी निर्भरतामें कुछ कमीका अनुभव कराती है।

इसके बादकी वह अवस्था है, जिसमें भक्त भगवच्चिन्तनरूपी क्रिया भी अपने अहंकारसे प्रेरित होकर नहीं करता। वस्तुत: वह स्वयं कुछ करता ही नहीं, भगवान् ही उसके द्वारा सब कुछ करते-कराते हैं। वह तो केवल उनके हाथकी कठपुतलीमात्र होता है। जैसे जड कठपुतलीको नट अपने इच्छानुसार इशारेपर नचाता है, वह कहीं कुछ भी नहीं बोलती, उसी प्रकार निर्भर भक्त यन्त्री भगवान्को सब कुछ समर्पण करके यन्त्रवत् उनके इशारेपर नाचता रहता है। वह अपने लिये किसी वस्तुकी या कार्यकी कोई आवश्यकता ही

नहीं समझता, वस्तुतः अपना भी उसे कोई पता नहीं रहता; क्योंकि वह तो अपनेको उनके हाथका यन्त्र बनाकर अपनेपनको पहले ही खो चुकता है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(गीता ३। ३०)

'तुम सब कर्मोंका अध्यात्मचित्तसे मुझमें संन्यास (भलीभाँति निक्षेप) करके आशा-ममताको छोड़कर और सन्तापसे मुक्त होकर युद्ध करो।' 'न्यास' का अर्थ है निक्षेप यानी डाल देना। कोई वस्तु—कोई काम, किसी दूसरी वस्तुपर या किसी दूसरे पुरुषपर छोड़ देनेका नाम न्यास है। न्यास निक्षेपका ही पर्याय है। '**निक्षेपापरपर्यायो न्यासः।**' न्यासके साथ '**सम्**' उपसर्ग लगानेसे उसका अर्थ होता है—'भलीभाँति छोड़ देना।' भगवान् कहते हैं कि तुम न युद्धमें विजयी होनेकी आशा करो, न राज्यमें, न युद्धस्थलमें उपस्थित बन्धु-बान्धवोंमें और न अपने शरीरमें ही ममता रखो और न बन्धुवध और पराजयरूप प्रतिकूल फल आदिके कारण मनस्तापको प्राप्त होओ। आसक्ति होगी तो विजयकी आशा रहेगी, अहंभाव होगा तो उसके फलस्वरूप ममता होगी और द्वेष होगा तो मनस्ताप होगा। तुम अहंकार और राग-द्वेषसे सर्वथा मुक्त होकर—यह समझकर कि मैं कुछ भी नहीं करता, मैं तो भगवान्के शरण हूँ, वे यन्त्री भगवान् ही मुझसे यन्त्रवत् जो कुछ कराना चाहते हैं, वही किया जाता है, इस प्रकार मुझमें सब कर्मोंका भलीभाँति त्याग करके युद्ध करो। तुम्हारे अन्दर न अज्ञान रहे और न अज्ञानके कार्यरूप अहंकार, राग, द्वेष, ममता, आशा और सन्ताप आदि ही रहें। तुम बस, मेरे हाथकी कठपुतली बनकर मेरे इशारेपर मैं जो कराऊँ, सो करते रहो!' यह 'न्यासयोग' ही आगे चलकर निर्भरा भक्ति हो जाता है। इसमें भक्तका समस्त भार उसके भगवान्पर रहता है; परन्तु भक्त भी इतना परतन्त्र हो जाता है कि वह कर्म या कर्मफलकी तो बात ही क्या, अपने अस्तित्वतकके लिये भी भगवान्पर ही निर्भर करता है। जैसे दिनका अस्तित्व सूर्यपर या जीवनका अस्तित्व प्राणोंपर निर्भर है, उसी प्रकार ऐसे भक्तका जीवन अपने परमाधार भगवान्पर निर्भर करता है। उसका आत्मा, प्राण, मन, धन, जीवन, परिवार, सम्पत्ति, लोक, परलोक, भोग और मोक्ष—सब कुछ एकमात्र भगवान् ही होते हैं। भगवान् भी ऐसे भक्तके परतन्त्र होते हैं। वे भी उसके नचाये नाचते हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३, ६६)

'हे द्विज! मैं भक्तके पराधीन हूँ, स्वतन्त्रकी तरह कुछ नहीं कर सकता। भक्तोंके प्रेमने मेरे हृदयको सर्वथा अपने अधीन कर लिया है, वे भक्त मुझे बहुत ही प्यारे हैं। मुझमें अपने हृदयको सदाके लिये बाँध देनेवाले (मेरे ही इशारेपर सब कर्म करनेवाले) समदृष्टि साधु पुरुष मुझको अपनी भक्तिसे वैसे ही वशमें कर लेते हैं, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है।' धन्य है! परन्तु भक्त कभी यह कल्पना भी नहीं करता कि भगवान् मेरे अधीन हैं। वह तो अपनेको सम्पूर्णरूपेण समर्पण करके अन्य किसी कल्पनाके लिये अपने अन्दर गुंजाइश ही नहीं रहने देता।

ऐसा निर्भर भक्त कुछ भी कर्म नहीं करता, ऐसी बात नहीं है। वह अपने लिये कुछ भी नहीं करता और न अपने लिये किसी कर्मका त्याग ही करता है। भगवान् जब जो कुछ कराते हैं, वह उसीको करता है; चाहे वह कर्मका ग्रहण हो या त्याग, क्रूर कर्म हो या सौम्य कर्म, सृजन हो या संहार। जब भगवान् खूब कर्म कराते हैं, तब वह खूब करता है, जब थोड़ा कराते हैं, तब थोड़ा करता है और जब बिलकुल नहीं कराते, तब बिलकुल नहीं करता। उसे न तो करनेसे मतलब है और न नहीं करनेसे ही। वह दोनों ही अवस्थामें अपनी स्थितिमें अविचल स्थित रहता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि ऐसे भक्तका सांसारिक योगक्षेम कैसे चलता है। इसका सीधा उत्तर यही है कि भगवान् चलाते हैं। वैसे ही चलता है। इसमें कोई खास नियम नहीं है कि ऐसा भक्त लौकिक दृष्टिसे वर्णाश्रमानुसार धन, जन, मान, यश आदिसे सम्पन्न हो या इनसे सर्वथा हीन हो। दोनों ही तरहके उदाहरण मिलते हैं। इतनी बात अवश्य है कि उसका सारा भार भगवान्पर चला जानेसे न तो उससे कोई निषिद्ध कर्म

हो सकता है और न उसे कोई अकल्याणकारी भोग्य-पदार्थ ही वस्तुतः मिल सकता है। जिसका 'योगक्षेम' भगवान् स्वयं देखते हों, उसके लिये ऐसी कोई स्थिति तो हो ही नहीं सकती कि जिसमें उसके लिये परिणाममें किसी अमंगलकी जरा भी सम्भावना हो। हाँ, रहस्यको न समझनेवाले लोग मूर्खतावश मंगलमें अमंगलकी कल्पना कर सकते हैं। बच्चा साँप पकड़ने दौड़ता है, जलती आगमें हाथ डालना चाहता है, माँ लपककर उसे रोक देती है, नहीं मानता तो स्नेहवश उसे डाँट भी देती है; बच्चेको मनचाही वस्तु न मिलनेसे दुःख होता है, वह समझ सकता है कि मेरा बड़ा अमंगल हो गया, मुझे मनचाही चीज नहीं मिली। इसी प्रकार हम अल्पज्ञ अपनी तुच्छ बुद्धिसे जिसमें अपना मंगल समझते हैं, सम्भव है सर्वज्ञ भगवान्की बुद्धिमें उसके परिणाममें हमारा घोर अमंगल हो। हम जिसके संयोगमें सुख और वियोगमें महान् दुःखकी प्राप्ति समझते हैं, सम्भव है भगवान् अपनी यथार्थ दृष्टिसे उस संयोगसुखको भीषण दुःखकी और वियोग-वेदनाको महान् सुखकी भूमिका समझते हों और हमें हमारा मनमाना फल न देकर हमारे मंगलके लिये अपना मनमाना फल देते हों और ऐसा होनेमें हम मूर्खतावश अपना अमंगल मानते हों। जो भगवान्पर निर्भर करनेवाले भक्त हैं, वे तो ऐसा नहीं मान सकते। परन्तु उनकी रहस्यमयी स्थितिको अपनी विषय-विभ्रमरत, मोहावृत्त बुद्धिके तराजूपर तौलनेवाले लोग उनमें अमंगल मान सकते हैं। अवश्य ही उनके माननेसे भक्तोंकी स्थितिमें जरा भी अन्तर नहीं आता। वे भक्त कितने धन्य और सुखी हैं, जिनके कल्याणकी और कल्याणकारी साधनोंके संग्रहकी व्यवस्था सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् और परम सुहृद् भगवान् स्वयं करते हैं!

इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवान्की निर्भरा भक्ति बहुत ही उपयोगी और शीघ्र कल्याणप्रदा है। भगवान्पर विश्वास करके पहले निर्भरताकी भावना करनी चाहिये और भगवान्की कृपाप्राप्तिके लिये भगवान्का नित्य अनन्य और निष्काम चिन्तन करते हुए भगवान्पर पूर्ण निर्भर होनेका यत्न करते रहना चाहिये। इस साधनमें प्रधान चार बातें हैं—१.दृढ़ विश्वास, २.संसारी चिन्ताओंका सर्वथा त्याग, ३.अनुकूल आचरण और ४.अनन्य चिन्तन! भक्त वृत्रासुरके इन शब्दोंके अनुसार भगवान्से सदा प्रार्थना कीजिये—

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

'हे भगवन्! तुम्हारे चरण ही जिनका मुख्य आश्रय हैं, मैं पुनः तुम्हारे उन दासोंका भी दास बनना चाहता हूँ। मेरा मन सदा तुम प्राणाधारके गुणोंका स्मरण करे, मेरी वाणी तुम्हारा नाम-गुण-कीर्तन करे और शरीर सदा तुम्हारी सेवारूपी कर्ममें लगा रहे। तुम प्रियतमको छोड़कर मुझको स्वर्ग, ब्रह्माका पद, सार्वभौम साम्राज्य, पातालका राज्य, योगकी दुर्लभ सिद्धियाँ और कैवल्य-मोक्ष भी नहीं चाहिये। हे कमलनयन! जिनके पाँख नहीं उगे हैं, ऐसे पक्षियोंके बच्चे जैसी अदम्य उत्सुकतासे माँकी बाट देखा करते हैं, भूखे बछड़े जैसे वनमें गयी हुई गायका स्तनपान करनेके लिये छटपटाते हैं और परदेश गये हुए स्वामीकी प्रियतमा पत्नी जैसे पतिको आँखोंसे देखनेके लिये व्याकुल रहती है, वैसे ही मैं भी तुमको देखनेके लिये व्याकुल हो रहा हूँ!'

वर्णाश्रमधर्म और ब्राह्मण

हिन्दू-सनातनधर्मका लक्ष्य और साधन

हिन्दू-सनातनधर्मके अनुसार मनुष्यदेहका चरम लक्ष्य 'परम कल्याणरूप परमात्मा' को प्राप्त करना है। सनातनधर्मकी प्रत्येक चेष्टा इसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये है, परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि वर्तमान जीवनसे या इहलोककी ओरसे सनातनधर्म उदासीन है। ऋषियोंने धर्मका लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जिससे (इस लोकमें) अभ्युदय और (परलोकमें) परम कल्याणकी सिद्धि हो, वह धर्म है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वै० द० २)

अभ्युदय सब प्रकारसे हो—शरीर स्वस्थ और व्यसनहीन हो, मन सरल और शुद्ध हो, आचरण पवित्र हो, बुद्धि निर्मल और स्थिर हो, गृह आवश्यक धन-धान्यसे पूर्ण हो, कुल-शील-मान—सभी यथायोग्य शुद्ध और सराहनीय हों। यह सब होते हुए ही जीवनका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति रहे और क्रमशः लक्ष्यकी ओर बढ़ते-बढ़ते अधिकार और योग्यतानुसार प्राप्त त्यागके द्वारा परिणाममें 'परम कल्याणरूप भगवान्' की प्राप्ति हो जाय। इस प्रकार जीवके जीवन-प्रवाहकी अनादिकालीन धाराका परब्रह्मरूप महासागरमें सदाके लिये विलीन हो जाना ही मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है। इस उद्देश्यकी सुचारुरूपसे सिद्धि होनेके लिये धर्मके दो विभाग किये गये—एक वर्णधर्म—और दूसरा आश्रमधर्म। वर्णधर्म समाज-जीवनका सुन्दर संगठन करके उसकी भलीभाँति रक्षा करता है और आश्रमधर्म व्यक्तिगत जीवनको धर्मके पवित्र आदर्शपर प्रतिष्ठित करके उसकी सुव्यवस्था करता है और उसको सामाजिक संगठनमें एवं पारिवारिक सुव्यवस्थामें सहायक बनाकर अर्थात् लौकिक अभ्युदयमें स्वाभाविक ही अग्रसर करता हुआ क्रमशः चरम लक्ष्य निःश्रेयस—परब्रह्मकी ओर ले जाता है। इन दोनों धर्मोंका परस्पर अंगांगिभावसे घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण ही इनका एक नाम 'वर्णाश्रमधर्म' है। हिन्दूधर्मका तत्त्व समझनेके लिये वर्णाश्रमधर्मका तत्त्व समझना आवश्यक है। वास्तवमें यह वर्णाश्रमधर्म ही हिन्दूधर्म है। हिन्दूका व्यक्तिगत व्यवहार, उसकी समाजनीति, उसकी अर्थनीति, उसकी राजनीति, उसकी परमार्थनीति—सभी इसी वर्णाश्रमधर्मपर प्रतिष्ठित हैं। सच पूछा जाय तो शताब्दियोंसे लगातार आक्रमण-पर-आक्रमण सहकर भी आज जो हिन्दूजाति जीवित है, इसका प्रधान कारण यह वर्णाश्रमका सुदृढ़ दुर्ग ही है। इस बातको याद रखना चाहिये कि इस वर्णाश्रमधर्मकी रक्षा ही हिन्दूधर्मकी रक्षा है और वर्णाश्रमधर्मका विनाश ही हिन्दूधर्मका विनाश है।

अंग्रेजीके 'रिलिजन' (Religion) शब्दसे हमारे इस व्यापक धर्मका बोध नहीं होता। 'रिलिजन' का अर्थ सामाजिक और व्यक्तिगत कुछ खास-खास विश्वासों और उपासनापद्धतियोंतक ही सीमित है। परन्तु वर्णधर्म तो व्यष्टि और समष्टिरूपमें समस्त मनुष्यजीवनके प्रत्येक क्षणको और उसकी प्रत्येक चेष्टाको कल्याणके साथ गूँथकर उत्तरोत्तर अभ्युदय और निःश्रेयस—भगवत्प्राप्तिकी ओर ले जाता है। 'रिलिजन' इस व्यापक वर्णाश्रमरूप महान् शरीरका एक अंगमात्र है।

वर्णाश्रम

आश्रमधर्मका मूल वर्णधर्म है और यह वर्णधर्म भगवान्के द्वारा रचित है। स्वयं भगवान्ने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

'गुण और कर्मोंके विभागसे चारों वर्ण, (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) मेरे ही द्वारा रचे हुए हैं।' भारतके दिव्य-दृष्टिप्राप्त त्रिकालज्ञ महर्षियोंने इस सत्यको प्रत्यक्षरूपसे प्राप्त किया और इसी सत्यपर समाजका निर्माण करके उसे सुव्यवस्थित, शान्ति-शीलमय, सुखी, कर्मप्रवण, स्वार्थदृष्टिशून्य और सुरक्षित बना दिया। सामाजिक सुव्यवस्थाके लिये मनुष्योंके चार विभागकी सभी देशों और सभी कालोंमें आवश्यकता हुई है और सभीमें चार विभाग रहे और रहते भी हैं; परन्तु इस ऋषियोंके देशमें वे जिस सुव्यवस्थितरूपसे रहे, वैसे कहीं नहीं रहे।

अब इन चार विभागोंकी उपयोगितापर थोड़ा विचार कीजिये। समाजमें धर्मकी स्थापना और रक्षाके लिये और समाज-जीवनको सुखी बनाये रखनेके लिये, जहाँ समाजकी जीवनपद्धतिमें कोई बाधा उपस्थित हो, वहाँ प्रयत्नके द्वारा उस बाधाको दूर करनेके लिये, कर्मप्रवाहके भँवरको मिटानेके लिये, उलझनोंको सुलझानेके

लिये और धर्मसंकट उपस्थित होनेपर समुचित व्यवस्था देनेके लिये परिष्कृत और निर्मल मस्तिष्ककी आवश्यकता है। धर्मकी और धर्ममें स्थित समाजकी भौतिक आक्रमणोंसे रक्षा करनेके लिये बाहुबलकी आवश्यकता है। मस्तिष्क और बाहुका यथायोग्य रीतिसे पोषण करनेके लिये धनकी और अन्नकी आवश्यकता है और उपर्युक्त कर्मोंको यथायोग्य सम्पन्न करानेके लिये शारीरिक परिश्रमकी आवश्यकता है।

इसीलिये मनुष्य-समाज-जीवनका मस्तिष्क 'ब्राह्मण' है, बाहु क्षत्रिय है, ऊरु वैश्य है और चरण शूद्र है। ये चारों एक ही समाज-शरीरके चार अत्यावश्यक अंग हैं और एक-दूसरेकी सहायतापर सुरक्षित और जीवित हैं। घृणा या अपमानकी तो बात ही क्या है, इनमेंसे किसीकी तनिक भी अवहेलना नहीं की जा सकती। न इनमें नीच-ऊँचकी ही कल्पना करनी चाहिये। अपने-अपने स्थान और कार्यके अनुसार चारों ही बड़े हैं। ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबलसे बड़ा है—और चारोंकी ही पूर्ण उपयोगिता है। इनकी उत्पत्ति भी एक ही भगवान्के शरीरसे हुई है। ब्राह्मणकी उत्पत्ति भगवान्के श्रीमुखसे, क्षत्रियकी बाहुसे, वैश्यकी ऊरुसे और शूद्रकी चरणोंसे हुई है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

परन्तु इनका यह अपना-अपना बल न तो स्वार्थसिद्धिके लिये है और न किसी दूसरेको दबाकर स्वयं ऊँचा बननेके लिये ही है। समाज-शरीरके आवश्यक अंगोंके रूपमें इनका योग्यतानुसार कर्मविभाग है और यह है केवल धर्मके पालने-पलवानेके लिये ही। ऊँच-नीचका भाव न होकर यथायोग्य कर्मविभाग होनेके कारण ही चारों वर्णोंमें एक शक्ति-सामंजस्य (Balance of Power) रहता है। कोई भी किसीकी न अवहेलना कर सकता है, न किसीके न्याय्य अधिकारपर आघात कर सकता है। इस कर्मविभाग और कर्माधिकारके सुदृढ़ आधारपर रचित यह वर्णधर्म ऐसा सुव्यवस्थित है कि इसमें शक्ति-सामंजस्य अपने-आप ही रहता है। इसपर फिर ऋषियोंने प्रत्येक वर्णके कर्मोंका अलग-अलग स्पष्ट निर्देश करके तो सबको अपने-अपने धर्मका निर्विघ्न पालन करनेके लिये और भी सुविधा कर दी है और स्वकर्मका पूरा पालन होनेसे शक्ति-सामंजस्यमें कभी बाधा आ ही नहीं सकती।

यूरोपादि देशोंमें स्वाभाविक ही मनुष्य-समाजके चार विभाग रहनेपर भी निर्दिष्ट नियम न होनेके कारण शक्ति-सामंजस्य नहीं है। इसीसे कभी ज्ञानबल सैनिकबलको दबाता है और कभी जनबल धनबलको परास्त करता है। भारतीय वर्णविभागमें ऐसा न होकर सबके लिये पृथक्-पृथक् कर्म निर्दिष्ट हैं।

ब्राह्मण

ऋषिसेवित वर्णधर्ममें ब्राह्मणका पद सबसे ऊँचा है; वह समाजके धर्मका निर्माता है, उसीकी बनायी हुई विधिको सब मानते हैं। वह सबका गुरु और पथप्रदर्शक है; परन्तु वह धन-संग्रह नहीं करता, न दण्ड ही देता है, न भोगविलासमें ही रुचि रखता है। स्वार्थ तो मानो उसके जीवनमें है ही नहीं। धनैश्वर्य और पदगौरवको धूलके समान समझकर वह फलमूलोंपर निर्वाह करता हुआ सपरिवार शहरसे दूर वनमें रहता है। दिन-रात तपस्या, धर्मसाधन और ज्ञानार्जनमें लगा रहता है, अपने तपोबलके प्रभावसे दुर्लभ ज्ञाननेत्र प्राप्त करता है और उस ज्ञानकी दिव्यज्योतिसे सत्यका दर्शन करके उस सत्यको बिना किसी स्वार्थके सदाचारपरायण साधुस्वभाव पुरुषोंके द्वारा समाजमें वितरण कर देता है। बदलेमें कुछ भी चाहता नहीं। समाज अपनी इच्छासे जो कुछ दे देता है या भिक्षासे जो कुछ मिल जाता है, उसीपर वह बड़ी सादगीसे अपनी जीवनयात्रा चलाता है। उसके जीवनका यही धर्ममय आदर्श है।

क्षत्रिय

क्षत्रिय सबपर शासन करता है। अपराधीको दण्ड और सदाचारीको पुरस्कार देता है। दण्डबलसे दुष्टोंको सिर नहीं उठाने देता और धर्मकी तथा समाजकी दुराचारियों, चोरों, डाकुओं और शत्रुओंसे रक्षा करता है। क्षत्रिय दण्ड देता है, परन्तु कानूनकी रचना स्वयं नहीं करता। ब्राह्मणके बनाये हुए कानूनके अनुसार ही वह आचरण करता है। ब्राह्मणरचित कानूनके अनुसार ही वह प्रजासे कर वसूल करता है और उसी कानूनके अनुसार प्रजाहितके लिये व्यवस्थापूर्वक उसे व्यय कर देता है। कानूनकी रचना ब्राह्मण करता है और धनका भण्डार वैश्यके पास है। क्षत्रिय तो केवल विधिके अनुसार व्यवस्थापक और संरक्षकमात्र है।

वैश्य

धनका मूल वाणिज्य, पशु और अन्न—सब वैश्यके हाथमें है। वैश्य धन उपार्जन करता है और उसको बढ़ाता है, किन्तु अपने लिये नहीं। वह ब्राह्मणके ज्ञान और क्षत्रियके बलसे संरक्षित होकर धनको सब वर्णोंके हितमें उसी विधानके अनुसार व्यय करता है। न शासनपर उसका कोई अधिकार है और न उसे आवश्यकता ही है; क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय उसके वाणिज्यमें कभी कोई हस्तक्षेप नहीं करते, स्वार्थवश उसका धन कभी नहीं लेते, वरं उसकी रक्षा करते हैं और अपने ज्ञानबल और बाहुबलसे ऐसी सुव्यवस्था करते हैं कि जिससे वह अपना व्यापार सुचारुरूपसे निर्विघ्न चला सकता है। इससे उसके मनमें कोई असन्तोष नहीं है और वह प्रसन्नताके साथ ब्राह्मण और क्षत्रियका प्राधान्य मानकर चलता है और मानना आवश्यक भी समझता है; क्योंकि इसीमें उसका हित है। वह खुशीसे राजाको कर देता है, ब्राह्मणकी सेवा करता है और विधिवत् आदरपूर्वक शूद्रको भरपूर अन्न-वस्त्रादि देता है।

शूद्र

अब रहा शूद्र। शूद्र स्वाभाविक ही जनसंख्यामें अधिक है। शूद्रमें शारीरिक शक्ति प्रबल है, परन्तु मानसिक शक्ति कुछ कम है। अतएव शारीरिक श्रम ही उसके हिस्सेमें रखा गया है और समाजके लिये शारीरिक शक्तिकी बड़ी आवश्यकता भी है। परन्तु उसकी शारीरिक शक्तिका मूल्य किसीसे कम नहीं है। शूद्रके जनबलके ऊपर ही तीनों वर्णोंकी प्रतिष्ठा है। यही आधार है। पैरके बलपर ही शरीर चलता है। अतएव शूद्रको तीनों वर्ण अपना प्रिय अंग मानते हैं। उसके श्रमके बदलेमें वैश्य प्रचुर धन देता है, क्षत्रिय उसके धन-जनकी रक्षा करता है और ब्राह्मण उसको धर्मका—भगवत्प्राप्तिका मार्ग दिखाता है; न तो स्वार्थसिद्धिके लिये कोई वर्ण शूद्रकी वृत्ति हरण करता है, न स्वार्थवश उसे कम वेतन देता है और न उसे अपनेसे नीचा मानकर किसी प्रकारका दुर्व्यवहार ही करता है। सब अपनी उन्नतिके साथ उसकी उन्नति करते हैं और उसकी उन्नतिमें अपनी उन्नति और अवनतिमें अपनी अवनति समझते हैं। ऐसी अवस्थामें जनबलयुक्त शूद्र सन्तुष्ट रहता है।

परस्पर सहयोग

चारोंमें कोई किसीसे ठगा नहीं जाता, कोई किसीसे अपमानित नहीं होता। एक ही घरके चार भाइयोंकी तरह एक ही घरकी सम्मिलित उन्नतिके लिये चारों भाई अपने-अपने पृथक्-पृथक् आवश्यक कर्तव्य-पालनमें लगे रहते हैं। यों चारों वर्ण परस्पर—ब्राह्मण धर्मस्थापनके द्वारा, क्षत्रिय बाहुबलके द्वारा, वैश्य धनबलके द्वारा और शूद्र शारीरिक श्रमबलके द्वारा एक-दूसरेकी सेवा करते हुए समाजकी शक्ति बढ़ाते हैं। न तो सब एक-सा कर्म करना चाहते हैं और न अलग-अलग कर्म करनेमें कोई ऊँच-नीच भाव ही मनमें लाते हैं। इसीसे उनका शक्ति-सामंजस्य (Balance of Power) रहता है और धर्म उत्तरोत्तर बलवान् और पुष्ट होता है। यह है वर्णधर्मका स्वरूप।

जन्म और कर्मसे वर्ण

इस प्रकार गुण और कर्मके विभागसे ही वर्णविभाग बनता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मनमाने कर्मसे वर्ण बदल जाता है। वर्णका मूल जन्म है और कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है। इस प्रकार जन्म और कर्म दोनों ही वर्णमें आवश्यक हैं। केवल कर्मसे वर्णको माननेवाले वस्तुतः वर्णको मानते ही नहीं। वर्ण यदि कर्मपर ही माना जाय, तब तो एक दिनमें एक ही मनुष्यको न मालूम कितनी बार वर्ण बदलना पड़ेगा। फिर तो समाजमें कोई शृंखला या नियम ही नहीं रहेगा। सर्वथा अव्यवस्था फैल जायगी, परन्तु भारतीय वर्णधर्ममें ऐसी बात नहीं है। यदि केवल कर्मसे वर्ण माना जाता तो महाभारत-युद्धके समय ब्राह्मणोचित कर्म करनेको तैयार हुए अर्जुनको क्षत्रियधर्मका उपदेश गीतामें भगवान् नहीं करते। मनुष्यके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार ही उसका विभिन्न वर्णोंमें जन्म हुआ करता है।

स्वधर्म

जिसका जिस वर्णमें जन्म होता है, उसको उसी वर्णके निर्दिष्ट कर्मोंका आचरण करना चाहिये; क्योंकि वही उसका 'स्वधर्म' है और स्वधर्मका पालन करते-करते मर जाना भगवान् श्रीकृष्णने कल्याण-कारक बतलाया है—'**स्वधर्मे निधनं श्रेयः**।' साथ ही परधर्मको 'भयावह' भी बतलाया है। यह ठीक ही है; क्योंकि सब वर्णोंके स्वधर्मपालनसे ही सामाजिक शक्ति-सामंजस्य रहता है और तभी समाज-धर्मकी रक्षा और उन्नति होती है। स्वधर्मका त्याग और परधर्मका ग्रहण व्यक्ति और समाज दोनोंके लिये ही हानिकर है। खेदकी बात

है कि आजकल वर्णधर्मके प्रति हमलोगोंकी आस्था कम हो रही है और हमलोग मनमाना आचरण करनेमें जरा भी नहीं हिचकते। इसका बुरा परिणाम भी हाथों-हाथ प्रत्यक्ष हो रहा है। इस बुराईसे बचनेके लिये हमें वर्णधर्मके पालनकी अत्यन्त आवश्यकता है।

ब्राह्मणका महत्त्व

वर्णधर्ममें शीर्ष-स्थानीय है ब्राह्मण। दु:खका विषय है कि आज ब्राह्मणके विनाशके लिये भी चारों ओर परोक्ष और अपरोक्षरूपसे चेष्टा हो रही है! शास्त्रोंने ब्राह्मणकी बड़ी ही महिमा गायी है। शास्त्र कहते हैं कि ब्राह्मणकी उत्पत्ति विराट् पुरुषके या भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे हुई है। मनु महाराजका कहना है—

उत्तमांगोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः॥
तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वाऽऽदितोऽसृजत्।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये॥
यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः॥
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥
उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती।
सा हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये॥
सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदं यत् किंचिज्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति॥

(मनुस्मृति १। ९३—१००)

परमात्माके सब अंगोंमें उत्तम अंग मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुआ है, सबसे पहले जन्मा है, वेदको धारण करता है। इसलिये धर्मका अनुशासन करनेमें ब्राह्मण ही सारी सृष्टिका प्रभु है। देवताओंको हव्य और पितरोंको कव्यकी प्राप्ति होगी और उससे सम्पूर्ण जगत्की रक्षा होगी, इस उद्देश्यसे स्वयम्भू ब्रह्माने तप करके सबसे पहले अपने मुखसे ब्राह्मणकी सृष्टि की। जिनके मुखसे देवता सदा हव्य (हवनीय सामग्री) तथा पितर कव्य (श्राद्धादिमें दिये हुए अन्नादि) ग्रहण करते हैं—खाते हैं, उन ब्राह्मणोंसे बढ़कर श्रेष्ठ, भला और कौन हो सकता है? सृष्ट पदार्थोंमें स्थावरोंकी अपेक्षा प्राणधारी श्रेष्ठ हैं, प्राणियोंमें बुद्धिपूर्वक जीवन चलानेवाले श्रेष्ठ हैं, बुद्धिजीवियोंमें मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्योंमें ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ हैं। ब्राह्मणोंमें विद्वान्, विद्वानोंमें शास्त्रानुसार कर्मोंको जाननेवाले और जाननेवालोंमें करनेवाले श्रेष्ठ हैं। इनसे भी वे श्रेष्ठ हैं, जो ब्रह्मको जानते हैं। ब्राह्मणके शरीरकी उत्पत्ति ही धर्मकी सनातन मूर्तिमान् अवस्था है। वह धर्मके आचरण और मोक्षकी प्राप्तिके लिये ही उत्पन्न होता है। ब्राह्मण धर्मके खजानेकी रक्षाके लिये जन्मसे ही पृथ्वीमें सबके ऊपर स्वामी होकर उत्पन्न होता है और सब प्राणियोंका प्रभु माना जाता है। तीनों लोकोंमें जो कुछ भी सम्पत्ति है, वह सब ब्राह्मणकी है। परमात्माके मुखसे जन्म ग्रहण करने तथा सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण ब्राह्मण ही सब पदार्थोंको ग्रहण करनेयोग्य है।

भीष्मपितामह धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

पितॄणां देवतानां च मनुष्योरगरक्षसाम्।
पुराप्येते महाभागा ब्राह्मणा वै जनाधिप॥

(महा०, अनु० ३३। १५)

हे राजन्! महाभाग ब्राह्मण पूर्वकालसे ही पितरोंके, देवताओंके, मनुष्योंके, सर्पोंके और राक्षसोंके पूज्य हैं।

परिवादं च ये कुर्युर्ब्राह्मणानामचेतसः।
सत्यं ब्रवीमि ते राजन् विनश्येयुर्न संशयः॥

(महा०, अनु० ३३। १८)

हे राजन्! जो मूर्ख मनुष्य ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हैं, मैं सत्य कहता हूँ कि वे नष्ट हो जाते हैं; इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

श्रेयान् पराजयस्तेभ्यो न जयो जयतां वर॥

(म०, अ० ३३। २३)

हे महाविजयी! ब्राह्मणोंसे हार जाना अच्छा है, परन्तु उनको हराना अच्छा नहीं है।

परिवादो द्विजातीनां न श्रोतव्यः कथंचन।
आसीताधोमुखस्तूष्णीं समुत्थाय व्रजेच्च वा॥
न स जातो जनिष्यद्वा पृथिव्यामिह कश्चन।
यो ब्राह्मणविरोधेन सुखं जीवितुमुत्सहेत्॥

(म०, अ० ३३। २५-२६)

ब्राह्मणोंकी निन्दा कभी नहीं सुननी चाहिये। यदि कहीं ब्राह्मण-निन्दा होती हो तो वहाँ या तो नीचा सिर करके चुपचाप बैठा रहे अथवा वहाँसे उठकर चला

जाय। इस पृथ्वीपर ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं जन्मा है और न जन्मेगा ही, जो ब्राह्मणोंसे विरोध करके सुखसे जीवन बितानेका उत्साह कर सके।

ततो राष्ट्रस्य शान्तिर्हि भूतानामिव वासवात्।
जायतां ब्रह्मवर्चस्वी राष्ट्रे वै ब्राह्मणः शुचिः॥

(म०, अ० ३४। ३)

प्राणी जैसे मेघके देवता इन्द्रसे शान्ति पाते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रको ब्राह्मणोंसे शान्ति मिलती है। अतएव तेरे देशमें ब्रह्मतेजस्वी और पवित्र ब्राह्मण उत्पन्न हों।

आगे चलकर पितामहने ब्राह्मण-सेवाका महत्त्व और ब्राह्मण-निन्दाका विस्तारसे वर्णन करते हुए अन्तमें युधिष्ठिरसे कहा है—

तान् पूजयस्व सततं दानेन परिचर्यया।
यदीच्छसि महीं भोक्तुमिमां सागरमेखलाम्॥

(म०, अ० ३५। २२)

अतएव यदि तू इस सागररूप कटिमेखलावाली पृथ्वीपर सुखसे राज्य करना चाहता है तो सदा दान और सेवाके द्वारा ब्राह्मणोंकी पूजा किया कर!

श्रीमद्भागवतमें महाराज पृथु कहते हैं—

यत्सेवयाशेषगुहाशयः स्वराड्
विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वरः।
तदेव तद्धर्मपरैर्विनीतैः
सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम्॥

(४। २१। ३९)

जिन ब्राह्मणोंकी सेवासे ब्राह्मणोंके प्रेमी सर्वान्तर्यामी स्वप्रकाश भगवान् सन्तुष्ट होते हैं, भागवत-धर्ममें तत्पर तुम भी नम्रतापूर्वक शरीर, मन और वाणीसे उन ब्राह्मणोंके कुलकी सेवा करो।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपने पुत्र प्रद्युम्नसे कहते हैं—

ब्राह्मणप्रतिपूजायामायुः कीर्तिर्यशो बलम्।
लोके लोकेश्वराश्चैव सर्वे ब्राह्मणपूजकाः॥
त्रिवर्गे चापवर्गे च यशः श्रीरोगशान्तिषु।
देवतापितृपूजासु संतोष्याश्चैव नो द्विजाः॥

(महा०, अनु० १५९। ९-१०)

ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे आयु, कीर्ति, यश और बल बढ़ते हैं। इसीसे लोक और लोकेश्वर सभी ब्राह्मणोंकी पूजा करते हैं। धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्गको और मोक्षको प्राप्त करनेमें, यश, लक्ष्मीकी प्राप्ति और रोग-शान्तिमें तथा देवता और पितरोंकी पूजामें ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट करना चाहिये।

ब्राह्मण प्रसन्न होकर जो भी आशीर्वाद देते हैं, वही पूर्ण स्वस्त्ययन है। श्रीयशोदाजी महर्षि गर्गसे कहती हैं—

आशिषं कर्तुमर्हन्ति प्रसन्नमनसा शिशुम्।
पूर्णं स्वस्त्ययनं सद्यो विप्राशीर्वचनं ध्रुवम्॥

(ब्रह्मवैवर्त०, श्रीकृष्ण-जन्मखण्ड, अध्याय १३)

हे भगवन्! आप प्रसन्न मनसे इस बालक (कृष्ण)-को आशीर्वाद दीजिये। ब्राह्मणोंका आशीर्वाद निश्चय ही पूर्ण स्वस्त्ययनरूप तत्काल फल देनेवाला है। पूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ गीतामें भी ब्राह्मण-पूजाको तप बतलाया है।

इस प्रकार ब्राह्मणोंके माहात्म्यसे शास्त्र भरे हैं, कितने वचन उद्धृत किये जायँ, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि ब्राह्मणका यह महत्त्व बनावटी नहीं है। ब्राह्मणका स्वरूप ही महत्त्वपूर्ण है। उसका जीवन तपस्वी जीवन है। उसका जन्म ही तप, धर्म तथा मोक्षके लिये होता है। सांसारिक सुख और भोगोंकी ओर तो ब्राह्मण देखता ही नहीं।

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥

(श्रीमद्भा० ११। १७। ४२)

यह ब्राह्मणशरीर क्षुद्र विषयभोगोंके लिये नहीं है, यह तो जीवनभर कठिन तपस्या और अन्तमें आत्यन्तिक सुखरूप मोक्षकी प्राप्तिके लिये है।

इसीका मिलता-जुलता श्लोक बृहद्धर्मपुराणमें आया है—

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न सुखाय कदाचन।
तपः क्लेशाय धर्माय प्रेत्य मोक्षाय सर्वदा॥

(उत्तरखण्ड २। ४४)

ब्राह्मणका देह विषयसुखके लिये कदापि नहीं है; यह तो सदा-सर्वदा तपस्याका क्लेश सहने, धर्मका पालन करने और अन्तमें मुक्तिके लिये ही उत्पन्न होता है।

ब्राह्मणके लक्षण

ब्राह्मणोंके लक्षणोंके सम्बन्धमें शास्त्र कहते हैं—शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, कोमलता, भगवद्भक्ति, दया और सत्य ब्राह्मणके स्वाभाविक धर्म हैं (श्रीमद्भागवत ११। १७। १६)। शम, दम, तप, शौच, क्षमा, कोमलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकबुद्धि ब्राह्मणके कर्म हैं। (श्रीमद्भगवद्गीता १८। ४२) ब्राह्मणको जातकर्मादि

संस्कारोंके द्वारा संस्कृत, परम पवित्र, वेदाध्ययनमें तत्पर, सन्ध्या-वन्दन१, स्नान२, जप३, हवन४, देवपूजा५ और अतिथि६-सत्काररूप षट्कर्मपरायण, शौचाचारशील, ब्रह्मनिष्ठ, गुरुप्रिय और सर्वदा सत्यमें रत रहना चाहिये (महाभारत)। जीवनभर आलस्य छोड़कर अपने-अपने आश्रमके अनुकूल वेदोक्त और स्मार्त कर्म करने चाहिये। जिनमें इन्द्रियोंकी आसक्ति शीघ्र होती है, ऐसे कर्मोंमें और शास्त्रविरुद्ध कर्मोंमें कभी न लगना चाहिये। धन होनेपर या न होनेपर भी धनसंचयकी चेष्टा ब्राह्मण कभी न करे। इच्छापूर्वक किसी भी इन्द्रियके विषयमें आसक्त न हो; इन्द्रिय स्वभावसे ही किसी विषयमें आसक्त हो जायँ तो उनको वहाँसे हटा ले। वेदके विरुद्ध कुछ भी उपार्जन न करे। नित्य सावधानीके साथ वेदोक्त धर्मका आचरण करे। ब्राह्मणको गाने-बजाने आदिसे अथवा शास्त्रविरुद्ध कर्मोंसे तथा संकटकी दशामें भी बहुत-सा धन मिलता हो, तो भी वैसा धन पानेकी चेष्टा न करे। स्वाध्यायके विरोधी सभी कर्मोंका त्याग कर दे। गृहस्थ ब्राह्मण अपनी आयु, कर्म, धन, विद्या और कुलके अनुकूल ही वेष, वाणी और बुद्धिसे काम लेता हुआ जगत्‌में विचरे। नित्य पंचमहायज्ञ करे (मनुस्मृति)। प्रतिदिन नियमानुसार सन्ध्या-वन्दनादि नित्यकर्म अवश्य ही करे। यदि कोई ब्राह्मण मोहवश सन्ध्या-वन्दनादि नहीं करता तो देवता तथा पितर उसके द्वारा की हुई पूजा या श्राद्धादिको ग्रहण नहीं करते। ब्राह्मण जबतक जिये, त्रिकालसन्ध्या करता ही रहे। जो ब्राह्मण ऐसा करते हैं, वे सूर्यके समान तेजस्वी होते हैं। उनके चरणस्पर्शसे पृथ्वी पवित्र होती है, तीर्थ शुद्ध होते हैं और पाप धुल जाते हैं (ब्रह्मवैवर्त)। ब्राह्मणको नित्य गायत्रीका जप करना चाहिये। गायत्री ब्राह्मणोंका जीवन है।

ब्राह्मणका कठोर तपोमय जीवन

ब्राह्मणकी जीविकाके सम्बन्धमें शास्त्र कहते हैं—वेद पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना और दान देना तथा लेना—ब्राह्मणके ये छः कर्म बताये गये हैं। इनमें यज्ञ कराना, वेद पढ़ाना और दान लेना—ये तीन ब्राह्मणकी आजीविकाके लिये हैं। ब्राह्मणको ऐसी आजीविका बिलकुल नहीं करनी चाहिये, जिसमें किसी भी जीवका किसी प्रकार भी अनिष्ट हो अथवा किसीको जरा-सी भी पीड़ा हो। आपत्कालमें भी ब्राह्मण ऐसी वृत्ति न करे। सुख चाहनेवाला ब्राह्मण अपना और अपने कुटुम्बका सादगीसे निर्वाह हो सके, इतने ही धनमें परम सन्तोष माने। अधिक धन पानेकी लालसा न करे। सन्तोष ही सुखका मूल है और असन्तोष ही दुःखका। ब्राह्मणको ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृतद्वारा अपनी जीविका चलानी चाहिये; परन्तु श्ववृत्ति (नौकरी, शूद्रवृत्ति) कभी नहीं करनी चाहिये। जमीनपर बिखरे हुए अनाजके दानोंको बटोरकर उससे काम चलानेका नाम शिलवृत्ति है। इसीका नाम ऋत है। बिना माँगे जो कुछ मिल जाये, उसे अमृतवृत्ति कहते हैं। भीख माँगकर जीवननिर्वाह करना मृतवृत्ति कहलाता है। खेतीको प्रमृतवृत्ति और व्यापारको सत्यानृतवृत्ति कहते हैं। ऋत सर्वोत्तम और अमृत उत्तम वृत्ति है। मृत—भिक्षावृत्ति भी ब्राह्मणके लिये विधेय है। बल्कि वैश्योंकी व्यापारवृत्ति और कृषिवृत्तिकी अपेक्षा ब्राह्मणोंके लिये भिक्षावृत्ति उत्तम है। इन वृत्तियोंद्वारा जीवननिर्वाह करनेवाले ब्राह्मण चार श्रेणियोंमें विभक्त हैं—कुशूलधान्यक, कुम्भीधान्यक, त्र्यहैहिक और अश्वस्तनिक। तीन वर्षतक निर्वाह हो सके, इतने अन्नकी कोठी भर रखनेवाला ब्राह्मण कुशूलधान्यक, सालभर या छः महीनेके निर्वाहयोग्य अन्नकी छोटी कोठी भर रखनेवाला कुम्भीधान्यक, तीन दिनके निर्वाहयोग्य अन्नका संग्रह करनेवाला त्र्यहैहिक और केवल आजभरके निर्वाहके लिये संग्रह करनेवाला अश्वस्तनिक कहलाता है। इन चारों प्रकारके संग्रही ब्राह्मणोंमें पहलेकी अपेक्षा अगला उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है; अश्वस्तनिक सर्वश्रेष्ठ है।

इस वर्णनसे पता चलता है कि ब्राह्मणोंका जीवन कितना तपःपूर्ण और कठोर साधनामय है। ऐसे क्लेशसहिष्णु ब्राह्मणोंकी जितनी महिमा गायी जाय, उतनी ही थोड़ी है। शास्त्रोंमें ब्राह्मणोंके लिये और भी अनेक वैध और निषिद्ध कर्मोंका तथा आचरणोंका उल्लेख है। वस्तुतः ब्राह्मणधर्म इतना कठोर दायित्वपूर्ण है कि उसके पालनमें पद-पदपर सावधानीकी आवश्यकता होती है। यह असिधाराव्रत है। एक ओर जहाँ ब्राह्मण सबका प्रभु और नियन्त्रणकर्ता है, दूसरी ओर वह स्वाभाविक ही सबके हितमें रत है और इस सर्वभूतहितकी इच्छासे ही अपने ही बनाये नियमोंके कठोर बन्धनमें वह इतना बँधा है कि जरा-सी भूलमें ही अपने स्वरूपसे च्युत हो जाता है। इसीसे उसकी इतनी महिमा है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि धर्म ही हिन्दूजातिका प्राण है और उस धर्मके संचालनका समस्त भार ब्राह्मणके कन्धोंपर है और हमें यह मुक्तकण्ठसे स्वीकार करना चाहिये कि ब्राह्मणने इस भारको बड़ी ही जिम्मेवारीके साथ वहन किया है। तपोमूर्ति स्वार्थशून्य ब्राह्मणका ऋण केवल हिन्दूसमाजपर ही नहीं है, सारे संसारपर है; क्योंकि उसके उपार्जित ज्ञानसे समस्त संसारने लाभ उठाया है। वस्तुतः जगत्को ज्ञानका प्रकाश देनेवाला यह त्याग और तपकी मूर्ति ब्राह्मण ही है।

आज भी ब्राह्मणप्रदत्त ज्ञानालोकसे ही संसारका ज्ञानभण्डार प्रकाशित है। हिन्दूजातिका तो प्राण ही यह ब्राह्मणत्व है, जिसने युगों और शताब्दियोंसे नाना प्रकारके कष्टोंको सहनकर इस हिन्दूसंस्कृतिकी रक्षा की है। भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्यका कारण बतलाते हुए भगवान् शंकराचार्य गीताभाष्यके उपोद्‍घातमें कहते हैं कि जगत्की स्थितिको सुरक्षित रखनेकी इच्छासे आदिकर्ता नारायण श्रीविष्णुभगवान् भूलोकके ब्रह्मा (ब्राह्मण)-के ब्राह्मणत्वकी रक्षा करनेके लिये श्रीवसुदेवजीसे श्रीदेवकीजीके गर्भमें दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यपूर्ण श्रीकृष्ण-रूपमें प्रकट हुए। ब्राह्मणत्वकी रक्षामें ही वैदिक धर्मकी रक्षा है; क्योंकि वर्णाश्रमके भेद उसीके अधीन हैं—

जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुर्भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवादंशेन कृष्णः किल सम्बभूव। ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद् वैदिको धर्मस्तदधीनत्वाद् वर्णाश्रमभेदानाम्।

खेद है कि आज हिन्दूसन्तान ही मोहवश अपने जीवनाधार ब्राह्मणत्वको भस्मकर उसके भस्मावशेषपर जातीय-जीवनकी सुन्दर सुखपूर्ण अट्टालिका निर्माण करनेका स्वप्न देख रहा है! अपने ही हाथों अपनी समाधिके लिये जमीन खोद रहा है! भगवान् इस मोहनिशाका शीघ्र अन्त करें।

लोग कहेंगे कि 'जिस ब्राह्मणकी यह महिमा है, वह ब्राह्मण आज कहाँ है, आज तो ब्राह्मण-शरीरका प्राणहीन कंकालमात्र रह गया है।' ठीक है, आदर्श ब्राह्मण आज बहुत ही कम दृष्टिगोचर होते हैं। वे आज शक्ति-सामंजस्यके अभावसे पर्वत-कन्दराओंमें जा छिपे हैं; परन्तु गम्भीरतासे ध्यान देनेपर ज्ञात होगा कि अन्य वर्णोंकी अपेक्षा आज भी ब्राह्मणोंमें त्याग और तप अधिक है। यदि हम इस बचे-खुचे त्याग-तपको बचाकर बढ़ा सकेंगे तो कंकालमें पुनः प्राण आ जायँगे और हम उसकी शक्तिमयी और तेजोमयी मूर्तिको देखकर पुनः अपनेको सुरक्षित पायेंगे। ब्राह्मण मरा नहीं है, मरेगा भी नहीं। वह छिपा है, दबा है, उसे साधना करके प्रकाशमें लाना होगा। इसका उपाय है ब्राह्मणत्वका सम्मान, ब्राह्मणत्वको पुनः स्वरूपप्रतिष्ठित करनेका आयोजन। ब्राह्मणोंको चाहिये कि धन, वैभव, विलासिता और फैशनका मोह छोड़कर अपने स्वरूपको सँभालें। उनका गौरव त्यागपूर्ण ब्राह्मणत्वमें है न कि जमींदारों या धनी व्यवसायियोंका अनुकरण करके अधिक खर्चीला और भड़कीला परन्तु दुःख तथा अशान्तिपूर्ण जीवन बनानेमें। उनका आदर्श त्याग है, न कि भोग। प्रभुत्व है, न कि दासत्व। भोगी मनुष्य इन्द्रियविषयोंका दास होता है, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

ब्राह्मणत्वकी रक्षा कर्तव्य

अन्यान्य तीनों वर्णोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे ब्राह्मणोंके ब्राह्मणत्वकी रक्षा हो, ब्राह्मणोंमें ब्राह्मणत्वके प्रति ममता उत्पन्न हो, वे ब्राह्मण कहलानेमें गौरव समझें और ब्राह्मणके नाते ही उनकी आजीविका सुखपूर्वक चल जाय। यह कभी न सोचें कि पूर्वकालके ब्राह्मण पूज्य थे, आजके नहीं हैं। हम पूछते हैं कि यदि ब्राह्मण गिरे हैं तो क्या क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र धर्मपथपर अग्रसर हुए हैं? दूसरे-दूसरेके धर्मकी ओर न देखकर अपनी ओर देखिये; तब पता लगेगा कि आपकी क्या दशा है।

यह पहले कहा जा चुका है कि हिन्दूधर्मकी रक्षा ब्राह्मणधर्मकी रक्षामें है। यदि ब्राह्मण अपने कर्मको छोड़कर वकील, डॉक्टर, व्यापारी या नौकरी-पेशेवाले बन जायँगे तो ब्राह्मणधर्मका पालन कौन करेगा? आज जो ब्राह्मण संस्कृत पढ़ना छोड़कर अंग्रेजी पढ़ते हैं और धीरे-धीरे पाश्चात्य संस्कृतिके ढाँचेमें ढले जा रहे हैं, उसमें कालप्रभाव और पाश्चात्य प्रभुत्वका प्रभाव तो है ही, साथ ही दो प्रधान कारण और हैं। एक है आजीविकाकी कठिनाई और दूसरा संस्कृतज्ञ कर्मकाण्डी त्यागी ब्राह्मणोंकी उपेक्षा। प्राचीन कालके अनुसार आज ब्राह्मण वनोंमें नहीं रह सकते। कोई रहना भी चाहें तो उन्हें न तो जमीन मिल सकती है और न इच्छानुसार फल-फूल और मूल ही। शिलोञ्छवृत्तिके लिये भी अन्न नहीं मिलता। कारण

आज न तो ब्राह्मण-शासनका अनुगमन करनेवाले ब्राह्मण-भक्त क्षत्रिय राजा हैं और न ऐसे वैश्य-शूद्र ही हैं। गाँवों और नगरोंमें रहनेसे कुछ कुसंग और कुछ परिस्थितिवश आजके ब्राह्मणोंकी आवश्यकताओंका बढ़ जाना भी अस्वाभाविक नहीं है। ऐसी स्थितिमें उनकी आजीविकाकी व्यवस्था न हो तो बाध्य होकर उन्हें दूसरी ओर ताकना पड़ता है। यही कारण है कि कुछ काल पहलेके धर्माभिमानी महान् पण्डितराजोंके पुत्र-पौत्र आज विदेशी भाषा सीखकर ब्राह्मण-संस्कृतिका उपहास करने लगे हैं। दूसरी बात है ब्राह्मण पण्डितोंके सम्मानमें कमी होना। आज लोग जितना अंग्रेजी पढ़े-लिखे डिग्रीधारी लोगोंका आदर करते हैं, उतना सीधे-सादे संस्कृतज्ञ पण्डितका नहीं करते। जिसमें धन और मान दोनोंकी कमी नजर आती हो, उससे चिपटे रहना भला, कौन पसन्द करेगा? (यद्यपि आजकल अंग्रेजीके बी० ए०, एम० ए० पास बेकारोंकी संख्या भी बहुत जोरसे बढ़ रही है।) इसीसे आज शास्त्रज्ञ ब्राह्मणोंकी संख्या क्रमशः घट रही है। अतएव तीनों वर्णोंको चाहिये कि सच्चे मनसे ब्राह्मणोंका आदर-सम्मान करें। उनके अभावोंकी पूर्ति और उनकी आजीविकाके लिये प्रयत्न करें। कुछ काल पूर्वतक देवताओंके अनुष्ठान, यज्ञादि कर्म, श्रीहरिकथा तथा पर्वोंपर दान तथा ब्राह्मण-भोजनादिकी प्रथा थी, जिससे धर्म-साधनके साथ-ही-साथ ब्राह्मणोंकी आजीविका चलती थी। राजसभाओंमें पण्डित ब्राह्मणोंका सम्मान था। लोग हृदयसे ब्राह्मणोंको पूजते थे। इसीसे उस समय ब्राह्मण बने रहनेमें उनको सुख मालूम होता था। अब क्रमशः उन प्रथाओंका ह्रास हो रहा है, परन्तु इसका फल उत्तम नहीं होगा। देवताओंके सकाम अनुष्ठानोंसे हमारी संस्कृतिकी बड़ी रक्षा होती है, श्रद्धा बढ़ती है और शास्त्रोंका अनुसरण होता है; अतएव सब लोगोंको ब्राह्मणोंके द्वारा पाठ या मन्त्रादिके द्वारा देवताओंकी यथायोग्य पूजा-उपासना अवश्य करवानी चाहिये। जगह-जगह विद्वान् ब्राह्मणोंके द्वारा श्रीहरिकथाकी व्यवस्था करवानी चाहिये, ब्राह्मण-भोजनका आयोजन करना चाहिये और सच्चे मनसे ब्राह्मणधर्मपर आरूढ़ रहनेवाले ब्राह्मणोंका खूब ही सम्मान करना चाहिये। यह याद रखना चाहिये कि बड़े-से-बड़े धनी, व्यवसायी, जज, वकील, डॉक्टर ब्राह्मणकी अपेक्षा धर्मकी दृष्टिसे ब्राह्मणधर्मपर आरूढ़ भिक्षाजीवी ब्राह्मण बहुत ही उत्तम और सर्वथा पूज्य है। अतएव ब्राह्मणोंको नीची दृष्टिसे न देखकर उनका हृदयसे सम्मान करना चाहिये। उनके त्यागकी—उनकी वृत्तिकी खूब प्रशंसा करनी चाहिये। ब्राह्मणोंकी सेवामें जिसका तन, मन, धन लगे उसको अपना अहोभाग्य मानना चाहिये—यह याद रखना चाहिये।

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्॥
श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते॥
एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्॥

(मनु० ९। ३१७—३१९)

अग्निको चाहे वेदमन्त्रोंसे प्रकट किया हो चाहे दूसरी तरहसे वह जैसे महान् देवता है, वैसे ही ब्राह्मण विद्वान् हो या अविद्वान्, वह महान् देवता है। तेजस्वी अग्नि श्मशानमें भी दूषित नहीं होता तथा यज्ञोंमें हवन करनेपर फिर बढ़ जाता है। ऐसे ही ब्राह्मण सब प्रकारके छोटे काम करनेपर भी सर्वथा पूज्य हैं; क्योंकि वे परम देवता हैं।

ब्राह्मणसे प्रार्थना

अन्तमें ब्राह्मणके चरणोंमें विनम्र प्रार्थना है—हे भूदेव! सनातन-धर्मकी रक्षाका भार भगवान्ने तुम्हारे हाथोंमें दिया है, तुम उसे सँभाले रहो। दूसरोंके प्रमादको देखकर तुम प्रमाद मत करो। तुम क्षमा और त्यागकी मूर्ति हो, अपने स्वरूपको स्मरण करो और साधना करके उसपर प्रतिष्ठित हो जाओ। यह मत समझो कि तुम वकील, बैरिस्टर, मजिस्ट्रेट या सेठ नहीं हो तो तुम्हारा दर्जा नीचा है; तुम भिक्षाजीवी हो तो धनियोंसे नीचे हो। तुम्हारा त्याग सदा ऊँचा है और ऊँचा रहेगा। अपने धर्ममें, अपनी संस्कृतिमें और अपनी वृत्तिमें गौरव-बुद्धि करो। लोभका अवश्य त्याग करो, दुष्ट प्रतिग्रहसे जरूर बचो; पर शुद्ध दान या दक्षिणा ग्रहण करनेमें अपना अपमान कभी न समझो। उसे तो तुम यजमान और दाताके कल्याणके लिये ग्रहण करते हो। ब्राह्मणत्वके निदर्शक आचार-व्यवहार, वेश-भूषा और कार्यकलापमें अपनेको धन्य समझो। जो लोग तुम्हारी वृत्तिको नीचा समझते हैं, वे स्वयं नीचे हैं। तुम्हारे स्वरूपका उन्हें ज्ञान नहीं है। उनकी भड़कीली पोशाकों, उनके खर्चीले जीवन और उनके राजसी-तामसी ठाटकी माया-मरीचिकासे मोहित मत हो। तुम्हारे त्यागमें ही तुम्हारी महिमा है। भौतिक धन-रत्न तुम्हारे त्यागरूपी

परम धनके सामने सर्वथा तुच्छ हैं, नगण्य हैं। वह समय याद करो, जब बड़े-बड़े सम्राटोंके रत्नमणिमय मुकुट तुम्हारी चरणधूलिसे अभिषिक्त होनेमें अपना गौरव समझते थे। लोग चाहते थे तुम कुछ ग्रहण करके उनके धनको धन्य करो, सेवा स्वीकार करके उनके जीवनको सफल करो; परन्तु तुम उनके धनकी तथा सेवाकी ओर ताकते ही न थे। यही तुम्हारी महानता थी! इसपर पुनः प्रतिष्ठित होओ! तुम सबके पथप्रदर्शक हो, तुम जगद्‌गुरु हो। भगवान् मनु कहते हैं।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(२। २०)

इस देशमें उत्पन्न ब्राह्मणसे पृथ्वीके सब मनुष्य अपने-अपने सदाचारको सीखें।

अपने इस स्वरूपका स्मरण करो, हिन्दू-सनातनधर्मकी अपने तपोबलसे पुनः सुप्रतिष्ठा कर दो, भारतवर्षके लुप्त गौरवको पुनः प्राप्त करा दो और अपने ज्योतिर्मय ज्ञानालोकसे जगत्‌के समस्त अन्धकारको दूर कर दो। हे पवित्र ब्राह्मण, तुम्हारे पुनीत चरणोंमें यही सादर विनय है।

वर्णाश्रम-धर्म

चारों वर्णोंके धर्म

भगवान् श्रीकृष्ण भक्तवर उद्धवजीसे कहते हैं—

शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, कोमलता, मेरी भक्ति, दया और सत्य—ये ब्राह्मण-वर्णके स्वभाव हैं। तेज, बल, धैर्य, शूरवीरता, सहनशीलता, उदारता, पुरुषार्थ, स्थिरता, ब्रह्मण्यता (ब्राह्मण-भक्ति) और ऐश्वर्य—ये क्षत्रिय-वर्णके स्वभाव हैं। आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, विप्रपरायणता और लगातार धन-संचय करते रहना—ये वैश्य-वर्णके स्वभाव हैं। ब्राह्मण, गौ और देवताओंकी निष्कपटभावसे सेवा करना और उसीसे जो कुछ मिल जाय, उसमें संतुष्ट रहना—ये शूद्र-वर्णके स्वभाव हैं। × × × × अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काम, क्रोध और लोभसे रहित होना और प्राणियोंकी प्रिय-हितकारिणी चेष्टामें तत्पर रहना—ये सभी वर्णोंके धर्म हैं।

ब्रह्मचारीके धर्म

अब चारों आश्रमोंमें पहले ब्रह्मचारीके धर्म बतलाते हैं—

जातकर्म आदि संस्कारोंके क्रमसे उपनयन-संस्कारद्वारा दूसरा जन्म पाकर द्विज-कुमार (ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य-वर्णका बालक) इन्द्रियदमनपूर्वक गुरुगृहमें वास करता हुआ गुरुद्वारा बुलाये जानेपर वेदका अध्ययन करे। ऐसे ब्रह्मचारीको चाहिये कि मूँजकी मेखला, मृगचर्म, दण्ड, रुद्राक्ष, ब्रह्मसूत्र, कमण्डलु और आप-से-आप बढ़ी हुई जटाओंको धारण करे, वस्त्रोंको (शौकीनीके लिये) न धुलवाये, रंगीन आसनपर न बैठे तथा कुशाओंको धारण करे। स्नान, भोजन, होम, जपके समय मौन रहे; नख तथा कक्ष एवं उपस्थके बालोंको भी न कटवाये। पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए स्वयं कभी वीर्यपात न करे और यदि असावधानतावश स्वप्नादिमें कभी हो जाय तो जलमें स्नान करके प्राणायामपूर्वक गायत्रीका जप करे। प्रात:काल और सायंकाल दोनों समय मौनावलम्बनपूर्वक गायत्रीका जप करते हुए पवित्रता और एकाग्रताके साथ अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन और देवताओंकी उपासना और सन्ध्योपासन करे। आचार्यको साक्षात् मेरा ही स्वरूप समझे, उसका कभी भी निरादर न करे और न कभी साधारण मनुष्य समझकर उसकी किसी बातकी उपेक्षा या अवहेलना ही करे; क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है। सायंकाल और प्रात:काल दोनों समय जो कुछ भिक्षा मिले अथवा और भी जो कुछ प्राप्त हो, गुरुके आगे रख दे और फिर उनके आज्ञानुसार उसमेंसे लेकर संयमपूर्वक उपभोग करे। आचार्यके जाने, लेटने, बैठने और ठहरनेमें सदा अति नम्रतासे हाथ जोड़े हुए साथ ही रहे और अति नीचके समान सदा उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगा रहे। इस प्रकार सब प्रकारके भोगोंसे दूर रहकर जबतक विद्या समाप्त न हो जाय, अखण्डित ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करता हुआ वह गुरुकुलमें रहे। यदि स्वर्गादि लोक अथवा जहाँ मूर्तिमान् वेद रहते हैं, उस ब्रह्मलोकमें जानेकी इच्छा हो तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य लेकर यावज्जीवन वेदाध्ययन करनेके लिये गुरुको अपना शरीर समर्पण

कर दे। उस ब्रह्म-वर्चस्वी निष्पाप बाल-ब्रह्मचारीको चाहिये कि अग्नि, गुरु, आत्मा और समस्त प्राणियोंमें अभिन्न भावसे मेरी उपासना करे। गृहस्थाश्रममें न जानेवाला ब्रह्मचारी स्त्रियोंका दर्शन, स्पर्श, उनसे वार्तालाप तथा हँसी-मसखरी आदि कभी न करे तथा न किसी भी नर-मादा प्राणियोंको विषय-रत होते दूरसे भी देखे। हे यदुकुलनन्दन! शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थसेवन, जप, अस्पृश्य, अभक्ष्य और अवाच्यका त्याग; समस्त प्राणियोंमें मुझे देखना तथा मन, वाणी और शरीर-संयम—ये धर्म सभी आश्रमोंके हैं। इस प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला अग्निके समान तेजस्वी होता है; तीव्र तपके द्वारा उसकी कर्म-वासना दग्ध हो जानेके कारण चित्त निर्मल हो जानेसे वह मेरा भक्त हो जाता है और अन्तमें मेरे परमपदको प्राप्त होता है। यदि अपने इच्छित शास्त्रोंका अध्ययन समाप्त कर चुकनेपर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेकी इच्छा हो तो गुरुको दक्षिणा देकर उनकी अनुमतिसे स्नान आदि करे अर्थात् समावर्तन-संस्कार करके ब्रह्मचर्य-आश्रमको छोड़ दे। श्रेष्ठ ब्रह्मचारीको चाहिये कि ब्रह्मचर्य-आश्रमके उपरान्त गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे अथवा यदि विरक्त हो तो संन्यास ले ले। इस प्रकार एक आश्रमको छोड़कर अन्य आश्रमका अवश्य ग्रहण करे; मेरा भक्त होकर अन्यथा आचरण कभी न करे अर्थात् निराश्रम रहकर स्वच्छन्द व्यवहारमें प्रवृत्त न हो।

गृहस्थके धर्म

जो गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहे, वह अपने अनुरूप निष्कलंक कुलकी तथा अवस्थामें अपनेसे छोटी, अपने ही वर्णकी कन्यासे विवाह करे अथवा अपनेसे नीचे-नीचेके वर्णोंमेंसे भी विवाह कर सकता है।

यज्ञ करना, पढ़ना और दान देना—ये धर्म तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनोंके लिये विहित है; किन्तु दान लेना, पढ़ाना और यज्ञ कराना—ये केवल ब्राह्मण ही करे। किन्तु प्रतिग्रह (दान लेना) तप, तेज और यशका विघातक है; इसलिये ब्राह्मण पढ़ाने और यज्ञ करानेसे ही जीविका निर्वाह करे अथवा यदि इनमें भी (परावलम्बन और दीनता आदि) दोष दिखलायी दे तो केवल शिलोञ्छवृत्तिसे* ही रहे। यह अति दुर्लभ ब्राह्मण-शरीर क्षुद्र विषय-भोग आदिके लिये नहीं है। इसके द्वारा तो यावज्जीवन कठिन तपस्या और अन्तमें अनन्त आनन्दरूप मोक्षका सम्पादन होना चाहिये। इस प्रकार सन्तोषपूर्वक शिलोञ्छ-वृत्तिसे रहकर अपने अतिनिर्मल महान् धर्मका निष्कामतासे आचरण करता हुआ जो ब्राह्मणश्रेष्ठ सर्वतोभावेन मुझे आत्म-समर्पण करके अनासक्तभावसे अपने घरमें ही रहता है, वह अन्तमें परमशान्तिरूप मोक्ष-पदको प्राप्त करता है। जो कोई मेरे आपत्तिग्रस्त ब्राह्मण भक्तका कष्टसे उद्धार करते हैं, उनको मैं भी समुद्रमें डूबते हुएको नौकाके समान शीघ्र ही सम्पूर्ण विपत्तियोंसे बचा लेता हूँ।

धीर और विचारवान् राजाको चाहिये कि पिताके समान सम्पूर्ण प्रजाकी और स्वयं अपनी भी उसी प्रकार आपत्तिसे रक्षा करे जिस प्रकार कि यूथपति गजराज अपने यूथके अन्य हाथियों और स्वयं अपने-आपको भी (अपनी ही बुद्धि और बल-विक्रमसे) विपत्तियोंसे बचाता है। ऐसा धर्मपरायण नरपति इस लोकमें सम्पूर्ण दोषोंसे मुक्त होकर अन्तसमयमें सूर्य-सदृश प्रकाशमान् विमानपर बैठकर स्वर्गलोकको जाता है और वहाँ इन्द्रके साथ सुख-भोग करता है।

जिस ब्राह्मणको अधिक अर्थकष्ट हो, वह या तो वणिक्-वृत्तिके द्वारा व्यापार आदिसे उसको पार करे अथवा खड्गधारणपूर्वक क्षत्रियवृत्तिका अवलम्बन करे; लेकिन किसी भी दशामें नीच-सेवा रूप श्व-वृत्तिका आश्रय न ले। क्षत्रियको यदि दारिद्र्यसे कष्ट हो तो या तो वैश्यवृत्ति या मृगया (शिकार) और या ब्राह्मण-वृत्ति (पढ़ाने)-से कालयापन करे किन्तु नीच-सेवाका आश्रय कभी न ले। इसी प्रकार आपत्तिग्रस्त वैश्य शूद्रवृत्तिरूप सेवाका और शूद्र प्रतिलोम (उच्चवर्णकी स्त्रीमें नीचवर्णके पुरुषसे उत्पन्न) जातिके कारु (धुना) आदिकी चटाई आदि बुननेकी वृत्तिका आश्रय ले। (ये सब विधान आपत्कालके लिये ही हैं।) आपत्तिसे मुक्त होनेपर लोभपूर्वक नीचवृत्तिका अवलम्बन कोई न करे।

गृहस्थ पुरुषको चाहिये कि वेदाध्ययन, स्वधा (पितृ-यज्ञ), स्वाहा (देव-यज्ञ), बलिवैश्वदेव तथा अन्न-दानादिके द्वारा मेरे ही रूप देव, ऋषि, पितर और

* खेतोंसे किसानके और पैंठसे व्यापारीके अन्न ले जानेपर बिखरे हुए दानोंको बटोर लाना।

अन्य समस्त प्राणियोंकी यथाशक्ति पूजा करता रहे। स्वयं प्राप्त अथवा शुद्धवृत्तिके द्वारा उपार्जित धनसे तथा अपने द्वारा जिनका भरण-पोषण होता हो, उन लोगोंको कष्ट न पहुँचाकर न्यायपूर्वक यज्ञादि शुभ कर्म करता रहे। अपने कुटुम्बमें ही आसक्त न हो जाय, बड़ा कुटुम्बी होकर प्रमादवश भगवद्भजनको न भुलाये। बुद्धिमान् विवेकीको उचित है कि प्रत्यक्ष प्रपंचके समान स्वर्गादिको भी नाशवान् जाने। यह पुत्र-स्त्री-कुटुम्ब आदिका संयोग मार्गमें चलनेवाले पथिकोंके संयोगके समान आगमापायी है। निद्रावश होनेपर स्वप्नके समान जन्म-जन्मान्तरमें ऐसे नाना संयोग-वियोग होते रहते हैं। ऐसा विचार करके मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि घरमें अतिथिके समान ममता और अहंकारसे रहित होकर रहे, आसक्तिवश उसमें लिप्त न हो जाय। गृहस्थोचित कर्मोंके द्वारा मेरा यजन करता हुआ मेरी भक्तिसे युक्त होकर चाहे घरमें रहे, चाहे वानप्रस्थ होकर वनमें बसे अथवा यदि पुत्रवान् हो तो (स्त्रीके पालन-पोषणका भार पुत्रको सौंपकर) संन्यास ले ले। किन्तु जो गृहमें आसक्त है, पुत्रैषणा और वित्तैषणासे व्याकुल है, स्त्री-लम्पट, लोभी और मन्दमति है, वह मूढ़ 'मैं' और 'मेरा' इस मोह-बन्धनमें बँध जाता है। वह सोचता है—'अहो! मेरे माता-पिता बूढ़े हैं, स्त्री बाला (छोटी अवस्थाकी) है, बाल-बच्चे हैं; मेरे बिना ये अति दीन, अनाथ और दु:खी होकर कैसे जियेंगे? इस प्रकार गृहासक्तिसे विक्षिप्तचित्त हुआ यह मूढ़-बुद्धि विषय-भोगोंसे कभी तृप्त नहीं होता और इसी चिन्तामें पड़ा रहकर एक दिन मरकर घोर अन्धकारमें पड़ता है।

वानप्रस्थके धर्म

जो वानप्रस्थ होना चाहे, वह अपनी स्त्रीको पुत्रोंके पास छोड़कर अथवा अपने ही साथ रखकर शान्तचित्तसे अपनी आयुके तीसरे भागको वनमें रहकर ही बिताये। वह वनके शुद्ध कन्द, मूल और फलोंसे ही शरीर-निर्वाह करे, वस्त्रके स्थानपर वल्कल धारण करे अथवा तृण, पर्ण और मृग-चर्मादिसे काम निकाल ले। केश, रोम, नख, श्मश्रु (मूछ-दाढ़ी) और शरीरके मैल* आदिको बढ़ने दे, दन्तधावन न करे, जलमें घुसकर नित्य त्रिकाल स्नान करे और पृथ्वीपर सोये। ग्रीष्ममें पंचाग्नि तपे, वर्षामें खुले मैदानमें रहकर अभ्रावकाशव्रतका पालन करे तथा शिशिर-ऋतुमें कण्ठ-पर्यन्त जलमें डूबा रहे—इस प्रकार घोर तपस्या करे। अग्निसे पके हुए अन्नादि अथवा काल पाकर स्वयं पके हुए (फल आदि)-से निर्वाह करे। उन्हें कूटनेकी आवश्यकता हो तो ओखलीमें अथवा पत्थरसे कूट ले या दाँतोंसे ही चबा-चबाकर खा ले। अपने उदर-पोषणके लिये कन्द-मूलादि स्वयं ही संग्रह करके ले आये; देश, काल और बलको भलीभाँति जाननेवाला मुनि दूसरेके लाये हुए पदार्थ ग्रहण न करे (अर्थात् मुनि इस बातको जानकर कि अमुक पदार्थ कहाँसे लाना चाहिये, कितनी देरतकका खानेसे हानिकारक न होगा और कौन-कौन पदार्थ अपने अनुकूल हैं—स्वयं ही कन्द-मूल-फल आदिका संचय करे; देश-कालादिसे अनभिज्ञ अन्य जनोंके लाये पदार्थोंके सेवनसे व्याधि आदिके कारण तपस्यामें विघ्न होनेकी आशंका है)। समयानुसार प्राप्त हुए वन्य कन्द-मूल आदिसे ही देवताओं और पितरोंके लिये चरु और पुरोडाश निकाले। वानप्रस्थ होकर वेदविहित पशुओंद्वारा मेरा यजन न करे। हाँ, वेद-वेत्ताओंके आदेशानुसार अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास और चातुर्मास्यादिको पूर्ववत् करता रहे। इस प्रकार घोर तपस्याके कारण (मांस सूख जानेसे) कृश हुआ वह मुनि मुझ तपोमयकी आराधना करके ऋषि-लोकादिमें जाकर फिर वहाँसे कालान्तरमें मुझको प्राप्त कर लेता है। जो कोई इस अति कष्ट-साध्य मोक्ष-फलदायक तपको क्षुद्र फलों (स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक आदि)-की कामनासे करता है, उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा। जब यह नियमपालनमें असमर्थ हो जाय और बुढ़ापेसे शरीर काँपने लगे, तब अपने शरीरमें अग्नियोंको आरोपित करके, मुझमें चित्त लगाकर अर्थात् मेरा स्मरण करता हुआ उस (अपने शरीरसे ही प्रकट हुई) अग्निमें शरीरको भस्म कर दे। यदि पुण्य-कर्म-विपाकसे किसीको अति दु:खमय होनेके कारण नरक-तुल्य इन लोकोंसे पूर्ण वैराग्य हो जाय तो आहवनीयादि अग्नियोंको त्यागकर संन्यास ग्रहण कर ले। ऐसे विरक्त वानप्रस्थको चाहिये कि वेदविधिके अनुसार (अष्टकाश्राद्ध और प्राजापात्य-यज्ञसे) यजन

* मैल बढ़ने देनेसे तात्पर्य यही है कि उबटन, तेल आदि न लगाये, साधारण मैल तो नित्य त्रिकाल स्नान करनेसे छूटता ही रहेगा। विशेष देहाध्याससे शरीर मले भी नहीं।

करके अपना सर्वस्व ऋत्विज्‌को दे दे और अग्नियोंको अपने प्राणमें लय करके निरपेक्ष होकर स्वच्छन्द विचरे। इस विचारसे कि 'यह हमारे लोकको लाँघकर परमधामको जायगा' स्त्री आदिके रूपसे देवगण ब्राह्मणके संन्यास लेते समय विघ्न किया करते हैं (अत: उस समय सावधान रहना चाहिये)।

संन्यासीके धर्म

संन्यासीको यदि वस्त्र धारण करनेकी आवश्यकता हो तो एक कौपीन और एक ऊपरसे ओढ़नेको—बस, इतना ही वस्त्र रखे और आपत्कालको छोड़कर दण्ड और कमण्डलुके अतिरिक्त और कोई वस्तु अपने पास न रखे। पहले देखकर पैर रखे, वस्त्रसे छानकर जल पिये, सत्यपूत वाणी बोले और मनसे भलीभाँति विचारकर कोई काम करे। मौनरूप वाणीका दण्ड, निष्क्रियतारूप शरीरका दण्ड और प्राणायामरूप मनका दण्ड—ये तीनों दण्ड जिसके पास नहीं है, वह केवल बाँसका दण्ड ले लेनेमात्रसे (त्रिदण्डी) संन्यासी थोड़े ही हो जायगा। जातिच्युत अथवा गोघातक आदि पतित लोगोंको छोड़कर चारों वर्णोंकी भिक्षा करे। अनिश्चित सात घरोंसे माँगे, उनसे जो कुछ मिल जाय, उसीसे सन्तुष्ट रहे। बस्तीके बाहर जलाशयपर जाकर जल छिड़ककर स्थल-शुद्धि करे और समयपर यदि कोई और भी आ जाय तो उसको भी भाग देकर बचे हुए सम्पूर्ण अन्नको चुपचाप खा ले (आगेके लिये बचाकर न रखे)। जितेन्द्रिय, अनासक्त, आत्माराम, आत्मप्रेमी, आत्मनिष्ठ और समदर्शी होकर अकेला ही पृथ्वीतलपर विचरे। मुनिको चाहिये कि निर्भय और निर्जन देशमें रहे और मेरी भक्तिसे निर्मल-चित्त होकर अपने आत्माका मेरे साथ अभेदपूर्वक चिन्तन करे। ज्ञाननिष्ठ होकर अपने आत्माके बन्धन और मोक्षका इस प्रकार विचार करे कि इन्द्रिय-चांचल्य ही बन्धन है तथा उनका संयम ही मोक्ष है। इसलिये मुनिको चाहिये कि छहों इन्द्रियों (मन एवं पाँच ज्ञानेन्द्रियों)-को जीतकर समस्त क्षुद्र कामनाओंका परित्याग करके अन्त:करणमें परमानन्दका अनुभव करके निरन्तर मेरी ही भावना करता हुआ स्वच्छन्द विचरे। केवल भिक्षाके लिये ही पुर, ग्राम, गोष्ठ और यात्रियोंमें जाता हुआ पुण्य-देश (तीर्थ-स्नानादि), नदी, पर्वत, वन और आश्रमादियुक्त भूखण्डमें विचरता रहे। भिक्षा भी अधिकतर वानप्रस्थियोंके यहाँसे ही ले; क्योंकि शिलोञ्छवृत्तिसे प्राप्त हुए अन्नके खानेसे बहुत शीघ्र ही शुद्ध चित्त और निर्मोह हो जानेसे (जीवन-मुक्तिकी) सिद्धि हो जाती है। इस नाशवान् दृश्य-प्रपंचको कभी वास्तविक न समझे; इसमें अनासक्त रहकर लौकिक और पारलौकिक समस्त कामनाओं (काम्य-कर्मों)-से उपराम हो जाय। मन, वाणी और प्राणका संघातरूप यह सम्पूर्ण जगत् मायामय ही है—ऐसे विचारद्वारा अन्त:करणमें निश्चय करके स्व-स्वरूपमें स्थित हो जाय और फिर इसका स्मरण भी न करे।

जो ज्ञाननिष्ठ विरक्त हो अथवा मेरा अहैतुक (निष्काम) भक्त हो, वह आश्रमादिको उनके चिह्नोंसहित छोड़कर वेद-शास्त्रके विधि-निषेधके बन्धनसे मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरे। वह अति बुद्धिमान् होकर भी बालकोंके समान क्रीड़ा करे, अति निपुण होकर भी जडवत् रहे, विद्वान् होकर भी उन्मत्त (पागल)-के समान बातचीत करे और सब प्रकार शास्त्र-विधिको जानकर भी पशुवृत्तिसे रहे। उसे चाहिये कि वेदविहित कर्मकाण्डादिमें प्रवृत्त न हो और उसके विरुद्ध होकर पाखण्ड अथवा स्वेच्छाचारमें भी न लग जाय तथा व्यर्थके वाद-विवादमें पड़कर कोई पक्ष न ले बैठे। वह धीर पुरुष अन्य लोगोंसे उद्विग्न न हो और न औरोंको ही अपनेसे उद्विग्न होने दे; निन्दा आदिको सहन करके कभी चित्तमें बुरा न माने और इस शरीरके लिये पशुओंके समान किसीसे वैर न करे। एक ही परमात्मा समस्त प्राणियोंके अन्त:करणमें स्थित है; जैसे एक ही चन्द्रमाके भिन्न-भिन्न जलपात्रोंमें अनेक प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, उसी प्रकार सभी प्राणियोंमें एक ही आत्मा है।

कभी समयपर भिक्षा न मिले तो दु:ख न माने और मिल जाय तो प्रसन्न न हो; क्योंकि दोनों ही अवस्थाएँ दैवाधीन हैं। प्राणरक्षा आवश्यक है, इसलिये आहारमात्रके लिये चेष्टा भी करे; क्योंकि प्राण रहेंगे तो तत्त्व-चिन्तन होगा और उसके द्वारा आत्मस्वरूपको जान लेनेसे मोक्षकी प्राप्ति होगी। विरक्त मुनिको उचित है कि दैववशात् जैसा आहार मिल जाय—बढ़िया या मामूली, उसीको खा ले; इसी प्रकार वस्त्र और बिछौना भी जैसा मिले, उसीसे काम चला ले। ज्ञाननिष्ठ परमहंस शौच, आचमन, स्नान तथा अन्य नियमोंको भी शास्त्र-विधिकी प्रेरणासे न करे, बल्कि मुझ ईश्वरके समान केवल लीलापूर्वक करता रहे। उसके लिये यह

विकल्परूप* प्रपंच नहीं रहता, वह तो मेरे साक्षात्कारसे नष्ट हो चुका; प्रारब्धवश जबतक देह है, तबतक उसकी प्रतीति होती है। उसके पतन होनेपर तो वह मुझमें ही मिल जाता है।

(अबतक सिद्ध ज्ञानीके धर्म कहे, अब जिज्ञासुके कर्तव्य बताते हैं—) जिस विचारवान्‌को इन अत्यन्त दु:खमय विषय-वासनाओंसे वैराग्य हो गया है और मेरे भागवत-धर्मोंसे जो अनभिज्ञ है, वह किन्हीं 'विरक्त' मुनिवरको गुरु मानकर उनकी शरणमें जाय। उन गुरुदेवको मेरा ही रूप जानकर वह अति आदरपूर्वक भक्ति और श्रद्धासे तबतक उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगा रहे जबतक कि उसको ब्रह्मज्ञान न हो जाय तथा उनकी कभी किसीसे निन्दा न करे। जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन छ: शत्रुओंको नहीं जीता, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े अति प्रचण्ड हो रहे हैं, तथा जो ज्ञान और वैराग्यसे शून्य है, तथापि दण्ड-कमण्डलुसे पेट पालता है, वह यतिधर्मका घातक है और अपनी इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको, अपनेको और अपने अन्त:करणमें स्थित मुझको ठगता है; वासनाके वशीभूत हुआ वह इस लोक और परलोक दोनों ओरसे मारा जाता है।

सबके धर्म

शान्ति और अहिंसा यति (संन्यासी)-के मुख्य धर्म हैं, तप और ईश्वर-चिन्तन वानप्रस्थके धर्म हैं, प्राणियोंकी रक्षा और यज्ञ करना गृहस्थके मुख्य धर्म हैं तथा गुरु-सेवा ही ब्रह्मचारीका परम धर्म है। ऋतुगामी गृहस्थके लिये भी ब्रह्मचर्य, तप, शौच, सन्तोष और भूत-दया—ये आवश्यक धर्म हैं और मेरी उपासना करना तो मनुष्यमात्रका परम धर्म है। इस प्रकार स्वधर्म-पालनके द्वारा जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरी भावना रखता हुआ अनन्यभावसे मेरा भजन करता है, वह शीघ्र ही मेरी विशुद्ध भक्ति पाता है। हे उद्धव! मेरी अनपायिनी (जिसका कभी ह्रास नहीं होता, ऐसी) भक्तिके द्वारा वह सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी और सबकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके आदि कारण मुझ परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार स्वधर्मपालनसे जिसका अन्त:करण निर्मल हो गया है और जो मेरी गतिको जान गया है, ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न हुआ वह शीघ्र ही मुझको प्राप्त कर लेता है। वर्णाश्रमाचारियोंके धर्म, आचार और लक्षण ये ही हैं; इन्हींका यदि मेरी भक्तिके सहित आचरण किया जाय तो ये परम नि:श्रेयस (मोक्ष)-के कारण हो जाते हैं। हे साधो! तुमने जो पूछा था कि स्वधर्मका पालन करता हुआ भक्त पुरुष किस प्रकार मुझको प्राप्त होता है सो यह सब मैंने तुमसे कह दिया।

(श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्ध)

साधकोंसे

संसारमें अधिक लोग तो ऐसे हैं, जिनका भगवान्‌के भजनसे कोई सरोकार नहीं है; वे ईश्वरको मानते तो हैं, परन्तु उनका वह मानना प्राय: न मानने-जैसा ही है। वे शरीर, धन, स्त्री, पुत्र, मान, यश आदिमें ही परम सुख मानकर दिन-रात उन्हींकी चिन्तामें लगे रहते हैं। उनके चित्तको क्षणभरके लिये भी भगवच्चिन्तनकी आवश्यकताका विचार करनेके लिये भी अवसर नहीं मिलता। इन लोगोंमें कुछ तो ऐसे हैं, जो इन सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति और रक्षाके लिये भी यथार्थरूपसे उत्साहरहित निर्दोष चेष्टा न करके या तो शरीरके आराम, प्रमाद और इन्द्रियोंकी तृप्तिमें ही लगे रहते हैं या भाँति-भाँतिके दुराचरण और पाप करके जीवनको और भी कलुषित, अशान्त और दु:खमय बना लेते हैं।

कुछ लोग ऐसे हैं, जो तर्क और प्रत्यक्षवादका आश्रय लेकर मोहसे ढकी हुई बुद्धिके अभिमानमें ईश्वरका विरोध करते हैं; ये जब ईश्वरके अस्तित्वको ही नहीं मानते, तब उसके भजनकी आवश्यकताको क्यों समझने लगे।

कुछ लोग ऐसे हैं, जो भगवान्‌का भजन करनेमें स्वयं तो कोई दिलचस्पी नहीं रखते और न भजन या परमार्थपथमें लगना ही चाहते हैं, पर सांसारिक कामनाओंकी पूर्तिके लिये भोले लोगोंको ठगनेके उद्देश्यसे भक्त, ज्ञानी,

* भगवान् पतंजलिने योगदर्शनमें विकल्पका यह लक्षण किया है—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प:' अर्थात् जिसमें केवल शब्दज्ञान ही हो, शब्दकी अर्थरूप वस्तुका सर्वथा अभाव हो, वह विकल्प है। यह संसार भी—जैसा कि श्रुति भी कहती है—'वाचारम्भणमात्र' अर्थात् शब्दजालरूप ही है, वस्तुत: कुछ नहीं है; इसलिये इसे भी विकल्प कहा है।

साधु, महात्मा या सिद्ध पुरुषका-सा स्वाँग धारण किये रहते हैं। इनमेंसे कुछ लोग तो बड़े ही चालाक होते हैं, जो जीवनभर दम्भको निभा देते हैं। ये वस्तुत: अत्यन्त ही निष्कृष्ट जीव हैं और बड़े ही मूर्ख हैं। ये मनुष्य-जीवनको व्यर्थ ही नहीं खोते वरं बहुत बड़ा पापका बोझा बाँधकर ले जाते हैं। दम्भीलोग ईश्वरसे नहीं डरते; वे स्वेच्छाचारी होते हैं और दुनियाको ठगनेके लिये निरंकुश होकर नाना प्रकारके समयानुकूल वेष धारण करते हैं। ऐसे लोग असली ईश्वर-भजनकी जरूरत समझते ही नहीं। ये नास्तिकोंसे भी गये-बीते होते हैं। ईश्वरको न माननेवाले ईमानदार नास्तिक तो समझमें आनेपर ईश्वरको स्वीकार भी कर सकते हैं; क्योंकि वे सच्चे होते हैं; परन्तु दम्भी मनुष्यके लिये समझनेका और स्वीकार करनेका कोई प्रश्न ही नहीं रहता।

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो विषयोंके साथ ही भगवान्‌में भी कुछ प्रेम रखते हैं। वे समय और सुभीता मिलनेपर सत्संग, सेवा, दान, पुण्य, नित्यकर्म, स्वाध्याय, भजन आदि भी करते हैं; परन्तु भगवान्‌का महत्त्व बहुत कम समझनेके कारण इनकी विषयासक्ति कम नहीं होती, इससे इनके द्वारा न तो भजन ही बढ़ता है और न उसमें शुद्ध निष्कामभाव और अनन्यभाव ही आता है। अवश्य ही ये ईश्वर और पापसे डरते हैं और यथासाध्य पापसे बचनेकी कोशिश करते हैं; ऐसे पुण्यकर्मा विषयासक्त लोग विपरीत करनेवाले या कुछ भी न करनेवाले मनुष्योंकी अपेक्षा बहुत ही अच्छे हैं।

थोड़े ही लोग ऐसे हैं, जिनके मनमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा जागती है और वे उसके लिये साधनामें लगते हैं; परन्तु उनमें भी बहुत ही थोड़े ऐसे होते हैं, जो ध्येयकी प्राप्तितक साधनामें भलीभाँति लगे रहकर उत्तरोत्तर अग्रसर होते हैं। इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई विरला ही मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्धोंमें भी कोई विरला ही मुझको तत्त्वसे जानता है।'

इसका कारण यही है कि साधनामें प्रवृत्त होनेके समय प्राय: मनमें जैसी शुद्ध भावना, उत्साहकी वृत्ति, तत्परता और प्रीति देखी जाती है, वैसी आगे चलकर रहती नहीं। मूलमें ही बहुत मन्द मुमुक्षा होनेके कारण आगे चलकर भिन्न-भिन्न हेतुओंसे साधनामें शिथिलता आ जाती है, तत्परता नहीं रहती और प्रीति बहुत कम हो जाती है। साधना भार-सी मालूम होने लगती है, उसमें कोई रस नहीं आता। इससे कुछ लोग तो साधनाको छोड़ बैठते हैं और कुछके हृदयमें दम्भ आ जाता है। थोड़े ही ऐसे बचते हैं, जो साधनामें लगे रहते हैं; परन्तु उनमें भी बहुत-से ऐसे होते हैं, जो थोड़ी-सी सिद्धिमें ही अपनेको कृतार्थ मानकर साधना छोड़ देते हैं और भगवान्‌की तत्त्वत: प्राप्तिसे वंचित रह जाते हैं। इसलिये साधकोंको कुछ ऐसी बातोंका खयाल रखना चाहिये, जिनसे उनकी साधनामें शिथिलता न आने पाये और अन्ततक साधना छूटे नहीं। इसी विचारसे यहाँ साधकोंके लिये कुछ आवश्यक बातें लिखी जाती हैं—

१—भगवत्प्राप्ति ही जीवनका एकमात्र उद्देश्य है, इस बातका बहुत ही दृढ़रूपसे निश्चय कर लें। इस लक्ष्यसे कभी डिगें नहीं। संसारके सुख-दु:ख, हानि-लाभ, नाना प्रकारके प्रलोभन किसी तरह भी मनको इस लक्ष्यसे च्युत न कर सकें—इस तरहका निश्चित लक्ष्य बना लें और केवल उसी ओर दृष्टि रखते हुए मार्गके विघ्नोंको वीरता-धीरतापूर्वक हटाते हुए तेज चालसे आगे बढ़ते रहें।

२—लक्ष्यकी सिद्धिके लिये साधना स्थिर करें। साधना सबके लिये एक-सी नहीं होती। लक्ष्य वह स्थान है, जहाँ सबको पहुँचना है और साधना उसके मार्ग हैं। यदि सब लोग यह कहें कि हम तो एक ही रास्तेसे और एक ही चालसे वहाँ जायँगे तो उनका यह कहना भ्रमयुक्त है; भिन्न-भिन्न दिशाओंमें रहनेवाले भिन्न-भिन्न स्थितियोंके मनुष्योंका एक रास्ते और एक चालसे चलना सम्भव नहीं है। आसाम, कराची, मद्रास और बद्रिकाश्रम—इन चार स्थानोंके चार पुरुष काशी जाना चाहते हैं। परन्तु वे यदि कहें कि हम एक ही मार्गसे और एक ही चालसे जायँगे तो यह उनकी भूल है; क्योंकि वे चार भिन्न-भिन्न दिशाओंमें हैं, उनको अपने-अपने रास्तोंसे ही जाना पड़ेगा और उन चारों स्थानोंकी दूरीमें, रास्तेकी बनावटमें और सवारियोंमें भी भेद है, ऐसी हालतमें वे एक चालसे भी नहीं चल सकते। हाँ, समीप पहुँचनेपर वे एक रास्तेपर आ सकते हैं। बस, यही बात साधनक्षेत्रमें है। जो लोग सबको

एक मार्ग और एक चालसे चलाना चाहते हैं, वे स्वयं न तो पहुँचे हुए हैं और न मार्गका ही उन्हें अनुभव है। अतएव अपने उपयुक्त साधनाकी जानकारीके लिये किसी जानकारकी शरण लेनी चाहिये। अपनी दृष्टिमें जो सबसे बढ़कर ऊँची स्थितिपर पहुँचे हुए महात्मा, त्यागी, दैवीसम्पत्तियुक्त और भगवत्प्राप्त पुरुष दीख पड़ें, श्रद्धा-भक्तिसहित जिज्ञासुके भावसे उनकी शरण लें। (शरण होनेके पहले आजकलके जमानेमें इतना अवश्य देख लेना चाहिये कि वे 'कामिनी-कांचनके फन्देमें तो नहीं फँसे हैं।' चाहे कामिनी-कांचनका संसर्ग दिखावटी ही हो, परन्तु उस दिखावटका आप निश्चय नहीं कर सकते; इसलिये आपको तो वहाँसे डरना ही चाहिये।) और अपनी बुद्धिका अभिमान छोड़कर नम्रता और सेवासे उन्हें प्रसन्न करके अपने अधिकारके उपयुक्त साधना उनसे पूछें तथा वे जो कुछ साधना बतला दें, उसे श्रद्धा, तत्परता और इन्द्रियसंयमके साथ करने लगें। उनकी बतलायी हुई साधना चाहे देखनेमें बहुत ऊँची न हो, चाहे दूसरे साधकोंकी साधनाओंसे वह नीचे दर्जेकी समझी जाती हो, चाहे उसमें प्रत्यक्ष लाभ न दीखता हो और चाहे कुछ दिनोंके अभ्याससे कोई शान्ति भी नहीं मिली दीखती हो, तथापि उसे छोड़ें नहीं और इसके परिणाममें अवश्य ही कल्याण होगा, ऐसा निश्चय करके उनके आज्ञानुसार साधना करते ही रहें। याद रखना चाहिये कि एक दवा बहुत मूल्यवान् है और बहुत ही कठिनतासे मिलती है, परन्तु वह हमारे रोगकी निवृत्ति करनेमें समर्थ नहीं है और दूसरी कौड़ियोंकी है तथा सहज ही मिलती है, परन्तु वह हमारे रोगके लिये लाभदायक है, तो वही हमारे कामकी है और उसीसे हमारा रोग नाश हो सकता है। सद्गुरु महात्मा पुरुष हमारी स्थितिको पहचानकर हमारे लिये जिस साधनका विधान कर देंगे, वही हमारे लिये हितकर है—यह विश्वास रखना चाहिये। रोगका निदान निपुण वैद्य ही कर सकता है, रोगी नहीं। जो रोगी अनुभवी निपुण वैद्यके निदानको न मानकर मनमानी करता है, वह तो मरता ही है। फिर महात्माओंकी वाणीमें भी तो बल होता है, सत्यकाम जाबालको सिद्ध सद्गुरुने कहा कि 'इन चार सौ पशुओंको जंगलमें ले जाओ, इनकी सेवा करो; ये जब पूरे एक हजार हो जायँ, तब लौट आना।' श्रद्धालु शिष्यने यह नहीं विचार किया कि मैं आया था ब्रह्मज्ञानकी साधना पूछने और ये मुझको पशुओंके पीछे क्यों भेज रहे हैं। वह आज्ञानुसार गोसेवामें लग गया और हजार गौओंको लेकर लौटते समय राहमें ही उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी।

३—अपने लिये जो साधना स्थिर हो, उसके करनेमें जी-जानसे अपनेको लगा दें। आलस्य, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, सन्देह, दोषदृष्टि, कुतर्क, अश्रद्धा, अनियमितता आदि दोषोंसे सर्वथा बचकर नियमित साधना करें। जबतक उस साधनाका पूरा परिणाम सामने न आ जाय, तबतक उसे बदलें नहीं। पहलेका रास्ता तै होनेपर ही दूसरा रास्ता पकड़ा जाता है; जो पहले ही रास्तेको बार-बार बदलता रहता है, वह तो आगे बढ़ ही नहीं सकता, उसका सारा समय राह बदलनेमें ही बीत जाता है।

४—यह कभी न सोचें कि सिद्धि प्राप्त करनेके बाद साधनाको छोड़ ही देना है। बल्कि यह निश्चय करें कि जिस साधनासे सिद्धि मिली, वह तो हमारे लिये परम प्रिय वस्तु है; उसे कभी छोड़ना ही नहीं है। काकभुशुण्डिने कहा था कि 'मैं इसीलिये कौएका शरीर नहीं छोड़ता कि मुझे इसीमें श्रीरामका प्रेम प्राप्त हुआ और श्रीरामके दर्शन मिले थे।' अतः यह शरीर मुझे बहुत प्यारा है।

ताते यह तन मोहि प्रिय भयउ राम पद नेह।
निज प्रभु दरसन पायउँ गए सकल संदेह॥

दूसरी बात यह है कि साधना छोड़नेकी कल्पना होनेसे मनुष्यको आगे चलकर वह साधना भार-सी प्रतीत होने लगती है। वह सोचता है, 'इतने दिन हो गये इस साधनाको करते, अब इसे कबतक करता रहूँगा। इससे कुछ होता तो दिखायी देता नहीं, छोड़ दूँ इस बखेड़ेको।' इस प्रकारके विचारसे साधक साधनाको छोड़ बैठता है और वह उसी पथिककी भाँति, जो अपने गाँवसे गंगा नहानेको चलकर अस्सी कोस चला आया, परन्तु फिर यह सोचकर कि 'इतना चला, अभी तो गंगाजी आयीं ही नहीं। पता नहीं कब आयेंगी, चलो, लौट चलें।' बीस ही कोस और चलनेसे असमर्थ होकर गंगास्नानसे वंचित रह जाता है, थोड़ी-सी साधनाके अभावसे बहुत दूरतक जाकर भी लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं कर पाता।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि साधनाके मार्गमें ही कई बार साधक अपनेमें दोषोंका अभाव

देखकर भ्रमसे यह मान बैठता है कि मैं लक्ष्यपर पहुँचकर कृतकृत्य हो गया हूँ; ऐसी स्थितिमें जिसका पहलेसे साधना छोड़नेका निश्चय होता है, वह साधना छोड़कर निश्चिन्त-सा हो जाता है। परन्तु साधनरहित अवस्थामें कुसंग पाकर दबे हुए या दुर्बल हुए दोष पुनः जाग उठते हैं और बलवान् हो जाते हैं। किन्तु जिसका किसी भी अवस्थामें साधन न छोड़नेका निश्चय होता है, वह साधना करता ही रहता है; इससे दबे दोषोंको सिर उठानेका अवसर ही नहीं मिलता और क्षीण होते-होते अन्तमें वे मर ही जाते हैं। यह सत्य है कि परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद कोई साधना नहीं करनी पड़ती। उसकी स्वाभाविक ही ऐसी स्थिति होती है, उसमें स्वाभाविक ही ऐसे सद्‌गुणोंका प्रादुर्भाव हो जाता है कि उसका संग करके, उसको देखकर, यहाँतक कि उसके गुण सुनकर ही दुराचारी पुरुष भी साधनमें लग जाते हैं। वह कुछ भी करनेकी इच्छा नहीं करता, उसके लिये कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता; तथापि उस महापुरुषसे सम्बन्धित शरीर, मन-वाणीसे जो कुछ भी होता है, सब पवित्र और लोककल्याणकारी ही होता है। इसीलिये मुक्त पुरुषोंके लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेकी बात कही गयी है।

वस्तुतः भगवत्प्राप्तिके बाद क्या होता है और क्या होना चाहिये—इसकी यथार्थ मीमांसा भगवत्प्राप्तिसे पूर्व कोई कर नहीं सकता और भगवत्प्राप्तिके बाद इसकी आवश्यकता रहती नहीं। परन्तु साधकका तो यही निश्चय होना चाहिये कि अपने तो साधनावस्था और सिद्धावस्था दोनोंमें ही साधनाको पकड़े रहना है। पहले प्राप्तिके लिये और प्राप्ति होनेपर पूर्व अभ्यासके कारण अथवा लोकसंग्रहार्थ। उनका उसीमें कल्याण है। अतएव किसी भी अवस्थामें साधनाको छोड़ देना साधकके लिये हानिकारक है।

५—साधक तीन चीजोंकी बड़ी सावधानीसे प्राप्ति और रक्षा करते रहें—

(१) उच्चभाव—भगवत्प्राप्तिके अतिरिक्त मनमें और कोई भी कामना कभी न उठने पाये। भगवत्प्राप्तिकी भी कामना न रहकर केवल भजनकी ही कामना हो तो और भी उत्तम है। भगवत्प्राप्ति या मोक्षकी कामना यद्यपि समस्त कामनाओंका सर्वथा नाश करनेवाली होनेसे कामना नहीं है, तथापि विशुद्ध प्रेम, अनन्यशरणागति अथवा तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंकी उच्चता देखते तो कोई भी कामना—भले ही वह कितनी ही विशुद्ध अथवा उच्च हो—नहीं होनी चाहिये, परन्तु ऐसा न हो तो भी आपत्ति नहीं है। हाँ, भोग-कामना तो सर्वथा त्यागनी ही चाहिये। स्त्री, पुत्र, धन, शरीरका आराम, मान-बड़ाई, स्वर्गसुख आदि इस लोक और परलोकके किसी भी दुर्लभ-से-दुर्लभ माने जानेवाले पदार्थके लिये मनमें कामनाकी गन्ध भी कल्पनामें भी न रहने पाये। यही उच्चभाव है।

(२) दैवी सम्पत्ति—भगवत्प्राप्तिकी इच्छा तभी समझी जाती है, जब कि संसारके सारे भोगोंकी इच्छा सर्वथा नष्ट होकर एक भगवान्‌को पानेकी ही अमिट और अति उत्कट लालसा हृदयमें जाग उठे। इस महान् विशुद्ध इच्छाकी जागृति तभी होती है, जब आसुरी सम्पदाका नाश होकर चित्त दैवी सम्पदाका अटूट भण्डार हो जाता है। जबतक एक भी आसुरी सम्पदाकी वस्तु हमारे मनमें है, तबतक मोक्ष या भगवत्प्राप्तिकी कामना त्याग करनेकी बात तो दूर रही, मोक्षकी यथार्थ इच्छा ही नहीं हुई है। साधकको बड़ी ही सावधानीसे आसुरी सम्पदाको खोज-खोजकर उसका नाश कर देना चाहिये।

यह विश्वास रखना चाहिये कि हमारे द्वारा जो कुछ दुष्कर्म बनते हैं या हमारे हृदयमें जो भी दुर्भाव रहते हैं, उसमें भूलसे हो, प्रमादसे हो या कमजोरीसे हो, हमारी आत्माकी अनुमति अवश्य रहती है। यदि आत्मा बलपूर्वक मनसे कह दे कि 'आजसे एक भी पापवृत्तिको अपनेमें नहीं रख सकते।' और पापवृत्तियोंको ललकारकर कह दे कि, 'जाओ, निकल जाओ, यहाँसे तुरन्त; यहाँ रहे तो समूल नष्ट हो जाओगे।' तो मनकी हिम्मत नहीं कि एक भी दोषको अपनेमें स्थान दे सके और पापवृत्तियोंकी शक्ति नहीं कि क्षणभर भी वे हमारे अन्दर ठहर सकें। आत्माके समान बलवान् और कोई भी नहीं है। आत्माके ही बलको पाकर सब बलवान् हैं। आत्माकी शक्तिसे ही सबमें शक्ति है। शक्तिका मूल उद्‌गम स्थान और पूर्ण केन्द्र तो आत्मा ही है। यही सबका सचेतन शक्तिधाम है। भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

(गीता ३। ४३)

'इस प्रकार आत्माको बुद्धिसे भी परम शक्तिमान् और श्रेष्ठ जानकर अपने द्वारा इन सबको—बुद्धि, मन,

इन्द्रिय, शरीरादिको वशमें करके हे महाबाहो! इस ज्ञानियोंके नित्य वैरी और सब पापोंके मूल दुर्जय कामरूपी शत्रुको मार डालो।'

भगवान्‌की इस वाणीसे यह निश्चय होता है और सन्तोंका ऐसा अनुभव भी है कि आसुरी सम्पदा और उसके प्रधान आधार काम, क्रोध, लोभादिका नाश करके दैवी सम्पदाका अर्जन करना भगवत्कृपासे हमारे लिये कोई बड़ी बात नहीं है, बस, आत्मामें बलवती आज्ञाशक्तिका प्रकाश हो जाना चाहिये, जो उसका स्वरूप है; फिर आसुरी सम्पत्तिका विनाश और दैवी सम्पत्तिका विकास होते देर नहीं लगती। आत्माकी जागृति होते ही आसुरी सम्पदाएँ भागने लगती हैं और दैवी सम्पदाओंका प्रवाह चारों ओरसे आने लगता है।

(३) अन्तर्मुखी वृत्ति—इन्द्रियोंकी और मनकी दृष्टि सदा बाहरकी ओर ही होती है। इसीसे स्वाभाविक ही चित्तवृत्ति बहिर्मुखी रहती है। साधक यदि विशेषरूपसे सावधान रहें तो उनकी साधनाका लक्ष्य विचार-बुद्धिसे भगवान् होनेपर भी क्रियारूपमें विषय-भोग ही बना रह जाता है। वे अपनी प्रत्येक साधनाको बाहरी शक्तिसे शक्तिसम्पन्न बनाने और बाहर ही उसका विकास देखनेकी इच्छा करते हैं। सारी शक्ति भगवान्‌से, जो नित्य हमारे अन्दर आत्मारूपसे भी विराजित हैं, जाती हैं और सारी शक्तियोंसे उन्हींकी हमें पूजा करनी है। इस बातको साधक प्रायः भूल जाते हैं इससे उनका चित्त बाहर-ही-बाहर भटकता है और इसी हेतुसे वे साधनाके फलस्वरूप अवश्य प्राप्त होनेवाली यथार्थ शान्तिको नहीं पाते। वृत्तिको बाहरसे हटाकर अन्दर लगानेके लिये, विषयरूप संसारसे हटाकर सच्चिदानन्दघन परमात्मामें जोड़नेके लिये यथावश्यक एकान्तवास, जप, स्वाध्याय आदि उपाय करने चाहिये। किसी भी तरहसे हो, चित्त आठों पहर भगवान्‌में ही लगा रहे—ऐसा प्रयत्न किये बिना साधकको सहज ही सफलता नहीं मिलती!

६—साधनाको निरुपद्रव और सफल बनानेके लिये शरीर, वाणी और मन—तीनोंके ही संयमकी आवश्यकता है। शरीरसे चोरी, मैथुन, हिंसा, दूसरेका अपमान, टेढ़ापन या ऐंठ, आराम-तलबी, अपवित्रता, व्यर्थ क्रिया और कुसंगतिमें बैठना आदिका त्याग करे। वाणीसे असत्य, अप्रिय, अहितकर वचन, चुगली, निन्दा, अधर्मयुक्त परचर्चा और व्यर्थ वचनोंका त्याग करे। मौन रहनेसे भी वाणीके बहुत दोषोंका नाश हो सकता है। मनसे शोक, निर्दयता, द्वेष, वैर, हिंसा, अशुद्ध विचार, भोग-कामना, परदोषचिन्तन और व्यर्थ चिन्तनका त्याग करना चाहिये। इस विषयमें विवेकयुक्त होकर विशेष सावधानी रखनी चाहिये। एक मनुष्य स्त्रियोंमें नहीं बैठता, परन्तु स्त्रियोंके चित्र देखता है, स्त्रीसम्बन्धी पुस्तकें पढ़ता है, तो वह स्त्रीसंग करता ही है। एक मनुष्य कुसंगमें नहीं जाता, परन्तु बुरे-बुरे चित्र देखता है और पुस्तकों आदिमें लिखी गन्दी बातें पढ़ता है, वह भी कुसंग ही करता है। बल्कि मनमें स्त्रीचिन्तन और कुविचार जबतक है, तबतक यही समझना चाहिये कि इनका यथार्थ त्याग हुआ ही नहीं। परन्तु इतना ध्यान रहे कि जिस दोषका जिस किसी प्रकारसे जितने भी अंशमें त्याग हो, उतना ही लाभकारी है। मनमें संयम नहीं होनेपर भी वाणी और शरीरका संयम तो करना ही चाहिये। वह मनके संयममें बहुत सहायक होता है।

साधक यह न समझें कि हम साधन करते ही हैं, फिर इस संयमकी हमें क्या आवश्यकता है। उन्हें याद रखना चाहिये कि जबतक भगवत्प्राप्ति नहीं होती, तबतक हमारे अन्दर रहनेवाले अज्ञानजनित दोषों और विकारोंका सर्वथा नाश नहीं होता, वे संयम, सत्संग और साधनाके कारण छिपते हैं, दबते हैं और क्षीणबल होते हैं। यदि संयमयुक्त सत्संग और साधना चलती रहे तो क्षीण होते-होते वे भगवत्प्राप्ति होनेके साथ ही नष्ट हो जाते हैं; परन्तु यदि संयम न रहे तो अनुकूल वातावरण पाकर वे उसी तरह बलवान् हो जाते हैं और हमारी साधन-सम्पत्तिको लूट लेते हैं; जैसे घरके भीतर छिपे हुए डाकू बाहर डाकुओंका दल देखकर बलवान् हो जाते हैं, उनका साहस बढ़ जाता है और वे हमला करनेकी तैयारी करने लगते हैं। और यदि दोनों ओरसे आक्रमण होता है तो गृहस्थको प्रायः लुटना ही पड़ता है। इस प्रकार बाहरके दोषोंका सहारा पानेसे अन्दरके दोष बढ़कर हमारी सारी साधनाको नष्ट कर देते हैं। इसलिये मन, वाणी और शरीरके अटूट संयमके बलसे अन्दरके दोषोंको सदा दबाते और मारते रहना चाहिये तथा बाहरके नये दोषोंको जरा भी आने नहीं देना चाहिये। साधकको निरन्तर आत्मनिरीक्षण करते रहना चाहिये और जरा-से भी दोषको देखते ही उसे मारना चाहिये।

७—साधकको उपदेशक, नेता, गुरु, आचार्य और

पंच आदि नहीं बनना चाहिये। संसारमें अपने-अपने क्षेत्रोंमें इन सभीकी आवश्यकता और उपादेयता है, परन्तु ये सभी साधन संसारसे बाहरकी चीजें हैं। या तो विषयी पुरुष आसक्तिवश इनमें रहते हैं या नि:संग और निष्काम मुक्त पुरुष जलमें कमलके पत्तेकी तरह निर्लेप रहकर (**'पद्मपत्रमिवाम्भसा'**) लोकसंग्रहार्थ ये कार्य करते हैं। साधकोंके लिये तो इन्हें अपने मार्गके विघ्न समझकर इनसे दूर रहना ही श्रेयस्कर है।

पहले-पहले अच्छे साधक पुरुष नि:स्वार्थ दया या लोकहितके उद्देश्यसे ही इन कामोंमें पड़ते हैं; परन्तु पीछे जब इनका विस्तार होता है और राग-द्वेषमय जगत्से रात-दिनका सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है, तब बहुत बुरी दशा होती है। जिस मोहको छोड़नेके लिये साधना आरम्भ की थी, वही दूसरे रूपमें उन्हें आ घेरता है। मोहकी प्रबलतासे सारी साधना छूट जाती है और वह विरक्त साधुको भी साधुके वेशमें ही पूरा प्रपंची बना देता है।

इसके सिवा एक बात और भी है। भगवत्प्राप्त पुरुष तो आलोचनासे परे हैं; परन्तु साधारण साधक जब उपदेशक, नेता, गुरु, आचार्य या पंच बन जाता है, तब वह अपनेको, अपने लक्ष्यको और अपनी स्थितिको प्राय: भूल-सा जाता है। वह जो कुछ कहता है दूसरोंके लिये ही कहता है; परिणाम यह होता है कि जिन दोषों और बुराइयोंसे बचनेका वह दूसरोंको उपदेश देता है; स्वयं उन्हींको आवश्यक और अनिवार्य समझकर अपनाये रखता है। उसका जीवन बहुत ही बाह्य बन जाता है। इसीके साथ-साथ उसमें पूजा-प्रतिष्ठा और मान-बड़ाईकी इच्छा प्रबलरूपसे जाग्रत् और विस्तृत होती है, जो उसे साधनपथसे सर्वथा गिरा देती है।

साथ ही साधकको बहुधन्धी भी नहीं होना चाहिये। इतना कार्य अपने पीछे कभी नहीं लगा रखना चाहिये, जिससे उसे भजन और ध्यान आदि आवश्यक साधनांगोंकी पूर्तिके लिये अवकाश ही न मिले। शास्त्रार्थ या विवादमें पड़ना भी साधकके लिये बहुत हानिकर है।

इसलिये मान-सम्मान, अभिमान-गर्व, पूजा-प्रतिष्ठा आदिसे तथा उपर्युक्त दोषोंसे बचनेके लिये साधकको जहाँतक हो सके, प्रसिद्धिके कार्योंसे सर्वथा अलग ही रहना चाहिये।

यह स्मरण रखना चाहिये कि ईश्वरकी दृष्टिमें जो उत्तम है, वही उत्तम है; क्योंकि उन्हींकी दृष्टि निर्दोष एवं सत्य है। मनुष्यके द्वारा उत्तम कहलानेसे कुछ भी नहीं बनता। भीतरकी न जाननेवाली जनता तो दम्भीकी भी प्रशंसा कर सकती है।

८—साधकको यह दृढ़ और अटूट विश्वास रखना चाहिये कि भगवान्के शरणागत, साधनमें लगे हुए सच्चे पुरुषके लिये भगवत्कृपाके बलसे लक्ष्यको प्राप्त करना जरा भी कठिन नहीं है। निराशाकी तो बात ही क्या, उसे कठिनता भी नहीं होती। भगवान्पर विश्वास करना सब सफलताओंकी एक कुंजी है। भगवान् या आत्माकी शक्ति अप्रतिहत और अमोघ है। जो इस शक्तिका आश्रय लेता है, वह सभी क्षेत्रोंमें निश्चय ही सफल होता है। कोई भी विघ्न ऐसा नहीं, जिसपर विजय पाना इसके लिये असम्भव हो।

हाँ, साधकको यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि भ्रमसे, प्रमादसे और असावधानीसे कहीं वे भगवान्की इस अमोघ शक्तिके बदले शरीर और विषयजन्य आसुरी शक्तिका तो आश्रय नहीं ले रहे हैं। उनका मन उन्हें धोखेमें रखकर कहीं दुनयावी पदार्थों, मनुष्यों, साधनों और विचारोंका तो अवलम्बन नहीं पकड़ रहा है।

९—साधनामें सफलता प्राप्त करनेके लिये प्रतिदिन नियमित समयपर सर्वशक्तिमान् परम दयामय भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये। प्रार्थना अपनी भाषामें अपने भावोंके अनुसार की जा सकती है। प्रार्थनाका कैसा रूप होना चाहिये, इस विषयमें नमूनेके तौरपर पाठक-पाठिकाएँ नीचे लिखी पंक्तियोंको ध्यानमें रख सकते हैं—

'हे प्रभो! मैं सब कुछ भूलकर केवल तुम्हें याद रख सकूँ, सब कुछ खोकर केवल तुम्हें पानेका प्रयत्न करूँ, मुझे ऐसा मन और ऐसी बुद्धि दो! हे अन्तर्यामी! मेरे मन-समुद्रमें जो-जो तरंगें उठती हैं, तुमसे एक भी छिपी नहीं है; प्रभो! इन सारी तरंगोंको मिटाकर इसे शान्त कर दो, इस समुद्रको क्षीरसागर बनाकर तुम स्वयं मेरी माता श्रीलक्ष्मीजीसहित इसमें विराजो अथवा इसको बिलकुल सुखा ही दो।'

'हे महामहिम! मैं बड़ा ही मूढ़ हूँ; इसीसे तुम्हारे चरणोंकी ओर न झुककर, तुम्हारी अलौकिक अनूप रूपसुधाके लिये न तरसकर बुद्धिमान् और अनुभवी पुरुष जिन भोगोंको दु:खप्रद, अशान्तिप्रद और नरकप्रद बतलाते हैं, उन्हींके पीछे पागल हो रहा हूँ। इसका कारण यही है कि मैं मूर्ख तुम्हारी महान् महिमाको,

तुम्हारे अनन्त गुणोंको, तुम्हारे परम तत्त्वको, तुम्हारे गूढ़तम रहस्यको नहीं जानता; जानूँ भी कैसे। मैं तो मूढ़ हूँ ही, बड़े-बड़े विद्वान् तथा तपस्वी, ज्ञानी और योगी भी तुम्हारे यथार्थ स्वरूपको नहीं पहचानते। तुम्हें वही पहचान सकते हैं, वही जान सकते हैं, जिनको कृपापूर्वक तुम अपनी पहचान बता देते हो, अपनी जानकारी करा देते हो; तो प्रभो! मुझपर भी कृपा करके अपनी पहचान मुझे करा दो न। तुम्हारी महान् महिमाके ज्ञानसे मेरी मूढ़ताको मिटते क्या देर लगेगी।'

'सुना है तुम्हारी ओर आकर्षित हुए बिना, तुम्हें चाहे बिना तुम कृपा नहीं करते; तो क्या तुम्हारी कृपामें भी विषमता है? नहीं, नहीं! ऐसा नहीं हो सकता। तुम तो समताकी मूर्ति हो, तुम्हारे लिये अपना-पराया कोई नहीं; फिर क्या बात है जो मैं तुम्हारी कृपासे वंचित हूँ? महात्मालोग कहते हैं, प्रभुकी तो सभी जीवोंपर अपार कृपा है; परन्तु उस कृपाका लाभ उन्हींको होता है, जो उसे पहचानते हैं, उसका अनुभव करते हैं। ठीक है, यही बात होगी; पर मैं मूढ़ तुम्हारी उस अनन्त असीम सर्वत्रव्यापिनी कृपाको कैसे पहचानूँ, कैसे अनुभव करूँ? इसके लिये भी तुम्हींको कृपा करनी पड़ेगी, तुम्हीं अपनी इस महती कृपासे मुझे दर्शन करा दो; नहीं तो ऐसे अपने भक्त सन्तोंकी कृपा मुझे दिला दो, जो तुम्हारी परम कृपाको पहचान-जानकर उससे लाभ उठा रहे हैं। प्रभो! मेरी नीचताकी ओर न देखकर अपने विरुदकी ओर देखो!'

'पर मैं मूढ़ सन्तोंको पाऊँ कहाँ? उन्हें पहचानूँ कैसे? यह काम भी तुम्हारी कृपाको ही करना पड़ेगा। मुझे सच्चे सन्तसे मिला दो और उसका परिचय भी करा दो, जिसके अनुग्रहसे मैं तुम्हारी कृपाको पहचान सकूँ, जिसके संगसे मेरे हृदयसे अज्ञानका परदा दूर हो जाय, जिसके सेवनसे मेरी मोहकी गाँठें टूट जायँ और जिसका हाथ पकड़कर मैं तुम्हारे चरणोंतक पहुँचकर तुम्हारी पावन चरण-धूलि प्राप्तकर अपनेको धन्य कर सकूँ।'

'दयामय! मेरे नीच जीवनकी प्रत्येक बातका तुम्हें पता है; तुमसे क्योंकर छिपाऊँ, क्यों छिपाऊँ और क्या छिपाऊँ? लोग मुझे अच्छा समझते हैं; परन्तु मैं कैसा हूँ, इसको तुम तो भलीभाँति जानते हो! यह दम्भ तुम्हारे मिटाये ही मिटेगा और तुम्हीं इस नीच जीवनको पवित्र और दिव्य जीवन बना सकोगे। मैं नीच, दम्भी होनेपर भी जब तुम्हारा कहाने लगा हूँ, तब तुम कृपा करके मेरे दम्भ-पाखण्ड और काम-क्रोधको सर्वथा मिटाकर अपना क्यों नहीं बना लेते, मेरे नाथ? सदा न सही, कभी-कभी तो मेरा हृदय सचमुच ही तुम्हें चाहता है, तुम्हारा ही बनना चाहता है; फिर तुम क्यों नहीं मुझे अपनाते? सम्भव है मेरी इस चाहमें भी सचाई न हो, पूर्णता न हो, मन धोखा देता हो; पर इसके लिये मैं क्या करूँ, मेरे स्वामी! चाहको भी तुम्हीं अपनी सहज कृपासे सच्ची, पूर्ण और अनन्य बना लो!'

'मनमोहन! मेरे मनको अपनी माधुरीसे मोह लो। मेरे मनमें जो मान, यश और विषय-सुखकी इच्छारूपी आग जल रही है, इसे तुम्हीं अपने कृपा-वारिसे बुझा दो। प्रभो! मैं केवल तुम्हींको चाहूँ, केवल तुम्हींको अपना सर्वस्व समझूँ, तुम्हीं मेरे प्राणाधार और प्राण हो—तुम्हीं मेरे आत्मा और परमात्मा हो, इस बातको जानकर मैं केवल तुम्हींसे प्रेम करूँ, तुम्हारे इस प्रेम-प्रवाहमें मेरा अपना माना हुआ धन-जन, मान-मोह, सब बह जाय। तुम्हारे प्रेमसागरमें सब कुछ डूब जाय। मैं केवल तुम्हारी ही झाँकी करता रहूँ—ऐसा सौभाग्य दे दो, मेरे प्रियतम!'

'फिर सारे जगत्‌में मुझको तुम्हीं दिखायी पड़ने लगो, सारा जगत् तुम्हीं हो जाओ। मैं सबमें, सब ओर, सदा-सर्वदा तुम्हींको देखूँ, सब तुम्हारे ही स्वरूपमें परिणत हो जायँ। अहा! वह दिन कैसा सुदिन होगा, वह घड़ी कैसी शुभ घड़ी होगी, वह क्षण कैसा मधुर क्षण होगा और वह स्थिति कैसी आनन्दमयी होगी, तब ऐसा हो जायगा। तब इस जगत्‌में मेरे लिये कोई पराया नहीं रहेगा; तब मेरे मनके राग-द्वेष, वैर-विरोध, सुख-दुःख आदि सारे द्वन्द्व मिट जायँगे और मुझे सब ओर विशुद्ध प्रेम, सब ओर अपार आनन्द, सब ओर अनन्त शान्ति और सब ओर सौन्दर्य-माधुर्यभरी तुम्हारी मनमोहिनी मूर्ति दिखायी देगी। मेरी साधना सफल हो जायगी, मैं निहाल हो जाऊँगा; क्योंकि उस समय मैं और तुम—बस, हम दो ही रह जायँगे। मैं तुम्हारी मनमानी सेवा करूँगा और तुम उस सेवाको स्वीकारकर मेरी सेवा करोगे! सभी बातें मेरे मनकी होंगी। नहीं, तब मेरा मन भी तो मेरा नहीं रहेगा, वह तो तुम्हारे ही मनकी छाया बन जायगा; अतः सब तुम्हारे ही मनकी होगी। तुम जबतक अपने महान् संकल्पसे मुझे यों

अलग रखकर मुझसे खेलोगे, तबतक मैं परम धन्य और परम सुखी बना तुम्हारे साथ तुम्हारी रुचिके अनुसार खेलता रहूँगा और तुम जिस क्षण अपने संकल्पको छोड़कर अपने उस खेलको समेटकर मुझे आलिंगन करना चाहोगे, उसी क्षण मैं तुम्हारे विशाल हृदयमें समा जाऊँगा। यह खेल भी कैसा मधुर होगा, मेरे मधुरिमामय मोहन! मेरा यह सुख-स्वप्न सच्चा कर दो, मेरे सनातन स्वामी!'

'जबतक ऐसा न हो, तबतक इतना तो हो ही जाय—

(१) मैं एक क्षण भी तुम्हारे पवित्र स्वरूप और मधुर नामको न भूलूँ।

(२) जगत्‌में किसी भी प्राणीका मेरे द्वारा किसी भी रूपमें अहित न हो, मैं सभीका हित चाहूँ और हित करूँ।

(३) विषय-सुख, धन-सम्पत्ति, मान-यशकी इच्छा कभी मनमें न पैदा हो।

(४) जीवनका प्रत्येक क्षण तुम्हारे स्मरणसहित तुम्हारी सेवामें बीते, जगत्‌के सभी जीवोंकी मैं तुम्हारे नाते सदा विनम्र-भावसे सेवा करता रहूँ।

(५) मेरा तन-मन सदा पवित्र रहे, एक भी बुरा कार्य शरीरसे न हो, एक भी बुरा विचार मनमें न आने पाये।

(६) जीवनका लक्ष्य केवल तुम्हींको पाना हो।

(७) तुम्हारे प्रत्येक विधानमें मुझे सन्तोष रहे और सांसारिक दृष्टिमें मैं भयानक-से-भयानक दुःखमयी स्थितिमें भी कृतज्ञ हृदयसे तुम्हारा स्मरण करूँ और अपार आनन्दका अनुभव करूँ।

(८) तुम्हारे लिये मैं बड़े ही सुखसे, अपार उल्लाससे मान और प्राणोंका त्याग करनेको तैयार रहूँ और करूँ।

(९) इन्द्रियाँ और मन पूर्णरूपसे संयत रहें और उनसे सदा तुम्हारी सेवा होती रहे।

(१०) मेरी अपनी वासना, कामना, इच्छा—कुछ भी न रहे। मोक्षकी भी नहीं। मैं तो बस, तुम खिलाड़ीके हाथका खिलौना बना रहूँ। यन्त्रकी पुतलीकी भाँति तुम्हारे नचाये नाचूँ, उठाये उठूँ, बैठाये बैठूँ, सुलाये सोऊँ, रुलाये रोऊँ, हँसाये हँसूँ, जिलाये जीऊँ और मारे मर जाऊँ। मैं अपने मनसे कुछ भी न करूँ, मेरा अपना मन ही न रहे। तुम जो कुछ कराना चाहो, वही मेरे द्वारा बिना बाधा और बिना संकोच होता दिखलायी दे। मेरे लिये सुख-दुःख, मानापमान, हानि-लाभ—सब समान हो जायँ।

(११) परन्तु हे मेरे परम सुहृद्! मैं जो प्रार्थना करके तुमसे कुछ चाहता हूँ, यह भी तो मेरी मूढ़ता ही है। तुम तो सब जानते ही हो और परम सुहृद् होनेके कारण मेरे बिना ही कहे तुम सदा मेरा अशेष कल्याण ही करते हो। मेरे कल्याणकी जितनी चिन्ता तुमको है, उतनी मुझको तो कभी हो ही नहीं सकती। मैं इस बातको यथार्थतः जान लेता तो फिर क्यों तुमसे कुछ माँगकर अपना अविश्वास प्रकट करता? फिर तो मैं तुम्हारा प्रेमपूर्वक अनन्यचिन्तन ही करता; तुम कल्याणमय जो कुछ भी करते, उसमें मेरा परम कल्याण ही तो होता। अनुभवी भक्त कहा करते हैं कि तुम्हारी अपार अहैतुकी नित्य दयाका रहस्य न जाननेके कारण ही मनुष्य तुमसे दयाकी भीख माँगता है—तुम्हारे सहज कल्याणकारी परम सुहृद्-स्वरूपपर विश्वास न होनेके कारण वह तुमसे भोग-सुख और मुक्तिके आनन्दकी कामना करता है। तुम्हारे प्रति पूरा भरोसा न होनेके कारण ही साधक अपनी पारमार्थिक माँग तुम्हारे सामने रखता है। हे प्रभो! मेरे इस अज्ञान और अविश्वासका, मेरी इस अश्रद्धा और अनास्थाका नाश कर दो—जिससे मैं केवल तुम्हारे चिन्तनपरायण ही हो रहूँ। तुम्हारे चिन्तनको छोड़कर मुझे अन्य किसी वस्तुकी आवश्यकता ही न हो—स्मृति ही न हो!'

इन भावोंकी प्रार्थना साधकको सच्चे हृदयसे श्रद्धा-विश्वासके साथ प्रतिदिन एकान्तमें करनी चाहिये।

(१०) साधकको सदा आत्मनिरीक्षण करते रहना चाहिये। चित्तमें बुरे और अपवित्र विचारोंका अभाव और विषयचिन्तनमें क्रमशः कमी होने लगे; भगवान्‌में अहैतुकी प्रीति, निष्कामभाव, शान्ति, एकाग्रता, आनन्द, सन्तोष, समता, प्रेम आदि गुणोंका प्रादुर्भाव होने लगे तो समझना चाहिये कि उन्नति हो रही है। जबतक ऐसा न हो, तबतक यही मानना चाहिये कि अभी यथार्थ साधनाके सत्य पथपर चलना आरम्भ नहीं हुआ है। यह याद रखना चाहिये कि असत् विचार ही पारमार्थिक अवनतिका और सत् विचार ही पारमार्थिक उन्नतिका प्रधान कारण है। पुराने असत् विचार नष्ट हों, नये न पैदा हों—इसके लिये सावधानीके साथ असत्-संगका सब प्रकारसे त्याग करना चाहिये और सत् विचारोंकी

जागृति, उत्पत्ति और वृद्धिके लिये सत्संग, सत्-ग्रन्थोंका स्वाध्याय, सत्-चर्चा, सदाचारका पालन, सत्-कर्म आदि उपाय करने चाहिये। असत् विचारोंके और असत् कर्मोंके बढ़नेमें प्रधान कारण विषयचिन्तन है। अतएव जहाँतक बन सके, विषयचिन्तनको चित्तसे हटानेकी साधकको भरपूर चेष्टा करनी चाहिये। चित्त जितना-जितना ही विषयचिन्तनसे रहित होगा और भगवच्चिन्तनमें लगेगा, उतना-उतना ही साधक परमार्थके पावन पथपर अग्रसर होता रहेगा।

११—चित्तको प्रशान्त और भगवदभिमुखी बनानेके लिये प्रतिदिन कुछ समयतक नियमपूर्वक भगवान्‌का ध्यान अवश्य करना चाहिये।

पहले ध्येय वस्तुका स्वरूप निश्चय कर लें, इसीको धारणा कहते हैं; फिर उस ध्येयस्वरूपमें चित्तको एकाग्र करके उसीमें चित्तनिरोध करनेकी चेष्टा करें।

ध्येयस्वरूप अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारके हो सकते हैं। यहाँ ध्यानकी सुगमताके लिये कुछ ध्येयस्वरूप लिखे जाते हैं। वस्तुतः ध्येयस्वरूप एक ही परमात्माके हैं। एक ही परमात्माके अनेक लीलास्वरूप हैं। इनमें छोटे-बड़े या शुद्ध-अशुद्धकी कल्पना अपना अपराध है। अपनी-अपनी रुचिके अनुसार जिनका मन जिस स्वरूपमें लगे, उनको उसी स्वरूपका ध्यान करना चाहिये।

(१) एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही समस्त विश्वमें व्याप्त हैं, यह सारा विश्व भी उन्हींमें है—यह निश्चय करके विचारके द्वारा अपने 'अहं' को इस व्यष्टि शरीरसे अलग करके विश्वात्मा समष्टिमें उसकी स्थापना कर दे और फिर विचारके द्वारा समष्टिकी व्यापक दृष्टिसे देखे कि समस्त विश्व एक मुझमें ही बसा हुआ है; जितने भी जड-चेतन जीव हैं, सब मुझमें हैं और मैं समानरूपसे उन सबमें व्याप्त हूँ। जगत् मुझमें कल्पित है, केवल यह द्रष्टा आत्मा ही सत्य है। कल्पना कीजिये कि जैसे एक छोटे कमरेका आकाश जब सर्वव्यापी महान् आकाशके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव करता है, तब उसे यह मालूम होता है कि सब कमरे ही नहीं, समस्त देश एक मुझमें ही बसे हुए हैं और सब कमरोंमें—छोटी-से-छोटी कोठरीमें भी मैं ही व्याप्त हूँ। वैसे ही समस्त जगत्‌में एकमात्र अपने आत्माका ही विस्तार देखे। यद्यपि आकाशका उदाहरण सच्चिदानन्दघन परमात्माके लिये ठीक बैठता नहीं; क्योंकि आकाश पंच महाभूतोंमें एक भूत है; वह प्रकृतिका कार्य है, परिच्छिन्न है, सीमित है, जड है और विनाशी है। परमात्मा सभी बातोंमें आकाशसे अत्यन्त विलक्षण हैं। परन्तु पांचभौतिक सृष्टिमें सबकी अपेक्षा अधिक विस्तृत और महान् आकाश ही है, अतएव समझनेके लिये आकाशका ही उदाहरण ठीक माना जाता है।

फिर द्रष्टारूप इस समष्टि आत्मामें दीखनेवाले इस जगद्रूप कल्पित दृश्यका भी अभाव कर दे। एक परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं; जगत् नहीं, जगत्‌को विषय करनेवाली इन्द्रियाँ नहीं, मन नहीं, चित्त नहीं, बुद्धि नहीं, अहंकार नहीं, बस, एकमात्र परमात्मा ही हैं। उन परमात्माका बोध भी परमात्माको ही है। वे परमात्मा सत्स्वरूप हैं, चेतनस्वरूप हैं, आनन्दस्वरूप हैं। वे सत्, चित् और आनन्दसे अभिन्न हैं और उनकी इतनी घनता है कि अन्य किसीके लिये वहाँ तनिक भी गुंजाइश ही नहीं है। इस प्रकार करते-करते मन-बुद्धि आदि सहित समस्त दृश्योंको और दृश्योंके साथ ही इन दृश्योंके देखनेवाले द्रष्टाकी कल्पनाको भी छोड़ दे; क्योंकि द्रष्टा पुरुषकी सिद्धि वहीं होती है, जहाँ अभावरूप या भावरूप कोई दृश्य होता है; जहाँ दृश्यका सर्वथा अभाव है, वहाँ पुरुष द्रष्टा नहीं है। वहाँ जो कुछ है, वह अचिन्त्य है, अनिर्वचनीय है। इस प्रकार जबतक वृत्ति इस सच्चिदानन्दघन अचिन्त्य ब्रह्ममें (शून्यमें नहीं) तदाकार हुई रहे, तबतक अचिन्त्यका ध्यान करे; जब इससे वृत्ति हटे, तब फिर द्रष्टा—समष्टि सच्चिदानन्दघन बन जाय। इस प्रकार निराकार व्यापक परमात्माका और अचिन्त्य ब्रह्मका ध्यान किया जा सकता है।

(२) सारा संसार परमात्मासे भरा है, यहाँ जो कुछ भी दीखता है, सब परमात्माका ही विस्तार है—इस प्रकारकी भावना इस जगत्‌के तीनों लोकोंके पदार्थोंमें करे। जो कुछ भी वस्तु देखने-सुननेमें आती है, वह परमात्माका स्वाँग है; परमात्मा ही उन वस्तुओंके रूपमें प्रकाशित है। जैसे एक ही स्वर्ण भिन्न-भिन्न गहनोंके रूपमें प्रकट है, जैसे एक ही मिट्टी नाना प्रकारके बर्तनोंके रूपमें व्यक्त हो रही है, वैसे ही सारा संसार एक ही परमात्मासे पूर्ण है। सोना और मिट्टी तो केवल उपादानकारण हैं, उनके गहने और बर्तन बनानेवाले सुनार और कुम्हाररूप

निमित्तकारण दूसरे हैं; परन्तु परमात्मा तो जगत्‌के अभिन्न-निमित्तोपादानकारण हैं। स्वयं ही बने हैं और अपने-आपसे ही बने हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७।७)

'हे धनंजय! मेरे सिवा जगत्‌में और कुछ भी नहीं है, यह सारा जगत् सूतमें सूतके मणियोंकी भाँति मुझमें गुँथा हुआ है।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(गीता १०।३९)

'हे अर्जुन! सब भूतोंकी उत्पत्तिका मूल कारण (बीज) भी मैं ही हूँ। ऐसा कोई भी चराचर प्राणी नहीं है, जो मेरे बिनाका हो। तात्पर्य यह कि सब मेरा ही स्वरूप है।'

योगीश्वर महात्मा कविने कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४१)

'वे (प्रेमी भक्तगण) आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, चराचर जीव, दिशाएँ, वृक्ष-लतादि, नदियाँ, समुद्र—यहाँतक कि प्राणिमात्रको भगवान् हरिका शरीर समझकर सबको प्रणाम करते हैं। वे श्रीहरिसे भिन्न कुछ भी नहीं देखते।'

इस प्रकार समस्त चराचरमें भगवान्‌को देखे। जिधर जिस वस्तुमें मन जाय, वहीं वह वस्तु भगवान् ही हैं—ऐसी निश्चित दृढ़ धारणासे विश्वरूप भगवान्‌का ध्यान किया जा सकता है।

भगवान् विष्णुका ध्यान

(१)

प्रातःकालका समय है। सुन्दर, सुरम्य गंगाजीका पवित्र तट है। भगवान् श्रीविष्णु आकाशमें भूमिसे लगभग तीन हाथ ऊपर खिले हुए सहस्रदल लाल कमलपर खड़े हैं। उनके चारों ओर करोड़ों सूर्योंका प्रकाश छा रहा है; परन्तु साथ ही वह करोड़ों चन्द्रमाओंके समान शीतल और शान्तिप्रद है। भगवान्‌का रूप परम शान्त और अत्यन्त दर्शनीय है। भगवान्‌की किशोर अवस्था है। भगवान्‌का नीलकमलके समान दिव्य श्याम शरीर है। भगवान्‌के चरणतलोंमें ऐश्वर्यसूचक वज्र, अंकुश, ध्वजा, कमल आदिके चिह्न हैं। भगवान्‌के चरणोंकी मनोहर अँगुलियोंमें स्थित उभरे हुए उज्ज्वल अरुणवर्ण परम शोभायमान दसों नखरूपी चन्द्रमाओंकी दिव्य कान्ति भक्तोंके हृदयका अज्ञानान्धकार दूर कर रही है। जिनके धोवनके जलसे बनी हुई परम पवित्र पतितपावनी गंगाजीको सिरपर धारणकर श्रीशिवजी परम कल्याणरूप—यथार्थ शिव हो गये और जो ध्यान करनेवालोंके पापरूपी पहाड़ोंको विदीर्ण करनेके लिये वज्रके समान हैं, वे कमलपत्र-जैसे कोमल और प्रकाशमान् भगवान्‌के चरणकमल बड़े ही मनोहर हैं। भगवान्‌के चरणोंमें सुन्दर नूपुर सुशोभित हो रहे हैं। कमलनयना श्रीलक्ष्मीजी सदा अपनी ऊरुओंपर धारण करके अपने कोमल करकमलोंसे जिनका लालन करती हैं, जन्म-मरणके भयका नाश करनेवाले भगवान्‌के वे दोनों जानु (घुटने) परम सुन्दर हैं। भक्तराज गरुड़जी जिनको बड़े आदर और यत्नसे अपने कन्धोंपर धारण करनेमें अपना परम सौभाग्य मानते हैं, वे अलसीके पुष्पोंके समान सुहावनी श्यामवर्ण, नीलमणिके समान चमकदार और नीलकमलके समान कोमल भगवान्‌की जंघाएँ परम मनोहर हैं, जो स्वाभाविक ही कमरमें कसे हुए कमलपुष्पके परागके समान पीतवर्णके दिव्य रेशमी वस्त्रसे ढकी हुई हैं। वह पीतपट अपनी उज्ज्वल आभाके साथ ही कटितटपर शोभायमान सुन्दर दिव्य रत्न-जटित करधनीकी दिव्य प्रकाशमयी कान्तिसे विशेषरूपसे प्रकाशित हो रहा है। जिससे उत्पन्न हुए सर्वलोकमय कमलकोषसे आत्मयोनि श्रीब्रह्माजी प्रकट हुए और जो भुवनकोषके स्थानस्वरूप भगवान्‌के दिव्य उदरमें स्थित है, वह भगवान्‌की गम्भीर घुमावसे युक्त नाभि अत्यन्त ही सुन्दर है। वह नाभि जब श्वासके चढ़ने-उतरनेसे फड़कती है, तब ऐसा लगता है मानो जो विश्व नाभिसे निकला, वह पुनः उसीमें समा रहा है। भगवान्‌का वक्षःस्थल बहुत चौड़ा और अत्यन्त चमकदार है, जो दिव्य रत्नहारोंकी कान्तिमयी किरणोंसे और भी प्रकाशित हो रहा है। भगवान्‌के हृदयपर परम कान्तिमय विशद हार विहार कर रहा है। लक्ष्मीजीकी स्वर्णवर्ण मनोहर कान्तिसे आलोकित भगवान्‌का सुन्दर श्याम वक्षःस्थल दर्शन करनेवाले पुरुषोंके मनको प्रसन्न और

नयनोंको आनन्दित करता है। भगवान्‌का मनोहर कण्ठ आत्मतत्त्वमयी निर्मल कौस्तुभमणिकी सिंहके कन्धेपर रहनेवाली केसरकी-सी कान्तिसे सुशोभित है। गलेमें तुलसीमंजरीसे युक्त रमणीय दिव्य पुष्पमालाएँ घुटनोंतक लटक रही हैं, इन पुष्पमालाओंके दिव्य पुष्पोंकी मधुर सुगन्ध चारों ओर फैलकर सबको सुखी कर रही है। मन्दरगिरिका मन्थन करनेवाली भगवान्‌की जानुपर्यन्त लम्बी सुन्दर चार भुजाएँ हैं। उन भुजाओंमें अत्यन्त उज्ज्वल रत्नोंके बाजूबन्द और मणिमय कंकण सुशोभित हैं। ऊपरकी भुजाओंमेंसे दाहिनीमें उज्ज्वल प्रकाशकी नीलाभायुक्त किरणोंसे झलमलाता हुआ सहस्र अरोंसे युक्त असह्यतेज सुदर्शन चक्र है, बायींमें दिव्य श्वेत शंख है; नीचेकी दाहिनी भुजामें भगवान्‌की प्यारी कौमोदकी गदा है और बायींमें सुन्दर हलके रक्त-वर्णका कमल विराजमान है। भगवान्‌का मुनिमन-मोहन प्रसन्न मुखारविन्द अत्यन्त ही सुन्दर है। कानोंमें हिलते हुए मणिमय मंजुल मकराकृति कुण्डलोंकी दिव्य स्वर्णवर्ण झलकसे भगवान्‌के नीलश्याम तेजोमय अनमोल गोल कपोल परम मनोहर छवि धारण कर रहे हैं। भगवान्‌की सुन्दर नुकीली नासिका नासामणिकी शोभासे सुशोभित है। कुन्दकली-जैसी सूक्ष्म दन्तपंक्तिके एक-एक दाँतसे श्वेत तेज निकल रहा है, जो अधर और होठकी रक्तवर्ण आभाके साथ मिलकर अत्यन्त ही सुन्दर दिखायी दे रहा है। परम उदार भगवान्‌की मन्द-मन्द मुसकान जीवके अनादिकालीन शोकका सर्वथा नाश करती है। कमलकुसुमके समान अरुणवर्ण दोनों नेत्र मीनके समान सुशोभित हैं, जिनकी कोरोंसे दया, प्रेम, आनन्द और शान्तिका नित्य विकास हो रहा है। भगवान्‌की सुस्निग्ध हास्ययुक्त चितवन घोर त्रयतापको हरकर परमानन्द दे रही है। भगवान्‌की टेढ़ी भ्रुकुटीकी सुन्दरता बरबस मनको हर रही है। भगवान्‌के विशाल ललाटपर दिव्य रक्त कुंकुमका ऊर्ध्वपुण्ड्र शोभा पा रहा है। भगवान्‌के सिरपर काली-काली घुँघराली अलकोंकी अपूर्व शोभा है। सिरपर रत्नजटित परम प्रकाशमय किरीट-मुकुट शोभा पा रहा है। भगवान्‌के सब अंगोंसे—रोम-रोमसे एक दिव्य तेज निकल रहा है और भगवान्‌की परम अलौकिक अंग-गन्धसे सारा आकाश भरा है। भगवान्‌के मुखमण्डलके चारों ओर एक विशेष तेजोमण्डल है।

(२)

क्षीरसागरके अन्दर एक ऐसा सुरम्य स्थान है—जहाँ ऊपर-नीचे, आस-पास तो क्षीर-जल है, बीचमें एक महान् प्रकाश छाया हुआ है। वहाँ भगवान् शेषजी विराजमान हैं। शेषभगवान्‌के मनोहर एक हजार सिर हैं, हजार फनोंके ऊपर हजार मणिमय मुकुट हैं और उनके कमलनालके समान चिकने सफेद रंगके शरीरपर नील वस्त्र शोभित हो रहा है। ऐसे शेषजीकी गोदमें भगवान् विष्णु आधे लेटे हुए विराजमान हैं। आपके सिरपर शेषजीके हजार फनोंका छत्र हो रहा है। भगवान्‌के शरीरका सुन्दर नील आभायुक्त श्यामवर्ण है। भगवान्‌के दोनों चरण-कमल किंचित् उन्नत हैं। चरणोंकी मनोहर अँगुलियाँ अरुणवर्णके नखोंकी किरण-कान्तिसे सुशोभित हो रही हैं। आपके चरणोंमें नूपुर हैं। आपके दोनों ऊरु हाथीकी सूँड-जैसे हैं, परन्तु अत्यन्त कोमल और उज्ज्वल हैं। दोनों जानु परम मनोहर हैं। सुन्दर कटितटपर स्वर्ण-रत्नजटित करधनी है। गम्भीर नाभि है, उदर त्रिवलीसे युक्त है और उसका आकार पीपलके पत्तेके समान है। विशाल वक्ष:स्थलमें श्रीवत्स और प्रभाशाली कौस्तुभ विराजमान हैं। कण्ठ शंखके समान सुन्दर है। गलेमें दिव्य पुष्पमाला मणिमय रत्नहार हैं। कन्धेपर ब्रह्मसूत्र है। भगवान्‌की चारों भुजाएँ घुटनोंतक लम्बी और विशाल हैं। चारों भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित हैं; भुजाओंमें बाजूबन्द और कंकण सुशोभित हो रहे हैं। भगवान्‌के दोनों कन्धे ऊँचे हैं और वे कौस्तुभमणिकी प्रभासे प्रकाशित हो रहे हैं। भगवान्‌का प्रसन्न मुख परम सुन्दर है, भगवान्‌की हास्ययुक्त चितवन बड़ी ही मनोहर है। भौंहें ऊँची और सुन्दर हैं। भगवान्‌के सुन्दर गोल कपोल और अरुण अधर देखने ही योग्य हैं। भगवान्‌की दन्तपंक्तियाँ परम मनोहर और प्रकाशयुक्त हैं। भगवान्‌के कानोंमें मकराकृति सुन्दर कुण्डल हैं। भगवान्‌का ललाट परम प्रकाशमय और विशाल है। ललाटपर मनोहर तिलक है। भगवान्‌के घुँघराले बाल परम सुन्दर हैं। मस्तकपर मणिमण्डित किरीट है। निर्मल चित्तवाले सुनन्द, नन्द, सनक आदि पार्षद; ब्रह्मा, रुद्र आदि देव; मरीचि आदि ऋषि; प्रह्लाद, नारद, भीष्म आदि भक्तजन स्तुतियाँ कर रहे हैं। श्री, पुष्टि, वाणी, कान्ति, कीर्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा, विद्या

आदि शक्तियाँ भगवान्‌की सेवा कर रही हैं। श्रीलक्ष्मीजी भगवान्‌के चरण दबा रही हैं। भगवान्‌की मूर्ति परम शान्त, परम तेजोमय और परम सुन्दर है।

ऊपर भगवान् विष्णुके दो स्वरूपोंके ध्यान लिखे गये हैं। और भी अनेक प्रकारके ध्येयस्वरूप हैं। साधकको उपर्युक्त ध्येयस्वरूप भगवान्‌के एक-एक अंगका ध्यान करके उनका विधिवत् मानस-पूजन करना चाहिये और ऐसा दृढ़ अनुभव करना चाहिये कि मानो श्रीभगवान् प्रसन्न होकर अपने चरणोंमें मुझे स्थान दे रहे हैं और भगवान्‌की कृपासे मैं समस्त पाप-तापोंसे मुक्त होकर परम कल्याणको प्राप्त हो गया हूँ।

भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान

(१)

सन्ध्याका समय है, सूर्य देवता अस्ताचलको जा रहे हैं, गौएँ और बछड़े वनसे लौट रहे हैं। भगवान्‌के लौटनेका समय जानकर प्रेममूर्ति गोपियाँ अपने-अपने घरोंसे बाहर निकलकर भगवान्‌की प्रतीक्षामें खड़ी हैं, दूरसे भगवान्‌की वंशीध्वनि सुनायी दे रही है, बड़ी ही आतुरताके साथ वे तन-मनकी सुध भूलकर व्याकुल हुई भगवान्‌के आनेकी बाट देख रही हैं। दर्शनकी लालसाने उनके नेत्रोंको पलकहीन, चित्तको समस्त संसारी वासनाओंसे शून्य और हृदयको प्रेमसे परिपूर्ण कर दिया है। इतनेमें ही भगवान् श्रीकृष्ण बछड़ोंके दलके साथ मुरली बजाते हुए पधारते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके रोम-रोमसे अतुलित मनोहर प्रकाश निकल रहा है, उनके अंगकी दिव्य गन्ध सब ओर फैल रही है। भगवान्‌का कृष्ण आभायुक्त नील-नीरदवर्ण श्याम शरीर है; चरणोंसे लेकर शिखापर्यन्त प्रत्येक अंगसे सौन्दर्य-सूर्यकी मनोहर किरणें निकल रही हैं। जिस अंगकी ओर दृष्टि जाती है, नेत्र वहीं अटक जाते हैं। भगवान्‌की आयु लगभग सात वर्षकी है, परन्तु वे किशोर-अवस्थाके जान पड़ते हैं। उनके चरणकमल बड़े ही सुन्दर हैं। भगवान् श्रीकृष्ण मधुर मुरली बजाते और सुन्दर तालके अनुसार थिरक-थिरककर नाचते हुए बड़ी मनोहर चालसे चले आ रहे हैं। नाचनेमें उनके जब चरण उठते हैं, तब चरणोंके मनोहर नील-श्यामवर्ण तेज:पुंजपर चरणतलोंका अरुणवर्ण प्रकाश पड़नेसे नील और अरुण प्रकाशोंका मिश्रण एक महान् रमणीय प्रकाशके रूपमें एक अनोखी छवि दिखला रहा है। उसपर चरण-नखोंकी अपूर्व श्वेतप्रकाशमयी अरुण आभा पड़ रही है। भगवान्‌के जानु परम सुन्दर हैं। कटितटपर पीताम्बरकी काछनी काछी है। चरणोंमें नूपुरका शब्द हो रहा है। भगवान्‌के गलेकी दिव्य वनमालाएँ, रत्नहार और गुंजाकी माला नाचनेमें इधर-उधर डुलकर परम शोभाको प्राप्त हो रही है। मनोहर गोल कपोलोंपर काली-काली अलकावली बिखर रही है। भगवान् एक हाथसे मुरलीको अधरोंपर लगाये, दूसरे हाथकी अँगुलियोंसे मुरलीके रन्ध्रोंमें सुर भर रहे हैं। मुरलीके सुरोंके साथ भगवान्‌के नृत्यकी ताल बराबर मिल रही है। पृथ्वीपर टिके हुए चरणोंसे ब्रजवीथिकी धूलिमें उनके वज्र, अंकुश, ध्वजा आदि चिह्न अंकित हो रहे हैं। भगवान्‌के नील-श्याम शरीरपर दिव्य सुवर्णवर्ण पीतपट ऐसा मालूम होता है मानो श्याम घन-घटामें इन्द्रधनुषका मण्डल शोभायमान हो; भगवान्‌के कानोंमें सुन्दर दिव्य-कान्ति रत्नोंके कुण्डल हैं, उनमें भगवान्‌ने रक्तकमलके छोटे-छोटे फूल खोंस रखे हैं। नाचनेमें जब कुण्डल हिलते हैं, तब उन कुण्डलोंका उज्ज्वल प्रकाश रक्तकमलोंपर पड़ता है, जिससे एक अपूर्व शोभा हो रही है। भगवान्‌के प्रकाशमय चपल नेत्रोंसे प्रेम और माधुर्यकी परम शान्तिमयी और आनन्दमयी ज्योति निकल रही है, जो मुनियोंके चित्तको भी बलात् आकर्षित कर लेती है। भगवान्‌की टेढ़ी भौंहें देखनेवालोंके चित्तको सदाके लिये हर लेती हैं। भगवान्‌का मुखमण्डल परम मनोहर है। अरुणवर्णके सुन्दर अधर और ओष्ठ हैं। मुरली बजाते हुए भगवान् जो मन्द-मन्द मधुर हँसी हँसते हैं और उस दुर्लभ हास्यछटाके साथ जब नेत्रोंकी प्रेम-कटाक्षमयी आकर्षणी शक्ति मिल जाती है, तब तो उसे देखकर बड़े-बड़े तपस्वियों, परम देवताओं और महान् संयमी ब्रह्मनिष्ठ ऋषियोंका चित्त भी चंचल हो उठता है। भगवान्‌का शंखके समान सुन्दर गला है। विचित्र-विचित्र धातुओंके विविध रंगों और कोमल नव-पल्लवोंसे सुसज्जित भगवान्‌का नटवर-वेश परम दर्शनीय है। भगवान्‌की भुजाओंमें स्वर्ण-रत्नमय बाजूबन्द और कंकण शोभायमान हैं। कटितटमें छोटी-छोटी स्वर्णघण्टियोंसे युक्त विद्युत्प्रभा-सी रत्नजटित करधनी है। भगवान्‌की नासिकाके अग्रभागमें सुन्दर गजमुक्ताकी लटकन अपूर्व कलासे नाच रही है। नयी बेंतका बना फूलोंसे गुँथा हुआ एक गोल चक्र भगवान्‌ने अपनी बायीं भुजामें डालकर कन्धेपर धारण कर रखा है।

दाहिने कन्धेपर पीला प्रकाशमय दुपट्टा है, जिसके दोनों छोर आगे-पीछे दोनों ओरसे बायीं तरफको ले जाकर कमरके पास बाँधे हुए हैं। भगवान्‌के विशाल उज्ज्वल ललाटपर गोरोचनका ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक है, उसमें छोटी-छोटी मणियाँ चिपकायी हुई हैं। सिरपर काले-काले घुँघराले केश हैं। भगवान् मोरपंखोंका सुन्दर मुकुट धारण किये हुए हैं, जिसपर मोरपंखोंका चँदवा लगा है और आगे सुन्दर कलँगी लगी है। भगवान् चारों ओरसे विचित्र वेशधारी ग्वालबालकोंसे घिरे हुए हैं। सभी बालक परमानन्दमें मग्न हुए उछलते और नाचते-कूदते हुए चले आ रहे हैं और गोपियाँ भगवान्‌की इस छटाको देखकर प्रेम और आनन्दके सागरमें डूब रही हैं।

(२)

यमुनाजीका तट है, मनोहर वृक्षलताओं और सुगन्धित पुष्पोंसे वनकी शोभा बढ़ रही है, गौ और बछड़े इधर-उधर बिखरे हुए हरी घास चर रहे हैं। एक सुन्दर कदम्बके वृक्षतले मनोहर स्फटिकशिलापर भगवान् श्रीकृष्ण त्रिभंगी छटासे खड़े हैं। बायें चरणपर दाहिने चरणकी आँटी दिये हैं। दाहिना अरुण चरणतल वज्र, ध्वजा, अंकुश आदि चिह्नोंसे सुशोभित दिखायी दे रहा है। करोड़ों सूर्योंके समान भगवान्‌का तेज:पुंज दिव्य शरीर है और वह प्रकाश करोड़ों चन्द्रमाओंके समान शीतल है; भगवान्‌का सुन्दर कृष्णाभायुक्त नीलवर्ण है। भगवान्‌के मनोहर चरण हैं। चरणोंमें नूपुर शोभित हैं। भगवान्‌के दोनों जानु और जंघाओंकी शोभा अवर्णनीय है; भगवान्‌ने दिव्य रेशमी पीतवस्त्र धारण कर रखा है। कटितटमें सुन्दर रत्नोंकी करधनी है। भगवान्‌का त्रिवलीयुक्त परमोदार उदर और गम्भीर नाभि सुशोभित हैं, भगवान् कदम्बपुष्प और तुलसीसे युक्त दिव्य वनपुष्पोंकी माला धारण किये हैं। वक्ष:स्थलपर रत्न और मुक्ताओंके हार हैं। गलेमें गुंजाकी माला है। भगवान्‌के गलेमें पीला दुपट्टा है, जिसके दोनों छोर सामनेकी तरफ दोनों ओरको फहरा रहे हैं। भगवान्‌की नन्हीं-नन्हीं लम्बी भुजाओंमें बाजूबन्द और कड़े शोभित हैं। भगवान्‌का मुखकमल परम सुन्दर है। मन्द-मन्द मुसकराते हुए भगवान् मुरली बजा रहे हैं। भगवान्‌के कानोंमें दिव्य पुष्पोंके कुण्डल हैं। मस्तकपर रत्नोंका किरीटमुकुट है, जिसमें मयूरपिच्छ खोंसा हुआ है। भगवान्‌के सुन्दर घुँघराले बाल हैं। चारों ओर गोपालबाल खड़े हैं और भगवान्‌की ओर टकटकी लगाये देख रहे हैं, सभी प्रेममुग्ध और आनन्दमग्न हैं।

(३)

दिव्य द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्ण किशोररूपमें सर्वरत्नोपशोभित रमणीय स्वर्णसिंहासनपर विराजमान हैं, भगवान्‌का दिव्य कृष्ण-आभायुक्त नीलिमामय श्यामवर्ण है। पूर्णचन्द्रके समान मुखमण्डल है। मस्तकपर मयूरपिच्छयुक्त मुकुट सुशोभित है। वनमाला धारण किये हुए हैं। कानोंमें रत्नोंके कुण्डल, भुजाओंमें बाजूबन्द और गलेमें रत्नहार है। वक्ष:स्थलपर श्रीवत्स और देदीप्यमान कौस्तुभमणि शोभित हैं। परम रमणीय लावण्ययुक्त कलेवर है, पीतवस्त्र धारण किये हैं, मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं, अरुणवर्ण अधरोंपर वंशी विराज रही है। त्रिभुवन-मोहिनी सर्ववेदमयी वेणुध्वनि हो रही है। भगवान्‌के चार भुजाएँ हैं, ऊपरके दोनों हाथोंमेंसे एकमें स्फटिकमयी अक्षमाला है और दूसरेसे अभयदान दे रहे हैं। नीचेके दोनों हाथोंसे मुरली बजा रहे हैं। कमल-सदृश सुन्दर और मोहन नेत्र हैं। अपने अद्वितीय सौन्दर्यसे विश्वको मोहित कर रहे हैं। स्वर्णकान्तिमयी कमला हाथोंमें मनोहर वीणा और कमल लिये भगवान्‌की बायीं ओर खड़ी उनके चरणोंमें दृष्टि जमाये हुए हैं। रुक्मिणी, सत्यभामा, कालिन्दी, जाम्बवती, नाग्नजिती, सुनन्दा, मित्रविन्दा, सुलक्षणा—पट्टरानियाँ भगवान्‌की सेवा कर रही हैं। सोलह हजार एक सौ रानियाँ भी भगवान्‌की सेवामें लगी हैं। भगवान्‌के मस्तकपर चन्द्रमण्डलसदृश श्वेतच्छत्र सुशोभित है। नारदादि मुनिगण तथा इन्द्रादि देवगण भगवान्‌को नमस्कार और उनका स्तवन कर रहे हैं।

(४)

परम दिव्य और रमणीय वृन्दावनमें सुन्दर कदम्ब-काननकी पवित्र स्वर्णभूमिमें सर्वविध रत्नोंसे निर्मित विचित्र मण्डपमें रसराज भगवान् श्रीकृष्ण महाभावस्वरूपा श्रीमती राधिकाजीके साथ मनोहर रत्न-सिंहासनपर विराजमान हैं। उनकी अंगप्रभा करोड़ों सूर्योंके समान अनुपम प्रकाशयुक्त और करोड़ों चन्द्रमाओंके समान शीतल है। भगवान् श्रीकृष्णका सुन्दर नव-नील नीरदके समान श्यामवर्ण है और श्रीराधिकाजीका स्वर्णाभायुक्त गौरवर्ण है। भगवान् पीताम्बर धारण किये हैं और श्रीमतीजी नीलाम्बर। दोनोंके शरीर दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हैं। भगवान् श्रीकृष्णका दक्षिण चरणकमल रत्नपूर्ण रत्नघटपर अधिष्ठित है और दूसरा वाम चरणकमल

दिव्य रक्तकमलपर। इस प्रकार श्रीराधिकाजीका दक्षिण चरणकमल मुक्तापूर्ण स्वर्णघटपर है और वाम चरणकमल नीलकमलपर। हजारों गोपियाँ नाना प्रकारसे दोनोंकी परिचर्या कर रही हैं। भगवान् श्रीकृष्णके दक्षिण करकमलमें मुरली है और बायाँ करकमल श्रीराधिकाजीके कण्ठदेशपर स्थित है। श्रीराधिकाजीका दाहिना करकमल श्रीभगवान्के जानुपर रखा है और बायें हस्तकमलमें पुष्पोंका हार है। आस-पास रंग-बिरंगी अनेक गौएँ खड़ी हैं, जो भगवान्के मुखमण्डलकी ओर मुग्धदृष्टिसे देख रही हैं।

(५)

कुरुक्षेत्रका रणक्षेत्र है। सेनाएँ सुसज्जित खड़ी हैं। कौरवसेना पितामह भीष्मके सेनापतित्वमें व्यूहाकार खड़ी है और पाण्डवसेना धृष्टद्युम्नके सेनापतित्वमें व्यूहरचनायुक्त है। दोनों ओर बड़े-बड़े वीर हैं। पाण्डवोंकी सेनामें सबसे प्रमुख एक रथ है, रथके चार पहिये हैं, रथके अग्रभागमें एक लम्बी ध्वजा है, ध्वजापर श्रीहनुमान्जी विराज रहे हैं, रथमें सुन्दर चार सफेद घोड़े जुते हैं। अगले हिस्सेमें भगवान् चतुर्भुज श्रीकृष्ण बैठे हैं। उनके एक हाथमें घोड़ोंकी लगाम है, दूसरेमें सुन्दर चाबुक, तीसरेमें दिव्य पांचजन्य शंख है और चौथेसे अर्जुनको गीताका उपदेश करते हुए भाँति-भाँतिके संकेतोंसे समझा रहे हैं। भगवान्के तेज:पुंज नीलश्याम अंगकी आभा कवचको भेदकर बाहर निकल रही है। रथके पिछले हिस्सेमें कवच-कुण्डलधारी रणसज्जासे सुसज्जित अर्जुन उदास बैठे हैं, गाण्डीव धनुष बगलमें पड़ा है। तरकशोंका भाथा पीछे कन्धेपर है। मुँह उदास है और बड़ी ही उत्सुकतासे भगवान्के मुखमण्डलकी ओर देखते हुए वे ध्यानसे भगवान्की वाणी सुन रहे हैं। भगवान् मुसकराते हुए नाना प्रकारकी मुखाकृतिसे और दिव्य वाणीसे तथा हाथके संकेतसे अर्जुनको उपदेश कर रहे हैं। भगवान्के श्रीअंगसे दिव्य सुगन्ध निकल रही है। भगवान्के नयनकमलोंसे स्नेह, ज्ञान और प्रकाशकी मिश्रित धारा निकल रही है। भगवान्के गलेमें दिव्य रत्नहार है। मस्तकपर किरीट-मुकुट है, कानोंमें मकराकृति कुण्डल हैं। सिरपर घुँघराले काले बाल हैं। भगवान्की लगभग सोलह वर्षकी किशोर अवस्था है और अनुपम सौन्दर्य उनके रोम-रोमसे प्रस्फुटित हो रहा है।

उपर्युक्त पाँच प्रकारके श्रीकृष्णके ध्यानोंमेंसे अपनी-अपनी रुचिके अनुसार प्रेमपूर्वक भगवान्का नियमित ध्यान करके लाभ उठाना चाहिये।

भगवान् श्रीरामका ध्यान

(१)

अयोध्यापुरीमें महाराज दशरथजीका सुन्दर महल है, जो सोनेका बना हुआ है और बहुमूल्य मणियों तथा रत्नोंसे जड़ा है। उसके मनोहर चमकते हुए आँगनमें घुटनोंके बल चलनेवाले सच्चिदानन्दघन बालरूप श्रीरामजी विराजमान हैं। उनका नीलकमल, नीलमेघ और नीलकान्तमणिके समान सुन्दर, कोमल, सरस और प्रकाशमय श्यामवर्ण है, भगवान्का स्वरूप ऐसा सुन्दर है कि उनके एक-एक अंगपर करोड़ों कामदेवकी शोभा निछावर है। भगवान्के नेत्र नीलकमलके समान सुन्दर हैं, भगवान्की ठोड़ी और नासिका परम मनोहर हैं। लाल-लाल अधरोंके बीच सुन्दर दाँतोंकी पाँती अनुपम छवि दे रही हैं मानो अरुणकमलके बीच अत्यन्त शुभ्रवर्ण कुन्दकलीकी दो-दो पंक्तियाँ हों। हरित आभायुक्त नीलवर्णमें अरुण आभायुक्त भगवान्के प्रकाशमय कपोल बड़े ही सुन्दर लगते हैं। सुन्दर कानोंमें स्वर्ण और रत्नोंके कुण्डल सुशोभित हैं, मस्तकपर सुन्दर तिलक है, काली घुँघराली अलकावली है। विशाल वक्ष:स्थलपर मनोहर वनमाला और बघनखा सुशोभित हैं। शंखके समान तीन रेखावाले गलेमें रत्नोंके तथा मोतियोंके हार शोभा पा रहे हैं। सुन्दर करकमलोंमें कंकण धारण किये हुए हैं। पीली झगुली पहने हुए हैं। भगवान्के लाल-लाल चरणोंमें अंकुश, ध्वजा, कमल और वज्रके मनोहर चिह्न हैं तथा अत्यन्त मनोहर ध्वनि करनेवाले नूपुर शोभायमान हैं। भगवान्की कमरमें सुन्दर करधनी है। भगवान् शोभाके समुद्र हैं। भाइयोंके साथ खेल रहे हैं और दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बको देख-देखकर प्रसन्न होते और किलकारी मारते हैं।

(२)

अयोध्यापुरीके परम सुन्दर राजदरबारमें सुन्दर स्वर्णसिंहासनपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी विराजमान हैं। उनका नीलमणि और तमालवृक्षके समान नेत्रोंको आनन्द देनेवाला सुन्दर श्यामवर्ण है। सुन्दरताकी सीमा हैं। करोड़ों कामदेवकी उपमा उनके सौन्दर्यसे नहीं दी जा सकती। भगवान् वाम चरणको सिंहासनपर मोड़े बैठे हैं और दाहिना चरण नीचे लटकता हुआ बहुत ही कोमल, दिव्य, गहरे लाल रंगके मखमली तकियेपर टिका है।

भगवान्‌के अरुणाभ चरणतलके साथ मखमलके लाल रंगका अद्‌भुत मिश्रण हो रहा है। उसपर हरिताभ नीलवर्णकी मनहरनी प्रभा पड़ रही है। भगवान्‌के चरणतलमें वज्र, ध्वजा, अंकुश, कमल आदिके स्पष्ट चिह्न हैं। भगवान्‌के चरणोंमें रत्नजटित दिव्य नूपुर हैं। भगवान्‌के घुटने और जंघाएँ परम सुन्दर हैं। भगवान् कटितटपर सुन्दर दिव्य पीताम्बर धारण किये हैं, जो ऐसा मालूम होता है मानो मरकतमणिके ढेरपर बिजली अपने चंचल स्वभावको छोड़कर छा रही हो। पीत धोतीपर कटिमें पीत रंगका एक दुपट्टा कसा है, उसमें सुन्दर तरकश बँधा है। सुन्दर स्वर्णरत्नमयी करधनी है। भगवान्‌का उदार उदर तीन रेखाओंसे युक्त परम सुन्दर है। गम्भीर नाभि है। चौड़ी छातीपर भगवान् रत्नोंके और गजमुक्ताओंके हार धारण किये हुए हैं। शंखके जैसा सुन्दर गला है। गलेमें मणियोंकी, दिव्य वन-पुष्पोंकी और नवीन तुलसीदलकी लम्बी मालाएँ सुशोभित हैं। भगवान्‌के सिंहके-से विशाल और ऊँचे कन्धे हैं। अतुलित बलवाली भुजाओंमें भाँति-भाँतिके ज्योतिर्मय कंकण पहने हैं। हाथोंमें मनोहर धनुष-बाण लिये हैं। जनेऊकी अपूर्व शोभा है। जरीकी किनारी और छोरोंसे सुशोभित दुपट्टा भगवान्‌के अंगपर फहरा रहा है। भगवान्‌के मुखमण्डलकी अपूर्व छटा है। परम सुन्दर ठुड्डी है। लाल-लाल अधर-ओष्ठ हैं। भगवान् जब मुसकराते हैं, तब उनके शुभ्र सुन्दर दाँत ऐसे शोभित होते हैं मानो किसी अरुणवर्ण कमलकोशके भीतर बिजलीके रंगमें डुबोये हुए अति सुन्दर पद्मरागके शिखर विराजते हों। भगवान्‌के अरुणाभ गोल कपोल परम सुन्दर हैं, नासिकाकी नोक चित्तको चुरानेवाली है, नासाके बीचमें गजमुक्ताकी लटकन है। विशाल मनोहर कानोंमें स्वर्णरत्नमय मकराकृति कुण्डल हैं। भगवान्‌की बाँकी भ्रुकुटि है; शोभाशील, प्रेम और आनन्दके भण्डार अरुण कमलदलके समान उनके मनोहर नेत्र हैं, जिनसे कृपा और सुन्दरताकी आह्लादकारिणी और मोहिनी प्रकाशधारा बह रही है। भगवान्‌के विशाल प्रकाशमय मस्तकपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित है। सिरपर अत्यन्त रमणीय स्वर्ण-रत्नोंसे निर्मित तेजःपुंज परम सुन्दर मुकुट है। उसके नीचे काले घुँघराले घने केश हैं, जो कानोंतक विचित्र ढंगसे सँवारे हुए हैं। भगवान्‌के सारे शरीरपर चन्दनकी खोरी लगी है। भगवान्‌के अंग-प्रत्यंगोंमें करोड़ों कामदेवोंकी छवि छा रही है। अंगसे दिव्य सुगन्ध निकल रही है। भगवान्‌के वामभागमें जगज्जननी सीताजी विराजमान हैं, जो नीलवस्त्र तथा सब अंगोंमें परम उज्ज्वल आभूषण धारण किये हैं। श्रीलक्ष्मणजी, भरतजी और शत्रुघ्नजी चँवर, व्यजन और छत्रको लिये भगवान्‌की सेवामें खड़े हैं। श्रीचरणोंमें बैठे हुए महावीर हनुमान्‌जी भगवान्‌के नेत्रोंकी ओर अनिमेष दृष्टिसे देख रहे हैं और भगवान्‌के दाहिने चरणको दबा रहे हैं तथा मुनिमण्डली स्तुति कर रही है।

(३)

प्रातःकालका सुहावना समय है, वन और उपवनोंमें रंग-बिरंगे पुष्प खिल रहे हैं, बड़ी अच्छी मौसिम है। अयोध्यापुरीमें सरयूजीके पवित्र तटपर भगवान् श्रीरामजी अपने भाइयों तथा मित्रोंके साथ फाग खेल रहे हैं। भगवान् रामकी अनुपम छवि देखकर सबके हृदयमें प्रेम उमड़ रहा है। भगवान्‌का शरीर श्याम तमाल या नीलमेघके समान श्यामवर्ण है। भगवान्‌के चरणतल अरुणवर्ण हैं। उनका ऊपरका हिस्सा श्यामवर्ण है। नखोंकी कान्ति करोड़ों चन्द्रमाओंके प्रकाशके समान है। भगवान्‌के चरणतलमें कमल, वज्र, ध्वजा और अंकुशादिकी रेखाएँ सुशोभित हैं। चरणोंमें मनोहर नूपुर हैं, जो अपनी सुमधुर ध्वनिसे मुनियोंका मन मोह लेते हैं। सुन्दर जानु हैं; उनकी जंघाएँ मरकतमणिके खम्भोंके समान सुन्दर और चिकनी हैं। कटिप्रदेशमें अति निर्मल पीताम्बर है। उसपर सोनेकी बनी हुई मणिजटित करधनी मनोहर शब्द कर रही है। प्रभुके उदर-प्रदेशमें मनोहर त्रिवली और अति सुन्दर गम्भीर नाभि है। भगवान् मनोहर रत्नोंके हार धारण किये हुए हैं; वक्षःस्थलमें भृगुलताका चिह्न उनकी ब्रह्मण्यता और क्षमाशीलताका परिचय दे रहा है। गलेमें सुगन्धित सुन्दर वनमाला है। विशाल भुजाओंमें कंकण और बाजूबन्द सुशोभित हैं। भुजाएँ स्थूल, जानुपर्यन्त लम्बी और अपार बलशालिनी हैं, जो सदा भक्तोंका भयभंजन करनेके लिये तैयार रहती हैं। भगवान्‌की ठुड्डी बड़ी ही मनोहर है। मनोहर अरुणवर्ण होठोंके बीचमें दाँतोंकी पंक्ति ऐसी जगमगा रही है मानो अरुण कमलके बीचमें गज-मुक्ताओंकी दो मनोहर पंक्तियाँ हों। भगवान्‌के कपोल बड़े सुन्दर हैं, कानोंमें रत्नजटित कुण्डल, मनोहर मस्तकपर तिलक और सिरपर किरीट सुशोभित है। भगवान्‌के कन्धेपर पीत जनेऊ शोभित हो रहा है। भगवान्‌की भ्रुकुटि बाँकी है

और चितवन भक्तोंपर कृपा करनेवाली और मुनियोंके भी मनको हरनेवाली है। भगवान्‌के समस्त शरीरसे तेजकी धाराएँ निकल रही हैं। मस्तकके चारों ओर शुभ्रवर्ण तेजोमण्डल है। भगवान्‌के अंग-अंगमें अतुलित शोभा छा रही है। भगवान् हाथोंमें पिचकारी लिये फाग खेल रहे हैं; नगर-निवासीगण करताल, मृदंग, झाँझ, ढोल, डफ और नगाड़े बजा रहे हैं, सुन्दर और सुहावनी शहनाइयाँ बज रही हैं। मनोहर गान गाये जा रहे हैं। वीणा और बाँसुरीकी सुमधुर ध्वनि हो रही है। आकाशमें देवताओंके विमान छाये हैं और सब बड़े हर्षसे दिव्य पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं।

(४)

परम रमणीय अयोध्या नगरीमें रत्नोंका बना हुआ एक बहुत ही सुन्दर विशाल मण्डप है। उसके चारों ओर सुन्दर सुगन्धित पुष्पोंकी वन्दनवार बँधी है। दिव्य पुष्पोंका बहुत सुन्दर विशाल चँदोवा है। उसमें पुष्पक विमान है और उस विमानपर एक दिव्य मनोहर सिंहासन है। सिंहासनपर भगवान् श्रीराम आदिशक्ति श्रीजानकीजीके साथ विराजमान हैं। देवता, असुर, वानर और मुनिगण सब अलग-अलग दल बनाये विमानमें खड़े भगवान्‌की स्तुति कर रहे हैं। लक्ष्मणसहित तीनों भाई और श्रीहनुमान्‌जी भगवान् श्रीरामजी और श्रीजानकीजीकी सेवामें लगे हैं। भगवान्‌का नीलमेघके समान श्याम शरीर है, जिसपर हरे प्रकाशकी आभा पड़ रही है। भगवान्‌के सारे शरीरपर शुभ्र चन्दन लगा है। मंजुल श्याम शरीरपर दिव्य पीताम्बर बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता है मानो नील मेघपर चन्द्रमाकी चाँदनी देखकर बिजली छिपना छोड़कर स्थिररूपसे दमक रही हो। भगवान्‌का समस्त शरीर सुचिक्कण, सुगन्धमय और प्रकाशका पुंज है। भगवान्‌के पद्मरागमणिके समान मनोहर और कोमल चरणतलोंमें ध्वजा, अंकुश, वज्र और कमल आदिके शुभ चिह्न हैं। भगवान्‌के चरणोंके अँगूठे और अँगुलियाँ परम सुन्दर हैं, उनपर अरुणवर्णके नखोंकी ज्योति जगमगा रही है। चरणोंमें मनोहर नूपुर हैं। जंघाएँ कदली-खम्भको भी मात करनेवाली चिकनी, कोमल और स्थूल हैं, जो हाथीके बच्चेकी सूँड़का मानमर्दन करती हैं। घुटने ऐसे सुन्दर हैं मानो कामदेवके तरकशका निचला भाग हो। कटितटमें सुवर्ण और मणियोंकी बनी हुई करधनी है और पीताम्बर कसा है, उसीमें तरकश बँधा है। उदरकी तीन रेखाएँ और गम्भीर नाभि परम सुन्दर हैं। हृदयमें मोतियोंकी मनोहर माला है। गलेमें वनमाला और पवित्र यज्ञोपवीत शोभायमान है। कन्धे सिंहोंके-से स्थूल हैं। शंखसदृश तीव्र रेखावाले गलेकी छवि बड़ी ही प्यारी लगती है। मुखकी मनोहरता अवर्णनीय है। उसे देखते ही अनुपम आनन्द होता है। वह छवि करोड़ों कामदेवोंकी छविको भी हरनेवाली है। प्रभुके लाल-लाल होठोंके बीचमें अनुपम दन्तावली सुशोभित है। मनोहर मुसकान मनको वरजोरीसे हर लेती है। सुन्दर ठोड़ी, मनोहर गोल कपोल और तोतेकी चोंच-सी सुन्दर नासिका बड़े ही मनोहर हैं। भगवान्‌के नेत्र कमलका मान मर्दन करनेवाले हैं तथा चितवन अति मनोहर अमृतकी वृष्टि करती है। कानोंमें सुन्दर कुण्डल हैं। सिरपर काले घुँघराले केश हैं। भगवान्‌की बाँकी भ्रुकुटि है। मस्तकपर कुंकुमके तिलक हैं। सिरपर हीरे और मणियोंके जड़े हुए सुवर्ण-मुकुटकी कान्ति सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित कर रही है। भगवान्‌का कोटि-कोटि सूर्योंका-सा प्रकाश है और उनमें करोड़ों चन्द्रमाओंकी-सी सुशीलता है।

(५)

मन्दाकिनीजीके तीरपर मनोहर चित्रकूट पर्वतपर कल्पवृक्षके नीचे सुन्दर स्फटिक-शिलापर भगवान् श्रीरामजी और श्रीसीताजी विराजमान हैं। श्रीलक्ष्मणजी दूर खड़े पहरा दे रहे हैं। भगवान् नखसे शिखातक परम सुन्दर और दर्शनीय हैं। सुन्दर श्याम शरीर है। वक्ष:स्थल और कन्धे विशाल हैं। गलेमें वनमाला है। वल्कल-वस्त्र पहने हैं, मुनियोंका-सा वेश है, नेत्र बड़े ही मनोहर और कृपाके समुद्र हैं। जटाओंका मुकुट अत्यन्त सुन्दर है। मनोहर मुखमण्डल करोड़ों चन्द्रमाओंकी छविको भी मलिन कर रहा है। करकमलोंमें सुन्दर धनुष-बाण और कटिप्रदेशमें तरकश बँधा है! गौरवर्ण परम तेजस्वी श्रीलक्ष्मणजी भी इसी भाँति सुशोभित हैं।

और भी अनेक प्रकारके भगवान् श्रीरामजीके ध्यान करने-योग्य स्वरूप हैं। उपर्युक्त पाँचोंमेंसे अपनी-अपनी रुचिके अनुसार साधक किसी भी स्वरूपका ध्यान कर सकते हैं।

भगवान् शिवका ध्यान

(१)

हिमालयमें गौरीशंकर पर्वतके ऊपर एकान्त तथा

पुण्यमय पवित्र वनमें एक सुन्दर और विशाल देवदारुवृक्षके नीचे सुन्दर शिलामयी वेदिकापर बाघका चर्म बिछाये देव-देव श्रीमहादेव समाधिमग्न विराज रहे हैं। उनके चारों ओर प्रकाशका एक मण्डल छाया है। मुखमण्डल असाधारण तेजसे पूर्ण है। शरीर श्वेत कर्पूरवर्ण है, परन्तु उसमें कुछ अरुणिमा छायी है। भगवान् पद्मासनसे बैठे हैं। शरीरका ऊपरी भाग अचल, सरल और समुन्नत है। दोनों कन्धे समानरूपसे स्थिर हैं। दोनों हाथोंको गोदमें रखे हुए हैं। दाहिने हाथपर बायाँ हाथ है। हथेलियोंकी सुन्दर लालिमा छिटक रही है। जान पड़ता है लाल कमल विकसित हो रहा है। बायें कन्धेपर भूरे भालूका चर्म है, जिसका एक छोर दाहिने कटितटके पाससे नीचेकी ओर लटक रहा है; दूसरा छोर पीठपर है। भगवान्‌के गलेमें गजमुक्ताओंकी माला है। वक्षःस्थलपर वनमाला और एकमुखी रुद्राक्षोंकी माला है। नीलकण्ठकी अपूर्व शोभा है। भगवान्‌का मुखमण्डल परम सुन्दर है। नासिका परम मनोहर है। कानोंमें रुद्राक्षकी दुहरी माला सुशोभित है। तीनों नेत्र नासिकाके अग्रभागको लक्ष्य करके स्थिर हो रहे हैं। तीसरे नेत्रसे समुज्ज्वल ज्योति निकल रही है, जो नीचेकी ओर इधर-उधर छिटक रही है। गलेमें और हाथोंमें सर्पोंके आभूषण हैं, मस्तकपर भस्मका त्रिपुण्ड्र शोभित है और चन्द्रमाने अपनी निर्मल प्रभासे मस्तकको जगमगा दिया है। जटाजूट सर्पोंके द्वारा चूड़ाके समान समुन्नतभावसे बँधा हुआ है। सारे शरीरपर भस्मके तिलक हैं। सम्पूर्ण वायु सर्वतोभावसे देहके अन्दरसे ऊपर उठकर कपालदेशमें निरुद्ध है, जिससे वे आडम्बरशून्य जलपूर्ण गम्भीर बादल, तरंगहीन महासागर या निर्वात देशमें स्थित कम्पनहीन शिखाधारी समुज्ज्वल दीपकके समान स्थिर हैं। भगवान् शिवका परम दर्शनीय और सुन्दर स्वरूप अत्यन्त शोभा पा रहा है। भाग्यवान् नन्दी समाधिमग्न भगवान्‌की समाधि निर्विघ्न बनाये रखनेके लिये दूर खड़े पहरा दे रहे हैं।

(२)

परम रमणीय कैलास पर्वतपर एक बहुत ऊँचा विशाल वटका वृक्ष है, जो पद्मरागमणियों-जैसे फलोंसे समुज्ज्वल हो रहा है। यह वृक्ष मरकतमणिमय विचित्र पत्तोंसे सुशोभित है। ऐसे वट-वृक्षके नीचे भगवान् शंकर विराजमान हैं। उनका वर्ण सफेद फिटकरी या किंचित् लालिमायुक्त चाँदीके समान है। मृगचर्मका आसन है और भालूका काला चर्म लपेटे हुए हैं। हाथोंमें और गलेमें साँपोंके आभूषण हैं। चार सुन्दर हाथोंमें—एकमें सुन्दर जपमाला, दूसरेमें अमृतका कलश, तीसरे और चौथेमें विद्या तथा ज्ञानमुद्रा हैं। वक्षःस्थलपर नागका यज्ञोपवीत है और ललाटपर भस्मका त्रिपुण्ड्र तथा चन्द्रमा सुशोभित हैं। नाना प्रकारके आभूषण पहने हैं। तीन नेत्र हैं। परम शोभनीय स्वरूप है।

(३)

सुन्दर बहुत-से दलोंवाले विशाल किंचित् अरुण रंगके पवित्र कमलपर भगवान् शंकर पद्मासन लगाये बैठे हैं। भगवान्‌का शरीर सुन्दर स्फटिकमणिके समान है। शान्तमूर्ति हैं। पाँच मुख हैं। प्रत्येक मुखमें तीन नेत्र हैं। दस हाथ हैं। दाहिने पाँच हाथोंमें क्रमशः शूल, वज्र, खड्ग, परशु और अभयमुद्रा हैं। बायें पाँचों हाथोंमें नाग, पाश, घण्टा, प्रलयाग्नि और अंकुश सुशोभित हैं। व्याघ्रचर्म पहने हुए हैं। पैरों और हाथोंमें नाना प्रकारके आभूषण हैं। गलेमें मणियोंकी माला, रत्नोंके हार और नागमाला हैं। नागका यज्ञोपवीत पहने हैं। मस्तकपर भस्मका त्रिपुण्ड्र है। ललाटपर अर्धचन्द्र और सिरपर सुन्दर मुकुट है। परम मनोहर छवि है।

(४)

आशुतोष भगवान् शंकर रक्तदल पद्मपर विराजित हैं। भवानी पार्वतीजी वामभागमें विराजित हैं। सुन्दर चार भुजाओंमें जपमाला, शूल, नर-कपाल और खट्वांग सुशोभित है। सिरपर जटाजूट है। उसपर सर्पोंका बनाया हुआ मुकुट है, ललाटपर अर्धचन्द्र सुशोभित है। बाघम्बर पहने हैं। नीलकण्ठ हैं। पास ही नन्दी स्थित है। अत्यन्त सुन्दर मूर्ति है। करोड़ों बालसूर्योंके समान भगवान्‌के शरीरकी कान्ति है।

भगवान् शंकरजीके अन्य बहुत-से ध्यान-स्वरूप हैं। उपर्युक्त चारोंमेंसे अपनी रुचि और प्रसन्नताके अनुसार किसी भी स्वरूपका ध्यान करना चाहिये।

किसी भी स्वरूपका ध्यान किया जाय, करना चाहिये बड़ी लगनके साथ नियमितरूपसे। ऐसा ध्यान होना चाहिये जिसमें अपने ध्येयस्वरूप भगवान्‌के सिवा संसारका और अपना कुछ भी ज्ञान न रह जाय। जब ऐसी स्थिति होगी, तब एक विलक्षण सुख और परम शान्तिका अनुभव होगा। इतना आनन्द उमड़ेगा कि फिर ध्यान छोड़ना दुःखजनक मालूम होगा और बार-बार

ध्यान करनेके लिये चित्तमें लोभ बढ़ जायगा। ध्येयस्वरूप निराकार हो या साकार, परमात्माके सिवा सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंचका सर्वथा अभाव हो जानेपर ही ध्यानावस्थाकी पूर्णता समझी जा सकती है। इस अवस्थामें निराकारके ध्यानमें विशुद्ध चेतन और बोधस्वरूप आनन्दकी जागृति रहती है और साकारके ध्यानमें ध्येयस्वरूप इष्टदेवका आनन्दमय परम शान्तिप्रद साक्षात्कार होता रहता है, इसलिये इस स्थितिमें लय या शून्य अवस्था नहीं होती। कुछ लोग लय या शून्य स्थितिको ही ध्यान मान लेते हैं, परन्तु वह भूल है। ऐसी अवस्था तो प्रतिदिन तमःपूर्ण सुषुप्ति कालमें होती ही है, परन्तु वह ध्यान नहीं है। ध्यानका फल है—ध्येयस्वरूप विज्ञानानन्दघन, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सर्वव्यापी, सर्वतश्चक्षु, सर्वाधार, सर्वरहित, अविद्यातीत, गुणातीत, सर्वसद्‌गुणालंकृत, सर्वगुणशून्य, परम प्रकाशरूप, ज्ञानमय, प्रेममय—आनन्दमय, अज, अविनाशी, सत्य, नित्य-निरंजन, निरामय, निष्कल, निर्गुण, अनिर्वचनीय और अचिन्त्य परमात्माकी प्राप्ति। उस परमात्माका इन विशेषणोंसे संकेतमात्र होता है। वस्तुतः वह अपनी महिमासे आप ही महिमान्वित है। उसके स्वरूपका बोध उसीको है।

भगवान्‌का स्मरण कैसे करें?

१-ऐसे करो, जैसे अफीमची अफीम न मिलनेपर अफीमका स्मरण करता है।

२-ऐसे करो, जैसे मुकद्दमेबाज मुकद्दमेका स्मरण करता है।

३-ऐसे करो, जैसे जुआरी जुएका स्मरण करता है।

४-ऐसे करो, जैसे लोभी धनका स्मरण करता है।

५-ऐसे करो, जैसे कामी कामिनीका स्मरण करता है।

६-ऐसे करो, जैसे शिकारी शिकारका स्मरण करता है।

७-ऐसे करो, जैसे निशानेबाज निशानेका स्मरण करता है।

८-ऐसे करो, जैसे किसान पके खेतका स्मरण करता है।

९-ऐसे करो, जैसे प्याससे व्याकुल मनुष्य जलका स्मरण करता है।

१०-ऐसे करो, जैसे भूखका सताया हुआ मनुष्य भोजनका स्मरण करता है।

११-ऐसे करो, जैसे घर भूला हुआ मनुष्य घरका स्मरण करता है।

१२-ऐसे करो, जैसे बहुत थका हुआ मनुष्य विश्रामका स्मरण करता है।

१३-ऐसे करो, जैसे भयसे कातर मनुष्य शरण देनेवालेका स्मरण करता है।

१४-ऐसे करो, जैसे डूबता हुआ मनुष्य जीवनरक्षाका स्मरण करता है।

१५-ऐसे करो, जैसे दम घुटनेपर मनुष्य वायुका स्मरण करता है।

१६-ऐसे करो, जैसे परीक्षार्थी परीक्षाके विषयका स्मरण करता है।

१७-ऐसे करो, जैसे ताजे पुत्रवियोगसे पीड़िता माता पुत्रका स्मरण करती है।

१८-ऐसे करो, जैसे नवीन विधवा अबला अपने मृत पतिका स्मरण करती है।

१९-ऐसे करो, जैसे घरमें रहनेवाली कुलटा स्त्री अपने जारका स्मरण करती है।

२०-ऐसे करो, जैसे मातृपरायण शिशु माताका स्मरण करता है।

२१-ऐसे करो, जैसे प्रेमी अपने प्रियतम प्रेमास्पदका स्मरण करता है।

२२-ऐसे करो, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पतिका स्मरण करती है।

२३-ऐसे करो, जैसे अन्धकारसे अकुलाये हुए प्राणी प्रकाशका स्मरण करते हैं।

२४-ऐसे करो, जैसे सर्दीसे काँपते हुए मनुष्य अग्निका स्मरण करते हैं।

२५-ऐसे करो, जैसे चकवा-चकवी सूर्यका स्मरण करते हैं।

२६-ऐसे करो, जैसे चातक मेघका स्मरण करता है।

२७-ऐसे करो, जैसे जलसे बिछुड़ी हुई मछली जलका स्मरण करती है।

२८-ऐसे करो, जैसे चकोर चन्द्रमाका स्मरण करता है।

२९-ऐसे करो, जैसे फलकामी पुरुष फलका स्मरण करता है।

३०-ऐसे करो, जैसे मुमुक्षु पुरुष आत्माका स्मरण करता है।

३१-ऐसे करो, जैसे शुद्धहृदय मुमूर्षु पुरुष भगवान्‌का स्मरण करता है।

३२-ऐसे करो, जैसे योगी पुरुष चेतन ज्योतिका स्मरण करते हैं।

३३-ऐसे करो, जैसे ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मका स्मरण करता है।

परमार्थ-साधनके आठ विघ्न

भगवत्प्राप्तिके साधकको या परमार्थ-पथके पथिकको एक-एक पैर सँभालकर रखना चाहिये। इस मार्गमें अनेक विघ्न हैं। आज उनमेंसे आठ प्रधान विघ्नोंके सम्बन्धमें कुछ आलोचना करनी है—वे आठ ये हैं—आलस्य, विलासिता, प्रसिद्धि, मान-बड़ाई, गुरुपन, बाहरी दिखावा, पर-दोष-चिन्तन और सांसारिक कार्योंकी अत्यन्त अधिकता।

आलस्य—आलसी मनुष्यका जीवन तमोमय रहता है। वह किसी भी कामको प्राय: पूरा नहीं कर पाता। आज-कल करते-करते ही उसके जीवनके दिन पूरे हो जाते हैं। वह परमार्थकी बातें सुनता-सुनाता है, वे उसे अच्छी भी लगती हैं, परन्तु आलस्य उसे साधनमें तत्पर नहीं होने देता। श्रद्धावान् पुरुष भी आलस्यके कारण उद्देश्यसिद्धितक नहीं पहुँच पाता। इसीलिये श्रद्धाके साथ 'तत्परता' की आवश्यकता भगवान्‌ने गीतामें बतलायी है। आलस्यसे तत्परताका विरोध है, आलस्य सदा यही भावना उत्पन्न करता रहता है कि 'क्या है, पीछे कर लेंगे।' जब कभी उसके मनमें कुछ करनेकी भावना होती है, तभी आलस्य प्रमाद, जम्हाई, तन्द्रा आदिके रूपमें आकर उसे घेर लेता है। अतएव आलस्यको साधनमार्गका एक बहुत बड़ा शत्रु मानकर जिस किसी उपायसे भी उसका नाश करना चाहिये।

विलासिता—विलासी पुरुषको मौज-शौकके सामान जुटानेसे ही फुरसत नहीं मिलती, वह साधन कब करे! पहले सामान इकट्ठा करना, फिर उससे शरीरको सजाना—यही उसका प्रधान कार्य होता है। कभी साधु-महात्माका संग करता है तो उसकी क्षणभरको यह इच्छा होती है कि मैं भी भजन करूँ; परन्तु विलासिता उसको ऐसा करने नहीं देती। भाँति-भाँतिके नये-नये फैशनके सामान संग्रह करना और उनका मूल्य चुकानेके लिये अन्याय और असत्यकी परवा न करते हुए धन कमानेके काममें लगे रहना—इन्हींमें उसका जीवन बीतता है। शौकीन मनुष्यको धनका अभाव तो प्राय: बना ही रहता है; क्योंकि वह आवश्यक-अनावश्यकका ध्यान छोड़कर जहाँ कहीं भी कोई शौककी बढ़िया चीज देखता है, उसीको खरीद लेता है या खरीदना चाहता है। न रुपयोंकी परवा करता है और न अन्य किसी प्रकारका परिणाम सोचता है। सुन्दर मकान, बढ़िया-बढ़िया बहुमूल्य महीन वस्त्र, सुन्दर भोजन, इत्र-फुलेल, कंघे, दर्पण, जूते, घड़ी, छड़ी, पाउडर आदिकी तो बात ही क्या, खाने-पहनने, बिछाने, बैठने, चलने-फिरने, सूँघने-देखने और सुनने-सुनाने आदि सभी प्रकारके सामान उसे बढ़िया-से-बढ़िया और सुन्दर-से-सुन्दर चाहिये। वह रात-दिन इन्हींकी चिन्तामें लगा रहता है। वैराग्य तो उसके पास भी नहीं फटकने पाता। वह कभी भगवान्‌से प्रार्थना भी करता है तो यही कि 'हे भगवान्! मेरे मनमें आपको प्राप्त करनेकी इच्छा है; परन्तु मेरे शौकके सामान सदा बने रहें, मुझे नये-नये विलास-द्रव्योंकी प्राप्ति होती रहे और मैं इसी प्रकार विलासितामें डूबा हुआ ही आपको भी पा लूँ।' कहना नहीं होगा कि यह प्रार्थना भी उसकी क्षणभरके लिये ही होती है। ऐसे लोगोंको करोड़पतिसे कंगाल होते देखा जाता है और अर्थ-कष्टके साथ ही आदतसे प्रतिकूल स्थितिमें रहनेको बाध्य होनेका एक महान् कष्ट उन्हें विशेषरूपसे भोगना पड़ता है। जो मनुष्य भगवत्प्राप्ति तो चाहता है परन्तु वैराग्य नहीं चाहता और सादा जीवन बितानेमें संकोचका अनुभव करता है, वह भगवत्प्राप्तिके मार्गपर अग्रसर नहीं हो सकता। अत: विलासिताके भावको मनमें आते ही उसे तुरन्त निकाल देना चाहिये। यह भाव तरह-तरहकी युक्तियाँ पेश करके पहले-पहले 'कर्तव्य' का बाना धारणकर आश्रय प्राप्त कर लेता है, फिर बढ़कर

मनुष्यका सर्वनाश कर डालता है; अतएव इससे विशेष सावधान रहना चाहिये। विलासी पुरुषोंका संग करना या उनके आस-पास रहना भी विलासितामें फँसानेवाला है। इसलिये विलासिताको परम शत्रु समझ इसका सर्वथा नाश करके सभी बातोंमें सादगीका आचरण करना चाहिये। विलासितामें अनेक हानियाँ हैं; विशेषत: निम्नलिखित, दस हानियाँ तो होती ही हैं—इस बातको याद रखना चाहिये।

१. धनका नाश, २. आरोग्यका नाश, ३. आयुका नाश, ४. सादगीके सुखका नाश, ५. देशके स्वार्थका नाश, ६. धर्मका नाश, ७. सत्यका नाश, ८. वैराग्यका नाश, ९. भक्तिका नाश, १०. ज्ञानका नाश।

प्रसिद्धि—संसारमें ख्याति साधन-मार्गका एक बड़ा विघ्न है। इसीसे सन्तोंने भगवत्प्रेमको वैसे ही गुप्त रखनेकी आज्ञा दी है, जैसे भले घरकी कुलटा स्त्री जारके अनुरागको छिपाकर रखती है। साधककी प्रसिद्धि होते ही चारों ओरसे लोग उसे घेर लेते हैं। साधनके लिये उसे समय मिलना कठिन हो जाता है। उसका अधिक समय सैकड़ों-हजारों आदमियोंसे बातचीत करने और पत्र-व्यवहारमें बीतने लगता है। जीवनकी अन्तर्मुखी वृत्ति बहिर्मुखी बनने लगती है। होते-होते उसका जीवन सर्वथा बहिर्मुख हो जाता है। वह बाहरके कामोंमें ही लग जाता है और क्रमश: गिरने लगता है, परन्तु प्रसिद्धिमें प्रिय भाव उत्पन्न हो जानेके कारण उसे वह सदा बढ़ाना चाहता है और यों दिनोंदिन अधिकाधिक लोगोंसे परिचय प्राप्त कर लेता है। फिर उसका असली साधकका स्वरूप तो रहता नहीं, वरं प्रसिद्धि कायम रखनेके लिये वह दम्भ आरम्भ कर देता है और वैसे ही रात-दिन जलता और नये-नये ढोंग रचा करता है, जैसे निर्धन मनुष्य धनी कहानेपर अपने उस झूठे दिखाऊ धनीपनको कायम रखनेके लिये अन्दर-ही-अन्दर जलता और जाल रचता रहता है। उसका जीवन कपट, दु:ख और सन्तापका घर बन जाता है। ऐसी अवस्थामें साधनका तो स्मरण ही नहीं रहता। अतएव इस अवस्थाकी प्राप्ति न हो, इससे पहले ही बढ़ती हुई प्रसिद्धिको रोकनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यह बात याद रखनी चाहिये—'जिनकी प्रसिद्धि नहीं हुई और भजन होता है, वे पूरे भाग्यवान् हैं। जितनी प्रसिद्धि है, उससे ज्यादा भजन होता है, तो भी अधिक डर नहीं है। जितना भजन होता है, उतनी ही प्रसिद्धि है तो गिरनेका भय है। जितना भजन होता है, उससे कहीं ज्यादा प्रसिद्धि हुई तो वह गिरने लगा और जहाँ कोई बिना भजनके ही भजनानन्दी कहलाता है, वहाँ तो उसका पतन हो ही चुका।'

मान-बड़ाई—यह बड़ी मीठी छुरी है या विषभरा सोनेका घड़ा है। देखनेमें बहुत ही मनोहर लगता है, परन्तु साधन-जीवनको नष्ट करते इसे देर नहीं लगती। संसारके बहुत बड़े-बड़े पुरुषोंके बहुत बड़े-बड़े कार्य मान-बड़ाईके मोलपर बिक जाते हैं। असली फल उत्पन्न करनेके पहले ही वे सब मान-बड़ाईके प्रवाहमें बह जाते हैं। मानकी अपेक्षा भी बड़ाई अधिक प्रिय मालूम होती है। बड़ाई पानेके लिये मनुष्य मानका त्याग कर देता है; लोग प्रशंसा करें, इसके लिये मान छोड़कर सबसे नीचे बैठते और मानपत्र आदिका त्याग करते लोग देखे जाते हैं। बड़ाई मीठी लगी कि साधन-पथसे पतन हुआ। आगे चलकर तो उसके सभी काम बड़ाईके लिये ही होते हैं। जबतक साधनसे बड़ाई होती है, तबतक वह साधकका भेष रखता है। जहाँ किसी कारणसे परमार्थ-साधनमें रहनेवाले मनुष्योंकी निन्दा होने लगती है, वहीं वह उसे छोड़कर जिस कार्यमें बड़ाई होती है, उसीमें लग जाता है; क्योंकि अब उसे बड़ाईसे ही काम है, भगवान्‌से नहीं। अतएव मान-बड़ाईकी इच्छाका सर्वथा त्याग करना चाहिये। परन्तु सावधान, यह वासना बहुत ही छिपी रह जाती है, सहजमें इसके अस्तित्वका पता नहीं लगता। मालूम होता है, हम बड़ाईके लिये काम नहीं कर रहे हैं; परन्तु यदि निन्दा जरा भी अप्रिय लगती है और बड़ाई सुनते ही मनमें सन्तोष-सा प्रतीत होता है या आनन्दकी एक लहर-सी उठकर होठोंपर हँसीकी रेखा-सी चमका देती है तो समझना चाहिये कि बड़ाईकी इच्छा अवश्य मनमें है। बहुत-से मनुष्य तो भोगोंतकका त्याग भी बड़ाई पानेके लिये ही करते हैं। यद्यपि न करनेवालोंकी अपेक्षा बड़ाईके लिये किया जानेवाला त्याग या धार्मिक सत्कार्य बहुत ही उत्तम है, परन्तु परमार्थदृष्टिसे मान-बड़ाईकी इच्छा अत्यन्त हेय और निन्दनीय होनेके साथ ही साधनसे गिरानेवाली है।

गुरुपन—साधन-अवस्थामें मनुष्यके लिये गुरुभावको प्राप्त हो जाना बहुत ही हानिकारक है। ऐसी अवस्थामें,

जब वह स्वयं ही सिद्धावस्थाको प्राप्त नहीं होता, जब उसीका साधनपथ रुक जाता है, तब वह दूसरोंको तो कैसे पार पहुँचायेगा! ऐसे ही कच्चे गुरुओंके सम्बन्धमें यह कहा जाता है—जैसे अन्धा अन्धोंकी लकड़ी पकड़कर अपने सहित सबको गड्ढेमें डाल देता है, वैसी ही दशा इनकी होती है। परमार्थ-पथमें गुरु बननेका अधिकार उसीको है, जो सिद्धावस्थाको प्राप्त कर चुका हो। जो स्वयं लक्ष्यतक नहीं पहुँचा है, वह यदि दूसरोंको पहुँचानेका ठेका लेने जाता है तो उसका परिणाम प्राय: बुरा ही होता है। शिष्योंमेंसे कोई सेवा करता है तो उसपर उसका मोह हो जाता है। कोई प्रतिकूल होता है तो उसपर क्रोध आता है। सेवकके विरोधीसे द्वेष होता है। दलबन्दी हो जाती है। जीवन बहिर्मुख होकर भाँति-भाँतिके झंझटोंमें लग जाता है। साधन छूट जाता है। उपदेश और दीक्षा देना ही जीवनका व्यापार बन जाता है। राग-द्वेष बढ़ते रहते हैं और अन्तमें वह सर्वथा गिर जाता है। साधनपथमें दूसरोंको साथी बनाना, पिछड़े हुओंको साथ लेना, मित्रभावसे परस्पर सहायता करना, भूले हुओंको मार्ग बताना, साथमें प्रकाश या भोजन हो तो दूसरोंको भी उससे लाभ उठाने देना, मार्गके बीमारोंकी सेवा करना, अशक्तोंको शक्तिभर साहस, शक्ति और धैर्य प्रदान करना तो साधकका परम कर्तव्य है। परन्तु गुरु बनकर उनसे सेवा कराना, पूजा प्राप्त करना, अपनेको ऊँचा मानकर उन्हें नीचा समझना, दीक्षा देना, सम्प्रदाय बनाना, अपने मतको आग्रहसे चलाना, दूसरोंकी निन्दा करना और बड़प्पन बघारना आदि बातें भूलकर भी नहीं करनी चाहिये।

बाहरी दिखावा—साधनमें 'दिखावे' की भावना बहुत बुरी है। वस्त्र, भोजन और आश्रम आदि बातोंमें मनुष्य पहले तो संयमके भावसे कार्य करता है; परन्तु पीछे उसमें प्राय: 'दिखावे' का भाव आ जाता है। इसके अतिरिक्त, 'ऐसा सुन्दर आश्रम बने, जिसे देखते ही लोगोंका मन मोहित हो जाय, भोजनमें इतनी सादगी हो कि देखते ही लोग आकर्षित हो जायँ, वस्त्र इस ढंगसे पहने जायँ कि लोगोंके मन उनको देखकर खिंच जायँ'—ऐसे भावोंसे भी ये कार्य होते हैं। यद्यपि यह दिखावटी भाव सुन्दर और असुन्दर दोनों ही प्रकारके चाल-चलन और वेष-भूषामें रह सकता है। बढ़िया कपड़े पहननेवालेमें स्वाभाविकता हो सकती है और मोटा खद्दर या गेरुआ अथवा बिगाड़कर कपड़े पहननेवालेमें 'दिखावे' का भाव रह सकता है। इसका सम्बन्ध ऊपरकी क्रियासे नहीं है, मनसे है। तथापि अधिकतर सुन्दर दिखानेकी भावना ही रहती है। लोकमें जो फैशन सुन्दर समझी जाती है, उसीका अनुकरण करनेकी चेष्टा प्राय: हुआ करती है। अन्दर सचाई होनेपर भी 'दिखावे' की चेष्टा साधकको गिरा ही देती है। अतएव इससे सदा बचना चाहिये।

पर-दोष-चिन्तन—यह भी साधन-मार्गका एक भारी विघ्न है। जो मनुष्य दूसरेके दोषोंका चिन्तन करता है, वह भगवान्‌का चिन्तन नहीं कर सकता। उसके चित्तमें सदा द्वेषाग्नि जला करती है। उसकी जहाँ नजर जाती है, वहीं उसे दोष दिखायी देते हैं। दोषदर्शी सर्वत्र भगवान्‌को कैसे देखे! इसी कारण वह जहाँ-तहाँ हर किसीकी निन्दा कर बैठता है। परदोषदर्शन और परनिन्दा साधनपथके बहुत गहरे गड्ढे हैं। जो इनमें गिर पड़ता है, वह सहज ही नहीं उठ सकता। उसका सारा भजन-साधन छूट जाता है। अतएव साधकको अपने दोष देखने तथा अपनी सच्ची निन्दा करनी चाहिये। जगत्‌की ओरसे उदासीन रहना ही उसके लिये श्रेयस्कर है।

सांसारिक कार्योंकी अधिकता—मनुष्यको घरके, संसारके, आजीविकाके—यहाँतक कि परोपकारतकके कार्य उसी हदतक करने चाहिये, जिसमें विश्राम करने तथा दूसरी आवश्यक बातें सोचनेके लिये पर्याप्त समय मिल जाय। जो मनुष्य सुबहसे लेकर रातको सोनेतक काममें ही लगे रहते हैं, उनको जब विश्राम करनेकी ही फुरसत नहीं मिलती, तब घण्टे दो घण्टे स्वाध्याय करने अथवा मन लगाकर भगवच्चिन्तन करनेको तो अवकाश मिलना सम्भव ही कैसे हो सकता है। उनका सारा दिन हाय-हाय करते बीतता है, मुश्किलसे नहाने-खानेको समय मिलता है। वे उन्हीं कामोंकी चिन्ता करते-करते सो जाते हैं, जिससे स्वप्नमें भी उन्हें वैसी ही सृष्टिमें विचरण करना पड़ता है। असलमें तो सांसारिक पदार्थोंके अधिक संग्रह करनेकी इच्छा ही दूषित है। दानके तथा परोपकारके लिये भी धन-संग्रह करनेवालोंकी मानसिक दयनीय दुर्दशाके दृश्य प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, फिर भोगके लिये अर्थसंचय करनेवालोंके दु:ख भोगनेमें तो आश्चर्य ही क्या है। परन्तु धन-संचय किया भी जाय तो इतना काम तो कभी नहीं बढ़ाना चाहिये, जिसकी सँभाल और देखभाल करनेमें ही जीवनका अमूल्य समय रोज दो घड़ी स्वस्थचित्तसे

भगवद्भजन किये बिना ही बीत जाय। जिन बेचारोंके पेट पूरे नहीं भरते, उनके लिये तो कदाचित् दिन-रात मजदूरीमें लगे रहना और अधिक-से-अधिक कार्यका विस्तार करना क्षम्य भी हो सकता है; परन्तु जो सीधे या प्रकारान्तरसे धनकी प्राप्तिके लिये ही कार्योंको बढ़ाते हैं, वे तो मेरी तुच्छ बुद्धिमें भूल ही करते हैं। निष्कामभावसे करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुष भी जब अधिक कार्योंमें व्यस्त हो जाते हैं, तब प्राय: निष्कामभाव चला जाता है और कहीं-कहीं तो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसमें बाध्य होकर सकामभावका आश्रय लेना पड़ता है। अतएव जहाँतक बने, साधक पुरुषको सांसारिक कार्य उतने ही करने चाहिये, जितनेमें गृहस्थीका खर्च सादगीसे चल जाय, प्रतिदिन नियमितरूपसे भजन-साधनको समय मिल सके, चित्त न अशान्त हो और न निकम्मेपनके कारण प्रमाद या आलस्यको ही अवसर मिले, कर्तव्यपालनकी तत्परता बनी रहे और मनुष्य-जीवनके मुख्य ध्येय 'भगवत्प्राप्ति' का कभी भूलकर भी विस्मरण न हो।

विघ्न और भी बहुत-से हैं, पर प्रधान-प्रधान विघ्नोंमें ये आठ बड़े प्रबल हैं। साधकको चाहिये कि वह दयामय सच्चिदानन्दघन भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके और उसीका आश्रय ग्रहण करके इन विघ्नोंका नाश कर दे। प्रभु-कृपाके बलसे असम्भव भी सम्भव हो जाता है। मनुष्य प्रभु-कृपापर जितना ही विश्वास करता है, उतना ही वह प्रभुकी सुखमय गोदकी ओर आगे बढ़ता है।

पाप विषयासक्तिसे होते हैं, प्रारब्धसे नहीं

प्रश्न—मनुष्यसे जो पापकर्म बनते हैं, उसमें प्रधान कारण क्या है?

उत्तर—पापोंके होनेमें प्रधान कारण विषयोंकी आसक्ति ही है; आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है, कामनाकी पूर्तिसे लोभ और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। ये काम, क्रोध, लोभ ही सारे पापोंकी जड़ हैं। भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६। २१)

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं; ये आत्माका नाश (अध:पतन) करनेवाले हैं, अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।

प्रश्न—क्या विषयासक्तिका और काम, क्रोध, लोभका त्याग करना मनुष्यकी शक्तिमें है?

उत्तर—अवश्य ही है; शक्तिमें न होता तो भगवान् त्याग करनेकी आज्ञा ही कैसे देते तथा क्यों वेद-पुराण, स्मृति-शास्त्र निषिद्धके त्याग और विहितके ग्रहणकी व्यवस्था करते।

प्रश्न—बात तो ऐसी ही मालूम होती है, परन्तु एक सन्देह होता है। कुछ सज्जन कहते हैं कि इसमें जीव पराधीन है। एक बार हरिद्वारमें गंगातटपर एक सिन्धी माईसे बातचीत होने लगी। माईको वेदान्तका बड़ा बोध मालूम होता था। उन्होंने मुझसे कहा कि 'पाप विषयासक्तिसे भी होते हैं और प्रारब्धसे भी। बल्कि कभी-कभी तो प्रारब्धका इतना प्रबल वेग होता है कि मनुष्यको बाध्य होकर बुरे-से-बुरे पापकर्म करने पड़ते हैं।' जब मैंने नहीं माना तो उन्होंने मुझे जगत्प्रसिद्ध श्रीविद्यारण्यस्वामिकृत 'पंचदशी' ग्रन्थसे निम्नलिखित श्लोकोंको पढ़कर सुनाया और उनका अर्थ करके यह समझानेकी चेष्टा की कि 'पाप प्रारब्धसे होते हैं, इनसे छूटनेकी कोशिश न करके ब्रह्मके बोधके लिये चेष्टा करनी चाहिये। ब्रह्मका बोध होनेपर पाप रह भी गये तो कोई हर्ज नहीं; क्योंकि पाप जिन काम-क्रोधादिसे होते हैं, वे तो अन्त:करणके धर्म हैं। जबतक अन्त:करण है, तबतक वे रहेंगे ही और अन्त:करण स्थूल-शरीरके विनाशतक जरूर रहेगा; अतएव पापोंके लिये कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये।' पंचदशीके ये श्लोक थे—

अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररता अपि।
जानन्त एव स्वानर्थमिच्छन्त्यारब्धकर्मतः॥
न चात्रैतद् वारयितुमीश्वरेणापि शक्यते।
यत ईश्वर एवाह गीतायामर्जुनं प्रति॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

इनका अर्थ समझाते हुए माईजीने कहा—'कुपथ्यका सेवन करनेवाले, चोर और राजाकी स्त्रीके साथ रमण

करनेवाले लोग अपने भविष्यमें होनेवाले अनर्थको जानते हुए भी प्रारब्धकर्मके वशमें होकर ऐसे काम करनेकी इच्छा करते हैं और उनकी इन प्रारब्धजनित इच्छाओंका रोकना ईश्वरके लिये भी शक्य नहीं है। इस विषयमें स्वयं ईश्वरने गीतामें अर्जुनके प्रति कहा है कि ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, सभी जीव अपनी प्रकृतिके वश रहते हैं; फिर मैं (ईश्वर) या और कोई उसका निग्रह क्या करेगा। यदि मनुष्य अवश्य होनेवाले दु:खोंको रोक सकता तो नल, राम तथा युधिष्ठिर-सरीखे प्रतापी और शक्तिमान् पुरुष कभी दु:खोंमें न फँसते। प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है—स्वेच्छासे, अनिच्छासे और परेच्छासे। स्वेच्छासे दु:खका भोग देनेवाला प्रारब्ध यदि दुष्कर्मकी इच्छा उत्पन्न न करेगा तो भोग होगा ही कैसे। अतएव स्वेच्छा-प्रारब्धके अनुसार प्राप्त होनेवाले दु:खभोगोंमें मनुष्यके द्वारा पापादिका होना अनिवार्य है। अवश्य ही अज्ञानी इन पापोंमें मनसे फँसता है और ज्ञानी प्रारब्धकी प्रेरणासे बाध्य होकर; क्योंकि अवश्यम्भावीका प्रतीकार तो हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार अनिच्छा-प्रारब्धमें बिना अपनी इच्छाके दु:ख-भोगकी प्राप्ति होती है। अनिच्छा-प्रारब्धकी प्रेरणासे रजोगुण बढ़ता है, उससे काम और क्रोध उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हींके कारण मनुष्य पापमें प्रवृत्त हो जाता है। उसकी अपनी इच्छा न रहनेपर भी उसे बाध्य होकर पाप करना पड़ता है। यदि ऐसा न हो तो अनिच्छा-प्रारब्ध सिद्ध ही नहीं हो सकता। इसीलिये गीतामें श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें ऐसा आया है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(३। ३६-३७)

अर्जुन पूछता है—'श्रीकृष्ण! यह पुरुष इच्छा न करनेपर भी किसकी प्रेरणासे पाप करता है? मानो कोई जबरदस्ती उसे पापमें लगा रहा हो।' इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण कहते हैं—''जो इस पुरुषको पापमें प्रवृत्त करता है, वह रजोगुणसे उत्पन्न हुआ काम है; यह 'काम' ही क्रोधका रूप धारण कर लेता है, यह काम महाशन है अर्थात् कामनाकी कभी पूर्ति होती ही नहीं। अतएव इसी कामको तुम अपना वैरी जानो।' परेच्छा-प्रारब्धका भोग दूसरेको प्रसन्न करनेके लिये होता है। अतएव इन पापोंको कौन टाल सकता है। इनसे घबरानेकी आवश्यकता नहीं।''

माईजीके इस उपदेशका मर्म मैं ठीक-ठीक समझ नहीं सका। फिर एक बार एक जगह साधुओंकी एक मण्डली आयी। तीन साधु थे। उनमें जो प्रधान साधु थे, वे नग्न थे, उनके साथ एक युवती स्त्री थी। उनके आचरणपर कुछ सन्देह होनेपर मैंने पता लगाया तो मालूम हुआ कि युवती सदा साधुजीके पास रहती है और उसके साथ उनका सम्बन्ध पवित्र नहीं है। मैंने साहस करके साधुजीसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने पहले तो यह कहा कि 'तुमको इससे क्या मतलब है, हमसे कोई उपदेश लेना हो तो पूछो।' मैंने जब नम्रतापूर्वक आग्रह किया, तब उन्होंने जोशमें आकर कहा कि 'हम तो अशास्त्रीय कुछ भी नहीं कर रहे हैं। स्त्रीके साथ रहनेसे हमारे आत्मबोधमें कुछ भी फर्क नहीं पड़ता।' फिर वे भी पंचदशीके उपर्युक्त माईजीवाले श्लोकोंको कह गये और बोले कि 'यह सब कुछ प्रारब्धसे होता है, जबतक शरीरका प्रारब्ध-भोग शेष है, तबतक इस स्त्रीको हम हटा नहीं सकते। न यह हमें छोड़ सकती है। यह तो इस शरीरके भोगके लिये है। फिर दूसरी बात यह भी है कि हम जो कुछ भी करें, वस्तुतः हम तो कुछ करते ही नहीं। यह तो सब प्रकृतिमें होता है, सब इन्द्रियोंका व्यापार है, हमसे इसका क्या सम्बन्ध! गीता भी तो यही कहती है—

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशंजिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(५। ८-९)

'तत्त्वज्ञानी महात्मा देखता, सुनता, स्पर्श करता, सूँघता, खाता, सोता, साँस लेता, बोलता, छोड़ता, ग्रहण करता, पलकें मारता और खोलता—यह सब काम करता हुआ यही मानता है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें बर्त रही हैं, हम शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव आत्मासे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।'

साधुजीकी व्याख्यापर उस समय मुझे कोई उत्तर नहीं आया और मैं वहाँसे अपने घर चला आया।

मुझे सिन्धी माईजीसे बात करके तो ऐसा अनुमान हुआ था कि माईजी जो कुछ कहती हैं, अपने सरल विश्वाससे जैसा समझी हैं, वैसा ही कहती हैं; परन्तु साधुजीकी बात सुनकर और उनके हाव-भाव देखकर तो यही प्रतीत हुआ कि ये अपने दोषका समर्थन करनेके लिये ही शास्त्रका दुरुपयोग कर रहे हैं। जो कुछ भी हो, अब प्रश्न यह है कि क्या वास्तवमें स्वेच्छा और अनिच्छा-प्रारब्धसे मनुष्य पाप करनेको बाध्य है? क्या गीतामें इसका समर्थन है? और क्या ज्ञानी पुरुष भी निषिद्ध आचरण कर सकता है? यदि नहीं तो विद्यारण्य स्वामी-जैसे ग्रन्थकारने ऐसी बातें क्यों लिखीं? क्या आपने पंचदशी पढ़ी है? आपका इस सम्बन्धमें जो कुछ भी अभिमत हो, मुझसे स्पष्ट समझाकर कहिये।

उत्तर—श्रीविद्यारण्य स्वामीकी पंचदशीको मैंने देखा है। पंचदशी वेदान्तका बहुत ही उपादेय और मान्य ग्रन्थ है। विद्यारण्य स्वामीकी महान् विद्वत्ताके सामने सहज ही मनुष्यका सिर झुक जाता है। फिर आचार्यके नाते तो वे हम सबके परम पूज्य हैं, ऐसी दशामें मुझ-सरीखा साधारण मनुष्य उनके शब्दोंपर क्या आलोचना कर सकता है। दीर्घकालतक आचार्योंके चरणोंमें बैठकर श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करनेसे ही उनके वचनोंका रहस्य जाना जा सकता है। पूज्यपाद विद्यारण्य स्वामीने ही यदि इस प्रकरणको लिखा है तो किस रहस्यको मनमें रखकर लिखा है, कुछ समझमें नहीं आता। परन्तु इस प्रकरणका साधारणत: जो अर्थ किया जाता है या समझा जाता है, उससे तो अवश्य ही बहुत ही अनुचित प्रवृत्तियोंके विस्तारमें सहारा मिला है और उसके बलपर पापका बहुत विस्तार हुआ है। आपने जो उदाहरण दिये हैं, ऐसे सैकड़ों-हजारों उदाहरण मिल सकते हैं। परन्तु एक बात याद रखनी चाहिये, किसीके द्वारा दुरुपयोग किये जानेसे ही शास्त्रके रहस्यमय वाक्य दूषित नहीं हो जाते। दुरुपयोग तो विषयीलोग हर एक बातका ही करते हैं, उनका उद्देश्य ही किसी-न-किसी प्रकारसे अपनी भोग-कामनाको पूर्ण करना होता है। देखना तो यह है कि वास्तवमें इसका रहस्य क्या है, इस सम्बन्धमें मैं तो बहुत नम्रताके साथ पूज्यपाद श्रीविद्यारण्य स्वामीजीके पवित्र चरणोंमें नमस्कार करता हुआ यही कहता हूँ कि बार-बार विचार करनेपर भी पंचदशीके उपर्युक्त वाक्योंका रहस्य मैं समझ नहीं सका। वरं कभी-कभी तो मनमें ऐसा दृढ़ भाव आता है कि ये वाक्य महामान्य विद्यारण्य मुनिके हैं ही नहीं; क्योंकि जो महामान्य विद्यारण्य मुनि पंचदशीमें ही अन्यत्र स्वयं कहते हैं—

अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मन्दमिति द्विधा।
कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत्॥
उभयं तत्त्वबोधात् प्राङ्निवार्यं बोधसिद्धये।
शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः॥
तत्त्वं बुद्ध्वापि कामादीन्निःशेषं न जहासि चेत्।
यथेष्टाचरणं ते स्यात् कर्मशास्त्रातिलंघनः॥
बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे॥
बोधात् पुरा मनोदोषमात्रात् क्लिश्यस्यथाधुना।
अशेषलोकनिन्दा चेत्यहो ते बोधवैभवम्॥
विड्वराहादितुल्यत्वं मा काङ्क्षीस्तत्त्वविद् भवान्।
सर्वधीदोषसंत्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत्॥

(पंचदशी, द्वैतविवेकप्रकरण ४९ से ५०, ५४ से ५७)

'अशास्त्रीय द्वैत भी तीव्र और मन्द—दो प्रकारका होता है। काम-क्रोधादिको तीव्र द्वैत कहते हैं और मनोराज्यको मन्द। बोधकी सिद्धिके लिये अर्थात् ज्ञानकी प्राप्तिके लिये इन दोनों प्रकारके द्वैतोंको पहले ही निवारण कर देना चाहिये; क्योंकि ब्रह्मज्ञानके साधनोंमें मन-इन्द्रियोंका वशमें होना और चित्तका समाहित होना दोनों ही सुने जाते हैं। तत्त्वको जानकर भी यदि तू कामादिका पूर्णरूपसे नहीं त्याग करेगा तो उसके फलस्वरूप शास्त्रोंकी आज्ञाको लंघन करनेवाला यथेच्छाचारी बन जायगा। और यदि अद्वैत तत्त्वको जान लेनेपर भी यथेच्छाचार ही बना रहा तो फिर उस शास्त्रका उल्लंघन करनेवाले तत्त्वज्ञानी और कुत्तोंमें यह भेद ही क्या रह गया! इससे तो अज्ञानी रहना अच्छा था; क्योंकि उस अवस्थामें तुझे काम-क्रोधादि मानसिक दोष ही क्लेश दिया करते थे, पर अब ज्ञानी कहलानेपर उन दोषोंके साथ-साथ लोकमें तेरी बड़ी भारी निन्दा और होने लगी है। वाह! तेरा यह ज्ञानका वैभव भी विचित्र ही है। (अर्थात् यदि यही ज्ञान है तो फिर अज्ञान क्या होगा) अतएव तुम तत्त्ववेत्ता होकर विष्ठा खानेवाले सूअर आदिके समान बनना मत चाहो। सब दोषोंको इस प्रकार छोड़कर ज्ञानी बनो कि लोग तुम्हारी देववत् पूजा करें।'

जो महापुरुष इतने कड़े शब्दोंमें मिथ्या ज्ञानीकी खबर लेते हैं और काम-क्रोधका विरोध करते हैं, वे

प्रारब्धभोगके व्याजसे ज्ञानीके लिये भी प्रकारान्तरसे परवश होकर पाप करना कैसे सिद्ध करेंगे? तत्त्वज्ञानके अधिकारकी व्याख्या करती हुई श्रुति स्पष्ट शब्दोंमें घोषणा करती है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

(कठ० १। २। २४)

'जो पापकर्मोंसे निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त समाहित नहीं है और जो अशान्तमानस है, वह पुरुष केवल (बाह्य) ज्ञानके द्वारा ही आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता।' जब आत्माकी प्राप्तिके पहले ही पापोंका परित्याग कर देना पड़ता है, तब आत्मप्राप्तिके अनन्तर बोधवान् पुरुषके द्वारा पाप कैसे हो सकते हैं? और कैसे महामान्य विद्वान् श्रीविद्यारण्य मुनि-जैसे महापुरुष उसका प्रतिपादन कर सकते हैं। इन्हीं सब बातोंपर विचार करनेसे मेरे उस सन्देहकी पुष्टि हो जाती है कि सम्भव है किसी मनचले मनुष्यने अपने मिथ्या ज्ञानको (जिसका स्वयं विद्यारण्य मुनि विरोध करते हैं) वास्तविक ज्ञानके आसनपर बैठानेके लिये विद्यारण्य मुनिके पवित्र नामका दुरुपयोग किया है। इसीसे शरीर और मनसे पापाचरण करते हुए भी लोग अपनेको आज जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष कहनेमें नहीं सकुचाते और भोली जनताको भ्रममें डालते हैं। ऐसे ही लोगोंके लिये कहा गया है—

सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति सम्प्राप्ते हि कलौ युगे।
नानुतिष्ठन्ति मैत्रेय शिश्नोदरपरायणाः॥

'हे मैत्रेय! कलियुग आनेपर व्यभिचारी और पेटूलोग साधन कुछ भी नहीं करेंगे, परन्तु ब्रह्मकी बातें सब करेंगे।' गोस्वामीजीने भी कहा है—

ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभ बस करहिं बिप्र गुर घात॥

ऐसे ही लोगोंने पंचदशीमें अपनी बात रख दी हो तो क्या आश्चर्य है। क्योंकि वहाँका वह प्रसंग युक्तिसंगत और शास्त्रीय नहीं ठहरता; कैसे नहीं ठहरता, इस विषयपर कुछ निवेदन करता हूँ।

सबसे पहली बात तो यह है कि प्रारब्धसे पाप होना युक्तिसंगत नहीं है। प्रारब्धके परवश होकर मनुष्य पाप करनेको बाध्य हो—इस सिद्धान्तके माननेसे कई अनिवार्य दोष आते हैं, जिनमें कुछ ये हैं—

१—विधि-निषेधात्मक शास्त्रवाक्योंका कोई मूल्य नहीं रह जाता। 'ऐसा करो' और 'ऐसा न करो'—ये शास्त्रवाक्य तभी लागू हो सकते हैं, जब मनुष्य करनेमें स्वतन्त्र हो; यदि परवश होकर वह अनिच्छापूर्वक पाप करनेके लिये बाध्य है, तब शास्त्रोंका शासन उसपर कैसे चल सकता है और ऐसी अवस्थामें सभी पापाचारी नर-नारी यह कह सकते हैं कि हम तो प्रारब्धके कारण ही ऐसा कर रहे हैं, शास्त्रको मानना हमारे लिये सम्भव नहीं है।

२—प्रारब्धवश पापकी इच्छा होती है, ऐसा माननेवालोंको यह तो मानना ही पड़ता है कि वह प्रारब्ध-भोग पुण्यकर्मका फल नहीं है, पापका ही फल है और जब पापका फल पाप है और उसे करनेके लिये मनुष्य बाध्य है, तब उसके पापका कभी अन्त हो ही नहीं सकता। पापका फल पाप, फिर पापका फल पाप—इस अनवस्थादशामें जीवके उद्धारकी कोई आशा नहीं रह जाती। साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि इस प्रकार विधान करनेवाला ईश्वर जीवोंको पापके बन्धनसे कभी मुक्त करना ही नहीं चाहता।

३—साधारण विवेकसे भी यह बात भलीभाँति समझमें आती है कि किसी भी विवेकयुक्त कानूनमें ऐसा विधान नहीं होना चाहिये कि जो एक अपराधके दण्डस्वरूप पुनः दूसरा अपराध करनेकी अनुमति देता हो। कोई भी दण्डविधान यह नहीं कह सकता कि चोरी करनेवालेको पुनः चोरी करनी पड़ेगी। जब मानवी कानूनमें ऐसा विधान नहीं हो सकता, तब परम न्यायकारी और दयालु ईश्वरके कानूनमें ऐसा विधान होना कैसे सम्भव है।

४—शास्त्रोंमें पापके लिये दण्डविधान है। रोग, धननाश, पुत्रनाश, अकीर्ति आदिके रूपमें पापका ही दण्ड मिलता है। परन्तु जब स्वयं ईश्वर जीवके लिये पापका विधान करता है और उसे पाप करनेके लिये मजबूर करता है और फिर स्वयं ही उसके लिये दण्ड-भोगकी व्यवस्था करता है, तब तो इससे ईश्वर अन्यायी सिद्ध होता है।

५—जब जगन्नियन्ता ईश्वर ही जीवसे कर्म कराता है, तब उसके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाला सुख-दुःख भी ईश्वरको ही भोगना चाहिये। कर्म करनेको बाध्य करे ईश्वर और फल भोग करे जीव—यह भी ईश्वरका एक अन्याय ही है।

अतएव किसी भी युक्तिसे सिद्ध नहीं होता कि पाप प्रारब्धसे होते हैं। स्वेच्छा और अनिच्छा-प्रारब्धके भोगमें जो गीताका प्रमाण दिया गया है, वह भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि ज्ञानी भी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है—इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह पूर्वजन्मके कर्मवश पाप करता है। प्रकृतिका अर्थ है स्वभाव, ज्ञानीका स्वभाव ज्ञानकी यथार्थ प्राप्तिसे पूर्व साधन-कालमें ही शुद्ध हो जाता है। उस शुद्ध-स्वभावमें अशुद्धि कैसे आ सकती है। फिर इसी श्लोकके अगले ही श्लोकमें भगवान् यह कहते हैं कि प्रत्येक इन्द्रियके अर्थमें राग-द्वेष स्थित हैं, उन दोनोंके वशमें मत हो; क्योंकि वे दोनों तुम्हारे परिपन्थी हैं—साधनको लूटनेवाले हैं।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३। ३४)

यदि ज्ञानवान् पुरुष भी प्रकृतिपरवश होकर पाप करनेमें बाध्य होता तो भगवान् राग-द्वेषसे—जो पापोंके मूल हैं—बचनेकी आज्ञा कैसे देते; क्योंकि वैसी अवस्थामें बचना-न-बचना तो उसके हाथमें है ही नहीं। अतएव यही सिद्ध होता है कि यहाँ प्रकृतिका अर्थ उसका निवृत्ति या प्रवृत्तिपरक स्वभाव है, पाप-वासना नहीं। अतः प्रारब्ध-भोगवश पाप करनेके लिये मनुष्य बाध्य है, इसके समर्थनमें ईश्वर-वाक्यके रूपमें उक्त '**सदृशं चेष्टते स्वस्याः**' श्लोकका प्रमाण सर्वथा अनुपयुक्त है। उससे आगे 'अनिच्छा-प्रारब्ध-भोग' के प्रमाणमें अर्जुनके प्रश्न और श्रीभगवान्‌के उत्तरको प्रमाणमें देनेकी तो किसी प्रकार भी संगति नहीं बैठती; क्योंकि वहाँ तो भगवान् स्पष्ट शब्दोंमें पाप-वासनामें रजोगुणसे उत्पन्न कामको कारण बताते हैं, 'प्रारब्ध'- को नहीं! और आगे चलकर उसी प्रसंगमें अति स्पष्ट शब्दोंमें अर्जुनको यह आज्ञा करते हैं कि 'इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें बसकर ज्ञान-विज्ञानका नाश करनेवाले इस पापी कामको तू पहले इन्द्रियोंका नियमन करके अवश्य मार। आत्मा बुद्धिसे भी श्रेष्ठ है, इस बातको समझकर आत्माके द्वारा आत्माको वश करके तू, हे महाबाहो! इस दुर्जय कामरूपी वैरीको मार!' यदि प्रारब्धवश ही कामके वशमें होनेमें मनुष्य बाध्य होता तो भगवान् यही कहते कि ''भाई! प्रारब्धके कारण ऐसा होता है। इसमें कोई क्या करे—**निग्रहः किं करिष्यति।**'' परन्तु यहाँ तो 'काम' पर विजय प्राप्त करनेकी आज्ञा स्पष्ट दी गयी है। ऐसी परिस्थितिमें इन श्लोकोंका 'अनिच्छा-प्रारब्धवश' पापाचरण होनेके समर्थनमें प्रयोग किया जाना कदापि गीताके पूर्वापरको देखते उचित नहीं जान पड़ता। अतएव प्रथम तो प्रारब्धवश पापोंका होना ही सिद्ध नहीं होता, फिर ज्ञानीके द्वारा तो पाप-कर्मकी सम्भावना ही नहीं है। ज्ञानीमें अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष और भय—कुछ भी नहीं रहते, फिर पाप हो कहाँसे। सबका मूल तो अज्ञान है। जब उसीका नाश हो गया, तब पापोंका रहना कैसे माना जा सकता है। अवश्य ही ज्ञानी पुरुषमें जैसे पाप नहीं हैं, वैसे ही पुण्य भी नहीं हैं; तथापि जिस अन्तःकरणसे ज्ञानीका सम्बन्ध कहा जाता है, उस अन्तःकरणके समस्त कर्म ज्ञानाग्निद्वारा जल जानेके कारण वह परम पवित्र हो जाता है; उस परम पवित्र अन्तःकरणमें जो पूर्व स्वभाववश स्फूर्ति होती है, वह पुण्यमयी और शास्त्रानुमोदित ही होती है और उस स्फूर्तिके फलस्वरूप होनेवाले प्रत्येक कर्ममें प्राणियोंका कल्याण भरा रहता है!

साधारण मनुष्यको प्रारब्धवश सुख-दुःखका भोग करना पड़ता है और उस अवश्य होनेवाले सुख-दुःखसे मनुष्य बच भी नहीं सकता। सुखका तो कहीं त्याग भी कर सकता है; क्योंकि वह तो उसको अपने पाससे देना है। परन्तु दण्डस्वरूप दुःखभोगका त्याग कोई नहीं कर सकता। यह दुःखभोग ही 'अवश्यम्भावी' है और इससे कोई भी नहीं बच सकता। इस दृष्टिसे यदि कहा जाय कि नल, राम, युधिष्ठिरको भी दुःख भोगने पड़े तो ठीक ही है, परन्तु दुःख भोगनेका पर्याय पाप करना नहीं है।* दुष्कर्मका फल दण्डभोग है, पाप तो नवीन कर्म है, जो पापवासनासे उत्पन्न होता है।

अब यदि यह प्रश्न हो कि फिर स्वेच्छा, अनिच्छा और परेच्छा प्रारब्धका क्या रूप होगा तो उनके बहुत-से रूप हो सकते हैं। एक मनुष्य इच्छा करके नदीमें नहाने जाता है, वहाँ डूब जाता है; व्यापार करता है, उसे घाटा-नफा हो जाता है; यह स्वेच्छा-प्रारब्ध है। रास्तेमें चल रहा है, ऊपरसे पेड़ गिर पड़ा, मकानमें बैठा है, छत टूटकर उसपर पत्थर गिर गया। भूकम्पसे सर्वनाश हो गया। बाढ़में सब कुछ बह गया। घरकी नींवमें धन

* भगवान् श्रीराम तो पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम थे, उनके सम्बन्धमें तो कुछ कहना ही नहीं बन सकता।

मिल गया। यह अनिच्छा-प्रारब्ध है। बिना जाँचे-माँगे ही दान दे दिया, किसीने किसीको मार दिया, जानवरने काट खाया, द्वेषवश या किसी परिस्थितिके कारण किसीने प्रहार कर दिया—यह परेच्छा-प्रारब्धभोग है।

इन सब बातोंके कहनेसे मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि मैं तुच्छ जीव महामान्य विद्यारण्य मुनिके वचनोंका खण्डन कर रहा हूँ; इस प्रकरणको लेकर लोग नानाविध युक्तियोंसे जो उनका खण्डन करते हैं और उससे जो मेरे मनमें क्लेश होता है, उस क्लेशसे अपनेको मुक्त करनेके लिये मैं ऐसा अनुमान कर रहा हूँ और शास्त्र तथा तर्क मेरे इस अनुमानकी पुष्टि कर रहे हैं। अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार मुझे इस प्रकरणके पंचदशीकारकी कृति होनेमें ही सन्देह है; क्योंकि पंचदशीकार इस प्रकारकी लचर दलीलवाली बात पंचदशी-सरीखे उच्च श्रेणीके महामान्य ग्रन्थमें नहीं लिख सकते।

इतना होनेपर आखिर है यह मेरा अनुमान ही। मैं यह बलपूर्वक नहीं कह सकता कि ऐसा ही है और न उपर्युक्त विवेचन करनेपर भी यही कहनेका साहस करता हूँ कि पंचदशीकारके कहनेका वही अर्थ है, जो साधारण लोगोंकी समझका अनुसरण करते हुए मैंने दिया है। पंचदशीकारकी कृति होनेकी हालतमें तो मैं यही कह सकता हूँ कि मैं उनकी इस व्याख्याको समझ नहीं सका हूँ और यह मैं पहले भी कह चुका हूँ। परन्तु पाठकोंसे इतना निवेदन अवश्य कर देना चाहता हूँ कि जिस अर्थमें पंचदशीकारका यह प्रसंग लिया जाता है, उसी अर्थमें इसको सिद्धान्तरूपसे माननेमें हानिको छोड़कर लाभ नहीं है; किसी भी रूपमें पापका समर्थन करना दुर्बलेन्द्रिय साधकके लिये परम हानिकर हुए बिना नहीं रह सकता। विधिनिषेधके परे पहुँचे हुए सिद्ध पुरुषकी भी शोभा इसमें कदापि नहीं है।

अब गीताके श्लोकोंकी बात रही, सो मेरी समझसे इन्द्रियोंके इन्द्रियार्थमें बर्तनेका ऐसा अर्थ करना गीताका भी दुरुपयोग ही है। अब यह बात समझमें आ गयी होगी कि पाप प्रारब्धसे नहीं होते, पाप होनेमें कारण 'काम' है और 'काम' की उत्पत्ति रजोगुणसे है तथा **'रजो रागात्मकं विद्धि'** के अनुसार रजोगुण 'राग' रूप है। यह राग या विषयासक्ति ही पापमें कारण है; इसका त्याग कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—किसी भी मार्गपर चलनेवालेको करना पड़ता है और ऐसा करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। भगवान्‌ने कहा है, 'कर्ममें तेरा अधिकार है'— **'कर्मण्येवाधिकारस्ते।'** दूसरी बात यह है कि ज्ञानी पुरुषसे निषिद्ध कर्म होता ही नहीं; उसमें यदि कहीं कोई निषिद्धता दीखती है तो वह हमारा दृष्टिदोष है तथा उसके स्वभावज कर्मकी सदोषताके कारण वैसी प्रतीति होती है।

साथ ही यह बात भी याद रखनी चाहिये कि काम-क्रोधादि अन्तःकरणके धर्म नहीं, विकार हैं। विकार हैं, इसीलिये सत्संग, कुसंग पाकर वे घटते-बढ़ते हैं। जो चीज घटती-बढ़ती है, वह नाश भी हो सकती है। अतएव काम-क्रोधका नाश न मानना उचित नहीं। जो लोग वस्तुतः काम-क्रोधके वश हो रहे हैं, उन्हें कभी ज्ञानी नहीं मानना चाहिये और अपनेमें भी जबतक ऐसी दोषकी वृत्तियाँ वर्तमान हैं, तबतक इनके नाशका प्रयत्न करते रहना चाहिये और यही मानना चाहिये कि वास्तविक परमात्मज्ञानसे हम अभी बहुत दूर हैं।*

मौन व्याख्यान

उपदेशकका पद वस्तुतः बहुत ही दायित्वपूर्ण है। अनुभवी पुरुष ही दूसरोंको उपदेश करनेका अधिकारी होता है। जबतक साधन करते-करते किसी विषयमें सिद्धि प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक उस विषयका उपदेशक बनना अपने और दूसरोंके साथ ठगी करना है और इसी कारण उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ता। खास करके पारमार्थिक विषयमें तो उपदेशक बनना बहुत ही कठिन है। उपदेशकमें निम्नलिखित पाँच बातें अवश्य ही होनी चाहिये—१—जिस विषयका उपदेश करे, उसका पारदर्शी हो, २—जिस साधनाका उपदेश करे, उसको स्वयं करनेवाला हो, ३—उपदेशमें धन-मान-पूजा आदिकी प्राप्तिके रूपमें अपना किंचित् भी स्वार्थ न हो, ४—जिस विषयका उपदेश करे, वह विषय परिणाममें सबके लिये कल्याणकारक हो और

* इस लेखमें जो हरिद्वार और साधुकी घटनाएँ लिखी हैं, वे सत्य हैं।

५—उपदेशमें किसी प्रकारका भी दम्भाचरण न हो। जिस उपदेशकमें ये पाँचों बातें होती हैं, उसके उपदेशका बड़ा प्रभाव पड़ता है। यद्यपि आकर्षक भाषा, शब्द-सौन्दर्य एवं यथायोग्य भावोंका प्रदर्शन आदि साधन श्रोताओंके चित्तको खींचनेमें बहुत सहायक होते हैं, तथापि ये सब व्याख्यानकलाकी चीजें हैं। कलाके साथ हृदयके परम शुद्ध और कल्याणकारक भावका संयोग हो, तभी उस कलासे विशेष लोकोपकार होता है। जो कला केवल कलाके लिये होती है अथवा जिस कलाके प्रदर्शनमें कुवासनाओंके उत्पादक और वर्द्धक दूषित भावोंका संयोग होता है, वह कला समाजके लिये कभी हितकर नहीं हो सकती, चाहे वह कितनी ही विकसित और आकर्षक क्यों न हो। इसके विपरीत जिस अनुभवपूर्ण वाणीमें सत्य, प्रेम, सरलता और निःस्वार्थ लोकसेवाकी भावना होती है, वह कलाकी दृष्टिसे आकर्षक न होनेपर भी समाजके लिये अत्यन्त कल्याणकारिणी होती है। उपदेशकमें उपर्युक्त पाँच गुणोंके साथ वाग्मिताकी कला भी हो तो वह सोनेमें सुगन्धके समान है और ऐसा उपदेशक जगत्‌की बहुत सेवा कर सकता है; परन्तु यह बात ध्यानमें रहनी चाहिये कि जबतक मनुष्यके मनमें आत्मसुधारकी प्रबल आकांक्षा नहीं है—और आत्मसंशोधन और आत्मोत्थानके लिये प्राणपणसे प्रयत्न नहीं किया जाता, तबतक उपदेशक बननेकी इच्छा करना या उपदेशक बनना विडम्बनामात्र है।

सच्ची बात तो यह है कि जिनमें उपदेश देनेके योग्य सद्‌गुण हैं, उनको भी उपदेशक बननेकी इच्छा नहीं होनी चाहिये। जबतक ऐसी इच्छा है, तबतक कुछ-न-कुछ दुर्बलता मनमें छिपी है। महापुरुषोंके आचरण ही आदर्श सत्कर्म और उनके स्वाभाविक वचन ही उपदेश होते हैं। वे वस्तुतः न तो उपदेशक बनते हैं और न कहलाते हैं। उनकी करनी-कहनीसे अपने-आप ही जगत्‌को उपदेश मिलता है और इस सच्चे उपदेशका क्षेत्र आरम्भमें बहुत विस्तृत न होनेपर भी इसका जो कुछ प्रभाव होता है, वह बहुत ही ठोस, स्थायी और आगे चलकर बहुत ही व्यापक हो जाता है। उपदेश देनेकी तो इच्छा ही मनमें नहीं होनी चाहिये। अपने शरीर-मन-वाणीसे होनेवाली क्रियाओंमें भी यह भाव न रहे कि इन्हें देखकर लोग इनसे शिक्षा ग्रहण करें। ऐसी चेष्टा करे, जिसमें स्वाभाविक ही सब क्रियाएँ सत्यके आधारपर हों और निर्मल हों; निरन्तर इस बातको देखता रहे कि मेरे अन्दर सत्त्वगुण बढ़ रहा है या नहीं। यदि सत्त्वगुण बढ़ गया तो रज और तम अपने-आप ही दब जायँगे। सत्त्वकी शक्ति बड़ी प्रबल होती है। जिसके हृदयमें शुद्ध सत्त्वभाव है और जिसकी क्रियाओंमें सत्त्वगुणकी प्रबलता है, उसके द्वारा जो कुछ होता है, सभी लोक-कल्याणकारी होता है। वह जहाँ निवास करता है, वहाँका वातावरण शुद्ध होता है। वातावरणकी शुद्धिसे परमाणुओंमें शुद्धि आती है और वे परमाणु जहाँतक फैलते हैं, जिसके साथ जाते हैं, वहीं शुद्धि करते हैं।

उपदेशक बनना कोई पेशेकी चीज नहीं है। यह तो बहुत बड़े अधिकारकी बात है, जो वैसी योग्यता होनेपर ही प्राप्त होता है। जहाँ अयोग्य और अनधिकारी उपदेशक होते हैं, वहाँ प्रथम तो उपदेशका असर नहीं होता और जो कुछ होता है, वह प्रायः विपरीत होता है। उपदेशककी वाणीके साथ जब लोग उसके आचरणका मिलान करके देखते हैं और जब वाणी एवं आचरणमें परस्पर बहुत अन्तर पाते हैं, तब उनकी या तो उस वाणीपर श्रद्धा नष्ट हो जाती है अथवा इससे उन्हें यह शिक्षा मिलती है कि कहनेमें अच्छापन होना चाहिये, क्रिया चाहे उसके विपरीत ही हो। और ऐसी शिक्षाके ग्रहण हो जानेपर मनुष्यमें दम्भादि दोष सहज ही आ जाते हैं; जिनसे उसका पतन हो जाता है। व्यक्तियोंके भाव ही समाजमें फैलते हैं और यों समाजभरका पतन होने लगता है। समाजके इस पतनमें प्रधानतया अयोग्य उपदेशक ही कारण होते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि जो लोग स्वयं सुधरे हुए नहीं हैं, जिनमें स्वयं सद्‌गुण नहीं हैं, जो स्वयं किसी विषयके अनुभवी नहीं हैं, वे यदि उपदेशकका बाना धारण कर किसी स्वार्थसे या दम्भसे सुधारका और सद्‌गुणोंका उपदेश करते हैं अथवा बिना अनुभव किये विषयमें अपनी दक्षता प्रकट करते हैं तो समाजके प्रति अपराध करते हैं। अवश्य ही साधकोंका परस्पर हरिचर्चा करना, कथावाचकोंका कथा कहना, मित्रमण्डलीमें सत्-चर्चा करना, स्कूलके अध्यापकोंका बच्चोंके प्रति उपदेश करना आदि इस अपराधमें नहीं गिने जा सकते; तथापि यहाँ भी इतनी बात तो है ही कि

उपदेशके साथ आचरण होता तो उसका परिणाम कुछ विलक्षण ही होता।

पारमार्थिक गुरुका आसन तो बहुत ही जिम्मेवारीका पद है। इसमें तो मनुष्यके जीवनको लेकर खेलना है। अनुभवी गुरुओंके अभावसे ही शिष्योंका पतन होता है। गुरुओंमें जैसा आचरण होता है, शिष्य उसीका अनुसरण करते हैं। गुरु यदि विषयी होता है, कामी, क्रोधी या लोभी होता है, तो शिष्य भी वैसे ही बन जाते हैं; अतएव गुरुका पद स्वीकार करना तो खाँडेकी धारके समान है। जो विषयी गुरु अपने दुर्गुणोंका आदर्श सामने रखकर शिष्योंके पतनमें कारण होता है, उसकी दुर्गति नहीं होगी तो और किसकी होगी।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनुभवी तत्त्वज्ञ गुरुकी कृपाके बिना भगवत्तत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता और यह भी ध्रुव सत्य है कि ऐसे गुरुको ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और साक्षात् परब्रह्म समझकर सतत प्रणाम और आत्मसमर्पण कर देना चाहिये। भगवान्ने कहा है—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥

आचार्य—गुरुको मेरा ही स्वरूप समझे; मनुष्य समझकर अवज्ञा या असूया (दोषदृष्टि) न करे; क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है।

परन्तु यह बात उन्हीं गुरुओंपर लागू होती है, जो शिष्यके अज्ञानका नाश करनेके लिये भगवत्सेवाके भावसे ही गुरुपदको स्वीकार करते हैं, जो गुरु बनकर भी परम ज्ञान-दानके द्वारा भगवत्स्वरूप शिष्यकी सेवा ही करना चाहते हैं; ऐसे गुरु ही शिष्यका भवबन्धन काटनेमें समर्थ होते हैं। जो अपने शरीरकी सेवा कराना चाहते हैं, शिष्यके धनसे अपने लिये विलास-सामग्रीका संग्रह करनेकी इच्छा रखते हैं एवं मान और पूजाके लिये ही गुरुका पद ग्रहण करते हैं, उन गुरुओंसे भव-बन्धनका छेदन नहीं हो सकता और न उनके लिये ये शब्द ही हैं।

शिष्यकी श्रद्धाके प्रतापसे कहीं-कहीं अयोग्य गुरुसे भी लाभ हो जाता है; परन्तु इसमें शिष्यकी श्रद्धा ही कारण होती है, जिसके कारण वह उस लाभमें अपनी श्रद्धाको कारण न समझकर गुरु-कृपाको ही कारण मानता है। परन्तु गुरु बननेवालेको ऐसे अवसरोंपर सावधान रहना चाहिये और शिष्यकी श्रद्धासे अनुचित लाभ उठानेकी चेष्टा करके अपनेको ठगना नहीं चाहिये।

सच्चे गुरुओंको विशेष उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं होती, उनके आचरणसे ही शिक्षा मिल जाती है। यहाँतक कि उनके कृपालु हृदयमें शिष्यकी स्मृति हो जानेमात्रसे अथवा उनकी कृपामयी मूर्तिके दर्शनमात्रसे ही कल्याण हो जाता है। इसीलिये सत् शिष्य साधक **'गुरुः कृपा हि केवलम्'** मानते हैं। ऐसे गुरुओंकी अज्ञात कृपासे चुपचाप शिष्यके हृदयमें शक्ति-संचार होकर उस शक्तिके प्रतापसे शिष्यका समस्त संशय नष्ट हो जाता है। यों अदृश्यरूपमें गुरु-शक्तिकी क्रिया चलती रहती है। यद्यपि गुरुकृत मौखिक उपदेश सार्थक है और साधारणतया उसकी आवश्यकता भी बहुत है, तथापि यह याद रखना चाहिये कि वाणीकी अपेक्षा संकल्पकी शक्ति कहीं अधिक है। और एक बात यह भी है कि कुछ बहुत ऊँची स्थितिपर पहुँचे हुए महान् पुरुषोंको छोड़कर अन्य लोगोंकी, जो वाणीका बहुत अधिक प्रयोग करते हैं, पवित्र संकल्प-शक्तिका ह्रास भी हो जाता है। इसीलिये बहुत-से सत्पुरुष यथासाध्य बहुत ही कम बोला करते हैं (यद्यपि यह नियम नहीं है)। ऐसे संकल्पशक्ति-सम्पन्न महात्मा यदि चाहें तो मुँहसे एक शब्द भी न बोलकर केवल अपनी कल्याणमयी दृष्टिसे, आभ्यन्तरिक स्वाभाविकी शुभ भावनासे अथवा संकल्पशक्तिके प्रभावसे शिष्यका अशेष कल्याण कर सकते हैं। और यह जाना गया है कि ऐसे महापुरुषगण शिष्यकी मानसिक स्थिति देखकर, उसकी धारणाके योग्य पात्रताका अनुभवकर धीरे-धीरे चुपचाप उसमें यथायोग्य शक्ति-संचार करते हुए उसकी मानसिक स्थिति और धारणाभूमिको क्रमशः उच्चसे उच्चतर अवस्थामें पहुँचाते रहते हैं और जब देखते हैं कि यह शक्तिको पूर्णतया धारण करनेयोग्य हो गया, तब उसमें शक्तिका पूरा संचार करके क्षणमात्रमें ही दिव्य प्रकाशकी ज्योतिसे उसका अनादिकालीन अज्ञानान्धकार हर लेते हैं। यों बिना ही उपदेशके उसका जीवन धन्य और कृतकृत्य हो जाता है।

इसीसे यह कहा गया है—

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्याः संछिन्नसंशयाः॥

'क्या ही आश्चर्य है, पवित्र वटवृक्षके नीचे वृद्ध शिष्य और युवा गुरु विराजमान हैं। गुरुका मौन व्याख्यान हो रहा है और उसीसे शिष्योंका संशय कट गया है।'

वस्तुतः आत्माराम महापुरुषमें आत्माकी दृष्टिसे बाल, युवा या वृद्ध—किसी अवस्थाका होना सम्भव नहीं। आत्मा नित्य ही युवा है; क्योंकि वह एकरस है। ऐसे गुरुके समीप आनेवाले अनादिकालसे प्रकृतिके प्रवाहमें पड़े हुए जीवरूप शिष्योंका अत्यन्त वृद्ध होना भी उचित है। परन्तु जो ऐसे गुरुके सामने आ गया और जिसको ऐसे गुरुने शिष्य स्वीकार कर लिया, उसके अज्ञानका नाश हो ही गया समझना चाहिये; क्योंकि ऐसे महापुरुषोंका किसीको स्वीकार कर लेना निश्चय ही अमोघ होता है।

परन्तु आजके जमानेमें, जहाँ गली-गली उपदेशक और गुरु मिलते हैं, ऐसे सद्गुरु महात्माओंका प्राप्त होना बहुत ही कठिन है। ऐसे महात्मा भगवत्कृपासे ही प्राप्त होते हैं। अतएव जिनको इस प्रकारके महात्माओंके दर्शन और गुरुरूपसे वरण करनेकी प्रबल इच्छा हो, उन्हें भगवान्‌के सामने कातरभावसे रोना चाहिये। भगवान्‌की कृपा होनेपर उनकी प्रेरणासे ऐसे महात्मा आप ही आकर मिल जायँगे अथवा स्वयं भगवान् ही ऐसे गुरुरूपसे प्रकट होकर शिष्यका उद्धार कर देंगे।

श्रीरामका स्वरूप और उनकी प्रसन्नताका साधन

राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह॥

× × ×

सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

प्रश्न—भगवान् श्रीरामको कोई परात्पर ब्रह्म, कोई भगवान् विष्णुका अवतार, कोई महापुरुष, कोई आदर्श राजा और कोई काल्पनिक व्यक्ति मानते हैं; अतएव यह बताइये कि श्रीरामका वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर—भगवान् श्रीरामका प्रपंचातीत भगवत्स्वरूप कैसा है, इस बातको तो भगवान् ही जानते हैं। संसारमें ऐसा कोई भी नहीं, जो उनके स्वरूपकी यथार्थ और पूर्ण व्याख्या कर सके। भगवान्‌के सम्बन्धमें अबतक जो कुछ कहा गया है, वह सारा-का-सारा भगवान्‌का आंशिक वर्णन ही है, शाखाचन्द्रन्यायसे संकेतमात्र है; तथापि वह मिथ्या नहीं है। समुद्रका प्रत्येक कण समुद्र है; इसी प्रकार भगवान्‌का जो कुछ भी वर्णन है, वह पूरा न होनेपर भी उन्हींका है और इस दृष्टिसे भगवान्‌के सम्बन्धमें जो जैसा कहते हैं, ठीक ही कहते हैं। भगवान् श्रीराम परात्पर ब्रह्म भी हैं, विष्णुके अवतार भी हैं, महापुरुष भी हैं, आदर्श राजा भी हैं और उनके काल्पनिक होनेकी कल्पना करनेवाला मन आत्मरूप भगवान्‌के ही आश्रित होनेके कारण वे काल्पनिक भी हैं। बात यह है कि भगवान्‌का स्वरूप ही ऐसा है, जिसमें सभीका समावेश है; क्योंकि सब कुछ उन्हींसे उत्पन्न है, उन्हींमें है, सबमें वे ही समाये हुए हैं—वे ही 'सर्व', 'सर्वगत', 'सर्व-उरालय' हैं। वस्तुतः भगवान्‌का स्वरूप, उनके गुण और भाव अकल, अचिन्त्य एवं अनिर्वचनीय हैं। उनकी उपमा कहीं मिलती ही नहीं। इसीसे कहा गया है—

निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै॥
एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भाव गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं॥

अर्थात् श्रीरामजी उपमारहित हैं, उनकी कोई दूसरी उपमा है ही नहीं। श्रीरामजीके समान श्रीराम ही हैं, ऐसा वेद कहते हैं। जैसे अरबों जुगनुओंके समान कहनेसे सूर्य प्रशंसाको नहीं, वरं अत्यन्त लघुताको ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार अपनी बुद्धिके विकासके अनुसार मुनीश्वर श्रीहरिका वर्णन करते हैं; किन्तु प्रभु भक्तोंके भावमात्रको ग्रहण करनेवाले और अत्यन्त कृपाल हैं। वे उस वर्णनको प्रेमसहित सुनकर सुख मानते हैं।

प्रश्न—मैं तो पूछता हूँ कि जिन भगवान्‌ने दशरथजीके यहाँ जन्म धारण किया था, वे कौन हैं?

उत्तर—वे साक्षात् भगवान् हैं। हाँ, कल्पभेदसे कभी भगवान् विष्णु रामरूपमें अवतीर्ण होते हैं तो कभी साक्षात् पूर्णब्रह्म परात्पर भगवान्‌का अवतार होता है। परन्तु यह स्मरण रहे कि विष्णु भी भगवान्‌के ही स्वरूप हैं; इसलिये स्वरूपतः इनमें कोई तारतम्य नहीं है, लीलाभेदसे ही पृथक्त्व है।

प्रश्न—भगवान् अवतार क्यों लेते हैं?

उत्तर—अपनी इच्छासे। वस्तुतः भगवान्‌में कोई इच्छा भी नहीं है। भक्तोंकी इच्छा ही इनमें इच्छा पैदा कर देती है, इसीसे वे हमलोगोंमें उतर आते हैं। सच्ची

बात तो यह है कि न उनमें जन्म है न कर्म; क्योंकि उनके अदृष्ट ही नहीं है। जीव तो अपने पूर्वकृत कर्मोंके संस्कारवश पराधीन हो देह धारण करके अपना कर्म-फल भोगता है और संचितकी स्फुरणा तथा वातावरणके वशमें होकर नवीन कर्म करता है; परन्तु भगवान् ऐसा नहीं करते। कारण, उनमें कर्म-संस्कारोंका सर्वथा अभाव है और वे भोगदेह नहीं ग्रहण करते तथा कर्तृत्वाभिमान न होनेसे उनके द्वारा फलोत्पादक नवीन कर्म भी नहीं होता। उनका अवतार तो जीवोंपर अनुग्रहकी वर्षा करनेके लिये ही होता है।

प्रश्न—रामायण तथा अन्य पुराणादि ग्रन्थोंमें ऐसा पाया जाता है कि भगवान् शाप या वरदानके वश होकर जन्म ग्रहण करते हैं—जैसे नारदजीने उन्हें मनुष्य होनेका शाप दिया, वृन्दाने शाप दिया, जय-विजयका उद्धार करनेके लिये सनकादि महर्षियोंने शापानुग्रह किया, रावण-कुम्भकर्णादिको ब्रह्माने वर दिया, स्वायम्भुव मनु और शतरूपाको उनके यहाँ पुत्ररूपमें प्रकट होनेके लिये श्रीरामजीने वरदान दिया—इस प्रकारकी और भी अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं; इनका क्या हेतु है? बल्कि कथाएँ तो यहाँतक आती हैं कि शूर्पणखाकी इच्छा पूरी करनेके लिये भगवान्ने कृष्णावतारमें उसे कुब्जारूपमें अंगीकार किया, दण्डकारण्यके ऋषियोंकी इच्छा-पूर्तिके लिये भगवान्ने उन्हें गोपिकाओंके रूपमें स्वीकार किया और वालिवधका बदला श्रीकृष्णावतारमें छिपे हुए व्याधके द्वारा अपने चरणमें बाण मरवाकर चुकाया गया। फिर इन सबका क्या अर्थ है? क्या ये कथाएँ असत्य हैं?

उत्तर—असत्य एक भी कथा नहीं है, परन्तु विचारकर देखनेपर पता लगेगा कि भगवान् अपने भक्तोंपर अनुग्रह करने तथा अपनी धर्म-मर्यादाकी रक्षाके लिये लोकदृष्टिमें अपने ऊपर शाप-वरदानोंका एवं कर्म-फल-भोगका आरोप कर लेते हैं। यही लोकसंग्रहका आदर्श है। वस्तुत: भगवान्पर न तो किसी शाप-वरदानका कोई प्रभाव होता है और न उन्हें किसी कर्म-फलका ही भोग करना पड़ता है। जब मुक्त पुरुष भी किसी शाप-वरदानके वश नहीं होते एवं देहाभिमान और कर्तृत्वाभिमान न रहनेके कारण अदृष्टके अभावसे फलभोगार्थ जन्म ग्रहण नहीं करते, तब भगवान्की तो बात ही क्या है। इसी विलक्षणताको बतानेके लिये भगवान्के जन्म-कर्मको 'लीला' कहा गया है।

भगवान् वस्तुत: किसी शाप-वरदानके वश नहीं हो सकते, इसपर एक इतिहास सुनो—महाभारत युद्धके समाप्त हो जानेपर भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकाको लौट रहे थे। रास्तेमें उत्तंक मुनिका आश्रम था। श्रीकृष्ण उनके आश्रममें गये; उन्होंने मर्यादाकी रक्षाके लिये मुनिकी पूजा की, मुनिने भी उनका सत्कार किया। फिर बात होते-होते जब मुनिको यह पता लगा कि महाभारत-युद्ध हो गया और उसमें सब योद्धा मारे गये, तब वे श्रीकृष्णपर क्रोधित होकर बोले—'श्रीकृष्ण! तुम चाहते तो युद्धको टाल सकते थे, तुम्हारी उपेक्षाके कारण ही इस महायुद्धमें सबका संहार हुआ; मुझे इस समय तुमपर बड़ा क्रोध आ रहा है, अत: मैं तुम्हें शाप दूँगा।' श्रीकृष्णने कहा कि 'मुनिवर! आप तपस्वी हैं, गुरुभक्त हैं; शान्ति रखिये, मेरे अध्यात्मतत्त्वको जानिये। याद रखिये, आप मेरा तिरस्कार नहीं कर सकते, आपका शाप मुझपर नहीं चलेगा; बल्कि आप शाप देंगे तो आपका तप ही नष्ट हो जायगा। आप जानते नहीं—लोग जिसको सत्-असत्, व्यक्त-अव्यक्त, अक्षर-क्षर कहते हैं, वह सब मेरा ही रूप है। सत्, असत्, सत्-असत् और सत्-असत्से परे जो कुछ है, मुझ सनातन देव-देवके सिवा और कुछ भी नहीं है।' यह उत्तर सुनकर उत्तंक मुनिने श्रीकृष्णका स्तवन किया और उनसे ऐश्वर-रूप दिखलानेकी प्रार्थना की। भगवान् श्रीकृष्णने उनपर कृपा करके उन्हें अपना विराट् स्वरूप दिखलाया, जिसे देखकर मुनि आश्चर्यमें डूब गये। अस्तु,

भगवान्की लीलाओंमें ऐसे और भी बहुत-से उदाहरण एवं सिद्धान्तवाक्य हैं, जिनसे यह सिद्ध है कि उन्हें धर्माधर्मरूप अदृष्ट या कर्म-संस्कारवश जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता, वे अपनी इच्छासे ही अपने दिव्य विग्रहरूपमें प्रकट होते हैं। भगवान् शंकरजीने सतीदेवीसे कहा है—

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि निगम नेति पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ राम ब्यापकु ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥

अर्थात् 'मुनि, धीर, योगी और सिद्धपुरुष निर्मल मनसे निरन्तर जिनका ध्यान करते हैं; वेद, पुराण और शास्त्र नेति-नेति कहकर जिनकी कीर्ति गाते हैं, वे ही सर्वव्यापक, अखिल ब्रह्माण्डके स्वामी, मायापति,

पूर्णब्रह्म, रघुकुलमणि श्रीराम अपने भक्तोंके हितके लिये अपनी इच्छासे अवतरित हुए हैं।'

भगवान्‌के अवतारका एक हेतु है जीवोंको सहज ही भव-सागरसे पार उतार देना। भगवान् अवतार लेकर ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिनको गा-गाकर, सुन-सुनकर लोग सहज ही भव-सागरसे तर जाते हैं। भगवान्‌की इस इच्छामें भी भक्तोंकी इच्छा ही कारण होती है।

सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥

अर्थात् शुद्ध (प्रकृतिजन्य त्रिगुणोंसे रहित, मायातीत दिव्यमंगल-विग्रह) सच्चिदानन्दकन्दस्वरूप, सूर्यकुलके ध्वजारूप भगवान् श्रीरामचन्द्रजी मनुष्योंके सदृश ऐसे चरित्र करते हैं, जो संसाररूपी समुद्रके पार उतरनेके लिये पुलके समान हैं।

प्रश्न—अच्छा, यह बात तो समझमें आ गयी कि भगवान्‌के अवतारका प्रयोजन भक्तोंपर अनुग्रह करना और लोगोंको भव-सागरसे तारना ही है और वे किसी कर्मके वश भी नहीं हैं; परन्तु दशरथजीके यहाँ उनका जन्म हुआ था और कुछ कालके पश्चात् उनका देहत्याग भी हो गया। इसलिये उनका जन्म-मरण तो होता ही है; फिर जन्म नहीं है, यह कैसे कहा जाता है?

उत्तर—भाई! उनका जन्म-मरण-सा दीख तो सकता है; परन्तु वे नित्य, अजन्मा और अविनाशी हैं। इससे वास्तवमें हमलोगों-जैसा उनका जन्म-मरण नहीं होता। उनका तो आविर्भाव और अन्तर्धान होता है। जैसे कोई योगी अपनी इच्छासे जब चाहे तब अपने योगबल-द्वारा प्रकट हो जाता है और मनमें आते ही छिप जाता है, वैसे ही भगवान् अपनी स्वरूपभूता योगमायाको लेकर स्वेच्छानुसार प्रकट हो जाते हैं और फिर अन्तर्हित हो जाते हैं। यही उनका 'जन्म-मरण' है। योगीका उदाहरण भी वस्तुतः भगवान्‌के साथ लागू नहीं होता। उनका आविर्भाव-तिरोधान अनन्यसाधारण ही होता है। जो स्वरूपसे ही अजन्मा और अविनाशी हैं, उनका जन्म और मरण हमारी बुद्धिसे बाहरकी बात है। इसीसे गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है कि 'मेरे दिव्य जन्म-कर्मको तत्त्वतः जाननेवाला देह छोड़नेपर पुनर्जन्म नहीं पाता, वह मुझको प्राप्त होता है।' जिनके जन्मके रहस्यको जाननेमात्रसे जीवका जन्म होना छूट जाता है, उनका जन्म कितना विलक्षण होगा!

रही देह-ग्रहण और देह-पातकी बात, सो कहीं-कहीं तो वे ऐसी लीला करते हैं, जिससे मायादेहका ग्रहण-त्याग दीखता ही नहीं। वे जिस रूपमें प्रकट होते हैं, उसी रूपमें अन्तर्हित हो जाते हैं—जैसे रामायण और भागवतके वर्णनानुसार भगवान् दिव्य चतुर्भुज बालकके रूपमें प्रकट होते हैं, योनिद्वारसे उनका जन्म नहीं होता और फिर वे समय आनेपर सदेह ही दिव्य लोकमें चले जाते हैं, यहाँ उनका कोई शरीर नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि वे दिव्य देहसे तो अन्तर्धान हो जाते हैं, परन्तु लोगोंको दिखानेके लिये माया-देहका निर्माण करके उसे छोड़ जाते हैं। महाभारत, पद्मपुराण आदिमें भगवान्‌की जिस देहके छोड़नेकी बात आती है, वह ऐसी ही देह है।

प्रश्न—जहाँ कहीं भी भगवान्‌के द्वारा देह छोड़े जानेका वर्णन मिलता है, वहाँ यह माननेमें क्या आपत्ति है कि उनका स्थूल देह तो पड़ा रह गया और वे हमलोगोंकी भाँति सूक्ष्म (लिंग) और कारण देहको लेकर अपने लोकमें चले गये?

उत्तर—ऐसा नहीं माना जा सकता; क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म और कारण देह अविद्याकी भूमिकामें हैं। ये तीनों ही देह जड और मायिक हैं। अनादिकालसे कर्मबन्धनमें पड़े हुए तथा आत्मविस्मृतिके कारण जड देहमें अभिमान रखनेवाले वासनायुक्त जीवोंको ही ये देह प्राप्त होते हैं। वास्तवमें तो जीवका स्वरूप भी सच्चिदानन्दमय ही है; परन्तु जबतक उसका अनादिकालीन देहाभिमान और तज्जनित कर्मबन्धन नहीं छूटता, तबतक उसे इसकी उपलब्धि नहीं होती और वह जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ा रहता है। परन्तु भगवान् तो प्रकृतिसे नित्य परे हैं; उनमें न कोई देहाभिमान है और न कर्मबन्धन है। इसलिये भगवान्‌के देहमें न तीन शरीर हैं, न जड अन्तःकरण है और न कोई अभिमान या कर्मका आधार ही है। भगवत्स्वरूप ही भगवद्देह है, वह नित्य निर्विकार चिदानन्दमय है। परन्तु इस रहस्यको अधिकारी पुरुष ही जानते हैं—

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥

हाँ, भगवान् चाहें तो आवश्यकतानुसार अभिमानकी रचना करके मायिक देहका भी निर्माण कर सकते हैं; परन्तु उनका वह अभिमान और वह मायिक शरीर आगन्तुक ही होता है, लीलाका ही होता है। ऐसे ही

मायिक देहका त्याग किया जाना कहा जा सकता है। स्वरूपभूत देहका त्याग नहीं हो सकता। वह तो नित्य है, उसमें त्याग-ग्रहण नहीं है; वह प्रकृतिके गुणोंसे अतीत, मन-इन्द्रियोंसे अतीत, प्राकृत देश-कालसे अतीत, विकाररहित, सच्चिदानन्दविग्रह, 'माया-गुन-गो-पार, निज-इच्छा-निर्मित' है—

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार।

× × ×

सोइ सच्चिदानंद घन कर नर चरित उदार॥

इसीलिये भक्तों और शास्त्रोंने उसे चिद्‌घनविग्रह कहा है। वह न कभी बनता है और न कभी बिगड़ता है, सदा एकरस और विशुद्ध रहता है।

भगवद्देहके सम्बन्धमें यह कहना भी भूल है कि वह योगियोंके अनुभवमें आनेवाले दिव्य तन्मात्राओंसे बना होता है। योगी या योगिराज—कोई भी भगवद्देहके तत्त्वोंका अनुभव नहीं कर सकता, वास्तवमें वहाँ कोई भगवान्‌से भिन्न तत्त्व या तन्मात्रा है ही नहीं। 'विशुद्ध सत्त्व' कहना तो भगवान्‌के विशुद्ध स्वरूपको लक्ष्य करानेके लिये है। कुछ लोग भूलसे 'विशुद्ध सत्त्व' का अर्थ रज-तमसे रहित केवल सत्त्वगुण मान लेते हैं; परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृतिजन्य त्रिगुणोंमें दोको छोड़कर केवल एक गुण किसी भी कालमें कहीं भी नहीं रहता। एक गुणके विशेष प्रकाशके समय दो गुण छिपे रह सकते हैं। उनकी क्रियाएँ प्रबलरूपसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकतीं, परन्तु उनका अभाव कदापि नहीं होता। 'विशुद्ध सत्त्व' तो भगवद्देहके लिये ही प्रयुक्त होनेवाला एक संकेत वाक्य है। सिद्ध योगियोंके सिद्ध देहके लिये भी कहीं-कहीं 'विशुद्ध सत्त्व' संज्ञा आती है; परन्तु वह विशुद्ध देह और 'विशुद्ध सत्त्व' अपेक्षाकृत है। हमलोगोंकी अपेक्षा वह विशुद्ध है; किन्तु वह प्रकृतिसे परे नहीं है, है वह मायिक ही। अवश्य ही उस देहमें भी अपेक्षाकृत दिव्यता होती है, सदा किशोर और रमणीय रह सकता है, उसमें बुढ़ापा और रोग नहीं होते, उच्च श्रेणीकी कायशुद्धिके कारण उसमेंसे दिव्य गन्ध निकल सकती है—यहाँतक कि उस देहके विण्मूत्रादिमें भी सुगन्ध पैदा हो जा सकती है और उसकी आयु भी बहुत अधिक हो सकती है। किसी-किसी सिद्ध योगीका शरीर कल्पके अन्ततक भी रह सकता है, परन्तु स्मरण रहे कि यह सब कुछ होता है प्रकृतिके तत्त्वोंसे ही। प्रकृतिजय हो जानेसे ऐसा हो सकता है। कोई-कोई सिद्ध योगी देह-निर्माण भी कर लेते हैं। उनका वह 'निर्माणकाय' निर्माणचित्तका ही रूपान्तर होता है, वह देखनेमें देहके सदृश आकारवाला होनेपर भी वस्तुतः चित्तके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। योगियोंकी इच्छाशक्तिके प्रभावसे ही ऐसे योगदेहका निर्माण होता है, परन्तु भगवान्‌का मायिक देह भी इससे अत्यन्त विलक्षण होता है। वह भगवान्‌के इच्छाधीन और विशुद्ध भागवती मायासे निर्मित होता है, अतः उसमें विलक्षण दिव्यता और सुन्दरता होती है। जब भगवान्‌के मायादेहकी ही इतनी महिमा है, तब भगवत्स्वरूप चिन्मय देहकी तो बात ही क्या है।

प्रश्न—तब तो भगवान् भी हमलोगोंकी भाँति ही देहधारी हुए, चाहे उनका वह देह कितना ही दिव्य हो। परन्तु जो देहधारी हैं, वे निराकार, निर्गुण, अव्यक्त और सर्वव्यापक कैसे हो सकते हैं?

उत्तर—यही तो रहस्यकी बात है। इसीलिये तो गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

सुनो, भगवान्‌का वास्तविक स्वरूप तो तभी समझमें आ सकता है, जब भगवान् कृपा करके समझा देते हैं। उसके लिये बड़ी साधनाकी आवश्यकता है। भगवत्संगियोंका श्रद्धापूर्वक संग हो, ऐसे सत्संगमें भगवान्‌के रहस्यमय गुणानुवादका श्रवण हो और प्रेमपूर्वक भगवान्‌का यथार्थ भजन हो, तब संसारके विषयोंसे वैराग्य होकर शम-दमादिकी प्राप्ति होती है। तदनन्तर समरूपसे सर्वत्र व्याप्त भगवान्‌के निराकार ब्रह्मरूपका ज्ञान होता है। उसके बाद पराभक्तिकी प्राप्ति होती है और फिर श्रीभगवान्‌की कृपासे भगवान्‌के अचिन्त्य दिव्यानन्दमय परमस्वरूपका यथार्थ ज्ञान होता है।

भगवान्‌के यथार्थ रूपको कोई समझा नहीं सकता; वह वाणी, मन, बुद्धि—सभीसे परे है, परन्तु इस बातको किसी अंशमें समझनेके लिये भगवच्चर्चाके नाते कुछ विचार करना मंगलकारी ही होगा। इसी खयालसे कुछ विचार करनेका साहस कर रहे हैं। भगवान् एक हैं, अद्वितीय हैं, सच्चिदानन्दघन हैं। उनके सिवा और कुछ है ही नहीं, यह सर्वथा सत्य है। वे

भगवान् मायाके आकारवाले न होनेके कारण 'निराकार' और मायाके गुणोंवाले न होनेसे 'निर्गुण' कहलाते हैं। उनका 'आकार' और उनके 'गुण' उनके स्वरूप ही हैं। इसीलिये भगवान् इस प्रकार 'नित्य निराकार' और 'नित्य निर्गुण' होनेपर भी अपने स्वरूपभूत गुण और आकारसे युक्त होनेके कारण 'नित्य साकार' और 'नित्य सगुण' भी हैं। परन्तु उनका यह रूप और गुणसमूह उनसे अभिन्न हैं।

उनका यह दिव्यातिदिव्य 'साकार' और 'सगुण' स्वरूप मायिक न होनेसे सर्वथा अतीन्द्रिय है, इसलिये वे 'अव्यक्त' हैं। इस मायिक जगत्में भी अनेक अतीन्द्रिय पदार्थ हैं और साधन करते-करते जब इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं और लिंगदेहके किसी अंशतक शुद्ध होनेपर जब स्थूलदेहसे आंशिकरूपमें उसका पृथक्त्व हो जाता है, तब इन्द्रियाँ भी सूक्ष्मभावापन्न होकर अतीन्द्रिय पदार्थोंको किसी अंशतक देख सकती हैं। योग-साधना करते-करते इसमें जितनी-जितनी अग्रगति होती है, उतनी-उतनी ही अतीन्द्रिय पदार्थोंको प्रत्यक्ष करनेकी सामर्थ्य बढ़ती जाती है। परन्तु जागतिक अतीन्द्रिय पदार्थोंको देखनेकी शक्ति प्राप्त हो जानेपर भी भगवान्के दर्शनका अधिकार नहीं मिल जाता। वह तो तभी मिलता है, जब भगवान् स्वयं कृपा करके दिव्यदृष्टि दे देते हैं।

प्रश्न—तब फिर बहुत-से भक्तोंको दर्शन होनेकी जो बात कही जाती है, उसका क्या तात्पर्य है? क्या वह सब मिथ्या कल्पनामात्र है? या उन सभीको भगवत्कृपासे दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गयी रहती है? अवतारकालमें तो असंख्य जीव भगवान्को देखते हैं, वे सभी क्या दिव्यदृष्टिप्राप्त होते हैं?

उत्तर—भक्तोंको दर्शन देनेकी बात मिथ्या कल्पनामात्र नहीं है। भगवान् दया करके भक्तोंको अपने दिव्य स्वरूपका दर्शन देते हैं और जिस समय दर्शन देते हैं, उस समय उतनी देरके लिये वहाँका सब कुछ 'दिव्य' कर देते हैं। भक्तकी दृष्टि भी दिव्य हो जाती है। अवश्य ही इसमें भी अधिकारिभेदसे तारतम्य रहता है।

अवतारकालमें भगवान् अपनेको योगमायासे समावृत रखते हैं और जहाँ वे अपने इस योगमायाके पर्देको हटाते हैं, वहीं उनके स्वरूपके यथार्थ दर्शन हो सकते हैं। वह पर्दा सब जगह समानरूपसे नहीं हटता। इस योगमायाके कारण ही भगवान्का देह लोगोंको मनुष्यका-सा मालूम होता है। इसीलिये वे भगवान्को पहचान नहीं सकते—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

(गीता ७। २५)

अस्तु, अब तुम्हारी समझमें आ गया होगा कि भगवान्का दिव्यातिदिव्य सगुण साकार स्वरूप अव्यक्त कैसे है? रही सर्वव्यापककी बात, सो उसके लिये सूर्यका उदाहरण तुम्हारे सामने है। सूर्य एक ही है, परन्तु वह एक ही समयमें सारे ब्रह्माण्डमें सबको दीखता है। जब प्रकृतिका एक पदार्थ—सूर्य इतना प्रभाव रख सकता है, तब सर्वशक्तिमान्, स्वभावसे ही सर्वव्यापी, एक ही भगवान् सब जगह प्रकाशित रहें, इसमें क्या आश्चर्य है। परन्तु भगवान् तो लीलामय हैं न! वे एक ही साथ नित्य निर्विशेष और नित्य सविशेष होते हुए ही नित्य लीलामय हैं। उनकी लीलामें कभी विराम है ही नहीं। नित्य लीलाके लिये उन एकके ही अनेक लीलास्वरूप हैं और वे सभी सत्य तथा नित्य हैं। वे अनेक होनेपर भी नित्य एक ही हैं, यह उनकी भगवत्ताकी महिमा है। वे ही 'भगवान् सच्चिदानन्दघन परम अक्षर ब्रह्म हैं, वे ही 'सर्वत्र व्यापक' परमात्मा हैं। वे ही विराट् हैं (माता कौसल्याको अपने श्रीमुखमें और काकभुशुण्डिजीको अपने उदरमें श्रीरामजीने विराट् रूप दिखलाये ही हैं) और वे ही जीवात्मारूपसे जड जगत्के अन्दर अनुस्यूत अध्यात्म हैं। वे ही अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न समस्त भूतरूप क्षर अधिभूत हैं। वे ही कर्म हैं, वे ही विराट्-ब्रह्माण्डाभिमानी हिरण्यमय पुरुष अधिदैव हैं। इस हिरण्यमय पुरुषको ही सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा कहते हैं। वे ही सब यज्ञोंके भोक्ता और प्रभु होनेसे अधियज्ञ हैं। वे ही अन्तर्यामी हैं, वे ही समग्र संसार हैं। वे ही अखिल-ब्रह्माण्डनायक, अज, अनादि, निर्विकार, सर्वशक्तिमान्, परम करुणामय, परम प्रेममय, परमैश्वर्यमय, परम ज्ञानमय, परम वैराग्यमय, परम यशोमय, परम श्रीमय और परम धर्ममय षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् हैं। वे ही विभिन्न ब्रह्माण्डोंमें अपने अंशरूप विभिन्न त्रिमूर्तियोंके रूपमें विराजित हैं—

उपजहिं जासु अंस ते नाना। संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना॥
लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसि त्राता॥

उनका स्वरूप अकथ और अचिन्त्य है; फिर उनके सम्बन्धमें यह कहना ही भूलसे भरा हुआ है कि वे देहधारी होते हुए ही निर्गुण, निराकार, अव्यक्त और सर्वव्यापक कैसे हो सकते हैं।

उनका देह हमलोगों-जैसा विनाशी और जन्मशील देह नहीं है; वह नित्य है, शाश्वत है, श्रेष्ठ है, हानोपादानरहित है, प्रकृतिसे परे है और परमानन्द-सन्दोहरूप है। उसमें देह-देहीका पृथक्त्व नहीं है—देही ही देह है, देह ही देही है। वे नित्य परमधाममें रहते हुए ही व्यापक परमात्मारूपसे सर्वत्र व्याप्त हैं, ब्रह्मरूपसे अखण्ड स्थिर हैं, भगवान्‌रूपसे भक्तोंके सामने प्रकट हैं और जीवात्मारूपसे सर्वत्र कर्ता और भोक्ता बन रहे हैं। श्रीराम और श्रीकृष्णके रूपमें वे ही परात्पर भगवान् प्रकट हैं, जो सबके आधार हैं, सर्वरूप हैं, सर्वमय हैं और सबसे परे हैं। वे पूर्णब्रह्म, परात्पर ब्रह्म और साक्षात् 'भगवान् स्वयम्' हैं।

प्रश्न—'भगवान् स्वयम्' तो श्रीकृष्णके लिये भागवतमें कहा गया है और वहाँ अन्य सब अवतारोंको अंशकला बतलाया गया है। फिर श्रीरामको 'स्वयं भगवान्' कैसे कहा जाता है?

उत्तर—अनेक ब्रह्माण्ड हैं और सभी ब्रह्माण्डोंमें कल्पभेदसे भगवान्‌के अवतार होते हैं। बहुत बार भगवान् विष्णु ही रामावतार और कृष्णावतार धारण करते हैं। जिस समय विष्णुभगवान्‌का श्रीराम या श्रीकृष्णरूपमें अवतार होता है, उस समय श्रीलक्ष्मीजी उनके साथ सीता या राधा—रुक्मिणीरूपमें अवतरित होती हैं और जिस समय स्वयं परात्पर प्रभु अवतीर्ण होते हैं, उस समय उनकी साक्षात् स्वरूपा-शक्ति अवतार धारण करती हैं। जब विष्णुभगवान्‌का रामावतार होता है और परात्पर ब्रह्म श्रीकृष्ण स्वयं अवतीर्ण होते हैं, तब श्रीकृष्णको साक्षात् 'स्वयं भगवान्' और अन्य अवतारोंको अंशकला कहा जाता है। और जब विष्णुभगवान्‌का कृष्णावतार होता है और परात्पर ब्रह्म श्रीराम स्वयं अवतीर्ण होते हैं, तब श्रीरामको साक्षात् 'स्वयं भगवान्' तथा अन्य अवतारोंको अंशकला कहा जाता है। परात्पर श्रीरामके लिये महारामायणमें कहा गया है—

भरणः पोषणाधारः शरण्यः सर्वव्यापकः।
करुणः षड्गुणैः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्॥

परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि विष्णुभगवान्‌का अवतार अपूर्ण होता है। भगवान् अंशांशिभावसे व्यक्त होनेपर भी सर्वत्र पूर्ण हैं। लीलाभेदसे ही उनमें तारतम्य है, स्वरूपसे नहीं।

जिस प्रकार परात्पर समग्र ब्रह्म श्रीरामसे समस्त ब्रह्माण्डोंमें भिन्न-भिन्न शिव, विष्णु और ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार उनकी स्वरूपाशक्ति श्रीसीताजीसे अनेक ब्रह्माण्डोंमें अनेक उमा, रमा और ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं।

जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥

प्रश्न—भगवान् विष्णु और परात्पर ब्रह्ममें क्या अन्तर है और परात्पर ब्रह्म श्रेष्ठ क्यों माने गये हैं?

उत्तर—भगवान् विष्णु और परात्पर पुरुषोत्तम ब्रह्म (श्रीराम)- में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। लीलाभेदसे अन्तर है। त्रिदेवगत विष्णु भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डोंमें अलग-अलग लीलाकार्य करनेके लिये प्रकट हैं, जो केवल सत्त्वमय 'पालन' का कार्य ही करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शंकर तीनों ही वस्तुतः परात्पर ब्रह्मकी ही अभिव्यक्तियाँ हैं—जो सत्त्व, रज और तमरूप पालन, सृजन और संहारका नियमित कार्य करनेके लिये हैं। इनके कार्य लीलाक्षेत्रके अनुसार सीमाबद्ध हैं, आंशिक हैं, इसीसे ये सभी अंशावतार माने जाते हैं। तत्त्वतः अभेद होनेपर भी अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें इनके अनन्तकोटि भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। इसीलिये काकभुशुण्डिजीने कहा है—

भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥

परात्पर ब्रह्म ही इन सब रूपोंमें प्रकट हैं और उन्हींकी शक्तिसे ये सब कार्य करते हैं और उतना ही कार्य करते हैं, जितनेके लिये विधान है। इसी बातको बतलानेके लिये श्रीराम-रूप परात्पर पुरुषोत्तम ब्रह्मकी इस प्रकार महिमा गायी गयी है जो सर्वथा सत्य है—

जाकें बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
बिष्नु कोटि सम पालन कर्ता। रुद्र कोटि सत सम संहर्ता॥
... ...। बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई॥

और इसीलिये परात्पर ब्रह्म श्रीरामसे द्रोह करनेवालेकी उनके अंशरूप सहस्रों ब्रह्मा, विष्णु और शंकर भी रक्षा नहीं कर सकते। कैसे करें? परात्पर ब्रह्मसे द्रोह करनेवाला स्वरूपतः उन त्रिदेवोंसे ही द्रोह करता है; क्योंकि वे उनसे सर्वथा अभिन्न हैं और लीलाभेदसे

परात्पर ब्रह्म उनके अंशी हैं। अंशीके द्रोहीको अंश कैसे शरण दे सकते हैं। इसीलिये कहा गया है—

संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहि न राखि राम कर द्रोही॥

अतएव परमार्थत: अभेद होनेपर भी लीलाकी दृष्टिसे त्रिदेवोंकी अपेक्षा परात्पर ब्रह्म श्रेष्ठ हैं ही और इसी दृष्टिसे ऐसा कहा भी जाता है।

एक बात और है। वेदान्तमें कहा गया है कि व्यष्टिभावसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहके अभिमानी जीवको वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ कहते हैं तथा समष्टिभावके अभिमानीको विश्व, हिरण्यगर्भ और ईश्वर। ये समष्टिके अभिमानी ही त्रिदेव हैं। ये सभी त्रिगुणमें हैं। कार्यकी दृष्टिसे ये त्रिदेव अवश्य ही ईश्वर कहे जाते हैं, परन्तु वैसे प्रकृतिसे परे नहीं हैं। परात्पर प्रभु 'सर्वलोकमहेश्वर' हैं—'**तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्**'। ये तीनों गुणोंसे अतीत, व्यष्टि-समष्टि-विभागरहित और नित्य 'नित्य' हैं। इस दृष्टिसे भी परात्पर ब्रह्म श्रीराम ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन त्रिमूर्तियोंसे परे और श्रेष्ठ माने गये हैं।

प्रश्न—श्रीभगवान्‌के सारे अंग क्या हमलोगों-जैसे ही होते हैं?

उत्तर—हमलोगोंके अंगोंसे उनकी कोई तुलना ही नहीं हो सकती। उनका आकार-प्रकार सभी अत्यन्त विलक्षण और परमाश्चर्य तथा आनन्ददायक होता है—

गिरा अनयन नयन बिनु बानी। ... ...॥

अत: कोई उन्हें कैसे बताये! उनका वह भगवत्स्वरूप विग्रह माधुर्यमय है, वह 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि' और 'आनन्दैकरसमूर्ति' है। इसीके साथ उनके परमदिव्य प्रेम, दया, प्रभुता, भक्तवत्सलता आदि असंख्य गुण मानो मूर्तिमान् हुए उनके अंग-अंगसे प्रकाशित होते रहते हैं। उस दिव्य स्वरूपके करोड़वें अंशका भी वर्णन कोई नहीं कर सकता। वर्णन तो दूर, कोई अनुमान भी नहीं कर सकता। योगमायासे अनावृत जो उनका स्वरूप है, उसकी जरा-सी क्षणिक झाँकी भी ब्रह्मानन्दको बहा देती है, कैवल्य-सुखको फीका कर देती है। श्रीजनकजीपर कृपा करके भगवान् श्रीरामने क्षणकालके लिये योगमायाका पर्दा दूर किया। ब्रह्मज्ञानियोंके गुरु श्रीजनकजी देखकर मुग्ध हो गये, उनकी आँखोंमें आनन्दाश्रु भर आये, वाणी गद्‌गद हो गयी, वे अपनेको सँभाल न सके और विश्वामित्रसे पूछने लगे—

कहहु नाथ सुन्दर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सति भाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा॥

जनकजीका ब्रह्मानन्द बरबस हट गया और वे सच्चिदानन्दघन सगुण विग्रहके दर्शनसे परमानन्दमें मग्न हो गये। जब श्रीरामजी जनकपुरसे विदा होने लगे तब श्रीजनकजी एकान्तमें श्रीरामजीसे मिले और बरबस भक्तके भावसे हाथ जोड़कर प्रेमपूर्वक वचन बोले—

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा॥
करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मदु त्यागी॥
ब्यापकु ब्रह्मु अलखु अबिनासी। चिदानंदु निरगुन गुनरासी॥
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस अहई॥

नयन बिषय मो कहुँ भयउ सो समस्त सुख मूल।
सबइ लाभु जग जीव कहँ भएँ ईसु अनुकूल॥

इससे पता लगता है कि श्रीरामका सौन्दर्य-तत्त्व और उनका स्वरूप-तत्त्व कितना विलक्षण और अलौकिक है।

पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके हस्त-पादादि अंग नहीं हैं; सभी हैं, परन्तु हैं चिन्मय और अत्यन्त अलौकिक। योगमायासे समावृत होनेके कारण लोग उन्हें मनुष्यके-से देखते हैं, यही उनका 'माया-मानुषरूप' है। दिवालीपर चीनीके हाथी-घोड़े बनाये जाते हैं, उनका हाथी-घोड़ेका-सा आकार असत्य नहीं है, यह तो सत्य ही है; परन्तु उनको रक्त-मांस और हड्डी-चमड़ीवाला समझना असत्य है। इसी प्रकार भगवान्‌के योगमाया-समावृत रूपमें जो हाथ, पैर आदि अंग दीखते हैं, वे असत्य नहीं हैं, क्योंकि वे तो भगवान्‌के हैं ही। अवश्य ही वे हैं बहुत विलक्षण, योगमायाके पर्देसे ठीक नहीं दीखते-मनुष्योंके-से दीखते हैं। परन्तु उनको मनुष्योंकी भाँति स्थूल अस्ति-चर्ममय, स्थूल-सूक्ष्म-कारण-देहविशिष्ट मान लेना असत्य है। जैसे चीनीके हाथी-घोड़ेमें सर्वत्र चीनी-ही-चीनी है, वैसे ही भगवान्‌का स्वरूप सर्वथा, सर्वदा और सर्वत्र चिदानन्दमय ही, भगवत्स्वरूप ही है।

'योगमाया-समावृत मानुषरूप' को भी सगुणरूप कहते हैं। अवश्य ही यह सगुणरूपसे सर्वथा भिन्न और

केवल लीलाके लिये ही लोगोंको दीखता है। इसीलिये इसको 'मायिक' भी कहते हैं। यही अगुणका भक्तोंके प्रेमवश सगुण होना है—'*भगत प्रेमबस सगुन सो होई।*' नहीं तो सगुण होना, न होना कुछ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उनका निर्गुण-सगुणरूप अर्थात् दिव्य स्वरूपभूत गुणोंसे युक्त विग्रह तो नित्य है। होना उसीका होता है, जो पहले नहीं होता। दिव्य भगवद्देह तो स्वरूपत: नित्य है।

प्रश्न—अच्छा, देह कितने प्रकारके होते हैं?

उत्तर—देह प्रधानतया दो प्रकारके होते हैं—प्राकृत और अप्राकृत। प्रकृतिके राज्यमें जितने प्रकारके देह हैं, वे सब प्राकृत हैं और प्रकृतिसे परे दिव्य चिन्मय राज्यमें जो देह हैं, वे अप्राकृत हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन भेदोंसे प्राकृत देहका निर्माण हुआ है। जबतक 'कारण' वर्तमान है, तबतक इस प्राकृत देहसे छुटकारा नहीं मिल सकता। इस त्रिविधदेहविशिष्ट प्राकृत देहसे छूटकर केवल आत्मरूपमें ही स्थित हो जाने अथवा दिव्य राज्यमें भगवान्‌के चिन्मय पार्षदादि स्वरूपोंकी प्राप्ति होनेको ही मुक्ति कहते हैं। मैथुनी-अमैथुनी, योनिज-अयोनिज—सभी प्राकृत शरीर वस्तुत: योनि और विन्दुके संयोगसे ही बनते हैं। इनमें कई स्तर हैं। अधोगामी विन्दुसे उत्पन्न होनेवाला शरीर अधम है और ऊर्ध्वगामीसे होनेवाला उत्तम। कामप्रेरित मैथुनसे उत्पन्न शरीर सबसे निकृष्ट है, किसी प्रसंगविशेषपर ऊर्ध्वरेता पुरुषके संकल्पसे विन्दुके अधोगामी होनेपर उससे उत्पन्न होनेवाला शरीर उससे उत्तम द्वितीय श्रेणीका है, ऊर्ध्वरेता पुरुषके संकल्पमात्रसे केवल नारीशरीरके मस्तक, कण्ठ, कर्ण, हृदय या नाभि आदिके स्पर्शमात्रसे उत्पन्न होनेवाला देह तीसरी श्रेणीका है। इसमें नीचेके अंगोंकी अपेक्षा ऊपरके अंगोंके स्पर्शसे होनेवाला अपेक्षाकृत उत्तम है। बिना स्पर्शके केवल दृष्टिद्वारा होनेवाला उससे उत्तम और बिना देखे संकल्पमात्रसे होनेवाला उससे भी उत्तम है। पहला और दूसरा मैथुनी है और शेष तीनों अमैथुनी, इससे ये देह पहले दोनोंकी अपेक्षा शुद्ध हैं। स्त्रीपिण्ड या पुरुषपिण्डके बिना भी देह उत्पन्न होते हैं, परन्तु इनमें भी सूक्ष्म योनि और विन्दुका सम्बन्ध रहता ही है। प्रेतादि लोकोंके वायुप्रधान और देवलोकादिके तेज:प्रधान आतिवाहिक देह भी प्राकृतिक ही हैं। योगियोंके 'निर्माणशरीर' बहुत शुद्ध हैं, परन्तु वे भी प्रकृतिसे परे नहीं हैं। अप्राकृत देह इससे अत्यन्त विलक्षण होता है और भगवद्देह तो भगवत्स्वरूप ही है और वह सर्वथा अनिर्वचनीय है। देह-तत्त्व बहुत ही समझनेका विषय है, इसके लिये बहुत समय चाहिये। दूसरे किसी समय इसपर विचार हो सकता है।

प्रश्न—अच्छी बात है, देह-तत्त्वकी बात फिर कभी पूछी जा सकती है। अब यह बताइये कि रामायणमें जगह-जगह श्रीरामको ब्रह्म बतलाया गया है, उन ब्रह्मका क्या स्वरूप है?

उत्तर—यह बार-बार कहा जा चुका है कि वस्तुत: ब्रह्म और राम एक ही तत्त्व हैं। परन्तु रामायणमें 'ब्रह्म' शब्द प्राय: परात्पर समग्र ब्रह्मके लिये ही आया है, वेदान्तियोंके निर्गुण ब्रह्मके लिये नहीं; क्योंकि वह तो गुणोंसे सर्वथा रहित है और वह भगवान्‌की ही एक अभिव्यक्तिमात्र है। उसका अवतार नहीं हो सकता। अवतार तो सगुण ब्रह्मका ही होता है, चाहे वह अवतारी समग्र हो या समग्रका कोई अंश हो, यानी चाहे साक्षात् परात्पर भगवान् हों या उनके अंश विष्णु-शंकरादि हों। रामचरितमानसमें ब्रह्मका जो रूप बतलाया गया है, वह केवल निर्गुण ही नहीं, गुणसागर भी है तथा इसी रूपमें जगह-जगह श्रीरामकी स्तुति की गयी है—

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।
... ...॥
जय निर्गुन जय जय गुन सागर। आदि।

इससे सिद्ध है कि रामायणके अवतारी ब्रह्म परात्पर भगवान् हैं और वे दाशरथि श्रीरामचन्द्र ही हैं। वे ही परात्पर राम अपने स्वरूपको छिपाकर 'मायामानुष-रूप' में लीला करते हैं—

सोइ सच्चिदानंद घन रामा। अज बिग्यान रूप बल धामा॥
ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मम निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥
भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥
जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥

उपर्युक्त वर्णनसे भलीभाँति जाना जा सकता है

कि श्रीराम साक्षात् परब्रह्म हैं। यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि ब्रह्मसूत्रके ब्रह्म, गीताके समग्र ब्रह्म—'पुरुषोत्तम', भागवतके 'स्वयं भगवान्' और श्रीरामचरितमानसके 'श्रीराम' एक ही तत्त्व हैं।

प्रश्न—पहले आप कह चुके हैं कि सिद्ध योगियोंके विशुद्ध देहमें जरा-व्याधि आदि नहीं होती, तब भगवान्के शरीरमें भी नहीं होनी चाहिये। फिर, आजकल जो लोग भगवान्के कुछ चित्रोंमें दाढ़ी-मूँछ बना देते हैं, वे क्या भूल करते हैं?

उत्तर—निश्चय ही, भूल तो करते हैं। भगवान्का देह नित्य निरामय, नित्य नवकिशोर और नित्य नवीन रहता है। अवतारकालमें लीलाके हेतुसे सोलह वर्षकी अवस्थातक तो वह बढ़ता प्रतीत होता है—'प्रतीत होता है', इसीलिये कहा जाता है कि वास्तवमें वह बढ़ता नहीं। योगमायाके पर्देके बाहर उसका बढ़ना दिखायी देता है। सोलह वर्षकी अवस्थाके बाद बाहरसे भी बढ़ता दिखायी नहीं देता। वह नित्य नवकिशोर ही रहता है। दाढ़ी-मूँछें उस स्वरूपके नहीं होतीं। उनके सिरकी घुँघराली काली अलकावली सदा एक-सी शोभासम्पन्न रहती है, उनकी मुखश्री नित्य नवीन अपूर्व छविमयी दिखायी देती है।

प्रश्न—जिन लोगोंको भगवान्के दर्शन होते हैं, उन सबको क्या योगमायासे अनावृत रूपके ही दर्शन होते हैं?

उत्तर—नहीं। बहुत ही थोड़े पुरुष ऐसे भाग्यवान् होते हैं, जिनको अनावृत रूपके दर्शन होते हैं। वह रूप तो शिव-ब्रह्मादि तथा मुनीश्वरादिके लिये भी परम दुर्लभ है। परन्तु योगमायासे समावृत रूपके दर्शन भी बड़े ही सौभाग्यसे होते हैं, वह भी कोई मामूली बात नहीं है।

प्रश्न—विष्णु, शिव, ब्रह्मादिका स्वरूप क्या भगवान्से भिन्न है?

उत्तर—यह पहले कह ही चुके हैं कि वह तत्त्वत: भगवान्से अभिन्न है और लीलाके लिये भिन्न है। शिव और विष्णु विभिन्न ब्रह्माण्डोंमें भगवान्के अंशावताररूपमें भी हैं और मूलत: महाशिव तथा महाविष्णुके रूपमें सर्वथा-सर्वदा अभिन्न भी। ब्रह्माका अधिकार जीवको भी प्राप्त हो सकता है और ब्रह्मा भगवान्के अंशावतार भी होते हैं। यह स्मरण रखना चाहिये कि भगवान् एक ही हैं और वे सब रूपोंसे सर्वथा विलक्षण हैं। सच्चे भावसे किसी भी स्वरूपकी उपासना करनेवाला साधक अन्तमें उसी अचिन्त्य परस्वरूपको प्राप्त होता है।

यहाँ श्रीरामके स्वरूपके सम्बन्धमें श्रीरामचरितमानससे कुछ वचन उद्धृत किये जाते हैं। इनसे श्रीरामके स्वरूपका बहुत कुछ पता लग सकता है। श्रीशिवजी कहते हैं—

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥
सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥
हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ॥

'श्रीरामचन्द्रजी सच्चिदानन्दस्वरूप सूर्य हैं। वहाँ मोहरूपी रात्रिका लवलेश भी नहीं है। वे स्वभावसे ही प्रकाशरूप और षडैश्वर्ययुक्त भगवान् हैं, वहाँ तो विज्ञानरूपी प्रात:काल भी नहीं होता। (अज्ञानरूपी रात्रि हो, तब तो विज्ञानरूपी प्रात:काल हो; भगवान् तो नित्य ज्ञानस्वरूप ठहरे।) हर्ष, शोक, ज्ञान, अज्ञान, अहंता और अभिमान—ये सब जीवके धर्म हैं। श्रीरामचन्द्रजी तो व्यापक ब्रह्म, परमानन्दस्वरूप, परात्पर प्रभु और पुराणपुरुष हैं—इस बातको सारा जगत् जानता है। जो पुराणपुरुष प्रसिद्ध हैं, प्रकाशके भण्डार हैं, सब रूपोंमें प्रकट हैं, जीव, माया और जगत्—सबके स्वामी हैं, वे ही रघुकुलमणि श्रीरामचन्द्रजी मेरे स्वामी हैं।' यों कहकर शिवजीने उनको मस्तक नवाया।

मनु महाराज अभिलाषा करते हैं—

उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई॥

'हृदयमें निरन्तर यही अभिलाषा हुआ करती कि हम कैसे उन परम प्रभुको आँखोंसे देखें। जो निर्गुण, अखण्ड, अनन्त और अनादि हैं और परमार्थवादी (ब्रह्मज्ञानी, तत्त्ववेत्ता) लोग जिनका चिन्तन किया करते हैं, जिन्हें वेद 'नेति-नेति' (यह भी नहीं, यह भी नहीं) कहकर निरूपण करते हैं, जो आनन्दस्वरूप, उपाधिरहित और अनुपम हैं, जिनके अंशसे अनेकों शिव, ब्रह्मा और विष्णुभगवान् प्रकट होते हैं, ऐसे महान्

प्रभु भी सेवकके वशमें हैं और भक्तके लिये दिव्य लीलाशरीर धारण करते हैं।'

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥
जो सहससीसु अहीसु महिधरु लखनु सचराचर धनी।
सुर काज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी॥
राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह॥
जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। औरु तुम्हहि को जाननिहारा॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

'हे राम! आप वेदकी मर्यादाके रक्षक जगदीश्वर हैं और जानकीजी आपकी स्वरूपभूता माया हैं, जो कृपाके भण्डार आपका रुख पाकर जगत्‌का सृजन, पालन और संहार करती हैं। जो हजार मस्तकवाले, सर्पोंके स्वामी और पृथ्वीको अपने सिरपर धारण करनेवाले हैं, वही चराचरके स्वामी शेषजी लक्ष्मण हैं। देवताओंके कार्यके लिये आप राजाका शरीर धारण करके दुष्ट राक्षसोंकी सेनाका नाश करनेके लिये चले हैं। राम! आपका स्वरूप वाणीके अगोचर, बुद्धिसे परे, अज्ञात, अकथनीय और अपार है। वेद निरन्तर उसका 'नेति-नेति' कहकर वर्णन करते हैं। राम! जगत् दृश्य है, आप [अपने अंशस्वरूप] ब्रह्मा, विष्णु और शंकरको भी नचानेवाले हैं। जब वे भी आपके मर्मको नहीं जानते तब और कौन आपको जाननेवाला है? वही आपको जानता है, जिसे आप जना देते हैं और जानते ही वह आपका ही स्वरूप बन जाता है। हे रघुनन्दन! हे भक्तोंके हृदयको शीतल करनेवाले चन्दन! आपकी ही कृपासे भक्त आपको जान पाते हैं।'

प्रश्न—यदि श्रीराम परात्पर ब्रह्म हैं और श्रीशिवजी उनसे अभिन्न हैं तो वे शिवजीकी पूजा कैसे करते हैं? रामचरितमानसके अनुसार तो वे नित्य पार्थिव पूजन करते थे और उन्होंने श्रीरामेश्वरकी स्थापना भी की थी?

उत्तर—यह कहा जा चुका है कि तत्त्वत: श्रीराम और श्रीशंकर एक ही हैं। श्रीराम और श्रीशिव ही क्यों—यह सारा चराचर जगत् भी वास्तवमें रामसे अभिन्न है। इसीसे तो रामायणमें ***'सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥'*** और ***'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'*** यह स्पष्ट कहा गया है और श्रीशंकरजीको तो रामायणमें श्रीरामजीके, 'सेवक, स्वामी, सखा' तीनों बतलाया गया है। रामायणके अनुसार वे श्रीरामजीके अनन्यभक्त हैं—ऐसे भक्त, जो सीताका वेष बना लेनेपर सतीतकका त्याग कर देते हैं और स्वामी हैं—ऐसे स्वामी, जिनकी पूजा रामजी नित्य करते हैं और सखा भी हैं; क्योंकि शिवजीकी बारातमें भगवान् उनसे नाना प्रकारके सखोचित विनोद करते हैं और वास्तवमें भेद इनके लीलारूपोंमें ही है, स्वरूपत: कोई भेद नहीं है। शैवोंके शिव, शाक्तोंकी शक्ति तथा वैष्णवोंके महाविष्णु, श्रीराम और श्रीकृष्ण—सब एक ही हैं। इस तरहकी शंका नहीं करनी चाहिये। सच्चा रामोपासक वैष्णव सम्पूर्ण चराचरमें अपने परम इष्टदेव श्रीरामको ही देखता है। वह यही समझता है कि मेरे ही राम कहीं शिवरूपमें, कहीं शक्तिरूपमें, कहीं निर्गुण ब्रह्मरूपमें पूजित होते हैं। यहाँतक कि मुसलमानोंके अल्लाह और ईसाइयोंके परम पिता परमेश्वर भी हमारे राम ही बने हुए हैं। रामके अतिरिक्त और कोई परमेश्वर है ही नहीं। श्रीराम ही श्रीशिवरूपसे श्रीरामकी पूजा करते हैं और श्रीराम ही श्रीरामरूपसे अपने श्रीशिवरूपकी पूजा करते हैं। ये सब लीलाएँ भक्तोंके कल्याणके लिये ही होती हैं।

भूमौ जले नभसि देवनरासुरेषु
भूतेषु देवि सकलेषु चराचरेषु।
पश्यन्ति शुद्धमनसा खलु रामरूपं
रामस्य वै भुवितले समुपासकाश्च॥

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

प्रश्न—भगवान् श्रीरामके स्वरूपकी तो कुछ कल्पना हुई; अब यह बताइये कि उनको प्रसन्न करनेके साधन कौन-से हैं?

उत्तर—इस प्रश्नका उत्तर श्रीरामचरितमानसमें जगह-जगह दिया गया है। कुछ स्थलोंके वचन नीचे उद्धृत किये जाते हैं। माता पार्वती श्रीशिवजीसे कहती हैं—

नर सहस्त्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म ब्रत धारी॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिराग रत होई॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई॥

ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥
तिन्ह सहस्त्र महँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी॥
धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥

अर्थात् 'हे त्रिपुरारि! सुनिये, हजारों मनुष्योंमें कोई एक धर्माचरण-व्रत धारण करनेवाला होता है और करोड़ों धर्मात्माओंमें कोई एक विषयसे विमुख (विषयोंका त्यागी) तथा वैराग्यपरायण होता है। श्रुति कहती है कि करोड़ों विरक्तोंमें कोई एक सम्यक् (यथार्थ) ज्ञानको प्राप्त करता है और करोड़ों ज्ञानियोंमें कोई एक ही जीवन्मुक्त होता है। जगत्में कोई बिरला ही ऐसा (जीवन्मुक्त) होगा। हजारों जीवन्मुक्तोंमें भी सब सुखोंकी खान, ब्रह्ममें लीन विज्ञानवान् पुरुष और भी दुर्लभ है। हे देवाधिदेव महादेवजी! धर्मात्मा, वैराग्यवान्, ज्ञानी, जीवन्मुक्त और ब्रह्मलीन—इन सबमें भी वह प्राणी अत्यन्त दुर्लभ है, जो मद-मायारहित होकर रामभक्तिके परायण हो।'

काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृहँ त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥
सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥

'जो भक्तिकी ऐसी महिमा जानकर भी उसे छोड़ देते और केवल ज्ञानके लिये श्रम (साधन) करते हैं, वे मूर्ख घरपर खड़ी हुई कामधेनुको छोड़कर दूधके लिये मदारके पेड़को खोजते फिरते हैं। हे पक्षिराज! सुनिये—जो लोग श्रीहरिकी भक्तिको छोड़कर दूसरे उपायोंसे सुख चाहते हैं, वे मूर्ख और जड करनीवाले (अभागे) बिना जहाजके ही तैरकर महासमुद्रके पार जाना चाहते हैं।

ज्ञानकी कठिनताका उल्लेख ज्ञान-दीपक-प्रकरणमें करके फिर काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

राम भगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर॥
परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥
प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं॥
गरल सुधासम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥
ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी॥
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥

श्रीरामजीकी भक्ति सुन्दर चिन्तामणि है। हे गरुड़जी! यह जिसके हृदयमें बसती है, वह दिन-रात अपने-आप ही परम प्रकाशरूप रहता है; उसको दीपक, घी और बत्ती कुछ भी नहीं चाहिये। इस प्रकार मणिका एक तो स्वाभाविक प्रकाश रहता है। फिर मोहरूपी दरिद्रता समीप नहीं आती (क्योंकि मणि स्वयं धनरूप है) और तीसरे लोभरूपी हवा उस मणिमय दीपको नहीं बुझाती [क्योंकि मणि स्वयं प्रकाशरूप है, वह किसी दूसरेकी सहायतासे नहीं प्रकाश करती]। उसके प्रकाशसे अविद्याका प्रबल अन्धकार मिट जाता है। मदादि पतंगोंका सारा समूह हार जाता है। जिसके हृदयमें भक्ति बसती है, काम, क्रोध और लोभ आदि उसके पास भी नहीं जाते। उसके लिये विष अमृतके समान और शत्रु मित्र हो जाता है। उस मणिके बिना कोई सुख नहीं पाता। बड़े-बड़े मानस रोग, जिनके वश होकर सब जीव दुःखी हो रहे हैं, उसको नहीं व्यापते। श्रीराम भक्तिरूपी मणि जिसके हृदयमें बसती है, उसे स्वप्नमें भी लेशमात्र दुःख नहीं होता। जगत्में वे ही मनुष्य चतुरोंके शिरोमणि हैं, जो उस भक्तिमणिके लिये भलीभाँति यत्न करते हैं।'

कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥
सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥

'कलियुगमें तो केवल श्रीहरिकी गुण-गाथाओंका गान करनेसे ही मनुष्य भव-सागरकी थाह पा जाते हैं। कलियुगमें न तो योग और यज्ञ है और न ज्ञान ही है। श्रीरामजीका गुणगान ही एकमात्र आधार है। अतएव सारे भरोसे त्यागकर जो श्रीरामजीको भजता है और प्रेमसहित उनके गुणसमूहोंको गाता है, वह भव-सागरसे तर जाता है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। नामका प्रताप कलियुगमें प्रत्यक्ष है।'

अन्तमें भगवान् श्रीरामका 'निज सिद्धान्त' सुनो—

अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी॥
निज सिद्धांत सुनावउँ तोही। सुनु मम धरु सब तजि भजु मोही॥
मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिधि प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥

तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग।
श्रुति पुरान कह नीति असि सावधान सुनु काग॥

एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता॥
कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई। सब पर पितहिं प्रीति सम होई॥
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥
एहि बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते॥
अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजइ मोहि मन बच अरु काया॥

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥
सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥

भगवान् कहते हैं—'हे काक! अब तुम मेरी सत्य, सुगम, वेदादिके द्वारा वर्णित परम निर्मल वाणी सुनो। मैं तुमको यह 'निज सिद्धान्त' सुनाता हूँ, इसे सुनकर मनमें धारण करो और सब तजकर मेरा भजन करो। यह सारा संसार मेरी मायासे उत्पन्न है। इसमें अनेक प्रकारके चराचर जीव हैं, वे सभी मुझे प्रिय हैं; क्योंकि सभी मेरे उत्पन्न किये हुए हैं। इनमें मुझको मनुष्य सबसे अच्छे लगते हैं। मनुष्योंमें भी द्विज, द्विजोंमें भी वेदोंको धारण करनेवाले, उनमें भी वेदोक्त धर्मपर चलनेवाले और उनमें भी वैराग्यवान् मुझे प्रिय हैं। वैराग्यवानोंमें फिर ज्ञानी और ज्ञानियोंसे भी अत्यन्त प्रिय विज्ञानी हैं। विज्ञानियोंसे भी प्रिय मुझे अपना दास है, जिसे मेरी ही गति है, कोई दूसरी आशा नहीं है। मैं तुझसे बार-बार सत्य 'निज सिद्धान्त' कहता हूँ कि मुझे अपने सेवकके समान प्रिय कोई भी नहीं है। भक्तिहीन ब्रह्मा ही क्यों न हो, वह मुझे सब जीवोंके समान ही प्रिय है, परन्तु भक्तिमान् अत्यन्त नीच प्राणी भी मुझे प्राणोंके समान प्रिय है—यह मेरी घोषणा है। पवित्र, सुशील और सुन्दर बुद्धिवाला सेवक, भला बताओ, किसको प्यारा नहीं लगता। वेद और पुराण ऐसी ही नीति कहते हैं।'

'हे काक! सावधान होकर सुनो। एक पिताके बहुत-से पुत्र पृथक्-पृथक् गुण, शील और आचरणवाले होते हैं। कोई पण्डित होता है, कोई तपस्वी; कोई ज्ञानी, कोई धनी; कोई शूरवीर और कोई दानी। कोई सर्वज्ञ और धर्मपरायण होता है। पिताका प्रेम इन सबपर समान होता है। परन्तु इनमेंसे यदि कोई मन, वचन और कर्मसे पिताका ही भक्त होता है, स्वप्नमें भी दूसरा धर्म नहीं जानता, तो वह पुत्र पिताको प्राणोंके समान प्रिय होता है—चाहे वह सब प्रकारसे अज्ञान (मूर्ख) ही क्यों न हो। इसी प्रकार तिर्यक् (पशु-पक्षी), देव, मनुष्य और असुरोंसमेत जितने भी चेतन और जड़ जीव हैं; उनसे भरा हुआ यह सम्पूर्ण विश्व मेरा ही पैदा किया हुआ है, अतः सबपर मेरी बराबर दया है। परन्तु फिर भी इनमेंसे जो मद और मायाको छोड़कर मन, वचन और शरीरसे मुझको भजता है—वह पुरुष हो, नपुंसक हो, स्त्री हो अथवा चर-अचर कोई भी जीव हो—कपट छोड़कर जो ही सर्वभावसे मुझे भजता है, वही मुझे परम प्रिय है। हे पक्षी! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, पवित्र (अनन्य एवं निष्काम) सेवक मुझे प्राणोंके समान प्रिय है। यों विचारकर सब आशा-भरोसा छोड़कर मुझको ही भजो।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह अच्छी तरह समझमें आ गया होगा कि श्रीरामचरितमानसके भगवान् श्रीराम परात्पर पुरुषोत्तम पूर्णब्रह्म हैं और उनके प्रेम-लाभके लिये अविचल एवं विशुद्ध भक्ति ही एकमात्र साधन है। मुक्ति तो ऐसे भक्तोंके पीछे-पीछे उनका आश्रय पानेके लिये फिरती है, परन्तु वे अनन्यप्रेमी भक्त भक्तिपर ही लुभाये रहकर उसका आदर नहीं करते—

अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥

अन्तमें—आओ, हमलोग भी रामतत्त्वज्ञशिरोमणि तुलसीके सुरमें सुर मिलाकर अपने जीवनका यही परम फल बनायें—

सिय राम सरूप अगाध अनूप बिलोचन मीनन को जलु है।
श्रुति राम कथा मुख राम को नाम हिएँ पुनि रामहि को थलु है॥
मति रामहि सों गति रामहि सों रति राम सों रामहि को बलु है।
सब की न कहै, तुलसी के मतें इतनो जग जीवन को फलु है॥

सच्चिदानन्दके ज्योतिषी

सर्वव्यापक, निरंजन, निर्गुण, अजन्मा, हर्ष-विषादसे रहित, नाम-रूपरहित परब्रह्म परमात्मा जब भक्तिके वशीभूत होकर पृथ्वीका भार उतारनेके लिये श्रीअयोध्यामें माता श्रीकौसल्याजीकी गोदमें श्रीरामरूपमें अवतरित हुए, तब अयोध्यानगरी एक अलौकिक शोभाको प्राप्त हुई। जहाँपर अलौकिक शोभाधाम सच्चिदानन्द प्रभु स्वयं बालरूपसे खेल रहे हों, वहाँकी छविका क्या कहना! सुर-नर-मुनि सभी अयोध्यानगरीके सौभाग्यकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा कर रहे थे और भगवान्‌की रूप-माधुरीका पान करनेके लिये तथा परमानन्दका रसास्वादन करनेके लिये मनुष्यरूपमें अयोध्याकी गलियोंमें चक्कर लगाया करते थे। अखिलभुवनपति भगवान् महेश्वर भी उस समय सुरम्य कैलासधाममें टिक न सके; वह उन्हें अयोध्याके मुकाबले सूना, नीरस-सा लगने लगा। उन्होंने काकभुशुण्डि तथा कुछ अन्यान्य प्रेमी ऋषि-मुनियोंका एक दल संगठित किया और अयोध्यानगरीमें आकर निवास किया। इस रहस्यको उस समय कोई जानता नहीं था। भगवान् शंकर अपने दलके साथ राजमहलके इर्द-गिर्द चक्कर लगाया करते थे कि किसी तरह प्रभुके बालरूपकी झाँकी मिल जाय।

एक दिन उन्होंने अपने साथियोंको तो बाल शिष्योंका रूप धारण कराया और स्वयं एक वयोवृद्ध अनुभवी ज्योतिषी बन बैठे। इस तरह दिव्य वेश बनाकर अपनी मण्डलीसहित वे राजभवनके द्वारपर पहुँचे। उस समयका वर्णन भक्तप्रवर श्रीतुलसीदासजी अपनी गीतावलीमें इस प्रकार करते हैं—

अवध आजु आगमी एकु आयो।
करतल निरखि कहत सब गुन गन, बहुतन्ह परिचौ पायो॥ १॥
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन, संकर नाम सुहायो।
सँग सिसु सिष्य, सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो॥ २॥
पायँ पखारि, पूजि, दियो आसन, असन बसन पहिरायो।
मेले चरन चारु चार्‌यो सुत, माथे हाथ दिवायो॥ ३॥
नख सिख बाल बिलोकि बिप्र तनु पुलक, नयन जल छायो।
लै लै गोद कमल कर निरखत, उर प्रमोद न अमायो॥ ४॥
जनम प्रसंग कह्यो कौसिक मिस सीय स्वयंबर गायो।
राम, भरत, रिपुदवन, लखन को जय सुखु सुजसु सुनायो॥ ५॥
तुलसिदास रनिवास रहस बस भयो, सब के मन भायो।
सनमान्यो महिदेव असीसत साँनद सदन सिधायो॥ ६॥

राजभवनके रनिवासमें खबर पहुँची कि आज अवधपुरीमें एक सामुद्रिक ज्योतिषी आये हैं जो हथेली देखकर ही सारे गुण बता देते हैं। उनके कथनकी सत्यताका परिचय बहुत-से लोगोंको मिला है। वे बूढ़े ब्राह्मण बड़े ही प्रामाणिक हैं! उनका बड़ा सुन्दर 'शंकर' नाम है और उनके साथ कई बालक शिष्य भी हैं। यह सुनकर माता कौसल्याजीने ज्योतिषीको भीतर महलमें बुला भेजा। ज्योतिषीके आनेपर उन्होंने ब्राह्मणके पैर धोये, पूजा की, आसनपर बैठाया, भोजन कराया और वस्त्र प्रदान किया फिर उनके सुन्दर चरणोंमें चारों बालकोंको रखकर उनके सिरपर हाथ रखवाया। उन बालकोंको नखसे शिखतक निहारकर ब्राह्मणदेवताके शरीरमें रोमांच हो आया और नेत्रोंमें जल भर गया। फिर वे गोदमें ले-लेकर उनके करकमल देखने लगे। उस समय अपने आराध्यदेवको साकार मूर्तिमें और सो भी अपनी गोदमें पाकर उनके हृदयमें आनन्दकी सीमा न रही। उन्होंने उनके जन्म लेनेके कारणसे लेकर भविष्यमें श्रीविश्वामित्रजीकी यज्ञरक्षाके मिससे श्रीसीताजीके स्वयंवरमें पधारनेतककी कथा सुनायी तथा राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नके भावी जय, सुख और सुयशका वर्णन किया। यह सुनकर सारा रनिवास आनन्दमग्न हो गया, क्योंकि ज्योतिषीजीकी बात सबके हृदयको प्रिय लगनेवाली थी। उन्होंने उन विप्रप्रवरका अत्यन्त सम्मान किया और वे भी अतृप्त नयनोंसे सच्चिदानन्दकी सच्चिदानन्दमयी छविको मुँह फिरा-फिराकर निरखते हुए मन-ही-मन गुणगान करते हुए और ऊपरसे उन्हें आशीर्वाद देते हुए अपने धामको वापस चले गये।

राममाता कौसल्याजी

रामायणमें महारानी कौसल्याका चरित्र बहुत ही उदार और आदर्श है। यह महाराज दशरथकी सबसे बड़ी पत्नी और भगवान् श्रीरामचन्द्रकी जननी थी। प्राचीन कालमें मनु-शतरूपाने तप करके श्रीभगवान्‌को पुत्ररूपसे प्राप्त करनेका वरदान पाया था; वे ही मनु-शतरूपा यहाँ दशरथ-कौसल्या हैं और भगवान् श्रीराम ही पुत्ररूपसे उनके घर अवतरित हुए हैं। श्रीकौसल्याजीके चरित्रका प्रारम्भ अयोध्याकाण्डसे होता है। भगवान् श्रीरामका राज्याभिषेक होनेवाला है। नगरमें उत्सवकी तैयारियाँ हो रही हैं। आज माता कौसल्याके आनन्दका पार नहीं है; वह रामकी मंगल-कामनासे अनेक प्रकारके यज्ञ, दान, देव-पूजन और उपवास-व्रतमें संलग्न है। श्रीसीता-रामको राज्यसिंहासनपर देखनेकी निश्चित आशासे उसका रोम-रोम खिल रहा है, परन्तु श्रीराम दूसरी ही लीला करना चाहते हैं। सौन्दर्योपासक महाराज दशरथ कैकेयीके साथ वचनबद्ध होकर श्रीरामको वनवास देनेके लिये बाध्य हो जाते हैं।

धर्मके लिये त्याग

प्रातःकाल श्रीराम माता कैकेयी और पिता दशरथ महाराजसे मिलकर वनगमनका निश्चय कर लेते हैं और माता कौसल्यासे आज्ञा लेनेके लिये उसके महलमें पधारते हैं। कौसल्या उस समय ब्राह्मणोंके द्वारा अग्निमें हवन करवा रही है और मन-ही-मन सोच रही है कि 'मेरे राम इस समय कहाँ होंगे, शुभ लग्न किस समय है?' इतनेहीमें नित्य प्रसन्नमुख और उत्साहपूर्ण हृदयवाले श्रीरामचन्द्र माताके समीप जा पहुँचते हैं। रामको देखते ही माता यकायक उठकर वैसे ही सामने जाती है, जैसे घोड़ी बछेरेके पास जाती है। राम माताको पास आयी देख उसके गले लग जाते हैं और माता भी भुजाओंसे पुत्रको आलिंगन कर उनका सिर सूँघने लगती है।

सा चिरस्यात्मजं दृष्ट्वा मातृनन्दनमागतम्।
अभिचक्राम संहृष्टा किशोरं वडवा यथा॥
स मातरमुपक्रान्तामुपसंगृह्य राघवः।
परिष्वक्तश्च बाहुभ्यामवघ्रातश्च मूर्धनि॥

(वा० रा० २। २०। २०-२१)

इस समय कौसल्याके हृदयमें वात्सल्य-रसकी बाढ़ आ गयी, उसके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बहने लगी। कुछ देरतक तो यही अवस्था रही, फिर कौसल्या रामपर निछावर करके बहुमूल्य वस्त्राभूषण बाँटने लगी। श्रीराम चुपचाप खड़े थे। अब स्नेहमयी माँसे रहा नहीं गया। उसने हाथ पकड़कर पुत्रको नन्हे-से शिशुकी भाँति गोदमें बैठा लिया और लगी प्यार करने—

बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जलु पुलकित गाता॥

जैसे रंक कुबेरके पदको प्राप्त कर फूला नहीं समाता, आज वही दशा कौसल्याकी है। इतनेमें स्मरण आया कि दिन बहुत चढ़ गया है, मेरे प्यारे रामने अभी कुछ खाया भी नहीं होगा। अतएव माँ कहने लगी—

तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥

माता सोच रही है कि 'लगनमें बहुत देर होगी, मेरा राम इतनी देर भूखा कैसे रह सकेगा, कुछ मिठाई ही खा ले, दो-चार फल ही ले ले तो ठीक है।' उसे यह पता नहीं था कि राम तो दूसरे ही कामसे यहाँ आये हैं। भगवान् रामने कहा—'माता! पिताने मुझको वनका राज्य दिया है। जहाँ सभी प्रकारसे मेरा बड़ा कल्याण होगा, तुम प्रसन्नचित्तसे मुझको वन जानेके लिये आज्ञा दे दो, चौदह साल वनमें निवासकर पिताजीके वचनोंको सत्य कर पुनः इन चरणोंके दर्शन करूँगा। माता! तुम किसी तरह दुःख न करो।'

रामके ये वचन कौसल्याके हृदयमें शूलकी भाँति बिंध गये। हा! कहाँ तो चक्रवर्ती साम्राज्यके ऊँचे सिंहासनपर बैठनेकी बात और कहाँ अब प्राणाराम रामको वन जाना पड़ेगा! कौसल्याजीके हृदयका विषाद कहा नहीं जाता, वह मूर्च्छित हो पड़ी और थोड़ी देर बाद जगकर भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगी।

कौसल्याजीके मनमें आया कि पिताकी अपेक्षा माताका स्थान ऊँचा है, यदि महाराजने रामको वनवास दिया है तो क्या हुआ, मैं नहीं जाने दूँगी। परन्तु फिर सोचा कि यदि बहिन कैकेयीने आज्ञा दे दी होगी तो मेरा रोकनेका क्या अधिकार है; क्योंकि मातासे भी सौतेली माताका दर्जा ऊँचा माना गया है। इस विचारसे कौसल्या श्रीरामको रोकनेका भाव छोड़कर मार्मिक शब्दोंमें कहती है—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

मातासे कहा गया कि 'पिताकी ही नहीं, माता कैकेयीकी भी यही सम्मति है।' यहाँपर कौसल्याने बड़ी बुद्धिमानीके साथ यह भी सोचा कि यदि मैं 'श्रीरामको हठपूर्वक रखना चाहूँगी तो धर्म तो जायगा ही, साथ ही दोनों भाइयोंमें परस्पर विरोध भी हो सकता है—

राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू॥

अतएव सब तरहसे सोचकर धर्मपरायणा साध्वी कौसल्याने हृदयको कठिन करके रामसे कह दिया कि 'बेटा—जब पिता-माता दोनोंकी आज्ञा है और तुम भी इसको धर्मसम्मत समझते हो, तब मैं तुम्हें रोककर धर्ममें बाधा नहीं देना चाहती, जाओ और धर्मका पालन करते रहो। एक अनुरोध अवश्य है—

मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ।

पातिव्रतधर्म

कह तो दिया, परन्तु फिर हृदयमें तूफान आया। अब कौसल्या अपनेको साथ ले चलनेके लिये आग्रह करने लगी और बोली—

कथं हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तमनुगच्छति।
अहं त्वानुगमिष्यामि यत्र वत्स गमिष्यसि॥

(वा० रा० २। २४। ९)

'बेटा! जैसे गाय अपने बछड़ेके पीछे, वह जहाँ जाता है, वहीं जाती है वैसे ही मैं भी तुम्हारे साथ तुम जहाँ जाओगे वहीं जाऊँगी।' इसपर भगवान् रामने माताको अवसर जानकर पातिव्रतधर्मका बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया, जो स्त्रीमात्रके लिये मनन करनेयोग्य है। भगवान् बोले—

भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः।
स भवत्या न कर्तव्यो मनसापि विगर्हितः॥
यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः।
शुश्रूषा क्रियतां तावत् स हि धर्मः सनातनः॥
जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवतं प्रभुरेव च।
भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः॥
न ह्यनाथा वयं राज्ञा लोकनाथेन धीमता।
भरतश्चापि धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः॥
भवतीमनुवर्तेत स हि धर्मरतः सदा।
यथा मयि तु निष्क्रान्ते पुत्रशोकेन पार्थिवः॥
श्रमं नावाप्नुयात् किंचिदप्रमत्ता तथा कुरु।
दारुणश्चाप्ययं शोको यथैनं न विनाशयेत्॥
राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता।
व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा॥
भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत्।
भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम्॥
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात्।
शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता॥
एष धर्मः स्त्रिया नित्यो वेदे लोके श्रुतः स्मृतः।

(वा० रा० २। २४)

'माता! पतिका परित्याग कर देना स्त्रीके लिये बहुत बड़ी क्रूरता है, तुमको मनसे भी ऐसा सोचना नहीं चाहिये, करना तो दूर रहा। जबतक ककुत्स्थवंशी मेरे पिताजी जीते हैं, तबतक तुमको उनकी सेवा ही करनी चाहिये, यही सनातनधर्म है। जीवित स्त्रियोंके लिये पति ही देवता है और पति ही प्रभु है। महाराज तो तुम्हारे और मेरे स्वामी राजा हैं और मालिक हैं। भाई भरत भी धर्मात्मा और प्राणिमात्रके साथ प्रिय आचरण करनेवाले हैं, वह भी तुम्हारी सेवा ही करेंगे; क्योंकि उनका धर्ममें नित्य प्रेम है। माता! मेरे जानेके बाद तुमको बड़ी सावधानीके साथ ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे महाराज दु:खी होकर दारुण शोकसे अपने प्राण न त्याग दें। सावधान होकर सर्वदा वृद्ध महाराजके हितकी ओर ध्यान दो। व्रत, उपवासादि नियमोंमें तत्पर रहनेवाली धर्मात्मा स्त्री भी यदि अपने पतिके अनुकूल नहीं रहती है तो वह अधम गतिको प्राप्त होती है, परन्तु जो देवताओंका पूजन-नमस्कार आदि बिलकुल न करके भी पतिकी सेवा करती है, उसको उसके फलस्वरूप उत्तम स्वर्गकी प्राप्ति होती है। अतएव पतिका हित चाहनेवाली प्रत्येक स्त्रीको केवल पतिकी सेवामें ही लगे रहना चाहिये। स्त्रियोंके लिये श्रुति-स्मृतिमें एकमात्र यही धर्म बतलाया गया है।'

साध्वी कौसल्या तो पतिव्रताशिरोमणि थी ही, पुत्रस्नेहसे रामके साथ जानेको तैयार हो गयी थी, अब पुत्रके द्वारा पातिव्रतधर्मका महत्त्व सुनते ही पुनः कर्तव्यपर डट गयी और श्रीरामको वन-गमन करनेके लिये उसने आज्ञा दे दी। कौसल्याके पातिव्रतके सम्बन्धमें निम्नलिखित उदाहरण और भी ध्यान देनेयोग्य है—जिस समय श्रीसीताजी स्वामी श्रीरामके साथ वन जानेको तैयार होती हैं, उस समय कौसल्याजी उत्तम आचरणवाली सीताको हृदयसे लगाकर और उनका सिर सूँघकर निम्नलिखित उपदेश करती हैं—

'पुत्री! जो स्त्रियाँ पतिके द्वारा सब प्रकारसे सम्मान पानेपर भी गरीबीकी हालतमें उनकी सेवा नहीं करतीं, वह असती मानी जाती हैं। जो स्त्रियाँ सती हैं, वे ही शीलवती और सत्यवादिनी होती हैं, बड़ोंके उपदेशके अनुसार उनका बर्ताव होता है, वे अपने कुलकी मर्यादाका कभी उल्लंघन नहीं करतीं और अपने एकमात्र पतिको ही परम पूज्य देवता मानती हैं। बेटी! आज मेरे पुत्र रामको पिताने वनवासी बना दिया है, वह धनी हो या निर्धन, तेरे लिये तो वही देवता है, अतः कभी उसका तिरस्कार न करना।'

यद्यपि परम सती सीताजीको पातिव्रतका उपदेश करना सूर्यको दीपक दिखाना है, तथापि सीताने सासके वचनोंसे कुछ भी बुरा नहीं माना या अपना अपमान नहीं समझा और उनकी बातें धर्मार्थयुक्त समझ हाथ जोड़कर कहा—'माता! मैं आपके उपदेशानुसार ही करूँगी, पतिके साथ किस प्रकारका बर्ताव करना चाहिये, इस विषयका उपदेश माता-पिताके द्वारा मुझको प्राप्त हो चुका है। आप असाध्वी स्त्रियोंके साथ मेरी तुलना न करें—

धर्माद् विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा॥
नातन्त्री वाद्यते वीणा नाचक्रो विद्यते रथः।
नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा॥
मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत्॥

(वा० रा० २। ३९। २८—३०)

'मैं कदापि धर्मसे विचलित न हो सकूँगी। जिस प्रकार चन्द्रमासे चाँदनी अलग नहीं होती, जिस प्रकार बिना तारके वीणा नहीं बजती, जिस प्रकार बिना पहियेके रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार स्त्री चाहे सौ पुत्रोंकी भी माँ क्यों न हो जाय, परन्तु पति बिना वह कभी सुखी नहीं हो सकती। पिता, माता, भाई और पुत्र आदि जो कुछ सुख देते हैं, वह परिमित होता है और केवल इसी लोकके लिये होता है; परन्तु पति तो मोक्षरूप अपरिमित सुखका दाता है, अतएव ऐसी कौन दुष्टा स्त्री है, जो अपने पतिकी सेवा न करे?'

जब राम वनको चले जाते हैं और महाराज दशरथ दुःखी होकर कौसल्याके भवनमें आते हैं, तब आवेशमें आकर वह उन्हें कुछ कठोर वचन कह बैठती है, इसके उत्तरमें जब दुःखी महाराज आर्तभावसे हाथ जोड़कर कौसल्यासे क्षमा माँगते हैं, तब तो कौसल्या भयभीत होकर अपने कृत्यपर बड़ा भारी पश्चात्ताप करती है, उसकी आँखोंसे निर्झरकी तरह आँसू बहने लगते हैं और वह महाराजके हाथ पकड़ उन्हें अपने मस्तकपर रख घबराहटके साथ कहती है—'नाथ! मुझसे बड़ी भूल हुई, मैं धरतीपर सिर टेककर प्रार्थना करती हूँ। आप मुझपर प्रसन्न होइये। मैं पुत्र-वियोगसे पीड़िता हूँ, आप क्षमा कीजिये। देव! आपको जब मुझ दासीसे क्षमा माँगनी पड़ी, तब मैं आज पातिव्रतधर्मसे भ्रष्ट हो गयी हूँ। आज मेरे शीलपर कलंक लग गया है। अब मैं क्षमाके योग्य नहीं रही, मुझे अपनी दासी जानकर उचित दण्ड दीजिये। अनेक प्रकारकी सेवाओंके द्वारा प्रसन्न करनेयोग्य बुद्धिमान् स्वामी जिस स्त्रीको प्रसन्न करनेके लिये बाध्य होता है, उस स्त्रीके लोक-परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। स्वामिन्! मैं धर्मको जानती हूँ, आप सत्यवादी हैं, यह भी मैं जानती हूँ। मैंने जो कुछ कहा सो पुत्र-शोककी अतिशय पीड़ासे घबराकर कहा है।' कौसल्याके इन वचनोंसे राजाको कुछ सान्त्वना हुई और उनकी आँख लग गयी।

उपर्युक्त अवतरणोंसे यह पता लगता है कि कौसल्या पातिव्रतधर्मके पालनमें बहुत ही आगे बढ़ी हुई थी। स्त्रियोंको इस प्रसंगसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

कर्तव्यनिष्ठा

दशरथजी रामके वियोगमें व्याकुल हैं, खान-पान छूट गया है, मृत्युके चिह्न प्रत्यक्ष दीख पड़ने लगे हैं, नगर और महलोंमें हाहाकार मचा हुआ है, ऐसी अवस्थामें धीरज धारण कर अपने दुःखको भुला श्रीरामकी माता कौसल्या, जिसका प्राणाधार पुत्र वधूसहित वनवासी हो चुका है, अपने उत्तरदायित्व और कर्तव्यको समझती हुई महाराजसे कहती है—

नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥
धीरज धरिअ त पाइअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सबु परिवारू॥
जौं जियँ धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी॥

धन्य! रामजननी देवी कौसल्या ऐसी अवस्थामें तुम्हीं ऐसे आदर्श वचन कह सकती हो, धन्य तुम्हारे धैर्य, साहस, पातिव्रत, विश्वास और तुम्हारी आदर्श कर्तव्यनिष्ठाको!

वधू-प्रेम

कौसल्याको अपनी पुत्र-वधू सीताके प्रति कितना

वात्सल्य-प्रेम था, इसका दिग्दर्शन नीचेके कुछ शब्दोंसे होता है, जब सीताजी रामके साथ वन जाना चाहती हैं, तब रोती हुई कौसल्या कहती है—

मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। रूप रासि गुन सील सुहाई॥
नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई॥
पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सियँ न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ॥

जब सुमन्त श्रीसीता-राम-लक्ष्मणको वनमें छोड़कर अयोध्या आता है, तब कौसल्या अनेक प्रकार चिन्ता करती हुई पुत्रवधूका कुशल-समाचार पूछती है। फिर जब चित्रकूटमें सीताको देखती है, तब बड़ा ही दुःख करती हुई कहती है—बेटी! धूपसे 'सूखे हुए कमलके समान, मसले हुए कुमुदके समान, धूलसे लिपटे हुए सोनेके समान और बादलोंसे छिपाये हुए चन्द्रमाके समान तेरा यह मलिन मुख देखकर मेरे हृदयमें जो दुःखरूपी अरणीसे उत्पन्न शोकाग्नि है, वह मुझे जला रही है।'

यदि आज सभी सासोंका बर्ताव पुत्रवधुओंके साथ ऐसा हो जाय तो घर-घरमें सुखका स्रोत बहने लगे।

राम-भरतमें समानभाव और प्रजाहित

कौसल्या राम और भरतमें कोई अन्तर नहीं मानती थी। उसका हृदय विशाल था। जब भरतजी ननिहालसे आते हैं और अनेक प्रकारसे विलाप करते हुए एवं अपनेको धिक्कारते हुए, सारे अनर्थोंका कारण अपनेको मानते हुए जब माता कौसल्याके सामने फूट-फूटकर रोने लगते हैं, तब माता सहसा उठकर आँसू बहाती हुई भरतको हृदयसे लगा लेती है और ऐसा मानती है मानो राम ही लौट आये। उस समय शोक और स्नेह उसके हृदयमें नहीं समाता, तथापि वह बेटे भरतको धीरज बँधाती हुई कोमल वाणीसे कहती है—

अजहुँ बच्छ बलि धीरज धरहू। कुसमउ समुझि सोक परिहरहू॥
जनि मानहु हियँ हानि गलानी। काल करम गति अघटित जानी॥

× × ×

राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥
बिधु बिष चवै स्त्रवै हिमु आगी। होइ बारिचर बारि बिरागी॥
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए। थन पय स्त्रवहिं नयन जल छाए॥

कैसे आदर्श वाक्य हैं! रामकी माता ऐसी न हो तो और कौन हो?

महाराजकी दाहक्रियाके उपरान्त जब वसिष्ठजी और नगरके लोग भरतको राजगद्दीपर बैठाना चाहते हैं और जब भरत किसी प्रकार भी नहीं मानते, तब माता कौसल्या प्रजाके सुखके लिये धीरज धरकर कहती है—

× × ×। पूत पथ्य गुर आयसु अहई॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ बिषादु काल गति जानी॥
बन रघुपति सुरपति नरनाहू। तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू॥
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा॥
लखि बिधि बाम कालु कठिनाई। धीरजु धरहु मातु बलि जाई॥
सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू। प्रजा पालि परिजन दुखु हरहू॥

प्रजाहितका इतना ध्यान श्रीराम-माताको होना ही चाहिये। माताने रामके वन जाते समय भी कहा था, 'मुझे इस बातका तनिक भी दुःख नहीं है कि रामको राज्यके बदले आज वन मिल रहा है, मुझे तो इसी बातकी चिन्ता है कि रामके बिना महाराज दशरथ, पुत्र भरत और प्रजाको महान् क्लेश होगा—

राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥

कौसल्याकी पुत्रवत्सलता आदर्श है। रामके वनवाससे कौसल्याको प्राणान्त क्लेश है, परन्तु प्यारे पुत्र श्रीरामकी धर्मरक्षाके लिये कौसल्या उन्हें रोकती नहीं, वरं कहती है—

न शक्यसे वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम।
शीघ्रं च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे॥
यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु॥

(वा० रा० २। २५। २-३)

'बेटा! मैं तुझे इस समय वन जानेसे रोक नहीं सकती। तू जा और शीघ्र ही लौटकर आ। सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करता रह। तू प्रेम और नियमके साथ जिस धर्मका पालन कर रहा है वह धर्म ही तेरी रक्षा करे।' इस प्रकार धर्मपर दृढ़ रहने और महात्माओंके सन्मार्गका अनुसरण करनेकी शिक्षा देती हुई माता पुत्रकी मंगलरक्षा करती है और कहती है—

पितु बनदेव मातु बनदेवी। खग मृग चरन सरोरुह सेवी॥
अंतहुँ उचित नृपहि बनबासू। बय बिलोकि हियँ होइ हरासू॥

कर्तव्यपरायणा धर्मशीला त्यागमूर्ति माता कौसल्या इस प्रकार पुत्रको सहर्ष वनमें भेज देती है। वियोगके दावानलसे हृदय दग्ध हो रहा है, परन्तु पुत्रके धर्मकी

टेक और उसकी हर्ष-शोकरहित सुख-दुःख-शून्य आनन्दमयी मंजुल मूर्तिकी ओर देख-देखकर अपनेको गौरवान्वित समझती है। यह है सच्चा प्रेम! यहाँ मोहको तनिक भी गुंजाइश नहीं। भरतजीके सामने कौसल्या गौरवके साथ प्यारे पुत्र श्रीरामकी प्रशंसा करती हुई कहती है—'बेटा! महाराजने तेरे बड़े भाई रामको राज्यके बदले वनवास दे दिया, परन्तु इससे रामके मुखपर कुछ भी म्लानता नहीं आयी—

पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर।
बिसमउ हरषु न हृदयँ कछु पहिरे बलकल चीर॥
मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू। सबकर सब बिधि करि परितोषू॥
चले बिपिन सुनि सिय सँग लागी। रहइ न राम चरन अनुरागी॥
सुनतहिं लखन चले उठि साथा। रहहिं न जतन किए रघुनाथा॥
तब रघुपति सबही सिरु नाई। चले संग सिय अरु लघु भाई॥

यह सब होनेपर भी माताका हृदय पुत्रका मधुर मुखड़ा देखनेके लिये निरन्तर व्याकुल है। चौदह साल बड़ी ही कठिनतासे श्रीरामके ध्रुव सत्य वचनोंकी आशापर बीतते हैं। लंका विजयकर श्रीराम जब अयोध्या लौटते हैं और जब माताको यह समाचार मिलता है, तब वह सुनते ही इस प्रकार दौड़ती है, जैसे गाय बछड़ेके लिये दौड़ा करती है—

कौसल्यादि मातु सब धाई। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाई॥
जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृहँ चरन बन परबस गई।
दिन अंत पुर रुख स्त्रवत थन हुंकार करि धावत भई॥

बहुत दिनोंके बाद पुत्रका मुख देखकर कौसल्याके प्रेम-समुद्रकी मर्यादा टूट जाती है, वह पुत्रको हृदयसे लगाकर बार-बार सिर सूँघती है तथा कोमल मस्तक और मुखमण्डलपर हाथ फेरती एवं टकटकी लगाकर देखती हुई मनमें बहुत ही आश्चर्य करती है कि मेरे इस कलके कुसुम-कोमल कमनीय शिशुने रावण-जैसे प्रबल पराक्रमीको कैसे मारा होगा। मेरे राम-लक्ष्मण तो बड़े ही सुकुमार हैं, ये महाबली राक्षसोंसे कैसे जीते होंगे?

कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहि। चितवति कृपासिंधु रनधीरहि॥
हृदयँ बिचारति बारहिं बारा। कवन भाँति लंकापति मारा॥
अति सुकुमार जुगल मेरे बारे। निसिचर सुभट महाबल भारे॥

माता! क्या तुम इस बातको भूल गयीं कि ये तुम्हारे 'सुकुमार बारे बालक' लीलासंकेतसे ही त्रिभुवनको बनाने-बिगाड़नेवाले हैं। इन्हींकी मायासे सब कुछ हो रहा है। ये तो तुम्हारे प्रेमके कारण तुम्हारे यहाँ पुत्ररूपसे प्रकट होकर जगत्का कल्याण करते हुए तुम्हें सुख पहुँचा रहे हैं। माता तुम धन्य हो!

कौसल्याको अपने धर्मपालनका फल मिलता है, उसका शेष जीवन सुखमय बीतता है और अन्तमें वह श्रीरामके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्तकर—

रामं सदा हृदि ध्यात्वा छित्त्वा संसारबन्धनम्।
अतिक्रम्य गतिस्तिस्त्रोऽप्यवाप परमां गतिम्॥

हृदयमें सर्वदा श्रीरामका ध्यान करनेसे संसारबन्धनको छिन्नकर, सात्त्विक, राजस, तामस तीनों गतियोंको लाँघकर परमपदको प्राप्त हो जाती है!

भक्तिमयी सुमित्रा देवी

जो केवल इसीलिये गर्भ-धारण करती हैं और इसीलिये पुत्र-प्रसव करती हैं कि उनका पुत्र माता-पिता, सुख-सम्पत्ति, विलास-यौवन, घर-परिवार, नव-विवाहिता पत्नी—सभीके मोहको तृणवत् त्यागकर स्वेच्छासे ही विराग, तपस्या एवं संयमको स्वीकार करके केवल भगवान्की ही सेवा करे; भगवान्की सेवा ही जिसके जीवनका एकमात्र लक्ष्य हो और जो भगवान्की सेवामें ही अपनेको खपा दे—ऐसी परम सौभाग्यवती लक्ष्मण-शत्रुघ्न-जननी सुमित्रा-सरीखी माताएँ जगत्में विरली ही होती हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्र जब वन जाने लगे और जब श्रीरामजीके आदेशसे एकमात्र रामको परम वस्तु माननेवाले लक्ष्मणजी माता सुमित्रासे आज्ञा माँगने गये, उस समय उस विशालहृदया यथार्थजननी मंगलमयी माताने जो कुछ कहा उसमें भक्ति, प्रीति, त्याग, बलिदान, समर्पण, नारीजीवनकी सफलता, पुत्रका स्वरूप—सभीका परम श्रेष्ठ सार आ गया है। माताका वह उपदेश यदि जगत्की सभी माताओंके लिये आदर्श बन जाय तो यही जगत् वैकुण्ठ बन सकता है। माता सुमित्रा कहती हैं—

तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥
जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥

गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥
रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नातें॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू॥
भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरें मन छाड़ि छलु कीन्ह राम पद ठाउँ॥
पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥
रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥
तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु रामु सिय जासू॥
जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥

'बेटा! जानकीजी तुम्हारी माता हैं और सब प्रकारसे स्नेह करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी तुम्हारे पिता हैं! जहाँ श्रीरामजीका निवास हो वहीं अयोध्या है। जहाँ सूर्यका प्रकाश हो वहीं दिन है। यदि निश्चय ही सीता-राम वनको जाते हैं तो अयोध्यामें तुम्हारा कुछ भी काम नहीं है। गुरु, पिता, माता, भाई, देवता, स्वामी—इन सबकी सेवा प्राणके समान करनी चाहिये। फिर श्रीरामचन्द्रजी तो प्राणोंके भी प्रिय हैं, हृदयके भी जीवन हैं और सभीके स्वार्थरहित सखा हैं। जगत्‌में जहाँतक पूजनीय और परम प्रिय लोग हैं, वे सब रामजीके नातेसे ही (पूजनीय और परमप्रिय) माननेयोग्य हैं। हृदयमें ऐसा जानकर, बेटा! उनके साथ वन जाओ और जगत्‌में जीनेका लाभ उठाओ! मैं बलिहारी जाती हूँ, (हे पुत्र!) मेरे समेत तुम बड़े ही सौभाग्यके पात्र हुए, जो तुम्हारे चित्तने छल छोड़कर श्रीरामके चरणोंमें स्थान प्राप्त किया है। संसारमें वही युवती स्त्री पुत्रवती है, जिसका पुत्र श्रीरघुनाथजीका भक्त हो। नहीं तो, जो रामसे विमुख पुत्रसे अपना हित मानती है, वह तो बाँझ ही अच्छी। पशुकी भाँति उसका ब्याना (पुत्र-प्रसव करना) व्यर्थ ही है। तुम्हारे ही भाग्यसे श्रीरामजी वनको जा रहे हैं। हे तात! दूसरा कोई कारण नहीं है। सम्पूर्ण पुण्योंका सबसे बड़ा फल यही है कि श्रीसीतारामजीके चरणोंमें स्वाभाविक प्रेम हो। राग, रोष, ईर्ष्या, मद और मोह—इनके वश स्वप्नमें भी मत होना। सब प्रकारके विकारोंका त्याग कर मन, वचन और कर्मसे श्रीसीतारामजीकी सेवा करना। तुमको वनमें सब प्रकारसे आराम है, जिसके साथ श्रीरामजी और सीताजीरूप पिता-माता हैं। पुत्र! तुम वही करना जिससे श्रीरामचन्द्रजी वनमें क्लेश न पावें, मेरा यही उपदेश है।'

सिद्धान्त तथा उपदेशका उपहास करती हुई माता अन्तमें आशीर्वाद देती हुई कहती हैं—

उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं॥
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीर पद नित नित नई॥

'बेटा! मेरा यही उपदेश है (अर्थात् तुम वही करना) जिससे वनमें तुम्हारे कारण श्रीरामजी और श्रीसीताजी सुख पावें और पिता, माता, प्रिय परिवार तथा नगरके सुखोंकी याद भूल जायँ। तुलसीदासजी कहते हैं कि सुमित्राजीने इस प्रकार हमारे प्रभु (श्रीलक्ष्मणजी)-को सीख देकर (वन जानेकी) आज्ञा दी और फिर यह आशीर्वाद दिया कि श्रीसीताजी और श्रीरघुवीरजीके चरणोंमें तुम्हारा निर्मल (निष्काम और अनन्य) एवं प्रगाढ़ प्रेम नित नया-नया हो।' माताकी क्या सुन्दर आशीष है। धन्य है!

प्रिय पुत्र लक्ष्मणको रामकी सेवामें भेजकर ही माता निरस्त नहीं हो जाती, जब लक्ष्मणके शक्ति लगने और रणभूमिमें मूर्च्छित होकर गिर जानेका संवाद मिलता है, तब वे अपनी कोखको सफल हुई मानकर उनका रोम-रोम प्रसन्नतासे खिल उठता है। पर साथ ही यह चिन्ता आ सताती है कि मेरे राम शत्रुओंमें अकेले रह गये—और शत्रुघ्नको वहाँ भेजनेके लिये निश्चय करके कहती हैं—'बेटा! हनुमान्‌के साथ जाओ।' माताका आदेश सुनते ही शत्रुघ्नजी हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं और शरीरसे पुलकित होकर ऐसे प्रसन्न होते हैं मानो विधाताके विधानसे उनके पूरे दाव पड़ गये हों।

'तात! जाहु कपिसँग', रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं॥

श्रीहनुमान्‌जीके विनय करने और आश्वासन देनेपर माता मानती हैं।

सचमुच ऐसी ही माता पुत्रवती है और ऐसी मातासे जन्म धारण करनेवाले ही वास्तवमें पुत्र हैं—इन माता-पुत्रोंके चरणोंमें कोटि-कोटि नमस्कार!

श्रीलक्ष्मण और देवी उर्मिलाका महत्त्व

रामायणमें रामसेवाव्रती लक्ष्मणजीका, उनकी धर्मपत्नी श्रीउर्मिलादेवीजीका चरित्र बड़ा ही अनुपम है। लोग कहेंगे कि उर्मिलाके चरित्रका तो रामायणमें कहीं वर्णन ही नहीं है, फिर वह अनुपम कैसे हो गया? वास्तवमें उनके चरित्रके सम्बन्धमें कविका मौनावलम्बन ही चरित्रकी परम उच्चताका सूचक है। उनका चरित्र इतना महान् त्यागपूर्ण है कि कविकी लेखनी उसका चित्रण करनेमें अपनेको असमर्थ पाती है। सीताजी श्रीरामके साथ वन जानेके लिये आग्रह करती हैं और न ले जानेपर प्राण-परित्यागके लिये प्रस्तुत हो जाती हैं। यद्यपि ऐसा करना उनका अधिकार था और इसीलिये श्रीराम अपने पहले वचनोंको पलटकर उन्हें साथ ले गये। श्रीरामने जो सीताजीको घर-नैहरमें रहनेका उपदेश दिया था, सो तो लोक-शिक्षा, सती पतिव्रताके परम आदर्शकी स्थापना और पत्नीके प्रति पतिके कर्तव्यकी सत्-शिक्षाके लिये था। वास्तवमें सीताको श्रीरामजी वनमें ले जाना ही चाहते थे; क्योंकि उनके गये बिना रावण अपराधी नहीं होता और ऐसा हुए बिना उसकी मृत्यु असम्भव थी, जो अवतारधारणका एक प्रधान कार्य था। श्रीसीताजी साक्षात् जगन्नायिका और श्रीराम सच्चिदानन्दघन थे। वह उनसे अलग कभी रह ही नहीं सकती। केवल पातिव्रतकी बात होती तो सीताजी भी शायद उर्मिलाकी भाँति अयोध्यामें रह जातीं। उर्मिला सीताजीकी छोटी बहिन थीं, परम पतिव्रता बड़ी बहिन सीताजी जैसे अपने स्वामी श्रीराममें अनुरक्ता और उनकी सेवाव्रतधारिणी थीं, वैसे ही उर्मिला भी थीं; वह भी सीताकी भाँति ही साथ जानेके लिये प्रेमाग्रह कर सकती थीं, परन्तु उनके घर रहनेमें ही श्रीरामकाजमें सुविधा थी, जिसमें सेवक बनकर रहना उनके पतिका एकमात्र धर्म था और जिसमें उर्मिला पूर्ण सहमत और सहायक थी। इन्द्रजित् मेघनादको वरदान था कि जो महापुरुष लगातार बारह वर्षतक फल-मूल खायेगा, निद्राका त्याग करेगा और अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करेगा, उसीके हाथोंसे मेघनादका मरण होगा। इसलिये जैसे रावणवधमें कारण बननेके लिये सीताजीका श्रीराम-लीलामें सहयोगिनी बनकर वन जाना आवश्यक था, वैसे ही लक्ष्मणजीका भी रामलीलामें शामिल होनेके लिये तीव्र महाव्रत-पालनपूर्वक मेघनादवधके लिये वन जाना आवश्यक था और ठीक इसी तरह उर्मिलाजीको भी रामलीलाको सुचारुरूपसे सम्पन्न करानेके लिये ही, जो दम्पतिके जीवनका व्रत था, घरपर रहना आवश्यक था। उर्मिलाजी साथ जातीं, तब भी लक्ष्मणजीका महाव्रत पालन होना कठिन था और वे घरपर रहते तब तो कठिन था ही।

यह बात श्रीलक्ष्मणजीने उर्मिलाजीको अवश्य समझा दी होगी या महान् विभूति होनेके कारण वे इस बातको समझती ही होंगी। इसीसे उन्होंने पतिके साथ जानेके लिये एक शब्द भी न कहकर आदर्श पातिव्रतधर्मका वैसा ही पालन किया, जैसा श्रीसीताजीने साथ जानेके लिये प्रेमाग्रह करके किया था। घर रहनेमें ही पति श्रीलक्ष्मणजीका सेवाधर्म सम्पन्न होता है, जिन श्रीरामकी सेवाके लिये लक्ष्मणजी अवतीर्ण हुए थे, वह सेवाकार्य इसीमें सफल होता है। यह बात जाननेके बाद आदर्श पतिव्रता देवी उर्मिला कैसे कुछ कह सकती थीं? वे आजकलकी भाँति भोगकी भूखी तो थीं ही नहीं। पतिकी धर्मरक्षामें सहायक होना ही पत्नीका धर्म है, इस बातको वे खूब समझती थीं और यही उर्मिलाजीने किया।

लोग कहते हैं कि 'लक्ष्मण बड़े निष्ठुर थे, राम तो सीताको साथ ले गये, परन्तु लक्ष्मणने तो उर्मिलासे बाततक नहीं की।' पर वे क्या बात करते, वे इस बातको खूब जानते थे कि मेरा और मेरी पत्नीका एक ही धर्म है। मेरे धर्मपालनमें मद्गतप्राणा कर्तव्यपरायणा प्रेममयी उर्मिलाको सदा ही बड़ा आनन्द है। वह धर्मके लिये सानन्द मेरा बिछोह सह सकती है। जनकपुरसे ब्याहकर आनेके बाद बारह वर्षोंमें लक्ष्मणजीकी अनुगामिनी सती उर्मिलाने अपना रामसेवा-धर्म निश्चय कर लिया था, उसी निश्चयके अनुसार पतिको रामसेवामें भेजनेके लिये वीरांगना उर्मिला भी उसी प्रकार सम्मत और प्रसन्न थीं, जैसे लक्ष्मण-माता वीर-प्रसविनी देवी सुमित्राजी प्रसन्न थीं। धर्मपरायणा वीरांगनाएँ अपने पति-पुत्रोंको हँसते-हँसते रणांगणमें भेजा ही करती हैं, वैसे ही यहाँ सुमित्रा और उर्मिलाने भी किया। अवश्य ही उर्मिला कुछ बोली नहीं, परन्तु यहाँ न तो बोलनेका अवकाश ही था और न धर्ममें

नित्य हार्दिक सम्मति होनेके कारण बोलनेकी आवश्यकता ही थी तथा न मर्यादा ही ऐसी आज्ञा देती थी। सेवा-धर्ममें तत्पर निःस्वार्थ सेवकको तुरन्त करनेयोग्य प्रबल मनचाहा सेवाकार्य सामने आ पड़नेपर सलाह-मशविरेके लिये न तो अवकाश ही रहता है और न उसकी सहधर्मिणी पत्नी भी इससे दुःख मानती है; क्योंकि वह अपने पतिकी स्थितिसे भलीभाँति परिचित होती है और उसके प्रत्येक त्यागपूर्ण महान् कार्यका अनुमोदन करना ही अपना धर्म समझती है।

एक बात और है, सेवक परतन्त्र होता है। स्वामी श्रीराम तो स्वतन्त्र थे, वे अपने साथ जानकीजीको ले गये। परन्तु परतन्त्र सेवापरायण लक्ष्मण भी यदि उर्मिलाको साथ ले जाना चाहते तो यह अनुचित होता, उन्हें रामजीकी सम्मति लेनी पड़ती, जहाँ वनमें श्रीरामजी सीताजीको साथ ले जानेमें ही आपत्ति करते थे, वहाँ उर्मिलाको साथ ले जानेमें कैसे सहमत होते। जो कार्य स्वामीकी रुचिके प्रतिकूल हो, उसकी कल्पना भी सच्चे सेवकके चित्तमें उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी प्रकार पतिकी रुचिके प्रतिकूल कल्पना सती पतिव्रता पत्नीके हृदयमें नहीं उठ सकती। उर्मिला परम पतिव्रता थीं, लक्ष्मण उनको जानते थे। धर्मपालनमें उनकी चिरसम्मति उन्हें प्राप्त थी। एक बात यह भी है कि लक्ष्मणजी सेवाके लिये वन जाना चाहते थे, सैरके लिये नहीं। पत्नीको साथ ले जानेसे उसकी देखभालमें भी इनका समय जाता तथा दो स्त्रियोंके सँभालनेका भार श्रीरामपर पड़ता। सेवक अपने स्वामीको संकोचमें कभी नहीं डाल सकता, लक्ष्मणजी और उर्मिलाजी दोनों ही इस बातको जरूर समझते थे। अतएव उन्होंने कोई निष्ठुरताका बर्ताव नहीं किया, प्रत्युत इसीमें लक्ष्मणजी और उर्मिलाजी दोनोंकी सच्ची महिमा है।

वनवासमें श्रीलक्ष्मणजीके व्रतपालनका महत्त्व देखिये। वे दिन-रात श्रीसीतारामके पास रहते हैं। कन्द-मूल-फल ला देना, पूजाकी सामग्री जुटा देना, आश्रमको झाड़ना-बुहारना, वेदिकापर चौका लगा देना, श्रीसीतारामकी रुचिके अनुसार उनकी हर प्रकारकी सेवा करना और दिन-रात सजग रहकर वीरासनसे बैठे, राममें मन लगाये, राम-नाम जपते हुए पहरा देना उनका कार्य है। वे अपने कार्यमें बड़े ही तत्पर हैं। ब्रह्मचर्यव्रतका पता तो इसीसे लग जाता है कि माता सीताकी सेवामें सदा प्रस्तुत रहनेपर भी उन्होंने उनके चरणोंको छोड़कर अन्य किसी अंगका कभी दर्शन नहीं किया। यह बात इसीसे सिद्ध है कि लक्ष्मणजी सीताजीके गहनोंको पहचान नहीं सके। जब रावण श्रीसीताजीको आकाशमार्गसे ले जा रहा था, तब उन्होंने पहाड़पर बैठे हुए वानरोंके दलमें कुछ गहने डाल दिये थे। श्रीराम-लक्ष्मण सीताको खोजते हुए जब हनुमान्जीकी प्रेरणासे सुग्रीवके पास पहुँचे, तब सुग्रीवने श्रीरामको वे गहने दिखलाये। श्रीरामके पूछनेपर लक्ष्मणजी बोले—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥

(वा० रा० ४। ६। २२)

'स्वामिन्! मैं इन केयूर और कुण्डलोंको नहीं पहचानता। मैंने तो प्रतिदिन चरणवन्दनके समय माताजीके नूपुर देखे हैं, अतः उन्हें पहचान सकता हूँ।' आजकलके देवरोंको इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। श्रीलक्ष्मणजीके इस महान् व्रतपर श्रीरामका बड़ा भारी विश्वास था, इस बातका पता इसीसे लगता है कि वे मर्यादा-पुरुषोत्तम होनेपर भी लक्ष्मणजीके साथ सीताजीको अकेले बेधड़क छोड़ देते थे। जब खर-दूषण भगवान्के साथ युद्धके लिये आये थे, तब श्रीरामने जानकीजीको लक्ष्मणजीकी संरक्षकतामें एकान्त गिरिगुहामें भेज दिया था—

'राम बोलाइ अनुज सन कहा'—
'लै जानकिहि जाहु गिरिकंदर।'

मायामृगको मारनेके समय भी सीताके पास आप लक्ष्मणजीको छोड़ गये थे और निर्वासनके समय भी लक्ष्मणजीको ही सीताके साथ भेजा था।

लक्ष्मणजीका सेवा-व्रत तपपूर्ण था। उन्होंने बारह सालतक लगातार श्रीरामसेवामें रहकर कठिन तपस्या की। इसी कारण वे मेघनादको मारकर रामकाजमें सहायक बन सके थे। तपस्यामें उनका उद्देश्य भी यही था; क्योंकि वे श्रीरामको छोड़कर दूसरी बात न तो जानते थे और न जानना चाहते ही थे। उन्होंने स्वयं कहा है—

गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥

श्रीशत्रुघ्नजी

महामना श्रीशत्रुघ्नजी भगवान् श्रीरामचन्द्र, भरत, लक्ष्मण तीनोंसे छोटे थे। श्रीसुमित्राजीके पुण्यवान् पुत्र थे। इनके सम्बन्धमें रामायणमें जो कुछ वर्णन आया है, उससे यही पता लगता है कि श्रीशत्रुघ्नजी बहुत थोड़ा बोलनेवाले, अत्यन्त तेजस्वी, वीर, सेवापरायण, रामदासानुदास, चुपचाप काम करनेवाले, सच्चे सत्पुरुष थे। श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्न दोनों ही भाइयोंने अपना जीवन परम पवित्र सेवामें बिताया, परन्तु लक्ष्मणकी सेवासे भी शत्रुघ्नकी सेवाका महत्त्व एक प्रकारसे अधिक है। श्रीलक्ष्मण श्रीरामके सेवक हैं, परन्तु शत्रुघ्न तो श्रीरामसेवक भरतजीके चरणसेवक और साथी हैं। छायाकी भाँति उनके साथ रहते और चुपचाप आज्ञानुसार सेवा किया करते हैं। ये बड़े संकोची हैं, अपनी ओरसे कभी किसी कामके बीचमें नहीं बोलते। किसीपर क्रोध नहीं करते, अपनी ओरसे आगे होकर कुछ भी नहीं करते। सेवकोंके सेवकका यही तो धर्म है।

श्रीशत्रुघ्नजीके अपनी ओरसे बोलनेके विशेष अवसर दो मिलते हैं। प्रथम, जब श्रीभरतजी ननिहालसे आकर माता कैकेयीसे मिलते हैं और कैकेयी पाषाणहृदया बनकर महाराज दशरथकी मृत्यु और श्रीराम-लक्ष्मणके वन जानेका विवरण सुनाती है और कहती है कि बेटा! यह सब मैंने तेरे ही लिये किया है—

तात बात मैं सकल सँवारी। भै मंथरा सहाय बिचारी॥

तब भरत शोकाकुल होकर विलाप करते और आवेशमें आकर माताको भला-बुरा कहने लगते हैं। शत्रुघ्न भी माताकी कुटिलतापर अत्यन्त क्षुब्ध हैं, शरीरमें आग लग रही है, परन्तु उनका तो बोलनेका कुछ अधिकार है नहीं।

सुनि सत्रुघ्न मातु कुटिलाई। जरहिं गात रिस कछु न बसाई॥

इसी समय कुबरी मन्थरा सज-धजकर वहाँ आती है। वह भरतको अपनी ही प्रकृतिके अनुसार स्वार्थी और राज्यलोभी समझती है। वह समझती है कि भरतके लिये राज्यका सारा सामान मैंने ही बनाया है, वह मुझे इनाम देगा, इसीलिये बन-ठनकर आती है।

हँसती-उछलती सजी-धजी कुबरीको देखकर शत्रुघ्नजी क्रोधको नहीं सँभाल सके—

लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई। बरत अनल घृत आहुति पाई॥
हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुह भर महि करत पुकारा॥
कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू॥
सुनि रिपुहन लखि नखसिख खोटी। लगे घसीटन धरि धरि झोंटी॥

उपयुक्त इनाम मिल गया। दयामय भरतजीने मन्थराको छुड़ा दिया।

दूसरे, श्रीराम अयोध्याके सिंहासनपर आसीन हैं, तीनों भाई सेवा और धर्मयुक्त शासनमें सहायता करते हैं। एक समय तपस्वियोंने आकर श्रीरामचन्द्रसे लवणासुरके अत्याचारोंका वर्णन करते अपना दुखड़ा सुनाया और उसे मारनेके लिये प्रार्थना की। दुष्टदर्पहारी शिष्टरक्षक भगवान् श्रीरामने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और दरबारमें पूछा कि 'लवणासुरको वध करनेका श्रेय तुमलोगोंमें कौन लेना चाहते हैं? वहाँकी समृद्धिका अधिकारी कौन होना चाहते हैं। भरत या शत्रुघ्न?'

श्रीभरतने कहा कि 'मैं लवणासुरका वध कर सकता हूँ' इसपर शत्रुघ्नजीने प्रार्थना की कि 'प्रभो! श्रीभरतजी बहुत काम कर चुके हैं। आपके वनवासके समय इन्होंने अयोध्याका पालन किया, अनेक प्रकार दुःख सहे, नन्दीग्राममें कुशकी शय्यापर सोये, फल-मूलका आहार किया, जटा रखी, वल्कल पहने, सब कुछ किया। अब मेरी प्रार्थना है कि मेरे रहते इन्हें युद्धके लिये न भेजकर मुझे ही आज्ञा दीजिये।'

शत्रुघ्नजीके इन वचनोंको सुनकर श्रीरामने उनका प्रस्ताव स्वीकार करते हुए कहा—'भाई! तुम्हीं जाकर दैत्यका वध करो, मैं तुम्हें मधु-दैत्यके सुन्दर नगरका राजा बनाता हूँ।' श्रीराम जानते थे कि शत्रुघ्न दुष्ट राक्षसका वध करना चाहते हैं, उन्हें राज्यका लोभ नहीं है। इसलिये पहलेसे ही कह दिया कि 'श्रीवसिष्ठ आदि ऋषि मन्त्र और विधिपूर्वक तुम्हारा अभिषेक करेंगे। मैं जो कुछ कहूँ सो तुम्हें स्वीकार करना चाहिये; क्योंकि बालकोंको गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करना ही उचित है।'

इसपर वीर्य-सम्पन्न श्रीशत्रुघ्नजी बड़े ही संकोचमें पड़कर धीरेसे कहने लगे—'महाराज! बड़े भाइयोंके रहते राजगद्दीपर बैठना मैं अधर्म समझता हूँ, जब भरतजी महाराज लवणासुरको मारनेके लिये कह रहे थे तब मुझे बीचमें नहीं बोलना चाहिये था। मेरा बीचमें बोलना ही मेरे लिये इस दुर्गतिका कारण हुआ।

अब आपकी आज्ञाका उल्लंघन करना भी मेरे लिये कठिन है; क्योंकि आपसे मैं यह धर्म कई बार सुन चुका हूँ।'

इसके बाद शत्रुघ्नजी लवणासुरपर चढ़ाई करते हैं, रास्तेमें श्रीवाल्मीकिजीके आश्रममें ठहरते हैं, उसी रातको सीताके दोनों कुमारोंका जन्म होता है, जिससे शत्रुघ्नको बड़ा हर्ष होता है। फिर जाकर लवणासुरका वध करके वहाँ बारह वर्ष रहकर श्रीराम-दर्शनार्थ लौटते हैं। आते समय पुनः श्रीवाल्मीकिके आश्रममें ठहरते हैं और लव-कुशके द्वारा मुनिरचित रामायणका गान सुनकर आनन्दमें लोट-पोट हो जाते हैं, अयोध्या आकर सबसे मिलते हैं, पुनः श्रीरामकी आज्ञासे मधुपुरी लौटकर धर्मपूर्वक शासन करते हैं।

इनके जीवनसे भी मर्यादाकी बड़ी शिक्षा मिलती है।

श्रीरामप्रेमी दशरथ महाराज

जिनके यहाँ भक्तिप्रेमवश साक्षात् सच्चिदानन्दघन प्रभु पुत्ररूपसे अवतीर्ण हुए, उन परमभाग्यवान् महाराज श्रीदशरथकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है? महाराज दशरथजी मनुके अवतार थे, जो भगवान्‌को पुत्ररूपसे प्राप्तकर अपरिमित आनन्दका अनुभव करनेके लिये ही धरा-धाममें पधारे थे और जिन्होंने अपने जीवनका परित्याग और मोक्षतकका संन्यास करके श्रीराम-प्रेमका आदर्श स्थापित कर दिया।

श्रीदशरथजी परम तेजस्वी मनुमहाराजकी भाँति ही प्रजाकी रक्षा करनेवाले थे। वे वेदके ज्ञाता, विशाल सेनाके स्वामी, दूरदर्शी, अत्यन्त प्रतापी, नगर और देशवासियोंके प्रिय, महान् यज्ञ करनेवाले, धर्मप्रेमी, स्वाधीन, महर्षियोंके सदृश सद्‌गुणोंवाले, राजर्षि, त्रैलोक्यप्रसिद्ध पराक्रमी, शत्रुनाशक, उत्तम मित्रोंवाले, जितेन्द्रिय[१], अतिरथी[२], धन-धान्यके संचयमें कुबेर और इन्द्रके समान, सत्यप्रतिज्ञ एवं धर्म, अर्थ तथा कामका शास्त्रानुसार पालन करनेवाले थे।

(वा० रा० १। ६। १ से ५ तक)

इनके मन्त्रिमण्डलमें महामुनि वसिष्ठ, वामदेव, सुयज्ञ, जाबालि, काश्यप, गौतम, मार्कण्डेय, कात्यायन, धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप और धर्मपाल आदि विद्याविनय-सम्पन्न, अनीतिमें लजानेवाले, कार्यकुशल, जितेन्द्रिय, श्रीसम्पन्न, पवित्र-हृदय, शास्त्रज्ञ, शस्त्रज्ञ, प्रतापी, पराक्रमी, राजनीतिविशारद, सावधान, राजाज्ञाका अनुसरण करनेवाले, तेजस्वी, क्षमावान्, कीर्तिमान्, हँसमुख, काम-क्रोध और लोभसे बचे हुए एवं सत्यवादी पुरुषप्रवर विद्यमान थे।

(वा० रा० १। ७)

आदर्श राजा और मन्त्रिमण्डलके प्रभावसे प्रजा सब प्रकारसे धर्मरत, सुखी और सम्पन्न थी। महाराज दशरथकी सहायता देवतालोग भी चाहते थे। महाराज दशरथने अनेक यज्ञ किये थे। अन्तमें पितृ-मातृ-भक्त श्रवणकुमारके वधका प्रायश्चित्त करनेके लिये अश्वमेध तदनन्तर ज्योतिष्टोम, आयुष्टोम, अतिरात्र, अभिजित्, विश्वजित् और आप्तोर्याम आदि यज्ञ किये। इन यज्ञोंमें दशरथने अन्यान्य वस्तुओंके अतिरिक्त दस लाख दुग्धवती गायें, दस करोड़ सोनेकी मुहरें और चालीस करोड़ चाँदीके रुपये दान दिये थे।

इसके बाद पुत्रप्राप्तिके लिये ऋष्यशृंगको ऋत्विज् बनाकर राजाने पुत्रेष्टि-यज्ञ किया, जिसमें समस्त देवतागण अपना-अपना भाग लेनेके लिये स्वयं पधारे थे। देवता और मुनि-ऋषियोंकी प्रार्थनापर भगवान् श्रीविष्णुने दशरथके यहाँ पुत्ररूपसे अवतार लेना स्वीकार किया और यज्ञपुरुषने स्वयं प्रकट होकर पायसान्नसे भरा हुआ सुवर्णपात्र देते हुए दशरथसे कहा कि 'राजन्! यह खीर अत्यन्त श्रेष्ठ, आरोग्यवर्धक और प्रजाकी उत्पत्ति करनेवाली है। इसको अपनी कौसल्या आदि तीनों रानियोंको खिला दो।' राजाने प्रसन्न होकर

१-यद्यपि रामवनवासकी घटनाके कारण कहीं-कहीं दशरथजीको कामुक बतलाया गया है। परन्तु ऐसी बात नहीं थी, वे यदि कामपरायण होकर कैकेयीके वशमें होते तो यज्ञ-पुरुषकी खीरका आधा भाग कौसल्याको और केवल अष्टमांश ही कैकेयीको नहीं देते। यद्यपि उन्होंने बहुविवाह किये थे, जो अवश्य ही आदर्श नहीं है, परन्तु यह उस समयकी एक प्रथा-सी थी। भगवान् श्रीरामने इस प्रथाको तोड़कर आदर्श सुधार किया।

२-जो दस हजार धनुर्धारियोंके साथ अकेला लड़ सकता है, उसे 'महारथी' कहते हैं और जो ऐसे दस हजार महारथियोंके साथ अकेला लोहा लेता है, वह 'अतिरथी' कहलाता है।

मर्यादाके अनुसार कौसल्याको बड़ी समझकर उसे खीरका आधा भाग, मझली सुमित्राको चौथाई भाग और कैकेयीको आठवाँ भाग दिया। सुमित्राजी बड़ी थीं, इससे उनको सम्मानार्थ अधिक देना उचित था, इसीलिये बचा हुआ अष्टमांश राजाने फिर सुमित्राजीको दे दिया, जिससे कौसल्याके श्रीराम, सुमित्राके (दो भागोंसे) लक्ष्मण और शत्रुघ्न एवं कैकेयीके भरत हुए। इस प्रकार भगवान्‌ने चार रूपोंसे अवतार लिया।

राजाको चारों ही पुत्र परमप्रिय थे, परन्तु इन सबमें श्रीरामपर राजाका विशेष प्रेम था। होना ही चाहिये; क्योंकि इन्हींके लिये तो जन्म-धारणकर सहस्रों वर्ष प्रतीक्षा की गयी थी। वे रामका अपनी आँखोंसे क्षणभरके लिये भी ओझल होना नहीं सह सकते थे। जब विश्वामित्रजी यज्ञरक्षार्थ श्रीराम-लक्ष्मणको माँगने आये, उस समय श्रीरामकी उम्र पन्द्रह वर्षसे अधिक थी, परन्तु दशरथने उनको अपने पाससे हटाकर विश्वामित्रके साथ भेजनेमें बड़ी आनाकानी की। आखिर वसिष्ठके बहुत समझानेपर वे तैयार हुए। श्रीरामपर अत्यन्त प्रेम होनेका परिचय तो इसीसे मिलता है कि जबतक श्रीराम सामने रहे, तबतक प्राणोंको रखा और अपने वचन सत्य करनेके लिये, रामके बिछुड़ते ही राम-प्रेमानलमें अपने प्राणोंकी आहुति दे डाली!

श्रीरामके प्रेमके कारण ही दशरथ महाराजने राजा केकयके साथ शर्त हो चुकनेपर भी भरतके बदले श्रीरामको युवराज-पदपर अभिषिक्त करना चाहा था। अवश्य ही ज्येष्ठ पुत्रके अभिषेककी रघुकुलकी कुलपरम्परा एवं भरतके त्याग, आज्ञावाहकता, धर्मपरायणता, शील और रामप्रेम आदि सद्‌गुण भी राजाके इस मनोरथमें कारण और सहायक हुए थे, परन्तु परमात्माने कैकेयीकी मति फेरकर एक ही साथ कई काम करा दिये। जगत्‌में आदर्श मर्यादा स्थापित हो गयी, जिसके लिये श्रीभगवान्‌ने अवतार लिया था। इनमें निम्नलिखित १२ आदर्श मुख्य हैं—

(१) दशरथकी सत्यरक्षा और श्रीरामप्रेम।

(२) श्रीरामके वनगमनद्वारा राक्षस-वधादिरूप लीलाओंद्वारा दुष्ट-दलन।

(३) श्रीभरतका त्याग और आदर्श भ्रातृ-प्रेम।

(४) श्रीलक्ष्मणजीका ब्रह्मचर्य, सेवाभाव, रामपरायणता और त्याग।

(५) श्रीसीताजीका आदर्श पवित्र पातिव्रत-धर्म।

(६) श्रीकौसल्याजीका पुत्रप्रेम, पुत्रवधूप्रेम, पातिव्रत, धर्मप्रेम और राजनीति-कुशलता।

(७) श्रीसुमित्राजीका श्रीरामप्रेम, त्याग और राजनीति-कुशलता।

(८) कैकेयीका बदनाम और तिरस्कृत होकर भी प्रिय 'राम-काज' करना।

(९) श्रीहनुमान्‌जीकी निष्काम-प्रेमाभक्ति।

(१०) श्रीविभीषणजीकी शरणागति और अभय-प्राप्ति।

(११) सुग्रीवके साथ श्रीरामकी आदर्श मित्रता।

(१२) रावणादि अत्याचारियोंका अन्तमें विनाश।

यदि भगवान् श्रीरामको वनवास न होता, तो इन आदर्श मर्यादाओंकी स्थापनाका अवसर ही शायद न आता। ये सभी मर्यादाएँ महान् और अनुकरणीय हैं।

जो कुछ भी हो, महाराज दशरथने तो श्रीरामका वियोग होते ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर प्रेमकी टेक रख ली।

जिअन मरन फलु दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जसु छावा॥
जिअत राम बिधु बदनु निहारा। राम बिरह करि मरनु सँवारा॥

श्रीदशरथजीकी मृत्यु सुधर गयी, रामके विरहमें प्राण देकर उन्होंने आदर्श स्थापित कर दिया। दशरथके समान भाग्यवान् कौन होगा, जिसने श्रीराम-दर्शन-लालसामें अनन्यभावसे रामपरायण हो, रामके लिये, राम-राम पुकारते हुए प्राणोंका त्याग किया!

श्रीरामायणमें लंका-विजयके बाद पुनः दशरथके दर्शन होते हैं। श्रीमहादेवजी भगवान् श्रीरामको विमानपर बैठे हुए दशरथजीके दर्शन कराते हैं। फिर तो दशरथ सामने आकर श्रीरामको गोदमें बैठा लेते हैं और आलिंगन करते हुए उनसे प्रेमालाप करते हैं। यहाँ लक्ष्मणको उपदेश करते हुए महाराज दशरथ स्पष्ट कहते हैं कि 'हे सुमित्रा-सुख-वर्धन लक्ष्मण! श्रीरामकी सेवामें लगे रहना, तेरा इससे बड़ा कल्याण होगा। इन्द्रसहित तीनों लोक, सिद्ध पुरुष और सभी महान् ऋषि-मुनि पुरुषोत्तम श्रीरामका अभिवन्दन कर उनकी पूजा करते हैं। वेदोंमें जिन अव्यक्त अक्षर ब्रह्मको देवताओंका हृदय और गुप्त तत्त्व कहा है ये परम तपस्वी राम वही हैं।'

(वा० रा० ६।११९।२७—३०)

यहाँपर शंका होती है कि जब शुद्ध सच्चिदानन्दघन श्रीराममें मन लगाकर 'राम-राम' कीर्तन करते हुए दशरथने प्राणोंका त्याग किया था, तब फिर उनकी मुक्ति कैसे नहीं हुई? यदि श्रीरामनामके प्रतापसे मुक्ति नहीं होती तो फिर यह कैसे कहा जाता है कि अन्तकालमें श्रीरामनाम लेनेसे समस्त बन्धन कट जाते हैं और नाम लेनेवाला परमात्माको प्राप्त होता है? और यदि राममें मन लगाकर मरनेपर भी मुक्ति नहीं होती तो फिर गीताके उस भगवद्-वचनकी व्यर्थता होती है जिसमें भगवान्ने यह कहा है कि—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(८।५)

'जो पुरुष अन्तकालमें मुझको स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह नि:सन्देह ही मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

इन प्रश्नोंका उत्तर तो गीताके इससे अगले श्लोकमें ही मिल जाता है। जिस प्रकारकी भावना करता हुआ मनुष्य प्राण छोड़ता है, उसी प्रकारकी गतिको प्राप्त होता है। ज्ञानमार्गी साधक अद्वैत अक्षर परब्रह्ममें चित्तकी वृत्तियोंको विलीन कर देह त्याग करता है तो उसकी अवश्य ही 'सायुज्य' मुक्ति होती है; परन्तु ऐसा हुए बिना केवल श्रीरामनामके जपसे 'सायुज्य' मुक्ति नहीं होती। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रीराममें मन लगाकर 'राम-राम' कीर्तन करते हुए प्राण-त्याग करनेवाला मुक्त हो जाता है। सच तो यह है कि बिना मन लगाये भी श्रीरामनामका अन्तकालमें उच्चारण हो जानेसे ही जीव मुक्तिका अधिकारी हो जाता है, इसीसे सन्तोंने अन्तमें श्रीरामनामको दुर्लभ बताया है—

जनम जनम मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥

परन्तु मुक्ति होती वैसी ही है, जैसी वह चाहता है। 'तो क्या मुक्ति भी कई प्रकारकी हैं? यदि कई प्रकारकी मुक्ति हैं तो फिर मुक्तिका महत्त्व ही क्या रह गया?' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'तत्त्वबोधरूप' मुक्ति तो एक ही है, परन्तु केवल तत्त्वबोध होकर 'सायुज्य' मुक्ति भी हो सकती है, जिसमें जीवकी भिन्न सत्ता यथार्थ स्व-स्वरूप परमात्मसत्तामें अभिन्नरूपसे विलीन हो जाती है। और तत्त्वका पूरा बोध होनेके साथ-ही-साथ सगुण, साकार, सौन्दर्य और माधुर्यकी पराकाष्ठा अनूपरूप भगवत्स्वरूपमें परम प्रेम होनेके कारण वह मुक्त पुरुष (सायुज्य मुक्तिरूपी धनका स्वामी होनेपर भी) भगवान्की सामीप्य, सालोक्य, सार्ष्टि और सारूप्य-मुक्तिका रसमय सुख भोगता है। केवल तत्त्व-बोधद्वारा प्राणोंका उत्क्रमण न होकर परमात्मामें मिल जाना, यह अभेद मुक्ति और अभेद ज्ञानपूर्वक साकार ईश्वरके सेवार्थ व्यवहारमें भेद रहना, यह चतुर्विध भेदमुक्ति, ये दोनों वास्तवमें एक ही मुक्तिके दो स्वरूप हैं। परन्तु शुद्ध प्रेमी भक्त इन दोनों प्रकारकी मुक्तियोंसे भी अलग रहकर केवल भगवत्सेवामें लगा रहता है और जैसे भगवान् नित्य, मुक्त, अज, अविनाशी होते हुए भी लीलासे अवतार-शरीर धारण करके विविध कर्म करते हैं, ऐसे ही वह भक्त भी उन्हींका अनुसरण करता हुआ उन्हींकी भाँति भगवान्की पवित्र लीलामें लीलासे ही लगा रहता है। वह मुक्ति नहीं चाहता। अतएव जब उसे भगवदिच्छासे, भगवदर्थ, भगवदाज्ञानुसार निर्लेपभावसे एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना पड़ता है, तब वह भगवत्स्मरण और भगवन्नाम-गुण-कीर्तन करता हुआ ही जाता है। दूसरा काम तो उसको कोई रहता ही नहीं; क्योंकि उसकी स्थिति दृढ़ अनन्य विशुद्ध प्रेमभावसे प्रेममय परमात्मामें ही रहती है। इतना होनेपर भी उपर्युक्त कारणसे ऐसे भक्तकी अभेद मुक्ति नहीं होती। इसीलिये भगवान् शिवजी जगज्जननी उमासे दशरथजीके सम्बन्धमें कहते हैं—

ता तें उमा मोच्छ नहिं पावा। दसरथ भेदभगति मन लावा॥
सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ रामु भगति निज देहीं॥

अतएव यह नहीं समझना चाहिये कि अन्तमें श्रीरामनामका जप-कीर्तन करनेसे और श्रीराममें मन लगानेसे मुक्ति नहीं होती और इसी कारण दशरथजीकी भी मुक्ति नहीं हुई। समझना यह चाहिये कि दशरथजीको उस मुक्तिकी कोई परवा नहीं थी। वे तो रामरसके रसिक थे। इसीलिये उस रसके सामने उन्होंने मोक्षका भी जान-बूझकर ही संन्यास कर दिया। ऐसे मोक्षसंन्यासी प्रेमी भक्तोंकी चरणसेवाके लिये मुक्ति तो पीछे-पीछे घूमा करती है। भगवान्ने तो अपने श्रीमुखसे यहाँतक कह डाला है—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १४—१६)

'जिस मेरे भक्तने अपना आत्मा मुझको अर्पण कर दिया है, वह मुझको छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, चक्रवर्ती राजाका पद, पातालका राज्य, योगकी सिद्धियाँ और मोक्ष भी नहीं चाहता। उद्धवजी! मुझे आत्मस्वरूप शिवजी, संकर्षण, प्रिया लक्ष्मीजी और अपना स्वरूप भी उतने प्रिय नहीं हैं, जितने तुम-जैसे अनन्यभक्त प्रिय हैं। ऐसे निरपेक्ष, मननशील, शान्त, निर्वैर और समदर्शी भक्तोंकी चरण-रजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं उनके पीछे-पीछे सदा फिरता हूँ।' कैसी महिमा है!

यद्यपि भक्त अपने भगवान्‌को पीछे-पीछे फिरानेके लिये मुक्तिका तिरस्कार कर उन्हें नहीं भजते, उनका तो भगवान्‌के प्रति ऐसा अहैतुक प्रेम हो जाता है कि वे भगवान्‌के सिवा दूसरी ओर ताकना ही नहीं जानते। बस, यह अहैतुक प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, यह जानकर वे मुक्तिका निरादर कर भक्ति करते हैं।

अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥

क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं—जिनको देखकर निर्ग्रन्थ आत्माराम मुनियोंको भी उनकी अहैतुकी भक्ति करनी पड़ती है।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

श्रीरामकी पुनः लंका-यात्रा और सेतु-भंग

एक समय भगवान् श्रीरामको राक्षसराज विभीषणका स्मरण हो आया। उन्होंने सोचा कि 'विभीषण धर्मपूर्वक शासन कर रहा है कि नहीं। देवविरोधी व्यवहार ही राजाके विनाशका सूत्र है। मैं विभीषणको लंकाका राज्य दे आया हूँ, अब जाकर उसे सँभालना भी चाहिये। कहीं राज्यमदमें उससे अधर्माचरण तो नहीं हो रहा है। अतएव मैं स्वयं लंका जाकर उसे देखूँगा और हितकर उपदेश दूँगा, जिससे उसका राज्य अनन्तकालतक स्थायी रहेगा।' श्रीराम यों विचार कर ही रहे थे कि भरतजी आ पहुँचे। भरतजीके नम्रतासे पूछनेपर श्रीरामने कहा—'भाई! तुमसे मेरा कुछ भी गोपनीय नहीं है, तुम और यशस्वी लक्ष्मण मेरे प्राण हो। मैंने निश्चय किया है कि मैं लंका जाकर विभीषणसे मिलूँ, उसकी राज्यपद्धति देखूँ और उसे कर्तव्यका उपदेश दूँ।' भरतने कभी लंका नहीं देखी थी, इससे उन्होंने भी साथ चलनेकी इच्छा प्रकट की। श्रीरामने स्वीकार कर लिया और लक्ष्मणको सारा राज्यभार सौंपकर दोनों भाई पुष्पक विमानपर चढ़ लंकाके लिये विदा हुए। पहले भरतके दोनों पुत्रोंकी राजधानीमें जाकर उनसे मिले और उनके कार्यका निरीक्षण किया, तदनन्तर लक्ष्मणके पुत्रोंकी राजधानीमें गये और वहाँ छः दिन ठहरकर सब कुछ देखा-भाला। इसके बाद भरद्वाज और अत्रिके आश्रमोंको गये। फिर आगे चलकर श्रीरामने चलते हुए विमानपरसे वे सब स्थान दिखलाये जहाँ श्रीसीताजीका हरण हुआ था, जटायुकी मृत्यु हुई थी, कबन्धको मारा था और बालिका वध किया था। तत्पश्चात् किष्किन्धापुरीमें जाकर राजा सुग्रीवसे मिले। सुग्रीवने राजघरानेके सब स्त्री-पुरुषों, नगरोंके समस्त नर-नारियोंसमेत श्रीराम और भरतका बड़ा भारी स्वागत किया। फिर सुग्रीवको साथ लेकर विमानपरसे भरतको विभिन्न स्थान दिखलाते और उनकी कथा सुनाते हुए लंकामें जा पहुँचे, विभीषणको दूतोंने यह शुभ समाचार सुनाया। श्रीरामके लंका पधारनेका संवाद सुनकर विभीषणको बड़ी प्रसन्नता हुई। सारा नगर बात-की-बातमें सजाया गया और अपने मन्त्रियोंको साथ लेकर विभीषण अगवानीके लिये चले। सुमेरुस्थित सूर्यकी भाँति विमानस्थ श्रीरामको देखकर साष्टांग प्रणामपूर्वक विभीषणने कहा—'प्रभो! आज मेरा जन्म सफल हो गया, आज मेरे सारे मनोरथ सिद्ध हो गये; क्योंकि आज मैं जगद्वन्द्य अनिन्द्य आप दोनों स्वामियोंके चरण-दर्शन कर रहा हूँ। आज स्वर्गवासी देवगण भी मेरे भाग्यकी श्लाघा कर रहे हैं। मैं आज अपनेको त्रिदशपति इन्द्रकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझ रहा हूँ।' सर्वरत्नसुशोभित उज्ज्वल भवनमें महोत्तम सिंहासनपर श्रीराम विराजे। विभीषण अर्घ्य देकर हाथ जोड़ भरत और सुग्रीवकी स्तुति करने लगे। लंकानिवासी प्रजाकी रामदर्शनार्थ भीड़ लग गयी।

प्रजाने विभीषणको कहलाया—‘प्रभो! हमको उस अनोखी रूप-माधुरीको देखे बहुत दिन हो गये। युद्धके समय हम सब देख भी नहीं पाये थे। आज हम दीनोंपर दयाकर हमारा हित करनेके लिये करुणामय हमारे घर पधारे हैं। अतएव शीघ्र ही हमलोगोंको उनके दर्शन कराइये।’ विभीषणने श्रीरामसे पूछा और दयामयकी आज्ञा पाकर प्रजाके लिये द्वार खोल दिये। लंकाके नर-नारी श्रीराम-भरतकी झाँकी देखकर पवित्र और मुग्ध हो गये। यों तीन दिन बीत गये। चौथे दिन रावणकी माता कैकसीने विभीषणको बुलाकर कहा—‘बेटा! मैं भी श्रीरामके दर्शन करूँगी। उनके दर्शनसे महामुनिगण भी महापुण्यके भागी होते हैं। श्रीराम साक्षात् सनातन विष्णु हैं, वे ही यहाँ चार रूपोंमें अवतीर्ण हैं। सीताजी स्वयं लक्ष्मी हैं। तेरे भाई रावणने यह रहस्य नहीं जाना। तेरे पिताजीने कहा था कि रावणको मारनेके लिये भगवान् विष्णु रघुवंशमें दशरथके यहाँ प्रादुर्भूत होंगे।’ विभीषणने कहा—‘माता! आप नये वस्त्र पहनकर कंचनथालमें चन्दन, मधु, अक्षत, दधि, दूर्वाका अर्घ्य सजाकर भगवान् श्रीरामके दर्शन करें। सरमा (विभीषणपत्नी)-को आगे कर और अन्यान्य देवकन्याओंको साथ लेकर आप श्रीरामके समीप जायँ। मैं पहले ही वहाँ चला जाता हूँ।’

विभीषणने श्रीरामके पास जाकर वहाँसे सब लोगोंको हटा दिया और श्रीरामसे कहा—‘देव! रावणकी, कुम्भकर्णकी और मेरी माता कैकसी आपके चरणकमलोंके दर्शनार्थ आ रही हैं, आप कृपापूर्वक उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ करें।’ श्रीरामने कहा—‘भाई! तुम्हारी माँ तो मेरी ‘माँ’ ही है। मैं ही उनके पास चलता हूँ, तुम जाकर उनसे कह दो।’ इतना कहकर विभु श्रीराम उठकर चले और कैकसीको देखकर मस्तकसे उसे प्रणाम किया तथा बोले—‘आप मेरी धर्ममाता हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ। अनेक पुण्य और महान् तपके प्रभावसे ही मनुष्यको आपके (विभीषण-सदृश भक्तोंकी जननीके) चरण-दर्शनका सौभाग्य मिलता है। आज मुझे आपके दर्शनसे बड़ी प्रसन्नता हुई। जैसे श्रीकौसल्याजी हैं, वैसे ही मेरे लिये आप हैं।’ बदलेमें कैकसीने मातृभावसे आशीर्वाद दिया और भगवान् श्रीरामको विश्वपति जानकर उनकी स्तुति की। इसके बाद ‘सरमा’ ने भगवान्‌की स्तुति की। भरतको सरमाका परिचय जाननेकी इच्छा हुई, उनके संकेतको समझकर ‘इंगितविद्’ श्रीरामने भरतसे कहा—‘ये विभीषणकी साध्वी भार्या हैं, इनका नाम सरमा है। ये महाभागा सीताकी प्रिय सखी हैं और इनकी सखिता बहुत दृढ़ है।’ इसके बाद सरमाको समयोचित उपदेश दिया। फिर विभीषणको विविध उपदेश देकर कहा—‘निष्पाप! देवताओंका प्रिय कार्य करना, उनका अपराध कभी न करना। लंकामें कभी मनुष्य आयें तो उनका कोई राक्षस वध न करने पाये।’ विभीषणने आज्ञानुसार चलना स्वीकार किया।

तदनन्तर वापस लौटनेके लिये सुग्रीव और भरतसहित श्रीराम विमानपर चढ़े। तब विभीषणने कहा—‘प्रभो! यदि लंकाका पुल ज्यों-का-त्यों बना रहेगा तो पृथ्वीके सभी लोग यहाँ आकर हमलोगोंको तंग करेंगे, इसलिये क्या करना चाहिये।’ भगवान्‌ने विभीषणकी बात सुनकर पुलको बीचमेंसे तोड़ डाला और दस योजनके बीचके टुकड़ेके फिर तीन टुकड़े कर दिये। तदनन्तर उस एक-एक टुकड़ेके फिर छोटे-छोटे कई टुकड़े कर डाले, जिससे पुल टूट गया और यों लंकाके साथ भारतका मार्ग पुनः विच्छिन्न हो गया। यह कथा पद्मपुराणसे ली गयी है।

श्रीरामका प्रणत-रक्षा-प्रण

भगवान् श्रीरामकी शरणागतवत्सलता सुप्रसिद्ध है। जब राक्षसराज विभीषण भगवान्‌के शरण जाते हैं और जब सम्मति पूछे जानेपर सेनापति सुग्रीव विभीषणको बाँध रखनेकी राय देते हैं, तब भगवान् श्रीराम, नीतिकी दृष्टिसे सुग्रीवकी सम्मतिका सम्मान करते हुए अपना प्रण सुनाते हैं—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भय हारी॥

इसके बाद विभीषण आदरपूर्वक श्रीरामके सामने लाये जाते हैं और श्रीराम उनकी सच्ची शरणागतिपर मुग्ध हो अब इच्छा न रहनेपर भी उन्हें लंकाधिपति बना देते हैं। केवल मुँहसे ही ‘लंकेश’ नहीं कहते, परन्तु **‘मम दरसन अमोघ जग माहीं’** कहकर अपने हाथसे

उनके राजतिलक भी कर देते हैं। सुग्रीवको यहाँ बड़ा आश्चर्य होता है। वे सेनापतिकी हैसियतसे सोचते हैं कि अभी लंकापर विजय तो मिली ही नहीं, पहले ही विभीषणको 'लंकेश' बनाकर श्रीरामने बड़ी भारी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले ली है। इससे सुग्रीव राजनीति-कुशलतासे बड़े ही विनम्रभावसे श्रीरामसे एकान्तमें पूछते हैं—'नाथ! विभीषणको तो शरणागतिका फल मिल गया, परन्तु हे स्वामी! यदि कल इसी प्रकार रावण शरण आ जाय तो फिर क्या लंकाका राज्य उसे नहीं दिया जायगा? दिया जायगा तो स्वामीके वचन कैसे रहेंगे और यदि नहीं दिया जायगा तो रावणको सन्तोष कैसे होगा?' भगवान् श्रीराम सुग्रीवका आशय समझकर हँसते हुए कहते हैं—'मित्र! रामका व्रत यही है कि वह जो कुछ एक बार कह देता है उसे पलटता नहीं। लंका तो विभीषणकी ही होगी, यदि रावण आयेगा तो उसके लिये अवध तैयार है—

बात कही जो कही सो कही,
जो कही सो कही फिरि फेरि न आनन।
जो दसकंधर आन मिलै,
गढ़ लंक विभीषन, अवध दसानन॥
भरतहिं बंधु समेत कलाप,
करूँ निज बास मैं हौं गिरि कानन।
पै नहिं पावहिं लंक अबास,
कहौ सतिभाव नरेस दसानन॥

रावण शरण नहीं आया, उसने तो श्रीरामके हाथसे मरनेमें ही अपना सौभाग्य समझा और यही उसके लिये उचित था। विभीषणको जो एक बार भगवान्ने अपना लिया तो फिर कभी उनको नहीं भुलाया। आप उनकी सदा सुधि लेते रहे और उन्हें विपत्तियोंसे बचाते रहे।

श्रीराम-रावणका भीषण युद्ध हो रहा है, रावण बहुत क्रुद्ध होकर इतने बाण छोड़ता है कि श्रीरामका रथ एक घड़ीके लिये वैसे ही ढक जाता है जैसे कुहरेसे सूर्य। इसके बाद रावण एक शूल विभीषणपर छोड़ता है, इस शूलके लगते ही विभीषणका मरण निश्चित है; क्योंकि यह अमोघ है। भगवान् श्रीराम इस रहस्यको जानते थे। शक्ति छूटते ही श्रीरामने अपना विरद सँभाला—

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा॥
तुरत बिभीषन पाछें मेला। सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला॥

शरणागतकी आर्तिका नाश करनेवाले श्रीराम शरणागत भक्तका अनिष्ट कैसे देख सकते थे? जो सब ओरसे ममता हटाकर श्रीरामके चरणोंको ही ममताका एकमात्र केन्द्र बना लेता है और अपने-आपको सर्वतोभावेन उनके प्रति अर्पण कर देता है, उसके रक्षणावेक्षणका सारा भार, योग-क्षेमकी सारी जिम्मेवारी भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। इसलिये भगवान् उसी क्षण विभीषणको पीछे ढकेलकर भीषण शूलका प्रहार सहनेके लिये छाती सामने करके स्वयं खड़े हो गये। धन्य नाथ! ऐसे शरणागतवत्सल श्रीरामको भूलकर जो आपात-रमणीय भोगोंमें रमते हैं, उनके समान दयनीय और कौन होगा?

एक घटना और सुनिये। एक समय श्रीरामको मुनियोंके द्वारा यह समाचार मिलता है कि लंकापति विभीषण द्रविड़ देशमें कैद हैं। भगवान् श्रीराम अब नहीं ठहर सके, वे विभीषणका पता लगाने और उन्हें छुड़ानेके लिये निकल पड़े। खोजते-खोजते विप्रघोष नामक गाँवमें पहुँचे, विभीषण वहीं कैद थे। वहाँके लोगोंने श्रीरामको दिखलाया कि विभीषण जमीनके अन्दर एक कोठरीमें जंजीरोंसे बँधे पड़े हैं। श्रीरामके पूछनेपर ब्राह्मणोंने कहा—'राजन्! विभीषणने ब्रह्महत्या की थी, एक अति धार्मिक वृद्ध ब्राह्मण निर्जन उपवनमें तप कर रहा था, विभीषणने वहाँ जाकर उसे पददलित करके मार डाला। ब्राह्मणकी मृत्यु होते ही विभीषणके पैर वहीं रुक गये, वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सका, ब्रह्महत्याके पापसे उसकी चाल बन्द हो गयी। हमलोगोंने इस दुष्ट राक्षसको बहुत मारा-पीटा, परन्तु इस पापीके प्राण किसी प्रकार नहीं निकले। अब हे श्रीराम! आप पधार गये हैं, आप चक्रवर्ती राज-राजेश्वर हैं। इस पापात्माका वध करके धर्मकी रक्षा कीजिये।' यह सुनकर श्रीराम असमंजसमें पड़ गये। एक ओर विभीषणका भारी अपराध है और दूसरी ओर विभीषण श्रीरामका ही एक सेवक है। यहाँपर श्रीरामने ब्राह्मणोंसे जो कुछ कहा वह बहुत ही ध्यान देनेयोग्य है। शरणागत भक्तके लिये भगवान् कहाँतक करनेको तैयार रहते हैं, इस बातका पता भगवान्के शब्दोंसे ही लग जायगा। भगवान् श्रीराम स्वयं अपराधीकी तरह नम्रतासे कहने लगे—

वरं ममैव मरणं मद्भक्तो हन्यते कथम्।
राज्यमायुर्मया दत्तं तथैव स भविष्यति॥
भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्ड इष्यते।

रामवाक्यं द्विजाः श्रुत्वा विस्मयादिदमब्रुवन्॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

'हे द्विजवरो! विभीषणको तो मैं अखण्ड राज्य और आयु दे चुका, वह तो मर नहीं सकता। फिर उसके मरनेकी ही क्या जरूरत है? वह तो मेरा भक्त है, भक्तके लिये मैं स्वयं मर सकता हूँ। सेवकके अपराधकी जिम्मेवारी तो वास्तवमें स्वामीपर ही होती है। नौकरके दोषसे स्वामी ही दण्डका पात्र होता है, अतएव विभीषणके बदले आपलोग मुझे दण्ड दीजिये।' श्रीरामके मुखसे ऐसे वचन सुनकर ब्राह्मणमण्डली आश्चर्यमें डूब गयी। जिसको श्रीरामसे दण्ड दिलवाना चाहते थे, वह तो श्रीरामका सेवक है और सेवकके लिये उसके स्वामी श्रीराम ही दण्ड ग्रहण करना चाहते हैं। अहाहा! स्वामी हो तो ऐसा हो। भ्रान्त मनुष्यो! ऐसे स्वामीको बिसारकर अन्य किस साधनसे सुखी होना चाहते हो?

तुलसी राम सुभाव सील लखि जौ न भगति उर आई।
तो तोहिं जनमि जाइ जननी जड़ तन तरुनता गँवाई॥

ब्राह्मण उसे दण्ड देना भूल गये। श्रीरामके मुखसे ऐसे वचन सुनकर ब्राह्मणोंको यह चिन्ता हो गयी कि विभीषण जल्दी छूट जाय और अपने घर जा सके तो अच्छी बात है। वे विभीषणको छोड़ तो सकते थे परन्तु छोड़नेसे क्या होता, ब्रह्महत्याके पापसे उसकी तो गति रुकी हुई थी। अतएव ब्राह्मणोंने कहा—'राम! इस प्रकार विभीषणको बन्धनमें रखना उचित नहीं है। आप वसिष्ठ-प्रभृति मुनियोंकी रायसे इसे छुड़ानेका प्रयत्न कीजिये।' अनन्तर श्रीरामने प्रधान-प्रधान मुनियोंसे पूछकर विभीषणके लिये तीन सौ साठ गोदानका प्रायश्चित्त बतलाकर उसे छुड़ा लिया। प्रायश्चित्तद्वारा विशुद्ध होकर जब विभीषण भगवान् श्रीरामके सामने आकर सादर प्रणाम करने लगे तब श्रीरामने उन्हें सभामें ले जाकर हँसते हुए यह शिक्षा दी, 'ऐसा कार्य कभी नहीं करना चाहिये। जिसमें अपना हित हो, वही कार्य करना चाहिये। राक्षसराज! तुम मेरे सेवक हो, अतएव तुम्हें साधुशील होना चाहिये, सर्वत्र दयालु रहना चाहिये।' सारांश, ऐसा कोई कार्य भक्तको नहीं करना चाहिये, जिससे उसके स्वामी भगवान्पर लांछन आवे!

श्रीरामका राजधर्मोपदेश

त्यागमूर्ति धर्मात्मा भरतजी चित्रकूटमें श्रीरामजीके चरणोंपर पड़े हैं, आँसुओंसे उनके चरण धो रहे हैं, भरतका वेश तपस्वियोंका-सा है, अत्यन्त शोकके कारण थोड़े ही दिनोंमें उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया है। श्रीरामने प्रेमसे उठाकर भरतको हृदयसे लगा उनका मस्तक सूँघा और गोदमें बैठाकर बड़े प्यारसे उनकी इस दशाका कारण पूछा। पहले तो पिताजीके सम्बन्धमें प्रश्न किये, फिर वे राजधर्मके विषयमें पूछने लगे। श्रीरामजीके प्रश्नोंसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि राजधर्मका क्या स्वरूप है और उस समय राजधर्म कैसा था? श्रीरामजीने भरतको विषादमय देखकर कहा—

हे सौम्य! तुम अभी बालकके समान हो, तुम्हारे हाथसे कहीं राज्य तो नष्ट नहीं हो गया? हे सत्य पराक्रम! तुम पिताजीकी सेवा तो करते हो न? भाई! इक्ष्वाकुकुलके आचार्य, धर्मप्रेमी, विद्वान्, महातेजस्वी महर्षि वसिष्ठजीकी पूजा तो करते हो न? माता कौसल्या, सुपुत्र उत्पन्न करनेवाली सुमित्रा और आर्या देवी कैकेयी तो तुमसे प्रसन्न हैं न? विनयी, सर्वशास्त्रज्ञ, कर्मकाण्ड-निपुण, असूयारहित, कुलगुरु वसिष्ठजीके पुत्र, जो तुम्हारे पुरोहित हैं, उनका भलीभाँति सत्कार करते हो न? बड़े बुद्धिमान्, वेदविधिके ज्ञाता, अत्यन्त विनयी, गुरुपुत्र सुयज्ञ, जिनकी तुमने अग्निकार्यके लिये नियुक्ति की है, हवनके पूर्व और हवनके पश्चात् तुम्हें उसकी सूचना तो देते हैं न? तुम देवता, गुरुजन, पितर, पिताके समान पूज्य बड़े-बूढ़ेलोग, वैद्य, ब्राह्मण और नौकरोंका यथायोग्य सत्कार तो करते हो न? इसी प्रकार शस्त्रास्त्रके प्रयोग जाननेवाले, अर्थशास्त्रके विद्वान्, राजनीतिविशारद, धनुर्वेदके ज्ञाता सुधन्वा पण्डित आदि सत्पुरुष तुम्हारे द्वारा आदर तो पाते हैं न? तुमने अपने समान विश्वासी, शूर, विद्वान्, जितेन्द्रिय, कुलीन और ऊपरकी चेष्टासे ही मनके भावको समझ जानेवाले लोगोंको तो अपना मन्त्री बनाया है न? क्योंकि शास्त्रज्ञ और मन्त्रकी रक्षा कर सकनेवाले मन्त्रियोंके द्वारा सुरक्षित मन्त्र ही राजाओंकी विजयका मूल कारण है।

'तुम जागनेके समय सोते तो नहीं हो? रातके पिछले पहर उठकर अपने कार्योंकी सिद्धिका उपाय तो

सोचते हो न? अकेले ही तो किसी बातका मनमाना निश्चय नहीं कर लेते? अथवा बहुत-से अयोग्य आदमियोंके साथ मिलकर तो निश्चय नहीं करना चाहते? तुम्हारे स्थिर किये हुए विचारका काम पूरा होनेके पहले ही लोगोंको पता तो नहीं लग जाता? थोड़े प्रयत्नसे बड़ा फल उत्पन्न करनेवाला उपाय निश्चय कर लेनेपर फिर उसके अनुसार कार्य करनेमें विलम्ब तो नहीं करते? तुम्हारे सामन्त राजा तुम्हारे किसी विचारको कार्यके सिद्ध होने या सिद्धिके समीप पहुँचनेके पहले ही जान तो नहीं लेते? तुम्हारे निश्चित विषयोंको तुम्हारे द्वारा या मन्त्रियोंद्वारा कहे जानेसे पूर्व ही अनुमान, तर्क, युक्ति आदिके द्वारा कोई जान तो नहीं लेता? परन्तु तुम और तुम्हारे मन्त्रीगण दूसरोंके निश्चय किये हुए विषयोंको अनुमान, युक्ति और तर्कके द्वारा जान तो लेते हो न? हजारों मूर्खोंकी अपेक्षा एक पण्डितको तुम अपने पास रखना अच्छा समझते हो न? क्योंकि संकटके समय पण्डित ही उत्तमोत्तम उपाय सोचकर राजाका महान् कल्याण करता है। राजा चाहे हजारों-लाखों मूर्खोंको अपने पास रखे, उनसे समयपर कोई सहायता नहीं मिलती; पक्षान्तरमें एक ही बुद्धिमान्, शूरवीर, दक्ष, विचक्षण मन्त्री राजा या राजपुत्रको विशाल समृद्धिकी प्राप्ति करवा सकता है। तुम उत्तम सेवकोंको उत्तम कार्यपर, मध्यमको मध्यम कार्यपर और छोटे सेवकोंको छोटे कामपर यानी जिसके योग्य जो काम हो, उसको उसी कामपर नियुक्त करके सबकी ठीक व्यवस्था तो रखते हो न? बड़े-बड़े कामोंपर भलीभाँति परीक्षा किये हुए, बाप-दादोंके समयके मन्त्रियोंके वंशज, निष्पाप, ऊँचे विचारवाले लोगोंको ही नियुक्त करते हो न? तुम किसीको ऐसा उग्र दण्ड तो नहीं देते, जिससे दु:खी होकर प्रजा या मन्त्री तुम्हारा तिरस्कार करते हों? भाई! जैसे कुलीन स्त्री पर-स्त्रीमें आसक्त पुरुषका तिरस्कार करती है, वैसे ही यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण तुमपर कोई अपराध लगाकर तुम्हें यज्ञके योग्य न समझकर तुम्हारा अपमान तो नहीं करते? धनके लोभसे राजाकी बीमारी बढ़ानेवाले वैद्यको राजाके ऐश्वर्यको भ्रष्ट करनेके लिये विश्वासी सेवकोंको फोड़नेवाले सेवकको जो राजा प्राण-दण्ड नहीं देता वह स्वयं ही मारा जाता है। भरत! तुम्हारा सेनापति तुमसे सदा प्रेम करनेवाला, शूरवीर, धीर, बुद्धिमान्, पवित्र, कुलीन और चतुर तो है न? युद्धकलामें निपुण, बलवान्, वीरतामें परीक्षा किये हुए प्रधान योद्धाओंको तुम सदा सम्मान-दानसे प्रसन्न तो रखते हो न? सेनाको अन्न और वेतन प्रतिमास ठीक समयपर मिल जाता है न? इस कार्यमें कुछ भी देर तो नहीं होती? क्योंकि सैनिकोंको अन्न और वेतन समयपर न मिलनेसे वे विद्रोही हो उठते हैं, जिससे बड़ा अनर्थ हो जाता है। तुम्हारे कुलके प्रधान लोग तुमपर प्रेम तो रखते हैं न? वे तुम्हारे हितके लिये समयपर स्वेच्छासे सदा प्राण देनेको तैयार तो रहते हैं न? भाई! अपने ही देशके विद्वान्, चतुर, प्रतिभाशाली, जैसा कहा हो वैसा ही करनेवाले पण्डितोंको ही तुमने दूत बनाया है न?

'भरत! एक-दूसरेको न पहचाननेवाले तीन-तीन गुप्त दूतोंद्वारा तुम अपने राज्यके पन्द्रह और दूसरेके राज्यके अठारह तीर्थोंका पूरा पता तो रखते हो न? १ मन्त्री, २ पुरोहित, ३ युवराज, ४ सेनापति, ५ द्वारपाल, ६ रनिवासका रक्षक, ७ कारागृह-अध्यक्ष (जेल-सुपरिंटेंडेंट), ८ खजांची, ९ राज्यकी आज्ञा सुनानेवाला, १० वकील, ११ न्यायकर्ता (जज), १२ व्यवहार-निर्णायक (पंच या जूरी), १३ सेनाको वेतन चुकानेवाला, १४ कर-संग्रहकर्ता (तहसीलदार), १५ नगराध्यक्ष (म्युनिसिपालिटिका चेयरमैन), १६ राष्ट्रान्त:पाल (सीमारक्षक), १७ दुष्टोंको दण्ड देनेवाला और १८ जल, पर्वत और वनोंके किलोंकी रक्षा करनेवाला—ये अठारह तीर्थ हैं। इनमें मन्त्री, पुरोहित और युवराजको अलग कर देनेपर पन्द्रह बचते हैं। इन सबके कार्योंपर राजाको अवश्य निगरानी रखनी चाहिये। शत्रुदमन! देशका अहित करनेवाले जिन लोगोंको तुमने देशसे निकाल दिया है, वे यदि देशमें फिर आ बसते हैं तो तुम उनको दुर्बल समझकर उनकी उपेक्षा तो नहीं करते? तुम नास्तिक ब्राह्मणोंका संग तो नहीं करते? परलोक-ज्ञानसे शून्य, अनर्थपरायण, पाण्डित्याभिमानी लोगोंसे बहुत बुराई होती है। ऐसे दुर्बुद्धि लोग प्रामाणिक धर्मशास्त्रोंके विद्यमान रहनेपर भी शुष्क तर्क-बुद्धिसे अर्थहीन उपदेश किया करते हैं। भाई! हमलोगोंके वीर पूर्वजोंके द्वारा सेवित यथार्थ अयोध्या (जहाँ युद्धार्थ कोई भी शत्रु नहीं आता) नामवाली और मजबूत दरवाजोंवाली, हाथी, रथ और घोड़ोंसे भरी हुई, अपने-अपने कर्ममें लगे हुए जितेन्द्रिय, उत्साही और उत्तम हजारों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंसे युक्त, अनेक प्रकारके बड़े-बड़े

सुन्दर महलोंवाली, अनेक प्रकारके विद्वान् और धन-ऐश्वर्यसे परिपूर्ण विशाल नगरीकी भलीभाँति रक्षा तो करते हो न? भाई! जिसमें अनेक देव-मन्दिर हैं, अश्वमेधादि यज्ञ करने योग्य अनेक स्थल हैं, जो बुद्धिमान् मनुष्योंसे पूर्ण है, नदी, तालाब आदि जलाशयोंसे युक्त है, जिसमें सभी स्त्री-पुरुष सुप्रसन्न हैं, जहाँ अनेक सभाएँ और उत्सव हुआ करते हैं, अच्छी खेती होती है, पर जो बादलोंपर निर्भर नहीं है, जो गौ आदि पशुओंसे भरा है, जहाँ पशुहिंसा बिलकुल नहीं होती, जहाँ हिंस्र पशु नहीं हैं अर्थात् हिंसक पशुओंने हिंसा छोड़ रखी है, किसीको किसी प्रकारका भय नहीं है, अनेक धातुओंकी खानें हैं, जहाँ पापी मनुष्य नहीं रहते, ऐसा अपने पूर्वजोंद्वारा सुरक्षित समृद्धिशाली देश तुम्हारे शासनमें सुखी तो है न? भाई! अपने देशमें रहनेवाले खेती और गोरक्षापर आजीविका चलानेवाले व्यापारियोंपर तुम प्रेम तो करते हो न? खेती और व्यापारमें लगे हुए वैश्योंकी सारी इच्छाओंको पूर्ण करके तुम उनका भलीभाँति संरक्षण तो करते हो न? देशमें बसनेवाली प्रजाका पालन करना राजाका धर्म है। तुम स्त्रियोंका किसी प्रकार अपमान तो नहीं होने देते हो? स्त्रियोंको भलीभाँति सन्तोष तो कराते हो न? वे तुमसे सुरक्षित तो रहती हैं न? तुम उनके वचनोंपर अति-विश्वास तो नहीं करते? और उन्हींको इष्ट मानकर अपनी गुप्त बात तो नहीं कह देते हो?

'भरत! जहाँ बहुत-से हाथी उत्पन्न होते हैं ऐसा अपना हाथीवान तो सुरक्षित है न? तुम अच्छे हाथी, हथिनी और घोड़ोंके संग्रहमें तृप्त तो नहीं होते? तुम प्रतिदिन प्रातःकाल राजमार्गोंपर जाकर प्रजाको अपने सुसज्जित शरीरसे दर्शन तो देते हो न? तुम्हारे कर्मचारी निःशंक होकर तुम्हारे सामने बेअदबीसे तो नहीं आते? अथवा तुमसे डरकर या तुम्हें अभिमानी समझकर तुम्हारे सामने आनेमें संकोच तो नहीं करते? कर्मचारियोंको न तो बहुत पास रखना चाहिये और न बहुत दूर ही। बीचका मार्ग ही अच्छा है। भाई! तुम्हारे सब किले धन-धान्य, हथियार, जल, अनेक प्रकारके यन्त्र-शिल्पी और धनुर्धारी वीरोंसे तो भरे हैं न? तुम्हारी आमदनी खर्चसे ज्यादा तो है न? तुम्हारा धन नाचने-गाने और खुशामद करनेवाले अपात्रोंमें तो खर्च नहीं होता? राजाको आमदनीसे खर्च कम करना चाहिये और वह भी प्रजाको अन्न, जल, वायु आदि दैवी वस्तुओंसे यथायोग्य सुख पहुँचानेवाले देवों, प्रजाके सुखाकांक्षी पूज्य पितृगणों, विद्यादान देनेवाले ब्राह्मणों, पूज्य अतिथियों, राज्यरक्षक योद्धाओं, सम्बन्धी और प्रिय मित्रोंके पोषण करनेमें और प्रजाके सुखके कार्योंमें करना चाहिये।

'भाई! तुम्हारे राज्यके न्यायाधीश, किसी सदाचारी साधुपर कोई झूठा अपराध लगनेपर धर्मके ज्ञाता पुरुषोंके द्वारा निर्णय कराये बिना ही धनके लोभसे उसे दण्ड तो नहीं दे देते? अथवा घरके मालिक या तुम्हारे सिपाहीद्वारा पकड़े हुए चोरको, उसके चोर सिद्ध हो जानेपर एवं चोरीका माल पकड़ा जानेपर भी लोभसे छोड़ तो नहीं देते? सारांश कि राजाको यह खयाल रखना चाहिये कि जिसमें उसके राज्यमें निरपराधी प्रजा दण्डित न हो और अपराधी छूट न जाय। भाई! तुम्हारे शास्त्रज्ञ मन्त्रीगण धनी और गरीबके मामलोंमें लोभ छोड़कर निष्पक्ष यथार्थ न्याय तो करते हैं न? क्योंकि राजाके अन्यायके कारण बिना अपराध दण्डित हुए मनुष्योंकी आँखोंसे जो आँसू गिरते हैं, वे भोग-विलासके लिये राज्य करनेवाले राजाके पुत्र और पशुधनको नष्ट कर डालते हैं। हे प्रिय! तुम वृद्धों, बालकों और प्रधान वैद्योंका दान, स्नेह और मधुर वचनोंसे सत्कार तो करते हो न? इसी प्रकार देवताओं, गुरुजनों, वृद्धों, तपस्वियों, अतिथियों, देव-मन्दिरों और तपस्या आदि-द्वारा पवित्र हुए ब्राह्मण आदिको प्रणाम तो करते हो न?

'भाई! प्रातःकालका समय धर्मोपार्जनका है, उस समय अर्थोपार्जनके कार्यमें लगकर धर्मका बाध तो नहीं करते? ऐसे ही मध्याह्नकाल राज-काज देखनेका यानी अर्थसंग्रह करनेका है, उस समय धर्मकार्यमें लगकर अर्थका बाध तो नहीं करते? अथवा इन्द्रिय-भोगार्थ, कामके वश हो धर्म, अर्थ दोनोंको बाधित तो नहीं करते हो? समयका उचित विभाग करके ही धर्म, अर्थ और कामका यथायोग्य आचरण करते हो न? भाई! देशके विद्वान् ब्राह्मण और समस्त प्रजाजन तुम्हारा कल्याण तो चाहते हैं न?

'नास्तिकता, असत्य, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानियोंका संग न करना, आलस्य, इन्द्रियोंके वश होना, महत्त्वपूर्ण कार्यका अकेले ही विचार करना, विपरीत दृष्टिवाले अयोग्य पुरुषोंकी सलाह लेना, निश्चित किये हुए कार्यका आरम्भ न करना, गुप्त मन्त्रणाओंका भेद खोल देना, प्रतिदिन प्रातःकाल नित्यकर्म न करना, सब

ओरके शत्रुओंपर एक ही साथ चढ़ाई कर देना और महापुरुषोंको आते देख सिंहासनसे उठकर उन्हें प्रणाम न करना—ये चौदह राजदोष समझे जाते हैं, तुममें इनमेंसे एक भी दोष तो नहीं है न?

'बुद्धिमान् भरत! दशवर्ग[१], पंचवर्ग[२], सप्तवर्ग[३], चतुर्वर्ग[४], अष्टवर्ग[५] और त्रिवर्ग[६] को तो तुम तत्त्वसे जानते हो न? त्रिविध विद्याकी[७] ओर तो तुम्हारा ध्यान है न? बुद्धिसे इन्द्रियोंको जीतनेका उपाय[८], षड्गुण[९], दैवी आपत्ति[१०], मानुषी आपत्ति[११], राज-कर्तव्य[१२], बीसवर्ग[१३], पाँच प्रकृति[१४], राजमण्डल[१५], पंचयात्रा[१६], दण्डविधान एवं सन्धि और विग्रह—ये सब नीतिशास्त्रके तत्त्व हैं। इनमें कुछ ग्रहण करने योग्य, कुछ त्याग करने योग्य और कुछ प्रतीकार करने योग्य हैं। तुम इन सबके भेदोंको समझते हुए यथायोग्य ग्रहण, त्याग और प्रतीकार तो करते हो न?

'हे बुद्धिमान्! तुम शास्त्रानुसार तीन-चार निपुण मन्त्रियोंसे एक साथ या उनके मनकी बात जाननेके लिये अलग-अलग राय लेकर तो सारे कार्य करते हो न? वेदोक्त क्रियाओंको करके तुम वेदको सफल तो करते हो न? तुम्हारे सारे राज्यकार्य सफल तो होते हैं न? उत्तम आचरण करके तुम श्रवण किये शास्त्रोंको तो सफल कर रहे हो न? धर्मपरायणा और सन्तानवती होकर स्त्रियाँ तो सफल हैं न? भाई भरत! मेरे कथनानुसार ही तुमने आयु, यश, धर्म, अर्थ और कामको प्रदान करनेवाली सद्बुद्धिका आश्रय ले रखा है न? तुम अपने पिता-पितामहादिके व्यवहारके अनुकूल ही व्यवहार करते हो न? क्योंकि वही शुभ और सत्पथा वृत्ति है। तुम स्वादिष्ट भोजन अकेले तो नहीं खाते? अधिक प्रेम होनेके कारण भोजन चाहनेवाले मित्रोंको यथेच्छ भोजन तो देते हो न? इस प्रकार धर्मानुसार शासन करनेवाला राजा अपनी प्रजाका पालन करके समस्त पृथ्वीपर अपना आधिपत्य स्थापित करता है और मृत्युके अनन्तर स्वर्ग या परमधामको जाता है।' यह वर्णन वाल्मीकिरामायणके आधारपर लिखा गया है।

१-शिकार, जूआ, दिनमें सोना, व्यर्थ बकवाद, अति स्त्री-संग, मदिरा आदि नशैली चीजोंका सेवन, नाचना, गाना, बाजे बजाना और बेमतलब भटकना—यह कामसे उत्पन्न होनेवाला दशवर्ग है।

२-पाँच प्रकारके किले बनाना—समुद्र, नदी, तालाब आदि जलस्थानमें, पर्वतपर या पर्वतोंके बीचमें, वृक्षोंपर या वृक्षोंसे भरे जंगलमें, ऊसर जमीनमें (रणक्षेत्रमें) और हथियारोंके बीचमें—यह पंचवर्ग है।

३-राजा, मन्त्री, राष्ट्र, किले, खजाना, सेना और सहायक बन्धु—यह सप्तवर्ग है। इनकी परस्पर सहायतासे राज्य सुदृढ़ होता है।

४-साम, दाम, भेद और दण्ड—यह चतुर्वर्ग है।

५-चिढ़ना, दु:साहस, द्रोह, ईर्षा, असूया, अर्थदोष, वचनकी कठोरता और कठोर दण्ड—यह अष्टवर्ग है। यह क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका समूह है।

६-धर्म, अर्थ और काम—यह त्रिवर्ग है। उत्साह, प्रभु और मन्त्रको भी त्रिवर्ग कहते हैं।

७-वैदिक धर्मज्ञान, खेती-व्यापार आदि वृत्तिका ज्ञान और राजनीतिका ज्ञान।

८-यम, नियम, आसन, प्राणायाम और विचार-विवेक आदि योग और ज्ञानके साधन।

९-सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय।

१०-अग्नि, बाढ़, अकाल, भूकम्प, वज्रपात, अनावृष्टि, महामारी आदि।

११-चोर, डाकू, शत्रु, राजद्रोही, अधिकारी, घूसखोर और राज्यलोभी आदि मनुष्योंके द्वारा प्राप्त होनेवाली विपत्तियाँ।

१२-शत्रुपक्षके लोभी, अभिमानी, क्रोधी और डरपोक मनुष्योंको धन-मान देकर, प्रियकार्य कर और भय दिखलाकर वशमें करना।

१३-बालक, वृद्ध, दीर्घकालका रोगी, जातिबहिष्कृत, डरपोक, डरपोक साथियोंवाला, लोभी, लोभी साथियोंवाला, वैरागी, अत्यन्त विषयासक्त, चंचल, देव और ब्राह्मणोंका निन्दक, अभागी, प्रारब्धवादी, अकालपीड़ित, सेनाहीन, अयोग्य स्थानमें निवास करनेवाला, बहुत शत्रुओंवाला, कालपीड़ित और सत्यधर्ममें प्रीति न रखनेवाला—यह बीसवर्ग है। ऐसे शत्रुओंसे सन्धि करनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि इनपर विजय प्राप्त करना सहज है।

१४-मन्त्री, देश, किला, खजाना और दण्ड—यह पाँच प्रकृति है।

१५-विजिगीषु, शत्रु, मित्र, शत्रुका मित्र, मित्रका मित्र, शत्रुके मित्रका मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार, आक्रन्दासार, मध्यस्थ और उदासीन—ये द्वादश राजमण्डल हैं।

१६-विगृह्ययान [बड़ी सेना साथ लेकर जाना], संधाययान [जिस शत्रुपर आक्रमण किया था, उससे सन्धि करनेके बाद दूसरे शत्रुपर हमला करने जाना], संभूययान [शूरवीरोंको साथ लेकर जाना], प्रसंगतोयान [जिसपर हमला करने जा रहे थे उसको छोड़कर बीचमें ही दूसरे शत्रुपर हमला करना] और उपेक्ष्ययान [जिसपर चढ़ाई की थी, उसे बलवान् समझकर उसके मित्रपर चढ़ाई करना।]

भगवान् श्रीरामका श्रीलक्ष्मणको उपदेश

अपने पिता महाराज श्रीदशरथजीकी आज्ञा पाकर मर्यादापुरुषोत्तम परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी, श्रीजानकीजी तथा श्रीलक्ष्मणजीके साथ अयोध्यासे वनवासके लिये निकल पड़े। वे नाना प्रकारके तीर्थों, पर्वतों और ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंको देखते हुए श्रीअगस्त्यजीके आश्रममें पहुँचे और उन्होंने ऋषिवरसे प्रश्न किया कि मुझे ऐसा स्थान बतलाइये जहाँ रहकर मैं अपने जीवनका कार्य सुचारुरूपसे पूरा कर सकूँ। परमज्ञानस्वरूप लीलातनुधारी भगवान्के प्रश्नको सुनकर ऋषिवरको बड़ा संकोच हुआ। भगवान्ने उन्हें जो यह मान दिया, उससे वह प्रेममग्न हो गये। उन्होंने श्रीसीताजी और अनुज लक्ष्मणके साथ अपने हृदयमें निवास करनेकी प्रार्थना करते हुए निवेदन किया कि पंचवटी नामक एक परम पवित्र और रमणीक स्थान है, जहाँपर गोदावरी नदी बहती है, वहींपर दण्डकवनमें आप निवास करें और सब मुनियोंपर दया करें।

दण्डकवन पहले एक प्रसिद्ध तपोवन था। वहाँ अनेक ऋषि-मुनि रहकर तपस्या किया करते थे, परन्तु इधर ऋषिशापसे वह राक्षसोंका निवासस्थान बनकर अत्यन्त भयावह हो रहा था, आनन्दके स्थानमें वहाँ आतंकका राज्य छाया हुआ था। वहाँके लता-वृक्षतक राक्षसोंके कुकृत्य तथा ऋषि, मुनि और ब्राह्मणोंकी दुर्दशा देखकर निरन्तर आँसू बहाया करते थे। ऋषिकी आज्ञा पाकर भगवान् तुरन्त दण्डकवनमें पधारे। उनके पधारते ही मानो वहाँसे भय, शोक, दु:ख एकदम विलीन हो गये और सर्वत्र आनन्दका राज्य छा गया। ऋषि-मुनि निर्भय हो गये; लता, वृक्ष, नदी, ताल आदितक श्रीराम, श्रीसीता और श्रीलक्ष्मणके चरणकमलोंके दर्शन कर अत्यन्त आनन्दित और शोभायमान हो गये। भगवान्ने गोदावरी-तटपर एक पर्णकुटी बनायी और वे उसमें श्रीसीताजी तथा श्रीलक्ष्मणजीके साथ सुखपूर्वक निवास करने लगे।

एक दिन भगवान् सुखपूर्वक आसनपर विराजमान थे; समीप ही श्रीजानकीजी तथा श्रीलक्ष्मणजी भी यथास्थान आसनपर बैठे हुए थे। एक सुन्दर अवसर जानकर श्रीलक्ष्मणजीने निष्कपट अन्त:करणसे दोनों हाथ जोड़कर बड़ी नम्रताके साथ भगवान्से निवेदन किया—

सुन नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं॥
मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया॥
ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥

सारांश यह है कि 'हे सुर, नर, मुनि तथा समस्त जगत्के स्वामी! मैं आपको अपना प्रभु समझकर पूछ रहा हूँ। कृपाकर मुझे समझाकर कहिये कि ज्ञान, वैराग्य और माया किसे कहते हैं? वह कौन-सी भक्ति है, जिससे आप भक्तोंपर दया करते हैं और ईश्वर तथा जीवमें क्या भेद है, जिससे मेरा शोक, मोह, भ्रम इत्यादि दूर हो जाय और मैं सब कुछ छोड़कर आपकी चरण-रजकी सेवामें ही तल्लीन हो जाऊँ।'

भक्तवत्सल भगवान्ने सरलहृदय, परम श्रद्धालु, एकान्त प्रेमीके कल्याणके लिये संक्षेपमें इस प्रकार उत्तर दिया—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥
ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥
माया ईस न आपु कहँ, जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥
धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥
भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥
बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं नि:काम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

सारांश यह कि 'भाई! मैं और मेरा, तू और तेरा ही माया है, जिसने समस्त जीवोंको अपने वशमें कर रखा है। इन्द्रियाँ और उनके विषयोंमें जहाँतक मन जाता है, वहाँतक माया ही जानना चाहिये। इस मायाके दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। इनमें एक अविद्या तो दुष्ट और अत्यन्त दु:खरूप है, जिसके वश होकर जीव भवकूपमें पड़ा हुआ है। दूसरी अर्थात् विद्या, जिसके वशमें समस्त गुण हैं, संसारकी रचना करती है; वह प्रभुकी प्रेरणासे सब कार्य करती है, उसका अपना कोई बल नहीं है।

'तात! जिस मनुष्यमें ज्ञानाभिमान बिलकुल नहीं है, जो सबमें समानरूपसे ब्रह्मको व्याप्त देखता है, जिसने तृणके समान सिद्धियों और तीनों गुणोंको त्याग दिया है, उसीको परम वैराग्यवान् कहना चाहिये।

'जो अपनेको मायाका स्वामी नहीं जानता, वही जीव है और जो बन्धन और मोक्षका दाता है, सबसे श्रेष्ठ है, मायाका प्रेरक है, वही ईश्वर है!

'वेद कहते हैं कि धर्मसे वैराग्य, वैराग्यसे योग, योगसे ज्ञान होता है और ज्ञान ही मोक्षको देनेवाला है; परन्तु मैं जिससे शीघ्र प्रसन्न होता हूँ, वह मेरी भक्ति है और वही भक्तोंको सुख देनेवाली है। वह भक्ति स्वतन्त्र है; वह किसी चीजपर अवलम्बित नहीं है; ज्ञान और विज्ञान सब उसके अधीन हैं। तात! भक्ति अनुपम सुखका मूल है और वह तभी प्राप्त होती है जब सन्तलोग अनुकूल होते हैं।

'अब मैं भक्तिके साधनका वर्णन करता हूँ और वह सुगम मार्ग बतलाता हूँ जिससे प्राणी मुझे सहजमें ही पा सकें। पहले तो ब्राह्मणके चरणोंमें बहुत प्रीति होनी चाहिये और वेदविहित अपने-अपने धर्ममें प्रवृत्ति होनी चाहिये। इसका फल यह होगा कि मन विषयोंसे विरक्त हो जायगा और तब मेरे चरणोंमें अनुराग उत्पन्न हो जायगा। फिर श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन—यह नौ प्रकारकी भक्ति दृढ़ होनी चाहिये और मनमें मेरी लीलाओंके प्रति अत्यन्त प्रेम होना चाहिये। जिसे सन्तोंके चरणकमलोंमें अत्यधिक प्रेम हो, जो मन-वचन-कर्मसे भजन करनेका दृढ़ नियम रखनेवाला हो, जो मुझे ही गुरु, पिता, माता, भाई, पति और देवता सब कुछ जानता हो और मेरी सेवा करनेमें डटा रहता हो, मेरा गुण गाते समय जिसके शरीरमें रोमांच हो आता हो, वाणी गद्गद हो जाती हो और नेत्रोंसे आँसू गिरते हों और जिसके अन्दर काम, मद, दम्भ आदि न हों, मैं सदा उसके वशमें रहता हूँ। मन, वचन और कर्मसे जिनको मेरी ही गति है, जो निष्कामभावसे मेरा भजन करते हैं, मैं सदा उनके हृदय-कमलमें विश्राम करता हूँ।'

दशरथके समयकी अयोध्या

यह महानगरी बारह योजन लम्बी थी। इसमें सुन्दर लम्बी-चौड़ी सड़कें बनी हुई थीं। नगरीकी प्रधान सड़कें तो बहुत ही लम्बी-चौड़ी थीं, जिनपर प्रतिदिन जलका छिड़काव होता था, सुगन्धित फूल बिखेरे जाते थे, दोनों ओर सुन्दर वृक्ष लगे हुए थे। नगरीके अन्दर अनेक बाजार थे, सब प्रकारके यन्त्र, मशीनें और युद्धके सामान तैयार मिलते थे। बड़े-बड़े कारीगर वहाँ रहते थे। अटारियोंपर ध्वजाएँ फहराया करती थीं। नगरकी चारदीवारीपर सैकड़ों शतघ्नी (तोपें) लगी हुई थीं, बड़े मजबूत किवाड़ लगे हुए थे, नगरके चारों ओर गहरी खाई थी। अनेक सामन्त, राजा और शूरवीर वहाँ रहा करते थे। व्यापारी भी अनेक रहते थे। नगरी इन्द्रकी पुरीके समान बड़े सुन्दर ढंगसे बसी हुई थी। उसके आठ कोने थे। वहाँ सब प्रकारके रत्न थे और सात मंजिले बड़े-बड़े मकान थे। राजाके महलोंमें रत्न जड़े हुए थे। बड़ी सघन बस्ती थी। नगरी समतल भूमिपर बसी हुई थी। खूब धान होता था और अनेक प्रकारके पदार्थ होते थे। वेद-वेदांगके ज्ञाता, अग्निहोत्री और गुणी पुरुषोंसे नगरी भरी हुई थी। महर्षियोंके समान अनेक महात्मा भी वहाँ रहते थे।

उस समय उस रम्य नगरी अयोध्यामें निरन्तर आनन्दमें रहनेवाले, अनेक शास्त्रोंको श्रवण करनेवाले धर्मात्मा, सत्यवादी, लोभरहित और अपने ही धनमें सन्तुष्ट रहनेवाले मनुष्य रहते थे। ऐसा एक भी गृहस्थ नहीं था जिसका धन आवश्यकतासे कम हो, जिसके पास इहलोक और परलोकके सुखोंके साधन न हों। सभी गृहस्थोंके घर

गौ, घोड़े और धन-धान्यसे पूर्ण थे। कामी, कृपण, क्रूर, मूर्ख और नास्तिक तो ढूँढ़े भी नहीं मिलते थे। वहाँके सभी स्त्री-पुरुष धर्मात्मा, इन्द्रियनिग्रही, हर्षयुक्त, सुशील और महर्षियोंके समान पवित्र थे। सभी स्नान करते, कुण्डल-मुकुट-माला धारण करते, सुगन्धित वस्तुओंका लेपन करते, उत्तम भोजन करते और दान देते थे। परन्तु वे सभी आत्मवान् थे, सभी अग्निहोत्र और सोमयाग करनेवाले थे। क्षुद्र विचारका, चरित्रहीन, चोर और वर्णसंकर कोई नहीं था। वहाँके जितेन्द्रिय ब्राह्मण निरन्तर अपने नित्यकर्मोंमें लगे रहते थे। दान देते थे, विद्याध्ययन करते थे, परन्तु निषिद्ध दान कोई नहीं लेता था। अयोध्यामें कोई भी नास्तिक, झूठा, ईर्ष्या करनेवाला, अशक्त और मूढ़ नहीं था। सभी बहुश्रुत थे। ऐसा कोई न था जो वेदके छः अंगोंको न जानता हो, व्रत-उपवासादि न करता हो, दीन हो, पागल हो या दुःखी हो। अयोध्यामें सभी स्त्री-पुरुष सुन्दर और धर्मात्मा राजाके भक्त थे। चारों वर्णोंके स्त्री-पुरुष देवता और अतिथिकी पूजा करनेवाले, दुःखियोंको आवश्यकतानुसार देनेवाले, कृतज्ञ और शूरवीर थे। वे धर्म और सत्यका पालन करते थे। दीर्घजीवी थे और स्त्री-पुत्र-पौत्रादिसे युक्त थे। वहाँके क्षत्रिय ब्राह्मणोंके अनुयायी, वैश्य क्षत्रियोंके अनुयायी और शूद्र तीन वर्णोंके सेवारूप सुकर्ममें लगे रहते थे। नगरी राजाके द्वारा पूर्णरूपसे सुरक्षित थी। विद्या-बुद्धि-निपुण, अग्निके समान तेजस्वी और शत्रुके अपमानको न सहनेवाले योद्धाओंसे अयोध्या उसी प्रकार भरी हुई थी जैसे गुफाएँ सिंहोंसे भरी रहती हैं। अनेक प्रकारके घोड़े और बड़े-बड़े मतवाले हाथियोंसे नगरी पूर्ण थी। उसका अयोध्या नाम इसीलिये पड़ गया था कि वहाँ कोई भी शत्रु युद्धके लिये नहीं आ सकता था।

अब आजके भारतसे इसका मिलान कीजिये!

रामायणकी प्राचीनता

आजकल कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि रामायणकी रचना महाभारतके बादकी है। यद्यपि निरपेक्षतापूर्वक ग्रन्थोंका अध्ययन करनेपर इस मान्यतामें हठके अतिरिक्त अन्य कोई भी आधार नहीं ठहरता। जिस प्रकार भगवान् रामका काल कौरव-कालसे लाखों वर्ष पहलेका है, उसी प्रकार रामायणकी रचना भी है। रामायणमें जिस मर्यादापूर्ण सत्त्वमयी सभ्यताका वर्णन है, महाभारतमें वैसा नहीं है, इसीसे पता लगता है कि रामायण-कालसे महाभारत-कालकी सभ्यताका आदर्श बहुत नीचा था। गुरुकुल-काँगड़ीके प्रसिद्ध अध्ययनशील श्रीयुत रामदेवजीने लिखा है—'धर्ममय एवं आत्मिक तथा प्राकृतिक सब प्रकारकी उन्नतियोंसे परिपूर्ण रामायणके संक्षिप्त इतिहासको छोड़कर शोकमय हृदयके साथ महाभारतके समयका यत्किंचित् इतिहास लिखना पड़ता है। श्रीरामचन्द्रके पवित्र आचरणके प्रतिकूल युधिष्ठिरके जूआ खेलने आदि कर्मोंका, लक्ष्मण-भरतादिके भ्रातृ-स्नेहके प्रतिकूल युधिष्ठिरके प्रति भीमसेनके अपमानसूचक शब्दोंका, महाराज दशरथकी प्रजाके सम्मुख सीताको कैकेयीद्वारा तपस्विनीके वस्त्र देनेपर प्रजाका एक साथ चिल्ला उठना '**धिक् त्वां दशरथम्**' तथा धृतराष्ट्रकी राजसभामें द्रौपदीकी दुर्दशा होनेपर भी भीष्म, द्रोणादि वीरोंका कुछ भी न कर सकना, कुटिला दासी मन्थराका भी अपमान भरतके लिये असह्य और महारानी द्रौपदीकी दुर्दशामें दुर्योधन-कर्णादिकी प्रसन्नता, सती-साध्वी सीताका पातिव्रत और श्रीरामचन्द्रजीका पत्नीव्रत, उसके प्रतिकूल सत्यवतीके और कुन्तीके कानीन पुत्रोंकी उत्पत्ति और पाण्डवादिके बहुविवाह, श्रीरामचन्द्रजीके वनकी ओर चलनेपर अयोध्यावासियोंका उनके साथ वनगमनके लिये प्रयत्न और युधिष्ठिरके दो बार हस्तिनापुरसे निकाले जानेपर सिवा थोड़े-से नगर-निवासियोंके पाण्डवोंके दुःखके साथ खुल्लमखुल्ला दुःख प्रकट करनेमें अन्योंका कौरवोंके भयसे मौनावलम्बन, श्रीराम और भरतका महान् राज्य जैसे पदार्थको धर्मपालनके सम्मुख तुच्छ समझना और उसे एकका दूसरेके हाथमें फेंकना और दुर्योधनका यह कहना कि '**सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव**', युद्धक्षेत्रमें रावणके घायल हो जानेपर श्रीरामचन्द्रजीका यह कहना कि घायलका वध करना धर्मविरुद्ध है और शस्त्र छोड़े हुए भीष्म और द्रोणका वध, रथसे उतरे हुए कर्णका वध, सोते हुए धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंका ब्राह्मण-कुलोत्पन्न वीरताभिमानी अश्वत्थामाद्वारा वध, कहाँतक गिनायें। ये सब घटनाएँ

हैं—जो स्पष्टरूपसे रामायण और महाभारतके समयकी अवस्थाओंको प्रकट करती हैं। यद्यपि महाभारतके समय रामायणके समयकी भाँति ही अथवा उससे भी अधिक आर्यावर्तमें सम्पत्ति भरी हुई थी और रामायणके समयके वीरोंकी भाँति भीष्म, द्रोण, अर्जुन आदि कतिपय योद्धा वायव्यास्त्र, पाशुपतास्त्र, वारुणास्त्र, अन्तर्धानास्त्र, ब्रह्मास्त्रादि आग्नेयास्त्रोंकी विद्या भी जानते थे। अश्वतरी नाम अग्नियान जलपर चलता था, आर्यावर्तका दबदबा सारी पृथ्वीपर जमा हुआ था; परन्तु रामायणके रामकी अपेक्षा इस समय धर्मका बहुत ह्रास था·······।'

इस अवतरणसे यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीरामका और रामायणका काल बहुत ही प्राचीन, शिक्षाप्रद तथा गौरवमय है।

श्रीरामायण-माहात्म्य

सनत्कुमारके प्रति देवर्षि नारदके वचन—

रामायणमहाकाव्यं सर्ववेदार्थसम्मतम्।
रामचन्द्रगुणोपेतं सर्वकल्याणसिद्धिदम्॥

आदिकविकृत रामायण महाकाव्य सर्ववेदार्थसम्मत और सब पापोंका नाश करनेवाला तथा दुष्ट ग्रहोंका निवारण करनेवाला है। यह दु:स्वप्नोंका नाश करनेवाला, मुक्ति-भुक्ति प्रदान करनेवाला रामायण धन्य है।

आदिकाव्य रामायण स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करनेवाला है।

जिसके पूर्वजन्मके पाप निश्चयपूर्वक नष्ट हो जाते हैं, उस मनुष्यके अवश्य ही रामायणमें अटल महाप्रीति उत्पन्न होती है।

मानव-शरीरमें पाप तभीतक रह सकते हैं, जबतक मनुष्य श्रीमद्रामायणकी कथा सम्यक् प्रकारसे नहीं सुनता।

रामायण सब दु:खोंका नाश करनेवाला, सब पुण्योंका फल प्रदान करनेवाला और सब यज्ञोंका फल देनेवाला है।

जो द्विज रामनाम-रत होकर रामायणमें लवलीन रहते हैं, इस घोर कलियुगमें वे ही कृतकृत्य हैं।

जो मनुष्य नित्य रामायणमें लवलीन रहते हैं, गंगा-स्नान करते हैं और धर्म-मार्गका उपदेश करते हैं, वे मुक्त ही हैं, इसमें कुछ भी संशय नहीं।

जो जितेन्द्रिय और शान्तचित्त हो रामायणका नित्य पाठ करता है, वह उस परम आनन्दधामको प्राप्त होता है जहाँ जानेपर उसे कभी शोक नहीं सताता।

क्षमाके समान कोई सार पदार्थ नहीं, कीर्तिके समान कोई धन नहीं, ज्ञानके समान कोई लाभ नहीं और श्रीरामायणसे बढ़कर कुछ भी नहीं है।

जगत्का हित करनेवाले जो सज्जन रामायणमें लगे रहते हैं, वे ही सर्वशास्त्रार्थमें पण्डित हैं और धन्य हैं।

जिस घरमें नित्य रामायणकी कथा होती है, वह घर तीर्थरूप है और दुष्टोंके पापका नाश करनेवाला है।

रामनामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
संसारविषयान्धानां नराणां पापकर्मणाम्॥
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

रामनाम ही मेरा जीवन है, नाम ही मेरा जीवन है। इस कलियुगमें संसारके विषयोंमें अन्धे हुए पापकर्मी मनुष्योंके लिये दूसरी गति नहीं है, नहीं है (स्कन्दपुराण)।

भगवान् शिवजी कहते हैं—

मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास॥
राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्बान।
भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान॥

श्रीरामचरितमानस सच्चा इतिहास है

कहा तो जाता है कि वर्तमान युग बुद्धिप्रधान और उन्नति-सम्पन्न है, परन्तु गम्भीरताके साथ विचार करनेपर पता लगता है कि बुद्धिकी जगह अश्रद्धा और अविश्वासने ले ली है और उन्नतिका स्थान कलह और द्वेषने! जहाँ अश्रद्धा और अविश्वासका विस्तार है, वहाँ हम यह कहते हैं कि यहाँ बुद्धिसे काम लिया जाता है, अविवेक या अन्ध-परम्परासे नहीं और जहाँ द्वेष और कलह है, वहाँ हम समाजमें जागृति और उन्नतिका

आरोप करते हैं। इसी कारण आज हमारी वास्तविकता नष्ट हो रही है और क्रमशः हमारा जीवन कृत्रिम होता चला जा रहा है। श्रद्धा-विश्वासका तिरस्कार करके हम अपने घरमें रखे हुए पारससे लाभ नहीं उठा रहे हैं, यही विधिकी विडम्बना है। इसी कारण आज अपनी सनातन सभ्यता और इतिहासपरसे हमारी आस्था उठती चली जा रही है। अच्छे-अच्छे विद्वान् और समझदार पुरुष भी आज प्रत्येक सत्यको—यहाँतक कि ईश्वरतकको कवि-कल्पनाका स्वरूप देनेमें ही अपनी शान समझने लगे हैं। यह मानव-जातिका दुर्भाग्य है!

रामायण और महाभारतको सनातनसे हिन्दूजाति अपना गौरवपूर्ण इतिहास मानती चली आ रही है, परन्तु आधुनिक विद्वान् उन्हें इतिहास स्वीकार करनेमें हिचकते हैं। अवश्य ही इसमें उनकी नीयत बुरी नहीं है, परन्तु कालप्रभाव और अविश्वासपूर्ण वायुमण्डलका उनकी बुद्धिपर इतना गहरा असर हुआ है कि उनका लक्ष्य और उनकी विचारधाराकी गति ही पलट गयी है। इसीसे प्रत्येक बातको वे अपनी काल्पनिक कसौटीपर कसकर क्षणोंमें ही काल्पनिक करार दे डालते हैं। रामायणके सम्बन्धमें कुछ विद्वान् स्पष्टरूपसे ऐसा कहते हैं कि 'यह इतिहास नहीं है, काव्यमात्र है। इसमें जिन पात्रोंका वर्णन है वे या तो हुए ही नहीं, यदि हुए हैं तो इस काव्यमें उनका सर्वथा अतिरंजित रूप है। उनको केवल आधार बनाकर काव्य लिखा गया है, इतिहासके रूपमें उनके जीवनकी सत्य घटनाओंका संकलन इसमें नहीं है।' इस प्रकारके विचार रखनेवाले सज्जनोंसे यही प्रार्थना है कि वे इस विषयपर पुनः विचार करें। यदि गम्भीरताके साथ विचार करेंगे और भ्रान्त विचारधाराको शुद्ध कर सकेंगे तो उन्हें अवश्य ही अपनी भूल प्रतीत होगी।

दूसरी श्रेणीमें कुछ सज्जन ऐसे हैं, जो वाल्मीकीय रामायणको तो इतिहास स्वीकार करते हैं, परन्तु गोसाईं तुलसीदासजी महाराजके रामचरितमानसको इतिहास नहीं मानते। वे उसे केवल भक्तिपूर्ण सुन्दर काव्य ही मानते हैं, परन्तु यथार्थमें ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकार वाल्मीकीय रामायण सच्चा इतिहास है, उसी प्रकार तुलसीकृत रामचरितमानस भी है। इसपर कहा जा सकता है कि यदि ऐसी ही बात है तो जगह-जगह दोनोंके वर्णनोंमें इतना भेद क्यों है। इसका उत्तर गोस्वामी तुलसीदासजीने स्वयं ही दे दिया है—

जेहिं यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरजु करै सुनि सोई॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी। नहिं आचरजु करहिं अस जानी॥
रामकथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मन माहीं॥
नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा॥
कलपभेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥
करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी॥
राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्ह के बिमल बिचार॥

'मैं जो यह नयी कथा कहता हूँ, इसको पहले (किसी भी रामायणमें) न सुना हो तो इसे सुनकर आश्चर्य न करें। जो ज्ञानी पुरुष इस विचित्र (पहले कहीं न सुनी हुई) कथाको सुनते हैं, वे यह जानकर आश्चर्य नहीं करते कि संसारमें रामकथाकी कोई सीमा नहीं है। उनके मनमें ऐसा विश्वास रहता है। नाना प्रकारसे श्रीरामचन्द्रजीके अवतार हुए और करोड़ों अपार रामायण हैं। कल्पभेदके अनुसार श्रीहरिके सुन्दर चरित्रोंको मुनीश्वरोंने अनेक प्रकारसे गाया है। हृदयमें ऐसा विचारकर सन्देह न कीजिये और आदरसहित प्रेमसे इस कथाको सुनिये। श्रीरामचन्द्रजी अनन्त हैं, उनके गुण भी अनन्त हैं और उनकी कथाओंका विस्तार भी असीम है। अतएव जिनके निर्मल विचार हैं, वे इस कथाको सुनकर आश्चर्य नहीं मानेंगे।'

यह जान रखना चाहिये कि महामुनि वाल्मीकिने जिन रामकी कथाका वर्णन किया है, वे भगवान् विष्णुके अवतार हैं और गोसाईंजीके राम समग्र ब्रह्मरूप परात्पर भगवान् हैं। उन दोनों अवतारोंकी लीलाओंमें अन्तर है और उसीके अनुसार दोनों सत्यवादी महर्षि कवियोंने उनका यथार्थ वर्णन किया है। वाल्मीकि और तुलसीदासजी कवि पीछे हैं, भगवद्भक्त महर्षि पहले। इसलिये वे मिथ्या कल्पनाको इतिहासका स्वरूप दें, ऐसा मानना भूल है। तुलसीदासजीने स्वयं अपने रामचरितमानसको 'इतिहास' कहा है—

कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भव पासा॥
प्रनत कल्पतरु करुना पुंजा। उपजइ प्रीति राम पद कंजा॥

शिवजी कहते हैं—मैंने यह परम पुनीत इतिहास कहा है, इसके सुननेसे भवबन्धन छूट जाता है और प्रणतकल्पतरु करुणामय श्रीरामजीके चरणकमलोंमें प्रेम उत्पन्न होता है।

आधुनिक इतिहासोंसे हमारे इन इतिहासोंकी यही विशेषता है। आधुनिक इतिहासोंके पढ़नेसे केवल घटनाओंका और तारीख-सनोंका ही पता लगता है और प्राय: वे इतिहास किसी-न-किसी सम्पर्कयुक्त व्यक्तिके लिखे होनेसे सर्वथा सत्य भी नहीं होते, परन्तु हमारे रामायण-महाभारतादि इतिहास ब्रह्मज्ञानी, भगवद्भक्त, स्वाभाविक ही सदाचार-परायण, सत्यवादी ऋषियोंके लिखे होनेके साथ ही वे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंके उपदेशोंसे समन्वित होनेके कारण पढ़नेवालोंको भवपाशसे मुक्तकर उन्हें भगवान्‌का परम प्रेम प्रदान करनेमें समर्थ होते हैं। काव्यकलाका विशेष आनन्द तो घलुएमें मिल जाता है। इसीसे हमारे इतिहासका लक्षण है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥

'जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके उपदेशोंसे समन्वित और प्राचीन (सत्य) घटनाओंसे युक्त हो उसे इतिहास कहते हैं।'

श्रीरामचरितमानस भी ऐसा सत्य घटनाओंसे पूर्ण इतिहास है। इसमें महाकाव्यका रस भरा है, यह इसकी विशेषता है और तमाम दु:खोंका नाश करके परमानन्द और परम शान्तिकी प्राप्तिके साथ ही परात्पर श्रीभगवान्‌के ज्ञान, दर्शन और प्रेमको अनायास ही प्राप्त करा देना इसका सुन्दर फल है।

साधन-भक्तिके चौंसठ अंग

१—श्रीगुरु-चरण-कमलोंका आश्रय-ग्रहण।

२—श्रीगुरुदेवसे श्रीकृष्णमन्त्रकी दीक्षा लेकर भगवद्‌विषयमें शिक्षा प्राप्त करना।

३—विश्वासके साथ गुरुकी सेवा करना।

४—साधु-महात्माओंके आचरणका अनुसरण करना।

५—भागवतधर्मके सम्बन्धमें विनयपूर्वक प्रश्न करना।

६—श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये भोगादिका त्याग करना।

७—द्वारका, अयोध्या आदि भगवान्‌के लीलाधामोंमें और गंगादि तीर्थोंमें रहना।

८—जितने व्यवहारके बिना काम न चले, नियमपूर्वक उतने ही व्यवहार करना।

९—एकादशी, जन्माष्टमी, रामनवमी आदिका उपवास करना।

१०—आँवला, पीपल, तुलसी आदि पवित्र वृक्ष और गौ-ब्राह्मण तथा भक्तोंका सम्मान करना।

ये दस अंग साधन-भक्तिके सहायक हैं और ग्रहण करने योग्य हैं।

११—भगवद्‌विमुख असाधु पुरुषका संग बिलकुल त्याग देना।

१२—अनधिकारीको, प्रलोभन देकर या बलपूर्वक किसीको शिष्य न बनाना, अधिक शिष्य न बनाना।

१३—भगवान्‌के सम्बन्धसे रहित आडम्बरपूर्ण कार्योंका आरम्भ न करना।

१४—बहुत-से ग्रन्थोंका अभ्यास न करना। व्याख्या या तर्क-वितर्क न करना। भगवत्सम्बन्धरहित कलाओंको न सीखना।

१५—व्यवहारमें अनुकूलता न होनेपर दीनता न लाना।

१६—शोक, मोह, क्रोधादिके वश न होना।

१७—किसी भी दूसरे देवता या दूसरे शास्त्रका अपमान न करना।

१८—किसी भी प्राणीको उद्वेग न पहुँचाना।

१९—सेवापराध और नामापराधसे सर्वथा बचे रहना।

२०—श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णके भक्तोंके द्वेष और निन्दा आदिको न सह सकना।

इन दस अंगोंके पालन किये बिना साधन-भक्तिका यथार्थ उदय नहीं होता।

२१—वैष्णव-चिह्न धारण करना।

२२—हरिनामाक्षर धारण करना।

२३—निर्माल्य धारण करना।

२४—श्रीभगवान्‌के सामने नृत्य करना।

२५—श्रीभगवान्‌को दण्डवत् प्रणाम करना।

२६—श्रीभगवान्‌की मूर्तिको देखते ही खड़े हो जाना।

२७—श्रीभगवान्‌की मूर्तिके आगे-आगे या पीछे-पीछे चलना।

२८—श्रीभगवान्‌के स्थानों अर्थात् उनके धाम और मन्दिरोंमें जाना।

२९—परिक्रमा करना।

३०—श्रीभगवान्‌की पूजा करना।

३१—श्रीभगवान्‌की परिचर्या या सेवा करना।

३२—श्रीभगवान्‌का लीला-सम्बन्धी गान करना।

३३—श्रीभगवान्‌के नाम, गुण, लीला आदिका उच्चस्वरसे कीर्तन करना।

३४—श्रीभगवान्‌के नाम और मन्त्रादिका जप करना।

३५—श्रीभगवान्‌के समीप अपनी दीनता दिखलाकर उनके प्रेमके लिये, सेवा प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना करना।

३६—श्रीभगवान्‌की स्तुतियोंका पाठ करना।

३७—महाप्रसादका सेवन करना।

३८—चरणामृत पान करना।

३९—धूप और माला आदिका सुगन्ध ग्रहण करना।

४०—श्रीमूर्तिका दर्शन करना।

४१—श्रीमूर्तिका स्पर्श करना।

४२—आरति और उत्सवादिका दर्शन करना।

४३—श्रीभगवान्‌के नाम-गुण-लीलादिका श्रवण करना।

४४—श्रीभगवान्‌की कृपाकी ओर निरन्तर देखते रहना।

४५—श्रीभगवान्‌का स्मरण करना।

४६—श्रीभगवान्‌के रूप, गुण, लीला, सेवा आदिका ध्यान करना।

४७—सारे कर्म श्रीभगवान्‌को अर्पण करके अथवा उन्हींके लिये सब कर्म करते हुए भगवान्‌का अनन्यदास बन जाना।

४८—दृढ़ विश्वास और प्रीतिके साथ अपनेको श्रीभगवान्‌का सखा मानना।

४९—श्रीभगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर देना।

५०—अपनी उत्तम-से-उत्तम और प्यारी-से-प्यारी सब वस्तुएँ भगवान्‌के प्रति निवेदन कर देना।

५१—भगवान्‌के लिये ही सब चेष्टा करना।

५२—सब प्रकारसे सर्वथा श्रीभगवान्‌के शरण हो जाना।

५३—उनकी तुलसीजीका सेवन करना।

५४—उनके शास्त्रोंका सेवन करना।

५५—उनके पुरियोंका सेवन करना।

५६—उनके भक्तोंका सेवन करना।

५७—अपने वैभवके अनुसार सज्जनोंके साथ मिलकर भगवान्‌का महोत्सव करना।

५८—कार्तिकके व्रत करना।

५९—जन्म और यात्रा-महोत्सव मनाना।

६०—श्रद्धा और विशेष प्रेमके साथ भगवान्‌के चरण-कमलोंकी सेवा करना।

६१—रसिक भक्तोंके साथ मिलकर श्रीमद्भागवतके अर्थ और रसका आस्वादन करना।

६२—सजातीय और समान आशयवाले, भगवान्‌के रसिक महापुरुषोंका संग करना।

६३—नाम-संकीर्तन करना।

और

६४—व्रज-मण्डलादि मधुर लीलाधामोंमें वास करना।

सेवापराध और नामापराध

सेवापराध

१—सवारीपर चढ़कर अथवा पैरोंमें खड़ाऊँ पहनकर श्रीभगवान्‌के मन्दिरमें जाना।

२—रथ-यात्रा, जन्माष्टमी आदि उत्सवोंका न करना या उनके दर्शन न करना।

३—श्रीमूर्तिके दर्शन करके प्रणाम न करना।

४—अशौच-अवस्थामें दर्शन करना।

५—एक हाथसे प्रणाम करना।

६—परिक्रमा करते समय भगवान्‌के सामने आकर कुछ न घूमकर फिर परिक्रमा करना अथवा केवल सामने ही परिक्रमा करते रहना।

७—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने पैर पसारकर बैठना।

८—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दोनों घुटनोंको ऊँचा करके उनको हाथोंसे लपेटकर बैठ जाना।

९—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने सोना।

१०—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने भोजन करना।

११—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने झूठ बोलना।

१२—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने जोरसे बोलना।

१३—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने आपसमें बातचीत करना।

१४—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने चिल्लाना।

१५—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने कलह करना।

१६—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीको पीड़ा देना।

१७—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीपर अनुग्रह करना।

१८—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीको निष्ठुर वचन बोलना।

१९—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने कम्बलसे सारा शरीर ढक लेना।

२०—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी निन्दा करना।

२१—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी स्तुति करना।

२२—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने अश्लील शब्द बोलना।

२३—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने अधोवायुका त्याग करना।

२४—शक्ति रहते हुए भी गौण अर्थात् सामान्य उपचारोंसे भगवान्‌की सेवा-पूजा करना।

२५—श्रीभगवान्‌को निवेदन किये बिना किसी भी वस्तुका खाना-पीना।

२६—जिस ऋतुमें जो फल हो, उसे सबसे पहले श्रीभगवान्‌को न चढ़ाना।

२७—किसी शाक या फलादिके अगले भागको तोड़कर भगवान्‌के व्यंजनादिके लिये देना।

२८—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहको पीठ देकर बैठना।

२९—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरे किसीको भी प्रणाम करना।

३०—गुरुदेवकी अभ्यर्थना, कुशल-प्रश्न और उनका स्तवन न करना।

३१—अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना।

३२—किसी भी देवताकी निन्दा करना।

श्रीवाराह-पुराणमें ३२ सेवापराधोंका वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया गया है—

१—राजाके अन्नका भक्षण करना।

२—अँधेरेमें श्रीविग्रहका स्पर्श करना।

३—नियमोंको न मानकर श्रीविग्रहका स्पर्श करना।

४—बाजा या ताली बजाये बिना ही श्रीमन्दिरके द्वारको खोलना।

५—अभक्ष्य वस्तुएँ निवेदन करना।

६—पादुकासहित भगवान्‌के मन्दिरमें जाना।

७—कुत्तेकी जूँठन स्पर्श करना।

८—पूजा करते समय बोलना।

९—पूजा करते समय मलत्यागके लिये जाना।

१०—श्राद्धादि किये बिना नया अन्न खाना।

११—गन्ध और पुष्प चढ़ानेके पहले धूप देना।

१२—निषिद्ध पुष्पोंसे भगवान्‌की पूजा करना।

१३—दँतवन किये बिना भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना।

१४—स्त्री-सम्भोग करके ,, ,,

१५—रजस्वला स्त्रीका स्पर्श करके ,, ,,

१६—दीपका स्पर्श करके ,, ,,

१७—मुर्देका स्पर्श करके ,, ,,

१८—लाल वस्त्र पहनकर ,, ,,

१९—नीला वस्त्र पहनकर ,, ,,

२०—बिना धोया हुआ वस्त्र पहनकर ,, ,,

२१—दूसरेका वस्त्र पहनकर ,, ,,

२२—मैला वस्त्र पहनकर भगवान्‌के श्रीविग्रहका पूजा या उनका स्पर्श करना।

२३—शवको देखकर ,, ,,

२४—अधोवायुका त्याग करके भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना।

२५—क्रोध करके ,, ,,

२६—श्मशानमें जाकर ,, ,,

२७—खाया हुआ अन्न पचनेसे पहले खाकर ,, ,,

२८—पशुओंका मांस खाकर ,, ,,

२९—पक्षियोंका मांस खाकर ,, ,,

३०—गाँजा आदि मादक द्रव्योंका सेवन करके ,, ,,

३१—कुसुम्ब साग खाकर ,, ,,

और

३२—शरीरमें तैल मलकर ,, ,,

गंगास्नान करनेसे, यमुनास्नान करनेसे, भगवान्‌की सेवा करनेसे, प्रतिदिन गीताका पाठ करनेसे, तुलसीके द्वारा श्रीशालग्रामजीकी पूजा करनेसे, द्वादशीके दिन जागरण करके तुलसीका स्तवन करनेसे, भगवान्‌की पूजा करनेसे और भगवान्‌के नामका आश्रय लेकर नाम-कीर्तन करनेसे सेवापराध छूट जाता है। भगवान्‌के नामसे सारे अपराधोंकी क्षमा हो जाती है। श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

मम नामानि लोकेऽस्मिञ्छ्रद्धया यस्तु कीर्तयेत्।
तस्यापराधकोटीस्तु क्षमाम्येव न संशयः॥

'इस संसारमें जो पुरुष श्रद्धापूर्वक मेरे नामोंका

कीर्तन करता है, मैं उसके करोड़ों अपराधोंको क्षमा कर देता हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

नामापराध

१—सत्पुरुषोंकी निन्दा करना।

२—शिव और विष्णुके नामोंमें ऊँच-नीचकी कल्पना करना।

३—गुरुका अपमान करना।

४—वेदादि शास्त्रोंकी निन्दा करना।

५—'भगवान्‌के नामकी जो इतनी महिमा कही गयी है, यह केवल स्तुतिमात्र है, असलमें इतनी महिमा नहीं है।' इस प्रकार भगवान्‌के नाममें अर्थवादकी कल्पना करना।

६—'भगवान्‌के नामसे पापोंका नाश होता ही है, पाप करके नाम लेनेसे पाप नष्ट हो ही जायँगे, पाप हमारा क्या कर सकते हैं?' इस प्रकार भगवान्‌के नामका आश्रय लेकर नामके बलपर पाप करना।

७—यज्ञ, तप, दान, व्रत आदि शुभ कर्मोंको नामके समान मानना।

८—श्रद्धारहित और सुनना न चाहनेवाले व्यक्तिको उपदेश करना।

९—नामकी महिमा सुनकर भी नाममें प्रीति न करना।

और

१०—'मैं' और 'मेरे' के फेरमें पड़कर विषय-भोगोंमें आसक्त होना।

ये दस नामापराध हैं। नामापराधसे भी छुटकारा नामके जप-कीर्तनसे ही मिलता है।

नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।
अविश्रान्तप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च॥

'नामापराधयुक्त पुरुषोंका पाप नाम ही हरण करता है और निरन्तर कीर्तन किये जानेपर नाम सारे मनोरथोंको पूरा करता है।'

भगवदनुराग

क्षणभंगुर मनुष्य-शरीरको शास्त्रकारोंने बहुत दुर्लभ बतलाया है, उनका कहना है कि इसी शरीरसे यथोचित उद्योग करनेपर जीवकी अनन्तकालकी सुख-कामना सर्वथा पूर्ण हो सकती है। भगवान्‌ने कृपा करके इस शरीरमें ऐसा विवेक दिया है, जिससे मनुष्य भले-बुरे और नित्य-अनित्यका विचार कर बुरे और अनित्यका त्याग तथा भले और नित्यका ग्रहण कर सकता है। विवेकके द्वारा वह अपनी अनादिकालकी कामनाको पहचानकर उसकी प्राप्तिके लिये चेष्टा कर सकता है और अन्तमें उसे पा सकता है। जो मनुष्य भगवान्‌के दिये हुए विवेकसे इस कार्यकी पूर्तिमें लगता है, वही मनुष्य कहलानेयोग्य है। जो पशुओंकी भाँति केवल उदरपूर्ति और भोग भोगनेमें ही लगा रहता है, उसको तो मनुष्याकार पशु ही समझना चाहिये। बात भी ठीक है। मनुष्यमें मनुष्योचित गुण होने ही चाहिये। जो रात-दिन जिस-किसी प्रकारसे पैसा कमाने और उससे शरीर सजाने तथा भोग-सामग्रियोंको जुटानेमें लगे रहते हैं, वे यथार्थ ही मनुष्यके कर्तव्यसे गिरे हुए हैं। जिस बुद्धि-विवेकको भगवत्प्राप्तिके साधनमें लगाना चाहिये, उसी विवेकका प्रयोग यदि हाड़-मांसके शरीरको सजानेमें, फैशन बनानेमें, विलासिताका सामान इकट्ठा करनेमें और इन्द्रियोंको आरम्भमें सुखकर प्रतीत होनेवाली परन्तु परिणाममें दुःखदायिनी भोग-सामग्रियोंके संग्रह करनेमें किया जाय तो इससे बढ़कर मूर्खता और क्या होगी? परन्तु क्या कहा जाय, यहाँ तो आजकल चारों ओर यही हो रहा है। आज प्रायः सारा ही जगत् केवल भोग-सामग्रियोंके लिये ही जूझ रहा है। जिसके पास भोगके पदार्थ अधिक हों, वही बड़ा आदमी और बड़भागी माना जाता है, चाहे वे पदार्थ उसने कितने भी कुकर्मोंके द्वारा इकट्ठे किये हों और कर रहा हो! यही हालत राष्ट्रोंकी है।

फैशन तथा बाहरी दिखावेके भावने इतनी गहरी जड़ जमा ली है कि आज गृहत्यागी संन्यासियोंके गेरुआ वस्त्रोंमें, उनके दण्ड-कमण्डलुमें, उनकी चरणपादुकाओंमें; धर्माचार्योंके वेश-भूषा और रहन-सहनमें, सादगीका बाना धारण करनेवाले देशभक्तोंके खादीके कुर्ते, चद्दर और चप्पलोंमें और बनावटसे दूर रहनेके लिये निरन्तर वाणी और कलमसे उपदेश करनेवाले महानुभावोंकी वाणी और कलममें—सभीमें फैशन आ गया है। उनकी ऊपरकी सादगी दिलकी सादगीका सच्चा प्रतिबिम्ब

नहीं है। किस प्रकार दूसरे हमें देखकर मुग्ध हों; कैसे कोई हमारी वाणी, कलम, पोशाक, चाल और चाहपर रीझे, हृदयको टटोलकर देखा जाय तो प्राय: अधिकांशके अन्दर ऐसे ही भाव पाये जायँगे। यह सादगीमें छिपी विलासिता है। कर्मेन्द्रियोंको रोककर मनसे विषयोंकी चाह करनेको भगवान्‌ने मिथ्याचार बतलाया है। सच पूछा जाय तो आज जगत्‌में मिथ्याचारका प्रचार बढ़ रहा है। कपट बढ़ रहा है। भोगेच्छाका दमन नहीं, किन्तु उसकी प्रबलता बढ़ रही है और उन्नतिके नामपर उसको बढ़ाया जा रहा है। सांसारिक भोगोंकी इच्छा जितनी ही अधिक बलवती होती है, जितना ही अधिक भोग-पदार्थोंके संग्रहकी भावना बढ़ती है, उतना ही मनुष्य भगवान् और भगवद्भावोंसे दूर होता चला जाता है। हमारे आजके छात्रावास, आश्रम, विद्यालय और गुरुकुल-ऋषिकुलोंसे, प्राचीन त्यागमय संग्रहशून्य छात्रावास, ऋषियोंके आश्रम, विद्यामन्दिर और गुरुकुल-ऋषिकुलोंका मिलान करके देखिये। आकाश-पातालका अन्तर पड़ गया है। त्यागका आदर्श भोगके आदर्शके रूपमें बदल गया है। जीवनका लक्ष्य भगवान् न रहकर जगत्‌के भोग—सुख-साम्राज्य, यथेच्छाचरणकी स्वतन्त्रता आदि रह गये हैं। आज मनुष्य कितना विवेकशून्य हो गया है, इसका पता मनीषियोंको इन सब बातोंपर विचार करनेसे अनायास ही लग सकता है।

यह स्थिति बड़ी ही भयावनी है। अभी पता नहीं लगता, परन्तु जब इसका परिणाम सामने आयेगा, तब दु:खकी सीमा न रहेगी। उस परिणामके चित्रकी कल्पना आते ही हृदय काँप उठता है। पता नहीं, विवेकभ्रष्ट मनुष्य कब पुन: विवेकको प्राप्तकर भगवत्-पथका पथिक होगा।

परन्तु पूर्वपुण्य या साधु पुरुषोंके संगसे जिनके मनमें कुछ भी मानव-जीवनके उद्देश्य-सम्बन्धी विवेक जाग्रत् है, उन लोगोंको तो सावधानीके साथ अपने जीवनका मार्ग स्थिर करके उसपर चलना आरम्भ कर ही देना चाहिये। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि चक्कीके पाटोंके बीच पड़े हुए दानोंमें जो दाने बीचकी कीलीके आस-पास लगे रहते हैं, वे पिसनेसे बच जाते हैं। इस घोर कालमें भी—जो देखनेमें भ्रमसे प्रगतिका, उन्नतिका और अभ्युदयका-सा प्रतीत होता है—जो मनुष्य भगवान्‌की ओर धर्मकी परायणताको नहीं छोड़ेंगे, वे महान् बुरे परिणामसे अवश्य बच जायँगे।

सबसे पहले विवेकसे निर्णय करके जीवनका लक्ष्य—ध्येय स्थिर कर लेना चाहिये। यह ध्येय परमात्मा है, जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होगी, तबतक जीवके दु:खोंका अन्त किसी प्रकार किसी उपायसे भी नहीं हो सकता। तदनन्तर उस लक्ष्यके विरोधी सभी कार्योंसे मुँह मोड़ लक्ष्यके सम्मुख होकर चलना आरम्भ कर देना चाहिये। इसीका नाम अभ्यास और वैराग्य है। भगवद्विरोधी सांसारिक विषयोंमें—इस लोक और परलोकके सभी भोग-विषयोंमें अनुरागका सर्वथा त्याग और भगवत्‌के अनुकूल श्रवण, चिन्तन, सेवा, ध्यान आदि सद्वृत्तियों और कार्योंका ग्रहण करना चाहिये। यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये कि मनुष्य-शरीर इन्द्रियोंके तृप्त करनेकी झूठी झाँकी दिखानेवाले भोगोंके लिये नहीं है, झूठी झाँकी इसीलिये कि भोगोंसे कभी तृप्ति हो ही नहीं सकती, ***'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ, बिषय-भोग बहु घी ते।'*** यह शरीर है भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये, अतएव भगवत्-प्राप्तिके मार्गमें—चाहे जितने कष्टोंका सामना करना पड़े, चाहे जैसी विपत्तियाँ आयें, इन्द्रियोंके समस्त सुखकर भोग नष्ट हो जायँ, उनका प्राप्त होना सर्वथा रुक जाय, सारे ऐश-आराम सपना हो जायँ, इन्द्रियाँ छटपटायें, जो कुछ भी हो, किसी बातकी भी परवा न करके आगे बढ़ते ही जाना चाहिये, सब कुछ खोकर भी उसे पानेकी चेष्टा करनी चाहिये। जो ममत्व-बुद्धिसे जगत्‌के इन सब पदार्थोंको बचानेकी चेष्टामें लगा रहता है वह परमात्माको नहीं पा सकता; पर जो सबका मोह छोड़कर मनसे सबका नाता तोड़कर विगतज्वर हो भगवत्प्रेमकी अग्निमें कूद पड़ता है, वह अपने सारे पाप-तापोंको उस धधकती हुई प्रेमाग्निमें भस्मकर परम अमृत—परम शान्तिको प्राप्त करता है।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि मनुष्य गृहस्थी छोड़ दे—कर्तव्य-कर्म छोड़ दे; यहाँ गृहस्थ या संन्यासीका सवाल नहीं है, प्रश्न है जगत्‌के त्यागका—जगत्‌के इस मायामय वर्तमान रूपके नष्ट कर देनेका—इस प्रपंचको जला देनेका। इसके स्थानमें भगवान्‌को बैठा दीजिये, जगत्‌की जगह श्रीहरिकी प्रतिष्ठा कीजिये, जगत्-पत्थरको खोकर हरि-हीरेको प्राप्त कीजिये और उसीकी इच्छासे, उसीकी सामग्रीसे और उसीके साधनसे उसके सब

रूपोंमें उसीकी सेवा करते रहिये। फिर कुछ छोड़ने-ग्रहण करनेका सवाल ही नहीं रह जायगा।

यह भावुकता या कल्पना नहीं है, ऐसा किया जा सकता है—हो सकता है। जीवनका ध्येय निश्चित करके विरोधी भोग-पदार्थोंमें वैराग्य कीजिये, फिर आप ही जीवन हरिमय होने लगेगा। फिर हरि-प्रेमकी आगमें कूदनेमें भय नहीं होगा, प्रत्युत उत्साह होगा, जल्दी-से-जल्दी कूद पड़नेके लिये मनमें तलमलाहट पैदा होगी और हम उसमें बिना आगा-पीछे सोचे कूद ही पड़ेंगे; क्योंकि वैराग्यके बादकी यही सीढ़ी है। वैराग्यके बाद भगवदनुराग ही रह जाता है। यह भगवदनुराग ही मनुष्यको भगवत्स्वरूपतक पहुँचानेका सर्वोत्तम साधन है। जिसके हृदयमें भगवदनुरागकी जितनी अधिक मात्रा होती है, वह बाह्य जगत्की निम्न प्रकृतिसे ऊँचा उठकर उतना ही अधिक अन्तर जगत्—अध्यात्म-जगत्की उच्च भूमिकामें प्रवेश करता है। तब उसे पता लगता है कि इस स्थितिके सामने बहिर्जगत्की ऊँची-से-ऊँची स्थिति भी तुच्छ और नगण्य है परन्तु यहीं उसकी दिव्यधाम-यात्राका मार्ग समाप्त नहीं होता, इससे अभी बहुत ऊँचे उठना है और क्रमशः ज्यों-ज्यों ऊँची भूमिकामें प्रवेश होगा, त्यों-ही-त्यों क्रमशः नीचेकी भूमिकाओंका आनन्द, सुख, ऐश्वर्य, शक्ति, मति, ज्ञान आदि सब निम्न श्रेणीके और तुच्छ प्रतीत होते रहेंगे, आखिरी मंजिल तै करनेपर परमात्माके स्वप्रकाशित नित्य विशुद्ध राज्यमें—उस दिव्य धाममें प्रवेश होगा, जहाँका वर्णन कोई कर नहीं सकता, जो इस जगत्की किसी भी वस्तुसे तुलना करके नहीं बतलाया जा सकता। यहाँके चन्द्र-सूर्य जहाँ प्रवेश नहीं कर पाते—इसीका इशारा भगवान्के इन वाक्योंमें है—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता ८। २०-२१)

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता १५। ६)

(प्रलयके समय जिस अव्यक्तमें समस्त जगत् लय होता है और पुनः सृष्टि-कालमें जिस अव्यक्तसे उत्पन्न हो जाता है) उस अव्यक्तसे भी अति परे एक दूसरी सनातन सत्-चित्-आनन्दमय अव्यक्त सत्ता है, जो सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होती, इसीसे उसे अव्यक्त और अक्षर कहते हैं, उसीको परम गति कहते हैं, जिसको पाकर कोई लौटते नहीं, (उस स्थितिसे कभी नीचे नहीं उतरते) वह मेरा परम धाम है। उस स्वप्रकाशित परम सत्ताको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है और न चन्द्रमा और न अग्नि ही। उस परम पदको पाकर कोई वापस नहीं लौटते, वही मेरा परम धाम है।

श्रुति भी इशारा करती है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

(कठ० २। २। १५)

उस स्वप्रकाश आनन्दस्वरूप सत्ताको सूर्य, चन्द्र, तारा और विद्युत्समूह प्रकाशित नहीं कर सकते। प्रत्युत उसीके प्रकाशसे सूर्य, चन्द्र प्रभृति प्रकाश पाते हैं; क्योंकि उसीके तेजसे यह समस्त जगत् प्रकाशित है।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

(गीता ८। २८)

योगी (भगवदनुरागी) पुरुष इस रहस्यको जानकर वेद, यज्ञ, तप और दान आदिसे जो पुण्य फल होता है, (इनके फलसे जिन उच्च भूमिकाओंमें स्थान मिलता है) उन सबको लाँघकर निश्चय ही सनातन परम धामको प्राप्त होता है।

क्षणभंगुर मनुष्य-देह इसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मिला है, इसीसे इसको दुर्लभ कहा है; ऐसे वरदानस्वरूप विवेकसम्पन्न मनुष्य-देहको प्राप्त करके यदि कोई उस विवेकको केवल शरीर सजाने और फैशन बनानेमें ही खर्च करे तो वह अत्यन्त ही दयनीय है। इस बातको स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य-देहसे जीव सन्मार्गमें चलनेपर जैसे उन्नतिके अत्युच्च शिखरपर चढ़ सकता है, वैसे ही कुमार्गमें पड़कर, विषयासक्त होकर, इन्द्रियोंका गुलाम बनकर यह अवनतिके गहरे गड्ढेमें भी गिर सकता है; क्योंकि मनुष्य-जीवन कर्म-योनि है, इस जीवनमें—

कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा॥

—की उक्ति चरितार्थ होती है। इस जीवनमें जीव पाप-पुण्य, बन्धन-मुक्तिका साधन कर सकता है। अपने विवेक और बलको चाहे जिस कार्यमें खर्चकर उसीके अनुरूप फलका भागी हो सकता है।

यह मनुष्य-विवेकके दुरुपयोगका ही फल है, जो मनुष्येतर प्राणियोंके लिये आज मनुष्य सबसे बड़ा घातक हो गया है। मनुष्यने अपने दैहिक सुखके लिये ही एक-एक इंच भूमिपर, जंगलके प्रत्येक पेड़पर अपना अधिकार कर लिया है, जिससे वन्य पशु-पक्षियोंकी बुरी गति हो रही है। रेल, मोटर, बड़ी-बड़ी मिलें, कारखाने, हवाईजहाज, बड़े-बड़े महल आदि मानवी सुखके सामानोंने इतर प्राणियोंके जीवनको विभीषिकामय और दुःखमय बना दिया है। इन विशाल दानवी कार्योंके प्रारम्भ, विस्तार और संचालनमें कितनी जीवहिंसा होती है, इसका तो कोई हिसाब ही नहीं! चूल्हे-चक्कीमें होनेवाली प्राणिहिंसाके पापसे मुक्त होनेके लिये नित्य पंच-महायज्ञ करनेवाली आर्यजातिके महापुरुषोंने बड़ी-बड़ी मशीनोंकी चक्कियोंके जीव-घातक कार्योंसे बचनेका क्या उपाय सोचा है, कुछ पता नहीं। यही नहीं, आज मनुष्य-सुखके लिये विविध भाँतिसे जीवोंका संहार किया जा रहा है और उसको आवश्यक कार्य समझकर सभी ओरसे उत्साह प्रदान किया जाता है। रेशमके कारखाने, चमड़ेके कारखाने, जूतोंके कारखाने और विदेशी दवाइयोंके कारखाने आदिको देखने-सुननेसे इस बातका पता चल सकता है। मनुष्यने अपने विवेकका यहींतक दुरुपयोग नहीं किया, अपने ही जलनेके लिये उसने अपने अन्दर भी दुःखकी आग सुलगा दी। विद्या-बुद्धिसे युक्त कहलानेवाले कुछ इने-गिने मनुष्योंने अपने व्यक्तिगत शारीरिक सुखके लिये बड़े-बड़े दानवी यन्त्र और कारखानोंके द्वारा अगणित गरीबोंके मुँहका टुकड़ा छीनकर उन्हें तबाह करना शुरू कर दिया। परिणाममें आत्मकलहका जो युद्ध आज मनुष्य-जातिमें छिड़ गया है, उसका कितना भयानक फल होगा, इस बातको कौन बता सकता है? विवेकके दुरुपयोगसे उत्पन्न उच्छृंखलतासे आज सभी ओर अशान्ति हो रही है। परलोक और भगवान्‌को भूलकर प्रायः सभी मनुष्य आज अपने-अपने क्षुद्र सुखके लिये छटपटा रहे हैं और मोहान्ध होकर परिणामज्ञानसे शून्य-से हो दानवोचित साधनोंतकको अपना रहे हैं। क्या यही मनुष्य-जीवनका ध्येय है? बड़ी गलती की जा रही है। शीघ्र चेतना चाहिये। मानव-जीवनको पशु या असुर-जीवनमें परिणत न कर इसे देव या भागवत-जीवन बनाना चाहिये। हृदयमें ईश्वरका अधिष्ठान समझकर उसीकी प्रसन्नताके लिये उसके अनुसार चलना चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये, पापकी प्रेरणा हृदयस्थ ईश्वरकी आज्ञा नहीं है। वह तो हमारे हृदयमें छिपे हुए काम, क्रोध, लोभ, अज्ञान प्रभृति असुरोंकी प्रेरणा है, जो भगवान्‌की विस्मृति कराकर हमें भयानक नरकाग्निमें जलानेके लिये हमारे अन्दर डेरा डाले हुए हैं। इन असुरोंको पहचानकर इनसे बचना चाहिये। वैराग्यके शस्त्रसे इन्हें मारना चाहिये। वैराग्यका उदय—वास्तविक विरागकी उत्पत्ति तभी होगी, जब हमारे जीवनका ध्येय निश्चित हो जायगा, जब हमारी बुद्धि मोहके कलिलसे निकल जायगी। जब उसे सांसारिक उन्नति और सांसारिक सुखोंका वास्तविक स्वरूप दीख जायगा।

इसीके लिये सत्संग, सत्-शास्त्राध्ययन, यम-नियम आदिकी आवश्यकता है। मनुष्य-जीवन बहुत थोड़ा है, प्रतिक्षण हमारे जीवनका नाश हो रहा है, अनेक प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ सामने हैं, अतएव बहुत ही शीघ्र उस उपायमें लग जग जाना चाहिये, जिससे हम तुरन्त ही अपने जीवनका ध्येय निश्चित कर उसको पानेके लिये गुरु और शास्त्रकथित मार्गपर आरूढ़ होकर चलना आरम्भ कर दें।

भगवत्-कृपापर विश्वास करके जीवनको उनकी सेवामें लगा दीजिये, फिर देखिये, उनकी कृपासे सारी कठिनाइयाँ आप ही दूर हो जाती हैं।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

विषय और भगवान्

संसारके विषयोंमें न मालूम कैसी मोहिनी है, देखते और सुनते ही मन ललचाता है, उनकी प्राप्तिके लिये अनेक उचित, अनुचित उपाय किये जाते हैं, मनुष्य मोहवश मन-ही-मन सोचता है कि इनकी प्राप्तिसे सुख हो जायगा, परन्तु उसका विचार कभी सफल होता ही नहीं। कितने ही लोगोंके जीवन तो अभीष्ट विषयकी

प्राप्ति होनेके पूर्व ही पूरे हो जाते हैं। सारा जीवन विषय-सुखके लोभमें अनन्त प्रकारकी मानसिक और शारीरिक विपत्तियोंको सहन करते-करते ही चला जाता है। किसीको कोई मनचाही वस्तु मिलती है, तब एक बार तो उसे कुछ सुख-सा प्रतीत होता है, परन्तु दूसरे ही क्षण नयी कामना उत्पन्न होकर उसके चित्तको हिला देती है और फिर तुरन्त ही वह अशान्त और व्याकुल होकर उसको पूरी करनेकी चेष्टामें लग जाता है। वह पूरी होती है तो फिर तीसरी उदय हो जाती है। सारांश यह कि कामनाओंका तार कभी टूटता ही नहीं, वह बराबर बढ़ता चला जाता है। इसका कारण यह है कि संसारका कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो पूर्ण और सारे अभावोंको सदा-सर्वदा मिटा देनेवाला हो और जबतक अभावका अनुभव है, तबतक सुखकी प्राप्ति असम्भव है। सारा जीवन विषय-सुखके लोभमें अनन्त प्रकारकी मानसिक और शारीरिक विपत्तियोंको सहन करते-करते ही चला जाता है। किसीको कोई मनचाही वस्तु मिलती है, तब एक बार तो उसे कुछ सुख-सा प्रतीत होता है, परन्तु दूसरे ही क्षण नयी कामना उत्पन्न होकर उसके चित्तको हिला देती है और फिर तुरन्त ही वह अशान्त और व्याकुल होकर उसको पूरी करनेकी चेष्टामें लग जाता है। वह पूरी होती है तो फिर तीसरी उदय हो जाती है। सारांश यह कि कामनाओंका तार कभी टूटता ही नहीं, वह बराबर बढ़ता चला जाता है। इसका कारण यह है कि संसारका कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो पूर्ण और सारे अभावोंको सदा-सर्वदा मिटा देनेवाला हो। और जबतक अभावका अनुभव है, तबतक सुखकी प्राप्ति असम्भव है। सारा संसार इसी अभावके फेरमें पड़ा हुआ है। अच्छे-अच्छे विद्वान्, बुद्धिमान् और चिन्ताशील पुरुष इस अभावकी पूर्तिके लिये ही चिन्तामग्न हैं। युग बीत गये, नाना प्रकारके नवीन-नवीन औपाधिक आविष्कार हुए और रोज-रोज हो रहे हैं; परन्तु यह अभाव ऐसा अनन्त है कि इसका कभी शेष होता ही नहीं। बड़ी कठिनतासे, बड़े पुरुषार्थसे, बड़े भारी त्याग और अध्ययनसे मनुष्य एक अभावको मिटाता है, तत्काल ही दूसरा अभाव हृदयमें न मालूम कहाँसे आकर प्रकट हो जाता है। यों एक-एक अभावको दूर करनेमें केवल एक ही जीवन नहीं, न मालूम कितने जन्म बीत गये हैं, बीत रहे हैं और अभावकी जड़ न कटनेतक बीतते ही रहेंगे। कलमी पेड़की डालोंको काटनेसे वह और भी अधिक फैलता है, इसी प्रकार एक विषयकी कामना पूरी होते ही—उसके कटते ही न मालूम कितनी ही नयी कामनाएँ और जाग उठती हैं। किसी कंगालको राज्य पानेकी कामना है, वह उसकी प्राप्तिके लिये न मालूम कितने जप, तप, विद्या, बुद्धि, बल, परिश्रम आदिका प्रयोग करता है। उसे कर्मकी सफलताके रूपमें यदि राज्य मिल जाता है तो राज्य मिलते ही अनेक प्रकारकी ऐसी आवश्यकताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनका वह पहले विचार भी नहीं कर सका था। अब उन्हीं आवश्यकताओंकी पूर्तिकी कामना होती है और वह फिर वैसा ही दु:खी बन जाता है। इसलिये आवश्यकता है अभावकी जड़ काटकर ऐसी वस्तुको प्राप्त करनेकी, जो नित्य, पूर्ण, सत् और सर्वाभावशून्य हो, जिसे पाकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता हो, आप्तकाम और पूर्णकाम हो जाता हो, अभावकी आग सदाके लिये बुझ जाती हो। यह सत् और पूर्ण वस्तु केवल परमात्मा है, परन्तु उस परमात्माकी प्राप्ति तबतक नहीं होती, जबतक जगत्के विषयोंका मोह त्यागकर मनुष्य परमात्माको पानेके लिये एकान्त इच्छुक नहीं हो जाता। जो इस परम वस्तुको पानेके लिये व्याकुल हो उठता है, उसके हृदयसे भोगोंकी शक्ति नष्ट हो ही जाती है; क्योंकि जहाँ भगवान्का प्रेम रहता है, वहाँ भोग-कामना उसी प्रकार नहीं ठहर सकती जिस प्रकार सूर्यके सामने अन्धकार नहीं ठहरता।

जो चाहौ हरि मिलनकौ, तजौ विषय विष मान।
हिय में बसै न एक सँग, भोग और भगवान॥

जिन्हें भगवान्के मिलनकी चाह है उन्हें और समस्त इच्छाओंकी जड़ बिलकुल काट डालनी पड़ेगी। परन्तु वह जड़ बड़ी मजबूत है, केवल बातोंसे उसका कटना सम्भव नहीं, उसके काटनेके लिये वैराग्यरूपी दृढ़ शास्त्रकी आवश्यकता है। विषय-वैराग्य हुए बिना कामनाका नाश नहीं होता। इसके लिये बड़े ही प्रयत्नकी आवश्यकता है। तनिकसे प्रयत्नमें घबरा जानेसे काम नहीं चलेगा। जब संसारके साधारण नाशवान् पदार्थोंको पानेके लिये मनुष्यको बहुत-से त्याग करने पड़ते हैं, तब अविनाशी परमात्माकी प्राप्तिके लिये तो विनाशी वस्तुमात्रका त्याग कर देना आवश्यक है ही। ऐसा कौन-सा कष्ट है जो अपने इस परम ध्येयकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको नहीं सहना चाहिये। जो थोड़ेमें ही घबरा उठते हैं, उनके लिये इस पथका पथिक बनना असम्भव है। यहाँ तो तन-मन और लोक-परलोकको बाजी लगा देनी पड़ती है। सब कुछ

न्योछावर कर देना पड़ता है उस प्रेमीके चारु-चरणोंपर! महात्मा श्रीकृष्णानन्दजी महाराज कहा करते थे—

एक धनी जमींदारका नौजवान लड़का किसी महात्माके पास जाया करता था, साधु-संगके प्रभावसे उसके मनमें कुछ वैराग्य पैदा हो गया, उसकी महात्मामें बड़ी श्रद्धा थी, वह प्रेमके साथ महात्माकी सेवा करता था। कुछ दिन बीतनेपर महात्माने कृपा करके उसे शिष्य बना लिया, अब वह बड़ी श्रद्धाके साथ गुरु महाराजकी सेवा-शुश्रूषा करने लगा। कुछ दिनतक तो उसने बड़े चावसे सारे काम किये, परन्तु आगे चलकर धीरे-धीरे उसका मन चंचल हो उठा, संस्कारवश पूर्वस्मृति जाग उठी और कई तरहकी चाहोंके चक्करमें पड़नेसे उसका चित्त डाँवाडोल हो गया। उसे महात्माके संगसे बहुत लाभ हुआ था, परन्तु इस समय कामनाकी जागृति होनेके कारण वह उस लाभको भूल गया और उसके मनमें विषाद छा गया। एक दिन वह दोपहरकी कड़ी धूपमें गंगाजलका घड़ा सिरपर रखकर ला रहा था, रास्तेमें उसने सोचा कि मैंने कितना साधु-संग किया, कितनी गुरु-सेवा की, कितने कष्ट सहे, परन्तु अभीतक कोई फल तो नहीं हुआ। कहीं यह साधु ढोंगी तो नहीं है? इतने दिन व्यर्थ खोये!*

यह विचारकर उसने घड़ा जमीनपर रख दिया और भागनेका विचार किया। गुरु महाराज बड़े ही महात्मा पुरुष थे और परम योगी थे। उन्होंने शिष्यके मनकी बात जानकर उसे चेतानेके लिये योगबलसे एक विचित्र कार्य किया। उनकी योगशक्तिसे मिट्टीके जड घड़ेमेंसे मनुष्यकी भाँति आवाज निकलने लगी। घड़ेने पुकारकर पूछा, 'भाई! तुम कहाँ जा रहे हो?' शिष्यने कहा, 'इतने दिन यहाँ रहकर सत्संग किया, परन्तु कुछ भी नहीं मिला, इससे इसे छोड़कर कहीं दूसरी जगह जा रहा हूँ।' घड़ेमेंसे फिर आवाज आयी, 'जरा ठहरो, मेरी कुछ बातें मन लगाकर सुन लो, मैं तुम्हें अपनी जीवनी सुनाता हूँ, उसे सुननेके बाद जाना उचित समझना तो चले जाना।' शिष्यके स्वीकार करनेपर घड़ा बोलने लगा—'देखो, मैं एक तालाबके किनारे मिट्टीके रूपमें पड़ा था, किसीकी भी कुछ भी बुराई नहीं करता था, एक जगह चुपचाप पड़ा रहता था, लोग आकर मेरे ऊपर मल-त्याग कर जाते, सियार-कुत्ते बिना बाधा पेशाब करते। मैं सभी कुछ सहता, मनका दु:ख कभी किसीके सामने नहीं कहता। मेरा किसीके साथ कोई वैर नहीं था, तो भी न मालूम क्यों एक दिन कुम्हारने आकर मुझपर तीखी कुदालका वार किया, मेरे शरीरको जहाँ-तहाँसे काटकर अपने घर ले गया। वहाँ बड़ी ही निर्दयतासे मूसलोंकी मार-मारकर मेरा चकनाचूर कर डाला, पैरोंसे रौंदकर मेरी बड़ी ही दुर्दशा की। फिर वह एक चक्रमें डालकर मुझे घुमाने लगा, बड़ी मुश्किलसे जब घूमनेसे पिण्ड

* जो साधक थोड़ेमें ही बहुत ऊँची स्थिति प्राप्त करनेकी आशा कर बैठता है उसके मनकी इस प्रकारकी दशा समय-समयपर हुआ करती है, यह साधनमें विघ्न है, ऐसे समय घबराकर साधनको छोड़ नहीं बैठना चाहिये। धीरता और दृढ़ताके साथ बिना उकताये साधन किये जाना ही साधकका कर्तव्य है, सच्चे साधकको तो यह विचारनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं होती कि मेरी उन्नति हो रही है या नहीं। जो हरिभजन और गुरुशुश्रूषाके बदलेमें उन्नति चाहता है और उन्नतिकी कामनासे ही हरिभजन और गुरुशुश्रूषा करता है, वह तो हरिभजन और गुरुशुश्रूषारूपी सहज धर्मको—प्रेमके परम कर्तव्यको उन्नतिके मूल्यपर बेचता है, वह सौदागर है, हरिभक्त और शिष्य नहीं। भक्त और शिष्यका तो केवल यही कर्तव्य है कि गुरूपदिष्ट मार्गसे निष्कामभावसे विशुद्ध प्रेमके साथ स्वाभाविक ही साधन करता रहे। मैं साधन कर रहा हूँ ऐसी भावना ही मनमें न आने दे। ऐसी भावनासे अपने अन्दर साधनपनका अभिमान उत्पन्न होगा और साधनके फलकी स्पृहा जाग्रत् हो उठेगी, ईश्वरेच्छासे इच्छित फल न मिलने या विपरीत परिणाम होनेपर उसके मनमें साधन और साधन बतलानेवाले सद्गुरुके प्रति शंका और अश्रद्धा हो जायगी, जिसका फल यह होगा कि वह साधनसे गिर जायगा। सच्चे साधकको फलकी चिन्ता ही न करनी चाहिये, फलकी बात भगवान् जाने, उसे फलसे कोई मतलब नहीं, अनुकूल हो तो हर्ष नहीं और प्रतिकूल हो तो शोक नहीं। भगवान् कहते हैं—

'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।'

—जिस वस्तुको लोग प्रिय समझते हैं उसकी प्राप्तिमें तो वह हर्षित नहीं होता और जो वस्तु लोगोंकी दृष्टिमें बहुत ही अप्रिय है, उसको पाकर वह दु:खित नहीं होता। वह तो जानता है केवल अनन्यभावसे भजन करना, उसे लाभ-हानि, स्वर्ग-नरक, सिद्धि-असिद्धि और मोक्ष-बन्धनसे कोई लेन-देन नहीं। यदि भजन होता है तो वह सभी अवस्थाओंमें सदा परम सुखी है। उसके मनमें यदि कोई विपत्ति है, तो यही है कि जब किसी कारणवश प्रभुका स्मरण छूट जाता है—

'कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥'

—वह तभी भयानक मन:पीड़ासे छटपटाता है। जब उसे प्रियतमकी पलभरकी विस्मृति हो जाती है, तब—'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।'

छूटा, तब मैंने सोचा कि अब तो इस विपत्तिसे छुटकारा होगा, परन्तु परिणाम उलटा ही हुआ। कुम्हारने कुछ देरतक पीटकर मुझे कड़ी धूपमें डाल दिया और फिर जलती हुई आगमें डालकर जलाने लगा। अन्तमें वह मुझे एक दूकानपर रख आया, मैंने समझा कि अब तो छूट ही जाऊँगा, लेकिन फिर भी नहीं छूट सका। वहाँ मुझे जो कोई भी लेने आता, ठोंककर बजाये बिना नहीं हटता, यों लोगोंकी थप्पड़ खाते-खाते मेरे नाकोंदम हो गया। इस प्रकार कितना ही काल बीतनेपर मैं इस साधुके आश्रममें पहुँच सका हूँ, यहाँ मुझे पवित्र गंगाजलको हृदयपर धारणकर भगवान्‌की सेवा करनेका मौका मिला है। इतने कष्ट, इतनी भयानक यातनाएँ भोगनेके बाद कहीं मैं परम प्रभुकी सेवामें लग सका हूँ। जीवनभर महान् दु:खोंकी चक्कीमें पिसनेपर ही आज विश्वनाथकी चरण-सेवाका साधन बनकर धन्य हो सका हूँ। भाई! उन्नतिके—यथार्थ उन्नतिके ऊँचे सिंहासनपर चढ़नेवालेको प्रथम बाधा-विघ्नजनित भयानक निराशाके थपेड़े, अटल, अचलरूपसे सहने पड़ते हैं, शून्यताके घोर जलशून्य मरुस्थलको स्थिर धीरभावसे लाँघकर आगे बढ़ना पड़ता है। इस अग्निपरीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर फिर कोई भय नहीं है। अतएव मेरे भाई! तुम निराश न होओ, जितना दु:ख या कष्ट आये, जितनी ही अधिक निराशा, शून्यता, अभाव और अन्धकारकी काली-काली घटाएँ जीवनाकाशमें चारों ओर फैल जायँ, उतना ही तुम भगवान्‌की ओर अग्रसर हो सकोगे। यातनाकी अग्निशिखा जितनी ही अधिक धधकेगी, तुम उतने ही शान्ति-धामके समीप पहुँचोगे।' घड़ेके सदुपदेशसे शिष्यकी आँखें खुल गयीं, उसने अपनी पूर्वस्थितिके साथ वर्तमान स्थितिकी तुलना की तो उसे साधना और गुरुसेवाका प्रत्यक्ष महान् फल दिखायी दिया। वह घड़ेको उठाकर गुरुकी कुटियाको चल दिया और वहाँ पहुँचकर गुरुके चरणोंमें लोट गया।

इस दृष्टान्तसे यह समझना चाहिये कि हमें यदि सत्, चित्, आनन्द, नित्य निरंजन परमात्माको प्राप्त करना है तो किसी भी विपत्ति और कष्टसे घबराना नहीं चाहिये। संसारी विपत्तियाँ और कष्ट तो इस मार्गमें पद-पदपर आयेंगे। वास्तवमें अपने मनसे सारे भोगोंका सर्वथा नाश ही कर देना पड़ेगा। विरागकी आगमें विषयोंकी पूर्णाहुति दे देनी पड़ेगी। भगवान् तो कहते हैं—

यस्तु मां भजते नित्यं वित्तं तस्य हराम्यहम्।
करोमि बन्धुविच्छेदं स तु दु:खेन जीवति॥
संतापेष्वेषु कौन्तेय यदि मां न परित्यजेत्।
ददामि स्वीयपदं च देवानामपि दुर्लभम्॥

'जो मेरा प्रेमसे भजन करता है, मैं उसके वित्तको (उसकी सम्पत्तिको) हर लेता हूँ (सम्पत्तिसे केवल रुपये ही नहीं समझने चाहिये, जिसका मन जिस वस्तुको सम्पत्ति समझता है वही उसकी सम्पत्ति है—जैसे लोभी धनको, कामी स्त्रीको और मानी मानको सम्पत्ति मानता है) और उसका भाइयोंसे, घरवालोंसे विच्छेद करवा देता हूँ, इससे वह बड़े ही दु:खसे जीवन काटता है। इतना सन्ताप प्राप्त होनेपर भी जो मेरा त्याग नहीं करता, प्रेमसे मेरा भजन करता ही रहता है, उसे मैं अपना देव-दुर्लभ परमपद प्रदान कर देता हूँ।' श्रीमद्भागवतमें एक दूसरी जगह भगवान् कहते हैं—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दु:खदु:खितम्॥
स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद्धनेहया।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्॥
तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम्।
अतो मां सुदुराराध्यं हित्वान्यान्भजते जनः॥
ततस्त आशुतोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः।
मत्ताः प्रमत्ता वरदान् विस्मरन्त्यवजानते॥

(१०। ८८। ८—११)

'जिसपर मैं कृपा करता हूँ, उसके सारे धन (रत्न-धन, स्वर्ण-धन, गो-धन, कीर्ति-धन) आदिको शनैः-शनैः हर लेता हूँ, तब उस दु:खोंसे घिरे हुए निर्धन मनुष्यको उसके स्वजन लोग भी छोड़ देते हैं। यदि फिर भी वह घरवालोंके आग्रहसे धन कमानेका कोई उद्योग करता है तो मेरी कृपासे उसके सारे उद्योग व्यर्थ हो जाते हैं। तब वह विरक्त होकर मत्परायण भक्तोंके साथ मैत्री करता है, तदनन्तर उसपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसे मुझ परमसूक्ष्म, सत्-चैतन्य-घन, अनन्त परमात्माकी प्राप्ति होती है। इसीलिये लोग मेरी आराधनाको कठिन समझकर दूसरोंको भजते हैं और उन शीघ्र ही प्रसन्न होनेवाले दूसरोंसे राज्यलक्ष्मी पाकर उद्धत, मतवाले और असावधान होकर अपने उन वरदान देनेवालोंको भूलकर उन्हींका अपमान करने लगते हैं।'

इसका यह अभिप्राय नहीं कि जिनके पास धन है, उनपर भगवत्‌की कृपा और उन्हें भगवत्प्राप्ति होती ही नहीं। अवश्य ही जबतक धनका अभिमान है और धनमें आसक्ति है, तबतक भगवत्कृपा और भगवत्प्राप्ति

नहीं होती। जिन्होंने अपना माना हुआ सर्वस्व भगवान्के चरणोंमें अर्पण कर दिया, जिनकी सारी अहंता-ममतापर भगवान्का अधिकार हो गया, वे अवश्य ही धन रहते हुए भी अकिंचन हैं, ऐसे धनी अकिंचनोंपर भगवान्की कृपा अवश्य ही है। त्याग मनसे ही होना चाहिये। परन्तु जो लोग मनसे त्याग नहीं करते, जिनके अहंकार और ममत्वकी बीमारी बहुत बढ़ी हुई होती है, उन्हींके लिये भगवान् कृपाकर उपर्युक्त दिव्यौषधिकी व्यवस्था कर उन्हें रोगसे छुड़ाते हैं।

अतएव भगवान्के विधान किये हुए प्रत्येक फलमें मनुष्यको आनन्दका अनुभव होना चाहिये। जो हमारे परम पिता हैं, परम सुहृद् हैं, परम सखा हैं, परम आत्मीय हैं, उनकी प्रेमभरी देनपर जो मनुष्य मन मैला करता है, वह प्रेमी कहाँ है, वह परमात्माकी प्राप्तिका साधक कहाँ है, वह तो भोगोंका गुलाम और कामका दास है। ऐसे मनुष्यको नित्य, परम सुखरूप समस्त अभावोंका सदाके लिये अभाव कर देनेवाले **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये प्रत्येक कष्ट और विपत्तिको भगवान्के आशीर्वादके रूपमें आदरपूर्वक सिर चढ़ाना चाहिये और सब विषयोंसे मन हटाकर सच्ची लगनसे एक चित्तसे उस परम सुहृद् परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

हमलोग बहुत ही भूलमें हैं जो सर्वाधार भगवान्को छोड़कर बाह्य विनाशी वस्तुओंके पीछे भटक-भटककर अपना अमूल्य मानव-जीवन व्यर्थ खो रहे हैं। कामनाके इस दासत्वने—आठों पहरके भिखमंगेपनने हमें बहुत ही नीचाशय बना दिया है। हम बड़े ही अभिमानसे अपनेको 'महत्त्वाकांक्षा' वाला प्रसिद्ध करते हैं, परन्तु हमारी वह महत्त्वाकांक्षा होती है प्राय: उन्हीं पदार्थोंके लिये जो विनाशी और वियोगशील हैं। असत् और अनित्यकी आकांक्षा—महत्त्वाकांक्षा कदापि नहीं है। हमें उस अनन्त, महान्की आकांक्षा करनी चाहिये, जिसके संकल्पमात्रसे विश्व चराचरकी उत्पत्ति और लय होता है और जो सदा सबमें समाया हुआ है। जबतक मनुष्य उसे पानेकी इच्छा नहीं करता, तबतक उसकी सारी इच्छाएँ तुच्छ और नीच ही हैं। इन तुच्छ, नीच इच्छाओंके कारण ही हमें अनेक प्रकारकी याचनाओंका शिकार बनना पड़ता है। यदि किसी प्रकार भी हम अपनी इन इच्छाओंका दमन न कर सकें तो कम-से-कम हमें अपनी इन इच्छाओंकी पूर्ति चाहनी चाहिये—भक्तराज ध्रुवकी भाँति—उस परम सुहृद् एक परमात्मासे ही। माँगना ही है तो फिर उसीसे माँगना चाहिये, उसीका 'अर्थार्थी' भक्त बनना चाहिये, जिसके सामने इन्द्र, ब्रह्मा सभी हाथ पसारते हैं और जो अपने सामने हाथ पसारनेवालेको अपनाकर उसे बिना पूर्णताकी प्राप्ति कराये, बिना अपनी अनूप-रूप-माधुरी दिखाये कभी छोड़ना ही नहीं चाहता। परम भक्तवर गोसाईं श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

जाकें बिलोकत लोकप होत, बिसोक लहैं सुरलोग सुठौरहि।
सो कमला तजि चंचलता, करि कोटि कला रिझवै सिरमौरहि॥
ताको कहाइ, कहै तुलसी, तूँ लजाहि न मागत कूकुर-कौरहि।
जानकी-जीवनको जनु ह्वै जरि जाउ सो जीह जो जाचत औरहि॥
जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं, जियँ जाचिअ जानकीजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ, जो जारति जोर जहानहि रे॥
गति देखु बिचारि बिभीषनकी, अरु आनु हिएँ हनुमानहि रे।
तुलसी! भजु दारिद-दोष-दवानल, संकट-कोटि-कृपानहि रे॥

सच्चा भिखारी

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं,
जियँ जाचिअ जानकीजानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ,
जो जारति जोर जहानहि रे॥
गति देखु बिचारि बिभीषनकी,
अरु आनु हिएँ हनुमानहि रे।
तुलसी! भजु दारिद-दोष-दवानल,
संकट-कोटि-कृपानहि रे॥

सारा संसार भिखारी है, सदासे भिखारी है, कुछ परमात्माके प्रेम-पागलोंको छोड़कर संसारमें ऐसा कोई नहीं जिसे कुछ भी न चाहिये। कोई भी अपनी स्थितिसे सन्तुष्ट नहीं है, इसीलिये जीव सदासे भिक्षापरायण है; परन्तु उसकी भीखकी झोली कभी भरती नहीं। वह माँग-माँगकर जितना ही झोलीमें डालता है उतनी ही उसकी झोली खाली होती जाती है। अतएव उसका भिखारीपन कभी नहीं मिटता। कारण यही है कि वह माँगना नहीं जानता, वह उनसे माँगता है जो स्वयं भिखारी हैं या उन वस्तुओंको माँगता है जो सदा

अभावमयी हैं। इसलिये मित्रो! यदि माँगते-माँगते थक गये हो, अपमान सहते-सहते तुम्हारे प्राण व्याकुल हो उठे हों तो एक बार उस जानकीजीवन श्रीरामसे माँगकर देखो! प्रसिद्ध परमहंस स्वामी कृष्णानन्दजीने एक बार कहा था—

असली भिखारी जगत्‌में द्वार-द्वारपर तभीतक भटकता है, जबतक कि उसकी भीखकी झोली पूर्ण परमात्माके कृपाकणोंसे नहीं भर जाती। भीखके लिये ही भगवान्‌ने हमें अन्तःकरणरूपी भीखकी झोली दी है, परन्तु हम भीख माँगना नहीं जानते। इसीसे संसारके कीचड़से सने हुए घृणित चावलोंकी कनीसे ही झोली भर रहे हैं। जिस पवित्र अन्नसे अमृतपूर्ण भोजन बन सकता है, उसका तो एक कण भी हमें नहीं मिला। आओ भिखारी! एक बार कल्पतरुके नीचे खड़े हो मनचाही चीज माँग लो! सदाके लिये माँग लो! अपने रीते जीवन-कमण्डलुको अमृतरससे भर लो। 'माँ' 'माँ' पुकारकर, 'प्राणप्रिय प्रियतम' पुकारकर, 'जगत्-पति' के नामसे पुकारकर वाणी सफल कर लो! उस त्रिभुवन-मोहनरूपकी माधुरीधारासे नयनोंको धो डालो, दर्शनकी तृष्णा मिटा लो। अपने मन, प्राण और इन्द्रियसमूहके प्रत्येक परमाणुको सुधासिन्धुके बिन्दुपानसे मतवाला बना दो। माँग लो, इस मनुष्य-शरीरके रहते-रहते ही। फिर सूअर होकर माँगना न पड़े, वहाँ तो विष्ठाकी ही भीख मिलेगी। अरे मनुष्य! जल्दी करो, 'नीके दिन बीते जा रहे हैं।' मनुष्य-वृत्तियोंसे पूर्ण अन्तःकरणरूपी पात्रमें ही उस राजराजेश्वरसे मनकी वस्तु माँगकर सदाके लिये तृप्त हो जाओ! अपने इस पवित्र पात्रको उसके प्रसादसे भर लो। तुम्हारी अनन्तकालकी कमी और कामना सदाके लिये पूरी हो जायगी। अच्छे अवसरकी प्रतीक्षामें जन्मको न गँवाओ।

भिखारीपर ही भगवान्‌की कृपा हुआ करती है। दीनता ही भगवान्‌की कृपादृष्टिको आकर्षित करती है, अभाव ही भावशक्तिका आह्वान करता है। सर्वशून्य दरिद्रता ही दयाके पूर्ण प्रकाशका प्रधान कारण है। अतएव सच्चा भिखारी बन सकना दुर्दशाकी बात नहीं, किन्तु बड़े सौभाग्यका विषय है परन्तु प्रकृत भिक्षुक बनना बहुत ही कठिन है। ऐसा होनेके लिये अभिमानको भगा देना पड़ता है, अहंकारको चूर्ण कर देना पड़ता है। जिसका हृदय अभिमानसे भरा है वह क्या कभी यथार्थ अभावग्रस्त भिखारी बन सकता है? अभिमानसे अभिभूत हृदयमें क्या कभी दीनता टिक सकती है? महाप्रभु कहते हैं—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना॥

तृणकी अपेक्षा भी दीन और वृक्षके समान सहनशील बनकर भगवान्‌की सेवा करनी चाहिये। बड़ी कठिन बात है। इसीसे लोग इस पथपर नहीं चल सकते।

वास्तवमें भिखारी होना, नम्र बनना, निरभिमान होना जितना कठिन है, भगवान्‌को प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है। एक सच्ची घटना है। एक आधुनिक सभ्यताभिमानी बाबू साहब बीमार हुए, बहुत तरहसे इलाज करवाया गया, परन्तु कुछ भी लाभ नहीं हुआ। ऐलोपैथिक, होमियोपैथिक, वैद्यक, हकीमी आदि सभी तरहके इलाज हुए परन्तु रोग दूर नहीं हुआ। अन्तमें श्रद्धालु गृहिणीकी सलाहसे देवकार्य करना निश्चय हुआ। पण्डितजीने सूर्यकी उपासना बतलायी। कहा कि 'बाबूजी प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्यनारायणको साष्टांग प्रणाम करके अर्घ्य दें।' बाबूने कहा, 'साष्टांग प्रणाम कैसा होता है, मैं नहीं जानता, आप दिखला दें।' पण्डितजीको तो अभ्यास था ही, उन्होंने पृथ्वीपर लेटकर साष्टांग प्रणामकी विधि बतला दी। इस प्रणामका ढंग देखकर बाबू बड़े असमंजसमें पड़ गये, परन्तु क्या करें, बड़े कष्टसे घुटने नीचे किये, माथा भी कुछ झुकाया परन्तु जमीनपर पड़नेकी कल्पना आते ही वे दुःखी हो गये। उन्होंने उठकर पण्डितजीसे कहा—'महाराज! बीमारी दूर हो या न हो, मुझसे ऐसा बेढंगा प्रणाम नहीं होगा।' सारांश यह कि, जिसके शरीर-मन-प्राण अभिमानके विषसे जर्जरित हैं, वह देवताके चरणोंमें अपना सिर क्यों झुकायेगा? जगत्‌में जो पार्थिव अभिमान फूट निकला है, महारुद्रके संहार-शूलका दर्शन किये बिना वह मुरझायेगा नहीं। ऐसे अभिमानका त्याग करना जितना कठिन है, भगवान्‌को प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है। जो चीज बहुत दूर होती है, उसीका मिलना कठिन होता है। भगवान् जगत्-प्रभु तो तुम्हारे निकटसे भी निकट देशमें रहते हैं, परन्तु वे तुम्हारे पास क्यों आवें? तुम तो स्वयं ही प्रभु (अहं) बन रहे हो। जगत्प्रभुके लिये तुमने जो हृदयासन बिछा रखा है, वह तो बहुत ही क्षुद्र है। इतने छोटे आसनपर वे और तुम दोनों एक साथ नहीं बैठ सकते।

इसीसे गोसाईंजी महाराजने कहा है—

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
'तुलसी' कबहुँ कि रहि सके, रबि रजनी इक ठाम॥

जहाँ श्रीराम रहते हैं, वहाँ काम या विषय-परायण 'अहम्' नहीं रह सकता और जहाँ यह काम निवास करता है, वहाँ राम नहीं रहते। सूर्य और रात्रि कभी एक साथ रह सकते हैं? अतएव 'मैं' और 'भगवान्' दोनों अन्धकार-प्रकाशकी भाँति एक साथ नहीं रह सकते। 'मैं' इस पदको हटाना पड़ेगा। तभी 'वे' यहाँ पधारकर विराजित हो सकेंगे। वे तो दुर्लभ नहीं हैं। साधक! झूठमूठ ही भगवान्‌को दुर्लभ बताकर उनपर कलंक क्यों लगाते हो? वे तुम्हारे हृदय-देशमें निवास करनेके लिये आते हैं, परन्तु दरवाजा बन्द पाकर लौट जाते हैं, तुम्हारे हृदय-कपाट खुले नहीं रहते, इसीसे ध्यानके समय श्रीराधाकृष्णकी मूर्ति-से वे तुम्हारे 'सामने' खड़े रहते हैं। यह कलंक असलमें हमारा है, उनका नहीं।

भीख ही ऐश्वर्य-शक्तिको बुलाती है। जो '**भिक्षायां नैव नैव च**' कहते हैं, वे भ्रमसे ऐसा कहते हैं। यथार्थ भिखारी बन जानेपर तो ऐश्वर्य-शक्ति दौड़ी हुई आकर उसका आश्रय लेती है। इसीसे तो जगद्धात्री अन्नपूर्णा राजराजेश्वरी भिक्षुकप्रवर महादेवकी गृहिणी बनी हैं। महापण्डित महाप्रभुने भिखारी बनकर ही—कन्था-कौपीन धारण करके ही—तर्काभिमान चूर्ण करके ही अमूल्य 'नीलकान्त-मणि' को प्राप्त किया था। यह भिक्षा ही उसके राज्यकी व्यवस्था है। पूर्ण दीन, पूर्ण निरभिमानी हुए बिना वह प्रियतम नहीं मिल सकता है। दीन बनकर यही समझना होगा कि 'मेरा' कुछ भी नहीं है—वही मेरा सर्वस्वधन है। 'मैं' कुछ भी नहीं हूँ, विराट्‌रूपसे विश्वमें एकमात्र वही विराजित है। वास्तवमें वही तो सबकी सत्ता (आत्मा)-रूपसे स्थित है। तुम और मैं (देहेन्द्रियादि जडपिण्ड) पीछेसे आकर उसको भगानेवाले कौन हैं? हमें इतना घमण्ड किस बातपर है? यह मनुष्यकी देह मिट्टीसे ही पैदा हुई है और एक दिन पुनः मिट्टी ही हो जायगी। फिर अभीसे मिट्टी क्यों नहीं बन जाते। भगवान्‌के सखा अर्जुनने मिट्टी होकर ही—दीन बनकर कहा था—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

इसीलिये गीताका अमृतमय उपदेश देकर भगवान्‌ने उसके ज्ञानचक्षु खोल दिये। पूर्ण दीनतामय भावके सूक्ष्म सूत्रका अवलम्बन करके ही भावस्वरूप भगवान् प्रकट होते हैं। पापियोंके अत्याचारसे जब पृथ्वीपर दीनता छा जाती है, पुण्यका जब पूर्ण अभाव हो जाता है, तभी भगवान्‌का अवतार होता है। साठ हजार शिष्योंको साथ लेकर जिस समय ऋषि दुर्वासा वनमें पाण्डवोंकी कुटियापर पहुँचे, उस समय द्रौपदीके सूर्यप्रदत्त पात्रमें अन्नका एक कण भी नहीं था। उस पूर्ण अभावके समय—पूरी दीनताके कालमें—द्रौपदीने पूर्णरूप प्रभुको कातरस्वरसे पुकारकर कहा था—'हे द्वारकाधीश! इस कुसमयमें दर्शन दो! दीनबन्धो! विपत्तिके इस तीरहीन समुद्रमें तुम्हें देखकर कुछ भरोसा होगा।' द्रौपदीकी आर्त-प्रार्थना सुनकर जगत्-प्रभु स्थिर नहीं रह सके। ऐश्वर्यशालिनी रुक्मिणी और सत्यभामाको छोड़कर भिखारिणी दरिद्रा द्रौपदीकी ओर दौड़े। द्वारकाके अतुलनीय ऐश्वर्यस्तम्भको भेदकर अरण्यवासी पाण्डवोंकी पर्णकुटीरमें विभूतिस्वरूपकी प्रखर प्रभा प्रकाशित हो गयी। द्रौपदीने कहा, 'नाथ! क्या इतनी देर करके आना चाहिये?' भगवान् बोले, 'तुमने मुझको द्वारकाधीशके नामसे क्यों पुकारा था, प्राणेश्वर क्यों नहीं कहा? जानती नहीं हो, द्वारका यहाँसे कितनी दूर है? इसीसे आनेमें देर हुई है।'

जो हमारे प्राणोंके अन्दरकी प्रत्येक क्रियाको जानते हैं, उनके सामने माँगनेके लिये मुँह खोलना बुद्धिमानी नहीं है। भीखकी झोली बगलमें लेकर दरवाजेपर खड़े होते ही वे दया करते हैं। बस, हमें तो चुपचाप उनकी सेवा करनी चाहिये। हम दीन-हीन कंगाल हैं, द्वारपर पड़े रहना ही हमारा कर्तव्य है। उनका कर्तव्य वे जानते हैं, हमें उसके लिये क्यों चिन्ता करनी चाहिये? सेवकका दुःख-दर्द दूर करना चाहिये, इस बातको प्रभु स्वयं सोचेंगे, हमें तो मनमें भी कुछ नहीं कहना चाहिये। यही निष्काम भिखारीकी भाषा है। यथार्थ भिखारी तो प्रभुके दर्शन पानेके लिये ही व्याकुल रहता है। उनका दर्शन होनेपर माँगनेकी नौबत ही नहीं आती, सारे अभाव पहले ही मिट जाते हैं, समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। भिखारीकी घास-पातकी झोंपड़ी अमूल्य रत्नराशिसे भर जाती है। फिर माँगनेका मौका ही कहाँ रहता है? श्रीमद्भागवतमें कथा है—

सुदामा पण्डित लड़कपनसे ही भगवान् श्रीकृष्णके सखा थे—दोनों मित्र एक ही गुरुजीके यहाँ साथ ही पढ़ा

करते थे। विद्या पढ़ लेनेपर दोनोंको अलग होना पड़ा। बहुत दिन बीत गये। परस्पर कभी मिलना नहीं हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकाके राजराजेश्वर हुए और गरीब सुदामा अपने गाँवमें भीख माँगकर काम चलाने लगे। सुदामाकी गृहस्थी बड़ी ही कठिनतासे चलती थी। एक दिन उनकी स्त्रीने कहा—'आप इतने बड़े पण्डित होकर भी कुछ कमाई नहीं करते। फिर इस विद्यासे क्या लाभ होगा?' सुदामा बोले, 'ब्राह्मणी! मेरी विद्या इतनी तुच्छ नहीं है कि मैं उसे केवल नगण्य धन कमानेमें लगाऊँ?' इसपर ब्राह्मणी बोली, 'अच्छी बात है आप इसे धन कमानेमें मत लगाइये! परन्तु आप कहा करते हैं 'श्रीकृष्ण मेरे बालमित्र हैं', सुना है वे इस समय द्वारकाके राजा हैं, उनसे मिलनेपर तो सहज ही आपको खूब धन मिल सकता है।' सुदामाने कहा, 'तुम तो खूब सलाह दे रही हो! भगवान्से मेरी मित्रता है, इसलिये क्या मैं उनसे धन माँगूँ? मुझसे ऐसा नहीं होगा। मैं भक्तिको इतनी छोटी चीज नहीं समझता, जो तुच्छ धनके बदलेमें उड़ा दी जाय! तुम पगली हो गयी हो इसीसे ऐसा कह रही हो।' ब्राह्मणी बोली, 'स्वामिन्! मैं कहाँ कहती हूँ कि आप उनके पास जाकर धन माँगें। मैं तो यही कहती हूँ, जब वे आपके बालसखा हैं, तब एक बार उनसे मिलनेमें क्या हानि है? आप उनसे कुछ भी माँगियेगा नहीं।' स्त्रीके बहुत समझाने-बुझानेपर सुदामाने सोचा कि चलो, इसी बहाने मित्रके दर्शन तो होंगे और वे वहाँसे चल पड़े। थोड़ेसे चिउड़ोंकी कनी पल्ले बाँध ली।

सुदामाजी द्वारकाजी पहुँचे। वहाँके बड़े-बड़े सोनेके महलोंको देखकर उनकी आँखें चौंधिया गयीं। श्रीकृष्णके महलपर पहुँचकर उन्होंने द्वारपालसे कहा कि, 'जाओ, अपने स्वामीसे कह दो कि आपके एक बालसखा मिलने आये हैं।' महलोंकी छटा देखकर गरीब ब्राह्मण सोचने लगा कि कहीं श्रीकृष्ण मुझे भूल तो नहीं गये होंगे, परन्तु अन्तर्यामीसे कुछ भी छिपा नहीं था। उनको पता लग गया कि पुराने प्राणसखा सुदामा द्वारपर खड़े हैं। भगवान् पलंगपर लेट रहे थे, श्रीरुक्मिणीजी चरण-सेवा कर रही थीं। भगवान् चमककर उठे और दरवाजेपर खड़े हुए बाल-बन्धुको आदरके साथ अन्दर लिवा लानेके लिये दौड़े। पटरानियाँ भी पीछे-पीछे दौड़ीं।

साधक! तुम उनकी ओर एक पैर आगे बढ़ोगे तो वे तीन पैर बढ़ेंगे। उनकी अतुल दया ऐसी ही है। सखाको साथ लेकर भगवान् अन्तःपुरमें पधारे। पटरानियोंने मिलकर सुदामाके चरण धोये। उन्हें पलंगपर बिठाकर भगवान् स्वयं चमर डुलाने लगे। भगवान्ने प्रेमसे कहा, 'सखे! बहुत दिन बाद तुम मिले हो, मेरे लिये क्या लाये हो?' सुदामाने लज्जासे सिर नीचा कर लिया। इतने बड़े धनीको चिउड़ोंकी टूटी कनी देते सुदामाको बड़ा संकोच हुआ, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने उनकी बगलसे पुटलिया छीन ली और लगे चिउड़ा फाँकने। भक्तके प्रेमभरे उपहारकी वे उपेक्षा क्यों करते? भगवान्ने एक मुट्ठी फाँककर ज्यों ही दूसरी हाथमें ली, त्यों ही भगवती रुक्मिणीजीने उन्हें रोक लिया। भगवान् मुट्ठी छोड़कर मुसकराने लगे। तदनन्तर वे बोले—भक्तमाल-रचयिता महाराजा श्रीरघुराजसिंहजी कहते हैं—

ऐसे सुनि प्यारी बचन, जदुनन्दन मुसकाइ।
मन्द मन्द बोले बचन, आनँद उर न समाइ॥
ब्रजमें यशोदा मैया मन्दिरमें माखन औ
मिश्री मही मोहन त्यों मोदक मलाई है।
खायो मैं अनेक बार तैसे मथुरामें आइ,
व्यंजन अनेक मोहि जननी जेंवाई है।
तैसे द्वारिकामें जदुवंशिन के गेह-गेह,
सहित सनेह पायो भोजन में लाई है।
रघुराज आजलों त्रिलोकहुमें मीत ऐसी,
राउर के चाउर ते पाई ना मिठाई है॥
खायो अनेकन यागन भागन मेवा रमा कर वागन दीठे,
देवसमाजके साधुसमाजके लेत निवेदन नाहि उबीठे।
मीत जु साँची कहौ रघुराज इते कस वै भये स्वाद ते सीठे,
पायो नहीं कतहूँ अस मैं जस राउर चाउर लागत मीठे॥

सुदामाके चिउड़ोंकी महिमा वर्णन करनेके बाद सभी सुदामाजीकी सेवामें लग गये। कुछ दिन मित्रके घर रहनेके बाद सुदामाने विदा माँगी। भगवान्ने संकोचसे अनुमति दे दी। ब्राह्मण खाली हाथों लौट चले। घरके पास पहुँचकर ब्राह्मणने देखा तो झोपड़ी नहीं है। वहाँ एक बड़ा सुन्दर महल बना हुआ है। ब्राह्मण सुदामाने सोचा, किसी राजाने जमीन छीनकर महल बनवा लिया होगा। ब्राह्मणको बड़ी चिन्ता हुई। फूसकी मड़ैया और पतिव्रता ब्राह्मणी भी गयी। इतनेमें सुदामा देखते हैं कि उनकी स्त्री महलके झरोखेमें खड़ी उन्हें पुकार रही है। ब्राह्मणने सोचा, दुष्ट राजाने ही स्त्रीको भी हर लिया है, पर वह बुला क्यों रही है?

ब्राह्मण डरकर दौड़े। बड़ी कठिनतासे नौकर उन्हें समझा-बुझाकर घरमें ले गये। गृहिणीने बहुत ही नम्रतासे चरणोंमें प्रणाम करके कहा, 'प्राणेश्वर! डरें नहीं! यह अतुल सम्पत्ति आपकी ही है, आपके मित्रने यह आपको भेंट की है।' सुदामा बोले, 'मैंने तो उनसे कुछ माँगा ही नहीं था।' ब्राह्मणीने कहा, 'आपने प्रत्यक्ष नहीं माँगा, इसीसे उन्होंने आपको प्रत्यक्षमें कुछ भी नहीं दिया।' अन्तर्यामी यों ही किया करते हैं। ब्राह्मणकी दोनों आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। प्राणसखाके प्रेमकी स्मृतिसे सुदामा भावावेशसे विह्वल हो गये।

जगत्! देख जाओ, आज इस कंगालके ऐश्वर्यको देख जाओ! जो कल राहका भिखारी था, वही आज रत्नसिंहासनपर आसीन है। देख जाओ! आज पर्णकुटीरमें त्रिभुवनव्यापिनी माधुरी छा रही है। संसार! तुम जिस भिखारीको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते थे, जिसको पद-दलित समझते थे, देख जाओ, आज वही भिखारी दीनताके रूपको भेदकर अखिल विश्वब्रह्माण्डमें वरणीय हो गया है।

भिखारी! जगत्की चुटकियोंकी ओर न देखो। जगत्के अपमानकी ओर दृष्टि मत डालो। विविध विपत्तियोंसे डरकर मत काँपो। तुम अपना काम अचल चित्तसे किये जाओ। जितने ही बाधा-विघ्न और संकट बढ़ेंगे, उतना ही यह समझो कि तुम्हें गोदमें लेनेके लिये जगज्जननीका हाथ तुम्हारी ओर बढ़ रहा है। स्नेहमयी माता पुत्रको गोद लेनेसे पहले अँगोछेसे उसके शरीरको रगड़-रगड़कर साफ करती है। साधक! इसी प्रकार जगज्जननी भी तुम्हें गोदमें लेनेसे पूर्व एक बार रगड़ेगी। इस रगड़से घबराना नहीं—डरना नहीं। यह समझना कि, इस वेदनासे तुम्हारी यम-वेदना विध्वंस हो गयी है। इस कष्टसे तुम्हारा सारा कष्ट नष्ट हो गया है, अतएव साधक! हताश न होना!

चोर-जार-शिखामणि

व्रजे वसन्तं नवनीतचौरं गोपांगनानां च दुकूलचौरम्।
अनेकजन्मार्जितपापचौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि॥

अहिमकरकरनिकरमृदुमुदितलक्ष्मी-
सरसतरसरसिरुहसदृशदृशि देवे।
व्रजयुवतिरतिकलहविजयिनिजलीला-
मदमुदितवदनशशिमधुरिमणि लीये॥

एक सज्जन पूछते हैं—'गोपालसहस्रनाम' में भगवान्का एक नाम 'चोर-जार-शिखामणि' आया है। चोरी और जारी दोनों ही अत्यन्त नीच वृत्तियाँ हैं। भगवान्के भक्तकी तो बात ही दूर, जब साधारण विवेकवान् पुरुष भी 'चोरी-जारी' से बचे रहते हैं, तब फिर भगवान्में चोरी-जारीका होना कैसे सम्भव है? और यदि उसमें चोरी-जारी नहीं है तो फिर उनको चोर-जारोंका मुकुटमणि कहना क्या उन्हें गालियाँ देना नहीं है? और यदि वास्तवमें भगवान्में चोरी-जारीका होना माना जा सकता है तो फिर वे भगवान् कैसे हुए और उनके आदर्शसे दुनियाके लोग डूबे बिना कैसे बचेंगे? मेरी समझसे बुरी नीयतसे किसीने उनका यह नाम रख दिया है। इस सम्बन्धमें आपका मत जानना चाहता हूँ।

इसके उत्तरमें अल्पमतिके अनुसार कुछ लिखनेका प्रयत्न किया जाता है। प्रश्नकर्ता महोदयको इससे कुछ सन्तोष हुआ तो अच्छी बात है। नहीं तो, इसी बहाने कुछ समय भगवच्चर्चामें बीतेगा और इस सुअवसरकी प्राप्तिके कारण प्रश्नकर्ता महोदय हैं, इसलिये मैं तो उनका कृतज्ञ हूँ ही।

यह बात सर्वथा सत्य है कि 'चोरी' और 'जारी' बहुत ही नीच वृत्तियाँ हैं और ऐसी वृत्तियाँ जिन लोगोंमें हैं, वे कदापि विवेकवान् और सदाचारी नहीं हैं। भक्तमें ऐसे दुर्गुण रह ही नहीं सकते और भगवान्में तो इनकी कल्पना करना भी मूर्खताकी सीमा है। इतना होनेपर भी 'गोपालसहस्रनाम' में आया हुआ श्रीभगवान्का यह 'चोर-जार-शिखामणि' नाम न तो भगवान्को गाली देनेके लिये है और न किसीने बुरी नीयतसे ही इस नामको गढ़ लिया है। दृष्टिविशेषके अनुसार भगवान्में इस नामकी पूर्ण सार्थकता है और इसका रहस्य समझ लेनेपर फिर कोई शंका भी नहीं रहती।

सबसे पहले भगवान्का स्वरूप समझना चाहिये। स्वरूपभूत दिव्यगुणविशिष्ट भगवान्में लौकिक गुणोंका—जो प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणके विकार हैं—सर्वथा अभाव है, इसलिये वे निर्गुण हैं। भक्तोंके परम आदर्श, लोकसंग्रहके

आचार्य और विश्वके भरण-पोषणकर्ता, होनेसे वे समस्त सात्त्विक गुणोंको अपनेमें धारण करते हैं, इसलिये वे अशेष सद्‌गुणालंकृत हैं और प्रकृतिके द्वारा अखिल जगत्-रूपमें इन्हींका प्रकाश होनेके कारण वे समस्त सदसद्‌गुणसम्पन्न हैं। भगवान् ही समस्त विश्वके निमित्त और उपादान कारण हैं। इस दृष्टिसे संसारके सभी भाव उन्हींसे उत्पन्न होते हैं,[१] सभी भावोंका सम्बन्ध उनसे जुड़ा हुआ है। इतना होनेपर भी उनके स्व-स्वरूपमें कोई दोष नहीं आता। उनके द्वारा सब कुछ होनेपर भी वे किसीके बन्धनमें नहीं हैं।[२]

किसी दृष्टिविशेषके हेतुसे उन्हें यदि संसारसे सर्वथा पृथक् माना जाय तो फिर यह तो मानना ही पड़ेगा कि संसारमें जो कुछ है, सभी भगवान्‌का है; क्योंकि वे 'सर्वलोकमहेश्वर'[३] हैं और संसारमें जितने भी पुरुष हैं, सबके देहमें 'देही' या आत्मारूपसे वे ही स्वयं विराजित हैं।[४] इस दृष्टिसे समस्त संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंके सत्त्वपर अधिकार करनेसे और समस्त स्त्रियोंके पति होनेसे भी उनपर न तो परधनापहरणका दोष आ सकता है और न औपपत्यका ही।

परन्तु यहाँ सर्वलोकमहेश्वर और विश्वात्मारूपमें स्थित भगवान्‌के सम्बन्धमें प्रश्न नहीं है, यहाँ तो प्रश्नकर्ता महोदय विश्वात्मा और सर्वलोकमहेश्वरसे भिन्न समझकर उन साकार-मंगलविग्रह भगवान्‌के सम्बन्धमें पूछते हैं, जो धर्मसंस्थापनार्थ ही धरातलपर अवतीर्ण होते हैं। उनका कहना है कि 'धर्मसंस्थापनार्थ अवतार ग्रहण करनेवाले भगवान् क्या ऐसा कोई भी कार्य कर सकते हैं जो स्वरूपतः धर्मविरुद्ध हो और जिससे शुभ आदर्श नष्ट होनेके साथ ही धर्मस्थापनाके स्थानपर धर्मकी हानि होती हो।'

इसके उत्तरमें यों तो यह कहना भी सर्वथा युक्तियुक्त और सत्य ही है कि भगवान्‌पर माया-जगत्‌के धर्मका कोई बन्धन लागू नहीं पड़ता, वे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं। वे जो कुछ करते हैं, वही उनका धर्म है। और वे जो कुछ कहते हैं वही शास्त्र है। अवश्य ही उनकी क्रियाका अनुकरण करना हर एकके लिये न तो उचित है और न सम्भव ही है; क्योंकि भगवान्‌की क्रिया भगवान्‌के स्वधर्मानुकूल होती है। जीवमें भगवत्ता न होनेसे वह भगवान्‌के धर्मका आचरण नहीं कर सकता। भगवान् श्रीकृष्ण आग पी गये, वे वरुणलोकसे नन्दको ले आये, यमराजके यहाँसे गुरुपुत्रको लौटा लाये, उन्होंने दिनमें ही सूर्यको छिपा दिया, बाललीलामें कनिष्ठिका अँगुलीपर पहाड़ उठा लिया और अपने चरित्रोंसे ब्रह्माको भी मोहित कर दिया। जीव इनमेंसे कोई-सा भी कार्य नहीं कर सकता। इसीलिये भगवान्‌की क्रियाका अनुसरण भी मनुष्य नहीं कर सकता। हाँ, उनकी वाणीका— उनके उपदेशोंका पालन अवश्य करना चाहिये और इसीमें जीवोंका कल्याण है!

ऐसा होनेपर भी साकार-मंगलविग्रह भगवान्‌की लीलामें वस्तुतः ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जो शास्त्रविरुद्ध हो या जिसे हम चोरी-जारी या किसी पापकी श्रेणीमें रख सकते हों। मोहवश मूढ़ लोग उनके स्वरूपको न समझनेके कारण ही उनकी क्रियाओंपर दोषारोपण कर बैठते हैं।[५] तब फिर इस 'चोरी-जारी' का क्या अर्थ है? अब इसीपर संक्षेपमें विचार करना है। यों तो वेदोंमें भी भगवान्‌को '**स्तेनानां पतये नमः**' चोरोंके सरदार कहकर प्रणाम किया गया है। भगवान् श्रीरामको भी प्राचीन सद्ग्रन्थोंके आधारपर श्रीरामस्वरूपके अनुभवी गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने ***'लोचन सुखद विश्व-चितचोरा'*** कहा है। परन्तु प्रधानरूपसे यह 'चोर-जार-शिखामणि' नाम भगवान् श्रीकृष्णके लिये ही

१- ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि ....॥ (गीता ७।१२)
अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाले जितने भाव हैं, सबको तू मुझसे ही (उत्पन्न) जान।

२- न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय। (गीता ९।९)
अर्थात् हे अर्जुन! वे कर्म मुझको नहीं बाँधते।

३- सर्वलोकमहेश्वरम्। (गीता ५।२९)

४- अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। (गीता १०।२०)
अर्जुन! सब भूतोंके हृदयमें आत्मारूपसे मैं ही स्थित हूँ।

५- अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ (गीता ९।११)
'सब भूतोंके महेश्वररूप मेरे परमभावको न जाननेवाले मूढ़ मनुष्य ही मानव-शरीरधारी मुझ भगवान्‌को न पहचानकर मुझे तुच्छ समझते हैं।'

प्रयुक्त हुआ है। श्रीमद्भागवतके अनुसार यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'**। गीतामें तो भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही श्रीमुखसे बारम्बार अपनेको साक्षात् सर्वाधिपति सच्चिदानन्दघन परात्पर तत्त्व घोषित किया है और इन भगवान्का, 'चोर-जार-शिखामणि' नाम रखा गया है उन व्रजगोपियोंके द्वारा, जिनके चरणोंकी पावन धूलि पानेके लिये देवश्रेष्ठ ब्रह्मा और ज्ञानिश्रेष्ठ उद्धव तिर्यगादि योनि और लता-गुल्मादि जड शरीर धारण करनेमें भी अपना सौभाग्य समझते हैं[१] और स्वयं भगवान् जिनका अपनेको ऋणी घोषित करते हैं।[२]

गोपियोंके घर माखन खाकर और यमुनातटपर उनके वस्त्रोंको कदम्बपर रखकर भगवान् श्रीकृष्ण 'चोर' कहलाये और शारदीया पूर्णिमाकी रात्रिको गोपियोंमें आत्मरमणकर भगवान् 'जार' कहलाये। परन्तु इस माखन-चोरी, चीर-चोरी और रास-रमणके प्रेमराज्य-सम्बन्धी रहस्यका किंचित् भी तत्त्व समझमें आ जाय तो फिर यह बात भलीभाँति जान ली जाती है कि न तो यह 'चोरी' वस्तुतः चोरी ही है और न वह 'रमण' कोई परस्त्रीसंगरूप व्यभिचार ही है।

शब्दोंको लेकर झगड़नेकी बात तो दूसरी है। तत्त्वज्ञ लोग शब्दोंपर ध्यान नहीं दिया करते, वे प्रसंगानुकूल उनके अर्थोंपर ध्यान देते हैं। वेदोंमें और गीतामें भी अच्छे भावोंमें 'काम' शब्दका प्रयोग हुआ है। भगवान् स्वयं एकसे अनेक होनेकी 'कामना' करते हैं।[३] धर्मसे अविरुद्ध 'काम' को वे अपना स्वरूप बतलाते हैं।[४] गोपियोंके दिव्य प्रेमको शास्त्रमें 'काम' कहा गया है।[५] श्रुतियोंमें और गीतामें 'रति' शब्द आता है।[६] गीतामें 'रमन्ति' शब्द भी आया है।[७] परन्तु इन सबका अर्थ ही दूसरा है। एक 'जन्म' शब्दको ही लीजिये।[८] गीतामें भगवान्के लिये 'जन्म' शब्द आता है। भगवान् अजन्मा हैं परन्तु वे स्वयं अर्जुनसे कहते

१-तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ३४)

श्रीब्रह्माजी कहते हैं—'भगवन्! मुझे इस धरातलपर व्रजमें विशेषतः गोकुलमें किसी कीड़े-मकोड़ेकी योनि मिल जाय जिससे मैं गोकुलवासियोंकी चरण-रजसे अपने मस्तकको अभिषिक्त करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकूँ, जिन गोकुलवासियोंका जीवन आप भगवान् मुकुन्दके परायण है, जिनकी चरण-रजको अनादिकालसे अबतक श्रुति खोज रही है [परन्तु पाती नहीं)।'

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।६२)

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः। यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥ (श्रीमद्भा० १०।४७।६३)

श्रीउद्धवजी कहते हैं—

'अहो! इन गोपियोंकी चरण-रजको सेवन करनेवाली वृन्दावनमें उत्पन्न हुई गुल्म, लता और ओषधियोंमेंसे मैं कुछ हो जाऊँ; (जिससे उन गोपियोंकी चरण-रज मुझे भी प्राप्त हो) क्योंकि इन गोपियोंने बहुत ही कठिनतासे त्याग किये जानेयोग्य स्वजनोंको और आर्यपथको त्यागकर भगवान् मुकुन्दके मार्गको प्राप्त किया है, जिनको श्रुतियाँ अनादिकालसे खोज रही हैं। मैं उन श्रीनन्दजीके व्रजकी स्त्रियोंकी चरण-रेणुको बार-बार नमस्कार करता हूँ, जिनका भगवान्की लीला-कथाओंका पान त्रिभुवनको पवित्र करता है।'

२- न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥ (श्रीमद्भा० १०। ३२। २२)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'प्रियाओ! तुमने घरकी कठिन बेड़ियोंको तोड़कर मेरी सेवा की है, तुम्हारे इसी साधुकार्यका बदला मैं देवताओंकी आयुमें भी नहीं चुका सकता। तुम अपनी ही उदारतासे मुझे इस ऋणसे मुक्त कर सकती हो।'

३-'सोऽकामयत्' (तैत्तिरीय० २। ६)

४-'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ!' (गीता ७। ११)
अर्थात् हे अर्जुन! धर्मसे अविरुद्ध 'काम' मैं हूँ।

५-'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम्।'

६-'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।' (मुण्डक० ३। १। ४)
'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' (गीता ३। १७)

७-'तुष्यन्ति च रमन्ति च' (गीता १०। ९)

८-'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि······ ' (गीता ४।५)
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ (गीता ४। ९)

हैं, मेरे कई जन्म हो चुके हैं साथ ही यह भी कहते हैं कि मेरे जन्मके तत्त्वको जाननेवाला 'जन्म' से छूट जाता है। जरा सोचना चाहिये, जिसके 'जन्म' के तत्त्वको जाननेवाला जन्मसे छूट जाता है, उसका जन्म क्या उसी जातिका जन्म है, जिस जातिका उस जन्मसे छूटनेवाले साधारण मनुष्यका जन्म होता है? वह अजन्माका जन्म है। दिव्य जन्म है। जन्म होनेपर भी वस्तुतः वह जन्म नहीं है। इसी प्रकार भगवान्‌का 'काम' उनकी 'चोरी', उनकी 'जारी', उनकी 'रति', उनका 'रमण' आदि सभी दिव्य हैं। जिन भगवान्‌का अनन्य भजन करनेवाले मनुष्य गुणातीत हो जाते हैं, उन नित्य निर्गुण भगवान्‌में बहिरंगा प्रकृतिके मलिन विकाररूप दुर्गुणोंकी कल्पना करना मूर्खता नहीं तो और क्या है?

तब फिर ये क्या हैं? ये हैं भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता दिव्य लीलाएँ, जो दिव्य व्रजधाममें, दिव्य व्रजवासियों और दिव्य व्रजबालाओंके साथ दिव्य देहमें दिव्यरूपसे होती हैं। इनमें न प्राकृत चोरी है, न प्राकृत रमण है और न प्राकृत देह है। अधिक क्या, वहाँकी प्रकृति ही प्राकृत नहीं है। इसीलिये यह रहस्य हमारी प्राकृत बुद्धिके ध्यानमें नहीं आता। हमारी बुद्धि बहिरंगा प्रकृतिके कार्यरूप समष्टिबुद्धिका एक अत्यन्त स्थूल रूप है, जो स्वयं प्रकृतिसम्भूत अज्ञानसे इतनी आच्छादित है कि अपने कारणरूप बहिरंगा प्रकृतिका भी रहस्य नहीं जान सकती, फिर इस प्रकृतिसे सर्वथा अतीत दिव्यराज्यके खेलको यह बुद्धि कैसे समझ सकती है? इसीलिये ऐसे शब्दोंको पढ़-सुनकर हमारी बुद्धिमें मोह होता है और हम श्रीभगवान्‌को अपने ही सरीखे प्राकृत शरीरधारी मनुष्य मानकर और उनकी दिव्य लीलाओंको प्राकृत मनुष्योचित लौकिक क्रिया समझकर उनपर दोषारोपणकर, मोहवश उनका अनुकरण करने जाकर या पापबुद्धिकी प्रेरणासे उनकी दिव्य लीलाओंकी आड़में अपने पापका समर्थन करनेकी चेष्टा कर घोर नरककुण्डमें गिर पड़ते हैं! यह हमारा ही अज्ञान है। अप्राकृत भगवान्‌की अप्राकृत लीलाओंका रहस्य अप्राकृत स्थितिमें पहुँचनेपर ही कोई जान सकता है। इसीलिये गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मभूत होनेके पश्चात् ही पराभक्तिके द्वारा अपने स्वरूपके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति बतलायी है।* यह दुर्लभ स्थिति भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है। इस स्थितिमें पहुँचनेपर भगवान्‌की दिव्य लीलाओंका जो यथार्थ प्रत्यक्ष होता है, वे मन-वाणीके अगोचर भगवत्स्वरूपमय होती हैं, उनका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता।

हाँ, प्रेमराज्यके बाह्य स्तरकी कुछ स्थूल बातें, जो भगवत्कृपासे शुद्धान्तःकरणवाले पुरुषोंकी समझमें किसी अंशमें आ सकती हैं, उन्हींपर विचार किया जा सकता है और उनके अनुसार गोपियोंके घरमें दधि-माखनकी चोरीलीलाको हम भगवान्‌की 'भक्तपूजा-ग्रहण-लीला', वस्त्रचोरीको 'आवरण-हरण-लीला' और रास-रमणको अत्यन्त गोपनीय 'प्रेम-मिलन-लीला' कह सकते हैं।

भला, क्या कोई कह सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने किसी दिन भी किसी ऐसी गोपीके घरमें घुसकर माखन चुराया था जो उस माखनको अपनी चीज समझती थी और जो भगवान्‌के द्वारा उसके चुरा लिये जानेपर दुःखी होती थी? श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्णभावित-मति गोपिकाओंका तन-मन-धन सभी कुछ श्यामसुन्दर प्राणप्रियतम श्रीकृष्णका था। वे संसारमें जीती थीं श्रीकृष्णके लिये, घरमें रहती थीं श्रीकृष्णके लिये और घरके सारे काम करती थीं श्रीकृष्णके लिये। उनकी निर्मल और योगीन्द्रदुर्लभ पवित्र बुद्धिमें श्रीकृष्णके सिवा अपना कुछ था ही नहीं। श्रीकृष्णके लिये ही, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही, श्रीकृष्णकी निज सामग्रीसे ही श्रीकृष्णको पूजकर—श्रीकृष्णको सुखी

अर्थात् 'अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है, इसको जो पुरुष तत्त्वतः जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, वह मुझको ही पाता है।'

* ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। (गीता १८। ५४-५५)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'ब्रह्मभूत होनेपर प्रसन्नात्मा पुरुष न तो किसी वस्तुके लिये शोक करता है, न किसीकी आकांक्षा करता है, वह सब भूतोंमें समभावसे ब्रह्मको देखता है, तब उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है और उस पराभक्तिके द्वारा वह मेरे स्वरूप-तत्त्वको यथार्थरूपमें जानता है!'

देखकर वे सुखी होती थीं। प्रात:काल निद्रा टूटनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक वे जो कुछ भी करती थीं सब श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये ही करती थीं। यहाँतक कि उनकी निद्रा भी श्रीकृष्णमें ही होती थी। स्वप्न और सुषुप्ति दोनोंमें ही वे श्रीकृष्णकी मधुर और शान्त लीला देखा करती थीं। रातको दही जमाते समय श्यामसुन्दरकी माधुरी छबिका ध्यान करती हुई प्रेममयी प्रत्येक गोपिका यह अभिलाषा करती थी कि 'मेरा दही सुन्दर जमे, श्रीकृष्णके लिये उसे बिलोकर मैं बढ़िया-सा और बहुत-सा माखन निकालूँ और उसे उतने ही ऊँचे छींकेपर रखूँ जितनेपर श्रीकृष्णका हाथ आसानीसे पहुँच सके; फिर मेरे प्राणधन श्रीकृष्ण अपने सखाओंको साथ लेकर हँसते और क्रीड़ा करते हुए घरमें पदार्पण करें, माखन लूटें, आनन्दमें मत्त होकर मेरे आँगनमें नाचें और मैं किसी कोनेमें छिपकर इस लीलाको अपनी आँखोंसे देखकर जीवनको सफल करूँ।' रातभर गोपी इसी विचारमें रहती। प्रात:काल जल्दी-जल्दी दही बिलोकर माखन निकालकर छींकेपर रखती। कहीं प्राणधन आकर लौट न जायँ, इसलिये वह सब कामोंको छोड़कर सबसे पहले दही बिलोती और छींकेपर माखन रखनेके बाद श्रीकृष्णकी प्रतीक्षामें व्याकुल हुई मन-ही-मन सोचती—'हा! आज प्राणधन क्यों नहीं आये, इतना विलम्ब क्यों हो गया! क्या आज इस दासीका घर पवित्र न करेंगे? क्या आज मेरे समर्पण किये हुए माखनका भोग लगाकर स्वयं सुखी होकर मुझे सुखी न करेंगे?' इन्हीं विचारोंमें आँसू बहाती हुई गोपी क्षण-क्षणमें दौड़कर दरवाजेपर जाती; लज्जा छोड़कर राहकी ओर ताकती। 'श्यामसुन्दर आ रहे हैं या नहीं'—सखियोंसे पूछती। एक-एक निमेष उसके लिये युगके समान बीतता। भक्तवाञ्छाकल्पतरु भगवान् श्रीकृष्ण भी अनेक रूपोंमें एक ही साथ ऐसी प्रत्येक गोपीके घर पधारकर भोग लगातेको सुखी देखकर सुखी होते और अपने सुखसे भक्तके सुखको अनन्तगुना बढ़ा देते!

अब आप ही बतलाइये, क्या इसका नाम चोरी है? जिस चोरीको स्मृतियोंमें अपराध माना गया है, दूसरेके धनपर मन ललचानेवाले कामनाके गुलाम विषयासक्त पामर प्राणी जिस घृणित चोरीको अपना पेशा मानते हैं, क्या उस चोरीसे इस चोरीकी किसी अंशमें भी तुलना हो सकती है? बड़े पुण्य-बलसे अनन्त जन्मोंके अनन्त सुकृतोंके फलस्वरूप भगवच्चरणोंमें मनुष्यकी मति होती है और उस निर्मल मतिसे साधना करते-करते भगवत्कृपासे कभी किसी भक्ति-विशेषके द्वारा ही भगवान्के प्रति सर्वस्व समर्पित होता है, तब कहीं गोपिकाओंके इस महान् आदर्शकी कोई छाया उसमें आती है। फिर स्वरूपभूता गोपिकाओंके साथ भगवान्की इस प्रेमलीलाको मामूली चोरी समझना बुद्धिभ्रमके सिवा और क्या हो सकता है?

दूसरी चोरी भगवान् श्रीकृष्णने यमुना-तटपर उन महाभाग्यवती गोपकुमारियोंके वस्त्रोंकी की, जो कात्यायनी देवीकी साधना करके प्राणप्रियतम श्रीकृष्णको प्राणनाथ रूपमें प्राप्त करना चाहती थीं। गोपियोंका भगवान्को प्राप्त करनेकी साधना करना भी प्रेमराज्यकी एक लीला ही थी। स्वरूपभूता गोपिकाओंको श्रीकृष्ण कब अप्राप्त थे? प्रेमका मार्ग दिखलानेके लिये—प्रेमराज्यमें प्रवेश किस प्रकार हो सकता है, कितने त्यागकी इसमें आवश्यकता है, इसीका दिग्दर्शन करानेके लिये ये सब लीलाएँ थीं! जिस प्रेमराज्यकी माधुरी भक्तोंको चखानेके लिये साक्षात् रसराज रसिकशेखर श्रीकृष्णने दिव्य परिकर और अपने दिव्यधामसहित अवतीर्ण होकर व्रजमें मधुर प्रेमलीलाएँ की थीं, उन्हींमें वस्त्रहरण भी एक अनोखी लीला थी। यह लीला अत्यन्त रहस्यमयी है। विषयोंके आपातरमणीय नरकराज्यसे निकलकर दिव्य प्रेमराज्यमें प्रवेश किये बिना आनन्दसिन्धु रसराज श्रीकृष्णकी इस लीलाका रहस्य समझमें नहीं आ सकता। विषयमोहसे आवृत लौकिक दृष्टिसे तो भगवान्की इस दिव्य लीलामें दोष ही दिखलायी देगा और ऐसे लोगोंके लिये इतना ही उत्तर पर्याप्त है कि 'श्रीकृष्ण उस समय छ: वर्षके बहुत छोटे बालक थे। किसी बुरी नीयतसे गोपियोंके वस्त्रोंको चुराना उनके लिये बन ही नहीं सकता अथवा श्रीकृष्णने नदीमें नंगी होकर नहानेकी कुप्रथाको दूर करनेके लिये ऐसा किया था और इसीलिये उनसे कहा भी कि वस्त्रहीन होकर नहानेमें देवताओंका अपमान होता है;* ऐसा नहीं करना चाहिये। परन्तु प्रेममार्गके साधक भक्तोंके लिये यही बात नहीं है। उनके लिये तो भगवान् सर्वत्यागका सारे आवरणोंको हटाकर अपने सामने आनेका पाठ सिखानेके लिये ही यह लीला करते

* 'यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम्।' (श्रीमद्भा० १०। २२। १९)

हैं। भगवत्-तत्त्वके ज्ञानमें—मल और विक्षेपरूपी दो बड़े प्रतिबन्धकोंके नाश होनेपर भी—जबतक आवरण रहता है, तबतक बहुत बड़ी बाधा वर्तमान रहती है। आवरणका नाश सहजमें नहीं होता। अज्ञान इस सुकौशलसे जीवकी बुद्धिको ढके रखता है कि वह किसी तरह भी भगवान्‌के सामने निरावरण—बेपर्द होकर जानेकी अनुमति नहीं देती! इस वस्त्र-हरणकी लीलामें भक्तके बाह्याभ्यन्तर सभी प्रकारके आवरण नष्ट हो जानेका तत्त्व निहित है। आनन्द-सौन्दर्य-सुधा-निधि रसराजका चिदानन्द-रसमय रूप ही ऐसा मधुर है कि उसके सामने आनेपर किसी प्रकारकी सुधि नहीं रहती। देह-गेह, लज्जा-संकोच, मान-अपमान, अपना-पराया, लोक-परलोक—सभी कुछ उस अनुपम रूपसरिताकी प्रखर धारामें बह जाते हैं। फिर बाह्य वस्त्रोंके आवरणकी तो बात ही क्या है? गोपियोंमें बाह्याभ्यन्तर भगवान्‌के साथ कोई आवरण था—यह बात नहीं है। जिन श्रीकृष्णके एक बार सच्चे हृदयसे स्मरणमात्र करनेसे मायाके समस्त बन्धन सदाके लिये टूट जाते हैं, अज्ञानका मोटा पर्दा हमेशाके लिये फट जाता है, उन भगवान्‌का साक्षात् संग प्राप्त करनेवाली—उनके तत्त्वका नित्य अनुभव करनेवाली—उनकी दिव्य प्रेमलीलाओंमें सहायता करनेके लिये ही, उन्हींकी इच्छासे प्रकट होनेवाली उन्हींकी अपनी स्वरूपभूता दिव्य शक्तिसे विभिन्न स्वरूपोंमें प्रकट हुई गोपिकाओंमें किसी आवरणकी कल्पना करना तो भगवदपराध ही है। गोपिकाओंकी और भगवान्‌की ये लीलाएँ तो प्रेममार्गीय भक्तोंके लिये आदर्श मार्गदर्शिकारूपमें हुई हैं! जिस प्रेमके प्राकट्यमें तन-मनकी कुछ भी सुधि नहीं रहनी चाहिये, जिस प्रेमके दिव्य देशमें प्रेमास्पदके सामने उसकी प्राप्तिमें व्यवधानरूप या प्रेममें कलंकरूप कोई भी आवरण नहीं रहना चाहिये, उस प्रेममें गोपिकाओंको आवरणरहित बनानेकी चेष्टामें भगवान्‌का वस्त्र-हरण-लीला करना कैसे दूषित हो सकता है? जब साधारण लौकिक प्रेममें भी प्रेमी और प्रेमास्पदमें किसी आवरणकी गुंजाइश नहीं, तब एक ही भगवान्‌के द्विविधरूप रसराज और महाभावके पूर्ण मिलनमें वस्त्रावरणकी बाधा कैसे रह सकती है? प्रेमसाम्राज्यके सम्राट्, प्रेमतत्त्वके मूलाधार दिव्यप्रेमविग्रह और समस्त जीवोंके आत्मारूप श्रीकृष्णके सामने कौन पर्देमें रह सकता है? अणु-अणुमें व्यापक विभु परमात्मा श्रीकृष्णके सामने अपना कोई भी अंग कैसे छिपाकर रखा जा सकता है? मोहग्रस्त जीव अज्ञानवश अन्तर्यामीको न पहचानकर ही उनसे छिपने-छिपानेकी व्यर्थ चेष्टा किया करता है। परन्तु भक्त अपने आपेको उन्हींकी चीज मानकर उनके सामने खोल देता है और जहाँ भक्त होकर भी कोई इस आपेको खोलनेमें उसे किसी कारणसे संकोच होता है, वहाँ भक्तवत्सल भगवान् स्वयं उसको निरावरण कर अपने और उसके बीचके व्यवधानको पूर्णतया दूर करके दृढ़ आलिंगनके साथ उसे अपने आनन्दमय रससिन्धुमें डुबोकर रसमय बनानेके उद्देश्यसे जबरदस्ती उसके आवरणको हर लेते हैं। यही वस्त्रहरणलीलाका स्थूल रहस्य है। क्या इस लीलामें किसी भी समझदार पुरुषको बुरी नीयतका सन्देह हो सकता है? क्या इस आवरण-भंगलीलाको कोई विज्ञ पुरुष चोरी कह सकते हैं?

भगवान् तो इतना ही नहीं करते, वे सबसे पहले तो भक्तके मनको चुरा लेनेका प्रयत्न करते हैं और जो भक्त भगवान्‌को अपना मन देना चाहता है, अन्तमें उस मनको वे चुरा ही लेते हैं! जिसका मन चोरी गया वह फिर उस मनचोरसे अलग कैसे हो सकता है? इसीलिये गोपियोंकी लीलामें गोपियोंका श्रीकृष्णमें निरन्तर निवास दिखलाया जाता है। भक्तराज लीलाशुक चोरशिरोमणि बालकृष्णके लिये कहते हैं—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या
दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे
धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम्॥

'अरे पथिको! उस पथसे न जाना, वह गली बड़ी भयानक है। वहाँ अपने नितम्बबिम्बपर हाथ रखे जो तमालके तुल्य नीलवर्णका एक दिगम्बर बालक खड़ा है, वह केवल देखनेमात्रको ही अवधूत है, असलमें तो वह अपने समीपसे निकलनेवाले किसी भी मुसाफिरके मनरूपी धनको लूटे बिना नहीं रहता।' धन्य है इस चोरको और इसकी चित्तहरनी चोरीको!

अबतक तो चोरीके महत्त्वपर विचार हुआ, अब जारके अर्थपर कुछ विचार करना है। यह बात तो पहले कही ही जा चुकी है कि सब जीवोंके आत्मा होनेके कारण भगवान्‌में कभी औपपत्यकी—जारपनेकी कल्पना ही नहीं हो सकती; परन्तु यहाँ साकार दिव्य मंगल-विग्रह भगवान्‌को जो 'जारशिखामणि' कहा गया—इसीपर

विचार करना है। भगवत्सम्बन्धी रसोंमें प्रधान रस पाँच हैं—(१) शान्त, (२) दास्य, (३) सख्य, (४) वात्सल्य और (५) माधुर्य। इन पाँच रसोंका प्रयोग लौकिक प्रेममें भी होता है, परन्तु भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होनेसे ये पाँचों रस भक्तिके या भगवत्-प्रेमके उत्तरोत्तर बढ़े हुए पाँच भाव बन जाते हैं। इन पाँचोंमें सबसे ऊँचा रस है—माधुर्य। माधुर्यमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य चारों ही रहते हैं। यह रस प्रेमका सर्वोच्च विकसित रूप होनेसे अत्यन्त ही स्वादु है। इस रसके रसिकलोग भोग-मोक्ष सबको तृणवत् त्यागकर भगवत्प्रेममें मतवाले रहते हैं। इसीसे इसका नाम मधुर है। शान्तरसमें शुद्धान्त:करणकी भगवदभिमुखी वृत्तिका विकासमात्र होता है। दास्यमें भगवत्सेवाका तो अधिकार है, परन्तु भगवान् इसमें ऐश्वर्यशाली हैं, स्वामी हैं, सेव्य हैं और भक्त दीन है, दास है और सेवक है। इसमें कुछ अलगाव-सा है; भय और संकोच-सा है। परन्तु सख्य, वात्सल्य और माधुर्यमें क्रमश: भगवान् अधिकाधिक निकटतम निजजन होते चले जाते हैं। सख्यमें ऐश्वर्य अप्रकट-सा और प्रेम प्रकट-सा रहता है। वात्सल्यमें ऐश्वर्यकी कभी-कभी छाया-सी आती है—भक्तमें स्नेहका विकास रहता है और माधुर्यमें तो भगवान् अपने सारे ऐश्वर्यको भुलाकर—अपनी विभूतिको मिटाकर प्रियतम कान्तरूपमें भक्तके सामने प्रकट रहते हैं। इस रसमें न प्रार्थना है, न कामना है, न भय है और न संकोच है। समयविशेषपर प्रसंगानुकूल व्यवहारमें पूर्वोक्त चारों रसोंके दर्शन होनेपर भी प्रधान रस मधुर ही रहता है। प्रियतम मेरा है और मैं प्रियतमका हूँ; उसका सब कुछ मेरा है और मेरा तो एकमात्र प्रियतमको छोड़कर और कुछ है ही नहीं। इस रसमें भगवान्‌की जो सेवा होती है वह मालिककी नहीं, प्रियतमकी होती है। प्रियतमके सुखी होनेमें ही प्रेमीको अपार सुख है, इसलिये सेवा भी अपार ही होती है। इस माधुर्यभावमें दो प्रकार हैं—स्वकीया और परकीया। अपनी स्त्रीके साथ विवाहित पतिका जो प्रेम होता है उसे स्वकीयाभाव कहते हैं और अन्य स्त्रीके साथ जो परपुरुषका प्रेमसम्बन्ध होता है उसे परकीयाभाव कहते हैं। लौकिक प्रेममें इन्द्रियसुखकी प्रधानता होनेके कारण परकीयाभाव पाप है, घृणित है और नरकका कारण है; अतएव सर्वथा त्याज्य है, क्योंकि लौकिक परकीयाभावमें अंग-संगकी घृणित कामना है और प्रेमास्पद 'जार' पुरुष है, परन्तु भगवत्प्रेमके दिव्य कान्ताभावमें परकीयाभाव स्वकीयाभावसे कहीं श्रेष्ठ है; क्योंकि इसमें अंग-संगकी या इन्द्रियसुखकी कोई आकांक्षा नहीं है और प्रेमास्पद 'जार' नहीं, परन्तु पति-पुत्रोंके, अपने और समस्त विश्वके आत्मा स्वयं भगवान् हैं। स्वकीयाभावमें भी पतिव्रता पत्नी अपना नाम-गोत्र, मन-प्राण, धन-धर्म, लोक-परलोक—सभी कुछ पतिके अर्पणकर जीवनका प्रत्येक क्षण पतिकी सेवामें ही बिताती है, परन्तु उसमें चार बातोंकी परकीयाकी अपेक्षा कमी होती है। प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, मिलनकी अत्यन्त उत्कट अतृप्त उत्कण्ठा, प्रियतममें किसी भी दोषका न दीखना और कुछ भी न चाहना—ये चार बातें निरन्तर एक साथ निवास होनेके कारण स्वकीयामें नहीं होतीं, इसीलिये परकीयाभाव श्रेष्ठ है। भगवान्‌से नित्यमिलनका अभाव न होनेपर भी परकीयाभावकी प्रधानताके कारण गोपियोंको भगवान्‌का क्षणभरका अदर्शन भी असह्य होता था।[1] वे हर एक काम करते समय निरन्तर श्रीकृष्णका चिन्तन करती थीं[2] और श्रीकृष्णकी प्रत्येक क्रिया उन्हें ऐसी दिव्य गुणमयी दीखती थी कि क्षणभरके लिये भी उनसे उनका चित्त हटाये नहीं हटता था। अवश्य ही यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि यह परकीयाभाव केवल व्रजमें अर्थात् लौकिक विषयवासनासे सर्वथा विमुक्त

१-अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्। कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। १५)

गोपियाँ कहती हैं—'श्यामसुन्दर! जब आप दिनके समय वनमें विचरते हैं, तब आपको न देख सकनेके कारण हमारे लिये एक-एक पल युगके समान बीतता है। फिर शामको जब वनसे लौटते समय हम घुँघराली अलकावलियोंसे सुशोभित आपके श्रीमुखको देखती हैं, तब हमें आँखोंकी पलक बनानेवाले ब्रह्मा मूर्ख प्रतीत होते हैं (क्योंकि पलक पड़ना हमें सहन नहीं होता)।'

२- या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४४। १५)

'जो गोपियाँ गायोंका दूध दूहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालना झुलाते समय, रोते हुए शिशुओंको लोरी देते समय, घरोंमें झाड़ू लगाते समय प्रेमभरे हृदयसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका नाम-गुण-गान किया करती हैं, उन श्रीकृष्णमें चित्त निवेशित करनेवाली गोपरमणियोंको धन्य है।'

दिव्य प्रेमराज्यमें ही सम्भव है! इसीलिये श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

परकीयाभावे अति रसेर उल्लास।
व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहिं वास॥

सर्वोच्च मधुर रसके उच्चतम परकीयाभावका उल्लास व्रजको अर्थात् दिव्य प्रेमराज्यको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं होता। इसलिये इस प्रेमराज्यके सम्राट् भगवान् श्रीकृष्ण व्रजको छोड़कर इस रूपमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलते—

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

गोपियोंका श्रीकृष्णप्रेम इस परकीयाभावका था। इसीसे उनके लिये '**जारबुद्ध्यापि संगताः**' कहा गया है।' जारबुद्धि अर्थात् जारभाव था, न कि विषय-वासनायुक्त कामप्रेरित घृणित मनोविकार!

भगवान्की अन्तरंगा शक्तियोंमें 'ह्लादिनी शक्ति' सर्वप्रधान है। यही भगवान्की 'स्वा प्रकृति', 'आत्ममाया' या योगमाया है। भगवान्का रसराजरूपमें प्राकट्य इसी ह्लादिनी शक्तिके निमित्तसे हुआ है। वास्तवमें शक्ति और शक्तिमान्के स्वरूपमें कोई भेद नहीं है, दिव्य लीलामें स्वयं भगवान् ही अपने सौन्दर्य और माधुर्यका दिव्य रसास्वादन करनेके लिये ह्लादिनी शक्तिसे महाभावरूपिणी श्रीराधाके रूपमें प्रकट होते हैं और उसीसे विभिन्न लीलाओंके लिये असंख्य शक्तियाँ भी प्रकट होती हैं, जो रसराज श्रीकृष्ण और महाभावरूपा श्रीराधाकी प्रेमलीलामें श्रीराधाकी सहचरी होकर रहती हैं। श्रीराधा-कृष्णके प्रेममिलनमें इन सबका संयोग रहता है और यही श्रीगोपियाँ हैं। इन गोपियोंका दिव्य वंशीध्वनिसे शारदीया पूर्णिमाकी रात्रिको भगवान् आवाहन करते हैं। भगवान्के आवाहनको सुनकर भला किससे रहा जा सकता है? जिन गोपियोंका चित्त श्रीकृष्णने चुरा लिया है वे '**कृष्णगृहीतमानसाः**' गोपियाँ उस दिव्य अनंगवर्धन वंशीसंगीतको सुनकर—जो जिस अवस्थामें थीं—उसी अवस्थामें प्रियतमसे मिलनेके लिये भाग निकलती हैं; परन्तु स्थूल देहसे नहीं। उनका वह देह तो वहीं रह जाता है जिसको प्रत्येक गोप अपने पास सोया हुआ देखता है—

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्
स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३३। ३८)

अर्थात् व्रजवासियोंने रासमें गयी हुई अपनी पत्नियोंको अपने पासमें ही सोयी हुई देखा।

ये सब जाती हैं दिव्य भावदेहसे जो स्थूल, सूक्ष्म और कारणसे परे केवल व्रजप्रेमलीलाके सम्पादनार्थ ही प्रकट हुआ था और उन्हीं दिव्य भावदेहोंमें सच्चिदानन्दघन, योगेश्वरेश्वर, साक्षात् मन्मथ-मन्मथ, आप्तकाम, सत्यकाम, पूर्णकाम, दिव्य, चिदानन्दमय मंगलविग्रह भगवान् योगमायाको आश्रित करके रमणकी इच्छा करते हैं और प्रत्येक भावदेहरूपा चिदानन्दमयी गोपीके साथ एक ही साथ अनेक रूपोंमें प्रकट होकर रासक्रीडा करते और आत्मारामरूपसे रमण करते हैं। वह रमण किस प्रकारका होता है। इसपर मुनिवर श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३३। १७)

'जैसे बालक दर्पणमें अपने रूपको देखकर उसके साथ स्वच्छन्द खेलता है, उसी प्रकारसे लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णने व्रजसुन्दरियोंके साथ रमण किया।' यह है संक्षेपमें भगवान्के जाररूपकी स्थूल व्याख्या! भला, इस दिव्य प्रेमलीलाको—परमात्माकी और जीवात्माकी या भगवान् और भक्तकी इस आदरणीय मिलनलीलाको कोई व्यभिचार कह सकता है?

केवल दही, माखन और वस्त्र ही नहीं, समस्त गोपियोंके सम्पूर्ण मन-प्राणको चुरा लेनेके कारण और एक-दोके साथ नहीं किन्तु असंख्य देहोंमें, असंख्य आत्मारूपसे निवास करनेवाले परमात्माके खेलकी भाँति, अगणित चिदानन्दमयी गोपियोंके साथ आत्मरमण करनेके कारण रसानुभूतिको प्राप्त भाग्यवती गोपियोंने डंकेकी चोट भगवान् श्रीकृष्णको 'चोर-जार-शिखामणि' कहा और ठीक ही कहा!!

अवश्य ही कुछ विषयकामी पुरुषोंने भगवान्की इस दिव्यलीलाको लौकिक चोरी-जारी मानकर इसका दुरुपयोग किया और अब भी कर रहे हैं, परन्तु उनके ऐसा करनेसे न तो भगवान्के दिव्यभावमें कोई अन्तर पड़ सकता है और न गोपियोंका ही कुछ बिगड़ सकता है! हाँ, बुरी नीयतसे कवितामें, भावोंमें, आचरणमें, उपदेशमें और समझनेमें इसका दुरुपयोग करनेवाले नर-नारी अवश्य ही पापके भागी और नरकगामी होते हैं।

श्रीवृषभानुनन्दिनीसे प्रार्थना

सच्चिदानन्दघन दिव्यसुधा-रस-सिन्धु व्रजेन्द्रनन्दन राधावल्लभ श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रका नित्य निवास है प्रेमधाम व्रजमें और उनका चलना-फिरना भी है व्रजके मार्गमें। यह मार्ग चित्तवृत्तिनिरोध-सिद्ध महाज्ञानी योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंके लिये अत्यन्त दुर्गम है। व्रजका मार्ग तो उन्हींके लिये प्रकट होता है, जिनकी चित्तवृत्ति प्रेमघन-रस-सुधा-सागर आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्दोंकी ओर नित्य निर्बाध प्रवाहित रहती है—जहाँ न निरा निरोध है और न उन्मेष ही, बल्कि दोनोंकी चरम सीमाका अपूर्व मिलन है। इस पथपर अबाध विहरण करती हुई वृषभानुनन्दिनी रासेश्वरी श्रीश्रीराधारानीका दिव्य वसनांचल विश्वकी विशिष्ट चिन्मय सत्ताको कृतकृत्य करता हुआ नित्य खेलता रहता है, किसी समय उस वसनांचलके द्वारा स्पर्शित धन्यातिधन्य पवन-लहरियोंको अपने श्रीअंगसे स्पर्श पाकर योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ-गति श्रीमधुसूदनपर्यन्त अपनेको परम कृतार्थ मानते हैं, उन श्रीराधारानीके प्रति हमारे मन, प्राण, आत्मा सबका नमस्कार!

यस्याः कदापि वसनांचलखेलनोत्थ-
धन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी।
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि
तस्या नमोऽस्तु वृषभानुभुवो दिशेऽपि॥

जो सबके हृदयान्तरालमें नित्य-निरन्तर साक्षी और नियन्तारूपसे विराजमान रहनेपर भी सबसे पृथक् गोपवधूटी-विटरूपमें वर्तमान रहते हैं, जो समस्त बन्धनोंको तोड़कर सर्वथा उच्छृंखलताको प्राप्त हैं, जिनके स्वरूपका सम्यक् ज्ञान ब्रह्मा, शंकर, शुक, नारद और भीष्मादि **'महतो महीयान्'** पुरुषोंको भी नहीं है, अतएव वे हार मानकर मौन हो जाते हैं, उन सर्वनियमातीत, सर्वबन्धनविमुक्त, नित्य-स्ववश, परात्पर परम पुरुषोत्तमको भी जो श्रीराधिका-चरण-रेणु इसी क्षण वशमें करनेकी अनन्तशक्ति रखता है, उस अनन्तशक्ति श्रीराधिका-चरण-रेणुका हम अपने अन्तस्तलसे बार-बार भक्तिपूर्वक स्मरण करते हैं।

यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्ममुख्यै-
रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।
सद्यो वशीकरणचूर्णमनन्तशक्तिं
तं राधिकाचरणरेणुमनुस्मरामि॥

विश्वप्रकृतिके प्रत्येक स्पन्दनमें विन्दुरूपसे जो विदग्धभाव, अनुराग, वात्सल्य, कृपा, लावण्य, रूप (सौन्दर्य) और केलिरस (माधुर्य) वर्तमान है—रासेश्वरी नित्य-निकुंजेश्वरी श्रीवृषभानुनन्दिनी उन्हीं सातों रसोंकी अनन्त अगाध उदधि हैं। इस प्रकार नित्यानन्दरसमय सप्त-समुद्रवती श्रीराधिका श्यामसुन्दर आनन्दकन्दके नित्य दिव्य रमणानन्दमें अनादिकालसे ही उन्मादिनी हैं—नित्य कुलत्यागिनी हैं। इन्हींके सहज सरल स्वच्छभावके शुद्ध रससे, इन्हींके भावानुरागरूप दधिमण्डसे, इन्हींकी वात्सल्यमयी दुग्ध-धारासे, इन्हींकी परम स्निग्ध घृतवत् अपार कृपासे, इन्हींकी लावण्य-मदिरासे, इन्हींके छबिरूप सुन्दर मधुर इक्षुरससे और इन्हींके केलिविलासविन्यासरूप क्षारतत्त्वसे समस्त अनन्त विश्वब्रह्माण्ड नित्य अनुरंजित, अनुप्राणित और ओत-प्रोत हैं। ऐसी अनन्त विचित्र सुधारसमयी, प्राणमयी, विश्वरहस्यकी चरम तथा सार्थक मीमांसामूर्ति श्रीवृषभानुनन्दिनीका दिव्य स्फुरण जिसके जीवनमें नहीं हो पाया, उसका सभी कुछ व्यर्थ—अनर्थ है। देवी राधिके! अपने ऐसे दिव्य स्फुरणसे मेरे हृदयको कृतार्थ कर दो।

वैदग्ध्यसिन्धुरनुरागरसैकसिन्धु-
र्वात्सल्यसिन्धुरतिसान्द्रकृपैकसिन्धुः।
लावण्यसिन्धुरमृतच्छविरूपसिन्धुः
श्रीराधिका स्फुरतु मे हृदि केलिसिन्धुः॥

श्रीराधिके! वह शुभ सौभाग्य-क्षण कब होगा, जब तुम्हारे नाम-सुधा-रसका आस्वादन करनेके लिये मेरी जिह्वा विह्वल हो जायगी, जब तुम्हारे चरणरचिह्नोंसे अंकित वृन्दारण्यकी वीथियोंमें मेरे पैर भ्रमण करेंगे—मेरे सारे अंग उसमें लोट-लोटकर कृतार्थ होंगे, जब मेरे हाथ केवल तुम्हारी ही सेवामें नियुक्त रहेंगे, मेरा हृदय तुम्हारे चरण-पद्मोंके ध्यानमें लगा रहेगा और तुम्हारे इन भावोत्सवोंके परिणामरूप मुझे तुम्हारे प्राणनाथके चरणोंकी रति प्राप्त होगी—मैं तुम्हारे ही सुख-साधनके लिये तुम्हारे प्राणनाथकी प्रणयिनी बननेका अधिकार प्राप्त करूँगा।

राधानामसुधारसं रसयितुं जिह्वास्तु मे विह्वला
पादौ तत्पदकाङ्क्षितासु चरतां वृन्दाटवीवीथिषु।
तत्कर्मैव करः करोतु हृदये तस्याः पदं ध्यायतात्
तद्भावोत्सवतः परं भवतु मे तत्प्राणनाथे रतिः॥

श्रीराधाजी कौन थीं?

प्रश्न—१.'ऐसा कहा जाता है कि श्रीराधाजी श्रीभगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति या आदिशक्ति हैं। अगर श्रीभगवान्‌की आदिशक्ति श्रीराधाजी हैं तो श्रीरुक्मिणीजी कौन शक्ति हैं? हम-जैसे लोग जैसे श्रीसीताजीको आदिशक्ति मानते हैं, वैसे ही श्रीरुक्मिणीजीको भी। श्रीराधाजीका नाम श्रीमद्भागवतमें कहीं नहीं है। अगर आदिशक्ति थीं तो ये भगवान्‌के साथ क्यों नहीं रहीं? लौकिक रीतिसे इनसे विवाह होना चाहिये था।'

प्रश्न—२.'गोपियोंका प्रेम शुद्ध कामरहित था या कैसा?'

उत्तर—आपके प्रश्नोंका उत्तर देना बहुत ही कठिन है; क्योंकि मेरे विश्वासके अनुसार श्रीराधाकृष्णतत्त्व सर्वथा अप्राकृत है, इनका विग्रह अप्राकृत है, इनकी समस्त लीलाएँ अप्राकृत हैं, जो अप्राकृत क्षेत्रमें, अप्राकृत मन-बुद्धि-शरीरसे अप्राकृत पात्रोंमें हुई थीं।* अप्राकृत लीलाको देखने, सुनने, कहने और समझनेके लिये अप्राकृत नेत्र, कर्ण, वाणी और मन-बुद्धि चाहिये। अतएव मुझ-सा प्राकृत प्राणी, प्राकृत मन-बुद्धिसे कैसे इस तत्त्वको जान सकता है और कैसे प्राकृत वाणीमें उसका वर्णन कर सकता है? अतएव इस सम्बन्धमें मैं जो कुछ भी लिख रहा हूँ, उससे किसीको यह न समझना चाहिये कि मैं जो कहता हूँ यही तत्त्व है, इससे परे और कुछ नहीं है; न यह मानना चाहिये कि मैं किसी मतविशेषपर आक्षेप करता हूँ या किसी तार्किकका मुँह बन्द करनेके लिये ऐसा लिखता हूँ अथवा आग्रहपूर्वक अपना विश्वास दूसरोंपर लादना चाहता हूँ। मेरा यह कहना कदापि नहीं है कि मेरी लिखी बातोंको पाठक मान लें। यह तो सिर्फ अपने विश्वासकी बात—शास्त्र और सन्तोंद्वारा सुनी हुई—अपने कल्याणके लिये लिखी जा रही है। जिन सज्जनने ये प्रश्न किये, उनका मैं हृदयसे कृतज्ञ हूँ; क्योंकि इसी बहाने मुझ क्षुद्रका थोड़ा-सा समय श्रीभगवान्‌की चर्चामें चला गया। मैं प्रश्नोत्तर और तर्कके लिये कोई बात नहीं लिख रहा हूँ। अतएव मेरी प्रार्थना है कि पाठकगण तर्क-बुद्धिका आश्रय कर मुझसे इसके सम्बन्धमें कोई प्रश्नोत्तरकी आशा कृपया न रखें। विवादमें तो मैं अपनी हार पहले ही स्वीकार कर लेता हूँ; क्योंकि मैं इस विषयपर तर्क करना ही नहीं चाहता। अवश्य ही मेरे विश्वासका बदलना तो अन्तर्यामी प्रभुकी इच्छापर ही अवलम्बित है।

परिपूर्णतम, परमात्मा, परात्पर, सच्चिदानन्दघन, निखिल ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्यके सागर, दिव्य सच्चिदानन्दविग्रह आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान् श्रीराममें कोई भी भेद नहीं मानता और इसी प्रकार भगवती श्रीराधाजी, श्रीरुक्मिणीजी और श्रीसीताजी आदिमें भी मेरी दृष्टिसे कोई भेद नहीं है। भगवान्‌के विभिन्न सच्चिदानन्दमय दिव्य लीला-विग्रहोंमें विभिन्न नाम-रूपोंसे उनकी ह्लादिनी शक्ति साथ रहती ही है। नाम-रूपोंमें पृथक्ता दीखनेपर भी वस्तुतः वे सब एक ही हैं। स्वयं श्रीभगवान्‌ने ही श्रीराधाजीसे कहा है—

यथा त्वं राधिका देवी गोलोके गोकुले तथा।
वैकुण्ठे च महालक्ष्मीर्भवती च सरस्वती॥
भवती मर्त्यलक्ष्मीश्च क्षीरोदशायिनः प्रिया।
धर्मपुत्रवधूस्त्वं च शान्तिर्लक्ष्मीस्वरूपिणी॥
कपिलस्य प्रिया कान्ता भारते भारती सती।
द्वारवत्यां महालक्ष्मीर्भवती रुक्मिणी सती॥
त्वं सीता मिथिलायां च त्वच्छाया द्रौपदी सती।

× × ×

रावणेन हृता त्वं च त्वं च रामस्य कामिनी॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णखण्ड, अ० १२६)

'हे राधे! जिस प्रकार तुम गोलोक और गोकुलमें श्रीराधिकारूपसे रहती हो, उसी प्रकार वैकुण्ठमें महालक्ष्मी और सरस्वतीके रूपमें विराजमान हो। तुम ही क्षीरसागरशायी भगवान् विष्णुकी प्रिया मर्त्यलक्ष्मी हो। तुम ही धर्मपुत्रकी कान्ता लक्ष्मी-स्वरूपिणी शान्ति हो। तुम ही भारतमें कपिलकी प्रिय कान्ता सती भारती हो, तुम ही द्वारकामें महालक्ष्मी रुक्मिणी हो। तुम्हारी ही छाया सती द्रौपदी है। तुम ही मिथिलामें सीता हो। तुम्हींको रामकी प्रिया सीताके रूपमें रावणने हरण किया था।'

भगवान्‌के दिव्यलीलाविग्रहोंका प्राकट्य ही वास्तवमें आनन्दमयी ह्लादिनी शक्तिके निमित्तसे ही है। श्रीभगवान्

* श्रीभगवान्‌के देहादि यदि उस मायाके कार्य पंचमहाभूतोंसे निर्मित प्राकृत होते जो माया आवरणरूपा है, तो मायातीत, गुणातीत, आत्माराम मुनिगण भगवान्‌के सौन्दर्य, उनके अंग-गन्ध, उनकी चरण-धूलिके लिये लालायित न होते।

अपने निजानन्दको परिस्फुट करनेके लिये अथवा उसका नवीन रूपोंमें आस्वादन करनेके लिये ही स्वयं अपने आनन्दको प्रेमविग्रहोंके रूपमें प्रकट करते हैं और स्वयं ही उनसे आनन्दका आस्वादन करते हैं। भगवान्‌के उस आनन्दकी प्रतिमूर्ति ही प्रेमविग्रह रूपा श्रीराधारानीजी हैं और यह प्रेमविग्रह सम्पूर्ण प्रेमोंका एकीभूत समूह है। अतएव श्रीराधिकाजी प्रेममयी हैं और भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दमय हैं। जहाँ आनन्द है वहीं प्रेम है और जहाँ प्रेम है वहीं आनन्द है। आनन्दरससारका घनीभूत विग्रह श्रीकृष्ण हैं और प्रेमरससारकी घनीभूत मूर्ति श्रीराधारानी हैं। अतएव श्रीराधा और श्रीकृष्णका विछोह कभी सम्भव ही नहीं। न श्रीराधाके बिना कभी श्रीकृष्ण रह सकते हैं और न श्रीकृष्णके बिना श्रीराधाजी। श्रीकृष्णके दिव्य आनन्दविग्रहकी स्थिति ही दिव्य प्रेमविग्रहरूपा श्रीरामजीके निमित्तसे है। श्रीराधारानी ही श्रीकृष्णकी जीवनस्वरूपा हैं और इसी प्रकार श्रीकृष्ण ही श्रीराधाके जीवन हैं। दिव्य प्रेमरससारविग्रह होनेसे ही श्रीराधारानी महाभावरूपा हैं और वह नित्य-निरन्तर आनन्दरससार, रसराज, अनन्त ऐश्वर्य—अनन्त-सौन्दर्य-माधुर्य-लावण्यनिधि, सच्चिदानन्दसान्द्रांग, अविचिन्त्यशक्ति, आत्मारामगणाकर्षी, प्रियतम श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करती रहती हैं। इस ह्लादिनी शक्तिकी लाखों अनुगामिनी शक्तियाँ मूर्तिमती होकर प्रतिक्षण सखी, सहेली, सहचरी और दूती आदि रूपोंसे श्रीराधाकृष्णकी सेवा किया करती हैं; श्रीराधाकृष्णको सुख पहुँचाना और उन्हें प्रसन्न करना ही इनका एकमात्र कार्य होता है। इन्हींका नाम श्रीगोपीजन है।

नित्य आनन्दमय, नित्य तृप्त, नित्य एकरस, कोटि-कोटि-ब्रह्माण्ड-विग्रह, पूर्णब्रह्म परमात्मामें सुखेच्छा कैसे हो सकती है? यह प्रश्न युक्तिसंगत प्रतीत होनेपर भी इसीको सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। भाव और प्रेम परमात्मासे पृथक् वस्तु नहीं हैं। प्रेमाश्रयका भाव प्रेम-विषयमें और प्रेम-विषयका भाव प्रेमाश्रयमें अनुभूत हुआ करता है। श्रीगोपीजन प्रेमका आश्रय हैं और श्रीकृष्ण प्रेमके विषय हैं। श्रीगोपियोंका अप्राकृत दिव्य भाव ही परब्रह्ममें दिव्य सुखेच्छा उत्पन्न कर देता है। प्रेमका महान् उच्च भाव ही उस पूर्णकाममें कामना, नित्यतृप्तिमें अतृप्ति, क्रियाहीनमें क्रिया और आनन्दमयमें आनन्दकी वासना जाग्रत् कर देता है। अवश्य ही यह सुखेच्छा, कामना, अतृप्ति, क्रिया या वासना जड इन्द्रियजन्य नहीं है, इस मर्त्य जगत्‌की मायामयी वस्तु नहीं है; क्योंकि वह दिव्य आनन्द और दिव्य प्रेम अभिन्न हैं। श्रीकृष्ण और श्रीराधारानी सदा अभिन्न हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नावयोर्ध्रुवम्।
यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति॥
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि संततम्॥

(ब्रह्मवैवर्त०, कृष्णखण्ड, १४। ५८-५९)

'जो तुम हो, वही मैं हूँ। हम दोनोंमें किंचित् भी भेद नहीं है, जैसे दूधमें सफेदी, अग्निमें दाहिका शक्ति और पृथिवीमें गन्ध रहती है उसी प्रकार मैं सदा तुममें रहता हूँ।'

यही बात भगवान् श्रीराम और मिथिलेशकुमारी श्रीसीताजी, भगवान् श्रीमहाविष्णु और जगज्जननी महालक्ष्मी, भगवान् श्रीशंकर और महामाया श्रीगौरीदेवीके विषयमें समझनी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण और माता श्रीरुक्मिणीके लिये भी यही बात है। अब रही श्रीराधिकाजीके विवाहकी बात, सो इस रूपमें इनका लौकिक विवाह कैसा? वृन्दावन-लीला ही लौकिक लीला नहीं है। लौकिक लीलाकी दृष्टिसे तो ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही श्रीकृष्ण व्रजका परित्याग कर मथुरा पधार गये थे। इतनी छोटी अवस्थामें स्त्रियोंके साथ प्रणयकी बात ही कल्पनामें नहीं आती और अलौकिक जगत्‌में दोनों सर्वदा एक ही हैं। फिर भी भगवान्‌ने ब्रह्माजीको श्रीराधाजीके दिव्य चिन्मय प्रेमरससारविग्रहका दर्शन करानेका वरदान दिया था, उसकी पूर्तिके लिये एकान्त अरण्यमें ब्रह्माजीको श्रीराधिकाजीके दर्शन कराये और वहीं ब्रह्माजीके द्वारा रसराज और महाभावकी विवाहलीला भी सम्पन्न हुई। ये विवाहिता श्रीराधाजी नित्य ही भगवान् श्रीकृष्णके संग रहती हैं। अवश्य ही छिपी रहती हैं। श्रीकृष्णकृपा होनेपर ही किन्हीं प्रेमी महानुभावको इस 'जुगल जोड़ी' के दुर्लभ दर्शन होते हैं। श्रीमद्भागवतमें श्रीराधाका नाम प्रकटरूपमें नहीं आया है, यह सत्य है; परन्तु वह उसमें इसी प्रकार छिपा हुआ है जैसे शरीरमें आत्मा। प्रेमरससार-चिन्तामणि श्रीराधाजीका अस्तित्व ही आनन्दरससार श्रीकृष्णकी दिव्य प्रेमलीलाको प्रकट करता है। जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ श्रीराधा नहीं हैं—यह कहना ही नहीं बनता। तार्किकोंको नहीं, भक्तों और

शास्त्रके सामने सिर झुकानेवालोंको तो भगवान्के ये वाक्य सदा स्मरण रखने चाहिये—

आवयोर्भेदबुद्धिं च यः करोति नराधमः।
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥
पूर्वान् सप्त परान् सप्त पुरुषान् पातयत्यधः।
कोटिजन्मार्जितं पुण्यं तस्य नश्यति निश्चितम्॥
अज्ञानादावयोर्निन्दां ये कुर्वन्ति नराधमाः।
पच्यन्ते नरके घोरे यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृ० १५। ६७—७०)

'जो नराधम हम दोनोंमें (श्रीकृष्ण और श्रीराधामें) भेद-बुद्धि करता है, वह जबतक चन्द्र-सूर्य रहते हैं, तबतकके लिये कालसूत्र नामक नरकमें रहता है। उसके पहलेके सात और पीछेके सात पुरुष अधोगामी होते हैं और उसका कोटि जन्मार्जित पुण्य निश्चय ही नष्ट हो जाता है। जो नराधम अज्ञानवश हमलोगोंकी निन्दा करता है, वह पापात्मा भी चन्द्र-सूर्यकी स्थितिकालतक घोर नरक भोगता है।'

अब रही गोपियोंके प्रेमके शुद्ध होनेकी बात। इसपर रासपंचाध्यायीका यह श्लोकार्द्ध स्मरण करना चाहिये—

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥

'छोटे बालक जैसे अपने प्रतिबिम्बके साथ खेला करते हैं, वैसे ही रमेश भगवान्ने भी व्रजसुन्दरियोंके साथ क्रीड़ा की।' लीलारसमय आनन्दकन्द भगवान् स्वभावसे ही प्रेमवश हैं। अतएव उन्होंने प्रेमभावसे ही अपनी आनन्दस्वरूपा शक्ति द्वारा अपने ही प्रतिबिम्बरूप प्रेमस्वरूपा महाभागा गोपियोंके साथ क्रीड़ा की। उनका तो यह आत्मरमण था और गोपियोंका इसमें श्रीकृष्णसुख ही एकमात्र उद्देश्य था। अतएव प्रेममयी गोपी और आनन्दमय श्रीकृष्णकी यह लीला सर्वथा कामगन्धशून्य थी। गोपियोंका प्रेम अत्युच्च पराकाष्ठाका भाव था। इसीसे उसे 'रूढ़ महाभाव' कहते हैं। इसमें निजेन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छाके संस्कारकी भी कल्पना नहीं थी। यह इस जगत्की काम-क्रीड़ा नहीं थी। यह तो दिव्य आनन्दमय, पवित्र प्रेममय जगत्की अति दुर्लभ रहस्यमय लीला थी, जिसका रसास्वादन करनेके लिये बड़े-बड़े देवता और सिद्ध महात्मागण भी लालायित थे और कहा जाता है कि इसीलिये उन्होंने व्रजमें आकर पशु-पक्षियों तथा वृक्ष-लता-पताके रूपमें जन्म लिया था। श्रीगोपियोंके इस कामशून्य प्रेमभावको, श्रीकृष्णकान्ताशिरोमणि श्रीराधारानीके महाभावको और निजानन्दमें नित्यतृप्त परमात्मामें सुखेच्छा क्यों उत्पन्न होती है और कैसे उन्हें प्रेमरूपा शक्तियोंके साथ लीला करनेमें सुख मिलता है, इस बातको समझने-समझानेका अधिकार श्रीकृष्णगतप्राण, भजनपरायण, प्रेमी रसिक भक्तोंको ही श्रीकृष्णकृपासे प्राप्त होता है। मुझ-जैसा विषयी मनुष्य इसपर क्या कहे-सुने? मेरी तो हाथ जोड़कर सबसे यही प्रार्थना है कि अपने मनकी मलिनताका आरोप भगवान्के पवित्र चरित्रोंपर कोई कदापि न करें और शंका छोड़कर जिसको भगवान्का जो नाम-रूप प्रिय लगता हो, जिसकी जिसमें रुचि हो, भगवान्के दूसरे नाम-रूपको उससे नीचा न समझकर बल्कि अपने ही इष्टदेवका एक भिन्न स्वरूप समझकर, अनन्यभावसे अपने उस इष्टकी सेवामें लगे रहें।

परा और अपरा विद्या

पराशर मुनिने ऋषि मैत्रेयसे कहा—मैत्रेयजी! बुद्धिमान् पुरुष आध्यात्मिकादि तीनों तापोंको जानकर ज्ञान-वैराग्यद्वारा आत्यन्तिक लयको प्राप्त होते हैं। आध्यात्मिक ताप शारीरिक और मानसिक भेदसे दो प्रकारका है। इनमेंसे शारीरिक दुःखके अनेक प्रकार हैं—मस्तकरोग, ज्वर, शूल, भगन्दर, गुल्म, अर्श, श्वास, शोथ, छर्दि, चक्षुरोग, अतिसार, कुष्ट और जलोदर आदि भेदसे बहुत प्रकारसे शारीरिक क्लेश होते हैं। मानस दुःखोंमें काम, क्रोध, भय, द्वेष, लोभ, मोह, विषाद, शोक, असूया, अपमान, ईर्षा और मात्सर्यादिसे उत्पन्न अनेक भेद हैं। द्विजश्रेष्ठ! इन विविध दुःखोंको आध्यात्मिक ताप कहते हैं।

पशु, पक्षी, मनुष्य, पिशाच, सर्प, बिच्छू, राक्षस आदि भूत-प्राणियोंसे जिन दुःखोंकी उत्पत्ति होती है, उनका नाम आधिभौतिक ताप है। सर्दी, गरमी, वायु, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, वज्रपात आदिसे जो दुःख उत्पन्न होते हैं, उनको आधिदैविक ताप कहते हैं।

मुनिराज! इनके अतिरिक्त गर्भवास, जन्म, जरा (बुढ़ापा), अज्ञान, मृत्यु और नरकादिमें हजारों प्रकारके दुःख हैं। बहुत-से मलद्वारा ढके हुए गर्भमें सुकुमार शरीरको उदरके

कीड़े काटते हैं, जेरसे लिपटा हुआ वह बालक माताके खाये हुए खट्टे, कड़वे, तीखे, गरम और नमकीन भोजनके द्वारा अत्यन्त कष्टसे जीता है। हाथ, पैरको पूरी तरह फैला नहीं सकता, मल-मूत्रमें पड़ा रहता है, श्वासहीन रहनेपर भी सचेतनभावसे पूर्वजन्मके कर्मोंका स्मरण करता हुआ पराधीनतामें समय बिताता है।

इसके बाद जन्म होनेके समय मल, मूत्र, शुक्र, रुधिरद्वारा लिपटकर वह प्राजापत्य नामक वायुसे बड़ी ही पीड़ाको प्राप्त होता है, उसी समय अत्यन्त प्रबल सूति नामक वायु उसके मुखको नीचेकी ओर कर देती है, तदनन्तर वह जीव बड़े क्लेशसे माताके पेटसे योनिद्वारा बाहर निकलता है।

मुनिसत्तम! जीव जन्म होते ही मूर्च्छित हो जाता है, फिर बाहरकी वायुके लगनेसे क्रमशः उसमें चेतना आती है और पूर्वसंस्कारोंको भूल जाता है, तब वह काँटोंसे बिंधे हुए और आरेसे विदीर्ण किये हुए कृमिकी तरह जमीनपर पड़ जाता है। उसमें अपने-आप करवट बदलने और देह खुजलानेतककी शक्ति भी नहीं होती। दुग्धपानादि आहारके लिये भी वह पराधीन ही रहता है। मल-मूत्रमें पड़ा रहता है, कीड़े और मच्छर काटते हैं पर उसमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह इन दुःखोंसे अपनेको छुड़ा सके। इस प्रकार जन्म और बालकपनमें जीव अनेक प्रकारसे आधिभौतिकादि दुःख भोगता है।

अज्ञानान्धकारसे आच्छादित विमूढ़ अन्तःकरणका वह मनुष्य, 'मैं कहाँसे आया हूँ, कौन हूँ, कहाँ जाऊँगा और मेरा क्या स्वरूप है आदि' कुछ भी नहीं जानता। 'मैं किस बन्धनसे संसार-कारागारमें कैद हूँ? इसका कोई कारण है या बिना ही कारण मुझे यह दुःखोंकी राशि भोगनी पड़ती है? मुझे क्या करना और क्या नहीं करना चाहिये? क्या बोलना और क्या नहीं बोलना चाहिये? क्या धर्म है और क्या अधर्म है? किस तरह कौन-सा पथ अवलम्बन करना चाहिये और किस कार्यमें क्या दोष तथा क्या गुण है?' ऐसी अनेक चिन्ताओंसे ग्रस्त वे शिश्नोदर-भोगपरायण पशुसदृश मूढ़ मनुष्य अज्ञानवश नाना प्रकारके भोग भोगते रहते हैं।

अज्ञान तमोगुणका स्वभाव है, इससे जडता उत्पन्न होती है, जडता और प्रमादसे शास्त्रोक्त कर्म नहीं होते। कर्मोंका आरम्भ जडतारहित प्रवृत्तिसे होता है, परन्तु मूर्ख मनुष्य जडताकी अधिकतासे क्रमशः कर्मलोप कर देते हैं। कर्मलोपसे नरकोंकी प्राप्ति होती है। अतएव मूर्ख मनुष्य इस लोक और परलोकमें केवल दुःख ही भोगते हैं।

जवानी अज्ञानजनित जडता और प्रमादमें बीत जाती है, तदनन्तर देहके जरा-जर्जरित होनेपर अंग शिथिल हो जाते हैं, दाँत गिर पड़ते हैं, मांस ढीला होकर स्नायु और नाड़ियोंसे ढक जाता है, आँखें बैठ जानेसे नजर कम पड़ जाती है, नाकोंसे रोम बाहर निकल आते हैं। शरीर सदा काँपने लगता है, देहकी हड्डियाँ बाहर चमकने लगती हैं, शरीर कुबड़ा हो जाता है, जठराग्नि मन्द पड़ जाती है, आहार कम हो जाता है और क्रमशः शरीरकी सभी चेष्टाएँ संकुचित हो जाती हैं। तबतक वह अन्धप्राय मनुष्य बहुत ही कष्टसे उठने, बैठने, सोने और चलने-फिरनेमें समर्थ होता है। उसके मुँहसे हमेशा लार टपका करती है।

इन्द्रियोंपर अधिकार न रहनेसे वह मृत्युके समीप पहुँच जाता है, उस समय उसे अनुभूत पदार्थोंका भी स्मरण नहीं रहता। एक शब्दके उच्चारणमें ही वह थक जाता है, श्वास-खाँसीकी यन्त्रणासे नींदका सुख सदाके लिये नष्ट हो जाता है। दूसरेके उठाने-बैठानेसे वह उठ-बैठ सकता है। ऐसी हालतमें स्त्री-पुत्र-नौकर आदि सभी उसका अपमान करने लगते हैं। उसकी पवित्रता जाती रहती है, परन्तु आहार-विहारकी तृष्णा बनी रहनेसे घर-परिवारके लोग उसकी हँसी उड़ाते और उसे अपने लिये क्लेशका कारण समझने लगते हैं। जवानीके भोगोंको पूर्वजन्मके भोगोंकी तरह याद करके वह लम्बे-लम्बे श्वास लेता है, पर कोई उपाय नहीं चलता। यों कष्ट सहते-सहते मृत्युकाल आ जाता है।

तब गला घुटने लगता है और हाथ टूट-से जाते हैं, शरीर काँपने लगता है, बारम्बार मूर्च्छा होने लगती है। ऐसी अवस्थामें वह 'मेरे धनका क्या होगा? मेरे पीछे मेरे स्त्री-पुत्रोंकी क्या दशा होगी? मेरे नौकरोंकी क्या हालत होगी? मेरा धन-ऐश्वर्य लोग खा जायँगे।' इस प्रकारकी ममताजनित चिन्तासे व्याकुल हो जाता है। मर्मभेदी महारोगरूपी यमराजके दारुण बाणोंसे उसके देहकी हड्डियाँ टूट जाती हैं, आँखें उलट जाती हैं, तालु, कण्ठ और होठ सूख जाते हैं। उस समय वह भीषण यन्त्रणासे बारम्बार हाथ-पैर पीटता है, कण्ठ रुक जाता है, श्वासकी गति ऊर्ध्व हो जाती है, गलेमें कफ अटक

जानेसे 'घुर-घुर' शब्द होने लगता है; भूख-प्याससे वह अत्यन्त पीड़ित हो जाता है। अन्तमें यम-किंकरोंके दीखनेसे भयभीत हो उठता है। मृत्युसमय प्राणियोंको इस प्रकारके अनेक कष्ट होते हैं।

मृत्युके बाद पापी मनुष्योंको यमदूत बाँधकर अनेक तरहसे पीड़ा देते हैं, नाना प्रकारके भयंकर मार्ग देखने पड़ते हैं, फिर यमराजके दर्शन होते हैं। गरम बालू, अग्नि, यन्त्र और शस्त्रादिद्वारा नरकोंकी भयानक यातना भोग करनी पड़ती है। यमदूत करौतसे काटते हैं, जलते हुए कड़ाहेमें डाल देते हैं, कुठारसे आघात करते हैं, जमीनमें गाड़ देते हैं, शूलीपर चढ़ा देते हैं, बाघके मुखमें डाल देते हैं, गृध्रोंसे शरीर नुचवाते हैं, हाथियोंके पैरोंतले रुँदवाते हैं, उबलते हुए तैलमें डाल देते हैं, क्षार और कादेसे लिपेट देते हैं, ऊपरसे नीचे डालते हैं और फेंकनेके यन्त्र द्वारा दूर फेंक देते हैं। इस प्रकार नारकी जीवोंको नरकोंमें नाना प्रकारसे इतनी यातना दी जाती है कि जिनकी कोई गिनती नहीं हो सकती।

द्विजराज! केवल नरकमें ही दुःख है सो बात नहीं है, स्वर्गवासी पुण्यात्मा पुरुष भी पतनके भयसे सदा दुःखी रहते हैं। इस प्रकार कर्मफल भोगनेपर जीव फिर गर्भमें आकर जन्म ग्रहण करता है तथा पुनः उसी तरह मृत्युको प्राप्त हो जाता है। कोई जन्मते ही, कोई लड़कपनमें, कोई जवानीमें, कोई प्रौढ़ अवस्थामें और कोई वृद्ध होकर मृत्युके मुखमें चला जाता है। जैसे कपासका बीज कपाससे व्याप्त रहता है, इसी प्रकार यह जीव भी जीवनभर नाना प्रकारके दुःखोंसे व्याप्त रहता है। अर्थके उपार्जन, पालन और नाशमें तथा प्रियजनोंकी विपत्तिमें मनुष्यको नाना प्रकारसे कष्ट सहन करने पड़ते हैं।

मैत्रेय! जो सब पदार्थ मनुष्यको पहले प्रीतिकर मालूम होते हैं, वे ही परिणाममें दुःखके कारण हो जाते हैं। स्त्री, स्वामी, भृत्य, घर, धन, परिवार और जमीन आदिद्वारा मनुष्यको जितना क्लेश होता है, सुख उसकी उपेक्षा बहुत ही थोड़ा हुआ करता है। इन सब दुःखरूप सूर्यके तापसे तापितचित्त मनुष्योंको मुक्तिरूपी वृक्षकी शीतल छायाको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी सुख नहीं मिल सकता! गर्भ, जन्म, जरा आदिसे उत्पन्न इन त्रिविध दुःखोंकी एकमात्र परम औषध भगवत्-प्राप्ति ही है—'**भैषज्यं भगवत्प्राप्तिः।**' अतएव बुद्धिमान् पुरुषोंको उस भगवत्-प्राप्तिके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये।—'**तस्मात्तत्प्राप्तये यत्नः कर्तव्यः पण्डितैर्नरैः।**'

महामुने! भगवत्-प्राप्तिमें कर्म और ज्ञान दोनों ही हेतु हैं। ज्ञान दो प्रकारका है—एक आगमशास्त्रसे उत्पन्न और दूसरा विवेकसे उत्पन्न। इनमें आगमसे उत्पन्न ज्ञानसे शब्दब्रह्म और विवेकसे उत्पन्न ज्ञानद्वारा परमब्रह्म जाननेमें आता है। जैसे दीपकसे अन्धकारका नाश होता है, वैसे ही शास्त्रजन्य ज्ञानसे शब्दमय ब्रह्मके जाननेपर कुछ अंशोंमें तो अज्ञानका नाश होता है, परन्तु जैसे सूर्यके उदय होनेपर अन्धकारका पूर्ण नाश हो जाता है, इसी प्रकार विवेकजन्य ज्ञानसे परमब्रह्मको जान लेनेपर सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हो जाता है।

मनु महाराजने कहा है—'ब्रह्म दो प्रकारका है; प्रथम शब्दमय और दूसरा परम। शब्दब्रह्मका ज्ञान हो जानेके बाद परब्रह्मका होता है। विद्या भी कर्म और ज्ञानरूपसे दो प्रकारकी है; आथर्वणी श्रुतिमें ऐसा ही कहा गया है। पराविद्याद्वारा अक्षरब्रह्मकी प्राप्ति होती है। ऋग्वेदादिमयी विद्या ही पराविद्या है। अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, नित्य, अव्यय, अनिर्देश्य, अरूप, हस्तपदादिरहित, विभु, सर्वगत, भूत-समूहोंका बीजरूप होनेपर भी अकारण तथा व्याप्य और व्यापक सभी रूपोंमें मुनिगण ज्ञानचक्षुसे जिसका दर्शन करते हैं, वही परब्रह्म है। मोक्षकी इच्छावाले पुरुष उसीका ध्यान करते हैं। उसीको वेदोंने अत्यन्त सूक्ष्म और विष्णुका परमपद बतलाया है!

परमात्माकी इसी मूर्तिको भगवान् कहते हैं। भगवान् शब्द इस आदि और अक्षर परमात्माका ही वाचक है। इसी प्रकारसे मुनियोंको जो तत्त्वज्ञान होता है वही परम और वेदमय है। द्विज! वह परब्रह्म शब्दसे अगोचर होनेपर भी उसकी पूजाके लिये 'भगवत्' शब्दद्वारा उसका कीर्तन किया जाता है। विशुद्ध और समस्त कारणोंके कारण महाविभूतिशाली उस परब्रह्ममें ही 'भगवत्' शब्दका प्रयोग होता है। 'भगवत्' शब्दमें 'भ' के दो अर्थ हैं, सबका भरण करनेवाला और सबका आधार, 'ग' का अर्थ गमयिता और स्रष्टा। दोनों अक्षर मिलनेसे 'भग' बनता है। सम्पूर्ण ऐश्वर्य धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यको भग कहते हैं। 'व' अक्षरका अर्थ यह है कि 'अखिल जगत्के आत्मभूत इस परमात्मामें ही सब भूतप्राणी निवास करते हैं। साधुश्रेष्ठ! इस प्रकारके अर्थवाला यह महान् 'भगवत्' शब्द परब्रह्मस्वरूप वासुदेवके सिवा अन्य किसीके लिये प्रयुक्त नहीं हो

सकता। उस परब्रह्मसे ही इस 'भगवत्' शब्दकी सार्थकता है।' वह समस्त भूतोंकी उत्पत्ति, प्रलय, अगति, गति और विद्या, अविद्याको जानता है, इसीसे उसे 'भगवान्' कहते हैं। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज आदि सद्गुण 'भगवत्' शब्दद्वारा ही वाच्य हैं। वह परमात्मा सब भूतोंमें निवास करता है और सबके आत्मस्वरूप उस वासुदेवमें ही सब भूत निवास करते हैं। प्राचीनकालमें खाण्डिक्यके द्वारा पूछे जानेपर केशिध्वजने 'वासुदेव' नामका यथार्थ अर्थ यही बतलाया था कि ''समस्त भूतप्राणी उसमें निवास करते हैं और वही समस्त भूतोंमें जगत्के धाता-विधातारूपसे विराजमान है, इसीलिये उस प्रभुका नाम 'वासुदेव' है।''

महामुने! वह परमात्मा स्वयं सम्पूर्ण आवरणोंसे मुक्त रहकर अखिल विश्वके आत्मरूपसे सब भूतोंकी प्रकृति, विकार, गुण और दोष आदि त्रिभुवनमें जो कुछ भी है, सबमें व्याप्त हो रहा है। समस्त कल्याण-गुण-स्वरूप वह परमात्मा अपनी शक्तिके कणमात्रसे सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको आवृतकर, अपनी इच्छासे अनेक प्रकारके रूप धारण करके जगत्का अनन्त कल्याण कर रहा है। जो तेज, बल, ऐश्वर्य तथा महाबोधस्वरूप है, अपने वीर्य और शक्तिका एकमात्र आधार है, परात्पर है, जिसमें क्लेशका लेश भी नहीं है, वही ईश्वर व्यष्टि और समष्टिरूप है, वही व्यक्त और अव्यक्तरूप है, वही सबका स्वामी और सर्वत्रगामी है, वही सर्ववेत्ता और सबका शक्तिस्वरूप है और उसीका नाम परमेश्वर है।

जिस ज्ञानके द्वारा इस प्रकारके निर्दोष, विशुद्ध, निर्मल और एकरूप परमेश्वरको जाना और देखा जा सकता है, वही ज्ञान है और उसीका नाम परा विद्या है। जो इससे विपरीत है सो अज्ञान है और उसीको अपरा विद्या कहते हैं। (विष्णुपुराणके आधारपर)

महायोग-तत्त्व

प्राचीन कालकी बात है, राजा धर्मध्वजके दोनों कुमारोंके केशिध्वज और खाण्डिक्य-जनक नामक दो तेजस्वी पुत्र थे। राजकुमारोंने सब प्रकारकी विद्या और कलाएँ सीखी थीं। कुमार केशिध्वज अध्यात्मशास्त्रके बड़े पण्डित हुए और खाण्डिक्य कर्मरहस्यके ज्ञाता हुए। दोनों भाइयोंमें परस्पर विजयेच्छा रहती थी। समयपर केशिध्वजने खाण्डिक्यको जीतकर नगरसे बाहर निकाल दिया। पराजित खाण्डिक्य अपने पुरोहित, मन्त्री और परिवारके कुछ लोगोंको साथ लेकर दुर्गम वनमें जा बसे। इधर केशिध्वज अविद्याद्वारा होनेवाली मृत्युसे बचनेके लिये विविध प्रकारके यज्ञ करने लगे।

एक समय केशिध्वज वनमें यज्ञ कर रहे थे, उन्हें समाधिमें स्थित जानकर एक व्याघ्रने उनकी धर्म-धेनुको मार डाला। राजाको इस दुर्घटनाका पता लगनेपर उन्होंने पश्चात्ताप करते हुए यज्ञकी पूर्तिके लिये अपने पुरोहितोंसे गोहत्याके प्रायश्चित्तका विधान पूछा। पुरोहितोंने कहा कि 'इस विषयमें हम कुछ भी नहीं कह सकते, आप कशेरू मुनिसे पूछिये।' कशेरूसे पूछनेपर उन्होंने भार्गव शुनक मुनिका नाम बतलाया। राजाने शुनकके पास जाकर पूछा, तब शुनक बोले कि 'राजन्! तुम्हारे द्वारा पराजित तुम्हारे शत्रु खाण्डिक्यके सिवा इस समय पृथ्वीमें कशेरू, मैं या अन्य कोई भी ऐसा कर्मके तत्त्वको जाननेवाला नहीं है जो तुम्हें प्रायश्चित्तका यथार्थ विधान बतला सके। तुम चाहो तो उनके पास जाकर पूछ सकते हो।' यज्ञका विघ्न दूर करनेकी इच्छासे केशिध्वजने कहा कि 'मुने! मैं इस कार्यके लिये अभी खाण्डिक्यके पास जाता हूँ। यदि वे मुझे अपना शत्रु समझकर मार डालेंगे तब तो मुझे आत्मबलिदानके फलस्वरूप यज्ञका फल यों ही मिल जायगा। यदि वे मुझे शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त बतला देंगे तो मैं तदनुसार करके यज्ञकी पूर्ति कर दूँगा।'

यों कहकर महामति राजा केशिध्वज कृष्णाजिन पहनकर रथपर सवार हो तुरन्त उस वनकी ओर चले, जहाँ खाण्डिक्य अपने परिवारसहित निवास करते थे। खाण्डिक्य अपने शत्रुको दूरसे अपनी ओर आते देखकर, उसकी दुर्भावना समझकर बड़े क्रोधित हुए। क्रोधसे लाल-लाल आँखें करके पुकारकर कहने लगे—'केशिध्वज! क्या तुम इसीलिये कृष्णाजिन (काले मृगका चर्म) धारण करके आये हो कि इसको देखकर मैं तुम्हें नहीं मारूँगा? तुमने और मैंने न मालूम कितने कृष्णचर्मधारी मृगोंको तीक्ष्ण बाणोंसे मारा होगा। अतएव इस वेषके कारण मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकता।' केशिध्वजने

कहा—'मैं आपको मारनेके लिये नहीं आया हूँ, सन्देहकी निवृत्तिके लिये आपसे कुछ पूछने आया हूँ, आप किसी प्रकारका सन्देह न करें और क्रोध तथा बाणको त्यागकर मेरे प्रश्नका उत्तर देनेकी कृपा करें।'

केशिध्वजके ये वचन सुनकर बुद्धिमान् खाण्डिक्य अपने पुरोहित और मन्त्रियोंको एकान्तमें ले जाकर उनसे परामर्श करने लगे। मन्त्रियोंने कहा—'महाराज! ऐसा अवसर कब मिलेगा? शत्रु आपके हाथोंमें आ गया है, अब तो इसका काम तमाम ही कर डालना चाहिये। इस वैरीके मरते ही सारी पृथ्वी आपके अधीन हो जायगी!' खाण्डिक्यने उनके वचन सुनकर गम्भीरतासे कहा—'नि:सन्देह इसके मरनेसे पृथ्वीपर एकाधिपत्य हो जायगा, परन्तु ऐसा करनेसे मेरा परलोक बिगड़ जायगा। मेरी समझसे पृथ्वीके राज्यकी अपेक्षा परलोकमें विजयी होना—जीव-जीवनका उच्चतर अवस्थामें पहुँच जाना कहीं अधिक महत्त्वका विषय है; क्योंकि—

परलोकजयोऽन्ततः स्वल्पकालो महीजयः।

परलोकका जय अनन्तकालके लिये होता है, पर पृथ्वीकी विजय तो अल्पकालस्थायी होती है, अतएव .....'**एनं न हिंसिष्ये यत्पृच्छति वदामि तत्।**' मैं इसे मारूँगा नहीं, यह जो कुछ पूछेगा सो बतलाकर इसे विदा करूँगा।' धन्य धर्मपरायणता और साधुता!

खाण्डिक्य-जनक अपने शत्रु केशिध्वजके पास जाकर शान्ति और प्रेमसे कहने लगे 'आपको जो कुछ पूछना हो मुझसे पूछिये, मैं आपको यथार्थ उत्तर दूँगा।' केशिध्वजने धर्म-धेनुके वधकी घटना सुनाकर उसके प्रायश्चित्तका विधान पूछा, खाण्डिक्यने बड़ी सरलतासे विस्तारपूर्वक विधान बतला दिया। केशिध्वजने वहाँसे अपनी यज्ञभूमिमें लौटकर यथाविधि प्रायश्चित्त और क्रमश: यज्ञकी समस्त क्रियाएँ कीं। यज्ञ समाप्त होनेपर राजाने सब ऋत्विक् और सदस्योंका पूजन-सम्मान किया, अतिथियोंको अनेक प्रकारसे विविध दान देकर प्रसन्न किया। तब भी राजाके मनमें शान्ति नहीं हुई। इसका कारण सोचते-सोचते केशिध्वजके मनमें यह भावना हुई कि 'मैंने प्रायश्चित्तका विधान बतलानेवाले खाण्डिक्यको अभी गुरुदक्षिणा नहीं दी, इसीसे मेरा मन अशान्त है।' इस विचारके पैदा होते ही केशिध्वज फिर खाण्डिक्यके निवासस्थानकी ओर चले। इस बार भी खाण्डिक्यने नीतिके अनुसार उसपर सन्देह करके शस्त्र उठाये, परन्तु केशिध्वजने वहाँ जाते ही नम्र वचनोंमें खाण्डिक्यसे कहा—'खाण्डिक्य! मैं आपकी कोई बुराई करने नहीं आया हूँ, आप क्रोध न करें। आपके उपदेशसे मेरा यज्ञ भलीभाँति पूर्ण हो चुका है, मैं अभी गुरु-दक्षिणा नहीं दे सका, उसीको देने आया हूँ, आपकी जो इच्छा हो सो माँग सकते हैं।'

केशिध्वजकी यह बात सुनकर खाण्डिक्यने अपने मन्त्रियोंसे सम्मति पूछी, उन्होंने कहा, 'राजन्! आप इससे सारा राज्य माँग लीजिये। बिना ही युद्धके जहाँ राज्यकी प्राप्ति होती हो वहाँ बुद्धिमान् पुरुष राज्य ही लिया करते हैं।' मन्त्रियोंकी इस उक्तिपर महामति खाण्डिक्य हँस पड़े और कहने लगे, 'मित्रो! आप अन्य सभी कार्योंमें मुझे उचित परामर्श दिया करते हैं, परन्तु परमार्थ वस्तु क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है, इस बातको आपलोग विशेषरूपसे नहीं जानते। क्या मुझ-जैसे व्यक्तिके लिये ऐसे अवसरपर थोड़े दिनोंतक रहनेवाले राज्यकी कामना करना उचित है? '**स्वल्पकालं महीराज्यं मादृशैः प्रार्थ्यते कथम्।**' आपलोग देखिये, मैं उससे क्या माँगता हूँ। इतना कहकर खाण्डिक्यने केशिध्वजके पास जाकर कहा—'भाई! क्या सचमुच तुम मुझे गुरु-दक्षिणा दोगे?' केशिध्वजने दृढ़तासे कहा—'हाँ, अवश्य दूँगा।' तब खाण्डिक्य कहने लगे—केशिध्वज!

भवानध्यात्मविज्ञानपरमार्थविचक्षणः ॥
यदि चेद्दीयते मह्यं भवता गुरुनिष्क्रयः।
तत्क्लेशप्रशमायालं यत् कर्म तदुदीरय॥

'अध्यात्म-विज्ञानरूप परमार्थ ज्ञानमें आप प्रवीण हैं, यदि आप गुरु-दक्षिणा देना चाहते हैं तो मुझे वह उपाय बतलाइये, जिससे मेरे समस्त क्लेश सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो जायँ।'

केशिध्वजने कहा—'आप मुझसे निष्कण्टक राज्य क्यों नहीं चाहते? क्षत्रियोंको तो राज्यके समान और कोई पदार्थ इतना प्रिय नहीं होता।' खाण्डिक्य कहने लगे—'केशिध्वज! मूर्ख मनुष्य जिसके लिये सदा लालायित रहते हैं, ऐसे विशाल राज्यको मैंने क्यों नहीं माँगा, इसका कारण आपको बतलाता हूँ।

'प्रजाका पालन करना और धर्मयुद्धमें राज्यके शत्रुओंका संहार करना ही क्षत्रियोंका धर्म है। मेरा राज्य आपने छीन लिया है, इससे प्रजापालन न करनेका दोष इस समय तो मुझपर कुछ भी नहीं है, परन्तु यदि राज्य ग्रहण

करके न्यायपूर्वक उसका पालन न किया जायगा तो मुझे अवश्य पापका भागी होना पड़ेगा। इसके सिवा भोग-पदार्थोंकी इच्छा न करनेमें एक हेतु यह भी है कि क्षत्रिय कभी माँगकर राज्य नहीं लिया करते, यह सज्जनोंका सिद्धान्त है। फिर राज्यकी प्राप्तिमें वास्तवमें सुख ही कौन-सा है? जो मूर्ख अहंकाररूपी मदिरा पीकर पागल हो रहे हैं या जिनका मन ममताके मायाजालमें फँस रहा है, वे ही राज्यका लोभ किया करते हैं, मैं ऐसे राज्यसे कोई लाभ नहीं समझता, इसीलिये मैंने इस अविद्याके अन्तर्गत राज्यकी कामना नहीं की।'

खाण्डिक्यके इन वचनोंसे प्रसन्न होकर केशिध्वजने उन्हें साधुवाद देते हुए कहा—'खाण्डिक्य-जनक! मैं प्रजापालन आदि अविद्याकी क्रियाओंद्वारा काम-क्रोधादिसे छूटनेके लिये राज्यका पालन तथा अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान करता हूँ और भोगद्वारा पुण्योंका क्षय कर रहा हूँ। ईश्वरेच्छासे आपके मनमें विवेक जाग्रत् हो गया है, यह बड़े ही आनन्दका विषय है। मैं आपको अविद्याका स्वरूप बतलाता हूँ। कुलनन्दन! अनात्ममें आत्मबुद्धि और जो वस्तु अपनी नहीं है, उसको अपनी समझना, ये दो अविद्या-वृक्षके बीज हैं। दुष्टबुद्धि जीव मोहरूपी अन्धकारसे आच्छन्न होकर पाँच भूतोंसे बने हुए इस स्थूल शरीरको ही आत्मा समझते हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीसे जब आत्मा सर्वथा अलग है, तब ऐसा कौन बुद्धिमान् और प्राज्ञ मनुष्य होगा जो इस पंचभूतात्मक शरीरको आत्मा और शरीरद्वारा भोग किये जानेवाले घर, जमीन, धन, ऐश्वर्य आदि भोगोंको अपना समझे? जब शरीर ही अपना नहीं है, तब उसके द्वारा उत्पन्न हुए पुत्र-पौत्रादिको अपना समझकर बुद्धिमान् मनुष्यको कभी मोहमें नहीं पड़ना चाहिये।

'मनुष्य इस देहके भोगके लिये ही सारे कर्म करता है, यह देह जब आत्मासे भिन्न है तब जीवका इस देहमें आत्मबुद्धि करना केवल संसारमें बन्धनके लिये ही होता है। जैसे मिट्टीके घरकी रक्षाके लिये मिट्टी और जलसे उसपर लेप किया जाता है, वैसे ही यह पार्थिव शरीर भी अन्न-जलके द्वारा रक्षित होता है। इस तरह जब पंचभूतात्मक भोगोंद्वारा इस पंचभूतमय शरीरकी ही रक्षा और तृप्ति होती है तब जीवका इसमें गर्व करना व्यर्थ है।

'वासनाकी धूलिसे लिपटा हुआ यह जीव हजारों जन्मोंतक इस संसारमें भटकता हुआ केवल परिश्रमको ही प्राप्त होता है। संसारमें भटकनेवाले इस भ्रान्त पथिककी यह वासनारूपी धूलि जब ज्ञानरूप गरम जलसे धुल जाती है तभी उसकी मोहरूपी थकावट दूर होती है। मोह-श्रम मिटनेपर जीवका अन्तःकरण स्वस्थ होता है और तभी इसे अनन्य अतिशय आनन्दकी प्राप्ति होती है। वास्तवमें यह निर्वाणमय सुखस्वरूप निर्मल आत्मा सदा मुक्त ही है, दुःख-अज्ञान आदि मल तो प्रकृतिके धर्म हैं, आत्माके नहीं। परन्तु जैसे थालीके जलसे अग्निका कोई साक्षात् सम्बन्ध न होनेपर भी थालीके सम्बन्धके कारण जलमें उष्णता आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही प्रकृतिके संगसे यह अव्यय आत्मा भी अभिमानादि द्वारा दूषित होकर प्रकृतिके धर्मोंका भोग करता हुआ प्रतीत होता है। यही अविद्याके बीजका स्वरूप है, इस अविद्यासे उत्पन्न क्लेशोंके नाशके लिये योगके सिवा और कोई भी उपाय नहीं है।'

इतना सुनकर खाण्डिक्यने केशिध्वजसे कहा—'महाभाग! आप उस योगके तत्त्वको भलीभाँति जानते हैं, कृपाकर मुझे वह योगतत्त्व बतलाइये।' इसपर केशिध्वज कहने लगे—'खाण्डिक्य! जिस योगमें स्थित हो मुनिगण ब्रह्ममें लीन होकर संसारमें फिर कभी नहीं आते।' मैं उस योगका स्वरूप बतलाता हूँ, मन लगाकर सुनिये—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धस्य विषयासंगि मुक्तेर्निर्विषयं तथा॥

मन ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका कारण है। जब यह मन विषयोंमें आसक्त होता है, तब बन्धनका और जब विषयोंका त्याग कर देता है, तब यही मुक्तिका कारण बन जाता है। ज्ञानके साधक मुनिगण इस मनको विषयोंसे हटाकर मुक्तिके लिये उस परब्रह्म परमेश्वरमें लगाते हैं। श्रेष्ठ! जैसे चुम्बक पत्थरसे स्वाभाविक ही लोहेका आकर्षण होता है, उसी प्रकार मनके द्वारा निरन्तर चिन्तन किये जानेपर ब्रह्म भी योगीको अपनी ओर स्वाभाविक ही खींच लेता है। मनकी यह गति आपके ही यत्नपर निर्भर करती है। मनकी गतिका ब्रह्मके साथ संयोग कर देना ही 'योग' कहलाता है। इस प्रकारके योगकी साधना करनेवाले व्यक्तिको ही योगी और मुमुक्षु कहते हैं। योगयुक्त पुरुष पहले 'युंजान' कहलाता है। तदनन्तर वह क्रमशः समाधिसम्पन्न होकर ब्रह्मज्ञानको प्राप्त होता है। युंजान

योगी यदि किसी कारणवश इस जन्ममें सिद्धिको प्राप्त नहीं होता तो उसका मन दोषरूप विघ्नसे रहित होनेके कारण वह जन्मान्तरमें पूर्वके अभ्यास-बलसे मुक्त हो जाता है। परन्तु समाधिसम्पन्न योगी तो इसी जन्ममें मुक्तिको प्राप्त होता है, कारण उसके समस्त अदृष्ट योगकी अग्निके द्वारा बहुत ही शीघ्र भस्म हो जाते हैं।

'योगीको चाहिये कि वह अपने मनको तत्त्वज्ञानके उपयोगी बनानेके लिये निष्कामभावसे ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह आदि नियमोंका अवलम्बन कर संयतचित्तसे स्वाध्याय, शौच, सन्तोष तथा तप करते हुए मनको निरन्तर परब्रह्म परमेश्वरके चिन्तनमें लगाये रखे। यही दस प्रकारके यम-नियम हैं। इनका सकामभावसे पालन करनेवालेको उत्तम फलकी प्राप्ति होती है और निष्काम आचरण करनेवालेको मुक्ति मिलती है। भद्र आदि आसनोंमेंसे किसी एक आसनका अवलम्बन करके सद्‌गुणी पुरुषको यम-नियमसे सम्पन्न होकर वशमें किये हुए चित्तसे योगका अभ्यास करना चाहिये।

'अभ्याससे प्राण नामक वायुको वशमें करनेवाली क्रियाका नाम प्राणायाम है। प्राणायाम सबीज और निर्बीज भेदसे दो प्रकारका है। जब प्राण और अपान वायु सद्विधानसे परस्परको जीत लेते हैं, तब इन दोनोंके संयमित हो जानेपर कुम्भक नामक तीसरा प्राणायाम होता है। योगी जब पहले-पहल प्राणायामका अभ्यास करते हैं, तब भगवान्‌का स्थूल रूप ही उनके चित्तका अवलम्बन रहता है। योगीको चाहिये कि वह क्रमशः प्रत्याहारपरायण होकर शब्द, स्पर्शादि विषयोंमें आसक्त इन्द्रियोंका निग्रह करके उन्हें चित्तका अनुसरण करनेवाली बना ले, इन अत्यन्त चंचल स्वभाववाली इन्द्रियोंको वशमें करनेकी बड़ी आवश्यकता है। जबतक इन्द्रियाँ वशमें नहीं होतीं, तबतक योगी योगकी साधनामें समर्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार प्राणायामद्वारा प्राणवायुको और प्रत्याहारद्वारा इन्द्रियोंको वशमें करके योगीको कल्याणका आश्रय लेकर अपना चित्त भलीभाँति स्थिर करना चाहिये।'

खाण्डिक्यने कहा—'महाभाग! जिस कल्याणके आश्रयसे चित्तके सारे दोष नष्ट हो जाते हैं वह क्या वस्तु है सो कृपा करके मुझे समझाइये।' केशिध्वज कहने लगे—'राजन्! ब्रह्म ही चित्तका शुभ आश्रय है। वह स्वभावतः ही दो प्रकारका है—मूर्त और अमूर्त, जिसको पर और अपर भी कहते हैं। इस जगत्‌में तीन प्रकारकी भावनाएँ होती हैं—एक ब्रह्मभावना, दूसरी कर्मभावना और तीसरी ब्रह्म-कर्मभावना। सनन्दन आदि ऋषिगण ब्रह्मभावनावाले हैं, देवताओंसे लेकर जड़-चेतन समस्त प्राणी कर्मभावनावाले हैं और हिरण्यगर्भ आदिमें ब्रह्म-कर्म दोनों भावनाएँ हैं। जिसका जैसा ज्ञान और अधिकार है उसकी वैसी ही भावना हुआ करती है।

'भेद-ज्ञानके हेतु कर्म जबतक बने रहते हैं तभीतक जीवोंको विश्व और परमात्मामें भेद दीखता है। जिस ज्ञानसे सारे भेद मिट जाते हैं, जो ज्ञान सत्तामात्र है, जो मन, वाणीसे अगोचर है और जिसको केवल आत्मा ही जानता है उसीका नाम ब्रह्मज्ञान है। वही अज, अक्षर तथा अरूप विष्णुका नित्य और परमरूप है और वह समस्त विश्वरूपसे विलक्षण है। आरम्भमें योगी उस परमरूपका चिन्तन नहीं कर सकते, इसीलिये उन्हें परमात्माके विश्वगोचर स्थूल रूपका चिन्तन करना चाहिये। हिरण्यगर्भ, इन्द्र, प्रजापति, वायु, वसु, रुद्र, आदित्य, नक्षत्र, ग्रह, गन्धर्व, यक्ष और दैत्य आदि समस्त देवयोनियाँ—मनुष्य, पशु, पर्वत, समुद्र, नदी और वृक्ष आदि अगणित प्राणी, उनके कारण और प्रधान आदितक एकपाद, द्विपाद, बहुपाद अथवा अपाद चेतन और अचेतन सभी त्रिविध भावनात्मक परमात्मा हरिका मूर्त रूप है। यह समस्त चराचर विश्व उस परब्रह्मस्वरूप भगवान् विष्णुकी शक्तिसे समन्वित है।

'भगवान्‌की यह शक्ति तीन प्रकारकी है—(१) विष्णुशक्ति, (२) अपरा क्षेत्रज्ञशक्ति और (३) कर्म नामक अविद्याशक्ति, जिससे आवृत होकर सर्वव्यापी क्षेत्रज्ञशक्ति भी संसारके समस्त तापोंका भोग करती है। इस अविद्याशक्तिके द्वारा ढकी रहनेके कारण ही क्षेत्रज्ञशक्ति सब भूतोंमें समान होनेपर भी न्यूनाधिकरूपसे दिखायी देती है। प्राणहीन पदार्थोंमें वह बहुत ही कम प्रमाणमें दीख पड़ती है, स्थावरोंमें उससे कुछ अधिक दीखती है, साँपोंमें उससे अधिक, पक्षियोंमें उससे अधिक, मृगोंमें उससे अधिक, मनुष्योंमें रहनेवाले पशुओंमें उससे अधिक, पशुओंसे मनुष्योंमें अधिक, मनुष्योंसे नागोंमें अधिक, उनसे गन्धर्वोंमें अधिक, गन्धर्वोंसे यक्षोंमें, यक्षोंसे देवताओंमें, देवताओंसे इन्द्रमें, इन्द्रसे प्रजापतिमें और प्रजापतिसे भी अधिक क्षेत्रज्ञशक्तिका विकास हिरण्यगर्भमें पाया जाता है। ये सभी उस अशेषरूप भगवान्‌के ही रूप हैं; क्योंकि ये सभी आकाशकी भाँति उन्हींकी शक्तिद्वारा व्याप्त हैं।

'अब उस ब्रह्मके दूसरे रूपका ध्यान बतलाता हूँ, बुद्धिमान् लोग इस रूपको सत् और अमूर्त कहा करते हैं। जिस रूपमें पूर्वोक्त समस्त शक्तियाँ प्रतिष्ठित हैं यही विश्वरूपका स्वरूप है। भगवान्के और भी अनेक रूप हैं। देवता, तिर्यक् और मनुष्य आदिकी चेष्टासे जो सब रूप प्रकट होते हैं, जिन्हें भगवान् जगत्के उपकारके लिये लीलासे धारण करते हैं ऐसे रूपोंकी समस्त चेष्टाएँ स्वतन्त्र होती हैं, किसी कर्मके अधीन होकर नहीं होतीं। योगी साधकको अपनी चित्तशुद्धिके लिये सारे पापोंके नाश करनेवाले विश्वरूपके उसी रूपका चिन्तन करना चाहिये। जैसे वायुके जोरसे बढ़ी हुई, धधकती हुई अग्नि सूखे घासको क्षणभरमें भस्म कर डालती है, वैसे ही चित्तमें स्थित भगवान् विष्णु भी योगियोंके सारे पापोंको भस्म कर देते हैं। इसलिये समस्त शक्तियोंके आधार उन परमेश्वरमें ही चित्त स्थिर करना चाहिये, इसीका नाम विशुद्ध धारणा है।

'सर्वव्यापी आत्माका भी आश्रय और तीनों भावनाओंसे अतीत वह परमात्मा ही मुक्तिके लिये योगियोंके चित्तका एकमात्र शुभ अवलम्बन है। इसके अतिरिक्त दूसरे कर्मयोनि देवताओंका आश्रय शुद्ध नहीं है। भगवान्का मूर्तरूप चित्तको दूसरे विषयोंसे निःस्पृह कर देता है। कारण, चित्त उसीकी ओर दौड़ता है, इसीलिये इसको धारणा कहते हैं।

'अनाधार विष्णुके अमूर्त रूपको चित्त सहसा धारण नहीं करता, इसीसे उसके मूर्त रूपका चिन्तन करना चाहिये, वह मूर्तरूप इस प्रकारका मनोहर है—जिसका सुन्दर प्रसन्नमुख है, कमलकी पँखड़ियोंके समान नेत्र हैं, सुन्दर कपोल हैं, विशाल और उज्ज्वल मस्तक है, लम्बे कानोंमें मनोहर कर्णभूषण शोभित हो रहे हैं, सुन्दर कण्ठ है, चौड़ा वक्षःस्थल श्रीवत्सके चिह्नसे अंकित है, गम्भीर नाभि और उदरपर त्रिवली सुशोभित हैं, आजानुलम्बित आठ या चार भुजाएँ हैं, ऊरु और जंघाएँ समभावसे स्थित हैं, हाथ और पैर सुस्थिर हैं, निर्मल पीत वस्त्र और शार्ङ्गधनुष, गदा, खड्ग, शंख, चक्र, अक्ष तथा वलय धारण किये हुए हैं। भगवान्की ऐसी पवित्र विष्णुमूर्तिमें जबतक मन रम न जाय तबतक मनका संयम करके चिन्तन करते ही रहना चाहिये। जब कहीं भी जाने-आने, बैठने-उठने या स्वेच्छापूर्वक किसी भी कार्यके करते समय भी चित्तसे भगवान्का यह रूप न हटे, तब धारणाकी सिद्धि समझनी चाहिये।

'इसके बाद साधकको शंख, गदा, चक्र और शार्ङ्ग आदिसे रहित अक्षसूत्र धारण की हुई भगवान्की प्रशान्त मूर्तिका ध्यान करना चाहिये। उस मूर्तिमें धारणा स्थिर होनेपर किरीट, केयूररहित मूर्तिका ध्यान करना चाहिये। तदनन्तर उसी भगवान्की मूर्तिके एक-एक अवयवका चिन्तन करना चाहिये। इसके बाद योगीको उस अवयवी भगवान्में प्रणिधान करना चाहिये।

'दूसरे विषयोंमें सर्वथा निःस्पृह होकर जब साधक केवल भगवान्के रूपमें ही अनन्यभावसे तन्मय हो जाता है, तब उसीको ध्यान कहते हैं। यह ध्यान, यमादि छः प्रकारके अंगोंद्वारा सम्पादित होता है। इसके बाद समाधि होती है। समस्त कल्पनाओंसे सर्वथा रहित होकर केवल स्वरूपमें ही स्थित रहनेको समाधि कहते हैं, यह समाधि ध्यानके द्वारा प्राप्त होती है।

'समाधिके अनन्तर भगवत्-साक्षात्काररूप विज्ञानसे ही परब्रह्मरूप प्राप्य विषयकी प्राप्ति होती है, अब पूर्वोक्त त्रिविध भावनासे अतीत परमात्मा ही प्राप्त होता है। मुक्तिमें क्षेत्रज्ञ कारण और ज्ञान करण है; इन दोनोंके द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्त होते ही जीव कृतकृत्य होकर जन्म-मृत्युसे छूट जाता है—परमात्माकी भावनामें विभोर जीव परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। जीवको अज्ञानसे ही भेद-ज्ञान हुआ करता है। समस्त पदार्थोंके भेदजनक ज्ञानका सम्पूर्णरूपसे विनाश हो जानेपर आत्मा और ब्रह्मके भेदकी चिन्ता कौन करे? खाण्डिक्य! यही योग है, इसीको जानकर मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयास कर सकता है। मैंने संक्षेप और कुछ विस्तारसे यह महायोग आपको बतलाया, अब कहिये, मुझे और क्या करना होगा?'

खाण्डिक्यने कहा—'महाभाग! आपने मुझे यह महायोग बतलाकर सब कुछ दे दिया है, आज आपके उपदेशसे मेरे चित्तका सभी मल नष्ट हो गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैं जो यह 'मेरा', 'मेरा' कहता हूँ सो सर्वथा मिथ्या है। 'मैं' और 'मेरा' के द्वारा व्यवहार होता है, परन्तु वास्तवमें यह अविद्या ही है। परमार्थ वाणीके अगोचर होनेसे जबानकी चीज नहीं है। केशिध्वज! आपने मुझको मुक्ति देनेवाला यह महायोग बतलाकर मेरा बहुत ही उपकार किया है, अब आप अपने कल्याणके लिये घर पधारिये।'

तदनन्तर केशिध्वज खाण्डिक्यके द्वारा पूजित होकर अपने घर लौट आये। खाण्डिक्यने यम-नियमादिकी साधनाके द्वारा परमात्मामें चित्त लगाकर अन्तमें निर्मल परब्रह्मको प्राप्त किया। इधर केशिध्वज भी भोगोंके द्वारा अदृष्टका क्षय करके निष्काम कर्म करते हुए निर्मलचित्त होकर परमसिद्धिको प्राप्त हो गये। (विष्णुपुराणके आधारपर)

भोग और त्याग

आधुनिक मनोविज्ञानके विश्लेषण (New Psycho-analysis)-का सिद्धान्त यह प्रतिपादित करनेकी भरपूर चेष्टा कर रहा है कि 'भोगोंको अतिमात्रामें भोग लेनेसे ही शान्ति मिलती है और तभी भोगोंसे हमारी विरति होती है। इस मतके अनुसार मनुष्य भोगोंसे भागकर उनसे पिण्ड नहीं छुड़ा सकता। भाग जानेपर भी वह बार-बार उनमें फँसेगा, इसलिये आवश्यक है कि भोगोंको खूब भोगकर, उनका खूब अनुभव करके, उनके आनन्द और उपभोगकी अतिमात्राके कारण विरसताका भी अनुभव करके उन्हें सदाके लिये छोड़ दिया जाय। भोगोंका अतिभोग ही सच्ची विरक्ति ला सकता है न कि उसके प्रति अज्ञान या अवहेलना।'

दूसरा मत जो हमारे यहाँ बहुत ही प्राचीन कालसे चला आ रहा है और जिसकी घोषणा हमारे शास्त्र और सन्त डंकेकी चोट कर रहे हैं—यह है कि भोगोंके त्यागसे ही शान्ति मिल सकती है; भोगोंकी कोई इति नहीं। अस्तु उनसे अलग हो जाना ही, उनको त्याग देना ही कल्याणकामियोंके लिये सर्वथा उचित तथा उपादेय है। इस मतके लोगोंका कथन यह है कि भोगोंकी अतिसे क्षणिक विरति भले ही हो, पर बार-बार मन उनमें फिर भी जा सकता है।

दोनों ही मत अपने-अपने विचारसे ठीक हैं; क्योंकि एक बात तो दोनोंमें ही है और वही मुख्य है—वह है शान्तिकी इच्छा। किसी प्रकार हो, लोग शान्तिकी खोजमें हैं, शान्ति चाहते हैं और उसी शान्तिके लिये भिन्न-भिन्न मार्ग तथा मत स्थापित करते हैं। भगवान्‌ने गीताजीमें शान्ति-प्राप्तिके बहुत-से उपाय विभिन्न अधिकारियोंके लिये बतलाये हैं, उनमेंसे एक यह है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(२।७१)

इस श्लोकमें भगवान्‌ने चार बातें बतलायी हैं—जो पुरुष (१) सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर, (२) सर्वथा ममतारहित होकर, (३) अहंकाररहित और (४) स्पृहारहित हुआ बर्तता है, वह शान्तिको प्राप्त करता है और जब भीतर शान्ति नहीं है, चित्त अशान्त है, तब सुख कहाँ—**'अशान्तस्य कुतः सुखम्?'** मनमें किसी कामनाका उदय होना ही यह सूचित करता है कि कोई अभाव है। अभावके बोधमें ही प्रतिकूलता है और प्रतिकूलता ही अशान्ति है—दुःख है। कामना दो प्रकारकी होती है—(१) प्रतिकूल वस्तु है तो उसका नाश हो जाय, (२) अनुकूल वस्तु नहीं है तो वह मिल जाय। ये दो प्रकारके अभाव होते हैं—एकमें प्रतिकूलके नाशका अभाव है, दूसरेमें अनुकूलके न होनेसे अभाव है, यह अभावका बोध ही प्रतिकूलता है और प्रतिकूलता ही दुःख है। जहाँतक कामना है, वहाँतक अभावका अनुभव है। अभाव ही प्रतिकूलता और प्रतिकूलता ही अभाव है। अतः जहाँतक इन कामनाओंका नाश नहीं हो जाता, वहाँतक शान्ति नहीं मिल सकती।

कामनाके नाशके लिये ही उपर्युक्त दोनों मार्ग हैं—भोगोंको भोगना, अतिमात्रामें भोगना, इतना कि भोगते-भोगते उनकी ओरसे मन ऊब जाय—हट जाय और दूसरा यह कि भोग-कामनाको उगने ही नहीं देना, आरम्भसे ही भोगोंका त्याग कर देना। दृष्टिभेदसे दोनों ही ठीक हैं। एक ही वस्तु एक ही व्यक्तिको हर समय बार-बार दी जायगी तो वह कभी-न-कभी उससे अवश्य ही ऊब जायगा। यदि किसी व्यक्तिको खीर खानेकी इच्छा है तो उसे हर समय यदि केवल खीर ही खानेको दी जाय तो वह ऊब उठेगा, खीरसे घबरा जायगा। इसी प्रकार स्त्री-सुख है। यदि किसी पुरुषको खाने-पीनेको कुछ भी न दिया जाय और रात-दिन केवल स्त्री-सम्भोगकी ही छुट्टी दे दी जाय तो वह उससे शीघ्र ही ऊब उठेगा। भोगोंको अतिमात्रामें पानेसे उनसे स्वाभाविक ही अरुचि होती है।

परन्तु एक बात स्मरण रखनेकी है और वह यह कि कामनाके प्रधानतया दो रूप होते हैं—वासना और

इच्छा। जबतक मनमें वासना है, तबतक इच्छा भी होगी ही। वासना सूक्ष्म है, इच्छा स्थूल है। जबतक वासना नष्ट नहीं होती, तबतक यह सर्वथा सम्भव है कि कुछ समय बाद वह स्थूल रूपमें इच्छा बनकर फिर जाग उठे। खीर अधिक खा लेनेसे आज हमारी तृप्ति हो जाती है और उस समय उससे हमारी अरुचि हो जाती है; हम और नहीं चाहते; पर यदि हमारे मनसे उसकी वासना न मिटी तो कुछ दिनों बाद फिर खीरके स्वादका स्मरण आयेगा और हम उसे पाना चाहेंगे। ठीक यही बात स्त्री-सम्भोगकी भी है। आज उसकी अतिमात्राके कारण उससे भले अरुचि हो जाय, पर महीने-दो-महीनेमें फिर वह वासना धर दबायेगी और उस समय पहलेकी विरतिका स्मरणतक भी नहीं होगा। चित्त जब मुरझाया हुआ होता है, उस समय मनमें ऐसा भासता है कि भीतर भोगकी गन्ध भी नहीं है, पर अवसर और अनुकूल संयोग पाते ही दबी हुई वासना उदय हो ही जाती है। बीमारीकी हालतमें चित्त भोगोंसे हटता है, पर बीमारी बीतनेके बाद फिर वही चाट। अघा जानेपर एक बार विषयोंसे जो उपरति होती है, वह विषयोंसे हमारी स्थायी विरक्ति है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यदि वासनाका सर्वथा नाश हो गया होता तो फिर वह उगती कहाँसे? भोगोंको अधिक भोग लेनेसे मनमें जो तात्कालिक विरति होती है, वह स्थायी नहीं कहला सकती।

इसी प्रकार बलात् भोगोंके त्यागकी बात है। उनका हम हठसे त्याग करते हैं। जबतक वासनाका त्याग नहीं होता, तबतक मन उनपर चलता रहता है। जहाँ उस निग्रहका नियम ढीला हुआ कि फिर मन उसी वस्तुपर चला जाता है। भोगोंका अधिक भोग तथा हठपूर्वक त्याग दोनोंसे ही—जबतक चित्तमें वासना है, तबतक स्थायी और सच्ची विरति या उपरति प्राप्त नहीं होती, अतः तबतक शान्ति-सुख भी नहीं मिल सकते। वासनाका मूल नहीं कटता—किसी कारणसे वह दब-सी जाती है, पर फिर उभर आती है। बहुत बार हम उसे नियमोंके द्वारा दबा देते हैं; पर मन बरबस बार-बार उधर ही जाता है। दोनोंमें ही कामनाका आत्यन्तिक नाश नहीं होता। जबतक अविद्याका—मोहका नाश नहीं होता, तबतक भोगोंका त्याग न हठपूर्वक त्यागसे ही हो सकता है, न अधिक भोगसे ही।

यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है कि 'वासना-नाशके लिये फिर दोनोंमें—अतिभोग और भोगत्यागमें—सही मार्ग कौन-सा है? कौन-सा ऐसा पथ है, जिसके द्वारा हम वासनाका यथार्थतः त्याग कर सकते हों और जो बराबर सुरक्षित हो।' इसके उत्तरमें इतना तो डंकेकी चोट कहा जा सकता है कि 'त्यागका मार्ग' ही श्रेष्ठ है। यही हमारे शास्त्रोंका निचोड़ है, यही हमारे सन्त-महापुरुषोंकी अनुभवपूर्ण अमर वाणी है। भोगोंके भोगनेसे और अधिक प्राप्तिसे भले ही शरीर दुर्बल हो जाय, पर भोगोंकी कामना मिट जाती हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जब शरीर अशक्य हो जाय और चित्त व्याकुल हो, तब भले ही कामनाका अभाव-सा प्रतीत हो; परन्तु जहाँ शक्ति हुई कि पुनः वे ही कामनाएँ और भी भयानक रूपमें सामने आ जाती हैं। भोगोंसे भोग-कामनाका उपशमन कभी नहीं होता!

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी ते।

राजा ययातिने बहुत भोग भोगे, परन्तु भोगोंसे तृप्ति हुई ही नहीं, तब हारकर कहा—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमंगलम्।
समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत्॥

(श्रीमद्भा० ९। १९। १३—१६)

'जिसका चित्त कामनाओंसे ग्रस्त है, उस पुरुषके मनको पृथ्वीमें जितने भी भोग्यपदार्थ—धान्य, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, सब मिलकर भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते। विषयके भोगनेसे भोगवासना कभी शान्त नहीं हो सकती, वरं जैसे घीकी आहुति डालनेपर आग और भड़क उठती है, वैसे ही भोगोंकी प्राप्तिसे भोगवासनाएँ भी प्रबल हो जाती हैं। जब मनुष्य किसी भी प्राणी और किसी भी वस्तुके साथ राग-द्वेषका भाव नहीं रखता, तब वह समदर्शी हो जाता है तथा उसके लिये फिर सभी दिशाएँ सुखमयी बन जाती हैं। विषयोंकी तृष्णा ही दुःखोंका उद्भवस्थान है, मन्दबुद्धि मनुष्य बड़ी कठिनाईसे उसका त्याग कर सकते हैं। शरीर बूढ़ा हो

जाता है, पर तृष्णा नित्य तरुणी ही बनी रहती है। अत: जो कल्याण चाहता है, उसे शीघ्र-से-शीघ्र इस तृष्णा (भोग-वासना)-का त्याग कर देना चाहिये।'

ज्यों-ज्यों मनचाही चीज मिलने लगती है, त्यों-त्यों मनचाहीकी सीमा और आगे बढ़ती है। यदि भोगोंकी प्राप्तिमें ही वास्तविक तृप्ति होती तो किसी भी अवस्थामें तो मनुष्य यह कहता कि 'अब और नहीं चाहिये।' पर देखनेमें आता है कि करोड़पति-अरबपतिमें भी वही हाहाकार है, वही अशान्ति है, वही 'अभी कुछ और' की पुकार बनी हुई है। जबतक अविद्याका नाश नहीं होता, तबतक शान्ति कहाँ?

संसारके समस्त सुख-भोग, समृद्धि-वैभव पाकर भी यह जीव तृप्त नहीं होता इसका क्या कारण है? हम सम्राट् भी हो जायँ फिर भी इच्छाओंकी इति नहीं—इसमें क्या हेतु है? यह जीव सच्चिदानन्द है। आत्माका सनातन अंश है, नित्य पूर्ण है, इसकी तृप्ति अपूर्णसे कैसे होगी? यह जिस अवस्थाको प्राप्त करता है, जहाँ भी यह जाता है, सम्राट् होनेपर भी यह देखता है कि वहाँ पूर्णता नहीं। देवराज इन्द्र बन जानेपर भी पूर्णताका बोध नहीं होता। वहाँ भी अतृप्त रहता है। जीवकी यह 'आत्यन्तिक अतृप्ति' यह सूचित करती है कि यह उस अवस्थाकी खोजमें है जो नित्य, सत्य, परिपूर्ण, अज, अविनाशी, शाश्वत, सनातन है। जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होती तबतक इसे शान्ति नहीं मिलती। यदि भोगोंसे ही वासना मिट जाय तब तो इस सिद्धान्तमें ही बाधा आ जायगी। क्या जीव अपूर्णसे कभी तृप्त होगा? असलमें जीवके लिये इन अपूर्ण वस्तुओंकी प्राप्ति और उनमें रति पूर्णकी प्राप्तिमें बाधक है। 'असत्‌में सद्‌बुद्धि, अनित्यमें नित्यबुद्धि, दु:खमें सुखबुद्धि और अपवित्रमें पवित्रबुद्धि' ही तो अविद्याके लक्षण हैं। जब यह असत्, अपवित्र और दु:खरूपी वस्तु पूर्णकी प्राप्तिमें बाधक है, तब फिर इसीके बलपर—अविद्याका सहारा लेकर जीव अपनी शाश्वती परमानन्द-स्थितिको कैसे प्राप्त करेगा? हमें तो अपने घर पहुँचना है, यदि राहकी ही किसी वस्तुपर हमारा मन लुभा गया और उसीमें हम रम गये, राहमें ही रह गये तो मार्ग छूटा, घरकी ओर बढ़नेसे रुके और घरसे अलग ही रह गये। इसीलिये तो संसारशिखरपर खड़े होकर सन्त-महात्मा हमें चेताते हैं—'घर लौटो, राहमें न भटको! यह संसार दु:खालय है, अशाश्वत है, अनित्य है, असुख है, इसमें न भरमो।' भगवान्‌ने कहा है—

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

'इस क्षणभंगुर और सुखरहित संसारको पाकर मुझे भजो।' तुम्हारा मार्ग न छूटे। रास्ता छोड़कर अन्यत्र न भटक जाओ। दु:खका यह भण्डार है, क्षणभर भी ठहरनेवाला नहीं है! सावधान! भोगोंमें ही जब सुखका, तृप्तिका बोध होने लगेगा, तब मनुष्य वहीं ठहर जायगा। इसका परिणाम? परिणाम तो स्पष्ट है—वह आत्मासे वंचित रह जाता है। 'घर' नहीं पहुँचता, बीचमें ही रुक जाता है और भोगोंमें तृप्ति कहाँ? ज्यों-ज्यों भोग मिलते हैं, वासना बढ़ती जाती है। इसीलिये सन्त कहते हैं—इन्हें छोड़ो—**'विषयान् विषवत्त्यज!'** भोगोंको विषके समान त्याग दो! भोगोंसे तृप्ति नहीं होती, हो नहीं सकती।

हमारे मनमें जो स्फुरणा होती है, उसका कारण है—हमारी संचित कर्मराशि। संचित है क्रियमाणकी पूँजी। क्रियमाणकी तहपर तह लग जाती है—कर्मोंकी बड़ी भारी तह लग गयी। इसी कर्मराशिका नाम संचित है, इस संचितसे कुछ सार लेकर प्रारब्ध बनता है। क्रियमाण और प्रारब्धका यही स्वरूप है। स्फुरणा उसी संचितकी अधिक होती है, जो नवीन होता है। जो कर्म आदमी वर्तमानमें करता है उसीका नया संचित बनता है। संचितसे स्फुरणा (कर्मप्रेरणा) उत्पन्न होती है और बार-बार जैसी स्फुरणा होती है प्राय: वैसा ही नया कर्म बनता है। नया कर्म ही संचित बन जाता है, उसीकी फिर स्फुरणा होती है। यों चक्र चलता जाता है। इससे पुराने संचितके पुराने संस्कार दब जाते हैं। जैसे गोदाममें जो माल सबके बाद रखा जाता है, निकालते समय सबसे पहले वही निकलता है। इसी प्रकार अन्तरमें जो अनन्त कर्मराशिकी तह-पर-तह लगी है, उनमेंसे उसीकी स्फुरणा पहले होती है, जो सबसे आगेकी या ऊपरके स्तरका कर्म होता है। जैसे गोदाममें नीचे प्याज दबा है, ऊपर और आगे केसर-कपूर भर दिया जाय तो प्याजकी गन्ध दब जाती है और केसर-कपूरकी आती है। इतना होनेपर भी कभी-कभी वायुके झोंकेसे नीचे दबे प्याजकी भी गन्ध आ जाती है। वैसे ही वर्तमानके शुभ-कर्मोंकी शुभ स्फुरणा होनेपर भी मनमें संचित अशुभ-कर्मोंकी अशुभ स्फुरणा भी कभी-कभी हो ही जाती है। पर यदि मनुष्य लगातार शुभका ही संचय करता जाय तो पुराने

कर्म बहुत नीचे दब जाते हैं। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह बराबर शुभ संगमें रहे और शुभको पकड़े रहे। तो इस प्रकार धीरे-धीरे उसके सारे बुरे कर्म और भाव दबकर नये शुभ और पुण्य भाव उदय होंगे। नवीन कर्म पुरुषार्थप्रधान है। बार-बार सत् पुरुषार्थ करे। यों करते रहनेसे आगे चलकर शुभका एक ऐसा सुन्दर चक्र बन जायगा कि फिर अशुभ होगा ही नहीं और जब शुभ खूब बढ़ जायगा, तब ज्ञानाग्नि उत्पन्न होगी ही। जैसे केसर-कपूरकी प्रचुरता होनेपर कभी रगड़ लगकर आग उत्पन्न हो ही जाती है। ज्ञानाग्नि शुद्ध अन्त:करणमें ही उत्पन्न होती है। ज्ञानाग्नि सारी भली-बुरी कर्मराशिको भस्मकर मनुष्यको सच्ची निष्कर्मता प्रदान करती है। गोदाममें आग लग गयी, बुरा-भला सब भस्म हो गया। यदि हम त्यागके मार्गपर रहें तो सारा जीवन त्यागमय हो जाता है। यदि भोगमें रहें तो फिर नये-नये भोगोंका परिचय, उनमें रुचि, वासना, आसक्ति और उनकी कामना मनमें बढ़ती जाती है और परिणामस्वरूप मनमें उन्हींका संस्कार दृढ़ होता है। इससे निश्चय ही नये-नये पाप होते हैं। मनुष्यको यह निश्चितरूपसे समझ लेना चाहिये कि पाप होनेमें कारण प्रारब्ध नहीं, कामासक्ति है। अर्जुनके पूछनेपर कि 'इच्छा न होनेपर भी मनुष्यसे बलात् कराये हुएकी भाँति पाप कौन करवाता है?' भगवान्‌ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३।३७)

'अर्जुन! यह रजोगुण (रागात्मक वृत्ति—आसक्ति)-से उत्पन्न काम (कामना) ही क्रोध है। यह कभी न अघानेवाला (भोगोंसे सदा अतृप्त रहनेवाला) और महान् पापी (पापोंका उत्पादक) है, इस सम्बन्धमें तू इसीको वैरी समझ।' पापोंकी जड़ है बस, भोगकामना।

भगवान्‌ने बतलाया है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

(गीता २।६२-६३)

('मनसहित इन्द्रियोंको वशमें करके उन्हें भगवत्परायण न कर दिया जायगा तो) मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन होगा और विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें भी कामना उत्पन्न होगी, कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध होगा (और कामना सफल होनेपर लोभ)। क्रोध (या लोभ) बढ़ते ही महान् मूढ़भाव उत्पन्न होगा और मूढ़तासे स्मरणशक्ति नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी, स्मृतिके भ्रंश हो जानेसे बुद्धि अर्थात् विवेकशक्तिका नाश हो जायगा और बुद्धिके नाश होनेसे यह श्रेयसाधनसे सर्वथा भ्रष्ट हो जायगा।' इस प्रकार विषयके स्मरणमात्रसे मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है। अच्छे-अच्छे संस्कारवाला पुरुष भी विषयोंके चिन्तनमें लग जाय तो वह महापापी हो जायगा और उधर महापापी भी चित्तके द्वारा विषयोंका चिन्तन छोड़कर भगवान्‌के चिन्तनमें लगे तो वह शीघ्र ही पुण्यात्मा हो जायगा—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और उसे शाश्वती शान्ति प्राप्त होती है।' विषयोंके चिन्तनमात्रसे अशान्ति एवं सर्वनाशका द्वार खुल जाता है और भगवान्‌के स्मरणमात्रसे आनन्द और शान्तिका अमृत बरस पड़ता है। यह है महान् अन्तर। विषयोंके चिन्तनका अर्थ है—सर्वनाश। भगवान्‌के शरणका अर्थ है—आत्माको परम शान्तिकी प्राप्ति। भोगका अर्थ है—बार-बार मरना, बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना। त्यागका अर्थ है—मृत्युसे आत्यन्तिक निवृत्ति, भगवत्प्राप्ति!

इस प्रकार भोगोंसे भोगका नाश कैसे होगा? '**छूटइ मल कि मलहि के धोएँ?**' बहादुरीके साथ, निष्ठा और लगनके साथ भोगोंका त्याग करना चाहिये। भोगविषयोंका त्याग लोगोंको दिखानेके लिये—दम्भके लिये न हो, ईमानदारीसे होना चाहिये। साधन दूसरी वस्तु है तथा साधनका दम्भ दूसरी। लोगोंको दिखलानेके लिये जो कुछ होता है, मान-सम्मानकी आशासे जो कुछ किया जाता है, उसे दम्भ समझना चाहिये। त्यागका स्वाँग त्याग नहीं है। महिमा तो सच्चे त्यागकी है। निश्छल, निष्कपट त्याग ही त्याग है।

त्याग होना चाहिये यथार्थ, सच्चा। ऊपरसे त्याग हो और मनमें चिन्तन चलता रहे, कामनाकी आग बुझे नहीं तो वह दम्भाचार होगा। भोगत्यागका असली अर्थ है—भोगकामनाका त्याग। उस त्यागसे तुरन्त शान्ति मिलती है। संसारमें रहनेवालेसे भोगका सर्वथा त्याग तो होगा ही नहीं। पर राग-द्वेषरहित होकर वशमें किये हुए

मन-इन्द्रियोंसे जो संयमित (शास्त्रविहित, परिमित और नियमित) विषयोंका भोग होता है, उससे प्रसाद (अन्तःकरणकी प्रसन्नता और निर्मलता) प्राप्त होता है तथा उस प्रसादसे सारे दुःखोंका नाश हो जाता है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

(गीता २। ६४-६५)

दुःखनाशके अमोघ उपाय

सभी प्राणी सुख चाहते हैं और वह सुख भी अखण्ड, पूर्ण और नित्य चाहते हैं, परन्तु मोहवश उसकी खोज करते हैं संसारके पदार्थोंमें, जो स्वयं अपूर्ण, खण्ड और अनित्य हैं। भगवान्ने उनको सुखरहित और अनित्य अथवा दुःखालय और अशाश्वत बतलाया है। सो सत्य ही है। जो वस्तु अपूर्ण, खण्ड और अनित्य होती है, वह कभी सुख नहीं दे सकती। फिर जगत्में जो हम सुख देखते हैं, वह क्या है? वह है भ्रान्ति। असलमें तो 'विषयोंमें सुख है,' ऐसी कल्पना ही भ्रम है। भगवान्ने भोगोंको दुःखयोनि बतलाया है। भगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'अर्जुन! ये जो इन्द्रियोंके स्पर्शसे उत्पन्न भोग हैं, सब दुःखकी उत्पत्तिके स्थान हैं और आदि-अन्तवाले हैं। बुद्धिमान् पुरुष उन भोगोंमें कभी प्रीति नहीं करता।'

वस्तुतः जगत्के सुख-दुःख सब केवल अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर ही हैं। जहाँ अनुकूलताका बोध है, वहाँ सुख है और जहाँ प्रतिकूलताका बोध है, वहाँ दुःख है। किसी स्थिति, घटना या वस्तुमें सुख-दुःख नहीं हैं। एक आदमीकी मृत्यु होती है। उसमें जिनका ममत्व है, वे प्रतिकूलताका अनुभव करके रोते हैं और जिनकी शत्रुता है, वे अनुकूलताके बोधसे हँसते हैं और आनन्द मनाते हैं। नारदजी पूर्वजन्ममें जब वे दासीपुत्र थे और बहुत छोटी उम्रके—केवल पाँच वर्षके थे, तब उनकी आश्रयभूता एकमात्र माताको साँपने डस लिया। माता मर गयी, इसपर नारदजीको दुःख नहीं हुआ। उन्होंने सोचा कि 'माता मेरे भजनमें एक प्रतिबन्धक थी। भगवान्ने बड़ा अनुग्रह किया जो माताका देहान्त हो गया।' वे माताके इकलौते पुत्र थे परन्तु अनुकूलताकी भावनासे वे दुःखी नहीं हुए। नरसी भक्तके इकलौते और अत्यन्त प्यारे जवान पुत्रकी मृत्यु हो गयी। नरसीजीने उसमें अनुकूलताका अनुभव किया और दुःखी न होकर वे गाने लगे—***'भलुं थयुं भाँगी जँजाल। सुखे भजीशुं श्रीगोपाल।'*** 'अच्छा हुआ जंजाल टूट गया, अब सुखसे श्रीगोपालजीका भजन करूँगा।' लगभग कुछ वर्ष पहलेकी बात है। कलकत्तेके 'अलीपुर बम केस' में जिसमें श्रीअरविन्द तथा उनके भाई श्रीवारीन्द्रकुमार घोष आदि अभियुक्त थे, नरेन्द्र गोस्वामी नामक एक युवक सरकारी गवाह बन गया था। उसको जेलमें ही एक दूसरे अभियुक्त श्रीकन्हाईलाल दत्तने मार डाला। कन्हाईलालको फाँसीकी सजा हुई। पर उसको अपने इस कार्यपर इतना अधिक सन्तोष और आनन्द था कि फाँसीकी सजा सुनायी जाने और फाँसी होनेके बीचके दो-तीन सप्ताहके समयमें ही उसका कई पौण्ड वजन बढ़ गया। कहाँ तो मौतके नामसे खून सूख जाता है, कहाँ मृत्युकी तिथि निश्चित हो जानेपर भी खून बढ़ गया। गोस्वामीको मारना पाप था या पुण्य, यह पृथक् प्रश्न है। पर कन्हाईलालने अपनी इस मृत्युमें इतनी अधिक विलक्षण अनुकूलताका बोध किया और इतना अधिक सुखका अनुभव किया कि जिसने उसका इतना खून बढ़ा दिया। अतएव किसी घटनामें सुख-दुःख नहीं है। वह तो अनुकूलता और प्रतिकूलताके भावमें ही है।

एक ध्यानका अभ्यास करनेवाला साधक कोठरी बन्द करके बैठता है और कहता है कि 'बाहरसे ताला लगा दिया जाय। तीन घण्टे कोई खोले नहीं।' वह अन्दर बैठकर मनको रोकने और इष्टका ध्यान करनेकी कोशिश करता है। यद्यपि नया साधक होनेसे उसका मन टिकता नहीं, पर वह इसमें सुखका अनुभव करता है और उसी कोठरीकी बगलकी दूसरी कोठरीमें एक आदमीको उसकी इच्छाके विरुद्ध बन्द कर दिया जाता है। वह बड़ा दुःखी होता है और कहता है कि 'तुरन्त मुझे बाहर निकाल दिया जाय।' बन्द करनेवालोंको वह

दुर्वचन कहता है, शाप देता है। दोनोंकी बाहरी स्थिति बिलकुल एक-सी है। दोनों ही एक-सी जगह बन्द हैं। दोनोंके ही मन चंचल हैं, पर एक अनुकूलताका बोध करता है, दूसरा प्रतिकूलताका। इसीके अनुसार वे दोनों सुख-दुःखका भी पृथक्-पृथक् अनुभव करते हैं।

एक आदमी अपने विपुल धनैश्वर्यका स्वेच्छापूर्वक त्याग करके संन्यास ग्रहण करता है और दूसरेका धन छीनकर उसे वैरी लोग घरसे निकाल देते हैं। दोनों समान धनहीन हैं। पर पहला प्रसन्न है, दूसरा दुःखी है। इसका कारण वही अनुकूलता-प्रतिकूलताका बोध है। इससे सिद्ध है कि यहाँके सुख-दुःख अनुकूल-प्रतिकूलभावमें ही हैं। एक भूखा आदमी है, बढ़िया-बढ़िया भोजन-पदार्थ बने हैं। वह खानेको लालायित है। खाने बैठता है, बड़ा स्वाद, बड़ा सुख मिलता है। भर पेट खा लिया, खूब अघा गया। अब वही पदार्थ यदि कोई उसे जबर्दस्ती खिलाना चाहता है तो उसे गुस्सा आ जाता है। वह उद्विग्न हो जाता है। पहले अनुकूलभाव था, तब सुख मिला। प्रतिकूल होते ही दुःख हो गया। अतः सुख-दुःख वस्तुमें नहीं हैं।

यह भी निश्चित है कि यहाँकी प्रत्येक अनुकूलता अनेकों प्रकारकी प्रतिकूलताओंको साथ लेकर आती है। एक अभावकी पूर्ति दसों नये अभावोंकी उत्पत्ति करनेवाली होती है। यहाँकी वस्तुमात्र ही—स्थितिमात्र ही अपूर्ण, अनित्य, क्षणभंगुर, वियोगशील और किसी अन्य वस्तु या स्थितिसे निम्न स्तरकी है। जहाँ यह परिस्थिति है वहाँ प्रतिकूलता रहेगी ही और प्रतिकूलता रहेगी तो दुःख भी रहेगा ही। अतः कोई यह चाहे कि मैं जगत्‌में सारी परिस्थितियोंको सदा अपने अनुकूल बना लूँगा और परम सुखी हो जाऊँगा तो यह सर्वथा असम्भव है। ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। विचारके द्वारा प्रत्येक प्रतिकूलताको उपर्युक्त नारदजी और नरसीजीकी भाँति अनुकूलतामें परिणत कर लेना पड़ेगा, तभी सुख होगा और ऐसा करना मनुष्यके अपने हाथकी बात है। स्वरूपतः बाह्य परिस्थितिको बदल देना तो बहुत ही कठिन है, निश्चित प्रारब्ध होनेपर तो असम्भव-सा ही है; परन्तु विचारके द्वारा दुःखको सुखरूपमें परिणत करके सुखी हो जाना सहज है और अपने अधिकारमें है। इसके कई तरीके हैं, जो सभी सत्यके स्वरूप हैं।

१—वेदान्तकी दृष्टिसे जगत् स्वप्नवत् है। मायासे ही यह सत्य भास रहा है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
(१५।३)

'इसका स्वरूप जैसा दीखता है वैसा मिलता नहीं और इसका न आदि है, न अन्त है और न इसकी अच्छी तरहसे स्थिति ही है।' सिनेमा देख रहे हैं। नाना प्रकारके दृश्य दिखलायी दे रहे हैं। आवाज सुनायी पड़ रही है। परन्तु कोई चाहे कि इन देखी हुई वस्तुओंको पर्देके पास जाकर मैं ले लूँ तो उसे सर्वथा निराश होना पड़ता है। वहाँ सिवा सादे पर्देके और कुछ है ही नहीं अथवा जैसे स्वप्नकी सृष्टिके पदार्थ और वहाँकी घटनाएँ जागनेपर नहीं मिलतीं, पर जबतक स्वप्न है, तबतक यह पता नहीं लगता कि यह स्वप्नकी सृष्टि कबसे बनी है और यह कबतक रहेगी। वहाँ तो यह नित्य ही मालूम होता है, पर सचमुच उसकी वहाँ कुछ भी प्रतिष्ठा—स्थिति नहीं है। स्वप्न टूटा कि कुछ नहीं। अतएव जगत्‌के समस्त सुख-दुःख स्वप्नकी सृष्टिके सुख-दुःखोंकी भाँति असत् हैं, जागनेपर जैसे स्वप्नके देखे हुए पदार्थोंकी सत्ता नहीं रहती, वैसे ही ज्ञानमें इनकी भी सत्ता नहीं है, इसलिये इन घटनाओंको लेकर सुखी-दुःखी होना मूर्खता है। एक ही अखण्ड परिपूर्ण परमात्मसत्ता है, वह नित्य सत्य सच्चिदानन्द-घन है। उसमें न जन्म है न मृत्यु, न सुख है न दुःख, न लाभ है न हानि। वह सदा सम, एकरस और कूटस्थ है। इस प्रकारके विचारसे दुःखका नाश हो जाता है। संसारकी स्थिति कुछ भी हो इस प्रकारके निश्चयवाले पुरुषको सुख-दुःख कभी नहीं होता। श्रीगीतामें कहा है—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

'वह प्रिय (जिसको लोग प्रिय या सुख कहते हैं)-को प्राप्त करके हर्षित नहीं होता। अप्रिय (जिसको लोग अप्रिय या दुःख कहते हैं)-को प्राप्त करके वह उद्विग्न नहीं होता; क्योंकि उसकी बुद्धि स्थिर हो गयी है, उसके सब सन्देह मिट गये हैं, वह ब्रह्मको जान गया है और ब्रह्ममें स्थित है।'

वह निरतिशय आत्यन्तिक आनन्दका अनुभव करता है। आनन्दरूप ही हो जाता है। फिर उसके लिये दुःख रहता ही नहीं।

ऐसी स्थिति न हो, तबतक विचारपूर्वक ऐसी धारणा करे। इस धारणासे ही दुःखका नाश हो जाता है।

२—जगत्‌में जीवोंके लिये फलस्वरूपसे जो कुछ भी प्राप्त है, सब सर्वशक्तिमान्, जीवोंके परम सुहृद् भगवान्‌के नियन्त्रणमें और उनके विधानसे होता है। मंगलमय प्रभुका प्रत्येक विधान मंगलमय है। देखनेमें चाहे कितना ही भयंकर हो, पर वास्तवमें वह कल्याणमय ही है। निपुण डॉक्टर जहरीले फोड़ेका ऑपरेशन करते हैं। छुरियोंसे अंगको काटते हैं। दर्द भी होता है। पर डॉक्टर यह क्रूर कार्य करते हैं रोगीके मंगलके लिये तथा रोगी यदि विश्वासी और समझदार है तो वह इस निष्ठुर पीड़ादायक कर्ममें भी डॉक्टरकी दया मानकर प्रसन्न होता है और उसका कृतज्ञ होता है। इसी प्रकार हमारे परम सुहृद् मंगलमय भगवान् भी कभी-कभी हमारे मंगलके लिये ऑपरेशन किया करते हैं। इस बातपर हमें विश्वास हो जाय तो फिर दुःख रहेगा ही नहीं। छोटे बच्चेको माँ रगड़-रगड़कर नहलाती है, बच्चा रोता है, पर माँ उसके शरीरका मैल उतारकर उसे स्वच्छ, पवित्र, निर्मल बनाकर नये कपड़े पहनाने और सजानेके लिये ही यह आयोजन करती है। इसी प्रकार भगवान् भी हमें निर्मल और पवित्र बनानेके लिये पापोंका फल—कष्ट भुगताया करते हैं। इसमें भी उनका वात्सल्य और कारुण्य भरा रहता है। इस दृष्टिसे यदि हम विश्वासपूर्वक विचार करें तो फिर दुःख नामक कोई वस्तु नहीं रह जाती और हम हरहालतमें भगवान्‌के मंगलविधानका दर्शन करके भगवान्‌के मंगलमय करकमलका स्पर्श पाकर आनन्दमुग्ध रह सकते हैं।

३—जगत्‌में वास्तवमें दो ही तत्त्व हैं—भगवान् और भगवान्‌की लीला। 'जो कुछ है, सब भगवान् हैं,' और 'जो हो रहा है, सब भगवान्‌की लीला हो रही है।' एवं लीलामय और लीलामें वैसे ही अभेद है जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्तिमें अथवा सूर्य और सूर्यके प्रकाशमें। अतः हमारे साथ जो कुछ हो रहा है, सब हमारे प्रियतम भगवान्‌की लीला ही हो रही है। इस लीलाका संस्पर्श वस्तुतः लीलामय भगवान्‌का ही संस्पर्श है। विश्वासपूर्वक इस प्रकारका भाव हो जानेपर दुःखका सर्वथा अभाव हो जाता है। क्षण-क्षणमें प्रत्येक सुख-दुःख-संज्ञक भोगोंमें लीलाविहारी भगवान्‌का मंगलमय स्पर्श प्राप्त होता रहता है, जिससे नित्य नव-नव आनन्दरसकी धारा बहती रहती है।

ये तीनों ही बातें सिद्धान्ततः सत्य हैं। जगत् स्वप्नवत् है—केवल ब्रह्म ही व्याप्त है। जगत्‌में सब कुछ मंगलमय भगवान्‌के मंगल विधानसे मंगल ही हो रहा है और जगत्‌में भगवान् ही अपने-आपसे आप ही खेल रहे हैं। तीनोंका ही तात्त्विक स्वरूप एक ही है। यह वस्तुतः सत्यको सत्यमें देखना है, जो मानव-जीवनका परम कर्तव्य है। इसीका फल भगवत्प्राप्ति या पूर्ण सुखरूप मोक्ष है।

इस प्रकार अशेष दुःखोंसे छूटकर मनुष्य भगवत्कृपासे अपनी इसी आयुमें अखण्ड और पूर्ण सुखकी प्राप्ति कर सकता है। इच्छा, विश्वास और तत्परता होनी चाहिये।

नैतिक पतन और उससे बचनेके उपाय

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायमें आसुरी सम्पत्तिके स्वरूप, लक्षण तथा परिणामका विशद वर्णन करते हुए अन्तमें कहा—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(१६। २१)

'काम, क्रोध और लोभ। ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं और आत्माका नाश करनेवाले हैं। इसलिये इन तीनोंका त्याग करना चाहिये।'

पर हमारा बड़ा दुर्भाग्य है कि यही तीनों आज हमारे जीवनके अवलम्बन-से हो रहे हैं। कोई भी क्षेत्र इनके बुरे प्रभावसे अछूता नहीं बचा है। इन्हींके कारण आज सारा समाज बड़ी तेजीसे पतनकी ओर जा रहा है। इसीलिये इतनी अशान्ति, कलह, दुःख और पीड़ा है।

प्रथम तो वर्तमान सरकारने प्रजापर इतने अधिक कर लगा दिये हैं कि उनके बोझसे सब दब गये हैं और किसी भी उपायसे उस कर-भारसे बचना चाहते हैं। कुछ वर्षों पहलेकी बात है—एक बड़े व्यापारी सज्जनने कहा था कि ''हमलोग शौकसे झूठ-कपट

नहीं कर रहे हैं। इतना भारी कर लगा है कि उसे यदि पूरा चुकाने जायँ तो खर्च जोड़कर अमुक प्रतिशत उलटा घाटा रहता है। यह तो वैसी ही बात है जैसे कोई डाकू घर-बार लूटनेके लिये सदल-बल घरमें आ घुसा हो और उसका सामना करके बचनेकी आशा न हो; तब जैसे उससे बचानेके लिये घरका धन, जेवर-जवाहरात आदि छिपा लिया जाता है और उससे विनयपूर्वक असत्य कहा जाता है कि 'हमारे घरमें तो कुछ है ही नहीं, देख लो।' ठीक वैसे ही इस अन्यायपूर्ण करसे बचनेके लिये हमलोगोंको मिथ्याका आश्रय लेना पड़ता है।'' यद्यपि उनकी इस युक्तिका पूर्ण समर्थन नहीं किया जा सकता। किसी भी स्थितिमें छल, कपट और चोरीका समर्थन आस्तिक तथा धर्मभीरु पुरुषके लिये इष्ट नहीं है। इधर तो आय-करमें कुछ कमी भी हुई है, तथापि यह बात ऐसी नहीं है जो बिलकुल उड़ा दी जाय। आजकल जिस प्रकारसे नये-नये कर लगाये जा रहे हैं, हर एक बातमें प्रजाको पराधीन बनाया जा रहा है, खुला व्यापार मानो रहा ही नहीं। ऐसी अवस्थामें छिपाकर धन कमाने और रखनेकी प्रवृत्ति होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। सचमुच आजके नैतिक पतनमें यह भयानक कर-भार भी एक प्रधान कारण है।

दूसरा कारण है—नियन्त्रण या कण्ट्रोल। महात्मा गाँधीजीने इसकी बुराइयोंको समझा था और वे रहते तो अबतक यह नियन्त्रणकी विशाल माया-नगरी कभीकी उजड़ गयी होती। नियन्त्रणकी बुराइयोंको अधिकारी लोगोंमेंसे अधिकांश जानते हैं; परन्तु नियन्त्रण बने रहनेमें ही सबका स्वार्थ है, इसलिये विविध युक्तियोंसे नियन्त्रणकी आवश्यकता बतलायी जाती है। यद्यपि हम उन बातोंको प्रमाणित नहीं कर सकते पर हमें अच्छी तरह ज्ञात है कि नियन्त्रणके कारण ही चोरबाजारी अधिक होती है। इस विभागके बहुत-से उच्च अफसर तथा इन्सपेक्टर आदि अपनेको प्रलोभनसे नहीं बचा सकते और वे उचित-अनुचित सभी तरीकोंसे व्यापारियोंसे रुपये लेते हैं। फलतः व्यापारियोंको चोरबाजारी करनेमें उत्साह और सुविधा मिल जाती है और कहीं-कहीं तो उन्हें (उनके कथनानुसार) आवश्यकता भी प्रतीत होने लगती है; क्योंकि ऐसा किये बिना वे उन अधिकारियोंकी माँग पूरी नहीं कर पाते। कई जगह तो व्यापारियोंसे इन लोगोंकी नियत मासिक रकम बँधी होती है। कई जगह अमुक प्रतिशत देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकारसे व्यापारी और अधिकारी मिलकर यह पाप करते हैं। अब तो इन्हें इसका ऐसा चसका लग गया है जो किसी भी कानूनसे रुकना बड़ा कठिन है।

मनुष्य जबतक पापको पाप समझता है, तबतक वह पापसे डरता है। कभी परिस्थिति या किसी लोभविशेषके कारण वह पाप कर भी लेता है तो पीछे पश्चात्ताप करता है। पर जब पापसे घृणा हट जाती है और उसमें बुद्धिमानी तथा गौरवका बोध होने लगता है—पापमें पुण्यबुद्धि हो जाती है, तब पापसे बचना बहुत ही कठिन हो जाता है। फिर तो पापके नित्य नये-नये तरीके निकलते रहते हैं। इस प्रकार पापको पुण्य, अधर्मको धर्म या अन्यायको न्याय मानते-मानते बुद्धि इतनी तमसाच्छन्न हो जाती है कि फिर सभी चीजें उसे उलटी दीखने लगती हैं—'**सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी**' (गीता १८। ३२)। ऐसा कामोपभोगपरायण लोभग्रस्त तामस मनुष्य या समाज क्रमशः मानवताको खोकर दानव या असुर बन जाता है, फिर ऐसा कोई भी जघन्य कार्य नहीं जो वह नहीं कर सकता और समाजमें जब प्रमुख माने जानेवाले लोग इस प्रकारके बन जाते हैं, तब दूसरे लोग भी उन्हींका अनुसरण करने लगते हैं और समाजमें उनको कोई बुरा नहीं कहता। खुले चोर और डाकुओंको समाज बुरा बतलाता है और उनसे घृणा करता है, जो उचित ही है। पर ये छिपे चोर और डाकू—जो खुले चोर-डाकुओंसे कहीं भयानक और समाजका अधःपात करनेवाले हैं—क्योंकि वे चोर-डाकू तो कभी-कभी चोरी-डकैती करते हैं पर ये तो दिन-रात व्यापार और अधिकारकी आड़में भयानक-से-भयानक दुष्कर्म करते रहते हैं और समाजमें श्रेष्ठ होनेके कारण दूसरे लोगोंमें भी वैसे ही करनेकी प्रवृत्ति पैदा करते हैं—समाजमें प्रतिष्ठा और उच्च पद प्राप्त करते हैं।

आज हमारी प्रायः ऐसी ही दशा हो रही है। समाजमें आज उसीका मान और आदर है जो धन कमा लेता है, फिर वह चाहे किसी भी बुरे-से-बुरे साधनसे कमाता हो। एक ऊँचे अफसरने एक बार कहा था कि 'मैं रिश्वत नहीं लेता, इससे मेरे ऊपर तथा नीचेके अधिकारी मुझको मूर्ख तो मानते ही हैं, अपने मार्गका

काँटा समझते हैं और ऐसा प्रयत्न करते हैं कि मैं किसी प्रकार दोषी साबित होकर यहाँसे निकाल दिया जाऊँ।' एकाधिक ऐसे अफसरोंको हम जानते हैं, जो रिश्वत न खानेके कारण अपने ऊपरके अफसरोंको खुश नहीं रख सके और इसी कारण उनपर कई प्रकारकी विपत्तियाँ आयीं। उनकी उन्नति रुक गयी, उन्हें मुअत्तिल किया गया, उनको अपने स्तरसे नीचे गिराया गया तथा उनपर कई तरहके अपराध लगाये गये और हजार प्रयत्न करनेपर भी उनका कष्ट दूर नहीं हुआ। वे मूर्ख और विक्षिप्त तो कहलाये ही, शरारती भी कहलाये।

इसी प्रकार व्यापारी जगत्‌में भी जो सचाईसे काम करता है, छल-कौशलसे अनाप-शनाप पैसा नहीं कमा सकता, उसे बन्धु-बान्धव तथा आस-पासके लोग मूर्ख बतलाते हैं और विद्वान् बुद्धिमान् होनेपर भी उस बेचारेको अपनी निन्दा सुननी पड़ती है तथा पाँच आदमियोंमें झेंपना पड़ता है। यह दोष यहाँतक गहरा चला गया है कि जो लोग गीता-रामायण पढ़ते हैं, अपनेको ज्ञानी या भक्त मानते हैं, जो धर्मात्मा, उदार और दानशील माने जाते हैं तथा जो प्रसिद्ध देशभक्त, समाज-सेवक और नेता समझे जाते हैं, वे लोग भी इस महान् दोषको दोष नहीं मानते और जीवन-यापनके लिये मानो आवश्यक मानकर इसे खुशीसे अपनाते हैं।

ईश्वर, परलोक तथा पापका डर तो शास्त्रोंमें अश्रद्धा होनेसे चला गया। समाजका डर भी जाता रहा; क्योंकि प्रायः समाजभरमें यह पाप फैल गया, अतः कौन किसको बुरा कहे। बचा कानून, सो उसका डर भी अब प्रायः नहीं रहा; क्योंकि मेल-मिलापसे वह भी दूर हो जाता है। क्या कहा जाय। दिनोंदिन बुराइयाँ बढ़ती जा रही हैं और इस ओर प्रायः बहुत ही कम लोगोंका ध्यान है तथा जिनका ध्यान है वे कुछ कर नहीं सकते या करनेमें प्रमाद करते हैं। इस प्रकार पापमें गौरवबुद्धि हो जानेके कारण क्या-क्या होने लगा है, इसपर जरा विचार कीजिये—

(१) रिश्वतखोरी उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है, अवश्य ही उसके रूप और ढंग बदलते रहते हैं।

(२) डरा-धमकाकर, पकड़नेकी धमकी देकर या पकड़कर भी रुपये वसूल किये जाते हैं। पकड़ा-धकड़ी जितनी अपराध मिटानेके लिये नहीं होती, उतनी अपने स्वार्थसाधनके लिये होती है। यथार्थ तथा बड़े अपराधी कम पकड़े जाते हैं। बड़े अपराधियोंपर आतंक जमानेके लिये छोटे ही अधिक शिकार होते हैं।

(३) व्यापारीलोग करसे बचने तथा भाँति-भाँतिकी अनीतिको छिपानेके लिये रिश्वत देते तथा झूठे बहीखाते बनाते हैं।

(४) भारतके बाहरसे आनेवाली और बाहर भेजी जानेवाली चीजोंपर जो समय-समयपर प्रतिबन्ध लगाये तथा उठाये जाते हैं, उसमें कई बार तो ऐसे छिपे कारण होते हैं, जो सर्वथा अनीतिपूर्ण हैं। कुछ बड़े व्यापारियोंको सप्ताहों पहले इसका पता लग जाता है कि अमुक तारीखको अमुक वस्तुपर प्रतिबन्ध लगेगा या उठेगा। वरं यह कहना भी अत्युक्ति न होगी कि कभी-कभी तो किसी एक या अधिक व्यापारियोंके लिये ही प्रतिबन्ध लगता या उठता है और वे प्रतिबन्ध लगने या उठनेकी नियत तारीखसे पहले-पहले ही उक्त चीज प्रचुर मात्रामें खरीद या बेच लेते हैं। फिर अकस्मात् घोषणा हो जाती है, जिससे बाजारमें उथल-पुथल मच जाती है। फलतः वे व्यापारी लाखों-करोड़ोंका अनुचित लाभ उठाते हैं और बेचारे अनजान हजारों छोटे व्यापारी मारे जाते हैं! इस चीजको हम प्रमाणित नहीं कर सकते, पर वे अधिकारी और व्यापारी अपनी-अपनी छातीपर हाथ रखकर इसकी सचाईको जान सकते हैं। भगवान् तो जानते ही हैं।

(५) नीच स्वार्थ और लोभके वश होकर लोग, जहाँ सम्भव होता है, बिना किसी हिचकके असली चीजोंके साथ नकली चीजें मिला देते हैं, यहाँतक कि नकली चीजोंको ही असली बताकर बेचते हैं। आटेमें इमलीके बीजोंका चूर्ण बहुत मिलाया जाता है। घीमें तो जमाया हुआ (वनस्पति) तैल मिलाया ही जाता है। कहीं-कहीं लोग चर्बीतक मिलाते हैं। पिछले दिनों सरसोंके साथ भटकटैयाके बीज मिलाकर तेल पेरा गया था, जिससे हजारों आदमी बेरी-बेरी रोगसे पीड़ित हो गये थे। इसी प्रकार चावल, दाल, चीनी आदिमें भी मिलावट होती है। पथ्यके लिये रोगियोंको शुद्ध सागूदानातक नहीं मिलता। शीशियोंपर झूठे लेबल चिपकाकर नकली दवाइयाँ बेची जाती हैं। ऐसे खाद्य-पदार्थ और ओषधियोंका सेवन करके चाहे कितने ही लोग मर जायँ, कमानेवालोंको इसकी परवा नहीं है, वे तो इसको व्यापारका एक अंग मानते हैं।

(६) अच्छा नमूना दिखलाकर घटिया माल देना,

तौलमें कम देना या अधिक ले लेना, रूई या पाटको जलसे भिगोकर उनका वजन बढ़ा देना, बाजार तेज हो जानेपर बेचे हुए मालको देनेसे इनकार कर जाना और मन्दा होनेपर खरीदा हुआ माल न लेना—आदि बातें तो आज व्यापारकी चतुराई समझी जाने लगी हैं। उच्च सम्मानप्राप्त बड़े-बड़े उद्योगपति तथा व्यापारी इनको गौरवके साथ करते हैं।

(७) धर्म और ईश्वरके नामपर भोले-भाले नर-नारियोंको ठगने और उनका धन, शील आदि अपहरण करनेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है। कई लोग तो अपनेको भगवान् कहकर पुजवाते हैं।

(८) शिक्षाविभाग और डाक-तार विभागतकमें रिश्वत चलने लगी है और न देनेपर काम बिगड़ जाता है। कोर्ट और रेलवे आदिमें तो माँग-माँगकर ली-दी जाती है।

(९) राजनीतिक क्षेत्रमें बढ़ती हुई दलबन्दियाँ, एक-दूसरेको नीचा दिखानेका प्रयत्न, दूसरोंको गिराकर अपनेको ऊपर उठानेकी कोशिश; परनिन्दामें, दूसरेकी अवनतिमें और दुःखमें सुखका अनुभव, लूट-मार, दूसरोंको व्यर्थ हानि पहुँचानेकी इच्छा, हिंसा तथा क्रोधमें गौरव-बुद्धि, दलोंका बाहुल्य, धार्मिक क्षेत्रका पारस्परिक विद्वेष और स्वेच्छाचार आदि अनर्थ दिनोंदिन बढ़ते ही जा रहे हैं!

(१०) सिनेमा, रेडियो तथा गन्दे साहित्यके द्वारा जनतामें कामवासनाकी वृद्धि हो रही है और फलतः उच्छृंखलता तथा चारित्रिक पतन बढ़ रहा है। भले-भले घरोंके पुरुष और स्त्रियोंमें बड़ी तेजीसे चरित्रका नाश हो रहा है और इस चरित्रनाशमें कहीं-कहीं तो गौरवका अनुभव किया जा रहा है!

(११) विद्यार्थी-जगत्में उच्छृंखलता बढ़ रही है। शिक्षकों और विद्यार्थियोंके सम्बन्ध अत्यन्त अवांछनीय हो रहे हैं। गुरु-शिष्यकी पवित्र मर्यादा प्रायः नष्ट हो गयी है और परस्पर प्रतिद्वन्द्विता तथा द्वेषके भाव बढ़ रहे हैं। चरित्र-नाश भी बड़ी तेजीसे हो रहा है!

(१२) तरुणी कुमारियों और नवयुवकोंकी सहशिक्षासे भी चरित्रकी पवित्रताका बड़ा ह्रास और नाश हुआ है तथा उत्तरोत्तर अधिक हो रहा है। कहाँ तो जगज्जननी सीताजीने पुत्रके समान सेवक ब्रह्मचारी हनुमान्‌जीका स्पर्श करना अस्वीकार कर दिया था और कहाँ आज अबाध संसर्गको प्रोत्साहन दिया जा रहा है, सो भी शिक्षाके पवित्र नामपर!

(१३) खान-पानमें हर किसीका जूँठा खानेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है और इससे सुधार बताया जा रहा है! रेलोंमें, होटलोंमें और घरोंमें भी काँच तथा चीनी-मिट्टीके बर्तनोंका प्रचार, जूते पहने हुए ही भोजन करना, किसी भी जातिके और कैसे भी गन्दे रहनेवाले आदमीके हाथोंसे खाना, जूँठे हाथों जूँठी चम्मचसे खानेकी सामग्री लेना, एक ही बर्तनमें रखे हुए फल-मेवा-पान आदि पदार्थोंको बहुत-से लोगोंका मुँहमें हाथ या अँगुली देकर खाना, एक ही थाली या पत्तलमें बहुतोंका साथ खाना, जूँठे बर्तनोंमें ही चाय, सोडा, जल आदि पीना, बर्तनोंको केवल धो भर लेना, मांस-मदिरासे भी परहेज न करना, अण्डोंका भोजनके रूपमें प्रयोग करना, खाकर हाथ-मुँह न धोना, कुल्ले न करना और चलते-चलते खाना आदि ऐसी बातें हैं जिनसे पवित्रताका नाश तो होता ही है, तरह-तरहकी बीमारियाँ भी फैलती हैं!

भ्रष्टाचार और अनाचारके ये थोड़े-से उदाहरण दिये गये हैं। न मालूम ऐसे कितने शारीरिक, वाचनिक और मानसिक दोष हमारे अन्दर आज आ गये हैं। इन सबका कारण है—घोर विषयासक्ति और तज्जनित काम, क्रोध तथा लोभका आश्रय। भगवान् और धर्मको भूल जानेपर मनुष्य असंयमी तथा यथेच्छाचारी होकर पतित हो जाता है और भ्रमवश उस पतनको ही उत्थान मानने लगता है! आज हमारे समाजकी यही दशा हो रही है। इस पतनके प्रबल प्रवाहको शीघ्र ही न रोका गया तो पता नहीं यह हमें कहाँ ले जायगा!

इसको रोकनेके उपाय हैं—धर्म तथा भगवान्‌में श्रद्धा उत्पन्न करना, भगवान्‌से प्रार्थना करना, परलोक और पुनर्जन्ममें विश्वास बढ़ाना, सद्ग्रन्थोंका प्रचार करना, त्याग तथा प्रेमकी पवित्र भावनाएँ फैलाना, संयमका महत्त्व समझना, अहिंसा और सत्यका क्रियात्मक प्रसार करना, स्वार्थबुद्धिका नाश हो ऐसी शिक्षा देना, स्वयं निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करके आदर्श उपस्थित करना, स्कूल-कॉलेजोंमें धार्मिक शिक्षाका अनिवार्य करना तथा वैराग्य और सच्ची भावनासे विषयासक्तिका नाश करना इनमेंसे जिनसे, जिस क्षेत्रमें, जितना कुछ हो सके, वही सचाईके साथ भगवान्‌पर विश्वास रखकर करना चाहिये।

महापापीके उद्धारका परम साधन

प्रश्न—'मैं बड़ा ही पापी हूँ। जीवनभर मैंने पाप किये हैं। परधन-हरण, व्यभिचार, हिंसा, ब्राह्मण-साधुओंका अपमान, माता-पिताको कष्ट देना और सबसे वैर करना आदि कोई भी ऐसा पाप नहीं, जो मैंने बड़े चावसे चित्त लगाकर न किया हो। इस प्रकारके पाप ही मेरे जीवनके मुख्य काम रहे हैं। मैं ऊपरसे बड़ा भक्त बना रहता था, लोगोंको उपदेश करता था, पर अन्दर-ही-अन्दर पापोंकी बात सोचता और करता था। अब भी पापोंसे छूट नहीं पाया हूँ। मुझे अपनी करतूतोंपर बड़ा पछतावा है। मैं नरकोंके भयसे सदा काँपता रहता हूँ। घुल-घुलकर हृदयसे रोता हूँ कि हे भगवन्! मेरा निस्तार कैसे होगा? मुझ नीचको कौन अपनायेगा? हाय! क्या मेरे लिये कोई उपाय नहीं है? क्या मैं प्रभुकी कृपा और उनके प्रेमको प्राप्त कर ही नहीं सकता? कोई उपाय हो तो बतलाइये!

उत्तर—'उपाय क्यों नहीं है? ऐसा कौन जीव है जिसके लिये प्रभुकी कृपाका द्वार बन्द हो? प्रभु ही यदि पापीको नहीं अपनायेंगे तो कौन अपनायेगा? वे पतितपावन हैं, बड़े ही दयालु हैं। तुम भैया! घबराओ नहीं। तुमपर तो उनकी कृपा बरसने लगी है—तभी तो तुम्हें अपनी करतूतोंपर पछतावा हो रहा है, तभी तो तुम नरकके भयसे काँपते, निस्तारके लिये रोते और प्रभुकृपा तथा प्रभुप्रेमको प्राप्त करनेके उपाय पूछते हो! जिस कृपाने तुम्हें ऐसी वृत्ति दी है, वही कृपा तुम्हारा निस्तार करेगी, वही तुम्हें भगवान्से भी मिला देगी! उस कृपापर विश्वास करो। मनमें निश्चय कर लो कि एकमात्र भगवान् ही ऐसे परम दयालु हैं, जो पापियोंको अपनाते हैं। स्नेहमयी माता जैसे अपने बच्चेकी गन्दगी अपने हाथों साफ करती है, वैसे ही भगवान् अपने ही हाथों अपने जनके महापापोंका नाश करके उसे अपने हृदयसे लगा लेनेयोग्य पवित्र बना लेते हैं और बड़े हर्षसे हृदयसे लगा लेते हैं! भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वेश्वर हैं, उनकी कृपासे पापोंका समूल नाश हो जायगा, उनकी भक्ति प्राप्त होगी और उनकी सेवाका अधिकार मिल जायगा।' 'बस, एक वे ही ऐसे हैं, वे ही मेरे परम आश्रय हैं, वे ही मेरे एकमात्र रक्षक हैं, उनके सिवा मुझे कहीं भी ठौर नहीं।' इस प्रकार निश्चय करके उनके भजनमें लग जाओ, फिर देखते-ही-देखते तुम्हारा तमाम कायापलट हो जायगा। तुम महान् साधु और भगवान्के अनन्य भक्त बन जाओगे। एक तुम्हीं क्यों, सच पूछो तो इस घोर कलियुगमें आज ऐसे कितने लोग हैं जो कुसंगमें पड़कर मनको मथ डालनेवाली प्रबल इन्द्रियोंके गुलाम होकर भी पाप-पथसे बिलकुल बचे हों? ऐसे कितने लोग हैं जिन्होंने जवानीकी गधापचीसीमें बुरे काम न किये हों और जिनका जीवन आदिसे अन्ततक निष्पाप, सर्वथा शुद्ध और परम पावन रहा हो? जिनका जीवन ऐसा पवित्र है, वे निश्चय ही परम पूज्य हैं, उनके चरण-रजकणको प्राप्त करनेवाला भी पावन हो सकता है परन्तु ऐसे लोग बिरले ही हैं। अधिकांश जनसंख्या तो आज ऐसी ही है, जो पापके कीचड़में फँसी है। ऊपरसे भले ही साफ मालूम हो, ऐसी दशामें उन लोगोंको अवश्य ही भाग्यवान् और भगवान्के बड़े कृपापात्र समझना चाहिये, जो अपने बुरे कर्मोंके लिये पश्चात्ताप करते हैं, उनसे छूटनेका प्रयास करते हैं और भगवान्की कृपा तथा प्रेमकी प्राप्तिके लिये व्याकुल हो उठते हैं। दयालु भगवान् यही तो चाहते हैं। उनकी कृपा-सुधा-वृष्टिकी प्राप्तिके लिये इतना ही पर्याप्त है। पापोंका सच्चा प्रायश्चित्त हृदयके पश्चात्तापमें है और भगवान्की उस कातर प्रार्थनामें है—जिसमें अपनी बेबसीका सच्चा हाल बतलाकर भगवान्से कृपादान करनेके लिये रोया जाता है!

तुम पश्चात्ताप करो, रोओ, भगवान्से क्षमा-प्रार्थना करो और सबसे आवश्यक बात है, भगवान्की कृपापर विश्वास करके, एकमात्र उन्हींको अपना परम रक्षक, सच्चा स्वामी, परम बन्धु, परम धन, परम इष्ट और परम आश्रय मानकर उनके भजनमें लग जाओ। बीत गयी सो बीत गयी; जो बुरे-भले कर्म बन गये सो बन गये। अब जितनी उम्र बाकी है, उसे भगवान्को सौंप दो। प्रत्येक श्वासमें उनका नाम जपो, उनका पावन स्मरण करो, प्रत्येक कार्य उनकी पूजाके लिये करो। फिर वे अपने-आप ही तुम्हें अपना लेंगे। देर नहीं होगी। देखते-ही-देखते तुम महान् पवित्र और उनके परम प्रेमी बन जाओगे। उनकी प्रतिज्ञाको याद करो—

श्रीभगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अत्यन्त पापी भी अनन्यभाक् होकर (एकमात्र मुझको ही अपना रक्षक, स्वामी, आश्रय और परम इष्टदेव मानकर) मुझको भजता है (मेरे शरण होकर मेरे ही परायण होकर परम दृढ़ विश्वासके साथ हृदयकी निर्भरताके साथ मुझको पुकारता है) वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है (उसने दृढ़रूपसे यही निश्चय कर लिया है कि एकमात्र परम शरण्य श्रीभगवान्‌के भजनके सिवा अब मुझे और कुछ भी नहीं करना है) ऐसे निश्चयवाला वह बहुत शीघ्र (देखते-ही-देखते) धर्मात्मा बन जाता है और नित्य रहनेवाली (भगवत्-प्राप्तिरूप) परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य समझ कि मेरा (पापकर्मसे सर्वथा न छूटा हुआ भी उपर्युक्त प्रकारसे मुझको ही एकमात्र परम आश्रय और परम रक्षक मानकर मेरा भजन करनेवाला) भक्त कभी नष्ट नहीं होता (अर्थात् कल्याणके मार्गसे कभी नहीं गिरता—वह मेरी कृपासे सर्वथा निष्पाप बनकर और मेरे द्वारा सुरक्षित होकर शीघ्र ही मुझको प्राप्त हो जाता है)।'

भगवान्‌की इस अमर आश्वासन-वाणीपर विश्वास करो और अपनेको उनके चरणोंपर डालकर निश्चिन्त हो जाओ। यही परम साधन है, जो बड़े-से-बड़े पापीका क्षणोंमें उद्धार कर देता है।

चातककी प्रेम-साधना

जौं घन बरषै समय सिर जौं भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि हे रामरूपी मेघ! चाहे तुम ठीक समयपर बरसो (कृपाकी वृष्टि करो), चाहे जन्मभर उदासीन रहो—कभी न बरसो; परन्तु इस चित्तरूपी चातकको तो तुम्हारी ही आशा है।

चातक तुलसी के मतें स्वातिहुँ पिऐ न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटें घटैगी आनि॥

हे चातक! तुलसीदासके मतसे तो तू स्वातिनक्षत्रमें बरसा हुआ जल भी न पीना; क्योंकि प्रेमकी प्यासका बढ़ते रहना ही अच्छा है, घटनेसे तो प्रेमकी प्रतिष्ठा ही घट जायगी।

रटत रटत रसना लटी तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग॥

अपने प्यारे मेघका नाम रटते-रटते चातककी जीभ लट गयी और प्यासके मारे सब अंग सूख गये। तुलसीदासजी कहते हैं कि तो भी चातकके प्रेमका रंग तो नित्य नया और सुन्दर ही होता जाता है।

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥

चातकके चित्तमें अपने प्रियतम मेघके दोष कभी आते ही नहीं। तुलसीदासजी कहते हैं—इसीलिये प्रेमके अथाह समुद्रका कोई माप-तोल नहीं हो सकता (उसकी थाह नहीं लगायी जा सकती)।

बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिऐ चतुर चातकहि चूक॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि बादल कठोर ओले बरसाकर भले ही चातककी पाँखोंके टुकड़े-टुकड़े कर दे, पर प्रेमके प्रणमें चतुर चातकको अपने प्रेमका प्रण निबाहनेमें कभी भूल नहीं करनी चाहिये।

उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥

मेघ कड़क-कड़ककर गरजता हुआ ओले बरसाता है और कठोर बिजली भी गिरा देता है; इतनेपर भी प्रेमी पपीहा मेघको छोड़कर क्या कभी दूसरी ओर ताकता है?

पबि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि मेघ बिजली गिराकर, ओले बरसाकर, बिजली चमकाकर, कड़क-कड़ककर, वर्षाकी झड़ी लगाकर और आँधीके झकोरे देकर अपना बड़ा भारी रोष प्रकट करता है; परन्तु चातकको अपने प्रियतमका दोष देखकर क्रोध नहीं होता (उसे दोष दीखता ही नहीं), बल्कि इसमें भी वह अपने प्रति

मेघका अनुराग देखकर उसपर रीझ जाता है।

मान राखिबो माँगिबो पिय सों नित नव नेहु।
तुलसी तीनिउ तब फबैं जौ चातक मत लेहु॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि आत्मसम्मानकी रक्षा करना, माँगना और फिर भी प्रियतमसे प्रेमका नित्य नवीन होना (बढ़ना)—तीनों बातें तभी शोभा देती हैं, जब चातकके मतका अनुसरण किया जाय।

तुलसी चातक ही फबै मान राखिबो प्रेम।
बक्र बुंद लखि स्वातिहू निदरि निबाहत नेम॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रेमके मानकी रक्षा करना और प्रेमको भी निबाहना चातकको ही शोभा देता है। स्वाती-नक्षत्रमें भी यदि बूँद [मेघकी ओर निहारते हुए उसके मुखमें सीधी न पड़कर] टेढ़ी पड़ती है तो वह उसका निरादर करके प्रेमके नियमको निबाहता है। (चोंचको टेढ़ी करनेमें दूसरी ओर ताकना हो जायगा और इससे उसके प्रेममें व्यभिचार होगा, इसलिये वह प्यासा रह जाता है, परन्तु मुँह टेढ़ा नहीं करता। दूसरी बात यह है कि वह टेढ़ी चोंच करके पीता है तो उसका मान घटता है। वह भिखमंगा नहीं है, प्रेमी है; देना हो तो सीधे दो, नहीं तो न सही।)

तुलसी चातक माँगनो एक एक घन दानि।
देत जो भू भाजन भरत लेत जो घूँटक पानि॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि चातक एक ही अद्वितीय माँगनेवाला है और बादल भी एक ही (अद्वितीय) दानी है। बादल इतना देता है कि पृथ्वीके सब बर्तन (झील, तालाब आदि) भर जाते हैं, परन्तु चातक केवल एक घूँट ही पानी लेता है।

तीनि लोक तिहुँ काल जस चातक ही कें माथ।
तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि तीनों लोकोंमें और तीनों कालोंमें कीर्ति तो केवल अनन्यप्रेमी चातकके ही भाग्यमें है, जिसकी दीनता संसारमें किसी भी दूसरे स्वामीने नहीं सुन पायी।

प्रीति पपीहा पयद की प्रगट नई पहिचानि।
जातक जगत कनाउड़ो कियो कनौड़ो दानि॥

पपीहा और मेघके प्रेमका परिचय प्रत्यक्ष ही नये ही ढंगका है; याचक (मँगता) तो संसारभरका ऋणी होता है, परन्तु इस प्रेमी पपीहेने दानी मेघको अपना ऋणी बना डाला।

नहिं जाचत नहिं संग्रही सीस नाइ नहिं लेइ।
ऐसे मानी मागनेहि को बारिद बिन देइ॥

पपीहा न तो मुँहसे माँगता है, न जलका संग्रह करता है और न सिर झुकाकर लेता ही है (ऊँचा सिर किये ही 'पिउ' 'पिउ'- की टेर लगाया करता है)। ऐसे मानी माँगनेवाले चातकको मेघके अतिरिक्त और कौन दे सकता है?

को को न ज्यायो जगत में जीवन दायक दानि।
भयो कनौड़ो जाचकहि पयद प्रेम पहिचानि॥

जगत्‌में इस जीवनदाता दानी मेघने किस-किसको नहीं जिलाया? परन्तु अपने प्रेमी याचक चातकके प्रेमको पहचानकर तो यह मेघ उलटा स्वयं उसीका ऋणी हो गया।

साधन साँसति सब सहत सबहि सुखद फल लाहु।
तुलसी चातक जलद की रीझि बूझि बुध काहु॥

साधनमें सभी कष्ट सहते हैं और फलकी प्राप्ति सभीके लिये सुखदायिनी होती है; परन्तु तुलसीदासजी कहते हैं कि चातककी-सी रीझ [प्रेम] और मेघकी-सी बुद्धि किसी बिरले ही बुद्धिमान्‌की होती है। [चातक मेघपर इतना रीझा रहता है कि कष्ट सहनेपर भी उससे प्रेम बढ़ाता ही है और मेघकी ऐसी बुद्धि—गुणज्ञता है कि वह दाता होकर भी ऋणी बन जाता है।]

चातक जीवन दायकहि जीवन समयँ सुरीति।
तुलसी अलख न लखि परै चातक प्रीति प्रतीति॥

चातकके जीवनदाता मेघके प्रेमकी सुन्दर रीति तो उसके जीवनकालमें ही देखनेमें आती है; परन्तु [अनन्य प्रेमी] चातकका प्रेम एवं विश्वास तो अलख (अज्ञेय) है। तुलसीदासजी कहते हैं कि वह तो किसीके लखनेमें ही नहीं आता (अर्थात् उसका प्रेम तो मरते समय भी बना रहता है)।

जीव चराचर जहँ लगें है सब को हित मेह।
तुलसी चातक मन बस्यो घन सों सहज सनेह॥

संसारमें जितने चर-अचर जीव हैं, मेघ उन सभीका हितकारी है; परन्तु तुलसीदासजी कहते हैं कि उस मेघके प्रति स्वाभाविक स्नेह तो एक चातकके ही चित्तमें बसा हुआ है।

डोलत बिपुल बिहंग बन पिअत पोखरिन बारि।
सुजस धवल चातक नवल तुही भुवन दस चारि॥

वनमें बहुत-से पक्षी डोलते हैं और वे पोखरियोंका

जल पिया करते हैं; परन्तु हे नित्य नवीन प्रेमी चातक! चौदहों लोकोंको अपने निर्मल यशसे उज्ज्वल तो एक तू ही करता है।

मुख मीठे मानस मलिन कोकिल मोर चकोर।
सुजस धवल चातक नवल रह्यो भुवन भरि तोर॥

कोयल, मोर और चकोर मुँहके तो मीठे होते हैं, परन्तु मनके बड़े मैले होते हैं (बोली तो बड़ी मीठी बोलते हैं, पर कीट-सर्पादि जीवोंको खा जाते हैं) परन्तु हे नवल चातक! विश्वभरमें उज्ज्वल यश तो तेरा ही छाया हुआ है।

बास बेष बोलनि चलनि मानस मंजु मराल।
तुलसी चातक प्रेम की कीरति बिसद बिसाल॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि हंसका निवासस्थान (मानसरोवर), वेष (रंग-रूप), बोली, चाल और [नीर-क्षीरका विवेक रखनेवाला तथा मोती चुगनेकी टेकवाला] मन—सभी सुन्दर हैं; परंतु प्रेमकी कीर्ति तो सबसे बढ़कर विस्तृत और निर्मल चातककी ही है।

प्रेम न परखिअ परुषपन पयद सिखावन एह।
जग कह चातक पातकी ऊसर बरसै मेह॥

संसारके लोग [विषयीजन] कहते हैं कि चातक पापी है, क्योंकि मेघ ऊसरतकमें बरसता है [परन्तु चातकके मुँहमें नहीं बरसता]; पर मेघ इससे यह शिक्षा देता है कि प्रेमकी परीक्षा कठोरतासे नहीं करनी चाहिये (अर्थात् कठोरतामें प्रेम नहीं है, ऐसा नहीं मानना चाहिये; कहीं-कहीं कठोरतामें भी प्रेमका प्रकाश होता है। चातक पापी नहीं है, महान् प्रेमी है; उसके प्रेमका यश मेघकी कठोरतासे बढ़ता है)।

होइ न चातक पातकी जीवन दानि न मूढ़।
तुलसी गति प्रहलाद की समुझि प्रेम पथ गूढ़॥

न तो चातक ही पापी है और न जीवनदाता मेघ ही मूर्ख है। तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रह्लादकी दशापर विचार करके समझो कि प्रेमका मार्ग कितना गूढ़ (सूक्ष्म) है। (प्रह्लादको पद-पदपर कष्ट मिलता है और भगवान् उसके कष्टको जानते हुए भी बहुत विलम्बसे प्रकट होते हैं। वह उनकी प्रेमलीला ही है।)

गरज आपनी सबन को गरज करत उर आनि।
तुलसी चातक चतुर भो जाचक जानि सुदानि॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि अपनी-अपनी गरज सभीको होती है और उसी गरजको (कामनाको) हृदयमें रखकर लोग जहाँ-तहाँ गरज करते (सबसे विनती करते) फिरते हैं। परन्तु चतुर (अनन्य प्रेमी) चातक तो एक मेघको ही सर्वोत्तम दानी समझकर केवल उसीका याचक बना।

चरग चंगु गत चातकहि नेम प्रेम की पीर।
तुलसी परबस हाड़ पर परिहैं पुहुमी नीर॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि बाजके पंजेमें फँसनेपर चातकको अपने प्रेमके नियमकी पीड़ा (चिन्ता) होती है। [उसे यह चिन्ता नहीं होती है कि मैं मर जाऊँगा, पर इस बातकी बड़ी पीड़ा होती है कि बाजके द्वारा मारे जानेपर] मेरी हड्डियाँ और पाँख [स्वाती-नक्षत्रके मेघजलमें न पड़कर] पृथ्वीके साधारण जलमें पड़ेंगे।

बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्यजल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥

किसी बहेलियेने चातकको मार दिया, वह पुण्यसलिला गंगाजीमें गिर पड़ा; (परन्तु गिरते ही उस अनन्यप्रेमी) चातकने चोंचको उलटकर ऊपर उठा लिया। तुलसीदासजी कहते हैं कि चातकप्रेमरूपी वस्त्रपर मरते दमतक कोई खोंच नहीं लगी (वह कहींसे फटा नहीं)।

अंड फोरि कियो चेटुवा तुष पर्‌यो नीर निहारि।
गहि चंगुल चातक चतुर डार्‌यो बाहिर बारि॥

किसी चातकने अण्डेको फोड़कर उसमेंसे बच्चा निकाला, परन्तु अण्डेके छिलकेको पानीमें पड़ा हुआ देखकर उस [प्रेमराज्यके] चतुर चातकने तुरन्त उसे पंजेसे पकड़कर जलके बाहर फेंक दिया।

तुलसी चातक देत सिख सुतहि बारहीं बार।
तात न तर्पन कीजिऐ बिना बारिधर धार॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि चातक अपने पुत्रको बारंबार यही सीख देता है कि हे तात! [मेरे मरनेपर] प्यारे मेघकी धाराको छोड़कर अन्य किसी जलसे मेरा तर्पण न करना।

जिअत न नाई नारि चातक घन तजि दूसरहि।
सुरसरिहू को बारि मरत न माँगेउ अरध जल॥

जीते-जी तो चातकने [प्यारे] मेघको छोड़कर दूसरेके सामने गर्दन नहीं झुकायी (याचना नहीं की)

और मरते समय भी गंगाजलमें अर्धजलीतक न माँगी (मुक्तिका भी निरादर कर दिया)।

सुनु रे तुलसीदास प्यास पपीहहि प्रेम की।
परिहरि चारिउ मास जो अँचवै जल स्वाति को॥

रे तुलसीदास! सुन, पपीहेको तो केवल प्रेमकी ही प्यास है [जलकी नहीं]; इसीलिये वह बरसातके चारों महीनोंके जलको छोड़कर केवल स्वाती-नक्षत्रका ही जल पीता है।

जाचै बारह मास पिऐ पपीहा स्वाति जल।
जान्यो तुलसीदास जोगवत नेही मेह मन॥

चातक बारहों महीने (मेघसे उसे देखते ही पिउ-पिउकी पुकार मचाकर) जल माँगा करता है, परन्तु पीता है केवल स्वाती-नक्षत्रका ही जल। तुलसीदासजी कहते हैं कि मैंने इससे यह समझा है कि चातक ऐसा करके अपने स्नेही मेघका मन रखता है। (जिससे मेघको यह कहनेका मौका न मिले कि तू तो स्वार्थी है; जब प्यास लगती है तभी मुझे पुकारता है, फिर सालभर मेरा नाम भी नहीं लेता।)

तुलसी कें मत चातकहि केवल प्रेम पिआस।
पिअत स्वाति जल जान जग जाँचत बारह मास॥

तुलसीदासके मतसे तो चातकको केवल प्रेमकी ही प्यास है [जलकी नहीं]; क्योंकि सारा जगत् इस बातको जानता है कि चातक पीता तो है केवल स्वाती-नक्षत्रका जल, परन्तु याचक बना रहता है बारहों महीने।

आलबाल मुकुताहलनि हिय सनेह तरु मूल।
होइ हेतु चित चातकहि स्वाति सलिल अनुकूल॥

चातकके हृदयरूपी मोतियोंकी (बहुमूल्य) क्यारीमें प्रेमरूपी वृक्षकी जड़ लगी है। ईश्वर करे स्वाती-नक्षत्रका जल चातकके चित्तमें रहनेवाले प्रेमके लिये अनुकूल हो जाय। (अर्थात् स्वाती-नक्षत्रके जलसे हृदयमें लगी हुई प्रेम-वृक्षकी जड़ भलीभाँति सींची जाय, जिससे प्रेमवृक्ष फूल-फलकर लहलहा उठे!)

उष्न काल अरु देह खिन मग पंथी तन ऊख।
चातक बतियाँ ना रुचीं अन जल सींचे रूख॥

गर्मियोंके दिन थे; चातक शरीरसे खिन्न था (थका हुआ था), रास्ते चल रहा था; उसका शरीर बहुत गरम हो रहा था। [इतनेमें उसे कुछ पेड़ दीख पड़े, मनमें आया कि जरा विश्राम कर लूँ;] परन्तु अनन्यप्रेमी चातकको मनकी यह बात अच्छी नहीं लगी, क्योंकि वे वृक्ष [स्वाती-नक्षत्रके जलसे सिंचे हुए न होकर] दूसरे ही जलसे सींचे हुए थे।

अन जल सींचे रूख की छाया तें बरु घाम।
तुलसी चातक बहुत हैं यह प्रबीन को काम॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि यों तो चातक (चातकप्रेमका दम भरनेवाले) बहुत हैं, परन्तु 'स्वातीके जलके अतिरिक्त अन्य जलसे सींचे हुए वृक्षकी छायासे तो धूप ही अच्छी' ऐसा मानना तो किसी [प्रेम-प्रणको निबाहनेमें] चतुर चातक (सच्चे प्रेमी)- का ही काम है।

एक अंग जो सनेहता निसि दिन चातक नेह।
तुलसी जासों हित लगै वहि अहार वहि देह॥

चातकका जो रात-दिनका (नित्य चौबीसों घण्टेका) प्रेम है, वही एकांगी प्रेम है। तुलसीदासजी कहते हैं—ऐसा एकांगी प्रेम जिसके साथ लग जाता है, वही उसका आहार है (वह खाना-पीना सब भूलकर उसीकी स्मृतिसे जीता रहता है) और वही उसका शरीर है (वह अपने शरीरकी सुधि भुलाकर उसीके शरीरमें तन्मय हुआ रहता है)।

भोजन-साधन

१—शुद्ध कमाईका अन्न खाओ; जो पैसा चोरीसे, छलसे, बेईमानीसे, दूसरेके हकको मारकर आया हुआ हो, उससे मिला हुआ अन्न बहुत दूषित होता है और बुद्धिको सहज ही बिगाड़ देता है।

२—हर किसीके साथ न खाओ। बुरे परमाणु तुम्हारे अन्दर आ जायँगे।

३—जूँठा कभी किसीका मत खाओ। रोग बढ़ेगा।

४—नियमित भोजन करो, भूखसे कुछ कम खाओ। अपनी प्रकृतिसे प्रतिकूल चीज मत खाओ।

५—स्वादकी दृष्टिसे मत खाओ—शरीर-रक्षाके लिये सात्त्विक आहार करो।

६—क्रोधी, कामी, वैरी, संक्रामक रोगोंसे आक्रान्त,

गन्दे आचरणवाले, गन्दगीसे सने हुए, हीन जाति और हीन कुलके लोगोंके साथ न खाओ।

७—ऐसी जगह मत खाओ, जहाँ कुदृष्टि पड़ती हो।

८—अतिथि, रोगी, गर्भिणी स्त्री, गुरु, ब्राह्मण, आश्रितजन और गौ, कुत्ते, चींटी, कौए आदिको आदरसे खिलाकर पीछे खाओ।

९—रोज बलिवैश्वदेव करके खाओ।

१०—भगवान्‌को या अपने इष्टदेवको अर्पण करके खाओ। जो भगवान्‌को निवेदन न करके खाता है, वह गन्दी चीज खाता है।

११—जूँठन मत छोड़ो। बिना भूख लगे मत खाओ, जितना आसानीसे पचा सको उतना ही खाओ।

१२—तुम्हारा खाना जिसको भार मालूम होता हो, उसके घर न खाओ। तुम्हारे खानेसे जिसके भोजनमें कमी आ जाती है, उसके यहाँ भी मत खाओ।

१३—भोजन करनेके पहले अन्नको प्रणाम करो, भोजनके समय ध्यान करो कि यह पवित्र भोजन मुझको पवित्र करेगा, बल देगा, ओज देगा और भगवान्‌की भक्ति देगा और प्रत्येक ग्रास भगवान्‌का स्मरण करके मुँहमें लो।

१४—भोजनको अन्तर्यामी भगवान्‌की तृप्तिके लिये करो, यज्ञकी भावनासे करो—जीभके स्वाद या अपनी तृप्तिके लिये नहीं।

१५—बहुत मसाले, खट्टी, चटपटी, बहुत मिठाई आदि न खाओ।

१६—सबको बाँटकर खाओ, चुराकर न खाओ।

१७—पंक्तिमें भेद न करो, अपने लिये बढ़िया लेकर दूसरोंको घटिया चीज मत दो।

१८—रोज स्नान, सन्ध्या, तर्पण, श्राद्ध और बलिवैश्वादि करनेके बाद भोजन करो।

१९—भोजनके समय मौन रहो।

२०—ताँबेके बरतनमें दूध न पीओ, जूँठे बरतनमें घी लेकर न खाओ और दूधके साथ कभी नमक न खाओ।

२१—भोजन खूब चबाकर करो, बहुत जल्दी-जल्दी न खाओ।

२२—पूर्वकी ओर मुख करके भोजन करो, पश्चिम और दक्षिणकी ओर मुख करके भोजन करना भी बुरा नहीं है। जिसके माता-पिता जीवित हों वह दक्षिणकी ओर मुख करके भोजन न करे। उत्तरकी ओर मुँह करके भोजन नहीं करना चाहिये।

२३—दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँहको पहले खूब धोकर भोजन करो। भोजनके बाद हाथ-मुँह धोना, कुल्ले करके मुँह साफ करना, दाँतोंमें लगे हुए अन्नको निकालकर फिर मुँह धोना चाहिये। भोजनके बाद मुँह साफ करनेके लिये पान खाना बुरा नहीं है।

२४—एकादशी, अमावास्या, पूर्णिमा आदिके दिन उपवास करो।

शरण-साधन

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

'जो एक बार भी शरण होकर कह देता है कि मैं आपका हूँ, उसे मैं सब भूतोंसे अभय कर देता हूँ। यह मेरा व्रत है।'

ये शब्द मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके हैं। श्रीरामचन्द्रजीकी प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है 'राम एक बार जो कह देते हैं, बस वही करते हैं, दूसरी बार उसे बदलते नहीं—**रामो द्विर्नाभिभाषते।**'

उपर्युक्त भगवद्वाक्यके अनुसार एक बार भी जो भगवान्‌की शरण हो जाता है, उसीको भगवान् अपना लेते हैं और अभय कर देते हैं।

शरण होनेवाले साधकके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह अन्य साधनोंके द्वारा पहले निष्पाप हो ले और फिर भगवान्‌की शरणमें जाय। न यही जरूरी है कि वह उत्तम वर्ण, उत्तम कुल, उत्तम गुण और उत्तम आचारोंसे सम्पन्न हो। कोई भी, कैसा भी क्यों न हो, भगवान् सभीको अपनी कल्याणमयी गोदमें आश्रय देनेको सदा तैयार हैं। बस, दो ही बात होनी चाहिये—एक तो भगवान्‌में और उनकी शरणागतवत्सलतामें पूरा

विश्वास और दूसरी अपनेको सब ओरसे असहाय—सारे सहारोंसे रहित दीन-हीन मानकर, किसी भी दूसरी ओर न ताककर निर्भरताके साथ उनके श्रीचरणोंमें डाल देनेकी सच्ची लालसा।

भगवान्‌की कृपा और शरणागतवत्सलतापर विश्वास जबतक न होगा, तबतक एकमात्र उनके चरणोंका आश्रय पकड़नेमें हिचक रहेगी। जहाँ सन्देह है, वहाँ निर्भरता नहीं हो सकती। इसलिये पहली बात है—विश्वास और दूसरी बात है अन्य सारे अवलम्बनोंके प्रति अनास्था; फिर पाप तो भगवान्‌की शरणमें आते ही वैसे ही नष्ट हो जायँगे जैसे सूर्योदयकी सूचनासे ही अन्धकारका नाश हो जाता है। जैसे सूर्यके सामने कभी अन्धकार आ नहीं सकता, वैसे ही शरणागतके समीप पाप नहीं आ सकते। रही ताप या दुःखोंकी बात—सो जब परम आनन्दमय प्रभुकी शरण प्राप्त हो जाती है, तब वहाँ ताप रह ही कैसे सकते हैं? ताप तो विषयोंको आश्रय करके ही रहते हैं और विषयोंके आश्रयी नर-नारियोंको ही सदा जलाया करते हैं। जिन्होंने भगवान्‌का आश्रय ले लिया है, वे तो उस परम शान्ति और अचल शीतलताके साम्राज्यमें जा पहुँचते हैं, जहाँ दुःख-तापके लिये प्रवेशका अधिकार ही नहीं है।

नीच महापापी हो चाहे, चाहे हो अति हीन मलीन।
भीषण नरक-कुंडका कीड़ा पड़ा सड़ रहा हो अति दीन॥
जो शरण्य स्वामीको अपना एकमात्र रक्षक पहचान।
जा पड़ता सत्वर चरणोंमें सच्चे मनसे अपने जान॥
नहीं देखते जाति-पाँतिको, नहीं देखते पापाचार।
शील-मान-कुल नहीं देखते, नहीं देखते कुव्यवहार॥
केवल मनके भाव और नीयतपर देते हैं प्रभु ध्यान।
रख लेते तुरंत निज आश्रय उसको अपना निज-जन जान॥
अपने हाथों बड़े स्नेहसे पाप-ताप-मल धोते आप।
अपने हाथों गले लगाकर हर लेते सारा संताप॥
मिल जाती फिर पूर्ण विमल मति पराशान्ति अति परमानन्द।
करुणावरुणालय नित निज सेवामें रखते आनँदकन्द॥

शरणागत भक्तके न शोक रह सकता है न विषाद, न दुःख न ताप, न चिन्ता न भय। उसे कुछ करना भी नहीं पड़ता। सब काम भगवत्कृपाकी शक्तिसे अपने-आप हो जाते हैं। शरणागतिमें कोई शर्त नहीं, कोई कैद नहीं। बस, एक ही शर्त है—एकमात्र भगवान्‌को ही परम आश्रय जानकर उनकी शरण हो जाना—पुकारकर कह देना—'नाथ! मैं केवल तुम्हारा हूँ, तुम्हारे चरणोंपर आ पड़ा हूँ। दीन-हीन हूँ, पापी-अपराधी हूँ, साधनहीन मलिनमति हूँ, पर तुम्हारा हूँ; एकमात्र तुम्हारी ही कृपापर निर्भर हूँ' फिर तो भगवान् उसे निहाल कर देते हैं—अपनी सेवामें नियुक्त कर लेते हैं। भगवत्कृपासे वह उस आनन्दको अनायास ही पा जाता है जो अनिर्वचनीय है। भगवान् स्वयं घोषणा करके कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'सब धर्मोंको छोड़कर तुम एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ। मैं तुम्हें सब पापोंसे छुड़ा दूँगा। तुम चिन्ता न करो।'

अहिंसा परम धर्म और मांस-भक्षण महापाप

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥
न हि मांसं तृणात् काष्ठादुपलाद्वापि जायते।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद्दोषस्तु भक्षणे॥

(महा०, अनु० ११६। २४-२५)

'अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है, अहिंसा परम सत्य है, अहिंसासे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है। मांस घास, लकड़ी या पत्थरसे पैदा नहीं होता, वह तो जीवोंकी हत्या करनेपर ही मिलता है। इसलिये उसके खानेमें बहुत बड़ा दोष है।'

उपर्युक्त महाभारतके वचनोंके अनुसार ही प्रायः सभी पुराणों और स्मृतियोंमें अहिंसाकी महिमा और हिंसापूर्ण मांस-भक्षणका निषेध मिलता है, परन्तु मनुष्य इतना स्वार्थी और जिह्वालोलुप है कि वह अपने पापी पेटको भरने और घृणित मांसका स्वाद लेने तथा शिकारका शौक पूरा करनेके लिये निर्दोष प्राणियोंकी हत्या करता

है। शास्त्रोंमें कहा है—'जो मूर्ख मोहवश मांस-भक्षण करता है, वह अत्यन्त नीच है।' जैसे माँ-बापके संयोगसे पुत्रकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पशु-हिंसासे अनेक पापयोनियोंमें जन्म लेना पड़ता है। मांस खानेवाला निर्दय हो जाता है। उस हिंसा-वृत्तिवालेपर किसी जीवका विश्वास नहीं रहता। सबको क्लेश पहुँचानेवाला होनेसे उसे भी जीवनभर क्लेश रहता है और मृत्युके पश्चात् दूसरे जन्ममें वे सभी प्राणी उसे क्लेश पहुँचाते हैं। मांस-भक्षण बहुत बड़ा पाप और अत्यन्त हानिकर कुकर्म है। मांस खानेवाले लोग संसारमें हैं, इसीलिये प्राणियोंकी हत्या होती है। कसाई मांसखोरोंके लिये ही तो पशुओंको मारता है। अतएव सबसे बड़ा दोषी मांस खानेवाला ही है। जो दूसरोंका मांस खाकर अपना मांस बढ़ाना चाहता है, वह किसी भी जन्ममें चैनसे नहीं रहने पाता। जो मनुष्य वध करनेके लिये पशुको लाता है, जो उसे मारनेकी अनुमति देता है, जो उसका वध करता है तथा जो खरीदता, बेचता, पकाता और खाता है, ये सब-के-सब पशुके हत्यारे और मांसखोर ही समझे जाते हैं। मांस-भक्षण बहुत बड़ा अपराध है; क्योंकि इसीके कारण जीवोंको निर्दय कसाइयोंके हाथों मृत्युकी भीषण यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं। मृत्यु सभीके लिये दुःखदायी होती है। यदि हमें कोई मारना चाहे और मारे तो जितना दुःख होता है, उतना ही दूसरे प्राणीको भी होता है। इसीलिये प्राणदानसे बढ़कर कोई भी दान नहीं है। जिसका वध किया जाता है, वह प्राणी कहता है कि '**मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।**' अर्थात् 'आज मुझे वह खाता है तो कभी मैं भी उसे खाऊँगा।' यही मांसका मांसत्व है। जो मनुष्य मांस, शिकार अथवा यज्ञयाग—किसी हेतुसे भी प्राणियोंकी हिंसा करता है, वह नीच पुरुष नरकगामी होता है और जन्म-जन्ममें दुःख भोगता है।'

शास्त्र कहते हैं—'जो मनुष्य मांस न खाकर जीवोंपर दया करता है, वह दीर्घजीवी और नीरोग होता है। मांस-भक्षण न करनेसे सुवर्ण-दान, गो-दान और भूमि-दानसे भी अधिक धर्मकी प्राप्ति होती है। जीवोंपर दया करनेके समान इस लोक और परलोकमें कोई भी पुण्यकार्य नहीं है। जो मनुष्य दयापरायण होकर सब प्राणियोंको अभय प्रदान करता है, उसे वे सब प्राणी भी अभय-दान करते हैं। जो मनुष्य सब जीवोंको आत्मभावसे देखकर किसी भी जीवका मांस जीवनभर नहीं खाता, वह बड़ी उत्तम गतिको प्राप्त होता है। समस्त धर्मोंका शिरोमणि अहिंसा धर्म है।'

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥
सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वा प्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत्तुल्यमहिंसया॥
अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा।
अहिंस्रः सर्वभूतानां यथा माता यथा पिता॥

(महा०, अनु० ११६। ३८—४१)

'अहिंसा परम धर्म, अहिंसा परम संयम, अहिंसा परम दान, अहिंसा परम तप, अहिंसा परम यज्ञ, अहिंसा परम फल, अहिंसा परम मित्र और अहिंसा परम सुख है। सब यज्ञोंमें दान किया जाय, सब तीर्थोंमें अवगाहन किया जाय, सब प्रकारके दानोंका फल प्राप्त हो, तो भी उसकी अहिंसाके साथ तुलना नहीं हो सकती। हिंसा न करनेवालेकी तपस्या अक्षय होती है और वह मानो सदा-सर्वदा यज्ञ ही करता है। हिंसा न करनेवाला पुरुष समस्त प्राणियोंका माता-पिता ही है।'

भारतके सभी धर्मग्रन्थोंमें मांसकी निन्दा की गयी है, फिर भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं—जिनसे भारतीयोंका प्राचीन कालमें मांस खाना सिद्ध किया जाता है। सम्भव है, कुछ लोग मांस खाते हों और यह भी सम्भव है कि पीछेसे मांसाहारियोंने ग्रन्थोंमें ऐसी बातें घुसेड़ दी हों। जो कुछ भी हो, मांस-भक्षण प्रत्यक्ष पाप और अत्यन्त घृणित दुष्कर्म है। ऐसा माना जाता है कि इधर भारतीयोंमें मांस-भक्षणकी प्रथा विदेशियोंके, खास करके अंग्रेजोंके आनेके बाद ही विशेषरूपसे चली है, पहले इतनी नहीं थी। हमारी सबसे प्रार्थना है कि हम मांस-भक्षणके दोषोंको समझ लें। इसमें आध्यात्मिक, शारीरिक और आर्थिक सभी प्रकारसे हानि है। इसपर विचार करें और जहाँतक बने मांस-भक्षणका प्रचार रोकनेकी सब प्रकारसे चेष्टा करें।

सरल नाम-साधन

सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम।

प्रश्न—वर्षोंसे चेष्टामें लगा हूँ, बहुतेरे साधु-महात्माओंके दर्शन किये, तीर्थोंमें घूमा, मन्त्रोंके अनुष्ठान किये और नाना प्रकारकी साधनाएँ कीं, पर मेरा यह दुष्ट मन किसी प्रकार भी वशमें नहीं होता। शास्त्र और सन्त कहते हैं कि मनके वशमें हुए बिना भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती और यह बात तो निर्विवाद ही है कि भगवान्‌की प्राप्ति हुए बिना जीवन व्यर्थ है। मैं हताश हो गया, मेरा मन वशमें नहीं होता। क्या मेरे लिये कोई उपाय नहीं है? क्या मैं चाहता हुआ भी भगवान्‌को नहीं पा सकूँगा? भगवान् क्या दया करके मुझ-सरीखे चंचलचित्तको न अपना लेंगे?

उत्तर—बात यह है, सच्ची लगन हो और दृढ़तापूर्वक अभ्यास किया जाय तो मनका वशमें होना असम्भव नहीं है। मन वशमें करनेके बहुत-से उपाय हैं और उनके द्वारा मन अवश्य ही वशमें हो भी सकता है; परन्तु भैया! है यह कलियुग, जीवनमें कहीं शान्ति नहीं है। नाना प्रकारकी आधि-व्याधियोंसे मनुष्यका मन सदा घिरा रहता है। इसलिये मन वशमें करनेके साधनमें लगना है बड़ा कठिन और साधनमें लगनेपर भी नाना प्रकारके विघ्नोंके कारण लगन—सच्ची लगन और दृढ़ अभ्यासका होना भी कठिन ही है।

प्रश्न—तो क्या फिर मनुष्य-जीवनकी सफलताका कोई उपाय नहीं है?

उत्तर—है क्यों नहीं? वही तो बतला रहा हूँ। वह ऐसा सुन्दर उपाय है जिससे ब्राह्मणसे चाण्डालतक, परम विद्वान्‌से वज्रमूर्खतक, स्त्री और पुरुष, सदाचारी और कदाचारी सभी सहज ही कर सकते हैं। वह उपाय है—वाणीके द्वारा भगवान्‌के नामका रटना। कोई किसी भी अवस्थामें हो, नाम-जप अपने स्वाभाविक गुणसे जपनेवालेका मनोरथ पूर्ण कर सकता है और उसे अन्तमें भगवान्‌की प्राप्ति करा देता है। और-और साधनोंमें मनके वशमें होने तथा भाव शुद्ध होनेकी आवश्यकता है। भाव [नीयत]-के अनुसार ही साधनका फल हुआ करता है, परन्तु नाममें यह बात नहीं है। किसी भी भावसे नाम लिया जाय वह तो कल्याणकारी ही है।

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

इसलिये मन वशमें हो चाहे न हो। कैसा भी भाव हो, तुम विश्वास करके, जैसे बने वैसे ही—भगवान्‌का नाम लिये जाओ और निश्चय करो कि भगवान्‌के नामसे तुम्हारा अन्तःकरण निर्मल हुआ जा रहा है और तुम भगवान्‌की ओर बढ़ रहे हो। नाम लेते रहे, ताँता न टूटा तो निश्चय ही इसीसे तुम अन्तमें भगवान्‌को पाकर कृतार्थ हो जाओगे।

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

(भगवच्चर्चा भाग ५)

ईश्वर

ईश्वर बुद्धिगम्य नहीं है

ईश्वर क्या है? उनका वास्तविक स्वरूप कैसा है? वे निराकार हैं या साकार? निर्गुण हैं या सगुण? इस जगत्‌के साथ उनका क्या सम्बन्ध है? इत्यादि प्रश्नोंका एकमात्र निश्चित उत्तर न तो कोई आजतक दे सका है और न दे सकता है। आजतक ईश्वरके सम्बन्धमें जितना वर्णन हुआ है, वह सब मिलकर भी ईश्वरके यथार्थ स्वरूपका निर्देश नहीं कर सकता; क्योंकि ईश्वर मनुष्यकी बुद्धिके परे है, वह परम वस्तु मनुष्यकी बुद्धिमें नहीं समा सकती। बुद्धि प्रकृतिका कार्य होनेसे जड और परिच्छिन्न है, वह उस अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, नित्य ज्ञानानन्दघन चेतनका आकलन किस प्रकार कर सकती है? जो वस्तु ज्ञानका विषय होती है, वह सीमित, प्रमेय और धर्मी वस्तु ही होती है; जो सीमित है, जिसका परिमाण हो सकता है, जो किसी धर्मवाली है, वह वस्तु ईश्वर नहीं हो सकती; बुद्धि या ज्ञान जिस पदार्थका निरूपण करता है, उस पदार्थका कोई एक निश्चित रूप ज्ञानमें रहता है, ऐसा ज्ञेय पदार्थ सबका प्रकाशक, सबका आधारज्योति नहीं हो सकता। जिसका प्रकाश बुद्धि करती है, वह बुद्धिको प्रकाश देनेवाला कैसे हो सकता है? परमात्मा ईश्वर ज्ञेय नहीं है, प्रमेय नहीं है, प्रकाश्य नहीं है, वह तो स्वयं ज्ञाता, प्रमाता, चेतनज्योतिरूप सबका प्रकाशक स्वयंप्रकाश है। वह किसी भी बुद्धिका चिन्त्य विषय नहीं है, सारी बुद्धियोंमें चिन्ताप्रवणता उसीसे आती है। वह स्वयं प्रमाणरूप और ज्ञानरूप है। वस्तुत: ऐसा कहना भी उसको सीमाबद्ध करना है—उसका माप करना है। उसे कालातीत-गुणातीत कहना भी उसका परिमाण बाँधना है। इसीलिये मनीषीगण यह कहा करते हैं कि ईश्वरका तत्त्व ईश्वर ही जानता है, वह स्वानुभवरूप है, दूसरा कोई उसे जान ही नहीं सकता, तब वर्णन कैसे कर सकता है? जबतक दूसरा रहता है, तबतक जानता नहीं और दूसरा न रहनेपर वर्णनका प्रसंग ही असम्भव है।

ईश्वरकी उपासना करनी चाहिये

'ईश्वर अतर्क्य है, अज्ञेय है, वह कभी मनुष्यकी बुद्धिमें आ ही नहीं सकता, संसारकी किसी वस्तुसे तुलना करके वह समझाया नहीं जा सकता, ऐसी स्थितिमें उसे मानने-जानने या उसकी चर्चा और जाननेकी चेष्टा करनेसे क्या लाभ है? जो चीज सिद्ध नहीं हो सकती, दीख नहीं सकती, उससे उदासीन रहना ही बुद्धिमानी है।' यों विचारकर परमात्माकी चर्चा छोड़ देना तो मृत्युसे भी बढ़कर मरण है। परमात्माकी ऐसी विलक्षण शक्ति है कि वह ज्ञेय न होनेपर भी ज्ञेय-सा बनकर उपासकके अज्ञानावरणको हटा देता है, जिससे वह उसके स्वरूपको पहचानकर कृतकृत्य हो जाता है। इसीलिये उस परमतत्त्वको ज्ञेय मानकर उसकी उपासना करना परम आवश्यक माना गया है।

इसीलिये तत्त्वज्ञ ईश्वरगतप्राण ऋषि-महर्षियोंने अपने-अपने विलक्षण सत्य अनुभवोंको (जो सचमुच ही उन्होंने 'अघटनघटनापटीयसी' शक्तिके आधार और स्वामी भगवान्‌की कृपासे समय-समयपर प्राप्त किये हैं) तर्क और उक्तियोंके द्वारा सिद्ध कर लोगोंके सामने रखा और यथोचित साधनविधि बतलाकर भगवत्-प्राप्तिका मार्ग सुलभ कर दिया है। दर्शन, पुराण आदिमें इन्हीं साधनोंका उल्लेख है।

ईश्वरका स्वरूप

हमारी बुद्धि जहाँ जाकर थक जाती है और अपनेको आगे बढ़नेमें सर्वथा असमर्थ पाती है, वहींसे भगवत्कृपाका प्रकाश और बल हमारा पथप्रदर्शक और सहायक होकर हमें उस बुद्धिके परे, बुद्धिके अगोचर परम तत्त्वका साक्षात्कार करा देता है। नहीं तो, जो सर्वथा अव्यक्त और अचिन्त्य है, जो एक, केवल, शुद्ध सच्चिदानन्दघन रहते हुए ही अपने सगुणरूपके द्वारा संकल्पमात्रसे विचित्र ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करते हैं; सगुण, साकार, दिव्य, नित्य, विग्रहरूपसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें अनन्तकोटि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूपोंसे

विभक्त-से प्रतीत होकर पृथक्-पृथक् सृजन, पालन और संहार करते हैं, जो विविध देशों और कालोंमें विविध स्वरूपोंमें अवतरित या प्रकट होकर आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक शक्तिका प्रकाशकर अपनी विश्वविमोहिनी लीलाओंसे जगत्‌को मुग्ध और पावन करते हैं, जो जीवमात्रमें अन्तर्यामी आत्मारूपसे विराजित होकर विभिन्न-से भासते हुए जीवलीलामें वर्तमान रहते हैं। (यहाँ यह समझनेकी बात है कि जिस प्रकार अनन्तकोटि व्यष्टिशरीरोंमें एक ही परमात्मा त्रिगुण-संवलित जीवात्मारूपसे विराजमान है, ऐसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डशरीरोंमें 'विधि-हरि-हर' त्रिगुणमूर्तिसे एक ही परमात्मा विराजमान हैं, त्रिगुणमूर्ति होनेपर भी तीनों एक ही हैं और गुणातीत हैं।) जो अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डोंमें प्रकृतिके विकाररूपसे भासनेवाले जड दृश्य-प्रपंचका भेष धारणकर अपनेको छिपाये हुए हैं और प्रत्येक रूपमें प्रत्येक समय एकरस और पूर्ण हैं, उन परात्पर महाविष्णु, महाशिव, महाप्रजापति, महादेव, महाशक्ति, श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि विविध नामों और रूपोंसे आख्यात और पूजित नित्य, अविनाशी, अनन्त, अखण्ड, परमसत्य, परमब्रह्म, सच्चिदानन्दघन, अनन्तशक्ति परात्पर भगवान्‌का जरा-सा आभास भी मनुष्यकी बुद्धिको उसके अपने बलपर कैसे मिल सकता है? जो संतोंके वाक्योंपर विश्वास कर उनके शरणापन्न होता है, जो बुद्धिका अभिमान छोड़कर उनकी कृपाका आश्रित होता है, वही शुद्ध और सूक्ष्मबुद्धि श्रद्धामय पुरुष भगवान्‌की कृपाका बल प्राप्तकर उसके दिव्यलोकमें परमात्म-प्रकाशकी ओर आगे बढ़ता है।

उन परमात्मा महेश्वरके अखण्ड नियमके अनुसार उनकी लीलासे जब उनकी सारी शक्तियाँ सिमटकर साम्यस्थितिको प्राप्त हो जाती हैं, तब शक्ति और शक्तिकी अभिन्नताके रूपमें एक ब्रह्म-स्वरूप ही प्रकाशित रहता है। पुनः जब उनकी अनन्त शक्तियाँ विविध विचित्र मूर्ति धारणकर क्रिया करती हैं, तब वही भगवान् ब्रह्म अनेक स्वरूपोंमें प्रकाशित और प्रसरित रहते हैं, वस्तुतः अनन्तकोटि विश्व-ब्रह्माण्डोंमें जो कुछ उत्पन्न हुआ है, जो स्थित है और जो लयको प्राप्त होता है, वह सब ईश्वरमें ही होता है। ईश्वरकी ही यह सृष्टि, स्थिति और संहाररूप त्रिविध मूर्तियाँ हैं। समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड अनन्त तरंगोंकी भाँति उन एक ही अनन्त, असीम परमात्म-सागरमें स्थित हैं। वे भगवान् देवोंके देव, ईश्वरोंके ईश्वर, पतियोंके पति और गतियोंकी गति हैं; ये निराकार भी हैं, साकार भी हैं, निराकार भी नहीं हैं; साकार भी नहीं हैं, सबमें हैं, सबसे परे हैं, उनके लिये यह कहना या समझना कि 'ये ऐसे ही हैं' वस्तुतः उनका उपहास करना और अपनी अक्लका पर्दाफ़ाश करना है। हमारी बुद्धि जिस ईश्वरका वर्णन करती है, वह तो उनके एक बहुत ही स्वल्पसे अंशका, आभासका या अनुमानका ही वर्णन होता है। वे तो गूँगेके गुड़ हैं; उनका वर्णन कोई कैसे करे? क्षुद्र-सा जल-सीकर जलनिधिकी क्या थाह लगावे? हमारी जो बुद्धि आँखोंके सामने प्रत्यक्ष दीखनेवाले पदार्थोंकी तहतक भी नहीं पहुँच सकती, वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त सर्वलोकमहेश्वर अनन्तशक्ति, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माके सम्बन्धमें निश्चयरूपसे क्या कह सकती है? उन ईश्वरके सम्बन्धमें तो सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि जगत्‌के महापुरुष उन्हींकी कृपासे प्राप्त अनुभवोंके द्वारा उनकी सत्ता समझाकर हमें उनकी उपासना करनेका उपदेश देते हैं। महापुरुषोंके वचनोंमें विश्वास करनेवाले श्रद्धालु पुरुषोंके लिये तो ईश्वरका होना सहज ही सिद्ध है, उनके लिये तो ऐसी कोई वस्तु ही नहीं, जो ईश्वरसे अधिक प्रत्यक्ष और सर्वप्रमाणसिद्ध हो, परंतु यह सौभाग्य सबको प्राप्त नहीं। ईश्वरमें विश्वास होना सहज बात नहीं है; ईश्वर-विश्वास भगवान्‌के अन्ताराज्यका पर्दा हटा देता है, जिससे मनुष्य ईश्वरके तत्त्वको समझकर सर्वपाप-ताप-शून्य और कृतकृत्य हो जाता है।

ईश्वर-विश्वास और ईश्वर-कृपा

जैसे सूर्यके पूर्ण उदय होनेसे पूर्व ही अमावस्याकी घोर निशाका नाश हो जाता है, इसी प्रकार भगवान्‌का पूर्ण विश्वास होनेके पूर्व ही, थोड़े ही विश्वाससे पाप-तापरूपी तम नष्ट हो जाता है। मनुष्य तभीतक पापाचरण करता है और तभीतक संसारके विविध दुःखोंके दावानलमें दग्ध होता रहता है, जबतक कि उसका ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास नहीं होता; 'ईश्वर है' इस विश्वाससे ही मनुष्य निर्निराधार, निर्विकार, निःशंक, निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है। भगवान्‌पर विश्वास करनेवाला पुरुष इस बातको जानता है कि भगवान् सर्वव्यापी, सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान्, परम दयालु,

योगक्षेमवाहक, विश्वम्भर और परम सुहृद् हैं। ऐसी अवस्थामें वह काम, लोभ या भय किसी कारणसे भी पाप नहीं करता। जब एक पुलिस-अफसरको देखकर मनुष्य कानून-विरुद्ध काम करनेमें हिचकता है, जब किसी सुयोग्य गुरुजनके सामने पाप करनेमें मनुष्य सकुचाता है, तब वह सबके स्वामी और परमगुरु भगवान्‌को सामने समझकर पाप कैसे कर सकेगा? जब भगवान् विश्वम्भर और योगक्षेमका निर्वाह करनेवाले हैं, तब वह अपने और परिवारके भरण-पोषणादिके लिये न्यायपथको छोड़कर पाप-पथमें क्यों जायगा? जब वह अपने परम सुहृद्, परम दयालु, सर्वशक्तिमान् परमात्माको सर्वव्यापीरूपसे सर्वत्र देखेगा, तब ऐसा कौन-सा ताप या भय है, जो उसे जला सकेगा या पापके मार्गमें ले जायगा? ईश्वरका विश्वासी पुरुष तो वस्तुतः ईश्वरकी ही दयापर भरोसा करनेवाला बन जायगा, उसे पद-पदपर, पल-पलमें भगवत्कृपाका प्रत्यक्ष होता रहेगा। जो भगवत्कृपापर निर्भर रहता है, वह किसी कालमें दुःखी नहीं हो सकता। वह प्रत्येक बातमें भगवान्‌का विधान समझकर और भगवान्‌के विधानको उनकी दयासे ओतप्रोत देखकर प्रफुल्लित होता रहता है, वह समझता है कि मेरे नाथने मेरे लिये जो कुछ विधान कर दिया है, वही परम कल्याणरूप है और वास्तवमें है भी ऐसा ही। उसकी बुद्धिमें यथार्थ ही यह भाव नहीं आता कि भगवान्‌का कोई विधान कभी जीवके लिये अमंगलरूप होता है। मंगलमय भगवान् अपने ही अंश जीवका अमंगल कभी कर ही नहीं सकते। जब कभी वे किसीके लिये कोई दुःखका विधान करते हैं, तब वह अत्यन्त ही दयाके वश हो उसके कल्याणके अर्थ ही करते हैं। जैसे जननी अपने बच्चेके कल्याणके लिये कभी-कभी उसके साथ ऐसा व्यवहार करती है जो बच्चेको बड़ा क्रूर मालूम होता है और वह भूलसे मातासे नाराज भी होता है, परंतु माता उसके नाराज होनेकी कुछ भी परवा न कर अपने उस व्यवहारको नहीं छोड़ती; क्योंकि उसका हृदय स्नेहसे भरा है, वह बच्चेका परम हित चाहती है। इसी प्रकार स्नेह-सुधाके असीम सागर भगवान्, जिनके स्नेहकी एक बूँदने ही विश्वकी सारी माताओंके हृदयोंमें पैठकर उनको अनादिकालसे स्नेहमय बना रखा है, अपने प्यारे बच्चोंके लिये उनके हितार्थ ही दण्ड-विधान किया करते हैं। उनका दण्ड-विधान वैसा ही होता है, जैसे माता बच्चेको आगके समीप जानेसे रोककर उसे अलग कर देती है, नहीं मानता तो कभी-कभी बाँध देती है, अथवा उसके हाथसे छूरी या और कोई ऐसी चीज, जो उसको नुकसान पहुँचानेवाली है और उसने मोहवश ले रखी है, जबरदस्ती छीन लेती है; और बुरे आचरण न छोड़नेपर डराती-धमकाती है। भगवान्‌के विधानद्वारा मनुष्यमें विषय-भोगोंके योग्य शक्ति न रहना, विषयोंसे अलग होनेको बाध्य होना, विषयोंका जबरदस्ती छिन जाना या नाश हो जाना आदि कार्य इसी श्रेणीके हैं। वास्तवमें विषय-भोग—दुनियाके धन-धाम, यश-कीर्ति, स्त्री-पुत्र आदि पदार्थ तो मनुष्यको नरकाग्निकी ओर ले जानेवाले हैं, जो इनमें रचता-पचता है वह दुःख-दावानलमें दग्ध होनेसे नहीं बच सकता। भला, भगवान् जो हमारे परम सुहृद् और परम हितैषी हैं, ये वस्तुएँ हमें क्यों देने लगे? और क्यों हमें इनमें आसक्त रहनेकी स्वतन्त्रता प्रदान करने लगे? जो लोग केवल इन वस्तुओंकी रक्षा और प्राप्तिमें ही भगवान्‌की दया समझते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। ये वस्तुएँ तो हमें संसार-सागरमें डुबोनेवाली हैं, दयालु भगवान् हमें संसार-समुद्रमें ढकेलनेके लिये इनको कैसे दे सकते हैं? माता क्या कभी प्यारी संतानको जान-बूझकर आरम्भमें मीठे लगनेवाले जहर-भरे लड्डू दे सकती है? क्या कभी उसे सोनेकी पिटारीमें रखकर कालनाग सर्प दे सकती है? क्या कभी उसे लाल-लाल लपटोंवाली आगमें झोंक सकती है? फिर भगवान् ही ये विषय-भोग देकर ऐसा क्यों कर सकते हैं? इसीलिये जब ये विषय नहीं रहते, जब विषय-नाशरूप सांसारिक दृष्टिका कोई दुःख आता है, तब भगवान्‌के विश्वासी भक्तोंका चित्त हर्षसे नाच उठता है, वे उसको भगवत्कृपासे ओतप्रोत देखकर उसमें भगवत्कृपाकी माधुरी मूरतिके दर्शनकर शिशुकी भाँति उसको जोरसे पकड़ लेते हैं। उसमें उन्हें बड़ा आनन्द मिलता है, इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि हमपर भगवान्‌की बड़ी भारी दया है।

इसका यह अर्थ नहीं कि भगवान्‌से सांसारिक वस्तु माँगनेवालोंको वह नहीं मिलतीं। मिलती हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु आती उन्हींके भंडारसे है, परंतु ऐसी चीजोंके माँगनेवाले गलती करते हैं। भगवान्‌पर ही

आस्था रखनेवाले विश्वासी अर्थार्थी भक्त यदि कोई ऐसी चीज माँगते हैं तो भगवान् उन्हें दे देते हैं और फिर उसी तरह उसकी सँभाल भी रखते हैं, जैसे माता छोटे शिशुके हठ पकड़ लेनेपर उसे चाकू दे देती है, पर कहीं लग न जाय इस बातकी ओर सतर्क दृष्टि भी रखती है। भगवान्‌की दयाके रहस्यको जाननेवाला सच्चा निर्भर भक्त तो ऐसी चीजें माँगता ही नहीं। माँग भी नहीं सकता। उसकी दृष्टिमें इनका कोई मूल्य ही नहीं रहता। वह तो भगवान्‌की इच्छामें ही परम सुखी होता है। कभी माँगता है तो बस, यही माँगता है कि 'भगवन्! मैं सदा तेरे इच्छानुसार बना रहूँ, तेरी इच्छाके विपरीत मेरे चित्तमें कभी कोई वृत्ति ही न उदय हो।' भगवान् मंगलमय हैं, उनकी अनिच्छामयी इच्छा भी कल्याणमयी है, अतएव इस प्रकारकी प्रार्थना करनेवाला भक्त भी मंगलमयी इच्छावाला अथवा सर्वथा इच्छारहित निःस्पृह बन जाता है। वह नित्य-निरन्तर भगवान्‌के चिन्तनमें ही लगा रहता है और उसीमें उसको शान्ति मिलती है, जरा-सी देर भी किसी कारणसे भगवान्‌का विस्मरण हो जाता है तो वह उस मछलीसे भी अनन्तगुणा अधिक व्याकुल होता है, जो जलसे अलग करते ही छटपटाने लगती है। वह संसारमें सर्वत्र, सब ओर, सब समय अपने प्रभुकी मुनि-मन-मोहिनी छबिको देखता और पल-पलमें पुलकित होता रहता है। सारा विश्व उसे अपने प्रभुसे भरा दीखता है, इससे स्वाभाविक ही वह सबकी सेवा करता है, सबको सुख पहुँचाता है। किसी भी भेषमें आये हुए पिताको पहचान लेनेपर जैसे सुपुत्र उसका अपमान और अहित नहीं कर सकता, उसे किंचित् भी दुःख नहीं पहुँचा सकता, इसी प्रकार संसारके प्रत्येक जीवके भेषमें भक्त अपने भगवान्‌को पहचानकर उनका सत्कार और हित करता है तथा प्राणपणसे सुख पहुँचानेकी ही चेष्टा करता है। जो लोग केवल किसी एक स्थान और मूर्तिविशेषमें ही भगवान्‌को मानकर अन्यान्य स्थानोंमें उनका अभाव मानते हैं, वे भगवान्‌के स्वरूपको बहुत छोटा बना देते हैं, वे एक प्रकारसे भगवान्‌का तिरस्कार करते हैं, ऐसे लोगोंकी पूजासे भगवान् प्रसन्न नहीं होते, ऐसा भागवतमें कहा है।

मूर्ति-पूजा

इसका यह अर्थ नहीं कि मूर्ति-पूजा नहीं करनी चाहिये। संसारमें ऐसा कौन है जो किसी-न-किसी प्रकारसे मूर्ति-पूजा नहीं करता; सारा जगत् ही मूर्तिपूजक है। जो अपनेको मूर्तिपूजक नहीं मानते, वे भी अपने किसी गुरु या नेताके चित्र या स्टेच्यू (पाषाण-निर्मित मूर्ति)-को देखकर उसका सम्मान करते हैं। भगवान्‌को न माननेवाला रूसी भी लेनिनकी मूर्तियोंके सामने सलामी करता है। झंडेका अभिवादन क्या मूर्ति-पूजा नहीं है? झंडा कौन-सा सजीव पदार्थ है? परंतु उसका लोग बड़ा सम्मान करते हैं और उसके तनिक-से अपमानमें अपना और अपने देशका अपमान समझते हैं। समाधि या कब्रपर फूल चढ़ाना, उसे नमस्कार करना क्या मूर्ति-पूजा नहीं है। मातृभूमि—स्वदेश आदि नाम और उनके कल्पित रूपोंपर प्राण दे देना क्या प्रतीकपूजा नहीं है? मुसलमान भाई मूर्तिका खण्डन करके क्या प्रकारान्तरसे मूर्तिको महत्त्व नहीं देते? परंतु इसमें और हिंदू भक्तोंकी मूर्ति-पूजामें बड़ा अन्तर है, हिंदू भक्त पाषाण या धातुकी मूर्तिकी पूजा ही नहीं करता, वह तो केवल अपने प्रभुकी पूजा करता है। मूर्तिमें वह उन्हीं सच्चिदानन्दघन इष्टदेवको देखता है, उसकी दृष्टिमें वह पत्थर, मिट्टी या धातु नहीं है, वही सच्चिदानन्दघन सर्वव्यापी भगवान् हैं जिनके एक अंशमें सारे जड-चेतन विश्व-ब्रह्माण्ड भरे हैं, परंतु जो भक्तपर प्रसन्न होकर यहाँ श्यामसुन्दररूपसे विराजित हो उसकी पूजा ग्रहण कर रहे हैं। इसीसे कहीं-कहींपर भगवत्-मूर्तियोंका चलना, बोलना, हँसना, वरदान देना आदि सुना जाता है, जो वास्तवमें सत्य है। मूर्ति चैतन्य होनेपर सहज ही ऐसा होता है। यही 'अर्चावतार' है। भगवान् कब, कहाँ नहीं हैं? वे भक्तके भावसे प्रसन्न होकर चाहे जहाँ, चाहे जिस रूपमें अथवा अपने नित्य दिव्य विग्रहस्वरूपमें, चाहे जब प्रकट हो सकते हैं।

'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥'

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् शिवजीके ये वचन हैं, जो सर्वथा सत्य हैं। अग्नि अव्यक्तरूपसे सब चीजोंमें व्याप्त है, परंतु साधन करनेपर किसी भी वस्तुमें वह प्रकट हो सकती है, इसी प्रकार सर्वत्र निराकाररूपसे व्याप्त भगवान् भी भक्तके वश होकर व्यक्त हो जाते हैं। अवतार लेनेका भी यही रहस्य है।

अवतार

कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् अवतार नहीं ले सकते। परंतु ऐसा कहना भगवान्‌की सर्वशक्तिमत्तामें

कमी करना है। भगवान् क्या नहीं कर सकते? इसीसे वे जब जहाँपर आवश्यक समझते हैं, वहीं अपने दिव्य विग्रहको प्रकट करते हैं। एक बात यह ध्यानमें रखनेकी है कि भगवान्के अवतारोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है। सबमें पूर्ण भगवत्-शक्ति पूर्णरूपसे निहित है, साक्षात् भगवान् ही जब अवतरित होते हैं—हमारे बीचमें आते हैं, तब उनकी शक्तिमें न्यूनाधिकताका तो कोई सवाल ही नहीं रह जाता। यह दूसरी बात है कि कहीं वे आवश्यक न समझकर अपनी कम शक्तियोंको प्रकट करें और कहीं अधिकको! कहीं अधिक समयतक लीला करें, कहीं अल्प कालमें ही अन्तर्धान हो जायँ। परंतु इससे उनके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। वह सदा एकरस और समान है। उनका निर्गुण ब्रह्मरूप गुणातीत है, उसमें किसी भी गुण या गुणात्मक जगत्का भाव नहीं है। उनका विष्णुरूप शुद्ध सत्त्वगुणसम्पन्न है, जो भृगुजीकी लात सहकर उनके पैर पलोटनेको तैयार हो जाता है, उनका विश्वरूप अच्छे-बुरे सभी गुणोंसे सम्पन्न है—**'ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि' 'मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय'** भगवान् कहते हैं, सारे सात्त्विक, राजस, तामस-भाव मुझसे ही उत्पन्न जानो, हे धनंजय! मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार उनके गुणस्वरूप हैं। ब्रह्माण्डोंमें स्थित श्रीविष्णु सत्त्वस्वरूप हैं, श्रीब्रह्मा रजोगुणरूप हैं और श्रीशंकर तामसरूप हैं, यही शंकर जहाँ समष्टि-सदाशिवरूपमें रहते हैं, वहाँ परम कल्याणमय, सत्त्वगुणसे भी ऊँचे उठे होते हैं। इसी प्रकार भगवती काली संहाररूपिणी—तमोमयी हैं, माता शक्ति जगज्जननी सृजनकारिणी—रजोमयी हैं, जगद्धात्री माता उमा पोषणकारिणी—सत्त्वमयी हैं। इनके अतिरिक्त भक्तोंको परम आनन्द देनेवाले, भक्तोंके जीवन-धन, उनकी परम गति, परम आश्रय वे दिव्य अवतार-विग्रह हैं। इनमें लीला और शक्तिके प्रकाशके तारतम्यसे श्रीराम और श्रीकृष्ण दो विशेष हैं। इनमें लीलाकी दृष्टिसे श्रीराम मर्यादाके आदर्श और सत्त्वगुणसम्पन्न हैं और श्रीकृष्ण लीलामय और सर्वगुणसम्पन्न हैं। ये और इसी प्रकार अन्यान्य सभी उन एक ही भगवान्के स्वरूप हैं, इनमेंसे जो स्वरूप, जिसको अच्छा लगे, जिसकी जिस स्वरूपमें प्रीति हो, वह अपनी प्रकृतिके अनुसार सद्गुरुकी आज्ञासे उसीको अपने जीवनका ध्येय, परम इष्टदेव मानकर अनन्यभावसे उसीकी उपासनामें प्राणोत्सर्ग कर दे। न दूसरेको बुरा बतावे और न दूसरेकी ओर ललचावे, **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'** की भगवदुक्तिको याद रखते हुए संदेह-संशयरहित होकर निश्चल चित्तसे परम श्रद्धाके साथ सदा-सर्वदा अपने इष्टकी ही उपासना, सेवा और चिन्तनमें लगा रहे। श्रीशंकरकी अनन्य उपासिका, अपना अनन्त जीवन सदाके लिये श्रीशिवके चरणोंमें समर्पण कर देनेवाली भगवती उमाकी यह उक्ति सदा याद रखनी चाहिये—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मन रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

साकार रूप मायिक नहीं है

कुछ लोग भगवान्के साकार, सगुण दिव्य स्वरूपको मायिक बतलाते हैं और यह समझते हैं कि इसकी उपासना मन्द अधिकारियोंके लिये है, जो ऊँचे अधिकारी हैं वे तो इस मायासे परे शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्मकी अभेद-भावसे उपासना करते हैं। शुद्ध ब्रह्मकी अभेदोपासना भी उत्तम है, इसमें कोई संदेह नहीं, परंतु भगवान्के साकार दिव्य स्वरूपको मायिक और मन्द अधिकारियोंके सेवनयोग्य ही बतलाना बड़ी भारी गलती है। भगवान्ने तो श्रीगीता और श्रीभागवतमें इस दिव्य स्वरूपकी बड़ी महिमा गायी है। बल्कि कुछ भक्तोंके मतमें तो भगवान्ने ब्रह्म-शब्दवाच्य निर्विशेष स्वरूपको अपने आधारपर स्थित बतलाया है। कम-से-कम भगवान्का स्वरूप दिव्य, नित्य अमायिक है और ब्रह्मज्ञानियोंके द्वारा भी सेव्य है, इसमें तो कोई संदेह नहीं है। हाँ, उस परम आनन्दमय दिव्य विग्रहकी अवहेलना करनेसे ज्ञानमार्गके उपदेशक उसके महान् सुखसे वंचित अवश्य रह जाते हैं। मायिक माननेवालेके सामने भगवान् उस मुनिमनहारी अपने दिव्य साकार स्वरूपसे प्रकट नहीं होते। इसीसे तो संतोंका यह परम रहस्यमय मत है कि ज्ञानमार्गके पन्थी भगवान्के दिव्य साकार स्वरूपके दर्शन नहीं कर सकते। उनके मनमें माया घुसी रहती है, इससे उन्हें जहाँ-तहाँ माया ही दीखती है। वे भगवान्में भी मायाका आरोप करते हैं, कोई-कोई साकार, सगुण भगवान्को ब्रह्मसे अभिन्न मानकर भी प्रायः कह देते हैं कि यह विद्याकी उपाधिसे युक्त हैं और हमारे लिये वैसे ही हैं जैसे महान् अमृत-

समुद्रमें डूबे हुएके लिये एक गिलास जल। यह एक गिलास जल भी उस अमृत-समुद्रका ही अभिन्नांश है; परंतु एक तो अलग गिलासमें है (मायामें है), दूसरे अंश है, हम जब पूर्णमें स्थित हैं तो हमें इस उपाधियुक्त अंशसे क्या प्रयोजन है? वास्तवमें यह अहंकारोक्ति है। ऐसा कहना और मानना—अनुचित है, परंतु जो ऐसा मानते हैं, मानें, उनके मानने-न-माननेसे भगवान्‌के स्वरूपमें कोई हानि-लाभ नहीं होता; अवश्य ही उनकी मूढ़तापर भगवान् हँसते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

मूढ़ लोग मेरे इस परम रहस्यको न जानकर कि मैं समस्त विश्व-ब्रह्माण्डोंका अधीश्वर भक्तोंके प्रेमवश और अपनी जगत्-लीलाको व्यवस्थित रखनेके लिये दिव्य विग्रह प्रकटकर दिव्य लीला करता हूँ, मुझ मनुष्य-शरीरधारी भगवान्‌को नहीं पहचानते हैं। मायासे उनके हृदयमें मोह हो रहा है। मेरी अलौकिकी मायासे तरनेका उपाय मुझ मायापतिकी शरणागति ही है। (गीता ७। १४) परंतु वे लोग मुझको नहीं भजते। मैं जो क्षर जड-संसारसे अतीत अक्षर आत्मासे उत्तम हूँ, (गीता १५। १८) सबकी प्रतिष्ठा हूँ, (गीता १४। २७) सब पुरुषोंसे श्रेष्ठ पुरुषोत्तम हूँ—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

हे अर्जुन! इस प्रकार जो मूढ़तासे रहित तत्त्वज्ञ पुरुष मुझ पार्थसखा वासुदेव श्रीकृष्णको 'पुरुषोत्तम' जानता है, वह सब कुछ जान गया है, वह फिर सर्वभावसे केवल मुझको ही भजता है।

भगवान्‌को न पहचाननेवाला, शरीरधारी समझकर उनकी अवहेलना करनेवाला 'भगवान्' के शब्दोंमें ही 'मूढ' है और उनको सर्वश्रेष्ठ पुरुषोत्तम जाननेवाला ही 'असंमूढ' है। भगवान्‌ने इसको गुह्यतम रहस्य बतलाया है। (गीता १५। २०)

यही भगवान् निराकाररूपसे विश्वमें उसी प्रकार व्याप्त हैं जिस प्रकार सूर्यकी रश्मियाँ निराकाररूपसे जगत्‌में पसरी हुई हैं। यह दृष्टान्त पूरा भाव नहीं बतला सकता, केवल शाखाचन्द्रन्यायसे समझानेके लिये है। मतलब यह कि भगवान्‌के साकार विग्रह दिव्य और नित्य हैं और वे महान् रहस्यमय परम तत्त्व हैं। इसका यह मतलब नहीं कि निराकार तत्त्व उनसे पृथक् है या उनका अपेक्षाकृत लघु स्वरूप है। निराकार ही साकार है, साकार ही निराकार है, निराकार साकारका रश्मि-स्वरूप है, तो साकार भी निराकारका ही प्रकट अग्निकी भाँति व्यक्त स्वरूप है। एक होते हुए ही दोनों स्वरूप नित्य हैं। यद्यपि यथार्थ ज्ञानी और भक्त निराकार-साकारमें वस्तुतः कोई स्वरूपगत भेद नहीं समझते तथापि ज्ञानीको निराकार और भक्तको साकार स्वरूप ही अधिक प्रिय है। ज्ञानी भगवान्‌के निराकार-स्वरूप ब्रह्ममें मिल जाना चाहता है, और भक्त सदा-सर्वदा भगवान्‌के साकार विग्रहके चरणोंकी सेवामें ही परमानन्दका अनुभव करता है। इसीसे यह रहस्य माना जाता है कि ज्ञानी ब्रह्म बन सकता है, परंतु (साकार सगुण) भगवान् नहीं बन सकता। जहाँ वह भगवान् बनना चाहता है, वहाँ ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। उस अवस्थामें उसे साकार सगुण भगवान्‌की सेवा और लीलाके आनन्दसे वंचित होना पड़ता है, जो भक्तके लिये सबसे बड़ा दुःख है। इसीलिये भक्त इस वासना-बीजको अपने अंदर बड़ी सतर्कतासे सुरक्षित रखता है कि 'मैं कभी भगवान्‌की लीलासे अलग न रहूँ।' जन्म-जन्मान्तरकी परवा नहीं करता, कितने ही जन्म हों, किसी भी योनिमें जाना पड़े, परंतु प्यारे भगवान्‌का हृदयसे कभी बिछोह न हो, श्यामसुन्दर कभी आँखोंसे ओझल न हों, वह प्राणधन प्रियतम मोहन सदा सामने नाचता रहे, उसकी भ्रुकुटिको देखता हुआ मैं सदा अपने जीवनको उसकी रुचिके अनुकूल बिताता रहूँ। जीवन उसकी लीलाका क्रीडनक बन जाय, उसमें अपनापन कुछ रहे ही नहीं। भक्त कहते हैं—

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समंजस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥

(श्रीमद्भा० ६। ११। २५)

वरं देव मोक्षं न मोक्षावधिं वा
न चान्यं वृणेऽहं वरेशादपीह।
इदं ते वपुर्नाथ गोपालबालं
सदा मे मनस्याविरास्तां किमन्यैः॥

(पद्मपुराण)

धर्मार्थकाममोक्षेषु नेच्छा मम कदाचन।
त्वत्पादपंकजस्याधो जीवितं दीयतां मम॥
मोक्षसालोक्यसारूप्यान् प्रार्थये न धराधर।
इच्छामि हि महाभाग कारुण्यं तव सुव्रत॥

(नारदपांचरात्र)

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो
नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दौ
चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

(मुकुन्दमाला)

'भगवन्! तुम्हें छोड़कर मुझको ध्रुवलोक, इन्द्रपद, सार्वभौम-राज्य, पाताल-राज्य, योगसिद्धि और अपुनर्भव—मुक्ति आदि किसीकी भी इच्छा नहीं है। देव! आप वरदाता ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, आप सब कुछ दे सकते हैं; परंतु मैं आपसे मोक्ष या मोक्षतकका कोई भी पदार्थ लेना नहीं चाहता। नाथ! आप श्रीगोपालबालमूर्तिसे मेरे मन-मन्दिरमें सदा विराजित रहें, इसके सिवा मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। भगवन्! धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारोंमेंसे मुझे किसीकी भी इच्छा नहीं है। मेरे इस जीवनको सदा अपने चरणतलमें लुटाये रखें। हे धरणीधर! हे महाभाग! मैं सालोक्य, सारूप्यादि मोक्षकी प्रार्थना नहीं करता। हे सुव्रत! मैं तो केवल आपकी करुणा चाहता हूँ।

हे नरकान्तक! मेरा निवास स्वर्गमें हो, पृथ्वीपर हो, चाहे नरकमें हो, इसका मुझे कोई दुःख नहीं है और तो क्या, मृत्यु-समयमें भी मैं तुम्हारे शरत्कालीन अरविन्दकी अवज्ञा करनेवाले चरणारविन्दका चिन्तन करूँगा।'

इसी परम कल्याणमय वासना-बीजके कारण वह भगवान्‌की नित्य-लीलामें नित्य सम्मिलित रहता है, इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह भगवत्तत्त्वके ज्ञानसे शून्य होता है या उसे कर्मबन्धनमें बँधे रहना पड़ता है, उसका कर्मबन्धन तो उसी दिन टूट गया था, जिस दिन उसने भगवान्‌को अपने प्राण सौंप दिये थे। ज्ञानकी तो बात ही क्या है, जब ज्ञानके मूल स्रोत भगवान् स्वयं उसके बाहर-भीतर नित्य विहार करते हैं, तब ज्ञान तो उसे स्वयमेव ही प्राप्त है। ज्ञानका चरम फल मुक्ति उसके चरणोंका आश्रय पानेके लिये सदा लालायित रहती है, परंतु वह मुक्तिको पिशाचिनी समझकर उससे दूर रहता है और भक्तिको बड़े प्रेमसे सदा हृदयमें छिपाये रखता है। '**मुक्ति निरादर भगति लुभाने।**'*

भगवान्‌की नित्य-लीला

भगवान्‌की नित्य-लीलामें कभी विराम नहीं है, स्थूल जगत्‌की लीला तो हम सभी देखते हैं, परंतु दुर्भाग्यवश भ्रमसे उसको उनकी लीला न समझकर कुछ और ही समझे हुए हैं। भगवान् तो स्पष्ट इशारा करते हैं कि तुम जगत्‌का जो रूप देखते हो, वह असली नहीं है, 'ऐसा मिलेगा नहीं', '**न रूपमस्येह तथोपलभ्यते**', हो तो मिले। परंतु हम भगवान्‌की इस उक्तिपर ध्यान ही नहीं देते, और अपने मनःकल्पित स्वरूपको सत्य समझकर तुच्छ विषयोंके पीछे मारे-मारे फिरते और नित्य नया दुःख मोल लेते हैं। इस स्थूलके पीछे एक सूक्ष्म जगत्—अन्तर्जगत् है। उसमें प्रधानतया दो स्तर हैं—एकमें स्थूल विश्व-ब्रह्माण्डोंके संचालन-सूत्रोंको हाथमें लिये हुए भगवान्‌की विभिन्न अनन्त शक्तियाँ अनवरत क्रिया करती हैं, स्थूल जगत्‌के बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन इस अन्तर्जगत्‌की शक्तियोंके जरा-से यन्त्र घुमानेसे ही हो जाते हैं। यह स्तर स्थूल और अपेक्षाकृत बाह्य है, दूसरा सूक्ष्म और आभ्यन्तर स्तर है, जिसमें भगवान् अपने परिकरोंसहित नित्य-लीला करते हैं, जो संसारकी समस्त लीलाओंका आधार है और जिसमें एक-से-एक आगे अनेक स्तर हैं। भगवान्‌की परम कृपासे ही इन सारे रहस्योंका पता लगता है। सगुण साकार भगवत्-स्वरूपके अनन्य भक्त ही अन्तर्जगत्‌के इस सूक्ष्मतर स्तरमें प्रवेश कर सकते हैं और भगवत्कृपासे अधिकार-प्राप्त होकर वे आगे बढ़ते-बढ़ते एक स्तरके बाद दूसरे स्तरमें प्रवेश करते हुए अन्तमें उस सर्वोपरि परम सूक्ष्मतम स्तरमें पहुँच जाते हैं, जहाँ भगवान्‌की अत्यन्त गुह्यतम मधुर लीलाएँ होती रहती हैं, इसी सूक्ष्मतम स्तरको विशेष स्तरभेदसे श्रीरामभक्त 'साकेत', श्रीकृष्णभक्त 'गोलोक', श्रीशिवभक्त 'कैलास', परमधाम, महाकारण आदि कहते हैं। यही भगवान्‌का लौकिक-सूर्य-चन्द्रके प्रकाशसे परे, वरं इन सबको प्रकाश देनेवाले दिव्य प्रकाशसे संयुक्त नित्य दिव्यधाम है, इसकी लीलाएँ अनिर्वचनीय होती हैं।

* भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते। तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥
'जबतक भोग और मोक्षकी पिशाची इच्छा हृदयमें है, तबतक वहाँ भक्ति-सुखका अभ्युदय कैसे होगा?'

यहींकी लीलाओंका कुछ स्थूल अंश और वह भी बहुत ही थोड़े परिमाणमें—अनन्त जलनिधिके एक जलकणसे भी अल्प परिमाणमें श्रीअयोध्या, जनकपुर, चित्रकूट, पंचवटी और श्रीवृन्दावन, मथुरा और द्वारकामें उस समय प्रकट हुआ था, जिस समय स्वयं भगवान् अपने प्रिय परिकरोंसहित अयोध्यामें श्रीरामरूपमें और व्रजमें श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए थे। उनका यह नित्यविहार आज भी वहाँ होता है, भाग्यवान् जन देख पाते हैं! वस्तुतः भगवान्के अवतरणके साथ ही उनके नित्यधामका भी अवतरण होता है। उसीमें भगवान्की लीलाएँ होती हैं, इसीसे लीलाधामोंकी इतनी महिमा है!

ईश्वर-विश्वासकी आवश्यकता

जो यथार्थ ज्ञानमार्गके उपासक या सच्चे भक्त हैं, उनके लिये तो यह प्रश्न ही नहीं बन सकता कि 'ईश्वर हैं या नहीं'। उनकी दृष्टिमें यह प्रश्न पागलके प्रलापके सिवा और कुछ नहीं है। जो चराचर विश्वको भगवान्में और भगवान्को विश्वमें व्याप्त देखते हैं या जिनकी आँखोंके सामने भगवान् ललित त्रिभंग नवीन घनश्यामस्वरूपसे सदा थिरकते रहते हैं, उनके सामने ईश्वरके होने-न-होनेकी चर्चा करना उनका अपमान करना है, ईश्वरको कोई माने या न माने, इससे उनका कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं और न ईश्वरका ही कुछ बनता बिगड़ता है। उल्लूके सूर्यको न माननेसे सूर्यके अस्तित्वमें कोई बाधा नहीं पड़ती; ईश्वरके होनेकी बात तो उन लोगोंसे कहनी है जो मनुष्य होकर भी ईश्वरको भूले हुए हैं और इसके परिणामस्वरूप जो दुःखके अनन्त सागरमें डूबनेवाले हैं। भारतवर्षमें भी अनीश्वरवादी इन्द्रियाराम मनुष्य हुए थे; परंतु यहाँ इस बातका निर्णय ऋषि-मुनियोंने प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर बहुत पहले कर दिया था, लोग प्रायः मान गये थे। कुछ ही समय पूर्वतक भारतमें ऐसे आदमीका खोजनेपर मिलना कठिन था, जो ईश्वरपर अविश्वास रखता हो। श्रीआद्यशंकराचार्य-सदृश वेदान्तके महान् आचार्यसे लेकर ग्रामीण अशिक्षित किसानतक सभी स्त्री-पुरुष सरलभावसे ईश्वर और उनकी लीलाओंमें विश्वास करते थे। इसीलिये हमारे इधरके ग्रन्थोंमें ईश्वर-सिद्धिपर विशेष उल्लेख नहीं मिलता, जो कुछ मिलता है वह अधिकांश ईश्वर-प्राप्तिके साधनोंके विषयमें ही मिलता है। ईश्वरके सम्बन्धमें जब कोई शंका ही नहीं रह गयी थी, तब उसके निराकरणकी क्या आवश्यकता थी? इधर कुछ समयसे विदेशी-भाषा-भावके अत्यधिक संसर्गसे हमारी संस्कृतिमें विकृति आरम्भ हुई और उसीका यह कटु फल है कि आज भारतमें जन्मे हुए भी कुछ लोग ईश्वरको और धर्मको स्वीकार करनेमें सकुचाते हैं, अथ च विद्याबुद्धिमें अपनेको किसीसे कम नहीं मानते। यह जडता अत्यन्त ही दुष्परिणामकारिणी होगी। भगवान् सुबुद्धि दें, जिससे भारत अपने सनातन सत्य आदर्शसे च्युत न हो। आज जो दुःख-कष्टके पहाड़ टूट रहे हैं, इनका बहुत कुछ कारण भगवान्के आश्रयको भुला देना है। और जबतक भगवान्के अधिष्ठानसे शून्य सुखका प्रयत्न जारी रहेगा, तबतक सुख-शान्तिका स्वप्न कदापि सत्य नहीं हो सकता।

सब फल ईश्वर ही देता है

यदि हमें सुख-शान्तिकी अभिलाषा है तो हमारा सर्वप्रथम यही कर्तव्य होना चाहिये कि हम सर्वतोभावेन ईश्वरका आश्रय ग्रहण करें और उनके बलपर शान्तिके मार्गपर आगे बढ़ें। यह स्मरण रखना चाहिये कि सुख-शान्तिका स्रोत भगवान्के चरणोंसे ही निकलता है। हमें किसी अन्य उपायसे—साधनसे या किसी अन्य देवताकी उपासनासे—जो सुख या सुखोत्पादक भोग मिलते हैं वे भी, वहींसे आते हैं; कारण, खजाना वहीं है। और जिस पदार्थ, मनुष्य या देवतासे मनुष्य विषयोंको प्राप्त करता है, वह पदार्थ, मनुष्य या देवता भी वस्तुतः भगवान् ही है। भगवान्ने कहा है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥

(गीता ७। २०—२२)

'विषयासक्त मनुष्य विषय-भोगोंकी कामनासे ज्ञानसे रहित हो जाते हैं और विषयोंकी प्राप्तिके लिये अपने-अपने स्वभावानुसार भाँति-भाँतिके नियम धारण करते हुए अन्य देवताओंको पूजते हैं। जो भक्त देवताके रूपमें मेरे ही जिस स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उसकी मैं उसी स्वरूपमें श्रद्धा स्थिर कर देता हूँ, फिर वह मनुष्य श्रद्धाके साथ उसी देवताकी आराधना करता है

और उसीके फलसे उक्त देवस्वरूपके द्वारा उसे इच्छित वस्तुएँ मिल जाती हैं, परंतु मिलती हैं मेरे विधानके अनुसार ही यानी उतनी ही, जितनी मेरे उक्त देवस्वरूपके अधिकारमें होती हैं और जितनी प्रदान करनेका उसका अधिकार होता है।'

एक आदमी किसी जिलेके अफसरकी सेवा करके उसे प्रसन्न करता है, जिलाधीश प्रसन्न होकर उसे उतना ही पुरस्कार दे सकता है, जितना देनेका उसको सरकारसे अधिकार मिला हुआ होता है और वह देता भी है राज्यके कोषसे ही। वह जिलाधीश राजाका प्रतिनिधि राजसत्ताका एक अंग है, राज्य-शरीरका एक अवयव है, इससे उसकी पूजा प्रकारान्तरसे राज्याधीश नरेशकी ही पूजा होती है, परंतु वह एक क्षुद्र जिलेके अफसरके रूपकी होती है, इससे उसे वह फल नहीं मिल सकता, जो स्वयं राजाकी सीधी पूजासे मिल सकता है। जिलाधीशका पुजारी राजाके महलका अन्तरंग सेवक नहीं बन सकता, परंतु राजाका सेवक महलके अंदर जानेका अधिकारी हो जाता है। '**मद्भक्ता यान्ति मामपि।**' भगवान्‌ने आगे कहा भी है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

(गीता ९। २३)

'अर्जुन! श्रद्धालु भक्त जो किसी फल-सिद्धिके लिये दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी वस्तुतः मेरी ही पूजा करते हैं; क्योंकि वे देव-स्वरूप भी मेरे ही हैं, परंतु उनकी वह पूजा अविधिपूर्वक होती है।' भगवान् ही सबके आधार, संचालक, फलदाता, फलभोक्ता स्वामी हैं, इस बातको नहीं जाननेके कारण ही मनुष्य भगवान्‌को छोड़कर सुखके लिये अन्य देवताओंका एवं अन्यान्य जड उपायोंका आश्रय लेते हैं। इसीसे वे बार-बार दुःखोंमें गिरते हैं '**च्यवन्ति ते।**' देवताओंके उपासक देवलोकमें तो जा सकते हैं, परंतु ईश्वरके अस्तित्वको न मानकर जड प्रकृतिके या केवल अर्थके उपासकोंकी तो बहुत बुरी गति होती है, चाहे वह अर्थोपासना व्यक्तिगत सुखके लिये हो या जाति अथवा राष्ट्रके हितकी कामनासे हो। जहाँ ईश्वरको भुलाकर केवल अर्थ-लाभसे सुख, समृद्धि और अभ्युदयकी इच्छा और चेष्टा होगी, वहाँ पाप-पुण्य या सत्कर्म-दुष्कर्मका विचार नहीं रहेगा, व्यक्तिगत स्वार्थके लिये दूसरे व्यक्तिका और जाति या राष्ट्रके स्वार्थके लिये दूसरी जाति या राष्ट्रका सर्वनाश करनेमें कुछ हिचकिचाहट नहीं होगी, मनुष्य स्वार्थसे अंधा हो जायगा, परिणाममें उसे अन्धतम गति ही मिलेगी! आजके मनुष्यों, जातियों और राष्ट्रोंमें इसी भावका पोषण हो रहा है और इसीसे द्वेष, वैर, हिंसा और हत्याओंकी संख्या बढ़ रही है। ईश्वररहित अहिंसा या सत्य भी शीघ्र ही विकृत होकर प्रकारान्तरसे हिंसा और असत्यका रूप धारण कर लेते हैं; अभिमान, ईर्ष्या, दर्प, असहिष्णुता आदि दोष तो सद्‌गुणका बाना पहिनकर बढ़ते रहते ही हैं। भगवद्भक्तिसे शून्य केवल कुछ बाह्य आचरणोंसे सिद्धि, सुख और शान्ति नहीं मिल सकती।

दैवीसम्पत्तिकी आवश्यकता

इसका यह अर्थ नहीं कि दैवीसम्पत्तिके गुणोंकी भक्तिमें जरूरत नहीं है, प्रत्युत भक्तिकी तो कसौटी ही दैवीगुणोंका प्रादुर्भाव है। ईश्वर-भक्तमें ही दैवीगुण नहीं होंगे तो और किसमें होंगे? जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर-भक्तिमें दैवीगुणोंकी कोई आवश्यकता नहीं या कोई ईश्वर-भक्त होकर भी दैवीगुणोंसे हीन रह सकता है, वे भ्रम फैलाते हैं। यह बात वैसे ही है, जैसे कोई यह कहे कि सूर्यमें अन्धकार है, या अग्निमें दाहकता नहीं है। जहाँ यथार्थ भक्ति है, वहाँ दैवीगुण अवश्य ही रहते हैं। हाँ, ईश्वर-भक्तिके बिना केवल दैवीगुण चिरकालतक नहीं टिक सकते, किसी कारणसे कुछ आते हैं, परंतु शीघ्र ही उनका विनाश हो जाता है। जहाँ स्थायी दैवीगुण है, वहाँ भक्ति अवश्य है और जहाँ यथार्थ भक्ति है, वहाँ दैवीगुण भी अवश्य होने चाहिये।

ईश्वरवादियोंके पाप

इस बातको न माननेके कारण ही तो बड़ा अनर्थ हो गया। ईश्वरको माननेका दावा करनेवाले लोग दैवीगुणोंकी परवा न करके इस भ्रममें पड़ गये कि दैवीगुण हों या न हों, चाहे हम कितना ही पाप क्यों न करते रहें, ईश्वर-भक्तिसे हमारा सब कुछ आप ही ठीक हो जायगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि ईश्वर-भक्तिसे बड़े-से-बड़े महापातक भी आगमें सूखे ईंधनके समान तत्काल भस्म हो जाते हैं, परंतु जो भक्तिके बलपर पापोंको आश्रय देते हैं, भक्तिके सहारे पाप करते

हैं, ईश्वरके नामपर मनमाना अनाचार, अत्याचार और व्यभिचार करते हैं, उनके पाप तो वज्रलेप होते हैं। बात-बातमें ईश्वरका नाम करनेवाले लोग जब दम्भसे भर गये, मनमाना पाप करने लगे, ईश्वर-भक्तिके स्वाँगमें अनाचार होने लगा, भक्तका वेश व्यभिचारी लोगोंके कामाचारका साधन बन गया, दूसरोंपर झूठा रोब जमाकर उन्हें फुसलाकर झूठी तसल्ली या आश्वासन देकर उनसे धन ऐंठना, उनसे पूजा प्राप्त करना और उनकी बहिन-बेटियोंपर बुरी नजरोंसे देखना आरम्भ हो गया, मन्दिरों और तीर्थोंपर व्यभिचारके अड्डे बन गये, भगवान्‌की मूर्तितकके गहने पुजारियोंद्वारा ही चुराये जाने लगे, तब स्वाभाविक ही ऐसे ईश्वरवादियोंके प्रति लोगोंमें अश्रद्धा, घृणा और दुर्भावना उत्पन्न हुई और साथ ही यह भी भाव जाग्रत् हुआ कि जब ईश्वर इन लोगोंका कुछ भी नहीं करता जो उसके नामपर इतना जुल्म करते हैं, तब उस ईश्वरको माननेमें क्या लाभ है? यद्यपि लोगोंका यह निश्चय भ्रमपूर्ण है तथापि गहरा विचार न करनेपर ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है। आज जो अनीश्वरवादकी लहर बह रही है, इसमें इन भेड़की खालमें घुसे हुए भेड़ियोंने—ज्ञानी और भक्तरूपको कलंकित करनेवाले मनुष्योंने बड़ी मदद की है। यह सब हुआ और हो रहा है, परंतु वास्तवमें बात तो यह है कि ऐसे लोगोंको ईश्वरवादी मानना ही भूल है, जो ईश्वरके नामपर पाप करता है, सर्वव्यापी ईश्वरको मानकर भी पाप करते नहीं सकुचाता, छिपकर पाप करनेमें कोई संकोच नहीं करता, वह वास्तवमें ईश्वरको मानता ही कहाँ है? इनपर लोगोंके आचरणोंसे ईश्वरकी सत्तामें कोई अन्तर नहीं पड़ता और न सच्चे ईश्वरभक्तोंका ही कुछ बिगड़ता है।

हमें क्या करना चाहिये?

ईश्वरमें विश्वास होना यद्यपि बड़े सौभाग्यका विषय है, परंतु यह सौभाग्य हमलोगोंको प्राप्त करना ही पड़ेगा। सत्संग, ईश्वरविश्वासी महात्माओंकी वाणी, सत्-शास्त्रोंका अध्ययन, ईश्वर-प्रार्थना आदि उपायोंसे ईश्वरमें विश्वास बढ़ता है; इसलिये मनुष्यको बड़ी सावधानीके साथ अपने आसपास सभी प्रकारका ऐसा वातावरण रखना चाहिये जिसमें ईश्वर-विश्वास बढ़ानेवाली ही सब चीजें हों। ऐसा करनेमें यदि कोई सांसारिक हानि हो तो उसे ईश्वरका आशीर्वाद समझकर सहर्ष स्वीकार करना चाहिये; क्योंकि ईश्वरमें अविश्वास करनेसे बढ़कर अन्य कोई भी हानि नहीं है, इससे मनुष्यका जितना पतन होता है, उतना अन्य किसी बातसे नहीं होता।

नित्य नियमपूर्वक भगवान्‌में विश्वास बढ़ानेवाले ग्रन्थ पढ़ने चाहिये। भगवद्विश्वासी पुरुषोंसे यथावसर मिलनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उनके अनुभव और उनकी शिक्षाओंको सत्य समझकर श्रद्धाके साथ उनके बतलाये हुए साधनोंको कार्यान्वित करना चाहिये। ऐसा करते-करते जब भगवत्‌में विश्वास बढ़ जायगा, तब भगवत्कृपाका सूर्य उदय होकर हमारे सारे अन्धकारको दूर कर देगा, फिर हमें सर्वत्र आनन्द, सब ओर शान्ति, सबमें विज्ञानानन्दघन परमात्माका भाव दिखायी देगा। यदि और भी सौभाग्य हुआ तो सारी चेतनता, समस्त आनन्द, सम्पूर्ण प्रेम, अखिल ज्ञान और दिव्य माधुर्यकी घनमूर्ति, नव-जलधर, नवकिशोर, नटवर, ललित त्रिभंगभंगीसे मधुर-मुरलीमें सुर भरते हुए हमारे दृष्टिगोचर होंगे, उस अनन्त सौन्दर्यराशि, स्मित-हास्य, पीतवसन और वनमालाधारी, गोप-गोपिका-परिवेष्टित श्याम मूरतिको देखकर फिर कुछ भी देखना, करना-धरना शेष न रह जायगा। उस दिव्य आनन्द-रस-महोदधिमें डूबकर हम गा उठेंगे—

मुकुटके रंगनिपर इन्द्रको धनुष वारौं,
अमल कमल वारौं लोचन बिसालपर।
कुंडलकी प्रभा पै कोटिक प्रभाकर वारौं,
कोटिक मदन वारौं वदन रसालपर॥
तनके बरन पै नीरद सजल वारौं,
चपला चमकि मनमोहनकी मालपर।
चाल पै मराल वारौं, मेरो तन मन वारौं,
कहा कहा वारि डारौं नंदजूके लालपर॥

भगवान् शिव

शिव एक हैं

लोकत्रयस्थितिलयोदयकेलिकारः
कार्येण यो हरिहरद्रुहिणत्वमेति।
देवः स विश्वजनवाङ्मनसातिवृत्त-
शक्तिः शिवं दिशतु शश्वदनश्वरं वः॥

परात्पर सच्चिदानन्द परमेश्वर शिव एक हैं; वे विश्वातीत हैं और विश्वमय भी हैं। वे गुणातीत हैं और गुणमय भी हैं। वे एक ही हैं और अनेक रूप बने हुए हैं। वे जब अपने विस्ताररहित अद्वितीय स्वरूपमें स्थित रहते हैं, तब मानो यह विविध विलासमयी असंख्य रूपोंवाली विश्वरूप जादूके खेलकी जननी प्रकृतिदेवी उनमें विलीन रहती है। यही शक्तिकी शक्तिमान्‌में अक्रिय, अव्यक्त स्थिति है—शक्ति है, परंतु वह दीखती नहीं है और बाह्य क्रियारहित है। पुनः जब वही शिव अपनी शक्तिको व्यक्त और क्रियान्विता करते हैं, तब वही क्रीड़ामयी शक्ति—प्रकृति शिवको ही विविध रूपोंमें प्रकटकर उनके खेलका साधन उत्पन्न करती है। एक ही देव विविध रूप धारणकर अपने-आप ही अपने-आपसे खेलते हैं। यही विश्वका विकास है। यहाँ शिव-शक्ति दोनोंकी लीला चलती है। शक्ति क्रियान्विता होकर शक्तिमान्‌के साथ तब प्रत्यक्ष-प्रकट विलास करती है। यही परात्पर परमेश्वर शिव, महाशिव, महाविष्णु, महाशक्ति, गोकुल-विहारी श्रीकृष्ण, साकेताधिपति श्रीराम आदि नाम-रूपोंसे प्रसिद्ध हैं। सच्चिदानन्द विज्ञानानन्दघन परमात्मा शिव ही भिन्न-भिन्न सर्ग-महासर्गोंमें भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंसे अपनी परात्परताको प्रकट करते हैं। जहाँ जटाजूटधारी श्रीशिवरूप सबके आदि-उत्पन्नकर्ता और सर्वपूज्य महेश्वर उपास्य हैं तथा अन्य नाम-रूपधारी उपासक हैं, वहाँ वे शिव ही परात्पर महाशिव हैं तथा अन्यान्य देव उनसे अभिन्न होनेपर भी उन्हींके स्वरूपसे प्रकट, नाना रूपों और नामोंसे प्रसिद्ध होते हुए सत्त्व-रज-तम गुणोंको लेकर आवश्यकतानुसार कार्य करते हैं। उस महासर्गमें भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डोंमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवता भिन्न-भिन्न होनेपर भी सब उन एक ही परात्पर महाशिवके उपासक हैं। इसी प्रकार किसी सर्ग या महासर्गमें महाविष्णुरूप परात्पर होते हैं और अन्य देवता उनसे प्रकट होते हैं; किसीमें ब्रह्मारूप, किसीमें महाशक्तिरूप, किसीमें श्रीकृष्णरूप और किसीमें श्रीरामरूप परात्पर ब्रह्म होते हैं तथा अन्यान्य स्वरूप उन्हींसे प्रकट होकर उनकी उपासनाकी और उनके अधीन सृष्टि, पालन और विनाशकी विविध लीलाएँ करते हैं। इस तरह एक ही प्रभु भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होकर उपास्य-उपासक, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा, शासक-शासितरूपसे लीला करते हैं। हाँ, एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले, परात्परसे प्रकट त्रिदेव उनसे अभिन्न और पूर्ण शक्तियुक्त होते हुए भी तीनों भिन्न-भिन्न प्रकारकी क्रिया करते हैं तथा तीनोंकी शक्तियाँ भी अपने-अपने कार्यके अनुसार सीमित ही देखी जाती हैं।

यह नहीं समझना चाहिये कि परात्पर महाशिव परब्रह्मके ये सब भिन्न-भिन्न रूप काल्पनिक हैं। सभी रूप भगवान्‌के होनेके कारण नित्य, शुद्ध और दिव्य हैं। प्रकृतिके द्वारा रचे जानेवाले विश्वप्रपंचके विनाश होनेपर भी इनका विनाश नहीं होता; क्योंकि ये प्रकृतिकी सत्तासे परे स्वयं प्रभु परमात्माके स्वरूप हैं। जैसे परमात्माका निराकार रूप प्रकृतिसे परे नित्य निर्विकार है, इसी प्रकार उनके ये साकार रूप भी प्रकृतिसे परे नित्य निर्विकार हैं। अन्तर इतना ही है कि निराकार रूप कभी शक्तिको अपने अंदर इस प्रकार विलीन किये रहता है कि उसके अस्तित्वका ही पता नहीं लगता और कभी निराकार रहते हुए ही शक्तिको विकासोन्मुखी करके गुणसम्पन्न बन जाता है; परंतु साकार रूपमें शक्ति सदा ही जाग्रत्, विकसित और सेवामें नियुक्त रहती है। हाँ, कभी-कभी वह भी अन्तःपुरकी महारानीके सदृश बाहर सर्वथा अप्रकट-सी रहकर प्रभुके साथ क्रीड़ारत रहती है और कभी बाह्य लीलामें प्रकट हो जाती है, यही नित्यधामकी लीला और अवतार-लीलाका तारतम्य है।

नित्यधामके शिव-शक्ति, विष्णु-लक्ष्मी, ब्रह्मा-सावित्री, कृष्ण-राधा और राम-सीता ही समय-समयपर अवताररूपसे प्रकट होकर बाह्य लीला करते हैं। ये सब एक ही परम-तत्त्वके अनेक नित्य और दिव्य स्वरूप हैं। अवतारोंमें, कभी तो परात्पर स्वयं

अवतार लेते हैं और कभी सीमित शक्तिसे कार्य करनेवाले त्रिदेवोंमेंसे किसीका अवतार होता है। जहाँ दण्ड और मोहकी लीला होती है, वहाँ दण्डित एवं मोहित होनेवाले अवतारोंको त्रिदेवोंमेंसे, तथा दण्डदाता और मोह उत्पन्न करनेवालेको परात्पर प्रभु समझना चाहिये, जैसे नृसिंहरूपको शरभरूपके द्वारा दण्ड दिया जाना और शिवरूपका विष्णुद्वारा मोहिनीरूपसे मोहित होना आदि। कहीं-कहीं परात्परके साक्षात् अवतारमें भी ऐसी लीला देखी जाती है, परंतु उसका गूढ़ रहस्य कुछ और ही होता है जो उनकी कृपासे ही समझमें आ सकता है!

शिवके रूप कल्पना नहीं हैं

आज श्रीशिवस्वरूपकी कुछ चर्चा करके लेखनीको पवित्र करना है। कुछ लोगोंकी अनुभवहीन समझ, सूझ या कल्पना है कि भगवान् शिवका साकार स्वरूप कल्पनामात्र है। उनके एकमुख, पंचमुख, सर्पभूषित, नीलकण्ठ, मदनदहन, वृषभ, कार्तिकेय, गणेश आदि सभी काल्पनिक रूपक हैं। इसलिये इन्हें वास्तविक न मानकर रूपक ही समझना चाहिये। परंतु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। ये सभी सत्य हैं। जिन भक्तोंने भगवान् श्रीशिवकी कृपासे इन रूपों और लीलाओंको देखा है या जो आज भी भगवत्कृपासे प्राप्त साधन-बलसे देख सकते हैं अथवा देखते हैं तथा साक्षात् अनुभव करते हैं, वे ही इस तत्त्वको समझते हैं और उन्हींकी बातका वस्तुतः कुछ मूल्य है। उल्लूको सूर्य नहीं दीखता—इससे जैसे सूर्यके अस्तित्वमें कोई बाधा नहीं आती, इसी प्रकार किसीके मानने-न-माननेसे भगवत्स्वरूपका कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। हाँ, माननेवाला लाभ उठाता है और न माननेवाला हानि। एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि भगवान्‌की प्रत्येक लीला वास्तवमें इसी प्रकारकी होती है, जिससे पूरा-पूरा आध्यात्मिक रूपक भी बँध सके; क्योंकि वे जगत्‌की शिक्षाके लिये ही अपने नित्य-स्वरूपको धरातलमें प्रकट करके लीला किया करते हैं। वेद, महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण, शिवपुराण आदि सभी ग्रन्थोंमें वर्णित भगवान्‌की लीलाओंके रूपक बन सकते हैं। परंतु रूपक ठीक बैठ जानेसे ही असली स्वरूपको काल्पनिक मान लेना वैसी ही भूल है जैसी पिताके छायाचित्र (फोटो)-को देखकर उसके अस्तित्वको न मानना!

शिवपूजा

कुछ लोग कहते हैं कि शिव-पूजा अनार्योंकी चीज है, पीछेसे आर्योंमें प्रचलित हो गयी। इस कथनका आधार है वह मिथ्या कल्पना या अन्धविश्वास, जिसके बलपर यह कहा जाता है कि 'आर्य-जाति भारतवर्षमें पहलेसे नहीं बसती थी। पहले यहाँ अनार्य रहते थे। आर्य पीछेसे आये।' दो-चार विदेशी लोगोंने अटकलपच्चू ऐसा कह दिया; बस, उसीको ब्रह्मवाक्य मानकर लगे सब उन्हींका अनुकरण करने! शिव-पूजाके प्रमाण अब उस समयके भी मिल गये हैं, जिस समय इन लोगोंके मतमें आर्य-जाति यहाँ नहीं आयी थी। इसलिये इन्हें यह कहना पड़ा कि शिव-पूजा अनार्योंकी है! जो भ्रान्तिवश वेदोंके निर्माण-कालको केवल चार हजार वर्ष पूर्वका ही मानते हैं, उनके लिये ऐसा समझना स्वाभाविक है, परंतु वास्तवमें यह बात नहीं है। भारतवर्ष निश्चय ही आर्योंका मूल निवास है और शिव-पूजा अनादि कालसे ही प्रचलित है; क्योंकि सारा विश्व शिवसे ही उत्पन्न है, शिवमें स्थित है और शिवमें ही विलीन होता है। शिव ही इसको उत्पन्न करते हैं, शिव ही इसका पालन करते हैं और शिव ही संहार करते हैं। विभिन्न तीन कार्योंके लिये ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र—ये तीन नाम हैं। जब शिव अनादि हैं, तब शिवकी पूजाको परवर्ती बतलाना सरासर भूल है। परंतु क्या किया जाय? वे लोग चार-पाँच हजार वर्षसे पीछे हटना ही नहीं चाहते। उनके चारों युग इसी कालमें पूरे हो जाते हैं। उनके इतिहासकी यही सीमा है। इससे पहलेके कालको तो वे 'प्रागैतिहासिक युग' मानते हैं। मानो उस समय कुछ था ही नहीं और कहीं कुछ था तो उसको समझने, जानने या लिखनेवाला कोई नहीं था। प्राचीनताको—चारों युगोंको चार-पाँच हजार वर्षकी सीमामें बाँधकर वेद, रामायण, महाभारत, पुराण आदि समस्त ग्रन्थोंमें वर्णित घटनाओंको तथा उनके ग्रन्थोंको इसी कालके अंदर सीमित मानकर तरह-तरहकी अद्भुत अटकलोंद्वारा इधर-उधरके कुलाबे मिलाकर मनगढ़ंत बातोंका प्रचार करते हैं और इसीका नाम आज नवीन शोध या रिसर्च है। इस विचित्र रिसर्चके युगमें प्राचीनताकी बातें सुनना बेवकूफी समझा जाता है। भला, बेवकूफी कौन करे? अतः स्वयं बेवकूफीसे बचनेके लिये पूर्वजोंको बेवकूफ बनाना चाहते हैं। कुछ

लोग श्रीशिव आदिके स्वरूप और उनकी लीलाएँ तथा उनकी उपासना-पद्धतिका पूरा रहस्य न समझनेके कारण उनमें दोष देखते हैं, फिर इनके रहस्यसे सर्वथा अनभिज्ञ विद्वान् माने जानेवाले अन्यदेशीय आधुनिक शिक्षाप्राप्त प्रसिद्ध पुरुष भगवान्के इन स्वरूपों, लीलाओं तथा पूजा-पद्धतिका जब उपहास करते हैं तथा इन्हें माननेवालोंको मूर्ख बतलाते हैं, तब तो इन लोगोंको आदर्श विद्वान् समझनेवाले एतद्देशीय उपर्युक्त पुरुषोंकी दोषदृष्टि और भी बढ़ जाती है और प्रत्यक्षदर्शी तत्त्वज्ञ ऋषियोंद्वारा रचित इन ग्रन्थोंसे, इनमें वर्णित घटनाओंसे, इनके सिद्धान्तोंसे लज्जाका अनुभव करते हुए, घरमें, देशमें इन्हें कोसते हैं और बाहर अपने धर्म तथा देशको लज्जा तथा उपहाससे बचानेके लिये उन कथाओंसे नये-नये रूपकोंकी कल्पना कर विदेशी विद्वानोंकी दृष्टिमें अपने धर्म और इतिहासको तथा देवतावादको निर्दोष एवं विज्ञान-सम्मत उच्च दार्शनिक भावोंसे सम्पन्न सिद्ध करनेका प्रयत्न कर उसके असली तत्त्वको ढँक देते हैं और इस तरह तत्त्वसे सर्वथा वंचित रह जाते हैं। शास्त्ररहस्यसे अनभिज्ञ, अतत्त्वविद् आधुनिक विद्वानोंकी बुद्धिको ही सर्वांशमें आदर्श मानकर उनसे उत्तम कहे जानेके लिये भारतीय विद्वानोंने भारतीय धर्म-ग्रन्थोंमें वर्णित तत्त्व तथा इतिहासोंको एवं भगवान्की लीलाओंको, अपनी सभ्यताके और ग्रन्थोंके गौरवको बढ़ानेकी अच्छी नीयतसे भी जो सर्वथा उड़ाने तथा उनका बुरी तरह अर्थान्तर करने और उन्हें समझानेकी चेष्टा की है एवं कर रहे हैं, उसे देखकर रहस्यविद् तत्त्वज्ञ लोग हँसते हैं। साथ ही इन लोगोंकी इस प्रकारकी प्रगतिका अशुभ परिणाम सोचकर खिन्न भी होते हैं। रहस्य खुलनेपर ही पता लगता है कि हमारे शास्त्रोंमें वर्णित सभी बातें सत्य हैं और हमें लजानेवाली नहीं, वरं संसारको ऊँची-से-ऊँची शिक्षा देनेवाली हैं। परंतु इस रहस्यका उद्घाटन भगवत्कृपासे प्राप्त योग्य तत्त्वज्ञ सद्गुरुकी कृपासे ही हो सकता है। खेद है कि आजकल गुरुमुखसे ग्रन्थोंका रहस्य जाननेकी प्रणाली प्राय: नष्ट होकर अपने-आप ही अध्ययन और मनमाना अर्थ करनेकी प्रथा चल पड़ी है, जिससे रहस्य-मन्दिरके दरवाजेपर ताले-पर-ताले लगते जा रहे हैं। पता नहीं, इसके परिणामस्वरूप हमारा जीवन कितना बहिर्मुख और जड-भावापन्न हो जायगा।

शिव तामसी देवता नहीं हैं

इनके अतिरिक्त कुछ लोग भगवान् शिवको मानते तो हैं, किंतु उन्हें तामसी देव मानकर उनकी उपासना करनेमें दोष समझते हैं। वास्तवमें यह उनका भ्रम है, जो बाह्य दृष्टिवाले साम्प्रदायिक आग्रही मनुष्योंका पैदा किया हुआ है। जिन भगवान् शिवका गुणगान वेदों, उपनिषदों और वैष्णव कहे जानेवाले पुराणोंमें भी गाया गया है, उन्हें तामसी बतलाना अपने तमोगुणी होनेका ही परिचय देना है। परात्पर महाशिव तो सर्वथा गुणातीत हैं, वहाँ तो गुणोंकी क्रिया ही नहीं है। जिस गुणातीत, नित्य, दिव्य, साकार चैतन्य रसविग्रह-स्वरूपमें क्रिया है, उसमें भी गुणोंका खेल नहीं है। भगवान्की दिव्य प्रकृति ही वहाँ क्रिया करती है और जिन त्रिदेव-मूर्तियोंमें सत्त्व, रज और तमकी लीलाएँ होती हैं, उनमें भी उनका स्वरूप गुणोंकी क्रियाके अनुसार नहीं है। भिन्न-भिन्न क्रियाओंके कारण सत्त्व, रज, तमका आरोप है। वस्तुत: ये तीनों दिव्य चेतन-विग्रह भी गुणातीत ही हैं।

शिव मोक्षदाता हैं

कुछ लोग भगवान् शंकरपर श्रद्धा रखते हैं, उन्हें परमेश्वर मानते हैं, परंतु मुक्तिदाता न मानकर लौकिक फलदाता ही समझते हैं और प्राय: लौकिक कामनाओंकी सिद्धिके लिये ही उनकी भक्ति या पूजा करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि परम उदार आशुतोष, भगवान् सदाशिवमें दयाकी लीलाका विशेष प्रकाश होनेके कारण वे भक्तोंको मनमानी वस्तु देनेके लिये सदा ही तैयार रहते हैं, परंतु इससे इन्हें मुक्तिदाता न समझना बड़ा भारी प्रमाद है। जब भगवान् शिवके स्वरूपका तत्त्वज्ञान ही मुक्तिका नामान्तर है, तब उन्हें मुक्तिदाता न मानना सिवा भ्रमके और क्या हो सकता है? वास्तवमें लौकिक कामनाओंने हमारे ज्ञानको हर लिया है, इसीलिये हम अपने अज्ञानका परमज्ञानस्वरूप शिवपर आरोप करके उनकी शक्तिको लौकिक कामनाओंकी पूर्तितक ही सीमित मान लेते हैं और शिवकी पूजा करके भी अपनी मूर्खतावश परम लाभसे वंचित रह जाते हैं। भगवान् शिव शुद्ध, सनातन, विज्ञानानन्दघन परब्रह्म हैं, उनकी उपासना परम लाभके लिये ही या उनका पुनीत प्रेम प्राप्त करनेके लिये ही करनी चाहिये। सांसारिक हानि-लाभ प्रारब्धवश होते रहते हैं, इनके लिये चिन्ता

करनेकी आवश्यकता नहीं। शंकरकी शरण लेनेसे कर्म शुभ और निष्काम हो जायँगे, जिससे आप ही सांसारिक कष्टोंका नाश हो जायगा और पूर्वकृत कर्मोंके शेष रहनेतक कष्ट होते भी रहें तो क्या आपत्ति है। उनके लिये न तो चिन्ता करनी चाहिये और न भगवान् शंकरसे उनके नाशार्थ प्रार्थना ही करनी चाहिये। नाम-रूपसे सम्बन्ध रखनेवाले, आने-जानेवाले सुख-दुःखोंकी भक्त क्यों परवा करने लगा? लौकिक सुखका सर्वथा नाश होकर महान् विपत्ति पड़नेपर भी यदि भगवान्का भजन होता रहे तो भक्त उस विपत्तिको परम सम्पत्ति मानता है, परंतु उस सम्पत्ति और सुखका वह मुँह भी नहीं देखना चाहता जो भगवान्के भजनको भुला देते हैं। भजन बिना जीवन, धन, परिवार, यश, ऐश्वर्य—सभी उसको विषवत् भासते हैं। भक्तको तो सर्वथा देवी पार्वतीकी भाँति अनन्य प्रेमभावसे भगवान् शिवकी उपासना ही करनी चाहिये। एक बात बहुत ध्यानमें रखनेकी है, भगवान् शिवके उपासकमें जगत्के भोगोंके प्रति वैराग्य अवश्य होना चाहिये। यह निश्चित सिद्धान्त है कि विषय-भोगोंमें जिनका चित्त आसक्त है, वे परमपदके अधिकारी नहीं हो सकते और उनका पतन ही होता है। ऐन्द्रिय विषयोंको प्राप्त करके अथवा विषयोंसे भरपूर जीवनमें रहकर उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहना जनक-सरीखे इने-गिने पूर्वाभ्यास-सम्पन्न पुरुषोंका ही कार्य है। अनुभव तो यह है कि विषयोंके संग तो क्या, उनके चिन्तनमात्रसे मनमें विकार उत्पन्न हो जाते हैं। भगवान् भोलेनाथ विषय माँगनेवालेको विषय और मोक्ष माँगनेवालेको मोक्ष दे देते हैं और प्रेमका भिखारी उनके प्रेमको प्राप्तकर धन्य होता है। वे कल्पवृक्ष हैं। मुँहमाँगा वरदान देनेवाले हैं। यदि उपासकने उनसे विषय माँगा तो वे विषय दे देंगे, परंतु विषय उसके लिये विषका कार्य करेगा और अन्तमें दुःखदायी होगा। कामनासे घिरे हुए विषयपरायण मूढ़ पुरुष ही असुर हैं। ऐसे असुरोंके अनेकों दृष्टान्त प्राप्त होते हैं, जिन्होंने भगवान् शिवजीकी उपासना करके उनसे विषय माँग लिये और जो यथार्थ लाभसे वंचित रह गये। अतएव भगवान् शिवके उपासकको जगत्के विषयोंकी आसक्ति छोड़कर यथार्थ वैराग्यसम्पन्न होकर परमवस्तुकी चाहना करनी चाहिये, जिससे यथार्थ कल्याण हो। याद रखना चाहिये कि शिव स्वयं कल्याणस्वरूप ही हैं, इससे उनकी उपासनासे उपासकका कल्याण बहुत ही शीघ्र हो जाता है। केवल विश्वास करके लग जानेमात्रकी देर है। भगवान्के दूसरे स्वरूप बहुत छान-बीनके अनन्तर फल देते हैं, परंतु औढरदानी शिव तत्काल फल दे देते हैं।

औढरदानी या आशुतोषका यह अर्थ नहीं करना चाहिये कि विज्ञानानन्दघन शिवस्वरूपमें बुद्धि या विवेककी कमी है। ऐसा मानना तो प्रकारान्तरसे उनका अपमान करना है। बुद्धि या विवेकके उद्गम-स्थान ही भगवान् शिव हैं। उन्हींसे बुद्धि प्राप्तकर समस्त देव, ऋषि, मनुष्य अपने-अपने कार्योंमें लगे रहते हैं। अलग-अलग रूपोंमें कुछ अपनी-अपनी विशेषताएँ रहती हैं। शंकररूपमें यही विशेषता है कि वे बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं और भक्तोंकी मनःकामना-पूर्तिके समय भोले-से बन जाते हैं। परंतु संहारका मौका आता है तब रुद्ररूप बनते भी उन्हें देर नहीं लगती।

शिवरूपका रहस्य गहन है

भगवान् शंकरको भोलानाथ मानकर ही लोग उन्हें गँजेड़ी, भँगेड़ी, नशेबाज और बावला समझकर उनका उपहास करते हैं। विनोदसे भक्त सब कुछ कर सकते हैं और भक्तका आरोप भगवान् स्वीकार भी कर ही लेते हैं। परंतु जो वस्तुतः शिवको पागल, श्मशानवासी औघड़, नशेबाज आदि समझते हैं, वे गहरी भूलमें हैं। शंकरका श्मशाननिवास, उनकी उन्मत्तता, उनका विष-पान, उनका सर्वांगीपन आदि बहुत गहरे रहस्यको लिये हुए हैं, जिसे श्रीशिवकी कृपासे शिव-भक्त ही समझ सकते हैं। जैसे व्यभिचारप्रिय लोग भगवान् श्रीकृष्णकी रासलीलाको व्यभिचारका रूप देकर प्रकारान्तरसे अपने पापमय व्यभिचार-दोषका समर्थन करते हैं, इसी प्रकार सदाचारहीन, अवैदिक क्रियाओंमें रत नशेबाज मनुष्य शिवके अनुकरणका ढोंग रचकर अपने दोषोंका समर्थन करना चाहते हैं। वस्तुतः शिवभक्तको सदाचारपरायण रहकर गाँजा, भाँग, मतवालापन, अपवित्र वस्तुओंके सेवन, अपवित्र आचरण आदिसे सदा बचते रहना चाहिये—यही शंकरका आदेश है।

कल्याणरूप शिव

भगवान् शिवको परात्पर मानकर सेवन करनेवालेके लिये तो वे परमब्रह्म हैं ही। अन्यान्य भगवत्-स्वरूपोंके उपासकोंके लिये, जो शिवस्वरूपको परमब्रह्म नहीं मानते, भगवान् शिव मार्गदर्शक परमगुरु अवश्य हैं।

भगवान् विष्णुके भक्तके लिये भी सद्गुरुरूपसे शिवकी उपासना आवश्यक है। वैष्णवग्रन्थोंमें इसका यथेष्ट उल्लेख है और साधकोंके अनुभव भी प्रमाण हैं। शक्तिके उपासक शक्तिमान् शिवको छोड़ ही कैसे सकते हैं? शिव बिना शक्ति अकेली क्या करेगी? गणेश और कार्तिकेय तो शिवके पुत्र ही हैं। पुत्रको पूजे और पिताका अपमान करे, यह शिष्ट मर्यादा कभी नहीं हो सकती। सूर्यदेव तो भगवान् शिवके तेजोलिंगके ही नामान्तर हैं। इसके सिवा अन्यान्य मतावलम्बियोंके लिये भी कम-से-कम श्रद्धा-विश्वासरूप शक्ति-शिवकी आवश्यकता रहती ही है। योगियोंके लिये तो परमयोगीश्वर शिवकी आराधनाकी आवश्यकता है ही। ज्ञानके साधक परमकल्याणरूप शिवकी ही प्राप्ति चाहते हैं। न्याय, वैशेषिक आदि दर्शन भी शिवविद्याके ही प्रचारक हैं। तन्त्र तो शिवोपासनाके लिये ही बना है। ऐसी अवस्थामें जिस किसी भी दृष्टिसे शिवको परम परमात्मा, महाज्ञानी, महान् विद्वान्, योगीश्वर, देवदेव, जगद्गुरु, सद्गुरु, महान् उपदेशक, उत्पादक, संहारक—कुछ भी मानकर उनकी उपासना करना सबके लिये कर्तव्य है। और सुख—कल्याणकी इच्छा स्वाभाविक होनेके कारण प्रत्येक जीव कल्याणरूप शिवकी ही उपासना करता है।

लिंग-शब्दका अर्थ

कुछ लोग भगवान् शिवकी लिंगपूजामें अश्लीलताकी कल्पना करते हैं, यह वास्तवमें उनकी मूर्खता, नास्तिकता और अनभिज्ञता ही है। यह सत्य है कि लिंग-शब्दके अनेक अर्थोंमें लोकप्रसिद्ध अर्थ अश्लील है, परंतु वैदिक शब्दोंका यौगिक अर्थ लेना ही समीचीन है। यौगिक अर्थमें कोई अश्लीलता नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि अश्लीलता प्रसंगसे ही आती है। विषयात्मक वर्णनमें भी जो अश्लील या अनुचित प्रतीत होता है, वही वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक वर्णनोंमें श्लील तथा सर्वथा समुचित हो जाता है।

लिंग-शब्दका साधारण अर्थ चिह्न या लक्षण है। सांख्यदर्शनमें प्रकृतिको, प्रकृतिसे विकृतिको भी लिंग कहते हैं। देव-चिह्नके अर्थमें लिंग-शब्द भगवान् शंकरकी लिंगमूर्तिके ही लिये आता है। अन्य देवप्रतिमाओंको मूर्ति कहते हैं। यह असलमें अरूपका चिह्न है। दूसरोंका आकार मूर्तिमान्के ध्यानके अनुसार होता है, परंतु इसमें आकार या रूपका प्रदर्शन नहीं है। यह चिह्नमात्र है। कोई-कोई इसे परमात्माकी दिव्य ज्योतिका द्योतक स्वरूप मानते हैं, इसीलिये ज्योतिर्लिंग भी नाम है। एक जगह **'लयनाल्लिंगमुच्यते'** कहा है अर्थात् लय या प्रलय होता है उसे लिंग कहते हैं। भगवान् रुद्र ही प्रलय करते हैं, संहारके देवता वही हैं। प्रलयके समय सब कुछ उनमें—शिवलिंगमें समा जाता है और फिर सृष्टिके आदिमें पुनः लिंगसे ही सब कुछ प्रकट होता है। इसलिये लयसे लिंग-शब्दका उदय माना गया है। उसीसे लय या प्रलय होता है और उसीमें सम्पूर्ण विश्वका लय होता है। भगवान् शंकर निर्विकार हैं, इसलिये चिह्नमात्र ही उनका स्वरूप है। भगवान् शिवका कारण स्वरूप निराकार है, अतः शिवलिंग भी किसी विशेष आकृतिसे रहित है, जैसे शालग्राम शिला है। साथ ही सारे जगत्के कर्ता, विधाता, उत्पत्ति-स्थल भी भगवान् शिव ही हैं। देवीपीठ तथा शिवलिंगसे इस सिद्धान्तकी भी सूचना होती है। लिंगका एक अर्थ है 'कारण।' भगवान् शिव समस्त जगत्के कारण हैं, अतः कारणवाचक लिंगके नामसे उनका पूजन होता है। अतः इसमें अश्लीलताकी कल्पना किसी भी दृष्टिसे कदापि नहीं करनी चाहिये और भगवान् शंकरकी भक्तिभावसे शास्त्रानुमोदित पूजा-अर्चा करनी चाहिये।

शिवनिर्माल्य

भगवान् शंकरपर चढ़ायी हुई वस्तु ग्रहण करनी चाहिये या नहीं, इस सम्बन्धमें तरह-तरहकी बातें कही जाती हैं। सिद्धान्त यह है कि जिन पुरुषोंने शिव-मन्त्रकी दीक्षा ली है, उनके लिये तो शिवजीका नैवेद्य—प्रसाद भक्षण करनेकी विधि है, परंतु जिनके अन्य देवताकी दीक्षा है, उनके लिये निषेध है। शास्त्रमें कहा गया है कि शिवजीपर जो निर्माल्य या नैवेद्य चढ़ता है, वह चण्डेश्वरका भाग है, उसका ग्रहण किसीको नहीं करना चाहिये—**'चण्डाधिकारो यत्रास्ति तद्भोक्तव्यं न मानवैः'** (शिवपुराण-विद्येश्वरसंहिता २२। १६) अर्थात् 'जहाँ चण्डका अधिकार है वहाँ मनुष्यको शिव-नैवेद्यका भक्षण नहीं करना चाहिये।' परंतु वहीं इसी श्लोकमें यह भी कहा है कि जिसमें चण्डका अधिकार नहीं है, उसका भक्तिपूर्वक भक्षण करना चाहिये—**'चण्डाधिकारो नो यत्र भोक्तव्यं तच्च भक्तितः।'** शास्त्रोंमें यह निर्णय किया गया है कि भूमि, वस्त्र, भूषण, सोना,

चाँदी, ताँबा आदिको छोड़कर श्रीशिवजीपर चढ़े हुए पुष्प, फल, मिष्ठान्न, जल—इन सबको, जो शिवदीक्षासे रहित हैं, उनको ग्रहण नहीं करना चाहिये। पर ये भी यदि शालग्रामजीसे स्पर्श हो जायँ तो ग्रहणके योग्य हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ शालग्राम-शिलाकी उत्पत्ति होती है—वहाँ उत्पन्न लिंगमें, पारेके लिंगमें, पाषाण, चाँदी या सोनेसे बने हुए लिंगमें, देवता तथा सिद्धोंके द्वारा स्थापित लिंगमें, स्फटिक या रत्ननिर्मित लिंगमें, केसरसे बने हुए लिंगमें तथा सोमनाथ, मल्लिकार्जुन, महाकाल, परमेश्वर, केदारनाथ, भीमशंकर, विश्वनाथ, त्र्यम्बक, वैद्यनाथ, नागेश, रामेश्वर और घुश्मेश्वर—इन बारह ज्योतिर्लिंगोंमें चढ़ा हुआ शिव-नैवेद्य ग्रहण करनेयोग्य होता है। जिनको शैवी दीक्षा नहीं है, वे भी उपर्युक्त लिंगोंके नैवेद्यको ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि इन लिंगोंके निर्माल्यमें चण्डका अधिकार नहीं है।

सारांश यह है कि जिनको शिवदीक्षा नहीं है, परंतु जो शिवजीके भक्त हैं उनके लिये पार्थिव लिंगको छोड़कर सभी शिवलिंगोंपर निवेदित की हुई वस्तुओंको तथा शिवजीकी प्रतिमापर चढ़ाये हुए प्रसादको ग्रहण करनेका अधिकार है। और जो वस्तुएँ शिवलिंगका स्पर्श नहीं करतीं अलग रखकर शिवजीको निवेदन की जाती हैं, वे अत्यन्त पवित्र हैं, उन्हें भी ग्रहण करनेका अधिकार है। शिवजीकी पूजामें नारी तथा शूद्र सभीका अधिकार है, उन्हें केवल वैदिक पूजा नहीं करनी चाहिये।*

भगवती शक्ति

सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वमय, समस्त-गुणाधार, निर्विकार, नित्य, निरंजन, सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता, संहारकर्ता, विज्ञानानन्दघन, सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं। वे एक ही अनेक भावों और अनेक रूपोंमें लीला करते हैं। हम अपने समझनेके लिये मोटे रूपसे उनके आठ रूपोंका भेद कर सकते हैं। १—नित्य, विज्ञानानन्दघन, निर्गुण, निराकार, मायारहित, एकरस ब्रह्म; २—सगुण, सनातन, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, अव्यक्त निराकार परमात्मा; ३—सृष्टिकर्ता प्रजापति ब्रह्मा; ४—पालनकर्ता भगवान् विष्णु; ५—संहारकर्ता भगवान् रुद्र; ६—श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीदुर्गा, काली आदि साकार रूपोंमें अवतरित रूप; ७—असंख्य जीवात्मारूपसे विभिन्न जीवशरीरोंमें व्याप्त और ८—विश्वब्रह्माण्डरूप विराट्। ये आठों रूप एक ही परमात्माके हैं। इन्हीं समग्ररूप प्रभुको रुचिवैचित्र्यके कारण संसारमें लोग ब्रह्म, सदाशिव, महाविष्णु, ब्रह्मा, महाशक्ति, राम, कृष्ण, गणेश, सूर्य, अल्लाह, गॉड, प्रकृति आदि भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंमें विभिन्न प्रकारसे पूजते हैं। वे सच्चिदानन्दघन अनिर्वचनीय प्रभु एक ही हैं, लीलाभेदसे उनके नामरूपोंमें भेद है और इसी भेदभावके कारण उपासनामें भेद है। यद्यपि उपासकको अपने इष्टदेवके नाम-रूपमें ही अनन्यता रखनी चाहिये तथा उसीकी पूजा शास्त्रोक्त पूजन-पद्धतिके अनुसार करनी चाहिये, परंतु इतना निरन्तर स्मरण रखना चाहिये कि शेष सभी रूप और नाम भी उसीके इष्टदेवके हैं। उसीके प्रभु इतने विभिन्न नाम-रूपोंमें समस्त विश्वके द्वारा पूजित होते हैं। उनके अतिरिक्त अन्य कोई है ही नहीं। तमाम जगत्में वस्तुतः एक वही फैले हुए हैं। जो विष्णुको पूजता है, वह अपने-आप ही शिव, ब्रह्मा, राम, कृष्ण आदिको पूजता है और जो राम, कृष्णको पूजता है वह ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदिको। एकको पूजासे स्वाभाविक ही सभीकी पूजा हो जाती है; क्योंकि एक ही सब बने हुए हैं। परंतु जो किसी एक रूपसे अन्य समस्त रूपोंको अलग मानकर औरोंकी अवज्ञा करके केवल अपने

* पुराणप्रसिद्ध शिवलिंग तथा प्राचीन शिवलिंगके पूजनका अधिकार स्त्री-शूद्र सभीको है। 'शिवसर्वस्व' में कहा है—

यस्तु पूजयते लिंगं देवादिं मां जगत्पतिम्। ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा मत्परायणः॥

तस्य प्रीतः प्रदास्यामि शुभाँल्लोकाननुत्तमान्।

स्कन्दपुराणमें है—नमोऽन्तेन शिवेनैव स्त्रीणां पूजा विधीयते।

स्त्री 'शिवाय नमः' इस मन्त्रसे ही पूजा करे।

हाँ, स्त्री-शूद्रोंके अतिरिक्त अन्य किसीके द्वारा कोई नया शिवलिंग स्थापित किया गया हो तो उसकी पूजाका अधिकार स्त्री-शूद्रको नहीं है।

इष्ट एक ही रूपको अपनी ही सीमामें आबद्ध रखकर पूजता है, वह अपने परमेश्वरको छोटा बना लेता है, उनको सर्वेश्वरत्वके आसनसे नीचे उतारता है। इसलिये उसकी पूजा सर्वोपरि सर्वमय भगवान्‌की न होकर एकदेशनिवासी स्वल्प देवविशेषकी होती है और उसे वैसा ही उसका अल्प फल भी मिलता है। अतएव पूजो एक ही रूपको, परंतु शेष सब रूपोंको समझो उसी एकके वैसे ही शक्तिसम्पन्न अनेक रूप!

परिणामवाद

असलमें वह एक महाशक्ति ही परमात्मा हैं जो विभिन्न रूपोंमें विविध लीलाएँ करती हैं। परमात्माके पुरुषवाचक सभी स्वरूप इन्हीं अनादि, अविनाशिनी, अनिर्वचनीया, सर्वशक्तिमयी, परमेश्वरी आद्या महाशक्तिके ही हैं। यही महाशक्ति अपनी मायाशक्तिको जब अपने अन्दर छिपाये रखती हैं, उससे कोई क्रिया नहीं करतीं, तब निष्क्रिय, शुद्धब्रह्म कहलाती हैं। यही जब उसे विकासोन्मुख करके एकसे अनेक होनेका संकल्प करती हैं, तब स्वयं ही पुरुषरूपसे मानो अपनी ही प्रकृतिरूप योनिमें संकल्पद्वारा चेतनरूप बीज स्थापन करके सगुण, निराकार परमात्मा बन जाती हैं। इसीकी अपनी शक्तिसे गर्भाशयमें वीर्यस्थापनसे होनेवाले विकारकी भाँति उस प्रकृतिमें क्रमशः सात विकृतियाँ होती हैं (महत्तत्त्व—समष्टि बुद्धि, अहंकार और सूक्ष्म पंचतन्मात्राएँ—मूल प्रकृतिके विकार होनेसे इन्हें विकृति कहते हैं; परंतु इनसे अन्य सोलह विकारोंकी उत्पत्ति होनेके कारण इन सातोंके समुदायको विकृति भी कहते हैं) फिर अहंकारसे मन और दस (ज्ञान-कर्मरूप) इन्द्रियाँ और पंचतन्मात्रासे पंचमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। (इसीलिये इन दोनोंके समुदायका नाम प्रकृति-विकृति है। मूल प्रकृतिके सात विकार, सप्तधा विकाररूपा प्रकृतिसे उत्पन्न सोलह विकार और स्वयं मूल-प्रकृति—ये कुल मिलाकर चौबीस तत्त्व हैं) यों वह महाशक्ति ही अपनी प्रकृतिसहित चौबीस तत्त्वोंके रूपमें यह स्थूल संसार बन जाती हैं और जीवरूपसे स्वयं पचीसवें तत्त्वरूपमें प्रविष्ट होकर खेल खेलती हैं। चेतन परमात्मरूपिणी महाशक्तिके बिना जड प्रकृतिसे यह सारा कार्य कदापि सम्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार महाशक्ति विश्वरूप विराट् पुरुष बनती हैं और इस सृष्टिके निर्माणमें स्थूल निर्माता प्रजापतिके रूपमें आप ही अंशावतारके भावसे ब्रह्मा और पालनकर्ताके रूपमें विष्णु और संहारकर्ताके रूपमें रुद्र बन जाती हैं और ये ब्रह्मा, विष्णु, शिवप्रभृति अंशावतार भी किसी कल्पमें दुर्गारूपसे होते हैं, किसीमें महाविष्णुरूपसे, किसीमें महाशिवरूपसे, किसीमें श्रीरामरूपसे और किसीमें श्रीकृष्णरूपसे। एक ही शक्ति विभिन्न नाम-रूपोंसे सृष्टि-रचना करती हैं। इस विभिन्नताका कारण और रहस्य भी उन्हींको ज्ञात है। यों अनन्त ब्राह्माण्डोंमें महाशक्ति असंख्य ब्रह्मा, विष्णु, महेश बनी हुई हैं और अपनी योगमायासे अपनेको आवृतकर आप ही जीवसंज्ञाको प्राप्त हैं। ईश्वर, जीव, जगत् तीनों आप ही हैं। भोक्ता, भोग्य और भोग तीनों आप ही हैं। इन तीनोंको अपनेहीसे निर्माण करनेवाली, तीनोंमें व्याप्त रहनेवाली भी आप ही हैं।

परमात्मरूपा यह महाशक्ति स्वयं अपरिणामिनी हैं, परंतु इन्हींकी मायाशक्तिसे सारे परिणाम होते हैं। यह स्वभावसे ही सत्ता देकर अपनी मायाशक्तिको क्रीडाशीला अर्थात् क्रियाशीला बनाती हैं, इसलिये इनके शुद्ध विज्ञानानन्दघन नित्य अविनाशी एकरस परमात्मरूपमें कदापि कोई परिवर्तन न होनेपर भी इनमें परिणाम दीखता है; क्योंकि इनकी अपनी शक्ति मायाका विकसित स्वरूप नित्य क्रीडामय होनेके कारण सदा बदलता ही रहता है और वह मायाशक्ति सदा इन महाशक्तिसे अभिन्न रहती है। वह महाशक्तिकी ही स्व-शक्ति है और शक्तिमान्‌से शक्ति कभी पृथक् नहीं हो सकती, चाहे वह पृथक् दीखे भले ही, अतएव शक्तिका परिणाम स्वयमेव ही शक्तिमान्‌पर आरोपित हो जाता है, इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म या महाशक्तिमें परिणामवाद सिद्ध होता है।

मायावाद

और चूँकी संसाररूपसे व्यक्त होनेवाली यह समस्त क्रीडा महाशक्तिकी अपनी शक्ति—मायाका ही खेल है और मायाशक्ति उनसे अलग नहीं, इसलिये यह सारा उन्हींका ऐश्वर्य है। उनको छोड़कर जगत्‌में और कोई वस्तु ही नहीं; दृश्य, द्रष्टा और दर्शन—तीनों वह आप ही हैं, अतएव जगत्‌को मायिक बतलानेवाला मायावाद भी इस हिसाबसे ठीक ही है।

आभासवाद

इसी प्रकार महाशक्ति ही अपने मायारूपी दर्पणमें अपने विविध शृंगारों और भावोंको देखकर जीवरूपसे

आप ही मोहित होती हैं। इससे आभासवाद भी सत्य है।

माया अनादि और सान्त है

परमात्मरूप महाशक्तिकी उपर्युक्त मायाशक्तिको अनादि और सान्त कहते हैं। सो उसका अनादि होना तो ठीक ही है; क्योंकि वह शक्तिमयी महाशक्तिकी अपनी शक्ति होनेसे उसीकी भाँति अनादि है, परंतु शक्तिमयी महाशक्ति तो नित्य अविनाशिनी है, फिर उसकी शक्ति माया अन्तवाली कैसे होगी? इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें वह अन्तवाली नहीं है। अनादि, अनन्त, नित्य,अविनाशी परमात्मरूपा महाशक्तिकी भाँति उसकी शक्तिका भी कभी विनाश नहीं हो सकता, परंतु जिस समय वह कार्यकरण-विस्ताररूप समस्त संसारसहित महाशक्तिके सनातन अव्यक्त परमात्मरूपमें लीन रहती है, क्रियाहीना रहती है, तबतकके लिये वह अदृश्य या सान्त हो जाती है और इसीसे उसे सान्त कहते हैं। इस दृष्टिसे उसको सान्त कहना सत्य ही है।

मायाशक्ति अनिर्वचनीय है

कोई-कोई परमात्मरूपा महाशक्तिकी इस मायाशक्तिको अनिर्वचनीय कहते हैं, सो भी ठीक ही है; क्योंकि यह शक्ति उस सर्वशक्तिमती महाशक्तिकी अपनी ही तो शक्ति है। जब वह अनिर्वचनीय है, तब उसकी अपनी शक्ति अनिर्वचनीय क्यों न होगी?

मायाशक्ति और महाशक्ति

कोई-कोई कहते हैं कि इस मायाशक्तिका ही नाम महाशक्ति, प्रकृति, विद्या, अविद्या, ज्ञान, अज्ञान आदि है, महाशक्ति पृथक् वस्तु नहीं है। सो उनका यह कथन भी एक दृष्टिसे सत्य ही है; क्योंकि मायाशक्ति परमात्मरूपा महाशक्तिकी ही शक्ति है और वही जीवोंके बाँधनेके लिये अज्ञान या अविद्यारूपसे और उनकी बन्धन-मुक्तिके लिये ज्ञान या विद्यारूपसे अपना स्वरूप प्रकट करती है, तब इनसे भिन्न कैसे रही? हाँ, जो मायाशक्तिको ही शक्ति मानते हैं और महाशक्तिका कोई अस्तित्व ही नहीं मानते वे तो मायाके अधिष्ठान ब्रह्मको ही अस्वीकार करते हैं, इसलिये वे अवश्य ही मायाके चक्करमें पड़े हुए हैं।

निर्गुण और सगुण

कोई इस परमात्मरूपा महाशक्तिको निर्गुण कहते हैं और कोई सगुण। ये दोनों बातें भी ठीक हैं, क्योंकि उस एकके ही तो ये दो नाम हैं। जब मायाशक्ति क्रियाशीला रहती है, तब उसका अधिष्ठान महाशक्ति सगुण कहलाती हैं और जब वह महाशक्तिमें मिली रहती है, तब महाशक्ति निर्गुण हैं। इन अनिर्वचनीया परमात्मरूपा महाशक्तिमें परस्परविरोधी गुणोंका नित्य सामंजस्य है। वे जिस समय निर्गुण हैं, उस समय भी उनमें गुणमयी मायाशक्ति छिपी हुई मौजूद है और जब वे सगुण कहलाती हैं उस समय भी वे गुणमयी मायाशक्तिकी अधीश्वरी और सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होनेसे वस्तुतः निर्गुण ही हैं। अथवा स्व-स्वरूपमय अचिन्त्य अनन्त दिव्य गुणोंसे नित्य विभूषित होनेसे वे सगुण हैं और ये दिव्य गुण उनके स्वरूपसे अभिन्न होनेके कारण वही वस्तुतः निर्गुण भी हैं, तात्पर्य कि उनमें निर्गुण और सगुण दोनों लक्षण सभी समय वर्तमान हैं। जो जिस भावसे उन्हें देखता है, उसको उनका वैसा ही रूप भान होता है। असलमें वे कैसी हैं, क्या हैं, इस बातको वही जानती हैं।

शक्ति और शक्तिमान्

कोई-कोई कहते हैं कि शुद्ध ब्रह्ममें मायाशक्ति नहीं रह सकती, माया रही तो वह शुद्ध कैसे? बात समझनेकी है। शक्ति कभी शक्तिमान्से पृथक् नहीं रह सकती। यदि शक्ति नहीं है तो उसका शक्तिमान् नाम नहीं हो सकता और शक्तिमान् न हो तो शक्ति रहे कहाँ? अतएव शक्ति सदा ही शक्तिमान्में रहती है। शक्ति नहीं होती तो सृष्टिके समय शुद्ध ब्रह्ममें एकसे अनेक होनेका संकल्प कहाँसे और कैसे होता? इसपर कोई यदि यह कहे कि 'जिस समय संकल्प हुआ, उस समय शक्ति आ गयी, पहले नहीं थी।' 'अच्छी बात है; पर बताओ, वह शक्ति कहाँसे आ गयी? ब्रह्मके सिवा कहाँ जगह थी जहाँ वह अबतक छिपी बैठी थी? इसका क्या उत्तर है?' 'अजी, ब्रह्ममें कभी संकल्प ही नहीं हुआ, यह सब असत् कल्पनाएँ हैं, मिथ्या स्वप्नकी-सी बातें हैं।' 'अच्छी बात है, पर यह मिथ्या कल्पनाएँ किसने किस शक्तिसे कीं और मिथ्या स्वप्नको किसने किस सामर्थ्यसे देखा? और मान भी लिया जाय कि यह सब मिथ्या है तो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि शुद्ध ब्रह्मका अस्तित्व किससे है? जिससे वह अस्तित्व है वही उसकी शक्ति है। क्या जीवनीशक्ति बिना भी कोई जीवित रह सकता है? अवश्य ही ब्रह्मकी वह जीवनीशक्ति ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। वही जीवनीशक्ति

अन्यान्य समस्त शक्तियोंकी जननी हैं, वही परमात्मरूपा महाशक्ति हैं। अन्यान्य सारी शक्तियाँ अव्यक्तरूपसे उन्हींमें छिपी रहती हैं—और जब वे चाहती हैं तब उनको प्रकट करके काम लेती हैं। हनुमान्में समुद्र लाँघनेकी शक्ति थी, पर वह अव्यक्त थी, जाम्बवान्के याद दिलाते ही हनुमान्ने उसे व्यक्त रूप दे दिया। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान् परमात्मा या परमा शक्ति भी नित्य शक्तिमान् हैं; हाँ, कभी वह शक्ति उनमें अव्यक्त रहती है और कभी व्यक्त। अवश्य ही भगवान्की शक्तिको व्यक्त रूप भगवान् स्वयं ही देते हैं, यहाँ किसी जाम्बवान्की आवश्यकता नहीं होती। परंतु शक्ति नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसीसे ऋषि-मुनियोंने इस शक्तिमान् परमात्माको महाशक्तिके रूपमें देखा।

शक्ति और शक्तिमान्की अभिन्नता

इन्हीं सगुण-निर्गुणरूप भगवान् या भगवतीसे उपर्युक्त प्रकारसे कभी महादेवीरूपके द्वारा, कभी महाशिवरूपके द्वारा, कभी महाविष्णुरूपके द्वारा, कभी श्रीकृष्णरूपके द्वारा, कभी श्रीरामरूपके द्वारा सृष्टिकी उत्पत्ति होती है, और यही परमात्मरूपा महाशक्ति पुरुष और नारीरूपमें विविध अवतारोंमें प्रकट होती हैं। वस्तुतः यह नारी हैं न पुरुष और दूसरी दृष्टिसे दोनों ही हैं। अपने पुरुषरूप अवतारोंमें स्वयं महाशक्ति ही लीलाके लिये उन्हींके अनुसार रूपोंमें उनकी पत्नी बन जाती हैं। ऐसे बहुत-से इतिहास मिलते हैं जिनमें महाविष्णुने लक्ष्मीसे, श्रीकृष्णने राधासे, श्रीसदाशिवने उमासे और श्रीरामने सीतासे एवं इसी प्रकार श्रीलक्ष्मी, राधा, उमा और सीताने महाविष्णु, श्रीकृष्ण, श्रीसदाशिव और श्रीरामसे कहा है कि हम दोनों सर्वथा अभिन्न हैं, एकके ही दो रूप हैं, केवल लीलाके लिये एकके दो रूप बन गये हैं, वस्तुतः हम दोनोंमें कोई भी अन्तर नहीं है।

शक्तिकी महिमा

यही आदिके तीन युगल उत्पन्न करनेवाली महालक्ष्मी हैं; इन्हींकी शक्तिसे ब्रह्मादि देवता बनते हैं, जिनसे विश्वकी उत्पत्ति होती है। इन्हींकी शक्तिसे विष्णु और शिव प्रकट होकर विश्वका पालन और संहार करते हैं। दया, क्षमा, निद्रा, स्मृति, क्षुधा, तृष्णा, तृप्ति, श्रद्धा, भक्ति, धृति, मति, तुष्टि, पुष्टि, शान्ति, कान्ति, लज्जा आदि इन्हीं महाशक्तिकी शक्तियाँ हैं। यही गोलोकमें श्रीराधा, साकेतमें श्रीसीता, क्षीरोदसागरमें लक्ष्मी, दक्षकन्या सती, दुर्गतिनाशिनी मेनकापुत्री दुर्गा हैं। यही वाणी, विद्या, सरस्वती, सावित्री और गायत्री हैं। यही सूर्यकी प्रभाशक्ति, पूर्णचन्द्रकी सुधावर्षिणी शोभाशक्ति, अग्निकी दाहिकाशक्ति, वायुकी वहनशक्ति, जलकी शीतलताशक्ति, धराकी धारणाशक्ति और शस्यकी प्रसूतिशक्ति हैं। यही तपस्वियोंका तप, ब्रह्मचारियोंका ब्रह्मतेज, गृहस्थोंकी सर्वाश्रम-आश्रयता, वानप्रस्थोंकी संयमशीलता, संन्यासियोंका त्याग, महापुरुषोंकी महत्ता और मुक्त पुरुषोंकी मुक्ति हैं। यही शूरोंका बल, दानियोंकी उदारता, माता-पिताका वात्सल्य, गुरुकी गुरुता, पुत्र और शिष्यकी गुरुजनभक्ति, साधुओंकी साधुता, चतुरोंकी चातुरी और मायावियोंकी माया हैं। यही लेखकोंकी लेखनशक्ति, वाग्मियोंकी वक्तृत्वशक्ति, न्यायी नरेशोंकी प्रजा-पालनशक्ति और प्रजाकी राजभक्ति हैं। यही सदाचारियोंकी दैवी-सम्पत्ति, मुमुक्षुओंकी षट्सम्पत्ति, धनवानोंकी अर्थसम्पत्ति और विद्वानोंकी विद्या-सम्पत्ति हैं। यही ज्ञानियोंकी ज्ञानशक्ति, प्रेमियोंकी प्रेमशक्ति, वैराग्यवानोंकी विरागशक्ति और भक्तोंकी भक्तिशक्ति हैं। यही राजाओंकी राजलक्ष्मी, वणिकोंकी सौभाग्यलक्ष्मी, सज्जनोंकी शोभालक्ष्मी और श्रेयार्थियोंकी श्री हैं। यही पतिकी पत्नीप्रीति और पत्नीकी पतिव्रताशक्ति हैं। सारांश यह कि जगत्में तमाम जगह परमात्मरूपा महाशक्ति ही विविध शक्तियोंके रूपमें खेल रही हैं। सभी जगह स्वाभाविक ही शक्तिकी पूजा हो रही है। जहाँ शक्ति नहीं है वहीं शून्यता है। शक्तिहीनकी कहीं कोई पूछ नहीं। प्रह्लाद-ध्रुव भक्तिशक्तिके कारण पूजित हैं। गोपी प्रेम-शक्तिके कारण जगत्पूज्य हैं। भीष्म-हनुमान्की ब्रह्मचर्यशक्ति; व्यास-वाल्मीकिकी कवित्वशक्ति; भीम-अर्जुनकी शौर्यशक्ति; युधिष्ठिर-हरिश्चन्द्रकी सत्यशक्ति; शंकर-रामानुजकी विज्ञानशक्ति; शिवाजी-प्रतापकी वीरशक्ति; इस प्रकार जहाँ देखो वहीं शक्तिके कारण ही सबकी शोभा और पूजा है। सर्वत्र शक्तिका ही समादर और बोलबाला है। शक्तिहीन वस्तु जगत्में टिक ही नहीं सकती। सारा जगत् अनादिकालसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे निरन्तर केवल शक्तिकी ही उपासनामें लग रहा है और सदा लगा रहेगा।

शक्तिकी शरण

यह महाशक्ति ही सर्वकारणरूप प्रकृतिकी आधारभूता होनेसे महाकारण हैं, यही मायाधीश्वरी हैं, यही सृजन-पालन-संहारकारिणी आद्या नारायणी शक्ति हैं और यही

प्रकृतिके विस्तारके समय भर्ता, भोक्ता और महेश्वर होती हैं। परा और अपरा दोनों प्रकृतियाँ इन्हींकी हैं अथवा यही दो प्रकृतियोंके रूपमें प्रकाशित होती हैं। इनमें द्वैताद्वैत दोनोंका समावेश है। यही वैष्णवोंकी श्रीनारायण और महालक्ष्मी, श्रीराम और सीता, श्रीकृष्ण और राधा; शैवोंकी श्रीशंकर और उमा, गाणपत्योंकी श्रीगणेश और ऋद्धि-सिद्धि, सौरोंकी श्रीसूर्य और उषा, ब्रह्मवादियोंकी शुद्ध-ब्रह्म और ब्रह्मविद्या हैं और शाक्तोंकी महादेवी हैं। यही पंचमहाशक्ति, दस महाविद्या, नव दुर्गा हैं। यही अन्नपूर्णा, जगद्धात्री, कात्यायनी, ललिताम्बा हैं। यही शक्तिमान् हैं, यही शक्ति हैं, यही नर हैं, यही नारी हैं, यही माता, धाता, पितामह हैं; सब कुछ यही हैं! सबको सर्वतोभावसे इन्हींके शरण जाना चाहिये।

× × × ×

जो श्रीकृष्णरूपकी उपासना करते हैं, वे भी इन्हींकी करते हैं। जो श्रीराम, शिव या गणेशरूपकी उपासना करते हैं, वे भी इन्हींकी करते हैं। और इसी प्रकार जो श्री, लक्ष्मी, विद्या, काली, तारा, षोडशी आदि रूपोंमें उपासना करते हैं, वे भी इन्हींकी करते हैं। श्रीकृष्ण ही काली हैं, माँ काली ही श्रीकृष्ण हैं। इसलिये जो जिस रूपकी उपासना करते हों, उन्हें उस उपासनाको छोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, इतना अवश्य निश्चय कर लेना चाहिये कि 'मैं जिन भगवान् या भगवतीस्वरूपकी उपासना कर रहा हूँ, वही सर्वदेवमय और सर्वरूपमय हैं; सर्वशक्तिमान् और सर्वोपरि हैं। दूसरोंके सभी इष्टदेव इन्हींके विभिन्न स्वरूप हैं।' हाँ, पूजामें भगवान्‌के अन्यान्य रूपोंका यदि कहीं विरोध हो या उनसे द्वेषभाव हो तो उसे जरूर निकाल देना चाहिये; साथ ही किसी तामसिक पद्धतिका अवलम्बन किया हुआ हो तो उसे भी अवश्य ही छोड़ देना चाहिये।

तामसीको नरक-प्राप्ति

तामसिक देवता, तामसिक पूजा, तामसिक आचार सभी नरकोंमें ले जानेवाले हैं; चाहे उनसे थोड़े कालके लिये सुख मिलता हुआ-सा प्रतीत भले ही हो। देवता वस्तुतः तामसिक नहीं होते, पूजक अपनी भावनाके अनुसार उन्हें तामसिक बना लेते हैं। जो देवता अल्प सीमामें आबद्ध हों, जिनको तामसिक वस्तुएँ प्रिय हों, जो मांस-मद्य आदिसे प्रसन्न होते हों, पशु-बलि चाहते हों, जिनकी पूजामें तामसिक गंदी वस्तुओंका प्रयोग आवश्यक हो, जिनके लिये पूजा करनेवालेको तामसिक आचारकी प्रयोजनीयता प्रतीत होती हो; वह देवता, उनकी पूजा और उन पूजकोंके आचार तामसी हैं और तामसी पापाचारीको बार-बार नरकोंकी प्राप्ति होगी, इसमें कोई संदेह नहीं।

तन्त्रके नामपर व्यभिचार और हिंसा

यद्यपि तन्त्रशास्त्र समस्त श्रेष्ठ साधनशास्त्रोंमें एक बहुत उत्तम शास्त्र है, उसमें अधिकांश बातें सर्वथा अभिनन्दनीय और साधकको परम सिद्धि—मोक्ष प्रदान करानेवाली हैं, तथापि सुन्दर बगीचेमें भी जिस प्रकार असावधानीसे कुछ जहरीले पौधे उत्पन्न हो जाया करते और फूलने-फलने भी लगते हैं, इसी प्रकार तन्त्रमें भी बहुत-सी अवांछनीय गंदगी आ गयी है। यह विषयी कामान्ध मनुष्यों और मांसाहारी मद्यलोलुप अनाचारियोंकी ही काली करतूत मालूम होती है, नहीं तो, श्रीशिव और ऋषिप्रणीत मोक्षप्रदायक पवित्र तन्त्रशास्त्रमें ऐसी बातें कहाँसे और क्यों आतीं? जिस शास्त्रमें अमुक-अमुक जातिकी स्त्रियोंका नाम ले-लेकर व्यभिचारकी आज्ञा दी गयी हो और उसे धर्म तथा साधन बताया गया हो, जिस शास्त्रमें पूजाकी पद्धतिमें बहुत ही गंदी वस्तुएँ पूजा-सामग्रीके रूपमें आवश्यक बतायी गयी हों, जिस शास्त्रके माननेवाले साधक हजार स्त्रियोंके साथ व्यभिचारको और अष्टोत्तरशत नरबालकोंकी बलिको अनुष्ठानकी सिद्धिमें कारण मानते हों, वह शास्त्र तो सर्वथा अशास्त्र और शास्त्रके नामको कलंकित करनेवाला ही है। व्यभिचारकी आज्ञा देनेवाले तन्त्रोंके अवतरण लेखकने पढ़े हैं और तन्त्रके नामपर व्यभिचार और नरबलि करनेवाले मनुष्योंकी घृणित गाथाएँ विश्वस्त-सूत्रसे सुनी हैं। ऐसे महान् तामसिक कार्योंको शास्त्रसम्मत मानकर भलाईकी इच्छासे इन्हें करना सर्वथा भ्रम है, भारी भूल है और ऐसी भूलमें कोई पड़े हुए हों तो उन्हें तुरंत ही इससे निकल जाना चाहिये। और जो जान-बूझकर धर्मके नामपर व्यभिचार, हिंसा आदि करते हों, उनको तो जब माँ चण्डीका भीषण दण्ड प्राप्त होगा, तभी उनके होश ठिकाने आयेंगे। दयामयी माँ अपनी भूली हुई संतानको क्षमा करें और उसे रास्तेपर लावें, यही प्रार्थना है।

बलिदान

इसके अतिरिक्त पंचमकारके नामपर भी बड़ा अन्याय-अनाचार हुआ तथा अब भी बहुत जगह हो रहा है, उससे भी सतर्कतासे बचना चाहिये। बलिदान तथा मद्यप्रदान भी सर्वथा त्याज्य हैं। माताकी जो संतान, अपनी भलाईके लिये—मातासे ही अपनी कामना पूरी करानेके लिये, उसी माताकी प्यारी भोलीभाली संतानकी हत्या करके उसके खूनसे माँको पूजती है, जो माँके बच्चोंके खूनसे माँके मन्दिरको अपवित्र और कलंकित करता है, उसपर माँ कैसे प्रसन्न हो सकती है? माँ दुर्गा, काली जगज्जननी विश्वमाता हैं। स्वार्थी मनुष्य अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये—धन-पुत्र, स्वार्थ-वैभव, सिद्धि या मोक्षके लिये भ्रमवश निरीह बकरे, भैंसे और अन्यान्य पशु-पक्षियोंके गलेपर छुरी फेरकर मातासे सफलताका वरदान चाहता है, यह कैसी असंगत और असम्भव बात है। निरपराध प्राणियोंकी नृशंसतापूर्वक हत्या करने-करानेवाला कभी सुखी हो सकता है? उसे कभी शान्ति मिल सकती है? कदापि नहीं। दयाहीन मांसलोलुप मनुष्योंने ही इस प्रकारकी प्रथा चलायी है। जिसका शीघ्र ही अन्त हो जाना चाहिये। जो दूसरे निर्दोष प्राणियोंकी गर्दन काटकर अपना भला मनायेगा, उसका यथार्थ भला कभी नहीं हो सकता। यह बात स्मरण रखनी चाहिये। खयाल करो, तुम्हें खूँटेसे बाँधकर यदि कोई मारे या तुम्हारे गलेपर छुरी फेरे तो तुम्हें कितना कष्ट होगा? नन्हीं-सी सुई या काँटा चुभ जानेपर ही तलमला उठते हो। फिर इस पापी पेटके लिये और राक्षसोंकी भाँति मांससे जीभको तृप्त करनेके लिये गरीब पशु-पक्षियोंको धर्मके नामपर—अरे, माताके भोगके नामपर मारते तुम्हें लज्जा नहीं आती? मानो उन्हें कोई कष्ट ही नहीं होता। याद रखो, वे सब तुम्हारा बदला लेंगे। और तब तुम्हें अपनी करनीपर निरुपाय होकर हायतोबा करना पड़ेगा। अतएव सावधान! माताके नामपर गरीब निरीह पशु-पक्षियोंको बलि देना तुरंत बंद कर दो, माताके पवित्र मन्दिरोंको उसीकी प्यारी संतानके खूनसे रँगकर माँके अकृपाभाजन मत बनो।

बलिदान करो

बलिदान जरूर करो, परंतु करो अपने स्वार्थका और अपने दोषोंका। माँके नामपर माँकी दुःखी संतानके लिये अपना न्यायोपार्जित धन दानकर धनका बलिदान करो; माँकी दुःखी संतानका दुःख दूर करनेके लिये अपने सारे सुखोंकी और अपने प्यारे शरीरकी भी बलि चढ़ा दो। न्योछावर कर दो निष्कामभावसे माँके चरणोंपर अपना सारा धन, जन, बुद्धि, बल, ऐश्वर्य, सत्ता और साधन उसकी दीन-हीन, दुःखी, दलित संतानको सुखी करनेके लिये। तुमपर माँकी कृपा होगी! माँके पुलकित हृदयसे जो आशीर्वाद मिलेगा, माँकी गद्गद वाणी तुम्हें अपने दुःखी भाइयोंकी सेवा करते देखकर जो स्वाभाविक वरदान देगी उससे तुम निहाल हो जाओगे। तुम्हारे लोक-परलोक दोनों बन जायँगे। तुम प्रेय और श्रेय दोनोंको अनायास पा जाओगे, माँ तुम्हें गोदमें लेकर तुम्हारा मुख चूमेंगी और फिर तुम कभी उनकी शीतल सुखद नित्यानन्दमय परमधाममय गोदसे नीचे नहीं उतरोगे।

बलिदान करना है तो बलि चढ़ाओ—कामकी, क्रोधकी, लोभकी, हिंसाकी, असत्यकी और इन्द्रियविषयासक्तिकी; माँ तुम्हारी इन चीजोंको नष्ट कर दे, ऐसी माँसे प्रार्थना करो। माँकी चरणरजरूपी तीक्ष्ण-धार तलवारसे इन दुर्गुणरूपी असुरोंकी बलि चढ़ा दो। अथवा प्रेमकी कटारीसे ममत्व और अभिमानरूपी राक्षसोंकी बलि दे दो। तुम कहोगे 'फिर माँके हाथमें नरमुण्ड क्यों है? माँ भैंसेको क्यों मार रही हैं? माँ राक्षसोंका नाश क्यों कर रही हैं? क्या वे माँके बच्चे नहीं हैं? उन अपने बच्चोंकी बलि माँ क्यों स्वीकार करती हैं!' तुम इसका रहस्य नहीं समझते। उनकी बलि दूसरा कोई चढ़ाता नहीं, वे स्वयं आकर बलि चढ़ जाते हैं। अवश्य ही वे भी माँके बच्चे हैं, परंतु वे ऐसे दुष्ट हैं कि माँके दूसरे असंख्य निरपराध बच्चोंको दुःख देकर, उन्हें पीड़ा पहुँचाकर, उनका स्वत्व छीनकर, उनके गले काटकर स्वयं राजा बने रहना चाहते हैं। स्वयं माँ लक्ष्मीको अपनी भोग्या बनाकर मातृगामी होना चाहते हैं, माँ उमासे विवाह करना चाहते हैं, ऐसे दुष्टोंको भी माँ मारना नहीं चाहती, शिवको दूत बनाकर उनके समझानेके लिये भेजती हैं; पर जब वे किसी प्रकार नहीं मानते, तब दयापरवश हो उनका उद्धार करनेके लिये उनको बलिके लिये आह्वान करती हैं और वे आकर जलती हुई आगमें पतंगकी भाँति माँके चरणोंपर चढ़ जाते हैं। माँ दूसरे सीधे बालकोंको

आश्वासन देने और ऐसे दुष्टोंको शासनमें रखनेके लिये ही मुण्डमाला धारण करती हैं। मारकर भी उनका उद्धार करती हैं। इन असुरोंकी इस बलिके साथ तुम्हारी आजकी यह स्वार्थपूर्ण बकरे और पक्षियोंकी निर्दयता और कायरतापूर्ण बलिसे कोई तुलना नहीं हो सकती। हाँ, यह तुम्हारा आसुरीपन, राक्षसीपन अवश्य है और इसका फल तुम्हें भोगना पड़ेगा। अतएव राक्षस न बनो, माँकी प्यारी, दुलारी संतान बनकर उनकी सुखद गोदमें चढ़नेका प्रयत्न करो।

किसीका बुरा न चाहो

राग-द्वेषपूर्वक किसीका बुरा करनेके लिये माँकी आराधना कभी न करो। याद रखो, माँ तुम्हारे कहनेसे अपनी संतानका बुरा नहीं कर सकतीं। जो दूसरेका बुरा चाहेगा, उसकी अपनी बुराई होगी। स्त्री-वशीकरण, मारण, मोहन, उच्चाटन आदिके लिये भी उनको मत पूजो; उन्हें पूजो दैवीगुणोंकी उत्पत्तिके लिये, सबकी भलाईके लिये अथवा मोक्षके लिये।

केवल माँको ही चाहो

सच तो यह है, परमात्मरूपिणी माँकी उपासना करके उनसे कुछ भी मत माँगो। ऐसी दयामयी सर्वेश्वरी जननीसे जो कुछ भी तुम माँगोगे, उसीमें ठगे जाओगे। तुम्हारा वास्तविक कल्याण किस बातमें है—इस बातको तुम नहीं समझते, माँ समझती हैं। तुम्हारी दृष्टि बहुत ही छोटी सीमामें आबद्ध है। माँकी दूरदृष्टि ही नहीं है, वह ईश्वरी माता, वह श्रीकृष्ण और श्रीरामरूपा माता, वह दुर्गा, सीता, उमा, राधा, काली, तारा सर्वज्ञ हैं। तुम्हारे लिये जो भविष्य है, उनके लिये सभी वर्तमान है। फिर उनका हृदय दयाका अनन्त समुद्र है। वह दयामयी माता तुम्हारे लिये जो कुछ मंगलमय होगा—कल्याणकारी होगा, उसीका विधान करेंगी, स्वयं सोचेंगी और करेंगी, तुम तो बस, निश्चिन्त और निर्भय होकर अबोध शिशुकी भाँति उनका पवित्र आँचल पकड़े उनके वात्सल्यभरे मुखकी ओर ताकते रहो। डरना नहीं, काली, तारा तुम्हारे लिये भयावनी नहीं हैं, वह भयदायिनी राक्षसोंके लिये हैं। भगवान् नृसिंहदेव सबके लिये भयानक थे, परंतु प्रह्लादके लिये भयानक नहीं थे। फिर, मातृरूप तो कैसा भी हो, अपने बच्चेके लिये कभी भयावना होता ही नहीं, सिंहनीका बच्चा अपनी माँसे कभी नहीं डरता। अतः उनकी गोदसे कभी न हटो, उनका आश्रय पकड़े रहो। माँ अपना काम आप करेंगी। माँगोगे, उसीमें धोखा खाओगे। पता नहीं, तुम्हें कहीं राज्य मिलनेकी बात सोची जा रही हो और तुम मोहवश कौड़ी ही माँग बैठो। असलमें तो तुम्हें माँगनेकी बात याद ही क्यों आनी चाहिये? तुम्हारे मनमें अभावका ही, कमीका ही बोध क्यों होना चाहिये, जब कि तुम त्रिभुवनेश्वरी अनन्त ऐश्वर्यमयी माँकी दुलारी संतान हो? माँका सारा खजाना तो तुम्हारा ही है। परंतु तुम्हें खजानेसे भी क्यों सरोकार होना चाहिये। छोटा बच्चा खजाने और धन-दौलतको नहीं जानता, वह तो जानता है केवल माँकी गोदको, माँके आँचलको और माँके दूधभरे स्तनोंको। बस, इससे अधिक उसे और क्या चाहिये। माँ बहुत ही मूल्यवान् वस्तु देकर भी उसे अपनेसे अलग करना चाहे तब भी वह अलग नहीं होगा। वह उस बहुमूल्य वस्तुको—भोग और मोक्षको तृणवत् फेंक देगा। परंतु माँका पल्ला कभी छोड़ना नहीं चाहेगा। ऐसी हालतमें राजराजेश्वरी सर्वलोकमहेश्वरी परम स्नेहमयी माँ भी उसे कभी नहीं छोड़ सकतीं। इसके सिवा शिशु-संतानको और क्या चाहिये? अतएव तुम भी माँके छोटे भोले-भाले बच्चे बन जाओ। खबरदार, कभी माँके सामने सयाने बननेकी कल्पना मनमें न आने पाये!

आत्मसमर्पणके द्वारा माँको स्नेहसूत्रमें बाँध लो

कुण्डलिनी और षट्चक्रोंकी बात सब ठीक है, शास्त्रसम्मत और रहस्यमय है, परंतु वर्तमान समयमें योगसाधन बड़ा कठिन है, उपयुक्त अनुभवी गुरु भी प्रायः नहीं मिलते। इस स्थितिमें योगके चक्करमें न पड़कर सरल शिशुपनसे आत्मसमर्पणभावसे उपासना करके माँको स्नेह-सूत्रमें बाँध लो। माँकी कृपासे सारी योगसिद्धियाँ तुम्हारे चरणोंपर बिना ही बुलाये आ-आकर लोटने लगेंगी। मुक्ति तो पीछे-पीछे फिरेगी, इस आशासे कि तुम उसे स्वीकार कर लो, परंतु तुम माताकी सेवामें ही सुख माननेवाले उसकी ओर नजर उठाकर ताकना भी नहीं चाहोगे।

परम सुखकी प्राप्ति

तुम्हें माँ विचित्र-विचित्र लीलाएँ दिखलायेंगी—अपनी लीलाका एक पात्र बना लेंगी। कभी तुम व्रजकी गोपी बनोगे तो कभी मिथिलाकी सीता-सखी; कभी उमाकी सहचरी बनोगे तो कभी माँ लक्ष्मीकी चिरसंगिनी

सहेली; कभी सुदामा-श्रीदाम बनोगे तो कभी लक्ष्मण-हनुमान्; कभी वीरभद्र-नन्दी बनोगे तो कभी नारद और सनत्कुमार और कभी चामुण्डा बनोगे तो कभी चण्डिका। मतलब यह है कि तुम माँकी विश्वमोहिनी लीलामें लीलारूप बन जाओगे—फिर तुम्हें मोक्षसे प्रयोजन ही नहीं रहेगा, क्योंकि मोक्षका अधिकार तो माँकी लीलासे अलग रहनेवाले लोगोंको ही है। मोक्ष तुम्हारे लिये तरसेगा, परंतु तुमको महेश्वर-महेश्वरीका ताण्डव-लास्य, राधेश्यामका नाच-गान देखनेसे और डमरू-ध्वनि या मुरलीकी मधुर तान सुननेसे ही कभी फुरसत नहीं मिलेगी। इससे बढ़कर धन्य-जीवन और परम सुख और कौन-सा होगा?

मूर्ख और पापाचारी

माँकी कृपासे मिलनेवाले इस आत्यन्तिकसे भी परेके श्रेष्ठतम सुखको छोड़कर जो केवल सांसारिक रूप, धन और यशके फेरमें पड़ा रहता है और उन्हें पानेके लिये ही माँकी आराधना करता है वह तो बड़ा ही मूर्ख है। और वह तो अधम ही है, जो इन सुखोंके लिये माँकी पूजाके नामपर पापाचार करता है और दूसरे प्राणियोंको पीड़ा पहुँचाकर लाभ उठाना चाहता है।

रूपका मोह छोड़ दो

सौन्दर्यकी—रूपकी धधकती आगमें पड़कर खाक हो जानेवाले पतंगे नर-नारियो! सोचो, तुम्हारी कल्पनाके रूपमें कहाँ सौन्दर्य है? हाड़, मांस, मेद, मज्जा, चमड़ी, विष्ठा, मूत्र, केश, नख आदिमें कौन-सी वस्तु सुन्दर है? क्या गठीला शरीर सुन्दर है? अरे, चार दिन खूनके पचास-पचास दस्त हो जायँ तो वह हड्डियोंका ढाँचा रह जायगा। काले केश सुन्दर हैं? बुढ़ापा आने दो, चाँदीकी-सी शक्ल उनकी हो जायगी। ऊपरकी चिकनाईमें सुन्दरता है तो अंदर देखो! पेटके थैलेमें और नसोंमें मल-मूत्र और रक्त भरा है, कीड़े किलबिला रहे हैं। कोढ़ीके शरीरके घावोंको देखो, वही तुम्हारे भीतरका असली नमूना है। देखते ही घिन होती है, नाक सिकुड़ जाती है, आँखें फिर जाती हैं। मरनेके बाद एक ही दिनमें शरीरसे असहनीय दुर्गन्ध निकलने लगती है। तुम क्यों इस लौकिक मिथ्या रूपकी झूठी कल्पनापर पागल हो रहे हो? रूपके मोहको छोड़ दो और उस अपरूप रूप-माधुरीका सेवन करो जो सारे रूपोंका अनन्त, सनातन और नित्य-समुद्र है।

धनका लोभ त्याग करो

यही हाल धनका है। संसारमें कौन-सा धनी शान्त है और सुखी है? धनकी लालसा कभी मिटती नहीं। ज्यों-ज्यों धन बढ़ेगा त्यों-ही-त्यों कामना और लालसा बढ़ेगी और त्यों-ही-त्यों दु:ख भी बढ़ेगा। पाप, अभिमान आदि प्राय: धनसे ही होते हैं। खुशामदी, लुच्चे, बदमाश लोग धनपर ही, मैलेपर मक्खियोंकी भाँति मँडराया करते हैं और धनवानोंको सदा बुरे मार्गपर ले जानेकी कोशिश करते रहते हैं। धनवान्को असली महात्माका सत्संग मिलना तो बहुत ही कठिन होता है; क्योंकि वह तो धनके मदमें कहीं जानेमें अपनी पोजीशनकी हानि समझता है, और खुशामदियों, चाटुकारों और चीनीपर चिपटे हुए चींटीकी भाँति धन चूसनेवाले लोगोंसे घिरे हुए उसके पास कोई नि:स्वार्थी असली महात्मा क्यों जाने लगे? यदि कभी कोई कृपावश चले भी जाते हैं तो धनीसे उनका मिलना कठिन होता है और यदि मिलना भी हुआ तो वह उन्हें कोई भिखमंगा समझकर तिरस्कार करता है, क्योंकि उसके पास प्राय: ऐसे ही लोग आया करते हैं, इससे उसको सभी वैसे ही दिखायी देते हैं। झंझटोंका तो धनियोंके पार नहीं रहता, निकम्मे कामोंसे कभी उन्हें फुरसत ही नहीं मिलती। नरककी सामग्री-भोगोंका वहाँ बाहुल्य रहता है, जिससे नरकका मार्ग क्रमश: अधिकाधिक साफ होता रहता है, अतएव धनके लोभको छोड़ दो और परमधनरूप माँकी सेवामें लग जाओ। यदि पार्थिव-धन पास हो तो उसको अपना मानकर अभिमान न करो और कुसंगतिसे पिण्ड छुड़ाकर उस धनको माताकी पूजाकी सामग्री समझकर उसे माँकी यथार्थ पूजा—उसकी दु:खी संतानको सुख पहुँचानेके कार्यमें लगाकर माँके कृपा-भाजन बनो!

मान-बड़ाईमें मत फँसो

पद-प्रतिष्ठा और मान-बड़ाई तो बहुत ही हानिकर है। जो मान-बड़ाईके मोहमें फँस गया उसके धर्म, कर्म, साधना, पुरुषार्थ 'सब भाँगके भाड़ेमें' चले गये। उसने मानो परमधन परमात्म-प्रेमको विषपूर्ण स्वर्णकलशरूप मान-बड़ाईके बदलेमें खो दिया। अतएव रूप, धन, पद-प्रतिष्ठा, मान-बड़ाई आदिके लिये चिन्तित न होओ और न इनकी प्राप्ति चाहो। ये परमार्थका साधन नष्ट करनेवाले महान् दु:खदायी और

नरकप्रद हैं। माँकी उपासना करके उसके बदलेमें तो इन्हें कभी माँगो ही मत। अमृतके बदले जहर पीनेके समान ऐसी मूर्खता कभी न करो। माँसे माँगो सच्चा प्रेम, माँका वात्सल्य, माँकी कृपा, माँका नित्य-आश्रय और माँकी सुखमयी गोद! माँसे माँगकर वैराग्यशक्ति ले लो और उससे विषयासक्तिरूप वैरीको मार भगाओ। याद रखो, वैराग्यशक्तिमें अद्भुत सामर्थ्य है। जिन विषयोंके प्रलोभनोंमें बड़े-बड़े धीर-वीर और विद्वान् पुरुष फँस जाते हैं, वैराग्यवान् पुरुष उनकी ओर ताकता भी नहीं।

सदाचार-शक्तिको बढ़ाओ

इसी प्रकार सदाचार-शक्ति और दैवीसम्पद्-शक्तिको बढ़ाओ। जिसकी सदाचार और दैवीसम्पद्-शक्ति जितनी बढ़ी हुई होगी, वह उतना ही अधिक परमात्मरूपा माँका प्रिय-पात्र होगा और उतना ही अधिक शीघ्र माँके दर्शनका अधिकारी होगा। स्मरण रखो, माँके विभिन्न रूप केवल कल्पना नहीं हैं, सत्य हैं और तुम्हें माँकी कृपासे उनके साक्षात् दर्शन हो सकते हैं।

भगवान्‌को बाँधनेकी डोरी

माँके दर्शनका सर्वोत्तम उपाय है—दर्शनके लिये व्याकुल होना। जैसे छोटा बच्चा जब किसी वस्तुमें न भूलकर एकमात्र माँके लिये व्याकुल होकर रोने लगता है, केवल माँ-माँ पुकारता है और किसी बातको सुनना ही नहीं चाहता तब माँ दौड़ी आती है और उसके आँसू पोंछकर उसे तुरंत अपनी गोदमें छिपाकर मुँह चूमने लगती है। इसी प्रकार वे परमात्मरूपा जगज्जननी माँ काली या माँ श्रीकृष्ण भी तुम्हारा रोना सुनकर—पुकार सुनकर तुम्हारे पास आये बिना नहीं रहेंगे, अतएव उत्कण्ठित हृदयसे व्याकुल होकर रोओ—अपने करुणक्रन्दनसे करुणामयी माँके हृदयको हिला दो—पिघला दो। राम, कृष्ण, हरि, शंकर, दुर्गा, काली, तारा, राधा, सीता आदि नामोंकी निर्मल और ऊँची पुकारसे आकाशको गुँजा दो। भगवती माँ तुम्हें जरूर दर्शन देंगी। करुणापूर्ण नामकीर्तन माँको बुलानेका परम साधन है। समस्त मन्त्रोंमें यह नाममन्त्र मन्त्रराज है और इसमें कोई विधि-निषेध नहीं है, कोई भय नहीं है। हम-सरीखे बच्चोंके लिये तो उस सच्चिदानन्दमयी भगवान्‌रूपी माँको बाँध रखनेकी, बस, यही एक मजबूत और कोमल रेशमकी डोरी है।

माँके उपदेशोंपर ध्यान दो

माँके उपदेशोंपर ध्यान दो। उनके सारे उपदेश तुम्हारी भलाईके लिये ही हैं। देवीभागवतमें ऐसे बहुत-से उपदेश हैं। भगवती गीता ऐसे उपदेशोंका सुन्दर संग्रह है। और न हो तो, माँके ही श्रीकृष्णरूपसे उपदिष्ट भगवद्‌गीताको माँके उपदेशोंका खजाना समझो—उसीको आदर्श बनाओ, पथ-दर्शक बनाओ, उसीके उज्ज्वल प्रकाशके सहारे माँका अनन्य आश्रय लिये हुए, माँके नामोंका रटन करते हुए माँको पुकारो—माँकी सेवा करो। गीताशक्तिमें भगवतीकी सारी शक्ति निहित है।

श्रद्धा-शक्ति

श्रद्धा-शक्तिको बढ़ाओ, झूठे तर्क न करो। तर्कोंसे कभी भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती। माता-पिताके लिये तर्क करना उनका अपमान करना है। अतएव तर्क छोड़कर माँके भक्तोंकी वाणीपर विश्वास करो और श्रद्धापूर्वक माँकी सेवामें लगे रहो। इसका यह अर्थ नहीं है कि शुद्ध बुद्धि-शक्तिका तिरस्कार करो। जो भगवान्‌में अविश्वास उत्पन्न कराती है वह बुद्धि ही नहीं है, बुद्धि—शुद्ध बुद्धि तो वही है जिससे परमात्माका निश्चय होता है और भजनमें मन लगता है। ऐसी शुद्ध बुद्धि-शक्तिको बढ़ाओ। इस बुद्धि-शक्तिकी अधिष्ठात्री देवता सरस्वतीजी हैं; बुद्धिके साथ ही माँकी सेवाके लिये धन भी चाहिये—अतएव न्यायपूर्वक सत्य-शक्तिका आश्रय लिये हुए धनोपार्जन भी करो, धनकी अधिष्ठात्री देवता लक्ष्मीजी हैं। और साथ ही शारीरिक शक्तिका भी विकास करो, शरीरकी अधिष्ठात्री देवी कालीजी हैं। अतएव बुद्धि, धन और शरीरकी रक्षा और स्वस्थताके लिये महाशक्तिके त्रिरूप महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकालीकी श्रद्धापूर्वक उपासना करो, परंतु इस बातको स्मरण रखो कि बुद्धि, धन और शरीरकी आवश्यकता भी केवल माताकी निष्काम सेवाके लिये ही है, सांसारिक इस लोक और परलोकके सुखोपभोगके लिये कदापि नहीं।

मानसिक शक्ति

मानसिक शक्तिको बढ़ाओ। तुम्हारी मानसिक शक्ति शुद्ध होकर बढ़ जायगी तो तुम इच्छामात्रसे जगत्‌का बड़ा उपकार कर सकोगे। शारीरिक शक्तिको बढ़ाओ, शरीर बलवान् और स्वस्थ रहेगा तो उसके द्वारा कर्म करके तुम जगत्‌की बड़ी सेवा कर सकोगे।

इसी प्रकार बुद्धिको भी बढ़ाओ। शुद्ध प्रखर बुद्धिसे संसारकी सेवाएँ करनेमें बड़ी सुविधा होगी। इच्छा, क्रिया और ज्ञान अर्थात् मानसिक शक्ति, शारीरिक शक्ति और बुद्धि-शक्ति तीनोंकी ही जगज्जननी माँकी सेवाके लिये आवश्यकता है। और माँसे ही यह तीनों मिल सकती हैं, परंतु इनका उपयोग केवल माँकी सेवाके लिये ही होना चाहिये। कहीं दुरुपयोग हुआ, कहीं भोग और पर-पीड़ाके लिये इनका प्रयोग किया गया तो सब शक्तियोंके मूलस्रोत महाशक्तिकी ईश्वरी-शक्ति इन सारी शक्तियोंको तुरंत हरण कर लेगी।

ईश्वरीय शक्तिकी प्रबलता

पशुबल, मानवबल, असुरबल और देवबल—ये चारों ही बल ईश्वरीय बल या शक्तिके सामने नहीं ठहर सकते। महिषासुरमें विशाल पशुबल था, कौरवोंमें मानवशक्तिकी प्रचुरता थी, रावणादिमें असुरबल अपार था और इन्द्रादि देवता देवबलसे सदा बलीयान् रहते हैं। परंतु ईश्वरीय शक्तिने चारोंको परास्त कर दिया। महिषासुरका साक्षात् ईश्वरीने वध किया, कौरवोंको भगवान् श्रीकृष्णके आश्रित पाण्डवोंने नष्ट कर दिया, रावणका भगवान् श्रीरामने स्वयं संहार किया और भगवान् श्रीकृष्णके तेजके सामने इन्द्रको हार माननी पड़ी। इन चारोंमें पशुबल और असुरबल तो सर्वथा त्याज्य हैं। मनुष्यबल और देवबल ईश्वराश्रित होनेपर ग्राह्य हैं। पर यथार्थ बल तो परमात्मबल है। वह बल समस्त जीवोंमें छिपा हुआ है। आत्मा परमात्माका सनातन अंश है। उस आत्माको जाग्रत् करो, आत्मबलका उद्बोधन करो, अपनेको जडशरीर मत समझो, चेतन विपुल शक्तिमान् आत्मा समझो। याद रखो, तुममें अपार शक्ति है। तुम्हारा अणु-अणु शक्तिसे भरा है। पुरुषार्थ करके उस शक्तिके भंडारका द्वार खोल लो। अपनेको हीन, पापी समझकर निराश मत होओ। शक्तिमाताकी अपार शक्ति तुममें निहित है। उस शक्तिको जगाओ, शक्तिकी उपासना करो, शक्तिका समादर करो, शक्तिको क्रियाशीला बनाओ। फिर शक्तिकी कृपासे तुम जो चाहो कर सकते हो।

नर-नारी सभी भगवान्‌के रूप हैं

तुम नर हो या नारी हो—भगवान् या भगवतीके रूप हो। नारी नरका अपमान न करे और नर नारीका कभी न करे। दोनोंको शुद्ध प्रेमभावसे एक-दूसरेकी यथार्थ उन्नति और सुखसाधनामें लगे रहना चाहिये। इसीमें दोनोंका कल्याण है। जगत्‌की सारी नारियोंमें देवी भगवतीकी भावना करो। समस्त स्त्रियोंको माँकी साक्षात् मूर्ति समझकर उनका आदर करो, उन्हें सुख पहुँचाओ, उन्हें भोग्य पदार्थ न समझकर माँ दुर्गा समझो। किसी भी नारीको कभी मत सताओ। शास्त्रोंमें कुमारी-पूजाका बड़ा माहात्म्य लिखा है। लड़कीको लड़केके समान ही बड़े आदरसे पालो, घरमें उसका भी स्वत्व समझो, उसे कभी दुत्कारो मत, उसका अपमान न करो।

माँ दुर्गाका अपमान

विलाससामग्रीका सब्जबाग दिखलाकर नारीको विलासमयी बनाना, भोगकी ओर प्रवृत्त करना और पवित्र सती-धर्मसे च्युत करना भी उसका अपमान ही है। नारीका अपमान माँ दुर्गाका अपमान है। इससे सदा सावधान रहो।

विधवा नारीकी पूजा

विधवा नारीको तो साक्षात् दुर्गा समझकर उसका सम्मान करो। आदरपूर्वक हृदयसे उसकी पूजा करो; वह त्यागकी मूर्ति है। उसे विषयका प्रलोभन कभी मत दो, उसे ब्रह्मचर्यसे डिगाओ मत, सताओ मत, दु:खी मत करो; माँ विधवाके शापसे तुम्हारा सर्वनाश और उसके आशीर्वादसे तुम्हारा परम कल्याण हो सकता है।

नारी-शक्तिसे निवेदन

नारीजातिको विलासमें मत लगाओ, इससे नारी-शक्तिका ह्रास होगा, नारी-शक्ति उद्बोधन करो। हे नारीशक्ति! हे माँ! हे देवी! तुम भी सजग रहो, विलासी पुरुषोंके वाग्जालमें मत फँसो। संयम और त्यागके अपने परम पवित्र अति सुन्दर देव-पूज्य स्वरूपको कभी न छोड़ो! इन्द्र तुमसे काँपते थे, सूर्य तुम्हारी जबानपर रुक जाते थे, ब्रह्मा, विष्णु, महेश तुम्हारे सामने शिशु होकर खेलते थे, रावण-से दुर्वृत्त राक्षस तुमसे थर्राते थे। तुम साक्षात् भगवती हो। संयम और त्यागको भूलकर भी न छोड़ो। पुरुषोंके मिथ्या प्रलोभनोंमें मत फँसो। उनको सावधान कर दो। आज विवाह और कल सम्बन्धत्याग, इस पातकी आदर्शको कभी न अपनाओ। तुम्हें जो ऐसा करनेको कहते हैं वे तुम्हारा अपमान करते हैं। जीवनकी अखण्ड पवित्रताको दृढ़तापूर्वक सुरक्षित रखो। संसारके मिथ्या सुखोंमें कभी न भूलो।

अपनी शक्तिको प्रकट करो। त्याग, प्रेम, शौर्य और वात्सल्यकी सबको शिक्षा दो। जो तुम्हारी भक्ति करे, तुम्हें देवीके रूपमें देखे, उसके लिये लक्ष्मी और सरस्वती बनकर उसका पालन करो। और जो दुष्ट तुम्हारी ओर बुरी नजर करे, उसके लिये साक्षात् रणरंगिणी काली और चण्डिकास्वरूप प्रकाश करो, जिससे तुम्हें देखते ही वह डर जाय—उसके होश ठिकाने आ जायँ।

माँ सबका कल्याण करें

शक्ति ही जीवन है, शक्ति ही धर्म है, शक्ति ही गति है, शक्ति ही आश्रय है, शक्ति ही सर्वस्व है, यह समझकर परमात्मरूपा महाशक्तिका अनन्यरूपसे आश्रय ग्रहण करो। परंतु किसी भी दूसरेकी इष्टशक्तिका अपमान कभी न करो। गरीब दुःखी प्राणियोंकी अपनी शक्तिभर तन-मन-धनसे सेवा कर महाशक्तिकी प्रसन्नता प्राप्त करो। पापाचार, अनाचार, व्यभिचार, लौकिक पंचमकार आदिको सर्वथा त्यागकर माताकी विशुद्ध निष्काम भक्ति करो। इसीमें अपना कल्याण समझो। मेरी माँ दुर्गा सबका कल्याण करें।

मृत्युंजययोग

जिस प्रकार महाभारतमें अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने गीताका उपदेश किया था, उसी प्रकार श्रीद्वारकापुरीमें उद्धवजीको भी उपदेश प्रदान किया। उक्त उपदेशमें कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग आदि अनेक विषयोंकी भगवान्ने बड़ी ही विशद व्याख्या की है। अन्तमें योगका उपदेश हो जानेके बाद उद्धवने भगवान्से कहा—'प्रभो! मेरी समझसे आपकी यह योगचर्या साधारण लोगोंके लिये दुःसाध्य है, अतएव आप कृपापूर्वक कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे सबलोग सहज ही सफल हो सकें।' तब भगवान्ने उद्धवको भागवतधर्म बतलाया और उसकी प्रशंसामें कहा—'अब मैं तुम्हें मंगलमय धर्म बतलाता हूँ, जिसका श्रद्धापूर्वक आचरण करनेसे मनुष्य दुर्जय मृत्युको जीत लेता है।' यानी जन्म-मरणके चक्रसे सदाके लिये छूटकर भगवान्को पा जाता है। इसीलिये इसका नाम 'मृत्युंजययोग' है। भगवान्ने कहा—

मनके द्वारा निरन्तर मेरा विचार और चित्तके द्वारा निरन्तर मेरा चिन्तन करनेसे आत्मा और मनका मेरे ही धर्ममें अनुराग हो जाता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि शनैःशनैः मेरा स्मरण बढ़ाता हुआ ही सब कर्मोंको मेरे लिये ही करे। जहाँ मेरे भक्त साधुजन रहते हों, उन पवित्र स्थानोंमें रहे और देवता, असुर तथा मनुष्योंमेंसे जो मेरे अनन्य भक्त हो चुके हैं, उनके आचरणोंका अनुकरण करे। अलग या सबके साथ मिलकर प्रचलित पर्व, यात्रा आदिमें महोत्सव करे। यथाशक्ति ठाट-बाटसे गान, वाद्य, कीर्तन आदि करे-कराये। निर्मल-चित्त होकर सब प्राणियोंमें और अपने-आपमें बाहर-भीतर सब जगह आकाशके समान सर्वत्र मुझ परमात्माको व्याप्त देखे। इस प्रकार ज्ञानदृष्टिसे जो सब प्राणियोंको मेरा ही रूप मानकर सबका सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मण भक्त, सूर्य और चिनगारी, दयालु और क्रूर—सबमें समान दृष्टि रखता है वही मेरे मनसे पण्डित है। बारंबार बहुत दिनोंतक सब प्राणियोंमें मेरी भावना करनेसे मनुष्यके चित्तसे स्पर्धा, असूया, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष दूर हो जाते हैं। अपनी दिल्लगी उड़ानेवाले घरके लोगोंको, 'मैं उत्तम हूँ, यह नीच है'—इस प्रकारकी देहदृष्टिको और लोकलाजको छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेतकको पृथ्वीपर गिरकर भगवद्भावसे साष्टांग प्रणाम करे।

जबतक सब प्राणियोंमें मेरा स्वरूप न दीखे, तबतक उक्त प्रकारसे मन, वाणी और शरीरके व्यवहारोंद्वारा मेरी उपासना करता रहे। इस तरह सर्वत्र परमात्मबुद्धि करनेसे उसे सब कुछ ब्रह्ममय दीखने लगता है। ऐसी दृष्टि हो जानेपर जब समस्त संशयोंका सर्वथा नाश हो जाय, तब उसे कर्मोंसे उपराम हो जाना चाहिये अथवा वह उपराम हो जाता है। उद्धव! मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे और चेष्टाओंसे सब प्राणियोंमें मुझको देखना ही मेरे मतमें सब प्रकारकी मेरी प्राप्तिके साधनोंमें सर्वोत्तम साधन है। उद्धव! एक बार निश्चयपूर्वक आरम्भ करनेके बाद फिर मेरा यह निष्काम धर्म किसी प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे अणुमात्र भी ध्वंस नहीं होता; क्योंकि निर्गुण होनेके कारण मैंने ही इसको पूर्णरूपसे निश्चित किया है। हे संत! भय, शोक आदि

कारणोंसे भागने, चिल्लाने आदि व्यर्थके प्रयासोंको भी यदि निष्काम बुद्धिसे मुझ परमात्माके अर्पण कर दे तो वह भी परम धर्म हो जाता है। इस असत् और विनाशी मनुष्यशरीरके द्वारा इसी जन्ममें मुझ सत्य और अमर परमात्माको प्राप्त कर लेनेमें ही बुद्धिमानोंकी बुद्धिमानी और चतुरोंकी चतुराई है।

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। २२)

अतएव जो मनुष्य भगवान्‌की प्राप्तिके लिये कोई यत्न न करके केवल विषयभोगोंमें ही लगे हुए हैं, वे श्रीभगवान्‌के मतमें न तो बुद्धिमान् हैं और न मनीषी ही हैं।

युगल सरकारकी उपासना और ध्यान

यन्नखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभिः सुरैः।
गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम्॥

एक सज्जनने बहुत-से प्रश्न लिख भेजे हैं और बड़े आग्रहके साथ अपने प्रश्नोंके उत्तर देनेकी आज्ञा की है। उनके आज्ञानुसार प्रश्नोंको सिलसिलेवार जँचाकर उनका उत्तर लिखनेका प्रयत्न किया जाता है। उत्तरमें जो कुछ लिखा जायगा, उसका आधार शास्त्र और संतवाक्य हैं। उत्तर यथार्थ ही होगा इस बातका कोई दावा नहीं है। हाँ, इस बहाने भगवत्सम्बन्धी विचारोंमें कुछ समय लगेगा यही सोचकर उत्तर लिखनेका प्रयास किया जाता है।

भगवान्‌का रूप

प्रश्न—भगवान्‌के अनेक रूप बतलाये जाते हैं, उनमें क्या कोई न्यूनाधिकता है, है तो क्यों और कैसी? साधकको किस रूपकी उपासना करनी चाहिये?

उत्तर—एक ही भगवान् अनेक नाम-रूपोंमें पूजित होते हैं, इसलिये उनमें न्यूनाधिकताकी या छोटे-बड़ेकी किसी कल्पनाको कोई स्थान नहीं है। ब्रह्म, शिव, विष्णु, नारायण, राम, कृष्ण, शक्ति, सूर्य, गणेश आदि सब उन्हीं एक भगवान्‌के दिव्य नाम-रूप हैं। लीलाकी दृष्टिसे न्यूनाधिकताकी कल्पना हो सकती है, जैसे एक ही मनुष्य भिन्न-भिन्न समय, भिन्न-भिन्न कार्योंमें लगा हुआ भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा जा सकता है, जैसे एक ही मनुष्य लौकिक सम्बन्धके कारण किसीका पिता, किसीका पति, किसीका पुत्र, किसीका मित्र, किसीका गुरु, किसीका शिष्य कहलाता है, और इस प्रकार उसमें छोटे-बड़ेकी कल्पना होती है, ऐसे ही लीलामय भगवान् भी विभिन्न लीलाओंके कारण विभिन्न रूपोंमें अपनेको प्रकट करते हैं और लीलाको न समझनेवाले व्यक्ति मोहसे और लीलाके संगी भगवान्‌के अनुचरगण लीलासे उनमें छोटे-बड़ेकी कल्पना करते हैं। वास्तवमें भगवान् एक हैं और वे सब समय सब लीलाओंमें सब ओरसे पूर्णतम हैं, इसलिये जो साधक जिस रूपकी उपासना करता है, उसे उसी रूपकी उपासना करनी चाहिये और यह मानना चाहिये कि हमारे ही उपास्यदेव समस्त ब्रह्माण्डोंमें भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंसे पूजित होते हैं। शिवका उपासक यह समझे कि हमारे भोलानाथ शिव ही राम, कृष्ण आदिके रूपमें प्रकट हैं और राम, कृष्णके उपासक यह मानें कि हमारे राम या कृष्ण ही शिव, शक्ति आदिके रूपमें लोगोंके द्वारा पूजित होते हैं। इस प्रकार किसी भी रूपकी उपासनाका विरोध न करके अपने उपास्य इष्टकी उपासना अनन्यभावसे करनी चाहिये। और उसीको सर्वेश्वर, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वतश्चक्षु, सच्चिदानन्दघन एकमात्र प्रभु मानना चाहिये।

निराकार और साकारके उपासककी गति

प्रश्न—क्या निराकार और साकारके उपासक दोनों एक ही गतिको प्राप्त होते हैं?

उत्तर—अवश्य ही तत्त्वतः परमात्मा एक होनेसे एक ही गतिको प्राप्त होते हैं। लीलाकी दृष्टिसे लीला-जगत्‌में अन्तर माना जाता है और वह रहता भी है, परंतु तत्त्वदृष्टिसे वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है।

शक्तिसहित उपासना

प्रश्न—कुछ लोग कहते हैं कि भगवान्‌की उपासना उनकी शक्तिसहित करनी चाहिये और कुछ लोग कहते हैं कि अकेले भगवान्‌की ही उपासना करनी चाहिये। इन दोनोंमें कौन-सी बात ठीक है?

उत्तर—भगवान् और भगवान्‌की शक्ति दो अलग-अलग वस्तु नहीं हैं। जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति एक ही वस्तु है, इसी प्रकार भगवान् और उनकी

शक्ति है। दाहिका शक्ति है इसीलिये वह अग्नि है, नहीं तो उसका व्यक्त अग्नित्व ही नहीं रहता और अग्नि न हो तो दाहिका शक्तिका कोई आधार नहीं रहता। अतएव दोनों मिलकर ही एक अग्नि बना है या अग्निके ही ये दो नाम हैं, इसी प्रकार भगवान् और भगवान्‌की शक्ति सर्वथा अभिन्न हैं, इनमें भेद मानना ही पाप है। इस दृष्टिसे जो भगवान्‌की उपासना करता है वह उनकी शक्तिकी उपासना करता ही है और जो शक्तिका उपासक है, वह भगवान्‌की उपासना करनेको बाध्य है, अतएव एकको उपासनामें ही दोनोंकी उपासना आप ही हो जाती है, परंतु उपासक यदि चाहें तो विग्रहके रूपमें दोनोंकी अलग-अलग मूर्तियोंमें भी उपासना कर सकते हैं। इतना याद रखना चाहिये कि लक्ष्मी-नारायण, गौरी-शंकर, राधा-कृष्ण, सीता-राम आदि सब एक ही हैं, इनमें अपनी-अपनी रुचि और भावनाके अनुसार किसी भी युगल रूपकी उपासना हो सकती है। यहाँ इतना जरूर कह देना चाहिये कि युगल रूपकी उपासना विशेष अधिकारीको ही करनी चाहिये। नहीं तो, उसमें अनर्थ होनेका डर है। जगज्जननी लक्ष्मी, उमा, राधा या सीताके स्वरूपमें कहीं पापभावना हो गयी तो सारी उपासना नष्ट होकर उलटा विपरीत फल हो सकता है, और जो लोग वैराग्यवान् नहीं हैं, उनके द्वारा स्त्रीरूपकी उपासनामें मनमें विकार होनेका डर है ही; क्योंकि ऐसे लोग भगवान्‌की दिव्य स्वरूपाशक्तिके तत्त्वको न जानकर अपने अज्ञानसे इन्हें प्राकृत स्त्री ही समझ लेते हैं और प्राकृत स्त्रीरूपका आरोप करके विषयासक्तिके कारण विकारके वश हो जाते हैं। भगवान्‌की रासलीला देखनेवाले एक मनुष्यने तथा श्रीराधाजीका ध्यान करनेवाले एक दूसरे मित्रने अपनी ऐसी दुर्घटनाएँ सुनायी थीं, इससे यह पता चलता है कि दिव्य अनन्तसौन्दर्य-सुधामयी इन स्वरूपा-शक्तियोंके साथ भगवान्‌की उपासना करनेवाले सच्चे अधिकारी बिरले ही होते हैं। अतएव साधारण श्रेणीके साधकोंको भगवान्‌की अकेले ही पुरुषरूपमें उपासना करनी चाहिये।

प्रश्न—श्रीराधा, सीता, उमा आदि भगवान्‌की स्वरूपा-शक्तियोंकी उपासनाके अधिकारीमें कौन-कौन-सी बातें होनी चाहिये?

उत्तर—सबसे पहली बात तो यही है कि उसे कामविजयी होना चाहिये। कामी पुरुष दिव्य स्वरूपा-शक्तियोंकी उपासनाका अधिकारी कदापि नहीं है। इसके सिवा अन्यान्य आवश्यक बातें दूसरे प्रश्नोंके उत्तरमें आगे आ सकती हैं।

प्रश्न—मैं यह तो नहीं कहता कि मुझे वैराग्य प्राप्त है, परंतु इतना अवश्य है कि भगवत्कृपासे विषयोंकी ओर मेरा चित्त बहुत कम जाता है। मैं समझता हूँ कि भगवान् ही मेरी रक्षा करते हैं, मुझे श्रीराधा-कृष्णका स्वरूप अत्यन्त प्रिय है। मैं यत्किंचित् इन युगल सरकारकी उपासना करता हूँ और इसीमें अपना जीवन बिता देना चाहता हूँ। कृपया बतलाइये किन साधनोंसे और किस भावसे उपासना करनेपर मैं पूर्ण सच्चिदानन्दघन परमात्मा श्रीराधा-कृष्णके दर्शन और उनके दुर्लभ प्रेमको प्राप्त कर सकता हूँ। मैंने सुना है इस उपासनामें द्वादश सिद्धि, पंचप्रकार पूजा, न्यास, प्रपत्ति, शरणागति, आत्मसमर्पण आदि विभिन्न साधनोंकी आवश्यकता होती है, इन साधनोंके रूप भी बतलाइये।

उत्तर—आपका चित्त भगवत्कृपासे विषयोंकी ओर बहुत कम जाता है, यह बड़े ही आनन्दका विषय है। भगवान्‌की कृपाके बलसे असम्भव भी सम्भव हो सकता है। भगवत्कृपाकी शक्ति अनन्त है, परंतु सदा सावधान रहना चाहिये। कहीं भगवत्कृपाके आश्रयकी विस्मृति न हो जाय, अभिमान न पैदा हो जाय। विषयोंमें बहुत बड़ा प्रलोभन होता है। कई बार तो ऐसा धोखा हो जाता है कि मनुष्य भगवान्‌के नामपर विषयोंका सेवन करता रहता है। शृंगार, भोग, उत्सव, कीर्तन आदिकी शोभा और महत्ता इसीलिये भक्तके मनमें होनी चाहिये कि वे भगवान्‌से सम्बन्ध रखते हैं। भगवान्‌से ही शृंगारकी शोभा है, भगवान्‌का प्रसाद होनेसे ही भोगमें परम स्वाद है, भगवान्‌की स्मृति करानेवाला होनेके कारण ही उत्सव कर्तव्य है और भगवान्‌का नाम-गुणगान होनेके कारण ही कीर्तन भक्तका परम आदरणीय साधन है। यदि भगवान्‌को भुलाकर केवल शृंगारकी शोभामें, अन्नके स्वादमें, उत्सवकी चहल-पहलमें और संगीतकी ध्वनिमें ही आकर्षण है तो वह विषयसेवन ही है। अवश्य ही भगवान्‌से सम्पर्क हो जानेके कारण किसी अंशमें वह भी है शुभ ही। भगवान् श्रीराधाकृष्णके दिव्य स्वरूपको समझकर ही उनकी उपासना करनी चाहिये, उन्हें विषयलोलुप इन्द्रियासक्त भोगकामी आशिक-माशूकोंकी तरह मानकर

ही नहीं। ऐसा न होगा तो पतन ही होगा। भगवान् श्रीराधाकृष्णके स्वरूपका किंचित् दिग्दर्शन आगे चलकर आपके दूसरे प्रश्नके उत्तरमें कराया जायगा। इसके पहले आप द्वादश शुद्धि, पंचप्रकार पूजा, न्यास, प्रपत्ति, शरणागति और आत्मसमर्पणको संक्षेपमें समझ लें और दूसरे मुख्य साधनों तथा भावोंको भी कुछ जान लें।

द्वादश शुद्धि

द्वादश शुद्धि दो प्रकारकी है। जिनमें एक प्रकार है—चार मनकी, चार वाणीकी और चार शरीरकी। १—विशुद्ध और अनन्य प्रेम, २—श्रद्धापूर्वक भगवच्चिन्तन, ३—चित्तकी प्रसन्नता और ४—प्राणिमात्रकी हितकामना—ये चार मनकी शुद्धि हैं। १—भगवन्नाम-गुणका कीर्तन करना, २—सत्य बोलना, ३—हितकर बात कहना और ४—मीठे शब्दोंमें बोलना—ये चार वाणीकी शुद्धि हैं। एवं १—दूसरोंकी सेवा करना, २—हाथोंसे सात्त्विक दान करना, ३—शरीरके आरामको छोड़कर तप करना और ४—ब्रह्मचर्यका पालन करना—ये शरीरकी शुद्धि हैं। यों त्रिविध बारह प्रकारकी शुद्धि है।

द्वादश शुद्धिका दूसरा प्रकार है—

गृहोपलेपनं चैव तथानुगमनं हरेः।
भक्त्या प्रदक्षिणं चैव पादयोः शोधनं पुनः॥
पूजार्थं पत्रपुष्पाणां भक्त्यैवोच्चयनं हरेः।
करयोः सर्वशुद्धीनामियं शुद्धिर्विशिष्यते॥
तन्नामकीर्तनं चैव गुणानामपि कीर्तनम्।
भक्त्या श्रीकृष्णदेवस्य वचसः शुद्धिरिष्यते॥
तत्कथाश्रवणं चैव तस्योत्सवनिरीक्षणम्।
श्रोत्रयोर्नेत्रयोश्चैव शुद्धिः सम्यगिहोच्यते॥
पादोदकं च निर्माल्यमालानामपि धारणम्।
उच्यते शिरसः शुद्धिः प्रणतस्य हरेः पुरः॥
आघ्राणं तस्य पुष्पादेर्निर्माल्यस्य तथा प्रिये।
विशुद्धिः स्यादन्तरस्य प्राणस्यापि विधीयते॥
पत्रपुष्पादिकं यच्च कृष्णपादयुगार्पितम्।
तदेकं पावनं लोके तद्धि सर्वं विशोधयेत्॥

भगवान् श्रीहरिके मन्दिरमें जाकर उसके आँगन लीपनसे, मूर्तिके पीछे-पीछे चलनेसे और भक्तिपूर्वक प्रदक्षिणा करनेसे दोनों चरणोंकी शुद्धि होती है। भक्तिसहित भगवान्की पूजाके लिये पुष्पादिका चयन करनेसे दोनों हाथ शुद्ध होते हैं, सब शुद्धियोंमें यह शुद्धि विशेष है। भक्तिपूर्वक परमदेव श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका कीर्तन करनेसे वाणीकी शुद्धि होती है। श्रीहरिकी कथा सुननेसे कानोंकी और उनके उत्सव देखनेसे नेत्रोंकी भलीभाँति शुद्धि होती है। सिर झुकाकर भगवान्का चरणोदक लेनेसे और उनकी निर्माल्य माला धारण करनेसे मस्तककी शुद्धि होती है। भगवान्के निर्माल्य पुष्पादिके सूँघनेसे ही अन्तःकरण और प्राणोंकी शुद्धि होती है। सारांश यह कि श्रीकृष्णके चरणयुगलपर चढ़ी हुई पत्र-पुष्पादि कोई भी वस्तु सबको पवित्र करनेवाली होती है। यह द्वादश शुद्धिका दूसरा प्रकार है। दोनों ही प्रकारोंसे शुद्ध होना आवश्यक है।

पंचप्रकार पूजा

पंचप्रकार पूजाके भी दो प्रकार हैं—

प्रथम यह है—

मनसे भगवान्का चिन्तन करना, वाणीसे भगवान्के गुण गाना, हाथोंसे भगवान्की पूजा करना, मस्तकसे भगवान्को प्रणाम करना और अपना सर्वस्व भगवान्के निवेदन कर देना।

दूसरा प्रकार यह है—

इसमें अभिगमन, उपादान, योग, स्वाध्याय और इज्या—ये पाँच प्रकार माने गये हैं—

तत्त्वाभिगमनं नाम देवतास्थानमार्जनम्।
उपलेपं च निर्माल्यदूरीकरणमेव च॥
उपादानं नामगन्धपुष्पादिचयनं तथा।
योगो नाम स्वदेवस्य स्वात्मनैवात्मभावना॥
स्वाध्यायो नाममन्त्रार्थसन्धानपूर्वको जपः।
सूक्तस्तोत्रादिपाठश्च हरेः संकीर्तनं तथा॥
तत्त्वादिशास्त्राभ्यासश्च स्वाध्यायः परिकीर्तितः।
इज्या नाम स्वदेवस्य पूजनं च यथार्थतः॥

अपने इष्टदेवके स्थान साफ करने और उसे लीपने और इष्ट विग्रहके निर्माल्य उतारनेका नाम अभिगमन है। गन्ध-पुष्पादिके चयनका नाम उपादान और इष्टदेवके साथ अपने आत्माको एक कर देनेकी भावनाका नाम योग है। मन्त्रके अर्थका ध्यान करते हुए जप करने, सूक्त-स्तोत्रादिके पाठ, हरिनाम-संकीर्तन और तत्त्वनिरूपण करनेवाले शास्त्रोंके अभ्यासको स्वाध्याय कहते हैं, एवं अपने इष्टदेवकी यथार्थ रूपसे पूजा करना ही इज्या है।

न्यास

भगवान्के चरणकमल ही मेरे एकमात्र जीवनाधार,

रक्षक, स्वामी और सहायक हैं। ऐसा दृढ़ विश्वास करके अन्य सब आश्रयोंके त्यागको न्यास कहते हैं।

प्रपत्ति

मैं एकमात्र भगवान्‌के श्रीचरणोंका ही गुलाम हूँ। श्रीचरणोंकी कृपासे जो कुछ हो रहा है और होगा उसीमें मेरा परम कल्याण है। श्रीचरण ही मेरे एकमात्र अवलम्बन हैं। दृढ़ श्रद्धाके साथ किये हुए ऐसे निश्चित संकल्पका नाम प्रपत्ति है।

शरणागति

'अपना भला किस बातमें है, इस बातको न जाननेवाला मैं दु:खपीड़ित अज्ञानी जीव आपके (प्रभुके) श्रीचरणोंके शरण हूँ, आपके चरणोंकी शरणमें ही मेरा परम कल्याण है। मैं कहीं भी, किसी भी दशामें रहूँ, सदा आपके श्रीचरणोंकी शरण मुझे प्राप्त रहे।' इस निश्चयके साथ भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें आनन्द मानना, भगवान्‌के परममंगलमय नामका चिन्तन निरन्तर करते रहना, भगवान्‌की रुचिके अनुकूल आचरण करना और भगवान्‌के भरोसेपर अपनेको छोड़कर उनसे किसी भी अवस्थामें कुछ भी न माँगना, भगवान्‌को परम पिता, परम पति, परम गति, परम धाम, परम सुहृद् मानकर उनके चरणोंपर सदाके लिये लुट पड़ना शरणागति है।

आत्मसमर्पण

मैं भगवान्‌का हूँ, मेरा सब कुछ भगवान्‌का है, मेरा 'मैं' भी मेरा नहीं, उन्हींका है, इस अपनी वस्तुको वे चाहे जैसे उपयोगमें लावें, चाहे जैसे भोगें, चाहे सो करें;—इस भावसे अपनेको भगवच्चरणोंमें निवेदन कर देना आत्मसमर्पण कहलाता है।

वस्तुत: न्यास, प्रपत्ति, शरणागति और आत्मसमर्पण एक ही साधनकी उत्तरोत्तर विकसित स्थिति हैं। पूर्ण आत्मसमर्पण तो मनुष्य कर नहीं सकता। इसकी तो वह तैयारीमात्र करता है। फिर भगवान् उसे स्वयं उसी प्रकार खींच लेते हैं, जैसे निखालिस लोहेको चुम्बक खींच लेता है।

प्रश्न—'न्यास' शब्दसे क्या अंगन्यास और करन्यास नहीं लिया जा सकता है?

उत्तर—क्यों नहीं? तन्त्रमें तो अंगन्यास और करन्यासके बिना काम ही नहीं चलता। हाँ, भक्ति-साधनामें न्यासका अर्थ अंगन्यास, करन्यास नहीं किया जाता। अंगन्यास-करन्यासके सम्बन्धमें मन्त्र-सम्बन्धी प्रश्नके उत्तरमें कुछ कहा जायगा। अब युगल सरकार श्रीराधाकृष्णके दर्शन और उनके दुर्लभ प्रेमकी प्राप्तिके कुछ मुख्य साधनों और भावोंके सम्बन्धमें कुछ देखना है।

मुख्य साधन और भाव

दम्भ, द्रोह, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ और विषयासक्तिके त्यागसे ही इस प्रेममार्गकी साधना आरम्भ होती है। जिन पुरुषोंमें दम्भादि छ: दोष हैं और जो विषयोंमें आसक्त हैं अर्थात् जिनका मन सुन्दर रूप, बढ़िया स्वादिष्ट पदार्थ, मनोहर गन्ध, कोमल स्पर्श और सुरीले गायनपर रीझा रहता है, वे इस मार्गपर नहीं चल सकते। त्यागी-विरागी महज्जन ही इस प्रेमपन्थके पथिक हो सकते हैं; क्योंकि इस उपासनामें दिव्य प्रेमराज्यमें प्रवेश करना पड़ता है और वहाँ बिना गोपी-भावको प्राप्त किये किसीका प्रवेश हो नहीं सकता। एवं गोपी-भावकी प्राप्ति विषयासक्त पुरुषको कदापि होना सम्भव नहीं। जो विषय-लोलुप भी हैं और अपनेको श्रीराधाकृष्णके प्रेमी बतलाते हैं, वे या तो स्वयं धोखेमें हैं अथवा जान या अनजानमें जगत्‌को धोखा देना चाहते हैं। उपर्युक्त छ: दोषोंसे बचकर और विषयासक्तिको त्यागकर निम्नलिखित रूपमें मुख्य साधना करनी चाहिये।

१—अपनेको श्रीराधिकाजीकी अनुचरियोंमें एक तुच्छ अनुचरी मानना।

२—श्रीराधाजीकी सेविकाओंकी सेवामें ही अपना परम कल्याण समझना।

३—सदा यही भावना करते रहना कि मैं भगवान्‌की प्रियतमा श्रीराधिकाजीकी दासियोंकी दासी बना रहूँ और श्रीराधाकृष्णके मिलन-साधनके लिये विशेषरूपसे यत्न कर सकूँ।

यह बहुत ही रहस्यका विषय है। इसलिये इस विषयपर विशेषरूपसे लिखना अनुचित है। हरेकको इस ओर आकर्षित नहीं होना चाहिये। इस मार्गपर पैर रखना आगपर खेलना है। जो बिना इसका रहस्य समझे इस पथमें प्रवेश करना चाहता है वह पतित हो जाता है। जिसके हृदयमें तनिक-सा काम-विकार हो, उसे इस मार्गसे डरकर सदा अलग ही रहना चाहिये। अवश्य ही जो अधिकारी साधक हैं, उन्हें इस मार्गमें जो अतुल दिव्य आनन्द है, उसकी प्राप्ति होती है।

श्रीराधिकाजीकी सेविकाओंकी सेवामें सफल होनेपर स्वयं श्रीराधिकाजीकी सेवाका अधिकार मिलता है और श्रीराधिकाजीकी सेवा ही युगलस्वरूपकी कृपा प्राप्त करनेका प्रधान उपाय है। जो ऐसा नहीं कर सकते उन्हें युगलस्वरूपकी प्राप्ति बहुत ही कठिन है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं देवदेव शंकरसे कहा है—

यो मामेव प्रपन्नश्च मत्प्रियां न महेश्वर।
न कदापि स चाप्नोति मामेवं ते मयोदितम्॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मत्प्रियां शरणं व्रजेत्।
आश्रित्य मत्प्रियां रुद्र मां वशीकर्तुमर्हसि॥
इदं रहस्यं परमं मया ते परिकीर्तितम्।
त्वयाप्येतन्महादेव गोपनीयं प्रयत्नतः॥

हे महेश्वर! (युगलस्वरूपकी कृपा चाहनेवाला) जो पुरुष मेरी शरण होता है परंतु मेरी प्रिया श्रीराधिकाजीकी शरण नहीं होता, वह मुझको (युगलस्वरूपमें) वस्तुतः नहीं प्राप्त होता, यह मैं आपसे सत्य कहता हूँ। अतएव पूरे प्रयत्नसे मेरी प्रिया (श्रीराधिकाजी)-की शरण ग्रहण करो। मेरी प्रियाका आश्रय ग्रहण करनेवाला मुझे अपने वशमें कर लेता है। मैंने आपसे यह परम रहस्यकी बात कही, आप भी इसे यत्नसे गुप्त ही रखियेगा।

युगलस्वरूपकी उपासनाका विषय कितना रहस्यमय है, यह उपर्युक्त भगवद्वचनोंसे सिद्ध है। मुख्य उपासना तो यही है।

इसके अतिरिक्त इस उपासनासे गौणरूपसे कायिक, वाचिक और मानस—तीन प्रकारके व्रत भी किये जाते हैं। इन व्रतोंसे मुख्य उपासनाके दर्जेतक पहुँचनेमें बड़ी सहायता मिलती है। देवर्षि नारदने भक्त अम्बरीषसे कहा है—

एकभुक्तं तथा नक्तमुपवासमयाचितम्।
इत्येवं कायिकं पुंसां व्रतमुक्तं नरेश्वर॥
वेदस्याध्ययनं विष्णोः कीर्तनं सत्यभाषणम्।
अपैशुन्यमिदं राजन् वाचिकं व्रतमुच्यते॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्पता।
एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि हरितुष्टये॥

दिनभरमें एक बार अपने-आप जो कुछ मिल जाय सो खा लेना और रातको उपवास करना। राजन्! यह कायिक व्रत कहलाता है। वेदका अध्ययन, भगवान्के नामगुणोंका कीर्तन, सत्यभाषण और किसीकी निन्दा या चुगली न करना—वाचिक व्रत कहा जाता है और अहिंसा, सत्य, किसीकी वस्तुपर मन न चलाना, मनसे भी ब्रह्मचर्यका पालन करना और कपट न करना—मानस व्रत कहलाता है।

इसके सिवा भगवान्की उपासनामें अनन्यभावका होना परम आवश्यक है। बस, प्रेमी साधक केवल एक भगवत्प्रेमको ही चाहे और वह भी प्रेममय भगवान्से ही चाहे। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जड़ताई॥
चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ु अनुदिन अधिकाई॥

बस, दिन-पर-दिन केवल अहैतुक प्रेम ही बढ़ता रहे। मोक्ष, ज्ञान, ऐश्वर्य, ऋद्धि, सिद्धि या महान् कीर्ति कुछ भी नहीं चाहिये। और यह प्रेमकी भीख भी भगवान् ही दें। दूसरेकी या दूसरी आशा करना अथवा दूसरेपर या दूसरा विश्वास-भरोसा करना तो हृदयकी जडता है। इस जडताको समर्थ वीर श्रीरघुनाथजी हर लें, बस यही विनती है।

पार्वतीजी तो यहाँतक कहती हैं—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

जबतक भोग या मोक्षकी पिशाची इच्छा हृदयमें वर्तमान है, तबतक वहाँ प्रेमानन्दका उदय कैसे हो सकता है?

वास्तवमें यह विषय बहुत ही रहस्यमय है। अधिकारी पुरुषको श्रीराधाकृष्णतत्त्वके ज्ञाता किसी प्रेमप्राप्त सद्गुरुकी सेवामें रहकर इस विषयको जाननेकी चेष्टा करनी चाहिये।

सद्गुरु

प्रश्न—ऐसे सदगुरुके क्या लक्षण हैं? और उनकी प्राप्ति कैसे हो सकती है

उत्तर—कान फूँकने और द्रव्यादिकी आशा रखनेवाले गुरु तो संसारमें बहुत मिलते हैं, परंतु सद्गुरु—खास करके प्रेममार्गके गुरु तो कोई बिरले ही मिलते हैं। ऐसे सद्गुरुमें निम्नलिखित गुणोंका होना तो अत्यन्त आवश्यक है।

शान्तो विमत्सरः कृष्णे भक्तोऽनन्यप्रयोजनः।
अनन्यसाधनो धीमान् कामक्रोधविवर्जितः॥
श्रीकृष्णरसतत्त्वज्ञः कृष्णमन्त्रविदां वरः।

कृष्णमन्त्राश्रयो नित्यं लोभहीनः सदा शुचिः॥
सद्धर्मशासको नित्यं सदाचारनियोजकः।
सम्प्रदायी कृपापूर्णो विरागी गुरुरुच्यते॥

गुरु उन्हें कहते हैं जो शान्त हों, किसीसे डाह न करते हों, श्रीकृष्णके भक्त हों, श्रीकृष्णके सिवा जिनको दूसरा कोई प्रयोजन न हो, श्रीकृष्ण ही जिनका अनन्य साधन हो, जो बुद्धिमान् हों, काम और क्रोध जिनमें बिलकुल ही न हो, जो श्रीकृष्णरसतत्त्वके जाननेवाले हों, श्रीकृष्णके मन्त्रज्ञाताओंमें श्रेष्ठ हों, जो सदा श्रीकृष्णके मन्त्रका ही आश्रय रखते हों, लोभसे सर्वथा रहित हों, अंदर और बाहरसे—मनमें और व्यवहारमें पवित्र हों, सच्चे धर्मका उपदेश करनेवाले हों, सदाचारके नियोजक हों, श्रीराधाकृष्णतत्त्वके जाननेवाले सम्प्रदायमें हों, जिनका हृदय कृपासे पूर्ण हो और जो भोग-मोक्ष दोनोंमें ही राग न रखते हों।

ऐसे ही सद्गुरुकी शरणमें जाकर अधिकारी शिष्यको श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

अधिकारी शिष्य

प्रश्न—अधिकारी शिष्यके क्या लक्षण हैं?

उत्तर—प्रेममार्गके अधिकारी शिष्यमें पहला आवश्यक गुण तो भगवान्‌में सहज भक्ति है। श्रीकृष्णमें जिनकी भक्ति नहीं है, वे अन्य सब गुणोंसे विभूषित होनेपर भी अधिकारी नहीं हैं—

अत्राधिकारी न भवेत् कृष्णभक्तिविवर्जितः।

भक्तिके साथ ही कृतज्ञता, निरभिमानिता, विनय, सरलता, श्रद्धा आदि गुणोंका होना भी आवश्यक है। दम्भी, लोभी या कामी, क्रोधीको गुरु यह विषय न बतावे। शास्त्रमें कहा है—

श्रीकृष्णेऽनन्यभक्ताय दम्भलोभविवर्जिते।
कामक्रोधविमुक्ताय देयमेतत् प्रयत्नतः॥

जो श्रीकृष्णका अनन्य भक्त हो और दम्भ, लोभ, काम और क्रोधसे रहित हो उसी पुरुषको यह विषय बतलाना चाहिये। परंतु ऐसे अधिकारीको भी सालभर उसकी परीक्षा करनेके बाद ही बतलाना उचित है—

नाशुश्रूषुं प्रति ब्रूयान्नासंवत्सरसेविनम्।

अधिकारी शिष्यके कर्तव्य

प्रश्न—अधिकारी शिष्यको मन्त्रदीक्षा ग्रहण करनेके बाद क्या करना चाहिये?

उत्तर—मुख्य साधना तो ऊपर बतलायी ही जा चुकी है। परंतु अधिकारी शिष्यका कर्तव्य बतलाते हुए भगवान् शंकरने कई बातें और बतलायी हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

मन्त्रदीक्षा प्राप्त होनेपर बुद्धिमान् शिष्य भक्तिपूर्वक गुरु महाराजकी सेवा करते हुए निरन्तर इष्टदेवके भजनमें लगे रहें। दूसरोंको कोई दुःख न दें, किसीको भी कटु शब्द न कहें, इस लोक और परलोककी सारी चिन्ताओंको छोड़ दें। इस लोकमें पूर्वकर्मके अनुसार फल मिलेगा और परलोकमें भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं मंगल करेंगे, ऐसा सोचकर निश्चिन्त हो जायँ और श्रीकृष्णकी पूजामें लगे रहें। परंतु पूजामें यह भाव कभी मनमें न आने दें कि मेरे इस लोक और परलोककी भलाईके लिये मैं पूजा करता हूँ। भगवान्‌के पूजनको विषय-सुखका साधन कभी न बनावें। और—

सुचिरं प्रोषिते कान्ते यथा पतिपरायणा।
प्रियानुरागिणी दीना तस्य सङ्गैककांक्षिणी॥
तद्गुणान् भावयेन्नित्यं गायत्यभिशृणोति च।
श्रीकृष्णगुणलीलादेः स्मरणादि तथाचरेत्॥

'बहुत समयसे विदेश गये हुए पतिकी पतिपरायणा स्त्री जैसे केवल उस पतिपर ही प्रेम करती हुई एकमात्र उसीके संगकी आकांक्षा करती हुई दीन होकर सदा-सर्वदा पतिके गुणोंका स्मरण करती है, पतिके गुणोंको गाती और सुनती है, इसी प्रकार अधिकारी शिष्यको एकमात्र श्रीकृष्णमें आसक्त होकर उनके गुणों और लीलाओंको सुनना, गाना और स्मरण करना चाहिये।'

पतिपरायणा साध्वी पत्नी जैसे अपने सर्वस्वको पतिके अर्पणकर पतिको ही परम गति मानकर प्रतिक्षण बिना विराम शरीर-मन-वाणीसे पतिकी सेवामें लगी रहती है और इसीमें परमानन्दका अनुभव करती है, इसी प्रकार अधिकारी शिष्यको श्रीकृष्णकी सेवामें प्रेमपूर्वक निरन्तर लगे रहना और इसीमें परमानन्दका अनुभव करना चाहिये। एकमात्र श्रीकृष्णके ही अनन्यशरण होना चाहिये। दूसरा कुछ भी उसके लिये साध्य या साधन नहीं होना चाहिये। दूसरे देवताको न तो इष्टभावसे पूजना चाहिये और न किसी अन्य देवकी निन्दा करनी चाहिये। उसे अपने इष्टको छोड़कर दूसरेको स्मरण करनेका भी अवसर क्यों मिले? दूसरेका जूँठा भोजन न करे। दूसरेके पहने हुए वस्त्र न पहने, दूसरे विचारवालोंसे वाद-विवाद न करे,

श्रीकृष्णकी, किसी अन्य देवताकी और भक्तकी निन्दा न सुने। अपने इष्टदेवके अनुकूल आचरण करे, प्रतिकूलका सर्वथा त्याग कर दे। निरन्तर अनन्य होकर चातकी वृत्तिसे श्रीकृष्णका स्मरण करता रहे। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज चातकी वृत्तिका सुन्दर वर्णन करते हुए कहते हैं—

जौं घन बरषै समय सिर जौं भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस॥
उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥
चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥
जिअत न नाई नारि चातक घन तजि दूसरहि।
सुरसरिहू को बारि मरत न माँगेउ अरध जल॥

हे बादल! चाहे तुम ठीक समयपर बरसो या जीवनभर कभी न बरसो, प्रेमी याचक चातकको तब भी तुम्हारी ही आशा बनी रहेगी, वह तो तुम्हें छोड़कर दूसरेकी ओर ताकेगा ही नहीं। जल न बरसाकर यदि मेघ उलटे चातकके ऊपर ओले बरसाने लगे, डरा-डराकर गरजे और कठोर वज्र गिरावे, तब भी प्रेमी चातक क्या मेघको छोड़कर कभी दूसरेकी ओर ताकता है? प्रेमी चातकका अपने प्रियतम मेघके दोषोंकी ओर कभी ध्यान ही नहीं जाता, चाहे वह कुछ भी करे, प्रेमके समुद्रका नाप-तौल कभी हो नहीं सकता। चातक अपनी टेकपर अड़ा रहता है, उसने जीते-जी तो मेघको छोड़कर दूसरेके सामने गर्दन झुकायी नहीं और मरते हुए भी गंगा-जलमें अर्धजली नहीं माँगी।

शास्त्र कहते हैं कि इसी प्रकार—

सरःसमुद्रनद्यादीन् विहाय चातको यथा।
तृषितो म्रियते चापि याचते वा पयोधरम्॥
एवमेव प्रयत्नेन साधनानि विचिन्तयेत्।
स्वेष्टदेवौ सदा याच्यौ गतिस्तौ मे भवेदिति॥

जैसे चातक सहज ही प्राप्त सरोवर, नदी और समुद्र आदिको छोड़कर एकमात्र मेघकी याचना करता है, प्याससे मर जाता है परंतु दूसरेकी ओर नहीं देखता, वैसे ही अधिकारी शिष्य भी एकमात्र अपने इष्टदेवका ही आश्रय करे।

मन्त्र

प्रश्न—अच्छा, युगलस्वरूपकी प्राप्तिके लिये मन्त्र कौन-सा है?

उत्तर—मन्त्र तो वस्तुतः गुरुसे ही पूछना चाहिये। युगल-स्वरूपकी प्रसन्नता प्राप्त करानेवाले अनेक मन्त्रोंका शास्त्रोंमें विधान है। उनमें कुछ ये हैं—

१—'**गोपीजनवल्लभचरणान् शरणं प्रपद्ये**' यह षोडशाक्षर-मन्त्र है। २—'**नमो गोपीजनवल्लभाभ्याम्**' यह दशाक्षर-मन्त्र है। ३—'**क्लीं राधाकृष्णाभ्यां नमः**' यह अष्टाक्षर-मन्त्र है। ऐसे ही और भी मन्त्र हैं। श्रद्धा-विश्वासपूर्वक इनमेंसे किसी भी मन्त्रका आश्रय ग्रहण करनेपर श्रीराधाकृष्णकी सन्निधि प्राप्त हो सकती है। इन मन्त्रोंमें प्रधान सहायक श्रद्धा-विश्वास ही है। न्यास, देश-काल, नियम, शोधन आदिकी खास आवश्यकता नहीं है। तथापि कोई करना चाहे तो पहले दो मन्त्रोंमें मन्त्रोंके प्रथम वर्ण 'ग' पर अनुस्वार लगाकर 'गं' बीज और 'नमः' शक्ति मानकर शेष मन्त्राक्षरोंके द्वारा अंगन्यास-करन्यास कर ले। तीसरे मन्त्रमें तो बीज तथा 'नमः' है ही और श्रीराधाकृष्णकी मूर्तिकी यथाविधि गन्ध-पुष्पादिसे पूजा करे।

दीक्षा

प्रश्न—मन्त्रकी दीक्षा कैसे ग्रहण करनी चाहिये?

उत्तर—सद्गुरुकी शरणमें जाकर उनके बताये हुए साधनोंमें लगे रहकर गुरुकी सेवा करे। फिर गुरु जब जो उचित समझें तब वही मन्त्र शिष्यको दे दें। सद्गुरु न प्राप्त हों तो किसी शुभ दिनमें जब चित्त भगवान्को पानेके लिये आतुर हो—मन-ही-मन भगवान्को परम गुरु मानकर उन्हींसे मानस-मन्त्र ग्रहण कर ले। गोपीभावके उपासकोंको ललितादि किसी महान् प्रेमिका गोपीको गुरु मानकर उनसे मानस-मन्त्र ग्रहण करना चाहिये। दीक्षाके अनेक भेद हैं, परंतु वे सब तान्त्रिक साधकोंके लिये जानने आवश्यक हैं। भक्तिके साधकोंको उनकी उतनी आवश्यकता नहीं है।

श्रीराधाकृष्णका तात्त्विक स्वरूप

प्रश्न—अब भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाजीके तात्त्विक स्वरूपका कुछ वर्णन कीजिये।

उत्तर—भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी स्वरूपाशक्ति श्रीराधिकाजीके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान उन्हींको है। दूसरा कोई भी यह नहीं कह सकता कि इनका स्वरूप ऐसा ही है, जो कुछ भी वर्णन होता है, वह स्थूलरूपका और आंशिक ही होता है। भगवान् क्या हैं इस बातको भगवान्

ही जानते हैं। अतएव उनका पूर्ण वर्णन कौन कर सकता है? परंतु जो कुछ वर्णन होता है सो उन्हींका होता है, इस दृष्टिसे सभी वर्णन यथार्थ हैं। भगवान्‌का पूर्ण स्वरूप सदा पूर्ण है, सब ओरसे पूर्ण है, सब लीलाओंमें पूर्ण है। भगवान् श्रीकृष्ण ही विज्ञानानन्दघन निराकार निर्विकार मायातीत ब्रह्म हैं, भगवान् ही अक्षर आत्मा हैं, भगवान् ही देवता हैं, भगवान् ही जीवात्मा, प्रकृति और जगत् हैं, जो कुछ है सो वही हैं, जो कुछ नहीं है सो भी वही हैं, इतना ही नहीं 'हैं' और 'नहीं' से जिसका वर्णन नहीं होता, वह भी वही हैं। इतना होनेपर भी अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये भगवान्‌का स्वरूपवर्णन लोग करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण समग्र ब्रह्म या पुरुषोत्तम हैं। ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा सब इन्हींके विभिन्न लीलास्वरूप हैं। श्रीराधाजी इन्हींकी स्वरूपाशक्ति हैं। श्रीराधाजी और श्रीकृष्ण सर्वथा अभिन्न हैं। भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य चिन्मय आनन्दविग्रह हैं और श्रीराधाजी दिव्य चिन्मय प्रेमविग्रह हैं। वे रसराज हैं, ये महाभाव हैं। भगवान्‌की इन्हीं स्वरूपाशक्तिसे अनन्तकोटि शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जो जगत्‌का सृजन, पालन और संहार करती हैं। श्रीराधाजी ही श्रीलक्ष्मी, श्रीउमा, श्रीसीता, श्रीरुक्मिणी हैं। इनमें कोई भेद नहीं है। जैसे चन्द्र-चन्द्रिका, सूर्य और प्रभा एक-दूसरेके सर्वथा अभिन्न हैं, इसी प्रकार युगलस्वरूप भी सर्वथा अभिन्न है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—जो नराधम हम दोनोंमें भेदबुद्धि करता है, वह चन्द्र-सूर्यकी स्थितिकालतक कालसूत्र नामक नरकमें रहता है।

आवयोर्भेदबुद्धिं च यः करोति नराधमः।
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

दूसरे प्रसंगमें भगवान् श्रीराधाजीसे कहते हैं—

'जो तुम हो, वही मैं हूँ। हम दोनोंमें किंचित् भी भेद नहीं है, जैसे दूधमें सफेदी, अग्निमें दाहिका शक्ति और पृथ्वीमें गन्ध है उसी प्रकार मैं तुममें हूँ।'

यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नावयोर्ध्रुवम्।
यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति।
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि संततम्॥

राधातापिनीमें कहा है—

येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धि-
र्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्।
देहो यथा छायया शोभमानः
शृण्वन् पठन् याति तद्धाम शुद्धम्॥

'जो यह राधा और जो यह कृष्ण आनन्दरसके सागर हैं, वह एक ही लीला करनेके लिये दो रूप बन गये हैं। जैसे छायासे देह शोभित होती है, इसी प्रकार श्रीराधाजीसे श्रीकृष्णजी शोभायमान हैं। इनके चरित्र पढ़ने-सुननेसे जीव इनके शुद्ध परमधामको प्राप्त होता है।'

लीलाविहारी भगवान् श्रीकृष्ण रसेश्वर हैं और नित्यविहारिणी, नित्यविहारकी बीजभूता, रस-सागरा, महारासकी अधिष्ठात्री देवी योगमाया भगवती श्रीराधिकाजी रसेश्वरी हैं। रसेश्वर और रसेश्वरीका महामिलन ही महारास है जो नित्य अखण्ड और अनन्त है। ये श्रीराधाकृष्ण सबसे परे, सबमें भरे और सर्वरूप हैं। भगवान् शिव देवर्षि नारदसे कहते हैं—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीस्वरूपा सा कृष्णाह्लादस्वरूपिणी॥
ततः सा प्रोच्यते विप्र ह्लादिनीति मनीषिभिः।
तत्कलाकोटिकोट्यंशा दुर्गाद्यास्त्रिगुणात्मिकाः॥
सा तु साक्षान्महालक्ष्मीः कृष्णो नारायणः प्रभुः।
नैतयोर्विद्यते भेदः स्वल्पोऽपि मुनिसत्तम॥
इयं दुर्गा हरी रुद्रः कृष्णः शक्र इयं शची।
सावित्रीयं हरिर्ब्रह्मा धूमोर्णासौ यमो हरिः॥
बहूनां किं मुनिश्रेष्ठ विना ताभ्यां न किंचन।
चिदचिल्लक्षणं सर्वं राधाकृष्णमयं जगत्॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ५०।५३ से ५७)

ये कृष्णमयी होनेके कारण परम देवता हैं। ये सर्वलक्ष्मीस्वरूपा और श्रीकृष्णकी आह्लादस्वरूपा हैं। विप्र! इसीसे मनीषिगण इन्हें ह्लादिनी कहते हैं। त्रिगुणात्मिका दुर्गा आदि शक्तियाँ इन्हींकी कोटि-कोटि कला और अंश हैं। ये साक्षात् महालक्ष्मी हैं और श्रीकृष्ण भगवान् नारायण प्रभु हैं। मुनिसत्तम! इनमें परस्पर जरा भी भेद नहीं है। ये दुर्गा हैं, श्रीकृष्ण रुद्र हैं। ये शची हैं, श्रीकृष्ण इन्द्र हैं। ये सावित्री हैं, श्रीकृष्ण ब्रह्मा हैं। ये धूमोर्णा हैं, श्रीकृष्ण यमराज हैं। मुनिवर! अधिक क्या, इनको छोड़कर और कुछ भी नहीं है। यह जड-चेतन जगत् सब बस, राधाकृष्णमय ही है। संक्षेपमें श्रीराधाकृष्णका यही स्वरूप है।

प्रश्न—यह तो सगुण स्वरूप है। मुनियोंका कहना है कि भगवान् तो निराकार, निर्गुण, निष्क्रिय, परात्पर ब्रह्म हैं। इस सगुण स्वरूपमें ये लक्षण कैसे हो सकते हैं?

उत्तर—भगवान्‌में सभी लक्षण हो सकते हैं। निराकार-साकार, निर्गुण-सगुण, ब्रह्म-माया, परमात्मा-जीवात्मा सब कुछ एक ही कालमें एक ही भगवान् बने हैं। वे सर्वभवनसमर्थ हैं। भगवान्‌का एक निर्गुण निराकार निष्क्रिय रूप भी है ही। परंतु भगवान् जिस मंगलमय दिव्य विग्रहरूपमें परधाममें विराजमान हैं, मायासे अतीत दिव्य सच्चिदानन्दमय होनेके कारण उस स्वरूपमें भी ये सब लक्षण भलीभाँति सिद्ध हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

प्रकृत्युत्थगुणाभावादनन्तत्वात् तथेश्वरम्।
असिद्धत्वान्मद्‌गुणानां निर्गुणं मां वदन्ति हि॥
अदृश्यत्वान्ममैतस्य रूपस्य चर्मचक्षुषा।
अरूपं मां वदन्त्येते वेदाः सर्वे महेश्वर॥
व्यापकत्वाच्चिदंशेन ब्रह्मेति च विदुर्बुधाः।
अकर्तृत्वात् प्रपंचस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ५१। ६८ से ७०)

महेश! मुझमें प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले कोई गुण नहीं हैं, और मेरे गुणोंको कोई सिद्ध नहीं कर सकता, इसीलिये मुझे सब निर्गुण कहते हैं। मेरा यह दिव्य स्वरूप चर्मचक्षुओंसे कोई देख नहीं सकता, इसीसे वेद मुझको अरूप या निराकार कहते हैं। चैतन्यांशके द्वारा मैं जगत्‌भरमें व्याप्त हूँ, इसीसे पण्डित मुझे ब्रह्म कहते हैं। और विश्वप्रपंचका कर्ता न होनेके कारण बुद्धिमान् पुरुष मुझको निष्क्रिय कहते हैं।

इस प्रकार भगवान् साकार सगुण होकर ही निर्गुण और निराकार हैं। कर्ता होकर भी अकर्ता हैं।

श्रीराधा-कृष्णका ध्यान

प्रश्न—अच्छा, अब भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधाजीके महान् सुन्दर ध्यानस्वरूपोंका कुछ वर्णन कीजिये।

उत्तर—सौन्दर्यमाधुर्यनिधि श्रीराधाकृष्णके ध्यान-स्वरूपोंका वर्णन कौन कर सकता है? यहाँ ***'गिरा अनयन नयन बिनु बानी'*** वाली कहावत सिद्ध होती है। तथापि पद्मपुराणमें एक स्थानपर लीलाविहारी श्रीराधाकृष्णके स्वरूपका बहुत ही सुन्दर निरूपण है, वही यहाँ उद्‌धृत कर दिया जाता है। भगवान् शिव देवर्षि नारदजीसे कहते हैं—

भगवान् श्रीकृष्ण पीताम्बर पहने हैं, सुन्दर द्विभुज हैं, वनमालासे विभूषित हैं, उनका वर्ण नवजलधरके समान श्याम है, मस्तकपर मयूरपिच्छ शोभा पा रहा है, मुखमण्डल करोड़ों चन्द्रमाओंके समान मनोहर है। वे नेत्रोंको घुमा रहे हैं, कानोंमें कनेरके फूल खोंसे हुए हैं, भालमें गोल-गोल चन्दनका तिलक लगाये हैं जिसके बीचमें केसरका विन्दु सुशोभित है। दोनों कानोंमें बालसूर्यके समान कान्तिवाले कुण्डल विराजमान हैं। दर्पणके समान आभायुक्त कपोलोंपर स्वेदकण अत्यन्त शोभा पा रहे हैं। भगवान्‌की दृष्टि श्रीप्रियाजीके बदनकमलकी ओर लगी हुई है, भौंहें लीलासे ऊपरकी ओर उठी हुई हैं और उनकी ऊँची नासिकाके अग्रभागमें मोती लटक रहा है। उनके पके हुए बिम्बफलके समान लाल-लाल होठ दाँतोंकी कान्तिसे प्रकाशित हो रहे हैं। भगवान् अपनी भुजाओंमें केयूर और अंगद आदि आभूषण धारण किये हुए हैं और उनके करकमल मुद्रिकाओंसे अलंकृत हैं। वे दाहिने हाथमें मुरली और बायें हाथमें लीलाकमल धारण किये हुए हैं। उनकी कमरमें करधनी सुशोभित है और चरणोंमें नूपुर विराजमान है। वे प्रेमके आवेशसे चंचल हो रहे हैं और उनके नेत्रयुगल भी चलायमान हैं। वे श्रीप्रियाजीके साथ हँस रहे हैं और उन्हें भी बार-बार हँसा रहे हैं। इस प्रकार वृन्दावनमें कल्पवृक्षके नीचे रत्नसिंहासनके ऊपर श्रीप्रियाजीके साथ विराजमान भगवान् नन्दनन्दनका ध्यान करे। इसके अनन्तर उनके वामभागमें स्थित श्रीराधिकाजीका इस प्रकार ध्यान करे। श्रीप्रियाजी नीला अंगा धारण किये हुए हैं, उनके श्रीअंगोंकी कान्ति तपाये हुए सोनेके समान है। उनके मन्दहास्ययुक्त मुखारविन्दका आधा भाग उनकी रेशमी साड़ीके अंचलसे ढका हुआ है। वे चंचल नेत्रोंसे चकोरीकी भाँति अपने प्रियतमके मुखचन्द्रकी ओर निहार रही हैं और अपने अँगूठे और तर्जनीसे उनके मुखमें कुटे हुए पानके सहित सुपारीका चूर्ण अर्पण कर रही हैं। उनके सुन्दर पीन और उन्नत वक्षःस्थलपर मोतियोंका हार लटक रहा है, उनका कटिप्रदेश अत्यन्त कृश है और स्थूल नितम्बपर करधनी विराजमान है। वे रत्नजटित ताटंक (कर्णफूल), केयूर (बाजूबन्द), अँगूठी और कंकण धारण किये हुए हैं। उनके चरणोंमें कड़े, नूपुर और रत्नजटित छल्ले सुशोभित हैं। उनके समस्त अंग इतने सुन्दर हैं मानो वे लावण्यके सार ही हैं। वे आनन्दरसमें डूबी हुई हैं, अत्यन्त प्रसन्न हैं और

उनके अंगोंमें नवयौवन झलक रहा है। ब्राह्मणदेव! उनकी सखियाँ उन्हींके समान गुण और अवस्थावाली हैं और उनपर चँवर डुला रही हैं तथा पंखा झल रही हैं। (पद्मपुराण, पातालखण्ड ५०। ३५ से ५०)

यह श्रीराधाकृष्णके स्वरूपका ध्यान है। यहाँ एक बार फिर चेतावनी दे देना उचित है कि परम वैराग्यवान् पुरुषको ही इस साधनामें प्रवृत्त होना चाहिये। नहीं तो, अनिष्टकी आशंका है।

स्वरूप-साक्षात्कार

प्रश्न—क्या इस स्वरूपका साक्षात्कार भी हो सकता है? हो सकता है तो किस उपायसे?

उत्तर—अवश्य ही हो सकता है। जब युगलसरकार कृपा करके अपने दुर्लभ दर्शन देना चाहें तभी दर्शन हो सकते हैं। उनकी कृपा ही साक्षात्कारका उपाय है।

प्रश्न—क्या साक्षात्कारमें भगवान्‌की मुरलीध्वनि, नूपुरध्वनि सुनायी दे सकती है, क्या उनके श्रीअंगकी मधुर दिव्य गन्ध और उनके दिव्य चिन्मय चरणोंका स्पर्श प्राप्त हो सकता है?

उत्तर—दर्शन होनेपर उनकी कृपासे सभी कुछ हो सकता है। परंतु एक बात याद रखनी चाहिये कि ये सब बातें ध्यानमें भी हो सकती हैं। जैसे स्वप्नमें देखना, सुनना, सूँघना, स्पर्श करना सब कुछ होता है परंतु वस्तुतः वहाँ अपनेसे कोई भिन्न वस्तु नहीं होती, सब मनकी ही कल्पना होती है। इसी प्रकार ध्यानकालमें भी मनोनिर्मित विग्रहका स्पर्श, मुरलीध्वनि या नूपुरध्वनिका श्रवण, मधुर गन्धका ग्रहण हो सकता है। उसमें और साक्षात्कारमें बड़ा अन्तर है, परंतु इस अन्तरका पता साक्षात्कार होनेपर ही लगता है, पहले नहीं। ध्यान होना भी बड़े ही सौभाग्यका विषय है।

सरल साधन

१—भगवन्नामजप

प्रश्न—भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेका कोई सरल उपाय भी है?

उत्तर—है क्यों नहीं। भगवन्नामका जप-कीर्तन और कातर भावसे रो-रोकर भगवान्‌से प्रार्थना करना उनकी कृपा-प्राप्तिके सरल उपाय हैं।

भगवान् शंकर देवी पार्वतीसे कहते हैं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
हरे राम हरे कृष्ण कृष्ण कृष्णेति मंगलम्॥
एवं वदन्ति ये नित्यं न हि तान् बाधते कलिः।
अत आन्तरकर्माणि कृत्वा नामानि च स्मरेत्॥
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति कृष्णेत्याह पुनः पुनः।
मन्नाम चैव त्वन्नाम यो जपित्वाव्यतिक्रमात्॥
सोऽपि पापाद् विमुच्येत तूलराशेरिवानलः।
जयाद्येतत्त्वया वाप्यथवा श्रीशब्दपूर्वकम्॥
तच्च मे मंगलं नाम जपात् पापात्प्रमुच्यते।
दिवा निशि च संध्यायां सर्वकालेषु संस्मरेत्॥
अहर्निशं स्मरन्नाम कृष्णं पश्यति चक्षुषा।

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ५१। ३ से ७)

केवल एक हरिनाम ही उद्धारका उपाय है। जो व्यक्ति नित्य (अखण्डरूपसे) हरे राम हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण आदि नामोंका उच्चारण करता है, कलियुगका उसपर असर नहीं हो सकता। अतएव प्रतिदिन आन्तर कर्मोंको करके बार-बार कृष्ण कृष्ण कृष्ण इन नामोंको स्मरण करना चाहिये। ऐसा मुनिगण भी कहते हैं। जो व्यक्ति मेरा (शिव) नाम और तुम्हारा (पार्वती) नाम (अथवा गौरी-शंकर नाम) जप करता है, रूईका ढेर जैसे आगसे जल जाता है, वैसे ही वह भी पापोंसे मुक्त हो जाता है। अर्थात् नाम-जप पापोंको भस्म कर डालता है। जो पुरुष जय श्रीकृष्ण, जय श्रीशंकर, जय श्रीपार्वती, इस प्रकार आगे या पीछे 'जय' और 'श्री' जोड़कर मंगलमय नामका जप करता है वह पापोंसे छूट जाता है। क्या दिन, क्या रात, क्या संध्या—सभी समय भगवान्‌के नामोंका स्मरण करना चाहिये। रात-दिन अखण्ड नाम-जप करनेसे भगवान् श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शन हो सकते हैं।

इस प्रकार अखण्ड नाम-जप और स्मरणसे सहज ही पापोंका नाश होता है और भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हो सकते हैं।

२—प्रार्थना

दूसरा उपाय प्रार्थना है। एकान्तमें आर्तभावसे और सच्चे हृदयसे इस तरह भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये।

संसारसागरान्नाथौ पुत्रमित्रगृहाकुलात्।
गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभंजनौ॥
योऽयं ममास्ति यत्किंचिदिह लोके परत्र च।
तत्सर्वं भवतोरद्य चरणेषु समर्पितम्॥

अहमस्म्यपराधानामालयस्त्यक्तसाधनः ।
अगतिश्च ततो नाथौ भवन्तावेव मे गतिः॥
तवास्मि राधिकाकान्त कर्मणा मनसा गिरा।
कृष्णकान्ते तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम॥
शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानिकराकरौ।
प्रसादं कुरुतं दास्यं मयि दुष्टेऽपराधिनि॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ५१।४२ से ४६)

हे नाथ! पुत्र, मित्र, गृह आदिसे घिरे हुए संसार-सागरसे आप ही मेरी रक्षा करते हैं, आप ही शरणागत जनोंका भय भंजन करते हैं। यह मैं, मेरा यह देह और इस लोक तथा परलोकमें जो कुछ भी मेरा है, आज वह सब मैं आपके चरणोंमें अर्पण करता हूँ। मैं अपराधोंका घर हूँ, मेरे अन्य कोई भी साधन नहीं है। मेरी कोई गति नहीं है। हे नाथ! आप ही मेरी गति हैं। हे श्रीराधाकृष्ण! मैं तन, मन, वचनसे आपका ही हूँ, आप ही मेरी अनन्य गति हैं। मैं आपके शरण हूँ, आपके चरणोंमें पड़ा हूँ, आप दयाकी खान हैं। मुझ दुष्ट अपराधीपर दया करके मुझे अपना दास बना लीजिये मेरे युगल सरकार!

इस प्रकार नाम-जप और आर्त तथा दीन प्रार्थनासे भगवत्कृपा प्राप्त होती है और भगवत्कृपासे दुर्लभ भी परम सुलभ हो जाता है। आपने प्रश्नोंका उत्तर बहुत विस्तारसे चाहा था, मैंने संक्षेपमें लिखना चाहा था तो भी उत्तर कुछ बड़ा हो गया है, इससे आपको कुछ संतोष हो और पाठकोंको लाभ हो तो बड़े आनन्दकी बात है। भूल-चूक और प्रमादके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ।

श्रीभगवन्नाम

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

भगवान्‌का नाम कितना पवित्र है, कैसा पावन है, उसमें कितनी शान्ति है, कैसी शक्ति है और उससे क्या हो सकता है? यह कोई नहीं बतला सकता। अथाहकी थाह कौन ले? जिसके माहात्म्यका आरम्भ बुद्धिसे परे पहुँचनेपर होता है, उसका वाणीसे कैसे वर्णन हो सकता है? जिस प्रकार भगवान् अनिर्वचनीय हैं, उसी प्रकार उनके नामका माहात्म्य भी अनिर्वचनीय है। शास्त्रोंमें जो भगवन्नाम-माहात्म्य लिखा है वह वास्तविक माहात्म्यका प्रकाशक नहीं है, वह तो नाम-जपसे लाभ उठानेवाले महानुभावोंके कृतज्ञ हृदयका उद्‌गारमात्र है। वास्तविक माहात्म्य तो कोई कह ही नहीं सकता। जो जिस भावसे भगवान्‌के नामको जपता है उसे अपने उस भावके अनुसार ही लाभ होता है। आज भी भगवन्नामसे लाभ उठानेवाले बहुत लोग हैं। इस विषयमें केवल धार्मिक क्षेत्रके ही नहीं, राजनीतिक क्षेत्रके भी कितने ही महानुभावोंसे मेरी बातें हुई हैं, उन्होंने कहा ही नहीं लिखकर भी दिया है कि 'हमें भगवन्नामसे परम लाभ हुआ।'

आजकल एक ऐसी शंका होती है कि 'जहाँ भगवन्नामके माहात्म्यके विषयमें इतना कहा जाता है वहाँ देखनेमें उसके विपरीत क्यों आता है? यदि भगवन्नाममें कोई वास्तविक शक्ति होती तो निरन्तर और अधिक संख्यामें नामजप करनेवाले लोगोंमें विशेष परिवर्तन क्यों नहीं देखा जाता? शंका कई अंशोंमें ठीक है, परंतु बहुत-से कर्म ऐसे होते हैं जिनका परोक्षमें भारी फल होनेपर भी प्रत्यक्षमें नहीं देखा जाता अथवा तत्काल न दीखकर देरसे दीखता है। कई बार पूर्ण फल न होनेके कारण आंशिक रूपमें होनेवाले फलका पता नहीं लगता। एक आदमी बीमार है और उसके कई रोग हैं, दवासे पेटका दर्द दूर हो गया पर अभी ज्वर नहीं छूटा। इससे क्या यह समझना चाहिये कि उसे दवासे कोई लाभ ही नहीं हो रहा है? लाभ होनेमें जो विलम्ब होता है उसमें कुपथ्य ही प्रधान कारण है। हम नामजप करनेके साथ ही नामापराध भी बहुत करते हैं इसके अतिरिक्त श्रद्धा और विश्वासपूर्वक नामजप नहीं करते। कहीं बहुत थोड़े मूल्यमें उसे बेच देते हैं। मामूली सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति अथवा मान-बड़ाईके बदलेमें उसे खो देते हैं। हम कीर्तन करते हैं और फिर पूछते हैं कि 'क्यों जी! आज मैंने कैसा कीर्तन किया?' इस प्रकार अश्रद्धा, अविश्वास, सकाम भाव अथवा लोगोंमें बड़ाई पानेके लिये किये जानेवाले नाम-जप-कीर्तनसे वास्तविक फल देरमें हो तो क्या आश्चर्य? नाम-कीर्तनका एक सुन्दर क्रम और स्वरूप श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

शृण्वन् सुभद्राणि रथांगपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसंगः॥
एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

(११।२।३९-४०)

'चक्रपाणिभगवान्के प्रसिद्ध जन्म, कर्म और गुणोंको सुनकर और उनकी ही लीलाओंके अनुरूप नामोंको लज्जा छोड़कर गान करता हुआ, अनासक्त भावसे संसारमें विचरे। इस प्रकारके निश्चयसे प्रियतम प्रभुके नामकीर्तनमें प्रेम उत्पन्न होता है, तब वह भाग्यवान् पुरुष प्रेमावेशमें कभी खिलखिलाकर हँसता है, कभी सुबकियाँ भरता है, कभी जोर-जोरसे रोने लगता है, कभी ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी उन्मत्तकी भाँति नाच उठता है।'

अपने प्रियतम भगवान्के नामकीर्तनमें प्रेमावेशके कारण इस प्रकार निर्लज्ज होकर नाच उठना चाहिये; परंतु उसमें कहीं भी दिखावट या विषयासक्ति नहीं होनी चाहिये। भगवान्का नाम हमें आनन्द नहीं देता, इसका कारण यही है कि वह हमें प्रिय नहीं है और नाम प्रिय इसलिये नहीं है कि हमारा भगवान्में प्रेम नहीं है। भगवान्में प्रेम होता तो नामजप प्यारा लगता। प्यारेकी प्रत्येक चीज प्यारी होती है। कहीं-कहीं तो उससे बढ़कर प्यारी होती है। लौकिक सम्बन्धमें भी हम देखते हैं कि जब किन्हीं लड़के-लड़कीका सम्बन्ध हो जाता है, तब घरमें किसीसे एक-दूसरेका नाम सुनकर या उनके विषयमें कोई बात सुनकर वे अपने हृदयमें एक प्रकारकी गुदगुदी-सी अनुभव करने लगते हैं। प्यारेका वस्त्र, प्यारेका भोजन यहाँतक कि प्यारेकी फटी जूती भी प्यारी होती है। जब लौकिक प्रेमकी ऐसी बात है, तब भगवत्प्रेमके विषयमें तो कहना ही क्या है। शृंगवेरपुरमें भरतजी भगवान्के शयनके स्थानमें उनके अंगसे स्पर्शित 'कुश-साथरी' को देखकर प्रेमानन्दमें मग्न हो गये थे। अक्रूरजी भगवान्के चरण-चिह्नोंको देखकर तन-मनकी सुधि भूल गये थे। आज भी जब हम व्रजभूमिको देखते हैं, तब स्वतः ही हमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्मृति हो आती है और उसमें एक अनोखा आनन्द मिलता है। प्रेम और आनन्दका अविनाभावी सम्बन्ध है, जहाँ प्रेम है वहाँ आनन्द है ही। इसीसे गोपियोंके प्रेमका महत्त्व है। भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीमती राधारानी इसी प्रेम और आनन्दके मूर्तिमान् रूप हैं। भगवान्का जो आनन्दस्वरूप है वही श्रीमती राधा हैं। राधारानीके प्रेमास्पद भगवान् हैं और भगवान्की प्रेमास्पदा श्रीराधा हैं। प्रेमका स्वभाव है **'तत्सुखे सुखित्वम्'** प्रेमास्पदके सुखमें सुखी होना, यही काम और प्रेमका अन्तर है। काममें अपने सुखकी इच्छा है और प्रेममें प्रियतमके सुखकी! राधाजी श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही अवतीर्ण हुई हैं और अपनी सेवासे श्रीकृष्णको आनन्द होता देखकर परम सुखी होती हैं। इधर राधाजीको सुखी देखकर श्रीकृष्णके सुखकी वृद्धि होती है और श्रीकृष्णके सुखकी वृद्धिसे राधाजीका सुख और भी बढ़ जाता है। इस प्रकार एक-दूसरेके आनन्दसे दोनोंका आनन्द उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। यह उत्तरोत्तर बढ़नेवाला आनन्द ही भगवान्का नित्यरास है। प्रेममें यही तो विलक्षणता है। इसमें कहीं अलम् नहीं होता। प्रेमका स्वरूप ही है **'प्रतिक्षणवर्धमानम्'**। प्रेमास्पदका सुख ही अपना सुख है। चाहे उसका वह सुख प्रेमीके लिये लोक-दृष्टिसे कितना ही कष्टकर क्यों न हो। प्रेमी चातककी भावना है—

जौं घन बरषै समय सिर जौं भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस॥
रटत रटत रसना लटी तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग॥
बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिऐ चतुर चातकहि चूक॥
चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोष॥

हम जो संसारके दुःखोंसे घबरा उठते हैं इसका कारण क्या है? यही कि हम उनमें प्रेमास्पद भगवान्की रुचिको, उनके विधानको नहीं देखते। कठोर आघातमें उनके सुकोमल करकमलका स्पर्श नहीं पाते। परंतु भगवान्का प्रेमी भक्त किसी कष्टसे नहीं घबराता; क्योंकि वह प्रत्येक वस्तुमें भगवान्का स्पर्श पाता है। वास्तवमें भगवान्का प्रेमी भक्त सब कष्टोंसे परे पहुँचा हुआ होता है, उसका जीवन भगवत्सेवामय होता है। वह

सेवाको छोड़कर मुक्ति भी नहीं चाहता। मुक्ति तो वह चाहता है जो किसी बन्धनका अनुभव करता हो। भगवत्प्रेमका बन्धन तो सारे बन्धनोंके छूट जानेपर होता है और इस प्रेमबन्धनसे भक्त कभी मुक्त होना चाहता नहीं। जो इस प्रेमबन्धनसे मुक्ति चाहता है वह भक्त कैसा? इसीसे कहा गया है—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। १३)

अर्थात् 'भक्तजन देनेपर भी मेरी सेवाको छोड़कर मुक्ति आदिको स्वीकार नहीं करते।' इस प्रेमसाधनाके सम्बन्धमें गीताके दो श्लोक बड़े महत्त्वके हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०। ९-१०)

'जिनका चित्त मुझमें लगा है, जिनके प्राण मुझमें फँसे हैं, जो नित्य आपसमें मेरी ही महत्ताको समझते-समझाते प्रेम करते हैं, जो मेरी ही बात कहते हैं, मुझमें संतुष्ट हैं और निरन्तर मुझमें ही रमण करते हैं, उन निरन्तर मुझमें लगे हुए प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं अपना वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इन श्लोकोंमें जिस साधनाकी ओर संकेत है, प्रेमियोंके जीवनका वह स्वभाव होता है। इसीसे भगवान्ने भागवतमें इस बातको स्वीकार किया है कि गोपियोंने अपना मन मुझे अर्पण कर दिया, गोपियोंके प्राण मद्गतप्राण हैं, गोपियाँ मेरी ही चर्चा करती हैं, मैं ही एकमात्र उनका इष्ट हूँ, मुझमें ही उनकी एकान्त प्रीति है।

गोपियोंने भगवान्का नाम रखा था—चित्तचोर। क्या मधुर नाम है? अहा! हम सबकी भी यही इच्छा रहनी चाहिये कि भगवान् हमारा चित्त चुरा लें। कुछ सज्जनोंको भगवान्के लिये इस 'चोर' शब्दपर बड़ी आपत्ति है। उनके विचारसे श्रीमद्भागवतमें जो माखन-चोरी आदिकी बात है वह भगवान्के चरित्रमें कलंकरूप ही है। पर असलमें बात ऐसी नहीं प्रतीत होती। पहली बात तो यह है, उस समय भगवान् बालकस्वरूप थे इसलिये उनकी चोरी आदिकी प्रवृत्ति किसी दूषित बुद्धिके कारण नहीं मानी जाती; वह केवल उनकी बालसुलभ लीला ही थी; परंतु वास्तवमें सच पूछा जाय तो क्या कोई यह कह सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने कभी किसी ऐसी गोपीका माखन चुराया था जो ऐसा नहीं चाहती थी। गोपियाँ तो इसीलिये अच्छे-से-अच्छा माखन रखती थीं और ऐसी जगह रखती थीं जहाँ भगवान्का हाथ पहुँच सके और वह हृदयकी अत्यन्त उत्कट इच्छाके साथ यह प्रतीक्षा करती रहती थीं कि कब श्यामसुन्दर आवें और हमारी इस समर्पणपद्धतिको स्वीकारकर मित्रोंसहित माखनका भोग लगावें और कब हम उस मधुर झाँकीको देखकर कृतार्थ हों। यही तो उनकी प्रेमसाधना थी। इन गोपियोंके माहात्म्यको कौन कह सकता है, जो निरन्तर चित्तचोरकी श्यामसुन्दर मूर्तिकी झाँकीके लिये उत्सुक रहती थीं और पलकोंका अदर्शन असह्य होनेके कारण पलक बनानेवाले ब्रह्माजीको कोसा करती थीं। गोपियोंकी इस प्रेमनिष्ठाके विषयमें श्रीमद्भागवत (१०। ४४। १५)- में कहा है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

'जो व्रजयुवतियाँ गौओंको दूहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालना झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें झाड़ू देते समय प्रेमपूर्ण मनसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णका नाम-गुणगान किया करती हैं उन श्रीकृष्णमें चित्त निवेशित करनेवाली गोपरमणियोंको धन्य है।'

इस प्रकार गोपियोंका चित्त हर समय श्रीश्यामसुन्दरमें ही लगा रहता था। घरके सारे धंधोंको करते हुए भी उन्हें अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी एक क्षणको भी विस्मृति नहीं होती थी। उद्धवने जब गोपियोंको योगकी शिक्षा दी, तब उस समय उन्होंने उद्धवसे यही कहा कि आप उन्हें योग सिखाइये जिन्हें वियोग हो, हमारा तो श्रीश्यामसुन्दरके साथ नित्यसंयोग है। वे बोलीं—

स्याम तन, स्याम मन, स्याम है हमारो धन,
आठों जाम ऊधो हमें स्याम ही सो काम है!
स्याम हिये, स्याम जिये, स्याम बिनु नाहिं तिये,
आँधेकी-सी लाकरी अधार स्याम नाम है॥

स्याम गति, स्याम मति, स्याम ही है प्रानपति,
स्याम सुखदाई सो भलाई सोभाधाम है।
ऊधो तुम भये बौरे, पाती लैके आये दौरे,
जोग कहाँ राखैं, यहाँ रोम-रोम स्याम है॥

गोपियाँ हर समय सब कुछ स्याममय ही देखती थीं। इस सम्बन्धमें एक प्रसंग है। एक बार कई गोपियाँ मिलकर बैठीं। उस समय यह प्रश्न हुआ कि 'श्रीकृष्ण श्याम क्यों हैं? माता यशोदा और बाबा नन्द दोनों ही गौरवर्ण हैं। बलदेवजी भी गौरवर्ण हैं, फिर ये साँवले क्यों हुए?' इसपर किसीने कुछ कहा और किसीने कुछ। अन्तमें एक व्रजनागरी बोली—

कजरारी अँखियानमें, बसो रहत दिन-रात।
प्रीतम प्यारो हे सखी, ताते साँवर गात॥

'अहो! आठों पहर काजलभरी आँखोंमें रहनेके कारण ही वह काला हो गया है।' कितना ऊँचा सिद्धान्त है? ऐसे महात्माको गीता भी परम दुर्लभ बतलाती है— '**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥**' किंतु यहाँ तो वह सिद्धान्त ही नहीं, प्रत्यक्ष प्रकट स्वरूप था। गोपियोंकी आँखोंमें श्यामके सिवा और किसीका प्रतिबिम्ब ही नहीं पड़ता था। उनकी आँखोंके सामने आते ही सब कुछ साकार श्यामस्वरूप हो जाता था। **बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो।**

गोपियोंका भगवान्‌के प्रति प्रियतमभाव था। उनसे बढ़कर '**मच्चित्ता मद्गतप्राणाः**' और कौन हो सकता है? चित्त भगवन्मय हो जाय, उसपर भगवान्‌का स्वत्व हो जाय। यह नहीं कि हम उसके द्वारा भगवान्‌का भजन करें। उसपर भगवान्‌का ही पूरा अधिकार हो जाना चाहिये। ऐसी स्थिति उन व्रजसुन्दरियोंको ही प्राप्त हुई थी। इसीसे उद्धवको गोपिकाओंके पास भेजते समय भगवान् उनसे कहते हैं—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४६।४)

वे करती क्या थीं? वे जहाँ बैठतीं अपने प्रियतम भगवान्‌की ही चर्चा किया करती थीं। उसीका गान करती थीं, उसीमें संतुष्ट रहती थीं और एकमात्र उसीमें रमती थीं। यह भगवत्प्रेमियोंका संग बहुत दुर्लभ है। एक सत्संग वह है जिससे चित्त शुद्ध होता है, फिर शुद्ध चित्तमें ज्ञानोदय होता है और उसके पश्चात् भगवत्प्राप्ति होती है; किंतु यह वह सत्संग है जिसके लवमात्रके साथ मोक्षकी भी तुलना नहीं होती। श्रीमद्भागवत (१।१८।१३)- में कहा है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

अर्थात् 'भगवत्प्रेमियोंका जो लवमात्रका संग है उसके साथ हम स्वर्ग और मोक्षकी भी तुलना नहीं कर सकते, फिर साधारण मानवभोगोंके विषयमें तो कहना ही क्या है?' इसीसे भक्तजन कभी मोक्ष नहीं चाहते। उनकी तो यही इच्छा रहती है कि भगवत्प्रेमी मिलकर सदा प्रियतम भगवान्‌की मधुर चर्चा किया करें। यही गोपियोंका भी सत्संग था।

एक वैष्णव-ग्रन्थमें श्रीमती राधाजी कहती हैं कि 'ऐसा मन होता है, मेरे लाखों आँखें हों तो श्यामसुन्दरके दर्शनका कुछ आनन्द आवे। लाखों कान हों तो श्यामनामके श्रवणका सुख मिले।' यह कोई कल्पना नहीं है। प्रेम चीज ही ऐसी है। जिस दिन हमें भगवान्‌में प्रेम हो जायगा, उस दिन उनका नाम हमें इतना प्राणप्यारा होगा कि वह हमारे जीवनकी सबसे बढ़कर आवश्यक चीज बन जायगा। जबतक हमारा भगवान्‌में प्रेम नहीं होता तभीतक हमें माला आदिकी आवश्यकता है। प्रेम होनेपर तो प्रियतमके नामोच्चारणमात्रसे हमारी नस-नस नाच उठेगी। हम अपने प्रियतमके प्रेममें इतना उन्मत्त हो जायँगे कि हमारे रोम-रोमसे भगवन्नामकी ध्वनि होने लगेगी। फिर यह जाननेकी इच्छा कभी नहीं होगी कि मैंने कैसा कीर्तन किया। यथार्थ कीर्तनका यही स्वरूप है। मेरा यह कथन नहीं है कि वर्तमान कीर्तन करनेवाले सभीको ऐसी लोकैषणा रहती है। मेरा अभिप्राय केवल यही है कि कीर्तन करते समय हमारा यह लक्ष्य नहीं होना चाहिये कि सुननेवाले लोग हमारे कीर्तनको अच्छा कहें, बल्कि यही लक्ष्य हो कि हम उसमें तन्मय हो जायँ। द्रौपदीके एक नामपर ही भगवान् प्रकट हो गये थे; परंतु हुए उसी समय थे जब उसने सबका आश्रय छोड़कर परम निर्भरतासे भगवान्‌को पुकारा था।

एक कसौटी और है, भगवन्नामका आश्रय लेनेवालेको यह देखते रहना चाहिये कि हमारे अंदर दैवी सम्पत्ति बढ़ रही है या नहीं? यदि दैवी सम्पत्तिकी वृद्धि दिखायी न दे तो समझना चाहिये कि हमारा भगवन्नाम-

कीर्तन नामापराधसहित है। भगवद्भजनसे दैवी सम्पत्तिकी वृद्धि होनी ही चाहिये। जिस प्रकार भगवत्प्रेमीमें दैवी सम्पत्ति होना अनिवार्य है उसी प्रकार दैवी सम्पत्ति भी बिना भगवत्प्रेमके टिक नहीं सकती। देवर्षि नारदने कहा है कि भगवन्नाममें एक विलक्षण शक्ति है। उससे भगवत्प्रेमकी स्वाभाविक ही वृद्धि होती है और भगवत्प्रेममें दैवी सम्पदाका पूरा प्राकट्य होना ही चाहिये। आजकल ऐसा नहीं होता इससे जान पड़ता है कि हमारे भजनमें कोई दोष है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुमें यह विलक्षण शक्ति बहुत अधिक देखी जाती थी। बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् इसलिये उनके कीर्तनके समीप होकर निकलनेमें डरते थे कि वे कहीं उसी रंगमें न रँग जायँ। और यदि कोई उनके कीर्तनको देख लेता, उनका स्पर्श पा लेता तो वह उन्मत्त हुए बिना रहता नहीं। परंतु महाप्रभुको भी बड़ी सावधानीसे यह शक्ति अर्जन करनी पड़ी थी। एक बार श्रीवासके घर कीर्तन होता था। उस दिन उसमें आनन्दकी स्फूर्ति नहीं हुई। तब श्रीमहाप्रभुजीने कहा, 'देखो यहाँ कोई बाहरका आदमी तो नहीं है।' इधर-उधर देखनेपर एक ब्राह्मणदेवता मिले, जो कीर्तनके प्रेमी नहीं थे। तब सब लोगोंने प्रार्थना करके उन्हें विदा किया। उसके पश्चात् कीर्तन किया गया। तब रस आया। कीर्तनके श्रवणसे वे ब्राह्मणदेवता भी पवित्र हो गये। अतः भक्तको सब प्रकारके कुसंगसे बचना चाहिये।

हमलोगोंको भी इस बातका संकल्प करना चाहिये कि हम तन्मय होकर श्रद्धा-विश्वाससहित निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक भगवन्नामका जप, स्मरण और कीर्तन करें। निष्कामभाव यहाँतक हो कि हमें तो बस, भगवन्नामका जप और कीर्तन ही करना है, यह नहीं देखना कि इससे भगवान् भी रीझते हैं या नहीं!

पंचमहायज्ञ

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

(गीता ३। ९)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मको छोड़कर अन्य कर्ममें लगनेवाला यह मनुष्य कर्मद्वारा बँधता है, अतएव तुम आसक्तिरहित होकर यज्ञके लिये कर्मका भलीभाँति आचरण करो।

यज्ञार्थ कर्म क्या है?

'यज्ञो वै विष्णुः' इस श्रुतिके अनुसार यज्ञका अर्थ भगवान् विष्णु होता है; विष्णु समस्त चराचरमें व्याप्त हैं, इन विश्वरूप भगवान्की पूजाके लिये किया जानेवाला प्रत्येक कर्म यज्ञार्थ-कर्म है। यज्ञार्थ-कर्मसे बन्धन नहीं होता, बन्धन होता है स्वार्थ-कर्मसे। जो स्वार्थको छोड़कर, कर्म और उसके फलमें आसक्तिका त्याग कर केवल भगवत्-प्रीत्यर्थ अपने वर्णाश्रमानुकूल कर्तव्य-कर्म करता है वही यथार्थमें यज्ञार्थ-कर्म करनेवाला है और उसीको भगवत्कृपासे भवबन्धनसे मुक्ति प्राप्त होती है। इस बातको ध्यानमें रखकर मनुष्य अपनी प्रत्येक वैध चेष्टाको मुक्तिका साधन बना सकता है।

पंचमहायज्ञ

इसमें भी पंचमहायज्ञ तो प्रत्येक गृहस्थके लिये अत्यावश्यक नित्यकर्म हैं। इनका नाम महायज्ञ इसीलिये है कि इनका सम्बन्ध समस्त विश्वसे है। अन्यान्य यज्ञ प्रधानतया व्यक्तिगत लाभके लिये होते हैं, परंतु इन महायज्ञोंके तो सिद्धान्तमें ही विश्वकल्याण भरा है। विश्वरूप बने हुए भगवान्के पाँच स्वरूप हैं—ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य और अन्यान्य भूत-प्राणी (पशु, पक्षी, वृक्ष, औषध, लता, गुल्म आदि)। इन पाँचोंका सम्बन्ध प्रत्येक प्राणीसे है। मनुष्य-प्राणी-जगत्में विवेकसम्पन्न है, वह इस बातको भलीभाँति हृदयंगम कर सकता है कि इन पाँचोंकी सहायतासे ही हमारा जीवन-निर्वाह होता है। वस्तुतः भगवान्की सृष्टिमें ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो व्यर्थ हो और जिससे किसीको लाभ न पहुँचता हो एवं जिसकी सृष्टि, स्थिति या संहारके कार्यमें कहीं-न-कहीं आवश्यकता न हो। सभी प्राणियोंका परस्पर सम्बन्ध है। प्राणियोंके हितमें ही विश्वका हित है। अतएव भगवान्की सृष्टिका कोई भी पदार्थ, विश्वरूप भगवान्का कोई भी क्षुद्रतम स्वरूप, अथवा विश्व-शरीररूप कार्य-ब्रह्मका कोई भी अंग उपेक्षणीय नहीं है। इसलिये मनुष्यको विश्वके समस्त अंगोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले इन पाँच अंगोंकी

सेवा सदा करनी चाहिये। इनकी सेवासे सारे विश्वकी सेवा होती है, जहाँ विश्वका कल्याण है, वहाँ आत्मकल्याण तो है ही।

पंचमहायज्ञके सिद्धान्तको समझनेमें ही मनुष्यकी व्यष्टिगत क्षुद्रता नष्ट हो जाती है। वह देखता है कि भगवान् स्वयं विश्वमें अनेक रूप धारण करके स्थित हैं, वे ही ऋषि बनकर जगत्को ज्ञाननेत्र प्रदान करते हैं, वे ही देवता बनकर सबका पालन-पोषण करते हैं, वे ही पितर बनकर सबका कल्याण करते हैं, वे ही मनुष्य बनकर सबकी सहायता करते हैं और वे ही भूत-प्राणी बनकर सबका उपकार करते हैं। इस प्रकार भगवान्को सर्वत्र देखकर वह विनम्रभावसे उन्हें भोग लगाकर बचा हुआ प्रसाद स्वयं पाना चाहता है। यह प्रसाद ही अमृत है। अपनी कमाईसे पहले इन पाँचोंको तृप्त करे, इसके बाद जो कुछ बच रहे, उसे भगवत्प्रसाद समझकर स्वयं ग्रहण करे; ऐसा करनेवाला मनुष्य समस्त पापोंसे छूट जाता है। भगवान् कहते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(गीता ३।१३)

'यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं, परंतु जो पापी मनुष्य केवल अपने लिये ही पकाते (कमाते) हैं वे पाप खाते हैं।'

अभिप्राय यह कि संसारमें मनुष्य जो कुछ भी उपार्जन करे उसको पहले ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य और अन्य भूत-प्राणियोंकी सेवामें लगावे। फिर जो कुछ बच रहे उसीसे अपना निर्वाह करे। ऐसा करनेवाला ही पापोंसे छूटता है। जो ऐसा नहीं करता, केवल अपने मौज-शौक या अपने शरीर-पालनके लिये ही कमाता-खाता है, वह तो पाप कमाता है और पाप ही खाता है। पंचमहायज्ञका यही व्यापक अर्थ है और इसीके अनुसार सबको यथासाध्य करना चाहिये। यह विश्वरूप भगवान्की पूजा है और निष्कामभावसे इस प्रकार पूजा करनेवाले मनुष्यको भगवत्प्राप्ति होती है।

इसके सिवा दो बातें और विचारणीय हैं, एक तो यह कि इन पाँचोंसे हमारा बड़ा उपकार होता है। यदि हम उपकारका बदला कुछ भी न दें तो हम कृतघ्न होते हैं और कृतघ्नकी बहुत बुरी गति होती है। दूसरे, मनुष्यके जीवन-निर्वाहके लिये अनेकों जीवोंकी नित्य अनिवार्य हिंसा होती है, उसके पापसे बचनेके लिये भी शास्त्रविधिके अनुसार पंचमहायज्ञकी आवश्यकता है। इन दोनों बातोंको कुछ समझ लेना है—पहले तो यह समझ लेना है कि ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य और अन्य प्राणियोंसे हमारा क्या उपकार होता है; और दूसरे यह समझना है कि मनुष्यके लिये प्रतिदिन अनिवार्य हिंसा कौन-सी होती है और उसके पाप-नाशके लिये शास्त्रमें क्या विधान है।

ऋषि

वेदके मन्त्रोंको अथवा सृष्टिके गुह्यतम रहस्योंको दिव्य दृष्टिसे देखनेवाले तत्त्वज्ञानी, ईश्वरभक्त, तपस्वी, सदाचारी, त्यागी, निःस्वार्थी, अरण्यवासी, पुण्यजीवन, प्रातःस्मरणीय ऋषियोंकी कृपासे ही शास्त्रोंकी रचना हुई, जिनके द्वारा मनुष्योंके ज्ञाननेत्र खुले और उन्हें विविध भाँतिकी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विद्याओं और कलाओंकी प्राप्ति हुई। उन परम पूजनीय महापुरुषोंने अपना सारा तपःपूत जीवन अकेले जंगलोंमें रहकर ज्ञानके अर्जनमें लगाया और बड़े ही उदारभावसे अपने उपार्जित ज्ञानको बिना किसी बदलेकी भावनासे केवल लोकोपकारार्थ—भगवान्के सृष्टियज्ञमें पवित्र आहुति देनेके भावसे—ग्रन्थित करके वे हमलोगोंको दे गये और आज भी ग्रन्थोंके अतिरिक्त स्वयं वे हमारे बिना ही माँगे और बिना ही पहचाने परोक्षरूपसे हमारी सहायता कर रहे हैं। यदि भगवद्रूप ऋषिगण शास्त्रोंद्वारा हमें ज्ञान प्रदान न करते तो हमारी न मालूम क्या दशा होती और हमारा वह पशुजीवन प्राकृतिक पशुओंसे भी न मालूम कितना नीचे गिरा हुआ होता! ये ऋषिगण भगवान्की आध्यात्मिक शक्तिके अधिष्ठाता हैं और जगत्में सदा-सर्वदा आनन्दमय अध्यात्म-ज्ञानकी ज्योतिका विस्तार करते रहते हैं। इनके उपकारका कभी बदला नहीं चुकाया जा सकता।

देवता

देवताओंके द्वारा ही सृष्टिका समस्त कार्य चल रहा है। देवता श्रीभगवान्की अधिदैवशक्तिके अधिष्ठाता हैं और प्रत्येक क्रियामें इन देवताओंका हाथ रहता है। देवताओंके द्वारा ही विश्वकी समस्त क्रियाएँ सुसम्पन्न और सुरक्षित होती हैं। हमारे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि सब, इन देवताओंकी सहायतासे ही बराबर कार्य करते हैं। देवताओंकी शक्तिसे ही कर्म जड होनेपर फल

उत्पन्न करता है। जल, अग्नि, वायु, अन्न आदिरूपमें देवता ही हमारा पोषण करते हैं। समयपर वर्षा बरसना, चन्द्र-सूर्यका नियमितरूपसे उदय और अस्त होना, ऋतुओंका बदलना आदि कार्य देवताओंके ही हैं। जगत्‌में स्वास्थ्य, आवश्यक पदार्थ और सुख-शान्तिकी प्राप्ति देवताओंकी कृपासे ही होती है। देवताओंका हमपर बड़ा भारी उपकार है। देवता नित्य और नैमित्तिक-भेदसे दो प्रकारके हैं। रुद्र, आदित्य, वसु, इन्द्र, प्रजापति, महाशक्ति आदि देव-देवियाँ नित्य हैं और सुकर्मवश देवयोनिको प्राप्त होनेवाले जीव एवं ग्रामदेवता, वनदेवता, कुलदेवता आदि नैमित्तिक हैं। दोनों ही प्रकारके देवताओंसे हमें सहायता मिलती है।

पितर

देवताओंकी भाँति पितर भी दो प्रकारके हैं—नित्य और नैमित्तिक। अर्यमा, अग्निष्वात्ता, सोमपा आदि पितर नित्य हैं, जो सृष्टिके आदिकालसे ही हमारी सहायतामें लगे हैं; तथा कर्मवश पितृलोकमें गये हुए हमारे पूर्वज नैमित्तिक पितर हैं। पितर भगवान्‌की आधिभौतिक शक्तिके अधिष्ठाता हैं। व्यक्तिगत और देशगत स्वास्थ्य, संतान, धन, विद्या आदिकी उन्नतिमें पितरोंका बहुत हाथ है। पितरोंकी कृपासे जगत् सुखी होता है। हमारे माता-पिता हमारे लिये कितना कष्ट सहते हैं, किस प्रकारसे स्वयं कष्ट सहकर हमारा पालन करते हैं, हमारे लिये उनके हृदयमें स्नेहका कितना अटूट भंडार भरा रहता है, इस बातका प्रायः सबको अनुभव है। माता-पिताके महान् उपकारका बदला संतान कब चुका सकती है? इसी प्रकार मरनेके बाद पितरलोकमें गये हुए पितर भी अपनी संतानकी हित-कामना और उनका हित-साधन करते रहते हैं। नित्य पितर तो माता-पिताकी भाँति नित्य ही स्नेहपूरित हृदयसे सबका उपकार करते रहते हैं।

मनुष्य

मनुष्योंसे मनुष्योंके उपकारका तो सबको अनुभव है। यहाँ तो परस्परकी सहायता बिना एक मिनट भी काम नहीं चल सकता। संसारमें ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो यह कह सके कि मेरी जीवनयात्रा किसी भी दूसरे मनुष्यकी सहायताके बिना केवल अपने ही बलपर चल रही है। देश, जाति और समाजका संगठन ही पारस्परिक सहायतासे जीवनको सहज और सुखमय बनानेके लिये है। राजा, बादशाह, विद्वान् आदि सभी दूसरे मनुष्योंसे सहायता प्राप्त करते हैं।

भूतप्राणी

भूतप्राणियोंका तो कहना ही क्या है? पशु-पक्षियोंसे और ओषधि, लता, गुल्म और वृक्षादिसे मनुष्यका कितना भारी उपकार हो रहा है, इसका कोई सीमा-निर्देश नहीं कर सकता। गाय, बैल, भैंस, घोड़े, ऊँट, हाथी, खच्चर, गदहे, कुत्ते आदिसे तो प्रत्यक्ष ही हमारा उपकार होता है; परंतु विचारकर देखा जाय और प्राणिजगत्‌के रहस्यको समझनेकी चेष्टा की जाय तो पता लगेगा कि जिन प्राणियोंको मनुष्य हिंसक और भयानक समझकर सदा मारनेके लिये तैयार रहता है, वे प्राणी भी न मालूम हमारा कितना उपकार करते हैं। एक विद्वान् पुरुषने बतलाया था कि यदि साँप न होते तो जहरीली हवा फैल जाती जिससे मनुष्य रह नहीं सकते। जहरीली हवाको साँप भक्षण कर जाते हैं।

इस प्रकार ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य और अन्यान्य भूतप्राणी सभी हमारे उपकारी सिद्ध होते हैं। इनका ऋण किसी अंशमें चुकाकर कृतज्ञता प्रकट की जाय तथा इनको पुष्ट एवं प्रसन्न करके विश्वको लाभ पहुँचाया जाय, इसके लिये पंचमहायज्ञ अवश्य करने चाहिये।

दूसरी बात है नित्य होनेवाली अनिवार्य हिंसाकी। गृहस्थमें विशेषरूपसे हिंसा पाँच प्रकारसे होती है। मनु महाराज लिखते हैं—

पंच सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥

(मनु० ३। ६८)

'गृहस्थके घरमें पाँच हिंसाके स्थान हैं—चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ऊखल और जलघट; इन वस्तुओंका उपयोग करनेवाला गृहस्थ पापके बन्धनमें पड़ता है।' इस पापसे छूटनेका उपाय वे बतलाते हैं—

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पंच क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥

(मनु० ३। ६९)

'इन सब हिंसाओंके प्रायश्चित्तके लिये महर्षियोंने गृहस्थोंके लिये क्रमसे नित्य पंचमहायज्ञ निर्माण किये।'—

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते॥

(मनु० ३। ७१)

'जो पुरुष अपनी शक्तिके अनुसार इन पाँच महायज्ञोंको करता है, वह गृहस्थाश्रममें रहनेपर भी नित्य हिंसाके पापसे लिप्त नहीं होता।'

यद्यपि आजकल पाश्चात्त्य सभ्यताके प्रसारसे हमारे घरोंमें प्रायः चक्की-ऊखलका बहिष्कार-सा होने लगा है, परंतु इनके बदलेमें बड़े-बड़े हिंसाके कार्य इतने बढ़ गये हैं, जिनका कोई ठिकाना नहीं। चक्की-ऊखलका काम भी मशीनोंद्वारा होता ही है, जहाँ और भी अधिक हिंसा होती है। सच पूछा जाय तो आजकल मनुष्य विषयभोग और शारीरिक आरामके पीछे पागल होकर जिस लापरवाहीसे जीव-हिंसा कर रहा है, उतनी शायद पहले कभी नहीं होती थी। लाखों प्रकारकी पशु-पक्षियोंकी हिंसासे बननेवाली दवाइयाँ और मौज-शौकके सामान, बड़ी-बड़ी इमारतें, मीलें, रेल, कारखाने, मशीनें, कपड़े, जूते और न मालूम कितनी ऐसी मनुष्यकी बढ़ी हुई राक्षसी आवश्यकताओंको पूरी करनेवाली चीजें हैं, जिनके निर्माणमें असंख्य जीवोंकी हिंसा होती है। परंतु मनुष्यको इसका आज कोई खयाल नहीं है। प्राचीन कालके यज्ञोंमें होनेवाली हिंसा आजकी इस हिंसाके सामने समुद्रमें कणके समान है। आज मनुष्यके सुखके लिये एक-एक आविष्कारके प्रयोगमें न मालूम कितने निर्दोष प्राणियोंके प्राण हरण किये जाते हैं। आज एक मनुष्यके लिये दिनभरमें जितनी हिंसा होती है, उतनी शायद हिंसक जन्तु अपनी उदरपूर्तिके लिये नहीं कर सकता होगा। इस हिंसामय जीवनका उद्धार तो भगवान्‌के भजनसे ही होगा। परंतु कम-से-कम पंचमहायज्ञ तो जरूर ही करने चाहिये।

पंचमहायज्ञ किस प्रकार करें?

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

(मनु० ३।७०)

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥

(मनु० ४।२१)

'अध्यापन (स्वाध्याय) ब्रह्मयज्ञ या ऋषियज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ है, होम देवयज्ञ है, बलि भूतयज्ञ है और अतिथि-सत्कार मनुष्ययज्ञ है। इस ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और पितृयज्ञको सदा-सर्वदा यथाशक्ति करना चाहिये; इसका त्याग कभी नहीं करना चाहिये।'

अब इनमेंसे प्रत्येकपर कुछ-कुछ विचार करना है।

ऋषियज्ञ या ब्रह्मयज्ञ

महान् तपस्वी महर्षियोंके ऋणसे मुक्त होना तो हमारे लिये सम्भव ही नहीं है और न ऋषियोंको ही किसीसे कुछ कामना है, परंतु अपनी कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये हमे ऋषियज्ञ या ब्रह्मयज्ञ अवश्य करना चाहिये। ब्रह्मयज्ञसे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है और ऋषिगण प्रसन्न होकर आध्यात्मिक प्रकाश फैलाते हैं, जिससे अपने परम कल्याणके साथ ही विश्वका कल्याण होता है। ऋषियज्ञ करनेके प्रकार हैं—

१—अपने-अपने अधिकार और योग्यताके अनुसार वेद, पुराण, महाभारत, रामायण, गीता, स्मृति आदि सद्ग्रन्थोंको पढ़ना, सुनना और उनमें वर्णित ज्ञानको ग्रहण करना।

२—ऋषियोंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार शुद्ध आचरण करना।

३—ऋषियोंके बनाये हुए आश्रम-धर्मके विधानपर चलना। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासका यथाविधि आचरण करना।

४—ऋषियोंके दिव्य उपदेशका जगत्‌में प्रचार हो, इसके लिये स्वयं उनके उपदेशानुसार आचरण करते हुए विश्वमें उसका प्रचार करना।

५—तर्पण-दानादिसे ऋषियोंको तृप्त करना।

देवयज्ञ

भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

(३।१०—१२)

'प्रजापतिने कल्पके आदिमें यज्ञके साथ ही प्रजाको रचकर कहा कि इस यज्ञद्वारा (देवताओंको प्रसन्न करके तुम) अपनी उन्नति करो। यह यज्ञ तुम्हें इच्छित फल देनेवाला हो। इस यज्ञके द्वारा तुम देवताओंकी उन्नति करो और देवता (अपनी शक्तिसे) तुम्हारी उन्नति करें। यों परस्पर उन्नति करते हुए तुम परम श्रेय (मोक्ष)-को प्राप्त होओगे। यज्ञके द्वारा उन्नत (और शक्तिसंवर्धित)

देवता तुम्हें (बिना ही माँगे) इच्छित प्रिय पदार्थोंको देंगे, उनके द्वारा दिये हुए पदार्थोंको जो मनुष्य उन्हें बिना ही दिये स्वयं भोगता है, वह निश्चय ही चोर है।'

इससे देवयज्ञकी सार्थकता और आवश्यकता सिद्ध हो गयी। देवयज्ञसे इस लोकमें समस्त सुख और भगवदाज्ञानुसार निष्कामबुद्धिसे करनेपर परम कल्याण—मोक्षकी प्राप्ति होती है। देवताओंकी प्रसन्नतासे लोककल्याण तो आप ही होता है।

देवताओंके दो स्वरूप हैं—एक देवलोकमें रहनेवाले शरीरधारी देव; दूसरा चन्द्र, सूर्य, जल, अग्नि, वायु, पृथिवी, विद्युत् आदिके रूपमें रहे हुए, तथा पशु-पक्षी आदि जीवोंके अधिष्ठातृ देवता। इन देवताओंकी जितनी उन्नति होगी, इनका कार्य जितना व्यवस्थित और सुचारुरूपसे होगा, उतना ही विश्वको सुख होगा। अब भी सच पूछा जाय तो देवताओंने अपने कर्तव्यको प्रायः नहीं छोड़ा है, वे अपनी प्रतिज्ञापर दृढ़ हैं; परंतु हमलोगोंने देवयज्ञको छोड़कर अपनी शर्त तोड़ दी, इसीलिये दैविक दुर्घटनाएँ आजकल जगत्में विशेष हो रही हैं। इसका कारण यही है कि देवताओंकी क्रियाओंमें हमारे दोषसे कहीं-कहीं गड़बड़ी आ जानेसे अधिदैव जगत्में अस्तव्यस्तता आ गयी है, उसीके फलस्वरूप अनावृष्टि, अतिवृष्टि, बाढ़, अकाल, भूकम्प, संक्रामक रोग आदि होते हैं। इसीका दूसरा नाम 'दैवीकोप' है।

सृष्टिकार्यके संचालनमें सबका भाग है। जगन्नाटकके सूत्रधारने प्रत्येक प्राणीको अलग-अलग पार्ट दे रखा है, एक भी पार्टके खराब होने या न होनेसे मालिकके खेलमें गड़बड़ी आ जाती है। इसीलिये सब ओर व्यवस्था रखनेका विधान है और शास्त्रोंकी रचना हुई है। मनुष्योंने अपना कर्तव्य छोड़ दिया, इसीलिये जगत्का खेल कुछ खराब-सा दीखने लगा और मनुष्योंपर विपत्तियाँ आने लगीं। खेल बिगाड़नेवाले अभिनेतापर नाटक-मण्डलीके स्वामीका कोप होना और उसे दण्ड प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। यह ऐसी संगठित व्यवस्था है कि ईश्वर-आज्ञानुसार अच्छेका फल अच्छा और बुरेका बुरा अपने-आप ही हो जाता है।

भगवान् कहते हैं—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

(गीता ३।१४—१६)

'अन्नसे प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होता है। कर्म ब्रह्म (वेद)-से उत्पन्न होता है, ब्रह्म (वेद) अक्षर अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न है। इसलिये सर्वव्यापक परमात्मा सदा-सर्वदा यज्ञमें स्थित रहता है। हे पार्थ! जो इस लोकमें इस प्रकार चलते हुए सृष्टि-चक्रके अनुसार नहीं चलता (यज्ञ नहीं करता), वह इन्द्रियोंके सुख-भोगमें लगा रहनेवाला (कर्तव्यहीन) पापात्मा मनुष्य व्यर्थ ही जीता है।'

चक्रमें कहीं जरा-सी अस्तव्यस्तता हुई कि सारे रथकी गतिमें गड़बड़ी हो जाती है, इसीलिये देवयज्ञ अत्यन्त आवश्यक है। देवयज्ञ यह है—

(१) देवताओंके लिये शास्त्रविधिके अनुसार होम करना। हवनसे केवल वायुशुद्धि ही नहीं होती, बल्कि दैवजगत्से जो हमारा नित्य-सम्बन्ध है वह और भी दृढ़ होता है और देवताओंकी प्रसन्नतासे हमारे विघ्नबाधाओंके नाश और इच्छित सुख-भोगकी प्राप्तिमें विशेष सुगमता हो जाती है। होम यज्ञका एक प्रधान रूप है।

(२) शास्त्र-निर्णीत समयोंपर विभिन्न देवताओंकी निष्काम उपासना करना।

(३) देव-मन्दिरोंकी स्थापना और यथाविधि देव-पूजा करना।

(४) तर्पण-दानादिसे देवताओंको संतुष्ट करना।

(५) समस्त भूतप्राणियोंके साथ यथायोग्य सद्व्यवहार करके, एवं जल, वायु, अग्नि, विद्युत् आदिको पवित्र, क्रियाशील रख उनका यथायोग्य सदुपयोग करके सबके अधिष्ठातृ देवताओंको प्रसन्न और समुन्नत करना।

पितृयज्ञ

मनु महाराजने 'तर्पण' को पितृयज्ञ बतलाया है। तर्पणमें तृप्तिका भाव है। इसका प्रधान उद्देश्य है पितरोंको तृप्त करना। उनके तृप्त होनेसे उनके आशीर्वादद्वारा हमारी सुख-समृद्धिकी अपने-आप ही वृद्धि होती है। पितृयज्ञ यह है—

(१) जीवित माता-पिता और गुरुजनादिके चरणोंमें नित्य श्रद्धा-भक्तिसे प्रणाम करना, उनकी सेवा करना;

अन्न, धन एवं आवश्यक पदार्थोंद्वारा उनके इच्छानुसार उन्हें तृप्त करना। उनका सच्चे हृदयसे हित चाहना और करना एवं उनकी शास्त्रसे अविरुद्ध सभी आज्ञाओंको स्वार्थ छोड़कर आदरपूर्वक पालन करना।

(२) परलोकगत पितरोंके लिये नित्य श्राद्ध और तर्पण करना एवं उनको प्रिय लगनेवाली वस्तुओंका उनके अर्थ योग्य पात्रको दान करना।

(३) सदाचारपरायण रहकर परलोकगत पितरोंको सुख पहुँचाना; उनके आत्माकी शान्तिके लिये ब्राह्मणभोजन, व्रत, जप, तप, हवन आदि करना-कराना, भगवान्‌की भक्ति करके उन्हें और भी ऊँची गति अथवा मोक्षकी प्राप्ति करानेके लिये प्रयत्न करना। परलोकगत पितर सदाचारी, हरिभक्त संतानसे बहुत आशा रखते हैं और ऐसे संतानको देखकर वे अत्यन्त ही प्रसन्न होते हैं। यहाँतक कि हर्षके मारे वे नाच उठते हैं। शास्त्रमें कहा है—

आस्फोटयन्ति पितरो नृत्यन्ति च पितामहाः।
मद्वंशे वैष्णवो जातः स नस्त्राता भविष्यति॥

कथा प्रसिद्ध है कि प्रह्लादकी भक्तिसे उसके पितृकुलका उद्धार हो गया था!

(४) हरिनाम-संकीर्तनके द्वारा परलोकगत पितरोंके कष्टोंका हरण करना। यह अनुभवसिद्ध प्रयोग है।

(५) सदाचार, सेवा, सद्व्यवहार और दानादिके द्वारा जगत्‌में अपने पितरोंकी कीर्ति फैलाना।

एक बात याद रखनेकी है कि हम जो आज मनुष्य-शरीरको प्राप्त हैं सो पहले भी सदासे मनुष्य ही थे ऐसी बात नहीं है; जितनी प्रकारकी योनियाँ भगवान्‌ने रची हैं, प्रायः सभी योनियोंमें हम उत्पन्न हो चुके हैं, और उन सभी योनियोंके हमारे माता-पिता आदि अब भी (जो मुक्त न हो गये हैं) विश्वमें कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी योनि और स्थितिमें वर्तमान हैं। अतः इस न्यायसे भी हमारा सबके साथ आत्मीय सम्बन्ध है। इसीलिये सबकी तृप्तिके निमित्त श्राद्ध और तर्पणका विधान है। विष्णुपुराणमें कहा है कि तर्पणके समय पितरोंका तर्पण करके इस प्रकार कहता हुआ मनुष्य सब भूतोंकी तृप्तिके लिये सबको जल दे—

'देव, असुर, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कूष्माण्ड, पशु, पक्षी, जलचर, स्थलचर और वायुभक्षक सर्प आदि सभी प्रकारके जीव मेरे दिये हुए जलसे तृप्त हों। जो प्राणी सम्पूर्ण नरकोंमें नाना प्रकारकी यातनाएँ भोग रहे हैं, उनकी तृप्तिके लिये मैं जल-दान करता हूँ। जो मेरे बन्धु हैं या अबन्धु हैं अथवा जो दूसरे जन्मोंमें मेरे बन्धु थे एवं और भी जो-जो मुझसे जलकी इच्छा रखते हैं वे सब मेरे दिये जलसे तृप्त हों। भूख-प्याससे व्याकुल जीव कहीं भी क्यों न हों; मेरा दिया हुआ यह तिलोदक उनकी सदा तृप्ति करता रहे।' (विष्णुपुराण ३। ११। ३२—३७)

देखनेमें यह बहुत ही उदार भावना है; और उदार भावना है भी! परंतु वास्तवमें यह कर्तव्य ही है। सृष्टियज्ञके संचालनार्थ भगवान्‌के आज्ञानुसार सबकी उन्नति करनेमें ही अपनी उन्नति है। विश्वमात्रके समस्त प्राणियोंको तृप्त करना ही तर्पणका उद्देश्य है।

मनुष्ययज्ञ

मनुष्यका कार्य मनुष्यसे ही चलता है, अतएव प्रत्येक मनुष्यको अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार मनुष्यमात्रकी सेवा करनी चाहिये। वह इस प्रकार हो सकती है—

(१) अपने आश्रित जनोंका आदरपूर्वक पालन-पोषण करना।

(२) रोगियोंकी आदर-सत्कार और सावधानीसे सेवा करना।

(३) किसी भी मनुष्यको दुःख न पहुँचाकर यथासाध्य अन्न, वस्त्र, सत्परामर्श, सद्विद्या और सद्व्यवहार आदिसे सबको सुख पहुँचाना। यथासाध्य सेवा करवानेकी इच्छा न रखकर सेवा करनेकी इच्छा रखना और यत्न करना। इतनेपर भी दूसरोंसे सेवा तो करानी ही पड़ेगी, क्योंकि जीवन-निर्वाहमें इससे बचनेकी गुंजाइश ही नहीं है।

(४) अपने सदाचरण, उत्तम बर्ताव और भगवद्भक्तिसे दूसरे मनुष्योंके लिये उत्तम आदर्श उपस्थित करना।

(५) सदा निष्कामभावसे सबके हितमें संलग्न रहना।

इसमें जिससे जितना अधिक कार्य हो सके, उतना ही करना और अधिकाधिक करनेकी चेष्टा करते रहना। अपनेको मनुष्य-जातिका सेवक मानकर कहीं गर्वमें नहीं फूल उठना चाहिये। वास्तवमें एक मनुष्य असंख्य मनुष्योंसे जितनी सेवा ग्रहण करता है, अकेला उन सबका बदला कभी चुका ही नहीं सकता। अतएव

जितनी सेवा हो सके उतनीको ही थोड़ी समझे और सेवा करनेका अवसर भगवान्ने दिया इसके लिये भगवान्‌की कृपा समझे, एवं सेवा करानेवालोंने हमारी तुच्छ सेवा स्वीकार की इसके लिये उनका उपकार मानकर कृतज्ञ हृदयसे सदा विनम्र रहता हुआ सेवामें लगा ही रहे। शास्त्रकारोंने सबके सुभीतेके लिये केवल अतिथि-सेवनको ही मनुष्ययज्ञमें बतलाया है, अतएव अतिथि-पूजन तो अवश्य ही करे। धन और अन्न पैदा करना, रसोई बनाना आदि सभी कार्य यज्ञरूप हैं। रसोईमें जो कुछ बने, उससे पहले बलिवैश्वदेवके द्वारा सबके लिये भाग निकालकर फिर अतिथिको सादर भोजन कराना चाहिये। '**अतिथिदेवो भव**' यह श्रुतिवाक्य प्रसिद्ध है। पाराशर-स्मृतिमें कहा है—

वैश्वदेवविहीना ये आतिथ्येन बहिष्कृताः।
सर्वे ते नरकं यान्ति काकयोनिं व्रजन्ति च॥
पापो वा यदि चाण्डालो विप्रघ्नपितृघातकः।
वैश्वदेवे तु सम्प्राप्तः सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः॥

(१।५७-५८)

'जो वैश्वदेव नहीं करते तथा अतिथिका सत्कार नहीं करते, वे सब नरकोंमें पड़ते हैं और फिर कौएकी योनिको प्राप्त होते हैं। वैश्वदेवके समय आनेवाला चाहे पापी हो, चाण्डाल हो, ब्रह्महत्यारा हो या अपने पिताको मारनेवाला ही क्यों न हो वह अतिथि है और उसका सत्कार करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है।' मतलब यह कि रसोई बननेके बाद बलिवैश्वदेव होनेपर कोई भी आ जाय, अन्न देकर उसका सत्कार अवश्य करना चाहिये।

विष्णुपुराणमें लिखा है कि 'वैश्वदेव करनेके बाद गौ दुहनेमें जितना समय लगता है उतने समयतक अथवा इससे भी अधिक देरतक अतिथिकी बाट देखता हुआ आँगनमें खड़ा रहे। अतिथि आ जाय तो उसका स्वागत करे, आसन दे और चरण धोकर सत्कार करे। फिर श्रद्धापूर्वक उसे भोजन करवाकर मीठी वाणीसे कुशल-प्रश्न पूछता हुआ उसके जानेके समय कुछ दूरतक पीछे-पीछे जाकर उसको प्रसन्न करे। जिसके कुल और नामका कोई पता न हो तथा जो दूर देशसे आया हो, उसीको अतिथि माने, गाँवमें रहनेवाले परिचितको नहीं। (परिचित और सम्बन्धीका तो सत्कार करना ही चाहिये) परंतु जिसके पास कोई सामग्री न हो, जिससे कोई सम्बन्ध न हो, जिसके कुल-शीलका कोई पता न हो और जो भोजन करना चाहता हो ऐसे अतिथिका सत्कार किये बिना भोजन करनेवाला मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होता है। गृहस्थको चाहिये कि अतिथिके अध्ययन, गोत्र, आचरण और कुल आदिके विषयमें कुछ भी पूछताछ न कर हिरण्यगर्भ-भगवान्‌की बुद्धिसे उसकी पूजा करे। जिसके घरसे अतिथि निराश होकर लौट जाता है उसे वह अपना पाप देकर उसके शुभ कर्मोंका हरण करके ले जाता है। धाता, प्रजापति, इन्द्र, अग्नि, वसु और अर्यमा ये समस्त देव और पितर अतिथिमें प्रविष्ट होकर अन्न-भोजन करते हैं। अतएव मनुष्यको अतिथिपूजनके लिये सदा चेष्टा करनी चाहिये। जो पुरुष अतिथिको भोजन न देकर स्वयं भोजन करता है वह केवल पाप ही खाता है—

स केवलमघं भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते ह्यतिथिं विना।

तदनन्तर नैहरमें आयी हुई विवाहिता कन्या, दुखिया, गर्भिणी स्त्री, वृद्ध और बालकोंको संस्कृत अन्नसे भोजन कराकर अन्तमें गृहस्थ स्वयं भोजन करे। इन सबको भोजन कराये बिना ही जो स्वयं भोजन कर लेता है, वह पापमय भोजन करता है और अन्तमें मरकर नरकमें श्लेष्मभोजी कीड़ा होता है। (विष्णुपुराण ३। ११। ८ से ६३, ६८ से ७२)

इसी प्रकार मनु महाराजके भी वचन हैं—

सायंकाल सूर्यास्त हो जानेपर या बलिवैश्वदेवके समय यदि अतिथि घरपर आ जाय तो उसे वापस न करे। घरमें टिकाकर भोजन करावे। घी, दूध, दही आदि जो पदार्थ अतिथिको नहीं खिलाया गया हो उसे स्वयं भी न खाय। अतिथिकी सेवा करनेसे धन, कीर्ति, आयु और स्वर्गकी प्राप्ति होती है। अन्यान्य मित्र, सम्बन्धी आदि घरपर आ जायँ तो यथाशक्ति उनको भी, स्वयं अपनी स्त्रीसहित सेवामें उपस्थित रहकर उत्तम भोजन करावे। सुवासिनी स्त्री, कुमारी कन्या, रोगी और गर्भिणी स्त्रीको अतिथियोंके पहले भोजन करानेमें कोई विचार न करे। जो मूर्ख इन सबको खिलाये बिना ही स्वयं पहले खा लेता है वह इस बातको नहीं जानता कि मरनेके बाद मेरे शरीरको कुत्ते और गीध नोच-नोचकर खायेंगे। ब्राह्मण, अतिथि, सम्बन्धी और माता-पितासे लेकर नौकरतक पोष्यवर्ग आदिको भोजन करानेके बाद बची हुई रसोईको पति-

पत्नी भोजन करें। देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर और घरके देवताओंका (अन्नके द्वारा) पूजन करके पीछे गृहस्थ उनसे बचा हुआ अन्न खाय। जो मनुष्य पंचमहायज्ञ न करके केवल अपना पेट भरनेके लिये भोजन तैयार करता है वह केवल पाप ही खाता है; क्योंकि यज्ञसे बचा हुआ अन्न ही सत्पुरुषोंको भोजन करना चाहिये, यही शास्त्रविधि है। (मनुस्मृति ३। १०५-१०६, ११३—११८)

इस प्रकार नित्य स्वयं अतिथिसेवन करे। परंतु जहाँतक हो सके किसीका अतिथि बने नहीं। नहीं तो, मुफ्तखोरीकी आदत पड़ जायगी और लोगोंकी श्रद्धा अतिथि-सेवासे हट जायगी। आजकल प्राय: ऐसा ही हो रहा है। मनु महाराज तो कहते हैं—

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम्॥

(३।१०४)

पराये भोजनका दोष न जाननेवाले जो गृहस्थ दूसरेके घर अतिथि बनकर भोजन करते हैं, वे मरकर भोजन करानेवालोंके घर पशु होते हैं।

भूतयज्ञ

जगत्‌में जितने प्राणी हैं, सभी श्रीपरमात्माके स्वरूप हैं। श्रीमद्‌भागवतमें कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(११।२।४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्रादि, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ और समुद्र आदि समस्त भूत भगवान् श्रीहरिके शरीर ही हैं; अत: सबको अनन्यभावसे प्रणाम करे।' एकान्त-भक्तोंके लिये तो भगवान् अपने भक्त उद्धवसे कहते हैं—

प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥

(११।२९।१६)

'कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गदहेको भी (मेरा स्वरूप समझकर) पृथ्वीपर गिरकर साष्टांग प्रणाम करे।'

इस प्रकार भगवत्स्वरूप होनेसे सभी प्राणी पूज्य और सेवाके पात्र हैं। जहाँतक हो सके यथायोग्य व्यवहार करते हुए सबके साथ उत्तम-से-उत्तम बर्ताव करना चाहिये। मनुष्यके लिये प्राणियोंकी बहुत बड़ी हिंसा होती है। मनुष्यके श्वाससे नित्य न मालूम कितने जीव मारे जाते हैं। खेती आदिमें तो हिंसा होती ही है। इसके सिवा बड़े दु:खकी बात तो यह है कि मनुष्य अपने पापी पेटको भरने और जीभके स्वादके लिये मूक पशु-पक्षियोंको मारकर उनका मांस खाते हैं। यह बहुत बुरी बात है। श्रीमद्‌भागवतमें कहा है—

ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः।
पशून् द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान्॥

(११।५।१४)

'यथार्थ तात्पर्यको न जाननेवाले जो लोग अति गर्व और पाण्डित्याभिमानके कारण पशुओंसे द्रोह करते हैं, उनके द्वारा वध किये हुए वे पशु मरकर उन्हींको खाते हैं।' किसी भी प्राणीको दु:ख पहुँचाना सबके आत्मारूप परमात्मासे ही द्रोह करना है। श्रीमद्‌भागवतमें कहा है—

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम्।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः॥

(११।५।१५)

'इस अवश्य नष्ट होनेवाले शरीर और एक दिन अवश्य ही छूट जानेवाले धनमें स्नेह करके जो मनुष्य दूसरे शरीरोंमें स्थित अपने ही आत्मा श्रीहरिसे द्वेष करते हैं, वे अवश्य ही अधोगतिको प्राप्त होते हैं।'

अतएव मांसाहार बिलकुल छोड़ देना चाहिये और यथासाध्य समस्त जीवोंको सुख पहुँचाने और उनका हित करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

अन्न और रसोईमेंसे प्रतिदिन गौ, बैल, कुत्ते, बिल्ली, बंदर, कबूतर, कौए आदि पशु-पक्षियोंको पहले देना चाहिये। घरमें इनका रहना परोक्षरूपसे बड़ा लाभदायक है। इस लाभको हमलोग समझ नहीं सकते, इसीसे उनकी कद्र नहीं करते। अतएव इनका स्वत्व इन्हें देना ही चाहिये। इसके सिवा, हम न मालूम कितनी बार पशु-पक्षी हो चुके हैं, और यदि मुक्त नहीं होंगे तो कितनी बार फिर भी होना पड़ेगा। इस अवस्थामें यदि हम इन्हें अन्न-जलादि देकर सुखी रखेंगे तो वैसी योनि प्राप्त होनेपर हम भी वैसी ही आशा रख सकते हैं। यदि यह प्रथा चल जायगी कि पशु-पक्षियोंको कुछ भी न दिया जाय तो घरमेंसे धर्म तो उठ ही जायगा, साथ ही जब हम उस योनिमें जायँगे तो हमें भी अभावका दु:ख उठाना पड़ेगा। यदि इसके

बदलेमें पशु-पक्षियोंको उदारतासे अन्नादि दिये जानेकी प्रथा सुचारुरूपसे चल जाय तो उक्त योनियोंमें जानेवाले आजके सभी मनुष्योंके लिये सुखकी आशा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त सर्वभूतस्थित ईश्वरकी सेवा तो होती ही है। और यदि ईश्वरकी सेवाके भावसे किसी प्रकारकी भी कामना न रखकर सब जीवोंकी सेवा की जाय तो उसको फलस्वरूप भगवत्प्राप्ति हो सकती है। अतएव यथासाध्य समस्त भूत-प्राणियोंकी सेवा करनी चाहिये। गौ, कुत्ते, बिल्ली, कबूतर, कौए, चींटी आदि सबको यथासाध्य अन्न-जल देना चाहिये। एवं रसोई बननेपर बलिवैश्वदेवमें सबके लिये बलि देनी चाहिये। विष्णुपुराणमें कहा है—

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओंमें क्रमशः इन्द्र, यम, वरुण और चन्द्रमाके लिये हुतशिष्ट सामग्रीसे बलि दे। पूर्व और उत्तर दिशाओंमें धन्वन्तरिके लिये बलि दे तथा इसके अनन्तर बलिवैश्वदेव-कर्म करे। बलिवैश्वदेवके समय वायव्यकोणमें वायुको तथा अन्य सम्पूर्ण दिशाओंमें वायु एवं उन दिशाओंको बलि दे। इसी प्रकार ब्रह्मा, अन्तरिक्ष और सूर्यको भी उनकी दिशाओंके अनुसार बलि दे। फिर विश्वदेवों, विश्वभूतों, विश्वपतियों, पितरों और यक्षोंके लिये यथास्थान बलि-प्रदान करे।'

'तदनन्तर बुद्धिमान् पुरुष इस प्रकार कहकर समस्त प्राणियोंको बलि दे—'देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, सिद्ध, यक्ष, सर्प, दैत्य, प्रेत, पिशाच, वृक्ष तथा चींटी, कीट-पतंग आदि जो कर्म-बन्धनसे बँधे हुए क्षुधातुर होकर मेरे दिये हुए अन्नकी इच्छा करते हैं, उन सबके लिये मैं यह अन्नदान करता हूँ, वे इससे तृप्त और सुखी हों। जिनके माता, पिता अथवा कोई भी और बन्धु नहीं है तथा अन्न बनानेका साधन एवं अन्न भी नहीं है, उनकी तृप्तिके लिये मैंने पृथ्वीपर यह अन्न रखा है, इससे वे तृप्त होकर सुखी हों। सम्पूर्ण प्राणी, यह अन्न और मैं—सभी विष्णु हैं; क्योंकि विष्णुसे भिन्न और कुछ है ही नहीं। अतः मैं समस्त भूत-प्राणियोंको यह अन्न उनके पोषणके लिये दान करता हूँ। यह जो चौदह प्रकारका (सिद्ध, गुह्यक, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, विद्याधर, पिशाच, सरीसृप, वानर, पशु, मृग, पक्षी और मनुष्य) भूतसमुदाय है, उसमें जितने भी प्राणी हैं उन सबकी तृप्तिके लिये मैंने यह अन्न प्रस्तुत किया है, इससे वे प्रसन्न हों।' इस प्रकार कहकर गृहस्थ पुरुष श्रद्धापूर्वक समस्त जीवोंके उपकारके लिये पृथ्वीमें अन्न-दान करे, क्योंकि गृहस्थ ही सबका आश्रय है। तदनन्तर कुत्ता, चाण्डाल, पक्षी एवं अन्यान्य जो कोई पतित और पुत्रहीन पुरुष हों उनको अन्न देकर तृप्त करे।' (श्रीविष्णुपुराण[१] ३। ११। ४६ से ५७)

शास्त्रकी ऐसी आज्ञाओंका अनुसरण कर हमलोगोंको पशु-पक्षियोंके साथ परम आत्मीयताका बर्ताव करना चाहिये। भूत-यज्ञके लिये ये कार्य करने उचित हैं—

(१) नियमित बलिवैश्वदेव[२] प्रतिदिन करना।

(२) यथासाध्य गौ, कुत्ते, बिल्ली, चींटी, कौए, कबूतर आदिको अन्न-जल देना।

(३) किसी भी प्राणीको कष्ट न देना। मांसाहारके विरुद्ध प्रचार करना। गो-हिंसा एवं अन्य पशुपक्षी-हिंसा बंद करानेमें सहायता करना। बैल, भैंसे आदिको निर्दयतापूर्वक दिये जानेवाले कष्टोंसे बचाना।

(४) जिसमें प्राणिहिंसा होती हो, ऐसे खाद्यपदार्थ, दवा, कपड़े, जूते आदिका व्यवहार न करना।

(५) सभी जीवोंको आत्मवत् समझकर सबके साथ सद्व्यवहार करना।

इस प्रकारसे पंचमहायज्ञका अनुष्ठान प्रतिदिन सबको करना चाहिये।

श्रीभगवान् कहते हैं—

वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम् ।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत्॥

(श्रीमद्भा० ११। १७। ५०)

'गृहस्थको चाहिये कि वेदाध्ययन (ऋषियज्ञ), स्वधा (पितृयज्ञ), स्वाहा (देवयज्ञ), बलिवैश्वदेव (भूतयज्ञ) और अन्नदान (मनुष्ययज्ञ) आदिके द्वारा मेरे ही रूप देव, ऋषि, पितर, मनुष्य और अन्य समस्त प्राणियोंका यथाविधि पूजन करता रहे।' और—

यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा।
धनेनापीडयन् भृत्यान् न्यायेनैवाहरेत् क्रतून्॥

(श्रीमद्भा० ११। १७। ५१)

'आप ही प्राप्त हुए अथवा शुद्ध वृत्तिके द्वारा सत्य

१- श्रीविष्णुपुराण हिंदी-अनुवादसहित गीताप्रेससे प्रकाशित है।
२- 'बलिवैश्वदेव' की विधिका छपा हुआ पन्ना गीताप्रेसमें मिलता है।

और न्यायपूर्वक उपार्जित धनसे, अपने द्वारा जिनका भरण-पोषण होता हो उन लोगोंको कष्ट न पहुँचाकर यज्ञादि कर्म करता रहे।' परंतु इतनी सावधानी जरूर रखे कि—

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्॥

(श्रीमद्भा० ११। १७। ५२)

'अपने कुटुम्ब या किसीमें आसक्त न हो जाय, बड़ा कुटुम्बी होकर प्रमादवश भगवान्‌के भजनको कभी न भुलावे। बुद्धिमान् विवेकी पुरुषको चाहिये कि इस दृश्य-प्रपंचके समान अदृश्य स्वर्गादिको भी नाशवान् ही जाने।' और हृदयसे सदा भगवद्भजन करता हुआ भगवान्‌की प्रीतिके लिये ही सब कर्म करे। भगवत्प्रीत्यर्थ होनेवाले कर्मका नाम ही यज्ञ है और इसीका नाम कर्मयोग है।

साध्य और साधन

१—सच्चिदानन्दघन परमात्मा स्वयं ही अपने स्वरूपके ज्ञाता हैं, वे अनिर्वचनीय हैं, अनुभवगम्य हैं।

२—भगवान् ही सब कुछ हैं, भगवान् ही सब रूपोंमें भासते हैं। भगवान् ही अपनी मायाशक्तिके द्वारा सब रूपोंमें परिणत हैं, भगवान्‌मेंसे ही सबकी उत्पत्ति है, उन्हींमें सबका निवास है, उन्हींमें सब लय होते हैं। सृष्टि-स्थिति-प्रलयके आधार, निवास और कर्ता वही हैं। वे सत् हैं, सत्-असत् हैं, सत्-असत् दोनोंसे परे हैं। सब कुछ उनमें है, वे सब कुछमें हैं, 'सब कुछ' कुछ नहीं है, केवल वे ही हैं। ये सभी बातें अपनी-अपनी सीमामें सत्य हैं। इतनेपर भी भगवान् इन सबसे विलक्षण हैं। जितना भी परमात्माके स्वरूपका वर्णन होता है, सब शाखा-चन्द्रन्यायसे उनका लक्ष्य करानेके लिये ही है।

३—भगवान् सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वेश्वर, सर्वशिरोमणि, सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वरूप, सर्वगुणनिधि, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, शिव, सुन्दर, गुणातीत और कालातीत हैं। वे निर्गुण हैं, सगुण हैं, निराकार हैं, साकार हैं, दोनोंसे परे हैं, उनमें सब कुछ सम्भव है। अनवकाशमें अवकाश और अवकाशमें अनवकाश कर देना उनकी लीलामात्र है। वे '**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्**' समर्थ हैं।

४—वे एकदेशीय, एककालीन न होते हुए ही अवतार लेते हैं, प्रकट होते हैं, भक्तको उसके इच्छानुसार दिव्य साकार दिव्य विग्रहमें दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं। यह सर्वथा सत्य है। वे परम दयालु, परम सुहृद्, परम न्यायकारी, परम पिता, स्नेहमयी माता, स्वामी, सखा सब हैं। वे पतितपावन, दीनबन्धु, अशरण-शरण, भक्तवत्सल हैं, इसीलिये अपना दिव्य साकाररूप प्रकट करते हैं। वे सम, उदासीन, पक्षपातहीन, सबके आश्रय, शुभ-प्रेरक, अशुभबाधक, रक्षक, योगक्षेमवाहक, शरणागतवत्सल, प्रेममय और पावनकर्ता हैं।

५—उनको प्राप्त करनेके अनेक मार्ग हैं, अपने-अपने अधिकारके अनुसार मार्गोंका अनुसरण होता है। अनेकों नाम-रूपोंसे आख्यात भगवान् वास्तवमें एक ही हैं, उनको पानेके मार्ग भिन्न हैं। जैसे भगवान्‌की एकतामें कभी द्वैत नहीं हो सकता, ऐसे ही सभी मार्गोंकी कभी एकता नहीं हो सकती। लक्ष्य-स्थान एक है, परंतु वहाँ पहुँचनेके पथ सदा ही अलग-अलग रहेंगे।

६—अपनी-अपनी दिशासे अपने पथपर चलकर सबको भगवान्‌की ओर बढ़ना चाहिये। मनुष्य-जीवनका यही परम और चरम उद्देश्य है।

७—जो इस उद्देश्य-सिद्धिमें लगे हैं वही बुद्धिमान् हैं, शेष सब लोग भूलमें हैं। इस भूलका परिणाम महान् दुःखदायी होगा।

८—ईश्वरके न होनेकी बात करना और सुनना वस्तुतः महापाप है। इस महापापसे सबको सदा बड़ी सावधानीसे बचना चाहिये।

९—'ईश्वर है' यह विश्वास दृढ़ और पूर्ण होनेपर सारे दोष आप ही मिट जायँगे और सदाके लिये परम शान्ति प्राप्त हो जायगी। ईश्वर-कृपापर भरोसा करनेसे ही ईश्वरमें विश्वास होगा।

१०—इसके लिये संत-महात्माओं और शास्त्रोंकी वाणीका विश्वासपूर्वक श्रवण, मनन करना चाहिये तथा शरणागत होकर भगवान्‌से आर्त प्रार्थना करनी चाहिये।

११—भगवान्‌के नामका जप प्रेमसहित सदा करते रहना चाहिये। जीवन बीता जा रहा है। यह व्यर्थ चला जायगा तो फिर पछतावेका पार नहीं रहेगा।

धर्मरक्षाके लिये भगवदाश्रयकी आवश्यकता

धर्म नित्य है। ईश्वरकी सृष्टिमें धर्मका कभी विनाश नहीं हो सकता। धर्मका नाश नहीं, परंतु धर्मपर चलनेवाले लोगोंकी ही न्यूनाधिकता हुआ करती है। जब धर्मपर आरूढ़ मनुष्योंकी संख्या बढ़ती है, तब धर्मकी उन्नति कहलाती है और जब उनकी संख्या कम हो जाती है या बहुत घट जाती है, तब उसे धर्मका ह्रास या नाश कहते हैं। इसलिये धर्मरक्षाका अर्थ धार्मिक मनुष्योंकी रक्षा और वृद्धि ही है। जब युगप्रभाव, कुसंगति, कुसंस्कार, राज्यदोष आदि एक या अनेक कारणोंसे जगत्में अनाचार बढ़ जाता है, तब धर्म और धार्मिकोंका विरोध ही उन्नतिका स्वरूप समझा जाने लगता है। ईश्वर और धर्मके विनाशकी व्यर्थ चेष्टा ही उस समयके विषय-विलास-विमोहित, काम-भोगपरायण मनुष्योंकी जीवनचर्या बन जाती है। वे बुद्धिमें विपर्यय हो जानेके कारण अपनी समझसे बड़ी अच्छी नीयतसे ही ऐसा किया करते हैं। ऐसी अवस्थामें उनका विरोध करने, उनके लिये मानवी दण्डकी व्यवस्था करने अथवा श्रद्धा और साधनासे उपलब्ध होनेवाले तत्त्वको उन्हें समझानेकी चेष्टासे काम नहीं चलता। जबतक उनकी समझमें परिवर्तन नहीं होगा, तबतक वे अपनी चाल कदापि नहीं छोड़ेंगे और त्याग, तप आदि उत्तम एवं छल-बल-कौशलादि मध्यम एवं अधम उपायोंसे अपने कार्यको जारी रखना ही कर्तव्य समझेंगे। इस स्थितिमें उनकी बुद्धिके पलटनेका एकमात्र उपाय है तो वह श्रद्धायुक्त धार्मिक पुरुषोंद्वारा किया जानेवाला भगवदाराधन ही है। प्राचीन कालमें ऋषिगण प्राय: यही किया करते थे और सफल होते थे।

आज जगत्में अनाचारकी वृद्धि हो रही है और धर्मविरोधी लोगोंकी संख्या क्रमश: बढ़ी चली जा रही है। आजके अधिकांश शिक्षालय, उपदेशक और पथप्रदर्शक लोग मनुष्योंको यही शिक्षा देना और इसी मार्गपर चलाना अपना कर्तव्य समझते हैं। इसीसे आज धर्मका नाश या ह्रास हो चला है, परंतु इसका वास्तविक प्रतीकार जिस भगवदाराधनसे ही हो सकता है, उससे लोग उदासीन-से होते चले जाते हैं और उन्हीं छल, बल, कौशलादि उपायोंका आश्रय लेते हैं कि जिनमें स्वाभाविक ही वे अपने प्रतिद्वन्द्वियोंकी बराबरी नहीं कर सकते। इसीसे सफलता भी प्राय: नहीं मिलती। मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि धर्मरक्षाके लिये यत्न नहीं किया जाय, जो लोग धर्मरक्षाके लिये शास्त्रविहित निर्दोष उपायोंका अवलम्बन करते हैं और स्वार्थत्यागपूर्वक यथाशक्ति प्रयत्न कर रहे हैं वे सर्वथा आदरणीय और स्तुत्य हैं। इस धर्म-विरोधी वातावरणमें उनका यह सत्साहस और धर्मका आग्रह सर्वथा आदर्श है और प्रत्येक धार्मिक नर-नारीको तन, मन, धनसे यथाशक्ति इस धर्मरक्षाके कार्यमें जी खोलकर सहायता करनी चाहिये। अधर्म चाहे एक बार युगप्रभाव आदि कारणोंसे बढ़ता हुआ नजर आये, परंतु अन्तमें धर्मकी जय निश्चित है। इतना होनेपर भी मेरी तुच्छ बुद्धिके अनुसार बिना भगवदाश्रय और भगवदाराधनके वास्तविक सफलता शीघ्र नहीं मिल सकती। भगवदाश्रयरहित धर्म, यथार्थमें धर्म ही नहीं है। अतएव धर्मरक्षाके लिये प्रत्येक धर्मप्रेमी व्यक्तिको भगवान्का ही प्रधान सहारा लेकर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवदाराधन करते हुए ही धर्मरक्षाके लिये अन्यान्य उपायोंसे प्रयत्न करना चाहिये, तभी शीघ्र और पूर्ण सफलता होगी।

पाँच दिशाएँ

भगवान् बुद्धका सृगाल नामक एक शिष्य प्रतिदिन स्नान करके पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे—इन छहों दिशाओंको प्रणाम किया करता था। एक दिन भगवान्ने कृपा करके उसे इन दिशाओंकी पूजाका रहस्य इस प्रकार समझाया—

माता-पिताको पूर्व दिशा समझना, गुरुको दक्षिण दिशा, पत्नीको पश्चिम, मित्र-बान्धवोंको उत्तर, सेवकोंको नीचेकी और साधु-ब्राह्मणोंको ऊपरकी दिशा समझना।

पूर्व दिशा अर्थात् माता-पिताकी पूजाके पाँच अंग हैं—

१—उनके काम करना, २—भरण-पोषण करना, ३—कुलमें प्रचलित सत्कार्योंको चालू रखना, ४—उनकी सम्पत्तिका हिस्सेदार बनना और ५—मरनेपर

उनके नामसे दान-धर्म करना। इन पाँच अंगोंके द्वारा पूजित माता-पिता संतानपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करते हैं—१—उसको पापसे बचाते हैं, २—कल्याणकारी मार्गपर ले जाते हैं, ३—कला-कौशल सिखलाते हैं, ४—योग्य पत्नीके साथ उसका विवाह कर देते हैं और ५—उपयुक्त समयपर अपनी सम्पत्ति सौंप देते हैं।

दक्षिण दिशा अर्थात् गुरुकी पूजाके पाँच प्रकार हैं—१—गुरुके समीप आनेपर उठकर खड़े हो जाना, २—बीमार पड़नेपर उनकी सेवा करना, ३—उनकी दी हुई शिक्षाको श्रद्धापूर्वक समझ लेना, ४—उनके काम करना और ५—वे जो विद्या-दान करें उसे उत्तम रीतिसे ग्रहण करना। इन पाँच प्रकारोंसे पूजित गुरु अपने उस शिष्यपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करते हैं। १—सदाचार सिखाते हैं, २—उत्तम रूपसे विद्या-दान करते हैं, ३—अपनी सीखी हुई सम्पूर्ण विद्या सिखा देते हैं, ४—अपने आत्मीयस्वजनोंमें उसका गुण वर्णन करते हैं और ५—शिष्यको कहीं भी खान-पानकी अड़चन न भोगनी पड़े, इसकी व्यवस्था करते हैं।

पश्चिम दिशा अर्थात् पत्नीकी पूजाके पाँच अंग हैं—

१—उसका सम्मान करना, २—अपमान न होने देना, ३—एकपत्नीव्रतका पालन करना, ४—घरका कारोबार उसे सौंप देना और ५—वस्त्रालंकारकी कमी न होने देना। इन पाँच अंगोंसे पूजित पत्नी पतिपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करती है। १—घरमें सुव्यवस्था रखती है, २—नौकर-चाकरोंकी प्रेमसे सँभाल करती है, ३—पतिव्रता होती है, ४—पतिसे प्राप्त की हुई सम्पत्तिकी रक्षा करती है और ५—समस्त गृहकार्योंमें तत्पर रहती है।

उत्तर दिशा अर्थात् मित्रमण्डलकी पूजाके पाँच अंग हैं—

१—उन्हें प्रदान करनेयोग्य वस्तु देना, २—उनके साथ मीठा बोलना, ३—उनके उपयोगी बनना, ४—उनके साथ समताका बर्ताव करना और ५—निष्कपट व्यवहार करना। इन पाँच अंगोंसे पूजित मित्रमण्डल पाँच प्रकारसे अनुग्रह करता है। १—अचानक संकट आ पड़नेपर उसकी रक्षा करते हैं, २—ऐसे अवसरपर उसकी सम्पत्तिकी भी रक्षा करते हैं, ३—संकटमें घबरा जानेपर उसे धीरज देते हैं, ४—विपत्तिकालमें छोड़कर नहीं जाते और ५—उसके बाद उसकी संततिका भी उपकार करते हैं।

नीचेकी दिशा अर्थात् सेवकोंकी पूजाके पाँच अंग हैं—

१—उनकी शक्ति देखकर तदनुसार काम देना, २—पर्याप्त वेतन देना, ३—बीमार पड़नेपर देख-भाल करना, ४—उत्तम भोजन देना और ५—समय-समयपर उत्तम कामके बदलेमें उन्हें पुरस्कार देना। इन पाँच अंगोंसे पूजित सेवक अपने स्वामीपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करते हैं—१—स्वामीके उठनेसे पहले उठते हैं, २—स्वामीके सोनेके बाद सोते हैं, ३—स्वामीके सामानकी चोरी नहीं करते, ४—उत्तम प्रकारसे काम करते हैं और ५—स्वामीका यशोगान करते हैं।

ऊपरकी दिशा अर्थात् साधु-ब्राह्मणोंकी पूजाके भी पाँच अंग हैं—१—शरीरसे उनका आदर करना, २—वाणीसे आदर करना, ३—मनसे आदर करना, ४—भिक्षा लेने आवें तब उनका किसी प्रकार भी अपमान न करना और ५—उन्हें उपयोगी वस्तु देना। इन पाँच प्रकारसे पूजित साधु-ब्राह्मण गृहस्थपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करते हैं—१—उसको पापसे बचाते हैं, २—उसे कल्याणकारी मार्गपर ले जाते हैं, ३—प्रेमपूर्वक उसपर दया करते हैं, ४—उसे उत्तम धर्म सिखाते हैं और ५—शंका-निवारण करके उसके मनका समाधान करते हैं एवं उसे स्वर्गका मार्ग दिखाते हैं।

दान, प्रियवचन, अर्थचर्या (उपयोगी बनना) और समानात्मता— सबको अपने समान समझना—ये चार लोकसंग्रहके साधन हैं। माता-पिता यदि इन साधनोंका उपयोग न करते तो केवल जन्म देनेमात्रसे पुत्र उनका गौरव नहीं मानता। विज्ञ पुरुष इन चार साधनोंका उपयोग करके जगत्में ऊँचा पद प्राप्त करते हैं।

दुर्व्यवहारसे दुर्गति

जो पुरुष अपनी साध्वी स्त्री तथा अन्यान्य आश्रितोंके साथ दुर्व्यवहार करते हैं, थोड़ी-सी भूलके लिये बात-बातमें क्रोधातुर होकर उन्हें डाँटते-फटकारते, उनका तिरस्कार करते और उन्हें जली-कटी सुनाया करते हैं, उनके पाप निरन्तर बढ़ते रहते हैं और वे लोक-परलोकमें भयानक दुःखोंके भागी होते हैं। ऐसे लोगोंपर

भगवान्‌की कृपा नहीं होती और उनके पूजा-पाठ, धर्म-कर्म, तीर्थ-व्रत आदि भी सफल नहीं होते। पद्मपुराणमें कहा गया है—

पतिव्रतरतां भार्यां सुगुणां पुण्यवत्सलाम्॥
तामेवापि परित्यज्य धर्मकार्यं प्रयाति यः।
वृथा तस्य कृतः सर्वो धर्मो भवति नान्यथा॥
भार्यां विना हि यो लोके धर्मं साधितुमिच्छति।
विफलो जायते लोके नान्नमश्नन्ति देवताः॥

(भूमिखण्ड, अ० ५९)

'जो पुरुष अपनी सद्‌गुणवती, पुण्यानुरागिणी पतिव्रता पत्नीका परित्याग कर धर्मके लिये बाहर जाता है, उसका किया हुआ सारा धर्म व्यर्थ होता है—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।'

'जो पुरुष अपनी पत्नीको छोड़कर धर्मसाधनकी इच्छा करता है, वह संसारमें असफल होता है और उसका अन्न देवता ग्रहण नहीं करते।'

खास करके जो पुरुष अपनी पुत्रादिरहित पत्नीको निराश्रय छोड़कर संसार-त्याग करनेकी इच्छा करता है, वह तो बहुत बड़ा प्रमाद करता है; क्योंकि ऐसी परित्यक्ता स्त्री यदि विपरीत परिस्थितिमें पड़कर किसी प्रकार भी पथभ्रष्ट हो दुश्चरित्रा हो जाती है तो उस पुरुषकी कई पीढ़ीतक पितरोंको नरकोंमें जाना पड़ता है। और इसका सारा दायित्व उस पुरुषपर होता है। पतिके दुर्व्यवहारसे अत्यन्त पीड़ित होकर जिसकी स्त्री आत्मघात आदि दुष्कर्म कर बैठती है, उस पातकी पुरुषको इस लोक और परलोकमें भयानक दुःखोंकी प्राप्ति होती है।

जो पुरुष अपनी पत्नीका परित्याग करके परस्त्रीमें आसक्त होता है या दूसरी स्त्रीको पत्नी बनाता है, वह जन्मान्तरमें स्त्रीयोनिको प्राप्त होकर विधवा होता है—

यः स्वनारीं परित्यज्य निर्दोषां कुलसम्भवाम्।
परदाररतो हि स्यादन्यां वा कुरुते स्त्रियम्।
सोऽन्यजन्मनि देवेशि स्त्री भूत्वा विधवा भवेत्॥

(स्कन्दपुराण)

इसी प्रकार जो स्त्री स्वेच्छासे या किसीके प्रस्तावसे सम्मत होकर परपुरुषमें आसक्त हो कुकृत्य करती है, पतिको कष्ट पहुँचाने तथा पवित्र सतीत्व-धर्मसे डिगनेके कारण उसकी संतान और धनका नाश हो जाता है, परलोकमें उसे भयानक नरक-यन्त्रणा भोगनी पड़ती है, जवानीमें विधवा होना पड़ता है और उसके बाद विविध दुःख-संतापमयी घृणित कुयोनियोंमें जन्म लेकर घोर क्लेशयुक्त जीवन बिताना पड़ता है।

उपनिषद्‌में युगल-स्वरूप

भारतके आर्यसनातन-धर्ममें जितने भी उपासक-सम्प्रदाय हैं, सभी विभिन्न नाम-रूपों तथा विभिन्न उपासना-पद्धतियोंके द्वारा वस्तुतः एक ही शक्तिसमन्वित भगवान्‌की उपासना करते हैं। अवश्य ही कोई तो शक्तिको स्वीकार करते हैं और कोई नहीं करते। भगवान्‌के इस शक्तिसमन्वित रूपको ही युगल-स्वरूप कहा जाता है। निराकारवादी उपासक भगवान्‌को सर्वशक्तिमान् बताते हैं और साकारवादी भक्त उमा-महेश्वर, लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि मंगलमय स्वरूपोंमें उनका भजन करते हैं। महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, दुर्गा, तारा, उमा, अन्नपूर्णा, सीता, राधा आदि स्वरूप एक ही भगवत्स्वरूपा शक्तिके हैं जो लीलावैचित्र्यकी सिद्धिके लिये विभिन्न रूपोंमें अपने-अपने धामविशेषमें नित्य विराजित हैं। यह शक्ति नित्य शक्तिमान्‌के साथ है और शक्ति है इसीसे वह शक्तिमान् है और इसलिये वह नित्य युगलस्वरूप है। पर यह युगलस्वरूप वैसा नहीं है, जैसे दो परस्पर-निरपेक्ष सम्पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्ति या पदार्थ किसी एक स्थानपर स्थित हों। ये वस्तुतः एक होकर ही पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। इनमेंसे एकका त्याग कर देनेपर दूसरेके अस्तित्वका परिचय नहीं मिलता। वस्तु और उसकी शक्ति, तत्त्व और उसका प्रकाश, विशेष्य और उसके विशेषणसमूह, पद और उसका अर्थ, सूर्य और उसका तेज, अग्नि और उसका दाहकत्व—इनमें जैसे नित्य युगलभाव विद्यमान है, वैसे ही ब्रह्ममें भी युगलभाव है। जो नित्य दो होकर भी नित्य एक हैं और नित्य एक होकर भी नित्य दो हैं; जो नित्य भिन्न होकर भी नित्य अभिन्न हैं और नित्य अभिन्न होकर भी नित्य भिन्न हैं। जो एकमें ही सदा दो हैं और दोमें ही सदा एक हैं। जो स्वरूपतः एक होकर भी द्वैधभावके

पारस्परिक सम्बन्धके द्वारा ही अपना परिचय देते और अपनेको प्रकट करते हैं। यह एक ऐसा रहस्यमय परम विलक्षण तत्त्व है कि दो अयुतसिद्ध रूपोंमें ही जिसके स्वरूपका प्रकाश होता है, जिसका परिचय प्राप्त होता है और जिसकी उपलब्धि होती है।

वेदमूलक उपनिषद्‌में ही इस युगल-स्वरूपका प्रथम और स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। उपनिषद् जिस परम तत्त्वका वर्णन करते हैं, उसके मुख्यतया दो स्वरूप हैं—एक 'सर्वातीत' और दूसरा 'सर्वकारणात्मक'। सर्वकारणात्मक स्वरूपके द्वारा ही सर्वातीतका संधान प्राप्त होता है और सर्वातीत स्वरूप ही सर्वकारणात्मक स्वरूपका आश्रय है। सर्वातीत स्वरूपको छोड़ दिया जाय तो जगत्‌की कार्य-कारण-शृंखला ही टूट जाय; उसमें अप्रतिष्ठा और अनवस्थाका दोष आ जाय। फिर जगत्‌के किसी मूलका ही पता न लगे। और सर्वकारणात्मक स्वरूपको न माना जाय तो सर्वातीतकी सत्ता कहीं न मिले। वस्तुतः ब्रह्मकी अद्वैतपूर्ण सत्ता इन दोनों स्वरूपोंको लेकर ही है। उपनिषद्‌के दिव्य-दृष्टिसम्पन्न ऋषियोंने जहाँ विश्वके चरम और परम तत्त्व एक, अद्वितीय, देश-काल-अवस्था-परिणामसे सर्वथा-अनवच्छिन्न सच्चिदानन्द-स्वरूपको देखा, वहीं उन्होंने उस अद्वैत परब्रह्मको ही उसकी अपनी ही विचित्र अचिन्त्य शक्तिके द्वारा अपनेको अनन्त विचित्र रूपोंमें प्रकट भी देखा और यह भी देखा कि वही समस्त देशों, समस्त कालों, समस्त अवस्थाओं और समस्त परिणामोंके अंदर छिपा हुआ अपने स्वतन्त्र सच्चिदानन्दमय स्वरूपकी, अपनी नित्यसत्ता, चेतना और आनन्दकी मनोहर झाँकी करा रहा है। ऋषियोंने जहाँ देश-काल-अवस्था-परिणामसे परिच्छिन्न अपूर्ण पदार्थोंको 'यह वह नहीं है, यह वह नहीं है' (नेति-नेति) कहकर और उनसे विरागी होकर यह अनुभव किया कि—'वह परमतत्त्व ऐसा है जो न कभी देखा जा सकता है, न ग्रहण किया जा सकता है, न उसका कोई गोत्र है, न उसका कोई वर्ण है, न उसके चक्षु-कर्ण और हाथ-पैर आदि हैं।' 'वह न भीतर प्रज्ञावाला है, न बाहर प्रज्ञावाला है, न दोनों प्रकारकी प्रज्ञावाला है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है; वह न देखनेमें आता है, न उससे कोई व्यवहार किया जा सकता है, न वह पकड़में आता है, न उसका कोई लक्षण (चिह्न) है; जिसके सम्बन्धमें न चित्तसे कुछ सोचा जा सकता है और न वाणीसे कुछ कहा ही जा सकता है। जो आत्म-प्रत्ययका सार है, प्रपंचसे रहित है, शान्त, शिव और अद्वैत है'—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्॥

(मुण्डक० १।१।६)

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षण-मचिन्त्यमव्यपदेश्य-मेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्.....।

(माण्डूक्य० ७)

किसी भी दृश्य, ग्राह्य, कथन करनेयोग्य, चिन्तन करनेयोग्य और धारणामें लानेयोग्य पदार्थके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध या सादृश्य नहीं है। इसीके साथ वहीं, उसी क्षण उन्होंने उसी देश-कालातीत, अवस्था-परिणाम-शून्य, इन्द्रिय-मन-बुद्धिके अगोचर शान्त शिव अनन्त एकमात्र सत्तास्वरूप अक्षर परमात्माको ही सर्वकालमें और समस्त देशोंमें नित्य विराजित देखा और कहा कि—'धीर साधक पुरुष उस नित्य, पूर्ण, सर्वव्यापक, अत्यन्त सूक्ष्म, अविनाशी और समस्त भूतोंके कारण परमात्माको देखते हैं'—

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥

(मुण्डक० १।१।६)

उन्होंने यह भी अनुभव किया कि 'जब वह द्रष्टा उस सबके ईश्वर, ब्रह्माके भी आदिकारण सम्पूर्ण विश्वके स्रष्टा, दिव्य प्रकाशस्वरूप परम पुरुषको देख लेता है, तब वह निर्मल-हृदय महात्मा पाप-पुण्यसे छूटकर परम साम्यको प्राप्त हो जाता है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरंजनः परमं साम्यमुपैति॥

(मुण्डक० ३।१।३)

यहाँतक कि उन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर परमदेव परमात्माकी उस दिव्य अचिन्त्य स्वरूपभूता शक्तिका भी प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जो अपने ही गुणोंसे छिपी हुई है। तब उन्होंने यह निर्णय किया कि कालसे लेकर आत्मातक (काल, स्वभाव, नियति, अकस्मात्, पंचमहाभूत, योनि और जीवात्मा) सम्पूर्ण

कारणोंका स्वामी प्रेरक सबका परम कारण एकमात्र परमात्मा ही है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥

(श्वेताश्वतर० १। ३)

ऋषियोंने यह अनुभव किया कि वह सर्वातीत परमात्मा ही सर्वकारण-कारण, सर्वगत, सबमें अनुस्यूत और सबका अन्तर्यामी है। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म, भेदरहित, परिणामशून्य, अद्वय परमतत्त्व ही चराचर भूतमात्रकी योनि है, एवं अनन्त विचित्र पदार्थोंका वही एकमात्र अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण है। उन्होंने अपनी निर्भ्रान्त निर्मल दृष्टिसे यह देखा कि जो विश्वातीत-तत्त्व है—वही विश्वकृत् है, वही विश्ववित् है और वही विश्व है। विश्वमें उसीकी अनन्त सत्ताका, अनन्त ऐश्वर्यका, अनन्त ज्ञानका और अनन्त शक्तिका प्रकाश है। विश्वसृजनकी लीला करके विश्वके समस्त वैचित्र्यको, विश्वमें विकसित अखिल ऐश्वर्य, ज्ञान और शक्तिको आलिंगन किये हुए ही वह नित्य विश्वके ऊर्ध्वमें विराजित है। उपनिषद्के मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने अपनी सर्वकालव्यापिनी दिव्य दृष्टिसे देखकर कहा—'सोम्य! इस नाम-रूपात्मक विश्वकी सृष्टिसे पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था'—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।'

(छान्दोग्य० ६। २। १)

परंतु इसीके साथ तुरंत ही मुक्तकण्ठसे यह भी कह दिया कि 'उस सत् परमात्माने ईक्षण किया—इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ'—

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति'(छान्दोग्य० ६। २। ३)

यहाँ बहुतोंको यह बात समझमें नहीं आती कि जो सबसे 'अतीत' है, वही 'सर्वरूप' कैसे हो सकता है, परंतु औपनिषद्-दृष्टिसे इसमें कोई भी विरोध या असामञ्जस्य नहीं है। भगवान्का नित्य एक रहना, नित्य बहुत-से रूपोंमें अपने आस्वादनकी कामना करना और नित्य बहुत-से रूपोंमें अपनेको आप ही प्रकट करना एवं सम्भोग करना—यह सब उनके एक नित्यस्वरूपके ही अन्तर्गत है। कामना, ईक्षण और आस्वादन—ये सभी उनकी निरवच्छिन्न पूर्ण चेतनाके क्षेत्रमें समान अर्थ ही रखते हैं। भगवान् वस्तुतः न तो एक अवस्थासे किसी दूसरी विशेषमें जानेकी कामना ही करते हैं और न उनकी सहज नित्य स्वरूप-स्थितिमें कभी कोई परिवर्तन ही होता है। उनके बहुत रूपोंमें प्रकट होनेका यह अर्थ नहीं है कि वे एकत्वकी अवस्थासे बहुत्वकी अवस्थामें, अथवा अद्वैतस्थितिसे द्वैतस्थितिमें चलकर जाते हैं। उनकी सत्ता तथा स्वरूपपर कालका कोई भी प्रभाव नहीं है और इसीलिये विश्वके प्रकट होनेसे पूर्वकी या पीछेकी अवस्थामें जो भेद दिखायी देता है, वह उनकी सत्ता और स्वरूपका स्पर्श भी नहीं कर पाता। अवस्था-भेदकी कल्पना तो जड-जगत्में है। स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निवृत्ति और प्रवृत्ति, विरति और भोग, साधन और सिद्धि, कामना और परिणाम, भूत और भविष्य, दूर और समीप एवं एक और बहुत—ये सभी भेद वस्तुतः जड-जगत्के संकीर्ण धरातलमें ही हैं। विशुद्ध पूर्ण सच्चिदानन्द-सत्ता तो सर्वथा भेदशून्य है। वह विशुद्ध अभेद-भूमि है। वहाँ स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निष्क्रियता और सक्रियतामें अभेद है। इसी प्रकार एक और बहुत, साधना और सिद्धि, कामना और भोग, भूत-भविष्य-वर्तमान तथा दूर और निकट भी अभेदरूप ही हैं। इस अभेदभूमिमें चैतन्यघन पूर्ण परमात्मा परस्परविरोधी धर्मोंको आलिंगन किये नित्य विराजित हैं। वे चलते हैं और नहीं चलते; वे दूर भी हैं, समीप भी हैं; वे सबके भीतर भी हैं और सबके बाहर भी हैं—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(ईशावास्योपनिषद् ५)

वे अपने विश्वातीत रूपमें स्थित रहते हुए ही अपनी वैचित्र्यप्रसविनी कर्मशीला अचिन्त्य शक्तिके द्वारा विश्वका सृजन करके अनादि अनन्तकाल उसीके द्वारा अपने विश्वातीत स्वरूपकी उपलब्धि और उसका सम्भोग करते रहते हैं। उपनिषद्में जो यह आया है कि वह ब्रह्म पहले अकेला था, वह रमण नहीं करता था इसी कारण आज भी एकाकी पुरुष रमण नहीं करता। उसने दूसरेकी इच्छाकी….उसने अपनेको ही एकसे दो कर दिया….वे पति पत्नी हो गये।….

'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्….स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।'….

(बृहदारण्यक० १। ४। ३)

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इससे पूर्व वे अकेले थे और अकेलेपनमें रमणका अभाव प्रतीत होनेके कारण वे मिथुन (युगल) हो गये। क्योंकि कालपरम्पराके क्रमसे अवस्थाभेदको प्राप्त हो जाना ब्रह्मके लिये सम्भव नहीं है। वे नित्य मिथुन (युगल) हैं और इस नित्य युगलत्वमें ही उनका पूर्ण एकत्व है। उनका अपने स्वरूपमें ही नित्य अपने ही साथ नित्य रमण—अपनी अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त माधुर्यका अनवरत आस्वादन चल रहा है। उनके इस स्वरूपगत आत्ममैथुन, आत्मरमण और आत्मास्वादनसे ही अनादि-अनन्त काल, अनादि-अनन्त देशोंमें अनन्त विचित्रतामण्डित, अनन्त रससमन्वित विश्वके सृजन, पालन और संहारका लीला-प्रवाह चल रहा है। इस युगलरूपमें ही ब्रह्मके अद्वैतस्वरूपका परमोत्कृष्ट परिचय प्राप्त होता है। अतएव श्रीउमा-महेश्वर, श्रीलक्ष्मी-नारायण, श्रीसीता-राम, श्रीराधा-कृष्ण, श्रीकाली-रुद्र आदि सभी युगल-स्वरूप नित्य सत्य और प्रकारान्तरसे उपनिषद्-प्रतिपादित हैं। उपनिषद्ने एक ही साथ सर्वातीत और सर्वकारणरूपमें, स्थितिशील और गतिशीलरूपमें, निष्क्रिय और सक्रियरूपमें, अव्यक्त और व्यक्तरूपमें एवं सच्चिदानन्दघन पुरुष और विश्वजननी नारीरूपमें इसी युगल-स्वरूपका विवरण किया है। परंतु यह विषय है बहुत ही गहन। यह वस्तुतः अनुभवगम्य रहस्य है। प्रगाढ़ अनुभूति जब तार्किकी बुद्धिकी द्वन्द्वमयी सीमाका सर्वथा अतिक्रमण कर जाती है—तभी सक्रियत्व और निष्क्रियत्व, साकारत्व और निराकारत्व, परिणामत्व और अपरिणामत्व एवं बहुरूपत्व और एकरूपत्वके एक ही समय एक ही साथ सर्वांगीण मिलनका रहस्य खुलता है—तभी इसका यथार्थ अनुभव प्राप्त होता है।

यद्यपि विशुद्ध तत्त्वमय चैतन्य-राज्यमें प्राकृत पुरुष और नारीके सदृश देहेन्द्रियादिगत भेद एवं तदनुकूल किसी लौकिक या जडीय सम्बन्धकी सम्भावना नहीं है, तथापि—जब अप्राकृत तत्त्वकी प्राकृत मन-बुद्धि एवं इन्द्रियोंद्वारा उपासना करनी पड़ती है, तब प्राकृत उपमा और प्राकृत संज्ञा देनी ही पड़ती है। प्राकृत पुरुष और प्राकृत नारी एवं उनके प्रगाढ़ सम्बन्धका सहारा लेकर ही परम चित्तत्त्वके स्वरूपगत युगलभावको समझनेका प्रयत्न करना पड़ता है। वस्तुतः पुरुषरूपमें ब्रह्मका सर्वातीत निर्विकार निष्क्रिय भाव है, और नारीरूपमें उन्हींकी सर्वकारणात्मिका अनन्त लीला-वैचित्र्यमयी स्वरूपाशक्तिका सक्रिय भाव है। पुरुषमूर्तिमें भगवान् विश्वातीत हैं, एक हैं, और सर्वथा निष्क्रिय हैं, एवं नारीमूर्तिमें वे ही विश्वजननी, बहुप्रसविनी, लीलाविलासिनी रूपमें प्रकाशित हैं। पुरुष-विग्रहमें वे सच्चिदानन्दस्वरूप हैं और नारी-विग्रहमें उन्हींकी सत्ताका विचित्र प्रकाश, उन्हींके चैतन्यकी विचित्र उपलब्धि तथा उन्हींके आनन्दका विचित्र आस्वादन है। अपने इस नारीभावके संयोगसे ही वे परम पुरुष ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता हैं—सृजनकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता हैं। नारीभावके सहयोगसे ही उनके स्वरूपगत, स्वभावगत अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वीर्य, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त माधुर्यका प्रकाश है; इसीमें उनकी भगवत्ताका परिचय है। पुरुषरूपसे वे नित्य-निरन्तर अपने अभिन्न नारीरूपका आस्वादन करते हैं और नारी (शक्ति) रूपसे अपनेको ही आप अनन्त आकार-प्रकारोंमें लीलारूपमें प्रकट करके नित्य चिद्रूपमें उसकी उपलब्धि और सम्भोग करते हैं—इसीलिये ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् हैं। सच्चिदानन्दमयी अनन्त-वैचित्र्यप्रसविनी लीला-विलासिनी महाशक्ति ब्रह्मकी स्वरूपभूता हैं; ब्रह्मके विश्वातीत, देशकालातीत अपरिणामी सच्चिदानन्दस्वरूपके साथ नित्य मिथुनीभूता हैं। ब्रह्मकी सर्वपरिच्छेदरहित सत्ता, चेतनता और आनन्दको अगणित स्तरोंके सत्-पदार्थरूपमें, असंख्य प्रकारकी चेतना तथा ज्ञानके रूपमें एवं असंख्य प्रकारके रस—आनन्दके रूपमें विलसित करके उनको आस्वादनके योग्य बना देना इस महाशक्तिका कार्य है। स्वरूपगत महाशक्ति इस प्रकार अनादि-अनन्तकाल ब्रह्मके स्वरूपगत चित्की सेवा करती रहती हैं। उनका यह शक्तिरूप तथा शक्तिके समस्त परिणाम (लीला) और कार्य स्वरूपतः उस चित्तत्त्वसे अभिन्न हैं। यह नारीभाव उस पुरुषभावसे अभिन्न है, यह परिणामशील दिखायी देनेवाला अनन्त विचित्र लीलाविलास उनके कूटस्थ नित्यभावसे अभिन्न है। इस प्रकार उभयभाव अभिन्न होकर ही भिन्न रूपमें परस्पर आलिंगन किये हुए एक-दूसरेका प्रकाश, सेवा और आस्वादन करते हुए, एक-दूसरेको आनन्द-रसमें आप्लावित करते हुए नित्य-निरन्तर ब्रह्मके पूर्ण स्वरूपका परिचय दे रहे हैं। परम पुरुष और उनकी महाशक्ति—भगवान् और

उनकी प्रियतमा भगवती भिन्नाभिन्नरूपसे एक ही ब्रह्मस्वरूपमें स्वरूपतः प्रतिष्ठित हैं। इसीलिये ब्रह्म पूर्ण सच्चिदानन्द हैं और साथ ही नित्य आस्वादनमय हैं। यही विचित्र महारास है जो अनादि, अनन्तकाल बिना विराम चल रहा है। उपनिषदोंने ब्रह्मके इसी स्वरूपका और उनकी इसी नित्य लीलाका विविध दार्शनिक शब्दोंमें परिचय दिया है और इसी स्वरूपको जानने, समझने, उपलब्ध करने और सम्भोग करनेकी विविध प्रक्रियाएँ, विद्याएँ और साधनाएँ अनुभवी ऋषियोंकी दिव्य वाणीके द्वारा उनमें प्रकट हुई हैं।

श्रीभगवान्‌के पूजन और ध्यानकी विधि

(अम्बरीष-नारद-संवाद)

राजा अम्बरीष—मुनिवर! श्रीहरिकी आराधनाको छोड़कर ऐसा कोई भी प्रायश्चित्त मुझे नहीं दिखायी देता, जिससे जीवोंके अपार पापोंका नाश हो जाय। सुना गया है कि श्रीहरिकी एक दृष्टिसे ही सारी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। सब क्लेशोंके नाश करनेवाले उन केशवकी आराधना किस प्रकार की जाती है? जगत्‌के स्त्री-पुरुष उन नारायणकी उपासना कैसे करें—मुनिवर! जगत्‌के हितके लिये आप मुझको वही बतलाइये। सुना है, भगवान् भक्तिप्रिय हैं। अतः वे किस भक्तिसे प्रसन्न होते हैं, वह भक्ति कैसे होती है और कैसे सब लोग उनकी आराधना कर सकते हैं—यह सब बतलाइये। ब्रह्मन्! हे ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ! आप श्रीहरिके प्यारे हैं, परम वैष्णव हैं और परमार्थतत्त्वके जाननेवाले हैं; इसीसे मैं आपसे पूछ रहा हूँ। सुना है, श्रीहरिका चरणोदक (गंगाजल) जिस प्रकार पवित्र करनेवाला है, वैसे ही श्रीहरिविषयक प्रश्न भी प्रश्नकर्ता, श्रोता और वक्ता—सबको पवित्र कर देता है।

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥
संसारेऽस्मिन् क्षणार्द्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम्।
यस्मादवाप्यते सर्वं पुरुषार्थचतुष्टयम्॥

'जीव-देहोंमें मनुष्यदेह दुर्लभ है, परंतु है वह क्षणभंगुर; इस दुर्लभ और क्षणभंगुर मनुष्यदेहमें वैकुण्ठप्रिय—हरिके प्यारे संतके दर्शन और भी दुर्लभ हैं। इस संसारमें आधे क्षणका भी सत्संग मनुष्योंके लिये एक अमूल्य निधि है; क्योंकि इस सत्संगसे ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होती है।'

हे भगवन्! जैसे बच्चोंके लिये माता-पिताका मिलना महान् आनन्द और कल्याणका देनेवाला है, वैसे ही आपके दर्शन भी सब जीवोंके लिये कल्याणकारी हैं।····अतएव भगवन्! आप मुझे भागवत-धर्मका उपदेश कीजिये।

नारद—राजन्! आप स्वयं भगवान्‌के भक्त हैं। 'भगवान्‌की सेवा ही परम धर्म है' आप इस बातको भलीभाँति जानते हैं। जिन भगवान्‌की आराधना करनेसे सारे विश्वकी सेवा हो जाती है, जिन सर्वदेवमय हरिके संतुष्ट होनेपर सभी संतुष्ट हो जाते हैं और जिनके स्मरणमात्रसे महान् पातकोंका समूह डरकर उसी क्षण भाग जाता है, उन श्रीहरिकी ही सब प्रकारसे सेवा करनी चाहिये। जो समस्त कार्य-कारणोंके कारणके कारण हैं, जिनका कोई कारण नहीं है; जो जगन्मय होकर जगत्‌के जीवोंके रूपमें वर्तमान हैं, जो अणु होते हुए ही बृहत्, कृश होते हुए ही स्थूल, निर्गुण होते हुए ही महान् गुणवान् हैं—उन जन्मत्रयातीत अज भगवान् श्रीहरिका ध्यान करना चाहिये। पुरुषश्रेष्ठ! आप भागवत-धर्मके विषयमें सब कुछ जानते हुए भी जगत्‌के कल्याणके लिये ही मुझसे पूछ रहे हैं। भगवान्‌की कथा ऐसी ही है, उनका कीर्तन साधुओंके आत्मा, मन और कानोंको तृप्त करनेवाला है। इसीलिये आप मुझसे पूछ रहे हैं।

ज्ञानी पुरुष जिनको परम ब्रह्म और परात्पर प्रधान कहते हैं, जिनकी मायासे इस समस्त विश्वका अस्तित्व है, वे ही अच्युत भगवान् हैं। भक्तिपूर्वक पूजा करनेपर वे पुत्र, कलत्र, दीर्घ आयु, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष आदि सभी अभीष्ट प्रदान करते हैं। उनकी पूजाके कायिक, वाचिक और मानसिक—तीन प्रकारके व्रत होते हैं—

दिनमें एक बार अयाचित पवित्र भोजन करना और रातको कुछ न खाना कायिक व्रत है।

वेदाध्ययन, श्रीभगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन, सत्य बोलना और किसीकी निन्दा-चुगली न करना वाचिक व्रत है। और—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, निष्कपटता आदि

मानसिक व्रत हैं। इनसे श्रीहरि संतुष्ट होते हैं।

श्रीहरिके नामोंका कीर्तन सदा सर्वत्र किया जा सकता है, इसमें कोई अशौच बाधक नहीं होता। श्रीहरिका कीर्तन ही मनुष्यको भलीभाँति शुद्ध करता है। वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाले पुरुषोंको एकमात्र श्रीभगवान्‌को ही परम पुरुष और उद्धारके एकमात्र साधन मानकर सदा उन्हींका आराधन करना चाहिये। स्त्रियोंको चाहिये कि वे दयामय श्रीभगवान्‌को परमपति मानकर सदाचारका पालन करती हुई मन, वचन और शरीरका संयम करके उन्हींकी आराधना करें।

श्रीभगवान् भक्तिप्रिय हैं, वे केवल भक्तिसे जितने संतुष्ट होते हैं उतने पूजन, यज्ञ और व्रतसे नहीं होते। भगवान्‌की पूजाके लिये ये आठ पुष्प सर्वोत्तम हैं—अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, प्राणियोंपर दया, क्षमा, मनका निग्रह, ध्यान, सत्य और श्रद्धा। इन आठ प्रकारके पुष्पोंसे पूजा करनेपर भगवान् बहुत ही प्रसन्न होते हैं।

सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, भक्त, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और समस्त प्राणी—ये सभी भगवान्‌की पूजाके स्थान हैं। अर्थात् इनको भगवान्‌से पूर्ण—भगवान् समझकर इनकी सेवा करनी चाहिये। इनमें गौ और ब्राह्मण प्रधान हैं। जिसके पितृकुल और मातृकुलके पूर्व-पुरुष नरकोंमें पड़े हो, वह भी जब श्रीहरिकी सेवा-पूजा करता है तो उन सबका नरकसे उसी क्षण उद्धार हो जाता है और वे स्वर्गमें चले जाते हैं। जिनका चित्त विश्वमय वासुदेवमें आसक्त नहीं है, उनके जीवनसे और पशुकी तरह चेष्टा करनेसे क्या लाभ है?

किं तेषां जीवितेनेह पशुवच्चेष्टितेन किम्।
येषां न प्रवणं चित्तं वासुदेवे जगन्मये॥

अब श्रीभगवान्‌के ध्यानकी महिमा सुनिये—राजन्! अग्नि-रूपधारी दीपक जैसे वायुरहित स्थानमें निश्चलभावसे जलता हुआ सारे अन्धकारका नाश करता है, वैसे ही श्रीकृष्णका ध्यान करनेवाले पुरुष सब दोषोंसे रहित और निरामय हो जाते हैं। वे निश्चल और निराश होकर वैर और प्रीतिके बन्धनोंको काट डालते हैं और शोक, दुःख, भय, द्वेष, लोभ, मोह एवं भ्रम आदि इन्द्रिय-विषयोंसे सर्वथा छूट जाते हैं। दीपक जैसे जलती हुई शिखाके द्वारा तेलका शोषण करता है, वैसे ही श्रीकृष्णका ध्यान करनेवाला पुरुष ध्यानरूपी अग्निसे कर्मोंको जलाता रहता है। अपनी-अपनी स्थिति और रुचिके अनुसार भगवान्‌के निराकार और साकार दोनों ही रूपोंका ध्यान किया जा सकता है। निराकार ध्यान करनेवाले विचारके द्वारा ज्ञानदृष्टिसे इस प्रकार देखें—

'वे परमात्मा हाथ-पैरवाले न होकर भी सब वस्तुओंको ग्रहण करते हैं और सर्वत्र जाते-आते हैं। मुख-नासिका न होनेपर भी वे आहार करते और गन्ध सूँघते हैं। कान न होनेपर भी वे जगत्पति सर्वसाक्षी भगवान् सब कुछ सुनते हैं। निराकार होकर भी वे पंचेन्द्रियोंके वश होकर रूपवान्-से प्रतीत होते हैं। सब लोकोंके प्राण होनेके कारण वे ही चराचरके द्वारा पूजित होते हैं। वे जीभ न होनेपर भी वेद-शास्त्रानुकूल सब वचन बोलते हैं। त्वक् न होनेपर भी समस्त शीतोष्णादिका स्पर्श करते हैं। वे सर्वदा आनन्दमय, एकरस, निराश्रय, निर्गुण, निर्मम, सर्वव्यापी, सर्वदिव्यगुणसम्पन्न, निर्मल ओजरूप, किसीके वश न होनेवाले, सर्वदा अपने वशमें रखनेवाले, सबको यथायोग्य सब कुछ देनेवाले और सर्वज्ञ हैं। उनको कोई माँ नहीं उत्पन्न करती, वे ही सर्वमय विभु हैं।'

जो पुरुष एकान्त चित्तसे इस प्रकार ध्यानके द्वारा सर्वमय भगवान्‌को देखता है, वह अमूर्त अमृतमय परम धामको प्राप्त होता है।

अब साकार ध्यानके विषयमें सुनिये—

'उनका सजल मेघोंके समान श्यामवर्ण और अत्यन्त चिकना शरीर है। सूर्यके समान शरीरका तेज है। उन जगत्पति भगवान्‌के चार बड़ी सुन्दर भुजाएँ हैं। दाहिनी भुजाओंमें महामणियोंसे जड़ा हुआ शंख और भयानक असुरोंको मारनेवाली कौमोदकी गदा है। बायीं भुजाओंमें कमल और चक्र शोभा पा रहे हैं। भगवान् शार्ङ्गधनुष धारण किये हैं। उनका गला शंखके समान गोल, मुखमण्डल और नेत्र कमल-पत्रके सदृश हैं। उन हृषीकेशके कुन्द-से अति सुन्दर दाँत हैं। उन पद्मनाभभगवान्‌के अधर प्रवालके तुल्य लाल हैं, मस्तकपर अत्यन्त तेजपूर्ण उज्ज्वल किरीट शोभा पा रहा है। उन केशवभगवान्‌के हृदयपर श्रीवत्सका चिह्न है, वे कौस्तुभमणि धारण किये हुए हैं। उन जनार्दनके दोनों कानोंमें सूर्यके समान चमकते हुए कुण्डल विराजमान हैं। वे हार, बाजूबंद, कड़े, करधनी और अँगूठियोंके द्वारा विभूषित हैं और स्वर्णके समान पीताम्बर धारण किये गरुड़जीपर विराजित हैं।'

राजन्! पापसमूहका नाश करनेवाले भगवान्के साकार स्वरूपका इस प्रकार ध्यान करनेसे मनुष्य शारीरिक, वाचिक और मानसिक—तीनों पापोंसे छूट जाता है और सारे मनोरथोंको पाकर तथा देवताओंके द्वारा पूजित होकर श्रीभगवान्के दिव्य परमधामको प्राप्त होता है।

यं यं चाभिलषेत् कामं तं तं प्राप्नोति निश्चितम्।
पूज्यते देववर्गैश्च विष्णुलोकं स गच्छति॥

(पद्मपुराणके आधारपर)

माखनचोरीका रहस्य

भगवान्की लीलापर विचार करते समय यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भगवान्का लीलाधाम, भगवान्के लीलापात्र और भगवान्का लीलाशरीर प्राकृत नहीं होता। भगवान्में देह-देहीका भेद नहीं है। महाभारतमें आया है—

न भूतसंघसंस्थानो देवस्य परमात्मनः।
यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः॥
स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः।
मुखं तस्यावलोक्यापि सचैलः स्नानमाचरेत्॥

'परमात्माका शरीर भूतसमुदायसे बना हुआ नहीं होता। जो मनुष्य श्रीकृष्ण परमात्माके शरीरको भौतिक जानता-मानता है, उसका समस्त श्रौत-स्मार्त कर्मोंसे बहिष्कार कर देना चाहिये अर्थात् उसका किसी भी शास्त्रीय कर्ममें अधिकार नहीं है। यहाँतक कि उसका मुँह देखनेपर भी सचैल (वस्त्रसहित) स्नान करना चाहिये।'

श्रीमद्भागवत (१०। १४)-में ब्रह्माजीने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहा है—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि॥

'आपने मुझपर कृपा करनेके लिये ही यह स्वेच्छामय सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकट किया है, यह पांचभौतिक कदापि नहीं है।'

इससे यह स्पष्ट है कि भगवान्का सभी कुछ अप्राकृत होता है, उनकी जन्म-कर्मकी सभी लीलाएँ दिव्य होती हैं; परंतु यह व्रजकी लीला, व्रजमें निकुंजलीला और निकुंजमें भी केवलरसमयी गोपियोंके साथ होनेवाली मधुर लीला तो दिव्यातिदिव्य और सर्वगुह्यतम है। यह लीला सर्वसाधारणके सम्मुख प्रकट नहीं है, अन्तरंग लीला है और इसमें प्रवेशका अधिकार केवल श्रीगोपीजनोंको ही है।

यदि भगवान्के नित्य परमधाममें अभिन्नरूपसे नित्य निवास करनेवाली नित्यसिद्धा गोपियोंकी दृष्टिसे न देखकर केवल साधनसिद्धा गोपियोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो भी उनकी तपस्या इतनी कठोर थी, उनकी लालसा इतनी अनन्य थी, उनका प्रेम इतना व्यापक था और उनकी लगन इतनी सच्ची थी कि भक्तवांछाकल्पतरु प्रेमरसमय भगवान् उनके इच्छानुसार उन्हें सुख पहुँचानेके लिये माखनचोरीकी लीला करके उनकी इच्छित पूजा ग्रहण करें, चीरहरण करके उनका रहा-सहा व्यवधानका परदा उठा दें और रासलीला करके उनको दिव्य सुख पहुँचायें तो कोई बड़ी बात नहीं है।

भगवान्की नित्यसिद्धा चिदानन्दमयी गोपियोंके अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी गोपियाँ और थीं, जो अपनी महान् साधनाके फलस्वरूप भगवान्की मुक्तजन-वांछित सेवा करनेके लिये गोपियोंके रूपमें अवतीर्ण हुई थीं। उनमेंसे कुछ पूर्वजन्मकी देवकन्याएँ थीं, कुछ श्रुतियाँ थीं, कुछ तपस्वी ऋषि थे और कुछ अन्य भक्तजन। इनकी कथाएँ विभिन्न पुराणोंमें मिलती हैं। श्रुतिरूप गोपियाँ, जो 'नेति-नेति' के द्वारा निरन्तर परमात्माका वर्णन करते रहनेपर भी उन्हें साक्षात्रूपसे प्राप्त नहीं कर सकतीं, गोपियोंके साथ भगवान्के दिव्य रसमय विहारकी बात जानकर गोपियोंकी उपासना करती हैं और अन्तमें स्वयं गोपीरूपमें परिणत होकर भगवान् श्रीकृष्णको साक्षात् अपने प्रियतमरूपसे प्राप्त करती हैं। इनमें मुख्य श्रुतियोंके नाम हैं—उद्गीता, सुगीता, कलगीता, कलकण्ठिका और विपंची आदि।

भगवान्के श्रीरामावतारमें उन्हें देखकर मुग्ध होनेवाले—अपने-आपको उनके स्वरूप सौन्दर्यपर न्योछावर कर देनेवाले ऋषिगण, जिनकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान्ने उन्हें गोपी होकर प्राप्त करनेका वर दिया था, व्रजमें गोपीरूपसे अवतीर्ण हुए थे। इसके अतिरिक्त मिथिलाकी गोपी, कोसलकी गोपी, अयोध्याकी गोपी—पुलिन्दगोपी, रमावैकुण्ठ, श्वेतद्वीप आदिकी गोपियाँ और जालन्धरी गोपी आदि गोपियोंके अनेकों यूथ थे,

जिनको बड़ी तपस्या करके भगवान्‌से वरदान पाकर गोपीरूपमें अवतीर्ण होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पद्मपुराणके पातालखण्डमें बहुत-से ऐसे ऋषियोंका वर्णन है, जिन्होंने बड़ी कठिन तपस्या आदि करके अनेकों कल्पोंके बाद गोपीस्वरूपको प्राप्त किया था। उनमेंसे कुछके नाम निम्नलिखित हैं—

१—एक उग्रतपा नामके ऋषि थे। वे अग्निहोत्री और बड़े दृढ़व्रती थे। उनकी तपस्या अद्‌भुत थी। उन्होंने पंचदशाक्षरमन्त्रका जाप और रासोन्मत्त नव-किशोर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका ध्यान किया था। सौ कल्पोंके बाद वे सुनन्द नामक गोपकी कन्या 'सुनन्दा' हुए।

२—एक सत्यतपा नामके मुनि थे। वे सूखे पत्तोंपर रहकर दशाक्षरमन्त्रका जाप और श्रीराधाजीके दोनों हाथ पकड़कर नाचते हुए श्रीकृष्णका ध्यान करते थे। दस कल्पके बाद वे सुभद्रनामक गोपकी कन्या 'सुभद्रा' हुए।

३—हरिधामा नामके एक ऋषि थे। वे निराहार रहकर 'क्लीं' कामबीजसे युक्त विंशाक्षरी मन्त्रका जाप करते थे और माधवीमण्डपमें कोमल-कोमल पत्तोंकी शय्यापर लेटे हुए युगल-सरकारका ध्यान करते थे। तीन कल्पके पश्चात् वे सारंग नामक गोपके घर 'रंगवेणी' नामसे अवतीर्ण हुए।

(४) जाबालि नामके ब्रह्मज्ञानी ऋषि थे, उन्होंने एक बार विशाल वनमें विचरते-विचरते एक जगह बहुत बड़ी बावली देखी। उस बावलीके पश्चिम तटपर बड़के नीचे एक युवती स्त्री कठोर तपस्या कर रही थी। वह बड़ी सुन्दर थी। चन्द्रमाकी शुभ्र किरणोंके समान उसकी चाँदनी चारों ओर छिटक रही थी। उसका बायाँ हाथ अपनी कमरपर था और दाहिने हाथसे वह ज्ञानमुद्रा धारण किये हुए थी। जाबालिके बड़ी नम्रताके साथ पूछनेपर उस तापसीने बताया—

ब्रह्मविद्याहमतुला योगीन्द्रैर्या च मृग्यते।
साहं हरिपदाम्भोजकाम्यया सुचिरं तपः॥
चराम्यस्मिन् वने घोरे ध्यायन्ती पुरुषोत्तमम्।
ब्रह्मानन्देन पूर्णाहं तेनानन्देन तृप्तधीः॥
तथापि शून्यमात्मानं मन्ये कृष्णरतिं विना।

(पद्मपुराण, पाताल० ४१। ३०—३२)

'मैं वह ब्रह्मविद्या हूँ, जिसे बड़े-बड़े योगी सदा ढूँढ़ा करते हैं। मैं श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्तिके लिये इस घोर वनमें उन पुरुषोत्तमका ध्यान करती हुई दीर्घकालसे तपस्या कर रही हूँ। मैं ब्रह्मानन्दसे परिपूर्ण हूँ और मेरी बुद्धि भी उसी आनन्दसे परितृप्त है। परंतु श्रीकृष्णका प्रेम मुझे अभी प्राप्त नहीं हुआ, इसलिये मैं अपनेको शून्य देखती हूँ। ब्रह्मज्ञानी जाबालिने उसके चरणोंपर गिरकर दीक्षा ली और फिर व्रजवीथियोंमें विहरनेवाले भगवान्‌का ध्यान करते हुए वे एक पैरसे खड़े होकर कठोर तपस्या करते रहे। नौ कल्पोंके बाद प्रचण्ड नामक गोपके घर वे 'चित्रगन्धा' के रूपमें प्रकट हुए।

५—कुशध्वज नामक ब्रह्मर्षिके पुत्र शुचिश्रवा और सुवर्ण वेदतत्त्वज्ञ थे। उन्होंने शीर्षासन करके 'ह्रीं' हंस-मन्त्रका जाप करते हुए और सुन्दर कन्दर्प-तुल्य गोकुलवासी दस वर्षकी उम्रके भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए घोर तपस्या की। कल्पके बाद वे व्रजमें सुधीर नामक गोपके घर उत्पन्न हुए।

इसी प्रकार और भी बहुत-सी गोपियोंके पूर्वजन्मकी कथाएँ प्राप्त होती हैं, विस्तारभयसे उन सबका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया। भगवान्‌के लिये इतनी तपस्या करके इतनी लगनके साथ कल्पोंतक साधना करके जिन त्यागी भगवत्प्रेमियोंने गोपियोंका तन-मन प्राप्त किया था, उनकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये, उन्हें आनन्द-दान देनेके लिये यदि भगवान् उनकी मनचाही लीला करते हैं तो इसमें आश्चर्य और अनाचारकी कौन-सी बात है? रासलीलाके प्रसंगमें स्वयं भगवान्‌ने श्रीगोपियोंसे कहा है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

(१०। ३२। २२)

'गोपियो! तुमने लोक और परलोकके सारे बन्धनोंको काटकर मुझसे निष्कपट प्रेम किया है; यदि मैं तुममेंसे प्रत्येकके लिये अलग-अलग अनन्त कालतक जीवन धारण करके तुम्हारे प्रेमका बदला चुकाना चाहूँ तो भी नहीं चुका सकता। मैं तुम्हारा ऋणी हूँ और ऋणी ही रहूँगा। तुम मुझे अपने साधुस्वभावसे ऋणरहित मानकर और भी ऋणी बना दो। यही उत्तम है।' सर्वलोकमहेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं जिन महाभागा गोपियोंके ऋणी

रहना चाहते हैं उनकी इच्छा, इच्छा होनेसे पूर्व ही भगवान् पूर्ण कर दें—यह तो स्वाभाविक ही है।

भला विचारिये तो सही श्रीकृष्णगतप्राणा, श्रीकृष्ण-रसभावितमति गोपियोंके मनकी क्या स्थिति थी। गोपियोंका तन, मन, धन—सभी कुछ प्राणप्रियतम श्रीकृष्णका था। वे संसारमें जीती थीं श्रीकृष्णके लिये, घरमें रहती थीं श्रीकृष्णके लिये और घरके सारे काम करती थीं श्रीकृष्णके लिये। उनकी निर्मल और योगीन्द्र-दुर्लभ पवित्र बुद्धिमें श्रीकृष्णके सिवा अपना कुछ था ही नहीं। श्रीकृष्णके लिये ही, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही, श्रीकृष्णकी निज सामग्रीसे ही श्रीकृष्णको पूजकर—श्रीकृष्णको देखकर वे सुखी होती थीं। प्रातःकाल निद्रा टूटनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक वे जो कुछ भी करती थीं, सब श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये ही करती थीं। यहाँतक कि उनकी निद्रा भी श्रीकृष्णमें ही होती थी। स्वप्न और सुषुप्ति दोनोंमें ही वे श्रीकृष्णकी मधुर और शान्त लीला देखतीं और अनुभव करती थीं। रातको दही जमाते समय श्यामसुन्दरकी माधुरी छबिका ध्यान करती हुई प्रेममयी प्रत्येक गोपी अभिलाषा करती थी कि मेरा दही सुन्दर जमे, श्रीकृष्णके लिये उसे बिलोकर मैं बढ़िया-सा और बहुत-सा माखन निकालूँ और उसे उतने ही ऊँचे छीकेपर रखूँ, जितनेपर श्रीकृष्णके हाथ आसानीसे पहुँच सकें, फिर मेरे प्राणधन बालकृष्ण अपने सखाओंको साथ लेकर हँसते और क्रीडा करते हुए घरमें पदार्पण करें, माखन लूटें और अपने सखाओं और बंदरोंको लुटायें, आनन्दमें मत्त होकर मेरे आँगनमें नाचें और मैं किसी कोनेमें छिपकर इस लीलाको अपनी आँखोंसे देखकर जीवनको सफल करूँ। और फिर अचानक ही पकड़कर हृदयसे लगा लूँ। सूरदासजीने गाया है—

मैया री, मोहि माखन भावै।
जो मेवा पकवान कहत तू, मोहि नहीं रुचि आवै॥
ब्रज-जुबती इक पाछैं ठाढ़ी, सुनत स्याम की बात।
मन-मन कहति कबहुँ अपनैं घर, देखौं माखन खात॥
बैठैं जाइ मथनियाँ कें ढिग, मैं तब रहौं छपानी।
सूरदास प्रभु अंतरजामी, ग्वालिनि मन की जानी॥

एक दिन श्यामसुन्दर कह रहे थे, 'मैया! मुझे माखन भाता है; तू मेवा-पकवानके लिये कहती है, परंतु मुझे तो वे रुचते ही नहीं।' वहीं पीछे एक गोपी खड़ी श्यामसुन्दरकी बात सुन रही थी। उसने मन-ही-मन कामना की—'मैं कब इन्हें अपने घर माखन खाते देखूँगी; ये मथानीके पास जाकर बैठेंगे, तब मैं छिप रहूँगी?' प्रभु तो अन्तर्यामी हैं, गोपीके मनकी जान गये और उसके घर पहुँचे तथा उसके घरका माखन खाकर उसे सुख दिया—*'गये स्याम तिहिं ग्वालिनि कैं घर'*।

उसे इतना आनन्द हुआ कि वह फूली न समायी। सूरदासजी गाते हैं—

फूली फिरति ग्वालि मन में री।
पूछति सखी परस्पर बातैं पायो पर्‌यो कछू कहुँ तैं री?
पुलकित रोम रोम, गदगद मुख बानी कहत न आवै।
ऐसो कहा आहि सो सखि री, हम कौं क्यौं न सुनावै॥
तन न्यारा, जिय एक हमारौ, हम तुम एकै रूप।
सूरदास कहै ग्वालि सखिनि सौं, देख्यौ रूप अनूप॥

वह खुशीसे छककर फूली-फूली फिरने लगी। आनन्द उसके हृदयमें समा नहीं रहा था। सहेलियोंने पूछा—'अरी! तुझे कहीं कुछ पड़ा धन मिल गया क्या?' वह तो यह सुनकर और भी प्रेमविह्वल हो गयी। उसका रोम-रोम खिल उठा, वह गद्‌गद हो गयी, मुँहसे बोली नहीं निकली। सखियोंने कहा—'सखि! ऐसी क्या बात है, हमें सुनाती क्यों नहीं? हमारे तो शरीर ही दो हैं, हमारा जी तो एक ही है—हम-तुम दोनों एक ही रूप हैं। भला, हमसे छिपानेकी कौन-सी बात है?' तब उसके मुँहसे इतना ही निकला—'मैंने आज अनूप रूप देखा है।' बस, फिर वाणी रुक गयी और प्रेमके आँसू बहने लगे! सभी गोपियोंकी यही दशा थी।

ब्रज घर-घर प्रगटी यह बात।
दधि माखन चोरी करि लै हरि, ग्वाल सखा सँग खात॥
ब्रज-बनिता यह सुनि मन हरषित, सदन हमारैं आवैं।
माखन खात अचानक पावैं, भुज भरि उरहिं छुपावैं॥
मनहीं मन अभिलाष करति सब हृदय धरति यह ध्यान।
सूरदास प्रभु कौं घर में लै, देहौं माखन खान॥

× × × ×

चली ब्रज घर-घरनि यह बात।
नंद-सुत, सँग सखा लीन्हें, चोरी माखन खात॥
कोउ कहति, मेरे भवन भीतर, अबहिं पैठे धाइ।
कोउ कहति मोहिं देखि द्वारैं, उतहिं गए पराइ॥
कोउ कहति, किहिं भाँति हरि कौं, देखौं अपने धाम।

हेरि माखन देउँ आछौ, खाइ जितनौ स्याम॥
कोउ कहति, मैं देखि पाऊँ, भरि धरौं अँकवार।
कोउ कहति, मैं बाँधि राखौं, को सकै निरवार॥
सूर प्रभु के मिलन कारन, करति बिबिध बिचार।
जोरि कर बिधिकौं मनावति पुरुष नंदकुमार॥

रातों गोपियाँ जाग-जागकर प्रात:काल होनेकी बाट देखतीं। उनका मन श्रीकृष्णमें लगा रहता। प्रात:काल जल्दी-जल्दी दही मथकर, माखन निकालकर छीकेपर रखतीं। कहीं प्राणधन आकर लौट न जायँ, इसलिये सब काम छोड़कर वे सबसे पहले यही काम करतीं और श्यामसुन्दरकी प्रतीक्षामें व्याकुल होती हुई मन-ही-मन सोचतीं—हा! आज प्राणप्रियतम क्यों नहीं आये? इतनी देर क्यों हो गयी? क्या आज इस दासीका घर पवित्र न करेंगे? क्या आज मेरे समर्पण किये हुए इस तुच्छ माखनका भोग लगाकर स्वयं सुखी होकर मुझे सुख न देंगे? कहीं यशोदा मैयाने तो उन्हें नहीं रोक लिया? उनके घर तो नौ लाख गौएँ हैं। माखनकी क्या कमी है! मेरे घर तो वे कृपा करके ही आते हैं! इन्हीं विचारोंमें आँसू बहाती हुई गोपी क्षण-क्षणमें दौड़कर दरवाजेपर जाती; लाज छोड़कर रास्तेकी ओर देखती। सखियोंसे पूछती। एक-एक निमेष उसके लिये युगके समान हो जाता! ऐसी भाग्यवती गोपियोंकी मन:कामना भगवान् उनके घर पधारकर पूर्ण करते।

सूरदासजीने गाया है—

प्रथम करी हरि माखन-चोरी।
ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन, आपु भजे ब्रज खोरी॥
मन में यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाऊँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सब कैं माखन खाऊँ॥
बालरूप जसुमति मोहि जानै, गोपिनि मिलि सुख भोग।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं ये मेरे ब्रज लोग॥

अपने निजजन व्रजवासियोंको सुखी करनेके लिये तो भगवान् गोकुलमें पधारे थे। माखन तो नन्दबाबाके घरपर कम न था, लाख-लाख गौएँ थीं। वे चाहे जितना खाते-लुटाते। परंतु वे तो केवल नन्दबाबाके ही नहीं, सभी व्रजवासियोंके अपने थे, सभीको सुख देना चाहते थे। गोपियोंकी लालसा पूरी करनेके लिये ही वे उनके घर जाते और चुरा-चुराकर माखन खाते। यह वास्तवमें चोरी नहीं, यह तो गोपियोंकी पूजा-पद्धतिका भगवान्के द्वारा स्वीकार था। भक्तवत्सल भगवान् भक्तकी पूजाका स्वीकार कैसे न करें?

भगवान्की इस दिव्यलीला—माखनचोरीका रहस्य न जाननेके कारण ही कुछ लोग इसे आदर्शके विपरीत बतलाते हैं। उन्हें पहले समझना चाहिये चोरी क्या वस्तु है, वह किसकी होती है और कौन करता है। चोरी उसे कहते हैं जब किसी दूसरेकी कोई चीज उसकी इच्छाके बिना, उसके अनजानमें और आगे भी वह जान न पाये—ऐसी इच्छा रखकर ले ली जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके घरसे माखन लेते थे उनकी इच्छासे, गोपियोंके अनजानमें नहीं—उनकी जानमें, उनके देखते-देखते और आगे जनानेकी कोई बात ही नहीं—उनके सामने ही दौड़ते हुए निकल जाते थे। दूसरी बात महत्त्वकी यह है कि संसारमें या संसारके बाहर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो श्रीभगवान्की नहीं है और वे उसकी चोरी करते हैं। गोपियोंका तो सर्वस्व श्रीभगवान्का था ही, सारा जगत् ही उनका है। वे भला, किसकी चोरी कर सकते हैं? हाँ, चोर तो वास्तवमें वे लोग हैं जो भगवान्की वस्तुको अपनी मानकर ममता-आसक्तिमें फँसे रहते हैं और दण्डके पात्र बनते हैं। उपर्युक्त सभी दृष्टियोंसे यही सिद्ध होता है कि माखनचोरी चोरी न थी, भगवान्की दिव्यलीला थी। असलमें गोपियोंने प्रेमकी अधिकतासे ही भगवान्का प्रेमका नाम 'चोर' रख दिया था, क्योंकि वे उनके चित्तचोर तो थे ही। यही रहस्य है।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् नहीं मानते, यद्यपि उन्हें श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवान्की लीलापर विचार करनेका कोई अधिकार नहीं है, परंतु उनकी दृष्टिसे भी इस प्रसंगमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं है। क्योंकि श्रीकृष्ण उस समय लगभग दो-तीन वर्षके बच्चे थे और गोपियाँ अत्यधिक स्नेहके कारण उनके ऐसे-ऐसे मधुर खेल देखना चाहती थीं।

चीरहरण-रहस्य

चीरहरणके प्रसंगको लेकर कई तरहकी शंकाएँ की जाती हैं, अतएव इस सम्बन्धमें कुछ विचार करना आवश्यक है। वास्तवमें बात यह है कि सच्चिदानन्दघन भगवान्‌की दिव्य मधुर रसमयी लीलाओंका रहस्य जाननेका सौभाग्य बहुत थोड़े लोगोंको होता है। जिस प्रकार भगवान् चिन्मय हैं, उसी प्रकार उनकी लीलाएँ भी चिन्मयी ही होती हैं। सच्चिदानन्द-रसमय-साम्राज्यके जिस परमोन्नत स्तरमें यह लीला हुआ करती है उसकी ऐसी विलक्षणता है कि कई बार तो ज्ञान-विज्ञानस्वरूप विशुद्ध चेतन परम ब्रह्ममें भी उसका प्राकट्य नहीं होता और इसीलिये ब्रह्म-साक्षात्कारको प्राप्त महात्मा लोग भी इस लीला-रसका समास्वादन नहीं कर पाते। भगवान्‌की इस परमोज्ज्वल दिव्य-रस-लीलाका यथार्थ प्रकाश तो भगवान्‌की स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्ति नित्यनिकुंजेश्वरी श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीराधाजी और तदंगभूता प्रेममयी गोपियोंके ही हृदयमें होता है और वे ही निरावरण होकर भगवान्‌की इस परम अन्तरंग रसमयी लीलाका समास्वादन करती हैं।

यों तो भगवान्‌के जन्म-कर्मकी सभी लीलाएँ दिव्य होती हैं, परंतु व्रजकी लीला, व्रजमें निकुंजलीला और निकुंजमें भी केवल रसमयी गोपियोंके साथ होनेवाली मधुर-लीला तो दिव्यातिदिव्य और सर्वगुह्यतम है। यह लीला सर्वसाधारणके सम्मुख प्रकट नहीं है, अन्तरंग लीला है और इसमें प्रवेशका अधिकार केवल श्रीगोपीजनोंको ही है।

दशम स्कन्धके इक्कीसवें अध्यायमें ऐसा वर्णन आया है कि भगवान्‌की रूपमाधुरी, वंशीध्वनि और प्रेममयी लीलाएँ देख-सुनकर गोपियाँ मुग्ध हो गयीं। बाईसवें अध्यायमें उसी प्रेमकी पूर्णता प्राप्त करनेके लिये वे साधनमें लग गयी हैं। इसी अध्यायमें भगवान्‌ने आकर उनकी साधना पूर्ण की है। यही चीर-हरणका प्रसंग है।

गोपियाँ क्या चाहती थीं, यह बात उनकी साधनासे स्पष्ट है। वे चाहती थीं—श्रीकृष्णके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण, श्रीकृष्णके साथ इस प्रकार घुल-मिल जाना कि उनका रोम-रोम, मन-प्राण, सम्पूर्ण आत्मा केवल श्रीकृष्णमय हो जाय। शरत्-कालमें उन्होंने श्रीकृष्णकी वंशीध्वनिकी चर्चा आपसमें की थी, हेमन्तके पहले ही महीनेमें अर्थात् भगवान्‌के विभूतिस्वरूप मार्गशीर्षमें उनकी साधना प्रारम्भ हो गयी। विलम्ब उनके लिये असह्य था। जाड़ेके दिनोंमें वे प्रात:काल ही यमुना-स्नानके लिये जातीं, उन्हें शरीरकी परवा नहीं थी। बहुत-सी कुमारी ग्वालिनें एक साथ ही जातीं, उनमें ईर्ष्या-द्वेष नहीं था। वे ऊँचे स्वरसे श्रीकृष्णका नाम-कीर्तन करती हुई जातीं, उन्हें गाँव और जातिवालोंका भय नहीं था। वे घरमें भी हविष्यान्नका ही भोजन करतीं, वे श्रीकृष्णके लिये इतनी व्याकुल हो गयी थीं कि उन्हें माता-पितातकका संकोच नहीं था। वे विधिपूर्वक देवीकी बालुकामयी मूर्ति बनाकर पूजा और मन्त्र-जप करती थीं। अपने इस कार्यको सर्वथा उचित और प्रशस्त मानती थीं। एक वाक्यमें—उन्होंने अपना कुल, परिवार, धर्म, संकोच और व्यक्तित्व भगवान्‌के चरणोंमें सर्वथा समर्पण कर दिया था! वे यही जपती रहती थीं कि एकमात्र नन्दनन्दन ही हमारे प्राणोंके स्वामी हों। श्रीकृष्ण तो वस्तुत: उनके स्वामी थे ही। परंतु लीलाकी दृष्टिसे उनके समर्पणमें थोड़ी कमी थी। वे निरावरणरूपसे श्रीकृष्णके सामने नहीं जा रही थीं, उनमें थोड़ी झिझक थी; उनकी यही झिझक दूर करनेके लिये—उनकी साधना, उनका समर्पण पूर्ण करनेके लिये उनका आवरण भंग कर देनेकी आवश्यकता थी, उनका यह आवरणरूप चीर हर लेना जरूरी था और यही काम भगवान् श्रीकृष्णने किया। इसीके लिये वे योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान् अपने मित्र ग्वालबालोंके साथ यमुनातटपर पधारे थे।

साधक अपनी शक्तिसे, अपने बल और संकल्पसे केवल अपने निश्चयसे पूर्ण समर्पण नहीं कर सकता। समर्पण भी एक क्रिया है और उसका करनेवाला असमर्पित ही रह जाता है। ऐसी स्थितिमें अन्तरात्माका पूर्ण समर्पण तब होता है, जब भगवान् स्वयं आकर वह संकल्प स्वीकार करते हैं और संकल्प करनेवालेको स्वीकार करते हैं। यहीं जाकर समर्पण पूर्ण होता है। साधकका कर्तव्य है, पूर्ण समर्पणकी तैयारी! उसे पूर्ण तो भगवान् ही करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण यों तो लीलापुरुषोत्तम हैं; फिर

भी जब अपनी लीला प्रकट करते हैं तो मर्यादाका उल्लंघन नहीं करते हैं, स्थापना ही करते हैं। विधिका अतिक्रमण करके कोई साधनाके मार्गमें अग्रसर नहीं हो सकता। परंतु हृदयकी निष्कपटता, सचाई और सच्चा प्रेम विधिके अतिक्रमणको भी शिथिल कर देता है। गोपियाँ श्रीकृष्णको प्राप्त करनेके लिये जो साधना कर रही थीं, उसमें एक त्रुटि थी। वे शास्त्र-मर्यादा और परम्परागत सनातन मर्यादाका उल्लंघन करके नग्न-स्नान करती थीं। यद्यपि उनकी यह क्रिया अज्ञानपूर्वक ही थी, तथापि भगवान्के द्वारा इसका मार्जन होना आवश्यक था। भगवान्ने गोपियोंसे इसका प्रायश्चित्त भी करवाया। जो लोग भगवान्के प्रेमके नामपर विधिका उल्लंघन करते हैं, उन्हें यह प्रसंग ध्यानसे पढ़ना चाहिये और भगवान् शास्त्रविधिका कितना आदर करते हैं, यह देखना चाहिये।

वैधी भक्तिका पर्यवसान रागात्मिका भक्तिमें है और रागात्मिका भक्ति पूर्ण समर्पणके रूपमें परिणत हो जाती है। गोपियोंने वैधी भक्तिका अनुष्ठान किया, उनका हृदय तो रागात्मिका भक्तिसे भरा हुआ था ही। अब पूर्ण समर्पण होना चाहिये। चीरहरणके द्वारा वही कार्य सुसम्पन्न होता है।

गोपियोंने जिनके लिये लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ, जाति-कुल, पुरजन-परिजन और गुरुजनोंकी परवा नहीं की; जिनकी प्राप्तिके लिये ही उनका यह महान् अनुष्ठान है, जिनके चरणोंमें उन्होंने अपना सर्वस्व निछावर कर रखा है, जिनसे निरावरण मिलनकी ही एकमात्र अभिलाषा है, उन्हीं निरावरण रसमय भगवान् श्रीकृष्णके सामने वे निरावरण-भावसे न जा सकें—क्या यह उनकी साधनाकी अपूर्णता नहीं है? है, अवश्य है। और यह समझकर ही गोपियाँ निरावरणरूपसे उनके सामने गयीं।

श्रीकृष्ण चराचर प्रकृतिके एकमात्र अधीश्वर हैं; समस्त क्रियाओंके कर्ता, भोक्ता और साक्षी भी वही हैं। ऐसा एक भी व्यक्त या अव्यक्त पदार्थ नहीं है जो बिना किसी परदेके उनके सामने न हो। वही सर्वव्यापक, अन्तर्यामी हैं। गोपियोंके, गोपोंके और निखिल विश्वके वही आत्मा हैं। उन्हें स्वामी, गुरु, पिता, माता, सखा, पति आदिके रूपमें मानकर लोग उन्हींकी उपासना करते हैं। गोपियाँ उन्हीं भगवान्को जान-बूझकर कि यही भगवान् हैं—यही योगेश्वरेश्वर, क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम हैं—पतिके रूपमें प्राप्त करना चाहती थीं। श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धका श्रद्धाभावसे पाठ कर जानेपर यह बात बहुत ही स्पष्ट हो जाती है कि गोपियाँ श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको जानती थीं, पहचानती थीं। वेणुगीत, गोपीगीत, युगलगीत और श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर गोपियोंके अन्वेषणमें यह बात कोई भी देख-सुन-समझ सकता है। जो लोग भगवान्को भगवान् मानते हैं, उनसे सम्बन्ध रखते हैं, स्वामी-सुहृद् आदिके रूपमें उन्हें मानते हैं, उनके हृदयमें गोपियोंके इस लोकोत्तर माधुर्यसम्बन्ध और उसकी साधनाके प्रति शंका ही कैसे हो सकती है।

गोपियोंकी इस दिव्य लीलाका जीवन उच्च श्रेणीके साधकके लिये आदर्श जीवन है। श्रीकृष्ण जीवके एकमात्र प्राप्तव्य साक्षात् परमात्मा हैं। हमारी बुद्धि, हमारी दृष्टि देहतक ही सीमित है। इसलिये हम श्रीकृष्ण और गोपियोंके प्रेमको भी केवल दैहिक तथा कामनाकलुषित समझ बैठते हैं। उस अपार्थिव और अप्राकृत लीलाको इस प्रकृतिके राज्यमें घसीट लाना हमारी स्थूल वासनाओंका हानिकर परिणाम है। जीवका मन भोगाभिमुख वासनाओंसे और तमोगुणी प्रवृत्तियोंसे अभिभूत रहता है। वह विषयोंमें ही इधर-से-उधर भटकता रहता है और अनेकों प्रकारके रोग-शोकसे आक्रान्त रहता है। जब कभी पुण्यकर्मोंके फल उदय होनेपर भगवान्की अचिन्त्य अहैतुकी कृपासे विचारका उदय होता है, तब जीव दुःखज्वालासे त्राण पानेके लिये और अपने प्राणोंको शान्तिमय धाममें पहुँचानेके लिये उत्सुक हो उठता है। वह भगवान्के लीलाधामोंकी यात्रा करता है, सत्संग प्राप्त करता है और उसके हृदयकी छटपटी उस आकांक्षाको लेकर, जो अबतक सुप्त थी, जगकर बड़े वेगसे परमात्माकी ओर चल पड़ती है। चिरकालसे विषयोंका ही अभ्यास होनेके कारण बीच-बीचमें विषयोंके संस्कार उसे सताते हैं और बार-बार विक्षेपोंका सामना करना पड़ता है। परंतु भगवान्की प्रार्थना, कीर्तन, स्मरण, चिन्तन करते-करते चित्त सरस होने लगता है और धीरे-धीरे उसे भगवान्की सन्निधिका अनुभव भी होने लगता है। थोड़ा-सा रसका अनुभव होते ही चित्त बड़े वेगसे अन्तर्देशमें प्रवेश कर जाता है और भगवान् मार्गदर्शकके

रूपमें संसार-सागरसे पार ले जानेवाली नावपर केवटके रूपमें अथवा यों कहें कि साक्षात् चित्स्वरूप गुरुदेवके रूपमें प्रकट हो जाते हैं। ठीक उसी क्षण अभाव, अपूर्णता और सीमाका बन्धन नष्ट हो जाता है, विशुद्ध आनन्द—विशुद्ध ज्ञानकी अनुभूति होने लगती है।

गोपियाँ, जो अभी-अभी साधनसिद्ध होकर भगवान्‌की अन्तरंग लीलामें प्रविष्ट होनेवाली हैं, चिरकालसे श्रीकृष्णके प्राणोंमें अपने प्राण मिला देनेके लिये उत्कण्ठित हैं, सिद्धिलाभके समीप पहुँच चुकी हैं। अथवा जो नित्यसिद्धा होनेपर भी भगवान्‌की इच्छाके अनुसार उनकी दिव्य लीलामें सहयोग प्रदान कर रही हैं, उनके हृदयके समस्त भावोंके एकान्त ज्ञाता श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाकर उन्हें आकृष्ट करते हैं और जो कुछ उनके हृदयमें बचे-खुचे पुराने संस्कार हैं, मानो उन्हें धो डालनेके लिये साधनामें लगाते हैं। उनकी कितनी दया है, वे अपने प्रेमियोंसे कितना प्रेम करते हैं—यह सोचकर चित्त मुग्ध हो जाता है, गद्‌गद हो जाता है।

श्रीकृष्ण गोपियोंके वस्त्रोंके रूपमें उनके समस्त संस्कारोंके आवरण अपने हाथमें लेकर पास ही कदम्बके वृक्षपर चढ़कर बैठ गये। गोपियाँ जलमें थीं, वे जलमें सर्वव्यापक, सर्वदर्शी भगवान् श्रीकृष्णसे मानो अपनेको गुप्त समझ रही थीं—वे मानो इस तत्त्वको भूल गयी थीं कि श्रीकृष्ण जलमें ही नहीं हैं, स्वयं जलस्वरूप भी वही हैं। उनके पुराने संस्कार श्रीकृष्णके सम्मुख जानेमें बाधक हो रहे थे; वे श्रीकृष्णके लिये सब कुछ भूल गयी थीं, परंतु अबतक अपनेको नहीं भूली थीं। वे चाहती थीं केवल श्रीकृष्णको, परंतु उनके संस्कार बीचमें एक परदा रखना चाहते थे। प्रेम प्रेमी और प्रियतमके बीचमें एक पुष्पका भी परदा नहीं रखना चाहता। प्रेमकी प्रकृति है सर्वथा व्यवधानरहित, अबाध और अनन्त मिलन। जहाँतक अपना सर्वस्व—इसका विस्तार चाहे जितना हो—प्रेमकी ज्वालामें भस्म नहीं कर दिया जाता, वहाँतक प्रेम और समर्पण दोनों ही अपूर्ण रहते हैं। इसी अपूर्णताको दूर करते हुए, 'शुद्ध भावसे प्रसन्न हुए'—(**शुद्ध-भावप्रसादितः**) श्रीकृष्णने कहा कि 'मुझसे अनन्य प्रेम करनेवाली गोपियो! एक बार, केवल एक बार अपने सर्वस्वको और अपनेको भी भूलकर मेरे पास आओ तो सही। तुम्हारे हृदयमें जो अव्यक्त त्याग है, उसे एक क्षणके लिये व्यक्त तो करो। क्या तुम मेरे लिये इतना भी नहीं कर सकती हो?' गोपियोंने मानो कहा—'श्रीकृष्ण! हम अपनेको कैसे भूलें? हमारी जन्म-जन्मकी धारणाएँ भूलने दें तब न। हम संसारके अगाध जलमें आकण्ठ मग्न हैं। जाड़ेका कष्ट भी है। हम आना चाहनेपर भी नहीं आ पाती हैं। श्यामसुन्दर! प्राणोंके प्राण! हमारा हृदय तुम्हारे सामने उन्मुक्त है। हम तुम्हारी दासी हैं। तुम्हारी आज्ञाओंका पालन करेंगी। परंतु हमें निरावरण करके अपने सामने मत बुलाओ।' साधककी यह दशा—भगवान्‌को चाहना और साथ ही संसारको भी न छोड़ना, संस्कारोंमें ही उलझे रहना—मायाके परदेको बनाये रखना बड़ी द्विविधाकी दशा है। भगवान् यही सिखाते हैं कि 'संस्कारशून्य होकर, निरावरण होकर, मायाका परदा हटाकर आओ; मेरे पास आओ। अरे, तुम्हारा यह मोहका परदा तो मैंने ही छीन लिया है; तुम अब इस परदेके मोहमें क्यों पड़ी हो? यह परदा ही तो—परमात्मा और जीवके बीचमें बड़ा व्यवधान है; यह हट गया, बड़ा कल्याण हुआ। अब तुम मेरे पास आओ, तभी तुम्हारी चिरसंचित आकांक्षाएँ पूरी हो सकेंगी।' परमात्मा श्रीकृष्णका यह आह्वान, आत्माके आत्मा परम प्रियतमके मिलनका यह मधुर आमन्त्रण भगवत्कृपासे जिसके अन्तर्देशमें प्रकट हो जाता है, वह प्रेममें निमग्न होकर सब कुछ छोड़कर, छोड़ना भी भूलकर प्रियतम श्रीकृष्णके चरणोंमें दौड़ आता है। फिर न उसे अपने वस्त्रोंकी सुधि रहती है और न लोगोंका ध्यान! न वह जगत्‌को देखता है न अपनेको। यह भगवत्प्रेमका रहस्य है। विशुद्ध और अनन्य भगवत्प्रेममें ऐसा होता ही है।

गोपियाँ आयीं, श्रीकृष्णके चरणोंके पास मूकभावसे खड़ी हो गयीं। उनका मुख लज्जावनत था। यत्किंचित् संस्कारशेष श्रीकृष्णके पूर्ण आभिमुख्यमें प्रतिबन्ध हो रहा था। श्रीकृष्ण मुसकराये। उन्होंने इशारेसे कहा—'इतने बड़े त्यागमें यह संकोच कलंक है। तुम तो सदा निष्कलंका हो; तुम्हें इसका भी त्याग, त्यागके भावका भी त्याग—त्यागकी स्मृतिका भी त्याग करना होगा।' गोपियोंकी दृष्टि श्रीकृष्णके मुखकमलपर पड़ी। दोनों हाथ अपने-आप जुड़ गये और सूर्यमण्डलमें विराजमान अपने प्रियतम श्रीकृष्णसे ही उन्होंने प्रेमकी भिक्षा माँगी। गोपियोंके इसी सर्वस्व-त्यागने, इसी पूर्ण समर्पणने,

इसी उच्चतम आत्मविस्मृतिने उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमसे भर दिया। वे दिव्य रसके अलौकिक अप्राकृत मधुके अनन्त समुद्रमें डूबने-उतराने लगीं। वे सब कुछ भूल गयीं, भूलनेवालेको भी भूल गयीं। उनकी दृष्टिमें अब श्यामसुन्दर थे। बस, केवल श्यामसुन्दर थे।

जब प्रेमी भक्त आत्मविस्मृत हो जाता है, तब उसका दायित्व प्रियतम भगवान्पर होता है। अब मर्यादारक्षाके लिये गोपियोंको तो वस्त्रकी आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि उन्हें जिस वस्तुकी आवश्यकता थी, वह मिल चुकी थी। परंतु श्रीकृष्ण अपने प्रेमीको मर्यादाच्युत नहीं होने देते। वे स्वयं वस्त्र देते हैं और अपनी अमृतमयी वाणीके द्वारा उन्हें विस्मृतसे जगाकर फिर जगत्में लाते हैं। श्रीकृष्णने कहा—'गोपियो! तुम सती-साध्वी हो। तुम्हारा प्रेम और तुम्हारी साधना मुझसे छिपी नहीं है। तुम्हारा संकल्प सत्य होगा। तुम्हारा यह संकल्प—तुम्हारी यह कामना तुम्हें उस पदपर स्थित करती है, जो निस्संकल्पता और निष्कामताका है। तुम्हारा उद्देश्य पूर्ण, तुम्हारा समर्पण पूर्ण और अब आगे आनेवाली शारदीय रात्रियोंमें हमारा रमण पूर्ण होगा। भगवान्ने साधना सफल होनेकी अवधि निर्धारित कर दी। इससे भी स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्णमें किसी भी कामविकारकी कल्पना नहीं थी। कामी पुरुषका चित्त वस्त्रहीन स्त्रियोंको देखकर एक क्षणके लिये भी कब वशमें रह सकता है।

एक बात बड़ी विलक्षण है। भगवान्के सम्मुख जानेके पहले जो वस्त्र समर्पणकी पूर्णतामें बाधक हो रहे थे—विक्षेपका काम कर रहे थे—वही भगवान्की कृपा, प्रेम, सान्निध्य और वरदान प्राप्त होनेके पश्चात् 'प्रसाद'-स्वरूप हो गये। इसका कारण क्या है? इसका कारण है, भगवान्का सम्बन्ध। भगवान्ने अपने हाथसे उन वस्त्रोंको उठाया था और फिर उन्हें अपने उत्तम अंग कंधेपर रख लिया था। नीचेके शरीरमें पहननेकी साड़ियाँ भगवान्के कंधेपर चढ़कर—उनका संस्पर्श पाकर कितनी अप्राकृत रसात्मक हो गयीं, कितनी पवित्र—कृष्णमय हो गयीं, इसका अनुमान कौन लगा सकता है। असलमें यह संसार तभीतक बाधक और विक्षेपजनक है, जबतक यह भगवान्से सम्बद्ध और भगवान्का प्रसाद नहीं हो जाता। उनके द्वारा प्राप्त होनेपर तो यह बन्धन ही मुक्तिस्वरूप हो जाता है। उनके सम्पर्कमें जाकर माया विशुद्ध विद्या बन जाती है। संसार और उसके समस्त कर्म अमृतमय आनन्दरससे परिपूर्ण हो जाते हैं। तब बन्धनका भय नहीं रहता। कोई भी आवरण भगवान्के दर्शनसे वंचित नहीं रख सकता। नरक नरक नहीं रहता, भगवान्का दर्शन होते रहनेके कारण वह वैकुण्ठ बन जाता है। इसी स्थितिमें पहुँचकर बड़े-बड़े साधक प्राकृत पुरुषके समान आचरण करते हुए-से दीखते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी अपनी होकर गोपियाँ पुनः वे ही वस्त्र धारण करती हैं अथवा श्रीकृष्ण वे ही वस्त्र धारण कराते हैं; परंतु गोपियोंकी दृष्टिमें अब ये वस्त्र वे वस्त्र नहीं हैं, वस्तुतः वे हैं भी नहीं—अब तो ये दूसरी ही वस्तु हो गये हैं। अब तो ये भगवान्के पावन प्रसाद हैं, पल-पलपर भगवान्का स्मरण करानेवाले भगवान्के परम सुन्दर प्रतीक हैं। इसीसे उन्होंने स्वीकार भी किया। उनकी प्रेममयी स्थिति मर्यादाके ऊपर थी, फिर भी उन्होंने भगवान्की इच्छासे मर्यादा स्वीकार की। इस दृष्टिसे विचार करनेपर ऐसा जान पड़ता है कि भगवान्की यह चीरहरण-लीला भी अन्य लीलाओंकी भाँति उच्चतम मर्यादासे परिपूर्ण है।

भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंके सम्बन्धमें केवल वे ही प्राचीन आर्षग्रन्थ प्रमाण हैं, जिनमें उनकी लीलाका वर्णन हुआ है। उनमेंसे एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जिसमें श्रीकृष्णकी भगवत्ताका वर्णन न हो। श्रीकृष्ण 'स्वयं भगवान्' हैं, यही बात सर्वत्र मिलती है। जो श्रीकृष्णको भगवान् नहीं मानते, यह स्पष्ट है कि वे उन ग्रन्थोंको भी नहीं मानते। और जो उन ग्रन्थोंको ही प्रमाण नहीं मानते, वे उनमें वर्णित लीलाओंके आधारपर श्रीकृष्ण-चरित्रकी समीक्षा करनेका अधिकार भी नहीं रखते। भगवान्की लीलाओंको मानवीय चरित्रके समकक्ष रखना शास्त्रदृष्टिसे एक महान् अपराध है और उसके अनुकरणका तो सर्वथा ही निषेध है। मानवबुद्धि—जो स्थूलताओंसे ही परिवेष्टित है—केवल जडके सम्बन्धमें ही सोच सकती है, भगवान्की दिव्य चिन्मयी लीलाके सम्बन्धमें कोई कल्पना ही नहीं कर सकती। वह बुद्धि स्वयं ही अपना उपहास करती है, जो समस्त बुद्धियोंके प्रेरक और बुद्धियोंसे अत्यन्त परे रहनेवाले परमात्माकी दिव्य-लीलाको अपनी कसौटीपर कसती है।

हृदय और बुद्धिके सर्वथा विपरीत होनेपर भी यदि

थोड़ी देरके लिये मान लें कि श्रीकृष्ण भगवान् नहीं थे या उनकी यह लीला मानवी थी, तो भी तर्क और युक्तिके सामने ऐसी कोई बात नहीं टिक पाती जो श्रीकृष्णके चरित्रमें लांछन हो। श्रीमद्भागवतका पारायण करनेवाले जानते हैं कि व्रजमें श्रीकृष्णने केवल ग्यारह वर्षकी अवस्थातक ही निवास किया था। यदि रासलीलाका समय दसवाँ वर्ष मानें, तो नवें वर्षमें ही चीरहरणलीला हुई थी। इस बातकी कल्पना भी नहीं हो सकती कि आठ-नौ वर्षके बालकमें कामोत्तेजना हो सकती है। गाँवकी गँवारिन ग्वालिनें, जहाँ वर्तमानकालकी नागरिक मनोवृत्ति नहीं पहुँच पायी है, एक आठ-नौ वर्षके बालकसे अवैध सम्बन्ध करना चाहें और उसके लिये साधना करें—यह कदापि सम्भव नहीं दीखता। उन कुमारी गोपियोंके मनमें कलुषित वृत्ति थी, यह वर्तमान कलुषित मनोवृत्तिकी उट्टंकना है। आजकल जैसे गाँवकी छोटी-छोटी लड़कियाँ 'राम'-सा वर और 'लक्ष्मण'-सा देवर पानेके लिये देवी-देवताओंकी पूजा करती हैं, वैसे ही उन कुमारियोंने भी परमसुन्दर परममधुर श्रीकृष्णको पानेके लिये देवी-पूजन और व्रत किये थे। इसमें दोषकी कौन-सी बात है?

आजकी बात निराली है। भोगप्रधान देशोंमें तो नग्नसम्प्रदाय और नग्नस्नानके क्लब भी बने हुए हैं। उनकी दृष्टि इन्द्रिय-तृप्तितक ही सीमित है। भारतीय मनोवृत्ति इस उत्तेजक एवं मलिन व्यापारके विरुद्ध है। नग्नस्नान एक दोष है, जो कि पशुत्वको बढ़ानेवाला है। शास्त्रोंमें इसका निषेध है, **'न नग्नः स्नायात्'**—यह शास्त्रकी आज्ञा है। श्रीकृष्ण नहीं चाहते थे कि गोपियाँ शास्त्रके विरुद्ध आचरण करें। केवल लौकिक अनर्थ ही नहीं—भारतीय ऋषियोंका वह सिद्धान्त, जो प्रत्येक वस्तुमें पृथक्-पृथक् देवताओंका अस्तित्व मानता है इस नग्नस्नानको देवताओंके विपरीत बतलाता है। श्रीकृष्ण जानते थे कि इससे वरुण-देवताका अपमान होता है। गोपियाँ अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये जो तपस्या कर रही थीं, उसमें उनका नग्नस्नान अनिष्ट फल देनेवाला था और इस प्रथाके प्रभातमें ही यदि इसका विरोध न कर दिया जाय तो आगे चलकर इसका विस्तार हो सकता है; इसलिये श्रीकृष्णने अलौकिक ढंगसे इसका निषेध कर दिया।

गाँवोंकी ग्वालिनोंको इस प्रथाकी बुराई किस प्रकार समझायी जाय, इसके लिये भी श्रीकृष्णने एक मौलिक उपाय सोचा। यदि वे गोपियोंके पास जाकर उन्हें देवतावादकी फिलासफी समझाते, तो वे सरलतासे नहीं समझ सकती थीं। उन्हें तो इस प्रथाके कारण होनेवाली विपत्तिका प्रत्यक्ष अनुभव करा देना था। और विपत्तिका अनुभव करानेके पश्चात् उन्होंने देवताओंके अपमानकी बात भी बता दी तथा अंजलि बाँधकर क्षमा-प्रार्थनारूप प्रायश्चित्त भी करवाया। महापुरुषोंमें उनकी बाल्यावस्थामें भी ऐसी प्रतिभा देखी जाती है।

श्रीकृष्ण आठ-नौ वर्षके थे, उनमें कामोत्तेजना नहीं हो सकती और नग्नस्नानकी कुप्रथाको नष्ट करनेके लिये उन्होंने चीरहरण किया—यह उत्तर सम्भव होनेपर भी श्रीमद्भागवतमें आये हुए 'काम' और 'रमण' शब्दोंसे कई लोग भड़क उठते हैं। यह केवल शब्दकी पकड़ है, जिसपर महात्मालोग ध्यान नहीं देते। श्रुतियोंमें और गीतामें भी अनेकों बार 'काम', 'रमण' और 'रति' आदि शब्दोंका प्रयोग हुआ है; परंतु वहाँ उनका अश्लील अर्थ नहीं होता। गीतामें तो 'धर्माविरुद्ध काम' को परमात्माका स्वरूप बतलाया गया है। महापुरुषोंका आत्मरमण, आत्ममिथुन और आत्मरति प्रसिद्ध ही है। ऐसी स्थितिमें केवल कुछ शब्दोंको देखकर भड़कना विचारशील पुरुषोंका काम नहीं है। जो श्रीकृष्णको केवल मनुष्य समझते हैं उन्हें रमण और रति शब्दका अर्थ केवल क्रीडा अथवा खिलवाड़ समझना चाहिये, जैसा कि व्याकरणके अनुसार ठीक है—**'रमु क्रीडायाम्'**।

दृष्टिभेदसे श्रीकृष्णकी लीला भिन्न-भिन्न रूपमें दीख पड़ती है। अध्यात्मवादी श्रीकृष्णको आत्माके रूपमें देखते हैं और गोपियोंको वृत्तियोंके रूपमें। वृत्तियोंका आवरण नष्ट हो जाना ही 'चीरहरण-लीला' है और उनका आत्मामें रम जाना ही 'रास' है। इस दृष्टिसे भी समस्त लीलाओंकी संगति बैठ जाती है। भक्तोंकी दृष्टिसे गोलोकाधिपति पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका यह सब नित्य-लीला विलास है और अनादि कालसे अनन्त कालतक यह नित्य चलता रहता है। कभी-कभी भक्तोंपर कृपा करके वे अपने नित्य धाम और नित्य सखा-सहचरियोंके साथ लीला-धाममें प्रकट होकर लीला करते हैं और भक्तोंके स्मरण-चिन्तन तथा आनन्द-मंगलकी सामग्री प्रकट करके पुनः अन्तर्धान हो जाते हैं। साधकोंके लिये किस

प्रकार कृपा करके भगवान् अन्तर्मलको और अनादि कालसे संचित संस्कारपटको विशुद्ध कर देते हैं, यह बात भी इस चीरहरण-लीलासे प्रकट होती है। भगवान्की लीला रहस्यमयी है, उसका तत्त्व केवल भगवान् ही जानते हैं और उनकी कृपासे उनकी लीलामें प्रविष्ट भाग्यवान् भक्त कुछ-कुछ जानते हैं। यहाँ तो शास्त्रों और संतोंकी वाणीके आधारपर कुछ लिखनेकी धृष्टता की गयी है।

रासलीलाकी महिमा

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।१)

श्रीमद्भागवतमें रासलीलाके पाँच अध्याय उसके पाँच प्राण माने जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी परम अन्तरंगलीला, निजस्वरूपभूता गोपिकाओं और ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजीके साथ होनेवाली भगवान्की दिव्यातिदिव्य क्रीडा, इन अध्यायोंमें कही गयी है। 'रास' शब्दका मूल रस है और रस स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं—**'रसो वै सः'** जिस दिव्य क्रीडामें एक ही रस अनेक रसोंके रूपमें होकर अनन्त-अनन्त रसका समास्वादन करे; एक रस ही रस-समूहके रूपमें प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद-आस्वादक, लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपनके रूपमें क्रीडा करे—उसका नाम रास है। भगवान्की यह दिव्य लीला, भगवान्के दिव्य धाममें दिव्यरूपसे निरन्तर हुआ करती है। यह भगवान्की विशेष कृपासे प्रेमी साधकोंके हितार्थ कभी-कभी अपने दिव्य धामके साथ ही भूमण्डलपर भी अवतीर्ण हुआ करती है, जिसको देख-सुन एवं गाकर तथा स्मरण-चिन्तन करके अधिकारी पुरुष रसस्वरूप भगवान्की इस परम रसमयी लीलाका आनन्द ले सकें और स्वयं भी भगवान्की लीलामें सम्मिलित होकर अपनेको कृतकृत्य कर सकें। इस पंचाध्यायीमें वंशीध्वनि, गोपियोंके अभिसार, श्रीकृष्णके साथ उनकी बातचीत, रमण, श्रीराधाजीके साथ अन्तर्धान, पुनः प्राकट्य, गोपियोंके द्वारा दिये हुए वसनासनपर विराजना, गोपियोंके कूट प्रश्नका उत्तर, रासनृत्य, क्रीडा, जलकेलि और वनविहारका वर्णन है—जो मानवी भाषामें होनेपर भी वस्तुतः परम दिव्य है।

समयके साथ ही मानव-मस्तिष्क भी पलटता रहता है। कभी अन्तर्दृष्टिकी प्रधानता हो जाती है और कभी बहिर्दृष्टिकी। आजका युग ही ऐसा है जिसमें भगवान्की दिव्य लीलाओंकी तो बात ही क्या, स्वयं भगवान्के अस्तित्वपर ही अविश्वास प्रकट किया जा रहा है। ऐसी स्थितिमें इस दिव्य लीलाका रहस्य न समझकर लोग तरह-तरहकी आशंका प्रकट करें, इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। यह लीला अन्तर्दृष्टिसे और मुख्यतः भगवत्कृपासे ही समझमें आती है। जिन भाग्यवान् और भगवत्कृपाप्राप्त महात्माओंने इसका अनुभव किया है वे धन्य हैं और उनकी चरण-धूलिके प्रतापसे ही त्रिलोकी धन्य है। उन्हींकी उक्तियोंका आश्रय लेकर यहाँ रासलीलाके सम्बन्धमें यत्किंचित् लिखनेकी धृष्टता की जाती है।

यह बात पहले ही समझ लेनी चाहिये कि भगवान्का शरीर जीव-शरीरकी भाँति जड नहीं होता। जडकी सत्ता केवल जीवकी दृष्टिमें होती है, भगवान्की दृष्टिमें नहीं। यह देह है और यह देही है, इस प्रकारका भेदभाव केवल प्रकृतिके राज्यमें होता है। अप्राकृत लोकमें—जहाँकी प्रकृति भी चिन्मय है—सब कुछ चिन्मय ही होता है; वहाँ अचित्की प्रतीति तो केवल चिद्विलास अथवा भगवान्की लीलाकी सिद्धिके लिये होती है। इसलिये स्थूलतामें—या यों कहिये कि जडराज्यमें रहनेवाला मस्तिष्क जब भगवान्की अप्राकृत लीलाओंके सम्बन्धमें विचार करने लगता है तब वह अपनी पूर्व वासनाओंके अनुसार जडराज्यकी धारणाओं, कल्पनाओं और क्रियाओंका ही आरोप उस दिव्य राज्यके विषयमें भी करता है, इसलिये दिव्य लीलाके रहस्यको समझनेमें असमर्थ हो जाता है। यह रास वस्तुतः परम उज्ज्वल रसका एक दिव्य प्रकाश है। जड जगत्की बात तो दूर रही, ज्ञानरूप या विज्ञानरूप जगत्में भी यह प्रकट नहीं होता। अधिक क्या, साक्षात् चिन्मय तत्त्वमें भी इस परम दिव्य उज्ज्वल रसका लेशाभास नहीं देखा जाता। इस परम रसकी स्फूर्ति तो परम भावमयी श्रीकृष्णप्रेमस्वरूपा गोपीजनोंके मधुर

हृदयमें ही होती है। इस रासलीलाके यथार्थस्वरूप और परम माधुर्यका आस्वाद उन्हींको मिलता है, दूसरे लोग तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

भगवान्‌के समान ही गोपियाँ भी परमरसमयी और सच्चिदानन्दमयी ही हैं। साधनाकी दृष्टिसे भी उन्होंने न केवल जड शरीरका ही त्याग कर दिया है, बल्कि सूक्ष्मशरीरसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग, कैवल्यसे अनुभव होनेवाले मोक्ष—और तो क्या, जडताकी दृष्टिका ही त्याग कर दिया है। उनकी दृष्टिमें केवल चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण हैं, उनके हृदयमें श्रीकृष्णको तृप्त करनेवाला प्रेमामृत है। उनकी इस अलौकिक स्थितिमें स्थूलशरीर, उसकी स्मृति और उसके सम्बन्धसे होनेवाले अंग-संगकी कल्पना किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती। ऐसी कल्पना तो केवल देहात्मबुद्धिसे जकड़े हुए जीवोंकी ही होती है। जिन्होंने गोपियोंको पहचाना है, उन्होंने गोपियोंकी चरणधूलिका स्पर्श प्राप्त करके अपनी कृतकृत्यता चाही है। ब्रह्मा, शंकर, उद्धव और अर्जुनने गोपियोंकी उपासना करके भगवान्‌के चरणोंमें वैसे प्रेमका वरदान प्राप्त किया है या प्राप्त करनेकी अभिलाषा की है। उन गोपियोंके दिव्यभावको साधारण स्त्री-पुरुषके भाव-जैसा मानना गोपियोंके प्रति, भगवान्‌के प्रति और वास्तवमें सत्यके प्रति महान् अन्याय एवं अपराध है। इस अपराधसे बचनेके लिये भगवान्‌की दिव्य लीलाओंपर विचार करते समय उनकी अप्राकृत दिव्यताका स्मरण रखना परमावश्यक है।

भगवान्‌का चिदानन्दघन शरीर दिव्य है। वह अजन्मा और अविनाशी है, हानोपादानरहित है। वह नित्य सनातन शुद्ध भगवत्स्वरूप ही है। इसी प्रकार गोपियाँ दिव्य जगत्‌की भगवान्‌की स्वरूपभूता अन्तरंग-शक्तियाँ हैं। इन दोनोंका सम्बन्ध भी दिव्य ही है। यह उच्चतम भावराज्यकी लीला स्थूल शरीर और स्थूल मनसे परे है। आवरण-भंगके अनन्तर अर्थात् चीर-हरण करके जब भगवान् स्वीकृति देते हैं, तब इसमें प्रवेश होता है।

प्राकृत देहका निर्माण होता है स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन देहोंके संयोगसे। जबतक 'कारण शरीर' रहता है, तबतक इस प्राकृत देहसे जीवको छुटकारा नहीं मिलता। 'कारण शरीर' कहते हैं पूर्वकृत कर्मोंके उन संस्कारोंको, जो देह-निर्माणमें कारण होते हैं। इस 'कारण शरीर' के आधारपर जीवको बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना होता है और यह चक्र जीवकी मुक्ति न होनेतक अथवा 'कारण' का सर्वथा अभाव न होनेतक चलता ही रहता है। इसी कर्मबन्धनके कारण पांचभौतिक स्थूलशरीर मिलता है—जो रक्त, मांस, अस्थि आदिसे भरा और चमड़ेसे ढका होता है। प्रकृतिके राज्यमें जितने शरीर होते हैं, सभी वस्तुतः योनि और बिन्दुके संयोगसे ही बनते हैं; फिर चाहे कोई कामजनित निकृष्ट मैथुनसे उत्पन्न हो या ऊर्ध्वरेता महापुरुषके संकल्पसे। बिन्दुके अधोगामी होनेपर कर्तव्यरूप श्रेष्ठ मैथुनसे हो, अथवा बिना ही मैथुनके नाभि, हृदय, कण्ठ, कर्ण, नेत्र, सिर, मस्तक आदिके स्पर्शसे, बिना ही स्पर्शके केवल दृष्टिमात्रसे अथवा बिना देखे केवल संकल्पसे ही उत्पन्न हो। ये मैथुनी-अमैथुनी (अथवा कभी-कभी स्त्री या पुरुष-शरीरके बिना भी उत्पन्न होनेवाले) सभी शरीर हैं योनि और बिन्दुके संयोगजनित ही। ये सभी प्राकृत शरीर हैं। इसी प्रकार योगियोंके द्वारा निर्मित 'निर्माणकाय' यद्यपि अपेक्षाकृत शुद्ध हैं, परंतु वे भी हैं प्राकृत ही। पितर या देवोंके दिव्य कहलानेवाले शरीर भी प्राकृत ही हैं। अप्राकृत शरीर इन सबसे विलक्षण हैं, जो महाप्रलयमें भी नष्ट नहीं होते। और भगवद्देह तो साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। देव-शरीर प्रायः रक्त-मांस-मेद-अस्थिवाले नहीं होते। अप्राकृत शरीर भी नहीं होते। फिर भगवान् श्रीकृष्णका भगवत्स्वरूप शरीर तो रक्त-मांस-अस्थिमय होता ही कैसे। वह तो सर्वथा चिदानन्दमय है। उसमें देह-देही, गुण-गुणी, रूप-रूपी, नाम-नामी और लीला तथा लीलापुरुषोत्तमका भेद नहीं है। श्रीकृष्णका एक-एक अंग पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्णका मुखमण्डल जैसे पूर्ण श्रीकृष्ण है, वैसे ही श्रीकृष्णका पदनख भी पूर्ण श्रीकृष्ण है। श्रीकृष्णकी सभी इन्द्रियोंसे सभी काम हो सकते हैं। उनके कान देख सकते हैं, उनकी आँखें सुन सकती हैं, उनकी नाक स्पर्श कर सकती है, उनकी रसना सूँघ सकती है, उनकी त्वचा स्वाद ले सकती है। वे हाथोंसे देख सकते हैं, आँखोंसे चल सकते हैं। श्रीकृष्णका सब कुछ श्रीकृष्ण होनेके कारण वह सर्वथा पूर्णतम है। इसीसे उनकी रूपमाधुरी नित्यवर्द्धनशील, नित्य नवीन सौन्दर्यमयी है। उसमें ऐसा चमत्कार है कि वह स्वयं अपनेको ही आकर्षित कर लेती है। फिर उनके सौन्दर्य-माधुर्यसे गौ-हरिन और वृक्ष-बेल पुलकित

हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है। भगवान्‌के ऐसे स्वरूपभूत शरीरसे गंदा मैथुनकर्म सम्भव नहीं। मनुष्य जो कुछ खाता है उससे क्रमशः रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा और अस्थि बनकर अन्तमें शुक्र बनता है; इसी शुक्रके आधारपर शरीर रहता है और मैथुनक्रियामें इसी शुक्रका क्षरण हुआ करता है। भगवान्‌का शरीर न तो कर्मजन्य है, न मैथुनी सृष्टिका है और न दैवी ही है। वह तो इन सबसे परे सर्वथा विशुद्ध भगवत्स्वरूप है। उसमें रक्त, मांस, अस्थि आदि नहीं हैं; अतएव उसमें शुक्र भी नहीं है। इसलिये उससे प्राकृत पांचभौतिक शरीरोंवाले स्त्री-पुरुषोंके रमण या मैथुनकी कल्पना भी नहीं हो सकती। इसीलिये भगवान्‌को उपनिषद्‌में 'अखण्ड ब्रह्मचारी' बतलाया गया है और इसीसे भागवतमें उनके लिये 'अवरुद्धसौरत' आदि शब्द आये हैं। फिर कोई शंका करे कि उनके सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंके इतने पुत्र कैसे हुए तो इसका सीधा उत्तर यही है कि यह सारी भागवती सृष्टि थी, भगवान्‌के संकल्पसे हुई थी। भगवान्‌के शरीरमें जो रक्त-मांस आदि दिखलायी पड़ते हैं, वह तो भगवान्‌की योगमायाका चमत्कार है। इस विवेचनसे भी यही सिद्ध होता है कि गोपियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णका जो रमण हुआ वह सर्वथा दिव्य भगवत्-राज्यकी लीला है, लौकिक काम-क्रीडा नहीं।

× × × ×

इन गोपियोंकी साधना पूर्ण हो चुकी है। भगवान्‌ने अगली रात्रियोंमें उनके साथ विहार करनेका प्रेमसंकल्प कर लिया है। इसीके साथ उन गोपियोंको भी जो नित्यसिद्धा हैं, जो लोकदृष्टिमें विवाहिता भी हैं, इन्हीं रात्रियोंमें दिव्य लीलामें सम्मिलित करना है। वे अगली रात्रियाँ कौन-सी हैं, यह बात भगवान्‌की दृष्टिके सामने है। उन्होंने शारदीय रात्रियोंको देखा। 'भगवान्‌ने देखा'—इसका अर्थ सामान्य नहीं, विशेष है। जैसे सृष्टिके प्रारम्भमें **'स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम्।'**—भगवान्‌के इस ईक्षणसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है, वैसे ही रासके प्रारम्भमें भगवान्‌के प्रेम-वीक्षणसे शरत्कालकी दिव्य रात्रियोंकी सृष्टि होती है। मल्लिका-पुष्प, चन्द्रिका आदि समस्त उद्दीपनसामग्री भगवान्‌के द्वारा वीक्षित है अर्थात् लौकिक नहीं, अलौकिक—अप्राकृत है। गोपियोंने अपना मन श्रीकृष्णके मनमें मिला दिया था। उनके पास स्वयं मन न था। अब प्रेमदान करनेवाले श्रीकृष्णने विहारके लिये नवीन मनकी—दिव्य मनकी सृष्टि की। योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी यही योगमाया है जो रासलीलाके लिये दिव्य स्थल, दिव्य सामग्री एवं दिव्य मनका निर्माण किया करती है। इतना होनेपर भगवान्‌की बाँसुरी बजती है।

भगवान्‌की बाँसुरी जडको चेतन, चेतनको जड, चलको अचल और अचलको चल, विक्षिप्तको समाधिस्थ और समाधिस्थको विक्षिप्त बनाती ही रहती है। भगवान्‌का प्रेमदान प्राप्त करके गोपियाँ निस्संकल्प, निश्चिन्त होकर घरके काममें लगी हुई थीं। कोई गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषा—धर्मके काममें लगी हुई थी, कोई गो-दोहन आदि अर्थके काममें लगी हुई थी, कोई साज-शृंगार आदि कामके साधनमें व्यस्त थी, कोई पूजा-पाठ आदि मोक्षसाधनमें लगी हुई थी। सब लगी हुई थीं अपने-अपने काममें, परंतु वास्तवमें वे उनमेंसे एक भी पदार्थ चाहती न थीं। यही उनकी विशेषता थी और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वंशीध्वनि सुनते ही कर्मकी पूर्णतापर उनका ध्यान नहीं गया; काम पूरा करके चलें, ऐसा उन्होंने नहीं सोचा। वे चल पड़ीं उस साधक संन्यासीके समान, जिसका हृदय वैराग्यकी प्रदीप्त ज्वालासे परिपूर्ण है। किसीने किसीसे पूछा नहीं, सलाह नहीं की; अस्त-व्यस्त गतिसे जो जैसे थी, वैसे ही श्रीकृष्णके पास पहुँच गयी। वैराग्यकी पूर्णता और प्रेमकी पूर्णता एक ही बात है, दो नहीं। गोपियाँ व्रज और श्रीकृष्णके बीचमें मूर्तिमान् वैराग्य हैं या मूर्तिमान् प्रेम, क्या इसका निर्णय कोई कर सकता है?

साधनाके दो भेद हैं—१—मर्यादापूर्ण वैध साधना और २—मर्यादारहित अवैध प्रेमसाधना। दोनोंके ही अपने-अपने स्वतन्त्र नियम हैं। वैध साधनामें जैसे नियमोंके बन्धनका, सनातन पद्धतिका, कर्तव्योंका और विविध पालनीय धर्मोंका त्याग साधनासे भ्रष्ट करनेवाला और महान् हानिकर है, वैसे ही अवैध प्रेमसाधनामें इनका पालन कलंकरूप होता है। यह बात नहीं कि इन सब आत्मोन्नतिके साधनोंको वह अवैध प्रेमसाधनाका साधक जान-बूझकर छोड़ देता है। बात यह है कि वह स्तर ही ऐसा है, जहाँ इनकी आवश्यकता नहीं है। ये वहाँ अपने-आप वैसे ही छूट जाते हैं, जैसे नदीके पार पहुँच जानेपर स्वाभाविक ही नौकाकी सवारी छूट जाती है। जमीनपर न तो नौकापर बैठकर चलनेका प्रश्न

उठता है और न ऐसा चाहने या करनेवाला बुद्धिमान् ही माना जाता है। ये सब साधन वहींतक रहते हैं, जहाँतक सारी वृत्तियाँ सहज स्वेच्छासे सदा-सर्वदा एकमात्र भगवान्‌की ओर दौड़ने नहीं लग जातीं।

श्रीगोपीजन साधनाके इसी उच्च स्तरमें परम आदर्श थीं। उनकी सारी वृत्तियाँ सर्वथा श्रीकृष्णमें ही निमग्न रहती थीं। इसीसे उन्होंने देह-गेह, पति-पुत्र, लोक-परलोक, कर्तव्य-धर्म—सबको छोड़कर, सबका उल्लंघनकर एकमात्र परमधर्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको ही पानेके लिये अभिसार किया था। उनका यह पति-पुत्रोंका त्याग, यह सर्वधर्मका त्याग ही उनके स्तरके अनुरूप स्वधर्म है।

इस 'सर्वधर्मत्याग' रूप स्वधर्मका आचरण गोपियों-जैसे उच्च स्तरके साधकोंमें ही सम्भव है; क्योंकि सब धर्मोंका यह त्याग वही कर सकते हैं, जो इसका यथाविधि पूरा पालन कर चुकनेके बाद इसके परमफल अनन्य और अचिन्त्य देवदुर्लभ भगवत्प्रेमको प्राप्त कर चुकते हैं। वे भी जान-बूझकर त्याग नहीं करते। सूर्यका प्रखर प्रकाश हो जानेपर तैलदीपककी भाँति स्वतः ही ये धर्म उसे त्याग देते हैं। यह त्याग तिरस्कारमूलक नहीं, वरं तृप्तिमूलक है। भगवत्प्रेमकी ऊँची स्थितिका यही स्वरूप है। देवर्षि नारदजीका एक सूत्र है—

'वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते।'

'जो वेदोंका (वेदमूलक समस्त धर्ममर्यादाओंका) भी भलीभाँति त्याग कर देता है, वह अखण्ड असीम भगवत्प्रेमको प्राप्त करता है।'

जिसको भगवान् अपनी वंशीध्वनि सुनाकर—नाम ले-लेकर बुलायें वह भला, किसी दूसरे धर्मकी ओर ताककर कब और कैसे रुक सकता है।

रोकनेवालोंने रोका भी, परंतु हिमालयसे निकलकर समुद्रमें गिरनेवाली ब्रह्मपुत्र नदीकी प्रखर धाराको क्या कोई रोक सकता है? वे न रुकीं, नहीं रोकी जा सकीं। जिनके चित्तमें कुछ प्राक्तन संस्कार अवशिष्ट थे, वे अपने अनधिकारके कारण शरीरसे जानेमें समर्थ न हुईं। उनका शरीर घरमें पड़ा रह गया, भगवान्‌के वियोग-दुःखसे उनके सारे कलुष धुल गये, ध्यानमें प्राप्त भगवान्‌के प्रेमालिंगनसे उनके समस्त पुण्योंका परमफल प्राप्त हो गया और वे भगवान्‌के पास सशरीर जानेवाली गोपियोंके पहुँचनेसे पहले ही भगवान्‌के पास पहुँच गयीं। भगवान्‌में मिल गयीं। यह शास्त्रका प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि पाप-पुण्यके कारण ही बन्धन होता है और शुभाशुभका भोग होता है। शुभाशुभ कर्मोंके भोगसे जब पाप-पुण्य दोनों नाश हो जाते हैं तब जीवकी मुक्ति हो जाती है। यद्यपि गोपियाँ पाप-पुण्यसे रहित श्रीभगवान्‌की प्रेम-प्रतिमास्वरूपा थीं, तथापि लीलाके लिये यह दिखाया गया है कि अपने प्रियतम श्रीकृष्णके पास न जा सकनेसे उनके विरहानलसे उनको इतना महान् संताप हुआ कि उससे उनके सम्पूर्ण अशुभका भोग हो गया, उनके समस्त पाप नाश हो गये और प्रियतम भगवान्‌के ध्यानसे उन्हें इतना आनन्द हुआ कि उससे उनके सारे पुण्योंका फल मिल गया। इस प्रकार पाप-पुण्योंका पूर्णरूपसे अभाव होनेसे उनकी मुक्ति हो गयी। चाहे किसी भी भावसे हो—कामसे, क्रोधसे, लोभसे—जो भगवान्‌के मंगलमय श्रीविग्रहका चिन्तन करता है उसके भावकी अपेक्षा न करके वस्तुशक्तिसे ही उसका कल्याण हो जाता है। यह भगवान्‌के श्रीविग्रहकी विशेषता है। भावके द्वारा तो एक प्रस्तरमूर्ति भी परम कल्याणका दान कर सकती है, बिना भावके ही कल्याणदान भगवद्विग्रहका सहज दान है।

भगवान् हैं बड़े लीलामय। जहाँ वे अखिल विश्वके विधाता ब्रह्मा, शिव आदिके भी वन्दनीय निखिल जीवोंके प्रत्यगात्मा हैं, वहीं वे लीलानटवर गोपियोंके इशारेपर नाचनेवाले भी हैं। उन्हींकी इच्छासे, उन्हींके प्रेमाह्वानसे, उन्हींके वंशी-निमन्त्रणसे प्रेरित होकर गोपियाँ उनके पास आयीं; परंतु उन्होंने ऐसी भावभंगी प्रकट की, ऐसा स्वाँग बनाया, मानो उन्हें गोपियोंके आनेका कुछ पता ही न हो। शायद गोपियोंके मुँहसे वे उनके हृदयकी बात—प्रेमकी बात सुनना चाहते हों। सम्भव है, वे विप्रलम्भके द्वारा उनके मिलन-भावको परिपुष्ट करना चाहते हों। बहुत करके तो ऐसा मालूम होता है कि कहीं लोग इसे साधारण बात न समझ लें, इसलिये साधारण लोगोंके लिये उपदेश और गोपियोंका अधिकार भी उन्होंने सबके सामने रख दिया। उन्होंने बतलाया—'गोपियो! व्रजमें कोई विपत्ति तो नहीं आयी, घोर रात्रिमें यहाँ आनेका कारण क्या है? घरवाले ढूँढ़ते होंगे, अब यहाँ ठहरना नहीं चाहिये। वनकी शोभा देख ली, अब बच्चों और बछड़ोंका भी ध्यान करो। धर्मके अनुकूल मोक्षके खुले हुए द्वार अपने सगे-सम्बन्धियोंकी

सेवा छोड़कर वनमें दर-दर भटकना स्त्रियोंके लिये अनुचित है। स्त्रीको अपने पतिकी ही सेवा करनी चाहिये, वह कैसा भी क्यों न हो। यही सनातनधर्म है। इसीके अनुसार तुम्हें चलना चाहिये। मैं जानता हूँ कि तुम सब मुझसे प्रेम करती हो। परंतु प्रेममें शारीरिक सन्निधि आवश्यक नहीं है। श्रवण, स्मरण, दर्शन और ध्यानसे सान्निध्यकी अपेक्षा अधिक प्रेम बढ़ता है। जाओ तुम सनातन सदाचारका पालन करो। इधर-उधर मनको मत भटकने दो।'

श्रीकृष्णकी यह शिक्षा गोपियोंके लिये नहीं, सामान्य नारीजातिके लिये है। गोपियोंका अधिकार विशेष था और उसको प्रकट करनेके लिये ही भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे वचन कहे थे। इन्हें सुनकर गोपियोंकी क्या दशा हुई और इसके उत्तरमें उन्होंने श्रीकृष्णसे क्या प्रार्थना की; वे श्रीकृष्णको मनुष्य नहीं मानतीं, उनके पूर्णब्रह्म सनातन स्वरूपको भलीभाँति जानती हैं और यह जानकर ही उनसे प्रेम करती हैं—इस बातका कितना सुन्दर परिचय दिया; यह सब विषय मूलमें ही पाठ करनेयोग्य है। सचमुच जिनके हृदयमें भगवान्के परमतत्त्वका वैसा अनुपम ज्ञान और भगवान्के प्रति वैसा महान् अनन्य अनुराग है और सचाईके साथ जिनकी वाणीमें वैसे उद्गार हैं, वे ही विशेष अधिकारवान् हैं।

गोपियोंकी प्रार्थनासे यह बात स्पष्ट है कि वे श्रीकृष्णको अन्तर्यामी, योगेश्वरेश्वर परमात्माके रूपमें पहचानती थीं और जैसे दूसरे लोग गुरु, सखा या माता-पिताके रूपमें श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं वैसे ही वे पतिके रूपमें श्रीकृष्णसे प्रेम करती थीं, जो कि शास्त्रोंमें मधुर भावके—उज्ज्वल परम रसके नामसे कहा गया है। जब प्रेमके सभी भाव पूर्ण होते हैं और साधकोंको स्वामि-सखादिके रूपमें भगवान् मिलते हैं, तब गोपियोंने क्या अपराध किया था कि उनका यह उच्चतम भाव—जिसमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य सब-के-सब अन्तर्भूत हैं और जो सबसे उन्नत एवं सबका अन्तिम रूप है—क्यों न पूर्ण हो? भगवान्ने उनका भाव पूर्ण किया और अपनेको असंख्य रूपोंमें प्रकट करके गोपियोंके साथ क्रीडा की। उनकी क्रीडाका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है—**'रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः'**। जैसे नन्हा-सा शिशु दर्पण अथवा जलमें पड़े हुए अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलता है, वैसे ही रमेशभगवान् और व्रजसुन्दरियोंने रमण किया। अर्थात् सच्चिदानन्दघन सर्वान्तर्यामी प्रेमरसस्वरूप, लीलारसमय परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णने अपनी ह्लादिनी शक्तिरूपा आनन्द-चिन्मयरस-प्रतिभाविता अपनी ही प्रतिमूर्तिसे उत्पन्न अपनी प्रतिबिम्ब-स्वरूपा गोपियोंसे आत्मक्रीडा की। पूर्णब्रह्म सनातन रसस्वरूप रसराज रसिकशेखर रसपरब्रह्म अखिलरसामृतविग्रह भगवान् श्रीकृष्णकी इस चिदानन्द-रसमयी दिव्य क्रीडाका नाम ही रास है। इसमें न कोई जड शरीर था, न प्राकृत अंग-संग था और न इसके सम्बन्धकी प्राकृत और स्थूल कल्पनाएँ ही थीं। यह था चिदानन्दमय भगवान्का दिव्य विहार, जो दिव्य लीलाधाममें सर्वदा होते रहनेपर भी कभी-कभी प्रकट होता है।

वियोग ही संयोगका पोषक है, मान और मद ही भगवान्की लीलामें बाधक हैं। भगवान्की दिव्य लीलामें मान और मद भी, जो कि दिव्य हैं, इसीलिये होते हैं कि उनसे लीलामें रसकी और भी पुष्टि हो। भगवान्की इच्छासे ही गोपियोंमें लीलानुरूप मान और मदका संचार हुआ और भगवान् अन्तर्धान हो गये। जिनके हृदयमें लेशमात्र भी मद अवशेष है, नाममात्र भी मानका संस्कार शेष है, वे भगवान्के सम्मुख रहनेके अधिकारी नहीं। अथवा वे भगवान्का, पास रहनेपर भी, दर्शन नहीं कर सकते। परंतु गोपियाँ गोपियाँ थीं, उनसे जगत्के किसी प्राणीकी तिलमात्र भी तुलना नहीं है। भगवान्के वियोगमें गोपियोंकी क्या दशा हुई, इस बातको रासलीलाका प्रत्येक पाठक जानता है। गोपियोंके शरीर-मन-प्राण, वे जो कुछ थीं—सब श्रीकृष्णमें एकतान हो गये। उनके प्रेमोन्मादका वह गीत, जो उनके प्राणोंका प्रत्यक्ष प्रतीक है, आज भी भावुक भक्तोंको भावमग्न करके भगवान्के लीलालोकमें पहुँचा देता है। एक बार सरस हृदयसे हृदयहीन होकर नहीं, पाठ करनेमात्रसे ही वह गोपियोंकी महत्ता सम्पूर्ण हृदयमें भर देता है। गोपियोंके उस 'महाभाव'—उस 'अलौकिक प्रेमोन्माद' को देखकर श्रीकृष्ण भी अन्तर्हित न रह सके, उनके सामने **'साक्षात् मन्मथमन्मथ'** रूपसे प्रकट हुए और उन्होंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया कि 'गोपियो! मैं तुम्हारे प्रेमभावका चिर-ऋणी हूँ। यदि मैं अनन्त कालतक तुम्हारी सेवा करता रहूँ तो भी तुमसे उऋण नहीं हो सकता। मेरे अन्तर्धान होनेका प्रयोजन

तुम्हारे चित्तको दुखाना नहीं था, बल्कि तुम्हारे प्रेमको और भी उज्ज्वल एवं समृद्ध करना था।' इसके बाद रासक्रीडा प्रारम्भ हुई।

जिन्होंने अध्यात्मशास्त्रका स्वाध्याय किया है, वे जानते हैं कि योगसिद्धिप्राप्त साधारण योगी भी कायव्यूहके द्वारा एक साथ अनेक शरीरोंका निर्माण कर सकते हैं और अनेक स्थानोंपर उपस्थित रहकर पृथक्-पृथक् कार्य कर सकते हैं। इन्द्रादि देवगण एक ही समय अनेक स्थानोंपर उपस्थित होकर अनेक यज्ञोंमें युगपत् आहुति स्वीकार कर सकते हैं। निखिल योगियों और योगेश्वरोंके ईश्वर सर्वसमर्थ भगवान् श्रीकृष्ण यदि एक ही साथ अनेक गोपियोंके साथ क्रीड़ा करें, तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? जो लोग भगवान्को भगवान् नहीं स्वीकार करते, वही अनेकों प्रकारकी शंका-कुशंकाएँ करते हैं। भगवान्की निज लीलामें इन तर्कोंका सर्वथा प्रवेश नहीं है।

गोपियाँ श्रीकृष्णकी स्वकीया थीं या परकीया, यह प्रश्न भी श्रीकृष्णके स्वरूपको भुलाकर ही उठाया जाता है। श्रीकृष्ण जीव नहीं हैं कि जगत्की वस्तुओंमें उनका हिस्सेदार दूसरा जीव भी हो। जो कुछ भी था, है और आगे होगा—उसके एकमात्र पति श्रीकृष्ण ही हैं। अपनी प्रार्थनामें गोपियोंने और परीक्षित्के प्रश्नके उत्तरमें श्रीशुकदेवजीने यही बात कही है कि गोपी, गोपियोंके पति, उनके पुत्र, सगे-सम्बन्धी और जगत्के समस्त प्राणियोंके हृदयमें आत्मारूपसे, परमात्मारूपसे जो प्रभु स्थित हैं—वही श्रीकृष्ण हैं। कोई भ्रमसे, अज्ञानसे भले ही श्रीकृष्णको पराया समझे; वे किसीके पराये नहीं हैं, सबके अपने हैं, सब उनके हैं। श्रीकृष्णकी दृष्टिसे, जो कि वास्तविक दृष्टि है, कोई परकीया है ही नहीं; सब स्वकीया हैं, सब केवल अपना ही लीला-विलास है, सभी स्वरूपभूता अन्तरंगा शक्ति हैं। गोपियाँ इस बातको जानती थीं और स्थान-स्थानपर उन्होंने ऐसा कहा है।

ऐसी स्थितिमें 'जारभाव' और 'औपपत्य' का कोई लौकिक अर्थ नहीं रह जाता। जहाँ काम नहीं है, अंग-संग नहीं है, वहाँ 'औपपत्य' और 'जारभाव' की कल्पना ही कैसे हो सकती है? गोपियाँ परकीया नहीं थीं, स्वकीया थीं; परंतु उनमें परकीयाभाव था। परकीया होनेमें और परकीयाभाव होनेमें आकाश-पातालका अन्तर है। परकीयाभावमें तीन बातें बड़े महत्त्वकी होती हैं—अपने प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, मिलनकी उत्कट उत्कण्ठा और दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव। स्वकीयाभावमें निरन्तर एक साथ रहनेके कारण ये तीनों बातें गौण हो जाती हैं, परंतु परकीयाभावमें ये तीनों भाव बने रहते हैं। कुछ गोपियाँ जारभावसे श्रीकृष्णको चाहती थीं। इसका इतना ही अर्थ है कि वे श्रीकृष्णका निरन्तर चिन्तन करती थीं, मिलनके लिये उत्कण्ठित रहती थीं और श्रीकृष्णके प्रत्येक व्यवहारको प्रेमकी आँखोंसे ही देखती थीं। चौथा भाव विशेष महत्त्वका और है—वह यह कि स्वकीया अपने घरका, अपना और अपने पुत्र-कन्याओंका पालन-पोषण, रक्षणावेक्षण पतिसे चाहती है। वह समझती है कि इनकी देख-रेख करना पतिका कर्तव्य है; क्योंकि ये सब उसीके आश्रित हैं और वह पतिसे ऐसी आशा भी रखती है। कितनी ही पतिपरायणा क्यों न हो, स्वकीयामें यह सकामभाव छिपा रहता ही है। परंतु परकीया अपने प्रियतमसे कुछ नहीं चाहती, कुछ भी आशा नहीं रखती; वह तो केवल अपनेको देकर ही उसे सुखी करना चाहती है। श्रीगोपियोंमें यह भाव भी भलीभाँति प्रस्फुटित था। इसी विशेषताके कारण संस्कृत-साहित्यके कई ग्रन्थोंमें निरन्तर चिन्तनके उदाहरणस्वरूप परकीयाभावका वर्णन आता है।

गोपियोंके इस भावके एक नहीं, अनेकों दृष्टान्त श्रीमद्भागवतमें मिलते हैं; इसलिये गोपियोंपर परकीयापनका आरोप उनके भावको न समझनेके कारण है। जिसके जीवनमें साधारण धर्मकी एक हलकी-सी प्रकाश-रेखा आ जाती है, उसीका जीवन परम पवित्र और दूसरोंके लिये आदर्श-स्वरूप बन जाता है। फिर वे गोपियाँ, जिनका जीवन साधनाकी चरम सीमापर पहुँच चुका है, अथवा जो नित्यसिद्धा एवं भगवान्की स्वरूपभूता हैं, या जिन्होंने कल्पोंतक साधना करके श्रीकृष्णकी कृपासे उनका सेवाधिकार प्राप्त कर लिया है, सदाचारका उल्लंघन कैसे कर सकती हैं? और समस्त धर्म-मर्यादाओंके संस्थापक श्रीकृष्णपर धर्मोल्लंघनका लांछन कैसे लगाया जा सकता है? श्रीकृष्ण और गोपियोंके सम्बन्धमें इस प्रकारकी कुकल्पनाएँ उनके दिव्य स्वरूप और दिव्य लीलाके विषयमें अनभिज्ञता ही प्रकट करती हैं।

श्रीमद्भागवतपर, दशम स्कन्धपर और रासपंचाध्यायीपर अबतक अनेकों भाष्य और टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं—जिनके लेखकोंमें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य, श्रीश्रीधरस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी आदि हैं। उन लोगोंने बड़े विस्तारसे रासलीलाकी महिमा समझायी है। किसीने इसे कामपर विजय बतलाया है, किसीने भगवान्का दिव्य विहार बतलाया है और किसीने इसका आध्यात्मिक अर्थ किया है। भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा हैं, आत्माकार वृत्ति श्रीराधा हैं और शेष आत्माभिमुख वृत्तियाँ गोपियाँ हैं। उनका धाराप्रवाहरूपसे निरन्तर आत्मरमण ही रास है। किसी भी दृष्टिसे देखें, रासलीलाकी महिमा अधिकाधिक प्रकट होती है।

परंतु इससे ऐसा नहीं मानना चाहिये कि श्रीमद्भागवतमें वर्णित रास या रमण-प्रसंग केवल रूपक या कल्पनामात्र है। वह सर्वथा सत्य है और जैसा वर्णन है, वैसा ही मिलन-विलासादिरूप शृंगारका रसास्वादन भी हुआ था। भेद इतना ही है कि वह लौकिक स्त्री-पुरुषोंका मिलन न था। उसके नायक थे सच्चिदानन्दविग्रह, परात्परतत्त्व, पूर्णतम स्वाधीन और निरंकुश स्वेच्छाविहारी गोपीनाथ भगवान् नन्दनन्दन और नायिका थीं स्वयं ह्लादिनीशक्ति श्रीराधाजी और उनकी कायव्यूहरूपा, उनकी घनीभूत मूर्तियाँ श्रीगोपीजन। अतएव इनकी यह लीला अप्राकृत थी। सर्वथा मीठी मिश्रीकी अत्यन्त कड़ुए इन्द्रायण-(तूँबे-) जैसी कोई आकृति बना ली जाय, जो देखनेमें ठीक तूँबे-जैसी ही मालूम हो, परंतु इससे असलमें क्या वह मिश्रीका तूँबा कड़ुआ थोड़े ही हो जाता है? क्या तूँबेके आकारकी होनेसे ही मिश्रीके स्वाभाविक गुण मधुरताका अभाव हो जाता है? नहीं-नहीं, वह किसी भी आकारमें हो—सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा केवल मिश्री-ही-मिश्री है। बल्कि इसमें लीला-चमत्कारकी बात जरूर है। लोग समझते हैं कड़ुवा तूँबा, और होती है वह मधुर मिश्री। इसी प्रकार अखिलरसामृतसिन्धु सच्चिदानन्दविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अन्तरंगा अभिन्न-स्वरूपा गोपियोंकी लीला भी देखनेमें कैसी ही क्यों न हो वस्तुत: वह सच्चिदानन्दमयी ही है। उसमें सांसारिक गंदे कामका कड़ुआ स्वाद है ही नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि इस लीलाकी नकल किसीको नहीं करनी चाहिये, करना सम्भव भी नहीं है। मायिक पदार्थोंके द्वारा मायातीत भगवान्का अनुकरण कोई कैसे कर सकता है? कड़ुए तूँबेको चाहे जैसी सुन्दर मिठाईकी आकृति दे दी जाय, उसका कड़ुआपन कभी मिट नहीं सकता। इसीलिये जिन मोहग्रस्त मनुष्योंने श्रीकृष्णकी रास आदि अन्तरंग-लीलाओंका अनुकरण करके नायक-नायिकाका रसास्वादन करना चाहा या चाहते हैं, उनका घोर पतन हुआ है और होगा। श्रीकृष्णकी इन लीलाओंका अनुकरण तो केवल श्रीकृष्ण ही कर सकते हैं। इसीलिये शुकदेवजीने रासपंचाध्यायीके अन्तमें सबको सावधान करते हुए कह दिया है कि भगवान्के उपदेश तो सब मानने चाहिये, परंतु उनके सभी आचरणोंका अनुकरण नहीं करना चाहिये।

जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको केवल मनुष्य मानते हैं और केवल मानवीय भाव एवं आदर्शकी कसौटीपर उनके चरित्रको कसना चाहते हैं, वे पहले ही शास्त्रसे विमुख हो जाते हैं, उनके चित्तमें धर्मकी कोई धारणा ही नहीं रहती और वे भगवान्को भी अपनी बुद्धिके पीछे चलाना चाहते हैं। इसलिये साधकोंके सामने उनकी उक्ति-युक्तियोंका कोई महत्त्व ही नहीं रहता। जो शास्त्रके 'श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं' इस वचनको नहीं मानता, वह उनकी लीलाओंको किस आधारपर सत्य मानकर उनकी आलोचना करता है—यह समझमें नहीं आता। जैसे मानवधर्म, देवधर्म और पशुधर्म पृथक्-पृथक् होते हैं, वैसे ही भगवद्धर्म भी पृथक् होता है और भगवान्के चरित्रका परीक्षण उसकी ही कसौटीपर होना चाहिये। भगवान्का एकमात्र धर्म है—प्रेम-परवशता, दयापरवशता और भक्तोंकी अभिलाषाकी पूर्ति। यशोदाके हाथोंसे ऊखलमें बँध जानेवाले श्रीकृष्ण अपने निज-जन गोपियोंके प्रेमके कारण उनके साथ नाचें, यह उनका सहज धर्म है।

यदि यह हठ ही हो कि श्रीकृष्णका चरित्र मानवीय धारणाओं और आदर्शोंके अनुकूल ही होना चाहिये, तो इसमें भी कोई आपत्तिकी बात नहीं है। श्रीकृष्णकी अवस्था उस समय दस वर्षके लगभग थी, जैसा कि भागवतमें स्पष्ट वर्णन मिलता है। गाँवोंमें रहनेवाले बहुत-से दस वर्षके बच्चे तो नंगे ही रहते हैं। उन्हें कामवृत्ति और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धका कुछ ज्ञान ही नहीं रहता। लड़के-लड़की एक साथ खेलते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, त्योहार मनाते हैं, गुड्डई-गुड्डएकी शादी करते हैं, बारात ले जाते हैं और आपसमें भोज-भात भी करते

हैं। गाँवके बड़े-बूढ़े लोग बच्चोंका यह मनोरंजन देखकर प्रसन्न ही होते हैं, उनके मनमें किसी प्रकारका दुर्भाव नहीं आता। ऐसे बच्चोंको युवती स्त्रियाँ भी बड़े प्रेमसे देखती हैं, आदर करती हैं, नहलाती हैं, खिलाती हैं, यह तो साधारण बच्चोंकी बात है। श्रीकृष्ण-जैसे असाधारण धी-शक्तिसम्पन्न बालक जिनके अनेकों सद्‌गुण बाल्यकालमें ही प्रकट हो चुके थे; जिनकी सम्मति, चातुर्य और शक्तिसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंसे व्रजवासियोंने त्राण पाया था; उनके प्रति वहाँकी स्त्रियों, बालिकाओं और बालकोंका कितना आदर रहा होगा—इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। उनके सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यसे आकृष्ट होकर गाँवकी बालक-बालिकाएँ उनके साथ ही रहती थीं और श्रीकृष्ण भी अपनी मौलिक प्रतिभासे राग, ताल आदि नये-नये ढंगसे उनका मनोरंजन करते थे और उन्हें शिक्षा देते थे। ऐसे ही मनोरंजनोंमेंसे रासलीला भी एक थी, ऐसा समझना चाहिये। जो श्रीकृष्णको केवल मनुष्य समझते हैं, उनकी दृष्टिमें भी यह दोषकी बात नहीं होनी चाहिये। वे उदारता और बुद्धिमानीके साथ भागवतमें आये हुए काम-रति आदि शब्दोंका ठीक वैसा ही अर्थ समझें, जैसा कि उपनिषद् और गीतामें इन शब्दोंका अर्थ होता है। वास्तवमें गोपियोंके निष्कपट प्रेमका ही नामान्तर काम है और भगवान् श्रीकृष्णका आत्मरमण अथवा उनकी दिव्य क्रीडा ही रति है। इसीलिये इस प्रसंगमें स्थान-स्थानपर उनके लिये विभु, परमेश्वर, लक्ष्मीपति, भगवान्, योगेश्वरेश्वर, आत्माराम, मन्मथमन्मथ आदि शब्द आये हैं—जिससे किसीको कोई भ्रम न हो जाय।

जब गोपियाँ श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर वनमें जाने लगी थीं, तब उनके सगे-सम्बन्धियोंने उन्हें जानेसे रोका था। रातमें अपनी बालिकाओंको भला, कौन बाहर जाने देता। फिर भी वे चली गयीं और इससे घरवालोंको किसी प्रकारकी अप्रसन्नता नहीं हुई और न तो उन्होंने श्रीकृष्णपर या गोपियोंपर किसी प्रकारका लांछन ही लगाया। उनका श्रीकृष्णपर, गोपियोंपर विश्वास था और वे उनके बचपन और खेलोंसे परिचित थे। उन्हें तो ऐसा मालूम हुआ मानो गोपियाँ हमारे पास ही हैं। इसको दो प्रकारसे समझ सकते हैं। एक तो यह कि श्रीकृष्णके प्रति उनका इतना विश्वास था कि श्रीकृष्णके पास गोपियोंका रहना भी अपने ही पास रहना है। यह तो मानवीय दृष्टि है। दूसरी दृष्टि यह कि श्रीकृष्णकी योगमायाने ऐसी व्यवस्था कर रखी थी, गोपोंको वे घरमें ही दीखती थीं। किसी भी दृष्टिसे रासलीला दूषित प्रसंग नहीं है, बल्कि अधिकारी पुरुषोंके लिये तो यह सम्पूर्ण मनोमलको नष्ट करनेवाला है। रासलीलाके अन्तमें कहा गया है कि जो पुरुष श्रद्धा-भक्तिपूर्वक रासलीलाका श्रवण और वर्णन करता है, उसके हृदयका रोग काम बहुत ही शीघ्र नष्ट हो जाता है और उसे भगवान्‌का प्रेम प्राप्त होता है। भागवतमें अनेकों स्थानपर ऐसा वर्णन आता है कि जो भगवान्‌की मायाका वर्णन करता है, वह मायासे पार हो जाता है। जो भगवान्‌के कामजयका वर्णन करता है, वह कामपर विजय प्राप्त करता है। राजा परीक्षित्‌ने अपने प्रश्नोंमें जो शंकाएँ की हैं, उनका उत्तर प्रश्नोंके अनुरूप ही अध्याय २९ के श्लोक १३ से १६ तक और अध्याय ३३ के श्लोक ३० से ३७ तक श्रीशुकदेवजीने दिया है।

उस उत्तरसे वे शंकाएँ तो हट गयी हैं, परंतु भगवान्‌की दिव्यलीलाका रहस्य नहीं खुलने पाया; सम्भवतः उस रहस्यको गुप्त रखनेके लिये ही ३३ वें अध्यायमें रासलीलाप्रसंग समाप्त कर दिया गया। वस्तुतः इस लीलाके गूढ़ रहस्यकी प्राकृत-जगत्‌में व्याख्या की भी नहीं जा सकती; क्योंकि यह इस जगत्‌की क्रीडा ही नहीं है। यह तो उस दिव्य आनन्दमय—रसमय राज्यकी चमत्कारमयी लीला है, जिसके श्रवण और दर्शनके लिये परमहंस मुनिगण भी सदा उत्कण्ठित रहते हैं। कुछ लोग इस लीलाप्रसंगको भागवतमें क्षेपक मानते हैं, वे वास्तवमें दुराग्रह करते हैं; क्योंकि प्राचीन-से-प्राचीन प्रतियोंमें भी यह प्रसंग मिलता है और जरा विचार करके देखनेसे यह सर्वथा सुसंगत और निर्दोष प्रतीत होता है। भगवान् श्रीकृष्ण कृपा करके ऐसी विमल बुद्धि दें, जिससे हमलोग इसका कुछ रहस्य समझनेमें समर्थ हों।

भगवान्‌की इस दिव्यलीलाके वर्णनका यही प्रयोजन है कि जीव गोपियोंके उस अहैतुक प्रेमका, जो कि श्रीकृष्णको ही सुख पहुँचानेके लिये था, स्मरण करे और उसके द्वारा भगवान्‌के रसमय दिव्यलीलालोकमें भगवान्‌के अनन्त प्रेमका अनुभव करे। हमें रासलीलाका अध्ययन करते समय किसी प्रकारकी भी शंका न करके इस भावको जगाये रखना चाहिये।

व्रजसुन्दरियोंके भगवान्

श्रीश्रीव्रजसुन्दरियोंको निबिड अरण्यमें छोड़कर आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र अन्तर्धान हो गये। वे सब विरहके आवेशमें अपने प्राणप्रियतमको खोजने लगीं। खोजते-खोजते कृष्णमय बन गयीं। तदनन्तर श्रीकृष्ण-दर्शन-लालसासे कातर होकर प्रलाप करने और फूट-फूटकर रोने लगीं। ठीक इसी समय श्यामसुन्दर उनके बीचमें मधुर-मधुर मुसकराते हुए प्रकट हो गये। उनका मुखकमल मन्द-मन्द मुसकानसे खिला हुआ था। पीताम्बर धारण किये हुए थे। गलेमें दिव्य वनमाला थी। उनका सौन्दर्य समस्त विश्वप्राणियोंके मनको मथनेवाले कामदेवके मनको भी मथनेवाला था। वे 'साक्षात् मन्मथमन्मथ' थे। करोड़ों कामदेवोंसे भी सुन्दर मधुर मनोहर श्यामसुन्दरको अपने बीचमें पाकर व्रजसुन्दरियोंके प्राणहीन शरीरोंमें मानो दिव्य प्राण लौट आये। उनके नेत्र आनन्द और प्रेमसे खिल उठे। हठात् प्रियतमके प्राकट्यसे उनके हृदयमें नवीन स्फूर्ति आ गयी। उनके एक-एक अंगमें नवीन चेतना जाग उठी। उन्होंने अपने-अपने मनके अनुसार प्रियतमकी आव-भगत की, किसीने उनके कोमल कर-कमलको अपने हाथोंसे पकड़ लिया, किसीने चरणारविन्दका आलिंगन किया, किसीने चरण पकड़कर अपने हृदयपर रख लिया, किसीने उनका चबाया हुआ पान ग्रहण किया, किसीने प्रणयकोपसे विह्वल होकर, त्यौरी चढ़ाकर दूरसे ही भ्रुकुटिपूर्ण कटाक्षपात किया और कोई-कोई निर्निमेष नेत्रोंके द्वारा उनके मनोहर मुखकमलका मधुर मकरन्द पान करने लगीं। उनका रोम-रोम खिल उठा। इस प्रकार विरहताप प्रशमित होनेपर वे अपने प्राणधन श्यामसुन्दरको घेरकर बैठ गयीं। अब फिर हास्य-कौतुक आरम्भ हुआ। आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र बड़े निष्ठुर हैं—बड़े छलिया हैं, यह बात उन्हींके मुखसे कहलानेके लिये व्रजसुन्दरियोंने मानो एक पहेली-सी रखकर उनसे पूछा—

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। १६)

'श्यामसुन्दर! कुछ लोग तो ऐसे होते हैं, जो भजनेवालोंको ही भजते हैं—प्रेम करनेवालोंसे ही प्रेम करते हैं; कुछ लोग न भजनेवालोंको भजते हैं—प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं। तीसरे प्रकारके कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो भजनेवालोंको भी नहीं भजते—प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेम नहीं करते; फिर न करनेवालोंसे न करें, इसमें तो बात ही कौन-सी है। प्रियतम! बताओ, इन तीनोंमें तुम्हें कौन-सा अच्छा लगता है?' व्रजसुन्दरियोंके कहनेका तात्पर्य यह था कि इन तीनोंमें तुम किस श्रेणीके हो—यह स्पष्ट कहो।

इसके उत्तरमें आनन्दकन्द नन्दनन्दन श्यामसुन्दरने कहा—

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा॥
भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः॥
भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः॥
नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥
एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥
न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०। ३२। १७—२२)

भगवान्ने कहा, 'मेरी प्रिय सखियो! जो भजनेपर ही भजते हैं—प्रेम करनेपर ही प्रेम करते हैं, उनका तो सारा उद्यम ही सर्वथा स्वार्थपूर्ण है, उनमें न सौहार्द है और न तो धर्म ही है। निरा बनियापन है—लेन-देन है; स्वार्थके अतिरिक्त उनका और कोई भी प्रयोजन नहीं है। जो लोग भजन न करनेपर, प्रेम न करनेपर भी प्रेम करते हैं, जैसे स्वभावसे ही करुणामय सज्जन और माता-पिता, उनका हृदय सौहार्दसे भरा होता है।

उनका प्रेम सचमुच निर्मल है और वहाँ धर्म भी है। जो लोग भजन करनेपर भी नहीं भजते, प्रेम करनेपर भी प्रेम नहीं करते, फिर न प्रेम करनेपर प्रेम करनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। ऐसे उदासीन लोग चार प्रकारके होते हैं—आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ और गुरुद्रोही। सखियो! यदि तुम मेरे सम्बन्धमें पूछती हो तो मैं इन तीनों (सापेक्ष, निरपेक्ष और उदासीन)-मेंसे कोई-सा भी नहीं हूँ। मैं यदि प्रेम करनेवालोंसे कभी वैसा प्रेमका व्यवहार नहीं करता तो इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं उनसे प्रेम नहीं करता। मैं ऐसा इसीलिये करता हूँ कि उनकी चित्तवृत्ति मुझमें लगी रहे। मैं मिलकर फिर जब छिप जाता हूँ तो भक्तोंकी वृत्ति मुझमें सारूप्य प्राप्त कर लेती है। जैसे किसी निर्धन मनुष्यको बहुत-सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका हृदय धनकी चिन्ता करते-करते धनमय हो जाता है, वह सब कुछ भूलकर उसीमें तन्मय हो जाता है। वैसे ही मेरे छिप जानेपर भक्त मुझमें तन्मय हो जाते हैं। प्रियाओ! तुमलोगोंने अपनी समस्त वृत्तियोंको मुझमें अर्पण करके मेरे लिये लोकमर्यादा, वेदमार्ग और अपने आत्मीय-स्वजनोंको भी छोड़ दिया है। यहाँ मैं इसीलिये छिप गया था कि तुम्हारे मनमें अपने सौन्दर्य और सुहागकी बात न उठ सके; तुम्हारा मन केवल मुझमें ही लगा रहे। मैं प्रत्यक्षमें नहीं दीखता था पर था तो तुम्हारे बीचमें ही। तुम्हारे प्रेमकी सारी दशाएँ देख रहा था। तुम्हारे प्रेममें निमग्न हो रहा था। अतएव तुम मुझपर दोषारोपण मत करो। तुम सब मुझे बड़ी प्रिय हो और मैं भी तुम्हारा प्यारा हूँ। तुम्हारा प्रेम सर्वथा निर्मल है—इसमें कहीं भी स्वार्थकी गंध नहीं है। तुमने मेरे लिये गृहस्थीकी उन बेड़ियोंको तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े समर्थ लोग भी नहीं तोड़ सकते। यदि मैं देव-शरीरसे—अमर जीवनसे अनन्त कालतक भी तुम्हारे प्रेम, त्याग और सेवाका बदला चुकाना चाहूँ तो नहीं चुका सकता। मैं सदाके लिये तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभावसे ही मुझे उऋण कर सकती हो। मैं तो ऋण चुकानेमें असमर्थ ही हूँ।'

श्रीव्रजसुन्दरियोंके प्राणधन भगवान् लेन-देन करनेवाले व्यापारी नहीं हैं। प्रह्लादको वरका प्रलोभन देनेपर प्रह्लादने श्रीभगवान् नृसिंहदेवसे कहा था—'जो सेवक आपसे अपनी कामनाएँ पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, निरा व्यापारी है **(न स भृत्यः स वै वणिक्)** और जो सेवकसे सेवा करानेके लिये, उसका स्वामी बननेके लिये उसकी कामनाएँ पूरी करता है, वह स्वामी नहीं।' भगवान्‌ने गीतामें जो कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥

(४। ११)

जो मुझे जैसे भजता है, उसे मैं वैसे ही भजता हूँ, यह तो साधारण नियम है। प्राणिमात्रके साथ भगवान्‌का यही व्यवहार है। पर यहाँ तो श्रीभगवान्‌ने इसको केवल स्वार्थपूर्ण उद्यम बतलाया है; क्योंकि इसमें स्पष्ट ही एक 'अपेक्षा' है। जहाँ अपेक्षा है, वहीं शर्त है और शर्तमें न स्वतन्त्रता है और न हृदयका एकांगीभाव ही। खरीदार और बेचनेवाला दोनों जैसे स्वार्थकी 'अपेक्षा' से मिलते हैं; इसमें भी वैसा ही है। पर व्रजसुन्दरियोंके या भक्तोंके भगवान् अपने भक्तोंके साथ 'किसी स्वार्थके उद्यम' से प्रेम नहीं करते। उनका पारस्परिक भजन या प्रेम सर्वथा अहैतुक, अतएव प्रेममूलक और प्रेमस्वरूप ही होता है।

श्रीव्रजसुन्दरियोंके (प्रेमी भक्तोंके) भगवान् माता-पिताकी भाँति केवल करुणामय 'निरपेक्ष' प्रेमी भी नहीं हैं। माता-पिता स्नेहवश संतानके दोषोंको ढक देते हैं। उनकी करुणा—दया संतानको कभी उदास नहीं देख सकती, इसलिये संतानमें दोष रह जानेकी सम्भावना रहती है। भगवान् अपने भक्तको सर्वथा निर्दोष—सारा कूड़ा-कर्कट जलाकर खरा सोना बना देते हैं। अतएव वे न तो वणिकोंकी भाँति सापेक्ष हैं, न माता-पिताकी भाँति निरपेक्ष।

भक्तोंके भगवान् 'आत्माराम' भी नहीं हैं। आत्मारामगण अपने स्वरूपमें मस्त रहते हैं। उनकी दृष्टिमें जगत्‌का कोई महत्त्व नहीं है, फलतः वे जगत्‌से उदासीन रहते हैं। ऐसे आत्मारामके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है—**'तस्य कार्यं न विद्यते'**। (गीता ३। १७) परंतु भगवान् तो अपने भक्तके लिये कार्य करते-करते कभी थकते ही नहीं। उनका कार्य कभी पूरा होता ही नहीं। वे अमर जीवनमें भक्तका कार्य करते रहनेपर भी कभी कामको पूरा हुआ नहीं मानते।

भक्तोंके भगवान् 'आप्तकाम' भी नहीं हैं। आप्तकाम वे होते हैं, जिनकी सारी कामनाएँ पूर्ण हुई रहती हैं, जिन्हें किसी वस्तुकी वासना-कामनाकी गन्ध भी नहीं

रहती। परंतु भक्तोंके भगवान् तो भक्तके प्रेमपूर्वक अर्पण किये हुए पत्र-पुष्प, फल-जल, यहाँतक कि चिउरोंकी कनियोंतकके लिये लालायित रहते हैं, और कई दिनोंके भूखे प्राणीकी तरह आँगनमें बिखरे हुए कणोंको चुन-चुनकर खा जाते हैं। वे व्रजसुन्दरियोंके साथ रसमयी रासक्रीड़ाकी कामना करते हैं। मुरलीमें मधुर स्वर भरकर उनको अपने समीप बुलाते हैं। वात्सल्यमयी यशोदा मैयाका स्तनपान करनेके लिये मचल-मचलकर रोते हैं और व्रजसुन्दरियोंके घरोंका माखन-दही चुरा-चुराकर भोग लगाते हैं!

भगवान् कृतघ्न भी नहीं हैं। वे एक बार प्रणाम करनेवालेके सामने भी सकुचा जाते हैं—*'सकुचत सकृत प्रनाम किएहूँ'*; फिर भक्तकी तो बात ही क्या है। वे उसके तो अधीन ही हो जाते हैं। श्रीदुर्वासाजीसे भगवान्ने कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६३)

'दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है। मेरे साधु स्वभावके भक्तोंने मेरे हृदयपर अपना अधिकार कर लिया है। वे मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे।' अतएव भगवान् सदा ही कृतज्ञ हैं। कृतज्ञ कभी उदासीन नहीं होता।

आत्माराम और आप्तकाम भी उदासीन होते हैं, परंतु उनकी उदासीनता दूषित नहीं होती। वह तो उनके स्वरूपकी शोभा है। पर कृतघ्न और गुरुद्रोहीकी उदासीनता बड़ी भीषण होती है। इनमें भी गुरुद्रोही सबसे बढ़कर हैं। जो लोग मजेमें दूसरोंका माल उड़ाकर गर्वसे मूँछोंपर ताव देते हैं, उनसे भी वे अधिक बुरे हैं जो उपकारियोंके साथ द्रोह करते हैं। श्रीभगवान् ऐसे गुरुद्रोही नहीं हैं। वे भक्तोंका उपकार मानते हैं और अपनेको उनके सामने ले जानेमें भी सकुचाते हैं। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भक्त हनुमान्से कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥

इससे सिद्ध है कि भगवान् किसी भी श्रेणीके उदासीन भी नहीं हैं।

तो वे क्या हैं? वे हैं व्रजसुन्दरियोंके ऋणी—वैसे भक्तोंके चिरऋणी! वे सर्वसमर्थ सर्वैश्वर्यपरिपूर्ण होकर भी उनका बदला नहीं चुका सकते, अतएव वे अपेक्षासे प्रेम नहीं करते। वे सबके माता-धाता-पितामह होकर भी माता-पिताकी भाँति निरपेक्ष रहकर भक्तमें कोई दोष नहीं रहने देते। वे नित्य आत्माराम होकर भी उदासीन नहीं रह सकते। वे नित्य आप्तकाम होकर भी निष्काम नहीं रहते। वे अपने सहज उपकारोंसे सबको कृतज्ञ करनेवाले होकर भी स्वयं कृतज्ञ होते हैं और वे एकमात्र जगद्गुरु होनेपर भी श्रीव्रजसुन्दरियोंको—श्रीराधारानीको अपना प्रेम-गुरु मानते हैं और उनसे कभी द्रोह नहीं करते। यह है परमप्रेमसुधासागर आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रका अपने मुँहसे दिया हुआ आत्मपरिचय! भगवान्ने स्वयं श्रीउद्धवजीसे कहा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१५)

'उद्धव! मुझे तुम-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रिय हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, मेरे आत्मस्वरूप शंकर, मेरे भाई बलरामजी और मेरी अर्धांगिनी लक्ष्मीजी भी नहीं हैं और तो क्या, मेरा अपना आत्मा भी मुझे उतना प्रिय नहीं है।'

नादब्रह्म—मोहनकी मुरली

नादात्मकं नादबीजं प्रयतं प्रणवस्थितम्।
वन्दे तं सच्चिदानन्दं माधवं मुरलीधरम्॥
नादरूपं परं ज्योतिर्नादरूपी परो हरिः॥

'नाद ही परम ज्योति है और नाद ही स्वयं परमेश्वर हरि है।'

नाद अनादि है। जबसे सृष्टि है तभीसे नाद है। महाप्रलयके बाद सृष्टिके आदिमें जब परमात्माका यह शब्दात्मक संकल्प होता है कि 'मैं एक बहुत हो जाऊँ', तभी इस अनादि नादकी आदि-जागृति होती है। यह नादब्रह्म ही शब्द-ब्रह्मका बीज है। वेदोंका प्रादुर्भाव

इसी नादसे होता है। नादका उद्भव परमेश्वरकी सच्चिदानन्दमयी भगवती स्वरूपा-शक्तिसे होता है और इस नादसे ही बिन्दु उत्पन्न होता है। यह बिन्दु ही प्रणव है और इसीको बीज कहते हैं।

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तस्माद् बिन्दुसमुद्भवः॥
नादो बिन्दुश्च बीजश्च स एव त्रिविधो मतः।
भिद्यमानात् पराद्बिन्दोरुभयात्मा रवोऽभवत्।
स रवः श्रुतिसम्पन्नः शब्दो ब्रह्माभवत् परम्॥

'सच्चिदानन्दरूप वैभवयुक्त पूर्ण परमेश्वरसे उनकी स्वरूपाशक्ति आविर्भूत हुई, उससे नाद प्रकट हुआ और नादसे बिन्दुका प्रादुर्भाव हुआ। वही बिन्दु नाद, बिन्दु तथा बीजरूपसे तीन प्रकारका माना गया है। बीजरूप बिन्दु जब भेदको प्राप्त हुआ तब उससे इस प्रकारके शब्द प्रकट हुए। वह शब्द ही श्रुतिसम्पन्न श्रेष्ठ शब्दब्रह्म हुआ।'

यही नाद क्रमशः स्थूलरूपको प्राप्त होता हुआ समस्त जगत्में फैल जाता है। पाँच भूतोंमें सबसे पहले महाभूत आकाशका गुण शब्द है। यह नादका ही एक रूप है। आदि-नादरूप बीजसे ही पंचतत्त्वकी उत्पत्ति मानी गयी है। इस स्थूल नादकी उत्पत्ति अग्नि और प्राणके संयोगसे होती है। ब्रह्मग्रन्थिमें प्राण रहता है, इस प्राणको अग्नि प्रेरणा करती है। अग्निमें यह प्रेरणा आत्मासे प्रेरित चित्तके द्वारा होती है। तब प्राणवायु अग्निसे प्रेरित होकर नादको उत्पन्न करता है। यह नाद नाभिमें अति सूक्ष्म, हृदयमें सूक्ष्म, कण्ठमें पुष्ट, मस्तकमें अपुष्ट और बदनमें कृत्रिमरूपसे आकार धारण करता है। कहते हैं कि 'न' कार प्राण है और 'द' कार वह्नि है और प्राण तथा वह्निके संयोगसे उत्पन्न होनेके कारण ही इसको 'नाद' कहते हैं।

योगी लोग इसी नादकी उपासना करके ब्रह्मको प्राप्त किया करते हैं। हठयोगशास्त्रोंमें इसका बड़ा विस्तार है। मुक्तासन और शाम्भवी मुद्राके साथ इस नादका अभ्यास किया जाता है। इस नादसाधनासे सब प्रकारकी सिद्धियाँ मिलती हैं। अनाहतनाद योगियोंका परम ध्येय है। शास्त्रोंमें नादको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिका एक साधन माना है। नादके बिना जगत्का कोई भी कार्य नहीं चल सकता। पांचभौतिक जगत्में आकाश सर्वप्रधान है और आकाशका प्राण नाद ही है। इसीसे जगत्को नादात्मक कहते हैं। नादका माहात्म्य अपार है। संगीत-दर्पणकी एक सुन्दर उक्ति है कि देवी सरस्वतीजी नादरूपी समुद्रमें डूब जानेके भयसे ही वक्षःस्थलमें सदा तुम्बी धारण किये रहती हैं।

नादाब्धेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती।
अद्यापि मज्जनभयात्तुम्बं वहति वक्षसि॥

संगीत और स्वरका तो प्राण ही नाद है। गीत, नृत्य और वाद्य नादात्मक हैं। नादद्वारा ही वर्णोंका स्फोट होता है। वर्णसे पद और पदसे वाक्य बनता है। इस प्रकार समस्त जगत् ही नादात्मक है।

यह नाद मूलतः परमात्माका ही स्वरूप है। जब भगवान् लीलाधाममें अवतीर्ण होते हैं, तब उनके दिव्य विग्रहमें जितनी कुछ वस्तुएँ होती हैं सभी दिव्य सच्चिदानन्दमयी भगवत्स्वरूपा होती हैं। इसीसे अवतारविग्रहकी वाणीमें इतना माधुर्य होता है कि उसको सुनते-सुनते चित्त कभी अघाता ही नहीं और यह चाहता है कि लाखों-करोड़ों कानोंसे यह मधुर ध्वनि सुननेको मिले तब भी तृप्ति होनी कठिन है। चिदानन्दमय श्रीकृष्णस्वरूपमें तो इस नादका भी पूर्णावतार हुआ था। श्यामसुन्दरकी सच्चिदानन्दमयी मुरलीका मधुर निनाद ही यह नादावतार था। इसीसे उस मुरलीनिनादने प्रेममय व्रजधाममें जडको चेतन और चेतनको जड बना दिया। मोहनके वेणुनिनादने वृन्दावनके प्रत्येक आबालवृद्धमें, प्रत्येक पशु-पक्षीमें, स्थावर-जंगममें, पत्र-पत्रमें, कण-कणमें और अणु-अणुमें प्रेमानन्द भर दिया। उस वंशीनादको सुनकर विमानोंपर चढ़ी हुई सुरबालाओंके धैर्यका बन्धन छूट गया। वे सहसा मुग्ध हो गयीं। उनकी कवरियोंमें खोंसे हुए नन्दनकाननके कमनीय कुसुम हठात् वहाँसे खिसककर मर्त्यभूमिपर गिर पड़े। गन्धर्वकन्याएँ संगीत भूलकर मतवाली-सी झूमने लगीं। ऋषि, मुनि, तपस्वी, परमहंस, योगियोंकी ब्रह्म-समाधि भंग हो गयी। बरबस उनका मन वीणास्वरसे विमोहित मृगकी भाँति मुरलीध्वनिमें निमग्न हो गया। सुधाकरकी चाल बंद हो गयी। श्रीकृष्णके उस वेणुविनिर्गत ब्रह्मनादामृतका पान करनेके लिये बछड़ोंने स्तनोंका चूँघना छोड़कर केवल उन्हें मुँहमें ही रहने दिया। गौएँ चरना भूल गयीं। सुरम्य वृन्दारण्यके विहंगोंने मधुर काकलीका त्याग कर वंशीध्वनिसे झरनेवाले अनिर्वचनीय आनन्दका उपभोग

करनेके लिये आँखें मूँद लीं और श्रवणपात्रोंका मुख उस सुधाधाराके प्रवाहमें लगा दिया। सिंह-मृगादि वनचर प्राणी भय और हिंसा भुलाकर मुरलीमनोहरको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये और कान तथा आँखोंको अतृप्त बोध करने लगे। महिषी कालिन्दी अपनी ऊर्मिभुजाओंको फैलाकर परम प्रियतमका आलिंगन करनेके लिये दौड़ पड़ीं। इस प्रकार दिव्य धामकी दिव्य सुधाधारा समस्त धरामण्डलमें बह चली। चेतन जीव जडवत् अचल हो गये और साक्षात् रसराजकी रसधारासे प्लावित होकर वृक्ष ही नहीं, सूखे काठतक रस बरसाने लगे। सूरदासजीने कहा है—

जब हरि मुरलीनाद प्रकास्यो।
जंगम जड थावर चर कीन्हे, पाहन जलज बिकास्यो॥
स्वरग पताल दसों दिसि पूरन धुनि आच्छादित कीनौं।
निसि हरि कलप समान बढ़ाई गोपिनकों सुख दीनौं॥
जड सम भये जीव जल थलके तनकी सुधि न सम्हारा।
सूर स्याम मुख बेनु बिराजत पलटे सब ब्यवहारा॥

एक गोपी रसोई बना रही थी, इतनेमें मोहनकी मुग्धकारिणी मुरली बजी। मुरलीध्वनिके साथ ही मुरलीधरकी मधुर छबि गोपीके ध्याननेत्रोंके सामने आ गयी। इधर उस रसवर्षिणी मुरलीध्वनिने रस बरसाकर चूल्हेकी तमाम लकड़ियोंके हृदयको गीला कर दिया, उनमेंसे रस बहने लगा। आग बुझ गयी। परम भाग्यवती सच्चिदानन्द-प्रेमिका गोपी प्रेमका उलाहना देती हुई-सी बोली—

मुरहर! रन्धनसमये मा कुरु मुरलीरवं मधुरम्।
नीरसमेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतरताम्॥

'हे मुरारे! भला, भोजन बनाते समय तो कृपाकर इस मुरलीकी मधुर तान न छेड़ा करो। देखो, तुम्हारी मुरलीध्वनिसे मेरा सूखा ईंधन रसयुक्त होकर रस बहाने लगता है, जिससे चूल्हेकी आग बुझ जाती है।' इस जादूभरी मुरलीके नादने सबको उन्मत्त कर दिया। महान् योगी भी इससे नहीं बचने पाये। बचते भी कैसे? योगियोंके अनाहत नादकी जननी तो यह मुरली ही है। वंशीध्वनिकी महिमा गाते हुए भक्त कहते हैं—

ध्यानं बलात् परमहंसकुलस्य भिन्दन्
निन्दन् सुधामधुरिमानमधीरधर्मा।
कन्दर्पशासनधुरां मुहुरेव शंसन्
वंशीध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य॥

'निर्बीज-समाधिनिष्ठ परमहंसोंकी समाधिको हठात् तोड़ डालनेवाली, सुधाके माधुर्यको फीका बना देनेवाली, धैर्यवान् पुरुषोंके धैर्यको तोड़कर उनकी अधीरताको उत्तेजित करनेवाली, कामदेवपर विजयदुन्दुभि बजाकर उसको अपने शासनमें रखनेवाली, भगवान् श्रीकृष्णकी यह वंशीध्वनि विश्वमें सब ओर विजयिनी हो रही है।'

वृन्दावननिवासी चराचर जीवोंका परम सौभाग्य था जो वे इस वंशीध्वनिको सुनते थे। और उन गोपीजनोंके भाग्यकी तो ब्रह्मादि देवतागण भी ईर्ष्या करते हैं जिनको आवाहन करनेके लिये मोहन स्वयं अपनी इस मधुर मुरलीकी मधुर तान छेड़ा करते थे। वे सुनती थीं और मुग्ध होती थीं, चेतनाका विसर्जन कर देती थीं, परंतु सुनना कभी छोड़ती ही नहीं थीं। संध्याको गोधूलिके समय जब प्राणधन श्यामसुन्दर वनसे लौटते थे, उस समय व्रज-बालाओंके झुंड-के-झुंड घरोंसे निकलकर रास्तोंमें उनकी प्रतीक्षा करते थे। एक दिन एक नवीन व्रजगोपी मुरलीध्वनिकी प्रतीक्षामें घरके बाहर दरवाजेपर खड़ी थी, उसे देखकर, वंशी और वंशीधरकी महिमाका व्याजसे बखान करती हुई दूसरी महाभागा गोपी कहती है—

सुनती हौ कहा भजि जाहु घरै बिंध जाओगी नैनके बाननमें।
यह बंसी 'निवाज' भरी बिषसों बगरावति है बिष प्राननमें॥
अबहीं सुधि भूलिहौ भोरी भटू भँवरौ जब मीठी-सी ताननमें।
कुलकानि जो आपनी राखि चहौ दै रहौ अँगुरी दोउ काननमें॥

वंशीनादसे आकृष्ट गोपीजनोंकी प्रेमविह्वल दशाका वर्णन भगवान् वेदव्यासजीने भागवतमें बहुत ही सुन्दर रूपसे किया है। भागवतका वेणुगीत प्रसिद्ध है। भावुक भक्तजन उसे अवश्य पढ़ें-सुनें।

भक्त रसखान कहते हैं—

कौन ठगौरी भरी हरि आजु, बजाई है बाँसुरिया रँगभीनी।
तान सुनी जिनहीं तिनहीं तब ही कुल-लाज बिदा करि दीनी॥
घूमै घरी-घरी नंदके द्वार, नवीनी कहा कहूँ बात प्रबीनी।
या ब्रजमंडलमें रसखानि सु कौन भटू जो लटू नहिं कीनी॥
बजी सुबजी रसखानि बजी, सुनिकै अब गोकुल-बाल न जीहै।
न जीहै कदाचित काननकौं, अब कान परी वह तान अजी है॥
अजी है, बचाओ, उपाय नहीं, अबलापर आनिकै सैन सजी है।
सजी है हमारो कहा बस है, जब बैरिन बाँसुरी फेरि बजी है॥
आजु अली एक गोपलली भई बावरी, नेकु न अंग सँभारै।
मातु अघात न देवन पूजत, सासु सयानि सयानी पुकारै॥

यों रसखानि फिरो सगरे ब्रज आन कुआन उपाय बिचारे।
कोउ न कान्हराके करतें वह बैरन बाँसुरिया गहि डारै॥
ऐ सजनी वह नंदकुमार सु या बन धेनु चराइ रह्यो है।
मोहनी तानन गोधन गायन बेनु बजाइ रिझाइ रह्यो है॥
ताही समै कछु टोनौं करो रसखानि हिये सु समाइ रह्यो है।
कोउ न काहुकी कानि करै सिगरौ ब्रज बीर बिकाइ रह्यो है॥

मोहनकी मुरलीसे प्रभावित व्रजधामकी कुछ कल्पना भक्त कविके उपर्युक्त शब्दोंसे की जा सकती है। एक गोपी बाँसुरीसे तंग आकर अपनी सखियोंसे कहती है—

अब कान्ह भये बस बाँसुरिके, अब कौन सखी हमकों चहिहै।
वह रात दिना सँग लागी रहै, यह सौतको सासन को सहिहै॥
जिन मोह लियौ मन मोहनकौ, रसखानि सु क्यों न हमें दहिहै।
मिलि आओ सबै कहुँ भाजि चलें, अब तो ब्रजमें बँसुरी रहिहै॥

दूसरी एक बाँसके साथ बाँसकी बनी बाँसुरीकी तुलना कर और उसे वंशका नाम बिगाड़नेवाली बतलाती हुई कहती है—

वै मगदायक अंधनिके, तुम अच्छिनहूकी सुचाल बिगारयो।
वै जलथाह बतावत हैं, तुम प्रेम अथाहके बारिधि पारयो॥
वै बर बास बसाय भले, तुम बास छोड़ाय उजारमें डारयो।
का कहिये, हरिकी मुरली! तुम आपने बंसको नाम बिगारयो॥

दूसरी कहती है—अरी मुरली! तेरे सौभाग्यका क्या कहना है—

अधर सेज नासा बिजन स्वर मिस चरन दबाय।
अरी सोहागिनि मुरलिया! लियो स्याम बिलमाय॥

तीसरी एक मुरलीके साथ ईर्ष्या करती हुई बड़े विनययुक्त शब्दोंमें मुरलीसे पूछती है—

मुरली! कौन तप तैं कियो।
रहत गिरधर मुखहि लागी, अधरको रस पियो॥
नंदनंदन पानि परसे तोहि तन मन दियो।
सूर श्रीगोपाल बस किय, जगतमें जस लियो॥

मुरली उत्तर देती है—

तप हम बहुत भाँति कर्‍यो।
हेम बरषा सही सिरपै घाम तनहिं जर्‍यो॥
काटि बेधी सप्त सुरसों हियो छूछो कर्‍यो।
तुमहि बेगि बुलायबेको लाल अधरन धर्‍यो॥
इतने तप मैं किये तबहीं लाल गिरधर बर्‍यो।
सूर श्रीगोपाल सेवत सकल कारज सर्‍यो॥

मैंने बड़े-बड़े तप किये हैं, जीवनभर सिरपर जाड़ा और वर्षा सहती रही, ग्रीष्मकी ज्वालामें मैंने तनको तपाया। काटी गयी, शरीरको सात स्वरोंसे बिंधवाया। हृदयको शून्य कर दिया। कहीं कोई गाँठ नहीं रहने दी। इतना तप करनेपर लालने मुझको बरा है।

प्राणधन श्रीगोपालके अधरामृतका पान चाहनेवाले प्रत्येक भक्तको वंशीकी इस साधनाका अनुकरण करना चाहिये। याद रहे, जबतक लौकिक सुख-दु:खमें समता और सहिष्णुता नहीं आती, जबतक प्रियतम प्रभुके लिये तन-मनकी बलि नहीं दे दी जाती, जबतक हृदयको अन्य वासना-ग्रन्थिसे सर्वथा शून्य नहीं कर लिया जाता, तबतक प्रियतमके मधुर आलिंगनका सुख हमें नहीं मिल सकता।

मोहनकी यह मुरली आज भी बजती है, सदा बजती रहेगी। परंतु जो मुरलीकी भाँति साधनमें प्रवृत्त होगा वही इस मधुर ध्वनिको भलीभाँति सुन सकेगा। वृन्दावनके प्रात:स्मरणीय भगवत्-सखाओंने और अन्तरंगा शक्ति गोपीजनोंने अपनेको इस मुरलीकी साधनामें सिद्ध करके ही मुरलीकी ध्वनिको सुन पाया था।

उस मुरलीमें क्या बजता है और उससे जगत्को क्या दिया जाता है? इसका उत्तर यह है कि ह्लादिनी सुधाका अनिर्वचनीय आनन्द ही इस मधुर ध्वनिके द्वारा सबको दिया जाता है। '**कलं वामदृशां मनोहरम्।**' इस कलपदामृत वेणुगीतसे '**क्लीं**' पदकी सिद्धि होती है। कल=क+ल=क्ल। इसमें वामदृक् यानी चतुर्थ स्वर ईकार संयुक्त करनेपर क्ली बनता है। यह मनोहर है यानी मनके अधिष्ठात्री देवता चन्द्रको या चन्द्रविन्दुको हरण करता है। अतएव क+ल+ई+ं के संयोगसे '**क्लीं**' बनता है। यह '**क्लीं**' कामबीज है। मुरलीध्वनि यही कामबीज है। यह काम भगवत्-काम है। अतएव साक्षात् भगवत्स्वरूप ही है। व्रजधामके कामविजयी—मन्मथ-मन्मथ मदनमोहन तपवैराग्ययुक्त अधिकारसम्पन्न अपने भक्त-साधकोंमें इस कामबीजको वितरणकर उन्हें अपनी ओर खींच लेते हैं, उनके सर्वस्वका मोह छुड़ाकर, उनका सब कुछ भुलाकर उन्हें सहसा आकर्षित कर लेते हैं। साथ ही नरकोंकी ओर आकर्षित करनेवाले, मन और इन्द्रियोंको विक्षुब्ध कर आत्माका पतन करनेवाले, विषय-विषका पान करनेके लिये उन्मत्त बनानेवाले गंदे कामके वशीभूत हुए जगत्के जीवोंको भी उस घृणित कामजालके फंदेसे छुड़ाकर पवित्र मधुर रसका आस्वादन करानेके लिये

इस चिन्मय नादका संचार करते हैं। कामबीजकी बड़ी महिमा है। भगवान्‌का सृष्टि-संकल्प ही कामबीज है। यही नादस्वरूप है। इसीसे सृष्टि होती है और यही जगत्स्वरूप बन जाता है। शास्त्र इस '**क्लीं**' रूप कामबीजसे पंचमहाभूतोंकी उत्पत्ति बतलाते हुए इसका स्वरूप-निर्देश करते हैं—

ककारो नायकः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
ईकारः प्रकृती राधा महाभावस्वरूपिणी॥
लश्चानन्दात्मकः प्रेमसुखं च परिकीर्तितम्।
चुम्बनाश्लेषमाधुर्यं बिन्दुनादं समीरितम्॥

'क' कार सच्चिदानन्दविग्रह नायक श्रीकृष्ण हैं। 'ई' कार महाभावस्वरूपा प्रकृति श्रीराधा हैं। 'ल' कार इन नायक-नायिकाके मिलनात्मक प्रेमसुखका आनन्दात्मक निर्देश है और नादविन्दु इस माधुर्यामृतसिन्धुको परिस्फुट करनेवाले हैं।

यह श्रीराधाकृष्णका मिलन दिव्य है। यह आत्म-रमण है। (**आत्मारामोऽप्यरीरमत्**) यह अपने ही स्वरूपमें सच्चिदानन्द-भगवान्‌की लीला है। इस लीलाका विकास '**क्लीं**' रूप मुरलीनिनादसे ही होता है। यह मुरलीनाद स्वयं सच्चिदानन्दमय है। ब्रह्मरूप है। यही नादब्रह्म है।

बालगोपाल सच्चिदानन्दकी स्तुति

एक बार सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण अपने साथी गोपबालकों और बछड़ोंको साथ लेकर वनमें गये। वहाँ पूतना तथा बकासुरका भाई अघासुर एक बहुत बड़े अजगरका रूप बनाकर इस ताकमें बैठा था कि 'कब श्रीकृष्ण आवें और मैं उनका वध करूँ।' उस अजगररूप राक्षसका आकार इतना बड़ा था कि वह एक पर्वतकी श्रेणी-सा जान पड़ता था। उसको देखकर ग्वाल-बाल आपसमें कहने लगे 'देखो न, यह कैसा विचित्र अजगराकार पर्वत है, ऐसा जान पड़ता है कि इस पर्वतरूपी अजगरका ऊपरी होंठ बादलोंसे मिला हुआ है तथा नीचेका नदीपर रखा है। इसकी ये गुफाएँ दो जबड़ेकी तरह, चोटियाँ दाढ़ोंकी तरह और यह चौड़ा-सा मार्ग जिह्वाकी तरह जान पड़ता है।' यह कहते और हँसते-खेलते सभी ग्वाल-बाल अपने बछड़ोंके समेत उस भयानक अजगरके मुखमें प्रवेश कर गये। भगवान् श्रीकृष्णने जब इस प्रकार अपने मित्रोंको अघासुरके मुँहमें पड़ा हुआ देखा, तो वे झटपट उस दुष्ट राक्षसके वध और अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये स्वयं भी उसके मुँहमें पैठ गये।

अघासुर तो यह चाहता ही था, उसने भगवान्‌के घुसते ही अपना मुँह बंद कर लिया। किंतु भगवान्‌के सामने उसकी शक्ति ही क्या थी? भगवान्‌ने अपने शरीरको बढ़ाना आरम्भ कर दिया। इससे अघासुरके गलेमें डाट-सी लग गयी और उसका दम घुटने लगा। अन्तमें उसकी दोनों आँखें बाहर निकल पड़ीं और वह मौतके घाट छटपटाने लगा। तबतक उसके प्राण-पखेरू भी ब्रह्मरन्ध्रको फोड़कर ज्योतिरूपमें बाहर निकल आये। तब भगवान्‌ने अपना पहले-जैसा बालरूप बना लिया और ग्वाल-बाल तथा बछड़ोंके सहित हँसते-हँसाते बाहर निकल आये। अघासुरके शरीरसे निकली हुई दिव्य-ज्योति भगवान्‌में समा गयी।

इसके अनन्तर भगवान् विचरते हुए यमुना-तटपर पहुँचे और वहाँ भोजनकी तैयारी करने लगे। ग्वाल-बालोंने अपनी-अपनी भोजनकी पोटलियाँ खोलीं और जितने भोज्य-पदार्थ थे, सब एकमें मिलाकर एक-दूसरेको बाँट दिये गये। भगवान्‌ने अपने बायें हाथकी हथेलीमें ग्रास रखा, अँगुलियोंमें चटनी आदि रखी और सब बालकोंके मध्यमें खड़े होकर, सबको हँसाते हुए भोजन करने लगे। तबतक सबने बछड़ोंपर दृष्टि डाली। बछड़े वहाँ नहीं थे, वे हरी-हरी घास चरते कहीं दूर निकल गये थे। यह देखकर गोपबालक आतुर हो उठे। भगवान्‌ने उन सबको धीरज बँधाते हुए कहा— 'तुमलोग भोजन करना न छोड़ो। मैं अभी बछड़ोंको ले आता हूँ।' ऐसा कहकर उसी प्रकार हाथमें भोजनकी सामग्री लिये हुए भगवान् आगे बढ़ गये।

बात यह थी कि ब्रह्माजीको अघासुरका आश्चर्यजनक मोक्ष देखकर यह उत्कण्ठा पैदा हो गयी कि वे भगवान्‌की और भी अधिक आनन्ददायिनी महिमा देखें। इसीसे उन्होंने बछड़े छिपा दिये थे। यहींतक नहीं, भगवान् जब ग्वाल-बालोंको छोड़कर आगे बढ़ गये, तब ब्रह्माजीने ग्वाल-बालोंको भी एक पर्वतकी कन्दरामें छिपाकर सुला दिया। किंतु ब्रह्माजीकी यह सारी करतूत भगवान्‌से

कब छिपी रह सकती थी! जगत्-प्रतिपालक भगवान् श्रीकृष्णने अपने मनमें यह विचार किया कि 'यदि मैं इस समय ग्वाल-बाल और बछड़ोंको घर नहीं ले जाऊँगा तो उनकी माताओंको अत्यन्त दुःख होगा। परंतु यदि ब्रह्माजीद्वारा चुराये गये ग्वाल-बाल और बछड़ोंको लौटाता हूँ तो ब्रह्माजीको मोह नहीं होगा।' अतः भगवान्ने एक लीला रची, उन्होंने अपनेको ही उन नाना प्रकारके गोवत्स और गोपालोंके रूपमें परिणत कर दिया।

भगवान्ने जिन गोवत्सों और गोप-बालकोंको बनाया, वे ठीक उन्हीं गोवत्सों और गोप-बालकोंके समान थे, जिनको ब्रह्माजीने छिपा रखा था। ये ठीक उन्हीं-जैसी शकल-सूरतवाले, उन्हीं-जैसे सजे-बजे और वंशी लिये हुए थे। गोकुलमें पहुँचकर सब बालक और बछड़े अपनी-अपनी जगहपर चले गये। उनके माता या पिता किसीको भी यह भ्रम नहीं हुआ कि 'वे उनके बालक नहीं हैं।' बल्कि भगवत्-रूप होनेके कारण उन बछड़ों और बालकोंमें उनकी प्रीति और भी बढ़ गयी!

इधर ब्रह्माजीने इस कार्यमें अपनी दृष्टिसे केवल रंचमात्रका समय लगाया था, किंतु उनके इतने ही समयमें व्रजवासियोंका एक वर्ष व्यतीत हो गया। ब्रह्माजी अपने छिपाये हुए बछड़ों और गोप-बालकोंको भगवान्के साथ देखकर बड़े आश्चर्यचकित हुए। वे सोचने लगे कि 'मैंने तो इन्हें छिपाकर सुला रखा है, ये उतने ही बछड़े, वैसे ही बालक भगवान्के पास कैसे आ गये?' ब्रह्माजीने इस रहस्यको समझनेकी बहुत चेष्टा की, किंतु वे कुछ भी नहीं समझ सके। उन्हें यह कुछ भी नहीं मालूम पड़ा कि ये बछड़े और ग्वाल-बाल सत्य हैं या मायारचित हैं! इस प्रकार ब्रह्माजी मोहरहित किंतु जगत्को मोहित करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णको मोहमें डालनेके लिये प्रवृत्त हुए थे, परंतु उनको अपनी मायासे स्वयं ही मोहित हो जाना पड़ा!

मोहमग्न ब्रह्माजीने देखा कि उनके सामने जितने बछड़े और गोप-बालक थे, सभी चतुर्भुज-मूर्ति हो गये हैं और हमारे-जैसे अनेकों ब्रह्मा देवताओंके साथ उनका पूजन कर रहे हैं! अब तो ब्रह्माजीके मोहका कुछ ठिकाना ही न रहा। वे मायामें सर्वथा डूब गये। इतनेमें दयामय भगवान्ने उनका क्लेश दूर करनेके लिये अपनी मायाका परदा हटा लिया। ब्रह्माजीकी आँखें खुलीं, उस समय उन्होंने केवल भगवान्को ही देखा। बस, क्या था, वे दौड़े हुए गये और सुलाकर छिपाये हुए बछड़ों और गोप-बालकोंको जल्दीसे लाये। इसके पश्चात् भगवान्के चरणोंमें दण्डकी भाँति गिरकर गद्गद वाणीसे स्तुति करने लगे (श्रीमद्भागवत १०।१४—)

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्त्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥ १॥

हे स्तुत्य! मेघके समान श्यामल शरीरधारी! बिजली-जैसे चमकीले वस्त्रोंसे आच्छादित, गुंजाओंके झूमकों और मोरपंखोंके मुकुटसे सुशोभित मुखवाले! गलेमें वैजयन्ती माला, हाथोंमें ग्रास, बेंत, सींग और वंशी धारणकर इनकी शोभासे युक्त हुए कोमल चरणोंवाले! नन्दगोपके लाड़ले! आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥ २॥

हे देव! भक्तोंकी इच्छाके अनुसार प्रकट हुए और मेरे ऊपर अनुग्रह करनेवाले आपके इस अतिसुलभ अवतारकी, जो पांचभौतिक नहीं, अपितु अचिन्त्य शुद्ध सत्त्वमय है, महिमाको मनसे भी जाननेके लिये मैं (ब्रह्मा) समर्थ नहीं हूँ। अथवा और भी कोई समर्थ नहीं है। जब अवतारकी महिमा नहीं जानी जाती तो आत्मसुखके अनुभवसे ज्ञात होनेवाले गुणातीतस्वरूप साक्षात् आपकी ही महिमाको एकाग्र किये गये मनसे भी जाननेके लिये कौन समर्थ होगा? अर्थात् कोई भी समर्थ नहीं है!

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥ ३॥

जो लोग ज्ञानकी प्राप्तिके लिये कुछ भी प्रयास न करके, केवल साधुओंके निवास-स्थानमें रहकर भक्तोंके मुँहसे स्वभावतः नित्य प्रकटित हुई, आप (भगवान्)-की चर्चाको सुनकर, उसका शरीर, वाणी और मनसे आदर करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, हे अजित! उन पुरुषोंने त्रिलोकीमें औरोंसे नहीं जीते जानेवाले आपको भी जीत लिया है (अर्थात् उनको आप प्राप्त हो गये हैं)।

श्रेय:स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥ ४॥

हे प्रभो! जैसे सरोवरसे अनेकों स्रोत बहते हैं, वैसे ही आपकी भक्तिसे कल्याणरूपी स्रोत बहते हैं। आपकी ऐसी भक्तिको त्यागकर जो पुरुष केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं, उनको केवल क्लेश ही मिलता है, जैसे धानकी भूसी (छिलके)-को कूटनेवालेको केवल क्लेश ही शेष रहता है—चावल नहीं मिलते।

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥ ३४॥

(हे नाथ!) मुझको वैसा परम सौभाग्य प्राप्त हो, जिससे मनुष्यलोकमें, विशेषतः गोकुलमें और उससे भी विशेषतः व्रजके वनमें (पशु, पक्षी, वृक्ष, कीट आदि योनियोंमेंसे) किसी भी योनिमें मेरा जन्म हो। वहाँपर इन गोकुलवासियोंमेंसे किसीकी तो चरणरजका अभिषेक मेरे ऊपर होगा! क्योंकि उनका जीवन मुकुन्दपरायण है। अर्थात् उनके गृह, वृत्त, पुत्रादि सर्वस्व भगवान् मुकुन्द ही हैं, जिनकी चरणरजको भगवती श्रुति भी अनादिकालसे अबतक खोजती है (परंतु देख नहीं पाती)।

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते॥ ३५॥

हे देव! आप भी इन व्रजवासियोंको सर्वफलरूप अपने स्वरूपसे बढ़कर कहाँ क्या फल देंगे—इस विषयमें विचार करता हुआ, (इनके पुण्यानुरूप स्थानको सर्वत्र खोजता हुआ) हमारा (ब्रह्मा, रुद्र, सनक आदिका) चित्त मोहको प्राप्त होता है, क्योंकि आपके स्वरूपसे बढ़कर कोई स्थान ही नहीं है। (यदि कहिये कि अपनेको ही देकर मैं उऋण हो जाऊँगा, तो वह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि) हे देव! केवल भक्तोंके वेशका अनुकरण करनेसे पापिनी पूतना अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ आपको ही प्राप्त हुई। तो क्या, जिनके शरीर, धन, मित्र, पुत्र, प्रिय, प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि सब कुछ आपके ही निमित्त हैं, उन्हें भी वही फल देंगे, जो राक्षसोंको दिया था? नहीं, वह तो बहुत थोड़ा है, अतः ऋणी रहना ही ठीक है!

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥ ३६॥

श्रीकृष्ण! जबतक मनुष्य आपकी शरणमें नहीं आता, तभीतक राग-द्वेषादि चोरकी भाँति व्यवहार करते हैं, तभीतक यह घर कारागृह-सा है और तभीतक पैर मोहरूपी बेड़ीसे बँधे हैं।

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्दसंदोहं प्रथितुं प्रभो॥ ३७॥

प्रभो! आप प्रपंचसे अलग होते हुए भी शरणमें आये हुए जनसमूहके आनन्दका विस्तार करनेके लिये इस भूतलमें पुत्रादिरूप प्रपंचका अनुकरण करते हैं। (नकली पुत्रका रूप स्वीकार करके गोपोंकी सच्ची सेवासे आप अनृण नहीं हो सकते।)

श्रीकृष्णकी नित्य प्रातःक्रिया

भगवान् श्रीकृष्ण नित्य प्रातःकाल क्या-क्या क्रिया करते थे, इसका वर्णन भागवतमें किया गया है। भगवान्‌की नित्य क्रियाओंको देखनेसे पता लगता है कि आर्य द्विजातियोंका आदर्श उस समय क्या था और आज उनमें कितना बुरा परिवर्तन हो गया है। भगवान्‌की प्रातःक्रियाका वर्णन करते हुए शुकदेवजी कहते हैं—

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम्॥

एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं
स्वसंस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम्।
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनाशहेतुभिः
स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम्॥

अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि
क्रियाकलापं परिधाय वाससी।
चकार संध्योपगमादि सत्तमो
हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः॥

उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वाऽऽत्मनः कलाः।
देवानृषीन् पितॄन् वृद्धान् विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान्॥
धेनूनां रुक्मशृङ्गीणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम्।
पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम्॥
ददौ रूप्यखुराग्राणां क्षौमाजिनतिलैः सह।
अलंकृतेभ्यो विप्रेभ्यो बद्वं बद्वं दिने दिने॥
गोविप्रदेवतावृद्धगुरून् भूतानि सर्वशः।
नमस्कृत्यात्मसम्भूतीर्मङ्गलानि समस्पृशत्॥

(श्रीमद्भा० १०।७०।४—१०)

'भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर हाथ-पैर धोकर जलसे आचमन करके सब इन्द्रियोंको प्रसन्न करके मनको प्रकृतिसे आत्मामें लगा दिया अर्थात् आत्मध्यान करने लगे। वे केवल, स्वप्रकाश—उपाधिशून्य, अविनाशी, अखण्ड, अज्ञानरहित और जगत्‌की उत्पत्ति तथा नाशका कारण जो अपनी शक्तियाँ हैं, उनके द्वारा ही जिनकी सत्ता समझमें आती है, ऐसे श्रीकृष्ण ब्रह्म नामक अपने ही सच्चिदानन्द-स्वरूपके ध्यानमें मग्न हो गये। तदनन्तर सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णजीने शुद्ध जलमें स्नान करके पवित्र वस्त्र पहने और विधिपूर्वक संध्योपासनादि नित्य-क्रिया और अग्निमें हवन करके वे मौन होकर गायत्री-मन्त्रका जप करने लगे। फिर सूर्य उदय होनेपर श्रीहरिने खड़े होकर सूर्यका उपस्थान किया, पश्चात् अपने ही अंशरूप देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करके उन आत्मवान् स्वरूपस्थित परमात्मा श्रीकृष्णने बड़े-बूढ़े और ब्राह्मणोंकी पूजा की। इसके बाद आपने ब्राह्मणोंको वस्त्र, आसन और तिलसहित १३,०८४ गौएँ दान दीं। आप प्रतिदिन ही इतनी गौएँ दान दिया करते थे। उन गौओंके सींग सोनेसे और खुर चाँदीसे मँढ़े हुए थे, गलेमें मोतीकी मालाएँ पड़ी थीं, वदनपर सुन्दर झूले उढ़ायी हुई थीं। ऐसी दुधारी, एक बारकी ब्याई, सुशीला, बछड़ेसहित गौएँ देकर श्रीकृष्णने अपनी विभूति गौ, ब्राह्मण, देवता, वृद्ध, गुरु और सम्पूर्ण प्राणियोंको प्रणाम किया और मांगलिक पदार्थोंका स्पर्श किया।'

यह श्रीकृष्णकी दैनिक प्रातःकालकी नित्यक्रिया थी, इसके साथ आजके भारतीय द्विजातियोंकी क्रियाका मिलान कीजिये—

तब	**अब**
ब्राह्म मुहूर्तमें उठना।	आठ बजेतक पड़े रहना।
आत्माका ध्यान करना।	अखबार पढ़ते हुए संसारके प्रपंचोंका स्मरण करना।
शुद्ध जलमें स्नान करना।	चर्बीमिश्रित साबुन और प्रायः मद्ययुक्त सुगन्ध—लगा नलके अपवित्र जलमें नहाना।
संध्योपासना करना।	परचर्चा करना।
हवन करना।	धूम्रपान करना।
गायत्री-जप करना।	जप करनेवालोंकी दिल्लगी उड़ाना।
देवता, ऋषि, पितृ-तर्पण।	अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी चिन्तामें परिवारके लोगोंका बुरा सोचना।
बड़े-बूढ़े और ब्राह्मणोंको पूजना।	बड़े-बूढ़ोंको मूर्ख बताना और ब्राह्मण-निन्दा करना।
ब्राह्मणोंको गौदान देना।	ब्राह्मण-अतिथियोंको घरसे निकाल देना।

विचार कीजिये और अपना कर्तव्य निश्चित कीजिये।

अद्भुतकर्मी श्रीकृष्ण

शोणास्निग्धाङ्गुलिदलकुलं जातरागं परागैः
श्रीराधायाः स्तनमुकुलयोः कुंकुमक्षोदरूपैः।
भक्तश्रद्धामधुनखमहः पुञ्जकिञ्जल्कजालं
जंघानालं चरणकमलं पातु नः पूतनारेः॥

भगवान् श्रीकृष्ण लीलापुरुषोत्तम हैं, उनके पवित्र कर्मोंका रहस्य कौन जान सकता है? उन्होंने अपने जीवनमें ऐसे-ऐसे अद्भुत कर्म किये हैं, जिन्हें पढ़कर आश्चर्यमें डूब जाना पड़ता है, यहाँ ऐसे ही अद्भुत कर्मोंमेंसे कुछका अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

अवतरण

भाद्रकृष्णा ८ के दिन कंसके कैदखानेमें आधी रातके समय भगवान् प्रकट हुए। वसुदेवने देखा 'बड़ा ही अद्‌भुत बालक है, उसके विशाल नेत्र हैं, चार भुजाएँ शंख, चक्र, गदा, पद्मसे शोभित हैं, वक्ष:स्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है, गलेमें कौस्तुभमणि चमक रही है, नव-नील-नीरद श्यामशरीरपर पीताम्बर शोभायमान है, सुन्दर काले घुँघराले केशोंपर महामूल्यवान् वैदूर्यमणियोंसे जड़ा हुआ किरीट-मुकुट है, कानोंमें मकराकृति कुण्डल है, अति उत्तम मेखला, अंगद, कंकण आदि आभूषणोंसे शरीरकी प्रतिभा और भी बढ़ रही है।' भगवान्‌के अंगोंकी प्रभासे अन्धकारमय कारागृह परम प्रकाशमय हो गया, वसुदेव-देवकीने भगवान् समझकर स्तुति की, भगवान्‌ने प्रसन्न होकर कहा कि 'स्वायम्भुव मन्वन्तरमें तुम्हारा नाम सुतपा-पृश्नि था, तुम दोनोंने दिव्य बारह हजार वर्षतक मुझमें तन्मय होकर तप किया था। मैंने तुमलोगोंको दर्शन दिये, परंतु मेरी मायासे मोहित हो तुमलोगोंने मुक्ति नहीं माँगी। तुमने मेरे समान पुत्र चाहा, इससे मैं स्वयं पृश्निगर्भ नामसे तुम्हारे यहाँ उत्पन्न हुआ था। दूसरे जन्ममें तुम कश्यप और अदिति थे, तब मैं उपेन्द्र या वामन नामसे तुम्हारे यहाँ पुत्ररूपसे अवतरित हुआ था। यह तुम्हारा तीसरा जन्म है, तुमलोगोंके पूर्वजन्मकी बातें स्मरण दिलानेके लिये ही मैंने तुम्हें अपना चतुर्भुज स्वरूप दिखलाया है। पुत्रभाव या ईश्वरभावसे मेरा ध्यान तथा मुझपर स्नेह करनेके कारण तुमलोगोंको परम गति प्राप्त होगी।'

इतना कहकर भगवान् बालक बन गये। वसुदेवजी उनके आज्ञानुसार उन्हें गोकुल ले जानेका उद्योग करने लगे, पैरोंकी बेड़ियाँ खुल गयीं, जेलका दरवाजा खुल गया, पहरेदार अचेत हो गये। यमुनाने रास्ता दे दिया। वसुदेवजीने गोकुल पहुँचकर श्रीकृष्णको यशोदाके पास सुला दिया और यशोदाकी कन्याको ले आये। बंदीगृहमें वापस लौटते ही द्वार बंद हो गये, पैरोंमें बेड़ियाँ पड़ गयीं और पहरेदार सजग हो गये।

कुबेरपुत्रोंका उद्धार

नलकूबर और मणिग्रीव नामक कुबेरके दो पुत्र शराब पीकर स्त्रियोंके साथ नंगे गंगामें विहार कर रहे थे। नारदजी वहाँ जा पहुँचे। उनके सामने भी वे धनके मदमें अंधे होनेके कारण नंगे ही खड़े रहे, उनकी यह दशा देखकर देवर्षिने उनपर अनुग्रह करके उन्हें शाप दिया—नारदजीने कहा—'अहो! धनके घमंडमें स्त्री-संग, जुआ और शराबखोरी बढ़ जाती है, ऐश्वर्यका मद विषयासक्त मनुष्यकी बुद्धिको बिलकुल भ्रष्ट कर देता है। लक्ष्मीके मदमें अंधे हुए दुष्टके लिये दरिद्रता ही असली अंजन है। ये कुबेरके पुत्र भी मदान्ध होकर जडकी तरह खड़े हैं। इससे इनको स्थावर जड-योनि ही मिलनी चाहिये। ऐसा होनेसे इनके घमण्डका नशा उतर जायगा। ये एक सौ दिव्य वर्षोंतक वृक्ष होकर रहेंगे, परंतु उस जड-योनिमें भी इन्हें स्मरण-शक्ति रहेगी, अन्तमें इन्हें भगवान् श्रीहरि दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे, तब इनकी वह योनि दूर हो जायगी।' नारदजीके शापसे नलकूबर-मणिग्रीव दोनों भाई जुड़े हुए अर्जुनके वृक्ष हुए।* अपने भक्त देवर्षि नारदकी वाणी सत्य करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने लीला रची। आप इस समय छोटेसे बालक थे। एक दिन यशोदा मैयाकी आँख चुराकर आप ऊखलपर चढ़ गये और छीकेसे माखन उतारकर खुद खाने लगे और वानरोंको लुटाने लगे। इतनेमें माता आ गयीं। उनको बड़ा गुस्सा आया। पकड़कर ऊखलसे बाँधने लगीं। भगवान् शिशुकी तरह रोने-चिल्लाने लगे। रस्सी छोटी हो गयी, माता और रस्सी लायी, वह भी छोटी हो गयी। यशोदाने घरसे और अड़ोसी-पड़ोसियोंके यहाँसे सारी रस्सियाँ ला-लाकर जोड़ दीं, परंतु वे श्रीकृष्णको न बाँध सकीं, रस्सी दो अंगुल छोटी ही रह गयी। माँ थक गयीं, शरीर पसीनेसे भींग गया, भगवान्‌को दया आयी और आप ही बँध गये। इसीसे आपका नाम 'दामोदर' पड़ा। माता दूसरे काममें लगी। इधर आप ऊखलसहित रस्सीको खींचते-खींचते दोनों वृक्षोंके बीचमें चले गये और ऊखलको उनमें अड़ाकर जोरसे खींचा। भगवान्‌की शक्तिसे दोनों वृक्ष जड़से उखड़कर जमीनपर गिर पड़े। भयानक शब्दसे आकाश भर गया। वृक्षोंके गिरते ही उनमेंसे अग्निके समान तेजस्वी दो सिद्ध पुरुष निकले, इन दोनों कुबेरपुत्रोंने जगदीश्वर श्रीकृष्णको दण्डवत् प्रणामकर उनकी स्तुति करते हुए, अन्तमें वरदान माँगा—

* इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि किसी भी वस्तुके मदमें चूर नहीं होना चाहिये तथा बड़ोंके सामने कभी अशिष्टाचरण नहीं करना चाहिये।

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१०।३८)

'भगवन्! हमारी वाणी आपके गुणगानमें लगी रहे, हमारे कान आपकी कथाके परायण रहें, हाथ आपकी सेवामें, चित्त आपके चरणोंके चिन्तनमें, सिर आपके निवासस्थल सम्पूर्ण संसारको प्रणाम करनेमें और दृष्टि आपकी प्रत्यक्षमूर्ति संतोंके दर्शनमें लगी रहे।' भगवान्‌की दयासे वे कृतकृत्य होकर उत्तर-दिशाको चले गये।

ब्रह्माजीको लीलाप्रदर्शन

एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण ग्वाल-बालोंके साथ परस्पर हँसते-हँसाते हुए तन्मय होकर बालवत् भोजन कर रहे थे। इसी अवसरमें उनके सारे बछड़े हरी घासके लोभसे दूर चले गये। बछड़ोंको दूर निकले देखकर ग्वाल-बालक डरे। तब श्रीकृष्णने उनसे कहा कि 'तुम डरो नहीं, बछड़ोंको मैं अभी लौटा लाता हूँ।' इतना कहकर आप भोजनका ग्रास हाथमें लिये ही अपने मित्रोंके बछड़ोंकी खोजमें चल दिये। ब्रह्माजी भगवान्‌की यह सारी लीला देख रहे थे, उन्हें मायाशिशु हरिकी लीला देखकर मोह हो गया। भगवान् श्रीहरिकी महिमा देखनेकी इच्छासे ब्रह्माजी पहले तो बछड़ोंको हर ले गये और अब श्रीकृष्णके चले जानेपर सारे ग्वाल-बालोंको उठा ले गये तथा सबको अचेतकर अपने लोकमें रख आये।

भगवान् लौटकर आये और ग्वालबालोंको न पाकर तथा यह सारी करतूत ब्रह्माजीकी समझकर ग्वाल-बालकों और बछड़ोंकी माता गोपियों और गौओंको संतुष्ट रखने तथा ब्रह्माको छकानेके लिये, विश्वरचयिता हरि स्वयं उतने ही बछड़े और बालक बन गये। जिस बछड़े और बालकका जैसा शरीर, जैसे हाथ-पैर, जैसी लकड़ी, जैसी सींगड़े, जैसी बाँसुरी, जैसा छींका, जैसे कपड़े और गहने थे तथा जैसा शील, गुण, नाम, आकृति, प्रकृति, अवस्था और आहार-विहार आदि था, सर्व-स्वरूप श्रीहरिने ठीक वैसे ही प्रकट होकर सारा विश्व 'विष्णुमय' है, इस बातको प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया। गोपियों और गौओंका स्नेह बालकों और बछड़ोंपर असीम रूपसे बढ़ गया। पहले व्रजवासियोंका श्रीकृष्णपर परम स्नेह था, परंतु अब वह अपने-अपने पुत्रोंपर अत्यधिक हो गया। छोटे बछड़े पास होनेपर भी गौएँ इन बड़े बछड़ोंको देखकर दौड़ छूटती थीं और उनके स्तनोंसे दूध बहने लगता था, बड़े-बूढ़े गोप अपने पुत्रोंको गले लगाकर बड़ी कठिनाईसे स्नेहकी उमंगको रोक सकते थे। इन सबका कारण यह था कि प्रेमार्णव श्रीकृष्ण ही सब कुछ बने हुए थे। सालभर यों ही बीत गया। श्रीबलदेवजीको व्रजवासी स्त्री, पुरुष और गौओंका अपने पुत्रोंपर स्नेह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने ज्ञाननेत्रोंसे देखा तो उन्हें दिखलायी दिया कि बछड़े और उनकी रक्षा करनेवाले ग्वाल-बालक सभी श्रीकृष्णरूप हैं। बलदेवजीके पूछनेपर श्रीभगवान्‌ने उन्हें सारा भेद बतलाया। ब्रह्माजीने आकर देखा कि श्रीकृष्ण पूर्वकी भाँति उसी प्रकार अपने साथी ग्वाल-बालोंके साथ खेलते-खाते हुए बछड़े चरा रहे थे। उनको बड़ा अचरज हुआ, उन्होंने अपने लोकमें जाकर देखा कि बालक और बछड़े ज्यों-के-त्यों अचेत पड़े हैं। फिर आकर देखा तो यहाँ भी पूर्ववत् सब दिखलायी दिये। अब इन्हें यह भ्रम हो गया कि इन दोनोंमेंसे वास्तवमें कौन-से बालक और बछड़े असली हैं और कौन-से नकली हैं। ब्रह्माजीकी बुद्धि चकरा गयी। इतनेमें उन्हें दिखायी दिया कि समस्त बछड़े और उनके रक्षक बालक श्रीकृष्णरूप हो रहे हैं। सभी श्यामसुन्दर पीताम्बर पहने, चतुर्भुज, शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये और किरीट, कुण्डल, हार, वनमाला आदि आभूषण तथा भक्तोंद्वारा अर्पित की हुई तुलसीकी मालाओंसे सुशोभित हैं। ब्रह्मासे लेकर एक तिनकेतक समस्त चराचर जीव मूर्तिमान् होकर भगवान्‌की सेवा-पूजा कर रहे हैं। आठों सिद्धियाँ, विभूतियाँ, चौबीसों तत्त्व, काल, स्वभाव, संस्कार, काम, कर्म, गुण आदि सभी मूर्तिमान् होकर भगवान्‌की उपासनामें लगे हैं। यह सब चमत्कार देखकर ब्रह्माजी बेसुध होकर गिर पड़े। जब ब्रह्माजीको बाह्यज्ञान हुआ तब उन्होंने देखा कि अच्युतकी विहारभूमि होनेके कारण श्रीवृन्दावन काम, क्रोध, लोभ आदि संसारके तापोंसे रहित रम्य और मनोहर वस्तुओंसे पूर्ण है। वहाँ सभी निर्वैर और सुखी हैं। अद्वितीय, परम, अनन्त, अगाधबोध ब्रह्म गोपबालकरूप नाट्यवेष धरकर हाथमें भोजनका ग्रास लिये पहलेकी भाँति इधर-उधर खोये हुए बछड़ों और बालकोंको

खोज रहे हैं। यह देखते ही ब्रह्माजी कनक-दण्डके समान पृथ्वीपर गिरकर भगवान्‌के चरणकमलोंमें प्रणामकर आनन्दाश्रुओंकी धारासे उनके चरण धोने लगे। तदनन्तर उठकर भगवान्‌की स्तुति करते हुए उन्होंने कहा—

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३४)

'इस भूमिपर, वृन्दारण्यमें और उसमें भी गोकुलमें जन्म होना परम सौभाग्यका विषय है, क्योंकि यहाँपर जन्म लेनेसे किसी-न-किसी आपके प्यारे गोकुलवासीकी चरणधूलि सिरपर पड़ ही जायगी। गोकुलवासी धन्य हैं, समस्त श्रुतियाँ निरन्तर जिनकी खोजमें लगी हुई हैं, वही आप इन व्रजवासियोंके जीवन हैं।'

परंतु भगवन्!

विषविषमस्तनापि कृतमातृसुवेशतया
समजनि पूतना तव सुधाम्नि सहावरजा।
धनजनजीवनाद्यखिलदानकृतां किमहो
व्रजपुरवासिनां विवरितेति भवाम्यपधीः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'पूतना राक्षसी स्तनोंमें विषम विष लगाकर भी माताका-सा सुन्दर वेश धारण कर आयी थी, इसीसे वह अपने छोटे भाई (बकासुर) सहित आपके सुन्दर परम धामको प्राप्त हो गयी। तब फिर इन व्रजवासियोंको आप क्या देंगे, जिन्होंने अपना धन-जन, जीवन, माता, पिता, वन-बगीचे आदि सब आपके अर्पण कर दिये हैं? इसलिये आपका इनके प्रेम-ऋणमें बँधे रहना ही उचित है। इस प्रसंगको देखकर मेरी बुद्धि विलुप्त-सी हो रही है।'

जगत्-स्रष्टा ब्रह्माजी भगवान्‌की स्तुति, प्रदक्षिणा और उन्हें प्रणामकर तथा भगवान्‌की आज्ञा लेकर अपने लोकको चले गये।

दावानल-पान

एक बार आधी रातके समय रेंड़के वनमें आग लग गयी। आगने सबको घेर लिया। व्रजवासी भगवान्‌से पुकार मचाने लगे। अनन्त शक्तिशाली जगदीश्वर भगवान्‌ने स्वजनोंको विकल देखकर तत्काल ही अग्निको पी लिया। इसी प्रकार एक बार फिर आग लगी, तब पुनः सबने श्रीकृष्ण-बलदेवको पुकारकर कहा—'हे कृष्ण! हे बलरामजी! आप महान् बलशाली और अपरिमित पराक्रमी हैं, इस दुर्दान्त दावानलसे हमें बचाइये।' भगवान्‌ने कहा—'तुमलोग डरो मत, आँखें मूँद लो।' भगवान्‌के आज्ञानुसार जब सबने आँखें बंद कर लीं, तब योगाधीश्वर श्रीकृष्ण तुरंत अग्निको पी गये और इस प्रकार श्रीहरिने अपने जनोंको बचा लिया।

तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम्।
पीत्वा मुखेन तान् कृच्छ्राद् योगाधीशो व्यमोचयत्॥

(श्रीमद्भा० १०।१९।१२)

गोवर्द्धन-पूजा

व्रजमें प्रतिवर्ष इन्द्रका यज्ञ हुआ करता था, कालरूपभगवान्‌ने इन्द्रका दर्प चूर्ण करनेकी इच्छासे नन्दजी आदिको समझाकर इन्द्रका यज्ञ बंद करा दिया और उसके बदलेमें गोवर्द्धन-पर्वत और गौओंकी पूजा करवायी। भगवान्‌के आज्ञानुसार ब्राह्मणोंको दान दिया गया, गौओंको हरी घास और बढ़िया चारा खिलाया गया, तदनन्तर सब गोपियाँ सज-धजकर छकड़ोंपर सवार हो श्रीकृष्णके गुणगान करती हुई गिरिराजकी प्रदक्षिणा करने लगीं। फिर सब पहाड़पर गये, भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं वहाँ दूसरे चतुर्भुज विशाल रूपमें प्रकट हो गये। भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही दूसरे शरीरको व्रजवासियोंसहित प्रणाम किया और स्वयं उनकी पूजा करने लगे। इस प्रकार पूजाकर, करवाकर भगवान् सबको साथ लेकर व्रजमें लौट आये। इन्द्रने इस घटनासे अपना बड़ा अपमान समझा और व्रजको विध्वंस करनेके लिये वे प्रलयकालीन वर्षा करने लगे। बिजली कड़काने, ओले बरसाने, आँधी चलाने और जलराशि बरसानेमें इन्द्र जहाँतक शक्ति रखते थे, आज उसका पूरा प्रयोग करनेको तैयार हो गये। गोप-गोपियाँ घबराकर श्रीकृष्णके शरणापन्न हुईं, भगवान्‌ने उन्हें धीरज देकर लीलापूर्वक एक ही हाथसे गोवर्द्धन-गिरिको वैसे ही उखाड़कर उठा लिया, जैसे कोई बच्चा खेलते-खेलते धरतीके बरसाती छत्तेको अनायास ही उखाड़ ले—

इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम्।
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः॥

(श्रीमद्भा० १०।२५।१९)

समस्त व्रजवासी अपने घरके सामान और गाय-

बैलोंको लेकर उसके नीचे आ गये। श्रीकृष्णने भूख, प्यास, व्यथा और सुखकी इच्छा छोड़कर इस प्रकार लगातार सात दिनोंतक पहाड़को उसी प्रकार अचल-अटलरूपसे हाथपर उठाये रखा। गोप-गोपियाँ भगवान्‌के इस अलौकिक कर्मको देखकर तथा अपनेको ऐसे महान् परम पुरुषके कृपापात्र समझकर आश्चर्य तथा प्रेमभरी एकटक दृष्टिसे श्रीकृष्णके अम्लान मधुर मुखकी ओर देखती रहीं। भगवान्‌के इस अद्‌भुत कार्यको देखकर इन्द्र चकरा गये, उनका सारा अभिमान चूर्ण हो गया। इन्द्रने थककर वर्षा बंद कर दी, सूर्यदेव निकल आये। गोप-गोपी पहाड़के नीचेसे निकलकर श्रीकृष्णको यथायोग्य सत्कार, पूजन, आलिंगन और आशीर्वादसे प्रसन्न करने लगीं। इन्द्र आये और उन्होंने आते ही अपना सूर्यसदृश तेजपूर्ण मुकुट उतारकर भगवान्‌के चरणोंपर रख दिया और स्तुति करते हुए अन्तमें कहा—

मयेदं भगवन् गोष्ठनाशायासारवायुभिः।
चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना॥
त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो वृथोद्यमः।
ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः॥

(श्रीमद्‌भा० १०। २७। १२-१३)

'भगवन्! मुझको बड़ा अभिमान था, इसीसे यज्ञका न होना देखकर मैंने क्रोधमें पागल हो प्रचण्ड वर्षा और तूफानसे व्रजको विध्वंस करना चाहा था। स्वामिन्! आपने मेरा दर्प चूर्ण करके बड़ा ही अनुग्रह किया, मेरा उद्योग नष्ट होनेसे मुझे मालूम हो गया कि मुझसे भी अधिक शक्तिशाली कोई हैं। अब मैं ईश्वर, गुरु और आत्मस्वरूप आपकी शरणमें आया हूँ, मेरी रक्षा कीजिये।'

भगवान्‌ने उत्तरमें जो शब्द कहे, वे प्रत्येक मनुष्यको सदा अपने हृदयमें धारण करके रखने चाहिये। आपने कहा—

मया तेऽकारि मघवन् मखभङ्गोऽनुगृह्णता।
मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्र श्रिया भृशम्॥
मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति।
तं भ्रंशयामि सम्पद्‌भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्॥

(श्रीमद्‌भा० १०। २७। १५-१६)

'देवराज! तुम ऐश्वर्यके मदमें मतवाले हो गये थे, इसीसे मैंने तुमपर अनुग्रह करके (तुम्हारी आँखें खोलनेके लिये) तुम्हारा यज्ञ रोक दिया, अब तुम मेरा स्मरण करो। जो मनुष्य ऐश्वर्यके मदसे अंधा हो जाता है, वह मुझ दण्डपाणिको नहीं देख पाता, ऐसे लोगोंमेंसे मैं जिसपर कृपा करना चाहता हूँ, उसकी सम्पत्ति हर लेता हूँ जिससे उसका मद उतर जाता है।'

इसके बाद उदार चित्तवाली सुरभी गौने गोपरूप भगवान्‌को प्रणाम किया और स्तुति करनेके अनन्तर अपने दुग्धसे उनका अभिषेक किया। तदनन्तर माता अदितिकी आज्ञासे इन्द्रने भी देवोंके साथ ऐरावतद्वारा लाये हुए आकाशगंगाके पवित्र जलसे भगवान्‌का अभिषेक किया और उनका 'गोविन्द' नाम रखा।

इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः।
अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम्॥

(श्रीमद्‌भा० १०। २७। २८)

'इस प्रकार गो और गोकुलके स्वामी गोविन्दका अभिषेक करके उनकी अनुमति लेकर इन्द्र अपने देवताओंसमेत स्वर्गलोकको लौट गये।'

वरुणलोकमें पूजा

श्रीनन्दजीने एकादशीका व्रत किया था, द्वादशी बहुत थोड़ी होनेके कारण वे शीघ्र पारण करनेके लिये, सूर्योदयसे बहुत ही पहले आसुरी बेलामें ही स्नानार्थ यमुनाजीमें घुस गये। वरुणका एक जलचारी अनुचर वहाँ घूम रहा था, वह उन्हें पकड़कर वरुणके पास ले गया। सबेरा हो गया, नन्दजी जलसे बाहर नहीं निकले यह देखकर सब घबरा गये। चारों ओर 'कृष्ण बचाओ', 'बलराम दौड़ो' की पुकार मच गयी। श्रीकृष्णजी सारे भेदको जान सबको धीरज देकर वरुणलोकमें चले गये। वहाँ पहुँचते ही लोकनायक वरुणने बड़े ही समारोहसे उनका स्वागत-पूजन करते हुए कहा—

अद्य मे निभृतो देहोऽद्यैवार्थोऽधिगतः प्रभो।
त्वत्पादभाजो भगवन्नवापुः पारमध्वनः॥
नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने।
न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना॥
अजानता मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना।
आनीतोऽयं तव पिता तद् भवान् क्षन्तुमर्हति॥

(श्रीमद्‌भा० १०। २८। ५—७)

'प्रभो! आज मेरा जीवन सफल हो गया, आज मुझे महान् सम्पत्ति प्राप्त हो गयी। आपके चरण-सेवक मोक्ष लाभ करते हैं, आज मैं भी मुक्त हो गया। स्वामिन्! आप परम ब्रह्म हैं, आप परमात्मा हैं, भ्रम उत्पन्न करनेके लिये लोक-सृष्टिकी कल्पना करनेवाली माया

आपमें नहीं सुन पड़ती। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। प्रभो! कर्तव्यज्ञानशून्य मूर्ख सेवक बिना ही समझे आपके पिताजीको यहाँ ले आया है, कृपापूर्वक इस अपराधको क्षमा कीजिये।' वरुणकी सच्ची स्तुतिसे उसपर प्रसन्न होकर ईश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण नन्दबाबाको लेकर व्रज लौट आये।

गोपोंको ब्रह्म और परम-धामदर्शन

नन्दबाबाको वरुणदेवके द्वारा अपने पुत्र श्रीकृष्णकी इस प्रकार समारोहके साथ महान् पूजा होते देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ, उन्होंने व्रज लौटकर गोपोंसे अपने आँखों देखी भगवान्के प्रभावकी सारी बातें कहीं। गोपोंने समझ लिया कि श्रीकृष्णचन्द्र साक्षात् ईश्वर हैं, तब उन लोगोंके मनमें यह कामना हुई कि 'भगवान् कभी हमलोगोंको भी अपना वह सूक्ष्म रूप दिखलावें तो बड़ा अच्छा हो।' अन्तर्यामी सर्वज्ञ करुणासागर भगवान् गोपोंके मनकी बात जान गये और उनपर कृपा करके अपने मायातीत वैकुण्ठ लोकमें ले गये और वहाँ लोगोंको अपने '**सत्यं ज्ञानमनन्तम्**' निर्गुण ब्रह्मस्वरूपका दर्शन कराया। गोपगण उस ब्रह्महृदमें निमग्न हो गये। तब भगवान्ने उन्हें उससे बाहर निकाला। तदनन्तर उन्हें वह परमधाम परम ब्रह्मलोक दिखलाया। इसी लोकको भगवत्कृपासे यमुनाजीके अंदर श्रीअक्रूरजीने देखा था। गोपोंने वहाँ प्रत्यक्ष देखा कि श्रीकृष्णचन्द्र विराजमान हैं और चारों वेद उनकी स्तुति कर रहे हैं। नन्दजी आदि यह सब देखकर अत्यन्त आश्चर्य और परमानन्दमें निमग्न हो गये।

रासलीला

शरद्-पूर्णिमाके दिन भगवान्ने असंख्य गोपियोंके साथ पवित्र रासक्रीडा की। उस समय दो-दो गोपियोंके बीचमें आपने अपना एक-एक रूप बना लिया और दोनों ओर अपने दोनों हाथ पकड़ा दिये। इस प्रकार अगणित गोपियोंमें अगणित स्वरूप धारणकर भगवान्ने रासलीला की। साथ ही प्रत्येक गोपीके घरपर भी उसका रूप धारण करके निवास किया, जिससे उसके घरवालोंको यही प्रतीत हुआ कि हमारे घरकी स्त्री घरमें ही है।

सुदर्शनका उद्धार

एक समय श्रीनन्दजी आदि गोपोंने अम्बिकावनमें जाकर विविध सामग्रियोंसे भगवान् शंकर और भगवती अम्बिकाजीकी पूजा की और अनेक प्रकारका दान करके उपवास किया। देर हो जानेसे रातको वहीं सरस्वती नदीके किनारेपर सो रहे। रातके समय एक भयानक अजगरने आकर नन्दजीके पैरको पकड़ लिया। भयभीत नन्दजी 'हे कृष्ण, हे श्यामसुन्दर, मुझे महासर्प निगले जाता है, इस संकटसे बचाओ।' पुकारने लगे। गोपोंने अनेक उपाय किये परंतु अजगरने उन्हें नहीं छोड़ा। अन्तमें श्रीकृष्णने आकर अपने पैरसे अजगरको जरा-सा छू दिया। भगवान्का चरणस्पर्श होते ही उसके समस्त पाप नष्ट हो गये और उसी क्षण वह सर्पयोनिसे छूटकर परम सुन्दर विद्याधर बन गया। दिव्यस्वरूप और वस्त्राभूषणधारी उस देवप्रतिम पुरुषने भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंपर गिरकर प्रणाम किया और कहा—'भगवन्! मैं सुदर्शन नामक विद्याधर हूँ, मैंने अपने सुन्दर रूपके मदमें चूर होनेके कारण एक दिन रास्तेमें अंगिरा ऋषिके वंशज कुछ कुरूप मुनियोंको देखकर हँस दिया था। इसीसे उन्होंने मुझे सर्प होनेका शाप दे दिया था। मैं देखता हूँ कि मुझपर उन मुनियोंने शाप देकर बड़ा ही अनुग्रह किया, जिसके प्रतापसे आज मैं आप त्रैलोक्यगुरुके दुर्लभ चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्तकर पापरहित हो गया।'

ब्रह्मदण्डाद् विमुक्तोऽहं सद्यस्तेऽच्युत दर्शनात्।
यन्नाम गृह्णन्नखिलान् श्रोतॄनात्मानमेव च।
सद्यः पुनाति किं भूयस्तस्य स्पृष्टः पदा हि ते॥

(श्रीमद्भा० १०। ३४। १७)

'प्रभो! आपका दर्शन होते ही मैं जो ब्रह्मशापसे मुक्त हो गया, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। आपका नाम-कीर्तन करनेवाला ही जब सुननेवालोंसहित तत्काल पवित्र हो जाता है, तब मुझे तो आपके चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्त हुआ है। फिर मेरे मुक्त होनेमें क्या संदेह है?'

शंखचूड़का उद्धार

एक समय रातको वनमें श्रीकृष्ण-बलदेव मधुर गान कर रहे थे और गोपियाँ प्रेमविह्वल होकर सुन रही थीं, इतनेमें कुबेरका एक शंखचूड़ नामक अनुचर यक्ष कुछ गोपियोंको उठाकर चल दिया, गोपियाँ चिल्लाने लगीं, परंतु उसने छोड़ा नहीं, तब श्रीकृष्ण-बलदेव उन्हें आश्वासन देते हुए उसके पीछे दौड़े और शीघ्र ही उसके पास जा पहुँचे, वह गोपियोंको छोड़ प्राण लेकर भागा, परंतु श्रीकृष्णने उसका पीछा किया और उसे मारकर उसके सिरकी चूड़ामणि निकाल लाये।

मथुरायात्रामें अक्रूरको भगवद्दर्शन

श्रीकृष्ण-बलदेवको साथ लेकर अक्रूरजी मथुराको चले। श्रीकृष्णप्राणा गोपियाँ विरहचिन्तासे अत्यन्त कातर हो, सारी लोक-लाजको त्यागकर ऊँचे स्वरसे 'हे गोविन्द, हे दामोदर, हे माधव' कहकर विलाप करने लगीं। रात गोपियोंके विलापमें बीत गयी। सबेरा होते ही संध्या-वन्दन करके अक्रूरजीने रथ हाँक दिया। थोड़ी देरमें श्रीकृष्ण-बलदेवका रथ यमुनाजीके किनारे पहुँच गया। वहाँ दोनों भाइयोंने स्नान किया और मीठा जल पीकर वृक्षोंकी छायामें खड़े रथपर वे बैठ गये। अक्रूरजी स्नान करके जलमें घुसकर गायत्रीका जप करने लगे। जप करते-करते उन्होंने देखा, उसके अंदर श्रीकृष्ण-बलदेव दोनों भाई विराजमान हैं। अक्रूरने सोचा कि 'वे दोनों तो रथपर थे, यहाँ कैसे आ गये?' यों विचारकर अक्रूरजीने जलसे बाहर निकलकर रथकी ओर देखा तो उन्हें दोनों भाई रथमें बैठे दिखायी दिये। अक्रूरजी अचरजमें डूब गये, उन्होंने सोचा कि 'मैंने उन्हें जो जलमें देखा सो क्या मेरा भ्रम था?' यों विचारकर उन्होंने फिर जलमें गोता लगाया, इस बार वे देखते हैं कि 'जलमें सिद्ध, सर्प और असुरोंद्वारा सेवित श्रीअनन्त शेषनागजी विराजमान हैं, उनके हजार मस्तक हैं, सबपर मुकुट है, कमलकी नालके समान श्वेत शरीरपर नीलाम्बर सुशोभित है। उन श्रीशेषजीकी गोदमें पीताम्बरधारी नव-नील-नीरद-वर्ण चतुर्भुज भगवान् विराजमान हैं। देवता, ऋषि, किन्नर और सभी देवियाँ उनकी सेवा कर रही हैं।' अक्रूरजीको यह अपूर्व दृश्य देखकर बड़ा ही आनन्द हुआ; प्रेमके कारण उनका शरीर पुलकित हो गया। नेत्रोंमें आँसू भर आये। भक्तिभावसे उनका हृदय गद्गद हो गया। श्रीकृष्णका प्रभाव उन्होंने जान लिया और वे हाथ जोड़कर भगवान्की स्तुति करने लगे।

अक्रूरजी स्तुति कर ही रहे थे कि श्रीकृष्ण जलके अंदर अन्तर्धान हो गये—

स्तुवतस्तस्य भगवान् दर्शयित्वा जले वपुः।
भूयः समाहरत् कृष्णो नटो नाट्यमिवात्मनः॥

(श्रीमद्भा० १०।४१।१)

'भगवान् श्रीकृष्णने स्तुति करते हुए अक्रूरजीको जलके अंदर अपना अद्भुत (चतुर्भुज)-रूप दिखाकर पुनः उसको वैसे ही छिपा लिया, जैसे नट अपनी बाजीगरी दिखाकर फिर उसे गायब कर देता है।' अक्रूरजी जलमें भगवान्को न देखकर बाहर आये, तब हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णने मुसकराते हुए उनसे पूछा—'चाचाजी! आप अचरजमें कैसे डूब रहे हैं, क्या आज आपने कोई अद्भुत बात देखी है?' अक्रूरने कहा—

अद्भुतानीह यावन्ति भूमौ वियति वा जले।
त्वयि विश्वात्मके तानि किं मेऽदृष्टं विपश्यतः॥
यत्राद्भुतानि सर्वाणि भूमौ वियति वा जले।
तं त्वानुपश्यतो ब्रह्मन् किं मे दृष्टमिहाद्भुतम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४१।४-५)

'स्वामिन्! पृथ्वी, आकाश और जलमें जो कुछ अद्भुत है सो सब आप विश्वरूपमें ही प्रतिष्ठित है। मैंने जब आपको तत्त्वसे देख लिया तब कौन-सी अद्भुत वस्तु देखनी शेष रह गयी? ब्रह्मन्! पृथ्वी, आकाश और जलकी सभी वस्तुएँ आपमें हैं। आपके अतिरिक्त संसारमें और क्या अद्भुत है जो मैं देखता?'

इतना कहकर अक्रूरजीने रथ हाँक दिया।

कुब्जाको सीधी करना

भगवान् मथुराजी पहुँचे, वहाँ राजमार्गपर कंसके शरीरपर अंगराग लगानेवाली कुब्जाको चन्दन लेकर जाते देखा। भगवान्ने उसपर कृपाकर उसे सीधा करना चाहा। अनन्तर श्रीहरिने अपने दोनों पैरोंसे कुब्जाके दोनों पैरोंको आगेसे दबाकर, उसकी ठोड़ीपर अपनी दो अँगुलियाँ रखकर एक झटका दिया। झटका लगते ही उसका जन्मका टेढ़ा शरीर सीधा हो गया।

अनेक रूप दिखाना

इसके बाद कंसके शस्त्रागारमें जाकर रक्षकको गिराकर विशाल इन्द्रधनुषको अनायास ही तोड़ डाला और मुष्टिक, चाणूर आदि पहलवानों तथा कुवलयापीड मतवाले हाथीको मारकर अत्याचारी कंसका वध कर दिया। उस कंसकी राजसभामें श्रीकृष्ण सबको भिन्न-भिन्न रूपोंमें दीख पड़े थे। वे मल्लोंको वज्रके समान, मनुष्योंको सर्वश्रेष्ठ पुरुष, स्त्रियोंको साक्षात् कामदेव, गोपोंको स्वजन, दुष्ट राजाओंको दण्डदाता, माता-पिताको बालक, कंसको प्रत्यक्ष काल, अज्ञानियोंको जडरूप, योगियोंको परब्रह्म और यादवोंको परम देवतास्वरूप दिखायी दिये।

(श्रीमद्भा० १०।४२।४३ में देखिये)

मृत गुरु-पुत्रको लाना

पिता-माता श्रीवसुदेव-देवकीजीको अपने विनम्र

बर्तावसे प्रसन्न करते हुए भगवान्ने कहा—'चतुर्वर्ग-फलकी प्राप्ति करानेवाला मनुष्यशरीर जिन माता-पितासे उत्पन्न हुआ और जिनके द्वारा पाला गया, उन माता-पिताके ऋणसे सौ वर्षतक सेवा करनेपर भी मनुष्य उऋण नहीं हो सकता।'

यस्तयोरात्मजः कल्प आत्मना च धनेन च।
वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि॥
मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम्।
गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन् मृतः॥

(श्रीमद्भा० १०।४५।६-७)

'जो समर्थ पुत्र तन-मन-धनसे माता-पिताकी सेवा नहीं करते, मरनेपर यमराजके दूत उन कुपुत्रोंको उन्हींका मांस खिलाते हैं। जो मनुष्य वृद्ध पिता, माता, साध्वी पत्नी, पुत्र, शिशु, गुरु, ब्राह्मण और शरणागतका भरण-पोषण नहीं करता, वह जीते ही मरेके समान है।'

माया-मानुष-विश्वात्मा श्रीहरिने माता-पिताको अपनी सेवासे सुखी करनेके उपरान्त गर्ग मुनिसे यज्ञोपवीत संस्कार करवाया, तदनन्तर दोनों भाई विद्या पढ़ने उज्जैन गये। वहाँ वे इन्द्रियोंका दमन करके गुरुके परम अनुगामी और श्रद्धायुक्त होकर परम भक्तिके साथ इष्टदेव ईश्वरके सदृश मानकर गुरुकी सेवा करते हुए विद्या पढ़ने लगे। उन्होंने सांगोपांग वेद, उपनिषद्, मन्त्र और देवताके ज्ञानसहित धनुर्वेद, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, न्याय, राजनीति आदि सारी विद्याएँ और चौंसठ कलाएँ सिर्फ चौंसठ दिनोंमें पढ़ लीं। भगवान्ने जगदीश्वर और सब विद्याओंके प्रकाशक तथा सर्वज्ञ होनेपर भी मानवलीलाके हेतुसे विद्याध्ययनका यह खेल किया। पढ़ना समाप्त होनेपर उन्होंने गुरुसे दक्षिणा माँगनेके लिये प्रार्थना की। सान्दीपनि गुरुने अपने प्रभासक्षेत्रमें डूबे हुए पुत्रको ला देनेके लिये कहा। भगवान् 'तथास्तु' कहकर चले। जाकर समुद्रसे गुरु-पुत्रको माँगा। समुद्रने कहा, 'देव! मैंने बालकका हरण नहीं किया था, उसे तो शंखरूपधारी पंचजन नामक दैत्य ले गया था। वह खा गया होगा।' भगवान्ने जलके अंदर प्रवेशकर उक्त दैत्यका वध किया; परंतु उसके पेटमें भी जब बालक नहीं मिला, तब वे यमपुरीको गये। यमराजने स्वागत करते हुए प्रार्थना की कि 'भगवन्! आज्ञा कीजिये, हम आपकी क्या सेवा करें?' भगवान्ने गुरु-पुत्र ला देनेकी आज्ञा दी। आज्ञाकारी यमराजने बालकको ला दिया। भगवान् उसे लेकर गुरुके चरणोंमें उपस्थित हुए और उन्हें देकर संतुष्ट किया।

नृगका उद्धार

राजा नृग एक बार दान की हुई गौको पुनः दान देनेके पापसे गिरगिट-योनि भोगते हुए कुएँमें पड़े थे। एक दिन कुछ यदुकुमारोंने उपवनमें खेलते-खेलते कुएँमें झाँककर उन्हें देखा। वे उन्हें बाहर निकालनेका उद्योग करने लगे, परंतु उनके न निकलनेपर उन्होंने आकर सारा वृत्तान्त भगवान्से कहा। कमललोचन विश्वम्भरभगवान्ने आकर उनको निकाला और देखकर उनके हाथ लगाया, इतनेमें ही वह गिरगिट-योनिसे छूटकर सुन्दर पुरुष बनकर भगवान्की स्तुति करने लगे।*

ऋषियोंद्वारा स्तुति

वसुदेवजीने कुरुक्षेत्रमें यज्ञ किया। वहाँ कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, अन्यान्य राजस्त्रियाँ तथा गोपियाँ आदि सभी आयी थीं। सभी सम्बन्धी पुरुष एकत्र हुए थे। इसी अवसरपर श्रीकृष्ण-बलरामके दर्शनार्थ वहाँ महर्षि व्यास, नारद, च्यवन, देवल, असित, विश्वामित्र, शतानन्द, भारद्वाज, गौतम, परशुराम, वसिष्ठ, गालव, भृगु, पुलस्त्य, कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय, बृहस्पति, द्वित, त्रित, एकत, ब्रह्मपुत्र सनकादि, अंगिरा, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य और वामदेवादि महर्षिगण पधारे। भगवान्ने बड़ी ही नम्रताके साथ ऋषियोंका स्वागत करके पाद्य, अर्घ्य, माला, चन्दन, धूप, दीप आदिसे उनका पूजन किया और कहा कि 'आज हमलोगोंका आपके दर्शन करनेसे जन्म सफल हो गया। सच्चे देव और तीर्थ तो आप महात्मालोग ही हैं।' श्रीकृष्णके द्वारा धर्मयुक्त वाक्य सुनकर वे मोहित हो गये। उन्होंने समझ लिया, भगवान्की यह नर-लीला है। तदनन्तर सब महर्षियोंने विनयके साथ भगवान्की स्तुति करते हुए अन्तमें भक्तिका वरदान माँगा। वसुदेवजीने ऋषियोंसे ज्ञानोपदेशके लिये प्रार्थना की, तब नारदजीने कहा—'वसुदेव! तुम तो कृतार्थ हो चुके, तुम्हारी परम भक्तिको धन्य है, जिसके कारण साक्षात् जगदीश्वर तुम्हारे यहाँ पुत्ररूपसे प्रकट हुए हैं।'

यज्ञ समाप्त होनेपर सब लोग द्वारका लौट आये। सुप्रसिद्ध ज्ञानी मुनियोंके मुखसे श्रीकृष्ण-बलदेवकी

* राजा नृगकी कथा 'कल्याण' भाग ३ पृष्ठ ८१२ में प्रकाशित हो चुकी है।

महिमा सुनकर वसुदेवको विश्वास हो गया कि ये साक्षात् सर्वशक्तिमान् हरि हैं। अतएव एक दिन एकान्तमें वसुदेवजी श्रीकृष्ण-बलरामकी स्तुति करने लगे। स्तुति समाप्त होनेपर भगवान्ने विनय और मर्यादायुक्त वाणीसे नम्रतापूर्वक हँसते हुए रहस्यमय वचन कहे—'पिताजी! आपने मेरे बहाने जो ब्रह्मतत्त्वका निरूपण किया है सो सर्वथा युक्तियुक्त ही है। मैं, आप सब, ये द्वारकावासी लोग, यहाँतक कि समस्त चराचर विश्व ही ब्रह्मरूप है। प्रत्येक जिज्ञासु पुरुषको इसी प्रकार व्यापक ब्रह्मका विचार करना चाहिये।'

मृत देवकीपुत्रोंको लाना

माता देवकीने मरे हुए गुरु-पुत्रको लौटा लानेकी बात सुनकर एक दिन रोकर श्रीकृष्ण-बलरामसे कहा—'कृष्ण-बलराम! मैं जानती हूँ तुम अपरिमित प्रभावशाली और योगेश्वरोंके भी ईश्वर हो। मैंने सुना है तुमने मरे हुए गुरुपुत्रको यमराजके यहाँसे ला दिया; इससे मैं भी चाहती हूँ मेरे जिन छः पुत्रोंको कंसने मार डाला था, उन्हें एक बार मुझे आँखोंसे दिखा दो।' माताकी आज्ञा पाकर दोनों भाई चले। सुतल लोकमें जाकर राजा बलिसे मिले। दैत्यराज दर्शन करके कृतार्थ हो गया। उसने स्वागत, प्रणाम, स्तुति, पूजन किया और चरण धोकर चरणोदकको परिवारसहित अपने मस्तकपर छिड़का। तदनन्तर भगवान्ने कहा कि मरीचि मुनिके स्मर, उद्गीथ, परिष्वंग, पतंग, क्षुद्रभुक् और घृणि नामक छः पुत्र, जो शापवश आसुरी योनिको प्राप्त हो गये थे, फिर योगमायाके द्वारा देवकीके गर्भसे उत्पन्न होकर कंसके द्वारा मार डाले गये थे, उन्हें माता देवकी पुत्रस्नेहके कारण एक बार देखना चाहती है। वे तुम्हारे लोकमें हैं, अतएव उन्हें मेरे साथ भेज दो, वे मेरी कृपासे शापसे मुक्त होकर मोक्षको प्राप्त होंगे। बलिने छहों ऋषिकुमारोंको बुला दिया। श्रीकृष्ण-बलराम उन्हें लेकर माताके पास पहुँचे। पुत्रोंको देखते ही माताके स्तनोंसे दूधकी धारा बह चली। माताने प्रेमपूर्वक उन्हें स्तनपान कराया। श्रीकृष्णभगवान्के पीनेसे बचा हुआ अमृतमय दूध पीने तथा श्रीकृष्णके अंगस्पर्श होनेके कारण बालकोंके शुद्ध अन्तःकरणमें ज्ञानकी उत्पत्ति हो गयी और तदनन्तर वे सब देखते-ही-देखते गोविन्द, बलदेव, देवकी और वसुदेवजीको प्रणाम करके आकाशमार्गसे देवलोकको सिधार गये।

तं दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम्।
मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य रचितां नृप॥

(श्रीमद्भा० १०।८५।५७)

'देवी देवकीको मरे पुत्रोंका आना-जाना देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ और उन्होंने जान लिया कि यह सब श्रीकृष्णकी माया है।'

मिथिलामें विविध रूप

एक बार भगवान् श्रीकृष्ण नारद, व्यास, वामदेव, अत्रि आदि बहुत-से मुनियोंके साथ मिथिला-नगरी पहुँचे। वहाँके राजा बहुलाश्व भगवान्के बड़े भक्त थे। मिथिला-नगरीमें ही श्रुतदेव नामक एक शान्त, दक्ष, ज्ञानी, संतोषी ब्राह्मण रहते थे। वे भी भगवान्के अनन्य भक्त थे। जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णको मिथिलामें आया देखकर मिथिलानरेश बहुलाश्व और दीन ब्राह्मण श्रुतदेव दोनोंने एक ही साथ भगवान्को प्रणामकर उनसे आतिथ्य ग्रहण करनेके लिये प्रार्थना की। भगवान्के दोनों ही समान भक्त थे, इसलिये भगवान्ने दोनोंका आतिथ्य स्वीकार किया। दोनोंकी प्रसन्नताके लिये आप मुनियोंसहित दो-दो रूप धरकर दोनोंके यहाँ गये। परंतु राजा बहुलाश्वने समझा कि भगवान् हमारे यहाँ पधारे हैं और ब्राह्मण श्रुतदेवको प्रतीत हुआ कि भगवान् हमारे ही यहाँ आये हैं। इस प्रकार एक ही साथ अनेक रूप धारणकर दोनों भक्तोंको सुख दिया।

हरेक महलमें श्रीकृष्ण

श्रीनारदजीने सोचा कि भगवान्के सोलह हजार एक सौ आठ रानियाँ हैं, वे अकेले सबके महलोंमें कब, कैसे जाते होंगे? इसी कौतुकको देखनेके लिये नारदजी द्वारका आये और सीधे श्रीरुक्मिणीजीके महलमें चले गये। नारदजीने वहाँ श्रीभगवान्को बैठे तथा श्रीरुक्मिणीजीको उनकी सेवा करते देखा। नारदजीको देखते ही धार्मिक श्रेष्ठ भगवान्ने सहसा उठकर मुनिका स्वागत किया। मुनिने स्तुति करके दूसरे महलमें जानेका विचार किया। वे दूसरे महलमें गये। वहाँ भगवान्को उद्धवके साथ खेलते देखा। वहाँसे तीसरेमें गये। यों प्रत्येक महलमें नारद घूमे, किंतु भगवान्को सभी जगह पाया। नारदजीने देखा कि कहीं भगवान् पूजन कर रहे हैं, कहीं स्नान करने जा रहे हैं, कहीं बच्चोंको खिला रहे हैं, कहीं शस्त्र चला रहे हैं, कहीं घोड़े या हाथीपर सवार होकर बाहर जानेको तैयार

हैं, कहीं सो रहे हैं, कहीं मन्त्रियोंसे गुप्त परामर्श कर रहे हैं, कहीं ब्राह्मणको दान दे रहे हैं, कहीं इतिहास-पुराणादि सुन रहे हैं। सारांश यह कि भगवान् सब महलोंमें मौजूद हैं। योगेश्वर भगवान्की इस लीलाको देखकर नारदजी मुग्ध हो गये।

परमधाम-प्रयाण

भगवान् परमधाम पधारनेकी इच्छासे वनमें एक वृक्षके नीचे शान्तभावसे बैठे थे। इस समयकी आपकी शोभा अनिर्वचनीय थी। व्याधके बाणको निमित्त बनाना शेष था, आप उसीकी प्रतीक्षा कर रहे थे। इतनेहीमें व्याधने दूरसे भगवान्के मृगाकार चरणको मृग समझकर बाण मारा, परंतु समीप आकर भगवान्को देखते ही वह भयके मारे भगवान्के चरणोंपर गिरकर कहने लगा—'मधुसूदन! मैं महापातकी हूँ, मुझसे अनजानमें यह अपराध हो गया है। प्रभो! क्षमा कीजिये।' भगवान्ने हँसते हुए कहा—'भाई! उठ, तू डर मत, इसमें तेरा कोई अपराध नहीं है। मेरी इच्छासे यह कारण बना है। तू दिव्य स्वर्गलोकको जा।' भगवान्के इतना कहते ही दिव्य विमान आ गया और वह भगवान्को प्रणाम-प्रदक्षिणाकर विमानपर सवार होकर स्वर्गको चला गया। तदनन्तर भगवान्का गरुड़-चिह्नवाला रथ घोड़े तथा ध्वजा आदि सामग्रीसहित आकाशमें उठकर अदृश्य हो गया। भगवान्ने अपने सारथि दारुकको मोक्ष पानेका वरदान देकर वहाँसे द्वारका भेज दिया। तदनन्तर ब्रह्माजी, पार्वतीसहित श्रीशंकर, इन्द्रादि देवता, मुनि, प्रजापति, पितृ, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, महानाग, चारण, यक्ष, किन्नर, द्विज, अप्सरा आदि सभी भगवान्की इस लीलाको देखनेके लिये आकाशपर छा गये। अगणित विमानोंसे आकाश भर गया और सब लोग भगवान्का गुणगान करते हुए पुष्पवृष्टि करने लगे।

भगवान्ने दिव्य देवोंकी ओर देखकर आँखें बंद कर लीं और त्रिभुवनमोहन दिव्य-विग्रह शरीरसहित परमधामको पधार गये। श्रीहरिके साथ ही सत्य, धर्म, धृति, कीर्ति और लक्ष्मी भी पृथ्वीको छोड़कर चली गयीं। विमानोंपर बैठे हुए ब्रह्मा, शिव आदि देवताओंने परमधाममें पधारते हुए भगवान्को देखा।

इस प्रकार अवतरणसे लेकर परमधाम-गमनतक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अनन्त अद्भुत लीलाएँ की हैं। यहाँ उनमेंसे बहुत थोड़ी-सी लीलाओंका अति संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

बालकपनमें ही पूतना, तृणावर्त, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, धेनुकासुर, प्रलम्बासुर, अरिष्टासुर आदिको मारना; शकट-भंजन, कालियनाग नाथना, मल्लों और कंसको निधन करना; भौमासुर, रुक्मी, शिशुपाल, शाल्व आदिको मारना; सुदामाको एक ही रातमें परम ऐश्वर्यवान् बना देना, अल्पकालमें ही विलक्षण द्वारकापुरीको बसाना, द्रौपदीका चीर बढ़ाना, अर्जुनकी प्रतिज्ञापर मरे हुए ब्राह्मण-पुत्रोंका लौटाकर लाना, जयद्रथ-वधके समय सूर्यको अकालमें ही छिपाना, उत्तराके मरे हुए पुत्र परीक्षित्को जीवित कर देना, जले हुए अर्जुनके रथको धारण किये रहना आदि अनेकों अद्भुत लीलाएँ हैं। जिन महानुभावोंको भगवान्की लीलाओंका आनन्द लेना और प्रत्यक्ष देखना हो, वे मन लगाकर श्रद्धाके साथ महाभारत, श्रीमद्भागवत, हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त आदि ग्रन्थरत्नोंका अध्ययन करें और भगवान्के भजनसे अन्तःकरणको शुद्ध करके उनके परम अनन्य प्रेमको प्राप्त करें।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

एवंविधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत॥

(श्रीमद्भा० १०।८५।५८)

'राजन्! अनन्तवीर्य परमात्मा श्रीकृष्णकी इस प्रकार अनन्त अद्भुत लीलाएँ हैं।'

सूतजी महाराजने कहा है—

य इदमनुशृणोति श्रावयेद् वा मुरारे-
श्चरितममृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः।
जगदघभिदलं तद्भक्तसत्कर्णपूरं
भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम॥

(श्रीमद्भा० १०।८५।५९)

'शौनकजी! महात्मा श्रीव्यासपुत्र शुकदेवजीके द्वारा वर्णन किये हुए जगत्के समस्त पापोंको नाश करनेवाले, भगवद्भक्तोंके परम सुखदायी कर्णालंकार-सदृश सुधासम्पन्न भगवान्के इन अद्भुत चरित्रोंको मन लगाकर सुनने-सुनानेवालोंका चित्त दृढ़रूपसे भगवान्में लग जाता है, जिससे वे भगवान्के कल्याणमय परम धामको प्राप्त होते हैं।'

नारदकृत राधास्तवन

एक समय नारदजी यह जानकर कि 'भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमें प्रकट हुए हैं' वीणा बजाते हुए गोकुल पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने नन्दजीके गृहमें बालकका स्वाँग बनाये हुए महायोगीश्वर दिव्य-दर्शन भगवान् अच्युतके दर्शन किये। वे स्वर्णके पलंगपर, जिसपर कोमल श्वेत वस्त्र बिछे थे, सो रहे थे और प्रसन्नताके साथ प्रेमविह्वल हुई गोप-बालिकाएँ उन्हें निहार रही थीं। उनका शरीर सुकुमार था; जैसे वे स्वयं भोले थे, वैसी ही उनकी चितवन भी बड़ी भोली-भाली थी। काली-काली घुँघराली अलकें भूमिको छू रही थीं। वे बीच-बीचमें थोड़ा-सा हँस देते थे, जिससे दो-एक दाँत झलक पड़ते थे। उनकी छबिसे गृहका मध्य भाग सब ओरसे उद्भासित हो रहा था। उन्हें नग्न बालरूपमें देखकर नारदजीको बहुत ही हर्ष हुआ।

उन्होंने नन्दजीसे कहा—'तुम्हारे पुत्रके अतुलनीय प्रभावको, जो नारायणके भक्तोंका परम दुर्लभ जीवन है, इस जगत्में कोई नहीं जानता। शिव, ब्रह्मा आदि देवता भी इस विचित्र बालकमें निरन्तर अनुराग रखना चाहते हैं। इसका चरित्र सभीके लिये आनन्ददायी है। अचिन्त्य प्रभावशाली तुम्हारे शिशुमें स्नेह रखते हुए जो लोग इसके पुण्य चरित्रका सहर्ष गान, श्रवण तथा अभिनन्दन करेंगे, उन्हें कभी भव-बाधा न होगी। गोपवर! तुम परलोककी इच्छा छोड़ दो और अनन्यभावसे इस दिव्य बालकमें अहैतुक प्रेम करो।'

यह कहकर मुनिवर नारदजी नन्दभवनसे निकले। नन्दने भी विष्णु-बुद्धिसे मुनिको प्रणाम करके उन्हें विदा दी। इसके बाद महाभागवत नारदजी यह विचारने लगे—'भगवान्की कान्ति लक्ष्मीदेवी भी अपने पति नारायणके अवतीर्ण होनेपर उनके विहारार्थ गोपीरूप धारण करके कहीं अवश्य ही अवतीर्ण हुई होंगी, इसमें कोई संदेह नहीं है। अत: व्रजवासियोंके घरोंमें उन्हें खोजना चाहिये।'

ऐसा विचारकर मुनिवर व्रजवासियोंके घरोंपर अतिथिरूपमें जा-जाकर उनके द्वारा विष्णु-बुद्धिसे पूजित होने लगे। उन्होंने भी गोपोंका नन्दनन्दनमें उत्कृष्ट प्रेम देखकर मन-ही-मन सबको प्रणाम किया।

तदनन्तर वे नन्दके मित्र महात्मा भानुके घरपर गये। उन्होंने इनकी विधिवत् पूजा की, तब महामना नारदजीने उनसे पूछा—'साधो! तुम अपनी धार्मिकताके कारण विख्यात हो। क्या तुम्हें कोई सुयोग्य पुत्र अथवा सुलक्षणा कन्या है, जिससे तुम्हारी कीर्ति समस्त लोकोंको व्याप्त कर सके?'

मुनिवरके ऐसा कहनेपर भानुने पहले तो अपने महान् तेजस्वी पुत्रको लाकर उससे नारदजीको प्रणाम कराया। तदनन्तर अपनी कन्याको दिखलानेके लिये नारदजीको घरके अंदर ले गये। गृहमें प्रवेशकर उन्होंने पृथ्वीपर लोटती हुई नन्हीं-सी दिव्य बालिकाको गोदमें उठा लिया। उस समय उनका चित्त स्नेहसे विह्वल हो रहा था।

कन्याके अदृष्ट तथा अश्रुतपूर्व अद्भुत स्वरूपको देखकर श्रीकृष्णके अत्यन्त प्रिय भक्त नारदजी मुग्ध हो गये। वे एकमात्र रसके आधार परमानन्दमय समुद्रमें गोते लगाते हुए दो मुहूर्ततक पत्थरकी भाँति निश्चेष्ट बने रहे, फिर उन्होंने आँखें खोलीं और महान् आश्चर्यमें पड़कर वे मूकभावसे ही बैठे रहे।

अन्ततोगत्वा महाबुद्धिमान् मुनिने मनमें इस प्रकार विचारा—'मैंने स्वच्छन्दाचारी होकर समस्त लोकोंमें भ्रमण किया, परंतु इसके समान अलौकिक सौन्दर्यमयी कन्या कहीं भी नहीं देखी। ब्रह्मलोक, रुद्रलोक और इन्द्रलोकमें भी मेरी गति है, किंतु इस कोटिकी शोभाका एक अंश भी मुझे कहीं नहीं दीखा। जिसके रूपसे चराचर जगत् मोहित हो जाता है, उस महामाया भगवती गिरिराजकुमारीको भी मैंने देखा है। वह भी इसकी शोभाको नहीं पा सकती। लक्ष्मी, सरस्वती, कान्ति और विद्या आदि देवियाँ इसकी छायाका भी स्पर्श कर सकती हों—ऐसा भी नहीं देखा जाता। अत: इसके तत्त्वको जाननेकी शक्ति मुझमें किसी तरह नहीं है। अन्य जन भी प्राय: इस हरिवल्लभीको नहीं जानते। इसके दर्शनमात्रसे गोविन्दके चरणकमलोंमें मेरे प्रेमकी जैसी वृद्धि हुई है, वैसी इसके पहले कभी नहीं हुई थी। अस्तु, अनन्त वैभव दिखानेवाली इस देवीकी मैं एकान्तमें वन्दना करूँ। इसका रूप भगवान् श्रीकृष्णके लिये परमानन्दजनक होगा।'

ऐसा विचारकर मुनिने गोपप्रवर भानुको कहीं अन्यत्र भेज दिया और एकान्तस्थानमें उस दिव्यरूपिणी बालाकी स्तुति करने लगे—

'देवि! अनन्तकान्तिमयी महायोगेश्वरि! तुम्हारा अंग मोहन एवं दिव्य है, उससे अनन्त मधुरिमाकी वर्षा होती रहती है। तुम्हारा हृदय महान् अद्भुत रसानन्दसे पूर्ण रहता है। तुम मेरे किसी महान् सौभाग्यसे आज नेत्रोंकी अतिथि बनी हो। देवि! तुम्हारी दृष्टि अन्त:करणमें निरन्तर सुखदायिनी प्रतीत होती है, तुम अपने अंदर महान् आनन्दसे तृप्त-सी दीख पड़ती हो। तुम्हारा यह प्रसन्न, मधुर तथा सौम्य मुखमण्डल हृदयको सुख देनेवाले किसी महान् आश्चर्यको व्यक्त कर रहा है। अत्यन्त शोभामयि! तुम रजोगुणकी कलिका और शक्तिरूपा हो। सृष्टि-पालन और संहाररूपमें तुम्हारी ही स्थिति है। तुम विशुद्ध सत्त्वमयी और विद्यारूपिणी पराशक्ति हो तथा परमानन्द-सन्दोहमय वैष्णव-धामको धारण करती हो। ब्रह्मा और रुद्रके लिये भी तुम्हारा जानना कठिन है। तुम्हारा वैभव आश्चर्यमय है। तुम योगीश्वरोंके भी ध्यान-पथका कभी स्पर्श नहीं कर सकती। मेरी बुद्धिमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति ये सब तुम्हारी अंशमात्र हैं।

'मायासे ही विशुद्ध रूप धारण करनेवाले परमेश्वर महाविष्णुकी जो अचिन्त्य विभूतियाँ हैं, वे सभी तुम्हारी अंशांशमात्र हैं। ईश्वरि! तुम निस्सन्देह आनन्दमयी शक्ति हो, अवश्य ही वृन्दावनमें तुम्हारे साथ श्रीकृष्णचन्द्र क्रीडा करते हैं। कुमारावस्थामें ही तुम अपने सुन्दर रूपसे विश्वको मुग्ध कर रही हो। न जाने यौवनका स्पर्श होनेपर तुम्हारा रूप, लावण्य तथा हास-विलासयुक्त निरीक्षण कैसा अद्भुत होगा? हरिवल्लभे! तुम्हारे उस पूजनीय दिव्यस्वरूपको मैं देखना चाहता हूँ, जिससे नन्दनन्दन श्रीकृष्ण मुग्ध हो जायँगे। महेश्वरि! माता! मुझ शरणागत तथा प्रणत भक्तके लिये दया करके तुम अपना स्वरूप प्रकट कर दो।'

यों निवेदन करके नारदजीने तदर्पित चित्तसे उस महानन्दमयी परमेश्वरीको नमस्कार किया और भगवान् गोविन्दकी स्तुति करते हुए उस देवीकी ओर ही देखते रहे। जिस समय वे श्रीकृष्णका नाम-कीर्तन कर रहे थे, उसी समय भानु-सुताने चतुर्दशवर्षीय, परम ललाम, अत्यन्त मनोहर दिव्यरूप धारण कर लिया। तत्काल ही अन्य व्रज-बालाओंने जो उसीकी समान अवस्थाकी थीं, दिव्य भूषण तथा सुन्दर हार धारण किये हुए थीं, बालाको चारों ओरसे आवृत कर लिया। उस समय बालिकाकी सखियाँ उसके चरणोदककी बूँदोंसे मुनिको सींचकर कृपापूर्वक बोलीं—

'महाभाग मुनिवर! वस्तुत: आपने ही भक्तिके साथ भगवान्‌की आराधना की है; क्योंकि ब्रह्मा, रुद्र आदि देवता, सिद्ध मुनीश्वर तथा अन्य भगवद्भक्तोंके लिये जिसका दर्शन मिलना कठिन है उसी अद्भुत वयोरूपसम्पन्ना विश्वमोहिनी हरिप्रियाने किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश आज आपके दृष्टिपथपर पदार्पण किया है! ब्रह्मर्षे! उठो, उठो, शीघ्र ही धैर्य धारणकर इसकी परिक्रमा तथा बार-बार नमस्कार करो। क्या तुम नहीं देखते कि इसी क्षणमें यह अन्तर्धान हो जायगी, फिर इसके साथ किसी तरह तुम्हारा सम्भाषण नहीं हो सकेगा।'

उन प्रेमविह्वला सखियोंके वचन सुनकर नारदजीने दो मुहूर्ततक उस सुन्दरी बालाकी प्रदक्षिणा करके साष्टांग प्रणाम किया। उसके बाद भानुको बुलाकर कहा—'तुम्हारी पुत्रीका प्रभाव बहुत बड़ा है। देवता भी इसका महत्त्व नहीं जान सकते। जिस घरमें इसका चरण-चिह्न है, वहाँ साक्षात् भगवान् नारायण निवास करते हैं और समस्त सिद्धियोंसहित लक्ष्मी भी वहाँ रहती हैं। आजसे सम्पूर्ण आभूषणोंसे भूषित इस सुन्दरी कन्याकी महादेवीके समान यत्नपूर्वक घरमें रक्षा करो।' ऐसा कहकर नारदजी हरि-गुण गाते हुए चले गये।

श्रीराधिकाजीका उद्धवको उपदेश

गोपियोंके अद्भुत प्रेमप्रवाहमें ज्ञानशिरोमणि उद्धवका सम्पूर्ण ज्ञानाभिमान बह गया। विवेक, वैराग्य, विचार, धर्म, नीति, योग, जप और ध्यान आदि सम्पूर्ण संबलके सहित उनकी ज्ञाननौका गोपियोंके अगाध प्रेम-समुद्रमें डूब गयी। उद्धव गोपियोंका मोह दूर करने आये थे, किंतु वे स्वयं ही उनके दिव्य मोहमें मग्न हो गये। वे उन्हें सान्त्वना देनेके लिये आये थे, किंतु उनको उन्हींकी शरण लेनी पड़ी। वे आये थे गुरु बनकर उन्हें

उपदेश देनेके लिये, किंतु बन गये उनके शिष्य।

आज गोपियोंके सुमधुर प्रेम-पीयूषका रसास्वादन कर उद्धव श्रीमाधवके पास मधुपुरी जानेकी तैयारी कर रहे हैं। प्यारे कृष्णके स्नेहपूर्ण सहवासकी स्मृति उन्हें अवश्य उस ओर खींच रही थी, किंतु इधर परिकरसहित श्रीरासेश्वरीजीकी सहृदयताने भी उनके हृदयको बाँध लिया था। इस दुविधामें उन्हें कई दिन हो गये। अन्तमें उन्हें घर लौटना ही था; अतः आज उन्होंने मथुरा चलनेकी तैयारी कर ही ली। उद्धवको मथुरा जानेके लिये उद्यत देखकर हरि-प्रिया श्रीराधिकाजी खिन्नचित्त होकर आसनसे उठीं और गोपियोंके सहित उन्होंने उद्धवके सिरपर हाथ रखकर उन्हें शुभ-आशीर्वाद दिया तथा हरी-हरी दूब, अक्षत, श्वेत धान्य और मंगलमय पुष्प उनके मस्तकपर छोड़े। तदनन्तर उन्होंने खील, फल, पत्र, दधि, दूर्वा तथा पत्तोंकी डाल, फल, गन्ध, सिन्दूर, कस्तूरी और चन्दनके सहित जलका कलश मँगाया एवं पुष्प, माला, दीपक, रक्तचन्दन, पति-पुत्रवती साध्वी स्त्री, सुवर्ण और रजत आदि मँगाकर उन्हें उनके दर्शन कराये। इस प्रकार मंगलोपचारके अनन्तर महासाध्वी श्रीराधिकाजी अपने वक्षःस्थलपर गिरते हुए शोकाश्रुओंको छिपाकर हित और मंगलमय सत्य वचन बोलीं।

वे कहने लगीं—उद्धव! तुम्हारी यात्रा सुखमय हो, तुम्हारा सदा कल्याण हो, तुम प्यारे कृष्णके प्रिय सखा हो, उनसे तुम्हें ज्ञान प्राप्त हो। संसारके सम्पूर्ण वरदानोंमें श्रीकृष्णचन्द्रकी दास्यरति ही सर्वश्रेष्ठ वर है। सायुज्य, सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और कैवल्य इन पाँचों प्रकारकी मुक्तियोंसे भी हरिभक्ति ही श्रेष्ठ है। ब्रह्मत्व, देवत्व, इन्द्रत्व, अमरत्व, अमृतलाभ तथा सिद्धिलाभसे भी हरिभक्ति अति दुर्लभ है। यदि कोई पुरुष अपने पूर्वजन्मोंके अनन्त पुण्य-पुंजोंसे भारतवर्षमें जन्म पाकर हरिभक्ति लाभ करता है तो फिर उसका जन्म होना अत्यन्त कठिन है अर्थात् वह अवश्य मुक्त हो जाता है। उसका जन्म सफल है। वह अवश्य ही अपने माता-पिता, उनके पूर्वजों, अपने बन्धु-बान्धवों तथा स्त्री, गुरु, शिष्य और सेवकोंके भी सहस्रों कर्म-कलापोंका क्षय कर देता है। वत्स! जो कर्म कृष्णार्पण कर दिया जाता है अथवा जिससे श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रसन्नता बढ़ती है, वही सर्वोत्तम है। प्रीति और विधिपूर्वक संकल्प करके जो कर्म किया जाता है, वह परम मंगलमय और धन्य है। उससे परिणाममें अनन्त सुख मिलता है। श्रीकृष्णके लिये व्रत और तपस्या करना, भक्तिपूर्वक उनका पूजन करना तथा उनके उद्देश्यसे उपवास करना—ये सब उनकी दास्यरतिके बढ़ानेवाले हैं। इस दास्यरतिकी महिमा कहाँतक कही जाय?

समस्तपृथिवीदानं प्रादक्षिण्यं भुवस्तथा।
समस्ततीर्थस्नानं च समस्तं च व्रतं तपः॥
समस्तयज्ञकरणं सर्वदानफलं तथा।
समस्तवेदवेदाङ्गपठनं पाठनं तथा॥
भीतस्य रक्षणं चैव ज्ञानदानं सुदुर्लभम्।
अतिथीनां पूजनं च शरणागतरक्षणम्॥
सर्वदेवार्चनं चैव वन्दनं जपनं मनोः।
भोजनं विप्रदेवानां पुरश्चरणपूर्वकम्॥
गुरुशुश्रूषणं चैव पित्रोर्भक्तिश्च पोषणम्।
सर्वं श्रीकृष्णदासस्य कलां नार्हति षोडशीम्॥

(ब्र० वै० पुराण ४। ९७। १६—२०)

सम्पूर्ण पृथिवीका दान, त्रिभुवनकी परिक्रमा, समस्त तीर्थोंका स्नान, समस्त व्रत और तप, सम्पूर्ण यज्ञ-यागादि, सर्वस्व दानका फल, समस्त वेद-वेदांगोंका पढ़ना और पढ़ाना, भयभीतकी रक्षा करना, अत्यन्त दुर्लभ तत्त्वज्ञानका उपदेश करना, अतिथियोंका सत्कार करना, शरणागतोंकी रक्षा करना, समस्त देवताओंका पूजन और वन्दन करना, मन्त्र-जाप करना, पुरश्चरण आदिके सहित ब्राह्मणोंको भोजन कराना तथा भक्तिपूर्वक माता-पिताका पोषण करना—ये समस्त शुभ कर्म श्रीकृष्णचन्द्रकी दास्यरतिकी सोलहवीं कलाके समान भी नहीं है।

तस्मादुद्धव यत्नेन भज कृष्णं परात्परम्।
निर्गुणं च निरीहं च परमात्मानमीश्वरम्॥
नित्यं सत्यं परं ब्रह्म प्रकृतेः परमीश्वरम्।
परिपूर्णतमं शुद्धं भक्तानुग्रहविग्रहम्॥
कर्मिणां कर्मणां साक्ष्यप्रदं निर्लिप्तमेव च।
ज्योतिःस्वरूपं परमं कारणानां च कारणम्॥
सर्वस्वरूपं सर्वेशं सर्वसम्पत्प्रदं शुभम्।
भक्तिदं दास्यदं स्वस्य निजसम्पत्पदप्रदम्॥
विसृज्य ज्ञातिबुद्धिं च मात्सर्यमशुभप्रदम्।
भज तं परमानन्दं सानन्दं नन्दनन्दनम्॥

(ब्र० वै० पुराण ४। ९७। २१—२५)

इसलिये उद्धव! तुम प्रयत्नपूर्वक श्रीकृष्णका भजन करो। वे श्रीकृष्णचन्द्र प्रकृतिसे परे, निर्गुण, निरीह, परमात्मा, ईश्वर, नित्य, सत्य, परब्रह्म और प्रकृतिसे अतीत, प्रकृतिके स्वामी हैं। वे सर्वत्र परिपूर्ण, शुद्धस्वरूप, भक्तोंके लिये मूर्तिमान् अनुग्रहरूप, कर्मियोंके कर्मकलापके साक्षी होकर भी उनसे अलिप्त, ज्योतिःस्वरूप तथा सम्पूर्ण कारणोंके परम कारण हैं। सम्पूर्ण विश्व उन्हींका स्वरूप है। वे सबके स्वामी, सम्पूर्ण शुभ सम्पत्तियोंके देनेवाले तथा भक्ति और दास्यरूप अपनी निज सम्पत्तिके देनेवाले हैं। अतः उद्धव! पापमय मात्सर्यजनक जाति-बुद्धिको छोड़कर अर्थात् इस बातको भुलाकर कि कृष्ण मेरे जाति-बन्धु हैं, तुम उन परमानन्दस्वरूप श्रीनन्दनन्दनका आनन्दपूर्वक भजन करो।

यह परम दिव्य संदेश सुनकर उद्धवको बड़ा विस्मय हुआ और वे तत्त्वज्ञान पाकर तृप्त हो गये। गलेमें अंचल डालकर उन्होंने अपने केशपाशोंसे श्रीराधिकाजीके चरणोंको पुनः-पुनः स्पर्श करते हुए प्रणाम किया। भक्तिवश उनके नेत्रोंमें जल भर आया और सम्पूर्ण शरीरमें रोमांच हो गया तथा श्रीराधिकाजीसे बिछुड़नेकी व्यथासे वे फूट-फूटकर रोने लगे। श्रीराधिका तथा अन्यान्य गोपियाँ भी प्रेमवश उद्धवके गले लगकर रोने लगीं। इस प्रकार वहाँ प्रेमका अपूर्व प्रवाह उमड़ा, जिसमें कि वह सम्पूर्ण समाज डूब गया।

श्रीराधाजीके प्रति भगवान् श्रीकृष्णका तत्त्वोपदेश

श्रीब्रह्मवैवर्तपुराणमें कृष्ण-जन्मखण्डके १२६ वें अध्यायमें कहा है कि एक बार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र द्वारकासे वृन्दावन पधारे। उस समय उनकी वियोग-व्यथासे संतप्ता गोपियोंकी विचित्र दशा हो गयी। प्रिय-संयोगजन्य स्नेहसागरकी उत्ताल तरंगोंमें उनके मन और प्राण डूब गये। गोपीश्वरी श्रीराधिकाजीकी तो बड़ी ही अपूर्व दशा थी। उनकी चेतना-शून्य दशासे गोपियोंने समझा कि हाय! क्या नाथके संयोगने ही हमें अनाथ कर दिया। वे चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगीं—

किं कृतं किं कृतं कृष्ण! त्वया राधा मृता च नः।
राधां जीवय भद्रं ते यास्यामः काननं वयम्॥
अन्यथा स्त्रीवधं तुभ्यं दास्यामः सर्वयोषितः॥

(७८-७९)

'श्रीकृष्ण! तुमने यह क्या किया? यह क्या किया? हाय! तुमने हमारी राधिकाको मार डाला! तुम्हारा मंगल हो, तुम शीघ्र ही हमारी राधाको जीवित कर दो, हम उनके साथ वनको जाना चाहती हैं। यदि तुमने ऐसा न किया तो हम सभी तुम्हें स्त्री-वधका पाप देंगी।' क्या खूब! श्रीराधा क्या श्रीकृष्णकी नहीं थी जो उनके लिये इतने कड़े दण्डकी व्यवस्था की गयी। परंतु प्रणयकोपने गोपियोंको यह बात भुला दी थी। उनकी ऐसी आतुरता देखकर भगवान्ने अपनी अमृतमयी दृष्टिसे राधामें जीवनका संचार कर दिया। मानिनी राधा रोती-रोती उठ बैठी। गोपियोंने उसे गोदमें लेकर बहुत कुछ समझाया-बुझाया, परंतु उसका कलेजा न थमा। अन्तमें श्रीकृष्णचन्द्रने उसे ढाढ़स बँधाते हुए कहा—

'राधे! मैं तुमसे परमश्रेष्ठ आध्यात्मिक ज्ञानका वर्णन करता हूँ, जिसके श्रवणमात्रसे हल जोतनेवाला मूर्ख मनुष्य भी पण्डित हो जाता है। तुम अपनी ही स्वरूपभूता रुक्मिणी आदि महिषियोंका पति होनेसे ही क्यों दुःख करती हो? मैं तो स्वभावसे ही सभीका स्वामी हूँ। राधे! कार्य और कारणके रूपसे मैं ही अलग-अलग प्रकाशित हो रहा हूँ। मैं सभीका एकमात्र आत्मा हूँ और अपने स्वरूपमें प्रकाशमय हूँ। ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त प्राणियोंमें मैं ही व्यक्त हो रहा हूँ। मैं स्वभावसे ही परिपूर्णतम श्रीकृष्णस्वरूप हूँ। दिव्यधाम, गोलोक, सुरम्य क्षेत्र गोकुल और वृन्दावनमें मेरा निवास है। मैं स्वयं ही द्विभुज गोप-वेषसे राधापति बालकके रूपमें गोप-गोपी और गौओंके सहित वृन्दावनमें रहता हूँ। वैकुण्ठमें मेरा परम शान्त सनातन चतुर्भुज रूप है, वहाँ मैं लक्ष्मी और सरस्वतीका पति होकर दो रूपोंमें रहता हूँ। पृथ्वीमें समुद्रकी जो मानसी कन्या मर्त्यलक्ष्मी है, उसके साथ मैं श्वेतद्वीपमें क्षीरसमुद्रके भीतर चतुर्भुजरूपसे ही रहता हूँ। मैं ही धर्मस्वरूप, धर्मवक्ता, धर्मनिष्ठ, धर्ममार्गप्रवर्तक, ऋषिवर नर और नारायण हूँ। पुण्यक्षेत्र भारतमें धर्मपरायणा पतिव्रता शान्ति और लक्ष्मी मेरी स्त्रियाँ हैं, मैं उनका पति हूँ तथा मैं ही सिद्धिदायक सिद्धेश्वर सतीपति मुनिवर कपिल हूँ।

सुन्दरि! इस प्रकार मैं नाना रूपोंसे विविध व्यक्तियोंके रूपमें विराजमान हूँ। द्वारिकामें मैं चतुर्भुजरूपसे सर्वदा श्रीरुक्मिणीजीका पति हूँ और सत्यभामाके शुभ गृहमें क्षीरोदशायी भगवान्‌के रूपसे रहता हूँ। इसी प्रकार अन्यान्य महिषियोंके महलोंमें भी मैं पृथक्-पृथक् शरीर धारणकर रहता हूँ। मैं ही अर्जुनके सारथिरूपसे ऋषिवर नारायण हूँ। मेरा अंश धर्म-पुत्र नर-ऋषि ही महाबलवान् अर्जुनके रूपमें प्रकट हुआ है। इसने सारथी होनेके लिये पुष्कर क्षेत्रमें मेरी तपस्या की थी। और राधे! तुम भी जिस प्रकार गोलोक और गोकुलमें राधारूपसे रहती हो, इसी प्रकार वैकुण्ठमें महालक्ष्मी और सरस्वती होकर विराजमान हो। तुम ही क्षीरसागरशायी भगवान् विष्णुकी प्रिया मर्त्यलक्ष्मी हो और तुम ही धर्म-पुत्र नरकी कान्ता लक्ष्मीस्वरूपा शान्ति हो तथा तुम ही भारतमें कपिलदेवकी प्रिया सती भारती हो। तुम ही मिथिलामें सीताके रूपसे प्रकट हुई थी और तुम्हारी ही छाया सती द्रौपदी है। तुम ही द्वारकामें महालक्ष्मी रुक्मिणी हो और तुम ही अपने कलारूपसे पाँचों पाण्डवोंकी प्रिया द्रौपदी हुई हो तथा तुम्हींको रामकी प्रिया सीताके रूपसे रावण हर ले गया था। अधिक क्या कहूँ—

नानारूपा यथा त्वं च छायया कलया सति।
नानारूपस्तथाहं च स्वांशेन कलया तथा॥
परिपूर्णतमोऽहं च परमात्मा परात्परः।

(१००।१०१)

'जिस प्रकार अपनी छाया और कलाओंके द्वारा तुम नानारूपोंसे प्रकट हुई हो, उसी प्रकार अपने अंश और कलाओंसे मैं भी विविध रूपोंमें प्रकट हुआ हूँ। वास्तवमें तो मैं प्रकृतिसे परे सर्वत्र परिपूर्ण साक्षात् परमात्मा हूँ। सति! मैंने तुमको यह सम्पूर्ण आध्यात्मिक रहस्य सुना दिया। परमेश्वरि राधे! तुम मेरे सब अपराध क्षमा करो।'

भगवान्‌के ये गूढ़ रहस्यमय वचन सुनकर श्रीराधिका और गोपियोंका क्षोभ दूर हो गया, उन्हें अपने वास्तविक स्वरूपका भान हो गया और उन्होंने चित्तमें प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें प्रणाम किया।

श्रीकृष्ण-लीलाके अन्ध-अनुकरणसे हानि

भगवान् श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम हैं और भगवान् श्रीकृष्ण लीलापुरुषोत्तम। दोनों एक हैं। एक ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा भिन्न-भिन्न लीलाओंके लिये दो युगोंमें दो रूपोंमें अवतीर्ण हैं। इनमें बड़े-छोटेकी कल्पना करना अपराध है। श्रीरामरूपमें आपकी प्रत्येक लीला सबके अनुकरण करनेयोग्य मर्यादारूपमें होती है, रामरूपकी लीलाओंका रहस्य अत्यन्त निगूढ़ होनेपर भी बाह्यरूपसे सबकी समझमें आ सकता है और बिना किसी बाधाके अपने-अपने अधिकारानुसार सभी उसका अनुकरण कर सकते हैं, वह सीधा राज-मार्ग है, परंतु भगवान्‌की श्रीकृष्णरूपमें की गयी लीलाएँ बाहर-भीतर दोनों ही प्रकारसे निगूढ़ और रहस्यमय हैं। इनका समझना अत्यन्त ही कठिन है और बिना समझे अनुकरण करना तो हलाहल विष पीना अथवा जान-बूझकर धधकती हुई आगमें कूद पड़ना है। यह बड़ा ही कण्टकाकीर्ण और ज्वालामय मार्ग है। अतएव सर्वसाधारणके लिये सर्वथा समझने, मानने और पालन करनेयोग्य महान् उपदेश भगवान् श्रीकृष्णकी भगवद्‌गीता है और सर्वतोभावसे अनुकरण करनेयोग्य भगवान् श्रीरामकी मर्यादायुक्त लीलाएँ हैं।

जिन लोगोंने बिना समझे-बूझे भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाका अनुकरण किया, वे स्वयं डूबे और दूसरे अनेक निर्दोष नर-नारियोंको डुबोनेका कारण बने। अग्नि पी जाने, पहाड़ अंगुलिपर उठा लेने, कालिय नागको नाथने आदि क्रियाओंका अनुकरण तो कोई क्यों करने लगा और करना भी शक्तिके बाहरकी बात है; अनुकरण करनेवाले तो बस, चीर-हरण, रासलीला और श्रीराधाकृष्णकी प्रेमलीलाओंका अनुकरण करते हैं। इन लीलाओंके महान् उच्च आध्यात्मिक भावको समझनेमें सर्वथा असमर्थ होकर अपनी वासनामयी वृत्तिको चरितार्थ करनेके लिये इनके अनुकरणके नामपर वास्तवमें पाप किया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि भगवत्प्रेममें वैराग्यकी कोई आवश्यकता नहीं, त्यागकी जरूरत नहीं। श्रीप्रियाप्रियतमजीके प्रेममें तो केवल शृंगार और भोगका ही प्रयोजन है, बल्कि यहाँतक भी कह दिया जाता है कि युगल-सरकारके चरणोंके सेवक

बन जाओ, फिर चोरी-जारी, झूठ-कपट, प्रमाद-आलस्य जो कुछ भी करते रहो, कोई आपत्ति नहीं है। मेरी समझसे ये सारी बातें अपनी कमजोरियोंको छिपाने, भगवद्भक्तिके नामपर विषयोंको प्राप्त करने, कपट-प्रेमी बनकर पाप कमाने और भोले नर-नारियोंको ठगकर अपनी बुरी वासनाओंको तृप्त करनेके लिये कही जाती हैं। सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी आत्म-स्वरूपिणी जगज्जननी श्रीराधिकाजीका चरणसेवक बनकर भी क्या कोई कभी चोरी-जारी आदि पापकर्म कर सकता है? भगवान्‌के सच्चे मनसे लिये हुए एक नामसे ही जब सारे पापोंका समूह भस्म हो जाता है तो भगवान्‌के चरणसेवकोंमें तो पाप-प्रवृत्ति रह ही कैसे सकती है? वैराग्य और त्याग तो भगवद्भक्तिकी आधारशिला है। जो अपने मनसे विषयोंका त्याग नहीं करता, भोगोंकी स्पृहा नहीं छोड़ता, वह भगवान्‌का भक्त ही कैसे बन सकता है? भक्तको तो अपना सर्वस्व लोक-परलोक और मोक्षतक भगवान्‌के चरणोंपर निछावर कर सर्वथा अकिंचन बन जाना पड़ता है। भगवत्प्रेमी भोगी कैसे हो सकता है? अतएव जो भगवत्-प्रेमके नामपर भोगका उपदेश करते हैं, उनसे और उनके उपदेशोंसे सदा सावधान रहना चाहिये। दु:खकी बात है कि श्रीमद्भागवतकी रासपंचाध्यायीका भ्रान्त-अनुकरण करने जाकर कामवासनासे स्त्रियोंसे मिलने-जुलनेमें तो कोई आपत्ति नहीं मानी जाती, यहाँ तो भगवान्‌के लीला-अनुकरणका नाम लिया जाता है, परंतु उस श्रीमद्भागवतके '**स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्**' 'आत्मवान्‌को चाहिये कि वह स्त्रियोंके ही नहीं, स्त्रीसंगियोंके संगको भी दूरसे त्याग दें।'— इस उपदेशपर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। श्रीमद्भागवत और श्रीकृष्णप्रेमके एवं माधुर्यरसके मर्मको समझनेवाले तो श्रीचैतन्यमहाप्रभु थे, जो मधुररसके उपासक होकर भी धन और स्त्रीसे सर्वथा दूर रहते थे।

यद्यपि कई कारणोंसे आजकल प्रकटमें प्राय: ऐसी पाप-क्रियाएँ कम होती हैं, परंतु गुप्तरूपसे इन भावोंका प्रचार और प्रसार अब भी कम नहीं है। यह भक्ति और भगवत्प्रेमके विघातक हैं। कवियोंने व्यास-शुकदेवके मर्मको न समझकर अपनी-अपनी भावनाके अनुसार मनमानी रचना की; तपस्वी, भक्त और मर्मज्ञ पुरुषोंको छोड़कर शेष गुरु, भक्त और उपदेशक कहलानेवाले लोगोंने मनमाना कथन और कार्य किया। शृंगारके गंदे-गंदे गीतोंमें श्रीकृष्ण और श्रीराधाका समावेश किया गया और दुष्ट विषयी पुरुषोंने इन लीलाओंकी आड़ लेकर पापकी परम्परा चला दी; इससे हिंदू-जातिका जो घोर अमंगल हुआ है, उसकी कोई सीमा नहीं है। अब भी सब लोगोंको चेतकर भगवान् श्रीकृष्णकी गीताके दिव्य उपदेशके अनुसार अपने जीवनको बनाना चाहिये। भगवान्‌के इन शब्दोंको सर्वथा और सर्वदा याद रखना चाहिये—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६। २१)

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन नरकके दरवाजे और आत्माको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं, इसलिये इन तीनोंका सर्वथा त्याग कर दो।

भीख

'नारायण! नारायण!!'

'कौन है?'

'एक भिखारी'

'ठहरो, लाती हूँ'

इतना कहकर नन्दरानीने बहुमूल्य हीरे-मोतियोंका थार भरा और स्वयं लेकर बाहर आयीं। परंतु वह देखते ही सहम गयीं। देखा गलेमें साँप, जटाजूटमें साँप, साँपका कंकण, हाथमें डमरू और सुन्दर गौर-शरीरपर भभूत रमाये एक मस्त योगी खड़ा है। समाधिके नशेमें उसकी आँखें चढ़ी जा रही हैं। नन्दरानीने समझा कि कोई सिद्ध योगेश्वर है। वह बोली—

'नाथजी! यह लो भीख, मेरे लालको असीस दो, जिससे उसके सारे अमंगल टल जायँ।'

'मैया! तेरी यह भीख मुझे नहीं चाहिये। मुझे तो एक बार अपने लालका मुखड़ा दिखला दे। उसे देखते ही मेरे सब अमंगल टल जायँगे।'

'नाथजी! मेरा साँवरा अभी निरा बच्चा है, तुम्हारे भेषको देखकर डर जायगा। भीख थोड़ी हो तो और

ला दूँ, देखो, मेरे लालका किसी तरह अमंगल न हो, उसके सारे कुग्रह टल जायँ।'

'अरी मैया! तेरा लाल कालका भी काल है, उसीके डरसे सूर्य, चन्द्र, यमराज सब अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। वह किससे डरेगा? साक्षात् मृत्युदेवता भी उसके नामसे डर जाते हैं। मुझे और कोई भीख नहीं चाहिये माता! मुझे तो एक बार अपने उस सलोने साँवरेकी हँसीली, छबीली, निराली, मतवाली, काली छबिका दर्शन करा दे। बस, एक बार उसकी झाँकी कर लेने दे।'

'ना, ना, नाथजी! मैं अपने लालको बाहर न लाऊँगी। आजकल व्रजमें असुरोंका बड़ा उत्पात है। अभी उस दिन पूतना आयी थी। भगवान्ने रक्षा की। मैं अभी-अभी उसकी माँग सवाँरकर और उसकी आँखोंमें काजल डालकर आयी हूँ, कहीं नजर लग जाय तो फिर तुम्हें कहाँ ढूँढ़ती फिरूँ?'

शिवजी हँसकर मन-ही-मन यशोदाके भाग्यकी सराहना करने लगे। बोले—'मेरी मैया! तू धन्य है, जो सर्वाधार त्रिलोकीनाथको अपनी गोदमें खिलाती है, अपने हाथों शृंगारके सागरका शृंगार करती है, तेरे समान बड़भागी कौन होगा? अरी! जिसकी भृकुटि-विलाससे सारे विश्वका सृजन और संहार होता है उसको नजर कैसी?'

'तुम क्या कहते हो, बाबा! मैं यह सब नहीं समझती। तुम्हारे वेदान्तका हम गँवारी ग्वालिनोंको क्या पता? भीख लेनी हो तो ले लो, मेरे श्यामसुन्दरको भूख लगी होगी, मैं अब और यहाँ नहीं ठहर सकती।'

'माँ! मैं तेरे पैरों पड़ता हूँ, एक बार मुझे उस प्राणधनके दर्शन करा दे, तेरा मंगल होगा, नहीं तो, मैं यहीं धरना दिये बैठा रहूँगा, बिना दर्शन किये तो यहाँसे हटूँगा नहीं।'

यशोदा साधु बाबाके दुःखसे दुःखी हुई, उसका कोमल हृदय द्रवित हो गया, भगवान्ने मति फेर दी। उसने कहा—

'अच्छा, लाती हूँ, पर अधिक देर न ठहरना भला! देखकर ही चले जाना।'

इतना कहकर वह अंदर गयी और नजरसे बचानेके लिये माथेपर काजलकी बिंदी लगाकर लालको गोदमें लिये बाहर लौटी। देवदेव शंकर त्रिभुवन-मोहिनी बालछबिको देखकर मुग्ध हो गये। एकटक देखने लगे। यशोदाने कहा—

'लो, अब जाती हूँ, बहुत देर हो गयी।'

अब, महाराजकी प्रेम-समाधि भंग हुई। वे बोले—

'तनिक ठहर जा मैया! मुझे दो बात तो कर लेने दे।' शिवजीने नेत्रोंकी मूक भाषामें ही मोहन प्यारेसे बातें कीं। फिर मुग्ध होकर गाने लगे—

सफल मम ईस जीवन आज।
निरखि अगुन अरूप को गुनपूर्न छबिमय साज॥
सच्चिदानँद अलख, अज, अव्यक्त, अमित अनंत।
प्रगट सो सिसुरूप रस-सौन्दर्य-निधि भगवंत॥
धन्य व्रजके गोप-गोपी गौ मयूर तृनादि।
सगुन बपु धरि रहत जिनमहँ ब्रह्म अचल अनादि॥
सर्वसक्ति समेत पूर्न प्रभाव सह परमेस।
करत लीला चित्र मधुर सो धारि बालक भेस॥

काली कृष्ण

एक बार परम कौतुकी लीलामय भगवान् शिवजीने पार्वतीजीसे कहा—'देवि! यदि मुझपर तुम प्रसन्न हो तो तुम पृथ्वीतलपर कहीं पुरुषरूपसे अवतार लो और मैं स्त्रीरूप धारण करूँगा। यहाँ जैसे मैं तुम्हारा प्रियतम स्वामी और तुम मेरी प्राणप्यारी भार्या हो, उसी प्रकार वहाँ तुम मेरे स्वामी तथा मैं तुम्हारी पत्नी बनूँगा। बस, यही मेरा अभीष्ट है। तुम मेरी सभी इच्छाओंको पूर्ण करती हो इसे भी पूर्ण करो।'

शक्तिमान्की इच्छा पूर्ण करनेके लिये शक्ति देवीने स्वीकृति दे दी और कहा—'नवीन मेघके समान कान्तिमयी जो मेरी भद्रकाली नामकी मूर्ति है, वही श्रीकृष्णरूपसे पृथ्वीपर अवतार लेगी; अब आप भी अपने अंशसे स्त्रीरूप धारण कीजिये।'

शिवजी परम संतुष्ट होकर बोले—'मैं तुम्हारी प्रियकामनासे भूतलपर नौ रूपोंमें प्रकट होऊँगा। शिवे! मैं स्वयं परम प्रेममयी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाके रूपमें अवतीर्ण होऊँगा और तुम्हारी प्राणप्रिया होकर तुम्हारे ही साथ विहार करूँगा। इसके अतिरिक्त मेरी आठ मूर्तियाँ

आठ रमणियोंके रूपमें प्रकट होंगी, वे ही मनोहरनयना श्रीरुक्मिणी और सत्यभामा आदि तुम्हारी आठ पटरानियाँ होंगी। इसके अतिरिक्त जो मेरे ये भैरवगण हैं, वे भी रमणीरूप धारणकर भूमिपर अवतीर्ण होंगे।'

देवीने कहा—'आपकी इच्छा सफल हो, मैं आपकी इन सभी मूर्तियोंके साथ यथोचित विहार करूँगी। प्रभो! मेरी जया तथा विजया नामकी जो दोनों सखियाँ हैं, वे पुरुषरूपमें श्रीदामा और सुदामा होंगी। विष्णुभगवान्के साथ मेरा पहलेसे निश्चय हो चुका है, वे हलायुध रूपमें बड़े भाई होंगे और सदा मेरे प्रिय कार्योंका साधन करेंगे। उन महाबलीका नाम राम होगा। इस प्रकार मैं तुम्हारा कार्य सिद्धकर अपनी महती कीर्तिकी स्थापना करके पुनः भूतलसे लौट आऊँगी।'

इसी निश्चयके अनुसार पृथ्वी और ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर श्रीपार्वतीजी श्रीकृष्णरूपमें तथा श्रीशिवजी श्रीराधारूपमें प्रकट हुए।

यह एक कल्पमें श्रीराधाकृष्णके अवतारका बाहरी रहस्य है। भगवान् और भगवतीके अवतारकी गूढ़ अभिसन्धिको तो दूसरा कौन जान सकता है? (महाभागवतके आधारपर)

भक्तिका स्वरूप

अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः।
कलितश्यामललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति॥

चित्तवृत्तिका निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे अपने इष्टस्वरूप श्रीभगवान्में लगे रहना अथवा भगवान्में परम अनुराग या निष्काम अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है। भक्तिके अनेक साधन हैं, अनेकों स्तर हैं और अनेकों विभाग हैं। ऋषियोंने बड़ी सुन्दरताके साथ भक्तिकी व्याख्या की है। पुराण, महाभारत, रामायणादि इतिहास और तन्त्र-शास्त्र भक्तिसे भरे हैं। ईसाई, मुसलमान और अन्यान्य मतावलम्बी जातियोंमें भी भक्तिकी बड़ी सुन्दर और मधुर व्याख्या और साधना है। हमारे भारतीय शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदाय तो भक्ति-साधनाकी ही जयघोषणा करते हैं। वस्तुतः भगवान् जैसे भक्तिसे वश होते हैं, वैसे और किसी भी साधनसे नहीं होते। भक्तिकी तुलना भक्तिसे ही हो सकती है। भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु भक्तिके मूर्तिमान् दिव्य स्वरूप हैं। उनके अनुयायियोंने भक्तिकी बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की है और उसीके आधारपर यहाँ कुछ लिखनेका प्रयास किया जाता है।

जिनके साधारण सौन्दर्य और माधुर्यने बड़े-बड़े महात्मा, ब्रह्मज्ञानी और तपस्वियोंके मनोंको बरबस खींच लिया; जिनकी सबसे बढ़ी हुई अद्भुत, अनन्त प्रभुतामयी पूर्ण ऐश्वर्यशक्तिने शिव, ब्रह्मातकको चकित कर दिया, उन सबके मूल आश्रयतत्त्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके लिये जो अनुकूलतायुक्त अनुशीलन होता है, उसीका नाम भक्ति है। अनुकूलताका तात्पर्य है, जो कार्य श्रीकृष्णको रुचिकर हो, जिससे श्रीकृष्णको सुख हो—शरीर, वाणी और मनसे निरन्तर वही कार्य करना। श्रीकृष्णके लिये अनुशीलन तो कंस आदिमें भी था, परंतु उनमें उपर्युक्त आनुकूल्य नहीं था। श्रीकृष्णसे यहाँ श्रीराम, नृसिंह, वामन आदि सभी भगवत्स्वरूप लिये जा सकते हैं, परंतु गौड़ीय वैष्णव भगवान् श्रीकृष्ण-स्वरूपके निमित्त और तत्सम्बन्धिनी अनुशीलनरूपा भक्तिको ही मुख्य मानते हैं।

भक्तिकी उपाधियाँ

भक्तिमें दो उपाधियाँ हैं—१—अन्याभिलाषिता और २—कर्मज्ञानयोगादिका मिश्रण। इन दोनोंमेंसे जबतक एक भी उपाधि रहती है तबतक प्रेमकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

अन्याभिलाषा—भोग-कामना और मोक्ष-कामनाके भेदसे दो प्रकारकी होती है और ज्ञान, कर्म तथा योगके भेदसे भक्तिका आवरण तीन प्रकारका होता है। यहाँ ज्ञानसे **'अहं ब्रह्मास्मि'**, योगसे भजनरहित हठयोगादि और कर्मसे भक्तिरहित याग-यज्ञादि शास्त्रीय और भोगादिकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले लौकिक कर्म समझने चाहिये। जिस ज्ञानसे भगवान्के स्वरूप और भजनका रहस्य जाना जाता है, जिस योगसे चित्तकी वृत्ति भगवान्के स्वरूप, गुण, लीला आदिमें तल्लीन हो जाती है और जिस कर्मसे भगवान्की सेवा बनती है, वे ज्ञान-योग-कर्म तो भक्तिमें सहायक हैं, भक्तिके ही अंग हैं। वे भक्तिकी उपाधि नहीं हैं।

सकाम भक्ति

जिस भक्तिमें भोग-कामना रहती है, उसे सकाम

भक्ति कहते हैं। सकाम भक्ति राजसी और तामसी भेदसे दो प्रकारकी है—विषय-भोग, यश-कीर्ति, ऐश्वर्य आदिके लिये जो भक्ति होती है, वह राजसी है; और हिंसा, दम्भ तथा मत्सर आदिके निमित्तसे जो भक्ति होती है, वह तामसी है। विषयोंकी कामना रजोगुण और तमोगुणसे ही उत्पन्न हुआ करती है। इस सकाम भक्तिको ही सगुण भक्ति भी कहते हैं। जिस भक्तिमें मोक्षकी कामना है, उसे कैवल्यकामा या सात्त्विकी भक्ति कहते हैं।

उत्तमा भक्ति

उत्तमा भक्ति चित्स्वरूपा है। उस भक्तिके तीन भेद हैं—साधन-भक्ति, भाव-भक्ति और प्रेम-भक्ति। इन्द्रियोंके द्वारा जिसका साधन हो सकता हो, ऐसे श्रवण-कीर्तनादिका नाम साधन-भक्ति है।

इस साधन-भक्तिके दो गुण हैं—क्लेशघ्नी और शुभदायनी। क्लेश तीन प्रकारके हैं—पाप, वासना और अविद्या। इनमें पापके दो भेद हैं—प्रारब्ध और अप्रारब्ध। जिस पापका फल मिलना शुरू हो गया है उसे 'प्रारब्ध पाप' और जिस पापका फलभोग आरम्भ नहीं हुआ, उसे 'अप्रारब्ध पाप' कहते हैं। पापका बीज है—'वासना' और वासनाका कारण है 'अविद्या'। इन क्लेशोंका मूल कारण है—भगवद्-विमुखता; भक्तोंके संगके प्रभावसे भगवान्‌की सम्मुखता प्राप्त होनेपर क्लेशोंके सारे कारण अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं। इसीसे साधन-भक्तिमें '**सर्वदु:खनाशकत्व**' गुण प्रकट होता है।

'शुभ' शब्दका अर्थ है—साधकके द्वारा समस्त जगत्‌के प्रति प्रीति-विधान और सारे जगत्‌के प्रति अनुराग, समस्त सद्‌गुणोंका विकास और सुख। सुखके भी तीन भेद हैं—विषयसुख, ब्राह्मसुख और पारमैश्वरसुख! ये सभी सुख साधन-भक्तिसे प्राप्त हो सकते हैं।

भाव-भक्तिमें अपने दो गुण हैं—'मोक्षलघुताकृत' और 'सुदुर्लभा'।

इनके अतिरिक्त दो गुण—'क्लेशनाशिनी और शुभदायिनी' साधन-भक्तिके इसमें आ जाते हैं। जैसे आकाशके गुण वायुमें और आकाश तथा वायुके गुण अग्निमें—इस प्रकार अगले-अगले भूतोंमें पिछले-पिछले भूतोंके गुण सहज ही रहते हैं, वैसे ही साधन-भक्तिके गुण भाव-भक्तिमें और साधन-भक्तिके तथा भाव-भक्तिके गुण प्रेम-भक्तिमें रहते हैं। इस प्रकार भाव-भक्तिमें कुल चार गुण हो जाते हैं और प्रेम-भक्तिमें—'सान्द्रानन्दविशेषात्मा' और 'श्रीकृष्णाकर्षिणी' इन दो अपने गुणोंके सहित कुल छ: गुण हो जाते हैं। यह उत्तमा भक्तिके छ: गुण हैं।

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्द विशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु)

१—क्लेशनाशिनी और २—सुखदायिनीका स्वरूप तो ऊपर बतलाया ही जा चुका है।

३—मोक्षलघुताकृत्‌से तात्पर्य है कि यह भक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सायुज्य—पाँच प्रकारकी मुक्ति)—सबमें तुच्छ बुद्धि पैदा करके सबसे चित्त हटा देती है।

४—सुदुर्लभाका अर्थ है—साम्राज्य, सिद्धि, स्वर्ग, ज्ञान आदि वस्तु विभिन्न साधनोंके द्वारा मिल सकते हैं, उनको भगवान् सहज ही दे देते हैं, परंतु अपनी भाव-भक्तिको भगवान् भी शीघ्र नहीं देते। निष्काम साधनोंके द्वारा भी यह सहजमें नहीं मिलती। यह तो उन्हीं भक्तोंको मिलती है, जो भक्तिके अतिरिक्त मुक्ति-भुक्ति सबका निरादर करके केवल भक्तिके लिये सब कुछ न्योछावर करके भगवान्‌की कृपापर निर्भर हो रहते हैं।

५—सान्द्रानन्दविशेषात्माका अर्थ है—करोड़ों ब्रह्मानन्द भी इस प्रेमामृतमयी भक्ति-सुखसागरके एक कणकी भी तुलनामें नहीं आ सकते। यह अपार और अचिन्त्य प्रेमसुखसागरमें निमग्न कर देती है।

६—श्रीकृष्णाकर्षिणीका अभिप्राय है कि यह प्रेमभक्ति समस्त प्रियजनोंके साथ श्रीकृष्णको भक्तके वशमें कर देती है।

साधन-भक्ति

पूर्वोक्त साधन-भक्तिके द्वारा भाव और प्रेम साध्य होते हैं। वस्तुत: भाव और प्रेम नित्य सिद्ध वस्तु हैं, ये साध्य हैं ही नहीं। साधनके द्वारा जीवके हृदयमें छिपे हुए भाव और प्रेम प्रकट हो जाते हैं। साधन-भक्ति दो प्रकारकी होती है—

१—वैधी और २—रागानुगा।

अनुराग उत्पन्न होनेके पहले जो केवल शास्त्रकी आज्ञा मानकर भजनमें प्रवृत्ति होती है, उसका नाम वैधी

भक्ति है। भजनके ६४ अंग होते हैं। जबतक भावकी उत्पत्ति नहीं होती, तभीतक वैधी भक्तिका अधिकार है।

व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्णमें जो स्वाभाविकी परमाविष्टता अर्थात् प्रेममयी तृष्णा है उसका नाम है—राग। ऐसी रागमयी भक्तिको ही रागात्मिका भक्ति कहते हैं।

रागात्मिका भक्तिके भी दो प्रकार हैं—कामरूपा और सम्बन्धरूपा। जिस भक्तिकी प्रत्येक चेष्टा केवल श्रीकृष्णसुखके लिये ही होती है अर्थात् जिसमें काम प्रेमरूपमें परिणत हो गया है, उसीको कामरूपा रागात्मिका भक्ति कहते हैं। यह प्रख्यात भक्ति केवल श्रीगोपीजनोंमें ही है; उनका यह दिव्य और महान् प्रेम किसी अनिर्वचनीय माधुरीको पाकर उस प्रकारकी लीलाका कारण बनता है, इसीलिये विद्वान् इस प्रेम-विशेषको काम कहा करते हैं।

मैं श्रीकृष्णका पिता हूँ, माता हूँ—इस प्रकारकी बुद्धिका नाम सम्बन्धरूपा रागात्मिका भक्ति है।

इस रागात्मिका भक्तिकी जो अनुगता भक्ति है, उसीका नाम रागानुगा है। रागानुगा भक्तिमें स्मरणका अंग ही प्रधान है।

रागानुगा भी दो प्रकारकी है—कामानुगा और सम्बन्धानुगा। कामरूपा रागात्मिका भक्तिकी अनुगामिनी तृष्णाका नाम कामानुगा भक्ति है। कामानुगाके दो प्रकार हैं—सम्भोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छात्मा। केलि-सम्बन्धी अभिलाषासे युक्त भक्तिका नाम सम्भोगेच्छामयी है; और यूथेश्वरी व्रजदेवीके भाव और माधुर्यकी प्राप्तिविषयक वासनामयी भक्तिका नाम तत्तद्भावेच्छात्मा है।

श्रीविग्रहके माधुर्यका दर्शन करके या श्रीकृष्णकी मधुर लीलाका स्मरण करके जिनके मनमें उस भावकी कामना जाग उठती है, वे ही उपर्युक्त दोनों प्रकारकी कामानुगा भक्तिके अधिकारी हैं।

जिस भक्तिके द्वारा श्रीकृष्णके साथ पितृत्व-मातृत्व आदि सम्बन्ध-सूचक चिन्तन होता है और अपने ऊपर उसी भावका आरोप किया जाता है, उसीका नाम सम्बन्धानुगा भक्ति है।

भाव-भक्ति

शुद्ध-सत्त्व-विशेषस्वरूप प्रेमरूपी सूर्यकी किरणके सदृश रुचिकी अर्थात् भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा, उनके अनुकूलताकी अभिलाषा और उनके सौहार्दकी अभिलाषाके द्वारा चित्तको स्निग्ध करनेवाली जो एक मनोवृत्ति होती है, उसीका नाम भाव है। भावका ही दूसरा नाम रति है। रसकी अवस्थामें इस भावका वर्णन दो प्रकारसे किया जाता है—स्थायिभाव और संचारीभाव। इनमें स्थायिभाव भी दो प्रकारका है—प्रेमांकुर या भाव और प्रेम। प्रणयादि प्रेमके ही अन्तर्गत हैं। ऊपर जो लक्षण बतलाया गया है, यह प्रेमांकुर नामक भावका ही लक्षण है। नृत्य-गीतादि सारे अनुभाव इसी भावकी चेष्टा या कार्य हैं। इस प्रकारका भाव भगवान्की और उनके भक्तोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है, किसी दूसरी साधनासे नहीं। तो भी उसे साध्य-भक्ति बतलानेका भी एक विशेष कारण है। साधन-भक्ति भाव-भक्तिका साक्षात् कारण न होनेपर भी उसका परम्परा कारण अवश्य है। साधन-भक्तिकी परिपक्वता होनेपर ही श्रीभगवान्की और उनके भक्तोंकी कृपा होती है और उस कृपासे ही भाव-भक्तिका प्रादुर्भाव होता है। निम्नलिखित नौ प्रीतिके अंकुर ही इस भावके लक्षण हैं—

१. ***क्षान्ति***—धन-पुत्र-मान आदिके नाश, असफलता, निन्दा और व्याधि आदि क्षोभके कारण उपस्थित होनेपर भी चित्तका जरा भी चंचल न होना।

२. ***अव्यर्थ-कालत्व***—क्षणमात्रका समय भी सांसारिक विषय-कार्योंमें वृथा न बिताकर मन, वाणी, शरीरसे निरन्तर भगवत्सेवा-सम्बन्धी कार्योंमें ही लगे रहना।

३. ***विरक्ति***—इस लोकके और परलोकके समस्त भोगोंसे स्वाभाविक ही अरुचि।

४. ***मानशून्यता***—स्वयं उत्तम आचरण, विचार और स्थितिसे सम्पन्न होनेपर भी मान-सम्मानका सर्वथा त्याग करके अधमका भी सम्मान करना।

५. ***आशाबन्ध***—भगवान्के और भगवत्प्रेमके प्राप्त होनेकी चित्तमें दृढ़ और बद्ध-मूल आशा।

६. ***समुत्कण्ठा***—अपने अभीष्ट भगवान्की प्राप्तिके लिये अत्यन्त प्रबल और अनन्य लालसा।

७. ***नाम-गानमें सदा रुचि***—भगवान्के मधुर और पवित्र नामका गान करनेकी ऐसी स्वाभाविकी कामना कि जिसके कारण नाम-गान कभी रुकता ही नहीं और एक-एक नाममें अपार आनन्दका बोध होता है।

८. ***भगवान्के गुण-कथनमें आसक्ति***—दिन-रात भगवान्के गुणगान, भगवान्की प्रेममयी लीलाओंका कथन करते रहना और ऐसा न होनेपर बेचैन हो जाना।

९. भगवान्‌के निवासस्थानमें प्रीति—भगवान्‌ने जहाँ मधुर लीलाएँ की हैं, जो भूमि भगवान्‌के चरण-स्पर्शसे पवित्र हो चुकी है, वृन्दावनादि—उन्हीं स्थानोंमें रहनेकी प्रेमभरी इच्छा।

जब उपर्युक्त नौ प्रीतिके अंकुर दिखलायी दें, तब समझना चाहिये कि भक्तमें श्रीकृष्णके साक्षात्कारकी योग्यता आ गयी है।

उपर्युक्त लक्षण कभी-कभी किसी-किसी अंशमें कर्मी और ज्ञानियोंमें भी देखे जाते हैं; परंतु वह भगवान्‌में रति नहीं है, रत्याभास है। रत्याभास भी दो प्रकारका होता है—प्रतिबिम्बरत्याभास और छायारत्याभास। गद्‌गद-भाव और आँसू आदि दो-एक रतिके लक्षण दिखलायी देनेपर भी जहाँ भोगकी और मोक्षकी इच्छा बनी हुई है, वहाँ प्रतिबिम्बरत्याभास है; और जहाँ भक्तोंके संगसे कथा-कीर्तनादिके कारण नासमझ मनुष्योंमें भी ऐसे लक्षण दिखलायी देते हैं, वहाँ छायारत्याभास है।

प्रेम-भक्ति

भावकी परिपक्व-अवस्थाका नाम प्रेम है। चित्तके सम्पूर्णरूपसे निर्मल और अपने अभीष्ट श्रीभगवान्‌में अतिशय ममता होनेपर ही प्रेमका उदय होता है। किसी भी विघ्नके द्वारा जरा भी न घटना या न बदलना प्रेमका चिह्न है। प्रेम दो प्रकारका है—महिमाज्ञानयुक्त और केवल। विधि-मार्गसे चलनेवाले भक्तका प्रेम महिमाज्ञानयुक्त है; और राग-मार्गपर चलनेवाले भक्तका प्रेम केवल अर्थात् शुद्ध माधुर्यमय है। ममताकी उत्तरोत्तर जितनी ही वृद्धि होती है, प्रेमकी अवस्था भी उत्तरोत्तर वैसी ही बदलती जाती है। प्रेमकी एक ऊँची स्थितिका नाम है स्नेह। स्नेहका चिह्न है, चित्तका द्रवित हो जाना। उससे ऊँची अवस्थाका नाम है राग। रागका चिह्न है, गाढ़ स्नेह। उससे ऊँची अवस्थाका नाम है प्रणय। प्रणयका चिह्न है गाढ़ विश्वास। श्रीकृष्णरतिरूप स्थायिभाव विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारिभावके साथ मिलकर जब भक्तके हृदयमें आस्वादनके उपयुक्त बन जाता है, तब उसे भक्ति-रस कहते हैं। उपर्युक्त कृष्णरति शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरके भेदसे पाँच प्रकारकी है। जिसमें और जिसके द्वारा रतिका आस्वादन किया जाता है, उसको विभाव कहते हैं। इनमें जिसमें रति विभावित होती है, उसका नाम है, आलम्बन-विभाव; और जिसके द्वारा रति विभावित होती है, उसका नाम है उद्दीपन-विभाव। आलम्बन-विभाव भी दो प्रकारका है—विषयालम्बन और आश्रयालम्बन। जिसके लिये रतिकी प्रवृत्ति होती है, वह विषयालम्बन है, और इस रतिका जो आधार होता है, वह आश्रयालम्बन है। इस श्रीकृष्ण-रतिके विषयालम्बन हैं—श्रीकृष्ण और आश्रयालम्बन हैं—उनके भक्तगण। जिनके द्वारा रतिका उद्दीपन होता है, वे श्रीकृष्णका स्मरण करानेवाली वस्त्रालंकारादि वस्तुएँ हैं—उद्दीपन-विभाव।

नाचना, भूमिपर लोटना, गाना, जोरसे पुकारना, अंग मोड़ना, हुँकार करना, जँभाई लेना, लम्बे श्वास छोड़ना आदि अनुभावके लक्षण हैं। अनुभाव भी दो प्रकारके हैं—शीत और क्षेपण। गाना, जँभाई लेना आदिको शीत; और नृत्यादिको क्षेपण कहते हैं।

सात्त्विकभाव आठ हैं—स्तम्भ (जडता), स्वेद (पसीना), रोमांच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय (मूर्छा)। ये सात्त्विकभाव स्निग्ध, दिग्ध और रूक्ष भेदसे तीन प्रकारके हैं। इनमें स्निग्ध सात्त्विकके दो भेद हैं—मुख्य और गौण। साक्षात् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध सात्त्विकभाव मुख्य है और परम्परासे अर्थात् किंचित् व्यवधानसे श्रीकृष्णके सम्बन्धमें उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध-सात्त्विकभाव गौण है। स्निग्ध-सात्त्विकभाव नित्यसिद्ध भक्तोंमें ही होता है। जातरति अर्थात् जिनमें प्रेम उत्पन्न हो गया है—उन भक्तोंके सात्त्विकभावको दिग्धभाव कहते हैं और अजातरति अर्थात् जिसमें प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ है, ऐसे मनुष्यमें कभी आनन्द-विस्मयादिके द्वारा उत्पन्न होनेवाले भावको रूक्ष भाव कहा जाता है।

ये सब भाव भी पाँच प्रकारके होते हैं—धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त और सूद्दीप्त। बहुत ही प्रकट, परंतु गुप्त रखनेयोग्य एक या दो सात्त्विक भावोंका नाम धूमायित है। एक ही समय उत्पन्न होनेवाले दो-तीन भावोंका नाम ज्वलित है। ज्वलित भावको भी बड़े कष्टसे गुप्त रखा जा सकता है। बढ़े हुए और एक ही साथ उत्पन्न होनेवाले तीन-चार या पाँच सात्त्विकभावोंका नाम दीप्त है, यह दीप्तभाव छिपाकर नहीं रखा जा सकता। अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त एक ही साथ उदय होनेवाले छः, सात या आठ भावोंका नाम उद्दीप्त है। यह उद्दीप्तभाव ही महाभावमें सूद्दीप्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त रत्याभासजनित सात्त्विकभाव भी होते हैं, उनके चार प्रकार हैं। मुमुक्षु पुरुषमें उत्पन्न सात्त्विकभावका नाम रत्याभासज है। कर्मियों और विषयी जनोंमें उत्पन्न सात्त्विक-भावका नाम सत्त्वाभासज है। जिनका चित्त सहज ही फिसल जाता है या जो केवल अभ्यासमें लगे हैं, ऐसे व्यक्तियोंमें उत्पन्न सात्त्विक भावको निःसत्त्व कहते हैं और भगवान्‌में विद्वेष रखनेवाले मनुष्योंमें उत्पन्न सात्त्विकभावको प्रतीप कहा जाता है।

व्यभिचारी भाव ३३ हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मरण, आलस्य, जाड्य, लज्जा, अनुभाव-गोपन, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष, असूया, चपलता, निद्रा, सुप्ति और बोध।

भक्तोंके चित्तके अनुसार इन भावोंके प्रकट होनेमें तारतम्य हुआ करता है। आठ सात्त्विक और तैंतीस व्यभिचारी भावोंको ही संचारीभाव भी कहते हैं, क्योंकि इन्हींके द्वारा अन्य सारे भावोंकी गतिका संचालन होता है।

अब स्थायिभावकी बात रही। स्थायिभाव सामान्य, स्वच्छ और शान्तादि भेदसे तीन प्रकारका है। किसी रसनिष्ठ भक्तका संग हुए बिना ही सामान्य भजनकी परिपक्वताके कारण जिनमें एक प्रकारकी सामान्यरति उत्पन्न हो गयी है, उसे सामान्य स्थायिभाव कहते हैं। शान्तादि भक्तोंके संगसे संगके समय जिनके स्वच्छ चित्तमें संगके अनुसार रति उत्पन्न होती है, उस रतिको स्वच्छ स्थायिभाव कहते हैं और पृथक्-पृथक् रसनिष्ठ भक्तोंकी शान्तादि पृथक्-पृथक् रतिका नाम ही शान्तादि स्थायिभाव है। शान्तादि भाव पाँच प्रकारका है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ है। इन पाँच रसोंके अतिरिक्त हास्य, अद्‌भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स—ये सात गौण रस और हैं। भगवान्‌का किसी भी रसके द्वारा भजन हो, वह कल्याणकारी ही है। परंतु साधनके योग्य आदर्श उपर्युक्त पाँच मुख्य रस हैं।*

प्रेमभक्तिमें भगवान् और भक्तका सम्बन्ध

भगवान्‌का वास्तविक स्वरूप कैसा है, इस बातको भगवान् ही जानते हैं। या किसी अंशमें वे जानते हैं, जिनको भगवान् जनाना चाहते हैं। आजतक जगत्‌में कोई भी यह नहीं कह सका कि भगवान् ऐसे ही हैं; न कोई कह सकता है और न कह सकेगा। यदि कोई ऐसा कहनेका साहस करता है तो वह या तो भोला है, या आग्रही अथवा मिथ्यावादी है। ऐसा होनेपर भी भगवान्‌के जितने वर्णन जगत्‌में हुए हैं, वे अपने-अपने स्थानमें सभी सच्चे हैं; क्योंकि महान् परमात्मामें सभीका अन्तर्भाव है। अनन्त आकाशमें जैसे सभी मठाकाश, घटाकाश समाते हैं। किसी गाँवमें होनेवाली घटनाको लेकर हम कहें कि जगत्‌में ऐसा होता है तो ऐसा कहना मिथ्या नहीं है, क्योंकि गाँव जगत्‌में ही है अतएव वह जगत् ही है, परंतु यह बात नहीं कि जगत् वह गाँव ही है। फिर जगत्‌का तो वर्णन हो भी सकता है, क्योंकि वह प्राकृतिक, ससीम और सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा आकलन करनेयोग्य है, परंतु अप्राकृतिक, असीम, अनन्त, अपार, अकल, अलौकिक परमात्माका वर्णन तो हो ही नहीं सकता, इसीलिये वेद उन्हें 'नेति-नेति' कहकर चुप हो जाते हैं। निर्गुण अक्षरब्रह्म, विकारशील और जड अपरा प्रकृतिमें स्थित निर्विकार परा प्रकृतिरूप जीवात्मा, अपरा प्रकृति और उसके विकारसे उत्पन्न उत्पत्ति और विनाश धर्मवाले सब पदार्थ, भूतोंका उद्‌भव और अभ्युदय करनेवाला विसर्गरूप कर्म, व्यक्त जगत्‌का अभिमानी सूत्रात्मा अधिदैव और इस शरीरमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित विष्णुरूप अधियज्ञ—ये सब उस नित्य-निर्विकार सच्चिदानन्दघन भगवान्‌के विशेष भाव हैं, या उसके आंशिक प्रकाश हैं। अवश्य ही स्वभावसे ही पूर्ण होनेके कारण आंशिक प्रकाश होनेपर भी भगवद्रूपमें सभी पूर्ण हैं। ऐसे सबमें स्थित, सर्वनियन्ता, सर्वाधार, सबको सत्ता और शक्ति देनेवाले, सबके अद्वितीय कारण, सबसे परे और सर्वमय

* यहाँ बहुत ही संक्षेपमें केवल परिचयमात्र दिया गया है। जिनको विशेष जानना हो वे श्रीरूपगोस्वामीरचित 'हरिभक्ति-रसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक संस्कृत-ग्रन्थोंका अध्ययन करें।—सम्पादक।

भगवान्‌का वर्णन कौन कर सकता है?

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

(९।४-५)

'मुझ अव्यक्तमूर्तिके द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त हो रहा है, सब भूत मुझमें हैं, परंतु मैं उनमें नहीं हूँ, वे सब भूत भी मुझमें नहीं हैं; मेरा यह ऐश्वरयोग देखो कि सम्पूर्ण भूतोंका उत्पन्न और धारण-पोषण करनेवाला होकर भी मैं स्वरूपतः उन भूतोंमें स्थित नहीं हूँ।'

भगवान्‌के इस कथनमें परस्पर-विरोधी बातें प्रतीत होती हैं 'मैं सबमें हूँ और किसीमें नहीं हूँ; सब मुझमें हैं और कोई भी मुझमें नहीं है।' इस कथनका कोई अर्थ सहज ही समझमें नहीं आता। इसीलिये 'परमार्थ' और 'व्यवहार' का भेद करके इसकी व्याख्या की जाती है। परंतु यही तो भगवान्‌का 'ऐश्वरयोग' है, हमारी विषय-विमोहित जडबुद्धि इसे कैसे जान सकती है? हमारे लिये जो असम्भव है, भगवान्‌के लिये वह सब कुछ सम्भव है। भगवान्‌में सब विरोधोंका समन्वय है। इसीलिये तो भगवान्‌का किसी भी प्रकारसे किया हुआ वर्णन भगवान्‌के लिये सत्यरूपसे लागू होता है।

भगवान् निर्गुण भी हैं, सगुण भी; निराकार भी हैं, साकार भी; वे निष्क्रिय, निर्विशेष, निर्लिप्त और निराधार होते हुए ही सृष्टि-स्थिति-संहार करनेवाले, सविशेष, सर्वव्यापी और सर्वाधार हैं। सांख्योक्त परस्पर-विलक्षण अनादि पुरुष और प्रकृति, चेतन और अचेतन दोनों शक्तियाँ, जिनसे सारा जगत् उत्पन्न होता है—भगवान्‌की ही परा और अपरा प्रकृति हैं। इन दो प्रकृतियोंके द्वारा वस्तुतः भगवान् ही अपनेको प्रकट कर रहे हैं। वे सबमें रहकर भी सबसे परे हैं। वे ही सबको देखनेवाले उपद्रष्टा हैं, वे ही यथार्थ सम्मति देनेवाले अनुमन्ता हैं, वे ही सबका भरण-पोषण करनेवाले भर्ता हैं, वे ही जीवरूपसे भोक्ता हैं, वे ही सर्वलोक-महेश्वर हैं, वे ही सबमें व्याप्त परमात्मा हैं और वे ही समस्त ऐश्वर्य-माधुर्यसे परिपूर्ण भगवान् हैं। वे एक होनेपर भी अनेक रूपोंमें विभक्त हुए-से जान पड़ते हैं। अनेक रूपोंमें व्यक्त होनेपर भी एक ही हैं। व्यक्त, अव्यक्त और अव्यक्तसे भी परे सनातन अव्यक्त वे ही हैं; क्षर, अक्षर और अक्षरसे भी उत्तम पुरुषोत्तम वे ही हैं। वे अपनी ही महिमासे महिमान्वित हैं, अपने ही गौरवसे गौरवान्वित हैं और अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित हैं।

इन भगवान्‌का यथार्थ स्वरूपज्ञान या दर्शन इनकी कृपाके बिना नहीं हो सकता। ये जिसपर अनुग्रह करके अपना ज्ञान कराते हैं, वे ही इन्हें जान सकते हैं और कृपा भक्तोंपर ही व्यक्त होती है। भक्तिरहित कर्मसे, प्रेमरहित ज्ञानसे भगवान्‌का यथार्थ स्वरूप नहीं जाननेमें आता। निष्काम कर्मसे भगवान्‌का ऐश्वर्य-रूप जाना जाता है और तत्त्वज्ञानसे उनका अक्षर परब्रह्मरूप; परंतु उनके पुरुषोत्तम भावका तो अनन्य प्रेमभक्तिसे ही साक्षात्कार होता है। वैधी भक्ति करते-करते जब वह दिव्य प्रेमरूपमें परिणत होती है, जब भगवान्‌की अचिन्त्य शक्ति और अनिर्वचनीय ऐश्वर्यको जानकर भक्त केवल उन्हींको परम गति, परम आश्रय और परम शरण्य मानकर बुद्धिसे, मनसे, चित्तसे, इन्द्रियोंसे और शरीरसे सब भाँति सर्वथा अपनेको उनके चरणोंमें निवेदन कर देता है, जब वह उन्हींको मन दे देता है, उन्हींमें बुद्धि लगा देता है, उन्हींको जीवन अर्पण कर देता है, उन्हींकी चर्चा करता है, उन्हींके नाम-गुणका गान करता है, उन्हींमें संतुष्ट रहता है और उन्हींमें रमण करता है; इस प्रकार जब देह-मन-प्राण, काल-कर्म-गुण, लौकिक और पारलौकिक भोग, आसक्ति, कामना, वासना सब कुछ उनके अर्पण कर देता है, तब भगवान् उस प्रेमसे भजनेवाले भक्तको अपनी वह दिव्य बुद्धि दे देते हैं, जिससे वह अनायास ही उनको समग्ररूपमें—पुरुषोत्तमरूपमें पा जाता है।

भगवान्‌ने घोषणा की है कि मैं जैसा भक्तिसे शीघ्र मिलता हूँ वैसा अन्य किसी साधनसे नहीं मिलता—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

'जिस प्रकार मेरी अनन्य भक्ति मुझे वशमें करती है, उस प्रकार मुझको योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग वशमें नहीं कर सकते।'

गीतामें भगवान् कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११।५३-५४)

'परंतप अर्जुन! जिस प्रकारसे तुमने मुझको देखा है, इस प्रकारसे मैं न वेदोंसे (ज्ञानसे), न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ। इस प्रकारसे मैं केवल अनन्य भक्तिसे ही तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ, प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ और अपनेमें प्रवेश करा सकता हूँ, अभिन्नभावसे अपने अंदर मिला सकता हूँ।'

एक बात और है—ज्ञानके साधनमें भगवान् निर्गुण, निराकार, निरंजन, परम अज्ञेय तत्त्व हैं; और ज्ञानयुक्त कर्ममें भगवान् सर्वैश्वर्यसम्पन्न, सर्वगुणाधार, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर, सृष्टिकर्ता, पालन और संहारकर्ता, नियन्त्रणकर्ता प्रभु हैं, परंतु भक्तिमें भगवान् ये सब होते हुए ही भक्तके निज-जन हैं। भक्ति विश्वातीत और गुणातीत तथा विश्वमय और सर्वगुणमय परमात्माका अवतरण कराकर, उन्हें नीचे उतारकर भक्तके साथ आत्मीयताके अत्यन्त मधुर बन्धनमें बाँध देती है। भक्तिका साधक—प्रेमी भक्त भगवान्को केवल सच्चिदानन्दघन ब्रह्म या सर्वलोक-महेश्वर ऐश्वर्यमय स्वामी ही नहीं जानता, वह उन्हें अपने परम पिता, स्नेहमयी जननी, प्राणोपम सुहृद्, प्यारे सखा, प्राणेश्वर पति, प्रेममयी प्राणेश्वरी, जीवनाधार पुत्र आदि प्राणों-के-प्राण और जीवनों-के-जीवन परम आत्मीयरूपमें प्राप्त करता है। भगवान्के दिव्य स्नेह, अलौकिक प्रेम, अनुपमेय अनुग्रह, परम सुहृदता, अनिर्वचनीय दिव्य नित्य सौन्दर्य और नित्य नवीन माधुर्यका साक्षात्कार और उपभोग भक्तिके द्वारा ही किया जा सकता है। निरे ज्ञान और कर्मके द्वारा नहीं! जिनमें भक्ति नहीं है, उनकी तो कल्पनामें भी यह बात नहीं आ सकती कि भगवान् हमारे पिता-पुत्र, मित्र-बन्धु और जननी-पत्नी भी बन सकते हैं। इसी प्रेमरूपा भक्तिके प्रभावसे भगवान्के दिव्य अवतार होते हैं, इसीके प्रतापसे भक्त अपने भगवान्की दिव्य-लीलाओंका आस्वादन करता है और इसीके कारण भगवान्को जगत्के सामने अपना महत्त्व छिपाकर परम गोपनीय भावसे भक्तके सामने अपने परम तत्त्वका अपने ही श्रीमुखसे प्रकाश करना पड़ता है। तर्कशील अभक्तोंके लिये यह तत्त्व सर्वथा गुप्त ही रहता है!

भगवान्का अपने प्रेमी भक्तोंके साथ बिलकुल खुला व्यवहार होता है; क्योंकि वहाँ योगमायाका आवरण हटाकर ही लीला करनी पड़ती है। उनके सामने सभी तत्त्वोंका प्रकाश हो जाता है। निर्गुण और सगुण-साकार और निर्गुण-निराकार दोनों ही रूपोंका परम रहस्य भगवान् खोल देते हैं। इसीलिये भगवान्ने भक्तिकी इतनी महिमा गायी है और इसीलिये परम चतुर ऋषि-मुनि भी भक्तिके लिये लालायित रहते हैं।

भगवान् इतना ही नहीं करते, वे स्वयं भक्तका योगक्षेम वहन करते हैं और उसके साथ खेलते हैं, खाते हैं, सोते हैं और प्रेमालाप करते हैं। कभी वे पुत्र बनकर गोदमें खेलते हैं—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥

कभी राधाजीके साथ झूला झूलते हैं—

झूलत नागरि नागर लाल।
मंद मंद सब सखी झुलावति गावति गीत रसाल॥

कभी माता-पिताकी वन्दना और उनकी सेवा करते हैं—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
आयसु मागि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥

कहीं मित्रोंके साथ खेलते हैं, कहीं प्रियाके साथ प्रेमालाप करते हैं, कहीं भक्तके लिये रोते हैं। कहीं भक्तकी सेवा करते हैं, कहीं भक्तकी बड़ाई करते हैं, कहीं भक्तके शत्रुओंको अपना शत्रु बतलाते हैं, कहीं भक्तोंकी स्तुति सुनते हैं और कहीं भक्तोंको ज्ञान देते हैं। यह आनन्द भक्त और भगवान्में ही होता है। भक्त और भगवान्में न मालूम क्या-क्या रसकी बातें होती हैं, न मालूम कैसे-कैसे रहस्य खुलते हैं और न मालूम वे भक्तको कब किस परम दुर्लभ दिव्य लोकमें ले जाकर वहाँका आनन्द अनुभव कराते हैं। वे उसके हो जाते हैं और उसको अपना बना लेते हैं। उसके हृदयमें आप बसते हैं और उसको अपने हृदयमें बसा लेते हैं सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान, सम्पूर्ण आत्मानुभूति, सम्पूर्ण एकात्मबोध सब यहाँ दिव्य प्रेमके रूपमें परिणत हो जाते हैं। और

मुक्ति तो ऐसे भक्तकी सेवा करनेके लिये पीछे-पीछे फिरती है, उसके चरणोंमें लोटती है—

यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा।
विलुठति चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः॥

जिसकी श्रीमुकुन्दके चरणोंमें परमानन्दरूपा भक्ति होती है मोक्ष-साम्राज्यश्री उसके चरणोंमें लोटती है।

भगवान्‌को पानेका उपाय

सत्संग

आसक्ति या संग अवश्य ही आत्माको फँसानेवाली अक्षय फाँसी है, परंतु वही आसक्ति या संग यदि संतोंमें किया जाय तो वह खुला हुआ मोक्षका दरवाजा है। जो पुरुष सहनशील, दयालु, सब जीवोंके सुहृद्, शान्त और शत्रुरहित हैं (जिनके मनमें किसीसे शत्रुता नहीं है), वे ही संत हैं। शास्त्रोंमें वर्णित सुशीलता ही इन संतोंका आभूषण है। ये साधुजन अनन्य भावसे भगवान्‌की दृढ़ भक्ति करते हैं और भगवान्‌के लिये समस्त स्वजन-बान्धवोंका मोह त्याग देते हैं। यहाँतक कि सम्पूर्ण कर्म और देहके अभिमानको त्यागकर वे भगवान्‌में लीन हो जाते हैं। वे भगवान्‌के चरित्रोंकी पवित्र कथाएँ सुनते और कहते हैं। उनका चित्त सब समय श्रीभगवान्‌में लगा रहता है। इसीलिये आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकारके ताप उन्हें संतप्त नहीं कर सकते। वे संत आसक्तिरहित होते हैं, इसीलिये आसक्तिका परिणाम जो बन्धन है, उसको वे हरनेवाले होते हैं। ऐसे पवित्र संतोंका ही नित्य संग करना चाहिये। ऐसे महात्माओंके संगसे उनके द्वारा हृदय और कानोंको सुख देनेवाली भगवान्‌की पवित्र लीलाओंके अमृतसे भरी कथाएँ सुननेको मिलती हैं। जिनके सुननेसे भगवान्‌में श्रद्धा, रति और भक्ति होती है। साधक लीलाओंका चिन्तन करता है और भक्तिके प्रभावसे उसके चित्तमें इस लोक और परलोकके सब सुखोपभोगोंसे वैराग्य हो जाता है। फिर वह सब प्रकारसे चित्तको भगवान्‌के अर्पण करनेका यत्न करता है। इस प्रकार मायाके गुणोंका सेवन न करनेसे वैराग्ययुक्त ज्ञानके प्रभावसे और भगवान्‌की अनन्य दृढ़ भक्तिके प्रतापसे वह इसी शरीरमें भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है। (श्रीमद्भागवत)

वह दिन कब आयेगा

प्यारे नटनागर! तुम्हीं बताओ कि मेरा चिरवांछित वह सुदिन कब आयेगा? दुलारे चितचोर! तुम्हीं कहो कि वह शुभ घड़ी, वह सुहावना सरस समय, वह परम प्रिय अनमोल पल, वह भाग्योदयका मुहूर्त कब होगा, जब ये चिरतृषित नेत्र उस अनूप रूपमाधुरीका पानकर अन्य किसी भी छबिको न देख सकेंगे? अहा! वह समय बड़ा ही अनमोल होगा, जब प्रियतमका करोड़ों चन्द्रमाओंको लजानेवाला मोहन मुखड़ा घनश्याम मेघसे निकल पड़ेगा और अपनी विश्वविमोहिनी चटकीली चाँदनीसे विश्वको चमका देगा। उस समय कोयल पंचम स्वरसे 'कुहू-कुहू' की ध्वनिसे अपने प्राणाधारको पुकार उठेगी। पपीहा 'पी कहाँ' की रटसे प्रेमिकाको अधीर कर देगा। मोरके शोरसे सहसा हृदयमें चोट लग जायगी। योगी चंचल चितवनसे उस नवीन चन्द्रकी ओर त्राटक लगा लेंगे और प्रकृतिदेवी उस अलौकिक सौन्दर्यकी झाँकीपर थिरक-थिरक नाचने लगेगी।

भक्त-मन-चोर! सच कहना, यह चोरीकी कला तुमने किससे और कब सीखी? सुनते हैं, तुम व्रजललनाओंसे बड़े इठलाते हो, उनका माखन चुरा लेते हो और कोई-कोई तो यहाँतक कहते हैं कि उनका सर्वस्व लूट लेते हो! यदि बात सत्य है तो क्या मैं भी तुम्हारी इस लूटपाटका एक नवीन पात्र बन सकता हूँ? क्या मैं भी तुमसे कह सकता हूँ कि ऐ अनोखे चोर! मेरा भी 'चित्त' चुरा लो? क्या मेरी ओरसे तुम्हारा नाम 'मन-चोर' न पड़े?

मेरे राम! वह दिन कब आयेगा जब मैं भी मुनि-शापसे शिला हो जाऊँगा और तुम्हारे चरण-रज-स्पर्शसे मुझे उस परमानन्दकी प्राप्ति होगी जिसके लिये योगिजन लाखों वर्षोंतक निराहार रहकर तुम्हारी उपासना किया करते हैं। भव-भयहारी राम! वह शुभ घड़ी कब

आयेगी कि जब नटखट केवटकी नाईं मुझे भी कठौतेमें तुम्हारे कोमल चरणकमलको अपने इस कठोर हाथोंसे खूब मल-मलकर धोनेकी अनुमति मिल जायगी?

गोपीकुमार! वह समय कब आयेगा जब मैं तुम्हें कदम्बपर मंद-मंद हास्य करते हुए बाँसुरीके मधुर स्वरोंको गाते सुनूँगा, जिन्हें सुनकर व्रजललनाएँ अपने घर-द्वार, पति-पुत्र, परिवारको परित्यागकर तुम्हारी ओर बलात् खिंच जाती थीं। लीलामय! सुना है, तुम्हारी मुरलीमें विचित्र आकर्षण है! उसके स्वरोंमें अपार अनोखापन है। बाँसुरी तो मैंने बहुत सुनी है पर तुम्हारी बाँसुरी तो गजब कर देती है। देवता और मनुष्योंकी कौन कहे, पशु-पक्षीतक उस ध्वनिको सुनकर स्तब्ध होकर खाना-पीना भूल जाते हैं।

सुना है, अब भी तुम वृन्दावनकी कुंजोंमें वही राग-तान छेड़ते हो और भाग्यवान् भक्तोंको अब भी तुम्हारी वंशीकी ध्वनि साफ-साफ सुनायी देती है। यदि तुम्हारी कृपादृष्टि हो गयी तो तुम उन्हें अपने मोहन मुखड़ेका दर्शन दे कृतकृत्य कर देते हो। पतितपावन! क्या मुझे प्रेमके प्यालेकी एक बूँद पान करनेका भी अवसर न मिलेगा? क्या तुम्हारी यही इच्छा है कि तुम्हारा एक प्रेम-पथ-पथिक तुम्हारे प्रेम-पथसे गुमराह हो जाय और कँटीले जंगलोंमें भटकता रहे? यह तो बिलकुल सही है कि मेरे अंदर व्रजललनाओंका-सा प्रेम नहीं, केवटके-से प्रेम-लपेटे अटपटे बैन नहीं, गजका-सा आर्तनाद नहीं, प्रह्लादकी-सी अनन्यता, निष्कामता नहीं, ध्रुवका-सा विश्वास नहीं, द्रौपदीकी-सी पुकार नहीं, सूरदासकी-सी लगन नहीं और गोस्वामी तुलसीदासका-सा भरोसा नहीं, फिर भी तुम ठहरे पतितपावन और मैं ठहरा तुम्हारा एक पतित। यदि तुम्हारा दावा है कि मैं पतित-से-पतितका भी उद्धार करता हूँ तो मैं इसी नाते तुमसे कहता हूँ और करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि वह दिन कब आयेगा जब तुम इस पतितका उद्धार कर अपने पतितपावन नामको सार्थक करोगे।

मेरे हृदयके राजा! वह दिन कब आयेगा जब मैं सांसारिक झंझटोंको छोड़, विषयोंसे मुखमोड़, सोनेकी बेड़ी तोड़ तुम्हारे पादपद्मोंसे सम्बन्ध जोड़ूँगा? कब तुम्हारे चरणोंका स्पर्शकर शान्ति-लाभ करूँगा, तुम्हारे कमलनयनोंको देखकर तृषित नेत्रोंको शान्त करूँगा, तुम्हारे मुखकंजको निरख-निरख कलेजेकी कसकको मिटाऊँगा और तुम्हारी सुखमयी गोदमें बैठकर तुम्हारे शीतल कर-स्पर्शसे उस आनन्दका अनुभव करूँगा जिसका करोड़ों जिह्वाएँ भी मिलकर वर्णन नहीं कर सकतीं।

वह दिन कब आयेगा जब मैं भी सूरदासकी नाईं कहूँगा—

बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जानिकै मोहि।
हृदयसे जब जाहुगे, मर्द बदौंगो तोहि॥

तुम आगे-आगे भागते जाओगे और मैं पीछे-पीछे दौड़ता रहूँगा और तबतक नहीं छोड़ूँगा जबतक तुम पकड़ न जाओगे।

मेरे जीवनाधार! अब न तरसाओ! बस, बहुत हो चुका। सभी बातोंकी एक हद होती है, सभी कामोंका एक अन्त होता है *'का बरषा जब कृषी सुखाने'* अगर मिलना ही है तो अभी मिलो, इसी क्षण मिलो, मैं कबसे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। देखते-देखते आँखें फूट गयीं। रोते-रोते आँसू सूख गये। पुकारते-पुकारते गला बैठ गया, पर तुम न आये! हृदय-कपाट हर समय तुम्हारे लिये खुले पड़े हैं और प्रेमशय्या भी बिछी है, तुम जब चाहो उसपर शयन कर सकते हो। तुम्हें यह कहनेका भी मौका नहीं मिलेगा कि 'द्वार खटखटाया पर उत्तर न मिला।' द्वार खुला रहनेसे चोर-डाकू बड़ा तंग करते हैं पर तुम्हारे ही कारण मैंने उन्हें खोल रखा है और तबतक खुला रखूँगा जबतक उनका तनिक भी अस्तित्व रह जायगा। यदि मैं यह समझ लूँ कि तुम नहीं आओगे तब भी मुझे विश्वास नहीं हो सकता; क्योंकि तुम्हें आना ही पड़ेगा। अवश्य ही अब मैंने समझा, तुम्हारे कर्णरन्ध्रतक मेरी करुण पुकार नहीं पहुँची है, नहीं तो तुम अपना वाहन छोड़ पैदल ही दौड़े चले आते।

याद रखो, यदि देर करके आये तो तुम मुझे नहीं पा सकते।

प्रान तृषातुरके रहें, थोड़ेहू जलदान।
पीछे जल भर सहस घट, डारेहु मिले न प्रान॥

एक लालसा

जीवनका परम ध्येय स्थिर हो जानेपर जब उसके अतिरिक्त अन्य सभी लौकिक-पारलौकिक पदार्थोंके प्रति वैराग्य हो जाता है, तब साधकके हृदयमें कुछ दैवी भावोंका विकास होता है। उसका अन्त:करण शुद्ध सात्त्विक बनता जाता है। इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं, मन विषयोंसे हटकर परमात्मामें एकाग्र होता है, सुख-दु:ख, शीतोष्णका सहन सहजमें ही हो जाता है, संसारके कार्योंसे उपरामता होने लगती है, परमात्मा और उसकी प्राप्तिके साधनोंमें तथा संतशास्त्रोंकी वाणीमें परम श्रद्धा हो जाती है, परमात्माको छोड़कर दूसरे किसी पदार्थसे मेरी तृप्ति होगी या मुझे परम सुख मिलेगा, यह शंका सर्वथा मिटकर चित्तका समाधान हो जाता है। फिर उसे एक परमात्माके सिवा अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता, उसकी सारी क्रियाएँ केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये होती हैं। वह सब कुछ छोड़कर एक परमात्माको ही चाहता है। इसीका नाम मुमुक्षा या शुभेच्छा है। मुमुक्षा तो इससे पहले भी जाग्रत् हो सकती है, परंतु वह प्राय: अत्यन्त तीव्र नहीं होती। ध्येयका निश्चय, वैराग्य, सात्त्विक षट् सम्पत्ति आदिकी प्राप्तिके बाद जो मुमुक्षुत्व होता है वही अत्यन्त तीव्र हुआ करता है। भगवान् श्रीशंकराचार्यने मुमुक्षुत्वके तीव्र, मध्यम, मन्द और अतिमन्द ये चार भेद बतलाये हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेदसे त्रिविध* होनेपर भी प्रकारभेदसे अनेकरूप दु:खोंके द्वारा सर्वदा पीड़ित और व्याकुल होकर जिस अवस्थामें साधक विवेकपूर्वक परिग्रहमात्रको ही अनर्थकारी समझकर त्याग देता है, उसको तीव्र मुमुक्षा कहते हैं। त्रिविध तापका अनुभव करने और सत्-परमार्थ वस्तुको विवेकसे जाननेके बाद, मोक्षके लिये भोगोंका त्याग करनेकी इच्छा होनेपर भी संसारमें रहना उचित है या त्याग देना, इस प्रकारके संशयमें झूलनेको मध्यम मुमुक्षा कहते हैं। मोक्षके लिये इच्छा होनेपर भी यह समझना कि अभी बहुत समय है, इतनी जल्दी क्या पड़ी है, संसारके कामोंको कर लें, भोग भोग लें, आगे चलकर मुक्तिके लिये भी उपाय कर लेंगे। इस प्रकारकी बुद्धिको मन्द मुमुक्षा कहते हैं और जैसे किसी राह चलते मनुष्यको अकस्मात् रास्तेमें बहुमूल्य मणि पड़ी दिखायी दी और उसने उसको उठा लिया, वैसे ही संसारके सुख-भोग भोगते-भोगते ही भाग्यवश कभी मोक्ष मिल जायगा तो मणि पानेवाले पथिककी भाँति मैं भी धन्य हो जाऊँगा। इस प्रकारकी मूढ़-मतिवालोंकी बुद्धिको अतिमन्द मुमुक्षा कहते हैं। बहुजन्मव्यापी तपस्या और श्रीभगवान्की उपासनाके प्रभावसे हृदयके सारे पाप नष्ट होनेसे भगवान्की प्राप्तिके लिये तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। तीव्र इच्छा उत्पन्न होनेपर मनुष्यको इसी जीवनमें भगवान्की प्राप्ति हो जाती है—**'यस्तु तीव्रमुमुक्षुः स्यात् स जीवन्नेव मुच्यते'**। इस तीव्र शुभेच्छाके उदय होनेपर उसे दूसरी कोई भी बात नहीं सुहाती, जिस उपायसे उसे अपने प्यारेका मिलन सम्भव दीखता है, वह लोक-परलोक किसीकी कुछ भी परवा न कर उसी उपायमें लग जाता है। प्रिय-मिलनकी उत्कण्ठा उसे उन्मत्त बना देती है। प्रियकी प्राप्तिके लिये वह तन-मन-धन-धर्म-कर्म—सभीका उत्सर्ग करनेको प्रस्तुत रहता है। प्रियतमकी तुलनामें उसकी दृष्टिसे सभी कुछ तुच्छ हो जाता है, वह अपने-आपको प्रियमिलनेच्छापर न्योछावर कर डालता है। ऐसे भक्तोंका वर्णन करते हुए सत्पुरुष कहते हैं—

प्रियतमसे मिलनेको जिसके प्राण कर रहे हाहाकार।
गिनता नहीं मार्गकी, कुछ भी, दूरीको, वह किसी प्रकार॥
नहीं ताकता, किंचित् भी, शत-शत बाधा-विघ्नोंकी ओर।
दौड़ छूटता जहाँ बजाते मधुर-वंशरी नन्दकिशोर॥

प्रियतमके लिये प्राणोंको तो हथेलीपर लिये घूमते हैं ऐसे प्रेमी साधक! उनके प्राणोंकी सम्पूर्ण व्याकुलता, अनादिकालसे लेकर अबतककी समस्त इच्छाएँ उस एक ही प्रियतमको अपना लक्ष्य बना लेती हैं। प्रियतमको शीघ्र पानेके लिये उसके प्राण उड़ने लगते हैं। एक सज्जनने कहा है कि 'जैसे बाँधके टूट जानेपर जलप्लावनका प्रवाह बड़े वेगसे बहकर सारे प्रान्तके गाँवोंको बहा ले जाता है, वैसे ही विषय-तृष्णाका बाँध टूट जानेपर प्राणोंमें भगवत्प्रेमके जिस प्रबल उन्मत्त

* अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक रोग आदिसे होनेवाले दु:खोंको आध्यात्मिक; अनावृष्टि, अतिवृष्टि, वज्रपात, भूकम्प, दैव-दुर्घटना आदिसे होनेवाले दु:खोंको आधिदैविक और दूसरे मनुष्यों या भूतप्राणियोंसे प्राप्त होनेवाले दु:खोंको आधिभौतिक कहते हैं।

वेगका संचार होता है, वह सारे बन्धनोंको जोरसे तत्काल ही तोड़ डालता है। प्रणयीके अभिसारमें दौड़नेवाली प्रणयिनीकी तरह उसे रोकनेमें किसी भी सांसारिक प्रलोभनकी प्रबल शक्ति समर्थ नहीं होती, उस समय वह होता है अनन्तका यात्री—अनन्त परमानन्द-सिन्धु-संगमका पूर्ण प्रयासी! घर-परिवार सबका मोह छोड़कर, सब ओरसे मन मोड़कर वह कहता है—

बन बन फिरना बेहतर हमको रतन-भवन नहिं भावै है।
लता तले पड़ रहनेमें सुख नाहिंन सेज सुहावै है॥
सोना कर धर सीस भला अति तकिया ख्याल न आवै है।
'ललितकिसोरी' नाम हरीका जपि-जपि मन सचु पावै है॥
अब बिलंब जनि करो लाड़िली कृपा-दृष्टि टुक हेरो।
जमुना-पुलिन गलिन गहबरकी बिचरूँ साँझ सबेरो॥
निसिदिन निरखौं जुगल-माधुरी रसिकनते भट-भेरो।
'ललितकिसोरी' तन मन आकुल श्रीबन चहत बसेरो॥

एक नन्दनन्दन प्यारे व्रजचन्द्रकी झाँकी निरखनेके सिवा उसके मनमें फिर कोई लालसा ही नहीं रह जाती, वह अधीर होकर अपनी लालसा प्रकट करता है—

एक लालसा मनमहँ धारूँ।
बंसीवट, कालिन्दी-तट नट-नागर नित्य निहारूँ॥
मुरली-तान मनोहर सुनि सुनि तनु-सुधि सकल बिसारूँ।
छिन-छिन निरखि झलक अँग-अंगनि पुलकित तन-मन वारूँ॥
रिझऊँ स्याम मनाइ, गाइ गुन, गुंज-माल गल डारूँ।
परमानन्द भूलि सगरौ, जग स्यामहि स्याम पुकारूँ॥

बस, यही तीव्रतम शुभेच्छा है!

आवश्यक साधन

'कल्याण' के पाठक बड़े-बड़े संतोंके अनुभूत वचनोंसे यह जान चुके हैं कि मनुष्यजीवनका परम लक्ष्य 'श्रीभगवान्' को या उनके 'अनन्यप्रेम' को प्राप्त करना है। वस्तुतः मुक्ति, मोक्ष, ज्ञान, सनातन शान्ति, परम आनन्द आदि सब इसीके पर्याय हैं। जीवन बहुत थोड़ा है और वह भी अनेक बाधा-विघ्नोंसे भरा हुआ है। आजकल तो चारों ओरसे ही विघ्न-बाधाओंकी और दुःख-कष्टोंकी मानो बाढ़-सी आ रही है। ऐसे आपद्-विपद्से पूर्ण क्षुद्र जीवनमें जो मनुष्य शीघ्र-से-शीघ्र अपने लक्ष्यकी ओर ध्यान देकर सावधानीके साथ चलकर अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है, वही बुद्धिमान् है, उसीका जन्म सार्थक है और उसीका मनुष्यजीवन सफल है। याद रखना चाहिये, यह मनुष्यजीवन यदि यों ही व्यर्थकी बातोंमें बीत गया तो पीछे पछतानेके सिवा और कोई उपाय नहीं रह जायगा। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपनी स्थितिपर विचार करके इस ओर लग जाना चाहिये। जो लगे हुए हैं, वे आगे बढ़ें; जो अभी नहीं लगे हैं, वे लगें और जल्दी लगें। आजकल मौत बहुत सस्ती हो रही है। कुछ लोग तो कहते हैं कि बहुत ही शीघ्र पृथ्वीमें मनुष्योंकी संख्या आधीसे भी अधिक घट जायगी। उस घटनेवाली मनुष्यसंख्यामें हमलोग भी तो होंगे। इसलिये और भी शीघ्र सजग होकर लग जाना चाहिये। विशेष कुछ न हो तो नीचे लिखे नियमोंका पालन स्वयं विश्वासपूर्वक करना चाहिये तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे करवाना चाहिये। रोज अपनी रिपोर्ट लिखनी चाहिये और यदि हो सके तो अपने कुछ मित्रोंकी एक मण्डली बनाकर उसमें परस्पर रिपोर्ट सुनानी चाहिये और नियम टूटनेपर दण्डविधान करना चाहिये। दण्ड पैसोंका न होकर नाम-जप आदि किसी साधनका ही होना चाहिये, जिसमें आगेसे नियम न टूटे और उत्साह भी न घटे। मण्डली हो तो दण्डमें जबरदस्ती या पक्षपात न हो, इस बातका पूरा ध्यान रहे।

१—सूर्योदयसे पहले जग जाना।

२—प्रातःकाल जगते ही भगवान्का स्मरण करना।

३—दोनों समय भगवान्की प्रार्थना करना या संध्या करके गायत्रीका जप करना।

४—कम-से-कम २१,६०० भगवन्नामोंका जप नित्य कर लेना।

५—कम-से-कम आध घण्टे उपनिषद्, गीता, रामायण या अन्य किसी भी पारमार्थिक ग्रन्थ या संतवाणीका स्वाध्याय करना या सत्संग करना।

६—जानकर किसीका बुरा न करना।

७—जानकर झूठ न बोलना

८—पुरुष हो तो परस्त्रीको और स्त्री हो तो परपुरुषको बुरी नजरसे न देखना। न जानकर स्पर्श करना।

९—किसीकी निन्दा करनेसे बचना।

१०—भोजन, फलाहार और जलपानके समय भगवान्‌को याद करना। उन्हें मन-ही-मन अर्पण करके खाना-पीना।

११—दूसरेके हककी किसी चीजको न लेना, न उसपर मनको ही चलने देना।

१२—अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन कुछ दान करना।

१३—हँसी-मजाक न करना।

१४—माता-पिता आदि बड़ोंको प्रतिदिन प्रणाम करना।

१५—सब जीवोंमें भगवान् हैं, सारा जगत् भगवान्‌से भरा है, सारा जगत् भगवान्‌से ही निकला है, भगवान्‌में ही है, इस बातको याद रखनेकी चेष्टा करना।

१६—क्रोधके त्यागका अभ्यास करना। क्रोध आनेपर प्रत्येक बार सौ बार भगवान्‌का नाम लेकर उसका प्रायश्चित्त करना।

१७—किसी भी जीवसे घृणा न करना।

१८—सोनेके समय प्रतिदिन भगवान्‌को स्मरण करना।

१९—प्रतिज्ञापूर्वक नियमोंका पालन करना और किसी नियमके टूट जानेपर दण्डकी व्यवस्था करना।

२०—नियमोंके पालनका ब्यौरा रोज लिखना।

यदि भगवत्प्राप्तिके लिये इन नियमोंके पालनका साधन होता रहेगा तो आशा है भगवत्कृपासे बहुत शीघ्र अन्त:करणकी शुद्धि होगी और आप भगवान्‌के प्रेमपथपर अग्रसर एक सच्चे साधक हो सकेंगे। संत-महात्माओंने बहुत तरहके साधनोंका वर्णन किया है और वे सभी साधन अधिकारभेदसे उत्तम हैं, परंतु अन्त:करणकी शुद्धि प्राय: सभी साधनोंमें आवश्यक है, इसलिये उपर्युक्त साधनोंका अभ्यास सभीको करना चाहिये। इनसे अन्त:करणकी शुद्धि होगी और फिर यही परम साधन बनकर भगवत्प्राप्तिमें मुख्य हेतु बन जायँगे।

दस प्रकारकी नौ-नौ बातें

(माननेकी और छोड़नेकी)

१—किसी व्यक्तिके घर आनेपर नौ अमृत खर्च करें—(१) मीठे वचन, (२) सौम्य दृष्टि, (३) सौम्य मुख, (४) सौम्य मन, (५) खड़े होना, (६) स्वागत पूछना, (७) प्रेमसे बातचीत करना, (८) पास बैठना और (९) जाते समय पीछे-पीछे जाना।

इससे गृहस्थकी उन्नति होती है।

२—दूसरोंको बहुत कम खर्चकी नौ वस्तुएँ गृहस्थोंको जरूर देनी चाहिये—(१) आसन, (२) पैर धोनेको जल, (३) यथाशक्ति भोजन, (४) जमीन, (५) बिछौना, (६) घास, (७) पीनेको जल, (८) तेल और (९) दीपक।

इनसे गृहस्थकी अभीष्टसिद्धि होती है।

३—नौ बातें उन्नतिमें बाधक हैं; इसलिये उनका त्याग करना चाहिये—(१) चुगली या निन्दा, (२) परस्त्री-सेवन, (३) क्रोध, (४) दूसरेका बुरा करना, (५) दूसरेका अप्रिय करना, (६) झूठ, (७) द्वेष, (८) दम्भ और (९) जाल रचना।

इनके त्यागसे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है।

४—नौ काम गृहस्थोंको रोज अवश्य करने चाहिये—(१) स्नान, (२) संध्या, (३) जप, (४) होम, (५) स्वाध्याय, (६) देवपूजन, (७) बलिवैश्वदेव, (८) अतिथिसेवा और (९) श्राद्ध-तर्पण।

इनसे सुखकी प्राप्ति होती है।

५—नौ बातें गृहस्थको गुप्त रखनी चाहिये—(१) जन्म-नक्षत्र, (२) मैथुन, (३) मन्त्र, (४) घरके छिद्र, (५) वंचना, (६) आयु, (७) धन, (८) अपमान और (९) स्त्री।

इनके प्रकाश करनेसे अनेकों प्रकारकी हानियाँ होती हैं।

६—नौ बातें गृहस्थको प्रकाश करनी चाहिये—(१) छिपकर किया हुआ पाप, (२) निष्कलंकता, (३) ऋणदान, (४) ऋणशोधन, (५) उत्तम वंश, (६) खरीद, (७) बिक्री, (८) कन्यादान और (९) गुण-गौरव।

इनसे गृहस्थकी उन्नति होती है।

७—नौ जनोंको गृहस्थको जरूर दान देना चाहिये—(१) माता, (२) पिता, (३) गुरु, (४) दीन, (५) अनाथ, (६) उपकार करनेवाला, (७) सत्पात्र, (८) मित्र और (९) विनयशील।

यह दान अनन्त फलदायक होता है।

८—नौ आदमियोंको दान नहीं देना चाहिये—(१) खुशामदी, (२) स्तुति करनेवाला, (३) चोर, (४) कुवैद्य, (५) व्यभिचारी, (६) धूर्त, (७) शठ, (८) कुश्तीका पेशा करनेवाला और (९) अपराधी।

इनको देनेसे कोई फल नहीं होता।

९—नौ वस्तुओंको किसी हालतमें विपत्ति पड़नेपर भी नहीं देना चाहिये—(१) संतानके रहते सर्वस्व-दान, (२) पत्नी, (३) शरणागत, (४) दूसरेकी रखी हुई चीज, (५) बन्धक रखी हुई चीज, (६) कुलकी वृत्ति, (७) आगेके लिये रखी हुई चीज, (८) स्त्री-धन और (९) पुत्र।

इनके देनेपर प्रायश्चित्त किये बिना शुद्धि नहीं होती।

१०—ये नौ नवक अवश्य पालन करनेयोग्य हैं। इनसे सुख-समृद्धिकी वृद्धि होती है। अब एक नवक और है, जो धर्मरूप है और जिसके पालनसे अत्यन्त पारमार्थिक लाभ होता है।

(१) सत्य, (२) शौच, (३) अहिंसा, (४) क्षमा, (५) दान, (६) दया, (७) मनका निग्रह, (८) अस्तेय और (९) इन्द्रियोंका निग्रह।

इन दस नवकोंका पालन करनेसे लोक, परलोक दोनों बनते हैं। (स्कन्दपुराण-काशीखण्ड, पूर्वार्द्ध)

मनुष्य-जीवनके कुछ दोष

कुसंगति, कुकर्म, बुरे वातावरण, खान-पानके दोष आदि अनेक कारणोंसे मनुष्यमें कई प्रकारके दोष आ जाते हैं, जो देखनेमें छोटे मालूम होते हैं, बल्कि आदत पड़ जानेसे मनुष्य उन्हें दोष ही नहीं मानता, पर वे ऐसे होते हैं, जो जीवनको अशान्त, दु:खी बनानेके साथ ही उन्नतिके मार्गको रोक देते हैं और उसे अध:पातकी ओर ले जाते हैं। ऐसे दोषोंमेंसे कुछपर यहाँ विचार करते हैं—

१—मुझे तो अपनेको देखना है—इस विचारवाले मनुष्यका स्वार्थ छोटी-सी सीमामें आकर गंदा हो जाता है। 'किस काममें मुझे लाभ है, मुझे सुविधा है', 'मेरी सम्पत्ति कैसे बढ़े', 'मेरा नाम सबसे ऊँचा कैसे हो', 'सब लोग मुझे ही नेता मानकर मेरा अनुसरण कैसे करें',—इसी प्रकारके विचारों और कार्योंमें वह लगा रहता है। 'मेरे किस कार्यसे किसकी क्या हानि होगी', 'किसको क्या असुविधा होगी', 'किसका कितना मानभंग होगा', 'किसके हृदयपर कितनी ठेस पहुँचेगी', 'कितने मेरे विरोधी बन जायँगे'—इन सब बातोंपर विचार करनेकी इच्छा गंदे स्वार्थी हृदयमें नहीं होती। वह छोटी-सी सीमामें अपनेको बाँधकर केवल अपनी ओर देखा करता है; फलस्वरूप उसके द्वारा अपमानित, क्षतिग्रस्त, असुविधाप्राप्त लोगोंकी संख्या सहज ही बढ़ती रहती है, जो उसकी यथार्थ उन्नतिमें बड़ी बाधा पहुँचाते हैं।

२—भगवान् और परलोक किसने देखे हैं?—भगवान् और परलोकपर विश्वास न करनेवाला मनुष्य यों कहा करता है। ऐसा मनुष्य स्वेच्छाचारी होता है और किसी भी पापकर्ममें प्रवृत्त हो जाता है। अमुक बुरे कर्मका फल मुझे परलोकमें—दूसरे जन्ममें भोगना पड़ेगा या अन्तर्यामी सर्वव्यापी भगवान् सब कर्मोंको देखते हैं, उनके सामने मैं क्या उत्तर दूँगा—इस प्रकारके विश्वासवाला मनुष्य सबके सामने तो क्या, छिपकर भी पाप नहीं कर सकता। पर जिसका ऐसा विश्वास नहीं है, वह केवल कानूनसे बचनेका ही प्रयत्न करता है। उसे न तो बुरे कर्मसे—पापसे घृणा है, न उसे किसी पारलौकिक दण्डका भय है। आजकलकी घूसखोरी-चोरबाजारीका प्रधान कारण यही है। और जबतक यह अविश्वास रहेगा, तबतक कानूनसे ऐसे पाप नहीं रुक सकते। पापोंके रूप बदल सकते हैं पर उनका अस्तित्व नहीं मिटता। और जब मनुष्यका जीवन इस प्रकार पापपंकमें स्वेच्छापूर्वक फँस जाता है, तब उसकी उन्नति कैसे हो सकती है? वह तो वस्तुत:

अवनतिको ही—अध:पातको ही उन्नति और उत्थान मानता है। ऐसे मनुष्यको इस लोकमें दु:ख प्राप्त होता है और भजन-ध्यानकी उससे कोई सम्भावना ही नहीं रहती। अत: मनुष्यजीवनके परम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिसे भी वह वंचित ही रहता है। उसे भविष्यमें बार-बार आसुरी योनि और अधमगति ही प्राप्त होती है।

भगवान् कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। २०)

३—मेरा कोई क्या कर लेगा?—संसारमें सभी मनुष्य सम्मान चाहते हैं। जो मनुष्य ऐंठमें रहता है, दूसरोंको सम्मान नहीं देता, कहता है, 'मुझे किसीसे क्या लेना है, मैं किसीकी क्यों परवा करूँ, मेरा कोई क्या कर लेगा?' वह इस अभिमानके कारण ही अकारण लोगोंको अपना वैरी बना लेता है। दूसरोंकी तो बात ही क्या, उसके घरके और बन्धु-बान्धव भी उसके पराये हो जाते हैं। वह अभिमानवश स्वयं किसीकी परवा नहीं करता, किसीके सुख-दु:खमें हिस्सा नहीं बँटाता और उनसे अपनेको पुजवाना चाहता है। फलस्वरूप सभी उससे घृणा करने लगते हैं और उसके द्वेषी बन जाते हैं। वह इसे अपना आत्मसम्मान (Dignity) मानता है, पर होती है यह उसकी मूर्खता। इस प्रकारका अभिमान उसे सबसे बहिष्कृत—अकेला असहाय बना देता है और इससे उसकी उन्नति रुक जाती है।

४—क्या करूँ, मैं तो निरुपाय हूँ, मुझसे ऐसा नहीं हो सकता—इस प्रकार आत्मविश्वास और आत्मश्रद्धासे विहीन मनुष्य निरन्तर निराशा, विषाद, शोकमें निमग्न और अकर्मण्य-सा बना रहता है। 'पाप हैं पर मुझसे वे नहीं छूट सकते', 'मुझमें अमुक दोष है पर मैं उससे लाचार हूँ', 'काम तो बहुत उत्तम है पर मैं उसे कैसे कर सकता हूँ', 'भगवान् हैं,' महात्माओंको मिलते होंगे! पर मुझको क्यों मिलने लगे?' 'भजन करना अच्छा है पर मुझसे तो बन ही नहीं सकता',—इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्रमें उत्साहहीन होकर जीवनयापन करनेवाला मनुष्य न तो कभी उत्तम आरम्भ कर सकता है और न जीवनके किसी भी क्षेत्रमें सफलता ही पा सकता है।

५—मेरा कोई नहीं है, सभी मुझसे घृणा करते हैं—अपनेमें हीनताकी भावना करते-करते मनुष्यको ऐसा दीखने लगता है कि मुझसे सभी घृणा करते हैं। यों सोचते-सोचते वह स्वयं भी अपनेसे घृणा करने लगता है और अपनेको किसी भी योग्य न समझकर मुँह छिपाता फिरता है; 'कोई मुझे देख न ले, देखेगा तो घृणा करेगा।' यों किसीके सामने आकर कुछ भी करनेका साहस उसका नहीं होता। ऐसा मनुष्य प्राय: घुल-घुलकर रोता हुआ मरता है।

६—मैं तो बस, दु:ख भोगनेके लिये ही पैदा हुआ हूँ—बात-बातमें चिढ़नेवाले और जरा-जरा-सी प्रतिकूलतापर दु:ख माननेवाले पुरुषका सारा पौरुष चिढ़ने, अंदर-ही-अंदर जलने और दु:ख भोगनेमें ही समाप्त हो जाता है। उसका दु:खदर्शी चिड़चिड़ा स्वभाव उसे पल-पलमें दु:खी करता है। बिना हुए ही उसे दीखता है कि 'अमुक मुझे चिढ़ा रहा है। अमुक मुझे दु:ख देनेके लिये ही हँस रहा है।' 'मुझपर दु:ख-ही-दु:ख आ रहे हैं।' 'मैं सुखी होनेका ही नहीं, मेरे भाग्यमें तो बस दु:ख-क्लेश ही बदा है।' इस प्रकार कल्पित दु:खके घोर जंगलमें वह अपनेको घिरा पाता है। ऐसे मनुष्योंमें कई पागल हो जाते हैं। कुछ आत्महत्यापर उतारू हो जाते हैं। ऐसे मनुष्य गम्भीरतासे किसी विषयपर विचार नहीं कर पाते, दिन-रात दु:खचिन्तनमें और सभीको दु:ख देनेवाले मानकर उनसे द्वेष करनेमें लगे रहते हैं। उदासी, निराशा, मुर्दनी, क्रोध, उद्विग्नता, मस्तिष्कविकृति, उन्माद आदि दोष इन लोगोंके नित्य संगी बन जाते हैं।

७—जगत्में कोई अच्छा है ही नहीं—दोष देखते-देखते मनुष्यकी इस प्रकारकी आँखें बन जाती हैं कि बिना हुए भी उसको सबमें दोष ही दिखायी देते हैं। वैसे ही, जैसे हरा चश्मा लगा लेनेपर सब चीजें हरी दिखायी देती हैं। उसे फिर कोई अच्छा दीखता ही नहीं। महापुरुष और भगवान्में भी उसे दोष ही दीखते हैं। उसका निश्चय हो जाता है कि जगत्में कोई भला है ही नहीं। अतएव वह स्वयं भी भला नहीं रह सकता। दिन-रात दोषदर्शन और दोषचिन्तन करते-करते वह बाहर और भीतरसे दोषोंका भंडार बन जाता है।

८—लोग मुझे अच्छा समझें—इस भावनावाले मनुष्यमें दम्भकी प्रधानता होती है। वह अच्छा बनना नहीं चाहता, अपनेको अच्छा दिखलाना चाहता है। यों

जगत्‌को ठगने जाकर वह आप ही ठगा जाता है। उसके जीवनसे सचाई चली जाती है। लोग जिस प्रकारके वेष-भाषासे प्रसन्न होते हैं, वह उसी प्रकारका वेष धारण करके वैसी ही भाषा बोलने लगता है। उसके मनमें न खादीसे प्रेम है, न गेरुआसे और न नाम-जपसे। पर अच्छा कहलानेके लिये वह खादी पहन लेता है, गेरुआ धारण कर लेता है और माला भी जपने लगता है। पर ऐसा करता है दूसरोंके सामने ही, जहाँ उनसे बड़ाई मिलती है। और यदि इनके विरोध करनेपर लोग भला समझेंगे तो वह इन्हींका विरोध भी करने लगेगा। उसका प्रत्येक कार्य दम्भ और छल-कपटसे भरा होगा।

९—मैं न करूँगा तो सब चौपट हो जायगा—यह भी मनुष्यके अभिमानका ही एक रूप है। वह समझता है कि बस, 'अमुक कार्य तो मेरे किये ही होता है। मैं छोड़ दूँगा तो नष्ट हो जायगा। मेरे मरनेके बाद तो चलेगा ही नहीं।' ऐसे विचार दूसरोंके प्रति हीनता प्रकट करते हैं और उनके मनमें द्रोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं। संसारमें एक-से-एक बढ़कर प्रतिभाशाली पुरुष पैदा हुए हैं—होते हैं। तुम अपनेको बड़ा मानते हो, पर कौन जानता है कि तुमसे कहीं अधिक प्रभाव तथा गुणसम्पन्न संसारमें कितने हैं, जिनके सामने तुम कुछ भी नहीं हो। किसी पूर्वजन्मके पुण्यसे अथवा भगवत्कृपासे किसी कार्यमें कुछ सफलता मिल जाती है तो मनुष्य समझ बैठता है कि 'यह सफलता मेरे ही पुरुषार्थसे मिली है, मेरे ही द्वारा इसकी रक्षा होगी। मैं न रहूँगा तो पता नहीं, क्या अनर्थ हो जायगा।' यों कहकर उसका अभिमान नाच उठता है। और जहाँ मनुष्यने अभिमानके नशेमें नाचना आरम्भ किया कि चक्कर खाकर गिरा!

१०—अपनेको तो आरामसे रहना है—यह इन्द्रियाराम विलासी पुरुषोंका उद्‌गार है। पैसा पासमें चाहे न हो, चाहे यथेष्ट आय न हो, चाहे कर्जका बोझ सिरपर सवार हो, पर रहना है आरामसे। आजकल चला है उच्चस्तरका जीवन—(High standard of living) इसका अर्थ है—स्वाद-शौकीनी-विलासिता, फिजूल-खर्ची और झूठी शानकी गुलामी। सादा धोती-कुर्ता पहनिये तो निम्नस्तर है—कोट-पतलून उच्चस्तर है। जूते उतारकर हाथ-पैर धोकर फर्शपर बैठकर हाथसे खाइये तो निम्नस्तर है—टेबलपर कपड़ा बिछाकर बिना हाथ-मुँह धोये, जूते पहने, कुर्सीपर बैठकर सबकी जूँठन खाना उच्चस्तर है। कुएँपर या नदीमें नदीकी मिट्टी मलकर नहाना और सादे कपड़े पहनना निम्नस्तर है—पाखानेमें नंगे होकर टबमें बैठकर साबुन-क्रीम आदि लगाकर झरते हुए नलसे नहाना—उच्चस्तर है; अपनी हैसियतके अनुसार साधारण साग-सब्जीके साथ दाल-रोटी खाना निम्नस्तर है और किसी प्रकारसे प्राप्त करके चाय-बिस्कुट खाना, अंडे खाना, शराब पीना और कबाब उड़ाना उच्चस्तर है। घरमें कथा-कीर्तन करना निम्नस्तर है और सिनेमा देखना उच्चस्तर है। सीधे-सादे व्यापार-व्यवहारसे थोड़ी जीविका उपार्जन करना निम्नस्तर है और ऊपरी चमक-दमक तथा छलभरे व्यवहारसे दूसरोंको ठगकर अधिक पैसा कमाना उच्चस्तर है। थोड़े खर्चसे घरका—ब्याह-शादीका काम चलाना निम्नस्तर है और बहुत अधिक खर्च करके आडम्बर करना उच्चस्तर है। ऐसे उच्चस्तरमें सबसे अधिक आवश्यकता होती है—प्रमादकी और धनकी। सो प्रमादमें तो कोई कमी रहती नहीं, पर धनका अभाव रहता है। धनाभावकी पूर्तिके लिये चोरी, ठगबाजी, डकैती, घूसखोरी और बेईमानीके रास्ते पकड़ने पड़ते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्।

(गीता १६। १२)

'विषय-भोगोंकी प्राप्तिके लिये अन्यायसे अर्थ-संग्रहका प्रयत्न करते हैं।' हमारे यहाँ उच्चस्तरके जीवनका अर्थ था—सादगी, सदाचार, त्याग, तपस्या, पवित्र आचरण, आदर्श चरित्र, साधुभाव और भगवद्भक्ति। इसके स्थानमें आज झूठ, कपट, छल, विलासिता, उच्छृंखलता, दुराचार, यथेच्छाचार, अनाचार और भोगमय जीवनको उच्चस्तरका जीवन माना जाता है। तमसाच्छन्न विपरीत बुद्धिका यही परिणाम है। इस प्रकार प्रमाद और पापमें लगे रहनेवाले मनुष्योंकी सच्ची उन्नति कैसे हो सकती है?

इसी प्रकारके और भी बहुत-से दोष हैं, आदत या स्वभावसे बने हुए हैं। इन सब दोषोंसे सावधान होकर इनका तुरंत त्याग कर देना चाहिये। लौकिक उन्नति चाहनेवाले और मोक्षकी इच्छावाले—दोनोंके ही लिये ये दोष घातक हैं।

अशरण-शरण

भगवान् अशरणके शरण हैं, जो सब कुछ होते हुए भी अपने मनसे सबकी शरण छोड़ देता है वही भगवान्की शरण पानेका अधिकारी होता है। जबतक वह धन, जन, प्रभुत्व, विद्या, बुद्धि, साधन, पुरुषार्थ, कर्म, योग, ज्ञान, मनुष्य, यक्ष, देवता आदिका आश्रय लिये रहता है, तबतक भगवान्का अनन्याश्रयी नहीं होता। कभी भगवान्की प्रार्थना करता है; कभी अन्य किसी देवताको मनाता है, कभी दान-पुण्यके फलसे परम सुख पाना चाहता है, कभी सिद्धियोंके चमत्कारसे आनन्द लूटना चाहता है और कभी साधनके बलपर भवसागरसे तरना चाहता है। ऐसी अवस्थामें वह भगवान्से भी उतना ही आश्रय पाता है जितना वह उनसे चाहता है। परंतु जब वह सबका आश्रय छोड़कर एकमात्र भगवान्पर निर्भर हो जाता है तब भगवान् भी उस अनन्याश्रयी भक्तकी सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लेते हैं। जगत्का भरोसा रखनेवाले लोग न तो इस स्थितिके सुखका अनुमान ही कर सकते हैं और न ऐसा बनना ही चाहते हैं; इसीसे वे बारंबार एक दु:खके बाद दूसरे दु:खसे पीड़ित होते और विविध प्रकारके तापोंसे जलते रहते हैं। वे लोग भगवान्को अशरण-शरण और दीनबन्धु तो कहते हैं परंतु स्वयं जगत्की शरण छोड़कर अशरण होना और अभिमान त्यागकर दीन बनना नहीं चाहते। गीतामें भगवान्ने अपने श्रीमुखसे स्थान-स्थानपर इसी अनन्याश्रयतापर जोर दिया है और अनन्याश्रयी अशरण भक्तको शरण देकर उसका योगक्षेम स्वयं वहन करने और उसे सर्वपापोंसे मुक्तकर प्रेम प्रदान करने और भवसागरसे अति शीघ्र तारनेकी प्रतिज्ञाएँ की हैं। तनमें, मनमें, बुद्धिमें दूसरेके लिये स्थान ही नहीं होना चाहिये। जो स्त्री अपने प्रेमका जरा-सा भी भाग पति-बुद्धिसे किसी दूसरेको देती है, वह व्यभिचारिणी है। अव्यभिचारिणी तो वह है जिसके पति-प्रेमका पूरा अधिकारी एकमात्र पति ही है। इसी प्रकार जो अपने एकमात्र स्वामी भगवान्के अतिरिक्त अन्य किसी आश्रयसे सुख चाहता है और वह भगवान्का भक्त भी बनता है, उसकी भक्ति व्यभिचारिणी है। कबीरजी कहते हैं—

कबिरा काजर-रेख भी अब तो दई न जाय।
नैननि प्रीतम रमि रहा दूजा कहाँ समाय॥

आँखोंमें काजलकी रेखतक लगानेकी गुंजाइश नहीं रही। कारण उनमें सर्वत्र एकमात्र प्रियतम ही रम रहा है, दूसरेके लिये स्थान ही नहीं! जब स्थूल आँखकी यह गति होती है, तब मनके लिये तो कहना ही क्या है। इसीलिये भगवान्के प्रेमी भक्त मोक्ष भी नहीं चाहते। यदि वे मोक्ष चाहें तो उनकी शरणागतिमें व्यभिचार हो जाय; वे पूरे अशरण न रहें और अशरण हुए बिना भगवान्के शरणका अधिकार नहीं मिल सकता। श्रीभगवान्ने इसीलिये स्पष्ट आज्ञा दी है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

'सब धर्मोंको यानी सब प्रकारके कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मेरी शरणमें आ जा' ऐसे शरणप्राप्त भक्त त्रिभुवनका साम्राज्यविभव मिलनेपर भी आधे पलके लिये भगवान्को भुलाना नहीं चाहते; क्योंकि उन्हें एकमात्र भगवान्के सिवा अन्य किसीके आश्रयसे सुख नहीं मिलता। बात भी वस्तुत: यही है। जो स्वयं विनाशी है, वह अविनाशी पूर्ण सुख कैसे दे सकता है, जगत्की सारी वस्तुएँ विनाशी हैं, सारे साधन साध्यकी प्राप्ति होनेपर नष्ट हो जाते हैं, फिर उनसे कभी नष्ट न होनेवाली स्थिति कैसे मिल सकती है? जो स्वयं अधूरा है वह दूसरेको पूरा कैसे बना सकता है? फिर बुद्धिमान् पुरुषको ऐसे पदार्थोंका आश्रय क्यों ग्रहण करना चाहिये? इसीलिये मीरा पुकार उठी थी—

ऐसे बरको क्या बरूँ जो जनमै और मर जाय।
बर बरिये एक साँवरो मेरो चुड़लो अमर हो जाय॥

सदा सुहागिन तो वही रह सकती है जिसका स्वामी अमर हो। अमर एक भगवान् हैं, इसलिये उन्हींको पतिरूपमें वरणकर जीवरूप स्त्री सदाके लिये सौभाग्य प्राप्त कर सकती है। विषयोंका सुहाग कितने दिनका। आज है कल नहीं। पलक मारते-मारते विषय ध्वंस हो जाते हैं, उनपर आस्था रखनेवाला पुरुष कदापि सुखी नहीं हो सकता। इसलिये उनका आश्रय त्यागकर एकमात्र उन परमात्मदेवका आश्रय ग्रहण करना चाहिये, जो नित्य, अचल, ध्रुव, सनातन, सर्वसुखाकर और परमानन्दरूप हैं। वह आश्रय दूसरे सारे आश्रयोंको छोड़नेसे ही मिल सकता है। जिस किसीने जगत्का

आसरा छोड़कर भगवान्‌की शरण चाही, उसीके मस्तकपर उनका अभय हस्त स्थापित हो गया। फिर वह सदाके लिये निश्चिन्त हो गया, मौज पा गया, मस्त हो गया, अशरण-शरण भगवान्‌की गोदमें पहुँचकर धन्य हो गया। इसके बाद चाहे सारा विश्व बदल जाय, उसको कुछ भी सुख-दुःख नहीं होता। वह द्वन्द्वातीत और नित्य आनन्दमय बन गया। स्वामी रामके मतवाले शब्दोंमें उस प्रेममें डूबे हुए निश्चिन्त निर्भय मौजी भक्तकी स्थिति सुनिये—

बादशाह दुनियाँके हैं मुहरे मेरी शतरंजके।
दिल्लगीकी चाल है, सब रंग सुलहो-जंगके॥
रक्शे शादीसे मेरे जब काँप उठती है जमीं।
देखकर मैं खिलखिलाता, कहकहाता हूँ वहीं॥

वह भक्त परमात्माकी शरण पाकर तद्रूप हो जाता है। उसमें और उसके स्वामीमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। स्वामीका गोत्र ही सेवकका गोत्र और स्वामीकी सत्ता ही सेवककी सत्ता होती है।

गुसाईंजी कहते हैं—

मेरे जाति-पाँति न चहौं काहूकी जाति-पाँति,
मेरे कोऊ कामको न हौं काहूके कामको।
लोक परलोक रघुनाथहीके हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसीके एक नामको॥
अति ही अयाने उपखाने नहिं बूझें लोग,
मालिकको गोत, गोत होत है गुलामको।
साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोच कहा,
का काहूके द्वार परौं, जो हौं सो हौं रामको॥

हमारा पाप

एक शिक्षित सज्जनने लम्बा पत्र लिखा है, उसमें उन्होंने बड़े दुःखके साथ एक घटनाका वर्णन किया है। उनके पत्रका सार है—'मैं अपने कुछ मित्रों और उनकी पत्नियोंके साथ, बड़ी प्रशंसा सुनकर एक महात्माके पास गया। वहाँ जानेपर उनकी बहुत बड़ाई सुनी। भक्तलोग उनको साक्षात् भगवान्‌का अवतार बतलाते थे। महात्माजी विशेष पढ़े-लिखे तो नहीं थे, परंतु उनके उपदेश बहुत आकर्षक होते थे। वे अपने उपदेशोंमें शरणागति, समर्पण और गुरु-सेवापर बड़ा जोर देते। हमने देखा—बहुत-से नर-नारी बड़ी श्रद्धाके साथ उनकी सेवा करते हैं। हमारी भी इच्छा हुई। हमलोगोंने उनसे वैष्णवी दीक्षा ली और परम कल्याणकी आशासे वहीं रहकर उनकी सेवा करने लगे। हमलोगोंमें एक सज्जनको उन्होंने अपने अन्तरंग सेवकोंमें ग्रहण कर लिया। उन सज्जनने उनकी कई बातें संदेहजनक देखीं; परंतु श्रद्धाके कारण उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। उनकी नवयुवती पत्नी भी महात्माजीके द्वारा दीक्षा प्राप्त कर चुकी थी। वे उसको गुरुजीके पास उपदेश-ग्रहणके लिये भेजते। किसीके मनमें कोई सन्देह था ही नहीं। एक दिन उन महात्माजीने एकान्तमें उस देवीके साथ गंदी चेष्टा की। लड़कीने पहले तो समझा कि गुरुजी उसकी परीक्षा कर रहे हैं; परंतु जब बात आगे बढ़ी तो वह बेचारी काँप गयी और किसी तरह वहाँसे भाग आयी। उसके पतिको सब हाल मालूम हो गया। बात फूटनेपर महात्माजीने उन दोनोंसे एकान्तमें क्षमा माँगी और यहाँतक कहा कि 'हम तो इन धनियोंको उल्लू बनाकर अपना मतलब साधा करते हैं। तुमसे बड़ी आशा थी, परंतु अब हमारी यह बात किसीसे कहना मत। नहीं तो हमारी बड़ी अप्रतिष्ठा हो जायगी।' महात्माजीने और भी एक नवयुवती स्त्रीके साथ ऐसी ही चेष्टा की और पता लगनेपर कह दिया कि हम तो उसकी परीक्षा करते थे। पत्र-लेखकका कहना है कि ये महात्मा भगवान्‌के नामपर भयंकर अनाचार फैला रहे हैं। लोगोंका धन और भले घरोंकी देवियोंका शील हरण कर रहे हैं।

पत्रमें लिखी घटना यदि सत्य है तो बड़ी भयानक है, परंतु इसमें आश्चर्यकी बात कुछ भी नहीं है। ऐसी घटना बिरली ही नहीं होती। आये दिन ऐसी और इससे भी अधिक भयानक घटनाओंके समाचार सुने और पढ़े जाते हैं। अधिकांश घटनाएँ तो प्रकाशमें ही नहीं आतीं। इसका कारण यह है कि हमलोगोंमें वस्तुतः भगवत्परायण पुरुष बहुत ही थोड़े हैं, सब इन्द्रियपरायण ही हैं। इसीसे आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक—सभी क्षेत्रोंमें ऐसे पाप होते हैं। शिक्षालय, त्यागी पुरुषोंके आश्रम, सदाचारके स्थान और विधवाश्रम आदि पवित्र स्थान भी इस दोषसे नहीं बचे हैं। वनवासी

त्यागी पुरुषोंके मनोंमें भी संगदोषसे विकार पैदा हो जाते हैं, फिर आजकलके दूषित वातावरणमें रहनेवाले इन्द्रियपरायण लोगोंके जीवनमें ऐसा हो जाना कोई अस्वाभाविक नहीं है। दुःखकी बात तो यह है—कुछ लोग जान-बूझकर महात्मा, संत या साधुके वेषमें दुराचार करते हैं और परमार्थ-पथके बदले अपने साथ ही अपने पास आनेवाले नर-नारियोंको भी नरकके मार्गपर घसीट ले जाते हैं। असलमें यह महात्मा या साधुसमाजका, वैष्णवादि किसी सम्प्रदायका दोष नहीं है। दोष तो उन दाम्भिक मनुष्योंका है, जो ऊपरसे महात्मा, साधु या भक्त बनकर, उद्धारक और सहायकका बाना पहनकर, सच्चे महात्मा, भक्त और सहायकोंको भी संदेहास्पद बना देते और बदनाम करते हैं। सबसे बड़ी दुःखकी बात तो यह है कि भगवान्‌के नामपर भी ऐसा होता है! और-और कारणोंके साथ ही नास्तिकताकी वृद्धिका यह भी एक प्रबल कारण है। यह बड़ा पाप है जो लोगोंके मनमें भगवान्‌के मार्गमें अविश्वास पैदा करवाकर उन्हें नास्तिकताकी ओर ले जाता है। इसके लिये, जो झूठा स्वाँग बनाकर अपना स्वार्थ-साधन करते हैं उनसे तो कुछ कहना ही नहीं है, वे हमारी बात क्यों सुनने लगे। जबतक उनके पापका भण्डा नहीं फूटेगा, तबतक वे तो अपना काम चलाना ही चाहेंगे। विधि-निषेधके परे पहुँचे हुए जीवन्मुक्त महापुरुषोंसे भी कुछ कहना हमारे लिये अनधिकार चर्चा है। उनसे तो इतनी ही प्रार्थना है कि लोकसंग्रहकी दृष्टिसे उनको भी शास्त्रमर्यादाका पालन ही करना चाहिये। हमारी प्रार्थना तो उन भोले साधकोंसे है जो यथार्थमें भगवान्‌के मार्गकी ओर बढ़नेकी इच्छा रखते हुए भी कुसंगवश या पूजा-प्रतिष्ठाके लोभमें पड़कर धन और स्त्रियोंके संसर्गमें आकर उनके प्रलोभनमें पड़ जाते हैं और आखिर पापपंकमें पड़कर उसमें फँस जाते हैं, तथा अपनी ही भूलसे अपने जीवनको दोषमय बनानेका कारण बनते हैं। उन्हें सावधान होना चाहिये। वे विलासिता तथा इन्द्रियोंके आरामकी ओर न ताककर संयम-नियमोंका दृढ़ताके साथ पालन करें और जहाँतक हो—धन और स्त्रीके संसर्गसे अपनेको बचाये रखें। चुपचाप अपना साधन करें। किसीको भी शिष्य न बनावें। कम-से-कम स्त्रियोंको तो कभी शिष्य बनावें ही नहीं। किसी स्त्रीसे एकान्तमें तो कभी मिलें ही नहीं।

दूसरे, हम उन भाइयोंसे प्रार्थना करते हैं जो अपनी स्त्रियों और बहिन-बेटियोंको दीक्षा, उपदेश आदिके लिये एकान्तमें किन्हींके पास भेजते हैं। याद रखना चाहिये कि इन्द्रियोंपर सर्वथा विजय पाये हुए पुरुष बहुत थोड़े ही होते हैं। एकान्तमें स्त्री-पुरुषका एक साथ रहना बड़े-बड़े संयमी पुरुषोंके लिये भी पतनका कारण होता है। जो अपने घरकी स्त्रियोंको इस प्रकार एकान्तमें भेजते हैं, उनके घरमें तो पाप आता ही है, वे उन साधकों और महात्माओंके भी पतनमें सहायक होते हैं। अन्तमें हम अपनी माता-बहिन और पुत्रियोंसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना करते हैं—वे इस बातका ध्यान रखें कि आजकलका वातावरण बहुत ही बिगड़ा हुआ है। कोई कितना भी सात्त्विक स्वभावका आदमी हो—है तो वह इसी वातावरणमें रहनेवाला मनुष्य ही न? पता नहीं कब किसकी बुद्धिमें विकार आ जाय। दूसरी बात, ऐसे लोग भी कम नहीं हैं जो वास्तवमें असाधु होनेपर भी साधु या भक्त सजे हुए हैं और जिस किसी प्रकारसे अपनी पाप-वासनाकी पूर्ति करना चाहते हैं। अतएव किसी भी पुरुषसे, चाहे वह कितना ही बड़ा महात्मा या भक्त क्यों न माना जाता हो—एकान्तमें नहीं मिलना चाहिये। युवती स्त्रियोंके लिये किसी भी पुरुषको गुरु बनाकर उनसे एकान्तमें दीक्षा लेना और मिलना सर्वथा अनुचित है। सधवा स्त्रियोंके गुरु उनके पति हैं। भगवान् तो सभीके गुरु हैं। अतएव सधवा, विधवा सभीको चाहिये कि वे श्रीभगवान्‌को गुरु बनाकर उन्हींके मन्त्रसे दीक्षित हों और उनके आज्ञानुसार शास्त्र-मर्यादाको मानकर अपने गृहस्थधर्मका पालन करती हुई अपने जीवनको सफल बनावें।

धर्म और भगवान्‌के नामपर भी जब यहाँतक होने लगा है तब सहशिक्षा, युवतीविवाह, सिनेमाओंमें अभिनय आदिका परिणाम कितना भयंकर होगा, भगवान् ही जानें!

पत्रलेखक महोदयसे निवेदन है कि वे इस घटनाको शिक्षारूप समझें। उनमें साहस हो तो सच्ची बातको प्रकाशित कर दें और ऐसा करनेमें कोई विपत्ति आवे तो उसको खुशीसे सहन करें। इस घटनासे उन्हें जो वैष्णव-सम्प्रदाय और वैष्णव-चिह्नोंसे घृणा हो

चली है सो ठीक नहीं है। जो लोग वैष्णव-सिद्धान्तके विरुद्ध पापाचार करते हैं, वे तो वस्तुत: वैष्णव ही नहीं हैं। उनके दोषसे सम्प्रदायको दोषी मानना और उसके चिह्नोंसे घृणा करना उचित नहीं है।

पिता-पुत्रका कल्याणकारी संवाद

प्राचीन कालमें किसी एक स्वाध्याय-सम्पन्न ब्राह्मणके मेधावी नामक एक बहुत ही बुद्धिमान् पुत्र था। मोक्षधर्ममें कुशल उस पुत्रने अपने वेदपाठी पिताको मोक्ष-लाभसे वंचित देखकर कहा—'पिताजी! मनुष्यकी आयु क्षण-क्षणमें क्षय हो रही है। यह जानकर बुद्धिमान् पुरुषको क्या करना चाहिये, आप मुझे बतलाइये।'

पिताने कहा—'वत्स! मनुष्यको पहले ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके वेद पढ़ना चाहिये, फिर पितरोंको तारनेके लिये पुत्र उत्पन्न करना चाहिये, तदनन्तर अग्निस्थापनपूर्वक यज्ञादि करने चाहिये और अन्तमें वनमें जाकर मुनिवेष धारण करना चाहिये।'

पुत्रने कहा—'पिताजी! जब लोग सब ओरसे नष्ट हुए चले जा रहे हैं, चारों ओरसे अव्यर्थ आपत्तियाँ आ रही हैं, तब आप यह शान्त समयकी-सी निश्चिन्त बातें किस तरह कर रहे हैं?'

पिताने कहा—'वत्स! मनुष्योंका कैसा नाश हो रहा है, किसने इनपर चढ़ाई की है और कौन-सी अव्यर्थ विपत्तियाँ आ पड़ी हैं, तू ऐसी बातोंसे मुझको क्यों डरा रहा है?'

पुत्रने कहा—'पिताजी! मृत्यु मनुष्यका संहार कर रही है। बुढ़ापेने चढ़ाई कर रखी है। ये दिन-रात नयी-नयी आपत्तियाँ आ रही हैं, तब भी आप क्यों नहीं जागते? जब मैं यह जानता हूँ कि मृत्यु तनिक भी नहीं ठहरती, हमें तैयार होनेके लिये क्षणभरका भी मौका नहीं देती, उसी क्षण जीवको धर घसीटती है, तब यह जानकर भी मैं कैसे उसकी प्रतीक्षा करूँ? जैसे थोड़े जलके तालाबमें रहनेवाली मछलीको सुख नहीं मिलता, ऐसे ही हर रातको जिसकी उम्र घट रही है उस मनुष्यको कैसे सुख मिल सकता है? जैसे माली पेड़ोंसे फूलोंको तोड़ लेता है वैसे ही मनुष्यका मन चाहे जहाँ विचर रहा हो; उसका काम चाहे अधूरा पड़ा हो, मौत उसे पकड़कर ले ही जाती है। अतएव कल करनेके कामको आज और तीसरे पहरके कामको अभी कर डालना चाहिये; क्योंकि मृत्यु यह नहीं देखती कि इसने यह काम किया है या नहीं किया है। इसलिये जो काम हमारे कल्याणका हो उसे अभी ही कर डालना चाहिये। समय नहीं खोना चाहिये, न मालूम कब किसकी मृत्यु हो जाय! काम भले ही अधूरे पड़े हों, मृत्यु जीवको खींच ले जाती है, अतएव बुढ़ापेकी बाट न देखकर अभी जवानीमें ही धर्म कमा लेना चाहिये; क्योंकि जीवनका कोई भरोसा नहीं है। धर्मके आचरणसे इस लोक और परलोकमें सुख मिलता है। मोहसागरमें डूबा हुआ मनुष्य धर्म और अधर्मका ध्यान छोड़कर दिन-रात स्त्री-पुत्रोंको ही संतुष्ट रखनेमें लगा रहता है, ऐसे पुत्र और पशु आदिसे सम्पन्न विषयासक्त मनुष्यको काल वैसे ही अचानक बहा ले जाता है जैसे जलकी बाढ़ सुखसे सोते हुए बाघको। नाना प्रकारके मनोरथोंमें फँसे हुए भोगोंसे अतृप्त मनुष्यको काल वैसे ही घसीटकर ले जाता है जैसे भेंड़के बच्चेको बाघिन ले जाती है। मनुष्य इस उधेड़-बुनमें ही लगा रहता है कि मैंने यह कार्य कर लिया, यह करना बाकी है, यह काम आधा हो गया है, बस आधा ही शेष है, इतनेमें ही मृत्यु उसके किसी भी कामका तनिक-सा भी विचार न कर, मनुष्यको किये हुए कर्मका फल मिलनेके पहले ही पकड़कर ले जाती है। मकान बन रहा है, बहुत-सा बन चुका है, उसमें रहनेका मौका आता ही नहीं और मनुष्यको मौतका शिकार बन जाना पड़ता है। मनुष्य चाहे खेतमें हो या बाजारमें, दूकानमें या घरमें काम करता हो, दुर्बल हो या बलवान् हो, मूर्ख हो या बुद्धिमान् हो, कायर हो या शूरवीर हो, चाहे उसकी एक भी इच्छा पूरी न हुई हो, समय आनेपर मृत्यु उसको पकड़कर ले ही जाती है। मनुष्य मृत्यु, बुढ़ापा, रोग और अन्य अनेकों कारणोंसे उत्पन्न दु:खोंके पंजेसे छूट ही नहीं सकता। इतनेपर भी पिताजी! आप निश्चिन्त-से होकर कैसे बैठे हैं? प्राणी जबसे जन्म लेता है, तभीसे काल और जरा उसका विनाश करनेके लिये उसके पीछे लगे रहते हैं। बुढ़ापा मृत्युकी सेना है और विषयासक्ति मृत्युका मुँह है। अरण्य देवताओंका स्थान

है और ग्राममें रहनेकी इच्छा अर्थात् भोगकी इच्छा बन्धन करनेवाली रस्सी है। पुण्यवान् पुरुष इस रस्सीको काटकर मुक्ति पाते हैं। पापी पुरुष इस बन्धन-रज्जुको नहीं काट सकते।

जो पुरुष मन, वाणी और शरीरसे किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करता, जो किसीके भी जीविकाके साधनोंका नाश करके किसीको कष्ट नहीं पहुँचाता, उस पुरुषकी कोई हिंसा नहीं करता। अतएव बुद्धिमान् पुरुषको सत्य बोलना चाहिये, सत्य आचरण करना चाहिये, सत्यपरायण रहना चाहिये और सत्यकी ही कामना करनी चाहिये। सब प्राणियोंमें और सब स्थितियोंमें समभाव रखना, इन्द्रियोंका दमन करना और सत्यके द्वारा मृत्युको जीतना चाहिये। अमृत और मृत्यु दोनों हमारे साथ हैं। विषयोंमें मोहसे मृत्यु होती है और सत्यसे ब्रह्मरूप अमृतकी प्राप्ति होती है। अतएव मैं अहिंसाव्रतसे रहकर काम-क्रोधसे दूर रहूँगा। मोक्षसुखका आश्रय लेकर क्षेमके लिये सत्यका अवलम्बन कर मृत्युपर विजय प्राप्त करूँगा। इन्द्रियोंका दमन करके शान्तियज्ञमें रत हुआ ब्रह्म-यज्ञमें स्थित रहूँगा। मनसे आत्म-विचाररूप मनोयज्ञ, वाणीसे भगवन्नामजपरूप वाक्-यज्ञ और शरीरसे अहिंसा, शौच और गुरुसेवादि कर्म-यज्ञ करूँगा। मैं हिंसायुक्त पशु-यज्ञ कभी नहीं कर सकता। मैं स्वयं आत्म-यज्ञ करूँगा। मेरे पुत्र नहीं है तो क्या है? अपने उद्धारके लिये पुत्रकी कोई आवश्यकता नहीं है। जिस पुरुषकी वाणी और मन वशमें हैं जिसने तप, त्याग और योग किया है वह सब वस्तुओंको पा जाता है। ज्ञानके समान कोई नेत्र नहीं है, ब्रह्म-विद्याके समान कोई फल नहीं है, आसक्तिके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई सुख नहीं है। एकान्तवास, समता, सत्यता, सच्चरित्रता, दण्डधारण (मन, वाणी, शरीरसे हिंसाका त्याग), सरलता और उपरामता—द्विजोंका यही असली धन है, इसके समान और कोई भी धन नहीं है। आप ब्राह्मण हैं और आपको मरना है। फिर आपको धनसे, स्त्रीसे तथा बन्धुओंसे क्या प्रयोजन है? विचार कीजिये—आपके पिता और दादाजी कहाँ गये? अतएव आप अपने आत्माकी गुफामें प्रवेशकर आत्माका पता लगाइये!'

पुत्रकी इन बातोंको सुनकर पिता सावधान होकर उसी क्षणसे सत्य और आत्मपरायण हो गया।

(महाभारतके आधारपर)

यज्ञ

भारतवर्ष आज गरीबोंका देश है। करोड़ों नर-नारी ऐसे हैं, जिनको भर पेट अन्न और लज्जा-निवारणके लिये पर्याप्त वस्त्र नहीं मिलता। ऐसी दशामें जो सम्पन्न भारतवासी, इन गरीब भाइयोंके दुःखोंकी कुछ भी परवा न कर केवल अपने शरीर और परिवारको आराम पहुँचानेमें ही व्यस्त रहते हैं, उन्हें कुछ विचार करना चाहिये। शास्त्रोंमें यज्ञसे बचे हुए अन्नको अमृत बतलाया है और वैसे अमृतरूप पवित्र अन्नपर जीवन-धारण करनेवालेको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहा है। मेरी समझसे इन भूखे भाइयों और बहिनोंके पेटमें जो क्षुधाका दावानल धधक रहा है, उसीमें अन्नकी आहुति देनी चाहिये, तभी हमारा शेष अन्न अमृत होगा। मतलब यह कि हम जो कुछ भी उपार्जन करें; उसमेंसे कुछ भाग इन गरीब भाइयोंके हितार्थ पहले व्यय करें, तभी हमारा उपार्जन सार्थक है।

एक घरमें दो भाई भूखों मरें और एक भाई खूब माल उड़ावे। दो बहिनोंको कपड़ा न मिले और एक बहिन रेशमी साड़ियोंसे संदूकें भरी रखे, यह बहुत ही लज्जाकी बात है। उचित तो यह है कि हमलोग स्वयं कष्ट भोगकर कष्टमें पड़े हुए इन भाई-बहिनोंको कष्टसे बचावें, दुःख सहकर इन्हें सुख दें। परंतु यह बात तो दूरकी है। हम तो आज अपने सुखके लिये इन्हें दुःख पहुँचा रहे हैं, अपने आरामके लिये इनको संकटमें डाल रहे हैं। यदि इनको भी अपने-जैसे मनुष्य समझकर अपने ही समान इन्हें भी आराम पहुँचानेका खयाल रखें तो इनका बहुत-सा संकट दूर हो सकता है। हमारे मौज-शौककी सामग्री और अनाप-शनाप खाने-पीनेके खर्चमें कुछ कमी कर उससे बचे हुए पैसे इन गरीब भाइयोंकी सेवामें लगा दिया करें तो बिना ही प्रयास इनके दुःख कम हो सकते हैं और हमारी अनेक बुरी आदतें सहज ही छूट सकती हैं। अपने आरामके लिये प्रत्येक क्रिया करते समय हम इन्हें

स्मरण कर लिया करें और पहले इनके लिये कुछ देकर फिर क्रिया आरम्भ करें तो हमारी वही क्रिया यज्ञरूप हो सकती है। भारतमें इस यज्ञकी अभी बड़ी आवश्यकता है।

मानवताका कल्याण

मनुष्य मूलमें परमात्माका सनातन अंश जीव है, पीछे मनुष्य है, उसके बाद वह अमुक देशवासी, तदनन्तर क्रमशः अमुक वर्ण, अमुक जाति, अमुक सम्प्रदाय और अमुक परिवारका है। मूलमें वह भगवान्‌का अंश है। भगवान्‌मेंसे आया है, अब भी भगवान्‌में है और अन्तमें फिर भगवान्‌में ही जायगा। उसका मूल आत्मस्वरूप भगवान्‌से अभिन्न है। जीवके नाते भगवान् उसके अंशी हैं। समस्त चराचर प्राणियोंका भी वस्तुतः यही स्वरूप है। इस नाते सभी भगवत्स्वरूप हैं—सभी आत्मस्वरूप हैं। सभी वन्दनीय हैं और सभी आत्मीय हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र-मण्डल, जीवसमूह, दिशाएँ, वृक्ष-लतादि, नदियाँ, समुद्र आदि जो कुछ भी हैं सभी श्रीहरिके शरीर हैं। यह समझकर अनन्य मनसे सबको प्रणाम करना चाहिये।'

सीय राममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

इसलिये जगत्‌में कोई भी प्राणी 'पर' नहीं है, अतएव द्वेष्य कोई भी नहीं है, सभी प्रेमके पात्र हैं। जो मनुष्य प्राणियोंसे द्वेष करता है उससे भगवान् कभी प्रसन्न नहीं होते।

भक्तके लक्षण बतलाते समय सबसे पहले भगवान्‌ने बतलाया—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

(गीता १२। १३)

'जो सब प्राणियोंमें द्वेषसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी, मित्र और हेतुरहित दयालु है……वही मेरा प्रिय भक्त है।'

सबमें भगवान्‌को देखने-समझनेवाला मनुष्य या सबमें अपने आत्माकी तसवीर देखनेवाला मनुष्य कैसे किससे वैर और द्वेष करेगा?

अब हौं कासों बैर करौं?
कहत पुकारत प्रभु निज मुख सो घट घट हौं बिहरौं॥

× × × ×

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

संक्षेपमें, यह मनुष्यका स्वरूप है और इसके अनुसार उसका कोई भी द्वेष्य नहीं हो सकता।

दूसरी दृष्टिसे देखें, तो भी मनुष्यको किसीसे द्वेष या वैर नहीं करना चाहिये।

मनुष्य जैसा करता है, वैसा ही भोगता है। जो कुछ देता है, वही अनन्तगुना होकर उसे वापस मिलता है—यह नियम है। अतएव एक मनुष्य या एक जाति किसीसे वैर या द्वेष करके उसका बुरा चाहेगी तो बदलेमें उसे भी वैर-द्वेष और बुरा चाहनेवाले ही मिलेंगे। और यह परम्परा यदि चलने लगे तो जगत्‌में उत्तरोत्तर वैर-विरोध और फलस्वरूप परस्परका अहित-साधन बढ़ता ही जायगा। इस स्थितिमें मनुष्य अपने मूल भगवत्स्वरूप या आत्मस्वरूपको तो भूल ही जायगा। वह मानवताको भी खोकर नृशंस, क्रूर पिशाच हो जायगा। फिर सारा जगत् पैशाचिक कुकृत्योंकी क्रीडा-स्थली—फलतः प्रत्यक्ष घोर नरक ही हो जायगा! इसीलिये शास्त्र, संत और महात्मा पुरुष बारंबार अपने शब्दों, आचरणों, त्याग-तपस्याओं और बलिदानोंसे जगत्‌के जीवोंको यह शिक्षा देते रहते हैं कि किसीसे वैर-विरोध मत करो, किसीसे द्वेष मत करो, किसीका बुरा मत चाहो और किसीका भी बुरा कभी न करो। इसीमें अपना और विश्वका कल्याण है। बुराईका फल बुराई ही होता है और भलाईका भलाई। अतएव बुराई करनेवालेकी बुराईको भूलकर उसकी भी भलाई करो। श्रीशंकरजीने यही तो कहा है—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

भला करनेवालेका तो भला सभीको करना चाहिये और मनुष्यत्वको प्राप्त प्राणी ऐसा करते ही हैं। उत्तम

मनुष्य या संत पुरुष तो वह है कि जो बुरा करनेवालोंका भला करके जगत्‌के सामने उच्च आदर्श रखता है और जगत्‌को घोर नरकानलसे निकालकर शान्ति-सुखरूप भगवत्-राज्यकी ओर ले जाना चाहता है। उसके साथी और समर्थक थोड़े ही होते हैं, पर वह जिस सत्यका साक्षात्कार कर चुका है, उसे वह कभी छोड़ नहीं सकता। वह तो प्रह्लाद, अम्बरीष, ईसा, हरिदास आदि भक्तोंकी भाँति मारनेकी चेष्टा करनेवालोंका भी भला ही करता है। स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरोंका कल्याण ही करना चाहता है। ऐसे ही महान् पुरुषोंसे जगत्‌को भलाईकी शिक्षा मिलती है। अतएव भविष्यमें जगत्‌की और अपनी भलाई हो, इस उद्देश्यसे भी किसीके साथ न तो द्वेष-वैर करना चाहिये और न किसीका कभी अहित ही करना चाहिये। याद रखना चाहिये—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इतना होनेपर भी, संसार त्रिगुणात्मक है। भगवान्‌ने इसकी सृष्टि ही गुण-वैषम्यको लेकर की है। इसीसे यहाँ प्रत्येक प्राणीके स्वभाव, स्थिति, रूप और रुचिमें कुछ-न-कुछ वैषम्य अवश्य पाया जाता है। इस वैषम्यमें गुणोंका तारतम्य ही प्रधान कारण है। मनुष्यको निरन्तर ऊँचे उठनेकी चेष्टा करते रहना चाहिये। उसके लिये साधन है। प्रकृति स्वभावतः अधोगामिनी है। वह सहज ही नीचेकी ओर जाती है। सात्त्विक-गुणविशिष्ट पुरुष भी यदि निश्चेष्ट होकर बैठ जायगा तो वह धीरे-धीरे रजोगुणकी ओर बढ़ने लगेगा। इसी प्रकार रजोगुणी मनुष्य तमोगुणकी ओर! अतएव निरन्तर यह चेष्टा करनी चाहिये कि जिससे वह अपनी स्थितिसे उत्तरोत्तर ऊपरको ही उठता रहे। जबतक परमात्माकी प्राप्ति न हो जाय तबतक किसी भी स्थितिमें संतोष न करे। श्रेष्ठ स्थितिका संतोष वस्तुतः संतोष नहीं है, प्रमाद है और इस प्रमादसे उस स्थितिकी मृत्यु हो जाती है और तत्काल उससे निम्नस्तरकी दूसरी स्थिति उत्पन्न होकर वहाँ अपना अधिकार जमा लेती है। इसीसे भगवान्‌ने चेतावनी दी है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

(६।५)

'अपने द्वारा आप ही अपना उद्धार करे, अपनेको कभी नीचे न गिरने दे।' त्रिगुणात्मक संसारमें कर्मवश गुणवैषम्य होता है तथा गुणवैषम्यको लेकर लोगोंमें प्रकृतिभेद होता है और उसीके कारण परस्पर संघर्ष भी होते हैं। संसारमें कोई भी मनुष्य संघर्षसे सहज ही बच नहीं सकता। कई जगह तो संघर्ष आवश्यक हो जाता है। पर संघर्षके समय भी अपने मूल स्वरूपको न भूले तथा उस स्वरूपमें स्थित रहते हुए ही परिस्थितिके अनुसार यथायोग्य वर्णाश्रमोचित एवं न्यायप्राप्त कर्मोंका भगवत्प्रीत्यर्थ आचरण करे। कर्म स्वरूपतः यज्ञ, दान और तप आदि होनेपर भी तामसी भाव होनेपर तामस हो जाते हैं और उनका फल होता है अधःपतन। श्रीमद्भगवद्गीताके सत्रहवें और चौदहवें अध्यायमें इसका स्पष्ट उल्लेख है और युद्धरूप घोर कर्म भी शुद्ध धर्मरक्षाकी भावनासे होनेपर सात्त्विक एवं भगवत्प्रीत्यर्थ होनेपर तो भगवत्प्राप्तिका हेतु होता है।

अर्जुनको महान् घोर युद्ध करना पड़ा और उसमें उन्हें अपने गुरुजनोंका भी वध करनेको बाध्य होना पड़ा था। गुरुजनों और आत्मीयोंको युद्धमें एकत्रित देखकर ही अर्जुन घबरा गये थे और उन्होंने भगवान्‌से कहा था कि—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥

(१।४५)

'अहो! बड़े ही खेदकी बात है कि हमलोग राज्य-सुखके लोभसे स्वजनोंकी हत्या करनेको तैयार होकर महान् पाप करनेका निश्चय कर चुके हैं।'

भगवान्‌ने अर्जुनको पहले तो यह समझाया कि अपने न्याय्य राज्यकी प्राप्तिके लिये क्षत्रियका धर्मयुद्धमें संलग्न होना पाप नहीं है। क्षत्रियके लिये ऐसा धर्मयुद्ध स्वर्गका मुक्तद्वारस्वरूप है। अतः धर्मयुद्धमें तो पाप लगेगा ही नहीं। हाँ, 'यदि तुम इस धर्मयुद्धसे मुख मोड़ोगे तो अवश्य तुम्हारे स्वधर्म और सुयशका नाश होगा तथा तुमको पाप लगेगा।'

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

फिर, 'राज्यसुखका लोभ' रहनेपर शायद धर्मयुद्धमें कुछ विकृति आ जाय, क्योंकि लोभ पापका मूल है। अतएव भगवान्‌ने यह कहा कि तुम राज्यके लिये युद्ध मत करो।' 'सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजयको समान समझकर फिर युद्धमें लगो। ऐसा करनेपर तुम्हें पाप होगा ही नहीं।'

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २।३८)

आगे चलकर तो यहाँतक कह दिया कि 'तुम अपने सारे कर्मोंको अध्यात्मचित्तसे मुझमें समर्पण कर दो और निराशी, निर्मम तथा विगत-संताप होकर युद्ध करो।' (गीता ३।३०) अर्थात् भगवत्प्रीत्यर्थ युद्ध करो। गुण-वैषम्ययुक्त जगत्में कर्तव्यपालनके लिये युद्ध अनिवार्य है; वह करना ही होगा। करना धर्म है; न करना पाप है। परंतु करना होगा इस बातको समझकर कि हम जिनके साथ युद्ध कर रहे हैं, वे भी वस्तुतः भगवान्के ही स्वरूप हैं; यथा—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय॥

'अर्जुन! मेरे अतिरिक्त किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है।' (गीता ७। ७) और 'स्वकर्मोंके द्वारा उन भगवान्की ही पूजा करनी होगी, जिनसे समस्त प्राणी उत्पन्न हुए हैं और जो सबमें व्याप्त हैं एवं इस प्रकार उन्हें पूजकर ही जीवनको पूर्णतया सफल बनाना होगा।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

सारांश यह कि न तो इस सिद्धान्तको कभी भूलना चाहिये कि जगत्के समस्त प्राणी भगवान्से निकले हैं—उन्हींके सनातन अंश हैं—उन्हींके स्वरूप हैं; और न अपने कर्तव्यकर्मसे ही कभी विच्युत होना चाहिये। निरन्तर भगवान्का स्मरण करते हुए आवश्यकता पड़नेपर युद्धसदृश घोर कर्म भी करना चाहिये। परंतु करना चाहिये केवल भगवान्की प्रीतिके लिये ही, अन्य किसी उद्देश्यसे नहीं। यही गीताकी शिक्षा है।

मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है भगवत्प्राप्ति। और मनुष्यकी गति होती है उसके अन्त समयकी मानस-स्थितिके अनुसार। भगवान्ने अर्जुनसे यही कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८।५)

'जो पुरुष अन्तकालमें मुझको (भगवान्को) स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह मेरे भावको (भगवद्भावको) ही प्राप्त होता है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।'

क्योंकि अन्तकालके भावके अनुसार ही उसको अगली गतिकी प्राप्ति होती है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति ....॥

(गीता ८।६)

मान लीजिये—अंग्रेज और जर्मन सिपाहियोंमें युद्ध हो रहा है। दोनोंमें परस्पर द्वेष तथा वैरभाव है और उस वैरभावको लेकर ही वे लड़ रहे हैं। लड़ते-लड़ते किसी अंग्रेजको गोली लगी और वह मर गया। अब यदि मरते समय अन्तिम क्षणमें उसे उस जर्मन वैरीकी स्मृति रहेगी तो सम्भव है वह अगले जन्ममें जर्मन होगा और पूर्वजन्ममें अपनेको जिस अंग्रेज जातिका पुरुष मानकर उसमें ममत्व तथा आसक्तिके पाशमें बद्ध था, अब उसी अंग्रेज जातिका शत्रु बनकर उसे मारनेकी चेष्टा करेगा! पिछले दिनोंके भारतके हिंदू-मुसलमानके झगड़ोंको ही ले लीजिये। यदि कोई मुसलमान हिंदू-वैरका स्मरण करता हुआ मरता है तो सम्भव है वह अगले जन्ममें अन्तकालकी स्मृतिके अनुसार हिंदू होगा और मुसलमानोंको मारेगा। इसी प्रकार मुसलमानके वैरको मनमें रखकर मरनेवाला हिंदू भी मुसलमान बनकर हिंदुओंको मारेगा। अतएव द्वेष और वैर रखनेमें तो कोई लाभ है ही नहीं। सर्वथा हानि-ही-हानि है।

परंतु जहाँ धर्मतः न्यायप्राप्त कर्तव्यवश मरने-मारनेकी आवश्यकता हो, वहाँ कैसे मरना-मारना चाहिये, जिसमें मरने और मारने दोनों ही कर्मोंमें परम कल्याणकी प्राप्ति हो? गीतामें इसकी शिक्षा दी गयी है। अन्तकालकी स्मृतिके अनुसार ही अगले जन्ममें गति प्राप्त होती है, यह कहकर भगवान्ने खास तौरपर अर्जुनसे कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८।७)

अतएव तुम सब समय मेरा स्मरण करो और युद्ध करो। इस प्रकार मुझमें मन-बुद्धि अर्पण कर चुके हुए तुम निस्सन्देह मुझको (भगवान्को) ही प्राप्त होओगे।

इसमें भगवान्ने चार बातें बतलायी हैं—

१—सर्वकालमें भगवत्स्मरण करना;

२—युद्ध करना;

३—इस प्रकार मन-बुद्धिका भगवान्‌के प्रति अर्पण, और—

४—फलस्वरूप निस्सन्देह ही भगवत्प्राप्ति।

बस, इसीमें सारा रहस्य भरा है। मनुष्य बुद्धिसे निश्चय करता है और मनसे मनन। बुद्धिसे निश्चय कर लिया कि तत्त्वतः सब कुछ भगवान् हैं और सब कुछ भगवान्‌का है। श्रद्धा और प्रेमके साथ आज्ञाकारी सेवककी भाँति उनकी आज्ञाके अनुसार उन्हींके प्रीत्यर्थ सब कुछ करना है। उनकी सेवाके सिवा अन्य कुछ भी कर्तव्य नहीं है। और मनको उनकी सेवामें समर्पण करके यह स्वभाव बना लिया कि जिसमें एकमात्र उन परम प्रियतम प्रभुका ही सतत स्मरण होता रहे। मन दूसरी बात सोचे ही नहीं। जैसे पतिव्रता स्त्रीके मन, बुद्धि पतिके समर्पित हो जाते हैं, उसके सारे कर्म पति-सेवाके निश्चयसे ही होते हैं और उसका मन स्वाभाविक ही पतिसेवामें संलग्न रहता है। इससे भी बढ़कर—जैसे परम भाग्यवती प्रेममूर्ति गोपांगनाओंने भगवान् श्यामसुन्दरके मनमें अपने मनको, उनके प्राणोंमें अपने प्राणोंको मिलाकर उनके सुखके लिये समस्त दैहिक सम्बन्धोंको तिलांजलि दे दी थी—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।

(श्रीमद्भा० १०। ४६। ४)

उसी प्रकार निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते हुए जीवनके प्रत्येक क्षणको उन्हींकी संलग्नतामें बिताना और उनमें लगाये हुए मन-बुद्धिके द्वारा ही उन्हींके इच्छानुसार युद्ध भी करना। इसका फल निस्सन्देह भगवत्प्राप्ति होगा ही; क्योंकि जब कभी भी मृत्यु होगी—तभी उसके मन-बुद्धि भगवान्‌में ही लगे रहेंगे। अतएव अन्तकालकी भगवत्स्मृतिके सिद्धान्तानुसार उसे निश्चित ही भगवत्प्राप्ति होगी। वस्तुतः ऐसे भक्त भगवत्प्राप्तिकी भी परवा नहीं करते, वे तो अपने प्रियतम प्रभुकी सेवामें जन्म-जन्मान्तर बितानेकी विशुद्ध प्रेममयी कामना करते हैं। फिर प्रभु उनके लिये जो विधान कर देते हैं, वे उसीमें संतुष्ट रहते हैं; क्योंकि उनको तो जो कुछ भी करना या न करना है सब प्रभु-प्रीत्यर्थ ही है। [इसीलिये उनका 'कुछ भी न करना' भी (प्रभु-प्रीत्यर्थ) करना है; और सब कुछ करना भी (अपने लिये न होनेके कारण) न करना है।]

इस प्रकार प्रभुका स्मरण करते हुए मरनेवाला और प्रभुको पहचानकर उनके आज्ञानुसार उनकी सेवाके लिये ही धर्म तथा कर्तव्यकी प्रेरणासे किसीको न्यायोक्त दण्ड देनेवाला—दोनों ही परम कल्याणको प्राप्त होते हैं।

अतएव किसी भी प्राणीसे कभी द्वेष तथा वैर तो कभी भूलकर भी करना ही नहीं चाहिये; परंतु शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार न्यायप्राप्त कर्तव्य आ जानेपर हटना भी नहीं चाहिये। वहाँ अहिंसाका आश्रय लेकर और प्रतीकारशून्य होकर आततायीके हाथों मरने और भीख माँगकर खानेकी प्रवृत्ति धर्मसंगत नहीं है। अर्जुनने यही तो चाहा था। वे आततायियोंको मारनेमें पाप बतलाते थे और उनके हाथों मरनेमें अपना कल्याण मानते थे तथा ऐसे राज्यकी अपेक्षा भीख माँगकर खानेको उत्तम बताते थे। देखिये गीतामें उन्हींके शब्द—

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः॥

(१। ३६)

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥

(१। ४६)

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

(२। ५)

'हे जनार्दन! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी। इन आततायियोंको मारनेपर तो हमें पाप ही लगेगा। इससे तो मैं हथियार छोड़ दूँ और इनका कुछ भी सामना न करूँ एवं ये धृतराष्ट्रके पुत्र हाथमें हथियार लेकर मुझको मार डालें तो वह मारना भी मेरे लिये विशेष कल्याणकारक होगा। अतः इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर संसारमें मैं भीख माँगकर खाना भी कल्याणकारक समझता हूँ।'

आजकी अहिंसाकी व्याख्याके अनुसार तो हथियार छोड़कर बैठे हुए और कुछ भी प्रतीकार न करनेवाले अर्जुन पूरे सत्याग्रही थे। परंतु धर्मके साक्षात् आधार धर्मसंरक्षक स्वयं भगवान्‌ने अर्जुनकी इन उक्तियोंको अनार्योचित, स्वर्ग तथा कीर्तिकी नाशक, बिलकुल बेमौकेका मोह, नपुंसकत्व और हृदयका क्षुद्र दौर्बल्य बतलाया (गीता २। २)। और उन्हें सब प्रकारसे

समझाकर युद्धके लिये तैयार किया एवं ऐसा उपदेश दिया कि जिससे इस प्रकारका धर्म-युद्ध ही भगवत्पूजन तथा भगवत्प्राप्तिका परम सफल साधन बन गया।

आज भगवान् श्रीकृष्णको, उनकी गीताको और धर्मशास्त्रोंको माननेवाले प्रत्येक भारतवासीको चाहिये कि वह किसी भी वर्ण, जाति या देशविशेषसे, मनुष्यसे, किसी प्राणीसे भी—जरा भी द्वेष न करके यथासाध्य सबकी सेवा करे और समय पड़नेपर कर्तव्यवश भगवत्-सेवाके ही भावसे निष्काम होकर राग-द्वेषरहित बुद्धिसे धर्मरक्षाके लिये कर्तव्यसे भी न चूके।

हाँ, यह बात जरूर याद रखनी चाहिये कि गीताकी किसी शिक्षाका दुरुपयोग कदापि न हो। गीतामें धर्मयुद्धकी आज्ञा है, इसलिये बात-बातमें युद्धकी ही घोषणा न की जाय। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं दूत बनकर यथासम्भव युद्ध टालनेकी ही चेष्टा की थी, परंतु जब दूसरा कोई साधन नहीं रहा, तब युद्ध करना पड़ा। इसी प्रकार धर्मसंगत और अनिवार्य प्रसंग आनेपर ही हथियार उठावें। किसीसे बेमतलब झगड़ा मोल न लें। जहाँतक बने सहनशील और क्षमापरायण हों। अपने प्रेमपूर्ण सद्भावों और सद्व्यवहारोंसे दूसरोंके चित्तको जीतनेकी चेष्टा करें। कभी किसीके साथ जरा भी दुर्व्यवहार करें ही नहीं। बल्कि अपनी हानि सहकर भी दूसरेका कल्याण करनेकी चेष्टा करें। हाँ, जब कोई आततायी प्राणी अन्यायपूर्वक उनके धर्मयुक्त अस्तित्वपर ही आक्रमण करे, और प्रेमपूर्ण व्यवहारका सर्वथा अनुचित लाभ उठाया जाय तब सिद्धान्ततः सावधान रहते हुए भगवत्प्रीत्यर्थ ही उस समयके न्यायप्राप्त कर्तव्यका—चाहे वह कितना ही घोर हो—निःसंकोच पालन करें। यही धर्म है और इसीमें मानवताका कल्याण है।

प्रेममें ही सबका कल्याण है

यह वस्तुतः बड़े ही दुःखका विषय है कि पिछले दिनों हिंदुस्थानमें हिंदू-मुसलमान एक-दूसरेके विश्वासी बन्धु, मित्र, सहायक और सेवक न होकर परस्पर अविश्वाससे भरपूर पराये, शत्रु, संहारक और विनाशक बन गये थे। वह दोनोंके ही लिये महान् अनिष्टकर प्रसंग था। राजनीतिक लाभके उद्देश्यसे मियाँ जिन्ना-सरीखे नेताओंकी कुटिल नीतिका यह भीषण परिणाम था। जीव न हिंदू है, न मुसलमान; वह अपनी कर्मपरम्परासे कर्मफल-भोगके लिये मानव-शरीरमें आता है और कर्मफल भोगनेके साथ ही नवीन शुभाशुभ कर्मोंका बड़ा भारी संचय लेकर चला जाता है। फिर नाना योनियोंमें उन्हीं अतीतकालके कर्मोंके अनुसार फल भोगता है। परस्पर द्वेष और वैरको लेकर जिनका जीवन जाता है, वे यहाँ तो शान्ति पाते ही नहीं, अपने द्वेष तथा वैरजनित कुकर्मोंके कारण अगले जन्मोंमें भी सुख-शान्तिसे वंचित ही रहते हैं। मानव-जन्मकी इससे अधिक विफलता और क्या होगी। महात्मा गाँधी इसीलिये उस समय पूर्व-बंगालके गाँवोंमें पैदल घूमे थे कि किसी प्रकार दोनों जातियोंके हृदयोंमें प्रेमका प्रादुर्भाव हो। वे बड़े आशावादी थे, इसलिये आशाको साथ लेकर ही चल रहे थे। यदि भगवत्कृपासे उनकी आशा पूर्ण हो जाती तो मानव-जातिका बहुत बड़ा कल्याण होता। जबतक दुराग्रह तथा द्वेषपरायण नेताओंका हृदय नहीं बदलता, तबतक एक बार महात्माजीके प्रभावसे गाँवोंके मुसलमानोंमें सद्भाव पैदा होनेपर भी उसके स्थायी होनेमें सन्देह ही था। महात्माजीने एक पत्रमें लिखा था—'इस बारका काम मेरी जिंदगीमें सबसे ज्यादा अटपटा काम है। ***'मार्ग सूझे नहिं घोर रजनीमें, निज शिशुको संभाल—मेरा जीवन पंथ उजाल'***—इस भजनको आज मैं सौ फीसदी वाजिब तौरपर गा सकता हूँ। मुझे याद नहीं पड़ता कि मेरे रास्तेमें ऐसा अँधेरा पहले कभी आया हो और रात लंबी दिखायी पड़ती है। संतोष सिर्फ यह है कि मैं न तो हारा हूँ और न नाउम्मेद हुआ हूँ। जो होना होगा, सो होकर रहेगा। खयाल है कि यहीं करना और यहीं मरना। 'करने' का मतलब यह है कि या तो हिंदू-मुसलमान दोस्तकी तरह रहने लग जायँ, या इस कोशिशमें मैं मर मिटूँ। यह काम कठिन है। ***'हरि करे सो होय!'***

इन वाक्योंमें गाँधीजीके हृदयकी तड़पनका पता लगता है। सचमुच कोई भी साधुहृदय पुरुष यह नहीं चाह सकता कि हिंदू-मुसलमान आपसमें लड़ें। असलमें साधारण जनतामें सभी बुरे नहीं होते। बुराईकी जड़ तो

वे नेता होते हैं जो अपने राजनीतिक उद्देश्यकी सिद्धिके लिये बेचारे नासमझ लोगोंको धर्मके नामपर भड़काकर उनका अनिष्ट करवाते हैं। पर उनके लिये भी क्या कहा जाय। भगवान् उनको सुबुद्धि दें। परंतु इतना सभीको स्मरण रखना चाहिये कि पापसे पापका उच्छेद नहीं हुआ करता। इसलिये पापके बदलेमें पाप करनेकी प्रवृत्ति किसीमें भी नहीं होनी चाहिये। यदि मुसलमानोंने कहीं शिशु-हत्या की, अबलापर बलात्कार किया, किसीको बलात् धर्मान्तरित किया और निरीह निर्दोषकी हत्या की तो हिंदुओंको भी ऐसा करना चाहिये—यह विचार कदापि अभिनन्दनीय नहीं है। इन कुकृत्योंका ऐसे ही कुकृत्योंद्वारा बदला लेनेकी भावना सचमुच बड़ी भयंकर है। उचित तो यह है कि भगवान्‌से ऐसी करुण प्रार्थना की जाय कि वे सबको सुबुद्धि दें। किसीके भी हृदयमें ऐसी पापभावना न पैदा हो और किसीके भी द्वारा ऐसा कुकृत्य न बने। ऐसा करनेके साथ ही आवश्यकतानुसार बलसंग्रह भी किया जाय, जिससे अत्याचार करनेवाले मनुष्यका साहस टूट जाय। एक बार साहस टूट गया, कुकृत्य नहीं बन सका तो सम्भव है आगे चलकर उसकी मति भी बदल जाय। बलसंग्रह और आवश्यकता पड़नेपर बलप्रयोग करते समय भी मनमें द्वेष या वैर तो कदापि नहीं आना चाहिये।

संसारमें सबसे बड़ी चीज प्रेम है। मानवमात्रमें ही नहीं, जीवमात्रमें प्रेम होना चाहिये। फिर हिंदू-मुसलमान तो सदियोंसे एक ही स्थानमें पड़ोस-पड़ोसमें बसते हैं। समझदार मुसलमान तथा समझदार हिंदू भाइयोंको परस्पर प्रेम बढ़े, इसके लिये सच्चे मनसे सदा प्रयत्न करना चाहिये। मानव-जीवनको हिंस्र पशुओंकी भाँति मार-काटमें और पिशाच-राक्षसोंकी भाँति पापकर्मोंमें लगाये रखना बहुत बड़ी हानि है और बहुत बड़े दु:खका कारण है। इस बातको समझना चाहिये और परस्पर सौहार्द, प्रेम, विश्वास तथा अपनापन बढ़े, इसके लिये कोशिश करनी चाहिये। प्रेममें ही सबका कल्याण है।

भगवान्‌को आर्तभावसे पुकारते ही रक्षा हो गयी

अपबल तपबल और बाहुबल चौथो बल है दाम।
सूर किसोर कृपातें सब बल हारेको हरिनाम॥

कुछ वर्षों पूर्व कलकत्ते और पूर्व-बंगालमें जो अमानुषिक अत्याचार हुए थे उनमें कई ऐसी घटनाएँ हुईं, जिनमें भगवान्‌की कृपासे विलक्षणरूपसे लोगोंकी गुंडोंके हाथोंसे रक्षा हुई थी। उन घटनाओंसे यह प्रत्यक्ष प्रकट होता है कि आर्तभावसे भगवान्‌को पुकारनेपर तत्काल उत्तर मिलता है और किसी-न-किसी प्रकारसे विपत्तिसे छुटकारा मिल जाता है। यहाँ ऐसी कुछ घटनाओंका उल्लेख किया जाता है। पाठकोंको इन घटनाओंसे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि जिस समय मनुष्य सब ओरसे असहाय होकर विश्वासके साथ भगवान्‌को पुकारता है उस समय भगवान् उसकी बड़ी विचित्र रीतिसे रक्षा करते हैं। खेदकी बात है कि आज हमारा भगवान्‌पर उतना विश्वास नहीं रहा। इसीसे हम भगवत्कृपासे वंचित रहते और पद-पदपर विपत्तिके जालमें फँसते हैं। आज भी यदि हम विश्वासपूर्वक सामूहिकरूपसे भगवान्‌को पुकारें तो हमारे सारे संकट टल सकते हैं।

(१)

कलकत्तेकी घटना है। एक हिंदू-गृहस्थके बड़े परिवारको आक्रमणकारी गुंडोंने घेर लिया था। बाहरी फाटक तोड़कर गुंडे अंदर घुसना ही चाहते थे। तब घरके लोग घबराकर हतबुद्धि-से हो गये और एक-दूसरेका मुँह ताकने लगे कि अब क्या होगा? किसीने कहा कि 'इस विपद्‌से तो भगवान् ही बचा सकते हैं। द्रौपदीने भगवान्‌को ही पुकारा था। अत: उसी अशरण-शरण प्रभुको ही पुकारना चाहिये, वे ही हम अनाथोंके नाथ हमें बचा सकते हैं और कोई उपाय नहीं है।' बात भी सच्ची है। जब मनुष्य सब ओरसे निराश हो जाता है तब एकमात्र भगवान्‌की शरण खोजता है और वे अकारण दयालु प्रभु उसे सँभाल लेते हैं। किंतु इस भगवद्विश्वासके विरोधी विषैले वातावरणके कारण भोले-भाले मानवोंकी बुद्धि भ्रमित-सी हो रही है, अत: इसीके प्रभावमें आये हुए एक भाईने निराशाके स्वरमें उत्तर दिया, 'क्या होगा भगवान्‌को पुकारनेसे?' इसपर दूसरेने आश्वासन देते हुए कहा, 'भाई! पुकारो तो सही, इसमें अपना लगता ही क्या है?' इसपर सब कोई

मिलकर व्याकुल होकर भगवान्‌को पुकारने लगे। पुकारते-पुकारते उन्हींमेंसे एक सज्जन ऊपर छतपर चले गये, सड़कपर उनकी दृष्टि पड़ी। देखा कि फौजी सिपाहियोंकी एक लारी मकानके नीचेसे जा रही है। यह देखकर वे और भी जोरसे भगवान्‌को पुकारकर कहने लगे, भगवान् बचाओ, रक्षा करो। यह करुणक्रन्दन भगवान्‌ने सुना, लारी वहीं रुक गयी। गुंडे भागे। उस हिंदू-परिवारके सब लोगोंको लारीवालोंने लारीमें बैठा लिया और उन्हें सुरक्षित स्थानमें पहुँचा दिया।

(२)

कलकत्तेकी ही एक दूसरी घटना है। किसी फ्लावर मिलमें कुछ आदमी काम कर रहे थे, बदमाशोंके एक दलको आते देखकर उन्होंने जल्दीसे फाटक बंद कर लिये। इतनेमें ही आक्रमणकारी गुंडे वहाँ पहुँच गये और बाहरसे किंवाड़ तोड़ने लगे। इससे अंदरवाले लोग घबराकर आर्तभावसे भगवान्‌को पुकारने लगे। पुकारका ही यह फल था कि उन गुंडोंमेंसे एकने अपने साथियोंसे कहा कि 'अरे, यहाँ क्या मिलेगा। चलो आगे बढ़ो।' आक्रमणकारी अनायास ही वहाँसे चल दिये। सबकी जान बची।

(३)

नोआखालीसे लौटते हुए एक परिवारके एक वीर युवकने हवड़ा स्टेशनपर अपना हाल बतलाया था कि मैं किसी आवश्यक कामसे बाहर गया हुआ था, घरपर मेरे माता-पिता और पत्नी—इतने लोग थे। बाहरसे लौटनेपर पड़ोसियोंसे ज्ञात हुआ कि आक्रमणकारी गुंडे मेरे पिताकी हत्या करके मेरी माता और पत्नीको अपहरण करके ले गये। यह सुनते ही मैं 'मैं' नहीं रहा। भगवान्‌से मैंने प्रार्थना की, कहींसे मुझे एक छुरा दिला दो। मुझे तुरंत एक छुरा मिला। उसे उठाकर भगवान्‌के भरोसे मैं पता लगाता हुआ उन बदमाशोंके अड्डेपर जा पहुँचा। देखा, मेरी माता और पत्नी वहाँ मौजूद हैं और दोनों बदमाश वहाँ अकड़े बैठे हैं। मैंने तुरंत भगवान्‌का नाम लेकर एकके पेटमें छुरा भोंक दिया। वह घावको हाथसे दबाकर उठा, उसका दूसरा साथी भी मुझपर टूट पड़ा। मैंने अपनी माता और स्त्रीको ललकारा कि 'बैठी क्या देखती हो। मारो इन दुष्टोंको।' भगवान्‌की कृपासे हम तीनोंने मिलकर उन दोनोंका काम तमाम किया और वहाँसे निकलकर चले आ रहे हैं। उस युवकके शरीरमें भी कई घाव थे। तीनों ही भगवान्‌का स्मरणकर प्रफुल्लित हो उठते थे।

(४)

नोआखालीके एक मारवाड़ी व्यापारीपर कुछ बदमाशोंने आक्रमण किया। वह भयभीत हुआ भागकर निकटकी पुलिस-चौकीपर चला गया। उसने पुलिस दारोगासे रक्षाके लिये प्रार्थना की। दारोगाने कहा कि 'भैया! हम तुम्हें नहीं बचा सकते, न हमारे पास काफी पुलिस है, न हथियार ही। तुम अपना बचाव आप ही कर लो।' लाचार वह वहींके एक पाखानेमें छिप गया और वहीं एकाग्र मनसे अशरण-शरण, अनाथोंके नाथ, जगत्‌के एकमात्र रक्षक, परम दयालु भगवान्‌को आर्तभावसे पुकारने लगा। वह व्यक्ति तत्कालीन बीकानेर जिलेके साँडवा ग्रामका अधिवासी था। उसने बताया कि 'गुंडोंने आकर पुलिस दारोगासे मेरा नाम लेकर पूछा कि वह कहाँ है? दारोगाने कह दिया, 'हम नहीं जानते, यहाँ तो कोई वैसा आदमी आया ही नहीं।' गुंडोंने कोना-कोना छान डाला! मैं जिस पाखानेमें छिपा था, वहाँ भी ये लोग कई बार आकर निकल गये। मैं उन्हें देखता रहा। वे मुझे, पता नहीं कैसे, देख नहीं सके। भगवन्नामका ही यह प्रभाव था जिसे सोचकर मैं गद्‌गद होता रहता हूँ।' स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजसे उसके सगे भाई मिले थे।

(५)

युक्तप्रान्त—लखनऊके पास किसी स्टेशनकी घटना है। किसी भले घरकी चार-पाँच महिलाओंको कुछ गुंडे भगाये लिये जा रहे थे। बेचारी महिलाएँ आर्तभावसे मन-ही-मन अशरण-शरण भगवान्‌को पुकार रही थीं—प्रभु! तुमने द्रौपदीकी लाज रखी, गजराजका उद्धार किया, आज हमारी भी इन राक्षसोंके हाथोंसे तुम्हीं रक्षा कर सकते हो। हमारे पास और बल ही क्या है नाथ! एकमात्र समर्थ चरणकमलोंका सहारा है। प्रभु! दया करो, नाथ!' इसी प्रकार रो-रोकर भगवान्‌से प्रार्थना कर रही थीं कि इतनेहीमें उसी डिब्बेमें एक टिकट-चेकर आया। उसे देखकर उन अबलाओंमेंसे एकने उसके पैरको अपने पैरसे दबाकर संकेत किया। उस टिकट-चेकरने समझा, सम्भव है मेरा पैर उसके पैरसे भूलसे दब गया होगा और उसने उस ओर ध्यान नहीं दिया। पर दूसरी और फिर तीसरी बार भी जब वही संकेत हुआ, तब उसका ध्यान गया और तुरंत

बाहर जाकर पुलिसको साथ लिये लौटा। उसने उन महिलाओंके साथ जो गुंडे थे उनसे पूछा, 'ये महिलाएँ कौन हैं? किसके साथ हैं?' गुंडोंने जवाब दिया—'हमारे घरकी स्त्रियाँ हैं।' यह सुनकर उन स्त्रियोंने अपना सिर हिलाकर इनकार किया। इसपर टिकट-चेकरने एक महिलाका बुरका हटाया तो क्या देखा कि उसके हाथ पीछेकी ओर बँधे हैं और मुँहमें कपड़ा ठूँसकर ऊपरसे पट्टी बँधी है। चारों महिलाओंका यही हाल था। गुंडे गिरफ्तार किये गये, स्त्रियोंके बन्धन खुले और वे उनके अपने स्थान पहुँचायी गयीं। उन महिलाओंने यह बतलाया कि हमारे आदमियोंको पता नहीं है कि इन्होंने क्या किया। हमारे सब आभूषण भी इन टीफिन-केरियरोंमें भरकर रखे हैं।

(६)

एक घटना ऐसी सुननेमें आयी थी कि एक गुंडा किसी भले घरकी लड़कीको भगाकर लिये जा रहा था। रेलके जिस डिब्बेमें वह लड़की बुरकेमें छिपी हुई मन-ही-मन अशरण-शरण भगवान्‌को रो-रोकर पुकार रही थी, उसीमें उसीके पास भले घरकी एक स्त्री अपने पतिके साथ आकर बैठ गयी। तब इस लड़कीने बहुत सावधानीसे अपनी विपद्-गाथा लिखकर उस महिलाको दी। उसने वह परचा अपने पतिको दिया। उसने अगले स्टेशनपर जब गाड़ी रुकी, पुलिसको इत्तला दी और पुलिसको उस गुंडेके पीछे लगा दिया। अगले किसी बड़े स्टेशनपर गुंडेको गिरफ्तार करके उस लड़कीको उसके घर पहुँचा दिया गया।

(७)

पूर्व-बंगालके एक गाँवमें चारों ओर लूट-पाट मची हुई थी। एक गुंडा किसी घरमें घुसा। उस समय घरमें कोई पुरुष नहीं था। एक अट्ठाईस वर्षकी लड़की घरमें थी। गुंडेने पहले तो जो कुछ गहना-कपड़ा हाथ लगा सो लूटा। फिर वह उस लड़कीकी ओर झपटा। वह पहलेसे ही डरी हुई थी और भगवान्‌को पुकार रही थी। जब दुष्ट उसकी ओर बढ़ा, तब उसके मनमें न जाने कहाँसे साहस आ गया। वह जोरसे आगे बढ़ी और बड़े जोरसे उस झपटते हुए बदमाशकी छातीपर एक लात जमा दी। सहसा लात लगते ही वह पीछेकी ओर गिर पड़ा और उसी क्षण हृदयकी गति बंद होनेसे मर गया। इतनेमें लड़कीके भाई और पिता आ गये। लड़कीका सतीत्व तथा घरका सामान बच गया!

(८)

कालीपद नामक एक बंगीय सज्जनने बताया था कि एक दिन दो गुंडोंने उसे घेर लिया और वे मारनेको तैयार हो गये। वह उनसे डरकर जोर-जोरसे अशरण-शरण भगवान्‌को पुकारता हुआ भागा। संध्या हो चली थी। वह डरकर एक जले हुए घरमें घुस गया। दोनों गुंडे पीछे-पीछे गये। वह तो घरके पीछेसे निकल गया और उन दोनोंपर जली हुई छतसे एक लकड़ी टूट पड़ी, जिससे दोनों घायल होकर वहीं गिर पड़े!

पता नहीं, ऐसी कितनी घटनाएँ हुआ करती हैं।

पाँच प्रश्न

एक सज्जनके ये पाँच प्रश्न हैं—

(१) प्रकृतिका क्या स्वरूप है और परमात्माके साथ उसका क्या सम्बन्ध है?

(२) संसार क्या है और कबसे है?

(३) जीव क्या है और जीवका यह बन्धन कबसे है?

(४) दो पुरुष और एक पुरुषोत्तम—इससे क्या त्रैतवाद सिद्ध होता है?

(५) क्या ज्ञानी, भक्त और योगी मुक्तपुरुष सृष्टि, पालन और संहार आदि कार्योंमें परमेश्वरके समान ही शक्तिसम्पन्न होते हैं?

प्रश्न बड़े गहन हैं। इन प्रश्नोंका उत्तर वही पुरुष कुछ दे सकता है, जिसने अनुभवसे इन विषयोंकी यथार्थताका ज्ञान प्राप्त किया हो। केवल अध्ययनके आधारपर कुछ भी कहनेमें भूल न होना बहुत ही कठिन है। फिर मैं तो अध्ययनका भी दावा नहीं कर सकता। मैंने प्रश्नकर्ता महोदयसे दूसरे महानुभावोंसे पूछनेके लिये प्रार्थना की थी, परंतु उन्होंने आग्रहपूर्वक मुझसे ही उत्तर माँगे हैं। इसलिये बाध्य होकर लिख रहा हूँ। प्रश्नकर्ता महोदयने मेरी परीक्षाके लिये ही यदि प्रश्न किये हों तब तो मैं पहले ही अपनेको अनुत्तीर्ण मान लेता हूँ। हाँ, उन्होंने जिज्ञासुकी दृष्टिसे पूछा है तो

सम्भव है उन्हें अपनी श्रद्धाके बलसे इस धूलके ढेरमें भी कोई एकाध रत्न मिल जाय।

परमात्माकी स्वकीय नित्यशक्तिका नाम प्रकृति या माया है। जिस प्रकार परमात्मा अनादि हैं, उसी प्रकार उनकी यह शक्ति प्रकृति भी अनादि है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

जबतक शक्तिमान् पुरुष हैं तबतक उनकी शक्तिका कभी विनाश नहीं हो सकता। इसलिये परमात्मा जबतक हैं तबतक उनकी शक्ति भी है और परमात्मा अनादि, अनन्त, नित्य, अविनाशी हैं, उनका कभी जन्म और विनाश नहीं होता, इसलिये उनकी शक्तिका भी विनाश सम्भव नहीं। परंतु जब वह क्रियाहीन रहती है, शक्तिमान्में लीन रहती है तबतकके लिये वह अदृश्य या शान्त हो जाती है। इसलिये उसे अनादि और सान्त भी कहते हैं। परमात्मा इस प्रकृतिकी भाँति कभी अदृश्य नहीं होते। प्रकृतिका सारा खेल—कालतक प्रकृतिमें लय हो जाता है और सबकी जननी यह प्रकृति भी जिसमें लय हो जाती है, इन सबके लय होनेके बाद भी अविलयरूपसे नित्य अचल वर्तमान रहनेवाले उस परम तत्त्वका नाम ही परमात्मा है। प्रकृतिके उनमें प्रविष्ट हो जानेपर केवल वे परमात्मा ही रह जाते हैं, इसीलिये वे नित्य, अविनाशी, अपरिणामी, परम सनातन अव्यक्त पुरुष कहलाते हैं। संसारकी कारणरूपा मूल अव्यक्त प्रकृति शक्तिरूपसे इन्हींमें समाहित रहती हैं, इन्हींके संकल्पानुसार विकसित होकर व्यक्त होती हैं, पुनः सिमटकर इन्हींमें लीन हो जाती हैं। इसीसे ये सनातन अव्यक्त हैं।

प्रकृतिके भी दो स्वरूप हैं—एक अविकसित यानी अव्यक्त, दूसरा विकसित। जब प्रकृति अक्रिय है तब वह अव्यक्त है, उस समय प्रकृतिसे प्रसूत कार्य-करणका (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी—पाँच सूक्ष्म भूत और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—पाँच विषय ये दस कार्य हैं। एवं बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना और नासिका—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; हाथ, पैर, मुख, गुदा और उपस्थ—पाँच कर्मेन्द्रियाँ—ये तेरह करण हैं) विस्तार यह समस्त संसार मूलप्रकृतिसहित परम सनातन अव्यक्त परमात्मामें समा जाता है। शक्ति शक्तिमान्के अन्दर निस्तब्ध होकर स्थित रहती है। उस समय जगत्के समस्त जीव अपने-अपने कर्मसंस्कारोंसहित मूल-प्रकृतिरूप महाकारणमें लीन रहते हैं। माता उन सबको आँचलमें छिपाकर ही पिताके अन्तःपुरमें प्रविष्ट हो जाती है। इसी अवस्थाको महाप्रलय कहते हैं।

परमात्माकी सत्ता-स्फूर्ति और संकल्पसे प्रकृतिदेवी जब घूँघट खोलकर अन्तःपुरसे बाहर निकलती हैं—क्रियाशीला होती हैं, तब उसे विकसित कहते हैं। इसके व्यक्त होते ही संसार पुनः बन जाता है, सम्पूर्ण जीव अपने-अपने कर्मानुसार व्यक्तित्वको प्राप्त हो जाते हैं। यह विकसित प्रकृति भी अव्यक्त ही रहती है। सर्गके अन्तमें जीव अपने कर्मसमुदायसहित कारण-शरीरको साथ लिये इसी अव्यक्त प्रकृति या ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें लीन रहते हैं और सर्गके आदिमें पुनः उसीमेंसे प्रकट हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

(गीता ८। १८)

'सम्पूर्ण व्यक्त जीव ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें—सर्गके आदिमें अव्यक्तसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके आगमनकालमें पुनः उस अव्यक्तमें ही लीन हो जाते हैं।' फिर कहते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

(गीता ८। २०)

'परंतु उस अव्यक्तसे भी श्रेष्ठ दूसरा सनातन अव्यक्त तत्त्व है। वह सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।' बस, वही उपर्युक्त सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं।'

मूल अव्यक्त प्रकृतिका नाम ही अव्याकृत माया है, वही परमात्माकी नित्य, अनादिशक्ति है; न किसीके द्वारा इस शक्तिका निर्माण हुआ है और न यह किसीका विकार है। इसलिये यह मूल और अव्याकृत है। परमात्मा जब इस प्रकृतिरूप योनिमें संकल्पद्वारा चेतनरूप बीज स्थापन करते हैं, तभी गर्भाशयमें वीर्यस्थापनसे होनेवाले विकारकी भाँति प्रकृतिमें विकृति उत्पन्न हो जाती है। वह विकार क्रमशः सात होते हैं—महत्तत्त्व (समष्टिबुद्धि), अहंकार और सूक्ष्म पंचतन्मात्राएँ। मूल प्रकृतिके विकार होनेसे इन्हें विकृति कहते हैं, परंतु इनसे अन्य सोलह विकारोंकी उत्पत्ति होनेके कारण इन

सातोंके समुदायको प्रकृति भी कहते हैं। अहंकारसे मन और दस (ज्ञान-कर्मरूप) इन्द्रियाँ और पंचतन्मात्रासे पंचमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है, इसलिये इन दोनोंके समुदायका नाम 'प्रकृति-विकृति' है। मूल प्रकृतिके सात विकार, सप्तधा विकाररूपा प्रकृतिसे उत्पन्न सोलह विकार और स्वयं मूल प्रकृति—ये कुल मिलाकर चौबीस तत्त्व माने गये हैं। इन्हीं चौबीस तत्त्वोंका यह स्थूल संसार है। जीवका स्थूल देह भी इन्हीं चौबीस तत्त्वोंसे निर्मित होता है। ये चौबीस तत्त्व प्रकृति और उसके कार्य हैं।

परंतु यह प्रकृतिका कार्य केवल प्रकृतिसे ही नहीं सम्पन्न होता, परमात्माकी चेतन-सत्तासे ही प्रकृति क्रियाशीला होती है। यह चेतन शक्ति भी भगवान्की दूसरी प्रकृति ही है। इसीके द्वारा जगत्का धारण किया जाता है। इन दोनों ही प्रकृतियोंकी सत्ता परात्पर परमात्मा पुरुषोत्तमकी सत्तासे ही है। शक्तिमान्से अलग शक्तिकी कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। शक्तिमान् परमेश्वरकी अध्यक्षतामें ही शक्ति कार्य करती है, इसीसे भगवान्ने कहा है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

(गीता ९। १०)

'अर्जुन! मुझ परमेश्वरकी अध्यक्षतामें ही मेरी यह प्रकृति (माया) चराचरसहित जगत्को रचती है और इसी हेतुसे यह संसार चक्रवत् घूमता है।'

इससे यह निष्पन्न होता है कि परमात्माकी सत्ताप्राप्त प्रकृतिका ही परिणाम यह सारा चराचर जगत् है। परमात्माकी चेतनासे ही प्रकृतिका परिणाम यह जगत् चेतन है। इस दृष्टिसे यह भी कहा जा सकता है कि शक्ति शक्तिमान्से अलग न होनेके कारण शक्तिका परिणाम शक्तिमान् परमात्माका ही परिणाम है, परंतु यह याद रखना चाहिये कि परमात्मा स्वयं वस्तुतः अपरिणामी हैं। यह बात ऊपर आ चुकी है। परमात्मा स्वभावसे ही सत्ता देकर शक्तिको क्रियाशीला बनाते हैं, परंतु उसके कार्यसे वे स्वयं परिणामी नहीं हो सकते। शुद्ध सच्चिदानन्दघन नित्य अविनाशी एकरस परमात्मामें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन शक्तिमें ही होता है; क्योंकि शक्तिका विकसित रूप नित्य क्रीडामय होनेके कारण सदा एक-सा नहीं रहता। शक्तिकी इस अनेकरूपताके कारण ही संसार परिवर्तनशील है।

साथ ही यह भी स्मरण रहे कि शक्ति शक्तिमान्से पृथक् न होनेके कारण संसाररूपसे व्यक्त होनेवाला उस शक्तिका यह खेल वस्तुतः परमात्माका अपना ऐश्वर्य ही है। भगवान्के ऐश्वर्यके सिवा जगत्में किसी भी भिन्न वस्तुकी सत्ता नहीं है। यह सब प्रभुकी लीलाका ही विस्तार है। एक प्रभु ही अपनी शक्तिसे आप ही क्रीडा कर रहे हैं, इससे जगत्को मायिक बतलानेवाला मायावाद भी सत्य ही है।

परमात्माके दो स्वरूप हैं—निर्गुण और सगुण। असलमें एकके ही दो नाम हैं। जब शक्ति बाहर रहती है तब परमात्मा सगुण हैं और जब वह अन्तःपुरमें प्रविष्ट रहती है तब परमात्मा निर्गुण हैं। इसीलिये परमात्मामें परस्पर विरोधी गुणोंका सामंजस्य माना गया है। वे सदा सगुण होते हुए ही नित्य-निर्गुण हैं और नित्य-निर्गुण होते हुए ही सदा सगुण हैं। गुणमयी प्रकृतिमें परमात्माकी इच्छा बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। प्रकृतिका अस्तित्वतक परमात्माकी इच्छासे व्यक्त होता है, नहीं तो, वह सदा उनमें विलीन ही रहती है। और जिस समय वह जाग्रत् होती है उस समय भी उनके सर्वथा अधीन ही रहती है। इसलिये परमात्मा शक्तियुक्त—सविशेष होते हुए भी निर्गुण-निर्विशेष हैं, क्योंकि गुणोंका उनपर कोई प्रभाव नहीं है।

इस प्रकार परमात्मापर गुणोंका कोई प्रभाव न रहनेपर भी इन्हींके प्रभावसे शक्ति जाग्रत् होकर विविध खेल रचती है और संसारका नियमित संचालन करती है। इससे ये निर्गुण-निर्विशेष होते हुए भी सदा सगुण-सविशेष हैं। इस प्रकार युगपत् उभय-भावयुक्त सर्वगुणसम्पन्न गुणातीत विज्ञानानन्दघन लीलामय नट-नागरका नाम ही परमात्मा है। असलमें परमात्माका रहस्य परमात्मा ही जानते हैं। वे मायावाद, परिणामवाद, सगुण, निर्गुण आदि किसी भी वाद या भावकी सीमामें आबद्ध नहीं हैं। वे सब कुछ हैं, सबमें हैं और सबसे परे हैं। वे ही वे हैं। वस्तुतः परमात्मा सर्वथा अनिर्वचनीय तत्त्व हैं। वाणीके द्वारा उनका जो कुछ वर्णन होता है सो तो केवल लक्ष्य करानेके लिये होता है और वाणीमें आनेवाला स्वरूप असली स्वरूपसे बहुत ही स्थूल है, परंतु किसी भी बहाने उनकी चर्चा होनेके लोभसे ही ये पंक्तियाँ लिखी जाती हैं।

परमात्माकी शक्तिको विद्या और अविद्या भी कहते हैं। जब उससे परमात्मा अपना कार्य करते हैं तब उसका नाम विद्या है। विद्या परमात्माकी सेविका है, जीव और परमात्माका सम्बन्ध जोड़ देनेवाली निर्मल सूत्रिका है। इस विद्याके द्वारा ही बिछुड़ोंका नित्य मिलन और जीवरूप पत्नीके साथ परमात्मारूप पतिका गँठजोड़ा होता है। जिससे आगे चलकर दोनों घुल-मिलकर सम्पूर्णरूपसे एक हो जाते हैं। जीवको मोहित करके उसे परमात्मासे अलग रखनेवालीका नाम अविद्या है। इस अविद्याके मोहसे छूटनेके लिये इसीके दूसरे निर्मल-स्वरूप विद्याकी शरण लेनी पड़ती है।

अब यह प्रश्न रहा कि जीव क्या वस्तु है? जीव असलमें परब्रह्म परमात्मासे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। उन्हींका आत्मरूप सनातन शुद्ध अंश है। समुद्रके तरंगोंकी भाँति उनसे सर्वथा अभिन्न है, परंतु अनादि कालसे प्रकृति और उसके कार्योंके साथ तादात्म्य होनेके कारण जीव-दशाको प्राप्त हो रहा है। यह सम्बन्ध प्रकृतिकी अनादिताकी भाँति ही अनादि है। अनादि न होता, कभी इसका आरम्भ होता तो जीवोंके कोई भी कर्म न रहनेपर उन्हें भिन्न-भिन्न योनियों और स्थितियोंमें परमेश्वर क्यों रचते। भेद-पूर्ण संसारमें अकारण ही जीवोंको रचकर पटकनेसे परमात्मामें विषमता और निर्दयताका दोष आता, जो कदापि सम्भव नहीं है। प्रकृतिके जीवका सम्बन्ध अनादि है। जीव जबतक मुक्त नहीं होता, तबतक वह कभी चौबीस तत्त्वोंके स्थूल शरीरमें; कभी पंचप्राण, दस इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंके सूक्ष्म देहमें और कभी मूल प्रकृतिके अंशरूप कारण-देहके साथ संयुक्त रहता है। प्रकृतिमें स्थित होनेके कारण ही इसकी जीव संज्ञा है और इस प्रकृतिके संगसे ही यह अच्छी-बुरी योनियोंमें जाता-आता और दुःख-सुख भोगता है। (गीता १३।२१)

यह सत्य है कि शुद्ध आत्मामें आने-जाने और जन्म-मृत्युकी कल्पना केवल आरोपित है, परंतु जबतक जीव संज्ञा है तबतक वह वस्तुतः शुद्ध आत्मारूपमें नित्य, अविनाशी, अविकारी होते हुए ही भले-बुरे कर्मोंका कर्ता, उनके फलरूप सुख-दुःखोंका भोक्ता जनन-मरणशील है। परमात्मा, उनकी शक्ति प्रकृति, जीव और प्रकृतिके परिणाम जगत्‌का परस्परका सम्बन्ध अनादि है। परंतु इतनी बात याद रखनेकी है कि नित्य एकरस सच्चिदानन्दघन अव्यय परमात्मा अनादि होनेके साथ ही अनन्त भी हैं और जीव भी उनका चेतन सनातन अंश होनेसे अनन्त है। परंतु प्रकृति—शक्ति विकसित और अविकसित दो रूपोंमें रहनेवाली होनेके कारण अविकसित-अवस्थामें सान्त (अन्तवाली) कही जाती है। प्रकृतिका परिणाम जगत् भी प्रवाहरूपसे अनादि और नित्य होनेपर भी विविध रंगमय है और प्रकृतिके पाशसे छूटे हुए मुक्त-पुरुषके लिये तो नष्ट हो जाता है। और भिन्न स्वतन्त्र चेतन सत्ता न होनेसे परमात्माके लिये तो जगत् सर्वथा असत् या परमात्मरूप ही है।

गीतामें दो पुरुषोंका वर्णन है। एक क्षर, दूसरा अक्षर। क्षर—प्रकृतिका कार्यरूप जगत् और अक्षर—नित्य चेतन आनन्दरूप परमात्माका सनातन अंश होनेपर भी अविद्यारूपी प्रकृतिमें स्थित होनेके कारण असंख्य और विभिन्न रूपोंसे भासनेवाला जीव। इन दोनों पुरुषोंके परे उत्तम पुरुष परमात्मा पुरुषोत्तम नामसे वर्णित है। इस पुरुषत्रयके वर्णनसे कुछ लोग इसे त्रैतवाद भी कहते हैं। परंतु असलमें जीवका परमात्माके साथ अंशांशी सम्बन्ध होनेके कारण वह उनसे अभिन्न है और क्षर जगत् परमात्माकी स्वकीया शक्ति मायाका विलास है, इसलिये वह भी उनसे अभिन्न ही है। अतएव यह नामका त्रैत वास्तवमें अद्वैत ही है।

इसी प्रकार जीव-ब्रह्मकी मूलतः एकता माननेपर भी शक्तिको उनसे अलग समझ लेनेके कारण ब्रह्म-जीवकी व्यवहारमें भिन्नता माननेवालोंका द्वैतवाद भी इस दृष्टिसे उचित होनेपर भी वस्तुतः अद्वैत है। अवश्य ही, जहाँ खेल है, वहाँ द्वैत है और यह द्वैत सदा अभिनन्दनीय है, परंतु खेल है अपने-आपमें ही, इसलिये अद्वैत ही है। सबमें समाये हुए ये एक पुरुषोत्तमभगवान् ही नित्य विज्ञानानन्दघन नित्य-मुक्त अविनाशी गुणातीत ब्रह्म हैं, वे ही सबके आदि महाकारण और शक्तिमान् मायाधीश हैं। और वे ही प्रकृतिके लीलाविस्तारके समय, भर्ता, भोक्ता और महेश्वर हैं। हम सबको सर्वतोभावसे उन्हींकी शरण जाना चाहिये।

मेरी समझसे ज्ञानी, भक्त या योगी कोई भी मुक्त पुरुष परमेश्वरकी तुलनामें नहीं आ सकता। जीवन्मुक्त महात्मा परमार्थ-दृष्टिसे तत्त्वज्ञानमें ब्रह्मके समान हो

सकते हैं, जगत्-प्रपंचको लाँघकर आनन्दमय बन सकते हैं, मायाके बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो सकते हैं परंतु मायाधीश कभी नहीं हो सकते। जगत्का सृजन, पालन और संहार करनेकी शक्ति केवल एक नित्यसिद्ध परमेश्वरमें ही है। इसीसे यहाँतक कहा जा सकता है कि जीव ब्रह्म हो सकता है, परंतु परमेश्वर या भगवान् नहीं हो सकता।

ब्रह्मसूत्रके—

जगद्व्यापारवर्जम् (४। ४। १७)

—सूत्रके भाष्यमें पूज्यपाद स्वामी श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वा अन्यदणिमाद्यात्मक-मैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति, जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैव ईश्वरस्य।

'जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, विनाशके सिवा अन्य अणिमादि सिद्धियाँ महापुरुषोंमें होती हैं, परंतु जगद्व्यापारकी सिद्धि तो एकमात्र नित्यसिद्ध ईश्वरमें ही है।'

अणिमादि सिद्धियाँ भी सभी सिद्ध, ज्ञानी और भक्तोंको नहीं प्राप्त होतीं। योगमार्गसे सिद्धिप्राप्त पुरुषोंको अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, परंतु ये ऐश्वर्य सभी सीमित हैं। मायाके राज्यमें ही हैं। परमेश्वर मायाके स्वामी हैं। उनका मायापर आधिपत्य है, माया उनकी शक्ति है। वे अणिमादि योगके अष्ट ऐश्वर्योंसे परे उनसे अधिक शक्तिसम्पन्न चमत्कारी ऐश्वर्योंकी सृष्टि कर सकते हैं। वस्तुतः अणिमादि ऐश्वर्य भी ईश्वरकी ऐश्वर्यराशिका एक तुच्छ कणमात्र है। योगी ईश्वरके सृजन किये हुए परमाणुओंको सूक्ष्मसे स्थूल और स्थूलसे सूक्ष्म कर सकते हैं, उनका इच्छानुसार व्यवहार कर सकते हैं। परंतु नवीन सूक्ष्म तत्त्वोंकी उत्पत्ति नहीं कर सकते। वे सत्यसंकल्प हो सकते हैं। वे अग्नि, जल, अस्त्र, विष आदिका इच्छानुसार प्रयोग कर सकते हैं, परंतु ये सभी चीजें मायाके खेलके अन्तर्गत ही होती हैं। यों तो संसारमें प्रत्येक जीव ही अपने-अपने क्षेत्रमें सृष्टि, पालन, विनाश करता है। किसी चीजको बनाना, उसकी रक्षा करना और उसे नष्ट कर देना एक प्रकारसे सृष्टि, स्थिति, संहार ही है, साधारण जीवोंमें यह सामर्थ्य बहुत थोड़ी होती है, योगियोंमें साधन-बलसे इस सामर्थ्यका बहुत अधिक विकास होता है। यहाँतक कह सकते हैं कि इस विषयमें परमेश्वरके नीचे दूसरी श्रेणीमें पहुँचे हुए योगियोंको माना जा सकता है, परंतु परमेश्वरकी तुलनामें तो उनकी शक्ति अत्यन्त ही क्षुद्र रहती है।

ज्ञानी तो इन विषयोंकी परवा ही नहीं करता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें ब्रह्मके सिवा और कुछ रहता ही नहीं। फिर इस प्रकारकी शक्ति प्राप्त करनेकी चेष्टा ही कौन करे? भक्त अपनेको भगवान्के चरणोंमें समर्पण कर केवल उन्हींका हो रहता है। भगवान्की मंगलमयी इच्छा ही उसके लिये कल्याणरूपा है। अतः वह भी इस शक्तिको पानेका इच्छुक नहीं होता। जिनकी इच्छा ही नहीं, उन्हें वह वस्तु प्राप्त क्यों होने लगी? कदाचित् मान लिया जाय कि सिद्धिप्राप्त योगी, तत्त्वज्ञानी या प्रेमी भक्तको यह शक्ति प्राप्त होती है, तो वह प्राप्त हुई भी अप्राप्तके समान ही है। उससे कोई कार्य नहीं हो सकता। जगत्में आजतक किसी भी युगमें ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता कि जिसमें किसी महापुरुषने अपनी शक्तिसे ईश्वरके सृष्टिक्रमकी भाँति कुछ कार्य किया हो या कार्यतः किसीने ईश्वरत्वका परिचय दिया हो। किसीमें शक्ति हो भी तो वह भी ईश्वरकी शक्तिके अधीन ही रहती है। ईश्वरके विधानके प्रतिकूल कोई कुछ भी नहीं कर सकता। केनोपनिषद्की कथाके अनुसार वायु, अग्नि भी एक सूखे तिनकेको उड़ा या जला नहीं सकते। व्यावहारिक मायानिर्मित जगत्की प्रत्येक क्रिया सदा मायापति ईश्वरके नियन्त्रणमें रहती है। अनादिकालसे जगत्का सारा व्यापार एक ही शक्तिके नियन्त्रणमें एक ही नियमके अनुसार सुशृंखलरूपसे चला आ रहा है। सृष्टि, स्थिति, संहारका कोई भी विधान कभी नियमसे विरुद्ध नहीं चलता। विश्वनाथ परमेश्वरकी इच्छामें हस्तक्षेप करनेकी किसीमें शक्ति नहीं है। ईश्वरेच्छाके अधीन रहकर ही महापुरुष अपनी योगलब्ध सिद्धियोंका उपयोग या सम्भोग करते हैं। वे दिव्यदृष्टिसे ईश्वरको पहचानकर उसीके अनुसार कार्य करते हैं। इसीसे उन्हें कभी विफलताजनित क्लेशका अनुभव नहीं होता।

महापुरुषगण योग, ज्ञान, प्रेम और आनन्दमें ईश्वरके समान होकर भी ईश्वरके आज्ञाकारी ही रहते हैं। ईश्वरेच्छाके विपरीत उनकी शक्तिका प्रयोग सर्वथा असम्भव होता है। कारण, वे इस बातको जानते हैं कि उनके अंदर ईश्वर ही कार्य कर रहे हैं। योगसिद्धिसे

प्राप्त ज्ञान, प्रेम, शक्ति, ऐश्वर्य, आनन्द आदि सभी चीजें परमेश्वरकी ही हैं। उनकी इच्छा ईश्वरकी इच्छा होती है, उनके जीवनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ ईश्वरकी क्रियाएँ होती हैं। वे ईश्वरके गुण, शक्ति आदिको पाकर ईश्वरकी ही एक प्रतिमूर्ति बने हुए जगत्‌में लोककल्याणार्थ विचरण करते हैं। उनका ऐश्वर्य परमात्माके प्रेमरूप माधुर्यमें परिणत हो जाता है। इसलिये थोड़ी देरके लिये उनमें यदि वस्तुतः ईश्वरके समान शक्तिका होना मान भी लिया जाय तब भी वह न होनेके बराबर ही होती है; क्योंकि उनकी शक्ति ईश्वरकी शक्तिके द्वारा ही प्रेरित, परिपूरित और परिचालित होती है, वह अलग कोई कार्य कर ही नहीं सकती।

सेवाकी सात आवश्यक बातें

सेवकमें जब ये सात बातें होती हैं, तब सेवा सर्वांगसुन्दर तथा परम कल्याणकारिणी होती है—१. विश्वास, २. पवित्रता, ३. गौरव, ४. संयम, ५. शुश्रूषा, ६. प्रेम और ७. मधुर भाषण।

इसका भाव यह है कि सेवकको अपने तथा अपने सेवाकार्यमें विश्वास होना चाहिये। विश्वास हुए बिना जो सेवा होगी, वह ऊपर-ऊपरसे होगी—दिखावामात्र होगी। सेवकके हृदयमें विशुद्ध सेवाका पवित्र भाव होना चाहिये, वह किसी बुरी वासना-कामनाको मनमें रखकर सेवा करेगा (जैसे इनको सेवासे संतुष्ट करके इनके द्वारा अमुक शत्रुको मरवाना है, आदि) तो सेवा अपवित्र हो जायगी और उसका फल अधःपतन होगा। जिसकी सेवा की जाय, उसमें गौरवबुद्धि—पूज्यबुद्धि होनी चाहिये। अपनेसे नीचा मानकर या केवल दयाका पात्र मानकर अहंकारपूर्ण हृदयसे जो सेवा होगी, उसमें सेव्यका असम्मान, अपमान और तिरस्कार होने लगेगा, जिससे उसके मनमें सेवकके प्रति सद्‌भाव नहीं रहेगा और ऐसी सेवाको वह अपने लिये दुःखकी वस्तु मानेगा। अतः सेवाका महत्त्व ही नष्ट हो जायगा। इसीलिये कहा गया है कि जिसकी सेवा की जाय, उसे भगवान् मानकर सेवा करे। सेवककी इन्द्रियाँ संयमित होनी चाहिये—मन-इन्द्रियोंका गुलाम सच्ची सेवा कभी नहीं कर सकेगा। जिसके मनमें बार-बार विषय-सेवनकी प्रबल लालसा होगी, वह सेवा क्या करेगा? सेवकको सेवापरायण होना पड़ेगा। जो मनुष्य किसी सेवाको नीची मानकर उसे करनेमें हिचकेगा, वह सेवा कैसे करेगा। सेवकमें सेव्य तथा सेवाके प्रति प्रेम होना चाहिये। प्रेम होनेपर कोई भी सेवा भारी नहीं लगेगी तथा सेवा करते समय आनन्दकी अनुभूति होगी, जिससे नया-नया उत्साह मिलेगा। और साथ ही सेवकको मीठा बोलनेवाला होना चाहिये। कटुभाषी सेवककी सेवा मर्माहत करती है और मधुरभाषीकी बड़ी प्रिय लगती है। मधुर भाषण स्वयं ही एक सेवा है।

भक्तकी परख

भक्तकी परख तिलक, छापा, माला, कण्ठी, रामनामी, मुण्डन या जटासे नहीं होती। ये सब आवश्यक हैं, उत्तम हैं, परंतु इनसे उसीकी शोभा बढ़ती है जिसका हृदय श्रीभगवान्‌के प्रेमसे पूर्ण हो गया है। जिसके हृदयमें भगवान्‌की जगह भोगोंने घर कर रखा हो, उसको न तो यह भक्तोंका बाना धारण करनेका अधिकार है और न इससे कोई लाभ ही है, ऊपरका भेष देखकर किसीने भक्त मान भी लिया तो क्या हुआ? भेषधारीको इससे कोई लाभ नहीं। कंगालको लखपति माननेसे कंगाली नहीं छूट सकती। हृदय पापकी आगसे जलता ही रहेगा। भक्त वह है जो सर्वत्र-सर्वदा अपने भगवान्‌को देखता है और उसके दिव्य गुण सत्य, प्रेम, करुणा, आनन्द, ज्ञान आदिका अनुसरण प्राणपणसे करता है। बाना हो या न हो।

मनन करनेयोग्य

'ग्रन्थोंके भरोसे मत पड़े रहो, अब इसी बातकी जल्दी करो कि मनको देहभावसे खाली करके भगवान्‌के प्रेमसे भर दो। दूसरे साधन कालके मुँहमें डाल देंगे, गर्भवासके कष्टोंसे कोई भी मुक्त नहीं करेगा।'

'भगवान्‌के पास मोक्षका कोई थैला थोड़े ही रखा है, जो उसमेंसे थोड़ा-सा निकालकर वे तुम्हें भी दे देंगे? इन्द्रिय-विजयसे मनको साधो, निर्विषय बन जाओ। बस, मोक्षका यही मूल है।....तुका कहता है, फल तो मूलके ही पास है; उस मूलको पकड़ो; शीघ्र श्रीहरिकी शरण लो।'

'उन करुणाकरसे करुणा माँगो, अपने मनको साक्षी रखकर उन्हें पुकारो। कहीं दूर जाना-आना नहीं पड़ता; वे तो अन्तरमें साक्षीरूपसे विराजमान हैं। तुका कहता है वे कृपाके सिन्धु हैं, भवबन्धनको तोड़ते उन्हें कितनी देर लगती है!'

'ग्रन्थोंको देखकर फिर कीर्तन करो, तब उसमें (ज्ञानमें) फल लगेगा। नहीं तो व्यर्थ ही गाल बजाया और वासना तो हृदयमें रह ही गयी। तप-तीर्थाटन आदि कर्मोंकी सिद्धि तभी होगी जब बुद्धि हरिनाममें स्थिर होगी। तुका कहता है, अन्य झगड़ोंमें मत पड़ो। बस, यही एक संसार-सार हरि-नाम धारण कर लो।'

'श्रीहरि-गोविन्द नामकी धुन जब लग जायगी, तब यह काया भी गोविन्द बन जायगी, भगवान्‌से दुराव—कोई भेदभाव नहीं रह जायगा। मन आनन्दसे उछलने लगेगा, नेत्रोंसे प्रेम बहने लगेगा। कीट भृंग बनकर जैसे कीटरूपमें फिर अलग नहीं रहता, वैसे तुम भी भगवान्‌से अलग नहीं रहोगे।'

'जो जिसका ध्यान करता है, उसका मन वही हो जाता है। इसलिये और सब बातोंको अलग करो, पाण्डुरंगकी ध्यान-धारणा करो।' —संत तुकाराम

भगवान् प्रेमस्वरूप हैं

कुछ लोगोंकी धारणा है कि भगवान् दण्ड देते हैं। पर असलमें भगवान् दण्ड नहीं देते। भगवान् प्रेमस्वरूप हैं। वे स्वाभाविक ही सर्वसुहृद् हैं। सुहृद् होकर किसीको तकलीफ कैसे दे सकते हैं? विश्वकल्याणके लिये विश्वका शासन कुछ सनातन नियमोंके द्वारा होता है। यदि हम उन नियमोंका अनुसरण करके उनके साथ जीवनका सामंजस्य कर लेते हैं तो हमारा कल्याण होता है; परंतु यदि हम लापरवाहीसे या जान-बूझकर उन प्राकृत नियमोंका उल्लंघन करते हैं तो हमें तदनुसार उसका बुरा फल भी भोगना पड़ता है, पर वह भी होता है हमारे कल्याणके लिये ही; क्योंकि कल्याणमय भगवान्‌के नियम भी कल्याणकारी ही हैं। अतः भगवान् किसीको दण्ड नहीं देते, मनुष्य आप ही अपनेको दण्ड देता है। भगवान् प्रेमस्वरूप हैं—सर्वथा प्रेम हैं और वे जो कुछ हैं, वे ही सबको सर्वदा वितरण कर रहे हैं!

कुसंग छोड़कर महापुरुषोंका संग करो

भगवान् श्रीकृष्ण भक्तराज उद्धवजीसे कहते हैं—

संगं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित्।
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत्॥

(श्रीमद्भा० ११। २६। ३)

केवल स्त्रीसंग और पेट-पालनेमें लगे हुए दुष्ट पुरुषोंका संग कभी नहीं करना चाहिये। जैसे अन्धेके पीछे चलनेवाला अन्धा गढ़ेमें गिरता है वैसे ही ऐसे दुष्ट पुरुषका अनुसरण करनेवाला पतित होता है।

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एतस्यछिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। २६। २६)

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि दुष्ट पुरुषोंका संग छोड़कर सत्पुरुषोंका संग करे, क्योंकि सत्पुरुष सदुपदेशसे उसके मनकी आसक्तिको मिटा देते हैं।

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः॥

(श्रीमद्भा० ११। २६। २७)

सब प्रकारकी अपेक्षासे रहित, चित्तको मुझे अर्पण कर देनेवाले, प्रशान्त, समदर्शी, 'मेरा और मैं' पनसे रहित, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित तथा अपरिग्रही जन ही सत्पुरुष हैं।

तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः।
सम्भवन्ति हिता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २६। २८)

महाभाग उद्धव! उन महाभाग्यशाली सत्पुरुषोंमें सदा मेरी कथाएँ ही हुआ करती हैं, जिन हितकारिणी कथाओंके सुननेसे श्रोताओंके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और हृदय निर्मल हो जाता है।

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि॥

(श्रीमद्भा० ११। २६। २९)

मेरे परायण रहनेवाले जो पुरुष उन कथाओंको श्रद्धा और आदरपूर्वक कहते, सुनते, गाते और अनुमोदन करते हैं, वे मेरी भक्तिको प्राप्त होते हैं।

भक्तिं लब्धवतः साधो किमन्यदवशिष्यते।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि॥

(श्रीमद्भा० ११। २६। ३०)

साधो! मुझ अनन्त गुणशाली, आनन्द तथा अनुभवस्वरूप ब्रह्मकी भक्ति प्राप्त होनेपर फिर और कौन विषय उसे मिलना बाकी रह जाता है?

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥

(श्रीमद्भा० ११। २६। ३१)

जैसे भगवान् अग्निदेवका आश्रय लेनेसे शीत, भय, अन्धकारका नाश हो जाता है वैसे ही सत्पुरुषोंका सेवन करनेवालोंके भी पाप, भय, अज्ञान दूर हो जाते हैं।

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २६। ३२)

जैसे जलमें डूबकर डुबकी खानेवालेके लिये दृढ़ नौका परम आश्रय है वैसे ही इस भवसागरमें डुबकी यानी नीची-ऊँची योनियोंमें आने-जानेवाले जीवोंके लिये शान्त ब्रह्म महापुरुष ही एकमात्र गति हैं।

अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम्।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २६। ३३)

जैसे अन्न प्राणियोंका प्राण है, जैसे मैं (भगवान्) आर्तजनोंका आश्रय हूँ, जैसे मरनेके बाद धर्मरूप धन ही मनुष्योंके साथ जाता है, वैसे ही महापुरुष संसारसमुद्रमें पड़नेसे डरते हुए पुरुषकी रक्षा करनेवाले हैं।

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥

(श्रीमद्भा० ११। २६। ३४)

सूर्य बाहरी नेत्रोंको प्रकाशित करते हैं, परंतु महापुरुष तो हृदयके अंदरके ज्ञानरूप नेत्रोंको प्रकाशित करते हैं। ऐसे महापुरुष ही यथार्थ देव और बान्धव हैं तथा ऐसे महापुरुष ही मेरी आत्मा और मेरा रूप हैं।

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

(भगवच्चर्चा भाग ६)

पूर्ण-समर्पण

[पूर्वप्रकाशित भगवच्चर्चा भाग-६ का नवीन संस्करण]

वास्तविक पूर्ण-समर्पण करना नहीं पड़ता, अपने-आप हो जाता है। जबतक कोई समर्पण करनेवाला धर्मी कर्ता रहता है, तबतक अहंकार शेष है और तबतक पूर्ण-समर्पणमें कमी है। एक ऐसी स्थिति होती है, जब देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार—इन सबके समष्टि-यन्त्रपर प्रभु अपना अधिकार कर लेते हैं—यह यन्त्र प्रभुका स्वच्छन्द क्रीडास्थल या लीलाभूमि वृन्दावन बन जाता है। इस अवस्थामें उनसे कोई भिन्न कर्ता नहीं रह जाता। प्रभु उस यन्त्रसे अपने इच्छानुसार मनमाना कार्य लेते हैं—लेते नहीं, उस यन्त्रमें निरंकुश लीला करते हैं। जैसे लावारिस सम्पत्तिपर सरकारका अधिकार हो जाता है, इसी प्रकार उस लावारिस यन्त्रपर प्रभुका अधिकार स्वाभाविक ही हो जाता है। अहंकारका एक क्षुद्र कण भी जबतक शेष रहता है तबतक यन्त्रको यह लावारिसपन प्राप्त नहीं होता और ऐसा हुए बिना प्रभु उसपर अधिकार नहीं जमाते। स्थूल देहसे लेकर अहंकारतक जब सारी वस्तुएँ कर्माकर्मरूप संचित सम्पत्तिसहित किसीकी अपनी चीज नहीं रह जाती, तब उन सबपर प्रभु स्वयं आ विराजते हैं। फिर प्रभुको बुलाना नहीं पड़ता, न यही कहना पड़ता है कि नाथ! हमें शरण दीजिये; क्योंकि कहनेवाला कोई वहाँपर प्रकटरूपसे नहीं रह जाता। जैसे चुम्बक शुद्ध लोहेको खींच लेता है, इसी प्रकार यह यन्त्र स्वयमेव ही भगवान्के द्वारा खिंचा जाकर उनका परम और चरम आश्रय पा जाता है अथवा प्रभु स्वयं उसके सहज अकर्तृक आकर्षणसे खिंचकर उसमें आ विराजते हैं और उसके प्रत्येक अवयवमें अपना कार्य करने लगते हैं। इसीसे यह पूर्ण-समर्पण करना नहीं पड़ता, हो जाता है।

इस स्थितिपर पहुँचनेके लिये पहले शरणागतिका साधन करना पड़ता है, जिससे आधार यन्त्रकी परम शुद्धि होकर वह प्रभुकी स्वच्छन्द लीलाभूमि बननेकी योग्यता प्राप्त करता है। इस शरणागतिके साधनमें अनेक भाव हैं, जिनमें नीचे लिखे पंद्रह मुख्य हैं—

१. नित्य-निरन्तर प्रभुका अनन्य भजन होना।

२. प्रभुको ही अखिल विश्वरूपसे प्रकट समझना।

३. कर्ममात्रमें प्रभुकी प्रेरणा और शक्तिका कार्य देखना।

४. प्रभुको ही सबसे बढ़कर एकमात्र परम प्रियतम समझना।

५. प्रभुपर पूर्ण विश्वास होना।

६. सर्वथा-सर्वदा प्रभुके अनुकूल कार्य करना।

७. सब कुछ प्रभुका समझना और प्रभुसे कभी कुछ भी न चाहना।

८. प्रभुके प्रत्येक विधानमें परम प्रसन्न होना और अनुकूलताका अनुभव करना।

९. प्रभुको ही अपना परम स्नेही पिता, परम वात्सल्यमयी माता, परम हितैषी बन्धु, परम सुहृद् सखा, परम कृपालु स्वामी, परम सहायक धन, परम उत्तम गति और परम प्रकाशकारी विद्या समझना एवं कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे सदा उनके नाम-गुणका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना।

१०.प्रत्येक शुभकर्ममें प्रभुको प्रेरक और संचालक समझना।

११.प्रभुके प्रतिकूल कोई भी कार्य न करना और प्रत्येक प्रतिकूल वस्तुसे उदासीन रहना, चाहे वह लौकिक दृष्टिसे कितनी ही आवश्यक, उच्च या प्रियतर हो।

१२.प्रभुके यथार्थ शरणप्राप्त या शरणका मर्म समझनेवाले पुरुषोंका संग करना।

१३.अपनेको प्रभुका नित्य सेवक समझना।

१४.प्रत्येक पाप-कार्यमें अपनेको कर्ता मानना।

१५.अन्तःकरणके विशुद्ध होकर प्रभुके प्रति लगनेके लिये आर्तभावसे प्रभु-प्रार्थना करना।

इनमें कुछ साधारण स्थितिके भाव हैं और कुछ शरण-साधनकी बहुत ऊँची स्थितिके। परंतु जब वे उच्च भाव स्वाभाविक लक्षणरूप न होकर करनेकी वस्तु रहते हैं, तबतक वे साधन ही हैं। इन साधनोंके पूर्ण होनेपर आधार परम शुद्ध होकर सर्वथा प्रभुका निवास या क्रीड़ा-क्षेत्र बननेयोग्य हो जाता है, तदनन्तर तुरंत ही भगवान् उसमें आ विराजते हैं। बस, वही पूर्ण-समर्पण है।

अब उपर्युक्त पंद्रह साधनोंपर संक्षेपमें क्रमशः कुछ विचार करना है—

१-नित्य-निरन्तर प्रभुका अनन्य भजन होना, शरणागतिका सर्वप्रधान भाव है। किसी फलके लिये, प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये या आत्मसुखके लिये साधक जो भजन करता है, वह इससे नीचा है। इस भावमें कोई भजन करता नहीं, भजन होता है। क्यों होता है? इसीलिये कि वह ऐसा करनेको बाध्य है। जैसे जीवन धारणके लिये श्वास लेना अनिवार्य और स्वाभाविक है, वैसे ही उसके लिये भजन करना अनिवार्य या स्वाभाविक है। सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते—प्रत्येक क्रिया करते श्वासोच्छ्वासकी भाँति भजन होता ही रहता है। कभी उस भजनसे विराम नहीं होता। यदि किसी कारणसे कदाचित् क्षणभरको भजन रुक जाता है तो उस समय दम घुटनेपर जैसी व्याकुलता होती है, उससे कहीं अधिक व्याकुलता होती है। इसी भावका वर्णन करते हुए देवर्षि नारदजीने '**तद्विस्मरणे परमव्याकुलता**' कहा है। इस प्रकार यह भजन नित्य-निरन्तर तो होता ही है, साथ ही इसमें चित्तकी अनन्यता भी सदा समानरूपसे वर्तमान रहती है। प्रभुके सिवा दूसरेके अस्तित्वकी कल्पना भी चित्तमें नहीं आ पाती। इतनी गुंजाइश भी नहीं रहती कि चित्त-वृत्ति क्षणभरके लिये किसी अन्यकी सत्ता देख सके। इस भावके प्राप्त होनेपर पूर्ण-समर्पण होते देर नहीं लगती। श्रीभगवान् अपने मुखसे कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'अर्जुन! जिसका चित्त अनन्य है (केवल मुझमें ही लगा है) ऐसा पुरुष नित्य-निरन्तर मुझको ही स्मरण करता रहता है और उस नित्य मुझमें लगे हुए योगीको मेरी प्राप्ति सुलभ है।' यों अनन्य भजन करनेवाला किसी भी लोभसे आधे क्षणके लिये भी भजन नहीं छोड़ता। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥

(११। २। ५३)

'देवतागण निरन्तर ध्यानयुक्त होकर खोज करते हुए भी जिन भगवत्पदारविन्दोंको प्राप्त नहीं कर सकते, त्रिलोकीके सम्पूर्ण वैभव मिलनेपर भी जो आधे क्षण और आधे पलके लिये भी उन चरणोंका चिन्तन नहीं छोड़ता वही मुख्य भगवद्भक्त है।' भगवान्‌के अनन्य भजन करनेवाले भक्त ऐसे ही हुआ करते हैं।

२-समस्त संसार प्रभुसे उत्पन्न हुआ, प्रभुमें निवास करता है और प्रभुमें ही विलीन हो जायगा। यह उत्पत्ति, स्थिति और विनाश भी वस्तुतः प्रभुकी ही लीला है। एकमात्र प्रभु ही हमलोगोंकी विकृत दृष्टिमें भिन्न-भिन्न रूपोंसे भास रहे हैं। स्वयं भगवान् कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७। ७)

'अर्जुन! मेरे अतिरिक्त दूसरी वस्तु किंचित् भी नहीं है, यह सम्पूर्ण संसार सूतमें सूतके मणियोंकी भाँति मुझमें गुँथा है।' आगे चलकर आप कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

(गीता ९। ४-५)

'यह समस्त जगत् मुझ अव्यक्तमूर्ति (सच्चिदानन्दघन परमात्मा)-से परिपूर्ण है और वे समस्त चराचर भूत मुझमें स्थित हैं। मैं उनमें स्थित नहीं हूँ और वे भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं। (यह सारा मेरे योगैश्वर्यका—मेरी अघटनघटना-पटीयसी मायाशक्तिका विलास है) तू मेरे इस योग और ऐश्वर्य अर्थात् माया और प्रभावको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला

और उन्हें उत्पन्न करनेवाला भी मैं वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं हूँ।'

इस पहेलीका अर्थ यही है कि प्रभु ही जलमें बर्फकी भाँति जगत्‌में परिपूर्ण हैं—जगत् मानो बर्फ है और प्रभु जल हैं। यह समस्त जगत् प्रभुके संकल्पसे उत्पन्न और संकल्पके आधारसे ही प्रभुमें स्थित है। कोई वस्तु भिन्न हो तो उसमें किसीके पूर्ण या व्यापक होनेका प्रश्न उठे, इसीलिये प्रभु किसीमें हैं भी नहीं। और इसी प्रकार अन्य वस्तुका सर्वथा अभाव होनेसे ये वस्तुएँ भी प्रभुमें नहीं हैं। यह तो प्रभुकी लीला है, जो न होनेपर भी अनेक प्रकारके दृश्य दिखलाती और नानात्वकी रचना करके परस्पर मोहित करती है। वस्तुतः एक प्रभु ही प्रभु हैं।

इस भावके हुए बिना नित्य-निरन्तर अनन्य भजन नहीं हो पाता। इसी भावमें डूबकर भक्त चराचरमें परमात्माके दर्शन कर—भगवान्‌के कथनानुसार '**वासुदेवः सर्वमिति**' का अनुभव कर राग-द्वेष छोड़कर सबको प्रणाम करता है। गोसाईंजी इसी परम पुनीत भावमें निमग्न होकर कहते हैं—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

फिर आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी सबमें केवल एक ही दीखता है। कोई कहने-सुननेवाला पृथक् रह ही नहीं जाता।

जिनके दृग हरि-रँग रँगे, हिय हरि रहे समाय।
नभ-जल-अवनि-अनिल-अनल, सबमें स्याम दिखाय॥
कहि न जाय मुख सों कछू स्याम प्रेमकी बात।
नभ-जल-थल-चर-अचर सब स्यामहि स्याम लखात॥
ब्रह्म नहीं, माया नहीं, नहीं जीव, नहिं काल।
अपनीहू सुधि ना रही, रह्यो एक नँदलाल॥
को, कासौं केहि बिधि कहा, कहै हृदयकी बात।
हरि हेरत हिय हरि गयो, हरि सर्वत्र लखात॥

३-भगवान्‌की दो प्रकृति हैं—एक जड अपरा प्रकृति और दूसरी चेतन जीवरूप परा प्रकृति। इन्हीं दोनों प्रकृतियोंसे जगत् उत्पन्न होता है। भगवान् इन दोनोंमें अनुस्यूत हैं। वे ही जलके रस, चन्द्र-सूर्यके प्रकाश, आकाशके शब्द, पृथ्वीके गन्ध, अग्निके दाहकत्व, वायुकी धारणाशक्ति, जीवनके जीवन, पुरुषोंके पुरुषत्व, बुद्धिमानोंकी बुद्धि, तेजस्वियोंके तेज और मनस्वियोंके मन हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाले समस्त भावोंका उदय उन भगवान्‌से ही होता है। त्रिगुण-भावोंसे मोहित मनुष्य समस्त भावोंके मूलाधार, गुणोंसे परे अविनाशी नित्य, अव्यय भावरूप परमात्माको नहीं जानते। वस्तुतः वही अन्तर्विहारी प्रभु शरीररूप यन्त्रपर आरूढ़ हुए समस्त प्राणियोंको उनके कर्मानुसार अपनी मायासे घुमाया करते हैं। पेड़का एक पत्ता भी उनकी प्रेरणा और शक्ति बिना नहीं हिल सकता। अग्नि और वायु उन्हींकी शक्तिसे वस्तुमात्रको जलाते और उड़ाते हैं। उनकी प्रेरणा और शक्ति ही सबकी जीवनक्रिया और स्थितिका आधार है। मनुष्य भ्रमसे अपनेको कर्ता मानकर बँधता है और जहाँतक यह कर्तापनका भाव है वहींतक उसकी अपने स्वल्प सीमाबद्ध जीवभावके सुख-दुःखके हेतुरूप कर्मोंमें आसक्ति है। इन्द्रियाराम पुरुषोंकी यह आसक्ति ही उनके द्वारा दुष्कर्म होनेमें कारण बनती है। जो पुरुष वस्तुतः इस तत्त्वको समझ लेता है कि मैं कुछ भी नहीं करता, इस देहयन्त्रके द्वारा जो कुछ होता है, सो प्रभुकी प्रेरणा और शक्तिसे ही होता है, वह कभी दुष्कर्म-विकर्म नहीं कर सकता। उसके द्वारा होनेवाला प्रत्येक कार्य प्रभु-प्रेरित होनेसे स्वाभाविक ही प्रभुके अनुकूल, सर्वथा शुद्ध और सहज लोक-हितकर होता है। यों तो वस्तुतः सभी स्थितियोंमें—शुभाशुभ चेष्टामात्रमें ही प्रभुकी प्रेरणा और शक्ति ही खेला करती है। महाभारतके भयानक युद्धमें प्रत्यक्षदर्शीने देखा था कि वहाँ केवल भगवान्‌का चक्र चल रहा था और शक्तिरूपा द्रौपदी खप्पर भर रही थी। परंतु विषयासक्त पुरुषकी बुद्धि अज्ञानावृत होनेके कारण ऐसा न मानकर अपने अहंकारसे कर्तापनका आरोप करती रहती है, कर्तृत्वभावसे किये हुए कर्म—(तबतक प्रभुके निमित्त निष्कामभावसे नहीं होते) फलोत्पादक होनेके कारण बन्धनकारक होते ही हैं। जब मनुष्य केवल, 'रघुनाथ गुसाईंको ही उरप्रेरक' समझकर सर्वभावसे उनके शरण हो जाता है, तब उसे शीघ्र ही परम शान्ति मिल जाती है। श्रीभगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

'अर्जुन! तू सर्वभावसे उस अन्तर्विहारी, प्रेरक परमेश्वरकी शरण हो जा। उस परमात्माके प्रसादसे परम शान्ति और सनातन धामको प्राप्त हो जायगा।'

इस भावकी प्राप्तिसे प्रभु-शरण होनेमें बड़ी सहायता मिलती है। यह भी शरणागतिके साधनोंमें एक प्रधान साधन है।

४-प्रियतम अनेक नहीं हो सकते। वह एक ही होता है। जगत्‌के समस्त प्रिय और प्रियतर पदार्थ परम प्रियतमके चरणोंपर सहज ही न्योछावर कर दिये जाते हैं। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं होती जो प्रियतमकी प्रतिद्वन्द्विता कर सके। जबतक हृदयमें प्रियतमका कोई प्रतिद्वन्द्वी भाव रहता है तबतक वास्तविक प्रियतमभावकी स्थापना ही नहीं हुई। प्रियतमभावके प्राप्त हो जानेपर उसके सामने सभी पदार्थ तुच्छ और नगण्य प्रतीत होने लगते हैं। देवर्षि नारदने इस प्रियतमभावके उपासकोंमें भाग्यवती श्रीकृष्ण-प्रिया व्रजगोपियोंका उदाहरण दिया है, '**यथा व्रजगोपिकानाम्!**' गोपियाँ भगवान्‌से कहती हैं—

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥
कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ३२-३३)

'हे प्रियतम! आप धर्म-मर्मज्ञ हैं। आपने जो कहा है कि पति, संतान और सुहृदोंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका स्वधर्म है, सो हम मानती हैं। आपके इस उपदेशके अनुसार उपदेशदाता आप ईश्वरकी सेवासे ही सबकी सेवा सिद्ध हो जायगी; क्योंकि आप समस्त शरीरधारियोंके प्रिय, बन्धु और आत्मा हैं। प्रियतम! बुद्धिमान् लोग आपपर ही प्रेम करते हैं, क्योंकि आप नित्य प्रिय आत्मा हैं (वास्तवमें आत्मा ही तो प्रियतम है, आत्माके बिना) पति-पुत्रादि क्या सुख दे सकते हैं? वे सब तो दुःख देनेवाले ही हैं। अतः परमेश्वर! हमपर प्रसन्न होइये और हमारी बहुत दिनोंकी आशाको नष्ट न कीजिये।'

आत्मासे बढ़कर कोई भी प्रिय नहीं है। जगत्‌में भिन्न-भिन्न वस्तुओंसे—सम्बन्धियोंसे मनुष्य जो प्रेम करता है, वह आत्मसुखके लिये ही करता है। भगवान् उस आत्माके भी आत्मा हैं, मूलस्वरूप हैं। इसलिये उनसे बढ़कर प्रियतम दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। इसीलिये गोपियाँ कहती हैं—

का स्त्र्यंग ते कलपदायतमूर्च्छितेन
सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥
व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। ४०-४१)

'प्रियतम! त्रिलोकीमें ऐसी कौन-सी स्त्री (प्रकृतिकी मूर्ति) है जो आप (परम पुरुष)-के विविध मूर्छनाओंसे युक्त मधुर बाँसुरी-गानको सुनकर और आपके त्रिलोक-मोहन स्वरूपको देखकर मोहित न हो जाय और उसका मन अपने धर्म (अज्ञानमय कर्म)-से न डिग जाय! आपके इस त्रिलोकसुन्दर रूपको देखकर और आपकी मुरलीधुनि सुनकर पक्षी, पशु, मृग, गौ और वृक्ष भी आनन्दसे पुलकित हो जाते हैं। जैसे आदिपुरुष नारायण देवोंकी रक्षा करते हैं, वैसे ही आप व्रजवासियोंकी आर्ति (जागतिक त्रिताप) हरनेके लिये प्रकट हुए हैं, यह निश्चय है। बन्धो! इसलिये आप हम सेविकाओंके तप्त हृदयपर और अवनत मस्तकोंपर अपना (अभयद, परम सुखद) करकमल रखिये।'

इस प्रकार जो भुक्ति-मुक्ति, अनुरक्ति-विरक्ति, सबसे मुँह मोड़कर—सबसे नाता तोड़कर अपने सारे दिलको एकमात्र प्यारेका रंगमहल बना सकता है, जहाँ उस परम प्रियतमके सिवा दूसरेको प्रवेशका ही अधिकार नहीं। यदि कोई प्रवेश करना ही चाहे तो प्रियतमकी पूजा-सामग्री बनकर—प्रियतमका पुजारी बनकर, गोपी बनकर—प्रवेश कर सकता है, अन्यथा सबके लिये सदाको उसके हृदयके द्वार बंद हो जाते हैं, वही प्रियतम-भावको प्राप्त हो सकता है।

गोपियाँ उद्धवसे कहती हैं—

नाहिन रह्यौ हिय मँह ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे आनिये उर और॥

चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात।
हृदय तें वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात॥

....

(सूरदासजी)

कविवर रत्नाकरजीने गोपियोंके अति सुन्दर भावका वर्णन किया है—

सरग न चाहैं, अपबरग न चाहैं, सुनौ
भुक्ति-मुक्ति दोऊ सौं विरक्ति उर आनैं हम।
कहैं रतनाकर तिहारे जोग-रोग माहिं
तन मन साँसनि की साँसति प्रमानैं हम॥
एक ब्रजचंद कृपा-मंद-मुसकानिहीं मैं
लोक परलोक कौ अनंद जिय जानैं हम।
जाके या वियोग दुखहूँ मैं सुख ऐसो कछू
जाहि पाइ ब्रह्म-सुखहू मैं दुख मानैं हम॥

फिर उसके लिये, प्राणाधार परम प्रियतम साँवरेके बिना जगत्‌में और कोई रह ही नहीं जाता।

रहीमने कहा—

प्रीतम छबि नैनन बसी, परछबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आपु फिरि जाय॥

यह बड़ी ऊँची उपासना है। यहाँ केवल इस दृश्य जगत्‌से ही वैराग्य नहीं है, प्रियतमके सिवा किसी भी पदार्थमें राग रह ही नहीं जाता। अपनेको ही परम प्रियतम माननेवाले ऐसे प्रियतम भक्तोंका गुणगान करते हुए स्वयं भगवान् गोपीभावको प्राप्त अपने भक्त उद्धवको कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १४—१६)

'जिसने अपना आत्मा मुझमें अर्पण कर दिया है, वह मुझको छोड़कर ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, पातालका राज्य, योगकी आठों सिद्धियाँ, अधिक क्या पुनर्जन्म मिटा देनेवाला सायुज्य-मोक्ष भी नहीं चाहता। उद्धव! (मुझको ही एकमात्र परम प्रियतम माननेवाले ऐसे परमानुरागी) तुम भक्त लोग मुझे जैसे प्यारे हो, वैसे प्यारे मुझे ब्रह्मा, शंकर, बलभद्र, लक्ष्मी और अपना आत्मा भी नहीं है। ऐसे निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर, समदर्शी भक्तोंकी चरणधूलिसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं सदा ही उनके पीछे-पीछे फिरा करता हूँ।' गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

जिन्हहिं राम तुम्ह प्रानपिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे॥

५-जबतक प्रभुपर पूर्ण विश्वास नहीं होता, जबतक उनकी अतुलनीय गुणावलिपर श्रद्धा नहीं होती, तबतक मनुष्य उनकी तुलनामें सबको नीचा समझकर केवल उन्हींको भजनेके लिये प्रयत्न नहीं कर सकता। विश्वास और श्रद्धा ही भगवत्-प्राप्तिके मार्गके प्रधान सम्बल हैं। इस पाथेयको साथ लिये बिना मनुष्य परमार्थके मार्गपर दो-चार पैंड भी आगे नहीं बढ़ सकता। भगवान् ऐसी वस्तु नहीं हैं जो अपनी सिद्धिके लिये हम-सरीखे जन्तुओंसे प्रमाणपत्र लेनेकी इच्छा रखें। जिसकी सिद्धिसे हम सबकी सिद्धि है, जिसके प्रमाणसे हम सब प्रमाणित हैं, जिसके अस्तित्वसे हम सबका अस्तित्व है, उस प्रभुको हमारी सीमाबद्ध बुद्धिके प्रमाणोंसे सिद्ध करनेकी चेष्टा वातुलता और वाचालतामात्र है। जिन स्वाभाविक दैवी-सम्पदासम्पन्न संत आप्त पुरुषोंने प्रबल साधन करके भगवत्कृपासे भगवान्‌को जान लिया है, उनके वचनोंपर परम विश्वास करने और उनके बतलाये हुए मार्गपर चलनेसे ही भगवान्‌का साक्षात्कार हो सकता है। विश्वास ही सारे साधनोंकी जड़ है। लौकिक कार्योंमें भी जब श्रद्धा-विश्वास बिना कार्य सिद्ध नहीं होता—सिद्ध होना तो दूर रहा, उसके करनेमें मन ही नहीं लगता, तब मानवी दृष्टिसे सर्वथा अदृष्ट परमात्माकी प्राप्तिके मार्गपर गति बिना श्रद्धा-विश्वासके कैसे हो सकती है। पहले यह ध्रुव विश्वास करना होगा कि परमात्मा हैं, फिर उन निर्गुणकी महान् गुणावलिपर इतना अधिक विश्वास करना होगा कि उनके समस्त सद्गुणोंका वर्णन तो हो ही नहीं सकता, संत और शास्त्र जो कुछ वर्णन करते हैं, सो तो समुद्रकी तुलनामें एक जलकणके बराबर भी नहीं है। उनकी दया, करुणा, शक्ति, प्रेम, ज्ञान आदि सभी अनन्त और अनिर्वचनीय हैं।

परमात्माके मिलनेमें देर नहीं है, जो कुछ देर है सो हमारे यथार्थ विश्वास करके उन्हें चाहने और

पुकारनेमें ही है। परमात्माका विश्वासी भक्त और किसकी आशा करेगा? और किससे अपनी रक्षा या मनोरथकी पूर्ति चाहेगा? सर्वलोकमहेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वैश्वर्याधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वतश्चक्षु, सर्वोपरि, सहजसुहृद्, करुणावरुणालय प्रभुको पाकर वह किसके सामने हाथ फैलायेगा? जबतक वह दूसरेको स्वामी मानता है, दूसरेसे सुखकी आशा करता है, दूसरेके सामने हाथ फैलाता है, तबतक उसे परमात्माके स्वरूप और गुणोंपर विश्वास ही नहीं है। रामचरितमानसमें महात्मा कागभुशुण्डिजीने कहा है—

कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरि भजन न भव भय नासा॥

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥
अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद॥

भगवान्‌के वचन हैं—

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहाँ बिस्वासा॥

विश्वास होनेसे अनन्य भजन होता है और भजनसे भगवान्‌की कृपाका प्रसाद प्राप्त होता है, जिससे यह आधार परमात्माका नित्य-क्रीडानिकेतन बन जाता है। अनन्य विश्वासी भक्तके हृदयमें ही भगवान् बसते हैं। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई॥

६-जो परमात्माको सर्वोपरि, सर्वज्ञानमय, सर्वशक्तिमान् और परमहितैषी मानकर उनके शरण होना चाहेगा, उसके लिये परमात्माके अनुकूल आचरण करना अनिवार्य है। इस स्थूल संसारमें भी मनुष्य जिसको शक्ति, बुद्धि और सुहृदतामें अपनेसे बढ़कर मानकर जिसका सहारा ले लेता है, स्वाभाविक ही उसके अनुकूल आचरण करने लगता है, तब जो परमात्माके शरण है, वह परमात्माके प्रतिकूल आचरण कैसे कर सकता है? उसके कर्म स्वाभाविक ही प्रभुके अनुकूल होते हैं। जबतक अनुकूलाचरणका स्वभाव नहीं बन जाता, तबतक वह बड़ी सावधानीके साथ मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली प्रत्येक चेष्टा, संकल्प और भावको प्रभुकी प्रतिकूलतासे बचाकर अनुकूल बनानेका दृढ़ प्रयत्न करता रहता है। यह सावधानी ही साधना है। उसे प्रतिक्षण इस बातकी चिन्ता बनी रहती है कि मुझसे कोई भी चेष्टा स्वामीकी रुचिके प्रतिकूल न बन जाय। मेरा प्रत्येक श्वास स्वामीकी रुचिके अनुसार ही चले। जिस बातमें स्वामी प्रसन्न होते हैं, उसी बातमें वह परम प्रसन्न रहता है। जगत्‌के सुख-दुःख, हानि-लाभकी कुछ भी चिन्ता न कर वह प्रतिक्षण प्रभुकी आज्ञा और अनुकूलताका ध्यान रखता है। बड़ी-से-बड़ी विपत्तिमें भी वह धीर पुरुष स्वामीकी अनुकूलताके पथसे—धर्ममार्गसे विचलित नहीं होता और जो प्रभुके अनुकूल आचरण करता है, उसीको प्रभु अपना परम प्यारा समझते हैं।

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

अनुकूलताका संकल्प शरणागतिका प्रधान अंग माना गया है।

७-मनुष्यकी बुद्धि ममतारूपी रातमें सो रही है, इसीसे वह जगत्‌के पदार्थोंको अपना समझता है और उनकी रक्षा तथा प्राप्तिके लिये सदा प्रयत्न करता रहता है। संसारमें जो कुछ भी है सो सब परमात्माका ही है। वस्तुतः तो एक परमात्मा ही हैं, उनसे भिन्न कुछ है ही नहीं। मनुष्यकी जड-बुद्धि ही चिन्मय परमात्मामें जड-जगत्‌का आरोप करती है। परंतु कम-से-कम इतना तो मनुष्यको अपनी परमात्माभिमुखी स्थूल दृष्टिसे भी देखना ही चाहिये कि यहाँ जो कुछ भी है, सब परमात्माकी सम्पत्ति है। वही मायाधीश्वर सुनिपुण नटराज अपनी मायासे जगन्नाटकका अभिनय कर रहे हैं। हम सब मनुष्य उनके इंगितपर खेल करनेवाले पात्र हैं। उन सूत्रधारके इशारेपर नाचना ही हमारा काम है, इसीमें मनुष्यत्व है। जो मनुष्य अपनी पात्रताको भूलकर नाटकके स्वाँगको और खेलको सत् और नित्य एवं खेलकी सामग्रीको अपनी मान लेता है, वह बड़ी भूल करता है। नाटकके अभिनयमें स्वाँग धारण किये हुए पात्रोंके स्वाँगका सम्बन्ध स्टेजतक ही है। जबतक वे स्टेजपर रहते हैं तभीतक परस्पर स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, राजा-प्रजाका यथायोग्य अभिनय करते हैं। स्टेजसे हटकर पर्देके अंदर जाते ही उनका सारा दिखाऊ सम्बन्ध मिट जाता है। यहाँतक कि उनकी पोशाकतक बदल दी जाती है या उतार देनी पड़ती है। इसी प्रकार इस जगन्नाटकमें भी हमारे सारे नाते तथा सारे खेल केवल मालिककी प्रसन्नताके लिये—उसके खेलको पूर्ण करनेके लिये हैं। इसीलिये

स्वामीने हमें ये स्वाँग देकर अपने-अपने स्वाँगके अनुसार नियमित अभिनय करनेकी आज्ञा दी है। यदि हम इस खेलको और खेलकी सामग्रियोंको उनकी लीला और सम्पत्ति न मानकर अपनी मान लेते हैं तो वैसे ही मूर्ख और अपराधी सिद्ध होते हैं, जैसे नाटकका पुरुषपात्र नाटकके अभिनयमें बनी हुई स्त्रीको अपनी सगी पत्नी और नाटककी सामग्रियोंको अपनी सम्पत्ति मान लेनेपर होता है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह जगत्के समस्त पदार्थोंको परमात्माकी सम्पत्ति समझे। और सेवाके लिये अपनेको मिले हुए समझकर आसक्ति और फलकामनासे रहित हो केवल प्रभुकी लीला सम्पन्न करने—उन्हें प्रसन्न करनेके लिये उचित रीतिसे उन पदार्थोंकी—स्वजन, परिवार, गृह आदिकी सच्चे मनसे, बेगार न मानकर सेवा और सँभाल करे तथा आवश्यकतानुसार प्रभुकी आज्ञाके अनुकूल प्रभुकी उन चीजोंको प्रभुके ही कार्यमें समर्पण करता रहे।

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'

—में भक्तका यही भाव दिखलाया गया है। इस प्रकार जो नाट्य-निपुण विवेकी पुरुष है, वही मनुष्य है; शेष माया-मुग्ध अविवेकी पशु हैं जो बात-बातमें अनुकूलता और प्रतिकूलताका अनुभव कर हर्ष-शोकके प्रवाहमें ही निरन्तर बहा करते हैं। उनके हँसने-रोनेकी अज्ञानसम्भूत क्रिया कभी बंद होती ही नहीं। दिन-रात उसीमें रचे-पचे रहना उनके जीवनका स्वरूप होता है। ऐसे लोग परमात्माका यथार्थ भजन नहीं कर सकते। परंतु जो लोग सब कुछ परमात्माका जानते हैं, वे लौकिक योगक्षेमकी परवा न कर निष्कामभावसे परमात्माका भजन किया करते हैं। वे परमात्मासे कभी कुछ माँगते ही नहीं। असलमें तो उस अवस्थामें माँगनेकी बुद्धि ही उदय नहीं हो सकती; क्योंकि वे सारे विश्व-प्रपंचको भगवान्की लीला समझकर अपनी पात्रतामें ही परम सुखी रहते हैं। उनकी दृष्टिमें परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु रह ही नहीं जाती। फिर परमात्माके इशारेपर नाचनेमें उन्हें जो दिव्य सुख मिलता है, उसकी तुलनामें जगत्का कोई पदार्थ रखा भी नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त यदि बचे-खुचे मोहवश कभी संसारके पदार्थ सत् भी प्रतीत होते हैं तो सर्वज्ञ परम दयालु भगवान्के शरणागत भक्त भगवान्से उनको माँगते नहीं; क्योंकि वे इस बातको जानते हैं कि भगवान् सर्वज्ञ हैं तथा हमारे परम हितैषी हैं; हमारा यथार्थ हित कौन-सी बातमें है, इसको वे भलीभाँति जानते हैं। हम अदूरदर्शी हैं, निर्बोध बालकके साँप माँगनेकी भाँति हम अज्ञानवश परिणाममें महान् दुःखदायिनी आपातरमणीय वस्तुको माँग सकते हैं, परंतु प्रभु हमारा सच्चा हित देखकर हमारे लिये जो वस्तु उपयोगी होगी, वह आप ही दे देंगे। वास्तवमें बात भी यही है। प्रभुसे माँगना तो ठगाना ही है; क्योंकि हम अपने हितकी उतनी दूरतककी कल्पना ही नहीं कर सकते, जितनी दूरतकका हमारा हित भगवान् समझते हैं। इसीलिये भक्तगण भगवान्के सेवा-भजनको छोड़कर मोक्षतककी इच्छा नहीं करते। वे यदि कभी माँगते हैं तो भक्त प्रह्लादकी भाँति बस यही कि—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥

(श्रीमद्भा० ७। १०। ७)

'स्वामिन्! वरदानियोंमें श्रेष्ठ! यदि आप मुझे मनमाना वर देना ही चाहते हैं तो यही दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी कुछ माँगनेका अंकुर ही न पैदा हो। मैं यही वर माँगता हूँ।' अथवा यह कि—

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

८-'ऐसे शरणागत भक्त भगवान्के प्रत्येक मंगलमय विधानमें सतत संतुष्ट होते हैं। उनका यह दृढ़ निश्चय है कि भगवान् कभी अमंगल-विधान कर ही नहीं सकते, शिव कभी अशिव नहीं हो सकते। सद्वैद्यकी कड़वी दवा या डॉक्टरद्वारा चीर-फाड़की भाँति उनका कठोर-से-कठोर भी प्रत्येक कार्य जीवके सहज कल्याणार्थ ही हुआ करता है। वैद्य या डॉक्टर तो हितैषी होनेपर भी भूल कर सकते हैं, परंतु सर्वज्ञ भगवान्से कभी भूल नहीं होती। वैद्य-डॉक्टरोंके पास ऐसे जहर भी रहते हैं जिनके प्रयोगसे आदमी मर सकता है, परंतु भगवान्के अमृत-भंडारमें जहर है ही नहीं। उनके किसी भी प्रयोगसे किसीका परिणाममें अनिष्ट हो ही नहीं सकता। लौकिक जहर भी यदि उनके स्पर्श हो जाता है तो वह भी 'मीराके जहरके प्याले' की भाँति अमृत बन जाता है। अवश्य ही उनकी कृपाका स्वरूप कभी बड़े मधुर, कोमल, मृदुरूपमें प्रकट होता है तो कभी भयानकरूपमें। यह भयानकता और मधुरता भी

हमें अपने भावके अनुसार ही दीखती है। वस्तुतः भगवत्कृपा सदा ही कोमल और मधुर है। विश्वासी शरणागत भक्त सुदर्शन हाथमें लिये मारनेको प्रस्तुत भगवान्‌की भयावनी मूर्तिमें भी उनकी कोमलता और मधुरताके दर्शन पाकर उनका स्वागत करते हैं। हाथमें चाबुक लेकर मारनेको सामने आते हुए कालरूप भगवान्‌को देखकर भक्तवर भीष्मजी कहते हैं—

एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देवदेव नमोऽस्तु ते॥
मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे।
त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममानघ॥
श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः।
सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे॥
प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ।

(महाभारत, भीष्मपर्व १०६। ६४—६७)

'आइये, आइये! पुण्डरीकाक्ष! आइये! देवदेव! आपको नमस्कार है। सात्वतश्रेष्ठ! आज इस महायुद्धमें मेरा वध कीजिये! परमात्मन्! श्रीकृष्ण! गोविन्द! आपके हाथसे मरनेपर मेरा कल्याण हो जायगा। मैं आज त्रैलोक्यमें सम्मानित हो गया हूँ। निष्पाप! आप मुझपर मनचाहा प्रहार कीजिये। मैं तो आपका दास हूँ।'

भगवान्‌के इस भक्तवत्सल परमप्रिय कालरूपको भीष्मजी जीवनमें नहीं भूले। प्राण छोड़ते समय भी उन्होंने इसी रूपमें दर्शन देनेकी प्रार्थना की। भक्त सूरदासने भीष्मके भावका वर्णन यों किया है—

वा पट पीतकी फहरान।
कर धरि चक्र चरनकी धावनि, नहिं बिसरति वह बान॥
रथतें उतरि अवनि आतुर ह्वै, कच-रजकी लपटान।
मानो सिंह सैलतें निकस्यौ, महामत्त गज जान॥
जिन गुपाल मेरो पन राख्यो, मेटि बेदकी कान।
सोई सूर सहाय हमारे, निकट भये हैं आन॥

भगवान्‌के विधानको बदलनेमें असमर्थ और निरुपाय होनेके कारण संतुष्ट रहना दूसरी बात है और उसमें पहले प्रतिकूल रहनेपर भी, भगवान्‌का दिया हुआ दान समझकर उसमें सहज अनुकूलताका अनुभव करके परम संतुष्ट होना दूसरी बात है। भक्त वास्तवमें निरुपाय होनेके कारण मन मारकर संतुष्ट नहीं रहता, बल्कि प्रत्येक प्रतिकूल-से-प्रतिकूल विधानमें मंगलरूप भगवान्‌का मंगलमय हाथ देखकर अनुकूलताका प्रत्यक्ष अनुभव करता हुआ परम प्रसन्न होता है। उसे उसमें वस्तुतः अतिशय आनन्द मिलता है। वह प्रभुकी रंग-बिरंगी आकृति और लीलाओंको देख-देखकर पद-पदपर प्रमुदित होता है। यह भी शरणागतिका एक प्रधान साधन है।

९-भगवान् श्रीकृष्ण (गीता ९। १७-१८ में) कहते हैं—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

अर्जुन! इस समस्त जगत्‌का धारण करनेवाला और कर्मफलोंको देनेवाला, पिता, माता, पितामह, जाननेयोग्य पवित्र ओंकार तत्त्व, ऋक्, साम और यजुर्वेद, सबकी परम और चरम गति, सबका भरण-पोषण करनेवाला, सबका एकमात्र स्वामी, सबके समस्त शुभाशुभका द्रष्टा, सबका मूल निवासस्थान, सबका शरण्य, सबका सुहृद्, सबको अपनेसे उत्पन्न और अपनेमें लीन करनेवाला, सबका आधार, सबके सूक्ष्म शरीरोंका निधान और अव्यय बीज (कारण) मैं ही हूँ।'

जो भगवान्‌को इस प्रकार जान लेता है, वह भगवान्‌का ही भजन (नाम-गुण-श्रवण, कीर्तन, स्मरण) करता है और पद-पदपर भगवान्‌के इन स्वरूपोंका अनुभव करता हुआ विलक्षण आनन्द प्राप्त करता है, ऐसे भक्तका हृदय भगवान्‌का निवासस्थान बन जाता है। महर्षि वाल्मीकिने भगवान् श्रीरामसे यही बात कही थी—

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मंदिर तिन्ह कें बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥

भक्त एक ओर भगवान्‌में इन सब सम्बन्धोंको स्थापित करता है, दूसरी ओर इन सम्बन्धोंमेंसे, जिन सम्बन्धोंके सम्बन्धी उसके होते हैं, उनमें भगवान्‌का स्वरूप देखता है। इस प्रकार दोनों ओरसे भगवान्‌में ही मन रमाता हुआ कभी उन्हें पिता समझकर अपनेको उनकी गोदमें देखता है, कभी स्नेहमयी जननी जानकर उनका मधुर स्तन-पान करता है, कभी स्वामी समझकर उनकी सेवामें लग जाता है, कभी परम गुरु समझकर उनका सेवा-परायण शिष्य बन जाता है, कभी सखा समझकर उनके साथ निःशंक खेलता है, कभी पति मानकर पत्नीभावसे अपना तन, मन उनके अर्पण कर उनके नाम-गोत्रको ग्रहण कर लेता है, कभी पुत्र

समझकर वत्सलभावसे उनके लालन-पालनकी लीला करता है और कभी उन्हें परम धन समझकर प्राणपणसे हृदयमें रक्षा करता है। इस प्रकार उसका मन नित्य-निरन्तर श्रीपरमात्मामें ही लगा रहता है। वह उन्हींके पवित्र नामका उच्चारण करता है, उन्हींके गुण-नामका गान करता है, उन्हींका गुण-श्रवण करता है, उन्हींके ध्यानमें रहता है और पल-पलमें उन प्रभुकी दया और प्रेमका प्रत्यक्ष अनुभव कर उन्मत्तकी भाँति प्रभुकी महिमामें मग्न हुआ नाचता है। श्रीमद्भागवत (११। १४। २४-२५)-में ऐसे भागवतसर्वस्व प्रेमी भक्तका गुण वर्णन करते हुए श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
यथाग्निना हेम मलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥

'जिसकी वाणी गद्गद हो जाती है, चित्त प्रेमसे पिघल जाता है, जो (मेरा) स्मरण करके कभी जोर-जोरसे रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोड़कर ऊँचे स्वरसे गुणगान करने लगता है और कभी नाच उठता है; ऐसा मेरा परम भक्त तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है। जैसे अग्निसे तपाये जानेपर सुवर्ण मैलको त्यागकर अपने निर्मल स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार मेरे (प्रेमयुक्त-भजन-कीर्तनरूप) भक्तियोगके द्वारा आत्मा भी कर्मजालसे छूटकर अपने स्वरूप मुझ परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

१०-यों तो जगत्की प्रवृत्तिमात्र ही भगवान्की सत्ता-स्फूर्तिसे होती है। प्रत्येक स्फुरणा और क्रियाके मूल-सूत्र वे ही हैं; परंतु यह सिद्धान्त समझमें आना बहुत कठिन है। कहीं-कहीं तो इस सिद्धान्तका मर्म न समझनेके कारण सभी शुभाशुभ कर्मोंमें भगवान्को प्रत्यक्ष संचालक और प्रेरक बताकर और अपनी जिम्मेवारी भूलकर मनुष्य पाप-कर्मोंमें लग जाते हैं। इसीलिये संत पुरुषोंने केवल शुभ कर्मोंमें भगवान्को संचालक और प्रेरक माना है और यह सिद्धान्त युक्तियुक्त होनेके साथ ही सर्वथा निरापद भी है। मनुष्यके हृदयमें आत्माकी जो प्रेरणा होती है, वह स्वाभाविक ही शुभ होती है। जिनके आचरण बुरे होते हैं, उनके अंदरसे भी आत्माकी आवाज बुरे आचरणोंके विरुद्ध और सत्कर्मोंके लिये प्रेरक आती है। परंतु कुसंगति तथा आसक्तिवश मनुष्य उस आत्मध्वनिकी अवहेलना कर कुकर्म कर बैठता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यके अंदर आत्म-क्षेत्रज्ञरूपसे विराजमान प्रभु सदा ही शुभ प्रेरणा करते रहते हैं। जो लोग सत्संगके प्रभावसे परमात्माकी कृपाका विशेष अनुभव करते हैं, वे प्रेरणाके साथ शुभ ही कर्मोंमें प्रभुका संचालन भी देख पाते हैं। प्रभु ही उनके हृदयमें शुभ कर्मकी प्रेरणा करते हैं और प्रभु ही अपनी शक्तिसे उसका संचालन भी करते हैं। भक्त साधकके हृदयमें यह बात प्रत्यक्ष-सी भासती है। वह इसका अनुभव करता है और बार-बार कृतज्ञ हृदयसे प्रभुको धन्यवाद देता है। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥
राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥

अतएव मनुष्यको यह निश्चय करना चाहिये कि मेरे द्वारा जो कुछ भी शुभ कर्म होते हैं, वे सब भगवान्की कृपासे उनकी प्रेरणा तथा संचालनमें ही होते हैं।

११-जो कार्य प्रभुके प्रतिकूल है, उसे प्रभुका शरणागत भक्त कभी नहीं कर सकता। इसी प्रकार जो वस्तु प्रभुके प्रतिकूल है, वह भी उस भक्तको प्रतिकूल ही भासती है। यही नाता भक्तसे भगवान्का है। भगवान्ने महाभारतमें यह स्पष्ट कहा है कि 'जो पाण्डवोंके मित्र हैं, वे मेरे मित्र हैं और जो उनके शत्रु हैं, वे मेरे शत्रु हैं।' अपने प्रियतमके मनसे प्रतिकूल कार्य प्रेमी कैसे कर सकता है? और कैसे वह उस वस्तुसे ही प्रेम कर सकता है जो प्रियतमको दुःख देनेवाली होती है। सच्चा प्रेमी अपने प्रियतमके प्रतिकूल किसी वस्तुविशेषकी तो बात ही क्या है, जीवनकी भी बलि चढ़ा देता है। हमारे लिये जीवन बहुत ही मूल्यवान् और प्रिय पदार्थ है। परंतु यदि प्रियतमकी प्रसन्नता हमारे इस जीवनकी बलि लगनेमें ही है तो इस अवस्थामें क्या हम प्रियतमके मनके प्रतिकूल जीवित रहना चाहेंगे? अपने प्रियतमके रुचिपर जीवन और जीवनके सारे सुखोंको न्योछावर कर देना तो सच्चे प्रेमियोंका स्वभाव ही होता है? ऐसे असंख्य

प्रेमी हो गये हैं जिन्होंने अपने प्रियतमके प्रतिकूल समझकर, जीवनको सुख देनेवाले समस्त भोगोंका तृणवत् नहीं, विषवत् त्याग कर दिया है। धन-मान-परिवार किसको अच्छे नहीं लगते? परंतु उनमें जब प्रेमीको प्रियतमकी प्रतिकूलताकी गन्ध आने लगती है तो फिर वे सब उसे सुहाते नहीं। इसीसे स्त्री-पुत्र, धन-धान्य और स्वजन-परिवारसे भरे हुए घरको छोड़कर प्रेमी लोग फकीरीका बाना धारण कर लेते हैं। तरुणी पत्नी, इकलौते बच्चे और धन-सम्पत्तिसे पूर्ण राज्यको छोड़कर बुद्धदेव भिक्षु बन गये। महाप्रभु चैतन्यदेव माता और पत्नीके स्नेह-बन्धनको तोड़कर फकीरीका बाना धारण करनेके लिये माघके जाड़ेमें सूर्योदयसे पहले ही गंगामें कूदकर उस पार जा पहुँचे। क्या ये सब पागल थे? अवश्य ही जिनके हृदयमें प्रियतम परमात्माका स्थान विषयने ग्रहण कर रखा है, उनकी दृष्टिमें पागल ही थे। परंतु वस्तुतः वे ही सच्चे सयाने थे, वे इस बातको जान गये थे कि इस संसारके प्रपंचमें पड़े रहना उस प्रियतमके प्रतिकूल है, इसीसे वे सब कुछ छोड़-छाड़कर संन्यासी हो गये। इधर प्रभु नित्यानन्दजी महाप्रभु चैतन्यदेवके मनके प्रतिकूल होनेके कारण चिरकालके संन्यास-धर्मको त्यागकर पुनः गृहस्थी बन गये। भक्त भीलकुमार एकलव्यने गुरु द्रोणके मनके प्रतिकूल होनेके कारण प्रसन्नताके साथ अपने दाहिने हाथका अँगूठा काटकर दे दिया था।

सारांश यह कि प्रभु या प्रियतमके प्रतिकूल कार्य करना या प्रतिकूल वस्तुमें प्रेम रखना सेवक या प्रेमीके लिये असम्भव है। इसीलिये भक्तगण भगवान्‌के प्रतिकूल कोई कार्य भूलकर भी नहीं करते।

१२-शरणागतिके यथार्थ रहस्यका उद्घाटन भगवान्‌के शरण प्राप्त संत ही कर सकते हैं, इसीलिये सत्संगकी इतनी महिमा है। सच्चे संतोंका क्षणभरका संग भी बहुत अधिक लाभदायक हुआ करता है। सभी शास्त्रों और अनुभवी पुरुषोंने तथा स्वयं भगवान्‌ने भी सत्संगकी बड़ी महिमा गायी है। यथार्थमें है भी यह सच्ची बात। सत्संगके बिना भगवान्‌का महत्त्व नहीं जाना जाता, महत्त्व जाने बिना उनकी शरणके साधन नहीं होते। शरणागति बिना जीवका उद्धार सहजमें नहीं होता। परमार्थके साधनमें तो श्रद्धाके बाद दूसरा नम्बर सत्संगका ही है, परंतु सच्ची श्रद्धा भी सत्संगसे ही प्राप्त होती है। सत्संगमें दो बातें खास ध्यान देनेकी हैं। १—जिनका संग किया जाय वे सच्चे संत पुरुष हों और २—आचरणमें लानेके लिये तत्त्व जाननेकी सच्ची जिज्ञासाके साथ निष्कपट भावसे श्रद्धापूर्वक उनका संग किया जाय। इन दोनोंमेंसे किसी एकका अभाव होनेसे शीघ्र यथार्थ लाभ नहीं होता। यद्यपि इस जमानेमें भगवान् श्रीकृष्ण-सरीखे उपदेशक गुरु और भक्त अर्जुन-उद्धव-सरीखे जिज्ञासु शरणागत शिष्य मिलने असम्भव हैं, तथापि जहाँतक सम्भव हो—तत्त्वज्ञानी, शक्तिसम्पन्न, सच्चे सद्‌गुरुकी खोज की जाय और सच्चे अधिकारी पात्रको ही तत्त्वका उपदेश किया जाय, तो बड़ा लाभ हो सकता है। साधारणतः संतके लक्षण बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥

(श्रीमद्भा० ११। ११। २९—३१)

'जो सब जीवोंपर कृपा करता है, किसीसे भी द्रोह नहीं करता, जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें तितिक्षु है, सत्यव्रती है, शुद्ध-चित्त है, समदर्शी है, सबका उपकार करनेवाला है, जिसकी बुद्धि कामनाओंसे घिरी हुई नहीं है, जो जितेन्द्रिय है, कोमल-हृदय है, बाहर और भीतरसे पवित्र है, जो सर्वस्व परमात्माके अर्पण करके अकिंचन हो चुका है, निरपेक्ष है, मिताहारी है, शान्तचित्त है; मुझ परमात्मामें स्थिर-बुद्धि है, मेरी एकमात्र शरणको प्राप्त है, नित्य मेरे मननमें लगा रहता है; मेरी भक्तिमें कभी प्रमाद नहीं करता, गम्भीर-हृदय है; बड़ी-से-बड़ी विपत्तिमें भी जिसका धैर्य नहीं छूटता, जिसने (भूख-प्यास, सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु इन प्राण, बुद्धि और देहके) छः गुणोंको जीत लिया है, जो स्वयं सर्वथा मानरहित है, दूसरोंको मान देता है, चतुर है, सबका मित्र है, दीनोंपर दया करनेवाला है और परमात्माके तत्त्वका ज्ञाता कवि है।'

ऐसे संतोंके संगसे अवश्य ही लाभ होता है परंतु

शीघ्र सच्चा लाभ उन्हींको होता है, जो निष्कपट हृदयसे लाभकी इच्छासे सत्संग करते और तदनुकूल आचरण करते हैं और जैसे वर्षाका जल यथास्थान ग्रहण करनेके लिये किसान खेतको भलीभाँति तैयार रखता है, वैसे ही हृदयरूपी खेतको संतवचनरूपी अमृतधाराके ग्रहण करनेके लिये शुद्ध करके तैयार रखते हैं। ग्राहक भाव-शून्य विकारी और पूर्ण विश्वासरहित हृदयमें शक्तिका संचार सहजमें नहीं होता। गुरु चाहता भी है और शक्तिका प्रयोग भी करता है, परंतु यदि शिष्यका हृदय उसे ग्रहण नहीं करता तो वह शक्ति बार-बार वहाँसे प्रतिहत होकर लौट आती है। आधारकी योग्यतासे ही शक्तिका ग्रहण हो सकता है। इसीलिये गुरुमें श्रद्धा करके उसकी सेवामें लगे रहनेकी विधि है। परीक्षाके लिये, कौतूहल निवृत्तिके लिये या मनोरंजनके लिये जो लोग सत्संग करते हैं, उन्हें बहुत ही कम लाभ होता है। सद्गुरुकी परीक्षा साधारण मनुष्य अपनी विद्या-बुद्धि या योग्यतासे कदापि नहीं कर सकता; क्योंकि उसकी विद्या-बुद्धि और योग्यता गुरुके गुणों तथा शक्तियोंकी छायाको भी छूनेकी योग्यता नहीं रखती। ऐसी हालतमें श्रद्धायुक्त सच्ची जिज्ञासा ही लाभदायक होती है। जो पुरुष गुरुमें दोष देखा करते हैं या उनके कार्योंको अपनी कसौटीपर कसकर उनके अच्छे-बुरे होनेकी मीमांसा किया करते हैं, वे प्रायः कोरे ही रह जाते हैं। यद्यपि आजकल ऐसे महात्मा पुरुषोंका मिलना बहुत ही कठिन है—परंतु असम्भव नहीं है। भगवान्की शरण ग्रहण करनेपर भगवान् स्वयं सच्चे जिज्ञासुके लिये ऐसे सद्गुरुकी व्यवस्था कर देते हैं जो शिष्यके समस्त अज्ञानको हरनेमें समर्थ होता है।

१३-जो मनुष्य अपनेको प्रभुका दास मानता है अर्थात् जो दास्यरतिसे प्रभुके चरणोंमें आत्मसमर्पणकर प्रभुका बन जाता है, प्रभु उसपर बड़ी भारी कृपा करते हैं। श्रीहनुमान्जी, श्रीभरतजी प्रभृति महान् भक्त इस दास्यरतिके ही परम उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसीलिये श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

अस अभिमान जाइ नहिं भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

इस साधनमें साधकको भ्रमवश गिरनेका भय नहीं है। वह स्वामीके असीम बलसे सदा सुरक्षित और बलवान् रहता है। स्वामीके भयसे पाप-ताप उसके समीप नहीं आ सकते। काम-क्रोधादि चोर-डाकू उसका पीछा नहीं कर सकते। सरकारका छोटा-सा नौकर भी जैसे सरकार समझा जाता है, उसके अपमानसे सरकारका अपमान, उसके तिरस्कारसे सरकारका तिरस्कार, उसके कार्यमें हस्तक्षेप करनेसे सरकारी कार्यमें हस्तक्षेप करना माना जाता है तथा उसके कार्योंकी जिम्मेवारी सरकारपर रहती है, इसी प्रकार भगवान्के सेवक भक्तका अपमान या तिरस्कार भगवान्का अपमान या तिरस्कार माना जाता है। अतएव कोई भी पाप-ताप आदि भगवान्के भयसे उसको नहीं सता सकते। उसके कार्यकी जिम्मेवारी भगवान्पर रहती है; क्योंकि वह बिना किसी वेतन या पुरस्कारके, संकल्पके दिन-रात तन-मनसे प्रभुकी सेवामें लगा रहनेके कारण उन्हींका स्वरूप या खास प्रतिनिधि-सा बन जाता है। ***'मालिकको गोत गोत होत है गुलामको।'*** गुसाईंजी महाराजका यह कथन देवर्षि नारदजीके इस सूत्रसे भी समर्थित होता है—

'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'

अर्थात् भगवान्में और उनके सेवकमें भेदका अभाव होता है। दोनों एक रूप ही हो जाते हैं। यह स्थिति उसी सेवककी हो सकती है, जो सेवाके लिये ही सेवा करता है, सेवाके बदलेमें देनेपर भी कुछ नहीं लेता, सेवाको छोड़कर मोक्ष भी नहीं चाहता। सेवामें ही उसे परम आनन्द मिलता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् स्वयं अपने ऐसे सेवककी स्थिति बतलाते हैं—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(३। २९। १३)

वे सेवक मेरी सेवाको छोड़कर मेरी दी हुई सालोक्य (भगवान्के लोकमें वास), सार्ष्टि (भगवान्के समान ऐश्वर्य-प्राप्ति), सामीप्य (भगवान्के समीप रहना), सारूप्य (भगवान्के समान स्वरूप प्राप्त होना) और सायुज्य (ब्रह्ममें आत्माका मिल जाना)—इन पाँचों प्रकारकी मुक्तिको भी ग्रहण नहीं करते।

भगवान्ने जब प्रह्लादजीसे वर माँगनेको कहा तब उन्होंने उत्तर दिया—'स्वामिन्! मालूम होता है आप सेवककी परीक्षाके लिये ही इन कामनाओंकी ओर मुझे प्रेरणा कर रहे हैं, जो कामनाएँ संसारकी बीज और

हृदयकी ग्रन्थिरूप हैं। नहीं तो जगद्गुरो! आप करुणामय, अपने भक्तोंको अनर्थरूप विषयोंकी ओर प्रवृत्त नहीं कर सकते। प्रभो! जो मनुष्य आपके दर्शन पाकर आपसे सांसारिक सुख चाहता है, वह तो सेवक नहीं, लेन-देन करनेवाला बनिया है। स्वामीसे जो पुरुष सेवाके बदलेमें लाभकी आशा करता है वह सेवक नहीं है। और जो अपने प्रभुत्वकी इच्छासे सेवकका भला करता है वह प्रभु नहीं है। मैं आपका बिना मोलका चाकर हूँ और आप मेरे अभिसन्धिशून्य दयालु स्वामी हैं। अतएव दूसरे साधारण मालिक और नौकरोंकी तरह मुझको और आपको किसी भी अभिसन्धिका प्रयोजन नहीं है।' उन निष्काम सेवकोंकी यह स्थिति होती है। वे लेनेकी तो बात भी नहीं सुनना चाहते, परंतु सेवा करनेमें एक क्षणके लिये भी विराम नहीं लेते। आलस्य और प्रमाद छोड़कर सदा स्वामीकी सच्ची और अनुकूल सेवामें लगे रहना ही उनका सहज स्वभाव होता है। भगवान् कहते हैं, मैं ऐसे सेवकका ऋणी बन जाता हूँ। बदलेमें मोक्ष ले ले तब भी किसी तरह ऋण उतर जाता है, पर जो कुछ लेता ही नहीं और सेवा भी छोड़ता नहीं, उसका ऋण कैसे उतरे? भगवान् श्रीरामने हनुमान्जीसे कहा है—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

भगवान्के सच्चे दासकी क्या चाह रहती है, इस विषयपर, मरते हुए भक्तराज दैत्यपति वृत्रासुरके उद्गार पढ़िये—

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

(श्रीमद्भा० ६। ११। २४—२६)

'हरे! मैं मरकर भी फिर आपके दोनों चरण ही जिनके आश्रय हैं उनके दासोंका दास ही होऊँ। प्राणनाथ! मेरा मन आपके गुणोंके स्मरणमें, वाणी गुण-कीर्तनमें और शरीर आपकी सेवामें ही लगा रहे। सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपके दासत्वको छोड़कर स्वर्गका राज्य, ब्रह्माका पद, सार्वभौम राज्य, पातालका राज्य, योगसिद्धि, यहाँतक कि अपुनर्भव—मोक्ष भी नहीं चाहता। जैसे बिना पाँखके पक्षियोंके बच्चे भूखसे व्याकुल हो माताके आनेकी बाट देखा करते हैं, जैसे रस्सीमें बँधे छोटे भूखे बछड़े गौका दूध पीनेके लिये छटपटाया करते हैं और जैसे विरहपीड़िता स्त्री परदेश गये हुए पतिको पानेके लिये व्याकुल होती है। कमलनयन! वैसे ही मेरा मन आपके दर्शनकी अभिलाषा करता है।'

सेव्य-सेवक-भावके आचार्य गोसाईं तुलसीदासजी महाराज अपनी मनःकामना प्रकट करते हैं—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जड़ताई॥
चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि, सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥
कुटिल करम लैं जाहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़ियो, कमठ-अंडकी नाईं॥
या जगमें जहँ लगि या तनुकी प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि इक ठाईं॥

भक्तकवि कुलशेखर कहते हैं—

नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे
यद् यद् भाव्यं तद् भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत् प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु॥

१४-मनुष्यके द्वारा जितने पाप होते हैं, उनमें विषयासक्ति ही प्रधान कारण है। यद्यपि संचित और प्रारब्धके कारण पापकी स्फुरणाएँ मनमें हो सकती हैं, परंतु विषयासक्ति न होनेसे अथवा महान् सत्संगके प्रभावसे वे स्फुरणाएँ क्रियारूपमें परिणत नहीं हो

सकतीं। भगवान्‌से अर्जुनने पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'भगवन्! पाप करनेकी इच्छा न रहनेपर भी यह मनुष्य, मानो कोई बलात् उसे पाप करनेके लिये बाध्य करता है, ऐसे बाध्य होकर किसकी प्रेरणासे पाप करता है?'

भगवान्‌ने उसी क्षण स्पष्ट कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'(आसक्तिरूप) रजोगुणसे उत्पन्न काम ही क्रोध है; यही महा-अशन (अग्निकी भाँति भोगोंसे कभी तृप्त न होनेवाला) पापी शत्रु है, (जिसकी प्रेरणासे मनुष्य पाप करता है।) अर्जुन! तुम इसीको वैरी समझो।'

''जैसे धुएँसे अग्नि, मलसे दर्पण और जेरसे गर्भ ढका जाता है, वैसे ही यह काम ज्ञानको ढक लेता है। यह ज्ञानका नित्य-वैरी काम इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें रहता है और उन्हींके द्वारा ज्ञानको ढककर जीवको मोहमें डालकर पाप करवाता है; इसलिये सबसे पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान-विज्ञानके नाशक पापी कामका वध करो। यह न समझो कि इन्द्रियाँ तुमसे बलवान् हैं। इन्द्रियाँ बलवान् हैं; परंतु इनसे बलवान् मन है और मनसे श्रेष्ठ बुद्धि है एवं तुम आत्मा तो बुद्धिसे भी अति श्रेष्ठ हो। तुम्हारा बल अप्रतिम है। इस प्रकार अपनेको बुद्धिकी अपेक्षा श्रेष्ठ और बलवान् जानकर बुद्धिके द्वारा मन और इन्द्रियोंको वशमें करके महाबाहो! इस दुर्जय कामरूपी शत्रुको मार डालो।''

दयामय भगवान्‌के इस उपदेशसे यह सिद्ध हो गया कि पाप होनेमें आसक्तिसे उत्पन्न काम ही प्रधान कारण है और इसका नाश मनुष्य चाहे तो कर सकता है। नहीं करता तो, वह आसक्तिके वश होकर अपने कर्तव्यको भूल रहा है। इसीसे पापका कर्ता और उसके फलका भोक्ता मनुष्य माना जाता है। जो मनुष्य इस सिद्धान्तको न समझकर पापमें प्रभुको प्रेरक मानकर पापकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर मँढ़ना चाहते हैं, वे अभक्त और मूढ़-धी हैं। भक्तको तो ऐसा ही मानना चाहिये कि मुझसे जो कुछ भी पाप-कर्म बनते हैं, उनका कर्ता मैं हूँ और भगवान्‌से बलकी प्रार्थना करके भगवत्कृपा प्राप्त करके पापोंसे छूटना चाहिये।

१५-भगवान्‌की सच्ची प्रार्थनामें बड़ा बल है। प्रार्थना दो तरहकी होती है। एक भगवान्‌के गुणोंका निष्काम गान और दूसरी कष्ट-निवारणार्थ या शक्ति प्राप्त करनेके लिये आर्त-करुणक्रन्दन। इनमें पहलीको स्तुति कहते हैं और दूसरीको प्रार्थना। दोनों भावोंका मिश्रण भी कहीं-कहीं हो जाता है। प्रार्थना सच्ची होनी चाहिये, फिर उसका फल तत्काल होता है। भगवान् सबकी सच्ची पुकार सुनते हैं। अपनी साधारण भाषामें सच्ची आर्तिके साथ भगवान्‌की प्रार्थना करनेसे जैसे माता बच्चेका करुणक्रन्दन सुनकर सारे काम छोड़ उसके हितार्थ दौड़ी आती है, इसी प्रकार भगवान् भी दौड़े आते हैं। प्रार्थनामें प्रधान बातें दो होनी चाहिये—भगवान्‌पर पूरा भरोसा और अपनेमें यथार्थ आर्तता। जहाँ ये दोनों बातें होती हैं, वहाँ प्रार्थनामें हाथोंहाथ सफलता मिलती है। यह अनुभूत सत्य है। पापसे बचनेके लिये, पाप-नाशके लिये, किसी कामनाके लिये, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये, शरणके साधन बननेके लिये, शरण-प्राप्तिके लिये, आत्म-शक्तिकी प्राप्ति और विकासके लिये या अन्य किसी भी सत् हेतुसे प्रार्थना की जा सकती है। दूसरेके अनिष्ट या पाप-कर्ममें सफलता पानेके लिये कभी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये। सकामभावसे भी बचता रहे तो अति उत्तम है। परंतु यदि नहीं रहा जाय तो सकाम प्रार्थना भी करे। भगवान्‌में प्रयुक्त होनेवाला सकामभाव भी भगवत्कृपासे अन्तमें प्रेमके रूपमें परिणत हो जाता है और भगवत्प्राप्तिका कारण बनता है। भगवान्‌ने श्रीगीतामें कहा है—मुझको कोई कैसे भी भजे अन्तमें मुझको ही पाता है। '**मद्भक्ता यान्ति मामपि**' यही भगवद्भजनकी विशेषता है।

श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं,
जियँ जाचिअ जानकी जानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ,
जो जारति जोर जहानहि रे॥

गति देखु बिचारि बिभीषनकी,
अरु आनु हिएँ हनुमानहि रे।
तुलसी! भजु दारिद-दोष-दवानल,
संकट-कोटि-कृपानहि रे॥
(कवितावली)

अतएव प्रभु-प्रार्थनामें विश्वास रखकर प्रार्थना करनी चाहिये।

इस प्रकार शरणागतिके पंद्रह साधनोंका यह संक्षिप्त वर्णन है। विशेष बातें सुयोग्य और विज्ञ गुरुसे जानकर तदनुकूल आचरण करना चाहिये। ज्यों-ज्यों आधार शुद्ध होकर समर्पणके योग्य होगा, त्यों-ही-त्यों अशान्ति, विषाद, शोक, अहंता और ममता आदि नाश होते दिखायी देंगे। प्रत्येक स्थितिमें प्रभुके मंगलमय विधानका प्रत्यक्ष अनुभव होनेसे चित्त सदा प्रफुल्लित रहने लगेगा। धीरे-धीरे प्रत्येक कार्यमें भी प्रभुकी प्रेरणा भासने लगेगी, तदनन्तर संचालनमें भी प्रभुका हाथ दिखलायी देगा। इसके बाद प्रत्यक्ष यह प्रतीत होगा कि मानो भागवती शक्ति स्वयं इस आधारमें अवतीर्ण होकर अपना काम करने लगी है। बस, इस स्थितिके अनन्तर ही प्रभु इस आधारपर पूर्ण अधिकार जमा लेंगे। सब कुछ स्वयमेव समर्पण हो जायगा। यही दिव्य जीवन है। ऐसे भगवान्के क्रीड़ाकेन्द्र पुरुषके कर्म ही दिव्य कर्म हैं। उसीकी वाणी शास्त्र है। वह तो तर ही गया, पर वह उन सबको भी तार सकता है जो किसी प्रकारसे भी उसके सम्बन्धमें आकर उसके हृदयका स्पर्श पा जाते हैं। उसका जन्म, जीवन, कर्म, आचार सर्वथा धन्य है! उसके निवाससे भूमि पवित्र और धन्य होती है। उसके स्नानसे तीर्थ तीर्थ बन जाते हैं। उसके गुण-गानसे वाणी पवित्र होती है। उसके जन्मसे कुल और देश कृतार्थ हो जाते हैं। उसके आदर्श जीवनकी लीलाओंसे पीढ़ियोंको प्रकाश मिलता है और उस प्रकाशके सहारे शताब्दियों और युगोंतक लोग जगत्के अन्धकारमय गहन वनमें निकलकर नित्यनिकेतन प्रभुके प्रकाशमय दिव्य धाममें पहुँचकर सुखी हो सकते हैं।

मातर्गीते!

माता श्रीभगवद्गीते! अनन्त असीम गुणातीत विश्वातीत विशुद्ध स्वतन्त्र सत्-चित्-आनन्दरूप परब्रह्मकी अभिन्न ज्योति! विश्वलीलामें प्रवृत्त सृजन-संहार-मूर्ति, नियन्त्रणकलानिपुण, सर्वशक्तिमान्, सर्वसंचालकगुणविशिष्ट भगवान्की चिरसंगिनी! अपनी विश्वातीत सत्तामें नित्य अनन्त रूपसे स्थित रहते हुए भी विश्वलीलामें अपनी लीलासे ही नयनाभिराम त्रिभुवनकमनीय पूर्णसत्त्व दिव्य नरदेहधारी भगवान्की दैवी वाणी! विश्वलीलामें असंख्य प्राणियोंके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न भावोंसे अंशरूपमें प्रतिभासित, अपनी ही मायासे लीलाहेतु-स्वरूपविस्मृत निद्रित-से प्रतीत होनेवाले सनातन चेतन आत्माको लीलाके लिये ही प्रबुद्ध करनेवाली दिव्य-दुन्दुभि! सम्पूर्ण विश्वके समस्त चेतनाचेतन पदार्थोंमें—ग्रीष्म-वर्षा, शरत्-वसन्त, शीत-उष्ण, पर्वत-सागर, स्वर्ण-लोष्ट, शिशु-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, देव-दानव, सुन्दर-भयानक, करुण-रौद्र, हास्य-क्रन्दन, जन्म-मृत्यु और सृष्टि-प्रलय आदि समस्त भावोंमें, सभीके अंदरसे अपने नित्य सत्य केन्द्रीभूत सौन्दर्य और अखण्ड पूर्ण अस्तित्वको अभिव्यक्त करनेवाले विश्वव्यापी भगवान्की प्रकृत मूर्तिका उद्घाटन करनेवाली माँ! तुझे बार-बार नमस्कार है।

माता! तुझ दयामयीके विश्वमें विद्यमान रहते हम विश्ववासियोंकी यह दुर्दशा क्यों हो रही है? स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी वाङ्मयी मूर्ति! तू भगवान्का हृदय है, तू मार्गभ्रष्टोंकी पथ-प्रदर्शिका है, तू घन अन्धकारमें दिव्य प्रखर प्रकाश है, तू गिरे हुएको उठाती है, चलनेवालेको विशेष गतिशील बनाती है, शरणागतका हाथ पकड़कर उसे परमात्माके अभय चरणकमलोंमें पहुँचा देती है। ऐसी अद्भुत लीलामयी शान्तिदायिनी माताके रहते हम असहाय और अनाथकी भाँति क्यों दु:खी हो रहे हैं? अमृतसमुद्रके शीतल सुखद तटपर निवास करके भी त्रितापसे संतप्त क्यों हो रहे हैं?

देवि! हमारा ही अपराध है। हमने तेरे स्वरूपको यथार्थ नहीं पहचाना। तेरी स्नेहपूरित मुखच्छविको श्रद्धासमन्वित तर्कशून्य सरल दृष्टिसे नहीं देखा। इसीसे भूलभुलैयामें पड़े हैं, इसीसे तेरे अगाध आनन्दाम्बुधिमें मतवालेकी तरह कूदकर जोरसे डुबकी लगानेमें प्राण हिचकिचाते हैं; इसीसे तेरे नित्य प्रज्वलित प्रचण्ड

ज्ञानानलमें अविद्या-राशिको फेंककर फूँक डालनेमें संकोच होता है। इसीसे घर-घरमें तेरी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा होनेपर भी विधिसंगत पूजा नहीं की जाती, इसीसे निराधार अबोध मातृपरायण शिशुकी भाँति तेरे चरण-प्रान्तमें हम अपनेको लुटा नहीं देते, इसीसे तेरी प्रमत्तकारी प्रेममदिराका पान कर तेरे मोहन-मन्त्रसे मुग्ध होकर दिव्यानन्दके दीवाने नहीं बन रहे हैं। अरे! इसीसे आज अमूल्य रत्न-राशिके हाथमें रहते भी हम शान्तिधनसे शून्य दीन-हीन राहके भिखारी बने दारुण दाहसे दग्ध हो रहे हैं।

विश्व-ज्ञान-प्रदायिनि अनन्तशक्ति माँ! आज हम सूर्यको दीपककी क्षुद्र ज्योतिसे प्रकाशित करनेकी बालकोचित हास्यास्पद चेष्टाके सदृश तेरे विश्वव्यापी प्रकाशके किसी क्षुद्रातिक्षुद्र ज्योतिःकणसे प्रकाशित मनुष्य-विशेषोंके विनाशी उद्गारोंद्वारा तेरी महिमा बढ़ाना चाहते हैं। तेरे अनन्त ज्ञानको अपने सीमाबद्ध स्वल्प ज्ञान और मनःप्रसूत अनित्य मतके रूपमें परिणत कर प्रसिद्ध करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। तेरी विश्वातीत और विश्वव्याप्त अद्भुत अनन्त राशिको संकुचितकर पर-मत-असहिष्णुताके कारण हम अपने सिद्धान्तकी पुष्टिमें ही उसका प्रयोग करना चाहते हैं। तुझे सर्वशास्त्रमयी कहकर ही तेरा गौरव बढ़ाना चाहते हैं। कुछ दिनोंके लिये प्राप्त कल्पित देश-जाति-नामरूपके अभिमानमें मत्त होकर सारे विश्वसे इसीलिये अपनेको भिन्न और श्रेष्ठ समझकर लोक-समुदायमें और भी मानास्पद बननेके निमित्त तुझे केवल अपने ही घरकी वस्तु बतलाकर, तुझ असीमको ससीम बनाकर अपने गौरवकी वृद्धिके लिये किसी भी तरह श्रद्धा-अश्रद्धासे तेरी प्रतिमा घर-घर पहुँचाना चाहते हैं। माता! यह हमारे बालोचित कार्य हैं। हम बालक हैं, इसीसे ऐसा करते हैं एवं दयामयी! इसीसे हमारी इन चेष्टाओंको देख-सुनकर भी तू नाराज नहीं होती। तू समझती है कि ये अबोध हैं, इसीलिये मेरे वास्तविक स्वरूपको न पहचानकर—मुझ नित्यानन्दमयी स्नेहार्द्रहृदया जननीकी शरण न लेकर मुझ मधुरातिमधुर शान्ति सुधा-सागरके अगाध अन्तस्तलमें निमग्न न होकर केवल बाह्य लहरियोंकी ओर निहार रहे हैं। इसीसे तू अपनी इन लहरियोंकी मधुर तान सुना-सुनाकर हमारे मनको मोहती और अपनी सुखमयी गोदमें बैठाकर अमृत स्तन्यपानके लिये आवाहन करती है।

माता! वास्तवमें तेरी इन लहरियोंका दृश्य बड़ा मनोहर है, तेरी यह तान बड़ी श्रुति-मधुर है, इसीसे आज तेरे तटपर विश्वके सभी प्राणी दौड़-दौड़कर आ रहे हैं। यद्यपि अभी सबमें कूद पड़नेकी श्रद्धा और साहस नहीं है, पर तेरी मधुर लहरी-ध्वनि हृदयोंमें एक अद्भुत मतवालापन पैदा कर रही है, इसीलिये कुछ लोगोंमें तेरे प्रति पवित्र आकर्षण देखनेमें आ रहा है। वह देखो, कुछ तो कूद ही गये, गहरे जलमें निमग्न हो गये और भी कूद रहे हैं, कूदेंगे।

भाई विश्वनिवासियो! दयामयी ज्ञानदायिनी जननीका मधुर आवाहन सुनो और तुरंत आकर सदाके लिये उसकी सुखद क्रोडमें बैठकर निर्भय और निश्चिन्त हो जाओ।

गीताके विभिन्न अर्थोंकी सार्थकता

एक बार देवता, मनुष्य और असुर पितामह प्रजापति ब्रह्माजीके पास शिष्य-भावसे शिक्षा प्राप्त करनेको गये और नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करने लगे। ब्रह्मचर्यव्रत पूरा होनेपर सबसे पहले देवताओंने जाकर प्रजापतिसे कहा—'भगवन्! हमें उपदेश कीजिये।' प्रजापतिने उत्तर एक ही अक्षर कह दिया 'द'। फिर उनसे पूछा कि 'क्यों, तुमने मेरे उपदेश किये हुए अक्षरका अर्थ समझा कि नहीं?' उन्होंने कहा—'भगवन्! हम समझ गये। (हम देवताओंके लोकोंमें भोगोंकी भरमार है। भोग ही देवलोकका प्रधान सुख माना गया है। कभी वृद्ध न होकर हम देवगण सदा इन्द्रियोंके भोगोंमें ही लगे रहते हैं। हमारे विलासमय जीवनपर ध्यान देकर हमें सन्मार्ग-प्रवृत्त करनेके लिये) आपने कहा है—तुमलोग इन्द्रियोंका दमन करो।' प्रजापतिने कहा—'तुमने ठीक समझा। तुमसे मैंने यही कहा था।'

फिर मनुष्योंने प्रजापतिके पास जाकर कहा—'भगवन्! हमें उपदेश दीजिये।' प्रजापतिने उनको भी

वही 'द' अक्षर सुना दिया। तदनन्तर पूछा कि 'तुमलोग मेरे उपदेशको समझ गये न?' संग्रहप्रिय मनुष्योंने कहा—'भगवन्! हम समझ गये। (हमलोग कर्मयोनि होनेके कारण लोभवश नित्य-निरन्तर कर्म करने और अर्थसंग्रह करनेमें ही लगे रहते हैं। हमारी स्थितिपर सम्यक् विचार करके हमलोगोंके कल्याणके लिये) आपने हम लोभियोंको यही उपदेश दिया है कि तुम दान करो।' यह सुनकर प्रजापति प्रसन्न होकर बोले—'हाँ, मेरे कहनेका यही भाव था, तुमलोग ठीक समझे।'

इसके पश्चात् असुरोंने प्रजापतिके पास जाकर प्रार्थना की—'भगवन्! हमें उपदेश दीजिये।' प्रजापतिने उनसे भी कह दिया 'द'। फिर पूछा कि 'मेरे उपदेशका अर्थ समझे या नहीं?' असुरोंने कहा—'भगवन्! हम समझ गये। (हमलोग स्वभावसे ही अत्यन्त क्रूर और हिंसापरायण हैं। क्रोध और मार-काट हमारा नित्यका काम है। हमें इस पापसे छुड़ाकर सन्मार्गपर लानेके लिये) आपने कहा है—'तुम प्राणिमात्रपर दया करो।' प्रजापतिने कहा—'तुमने ठीक समझा। मैंने तुमलोगोंको यही उपदेश दिया है।'

'द' अक्षर एक ही है, परंतु अधिकारिभेदसे ब्रह्माजीने इसका उपदेश विभिन्न तीन अर्थोंको मनमें रखकर किया और ऐसा करना ही सर्वथा उपयुक्त था। यही तो भगवद्वाणीकी महिमा है। वह एक ही प्रकारकी होनेपर भी सर्वतोमुखी और विश्वके समस्त विभिन्न अधिकारियोंको उनके अपने-अपने अधिकारके अनुसार विभिन्न मार्ग दिखलाती है। सबका लक्ष्य एक ही है—परमधाममें पहुँचा देना अथवा भगवत्-प्राप्ति करवा देना।

श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् भगवान्के श्रीमुखकी वाणी है। इसीलिये वह सर्वशास्त्रमयी है और किसी भी दिशा और दशामें पड़े हुए प्राणीको ठीक उपयुक्त मार्गपर लाकर अच्छी स्थितिमें परिवर्तितकर कल्याणकी ओर लगा देती है। भिन्न-भिन्न रुचि और अधिकार रखनेवाले मनुष्योंको उनकी रुचि और अधिकारके अनुसार ही कर्तव्य-कर्ममें प्रवृत्त कर भगवान्की ओर गति करा देती है। यही कारण है कि शुद्ध अन्तःकरणवाले महापुरुषोंने भी गीताको भिन्न-भिन्न रूपोंमें देखा है और उसके अर्थको भी विभिन्न रूपोंमें समझा है। यह भगवान्की वाणीका महत्त्व और विशेषत्व है कि वह *'जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥'* के अनुसार विभिन्न अर्थोंमें आत्मप्रकाश कर सबको कल्याणके दर्शन करा देती है। अतएव गीताके अर्थोंमें विभिन्नता देखकर किसीको आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

गीताके अनुभवी प्रातःस्मरणीय आचार्यों और महात्माओंने भी इसी दृष्टिसे लोकोपकारार्थ गीतापर भाष्य और टीकाओंकी रचना की है। उनमें परस्पर विरोध देखकर एक-दूसरेको नीचा समझनेकी या किसीकी निन्दा करनेकी जरा भी रुचि और प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। उन महापुरुषोंने जो कुछ भी कहा है, अपने-अपने अनुभवके अनुसार हमलोगोंके कल्याणार्थ सर्वथा सत्य और समीचीन ही कहा है। जिसकी जिसमें रुचि और श्रद्धा हो, उसको आदर और विश्वासके साथ उसीका अनुसरण करना चाहिये। प्राप्तव्य सत्य वस्तु या भगवान् एक ही हैं, मार्ग भिन्न-भिन्न हैं और उनका भिन्न-भिन्न होना सर्वथा सार्थक और आवश्यक है। पुष्पदन्ताचार्यने ठीक ही कहा है—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

'जिस प्रकार सभी नदियोंका जल अन्ततः समुद्रमें ही जाता है; उसी प्रकार रुचिकी विभिन्नताके कारण सीधे और टेढ़े—नाना मार्गोंपर चलनेवाले सभी मनुष्योंके ध्येय गन्तव्य-स्थान आप ही हैं।'

गीतापर विभिन्न भाषाओंमें सैकड़ों भाष्य, टीका, अनुवाद, निबन्ध और प्रवचन लिखे जा चुके और लिखे जा रहे हैं। इनमें जो दैवी सम्पत्तियुक्त भगवत्परायण शुद्धान्तःकरण तथा विवेक-वैराग्य-सम्पन्न साधकों और भगवत्प्राप्त महापुरुषोंद्वारा लिखे गये हैं, वे चाहे किसी भी भाषामें हों, सभी परस्पर मतभेद रखते हुए भी भगवद्वाणीकी दृष्टिसे सर्वथा यथार्थ और सम्मान्य तथा मनन करनेयोग्य हैं। इन महानुभाव भाष्य और टीका लेखकोंका ही अनुग्रह है, जिससे आज लोग गीताको किसी-न-किसी अंशमें समझनेमें समर्थ हो रहे हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाष्य और टीकाएँ संस्कृत भाषामें हैं। भगवान् शंकराचार्यसे पूर्ववर्ती आचार्यों और विद्वानोंके भाष्य इस समय उपलब्ध नहीं हैं, परंतु मालूम होता है कि गीतापर आचार्य शंकरसे

पूर्व भी बहुत कुछ लिखा गया था। इस समय प्राप्त भाष्यों और टीकाओंमें कुछ तो खास आचार्योंके स्वयं लिखे हुए हैं और कुछ उनके अनुयायी विद्वानोंके। यों तो अनेकों सम्मान्य मतवाद हैं, परंतु उनमें जिनके अनुसार गीतापर भाष्य और टीकाएँ लिखी गयी हैं, वे प्रधानतया निम्नलिखित छः ही हैं।

१-श्रीशंकराचार्यका अद्वैतवाद। २-श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद। ३-श्रीमध्वाचार्यका द्वैतवाद। ४-श्रीनिम्बार्काचार्यका द्वैताद्वैतवाद। ५-श्रीवल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैतवाद और ६-श्रीचैतन्य-महाप्रभुका अचिन्त्य भेदाभेदवाद।

उपर्युक्त वादोंका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१—अद्वैतवाद

सिद्धान्त—इसमें सम्पूर्ण प्रपंचको दो प्रधान भागोंमें विभक्त किया गया है—द्रष्टा और दृश्य। एक वह नित्य और चेतन तत्त्व जो सम्पूर्ण प्रतीतियोंका अनुभव करता है और दूसरा वह जो अनुभवका विषय है। इनमें समस्त प्रतीतियोंके द्रष्टाका नाम 'आत्मा' है और उसका जो कुछ विषय है वह सब 'अनात्मा' है। यह आत्म-तत्त्व सत्, नित्य, निरंजन, निश्चल, निर्गुण, निर्विकार, निराकार, असंग, कूटस्थ, एक और सनातन है। बुद्धिसे लेकर स्थूल भूतपर्यन्त जितना भी प्रपंच है उसका वस्तुतः आत्मासे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वास्तवमें वह असत् है, अविद्याके कारण ही जीव असत् देह और इन्द्रियादिके साथ अपना तादात्म्य स्वीकार करके अपनेको देव-मनुष्य, ब्राह्मण-शूद्र, मूर्ख-विद्वान्, सुखी-दुःखी और कर्ता-भोक्ता आदि मानता है। बुद्धिके साथ जो आत्माका यह तादात्म्य है, इसीका नाम अध्यास है। अविद्याजनित इस अध्यासके कारण ही सम्पूर्ण प्रपंचमें सत्यत्वकी प्रतीति हो रही है। मायाके कारण ही इस दृश्यवर्गकी सत्ता और विभिन्नता है, वस्तुतः तो एक, अखण्ड, शुद्ध-बुद्ध, नित्यनिरंजन, विज्ञानानन्दघन, चिन्मात्र आत्मतत्त्व ही है। इसीको 'अध्यासवाद,' 'विवर्तवाद' या 'मायावाद' भी कहते हैं।

मुक्ति—सम्पूर्ण पृथक्-पृथक् प्रतीतियोंमें एक अखण्ड, नित्य शुद्ध-बुद्ध, सच्चिदानन्दघन आत्मतत्त्वका अनुभव करना ही ज्ञान है और सबके अधिष्ठान तथा सबको सत्ता देनेवाले इस एक अखण्ड आत्मतत्त्वपर दृष्टि न रखकर भेदमें सत्यत्व-बुद्धि करना ही अज्ञान है। जैसे भाँति-भाँतिके मिट्टीके बर्तन वस्तुतः केवल मिट्टी ही हैं, सोनेके विविध प्रकारके गहने सब सोना ही हैं, स्वप्नका विचित्र संसार सब स्वप्नद्रष्टा ही है और जलमें दिखायी पड़नेवाले भँवर और तरंगें सब जल ही हैं; वैसे ही विभिन्न रूपोंमें दीखनेवाला यह जगत् केवल शुद्ध, बुद्ध एकमात्र ब्रह्म ही है और वही अपना आत्मा है। इस प्रकारका यथार्थ बोध ही ज्ञान है। इस बोधके होते ही जगत्का अत्यन्ताभाव हो जाता है और सम्यक् बोधके कारण अविद्याके अध्यासका सर्वथा अभाव होनेसे जीव जीव-भावसे मुक्त होकर दूसरोंकी दृष्टिमें शरीरके बने रहनेपर भी जीवन्मुक्त हो जाता है। यही ज्ञान है। जबतक जीव इस ज्ञानको प्राप्त नहीं होता तबतक उसकी अविद्याकी गाँठें नहीं खुलतीं और वह आवागमनमय मिथ्या प्रपंचजालसे मुक्त नहीं होता।

साधन—श्रवण, मनन, निदिध्यासन—इस ज्ञानके साक्षात् साधन हैं। आत्मतत्त्वको जाननेकी दृढ़ जिज्ञासा उत्पन्न होनेपर ही ये साधन किये जा सकते हैं और ऐसी जिज्ञासा अन्तःकरणकी सम्यक् शुद्धि हुए बिना उदय नहीं होती। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये वर्णाश्रमानुकूल कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करना और भगवान्की भक्ति करना आवश्यक है। ऐसा करनेपर मनुष्य विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व प्राप्त करता है। तब उसमें जिज्ञासाकी उत्पत्ति होती है। सच्चे जिज्ञासु और बोधसम्पन्न ज्ञानी दोनोंके लिये ही स्वरूपतः '**सर्वकर्मसंन्यास**' की आवश्यकता है। चित्तशुद्धिके अनन्तर कर्मसंन्यासपूर्वक श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेसे ही आत्मतत्त्वका सम्यक् बोध और जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है।

२—विशिष्टाद्वैत

सिद्धान्त—ब्रह्म एक है और उसमें तीन वस्तुएँ हैं। अचित् अर्थात् जड प्रकृति, चित् अर्थात् चेतन आत्मा और ईश्वर। स्थूल, सूक्ष्म, चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर हैं। ये सगुण और सविशेष हैं। ब्रह्मकी शक्ति माया है। सर्वेश्वरत्व, सर्वशेषित्व, सर्वकर्माराध्यत्व, सर्वफलप्रदत्व, सर्वाधारत्व, सर्वकार्योत्पादकत्व, चिदचिच्छरीरत्व और समस्त द्रव्यशरीरत्व आदि इनके लक्षण हैं। ईश्वर सृष्टिकर्ता, नियन्ता और सर्वान्तर्यामी

हैं और अशेष कल्याणमय गुणोंके धाम हैं। अपार कारुण्य, सौन्दर्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य और ऐश्वर्यके महान् समुद्र हैं। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतारके भेदसे वे पाँच प्रकारके हैं। शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज हैं। श्री, भू और लीलासमन्वित हैं।

जगत् और जीव ब्रह्मके शरीर हैं। जगत् जड है। ब्रह्म ही जगत्के उपादान और निमित्त कारण हैं और वे ही जगद्रूपमें परिणत हुए हैं। फिर भी वे विकाररहित हैं। जीव चेतन और अणु है। ब्रह्म और जीवमें सजातीय-विजातीय भेद नहीं है, स्वगत भेद है। ब्रह्म पूर्ण है, जीव अपूर्ण है। ब्रह्म ईश्वर हैं, जीव दास है। ईश्वर कारण हैं, जीव कार्य है। ईश्वर और जीव दोनों स्वयंप्रकाश हैं, ज्ञानाश्रय और आत्मस्वरूप हैं। जीव नित्य है और उसका स्वरूप भी नित्य है। प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न जीव है। जीव स्वभावतः दुःखरहित है। उपाधिवश संसारके भोगोंको प्राप्त होता है। जीवके कई भेद हैं। इसीको 'परिणामवाद' भी कहते हैं।

मुक्ति—भगवान्के दासत्वकी प्राप्ति ही मुक्ति है। परम धाम वैकुण्ठमें श्री, भू, लीला महादेवियोंके साथ नारायणकी सेवाको प्राप्त कर लेना ही परम पुरुषार्थ है। पांचभौतिक देहसे छूटकर अप्राकृत शरीरसे नारायणका सान्निध्य प्राप्त करना ही मुक्ति है। भगवान्के साथ जीवका अभिन्नत्व कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जीव स्वरूपतः नित्य है; और नित्य दास तथा नित्य अणु है। वह कभी विभु नहीं हो सकता। मुक्तजीव वैकुण्ठ-धाममें अशेष-कल्याण-गुणनिधि भगवान्के नित्य दासत्वको प्राप्त होकर दिव्य आनन्दका अनुभव करते हैं।

साधन—मुक्तिका साधन ज्ञान नहीं, किंतु भक्ति है। ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती। भक्तिके द्वारा प्रसन्न होकर जब भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं तभी मुक्ति होती है। भक्तिका सर्वोत्तम स्वरूप प्रपत्ति या आत्मसमर्पण है। वैकुण्ठनाथ, विभु, श्रीमन्नारायणके चरणोंमें आत्मसमर्पण कर देनेपर ही जीवको परम शान्तिकी प्राप्ति होती है।

३—द्वैतवाद

सिद्धान्त—भगवान् श्रीविष्णु ही सर्वोच्च तत्त्व हैं। वे सगुण और सविशेष हैं। वे ही स्रष्टा, पालक और संहारक हैं। जीव और ईश्वर दोनों ही सच्चिदानन्दात्मक हैं। ईश्वर सर्वज्ञ हैं और अनन्त दिव्य कल्याणगुणोंके आश्रय हैं। वे देश और कालसे परिच्छिन्न नहीं हैं; असीम अनन्त हैं और स्वतन्त्र हैं। जीव अणु है, भगवान्का दास है और अनादिकालसे मायामोहित, बद्ध तथा सर्वथा अस्वतन्त्र है। वह अज्ञत्वादि नाना धर्मोंका आश्रय है। जगत् सत्य है और भेद वास्तविक है। इस भेदके भी पाँच अवान्तर भेद हैं। १-जीव-ईश्वरका भेद, २-जीव-जडका भेद, ३-ईश्वर-जडका भेद, ४-जीवोंका परस्पर भेद और ५-जडोंका परस्पर भेद। ये सभी भेद वास्तविक हैं, इनमें कोई औपचारिक नहीं है। सब जीव ईश्वरके अधीन हैं। जीवोंमें भी तारतम्य है। जगत् सत्, जड और अस्वतन्त्र है, भगवान् जगत्के नियामक हैं। इसको 'स्वतन्त्रास्वतन्त्रवाद' भी कहते हैं।

मुक्ति—जीवनमुक्ति या निर्वाणमुक्ति मुक्ति नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म सब वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान होनेपर अर्थात् ईश्वरसे जीव पूर्णरूपसे पृथक् है, इसे यथार्थरूपसे जानकर ईश्वरके गुणोंकी उपलब्धि, उनके अनन्त असीम सामर्थ्य, शक्ति और गुणोंका बोध होनेपर ही भगवान्के दिव्य लोक और स्वरूपकी प्राप्ति होती है। यही मुक्ति है, मुक्त जीव भी ईश्वरका नित्य सेवक ही रहता है।

साधन—भक्ति ही मुक्तिका प्रधान साधन है। वेदाध्ययन, इन्द्रियसंयम, विलासिताका त्याग, आशा और भयका अभाव, भगवान्के प्रति आत्मसमर्पण, सत्य-हित-प्रियवचन बोलना और स्वाध्याय करना, दान देना, विपत्तिमें पड़े हुए जीवकी रक्षा करना, शरणागतको बचाना, दया, भगवान्का दासत्व प्राप्त करनेकी इच्छा और हरि, गुरु तथा शास्त्रमें श्रद्धा, इन सबको भगवान्के समर्पण करके करते रहना ही भक्ति है।

४—द्वैताद्वैतवाद

सिद्धान्त—ब्रह्म सर्वशक्तिमान् हैं, निर्विकार और निर्गुण हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका सृजन, पालन और संहार ब्रह्मसे ही होता है। ब्रह्म ही इस ब्रह्माण्डके निमित्त और उपादान कारण हैं। ब्रह्म-सत्ताकी चार अवस्थाएँ हैं—१-मूल अवस्था अव्यक्त, निर्विकार, देश-कालादिसे अनवच्छिन्न और अचिन्त्यानन्त स्वगत-सौख्यसिन्धुमय है। २-दूसरी अवस्था जगदीश्वरकी है। इसमें ईश्वरत्वके साथ सम्पूर्ण विश्वका भान है। ३-तीसरी अवस्था रूप,

रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शकी यथाक्रम व्यष्टिगत अनुभूतिकी है। इसीका नाम जीव है। जीव दो प्रकारके होते हैं—एक जो इन व्यष्टिगत रूपादिको ब्रह्मसे अपृथक् अनुभव करते हैं और जो अविद्यासे मुक्त हैं। दूसरे जो इन व्यष्टिगत रूपादिका अनुभव करते हैं, परंतु इनके आश्रयस्वरूप विभु आत्माको नहीं जानते इस कारण जो बद्ध हैं। ४-चौथी अवस्था वह है जिसमें ब्रह्म विश्वके रूपमें व्यक्त होता है। ब्रह्मको छोड़कर इस विश्वकी कोई सत्ता नहीं है। ब्रह्म दृश्य-अदृश्य, अणु-विभु, सगुण, निर्गुण सभी कुछ हैं, परंतु उनकी पूर्ण आनन्दसुधा-सिन्धुमयी, सनातनस्वरूप सत्ता सदा-सर्वदा और सर्वत्र एकरस है।

जीव ब्रह्मका अंश है, ब्रह्म अंशी है। ब्रह्म ही जगत्-रूपमें परिणत हुए हैं। जगत्-रूपमें परिणत होने तथा जगत्के ब्रह्ममें लीन होनेपर भी उनमें कोई विकार नहीं होता। जीव अणु और अल्पज्ञ है। मुक्त जीव भी अणु ही है। मुक्त और बद्धमें यही भेद है कि मुक्त जीव ब्रह्मके साथ अपने और जगत्के अभिन्नत्वका अनुभव करता है और बद्ध जीव ऐसा नहीं करता।

मुक्ति—भगवान् वासुदेव ही वे ब्रह्म हैं और उनकी प्रसन्नता तथा उनके दर्शन प्राप्त करके परमानन्दको प्राप्त हो जाना ही मुक्ति है।

साधन—भक्ति ही मुक्तिकी प्राप्तिका प्रधान साधन है। भगवान्के नाम-गुणोंका चिन्तन, उनके स्वरूपका ध्यान और भगवान्की युगलमूर्तिकी उपासना करना भक्ति है।

५—शुद्धाद्वैतवाद

सिद्धान्त—ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। वे परम शुद्ध हैं। उनमें माया आदि नहीं है। वे निर्गुण और प्राकृतिक गुणोंसे अतीत हैं। उनकी शक्ति अनन्त और अचिन्त्य है। वे सब कुछ बन सकते हैं। अतएव उनमें विरुद्ध धर्मों और विरुद्ध वाक्योंका युगपत् समावेश है और गोलोकाधिपति श्रीकृष्ण ही वे ब्रह्म हैं। वे ही जीवके सेव्य हैं। जीव ब्रह्मका अंश और अणु है, वह भी शुद्ध है। चैतन्य जीवका गुण है। जगत्का आविर्भाव भगवान्की इच्छासे हुआ है और उनकी इच्छासे इसका तिरोधान होता है। वे लीलासे ही जगत्के रूपमें परिणत हुए हैं। वे ही जगत्के निमित्त और उपादान कारण हैं। जगत् मायिक नहीं है, परंतु भगवान्का अविकृत परिणाम है, भगवान्से अभिन्न है। आविर्भाव और तिरोभाव होनेपर भी जगत् सत्य है। तिरोभावकालमें वह कारणरूपसे और आविर्भावकालमें कार्यरूपसे स्थित रहता है।

मुक्ति—भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति ही मुक्ति है। शुद्ध जीव समस्त जगत्को कृष्णमय देखकर श्रीकृष्णके प्रेममें जैसे पत्नी पतिकी सेवा करके आनन्दको प्राप्त होती है, वैसे ही स्वामीरूपमें श्रीकृष्णकी सेवा करके वह परमानन्दरसमें तन्मय रहता है।

साधन—भगवत्कृपासे प्राप्त भक्ति ही मुक्तिका साधन है। भगवान्का अनुग्रह ही पुष्टि है और पुष्टिसे जिस भक्तिका उदय होता है वही पुष्टिभक्ति है। यह पुष्टिभक्ति मर्यादाभक्तिसे अत्यन्त विलक्षण है। इस भक्तिके साथ भगवान्की सर्वात्मभावसे सेवा करना ही भगवत्प्राप्तिका प्रधान साधन है।

६—अचिन्त्यभेदाभेदवाद

सिद्धान्त—ब्रह्म निर्गुण हैं अर्थात् अप्राकृत गुणसम्पन्न हैं। उनकी शक्ति संवित्, संधिनी और ह्लादिनी हैं। वे स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, मुक्तिदाता और विज्ञानस्वरूप हैं। जीव अणु और चेतन है। ईश्वरकी विमुखता ही उसके बन्धनका कारण है। ईश्वरके सम्मुख होनेपर उसके बन्धन कट जाते हैं। ईश्वर, जीव, प्रकृति और काल—ये चार पदार्थ नित्य हैं तथा जीव, प्रकृति और काल ईश्वरके अधीन हैं। जीव ईश्वरकी शक्ति है। जीव और ब्रह्म, गुण तथा गुणीभावसे अभिन्न और भिन्न दोनों ही हैं। जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न है, वे इसके निमित्त और उपादान कारण हैं। वे ही अपनी अचिन्त्य शक्तिसे जगत्के रूपमें परिणत होते हैं। जगत् सत् है, परंतु अनित्य है।

मुक्ति—भगवान्का सान्निध्य प्राप्त करना ही मुक्ति है, भगवद्धामको प्राप्त हुए जीवका पुनरागमन नहीं होता। न तो भगवान् ही मुक्त जीवको अपने लोकसे गिराना चाहते हैं और न मुक्त पुरुष ही कभी भगवान्को छोड़ना चाहते हैं। वे नित्य उनकी सेवाका परमानन्द प्राप्त करते रहते हैं।

साधन—भक्ति ही प्रधान साधन है। ज्ञान, वैराग्य उसके सहकारी साधन हैं। ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके

बिना भगवत्प्राप्ति नहीं होती। भक्ति ह्लादिनी और संवित् शक्तिकी सारभूता है। भक्तिकी तीन अवस्थाएँ हैं—साधन, भाव और प्रेम। सामान्य भक्तिका नाम साधन-भक्ति है, यह जीवके हृदयस्थ प्रेमको उद्‌बुद्ध करती है, इसीसे उसका नाम साधन-भक्ति है। शुद्ध सत्त्वरूप चित्तमें प्रेम-सूर्यका उदय करानेवाली विशेष भक्तिका नाम 'भाव' है। भाव प्रेमकी प्रथमावस्था है। जब भाव घनीभूत होता है तब उसे प्रेम कहते हैं। मधुर भक्तिकी पराकाष्ठा ही इस प्रेमका सार है। यह प्रेम ही परम पुरुषार्थ है।

गीताके संस्कृत भाष्य और टीकाओंमें अधिकांश इन्हीं छः मतोंमेंसे किसी मतका आश्रय लेकर उसीके समर्थनमें रचे गये हैं। ये छहों मत ऐसे महान् पुरुषोंके द्वारा प्रवर्तित हैं कि उनमेंसे किसीको भी भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। सभी भगवत्तत्त्वके ज्ञाता महान् पुरुष माने जाते हैं। अतएव इनमें दीखनेवाले मतभेदको भगवद्वाणीका चमत्कार मानकर सभीको शुद्ध हृदयसे उन्हें नमस्कार करना चाहिये और अपने-अपने अधिकारके अनुसार यथारुचि अपने लाभकी बात सभीमेंसे ले लेनी चाहिये।

गीता और श्रीभगवन्नाम

वाच्यं वाचकमित्युदेति भवतो नामस्वरूपद्वयं
पूर्वस्मात्परमेव हन्त करुणं तत्रापि जानीमहे।
यस्तस्मिन् विहितापराधनिवहः प्राणी समन्ताद् भवे-
दास्येनेदमुपास्य सोऽपि हि सदानन्दाम्बुधौ मज्जति॥

श्रीहरिनाम! तुम्हारे दो स्वरूप हैं, एक वाच्य और दूसरा वाचक, तुम वाचक हो और श्रीहरि तुम्हारे वाच्य हैं। श्रीहरि और श्रीहरिनाम दोनों ही अभिन्न चिन्मय वस्तु होनेसे एक तत्त्व हैं, परंतु वाच्य श्रीहरिसे उनका वाचक श्रीहरिनाम अधिक दयालु है। जो जीव भगवान्‌के अनेक अपराध किये हुए होते हैं, वे भी केवल मुखसे श्रीहरिनामकी उपासना (नाम-कीर्तन) द्वारा निरपराध होकर भगवान्‌के आनन्दरूपमें निमग्न हो जाते हैं।

श्रीमद्भगवद्‌गीताने भी इस हरिनामकी बड़ी महिमा गायी है। भगवान् कहते हैं कि मूर्ख लोग, जो राक्षसी, आसुरी और मोहिनी* प्रकृतिका आश्रय लिये हुए होते हैं—मनुष्यरूपमें लीला करते हुए मुझ महेश्वरको साधारण मनुष्य मान लेते हैं, उन अज्ञानियोंकी सारी आशाएँ, उनके सारे कर्म और उनका सारा ज्ञान व्यर्थ होता है। परंतु दैवी प्रकृतिका आश्रय लिये हुए महात्मागण तो सर्वभूतोंके सनातन कारण और नाशरहित मुझ भगवान्‌को अनन्य मनसे निरन्तर भजते हैं। (गीता ९। ११—१३) ऐसे दृढ़निश्चयी भक्तजन निरन्तर मेरा कीर्तन करते हैं—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।

इस कीर्तनसे नामगुण-कीर्तनका ही लक्ष्य है। प्रसिद्ध टीकाकार गोस्वामी श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती अपनी 'सारार्थ-वर्षिणी' टीकामें लिखते हैं—**'सततं सदेति नात्र कर्मयोग इव कालदेशपात्रशुद्ध्याद्यपेक्षा कर्तव्येत्यर्थः।'**

भगवान्‌का नामकीर्तन सदैव ही किया जा सकता है, इसमें कर्मयोगकी भाँति शुद्ध देश-काल-पात्रकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि—

न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा।
नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति श्रीहरेर्नाम्नि लुब्धके॥

श्रीहरिनाम-प्रेमीके लिये देश, काल या अन्य किसी प्रकारका निषेध नहीं है। भगवन्नाम सभी अवस्थामें लिया जा सकता है। श्रीधर स्वामी इस श्लोककी टीकामें लिखते हैं—**'सर्वदा स्तोत्रमन्त्रादिभिः कीर्तयन्तः'** यहाँ मन्त्रसे श्रीभगवन्नाम ही अभिप्रेत है, क्योंकि यही मन्त्रराज है। श्रीबलदेव विद्याभूषण अपने गीताभाष्यमें लिखते हैं—

'सततं सर्वदा देशकालादिविशुद्धिनैरपेक्ष्येण मां कीर्तयन्तः सुधामधुराणि मम कल्याणगुणकर्मानुबन्धीनि गोविन्दगोवर्द्धनोद्धरणादीनि नामान्युच्चैरुच्चारयन्तो मामुपासते।'

देश-कालादिके शुद्ध होनेकी कोई अपेक्षा न रख करके सदा-सर्वदा भगवान्‌के गुण-कर्मानुसार गोविन्द-गोवर्धनधारी आदि विविध अमृतमय मधुर कल्याणकारी

* ये तीनों आसुरी सम्पत्तिके भेद हैं। आसुरी सम्पत्तिके प्रधान अवगुण काम, क्रोध, लोभ हैं (१६। २१)। इनमेंसे प्रधानतासे कामपरायण मनुष्य मोहिनीके, क्रोधपरायण राक्षसीके और लोभपरायण आसुरी सम्पत्तिके आश्रित कहे जाते हैं।

नामोंका उच्चस्वरसे उच्चारण करके उनकी उपासना करनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त और भी स्पष्ट शब्दोंमें भगवान्ने कहा है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

(गीता ८। १३)

'जो मनुष्य '**ॐ**' इस एकाक्षर ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ नामीका मनमें चिन्तन करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है वह परम गतिको प्राप्त होता है।'

'**ॐ**' परमात्माका नाम प्रसिद्ध ही है।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॐ इति एतत्॥'

इस श्रुति और '**तस्य वाचकः प्रणवः**' इस योगसूत्रके अनुसार '**ॐ**' परमात्माका नाम है। आगे चलकर भगवान्ने जपयज्ञको तो '**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**' कहकर अपना स्वरूप ही बतला दिया है। जपसे उसी परमात्माके परम पावन नाममन्त्रका ही जप समझना चाहिये; क्योंकि नाम और नामीमें सदा ही अभेद हुआ करता है। अतएव सबको सभी समय भगवन्नामका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। कलियुगमें तो जीवोंके उद्धारके लिये नामके समान दूसरा कोई साधन ही नहीं है।

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥

(श्रीमद्भा० १२। ३। ५१)

'दोषपूर्ण कलियुगमें यह एक महान् गुण है कि केवल श्रीकृष्णनाम-संकीर्तनसे ही जीव आसक्तिसे छूटकर परम पदको प्राप्त कर सकता है।' श्रीचैतन्यमहाप्रभु कहते हैं—

नयने गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

'श्रीकृष्ण! वह सुअवसर कब प्राप्त होगा जब तुम्हारा नाम लेते ही नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी धारा बह निकलेगी और वाणी गद्गद तथा समस्त शरीर रोमांचित हो जायगा।'

गीता और वैराग्य

सम्प्रति कुछ लोग कहने लगे हैं कि 'श्रीमद्भगवद्गीतामें वैराग्यका उपदेश नहीं है। भगवद्गीता तो केवल कर्म ही करनेका उपदेश देती है। वैराग्यकी हमें आवश्यकता नहीं। इस वैराग्यके भावने देशकी उन्नतिमें बड़ी बाधा डाल रखी है। संसारसे वैराग्य हो जानेके कारण मनुष्य सांसारिक उन्नति-अवनतिकी कोई परवा नहीं करता। वैराग्य संसारसे उपरत बनाकर मनुष्यको निकम्मा और आलसी बना देता है। हमें तो जीवनभर कर्म करते रहकर ही परमात्माको प्राप्त करना है। यही गीताकी शिक्षा है।' परंतु वास्तवमें न तो गीताकी शिक्षा ही ऐसी है और न यथार्थ वैराग्य मनुष्यको निकम्मा और आलसी बनाता है। अवश्य ही वैराग्यवान् पुरुष संसारके भोगोंमें अनासक्त होनेके कारण सभी कर्तव्यकर्म धीर, गम्भीर और शान्त भावसे करता है, जिससे उसकी स्थितिको न समझनेवाले लोगोंकी दृष्टिमें वह उत्साहशून्य-सा प्रतीत होता है, परंतु सच पूछा जाय तो सत्कर्म करनेका सच्चा उत्साह वैराग्यवान् पुरुषके हृदयमें ही होता है। सांसारिक भोग-सुखोंकी आसक्तिमें नहीं फँसे हुए पुरुष ही देशकी या विश्वकी यथार्थ सेवा कर सकते हैं। जिनका मन भोगोंकी लालसामें लगा है, जो पद-पदपर भोग-सुखोंका अनुसंधान करते हैं, वे स्वार्थी मनुष्य कभी यथार्थभावसे कर्तव्य-पालन नहीं कर सकते। देशकी उन्नति सच्चे त्यागी व्यक्तिगत स्वार्थशून्य पुरुषोंके द्वारा होती है, ऐसे पुरुष वैराग्यकी भावनाके बिना बन ही नहीं सकते। सच्ची बात तो यह है कि वैराग्यवान् पुरुषोंके अभावसे ही देशकी दुर्दशा हो रही है।

गीतामें तो स्पष्ट शब्दोंमें वैराग्यका उपदेश है। गीताके प्रधान साधन तीन हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। इन तीनोंमें ही वैराग्य पहले आवश्यक है। जबतक मनमें इस लोक या परलोकके भोगोंकी कामना बनी रहती है, तबतक कर्मोंमें निष्कामता नहीं

आ सकती। जो कुछ भी कर्म किया जाय, उसके पूर्ण होने या न होनेमें अथवा उसके अनुकूल या प्रतिकूल फलमें समभाव रहनेका नाम 'समत्व' है। इस समत्वभावरूप योगमें स्थित होकर कर्म करना ही निष्काम कर्मयोग है; क्योंकि यह समत्वबुद्धिरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है, इस प्रकारकी समत्वबुद्धिसे निष्काम कर्म करनेवाले पुरुष जन्म-बन्धनसे छूटकर अनामय परम पदको प्राप्त होते हैं। (गीता २। ४८ से ५१) परंतु बुद्धिकी यह समता वैराग्य बिना नहीं होती, अतएव निष्काम कर्मके लिये सबसे पहले वैराग्यकी परम आवश्यकता है। भगवान् (श्रीमद्भगवद्गीता २। ५२-५३ में) कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

'अर्जुन! जब तेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़से सर्वथा निकल जायगी, तब तुझे सुने हुए और सुननेके विषयोंमें वैराग्य होगा। एवं वैराग्यके द्वारा जब वह अनेक प्रकारकी बातोंके सुननेसे विचलित हुई बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें निश्चल होकर ठहर जायगी, तब तुझे 'समत्वरूप योग' की प्राप्ति होगी।'

धन-कीर्ति, मान-बड़ाई, पद-गौरवकी सैकड़ों प्रकारकी आशा-आकांक्षाकी फाँसियोंमें बँधे हुए विषयासक्त मनुष्य नश्वर जगत्के प्रापंचिक कार्योंमें संलग्न रहकर गीतासे उसका समर्थन करते हुए गीताको वैराग्यकी शिक्षासे शून्य बतलाते हैं, यही आश्चर्य है।

इसी प्रकार ज्ञानके साधनमें भी गीता वैराग्यकी आवश्यकता बतलाती है। '**इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्**' (१३। ८) और '**वैराग्यं समुपाश्रितः**' (१८। ५२) से यह सिद्ध है। अवश्य ही गीता किसी आश्रम-विशेषपर जोर नहीं देती। सब कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेपर ही वैराग्यकी सिद्धि होती है, गीता ऐसा नहीं कहती। परंतु वैराग्य हुए बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती, इस बातको गीता डंकेकी चोट कहती है। छठे अध्यायमें गीता कहती है कि जिनका मन वशमें नहीं है, उनके लिये योगकी प्राप्ति यानी परमात्माका मिलन अत्यन्त कठिन है और मन वशमें होता है अभ्यास तथा वैराग्यसे। '**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।**' इस लोक और परलोकके भोगोंमें वैराग्य हुए बिना उनसे हटकर निश्चलरूपसे मन परमात्मामें नहीं लगेगा और परमात्मामें लगे बिना परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी।

भक्तिके साधनमें तो भोगोंका त्याग सबसे पहले आवश्यक है, वहाँ तो सब ओरसे मन हटाकर सबकी आशा छोड़कर, '**मामेकं शरणं व्रज**' के लक्ष्यपर चलना है, अपना सारा मन प्रियतमके प्रति अर्पण कर देना है, समूचा हृदय-मन्दिर प्यारेके लिये खाली करके उसमें उसकी प्रतिष्ठा करनी है और वह भी ऐसी कि रोम-रोममें उसे रमा लेना है। गोपियाँ कहती हैं—

नाहिन रह्यो मन महँ ठौर।
नंदनंदन अछत उर बिच आनिये कत और॥

'कहीं जगह नहीं रही, सब ओर मनमोहन समा रहा है।' जब ज्ञान-विज्ञानको ही स्थान नहीं है तब भोगोंकी तो बात ही कौन-सी है?—प्रेमी भक्त तो प्यारेके लिये सिर हाथमें लिये फिरता है—

'**जो सिर साटे हरि मिले, तो तेहि लीजै दौर**'।

भोगोंकी तो वहाँ स्मृति ही नहीं है—

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

इसीसे गीतामें भगवान् कहते हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

(१२। १७)

'जो भोगोंकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होता, उनके नाशसे द्वेष नहीं करता, नाश हो जानेपर शोक नहीं करता और पुनः प्राप्तिके लिये कामना नहीं करता एवं जो शुभाशुभ किसी भी कर्मका फल नहीं चाहता वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे बड़ा प्यारा है।' क्यों न हो, यह तो वैराग्यका मूर्तिमान् स्वरूप है। '***सब तज हरि भज***' का ज्वलन्त उदाहरण है। अतएव गीता वैराग्यकी शिक्षासे पूर्ण है। जो लोग वैराग्यकी आवश्यकता नहीं समझते, बिना ही वैराग्यके गीताका सार अर्थ समझना चाहते हैं और भोगोंमें पूरी आसक्ति बनाये रखनेकी इच्छा रखते हुए भी भगवान्में प्रेम होना चाहते हैं, वे न तो गीताका अर्थ ही समझ सकते हैं और न उन्हें भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति ही होती है; क्योंकि भोग और भगवान् दोनोंका प्रेम एक साथ नहीं रह सकता। हाँ, भोग

उनकी पूजाकी सामग्रीके रूपमें उन्हें अर्पित होकर रह सकते हैं।

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकै, रबि रजनी इक ठाम॥

गीतोक्त समग्र ब्रह्म या पुरुषोत्तम

गीताका 'समग्र ब्रह्म' या 'पुरुषोत्तम' कौन है, इसका यथार्थ तत्त्व तो गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण ही जानते हैं तथापि हमारी दृष्टिमें इसका सीधा-सा उत्तर यह है कि श्रीकृष्ण ही वह 'समग्र ब्रह्म' या 'पुरुषोत्तम' हैं; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे ही अपनेको 'समग्र' (गीता ७। १)[1] और 'पुरुषोत्तम' (गीता १५।१८)[2] घोषित किया है। परंतु अब प्रश्न यह रह जाता है, उन श्रीकृष्णका स्वरूप क्या है? ब्रह्मवादी महात्मा कहते हैं कि श्रीकृष्णने ब्रह्मको लक्ष्य करके ही अपनेको पुरुषोत्तम बतलाया है। पर द्वैतवादी महापुरुष कहते हैं कि अर्जुनके सामने रथपर विराजित साकारविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण केवल अपने लिये ही ऐसा कहते हैं। अब गीताके द्वारा ही हमें यह देखना है कि भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप गीतामें क्या है। श्रीकृष्णके स्वरूपका विचार ही 'समग्र ब्रह्म और पुरुषोत्तम' का विचार है और श्रीकृष्णके स्वरूपकी उपलब्धि ही समग्र ब्रह्म और पुरुषोत्तमकी प्राप्ति है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीतामें भगवान्ने '**अहम्, मम, माम्, मे, मयि**' आदि पदोंसे सर्वत्र अपनेको ही परमतत्त्व बतलाया है और अन्तमें खुले शब्दोंमें यह आज्ञा दी है कि 'अर्जुन! तू सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मेरी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक न कर।' (गीता १८।६६)[3] परंतु विचार यह करना है कि अर्जुनके सामने मनुष्यरूपमें भासनेवाले दिव्यमंगलविग्रह भगवान् उतने ही मानवरूपमें अपनी शरण ग्रहण करनेको कहते हैं या अपनेको कुछ और भी बतलाते हैं। यदि यह मानें कि उतने ही मानवरूपके लिये भगवान्का कथन है तब तो भगवान्के इस कथनका क्या तात्पर्य है कि 'मानुषी तनु' धारण किये हुए मेरे भूत-महेश्वररूपके परम भावको मूढ लोग नहीं जानते। (गीता ९।११)[4] इससे यह सिद्ध होता है कि उनका भूत-महेश्वररूप परम भाव इस योगमायासमावृत[5] 'मानुषी तनु' से ही प्रकट नहीं है; वह पृथक् है और उसे देखनेके लिये 'मानुषी तनु' से परे दृष्टिको ले जाना पड़ेगा। साथ ही इस मानुषी तनुको तो भगवान्ने अपनी विभूति बतलाया है—'**वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि**' (१०।३७) और यदि यह मान लें कि ब्रह्मके लिये ही भगवान्का यह कथन है तो 'मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ' (गीता १४। २७)[6] इस कथनकी व्यर्थता सिद्ध होती है, अतएव यह देखना है कि भगवान् श्रीकृष्ण वास्तवमें क्या हैं? आनन्दकी बात है कि महान् भक्त अर्जुनकी कृपासे हमें भगवान्का वह

१-मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन् मदाश्रयः। असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

श्रीभगवान् बोले—पार्थ! अनन्यप्रेमसे मुझमें आसक्तचित्त तथा अनन्य भावसे मेरे परायण होकर योगमें लगा हुआ तू जिस प्रकारसे सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त, सबके आत्मरूप मुझको संशयरहित जानेगा, उसको सुन।

२-यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग—क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ।

३-सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

४-अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं।

५-'योगमाया' भगवान्की स्वरूपाशक्ति है, इसीको गीतामें 'आत्ममाया' भी कहा है।

६-ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ।

रहस्य उन्हींके श्रीमुखकी दिव्य वाणीसे उपलब्ध हो जाता है। अर्जुन-सा बछड़ा न होता तो कभी हमें यह भगवत्-रहस्यरूपी गीतामृत न मिलता। भगवान् जहाँ भी कुछ रहस्य बतलाना चाहते हैं, वहीं अर्जुनके प्रेमको कारण बतलाते हैं। अब हमें यह देखना है, वह भगवत्-रहस्य क्या है, जिससे हम भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको जान सकें। इसके लिये सरसरी निगाहसे हमें गीताके प्रारम्भसे ही विचार करना है।

पहले अध्यायमें भगवान् केवल सारथिरूपमें अपना दर्शन देते हैं। अर्जुनके आज्ञानुसार वे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें ले जाकर खड़ा कर देते हैं। अर्जुन सेनाको देखकर मोहमें डूब जाते हैं और धनुष-बाण रथके एक किनारे रखकर बैठ जाते हैं। भगवान् कुछ भी नहीं बोलते। दूसरे अध्यायके आरम्भमें भगवान् अर्जुनको एक बुद्धिमान् प्रतिभाशाली महापुरुषके रूपमें उत्साह दिलाते हैं और समझाते हैं। तदनन्तर अर्जुनके द्वारा यह कहनेपर कि 'मैं आपके शरण हूँ, आपका शिष्य हूँ, मुझे उपदेश दीजिये (गीता २। ७)।'* भगवान् पहले सांख्ययोग कहते हैं, फिर क्षात्रधर्मका महत्त्व बतलाकर निष्काम कर्मयोगका वर्णन करते हैं और अन्तमें स्थितप्रज्ञ पुरुषके लक्षण कहते हैं। इस सारे अध्यायमें एक जगह भगवान् 'मत्पर' शब्दका प्रयोग कर इन्द्रियसंयमपूर्वक युक्तचित्तसे अपने परायण होनेकी आज्ञा देते हैं। यहाँ अपने स्वरूपमहिमाका यह साधारण संकेत है। तीसरे अध्यायमें वे यज्ञ और कर्मकी व्याख्या करते हुए अपनेको लोकसंग्रही आदर्श पुरुष या लोकशिक्षक प्रधान नेताके रूपमें प्रकट करते हैं और अपने लिये कुछ भी प्राप्तव्य या कोई भी कर्तव्य न बतलाकर अपने ज्ञानस्वरूप या नित्य पूर्ण प्रयोजनरहित ईश्वरस्वरूपको व्यक्त करते हैं, परंतु खुलकर कुछ भी नहीं कहते। चौथे अध्यायके आरम्भमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं ही अविनाशी योगका सर्वप्रथम उपदेशक हूँ, मैंने ही कल्पके आदिमें विवस्वान् या सूर्यको इसका उपदेश किया था। मेरा ही बतलाया हुआ यह सनातन योग परम्पराक्रमसे राजर्षियोंने जाना था, परंतु बहुत कालसे वह योग लुप्तप्राय हो गया था (गीता ४। १-२)।† इससे आपने अपने सनातन जगद्गुरु-पदको व्यक्त किया और अर्जुनको अपना भक्त एवं प्रिय सखा समझकर उस पुरातन योगके व्यक्त करनेकी बात करते हुए अवताररहस्य बतलाया। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण कुछ खुले। कुछ रहस्य बतलाया। कहा कि 'मैं अविनाशी, अजन्मा और सबका ईश्वर रहते हुए ही अपनी योगमायाके निमित्तसे अवतार धारण करता हूँ। मेरे जन्म-कर्म दिव्य हैं (गीता ४। ६—९)।'‡ अन्य जीवोंकी भाँति ही मेरे जन्म-कर्मोंको देखनेवाला मुझको नहीं जान सकता। मेरे जन्म-कर्मको तत्त्वतः जानना होगा। फिर कर्म-रहस्य, यज्ञ और ज्ञानकी महिमा आपने बतलायी। पाँचवें अध्यायमें

---

* कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः। यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

इसलिये कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।

†इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः। स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥

श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा। परंतप अर्जुन! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना, किंतु उसके बाद वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया था।

‡- अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ। भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ अर्थात् साकार-रूपसे प्रकट होता हूँ। साधुपुरुषोंका उद्धार करनेके लिये पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ। अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।

कर्मयोग और संन्यासका निर्णय, सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगी मुक्त पुरुषोंके लक्षण आदि बतलाकर अन्तमें अपने रहस्यके पर्देको जरा हटाकर कहा कि 'सारे यज्ञ और तपोंका भोक्ता मैं ही हूँ, कोई किसी देवताके नामसे यज्ञ-तप करे, सब मुझको ही पहुँचता है। मैं समस्त लोकोंका महान् ईश्वर हूँ और ऐसा होते हुए ही मैं जीवमात्रका सुहृद् हूँ। मेरे इस स्वरूपको जान लेनेसे ही शान्ति प्राप्त हो जाती है।' (गीता ५। २९)* यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने यह दिखलाया कि तुम मुझे अपना सखा समझते हो फिर भी चिन्ता क्यों करते हो? समस्त कर्मोंका नियन्ता, सबका महेश्वर जिसका सुहृद्-सखा हो, यह बात जो जान ले वह दुःख, शोक और संतापको कैसे प्राप्त हो सकता है? वह आसक्ति, अहंकारका शिकार कैसे हो सकता है? फिर छठे अध्यायमें आपने योगके साधन और स्वरूपकी भलीभाँति व्याख्या करके, सिद्ध योगियोंके लक्षण बतलाकर कहा कि 'जो मुझको सबमें और सबको मुझमें देखता है, जो सब भूतोंमें स्थित मुझ एकको भजता है वह सब कुछ करता हुआ मुझमें ही बर्तता है।' (गीता ६। ३०-३१†) यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने अपने '**अहम्**' का तात्त्विक स्वरूप दिखलाया और अन्तमें कहा कि तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी सबकी अपेक्षा इस प्रकार मुझको जाननेवाला योगी श्रेष्ठ है और योगियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ वह श्रद्धावान् योगी है जो अन्तरात्मासे मुझको ही भजता है (गीता ६। ४६-४७‡) यहाँपर भगवान् श्रीकृष्णने अपने भजनीय स्वरूपका निर्देश किया। यहाँतक भगवान्ने यह बतलाया कि 'मैं ही लोकशिक्षक आदर्श पुरुष हूँ, मैं ही आदि उपदेष्टा जगद्गुरु हूँ, मैं ही धर्म-संस्थापक, दिव्य अवतारी और दिव्य कर्मी हूँ। मैं ही सब यज्ञ-तपोंका भोक्ता हूँ, मैं ही सबका परमेश्वर हूँ; जो मुझे अपना सुहृद् समझ लेता है वह उसी क्षण परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। मैं ही सबमें हूँ और सब मेरेमें ही हैं। मैं ही ज्ञानी, तपस्वी, कर्मी सबका आराध्य हूँ।' यद्यपि इस प्रसंगमें संकेतसे कई बार भगवान्ने अपना रहस्य बतलाया, पर इसके आगे अब स्पष्टरूपसे अपना रहस्य खोलकर बतलाने लगे। सातवें अध्यायके आरम्भमें ही आप कहते हैं—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

(गीता ७। १-२)

'अर्जुन! मुझमें मनको आसक्त करके और मेरे शरणागत होकर योगयुक्त होनेपर मुझे 'समग्र' रूपमें संशयरहित होकर किस प्रकार जाना जाता है, सो सुनो! मैं तुम्हें विज्ञानसहित उस ज्ञानको (रहस्यसहित मेरे तत्त्वको) पूरे तौरसे खोलकर कहता हूँ। इस रहस्यको जान लेनेपर फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा।' 'समग्र' को जाननेपर शेष रहेगा भी क्या? यहाँ भगवान् यह भी कह देते हैं कि हजारों-लाखोंमेंसे कोई विरला ही मुझे जाननेके लिये प्रयत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवालोंमेंसे भी कोई विरला ही मुझे समग्ररूपसे तत्त्वतः जानता है (गीता ७। ३)।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण जीव और जगत्, चेतन और जड दोनोंको अपनी प्रकृति बतलाते हुए कहते हैं—

---

* भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्। सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।

† यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है।

‡ तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्र ज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है; इससे अर्जुन! तू योगी हो। सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(गीता ७। ४-५)

'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यह आठ प्रकारसे विभक्त बहिर्जगत् और अन्तर्जगत्के समस्त उपादान मेरी ही प्रकृति हैं। यह अपरा प्रकृति है। इससे विलक्षण जीव या चैतन्यरूप मेरी दूसरी परा प्रकृति है, जिससे यह सारा जगत् विधृत है।'

वस्तुतः इस द्विविध प्रकृतिके द्वारा ही भगवान्ने अपनेको विश्वरूपमें प्रकट किया है। प्रकृति प्रकृतिमान्से भिन्न नहीं है, इसलिये यह जो कुछ है सब प्रकृतिमान् भगवान्का ही स्वरूप है। भगवान् ही इस रूपमें प्रकट हो रहे हैं, इसीसे आगे चलकर वे कहते हैं कि मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जैसे सूतकी मालामें सूतकी मणियाँ गुँथी होती हैं, वैसे ही मेरी प्रकृतिसे बना हुआ सारा जगत् मेरी प्रकृतिके द्वारा मुझमें गुँथा है। मैं ही जलमें रस हूँ, चन्द्र और सूर्यमें प्रभा हूँ, समस्त वेदोंमें प्रणव हूँ, आकाशमें शब्द हूँ, पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ। पृथ्वीमें पवित्र गन्ध, अग्निमें तेज, जीवोंमें जीवन, तपस्वियोंमें तप, बुद्धिमानोंमें बुद्धि, तेजस्वियोंमें तेज, बलवानोंमें कामरागविवर्जित बल, मैथुनोत्पन्न प्राणियोंमें धर्माविरुद्ध काम हूँ (गीता ७। ७—११)। फिर अपने भक्तोंकी श्रेणी और महिमा बतलाकर कहा कि जो दूसरे देवताओंको पूजते हैं, उनकी उन देवताओंके रूपोंमें मैं ही श्रद्धा करवा देता हूँ, देवताओंकी पूजा भी मेरी ही पूजा है। देवताओंके द्वारा मिलनेवाला फल भी मेरा ही विधान किया हुआ होता है। मूढ लोग योगमायासे समावृत मुझको पहचानते नहीं (गीता ७। २५)। यहाँ भगवान्ने अपने रहस्यका कुछ अंश भलीभाँति खोल दिया। इसके बाद सातवें अध्यायके अन्तमें आप कहते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

(गीता ७। २९-३०)

'जो पुरुष मेरे शरण होकर जरा-मरणसे सर्वथा मुक्त होनेके लिये यत्न (मेरा भजन) करते हैं, वे उस ब्रह्म, सम्पूर्ण अध्यात्म, निखिल कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मुझको सम्यक्-रूपसे जानते हैं, वे ही युक्तचित्त पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही जानते (पाते) हैं।' वे जानते हैं कि सम्पूर्ण विभिन्न भाव एकमात्र उन्हीं पूर्णतम परात्पर भगवान्के ही प्रकाश हैं। इसीसे तद्भाव-भावित होनेके कारण उन्हें अन्तमें भगवान्की ही प्राप्ति होती है।

आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुन उत्सुकताके साथ भगवान्से ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञका स्वरूप पूछते हैं एवं प्रयाणकालमें भगवान्को जाननेका—पानेका साधन जानना चाहते हैं। इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ३—५)

जिस समग्र रूपको बतलानेकी भगवान्ने सातवें अध्यायके प्रारम्भमें प्रतिज्ञा की थी; जिसका उल्लेख अध्यायके अन्तिम श्लोकमें कर दिया था, अब अर्जुनके पूछनेपर उसीका स्पष्टीकरण करते हैं। पूर्णतम भगवान्के अनेकों भाव हैं और भगवान्का भाव होनेके कारण स्वरूपतः उनमेंसे कोई भी अपूर्ण या न्यूनाधिक नहीं है तथापि उनके कार्य और बाह्य रूपके प्रकाशमें भेद होनेके कारण न्यूनाधिकता प्रतीत होती है। उनमेंसे किसी एक भावको पूजनेवाला भी भगवान्को ही पूजता है, परंतु विधिपूर्वक नहीं। समग्रको जानकर ही किसी एक भाव या रूपको पूजना यथार्थ विधिवत् भगवत्पूजन है। ऐसा न होनेके कारण ही अनेकों मतवाद हो रहे हैं। ब्रह्मवादी कहते हैं कि 'समस्त कारणोंके परमकारण, उपाधिरहित, नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभाव, सच्चिदानन्द-स्वरूप, बोधानन्दघन, ब्रह्म ही एकमात्र परम सत्-तत्त्व है और सब मिथ्या है, उस ब्रह्मके स्वरूपको जानना ही पुरुषार्थ है।' अध्यात्मवादी मानते हैं कि 'आत्मानात्मविचारके द्वारा उपलब्ध स्थूल-सूक्ष्म-कारण

शरीरविहीन अक्षर आत्मा ही एकमात्र परम तत्त्व है। इस आत्माके अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर या ब्रह्म नहीं है।' कर्मवादियोंका कहना है कि 'कर्म ही सृष्टिका मूल कारण-तत्त्व है, कर्मके द्वारा ही सबका नियन्त्रण होता है, कर्मसे ही जीवनकी सार्थकता और अभीष्टकी प्राप्ति होती है। अतएव एकमात्र कर्म ही सेवनीय है।' आधिभौतिक लोगोंका मत है कि 'चेतन भी जडका ही एक धर्म है, जड ही वस्तुतत्त्व है, जडको छोड़कर चित्सत्ताका अन्य कोई प्रमाण नहीं है, अतएव जड-जगत्की उन्नति करना, शरीर और शरीरसम्बन्धी पदार्थोंकी उन्नति करना और आरामके लिये धन-दौलतको इकट्ठा करना ही मनुष्यका कर्तव्य है।' आधिदैविक मानते हैं कि 'देवता ही सब कुछ करते हैं, वे ही जगत्के तमाम विभिन्न भोगोंके नियन्ता और अधिष्ठाता हैं; वे ही मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियोंके संचालक, भर्ता, पोषक और भोगविधाता हैं, यज्ञ-यागादि उपासनाके द्वारा उन्हींको संतुष्ट करनेसे कार्यसिद्धि हो सकती है। उन देवताओंमें भी सबसे प्रधान परमदेव समग्र ब्रह्माण्डके अभिमानी देवता या सबके स्वामी एक ही हैं, जिनको विभिन्न सम्प्रदायोंके लोग हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा, शिव, शक्ति, नारायण, सूर्य आदि विभिन्न नामोंसे पुकारते हैं।' यह सूक्ष्मदर्शी आधिदैविक पुरुषोंकी मान्यता है। याज्ञिक लोग यज्ञको ही प्रधान धर्म मानते हैं और उनके अधिष्ठातृ-देवताओंकी आराधना भाँति-भाँतिके यज्ञोंद्वारा करते हैं। इस प्रकार अनेकों मत-मतान्तर प्रचलित हैं और अपनी-अपनी दृष्टिसे सभी ठीक हैं। तात्त्विक दृष्टिसे भी सब मत अपनी-अपनी पद्धति और भावसे एक ही भगवान्की पूजा करनेवाले होनेसे भगवान्के ही उपासक हैं, परंतु 'समग्र' को न जाननेके कारण उनकी पूजा पूर्णांग नहीं होती। भगवान् श्रीकृष्ण अपने 'समग्र स्वरूपकी व्याख्या करनेके अभिप्रायसे यहाँ इन सबका समन्वय करते हुए सबको अपनी ही अभिव्यक्ति बतलाते हैं। इसीसे वे उपर्युक्त गीताके श्लोक (८। ३—५) में कहते हैं—

परम अक्षर 'ब्रह्म' है; मेरी अपरा प्रकृतिके साथ संलग्न होनेवाला जो निर्विकार परा प्रकृतिरूप मेरा (भगवान्का) अपना भाव (अंशरूप) है, वही जीवात्मारूपसे जडके अंदर अनुस्यूत ब्रह्म ही 'अध्यात्म' है। अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न समस्त भूतरूप जो मेरा क्षरभाव है वही 'अधिभूत' है। भूतोंका उद्भव और अभ्युदय जिस विसर्ग—त्याग अथवा यज्ञसे होता है, जो सृष्टि-स्थितिका आधार है, वह विसर्ग ही 'कर्म' है। यह भगवान्का ही एक विशेष विकास है। **'यज्ञो वै विष्णुः'**। पुरुषसूक्तोक्त विराट् ब्रह्माण्डाभिमानी हिरण्यमय पुरुष ही 'अधिदैव' है। इसीको सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति या ब्रह्मा कहते हैं। प्रत्येक देवता इसका एक-एक अंग है, चेतनाचेतनात्मक सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका यही प्राणपुरुष है। भगवान्के इस पुरुषभावका विकास ही 'अधिदैव' है। भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता हैं और प्रभु हैं। अतएव वे कहते हैं कि मैं ही 'अधियज्ञ' हूँ और इस शरीरमें ही अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ। अन्तकालमें जो पुरुष इस प्रकारके मुझ 'समग्र' को स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है वह निःसंदेह मेरे ही भावको—मेरे ही साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है।

यहाँ भगवान्ने प्रधान-प्रधान भावोंका समन्वय करके अपने स्वरूपका निर्देश किया। इसके बाद अपने महत्त्वका दिग्दर्शन कराते हुए भगवान्ने यह बतलाया कि मेरे भावविशेषकी अभिव्यक्तिरूप जो कुछ भी और पदार्थ हैं, वे सब कालाधीन हैं, उन सबकी प्राप्ति पुनरावर्तिनी है। ब्रह्मलोकतकके सभी लोक पुनरावर्तनशील हैं। एकमात्र मैं ही कालातीत हूँ, जो मुझको प्राप्त हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। **'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।'** हाँ, अव्यक्त अक्षर ब्रह्म कालाधीन नहीं है, वह भगवान्का परम भाव है, उसीको परम धाम कहा है, यह परम धाम अव्यक्तरूप मूलप्रकृतिसे भी विलक्षण सनातन अव्यक्त भाव है, यह किसी भी हालतमें सबके नष्ट हो जानेपर भी नष्ट नहीं होता, अतएव इसको प्राप्त होकर भी जीव वापस नहीं आता। परंतु यही 'समग्र' नहीं है, यह समग्र भगवान्का एक सनातन अव्यक्त परम भाव है। आठवें अध्यायके अन्तमें श्रीभगवान् छठे अध्यायके अन्तिम श्लोककी भाँति ही ऐसे भगवान्के उपासक योगीकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

(गीता ८। २८)

इस रहस्यको तत्त्वतः जानकर वह योगी वेद, यज्ञ, तप और दानसे जो पुण्यफल होते हैं, जो गतियाँ प्राप्त होती हैं, उन सबको लाँघकर, उन सबसे आगे बढ़कर सर्वोच्च आद्य परम स्थानको प्राप्त होता है। यहाँ अपने स्वरूपका और उसके जाननेवाले योगीका महत्त्व बतलाकर नवम अध्यायके आरम्भमें गुह्यतम रहस्यको ज्ञान-विज्ञानसहित बतलानेकी प्रतिज्ञा करते हैं और इसे राजविद्या-राजगुह्य, परमपवित्र, प्रत्यक्ष फलरूप, परमधर्म, सुगम और अविनाशी बतलाते हैं (गीता ९। १-२)। फिर कहते हैं—समस्त जगत्में मैं ही अव्यक्त मूर्तिके रूपमें परिपूर्ण हूँ, सब भूत मुझमें हैं, मैं उनमें नहीं हूँ, वे भी मुझमें नहीं हैं, यह मेरे ऐश्वरयोगका प्रभाव है कि सब प्राणियोंका धारण-पोषण करनेवाला और सबका उद्भव करनेवाला भी मैं उनमें नहीं हूँ (गीता ९। ४-५)। इसका तात्पर्य यह है कि जगत्में साकार मूर्तिसे व्याप्ति नहीं हो सकती। उसमें तो अव्यक्त मूर्तिसे ही व्याप्ति होती है, परंतु वह अव्यक्त मूर्ति, भगवान् कहते हैं कि मेरी ही है, मुझसे भिन्न अव्यक्त कोई दूसरा नहीं है। यह बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् मेरी ही अष्टधा अपरा प्रकृति है और इस प्रकृतिका निवासस्थान—अधिष्ठान स्वामी मैं हूँ, अतएव ये सब मुझमें हैं, मैं इनमें नहीं हूँ; परंतु प्रकृति मुझ प्रकृतिमान्से अभिन्न है, इसलिये ये सब भी मुझमें नहीं हैं। वस्तुतः यह सारा जड-चेतन विश्वभुवन मेरी ही अभिव्यक्ति है और स्वरूपतः मुझसे अभिन्न है। यह मेरी लीला है, ऐश्वरयोग है। कल्पके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिमें चले जाते हैं और कल्पके आदिमें मैं पुनः अपनी प्रकृतिसे उन्हें प्रकट कर देता हूँ। इतना होते हुए भी मैं नित्य अपनी महिमामें, अपने स्वरूपमें स्थित हूँ, मैं उदासीनवत् आसीन किसी भी कर्मसे नहीं बँधता (गीता ९। ७९)। तदनन्तर अपनी महिमा और सकाम देवोपासकोंकी पुनरावर्तिनी स्वर्गगतिका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो दूसरे देवताओंको पूजते हैं वे भी मुझको ही पूजते हैं, परंतु 'समग्र' को जानकर नहीं पूजते, इसलिये उनकी पूजा अज्ञानकृत है। मैं ही सबका स्वामी, भोक्ता और सर्वरूप हूँ। इस रहस्यको तत्त्वसे न जाननेके कारण वे लोग पुनरावर्तिनी गतिको पाते हैं, यानी प्राप्त की हुई स्थितिसे गिर जाते हैं (गीता ९। २३-२४)। फिर अपने भजनकी—शरणागतिकी महिमा बतलाकर अन्तमें आप खुले शब्दोंमें परम रहस्यकी घोषणा करते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९। ३४)

'इस प्रकार मुझ समग्रको जानकर तुम मुझमें ही मन लगाओ, मेरे ही भक्त बनो, मेरी ही पूजा करो, मुझको ही नमस्कार करो; इस तरह आत्माको लगाकर मेरे परायण—मेरे अनन्यशरण होनेसे तुम मुझको ही प्राप्त होओगे।'

यहाँ भगवान्के द्वारा गुह्यतम रहस्य बतलाया गया; परंतु अर्जुन कुछ नहीं बोले। तब दशम अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने कहा कि अच्छी बात है, मैं अब फिर **(भूयः)** तुमसे तुम्हारे हितार्थ अपना परम रहस्ययुक्त सिद्धान्त सुनाता हूँ; क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो। देखो, मेरे प्रभावको देवता-महर्षि कोई भी नहीं जानते; क्योंकि मैं ही सबका आदि हूँ, जो मुझको अज, अनादि और लोकमहेश्वर तत्त्वतः जान लेते हैं वे असंमूढ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं। (गीता १०। १—३) इसके बाद अर्जुनके पूछनेपर भगवान्ने अपनी प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन किया। इस विभूतिवर्णनमें भगवान्ने विष्णु, शंकर, सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण, कुबेर, अग्नि, वायु प्रभृति समस्त देवताओंको भी अपनी विभूति ही बतलाया है। यह कहा कि 'मैं ही सबका मूल हूँ, अधिक क्या समस्त जगत् मेरे एक अंशमात्रमें स्थित है।' (गीता १०। ४२) इसके बाद एकादश अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनको दिव्य दृष्टि देकर अपना महामहिम विराट् रूप प्रत्यक्ष दिखलाया, अपनेको काल बतलाया और अन्तमें अपने साकार दिव्य विग्रहकी महिमा गाकर अनन्य भक्तिके द्वारा उसे तत्त्वतः जानने, देखने और प्राप्त करनेकी बात कही। बारहवें अध्यायमें सगुण साकाररूपमें अवतीर्ण दिव्यमूर्ति अपने श्रीकृष्णरूपकी परम श्रद्धापूर्वक उपासना करनेवाले योगियोंको श्रेष्ठ योगी बतलाया और अन्तमें भक्त महात्माओंके लक्षणोंका प्रतिपादन किया। यहाँ यह ध्यान रखनेकी बात है कि नवमसे लेकर द्वादश अध्यायतकके वर्णनमें बहुत थोड़े श्लोक ऐसे हैं जिनमें **'अहम्' 'मम' 'माम्' 'मे' 'मयि'** आदि **अस्मद्** शब्दवाचक पदोंका प्रयोग न हुआ हो।

तेरहवें अध्यायमें प्रकृति-पुरुषका विवेचन है। सातवें अध्यायकी द्विविधा अपरा और परा प्रकृतिका ही यहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके नामसे वर्णन है। इन्हींको आगे चलकर सूक्ष्म और व्यापकरूपमें 'प्रकृति' और 'पुरुष' कहा है। इस प्रसंगमें सांख्यदर्शनके दोनों मूल तत्त्व 'पुरुष और प्रकृति' को भगवान्‌ने स्वीकार किया और खुले शब्दोंमें यह मान लिया कि समस्त जगत्‌के मूलमें प्रकृति-पुरुष-तत्त्व ही हैं; परंतु इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इस बातको स्वीकार नहीं किया। न यही माना कि ये दोनों तत्त्व मूलतः पूर्णरूपसे पृथक् हैं और इनके अविवेककृत संयोगके परिणामस्वरूप अनन्त विचित्र गुण-क्रियादियुक्त व्यक्त जगत्‌की सृष्टि हुई है। सांख्यदर्शनका सिद्धान्त है कि पुरुष निर्विकार, निष्क्रिय, गुणातीत और चित्स्वरूप है। प्रकृति विकारशीला, परिणामिनी, सक्रिय और त्रिगुणमयी है। पुरुष और प्रकृति सर्वथा विपरीत धर्मवाली दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। इनके संयोगसे जगत्‌की उत्पत्ति हुई है। इनमें गुणात्मिका प्रकृति मूल उपादानकारण है। उसीके परिणामसे जगत्‌के समस्त पदार्थोंकी अभिव्यक्ति हुई है। परंतु पुरुषके संयोग बिना प्रकृतिका परिणाम नहीं होता और परिणाम हुए बिना जगत्‌का सर्जन नहीं होता। व्यक्त जगत्‌में प्रकृतिका धर्म पुरुषपर आरोपित होता है और पुरुषका धर्म प्रकृतिपर आरोपित होता है, मूलतः दोनों पूर्णरूपेण पृथक् हैं। इनका संयोग अविवेकमूलक है और अनादिकालसे है। तत्त्वविचारके द्वारा इनके पार्थक्यका विवेक होनेपर संयोग टूट जाता है; परंतु उससे जगत् नहीं मिट जाता। जिस पुरुष-विशेषकी बुद्धिमें इस पार्थक्यकी यथार्थ अनुभूति होती है, उसके लिये जगत् नहीं रहता, वह पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्धरहित होनेके कारण अपने नित्य शुद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाता है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।

(योग० २। २२)

इसीलिये पुरुष अनेक हैं। यही सांख्यका सिद्धान्त है। भगवान् कहते हैं, पुरुष-प्रकृतिसे संसारकी उत्पत्ति हुई है, यह ठीक है; परंतु यही परम तत्त्व नहीं है, इन दोनोंसे परे एक मूल तत्त्व और भी है और ये दोनों उसी तत्त्वके द्विविध विकास हैं। वह मूल तत्त्व ही प्रकृति और पुरुषके रूपमें अपनेको अनेकों प्रकारसे व्यक्त करता है। पुरुष और प्रकृति दोनों ही उसकी (परा और अपरा) द्विविध प्रकृति हैं। नित्य परिवर्तनशील असंख्य पदार्थों और शक्तियोंसे तथा उनके संयोग-वियोग एवं प्रकाश-तिरोधानसे युक्त यह प्राकृत जगत् उसीकी (उन भगवान्‌की ही) अभिव्यक्ति है। जड अपरा प्रकृतिमें भगवान्‌का अक्षर भाव चित्स्वभाव पूर्णतः आवृत है और परा चेतन प्रकृतिमें वह निर्विकार अक्षर, असंग और प्रकाशशील चित्स्वभाव पूर्णतया सुरक्षित है और इसी भगवदंशरूप चेतनकी सत्ता और शक्तिद्वारा यह जगत् विधृत है। भगवान् इस बातको बतलाते हैं कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका तत्त्वज्ञान भी मुझ परमेश्वरमें अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति करनेसे होता है। (गीता १३। १०) देहमें स्थित पुरुष उस महेश्वरका ही प्रकाश है, वही परपुरुष उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, परमात्मा और महेश्वर कहलाता है।

चौदहवें अध्यायमें फिर परम ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा करके भगवान् यही बतलाते हैं कि 'मैं ही बीजप्रद पिता हूँ, सब भूतोंकी उत्पत्ति मुझसे ही होती है। गुणोंके स्वरूपको जानकर पुरुष गुणातीत होता है। परंतु उसका साधन भी मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति ही है। क्योंकि अविनाशी सनातन ब्रह्म, अमृत, सनातन धर्म और अखण्ड एकरस सुखकी प्रतिष्ठा मैं ही हूँ। ये सब मेरी ही अभिव्यक्तियाँ हैं। मैं ही इन सब स्वरूपोंमें प्रकट हूँ।' पंद्रहवें अध्यायमें संसारवृक्ष और उसके रहस्यका वर्णन करनेके बाद कहते हैं—'जो सूर्यगत तेज जगत्‌को प्रकाशित करता है, अग्नि और चन्द्रमामें जो तेज है वह सब मेरा ही है। मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी ओजशक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूँ, मैं ही रसात्मक सोम होकर समस्त ओषधि-समूहको पुष्ट करता हूँ, मैं ही प्राणिमात्रके शरीरमें स्थित वैश्वानर अग्नि बनकर प्राणापानयुक्त हो उनके खाये हुए चतुर्विध अन्नको पचाता हूँ। अधिक क्या, मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें संनिविष्ट हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है। मैं ही समस्त वेदोंद्वारा जाननेयोग्य हूँ, मैं ही वेदान्तका कर्ता हूँ और मैं ही वेदोंको जाननेवाला भी हूँ। इस संसारमें क्षर और अक्षर ये दो प्रकारके पुरुष हैं, जिनमें समस्त अचेतन भूत-प्राणियोंके शरीररूप जगत् क्षर और कूटस्थ जीवात्मा अक्षर है। इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अविनाशी, परमात्मा, महेश्वर दूसरा ही है जो तीनों

लोकोंमें प्रवेश करके सबका भरण-पोषण करता है वह पुरुषोत्तम मैं हूँ, क्योंकि मैं क्षरसे तो अतीत हूँ और अक्षरसे उत्तम हूँ, इसलिये लोक और वेद मुझको ही 'पुरुषोत्तम' कहते हैं।' (गीता १५। १२—१८)

सातवें अध्यायमें कथित अपरा प्रकृतिको ही यहाँ क्षर पुरुष बतलाया गया है और परा प्रकृति जीवात्माको ही अक्षर पुरुष। 'पुरुषोत्तम' वही समग्र ब्रह्म है जिसका यह द्विविध प्रकाश है। भगवान्‌का यह 'समग्र' रूप ही गीतोक्त पुरुषोत्तमरूप है। इस 'पुरुषोत्तम' स्वरूपका ही मूर्तिमान् नित्य सत्य मायातीत सौन्दर्य-माधुर्यसमुद्र परम दिव्याति-दिव्य मंगलविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण हैं। भगवान् कहते हैं—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

'अर्जुन! जो पुरुष इस प्रकार तत्त्वतः मुझे 'पुरुषोत्तम' जान लेता है वही असंमूढ है और वही सब कुछ जान गया है। ऐसा ज्ञानी पुरुष सर्वभावसे मुझ (श्रीकृष्ण)-को ही भजता है।' यही गुह्यतम शास्त्र है, इसको जानकर बुद्धिमान् पुरुष कृतकृत्य हो जाता है।

जो भगवान्‌को इस प्रकार नहीं जानते वही संमूढ हैं। उन्हींके लिये भगवान्‌ने कहा है, '**अवजानन्ति मां मूढाः।**'

इस विवेचनसे हम भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपका किंचित् अनुमान कर सकते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ही सच्चिदानन्द नित्य-शुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव विज्ञानानन्दघन ब्रह्म हैं, भगवान् ही अक्षर अविनाशी आत्मा हैं, भगवान् ही हिरण्यगर्भ हैं, भगवान् ही सर्व देवता हैं, भगवान् ही जीवात्मा हैं, भगवान् ही प्रकृति हैं, भगवान् ही जगत् हैं, भगवान् ही जगद्व्यापी विभु अक्षर अव्यक्त सगुण निराकार ब्रह्म हैं, भगवान् ही यज्ञ हैं, भगवान् ही कर्म हैं, भगवान् ही जगत्‌के कर्ता, भर्ता, संहर्ता हैं, भगवान् ही साक्षी और भगवान् ही भोक्ता हैं, भगवान् ही शिव, विष्णु, ब्रह्मा, शक्ति, सूर्य आदिके अंशी हैं, भगवान् ही शिव, विष्णु, ब्रह्म, शक्ति, सूर्य आदि हैं। भगवान् ही श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीनृसिंह आदि अवतार हैं, भगवान् ही समस्त सृष्टिके द्वारा विभिन्न रूपोंमें पूजित विभिन्न नामरूपधारी ईश्वरीय नियमविशेष हैं। भगवान् ही विश्वगुरु हैं और भगवान् ही वसुदेवपुत्र, देवकीनन्दन, नन्दनन्दन यशोदालाल, गोपीवल्लभ, मुरलीमनोहर, श्यामसुन्दर, राधारमण, रुक्मिणीपति, व्रजनवयुवराज, व्रजेश्वर, द्वारिकाधीश और व्यास-भीष्मादिके द्वारा पूज्य परमेश्वर हैं और वही भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ इतिहासप्रसिद्ध 'पार्थसखा' या '**तोत्त्रवेत्रैकपाणि पार्थसारथि**' हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णके सर्वातीत और सर्वमय 'समग्र' स्वरूपको सम्यक्-रूपसे जानकर उनकी जो उपासना होती है, वही श्रीकृष्णकी यथार्थ उपासना है। (जाननेका अर्थ केवल बुद्धिद्वारा समझ लेना ही नहीं है उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति होनी चाहिये।) यह श्रीकृष्ण न तो केवल एकदेशीय व्यक्त स्वरूपविशेष 'वृष्णिवंशी' वसुदेवसुत 'वासुदेव' हैं और न केवल शुद्ध-बुद्धमुक्त-स्वभाव 'ब्रह्म' ही हैं। ये दोनों ही उनकी अभिव्यक्तियाँ हैं। उनको एकदेशीय माननेमें भी उनके स्वरूपको अल्प और परिच्छिन्न करना पड़ता है। और केवल शुद्ध ब्रह्म माननेसे भी शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और सब कुछका कोई स्वरूप निश्चय नहीं होता। माया या मिथ्या कहकर टालनेसे भी काम नहीं चलता। इसीसे कहा जाता है कि सब कुछ नहीं है सो नहीं है, पर वह सब (ब्रह्मसमेत) भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है। सबको लेकर ही भगवान् हैं और वही पुरुषोत्तम हैं। भगवान् स्वयं ही कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७। ७)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४। २७)

'धनंजय! मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है, यह समस्त जगत् सूतमें सूतकी मणियोंकी भाँति मुझमें ही गुँथा है। जगत् ही क्यों; अव्यय परब्रह्म, अमृत, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक आनन्दका आधार भी मैं ही हूँ।' सबका समन्वयात्मक यही गीतोक्त समग्र ब्रह्म या 'पुरुषोत्तम' का स्वरूप है और वे श्रीकृष्ण हैं। इसीलिये वेदान्तज्ञानके उपदेष्टा और ज्ञाता श्रीमधुसूदन सरस्वती कहते हैं—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

गीतोक्त कर्मयोग और आधुनिक कर्मवाद

जिस कर्मयोगको भगवान्ने, '**कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते**' (गीता ५।२) कर्मसंन्याससे श्रेष्ठ बतलाया, जिसके आचरण करनेवालोंके लिये '**जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥**' (गीता २।५१) जन्म-बन्धनसे छूटकर अनामय (अमृतमय) परम पदकी प्राप्ति बतलायी, वह गीतोक्त कर्मयोग क्या आधुनिक कर्मवाद ही है? आजकल जगत्के विशिष्ट शिक्षित पुरुष जिस कर्मवादके पीछे पागल हैं, जीवनभरमें कभी जिन्हें इन प्रश्नोंपर विचार करनेके लिये फुरसत ही नहीं मिलती, या जो विचार करना आवश्यक ही नहीं समझते कि 'ईश्वर क्या है, प्रकृति क्या है, जगत्का क्या स्वरूप है, हम कौन हैं, कहाँसे आये हैं?' ऐसी बातोंकी कल्पना करना जिनके मन समयका दुरुपयोग करना है और जो रात-दिन केवल भौतिक उन्नतिका आदर्श सामने रखकर ही अपनी-अपनी जातिकी, अपने देशकी और संसारकी भौतिक उन्नतिके लिये, पार्थिव भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति और सम्भोगके लिये कर्ममें लग रहे हैं। एक मिनटके लिये भी जिनको कर्मसे अवकाश नहीं है, उनका वह कर्म क्या गीतोक्त कर्मयोग है? आजकल कुछ लोग ऐसा ही समझते हैं, या सिद्ध करना चाहते हैं कि गीतामें इसी कर्मयोगकी शिक्षा दी गयी है। इसीलिये वे अपनी या परायी ऐहिक उन्नतिके लिये कामासक्तिपूर्वक अनवरत कर्म-प्रवाहमें बहते हुए मनुष्योंको 'कर्मयोगी' की पदवी देते हैं और गीताके श्लोकोंसे इसका समर्थन करना चाहते हैं। अतएव इस विषयपर कुछ विचार करना आवश्यक हो गया है।

आधुनिक कर्मवादका स्वरूप

इस कर्मवादके स्वरूपके सम्बन्धमें नाना मतभेद हैं और इसमें अनेकों प्रकारके परिवर्तन भी हो रहे हैं। इसका उत्तम स्वरूप यह है—

कर्म मनुष्यकी उन्नतिका मूल है, कर्मसे ही मनुष्य अपना, देशका और दीनोंका दुःख दूर कर सबको सुखी बना सकता है। अतएव किसी भी दूसरेपर कुछ भी भरोसा नहीं करके मनुष्यको निरन्तर कर्ममें ही लगे रहना चाहिये। जगत्का सारा दुःख केवल कर्मसे ही दूर हो सकता है। अतएव सबको सुख मिले, सबको समानरूपसे भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति हो, ऐश्वर्य, बल, विद्या, कला, विज्ञान आदिकी वृद्धि हो, सबकी आवश्यकताएँ पूरी हों। इसके लिये सबको सब प्रकारसे आलस्य छोड़कर दुःख-कष्टकी परवा न कर सदा उत्साह और उल्लासपूर्वक कर्म करते रहना चाहिये। यही मनुष्यका कर्तव्य या धर्म है।

इस कर्तव्यके पालनमें विविध कर्मोंके नानाविध स्वरूप बन गये हैं। कोई कहता है केवल विज्ञानसे ही सबकी उन्नति हो सकती है। रेल, जहाज, तार, टेलीफोन, बेतारका तार, वायुयान आदि अनेक प्रकारके परम अद्भुत यन्त्र और अन्य आवश्यक चीजें, जिनसे संसारमें सभी क्षेत्रोंमें बहुत कुछ सुभीता हो गया है, विज्ञानका ही फल है; इसके अतिरिक्त रक्षक, संहारक अनेक प्रकारकी चीजें विज्ञानने आविष्कार की हैं, जिनसे हम अपनी रक्षा एवं विपक्षका संहार सहज ही कर सकते हैं और नाना प्रकारसे सुखोपभोग करते हुए जीवन बिता सकते हैं, अतएव विज्ञानकी उन्नतिके कर्ममें लगे रहना चाहिये।

कोई कहता है, विज्ञानने मनुष्यको आलसी, विलासी, हिंसक और पक्षपाती बना दिया है। विज्ञानके फलसे ही यन्त्र बने और यन्त्रोंके कारण ही पूँजीवाद और मजदूरवादकी सृष्टि हुई। कुछ लोगोंके पास धन आ गया और शेष जनताका बहुत बड़ा भाग भूखों मरने लगा। अतएव विज्ञानकी ओरसे मन हटाकर यन्त्र-सभ्यताका नाश कर ग्राम्य-जीवनको सुधरे हुए आदर्शपर प्रतिष्ठित करना चाहिये। इसीमें सबका कल्याण है।

कोई कहता है कि देशकी रक्षाके लिये कानून, शस्त्रास्त्र और सेनाकी बड़ी आवश्यकता है, इसलिये इनकी वृद्धिमें लगना चाहिये और कोई इनसे संसारका अमंगल समझकर अधिकाधिक कानून, शस्त्रास्त्र और सेनाका विरोध करते हैं। कोई साम्राज्यवादी हैं तो कोई प्रजाराज्यवादी। कोई विषमतासे भलाई मानते हैं तो कोई व्यवहारमें पूर्ण समता चाहते हैं।

इस प्रकार नाना रूपोंमें कर्मका आश्रय लेकर आधुनिक जगत् कर्म और कर्मीकी पूजामें लगा है। इन सबके कर्मका स्वरूप कुछ भी हो, परंतु ईश्वर और धर्मकी आवश्यकता इनमेंसे किसीको नहीं है। कहीं अत्यन्त क्षीणरूपमें ईश्वर और धर्मकी बात सुनायी

पड़ती है तो वह भी इस ऐहिक उन्नतिके लिये ही; वरं पाश्चात्यशिक्षाप्राप्त लोगोंमें तो अधिकांश प्रायः यही मानते हैं कि ईश्वर या धर्मकी बात करना या सुनना केवल व्यर्थ ही नहीं है, पतनका कारण है। इन पुराने विश्वासोंको—वहमोंको सर्वथा नष्टकर नवीन युगकी नवीन कल्पनाओंपर ही विश्वास करना चाहिये। इसीलिये आज चारों ओर क्रान्ति और अशान्ति है, एवं इसी क्रान्ति एवं अशान्तिके कार्योंको 'कर्मयोग' और दिन-रात इनमें लगे हुए लोगोंको 'कर्मयोगी' कहा जाता है। यह संक्षेपमें वर्तमान कर्मवादका स्वरूप है।

गीतोक्त कर्मयोगसे आधुनिक कर्मवादकी तुलना

अब गीताके कर्मयोगपर कुछ विचार कीजिये—अवश्य ही, गीतामें किसी व्यक्ति, जाति, देश या विश्वके हितके लिये कर्म करनेका कहीं भी निषेध नहीं किया है, वरं स्वधर्मपालन और सर्वभूतहितमें रत रहनेकी ही आज्ञा दी गयी है; परंतु गीताकी दृष्टिमें कर्मके बाह्य स्वरूपका उतना महत्त्व नहीं है, जितना कर्ताकी बुद्धिका है। कर्म बाहरसे मृदु हो या कठोर, लोकदृष्टिमें अनुकूल हो या प्रतिकूल, प्रेम हो या युद्ध, भोग हो या त्याग, यदि उसमें ज्ञान, भक्ति और समत्व है तो वही कर्मयोग है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिससे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड व्याप्त है अर्थात् जो स्वयं विश्वरूपमें प्रकाशित है, उस (परमेश्वर)-की अपने कर्मद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

इसमें ज्ञान और भक्तिसे युक्त कर्मकी व्याख्या है। यह जान लेना होगा कि श्रीभगवान् ही जगत्‌भरमें व्याप्त हैं और मनुष्यको उन्हींकी पूजा करनी है, समस्त कर्म उन्हींकी पूजाके लिये हैं। कर्म कौन-से? केवल जप, तप, पूजा, पाठ ही नहीं, जिसका जो स्वकर्म हो, जिसके लिये जो कर्तव्य हो, उन्हींसे भगवान्‌की पूजा होगी। अर्जुन क्षत्रियके लिये धर्मयुद्ध ही कर्तव्य है, वहाँ रणांगणमें आततायी प्रतिपक्षियोंका वध करके उनके रक्तसे ही 'काल' रूपसे प्रसिद्ध भगवान्‌की पूजा करनी होगी। तुलाधार वैश्य क्रय-विक्रयरूप व्यापारसे भगवान्‌की पूजा करता है। धर्मव्याध सेवाद्वारा भगवान्‌को पूजता है, याज्ञवल्क्य और शंकराचार्य संन्यास और ज्ञानद्वारा उनकी पूजा करते हैं। जनकने राज्य-पालन करके उन्हें पूजा। ब्रह्मचारी गुरुसेवा और विद्याध्ययनद्वारा भगवान्‌की पूजा करें। यह आवश्यक नहीं कि पूजाकी सामग्री एक-सी हो, आवश्यकता है पुजारीके हृदयके भावकी। यदि वह भगवान्‌के स्वरूपको समझकर भगवान्‌की पूजाके लिये—किसी फलके लिये नहीं—किसी कर्ममें आसक्त होकर नहीं, केवल यज्ञार्थ—भगवदर्थ—किसी भी कर्तव्यकर्मको करता है तो वही कर्मयोग है। यह याद रखना चाहिये कि ऐसे कर्म करनेवाले कर्मयोगीसे वास्तविक लोकहितसे विपरीत कर्म या पाप-कर्म कदापि नहीं बन सकते। अमृतसे कोई मरे तो गीतोक्त कर्मयोगीसे किसीका अहित हो।

इसी कर्मयोगकी व्याख्या भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके निम्नलिखित श्लोकोंमें की है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥

'अर्जुन! तेरा कर्म करनेमें अधिकार है, फलमें कदापि नहीं, कर्मफलके हेतुसे कर्म न कर, (परंतु) कर्म न करनेमें भी मन न लगा। आसक्तिको त्यागकर सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर, योगमें स्थित होकर (भगवान्‌के साथ चित्तको जोड़े हुए ही) कर्म कर (फल श्रीभगवान्‌के हाथमें है, उनकी इच्छासे जो कुछ भी फल होगा, बस वही होना चाहिये, मुझे तो उनके चिन्तनमें चित्त लगाये हुए उनके इच्छानुसार कर्म करने चाहिये) यह समत्व ही योग कहा जाता है।'

असलमें कर्म करनेमें ही मनुष्यका अधिकार है, कर्मफलमें अधिकार नहीं है। कोई भी मनुष्य यह दावा नहीं कर सकता कि मैं केवल कर्म करके ही अमुक फल प्राप्त कर लूँगा। किसान खेत जोतकर उसमें बीज डाल सकता है, परंतु उसमें अनाज उत्पन्न होना उसके हाथमें नहीं है। अनावृष्टि, अतिवृष्टि, टिड्डी, चूहे, पाला आदिसे पकी-पकाई फसल भी नष्ट हो सकती है। तथापि खेत जोतकर बीज तो डालना ही चाहिये, क्योंकि यह उसके हाथकी बात है और यही उसका कर्तव्य है। इसपर भी यह प्रश्न हो सकता है कि 'जब

फल अपने हाथमें नहीं है, तब कर्म ही क्यों किया जाय? चुपचाप बैठे रहनेसे भी जो होता होगा सो हो ही जायगा।' इसीलिये भगवान्‌ने पहलेसे सावधान कर दिया कि 'कर्म-त्यागकी ओर तेरा मन नहीं लगना चाहिये', क्योंकि कर्ममें तेरा अधिकार है। यद्यपि जगत्‌में सब कुछ भगवान्‌की इच्छासे ही होता है, उन लीलामयकी ही सारी लीला है, परंतु वे मनुष्यको निमित्त बनाते हैं— इसीलिये उसे कर्मका अधिकार दिया गया है। कौरवोंको भगवान्‌ने पहलेसे ही मार रखा था, विराट् स्वरूपमें अपनी विकराल दाढ़ोंमें सबको चूर्ण अवस्थामें दिखला भी दिया; अर्जुन निमित्त न बनते, तब भी उनका संहार होता ही, परंतु अर्जुनको निमित्त बनाकर ही भगवान्‌ने उनका संहार करवाया। अतएव मनुष्यको अपने अधिकारके अनुसार कर्म करना चाहिये, परंतु फलकी आशासे नहीं। अवश्य ही कर्म बिना उद्देश्यके नहीं होता, इसलिये मनुष्यके कर्ममें भी कोई उद्देश्य या लक्ष्य रहेगा। व्यापारमें धन मिले, युद्धमें जय हो, दवासे रोग नष्ट हो, यह उद्देश्य व्यापार, युद्ध और औषध-सेवनमें है, कर्मकी सफलताकी ओर दृष्टि है, परंतु वास्तवमें फल कुछ भी हो, धन मिले या न मिले; जय हो या पराजय हो, रोग दूर हो जाय या बढ़ जाय, उसका उसमें समान भाव है; क्योंकि वह आसक्ति और कामनाके वश होकर कर्म नहीं करता, उसके कर्ममें इन कामनाओंकी प्रेरणा नहीं है, उसके कर्मप्रेरक भगवान् हैं, वह भगवान्‌की पूजाके लिये ही स्वकर्म या स्वधर्मका पालन करता है। उसका राज्य-ग्रहण या संन्यास दोनों भगवान्‌के लिये ही होते हैं। सब प्रकारकी आसक्ति, सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयको समान समझकर भगवान्‌के साथ योगयुक्त होकर कर्म करना ही गीतोक्त कर्मयोग है। इसमें भगवान्‌का ज्ञान है, भगवान्‌की भक्ति है और फलमें सर्वथा समत्व है। इसीलिये भगवान्‌ने आरम्भमें ही कहा है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

'सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयको समान समझकर तदनन्तर युद्धमें प्रवृत्त हो; ऐसा करनेसे तुझे पाप नहीं लगेगा।'

ऐसा न करनेसे पापकी सम्भावना है; क्योंकि कामना और आसक्तिके वश होकर केवल फलानुसंधानमें लगे रहकर कर्म करनेसे धर्म और ईश्वरका ध्यान छूट जाता है। जिससे मनुष्य आरम्भमें विश्वहित या देशहित आदि उत्तम उद्देश्य होनेपर भी काम, क्रोध, द्वेष, हिंसा आदिके अधीन होकर लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है और आसुरीभावके साम्राज्यमें पहुँचकर दुःखोत्पादक अशुभ कार्य करता हुआ नरकका भागी होता है।

भगवान्‌ने आसुरी भावका वर्णन करते हुए कहा— आसुरी भाववाले लोग कहते हैं कि—'जगत् आश्रयरहित है, इसके मूलमें कोई सत्य नहीं है, ईश्वर भी नहीं है, परस्परके काम-सम्बन्धसे ही सृष्टि हुई है' (प्रकृतिसे ही सब आप ही बन गया है), इस प्रकारकी नास्तिक दृष्टिको आधार बनाकर वे नष्टात्मा, अल्पबुद्धि, अत्याचारी मनुष्य जगत्‌का ध्वंस करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं। उनकी कामना किसी प्रकारसे पूरी नहीं होती। वे दम्भ, मान और मदसे पूर्ण हुए मोहवश असत् सिद्धान्तोंका ग्रहण कर हीन, अपवित्र निश्चयों और कार्योंको लेकर ही जगत्‌में बुरे आदर्शोंका प्रचार करते हुए विचरते हैं। उनकी भोग-चिन्ताओंका कोई पार नहीं, अशेष विषय-चिन्ताओंमें डूबे हुए ही वे मरते हैं। कामोपभोगके सिवा और कुछ नहीं है, यही उनका निश्चित मत है। वे सैकड़ों आशारूपी फाँसियोंमें बँधे हुए, काम-क्रोधपरायण, केवल विषयभोगोंकी प्राप्ति और सम्भोगके लिये अन्यायपूर्वक भोगपदार्थोंके संचय करनेमें लगे रहते हैं। आज यह मिला, अब वह मिलेगा; अभी मेरे पास इतना धन है, आगे और भी धन होगा; आज उस शत्रुको मारा है, अब उन शत्रुओंका काम तमाम करूँगा; मैं ऐश्वर्यवान् हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं कुलवान् हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान दूँगा, मैं मौज करूँगा—इस प्रकारके अज्ञान-विमोहित, अनेक प्रकारकी चिन्ताओंसे सदा भ्रमित चित्तवाले, मोहजालमें फँसे और कामोपभोगमें आसक्त मनुष्य महान् क्लेशमय अपवित्र नरकोंमें गिरते हैं।'

आजके कर्मवादके पीछे पागल जगत्‌के लोगोंमें प्रायः इन्हीं लक्षणोंकी प्रधानता मिलेगी। ईश्वर और धर्मके बहिष्कार या विनाशकी दर्पपूर्ण कर्म-चेष्टा, ईश्वर और धर्मके नामपर भोगसुख प्राप्त करनेका दम्भपूर्ण प्रयत्न, व्यक्तियों, जातियों, राष्ट्रोंमें परस्पर

विनाश करनेकी हिंसामयी नीति, यूरोपके द्वेष-लोभपूर्ण गत दो भीषण महायुद्ध और आगामी विश्वव्यापी महायुद्धका अणु तथा हाइड्रोजन बम आदिके निर्माणरूपमें वर्तमान उद्योगपर्व, अंदरसे द्वेषपरवश हो बल बढ़ानेकी चेष्टामें लगे रहनेपर भी ऊपरसे मैत्री और शस्त्रसंन्यासकी पाखण्डभरी बातें, दबे हुएको दबाने और उठते हुएको गिरानेकी अभिमानपूर्ण क्रिया, प्राकृतिक अमिट भेदमें अभेद-स्थापनकी और नित्य अचल अभेदमें भेद-स्थापनकी अज्ञानमयी चेष्टा, पुरातनको सर्वथा मिटाकर नवीन शृंखलाविहीन जीवनकी प्रतिष्ठाका प्रयत्न, अपनेसे भिन्न मत रखनेवालोंको गिराने तथा नष्ट करनेकी कोशिश, परलोक, प्रारब्ध, ईश्वर और सदाचारकी कुछ भी परवा न कर केवल भोग-पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये मर्यादारहित मनमाना आचरण आदि कार्योंसे इसका पूरा परिचय मिल जाता है। इसमें उनकी नीयतका दोष नहीं है, वस्तुतः ईश्वरको भुलाकर केवल इहलौकिक सुखकी प्राप्तिके हेतुसे, भोग-पदार्थोंके संग्रहके हेतुसे किये जानेवाले कर्मोंमें ऐसा होना स्वाभाविक है। इसीलिये यह समझ लेना चाहिये कि गीताका कर्मयोग ईश्वररहित और आसक्ति तथा कामनायुक्त कर्मवाद नहीं है। गीताका कर्मयोग इससे बिलकुल अलग है। वहाँ तो अर्जुनको भगवान्ने (गीता ३। ३० में) स्पष्ट आज्ञा दी है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

'अर्जुन! तू मुझमें संलग्न किये हुए चित्तसे समस्त कर्म मुझमें अर्पण करके आशारहित और ममतारहित होकर एवं मनस्तापसे मुक्त होकर युद्ध कर।'

युद्ध करनेकी आज्ञा है, परंतु न राज्यमें ममत्व रहे, न विजयकी आशा रहे और न अभावजनित संतापसे चित्त जले। चित्त भगवान्में लगा है और उन्हींके आज्ञानुसार उन्हींकी प्रेरणासे निष्कामभावसे युद्ध हो रहा है। इस गीतोक्त कर्मयोगसे आधुनिक कर्मवादकी तुलना कैसे की जा सकती है?

यह सत्य है कि गीता जिस प्रकार ज्ञानकी अवहेलना नहीं करती, इसी प्रकार संसारकी और सांसारिक कर्तव्यकर्म, जीविका, कुटुम्ब-पालन, माता-पिताकी सेवा, जाति-सेवा, देश-सेवा, आर्त-सेवा, मानवीय अधिकार और धर्मके लिये युद्ध, दुर्बल-रक्षा, अत्याचारीका दमन, अन्यायका विरोध, परोपकार अथवा वर्णाश्रम-धर्मका यथाविधि पालन आदि किसी भी नैतिक धर्मका किंचित् भी विरोध नहीं करती, प्रत्युत इनके लिये उत्साहित करती है और स्वधर्म-पालनके लिये क्षत्रिय अर्जुनको हँसते-हँसते जीवनकी बलि चढ़ा देनेतकके लिये आज्ञा करती है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—'तुम आत्माके अमरत्व और सिद्धि-असिद्धिमें समत्वभावको मनमें रखकर, भगवान्को समझकर, भगवान्के लिये वीरकी भाँति युद्ध करो, रणक्षेत्रमें वीर-गतिको प्राप्त करो या वीरकी तरह विजय-लाभ करो, परंतु मनमें आसक्ति, कामना, ईर्ष्या, द्वेष, ममता, आशा आदि न रखो।' कर्तव्य कर्मके लिये मर-मिटनेका कितना ऊँचा मार्मिक उपदेश है! आधुनिक कर्मवादसे यह क्षत्रिय-धर्म भी कितना ऊँचा है!

जगत् त्रिगुणात्मक है, इसमें निरन्तर तीनों गुणोंके ही कार्य हो रहे हैं। इनमेंसे जब जिस गुणकी प्रधानता होती है, तब उसके कार्यका रूप भी वैसा ही होता है। यह सिद्धान्त है कि प्रकृति स्वभावतः अधोगामिनी है, निरन्तर ऊपर उठनेकी चेष्टा न की जाय तो स्वभावसे पतन ही होता है। सत्त्वगुणसे भी यदि ऊपर चढ़नेकी, गुणातीत होनेकी चेष्टा न होगी तो सत्त्व रजोमुखी होकर रजोगुणप्रधान और क्रमशः तमोमुखी होकर तमोगुणकी प्रधानताके रूपमें परिणत हो जायगा, सत्त्व और रज दबकर तम विकसित हो उठेगा। अतएव यह सिद्धान्त मान लेना चाहिये कि जिस कर्ममें भगवान्की ओर दृष्टि और भगवान्का आश्रय नहीं है, जो केवल इहलौकिक विषय-लाभकी दृष्टिसे किया जाता है, वह सत्त्वप्रधान होनेपर भी क्रमशः रजोगुणकी ओर बढ़कर रजःप्रधान हो जाता है। रजोगुणकी वृद्धि होनेपर किन-किन लक्षणोंका उदय होता है? श्रीभगवान् कहते हैं—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥

(गीता १४। १२)

'अर्जुन! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, कर्ममें प्रवृत्ति, कर्मोंका (अनेकमुखी) आरम्भ, चित्तकी चंचलता, विषय-भोगोंके प्राप्त करनेकी स्पृहा—ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।' इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त रजोगुणी कर्मोंके कर्ताका स्वरूप बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥

(गीता १८। २७)

'वह कर्म और फलमें आसक्तिवाला, फल चाहनेवाला, लोभी, हिंसक, अपवित्र आचरण करनेवाला और हर्ष-शोकमें डूबा रहनेवाला होता है।'

आधुनिक कर्मवाद और कर्मवादियोंमें ये लक्षण प्रायः पूर्णरूपसे चरितार्थ होते हैं। अवश्य ही मोह, अप्रवृत्ति, आलस्य और प्रमादमय तामसिक जीवनसे यह जीवन कहीं श्रेष्ठ है, परंतु यह आदर्श नहीं है। रजोगुण सत्त्वमुखी न होगा तो तमोमुखी हो जायगा और अन्तमें तमोगुणकी प्रधानताका रूप धारण कर लेगा। किसी समय भारतवर्षमें भी जन्म, कर्मफलप्रद भोगैश्वर्य गतिकी प्राप्तिके लिये कर्मकाण्डकी प्रचुरता थी, यद्यपि भारतका वह कर्मकाण्ड आधुनिक नास्तिकतापूर्ण कर्मवादसे बहुत ही ऊँचा था, तथापि उसमें लौकिक कामना और आसक्ति होनेके कारण वह कर्मप्रवृत्ति भी अन्तमें तमोमुखी हो गयी। भारतकी आजकी तामसिकता, उसका मोह और आलस्यमय जीवन इसीका परिणाम है, इसीलिये भगवान्‌ने घोषणा की थी कि भोगैश्वर्यमें आसक्तिवाले पुरुषोंकी बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती।' परंतु गीतोक्त कर्मयोगी भोगैश्वर्यमें आसक्त नहीं होते—वे न तो भोग-सुखकी स्पृहा करते हैं और न वैध भोगका अकारण विरोध ही करते हैं।

भगवान्‌ने उनके विषयभोगकी व्याख्या करते हुए कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २। ६४-६५)

'जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, जिसमें राग और द्वेष नहीं हैं, वह पुरुष अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको भोगता हुआ प्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्त करता है। उस (विमल) प्रसादसे समस्त दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले पुरुषकी बुद्धि (एक परमात्मामें) शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।'

मन और इन्द्रियोंका गुलाम होकर विषयोंकी आसक्तिसे नहीं, प्रत्युत मन और इन्द्रियोंको गुलाम बनाकर यथावश्यक ऊपर उठानेवाले विषयोंका सेवन करनेवाला पुरुष प्रसन्नता प्राप्त करता है। इसीलिये गीताके कर्मयोगकी शिक्षामें कामोपभोगकी अनित्यता, सुख-दुःखकी क्षणभंगुरताका बार-बार वर्णन आता है और विषयोंसे मन हटाकर इन्द्रिय-संयमपूर्वक कामना और फलासक्तिशून्य हृदयसे कर्म करनेकी आज्ञा दी जाती है। भगवान् कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(गीता २। ६०-६१)

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

(गीता ५। ११-१२)

'अर्जुन! प्रयत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी ये प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ बलात् हर लेती हैं। अतएव इन इन्द्रियोंको वशमें करके मनको मुझमें लगाकर मेरे परायण हो जाना चाहिये। जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर होती है। इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले ये जो सब भोग हैं, वे (मोहवश सुखरूप भासनेपर भी वस्तुतः) निःसन्देह दुःख ही उत्पन्न करते हैं और सदा एक-से नहीं रहकर—कभी उत्पन्न होने और कभी नाश होनेवाले आदि-अन्तरूप हैं, अतएव बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता। इसलिये (ममत्वबुद्धिरहित) निष्काम कर्मयोगी पुरुष इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा आसक्तिको त्यागकर केवल अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं, इसीसे वे परमात्मामें चित्त लगाये हुए कर्मयोगी पुरुष कर्मफलको त्यागकर भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होते हैं। विषयचिन्तनमें लगा हुआ सकामी पुरुष फलासक्तिके कारण कामनाके द्वारा बन्धनको प्राप्त होता है।'

अन्त:करणकी शुद्धि हुए बिना भगवत्-भाव नहीं होता। भगवत्-भावकी प्राप्ति बिना शुद्ध भगवत्-प्रेरित कर्म नहीं हो सकते। इसलिये कर्मयोगी पहले भगवत्-भावकी प्राप्तिके लिये और भगवत्-भावकी प्राप्ति होनेपर केवल भगवान्‌की प्रेरणावश यन्त्रकी भाँति कर्म करता है। उस समय वह कर्मके बाह्य स्वरूपको न देखकर—अर्जुनकी भाँति गुरु-वध, स्वजन-वध, भीषण हिंसा आदिकी बात न सोचकर—केवल भगवान्‌की प्रेरणाको देखता है। भगवान् ही उसकी गति, नीति, उद्देश्य, जीवन और धर्म होते हैं। भगवान्‌के साथ युक्त होकर भगवदीय कर्म करना ही उसका स्वभाव होता है। यही गीताकी अन्तिम शिक्षा है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

इसका यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियोंके वशमें होकर, भोग-प्रवृत्तिकी प्रेरणासे मनमाना करते हुए मनुष्य उसे ईश्वरकी प्रेरणा समझने या कहने लगे। श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का नित्य-निरन्तर चिन्तन करते हुए मनुष्यके अन्त:करणमें जो शुद्ध स्फुरणा हो और जिससे इन्द्रियभोग-लालसा और कामनाका क्रमश: दमन होता हो, जो शास्त्रोक्त कर्म हो—पहले-पहल ऐसे ही शुभकर्मोंकी प्रेरणाको भगवत्-प्रेरणा समझे। साधना करते-करते भगवत्प्रेरणाकी स्पष्ट अनुभूति होने लगेगी। इसीलिये गीताकी शिक्षा वस्तुत: अर्जुन-जैसे योग्य अधिकारीके लिये है। परंतु वह अधिकार भी गीताकी शरण, गीताका अध्ययन और मनन एवं गीताके उपदेशानुसार जीवन बनानेकी चेष्टा करनेसे ही प्राप्त होगा। इसलिये गीताकी शिक्षा वस्तुत: इन्द्रियसंयमी, तपस्वी भक्त अधिकारीके लिये होते हुए भी साधारणत: सभीके लिये है। अनधिकारके कारण ही गीताका दुरुपयोग होता है और इसीसे आधुनिक कर्मवादकी सिद्धि या उसका समर्थन गीताके द्वारा करनेकी व्यर्थ चेष्टा की जाती है।

गीताका कर्मयोग शुद्ध भगवदभिमुखी है और आधुनिक कर्मवाद केवल भोगाभिमुखी, यही इनमें सबसे बड़ा अन्तर है। भोगाभिमुखी होनेके कारण ही इसमें राग, द्वेष, घृणा, काम, क्रोध और पाप, ताप आदिका प्राबल्य है और इसीलिये ऐसे कर्मवादियोंकी यह समझ है कि बिना कामनाके कर्म कैसे हो सकता है? बिना राग-द्वेषके कर्ममें प्रवृत्ति ही क्यों होने लगी? यदि फलकी ही इच्छा नहीं है तो कर्ममें बेगारके भावको छोड़कर उत्साह होगा ही क्यों? भोगाभिमुखी रजोगुणी कर्मप्रवृत्तिमें आसक्ति, कामना, क्रोध, द्वेष, राग, घृणा आदि दोष रहते हैं, इसीसे ऐसी समझ बन गयी है। परंतु जिनमें सत्त्वगुणका प्रकाश हो गया है, जिनकी बुद्धि परमात्माभिमुखी है—वे भगवान्‌के लिये कठोर-से-कठोर कर्म करनेमें भी सात्त्विक उत्साह पाते हैं। मजा यह कि फलकी आसक्ति या राग-द्वेषपूर्वक होनेवाले कर्ममें कर्म करते समय कामना, आशंका, भय, उद्वेग, चंचलता आदिके कारण मार्गच्युत होनेका जो डर रहता है और फलके अनुकूल न होनेपर जो विषाद होता है, वह गीतोक्त कर्मयोगीको नहीं होता। वह तो अनुकूल-प्रतिकूल फलको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर यन्त्रीके यन्त्रकी भाँति नित्य नये उत्साह और आनन्दके साथ स्वामी या प्रियतम प्रभुका कार्य करते-करते कभी थकता ही नहीं; क्योंकि सर्वशक्तिमान् प्रभु उसे अनवरत शक्तिदान करते रहते हैं, वह चलता ही प्रभुकी शक्तिसे है, अपना अहंकार उसे कभी नहीं होता। वह कभी मार्ग नहीं भूलता; क्योंकि उसे निरन्तर प्रभुसे प्रकाश मिलता रहता है। प्रभुके नित्य चिन्तनसे उसके हृदयमें भगवान्‌की दिव्य ज्योति सदा जगमगाया करती है। वह कभी मनमानी वस्तु पाकर या सफलतासे प्रमत्त होकर कर्तव्यच्युत नहीं होता; क्योंकि कोई नयी वस्तु पानेके लिये उसके मनमें अभिलाषा ही नहीं रहती। वह तो प्रभुका सेवक है, व्यापारी नहीं! भगवान्‌की शक्तिसे उसकी शक्ति, भगवान्‌के ज्ञानसे उसका ज्ञान, भगवान्‌के प्रेमसे उसका प्रेम, भगवान्‌की दिव्य बुद्धिसे उसकी बुद्धि सदा शक्ति, ज्ञान, प्रेम और विवेक पाती रहती है। अतएव वह कर्मयोगी अत्यन्त कुशलता, अदम्य उत्साह, अतुल तेज, अमल विवेक, अपार शान्ति, अमित आनन्द और अलौकिक प्रेमका मूर्तिमान् स्वरूप बना हुआ भगवान्‌के लिये सदा उल्लाससहित कर्म किया करता है। वह कर्म, अकर्म और विकर्मके तत्त्वको समझकर ही कर्म करता है, इससे उसके कर्ममें ज्ञान, भक्ति और समता—तीनोंका संयोग रहता है, जो आसक्ति, कामना, राग-द्वेषादि वैरियोंके वशमें होकर बिना जीते हुए मन-इन्द्रियोंसे कर्म करनेवाले कर्मवादीके लिये कभी सम्भव नहीं है। सात्त्विक कर्ताका लक्षण भगवान् बतलाते हैं—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥

(गीता १८। २६)

'आसक्तिसे रहित, अनहंवादी, धैर्य और उत्साहसे युक्त सिद्धि और असिद्धिमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित कर्ता सात्त्विक कहा जाता है।'

गीताने तो इस सात्त्विकतासे भी ऊपर उठनेका आदेश किया है; क्योंकि सत्त्वगुण भी जीवको बाँधता है। (यद्यपि सत्त्वगुणका बन्धन जाग्रत् और प्रयत्नशील रहनेपर बन्धन काटनेवाला ही होता है।) इसीसे भगवान्ने कहा है—'**निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!**' अर्जुन! तू तीनों गुणोंसे रहित हो जा। गीताके कर्मयोगीके द्वारा फलाभिसन्धि न होनेपर भी लोकसंग्रहार्थ कर्म होते हैं। इस बातको भगवान्ने तीसरे अध्यायमें स्वयं अपना उदाहरण देकर बहुत अच्छी तरह समझाया है और निरन्तर निष्कामभावसे भगवदर्थ कर्म करनेकी आज्ञा दी है एवं अन्तमें उस निष्काम कर्मसे ही शाश्वतपदकी प्राप्ति बतलायी है। भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

(गीता १८। ५६-५७)

'मेरा आश्रयी होकर निष्काम कर्मयोगी पुरुष समस्त कर्मोंको करता हुआ ही मेरी कृपासे सनातन अव्यय पदको प्राप्त करता है। अतएव सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके मेरे परायण हो समत्व बुद्धि-रूप कर्मयोगका अवलम्बन करके (अर्जुन!) तू निरन्तर मुझमें चित्त लगानेवाला हो।'

जो लोग वास्तवमें कर्मयोगका आश्रय लेकर भगवान्को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि वे भगवान्का निरन्तर चिन्तन करते हुए ही भगवान्के आज्ञानुसार कर्तव्यकर्मका—स्वधर्मका आचरण करें। भगवान्ने गारंटी देते हुए कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ७)

'अर्जुन! इसलिये सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करता हुआ ही युद्ध (स्वधर्म-पालन) कर। इस प्रकार युद्धमें मन-बुद्धि अर्पण करनेसे तू निःसंदेह मुझको प्राप्त होगा।'

ऐसे ही मनसे भजन करते हुए भगवदर्थ कर्म करनेवाले योगियोंको भगवान्ने सबमें श्रेष्ठ बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'समस्त योगियोंमें जो श्रद्धावान् पुरुष मुझमें अन्तरात्माको लगाकर निरन्तर मुझे भजता है, वही योगी मेरे मतमें परम श्रेष्ठ है।'

गीताके इस निष्काम कर्मयोगसे, आधुनिक राग-द्वेषपूर्ण और कामनामय कर्मवादमें कितना महान् अन्तर है, ऊपरके संक्षिप्त विवेचनसे पाठक इसको समझ गये हैं।

गीतामें विश्वरूप-दर्शन

श्रीमद्भगवद्गीताके एकादश अध्यायमें भगवान्के विश्वरूपदर्शनका प्रसंग है। प्रसंग बड़ा ही मधुर और हृदयग्राही है। जितना भी मन लगाकर पढ़ा जाता है उतना ही अधिक आनन्द आता है। परंतु यह समझमें आना बहुत ही कठिन हो जाता है कि भगवान्का यह विश्वरूप वस्तुतः था कैसा? अनेक महानुभावोंने इस प्रसंगपर विभिन्न मत प्रकट किये हैं। किन्हींका कहना है कि 'यह भक्तिपूर्ण मनोहर काव्यमात्र है।' किन्हींका कथन है कि 'यह रूपक है, इसमें अर्जुनकी उस समयकी मानस-स्थितिका चित्रण किया गया है।' कोई कहते हैं 'अर्जुनको दिव्यचक्षु देनेका अर्थ है उसे सम्यक्-ज्ञान प्रदान करना और विश्वरूप दिखानेका तात्पर्य है उस ज्ञानको सुदृढ़ करना कि एक ब्रह्मसत्ताके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, जो कुछ भी भासता है सब मायामात्र है।' इसी प्रकार अन्यान्य बहुत-से महानुभावोंने और भी अनेकों प्रकारसे इसकी व्याख्या की है। गीताके इस विश्वरूप-दर्शनका वास्तविक रहस्य क्या है और विश्वरूपका यथार्थ स्वरूप कैसा है, इसको तो वे ही बतला सकते हैं जिनको इस विश्वरूप-दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। ऐसे सौभाग्यवान्

एक अर्जुन ही हैं अथवा गौणरूपसे व्यासजीके द्वारा दिव्यदृष्टिप्राप्त संजय हैं। परंतु इस समय ये दोनों ही हमारे सामने नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें विश्वरूपका रहस्य समझनेमें शास्त्र, संत, महात्मा और विद्वानोंके विचार तथा अपने अनुमानके सिवा और कोई उपाय नहीं है। यहाँ इन्हीं उपायोंके सहारे भगवान्‌के इस विश्वरूप-प्रसंगपर कुछ विचार किया जा रहा है। वस्तुतः लेखकको न तो यथार्थ रहस्यका ज्ञान है, न उनका रहस्योद्घाटनका दावा है और न रहस्योद्घाटनके विचारसे यह प्रयास ही किया जाता है। यह तो केवल '**स्वान्तःसुखाय**' है। आशा है, अनुभवी विज्ञ विद्वान् इस बाल-चपलताके लिये कृपापूर्वक क्षमा करेंगे।

भगवान्‌का स्वरूप क्या और कैसा है, इसको वस्तुतः भगवान् ही जानते हैं। वे निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार सभी कुछ हैं और सभीसे परे हैं। वे क्या हैं और क्या नहीं हैं, इसका विवेचन पूर्णरूपसे न तो आजतक कोई कर सके हैं, न आगे कर ही सकते हैं। भगवान्‌का जितना भी वर्णन है, सभी आंशिक है, परंतु आंशिक होनेपर भी है उन्हींका, इसीलिये सभी ठीक है। अनन्तका अन्त तो कौन पा सकता है। यथार्थमें भगवान्‌के स्वरूप, तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और लीला-गुणादिका वर्णन उनके स्वरूपकी यथार्थ व्याख्याके लिये नहीं, वरं अपने कल्याणके लिये ही किया जाता है और इसी दृष्टिसे लेखकका भी यह क्षुद्र प्रयास है।

भगवान्‌की सृष्टि अनन्त है। हम जिस भूमण्डलमें हैं, यह तो एक सृष्टिका एक अत्यन्त क्षुद्र अंशमात्र है। नक्षत्रविज्ञानी तत्त्ववेत्ताओंका कहना है कि यह सूर्य हमारी पृथ्वीसे नौ करोड़ मीलकी दूरीपर स्थित है। परंतु ऐसे-ऐसे अति विशाल नक्षत्र भी हैं, जहाँकी आलोक-रश्मिको पृथ्वीतक पहुँचते चौदह करोड़ वर्ष लग जाते हैं। जान रखना चाहिये कि वैज्ञानिकोंकी गणनाके अनुसार आलोक-रश्मिकी गति (Speed) प्रति सेकेण्ड एक लाख छियासी हजार मील है। अब हिसाब लगाइये कि इतनी तेज चालसे चलनेवाली आलोक-रश्मिको जिस नक्षत्रसे यहाँतक आते-आते चौदह करोड़ वर्ष लग जाते हैं, वह यहाँसे कितनी दूरीपर होगा। ऐसे अगणित नक्षत्र हमारे विश्वमें हैं, ये सब नक्षत्र चौदह* प्रधान लोकोंके अन्तर्गत विभिन्न लोकमात्र हैं और ऐसे विश्वोंकी गणना असंख्य है। देवीभागवतमें कहा है—

संख्या चेद् रजसामस्ति विश्वानां न कदाचन।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां तथा संख्या न विद्यते।
प्रतिविश्वेषु सन्त्येवं ब्रह्मविष्णुशिवादयः॥

'धूलके कणोंकी गिनती हो सकती है, परंतु विश्व-ब्रह्माण्डोंकी नहीं हो सकती। इन ब्रह्माण्डोंमेंसे प्रत्येक ब्रह्माण्डमें पृथक्-पृथक् ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। अतएव जिस प्रकार ब्रह्माण्डोंकी संख्या नहीं है, इसी प्रकार ये ब्रह्मा, विष्णु और शिवादि भी असंख्य हैं।'

ये सब ब्रह्मा, विष्णु और शिव जिनके अंशावतार हैं, वे अवतारी एक महेश्वर हैं। उन्हींको पुरुषोत्तम, महाविष्णु, महाशिव, श्रीकृष्ण, श्रीराम, महाशक्ति आदि कहते हैं।

असंख्याताश्च रुद्राख्या असंख्याताः पितामहाः।
हरयश्च ह्यसंख्याता एक एव महेश्वरः॥

(लिंगपुराण)

'असंख्य रुद्र हैं, असंख्य ब्रह्मा हैं, असंख्य विष्णु हैं, परंतु महेश्वर एक ही हैं।' सृष्टिके प्रकाशके समय ये सब ब्रह्मा, विष्णु, शिव अपने-अपने ब्रह्माण्डमें प्रकट हो जाते हैं और लयके समय पुनः उन सृष्टियोंके साथ ही महेश्वरमें प्रवेश कर जाते हैं। ऐसी सृष्टियाँ असंख्य हैं—

यथा तरङ्गा जलधौ तथेमाः सृष्टयः परे।
उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते रजांसीव महानिले॥

'जैसे समुद्रमें अपार तरंगें उठती हैं वैसे ही परमेश्वरमें ये सृष्टियाँ महान् वायुमें रजःकणोंकी भाँति उत्पन्न और विलीन होती रहती हैं।'

ब्रह्माण्डों और सृष्टियोंका यह हाल है। ऐसे-ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड परम महिमामय महेश्वरके उस विराट् देहके क्षुद्रातिक्षुद्र अंगोंमें सुशोभित हैं। महेश्वरका वह विराट् देह ऐसा विलक्षण है कि अनन्त सृष्टिकी समस्त दशाओंका उसके अंदर साक्षात् समावेश है। उसमें समस्त कालोंके, समस्त सृष्टियोंके, सृष्टियोंके अंदर होनेवाली समस्त भूत, वर्तमान और भविष्यकी

* चौदह भुवन हैं—भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक—ये सात देवताओंके ऊर्ध्वलोक हैं और अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल—ये सात असुरोंके अधोलोक हैं। ये ही चौदह भुवन हैं। इनके अन्तर्गत अनेकों लोक-लोकान्तर हैं।

घटनाओंके प्रत्यक्ष दृश्य उपस्थित हैं। कालभेद और देशभेद हमारी दृष्टिमें हैं। भगवान्‌में भूत या भविष्यत् नहीं है, वहाँ सभी कुछ वर्तमान है और इसी प्रकार सम्पूर्ण देश उनके अन्तर्गत एक ही साथ निहित हैं। जहाँ जो कुछ हो चुका है, हो रहा है, होगा और जहाँ जो कुछ था, वर्तमान है और आगे होगा, वह—क्रिया और वस्तु—सब एक ही साथ महेश्वरके विराट् स्वरूपमें स्थित हैं। समस्त सृष्टियोंके साथ महेश्वरका अच्छेद्य सम्बन्ध है; क्योंकि सारी सृष्टियाँ महेश्वरके ही ऐश्वर योगकी लीला या खेल हैं। महेश्वरका सम्पूर्ण ऐश्वर योग अपनी सम्पूर्ण शक्तियों और क्रियाओंसमेत जिस एक ही महान् दिव्य स्वरूपमें नित्य विराजित है वही महेश्वरका ऐश्वर रूप है। उसीको विराट् या विश्वरूप कहते हैं। यह स्वरूप रूपक या केवल ज्ञानका विषय नहीं है। अंशतः चक्षुओंका विषय ही है। हम रात-दिन जो कुछ देखते-सुनते हैं—करते-कराते हैं, यह भी उस महान् विराट् स्वरूपका ही एक अत्यन्त क्षुद्रतम अंश है। परंतु यह मायाकी आँखोंसे मायाके राज्यमें देखा जाता है, इसलिये अदिव्य है। जिनको भगवान् अपने उस दिव्य तेजोमय, आद्य (सनातन) अनन्त, मन-बुद्धि-वचनके अगोचर लोकोत्तर महान् चमत्कारपूर्ण विराट् स्वरूपकी किंचित् झाँकी कराना चाहते हैं उन्हें वे अपनी दिव्यदृष्टि दे देते हैं। बिना दिव्यदृष्टिके उस महान् तेजोमय स्वरूपको कोई देख ही नहीं सकता। देखनेपर भी यह तो सम्भव ही नहीं है कि उसके समस्त अंग-प्रत्यंगोंके समस्त अवयवोंको और उनमें संलग्न सामग्रीको सम्पूर्णरूपसे कोई देख सके। जिन-जिनको भगवान्‌ने वह स्वरूप दिखलाया है, सबने उसके विभिन्न अंश ही देखे हैं। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देनी है कि **'ईश्वराणां परमं महेश्वरम्'**, **'सर्वलोकमहेश्वरम्'**, **'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** आदि रहस्यमय वाक्योंसे जिन ईश्वरोंके महान् ईश्वर, पुरुषोत्तम भगवान्‌का निर्देश किया गया है, उन पूर्ण पुरुषोत्तम समग्र ब्रह्म स्वयं भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरे कोई भी इस विश्वरूपको नहीं दिखला सकते। पूर्णावतार भगवान्‌ने श्रीरामरूपसे माता कौसल्याजीको तथा भक्तराज काकभुशुण्डिजीको इस स्वरूपकी किंचित् झाँकी करायी थी और श्रीकृष्णरूपमें गोकुलमें यशोदा मैयाको, कुरुक्षेत्रके रणांगणमें भक्तराज अर्जुनको, कौरवोंकी राजसभामें भीष्म, द्रोणाचार्य आदि और तपोधन मुनिगणोंको एवं ऋषियोंके आश्रमोंमें गुरुभक्त मुनिश्रेष्ठ श्रीउत्तंकजीको इस स्वरूपके दर्शन कराये गये थे। रामचरितमानसका वर्णन देखिये—बालकाण्डकी कथा है। माता कौसल्याजी शिशुरूप श्रीरामजीको नहलाकर शृंगार करके पालनेमें पौढ़ा देती हैं और स्वयं इष्टदेवकी पूजाके लिये स्नान करके उनकी पूजा करती हैं और भोग चढ़ाती हैं। फिर किसी कार्यसे चौकेमें जाकर लौटकर देखती हैं तो रामजी भोग लगाते दिखायी देते हैं। कौसल्याजी घबराकर पालनेके समीप जाती हैं तो वहाँ भी श्रीरामजीको उसमें सोये पाती हैं, फिर यहाँ आती हैं तो यहाँ प्रसाद पाते देखती हैं। एक ही साथ दो स्थानोंमें श्रीरामजीको देखकर माता घबरा उठती हैं। इतनेमें प्रभु हँस देते हैं और माताको अपना अद्भुत अखण्ड विश्वरूप दिखलाते हैं। विश्वरूप देखकर माता पुलकित हो जाती हैं। वे अपनी आँखें मूँद लेती हैं और सिर नवाने लगती हैं। बस, विश्वरूपका उपसंहार हो जाता है और भगवान् पुनः शिशुरूप बन जाते हैं—

तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूदि चरननि सिरु नावा॥
बिसमयवंत देखि महतारी। भए बहुरि सिसु रूप खरारी॥

श्रीअवधपुरीमें बालरूप श्रीरामजीके साथ काकभुशुण्डिजी खेल रहे हैं। श्रीरामजीने काकजीको पकड़नेके लिये हाथ फैलाया। वे उड़े, हाथ पीछे-पीछे चला। लोक-लोकान्तरोंमें, जहाँतक गति थी, काकभुशुण्डि गये; परंतु दो अंगुलके बीचसे सर्वत्र श्रीरामजीके हाथको अपने पीछे देखा। उन्होंने डरकर आँखें मूँद लीं। फिर जब नेत्र खोले तो अपनेको अयोध्याजीमें पाया। इतनेमें भगवान्‌ने हँस दिया, भुशुण्डिजी खिंचकर उनके मुखमें प्रवेश कर गये और अंदर भगवान्‌के विराट्‌रूपके भिन्न-भिन्न स्तरोंमें घूमने लगे। अन्तमें घबरा उठे, व्याकुल हो गये, पूरा न देख सके, तब श्रीरामजी हँसे और उनके हँसते ही वे बाहर आ गये।

देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर।
बिहँसतहीं मुख बाहेर आयउँ सुनु मतिधीर॥

श्रीकृष्णरूपमें सबसे पहले यशोदा मैयाको मुखमें दर्शन कराये। यशोदाजीने श्यामसुन्दरके छोटे-से मुखमें विराट्‌स्वरूप देखा। यहाँतक कि उसके एक कोनेमें गोकुल गाँवके श्रीनन्दरायजीके घरमें अपनेको भी देखा। वे मोहित हो गयीं। आगे न देख सकीं। तब

भगवान्‌ने अपना वह रूप संवरण कर लिया। यह कथा श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें है।

कौरवोंकी राजसभामें जब दुर्योधनने दूतरूपसे पधारे हुए भगवान् श्रीकृष्णको कैद करनेकी दुरभिसन्धि की, तब आप खिलखिलाकर हँस पड़े। हँसते ही विराट्स्वरूपका प्राकट्य हो गया। उस महान् रूपको देखते ही सब राजाओंने मारे डरके घबराकर आँखें मूँद लीं। वे कुछ भी न देख सके। गुरु द्रोण, भीष्म, विदुर, संजय और तपोमूर्ति ऋषि-मुनियोंने भगवान्‌के उस स्वरूपको देखा; क्योंकि भगवान्‌ने उनको दिव्य दृष्टि दे दी थी—

प्रादात्तेषां स भगवान् दिव्यचक्षुर्जनार्दनः।

धृतराष्ट्रने भी दिव्य दृष्टिके लिये प्रार्थना की, तब भगवान्‌ने कृपा करके उनको भी दिव्यदृष्टि देकर अपना स्वरूप दिखलाया। तदनन्तर पृथ्वी हिल उठी, समुद्र खलबला उठे, तब भगवान्‌ने अपना वह विराट्स्वरूप संवरण कर लिया। यह कथा महाभारतके उद्योगपर्वमें है।

इसके बाद भीष्मपर्वमें श्रीमद्भगवद्गीताका विश्वरूप-प्रदर्शन-प्रसंग है। इसपर आगे चलकर विचार करना है। इसके अनन्तर अश्वमेधपर्वमें उत्तंक ऋषिको विराट्स्वरूप-दर्शन करानेकी कथा मिलती है। महाभारतयुद्धमें भगवान् श्रीकृष्णको कारण मानकर उत्तंक ऋषि भगवान्‌को शाप देनेको तैयार हो गये। भगवान्‌ने कहा—'मुनिवर! आप तपस्वी हैं, परंतु मुझे शाप देनेसे आपका तप नष्ट हो जायगा। आपके शापका मुझपर कुछ भी प्रभाव न होगा।' इसके बाद मुनिके पूछनेपर भगवान्‌ने उनको अपना स्वरूप-तत्त्व समझाया और फिर मुनिकी प्रार्थनापर उनको अपना दिव्य विश्वरूप दिखलाया। वैशम्पायनजी कहते हैं—

ततः स तस्मै प्रीतात्मा दर्शयामास तद्वपुः।
शाश्वतं वैष्णवं धीमान् ददृशे यद्धनंजयः॥

(५५।४)

'तब उनपर प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्णने उनको उसी सनातन वैष्णव स्वरूपके दर्शन कराये; जिसके बुद्धिमान् अर्जुनने दर्शन किये थे।'

भगवान्‌का विराट्रूप देखकर मुनि सहम गये और बोले—

संहरस्व पुनर्देव रूपमक्षय्यमुत्तमम्।
पुनस्त्वां स्वेन रूपेण द्रष्टुमिच्छामि शाश्वतम्॥

(५५।९)

'देव! आप अपने इस अक्षय, उत्तम स्वरूपको समेट लीजिये। मैं आपको फिर उसी अपने सनातन श्रीकृष्णरूपमें देखना चाहता हूँ।' तब भगवान्‌ने अपना विराट्रूप संवरण करके उन्हें फिर श्रीकृष्णरूपमें दर्शन दिये।

यहाँ कई प्रकारकी शंकाएँ होती हैं, उनमें प्रधान ये हैं—

१—यदि विराट् या विश्वरूप एक ही है तो सबको अलग-अलग रूपोंके दर्शन क्यों हुए? कौसल्याजी और काकभुशुण्डिजीने रामजीको देखा, यशोदा मैयाने गोकुलसमेत अपनेको देखा, अर्जुनने भीष्म-द्रोणका चूर्ण होना देखा, कौरव-सभामें भीष्मादिने सात्यकि और पाण्डवोंको भी भगवान्‌के शरीरमें देखा। एक ही स्वरूपमें इतने भेद क्यों?

२—यदि विराट्रूप एक नहीं है और समय-समयपर प्रकट होनेवाले अनेक हैं, तो क्या वे सभी नित्य हैं। यदि नित्य नहीं हैं और उन्हींमें गीतोक्त विश्वरूप भी है तो फिर भगवान्‌ने उसको 'आद्य' (सनातन) और 'अनन्त' तथा उत्तंक मुनिने 'अक्षय' (अविनाशी) कैसे बतलाया?

३—यदि सब एक ही है तो भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे स्पष्ट ऐसा क्यों कह रहे हैं कि यह रूप तेरे सिवा न किसीने आजतक देखा और न आगे कोई देख सकता है—**'त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्', 'त्वदन्येन न द्रष्टुं शक्यः'**। यदि ऐसी बात है तो दूसरोंने उसे कैसे देखा? यदि कहें कि दूसरे किसीने नहीं देखा तो फिर वैशम्पायनजी यह कैसे कह सकते हैं कि उत्तंकने वही रूप देखा जो अर्जुनने देखा था? विचार करनेपर पता लग जायगा कि इन प्रश्नोंका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है। समझनेके लिये यहाँ फिरसे उसीको दोहराया जाता है। भगवान् महेश्वरका एक नित्य अनन्त विराट्रूप है। जिसमें भूत, वर्तमान, भविष्य—सभी कालोंकी सभी सृष्टियोंके तथा सभी ब्रह्माण्डोंके पूरे कार्य साक्षात्‌रूपसे रहते हैं। वह विराट्रूप स्वरूपतः एक होनेपर भी जब किन्हींको दिखाया जाता है, तब उस स्वरूपके अपरिमित तेज, प्रभाव, असीम और अनन्त विस्तार आदि ऐश्वर्यका स्तर तो न्यूनाधिकरूपसे

अवश्य ही दिखलाया जाता है; परंतु सृष्टिचक्रकी प्राय: उन्हीं घटनाओंके स्तर दिखलाये जाते हैं, जिनका देखनेवालेसे सम्बन्ध होता है और जिसके दिखलानेकी आवश्यकता समझी जाती है। पूर्णरूप तो अनन्त और अप्रमेय है—उसे तो कोई देख ही नहीं सकता। जैसे सिनेमाकी कोई बड़ी भारी फिल्म हो और उसमें बहुत ही लम्बी घटनावलियोंके चित्र अंकित हों और उसमेंसे जैसे एकके बाद दूसरे दृश्य देखनेवालोंके सामने आते हों। इसी प्रकार महेश्वरके विराट्स्वरूपके अनन्त स्तर हैं और भगवान् उनमेंसे जिसको जिस स्तरसे जिस स्तरके दर्शन कराना चाहते हैं उसीके कराते हैं। फिर या तो स्वयं ही उसे समेट लेते हैं या देखनेवाला ही नहीं देखना चाहता। इससे वह वहींतक देख पाता है। इससे यह पता लगता है कि मूलत: स्वरूप एक ही है; परंतु वह अनन्त है, वह सब नहीं देखा जा सकता। कौसल्याजी, काकभुशुण्डिजी, यशोदा मैया, भीष्मादि, अर्जुन और उत्तंक—इन सबने देखा उस एक ही विराट्स्वरूपको; परंतु अप्रमेय होनेसे तथा आवश्यकता न होनेके कारण पूरा कोई न देख सके और इसीके साथ-साथ सबने देखा अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले दृश्योंके स्तरोंको ही। इसलिये वस्तुत: एकको देखनेपर भी उनके दर्शनोंमें भेद रहना उचित ही है और इसीलिये अर्जुनसे भगवान्का यह कहना भी सत्य है कि यह रूप—अर्थात् तुमने लीलाका जो दृश्य देखा उस दृश्यसे युक्त ऐसा विश्वरूप—तुम्हारे सिवा पहले किसीने नहीं देखा और आगे भी कोई नहीं देख सकता। और चूँकि स्वरूप तत्त्वत: एक ही है, इससे वैशम्पायनजीका यह कथन भी ठीक ही है कि अर्जुनको जो रूप दिखलाया था वही उत्तंकजीको दिखलाया। भगवान्का यह विराट्स्वरूप जिस अनादि और अचिन्त्यकालसे सृष्टिचक्र चला, तबसे है और जबतक यह चक्र रहेगा, तबतक रहेगा। इससे उसको 'आद्य' (सनातन), 'अनन्त' और 'अक्षय' (अविनाशी) कहना भी उचित ही है; क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टिचक्रोंका आधार यही स्वरूप है। सब इसीसे उत्पन्न होते हैं, इसीमें निवास करते हैं और इसीमें लय हो जाते हैं।

अब गीताजीके प्रसंगपर ध्यान दीजिये—

दसवें अध्यायमें संक्षेपसे विभूतियोंका वर्णन करके जब भगवान्ने अन्तमें यह कहा कि 'अर्जुन! बहुत जाननेमें क्या है, तुम यही समझ लो कि इस सारे जगत्को मैंने अपने एक अंशमात्रमें धारण कर रखा है।' बस, तभी अर्जुनके मनमें यह आकांक्षा जाग उठी कि जिस भगवान्के एक अंशमें यह उत्पत्ति विनाशमय सारा 'जगत्' स्थित है, उन भगवान्का पूर्णरूप अवश्य देखना चाहिये। यहाँपर यह ध्यान रखना चाहिये कि जन्मना, रहना, बढ़ना, घटना, रूपान्तर होना और नाश होना—ये छ: अवस्थाएँ जैसे व्यष्टि शरीरकी हैं, वैसे ही समष्टि शरीरकी भी हैं। इन छहों अवस्थावाले पदार्थोंसे युक्त छहों अवस्थावाली जो सृष्टि है उसीको जगत् कहते हैं। इसलिये 'जगत्' शब्दसे जगत्में होनेवाले सृजन, पालन और संहार, जगत्के भूत, वर्तमान और भविष्य आदि सभी कुछ आ जाते हैं। ऐसे जगत्को एक अंशमें धारण करनेवाले भगवान्को सर्वांश पूर्णस्वरूपमें देखनेकी इच्छा होनेसे ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें ही अर्जुन कहते हैं—'भगवन्! मुझपर कृपा करके आपने परम गोपनीय ऐसा उपदेश दिया कि मेरा मोह नष्ट हो गया। मैंने भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयका विस्तार और आपके अविनाशी माहात्म्यको भी सुना। परमेश्वर! पुरुषोत्तम! (यहाँ परमेश्वर और पुरुषोत्तम—ये दोनों ही सम्बोधन ध्यान देनेयोग्य हैं) अब मैं आपका वह 'ऐश्वर रूप' प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ। यदि मैं उसके दर्शन करनेयोग्य समझा जाऊँ तो मुझे योगेश्वर! आप अपने उस अव्यय (अविनाशी) स्वरूपके दर्शन कराइये।'

इसके बाद भगवान् अपने विश्वरूपका संक्षेपमें वर्णन करते हुए अर्जुनको दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं और अपना ऐश्वर योग (इसकी आंशिक सूचना नवें अध्यायमें दी जा चुकी थी) प्रत्यक्ष पूर्णरूपसे देखनेकी आज्ञा करके स्वरूप प्रकट करते हैं। संजय यहाँ कहते हैं कि 'महायोगेश्वर भगवान्ने तब अर्जुनको वह श्रेष्ठ ऐश्वर रूप दिखलाया। इसके बाद श्लोक १० से १३ तक संजयने भगवान्के उस दिव्य विश्वरूपका जो वर्णन किया है उससे पता लगता है कि आरम्भमें भगवान्ने अर्जुनको वही स्तर दिखलाया जो ऐश्वर्य और सौन्दर्यमें पूर्ण था, उसे देखकर अर्जुन आश्चर्य और हर्षमें डूब गये (डरे नहीं) और पुलकित होकर तथा प्रणाम करके मुग्ध होकर उनके स्वरूपका वर्णन करने लगे। सिनेमाके फिल्मकी भाँति विराट्स्वरूपके

स्तर-के-स्तर एकके बाद एक उनके दिव्य नेत्रोंके सामने आ रहे हैं, सिनेमाके जड, विनाशी, क्षुद्र फिल्मके साथ भगवान्‌के उस दिव्य असीम अनन्त रूपकी तुलना किसी प्रकार भी नहीं हो सकती। (समझनेके लिये यह संकेतमात्र किया गया है। वस्तुतः इससे उसकी किसी अंशमें भी उपमा नहीं दी जा सकती।) अर्जुन देखते हैं और वैसा ही वर्णन करते जाते हैं। विश्वरूपका कहीं ओर-छोर न देखकर १६ वें श्लोकमें अर्जुनके नेत्र और मन-बुद्धि थकित हो जाते हैं। हार मान बैठते हैं और वे कहते हैं—'मैं सब ओर आपके अनन्तरूपको देखता हूँ। आपका न कहीं आदि है, न मध्य है और न अन्त है।' फिर १७ वें श्लोकमें कहते हैं, आप अप्रमेय-स्वरूप हैं, आपके विस्तारका कहीं पार ही नहीं है। इसके बाद १८ वेंमें प्रभावका वर्णन करके १९ वेंमें अर्जुन भगवान्‌के उस चन्द्र-सूर्यके नेत्रवाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेजसे जगत्‌को तपानेवाले रूपको और श्लोक २० से २२ तक भगवान्‌के स्वरूपकी अत्यन्त उग्रतासे तीनों लोकोंको व्यथित, देवताओंको भयभीत, ऋषियोंका स्तवनपरायण और रुद्र, आदित्य आदिको विस्मित देखते हैं। ज्यों-ज्यों विश्वरूपके उग्र स्तर नेत्रोंके सामने आते हैं, त्यों-ही-त्यों अर्जुन डरते जाते हैं और २३वें श्लोकमें स्पष्ट कह देते हैं कि आपके महान् उग्र रूपको देखकर सब लोकोंके साथ-साथ मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ। इससे पता लगता है कि अर्जुन अब पहलेकी भाँति हर्षितचित्त नहीं हैं, वरं डर रहे हैं और २४ वेंमें तो यहाँतक कह डालते हैं कि डरके मारे मैं अपनेमें 'धीरज और शान्ति नहीं देख पाता हूँ'—'**धृतिं न विन्दामि शमं च।**' फिर २५से ३० तक वे और भी उग्र रूप देखते हैं और ३१वें श्लोकमें अत्यन्त डरकर नमस्कार करते हुए भगवान्‌से प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करते हैं और पूछते हैं कि 'महाराज! बतलाइये, आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं?'

बस, यहीं विश्वरूपके अगले स्तरोंके दर्शन बंद हो जाते हैं। अर्जुनने विश्वरूपके जिस भयंकर स्तरको देखकर घबराकर उनसे प्रार्थना की, उसी रूपमें स्थित रहकर भगवान् कहने लगे कि 'मैं काल हूँ, सबका संहार करनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ। ये सब मेरे द्वारा मारे हुए हैं, तू निमित्तमात्र बन जा' इत्यादि। इसके बाद भी अर्जुनके सामने वही उग्र रूप बना रहता है। डरे हुए अर्जुन भगवान्‌की स्तुति आरम्भ करते हैं, नमस्कार करते हैं और पहले की हुई अवज्ञाओंके लिये पश्चात्ताप करते हुए क्षमा चाहते हैं। एवं अन्तमें विश्वरूपका संवरण करके अपना चिरपरिचित सौन्दर्य-माधुर्यसे युक्त गदा-चक्रधारी चतुर्भुजरूप दिखानेके लिये विनय करते हैं। अर्जुनके इस स्तवनमें पहले ३६ वें श्लोकके बाद ४६ वें श्लोकतक कहीं विश्वरूपके स्वरूपका वर्णन नहीं है। इसका यही तात्पर्य है कि अब विश्वरूपके अन्य स्तरोंके दर्शन रुक गये हैं, केवल वही भयंकर उग्र रूप अर्जुनके सामने है। भगवान्‌का यहींतक अर्जुनको दर्शन करानेका प्रयोजन था और अर्जुन भी इससे आगे देखना नहीं चाहते थे। बिना चाहे भगवान् दिखाते भी क्यों?

इसके बाद भगवान् अपने इस विश्वरूपको परम तेजोमय, आद्य (आदिरूप-सनातन) और अनन्त कहकर इसकी प्रशंसा करते हैं और अर्जुनको आश्वासन देते हुए कहते हैं कि मैंने प्रसन्न होकर ही तुमको ऐसा (वर्तमान महाभारतके वीरोंके संहारके दृश्यसे युक्त) प्रभावशाली महान् महिमामय स्वरूप दिखलाया है, जो अबतक किसीने नहीं देखा तथा आगे कोई देख नहीं सकता। तू मेरे इस घोर रूपको देखकर व्याकुल मत हो। मूढ़ता छोड़ दे। अब तेरे इच्छानुसार इस रूपका संवरण करके मैं तुझे वही चतुर्भुज रूप दिखलाता हूँ। तू उसे देख!

इस प्रकार यह प्रसंग समाप्त होता है। यहाँ दो-तीन शंकाएँ और की जाती हैं—

१-इतना बड़ा भगवान्‌का अप्रमेय स्वरूप जरासे रथपर भगवान्‌ने अर्जुनको कैसे दिखलाया?

२-भगवान्‌का विश्वरूप यदि नित्य, अविनाशी और सनातन है तो उसमें ये विनाशी शरीर आदि प्राकृतिक पदार्थ कैसे रहते हैं?

३-सृष्टिका भविष्य पहलेसे ही निश्चित है और भगवान् उसे जानते हैं, तो फिर अमुक कर्म करो, अमुकका अमुक फल होगा, यह क्यों कहा जाता है?

इन शंकाओंका समाधान क्रमशः यह है कि १-भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, वे अवकाशमें अनवकाश, अनवकाशमें अवकाश कर सकते हैं, सूईके छेदसे सृष्टिको निकाल सकते हैं। उनके लिये कुछ भी

अशक्य नहीं है, उनके लिये जरा-से स्थानमें अपना विराट्स्वरूप दिखलाना कौन बड़ी बात है?

२-यह सारा जगत् भगवान्का खेल है, खेलकी समस्त वस्तुएँ भगवान्के विराट् शरीरमें ही तो रहती हैं। क्षर, अक्षर सब उस खेलकी वस्तुएँ हैं, इसलिये उनका विश्वरूपमें दीखना उचित ही है। इससे उनके अविनाशीपनमें कोई बाधा नहीं आती।

३-हमारे लिये तो भविष्य निश्चित नहीं है; हमें तो अपने कर्मका ही फल मिलता है। परंतु भगवान्के लिये भविष्य कोई वस्तु ही नहीं है। जहाँ जो कुछ है सब भगवान्की दृष्टिमें है। वे त्रिकालज्ञ हैं, सर्वज्ञ हैं। अनिश्चित और निश्चित दोनोंको ही वे जानते हैं। कैसे जानते हैं इस बातका उत्तर उनके सिवा और कौन दे सकता है?

अन्तमें यह निवेदन है कि जो महानुभाव इस प्रसंगको काव्य, रूपक, ज्ञान-प्रदान या माया कहते हैं, वे भी अपनी-अपनी दृष्टिसे सत्य ही कहते हैं; क्योंकि यह महान् सुन्दर काव्य है ही। रूपक बन ही सकता है। ज्ञान-प्रदान तो निस्सन्देह था ही; और सब कुछ भगवान्की लीला है, तब उसे भगवान्की माया बतावें तो क्या अनुचित है। लीला और भगवान्की स्व-माया एक ही चीज तो है।

किसी भी बहाने भगवान्के गुणोंकी चर्चा करना परम कल्याणकारक है, इसी उद्देश्यसे यह सब लिखा गया है। अज्ञताके लिये पुनः क्षमा-प्रार्थना है।

विषय-चिन्तनसे सर्वनाश और भगवच्चिन्तनसे परम शान्ति

(एक प्रवचनका सारांश)

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥
ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति॥

पूज्य गुरुजनो और बन्धुओ!

अखिल विश्वनायक सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण और समस्त गुरुजनोंके चरणोंमें भक्तिपूर्वक प्रणाम करनेके अनन्तर सेवामें कुछ निवेदन करता हूँ।

माता-पिता आदि गुरुजनोंको अपने बच्चेका खेल कैसा भी हो आनन्दप्रद होता है। मैं समझता हूँ कि मुझे भी यह सौभाग्य प्राप्त है, इसीसे आप मुझे कुछ सुनानेकी आज्ञा देते हैं। मैं भी यह आशा करता हूँ कि आप गुरुजन मुझे बालक समझकर मेरे उचित-अनुचित कथनपर ध्यान न देकर सब प्रकार अपना स्नेहपात्र ही समझेंगे।

कई सज्जनोंने मुझसे भिन्न-भिन्न कई प्रश्न किये हैं और उन प्रश्नोंके उत्तरमें निवेदन करनेकी आज्ञा दी है। इस समय मैं जो कुछ कहूँगा, उसमें उनके प्रश्नोंका उत्तर आ जाय तो वे समझ लेंगे। किसी दार्शनिक विषयपर कुछ कहनेकी न तो मुझमें योग्यता है, न अधिकार है, मैं तो एक बालककी तरह जैसा मेरी वाणीसे निकलेगा कहता जाऊँगा। आपलोग क्षमा तो करेंगे ही।

सबसे पहली बात तो यह कहनी है कि विषय-चिन्तनसे हमारा सर्वनाश होता है और भगवच्चिन्तनसे हमें कभी नाश न होनेवाली परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है। इसीसे गीतामें एक जगह आता है '**प्रणश्यति**' और दूसरी एक जगह आता है '**न प्रणश्यति**'। भगवान् कहते हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥
(२।६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है, कामनासे क्रोध पैदा होता है, क्रोधसे भलीभाँति मूढ़ता उत्पन्न हो जाती है, मूढ़तासे स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है और स्मृतिनाशसे बुद्धिनाश होकर अन्तमें सर्वनाश हो जाता है।' दूसरी जगह श्रीभगवान् घोषणा करते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९। ३०-३१)

'अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे (एकमात्र मुझको ही शरण्य मानकर) मुझको भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने यथार्थ निश्चय कर लिया है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वती शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता।'

समझनेकी बात है। एक अच्छा आदमी है, उसके संचित भी अच्छे हैं, वह भी कुसंगतिमें पड़कर यदि विषयचिन्तनमें लग जाता है तो क्रमशः सर्वनाशके पथपर अग्रसर होता है। और एक महापापी भी अच्छे संगके प्रभावसे यदि मनमें निश्चय करके अनन्यभावसे भगवच्चिन्तन करने लगता है तो सब पापोंसे छूटकर शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्त होता है। इसीलिये संतोंने कहा है—आगे-पीछेकी चिन्ताको छोड़कर वर्तमानको सुधारो।

कर्म तीन प्रकारके हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। पिछले असंख्य जन्मोंके और इस क्षणसे पूर्वतकके जितने भी कर्म बिना भोगे हुए जमा हैं उनका नाम 'संचित' है, संचितमेंसे कर्मोंका जितना अंश इस जीवनमें भोग देनेके लिये प्रवृत्त है वह 'प्रारब्ध' है और जो कुछ सकामभावसे नये कर्म किये जाते हैं वह 'क्रियमाण' है। मनमें होनेवाली स्फुरणाओंमें प्रधान कारण प्रायः 'संचित' है। जैसा अच्छा-बुरा संचित होता है वैसी ही अच्छी-बुरी स्फुरणाएँ होती हैं, परंतु अधिकतर स्फुरणाएँ उसी संचितकी होती हैं जो नवीन होता है। किसी गोदाममें बहुत-सी चीजें रखी हैं। उसमेंसे निकालने जानेपर वही चीज सबसे पहले निकलेगी जो सबके बाद रखी गयी है। पुरानी चीजें या तो पीछे पड़ी हैं या नीचे दबी हैं। यद्यपि बीच-बीचमें उनकी भी गन्ध आया करती है। इसी प्रकार हमारे वर्तमान कर्म जैसे होते हैं वैसा ही संचित होता है और उसीके अनुसार स्फुरणाएँ होती हैं। फिर बार-बार जैसी स्फुरणा होती है वैसे ही कर्ममें प्रवृत्ति होती है। जैसे लड़कपनमें जब हम पढ़ते थे, तब पढ़नेके सम्बन्धकी बातें ही अधिक याद आया करती थीं। अब यदि व्यापार करते हैं तो हमें रात-दिन व्यापारसम्बन्धी बातें ही अधिक याद आती हैं; क्योंकि यही वर्तमानका नवीन कर्म है, जो संचित बनता है और उसीके अनुसार स्फुरणा होकर फिर उसी व्यापारमें ही प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार वर्तमान नवीन कर्मके अनुसार नवीन संचित, नवीन संचितके अनुसार स्फुरणा, स्फुरणाओंके अनुसार फिर वैसा ही नवीन कर्म, कर्मके अनुसार फिर संचित और स्फुरणा। यों वर्तमान कर्मके अनुसार एक चक्र बन जाता है जो उसी प्रकारके संचितको बढ़ाता रहता है। अतएव यदि हमारे संचितकी गोदाममें पहलेके बहुत पुण्य जमा हों, परंतु वर्तमानमें कुसंगमें पड़कर यदि हम बुरे कर्म करने लगते हैं तो उन्हींके अनुसार विषयोंका चिन्तन होता है और उनसे फिर वैसे ही बुरे कर्म बनते हैं और हम सर्वनाशके मुँहमें चले जाते हैं। पाप इतने बढ़ जाते हैं कि उनसे दबे हुए पुण्योंकी गन्ध भी कहीं मुश्किलसे आती है और एक महापापी अपने पूर्व पापोंको छोड़कर ***'गयी सो गयी, अब राख रहीको'*** इस युक्तिके अनुसार अपना शेष जीवन भगवान्‌के समर्पण कर भगवान्‌का अनन्य चिन्तन करने लगता है तो इस चिन्तनरूपी कर्मसे उसका वैसा ही संचित बनता है और वैसी ही स्फुरणा होती है। इस प्रकार भगवच्चिन्तनरूप कर्मका चक्र बन जानेसे ज्ञानाग्नि पैदा होकर उसके कर्मकी सारी गोदामको जला देती है और वह परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

यह बात याद रखनी चाहिये कि पापोंका मूल विषयासक्ति है। कुछ लोग यह कहते हैं कि पाप प्रारब्धसे होते हैं, परंतु यह बात ठीक नहीं। गीताके तीसरे अध्यायमें अर्जुनका प्रश्न है कि 'भगवन्! वह क्या वस्तु है जो इच्छा न होनेपर भी मनुष्यको मानो जबरदस्तीसे पापमें प्रवृत्त कर देती है?' इसके उत्तरमें भगवान् गीता ३। ३७ में कहते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

यहाँ भगवान्‌ने कामको ही पापका हेतु बताया है। कहा है कि यह रजोगुणसे उत्पन्न है, रज रागात्मक है यानी आसक्ति या संग ही रजोगुण है। यह आसक्ति

विषयोंके चिन्तनसे होती है अतएव विषयचिन्तन ही सर्वनाशका प्रधान कारण है। यदि इस सर्वनाशसे बचकर शाश्वती शान्ति प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो विषय-चिन्तन छोड़कर भगवच्चिन्तन करना चाहिये। उपर्युक्त ९। ३१ के श्लोकमें भगवान् प्रतिज्ञा करके कहते हैं कि मेरे ऐसे भक्तका नाश नहीं होता। यहाँ एक बात और याद आ गयी, उपर्युक्त श्लोकके अन्तिम अर्धांशका यह अर्थ भी किया जाता है कि 'अर्जुन! तू प्रतिज्ञा कर कि मेरा भक्त नाशको प्राप्त नहीं होता।' यद्यपि यह अर्थ कुछ असंगत-सा मालूम होता है। बात भगवान् कहें और प्रतिज्ञा अर्जुन करें। परंतु विचार करनेपर मालूम होता है कि भगवान्ने यहाँ ऐसा कहकर मानो भक्तके साथ अपने एक विलक्षण सम्बन्धका परिचय दिया है। भगवान्की प्रतिज्ञा कभी टलनेवाली नहीं होती, परंतु यदि उस प्रतिज्ञाके विरुद्ध किसी भक्तका प्रण अड़ जाय तो वहाँ भगवान्को अपनी प्रतिज्ञा छोड़ देनी पड़ती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण कुछ ही दिनों बाद महाभारत-युद्धमें मिलनेवाला था। सर्वज्ञ भगवान् इस बातको जानते थे कि भक्त-शिरोमणि भीष्मपितामहकी प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिये मुझे अपनी प्रतिज्ञा छोड़नी पड़ेगी। इसीलिये यहाँ अपने कथनको और भी पुष्ट करनेके लिये भक्तवर अर्जुनसे प्रतिज्ञा करवाते हैं। इस विचारसे यह अर्थ भी ठीक बैठता है। यहाँ कोई यह शंका करे कि बिना भोगे ही पापोंका नाश होना तो कर्म-सिद्धान्तके विपरीत बात है; इसका समाधान यह है कि कर्म-सिद्धान्तकी रचना करनेवाले भगवान्ने ही इस नियमको भी रचा है कि जो पुरुष मेरे शरण होकर मेरा अनन्य चिन्तन करता है, उसके पाप-ताप तुरंत ही नष्ट हो जाते हैं। भगवान्ने श्रीरामके रूपमें भी यही कहा है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

एक सज्जन पूछते हैं कि 'इस समय भजनकी जैसी प्रवृत्ति दिनोदिन बढ़ रही है यदि यह इसी प्रकार बढ़ती रही और अच्छे-अच्छे सभी लोग इसमें लग गये तो फिर लौकिक कर्तव्यका पालन कौन करेगा?' इसपर मेरा यह निवेदन है कि प्रथम तो ऐसा सम्भव नहीं कि सब लोग भजनमें लग जायँ और यदि सम्भव भी हो तो दूसरी बात यह है कि भगवान्के सच्चे भक्त कर्तव्यकी सीमासे परे पहुँच जाते हैं। वे अपना सर्वस्व भगवान्के चरणोंमें समर्पण कर सर्वथा निश्चिन्त हो जाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे अकर्मण्य बन जाते हैं। उनका अपना कोई कर्म नहीं रहता। भगवान् जैसा चाहें वैसा ही उनके द्वारा करवा सकते हैं। भगवान् जो कुछ करायेंगे वही उन्हें प्रसन्नतासे स्वीकृत होगा। वे कर्मके स्वरूपको प्रधानता न देकर भगवान्की मंगलमयी रुचिको और उनके संकेतको प्रधानता देंगे। अतएव उनके कर्म भगवत्-प्रेरित होनेके कारण स्वाभाविक ही लोकहितकारी, निर्दोष और भगवान्की पूजास्वरूप होंगे। उन कर्मोंमें न आसक्ति होगी, न विषयवासना और न लोकैषणा ही। इस प्रकार भक्तोंके द्वारा कर्म होंगे, पर अमंगल कर्म नहीं होंगे। अतएव इस शंकाको कोई स्थान नहीं। जहाँ जिस लौकिक कर्मको भक्तोंसे करवानेकी भगवान् आवश्यकता समझेंगे वहाँ करा लेंगे और उसमें भक्तोंको कभी इनकार नहीं है। सच्चे भक्तोंके द्वारा जगत्का सर्वथा मंगल ही होता है।

हाँ, जो लोग भजनके नामपर आलस्य और अकर्मण्यताको आश्रय देते हैं, भगवान्के संकेतको न समझकर चुपचाप पड़े रहना चाहते हैं उनकी बात दूसरी है, परंतु जो लोग यथार्थ ही भजनके लिये संसार-त्यागकर वनवासी हो जाते हैं और भगवान्की इच्छासे केवल भजनमें ही रत रहते हैं, वे इनमें शामिल नहीं हैं। ऐसे एकान्तसेवी भजनानन्दी भक्तोंसे जगत्का बड़ा कल्याण होता है। महत्त्व तो भगवत्प्रेममें है, काम छोड़ने और न छोड़नेमें नहीं। गोपियाँ वनवासिनी नहीं थीं, परंतु उनका प्रेम इतना बढ़ा हुआ था कि वनवासी गृहत्यागी महात्माओंने भी उन्हें प्रेमपथकी आचार्या माना है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कई बार गोपांगनाओंके महत्त्वका श्रीमुखसे वर्णन किया है। अपनेको उनका ऋणी माना है और उनका महत्त्व बड़े-बड़े देवताओं, महर्षियों, भक्तों और पटरानियोंको दिखलाया है। ऐसी अनेकों कथाएँ मिलती हैं।

एक सज्जनने मुझसे पूछा है कि 'प्रेममें 'अद्वैत' है या नहीं?' मेरा उत्तर है कि अवश्य 'अद्वैत' है। प्रेम अनिर्वचनीय है और अनिर्वचनीय तत्त्व अद्वैत ही होता है। प्रेमसे ही यथार्थ तत्त्वका रहस्य जाननेमें आता है और प्रेमसे ही प्रेमास्पदके साथ प्रेमीका सहज एकात्म्य

होता है। किंतु यह अद्वैत 'रसाद्वैत है—आनन्दाद्वैत है।'

एक दूसरे सज्जनका कहना है कि भगवान् सर्वव्यापी हैं या किसी देशविशेषके निवासी? यदि सर्वव्यापी हैं तो भक्तोंके इस कथनकी संगति कैसे बैठती है—

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

भगवान् वृन्दावनसे बाहर एक पग भी नहीं जाते और यदि यही ठीक है तो वे सर्वव्यापी कैसे हैं? इसपर मेरा यह निवेदन है कि दोनों ही बातें ठीक हैं। अवश्य ही गोपियोंके भगवान् वृन्दावनको छोड़कर कहीं एक पग भी नहीं जाते। वह निरन्तर उनकी आँखोंके सामने ही रहते हैं। यदि वृन्दावनमें गीताके 'काल' रूप भगवान् आ जायँ तो गोपियाँ उनसे डर जायँ। अर्जुन भी डर गये थे और वृन्दावनमें '**तोत्त्रवेत्रैकपाणयः**' सारथिरूप भगवान्‌की आवश्यकता भी नहीं है। वृन्दावनके भगवान् तो दिव्य सौन्दर्य और माधुर्यके सागर हैं। वे ललित त्रिभंगीलाल हैं। मुरली हाथमें लिये ऐसी बाँकी छटासे नाचते रहते हैं कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी इस स्वरूपको देखनेकी इच्छा करते हैं और देखते ही सब कुछ भूलकर मोहित हो जाते हैं। ये नटवर मुरलीमनोहर यदि महाभारतकी रणभूमिमें चले जायँ तो रसभंग न हो जायगा? अतएव रसिकशिरोमणि श्रीकुंजविहारीका वृन्दावनकी निकुंज-वीथियोंसे बाहर न निकलना ठीक ही है। भगवान्‌की जहाँ जैसी लीला होती है, उसीके अनुरूप उनका दिव्य मंगल विग्रह होता है। परंतु यह ध्यानमें रहे कि भगवान्‌का मंगलमय विग्रह इस मायाका बना हुआ नहीं होता। वह सच्चिदानन्दघन होता है, इसीसे वाल्मीकिजीने भगवान् श्रीरामसे कहा—

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥

और इसीसे बड़े-बड़े ब्रह्मनिष्ठ पुरुष भगवान्‌के दिव्य मंगल विग्रहको देखकर प्रेमकी बाढ़में बह जाते हैं। मिथिलापुरीमें जिस समय ब्रह्मनिष्ठशिरोमणि महाराज जनकने पहले-पहल भगवान् श्रीरामको लक्ष्मणके साथ देखा, उस समय उनका प्रेम इतना उमड़ा कि वे अपने आँसुओंको न रोक सके और विश्वामित्रसे पूछने लगे कि 'भगवन्! ये दोनों कौन हैं? मेरा हृदय स्वाभाविक ही वैराग्यरूप है। मुझे वैराग्यके लिये कोई साधना नहीं करनी पड़ती, परंतु आज इन बालकोंके स्वरूपको देखकर मेरा मन इतना विवश हो गया कि मैं अपने मनको नहीं रोक सकता। इन्हें देखते ही इतना प्रेम बढ़ गया कि बरबस मेरा मन ब्रह्मसुखको त्यागकर इस प्रेमानन्दमें मग्न हो गया—

सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

भला, भगवान्‌का यह रूप पांचभौतिक होता तो क्या ब्रह्मविद्वरिष्ठ जनकजीको ऐसा मोह हो सकता था? स्वयं जनक इस बातको स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मज्ञानमें मेरा प्रवेश है, परंतु राम और रामके भक्तोंके प्रेमको समझना मेरे अधिकारकी बात नहीं है। जिस समय चित्रकूटमें भरतजी भगवान्‌से अयोध्या लौटनेके लिये आग्रह कर रहे थे, उसी समय जनकजी भी वहाँ जा पहुँचे थे। माता कौसल्याको भरतकी प्रेमातिशयता देखकर यह संदेह हुआ कि राम यदि भरतकी बात न स्वीकार करेंगे तो सम्भव है भरत अपने प्राण विसर्जन कर देंगे। इसलिये उन्होंने जनककी पत्नी सुनयनाके द्वारा जनकजीको संदेश कहलवाया कि वे रामजीको समझा दें। सुनयनाकी प्रार्थना सुनकर जनकजीने कहा—

धरम राजनय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहै काह छलि छुअति न छाँही॥
देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥

श्रीमद्भागवतमें आया है कि जिस समय जन्मसे ही सिद्ध ब्रह्मविद्-शिरोमणि सनकादि वैकुण्ठमें पहुँचे, उस समय भगवान्‌के चरणोंकी तुलसीगन्धने उनके चित्तको क्षुभित कर दिया। क्या मायारचित पार्थिव गन्ध ऐसे मुनियोंके चित्तको आकर्षित कर सकती थी? भक्तोंके लिये तो भगवान्‌का दिव्य मंगलविग्रह प्रत्यक्ष सिद्ध है। कोई उसे मायिक बतलावे तो उसकी उन्हें चिन्ता नहीं।

प्रसंगवश भगवान्‌के दिव्य सौन्दर्यमाधुर्यनिधि मंगलविग्रहकी बात बीचमें आ गयी। मैं यह कह रहा था कि वृन्दावनके भगवान्‌का वृन्दावनसे कहीं न जाना ठीक ही है। इसपर एक कथा सुनाता हूँ। बंगालके प्रसिद्ध भक्त और विद्वान् स्वर्गीय शिशिरकुमार घोषका एक बँगला ग्रन्थ है, उसका नाम है 'कालाचाँद गीता'। उसमेंके एक प्रसंगका यह भाव है—

किसी निकुंजमें बैठी पाँच सखियाँ परस्पर श्रीकृष्णकी

चर्चा करती हुई हार गूँथ रही थीं। इतनेमें ही उधरसे एक महात्मा आ निकले। महात्मासे सखियोंने पूछा—स्वामीजी! हमारे श्रीकृष्ण कहीं छिप गये हैं, हम वनमें उन्हें ढूँढ़ रही हैं। आप महात्मा हैं, उन्हें कहीं देखा हो तो बतलाइये, वे कहाँ हैं?

महात्मा—तुम भगवान् श्रीकृष्णकी बात पूछती हो?

सखियाँ—हाँ, हम अपने प्यारे भगवान् श्रीकृष्णकी बात पूछती हैं।

महात्मा—अरी! तुम बड़ी पगली हो। क्या भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार निकुंजमें बैठकर फूल गूँथनेसे मिलते हैं? यदि तुम भगवान्‌को पाना चाहती हो तो इस नखशिख शृंगारका त्याग करके तपस्विनी बनो। वेणी बाँधना छोड़ो, पहले अपने केश कटवाओ, व्रत-उपवासादि करके शरीरको कृश करो और फिर दीर्घकालतक तप और ध्यानमें लगी रहकर उनकी आराधना करो।

सखियाँ—(डरकर) 'स्वामीजी! हम वेणी बाँधनेके लिये फूल गूँथ रही हैं। वेणी न बाँधेंगी तो हमारे रसिकशेखरको बड़ा दुःख होगा। उनका स्वभाव हम जानती हैं। हम उपवास करके शरीर सुखाने लगेंगी तो वे कभी प्रसन्न न होंगे। सिरके केश मुड़वा लेंगी तो आँसुओंकी धारासे धोये हुए प्रियतमके अरुण चरण-कमलोंको फिर किस चीजसे पोंछेंगी। हम योग-याग करके उन्हें क्यों भुलाने जायँ? वे तो पराये नहीं हैं। वे हमारे स्वामी हैं। तब हम उनकी सेवा ही क्यों न करें? साधू बाबा! यह तो बताओ, तुम्हारे वे कृष्ण कौन हैं और उनसे तुम्हारा क्या सम्बन्ध है?'

महात्मा—अरी! तुम भी बड़ी बावली हो। श्रीकृष्ण भी क्या दो-चार हैं। वे भगवान् एक ही सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर और सर्वनियन्ता हैं, वे राजराजेश्वर हैं, न्यायकर्ता हैं; वरदाता हैं और दण्डधारी हैं। उनके प्रसन्न होनेपर सम्पत्ति, रूठनेपर विपत्ति मिलती है। हम न मालूम कितना कष्ट उठाते हैं, तब भी उन्हें प्रसन्न नहीं कर पाते। डरते हैं, कहीं उनका कोई नियम भंग न हो जाय।

सखियाँ—(प्रसन्न होकर) बड़ी विपदा टली। आपके श्रीकृष्ण दूसरे हैं।

महात्मा—अच्छा बतलाओ, तुमलोगोंके श्रीकृष्ण कैसे हैं।

सखियाँ—साधू बाबा! तुम्हारी पहली बात सुनकर तो हमारे प्राण ही निकल-से गये थे। अब तुम्हारी इस बातसे वे मानो लौट आये हैं। तुमने जिनकी बात कही, वे चाहे कोई हों, हमारे प्राणनाथ नहीं हैं। हमारे श्रीकृष्ण तो श्यामसुन्दर हैं। वे हमारे प्रियतम हैं, हमारे स्वामी हैं। वे दण्डधारी नहीं हैं—हमारे निजजन हैं। उनका जो कुछ है, वह सब हमारा ही है, फिर उनसे हम क्या चाहें? भण्डारकी चाभी तो हमारे पास है। दण्डकी बात सुनकर तो डर लगता है। जब हम उन्हींकी प्रेयसियाँ हैं तब वे हमें दण्ड क्यों देंगे? कुपथ्यसेवनसे रोग हो जानेपर यदि हमारे स्वामी कोई कड़वी दवा खिलावें या कहीं फोड़ा होनेपर उसे चिरवा दें तो क्या इसे दण्ड कहते हैं? क्या स्नेहका नाम ही दण्ड है? यह तो प्राणनाथका परम प्रसाद है। तुमलोग पुरुष हो, राजसभामें जा सकते हो, राजाको कर देते हो, हमपर यदि कोई कर लगता होगा तो उसे प्राणनाथ आप ही भर देंगे। हमें दण्ड और पुरस्कारसे क्या मतलब! हम तो तुम्हारे उस राजेश्वर कृष्णको देखकर डर जायँगी। हमारे श्रीकृष्ण राजा नहीं हैं, वे तो रसिकशेखर हैं। हमने अपने देह, मन, प्राण सब उन्हींके चरणोंमें सौंप दिये हैं। हम सरलहृदया स्त्रियाँ तप और आराधनाकी बात क्या जानें? हमारे प्राणनाथ तो इस निकुंजभवनमें ही कहीं छिपे हैं। वे कहीं जाते नहीं, हमसे यों ही खेल किया करते हैं। तुमने कहीं देखा है तो कृपा करके बतलाओ।

सखियोंकी प्रेमभरी सरल बातें सुनकर महात्माका हृदय द्रवित हो गया, उनकी आँखोंमें प्रेमाश्रु भर आये। उन्होंने कहा—'अच्छा, तुम अपने श्रीकृष्णके स्वरूपका तो कुछ वर्णन करो।'

स्वरूपकी याद दिलाते ही सखियोंके हृदय आनन्दसे भर गये, उनके मुखकमल खिल उठे और भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन करते-करते प्रेमातिशयताके कारण देहकी सुधि-बुधि भूलकर वे नाच उठीं। उनके प्रेमसे प्रभावित होकर महात्माजी भी अपने-आपको न रोक सके और श्रीकृष्णके नामका कीर्तन करके नाचने लगे।

ऐसे प्रेमी भक्त अपने भगवान्‌को जहाँ रखना चाहते हैं, वहीं उन्हें रहना पड़ता है। इसलिये भक्तोंका यह कहना है कि भगवान् वृन्दावनको छोड़कर एक पग भी

कहीं नहीं जाते, सर्वथा सत्य ही है।

अब रही, 'सर्वव्यापी' की बात, इसका उत्तर यह है कि भगवान् अवश्य ही सर्वव्यापी भी हैं। ऐसा कौन-सा स्थान है, जहाँ भगवान् नहीं हैं? परंतु सर्वव्यापी होनेपर भी वे केवल सर्वव्यापी ही नहीं हैं, यदि वे सर्वव्यापी हैं तो फिर यह 'सर्व' क्या है? सर्व भी तो वही हैं। वे ही सर्व हैं, वे ही सर्वव्यापी हैं, वे ही सर्वातीत हैं। भगवान् सभी कुछ हैं। हमें तो उनपर विश्वास करके अपनेको उनके चरणोंमें समर्पण कर देना चाहिये। फिर वे क्या हैं, इसका रहस्य वे स्वयं ही हमें समझा देंगे।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

एक प्रश्न और आया था कि 'यदि हम भगवान्की दयापर ही विश्वास करें तो क्या हमें प्रयत्न करना सर्वथा छोड़ देना चाहिये?' हाँ, अहंकारसे प्रेरित प्रयत्न अवश्य छोड़ देना चाहिये अथवा भोगकामनावश किये जानेवाले निषिद्ध प्रयत्नोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये, परंतु भगवान्के अनुकूल कर्म तो अवश्य ही करने पड़ेंगे। दयापर विश्वास करनेका यह अर्थ नहीं है कि हम भगवान्के अनुकूल कर्मोंका त्याग करके आलसी बन जायँ। जो यह कहता है कि 'भगवन्! मुझको तो आपकी दयामें ही विश्वास है, परंतु मैं आपकी आज्ञा नहीं मानना चाहता' उसका वास्तवमें भगवान्की दयामें विश्वास ही नहीं है। दयामें विश्वासका तो यही आशय है कि हम स्वार्थवश जो बुरे कर्म करते हैं उन्हें छोड़ दें और कर्तृत्वाभिमान त्यागकर भगवान्की प्रेरणासे ही कर्म करें। यह भी नहीं समझ लेना चाहिये कि भगवान्का स्मरण करते हुए संसारका काम नहीं हो सकता। भगवान्ने तो अर्जुनको आज्ञा दी है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

'निरन्तर मेरा स्मरण करो और समयपर युद्ध करते जाओ।' युद्धमें तो बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है। एक ही बाणमें मृत्यु हो सकती है। शारीरिक वेदना भी कम नहीं रहती। यदि भगवान्की स्मृति रखते हुए ऐसे संकटमय क्षेत्रमें भी कर्म किया जा सकता है तो भगवान्का स्मरण करते हुए संसारके अन्य साधारण कर्म किये जायँ इसमें कौन बड़ी बात है?

अतएव यदि हमलोग भगवान्की आज्ञा मानकर यथासाध्य विषय-चिन्तनका त्याग करके भगवच्चिन्तन करते हुए ही भगवदर्थ संसारके आवश्यक वैध कर्मोंको करें तो हमें भगवान्का प्रेम अवश्य प्राप्त होगा और हमारा मनुष्यजन्म सफल हो जायगा।

एक सज्जन पूछते हैं कि मन यदि मुक्ति नहीं चाहता तो क्या चाहता है? मेरा निवेदन है कि वहाँ चाहने-न-चाहनेका प्रश्न ही नहीं रह जाता। भक्त अपने भगवान्के चिन्तनमें ही मस्त हुआ रहता है। यह तो सिद्धान्त ही है—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

जबतक भोग और मोक्षकी पिशाचिनी चाह मनमें वर्तमान है तबतक भक्तिसुख वहाँ कैसे प्रकट हो सकता है। अतएव भक्तको कोई चाह नहीं होती, उसको ऐसी वस्तु मिली रहती है, जिससे सारी चाह समाप्त हो जाती है। उसका जो कुछ कार्य होता है सब अपने प्रियतम भगवान्के लिये ही होता है। उसके रोम-रोमसे मानो यही ध्वनि निकलती है—

अब तो भोग-मोक्षकी इच्छा व्याकुल कभी न करती है।
मुखड़ा ही नित नव बंधन है मुक्ति चरणसे झरती है॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहम्

प्राण प्रियतम! वैराग्यका उपदेश देनेवाले लोग कहते हैं मृत्युको याद रखो, मृत्युका भय करो। मुझे उनका यह कथन नहीं जँचता। मृत्युको मृत्यु समझकर स्मरण रखनेकी आवश्यकता ही क्या है? और उससे भय भी क्यों करना चाहिये? जब सभी रूपोंमें तुम भरे हो तब किसी खास समयमें आनेवाले रूपसे ही तुम्हें स्मरण क्यों किया जाय? अभी जिस रूपमें सामने हो उसीको स्मरण रखनेमें क्या हानि है? भयकी तो कोई बात ही नहीं। तुम-जैसे जीवनसंगी प्रियतम सखासे भय करनेकी कल्पना ही कैसी? फिर मृत्युके लिये तो तुम स्वयं पुकारकर कहते हो—

'**मृत्युः सर्वहरश्चाहम्**' 'सर्वहर मृत्यु मैं हूँ।' जब

तुम्हीं हो तब तुमसे भय कैसा? जो भय करते हैं उन्हें या तो तुम्हारे ये शब्द ही नहीं सुन पड़े हैं और सुने हैं तो इन शब्दोंपर विश्वास नहीं है। जब हम तुम्हारे शब्दोंपर ही विश्वास न करें तब हमारा कैसा वैराग्य और कैसी भक्ति? अतएव नाथ! मुझे ऐसा वैराग्य तो मत दो, जिससे तुम्हारे किसी भी रूपको भयजनक मानकर उसका स्मरण करना पड़े। प्रेमके अगाध उदधिमें भयकी बात सुनकर भी भय लगता है। मुझे तो नाथ! दया करके इसी भयसे बचाओ और ऐसा बना दो जिससे सर्वदा, सर्वथा और सर्वत्र केवल तुम्हारे 'प्रेममय' स्वरूपके ही दर्शन कर अथाह आनन्दकी रसमय लहरियाँ ही बना रहूँ।

हमारा पुराण-साहित्य

हमारा पुराण-साहित्य बड़े महत्त्वका है। यह सम्भव है कि उसमें समय-समयपर यत्किंचित् परिवर्तन-परिवर्द्धन किया गया हो, परंतु मूलतः तो वह वेदकी भाँति भगवान्‌का निःश्वासरूप ही है। शतपथ ब्राह्मणमें आया है—

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।*

(१४। २। ४। १०)

'गीले काठमें उत्पन्न अग्निसे जिस प्रकार पृथक् धूआँ निकलता है, उसी प्रकार ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस (अथर्ववेद), इतिहास, पुराण, विद्याएँ, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण और अर्थवाद हैं, वे सब महान् परमात्माके ही निःश्वास हैं।' अर्थात् बिना ही प्रयत्नके परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं—

'... **अप्रयत्नेनैव पुरुषनिःश्वासो भवत्येवम्** ...' (शांकरभाष्य) वेदोंके संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदोंमें भगवान् विष्णु, शिव आदिके, भगवान्‌के विभिन्न अवतारोंके तथा पुराणवर्णित अनेकों कथाओंके प्रसंग आये हैं।

अथर्ववेदमें आया है—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वं दिवि देवा दिवश्रिताः॥

(११। ७। २४)

'यज्ञसे यजुर्वेदके साथ ऋक्, साम, छन्द और पुराण उत्पन्न हुए।' छान्दोग्योपनिषद्‌में नारदजीने सनत्कुमारसे कहा है—

'**स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्—**' (७। ११)

'मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चौथे अथर्ववेद और पाँचवें वेद इतिहास-पुराणको जानता हूँ।'

मनु महाराजने तो पुराणकी मंगलमयताको जानकर आज्ञा ही दी है—

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणान्यखिलानि च॥

(३। २३२)

'श्राद्धादि पितृकार्योंमें वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण और उनके परिशिष्ट भाग सुनाने चाहिये।'

ब्रह्माण्डपुराणके प्रक्रियापादमें 'पुराण' शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार की गयी है—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् सांगोपनिषदान् द्विजः।
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥
यस्मात् पुरा ह्यनक्तीदं पुराणं तेन तत्स्मृतम्।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(अध्याय १। १७०-१७१,१७३)

'अंग और उपनिषद्‌के सहित चारों वेदोंका अध्ययन करके भी यदि पुराणको नहीं जाना गया तो ब्राह्मण विचक्षण नहीं हो सकता; क्योंकि इतिहास-पुराणके द्वारा ही वेदकी पुष्टि करनी चाहिये। यही नहीं, पुराणज्ञानसे रहित अल्पज्ञसे वेद डरते रहते हैं; क्योंकि ऐसे व्यक्तिके द्वारा ही वेदका अपमान हुआ करता है। अत्यन्त प्राचीन

* बृहदारण्यक-उपनिषद् २। ४। १० में यह ज्यों-का-त्यों है।

तथा वेदको स्पष्ट करनेवाला होनेसे ही इसका नाम 'पुराण' हुआ है। पुराणकी इस व्युत्पत्तिको जो जानता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

इस प्रकार पुराणोंकी अनादिता, प्रामाणिकता तथा मंगलमयताका स्थल-स्थलपर उल्लेख है और वह सर्वथा सिद्ध एवं यथार्थ है। भगवान् व्यासदेवने प्राचीनतम पुराणका प्रकाश और प्रचार किया है। वस्तुतः पुराण अनादि और नित्य हैं।

पुराणोंकी कथाओंमें असम्भव-सी दीखनेवाली बातें, परस्पर विरोधी-सी बातें और भगवान् तथा देवताओंके साक्षात् मिलने आदिके प्रसंगोंको देखकर स्वल्प श्रद्धावाले पुरुष उन्हें काल्पनिक मानने लगते हैं; परंतु यथार्थमें ऐसी बात नहीं है। इनमें प्रत्येकपर संक्षेपसे विचार कीजिये।

जबतक वायुयानका निर्माण नहीं हुआ था, तबतक पुराण-इतिहासोंमें वर्णित विमानोंके वर्णनको बहुत-से लोग असम्भव मानते थे। पर अब जब हमारी आँखोंके सामने आकाशमें विमान उड़ रहे हैं, तब वैसी बात नहीं रही। मान लीजिये आजके ये रेडियो, टेलीविजन, टेलीफोन आदि यन्त्र नष्ट हो जायँ और कुछ शताब्दियोंके बाद ग्रन्थोंमें इनका वर्णन पढ़नेको मिले तो उस समयके लोग यही कहेंगे कि यह सारी कपोलकल्पना है; भला, हजारों कोसोंकी बात उसी क्षण वैसी-की-वैसी सुनायी देना, आवाजका पहचाना जाना और उसमें आकृति भी दीख जाना कैसे सम्भव है।' हमारे ब्रह्मास्त्र, आग्नेयास्त्र आदिको लोग असम्भव मानते थे, पर अब अणुबमकी शक्ति देखकर कुछ-कुछ विश्वास करने लगे हैं। पुराणवर्णित सभी असम्भव बातें ऐसी ही हैं, जो हमारे सामने न होनेके कारण असम्भव-सी दीखती हैं।

परस्पर विरोधी प्रसंग तो कल्पभेदको लेकर हैं। पुराणोंके सृष्टितत्त्वको जाननेवाले लोग इस बातको सहज ही समझ सकते हैं।

रही देवताओंके मिलनेकी बात, सो यह भी असम्भव नहीं है। प्राचीन कालके उन भक्तिपूत योगी, तपस्वी, ऋषि-मुनियोंमें ऐसी सात्त्विकी महान् शक्ति थी कि उनमेंसे कई तो समस्त लोकोंमें निर्बाध यातायात करते थे। दिव्यलोक, देवलोक, असुरलोक और पितृलोककी व्यवस्था और घटनाओंको वहाँ जाकर प्रत्यक्ष देखते थे। देवताओंसे मिलते थे और अपने तपोमय प्रेमाकर्षणसे देवताओंको—यहाँतक कि भगवान्‌को भी अपने यहाँ बुलाकर प्रकट कर लेते थे। पुराणोंकी ऐसी बातें उन ऋषि-मुनियोंकी स्वयं प्रत्यक्ष की हुई ही हैं। अद्वैत-वेदान्तके महान् आचार्य भगवान् शंकरने शारीरकभाष्यमें लिखा है—

इतिहासपुराणमपि व्याख्यातेन मार्गेण सम्भवन्मन्त्रार्थवादमूलत्वात् प्रभवति देवताविग्रहादि साधयितुम्। प्रत्यक्षादिमूलमपि सम्भवति। भवति ह्यस्माकमप्रत्यक्षमपि चिरन्तनानां प्रत्यक्षम्। तथा च व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मर्यते। यस्तु ब्रूयादिदानीन्तनानामिव पूर्वेषामपि नास्ति देवादिभिर्व्यवहर्तुं सामर्थ्यमिति, स जगद्वैचित्र्यं प्रतिषेधेत्, इदानीमिव च नान्यदापि सार्वभौमः क्षत्रियोऽस्तीति ब्रूयात्। ततश्च राजसूयादिचोदनोपरुन्ध्यात्। इदानीमिव च कालान्तरेऽप्यव्यवस्थितप्रायान् वर्णाश्रमधर्मान् प्रतिजानीत, ततश्च व्यवस्थाविधायि शास्त्रमनर्थकं स्यात्। तस्माद् धर्मोत्कर्षवशाच्चिरन्तना देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवजह्रुरिति श्लिष्यते............।

(देखिये १। ३। ३३ का भाष्य)

'इतिहास और पुराण भी मन्त्रमूलक तथा अर्थवादमूलक होनेके कारण प्रमाण हैं, अतः उपर्युक्त रीतिसे वे देवताविग्रह आदिके सिद्ध करनेमें समर्थ होते हैं। देवताओंका प्रत्यक्ष आदि भी सम्भव है। इस समय हमें जो प्रत्यक्ष नहीं होते, प्राचीन लोगोंके वे प्रत्यक्ष होते थे, जैसे कि व्यासादिके देवताओंके साथ प्रत्यक्ष व्यवहारकी बात स्मृतिमें है।' 'आजकलकी भाँति प्राचीन पुरुष भी देवताओंके साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करनेमें असमर्थ थे, यह कहनेवाला तो जगत्‌की विचित्रताका ही निषेध करेगा।' 'आजकलके समान अन्य समयमें भी सार्वभौम क्षत्रियोंकी सत्ता नहीं थी' यों कहनेपर तो राजसूय आदि विधिका बाध हो जायगा और ऐसी प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि आजकलके समान अन्य समयमें भी वर्णाश्रम-धर्म अव्यवस्थित ही था। तब तो इसकी व्यवस्था करनेवाला शास्त्र ही व्यर्थ हो जायगा। अतएव यह सिद्ध है कि धर्मके उत्कर्षके कारण प्राचीन लोग देवताओं आदिके साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे।

इससे सिद्ध है कि पुराणवर्णित प्रसंग काल्पनिक नहीं हैं, वे सर्वथा सत्य हैं। अवश्य ही यह बात है कि हमारे ऋषिप्रणीत ग्रन्थोंमें वर्णित प्रसंग ऐसे चमत्कारपूर्ण हैं कि जिनके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीनों ही अर्थ होते हैं। इसलिये जो लोग इनका आध्यात्मिक अर्थ करते हैं, वे भी अपनी दृष्टिसे ठीक ही करते हैं। पुराणोंमें कहीं-कहीं ऐसी बातें भी हैं, जो घृणित मालूम देती हैं। इसका कारण यह है कि उनमें कुछ प्रसंग तो ऐसे हैं, जिनमें किसी निगूढ़ तत्त्वका विवेचन करनेके लिये आलंकारिक भाषाका प्रयोग किया गया है। उन्हें समझनेके लिये भगवत्कृपा, सात्त्विकी श्रद्धा और गुरु-परम्पराके अध्ययनकी आवश्यकता है। कुछ ऐसी बातें हैं, जो सच्चा इतिहास है। बुरी बात होनेपर भी सत्यके प्रकाश करनेकी दृष्टिसे उन्हें ज्यों-का-त्यों लिख दिया गया है। इसका कारण यह है कि हमारे वे पुराणवक्ता ऋषि-मुनि आजकलके इतिहासलेखकोंकी भाँति राजनीतिक; दलगत, देशगत और जातिगत आग्रहके मोहसे मिथ्याको सत्य बनाकर लिखना पाप समझते थे। वे सत्यवादी, सत्याग्रही और सत्यके प्रकाशक थे।

अब एक बात और है, जो बुद्धिवादी लोगोंकी दृष्टिमें प्रायः खटकती है—वह यह कि पुराणोंमें जहाँ जिस देवता, तीर्थ या व्रत आदिका महत्त्व बतलाया गया है, वहाँ उसीको सर्वोपरि माना है और अन्य सबके द्वारा उसकी स्तुति करायी गयी है। गहराईसे न देखनेपर यह बात अवश्य बेतुकी-सी प्रतीत होती है; परंतु इसका तात्पर्य यह है कि भगवान्का यह लीलाभिनय ऐसा आश्चर्यमय है कि इसमें एक ही परिपूर्ण भगवान् विभिन्न-विचित्र लीलाव्यापारके लिये और विभिन्न रुचि, स्वभाव तथा अधिकारसम्पन्न साधकोंके कल्याणके लिये अनन्त विचित्र रूपोंमें नित्य प्रकट हैं। भगवान्के ये सभी रूप नित्य, पूर्णतम और सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। अपनी-अपनी रुचि और निष्ठाके अनुसार जो जिस रूप और नामको इष्ट बनाकर भजता है, वह उसी दिव्य नाम और रूपमेंसे समस्त रूपमय एकमात्र भगवान्को प्राप्त कर लेता है; क्योंकि भगवान्के सभी रूप परिपूर्णतम हैं और उन समस्त रूपोंमें एक ही भगवान् लीला करते हैं। व्रतोंके सम्बन्धमें भी यही बात है। अतएव श्रद्धा और निष्ठाकी दृष्टिसे साधकके कल्याणार्थ जहाँ जिसका वर्णन है; वहाँ उसको सर्वोपरि बताना युक्तियुक्त ही है और परिपूर्णतम भगवत्सत्ताकी दृष्टिसे सत्य तो है ही। तीर्थोंकी बात यह है कि भगवान्के विभिन्न नाम-रूपोंकी उपासना करनेवाले संतों, महात्माओं और भक्तोंने अपनी कल्याणमयी सत्साधनाके प्रतापसे विभिन्न रूपमय भगवान्को अपनी-अपनी रुचिके अनुसार नाम-रूपमें अपने ही साधन-स्थानमें प्राप्त कर लिया और वहीं उनकी प्रतिष्ठा की। एक ही भगवान् अपनी पूर्णतम स्वरूप-शक्तिके साथ अनन्त स्थानोंमें, अनन्त नाम-रूपोंमें प्रतिष्ठित हुए। भगवान्के ऐसे प्रतिष्ठास्थान ही तीर्थ हैं जो श्रद्धा, निष्ठा और रुचिके अनुसार सेवन करनेवालेको यथायोग्य फल देते हैं। यही तीर्थ-रहस्य है, इस दृष्टिसे प्रत्येक तीर्थको सर्वोपरि बतलाना सर्वथा उचित ही है।

सब एक हैं; इसकी पुष्टि तो इसीसे भलीभाँति हो जाती है कि शैव कहे जानेवाले पुराणोंमें विष्णुकी और वैष्णव-पुराणोंमें शिवकी महिमा गायी गयी है और दोनोंको एक बताया गया है तथा उक्त पुराण-विशेषके विशिष्ट प्रधान देवने अपने ही श्रीमुखसे अन्य पुराणोंके प्रधान देवताको अपना ही स्वरूप बतलाया है। स्कन्दपुराण एक शैवपुराण माना जाता है; परंतु इसमें स्थान-स्थानपर विष्णुकी अनन्त महिमा गायी गयी है, उनकी स्तुति की गयी है और भगवान् शिवने उनको अपना अभिन्न स्वरूप बतलाया है तथा दोनोंकी एकताके सम्बन्धमें निरूपण किया गया है—

यथा शिवस्तथा विष्णुर्यथा विष्णुस्तथा शिवः।
अन्तरं शिवविष्णवोश्च मनागपि न विद्यते॥

(काशीखण्ड २३। ४१)

'जैसे शिव हैं, वैसे ही विष्णु हैं तथा जैसे विष्णु हैं, वैसे ही शिव हैं। शिव और विष्णुमें तनिक भी अन्तर नहीं है।'

पवित्राणां पवित्रं यो ह्यगतीनां परा गतिः।
दैवतं देवतानां च श्रेयसां श्रेय उत्तमम्॥

(वैष्णवखण्ड वे० मा० ३५। ३८)

'भगवान् विष्णु पवित्रोंको पवित्र करनेवाले हैं, अगतियोंकी परम गति हैं, देवताओंके भी आराध्य हैं और कल्याणोंके उत्तम कल्याण हैं।'

यो विष्णुः स शिवो ज्ञेयो यः शिवो विष्णुरेव सः।

(माहेश्वरखण्ड के० ख० ८। २०)

'जो विष्णु हैं, उन्हींको शिव जानना चाहिये और जो शिव हैं, वही विष्णु हैं।'

भगवान् शिव स्वयं कहते हैं—'विष्णु! जैसे मैं हूँ, वैसे ही तुम हो।'

'यथाहं त्वं तथा विष्णो' (काशी० २७। १८३)

श्रीशंकरजी गरुड़से कहते हैं—'हम ही वे विष्णु हैं और वे विष्णु ही हम हैं, हम दोनोंमें तुम्हारी भेदबुद्धि नहीं होनी चाहिये'—

असावहं स वै विष्णुर्मास्तु ते भेददृक् च नौ।

(काशी० ५०। १४४)

ऐसे असंख्य वचन विभिन्न पुराणोंमें पाये जाते हैं।

लोग कहते हैं कि तीर्थोंकी इतनी महत्ता बता दी गयी है कि सदाचार तथा ज्ञानके साधनोंका तिरस्कार हो गया है। तीर्थसेवनके कुछ अनुचित पक्षपाती लोग भी ऐसा कह देते हैं कि 'बस, अमुक तीर्थका सेवन करो; फिर चाहे जो पापाचार-अनाचार करो, कोई डरकी बात नहीं है।' पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। इस भूलमें कोई न रहे, इसीसे पुराणोंमें जहाँ तीर्थादिका माहात्म्य प्रचुर मात्रामें लिखा गया है, वहीं ऐसी बात लिख दी गयी है, जो सारे भ्रमोंको दूर कर देती है। स्कन्दपुराणमें काशीका बड़ा माहात्म्य है। पर साथ ही कहा गया है कि पाप करनेवाले लोग काशीमें न रहें—

पापमेव हि कर्तव्यं मतिरस्ति यथेदृशी।
सुखे नान्यत्र कर्तव्यं मही ह्यस्ति महीयसी॥
अपि कामातुरो जन्तुरेकां रक्षति मातरम्।
अपि पापकृता काशी रक्ष्या मोक्षार्थिनैकिका॥
परापवादशीलेन परदाराभिलाषिणा।
तेन काशी न संसेव्या क्व काशी निरयः क्व सः॥
अभिलष्यन्ति ये नित्यं धनं चात्र प्रतिग्रहैः।
परत्वं कपटैर्वापि काशी सेव्या न तैर्नरैः॥
परपीडाकरं कर्म काश्यां नित्यं विवर्जयेत्।
तदेव चेत् किमत्र स्यात् काशीवासो दुरात्मनाम्॥

(काशी० २२। ९५—९९)

अर्थार्थिनस्तु ये विप्र ये च कामार्थिनो नराः।
अविमुक्तं न तैः सेव्यं मोक्षक्षेममिदं यतः॥
शिवनिन्दापरा ये च वेदनिन्दापराश्च ये।
वेदाचारप्रतीपा ये सेव्या वाराणसी न तैः॥
परद्रोहधियो ये च परेर्ष्याकारिणश्च ये।
परोपतापिनो ये वै तेषां काशी न सिद्धये॥

(काशी० १२२। १०१—१०३)

मैं तो पाप करूँगा ही—ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसके लिये पृथ्वी बहुत बड़ी पड़ी है। वह काशीसे बाहर कहीं भी जाकर सुखसे पाप कर सकता है। कामातुर होनेपर भी मनुष्य एक अपनी माताको तो बचाता ही है। ऐसे ही पापी मनुष्यको भी मोक्षार्थी होनेपर एक काशीको तो बचाना ही चाहिये। दूसरोंकी निन्दा करना जिनका स्वभाव है और जो परस्त्रीकी इच्छा करते हैं, उनके लिये काशीमें रहना उचित नहीं। कहाँ मोक्ष देनेवाली काशी और कहाँ ऐसे नारकी मनुष्य! जो प्रतिग्रहके द्वारा धनकी इच्छा करते हैं और जो कपट-जाल फैलाकर दूसरोंका धन हरण करना चाहते हैं, उन मनुष्योंको काशीमें नहीं रहना चाहिये। काशीमें रहकर ऐसा कोई काम कभी नहीं करना चाहिये, जिससे दूसरेको पीड़ा हो। जिनको यही करना हो, उन दुरात्माओंको काशीवाससे क्या प्रयोजन है!

'विप्रवर! जो अर्थार्थी या कामार्थी हैं, उनको इस मुक्तिदायी काशीक्षेत्रमें नहीं रहना चाहिये। जो शिवनिन्दामें और वेदकी निन्दामें लगे रहते हैं तथा वेदाचारके विपरीत आचरण करते हैं, उनको वाराणसीमें नहीं रहना चाहिये। जो दूसरोंसे द्रोह करते हैं, दूसरोंसे डाह करते हैं और दूसरोंको कष्ट पहुँचाते हैं, काशीमें उनको सिद्धि नहीं मिलती।'

पापात्मा तीर्थफलसे वंचित रहता है—यह स्पष्ट कहा गया है—

अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः।
हेतुनिष्ठश्च पंचैते न तीर्थफलभागिनः॥

(काशी० ६। ४५)

'श्रद्धाहीन, पापात्मा (तीर्थमें पातकी—पाप करनेवालेकी शुद्धि होती है, पर जिसका स्वभाव ही पापमय है, उस 'पापात्मा' की नहीं होती), नास्तिक, संदेहशील और हेतुवादी—इन पाँचोंको तीर्थफलकी प्राप्ति नहीं होती।'

वस्तुतः तीर्थका फल किसको मिलता है?—

प्रतिग्रहादुपावृत्तः संतुष्टो येन केनचित्।
अहङ्कारविमुक्तश्च स तीर्थफलमश्नुते॥
अदम्भको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
विमुक्तः सर्वसंगैर्यः स तीर्थफलमश्नुते॥

अक्रोपनोऽमलमतिः सत्यवादी दृढव्रतः।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते॥

(काशी० ६। ४९—५१)

'जो प्रतिग्रहसे निवृत्त है, जिस किसी स्थितिमें ही संतुष्ट है और अहंकारसे भलीभाँति छूटा हुआ है, वह तीर्थफलका भोग करता है। जो दम्भ नहीं करता, सकाम कर्मका आरम्भ नहीं करता, स्वल्पाहार करता है, इन्द्रियोंको जीत चुका है और समस्त आसक्तियोंसे भलीभाँति मुक्त है, वह तीर्थफलका भोग करता है। जो क्रोधरहित है, जिसकी बुद्धि निर्मल है, जो सत्यभाषण करता है, दृढ़निश्चयी है और समस्त प्राणियोंको अपने आत्माके समान ही जानता है, वह तीर्थफलका भोग करता है।' क्योंकि—

ये तत्र चपलास्तथ्यं न वदन्ति च लोलुपाः।
परिहासपरद्रव्यपरस्त्रीकपटाग्रहाः॥
मलचैलावृताशान्ताशुचयस्त्यक्तसत्क्रियाः।
तेषां मलिनचित्तानां फलमत्र न जायते॥

(वैष्णव० बदरि० ६। ६९-७०)

भगवान् शंकर स्कन्दजीसे कहते हैं—

'जो चंचलबुद्धि हैं, लोभी हैं और तथ्यकी बात नहीं कहते, जिनके मनमें परिहास, पर-धन और पर-स्त्रीकी इच्छा है तथा जिनका कपटपूर्ण आग्रह है, जो दूषित वस्त्र पहनते हैं, जो अशान्त, अपवित्र और सत्कर्मोंके त्यागी हैं, उन मलिनचित्त मनुष्योंको इस तीर्थमें कोई फल नहीं मिलता।'

तीर्थोंमें किस प्रकार रहना चाहिये, इसपर कहा गया है—

निर्ममा निरहंकारा निःसंगा निष्परिग्रहाः।
बन्धुवर्गेण निःस्नेहाः समलोष्टाश्मकांचनाः॥
भूतानां कर्मभिर्नित्यं त्रिविधैरभयप्रदाः।
सांख्ययोगविधिज्ञाश्च धर्मज्ञाश्छिन्नसंशयाः॥

(अवन्तिकाखण्ड ७। ३२-३३)

'(इस क्षेत्रमें वास करनेवाले) ममतारहित, अहंकाररहित, आसक्तिरहित, परिग्रहसे शून्य, बन्धु-बान्धवोंमें स्नेह न रखनेवाले, मिट्टी, पत्थर और सोनेमें समान बुद्धि रखनेवाले, मन-वाणी और शरीरके द्वारा किये जानेवाले त्रिविध कर्मोंसे सदा सब प्राणियोंको अभय देनेवाले, सांख्य और योगकी विधिको जाननेवाले, धर्मके स्वरूपको समझनेवाले और संशय-संदेहोंसे रहित हों।'

मानस-तीर्थोंका वर्णन करते हुए यहाँतक कह दिया गया है—

शृणु तीर्थानि गदतो मानसानि ममानघे।
येषु सम्यङ्नरः स्नात्वा प्रयाति परमां गतिम्॥
सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च॥
दानं तीर्थं दमस्तीर्थं संतोषस्तीर्थमुच्यते।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता॥
ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं तपस्तीर्थमुदाहृतम्।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा॥
न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते।
स स्नातो यो दमस्नातः शुचिः शुद्धमनोमलः॥
यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो दाम्भिको विषयात्मकः।
सर्वतीर्थेष्वपि स्नातः पापो मलिन एव सः॥
न शरीरमलत्यागान्नरो भवति निर्मलः।
मानसे तु मले त्यक्ते भवत्यन्तः सुनिर्मलः॥
जायन्ते च म्रियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः।
न च गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्धमनोमलाः॥
विषयेष्वतिसंरागो मानसो मल उच्यते।
तेष्वेव हि विरागोऽस्य नैर्मल्यं समुदाहृतम्॥
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानान्न शुध्यति।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचिः॥
दानमिज्या तपः शौचं तीर्थसेवा श्रुतं यथा।
सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मलः॥
निगृहीतेन्द्रियग्रामो यत्रैव च वसेन्नरः।
तत्र तस्य कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्कराणि च॥
ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥

(काशीखण्ड ६। २९—४१)

अगस्त्यजीने लोपामुद्रासे कहा—'निष्पापे! मैं मानसतीर्थोंका वर्णन करता हूँ, सुनो। इन तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य परम गतिको प्राप्त होता है। सत्य, क्षमा, इन्द्रियसंयम, सब प्राणियोंके प्रति दया, सरलता, दान, मनका दमन, संतोष, ब्रह्मचर्य, प्रियभाषण, ज्ञान, धृति और तपस्या—ये प्रत्येक एक-एक तीर्थ हैं। इनमें ब्रह्मचर्य परम तीर्थ है। मनकी परम विशुद्धि तीर्थोंका

भी तीर्थ है। जलमें डुबकी मारनेका नाम ही स्नान नहीं है; जिसने इन्द्रिय संयमरूप-स्नान किया है, वही स्नान है और जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, वही पवित्र है।

'जो लोभी है, चुगलखोर है, निर्दय है, दम्भी है और विषयोंमें फँसा है, वह सारे तीर्थोंमें भलीभाँति स्नान कर लेनेपर भी पापी और मलिन ही है। शरीरका मैल उतारनेसे ही मनुष्य निर्मल नहीं होता; मनके मलको निकाल देनेपर ही भीतरसे सुनिर्मल होता है। जलजन्तु जलमें ही पैदा होते हैं और जलमें ही मरते हैं, परंतु वे स्वर्गमें नहीं जाते; क्योंकि उनके मनका मैल नहीं धुलता। विषयोंमें अत्यन्त राग ही मनका मैल है और विषयोंसे वैराग्यको ही निर्मलता कहते हैं। चित्त अन्तरकी वस्तु है, उसके दूषित रहनेपर केवल तीर्थ-स्नानसे शुद्धि नहीं होती। शराबके भाण्डको चाहे सौ बार जलसे धोया जाय, वह अपवित्र ही रहता है; वैसे ही जबतक मनका भाव शुद्ध नहीं है, तबतक उसके लिये दान, यज्ञ, तप, शौच, तीर्थसेवन और स्वाध्याय—सभी अतीर्थ हैं। जिसकी इन्द्रियाँ संयममें हैं, वह मनुष्य जहाँ रहता है, वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्करादि तीर्थ विद्यमान हैं; ध्यानसे विशुद्ध हुए राग-द्वेषरूपी मलका नाश करनेवाले ज्ञान-जलमें जो स्नान करता है, वही परम गतिको प्राप्त करता है।' ऐसे प्रसंग और भी आये हैं।

इससे यह सिद्ध है कि तीर्थ-व्रत करनेवालोंके लिये भी पापोंके त्याग, इन्द्रियसंयम और तप आदिकी बड़ी आवश्यकता है। इसका यह अर्थ भी नहीं समझना चाहिये कि भौमतीर्थ कोई महत्त्व ही नहीं रखते। उनका बड़ा महत्त्व है और वह भी सच्चा है। वस्तुतः पुराण सर्वसाधारणकी सर्वांगीण उन्नति और परम कल्याणकी साधन-सम्पत्तिके अटूट भंडार हैं। अपनी-अपनी श्रद्धा, रुचि, निष्ठा तथा अधिकारके अनुसार साधारण अपढ़ मनुष्यसे लेकर बड़े-से-बड़े विचारशील बुद्धिवादी पुरुषोंके लिये भी इनमें उपयोगी साधन-सामग्री भरी है। ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, यज्ञ, दान, तप, संयम, नियम, सेवा, भूतदया, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, व्यक्तिधर्म, नारीधर्म, मानवधर्म, राजधर्म, सदाचार और व्यक्ति-व्यक्तिके विभिन्न कर्तव्योंके सम्बन्धमें बड़ा ही विचारपूर्ण और अत्यन्त कल्याणकारी अनुभूत उपदेश बड़ी रोचक भाषामें इन पुराणोंमें भरा गया है। साथ ही पुरुष, प्रकृति, प्रकृति-विकृति, प्राकृतिक दृश्य, ऋषि-मुनियों तथा राजाओंकी वंशावली तथा सृष्टिक्रम आदिका भी निगूढ़ वर्णन है। इनमें इतने अमूल्य रत्न छिपे हैं, जिनका पता लगाकर प्राप्त करनेवाला पुरुष लोक तथा परमार्थकी परम सम्पत्ति पा करके कृतकृत्य हो जाता है।

ऐसे अठारह महापुराण हैं तथा अठारह ही उपपुराण माने जाते हैं। इधर चार प्रकारके पुराणोंका पता लगा है—महापुराण, उपपुराण, अतिपुराण और पुराण। चारोंकी अठारह-अठारह संख्या बतायी जाती है, उनकी नामावलि इस प्रकार मिलती है—

महापुराण—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, श्रीमद्भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड और ब्रह्माण्ड।

उपपुराण—भागवत, माहेश्वर, ब्रह्माण्ड, आदित्य, पराशर, सौर, नन्दिकेश्वर, साम्ब, कालिका, वारुण, औशनस, मानव, कापिल, दुर्वासस, शिवधर्म, बृहन्नारदीय, नरसिंह और सनत्कुमार।

अतिपुराण—कार्तव, ऋजु, आदि, मुद्‌गल, पशुपति, गणेश, सौर, परानन्द, बृहद्धर्म, महाभागवत, देवी, कल्कि, भार्गव, वासिष्ठ, कौर्म, गर्ग, चण्डी और लक्ष्मी।

पुराण—बृहद्विष्णु, शिव उत्तरखण्ड, लघु बृहन्नारदीय, मार्कण्डेय, वह्नि, भविष्योत्तर, वराह, स्कन्द, वामन, बृहद्वामन, बृहन्मत्स्य, स्वल्पमत्स्य, लघुवैवर्त और ५ प्रकारके भविष्य।

इन नामोंमें नामावलिके विभागमें और क्रममें अन्तर भी हो सकता है। यहाँ तो जैसी सूची मिली है, वैसी ही दे दी गयी है। यह भी सम्भव है कि इनमेंसे कई ग्रन्थ आधुनिक भी हों। यह अन्वेषण और गवेषणाका विषय है।

पुराण अमूल्य रत्नोंके अगाध समुद्र हैं। इनमें जो श्रद्धाके साथ जितना ही गहरा गोता लगायेंगे, वे उतनी ही विशाल रत्नराशिको प्राप्त कर धन्य हो सकेंगे।

कुछ पारमार्थिक शब्दोंके अर्थ

त्रियोग—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग।

योगचतुष्टय—हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग।

द्विविध निष्ठा—सांख्ययोग और कर्मयोग।

द्विविध प्रकृति—परा और अपरा।

त्रिविध पुरुष—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम (जगत्, जीव और भगवान्)।

वेदान्तके चार महावाक्य—अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।

सप्तज्ञानभूमिका—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी, तुर्यगा।

साधनचतुष्टय—नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान), मुमुक्षुत्व।

त्रिविध नरकद्वार—काम, क्रोध, लोभ।

त्रिविध ज्ञानद्वार—श्रद्धा, तत्परता, इन्द्रियसंयम।

भक्तिके चार महावाक्य—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्, मत्तः परतरं नान्यत्, ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्, मामेकं शरणं व्रज।

द्विविधा भक्ति—अपरा या गौणी, परा या प्रेमा।

नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन।

पंचभाव—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर।

अष्ट सात्त्विक भाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।

प्रेमकी तीन अवस्थाएँ—पूर्वराग, मिलन और वियोग।

त्रिविध विरह—भूत, वर्तमान और भावी।

विरहकी दस दशाएँ—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु।

चतुर्विधभाव—भावोदय, भावसन्धि, भावशाबल्य और भावशान्ति।

द्विविध महाभाव—रूढ़ और अधिरूढ़।

द्विविध अधिरूढ़ महाभाव—मोदन और मादन (या मोहन)।

आसन—चौरासी या एक सौ आठ। प्रधान दो—पद्मासन और स्वस्तिकासन।

मुद्रा और बन्ध—अनेक हैं। परंतु पचीस मुख्य हैं। उनके नाम हैं—महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानबन्ध, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्ति-चालनी, तडागी, माण्डवी, शाम्भवी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी, भुजंगिनी और पाँच धारणाएँ (पार्थिव, आम्भसी, वैश्वानरी, वायवी और आकाशी)।

षट्कर्म—धौति, गजकरणी, वस्ति, नौलि, नेति और कपालभाति। कोई-कोई त्राटकसमेत सात मानते हैं।

प्राणायाम—पूरक, कुम्भक और रेचक।

चतुर्विध पातञ्जलोक्त प्राणायाम—आभ्यन्तर, बाह्य और दो प्रकारके केवल प्राणायाम।

अष्टविध प्राणायाम—सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा और प्लाविनी। कुछ लोग अनुलोम-विलोमको जोड़कर नौ प्रकार मानते हैं।

दैनिक श्वास-संख्या—२१,६००।

योगसाधनमें तीन प्रधान नाडियाँ—इडा, पिंगला, सुषुम्णा।

दस वायु—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय।

योगके षट्चक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा।

योगके सप्तचक्र—उपर्युक्त छः और सातवाँ सहस्रार।

योगके नौ चक्र—उपर्युक्त सात और आठवाँ तालुमें ललना-चक्र और नवाँ ब्रह्मरन्ध्रमें गुरुचक्र।

षोडश आधार—१-दाहिने पैरका अँगूठा, २-गुल्फ, ३-गुदा, ४-लिंग, ५-नाभि, ६-हृदय, ७-कण्ठकूप, ८-तालुमूल, ९-जिह्वामूल, १०-दन्तमूल, ११-नासिकाग्र, १२-भ्रूमध्य, १३-नेत्रमण्डल, १४-ललाट, १५-मस्तक और १६-सहस्रार।

तीन ग्रन्थि—ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि।

त्रिमार्ग—पिपीलिका-मार्ग, दार्दुर-मार्ग और विहंगम-मार्ग।

त्रिशक्ति—ऊर्ध्वशक्ति (कण्ठमें), अधःशक्ति (गुदामें) और मध्यशक्ति (नाभिमें)।

पञ्चभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश।

पञ्चाकाश—आकाश, महाकाश, पराकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश।

वर्ण—पचास ('अ' से 'ह' तक)।

त्रिविध मन्त्र—पुं, स्त्री, क्लीब।

चतुर्विध वाणी—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी।

योगके आठ अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

संयम—धारणा, ध्यान और समाधि।

क्रियायोग—तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

द्विविध ध्यान—भेदभावसे और अभेदभावसे।

द्विविध समाधि—सम्प्रज्ञात या सबीज और असम्प्रज्ञात या निर्बीज।

सम्प्रज्ञात समाधिके चार भेद—वितर्कानुगम, विचारानुगम, आनन्दानुगम और अस्मितानुगम।

असम्प्रज्ञातके दो भेद—भवप्रत्यय, उपायप्रत्यय।

पञ्चवृत्ति—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

पञ्चक्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

सप्तसाधन—शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, लाघव, धैर्य, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता।

योगके विघ्न—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, विषय-तृष्णा, भ्रान्ति, फलमें संदेह, चित्तकी अस्थिरता, दुःख, मनकी खराबी, देहकी चंचलता, अनियमित श्वास-प्रश्वास, अनियमित और उत्तेजक आहार, अनियमित निद्रा, ब्रह्मचर्यका नाश, नकली गुरुका शिष्यत्व, सच्चे गुरुका अपमान, भगवान्में अविश्वास, सिद्धियोंकी चाह, अल्प सिद्धिमें ही पूर्ण सफलता मानना, विषयानन्द, पूजा करवाना, गुरु बनना, दम्भ करना।

अष्ट महासिद्धि—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायित्व। कुछ लोग इनमें 'गरिमा' जोड़कर इनकी संख्या ९ कर देते हैं।

चतुर्विध साधक—मृदु, मध्य, अधिमात्र और अधिमात्रतम।

चार अवस्थाएँ—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया।

भगवान्के आश्वासनपर विश्वास करो

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको निरन्तर भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है। क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान, मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

इन दो श्लोकोंमें दयामय भगवान् श्रीकृष्णने पापग्रस्त निराश जीवोंको बड़ा ही आश्वासन दिया है। कोई किसी भी स्थितिमें क्यों न हो, उसका अबतकका जीवन किसी भी प्रकारसे क्यों न बीता हो, वह कितने ही बड़े-से-बड़े दुराचारमें प्रवृत्त क्यों न रहा हो, यदि वह इस समय अपने मनमें यह दृढ़ निश्चय कर ले कि एकमात्र भगवान् ही मेरे त्राणकर्ता, रक्षक और आश्रयदाता हैं, इस रक्षकत्वमें दूसरेको जरा भी भाग न दे, साथ ही यह भी निश्चय कर ले कि जितना जीवन अब बचा है, वह सब-का-सब—पूरा-का-पूरा—केवल भगवान्के लिये ही लगाया जायगा और भगवान्को पुकारने लगे तो वह तुरंत धर्मात्मा बन जाता है। 'क्षिप्र' शब्द इसी बातको प्रकट करता है। तदनन्तर वह उस परम शान्तिको—शाश्वत परम धामको प्राप्त हो जाता है, जिसको पाकर फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। इसी सिद्धान्तको और भी दृढ़ करनेके लिये भगवान् प्रतिज्ञापूर्वक यह घोषणा करते हैं कि अर्जुन! इस बातको 'सत्य समझ कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता।' अनन्यभाक् होकर भजन करनेका तथा शेष जीवन भगवदर्थ बितानेका निश्चय करनेवालेको भक्तवत्सल भगवान् अपना भक्त—निजजन समझ लेते हैं। जो

अबतक महापापी था, वह तुरंत 'भक्त' हो जाता है। उसने अबतक क्या किया था, इस बातकी ओर भगवान् कुछ भी ध्यान नहीं देते। वे देखते हैं, केवल उसके मनकी वर्तमान स्थितिको। इस बातको समझकर अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह विश्वासपूर्वक अपने वर्तमान जीवनको श्रीहरिके चरणोंमें समर्पण करनेकी चेष्टा करे।

भविष्य तो वर्तमानका फल है और वर्तमान जीवन अनन्यभावसे श्रीहरि-चरणाश्रित हो जानेपर भूतकालके सभी पाप-कर्म जल जाते हैं। मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, उसका संचित बनता है। संचितसे स्फुरणा होती है। जो नया कर्म किया जाता है, उसीकी स्फुरणा अधिक और पुरानेकी कम होती है। गोदाममें माल भरा होता है और नया-नया माल भरता जाता है, निकालनेके समय हालका भरा हुआ ऊपरका माल पहले निकलता है और बहुत समय पूर्वका भरा हुआ नीचेका माल पीछे निकलता है, वैसे ही नये कर्मोंके संकल्प अधिक आते हैं। यही सबका अनुभव है कि जिन कर्मोंमें हम दिन-रात लगे रहते हैं, प्राय: उन्हींके संकल्प अधिक आते रहते हैं। पूर्वके कर्मोंको हम धीरे-धीरे भूलते जाते हैं। नवीन संचितकी स्फुरणा ज्यादा होगी। बार-बार जैसी स्फुरणा होगी वैसा ही कर्म होगा और वही कर्म फिर संचित बनकर नयी स्फुरणाओंका हेतु बनेगा एवं उन्हीं स्फुरणाओंसे फिर वैसे ही कर्म होंगे। तात्पर्य यह कि अच्छे कर्मोंसे अच्छा संचित, अच्छे संचितसे अच्छी स्फुरणा और अच्छी स्फुरणासे फिर अच्छे कर्म होते हैं। इस प्रकार शुभके चक्रमें पड़ा हुआ जीवन क्रमश: अत्यन्त शुद्ध बन जायगा एवं अशुभ संचितको अपना कार्य (अशुभ संकल्पोंकी उत्पत्ति) करनेका अवसर ही प्राप्त नहीं हो सकेगा। पुराने अशुभ संचित नये शुभके नीचे दब जाते हैं और वह शुभ बढ़कर जब भगवान्‌की परमभक्तिरूपमें परिणत हो जाता है तब उन पहलेके समस्त शुभाशुभ संचितमें आग लग जाती है, जिससे वे तमाम जलकर नष्ट हो जाते हैं।

'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।'

यही मुक्तावस्था है। इसीलिये *'गयी सो गयी, अब राख रहीको'* इस लोकोक्तिके अनुसार भगवान्‌की उपर्युक्त आश्वासनवाणीका अनुसरण करते हुए महापुरुषगण जीवोंको वर्तमान जीवनके वर्तमान सुधारका उपदेश करते हैं।

कोई यह समझे कि मैं तो बड़ा पापी हूँ, मेरा उद्धार कैसे हो सकता है, मेरे भजन करनेसे क्या होगा? तो उसका यह समझना निरा भ्रम ही है। किसी पर्वत-कन्दराका अन्तरतम प्रदेश लाखों वर्षोंसे चाहे जितने घने अन्धकारसे आवृत क्यों न हो, किसी प्रकार सूर्यका प्रकाश वहाँ पहुँचनेपर वह अँधेरा क्या यह कहकर वहाँ स्थिर रह सकता है कि मैं अनन्त वर्षोंसे यहाँ डेरा डाले बैठा हूँ, इसलिये कुछ समय बाद पीछे हटूँगा। ठीक इसी प्रकार जीवके अशेष पापपुंज भगवान्‌के सम्मुख होते ही जलकर भस्म हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

जब जीव निष्कपट होकर अनन्यभावसे अपने-आपको भगवच्चरणोंमें समर्पित कर सरल हृदयसे पुकार उठता है कि 'प्रभो! मैंने आजतक दुनियाके भोगोंकी सेवा की, विषयोंका गुलाम रहा, धनिकोंकी चापलूसी की, अबसे—इसी क्षणसे आपके प्रणतपापहारी पुण्य चरणकमलोंका आश्रित बनता हूँ, मुझे शरण दीजिये।' बस, तभी तत्काल ही पतितपावन नाथ उसे अपना लेते हैं। जहाँ भगवान्‌ने जिसको अपना लिया वहाँ फिर उसमें नाममात्रको भी कोई पाप नहीं रह जाता। विभीषण रावणका भाई राक्षस था। भगवान्‌के सामने आते ही वह निष्पाप हो गया, परम भक्त बन गया। जीवका भूतकाल कैसा ही रहा हो, यदि उसका वर्तमान सुधर जाय, वह दृढ़ निश्चय कर ले कि आगेका समय केवल भगवद्भक्तिमें ही बीतेगा, तो वे अशरणशरण स्वत: ही अपना अभय हाथ फैलाकर उसे ऊपर उठा लेते हैं और अपनी स्नेह-शान्तिमयी गोदमें बिठा लेते हैं। ऐसा न होता तो जीवका उद्धार कभी होता ही नहीं। जीव समस्त पापोंके फलोंको भोगकर कभी उन्हें नि:शेष नहीं कर सकता। भगवान् बड़े दयालु हैं। इसलिये उन्होंने यह नियम बना दिया है कि चाहे कोई कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो, मेरे सम्मुख आते ही धर्मात्मा बन जायगा। बात भी सर्वथा ठीक ही है। भला, प्रज्वलित अग्निमें पड़ा हुआ कूड़ा-करकट क्या कभी बिना जले रह सकता है?

खेद तो इस बातका है कि भगवान्‌के इस दयापूर्ण विधानको जानता हुआ भी यह अज्ञानी जीव अपनी कामाग्निको विषय-भोगरूपी घृतकी आहुतियोंसे पूर्णकर

सुखी होना चाहता है। पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासजीने विषय-भोगपरायण जीवोंको लक्ष्य करके कैसी सुन्दर चेतावनी दी है—

अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़ त्याग दुरासा जी ते।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी ते॥

मनुष्य चाहता है कि मैं बहुत-से विषयोंको प्राप्त करके सुखी बन जाऊँ, पर यह हो ही नहीं सकता। ज्यों-ज्यों मनचाहे विषयोंकी प्राप्ति होती है, त्यों-ही-त्यों उसकी लिप्सा बढ़ती चली जाती है। घीसे आग बुझती नहीं, बढ़ती है। भोगोंसे तृप्ति नहीं, ताप होता है; शान्ति नहीं, अशान्ति होती है। इसीलिये गोस्वामीजी चेतावनी दे रहे हैं कि 'इस भ्रमको छोड़ दो, यह तो दुराशामात्र है। इसे छोड़कर अमृतोपम भगवत्प्रेमको प्राप्त करो। यदि तुम विषयोंको न भी छोड़ना चाहोगे तो ये अन्तमें जबरदस्ती छूटेंगे। इससे अच्छा है कि पहलेसे ही तुम इनकी आसक्ति छोड़कर भगवच्चरणकमलोंके अनुरागी भ्रमर बन जाओ।'

वास्तवमें मनुष्य-जीवनका परम उद्देश्य भगवान्‌के चरणारविन्दोंका अनुराग प्राप्त करना ही है। परंतु यह तभी हो सकता है जब जीव परमात्माको अपना एकमात्र आश्रय बनाकर सब प्रकारसे आत्मसमर्पण कर दे और यह वस्तुतः बहुत कठिन बात नहीं, बल्कि भगवत्कृपाके बलसे बहुत ही सहज है, जो लोग ऐसा मानते हैं कि हमारे भाग्यमें भगवत्प्राप्ति लिखी ही नहीं, हमारे वैसे संस्कार ही नहीं, वे वास्तवमें बड़ी भूल करते हैं। भगवान्‌के दरबारका दरवाजा सबके लिये सदा खुला रहता है, वह कभी बंद होता ही नहीं। चाहे कोई आधी रातको अपने प्रियतम परमात्माका द्वार खटखटावे, वे तत्काल उसकी पुकारका उत्तर देकर उसे अपने हृदयसे लगानेको तैयार मिलेंगे। बच्चा जब कभी भी रोकर माँको पुकारता है तो माँ समय-असमयका विचार न कर झटसे अपनी स्नेहभरी गोदमें उठाकर उसे स्तन-पान कराने लगती है। पुकार सुननेपर न तो वह बच्चेका पाप-पुण्य देखती है और न क्षणभर रुकती ही है। उस समय वह स्नेहकातरा जननी केवल दोनों हाथ बढ़ाकर बच्चेको ऊपर उठाना और पुचकारना ही जानती है। फिर भला, भगवान् तो सारी माताओंकी माता—स्नेहके सागर हैं। माँ तो किसी समय शायद दूर रहनेके कारण न भी सुने अथवा किसी दूसरे काममें लगी हो तो उसे पूरा करके भी आवे, पर भगवान्‌में ये दोनों बातें नहीं। वे कहीं दूर नहीं हैं, सर्वदा सर्वत्र वर्तमान हैं। वे तो मन्दिरमें, मूर्तिमें, बाहर-भीतर सर्वत्र समभावसे सदा सर्वदा रम रहे हैं, पूर्ण हो रहे हैं। वे सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। एक कामको करते हुए दूसरेको न कर सकें—ऐसी कठिनाईका उनके लिये कोई प्रश्न ही नहीं। वे एक ही समय असंख्य स्थानोंमें प्रकट होकर असंख्य काम कर सकते हैं और ऐसा करते हुए भी वे सर्वत्र ही रहते हैं। अतः कोई किसी भी कारणसे कभी भी उन्हें पुकारे, वे सुनते हैं और उत्तर देते हैं। उन्हें पुकारनेमें ही कसर है—यह जीवकी ओरसे ही देर हो रही है।

उन्हें पुकारनेमें किसी काल, स्थान, पात्र आदिका कोई भेद नहीं है। पापी न पुकारे, पुण्यात्मा ही पुकारे; नरकमें न पुकारे, स्वर्गमें पहुँचकर पुकारे; आधी रातको न पुकारे, उषाकालमें पुकारे; मूर्ख न पुकारे, विद्वान् पुकारे; गरीब न पुकारे, धनी ही पुकारे; स्त्री या बालक न पुकारे, पुरुष ही पुकारे; चाण्डाल न पुकारे, ब्राह्मण ही पुकारे; गृहस्थ न पुकारे, संन्यासी ही पुकारे—इस प्रकार उनकी पुकारके सम्बन्धमें ऐसी कोई बात नहीं। देवर्षि नारद कहते हैं—

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।

'भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं है।'

पुकार सच्ची होनी चाहिये। पुकारनेवाला कौन है—वे इस बातको नहीं देखते; अवश्य ही पुकारनेवालेकी चाहकी परख करते हैं। ऊपरकी दिखाऊ पुकार उनकी स्नेह-धाराको उमड़ानेमें समर्थ नहीं हो सकती। वे हमारे अंदरकी बात जानते हैं, हमारे भीतरका कोई भेद उनसे छिपा नहीं है। ऊपरकी पुकार होगी तो वे समझ लेंगे कि यह कोरी ठगई है। मनमें चाह नहीं है। कोई ऐसा हो जिसके मनमें पुकार मची हो, परंतु किसी कारणवश बाहरसे न पुकार सके तो उस पुकारको भी वे सुन लेते हैं। उनको हृदयके कपटहीन शब्दोंकी आवश्यकता है, बाह्य शब्दोंकी नहीं। श्रीरामचरितमानसमें भगवान्‌के वचन हैं—

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

(उत्तर० ८७ क)

भक्तिमती शबरीको उन्होंने अपने विरदका भेद स्पष्ट शब्दोंमें यही बतलाया—

'मानउँ एक भगति कर नाता।'

वास्तवमें यही है भी यथार्थ। भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है न कोई प्रिय, परंतु जो भक्त मुझे प्रेमसे भजते हैं, वे मेरेमें और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।' जैसे सूर्य किसीको अपना प्रकाश या गरमी देनेसे इनकार नहीं करता, पर जो उसके सामने आकर बैठता है उसीको प्रकाश और गरमीकी अधिक प्राप्ति होती है। जो अपने घरके किवाड़ ही बन्द करके बैठ जाय उसके लिये सूर्य क्या करे? इसी प्रकार भगवान्‌के सम्मुख होनेवाले ही पापमुक्त होकर भगवत्प्रेम प्राप्त करनेके अधिकारी हो सकते हैं। उनसे विमुख रहनेवाले नहीं! अमुक मनुष्य ही भगवत्प्रेम प्राप्त कर सकता है और अमुक नहीं कर सकता, यह भेद उनमें नहीं है। ध्रुव बालक था। उसके समयमें अनेक राजा थे, ऋषि थे, मुनि थे, पर उन सभीको भगवत्प्राप्ति हुई हो ऐसी बात नहीं है। जिसे यह पता भी नहीं कि भगवान् क्या वस्तु है, जिसने कभी किसी पाठशालामें जाकर गुरुमुखसे उनके स्वरूपका वर्णन ही नहीं सुना, उनका प्रभाव ही नहीं जाना, वही नन्हा-सा बालक ध्रुव 'पद्मपलाशलोचन—' कमलनेत्र प्रभुकी खोजमें निर्भय होकर निकल पड़ा। विद्या-बुद्धि-बलहीन बालक जब अनन्य भावसे दृढ़संकल्प होकर पुकार मचाने लगा तो वहाँ भगवान्‌को प्रकट होना पड़ा। उस भोले, किंतु अटल निश्चयी ध्रुवको अलौकिक ज्ञान और अचल पद देकर सदाके लिये कृतकृत्य कर दिया। प्रह्लाद भी बालक ही थे, वयोवृद्ध अथवा ज्ञानवृद्ध नहीं थे। इसी प्रकारके बहुत-से उदाहरणोंसे यह बात सिद्ध होती है कि भगवद्भक्तिमें विद्या, बुद्धि, बल, आयु आदिका कोई विचार नहीं है। अमुक स्थान और अमुक समयमें ही अमुक व्यक्ति भजन कर सकता है यह बात भी नहीं है, कालका निर्देश भी नहीं है। यदि ऐसा हो तो मरता हुआ आदमी काल अच्छा न होनेपर सद्‌गतिको प्राप्त ही न हो सके। देशका बन्धन हो तो बिना किसी तीर्थस्थानमें गये मुक्ति ही न हो सके। पर यह बात नहीं है। बुरे-से-बुरे देश, काल और वर्णमें जब कभी जीव निष्कपटभावसे परमात्माको पुकारता है, तभी उनकी ओरसे उसे आशापूर्ण आश्वासन मिलता है।

चक्रिक नामक एक भील जंगलमें रहा करता था। वहीं भगवान्‌की एक मूर्ति थी। उसे वह जड पत्थर न मानकर प्रत्यक्ष भगवान् मानता था। घूमते-घूमते उसे वनमें जो फलादि मिल जाते, प्रभुको उनका भोग लगाकर फिर स्वयं प्रसाद पाता। एक बार उसे पियालका एक फल मिला। उसने भूलसे उसको मुँहमें डाल लिया। डालते ही उसे अपनी भूल सूझ पड़ी, पर वह गलेमें उतर चुका था। अपना कोई वश न चलता देख वह फलको नीचे न उतरने देनेके लिये गलेको जोरसे पकड़ दौड़ता हुआ मूर्तिके पास जा पहुँचा। वमनद्वारा बाहर निकालनेकी चेष्टा करनेमें कोई कसर न रखी, पर जिस प्रकार वह उसे पेटमें न गिरने देनेका हठ किये हुए था, उसी प्रकार फल भी बाहर न आनेमें मचल गया। भोग लगाना जरूरी था। अन्तमें कुल्हाड़ीसे गला काटनेकी तैयारी होते ही भक्तवत्सल भगवान् अपनेको रोक न सके। प्रकट होकर हाथ पकड़ लिया। वह जातिका भील था, बुद्धिसे हीन था, पर था सच्चे हृदयसे पुकार मचानेवाला। कोई हो, होना चाहिये केवल सच्चा प्रेमी अन्तस्तलसे पुकारनेवाला भक्त!

यह निर्विवाद सिद्ध है कि भगवत्प्राप्तिमें केवल निष्कपट पुकारकी ही अपेक्षा है, अन्य किसी बातकी नहीं। जिस क्षण सच्ची पुकार होगी उसी क्षण परमात्माका आश्रय मिल सकेगा, इसमें कोई निश्चित कालकी अपेक्षा नहीं है। भोगोंकी प्राप्तिमें काल आदि निश्चित होता है। उचित अवसरपर ही उनकी प्राप्ति हो सकती है। परंतु भगवत्प्राप्तिके लिये कोई बन्धन नहीं है। इसमें प्रारब्ध कुछ भी बाधा नहीं दे सकता। जब जीव व्याकुल हो जाय, विरह-तापसे जल उठे, प्रियतम श्रीकृष्णके बिना रह न सके, प्यारे रामके बिना उसे तनिक भी आराम न मिले, तभी भगवान् भी उसके बिना नहीं रह सकते। उनकी यह घोषणा ही है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

'जो मुझको जैसे भजता है उसे मैं वैसे ही भजता हूँ।'* भगवान्‌का कहना बहुत ठीक है। पर वे भजते हैं अपने स्वरूप और अपनी शक्तिके अनुसार तथा जीव भजता है अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार।

इसलिये यदि जीव इच्छा करे तो उनसे मिलनेमें देर नहीं हो सकती। यदि यह चल पड़े तो वे इतनी जल्दी मिलते हैं कि जीव उतनी जल्दीकी कल्पना ही नहीं कर सकता।

जहाँ हृदयमें विरहजनित व्याकुलता उत्पन्न हुई कि फिर उसे यह आवश्यकता नहीं कि वह वैकुण्ठ जाय। वे स्वयं उसके सामने आकर अपने सुरदुर्लभ दर्शनोंसे, अपनी अलौकिक रूपमाधुरीसे उसे मत्त और कृतार्थ कर देते हैं। छः मासके बच्चेको माँके पास जाना नहीं पड़ता। माता स्वयं ही भागती हुई उसके पास आ पहुँचती है। यदि हम वैसे ही सरल हृदयके मातृपरायण बच्चे बन जायँ तो भगवान्‌रूपी जगज्जननीके आनेमें देर ही क्या है? परायणता अवश्य ऐसी होनी चाहिये, जो सब अवस्थाओंमें रहे। जैसे माँकी मारसे बचनेके लिये भी बच्चा माँकी ही गोदमें घुसता है। माँकी गोद वास्तवमें बच्चेके लिये सदा ही खाली रहती है, बच्चा क्या करके आया है इस बातको माता नहीं देखती। इसी प्रकार भगवान् भी यह नहीं कहते कि पापी मेरे सामने नहीं आ सकता। पापियोंके लिये स्वर्गका द्वार बंद है सही, पर भगवान्‌का द्वार तो नरकके कीड़ोंके लिये भी खुला है। वहाँ यह नहीं होता कि पहले पापोंका दुःख भोगो और फिर मेरे यहाँ आओ। जो चाहता है उसीको वैकुण्ठ मिल जाता है। विशेषता यह है कि उसके पापोंका नाश भी वे ही स्वयं कर देते हैं। बस, केवल तीव्र इच्छाकी आवश्यकता है। उन्होंने घोषणा की है—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

'अरे! तू मेरी शरण आ जा, तुझे सारे पापोंसे मैं छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर।' हम कैसे अभागे हैं कि इस घोषणाको सुनकर भी सुख-शान्ति पानेके लिये उनके मुक्त द्वारकी ओर नहीं जाते और मदमाते धनियों तथा झूठे अधिकारियोंके बंद दरवाजे खटखटाते हैं और जगह-जगह ठोकरें खाते हैं।

यदि एक बार भी उस सर्वलोकमहेश्वर, जीवोंके स्वाभाविक सुहृद् परम प्यारे प्रभुके विरदपर विश्वास कर उसकी शरण पानेके लिये उत्कण्ठित हो उठें तो तुरंत निहाल हो जायँ, स्वयं धनियोंके धनी हो जायँ, फिर कुछ भी पाना शेष न रह जाय।

न मे भक्तः प्रणश्यति

भगवान्‌की इस दिव्य वाणीको याद करो— विश्वास करो और सच्चे हृदयसे अपने शेष जीवनको उनके भजनमें लगाकर संसार-सागरसे अनायास ही तर जाओ।

---

* इस सिद्धान्तमें देखनेपर कुछ भ्रम होता है। यदि भगवान् भक्तके अनुरूप ही उसको भजते हैं तो एक रोटीका प्रसाद चढ़ानेपर बदलेमें एक रोटी ही मिलनी चाहिये। एक घंटा ध्यान करनेपर भगवान् भी एक घंटा ध्यान ही कर लें। गजराजने पुकारा, आधा नाम लिया, तो वे भी आधा नाम ले लेते! कोई पत्र-पुष्प-फल भेंट करता है तो वे अनन्त गुणा फल क्यों देते हैं? इसलिये शंका होती है कि यह कथन ठीक नहीं। पर भगवद्वाक्य कभी झूठे हो नहीं सकते! तो फिर बात क्या है? सोचनेपर पता लगता है कि भगवान् भजते हैं अपनी शक्ति और स्वरूपके अनुसार एवं हम भजते हैं अपनी शक्ति और स्वरूपके अनुसार। मान लीजिये, गरुड़ और एक चींटीमें मैत्री हो गयी। गरुड़से मिलनेके लिये चींटी आगे बढ़ी पर वह बढ़ी अपनी चालसे। गरुड़ भी प्रेमवश आगे बढ़ा। चींटी तो थोड़ी ही दूर चली, पर गरुड़ तुरंत आ पहुँचा। भजते दोनों ही हैं, पर भजते हैं अपनी-अपनी हैसियतसे। राजा और कंगालमें मैत्री होनेपर राजा अपने मित्रको हलवा और मोहनभोग ही खिलायेगा और कंगाल अपने घरपर आये हुए मित्र राजाको साग-रोटी ही खिलायेगा। कंगाल मिलनेको जायगा अपनी बैलगाड़ीपर, पर राजा मिलनेको जायगा अपने वायुयानपर। इसी प्रकार जीव और भगवान्‌के प्रेममें अन्तर है। इसके पास प्रेमकी एक नन्हीं-सी बूँद है और वह है अनन्त प्रेम-सागर! इधरसे जब यह जीव अपनी उस बूँदको लेकर उसीके सहारे प्रभुके लिये बढ़ता है, तब उधरसे प्रेम-सागर उमड़ पड़ता है। यह थोड़ी दूर ही पहुँच पाता है, पर वह उधरसे आकर इसे अपनेमें समा लेता है। फिर दोनों एक हो जाते हैं। यही रसाद्वैत है।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं। प्रेम गली अति साँकरी ता में दो न समाहिं॥

भक्त और चमत्कार

भारतीय भक्तोंकी जीवनीमें कुछ-न-कुछ चमत्कारका उल्लेख रहना एक नियमित प्रथा-सी हो गयी है। भक्त-जीवनमें अलौकिक घटनाओंका होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जो सर्वशक्तिमान् भगवान् '**कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्**' समर्थ है। अघटनघटनापटीयसी माया-नर्तकी जिसके साधारण इंगितपर सदा सावधानीसे पैतरे बदलती हुई चलती हैं। जो संकल्पमात्रसे ही अवकाशमें अनवकाश और अनवकाशमें अवकाश कर सकता है, समस्त विश्वकी रचना, स्थिति और विनाश जिसका केवल क्रीड़ा-कौतुक है, उस प्रकृतिसे पर परमात्मामें सर्वथा आत्मसमर्पण कर चुकनेवाले प्रेमी भक्तोंद्वारा उसी अचिन्त्य-समर्थके सामर्थ्य-बलपर असाधारण और अप्राकृतिक कर्मोंका बन जाना असाधारण बात नहीं है। इसीमें बालक प्रह्लादका अग्निमें न जलना, विषपान करके भी जीते रहना आदि समर्थ विश्वसनीय भी है। हम अभक्तोंको भक्त-जीवनकी अलौकिक घटनाओंपर अविश्वास करनेका कोई अधिकार नहीं है। हमारी अनिश्चयात्मिका विषयरसविमुग्ध बुद्धि उनके यथार्थ स्वरूपको पहचाननेमें समर्थ नहीं हो सकती। अहंकार, बल, दर्पादिके त्यागसे ब्रह्मभावमें स्थिति होनेपर परम भक्तिके द्वारा जब साधक परमात्माके यथार्थ तत्त्वको समझता है, तभी वह उस भक्तके चरित्रको समझनेका अधिकारी होता है। भगवान्‌की भाँति सच्चे भक्तके कर्म भी दिव्य होते हैं। अतएव प्रह्लादसे लेकर भक्त तुकाराम, तुलसीदास आदिके जीवनकी अलौकिक घटनाओंको पढ़कर, सुनकर उनपर कभी संदेह नहीं करना चाहिये। आजकल हमें ऐसे भक्त दिखायी नहीं देते या हममें ऐसी शक्ति नहीं है, इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि इन लोगोंके चरित्र भी मिथ्या, कल्पित या अतिरंजित घटनाओंके घर हैं। हमें उनपर विश्वास और श्रद्धा करनी चाहिये।

किंतु विचारणीय प्रश्न तो यह है कि क्या, चमत्कार या अलौकिक घटनाओंमें ही भक्त-जीवनकी पूर्णता है? क्या भक्त-जीवनमें चमत्कारकी घटना अवश्य रहनी चाहिये? क्या चमत्काररहित जीवन भक्त-जीवन नहीं बन सकता और क्या भक्तोंकी पहचान चमत्कारोंसे होती है? इन सब प्रश्नोंके उत्तरमें मेरी समझमें तो यही बात आती है कि भक्तोंके किये चमत्कार वास्तवमें अत्यन्त तुच्छ चीज है। भक्तोंके चरितमें जिन चमत्कारोंका वर्णन हुआ है उनपर अविश्वास न करता हुआ भी मैं यह अवश्य कहूँगा कि भक्त-जीवनकी पूर्णता तो एक ओर रही, चमत्कारके बलपर भक्त कहलाना या कहना यथार्थ सच्ची भक्तिका तिरस्कार करना है। जो भक्त भगवत्कृपासे असम्भवको सम्भव कर सकते हैं, उनके लिये किसी एक कोढ़ीका कोढ़ दूर कर देना या एक मृतकको जिला देना बड़ी बात नहीं है। इस तरहकी घटनाओंसे वास्तवमें भक्त-जीवनका महत्त्व कदापि नहीं बढ़ता। भक्तका जीवन तो इन बातोंसे बहुत ही ऊँचा उठा हुआ होता है। भगवान्‌के यथार्थ तत्त्वका सम्यक् अपरोक्ष ज्ञान हो जानेके कारण भक्तकी दृष्टिमें अखिल विश्व परमात्माके रूपमें बदल जाता है। ऐसी दशामें जगत्‌में दुःख-भावना उसके मनमें उठ ही कैसे सकती है। सारा जगत् ईश्वररूप है। ईश्वरमें दुःख और कष्टकी कल्पना करना ईश्वरत्वमें बट्टा लगाना है। जब कोई दुःख ही नहीं, तब दुःख दूर करनेकी बात कैसी? परमात्मा नित्य आनन्द-स्वरूप है। उस आनन्दघनमें दुःख नामक किसी अन्यको अवकाश ही कहाँ? जब दुःख ही नहीं, तब मिटाना कैसा? कारण बिना कार्य नहीं होता। ऐसी अवस्थामें अमुक भक्तने अमुकके दुःखसे दुःखी होकर अपने चमत्कारसे उसका दुःख दूर कर दिया यह कहना युक्तिसंगत नहीं। इतना होनेपर भी मंगलमय बन जानेके कारण भक्तके ईश्वरार्पित और ईश्वरमय तन, मन, धनसे जगत्‌का सदा स्वाभाविक ही मंगल हुआ करता है। अमृतसे किसीकी मृत्यु नहीं होती। इसी भाँति भक्तसे किसीका अनिष्ट नहीं होता। उसका अन्तःकरण ईश्वरीय गुणसम्पन्न रहनेके कारण स्वभावसे ही अखिल विश्वरूप परमात्माकी सेवामें सदा संलग्न रहता है। शरीर तो अन्तःकरणके अनुसार चलता ही है। अतएव भक्त सदा ही लोकसेवक है। पर वह चमत्कारसे नहीं है; स्वाभाविक वृत्तिसे है।

चमत्कारी वर्णनोंकी अधिक विस्तृति और महत्तापर विश्वास हो जानेके कारण भारतवर्षमें अनर्थ भी कम नहीं हुआ है। चमत्कारने साधुके सच्चे स्वरूपको ढक दिया। साधुकी कसौटी चमत्कारोंपर होने लगी, इसीसे

सच्चे सीधे-सादे संतोंकी दुर्दशा हुई। भण्ड और पाखण्डियोंका काम बना। सिद्ध-साधककी जोड़ी बनाकर अनेक प्रकारकी चमत्कारपूर्ण मिथ्या और अतिरंजित बातें फैलायी जाती हैं। 'अमुक बाबाजीने रोग मिटा दिया, अमुकने छूते ही कोढ़ दूर कर दिया, अमुकने कमण्डलुके जलसे पुत्रदान दे दिया, अमुकने आशीर्वादमात्रसे जज साहबकी मति बदलकर मुकदमा जिता दिया।' कहीं काकतालीय न्यायसे कोई घटना हो गयी कि उसको चमत्कारका रूप दे दिया गया। यों भेड़की खालमें अनेकों भेड़िये घुस बैठे और वे भक्तकी पवित्र गद्दीको कलंकित करने लगे। इसी चमत्कारकी भावनाने अनेक अपात्र और अभक्तोंको—अनेक मिथ्यावादी, व्यभिचारी, शराबखोर, ढोंगी और पाखण्डियोंतकको लोगोंकी दृष्टिमें भक्त बना दिया और वे लोग भक्तके पवित्र नामपर मनमानी घरजानी करने लगे।

इसलिये हमलोगोंको भक्तकी पहचान उसमें किसी चमत्कारको देख-सुनकर नहीं करनी चाहिये। चमत्कार तो चालाकी या जादूसे भी दिखलाया जा सकता है। चमत्कार दिखलानेवाले आजकल अधिकांश तो धोखा ही देनेवाले हैं। भक्तमें तो उसके आराध्यदेव भगवान्‌के सदृश दैवी सम्पत्तिके गुणोंका विकास होना चाहिये। अतएव भक्तकी कसौटी भी उन्हीं गुणोंपर हो सकती है। भक्त-जीवनका सर्वथा शुद्ध लोक-परलोक-हितकारी स्वाभाविक प्रभुमय जीवनमें परिणत हो जाना ही उसका सबसे बड़ा आदरणीय और स्तुत्य चमत्कार है, भक्त बननेवालोंको अपने अंदर इसी चमत्कारके विकासके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

गीताके दो प्रधान पात्र

(भगवान् श्रीकृष्ण और भक्त अर्जुन)

गीतामें सर्वप्रधान पात्र दो हैं—भगवान् श्रीकृष्ण और भक्तवर अर्जुन। अतएव यहाँ इन दोनोंके जीवनकी कुछ घटनाओंका उल्लेख किया जाता है। भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-कथाएँ तो जीवोंको भवसागरसे तारनेवाली हैं ही; उनके भक्त अर्जुनकी जीवन-कथा भी भगवान्‌के सम्बन्धसे बहुत ही उपकारिणी हो गयी है।

भगवान् श्रीकृष्ण

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं। गीतामें उन्होंने अपने श्रीमुखसे तो बार-बार अपनेको साक्षात् भगवान् कहा ही है। अर्जुन और संजयने भी ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया है जो भगवान्‌के सिवा किसी भी बड़े-से-बड़े मनुष्यके लिये प्रयोग नहीं किये जा सकते।

द्वापरके अन्तमें देवताओंकी प्रार्थनापर भगवान् श्रीकृष्ण मथुरामें वसुदेवजीके यहाँ कंसके कारागारमें भाद्रपद कृष्णाष्टमी, बुधवारको आधी रातके समय रोहिणी नक्षत्र और वृष लग्नमें चतुर्भुजरूपसे प्रकट हुए। तदनन्तर वसुदेव-देवकीके प्रार्थनानुसार शिशुरूप धारण करनेपर इन्हें श्रीवसुदेवजी इन्हींके संकेतानुसार गोकुल पहुँचा आये और वहीं नन्द-यशोदाके यहाँ—ये पुत्ररूपमें पालित हुए। वहाँ रहकर इन्होंने बालकपनमें ही अनेक अलौकिक चरित्र किये। मारनेके लिये स्तनोंमें विष लगाकर आयी हुई पूतनाके प्राणोंको भी दूधके साथ खींच लिया। पालनेमें झूलते हुए दूध और दहीके बर्तनोंसे भरे एक बहुत बड़े छकड़ेको पैरोंके ठोकरसे उलट दिया और बवंडरके रूपमें आकर इन्हें आकाशमें उड़ाकर ले जाते हुए तृणावर्त नामक दैत्यको गला घोंटकर मार डाला और उसका उद्धार कर दिया।

जब बालक श्रीकृष्ण चलने-फिरने लगे तो गोपियोंके घरोंमें घुस जाते और उनकी प्रसन्नताके लिये उनका दूध, दही और माखन ले-लेकर खा जाते, सखाओं तथा बंदरोंको लुटा देते तथा अन्य कई प्रकारका बालचापल्य करके उन्हें रिझाते तथा खिझाते। जब वे शिकायत लेकर यशोदा मैयाके पास आतीं तो अनेक प्रकारकी चातुर्यपूर्ण बातें कहकर उन्हें निरुत्तर कर देते।

एक दिन गोपबालकोंने आकर यशोदा मैयासे कहा कि 'कन्हैयाने मिट्टी खायी है।' मैयाने डाँटकर कहा, 'क्यों रे? तूने मिट्टी क्यों खायी?' भगवान् बोले—'मैया! मैंने मिट्टी नहीं खायी है, विश्वास न हो तो मेरा मुख देख ले।' फिर उन्होंने माताको अपने मुखके अंदर त्रिलोकीका दर्शन कराया, किंतु मातापर इनके इस

अलौकिक प्रभावका संस्कार अधिक देरतक न ठहरा। एक दिन माताने इनकी चपलताके कारण इन्हें ऊखलसे बाँध दिया और इन्होंने ऊखलसे बँधे-बँधे ही यमलार्जुन वृक्षोंको उखाड़ डाला और कुबेरपुत्र नलकूबर तथा मणिग्रीवका उद्धार किया। जब श्रीकृष्ण-बलराम कुछ बड़े हुए तब वे बछड़ोंको चराने वनमें जाने और वहाँ गोपबालकोंके साथ नाना प्रकारकी क्रीडा करने लगे। वहाँ इन्होंने क्रमशः बछड़े और बगुलेका रूप बनाकर आये हुए वत्सासुर और बकासुर नामक दैत्योंका तथा अजगरका वेष बनाकर आये हुए अघासुरका उद्धार किया।

एक बार भगवान् जब वनमें बछड़े चरा रहे थे तो ब्रह्माजीने भगवान्‌की महिमा देखनेके लिये बछड़ों और गोपबालकोंको ले जाकर कहीं छिपा दिया। श्रीकृष्णने यह देखकर स्वयं उन सारे बछड़ों और गोपबालकोंका रूप धारण कर लिया और सालभर इस प्रकार अनेक रूप होकर रहे। ब्रह्माजी इस लीलाको देखकर बहुत ही चकित हुए और उन्होंने क्षमा-याचना करके सब बछड़ों तथा गोपबालकोंको लौटा दिया।

जब श्रीकृष्ण छः-सात वर्षके हुए तो ये नन्दजीके आज्ञानुसार गौओंको चराने वनमें जाने लगे। इन्हीं दिनों धेनुकासुर नामक दैत्य गदहेका रूप बनाकर श्रीकृष्णको मारने आया। उसकी भी वही दशा हुई जो इसके पूर्व अन्य दैत्योंकी हुई थी। उन दिनों कालिय नामक महान् विषधर सर्प यमुनाजीमें रहता था, जिसके कारण यमुनाजीका जल विषैला हो गया था। भगवान् श्रीकृष्णने यमुनाजीमें प्रवेशकर उस सर्पके साथ युद्ध किया और उसका शासन करके उसको वहाँसे निकाल दिया। रातको जब समस्त गोकुलवासी यमुनाके तटपर सोये हुए थे, वनमें सहसा भयानक आग लगी, जिसने उन सोये हुए व्रजवासियोंको चारों ओरसे घेर लिया। भगवान्‌ने उनका यह कष्ट देखकर उस अग्निको पी लिया और इस प्रकार अपने आश्रितजनोंकी रक्षा की।

एक बार सब गोपगण गायोंको चरानेके लिये एक मूजके वनमें घुस गये। वहाँ भी दैवयोगसे आग लग गयी, जिसके कारण समस्त गोपगण तथा गायें व्याकुल हो गयीं। भगवान्‌ने पुनः उस अग्निको पीकर गौओं तथा गोपोंकी रक्षा की।

एक बार कुछ गोप-कन्याओंने भगवान् श्रीकृष्णको पतिरूपमें प्राप्त करनेके उद्देश्यसे अगहनके महीनेमें कात्यायनी देवीका व्रत किया। एक दिन जब वे वस्त्रोंको तटपर रखकर यमुनाजीमें नग्न होकर स्नान कर रही थीं तो भगवान् उन्हें शिक्षा देनेके लिये उनके वस्त्रोंको लेकर कदम्बपर जा बैठे। बड़े अनुनय-विनयके बाद उनके वस्त्रोंको लौटाया और उनके मनोरथ पूर्ण करनेका उन्हें वरदान दिया।

भगवान् श्रीकृष्ण ऐसी मधुर मुरली बजाते कि गोपबालाएँ तथा व्रजके सभी प्राणी उसे सुनकर मुग्ध हो जाते। एक बार जब गोपगण भगवान् श्रीकृष्णके साथ वनमें गौएँ चरा रहे थे तो उन्हें बड़ी भूख लगी। पास ही कुछ ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे। भगवान्‌ने गोपोंसे कहा कि तुम उन ब्राह्मणोंके पास चले जाओ और उनसे हमारा नाम लेकर अन्न माँगो। गोपोंने वैसा ही किया, किंतु ब्राह्मणोंने उनकी प्रार्थनापर ध्यान नहीं दिया। तब भगवान्‌ने गोपोंको उन ब्राह्मणोंकी पत्नियोंके पास भेजा और वे भगवान्‌का नाम सुनते ही अधीर होकर वहाँ दौड़ी आयीं और साथमें बहुत-सा भोजनका सामान लेती आयीं। पीछेसे जब उनके पतियोंको यह बात मालूम हुई तो वे मन-ही-मन अपनी पत्नियोंकी भक्तिकी सराहना करने और अपनेको धिक्कारने लगे!

गोपगण प्रतिवर्ष इन्द्रको प्रसन्न करनेके लिये एक बड़ा भारी यज्ञ किया करते थे। भगवान्‌ने इसके बदलेमें गोपोंसे गौओं, ब्राह्मणों और गोवर्द्धन पर्वतकी पूजा करनेके लिये प्रेरणा की और स्वयं एक दूसरा रूप धारणकर गोवर्द्धन पर्वतके अभिमानी देवताके रूपमें पूजाको स्वीकार किया। जब इन्द्रने यह देखा तो वे अत्यन्त कुपित हुए और गोपोंको दण्ड देनेके लिये उन्होंने प्रलयकालकी-सी वर्षा बरसानेका आयोजन किया। भगवान्‌ने उस प्रलयकारी वर्षासे गोपोंकी रक्षा करनेके लिये लीलासे ही गोवर्द्धन पर्वतको उठा लिया और सात दिनतक उसे उसी प्रकार उठाये रखा तथा इस प्रकार इन्द्रके दर्पको चूर्ण किया।

गोवर्द्धन धारण करनेके बाद स्वर्गसे इन्द्र और गोलोकसे कामधेनु—श्रीकृष्णके पास आये। इन्द्रने क्षमा-प्रार्थना की। कामधेनुने अपने दूधसे और इन्द्रने ऐरावत हाथीकी सूँड़से निकले हुए आकाशगंगाके

जलसे श्रीकृष्णका अभिषेक किया और उनका नाम 'गोविन्द' रखा।

एक बार नन्दजी रात्रिके समय यमुनाजीमें स्नान कर रहे थे, उस समय एक वरुणका अनुचर उन्हें उठाकर वरुणलोकमें ले गया। जब भगवान्‌को यह मालूम हुआ तो वे स्वयं वरुणलोकमें जाकर नन्दजीको वहाँसे ले आये। नन्दजीने जब वहाँके वैभव और श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन अपने साथियोंसे किया तो उन लोगोंको भगवान्‌के वैकुण्ठ-धामका दर्शन करनेकी बड़ी उत्कट अभिलाषा हुई। उनकी अभिलाषाको जानकर भगवान्‌ने उन्हें अपने प्रकृतिसे परब्रह्मस्वरूपका और वैकुण्ठलोकका दर्शन कराया।

इसके बाद भगवान्‌ने कान्तभावसे भजनेवाली गोपियोंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये तथा कामदेवका मद चूर्ण करनेके लिये अलौकिक रासक्रीडा की। भगवान्‌की मुरली सुनकर गोपियाँ शारदीय पूर्णिमाकी रात्रिको रासमण्डलमें भगवान्‌के पास पहुँचीं, बीचमें भगवान् अन्तर्धान हो गये। फिर प्रकट हुए। तदनन्तर एक-एक गोपीके बीचमें एक-एक स्वरूप धारण करके भगवान्‌ने दिव्य रासलीला की।

एक बार नन्दादि गोपगण देवाधिदेव महादेवकी पूजाके लिये अम्बिकावनको गये हुए थे। वहाँ रात्रिको एक अजगर सोये हुए नन्दबाबाको निगलने लगा। उनके रोनेकी आवाज सुनकर भगवान् जागे और उन्होंने उस अजगरको पैरोंसे ठुकराया। भगवान्‌के चरणोंका स्पर्श पाते ही वह विद्याधरके रूपमें परिवर्तित हो गया और भगवान्‌की स्तुति करता हुआ अपने लोकको चला गया। ऋषियोंका अपराध करनेसे उसे सर्पकी योनि प्राप्त हुई थी और भगवान्‌की कृपासे वह उस योनिसे छूटकर अपने असली स्वरूपको प्राप्त हो गया।

एक बार भगवान् वनमें गोपियोंके साथ विहार कर रहे थे, उस समय शंखचूड नामक कुबेरका अनुचर गोपियोंके एक टोलेको उठाकर ले गया। भगवान्‌ने उसका पीछा किया और उसे मारकर उसके मस्तकपरसे उसकी मणिको निकाल लिया।

इस बीचमें अरिष्टासुर नामक दैत्य बैलका रूप धारण कर व्रजमें आया। भगवान्‌ने उसे बात-की-बातमें मारकर अपने धामको पहुँचा दिया। तब कंसने केशी नामक दैत्यको भेजा, जो घोड़ेका रूप धरकर आया; किंतु उसकी भी वही गति हुई।

एक बार भगवान् ग्वालबालोंके साथ चोरोंका खेल खेल रहे थे। कुछ ग्वाल चोर बन गये, कुछ मेढ़े बन गये और कुछ रखवाले बनकर उनकी चोरोंसे रक्षा करने लगे। इतनेमें व्योमासुर नामक दैत्य आया और वह भी गोपवेषमें चोर बनकर मेढ़े बने हुए गोपबालकोंको चुरा-चुराकर एक पर्वतकी गुफामें ले जाकर रखने लगा। भगवान्‌को जब यह पता लगा तो उन्होंने मायासे गोप बने हुए उस दैत्यको खूब मारा और उसके प्राणोंको हर लिया तथा छिपाकर रखे हुए गोपबालकोंको गुफामेंसे बाहर निकाला।

इधर कंसने मथुरामें श्रीकृष्ण-बलरामको मारनेके उद्देश्यसे धनुषयज्ञका आयोजन किया और उन्हें बुलानेके लिये अक्रूरजीको भेजा। अक्रूरजी जब श्रीकृष्ण-बलरामको लेकर मथुरा जाने लगे तो गोपियाँ विरह-दु:खसे अत्यन्त कातर होकर रोने लगीं और उनके रथके पीछे-पीछे चलने लगीं। भगवान्‌ने किसी प्रकार समाश्वासन देकर उन्हें लौटाया। वे भी भगवान्‌के लौटनेकी आशासे प्राण धारण करती हुई व्रजमें रहने लगीं। मथुरा पहुँचनेके पूर्व भगवान्‌ने यमुनातटपर विश्राम किया। अक्रूरजीने रथसे उतरकर स्नानके लिये यमुनाजीके अंदर डुबकी लगायी तो उन्होंने जलके भीतर श्रीकृष्णको देखा; उन्होंने जलसे बाहर निकलकर रथकी ओर देखा तो वहाँ भी श्रीकृष्ण-बलरामको पूर्ववत् बैठे पाया। यह लीला देखकर उन्हें महान् आश्चर्य हुआ और वे गद्‌गद होकर भगवान्‌की 'स्तुति' करने लगे।

मथुरा पहुँचनेपर भगवान्‌ने अक्रूरजीको पहले भेज दिया और स्वयं पीछेसे गोपोंके साथ नगरीमें प्रवेश किया। नगरीमें उनका बड़ा स्वागत हुआ। रास्तेमें भगवान्‌ने सुदामा मालीकी पूजा स्वीकार की, त्रिवक्रा (कुब्जा) नामक कंसकी दासीका कूबड़ दूर किया और उसके घर आनेका वचन दिया। यज्ञमण्डपमें पहुँचकर भगवान्‌ने उस धनुषको देखा जिसके निमित्तसे उस यज्ञका आयोजन किया गया था और सब लोगोंके देखते-देखते उसे लीलासे ही तोड़ डाला। रक्षकोंने जब भगवान्‌को ललकारा तो उनको भी मार डाला। दूसरे

दिन भगवान् फिर रंग-मण्डपमें मल्लयुद्ध देखनेके लिये गये। द्वारके सामने कुबलयापीड नामका मतवाला हाथी खड़ा था, उसने महावतके इशारेसे श्रीकृष्णपर आक्रमण किया। श्रीकृष्णने लीलासे ही उसके दोनों दाँतोंको उखाड़ लिया और उन्हींके प्रहारसे हाथी तथा महावत दोनोंको मार डाला। फिर मण्डपमें प्रवेश करके चाणूर, मुष्टिक आदि मल्लोंको पछाड़ा और अन्तमें सबके देखते-देखते छलाँग मारकर कंसके मंचपर जा कूदे और उसे केश पकड़कर सिंहासनके नीचे ढकेल दिया और बात-की-बातमें उस महाबलीका काम तमाम कर डाला। इसके बाद विधिपूर्वक उसकी अन्त्येष्टि क्रिया करवायी और उसके पिता उग्रसेनको कारागारसे मुक्त करके उनका राज्याभिषेक किया और स्वयं कारागारमें अपने माता-पिता वसुदेव-देवकीसे मिलकर उनका बन्धन छुड़ाया और उन्हींके पास सुखपूर्वक रहने लगे।

वसुदेवजीने भगवान्का विधिवत् यज्ञोपवीत-संस्कार करवाया और फिर उन्होंने उज्जयिनीमें गुरु सान्दीपनिके यहाँ वेद-वेदांगकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये भेज दिया। वहीं उनकी सुदामा ब्राह्मणसे मित्रता हुई। बहुत थोड़े समयमें गुरुकुलकी शिक्षा समाप्त कर, चौदह विद्या और चौंसठ कलाओंमें निपुण होकर भगवान् जब वापस आने लगे तो उन्होंने गुरुसे इच्छानुसार गुरुदक्षिणा माँगनेके लिये प्रार्थना की। गुरुने अपनी पत्नीसे सलाह करके यह कहा कि 'हमारा एक पुत्र प्रभासक्षेत्रमें समुद्रमें डूबकर मर गया था, उसीको वापस ला दो।' भगवान्ने यमपुरीमें जाकर वहाँसे गुरुपुत्रको ला दिया और गुरुकी आज्ञा तथा आशीर्वाद पाकर वे घर लौट आये।

इसके बाद भगवान्ने गोपियोंकी सुधि लेने तथा अपने प्रिय सखा उद्धवका ज्ञानाभिमान दूर करके उन्हें प्रेम-मार्गमें दीक्षित करने और गोपी-प्रेमका माहात्म्य बतलानेके लिये व्रजमें भेजा। वहाँ उन्होंने प्रेममूर्ति विरहिणी व्रजांगनाओंकी जो दशा देखी, उससे उनके ज्ञानका गर्व गल गया और वे गोपियोंको प्रबोध करनेका हौसला भूलकर उलटे गोपियोंके दास बन गये तथा उनकी चरणधूलिमें लोटकर अपनेको कृतार्थ मानने लगे। इसके अनन्तर भगवान् अपने वचनको पूरा करनेके लिये कुब्जाके घर गये और उसके प्रेमका सम्मान किया। फिर वे अक्रूरजीके घर गये और उन्हें पाण्डवोंका संवाद लानेके लिये हस्तिनापुर भेजा।

इधर कंसकी मृत्युका बदला लेनेके लिये उसके श्वशुर मगधराज जरासन्धने सत्रह बार तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरा नगरीपर चढ़ाई की, किंतु प्रत्येक बार उसे मुँहकी खाकर लौट जाना पड़ा। अठारहवीं बार वह फिर सेना बटोरकर चढ़ाई करनेहीवाला था कि इस बीचमें कालयवन नामक यवनदेशके राजाने तीन करोड़ सेना लेकर मथुरा नगरीपर धावा बोल दिया। इस प्रकार दोहरा आक्रमण देखकर व्यर्थके नरसंहारको रोकनेके लिये भगवान्ने समुद्रतटपर जाकर एक नयी नगरी बसाने और मथुरावासियोंको वहाँ पहुँचाकर फिर यवनोंके साथ युद्ध करनेका निश्चय किया। भगवान्की आज्ञासे विश्वकर्माने समुद्रके अंदर द्वारका नामकी एक विशाल नगरीका निर्माण किया। समस्त नगरवासियोंको युक्तिसे वहाँ पहुँचाकर भगवान् स्वयं बिना कोई आयुध लिये ही नगरसे बाहर निकल पड़े। उन्हें इस प्रकार पैदल ही नगरसे बाहर जाते देखकर कालयवनने भी पैदल ही उनका पीछा किया। भगवान् दौड़ते-दौड़ते एक गुफामें घुस गये और वहाँ सोये हुए मान्धाताके पुत्र मुचुकुन्दके द्वारा बिना ही परिश्रम उसे मरवा डाला। फिर मुचुकुन्दको अपने दिव्य दर्शन देकर उसे कृतार्थ किया। श्रीकृष्णने वहाँसे लौटकर अकेले ही यवनोंकी उस विपुल सेनाका संहार किया और वहाँसे द्वारकाको जानेकी तैयारीमें ही थे कि इतनेमें ही जरासन्धने पुनः तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरापर चढ़ाई की। अब तो भगवान्ने वहाँसे भागना ही उचित समझा और भयभीत होकर भागनेका-सा नाट्य करके द्वारका चले आये। तभीसे भक्तलोग उन्हें 'रणछोड़' नामसे पुकारने लगे। जरासन्ध अपनी सेनाको लेकर वापस अपनी राजधानीको चला गया।

इसके बाद भगवान्ने साक्षात् भगवती लक्ष्मीजीकी कलारूपा देवी रुक्मिणीके साथ विवाह किया और विरोधी सेनाका संहार किया। रुक्मिणीका भाई रुक्मी भी रुक्मिणीके अपहरणको न सहकर एक अक्षौहिणी सेना लेकर भगवान्के पीछे दौड़ा; किंतु भगवान्ने उसकी सेनाका बात-की-बातमें विध्वंस कर डाला और रुक्मीको भी पकड़कर केशहीन एवं कुरूप करके

छोड़ दिया। देवी रुक्मिणीके गर्भसे प्रद्युम्न नामक पुत्र हुआ, जो साक्षात् कामदेवका अवतार था और रूप-गुणोंमें भगवान् श्रीकृष्णकी ही प्रतिमूर्ति था।

एक बार स्यमन्तक मणिको ढूँढ़ते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ऋक्षराज जाम्बवान्के पास पहुँचे और उस मणिके लिये उनसे युद्ध किया। जाम्बवान् उनके बलको देखकर यह समझ गये कि मेरे इष्टदेव राम ही इस रूपमें मेरे सामने उपस्थित हुए हैं और अत्यन्त भक्तिभावसे अपनी कन्या जाम्बवतीके साथ उस मणिको भगवान्के भेंट कर दिया। भगवान्ने उस मणिको ले जाकर उसके मालिक सत्राजित् यादवको दे दिया और सत्राजित् यादवने इस उपकारके बदलेमें अपनी कन्या सत्यभामाके साथ भगवान्का विवाह कर दिया और उस मणिको भी दहेजमें दे दिया। भगवान्ने सत्यभामाको तो स्वीकार कर लिया; किंतु मणि लौटा दी। ये सत्यभामा भगवान्की अत्यन्त कृपापात्र महिषी थीं।

रुक्मिणी, सत्यभामा और जाम्बवतीके अतिरिक्त भगवान्की पाँच पटरानियाँ और थीं जिनके नाम थे—कालिन्दी, मित्रविन्दा, नाग्नजिती, लक्ष्मणा और भद्रा। इनमेंसे कालिन्दीने तपस्या करके भगवान्को प्राप्त किया, मित्रविन्दाको भगवान् रुक्मिणीकी भाँति हरण करके लाये, नग्नजित्की कन्या सत्याको शुल्करूपमें सात उद्दण्ड बैलोंको एक साथ नाथकर लाये, भद्रासे उसके बान्धवोंके आग्रह करनेपर विवाह किया और मद्रदेशकी राजकन्या लक्ष्मणाको भगवान् अकेले ही स्वयंवरमें सब राजाओंका तिरस्कार करके हर ले आये।

इसके बाद भगवान्ने इन्द्रकी प्रार्थनापर भौमासुर अथवा नरकासुर नामक दैत्यकी राजधानी प्राग्योतिषपुरपर चढ़ाई की और उसका वध करके उसके स्थानपर उसके पुत्र भगदत्तको अभिषिक्त किया। उस भौमासुरके यहाँ नाना देशके राजाओंसे हरण करके लायी हुई सोलह हजार एक सौ कन्याएँ थीं। उन्होंने भगवान्के दर्शन कर मन-ही-मन उन्हें पतिरूपमें वरण कर लिया और भगवान्ने भी उनका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये उन्हें द्वारिका भेज दिया। भौमासुर इन्द्रकी माता अदितिके कुण्डल हरण कर लाया था, उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रलोकमें जाकर इन्द्रकी माताको वापस दे आये और वहाँसे लौटते समय इन्द्रादि देवताओंको जीतकर सत्यभामाकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये पारिजातका वृक्ष अपने साथ लेते आये और उसे सत्यभामाके महलोंके पास लगा दिया।

द्वारिकामें लौटकर भगवान्ने उन सोलह हजार एक सौ कन्याओंके साथ एक ही समय उतने ही रूप धारण कर अलग-अलग विवाह किया और उसी प्रकार लक्ष्मीकी अंशरूपा उन स्त्रियोंके साथ अलग-अलग रहने लगे और वे सब भी सेवाके द्वारा उन्हें संतुष्ट करने लगीं।

शोणितपुरके राजा, महाभागवत बलिके पुत्र बाणासुरकी कन्या ऊषाने एक बार स्वप्नमें प्रद्युम्नके पुत्र अनिरुद्धको देखा और उसी समयसे वह उन्हें पतिरूपमें मानने लगी। उसने युक्तिसे एक बार उन्हें अपने महलोंमें बुलाया और उन्हें बड़े ही सुखपूर्वक वहीं अपने पास महलोंमें ही रख लिया। जब उसके पिताको इस बातकी खबर लगी तो वह बहुत रुष्ट हुआ और उसने अनिरुद्धको कैद कर लिया। जब यह संवाद श्रीकृष्णके पास पहुँचा तो वे बड़ी भारी सेना लेकर शोणितपुर पहुँचे। वहाँ उनका बाणासुरके साथ घमासान युद्ध हुआ। बाणासुर भगवान् शंकरका बड़ा भक्त था, अतः साक्षात् शंकर भी उसकी सहायताके लिये आये और उनका भगवान् श्रीकृष्णके साथ कई दिनतक संग्राम चला। अन्तमें भगवान् शंकरके अनुरोधसे श्रीकृष्णने उसकी भुजाओंको छेदन कर उसे अभय दे दिया और ऊषा तथा अनिरुद्धको साथ लेकर भगवान् अपनी राजधानीको लौट आये।

एक समय एक बगीचेमें खेलते हुए कुछ यादव-बालकोंको एक अन्धे कुएँमें एक पर्वताकार गिरगिट दिखायी दिया। उसे कुएँमेंसे निकालनेकी उन बालकोंने बहुत चेष्टा की, परंतु वे उस कार्यमें असफल रहे। तब वे श्रीकृष्णको वहाँ बुला लाये और उनके स्पर्शमात्रसे ही वह गिरगिटके रूपको त्यागकर देवरूप हो गया। वह राजा नृग था, जो भूलसे एक दान की हुई गौको दुबारा दान देनेके कारण उस नीच योनिको प्राप्त हुआ था।

एक बार करूषदेशके राजा पौण्ड्रकने 'असली वासुदेव मैं हूँ' ऐसा मानकर भगवान् श्रीकृष्णके पास दूत भेजा और उनको युद्धके लिये ललकारा। उसने

यह चुनौती अपने मित्र काशिराजके यहाँसे भेजी थी, अत: भगवान् श्रीकृष्णने उसकी चुनौतीको स्वीकारकर काशीनगरीपर चढ़ाई कर दी और मित्रसहित उस मिथ्या वासुदेवको मारकर वे द्वारिकाको लौट आये। इधर काशिराजका पुत्र सुदक्षिण अपने पिताके वधका बदला लेनेके लिये अभिचारविधिका प्रयोग करता हुआ अग्निकी आराधना करने लगा। विधिके पूर्ण होनेपर हवनकुण्डमेंसे एक अति भयानक अग्नि उत्पन्न हुई, जो दसों दिशाओंको जलाती हुई द्वारिकापर चढ़ दौड़ी। भगवान्ने उसे माहेश्वरीकृत्या जानकर उसका शमन करनेके लिये सुदर्शन चक्रको आज्ञा दी। चक्रसे पीडित होकर वह कृत्या काशीको लौट गयी और उसने ऋत्विजोंसहित स्वयं सुदक्षिणको ही जला दिया। सुदर्शन चक्र भी उसके पीछे-पीछे काशी गया और सारी नगरीको जलाकर वापस लौटा।

एक बार देवर्षि नारदजी 'भगवान् गृहस्थाश्रममें रहकर किस प्रकार रहते हैं?' यह देखनेकी इच्छासे द्वारिकामें गये। वे अलग-अलग सब रानियोंके महलोंमें गये और सब जगह उन्होंने श्रीकृष्णको गृहस्थका यथायोग्य बर्ताव करते हुए पाया। वे प्रात:काल उठनेके समयसे लेकर रात्रिको सोनेके समयतकका समस्त दैनिक कृत्य भिन्न-भिन्न रूपोंमें विधिवत् करते थे। सभामें जानेके समय वे घरोंसे निकलते हुए अलग-अलग रूपमें दिखायी देते थे और फिर एक रूप होकर सभामें प्रवेश करते थे। यह सब देखकर नारदजी दंग रह गये और भगवान्की स्तुति करते हुए अपने लोकको चले गये।

भगवान् श्रीकृष्णकी दैनिकचर्या आदर्श थी। आप ब्राह्ममुहूर्तमें उठते, तदनन्तर ध्यान करते, फिर स्नान-संध्यादिसे निवृत्त होकर हवन करते और गायत्रीका जाप करते। फिर तर्पण करके गुरुजनोंकी और ब्राह्मणोंकी पूजा करते। तत्पश्चात् सुन्दर सींगवाली तथा चाँदीसे मढ़े हुए खुरों तथा मोतीकी मालाएँ पहनी हुई, एक बारकी ब्यायी, दूधवाली बछड़ेसहित ८४,०१३ गौएँ प्रतिदिन दान करते।

महाराज युधिष्ठिरने राजसूय-यज्ञका उपक्रम किया। इसके लिये देशभरके राजाओंको जीतना आवश्यक था। उनमें सबसे बलवान् जरासन्ध था। उसे द्वन्द्वयुद्धके द्वारा जीतनेके अभिप्रायसे भीमसेन, अर्जुन और श्रीकृष्ण तीनों ब्राह्मणका वेष बनाकर उसकी राजधानी गिरिव्रजमें गये। वहाँ भीमसेनके द्वारा जरासन्धको मरवाकर भगवान्ने पाण्डवोंकी विजयका एक बड़ा भारी कण्टक दूर कर दिया और साथ ही उसके यहाँ जो बीस हजार आठ सौ राजा कैद थे, उन्हें मुक्ति दिलवाकर अपने-अपने राज्यमें भेज दिया।

इसके बाद राजसूय-यज्ञकी तैयारी हुई। भगवान्ने यज्ञमें आये हुए ब्राह्मणोंके चरण धोनेका काम स्वीकार किया। वहाँ सबसे पहले सभापतिका पूजन आवश्यक था। सभापतिके आसनके लिये सर्वसम्मतिसे भगवान् श्रीकृष्ण चुने गये और तदनुसार धर्मराजने सर्वप्रथम उन्हींकी पूजा की और उनके त्रिलोकपावन चरणामृतको मस्तकपर चढ़ाया। उपस्थित सभी सदस्योंने जय-जयकार किया और देवताओंने पुष्पवृष्टि की। भगवान्के इस उत्कर्षको शिशुपाल नहीं सह सका और वह आवेशमें आकर उन्हें अनेक प्रकारके दुर्वचन कहने लगा। भगवान्ने चक्रसे उसके सिरको धड़से अलग कर दिया और सबके देखते-देखते उसकी देहमेंसे निकला हुआ जीवरूपी तेज भगवान्के अंदर प्रविष्ट हो गया।

शिशुपालका एक मित्र शाल्व नामका राजा था। वह अपने मित्रके वधका बदला लेनेके लिये अपना सौभ नामक विमान तथा बड़ी भारी सेना लेकर द्वारिका नगरीपर चढ़ दौड़ा। भगवान् उन दिनों हस्तिनापुर थे। वे अनिष्टकी शंकासे तुरंत द्वारिका चले आये। वहाँ आते ही उन्होंने शाल्वको युद्धके लिये ललकारा और गदासे उसके विमानको चूर-चूरकर चक्रसे उसके मस्तकका छेदन कर दिया।

शाल्वके मारे जानेपर शिशुपालका बड़ा भाई दन्तवक्त्र अकेला गदा हाथमें लेकर पैदल ही श्रीकृष्णसे युद्ध करनेके लिये आगे बढ़ा। श्रीकृष्णने उसका भी गदाके प्रहारसे बात-की-बातमें काम तमाम कर दिया। शिशुपालकी भाँति उसके शरीरसे भी एक सूक्ष्म तेज निकलकर भगवान्के अंदर प्रवेश कर गया। उसके बाद उसका भाई विदूरथ युद्ध करने आया और भगवान्ने उसका भी मस्तक चक्रके द्वारा धड़से अलग कर दिया।

ऊपर कहा जा चुका है कि सुदामा भगवान्के गुरुभाई थे। ये अत्यन्त दरिद्र थे। आये दिन उपवास

होता था। परंतु ये इतने निःस्पृह थे कि किसीसे कुछ कहते-सुनते न थे। एक दिन लगातार कई उपवास होनेके कारण तंग आकर इनकी स्त्रीने इन्हें अपने बालसखा श्रीकृष्णके पास जानेकी प्रेरणा की। किसीसे कुछ माँगनेकी इच्छा न होनेपर भी भगवान्के दर्शनके लोभसे ये द्वारिका पहुँचे। वहाँ भगवान्ने बड़े प्रेमसे इनका आदर-सत्कार किया और आते समय इनके बिना ही जाने इन्हें मालामाल कर दिया।

एक बार सूर्यग्रहणके अवसरपर भगवान् श्रीकृष्ण समस्त यादव-परिवारके साथ पर्व-स्नानके लिये कुरुक्षेत्र गये। वहाँ नन्दादि गोपगण भी आये थे। सब लोग चिरकालके बाद एक-दूसरेसे मिलकर बड़े ही प्रसन्न हुए। नन्द-यशोदा तथा गोपीजन तो श्रीकृष्ण-बलरामको देखकर इतने प्रसन्न हुए मानो सूखे धानपर जल गिर गया हो।

वहीं सब ऋषि-महर्षि भी पधारे थे। भगवान्ने उनकी महिमा गायी। ऋषियोंने भगवान्का महत्त्व कहा। फिर वसुदेवजीने यज्ञ किया। तदनन्तर भगवान्ने अपने पिता वसुदेवजीको ज्ञान प्रदान किया।

एक बार गुरु सान्दीपनिकी गुरुदक्षिणाका वृत्तान्त स्मरण कर माता देवकीने अपने दोनों पुत्रोंके सामने यह इच्छा प्रकट की कि जिस प्रकार तुमने मरे हुए गुरुपुत्रको लाकर अपने गुरुको दिया था, उसी प्रकार मैं भी कंसके द्वारा मारे हुए तुम्हारे छः भाइयोंको देखना चाहती हूँ। इसपर श्रीकृष्ण-बलराम दोनों सुतल-लोकमें जाकर वहाँसे अपने छहों भाइयोंको ले आये और माताको सौंप दिया। माताने बड़े प्रेमसे उनका आलिंगन किया और उन्हें स्तनपान कराया और फिर उनको विदा कर दिया।

मिथिलापुरीमें श्रुतदेव नामका एक ब्राह्मण रहता था। वह श्रीकृष्णका परम भक्त था। उस देशका राजा बहुलाश्व भी भगवान्की बड़ी भक्ति करता था। उन दोनोंपर ही कृपा करनेके लिये भगवान् एक बार मिथिलापुरी गये। श्रुतदेव और बहुलाश्व दोनों ही भगवान्के चरणोंपर गिरे और दोनोंने ही एक साथ अपने-अपने घर पधारनेके लिये भगवान्से प्रार्थना की। भगवान्ने दोनोंकी प्रार्थना स्वीकार की और उनको न जनाते हुए ही दो स्वरूप धारण करके एक ही साथ दोनोंके घर जाकर उनको कृतार्थ किया।

पाण्डवोंके साथ भगवान्का बड़ा ही स्नेहका सम्बन्ध था। ये सदा उनके हितचिन्तनमें लगे रहते थे।

द्रौपदीके स्वयंवरमें ब्राह्मणवेषमें छिपे हुए पाण्डवोंको भगवान्ने पहचान लिया और फिर वहीं पाण्डवोंको मणि, रत्न, गहने, स्वर्ण, वस्त्र, गृहसामग्री, दास-दासी, असंख्य रथ और हाथी-घोड़े देकर अतुलित ऐश्वर्यशाली बना दिया।

पाण्डव जब वनमें थे तो भगवान् उनसे मिलने गये। द्रौपदीने रो-रोकर अपनी दुःख-कथा सुनायी। भगवान्ने वहीं कौरवकुलके नाशकी घोषणा कर दी और द्रौपदीको आश्वासन देकर वे वहाँसे विदा हो गये।

एक बार दुर्योधनने छलपूर्वक दुर्वासाजीको पाण्डवोंके पास भेजा। भगवान्ने वहाँ जाकर द्रौपदीकी बटलोईमेंसे एक पत्ता ढूँढ़ निकाला और उसे खाकर सारे विश्वको तृप्त कर दिया और इस तरह दुर्वासाके शापसे पाण्डवोंकी रक्षा की।

कौरवोंको समझानेके लिये भगवान् जब दूत बनकर हस्तिनापुर जाने लगे, तब एकान्तमें द्रौपदीने आकर उन्हें अपने खुले केश दिखलाये और दुःशासनके अत्याचारकी बात याद दिलायी। भगवान्ने आश्वासन देकर उसे संतुष्ट किया। हस्तिनापुरकी राहमें ऋषियोंका एक समूह मिला और सब ऋषियोंने हस्तिनापुर जाकर भगवान्का भाषण सुननेकी इच्छा प्रकट की और भगवान्की अनुमतिसे सबने वहाँ जाकर भगवान्का भाषण सुना।

कौरव-सभामें भगवान्ने नाना प्रकारकी युक्ति-प्रयुक्तियोंसे दुर्योधनको समझानेकी बहुत चेष्टा की; परंतु उसने भगवान्की एक न सुनी और छलसे भगवान्को कैद करना चाहा। तब भगवान्ने उसे डाँटकर अपना दिव्य तेजोमय विराट्रूप दिखलाया। भगवान्के प्रत्येक रोम-कूपसे सूर्यकी किरणें निकल रही थीं और उनके नेत्रों, नासिकाओं और कर्णोंसे आगकी लपटें! भगवान्के इस रूपको देखकर सब चौंधिया गये। द्रोण, भीष्म, विदुर, संजय और तपोधन ऋषियोंने भगवान्का यह स्वरूप देखा। फिर भगवान्ने विदुरके घर जाकर भोजन किया और वहाँसे लौट गये।

महाभारत-युद्धके लिये अर्जुन और दुर्योधन दोनों ही भगवान्‌के पास पहुँचे। उनके इच्छानुसार भगवान्‌ने दुर्योधनको अपनी सेना और अर्जुनको अपनेको सौंपकर समदर्शिता और भक्तवत्सलताका प्रत्यक्ष परिचय दिया। महाभारत-युद्धमें भगवान्‌ने अर्जुनके सारथिका काम किया और पाण्डवोंकी ओरसे प्राय: सारे ही काम भगवान्‌ने अपनी सलाहसे करवाये। नाना प्रकारकी विपत्तियोंसे, ऐन मौकोंपर मौतके मुँहसे अर्जुनको बचाया और अन्तमें कौरवोंका संहार करवाकर पाण्डवोंको विजयी बनाया। इसी महाभारत-युद्धके आरम्भमें भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्य गीताका उपदेश दिया और विराट्‌रूप दिखलाया तथा अपने सर्वगुह्यतम पुरुषोत्तमतत्त्वका निरूपण किया।

उत्तराके गर्भमें अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे परीक्षित्‌को बचाया। सबको ज्ञानका उपदेश करवाया। अश्वमेध-यज्ञमें पाण्डवोंकी सहायता की और अर्जुनको अनुगीताका उपदेश दिया।

तदनन्तर द्वारिकाको लौटते हुए रास्तेमें महर्षि उत्तंकपर कृपा की और उन्हें अपना विराट्‌रूप दिखलाकर कृतार्थ किया। द्वारिकामें अनेकों लीलाएँ कीं। गान्धारीके और ऋषियोंके शापसे यदुकुलका संहार हुआ। तदनन्तर व्याधके बाणको निमित्त बनाकर भगवान्‌ने अपनी इच्छासे परम धामको प्रयाण किया। उस समय वहाँ ब्रह्माजी, भवानीसहित श्रीशंकरजी, इन्द्रादि तमाम देवता, प्रजापति, समस्त मुनि, पितर, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर आदि आये और गान करते हुए भगवान्‌की लीलाका वर्णन करने लगे। पुष्पोंकी वर्षा होने लगी और आकाश विमानोंकी कतारोंसे भर गया। भगवान् अपने दिव्य देहसे ऊपर उठते हुए सबके देखते-ही-देखते अपने परम धाममें प्रविष्ट हो गये। उन्हींके साथ-साथ सत्य, धर्म, धृति और कीर्ति भी चली गयीं। ब्रह्मा, शिव आदि समस्त देवता भगवान्‌की कीर्तिका बखान करते हुए अपने-अपने लोकोंको चले गये।

भक्तवर अर्जुन

गीताके पात्रोंमें दूसरा नंबर अर्जुनका है। अर्जुन 'नर' ऋषिके अवतार और भगवान् श्रीकृष्णके अनन्यप्रेमी थे। ये कुन्तीदेवीके सबसे छोटे पुत्र थे। अर्जुनमें स्वाभाविक ही इतने गुण थे, जिनके कारण वे भगवान्‌के इतने प्रिय पात्र हो सके। उनका बल, रूप और लावण्य अपार था। शूरता, वीरता, सत्यवादिता, क्षमा, सरलता, प्रेम, गुरुभक्ति, मातृभक्ति, बड़े भाईकी भक्ति, बुद्धि, विद्या, इन्द्रिय-संयम, ब्रह्मचर्य, मनोनिग्रह, आलस्यहीनता, कर्मप्रवणता, शस्त्रज्ञान, शास्त्रज्ञान, दया, प्रेम, निश्चय, व्रतपरायणता, निर्मत्सरता और बहुमुखी अभिज्ञता आदि गुण इनके जीवनमें ओत-प्रोत थे। इन्होंने द्रोणाचार्यसे धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की थी। अपनी गुरुभक्तिसे द्रोणाचार्यको इन्होंने इतना प्रसन्न कर लिया था कि वे अपने पुत्र अश्वत्थामाको भी न सिखाकर गुप्त-से-गुप्त अस्त्रोंका प्रयोग इन्हें सिखाते थे।

शिक्षा समाप्त होनेपर एक दिन गुरुने सबकी परीक्षा लेनी चाही। पेड़पर एक नकली पक्षीको बैठाकर उसीके सिरको निशाना बनाया गया। युधिष्ठिर आदि सबसे द्रोणाचार्यने पूछा कि तुमको क्या दीख रहा है। सबने कई चीजें बतलायीं। आखिर अर्जुनने कहा कि 'मुझको तो केवल पक्षीका सिर दीख रहा है।' द्रोणने आनन्दमें भरकर कहा—'बस, तुम बाण चलाओ। लक्ष्यका ध्यान इसी प्रकार करना चाहिये।'

एक बार द्रोणाचार्य अपने शिष्योंके साथ गंगाजी नहाने गये। जलमें उतरते ही एक मगरने उनकी जाँघ पकड़ ली। आचार्यने समर्थ होते हुए भी शिष्योंकी परीक्षाके लिये पुकारकर कहा—'इस मगरको मारकर कोई मेरी रक्षा करो।' द्रोणाचार्यकी बात पूरी होनेके पहले ही अर्जुनने पाँच बाण मारकर जलमें डूबे हुए मगरका काम तमाम कर दिया।

आचार्यकी प्रसन्नताके लिये ही उनके आज्ञानुसार अर्जुनने द्रुपदको जीतकर बंदीके रूपमें उनके सामने लाकर खड़ा कर दिया था।

स्वयंवरमें द्रौपदीको अर्जुनने जीता था, परंतु माता कुन्तीके कथनानुसार पाँचों भाइयोंसे उनका विवाह हुआ। द्रौपदीको पूर्वजन्मका वरदान था, इसीसे ऐसा हुआ। द्रौपदीके सम्बन्धमें पाँचों भाइयोंने यह नियम बना रखा था कि जिस समय एक भाई उनके पास रहे उस समय चारों भाइयोंमेंसे कोई भी उस कमरेमें न जाय और यदि कोई जाय तो उसे बारह वर्षका निर्वासन हो। एक बार द्रौपदीके महलमें महाराज युधिष्ठिर थे। उस समय एक दिन ब्राह्मणकी गायोंको चोरोंसे छुड़ानेके लिये अर्जुनको अस्त्र लेनेको अंदर जाना पड़ा और युधिष्ठिरके समझानेपर भी अर्जुनने नियमानुसार बारह वर्षका निर्वासन स्वीकार किया।

अर्जुन तीर्थोंमें घूमते रहे। इसी बीच नागकन्या

उलूपी उन्हें मिली और मणिपुरमें राजकुमारी चित्रांगदासे उनका विवाह हुआ। एक बार अर्जुन ऐसे स्थानमें गये जहाँ पाँच तीर्थ थे, पर उनमें पाँच बड़े भारी ग्राह रहनेके कारण कोई वहाँ नहाता नहीं था। अर्जुन उन सरोवरोंमें नहाये और शापसे ग्राह बनी हुई पाँच अप्सराओंको शाप-मुक्त किया।

भगवान् श्रीकृष्णके साथ इनका बड़ा प्रेम था। वे इनके साथ घूमते और जल-विहार किया करते थे। अग्निको तृप्त करनेके लिये इन्होंने खाण्डव-वनका दाह किया। वहीं अग्निके द्वारा इन्हें दिव्य रथ और गाण्डीव धनुषकी प्राप्ति हुई। वहीं इन्द्रने आकर इनसे वरदान माँगनेको कहा। अर्जुनने दिव्य अस्त्र माँगे और परम प्रेमी भगवान्ने इन्द्रसे यह वर माँगा कि 'अर्जुनके साथ मेरा प्रेम सदा बना रहे।'

वनमें महादेवजीको प्रसन्न करके उनसे अर्जुनने पाशुपतास्त्र प्राप्त किया। फिर इन्द्रके द्वारा बुलाये जानेपर ये स्वर्गमें गये। वहाँ इन्द्रने अपने आधे आसनपर बैठाकर इनका बड़ा सम्मान किया। वहीं इन्होंने गन्धर्वोंके द्वारा गान और नृत्यकी शिक्षा प्राप्त की।

स्वर्गमें उर्वशीने एकान्तमें अर्जुनके पास जाकर उनसे कामभिक्षाकी प्रार्थना की। अर्जुनने स्पष्ट कह दिया कि 'मैं दिक्पालोंको साक्षी करके कहता हूँ कि जैसे कुन्ती, माद्री और देवी इन्द्राणी मेरी पूजनीया माताएँ हैं, वैसे ही आप भी हैं। मैं तो आपका पुत्र हूँ।' इसपर उर्वशीने कुपित होकर इन्हें एक सालतक नपुंसक होनेका शाप दे दिया। वही शाप अर्जुनके लिये वर हो गया और उसीके प्रभावसे वे सालभरतक कौरवोंसे छिपकर विराट-नगरमें बृहन्नलाके नामसे राजकुमारी उत्तराके नृत्य-गीत-शिक्षक बनकर विराटके महलोंमें रह सके।

निवात-कवचोंको मारकर अर्जुन स्वर्गसे लौटे और अपनी चिन्तामें व्याकुल धर्मराज, भीम आदि भाइयोंसे मिले। इन्द्रके सारथि मातलिके लौट जानेपर स्वर्गसे लाये हुए दिव्य रत्नाभूषणोंको अर्जुनने द्रौपदीको दिया।

अर्जुनने समस्त लोकपालोंको प्रसन्न करके उन सबसे नाना प्रकारके शस्त्रास्त्र प्राप्त किये थे।

वनमें पाण्डवोंको अपना वैभव दिखलाकर उन्हें ईर्ष्यासे जलानेके लिये दुर्योधन रानियोंको साथ लेकर वनमें गये। वहाँ गन्धर्वोंने दुर्योधनको परास्त करके कैद कर लिया। कर्ण इत्यादि सब भाग गये। बचे हुए मन्त्रियोंने युधिष्ठिरके पास जाकर सबको छुड़ानेकी प्रार्थना की। दुर्योधनादिके कैद होनेकी बात सुनकर भीम बड़े प्रसन्न हुए। परंतु धर्मराजने कहा कि 'भाई! आपसमें हम सौ और पाँच हैं, पर दूसरोंके लिये हम एक सौ पाँच हैं। फिर कौरवकुलकी स्त्रियोंका अपमान तो हम किसी तरह नहीं सह सकते। तुम चारों भाई जाओ और सबको छुड़ा लाओ।' आज्ञा पाकर अर्जुन गये। गन्धर्वोंसे घोर युद्ध किया। अन्तमें चित्रसेनने अर्जुनको अपनी मित्रताका स्मरण दिलाकर उनसे प्रेम कर लिया और दुर्योधन आदि सबको छोड़ दिया।

अज्ञातवासके समय विराट-नगरमें अर्जुन हिंजड़ेके रूपमें रहे और राजकुमारी उत्तराको नृत्य-गीतकी शिक्षा देने लगे। अन्तमें कौरवोंके आक्रमण करनेपर अर्जुनने बृहन्नलाके रूपमें ही उनको जीता और वीरोंके वस्त्राभूषण लाकर उत्तराको दिये। तदनन्तर महाभारत-युद्धकी तैयारी हुई और सब लोग युद्ध करनेके लिये कुरुक्षेत्रके मैदानमें इकट्ठे हुए। वहाँ भगवान्की आज्ञासे भगवती परमशक्तिरूपिणी दुर्गाजीको प्रसन्न करके अर्जुनने उनसे विजयका वरदान प्राप्त किया। ठीक युद्धकी तैयारीके समय गुरुजनों, स्वजनों और सम्बन्धियोंको देखकर अर्जुनको सात्त्विक मोह हो गया और भगवान्ने उन्हें महान् अधिकारी समझकर गीताका उपदेश दिया और उसमें अपने सर्वगुह्यतम पुरुषोत्तमयोगका रहस्य बतलाया तथा सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर अपनी शरणमें आनेके लिये आज्ञा दी। अर्जुनका मोह नष्ट हो गया। उन्होंने आज्ञा स्वीकार की और युद्ध आरम्भ हुआ। युद्धमें भगवान्ने अर्जुनके रथके घोड़े ही नहीं हाँके, बल्कि एक प्रकारसे समस्त युद्धका संचालन किया और हर तरहसे पाण्डवोंकी, खास करके अर्जुनकी रक्षा की।

जिस दिन अर्जुनने सूर्यास्तसे पहले-पहले जयद्रथका वध करनेकी प्रतिज्ञा की, उस रातको भगवान् सोये नहीं और चिन्ता करते-करते उन्होंने अपने सारथि दारुकसे यहाँतक कह डाला कि 'मैं अर्जुनके बिना एक मुहूर्त भी नहीं जी सकता। कल लोग देखेंगे कि मैं सब कौरवोंका विनाश कर दूँगा।' इसीसे पता चलता

है कि अर्जुनका भगवान्‌में कितना प्रेम था और उस प्रेम-लीलामें भगवान् कहाँतक क्या-क्या करनेको तुल जाते थे।

दूसरे दिनके भयंकर युद्धमें भगवान्‌ने बड़े ही कौशलसे काम किया। थके हुए घोड़ोंको युद्धक्षेत्रमें ही भगवान्‌ने धोया और उनके घावोंको साफ किया और अन्तमें अपनी मायासे सूर्यास्तका अभिनय दिखलाकर अर्जुनकी प्रतिज्ञा पूरी करवायी और अर्जुनसे कहकर जयद्रथके सिरको बाणोंके द्वारा ऊपर-ही-ऊपर चलाकर जयद्रथके पिताकी गोदमें गिरवाया और इस तरह एक ही साथ उसका भी संहार करवा दिया।

एक बार कर्णने एक बड़ा तीक्ष्ण बाण चलाया, उसकी नोकपर भयानक सर्प बैठा हुआ था। बाण छूटनेकी देर थी कि भगवान्‌ने घोड़ोंके घुटने टिकाकर रथके पहियोंको धरतीमें धँसा दिया। रथ नीचा हो गया और बाण निशानेपर न लगकर अर्जुनके मुकुटको गिराकर पार हो गया। इस तरह भगवान्‌ने अर्जुनकी रक्षा की।

महाभारत-युद्धके समाप्त होनेपर पाण्डवोंके अश्वमेधयज्ञमें भगवान्‌ने अर्जुनकी बड़ी सहायता की और उसके बाद उन्होंने अनुगीताका उपदेश दिया।

महाभारत-युद्धके पश्चात् छत्तीस वर्षतक पाण्डवोंके राज्य करनेपर भगवान्‌ने परमधामको प्रयाण किया। अर्जुन विलाप करते हुए धर्मराजके पास आये। तदनन्तर पाण्डवोंने भी हिमालयमें जाकर महाप्रस्थान किया।

त्यागका स्वरूप और साधन

शास्त्रोंकी ऐसी घोषणा है और सभी विचारशील पुरुष इस बातको स्वीकार करते हैं कि मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है। संसारमें बहुत-से लोग इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये यत्किंचित् चेष्टा भी करते हैं, परंतु ऐसे सौभाग्यशाली पुरुष बहुत थोड़े ही होते हैं जो शीघ्र ही लक्ष्यको प्राप्त कर सकते हों। शास्त्रकारोंने और अनुभवी संतोंने भगवत्प्राप्तिके मार्गमें कई विघ्न ऐसे बतलाये हैं जिनको पार किये बिना भगवान्‌की प्राप्तिके मार्गपर आगे बढ़ना बहुत ही कठिन है। उन विघ्नोंमें प्रधान विघ्न है—अहंकार, ममता, कामना और आसक्ति। अज्ञान या मोह तो इन सबका मूल कारण है ही। अज्ञानके नाशसे इन सबका नाश अपने-आप हो जाता है। अज्ञान कहते हैं न जाननेको। न जानना भगवान्‌के स्वरूपका। जिनको भगवान्‌के स्वरूपकी जानकारी हो जाती है, वे इन सारे विघ्नोंको सहज ही पार कर जाते हैं। बल्कि उनके लिये इन विघ्नोंका सर्वथा नाश ही होता है। परंतु जबतक अज्ञान नाश न हो, जबतक भगवान्‌के तत्त्वस्वरूपकी जानकारी न हो, तबतक क्या हाथ-पर-हाथ धरे यों ही बैठे रहना चाहिये? नहीं। आसक्ति, कामना, ममता और अहंकारका प्रयोग बुद्धिमानीपूर्वक भगवान्‌में करना चाहिये। आदर्श ऐसा होना चाहिये कि एकमात्र श्रीभगवान्‌में ही आसक्ति हो, एकमात्र श्रीभगवान्‌को पानेकी ही अनन्य कामना हो, एकमात्र श्रीभगवच्चरणोंमें ही अहैतुकी ममता हो और एकमात्र श्रीभगवान्‌के दासत्वका ही भक्तहृदयमें शान्ति-सुधा बरसानेवाला आदरणीय अहंकार हो। इस प्रकार इन चारोंके दिशापरिवर्तनका अभ्यास करनेसे क्रमशः इनका दूषित रूप नष्ट होता जायगा। तब ये मोहके पोषक न होकर उसका नाश करनेमें सहायता देंगे और ज्यों-ज्यों मोहका नाश होगा त्यों-ही-त्यों भगवान्‌के स्वरूपकी जानकारी होगी और ज्यों-ज्यों भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान होगा, त्यों-ही-त्यों एकमात्र उन्हींके साथ इन चारोंका सम्बन्ध बढ़ जायगा। फिर तो इनका नाम भी बदल जायगा और इन्हें विशुद्ध अव्यभिचारिणी भक्तिके रूपमें पाकर भक्त कृतार्थ होगा। उस भक्तिके द्वारा भगवान्‌की यथार्थ जानकारी—भगवत्तत्त्वका सम्यक् ज्ञान होगा और उस ज्ञानका प्रादुर्भाव होते ही भक्त अपने भगवान्‌का साक्षात्कार प्राप्त करके कृतार्थ हो जायगा।

विषयोंके दुःख-दोषभरे भयंकर स्वरूपका और भगवान्‌के चिदानन्दमय अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यका—भगवान्‌के स्वरूपका, स्वभावका हमें ज्ञान नहीं है; इसीसे हमारी चित्तवृत्तियोंकी प्रवृत्ति भगवान्‌की ओर न होकर विषयोंकी ओर हो रही है। यदि श्रीभगवान्‌की परमानन्दरूपता और विषयोंकी भयानकतापर वस्तुतः विश्वास हो जाय तो मनुष्यका मन विषयोंकी ओर कभी नहीं जा सकता। आज यदि किसीसे कहा जाय कि तुम्हें सौ रुपये दिये जायँगे, तुम एक तोला अफीम

या थोड़ा-सा संखिया खा लो, तो कोई भी खानेको तैयार नहीं होगा; क्योंकि अफीम और संखिया खानेसे मृत्यु हो जायगी, इस बातपर उसका शंकारहित निश्चित विश्वास है। भगवान्‌ने कहा है—'यह लोक अनित्य और असुख (सुखरहित) है अथवा यह जन्म अनित्य और दुःखालय है, इसे पाकर तुम मुझको ही भजो।' यदि भगवान्‌के इस कथनपर शंकारहित निश्चित विश्वास होता और यदि इन वचनोंके अनुसार जगत्‌के विषय हमें यथार्थमें दुःखरूप और अनित्य जान पड़ते तो हम उनमें क्यों रमते? और यदि भगवान्‌के अखिल-आनन्दसुधा-सिन्धुस्वरूपपर जरा भी विश्वास होता तो हम क्यों उसकी उपेक्षा करते? परंतु ऐसा करते हैं, इसलिये यही सिद्ध होता है कि हम पढ़ते, सुनते और कहते तो हैं, परंतु यथार्थमें हमें इन बातोंपर पूरा विश्वास नहीं है। इसीसे हम इन बातोंकी परवा न करके विषयोंकी ओर दौड़ रहे हैं और जैसे दीपककी ज्योतिके रूप-मोहमें फँसकर उसकी ओर जानेवाला पतंग जलकर भस्म हो जाता है, उसी प्रकार हम भी भस्म हो जाते हैं।

हमारी वृत्तियाँ सदा ही बहिर्मुखी रहती हैं; विषयोंमें—कार्यजगत्‌में ही लगी रहती हैं। इसमें जहाँ-जहाँ हमें इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाले पदार्थ दीख-सुन पड़ते हैं, वहाँ-वहाँ ही हमारा चित्त जाता है। हम उन्हींमें सुख खोजते हैं, परंतु यह नहीं जानते कि दिनके साथ रातकी भाँति इस सुखका सहचर दुःख सदा इसके साथ रहता है। हम सुख चाहते हैं और दुःखसे बचना चाहते हैं, इसीलिये हमें दुःख भोगना पड़ता है; यदि वास्तवमें हमें दुःखसे बचना है तो सुखकी स्पृहा भी छोड़ देनी पड़ेगी। हम उस परम सुखको तो चाहते नहीं जो सदा रहता है, जो कभी घटता-बढ़ता नहीं, जो असीम और अनन्त है। हम तो चाहते हैं क्षणिक इन्द्रियसुखको, जो वास्तवमें है नहीं, केवल भ्रमसे भासता है और बिजलीकी-ज्यों एक बार चमककर तुरंत ही नष्ट हो जाता है। परंतु हम अबोध इस बातको जानते नहीं, इसीसे उसके पीछे पड़े रहते हैं और एक दुःखके गड्ढेसे निकलकर तुरंत ही दूसरा गहरा गड्ढा खोदने लगते हैं!

इस इन्द्रियसुखके प्रधान साधन माने गये हैं—दो पदार्थ। एक 'स्त्री' और दूसरा 'धन'। इसीलिये शास्त्रोंने बड़े जोरोंसे इनकी बुराइयोंकी घोषणा करके कामिनी-कांचनके त्यागका बार-बार उपदेश किया है। बात यह है कि विषयासक्त मनुष्यकी बहिर्मुखी इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही आपातरमणीय विषयोंकी ओर दौड़ती हैं। कामिनी-कांचनमें रमणीयता प्रसिद्ध है। इनकी ओर लगनेके लिये किसीको उपदेश नहीं करना पड़ता। अपने-आप ही इन्द्रियाँ मनको इनकी ओर खींच लाती हैं। जगत्‌के इतिहासको देखनेसे पता लगता है कि संसारके महायुद्धमें—भीषण नरसंहारमें 'कामिनी और कांचन' ही प्रधानतया कारण हुए हैं। यहाँ इतनी बात और याद रखनी चाहिये कि पुरुषके लिये जैसे स्त्री आकर्षक है, वैसे ही स्त्रीके लिये पुरुष है। 'कामिनी' शब्दसे यहाँ केवल स्त्री न समझकर यौनसुख प्रदान करनेवाला व्यक्ति समझना चाहिये। स्त्रीके लिये पुरुष और पुरुषके लिये स्त्री। जैसे पुरुषका चित्त कामिनी-कांचनके लिये छटपटाया करता है, उसी प्रकार स्त्रीका चित्त भी पुरुष और धनके लिये ललचाता रहता है।

परिणाम नहीं जानते, इसलिये पुरुष नारीके सौन्दर्यपर और नारी पुरुषके सौन्दर्यपर मोहित होती है और इसीलिये विलासिताका सामान एकत्र करनेकी अभिलाषासे नर-नारी धनकी ओर आकर्षित होते हैं। जैसे स्त्री या पुरुषके अधिक भोगसे धन, धर्म और जीवनी-शक्तिका नाश होता है, वैसे ही धनके लोभमें भी स्वास्थ्य, धर्म-कर्म और जीवनकी बलि देनी पड़ती है। एक बार इनकी प्राप्ति या संयोगमें कुछ सुख-सा दिखायी देता है, परंतु परिणाममें भयानक दुःख और अशान्तिकी प्राप्ति अनिवार्य होती है। जबतक इनका वास्तविक त्याग नहीं हो जाता तबतक कभी शान्ति नहीं मिलती। शान्तिकी प्राप्ति तो इनके सर्वतोभावेन त्यागसे ही होती है।

परंतु क्या मनुष्यके लिये इनका त्याग सम्भव है? है तो फिर उस त्यागका स्वरूप क्या है और वह त्याग कैसे हो सकता है; संसारमें पुरुष या स्त्री कोई भी ऐसा नहीं है जो स्त्री-पुरुषके संसर्गसे शून्य हो। माता-पिताके रज-वीर्यसे ही शरीर बनता है। पालन-पोषण भी माता-पिता या बहिन-भाई आदिके द्वारा ही होता है। इसी प्रकार सर्वत्यागी संन्यासीको भी कौपीन, फटे कंथे और भिक्षाकी तो आवश्यकता होती ही है, जो

अर्थसाध्य है। ऐसी हालतमें कोई भी स्त्री या धनका सर्वथा त्याग कैसे कर सकता है? इन प्रश्नोंका उत्तर यह है कि पहले त्यागके अर्थको समझना चाहिये। किसी वस्तुका ग्रहण या व्यवहार न करना बाहरी त्याग है और उस वस्तुमें आसक्तिहीन रहना भीतरी त्याग है। अब विचार कीजिये, हम एक चीजका त्याग कर देते हैं, परंतु मन-ही-मन उसकी आवश्यकता समझते हैं, उसका अभाव हमारे मनमें खटकता है और उसे प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। ऐसी हालतमें उस वस्तुका बाह्य त्याग वास्तविक त्याग नहीं है। त्याग तो असली वही है, जिससे उस वस्तुमें आसक्ति ही न रहे। जिस त्यागमें वस्तुका चिन्तन और आस्वाद मन-ही-मन होता है वह त्याग वास्तविक नहीं है। अवश्य ही भोगमय जीवनकी अपेक्षा आन्तर त्यागके साधनरूपमें बाह्य त्याग सराहनीय है और आवश्यक भी है, उससे आन्तर त्यागमें सहायता मिलती है और त्यागकी वृत्ति स्वाभाविक होती है; परंतु असली त्याग तो आसक्तिका त्याग ही है। आसक्तिके त्यागसे द्वेष, भय, हर्ष, शोक आदिका भी स्वाभाविक ही त्याग हो जाता है। फिर आगे चलकर तो त्यागके अभिमान और त्यागकी स्मृतिका त्याग करना पड़ता है। यही त्यागका स्वरूप है और इस त्यागकी प्राप्ति आसक्तिके दोष और भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपको जाननेसे होती है। यह सत्य है कि स्वरूपसे स्त्री और धनका त्याग सभी अंशोंमें होना कठिन है, तथापि शास्त्र इसीलिये इनके त्यागपर इतना जोर देते हैं कि सर्वथा त्यागकी बात कहनेसे ही मनुष्य इनका कहीं उचित रूपमें—व्यवहार-रूपमें ग्रहण करेंगे। मनसे तो त्याग होना ही चाहिये। बाह्य त्यागमें पुरुषको चाहिये कि स्त्रीजातिमें देवीकी भावना करे—'**स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु**' और भगवती जानकर उन्हें मातृभावसे नमस्कार करे। स्त्रियोंको चाहिये कि पुरुषोंको पिता, भाई या पुत्रके रूपमें देखें। जहाँतक हो सके, किसी भी रूपमें स्त्री-पुरुषका परस्पर ज्यादा मिलना-जुलना लाभदायक नहीं है; परंतु जहाँ आवश्यक हो वहाँ उपर्युक्त भावसे मिले। इसी प्रकार न्यायमार्गसे उतना ही धन उपार्जन करनेकी चेष्टा करे जिससे गृहस्थका कार्य सीधे-सादे रूपमें चल जाय। इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये और शरीरके आरामके लिये परमेश्वरको भूलकर, न्यायपथको त्यागकर, दूसरेको धोखा देकर, दूसरेका हक मारकर और असत्यका आश्रय लेकर धन उपार्जन करनेकी चेष्टा कभी न करे।

अवश्य ही भगवान्‌की सृष्टिमें स्त्री और धनकी भी सार्थकता है, उसकी भी आवश्यकता है, परंतु वह होनी चाहिये परमार्थमें सहायकके रूपमें। यह भी नहीं समझना चाहिये कि परस्त्रीका तो त्याग करना होगा, पराये धनके त्यागकी उतनी आवश्यकता नहीं है। जैसे नीच कामवृत्तिका गुलाम होनेपर मनुष्य पशुसे भी अधम, नीच या असुर हो जाता है, वैसे ही अर्थलोभी या अर्थसंग्रही मनुष्य भी राक्षस हो जाता है। वह धन बटोरनेके लिये क्या नहीं करता? गरीबोंके—दीन-दुःखियोंके तप्त अश्रुओंसे अपने भोगविलासकी प्यास बुझानेवाला और पापमूलक धनका संग्रह करनेवाला मनुष्य राक्षस नहीं तो और क्या है? अपने शरीरकी रक्षाके लिये जितना आवश्यक होता है, उतने ही अर्थपर वस्तुतः हमारा अधिकार है। श्रीमद्भागवत (७। १४। ८) में कहा है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

'जितनेसे पेट भरे उतनेपर ही मनुष्योंका अधिकार है, जो इससे अधिकको अपना मानता है, वह चोर है और उसे दण्ड मिलना चाहिये*।'

धन हो, उससे गरीब-दुःखियोंकी सेवा करनी चाहिये। परंतु इस सेवामें भी अहंकार नहीं आना चाहिये। यही मानना चाहिये कि भगवान्‌की प्रेरणासे प्रेरित होकर भगवान्‌की चीजसे भगवान्‌की सेवा की जाती है।

वास्तवमें कामिनी-कांचनकी क्षणभंगुरता, निःसारता और दुःखरूपताका निश्चय हो जानेपर तो इनमें मन रहेगा ही नहीं। फिर तो इनके त्यागमें एक विलक्षण आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति होगी और जिस त्यागमें आनन्द और शान्ति मिलती है वही यथार्थ त्याग है।

इससे भी बढ़कर त्याग करनेयोग्य एक चीज और है—वह है कीर्तिकी इच्छा। 'किसी प्रकारसे भी हमारी कीर्ति हो; लोग हमें उत्तम समझें; आज कोई चाहे न जाने, परंतु इतिहासोंमें हमारा नाम उज्ज्वल रहे। हमारा नाम न सही, हमारे वंशका, हमारी जाति या हमारे

* इससे बढ़कर 'कम्यूनिज्म' और क्या होगा?

देशका नाम रहे (यद्यपि ऐसी इच्छा व्यक्तिगत कीर्तिकी इच्छासे उत्तम है, क्योंकि इसमें कुछ त्याग है) और इस सुकीर्तिके लिये स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्राण आदि किसी भी वस्तुका त्याग क्यों न करना पड़े।' इस प्रकारकी कीर्ति-कामनाका त्याग होना बहुत ही कठिन है और जबतक इसका त्याग नहीं होता, तबतक बड़े-से-बड़े अनुष्ठान, पुण्यकर्म, साधन और तप इसके प्रवाहमें सहज ही बह जाते हैं। मनुष्य अपने जीवनभरका किया-कराया सब कुछ इस कीर्ति-पिशाचीके चक्रमें पड़कर नष्ट करता रहता है। वह प्रत्येक काम करनेके पहले ही यह सोचता है कि इसमें मेरी कीर्ति होगी या नहीं, इसलिये उसे अकीर्तिकर कल्याणमय कर्मसे वंचित रहना पड़ता है और आगे चलकर ऐसा कीर्तिकामी पुरुष दम्भाचरणका आश्रय लेकर साधनके पथसे पतित हो जाता है। भगवान्‌की स्मृति छूट जाती है। भगवान्‌के स्थानपर हृदयमें बाहरसे बहुत ही सुन्दर सजी हुई कीर्तिकी कराल मूर्ति आ विराजती है और येन-केन प्रकारेण उसीकी सेवामें मनुष्यका बहुमूल्य जीवन व्यर्थ चला जाता है। इन सब प्रतिबन्धकोंका मूल है मोहरूप विघ्न और उसके सहायक हैं उसीसे पैदा हुए पूर्वोक्त अहंकार, ममता, कामना और आसक्तिरूप दोष। इनका अपने पुरुषार्थसे सहसा त्याग होना बड़ा कठिन है। भगवत्कृपाके बलसे तो सब कुछ हो सकता है। भगवत्कृपा सबपर होते हुए भी उसका अनुभव विश्वासी और नामाश्रयी पुरुषोंको होता है। अतएव भगवान्‌का नाम लेते हुए भगवान्‌की कृपापर विश्वास करना चाहिये। भगवान्‌की कृपासे इन चारोंका मुँह विषयोंकी ओरसे घूमकर भगवान्‌की ओर हो जायगा। भगवान् अपनेमें ही सबका प्रयोग करा लेंगे। फिर तो गोपियोंकी भाँति हम भी कह सकेंगे—

स्याम सरबस तुम हमारे।
तुम्हींसे अभिमानिनी हम, नित सुहागिनि प्राणप्यारे॥
तुम्हींकौं चाहैं सदा हम, तुम्हींमें मन हैं हमारे।
तुम्हींमें रमतीं निरंतर, तुम्हींसे सुख सब हमारे॥
तुम्हींसे जीवन हमारा, तुम्हीं रक्षक हो हमारे।
तुम्हीं तन-मनमें भरे हो, तुम्हीं हो जीवन हमारे॥
प्राण तुम, प्राणेश तुम हो, प्राणके आधार प्यारे।
ध्यान तुम, ध्याता तुम्हीं हो, ध्येय तुम ही हो हमारे॥
तुम्हीं माता पिता स्वामी बंधु सुत बित तुम हमारे।
तुम्हीं हम हैं, हमीं तुम हौ, खेल हैं ये भेद सारे॥

भक्ति और भक्तका स्वरूप तथा भक्तिकी महिमा

भगवान् नारद भक्तवर इन्द्रद्युम्नसे कहने लगे—

'राजन्! हजारों जन्मोंके अभ्याससे भगवान् विश्वम्भरके प्रति मनुष्यकी भक्ति हुआ करती है। भगवान्‌की भक्तिसे अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—चारोंकी प्राप्ति सहजमें हो जाती है, भक्ति होना अल्प तपस्याका फल नहीं है। '**नाल्पतपसः फलम्।**' अनादिकालीन अविद्याने जड़ जमा रखी है, इससे केवल पंचक्लेश ही बढ़ते रहते हैं। इस अविद्याका नाश एकमात्र विष्णु-भक्तिसे ही हो सकता है—'**एकैवेयं विष्णुभक्तिस्तदुच्छेदाय जायते।**' दुःख-संकटपूर्ण भवाटवीमें भटकते हुए मनुष्यके लिये एकमात्र भक्ति ही सुखप्रदा है। सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वोंकी आँधीसे उछलते हुए संसार-सागरकी भीषण तरंगोंमें निराधार पड़े हुए मनुष्योंके लिये भगवान्‌की भक्ति ही सुदृढ़ जहाजके समान है। संतगण इस जननीरूप भक्तिकी शरण होकर ही सुखसे रहते हैं, इसीसे उन्हें कभी शोक नहीं होता। जो महात्मा भक्तिसुधा पानकर आह्लादित हो चुके हैं, उन विमुक्त पुरुषोंके सामने ब्रह्मपद भी अत्यन्त तुच्छ है। '**ब्राह्मयं पदं स्वल्पलाभः**'। भक्तिरूप प्रज्वलित दावानलमें जीवोंकी त्रिविध (कायिक, वाचिक और मानसिक) पापराशि पतंगके समान भस्म हो जाती है। प्रयाग, गंगादि तीर्थ-सेवन, तप, अश्वमेधयज्ञ, प्रचुर दान और हजारों व्रत-उपवासादि सत्कर्मोंका महान् आचरण भक्तिके हजारवें भागके बराबर भी नहीं हो सकता। भक्तिकी महिमा अनिर्वचनीय और अतुलनीय है।'

इस प्रकार भक्तिकी महिमा सुनकर राजा इन्द्रद्युम्नने 'भक्तिका स्वरूप' जाननेकी इच्छासे नारदजीसे कहा—'मुनिवर!आपने जिस भक्तिकी महिमा सुनायी, उसका स्वरूप समझनेकी मेरी बहुत दिनोंसे इच्छा है, अतः कृपापूर्वक मुझे इस भक्तिके लक्षण बतलाइये, इस विषयमें आपके समान जानकार सद्वक्ता मुझे पृथ्वीपर और कोई नहीं मिल सकता।'

भक्तिका स्वरूप

नारदजी बोले—राजन्! तुम सच्चे भक्त हो, सत्पात्र हो इसीसे भक्तिके यथार्थ लक्षण मैं तुम्हें समझाता हूँ। पापपरायण दुष्टहृदय मनुष्योंके सामने ये बातें नहीं कही जा सकतीं। निष्पाप नरपते! तुम मन लगाकर सुनो। मैं उस सनातन भक्तिको सामान्य और विशेषरूपसे बतलाता हूँ।

अत्यन्त कष्ट आ पड़नेपर मनुष्यके लिये एकमात्र भक्तिका ही आश्रय रह जाता है, यह (गौणी) भक्ति गुणोंके भेदसे तीन प्रकारकी है। इसके सिवा एक चौथी भक्ति और है जिसे निर्गुण भक्ति कहते हैं। जो लोग काम-क्रोधके वशमें हैं और केवल दृष्ट पदार्थोंको माननेवाले हैं ऐसे लोगोंके द्वारा सांसारिक लाभके लिये जो भक्ति की जाती है, वह तामसी है। यश, कीर्ति या परलोकके लिये श्रद्धापूर्वक जो भक्ति की जाती है, वह राजसी है। 'एक यही स्थिर है, संसारके अन्य सभी दृष्ट पदार्थ नष्ट होनेवाले हैं' यह समझकर अपने-अपने वर्ण और आश्रम-धर्मका त्याग न करके आत्मज्ञानकी इच्छावाले मनुष्योंके द्वारा जो भक्ति की जाती है, वह भक्ति सात्त्विकी कहलाती है और यह जगत् ही जगन्नाथ है—'**जगच्चेदं जगन्नाथः**' इसका अन्य कोई कारण नहीं है; न तो मैं इससे भिन्न हूँ और न वह मुझसे भिन्न है। बाह्य उपाधियाँ—स्थूल शरीर और इन्द्रियोंके भोग केवल भ्रमसे ही प्रीति उपजाते हैं, इससे परमात्मा नहीं मिल सकते। यह निश्चय करके जो भक्ति केवल परमात्माके लिये की जाती है, वह अद्वैतसंज्ञक दुर्लभा भक्ति कहलाती है। इसी भक्तिसे भगवान्का अपुनरावर्ती परमधाम मिलता है।

सात्त्विकी भक्तिसे ब्रह्मलोक, राजसीसे इन्द्रलोक और तामसीसे पितृलोककी प्राप्ति होती है। परंतु भक्तका कभी नाश नहीं होता, पुनर्बार भक्त संसारमें आकर आगे बढ़ता है, तामसी भक्ति करनेवाला राजसी करता है, राजसी करनेवाला सात्त्विकी करता है और सात्त्विकी भक्त अद्वैत भक्तिको पाकर परमात्माको प्राप्त होता है। अतएव किसी भी प्रकारसे परमात्माकी भक्तिका आश्रय लेनेपर क्रमसे मनुष्य मुक्तिमार्गमें अग्रसर हो सकता है। '**एकामपि समाश्रित्य क्रमान्मुक्तिपथं व्रजेत्।**'

भक्तिहीन मनुष्यके श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कर्म, प्रायश्चित्तादि, तीर्थयात्रा, कृच्छ्रादि व्रत, तप, सत्कुलमें जन्म और शिल्पविद्या आदि सभी केवल लौकिक भूषण हैं और असती स्त्रीके व्यभिचारके समान हैं। इन सब विषयोंसे उसे केवल शारीरिक कष्ट ही मिलता है। जितेन्द्रिय और दृढ़ भक्तिमान् पुरुष कुलाचारहीन होनेपर भी प्रशंसाके योग्य है; परन्तु अष्टादश विद्याओंका ज्ञाता कुलीन धार्मिक पुरुष भी भक्तिहीन होनेपर प्रशंसनीय नहीं है। भक्तिसम्पन्न पुरुष ही भाग्यवान् है, भक्तिसे ही मानव-जीवन सफल होता है। विद्या वही है जिससे भगवान् जगन्नाथ जाने जाते हैं और शुभ कर्म वही है जिससे भगवान्में प्रेम होता है।

भक्तकी महिमा

राजन्! ऐसा भक्ति और विद्यासम्पन्न दृढ़व्रतपुरुष ही भगवान्का भक्त है। ऐसे भक्तके चरण-रज-स्पर्शसे चराचर जगत् पवित्र हो जाता है,—'**पूयेत सचराचरं विश्वम्।**' ऐसे भक्तके लिये पृथ्वीके आधिपत्य और स्वर्गादिकी कामना अत्यन्त तुच्छ है; क्योंकि वह (अपने-आपको भगवान्में मिला देनेके कारण) स्वेच्छासे ही सृष्टि, स्थिति और नाश करनेमें समर्थ है। इस प्रकारके भक्त और भगवान्में कोई भेद नहीं समझना चाहिये।

भक्तोंके लक्षण

अब मैं उन भक्तोंके लक्षण बतलाता हूँ—

भक्तोंका चित्त सदा ही शान्त रहता है। वे सौम्य और जितेन्द्रिय होते हैं। मन, वाणी और कर्मसे कभी किसीका बुरा नहीं करते, उनका हृदय दयासे भरा रहता है, वे चोरी और हिंसा कभी नहीं करते। दूसरेके गुणोंका खण्डन नहीं करते। सदाचारसे रहते हैं और दूसरेके सुखको अपना ही सुख मानते हैं, निर्मत्सर होकर समस्त प्राणियोंमें परमात्माको ही देखते हैं, सदा दीनोंपर दया और परहित करते हैं। देवताओंका कुमारवत् पोषण करते हैं और विषयोंको कालसर्प समझकर उनसे डरते हैं। विषयी पुरुषोंका भोगोंमें जितना प्रेम होता है, उससे करोड़ोंगुना अधिक प्रेम भक्तोंका भगवान्में होता है। भक्तगण शिव और पितृगणोंको भगवान्का स्वरूप समझकर ही नित्य उनकी पूजा करते हैं। वे समस्त जगत्को ही विष्णुमय देखते हैं, परंतु अपनेको सेवक और भगवान्को अपना स्वामी समझते हैं। सर्वगत सर्वरूप मानकर ब्रह्माजी जिनके चरणकमलोंमें प्रणाम करते हैं, भक्तगण उन्हीं

हरिको नित्य प्रणाम करते हैं और उन्हींमें चित्त लगाकर उनका नामकीर्तन करते हैं। ऐसे भक्तोंकी दृष्टिमें समस्त लोक तृणवत् तुच्छ होते हैं।

'सदा परोपकारमें लगे हुए, दूसरोंके कुशलमें ही अपना कुशल समझनेवाले, पराये दु:खोंसे दु:खी, सदाशय, दयालु, दूसरोंकी सम्पत्तिको पत्थर या मिट्टी समझनेवाले, परस्त्री और काँटोंसे पूर्ण शाल्मलीको समान देखनेवाले, कुटुम्बी, मित्र और शत्रुओंमें एक ही आत्मा माननेवाले, चित्तको निरन्तर परमात्मामें एकाग्रतासे लगाये रखनेवाले, गुणवानोंका आदर करनेवाले, दूसरोंकी गुप्त बातोंको ढकनेवाले, सदा सबसे प्रिय बोलनेवाले, कंसहन्ता भगवान् श्रीकृष्णका मधुर और पापनाशकारी शुभनाम भक्तिभावसे कीर्तन करनेवाले, ऊँचे स्वरोंसे सर्वदा उनकी जय बोलनेवाले, शरीर-मन-वाणीसे हरिमें आत्मसमर्पण करनेवाले, दिन-रात हरि-चिन्तनमें ही निमग्न रहकर सुख-दु:खको समान समझनेवाले, नम्र वाणीसे श्रीहरिकी स्तुति करनेवाले और उनकी पूजामें ही लगे रहनेवाले पुरुष भगवान्के भक्त हैं।

'जो भक्त उपर्युक्त लक्षणोंसे सम्पन्न होकर भगवान्के रथ, चक्र, गदा, पद्म, शंख, मुद्रा आदि चिह्नोंको धारण करते तथा मस्तकपर तिलक लगाते हैं, मुरारिके अंगस्पर्शसे सुगन्धित तुलसीपत्रोंको, भगवान्के प्रसादरूप माला-चन्दनादिको धारण करते हुए भक्तिभावसे केवल मुक्तिके लिये भगवान्की पूजा करते हैं, उनकी जय होती है। जिनका दर्प, अभिमान और अहंकार नष्ट हो गया है, देवबन्धु भगवान् नरहरिकी पूजासे जिनका चित्त शुद्ध हो गया है, हरि-चरण-सेवासे जिनका शोक नष्ट हो गया है, ऐसे वैष्णव भक्तोंकी सर्वतोभावसे विजय होती है।'

भगवान् और भक्तोंकी महिमा कहते-कहते नारदजीका चित्त भगवत्-प्रेमसे विह्वल हो गया और वे भगवान्को सम्बोधन करके कहने लगे कि 'भगवन्! आपके भक्तोंको कभी धनकी इच्छा नहीं होती, उन्हें कभी शारीरिक क्लेश नहीं होता, वे सदा शान्तभाव और मृदुवाणीसे आपका नामकीर्तन, भजनोत्सव तथा आपके दास और दास्यभावका ही चिन्तन किया करते हैं।'

अभक्तोंके लक्षण और उनकी संगति छोड़नेके लिये आदेश

नारदजी फिर कहने लगे—'अभक्त मनुष्य स्वयं दुराचारमें लगे रहनेपर भी दूसरोंके उत्तम चरित्रपर दोष लगाया करते हैं। वे अच्छी या बुरी किसी भी अवस्थामें भगवान्का स्मरण नहीं करते, उन्हें विषयोंमें ही सुख दीखता है, इससे वे क्षणमात्रके लिये भी अपने हृदयमें परम सुखास्पद भगवच्चरणोंका चिन्तन नहीं करते, बल्कि मतवाले होकर श्रीहरिनामको मिथ्या जालोंसे ढकनेकी ही चेष्टा किया करते हैं। ऐसे भक्तिहीन मनुष्य परधन और परस्त्रियोंके बड़े लोभी होते हैं, उनकी बुद्धि अत्यन्त नीच होती है और वे दिन-रात केवल अपने उदर-पोषणके कार्यमें ही लगे रहते हैं। भाग्य और भयके फेरमें पड़े हुए ही वे जीवन बिताते हैं, ऐसे मनुष्योंको नर-पशुओंके सिवा और क्या कहा जा सकता है? जो उस नरहरि भगवान्के चरणोंका स्मरण नहीं करते, आठों पहर कुसंगतिमें फँसे रहते हैं, दूसरोंकी बुराईमें लगे रहना और हिंसा करना ही जिनको अच्छा लगता है, ऐसे नराधमोंका संग दूरसे ही त्याग देना चाहिये—'**नरमलिनाः खलु दूरतो हि वर्ज्याः।**' (स्कन्दपुराण)

प्राचीन आचार

आचाराल्लभते चायुराचाराल्लभते सुखम्।
आचारात् स्वर्गमोक्षं च आचारो हन्त्यलक्षणम्॥
अनाचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥
नरके नियतं वासो ह्यनाचारान्नरस्य च।
आचाराच्च परं लोकमाचारं शृणु तत्त्वतः॥

(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड)

ब्रह्माजी देवर्षि नारदजीसे कहते हैं—

'मनुष्य आचारसे आयु, सुख, स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त करता है। आचारसे अशुभ लक्षणोंका नाश हो जाता है। आचारहीन मनुष्य संसारमें निन्दित, सदा दु:खका भागी, रोगी और अल्पायु होता है। अनाचारी मनुष्यको निश्चय ही नरकमें निवास करना पड़ता है और आचारसे श्रेष्ठ लोककी प्राप्ति होती है; इसलिये तुम आचारका तात्त्विक वर्णन सुनो।'

यद्यपि वर्तमान युगके मनुष्य प्राय: प्राचीन आचारकी

बातोंको बहुत ही क्षुद्र समझकर उनका पालन करना आवश्यक नहीं समझते; परंतु खोज करनेपर उन छोटी-छोटी दैनिक व्यवहारकी बातोंमें बड़ा तत्त्व मिलता है। यदि आज हम उन सबका तात्पर्य न भी समझ सकें तो भी हमें उनका निरादर नहीं करना चाहिये। यह आचार-पद्धति उन देवों और महर्षियोंद्वारा स्थापित है, जो भूत-भविष्यसे तथा अन्तर्जगत्की रचना और संचालनसे परिचित थे। अतएव उसे जानकर यथासाध्य श्रद्धापूर्वक तदनुसार आचरण करनेसे निःसन्देह बहुत लाभ हो सकता है। प्रायः सभी प्राचीन स्मृति और पुराणोंमें कुछ-कुछ न्यूनाधिकताके साथ आचारकी पद्धतियाँ बतलायी गयी हैं। उनमेंसे आज यहाँ पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें नारद-ब्रह्मा-संवादके रूपमें उल्लिखित आचारका वर्णन कुछ संक्षेप करके प्रकाशित किया जाता है। आशा है, श्रद्धालु पाठक इसे अनावश्यक और छोटी बात समझकर इसकी अवहेलना नहीं करेंगे और यथासाध्य इसका पालन करके लाभ उठावेंगे। ब्रह्माजी कहते हैं—

द्विजको रात्रिके अन्तिम प्रहरमें उठकर प्रतिदिन भगवान्, देवता और पुण्यवान् व्यक्तियोंका स्मरण करना चाहिये। 'गोविन्द, माधव, कृष्ण, हरि, दामोदर, नारायण, जगन्नाथ, वासुदेव, अज, विभु, सरस्वती, महालक्ष्मी, वेदमाता, सावित्री, ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा, दिक्पालगण, ग्रहसमूह, शंकर, शिव, शम्भु, ईश्वर, महेश्वर, गणेश, स्कन्द, गौरी, भागीरथी गंगा, पुण्यश्लोक राजा नल, पुण्यश्लोक जनार्दन, पुण्यश्लोका जानकी, पुण्यश्लोक युधिष्ठिर और अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य तथा परशुराम—इन सात चिरंजीवी पुरुषोंके नाम जो मनुष्य नित्यप्रति प्रातःकाल उठकर स्मरण करता है, वह ब्रह्महत्यादि पातकोंसे छूट जाता है।'*

तदनन्तर साफ जगह मल-मूत्रका त्याग करे, रात्रिको दक्षिणाभिमुख और दिनमें उत्तरकी ओर मुख करके मल-मूत्रका त्याग करना चाहिये। अंगोंमें मिट्टी लगाकर उन्हें शुद्ध करे। लिंगमें एक बार, गुदामें तीन बार, बायें हाथमें दस बार और दोनों हाथोंमें सात बार मिट्टी लगावे। फिर 'हे मृत्तिके! मेरे सारे पूर्वसंचित पापोंको दूर करो†।' इस मन्त्रसे सारे अंगोंमें मिट्टी लगावे। तदनन्तर गूलर आदिके दाँतुनसे दन्तधावन करके नद, नदी, कुँए या तालाबमें स्नान करे। प्रातःस्नान अत्यन्त ही स्वास्थ्यप्रद और पापनाशक है। स्नानके बाद संयत होकर संध्या करे। प्रातःकाल रक्तवर्णा, मध्याह्नमें शुक्लवर्णा और संध्या-समय कृष्णवर्णा गायत्रीका ध्यान करे। लोकान्तरगत पितृगणोंको उत्तम जल नहीं मिलता, इसलिये पितृव्रतपरायण शिष्य, पुत्र, पौत्र, दौहित्र, बन्धु और मित्र अपने मरे हुए सम्बन्धियोंकी तृप्तिके लिये नित्य तर्पण करें। तर्पण कुश हाथमें लेकर करना चाहिये। पितरोंको काले तिलसे बहुत तृप्ति होती है। अतएव तिल मिले हुए जलसे तर्पण करे। स्नान करके पवित्र वस्त्र पहने। धोबीसे धुला हुआ कपड़ा अपवित्र होता है, उसे पुनः स्वच्छ जलसे धोकर पहनना चाहिये। नित्य देवपूजन करे। विघ्ननाशके लिये गणेशकी, बीमारी मिटनेके लिये सूर्यकी, धर्म और मोक्षके लिये विष्णुकी, कामनापूर्तिके लिये शिवकी और शक्तिकी पूजा करे। नित्य बलिवैश्वदेव और हवन करे। इस प्रकार सब देवों और सब प्राणियोंकी तृप्ति करनेके बाद स्वयं भोजन करे। स्नान, तर्पण, जप, देवपूजन और संध्योपासना नियमपूर्वक नित्य करे। इनके न करनेसे बड़ा पाप होता है।

घरके कच्चे आँगनको रोज गोबरसे लीपे; बर्तनोंको रोज माँजे। काँसेका बर्तन राखसे, ताँबेका खटाईसे, पत्थरका तेलसे, सोने-चाँदीका जलसे और लोहेका अग्निसे शुद्ध होता है। खोदने, जलाने, लीपने और धोनेसे पृथ्वी पवित्र होती है। बिछौने, स्त्री, शिशु, वस्त्र, उपवीत और कमण्डलु सदा ही पवित्र हैं, परंतु अपने हों तो। दूसरोंके हों तो कभी शुद्ध नहीं हैं। एक कपड़ा पहनकर कभी स्नान या भोजन न करे। धोती और

---

* गोविन्दं माधवं कृष्णं हरिं दामोदरं तथा। नारायणं जगन्नाथं वासुदेवमजं विभुम्॥
सरस्वतीं महालक्ष्मीं सावित्रीं वेदमातरम्। ब्रह्माणं भास्करं चन्द्रं दिक्पालांश्च ग्रहांस्तथा॥
शंकरं च शिवं शम्भुमीश्वरं च महेश्वरम्। गणेशं च तथा स्कन्दं गौरीं भागीरथीं शिवाम्॥
पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको जनार्दनः। पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः॥
अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः। कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः॥
एतान् यस्तु स्मरेन्नित्यं प्रातरुत्थाय मानवः। ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः॥

† अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे। मृत्तिके हर मे पापं यन्मया पूर्वसञ्चितम्॥

अँगोछा दोनों हों। दूसरेका स्नानवस्त्र कभी न पहने। रोज सबेरे बालोंको और दाँतोंको धोवे। गुरुजनोंको नमस्कार करे। दोनों हाथ, दोनों पैर और मुख—इन पाँचों अंगोंको गीले रखकर (धोकर) भोजन करे। जो नियमित पंचार्द्र (इन पाँचोंको गीले रखकर) भोजन करते हैं, वे सौ वर्ष जीते हैं। देवता, गुरु, राजा, स्नातक, आचार्य, ब्राह्मण और यज्ञादिमें दीक्षित व्यक्तिकी छायाको जान-बूझकर न लाँघे। गौ, ब्राह्मण, अग्नि और दम्पति (पति-पत्नी)-के बीचसे न जाय। अग्नि, ब्राह्मण, देवता, गुरु, अपना मस्तक, फूलोंका पेड़, यज्ञवृक्ष और अधार्मिक मनुष्य, इनका जूठे मुँह स्पर्श न करे। सूर्य, चन्द्रमा और तारे—इन तीनों तेजमय पदार्थोंको जूठे मुँह ऊपरकी ओर ताककर न देखे। विप्र, गुरु, देवता, राजा, संन्यासी, योगी, देवकार्यमें लगे हुए मनुष्य और धर्मोपदेशक पुरुषको भी जूठे मुँह न देखे। समुद्र और नदीके किनारेपर यज्ञ-(वट, पीपल आदि) वृक्षोंके नीचे, बगीचेमें, पुष्पवाटिकामें, जलमें, ब्राह्मणके घरमें, राजमार्गमें और गोशालामें शरीरका कोई भी मल न त्याग करे। मंगलवारको हजामत न करावे। रवि और मंगलवारको तैल न लगावे। मुखमें नख कभी न ले। अपने शरीरको और आसनको न बजावे। गुरुके साथ एक आसनपर न बैठे। श्रोत्रिय, देवता, गुरु, राजा, तपस्वी, पंगु, अन्धे और स्त्रियोंका धन किसी तरह हरण न करे। ब्राह्मण, गौ, राजा, रोगी, बोझ लादे हुए, गर्भिणी स्त्री और कमजोर मनुष्यके लिये रास्ता छोड़ दे। राजा, ब्राह्मण और चिकित्सक (वैद्य-डॉक्टर)-से विवाद न करे। पतित, कुष्ठरोगी, चाण्डाल, गो-मांसभोजी, समाजबहिष्कृत और मूर्खसे सदा अलग रहे। दुष्टा, बुरी वृत्तिवाली, अपवाद लगानेवाली, कुकर्म करनेवाली, कलहप्रिया, प्रमत्ता, अधिक अंगवाली, निर्लज्जा, बाहर घूमने-फिरनेवाली, खर्चीली और अनाचारिणी स्त्रियोंसे दूर रहे। मलिन अवस्थामें गुरु-पत्नीको प्रणाम न करे। गुरुपत्नीको भी बिना प्रयोजन न देखे। पुत्रवधू, भ्रातृवधू, कन्या तथा अन्य जो भी स्त्रियाँ युवती हों तो बिना प्रयोजन उनकी ओर न देखे, स्पर्श तो कभी न करें। स्त्रियोंके साथ व्यर्थ बातचीत न करे, न उनके नेत्रोंकी ओर देखे, न कलह करे और न अमर्यादित वाणी बोले। तुष, चिनगारी, हड्डी, कपास, देवनिर्माल्य और चिताकी लकड़ीपर पैर न रखे। दुर्गन्धवाली, अपवित्र और जूठी चीज न खाय। क्षणभरके लिये भी कुसंगमें न रहे और न जाय। दीपककी छायामें और बहेड़ाके पेड़के नीचे न रहे। अस्पृश्य, पापात्मा और क्रोधी मनुष्यसे बात न करे। चाचा और मामा उम्रमें अपनेसे छोटे हों तो उनका अभिवादन न करे, परंतु उठाकर उन्हें आसन दे और कृतांजलि हुआ करे। तेल लगाये हुए, जूठे मुँहवाले, गीला कपड़ा पहने, रोगी, समुद्रमें उतरे हुए, उद्विग्न, यज्ञके कर्ममें लगे हुए, स्त्रीके साथ क्रीड़ा करते हुए, बालकके साथ खेलते हुए, पुष्प या कुश हाथोंमें लिये हुए, और बोझ उठाये हुए, इन मनुष्योंको अभिवादन न करे; क्योंकि बदलेमें उन्हें वैसा करनेमें असुविधा होगी। मस्तक या दोनों कानोंको ढककर, चोटी खोलकर जलमें अथवा दक्षिणाभिमुख होकर आचमन न करे। आचमनके समय पैर धोने चाहिये। सूखे पैर सोना और गीले पैर भोजन करना चाहिये। अँधेरेमें न सोवे, न भोजन करे, क्योंकि बिछौने या भोजनमें जीव-जन्तु रह सकते हैं। पश्चिम और दक्षिणकी ओर मुँह करके दाँतोंको न धोवे। उत्तर और पश्चिमकी ओर सिर करके न सोवे। दक्षिण और पूर्वकी ओर सिर करके सोना चाहिये। दिन-रातमें एक बार भोजन करना देवताओंका, दो बार मनुष्योंका, तीन बार प्रेत-दैत्योंका और चार बार राक्षसोंका होता है।

स्वर्गसे आये हुए मनुष्योंकी चार पहचान हैं—खुले हाथों दान, मीठी वाणी, देवताओंका पूजन और ब्राह्मणोंको तृप्त करना। नरकसे आये हुए जीवोंकी छः पहचान हैं—कंजूसी, मैला-कुचैला रहना, स्वजनोंकी निन्दा, नीच जनोंकी भक्ति, अत्यन्त क्रोध और कठोर वाणी। जो धर्मके बीजसे उत्पन्न हैं, उनकी प्रत्यक्ष पहचान हैं—नवनीतके समान कोमल वाणी और दयासे कोमल हृदय और जो पापके बीजसे पैदा हुए हैं, उनके प्रत्यक्ष लक्षण हैं—हृदयमें दयाका अभाव और केवड़ेके पत्तों-जैसी कँटीली और तीखी वाणी!*

---

* स्वर्गच्युतानामिह जीवलोके चत्वारि तेषां हृदये च सन्ति। दानं प्रशस्तं मधुरा च वाणी देवार्चनं ब्राह्मणतर्पणं च॥
कार्पण्यवृत्तिः स्वजनेषु निन्दा कुचैलता नीचजनेषु भक्तिः। अतीवरोषः कटुका च वाणी नरस्य चिह्नं नरकागतस्य॥
नवनीतोपमा वाणी करुणाकोमलं मनः। धर्मबीजप्रसूतानामेतत् प्रत्यक्षलक्षणम्॥
दयादरिद्रहृदयं वचः क्रकचकर्कशम्। पापबीजप्रसूतानामेतत् प्रत्यक्षलक्षणम्॥
(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड)

भगवान्‌का भजन करनेकी विधि

यद्यपि परब्रह्म परमात्मा ॐकारस्वरूप भगवान् श्रीशिव और भगवान् श्रीविष्णुके नामस्मरणकी अनन्त महिमा वेद-शास्त्रोंमें विस्तारपूर्वक वर्णित है तथापि कोई-कोई यह कहा ही करते हैं कि 'भाई! हम नित्य ईश्वरका स्मरण करते हैं, फिर भी हमें इसका कुछ भी फल मिलता प्रतीत नहीं होता—इसका क्या कारण है?' इस लेखमें इसी एक प्रश्नको लेकर कुछ विचार किया जा रहा है।

प्रकृतिका यह अटल नियम है कि कोई भी कार्य क्यों न हो, उसे उपयुक्त पद्धति या विधिके साथ करनेसे ही वह सफल होता है। यही बात ईश्वर-स्मरणके सम्बन्धमें भी है। यदि उसे विधिपूर्वक किया जायगा तो निश्चय ही वह शास्त्रोक्त फलका दाता होगा। कितने ही भोले-भाले भाई कहते हैं कि परमात्माके नामस्मरणमें नियमकी आवश्यकता नहीं है। देखो न, श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

तुलसी अपने रामको, रीझ भजौ या खीज।
उलटे सुलटे नीपजै, खेत पड़े सो बीज॥

अर्थात् रामको प्रेमसे अथवा द्वेषसे किसी भी प्रकार भजो उसका फल अवश्य मिलेगा; जैसे खेतमें बीज सीधा पड़े, चाहे उलटा, वह जमेगा अवश्य। परंतु वे भाई गोस्वामी तुलसीदासजीके आशयको समझे नहीं। गोस्वामीजी-जैसे मर्यादाके पोषक महात्मा शास्त्रविरुद्ध आदेश कभी नहीं दे सकते। उन्होंने उपर्युक्त दोहेमें भजन-विधिका खण्डन नहीं बल्कि समर्थन किया है और इसके प्रमाणस्वरूप उक्त दोहेमें 'खेत' शब्द बैठा है। बीज उलटा पड़े या सीधा, इसकी विशेष परवा नहीं है; परंतु उसके लिये नियमानुसार उर्वराभूमि, यथोचित हवा-पानी और रखवालीकी जरूरत तो रहती ही है। इसलिये गोस्वामीजीने जो 'रीझ' और 'खीझ' शब्द रखे हैं, उन्हें विकल्पमात्र मानना चाहिये। दोहेका तात्पर्य तो यही है कि शुद्ध अन्त:करणरूपी खेतमें ही ईश्वर-नामस्मरणरूपी बीज उगता है, न कि अशुद्ध मनरूपी ऊसर भूमिमें। और साथ-साथ 'खेत' शब्दसे संकेत कर दिया है कि ईश्वर-प्रेमरूपी जल सींचते रहनेसे ईश्वरके नामके (आगे कहे जानेवाले) दस अपराधरूपी घास-फूसको हटा देनेसे, शास्त्रविरुद्ध, मन:कल्पित मतवादरूपी कीड़ों, पशु-पक्षी और तुषारसे उसे बचाते रहनेसे, सच्चे संतोंके सत्संगरूपी प्रचण्ड सूर्यके ब्रह्मविचार या तत्त्वविचाररूपी तापके निरन्तर लगते रहनेसे और मनरूपी चन्द्रमाकी उत्साह (लगन)- रूपी अमृत-वर्षा आदि सम्पूर्ण साधनरूप विधिसे ही भजनरूपी बीज परमात्म-साक्षात्काररूपी धान्य उत्पन्न करनेमें हेतु होता है। इसमें शास्त्र-विधिका निषेध कहाँ है? अवश्य ही यह बात जाननेकी है कि ईश्वर-स्मरण अर्थात् भजन करनेकी शास्त्रोक्त विधि क्या है?

शास्त्रका वचन है—

सन्निन्दासति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधी-
रश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः।
नामास्तीतिनिषिद्धवृत्तिविहितत्यागो हि धर्मान्तरैः
साम्यं नाम्नि जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश॥

अर्थात् (१) संतोंकी निन्दा, (२) असत् (पापी) पुरुषके सामने नामके वैभवकी कथा कहना, (३) शिव और विष्णु (उनसे उपलक्षित गणेश, सूर्य, शक्ति)-में भेद-बुद्धि रखना, (४) वेद-वचनोंमें अश्रद्धा, (५) शास्त्र-वचनोंमें अश्रद्धा, (६) सद्‌गुरुके वचनोंमें अश्रद्धा, (७) ईश्वरके नामकी महिमाको अर्थवाद समझनेका भ्रम, (८) सब पापोंको मिटानेवाला ईश्वरका नाम मेरे पास ही है, इसमें मैं जो-जो पाप करूँगा, वे सब-के-सब नाम लेनेसे ही मिटते रहेंगे—ऐसा समझकर पाप करते रहना, (९) ईश्वरके नामसे सबसे अधिक पुण्य होता है, इसलिये संध्या-वन्दन, गायत्री-जप, देव-पूजा, दान-यज्ञ-तप आदि अन्य कृत्य करनेकी कोई आवश्यकता न मानकर नित्य-नैमित्तिक वेद-शास्त्रोक्त शुभ कर्मोंको छोड़ देना और (१०) ईश्वरके नामको अन्य धर्मोंके बराबर समझना—ये ऊपर कहे हुए भगवान् शिव और विष्णुके नाम-जप-सम्बन्धी दस अपराध हैं, अतएव उन्हें छोड़कर ईश्वरका नाम जपना चाहिये। इसी भावको लेकर किसी महात्माने कहा है —

राम राम सब कोई कहे, दसरित कहे न कोय।
एक बार दसरित कहे, (तो) कोटि यज्ञ फल होय॥

अर्थात् 'राम-राम' सभी कहते हैं, परंतु नाम-जपके दस अपराधोंसे रहित होकर नहीं जपते। यदि इन दस अपराधोंसे रहित होकर एक बार भी जपे तो कोटि

यज्ञोंका फल होता है। आश्चर्य है, शास्त्रकी ऐसी स्पष्ट आज्ञा होते हुए भी कोई-कोई शिव और विष्णुमें भेद मानते हैं; परंतु ऐसा करके वे अपना अनिष्ट-साधन करते हैं।

भगवान्‌के किसी भी नाम और स्वरूपकी निन्दा न करते हुए भगवान्‌के समस्त नाम मेरे इष्टके ही नाम-रूप हैं —ऐसा समझना चाहिये।

उपरिलिखित दस अपराधोंसे बचते हुए, शुद्ध और स्थिर चित्तसे उत्साह और प्रेमके साथ, प्रतिदिन यथाशक्ति नित्य-नैमित्तिक शुभ कर्मोंको करते हुए, प्रातः-सायं संध्याओंमें तथा यथासम्भव मध्याह्न और मध्यरात्रिके समय एकान्तमें बैठकर नित्यप्रति कम-से-कम एक लक्ष ईश्वरके नाम शान्तिपूर्वक दीर्घकालतक जपने चाहिये। ईश्वरके नामके जपमें चित्तकी वृत्तिको लगाकर राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, गणपति, सूर्य, शक्ति, नृसिंह, गोविन्द, नारायण, महादेव आदि ईश्वरके प्रसिद्ध नामोंमेंसे अपनी रुचिके अनुसार किसी भी नामका जप किया जा सकता है।

यही ईश्वरके भजनकी सामान्य विधि है। इस विधिसे नियमितरूपसे दीर्घकालतक किया हुआ नाम-जप निस्सन्देह शास्त्रोक्त फलोंको प्रदान कर अन्तमें परमपदकी प्राप्ति करानेवाला होता है।

पत्नीका परित्याग कदापि उचित नहीं!

हिंदू-धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे पति-पत्नीका सम्बन्ध सर्वथा अविच्छेद्य है। जिस प्रकार पत्नीके लिये पतिका त्याग किसी भी हालतमें विहित नहीं, उसी प्रकार पतिके द्वारा भी पत्नीका त्याग सर्वथा अनुचित है। इस सम्बन्धमें मार्कण्डेयपुराणमें एक बड़ा सुन्दर आख्यान मिलता है। सृष्टिके आरम्भकी बात है। मानवी सृष्टिके आदिप्रवर्तक महाराज स्वायम्भुव मनुके पुत्र राजा उत्तानपादके दो संतानें हुईं। उनमें ज्येष्ठ थे महाभागवत ध्रुव—जिनकी कीर्ति जगद्विख्यात है। उनके सौतेले भाईका नाम था उत्तम। इनका जैसा नाम था, वैसे ही इनमें गुण थे। शत्रु-मित्रमें तथा अपने-परायेमें इनका समान भाव था। ये धर्मज्ञ थे और दुष्टोंके लिये यमराजके समान भयंकर तथा साधु पुरुषोंके लिये चन्द्रमाके समान आह्लादजनक थे। इनकी पत्नीका नाम था बहुला। बहुलामें इनकी बड़ी आसक्ति थी। स्वप्नमें भी इनका चित्त बहुलामें ही लगा रहता था। ये सदा रानीके इच्छानुसार ही चलते थे, फिर भी वह कभी इनके अनुकूल नहीं होती थी। एक बार अन्यान्य राजाओंके समक्ष ही रानीने राजाकी आज्ञा मानना अस्वीकार कर दिया। इससे राजाको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने रानीको जंगलमें छुड़वा दिया। रानीको भी राजासे अलग होनेमें प्रसन्नता ही हुई। राजा औरस पुत्रोंकी भाँति प्रजाका पालन करते हुए अपना समय व्यतीत करने लगे।

एक दिनकी बात है। कोई ब्राह्मण उनके दरबारमें उपस्थित हुआ। उसने राजासे फरियाद की कि उसकी पत्नीको रातमें कोई चुरा ले गया। राजाके पूछनेपर ब्राह्मणने बताया कि उसकी पत्नी स्वभावकी बड़ी क्रूर है, कुरूपा भी है तथा वाणी भी उसकी कठोर है। उसकी पहली अवस्था भी कुछ-कुछ बीत चुकी थी। फिर भी राजासे उसने अपनी पत्नीका पता लगाकर उसे वापस मँगवा देनेकी प्रार्थना की। राजाने कहा—'ब्राह्मण देवता! तुम ऐसी स्त्रीके लिये क्यों दुःखी होते हो। मैं तुम्हें दूसरी स्त्री दिला दूँगा। रूप और शील दोनोंसे हीन होनेके कारण वह स्त्री तो त्याग देनेयोग्य ही है।'

ब्राह्मण शास्त्रका मर्मज्ञ था। उसे राजाकी यह बात पसंद नहीं आयी। उसने कहा—'राजन्! भार्याकी रक्षा करनी चाहिये—यह श्रुतिका परम आदेश है। उसकी रक्षा न करनेपर वर्णसंकरकी उत्पत्ति होती है। वर्णसंकर अपने पितरोंको स्वर्गसे नीचे गिरा देता है। पत्नी न होनेसे मेरे नित्य-कर्मकी हानि हो रही है। धर्मका लोप हो रहा है। इससे मेरा पतन अवश्यम्भावी है। उससे मुझे जो संतति प्राप्त होगी, वह धर्मका पालन करनेवाली होगी। इसलिये जैसे भी हो, आप मेरी पत्नीको वापस ला दें। आप राजा हैं, प्रजाकी रक्षा करना आपका कर्तव्य है।'

ब्राह्मणके शब्द राजापर असर कर गये। उन्होंने सोच-विचारकर अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। वे ब्राह्मणपत्नीकी खोजमें घरसे निकल पड़े और पृथ्वीपर

इधर-उधर घूमने लगे। एक दिन वनमें घूमते-घूमते उन्हें किसी मुनिका आश्रम दिखायी पड़ा। आश्रममें उन्होंने मुनिका दर्शन किया। मुनिने भी उनका स्वागत किया और अपने शिष्यसे अर्घ्य लानेको कहा। इसपर शिष्यने उनके कानमें धीरेसे कुछ कहा तथा मुनिने ध्यानद्वारा सारी बात जान ली और राजाको आसन देकर केवल बातचीतके द्वारा ही उनका सत्कार किया। राजाके मनमें मुनिके इस व्यवहारसे सन्देह हो गया और उन्होंने मुनिसे विनयपूर्वक अर्घ्य न देनेका कारण जानना चाहा। मुनिने बताया कि राजाने अपनी पत्नीका त्याग करके धर्मका लोप कर दिया है, इसीसे वे अर्घ्यके पात्र नहीं हैं। उन्होंने कहा—'**राजन्! पतिका स्वभाव कैसा भी हो, पत्नीको उचित है कि वह सदा पतिके अनुकूल रहे। इसी प्रकार पतिका भी कर्तव्य है कि वह दुष्ट स्वभाववाली पत्नीका भी पालन-पोषण करे।**' राजाने अपनी भूल स्वीकार की और मुनिसे उस ब्राह्मणपत्नीका हाल जानना चाहा। ऋषिने बताया कि ब्राह्मणपत्नीको अमुक राक्षस ले गया है और अमुक वनमें जानेपर वह मिल जायगी। साथ ही उन्होंने शीघ्र ही उस ब्राह्मणपत्नीको ले आनेके लिये कहा, जिससे उस ब्राह्मणको भी उन्हींकी भाँति दिनोदिन पापका भागी न होना पड़े।

राजाने मुनिको कृतज्ञतापूर्वक प्रणाम किया और उनके बताये हुए वनमें जाकर ब्राह्मणपत्नीका पता लगाया। वह अबतक चरित्रसे गिरी नहीं थी। राक्षस उसे केवल इसीलिये ले आया था कि ब्राह्मण विद्वान् होनेके कारण सभी यज्ञोंमें ऋत्विज् बनता था और जहाँ कहीं वह राक्षस जाता, उसे रक्षोघ्न मन्त्रोंद्वारा भगा दिया करता था, जिससे उसे परिवारसहित भूखों मरना पड़ता था। राक्षस इस बातको जानता था कि कोई भी पुरुष पत्नीके बिना यज्ञकर्म नहीं कर सकता; इसलिये ब्राह्मणके कर्ममें विघ्न डालनेके लिये ही वह उसकी पत्नीको हर लाया था। राजाको प्रसन्न करनेके लिये वह ब्राह्मणपत्नीको पुन: अपने पतिके घर छोड़ आया और साथ ही उसके शरीरमें प्रवेश करके उसके दुष्ट स्वभावको भी खा गया, जिससे वह सर्वथा पतिके अनुकूल बन गयी। अब राजाको अपनी पत्नीके विषयमें चिन्ता हुई और वे उसका पता लगानेके लिये पुन: ऋषिके पास पहुँचे। ऋषिने राजाको उसका सारा वृत्तान्त बता दिया और पत्नी-त्यागका दोष वर्णन करते हुए पुन: उनसे कहा—'**राजन्! मनुष्योंके लिये पत्नी धर्म, अर्थ एवं कामकी सिद्धिका कारण है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र—कोई भी क्यों न हो, पत्नीके न होनेपर वह कर्मानुष्ठानके योग्य नहीं रहता। जैसे पत्नीके लिये पतिका त्याग अनुचित है, उसी प्रकार पुरुषोंके लिये पत्नीका त्याग भी उचित नहीं।**' राजाके पूछनेपर ऋषिने उन्हें यह भी बताया कि पाणिग्रहणके समय सूर्य, मंगल और शनिकी उनपर तथा शुक्र और गुरुकी उनकी पत्नीपर दृष्टि थी। उस मुहूर्तमें चन्द्रमा और बुध भी, जो परस्पर शत्रुभाव रखनेवाले हैं, उनकी पत्नीके अनुकूल थे और उनके प्रतिकूल। इसीलिये उन्हें अपनी रानीकी प्रतिकूलताका कष्ट भोगना पड़ा।

रानीको वापस लानेका प्रयत्न करनेके पूर्व राजा उस ऋत्विज् ब्राह्मणके पास गये, जिसकी पत्नी उन्होंने राक्षससे वापस दिलवायी थी और उससे अपनी पत्नीको अनुकूल बनानेका उपाय पूछा। ब्राह्मणने राजासे मित्रविन्दा नामक यज्ञ करवाया। तब राजाने उसी राक्षसके द्वारा, जो उस ब्राह्मणकी पत्नीको हर ले गया था, अपनी पत्नीको भी बुलवा लिया। वह नागलोकमें नागराज कपोतके यहाँ सुरक्षित थी। नागराज उसे अपनी पत्नी बनाना चाहता था; किंतु उसकी पुत्रीने यह सोचकर कि वह उसकी माँकी सौत बनने जा रही है, उसे छिपाकर अपने पास रख लिया, जिससे उसका सतीत्व अक्षुण्ण बना रहा। मित्रविन्दा नामक यज्ञके प्रभावसे उसका स्वभाव भी बदल गया और वह अब अपने पतिके सर्वथा अनुकूल बन गयी। तदनन्तर उसके गर्भसे एक महान् तेजस्वी पुत्रका जन्म हुआ, जो औत्तम नामसे विख्यात हुआ और जो तीसरे मन्वन्तरमें मनुके पदपर प्रतिष्ठित हुआ। ये औत्तम मनु इतने प्रभावशाली हुए कि मार्कण्डेयपुराणमें इनके सम्बन्धमें लिखा है—जो मनुष्य राजा उत्तमके उपाख्यान और औत्तमके जन्मकी कथा प्रतिदिन सुनता है, उसका कभी किसीसे द्वेष नहीं होता। यही नहीं, इस चरित्रको सुनने और पढ़नेवालेका कभी अपनी पत्नी, पुत्र अथवा बन्धुओंसे वियोग नहीं होता।

उपर्युक्त उपाख्यानसे कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं। पहली बात तो इससे यही सिद्ध होती है कि विवाह-विच्छेद हिंदू-धर्मको मान्य नहीं है। विवाह-संस्कार

पति-पत्नीको जीवनभरके लिये अत्यन्त पवित्र धार्मिक बन्धनसे बाँध देता है। पतिके बिना पत्नी अधूरी है और पत्नीके बिना पति धर्म-कर्मसे च्युत हो जाता है, किसी भी कर्मानुष्ठानके योग्य नहीं रह जाता। यज्ञ-कर्ममें तो विशेषरूपसे पत्नीका सहयोग अनिवार्य है। पद्मपुराणमें तो यहाँतक कहा गया है कि माता-पिता और गुरुके समान पत्नी भी एक तीर्थ है। जिस प्रकार पत्नीके लिये पतिसे बढ़कर कोई तीर्थ नहीं है, उसी प्रकार साध्वी पत्नी भी पतिके लिये तीर्थतुल्य है—आदरकी वस्तु है। जिस प्रकार पत्नी यदि पतिको साथ लिये बिना कोई यज्ञ आदि धर्मानुष्ठान करती है तो वह निष्फल होता है, उसी प्रकार पति भी यदि सहधर्मिणी पत्नीके बिना धर्मानुष्ठान करता है तो उसका वह अनुष्ठान व्यर्थ हो जाता है। पद्मपुराणमें पत्नीतीर्थके प्रसंगमें कृकल नामक वैश्यकी कथा आती है। जिसने अपनी साध्वी पत्नी सुकलाको साथमें लिये बिना ही तीर्थाटन किया था; किंतु उसकी इस तीर्थयात्रासे शुभ फल होना तो दूर रहा, उलटे उसके पितर बाँधे गये।

इसके बाद कृकलने घरपर ही रहकर पत्नीके साथ श्रद्धापूर्वक श्राद्ध और देवपूजन आदि पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान किया। इससे प्रसन्न होकर देवता, पितर और मुनिगण विमानोंके द्वारा वहाँ आये और महात्मा कृकल और उसकी महानुभावा पत्नी दोनोंकी सराहना करने लगे। ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर भी अपनी देवियोंके साथ वहाँ गये। सम्पूर्ण देवता सती सुकलाके सत्यसे संतुष्ट थे। सबने उस पुनीत दम्पतिको मुँहमाँगा वरदान देकर उनपर पुष्पोंकी वर्षा की और उस पतिव्रताकी स्तुति करते हुए अपने-अपने लोकको चले गये।*

उपर्युक्त वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है कि हिंदू-धर्ममें पत्नीको कितना ऊँचा दर्जा एवं सम्मान दिया गया है और उसके अधिकार कितने सुरक्षित हैं। जिस प्रकार पत्नीके लिये यह आदेश है कि—

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यः.......................॥

—(पति चाहे क्रूर स्वभावका हो, अभागा हो, वृद्ध हो, मूर्ख हो, रोगी अथवा निर्धन हो, पत्नीको चाहिये कि वह कभी उसका त्याग न करे)। उसी प्रकार पतिका भी यह कर्तव्य है कि वह पत्नीका त्याग न करे—चाहे वह कर्कशा हो, कुरूपा हो अथवा परुषवादिनी हो। बल्कि उसके क्रूर स्वभावको मृदु करनेके लिये हमारे यहाँ यज्ञादि दैवी साधनोंकी व्यवस्था की गयी है, न कि विवाह-विच्छेदके द्वारा उसे अलग करनेकी। उपर्युक्त आख्यानसे विवाहके पूर्व वर-कन्याके ग्रह आदि मिलानेकी भी आवश्यकता सिद्ध होती है। ग्रहोंके प्रतिकूल होनेपर भी पति-पत्नीमें कलह आदि होनेकी सम्भावना रहती है। तात्पर्य यह है कि हमारे यहाँ सब प्रकारसे ऐसी व्यवस्था की गयी है कि जिसमें दाम्पत्य-जीवन अन्ततक सुखमय बना रहे, पति-पत्नी दो देह, एक प्राण होकर रहें और परस्पर सहयोगसे धर्म-अर्थ-कामका सम्पादन कर अन्तमें मनुष्य-जीवनके परम ध्येय—मोक्ष अथवा निःश्रेयसको प्राप्त करें। इसी आदर्शको सामने रखकर धर्मशास्त्रके सारे विधान बनाये गये हैं। समाजशास्त्रका जैसा सुन्दर अध्ययन हमारे ऋषियोंने किया है और गार्हस्थ्य-जीवनकी जैसी आदर्श व्यवस्था हमारे शास्त्रोंने बनायी है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। फिर भी आश्चर्य है कि हमारा शिक्षित समाज इस आदर्श व्यवस्थाको न अपनाकर पश्चिमके आदर्शोंको ही अनुकरणीय मानकर उन्हींको ग्रहण करनेके लिये लालायित है! भगवान् सबको सुबुद्धि दें।

---

* 'सती सुकला' नामक पुस्तक गीताप्रेससे मँगाकर पढ़िये।

पतिका धर्म

आजकल बहुधा यह बात देखनेमें आती है कि पतिको अपने कर्तव्यका ध्यान तो नहीं रहता, परंतु वह पत्नीको सीता और सावित्रीके आदर्शपर सोलहों आने प्रतिष्ठित देखनेकी इच्छा रखता है। यह मनोवृत्ति न्यायसंगत नहीं है। स्त्री हो या पुरुष—दोनोंको अपने-अपने कर्तव्यका ज्ञान और उसके पालनका पूर्णतः ध्यान रहना चाहिये। जो पुरुष अपने धर्मको नहीं देखता, स्वयं धर्मपर आरूढ़ नहीं रहना चाहता और दूसरेको, विशेषतः अपनी पत्नीको धर्मपर पूर्णतया आरूढ़ न देखकर अथवा उसके स्वधर्म-पालनमें तनिक भी न्यूनता देखकर झल्ला उठता है, उसकी झल्लाहट व्यर्थ है। उससे कोई अच्छा फल नहीं होता।

यदि पुरुष चाहता है, नारियाँ सीता और सावित्री बनें तो उसे सर्वप्रथम अपनेको ही श्रीरामचन्द्र और सत्यवान्के आदर्शपर चलना चाहिये। स्त्रियाँ अपने धर्मका पालन करें, यह बहुत आवश्यक है; परंतु पुरुषोंके लिये भी तो धर्मका पालन कम आवश्यक नहीं है। मैंने सुना है, कई बहिनोंके पत्रोंसे भी मालूम हुआ है कि कितने ही पुरुष अपनी स्त्रियोंको इसलिये मारते और गालियाँ देते हैं कि वे उनकी इच्छाके अनुसार नीच-से-नीच पाप-कर्म करनेके लिये उद्यत नहीं होतीं और इस प्रकार अपने पतिव्रता होनेका परिचय नहीं देतीं। आधुनिक सभ्यतामें पले हुए कितने ही पुरुषोंका यहाँतक पतन सुना गया है कि वे अपनी स्त्रीसे वेश्यावृत्तितक कराना चाहते हैं। एक विधवा बहिनका कहना है कि उनके देवरने उन्हें फुसलाकर सादे कागजपर उनकी सही ले ली और अब वह उनकी न्यायोचित सम्पत्तिको भी हड़प लेना चाहता है। ये दो-एक बातें उदाहरणके तौरपर कही गयी हैं। ऐसी घटनाएँ न जाने कितनी होती होंगी। पुरुषोंका अत्याचार बेहद बढ़ गया है। वे अपने दोषकी ओर तो कभी दृष्टि ही नहीं डालते; परंतु पत्नी निर्दोष हो तो भी उसमें उन्हें दोष-ही-दोष दिखायी पड़ते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि स्त्रीके दोषोंकी उपेक्षा की जाय। यदि स्त्रीमें वस्तुतः दोष हैं तो पति अथवा गुरुजनोंका यह धर्म हो जाता है कि वे उसे समझाकर, समझानेसे न माने तो उसके हितके लिये समुचित दण्ड देकर भी राहपर लावें। अवश्य ही यह बात किसी राग-द्वेष या पक्षपात आदिके कारण नहीं होनी चाहिये। किंतु जहाँ पत्नी आदर्श देवी है, वह भारतीय आदर्शके अनुसार स्वधर्मके पालनमें लगी है, वहाँ आधुनिकताके रंगमें रँगे हुए पति महोदय यदि उसे धर्मके विरुद्ध कुछ करनेकी आज्ञा देते हैं और उसको न करनेपर उसे पतिकी आज्ञा न माननेवाली होनेके कारण 'पतिव्रता' नहीं मानते तो यह उनका अन्याय है। उनकी दृष्टिमें तो पत्नीका 'निर्दोष' होना ही 'दोष' बन गया है।

वास्तवमें दोष तो उस पुरुषका ही है जो स्वयं पत्नीके सम्मुख परमात्मा बनकर बैठता है, उसकी न्यायसंगत सम्मतिके विरुद्ध उससे अपनी पूजा करवाना और अनुचित बातोंमें उसका सहयोग प्राप्त करना चाहता है। उसे क्या हक है कि वह अपनी स्त्रीसे पर-पुरुषोंके सामने नाचने-गानेको कहे और वह न नाचे-गाये तो उसे पतिव्रता न समझे। उसे क्या हक है कि वह पत्नीको शराब पिलाकर सिनेमामें ले जाना चाहे और वह हाथ जोड़कर क्षमा माँगे तो उलटे उस देवीपर नाराज हो, उसे सतीधर्मसे गिरी हुई करार दे? पतिको परमेश्वर समझकर उसकी सेवा करे, अवश्य ही यह स्त्रीका धर्म है; परंतु पतिका यह धर्म नहीं कि वह अपनेको परमेश्वर बताकर उससे कहे कि 'तुम मुझे उचित-अनुचित जैसे भी मैं कहूँ, पूजो।' यह तो किसीके धर्मसे अनुचित लाभ उठाना है। जो स्त्री अपने पतिको शराब छोड़ने, तम्बाकू त्याग करने, सिनेमा न देखने और झूठ न बोलनेकी सलाह देती है, वही उसकी सच्ची हितैषिणी है। वही वास्तवमें सहधर्मिणी और पतिका मंगल चाहनेवाली है। यह उसका उपदेश नहीं, सत्परामर्श है और इसका उसे सनातन अधिकार है। जिसे ऐसी सुशीला और सद्गुणवती पत्नी प्राप्त हो, उसे अपने सौभाग्यपर गर्व होना चाहिये तथा परमात्माका कृतज्ञ होना चाहिये। पति कभी ऐसा माननेकी भूल न करे कि 'पत्नी पाँवकी जूती है, उसका आदर करना उसे सिर चढ़ाना है।' जो ऐसा सोचता है, वह अपने कर्तव्यसे च्युत होता है। जो पति पत्नीकी बीमारीमें उसकी सेवा करनेमें अपना अपमान समझता है, दुःखमें उसका साथ नहीं देता वह वस्तुतः कर्तव्यविमुख और

धर्मभ्रष्ट है। पति स्वयं सदाचारी, मिष्टभाषी, एकपत्नीव्रती, अपनी ही पत्नीमें अनुराग रखनेवाला तथा उसके साथ मित्रवत् सच्चा प्रेम एवं सद्व्यवहार करनेवाला बने। ऐसा करके ही वह पत्नीके हृदयको जीत सकता है।

स्त्रीका अपराध

एक पत्र मिला है जिसका सार यह है—'एक स्त्रीने ऐसा अपराध किया है जो पातिव्रतधर्मके सर्वथा प्रतिकूल है। यह सत्य है कि अपराधका मूल कारण अज्ञान या लोभ है और जहाँतक अनुमान है, यह उसका पहला अपराध है। अपराध बहुत बड़ा है। उसपर भविष्यमें विश्वास किया जा सकता है या नहीं। पति घोर मानसिक अशान्तिसे पीड़ित है, वह क्या करे? इसका क्या दण्ड या प्रायश्चित्त है? क्या यह स्त्री सर्वथा त्याज्य है?' इस विषयपर उन्होंने शीघ्र सम्मति चाही है। नहीं तो डर है मानसिक अशान्तिके कारण वह और कुछ कर न बैठे।

'वह और कुछ कर न बैठे' इसी वाक्यको पढ़कर इस विषयपर कुछ लिखना आवश्यक समझा गया है। पत्रसे अनुमान होता है घटना चरित्रसम्बन्धी ही है। घटना बड़ी ही दुःखद है, परंतु ऐसी घटनाएँ आजके युगमें बिरली ही नहीं होतीं। मेरी समझसे इसमें प्रधान दोषी पुरुष हैं, जो अपनी बुरी वासनाकी तृप्तिके लिये भोली-भाली स्त्रियोंको कुमार्गपर लाते हैं। सच्ची बात तो यह है कि स्त्रियोंको बुराईकी ओर खींचनेवाले और लोभ आदि देकर उन्हें धर्मसे डिगानेवाले ऐसे पुरुष जितने महान् पतित और दण्डके पात्र हैं, उतनी स्त्रियाँ नहीं हैं। तथापि जिस बहिनसे यह अपराध हुआ है, उसके पतिको भयानक मानसिक पीड़ा होना स्वाभाविक है। उन भाईका यह कर्तव्य है कि वे आजकलकी पुरुषजातिकी नीचताकी ओर ध्यान देकर और साथ ही यह भी सोचकर कि पुरुषोंके द्वारा ऐसे ही अपराध होनेपर उनको हमलोग कितना दण्ड देते हैं, अपनी पत्नीको क्षमा करें, उसका तिरस्कार न करें। न पाँच आदमियोंमें बदनामी करें, न निन्दा करें और अपने चरित्रसम्पन्न जीवन, पवित्र सदाचार और प्रेमपूर्ण सद्व्यवहारसे ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दें जिससे पत्नीको अपनी भूलपर महान् पश्चात्ताप हो। मेरी समझसे सच्चे पश्चात्तापसे बढ़कर और कोई प्रायश्चित्त नहीं है। पश्चात्तापहीन दण्ड या प्रायश्चित्त पापकी जड़ नहीं काट सकता। बल्कि देखा जाता है कि दण्ड तो भूलसे पाप करनेवालोंको बार-बार क्लेश भुगताकर स्वाभाविक पापी बना देता है। इसलिये दण्ड न देकर ऐसा अच्छा बर्ताव करना चाहिये, जिससे अपराधीके मनमें आत्मग्लानि जाग उठे और वह पश्चात्ताप करे।

एक बार एक महात्माके पास एक स्त्रीको साथ लेकर पाँच पुरुष आये और उन्होंने कहा कि 'इस स्त्रीका चरित्र खराब है, हम इसे पत्थरोंसे मारना चाहते हैं।' इसपर महात्माने कहा—'जरूर, इसका अपराध भयंकर है, इसे मारना चाहिये, परंतु मारे वही जिसकी आँखें कभी परस्त्रीकी ओर न गयी हों और जिसके मनमें कभी परस्त्रीके प्रति कोई पाप न आया हो। नहीं तो, मारनेवाला ही मर जायगा।' महात्माकी इस बातको सुनकर तो सभी एक-दूसरेका मुँह ताकने लगे। महात्माने कहा, 'मारते क्यों नहीं?' उन्होंने कहा, 'भगवन्! कैसे मारें, ऐसी भूल तो हम सभीसे होती है।' तब महात्मा बोले—'भलेमानसो! तुम स्वयं जो अपराध करते हो, उसीके लिये दूसरेको मारना चाहते हो, तुम्हारे न्यायानुसार पहले तुम्हींको क्यों नहीं मारना चाहिये?'

बात यह है कि पुरुष आज स्त्रियोंकी अपेक्षा कहीं अधिक मात्रामें पाप करते हैं, पर अपने पापोंका कोई प्रायश्चित्त नहीं करना चाहते, उनका स्त्रियोंको दण्ड देनेका विचार करना एक प्रकारसे हास्यास्पद ही है।

इन सभी बातोंपर विचार करनेसे यही ठीक मालूम होता है कि उस बहिनका प्रथम अपराध और वह भी अज्ञानकृत होनेसे क्षमाके योग्य है और वह अब अपने पति तथा घरवालोंके द्वारा ऐसा प्रेमपूर्ण सद्व्यवहार प्राप्त करनेकी अधिकारिणी है कि जिससे भविष्यमें उसके मनमें ऐसी कोई पापकी कल्पना ही न आने पावे। यह विश्वास रखना चाहिये कि जिनसे छोटी उम्रमें अज्ञानवश कुसंगतिमें पड़नेसे अपराध हो जाते हैं, उनका भविष्य-जीवन यदि अच्छा संग मिले तो बहुत ही पवित्र हो सकता है। ऐसे बहुत-से उदाहरण हमारे सामने हैं। मानसिक चिन्ता त्यागकर सद्व्यवहार करने

तथा बुरे संगको बचानेसे ऐसा अवश्य हो सकता है। मेरे इस कथनसे जरा भी पापका समर्थन कदापि न समझना चाहिये।

ऐसे अपराधोंमें आजकल एक कारण और हो गया है, वह है स्त्रियोंका पुरुषोंके साथ बेरोक-टोक मिलना-जुलना। स्त्री-स्वातन्त्र्यके नामपर यह यदि बढ़ता रहा तो दशा और भी शोचनीय होगी।

यह सब होते हुए भी जो बहिन किसी भी कारणसे ऐसा पाप कर बैठती है, वह हिंदू-आदर्शकी दृष्टिसे तो बड़ा ही भयानक पाप करती है। किसी प्रकार कुसंगमें पड़कर किसीसे ऐसा पाप बन जाय तो उसे अपने मनमें बड़ा ही पश्चात्ताप करना चाहिये और कम-से-कम एक लाख भगवन्नाम-जप और तीन उपवास करना चाहिये। साथ ही भगवान्‌को साक्षी देकर दृढ़ प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि किसी भी स्थितिमें अब मैं किसी भी कारणवश ऐसा पाप नहीं करूँगी और भगवान्‌से करुणभावसे प्रार्थना करनी चाहिये कि वे दया करके क्षमा करें। हिंदूस्त्री हँसते-हँसते अपने प्राण त्याग देती है, परंतु ऐसे किसी बुरे विचारको भी सहन नहीं कर सकती। रानी शरत्सुन्दरी छोटी उम्रमें ही विधवा हो गयी थी। अंग्रेज कलक्टरकी स्त्री उनसे मिलने आयी और अपने देशकी प्रथाके अनुसार उनसे पुनर्विवाह करनेको कह दिया। उसके ऐसा कहनेमें कुछ भी बुरा भाव नहीं था, परंतु सती शरत्सुन्दरीको बड़ा ही दुःख हुआ। उनको ऐसी पापकी बात अपने कानों सुननी पड़ी, इसीका बड़ा संताप हुआ और उन्होंने इसके प्रायश्चित्तके लिये अन्न-जलका त्याग कर दिया। कलक्टर-पत्नीको पता लगा तब उसने आकर उनको समझाया और क्षमा माँगी। हिंदू-स्त्रीके लिये सबसे बड़ी मूल्यवान् उसका सम्पत्ति सतीत्व है और इसीके संरक्षणमें उसका लोक-परलोकमें महान् कल्याण निश्चित है। इस विषयपर गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजके श्रीरामचरितमानसमें अनसूयाजीने जगज्जननी सीताजीसे जो कुछ कहा है, उसे पढ़ना चाहिये—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥
पति बंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥
सो०—सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥

अर्थात् शरीर, वचन और मनसे पतिके चरणोंमें प्रेम करना, स्त्रीके लिये बस, यह एक ही धर्म है, एक ही व्रत है और एक ही नियम है। जगत्‌में चार प्रकारकी पतिव्रताएँ हैं। वेद, पुराण और संत सब ऐसा कहते हैं कि उत्तम श्रेणीकी पतिव्रताके मनमें ऐसा भाव बसा रहता है कि जगत्‌में [मेरे पतिको छोड़कर] दूसरा पुरुष स्वप्नमें भी नहीं है। मध्यम श्रेणीकी पतिव्रता पराये पतिको कैसे देखती है, जैसे वह अपना सगा भाई, पिता या पुत्र हो। (अर्थात् समान अवस्थावालेको वह भाईके रूपमें देखती है, बड़ेको पिताके रूपमें और छोटेको पुत्रके रूपमें देखती है।) जो धर्मको विचारकर और अपने कुलकी मर्यादा समझकर बची रहती है वह निकृष्ट (निम्न श्रेणीकी) स्त्री है, ऐसा वेद कहते हैं। और जो मौका न मिलनेसे या भयवश पतिव्रता बनी रहती है, जगत्‌में उसे अधम स्त्री जानना।

पतिको धोखा देनेवाली जो स्त्री पराये पतिसे रति करती है, वह तो सौ कल्पोंतक रौरव नरकमें पड़ी रहती है। क्षणभरके सुखके लिये जो सौ करोड़ (असंख्य) जन्मोंके दुःखको नहीं समझती, उसके समान दुष्टा कौन होगी। जो स्त्री छल छोड़कर पातिव्रत-धर्मको ग्रहण करती है, वह बिना ही परिश्रम परम गतिको प्राप्त करती है। किंतु जो पतिके प्रतिकूल चलती है वह जहाँ भी जाकर जन्म लेती है, वहीं जवानी पाकर (भरी जवानीमें) विधवा हो जाती है। स्त्री जन्मसे ही अपवित्र है, किंतु पतिकी सेवा करके वह अनायास ही शुभ गति प्राप्त कर लेती है। [पातिव्रत-धर्मके कारण ही] आज भी 'तुलसीजी' भगवान्‌को प्रिय हैं और चारों वेद उनका यश गाते हैं।

राजनीतिक आन्दोलनमें भाग लेनेवाले भाई-बहिनोंसे—

यद्यपि हिन्दूधर्ममें राजनीति धर्मका एक अंग है! हमारे दोनों प्रधान अवतार मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी और लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी राजनीतिसे अलग नहीं थे, परंतु यह अवश्य ही सत्य है कि न तो केवल राजनीति ही हमारे धर्मका या धार्मिक जीवनका एकमात्र कर्तव्य है और न राजनीतिक उद्देश्यकी सिद्धि या स्वराज्यकी प्राप्ति ही मनुष्य-जीवनका परम ध्येय है; क्योंकि यह जीवन तो हमारे अनन्त आत्मजीवनका एक क्षुद्र अंशमात्र है। मनुष्यका एकमात्र ध्येय है—परमात्माको प्राप्त करना और गीताके अनुसार थोड़े शब्दोंमें उसके लिये उपाय है—'परमात्माके स्वरूपको समझकर स्वधर्मद्वारा प्राप्त कर्तव्योंके पालनद्वारा श्रद्धाभक्तिपूर्वक संयतचित्तसे परमात्माकी पूजा करना।' जिस भावना या जिस कर्मसे मनुष्यका मन परमात्मासे हटकर विषयकी ओर झुकता हो, चाहे वह कर्म सांसारिक दृष्टिसे कितना ही महान् क्यों न हो, उसका त्याग कर देना ही श्रेयस्कर है। पक्षान्तरमें जो कार्य देखनेमें छोटे मालूम होते हों और लोकदृष्टिमें उनका विशेष महत्त्व नहीं भी होता, परंतु यदि वे परमात्माकी पूजाके योग्य हैं और मनुष्यके लक्ष्यको विषयोंसे हटाकर परमात्मामें लगाते हैं तो वे ही कार्य मनुष्यके लिये परम कर्तव्य हैं। भगवान्ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

'जिस परमात्मासे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जो परमात्मा समस्त भूतोंमें (बर्फमें जलकी भाँति) व्याप्त है, उसकी अपने कर्मद्वारा पूजा करके ही मनुष्य (भगवत्प्राप्तिरूप) परम सिद्धिको प्राप्त होता है।' जिस कर्मसे इस प्रकार परमात्माकी पूजा होती है—उस कर्मका कोई खास एक ही स्वरूप नहीं है। जिसका जो स्वधर्म हो—अपना कर्म हो, प्राप्त कर्तव्य हो, वह उसीका निष्कामभावसे परमात्माके लिये भगवान्की पूजाके निमित्त पालन करे। ऐसे कर्मोंमें गीताके अनुसार भीषण युद्धतकका भी समावेश है, अवश्य ही वह युद्ध स्वार्थ-प्रेरित न होना चाहिये। दूसरोंके स्वत्व-अपहरण करने या अपनी अतृप्त लिप्साको तृप्त करनेके निमित्त, निर्दोषोंको लूटने-मारनेके लिये न होना चाहिये। वह होना चाहिये 'धर्मयुद्ध'। भगवान्ने युद्धको नहीं, 'धर्मयुद्ध' को ही क्षत्रियका धर्म बतलाया है। परंतु वह धर्मयुद्ध भी निष्काम और ईश्वरकी पूजाके योग्य तभी हो सकता है, जब उसमें आसक्ति या लौकिक फलका अनुसन्धान बिलकुल न हो। जब वह भगवान्के आज्ञानुसार केवल भगवान्के लिये ही किया जाता हो। भगवान्ने युद्धकी आज्ञा देते समय अर्जुनको जो उपदेश किया है, उसमें कुछको स्मरण करनेसे यह विषय स्पष्ट हो जायगा—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २।३८)

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २।४८)

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(गीता ३।३०)

'सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजयको समान मानकर तत्पश्चात् तू युद्ध कर, ऐसा करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं होगा। आसक्तिको त्यागकर और सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि होकर योगमें स्थित रहता हुआ तू कर्म कर, 'समत्व' का नाम ही योग है। अध्यात्म-चित्तसे सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें समर्पण करके आशा और ममतासे रहित होकर सारी व्यथाओंसे भलीभाँति छूटकर युद्ध कर।' इन तीनों श्लोकोंमें '**कृत्वा**', '**त्यक्त्वा**', '**भूत्वा**' शब्द बहुत ही विचारणीय हैं। इनसे यह सिद्ध होता है कि जो मनुष्य पहले इस प्रकारका बनकर फिर कर्तव्य-कर्म करता है, वही पापोंसे लिप्त नहीं होता और उसीके कर्म निष्काम कर्म कहला सकते हैं। जबतक मनुष्य आसक्ति और कामनाको छोड़कर सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर निराशी और निर्मम नहीं हो जाता, तबतक उसका चित्त अशान्त रहता है और अशान्त चित्तसे वह कभी सुखी भी नहीं हो सकता—'**अशान्तस्य कुतः सुखम्?**' परंतु बिना किसी हेतुके कर्म हो ही नहीं सकते, इसलिये निष्काम कर्ममें भी हेतु होना चाहिये

और वह हेतु होता है—ईश्वर-पूजा। इसी हेतुकी प्रधानता रखकर पुनः युद्धके लिये आज्ञा देते हुए भगवान् अर्जुनको इसका साधन बतलाते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८।७)

'इसलिये अर्जुन! सर्वकालमें निरन्तर मेरा स्मरण करता हुआ ही युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें (भगवान्‌में) अर्पित किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।' क्षत्रियको युद्ध करना चाहिये, परंतु राज्यकी आसक्ति या कामनासे नहीं, भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवान्‌की आज्ञा मानकर भगवत्पूजाकी बुद्धिसे। ऐसे ही 'ज्ञानसमन्वित भगवद्भक्तियुक्त निष्काम कर्म' से भगवान्‌की प्राप्ति होती है, जो मनुष्य-जीवनका एकमात्र ध्येय है। इसके विपरीत अन्य हेतुओंसे होनेवाले सभी शुभाशुभ कर्म बन्धनकारक हैं। भगवान्‌ने कहा है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

(गीता ३।९)

'अर्जुन! यज्ञ अर्थात् परमात्माकी सेवाके लिये किये जानेवाले कर्मोंके अतिरिक्त अन्य हेतुओंसे होनेवाले कर्मोंमें प्रवृत्त मनुष्य उन कर्मोंद्वारा बन्धनको प्राप्त होता है। इसलिये तू आसक्ति छोड़कर उस परमेश्वरके लिये ही कर्मोंका सम्यक् प्रकारसे आचरण कर।' कर्म चाहे धर्मोपदेश हो, धर्मयुद्ध हो, वाणिज्य हो, सेवा हो या अन्य कोई हो, होना चाहिये परमात्माकी सेवाके लिये।

इसी सिद्धान्तके अनुसार इस वर्तमान राजनीतिक आन्दोलनमें प्रवृत्त लोगोंको भी उनकी अपनी-अपनी भावना या हेतुके अनुरूप ही फलकी प्राप्ति होगी। इस बातका तो पता नहीं कि लौकिक दृष्टिमें इसका फल कैसा होगा? पर यह निश्चय है कि परम दयालु और परम न्यायकारी सर्वशक्तिमान् मंगलमय ईश्वरके मंगल-विधानके अनुसार इसका जो कुछ भी चरम फल होगा, वह दोनों ही पक्षोंके लिये परिणाममें लाभदायक अवश्य होगा। देखनेमें वह भले ही एक पक्षके लिये अनुकूल और दूसरेके लिये प्रतिकूल हो। यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि परमात्मा किसी भी देश, जाति, धर्म या वर्णके साथ पक्षपात नहीं कर सकते। वे सबके हैं और सारा जगत् उन्हींकी अभिव्यक्ति है। या यों कहिये कि हम सभी एक ही परमात्मारूपी स्नेहमयी जननीकी प्यारी संतान हैं। जननीकी दृष्टिमें सब संतान एक-सी होती हैं। दो भाई परस्पर लड़ते हैं, दोनोंका झगड़ा माताके पास जाता है तो वह दोनोंके प्रति स्नेह रखती हुई जिसका अपराध देखती है उसे धमकाती है, समयपर थप्पड़ भी लगा देती है और जो निर्दोष होता है उससे प्यार करके गोदमें उठाकर उसका मुख चूमने लगती है। परंतु वह जिसे धमकाती या मारती है, उसका भी कल्याण ही चाहती है और कल्याणकामनासे ही उसके साथ वैसा व्यवहार करती है; क्योंकि वह भी उसे उतना-ही प्यारा है जितना दूसरा है। इसी प्रकार परमात्मा भी सबसे समान भावसे प्यार करते हुए किसीको दण्डित और किसीको पुरस्कृत करके उनका कल्याण करते हैं। परमात्मा दोनोंकी सुनते हैं, परंतु पुरस्कारका—उनके प्रत्यक्ष प्रेमका पात्र वही बनता है, जो निर्दोष होता है, जो परमात्माका यथार्थ विनम्र आज्ञाकारी होता है और जो अचल भावसे सत्यपर स्थित होता है। सत्य परमात्माका स्वरूप है। हम चाहे किसी भी पक्षमें हों—अन्तरात्माकी सच्ची प्रेरणाके अनुसार कोई-सा भी काम करते हों, हमें सत्यपर डटे रहकर परमात्माके लिये ही उस कामको करना चाहिये। पद-पदपर बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है, कहीं भगवान्‌के स्थानमें हमारे हृदयमें भोगको स्थान न मिल जाय, हमारा कामनाका विषय परमात्माकी जगह सांसारिक स्वार्थ न हो जाय। सांसारिक स्वार्थ कामना और आसक्तिसे युक्त होता है, एवं कामना तथा आसक्ति ही पापका कारण है। गीताके दूसरे अध्यायमें भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि विषयोंके चिन्तनसे उनमें आसक्ति होती है, आसक्तिसे कामना होती है, कामनामें बाधा होनेपर क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे क्रमशः सम्मोह, स्मृति-नाश होकर अन्तमें बुद्धिका नाश हो जाता है। बुद्धिके नाशसे सर्वनाश होना—परमार्थपथसे गिरना स्वाभाविक ही है। इससे सिद्ध है कि क्रोधके पहले कामना और आसक्तिका होना आवश्यक है। जब अर्जुनने कातर कण्ठसे भगवान्‌से पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३।३६)

'भगवन्! यह मनुष्य किसीके द्वारा बलात् कराये जानेके सदृश न चाहनेपर भी किससे प्रेरित होकर पापाचरण करता है?' तब भगवान् बोले—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न काम ही क्रोध है, यही अग्निके सदृश कभी न तृप्त होनेवाला महान् पापी है, इसे ही तू अपना वैरी जान।' 'रजोगुणका स्वरूप बतलाते हुए भगवान्ने कहा कि '**रजो रागात्मकं विद्धि**'—'रजोगुणको रागात्मक यानी आसक्तिरूप समझ।' इससे यह सिद्ध है कि विषयासक्तिसे कामना होती है और कामनासे क्रोध होता है। निष्काम कर्ममें कामना और आसक्ति नहीं रहती। इसीसे तो वह निष्काम है, अत: जो निष्काम पुरुष है वह क्रोधी नहीं हो सकता। वह लोक-शिक्षाके लिये कभी क्रोधका-सा नाट्य भले ही करे, परंतु उसमें क्रोधरूपी विकार यथार्थमें नहीं रह सकता। ऐसा कामना और आसक्तिका त्यागी पुरुष ही परमात्माका निरन्तर स्मरण करता हुआ परमात्माके लिये सब कार्य करता है, उसीकी मन-बुद्धि परमात्माके अर्पित रहती है और उसीको प्राप्त कर्तव्य कर्मोंके करते हुए ही भगवत्प्राप्ति होती है। इसी प्रकारके कर्मका उपदेश अर्जुनको दिया गया था। आज राजनीतिक क्षेत्रमें भी काम करनेवाले सभी पक्षके लोगोंको यही लक्ष्य रखकर कार्य करना चाहिये। कारागारमें जाना, मरना, कष्ट सहना—सभी कुछ केवल परमात्माके लिये ही होना उचित है, यदि वह धर्मपालनके निमित्तसे, देशसेवा या देशकी दुर्दशा मिटानेके निमित्तसे या दु:खी जीवोंकी सेवाके निमित्तसे हो तो और भी उत्तम है। राजनीतिक क्षेत्रमें लोग जो ईश्वरके अधिष्ठानको भुला देते हैं, ईश्वरप्राप्तिके लिये कर्म करनेकी बात तो अलग रही, ईश्वरके अस्तित्वतककी भी अवहेलना कर आसक्ति और कामनावश मनमाना काम कर बैठते हैं, यह कदापि उचित और परिणाममें सुखदायक नहीं है। काम कैसा ही हो, कर्ताको फल उसकी अपनी भावनाके अनुसार ही प्राप्त होगा। भगवान्के लिये मरनेवालोंको भगवान् और द्वेषके लिये मरनेवालोंको निश्चय ही दु:खोंकी प्राप्ति होगी। श्रीगाँधीजीके इन शब्दोंको प्रत्येक क्षेत्रमें निरन्तर याद रखना चाहिये। ये शब्द सम्मान्य श्रीमहादेव भाई देसाईजीके पहली बार पकड़े जानेपर उन्होंने कहे थे—

'जहाँ महादेव गये हैं, वहाँ मेरा एक-एक साथी चला जाय तो भी क्या है? मैं अपनेको अकेला मानता ही नहीं। मेरा साथी, रक्षक, सलाहकार जो कुछ भी है, एक ईश्वर है। महादेव, स्वामी (आनन्द) या सरदार (श्रीवल्लभ भाई पटेल)-के भरोसे अथवा किसी मनुष्यके भरोसे यह जंग नहीं छेड़ा है। अतएव चाहे जितने साथी क्यों न चले जायँ मैं तो निश्चिन्त हूँ, निर्बलको चिन्ता किस बातकी? बलवान्का बल घटाया जा सकता है, पर निर्बलके बलको कौन मिटा सकता है? लेकिन निर्बल होते हुए भी मैं अपनेको बलवान् मानता हूँ; क्योंकि मैं ईश्वरके बलपर जूझता हूँ।'

वास्तवमें बात ठीक है, निर्बलके बल राम हैं ही। जिनको श्रीरामका बल है, भगवान्का भरोसा है, जो उन्हींके लिये कार्य करते हैं, वे ही तो सत्यके उपासक हैं, वे आसक्तिवश पाप कैसे कर सकते हैं, वे किसीके भी साथ घृणा या द्वेष कैसे कर सकते हैं? हाँ, जो रामके बदले आरामके उपासक हैं, कष्ट सहकर भी जो उसके बदलेमें इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये विषय-भोग ही चाहते हैं, वे ही प्रतिद्वन्द्वीसे घृणा और द्वेष रख सकते हैं और वे ही परिणाममें कष्ट भी पाते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो महानुभाव देशके लिये जितना भी त्याग करते हैं और कष्ट सहते हैं, वे चाहे किसी भी भावसे वैसा करते हों, एक प्रकारसे तप ही करते हैं और सराहनीय हैं। तथापि मेरी यह प्रार्थना और भावना अवश्य है कि यदि सब लोग ईश्वर-प्राप्तिकी कामनासे, ईश्वर-प्रीत्यर्थ, यथासाध्य राग-द्वेषको त्यागकर, घृणाके भावको निकालकर, जय-पराजय और सफलता-असफलताकी चिन्ताको छोड़कर कार्य करें तो भगवान्के इच्छानुसार देशका और उनका—दोनोंका ही परम कल्याण हो सकता है। जिनका जितना त्याग है, वे तो अवश्य ही उतने अंशमें परम प्रशंसनीय हैं। देखा-देखी या जोशमें आकर तो नहीं, पर जिनकी अन्तरात्मा इस कार्यके साथ हो, लेकिन जो भय या स्वार्थवश हटे हुए हों, उन्हें तो आत्माके अमरत्वपर विश्वासकर, भय त्यागकर ईश्वर-प्रीत्यर्थ अवश्य ही सानन्द कष्ट सहनेको तैयार हो जाना चाहिये और इस कार्यमें भाग लेकर कर्तव्यका

पालन करना चाहिये। जो जितने अंशमें सत्यतापूर्वक सहमत हैं, वह उतने ही अंशमें साथ दें। परंतु अपनी कमजोरियोंको ढँकनेके लिये कभी बहानेबाजी या मिथ्या युक्तिवादका सहारा लेकर आत्माको धोखा न दें, जेलयात्रा या कष्टसहनसे बचनेके लिये युक्तियोंका बहाना न करें; क्योंकि शरीर-क्लेशके भयसे किये जानेवाले त्यागको भगवान्ने राजस त्याग बतलाया है। अवश्य ही जिनका सिद्धान्त इसके अनुकूल न हो, जो यथार्थमें दूसरे सिद्धान्त रखते हों, वे अपनी-अपनी क्रियाओंद्वारा ही परमात्माकी सेवा कर सकते हैं। स्थूल जगत्के सर्वथा परस्पर-विरोधी कार्योंमें भी सत्पथपर डटे रहनेसे दोनोंको ही सत्यकी प्राप्ति हो सकती है। सुधन्वा और अर्जुनकी भाँति दोनों ही भगवान्के भक्त हो सकते हैं, परंतु होना चाहिये यथार्थमें सत्यका आश्रय!

जेलमें गये हुए या अब जिनको जेलमें जाना पड़े, उन मेरे सम्मान्य भ्राता एवं माँ-बहिनोंसे भी एक नम्र प्रार्थना है कि वे अपने जेल-जीवनको पवित्र, सात्त्विक और ईश्वरमय बनानेकी यथासाध्य पूरी चेष्टा करें। जेलको परमात्माका आशीर्वाद और परम तप समझें। जेलका समय अपनी-अपनी रुचि, अधिकार, योग्यता और अवकाशके अनुसार अपने-अपने विश्वासके अनुरूप परमात्माके ध्यानचिन्तन, नाम-जप, सद्ग्रन्थोंके अध्ययन, प्रणयन और विचार आदिमें ही बितावें। अपने प्रेमपूर्ण बर्तावसे जेलके अधिकारियों और अन्यान्य सहयोगी भाइयोंके हृदयपर अधिकार कर लें। अपने आदर्श आचरणोंसे साधारण कैदी और जेलके कर्मचारियोंके आचरणोंको उन्नत बना दें। लोकमान्य तिलकने जेल-जीवनमें रहकर 'कर्मयोग-रहस्य' के रूपमें हमें कैसी अपूर्व निधि दे दी।

इन्हीं सब बातोंको आदर्श मानकर जेल-जीवनको पवित्र, शान्त, तपोमय बनाना चाहिये और वहाँसे ऐसे साधनसम्पन्न होकर निकलना चाहिये, जिसमें वापस आकर और भी उत्साह, दृढ़ता, पवित्रता, शान्ति और प्रेमके साथ देशके या अन्य किसी भी निमित्तसे भगवान्की ठोस सेवा कर सकें।

एक बात अहिंसाके सम्बन्धमें भी विचारणीय है। हिंसा मन, वाणी, शरीर—तीनोंसे ही होती है और वह कृत, कारित, अनुमोदित इन तीनों रूपोंमें ही की जा सकती है। शरीरसे किसीको पीड़ा पहुँचाना जैसे हिंसा है, वाणीसे पीड़ा पहुँचाना वैसे ही हिंसा है और मनसे किसीका अनिष्ट-चिन्तन भी वैसे ही हिंसा है। हम एक आदमीको शरीरसे तो पीड़ा नहीं देते, किंतु वाणीसे या लेखनीसे उसका अनिष्ट करते हैं। द्वेषपूर्ण नारे लगाते हैं या मनसे बुरा चाहते हैं तो वह भी हिंसा ही है। स्वयं बुरा करना, बुरा कहना या बुरा चाहना जैसे हिंसा है, वैसे ही दूसरेके द्वारा बुरा करवाना, कहलाना और दूसरेके द्वारा बुरा होते देखकर उसका मन-वाणीसे अनुमोदन करना अथवा किसीके अनिष्टको देखकर प्रसन्न होना भी हिंसा ही है। ऐसी हिंसाओंसे भी जरूर बचना चाहिये। ऊँची बात तो यह है कि भगवद्भक्त प्रह्लादकी भाँति मारनेवालोंके लिये भी ईश्वरसे कल्याण-कामना करनी चाहिये और उनकी बुद्धि शुद्ध होनेके लिये परमात्मासे प्रार्थना करनी चाहिये। इस बातको नहीं भूलना चाहिये कि जगत्में कोई भी जीव हमारा द्वेष्य नहीं है, द्वेष्य हैं तो हमारे दुर्गुण हैं और हमारा असंयत चित्त है। उन्हें ही मारनेकी चेष्टा करना उचित है। श्रीगाँधीजीके इन स्वर्ण शब्दोंको याद रखना चाहिये कि —

'जब हमारे आदमी मारे जाते हैं तो मेरा दिल नहीं धड़कता अथवा धड़कता है तो मैं उसे दबा सकता हूँ। परंतु जब एक भी प्रतिपक्षीका खून हो जाता है तब मुझे शर्म मालूम होती है और हमारी उन्नतिमें भय पैदा हो जाता है × ×। इस लड़ाईका उद्देश्य वैर बढ़ाना नहीं, वैर घटाना है।'

यदि लोग महात्माजीके इन शब्दोंको भुलाकर अपने आचरणोंसे वैर घटानेके बदले बढ़ा लेंगे तो उनका उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। हमारा कोई भी कार्य ऐसा नहीं होना चाहिये, जिससे हमारी सात्त्विकता घटे, हमारे महान् उद्देश्यका आदर्श नीचा हो जाय। जान-बूझकर किसीका अनिष्ट करनेके लिये कुछ भी नहीं करना चाहिये। हमारे सभी काम ऐसे होने चाहिये जिनसे सारे विश्वको सुख मिले। हमारा सुख सभीके सुखका कारण हो। अतएव इस दिशामें भी बहुत ही सावधान रहनेकी आवश्यकता है। मार खाते हुए भी मन, वाणी, शरीरसे मारनेवालोंकी कल्याण-कामना

करनी चाहिये। हमारी तपस्या उनकी बुद्धिके शुद्ध होनेके लिये होनी चाहिये, न कि उनके विनाशके लिये! तभी वह सच्ची तपस्या है और तभी हमारा वह कर्म ईश्वरको प्रिय होगा। राजनीतिक-क्षेत्रमें इतनी कड़ाईके मौकेपर मानसिक सहिष्णुता कम होकर राग-द्वेष उत्पन्न हो जाना बहुत ही सहज है। समालोचना करना या उपदेश देना जितना सहज है, अन्याययुक्त लाठियाँ या गालियाँ सहते हुए मनसे उनका कल्याण चाहना और उनके प्रति मनमें द्वेषको स्थान न देना उतना ही कठिन है। यह बात सर्वथा सत्य है, तथापि शुद्ध आदर्श तो हमें अपने सामने रखना ही चाहिये। इसी क्षेत्रमें क्यों, प्रत्येक क्षेत्रमें ही, इन्द्रियोंके प्रत्येक अर्थमें ही, राग-द्वेषरूपी लुटेरे तो हमारे हृदयसे परमेश्वरके लक्ष्यरूपी परमधनको—ज्ञानको लूटनेके लिये तैयार रहते ही हैं। हमें सर्वदा सर्वत्र ही उनसे बचनेके लिये चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्ने कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३। ३४)

'राग-द्वेष प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें स्थित हैं, इन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये। ये दोनों ही कल्याण-मार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।' जो राग-द्वेषसे बचकर मन-इन्द्रियोंको वशमें करके संसारके विषयोंको भोगता है, उसीका अन्तःकरण प्रसादको प्राप्त होता है। अतएव हम किसी भी कार्यको करें, चाहे वह धर्मका हो, देशका हो, समाजका हो या व्यक्तिगत हो, यदि वह राग-द्वेषरहित 'ईश्वरार्थ' होता है तो वही भक्तिका कारण बन जाता है। इसी बातको ध्यानमें रखकर सभी क्षेत्रोंमें लोगोंको अपने प्राप्त कर्तव्यका पालन करना चाहिये। परंतु यह ध्यान रखना चाहिये कि न तो सबके सिद्धान्त एक-से होते हैं और न सब एक-सा काम ही कर सकते हैं। सिद्धान्तभेदसे मनुष्यकी ईमानदारीमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। जो सच्चे हृदयसे जिस लोकहितकर कर्मको धर्म समझता है, उसे वही करना चाहिये और उसीमें उसका कल्याण निहित है। भगवत्की प्राप्तिमें मुख्य भाव है, कार्य नहीं।

इसी प्रसंगमें खादीपर कुछ शब्द निवेदन करने हैं।

खादीका सम्बन्ध तो सदाचार, वैराग्य, ईश्वरभक्तिसे है, राजनीतिक दृष्टिसे नहीं। मैं तो अपने विश्वासके अनुसार शुद्ध धार्मिक दृष्टिसे ही खादीका व्यवहार करनेके लिये सभी महानुभावोंसे प्रेमपूर्वक अनुरोध करता हूँ। इस समय ऐसा कोई वस्त्र उपलब्ध नहीं है, जो खादीसे ज्यादा पवित्र हो या जिसमें कम हिंसा होती हो। विलायती और मिलके कपड़ोंमें चर्बी लगती है, जिससे अपवित्रता और हिंसा दोनों ही सिद्ध हैं। रेशमी वस्त्रोंको प्राचीनकालमें शुद्ध मानते थे पर अब तो रेशम बनानेमें ही असंख्य जीव उबलते हुए जलमें डाले जाते हैं। इससे रेशम भी अपवित्र और हिंसामय है। ऊनी कपड़े इस गरम देशमें हमेशा लोग पहन नहीं सकते। परंतु खादी उपर्युक्त दोनोंकी अपेक्षा पवित्र और हिंसारहित है। पवित्रताका असर मनपर होता है जिससे भगवान्‌में मन लगता है।

खादी पहनते ही सादगी आ जाती है, शौकीनी छूटते ही अनेक दोष आप ही चले जाते हैं। खादीके स्वाभाविक ही मोटी होनेसे विलासिता दूर होती है और सहज ही वैराग्य बढ़ता है। सदाचार तो उसमें आ ही गया। पवित्रता, सादगी, सदाचारके मिल जानेसे एक ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है जो परमार्थमें बड़ी सहायता करती है।

इसके सिवा खादीमें सबसे बड़ी बात है गरीब भूखोंकी सेवा और देशकी संस्कृतिका बदल जाना। हमारे लाखों भाइयोंको कार्यके अभावसे अन्न-वस्त्र नहीं मिलता। देशके लोग खादी पहनने लगें तो पींजने, कातने, बुनने आदिमें लगकर करोड़ों गरीब भाई-बहिन सुखी हो सकते हैं। घरसे कुछ दिये बिना ही बड़ा दान और विराट्‌रूप भगवान्‌की पूजा हो जाती है। साथ ही परमुखापेक्षी जनता स्वावलम्बन सीखकर सुखी हो सकती है।

इस प्रकार खादीमें पवित्रता, अहिंसा, सादगी, स्वावलम्बन, सदाचार, वैराग्य, दान भगवान्‌की पूजारूप परमार्थ भरा है, अतएव सभी भाई-बहिनोंको खादी जरूर ही पहननी चाहिये। परंतु यह भी करना चाहिये मनके पवित्र भावसे। खादी पहननेमें कहीं स्वार्थसाधन, फैशन, नेता बननेकी स्पृहा, पुजवाने या मान-सम्मान प्राप्त करनेकी कामना हो तो उसका फल अच्छा नहीं होगा। अतएव खादीका व्यवहार भी करना चाहिये—

ईश्वरको स्मरण करते हुए ईश्वरके लिये ही भगवान्‌के इन शब्दोंको कभी नहीं भूलना चाहिये—

'अर्जुन! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ तपस्या करता है वह सब मेरे ही अर्पण कर।'* (गीता ९। २७)

प्रेमकी पराकाष्ठा

जगाई-मधाई-उद्धार

श्रीचैतन्यदेवने हरिनाम वितरण करनेके लिये श्रीहरिदास और श्रीनित्यानन्दको विशेषरूपसे आदेश दिया। प्रभुने कहा, 'इस नवद्वीपके घर-घरमें मूर्ख-पण्डित, साधु-असाधु, ब्राह्मण-चाण्डाल सभीको हरिनाम दो और उनका उद्धार करो।' दोनों ही भक्त इस काममें अनुभवी और निपुण थे। प्रथम तो ये परम दयालु और शक्ति-संचार करनेमें समर्थ थे। दूसरे दोनों ही संन्यासी थे। नवद्वीपमें नित्य नियमसे हरिनाम बँटने लगा। हरिदास और नित्यानन्द प्रातःकाल किसी गृहस्थके दरवाजेपर जाकर खड़े हुए। गृहस्थने तेजःपुंज संन्यासियोंको देखकर जब भीख देनी चाही, तब वे दोनों कहने लगे, 'तुमलोग कृष्ण-कृष्ण कहो, कृष्णका भजन करो—हमारी यही भीख है।' इतना कहकर भीख बिना लिये ही दूसरे घर चले गये। इसी तरह घर-घर नाम-प्रचार करने लगे।

उस समय जगन्नाथ और माधव नामक दो ब्राह्मण भाई नवद्वीपमें निवास करते थे। एक तरहसे वे नगरके मालिक थे। धनसे काजीको वशमें कर दोनों भाई नवद्वीपमें यथेच्छाचरण करते थे, इन्हें धर्माधर्मका कोई ज्ञान नहीं था, ये सदा शराबके नशेमें चूर रहा करते थे। जरा-सी बातपर खून कर डालना और मनमाने डाके डालना इनके बायें हाथका खेल था। इनके पास बड़ी सेना थी, जिससे बलमें कोई इनसे बढ़कर नहीं था। नवद्वीप-निवासी प्रायः विद्याचर्चामें ही लगे रहते, इससे वे सब इनके प्रतीकारका कोई उपाय न कर चुपचाप अत्याचार सहा करते थे। ये दोनों भाई जगाई-मधाईके नामसे प्रसिद्ध थे।

एक दिन नित्यानन्दने हरिदाससे कहा—'चलो भाई! आज उन दोनों भाइयोंको भी प्रभुका आदेश सुनावें। सुनेंगे तो अच्छी बात है, नहीं तो अपना कुछ बिगड़ता नहीं।' यों सलाह करके दोनों जा पहुँचे। वहाँ दोनों भाई शराबमें मतवाले हुए बैठे थे। नित्यानन्दने जाते ही कहा—कृष्ण कहो, कृष्ण भजो। हमें यही भीख दो।' यह सुनते ही उनके क्रोधका पारा बहुत चढ़ गया। उन्होंने कहा—'ठीक! क्या प्राणोंका डर नहीं है जो हमारे सामने इतनी बड़ी-बड़ी बातें करते हो, पकड़ो तो कोई इन दोनों पाखण्डियोंको।' इतना कहकर स्वयं ही उन्हें पकड़नेको दौड़े। नित्यानन्द और हरिदास जोरसे भाग छूटे। नगरके विरोधी लोग हँसते हुए कहने लगे—'आज खूब हुई पाखण्डियोंमें।'

महाप्रभुके पास पहुँचकर उन्होंने सारी कथा आद्योपान्त सुनायी। तदनन्तर नित्यानन्द कहने लगे—'साधुसे तो कृष्ण-नाम सभी कहला सकते हैं। जगाई-मधाईके मुखसे कृष्ण-नाम कहला सकें, तभी तुम्हारी बड़ाई है। इन दोनों भाइयोंका उद्धार करके जगत्‌में अपनी दयाका परिचय तुम्हें देना पड़ेगा।' प्रभु हँसकर कहने लगे—'श्रीपाद! जब तुम उन दोनोंकी कल्याण-कामना करते हो तब अवश्य ही उनका उद्धार होगा।' प्रभुके इन वचनोंसे भक्तोंने समझ लिया कि अब जगाई-मधाईका उद्धार हो गया। आनन्दसे भक्तगणोंने हरिध्वनिसे आकाश गुँजा दिया।

श्रीवासके घर कीर्तन हो रहा था। कीर्तनका शब्द सुनकर जगाई-मधाई देखने आये; दोनों ही शराबके नशेमें पागल हो रहे थे। दरवाजा बंद था; इसलिये अंदर नहीं जा सके। बाहर खड़े भीतरसे आती हुई हरिध्वनि सुनने लगे। शराबके नशेमें दोनों नाचने लगे। सारी रात यों ही नाचते बीती। प्रातःकाल कीर्तन समाप्तकर जब भक्तोंने गंगाजी जानेके लिये दरवाजा खोला तो सामने जगाई-मधाई नाचते हुए दिखायी दिये। सरलचित्त भक्त डर गये। श्रीचैतन्य एक बगलसे जाने लगे; तब उन

* यह लेख बहुत वर्षों पूर्व राजनीतिक आन्दोलनकी प्रबलताके समय लिखा गया था।

दोनोंने नशेमें झूमते हुए ही कहा, 'निमाई पण्डित! यह तुम्हारा क्या सम्प्रदाय है? क्या मंगलचण्डीके गीत गाते हो, तुम्हारा गाना हमें बहुत अच्छा लगा! एक दिन हमारे घर भी इसी तरह गान करना होगा।' श्रीचैतन्यने कोई उत्तर नहीं दिया और वे सबके साथ गंगास्नानके लिये चले गये।

दोपहरके समय नित्यानन्दजी प्रभुसे कहने लगे—'प्रभो! साधुओंका उद्धार तो सभी कर सकते हैं। आज जगत्‌में सबसे दीन-हीन जगाई-मधाई हैं। इनका उद्धार करके पतितपावन नामको सार्थक करो।' नित्यानन्दने दूसरे सब भक्तोंको पहलेसे ही गाँठ रखा था अतएव सभीने जगाई-मधाईके उद्धारके लिये प्रभुसे प्रार्थना की।

प्रभुने कहा—'जब तुम सभी उनकी कल्याण-कामना करते हो, तब श्रीकृष्ण उनका उद्धार शीघ्र करेंगे। उनकी पाप-कथाएँ याद आते ही हृदय सूखने लगता है। भविष्यमें मिलनेवाले पापोंके फलको विचारकर हृदय दहल उठता है। ऐसे कठिन रोगकी एकमात्र औषध श्रीहरिका नाम ही है। अत: जाओ। सब भक्तोंको बुला लो। सभी एक साथ कीर्तन करते-करते जाकर उनको हरिनाम देंगे। आज जगत् देखेगा, हरिनाममें कितनी शक्ति है।'

भक्तगण एकत्र हो गये। नगर-कीर्तनकी तैयारी हुई। श्रीचैतन्यका यही पहला नगर-कीर्तन था। इससे पहले बाहरके लोगोंने कभी चैतन्यका कीर्तन नहीं देखा था। भक्तोंमें किसीके हाथमें ढोल है, किसीके करताल है, किसीके शंख है, किसीने भेरी ले रखी है। पैरोंमें सबने घुँघरू बाँध लिये हैं। संध्याका समय है। श्रीनित्यानन्द, श्रीअद्वैताचार्य, श्रीवास, गदाधर, हरिदास, मुरारि, मुकुन्द और नरहरि आदि सभी भक्त कीर्तन करते हुए चल रहे हैं। श्रीचैतन्यदेव बीचमें हैं, आनन्दसे उनका शरीर डगमगा रहा है, आँखोंकी पलकें पड़नी बंद हो गयी हैं, प्रेमाश्रुओंकी पिचकारी छूट रही है, अनेक प्रकारसे भाव बता-बताकर प्रभु नृत्य कर रहे हैं, उनके प्रत्येक अंगसे मानो अमृत बरस रहा है। भक्तगण उन्हें घेरकर कीर्तन करते हुए नाचते जा रहे हैं। श्रीनित्यानन्दजी सबसे आगे हैं। वे जगाई-मधाईकी दुर्दशा आँखों देख चुके हैं। उन लोगोंके दु:खसे नित्यानन्दका हृदय विदीर्ण हो गया था। आज प्रभुको तैयार करके वे कमर कसकर दोनों भाइयोंका उद्धार करने जा रहे हैं। आज नित्यानन्दके गौरव और आनन्दकी सीमा नहीं है।

जगाई-मधाई रातभर शराब पीकर इस समय नींदमें बेहोश पड़े हैं। शाम हो गयी है, परंतु अभी वे सोकर नहीं उठे हैं। कीर्तनकी आकाशव्यापी ध्वनिसे उनकी नींद टूटी। हो-हल्लेसे चिढ़कर उन्होंने पहरेदारसे कहा—'जा! कौन हल्ला कर रहे हैं, उन्हें रोक दे, जिससे हमारे सोनेमें बाधा न हो।' पहरेदारने जाकर कीर्तनमें उन्मत्त भक्तोंसे यह बात कही। पर वहाँ उसकी कौन सुनता था। भक्तगण और भी उच्च स्वरसे कीर्तन करने लगे। उसने लौटकर अपने मालिकोंसे कहा—'सरकार! निमाई पण्डित कीर्तन करते हुए इधर चले आ रहे हैं। मेरी बात किसीने नहीं सुनी।'

इस समय जगाई-मधाईका नशा उतरा हुआ था, पहरेदारके मुखसे आज्ञा न माननेकी बात सुनकर दोनों क्रोधसे भर उठे। कपड़े पहनते-पहनते ही उठकर दौड़े। लाल-लाल आँखें करके कहने लगे—'आज नदियाके इन सब वैष्णवोंका नाश कर देना है।'

भक्तगणोंने उन्हें आते देखा, परंतु आज किसीको कोई भय नहीं हुआ, कीर्तन और नृत्य अधिक उत्साहसे होने लगा। इसे जगाई-मधाईकी क्रोधाग्निमें मानो घृतकी आहुति पड़ गयी। हरिनामसे तो उनकी स्वाभाविक चिढ़ थी, दोनों भाई भक्तोंको मारने दौड़े। नित्यानन्द सबसे आगे थे; इससे सबसे पहले वे ही इनके सामने पड़े। इन लोगोंको क्रोधके आवेशमें सामने आते देखकर भी नित्यानन्दको भय या क्रोध नहीं हुआ, वरं उनकी इस दशापर निताईको बड़ी दया आयी। उनकी छाती फटने लगी। उन दोनों भाइयोंकी दुर्गति देखकर उनकी ओर देखते हुए वे रोने लगे। दीनदयार्द्रचित्त नित्यानन्द बड़ी ही करुणाभरी दृष्टिसे उनकी ओर देख-देखकर आँसू बहा रहे थे, परंतु इससे उन दोनों भाइयोंका हृदय द्रवित नहीं हुआ। उनमें नरमी नहीं आयी; प्रत्युत उनका क्रोध और भी बढ़ा। नित्यानन्दने दोनों भाइयोंको सामने आया देखकर और मधाईकी अपेक्षा जगाईका कुछ भला जानकर रोते-रोते गद्‌गद स्वरसे कहा, 'जगाई! हरि बोलो, एक बार हरिनाम उच्चारण करके मुझे खरीद लो।' नित्यानन्दके इन शब्दोंने जगाईको कुछ स्पर्श किया, वह चुप होकर खड़ा हो गया। परंतु मधाईका हृदय बहुत ही कठोर था।

अत: उसका मन नहीं पसीजा, वह क्रोधसे काँपने लगा। क्रोधान्ध मधाईको वहाँ और तो कुछ नहीं मिला, एक फूटे घड़ेका गलौबा पड़ा था, उसे उठाकर नित्यानन्दके सिरपर जोरसे दे मारा, उन्हें गहरी चोट लगी, खूनकी पिचकारी छूट गयी। नित्यानन्द हरिनाम ले-लेकर जोर-जोरसे नाचने लगे।

नित्यानन्द इसी आनन्दमें नाच रहे थे कि अब निश्चय ही इनका उद्धार हो जायगा। वे बार-बार 'गौर-गौर' पुकारने लगे। मधाई तो क्रोधमें पागल हो रहा है, एक बारकी मारसे उसे संतोष नहीं हुआ, उसने फिर घड़ेका गलौबा उठाकर मारना चाहा; पर उसी समय जगाईने उसका हाथ पकड़कर कहा—'भाई! क्या कर रहे हो? इस विदेशी संन्यासीको मारनेमें तुम्हारा कौन-सा पौरुष प्रकट होगा? और इसमें लाभ ही क्या है?'

नित्यानन्दने नाचते-नाचते कहा—'मुझे तुमने मारा, अच्छा किया, मैं मारकी चोट सह सकता हूँ; परन्तु तुम लोगोंकी, दुर्गति मुझसे नहीं सही जाती। भाई! मुझे मारनेमें कोई नुकसान नहीं है। एक बार मुखसे मधुर हरिनाम तो बोलो।'

इतनेमें एक भक्तने जाकर प्रेमोन्मत्त श्रीचैतन्यको निताईके चोट लगनेकी खबर दी; सुनते ही प्रभु दौड़कर वहाँ आ गये और निताईको पकड़ लिया। बड़े प्रेमसे प्रभुने नित्यानन्दको गोदमें बैठाया और वे अपने कपड़ेसे उनका खून पोंछने लगे। तदनन्तर उन्होंने कातर स्वरसे मधाईको सम्बोधन करके कहा—'मधाई! तूने मेरे प्राणप्यारे निताईको किसलिये मारा?' यह कहते-कहते प्रभुको क्रोध आ गया, वे दोनों भाइयोंसे कहने लगे—'अरे पापात्माओ! इतने पाप करके भी तुमलोगोंकी पाप-तृष्णा अभी शान्त नहीं हुई? अब भी पापोंसे अलग होनेकी इच्छा नहीं हुई? जीवनभर पापोंमें लगे रहकर, आज श्रीनित्यानन्दको चोट पहुँचाकर तुमलोगोंने पापकी पराकाष्ठा ही कर दी!'

जगाई-मधाईने आजतक किसीके सामने सिर नहीं झुकाया था। इस समय वे दोनों भाई अपने घरके सामने अनेक शस्त्रधारी रक्षकोंसे घिरे हुए थे। वे चाहते तो इशारेसे ही भक्तोंको मरवा सकते थे। एक तरहसे वे नवद्वीपके राजा थे। इतनेपर भी वे आज निमाई पण्डित (चैतन्य)-के ऐसे कठोर वचन चुपचाप क्यों सह रहे हैं? इसका कारण यह है कि जगाई तो पहलेसे ही नरम हो गया था, प्रभुको देखते ही मधाईमें भी इतनी शिथिलता आ गयी कि उसमें हाथ-पैर हिलानेकी शक्ति भी जाती रही। प्रभु फिर कहने लगे, 'रे पापात्माओ! नित्यानन्दने तुमलोगोंका क्या बिगाड़ा था, तुमने उन्हें क्यों मारा? इस विदेशी संन्यासीको मारते तुम्हारे मनमें तनिक-सी भी दया नहीं आयी? तुमलोगोंके और त्रिभुवनके परम सुहृद् क्रोध और अभिमानशून्य नित्यानन्दको घायल कर आज तुमलोगोंने अपने पापका घड़ा पूरा भर लिया है। अब दण्ड सहनेको तैयार हो जाओ।'

जैसे खूनी मनुष्य न्यायाधीशके सामने उसके मुँहकी ओर ताकता हुआ काँपा करता है, उसी प्रकार वे दोनों भाई आज क्या दण्ड होगा, इस बातकी चिन्ता करते हुए प्रभुके मुखकी ओर देख-देखकर काँपने लगे। उनके मनमें यह विश्वास हो गया कि हम बड़े अपराधी हैं और प्रभु हमें दण्ड देनेमें सर्वथा समर्थ हैं। इतनेमें प्रभुने उच्च स्वरसे 'चक्र, चक्र' पुकारा। यह देखकर सभी स्तम्भित हो गये। मुरारि गुप्तके शरीरमें हनुमान्‌का आवेश हुआ करता था। उसने गरजकर कहा—'प्रभु! चक्रको क्यों स्मरण करते हैं, मुझे अनुमति दें। मैं अभी इन दोनोंको यमसदन पहुँचा देता हूँ।'

यह सब देख-सुनकर नित्यानन्द अपनी चोटकी वेदना भूल गये। उन्होंने मुरारिके दोनों हाथ पकड़कर कहा—'भाई! क्षमा कर।' इतनेमें पीछेकी ओर देखा तो उन्हें दिखायी दिया मानो सुदर्शन चक्र अग्निका आकार धारण कर जगाई-मधाईकी ओर बढ़ रहा है। नित्यानन्द अत्यन्त व्याकुल होकर हाथ जोड़कर कहने लगे—'सुदर्शन! क्षमा करो। इन दोनों भाइयोंको न मारो, मैं प्रभुके चरण पकड़कर अभी इनके लिये प्राणभिक्षा लेता हूँ।' इतना कहकर वे प्रभुके चरणोंपर गिर पड़े और बोले—'प्रभो! क्या कर रहे हो, क्या सब भूल गये? इस बार तो तुम्हें किसीको दण्ड देनेका अधिकार नहीं है। अबकी बार तो भक्ति और करुणाके रसमें डुबाकर ही मलिन जीवोंका उद्धार करनेकी बात हुई थी न? जो दुष्ट हैं, उन्हींका वध करोगे तो फिर उद्धार किसका करोगे?'

नित्यानन्द इस तरह कह रहे हैं, जगाई-मधाई, भक्तगण और उपस्थित नागरिक चुपचाप देख-सुन रहे हैं। निताई फिर कहने लगे—

'प्रभो! इन दीनोंके प्राणोंकी मुझे भीख दो! मैं इन दोनों जीवोंको पाकर तुम्हारे दीनबन्धु और पतितपावन

आदि नामोंकी महिमा रखूँगा।' यह सुनकर भी श्रीचैतन्य कोमल नहीं हुए। प्रभुकी यह अवस्था देखकर नित्यानन्द फिर कहने लगे—'प्रभो! मेरे सिरमें मामूली चोट लगी थी, वह भी दैवात् लग गयी थी। जगाई-मधाई तो मुझे केवल डराना चाहते थे। मुझे मारना इनका उद्देश्य नहीं था। मैं सच कहता हूँ, मुझे जरा-सा भी दुःख नहीं हुआ। प्रभो! अब इस मायाको छोड़ो, तुम इस समय जो कुछ कर रहे हो, सो केवल मेरा गौरव और मान बढ़ानेके लिये कर रहे हो। प्रभो! मेरे मानको धूलमें मिल जाने दो। अपने अभय चरणोंमें इन दोनों महान् दुःखी जीवोंको स्थान दो!' इतना कहकर नित्यानन्द बड़े ही करुणभावसे रोने लगे।

इतना सब होनेपर भी श्रीचैतन्य नरम नहीं पड़े। तब नित्यानन्दने कहा—'प्रभो! एक बात और है, तुम इन दोनोंको तो दण्ड दे ही नहीं सकते। कारण जगाईने स्वयं मेरे प्राण बचाये हैं।' इतना सुनते ही प्रभुका कठोर भाव जाता रहा। वे कहने लगे—'हैं! क्या जगाईने तुम्हारे प्राण बचाये हैं?' निताईने कहा—'हाँ, मधाई जब दूसरी बार मुझे मारनेको तैयार हुआ तब जगाईने ही उसे समझाकर उसका हाथ पकड़कर रोक लिया था!'

प्रभुने कहा—'क्या यह सच है? इसी जगाईने मधाईका हाथ पकड़कर तुम्हें बचाया था? इसी जगाईने बचाया था? अरे जगाई! तूने ही मेरे नित्यानन्दके प्राणोंकी रक्षा की थी? तब तो मैं तेरा ही हो चुका। आ, इधर आ!' इतना कहकर श्रीचैतन्यने सबके सामने अस्पृश्य पामर सैकड़ों खून करनेवाले नराधम जगाईको जोरसे छातीसे लगा लिया। जगाईने कुछ कहना चाहा, पर जबान रुक गयी, वह बेहोश होकर जड़ कटे हुए पेड़की तरह जमीनपर गिर पड़ा!

मधाई सब कुछ देख रहा है। उसने देखा प्रभुका रुद्र रूप! फिर देखा, जगाईपर कृपा करते हुए प्रभुका सौम्य रूप! अब देखता है, अपने सारे पापोंके आधे हिस्सेदार भाई जगाईको धूलमें लोटते हुए और श्रीगौरांगके दाहिने पैरको हृदयपर रखकर उसे अश्रुजलधारासे धोते हुए! मधाईको होश हुआ और वह भी 'रक्षा करो, रक्षा करो' पुकारता हुआ महाप्रभुके चरणोंमें गिर पड़ा।

प्रभु कुछ पीछे हटकर कहने लगे—'अरे तू तो नदियाकी हुकूमतमें पागल होकर जीवोंपर अत्याचार कर रहा था, आज उस हुकूमतको भूलकर यहाँ धूलमें किसलिये लोट रहा है? क्या यह तेरी शानके अनुकूल है? क्या इसमें तुझे लज्जा नहीं आती?' मधाईने कातर-स्वरसे कहा—'प्रभो! तुम जगत्-पिता हो, यदि तुम्हीं मुझे त्याग दोगे तो मैं किसके पास जाऊँगा? हम दोनोंने साथ ही पाप किये थे। तुम दयामय हो, तुमने जगाईको अपना लिया और मुझे छोड़ दोगे? क्या यह उचित होगा?' प्रभु बोले—

'जगाई मेरा अपराधी था, उसका अपराध क्षमा करना मेरे अधिकारमें था, पर मधाई! तू तो नित्यानन्दजीका अपराधी है, भक्तद्रोहियोंको तो दण्ड ही देना उचित है।' मधाईने फिर कहा, 'प्रभो! मैंने जैसे भयानक कुकर्म किये हैं, उनको देखते क्षमा माँगनेका मेरे लिये कोई मार्ग ही नहीं रह गया है। इससे मैं तुमसे क्षमा नहीं चाहता, केवल अपने मनकी बात सरलतासे कहता हूँ। मेरे हृदयसे आशा दूर नहीं हो रही है। तुम बिलकुल त्याग दोगे। ऐसी धारणा मेरे मनमें होती ही नहीं। मुझे बतलाओ, किस उपायसे मेरा उद्धार होगा। तुम कहोगे वही करूँगा।'

प्रभु पिघल गये हैं। मनका भाव छिपाना चाहते हैं, परंतु करुणाभरी आँखें छिपाने नहीं देतीं। तथापि यथासाध्य मनके भाव छिपाकर श्रीचैतन्यने कहा—'मधाई! तुमने नित्यानन्दके शरीरसे खून बहाया, तुम उनके अपराधी हो, श्रीनित्यानन्द दयामय हैं, उनके दोनों चरण पकड़ लो। यदि वे तुम्हारा अपराध क्षमा कर देंगे तो तुम्हारा काम बन जायगा।' नित्यानन्दजी प्रभुकी इस करुण लीलाको देख-देखकर मन-ही-मन प्रफुल्लित और संकुचित हो रहे थे। प्रफुल्लता मधाईपर प्रभुकी कृपा देखकर हो रही थी और संकोच प्रभुको अपना गौरव बढ़ाते देखकर हो रहा था। मधाईने तुरंत ही संकोचसे पीछे हटते हुए नित्यानन्दजीके चरण पकड़ लिये और कहा—'प्रभो! तुम्हारे क्षमा करनेसे ही भगवान् मुझे अपने चरणोंमें स्थान देंगे।'

इतनेमें श्रीचैतन्यने नित्यानन्दका हाथ पकड़कर कहा—'श्रीपाद! तुम बड़े दयालु हो, इसके क्षमा चाहनेसे पहले ही तुम क्षमा कर चुके हो, यह सभी जानते हैं। परंतु ऐसा करना कुछ अनुचित है, क्योंकि इससे पापी अपने अपराधको कम समझने लगते हैं। अब मैं इस अधमका अपराध क्षमा करनेके लिये तुमसे विनय करता हूँ, इससे इसको यह ज्ञान होगा कि मेरा

अपराध बहुत भारी है। श्रीपाद! तुम मधाईको क्षमा करो; साधुगण अनुतप्त और चरणाश्रित व्यक्तियोंको सदासे ही क्षमा करते आये हैं। अतएव इस अधमका अपराध क्षमाकर इस बातका—साधु और पापियोंके भेदका परिचय करा दो।'

इसपर नित्यानन्दजी गद्गद होकर कहने लगे—'प्रभो! तुम मुझे उपलक्ष्यकर इन दोनों पापियोंका उद्धार करोगे; यह मैं जानता हूँ। मेरा गौरव बढ़ानेके लिये ही तुम मुझसे अनुमति चाहते हो। यही हो। मैं इसे क्षमा करता हूँ। इतना ही नहीं; यदि मैंने किसी भी जन्ममें कोई सत्कर्म किये हैं तो उन सबका पुण्य भी मैं मधाईको देता हूँ। तुम इस परम दुःखी अनुतप्त जीवको चरणोंमें आश्रय दो। तदनन्तर नित्यानन्द चरणोंमें पड़े हुए मधाईको सम्बोधन करके बोले—'रे निर्बोध! देख कृपामय प्रभुकी तुझपर पहलेसे ही कितनी कृपा है। आज तेरे लिये प्रभु मुझसे विनय कर रहे हैं। आ, आ मेरे प्यारे मधाई! तुझे छातीसे लगाऊँ।' इतना कहकर नित्यानन्दने मधाईको उठाकर हृदयसे लगा लिया; परंतु मधाई तुरंत ही बेहोश होकर जगाईके पास गिर पड़ा। दोनों भाई धूलमें पड़े हैं, आँखें खुली हुई हैं। उनमेंसे कुछ-कुछ आँसू निकल रहे हैं। बाह्यज्ञान बिलकुल नहीं है। समस्त अंग शिथिल हो रहे हैं। भक्तगण 'हरि बोल', 'हरि बोल' की ध्वनि करते हुए दोनोंको घेरकर नाचने लगे।

उस समय नवद्वीपमें इतना कोलाहल मचा कि भक्त, अभक्त सभी विह्वल हो गये। जगाई-मधाईको इसी अवस्थामें छोड़कर श्रीचैतन्यदेव भक्तोंसहित घर लौट गये। थकावट मिटानेके लिये भक्तगण इधर-उधर जा बैठे। इस अद्‌भुत घटनाको देखकर सभी प्रेमानन्दमें निमग्न हो रहे थे। संध्या हो गयी थी। इतनेमें ही बाहरसे पुकार सुनायी दी—'प्रभो! प्रभो!' पता लगानेपर मालूम हुआ कि जगाई-मधाई दरवाजेपर खड़े पुकार रहे हैं। प्रभुने मुरारिको उन्हें लानेके लिये बाहर भेजा। मुरारि वीरकी तरह दोनों भाइयोंको पीठपर उठा लाया। अंदर आते ही दोनों सूखे काठकी तरह सीधे गिर पड़े। तब प्रभुने नित्यानन्दजीसे कहा—'श्रीपाद! दोनोंको गंगातटपर ले जाकर कानोंमें श्रीहरिनाम दो।' इतना कहकर भक्तोंके साथ प्रभु चल पड़े। जगाई-मधाई बेहोश थे। अतएव मुर्देकी तरह उन्हें उठाकर भक्तगण कीर्तन करते हुए निकले। ले जाकर घाटपर लिटा दिया। जगाई-मधाईकी इस दशाको देखनेके लिये नगर उलट पड़ा। कुछ समय पहले जो नदियाके राजा थे, जो चाहते सो कर सकते थे, वे ही दोर्दण्ड प्रतापशाली राजबन्धु आज दीनकी तरह धूलमें पड़े हैं!

श्रीचैतन्यने वज्रगम्भीर स्वरसे कहा, 'श्रीपाद! ये दोनों जीव मैं आपको सौंपता हूँ, आप इन्हें गंगास्नान करवाकर हरिनाम प्रदान करें।' नित्यानन्द दोनों भाइयोंको पुकारकर कहने लगे—'आओ, मेरे प्यारे जगाई-मधाई! मुझे मारा, बहुत ही अच्छा किया; आओ, आज 'हरि बोल' बोलो और नाचो। तुम्हारे प्रहारका दण्ड यह हरिनाम ही है।' जगाई-मधाई अभीतक बेहोश थे। भक्तोंने महान् आनन्दसे दोनोंको कंधोंपर उठाया। जब दोनों भाइयोंको भक्तगण जलके अंदर ले गये, तब उन्हें होश हुआ। सभीने गंगामें स्नान किया।

गंगातटपर भीड़ लग रही है। हजारों नर-नारी कौतुक देख रहे हैं। चाँदनी रात है, अतएव दीखनेमें कोई बाधा नहीं है। भक्तोंके बीचमें श्रीगौरांग और जगाई-मधाई खड़े हैं। जगाई-मधाईके हाथमें तुलसी दी गयी। महाप्रभुने कहा—'भाई माधव! भाई जगन्नाथ! मुझे एक चीज देनी पड़ेगी। देनेकी प्रतिज्ञा करो।' जगाई-मधाई तो प्राण देनेको प्रस्तुत थे, उन्होंने कहा—'प्रभो जो इच्छा हो सो ले सकते हो!' यह सुनकर प्रभु बोले—'भाई! तुमलोगोंने अबतक जितने पाप किये हैं, वे सब ताम्र, तुलसी और गंगाजल हाथमें लेकर मुझे दान कर दो। तुमलोग निष्पाप और निर्मल हो जाओ!' इतना कहकर महाप्रभुने सबके सामने पाप ग्रहण करनेके लिये हाथ बढ़ा दिया।

इस बातको सुनकर जगाई-मधाईको जो मार्मिक पीड़ा हुई सो अकथनीय है। वे अत्यन्त कातर हो गये। उन्होंने प्रभुके करुणमुखकी ओर देखकर कहा—'भक्त तो तुम्हारे चरणोंपर पुष्प-चन्दन चढ़ाते हैं और हम दोनों भाई—पापात्मा, नीच तुम्हारे हाथोंमें पाप-दान करें? प्रभो? यह नहीं होगा। हमने अपराध किये हैं, बड़ी खुशीसे दण्ड भोगेंगे। तुम केवल इतनी ही कृपा करो कि पापोंके निमित्त चाहे जितना कष्ट सहते समय भी तुम्हारे श्रीचरणोंकी विस्मृति न हो। हम तुम्हें पाप नहीं दे सकते।'

प्रभुने उनकी बातोंका कुछ भी उत्तर न देकर

केवल यही कहा, 'जगाई-मधाई! तुम्हारे पाप मुझे देकर तुमलोग सुखपूर्वक हरिनाम लो।' जगाई-मधाईने बार-बार क्षमा माँगी, पाप देनेसे सर्वथा इनकार किया। परंतु अन्तमें महाप्रभु और श्रीनित्यानन्दजीके आग्रहसे उन्हें बाध्य होकर पापोंका दान करना पड़ा। नित्यानन्दजीने संकल्पका मन्त्र पढ़ा, प्रभुने दान लेकर गम्भीर स्वरसे कहा—'तुमलोगोंके पाप मैंने ग्रहण किये।'

अन्तरंग भक्तोंने देखा प्रभुके स्वर्ण-वर्णपर कुछ कालिमा-सी आ गयी!

तदनन्तर स्नान करके सब घर लौट आये। रातभर नृत्य-कीर्तन होता रहा। तबसे जगाई-मधाई घर नहीं गये। वे अनशन करने लगे, उनके दैन्यको देखकर भक्तोंको बड़ा दुःख होने लगा।

जगाई-मधाई गंगाके तीरपर जा बैठे। फटा-मैला कपड़ा पहन रखा है; उपवास, क्रन्दन और नींदसे शरीर दुर्बल हो गया है। दो लाख नामजप प्रतिदिनका नियम है। जो कोई घाटपर आता है, मधाई उठकर उसीके चरणों पड़ता और कातर स्वरसे रो-रोकर कहता है—'आप कृपा करके मेरा उद्धार करें। मैंने जानमें-अनजानमें आपको कोई दुःख दिया है उसके लिये आप मुझ दीनको क्षमा करें।'

बालक-वृद्ध, नर-नारी, ब्राह्मण-चाण्डाल सभीके चरणोंमें पड़कर रोते हुए क्षमा-प्रार्थना करना और नामजप करते रहना—यही उनकी जीवनचर्या है।

मधाईने अपने हाथों एक घाट बनाया था, वह नवद्वीपमें अब भी मधाईके घाटके नामसे प्रसिद्ध है। मधाईके वंशज अभी हैं, वे श्रोत्रिय ब्राह्मण और परम वैष्णव हैं।

हरिनामका महत्त्व

प्रभु श्रीचैतन्यदेव नीलाचल चले जा रहे हैं, प्रेममें प्रमत्त हैं, शरीरकी सुध नहीं है, प्रेममदमें मतवाले हुए नाचते चले जा रहे हैं, भक्त-मण्डली साथ है। रास्तेमें एक तरफ एक धोबी कपड़े धो रहा है। प्रभुको अकस्मात् चेत हो गया, वे धोबीकी ओर चले! भक्तगण भी पीछे-पीछे जाने लगे। धोबीने एक बार आँख घुमाकर उनकी ओर देखा फिर चुपचाप अपने कपड़े धोने लगा। प्रभु एकदम उसके निकट चले गये। श्रीचैतन्यके मनका भाव भक्तगण नहीं समझ सके। धोबी भी सोचने लगा कि क्या बात है? इतनेमें ही श्रीचैतन्यने धोबीसे कहा—'भाई धोबी एक बार हरि बोलो।' धोबीने सोचा, साधू भीख माँगने आये हैं। उसने 'हरि बोलो' प्रभुकी इस आज्ञापर कुछ भी खयाल न करके सरलतासे कहा—'महाराज! मैं बहुत ही गरीब आदमी हूँ। मैं कुछ भी भीख नहीं दे सकता।'

प्रभुने कहा—'धोबी! तुमको कुछ भी भीख नहीं देनी पड़ेगी। सिर्फ एक बार 'हरि बोलो!' धोबीने मनमें सोचा, साधुओंका जरूर ही इसमें कोई मतलब है, नहीं तो मुझे 'हरि' बोलनेको क्यों कहते? इसलिये हरि न बोलना ही ठीक है। उसने नीचा मुँह किये कपड़े धोते-धोते ही कहा—'महाराज! मेरे बाल-बच्चे हैं, मजूरी करके उनका पेट भरता हूँ। मैं हरिबोला बन जाऊँगा तो मेरे बाल-बच्चे अन्न बिना मर जायँगे।'

प्रभुने कहा—'भाई! तुझे हमलोगोंको कुछ देना नहीं पड़ेगा, सिर्फ एक बार मुँहसे हरि बोलो। हरिनाम लेनेमें न तो कोई खर्च लगता है और न किसी काममें बाधा आती है। फिर हरि क्यों नहीं बोलते, एक बार हरि बोलो भाई।'

धोबीने सोचा अच्छी आफत आयी, यह साधु क्या चाहते हैं? न मालूम क्या हो जाय? मेरे लिये हरिनाम न लेना ही अच्छा है। यह निश्चय करके उसने कहा—'महाराज! तुमलोगोंको कुछ काम-काज तो है नहीं, इससे सभी कुछ कर सकते हो। हम गरीब आदमी मेहनत करके पेट भरते हैं। बताइये, मैं कपड़े धोऊँ या हरिनाम लूँ।'

प्रभुने कहा—'धोबी! यदि तुम दोनों काम एक साथ न कर सको तो तुम्हारे कपड़े मुझे दो। मैं कपड़े धोता हूँ। तुम हरि बोलो।'

इस बातको सुनकर भक्तोंको और धोबीको बड़ा आश्चर्य हुआ। अब धोबीने देखा इस साधुसे तो पिण्ड छूटना बड़ा ही कठिन है। क्या किया जाय जो भाग्यमें होगा वही होगा—यह सोचकर प्रभुकी ओर देखकर धोबी कहने लगा—'साधू महाराज! तुम्हें कपड़े तो नहीं धोने पड़ेंगे? जल्दी बतलाओ, मुझे क्या बोलना पड़ेगा,

मैं वही बोलता हूँ' अबतक धोबीने मुख ऊपरकी ओर नहीं किया था। अबकी बार उसने कपड़े धोने छोड़कर प्रभुकी ओर देखते हुए उपर्युक्त शब्द कहे।

धोबीने देखा साधु करुणाभरी दृष्टिसे उसकी ओर देख रहे हैं और उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है। यह देखकर धोबी मुग्ध-सा होकर बोला, 'कहो महाराज! मैं क्या बोलूँ।' प्रभुने कहा—'भाई! बोलो 'हरि बोल'।'

धोबी बोला। प्रभुने कहा—धोबी! फिर 'हरि बोल' बोलो, धोबीने फिर कहा—हरि बोल। इस प्रकार धोबीने प्रभुके अनुरोधसे दो बार 'हरि बोल', 'हरि बोल' कहा। तदनन्तर वह अपने आपेमें नहीं रहा और विह्वल हो उठा। बिलकुल इच्छा न होनेपर भी वह ग्रहग्रस्तकी तरह अपने-आप ही 'हरि बोल', 'हरि बोल' पुकारने लगा। ज्यों-ज्यों हरि बोल पुकारता है, त्यों-त्यों विह्वलता बढ़ रही है। पुकारते-पुकारते अन्तमें वह बिलकुल बेहोश हो गया। आँखोंसे हजारों-लाखों धाराएँ बहने लगीं। वह दोनों भुजाएँ ऊपरको उठाकर 'हरि बोल', 'हरि बोल' पुकारता हुआ नाचने लगा।

भक्तगण आश्चर्यचकित होकर देखने लगे। अब प्रभु नहीं ठहरे। उनका कार्य हो गया। इसलिये वे वहाँसे जल्दीसे चले। भक्तगण भी साथ हो लिये। थोड़ी-सी दूर जाकर प्रभु बैठ गये। भक्तगण दूरसे धोबीका तमाशा देखने लगे। धोबी भाव बता-बताकर नाच रहा है। प्रभुके चले जानेका उसे पता नहीं है। उसकी बाह्य दृष्टि लुप्त हो चुकी है। भाग्यवान् धोबी अपने हृदयमें गौर-रूपका दर्शन कर रहा है।

भक्तोंने समझा धोबी मानो एक यन्त्र है। प्रभु उसकी कल दबाकर चले आये हैं और वह उसी कलसे हरि बोल पुकारता हुआ नाच रहा है।

भक्त चुपचाप देख रहे हैं। थोड़ी देर बाद धोबिन घरसे रोटी लायी। कुछ देरतक तो उसने दूरसे खड़े-खड़े पतिका रंग देखा, पर फिर कुछ भी न समझकर हँसी उड़ानेके भावसे उसने कहा—'यह क्या हो रहा है? यह नाचना कबसे सीख लिया?' धोबीने कोई उत्तर नहीं दिया। वह उसी तरह दोनों हाथोंको उठाये हुए घूम-घूमकर भाव दिखाता हुआ 'हरि बोल' पुकारने और नाचने लगा। धोबिनने समझा पतिको होश नहीं है। उसको कुछ-न-कुछ हो गया है। वह डर गयी और चिल्लाती हुई गाँवकी तरफ दौड़ी तथा लोगोंको बुलाने और पुकारने लगी। धोबिनका रोना और पुकारना सुनकर गाँवके लोग इकट्ठे हो गये। धोबिनने डरते-डरते उनसे कहा कि 'मेरे मालिकको भूत लग गया है।' दिनमें भूतका डर नहीं लगा करता, इसलिये गाँवके लोग धोबिनको साथ लेकर धोबीके पास आये। उन्होंने देखा धोबी बेहोशीमें घूम-घूमकर इधर-उधर नाच रहा है। उसके मुखसे लार टपक रही है। उसको इस अवस्थामें देखकर पहले तो किसीका भी उसके पास जानेका साहस नहीं हुआ। शेषमें एक भाग्यवान् पुरुषने जाकर उसको पकड़ा। धोबीको कुछ होश हुआ और उसने बड़े आनन्दसे उस पुरुषको छातीसे लगा लिया। बस, छातीसे लगनेकी देर थी कि वह भी उसी तरह 'हरि बोल' कहकर नाचने लगा। अब वहाँ दोनोंने नाचना शुरू कर दिया। एक तीसरा गया, उसकी भी यही दशा हुई। इसी प्रकार चौथे और पाँचवें क्रम-क्रमसे सभीपर यह भूत सवार हो गया। यहाँतक कि धोबिन भी इसी प्रेममदमें मतवाली हो गयी। प्रेमकी मन्दाकिनी बह चली, हरिनामकी पवित्र ध्वनिसे आकाश गूँज उठा, समूचा गाँव पवित्र हो गया।

श्रीविष्णुप्रियाजीको पादुका-दान

श्रीगौरांगदेव संन्यासके बाद घर आ रहे हैं, परसों वे नवद्वीप पहुँचेंगे, माता शची और गौरांगप्रिया देवी श्रीविष्णुप्रिया इस बातको जानती हैं। श्रीविष्णुप्रिया दिन गिनती हैं। वे कभी-कभी प्रेमावेशमें इस बातको भूल जाती हैं कि 'श्रीगौरांग इस समय संन्यासी हैं, उनका अब मुझसे पति-पत्नीका कोई सम्बन्ध नहीं रहा।' वे सोचती हैं, मानो स्वामी परदेशसे घर लौट रहे हैं, इसीसे पल-पलमें उन्हें स्मरणकर वे व्याकुल हो रही हैं।

प्रभु कुलिया पधारे हैं, बीचमें नदी है। संन्यासीको एक बार जन्मभूमिमें जाना चाहिये। इसीलिये वे नवद्वीप आ गये, लाखों लोगोंकी भीड़ साथ है, शहरभरमें कोलाहल मच रहा है, सभी देखनेको दौड़ते हैं। स्त्रियाँ

अटारियों और छतोंपर खड़ी होकर यह अभूतपूर्व दृश्य देख रही हैं। प्रभु खड़ाऊँ पहने घाटपर उतरे और चिरपरिचित स्थानोंको देखते हुए आगे बढ़े!

प्रभुका घर आ गया, वे घरके सामने वहीं खड़े हो गये, जहाँ छः वर्ष पहले गयाके गदाधरके चरणकमलोंका वर्णन करते हुए मूर्च्छित होकर गिर पड़े थे! माता शचीसे तो पहले भी भेंट हो गयी थी, परंतु श्रीविष्णुप्रियाजीका संन्यासके बाद पति-मुख-दर्शनका यह पहला ही अवसर है। विष्णुप्रिया सोचती हैं—'प्रभु तो अब केवल मेरे स्वामी ही नहीं हैं, उन्होंने तो जगत्‌भरके दु:खियोंका दु:ख दूर करनेका ठेका लिया है। वे तो अब सबकी सम्पत्ति हैं, जैसा उनसे सबका सम्बन्ध है, वैसा ही मेरा भी है। फिर मैं उनपर अपना अधिकार विशेष क्यों समझूँ? पर क्या करूँ, मन नहीं मानता, उनके आनेके समाचारसे ही चित्तमें जो भाव-तरंगें उठीं और जिन्होंने कई बार मनमें ऐसा भाव उत्पन्न कर दिया कि एक बार वे आ जायँ। उनके चरण पकड़कर धरना दूँगी, अपने हृदयके प्रेम-सिन्धुकी मर्यादा तोड़कर उसके प्रबल प्लावनमें सारे नवद्वीपके स्त्री-पुरुषोंके साथ ही उनको भी बहा दूँगी। वे मेरे हैं, मेरे हृदयके धन हैं, क्या मेरी अवहेलना करेंगे? पर आज सोचती हूँ, मेरा हृदय तो उन्हें अर्पित है, उनके सुखमें ही मुझे परम सुख है, जीवोंकी बड़ी ही बुरी दशा है, उनके उद्धारके लिये ही प्रभुने मेरा त्याग किया है। पतितोंको पावन करनेवाली प्रभुकी इस विशाल भावधारामें क्या मुझे कभी आपत्ति करनी चाहिये? नहीं, नहीं! मेरे स्वामी! जगत्‌के कल्याणके लिये तुम जो कुछ कर रहे हो, उसीमें मुझे बड़ी प्रसन्नता है, मेरे त्यागसे तुम्हारे जगत्-उद्धारके कार्यमें लाभ पहुँचता है, यही मेरे लिये बड़ा गौरव है, परंतु नाथ! क्या मेरा उद्धार नहीं होगा? क्या मैं इसके लिये पात्र नहीं हूँ?' इस तरह श्रीविष्णुप्रियाके मनमें अनेक तरंगें उठ रही हैं और उसे प्रभु-दर्शनके लिये व्याकुल कर रही हैं। इस समयकी श्रीविष्णुप्रियाके मनकी दशाका पता उन्हींको है, दूसरा कोई उसका अनुमान नहीं कर सकता।

परंतु श्रीविष्णुप्रिया क्या गौरांगके पास जायँगी? प्रभु तो स्त्रीको देखते ही दूर हट जाते हैं, प्रभु उससे क्यों बोलेंगे। फिर जहाँ लाखोंकी भीड़ है, वहाँ एक कुलकामिनी सबके सामने कैसे जा सकती है? उन्नीस सालकी तरुण अवस्था है, कभी घरसे बाहर नहीं निकलीं, आज कैसे बाहर जायँ? श्रीविष्णुप्रियाको अभी बाह्यज्ञान है, वे यह सब सोचती हैं पर कुछ निश्चय नहीं कर पातीं। आड़में खड़ी होकर पतिमुख-दर्शनकी चेष्टा करने लगीं, पर नहीं कर सकीं। मनमें प्रबल इच्छा थी कि एक बार सदाके लिये जी भरकर देख लूँ, पर कैसे बाहर जायँ? फिर सोचा, 'स्त्रीके लिये जो स्वामी इस लोक और परलोकका एकमात्र आश्रय है, उसके चरणोंमें जाते लोक-लाज कैसी?' यों सोचते-सोचते उनका बाह्यज्ञान जाता रहा, उसी समय उसी मैली साड़ीसे सिरसे पैरतक सारा बदन ढककर श्रीविष्णुप्रिया दौड़ीं और घरसे बाहर राज्यपथमें खड़े हुए प्रभुके चरणोंमें—'हा प्रभु!' पुकारती हुई गिर पड़ीं। अश्रुधारासे सारा बदन भींग गया, प्रभुके चरणकमल प्रेमाश्रुधाराके पुनीत जलसे धुलने लगे!

प्रभुने किसी स्त्रीको पड़ी हुई देखा और 'तुम कौन हो?' कहकर पीछे हट गये। किसीने भी प्रभुके प्रश्नका उत्तर नहीं दिया। इस दृश्यको देखकर लोगोंका हृदय भर आया। महाप्रभु चरणोंमें पड़ी हुई मलिनवस्त्रा युवतीकी ओर देखने लगे।

जब लोगोंने कोई जवाब नहीं दिया तब श्रीमतीने गद्‌गदकण्ठसे कहा—'नाथ! मैं तुम्हारी दासियोंकी दासी हूँ।' प्रभु समझ गये कि श्रीविष्णुप्रिया हैं। प्रभुके मुखपर भी क्षणभरके लिये उदासीकी रेखा झलकने लगी। प्रभुने कहा—'तुम क्या चाहती हो?' श्रीविष्णुप्रिया बोलीं, 'प्रभो! तुम सारे संसारका उद्धार कर रहे हो, तब क्या तुम्हारी यह दासी विष्णुप्रिया ही भवकूपमें पड़ी रहेगी?'

इतना सुनते ही चारों ओरसे क्रन्दनकी ध्वनि उठी, करुणाका समुद्र उमड़ पड़ा, छोटे-बड़े सभी पुकार-पुकारकर रोने लगे! उस समय आँसू नहीं थे केवल प्रभुकी और प्रभुकी योग्य पत्नी पतिपरायणा विष्णुप्रियाकी आँखोंमें! प्रभुने सिर नीचा करके धीरेसे कहा—'तुम विष्णुप्रिया हो, अपना नाम सार्थक करो, तुम श्रीकृष्णकी प्रिया बनो।'

श्रीविष्णुप्रिया बोलीं—'मैं तुम्हें छोड़कर श्रीकृष्णको नहीं देख सकती! प्रभु कुछ क्षणोंतक चुपचाप खड़े रहे; फिर दोनों चरणोंसे खड़ाऊँ निकालकर बोले—'साध्वी!

मैं संन्यासी हूँ, तुम्हें देनेको मेरे पास कुछ भी नहीं है। यह मेरी खड़ाऊँ लो और इन्हींसे अपने विरहको शान्त करो।' श्रीविष्णुप्रियाने खड़ाऊँको प्रणाम किया, उन्हें मस्तकपर रख लिया और फिर उन्हें चूमकर हृदयसे लगा लिया। लाखों लोग गद्गदकण्ठसे 'हरि-हरि' पुकार उठे!

भक्तको दुःख नहीं होता

नदियाके पण्डित श्रीवास श्रीगौरांगके बड़े भक्त थे, गौरांग महाप्रभु बीच-बीचमें श्रीवासके घरपर कीर्तन करने जाते। इसी तरह एक दिन कीर्तनके लिये गौरांग उनके घर गये। श्रीवासके आँगनमें सैकड़ों भक्त आनन्द-मत्त होकर कीर्तन कर रहे थे। गौरांगको देखकर भक्तोंके आनन्दकी मात्रा सीमाको पहुँच गयी, उनका बाह्यज्ञान जाता रहा। श्रीवासके आनन्दकी तो कोई सीमा नहीं है; क्योंकि उसीके आँगनमें हरिसंकीर्तन हो रहा है। इतनेमें ही भीतरसे एक दासी घबराती हुई आयी और श्रीवासको बुलाकर अंदर ले गयी।

श्रीवासका इकलौता बालक पुत्र बीमार है, बीमारी बढ़ गयी है, घरमें बालककी माता और अन्यान्य स्त्रियाँ बालककी सेवामें लगी हुई थीं और श्रीवास निश्चिन्त मनसे बाहर नाच रहे थे। उनको मरणासन्न पुत्रकी कोई चिन्ता नहीं है, वे जानते हैं कि प्रभु जो कुछ करते हैं हमारे मंगलके लिये करते हैं। जो सब जीवोंकी एकमात्र गति हैं, उन्हींका नाम-संकीर्तन हो रहा है और भक्तगण आनन्दमें डूबे हुए नृत्य कर रहे हैं, इस आनन्दमें चिन्ता कैसी?

दासीके साथ श्रीवासने अंदर पहुँचकर देखा बालकका अन्तसमय उपस्थित है। पिताने बड़े प्रेमसे भगवान्का तारकब्रह्म* मन्त्र उसे सुनाया। पुत्रको मृत्युमुखमें जाते देखकर उसकी माता तथा दूसरी स्त्रियोंकी आँखोंसे आँसू बहने लगे। श्रीवासने कहा—'जिसके नाम-श्रवणमात्रसे महापापी भी परम धामको चला जाता है, वही स्वयं भगवान् आज तुम्हारे आँगनमें नाच रहे हैं, तुम्हारे इस पुत्रके सौभाग्यके लिये ब्रह्मातक तरसते हैं, यदि पुत्रपर तुम्हारा वास्तविक स्नेह है तो उसकी ऐसी दुर्लभ मृत्युके लिये आनन्द मनाओ। यह बड़ी ही शुभ घड़ीमें जन्मा था, तभी तो आज भगवान्के सामने उनका नामकीर्तन सुनते-सुनते इसने प्राण त्याग किये हैं। मेरा मन तो आज आनन्दसे उछल रहा है। यदि तुमलोग किसी तरह भी अपने मनको शान्त कर सकती तो बड़ा लाभ होता। अब कम-से-कम जबतक कीर्तन होता है, तबतक तो चुपचाप रहो। कहीं बीचमें रो उठोगी तो कीर्तन भंग हो जायगा।'

ब्राह्मणीने पतिके वचन मानकर दुःसह पुत्रशोकके आँसुओंको किसी तरह रोक लिया और दूसरी स्त्रियोंके साथ वह पुत्रकी लाशके पास बैठकर हरिनाम-चिन्तन करने लगी। धन्य!

श्रीवास पुत्रशवको जमीनपर लिटाकर प्रफुल्लित मन और खिले हुए मुखकमलसे बाहर लौट आये और दोनों भुजा उठाकर 'हरि बोल, हरि बोल' की तुमुल ध्वनि करके नाचने लगे। किसीको भी इस घटनाका पता नहीं लगा। इस समय रातके आठ बजे थे।

नृत्य-कीर्तनमें ढाई पहर रात बीत गयी। किसी तरह एक भक्तको यह बात मालूम हो गयी, उसने दूसरेसे कहा, क्रमशः बात फैल गयी, जो सुनता वही नाचना छोड़कर श्रीवासकी ओर देखने लगता। श्रीवास उसी महानन्दमें नाच रहे हैं। श्रीवासने दिखला दिया कि भक्तको सांसारिक पदार्थोंके वियोगमें कोई दुःख नहीं होता। वह जिस आनन्द-सिन्धुमें निमग्न रहता है, उसके सामने जगत्का बड़े-से-बड़ा दुःख भी तुच्छ—नगण्य प्रतीत होता है **'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।'**

भक्तोंकी दृष्टिमें जगत् भगवान्की लीलामात्र है, बाजीगरके नित्य साथी—उसकी प्रत्येक क्रीड़ाका मर्म समझनेवाले टहलुएकी भाँति वे भगवान्की सभी लीलाओंमें हर्षित होते हैं, मृत्यु उनकी दृष्टिमें कोई पदार्थ ही नहीं रहता। इसी सुखमें आज श्रीवासका नृत्य भी बंद नहीं हुआ। परंतु भक्तोंमें इस बातके फैल जानेसे उन्होंने कीर्तन रोक दिया, मृदंग और करतालकी

* हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
यही तारक-मन्त्र है।

ध्वनि बंद हो गयी। महाप्रभु गौरांगदेवको भी बाह्यज्ञान हो गया, वे भक्तोंकी ओर देखकर कहने लगे—'भाइयो! क्या हुआ? मेरे हृदयमें रोना क्यों आता है?' फिर श्रीवासकी ओर मुख फिराकर प्रभु बोले—'पण्डित! तुम्हारे घरमें कोई दुर्घटना तो नहीं हो गयी? मेरे प्राण क्यों रो रहे हैं?' श्रीवासने मुसकराते हुए कहा, 'प्रभो! जहाँ तुम उपस्थित हो, वहाँ दुर्घटना क्यों होने लगी?' प्रभुने इस बातपर विश्वास नहीं किया। वे भक्तोंसे पूछने लगे। पर किसीसे भी सहजमें यह दुःखद संवाद कहते नहीं बना। अन्तमें एक भक्तने कहा—'प्रभो! श्रीवासका पुत्र जाता रहा।' प्रभुने कहा—'कब? कितनी देर हुई?' भक्तोंने कहा—'रातको आठ बजे यह घटना हुई थी। इस समय करीब दो बज गये हैं।' यह सुनकर श्रीगौरांग श्रीवासकी ओर देखने लगे, श्रीवासका मुख महान् आनन्दसे उल्लसित हो रहा है। महाप्रभु श्रीवासका यह भाव देखकर बहुत प्रसन्न हुए, उन्होंने कहा—

'धन्य, धन्य श्रीवास! आज तुमने श्रीकृष्णको खरीद लिया।'

महाप्रभुका हृदय द्रवित हो गया, नेत्रोंसे अश्रुधारा बहने लगी। प्रभुकी आँखोंमें आँसू देखकर श्रीवासने कहा—'प्रभो! मैं पुत्रशोक सहन कर सकता हूँ; परंतु तुम्हारे नेत्रोंमें जल नहीं देख सकता, तुम शान्त होओ, मुझे कोई दुःख नहीं है—दुःखकी सम्भावना भी नहीं है।'

भक्तोंने मृत बालककी लाशको बाहर लाकर आँगनमें सुला दिया, महाप्रभु उसके पास जाकर उसे जीवितकी तरह पूछने लगे, प्रभुके प्रश्न करते ही मृतदेहमें प्राणोंका संचार हो गया। बालक बोलने लगा। इस आश्चर्य-घटनासे सभी लोग चकित हो गये। बालकने कहा—'प्रभो! इस जगत्‌में मेरा काम पूरा हो गया, अब मैं इससे बहुत अच्छी जगह जा रहा हूँ, आप कृपा करें, जिससे भगवत्-चरणोंमें मेरी मति हो।' इसके बाद ही शरीर पुनः निर्जीव हो गया। पुत्रकी बोली सुनकर माताका शोक कुछ कम हुआ, महाप्रभुके समझानेसे सभी शोक भूल गये। प्रभु कहने लगे—'श्रीवास! जब संसारमें आये हो, तब तुम्हें भी सांसारिक नियमोंके अधीन ही रहना होगा। परंतु दूसरे लोग इसके कठिन नियमोंको क्लेशसे सहते हैं, तुम क्लेशसे मुक्त हो। पर यह न समझो कि तुम्हारा पुत्र जाता रहा है, उस एकके बदलेमें श्रीनित्यानन्द और मुझको—दोनोंको तुम अपने पुत्र समझो!'

प्रभुके इन वचनोंसे श्रीवास और उनकी पत्नीका हृदय आनन्दसे भर गया। वे गद्‌गद होकर हरिध्वनि करने लगे। भक्तगण मृतदेहको संस्कारके लिये ले गये। सबका शोक-दुःख जाता रहा।

पुरुषोत्तम-मासके नियम

पुरुषोत्तम-मासका दूसरा नाम मलमास है। 'मल' कहते हैं पापको और 'पुरुषोत्तम' नाम है भगवान्‌का। इसलिये हमें इसका अर्थ यों लगाना चाहिये कि पापोंको छोड़कर भगवान् पुरुषोत्तममें प्रेम करें और वह ऐसा करें कि इस एक महीनेका प्रेम अनन्त कालके लिये चिरस्थायी हो जाय। भगवान्‌में प्रेम करना ही तो जीवनका परम पुरुषार्थ है, इसीके लिये तो हमें दुर्लभ मनुष्य-जीवन और सदसद्विवेक प्राप्त हुआ है। हमारे ऋषियोंने पर्वों और शुभ दिनोंकी रचना कर उस विवेकको निरन्तर जाग्रत् रखनेके लिये सुलभ साधन बना दिया है, इसपर भी यदि हम न चेतें तो हमारी बड़ी भूल है।

इस पुरुषोत्तम-मासमें परमात्माका प्रेम प्राप्त करनेके लिये यदि सभी नर-नारी निम्नलिखित नियमोंको महीनेभरतक सावधानीके साथ पालें तो उन्हें बहुत कुछ लाभ होनेकी सम्भावना है।

१-प्रातःकाल सूर्योदयसे पहले उठें।

२-गीताके पुरुषोत्तम-योग नामक पंद्रहवें अध्यायका प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक पाठ करें। श्रीमद्भागवतका पाठ करें, सुनें।

३-स्त्री-पुरुष दोनों एक मतसे महीनेभरतक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करें। जमीनपर सोवें।

४-प्रतिदिन घंटेभर किसी भी नियत समयपर मौन रहकर अपनी-अपनी रुचि और विश्वासके अनुसार भगवान्‌का भजन करें।

५-जान-बूझकर झूठ न बोलें। किसीकी निन्दा न करें।

६-भोजन और वस्त्रोंमें जहाँतक बन सके, पूरी शुद्धि और सादगी बरतें। पत्तेपर भोजन करें, भोजनमें हविष्यान्न ही खायँ।

७-माता, पिता, गुरु, स्वामी आदि बड़ोंके चरणोंमें प्रतिदिन प्रणाम करें। भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी पूजा करें।

पुरुषोत्तम-मासमें दान देनेका और त्याग करनेका बड़ा महत्त्व माना गया है, इसलिये जहाँतक बन सके, जिसके पास जो चीज हो, वही योग्य पात्रके प्रति दान देकर परमात्माकी सेवा करनी चाहिये। त्याग करनेमें तो पापोंका त्याग ही सबसे पहले करना है। जो भाई या बहिन हिम्मत करके कर सकें, वे जीवनभरके लिये झूठ, क्रोध और दूसरोंकी जान-बूझकर बुराई करना छोड़ दें।

जीवनभरका व्रत लेनेकी हिम्मत न हो सके तो जितने अधिक दिनोंका ले सकें, उतना ही लें। परंतु जो भाई-बहिन दिलकी कमजोरी, इन्द्रियोंकी आसक्ति, बुरी संगति अथवा बिगड़ी हुई आदतके कारण मांस, मद्य खाते-पीते हैं और पर-स्त्री और पर-पुरुषसे अनुचित सम्बन्ध रखते हैं, उनसे तो हम हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हैं कि वे इन बुराइयोंको सदाके लिये छोड़कर दयामय प्रभुसे अबतककी भूलके लिये क्षमा माँगें।

जो भाई-बहिन ऊपर लिखे सातों नियम जीवनभर पाल सकें, पालनेकी चेष्टा करें; कम-से-कम चातुर्मास, नहीं तो पुरुषोत्तम-महीनेभर तो जरूर ही पालें और भविष्यमें सदा पालनेके लिये अपनेको तैयार करें। अपनी कमजोरी देखकर निराश न हों, दयाके सागर परम सुहृद् भगवान्का आश्रय लेनेसे असम्भव ही सम्भव हो जाता है।*

श्रीरामनवमी

श्रीरामनवमी सारे जगत्के लिये सौभाग्यका दिन है; क्योंकि अखिल विश्वपति सच्चिदानन्दघन श्रीभगवान् इसी दिन दुर्दान्त रावणके अत्याचारसे पीडित पृथ्वीको सुखी करने और सनातन-धर्मकी मर्यादा-स्थापन करनेके लिये मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके रूपमें प्रकट हुए थे। श्रीराम केवल हिंदुओंके ही 'राम' नहीं हैं, वे अखिल विश्वके प्राणाराम हैं। भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्णको केवल हिंदूजातिकी सम्पत्ति मानना उनके गुणोंको घटाना है, असीमको सीमाबद्ध करना है। विश्वचराचरमें आत्मरूपसे नित्य रमण करनेवाले और स्वयं ही विश्व-चराचरके रूपमें प्रतिभासित सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी सर्वरूप नारायण किसी एक देश या व्यक्तिकी ही वस्तु कैसे हो सकते हैं? वे सबके हैं, सबमें हैं, सबके साथ सदा संयुक्त हैं और सर्वमय हैं। जो कोई भी जीव उनकी आदर्श मर्यादा-लीला—उनके पुण्यचरित्रका श्रद्धापूर्वक गान, श्रवण और अनुकरण करता है, वही पवित्र-हृदय होकर परम सुखको प्राप्त कर सकता है। श्रीरामके समान आदर्श पुरुष, आदर्श धर्मात्मा, आदर्श नरपति, आदर्श मित्र, आदर्श भाई, आदर्श पुत्र, आदर्श गुरु, आदर्श शिष्य, आदर्श पति, आदर्श स्वामी, आदर्श सेवक, आदर्श वीर, आदर्श दयालु, आदर्श शरणागत-वत्सल, आदर्श तपस्वी, आदर्श सत्यवादी, आदर्श दृढ़प्रतिज्ञ और आदर्श संयमी और कौन हुआ? जगत्के इतिहासमें श्रीरामकी तुलनामें एक श्रीराम ही हैं। श्रीरामने साक्षात् परमपुरुष परमात्मा होनेपर भी जीवोंको सत्यपथपर आरूढ़ करानेके लिये ऐसी आदर्श लीलाएँ कीं, जिनका अनुकरण सभी लोग सुखपूर्वक कर सकते हैं। उन्हीं हमारे श्रीरामका पुण्य प्राकट्य-दिवस चैत्र शुक्ला नवमी है। इस सुअवसरपर सभी लोगोंको, खास करके उनको, जो श्रीरामको साक्षात् भगवान् और अपने आदर्श पूर्वपुरुषके रूपमें अवतरित मानते हैं, श्रीराम-जन्मका पुण्योत्सव मनाना चाहिये। इसलिये उत्सवका प्रधान उद्देश्य होना चाहिये श्रीरामको प्रसन्न करना और श्रीरामके आदर्श गुणोंका अपनेमें विकास कर श्रीराम-कृपा प्राप्त करनेका अधिकारी बनना। अतएव विशेष ध्यान श्रीरामके आदर्श चरित्रके अनुकरणपर ही रखना चाहिये। विधि इस प्रकार की जा सकती है—

१-चैत्र शुक्ल १ से चैत्र शुक्ल ९ तक नौ दिन उत्सव मनाया जाय।

* जिनसे जितने नियमोंका पालन हो सके वे उतने ही पालें।

२-प्रत्येक मनुष्य (स्त्री, पुरुष, बालक) प्रतिदिन अपनी रुचिके अनुसार श्रीरामके दो अक्षरी, पंचाक्षरी या चार अक्षरी* मन्त्रका नियमपूर्वक जप करे। पहले दिन नियम कर ले, उसीके अनुसार नौ दिनतक करते रहना चाहिये। कम-से-कम १०८ मन्त्रका जप प्रतिदिन हो जाना चाहिये। उत्साह और समय मिले तो नौ दिनमें नौ लाख नामका जप कर सकते हैं।

३-प्रतिदिन सुबह या शामको कुछ समयतक नियमितरूपसे श्रीराम-नामका कीर्तन हो।

४-श्रीरामायणका नौ दिनोंमें पूरा पाठ किया जाय। वाल्मीकि, अध्यात्म या श्रीगोसाईंजीकृत मानस इनमेंसे अपनी रुचिके अनुसार किसी भी रामायणका पाठ कर सकते हैं। जो ऐसा न कर सकें वे कुछ समयतक प्रतिदिन रामायण बाँचें या सुनें।

५-माता-पिताके चरणोंमें प्रतिदिन प्रात:काल प्रणाम करें।

६-यथासाध्य खूब सावधानीसे सत्य-भाषण करें (सच बोलें)।

७-घरमें माता, पिता, भाई, भौजाई, स्वामी, स्त्री, नौकर, मालिक सभी आपसमें प्रेम रखें, अपने अच्छे बर्तावसे सबको प्रसन्न रखें, किसीसे झगड़ा न करें।

८-ब्रह्मचर्यका पालन करें।

९-रामनवमीका व्रत करें।

१०-रामनवमीके दिन श्रीरामजन्मोत्सव मनाया जाय, श्रीराम-कथा हो, सभाएँ की जायँ, जिनमें रामायणका प्रवचन और रामायण-सम्बन्धी शिक्षाप्रद व्याख्यान हों। कहने और सुननेवाले अपने अंदर श्रीरामके-से गुण लावें, इसके लिये दृढ़ निश्चय करें और श्रीरामसे प्रार्थना करें।

११-आपसके मेलमें बाधा न आती हो तो श्रीरामकी सवारीका जुलूस नगर-कीर्तनके साथ निकाला जाय।

इन ग्यारह बातोंमेंसे जिनसे जितनी पालन हो सकें, उतनी ही करनेकी चेष्टा करें। श्रीरामनामका जप, कीर्तन, माता-पिता आदिके चरणोंमें प्रणाम, सबसे प्रेम, ब्रह्मचर्यका अधिक-से-अधिक पालन, सत्य भाषण आदि बातें तो जीवनभर पालन करनेयोग्य हैं। इनका अभ्यास अधिक-से-अधिक बढ़ाना चाहिये। श्रीरामकी भक्तिके लिये इन्हीं व्रतोंकी आवश्यकता है।

सर्वत्र भगवद्दर्शन और व्यवहार

अन्तिम अवस्थामें भीष्मपितामह जब शरशय्यापर पड़े हुए थे तो उन्होंने पास खड़े हुए लोगोंसे तकिया माँगा। लोग नाना प्रकारके उपधान लेकर दौड़े; परंतु उन्होंने एकको भी स्वीकार नहीं किया। अन्तमें अर्जुन बुलाये गये। उन्होंने तीन बाण भीष्मजीके मस्तकमें बेधकर जमीनपर टिका दिये। भीष्मपितामह बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने आशीर्वाद दिया, 'बेटा! तुम्हारी विजय हो।'

जिस समय जैसा वेष होता है उसीके अनुसार ही व्यवहार करना पड़ता है। प्रश्न यह उठता है कि जब हम सर्वत्र भगवान्‌को ही देखें और सबको भगवान्‌का शरीर ही मानें तो उनके साथ व्यवहार कैसे करें! सर्वत्र भगवान्‌को देखनेवाला भगवान्‌से कड़ी बात कैसे कहेगा, क्रोध कैसे करेगा और उनसे कैसे लड़ेगा? अयोग्य बात भगवान्‌से कैसे करें? इसका सहज समाधान यही है कि क्रोधके वशमें होकर किसीको कड़वी जबान कहना या किसीसे लड़ना तो पाप ही है, वह तो कभी नहीं होना चाहिये। भगवान्‌को पहचानकर भगवान्‌के आज्ञानुसार नाट्यकी तरह शास्त्रोक्त आचरण करना दूसरी बात है। जहाँ वैसे कड़े आचरणकी आवश्यकता हो वहाँ सावधान रहते हुए भगवत्प्रीत्यर्थ ही भगवान्‌की आज्ञा समझकर ऐसा करना चाहिये। वेष ही हमें यह कहता है, उस वेषमें आये हुए भगवान् ही हमें आज्ञा देते हैं कि उनके योग्य जो कर्म है वही करो। पिताका वेष धारण करके जब वे आये हैं, स्वयं ही आज्ञा दे दी है कि इस रूपमें मेरी सेवा करो। ये भगवत्स्वरूप हैं ऐसा समझकर ही उनकी पूजा करनी चाहिये। यदि भगवान् पुत्रके रूपमें आवें या स्त्रीके वेषमें आवें तो उस रूपमें आये हुए भगवान्‌से प्यार करो और शास्त्रानुकूल उनकी सेवा भी स्वीकार करो। वहाँ प्यार और सेवा-स्वीकार ही उनकी उचित पूजा है। यदि हम उस वेषके प्रतिकूल व्यवहार करते हैं तो भगवान्‌की आज्ञाका उल्लंघन करते हैं। '**स्वकर्मणा**

* 'राम', 'रामाय नम:' या सीताराम।

तमभ्यर्च्य' का भावार्थ यही है कि वे जिस वेषमें आते हैं, उस वेषके अनुरूप ही वैसे कर्मसे उनकी उपासना हो। आवश्यकता इस बातकी है कि एक क्षणके लिये भी उनको भिन्न-भिन्न रूपोंमें पहचाननेमें भूल न हो और भिन्न-भिन्न स्वाँगोंमें आये हुए अपने परम प्रियतमकी उन्हें भीतरसे पहचानते हुए ही हर समय उचित पूजा करते रहें। '**यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्**' का भी यही अभिप्राय है कि उस परमप्रभु परमात्मासे सारी सृष्टिका स्फुरण—उद्भव हुआ। जो कुछ हम देख रहे हैं या अनुभव कर रहे हैं या कल्पना कर सकते हैं, वह सब भगवान्‌से पैदा हुए हैं और वही भगवान् सबमें सब जगह व्याप्त हैं। सृष्टि उन्हींमेंसे निकली और उन्होंने अपनेसे अलग कोई सृष्टि रची ऐसी बात भी नहीं। अतः माता, पिता, पुत्र, स्त्री, मित्र, बन्धु, सबमें वही समानरूपसे; अखण्डरूपसे व्याप्त हैं। उनके सिवा और उनके बाहर कुछ है ही नहीं। सबमें वही भरे हैं। वे ही हमारे सामने इन नाना रूपोंमें खड़े हैं। सबमें ओतप्रोत हैं, हममें भी वे ही हैं; वे मुझमें और मैं उनमें घुला-मिला हूँ।

भूल इसलिये होती है कि हम अपनेको भगवान्‌से अलग मानकर कर्ममें प्रवृत्त होते हैं और कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की कैसे अर्चा होती है इसे भूल जाते हैं। यह सब कुछ वासुदेव हैं, इस निश्चयको दृढ़ रखते हुए भी भक्त यह स्वीकार कर लेता है कि यह सारी सृष्टि वासुदेवमय और मैं उनका सेवक हूँ—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

जो कुछ भी है वह भगवान्‌का स्वरूप ही है। सारी सृष्टि—सारा चराचर 'सियाराममय' है और मैं उसका दास हूँ '**दासोऽहम्, दासोऽहम्**' की धुन लग जानेपर 'दा' छिन जाता है और '**सोऽहम्, सोऽहम्**' की अनुभूति होने लगती है, नर नारायणमें लय हो जाता है, परंतु भक्त ऐसा चाहता नहीं, वह तो अपने प्रियतमके साथ रसानुभूतिके लिये—लीलानन्दके लिये द्वैतको सहर्ष वरण कर लेता है, और वह इस अभिमानको एक क्षण भी नहीं छोड़ना चाहता कि मैं सारी सृष्टिमें व्याप्त प्रियतम प्रभुका सेवक हूँ—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

नौकर और मालिक दो न रहें तो खेलका आनन्द ही न रहे। जिस किसीसे व्यवहार होता है—जिस किसी रूपमें वे प्रकाशित हैं, वे हैं, केवल 'वे ही'। सब जगह हमारे साथ मन्दिर चलता है, सब जगह हम पुजारी रहते हैं और सर्वत्र हम उनकी पूजा करते हैं। रातके समय सोते हुए भी बिछौनेपर हम भगवान्‌के मन्दिरमें हैं। प्रत्येक स्थिति, प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक व्यक्तिके साथ व्यवहार करते हुए हम भगवान्‌की पूजा कर सकते हैं। जैसा वेष वैसी ही पूजा—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥

'भगवन्! मेरा आत्मा ही आपका स्वरूप है। मेरी बुद्धि ही गिरिराजकिशोरी उमा है, मेरे प्राण आपके सहचर—लीला-परिकर हैं, यह शरीर ही आपका मन्दिर है, विषय-भोगका साज-सामान ही आपकी पूजा-सामग्री है, मेरी निद्रा ही समाधि है—ध्याननिष्ठा है। मेरे दोनों चरणोंका चलना-फिरना आपकी परिक्रमा है। अपने मुखसे जो कुछ भी मैं कहता हूँ वह सब आपका स्तवन है। अधिक क्या कहूँ, मैं जो-जो कार्य करता हूँ, वह सब आपकी आराधना ही है।'

व्यवहारमें यह अवश्य याद रहे कि व्यवहार केवल भगवत्-पूजाके लिये हो। वर्णाश्रम भगवान्‌के खेलका एक सुन्दर साधन है। जिसका जो कर्म नियत हो, उसी कर्मसे वह भगवान्‌की पूजा करे। सभी कर्मोंसे तो भगवान्‌की ही पूजा होती है। इस अवस्थामें मेहतरका कर्म उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना ब्राह्मणका। अपने-अपने काममें सभी महत्तर हैं, अपने-अपने स्थानपर सभीकी आवश्यकता और सभीका महत्त्व है। व्यष्टिमें जो सत्य है और स्वाँगका महत्त्व है वही महत्त्व उसी प्रकार ही समष्टिमें भी है। सब सर्वत्र अपने-अपने समस्त कर्मोंसे भगवान्‌की ही पूजा करते हैं। अपराधीके प्रति यदि हम कड़ा व्यवहार करते हैं और उस व्यवहारमें यह स्मरण रखते हैं कि इस रूपमें हमारे प्रियतम आये हुए हैं और उन्हींकी यह आज्ञा है कि हम उन्हें इस खेलमें कड़ी बातें कहें तो वही क्रोधका नाट्य सात्त्विकरूप धारण करके भगवत्-प्रीतिका साधन जाता है। मुख्य बात तो पहचाननेकी ही है और न पहचानना ही सारी भूलोंकी जड़ है। चोररूपमें आये

हुए परमात्माकी चोरी न करने देनेकी आज्ञा है। डाकूरूपमें आये हुएको बलपूर्वक भगानेकी आज्ञा है और आततायीरूपमें आये हुएको दण्ड देनेकी।

भगवद्भाव जब इतना प्रगाढ़ हो जाय कि स्वाँग भी न दीखे और साक्षात् वे ही दीखने लगें तब तो दोषीको डाँटने या चोरको चोरी न करने देना भी असह्य हो उठेगा। गदाधर भट्टने अपने घरमें आये हुए चोरको हरिरूपमें देखा है तो उनके बोझको भारी देखकर अपने ही हाथों उनके सिरपर उठा दिया। यह भगवद्भावकी प्रगाढ़ अवस्थाका लक्षण है। हरिके सिवा कुछ दीखता ही नहीं और इसी हेतु जो कुछ भी व्यवहार होता है, वह उनकी उपासनाका मधुर रूप लेकर ही व्यक्त होता है। स्वाँगका पर्दा हट गया, वह सच्चे रूपमें आ गया।

पर भगवान्‌को पहचानकर किये जानेवाले विषम व्यवहारमें भी यदि हम सबको भगवान् समझें तो हमारे द्वारा वस्तुतः कोई अशुभ कर्म होगा ही नहीं। जैसी उनकी आज्ञा होगी वैसा ही करेंगे। जिसमें उनकी हाँ होगी वही हमारे द्वारा होगा। तात्पर्य यह कि हम भगवदीय सत्ताके यन्त्रमात्र हो जायँगे और भगवान् ही यन्त्री बनकर अपना काम हमारे द्वारा करेंगे। उसमें हमारा कुछ मतलब नहीं होगा। उनकी आज्ञा ही हमारे लिये प्रेरक-शक्ति होगी। पापकी या बुरे कर्मोंकी प्रेरणा अथवा आज्ञा भगवान्‌की ओरसे हो ही कैसे सकती है? कामना, आसक्ति, ममता और अहंकारका स्वयं नाश हो जायगा; क्योंकि ये सब भी तो भगवान्‌के अर्पित हो जायँगे। इससे व्यवहारमें कोई आपत्ति नहीं आयेगी। जिस रूपमें जो आवे उसका वैसा ही सत्कार, उस रूपमें आये हुए हरिकी वैसी ही पूजा। जहाँ जैसा स्वाँग, वहाँ वैसी ही पूजा। जहाँ यह भाव होगा वहाँ स्वार्थवश अत्याचार-अनाचार आदि हो नहीं सकते। नौकरके रूपमें भगवान् घरमें हैं। नौकरका अपमान न करे, उससे घृणा न करे पर व्यवहारमें तो मालिक ऊपर बैठेगा और नौकर नीचे ही। भगवान्‌की आज्ञा है कि हम अपने नौकरको आज्ञा दें, उससे काम लें। परंतु उसका किसी प्रकार अपमान न करें। उसको अपनेसे नीचा न मानें। उसे भगवान् समझकर यह न करें कि उसकी ही आज्ञाकी प्रतीक्षा करें और उसके कहे अनुसार चलें। ऐसा करना उसको काहिल, सुस्त और बेईमान बनाना होगा, नाटक बिगड़ेगा। नौकरके रूपमें आये भगवान्‌की यही आज्ञा है कि भीतरमें हम उन्हें ठीक-ठीक पहचानते हुए और पहचानमें जरा भी भूल न करते हुए बाहरसे स्वाँगरूपमें प्रेमपूर्वक उन्हें उचित आज्ञा दें और उनसे यथायोग्य काम लें। यदि हम इस स्वाँगकी अवहेलना करते हैं और भगवान्‌की आज्ञाको यथार्थरूपमें स्वीकार नहीं करते तो इससे खेल बिगड़ता है और भगवान्‌का यह अभिनय वास्तविकरूपमें नहीं चलता। जहाँ खेल ठीक-ठाक हुआ वहीं सांगोपांग पूजा होती है।

यदि सामाजिक व्यवस्था अथवा पारिवारिक बन्धनोंके नियमोंका उल्लंघन करके उनकी अवहेलना करते हैं तो भगवान्‌की आज्ञा नष्ट होती है और खेल बिगड़ता है। खेलको अपना न माने पर खेल बिगड़े नहीं। जहाँ ठीक खेल हुआ, वहाँ भगवान्‌की उपासना हुई। भगवान्‌का सर्वत्र दर्शन करनेवाला वस्तुतः किसी अन्य वस्तुकी कामना कैसे करेगा, किसीपर क्रोध क्यों करेगा और किसीपर आसक्त क्यों होगा—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

सब पूजाके पात्र हैं। सब पूजनीय हैं। लक्ष्मी-नारायणपर बिल्वपत्र नहीं चढ़ाया जाता और शिवपर तुलसीदल नहीं चढ़ाया जाता। जैसा देवता, वैसी ही पूजा। धतूरे और आकके फूलके बिना शिवजीकी पूजा कैसे पूरी होगी? इसका अभिप्राय यही है कि भिन्न-भिन्न वेषमें एक ही प्रभु आये हुए हैं और उनकी वैसी ही वेषके अनुरूप ही पूजा होनी चाहिये।

कुरुक्षेत्रमें भगवान् जब कालरूपमें प्रकट हुए और अर्जुनसे यह कहा, '**कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः**' मैं कालरूप होकर यहाँ सबको निगलनेके लिये प्रकट हुआ हूँ; उस समय भगवान्‌की पूजा अर्जुन केवल एक ही प्रकारसे कर सकते थे और वह प्रकार था रणांगणमें सब लोगोंको वीरगतिपर पहुँचाना। सबको भगवान् खा जानेके लिये उस समय प्रकट हुए थे और उन्होंने कहा, इस समय मेरी पूजा यही है—तुम निमित्त बनकर इन सबको मेरे मुँहमें डाल दो। वहाँ यही स्वकर्म था। भगवत्पूजनका प्रकृष्ट—उत्कृष्ट प्रकार था।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(गीता ३। ३०)

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

'इसलिये अर्जुन! तू अध्यात्मनिष्ठ चित्तसे सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें समर्पण करके, आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर। (यदि तुझे स्वर्ग तथा राज्यकी इच्छा न हो तो भी) सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजयको समान समझकर तत्पश्चात् तू युद्धके लिये तैयार हो, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

अर्जुन तो भगवान्‌की इस सामयिक पूजासे हट रहे थे। वे अपने कर्तव्यसे च्युत होने जा रहे थे। वहाँ तो रक्त-दानसे ही पूजा होती थी। भगवान्‌ने तीसरे अध्यायमें अर्जुनको यह आज्ञा दी है कि 'मेरे लिये आसक्ति छोड़कर भलीभाँति कर्म करो।' यह कर्म ही यज्ञ है। इन सबका अभिप्राय यही है कि प्रत्येक अवस्थामें प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक शास्त्रोक्त कर्मसे भगवान्‌की पूजा कर सकता है। यही महान् साधन है। इतनी याद रहे कि सर्वत्र-सर्वदा, सबमें—पशु, पक्षी, वृक्ष, पतंग आदि सबमें एकमात्र भगवान् ही हैं और उन्हें देखते हुए ही उनके साथ व्यवहार करे।

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

जहाँ व्यवहार पड़े वहाँ याद कर ले कि सर्वत्र सीताराम ही हैं। मन-ही-मन उन्हें प्रणाम कर लिया, पहचान लिया और आज्ञाके अनुसार कार्यमें प्रवृत्त हुए।

सबका कल्याण हो

हिंदू-शास्त्रोंकी दृष्टिसे संसारके समस्त प्राणी एक भगवान्‌के स्वरूप हैं, भगवान्‌के निवासस्थान हैं या भगवान्‌के सनातन अंश—उनकी प्रिय संतान हैं। तीनों सिद्धान्त भिन्न-भिन्न-से प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः एक ही सत्यका प्रतिपादन करते हैं। यदि ज्ञानकी दृष्टिसे कहा जाय तो इसी तत्त्वको यों कहा जाता है कि एक ही अखण्ड आत्मा विभिन्न स्थूल-सूक्ष्म जीवोंके रूपोंमें वैसे ही प्रकाशित है, जैसे एक ही अखण्ड महाकाश समस्त देशों, नगरों, गाँवों, मकानों और कोठरियोंके रूपमें प्रकट है। इसीलिये सर्वत्र भगवद्दर्शन अथवा सर्वत्र आत्मदर्शन करनेवाले पुरुष हिंदू-शास्त्रकी दृष्टिसे महात्मा माने जाते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तमें जो ज्ञानप्राप्त पुरुष सब वासुदेव ही है, इस प्रकार मुझको (भगवान्‌को) भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।'

भगवान्‌ने कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७। ७)

'अर्जुन! मेरे अतिरिक्त किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण (जगत्) सूत्रमें (सूतके) मणियोंकी भाँति मुझमें ही पिरोया हुआ है।'

इस प्रकार जो सर्वत्र और सर्वदा श्रीभगवान्‌को देखता है, उसे सर्वत्र सबमें सब समय भगवान् ही मिलते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो सर्वत्र मुझ भगवान्‌को देखता है और सबको मुझ भगवान्‌में देखता है, उसके लिये न मैं कभी परोक्ष होता हूँ और न वह मेरे लिये परोक्ष होता है।'

इस प्रकार सर्वभूतप्राणियोंमें भगवान्‌को और भगवान्‌में सर्वभूतप्राणियोंको देखनेवाला, व्यावहारिक जगत्‌में अपने वर्णाश्रमके अनुसार—स्वाँगके अनुसार अभिनय करनेवाले नटकी भाँति—जो कुछ भी व्यवहार करे, उसके सारे भाव होते हैं भगवान्‌में ही; क्योंकि उसके अनुभवमें एक भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ रहता ही नहीं। इसीपर गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(६। ३१)

'जो पुरुष एकत्व (एकमात्र भगवद्भाव)-में स्थित होकर सब भूत-प्राणियोंमें स्थित मुझ भगवान्‌को भजता

है; वह योगी सब प्रकारसे व्यवहार-बर्तावमें लगा हुआ भी वस्तुतः मुझ भगवान्‌में ही लगा रहता है।'

ऐसा महापुरुष सर्वत्र-समस्त जीवोंमें समबुद्धि होकर सबके सुख-दुःखकी अनुभूति अपने-आपकी तुलनासे करता है। भगवान् फिर कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६।३२)

'जो पुरुष अपनी उपमासे सबमें सबके सुख अथवा दुःखको सम देखता है वह योगी परमश्रेष्ठ माना गया है।'

मतलब यह कि अपने एक ही शरीरके सभी अवयवोंमें आत्मभाव समान होनेके कारण उनमें होनेवाले सुख-दुःखको मनुष्य समान देखता है। चोट चाहे गुदामें लगे चाहे सिरमें—दुःख मनमें समान होता है, इसी प्रकार आराम चाहे पैरको मिले चाहे मुखको—सुख भी समान ही होता है। बर्ताव-व्यवहारमें भले ही पूरा-पूरा भेद रहे और वह रहना अनिवार्य है। पैर और हाथके अथवा गुदा और मुँहके न तो काम एक-से होते हैं और न उनके साथ व्यवहार ही एक-सा हो सकता है; परंतु 'आत्मौपम्य समता' सबमें एक-सी है।

हिंदू-सिद्धान्तके अनुसार इस प्रकार जानने-माननेवाला पुरुष किसीके साथ कैसे वैर कर सकता है और कैसे किसीका अनिष्टचिन्तन कर सकता है? भगवान्‌ने 'उसीको विशिष्ट पुरुष बतलाया है जो सुहृद् , मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु और पापकर्मियोंमें भी समबुद्धि है।' अर्थात् इन सभीके अंदर जो एक भगवान्‌को विराजित देखता है या इन सभीके रूपमें जो एक भगवान्‌के दर्शन करता है, वह सर्वश्रेष्ठ है।

असलमें उसकी बुद्धिमें न शत्रु है न मित्र है; न बुरा है न भला; सब श्रीभगवान्‌के ही रूप हैं। ऐसा माननेपर भी व्यवहारमें उसे स्वधर्मोचित कर्तव्यका पालन करना पड़ता है। इसलिये यह बात तो रहती ही नहीं कि हिंदू किसीको विधर्मी मानकर उससे द्वेष करे। हिंदू, मुसलमान, पारसी, ईसाई इत्यादि भेद वस्तुतः व्यवहारमें हैं, आत्मामें नहीं हैं। आत्मा न हिंदू है, न मुसलमान। वह तो नित्य शुद्ध-बुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसमें भेदकी कल्पना ही नहीं है। अतएव भेद स्वरूपतत्त्वमें नहीं है। भेद व्यवहारमें है। आजकल व्यवहारमें तो अभेदकी चेष्टा होती है और मनमें भेद बढ़ते रहते हैं; इसीलिये इतना कलह और विद्वेष है। नहीं तो मुसलमान अपने निर्दोष धर्मका पालन करें और हिंदू अपनेका करें, किसीको क्यों आपत्ति होनी चाहिये और क्यों किसीके हृदयमें वेदना पहुँचानेके लिये धर्मके नामपर कोई अनुचित क्रिया ही होनी चाहिये। यदि सबमें 'आत्मौपम्य एकता' का भाव रहे तो सभी परस्पर एक-दूसरेके सहायक और विश्वासपात्र रक्षक तथा सेवक होंगे। परस्पर एक-दूसरेको सुख पहुँचायेंगे। किसीको दुःख पहुँचानेकी इच्छा या चेष्टा तभी होती है, जब हम उसे पराया समझते हैं और उसके लाभमें अपनी हानि तथा उसके सुखमें अपना दुःख मानते हैं। आज भारतवर्षमें सच्ची धार्मिकताका अभाव होनेसे यही बात हो गयी है और इसीसे परस्पर वैर-विरोध और द्वेष-दुःखकी प्रवृत्ति बढ़ रही है।

लहसुनके बीजसे केसर नहीं उत्पन्न होती, इसी प्रकार बुराईसे भलाई नहीं पैदा होती। हम यदि किसीके साथ बुरा बर्ताव करेंगे तो बीज-फल-न्यायसे वही बुराई हमें अनन्तगुनी होकर मिल जायगी। आज भारतके हिंदू-मुसलमानोंमें अज्ञानवश जो परस्पर बुरा बर्ताव हो रहा है, उसका फल दोनोंके लिये ही बहुत बुरा होना चाहिये। तारतम्य इतना ही है कि जिसका पक्ष न्यायका होगा और जिसने बुराईकी शुरुआत नहीं की होगी, उसका बचाव (बहुत अंशोंतक) न्यायकारिणी भागवती शक्ति करेगी। वह चाहे हिंदू हो या मुसलमान। भगवान्‌के न्यायमें हमारे यहाँके भेदसे कोई भेद नहीं होगा। भगवान् जैसे हिंदूके हैं, वैसे ही मुसलमानके हैं। आत्माके रूपमें जो परमात्मा एक हिंदूमें है, ठीक वही मुसलमानमें है और सृष्टिकर्ता भगवान्‌के रूपमें हिंदू जिस भगवान्‌की संतान है, मुसलमान भी उसीकी है। इसी प्रकार यदि हिंदू भगवान्‌का स्वरूप है तो मुसलमान भी भगवान्‌का स्वरूप है। जो मनुष्य भगवान्‌की पूजा करे और भगवत्स्वरूप ही किसी जातिविशेषके व्यक्तिसे द्वेष करे, उसका बुरा चाहे, उसकी पूजा भगवान् कैसे ग्रहण करेंगे। जो व्यक्ति एक अंगको पूजे और दूसरेको काटे, उस अंगका अंगी वह पुरुष उससे कैसे प्रसन्न होगा। जो व्यक्ति माताके एक बच्चेसे प्यार करे और दूसरेके गलेपर छूरी फेरे, उससे माता कैसे प्रसन्न होगी। इसी

प्रकार जो हिंदू मुसलमानको दु:ख देता या मारता है, अथवा जो मुसलमान हिंदूको दु:ख देता या मारता है, वह अपने भगवान्‌को असंतुष्ट ही करता है। चाहे, उसके भगवान्‌का नाम अल्लाह हो या परमात्मा।

इस दृष्टिसे किसीको भी जान-बूझकर कष्ट पहुँचाने या किसीका अहित करनेकी इच्छा या चेष्टा कदापि नहीं करनी चाहिये। मनुष्यकी तो बात ही क्या है—पशु-पक्षी, कीट-पतंगको भी कष्ट पहुँचाने या उनका अहित करनेकी कल्पना नहीं करनी चाहिये। सबके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये, जैसा हम दूसरोंसे अपने प्रति चाहते हैं। जो बातें अपनेको बुरी लगती हों, वे दूसरोंके साथ नहीं करनी चाहिये।

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

सबमें और सब कुछ भगवान् ही है, इस तत्त्वसिद्धान्तको ध्यानमें रखनेवाला पुरुष तो ऐसा करेगा ही। जो लौकिक सुख-शान्ति चाहता है, उसे भी वस्तुत: पहले अपने बर्तावको सुधारना चाहिये। व्यवहारमें चार बातोंका सावधानीके साथ त्याग करना चाहिये— **१. किसीका असम्मान न हो, २. किसीके साथ कपटका व्यवहार न हो, ३. किसीके साथ द्वेषका बर्ताव न हो और ४. किसीका अहित करनेकी चेष्टा न हो। इसके विपरीत सम्मान, सत्य, प्रेम और हितका बर्ताव होना चाहिये। ऐसा बर्ताव होगा तो अपने-आप ही बदलेमें यहाँ चीजें प्राप्त होने लगेंगी, जिससे जीवनमें सुख-शान्ति आयेगी और पारमार्थिक लाभ भी निश्चय ही होगा।**

अब प्रश्न यह है कि 'आजके वातावरणमें ऐसे भावोंकी रक्षा कैसे हो और कैसे आचरणमें इनका प्रयोग हो, जब कि एक पक्ष उन्मत्त होकर दूसरेको हर तरहसे कष्ट पहुँचाने और उसका अहित करनेपर उतारू है?' इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें तो किसीका अहित किसी दूसरेके द्वारा हो ही नहीं सकता। दूसरा निमित्त भले ही बने। पर इस सिद्धान्तको मानते हुए भी व्यवहारके क्षेत्रमें प्रतिपक्षके हितकी भावनासे, मनमें किसी प्रकारका दुर्भाव यथासाध्य न आने देकर ऐसी अवस्थाका निर्माण करना चाहिये—ऐसी स्थिति पैदा कर देनी चाहिये, जिनमें उक्त पक्षको अपने असत् प्रयत्नमें सफलताकी आशा न रहे और वह निराश होकर उस बुरे प्रयत्नसे अपनेको अलग कर दे और ऐसा करनेमें बाहरसे यदि कहीं कठोर उपाय काममें लाने पड़ें तो कोई आपत्ति नहीं है। अवश्य ही उस समय दो बातोंका ध्यान रहे—जो कुछ किया जाय भगवान्‌को स्मरण रखते हुए और भगवान्‌की सेवाके लिये किया जाय। उसमें कहीं भी द्वेष या रोष नहीं होना चाहिये। कहीं भी बदला लेनेकी या किसीको कष्ट पहुँचाकर सुखी होनेकी भावना नहीं होनी चाहिये। अर्जुनका महान् भीषण संग्राम-कर्म गीताके इसी सिद्धान्तपर स्थिर था। संग्राम था, बड़ा भीषण कर्म था; परंतु भगवान्‌की आज्ञा थी और अर्जुन भगवान्‌के आज्ञानुसार '**करिष्ये वचनं तव**' की प्रतिज्ञा करके बड़ी सावधानीके साथ अपनेको भगवान्‌का आज्ञाकारी सेवक मानकर ही संग्रामरूप कर्म कर रहे थे। इसीसे उनका वह कर्म भी भगवत्पूजन ही था।

भगवान्‌की निर्भ्रान्त आज्ञाके दो श्लोक यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। भगवान् अपने प्रिय भक्त अर्जुनको आज्ञा करते हैं—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

(गीता ३।३०)

'भगवान्‌में लगाये हुए चित्तसे सब कर्मोंको मुझ भगवान्‌में निक्षेप करके आशा और ममताको छोड़कर तथा मनकी जलनको मिटाकर युद्ध कर।'

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८।७)

'अतएव सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

भगवत्प्रीतिका यह भाव समझमें न आ सके तो समाज तथा देशकी—समाज तथा देशके धर्मकी, जिससे समाज सुखी रह सकता है; रक्षाके लिये त्यागकी भावनासे किसीका बुरा चाहे बिना ही वीरत्वका बाना धारण करके अन्याय, अधर्म तथा अत्याचारको मिटानेके लिये अत्याचारीका बलपूर्वक सामना करना चाहिये। अन्याय और अत्याचारका कायरतापूर्वक सहन करना भी अपराध है। समाजके अच्छे पुरुष यदि यह अपराध करने लगें तो सारा समाज अत्याचारमय हो जा सकता है। अतएव अत्याचारका विरोध भगवान्‌की कृपाशक्ति पर विश्वास रखकर अवश्य करना चाहिये।

असलमें पापकर्म करनेवालेका पतन किसीको करना नहीं पड़ता। उसका पापरूप कर्म ही उसे गिरा देता है। परंतु जबतक किसीको समाजमें रहना है, तबतक समाजसेवाका उसपर दायित्व है और उस दायित्वकी रक्षाके लिये ही उसे पापकर्मका बलपूर्वक विरोध करना चाहिये और शीघ्र-से-शीघ्र उस पापका नाश होकर पापकर्मी विशुद्ध बन जाय—इस भावनासे उसे समुचित शिक्षा भी देनी चाहिये। घृणा पापसे करनी चाहिये, पापीसे नहीं। नाश पापका करना चाहिये, पापीका नहीं। उसे तो निष्पाप और विशुद्ध बनाना है सावधानीके साथ कड़वी दवा देकर! सम्भव है इस दवाके देनेमें वह आपको शत्रु समझे। पागल मनुष्य अत्यन्त स्नेहीको भी मार बैठता है, ऐसे ही आपपर भी वह प्रहार कर बैठे। परंतु आपको तो शान्त तथा सावधानीके साथ ही—अपनेको बचाते हुए—उसके प्रति उसे नीरोग करनेकी क्रिया करनी है। इसमें हित और प्रेमकी भावना होनेके कारण इससे भी जीवनमें सुख-शान्ति और पारमार्थिक लाभकी प्राप्ति होगी। हमारी तो यही भावना रहनी चाहिये कि सभी सुखी हों, सभी तन-मनसे नीरोग हों, सभी सदा मंगलोंका साक्षात्कार करें और दुःखका भाग किसीको भी न मिले।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

पाँच प्रकारके पुत्र

१—न्यासानुबन्धी—किसीको बहुत ईमानदार और अपना सुहृद् समझकर कोई अपने रुपये-पैसे, गहने, जमीन अथवा दूसरी वस्तुएँ धरोहरके रूपमें उसके पास रखता है। परंतु कुछ दिनों बाद रखनेवाला जब वापस माँगता है, तब उसे वह वस्तु नहीं मिलती। जिसके यहाँ रखी गयी थी वह बेईमानीसे उसे हड़प जाता है और रखकर जानेवालेको अँगूठा दिखा देता है। वह न्यासापहारक—धरोहर हजम करनेवाला कहलाता है। उसे इस पापके फलस्वरूप नरकादिकी प्राप्ति तो होती ही है, धरोहर वापस न पानेवाला आसक्तिवश धरोहरका धन वसूल करनेके लिये उसके यहाँ जन्म लेता है और उसे दुःख दे-देकर मर जाता है।

वह बहुत सुन्दर, गुणवान् और अच्छे-अच्छे लक्षणोंसे युक्त होता है। दिनोदिन बड़ी भक्ति दिखलाता है, बहुत प्यारा बोलता है, मधुर स्वभावका होता है; बोलनेमें बहुत चतुर और स्नेह बढ़ानेवाला होता है। इस प्रकारकी संतानको पाकर माँ-बाप प्रसन्न हो जाते हैं। परंतु वह स्नेह दिखला-दिखलाकर खेलकी सामग्रियों, अच्छे-अच्छे कपड़ों-गहनों, बीमारियोंके बहाने चिकित्सा और ओषधियों आदिके द्वारा अपनी धरोहर वसूल करता रहता है और दारुण दुःख देकर छोटी ही आयुमें मर जाता है। पिता जब 'हाय-हाय' करके रोता है तब वह मानो यों कहकर हँसता है कि—'इसने पूर्वजन्ममें मेरा रखा हुआ धन हड़प लिया था, इससे मुझे बड़े-बड़े दुःख उठाकर मरना पड़ा था। आज मैं अपना वही धन लेकर जा रहा हूँ। कौन मेरा पिता है, मैं किसका पुत्र हूँ। अब यह पिशाचकी भाँति रोता और भटकता रहेगा।' इस प्रकार कहकर वह बार-बार हँसता है और जबतक अपनी धरोहर मिल नहीं जाती—वासना, आसक्ति और प्रतिहिंसाकी वृत्तिसे बार-बार पुत्रके रूपमें जन्म ले-लेकर उसे दुःख दे-देकर मरता है—

'दुःखं दत्त्वा प्रयात्येवं भूत्वा भूत्वा पुनः पुनः।'

२-ऋणानुबन्धी—जो मनुष्य किसीसे कर्ज लेकर बेईमानी कर जाता है और चुकानेमें समर्थ होनेपर भी उसे चुकाता नहीं, ऋण देनेवाला अगले जन्मोंमें उसके यहाँ संतान होकर जन्म लेता है। वह जन्मसे ही निठुर और निर्दयी होता है। सदा कड़ुआ बोलता है; घरमें छीन-छीन अच्छी-अच्छी चीजें खा जाता है। रोकनेपर खीझकर गालियाँ बकता है, माँ-बापकी निन्दा करता है, हृदयमें बड़ी करुणा उत्पन्न करनेवाले और डरा देनेवाले कठोर वचन बोलता है। जूआ खेलता है, चोरी करता है, लूट-लूटकर खाता है, लड़कपनसे ही मौज-शौक, बीमारी, सगाई, विवाह आदिमें खूब खर्च करवाता है। वह कहता है सब कुछ 'मेरा' ही है। पिता-माताको बोलने भी नहीं देता। बोलते हैं तो लातों-घूसों तथा लाठी-डंडोंसे उनकी खबर लेता है। पिता मर जाता है तब माताको इसी प्रकार दुःख देता है। श्राद्ध-दान आदि सत्कर्म कभी नहीं करता और इस प्रकार अपना ऋण

वसूल करता है। संसारमें ऐसे ही पुत्र पैदा होते हैं—

'एवंविधाश्च वै पुत्राः प्रभवन्ति महीतले।'

३-वैरानुबन्धी—पूर्वजन्ममें वैरभावसे किसीको दुःख पहुँचाया हो तो वह अपना बदला चुकानेके लिये इस जन्ममें पुत्र होकर पैदा होता है। वह लड़कपनसे ही माँ-बापके साथ वैरीका-सा आचरण करता है। खेल-ही-खेलमें पिता-माताको बुरी तरह मारकर हँसता हुआ भाग जाता है। यों बार-बार मारता है, नित्य-निरन्तर गुस्सेमें भरा हुआ उन्हें जली-कटी सुना-सुनाकर जलाता रहता है। सुखकी नींद कभी नहीं सोने देता। जबतक वे जीते हैं, तबतक दुःख-ही-दुःख देता है, प्रत्यक्ष वैरीका-सा बर्ताव करता है और अन्तमें वह दुष्टात्मा अपने पिता-माताको मारकर अपना बदला चुकाकर चला जाता है—

पितरं मारयित्वा च मातरं च ततः पुनः।
प्रयात्येवं स दुष्टात्मा पूर्ववैरानुभावतः॥

४- उपकारानुबन्धी—जिसका पूर्वजन्ममें सकामभावसे उपकार किया हो, जिसे सुख पहुँचाया हो, वह सुख देनेके लिये पुत्ररूपमें जन्म लेता है। ऐसा पुत्र बड़ा ही सुशील, प्रिय और सुखदायी होता है। वह जन्मसे लेकर बहुत बड़ी आयुतक माँ-बापको सुख देता है, उनका प्रिय कार्य करता है। भक्ति और स्नेहभरे वचनों तथा कार्योंसे संतुष्ट करता है। उनकी सेवा करता है। उन्हें अच्छे-अच्छे भोजन कराता है और दान-पुण्य करवाता है। माता-पिताके मरनेपर दुःखी होकर स्नेहवश रोता है और श्राद्ध-पिण्ड-दानादि सब क्रियाओंको श्रद्धापूर्वक करता है और अपना सारा जीवन उनकी कीर्ति-विस्तारमें लगाता है। वह पुत्र होकर इस प्रकार पिता-माताके संतोषार्थ ही सब कुछ करता है—

'पुत्रो भूत्वा महाप्राज्ञ अनेन विधिना किल।'

५—उदासीन—जो किसी प्रकारका भला-बुरा बदला चुकानेके लिये जन्म नहीं लेता, वह उदासीन पुत्र कहलाता है। वह न कुछ देता है, न लेता है, न किसीपर क्रोधित होता है और न तो संतोष प्रकाश करता है। उसकी सभी क्रियाएँ उदासीनकी तरह होती हैं। उसका सारा जीवन उदासीन भावमें ही बीतता है—

'उदासीनेन भावेन सदैव परिवर्तते।'

जैसे पूर्वजन्मोंका बदला चुकानेके लिये ये पुत्र होते हैं, वैसे ही अन्य सम्बन्धी आदि भी होते हैं—

यथा पुत्रस्तथा भार्या पिता माताथ बान्धवाः॥
भृत्याश्चान्ये समाख्याताः पशवस्तुरगास्तथा।
राजा महिष्यो दासाश्च ....॥

पुत्रकी तरह पत्नी, पिता, माता, बन्धु-बान्धव, नौकर, गौ, घोड़े, हाथी, भैंस और दास आदि भी पूर्वजन्मके अच्छे-बुरे कर्मोंका फल देने और बदला चुकानेके लिये होते हैं।*

सत्कर्म करो, परंतु अभिमान न करो

मनुष्यके लिये उत्तम लोकोंमें जानेके सात बड़े भारी सुन्दर दरवाजे सत्पुरुषोंने बतलाये हैं, वे ये हैं—

१. अपने धर्मपालनके लिये सुखपूर्वक नाना प्रकारके कष्टोंको स्वीकार करना। यह तप है।

२. देश, काल और पात्रको देखकर सत्कारपूर्वक निष्कामभावसे अपनी वस्तु दूसरेको देना। यह दान है।

३. विषाद, कठोरता, चंचलता, व्यर्थचिन्तन, राग-द्वेष और मोह, वैर आदि कुविचारोंको चित्तसे हटाकर उसे परमात्मामें लगाना। यह शम है।

४. विषयोंके समीप होनेपर भी इन्द्रियोंको उनकी ओर जानेसे रोक रखना। यह दम है।

५. तन, मन, वचनसे बुरे कर्म करनेमें संकोच होना। यह लज्जा है।

६. मनमें छल, कपट या दम्भका अभाव होना। यह सरलता है।

७. बिना किसी भेदभावसे प्राणिमात्रके दुःखको देखकर हृदयका द्रवित हो जाना और उनके दुःखोंको दूर करनेके लिये चेष्टा करना। यह दया है।

इन सातोंके करनेवाला पुरुष यदि इनके कारण अभिमान करता है तो उसके ये तप आदि गुण मानरूपी तमसे निष्फल होकर नष्ट हो जाते हैं!

जो मनुष्य श्रेष्ठ विद्या पढ़कर अपनेको ही पण्डित मानता है और अपनी विद्यासे दूसरेके यशको घटाता है, उसको उत्तम लोककी प्राप्ति नहीं होती और उसकी

* श्रीसोमशर्मा और उनकी धर्मपत्नी सुमनाका संवाद। (पद्मपुराण, भूमिखण्ड, अध्याय ११। १२)

पढ़ी हुई वह उत्तम ब्रह्म-विद्या उसे ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं कराती।

अध्ययन, मौन, अग्निहोत्र और यज्ञ—ये चार कर्म मनुष्यको भव-भयसे छुड़ानेवाले हैं, परंतु यदि यही अभिमानके साथ या मानकी प्राप्तिके लिये किये जायँ तो उलटे भय देनेवाले हो जाते हैं।

इसलिये कहीं सम्मान मिले तो फूल नहीं जाना चाहिये और अपमान हो तो संताप नहीं मानना चाहिये; क्योंकि संतलोग सदा संतोंको पूजते ही हैं और असंतोंमें संतबुद्धि आती नहीं।

'मैंने दान दिया है, मैंने इतने यज्ञ किये हैं, मैंने इतना पढ़ा है, मैंने ऐसे-ऐसे व्रत किये हैं, इस प्रकार जो अभिमान-भरी डींगें मारता हुआ ये कर्म करता है उसको यही कर्म शुभ फल न देकर उलटा भय देनेवाले हो जाते हैं।' इसलिये अभिमानका बिलकुल त्याग करना चाहिये (महाभारत)।

कुछ प्रश्नोंका उत्तर

एक सज्जनने निम्नलिखित प्रश्न किये हैं—

(१) रोग-संकटादिसे ग्रस्त हरिनाम जपनेवाले असफल संसारी मनुष्यके मनमें 'हरि भगवान् मुझे सुख-शान्ति प्रदान करें।' ऐसी भावना स्वाभाविक ही उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती। परंतु ऐसी भावनासे हरिनामकी महिमा घट क्यों जाती है?

(२) जब हरि सभी शरणागत मनुष्योंका कल्याण करेंगे, तब एक कठिन-तपधारी तपस्वी महात्मा और एक-खुदापरस्त मुसलमान कसाईमें क्या अन्तर रहा?

(३) 'कल्याण' तथा अन्यान्य ग्रन्थोंमें मैंने बहुत बार पढ़ा कि जबतक कोई भी कामना मनमें रहती है या जबतक भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही भगवान्‌को नहीं खोजा जाता तबतक भगवान् नहीं मिलते। परंतु महाभारतादि ग्रन्थोंमें सकामभावसे आराधना करनेवालोंके सामने भी भगवान्‌का प्रकट होकर उन्हें वरदान देना सिद्ध है। इसका क्या रहस्य है?

(४) भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है कि मैं हृदयमें बैठकर सब कुछ करवाता हूँ, फिर जीव पाप-पुण्यका भोक्ता क्यों होता है? तथा बुरे-भले कर्म या किसी जीवका सुधार-बिगाड़ होना क्या अर्थ रखता है?

(५) हम हिंदू जिस गोमाताके एक रोमपतनसे अपनेको भ्रष्ट हुआ मानते हैं, उसी गोमाताको दूसरे श्रद्धाभक्तिसे ईश्वरके नामपर तड़पा-तड़पाकर वध करते हैं। इसमें पुण्य-पापका क्या निर्णय है?

(६) जो पूर्णरूपेण आस्तिकताके साथ अचल होकर परमात्माके शरण हो चुका है उसे आसन, माला या जपकी गिनती करनेकी क्या आवश्यकता रह जाती है?

(७) यह सिद्धान्त है कि शुद्ध अन्तःकरण हुए बिना सिद्धि नहीं मिलती, फिर बुरे भावसे किये हुए मन्त्र-जप या भूत-प्रेतकी उपासनाका सिद्ध होना क्या झूठी कहानियाँ हैं?

(८) 'भगवन्नामांक' में लिखा है कि सांसारिक क्लेशकी निवृत्ति या सांसारिक सुख-शान्तिके लिये भगवान्‌का नाम लेना मूढ़ता है। कौड़ीके बदले हीरा फेंकनेवाले या चींटी मारनेके लिये तोप दागनेके समान है। भगवान् तो सबसे उच्च हैं। उनकी महिमा तो अपारसे भी अपार और अवर्णनीय है। परंतु जिस शुद्ध आस्तिकका भगवान्‌की प्रतीक्षामें सारा जीवन बीत जाय और जो असाधारण जप, तप, व्रत आदि करके हार गया हो तथा महारोगों और आपदाओंमें पड़ गया हो उसका क्या कारण समझना चाहिये। उसकी आस्तिकता, निष्कपटता और श्रद्धा-भक्तिपर जरा भी संदेह नहीं करना चाहिये।

इन आठों प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

(१) श्रीहरिनामकी महिमा नहीं घटती। इस प्रकारकी भावना करनेवालेने भजनके मूल्यको कम समझा। जैसे कोई बहुमूल्य हीरेको दो-चार पैसोंकी चीजके बदलेमें किसीको बेच देता है वैसे ही हरिनामके बदलेमें रोग-संकटादिसे निवृत्ति चाहना है।

(२) ईश्वरकी यथार्थ शरण होनेके बाद कसाईपनका कार्य जीविकाका साधन नहीं बन सकता। शरणागत मनुष्य स्वामीके प्रतिकूल कोई कार्य नहीं कर सकता। परम पिता ईश्वरको अपनी संतानकी हत्या अभीष्ट नहीं होती। इसलिये जहाँ ऐसा कार्य होता है वहाँ शरणागतिमें ही कुछ गड़बड़ है। प्रभुके अनुकूल होना ही सच्ची शरणागति है। शरण होनेपर ईश्वर तपस्वी और कसाई दोनोंका उद्धार करते हैं।

(३) यह सत्य है। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण कई लोगोंसे मिले थे; परंतु उनका वह मिलना सामान्य रूपमें था। सकामभाववालेको भी भगवान् मिल सकते हैं, परंतु तत्त्वको बिना जाने वह तत्काल मुक्तिदायक नहीं हो सकता। वह मिलना जिस कामके लिये होता है उसकी सिद्धि तत्काल हो जाती है। परंतु जो पुरुष भगवान्के लिये ही भगवान्को भजता है उसे जब भगवान् मिलते हैं उसका तभी उद्धार हो जाता है। यही असली मिलना है। परंतु भगवान्का मिलना किसी तरह भी हो, वह उत्तम है। जिससे भगवान्को पहचाननेकी योग्यता हो जाती है, तत्त्व जाना जाता है और तत्त्व जानते ही वह मिलन मुक्तिदायक हो जाता है। भगवान् आतुरको भी उसकी आर्त प्रार्थनाके भावसे मिल सकते हैं।

(४) इसका यह मतलब नहीं है कि भगवान् पाप-पुण्य या भले-बुरे कर्म करवाते हैं। भगवान् तो जीवोंके स्वभावानुसार कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हैं। दिनके समस्त कार्य सूर्यके प्रकाशमें होते हैं। परंतु सूर्य किसीके पाप-पुण्यमें हेतु नहीं है। कर्ताके बन्धनमें कर्म प्रधान नहीं है, उसमें प्रधान भाव है। अपने-अपने स्वभावानुसार न्याययुक्त शास्त्रनियत कर्म करता हुआ कोई भी पुरुष पापसे नहीं बँधता। ईश्वरकी प्रेरणा न्यायानुकूल कर्म करनेके लिये ही होती है, पाप करानेके लिये नहीं। स्वार्थवश राग-द्वेषसे की हुई चेष्टा पुण्य-पापवाली होती है। इसीसे भगवान् आज्ञा देते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

(गीता ३। ३४)

प्रत्येक इन्द्रियके भोगोंमें राग-द्वेष स्थित हैं, अतएव उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये। वे दोनों ही कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् तो राग-द्वेषरहित होकर स्वभावके अनुसार कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हैं। उनकी आज्ञाके अनुकूल या प्रतिकूल कर्म करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। इसीलिये वह सुख-दुःखका भोक्ता होता है और इसी कारण उसके राग-द्वेषयुक्त कर्म भले-बुरे माने जाते हैं।

(५) जो किसीकी आत्माको कष्ट पहुँचानेमें सर्वव्यापी समदृष्टि ईश्वरका प्रसन्न होना मानते हैं, उनकी यह मान्यता भूल मालूम होती है। ईश्वरके नामपर किसीको मारनेसे ईश्वरकी प्रसन्नता मानना न्यायसंगत नहीं है। जो न्याययुक्त नहीं, सो भूल है।

(६) परमात्माके शरणागतके लिये आसनोंकी कोई आवश्यकता नहीं। सिद्धको लोकसंग्रहके लिये और साधकको आलस्य-नाशके लिये आसनकी, संख्यामें भूल न होनेके लिये मालाकी और धोखा न होनेके लिये गिनतीकी आवश्यकता है।

(७) भूत-प्रेतादिकी उपासनासे प्राप्त सिद्धि तामसी सिद्धि है। अन्तःकरणकी शुद्धि होनेके बाद तो अनिष्टरूप भूत-प्रेतादिकी उपासनाको ही स्थान नहीं रह जाता।

(८) पूर्वप्रारब्धका सम्बन्ध समझना चाहिये। अचल डटे रहकर श्रद्धा-भक्तिसे परमात्माका भजन करते रहना चाहिये। कर्मोंका भोग हो रहा है सो अच्छा ही हो रहा है। कष्ट-सहन और भजनसे बुरे संचितका नाश और अच्छे संचितकी वृद्धि हो रही है।

अन्तर्याग और बहिर्याग

पूजन दो प्रकारसे होता है—आन्तर और बाह्य। आन्तरमें समस्त क्रियाएँ मानसिक होती हैं और बाह्यमें सामग्रियोंद्वारा। आन्तरपूजनको अन्तर्याग और बाह्यपूजनको बहिर्याग कहते हैं। बहिर्यागकी साधनाका अभ्यास किये बिना अन्तर्याग होना अत्यन्त कठिन है। बहिर्यागके मुख्यतः पाँच अंग हैं—(१) जप, (२) होम, (३) तर्पण, (४) मार्जन और (५) ब्रह्मभोजन। महाशक्तिके किसी एक स्वरूपके बोधक मन्त्रका विधिवत् पुरश्चरणादि नियमानुसार जप करना, मन्त्र, जपकी दशांश संख्याका हविर्द्रव्योंद्वारा अग्निमें हवन करना, पंचद्रव्योंके उपयोगोंद्वारा अपने-अपने अधिकारके अनुसार संतर्पण करना और न्याय तथा सत्यके द्वारा कमाये हुए धनसे देवीके प्रसन्नार्थ सुयोग्य ब्राह्मणोंको भोजन कराना। इन पाँच अंगोंके द्वारा शक्ति-साधक जब शरीर और वाणीसे पूजन कर चुकता है, तब वह मानस-पूजा अथवा अन्तर्यागका अधिकारी होता है। अन्तर्यागके भी पाँच पटल हैं—(१) पटल, (२) पद्धति, (३) कर्म, (४) स्तुति और (५) नमस्कार। देवीके स्वरूपबोधक मन्त्रके अक्षरोंसे

पिण्डके नाड़ी-व्यूहमें विस्तारसहित भावनाका पटल बनाना। यानी मन्त्राक्षरोंद्वारा मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्त्र-दलचक्रमें देवीके स्वरूपकी भावना करके चित्तको शक्ति-सम्पन्न करना पटल कहलाता है। उस मन्त्रपटलके द्वारा पंच अथवा षोडश उपचारोंसे हृदयादि पीठमें देवीका पूजन करना पद्धति कहलाती है। इस तरह नाड़ियोंमें और हृदयादि पीठ-स्थानोंमें पटल और पद्धतिकी रचना करनेके बाद विद्याके अर्थात् इष्ट मन्त्रके अक्षरोंद्वारा स्थूल देहपर कवचकी रचना करके, देवीके अनेक नामोंद्वारा पिण्डकी रक्षण-भावना करना वर्म अथवा कवच कहलाता है। इसके बाद देवीके मन्त्रकी स्मृति जाग्रत् रहे, ऐसे लघुस्तवी आदि रहस्यस्तोत्रके द्वारा देवीके गुण-गानको स्तुति कहते हैं और अनेक गुणोंमेंसे विशेष ध्यानमें रखनेयोग्य हजार गुणोंके बोधक नामोंद्वारा आन्तर भूमिकामें देवीको नमस्कार करना—ये पाँच अंग अन्तर्यागके हैं।

श्रीशुकदेवजी

एक समय महर्षि वेदव्यासकी विवाह करके गृहस्थधर्म-पालनकी इच्छा हुई। बहुत सोच-विचारकर वे जाबालि मुनिके पास गये और उनकी कल्याणमयी कन्या वटिकाके लिये उनसे प्रार्थना की। जाबालिने बड़े हर्षसे व्यासजीके साथ अपनी कन्याका विवाह कर दिया। महर्षि व्यास वानप्रस्थाश्रममें मैथुनधर्मका आचरण करते हुए वनमें रहने लगे। समयपर व्यासपत्नी गर्भवती हुई, शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी तरह व्यास-भार्याका गर्भ बढ़ने लगा। गर्भ बढ़ते-बढ़ते बारह वर्ष बीत गये, परंतु प्रसव नहीं हुआ। व्यासजीकी कुटियामें सर्वदा हरि-चर्चा हुआ करती थी। अपने ज्ञानकी विशेषतासे गर्भस्थ बालक जो कुछ सुनता सो स्मरण कर रखता। इस तरह उस बालकने गर्भमें ही सांग वेद, स्मृति, पुराण और सम्पूर्ण मुक्तिशास्त्रोंका अध्ययन कर लिया। वह गर्भमें ही दिन-रात स्वाध्याय किया करता। गर्भसे निकलनेके बाद बढ़ना चाहिये, इस बातकी उसे तनिक भी चिन्ता नहीं थी।

गर्भस्थ बालकके बहुत बढ़ जाने और प्रसव न होनेसे माताको बड़ी पीड़ा होने लगी। एक दिन भगवान् व्यासदेवने आश्चर्यचकित होकर बालकसे पूछा—'तू मेरी पत्नीकी कोखमें घुसा बैठा है सो कौन है? किसलिये बाहर नहीं निकलता? क्या गर्भिणीकी हत्या करना चाहता है?' गर्भने कहा, 'मैं राक्षस, पिशाच, देव, मनुष्य, हाथी, घोड़ा, बकरी, मुर्गा सब कुछ बन सकता हूँ, क्योंकि मैं चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण कर आया हूँ, इसलिये यह कैसे बतलाऊँ कि मैं कौन हूँ? हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि इस समय मैं मनुष्य होकर उदरमें आया हूँ। मैं किसी तरह भी गर्भसे बाहर नहीं निकलना चाहता। इस दुःखपूर्ण संसारमें सदासे भटकता हुआ अब मैं भवबन्धनसे छूटनेके लिये गर्भमें योगाभ्यास कर रहा हूँ। मैं यहींसे निश्चयरूपसे कल्याणरूप मोक्षमार्गमें जाऊँगा। द्विजश्रेष्ठ! जबतक जीव गर्भमें रहता है तबतक उसे ज्ञान, वैराग्य और पूर्वजन्मोंकी स्मृति बनी रहती है। गर्भसे निकलते ही भगवान्की मायाके स्पर्शमात्रसे उसके समस्त ज्ञान, वैराग्य छिप जाते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है, इसलिये मैं गर्भमें ही रहकर यहींसे सीधा मोक्षकी प्राप्ति करूँगा, मैं बाहर नहीं निकलना चाहता।' व्यासजीने कहा—'तुझपर वैष्णवी मायाका असर नहीं होगा, तू इस गर्भवासरूप घोर नरकसे निकलकर योगका आश्रय करके कल्याणके मार्गमें प्रवृत्त हो। मुझे अपना मुखकमल दिखला, जिससे मैं पितृ-ऋणसे मुक्त हो सकूँ।' गर्भने कहा, 'मुझपर मायाका असर नहीं होगा, इस बातके लिये यदि आप भगवान् वासुदेवकी जमानत दिला सकें तो मैं बाहर निकल सकता हूँ, अन्यथा नहीं।'

गर्भकी यह बात सुनकर व्यासदेव उसी समय द्वारिका गये और वहाँ भगवान् चक्रपाणिको अपनी सारी कष्ट-कहानी सुनायी! भक्ताधीन भगवान् जमानत देनेके लिये तुरंत उनके साथ हो लिये और व्यासजीके आश्रममें आकर गर्भस्थ बालकसे बोले, 'बालक! गर्भसे बाहर निकलनेपर तेरी माया नाश करनेकी जिम्मेवारी मैं लेता हूँ, तू शीघ्र निकलकर सर्वश्रेष्ठ कल्याणमार्गमें गमन कर!!'

भगवान्के वचन सुनते ही बालक गर्भसे बाहर आकर माता-पिताको प्रणामकर तुरंत वनकी ओर जाने लगा। प्रसव होनेपर बालक बारह वर्षका प्रायः जवान-

सा दीख पड़ता था। पुत्रको वन-गमन करते देखकर व्यासजी बोले—'पुत्र! घरमें रह, जिससे मैं तेरा जातकर्मादि संस्कार करूँ!' बालकने कहा—'मुनिवर! अनेक जन्मोंमें मेरे हजारों संस्कार हो चुके हैं, इन बन्धनकारी संस्कारोंने ही मुझे संसारसागरमें डाल रखा है!' बालककी यह बात सुनकर भगवान्ने व्यासजीसे कहा—'मुनिवर! आपका पुत्र शुककी तरह मधुर बोल रहा है, अतएव इस योगविद्याविचक्षण पुत्रका नाम 'शुक' रखिये। यह मोह-मायारहित शुक आपके घरमें नहीं रहेगा, इसे इच्छानुसार जाने दीजिये। इसपर अब आप स्नेह न बढ़ाइये। पुत्रमुख देखते ही आप पितृ-ऋणसे छूट गये हैं, यह मैं आपसे सत्य कहता हूँ, अब मुझे आज्ञा हो।' इतना कहकर भगवान् तो गरुड़पर सवार होकर द्वारिकाकी तरफ चल दिये। भगवान् व्यास फिर पुत्रको समझाने लगे। दोनोंमें इस प्रकार बातचीत हुई—

व्यास—गृहस्थधर्म त्यागनेवाले लोगोंके पितृ-वचन नष्ट होते हैं, जो पुत्र पिताके वचनोंके अनुसार नहीं चलता, वह नरकगामी होता है इसलिये पुत्र! तू मेरी बात मानकर घरमें रह!

शुक—आज मैं जैसे आपसे उत्पन्न हुआ हूँ, इसी प्रकार दूसरे जन्ममें आप कभी मुझसे उत्पन्न हो चुके हैं। पिता-पुत्रका नाता यों ही बदला करता है, कृपया मुझे आप तपोवनमें जानेसे न रोकिये!'

व्यास—जहाँ वेदोक्त संस्कारोंको पाकर मनुष्य मोक्षकी प्राप्ति कर सकता है, ऐसे ब्राह्मणकुलमें बहुत पुण्यसे जन्म होता है!

शुक—शुभकर्म किये बिना यदि संस्कारोंसे ही मुक्ति मिलती होती तो व्रतधारी ढोंगियोंकी भी मुक्ति होनी चाहिये थी!

व्यास—संस्कार किये हुए मनुष्य ही पहले ब्रह्मचारी, फिर गृहस्थ, फिर वानप्रस्थ और उसके बाद संन्यासी होकर मुक्ति पाते हैं।

शुक—यदि केवल ब्रह्मचर्यसे ही मुक्ति होती तो नपुंसक जरूर ही मुक्त हो जाते! गृहस्थमें मुक्ति होती तो फिर सारा जगत् ही मुक्त है! वनवासियोंकी मुक्ति होती तो फिर सब पशु क्यों नहीं मुक्त हो जाते? और यदि धनके त्यागमें ही मुक्ति हो तो दरिद्रोंकी सबसे पहले होनी चाहिये!

व्यास—सत्यमार्गपर चलनेवाले गृहस्थीका यह लोक और परलोक दोनों सधते हैं, यह बात तो मनु महाराज ही कहते हैं।

शुक—जो लोग घरकी रक्षासे सुरक्षित और बन्धु-बान्धवोंके बन्धनसे बँधे हैं, उन मोह-रोगियोंका सत्यमार्गपर रहना ही असम्भव है।

व्यास—वनवासमें मनुष्यको बड़ा कष्ट होता है, वहाँ नित्य-कर्म ही नहीं हो सकते, सारे दैव-पितृ-कर्म रुक जाते हैं, इसलिये घरमें रहना ही सुखकर है।

शुक—वनवासी महातपस्वी भावभावित मुनियोंको समस्त तपोंका फल आप ही मिल जाता है, उनको बुरा संग तो कभी मिलता ही नहीं, यही उनके लिये बड़ा सुख है।

व्यास—गृहस्थी पुरुषोंको अनेक प्रकारकी इकट्ठी की हुई सामग्री उन्हें इस लोक और परलोकमें बड़ा सुख देती है। यहाँ भोगसे सुख होता है और दान करनेसे परलोकमें सुख मिलता है!

शुक—अग्निसे सर्दी या चन्द्रमासे चाहे गरमी मिल जाय पर संसारमें परिग्रहसे किसीको न तो आजतक कभी सुख हुआ, न है और न होगा!

व्यास—सुन्दर पुण्यबलसे मनुष्य-शरीर मिलता है और मनुष्य-शरीर पाकर गृहस्थ-धर्मको जाननेवाला पुरुष क्या नहीं प्राप्त कर सकता?

शुक—जन्मके समय मनुष्य यदि ज्ञानसम्पन्न भी होता है तो जन्म होनेके बाद अपनी अवस्था देखकर वह ज्ञान भूल जाता है!

व्यास—पुत्र! संसारमें राखसे लिपटा गदहेकी तरह चिल्लानेवाला पुत्र भी लोगोंको सुख देनेवाला होता है।

शुक—संसारमें जो मनुष्य अपवित्र बालकोंका धूलमें खेलना देखकर और उनकी मीठी बोली सुनकर प्रसन्न होते हैं वे मूर्ख हैं!

व्यास—यमराजके यहाँ एक पुत् नामक महान् नरक है। पुत्रहीन मनुष्यको उसी नरकमें जाना पड़ता है। अतएव संसारमें रहकर पुत्र उत्पन्न करना चाहिये!

शुक—महामुने! यदि पुत्रसे ही सबको मुक्ति मिलती हो तो सूअर, कुत्ते और पतंगोंकी मुक्ति तो अवश्य हो जानी चाहिये!

व्यास—इस लोकमें पुत्रसे पितृ-ऋण, पौत्र देखनेसे देव-ऋण और प्रपौत्रके दर्शनसे मनुष्य समस्त ऋणोंसे मुक्त होता है।

शुक—गृध्रकी तो बहुत बड़ी आयु होती है। वह तो न मालूम कितने पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रोंका मुख देखता है; परंतु उसकी मुक्ति तो नहीं होती!

इतना कहकर शुकदेव उसी समय वनको चले गये।

(स्कन्दपुराण)

भक्तका महत्त्व

एक बार देवर्षि नारदजीके मनमें यह जाननेकी इच्छा हुई कि 'जगत्‌में सबसे महान् कौन है?' इसलिये वे सीधे भगवान् विष्णुके पास पहुँचे। उन्होंने सोचा कि 'सच्ची बात वहींसे मालूम होगी। क्योंकि भगवान् ही नित्य सत्य सर्वज्ञ हैं और वे अभिमानी पुरुषोंकी भाँति अपनी बड़ाई भी नहीं करेंगे; क्योंकि अपने मुँहसे अपनी बड़ाई करना तो आत्महत्याके समान महापाप है। नारदजीने वैकुण्ठमें जाकर भगवान्‌से पूछा—'भगवन्! जगत्‌में सबसे बड़ा कौन है? यह बतानेकी कृपा कीजिये।' भगवान् नारदजीका भाव समझ गये और बोले—

पृथ्वी तावदतीव विस्तृतिमती तद्वेष्टनं वारिधिः
पीतोऽसौ कलशोद्भवेन मुनिना स व्योम्नि खद्योतवत्।
तद् व्याप्तं दनुजाधिपस्य जयिना पादेन चैकेन खं
तं त्वं चेतसि धारयस्यविरतं त्वत्तोऽस्ति नान्यो महान्॥

'पृथ्वी अत्यन्त विस्तारवाली है, परंतु वह समुद्रसे घिरी है; अतः वह भी बड़ी नहीं है। समुद्रको अगस्त्य मुनि पी गये, अतः वह भी बड़ा नहीं है। अगस्त्यजी महान् आकाशमें एक क्षुद्र जुगनूकी तरह चमकते हैं इससे वे भी बड़े नहीं हैं। आकाशको दैत्यराज बलिके यज्ञमें भगवान् वामनजीने एक पैरसे नाप लिया था, इसलिये वह भी बड़ा नहीं है। और भगवान्‌के पैर निरन्तर तुम्हारे (भक्त)-के चित्तमें रहते हैं, इससे वे भी बड़े नहीं हैं। बड़े हो तुम जिसने उन चरणोंको हृदयमें धारण कर रखा है। तुमसे (भक्तसे) बड़ा और कोई नहीं है।'

इससे भक्तका महत्त्व भलीभाँति प्रकट है; परंतु यह महत्त्व है इसी कारण कि उसके हृदय-देशमें भगवान्‌के मधुर मनोहर चरणारविन्द नित्य-निरन्तर निवास करते हैं। ऐसे भक्त जगत्‌में विरले ही होते हैं। भक्त कहलानेवाले तो लाखों मिलेंगे, परंतु भक्त कोई एक ही मिलेंगे। *'राम ते अधिक राम कर दासा'* अथवा 'भगवान् स्वयं भक्तकी चरण-धूलिकी चाहमें निरन्तर उनके पीछे-पीछे चलते हैं, **'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः'** के शास्त्र-प्रमाण देकर अपनेको भगवान्‌से भी बढ़कर सिद्ध करने और मान-सम्मान-सेवा-पूजा प्राप्त करनेवाले भक्त-नामधारियोंमें कितने वास्तविक भक्त हैं, यह बतलाना बहुत कठिन है।

सचमुच भक्त तो अपनेको भक्त मानता ही नहीं। नम्रता और विनयके खयालसे नहीं, भक्तोचित व्यवहारकी दृष्टिसे नहीं, सचमुच ही उसके मनमें यह स्पष्ट अनुभव होता है कि 'मैं भक्त नहीं हूँ। दीन, मलीन साधनहीनपर भी करुणामय भगवान् कृपा करते हैं—यह उनका महत्त्व है। मुझमें तो भक्तिका लेश भी नहीं है।' इसी अनुभूतिके कारण 'सूर' और 'तुलसी'-सरीखे महान् भक्त अपनी दशापर करुणामय भगवान्‌के सामने रो पड़ते हैं* और सच्चे हृदयसे अपने दैन्यकी घोषणा करते हैं। वे इसलिये ऐसा नहीं करते कि लोग

* लाज न लागत दास कहावत।
सो आचरन बिसारि सोच तजि, जो हरि तुम कहँ भावत॥
सकल संग तजि भजत जाहि मुनि, जप तप जाग बनावत।
मो-सम मंद महाखल पाँवर, कौन जतन तेहि पावत॥
हरि निरमल, मलग्रसित हृदय, असमंजस मोहि जनावत।
जेहि सर काक कंक बक सूकर, क्यों मराल तहँ आवत॥
जाकी सरन जाइ कोबिद दारुन त्रयताप बुझावत।
तहूँ गये मद मोह लोभ अति, सरगहुँ मिटत न सावत॥
भव-सरिता कहँ नाउ संत, यह कहि औरनि समुझावत।
हौं तिनसों हरि! परम बैर करि, तुम सों भलो मनावत॥

उन्हें अधिक विनयी समझकर उनकी पूजा करें; बल्कि वे ऐसा ही अनुभव करते हैं। यह भक्तिका आभूषण है। और ऐसे ही सच्चे भक्तोंसे जगत्‌की वास्तविक सेवा और विश्वका यथार्थ कल्याण होता है; क्योंकि भगवान्‌की कृपाशक्ति ऐसे ही '**निर्मानमोह**' सच्चे भक्तोंपर उतरती है।

ऐसे भक्तोंका संग ही असली सत्संग है। इनसे अपने-आप ही भगवद्भावकी स्फूर्ति होती है। भगवद्भावका अणु-परमाणुमें भी बहुत दूरतक विस्तार होता है और उससे सहज ही जगत्‌का कल्याण होता रहता है और वह भाव इतना सुदृढ़ तथा शक्तिसम्पन्न होता है कि अनन्तकालतक उसका नाश नहीं होता।

ऐसे भक्तोंका सम्मान भगवान्‌को प्रिय और अपमान भगवान्‌को अप्रिय है। वे और सारे अपराध क्षमा कर देते हैं, परंतु भक्तापराध सहजमें क्षमा नहीं करते। स्कन्दपुराणमें कहा गया है—

हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान् नाभिनन्दति।
क्रुध्यते याति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट्॥
पूजिते भगवान् विष्णुर्जन्मान्तरशतैरपि।
प्रसीदति न विश्वात्मा वैष्णवे चापमानिते॥

भक्तोंको मारना, उनकी निन्दा करना, उनसे द्वेष करना, उनका यथायोग्य सम्मान न करना, उनपर क्रोध करना और उन्हें देखकर हर्षित न होना—ये छः पतन हैं।'

'जो मनुष्य भक्तका अपमान करता है, वह यदि सौ जन्मोंतक भी भगवान्‌की पूजा करे तो भी विश्वात्मा भगवान् उसपर प्रसन्न नहीं होते।'

ऐसे भक्तों—महात्माओंका चरण-रज-सेवन ही भक्ति अथवा भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

(५।१२।१२)

महात्मा जडभरतजी कहते हैं—'रहूगण! वे ज्ञानस्वरूप

नाहिंन और ठौर मो कहँ, ताते हठि नातो लावत।
राखु सरन उदार-चूड़ामनि तुलसिदास गुन गावत॥

(विनय-पत्रिका—तुलसीदासजी)

हरे! आपका दास कहानेमें मुझे लाज भी नहीं आती। जो आचरण आपको अच्छा लगता है, उसे मैं निश्चिन्त होकर छोड़ देता हूँ (मुझे पश्चात्तापतक नहीं होता)। मुनिगण जिसे सब प्रकारकी आसक्तियोंको छोड़कर भजा करते हैं, जिसके लिये जप, तप और यज्ञका अनुष्ठान करते हैं, उस प्रभुको मुझ-जैसा मूर्ख, महान् दुष्ट और पामर प्राणी कैसे पा सकता है। श्रीहरि! आप परम विशुद्ध हैं और मेरा हृदय मलसे भरा है, मुझे यही असमंजस जान पड़ता है। जिस तालाबमें कौए, गीध, बगुले और सूअर बसते हैं, वहाँ हंस क्यों आने लगे। (मेरे काम, क्रोध, लोभ और मोहभरे मलिन हृदयमें आप क्यों आने लगे।) जिन (पावन तीर्थों एवं महात्माओं)-की शरणमें जाकर विद्वान् पुरुष सांसारिक तीनों तापोंको—दुःखकी त्रिविध अग्निको बुझा लेते हैं, मैं वहाँ भी जाता हूँ तो मुझे घमंड, मोह तथा लोभ और भी अधिक सताते हैं। सौतियाडाह तो स्वर्गमें भी नहीं छूटता। 'संसाररूपी नदीको पार करनेके लिये संत ही नौका हैं', यह कहकर मैं दूसरोंको समझाता हूँ, परंतु स्वयं उनसे बड़ी भारी शत्रुता करके आपसे अपना भला मनाता हूँ। ऐसा नालायक होनेपर भी उदार-चूड़ामणि राघवेन्द्र! मुझे कहीं भी ठौर-ठिकाना नहीं है, इसलिये मैं जबर्दस्ती आपसे ही सम्बन्ध जोड़ता फिरता हूँ। प्रभो! (इस नीचकी ओर न देखकर अपने दयालु स्वभावसे ही) आप इसको अपना लीजिये। यह तुलसीदास आपका गुण गा रहा है।

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जो तनु दियो, ताहि बिसरायो, ऐसो नमकहरामी॥
भरि भरि उदर बिषय को धायो, जैसे सूकर ग्रामी।
हरिजन छाँड़ि, हरि-बिमुखन की निसिदिन करत गुलामी॥
पापी कौन बड़ो जग मोतें सब पतितनमें नामी।
सूर पतित को ठौर कहाँ है, तुम बिनु श्रीपति स्वामी॥

(सूरसागर—सूरदासजी)

श्रीपति स्वामी! मेरे समान कुटिल, दुष्ट और कामी और कौन है। जिसने (अकारण कृपा करके यह दुर्लभ) मनुष्य-शरीर दिया, उसीको भूल गया हूँ। ऐसा नमकहरामी हूँ। खूब पेट भर-भरकर खाता हूँ और गाँवके सूअरकी भाँति विषय-भोगोंके लिये मारा-मारा फिरता हूँ। भक्तोंका संग त्यागकर भगवद्विमुख लोगोंकी गुलामीमें रात-दिन लगा रहता हूँ। इस जगत्‌में भला मुझसे बड़ा पापी और कौन होगा। मैं तो सारे पापियोंमें सरनाम हूँ। परंतु नाथ! इस 'सूर' पतितको तुम्हारे सिवा और कहाँ ठौर है।

भगवान् महापुरुषोंके चरणोंकी धूलिसे अपनेको नहलाये बिना तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादिके दान, अतिथिसेवा—दीनसेवा आदि गृहस्थोचित कर्म, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि और सूर्यकी उपासना आदि किसी भी साधनसे प्राप्त नहीं हो सकते।'

भक्तराज प्रह्लादजीने अपने सहपाठी दैत्य-बालकोंको विशुद्ध भागवत-धर्मका मर्म बतलाकर कहा—

ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह
नारायणो नरसखः किल नारदाय।
एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां
पादारविन्दरजसाऽऽप्लुतदेहिनां स्यात्॥

(श्रीमद्भा० ७। ६। २७)

'यह ज्ञान उन्हीं लोगोंको प्राप्त हो सकता है, जिन्होंने भगवान्के अनन्य प्रेमी और अकिंचन भक्तोंकी चरणारविन्द-धूलिसे अपने देहको सराबोर कर दिया है।' महाराज युधिष्ठिरने भक्तप्रवर विदुरजीसे कहा है—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(श्रीमद्भा० १। १३। १०)

'आप-जैसे भगवान्के भक्त स्वयं ही तीर्थरूप हैं। आपलोग अपने हृदयमें विराजमान भगवान्के द्वारा तीर्थोंको भी महान् तीर्थ बनाते हुए विचरा करते हैं।'

अपने साधुहृदय भक्तोंके संगकी महिमा वर्णन करते हुए स्वयं भगवान् आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥

(श्रीमद्भा० ११। १२। १-२)

'जगत्की समस्त आसक्तियोंको नष्ट करनेवाले सत्संगसे मैं जैसा वशमें होता हूँ, वैसा योग, ज्ञान, धर्मानुष्ठान, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्टापूर्त कर्म और दक्षिणा आदिसे नहीं होता। यहाँतक कि व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्संगके समान मुझको वशमें करनेमें समर्थ नहीं हैं।'

उपर्युक्त अवतरणोंसे भक्तोंका कुछ महत्त्व समझमें आया होगा, परंतु सचमुच ही ऐसे भक्त विरले ही होते हैं।

आजकल तो भक्तोंका बाजार लगा है। कौन कैसा है, जानना-पहचानना बड़ा ही कठिन है। असलमें कलियुगका प्रभाव ही ऐसा है कि लोग अपनी भोगेच्छाकी सिद्धिके लिये जिस क्षेत्रको और जिस वेषको सफल साधन समझते हैं, उसीको अपना लेते हैं। इसीसे आज ऐसा कोई भी आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र नहीं, जहाँ ऐसे लोगोंकी भरमार न हो। इस भक्तिके क्षेत्रमें भी आज ऐसे लोगोंकी कमी नहीं है, जो किसी-न-किसी प्रकारसे अपनेको भक्त सिद्ध करके, भगवान्के पवित्र स्थानपर अपने विषय-विलासरत, भोग-विभ्रमपरायण व्यक्तित्वको लाकर बैठा देना चाहते हैं और भोले लोगोंकी श्रद्धा-भक्तिका दुरुपयोग कर भगवान्को धोखा देनेकी चेष्टा करके स्वयं धोखा खा रहे हैं और अपने अमूल्य जीवनको नष्ट कर रहे हैं; परंतु ऐसे लोगोंसे भोले साधकोंका बड़ा नुकसान होता है।

यह सत्य है कि किसी साधकका अनन्य लक्ष्य यदि केवल भगवत्प्राप्ति हो और वह धोखेमें आकर किसी दम्भी अभक्तको भी भक्त मानकर उसका श्रद्धापूर्वक सेवन करे तो उसके निर्मल हृदय, निष्कपट श्रद्धा और परमश्रेष्ठ अनन्य उद्देश्यको देखकर अन्तर्यामी सर्वसमर्थ प्रभु उसे बचा लेते हैं। इतना ही नहीं, उसे सरलहृदय साधक मानकर सच्ची राह बतलाते और अपनी कृपाशक्तिसे ही अपनी ओर खींच ले जाते हैं। दम्भी अभक्तके संगसे उसका पतन नहीं होता। बल्कि कहीं-कहीं तो दम्भी गुरुका भी ऐसे निर्मल हृदय परम श्रद्धालु शिष्यके संगसे निस्तार हो जाता है; परंतु ऐसा बहुत कम हुआ करता है। परम श्रद्धालु और अनन्य लक्ष्यवाले साधक कोई-कोई ही होते हैं। अधिकांश तो ऐसे होते हैं, जो संसारका भी सुख चाहते हैं—साथ ही भगवत्प्राप्तिकी भी कुछ इच्छा रखते हैं। ऐसा मध्यम श्रेणीका पुरुष यदि दम्भी विषयासक्त पुरुषको सच्चा भक्त मानकर उसमें श्रद्धा करने लगता है तो उसकी विषयासक्तिका असर उसपर भी हो जाता है और वह भी धीरे-धीरे उस दम्भी विषयासक्त पुरुषके साथ विषय-सेवन करनेमें प्रवृत्त होकर पापजीवन बन जाता है। फिर उसके मनसे भगवत्प्राप्तिकी रही-सही इच्छा भी मिट जाती है और वह साधारण विषयी पुरुषसे भी अधिक भयानक भेड़के रूपमें भेड़िया बनकर जगत्में पाप-तापका विस्तार करता है और स्वयं भी अपने

दम्भी गुरुके साथ भीषण नरकयन्त्रणाको प्राप्त होता है।

ऐसी स्थितिमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छावाले सरलहृदय साधकोंको बड़ी सावधानीके साथ अपना मार्ग निश्चय करना चाहिये और एकमात्र श्रीभगवान्‌का ही सीधा आश्रय लेकर उन्हींसे करुण प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान् सच्ची प्रार्थनाको सुनेंगे और उसके लिये किसी सच्चे पथप्रदर्शक भक्त या संत पुरुषकी सुन्दर व्यवस्था कर देंगे। यहाँतक कि आवश्यकता होनेपर स्वयं ही संत, भक्त या पथ-प्रदर्शकके रूपमें प्रकट होकर उसका जीवनसूत्र अपने हाथोंमें लेकर उसे अपनी भक्तिके मार्गपर ले चलेंगे। बस, होनी चाहिये सच्ची इच्छा और सच्ची प्रार्थना।

स्वाधीनता या स्वराज्य

स्वाधीनता आत्माका स्वभाव है, इसलिये सभी जीव परतन्त्रतासे घबराते हैं और स्वतन्त्रता चाहते हैं। परतन्त्रताको दुःख और स्वतन्त्रताको ही सुख बतलाया गया है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।

परंतु विचार इस बातका करना है कि वास्तविक पराधीनताका स्वरूप क्या है? शास्त्रके नियमोंकी, धर्मकी, राजाकी, माता-पिताकी, गुरुकी, स्वामीकी और सत्यादि सद्गुणोंकी परतन्त्रता यानी इनके वशमें रहकर इनके आज्ञानुसार जीवनयापन करना पराधीनता है या इनसे सर्वथा स्वतन्त्र होकर मन-इन्द्रियोंकी अधीनतामें यथेच्छ आचरण करना पराधीनता है। असलमें 'पर' क्या है, इसपर विचार करना है। अवश्य ही अत्याचारपरायण स्वेच्छाचारी राजा 'पर' है, संतान और शिष्यका अहित चाहनेवाले माता-पिता और गुरु भी 'पर' हैं, स्वार्थी स्वामी भी 'पर' है और अन्यायाचरणमें प्रवृत्त करानेवाला धर्म-नामधारी मत-विशेष भी 'पर' है। इनका विरोध करना और इनकी वशतासे मुक्त होना आवश्यक भी है और ऐसा होता भी आया है। 'वेन' और 'कंस' सरीखे राजाओंका विरोध और उनका विनाश धर्मसंगत माना गया। हिरण्यकशिपु-से पिता और कैकेयी-सी माता तथा शुक्राचार्य-से गुरुकी बात भी नहीं मानी गयी। अधर्मपरायण भगवद्विमुख स्वामियोंका भी त्याग किया गया और अधर्ममूलक मतोंका भी बहिष्कार करना पड़ा, तथा ऐसा करना उचित भी था। इसीसे तुलसीदासजीने गाया—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी॥
नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य, प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो॥

यह सब सत्य होनेपर भी असलमें ये ही 'पर' नहीं हैं। 'पर' तो हैं हमारे अन्तःकरणकी मलिन वासनाएँ, भोगकामनाएँ और विविध प्रकारके काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, वैर, हिंसा, दम्भ, द्रोह, अभिमान स्वार्थ, अधिकारलोलुपता, आसक्ति और ममता आदि मानसिक दोष। इन दोषोंकी उत्पत्ति अज्ञानसे है और अज्ञानका कारण है 'प्रकृति-परवशता।'

श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(१३।२१)

'प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुणोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही इस जीवके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होनेका कारण है।'

यह ऐसी परवशता है, जिसके कारण बिना इच्छा भी भाँति-भाँतिकी योनियोंमें भटकना और प्रारब्धानुसार सुख-दुःखोंका भोग बाध्य होकर करना पड़ता है। मनुष्य जबतक इस प्रकृतिके दासत्वसे नहीं छूट जाता, तबतक उसकी आत्माको स्वराज्य नहीं मिल सकता, वह सच्ची स्वाधीनता नहीं प्राप्त कर सकता। हमारा मन, शरीर और इन्द्रियाँ—ये सभी, यदि हमारे वशमें नहीं हैं तो हमारे 'स्व' के प्रतिद्वन्द्वी हैं—विरोधी हैं। आजकल जो यह कहा जाता है कि 'हम किसीके भी अधीन नहीं रहेंगे, किसी भी नियमके बन्धनमें नहीं रहेंगे; केवल अपनी अबाध असंयत प्रवृत्तियोंके अधीन रहेंगे, अपने मन-इन्द्रियोंकी इच्छाका अनुसरण करेंगे।'

यही पराधीनता है और ऐसा माननेवाले ही वस्तुतः पूरे पराधीन हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाजबद्ध होकर रहनेमें सभीको कुछ-न-कुछ परतन्त्रता स्वीकार करनी पड़ती है। परंतु मनुष्यके यथेच्छाचारी हो जानेपर समाजकी यह शृंखला टूट जाती है और फलतः दुःख-ही-दुःख आ जाते हैं। स्वाधीनताके इस विकृत स्वरूप यथेच्छाचारका ही यह फल है कि आज कहीं भी व्यवस्था या अनुशासनका सम्मान नहीं है। पिता-पुत्रमें, माँ-बेटीमें, गुरु-शिष्यमें, राजा-प्रजामें, मालिक-नौकरमें, पति-पत्नीमें, सास-पतोहूमें और भाई-भाईमें अनवरत मनोमालिन्य और असद्भाव पैदा हो गया है। इसीसे आज राष्ट्रगत, समाजगत, परिवारगत और व्यक्तिगत सब प्रकारकी सुख-शान्ति नष्ट होती जा रही है।

भगवान्ने गीतामें कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(१६।२३)

'जो मनुष्य शास्त्रकी विधिको छोड़कर मनमाना आचरण करता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है, न सुखको ही और न (मरनेके बाद) परम गतिको ही।'

शास्त्रके किसी भी नियन्त्रणको न माननेवाले मनुष्यकी मन-इन्द्रियाँ सर्वथा अनियन्त्रित और निरंकुश हो जाती हैं। उसका चित्त असंयत कामना-वासनाकी क्रीड़ास्थली बन जाता है और उनके वशमें होकर वह नाना प्रकारसे लोभ-मोह, वैर-विरोध, दम्भ-दर्प और द्वेष-हिंसाकी क्रियाएँ करता है। इससे उसको जीवनमें कभी भी निर्बाध और सत्य सिद्धि नहीं मिलती। वह प्राणपणसे चेष्टा करके जिस सिद्धिको प्राप्त करता है, वही असिद्धिके रूपमें परिणत हो जाती है; क्योंकि उसकी प्रत्येक क्रिया ही होती है कामना-लोभ और क्रोध-वैरको लेकर। ऐसे 'काम-क्रोधपरायण' पुरुषके बाहरी शत्रुओंका कभी अभाव नहीं होता। वह किसी भी स्थितिको क्यों न प्राप्त कर ले, वहीं उसके प्रतिद्वन्द्वी, उसके वैरी, उसके मार्गमें विघ्न पैदा करनेवाले तैयार रहते हैं और साथ ही उसकी दुर्दमनीय लोभ-वृत्ति उसे किसी भी स्थितिमें संतुष्ट नहीं होने देती। फलतः वह निरन्तर मानसिक शत्रुओंके परवश होकर ऐसी क्रियाएँ करता रहता है, जिससे बाहरके शत्रु सदा ही बढ़ते रहते हैं। इससे उसको जीवनमें कभी सुख नहीं होता और जीवनभर उद्दाम कामनाके वशमें होकर न्यायान्याय—धर्माधर्म-विचारसे रहित यथेच्छाचरण करनेवालेको परम गति तो मिल ही कैसे सकती है? इसीसे भगवान् कहते हैं—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६।१८—२०)

'अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोध आदिका आश्रय लिये हुए, दूसरोंके गुणोंमें दोषारोपण करनेवाले और अपने तथा दूसरोंके शरीरोंमें स्थित मुझ (भगवान्)-से द्वेष करनेवाले ऐसे उन द्वेषयुक्त पापकर्मा, निर्दयी नराधमोंको मैं बार-बार आसुरी योनियोंमें गिराता हूँ। अर्जुन! वे मूढ़ मनुष्य जन्म-जन्ममें बार-बार आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं। मुझको न पाकर उस (आसुरी योनि)-से भी और अति नीच गति (घोर नरकादि)-को प्राप्त होते हैं।'

आज शान्तिप्रिय सुकोमल-मति भारतीय तरुण-वर्गके मनमें स्वाधीनताके जिस उद्दाम-भावका उदय हुआ है, उसका भारतवासियोंको गर्व होना चाहिये। देशके युवकोंमें ऐसी लहरका बह जाना बड़े-से-बड़े त्याग-तपकी और उसके फलस्वरूप महान् सुफलकी पूर्वसूचना मानी जा सकती है, परंतु भयकी बात इतनी ही है कि दूसरोंकी देखा-देखी स्वाधीनताका अर्थ यदि अनुशासनशून्यता, उच्छृंखलता, स्वार्थपूर्ण अधिकारप्रियता, मनमाना आचरण या मन-इन्द्रियोंकी दासता हो गया तो उसका फल कभी शुभ नहीं होगा!

सच्ची स्वाधीनता प्राप्त करनेका और उसके फलस्वरूप सब दुःखोंके नाश करनेवाले प्रसादको प्राप्त करनेका उपाय भगवान्ने गीतामें बतलाया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

(२।६४-६५)

'अन्तःकरणको जिसने अपने वशमें कर लिया है,

ऐसा पुरुष राग-द्वेषसे रहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा जब विषयोंका सेवन करता है, तब वह प्रसादको प्राप्त होता है और उस प्रसादके प्राप्त होनेपर उसके समस्त दुःखोंका नाश हो जाता है।'

यही सच्ची स्वाधीनता है। सच्ची बात तो यह है कि हमलोग किसी दूसरेके दास नहीं हैं। शरीर परतन्त्र रहनेपर भी यदि हमारा मन और हमारी इन्द्रियाँ तथा मानसिक वासनाएँ हमारे अधीन हैं तो हम स्वाधीन ही हैं। ऐसी स्थितिमें शारीरिक पराधीनताका नाश करना बहुत सहज है। परंतु मन-इन्द्रियोंकी और कामना-वासनाओंकी गुलामी तो ऐसी चीज है कि इनके रहते शारीरिक और वैधानिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेनेपर भी मनुष्य कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता और कभी सच्चे स्वराज्य-सुखका उपभोग नहीं कर सकता। अतएव आत्माकी अपार शक्ति और नित्य विशुद्धिको समझकर बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके मन-इन्द्रियोंमें रहनेवाले इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मारना चाहिये।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

(गीता ३।४३)

ऐसा करनेसे ही असली स्वाधीनता प्राप्त होगी। भारतवर्ष इस समय वैधानिक या शारीरिक स्वतन्त्रता—स्वराज्यकी गौरवमयी प्राप्ति कर चुका है। यह बड़े आनन्दकी बात है। परंतु यहाँ बहुत बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है। हमारी यह स्वाधीनता केवल शरीरतक ही सीमित न रहे। भगवान्‌को आश्रय बनाकर हम यदि इस स्वाधीनताको—इस स्वराज्यको आत्माका स्वराज्य बना सकें, मन-इन्द्रियोंकी उद्दाम असंयम प्रवृत्तियोंपर विजय प्राप्त करके उनके दासत्वसे छूट सकें, तभी हमारा वह स्वराज्य परम आदर्श होगा और लोक-परलोक दोनोंमें कल्याणकारक होगा। भारतीय स्वराज्य या रामराज्यका यही स्वरूप है।

विनाशके पथपर

एक सज्जन बड़ी ही करुणापूर्ण भाषामें पढ़े-लिखे युवक-युवतियोंमें फैलते हुए व्यभिचारकी चर्चा करते हुए इस पापसे समाजके बचनेका उपाय पूछते हैं। आप लिखते हैं 'हमारा पतन हो गया। हमारे राम-लक्ष्मण और भीष्मार्जुनका आदर्श आज नष्ट हो गया। सीता-सावित्रीका नाम लेते जी काँपता है; हमारी जबान उनका नाम लेने लायक नहीं रही।....... दूसरे प्रान्तोंका तो मुझे पता नहीं; परंतु हमारे यहाँ जो कुछ हो रहा है, उसे देख-सुनकर दिलके टूक-टूक हुए जा रहे हैं। मेरी आँखोंसे आँसू कभी सूखते नहीं।....... धर्मका खयाल जाता रहा, विवाहका बखेड़ा क्यों किया जाय यह भाव बढ़ रहा है, जवान लड़कियोंमें भी यह भाव फैल रहा है। कॉलेज युवक-युवतियोंके परस्परके आकर्षणके केन्द्र हैं और सिनेमा या सिनेमाका बहाना मिलनका। उच्छृंखलता बढ़ रही है। अनेकों क्वाँरी लड़कियाँ गर्भवती हो रही हैं, भ्रूण-हत्याएँ भी होती हैं। आजकल संतति-निरोधके कृत्रिम उपायोंके सहज हो जानेसे तो अनर्थ और भी बढ़ गया है। अब तो कोई डर ही नहीं रहा। चारों ओर स्वतन्त्रताके नामपर मर्यादाके नाशका नंगा नाच हो रहा है। अदूरदर्शी जवान लड़के और लड़कियाँ मनमानी कर रहे हैं, भागने-भगानेकी वारदातें भी बढ़ रही हैं। क्या-क्या लिखूँ, एक-एक घटनाके लिये हृदयमें आग सुलग रही है।...... ऐसा कोई उपाय बतलाइये, जिससे यह पापका प्रवाह रुके। समाजमें यह पाप घर कर गया है, ऊपरसे नहीं मालूम होता; परंतु अंदरकी हालत बहुत ही बुरी है।......'।

पता नहीं पत्रलेखक महोदयका कथन कहाँतक सत्य है; परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसमें आंशिक सत्यता तो अवश्य ही है। कुछ अतिशयोक्ति भले ही हो। ये भाई बहुत ही दुःखी मालूम होते हैं, सम्भव है किसी घटनाका इनपर असर पड़ा हो। मैं इस बारेमें कुछ लिखना नहीं चाहता था, परंतु इन्होंने बहुत ही आग्रहपूर्वक आज्ञा दी है, इसलिये लिखना पड़ता है। वास्तवमें आज हमारे नौजवानोंकी दशा बहुत ही शोचनीय हो रही है। विचार करनेपर इस बुराईमें मुख्यतया निम्नलिखित कारण जान पड़ते हैं—

१-स्कूल-कॉलेजोंकी धर्महीन पढ़ाई।

२-यूरोपीय सभ्यता-संस्कृतिका प्रभाव।

३-स्कूल-कॉलेजोंमें लड़के-लड़कियोंका एक साथ पढ़ाया जाना।

४-युवती-विवाह।

५-सिनेमाओंका बढ़ता हुआ प्रचार।

६-विलासिता, फैशन, आरामतलबी और आलस्य।

७-शारीरिक सौन्दर्यका महत्त्व और रूपप्रतियोगिताका प्रचार।

८-सभी बातोंमें स्त्रियोंकी स्वतन्त्रता और समानताका दावा।

९-संतान-निरोधके कृत्रिम उपायोंका प्रचार।

१०-सुधारोन्मत्तता।

अब इनपर संक्षेपमें कुछ विचार करें।

भारतवर्षका प्राण धर्म है, धर्मज्ञान ही शिक्षाका मुख्य विषय है, धर्मज्ञानहीन मनुष्य आर्यसभ्यतामें पशु माना जाता है। परंतु आजकी शिक्षामें धर्मका कहीं नामनिशान भी नहीं है। केवल अर्थकरी विद्या वास्तविक विद्या नहीं है। फिर आज तो यह विद्या अर्थकरी भी नहीं रह गयी। विश्वविद्यालयोंसे प्रत्येक वर्ष लाखों विद्यार्थी डिग्रियाँ पाकर निकलते हैं और फिर उन्हें कहीं नौकरी भी नहीं मिलती। वर्तमान शिक्षाक्रम तो इस दृष्टिसे भी लाभदायक सिद्ध नहीं हो रहा है। धर्मको तो इस शिक्षाक्रमने उड़ा ही दिया है। इस शिक्षाका ही यह परिणाम है कि आज धर्मके नामसे भी पढ़े-लिखे होनेका अभिमान करनेवाले लोग-नाक-भौं सिकोड़ते हैं। जहाँ धर्मभाव लुप्त होगा, वहाँ संयम नहीं रहेगा और संयमके नाशसे व्यभिचार फैलेगा ही!

वर्तमान शिक्षाका एक बहुत बुरा परिणाम यह हुआ है कि भारतवासियोंकी अपने पूर्वपुरुष, अपने साहित्य, अपनी सभ्यता और संस्कृति एवं अपनी सारी त्यागमयी जीवन प्रणालीके प्रति अश्रद्धा हो गयी है। देशकी गुलामी इस मनकी गुलामीसे कहीं कम खतरनाक होती है। शारीरिक परतन्त्रता प्रयाससे सहज छूट सकती है, परंतु इस मानसिक परतन्त्रताका छूटना शारीरिक स्वतन्त्रताकी हालतमें भी बहुत कठिन है। भारतवासियोंने अपना मन पाश्चात्त्य संस्कृतिके हाथों बेच दिया। इसीसे आज बात-बातमें हमें उनकी सभ्यता अच्छी लगती है। उनके साहित्यपर हमारी श्रद्धा बढ़ रही है; उनके महात्माओंको ही हम वास्तविक महात्मा मानते हैं, हमारे धर्मग्रन्थोंकी बात भी यदि उनकी वाणीसे या कलमसे परिष्कृत होकर (बिगड़कर) हमें मिलती है तो हम उसे मान लेते हैं। अपना मस्तिष्क तो हमने उनकी गुलामीके लिये सौंप दिया। परिणाम यह हुआ रीति-नीति, वेश-भूषा, बोल-चाल, विवाह-शादी, व्यवहार-बर्ताव सभी बातोंमें आज हम उनकी नकल करनेमें ही अपनेको धन्य समझते हैं। पुरानी चालके मनुष्योंको तो अन्धविश्वासी बतलाया जाता है; परंतु आजकल पाश्चात्त्योंकी यह अन्ध-नकल इतनी बढ़ गयी है कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं रही। महात्मा गाँधीजीके प्रभावसे वेश-भूषामें कुछ सादगी या भारतीयता आयी थी, परंतु मन तो अभी उसी ओर खिंचे चले जा रहे हैं। इस संस्कृतिका प्रभाव हमारे नौजवानोंपर सबसे अधिक पड़ा। कारण स्पष्ट है; होश सँभलते ही स्कूलोंमें गये और वहाँके नौजवान गुरु—मास्टरोंसे—जिनमेंसे अधिकांश अपना मन और मस्तिष्क बहुत अंशमें पाश्चात्त्य संस्कृतिको अर्पण कर चुके हैं—वैसी ही शिक्षा मिली। फिर कॉलेजमें भरती हुए; धर्मग्रन्थोंका कहीं अक्षर भी पढ़नेको नहीं मिला। यदि कहीं मिला तो वह पाश्चात्त्य और पाश्चात्त्य सभ्यताके भक्त, विद्वानोंके द्वारा विकृत किया हुआ। धर्मज्ञान प्राप्त ही नहीं हुआ। परिणाम यह हुआ कि इन्हें पुराना सोना भी लोहा दीखने लगा। पुराने गुलाबमें भी नाबदानकी बदबू आने लगी, क्योंकि दृष्टि और नाक ही बदल गयी। इसीका परिणाम आज हमारी लड़कियोंपर भी पड़ रहा है और पढ़-लिखकर वे भी उसी साँचेमें ढल रही हैं। इस सभ्यताके प्रभावके कारण धर्म, लज्जा, शील-मर्यादा, भोगोंसे वैराग्य, परमार्थसाधन आदि बातें मनोंमेंसे निकल गयीं; व्यभिचारवृद्धिमें यह भी एक प्रधान कारण है!

बालविवाहसे समाजकी हानि हुई और होती है, परंतु उस बालविवाहका परिवर्तन जिस 'युवतीविवाह' और 'विवाहकी अनावश्यकता' के रूपमें हो रहा है, यह तो और भी भयंकर है। बालविवाहमें बुराई थी और है, बालविवाहकी प्रथाका बहुत दुरुपयोग हुआ और अब भी हो रहा है, इसलिये उसका निषेध आवश्यक था और अब भी है। परंतु उसमें एक बड़ा भारी लाभ अन्तर्हित था जो अब नष्ट हो रहा है। हिंदूधर्मके अनुसार विवाह एक धार्मिक संस्कार है। दो आत्माओंका परस्पर सात्त्विक मिलन है। उसमें कामवासनाको स्थान नहीं है। वहाँ धर्म है, रूपपर मोह नहीं है। इसी उद्देश्यसे लड़के और लड़कियोंके माता-पिता और अभिभावक अपने कुल, धर्म और आचारके अनुकूल

घर ढूँढ़कर सम्बन्ध करते थे। उसमें लड़के और लड़कियोंकी उम्र, स्वभाव आदि तो अवश्य ही देखे जाते थे। यहाँतक कि बालकोंके माता-पितातकके स्वभावका पता लगाया जाता था और परीक्षा की जाती थी। दोनोंका जीवन सुखमय रहे, इस बातके लिये पूरा ध्यान रखा जाता था। अवश्य ही दहेजकी प्रथाका विकृत रूप हो जानेसे तथा अन्य कई कारणोंसे माता-पिताद्वारा वर-कन्याके चुनावमें दोष आ गये तथापि वह लाभ तो बहुत अंशमें था ही। जिस दिन सगाई हुई और लड़के-लड़कियोंको इस बातका जब पता लगा तभीसे उनका परस्पर स्नेहसूत्र बँध जाता था। ममत्व बढ़ता जाता था। यह निश्चय उन दोनोंके मनमें हो ही जाता था, हम दोनों पति-पत्नी हो गये। अतएव प्रेम बढ़ता था और किसी कारणसे दूसरी किसी ओर देखनेकी गुंजाइश बहुत ही कम हो जाती थी। कोर्टशिपकी कल्पना भी उनके मन नहीं आने पाती थी। इस प्रकार माता-पिताद्वारा किये जानेवाले निश्चित सम्बन्धमें उच्छृंखलता और रूपपर मोहको स्थान नहीं था। भूल वहाँ भी होती थी, परंतु बच्चोंके भावी हितकी चिन्तामें लगे हुए माता-पिता आदि अभिभावकगण किसी आवेगके वशमें न होकर शान्तचित्तसे निर्णय करते थे। उन्हें अपने कर्तव्यका खयाल रहता था। उनके अंदर सब तरहसे 'बराबरकी जोड़ी' ढूँढ़नेकी एक सुन्दर पवित्र भावना काम करती थी। इससे उनके निर्णयमें भूल कम होती थी। परंतु जवान उम्रमें पहुँचे हुए युवक-युवती भाँति-भाँतिके आवेगोंके वशमें होकर आवेशवश जो परस्पर चुनाव करते हैं, उसमें बड़ी भारी भूल हो जानेकी सम्भावना है। भूलें भी होती हैं, जिनके परिणाममें या तो उनका जीवन मृत्युकालपर्यन्त दु:खी रहता है अथवा उन्हें तलाकका मार्ग ढूँढ़ना पड़ता है। मेरी समझमें 'कोर्टशिप' जाती पसंदगी' की प्रथाने ही तलाकके कानूनकी सृष्टि की है। यहाँ भी यही दशा रही तो तलाकका पाप-ताण्डव होगा ही। अस्तु, लड़कोंका बड़ी उम्रमें विवाह करनेकी चर्चाने ज्यों जोर पकड़ा, त्यों ही लड़कियोंके लिये भी ऐसा ही विचार आने लगा। लड़कियाँ भी युवती होनेतक कुमारी रहने लगीं। इसीका परिणाम यह हुआ जिससे हमारे पत्रलेखक भाई आज दु:खके आँसू बहा रहे हैं।

उच्च शिक्षा-प्रचारके लिये तो पुकार मची ही हुई थी। लड़कोंके साथ ही उदार महानुभावोंकी शुद्ध भावनाके दानसे और प्रचारकोंकी सदिच्छासे लड़कियोंको उच्च शिक्षा दिलानेकी व्यवस्था हुई। उच्च शिक्षासे तात्पर्य बी० ए०, एम० ए० की डिग्रियोंसे ही है। इसके लिये लड़कियाँ भी कॉलेज जाने लगीं। धर्महीन पढ़ाई, धर्ममें अश्रद्धा, युवावस्था और संयमकी शिक्षाका अभाव तो था ही, फिर जवान लड़के-लड़कियोंका एक साथ पढ़ना, काठ और आगके संयोगकी भाँति बुराई पैदा करनेमें बहुत ही सहायक हुआ। इसीके साथ एक बीमारी लड़कियोंमें फैशनकी बढ़ी; विलासिताने जोर पकड़ा। आरामतलबी तो इस शिक्षाका प्रत्यक्ष प्रमाण है। किसान या दूकानदारका लड़का अंग्रेजी पढ़कर खेती या दूकानदारी नहीं कर सकता। कई प्रकारके जूते, क्रीम, लोशन, स्नो, साबुन, पाउडर, चश्मा, फोटोग्राफी सामान आदि कई ऐसी चीजोंकी उसे आदत हो जाती है, जो उसके जीवनको आलसी, खर्चीला और आरामतलब बना देती हैं। यह रोग हमारी लड़कियोंमें तो और भी जोरसे बढ़ रहा है। पढ़ी-लिखी लड़कियाँ घरका काम न सीखती हैं, न करना चाहती हैं। उनसे उनको घृणा है। फैशन बनाना, सजना, अखबार पढ़ना, उपन्यास और काव्य पढ़ना, फोटो उतारना, लेख लिखना, सभाओं और जलसोंमें जाना आदि इतने काम उनके बढ़ गये हैं। अब घरके कामोंके लिये उन्हें फुरसत भी नहीं मिलती। सुना जाता है करोड़ों रुपये वार्षिक इस सौन्दर्यके सामानके लिये विदेश जाते हैं। फैशन और आरामतलबीसे कामुकता बढ़ती है, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

इसके बाद सिनेमाने तो बड़ा ही अनर्थ किया। समाजमें दुराचार फैलानेका काम सिनेमाओंके द्वारा बड़े जोरोंसे हो रहा है। जबतक बोलनेवाले चित्रपट नहीं थे, तबतक कुछ खैर थी। परंतु सवाक् चित्रपटोंका प्रचार जबसे हुआ तबसे तो दिनोदिन खराबी बढ़ती ही जा रही है। यह सत्य है कि चित्रपट एक कला है और कलाका विस्तार देशकी उन्नतिका सूचक है। परंतु विचार यह करना है कि जिस कलाके विस्तारसे देशके हृदयमें क्षय रोगका उदय होता हो, जो कला देशके युवक-युवतियोंको शारीरिक और मानसिक संक्रामक व्याधियोंसे ग्रस्त कर परिणाममें कराल कालके ग्रास बनानेमें और उनके आदर्श पवित्र चरित्रको नाश

करनेमें सहायता करती हो, वह कला तो वस्तुत: काल ही है, फिर यह भी प्रश्न है कि कलाकी दृष्टिसे कहाँ कितना प्रचार हो रहा है? सिनेमा-कम्पनियोंके मालिकोंमें कितने ऐसे हैं जो कलाके लिये इस व्यवसायको करते हैं। मेरी समझमें शायद ही कुछके हृदयोंमें कलाकी उन्नतिका ध्यान होगा। अधिकांशका ध्यान तो धनकी ओर है। धन आता है उन्हीं चित्रपटोंसे, जिनको ज्यादा लोग देखना चाहें; और ज्यादा लोग उन्हीं चित्रपटोंको देखना चाहते हैं (कुछ तो ऐसी प्रवृत्ति स्वाभाविक है ही और कुछ सिनेमाओंद्वारा बढ़ रही है) जिनमें सुन्दरी युवती स्त्रियोंके अर्धनग्न अंगोंके प्रदर्शनयुक्त पार्ट और शृंगारके गायन हों। इसीलिये फिल्म-कम्पनियाँ बड़े-बड़े वेतनोंपर नयी-नयी सुन्दरी युवतियोंको ढूढ़-ढूँढ़कर लाती हैं। इनमें अधिकांश लज्जाशीलताको तिलांजलि दी हुई ही होती हैं। धार्मिक भावोंवाली युवती कुलकन्याएँ तो लाज-शर्मको तिलांजलि देकर परपुरुषोंके साथ मिलकर उनके अंगोंका स्पर्शतक होने देकर खुले अंगोंसे नाट्य दिखानेको क्यों आने लगीं? [दु:ख है कि कुछ समयसे भले घरोंकी लड़कियोंमें भी फिल्म-कम्पनियोंमें नाचनेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है, यह और भी पतनका चिह्न है।] सनातनधर्मियोंको तो रोना चाहिये कि उनके आलस्य, अविवेक एवं धर्महीनताके कारण व्यर्थ ही कुमारी या मिस कहलानेवाली उच्छृंखल तरुणियोंके द्वारा प्रात:स्मरणीया जगज्जननी सीता, जो पर-पुरुषका अंग-स्पर्श होनेके डरसे श्रीहनुमान्‌जीके साथ लंकासे लौटनेको तैयार नहीं हुई थीं और भगवती योगमाया राधा, सती सावित्री, पार्वती, दमयन्ती और द्रौपदी आदिके निर्लज्ज पार्ट होते हैं!! निर्लज्ज इसीलिये कि उन्हें तो फिल्म-कम्पनियोंके मालिकोंकी नमकहलाली करनेके लिये अभिनयमें अपने अंग दिखलाकर और हाव-भाव बताकर दर्शकोंके चित्तको खींचना है और इसमें उन्हें कोई लज्जा है नहीं। बहुत बुरी बात तो यह है कि इससे दर्शकोंका चित्त केवल चित्रपट देखनेके लिये ही नहीं खिंचता, उन युवतियोंकी ओर भी बुरी वासना उनके मनमें उत्पन्न होती है। जिसका परिणाम पतनके सिवा और कुछ नहीं है। इसी प्रकार दर्शिकाओंके मनोंमें भी बुरी भावनाएँ आती हैं। लज्जा छूटती है और अमर्यादा तथा उच्छृंखलताकी भावनाएँ बढ़ती हैं। इसीका परिणाम व्यभिचार है और इसीसे भले घरोंकी लड़कियाँ भी आज धनके लोभसे या मानसिक विकारोंकी प्रेरणासे कुल-मर्यादाको मिटाकर कलाके नामपर और क्रान्तिका बहाना बताकर फिल्म-कम्पनियोंमें भर्ती होनेके लिये ललचा रही हैं। भगवान् ही जानें; इसका कितना बुरा फल होगा! [चित्रपटोंकी अधिकतासे गरीब देशकी जो आर्थिक हानि हो रही है वह भी बड़ी ही भीषण है।]

इसीके साथ पाश्चात्त्य जगत्‌की नकल करते हुए आजकल हमलोग भी शारीरिक सौन्दर्यको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व देने लगे हैं। यूरोपमें रूपकी हाट लगती है। वहाँ सुन्दरी स्त्रियोंके सौन्दर्यकी प्रतियोगिता होती है। उसमें जो सबसे अधिक सुन्दरी साबित होती है उसको इनाम मिलता है और उसके सौन्दर्यकी ख्याति समाचारपत्रोंद्वारा देश-देशान्तरोंमें फैल जाती है। फल यह होता है कि उसका रूप बहुत-से लोगोंका मन बिगाड़नेमें कारण बनता है। कुछ लोगोंका कहना है कि इस रूपप्रतियोगिताके प्रचारका उद्देश्य स्त्रियोंके स्वास्थ्यको सुधारना है। चाहे यह उद्देश्य रहा हो परंतु आजकल जो कुछ हो रहा है वह तो बड़ा ही बीभत्स है। उससे तो समाजका मानसिक स्वास्थ्य नष्ट हो रहा है। इनाम और नामके लोभसे युवतियाँ अपने शील-संकोचको छोड़कर कामुक पुरुषोंके सामने अपने रूप-यौवनको बड़े ही निर्लज्जभावसे कसौटीपर रखती हैं। वे ऐसा शृंगार और वेष-भूषा बनाती हैं कि जिससे उनके अंगोंका सौन्दर्य खुला दीख पड़े। स्त्रियोंके लिये शृंगार वर्जित नहीं है, परंतु वह है एक निर्दिष्ट सीमाके अंदर। स्त्री पतिकी प्रसन्नताके लिये ही, उसके प्रीति-उत्पादनके लिये ही शृंगार करती है और इस शृंगारमें भी सब अवस्थाओंमें अंग खुले नहीं रखे जाते। जो शृंगार राह चलते लोगोंको सौन्दर्य दिखानेके लिये होता है और जिसमें शरीरका अधिकांश अनावृत (खुला) रखना आवश्यक होता है, उसको पतनके सिवा और क्या कहा जाय? ऐसा तो रूपको बेचकर जीविका चलानेवाली वेश्याएँ भी नहीं करतीं। इस रूप-प्रतियोगितासे स्त्रियोंकी मर्यादा मिट्टीमें मिल रही है, वे अपने एक विशिष्ट स्थानसे नीचे—बहुत नीचे गिर रही हैं। यह पवित्र शीलवती नारी जातिका घोर पतन है। खेद है कि यह विष भारतवर्षमें भी फैल रहा है। यहाँ भी रूप-प्रतियोगिता आरम्भ हो गयी है। इस अवस्थामें भी व्यभिचार नहीं बढ़ेगा तो कब बढ़ेगा?

इसके सिवा स्वतन्त्रता और समान अधिकार तथा सुधारके नामपर आज जो अनर्गल अनाचार हो रहा है, उससे तो सुधारकी जगह संहार ही हो रहा है। आजकल जड़को काट डालना ही सुधार समझा जाता है। इस सुधारोन्मत्तताने भी दुराचारके पथपर समाजके युवक-युवतियोंको अग्रसर करनेमें बड़ी भारी सहायता पहुँचायी है।

सुधारमें भी संयमकी आवश्यकता है। असंयमपूर्ण सुधारसे जितना नाश होता है उतना सुधार न होनेसे नहीं होता। आज असंयमपूर्ण सुधारकी भयावनी धारा सब ओर बह रही है। इसमें किसी भी पुरानी मर्यादा, सद्भावना और सात्त्विकताको स्थान नहीं है। बस, विध्वंस—केवल विध्वंस!! इस विध्वंसकी चिनगारीका यह दुष्ट फल है कि हमारी सती, सदाचारिणी, शील-संकोचवती, पुण्यचरित्रा और धर्मभीरु, देवपूजिता कुल-कन्याएँ मोहवश आँखें मूँदकर नारकीय अग्निकुण्डमें कूदनेको तैयार हो रही हैं और हम उन्मत्त इसे मान रहे हैं—उन्नति!!!

मेरे विचारसे इस पापसे बचनेके उपाय ये हैं—यद्यपि कालकी प्रतिकूलतासे कठिनता बहुत है, परंतु सावधानीके साथ उत्साहपूर्वक अनवरत चेष्टा की जाय तो बहुत अंशमें यह बढ़ता हुआ पाप कम हो सकता है।

१-यथासाध्य शिक्षाक्रममें धार्मिक और सदाचार-सम्बन्धी पुस्तकें रखवाना।

२-प्राचीन कथाओं, उपदेशों और युक्तियोंद्वारा भारतीय सभ्यताके महत्त्वका प्रचार करना

३-स्कूल-कॉलेजोंमें लड़के-लड़कियोंको एक साथ नहीं पढ़ाना।

४-कन्याओंको अंग्रेजीकी उच्च शिक्षा दिलानेका मोह छोड़ देना।

५-ईश्वर और धर्ममें श्रद्धा बढ़े ऐसे साहित्य और विचारोंका प्रचार करना।

६-यथासाध्य सिनेमा आदि न देखना और उनकी बुराइयोंसे घरको तथा समाजको बचाये रखनेकी चेष्टा करना।

७-अपने जान-पहचानमें कोई लड़की चित्रपटमें नाट्य करना चाहे तो उसे समझा-बुझाकर उसकी बुराइयाँ समझाकर रोकना।

८-माता-पिता या अभिभावकोंको यह ध्यान रखना; जिसमें युवती होनेके पहले ही लड़कीका विवाह कर दिया जाय।

९-यथासाध्य लड़कोंको भी बहुत बड़ी उम्रतक क्वाँरे न रखना।

मैंने विश्वस्त सूत्रसे सुना था कि भारतवर्षके एक प्रसिद्ध बड़े नगरकी सरकारी यूनिवर्सिटीके छात्रोंमें ६० प्रतिशत अविवाहित लड़के बुरी बीमारियोंसे ग्रसित हैं। यदि यह सत्य है तो बड़े ही दुःखकी बात है। अरण्यवासी विषयत्यागी पुरुषोंके हृदयमें भी जब दुःसंगवश विकार उत्पन्न हो जाता है; तब आजकलके विलासितापूर्ण अमर्यादित, धर्मभयशून्य वातावरणमें, फैशन और सजावटमें सने हुए शृंगारकी कविताएँ और नाटक-उपन्यास पढ़नेवाले, कृत्रिम उपायोंसे संतति-निरोधकी सुविधा रहते, साथ-साथ रहनेवाले युवक-युवतियोंसे सर्वथा पवित्र बने रहनेकी आशा रखना, उनकी शक्तिसे अधिक आशा करना है—दुराशामात्र है। अतएव योग्य वयमें उनका विवाह कर देना उत्तम है।

१०-पढ़नेवाली लड़कियोंमें भी फैशन न आवे और वे घरका काम-काज खुद कर सकें, ऐसी आदत माता-पिताको खुद आदर्श बनकर उनमें डालनी चाहिये। उन्हें घरका काम सिखाना और उनसे कराना चाहिये। फैशन, विलासिता, आलस्य, आरामतलबीके विषैले भावोंसे उन्हें बराबर बचाना चाहिये। याद रखना चाहिये कि गृहस्थ-संचालनमें निपुण, शील और चरित्रवती कर्तव्यपरायणा स्त्री ही वास्तवमें शिक्षिता है, कई भाषाओंको जाननेवाली नहीं।

११-रूपप्रतियोगिताके विचारोंका घोर विरोध करना चाहिये। कम-से-कम भारतीय संस्कृतिकी दृष्टिसे तो यह बहुत ही बुरी बात है। बाजारमें बैठकर रूप बेचनेवाले वेश्याओंसे भी यह व्यवहार नीचा है, क्योंकि यह भले घरोंकी कुलललनाओंद्वारा किया जाता है। हमारी आदरणीया माता और बहिनोंको इसकी बुराइयाँ समझकर इससे दूर रहना चाहिये, इतना ही नहीं, ऐसे आयोजन इस देशमें न होने पावें, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये।

१२-जो वास्तवमें सुधार करना चाहते हैं, वे महानुभाव संयम और धीमी चालसे चलनेकी कृपा करें। डालियोंके सुधारके लिये पेड़की जड़ न उखाड़ें।

ऐसा उपदेश न करें जिसमें भोगोंकी प्रवृत्ति जोर पकड़े। इन्द्रिय-भोगोंके लिये संतति-निरोधके कृत्रिम उपायोंको काममें लानेकी कभी सलाह न दें। ये उपाय अप्राकृतिक हैं और दोषयुक्त हैं तथा व्यभिचारकी वृद्धिमें बड़े ही सहायक हैं। जनसंख्याकी वृद्धि, बीमारी, दरिद्रता आदि कारणोंसे संतति-निरोधकी आवश्यकता होती है; परंतु उसका भी असली इलाज संयम ही है।

इसी प्रकार सभी विधवा बहिनोंको भी भोगोंके अभावमें दु:खोंके चित्र दिखलाकर उनके मनको न बिगाड़ें, उन्हें संयमके मार्गसे च्युत न करें। विधवामात्र ही संयमसे नहीं रह सकती, ऐसा मानना उचित नहीं है। वातावरणके दोषसे ही विकार उत्पन्न होता है। आज भी सैकड़ों पवित्र विधवाएँ हैं, उनके पवित्र शीलव्रतपालनके आत्मविश्वास और उनकी प्रबल इच्छाशक्तिको कमजोर न करें।

ऐसे साहित्य और चित्रोंका प्रचार न करें, जिनसे स्त्री-पुरुषोंके विषय-भोगकी प्रवृत्तिको उत्तेजना मिलती हो। (खेद है कि आजकल बहुत-से साहित्यिक और चित्रपटसम्बन्धी पत्रोंमें युवती स्त्रियोंके छायाचित्र बहुत अधिक मात्रासे छपते हैं, जिनका परिणाम अच्छा नहीं हो रहा है। सम्मान्य सम्पादक महोदयोंकी सेवामें मेरी नम्र प्रार्थना है कि वे एक बार इस विषयपर गम्भीरतापूर्वक विचार करें।) फैशनके दोष और सादगीके गुण उनके सामने रखें और पाश्चात्य संस्कृतिके पीछे—आँखें बंद करके बह जानेकी सलाह कृपया कभी न दें।

यह मेरी हाथ जोड़कर विनम्र प्रार्थना है; आज्ञा नहीं। मुझे इसीमें सच्चा सुधार दीख पड़ता है। ऐसा मेरे दृष्टिकोणके कारण ही हो सकता है। मैं किसीकी नीयत और ईमानदारीपर किसी प्रकारका संदेह या दोषारोपण नहीं करता हुआ नम्रतापूर्वक सबके सामने अपने ये विचार विचारार्थ रखता हूँ। इनमें जो अच्छे मालूम हों उनपर विचार करें, शेष तो मेरे विचार मेरे पास ही रहेंगे। कहीं कटूक्ति आ गयी हो तो क्षमा करें।

१३-जो सज्जन इन विचारोंके अनुकूल हों उनको चाहिये कि समाचारपत्रों तथा सामाजिक और साहित्यिक मासिक पत्रोंद्वारा इन भावोंका प्रचार करनेकी चेष्टा करें। धर्महीन शिक्षा, यूरोपकी सामाजिक संस्कृति, लड़के-लड़कियोंकी सहशिक्षा, लड़कियोंको अंग्रेजीकी उच्च शिक्षा, युवतीविवाह, फैशन और विलासिता, वर्तमान चित्रपट, सौन्दर्यप्रतियोगिता, संतान-निरोधके कृत्रिम साधन और सुधारके नामपर होनेवाले संहारके दोष नम्रता और प्रेमके साथ युक्तिपूर्ण शब्दोंमें सबके सामने बार-बार रखें और इनके विपरीत गुणोंके युक्तिपूर्ण लाभ बतलावें।

ऐसा होगा तो आपलोग दुराचारके पथपर जाते हुए हमारे समाजके जीवनस्वरूप, हमारे हृदयके टुकड़े और हमारी आँखोंके तारे कोमलहृदय लड़के-लड़कियोंको विनाशके भड़कीले पथसे हटाकर सदाचारके सुहावने पथपर ला सकेंगे।

इसमें मैंने जो कुछ लिखा है, किसीका दिल दुखानेके लिये कुछ भी नहीं लिखा है। वस्तुस्थिति जैसी कुछ मेरे ध्यानमें आयी, उसीका दिग्दर्शन कराया गया है। इसमें मेरी भूल भी हो सकती है। भूलोंके लिये मैं पहले ही क्षमा चाहता हूँ। वास्तवमें मैं ऐसा अनुभवी और दूरदर्शी मनुष्य नहीं हूँ जो समाजसुधारके लिये यथार्थ उपाय बता सकूँ! सम्भव है मेरा यह निरीक्षण और परीक्षण ही सदोष हो, परंतु मुझे अपने विचारोंमें इस समय कोई संदेह नहीं है।

साहित्यका सदुपयोग

मनुष्य-जीवनका प्रधान उद्देश्य है भगवत्-साक्षात्कार या भगवत्प्रेम! इसीमें जीवनकी सार्थकता है अतएव जगत्की प्रत्येक वस्तु भी तभी सार्थक होती है जब उसका प्रयोग भगवान्के लिये हो। साहित्य एक बड़ी महत्त्वकी वस्तु है। उसमें मनुष्यके चित्तको खींचकर उसे चाहे जिस ओर लगा देनेकी शक्ति है। साहित्यका ही प्रभाव था कि एक दिन भारतकी गति सर्वथा भगवदभिमुखी थी। जिसकी जीवन-संस्कृतिमें सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रमकी संयममयी शिक्षा इसी उद्देश्यसे होती थी कि मानव भगवत्-साक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त कर ले। **'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'** (कठोपनिषद् १।२।१५, गीता ८।११) और आज यह साहित्यका ही प्रभाव है कि भारतीय मानव भगवद्विमुख होकर भोगोंकी ओर दौड़ रहा है। परंतु इसमें साहित्यकी सार्थकता नहीं है।

यह उसका दुरुपयोग है। जो साहित्य भगवत्प्रीत्यर्थ प्रस्तुत होता है, जो मनुष्यकी अन्तरकी सुप्त पवित्र सात्त्विक वासनाओंको जगाकर उसे भगवदभिमुखी बना देता है, वही सत्-साहित्य है और उसीसे मानव-कल्याण होता है। इसके विपरीत जिस साहित्यसे भोगवासना बढ़ती है, जो अंदरकी असत्-वृत्तियोंको उभाड़कर मानवको भगवान्‌की ओरसे हटा देता है और भोगोंकी अदम्य लालसासे व्याकुल कर देता है, वह असत्-साहित्य है और उससे मानव-जगत्‌का सर्वतोमुखी पतन होता है।

आजकल 'कला' के नामपर ऐसे उच्छृंखलता बढ़ानेवाले साहित्यका बड़े जोरोंसे निर्माण हो रहा है और पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तक-पुस्तिकाओं, स्कूल-कॉलेजों और नाटक-सिनेमाओंके द्वारा उसका बड़े चाव और उत्साहसे प्रचार किया जा रहा है। ऐसे साहित्यकारोंका कहना है कि 'कला ही साहित्यका प्राण है। जिसमें 'कला' नहीं वह साहित्य ही नहीं। किस साहित्यका समाज-जीवनपर क्या परिणाम होगा, वह उससे भोगोन्मुख बनेगा या भगवदभिमुख। इस विचारसे कोई मतलब नहीं। देखना तो यह है कि साहित्यमें 'कला' है या नहीं, वह अपने कला-सौन्दर्यसे जनसमाजके चित्तको आकर्षित करता है या नहीं, तत्काल उनके मन, इन्द्रियोंको प्रफुल्लित करता है या नहीं, फिर चाहे वह भला कहा जाय या बुरा। उसकी भलाई-बुराईका मापदण्ड कला है न कि समाजपर होनेवाला परिणाम!'

ऐसे आकर्षक साहित्यके प्रचारसे—जो 'ललित कला' की नकाब पहनकर समाजमें—खास करके नवयस्क और अपरिणतमति युवक-युवतियोंमें विशेष आदर पा रहा है—समाजका कितना अकल्याण हो रहा है, वह किस तेजीसे पतनकी ओर जा रहा है, इसका विचार करते ही हृदय काँप उठता है। ऐसे साहित्यमें अनीति या बुराईको बड़ी चतुरता और शब्दच्छटाके साथ अत्यन्त चित्ताकर्षकरूपमें और त्यागको—धर्म तथा भगवद्भावको नितान्त हेयरूपमें अंकित किया जाता है, जिससे युवक-युवतियाँ बड़े आग्रहके साथ उसे पढ़ते हैं, परिणामस्वरूप उनमें भोगकामना बढ़ जाती है और वे उस कुत्सित भोगवासनाकी तृप्तिके लिये औपन्यासिक स्वप्नराज्यमें विचरण करते हुए कलुषितचित्त होकर और संयम-नियमके सारे बन्धनोंको तोड़कर उच्छृंखल अनीतिको अपना लेते हैं। कुछ वर्षों पूर्व साप्ताहिक 'हिंदू' में भाई परमानन्दजीका 'अपनी कन्याओंको बचाओ' शीर्षक एक लेख निकला था, जिसमें उन्होंने हिंदू-युवतियोंमें बढ़ती हुई उच्छृंखलताओंका उल्लेख करते हुए लिखा था—

'इन कॉलेजके चलानेवालोंको जरा खयाल नहीं कि इन कन्याओंका क्या बनेगा और इस नयी पश्चिमी शिक्षाका क्या प्रभाव हो रहा है। ये तो एक प्रकारसे हिंदू-समाजको नष्ट करनेवाले शिक्षणालय हैं। इस शिक्षाके फलपर विचार करना आवश्यक है। किसी दैनिक पत्रमें विवाहके विज्ञापन देखिये। अनेक लालच देकर वर तलाश करनेकी आवश्यकता होती है। इस शिक्षाकी प्रथा बहुत बढ़ रही है; इसलिये इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं कि इन कॉलेजोंको बंद कर दिया जाय। इस शिक्षामें बड़ी आपत्ति तो यह है कि इससे कन्याओंमें अनुचित बातोंकी आदत बढ़ती जा रही है। ×××× स्वतन्त्रता निस्संदेह अच्छी वस्तु है, किंतु बच्चों और निर्बलोंके लिये ऐसी आदतें भला करनेके बजाय पतन करनेवाली सिद्ध होती हैं। ××××× इन दिनों लाहौरके कांग्रेसी पत्रोंमें दो लेख प्रकाशित हुए हैं, जिनमें 'कन्यादान' शब्दपर हँसी उड़ाते हुए बताया गया है कि 'कन्यादान' की प्रथा बहुत बुरी है। इसके अर्थ यह हैं कि कन्याएँ बड़ी होकर स्वयं अपने लिये वरकी खोज करें, जैसा कि इंग्लैंड और अमेरिकामें होता है। इनके लिखनेवालोंको यह ज्ञान नहीं कि पतिकी खोजकी इस विधिसे इंग्लैंड और अमेरिकाके समाजमें कितनी बुराइयाँ उत्पन्न हुई हैं……। अन्तमें आपने दो घटनाओंका उल्लेख किया था—लाहौरकी एक कन्या अपनी माँके सारे गहने लेकर शिक्षकके साथ चलती बनी। पकड़े जानेपर उसने बतलाया कि १५-१६ दूसरी कन्याएँ भी इसी तरह भागनेको तैयार हैं। दूसरी घटना इस प्रकार है कि एक कन्याकी किसी विवाहित नवयुवकसे मित्रता बढ़ गयी; जिससे उसको गर्भ रह गया। नवयुवककी पूर्वपत्नीको आठ-दस हजार रुपये देकर अलग कर उस कन्यासे विवाह ठीक कर दिया गया। जब वह विवाह करनेके लिये बारात लेकर आया, तो उसी दिन कन्याने बच्चेको जन्म दिया। इसपर लोग कहने लगे कि कन्याके विवाहमें न केवल दहेज मिला है किंतु वह बच्चा भी साथ लायी है!

यह सब इन्द्रियतृप्तिके लिये उन्मत्त बना देनेवाले असत् साहित्यका दुष्परिणाम है! भगवान्‌ने जिन सज्जनोंको साहित्यनिर्माणकी शक्ति दी है, उनपर एक बहुत बड़ा दायित्व है। उन्हें अपनी शक्तिका दुरुपयोग कर साहित्यको अनर्थोत्पादक कदापि नहीं बनाना चाहिये; परंतु कठिनता तो यह आ गयी है कि इस प्रकारके विचारोंका मनन करते-करते और इसी प्रकारके साहित्यको पढ़ते-पढ़ते ऐसे असत्-साहित्यमें और उसके द्वारा होनेवाले परिणाममें लोगोंकी 'सत्' बुद्धि हो गयी है और इसलिये वे जनकल्याणकारी समझकर विशेष लगनके साथ कलापूर्ण चित्ताकर्षकरूपसे उसका निर्माण करने लगे हैं। और इसी विपरीत बुद्धिके कारण नवीन विकासोन्मुख प्रतिभाशाली लेखक भी उन्हींका अनुसरण कर रहे हैं। असत्‌में यह श्रद्धा और रुचि बड़ी ही भयानक है। पता नहीं, इसका क्या परिणाम होगा!

परंतु जो लोग इस बातको समझते हैं कि भगवान्‌के कथनानुसार विषयके साथ इन्द्रियका संयोग होनेपर जो सुख होता है, वह पहले अमृत-सा प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषका-सा काम करता है। (गीता १८। ३८) उन्हें चाहिये कि वे इस विनाशकारी बाढ़को रोकनेके लिये सत्-साहित्यका निर्माण और प्रसार करनेकी चेष्टा करें। आपातरमणीय असत् साहित्यकी ओर आकर्षित लोगोंको यह समझा दें कि साहित्यमें कलाका स्थान निस्संदेह महत्त्वपूर्ण है, परंतु कला होनी चाहिये समाजको श्रेय-साधनपर सुप्रतिष्ठित करनेके लिये। नहीं तो, कोरी कला समाजके लिये काल बन जायगी।

वर्तमान समयमें, जहाँ बीमारी बढ़ चुकी है और बड़े-बड़े सम्मान्य विद्वान् तथा आदरणीय लोकनायकगण भी भोगोन्मुखी शिक्षा और साहित्यके प्रचारपर जोर दे रहे हैं, जहाँ समाजका आदर्श 'भगवान्‌के लिये त्याग' न रहकर केवल जागतिक ऐश्वर्यकी वृद्धिके लिये 'भोग'* हो चुका है और जहाँ जनताको शिक्षित बनानेके लिये प्रचुर धन लगाकर भोगोन्मुखी स्कूल-कॉलेजोंका निर्माण जोरोंसे हो रहा है, वहाँ लोगोंकी मनोवृत्तिको इस ओरसे मोड़कर भगवान्‌की ओर लगाना अवश्य ही बहुत कठिन है। तथापि भगवान्‌की कृपाके बलपर विश्वासी पुरुषोंको यथाशक्ति प्रयत्न तो करना ही चाहिये। लगन सच्ची और भगवत्कृपापर सच्चा विश्वास होनेपर ऐसा कौन-सा कार्य है जो न हो सके।

नारी-निन्दाकी सार्थकता

हिंदूशास्त्रोंमें—श्रुति-स्मृति-पुराण-इतिहास आदिसे लेकर वर्तमान समयतकके संत-महात्माओंकी वाणीमें भी—जहाँ विविध सद्‌गुणोंकी प्रतिमा, ब्रह्मवादिनी, विदुषी, माता, पत्नी, सती, पतिव्रता, गृहिणी आदिके रूपमें नारीकी प्रचुर प्रशंसा की गयी है, उसकी महिमाके अमित गुण गाये गये हैं, वहाँ उन्हीं ग्रन्थोंमें नारीकी निन्दा भी की गयी है और नारीसे बचे रहनेका स्पष्ट आदेश दिया गया है, यद्यपि शास्त्रोंमें नारी-निन्दाकी अपेक्षा नारी-स्तुतिके प्रसंग कहीं अधिक हैं। संतोंकी वाणियोंमें भी 'कांचन' के साथ गिनी जानेवाली विषयरूपा 'कामिनी' की जितनी निन्दा की गयी है, उससे कहीं अधिक पतिव्रताकी प्रशंसाके पुल बाँधे गये हैं। तथापि शास्त्रके इस नारी-निन्दाके प्रसंगको लेकर आजतक ऐसा कहा जा रहा है कि 'शास्त्रोंकी रचना पुरुषोंके द्वारा हुई है, अतएव उन्होंने जान-बूझकर नारीके प्रति यह अन्याय किया है।' पर यदि ध्यानसे देखा जाय तो पता लगेगा कि शास्त्रकारोंने निष्पक्ष बुद्धिसे जहाँ प्रशंसाकी आवश्यकता समझी, वहाँ बड़ी प्रशंसा की है और जहाँ निन्दाकी, वहाँ निन्दा की है। साथ ही, नारी-निन्दा किस हेतुसे की गयी है, इसपर शुद्ध भावके साथ सूक्ष्म विचार करनेपर तथा दीर्घदृष्टिसे उसका परिणाम देखनेपर यह स्पष्ट दिखायी देता है कि शास्त्रोंने जो नारी-निन्दा की है, उसमें जरा भी अतिशयोक्ति या दूषित भाव नहीं है, बल्कि वह सर्वथा सार्थक, सत्य और परम आवश्यक भी है।

मानव-जीवनका मुख्य ध्येय है—भगवत्प्राप्ति। भगवत्प्राप्तिके लिये जीवनका संयमित, पवित्र तथा साधन-सम्पन्न होना अत्यन्त आवश्यक है। इस परमार्थ-

* यूरोपका ताजा उदाहरण सामने है। जिस समाजका आदर्श 'भोग' रह जाता है, उसका परिणाम ध्वंसके सिवा और कुछ नहीं हो सकता।

साधनमें सर्वप्रधान विघ्न है—विषयसंग। मनुष्यका पूर्ण पतन—उसका सर्वनाश किस क्रमसे होता है, इस सम्बन्धमें श्रीभगवान् कहते हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २। ६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति होती है, आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है, कामनासे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे सम्मोह—विवेकशून्यता होती है; अविवेकसे स्मृतिभ्रंश और स्मृतिभ्रंशसे बुद्धिका नाश होता है एवं बुद्धिके नाशसे वह आप नष्ट हो जाता है।'

विषयोंमें सर्वप्रधान आकर्षक विषय है—'पुरुषके लिये नारी और नारीके लिये पुरुष। कहना नहीं होगा कि इसमें नारीकी अपेक्षा पुरुष-प्राणीका चित्त अधिक दुर्बल है, अतः उसका पतन बहुत शीघ्र हो जाता है (और उसके पतनमें नारीका पतन तो है ही; क्योंकि उसीके आधारसे पुरुष गिरता है)। नारीका दर्शन-स्पर्श तो दूर रहा, उसका श्रवण-कथन भी पुरुषको गिरानेके लिये काफी है। इसलिये विवाह-बन्धनके द्वारा एक स्त्रीके साथ एक पुरुषका संसर्ग सीमित करके ऋषि-प्रणीत शास्त्रोंमें उसे ऐसा नियमबद्ध कर दिया गया है कि जिससे उसके जीवनमें कभी असंयम आ ही न सके; क्योंकि किसी एकके प्रति सतत आकर्षण दीर्घकालतक नहीं रहता। उसमें स्वाभाविकता आ जाती है और हिंदू-शास्त्रविधिके अनुसार एकके अतिरिक्त दूसरेका चिन्तन करना भी स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये व्यभिचार है। इसीलिये आठ प्रकारके मैथुन[१] बतलाकर उनका निषेध किया गया है।

हिंदू-विवाह-बन्धन इसीलिये संयमका सहायक और संवर्धक है, क्योंकि वह 'लौकिक अभ्युदय और निःश्रेयस' की सिद्धिके लिये सम्पन्न होनेवाला एक पवित्र धार्मिक संस्कार है। रूप-गुणके आकर्षणसे प्रभावित तथा प्रमत्त होकर विषय-वासनाकी चरितार्थताके लिये किया जानेवाला सौदा नहीं, जो रूप-गुणका अभाव दिखलायी देते ही तोड़ दिया जा सकता है। हिंदू-विवाहका उद्देश्य क्रमशः विषयासक्तिसे मुक्त होकर भगवान्की ओर बढ़ना ही है। पत्नीके लिये पति तथा पतिके लिये पत्नी परस्पर अच्छेद्य धर्मसूत्रमें आबद्ध होकर—एक-दूसरेके सुख-दुःखमें अभिन्न रहकर एक-दूसरेकी धार्मिक—आध्यात्मिक प्रगतिमें सहायक हैं, अतः दोनों परमार्थपथके पथिक हैं। इनमें विषय-विलास नहीं होता। वे संतानोत्पादनरूपी धर्मके लिये ही धर्मसंगत कामका[२] सेवन करते हैं। अतः स्वाभाविक ही वे विलास-सामग्रीके रूपमें एक-दूसरेका चिन्तन नहीं करते। पर-पुरुष तथा पर-नारीका चिन्तन सर्वथा निषिद्ध है और इस 'पर-निषेध' का विशदीकरण करनेके लिये ही नारी-निन्दा है।

प्रश्न हो सकता है कि 'फिर इस रूपमें 'नारी-निन्दा' ही क्यों? 'पुरुष-निन्दा' क्यों नहीं? इसका उत्तर यह है कि नारी धर्मानुसार एकमात्र अपने स्वामीमें परमात्मबुद्धि रखती है और जीवनके समस्त कार्य स्वामीके प्रीत्यर्थ ही करती है। उसके लिये पर-पुरुषका कोई प्रश्न ही नहीं, जिसकी निन्दा करके उसके मनको उधरसे हटाना आवश्यक हो, क्योंकि उसके मन तो स्वामीके अतिरिक्त दूसरे पुरुषका अस्तित्व ही नहीं है—***'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।'*** परंतु पुरुषके लिये यह बात नहीं है। पुरुष अपनी पत्नीमें व्यवहारतः परमात्मभाव नहीं रखता। व्यवहारमें पत्नी उसके लिये पूजनीया नहीं है; उसे जगत्में सब प्रकारके यज्ञोंको यथाधिकार सम्पन्न करते हुए ही भगवान्को प्राप्त करना है, बहुतोंको पूजना है। (अवश्य ही उसे भी इस बहुपूजनमें पतिव्रताके आदर्शको सामने रखकर एक परमात्माकी पूजाके लिये ही सबकी पूजा करनी चाहिये। अपने मनमें एक स्त्री ही क्या, कीट-पतंगमात्रको ही भगवान्का स्वरूप समझकर मन-ही-मन सभीको पूजना और

१-श्रवणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

'स्त्रीसम्बन्धी चर्चा सुनना, कहना, स्त्रियोंके साथ खेलना, उन्हें देखना, गुप्त बात करना, संकल्प करना, प्रयत्न करना और अंग-संग करना—ये आठ प्रकारके मैथुन हैं।'

२-'धर्मसंगत काम' भगवान्का स्वरूप है। गीतामें भगवान्ने कहा है—'अर्जुन! प्राणियोंमें धर्मसे अविरुद्ध काम मैं हूँ'—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'

प्रणाम करना चाहिये।*) इसीलिये वह व्यवहारमें नारीको नारी-भावसे देखता है, परंतु भगवत्प्राप्ति तो उसको भी होनी ही चाहिये। इसी कारण उसके लिये विविध साधनोंका विधान है; परंतु नारीको पतिसेवाके अतिरिक्त अन्य यम, नियम, जप, तप, व्रत, योग, यज्ञ, स्वाध्याय और तीर्थ-सेवनादि साधनोंकी कोई आवश्यकता नहीं होती। वह परमात्मभावसे किये हुए एकमात्र पतिसेवनरूपी महायज्ञके द्वारा ही अनायास भगवत्प्राप्ति लाभ करती है—परम गतिको प्राप्त होती है—*'बिनु श्रम नारि परम गति लहई।'* (इतना ही नहीं, वह अपने पातिव्रत्यके प्रतापसे पापी पतिका भी परित्राण कर देती है।) विष्णुपुराणमें मुनियोंकी शंकाका समाधान करते हुए भगवान् वेदव्यासजीने स्त्रियोंको 'साधु' और 'धन्य' बतलाया तथा फिर इस उक्तिका रहस्योद्घाटन करते हुए कहा—

स्वधर्मस्याविरोधेन नरैर्लब्धं धनं सदा।
प्रतिपादनीयं पात्रेषु यष्टव्यं च यथाविधि॥
तस्यार्जने महाक्लेशः पालने च द्विजोत्तमाः।
तथासद्विनियोगेन विज्ञातं गहनं नृणाम्॥
एवमन्यैस्तथा क्लेशैः पुरुषा द्विजसत्तमाः।
निजान् जयन्ति वै लोकान् प्राजापत्यादिकान् क्रमात्॥
योषिच्छुश्रूषणाद् भर्तुः कर्मणा मनसा गिरा।
तद्धिता शुभमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः॥
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा।
तृतीयं व्याहृतं तेन मया साध्विति योषितः॥

(६।२।२५—२९)

'पुरुषोंको अपने धर्मानुकूल (वर्णाश्रमानुमोदित तथा सत्य एवं न्यायपूर्वक) प्राप्त किये हुए धनसे ही सर्वदा सुपात्रको दान और विधिपूर्वक यज्ञ करना चाहिये। द्विजश्रेष्ठगण! ऐसे द्रव्यके उपार्जनमें तथा रक्षणमें बड़ा क्लेश होता है और कहीं वह धन अनुचित काममें लगा दिया गया तो उससे मनुष्योंको जो कष्ट भोगना पड़ता है, वह विदित ही है। इस प्रकार द्विजसत्तमो! पुरुषगण इन तथा ऐसे ही अन्य कष्टसाध्य उपायोंके द्वारा प्राजापत्य आदि शुभ लोकोंको क्रमशः प्राप्त करते हैं। परंतु स्त्रियाँ तो कर्म-मन-वचनद्वारा पतिकी सेवा करनेसे उनकी हितकारिणी बनकर पतिके समान शुभ लोकोंको अनायास ही प्राप्त कर लेती हैं, जो कि पुरुषोंको अत्यन्त परिश्रमसे मिलते हैं। इसीलिये मैंने तीसरी बार यह कहा था कि स्त्रियाँ साधु हैं।'

परंतु यह ऊपर कहा ही गया है कि पुरुषके विविध परमार्थ-साधनोंमें प्रधान विघ्न है विषय-वासना और उसमें प्रधान है—नारी। नारीके प्रति आसक्त चित्तवाला पुरुष परमार्थ-साधनमें कभी अग्रसर नहीं हो सकता। नारीमें इतना आकर्षण है कि साधनसंलग्न तपस्वी, वनवासी ऋषि, महर्षि, राजर्षि तथा देवर्षि भी नारी-संसर्गमें आकर अपनी साधनाकी रक्षा नहीं कर पाये हैं। विश्वामित्र, दुर्वासा, सौभरि, नारद आदि इसके उदाहरण हैं। इसीलिये विषयोंमें दुःखरूप दोषोंको देखकर या उनमें दुःख-दोष-बुद्धि करके वैराग्य प्राप्त करनेकी बात भगवान्‌ने गीतामें कही है—**'दुःखदोषानुदर्शनम्'** (१३।८)। नारीमें दुःख-दोष दिखलाकर उससे आसक्ति हटाने और चित्तवृत्तिको भगवान्‌की ओर लगानेके लिये ही शास्त्रकी नारी-निन्दामें प्रवृत्ति हुई है। 'नारी नरककी खानि है; अग्नि, साँप, विष, क्षुरधार आदिसे भी भयानक है; साक्षात् सिंहिनी और सर्पिणी है' इत्यादि वर्णन उसके प्रति पुरुषके हृदयमें जो रमणीयताका भाव है, उसे हटानेके लिये ही है। स्त्रीमें भोग्य-बुद्धिका नाश हो जाय, इसीलिये ये सारी बातें कही गयी हैं। वेदोंमें जहाँ स्त्रीकी बड़ी प्रशंसा है, वहाँ भी उसे निन्दनीय कहा है।

ऋग्वेदमें कहा है—

इन्द्रश्चिद् घा स्त्रिया अशास्यं मनः उतो अह क्रतुं रघुम्।

(८।३३।१७)

इन्द्रने कहा—'नारीके मनका दमन नहीं किया जा सकता; क्योंकि उसकी बुद्धि स्वल्प है।'

न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।

(१०।१५।१५)

* सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥ (रामचरितमानस)

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४१)

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-लता, नदी, समुद्र—सभी भगवान्‌के शरीर हैं। ऐसा समझकर, कोई भी प्राणी हो, सबको अनन्यभावसे भगवद्भावसे प्रणाम करे।'

'स्त्रियोंसे मित्रता करना व्यर्थ है, क्योंकि उनका हृदय भेड़ियेके समान है।'

मनुमहाराज कहते हैं—

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः॥
अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम्॥
मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(२।२१३—२१५)

'इस लोकमें पुरुषोंको विकारग्रस्त कर देना—यह नारियोंका स्वभाव है। अतएव बुद्धिमान् पुरुष नारियोंकी ओरसे कभी प्रमाद नहीं करते—असावधान नहीं रहते। संसारमें कोई मूर्ख हो चाहे विद्वान्, काम-क्रोधके वशीभूत हुए पुरुषको स्त्रियाँ अनायास ही कुमार्गमें ले जा सकती हैं। (इसलिये) पुरुषको चाहिये कि वह माता, बहिन या पुत्रीके पास भी एकान्तमें न बैठे, क्योंकि इन्द्रिय-समूह इतना बलवान् है कि विद्वान्के चित्तको भी खींच लेता है।'

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमो द्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।

(५।५।२)

'महापुरुषोंकी सेवा मुक्तिका और स्त्री-संगियोंका संग नरकका द्वार है।'

न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥

(११।१४।३०)

'स्त्रियोंके संगसे और स्त्री-संगी—कामी पुरुषोंके संगसे पुरुषको जैसे क्लेश और बन्धनमें पड़ना होता है, वैसा क्लेश और बन्धन किसी भी दूसरे संगसे नहीं होता।'

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कहा गया है—

यत्रेमे दोषनिवहाः काऽऽस्था तत्र पितामह।
का क्रीडा किं सुखं पुंसो विण्मूत्रमलवेश्मनि॥
तेजः प्रणष्टं सम्भोगे दिवालापे यशःक्षयः।
धनक्षयोऽतिप्रीतौ च अत्यासक्तौ वपुःक्षयः॥
साहित्ये पौरुषं नष्टं कलहे माननाशनम्।
सर्वनाशश्च विश्वासे ब्रह्मन्नारीषु किं सुखम्॥

(२३।३३—३५)

देवर्षि नारदजी पितामह ब्रह्माजीसे कहते हैं—

'जिस नारी-शरीरमें इतने दोषसमूह हैं, पितामह! उसपर कैसा भरोसा। इस मूत्र-पुरीष एवं मैलके कोठारमें पुरुषकी कैसी क्रीड़ा और कौन सुख है? स्त्रीके साथ सम्भोगमें तेजका नाश होता है, दिनमें बात करनेसे यशका नाश, अधिक प्रीति करनेसे धनका क्षय और अधिक आसक्तिसे शरीरका क्षय होता है। ब्रह्मन्! स्त्रियोंका संग करनेसे पौरुषका नाश, कलह करनेसे मानका नाश और विश्वास करनेसे सर्वनाश होता है। अतः स्त्रियोंमें कौन सुख है?'

महाभारतमें आया है—

अन्तकः पवनो मृत्युः पातालं वडवामुखम्।
क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः॥

(अनुशा० ३८।२९)

'यम, वायु, मृत्यु, पाताल, वडवानल, छूरेकी धार, विष, साँप और अग्निके साथ नारीकी तुलना दी जा सकती है।'

महात्मा कबीरजीने कहा है—

नारी की झाँई परत अंधा होत भुजंग।
कबीर तिन की कौन गति नित नारी के संग॥
कामिनि सुन्दर सर्पिणी, जो छेड़े तेहि खाय।
जे गुरु चरनन राचिया, तिनके निकट न जाय॥
पर नारी पैनी छुरी, मति कोइ लावो अंग।
रावन के दस सिर गए पर नारी के संग॥
नारी निरखि न देखिये, निरखि न कीजै दौर।
देखे ही ते विष चढ़ै, मन आवै कछु और॥
नारी नाहीं जम अहै, तू मन राचै जाय।
मंजारी ज्यों बोलि के काढ़ि कलेजा खाय॥
नैनों काजर पाइ कै गाढ़े बाँधे केस।
हाथों मेहँदी लाइ कै बाघिन खाया देस॥

महात्मा सुन्दरदासजी कहते हैं—

कामिनी को अंग अति मलिन महा अशुद्ध,
रोम रोम मलिन, मलिन सब द्वार है।
हाड़, माँस, मज्जा, मेद, चर्म सू लपेट राखे,
ठौर ठौर रकत के भरेहू भंडार है॥
मूत्र हू पुरीष आँत एकमेक मिल रही,
और हू उदर माँहि बिबिध बिकार है।
सुन्दर कहत नारी नख सिख निन्दा रूप,
ताहि जो सराहै, सो तो बड़ोई गँवार है॥

इसी प्रकार अन्यान्य शास्त्रों और संतोंने नारीकी विविध प्रकारसे निन्दा की है और यह सत्य ही है कि जो पुरुष नारीके उच्चतम हृदय, उसके त्यागमय और स्नेहमय मातृत्व तथा उसके पवित्रतम देवी-भावकी ओर न देखकर उसके शरीरस्थ स्थूल मांसपिण्डों और मल-मूत्रके गह्वरोंकी ओर लालायित सतृष्ण दृष्टिसे देखेगा, उसे इसके बदलेमें पवित्र अमृत थोड़े ही मिलेगा? उसके लिये नारी वरदायिनी देवीके रूपमें थोड़े ही आत्मप्रकाश करेगी? उसके लिये तो वह निश्चय ही नरकका द्वार,* भीषण बाघिनि, विषधरी सर्पिणी और सर्वहरा मृत्यु ही होगी।

विचार करनेपर पता लगेगा कि इस नारी-निन्दामें नारी-रक्षा भी अन्तर्हित है। नारीके पतनमें कारण है पुरुषकी नीच प्रवृत्ति। पुरुषकी नीच प्रवृत्ति यदि किसी कारणसे मर जाय तो नारीका पतन हो ही नहीं सकता। एक तो उसके पास पातिव्रत्यका रक्षा-कवच है; दूसरे यदि वह कहीं गिरना भी चाहेगी तो शास्त्रके वचनानुसार नारीकी भीषणतासे डरा हुआ, उसे भयानक बाघिनि तथा नरककी खानि समझनेवाला, नीच प्रवृत्तिसे रहित पुरुष उससे स्वाभाविक ही दूर रहेगा। फलतः नारीका पतन भी नहीं होगा। इस प्रकार दोनों ही पतनसे बच जायँगे और दोनों ही धर्मपथपर आरूढ़ होकर मानव-जीवनके परम लक्ष्य भगवान्को प्राप्त कर सकेंगे।

अतएव शास्त्रों और संतोंके द्वारा की गयी नारी-निन्दा नारी और पुरुष दोनोंके लिये ही कल्याणकारिणी है और इसी सत्-उद्देश्यसे की गयी है। वस्तुतः सत्यस्थिति भी यही है।

दूसरी दृष्टिसे विचार करनेपर यह सिद्ध होता है कि यह निन्दा वस्तुतः साध्वी-सती नारीकी नहीं है। सती-साध्वी नारी तो अपने पवित्र पातिव्रत्यके प्रतापसे पापी पुरुषोंकी पाप-भावनाको या पापात्मा पुरुषोंके शरीरको अपने संकल्पमात्रसे नष्ट कर सकती है। यह निन्दा तो कुलटा स्त्रियोंकी है, जो अपनी दूषित आन्तरिक वृत्ति या बाह्य क्रियाओंसे पुरुषोंको कलंकित किया करती है।

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें श्रीनारदजी कहते हैं—'स्त्रियाँ तीन प्रकारकी होती हैं—साध्वी, भोग्या और कुलटा। जो परलोकके भयसे, यशकी इच्छासे तथा स्नेहवशतः स्वामीकी निरन्तर सेवा करती है वह 'साध्वी' है। जो मनोवांछित गहने-कपड़ोंकी चाहसे कामस्नेहयुक्त होकर पतिकी सेवा करती है, उसे 'भोग्या' कहते हैं और 'कुलटा' नारी तो वैसी ही होती है, जैसा 'कुलांगार' पुरुष होता है। यह कपटसे पतिसेवा करती है, इसमें पति-भक्ति नहीं होती। इसका हृदय छूरेकी धार-सा तेज होता है, पर इसकी वाणी अमृत-सी होती है। इसका काम पुरुषसे आठगुना, आहार दूना, निष्ठुरता चौगुनी और क्रोध छ:गुना होता है। ऐसी पुंश्चली नारी जारके लिये पतितकको मार डालनेमें नहीं हिचकती (ब्र० वै० ब्रह्मखण्ड, अध्याय २३)।'

इस प्रकारकी कुलटा नारीसे तो सभीको बचना चाहिये; परंतु वैराग्यकी साधना करनेवाले मुमुक्षु पुरुषके लिये तथा संन्यासी, वानप्रस्थ और ब्रह्मचारियोंके लिये तो नारीमात्र ही साधन-पथका अवरोध करनेवाली होती है। इस दृष्टिसे भी नारीकी निन्दा करना सार्थक है। इस प्रकार नारीमें दोष देखकर गृहस्थ पर-स्त्रीका त्याग करे और ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी नारीमात्रका। यही नारी-निन्दाका उद्देश्य है।

आजकल तो पुरुषजातिकी नीचता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। वे भाँति-भाँतिसे नारीका पतन करनेमें लगे हुए हैं। शास्त्रोंमें नारीकी जो निन्दा की गयी है, उससे सचमुच कहीं अधिक निन्दाका पात्र वर्तमान कालका पुरुषवर्ग है। वस्तुतः आज नारीको ही इस दुष्ट पुरुषसमाजसे बचना चाहिये। नारी इस बातको न समझकर जो पुरुष-संस्रवमें अधिक आने लगी है और इसीमें अपना अभ्युदय मान रही है, यह उसकी बहुत बड़ी भ्रान्ति है। आजके कुत्सितहृदय पुरुषसमाजने उसे बहकाकर भ्रममें डाल दिया है। नारी बाघिन-साँपिन हो या न हो; परंतु आजका नीच-स्वार्थके वशमें पड़ा हुआ यह पुरुष तो नारीके लिये साँप-बाघसे भी बढ़कर भयानक है, जो ऊपरसे साँप-बाघ-सा डरावना न दीखनेपर भी—वरं मित्र-सा प्रतीत होनेपर भी—वस्तुतः नारीके महान् पतनके सतत प्रयत्नमें लगा है।

---

* भगवान्ने काम, क्रोध, लोभको नरकका द्वार बतलाया है। क्रोध और लोभ वस्तुतः कामसे ही उद्भूत विकार हैं, अतः कामस्वरूप ही हैं। काम ही प्रतिहत होनेपर क्रोध और सफल होनेपर लोभके नामसे प्रसिद्ध होता है।

आजका भ्रष्टाचार और उससे बचनेका उपाय

भगवत्स्वरूप भक्तशिरोमणि भरतजी भगवान् राघवेन्द्र श्रीराम-चन्द्रजीसे संत-असंतके लक्षण पूछना चाहते हैं, परंतु संकोचवश निवेदन करनेमें हिचकते हैं। भरतजी आदि भ्रातागण सब श्रीहनूमान्‌जीकी ओर ताकते हैं—इसलिये कि श्रीहनूमान्‌जी भगवान्‌के अतिशय प्रिय भक्त हैं, वे हमारी ओरसे निवेदन कर दें। अन्तर्यामी प्रभु सब जानते ही थे, वे कहते हैं—'हनूमान्! कहो, क्या पूछना चाहते हो?' हनूमान्‌जी हाथ जोड़कर कहते हैं—'नाथ! भरतजी कुछ पूछना चाहते हैं, परंतु शीलवश प्रश्न करते सकुचाते हैं।' प्रेमसिन्धु भगवान् कहते हैं—'हनूमान्! तुम तो मेरा स्वभाव जानते हो, भरतजीमें और मुझमें क्या कोई अन्तर है?' भरतजीने भगवान्‌के वचन सुनकर उनके चरण पकड़ लिये और अपने अनुरूप ही निवेदन किया—

नाथ न मोहि संदेह कछु सपनेहुँ सोक न मोह।
केवल कृपा तुम्हारिहि कृपानंद संदोह॥

फिर उन्होंने संत-असंतके भेद और लक्षण पूछे। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने पहले संतोंके अति सुन्दर लक्षण बतलाकर फिर असंतोंका स्वभाव बतलाते हुए कहा—

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥
झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना॥
बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाइ महा अहि हृदय कठोरा॥

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥

लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न॥
काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥
जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जग नृपती॥
स्वारथ रत परिवार बिरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी॥
मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहिं॥
करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत संग हरि कथा न भावा॥
अवगुन सिंधु मंदमति कामी। बेद बिदूषक परधन स्वामी॥
बिप्र द्रोह पर द्रोह बिसेषा। दंभ कपट जियँ धरें सुबेषा॥

यदि सच्चाईके साथ विचार करके देखा जाय तो न्यूनाधिक रूपमें ये सभी लक्षण आज हमारे मानव-समाजमें आ गये हैं। सारी दुनियाकी यही स्थिति है। सभी ओर मनुष्य आज काम-लोभपरायण होकर असुरभावापन्न हुआ जा रहा है। परंतु हमारे देशकी स्थिति देखकर तो और भी चिन्ता तथा वेदना होती है। जिस देशमें त्यागको ही जीवनका लक्ष्य माना गया था, जहाँपर स्त्रीमात्रको स्वाभाविक ही माता माना जाता था, जहाँ परधनकी ओर मानसिक दृष्टि डालना भी भयानक पाप माना जाता था—उसको भारी जहर माना जाता था—***'बिष तें बिष भारी'***, वहाँ आज कलाके नामपर पर-स्त्रियोंके साथ पर-पुरुषोंका अनैतिक सम्बन्ध बड़ी बुरी तरहसे बढ़ा जा रहा है और पर-धनकी तो कोई बात ही नहीं रही। दूसरेके स्वत्वका येन-केन प्रकारेण अपहरण करना ही बुद्धिमानी और चातुरी समझा जाता है। कुछ ही समय पूर्व ऐसा था कि मुँहसे जो कुछ कह दिया, लोग उसको प्राणपणसे निबाहते थे। आज कानूनी दस्तावेज भी बदले जानेकी नीयतसे बनाये जाते हैं। मिथ्याभाषण तो स्वभाव बन गया है। बड़े-से-बड़े पुरुष स्वार्थके लिये झूठ बोलते हैं। बड़े-बड़े धर्माचार्योंसे लेकर राष्ट्रोंके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध अधिनायक, जनताके नेता, दलविशेषोंके संचालक, प्रख्यात संस्थाओंके पदाधिकारी, सरकारके ऊँचे-से-ऊँचे अधिकारी, बड़े-से-बड़े अफसर, छोटे-से-छोटे कर्मचारी, बड़े-बड़े व्यापारी, छोटे व्यापारी, दलाल, कमीशन-एजेंट, रेल और पोस्टके छोटे-बड़े कर्मचारी—सभी बेईमानीमें आज एक-से हो रहे हैं, मानो होड़ लगाकर एक-दूसरेसे आगे बढ़नेकी जी-तोड़ कोशिशमें लगे हुए हैं। चोर-बाजारी, घूसखोरी, भ्रष्टाचार, अनैतिकता लोगोंके स्वभावगत हो गयी है। सभी मानो बेईमानीका बाजार सजाये, एक-दूसरेको लूटने, ठगने और उसकी जड़ काटनेके लिये तैयार बैठे हैं। ऐसे बहुत थोड़े लोग होंगे, जिनकी ईमानदारीमें विश्वास किया जा सके। नये-नये कानून बनते हैं और बेईमानीके नये-नये रास्ते निकलते जाते हैं। इसका कारण यही है कि जिनको कानून मानना है और जिनके जिम्मे उसको मनवाना है, वे

दोनों ही ईमानदार नहीं हैं। दोनों ही मिले हुए हैं। ऊपरसे एक-दूसरेको बेईमान बतलाते हुए भी दोनों ही नये-नये तरीकोंसे बेईमानी बढ़ानेमें लगे हैं। अफसर एवं राजकर्मचारी कहते हैं व्यापारी चोर हैं, इनको दण्ड होना चाहिये; और व्यापारी अफसरों, अधिकारियों और राजकर्मचारियोंकी खुलेआम चोरी तथा बेईमानी देखते हैं। चोरी और बेईमानी कैसे बंद हो!

एक युग था, जिसमें लोगोंका यह विश्वास था कि सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी भगवान् सदा-सर्वदा सर्वत्र हैं। वे हमारी प्रत्येक क्रियाको देखते हैं। हम एकान्तमें कोई पाप करते हैं, मनमें भी पापभावना करते हैं तो उसे भी भगवान् जानते-देखते हैं। इसलिये उनमें भगवान्‌से संकोच था। भगवान्‌के भयसे लोग बुरा कर्म करनेमें डरते थे।

इसके साथ ही चार बातें और हिंदू-संस्कृतिमें छोटे-बड़े सबके स्वभावगत-सी हो गयी थीं—

(१) मनुष्य-जीवनका चरम और परम उद्देश्य मोक्ष या भगवत्प्राप्ति है। इसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये मानव-जीवनमें साधन करना है।

(२) पुनर्जन्म अवश्य होगा और उसमें हमें अपने अच्छे-बुरे कर्मोंका फल निश्चितरूपसे भोगना पड़ेगा।

(३) शास्त्र सत्य हैं और उनके कथनानुसार सुख-दुःख हमारे कर्मोंका फल है।

(४) कर्तव्य पालन करना ही हमारा धर्म है, केवल अधिकार पाना धर्म नहीं।

इन चारों बातोंके कारण स्वभावसे ही भोगोंके त्यागका महत्त्व था, उसीमें जीवनकी महत्ता मानी जाती थी। चोरी-जारी आदि पापोंका फल विविध योनियोंमें एवं नरकादिमें अवश्य भोगना पड़ेगा, यह विश्वास था। दूसरेकी किसी भी वस्तुपर मन चलाना भी पाप है और उसे छल-बल-कौशलसे ले लेना तो महान् अपराध है—यह मान्यता थी। सुख-दुःख हमारे कर्मके अनिवार्य फल हैं। बुरे कर्म करनेपर उसका अच्छा फल हो ही नहीं सकता; फिर बुरा कर्म क्यों करें—यह दृढ़ भावना थी। और हमें शास्त्रानुसार अपना कर्तव्य पालन करते जाना है, कर्मका फल तो भगवान्‌के हाथ है, हमारा फलमें अधिकार नहीं, कर्ममें ही अधिकार है—यह दृढ़ आस्था थी। इससे लोग स्वभावसे ही पापाचरणसे बचना चाहते थे।

आज ईश्वरका कोई भय नहीं। लोग व्याख्यान-मंचोंपर सहस्त्रों नर-नारियोंके सामने छाती फुलाकर और गला फाड़कर कहते हैं कि 'ईश्वर तो कभीका मर गया। मनुष्यकी कल्पनामें ही ईश्वर था, आजका ज्ञानी और बुद्धिमान् मनुष्य इस कल्पनासे छुटकारा पाकर स्वतन्त्र हो गया है।' और जनता ऐसे भाषणोंका स्वागत करती है। धर्मको अवनतिका कारण बताया जाता है। शास्त्रोंमें तथा कर्मोंके फल और पुनर्जन्ममें विश्वास उठता जा रहा है, सभी अधिकार चाहते हैं। कर्तव्यपर किसीका ध्यान नहीं है। शक्तिमत्ता, अधिकार और धनका लोभ इतना बढ़ गया है कि उसने मनुष्यको असुर नहीं, पिशाच बना दिया है। इसीसे आजका मानव एक-दूसरेपर खून चूसनेका दोष लगाता है और स्वयं मानो छल-बल-कौशलसे दिन-रात खून चूसनेका ही विशद व्यापार कर रहा है। उसने केवल इसी सिद्धान्तको मान लिया है कि किसी भी उपायसे हो, धनकी—भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति होनी चाहिये; बस यह कामोपभोग ही सब कुछ है—

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥

(गीता १६। ११)

यह कहा जा सकता है कि धनसे सुख मिलता है; क्योंकि उससे प्रायः सभी आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है। यह आंशिक सत्य भी है; परंतु यह सुख वस्तुतः धनका नहीं है, हमारी आत्म-भावनाका है। धनमें तो सुख है ही नहीं। सुख है आत्माकी शान्तिमें। जो अशान्त है—दिन-रात उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कामनाकी आगसे जलता है, उसको सुख कहाँ—'**अशान्तस्य कुतः सुखम्।**' यह नियम है कि जैसे आगमें ईंधन तथा घी डालते रहनेसे आग बुझती नहीं—प्रत्युत बढ़ती है, वैसे ही भोग-कामनाकी पूर्तिसे कामना घटती नहीं, बल्कि बढ़ती है। सौवाला हजारों-लाखोंकी चाह करता है तो लाखवाला करोड़ों-अरबोंकी चाह करता है। एक नियम यह भी है कि एक अभावकी पूर्ति अनेकों नये अभावोंकी सृष्टि करनेवाली होती है और जबतक अभावका अनुभव है, तबतक प्रतिकूलता है और प्रतिकूलता रहते चित्त सर्वथा अशान्त रहेगा और अशान्त चित्तमें सुख हो ही नहीं सकता। लोग भूलसे मानते हैं कि पैसेवाले बड़े सुखी हैं; पर यह बात वस्तुतः नहीं है। उनके हृदयमें जैसी आग धधकती है, वैसी

गरीबोंके शायद नहीं धधकती! इसका अनुमान भुक्तभोगी ही कर सकते हैं।

उस दिन एक सज्जनने बहुत ठीक कहा कि पहले यद्यपि कुछ लोग ऐसे भी थे, जो भगवान् या धर्मका भय नहीं मानते थे और पाप करते थे, तथापि उनमें यह साहस नहीं था कि वे अपनेको निर्दोष ही नहीं, जनताका और समाजका सेवक बतायें और उलटे पाप न करनेवालोंको डरायें-धमकायें और उन्हें पापी सिद्ध करें। आज तो हमारी यह दशा हो गयी है कि हम स्वयं धर्म-सेवा और देश-सेवातकके नामपर अनवरत पाप करते हैं और अपने पापी गिरोहके बलपर निष्पाप लोगोंको डराते-धमकाते हैं एवं उन्हें पापी सिद्ध करना चाहते हैं। जनसेवक बतलाकर डाकूका काम करना, भाई बनकर किसीका सतीत्वापहरण करना, धार्मिक बनकर लोगोंको ठगना, गुरु बनकर धन-धर्मको लूटना, रक्षक नियुक्त होकर भक्षक बन जाना और पहरेदार बनकर चोरी करना आज बुद्धिमानी और गौरवका कार्य बन गया है। सभी क्षेत्रोंमें लोग अपने-अपने चरित्रोंपर ध्यान देकर देखें तो उन्हें उपर्युक्त कथनमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं मालूम होगी। यह हमारे नैतिक पतनका एक बड़ा दुःखद स्वरूप है।

चारों ओर दलबंदी है। हम मानो अपनेको ही छलते हुए कहते हैं कि 'राष्ट्रीयता बढ़ रही है; पर वस्तुतः प्रान्तीयता, वर्गवाद और व्यक्तित्व ही बढ़ा जा रहा है। दूसरोंको फासिस्ट बताना और स्वयं वैसा ही काम करना स्वभाव-सा हो गया है, इसका प्रतीकार कैसे हो?'

हमारी समझसे इसका एक ही उपाय है और वह उपाय है अध्यात्मप्रधान प्राचीन हिंदू-संस्कृतिकी पुनः प्रतिष्ठा। जबतक मनुष्य-जीवनका लक्ष्य भगवान् नहीं होंगे, जबतक पुनर्जन्म और कर्मफलमें सुदृढ़ विश्वास नहीं होगा, जबतक शास्त्रोंके अनुसार पवित्र जीवन बनाना हमारे जीवनकी अनिवार्य साधना नहीं होगी और ऐसा बनकर जबतक किसी भी लोभ, भय या स्वार्थसे धर्मच्युत न होनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा नहीं होगी, तबतक किसी भी आन्दोलनसे, प्रचारसे और कानूनसे भ्रष्टाचार, असदाचार और दुष्कर्म नहीं रुकेंगे। और जबतक यह पापका प्रवाह नहीं रुकेगा, इसका उद्‌गमस्थल नहीं सूखेगा, तबतक दुःखका प्रवाह भी नहीं रुक सकेगा। यह ध्रुव सत्य है।

तमाखूसे हानि

आजकल जगत्‌में तमाखूका बड़ा प्रचार है। जगत्‌के आधेसे अधिक मनुष्य तमाखूके व्यसनी कहे जाते हैं। घर-घरमें इसका प्रवेश है। धनी-दरिद्र, ब्राह्मण-शूद्र, पण्डित-मूर्ख, स्त्री-पुरुष, साधु-गृहस्थ कोई इससे नहीं बचता। कोई पीता है, कोई सूँघता है तो कोई चबाता है। इस महान् हानिकारक पदार्थका अधिक प्रचार तो देखा-देखी हुआ है। सिगरेट, बीड़ीका आविष्कार होनेके बाद तो जरा-जरासे बच्चोंमें यह व्यसन फैल गया है!

कहा जाता है कि भारतमें पहले तमाखूका पौधा नहीं था। सबसे पहले अमेरिकन लोगोंने वहाँकी जंगली जातिसे इसको जाना। उनसे यूरोपने सीखा और मुगलसाम्राज्यके समय यूरोपियनोंके संगसे भारतवासियोंमें यह व्यसन आ गया। कुछ लोग लगभग सात सौ सालसे इसका भारतमें आना मानते हैं। जो कुछ भी हो यह विष जबसे भारतमें आया, तभीसे इसने बरबादी शुरू कर दी है। अमेरिका, यूरोपमें तो इसका दोष अब लोग समझने लगे हैं और इसका प्रचार रोकनेके लिये पूरी चेष्टा कर रहे हैं। तमाखूके कुछ दोष संक्षेपमें बताये जाते हैं—

तमाखूसे बदबू निकलती है, जो चारों ओर फैल जाती है और आस-पासकी हवाको बिगाड़ देती है। चिलम पीनेवालोंके हाथोंमें पीले दाग पड़ जाते हैं। हाथ-मुँहसे दुर्गन्ध निकलती है। समय नष्ट होता है, बीड़ी-सिगरेटसे कई जगह आग लग जाती है। व्यसनके वश होनेसे शरीर और मनको बड़ा नुकसान पहुँचता है। घरके काममें हानि होती है। तमाखूके साथ ही गाँजे-सुलफेकी भी आदत पड़ जाती है। जो लोग कभी तमाखू नहीं पीते हैं, वे गाँजा-सुलफा भी नहीं पीते। चिलमचट्टुओंकी बेहयाई तो लोगोंने देखी ही होगी। जहाँ चिलम देखी कि हाथ बढ़ाया। ऐसे लोगोंका बड़ा अपमान होते देखा गया है। पैसेकी बरबादीका तो ठिकाना ही क्या है?

भारतकी बत्तीस करोड़ जनसंख्यामें (सं २०१० में) यदि कम-से-कम बारह करोड़ मनुष्य तमाखू-सेवन करनेवाले समझे जायँ और प्रत्येक मनुष्य औसत एक पैसेकी तमाखू रोज सेवन करता हो तो सालमें (६७,५०,०००,००) साढ़े सड़सठ करोड़ रुपये इस जहरके धूएँमें फूँके जाते हैं। कहना नहीं होगा कि इस गरीब देशमें इतने रुपयोंसे बहुत बड़े लाभदायक काम हो सकते हैं। परंतु तमाखूके व्यवसायी इस बातपर क्यों ध्यान देने लगे? मैंने गरीबोंको देखा है—चार पैसेकी पसीनेकी कमाईमें भी वे एक पैसा बीड़ी-सिगरेटमें खर्च कर देते हैं, इतना धन खर्च करनेके बदलेमें मिलता क्या है? जहर। तमाखूमें जहर है, इस विषयमें संसारके बड़े-बड़े विद्वान् रासायनिक और डॉक्टर सभी एकमत हैं। एक बार हिंदुस्थान नामक एक पत्रमें निकला था—

तमाखूमें एक तैली पदार्थ है, जिसमें प्रधानत: तमाखूकी गन्ध रहती है। इसका नाम है (Nicotine) 'निकोटीन'। यह तमाखूमें एकसे आठ प्रतिशत होता है। जितनी तेज तमाखू होती है उसमें उतना अधिक निकोटीन होता है। आध सेर अच्छी तमाखूमें जितना निकोटीन निकलता है, कहा जाता है कि उतने निकोटीनसे तीन मिनटमें ढाई हजार (२५००) कुत्ते मर सकते हैं। निकोटीन ऐसा भारी विष है। यह निकोटीन मनुष्यके शरीरमें जाकर श्वासनलीके आस-पासकी महीन चमड़ीको बड़ा नुकसान पहुँचाता है और उससे तरह-तरहकी बीमारियाँ पैदा होती हैं।

एक दूसरा इससे भी भारी जहर तमाखूमें कोलोडाइन है, इससे भी तमाखूमें गन्ध आती है। कोलोडाइनके एक बूँदका बीसवाँ हिस्सा जैसे बिजलीके धक्केसे मनुष्य तुरंत मर जाता है, वैसे ही मेंढकको मार डालता है।

तमाखूके धूएँमें 'प्रसिक एसिड' भी रहता है। जो शौकीन बाबू धूएँको पेटमें ले जाकर नाकसे निकालते हुए उसके गोटकी मौज लेते हैं, उनके लिये यह प्रसिक एसिड बुरे-से-बुरा जहर है। इस प्रसिक एसिडके शरीरमें जानेसे सिरमें चक्कर आते हैं, सिर दुखता है और घूमने लगता है। बीड़ी न पीनेवाले मनुष्यपर बीड़ी पीते ही जो बुरा असर पड़ता है वह इसीसे होता है।

इसके सिवा तमाखूमें 'फरफरोल' है। यह उससे भी अधिक हानिकारक है। एक सिगरेटमें पाँच रुपयेभर ह्विस्की-शराबके बराबर 'फरफरोल' निकलता है।

तमाखूके धूएँमें कारबोनिक एसिड गैस भी है। यह गैस बहुत नुकसान करनेवाला है। यह हवा फेफड़ेको बहुत निर्बल करती है। बीड़ी पीनेवाले इसी कारणसे क्षयरोगके शीघ्र ही शिकार हो जाते हैं।

एक सज्जन कहते थे कि तमाखूकी गीली पत्तियाँ पीसकर कलेजेपर लेप दो तो तुरंत संनिपातके-से लक्षण हो जायँगे। पेटपर लेप करनेसे जी घबराकर वमन होने लगेगा, बिछौनोंपर रखकर सो जानेसे ज्वर आ जायगा। कितनी भयानक चीज है। धीरे-धीरे अभ्यास होनेके कारण तमाखू सेवन करनेवाले मनुष्य एक साथ नहीं मरते, परंतु यह विष उन्हें मृत्युकी ओर बहुत जल्दी ले जाता है, इसमें संशय नहीं।

इस विवरणको पढ़ने-सुनने और समझनेके बाद भी जो भाई इस नाशकारी बुरी आदतको नहीं छोड़ना चाहेंगे उनकी बुद्धिके लिये क्या कहा जाय? हमारा पाठकोंसे अनुरोध है कि उनमेंसे जिनको तमाखूका व्यसन हो, वे स्वयं छोड़ें और दूसरे भाइयोंको प्रेमसे समझाकर छुड़वानेकी कृपा करें।

होलीपर कर्तव्य

क्या करना चाहिये—

१-प्रेमसे हलका रंग डालकर होली खेलनेमें हर्ज नहीं है।

२-निर्दोष गायन-वाद्य करनेमें हानि नहीं है। भगवान्‌के नामका कीर्तन खूब करना चाहिये।

३-वासंती नवसस्येष्टि (वसंतमें पैदा होनेवाले नये धान्यका यज्ञ) करना चाहिये। हवन करना चाहिये।

४-भक्त प्रह्लादकी कथाएँ तथा लीलाएँ होनी चाहिये।

५-भगवन्नामके महत्त्वका प्रचार करना चाहिये।

६-सब प्रकारके वैरको त्यागकर परस्पर प्रेमपूर्वक मिलना चाहिये।

७-फाल्गुन सुदी ११ से १५ तक किसी दिन भगवान्‌की सवारी निकालनी चाहिये—जिसमें सुन्दर-सुन्दर भजन और नामकीर्तनकी व्यवस्था करनी चाहिये।

८-श्रीश्रीचैतन्यदेवकी जन्मतिथिका उत्सव मनाना चाहिये। महाप्रभुका प्राकट्य होलीके दिन ही हुआ था। इस उपलक्ष्यमें हरिनामकी खूब ध्वनि करनी चाहिये।

९-भक्ति और भक्तकी महिमाके तथा सदाचारके गीत गाने चाहिये।

१०-भगवान्‌का दोलोत्सव—झूलनोत्सव मनाना चाहिये।

११-निम्नांकित न करने लायक कार्योंको लोग न करें, इसके लिये जगह-जगह सभा करके सबको इनके दोष समझाने चाहिये।

क्या नहीं करना चाहिये—

१-गाली नहीं बकनी चाहिये।

२-राख, धूल, कीचड़ नहीं उछालना चाहिये।

३-गंदे पानीको किसीपर नहीं डालना चाहिये।

४-रंग डालनेसे जिनका मन दुखता हो, उनपर रंग नहीं डालना चाहिये।

५-स्त्रियोंकी ओर गंदे इशारे नहीं करने तथा उन्हें गंदी जबान नहीं बोलनी चाहिये।

६-किसीके भी मुँहपर स्याही, कालिख या नीला रंग आदि नहीं पोतना चाहिये।

७-शराब, भाँग, गाँजा, चरस, नशीला माजून आदि खाना-पीना नहीं चाहिये।

८-वेश्यानृत्य नहीं कराना चाहिये।

९-गंदे-अश्लील धमाल, रसिया, कबीर या फाग नहीं गाने चाहिये।

१०-टोपियाँ या पगड़ियाँ नहीं उछालनी चाहिये।

११-जूतोंकी माला पहनकर या पहनाकर, शव बनाकर गंदे गाने गाते-बजाते हुए जुलूस नहीं निकालना चाहिये।

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित गीताकी विभिन्न टीकाएँ एवं संस्करण

कोड **श्रीमद्भगवद्गीता तत्त्वविवेचनी**—(टीकाकार—श्रीजयदयालजी गोयन्दका) गीताविषयक २५१५ प्रश्न और उनके उत्तररूपमें विवेचनात्मक हिंदी-टीका—

1 **गीता-तत्त्वविवेचनी, बृहदाकार**—मोटे टाइपमें, सचित्र, सजिल्द।

2 **गीता-तत्त्वविवेचनी, बृहदाकार**—ग्रन्थाकार, विशिष्ट संस्करण, सचित्र, सजिल्द—मराठी, गुजराती, बँगला, ओड़िआ, तमिल दो खण्डोंमें, कन्नड़ दो खण्डोंमें एवं अंग्रेजी पुस्तकाकार दो खण्डोंमें उपलब्ध।

3 **गीता-तत्त्वविवेचनी, ग्रन्थाकार**—साधारण संस्करण, सचित्र सजिल्द।

गीता-साधक-संजीवनी—(टीकाकार—स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज) गीताके मर्मको उद्घाटित करनेवाली एवं तत्त्वज्ञान प्रदान करनेवाली व्याख्यात्मक शैलीमें सुबोध हिन्दी-टीका—

5 **गीता-साधक-संजीवनी, बृहदाकार**—परिशिष्टसहित, मोटे टाइपमें सचित्र, सजिल्द।

6 **गीता-साधक-संजीवनी, ग्रन्थाकार**—परिशिष्टसहित, सचित्र, सजिल्द, मराठी, गुजराती, बँगला, ओड़िआ, तमिल दो खण्डोंमें कन्नड़ दो खण्डोंमें एवं अंग्रेजी, पुस्तकाकार दो खण्डोंमें उपलब्ध।

8 **गीता-दर्पण, ग्रन्थाकार** (टीकाकार—स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजके द्वारा)—गीताके तत्त्वोंपर प्रकाश, गीता-व्याख्या एवं छन्द-सम्बन्धी गूढ़ विवेचन, सचित्र सजिल्द। मराठी, बँगला, गुजराती एवं ओड़िआमें भी उपलब्ध।

1562 **गीता-प्रबोधनी, पुस्तकाकार**—स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजकृत गीताकी संक्षिप्त टीका, गीताके श्लोकार्थ एवं कुछ श्लोकोंकी संक्षिप्त व्याख्या। मराठी, बँगला, ओड़िआ, पंजाबी एवं पॉकेट साइज वि०सं० हिन्दीमें उपलब्ध।

784 **ज्ञानेश्वरी-गूढ़ार्थ-दीपिका, ग्रन्थाकार,** मराठी—संत ज्ञानेश्वरके द्वारा प्रणीत गीता-टीकाकी गुलाबरावकृत विशद व्याख्या। ज्ञानेश्वरी मूल, मझला एवं ज्ञानेश्वरी मूल, गुटका आकारमें भी उपलब्ध।

10 **गीता-शांकरभाष्य, पुस्तकाकार**—गीताके मूल श्लोक, शांकरभाष्य, हिन्दी-अनुवाद, टिप्पणी तथा अन्तमें श्लोकोंके आकारादि क्रमकी सूचीसहित।

501 **गीता-रामानुजभाष्य, पुस्तकाकार**—गीताके मूल श्लोक, रामानुजभाष्य हिन्दी-अनुवादसहित।

गीता-माधुर्य, पुस्तकाकार—स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजके द्वारा प्रश्नोत्तर शैलीमें गीताका सरल विवेचन। तमिल, मराठी, गुजराती, उर्दू, तेलुगु, बँगला, असमिया, कन्नड़, ओड़िआ, अंग्रेजी एवं संस्कृतमें भी उपलब्ध।

11 **गीता-चिन्तन, पुस्तकाकार**—भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके गीताविषयके लेखों एवं पत्रोंका संग्रह।

17 **गीता, पुस्तकाकार**—मूल, पदच्छेद, अन्वय, भाषा-टीका, टिप्पणी प्रधान विषय। गुजराती, बँगला, मराठी, कन्नड़ तेलुगु एवं तमिलमें भी उपलब्ध।

16 **गीता, पुस्तकाकार**—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित, सचित्र, सजिल्द, मोटे अक्षरोंमें। मराठीमें भी उपलब्ध।

1555 **गीता-माहात्म्य (वि०सं०), पुस्तकाकार**—पद्मपुराणसे उद्धृत गीता-पाठके माहात्म्यकी चमत्कारिक कथाएँ।

19 **गीता-केवल भाषा, पुस्तकाकार**—संस्कृत भाषासे अनभिज्ञ पाठकोंके लिये। तेलुगु और तमिलमें भी।

18 **गीता-भाषा-टीका, पुस्तकाकार**—मूल, टिप्पणी प्रधान विषय, मोटा टाइप। ओड़िआ, गुजराती और मराठीमें भी।

502 **गीता-भाषा-टीका, पुस्तकाकार**—मूल, टिप्पणी प्रधान विषय, मोटा टाइप, सजिल्द। तेलुगु, ओड़िआ, गुजराती, कन्नड़, तमिलमें भी।

20 **गीता-भाषा टीका, पॉकेट साइज**—अंग्रेजी, मराठी, बँगला, असमिया, ओड़िआ, गुजराती, कन्नड़ तथा तेलगुमें भी।

1566 **गीता-भाषा टीका, पॉकेट साइज**—सजिल्द, यात्रादिमें साथ रखनेयोग्य। गुजराती, बँगला, अंग्रेजीमें भी।

21 **श्रीपञ्चरत्नगीता, पुस्तकाकार**—गीता, विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, अनुस्मृति एवं गजेन्द्रमोक्ष, मोटे अक्षरोंमें। ओड़िआमें भी उपलब्ध।

1628 **गीता-नित्यस्तुति एवं गजलगीतासहित, पॉकेट साइज।**

22 **गीता-मूल, पुस्तकाकार**—मोटे अक्षरोंमें। तेलुगु एवं गुजरातीमें भी उपलब्ध।

23 **गीता-मूल, विष्णुसहस्रनामसहित पॉकेट साइज**—यात्रादिमें साथ रखनेयोग्य। कन्नड़, तमिल, मलयालम, तेलुगु एवं ओड़िआमें भी।

1556 **गीता-श्लोकार्थसहित, लघु आकार**—यात्रादिमें साथ रखनेयोग्य।

1602 **गीता-सजिल्द, वि०सं०, लघु आकार**—नित्यपाठके लिये उपयोगी।

700 **गीता-मूल, लघु आकार**—यात्रादिमें साथ रखनेयोग्य। ओड़िआ, बँगला, तेलुगुमें भी।

1392 **गीता-ताबीजी-सजिल्द**—माचिस आकारमें सम्पूर्ण गीता। गुजराती, बँगला, तेलुगु, ओड़िआमें भी।

566 **गीता-ताबीजी**—एक पन्ने सम्पूर्ण गीता।

464 **गीता-ज्ञान-प्रवेशिका-पुस्तकाकार**—गीता शिक्षार्थियोंके लिये उपयोगी।

1431 **गीता-दैनन्दिनी-वि०सं०, पुस्तकाकार**—बँगला, तेलुगु, ओड़िआमें। पुस्तकाकार एवं पॉकेट साइजमें भी उपलब्ध।